हिंदी विश्वकोश

रंगों की उत्पत्ति

ऊपर : दाहिने — लाल, नीला और पीला प्राथमिक रंगों में एक दूसरे के संयोग से द्वितीयक हरा, नील-लोहित तथा नारंगी रंग और केंद्र मे काला वर्ण बनता है। बाएं — प्राथमिक हलके रंगो, नील-बैंगनी, पीला-हरा तथा लाल-नारंगी, के संयोजन से हलके द्वितीयक रंग तथा तीनों के संयोग से श्वेत वर्ण बनता है।

नीचे : सूर्य का श्वेत प्रकाश प्रिज्म मे प्रवेश कर निकलने पर लाल, नारंगी, पीला, हरा, नीला, और बैंगनी रंगों में विभक्त हो जाता है।

हिंदी विश्वकोश

खंड १०

'रंग' से 'विद्युत् उपकरण' तक

नागरीप्रचारिणी सभा
वाराणसी

निदेशक

संपूर्णानंद

प्रधान संपादक

रामप्रसाद त्रिपाठी

संपादक

फूलदेव सहाय वर्मा

मुकुंदीलाल श्रीवास्तव

संपादन सहायक तथा सहकारी

भगवानदास वर्मा	(विज्ञान)	जंगीर सिंह	(मानवतादि)
अजितनारायण मेहरोत्रा	(विज्ञान)	बैजनाथ वर्मा	(चित्रकार)

हिंदी विश्वकोश के संपादन एवं प्रकाशन का संपूर्ण व्यय भारत सरकार के शिक्षामंत्रालय ने वहन किया तथा इसकी बिक्री की समस्त आय भारत सरकार को 'सभा' प्रदान कर देती है।

प्रथम संस्करण

शकाब्द १८९० सं० २०२५ वि० १९६८ ई०

नागरी मुद्रण, वाराणसी, में मुद्रित

परामर्शमंडल के सदस्य

संपादक समिति

प्राक्कथन

हिंदी विश्वकोश का यह दसवाँ खंड, कुछ देर से प्रकाशित हो रहा है। इसके प्रकाशन में लगभग एक वर्ष का समय लग गया। देर का कारण विश्वकोश के कार्यालय को लगभग ढाई मास के लिये कुछ अनिवार्य कारणों से बंद कर देना था। एक बार कार्य का सिलसिला टूट जाने पर उसे फिर से चालू करने में कार्य की प्रगति अवश्य ही धीमी हो जाती है, पर अब कार्य में पर्याप्त तीव्रता आ गई है और आशा की जाती है कि जुलाई, ६९ तक शेष दोनों खंड छपकर प्रकाशित हो जायँगे।

इस दसवें खंड में कुल ४६६ पृष्ठ हैं और ६१२ लेखों में २१६ विद्वानों की रचनाएँ दी हुई है। विविध चित्रों, मानचित्रों और कलाकृतियों से इसे सुंदर और उपयोगी बनाने का भरपूर प्रयत्न किया गया है,

विश्वकोश के लेखक, परामर्शदाता और कलाकार, संपादन और प्रकाशन में संलग्न समस्त सहयोगी, नागरीप्रचारिणी सभा के प्रधान मंत्री और अन्य कार्यकर्तागण, केंद्रीय सरकार के शिक्षा और वित्तमंत्रालयों के अधिकारीगण, जिन्होंने इसके प्रणयन और प्रकाशन में सक्रिय सहयोग प्रदान किया है, हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं और उनके प्रति मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ।

फूलदेव सहाय वर्मा

प्रधान संपादक (स्थानापन्न)

दशम खंड के लेखक

अ० प्र० स० — अंबिका प्रसाद सक्सेना, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्राचार्य एवं अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, गवर्नमेंट सायंस कालेज, ग्वालियर

अ० कु० उ० — अनिल कुमार उपाध्याय, एम०ए, अध्यक्ष हिंदी विभाग, शारदासदन कालेज, मुकुंदगढ़ (राजपूताना)।

अ० कु० वि० — अवनींद्र कुमार विद्यालंकार, पत्रकार, इतिहास सदन, कनाट सर्कस, नई दिल्ली ।

अ० दे० वि० — (स्व०) अत्रिदेव विद्यालंकार, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अ० ना० मे० — अजित नारायण मेहरोत्रा, एम० ए०, बी० एस-सी०, बी० एड०, साहित्यरत्न, संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी—१

अ० प्री० — अमृता प्रीतम, मार्फत फ्रेंच दूतावास, नई दिल्ली ।

अ० बि० मि० — अवध बिहारी मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व प्राध्यापक वाणिज्य विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

अ० मि० — अनंत मिश्र, १२१ चित्तरंजन ऐवेन्यू, २ तल्ला ४४ कमरा ६७, कलकत्ता—७।

अ० शा० फ० — अनंत शास्त्री फड़के, २६।४१ कपिलेश्वर गली, दुर्गाघाट, वाराणसी।

अ० शु० — अजित शुकदेव, एम० ए०, कालेज ऑव इंडोलाजी, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, गुलाबबाग, वाराणसी।

अ० सि० — अभय सिन्हा, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, ए० आर० आइ० सी० (लंदन), टेकनॉलोजिस्ट, प्लानिंग ऐंड डेवलपमेंट डिविजन, फर्टिलाइजर कारपोरेशन ऑव इंडिया, सिंदरी, धनबाद।

आ० को० — देखें म० आ० को०

आ० ना० झा — आदित्यनाथ झा, दिल्ली के उपराज्यपाल, दिल्ली।

आ० भू० — आर्यभूषण, ऐडिशनल कमिश्नर ऑव रेलवे सेफ्टी, वेस्टर्न सर्किल, गवर्नमेंट ऑव इंडिया आफिस, क्वीस रोड, बंबई।

आ० वे० — (फ़ादर) भास्कर वेरेकुइसे, प्रोफेसर ऑव होली स्क्रिप्चर्स, सेंट अलबर्ट्स सेमिनरी, राँची।

आर० के० टं० — आर० के० टंडन, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट ऐग्रिकल्चर कालेज, कानपुर।

आर० एन० दां० — आर० एन० दांडेकर,

इं० दे० — इंद्रदेव, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, समाजशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

उ० कु० सि० — उमेश कुमार सिंह, एम० ए०, शोधछात्र, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

उ० शं० प्र० — उमाशंकर प्रसाद, ए० एम० सी० (आर०), एम० बी० बी० एस०, डी० एम० आर० डी० (इंगलैंड), डी० एम० आर० टी० (इंग्लैंड), रीडर, मेडिकल कालेज, जबलपुर।

उ० सि० — उजागर सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन) रीडर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

एन० वी०रा० या एन० वी० सु० — एन० वी० रामसुब्रह्मण्यन, एम० ए०, ३४५ नार्थ ऐवेन्यू, नई दिल्ली।

एन० सी० जो० — एन० सी० जोगलेकर, हिंदी विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना—७

ओं० ना० श० — ओंकार नाथ शर्मा, भूतपूर्व वरिष्ठ लोको फोरमैन, बी० बी० ऐंड० सी० आइ० रेलवे, निवृत्त प्रधानाध्यापक, यंत्रशास्त्र, प्राविधिक प्रशिक्षण केंद्र पूर्वोत्तर रेलवे, लक्ष्मी निवास, गुलाब बाड़ी, अजमेर।

ओं० प्र० — ओमप्रकाश, एम० एस-सी०, एफ० आई० ए०, असिस्टैंट डिविजनल मैनेजर, जीवन बीमा निगम, विभागीय कार्यालय, वाराणसी ।

ओं० प्र० — ओमप्रकाश, १३।५, शक्तिनगर, दिल्ली—७।

क० कि० चो० — कैवल किशोर चोपड़ा, मार्फत श्रीमती कृष्णकुमारी चोपड़ा सहा० रिसर्च आफिसर, कौंसिल ऑव स्टेट्स सचिवालय, पार्लमेंट हाउस, नई दिल्ली।

का० ना० सि० — काशीनाथ सिंह, एम० ए०, पी-एच०डी०, प्राध्यापक भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

का० बु० — कामिल बुल्के, एस० जे०, एम० ए०, डी० फिल०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सेंट जेवियर्स कालेज, राँची।

का० स० भा० — कामेश्वर सहाय भार्गव, डी० फिल०, पी-एच० डी० (लंदन), प्राध्यापक, वनस्पति विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

का० सु० — श्रीमती कामाक्षी सुब्रह्मण्यम्, टेरा कु० जी० सुंदरी, कलाक्षेत्र, तिरुवम्मयूर, मद्रास—४१।

कि० — श्रीमती किरन, मार्फत ब्रजमोहनलाल, नई दिल्ली।

कि० चं० च० — किरण चंद्र चक्रवर्ती, एम० एस-सी०, भूतपूर्व रीडर,

भूभौतिकी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कि० श० ला० किशोरी शरण (सरन) लाल,

या कि० स० ला० रीडर, इतिहास विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, डी० १३।१७, मॉडल टाउन, दिल्ली-९।

कृ० जी० कृष्णा जी, डाक्टर, प्राध्यापक, भौतिकी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

कृ० दे० उ० कृष्णदेव उपाध्याय, एम० ए०, पी-एच० डी०, हिंदी विभाग, गवर्नमेंट डिग्री कालेज, ज्ञानपुर, वाराणसी।

कृ० प्र० श्री० कृष्णप्रसाद श्रीवास्तव, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कृ० मु० स० कृष्णमुरारी सक्सेना, एम० ए०, पी-एच० डी० प्राध्यापक, डी० एस० बी० राजकीय महाविद्यालय, नैनीताल।

कृ० स्व० श्री० कृष्ण स्वरूप श्रीवास्तव, एम० ए०, डी० फिल्०, ६३।६७ बेनिया बाग, वाराणसी।

कै० ना० सि० कैलाशनाथ सिंह, बी० एस-सी०, एम०ए०, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ग० सि० गंडासिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, लोअर माल, पटियाला-३, (पंजाब)।

गि० कि० ग० गिरिराज किशोर गहराना, प्राध्यापक, धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़।

गि० चं० त्रि० गिरीशचंद्र त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच० डी०, जानकी निकुंज, पुराना किला. लखनऊ।

गि० शं० मि० गिरिजाशंकर मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, पाश्चात्य इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

गु० त्रि० गुरुदेव त्रिपाठी, एम० ए०, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, बिड़ला इंस्टिट्यूट ऑव आर्ट्स ऐंड सायंसेज, पिलानी (राजस्थान)।

गो० प्र० (स्व०) गोरखप्रसाद, डी० एस-सी० (एडिनबरा), भूतपूर्व रीडर, गणित तथा खगोलकी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

गो० म० मां गोपालदास मगनलाल मांडलिया, एम० आर्च (युनिवर्सिटी ऑव इलिनॉय), एम० एस० प्लानिंग (युनिवर्सिटी ऑव इलिनॉय), एफ० आइ० ए० ए० (लंदन), एफ० आई० आई० ए०, (इंडिया) ए० आई० टी० पी० (इंडिया), प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वास्तुकला विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।

चं० भू० त्रि० चंद्रभूषण त्रिपाठी, एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० फिल०, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

चं० वें० र० चंद्रशेखर वेंकट रामन, एफ० आर० एस०, निदेशक, रामन अनुसंधान संस्थान, बंगलोर।

चं० शे० मि० चंद्रशेखर मिश्र, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

च० ला० गु० चमनलाल गुप्त, प्राध्यापक, एक्सटेंशन एडूकेशन, इंस्टिट्यूट, नीलखेड़ी।

चा० त्रि० चाइचंद्र त्रिपाठी, एम० ए०, पूर्वकालिक संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारणी सभा, वाराणसी।

ज० गु०, ज० गु० जगदीश गुप्त, एम० ए०, डी० फिल०, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

ज० चं० जै० जगदीशचंद्र जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, रामनारायण रुइया कालेज, बंबई—२८।

ज० रा० सिं० जयरामसिंह, एम० एस-सी० (कृषि), पी-एच० डी०, रीडर, कृषि महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ज० सिं० जगदीश सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

जि० ना० वा० जितेंद्रनाथ वाजपेयी, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

जी० बा० तं० जी० बालमोहन तंपी, एम० ए०, डिपार्टमेंट ऑव लैंग्वेजेज, का० हिं० विश्वविद्यालय, वाराणसी।

जै० कु० जैनेंद्रकुमार, अध्यक्ष, ललितकला विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

झ० ला० श० (स्व०) झम्मन लाल शर्मा, डी० एस-सी०, भूतपूर्व प्रिंसिपल, गवर्नमेंट डिग्री कालेज, नैनीताल।

तु० ना० सिं० तुलसी नारायण सिंह, अंग्रेजी विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

ते० स्वामी तेजसानंद, प्रधानाचार्य, रामकृष्ण विद्यामंदिर, बैलूर मठ, हावड़ा।

त्रि० पं० त्रिलोचन पंत, एम०, ए०, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

त्रि० पां० त्रिलोचन पांडेय, एम०ए०, पी-एच० डी०, हिंदी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

द० दु० या दयाशंकर दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी०,

द० शं० दु० भूतपूर्व लेक्चरर, अर्थशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, श्रीदुबे निवास, ८७३, दारागंज, इलाहाबाद।

द० श० दशरथ शर्मा, एम०ए०, डी० लिट्०, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर।

दि० कौ० दिनकर कौशिक, प्रिंसिपल गवर्नमेंट कालेज ऑव फाइन आर्ट्स, लखनऊ।

दी० चं० (स्व०) दीवानचंद, एम० ए०, डी० लिट्०, (भूतपूर्व उपकुलपति, आगरा विश्वविद्यालय), ६३ छावनी, कानपुर।

दी० ना० ब० दीपेंद्रनाथ बनर्जी, शोधछात्र, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

दु० शं० ना० दुर्गा शंकर नागर, बी० एस-सी० (कृषि), उपनिदेशक (प्रशिक्षण), कृषि निदेशालय, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

ध० कि० गु० धनवंत किशोर गुप्त, डी०एस-सी०, डिप्टी डाइरेक्टर,

या ध० कि० गु० फिजिक्स सेल, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

ध० चं० बै० धर्मचंद बैजल, बी० एस-सी०, सी० ई० (रुड़की), एम० आइ० ई० (भारत), चेयरमैन, भारत हैवी इलेक्ट्रिकल लिमिटेड, ५ पार्लियामेंट स्ट्रीट, नई दिल्ली।

ध० पां० धनानंद पांडे, एम० आइ० ई०, बी० एस-सी०, सी० ई० वाइस चांसलर, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।

ध० प्र० स० धर्म प्रकाश सक्सेना, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, भूगोल विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर।

न० क० नवरत्न कपूर, एम० ए०, पी-एच० डी०, हिंदी विभाग, महेंद्र डिग्री कॉलेज, पटियाला (पंजाब)।

न० कु० नगेंद्र कुमार, बार-ऐट-ला, पटना।

नि० नं० गु० नित्यानंद गुप्त, एम० डी० (मेडिसिन) तथा फिजीशियन, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

नि० शा० निखिलेश शास्त्री, एम० ए०, एम० लिट्०, बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली-७।

प० च० परशुराम चतुर्वेदी, एम० ए०, एल-एल० बी०, वकील, बलिया।

पा० ना० सिं० पारसनाथसिंह, देवदत्त कुटीर, ४।३७ लालघाट, वाराणसी।

पी० वी० रं० पी० वी० रंगनाथन, इकॉनॉमिक डिपार्टमेंट, रिजर्व बैंक ऑव इंडिया, बंबई-१।

पी० एन० दास श्रीमती पी० एन० दास, अध्यक्ष अंग्रेजी विभाग, लेडी श्रीराम कालेज, नई दिल्ली।

प्र० ग्रो० प्रभा ग्रोवर, एम० एस-सी०, डी० फिल०, १४ पार्क रोड, इलाहाबाद।

प्र० चं० गु० प्रकाशचंद्र गुप्त, एम० ए०, अंग्रेजी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

प्र० चं० शु० प्रमोद चंद्र शुक्ल, एम० ए०, संयुक्त निदेशक, संरक्षा, रेलवे बोर्ड, नई दिल्ली।

प्र० दा० शा० प्रभुदास शाह, एम० एस-सी० (गणित), एम० एस-सी० (भौतिकी), प्राध्यापक, श्याम सुंदर अग्रवाल पोस्ट ग्रैजुएट कालेज, सिहोरा रोड, म० प्र०।

प्र० मा० प्रभाकर माचवे, एम० ए०, पी-एच० डी०, सहायक मंत्री, साहित्य अकादमी, रवींद्र भवन, ३५, फिरोज शाह मार्ग, नई दिल्ली-१।

प्र० ला० भ० प्रभुलाल भटनागर, एम० एस-सी०, डी० फिल०, डी० एस-सी०, एफ० एन० आइ०, एफ० ए० एस-सी०, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, प्रयुक्त गणित, इंडियन इंस्टिट्यूट ऑव सायंसेज, बेंगलूर।

प्र० व० प्रमिला वर्मा, पी-एच० डी० प्राध्यापक, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

प्रि० कु० चौ० प्रियकुमार चौबे, बी० ए०, ए० बी० एम० एस०, डी० पी० पी०, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य अधिकारी, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

फू० स० व० फूलदेव सहाय वर्मा, एम० एस-सी०, ए० आइ० आइ० एस-सी०, भूतपूर्व प्रोफेसर, औद्योगिक रसायन एवं प्रधानाचार्य, कालेज ऑव टेक्नॉलोजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, सप्रति संपादक हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी-१।

फां० श्रीमती फांस भट्टाचार्य, फ्रेंच भाषा लेक्चरर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

ब० उ० बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य, निदेशक, अनुसंधान संस्थान, वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ब० ना० प्र० (स्व०) बद्रीनारायण प्रसाद, एम० एस-सी०, एम० बी०, डी० टी० एम०, पी-एच० डी० (एडिनबरा), एफ० आर० एम० (एड०) अबुलअास लेन, पटना-४।

व० ना० सिं० वशिष्ठनारायण सिंह शोधछात्र, जैनाश्रम, हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

ब० प्र० मि० बलभद्रप्रसाद मिश्र, ४७/१२, कबीर मार्ग, लखनऊ।

ब० सिं० बसंत सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूगोल विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

बा० रा० या० बाबूराम यादव (जादौ), मंत्री, राधास्वामी सत्संग, आगरा।

बि० चं० द० बिमलचंद्र दत्त, बी० ए०, डि०प् टेक, (लीड्स), ए० आर० पी० एस० (लंदन), मैनेजर, मैप रिप्रोडक्शन आफिस, १७ ई० सी० रोड, देहरादून।

बि० मु० बिभा मुकर्जी, प्राध्यापक, महिला महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

बी० दु० बी० दु०, रीडर, कालेज ऑव मेडिकल सायंसेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

बै० पु० बैजनाथ पुरी, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर इतिहास, नैशनल एकेडेमी ऑव ऐडमिनिस्ट्रेशन, मसूरी।

बो० बोधानंद (भिक्षु), बर्मी बौद्ध मंदिर, वाराणसी।

ब्र० मो० पां० ब्रजमोहन पांडे, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, जनपथ, नई दिल्ली।

ब्र० र० दा० (स्व०) ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी०, (भूतपूर्व प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा), सुड़िया, वाराणसी।

भ० आ० कौ० भदंत आनंद कौसल्यायन, विद्यालंकार परिवेण, विश्वविद्यालय केलांबिया, श्रीलंका।

भ० दा० व० भगवानदास वर्मा, बी० एस-सी०, एल० टी०, भूतपूर्व अध्यापक, डेली (चीफ्स) कालेज, इंदौर, भूतपूर्व सहायक संपादक, इंडियन क्रानिकल, संप्रति विज्ञान तथा साहित्य सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

भ० प्र० श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, ऐसोसिएट प्रोफेसर, धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़।

भ० प्र० सिं० भगवतीप्रसाद सिंह, हिंदी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

भ० मि० भगीरथ मिश्र, एम० ए० पी-एच० डी०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

भ० शं० या० (स्व०) भवानीशंकर याज्ञिक, डाक्टर, ८, शाहनजफ रोड, हजरतगंज, लखनऊ।

भ० श० उ० भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए०, डी० फिल०, पूर्व कालिक संपादक, हिंदी विश्वकोश, वाराणसी।

भा० शं० मे० भानुशंकर मेहता, एम० बी० बी० एस०, पैथॉलोजिस्ट, बुलानाला, वाराणसी।

भा० स० भाऊ समर्थ, गोएनका उद्यान, सोनगाँव, नागपुर-५।

भा० सिं० गौ० भारत सिंह गौतम, एम० ए०, हरिश्चंद्र डिग्री कालेज, वाराणसी।

भू० ना० त्रि० भूप नारायण त्रिपाठी, एम० एस-सी०, प्राध्यापक, श्यामसुंदर अग्रवाल पोस्ट ग्रैजुएट कालेज, सिहोरा रोड, मध्य प्रदेश।

भो० शं० व्या० भोलाशंकर व्यास, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर हिंदी विभाग, का० हिं० विश्वविद्यालय, वाराणसी।

मं० म० प० मंजुला मणिभाई पटेल, एम०ए०,बी०टी०, लेक्चरर, बिड़ला प्लैनेटेरियम, ९६ चौरंगी रोड, कलकत्ता।

म० गु० मन्मथनाथ गुप्त, संपादक 'आजकल', पब्लिकेशंस डिवीजन, भारत सरकार, पुराना सचिवालय, दिल्ली।

म० ना० मे० महाराज नारायण मेहरोत्रा, एम० एस-सी०, एफ० जी० एम० एस०, रीडर भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

म० प्र० म० महेंद्रप्रताप मदन, पी-एच० डी०, डी० एस-सी०, एस० एम० आइ० आर० ई०, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

म० मो० ला० मदन मोहन लाल, डेपुटी चीफ मिकैनिकल इंजीनियर (इलेक्ट्रिकल), चित्तरंजन लोकोमोटिव वर्क्स, चित्तरंजन, जिला बर्दवान (प० बंगाल)।

म० रा० जै० महेंद्रराजा जैन, द्वारा श्री जयचंद प्रसाद जैन, गोपाली चौक, आरा, बिहार।

मा० माधवाचार्य, भूतपूर्व संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी-१।

मा० प्र० गु० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी०लिट्०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, जयपुर विश्वविद्यालय, जयपुर।

मि० चं० पां० मिथिलेश चंद्र पांड्या, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, हिंदू पोस्ट ग्रैजुएट कालेज, अमरोहा (मुरादाबाद)।

मि० च० मिल्टन चरण, अध्यक्ष, भारतीय मसीही सुधार समाज, एस १७।३८, राजाबाजार, वाराणसी।

मु० मुकुंदीलाल श्रीवास्तव, साहित्यादि संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

मु० उ० मुहम्मद उमर, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, रूरल इंस्टिट्यूट, जामिया मिल्लिया, नई दिल्ली।

मु० चं० जो० मुनीशचंद्र जोशी, एम० ए०, सहायक अधीक्षक, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, जनपथ, नई दिल्ली।

मु० या० मुहम्मद यासीन, एम० ए०, पी-एच० डी०, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

मु० रा० मुद्रा राक्षस, दुगावाँ, लखनऊ।

मु० ला० श० मुरारीलाल शर्मा, एम० ए०, ज्योतिषाचार्य, विद्यावारिधि, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

मु० स्व० व० मुकुंदस्वरूप वर्मा, बी० एस०-सी०, एम० बी० बी० एस०, भूतपूर्व चीफ मेडिकल ऑफिसर तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

यो० ना० च० योगेंद्रनाथ चतुर्वेदी, एम० ए०, प्राध्यापक इतिहास विभाग, क्वींस इंटरमीडिएट कालेज, वाराणसी।

र० कु० मि० रमेश कुमार मिश्र।

र० च० दु० रमेशचंद्र दुबे, एम० ए० (भूगोल), भूतपूर्व संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

र० चं० क० रमेशचंद्र कपूर, डी० एस-सी०, डी० फिल०, प्रोफेसर रसायन विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान)।

र० चं० मि० रमेशचंद्र मिश्र, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०,

प्रोफेसर तथा प्रधानाध्यापक, भूविज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

र० ना० मि० रवींद्रनाथ मिश्र, अध्यक्ष राजनीति विभाग, डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ।

र० ना० सिं० रवींद्र नारायण सिंह, एम० बी० बी० एस०, एफ० आर० सी० एस०, अध्यक्ष, प्लास्टिक सर्जरी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पी० डब्ल्यू० मेडिकल कॉलिज ऐंड हास्पिटल, पटना-४।

र० मि० रमा मिश्र, एम० ए० मार्फत श्री बलभद्रप्रसाद मिश्र, ४७।१२ कबीर मार्ग, लखनऊ।

र० मे० रतन मेहरोत्रा, बी० ए०, बी० एड०, साहित्यरत्न, मांटेसरी डिप्लोमा, गृहविज्ञान शिक्षिका, आर्यमहिला इंटरमीडिएट कालेज, वाराणसी।

र० श० श० रघुराजशरण शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, गवर्नमेंट पेडागाजिकल इंस्टिट्यूट, इलाहाबाद।

र० स० रमातोष सरकार, एम० एस-सी० (कलकत्ता), लेक्चरर, बिड़ला प्लैनेटेरियम, ९६ चौरंगी रोड, कलकत्ता–१६।

र० स० ज० रजिया सज्जाद ज़हीर, एम० ए०, भूतपूर्व प्राध्यापक उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, वज़ीर मंज़िल, वज़ीर हसन रोड, लखनऊ।

र० सिं० रघुवीर सिंह, एम० ए०, डी० लिट्०, 'रघुवीर निवास', सीतामऊ (म० प्र०)।

रा० अं० राधेश्याम अंबष्ठ, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, एफ० बी० एस०, प्राध्यापक, वनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० अ० राजेंद्र अवस्थी, राजनीति विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

रा० अ० द्वि० रामअवध द्विवेदी, एम० ए०, डी० लिट्०, एमेरिटस प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

रा० कु० रामकुमार, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर, गणित तथा अध्यक्ष, अनुप्रयुक्त गणित, मोतीलाल नेहरू इंजीनियरिंग कालेज, इलाहाबाद।

रा० गो० चं० राय गोविंदचंद्र एम० ए०, कोषाध्यक्ष, संस्कृत विश्वविद्यालय, कुशस्थली, वाराणसी कैंट, वाराणसी।

रा० गो० रामेश्वर गोतिया, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

रा० चं० द्वि० रामचंद्र द्विवेदी, एम० ए०, पी-एच० डी०, के १।१३ माडेल टाउन, दिल्ली।

रा० चं० पां० रामचंद्र पांडेय, एम०ए०, पी-एच० डी०, व्याकरणाचार्य, बौद्ध दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

रा० चं० शु० रामचंद्र शुक्ल, लेक्चरर, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, वाराणसी।

रा० चं० शु० रामचंद्र शुक्ल, एम० डी०, प्रोफेसर फ़िज़ियालोजी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

रा० चं० स० रामचंद्र सक्सेना, भूतपूर्व प्राध्यापक, प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० दा० ति० रामदास तिवारी, एम० एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

रा० द्वि० रामज्ञा द्विवेदी, लेबर कालोनी, ऐशबाग, लखनऊ।

रा० ना० राजेंद्र नागर, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० ना० दु० रामनारायण दुबे, प्राकृतिक आरोग्य आश्रम, डाकघर चौबेपुर, वाराणसी।

रा० ना० मा० राधिका नारायण माथुर, एम०ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० ना० रा० राजनारायण राय, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, आर्मी केडेट कालेज, पूना।

रा० फं० देखें श० चं० पां०

रा० प्र० स० राजेंद्र प्रसाद सक्सेना, बी० एस-सी० ऐग्रिकल्चरल इंजीनियरिंग, एम० ई० एस० ए० ई०, एम० ए० एस० ए० ई०, असिस्टेंट ऐग्रिकल्चरल इंजीनियर, तालकटोरा रोड, लखनऊ।

रा० प्र० सिं० राजेंद्र प्रसाद सिंह, एम० ए०, शोधछात्र, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० फे० त्रि० रामफेर त्रिपाठी, एम० ए०, शोधछात्र, हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० मू० लू० राममूर्ति लूबा, एम०ए०, एल-एल०बी०, प्राध्यापक, मनोविज्ञान एवं दर्शन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० र० पा० रामरक्ष पाल, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लखनऊ), पी-एच० डी० (मैकगिल), रीडर, प्राणिविज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० व० सि० राजेंद्र वर्मा सिथोले, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, असिस्टेंट डायरेक्टर, राष्ट्रीय वनस्पति उद्यान, लखनऊ।

रा० वृ० सिं० रामवृक्ष सिंह, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० शं० भ० रामशंकर भट्टाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०, अनुसंधान 'सहायक', वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० शं० शु० रामशंकर शुक्ल, 'रसाल', एम० ए०, डी० लिट्०, ४७८।५१२ मम्फोर्डगंज, इलाहाबाद।

रा० स० ख० राम सहाय खरे, एम० ए०, अध्यापक, रामकृष्ण विद्यामंदिर हाईस्कूल, सिद्धगिरि बाग, वाराणसी।

रा० सि० राम सिंह, एम० ए०, प्रयोगशाला सहायक, प्राणि-विज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० सु० रामनाथ सुब्रह्मण्यम्, एम० ए०, एफ० आइ० आइ० सी० (लंदन), सहायक क्यूरेटर, बिड़ला प्लैनेटेरियम, कलकत्ता-१६।

रु० म० (स्व०) रुस्तम पेस्तन जी मसानी, एम० ए०, डी०लिट्०, भूतपूर्व म्युनिसिपल कमिश्नर, बंबई, ४६ मेय्यरवेदर रोड, बंबई।

ल० ना० टं० लक्ष्मीनारायण टंडन, विधि विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

ल० रा० ख० लवलेश राय खरे, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, भौतिकी विभाग, इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नॉलोजी, कानपुर।

ल० गो० लल्लन जी गोपाल, एम० ए०, डी० फिल०, पी-एच० डी०, रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास, एवं पुरातत्व विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ल० शं० व्या० लक्ष्मीशंकर व्यास, एम० ए०, सहायक संपादक, 'आज' दैनिक, वाराणसी।

ल० शं० शु० लक्ष्मीशंकर शुक्ल, एम० एस-सी०, दुर्गाकुंड, वाराणसी।

ला० त्रि० प्र०, या ला०च०त्रि० लालधर त्रिपाठी, 'प्रवासी', नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

ला० सिं० लालजी सिंह, एम० ए०, आकाशवाणी, लखनऊ।

ली० अ० लीला अवस्थी, एम० ए०, पी-एच० डी०, आकाशवाणी, लखनऊ।

ले० रा० सिं० लेखराज सिंह, भूगोल विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

वा० उ० वासुदेव उपाध्याय, एम० ए०, डी० फिल०, प्राचीन इतिहास तथा पुरातत्व विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

वि० कु० श्री० विनोदकुमार श्रीवास्तव, लेक्चरर, भौतिकी विभाग, रुड़की यूनिवर्सिटी, रुड़की।

वि० त्रि० या वि० ना० त्रि० विश्वनाथ त्रिपाठी, साहित्याचार्य, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

वि० ध० च० विद्याधर चतुर्वेदी, एम० ए०, एल-एल० बी०, ऐडवोकेट, सिविल लाइंस, मैरिस रोड, अलीगढ़।

वि० ना० उ० विश्वंभर नाथ उपाध्याय, ब्रोक काटेज, तल्लीताल, नैनीताल।

वि० ना० मु० विश्वनाथ मुखर्जी, भूतपूर्व सहायक संपादक 'भूगर', 'तरंग,' 'बेढब,' संप्रति, सहायक संपादक 'आपका स्वास्थ्य,' सिद्धगिरि बाग, वाराणसी।

वि० प्र० गु० विश्वंभर प्रसाद गुप्त, ए० एम० आई० ई०, कार्यपालक इंजीनियर, सी० पी० डब्ल्यू० डी०, ७६ लूकरगंज, इलाहाबाद।

वि० भा० शु० विद्याभास्कर शुक्ल, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, एफ०बी० एस०, एफ०पी० एस०, एफ० जी० आइ०, प्रिंसिपल, कालेज ऑव साइंस, रायपुर।

वि० रा० सिं० विजयराम सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० सा० दु० विद्यासागर दुबे, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), भूतपूर्व प्रोफेसर, जिआलोजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, कंसल्टिंग जिआलोजिस्ट ऐंड माइंस ओनर, वसुंधरा, रवींद्रपुरी, वाराणसी।

वि० स्ना० विजयेंद्र स्नातक, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

वि० ह० वियोगी हरि, अध्यक्ष, अ० भा० हरिजनसेवक संघ, एफ १३।२ माडल टाउन, दिल्ली।

वी० के० मा० वी० के० माथुर, रीडर, केमिकल इंजीनियरिंग विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शं० ग० तु० शं० ग० तुड़पुडे, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, मराठी विभाग, पूना विश्वविद्यालय, गणेश खिंड, पूना-७।

श० ना० रा० शरदचंद्र नारायण रानडे, एम० ए०, प्राध्यापक, वाणिज्य विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, सेकंड लेफ्टिनेंट, ६६ यू० पी० राइफल्स बटालियन, एन० सी० सी०, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शां० प्र० या शा० प्र० रो० शांतिप्रकाश रोहतगी, एम० ए०, लेक्चरर गाइड, कुतुब, मेहरौली, दिल्ली।

शा० ला० का० शांतिलाल कायस्थ एम० ए०, पी-एच० डी०, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी।

शा० न० सिं० मेजर जनरल शारदानंद सिंह, डाइरेक्टर जनरल, नागरिक सुरक्षा, नई दिल्ली।

शि० गो० मि० शिवगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, डी० फिल०, साहित्यरत्न, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

शि० प्र० मि० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', लेक्चरर, हिंदी विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५

शि० मो० व० शिवमोहन वर्मा, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०,

प्राध्यापक, रसायन विभाग, काशी हिंदू-विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

शि० शं० रा० शिवशंकर राम, एम०ए०, डी०फिल०, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ।

शि० श० शिवानंद शर्मा, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, सेंट एंड्रूज कालेज, गोरखपुर ।

सु० तै० सुमदा तैलंग, एम० ए०, प्रिंसिपल, बसंत कालेज फॉर विमेन, राजघाट, वाराणसी ।

शु० प्र० मि० शुद्धोदन प्रसाद मिश्र, प्राध्यापक, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

श्या० ला० क० श्यामलाल कपूर, एम० एस-सी०, जूनियर साइंटिफिक आफिसर, राष्ट्रीय वनस्पति उद्यान, लखनऊ।

श्री० अ० श्रीशंकर अग्निहोत्री, संपादक, राष्ट्रधर्म मासिक, लखनऊ ।

श्री० दा० सा० स्व० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, डी० लिट्०, महामहोपाध्याय, अध्यक्ष, स्वाध्याय मंडल, पारडी, जिला सूरत ।

श्री० रा० शु० श्रीराम शुक्ल, एल० ए-जी०, अवकाशप्राप्त, डिप्टी डाइरेक्टर, हॉर्टिकल्चर, ४७ ईदगाह कालोनी, आगरा ।

श्री० स० श्रीकृष्ण सक्सेना, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।

सं० रा० संतराम, बी० ए०, पुरानी बस्ती, होशियारपुर (पंजाब) ।

सं० सिं० संत सिंह, प्रोफेसर, कृषि महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

स० चं० सतीशचंद्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, इतिहास विभाग, जयपुर विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)।

सत्य प्र० सत्यप्रकाश, डी० एस-सी०, एफ० ए० एस० सी०, भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ।

स० ना० गो० सत्यनारायण गोयनका, बर्मा ।

स० ना० चौ० सत्येंद्र नारायण चौधुरी, एम० एस-सी०, प्रिंसिपल, सेरिकल्चर इंस्टिट्यूट, टिटाबार, असम ।

स० पा० गु० सत्यपाल गुप्त, एम० बी० बी० एस०, एफ० आर० सी० एस० (एडिन०), डी० ओ० एम० एस० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, नेत्र विज्ञान विभाग, चीफ आइ सर्जन, मेडिकल कालेज, लखनऊ ।

स० मो० सरला मोहनलाल, १४ चैथम लाइंस, इलाहाबाद ।

स० व० सत्येंद्र वर्मा, पी-एच० डी० (लंदन), डिप्टी सुपरिंटेंडेंट, डिपार्टमेंट ऑव प्लैनिंग ऐंड डेवलपमेंट, फर्टिलाइज़र कारपोरेशन, सिंदरी, धनबाद ।

स० वि० (स्व०) सत्यदेव विद्यालंकार, लेखक एवं पत्रकार, ४० ए०, हनुमान लेन, नई दिल्ली ।

सु० सुभद्र झा, सरस्वती भवन पुस्तकालय, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

सु० चं० गौ० सुरेशचंद्र गौड़, गवर्नमेंट इंजीनियरिंग कालेज, रायपुर ।

सु० चं० श० सुरेशचंद्र शर्मा, एम० ए०, एल-एल० बी०, अध्यक्ष, भूगोल विभाग, एम० एल० के० डिग्री कालेज, बलरामपुर (गोंडा) ।

सु० ना० शा० सुरेंद्रनाथ शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०, भू० पू० उपकुलपति, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, 'चारु निवास', ज्ञानपुर, वाराणसी ।

सु० वै० सुशीला वैद्य, द्वारा डा० कुमारी के० वैद्य, लेडी एल्गिन हॉस्पिटल कंपाउंड, जबलपुर (म० प्र०) ।

सु० सिं० सुरेशसिंह, कुँवर, एम० एल० सी०, कालाकाँकर, प्रतापगढ़, उत्तर प्रदेश ।

स्वा० ते० देखें 'ते०' ।

ह० अ० फ० हरि अनंत फड़के, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, इतिहास विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।

ह० चं० गु० हरिश्चंद्र गुप्त, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (आगरा), पी-एच० डी० (मैंचेस्टर), गणितीय सांख्यिकी रीडर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

ही० ला० गु० हीरालाल गुप्त, एम० ए०, डी० फिल०, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर, म० प्र० ।

हृ० ना० मि० हृदयनारायण मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, दर्शन विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर ।

संकेताक्षर

अं०	अंग्रेजी
अ०	अक्षांश; अथर्ववेद; अध्याय
अ० का०	अरण्यकांड (रामायण)
अथर्व०	अथर्ववेद
अधि०	अधिकरण
अनु०	अनुवादक, अनुशासनपर्व,
अयो०	अयोध्याकांड (रामायण)
आं० प्र०	आंध्र प्रदेश
आ० घ० या आपे० घ०	आपेक्षिक घनत्व
आई० ए० एस०	इंडियन ऐडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस
आई० सी० एस०	इंडियन सिविल सर्विस
आदि०; आ० प०	आदिपर्व (महाभारत)
आ० श्री० सू०	आपस्तंब श्रौतसूत्र
आय०	आयतन
आर्क० स० रि०	रिपोर्ट ऑव दि आर्कयालॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया
आश्व०	आश्वलायन
इंट्रो०	इंट्रोडक्शन
ई०	ईसवी
ई० पू०	ईसा पूर्व
उ०	उत्तर
उदा०	उदाहरण
उत्तर०	उत्तरकांड
उ० प्र०	उत्तर प्रदेश
उद्यो०; उद्योग०	उद्योगपर्व (महाभारत)
ऋ०	ऋग्वेद
ए० आई० आर०	आल इंडिया रिपोर्टर
ए० इं०; एपि० इं०	एपिग्राफ़िया इंडिका
एक०	एकवचन
ऍ०	ऍग्स्ट्रॉम
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
क० प०; कर्ण०	कर्णपर्व (महाभारत)
का०	कारिका
काम०	कामंदकीय नीतिसार; कामशास्त्र
काव्या०	काव्यालकार
कि० ग्राम या किग्रा०	किलोग्राम
कि० मी० या किमी०	किलोमीटर
कु० सं०	कुमारसंभव
क्र० सं०	क्रमसंख्या
क्र०	क्रमांक
गा०	गाथा
ग्रा०	ग्राम
छांदो०	छांदोग्य उपनिषद्

ज०; ज० सं०	जन्म; जन्म संवत्
जि०	जिला, जिल्द
जे० पी० टी० एस०	जर्नल ऑव दि पालि टेक्स्ट सोसायटी
डॉ०	डॉक्टर
तांड्य ब्रा०	तांड्य ब्राह्मण
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तैत्ति०	तैत्तिरीय
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
द०	दक्षिण
दी० नि०	दीघनिकाय
दी०	दीपवंश
दे०	देखिए; देशांतर
द्रो० प०, द्रोण०	द्रोणपर्व
ध०	धम्मपद
ना० प्र० प०	नागरीप्रचारिणी पत्रिका
ना० प्र० स०	नागरीप्रचारिणी सभा
नि०	निरुक्त
पं०	पंजाबी; पंडित
प०	पट्ठाण; पर्व; पश्चिम; पश्चिमी
पद्म०	पद्मपुराण
पु०	पुराण
पू०	पूर्व
पृ०	पृष्ठ
प्र०	प्रकाशक
प्रक०	प्रकरण
प्रो०	प्रोफ़ेसर
फा०	फारेनहाइट
बा०	बालकांड (रामायण)
वाज० सं०	वाजसनेयी संहिता
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
ब्रह्म० पु०	ब्रह्मपुराण
ब्रा०	ब्राह्मण
भाग०	श्रीमद्भागवत
भा० ज्यो०	भारतीय ज्योतिष
भी० प०	भीष्मपर्व
मनु०	मनुस्मृति
मत्स्य०	मत्स्यपुराण
म० भा०; महा०	महाभारत; महावंश
म० म०	महामहोपाध्याय
म० मी०	महाभारत मीमांसा
महा० प्रा०	महाराष्ट्री प्राकृत
मिता० टी०	मिताक्षरा टीका

मिग्रा०	मिलिग्राम
मी०	मील, मीटर
मिमी०	मिलीमीटर
मे० सा०	मेगासाइकिल
म्यू०	माइक्रॉन
याज्ञ०; याज्ञ० स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
रघु०	रघुवंश
र० का० सं०	रचनाकाल संवत्
राज०, रा० त०	राजतरंगिणी
ल०, लग०	लगभग
ला०	लाला
ली०	लीटर
वन०; व० प०	वनपर्व (महाभारत)
वा० रा०	वाल्मीकीय रामायण
वायु०	वायुपुराण
वि०, वि० सं०	विक्रमी संवत्
विनय०	विनयपत्रिका
वि० पु०	विष्णु पुराण
वै० इं०	वैदिक इंडेक्स
श०, शत०, श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
श०	शती
शल्य०	शल्यपर्व
शांति०	शांतिपर्व
शौ० प्रा०	शौरसेनी प्राकृत
श्रीमद्भा०	श्रीमद्भागवत
श्लो०	श्लोक
सं०,	संख्या, संपादक, संवत्, संस्करण, संस्कृत, संहिता
सं० ग्रं०	संदर्भ ग्रंथ
संस्क०	संस्करण
स० ग० स०	सेंटीग्रेड, ग्राम, सेकंड पद्धति
स० प०; सभा०	सभापर्व (महाभारत)
सुंदर०	सुंदरकांड
सें०	सेंटीग्रेड
साइकॉ०	साइकॉलोजी
सेंमी०	सेंटीमीटर
से०	सेकंड
स्कंद	स्कंदपुराण
स्व०	स्वर्गीय
ह०	हनुमानबाहुक, हरिवंशपुराण
हि०	हिजरी
हिं०	हिंदी
हिं० वि० को०	हिंदी विश्वकोश
हि०	हिजरी, हिमांक
हिस्टॉ०	हिस्टॉरिकल

फलक सूची

तत्वों की संकेतसूची

संकेत		तत्व का नाम	संकेत		तत्व का नाम	संकेत		तत्व का नाम
अ	Am	अमरीकियम	$ट_{क}$	Tc	टेकनिशियम	मो	Mo	मोलिब्डेनम
$आ_{इ}$	En	आइंस्टियम	$टे_{ल}$	Te	टेल्यूरियम	य	Zn	यशद
औ	O	ऑक्सीजन	टैं	Ta	टैंटेलम	यू	U	यूरेनियम
आ	I	आयोडीन	डि	Dy	डिस्प्रोशियम	$यू_{र}$	Eu	यूरोपियम
$आ_{ग}$	A	आर्गन	ता	Cu	ताम्र	र	Ag	रजत
$आ_{र}$	As	आर्सेनिक	थू	Tm	थूलियम	$रु_{थ}$	Ru	रुथेनियम
$आ_{स}$	Os	ऑस्मियम	थै	Tl	थैलियम	$रु_{ब}$	Rb	रुबिडियम
$इं_{ड}$	In	इंडियम	थो	Th	थोरियम	$रे_{ड}$	Rn	रेडॉन
$इ_{ट}$	Yb	इटर्बियम	ना	N	नाइट्रोजन	रे	Ra	रेडियम
$इ_{ट्र}$	Y	इट्रियम	$नि_{ब}$	Nb	नियोबियम	$रे_{न}$	Re	रेनियम
इ	Ir	इरीडियम	नि	Ni	निकल	रो	Rh	रोडियम
$ए_{र}$	Eb	एर्बियम	नी	Ne	नीऑन	लि	Li	लिथियम
$ऐं_{ट}$	Sb	ऐंटिमनी	$ने_{प}$	Np	नेप्च्यूनियम	लैं	La	लैंथेनम
$ऐ_{क}$	Ac	ऐक्टिनियम	न्यो	Nd	न्योडियम	लो	Fe	लोह
ऐ	Al	ऐलुमिनियम	पा	Hg	पारद	ल्यू	Lu	ल्यूटीशियम
$ऐ_{स}$	At	ऐस्टैटीन	पै	Pd	पैलेडियम	वं	Sn	वंग
का	C	कार्बन	पो	K	पोटैशियम	वै	V	वैनेडियम
$कै_{ड}$	Cd	कैडमियम	$पो_{ल}$	Po	पोलोनियम	स	Sm	समेरियम
$कै_{फ}$	Cf	कैलिफोर्नियम	प्रे	Pr	प्रेज़िओडिमियम	सि	Si	सिलिकन
कै	Ca	कैल्सियम	$प्रो_{ट}$	Pa	प्रोटोऐक्टिनियम	$सि_{ल}$	Se	सिलीनियम
को	Co	कोबाल्ट	$प्रो_{म}$	Pm	प्रोमीथियम	$सी_{ज}$	Cs	सीज़ियम
क्यू	Cm	क्यूरियम	प्लू	Pu	प्लूटोनियम	$सी_{र}$	Ce	सीरियम
क्रि	Kr	क्रिप्टॉन	प्लै	Pt	प्लैटिनम	सी	Pb	सीस
क्रो	Cr	क्रोमियम	फा	P	फॉस्फोरस	सें	Ct	सेंटियम
क्लो	Cl	क्लोरीन	फ्रां	Fr	फ्रांसियम	सो	Na	सोडियम
गं	S	गंधक	फ्लो	F	फ्लोरीन	स्कै	Sc	स्कैंडियम
$गै_{ड}$	Gd	गैडोलिनियम	ब	Bk	बर्कीलियम	स्ट्रौं	Sr	स्ट्रौंशियम
गै	Ga	गैलियम	बि	Bi	बिस्मथ	स्व	Au	स्वर्ण
$ज_{र}$	Zr	जर्कोनियम	बे	Ba	बेरियम	हा	H	हाइड्रोजन
$ज_{म}$	Ge	जर्मेनियम	$बे_{र}$	Be	बेरीलियम	ही	He	हीलियम
ज़ी	Xe	ज़ीनान	बो	B	बोरन			
टं	W	टंग्स्टन	ब्रो	Br	ब्रोमीन			
			मू	R	मूलक (रैडिकल)			
$ट_{र}$	Tb	टर्बियम	मैं	Mn	मैंगनीज़	है	Hf	हैफ़्नियम
$टा_{इ}$	Ti	टाइटेनियम	$मै_{ग}$	Mg	मैग्नीशियम	हो	Ho	होल्मियम

हिंदी विश्वकोश

खंड १०

रंग क्या है इस विषय पर वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों की जिज्ञासा बहुत समय से रही है, परंतु इसका व्यवस्थित अध्ययन सर्वप्रथम न्यूटन ने किया। यह बहुत काल से ज्ञात था कि सफेद प्रकाश काँच के प्रिज्म से देखने पर रंगीन दिखाई देता है। न्यूटन ने इसपर तत्कालीन वैज्ञानिक यथार्थता के साथ प्रयोग किया। एक अँधेरे कमरे में छोटे से छेद द्वारा सूर्य का प्रकाश आता था। यह प्रकाश के एक प्रिज्म काच द्वारा अपवर्तित (refract) होकर सफेद पर्दे पर पड़ता था। पर्दे पर सफेद प्रकाश के स्थान पर इंद्रधनुष के सात रंग दिखाई दिए। ये रंग क्रम से लाल, नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीला तथा बैंगनी थे। जब न्यूटन ने प्रकाश के मार्ग में एक और प्रिज्म पहले वाले प्रिज्म से उल्टा रखा, तो उन सातों रंगों का प्रकाश मिलकर पुन: सफेद रंग का प्रकाश बन गया।

इस प्रयोग से न्यूटन ने यह निष्कर्ष निकाला कि सफेद रंग प्रिज्म द्वारा सात रंगों में विभाजित हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ
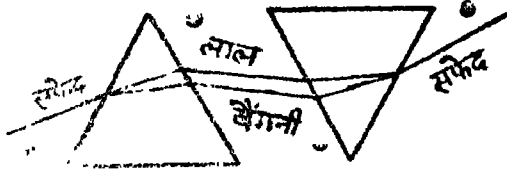
चित्र १. प्रकाश का वर्ण विक्षेपण तथा पुन: मिश्रण

कि जो प्रकाश हमें सफेद रंग का दिखाई देता है, वह वास्तव में सात रंगों के प्रकाश से मिलकर बना है। न्यूटन ने एक गोल चकती को इंद्रधनुष के सात रंगों में उसी अनुपात में रंग दिया जिस अनुपात में वे इंद्रधनुष में हैं। इस चकती को तेजी से घुमाने पर यह सफेद दिखाई देती थी। इससे भी सिद्ध होता है कि सफेद प्रकाश सात रंगों से मिलकर बना है।

प्रकाशस्रोत का रंग -- लोहे का एक टुकड़ा जब धीरे धीरे गरम किया जाय तब उसमें निम्न परिवर्तन दिखाई देता है: पहले तो वह काला ही दिखाई पड़ता है, फिर उसका रंग लाल होने लगता है। यदि उसका ताप बढ़ाते जाएँ तो उसका रंग क्रमश: नारंगी, पीला इत्यादि होता हुआ सफेद हो जाता है। जब लोहा कम गरम होता है तब उससे केवल लाल प्रकाश ही निकलता है। जैसे जैसे लोहा अधिक गरम किया जाता है वैसे वैसे उसमें से अन्य रंगों का प्रकाश भी निकलने लगता है। जब वह इतना गरम हो जाता है कि उसमें से स्पेक्ट्रम (spectrum) के सभी रंगों का प्रकाश निकलने लगे तब उनके संमिलित प्रभाव से वह सफेद दिखाई देता है।

यदि गैसों में विद्युत् विसर्जन हो, तो उससे भी प्रकाश उत्पन्न होता है। जब हवा में विद्युत् स्फुल्लिग उत्पन्न होता है तब उससे बैंगनी रंग का प्रकाश निकलता है। विभिन्न गैसों में विद्युत् विसर्जन होने से विभिन्न रंग का प्रकाश निकलता है।

प्रकाश का रंग -- प्रकाश विद्युच्चुंबकीय तरंगों के रूप में होता है। विभिन्न रंग के प्रकाश का तरंगदैर्घ्य भिन्न होता है। लाल रंग के प्रकाश का तरंगदैर्घ्य (६५×१०^{-५} सेमी०) सबसे अधिक और बैंगनी रंग के प्रकाश का तरंगदैर्घ्य (४५×१०^{-५} सेमी०) सबसे कम होता है। अन्य रंगों के लिये तरंगदैर्घ्य इसके बीच में होता है। विभिन्न तरंगदैर्घ्य की विद्युच्चुंबकीय तरंगों के आँखों पर पड़ने से रंगों की अनुभूति होती है। रंग वास्तव में एक मानसिक अनुभूति है, जैसे स्वाद या सुगंध। बाह्य जगत् में इसका अस्तित्व रंग के रूप में नहीं, बल्कि विद्युच्चुंबकीय तरंगों के रूप में होता है।

रंगीन पदार्थ का रंग — जब किसी प्रकाशस्रोत से निकलनेवाला प्रकाश किसी पदार्थ पर पड़ता है और उससे परावर्तित होकर (या पार जाकर) आँखों पर पड़ता है, तब हम वह वस्तु दिखाई देती है। किसी पदार्थ पर पड़नेवाला प्रकाश यदि बिना किसी रूपांतरण (modification) के हमारी आँखों तक पहुँचे, तो हमें वह वस्तु सफेद दिखाई देती है। उदाहरण के लिये लाल रंग के प्रकाश में देखने पर लाल वस्तु भी सफेद दिखाई देती है। वही वस्तु सफेद प्रकाश में लाल और नीले प्रकाश में काली दिखाई देती है।

अपारदर्शी या पारदर्शी, सभी रंगीन पदार्थों का रंग वरणात्मक अवशोषण (selective absorption) के कारण दिखाई पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि रंगीन वस्तुएँ कुछ रंग के प्रकाश को अन्य रंगों के प्रकाश की अपेक्षा अधिक अवशोषित करती हैं। किस रंग का प्रकाश अधिक अवशोषित होगा, यह वस्तु के रंग पर निर्भर करता है। ऊपर के उदाहरण में कोई वस्तु लाल इसलिये दिखाई देती है कि उसपर पड़नेवाले सफेद प्रकाश में से केवल लाल प्रकाश ही परावर्तित हो पाता है, शेष सभी रंग पूर्ण रूप से अवशोषित हो जाते हैं। लाल वस्तु से लाल रंग का प्रकाश पूर्ण रूप से परावर्तित होता है, इसलिये सफेद रंग के प्रकाश में वह लाल दिखाई देती है। यदि वही वस्तु हम नीले प्रकाश में देखें, तो वह हमें काली इसलिये दिखाई देगी क्योंकि वह लाल के अतिरिक्त अन्य सब प्रकाश अवशोषित कर लेती है। अत: नीला प्रकाश उसमें पूर्ण रूप से अवशोषित हो जायगा और आँखों तक कोई प्रकाश नहीं पहुँचेगा।

यदि कोई वस्तु एक से अधिक रंग परावर्तित करती है, तो उसका मिला हुआ रंग दिखाई पड़ता है। पीली वस्तु लाल और हरे रंग

का प्रकाश परावर्तित करती है। चूँकि लाल और हरे रंग का प्रकाश मिलकर पीला प्रकाश बनता है, अतः वह वस्तु हमें पीली दिखाई देती है।

पारदर्शी रंगीन वस्तुएँ कुछ रंग के प्रकाश को तो अपने में से पार जाने देती हैं और शेष प्रकाश को अवशोषित कर लेती हैं। नीले शीशे में से होकर केवल नीला प्रकाश ही जा पाता है और शेष प्रकाश अवशोषित हो जाता है। यदि पारदर्शी वस्तुओं में से होकर एक से अधिक रंग का प्रकाश जाता हो, तो उन रंगो का संमिलित प्रभाव दिखाई देता है।

रंगों का मिश्रण — प्रकृति में पाए जानेवाले समस्त रंग तीन प्राथमिक रंगों लाल, हरा और नीला से मिलकर बनते है। इन तीन प्राथमिक रंगों को मिलाने की दो विधियाँ हैं : (१) योज्य विधि (Additive method) तथा शेष विधि (Subtractive method)। इसके अतिरिक्त इन दोनों विधियों के संमिलित प्रभाव द्वारा भी नए रंग बनते हैं।

१. योज्य विधि — इस विधि में रंगीन प्रकाश मिलाया जाता है। यदि सफेद दीवार पर दो भिन्न रंगों का प्रकाश पड़े, तो वहाँ एक अन्य रंग की अनुभूति होती है। लाल और हरे रंग का प्रकाश मिलाया जाय तो पीला दिखाई देता है। सभी रंग उपर्युक्त तीन प्राथमिक रंगों को विभिन्न अनुपात में मिलाने से बनते हैं। तीनों रंगों को एक विशेष अनुपात में मिलाने से सफेद रंग बनता है।

पूरक रंग (Complimentary Colours) — तीन प्राथमिक रंगों, लाल, हरा और नीला मे से किन्हीं दो रंगों के मिलाने से, जो रंग बनता है उसे तीसरे रंग का पूरक रंग कहा जाता है। पीले रंग को नीले रंग का पूरक कहा जाता है, क्योंकि पीला रंग शेष दो प्राथमिक रंग लाल और हरा मिलाने से बनता है। किसी रंग में उसका पूरक रंग मिला देने से तीनों रंग इकट्ठे हो जाते हैं और सफेद रंग बन जाता है। इसलिये इसका नाम पूरक रंग पड़ा है। किसी रंग को सफेद बनाने में जिस रंग की कमी होती है उसे पूरक रंग पूरा करता है। इसे निम्न समीकरणों द्वारा अच्छी तरह समझ सकते हैं :

लाल + हरा + नीला = सफेद
लाल + हरा = नीले का पूरक
= पीला
अब नीला + नीले का पूरक = नीला + पीला
= नीला + लाल + हरा
= सफेद

इसी तरह हरे का पूरक रंग मजेंटा (magenta) है, जो लाल और नीला मिलाने से बनता है। लाल का पूरक सियान (cyan) है, जो नीला और हरा मिलाकर बनता है। तीनों को मिलाने से बननेवाले रंग चित्र २. (देखें फलक) में दिखाए गए हैं। उपर्युक्त वर्णन में यह ध्यान में रखना चाहिए कि 'रंग' से यहाँ रंगीन प्रकाश का अर्थ होता है, रंगीन पदार्थ का नहीं।

शेष विधि — इस विधि में रंगीन पदार्थ मिलाए जाते हैं, चाहे वे पारदर्शी हों अथवा अपारदर्शी। रंगीन पदार्थ सफेद प्रकाश में से कुछ रंग का प्रकाश हटा सकते हैं, उनमें रंग जोड़ने की क्षमता नही होती। इसलिये यह विधि शेष विधि कहलाती है। इस विधि से नए रंग बनने का कारण यह है कि अधिकांश पदार्थ शुद्ध एकवर्णी (monochromatic) प्रकाश परावर्तित, या पारगत (transmit) नहीं करते, अन्यथा कोई दो रंगीन पदार्थ मिलाने से केवल काला रंग ही प्राप्त होता। जैसे लाल रंग के फिल्टर से केवल लाल रंग का प्रकाश ही जा पाता है। उसपर नीला फिल्टर भी लगा दिया जाय, तो लाल फिल्टर से निकला हुआ प्रकाश नीले फिल्टर मे पूर्ण रूप से अवशोषित हो जाता है, अर्थात दोनों फिल्टरों का प्रकाश मिलाने से कोई भी प्रकाश बाहर नहीं जा पाता जिससे वे काले दिखाई पड़ते हैं।

शेष विधि में सफेद प्रकाश में से तीन प्राथमिक रंग (लाल, हरा और नीला) हटाए जाते हैं। किसी वस्तु पर रंगीन पदार्थ का लेप, रंगीन छपाई, या रंगीन फोटोग्राफी तथा रंगीन फिल्टर शेष विधि के कारण ही रंगीन दिखाई देते है। इनमें तीन प्राथमिक रंग के पदार्थ होते हैं, जिनके रंग आसमानी (cyan), मजेंटा तथा पीला हैं। ये तीनों रंग योज्य विधि के पूरक रंग हैं। रंगीन छपाई में भी इन्हीं तीन रंगों की स्याहियाँ प्रयुक्त होती है। इन रंगों को इनके अवयवों द्वारा, या उस रंग द्वारा व्यक्त किया जा सकता है जो सफेद प्रकाश मे नहीं है, उदाहरण के लिये .

पीला = हरा + लाल = − नीला

अर्थात् लाल और हरा मिला देने से पीला बनता है, अथवा सफेद प्रकाश में से नीला रंग निकाल लेने से पीला बच रहता है। इसी प्रकार

मजेंटा = नीला + लाल = − हरा
सियान = नीला + हरा = − लाल

सफेद प्रकाश में से तीनों रंग निकाल लेने से काला दिखाई देता है, अर्थात् कोई प्रकाश नहीं दिखाई पड़ता है। (यहाँ भी 'रंग' का अर्थ रंगीन प्रकाश से है)। शेष विधि चित्र ३ (देखें फलक) मे दिखाई गई है।

आभा (Shade) — किसी एक रंग के प्रकाश की तीव्रता अधिक करने, अर्थात् सफेद रंग मिलाने से, या तीव्रता कम करने, अर्थात् काला रंग मिलाने से, रंग की आभा मे अंतर आ जाता है। एकदम काला और एकदम सफेद में किसी रंग की अनुभूति नहीं होती। परंतु विभिन्न अनुपात में काला और सफेद मिलाने से जो स्लेटी रंग (gray) बनते हैं उनके अनुसार किसी भी प्राथमिक अथवा मिश्र रंग की अनेक आभाएँ हो सकती है। [ध० कि० गु०]

रंगमंच वह स्थान है जहाँ नृत्य, नाटक, खेल आदि हों। रंगमंच शब्द रंग और मंच दो शब्दों के मिलने से बना है। रंग इसलिये प्रयुक्त हुआ है कि दृश्य को आकर्षक बनाने के लिये दीवारों, छतों और पर्दों पर विविध प्रकार की चित्रकारी की जाती है और अभिनेताओं की वेशभूषा तथा सज्जा मे भी विविध रंगो का प्रयोग होता है, और मंच इसलिये प्रयुक्त हुआ है कि दर्शकों की सुविधा के लिये रंगमंच का तल फर्श से कुछ ऊँचा रहता है। दर्शकों के बैठने के स्थान को प्रेक्षागार और रंगमंच सहित समूचे भवन

को प्रेक्षागृह, रंगशाला, या नाट्यशाला (या नृत्यशाला) कहते हैं। पश्चिमी देशों में इसे थिएटर या ऑपेरा नाम दिया जाता है।

आविर्भाव — ऐसा समझा जाता है कि नाट्यकला का विकास सर्वप्रथम भारत में ही हुआ। ऋग्वेद के कतिपय सूत्रों में यम और यमी, पुरुरवा और उर्वशी आदि के कुछ संवाद हैं। इन संवादों में लोग नाटक के विकास का चिह्न पाते हैं। अनुमान किया जाता है कि इन्हीं संवादों से प्रेरणा ग्रहण कर लोगों ने नाटक की रचना की और नाट्यकला का विकास हुआ। यथासमय भरतमुनि ने उसे शास्त्रीय रूप दिया। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में नाटकों के विकास की प्रक्रिया को इस प्रकार व्यक्त किया है : "नाट्यकला की उत्पत्ति दैवी है, अर्थात् दु:खरहित सत्ययुग बीत जाने पर त्रेतायुग के आरंभ में देवताओं ने स्रष्टा ब्रह्मा से मनोरंजन का कोई ऐसा साधन उत्पन्न करने की प्रार्थना की जिससे देवता लोग अपना दु:ख भूल सकें और आनंद प्राप्त कर सकें। फलत: उन्होंने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर, नाटक का निर्माण किया। विश्वकर्मा ने रंगमंच बनाया" आदि आदि।

नाटकों का विकास चाहे जिस प्रकार हुआ हो, संस्कृत साहित्य में नाट्य ग्रंथ और तत्संबंधी अनेक शास्त्रीय ग्रंथ लिखे गए और साहित्य में नाटक लिखने की परिपाटी संस्कृत, प्राकृत आदि से होती हुई हिंदी को भी प्राप्त हुई। संस्कृत नाटक उत्कृष्ट कोटि के हैं और वे अधिकतर अभिनय करने के उद्देश्य से लिखे जाते थे। अभिनीत भी होते थे, बल्कि नाट्यकला प्राचीन भारतीयों के जीवन का अभिन्न अंग थी, ऐसा संस्कृत तथा पाली ग्रंथों के अन्वेषण से ज्ञात होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तो ऐसा ज्ञात होता है कि नागरिक जीवन के इस अंग पर राज्य को नियंत्रण करने की आवश्यकता पड़ गई थी। उसमें नाट्यशालाओं का भी स्पष्ट संकेत मिलता है। जैन रायपसेणिय में नाट्यगृह का एक प्राचीन वर्णन प्राप्त होता है। अग्निपुराण, शिल्परत्न, काव्यमीमांसा तथा संगीतमार्तंड में भी राजप्रासाद के नाट्यमंडपों के विवरण प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार महाभारत में रंगशाला का उल्लेख है और हरिवंश पुराण तथा रामायण में नाटक खेले जाने का वर्णन है।

इतना सब होते हुए भी यह निश्चित रूप से पता नहीं लगता कि वे नाटक किस प्रकार के नाट्यमंडपों में खेले जाते थे तथा उन मंडपों के क्या रूप थे। अभी तक की खोज के फलस्वरूप सीतावंगा गुफा को छोड़कर कोई ऐसा गृह नहीं मिला जिसे साधिकार नाट्यमंडप कहा जा सके।

पाश्चात्य विद्वानों की भी धारणा है कि धार्मिक कृत्यों से ही नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ। इससे रंगस्थली (यदि वास्तव में उसे रंगस्थली की संज्ञा दी जा सके) के प्रारंभिक स्वरूप की कल्पना की जा सकती है कि वह वृत्ताकार रही होगी। धीरे धीरे जब दर्शनीयता की ओर अधिक ध्यान दिया गया होगा, तब यह अनुभव किया गया होगा कि इस वृत्ताकार रंगस्थली में केवल आगे के कुछ दर्शक ही दृश्य का पूरा आनंद उठा सकते हैं, पीछे बैठनेवालों को सिर उठाने की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से कटोरानुमा स्थान रंगस्थली के लिये अधिक उपयुक्त समझा जाने लगा होगा। धार्मिक कृत्यों और नृत्य आदि के लिये यह उत्तम प्रबंध था। धीरे धीरे जब नाटकों का रूप अधिक विकसित हुआ, तब यह अनुभव हुआ होगा कि कथाकार और अभिनेताओं के सामने की ओर बैठनेवालों को ही देखने और सुनने की अच्छी सुविधा होती है। इसके लिये पर्वतीय स्थानों में घाटी बहुत उपयुक्त प्रतीत हुई होगी, जिसमें ढाल पर बैठे दर्शक नीचे अभिनेताओं को भली भाँति देख सुन सकते थे और उनके पीछे फैला हुआ विस्तृत भूखंड सहज सुंदर चित्रित प्राकृतिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता था। शायद इसी का अनुकरण अपर्वतीय स्थानों में कृत्रिम रंगशालाएँ बनाकर किया गया, जिनमें वृत्ताकार दीवार के अंदर सीढ़ीनुमा स्थान दर्शकों के बैठने के लिये होता था, जो भीतर बने ऊँचे चबूतरे को तीन ओर से घेरे रहता था। चौथी ओर सीधी दीवार होती थी, जिसमें सुंदर चित्रकारी होती थी। इसके पीछे नेपथ्य होता था। जहाँ अभिनेताओं के उठने बैठने और उनकी रूपसज्जा का प्रबंध रहता था। उपर्युक्त चिरप्रतिष्ठित रंगशाला के प्राचीन रूप में धीरे धीरे सुधार होता गया। कालांतर में प्रेक्षास्थान तीन ओर के बजाय केवल एक ओर, सामने ही सामने रह गया। सारा विन्यास गोल से बदलकर चौकोर हो गया और नाट्यशाला का आधा, या इससे भी अधिक स्थान घेरने लगा।

भारत के आदिकालीन रंगमंच — सीतावंगा की गुफा के देखने से पुराने नाट्यमंडपों के स्वरूप का कुछ अनुमान हो जाता है। यह गुफा १३·८ मीटर लंबी तथा ७·२ मीटर चौड़ी है। भीतर प्रवेश करने के लिये बाईं ओर से सीढ़ियाँ हैं, जिनसे कदाचित अभिनेता प्रवेश करते थे। भीतरी भाग में रंगमंच की व्यवस्था है। यह २·३ मीटर चौड़ी तीन सीढ़ियों (चबूतरों) से बना है, जो एक दूसरे से ७५ सेंमी० ऊँची हैं। चबूतरों के सामने दो छेद हैं, जिनमें शायद बाँस या लकड़ी के खंभे लगाकर पर्दे लगाए जाया करते थे। दर्शकों के लिये जो स्थान है, वह ग्रीक ऐंफीथिएटर की भाँति सीढ़ीनुमा है। यहाँ ५० व्यक्ति बैठ सकते हैं। यह आदिकालीन रंगमंच का स्वरूप भी ऊपर वर्णित विकसित स्वरूप से मेल खाता है। भरत नाट्यशास्त्र से भी हमें नाट्यमंडप के प्राचीन स्वरूप का संकेत मिलता है। आदिवासियों के मंडप गुफारूपी (शैलगुहाकारी) हुआ करते थे, किंतु आर्य लोग अपनी आश्रम सभ्यता के अनुरूप अस्थायी तंबूनुमा नाट्यमंडपों से ही काम चलाया करते थे।

भरत नाट्यशास्त्र पहली अथवा दूसरी शती ई० में संकलित हुआ समझा जाता है। भरत ने आदिवासियों तथा आर्यों दोनों के नाट्यमंडपों के आकार को अपनाया है। इन दोनों के संमिश्रण से इन्होंने नाट्यमंडपों के जो रूप निर्धारित किए, वे सर्वथा भारतीय हैं। प्राचीन यूनानी और रोमन स्वरूपों से इनका कोई संबंध नहीं प्रतीत होता। पाश्चात्य नाट्यमंडप खुले मैदानों में बनते थे और उनमें दर्शकों के हेतु सीढ़ीनुमा अर्धचंद्राकार प्रेक्षास्थान बनते थे। इसके विपरीत भारत में नाट्यमंडप की व्यवस्था एक गृह के भीतर होती थी।

भरत के रंगमंच — भरत ने तीन प्रकार के नाट्यमंडपों का विधान बताया है : विकृष्ट (अर्थात् आयताकार), चतुरस्र (वर्गाकार)

तथा त्र्यस्र (त्रिभुजाकार) । उन्होंने इन तीनों के फिर तीन तीन भेद किए हैं . ज्येष्ठ (देवताओं के लिये), मध्यम (राजाओं के लिये), तथा अवर (औरों के लिये) । इनकी माप के विषय में दिए गए निर्देशों के अनुसार ज्येष्ठ की लंबाई लगभग ५१ मीटर, मध्यम की लगभग २९ मीटर और अवर की लगभग १४½ मीटर होगी । चतुरस्र मंडप की चौड़ाई लंबाई के बराबर, और विकृष्ट की लंबाई से आधी होगी ।

भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यमंडप की नाप के आधार अणु, रज (= ८ अणु), बाल (= ८ रज), लिक्षा (= ८ बाल), यूका (= ८ लिक्षा), यव (= ८ यूका), अंगुली (= ८ यव), हस्त (= २४ अंगुली), और दंड (= ४ हस्त) हुआ करते थे । इस प्रकार एक हस्त ४५६ मिलीमीटर का होता है । कौटिल्य और पाणिनि ने माप के जो आधार दिए हैं, वे भी इनसे मिलते है । विद्वानो का मत है कि ये आधार सिंधु सभ्यता के बाद इस देश मे चालू हुए होगे, क्योंकि उस प्राचीन सभ्यता मे जो मापे मिली है, उनका आधार दशमलव प्रणाली है ।

नाट्यशाला का प्राय. आधा भाग दर्शकों के लिये होता था, जिसे प्रेक्षागृह कहते थे; शेष आधे में रंगमंडप होता था । रंगमंडप के पिछले आधे भाग मे नेपथ्य होता था । शेष के आधे मे सामने रंगशीर्ष और पीछे, नेपथ्य की ओर, रंगपीठ होता था । नेपथ्य से रंगपीठ मे आने जाने के लिये किनारो पर दो दरवाजे होते थे, जिनमें संभवतः किवाड़े नहीं लगा करते थे । रंगपीठ के ऊपर ही, चार खंभों पर छत रखकर, मत्तवारणी बनाई जाती थी । मत्तवारणी संभवतः अटारी का द्योतक है । खंभों पर प्राय हाथी के सिर के सदृश बनी घोड़ियों के ऊपर यह छत रहती थी, इसी से (शायद) इसे मत्तवारणी कहते थे । प्रेक्षागृह सीढ़ीनुमा बनाया जाता था । इन सीढ़ियों में से प्रत्येक १ हाथ ऊँची होती थी, और उसपर लकड़ी के पटरे भी लगा करते थे, शायद उसी प्रकार के जैसे रोमन थिएटरों मे होते थे ।

दीवारों को भीतर की ओर सजाने का भी विधान है । भरत के अनुसार भीत पर अच्छा भित्तिलेप (प्लास्टर) चढ़ाना चाहिए । विद्वानों का मत है कि मिट्टी तथा भूसी को मिलाकर लेवा चढ़ाया जाता था । इसे पीटकर समतल किया जाता था । फिर एक परत चूने की चढ़ाई जाती थी, जिसे घिस घिसकर चिकना किया जाता था । इसके ऊपर शंख पीसकर चढ़ाते थे, और पालिश करते थे । इन भीतों पर सुंदर चित्रकारी की जाती थी ।

नाट्यमंडप में दीवारों के साथ खंभे बनाकर ऊपर छत बनाई जाती थी । रात्रि के समय प्रकाश के लिये दीपक व्यवहार मे आते थे । बहुत से दीपकों के अतिरिक्त शायद मशाल से भी काम लिया जाता रहा होगा । ध्वनि नियंत्रण तथा विस्तार का कोई प्रबंध शायद न था; इसलिये भी नाट्यशालाएँ कुछ छोटी ही हुआ करती थीं । भारतीय प्रेक्षागृह आकार में ग्रीक प्रेक्षागृहों की अपेक्षा. जो बहुधा खुले हुआ करते थे, बहुत छोटे होते थे ।

भरत नाट्यशास्त्र मे दिए हुए नाट्यमंडप के आकार प्रकार तथा सजावट से ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय तक भारत के आदिवासियों के नाट्यमंडपों का प्राथमिक रूप, जो हमे सीताबेंगा गुफा, हाथीगुंफा, तथा नासिक के पास फुलुमई गुफा में प्राप्त होता है, आर्यों के प्राचीनतम लकड़ी के मकानो के रूप मे समन्वित होकर तथा दोनो के संमिश्रण से एक नया ढाँचा खड़ा हो चुका था । यही नहीं, नाट्यमंडप के रूप के विषय मे नियम भी बन चुके थे तथा उनपर धर्म का नियंत्रण भी प्रारंभ हो चुका था । ये नियम इतने कड़े थे कि मापने की रस्सी टूट जाना तथा एक भी स्तंभ का दोषयुक्त होना, नाट्यमंडप के स्वामी के मरण का सूचक समझा जाने लगा था । भरत के समय तक भारतीय रंगमंच इस महान् संसार का द्योतक माना जाने लगा था, जहाँ स्त्री पुरुष प्रविष्ट होकर अपनी पूर्वनिश्चित लीला करते है तथा उसकी समाप्ति पर यहाँ से विदा लेते है ।

चित्र १. भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार रंगमंच के रूप

१. विकृष्ट (आयताकार), २. चतुरस्र (वर्गाकार) तथा ३. त्र्यस्र (तिकोना) ।
न = नेपथ्य, र = रंगपीठ, म = मत्तवारणी, र० शी० = रंगशीर्ष तथा प्रे० = प्रेक्षागृह ।

वर्तमान भारतीय रंगमंच – आधुनिक भारतीय नाट्य साहित्य का इतिहास एक शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है । इस्लाम धर्म की कट्टरता के कारण नाटक को मुगल काल मे उस प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिला जिस प्रकार का प्रोत्साहन अन्य कलाओं को मुगल शासकों से प्राप्त हुआ था । इस कारण मुगल काल में के दो ढाई सौ वर्षों मे भारतीय परंपरा की अभिनयशालाओं अथवा प्रेक्षागारो का सर्वथा लोप हो गया । अंग्रेजों का प्रभुत्व देश में व्याप्त होने पर उनके देश की अनेक वस्तुओं ने हमारे देश में प्रवेश किया । उनके मनोरंजन के निमित्त पाश्चात्य नाटकों का भी प्रवेश हुआ । उन लोगों ने अपने नाटको के अभिनय के लिये यहाँ अभिनयशालाओं का संयोजन किया, जो थिएटर के नाम से अधिक विख्यात हैं । इस ढंग का पहला थिएटर, कहा जाता है, पलासी के युद्ध के बहुत पहले, कलकत्ता में बन गया था । एक दूसरा

थिएटर १७६५ ई० में खुला। इसका नाम 'लिफेड फेयर' था। इसके बाद १८१२ ई० में 'एथीनियम' और दूसरे वर्ष 'चौरंगी' थिएटर खुले।

इस प्रकार पाश्चात्य रंगमंच के संपर्क में सबसे पहले बंगाल आया और उसने पाश्चात्य थिएटरों के अनुकरण पर अपने नाटकों के लिये रंगमंच को नया रूप दिया। दूसरी ओर बंबई मे पारसी
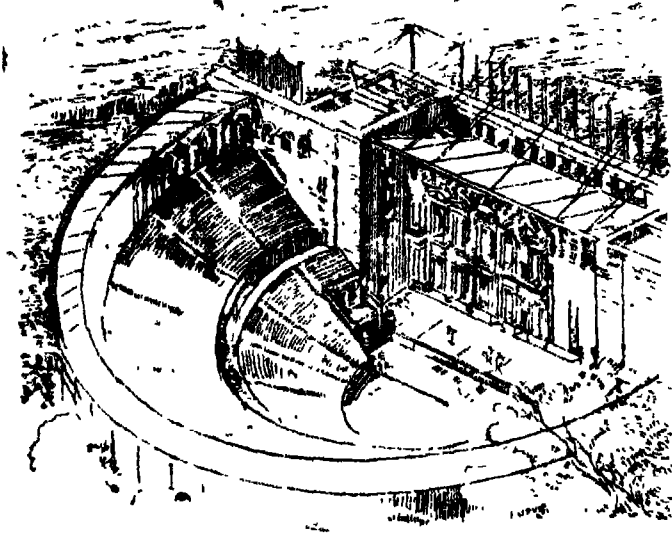
चित्र २. एस्पेंडस का रोमन थिएटर

चिर प्रतिष्ठित रंगशाला का प्राचीन रूप इससे परिलक्षित होता है।

लोगो ने इन विदेशी अभिनयशालाओ के अनुकरण पर भारतीय नाटकों के लिये, एक नये ढंग की अभिनयशाला को जन्म दिया। पारसी नाटक कंपनियो ने रंगमंच को आकर्षक और मनोरंजक बनाकर अपने नाटक उपस्थित किए।

पाश्चात्य रंगमंच - यूनान और रोम की प्राचीन सभ्यता मे हम चौथी शती ई० पूर्व मे रंगमंच होने की कल्पना कर सकते हैं। इतिहास प्रसिद्ध डायोनीसन का थिएटर एथेंस में आज भी उस काल की याद दिलाता है। एक अन्य थिएटर एपिडारस में है, जिसका नृत्यमंच गोल है। ३६४ ई० पूर्व रोमवाले इट्रस्कन अभिनेताओं की एक मंडली अपने नगर मे लाए और उनके लिये 'सर्कस मैक्सियस' में पहला रोमन रंगमंच तैयार किया। इससे कल्पना की जाती है कि इट्रूरियावालों से ही (जिनका उद्गम विवादग्रस्त है) नाट्यकला और फलतः रंगमंच का प्रारंभिक रूप रोम मे आया। सीजर (कैसर) आगस्टस (दूसरी शती ई० पू०) ने रोम को बहुत उन्नत किया। पांपेई का शानदार थिएटर तथा एक अन्य (पत्थर का) थिएटर उसी के बनवाए बताए जाते है।

लगभग दूसरी शती ईसवी मे रंगमंच कामदेव का स्थान माना जाने लगा। ईसाइयत के जन्म लेते ही पादरियो ने नाट्यकला को ही हेय मान लिया। गिरजाघर ने थिएटर का ऐसा गला घोटा कि वह आठ शताब्दियों तक न पनप सका। कुछ उत्साही पादरियो ने तो यहाँ तक फतवा दिया कि रोमन साम्राज्य के पतन का कारण थिएटर ही है। रोमन रंगमंच का अंतिम संदर्भ ५३३ ई० का मिलता है। किंतु धर्म जनसामान्य की आनंद मनाने की भावना को न दबा सका और लोकनृत्य तथा लोकनाट्य, छिपे छिपे ही सही, पनपते रहे। जब ईसाइयो ने इतर जातियों पर आधिपत्य कर लिया, तो एक मध्यम मार्ग अपनाना पड़ा। रीति रिवाजो मे फिर से इस कला का प्रवेश हुआ। बहुत दिनो तक गिरजाघर ही नाट्यशाला का काम देता रहा, और वेदी ही रंगमंच बनी। १०वी से १३वी शताब्दी तक बाइबिल की कथाएँ ही प्रमुखतः अभिनय का आधार बनी, फिर धीरे धीरे अन्य कथाएँ भी आई, किंतु ये नाटक स्वतंत्र ही रहे। चिर प्रतिष्ठित रंगमंच, जो यूरोप भर में जगह जगह टूटे फूटे पड़े थे, फिर न अपनाए गए।

इतालवी पुनर्जागरण के साथ वर्तमान रंगमंच का जन्म हुआ, किंतु उस समय जहाँ सारे यूरोप में अन्य सभी कलाओं का पुनरुद्धार हुआ, रंगमंच को पुन: अपना शैशव देखना पड़ा। १४वी शताब्दी में फिर से नाट्यकला का जन्म हुआ और लगभग
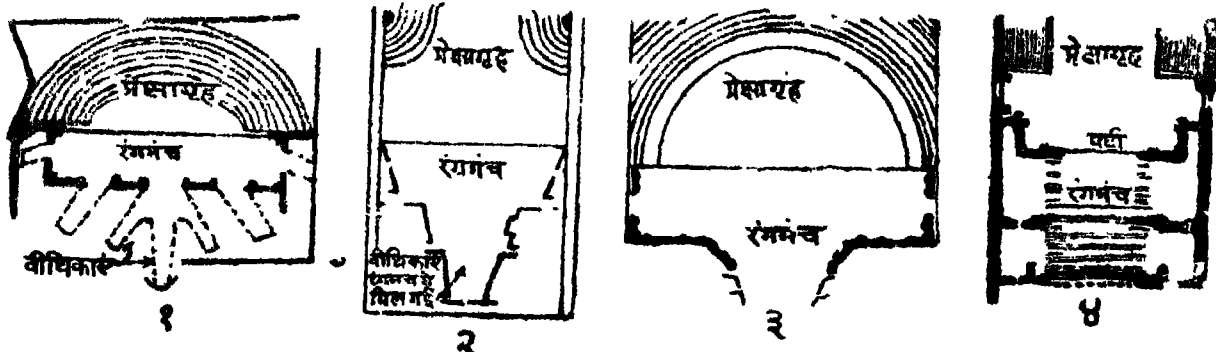
चित्र ३. पाश्चात्य रंगमंचों का विकास (चित्रों के पैमाने भिन्न हैं)

१. रोमीय परंपरावाला विसेंजा रंगमंच (१५८०-८५ ई०), जिसमें बाद मे दीवार के पीछे वीथिकाएँ जोड़ दी गई थी; २. सैबियोनेटा में स्कमोजी ने इन वीथिकाओ को मुख्य रंगमंच से मिला दिया (१५८८ ई०); ३. इनिगो जोन्स ने बाद में इन्हें रंगमंच ही बना दिया तथा ४. आगे चलकर (१६१८-१९ ई०), परमा थियेटर में, रंगमंच पीछे हो गया और पृष्ठभूमि की चित्रित दीवार आगे आ गई।

१६वीं शताब्दी में उसे प्रौढ़ता प्राप्त हुई। शाही महलों की अत्यंत सजी धजी नृत्यशालाएँ नाटकीय रंगमंच में परिणत हो गईं। बाद में उद्यानों में भी रंगशालाएँ बनीं, जिनमें अनेक दीवारों के स्थान पर वृक्षावली, या झाड़बंदी ही हुआ करती थी।

रंगमंच का विकास विसेंजा और परमा मे बनी हुई रंगशालाओं से स्पष्ट परिलक्षित होता है। विसेंजा की ओलिंपियन अकादमी में एक सुंदर रंगशाला सन् १५८०–८५ मे बनी, जिसपर छत भी थी। इसमें पीछे की ओर वीथिकाओं जैसे अनेक कक्ष बढ़ाए गए। सन् १५८८ में सैबियोनेटा में स्कमोजी ने इन कक्षों को मुख्य
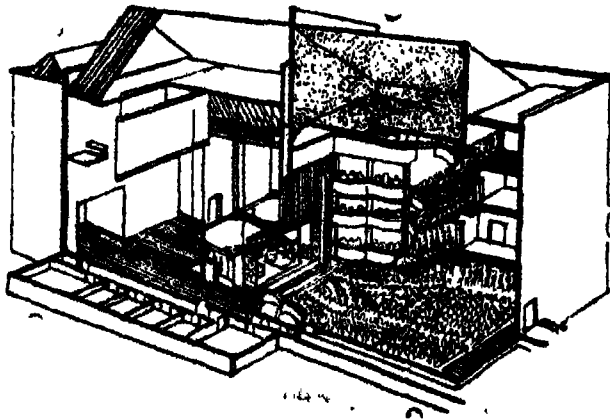
चित्र ४. फ्रेम में जड़ी तस्वीर जैसा रंगमंच का रूप

रंगमंच से मिला दिया, और धीरे धीरे बाद में वे भी रंगमंच ही हो गए। आगे चलकर सन् १६१८–१६ में परमा थिएटर में समूचा रंगमंच ही पीछे कर दिया गया और पृष्ठभूमि की चित्रित दीवार आगे आ गई, जिसपर बीच में बने एक बड़े द्वार से ही नाटक देखा जा सकता है। इस द्वार पर पर्दा लगाया जाने लगा। पर्दा उठने पर दृश्य किसी फ्रेम मे जड़ी तस्वीर जैसा दिखाई पड़ता है। रंगमंच में भी दृश्यों के अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने के लिये अनेक पर्दे लगाए जाने लगे। मिलन का 'ला स्काला' ऑपेरा हाउस १८वीं-१६वीं शती में रंगमंच के विकास का आदर्श माना जाता है। इसमें पखवाइयाँ लगाने के लिये बगलों में स्थान बने हैं।

पुनर्जागरण सारे यूरोप में फैलता हुआ एलिज़बेथ काल में इंग्लैंड पहुँचा। सन् १५७४ तक वहाँ एक भी थिएटर न था। लगभग ५० वर्ष में ही वहाँ रंगमंच स्थापित होकर चरम विकास को प्राप्त हुआ। इस कला की प्रगति की ज्योति इटली से फ्रांस, स्पेन और वहाँ से इंग्लैंड पहुँची। रानी एलिज़बेथ को आडंबर और तड़क भड़क से प्रेम था। इससे रंगमंच को भी प्रोत्साहन मिला। १५६० से १६२० ई० तक शेक्सपियर का बोलबाला रहा। रंगमंच विशिष्ट वर्ग का ही नहीं, जनसामान्य के मनोरंजन का साधन बना। किंतु प्रोटेस्टैंट संप्रदाय द्वारा इसका विरोध भी हुआ और फलस्वरूप १६४६ ई० में नाट्य कला पर रोक लग गई। धीरे धीरे दरबारियों और जनता का आग्रह प्रबल हुआ, और रोक हटानी पड़ी। मार्लो, शेक्सपियर तथा जॉनसन आदि के विश्व-विश्रुत नाटक पुनः प्रकाश मे आए। ग्लोब थिएटर एलिज़बेथ कालीन रंगमंच का प्रतिनिधि है। इसमें पुरानी धर्मशालाओं का स्वरूप परिलक्षित होता है, जहाँ पहले नाटक खेले जाते थे। प्रांगण
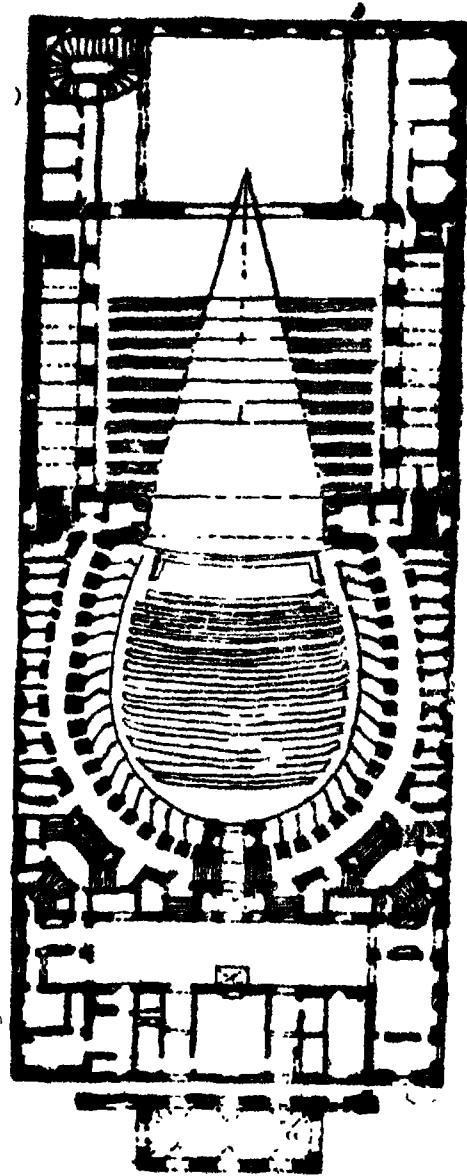
चित्र ५. मिलन का 'ला स्काला' ऑपेरा हाउस

इसमें पखवाइयाँ लगाने के लिये बगलों में स्थान बने हैं। यह १८वी-१६वीं शती में रंगमंच के विकास का आदर्श समझा जाता है।

के बीच में रंगमंच होता था और चारों ओर तथा छज्जों में दर्शकों के बैठने का स्थान रहता था।

जब सारे यूरोप के रंगमंच लोकतंत्र की ओर अग्रसर हो रहे थे, संयुक्त राज्य, अमरीका, में अपनी ही किस्म के जीवन का स्वतंत्र विकास हो रहा था। चार्ल्सटन, फ़िलाडेल्फ़िया, न्यूयॉर्क, और बोस्टन के रंगमंचों पर लंदन का प्रभाव बिलकुल नहीं पड़ा। फिर भी अमरीकी रंगमंचों में कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं थी। इसके

सामान्य रंगमंच घुमंतू कंपनियों के से ही होते थे। किंतु १८वीं शती के अंत तक अनेक उत्कृष्ट कोटि के थिएटर बन गए, जिनमें फ़िलाडेल्फ़िया का चेस्टनट स्ट्रीट थिएटर (१७६४ ई०) और न्यूयॉर्क का पार्क थिएटर (१७६८ ई०) उल्लेखनीय हैं। इनमें

चित्र ६ एलिज़ाबेथकालीन रंगमंच का रूप
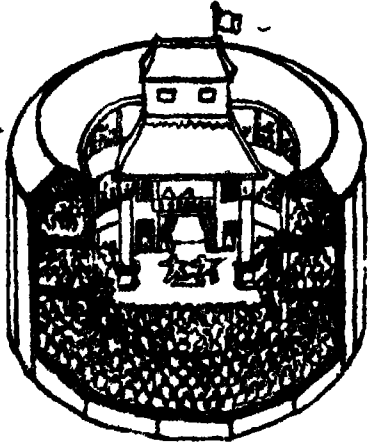
सुंदर प्रेक्षागृह बने, और कुछ यूरोपीय प्रभाव भी आ गया। तदनंतर २०-२५ वर्ष में ही अमरीकी रंगमंच यूरोपीय रंगमंच के समकक्ष, बल्कि उससे भी उत्कृष्ट हो गया।

आधुनिक रंगमंच — आधुनिक रंगमंच का वास्तविक विकास
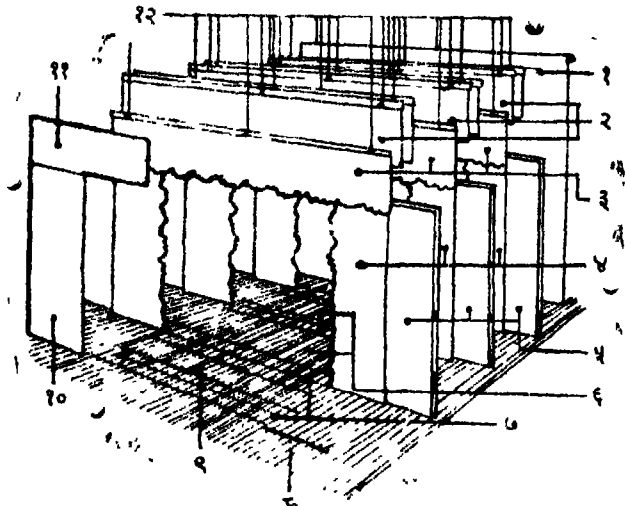
चित्र ७. पारंपरिक रंगमंच का विन्यास

१. बेलन पर लिपटनेवाला पृष्ठपट, २. विविध दृश्यों में प्रयोग के लिये अतिरिक्त झालरें, ३. दृश्यविशेष में प्रयुक्त झालरें, ४. दृश्यविशेष में प्रयुक्त पखवाइयाँ, ५. विविध दृश्यों में प्रयोग के लिये अतिरिक्त पखवाइयाँ, ६. योजक तख्ते, ७. पर्दे तथा पखवाइयाँ खसकाने की पटरियाँ, ८. हटाए जा सकनेवाले तख्ते, जिससे मंच में गढ़ा हो सके, ९. तथा १०. स्थायी पखवाइयाँ, ११. स्थायी झालर और १२. लटकाने की डोरियाँ।

१९वीं शती के उत्तरार्ध से आरंभ हुआ और विन्यास तथा आकल्पन में प्रति वर्ष नए नए सुधार होते रहे हैं; यहाँ तक कि १० वर्ष पहले के थिएटर पुराने पड़ जाते रहे, और २० वर्ष पहले के अविकसित और अप्रचलित समझे जाने लगे। निर्माण की दृष्टि से लोहे के ढाँचोवाली रचना, विज्ञान की प्रगति, विद्युत् प्रकाश की संभावनाएँ और निर्माण संबंधी नियमों का अनिवार्य पालन ही मुख्यत: इस प्रगति के मूल कारण हैं। सामाजिक और आर्थिक दशा में परिवर्तन होने से भी कुछ सुधार हुआ है। अभी कुछ ही वर्ष पहले के थिएटर, जिनमें अनिवार्यत: खंभे, छज्जे और दीर्घाएँ हुआ करती थी, अब प्राचीन माने जाते हैं।

आधुनिक रंगशाला में एक तल फर्श से नीचे होता है, जिसे वादित्र कक्ष कहते हैं। ऊपर एक ढालू बालकनी होती है। कभी कभी इस बालकनी और फर्श के बीच में एक छोटी बालकनी और होती है। प्रेक्षागृह में बैठे प्रत्येक दर्शक को रंगमंच तक सीधे देखने की सुविधा होनी चाहिए, इसलिये उसमें उपयुक्त ढाल का विशेष ध्यान रखा जाता है। ध्वनि उपचार भी उच्च स्तर का होना चाहिए। समय की कमी के कारण आजकल नाटक बहुधा अधिक लंबे नहीं होते, और एक दूसरे के बाद क्रम से अनेक खेल होते है। इसलिये दर्शकों के आने जाने के लिये सीढ़ियाँ, गलियारे, टिकटघर आदि सुविधाजनक स्थानों पर होने चाहिए, जिससे अव्यवस्था न फैले।

१८६० ई० तक रंगमंच से चित्रकारी को दूर करने की कोई कल्पना भी न कर सकता था, किंतु आधुनिक रंगमचों में रंग, कपड़ों, पर्दों, और प्रकाश तक ही सीमित रह गया है। रंगमंच की रंगाछुही और सज्जा पूर्णतया लुप्त हो गई है। सादगी और गंभीरता ने उसका स्थान ले लिया है, ताकि दर्शकों का ध्यान बँट न जाय। विद्युत् प्रकाश के नियंत्रण द्वारा रंगमंच में वह प्रभाव उत्पन्न किया जाता है जो कभी चित्रित पर्दों द्वारा किया जाता था। प्रकाश से ही विविध दृश्यों का, उनकी दूरी और निकटता का और उनके प्रकट और लुप्त होने का आभास कराया जाता है।

विभिन्न दृश्यों के परिवर्तन में अभिनेताओं के आने जाने में जो समय लगता है, उसमें दर्शकों का ध्यान आकर्षित रखने के लिये कुछ अवकाश गीत आदि कराने की आवश्यकता होती थी, जिनका खेल से प्राय: कोई संबंध न होता था। अब परिभ्रामी रंगमंच बनने लगे हैं, जिनमें एक दृश्य समाप्त होते ही, रंगमंच घूम जाता है, और दूसरा दृश्य जो उसमें अन्यत्र पहले से ही सजा तैयार रहता है, सामने आ जाता है। इसमें कुछ क्षण ही लगते है। अभी सन् १९६२ में जबलपुर (म० प्र०) में एक परिभ्रामी रंगमंच तैयार हुआ है। ऐसे रंगमंच अब प्राय: सभी प्रगतिशील देशों में बनने लगे हैं।

चित्रपट और रंगमंच — चित्रपट (सिनेमा) के आ जाने से रंगमंच का स्थान बहुत संकीर्ण हो गया है। विशाल प्रेक्षागृहों में, केवल एक छोटा सा रंगमंच, जिसपर कभी कभी आवश्यकता पड़ने पर छोटे मोटे नृत्य, या एकांकी आदि खेले जा सकें, बना देना पर्याप्त समझा जाता है। पृष्ठभूमि पर रजतपट रहता है। आवश्यकतानुसार एक दो पर्दे भी लगाए जा सकते हैं। वादित्र के लिये रंगमंच के सामने एक गड्ढे में थोड़ा सा स्थान रहता है। दर्शकों के लिये अधिक स्थान होने के कारण उपयुक्त संवातन, ध्वनिनियंत्रण, एवं अन्य व्यवस्थाओं की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। अब तो

पाँच छह हजार दर्शकों के लिये स्थानवाले, बड़ी सुखप्रद कुर्सियों से युक्त प्रेक्षागृह सभी बड़े नगरों में बनते हैं।

सिनेमा का आकर्षण अधिक होने पर भी, नाटकों के लिये उपयुक्त रंगमंच बनाने का पाश्चात्य देशों में काफी प्रयास हो रहा है। मनोरंजन की दृष्टि से कम, शिक्षा की दृष्टि से इनकी उपयोगिता अधिक समझी गई है। शैक्षणिक रंगमंच में अमरीका संसार में अग्रणी है। अमरीकी शैक्षणिक रंगमंच की शाखाएँ बहुत से विश्वविद्यालयों में खुली हैं।

भारत में भी सिनेमा का प्रचार दिन दिन बढ़ रहा है। किंतु यहाँ देहात अधिक होने के कारण रंगमंच के लिये अब भी पर्याप्त क्षेत्र है और प्रोत्साहन मिलने पर यह सामाजिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग बना रहेगा। इस दृष्टि से रंगमंच के प्रति केंद्रीय सरकार और राज्य सरकारों की अनुभूति बढ़ती रही है और वे सक्रिय सहायता भी देती हैं। केंद्रीय सरकार ने संगीत नाटक अकादमी की मार्फत सन् ५३ से ५८ ई० तक १०·५ लाख रुपया अनुदान के रूप में विविध संस्थाओं को दिया है। बंबई राज्य ने रंगमंचों के लिये ३३·३ प्रति शत मनोरंजन कर समाप्त कर दिया है। रंगमंच के विकास का अनुमान गोवालिया टैंक (बंबई) में गोकुलदास थिएटर, और बिड़ला थिएटर, जैसी आधुनिक और वातानुकूलित रंगशालाओं के निर्माण से लगता है; यद्यपि उनके मंच और पृष्ठमंच में समुचित सुविधाओं का आयोजन नहीं किया गया।

सं० ग्रं० — राय गोविंदचंद्र : भरत नाट्य शास्त्र में नाट्यशालाओं के रूप; भारतीय रंगमंच के क्षितिज, (वैज्ञानिक अनुसंधान और सांस्कृतिक कार्य मंत्रालय, भारत सरकार); आर० के० याज्ञिक : दि इंडियन थिएटर; मुल्कराज आनंद : दि इंडियन थिएटर; एलारडाइस निकोल : दि डेवलपमेंट ऑव दि थिएटर; रिचार्ड लीक्रॉफ्ट : सिविक थिएटर डिज़ाइन। [वि० प्र० गु०]

रँगाई (Dyeing) प्राय: सभी तंतुमय पदार्थों में जल अवशोषण की क्षमता होती है। यदि जल में कोई रंजक (dye) उपस्थित हो और उसे तंतुमय पदार्थ के संपर्क में रखा जाय, तो जल के विलयन से रंजक निकलकर, तंतुमय पदार्थ से संबद्ध होकर, उसपर वितरित हो जाता है। इसके फलस्वरूप जल में रंजक की मात्रा कम हो जाती है और विलयन का रंग हलका हो जाता है। विलयन को विलोडित करने और तंतुमय पदार्थ को प्रक्षुब्ध करते रहने से उपर्युक्त क्रिया शीघ्र और एक रूप में संपन्न होती है। उपर्युक्त क्रिया में रंग ग्रहण किए हुए तंतुमय पदार्थ को रंजित पदार्थ, क्रिया को रँगाई या रंजन प्रक्रम (dyeing process) कहते हैं। रंजक के विलयनवाले पात्र को रंजककुंडिका (dye bath) तथा रँगाई के उपरांत बचे हुए विलयन को निर्गत (exhausted) रंजक विलयन कहते हैं। रँगाई की उपर्युक्त सरलतम क्रिया में केवल विशिष्ट रासायनिक रंजक का उपयोग किया जा सकता है। रँगाई वास्तव में इतनी सरल क्रिया नहीं है जितनी उपर्युक्त उदाहरण से मालूम होती है। रँगाई में विशिष्ट तंतुमय पदार्थों की संतोषप्रद रूप से प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि रंजक के विलयन में कुछ अन्य पदार्थ भी डाले जायें। इन्हें विरंजक सहायक कहते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ परिस्थितियों में तंतुमय पदार्थ में रंजक के उपयुक्त स्थिरीकरण तथा रंग के विकास के लिये कुछ विशिष्ट धातुओं के आयन की आवश्यकता होती है, जिन्हें रंगबंधक (mordants) कहते हैं। रंगबंधकों का उपयोग रँगाई के पूर्व अथवा बाद में, या रंजकों के साथ साथ, किया जाता है। रंजकों के यौगिकों के अणुओं में धातु-विशेष अभिन्न अंग के रूप में स्थित होता है। यदि रंगबंधक का उपयोग रँगाई के पूर्व करना होता है, तो उस दशा में तंतु, सूत या वस्त्र को रंगबंधक द्रव में पहले से निमज्जित कर लेते हैं। इसके लिये रंजक का जल में विलेय होना, अथवा जल के साथ महीन निलंबन के रूप में होना अत्यावश्यक है। रँगाई के उपरांत प्रयुक्त रंगबंधक के प्रयोग की दशा में उन्हीं रंजकों का उपयोग किया जा सकता है, जो जल में विलेय होते हैं। रँगाई में कभी कभी रंजक की रासायनिक संरचना में परिवर्तन करना संभव होता है। ऐसा तभी किया जाता है जब रंजक जल में अविलेय होता है। रंजक की रासायनिक संरचना में उपयुक्त परिवर्तन उत्पन्न करके ऐसा परिवर्तित उत्पाद तैयार किया जाता है जिसका जल में परिक्षेपण (dispersion) बन सके। रँगाई में सूतों को परिक्षेपण में ऐसे निमज्जित किया जाता है कि रंजक सूत पर चिपक जाय। इसके बाद रंजित वस्तु को वायु में रखा जाता है। इससे परिवर्तित रंजक की रासायनिक संरचना प्रारंभिक संरचना में परिवर्तित होने से उत्प्रेरित होती है। ऐसी रँगाई में जल अविलेय, वैट (vat) रंजक का उपयोग होता है। ऐसी रँगाई पक्की होती है।

रँगाई की तीन रीतियाँ अधिक महत्व की हैं। एक रीति में तंतु की रँगाई के समय रंजक का निर्माण होता है। विशेष रासायनिक कारकों के जलीय विलयन में तंतु के निमज्जित करने से तंतु के ऊपर इन कारकों का महीन लेप चढ़ जाता है। ऐसे प्राप्त तंतुओं को निश्चित परिस्थितियों में गरम करने पर तंतु के स्तर पर स्थित कारकों की परस्पर क्रिया से वास्तविक रंजक का निर्माण होता है। इस प्रकार रँगाई रासायनिक रीति से संपन्न होती है। ऐसे रंजकों में प्रमुख रंजक ऐनिलीन ब्लैक है। सेलुलोस तंतुओं, सूत और रेयन के लिये यह विशेष रूप से उपयुक्त है। इससे लकड़ी की भी रँगाई की जा सकती है। दूसरी रीति में सूत को रंजक के एक घटक के जलीय विलयन में निमज्जित कर, दूसरे घटक के जलीय विलयन में निमज्जित करते हैं। रंजकों के दोनों घटकों की पारस्परिक क्रिया से सूत पर रंग का विकास होता है। दोनों घटकों की क्रिया से अविलेय रंजक बनता है। ऐसी रँगाई पक्की होती है। ऐसे रंजकों में पैरानाइट्रो ऐनिलीन रेड, ऐल्फा नैफ्थीलेमिन क्लारेट, बीटा नैफ्थोल, नैफ्टॉल, नैफ्टाजोल प्रमुख हैं।

तीसरी रीति में जल में अविलेय ऐसे रंजकों का प्रयोग होता है जो सूत या वस्त्र के साथ रासायनिक प्रक्रिया द्वारा रंग ग्रहण करते हैं। यहाँ रंग का विकास रासायनिक क्रिया द्वारा होता है। ऐसे रंजकों का पहले सूक्ष्म कणों में विभाजित, जलीय निलंबन तैयार करते हैं। ऐसे विलयन में सूत या वस्त्र को निमज्जित करने से रंग का विकास होता है। ऐसे रंजक सेलुलोस एस्टर के लिये अधिक उपयुक्त हैं। सामान्यत: ये प्रतिस्थापित ऐंथ्राक्विनोनॉयड या ऐज़ो प्रकार के होते हैं।

आधुनिक रँगाई का उद्देश्य ऐसा रंजित पदार्थ तैयार करना है जिसपर एक सी रंग आभा उत्पन्न हो और उसपर धुलाई, धूप, वर्षा आदि का कोई प्रभाव न पड़े। रँगाई ऐसी हो कि पूर्वनिश्चित रंग आभा में पुनरुत्पादन हो जाता हो। जिस प्रकार रँगाई के लिये विशिष्ट स्तर का निर्धारण किया जाता है, उसी प्रकार रंजकों में भी विशिष्ट गुणों का होना आवश्यक माना जाता है। इसके लिये आदर्श रंजक ऐसा होना चाहिए कि रँगाई सरलतम रीति से उदासीन, या मंद अम्लीय, या मंद क्षारीय विलयनों में संपन्न हो जाय। रँगाई में रंजक की रंग आभा में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए। रंजक विलयन की एक यह भी विशेषता होनी चाहिए कि तंतुओं में वह सरलता से प्रविष्ट हो जाय ताकि रंजित वस्त्र में एक सी रंग आभा प्राप्त हो।

आधुनिक रँगाई में आज बहुत प्रगति हुई है और वांछित रंग आभा का प्राप्त होना अब संभव हो गया है। आदर्श रँगाई के निम्नलिखित उदाहरण हैं :

(१) ऊन, या ऊनी वस्त्रों के लिये अम्लीय रंजकों के तीन वर्णसंयोजन का उपयोग। (२) प्रकाश, या सूर्यकिरणों में स्थायी रहनेवाले रंजकों की शृंखला का विकास। (३) पक्के ऐजो रंजकों का निर्माण। (४) विलेय वैट रंजकों का विकास। (५) विलेय रंगबंधक रंजकों की शृंखला का विकास। रँगाई केवल आदर्श रंजकों पर ही निर्भर नहीं करती वरन् उसके लिये विशेष अनुभव की भी आवश्यकता होती है।

रंजक साधारणतया जल में विलेय होते हैं पर कुछ रंजक रँगने के समय विशेष उपचार द्वारा विलेय बनाए जाते हैं। रँगाई के बाद वे फिर अविलेय हो जाते हैं। विलेय रंजक तंतुओं की संरचना में कैसे प्रविष्ट कर जाते हैं. इसका भौतिकीय और रासायनिक रीति से विश्लेषण हुआ है। यहाँ अवशोषण, लवणनिर्माण, हाइड्रोजन बंधता से आभासी रासायनिक संयोजन, ईथर बंधन, या विशेष परिस्थितियों में केवल विलयन प्रभाव हो सकता है। अंतिम परिणाम यह होता है कि तंतु के ऊपर रंजक व्याप्त हो जाता है, या तंतु के साथ रंजक का स्थिरीकरण हो जाता है। धुलाई तथा प्रकाश से यदि रंजित पदार्थ के रंग में कोई अंतर नहीं आता तो ऐसे रंग को पक्का रंग कहते हैं।

रासायनिक संरचना और व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से रंजकों को कई वर्गों में विभक्त किया गया है (देखें रंजक)। अम्लीय रंजकों में सल्फोनिक समूह का लवण रहता है। इससे ऊन, रेशम और नाइलॉन रँगे जाते हैं।

क्षारक रंजकों में क्षारक समूह के लवण रहते हैं। इनसे ऊन और रेशम रँगे जाते हैं। कपास सूत पर इनका प्रभाव नहीं पड़ता, सिवाय उस दशा में जब रंगबंधक का उपयोग हो।

क्रोम रंजकों में क्रोमियम यौगिकों के साथ रंजक व्यवहृत होता है। ये रंजक ऊन के लिये बड़े अच्छे हैं और पक्का रंग देते हैं। क्रोमियम यौगिक रँगाई के पूर्व, या मध्य में, या बाद में डाला जा सकता है। इन्हें रंगबंधक रंजक भी कहते हैं। प्रत्यक्ष रंजक रेयन, रेशम और कपास में प्रयुक्त होते हैं। इन रंजकों में ऐजो समूह रहते हैं। इनका रंग पक्का नहीं होता पर ये अम्लों और क्षारों से अल्प आक्रांत होते हैं। सस्ता होने, सरलता से रँगे जाने और विभिन्न आभा उत्पन्न करने के कारण इनका व्यवहार व्यापक रूप से होता है।

गंधक रंजकों में गंधक रहता है। इनसे सूती वस्त्र रँगे जाते हैं। धुलाई से इनका रंग जाता नहीं। प्रकाश से कुछ कम हो जाता है। यह सस्ता होता है और सामान्यतः काला, धूसर, या नीला रंग देता है।

वैट रंजक में अधिकांशतः नील, या ऐंथ्राक्विनोन किस्म के रंजक होते हैं। इनके अपचयन से विलेय रूप प्राप्त होता है और तंतु पर बैठाकर हवा में खुला रखने से विलेय रूप ऑक्सीकृत हो अविलेय रूप में बदल जाता है। इससे सूती रेशे और रेयन रँगे जाते हैं और प्रकाश तथा धुलाई के प्रति बड़े स्थायी होते हैं। ये कुछ महँगे पड़ते हैं।

ऐजो रंजक कपास और रेयन के लिये उपयुक्त हैं। इनसे चमकीले और धुलाई में स्थायी तथा प्रकाश में अपेक्षया स्थायी रंग प्राप्त होते हैं। ये जल में पूर्णतया अविलेय होते हैं और तंतु पर ही रंग का विकास होता है।

डाइएजो रंजक, या विकसित रंजक एक विशिष्ट प्रकार के प्रत्यक्ष रंजक हैं। इनमें डाइएजो समूह रहता है। इन रंजकों से रँगे जाने के बाद रेशे को तनु खनिज अम्ल में ले जाते हैं जिसमें सोडियम नाइट्राइट रहता है। तंतु पर डाइएजो रंजक बनता है और उसे नैफ्थॉल, या इसी प्रकार के अन्य यौगिकों के साथ मिलाने से रंग विकसित होता है जिससे रंग पक्का हो जाता है। यह कपास, रेयन और रेशम रँगने में प्रयुक्त हो सकता है।

ऐसीटेट रेयन और नाइलॉन के रँगने में ऐसीटेट रेयन रंजक प्रयुक्त होते हैं। ये सामान्यतः ऐजो, या ऐंथ्राक्विनोन वर्ग के होते हैं। इनमें सल्फोनिक समूह नहीं होता। ये शीघ्रता से प्रकीर्णित होकर कोलायडी परिक्षेपण (dispersion) बनते हैं, जिसे सेलुलोस ऐसीटेट जल्द ग्रहण कर लेता है। [अ० सिं०]

रंगीन फोटोग्राफी (Colour Photography) दो विधियों द्वारा संपन्न होती है : प्रथम, वस्तुपरक (objective), या भौतिक रंगीन फोटोग्राफी, जिसका उद्देश्य हरी वस्तु को हरी तथा नीली को नीली अर्थात् वस्तु को वास्तविक रंग में दिखाना है। इसका उदाहरण लिप्मैन प्लेट (Lippman Plate) विधि है। यह विधि व्यावहारिक तथा व्यापारिक महत्व की नहीं है। दूसरी विधि, प्रातीतिक (subjective), अथवा त्रिवर्णी (trichromatic) फोटोग्राफी, है। यही विधि व्यावहारिक तथा व्यापारिक महत्व की है। इसी का वर्णन किया जायगा।

त्रिवर्णी रंगीन फोटोग्राफी — टॉमस यंग (सन् १८०१) तथा बाद में अन्य लोगों ने, विशेषकर हेल्महोल्ट्स (Helmholtz) ने, यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि मानवीय आँखों के द्वारा रंग का दर्शन, केवल तीन प्राथमिक रंगों के मिश्रण पर आधारित है और

कोई भी रंग इन रंगों के उचित अनुपात में मिश्रण द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है। ये तीन रंग लाल, हरा तथा नीला हैं।

मैक्स्वेल ने १८६१ ई० में फोटोग्राफी के द्वारा एक रंगीन दृश्य को चित्रित कर यंग के सिद्धांत को सिद्ध किया था। इस प्रकार मैक्स्वेल ने यह दर्शाया था कि तीन विभिन्न रंगों के प्रकाशस्रोतों को समुचित रूप से मिश्रित करके आँखों द्वारा परिलक्षित किसी भी रंग का आभास कराया जा सकता है। उसके द्वारा चुने रंग लाल, हरा तथा नीला थे, जिन्हें 'प्राथमिक रंग (Primary colours), कहा जाता है। इन्हें मिश्रित करके, कुछ बहुत ही गहरे रंगों को छोड़कर, समस्त रंग 'निर्मित' किए जा सकते हैं।

इन तीनों प्राथमिक रंगों के विभिन्न अनुपातों में संयोग से अन्य अनेक प्रकार के रंग उत्पन्न किए जा सकते हैं, जैसे हरा एवं लाल मिलाने से, हरे तथा लाल की सापेक्षिक तीव्रता के अनुसार, नारंगी, पीला या पीला हरा रंग उत्पन्न हो जायगा।

रंगीन चित्रण विधि — आधुनिक व्यावसायिक विधियों में रंगीन फोटोग्राफी की क्रिया दो भागों में की जाती है, प्रथम 'त्रिवर्णी विश्लेषण' (Trichromatic Analysis) तथा द्वितीय 'वर्ण संयोजन' (Colour Synthesis)। मैक्सवेल ने अपनी विश्लेषण की क्रिया में विषयवस्तु से आनेवाले प्रकाश को लाल, हरे तथा नीले फिल्टरों से गुजार कर, तीन भिन्न फोटोग्राफी के प्लेटों पर डाला और इस प्रकार विषयवस्तु के लाक्षणिक रंगों का विश्लेषण कर लिया। लाल रंग के लिये फोटोग्राफीय इमल्शन को जब एक लाल फ़िल्टर के पीछे उद्भासित (expose) करके विकसित, अर्थात् डेवलप (develope), किया जाता है, तब विषयवस्तु के प्रत्येक क्षेत्र से परावर्तित लाल प्रकाश, काले सफेद 'नेगेटिव' चित्र में, चाँदी के कणों के घनत्व के रूप में परिवर्तित हो जाता है। विषयवस्तु के किसी भाग से जितना अधिक लाल प्रकाश आएगा उतना ही अधिक नेगेटिव के तदनुरूप भाग में चाँदी के काले कणों का घनत्व होगा, तथा वह स्थान जहाँ से कोई भी लाल प्रकाश न आएगा नेगेटिव में बिल्कुल साफ रहेगा, अर्थात् वहाँ घनत्व शून्य होगा। इसी प्रकार, दूसरी और तीसरी प्लेटें, जो हरे तथा नीले फिल्टरों के पीछे उद्भासित की गई थीं, विषयवस्तु के क्रमश: हरे तथा नीले रंगों को परावर्तित करनेवाले भागों को अंकित करेंगी। साथ ही विषयवस्तु के इन दो, या अधिक प्राथमिक रंगों से निर्मित रंग दो, या अधिक नेगेटिवों में अंकित हो जाएँगे। इस प्रकार विषयवस्तु के समस्त रंग, कुल मिलाकर इन तीन निगेटिवों में, चाँदी के घनत्वों के रूप में, अंकित हो जाएँगे। इसी क्रिया को विषयवस्तु का 'त्रिवर्णी विश्लेषण' कहते है तथा प्लेट पर लगा पायस (इमलशन) इन रंगों का अभिलेख होता है।

अब रंगीन त्रिवर्णी फोटोग्राफी की विधि का दूसरा भाग 'रंग संयोजन' पूर्ण किया जाता है। इस क्रिया का उद्देश्य प्रथम क्रिया से प्राप्त तीनों नेगेटिवों में अंकित चाँदी के प्रतिबिंबों से मूल रंगों के प्रतिबिंबों का पुन: संयोजन है। मैक्स्वेल ने इस क्रिया के लिये नेगेटिवों से तीन पॉजिटिव प्रतिबिंब, अथवा मैजिक लालटेनों की तीन स्लाइडें बनाई थीं और प्रकाश को प्रथम उनमें से और बाद में लाल, नीले तथा हरे फिल्टरों से गुजारकर, एक पर्दे पर प्रक्षेपित (project) कर, दर्शकों के चक्षुओं के लिये रंगीन चित्र का निर्माण अथवा 'संयोजन' कर दिया था।

प्रत्येक रंगीन-चित्रण-प्रणाली में यही दो, वर्णविश्लेषण तथा वर्णसंयोजन, की क्रियाएँ उपयोग में लाई जाती हैं। प्राय: तीन वर्ण पृथक्करण नेगेटिव अलग अलग नहीं देखे जाते, अपितु संयोजन क्रिया एक ही कागज अथवा फिल्म में कर दी जाती है। सही रंगीन फोटोग्राफी के लिये यही दोनों क्रियाएँ करनी पड़ती हैं।

जिस प्रकार कोई रंग, या तो दो प्राथमिक रंगों के मिश्रण के द्वारा, अथवा श्वेत प्रकाश से कुछ रंग अवशोषित कर, प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार वर्णसंयोजन की भी दो विधियाँ हैं — एक तो योगज-वर्ण-निर्माण (Additive Colour Synthesis) तथा दूसरी व्यवकलनात्मक-वर्ण-संश्लेषण (Subtractive Colour Synthesis)

इसी प्रकार श्वेत प्रकाश से कुछ वर्णों को निकालकर, या अवशोषित कर एक नया रंग प्राप्त किया जा सकता है। एक पीला फिल्टर हरे तथा लाल रंग के प्रकाशों को तो गुजार देता है, पर नीले को अवशोषित कर लेता है, अर्थात् एक पीला फिल्टर ऋण नीला, अथवा नीला अवशोषक है। इस प्रकार इसके उपयोग के पश्चात् श्वेत प्रकाश में सिवाय नीले वर्ण स्पेक्ट्रम के समस्त रंग मौजूद होंगे। इसी प्रकार 'मैजेंटा फ़िल्टर' हरा अवशोषक है। इसलिये, यदि एक पीला फिल्टर श्वेत प्रकाश के समक्ष रखा जाय और उसके बाद एक मैजेंटा फिल्टर, तो दर्शक को केवल लाल प्रकाश ही पारेषित (transmit) होकर प्राप्त हो सकेगा। इसी प्रकार एक मैजेंटा फिल्टर (हरा अवशोषक) तथा सायन फिल्टर (लाल अवशोषक) के प्रयोग से केवल नीला प्रतिबिंब ही प्राप्त होगा, क्योंकि लाल तथा हरा अवशोषित हो जाएँगे। एक सायन-फिल्टर (लाल अवशोषक) तथा पीले फिल्टर (नीले अवशोषक) के प्रयोग से केवल हरा बच रहेगा। इस प्रकार तीनो प्राथमिक रंग (हरा, लाल और नीला) या अन्य रंग श्वेत से सायन, मैजेंटा अथवा पीले आदि जैसे उचित रंगों के व्यवकलन (subtraction) के द्वारा उत्पन्न किए जा सकते है। यही वर्णनिर्माण की व्यवकलन विधि है।

योगज वर्णसंश्लेषण — जैसा पहले कहा जा चुका है, त्रिवर्णी रंगीन फोटोग्राफ 'योगज' अथवा 'व्यवकलन' वर्ण-संश्लेषण-विधि से तैयार किए जा सकते है। त्रिवर्णी वर्ण विश्लेषण द्वारा प्राप्त, डेवलप किए हुए पृथक्करण निगेटियों में चाँदी के कणों के घनत्व, वस्तु (subject) से परावर्तित होकर आए, तीनों प्राथमिक रंगों की मात्रा को प्रदर्शित करते हैं। पृथक्करण निगेटिव को यदि लाल फिल्टर के समक्ष (अनावृत) किया जाय, तो उस निगेटिव में चाँदी के कणों का घनत्व वस्तु में लाल रंग की स्थिति प्रदर्शित कर देगा।

यदि इन नेगेटिवों से अश्वेत श्वेत, अर्थात् काले सफेद 'पॉजिटिव' पारदर्शी चित्र बना लिए जाएँ, तो उनमें काले कणों के घनत्व की अनुपस्थिति रंग की उपस्थिति को प्रदर्शित करेगी। लाल पृथक्करण निगेटिव से प्राप्त पॉजिटिव में विषयवस्तु के लाल भागों के अनुरूप भाग साफ होंगे, कम लालवाले भागों में काले कणों का थोड़ा घनत्व होगा और लाल रंगविहीन भागों में अपेक्षाकृत अधिक घनत्व होगा।

इस प्रकार यह पॉज़िटिव, वस्तु में लाल रंग की उपस्थिति का अभिलेख फोटोग्राफ में चाँदी के कणों के घनत्व के रूप में, प्रस्तुत कर देगा। जितना अधिक घनत्व होगा, उतना ही कम लाल रंग, वस्तु में उस स्थान पर, उपस्थित रहा होगा।

इस पॉज़िटिव चित्र को जब लाल प्रकाश की सहायता से देखा जायगा, तो वह दर्शक को वस्तु के विभिन्न भागों में उपस्थित लाल रंग को दर्शा देगा। इसी प्रकार दो अन्य नेगेटिवों से बने पॉज़िटिव पारदर्शक चित्र वस्तु के हरे व नीले रंग को उस समय प्रदर्शित कर देंगे जब उन्हें क्रमश: हरे और नीले प्रकाश की सहायता से देखा जायगा, अर्थात् उस रंग के प्रकाश की सहायता से देखा जायगा जिसमें उन दोनों निगेटिवों को उद्भासित किया गया था।

विषयवस्तु को संपूर्ण रंगों में प्रदर्शित करने के लिये अब केवल इन तीनों रंगों को संश्लेषित कर देना शेष रह जाता है। यह कार्य योगज प्रक्षेपन (additive projection) द्वारा, अथवा फोटो क्रोमोस्कोप (प्रकाश वर्णदर्शी, अर्थात् तीन रंगीन पॉज़िटिवों को एक ही जगह एकत्र करके देखने का यंत्र) के द्वारा पूर्ण किया जा सकता है।

यद्यपि इस विधि से विषयवस्तु का रंग तो शुद्ध रूप से प्रदर्शित हो जाता है, पर अधिक खर्चीली तथा असुविधाजनक होने के कारण यह प्रचलित तथा सर्वप्रिय नहीं हो पाई। इसका उपयोग रंगीन चलचित्रों तथा रंगीन टेलीविजन आदि के लिये होता है।

वर्णसंयोजन की व्यवकलन विधि — यदि लाल फिल्टर के वर्ण पृथक्करण नेगेटिव से तैयार किए हुए पॉज़िटिव पर चाँदी का प्रतिबिंब, एक सायन (cyan, हरा और नीला के बीच का) रंग [जैसे रंजक (dye), स्याही, या वर्णक (pigment)] में परिवर्तित कर दिया जाय, तो सायन रंग भी चाँदी के प्रतिबिंब की ही भाँति लाल प्रकाश को अवशोषित कर लेगा। इस प्रकार सायन प्रतिबिंब लाल प्रकाश को नियंत्रित करनेवाले वाल्व के रूप में कार्य करेगा। साथ ही यदि यह अच्छा सायन हुआ, तो यह उतना ही लाल प्रकाश अवशोषित कर लेगा जितना चाँदी का काला प्रतिबिंब। इस कारण प्रक्षेप लालटेनों (projection lanterns) में चाँदी के काले प्रतिबिंब के स्थान पर एक पॉज़िटिव सायन प्रतिबिंब लगाया जा सकता है। प्रक्षेप किया हुआ प्रतिबिंब दोनों दशाओं में समान होगा। इसी कारण सायन को प्रायः 'ऋण लाल' (लाल अवशोषक) कहते हैं। इसी प्रकार मैजेंटा, या हरे अवशोषक तथा पीले, या नीले अवशोषक (ऋण नीला) को क्रमश. हरे, या नीले फिल्टरों के द्वारा प्राप्त पॉज़िटिव के चाँदी के काले प्रतिबिंबों के स्थान पर प्रयुक्त किया जा सकता है।

सायन, मैजेंटा तथा पीले प्रतिबिंब, न केवल तीन चाँदी के प्रतिबिंबों के समतुल्य हैं, अपितु इनके द्वारा एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इन्हें बिना किसी फिल्टर के एक श्वेत प्रकाश के प्रक्षेपक मे, एक के ऊपर एक रखकर, लगाया जा सकता है और इस प्रकार दर्शक पर प्राप्त प्रभाव भी समान बना रहेगा।

सायन प्रतिबिंब प्रक्षेपक के श्वेत प्रकाश से उचित भागों में लाल प्रकाश घटा देता है। इसी प्रकार मैजेंटा हरे रंग को तथा 'पीला' नीले रंग को घटा देता है। इस प्रकार प्राप्त फल वही है, जो योगज वर्ण-संयोजन से प्राप्त हुआ था, अर्थात् विषयवस्तु के विभिन्न भागों में कौन कौन से प्रारंभिक रंग कितनी मात्रा में मौजूद थे, अथवा थे भी या नहीं, यह देखा जा सकता है। आँख के लिये पहले की विषयवस्तु के रंगीन दर्शन के लिये इतनी ही सूचना पर्याप्त है। ऐसा संयोजन जिसमें सायन, मैजेंटा तथा पीले प्रतिबिंबों को एक ही प्रक्षेपक में, श्वेत प्रकाशस्रोत पर अथवा एक परावर्तनीय (reflecting) श्वेत तल, जैसे कागज, पर एक के ऊपर दूसरा एक साथ प्रयुक्त किया जाता है, व्यवकलनात्मक वर्णसंयोजन कहलाता है। अधिकतर रंगीन फोटोग्राफी के कार्यों में यही विधि प्रयुक्त होती है।

वर्णविश्लेषण की विधियाँ — रंग पृथक्करण नेगेटिवों का बनाना रंगीन फोटोग्राफ बनाने का एक आवश्यक अंग है। वर्ण विश्लेषण की क्रिया बिलकुल स्वतंत्र तथा पृथक् क्रिया हो सकती है, जिसके पश्चात् वर्णसंयोजन की क्रिया की जा सकती है, अथवा वर्णविश्लेषण की क्रिया ऐसी एक संपूर्ण प्रक्रिया का अभिन्न अंग हो सकती है जिसमें पृथक्करण निगेटिवों को अलग कभी नहीं देखा जा सकता। नीचे दी हुई रीतियों में पृथक्करण पद्धतियाँ (separable systems) वे हैं जिनमें वर्णपृथक्करण नेगेटिव, उद्भासन तथा डेवलपिंग आदि के पश्चात्, भौतिक रूप से तीन अलग प्रतिबिंबों के रूप में उपलब्ध हो जाते हैं। इसके विपरीत अपृथक्कारी पद्धतियाँ (inseparable systems) वे हैं जिनमें उद्भासन तथा डेवलपिंग आदि के उपरांत तीन वर्णपृथक्करण नेगेटिव प्रतिबिंब तो बनते हैं, पर वे बाद में प्रकाशकीय तथा रासायनिक क्रिया, अथवा इनमें से केवल एक क्रिया, के द्वारा वर्णसंयोजन के लिये एक साथ विभिन्न अंगों के रूप में ही रहते हैं।

वर्णविश्लेषण की रीतियाँ — ये दो प्रकार की हैं तथा प्रत्येक मे दो विभेद हैं : (१) पृथक्करण पद्धतियाँ — (अ) क्रमवत् उद्भासन (successive exposures) तथा (ब) एक साथ उद्भासन। (२) अपृथक्कारी पद्धतियाँ — (अ) पार्श्वीय (lateral) पृथक्करण, एक इमल्शन तथा (ब) ऊर्ध्ववत् (vertical) पृथक्करण, अनेक इमल्शन। २ (ब) के उदाहरण बहुपरतीय फिल्में (Multilayer films), या एकल पैक (Monopacks) हैं। इसके उदाहरण कोडाक्रोम, ऐंसोक्रोम, कोडैकएक्टाक्रोम तथा ऐग्फ़ा कलर फिल्में हैं। यही सबसे अधिक सर्वप्रिय विधि है। इस कारण इसी की चर्चा की जायगी।

बहुपरतीय प्रणाली — एक ही आधार पर तीन इमल्शनों की तहें, एक के ऊपर एक जमा दी जाती हैं। प्रायः इन इमल्शनों के बीच में, या तो साफ (पारदर्शी) जिलैटिन की परतें, या फिल्टर का कार्य करनेवाली परतें, होती हैं। चूँकि फोटोग्राफीय इमल्शन मूल रूप से नीले प्रकाश के लिये सुग्राही (sensitive) अथवा नीले ग्राही होते हैं, इस कारण नीलाग्राही इमल्शन कैमरे की फिल्मों में लेंस के निकटतम रहता है। इसके नीचे नीली अवशोषक (पीली) परत होती है, जो बाद में क्रमश: हराग्राही तथा लालग्राही इमल्शनों द्वारा नीले रंग को 'रेकर्ड', अथवा प्रभावित करने से रोकती है। प्रायः लालग्राही इमल्शन लेंस से सबसे अधिक दूर रहता है। इस प्रकार की बहुपरतीय फिल्म में वर्णविश्लेषण

केवल एक अनुभासन में ही हो जाता है और जब फिल्म को डेवलप करके उसका नेगेटिव तैयार किया जाता है, तब तीन चाँदी के पृथक्करण रेकर्ड, एक के ऊपर एक, प्राप्त हो जाते हैं। कुछ पदार्थ तो ऐसे होते हैं कि वे नेगेटिव का रंजक (dye) प्रतिबिंब चाँदी के प्रतिबिंब के साथ साथ बना देते हैं, जिससे एक रंगीन नेगेटिव प्राप्त हो जाता है। दूसरे पदार्थ उत्क्रमण (reversal) तथा रंग डेवलप करने के सिद्धांत पर कार्य करते हैं और इस प्रकार चाँदी के पृथक्करण नेगेटिव प्रतिबिंबों को सायन, मैजेंटा तथा पीले पॉज़िटिव प्रतिबिंबों, या चित्रों में परिवर्तित कर देते हैं।

सं० ग्रं० — फ्रीडमन : हिस्ट्री ऑव कलर फोटोग्राफी (१९४४), अमरीकन पब्लिशिंग कंपनी, बोस्टन; एवँज, हैंसन तथा ब्रूवर (१९५३) : प्रिंसिपल्स ऑव कलर फोटोग्राफी, जॉन विली ऐंड संस, न्यूयॉर्क। [श० रा० श०]

रंगून स्थिति : १६° ४५′ उ० अ० तथा ९६° २०′ पू० दे०। दक्षिणी बर्मा के मध्यवर्ती भाग में, रंगून नदी के किनारे, मर्तबान की खाड़ी तथा इरावदी नदी के मुहाने से २० मील उत्तर, सागरतल से केवल २० फुट की ऊँचाई पर स्थित बर्मा की राजधानी, सबसे बड़ा नगर तथा प्रमुख बंदरगाह है। यहाँ औसत वार्षिक वर्षा ९९.६ इंच होती है। समीपवर्ती क्षेत्र में धान की कृषि अधिक होती है। बंदरगाह से चावल, टीक तथा अन्य लकड़ियाँ, खालें, पेट्रोलियम से निर्मित पदार्थ तथा चाँदी, सीसा, जस्ता, ताँबे की वस्तुओं का निर्यात होता है। वायुमार्ग, नदीमार्ग तथा रेलमार्ग यातायात के प्रमुख साधन हैं। विद्युत् संस्थान, रेशमी एवं ऊनी कपड़े, लकड़ी चिराई का काम, रेलवे के सामान, जलयाननिर्माण तथा मत्स्य उद्योग में काफी उन्नति हो गई है। यहाँ पर सभी आधुनिक वस्तुएँ जैसे बड़े बड़े होटल, सिनेमाघर, भंडार (storage), पगोडा, गिरजाघर, पार्क, वनस्पतिक उद्यान, अजायबघर तथा विश्वविद्यालय आदि हैं। यहाँ की सबसे प्रमुख इमारत श्वे डुँगन पगोडा है, जो सागरतल से १६८ फुट की ऊँचाई पर बना है। यह पगोडा ३६८ फुट ऊँचा, ९०० फुट लंबा तथा ६८५ फुट चौड़ा है तथा इसके ऊपर सोने की पत्ती चढ़ी हुई है। नगर को युद्ध तथा ज्वालामुखी से काफी हानि उठानी पड़ी है। इसकी जनसंख्या ७,३७,०७९ (१९६०) है। [र० चं० दु०]

रंजक, प्राकृतिक (Natural dyes) प्राचीन काल से ही मनुष्य रंगीन फूल, फल, पत्ते तथा अन्य रंगीन प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग अभिरंजन (stains) के लिये करता आ रहा है। अनुभव से बहुत से वर्णक प्राप्त हुए, जो पानी में अविलेय तथा प्रकाश से नष्ट होनेवाले न थे। इस युग में प्राकृतिक रंजकों का उपयोग नाम मात्र को रह गया है। कुछ महत्वपूर्ण प्राकृतिक रंजक निम्नलिखित हैं :

लॉगवुड (Log Wood) — यह लाल रंजक है, जो हीमेटॉक्सिलोन कॉम्पिचियानम (Haematoxilon Compechianum) नामक वृक्ष (मेक्सिको, मध्य अमरीका तथा पश्चिमी द्वीपसमूह में प्राप्त) के निष्कर्ष से प्राप्त होता है। भिन्न भिन्न रंगबंधकों (mordants) से भूरा, रक्तभूरा, नीला-काला तथा काला लाक्षक (lakes) प्राप्त होता है। ये लाक्षक पानी में अविलेय हैं, पर कड़े प्रकाश से धूमिल पड़ जाते हैं।

मजीठ या मैडर (Madder) — रुबिया टिंक्टोरम (Rubia tinctorum) नामक पौधे की जड़ से प्राप्त होता है। वर्णक में मुख्य रसायन ऐलिज़ारीन (alizarin) के साथ साथ कुछ परप्यूरिन (purpurin) भी होता है। पीसित जड़ का किण्वन तथा जलअपघटन तनु सल्फ्यूरिक अम्ल के द्वारा होता है। इससे निष्कर्ष प्राप्त होता है। यह स्वच्छ चटकीला लाल रंग देता है। प्राकृतिक रंजकों में यह बहुत पक्का तथा स्थायी होता है।

कत्था या कैटेचु (Catechu) — इसका प्रयोग कुछ विशेष सूती कपड़ों के रँगने में होता है। कपड़े को निष्कर्ष में उबालकर तनु सोडियम डाइक्रोमेट (sodium dichromate) विलयन में डालते हैं। रंग पक्का होता है, जो प्रकाश और मौसम से धूमिल नहीं पड़ता।

नील (Indigo) — इंडिगोफेरा टिंक्टोरिया (Indigofera tinctoria) नामक पौधे से, भारत, चीन तथा मध्य अमरीका में प्राप्त होता है। रंग स्थायी तथा पक्का होता है।

लाख रंजक (Lac dye) — यह भारत तथा बर्मा में कोकस लाका (Coccus Lacca) नामक कृमि से प्राप्त होता है। स्रवित पदार्थ से सोडियम कार्बोनेट के साथ लाल रंजक प्राप्त होता है और फिटकरी के संयोग से लाक्षक का निर्माण होता है। इसका रंग बहुत पक्का होता है।

किरमिज़ (Cochineal) — यह रंजक एक कीड़े से प्राप्त होता है।

इसी प्रकार के प्राकृतिक रंजकों में क्वरसिट्रन (Quercitron) किरमिजी रंजक (Cochineal), फुस्टिक (Fustic), टाइरियन पर्पल (Tyrian purple) तथा परसियन बेरीज़ (Persian Beries) का उल्लेख किया जा सकता है।

सं० ग्रं० — एफ० मेयर ऐंड ए० एच० कुक : दि केमिस्ट्री ऑव नैचुरल कलरिंग मैटर; रेहोल्ड पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, न्यूयॉर्क। [शि० मो० व०]

रंजक, संश्लिष्ट (Synthetic Dyes) प्रचलित परिभाषा के अनुसार संश्लिष्ट रंजक, वे कार्बनिक रंगीन पदार्थ हैं, जिनमें वस्तुओं को जल माध्यम में रंजित करने की क्षमता होती है, पर बहुत से वर्णक भी, जिनसे सुघट्य लैकर तथा रबर बिना जल माध्यम के रंजित किए जाते हैं, संश्लिष्ट रंजकों की श्रेणी में आते हैं। इन संश्लिष्ट रंजकों को तारकोल रंजक भी कहते हैं, क्योंकि प्राय: सभी रंजकों का निर्माण तारकोल से प्राप्त हाइड्रोकार्बनों के ही द्वारा होता है। अब प्राकृतिक रंजकों का स्थान पूर्ण रूप से संश्लिष्ट रंजकों ने ले लिया है, जिनसे कोई भी इच्छित रंग प्राप्त किया जा सकता है।

अधिकांश प्रमुख रंजकों का आविष्कार आकस्मिक घटनाओं द्वारा हुआ है। इन असंख्य संश्लिष्ट रंजकों के इतिहास का पूर्ण विवेचन यहाँ संभव नहीं है। प्रमुख रंजकों के विषय में उल्लेख करना आवश्यक

है। कुनैन के संश्लेषण के प्रयास में डब्ल्यू० एच० पर्किन ने ऐनिलीन सल्फेट पर पोटैशियम डाइक्रोमेट की अभिक्रिया से सन् १८५६ में एक काला पदार्थ प्राप्त किया, जिसमें रेशम रँगने की क्षमता थी। इसका नाम मोवीन (Mauveine) अथवा टिरियन पर्पल (Tyrian purple) पड़ा। पर्किन ने इसके लिये १८५७ ई० में एक निर्माणशाला बनाई। फ्रांसीसी रसायनज्ञ वरगुइन (Verguin) ने १८५९ ई० में मैजेंटा (Magenta) का निर्माण किया। सन् १८५७ ई० में ही ग्रेविल विलियम्स (Greville Williams) ने साइआनिन नीला रंग (Cyanin blue) की खोज की। रंजकों के निर्माण का प्रादुर्भाव जर्मनी में हुआ और ६० वर्षों तक वह रंजकों के रसायन तथा उसके प्रौद्योगिकी में अग्रणी रहा।

ग्रैबे (Graebe) और लीबरमान (Liebermann) ने सर्वप्रथम सन् १८६८ में प्राकृतिक रंजक ऐलिज़ारिन (Alizarin) का संश्लेषण किया। पर्किन ने भी दूसरी विधि से इसके संश्लेषण का पेटेंट (एकस्व) इंग्लैंड में १८६९ ई० में कराया। फ्लुओरेसिइन (Fluorescein), गैलिइन (Gallein), मेथिलीन ब्लू (Methylene blue), ऐलिज़ारिन ब्लू तथा मैलेकाइट हरित (Malachite green) जैसे उपयोगी रंजकों का निर्माण हुआ।

१८८० ई० विशेष उल्लेखनीय है। बेयर (Baeyer) ने १८ वर्ष के अन्वेषण के उपरांत नील का संश्लेषण किया। ह्यूमन ने १८९० ई० में नील का औद्योगिक महत्व बताया, जिसमें फेनिल ग्लाइसीन के क्षारीय गलन से इंडॉक्सिल प्राप्त किया। भारत में १४ लाख एकड़ भूमि में नील की खेती होती थी तथा भारत से यूरोप एवं अन्य देशों में नील का निर्यात होता था। धीरे धीरे संश्लिष्ट नील ने इस व्यवसाय को पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया।

सन् १९०१ में बॉन (Bohn) ने इंडैंथ्रीन ब्लू का आविष्कार किया और कुछ वर्षों बाद ही औद्योगिक महत्व के ऐंथ्राक्विनोन वैट रंजकों (Anthraquinone Vat dyes) का निर्माण हुआ। थायोइंडिगो का निर्माण, साइआनिन रंजकों का फोटोग्राफिक फिल्मों में उपयोग तथा सूती कपड़ों को नेवी ब्लू में रँगने के लिये सल्फर वैट रंजकों का प्रयोग सन् १९०९ से प्रारंभ हुआ।

द्वितीय विश्वयुद्ध में इंडैंथ्रीन खाकी (Indanthrene Khaki GG) का निर्माण हुआ। युद्ध के उपरांत १९२० ई० में कैलेडान जेड ग्रीन (Caledon jade green) का निर्माण हुआ। इंडैंथ्रीन गोल्डेन येलो (Indanthrene golden yellow G K) सन् १९२२ में, इंडैंथ्रीन ब्रिलिएंट ऑरेंज सन् १९२५ में आविष्कृत हुए। सन् १९३४ में रंजक उद्योग में एक विशेष प्रगति कॉपर थैलोसाइआनिन (Copper phthalocyanine) की उत्पत्ति से हुई। थैलीमाइड का निर्माण जब लोहे की कड़ाही में किया गया, तो डैंड्रिज (Dandrige) ने एक नीले द्रव्य का प्रेक्षण किया, जिसकी संरचना का अध्ययन कर लिनस्टेड (Linstead) ने बताया कि यह क्लोरोफिल और हीमिन के सदृश है।

रंजकों का निर्माण — ये रंजक कार्बनयुक्त मूलकों के संजात हैं, जिनमें कम से कम एक चक्रिक समूह, जैसे बेंज़ीन, या नैफ्थेलीन वलय का होना आवश्यक है। कार्बन के अतिरिक्त इनमें हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन और गंधक तत्व होते हैं। प्रायः सभी रंजक बेंज़ीन, टॉलूईन, ज़ाइलीन, नैफ्थेलीन तथा ऐंथ्रासीन नामक पाँच हाइड्रोकार्बनों के संजातों से प्राप्त होते हैं। इन सभी हाइड्रोकार्बनों का प्रमुख स्रोत अलकतरा है। इनसे आरंभ करके विभिन्न चरणों में विभिन्न रंजकों का निर्माण होता है। प्रथम चरण में इन्हें मध्यस्थों (intermediates) में परिवर्तित किया जाता है, जो हाइड्रोकार्बन के हाइड्रोजन परमाणु के स्थान पर सरल परमाण्विक समूहों, जैसे ऐमिडो, —नाहा$_2$ ($-NH_2$), डाइमेथिल ऐमिडो, (काहा$_3$)$_2$ नाहा— [$(CH_3)_2$ NH—], हाइड्रॉक्सिल, —औहा (—OH), सल्फोनिक, —हागंऔ$_3$ ($-HSO_3$) इत्यादि से प्रतिस्थापन द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार बेंज़ीन नाइट्रोकरण (nitration) पर नाइट्रोबेंज़ीन में परिवर्तित होता है और यह अपचयन से ऐनिलीन देता है :

बेंज़ीन नाइट्रोबेंज़ीन ऐनिलीन

Benzene Nitrobenzene Aniline

नैफ्थेलीन पर सल्फ्यूरिक अम्ल की अभिक्रिया से ऐल्फा और बीटा सल्फ़ोनिक संजात प्राप्त होते हैं, जिन्हें दाहक सोडा (caustic soda) के साथ संगलन करने पर ऐल्फा और बीटा नैफ्थॉलों की प्राप्ति होती है :

ऐल्फ़ा नैफ्थॉल बीटा नैफ्थॉल

Alfa-Naphthol Beta-Naphathal

नैफ्थेलीन नाइट्रोकरण पर नाइट्रोनैफ्थेलीन देता है, जो अपचयन पर ऐल्फ़ा नैफ्थिलऐमीन में परिवर्तित होता है :

ऐल्फ़ा-नाइट्रोनैफ्थैलीन ऐल्फ़ा-नैफ्थिल ऐमीन

Alfa Nitronaphthalene Alfa Naphthylamine

कुछ विशेष मध्यस्थों में ऐनिलीन, डाइमेथिल ऐनिलीन, ऑर्थो-तथा पैरा-टॉलिडीन, डाइनाइट्रो-क्लोरो-बेंजीन, थैलिक ऐनहाइड्राइड, बीटा-नैफ्थिलऐमिन, बीटा-नैफ्थॉल, ऐंथ्राक्विनोन इत्यादि हैं। इन मध्यस्थों के द्वारा ही रंजकों का निर्माण होता है।

अणु की संरचना में दो प्रकार से संकीर्णता लाई जा सकती है। एक तो प्रतिस्थापक समूहों के द्वारा, जैसे फ़ीनोल नाइट्रोकरण पर पिक्रिक अम्ल एक पीले रंजक में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार रंगहीन ऐंथ्राक्विनोन में छह हाइड्रॉक्सिल समूहों के प्रतिस्थापन से गहरा नीला ऐलिज़ारीन हेक्सासाइऐनिन (Alizarin hexacyanine) रंजक प्राप्त होता है :

ऐंथ्राक्विनोन ऐलिजारीन हेक्सासाइआनिन

Anthraquinone Alizarin hexacyanine
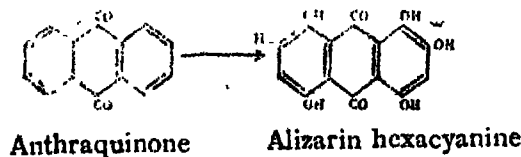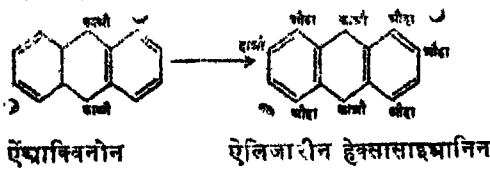
दूसरी विधि में दो, या अधिक मध्यस्थों की बंधुता से रंजक प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये क्रिस्टल बैंगनी रंजक तीन डाइमेथिल ऐनिलीन और एक फ़ासजीन (phosgene) अणु के संघनन से प्राप्त होता है :

डाइमेथिल-ऐनिलीन-फ़ासजीन क्रिस्टलबैंगनी

Dimethyl-aniline Phosgene Crystalviolet
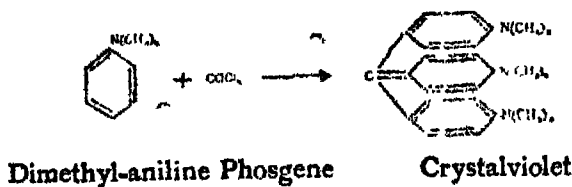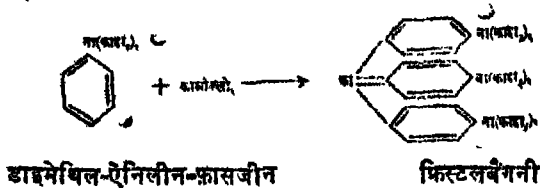
संश्लिष्ट रंजक बनाने की बहुत ही उपयोगी विधि डायज़ो-अभिक्रिया (Diazoreaction) है, जिससे सभी सौरभिक हाइड्रोकार्बनों के प्राथमिक ऐमिन संजात नाइट्रस अम्ल के द्वारा डायज़ोनियम लवण में परिवर्तित किए जाते हैं। यद्यपि ये लवण प्रायः रंगहीन तथा बहुत ही अस्थायी होते हैं, पर साथ ही बड़े सक्रिय भी होते हैं। ये किसी सौरभिक हाइड्रोकार्बन के हाइड्रॉक्सी, या ऐमिनो संजातों के संपर्क से रंगीन यौगिक बनाते हैं। उदाहरण के लिये ऐनिलीन डायज़ो अभिक्रिया पर बेंज़ीन डायज़ोनियम क्लोराइड देता है और यह २-नैफ्थॉल-६-सल्फ़ोनिक अम्ल के सोडियम लवण के संयोग से एक गहरा नारंगी रंजक उत्पन्न करता है :

ऐनिलीन बेंज़ीन डायज़ोनियम-क्लोराइड २-नैफ्थॉल-६-सल्फ़ोनिक सोडियम लवण (नारंगी रंजक)

Aniline Benzene diazonium-chloride 2- Naphthol-6- Sulphonic Sodium salt (Orange dye)
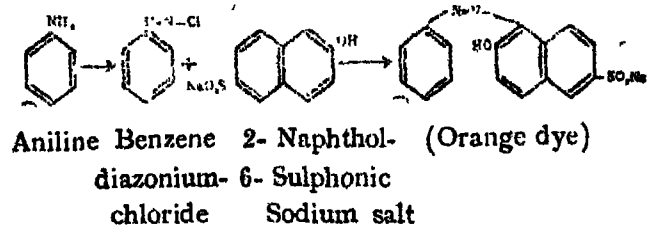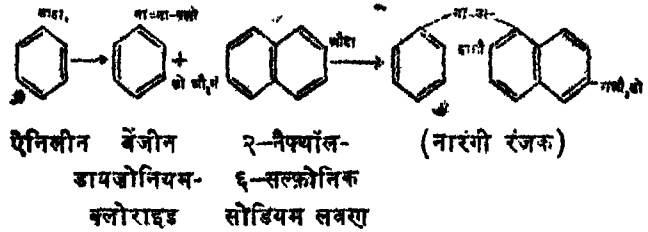
नील का संश्लेषण भी विभिन्न उपायों से होता है, पर औद्योगिक प्रणाली में इसे ऐंथ्रानिलिक और क्लोरोऐसीटिक अम्ल के संघनन से प्राप्त करते हैं। ऐंथ्रानिलिक अम्ल और क्लोरोऐसीटिक अम्ल से फ़ेनिल (phenyl) ग्लाइसीन ऑर्थोकार्बोक्सिलिक अम्ल उत्पन्न करते हैं और यह क्षारीय संगलन पर इंडॉक्सिलिक अम्ल देता है। यह गरम होते ही कार्बन डाइऑक्साइड देकर इंडाक्सिल में परिवर्तित होता है और हवा द्वारा ऑक्सीकृत होकर नील बन जाता है :

ऐंथ्रानिलिक अम्ल क्लोरो-ऐसीटिक अम्ल फ़ेनिल ग्लाइसीन ऑर्थोकार्बोक्सिलिक अम्ल

नील

Anthranilic acid Chloroacetic acid Phenyl glycine orthocarboxylic acid

Indigo
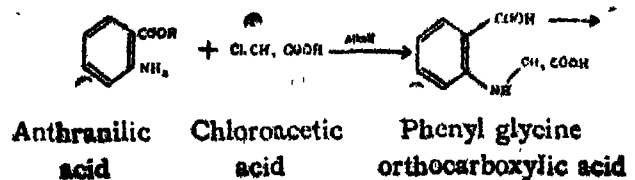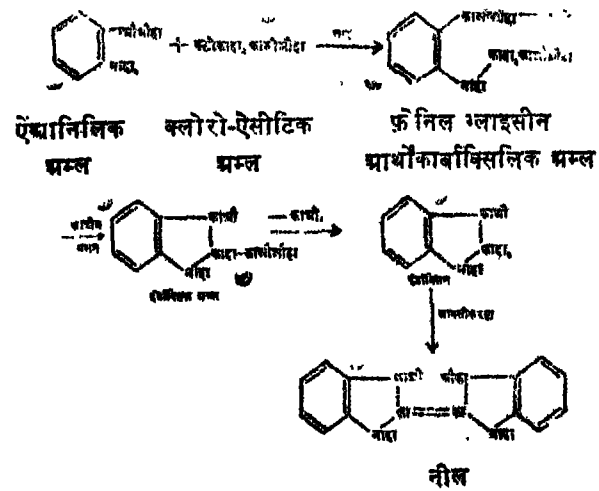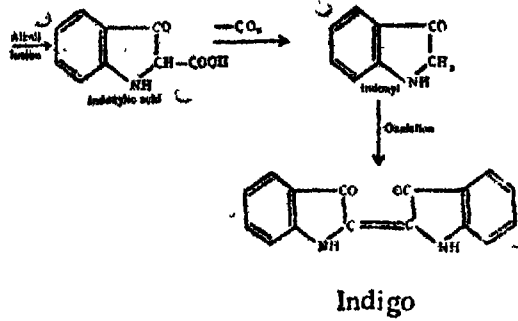
रंजकों की संरचना बड़ी जटिल होती है। उदाहरण के लिये फ्लैवैनथ्रोन वायोलैनथ्रोन तथा कैलेडॉन जेड ग्रीन के संघटन निम्नलिखित हैं :

फ्लैवैनथ्रोन

वायोलैनथ्रोन

कैलेडॉन जेड ग्रीन
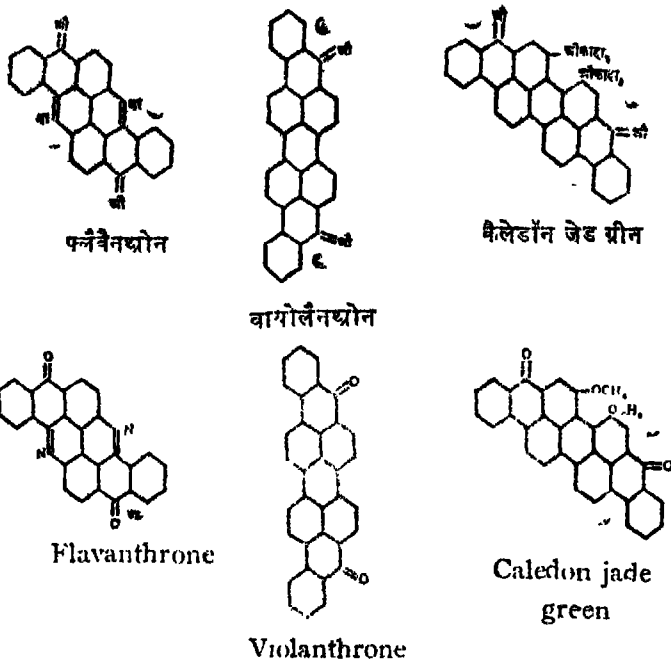
Flavanthrone

Violanthrone

Caledon jade green

रंग तथा रासायनिक संघटन — रंग की उत्पत्ति अणु के सामूहिक अंगों पर निर्भर करती है। ये सामूहिक अंग असंतृप्त होते हैं और इन्हें वर्णमूलक (Chromophores) कहते हैं। इन रंगीन पदार्थों को वर्णोत्पादक (Chromogen) कहते हैं और इनमें एक, या बहुत से वर्णमूलक होते हैं। साधारण वर्णमूलकों में
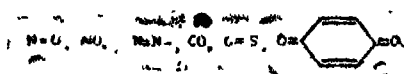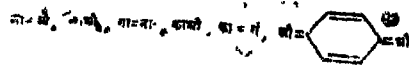
इत्यादि हैं। प्राय: पारदर्शी रंग होने के लिये अणु में एक से अधिक वर्णमूलक समूहों की आवश्यकता होती है। वर्णोत्पादक अपचयन से रंगहीन यौगिकों में परिवर्तित हो जाते हैं। इन अपचयित पदार्थों को ल्यूको यौगिक कहते हैं और ये प्राय: साधारण ऑक्सीकरण से अपने पूर्व रंगीन पदार्थ में परिवर्तित हो जाते हैं।

सभी रंगीन पदार्थ रंजक नहीं होते। वर्णोत्पादक वर्णाणुओं के साथ एक दूसरे समूह का, जिसे वर्णवर्धक (auxochrome) कहते हैं, होना आवश्यक है। इस समूह में लवण बनाने की क्षमता होती है, जो अम्लीय अथवा क्षारीय होते हैं। उदाहरण के लिये — औहा ($-OH$); — कार्बौ औहा ($-COOH$), — हार्गंऔ$_3$ ($-HSO_3$), — नाहा$_2$ ($-NH_2$), — नाहाम ($-NHR$) इत्यादि प्रमुख वर्णवर्धक समूह हैं। ऐज़ो बेंज़ीन का$_6$हा$_5$ना = ना — का$_6$हा$_5$ ($C_6H_5N=N-C_6H_5$) रंजक नहीं है, क्योंकि इसमें कोई वर्णवर्धक नहीं है, पर पैरा हाइड्रॉक्सी ऐज़ोबेंज़ीन,

$$\text{हाऔ}-\text{काहा}_4\text{ना}=\text{ना}-\text{का}_6\text{हा}_5$$
$$(HO-C_6H_4N=N-C_6H_5)$$

रंजक है।
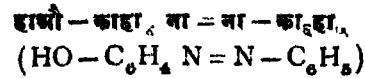
वास्तव में संश्लिष्ट रंजकों की संख्या बहुत अधिक है और इनका वर्गीकरण भी विभिन्न आधारों पर किया जा सकता है। रंजित करने की विधि के अनुसार इन्हें निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है :

अम्लीय रंजक (Acid Dyes) — ये मुख्यत: सल्फोनिक अम्लों तथा नाइट्रोफ़ेनिल रंजकों के सोडियम लवण हैं। ऐसीटिक, या सल्फ्यूरिक अम्लों के अम्लीय कुंड से रंजक सीधे ही ऊन पर अवशोषित होते हैं। इस वर्ग के रंजकों की बंधुता सूती रेशों के लिये बहुत कम है। रंगबंधकों से ये लाक्षक भी नहीं बनाते। इस प्रकार का एक रंजक नेफ्थॉल येलो एस (Naphthol Yellow S) है।

क्षारक रंजक (Basic Dyes) — ये प्राय: रंगीन क्षारों के हाइड्रोक्लोरिक, अथवा जिंक क्लोराइड लवण होते हैं। जैसे मैजेंटा, रोडामीन-बी, मैलेकाइट ग्रीन। टैनिन रंगबंधकों के द्वारा इनका मुख्य उपयोग सूती रेशों को रँगने के लिये होता है।

प्रत्यक्ष रंजक (Direct Dyes) — इस वर्ग में अधिकांश बेंज़ीडीन और इसी प्रकार के क्षारकों के ऐज़ो सजात हैं। ये पानी में विलेय हैं और सीधे सूती तथा सेलुलोस रेयान को अम्लीय कुंड में रँग देते हैं। इसके रंजक का उदाहरण कांगो रेड (Congo red) है।

रंगबंधक रंजक (Mordant Dyes) — इस वर्ग के रंजकों की संख्या काफी बड़ी है और इनके रासायनिक गुणों में भी बड़ी भिन्नता है। ये प्राय: अम्लीय प्रकृति के होते हैं और बंधकों से लाक्षक (lakes) बनाते हैं। ऊन रँगने के लिये क्रोमियम, ताम्र, लौह तथा ऐलुमिनियम रंगबंधकों का उपयोग होता है। उदाहरण के लिये ऐलिज़ारीन तथा उनके अन्य संजात हैं।

वैट रंजक (Vat Dyes) — ये पानी में अविलेय हैं। इसलिये रँगने के लिये इनका सीधे उपयोग नहीं हो सकता। पहले इन्हें क्षार और सोडियम हाइपोसल्फाइट से अपचयित करके विलेय ल्यूको क्षारक में परिवर्तित करते हैं। तीव्र क्षारीय कुंड के कारण सूती वस्तुएँ ही रंजित की जा सकती हैं। अपचयित ल्यूको यौगिक क्षार में विलेय है और इसी रूप में शीघ्र ही रेशों द्वारा अवशोषित हो जाता है। इस क्रिया के अनन्तर ल्यूको यौगिक हवा द्वारा ऑक्सीकृत होकर अपने वास्तविक रंजक में परिवर्तित हो जाता है और स्थायी रूप में रेशों से बँध जाता है। वैट रंजकों के उदाहरण नील, इंडैंथ्रीन तथा बहुत से ऐंथ्राक्विनोन संजात हैं।

व्यक्त रंजक (Developed Dyes) — इन रंजकों की विशेषता यह है कि रंग के अंतिम व्यक्तीकरण की क्रिया रेशे के ही ऊपर होती है। इस विधि के अनुसार पहले पदार्थ को ऐसे प्रत्यक्ष रंजक से रंगते हैं जिसमें एक ऐमिनो समूह होता है। कपड़े पर ही इस रंजक की डायज़ो अभिक्रिया होती है और दूसरा खंड किसी ऐज़ो यौगिक से विकसित किया जाता है।

गंधक रंजक (Sulphur Dyes) — ये सल्फरयुक्त जटिल रंजक पानी में अविलेय हैं, किंतु क्षारीय सोडियम सल्फाइड में विलेय हैं। इन सल्फर रंजकों का उपयोग सूती वस्त्रों पर सोडियम सल्फाइड के क्षारीय विलयन में होता है। तदनंतर हवा में ऑक्सीकरण होता है।

रासायनिक संघटन, अर्थात् वर्णमूलक समूहों, के आधार पर रंजकों को निम्नलिखित प्रमुख वर्गों में बाँटा जा सकता है :

नाइट्रोसो रंजक (Nitroso Dyes) — इनमें नाइट्रोसो वर्णमूलक समूह, — आक्षौहा (— NOH), उपस्थित है। इनकी प्राप्ति फ़िनोलों तथा नैफ़्थॉलों से नाइट्रस अम्ल की अभिक्रिया द्वारा होती है। लोह रंगबंधक के साथ इनका उपयोग ऊन रँगने में होता है।

नाइट्रो रंजक (Nitro Dyes) — ये मुख्यतः फ़ीनोल, नैफ़्थॉल और उनके सल्फोनिक अम्लीय संजातों के नाइट्रो संजात हैं। पिक्रिक अम्ल, मारशियस येलो (Martius yellow) तथा नैफ़्थॉल येलो इस वर्ग के प्रमुख रंजक हैं। रेशम को पीला रंगने के लिये इन्हीं का उपयोग होता है।

ऐज़ो रंजक (Azo Dyes) **वर्णमूलक समूह,** [— ना = ना — (—N = N —)] — यह प्रमुख तथा विशाल वर्ग है। रचना में हाइड्रॉक्सी, या ऐमिनो स्थापित ऐज़ो-बेंज़ीन हैं। इनमें एक, दो या तीन ऐज़ो समूह होते हैं। ऐज़ो रंजकों की प्राप्ति डायज़ोनियम लवण और फ़िनोल, या ऐमिन के संयोग से होती है। सरल ऐज़ो रंजक पीले होते हैं, पर ज्यों ज्यों उनका अणुभार बढ़ने लगता है, वैसे वैसे उनका रंग लाल से बैंगनी होता जाता है। ये पानी में अविलेय तथा क्रिस्टलीय होते हैं। रंगबंधकों की सहायता से ये रँगने के काम आते हैं। ऑरेंज I और II, फास्ट रेड A, मेथिल ऑरेंज, कांगो रेड इत्यादि वर्ग इनके कुछ प्रमुख रंजक हैं।

ट्राइफ़ेनिल मेथेन रंजक (Triphenylmethane Dyes) — रंगहीन हाइड्रोकार्बन ट्राइफ़ेनिलमेथेन के बेंज़ीन वलयों में मूलक समूहों के प्रतिस्थापन द्वारा रंजकों का ल्यूको यौगिक प्राप्त होता है और इनमें ऐमिनो समूहों की ही विशेषता है। इनसे चटकीले और गाढ़े लाल, बैंगनी, नीले और हरे रंग प्राप्त होते हैं। डाइऐमिनो ट्राइफ़ेनिल मेथेन के संजातों में मेलकाइट ग्रीन तथा ब्रिलियंट ग्रीन (Brilliant green) उल्लेखनीय है। इसी प्रकार ट्राइऐमिनो ट्राइफ़ेनिलमेथेन के संजातों में रोज़ ऐनिलीन, या फ़ुक्सिन (Rosanilne or Fuchsin), पैरा रोज़ऐनिलीन, मैजेंटा फ़ुक्सिन इत्यादि हैं। डाइहाइड्रॉक्सी ट्राइफ़ेनिल मेथेन के संजात अम्लीय होते हैं और इनका उपयोग लाक्षकों के रूप में कागज उद्योग में होता है। इनमें ऑरीन (Aurine) और रोज़ोलिक अम्ल (Rosolic acid) प्रमुख रंजक हैं। इओसीन (Eosine), फ़ीनॉल्फ़्थैलीन (Phenolphthalein), फ्लुओरेसीन (Fluorescoine) तथा रोडैमीन (Rhodamine) भी इसी वर्ग के रंजक हैं।

ऐंथ्राक्विनोन रंजक (Anthraquinone Dyes) — ऐंथ्राक्विनोन के हाइड्रॉक्सी और ऐमिनो संजात धात्विक हाइड्रॉक्साइडों के संयोग से लाक्षक बनाते हैं। इस वर्ग का सर्वप्रमुख रंजक ऐलिज़ारीन (Alizarin) है। औद्योगिक दृष्टि से ऐंथ्राक्विनोन के वैट रंजक बहुत ही उपयोगी तथा प्रसिद्ध हैं। ये बिलकुल पक्का तथा चटकीला रंग देते हैं। रेशों को तीव्र क्षारीय कुंड की सहायता से रँगते हैं। बेंज़ैंथ्रोन (Benzanthrone) रंजक में नाइट्रोजन नहीं होता और ये क्षारीय अपचयन पर विलेय ल्यूको यौगिक बनाते हैं। इनमें बेंज़ैंथ्रोन, वायोलैंथ्रोन (Violanthrone) और कैलेडान जेड ग्रीन (Caledon jade green) मुख्य हैं। इंडैंथ्रोन (Indanthrone) रंजकों में नाइट्रोजन अणु के वलय का एक अंग होता है और इस प्रकार के रंजकों में इंडैंथ्रोन और फ्लैवैन्थ्रोन मुख्य हैं। ऐमिनो ऐंथ्राक्विनोन के सल्फ़ोनिक अम्लीय संजातों में ऐलिज़ारीन साइआनिन ग्रीन (Alizarin cyanine green) उल्लेखनीय है।

इंडिगायड (Indigoid Dyes) — इंडोल तथा थायोइंडोल के संजात इंडिगायड के समूह में संमिलित हैं। इनमें नील, हाइड्रोजनीकृत नील, थायोइंडिगो और उनके संजात हैं। नील के संश्लेषण के विषय में बताया जा चुका है। इसके क्लोरो और ब्रोमो संजात अपने अनुपम पक्के और चटकीले रंगों के लिये प्रसिद्ध हैं। इनमें सीबा ब्लू बी (Ciba blue B) तथा टाइरियन पर्पल (Tyrian purple) प्रमुख औद्योगिक उत्पादन हैं। जब नील का इमिनो (Imino) समूह, — नाहा — (— NH —), सल्फर से प्रतिस्थापित होता है, तो चटकीला थायोरंजक प्राप्त होता है।

क्विनोन इमिन रंजक (Quinone-Imine Dyes) — पैरा-क्विनोन इमिन के संजातों मे इंडोमीन तथा इंडोफ़िनोल आते हैं। ऑर्थो-क्विनोन-इमिन के संजातों के अंतर्गत ऑक्साज़ीन (Oxazine), थायाज़ीन (Thiazine) और ऐज़ीन (Azine) आते हैं। इंडोमीनों तथा इंडोफ़िनोलों का विशेष उपयोग सल्फ़र तथा थायाज़ीन रंजकों के लिये होता है। थायाज़ीन रंजकों में मेथिलीन ब्लू, मेथिलीन वायलेट, ब्रिलिएंट ऐलिज़ारीन ब्लू इत्यादि हैं। ऐज़ीन अथवा फिनैज़ीन के संजात फ़िनोल फिनैज़ोनियम लवण, जिन्हें सैफ्रीन कहते हैं, बड़े महत्वपूर्ण हैं। इनमें मोवीन (Mauveine or Perkin's Mauve) तथा फ़ुक्सिया (Fuchsia) मुख्य हैं।

ऐक्रिडिन रंजक (Acridine Dyes) — ये ऐक्रिडिन के संजात हैं। इस वर्ग के मुख्य रंजक ऐक्रिडिन ऑरेंज (Acridine orange) तथा ट्राइपाफ्लेवीन (Trypaflavine) हैं। प्रोफ्लेवीन (Proflavine) तथा ऐक्रिफ्लेविन (Acriflavine) का विशेष उपयोग पूतिरोधी (antiseptic) के रूप में होता है।

थैलोसाइआनिन रंजक (Phthalocyanine Dyes) — यह रंजकों का एक विशेष महत्वपूर्ण वर्ग है, जिसमें आइसो-इंडोल वलय विद्यमान है। इनकी संरचना बहुत ही संकीर्ण होती है और इनमें धातु अणु भी उपस्थित होते हैं। ताम्र थैलोसाइआनिन शीघ्र ही ताम्र धातु और थैलो नाइट्राइल की प्रतिक्रिया से प्राप्त होता है। इनकी अणुरचना पर्णहरिम (क्लोरोफ़िल) तथा हेमीन के ही समान है।

ताम्र थैलो साइआनिन, जिसका औद्योगिक नाम मॉनैस्ट्रल ब्लू (monastral blue) है, अनुपम शुद्ध नीला रंग देता है। इनका उपयोग छपाई के रंग, पेंट तथा लाक्षकों में होता है।

साइआनिन रंजक (Cyanine Dyes) — फ़ोटोग्राफ़िक फिल्मों को संवेदक बनाने की क्षमतावाले रंजकों का यह वर्ग है। ये रंग क्विनोलीन वलयों के संयोग से प्राप्त होते हैं। इनमें एथिल लाल (Ethyl Red), पिनावरडोल, या सेन्सिटॉल ग्रीन (Pinaverdol or Sensitol green) तथा पिनैसाइआनोल (Pinacyanol) वर्णक्रम के दृश्य प्रदेश को संवेदक बनाते हैं।

क्रिप्टो साइआनिन (Kripto Cyanine) — यह एक मुख्य रंजक है, जो रक्त और अवरक्त (infrared) क्षेत्रों को संवेदना प्रदान करता है। ये साइआनिन रंजक बहुत मूल्यवान होते हैं और प्रकाश से शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिये इनका उपयोग सूती और ऊनी कपड़ों के लिये नहीं होता।

गंधक रंजक (Sulphur Dyes) — ये रंजक पक्के तथा सस्ते होते हैं। इसलिये इनका बहुत उपयोग होता है। इनकी सरचना बहुत ही जटिल होती है। साधारणत. इन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है : (१) नीले और काले रंजक, जिनमें संभवत थायाजीन वलय होता है और (२) पीले से भूरे तक के रंजक, जो थायाज़ोल के संजात हैं। इनकी उत्पत्ति कार्बनिक यौगिकों के गंधक के साथ संगलन से होती है। ये पानी में अविलेय है। इनमें इमीडीयल प्योर ब्लू (Immedial pure blue), इंडोकार्बन (Indocarbon CL) तथा इमीडियल येलो जीजी (Immedial yellow GG) उल्लेखनीय हैं।

[शि० मो० व०]

रंट्येन, विलहेल्म कॉन्रैड (Roentgen, Willhelm Konrad) जर्मनी के प्रसिद्ध भौतिक वैज्ञानिक थे। आपका जन्म मार्च २७, सन् १८४५ में जर्मनी के लेनेप नगर में हुआ था। उच्च शिक्षा आपने स्विट्सरलैंड में ज्यूरिख के पालिटेक्निक स्कूल में प्राप्त की और वहीं से भौतिकी में आपको सन् १८६९ में डॉक्टरेट की डिग्री भी मिली। सन् १८७५ में आप हाहनेम के कृषि ऐकैडमी में गणित और भौतिकी के प्रोफेसर नियुक्त हुए। सन् १८७९ में आपने गेसेन विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्रोफेसर का पद स्वीकार किया। इन्हीं दिनों आप फिजिकल इन्स्टिट्यूट के डायरेक्टर भी बनाए गए। सन् १९०० में म्यूनिख में आप भौतिकी के प्रोफेसर नियुक्त हुए और अंत तक इसी पद पर कार्य करते रहे। आपकी मृत्यु १० फरवरी, सन् १९२३ को हुई।

अनुसंधान कार्य — प्रारंभ में अपने गैस की दोनों विशिष्ट ऊष्माओं की निष्पत्ति प्रयोग द्वारा निर्धारित की तथा द्रव के वर्त्तनांक पर दाब का प्रभाव मालूम करने के लिये अनेक प्रयोग किए। स्फटिक (quartz) के प्रकाशीय तथा वैद्युत गुणों की भी अपने छानबीन की। प्रकाश के ध्रुवण तल (plane of polarisation) के चुंबकीय घुमाव पर भी आपने महत्वपूर्ण प्रयोग किए। आपकी सबसे अधिक महत्वपूर्ण देन है एक्स-किरणों की खोज। अत्यल्प दाब की गैस में विद्युद्विसर्जन के प्रयोगों के सिलसिले में ही अचानक रंट्येन ने अपनी तीक्ष्ण निरीक्षण क्षमता के बल पर एक्स-किरणों के अस्तित्व को पहचाना। इन किरणों की खोज आपने १८९५ ई० में की। एतदर्थ सन् १९०१ में आपको नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया।

[भ० प्र० श्री०]

रंतिदेव राजा संकृति के पुत्र सांकृत्य गोत्रीय, भरत वंशीय सम्राट् जिनकी विस्तृत कथा श्रीमद्भागवत में मिलती है (महा० शांति० २९।११३) ये परम धार्मिक, यज्ञकर्ता, दानवीर के रूप में प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, इन्होंने इतने यज्ञ किए कि इनके यज्ञीय पशुओं की रक्तधारा से एक नदी चर्मण्यवती बन गई जो चंबल से अभिन्न मानी जाती है।

[रा० द्वि०]

रंभा कश्यप तथा प्राधा की कन्या, अप्सराओं में विख्यात सुंदरी कुबेर की सभानर्तकी। शुकदेव जी से इसका संवाद रंभा-शुक-संवाद नाम से प्रसिद्ध है। यह तुंबरु (महा० उ०, १०।११।११२) या नलकूबर की पत्नी थी। जब यह अभिसारिका के रूप में नलकूबर के पास जा रही थी तो राह में रावण ने इसके अभिमार का परिहास किया। रंभा ने उसे शाप दे दिया जिससे उसका वध हुआ (महा० व० २६४।६८)। इंद्र के संकेत पर विश्वामित्र को तपभ्रष्ट करने के प्रयास में मुनि द्वारा शापित होकर यह शिला बन गई। श्वेत मुनि ने उसका उद्धार किया।

[रा० द्वि०]

रक्त ऑक्सीक्षीणता (Anoxaemia) रुधिर का एक गुण यह है कि वह ऑक्सीजन को अवशोषित कर, विविध अगों और ऊतकों तक पहुँचाता है, जहाँ उसका उपयोग होता है। इस प्रकार जीवों के रुधिर मे अवशोषित ऑक्सीजन की थोड़ी मात्रा रहती ही है। किन्हीं स्थितियों में रक्त ऑक्सीजन का औसत परिमाण पर्याप्त कम हो जा सकता है, इस अवस्था को रुधिर ऑक्सीक्षीणता कहते हैं। इस स्थिति का दूसरा तकनीकी नाम है रक्तज ऊतक ऑक्सीक्षीणता (anoxic anoxia)। इस अवस्था में रुधिर में ऑक्सीजन का आंशिक दबाव अवनमित हो जाता है। जब ऑक्सीजन का आंशिक दबाव अवनमित हो जाता है तब धमनीय रुधिर (arterial blood) में ऑक्सीजन की संतृप्ति (saturation) भी निम्न पड़ जाती है। जब भी किन्हीं कारणों से फेफड़ों में रुधिर का उचित ऑक्सीजनीकरण अवरुद्ध हो जाता है, यह अवस्था उत्पन्न होती है। अधोलिखित परिस्थितियाँ इसे उत्पन्न करती हैं :

(क) साँस लेनेवाली हवा मे ऑक्सीजन का न्यूनीकृत दबाव,

(ख) फेफड़ों के रोग जिनसे गैसीय विनिमय (gaseous interchange) निरुद्ध हो जाता है और

(ग) स्पष्ट अंडाकार रंध्र (foramen ovale) के कारण जन्मजात हृद्रोग।

(क) जब मनुष्य ऊपर की ओर उड़ता है तब ऑक्सीजन का दबाव क्रमशः कम होता जाता है और ऊँचाई की ऐसी स्थिति आ सकती है जब वह समुचित मात्रा मे ऑक्सीजन न प्राप्त कर सके। इसलिये अतिरिक्त ऑक्सीजन की पूर्ति के लिये ऑक्सीजन के पात्र साथ ले जाए जाते हैं।

(ख) कुछ रोगों से ग्रस्त मनुष्य, फुप्फुस ऊतकों की कमी के कारण, निश्वसित ऑक्सीजन को अवशोषित नहीं कर पाता, जिससे ऑक्सीजन के सामान्य परिमाण से रुधिर संतृप्त नहीं होता। इस क्षति की पूर्ति के लिये श्वसनदर की सख्या बढ़ जाती है।

(ग) जन्मजात हृद्‌रोग — इसमें बाएँ हृदय का रुधिर दाएँ हृदय के रुधिर मे मिश्रित हो जाता है और इस प्रकार ऑक्सीजनीकृत और अनॉक्सजनीकृत रुधिर मिश्रित हो जाता है, जिससे फेफड़ों में उचित परिसंचरण तथा संतृप्ति नही हो पाती और यह दशा उत्पन्न होती है।

अब हम इस रोग से ग्रस्त जीवों के शरीरस्थ रुधिर के रसायन पर विचार करेंगे। प्रस्तुत निदर्श चित्र तथ्यों को स्पष्ट करने के लिये है। चित्र में धमनी रुधिर (arterial blood) और शिरारुधिर (venous blood) की ऑक्सीजन संतृप्ति, सामान्य स्थिति और
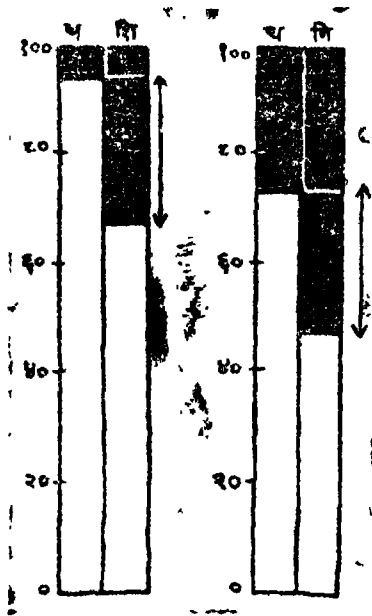
सामान्य अवस्था में रक्त ऑक्सीक्षीणता की दिशा में

रक्त ऑक्सीक्षीणता की स्थिति में दिखाई गई है। प्रत्येक स्तंभ का काला भाग रक्त मे अपचयित हीमोग्लोबिन का प्रतिशत और श्वेत भाग ऑक्सीहीमोग्लोबिन को निरूपित करता है। सामान्य स्थिति में व्यक्ति के रुधिर की प्रारंभिक ऑक्सीजन धारिता एक सी थी। तीरों से ऑक्सीजन उपयोगीकरण के गुणांक, अर्थात ऊतकों द्वारा एक इकाई रक्त से हटाए हुए ऑक्सीजन के आयतन दर्शाए गए हैं। हम यह मानकर चले हैं कि मनुष्य ऑक्सीजन के अवनमित दबाव वाले वायुमंडल में साँस लेता है।

फेफड़ों से निकलनेवाले रुधिर में माना जा सकता है कि १०० मिलीलीटर में १५ मिलीलीटर ऑक्सीजन है। ५ प्रति शत ऊतकों के उपयोग मे आता है और अत. शिरारुधिर के प्रति सौ घन सेंटीमीटर मे १० घन सेंटीमीटर ऑक्सीजन रह जाता है।

धमनीय और शिरागत असंतृप्तियाँ क्रमश: ५ और १० घन सेंटिमीटर है और केशिका असंतृप्ति (capillary unsaturation) इनकी माध्य होगी, अर्थात् ७·५ प्रति शत आयतन यह श्यामता (cyanosis) उत्पन्न करेगी।

इस प्रकार श्यामता रक्त ऑक्सीक्षीणता का एक लक्षण है। श्यामता उत्पन्न करने के लिये १०० मिलीलीटर केशिका रुधिर में न्यूनतम ५ ग्राम अपचयित हीमोग्लोबिन होना चाहिए। श्यामता की दशा में त्वचा का रंग बदल कर नीलाभ हो जाता है। यह परिवर्तन होंठ, कान, हाथ, पैर और नाखून से स्पष्ट हो जाता है। रुधिर के ऑक्सीजन दबाव का ह्रास लगभग सभी अंगों से, जैसे हृदय, फेफड़े, या पाद से, लसीका (lymph) प्रवाह को बढ़ा देता है।

इस स्थिति में कुछ अन्य बातें भी स्पष्ट हो जाती हैं। रोगी का हृदय दर बढ़ जाता है, वह दु:श्वासग्रस्त (dyspnoec) हो जाता है और हाँफने लगता है एवं उसे उल्लास, संज्ञाहीनता, उन्माद और स्थिर विचार के रूप में मानसिक विक्षोभ भी होता है।

जब भी रुधिर में ऑक्सीजन की कमी हो जाती है, ऊतकों को ऑक्सीजन की प्राप्ति कम होने लगती है। ऐसी स्थिति मे ऊतकक्षति (tissue injury) होती है। केंद्रीय तंत्रिकातंत्र और वाहिकातंत्र (vascular system) के ऊतक इस प्रकार की क्षति के लिये सर्वाधिक ग्रहणशील (susceptible) होते है। जब भी केशिकाओं की अंत:कलाएँ (endothelium) क्षतिग्रस्त होती है, उनमे से तरल बाहर की ओर रिस पड़ता है और परिसंचरण से तरल की हानि होती है। रक्त ऑक्सीक्षीणता मे शरीर पर प्रभावों की तीव्रता (अ) रक्त ऑक्सीक्षीणता के आक्रमण की आकस्मिकता, (ब) उसकी मात्रा, (स) अवधि तथा (द) शरीर की सामान्य शरीरक्रियात्मक (physiological) स्थिति से प्रभावित होती है।

हृदय पर रक्त ऑक्सीक्षीणता का प्रभाव — यदि रक्तऑक्सीक्षीणता बहुत उग्र रूप न धारण करे, या अधिक समय तक बनी न रहे, तो हृदीय (cardiac) उत्पादन बहुत बढ़ जाता है। यदि स्थिति अधिक समय तक बनी रहती है या उग्र हो जाती है, तो हृत्पेशीस्तर (myocardium) पर हानिकारक प्रभाव के कारण हृदीय उत्पादन क्रमश: घटता जाता है।

उपचार — चूँकि यह दशा ऑक्सीजन की कमी के कारण होती है, अत: ऑक्सीजन-चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है। ऑक्सीजन-प्रयोग करने के पूर्व यह जान लेना बहुत आवश्यक है कि रोगी ऑक्सीजन प्रयोग के उपयुक्त है या नही। यह कुछ तथ्यों पर निर्भर करता है। यदि अंडाकार रंध्र या फेफड़े में पूर्णत: अवातित (unaerated) भाग उपस्थित है, तो ऑक्सीजन अत:श्वसन (inhalation) से रोगी को अभीष्ट लाभ नही होता। अडाकार रुधिर की उपस्थिति के कारण पार्श्वपथित (shunted) रुधिर की क्षतिपूर्ति के लिये स्वस्थ और सुवातित (well aerated) कूपिका (alveoli) की पूर्ति करनेवाला रुधिर अतिरिक्त ऑक्सीजन का महत्वपूर्ण परिमाण अवशोषित न करेगा।

ब्रोंको (broncho) या पिंडकीय (lobar) फुप्फुसार्ति (pneumomia) मे फेफड़े का भाग काम नहीं करता और फलत: रक्त-ऑक्सीक्षीणता हो जाती है। वातस्फीति (emphysema), फुप्फुस-शोथ (pulmonary oedema) और गैस विषाक्तता (gas

poisoning) में ऑक्सीजन प्रयोग बहुत सफल सिद्ध होता है। ऑक्सीजन की कमी के कारण फुप्फुस उपकला (pulmonary epithelium) की प्रवेश्यता (permeability) तरल के प्रति बढ़ जाती है और परिमाण स्वरूप शोथ हो जाता है। अत: शोथ रक्त ऑक्सीक्षीणता प्रेरित करता है और रक्त ऑक्सीक्षीणता से शोथ को बढावा मिलता है। यह दुश्चक्र ऑक्सीजन के प्रयोग से तोड़ा जा सकता है।

द्रुत और उथले श्वसन के कारण उत्पन्न रक्त ऑक्सीक्षीणता में ऑक्सीजन प्रयोग से राहत मिलती है, क्योंकि उससे अंशत: संवातित (ventilated) एल्वियोली का ऑक्सीजन तनाव बढ़ जाता है। उथला श्वसन कुछ काल तक बना रह सकता है, क्योंकि वह मुख्यत. तंत्रिका के सिरों पर कार्य करनेवाले फेफड़े के अंदर की स्थानीय क्रियाओं के कारण होता है न कि रक्तऑक्सीक्षीणता के कारण। उथला श्वसन चूँकि ऑक्सीजन की कमी से और भी गंभीर रूप लेता है, अत. इसमें ऑक्सीजन उपचार लाभप्रद सिद्ध होता है। अत संक्षेप में, रक्त ऑक्सीक्षीणता वह दशा है जिसमें रुधिर में स्थित ऑक्सीजन का आंशिक दबाव अवनमित हो जाता है।

यह फेफड़े के रुधिर के उचित ऑक्सीजनीकरण में बाधा देनेवाली सभी अवस्थाओं में उत्पन्न होता है। यह दशा प्राय. सभी स्थितियों में ऑक्सीजन प्रयोग से ठीक हो सकती है, यदि कोई जैव कारण उपस्थित न हो।

शरीर के विभिन्न अंग विभिन्न रूपों में प्रभावित होते हैं। प्रारंभ में हृदय का त्वरण होता है, परंतु इस दशा के बने रहने पर हृदय मुस्त हो जाता है और हृदयी निगम घट जाता है।

सं० ग्रं० - ग्रेगोल (१९२५) दि केमिकल रेगुलेशन ऑव् रेस्पिरेशन फिजियोलॉजी, ग्रे (१९४९) . पल्मोनरी वेंटिलेशन ऐंड इट्स फिजियोलॉजिकल रेगुलेशन; ह्विटरिज (१९५०) . मल्टिपुल एंबॉलिज्म ऑव् लंग ऐंड रैपिड शैलो ब्रीदिंग; सिंपोजियम (१९५१) : केमोरिसेप्टर्स ऐंड केमोरीप्टिव रिऐक्शन्स। [रा० चं० शु०]

रक्तक्षीणता (Anaemia) शरीर में विद्यमान लाल रुधिर कणों की कमी की अवस्था है। यह अवस्था प्राय: अनेक व्याधियों के कारण प्रकट होती है। रक्तक्षीणता स्वतंत्र रूप से कोई रोग नहीं है।

रक्तक्षीणता के भेद - रक्तक्षीणता को निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किया गया है :

१. साधारण रक्तनिर्माण के अनिवार्य अंश के अभाव से उत्पन्न रक्तक्षीणता — इसके अंतर्गत लोहे की कमी, विटामिन सी की कमी, बाह्य तथा आंतरिक घटकों की कमी, पोषक आहार की दीर्घकालिक कमी, इत्यादि संमिलित हैं।

२. बाह्य एवं आंतरिक कारण से रक्तक्षीणता — कुछ रोगों में उन लाल रुधिर कणों की, जो प्रतिदिन नष्ट होते रहते हैं, पूर्ति नहीं होती, या रुधिर कणों का निर्माण बंद हो जाता है, जैसे मुख्य दुष्ट रक्तक्षीणता (perniceous anaemia) में। इस वर्ग में हैं : (क) रुधिर के ऐसे रोग, जिनमें श्वेत रुधिर कण अत्यधिक बढ़ जाते हैं, जैसे रक्तश्वेताणुमयता (Leukaemia)। इन रोगों में लाल रुधिर कण कम बनते हैं और मरते बहुत हैं। (ख) गर्भ की बृहत्लोहिताणु (macrocytic) क्षीणता। (ग) आमाशय की यांत्रिक प्रणाली की विकृति के कारण संवेधिक अवस्था, जैसे स्प्रू इत्यादि। (घ) उष्णकटिबंधीय बृहत्लोहिताणु (tropical macrocytic) क्षीणता। (च) यकृत् रोग की बृहत् लोहिताणु रक्तक्षीणता।

३. अत्यधिक रुधिर के नाश के कारण रक्तक्षीणता —

(क) कुछ रोगों में दिन प्रति दिन लाल रुधिर कणों का नाश होता रहता है, जिसके फलस्वरूप कुछ दिनों में रक्तक्षीणता उत्पन्न हो जाती है, जैसे मलेरिया, कालाजार, उपदंश (गर्मी), राजयक्ष्मा, मधुमेह, जीर्ण वृक्कशोथ आदि में।

(ख) कुछ रोगों में तथा रक्तस्राव से जल्दी जल्दी लाल रुधिर कणों का नाश होता है, जिससे कुछ दिनों में ही क्षीणता हो जाती है, जैसे न्यूमोनिया, टायफायड, शीतला, रक्तवमन, गर्भपात, रक्तप्रदर, बवासीर, शल्यकर्म, प्रसूति, आघात तथा अधिक मदिरा के सेवन में।

(ग) गौण रुधिरसंलायिकीय क्षीणता (Secondary haemolytic anaemia)।

(घ) आवेगी हीमाग्लोबिनमेह (Paroxymal Haemoglobinuria)।

(च) शैशवावस्था की शोणांशिक रक्तक्षीणता।

(४) **ऐप्लास्टिक** (aplastic) **रक्तक्षीणता** — यह वह रक्तक्षीणता है जिसमें अस्थिमज्जा के उस भाग का नाश हो जाता है जिसमें लाल रुधिर कण बनते हैं। यह अवस्था मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है, (क) अज्ञात कारण जन्य, (ख) गौण कारण जन्य।

रक्तक्षीणता नर नारी, दोनों को, समान रूप से प्राय: प्रत्येक अवस्था में हो सकती है। गरमियों में अधिक होती है।

क्षीणता के प्रमुख लक्षण एवं निदान — विशेष रोगों में रक्तक्षीणता के लक्षण शरीर के वर्ण से ही पहचान में आ जाते हैं, जैसे ओठ, नाखून तथा आँखों के निचली कनीनिका के भाग का सफेद हो जाना। अन्य सामान्य लक्षणों के अंतर्गत रोगी को चक्कर आता है, भूख नहीं लगती, शारीरिक क्षीणता एवं निर्बलता रहती है, तथा कार्य करने की शक्ति का ह्रास, बुद्धिभ्रम, यकृत् वृद्धि इत्यादि लक्षण उग्र रूप से प्रकट होते हैं। घातक रक्तस्रावजन्य रक्तक्षीणता की अवस्था में तो रोगी मूर्छित हो जाता है और यदि रक्त की तत्काल पूर्ति रक्तदान एवं अन्य उपायों से न की गई तो रोगी का जीवन संकटमय हो जाता है। कभी कभी रोग रहते हुए भी लाक्षणिक क्षीणता का पता नहीं लगता और रोगी भी आक्रमण काल के अतिरिक्त अन्य समय अपने आप को स्वस्थ समझने लगता है, जैसे मिरगी, हिस्टीरिया आदि की बेहोशी के समय इन कारणों से उत्पन्न मूर्छा के समस्त लक्षण दिखाई पड़ते है, परंतु बाद में ये लक्षण लुप्त हो जाते है। उस समय नाड़ी की गति, हृदय की धड़कन आदि लक्षणों से भी रोग का पता लगाना संभव नहीं होता। ऐसी अवस्था में लाल रुधिर कणों की गणना से ही रोग का निदान संभव होता है।

कभी कभी हर्निया, आँतों का फोड़ा, आमाशयिक घातक अर्बुद, आदि रोगों के कारण एकाएक रोगी दुर्बल होने लगता है, जिससे

रक्तक्षीणता के कारणों का ज्ञान कठिन हो जाता है। इसके लिये भी रक्तपरीक्षण कराना नितांत आवश्यक होता है।

रक्तक्षीणता के निदान के हेतु रक्तक्षीणता के अंतर्गत निम्नलिखित दो बातों का पता लगाना अत्यंत आवश्यक होता है :

(१) लाल रुधिर कणों की संख्या, जो साधारणतः रक्त में ४५ से ५० लाख प्रति घन मिलीमीटर होती है तथा रक्तक्षीणता में घटकर २५ से ३० लाख प्रति घन मिलीमीटर हो जाती है।

(२) हीमोग्लोबिन की मात्रा साधारणतः १४·५ ग्राम प्रति १०० ग्राम रक्त में होती है। इसी को शत प्रति शत हीमोग्लोबिन कहते हैं। रक्तक्षीणता में यह प्रतिशत मात्रा घटकर ५० प्रति शत हो जाती है।

परीक्षा के हेतु उँगली पर सूचिवेध करके एक बूँद रुधिर शीशे की पटरी पर लिया जाता है, परंतु कभी कभी अस्थिमज्जा में से निकालने के लिये 'स्टरनल पक्चर (sternal puncture) किया जाता है।

उपचार — रक्तक्षीणता की चिकित्सा सामान्य रूप से कारणों के अनुसार ही होनी चाहिए। वर्गीकरण के अनुसार रक्तक्षीणता की जानकारी प्राप्त करके, उसकी उत्पत्ति के कारण को पहचान कर, उसकी चिकित्सा करने से ही लाभ होता है। सभी तरह की रक्तक्षीणता में पूर्ण आहार' के साथ लोहे की समुचित मात्रा रहनी चाहिए।

(१) **साधारण उपाय** — इसमें शारीरिक एवं मानसिक विश्राम, अच्छी सेवा, ताजा हवा, धूप आदि मुख्य उपक्रम हैं। जब तक लौह चिकित्सा से रक्तक्षीणता ठीक न कर दी जाय, तब तक विश्राम ही सर्वोत्तम चिकित्सा है, ताकि हार्दिक अस्थिरता, जैसे धड़कन, दम फूलना, और चक्कर का आना दूर किया जा सके।

(२) **लक्षणोपयुक्त चिकित्सा** — उदर एवं अन्न संबंधी उपद्रव, जैसे क्षुधा नाश, आमाशय प्रदेश में तनाव एवं भारीपन, वमनेच्छा, वमन, कब्ज एवं अतिसार के आक्रमण आदि, का समय पर उपचार करना चाहिए।

(३) **आहार चिकित्सा** — गंभीर रक्तक्षीणता की आरंभिक अवस्था में भोजन हलका होना चाहिए। इसमें दूध, पुडिंग, दलिया, जेली, थोड़ी उबाली मछली, हरी सब्जी, (जैसे पालक), गाजर, मक्खन, इत्यादि का सेवन करना चाहिए। भूख में वृद्धि के अनुसार और पाचन वृद्धि के अनुसार मांस, मुर्गे का मांस, हरे शाक और फल खाए जा सकते हैं। आहार मे प्रति दिन १० से १५ मिलीग्राम लोहा होना चाहिए। ताजे फल, अंडे, ओटमील, दालों एवं मटर मे विशेषतः लोहा होता है।

(४) लौह चिकित्सा — लौह योग की ओषधियों को मुख एवं सुई द्वारा प्रयोग करते हैं। इस चिकित्सा को तब तक जारी रखना उचित है जब तक लाल रुधिर कण की संख्या तथा हीमोग्लोबिन की प्रति शत मात्रा सामान्य रूप धारण न कर ले।

रक्तक्षीणता की अन्य औपचारिक चिकित्सा में यकृत् का योग, विटामिन बी$_{12}$ तथा फोलिक अम्ल को सुई एवं मुख द्वारा रोगी की अवस्था एवं रोग की उग्रता के अनुसार निर्धारित करके प्रयोग करना श्रेयस्कर है। इस चिकित्सा को तब तक चलते रहना चाहिए जब तक रक्तक्षीणता पूरी तरह से दूर न हो जाय।

घातक रक्तक्षीणता, ऐप्लास्टिक रक्तक्षीणता एवं रक्तस्रावजन्य रक्तक्षीणता की एकमात्र चिकित्सा तत्काल रक्तदान है।

[प्रि० कु० चौ०]

रक्तचाप रक्त का वह दबाव है जो रक्तवाहिनियों की दीवारों पर पड़ता है। उच्च रक्तचाप, जिसे अतिरुधिरतनाव (hypertension) कहते हैं, धमनीगत रोग है।

हृदय, जिसका अन्य अंगों से धमनियों द्वारा संबंध होता है, स्पंदन द्वारा रक्त का परिसंचरण कर, शारीरिक अंगों का पोषण करता है। धमनियाँ अपने लचीलेपन द्वारा रुधिर को आगे बढ़ाती हैं, परंतु चिंता, क्रोध, अतिपरिश्रम तथा अन्य मानसिक परिवर्तनों के कारण यह लचीलापन कम हो जाता है, जिससे रक्त प्रवाह में बाधा उत्पन्न हो जाती है। इसके फलस्वरूप धमनियों की दीवार पर रक्त का दबाव बढ़ जाता है। इसी को "उच्च रक्तचाप" कहते हैं। इस अवस्था मे सिर घूमना, पलकों का भारीपन, चेहरे पर लाली, मानसिक विकृति, अरुचि, थकावट, क्षुधानाश इत्यादि लक्षण प्रकट होते हैं। इसी समय रक्तचाप का मापन करना चाहिए। रक्तचाप निम्नलिखित दो प्रकार का होता है :

(१) प्रकुंचन (Systolic) रक्तचाप अधिकतम रक्तचाप होता है, जो हृदय के आकुंचन काल के समय उत्पन्न होता है।

(२) अनुशिथिलन (Diastolic) रक्तचाप न्यूनतम रक्तचाप है, जो हृदय के प्रसार काल मे उत्पन्न होता है।

प्रकुंचन रक्तचाप आयु के अनुसार निम्नलिखित होता है :

बाल्यावस्था	७५	से	९०	मिलीमीटर
किशोरावस्था	९०	से	११०	,,
युवावस्था	१००	से	१२०	,,
प्रौढ़ावस्था	१२०	से	१३०	,,
वृद्धावस्था	१४०	से	१५०	,,

आयु के अनुसार प्रकुंचन रक्तचाप निकालने के लिये सामान्यतः आयु में ९० जोड़ देते हैं। १६० से अधिक रक्तचाप विकृति का सूचक है। युवा व्यक्तियों मे औसत अनुशिथिलन रक्तचाप ८० मिलीमीटर होता है और ४० वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्तियों मे लगभग ९० मिलीमीटर होता है। भावावेश के कारण हृदय की गति तीव्र होने से रक्तचाप बढ़ता है। सब व्यक्तियों का रक्तचाप एक सा नही होता। एक ही व्यक्ति का रक्तचाप भी समय समय पर बदलता है। स्त्रियों का रक्तचाप पुरुषों मे कुछ कम होता है। भारी शरीरवाले व्यक्ति का रक्तचाप हलके भारवाले व्यक्ति से कुछ कम रहता है। कसरत करते समय कुछ बढ़ जाता है।

कुछ व्यक्तियों का रक्तचाप सामान्य रक्तचाप से कम रहता है। इसका किसी रोग से संबंध नहीं है। ऐसे व्यक्ति उच्च रक्तचापवाले व्यक्तियों से अधिक दीर्घजीवी पाए गए हैं, क्योंकि इनमें उस अति रुधिर तनाव की संभावना नहीं रहती, जिससे उच्च रक्तचापवाले व्यक्तियों की बहुधा मृत्यु होती है।

रक्तचाप मापन यंत्र — १८९६ ई० में प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० रिवारोसी ने रुधिरदाबमापी (sphygmomanometer) यंत्र का आविष्कार किया था। इस यंत्र में एक पंप होता है, जिससे रबर की एक नलिका लगी रहती है। यह नलिका आगे चलकर दो भागों में विभक्त हो जाती है, जिससे एक भाग का संबंध बाहुबंधक से तथा दूसरे भाग का संबंध पारदयंत्र से रहता है। बाहुबंधक समरूप से बाहु पर कस कर बाँध दिया जाता है और पंप से हवा भरी जाती है। उसी समय केहुनी के सामने के भाग में स्टेथस्कोप रखकर प्रत्येक स्पंदन के समय की ध्वनि सुनी जाती है। जब बाहुबंधक में वायु का दबाव धमनीगत रक्तचाप से अधिक हो जाता है, तब धमनी दब जाती है और ध्वनि सुनाई नहीं देती, इसके फलस्वरूप पारदयंत्र में भी कंपन नहीं दीखता। अब पंप के पेच को ढीला करके बाहुबंधक से वायु धीरे धीरे निकाली जाती है। इस समय जैसे ही स्टेथस्कोप से ध्वनि सुनाई दे पारदयंत्र पर लगे पैमाने पर पारे का पाठ्यांक देखा जाता है। यही पाठ्यांक प्रकुंचन रक्तचाप होता है। अधिक वायु निकालने से ध्वनि तीव्रतर होती जाती है, फिर अस्पष्ट हो जाती है तथा अंत में बंद हो जाती है। ध्वनि के एकदम बंद होने के पूर्व अस्पष्ट ध्वनि के समय पारदयंत्र के पाठ्यांक को देख लिया जाता है। यही पाठ्यांक अनुशिथिलन रक्तचाप होता है।

मलबंध, भावावेश, शारीरिक और मानसिक परिश्रम की अधिकता, रक्तवाहिनियों में रक्त की कमी, हृदय की शक्ति तथा रक्तवाहिनियों के परिधीय (peripheral) प्रतिरोध में कमी, रक्त की सांद्रता, रक्तवाहिनियों की प्रत्यास्थता, रक्तवाहिनियों का आयतन, श्वास संबंधी परिणाम तथा शीत एवं उष्णता की कमी बेशी से रक्तचाप में परिवर्तन होता है। [प्रि० कु० चौ०]

रक्तमूर्च्छा (Apoplexy) मस्तिष्क की कोशिकाओं के कार्य में रक्तस्राव या अन्य कारणों से उत्पन्न रक्त की कमी के फलस्वरूप विक्षोभ होने पर यह होती है। मस्तिष्क में धमनी काठिन्य के कारण तीव्ररक्तचाप होने पर धमनी की दीवारें कभी कभी टूट जाती हैं, जिससे रक्तस्राव होने लगता है। इसी को रक्तमूर्च्छा कहते हैं।

तीव्र रक्तचाप के अतिरिक्त स्कर्वी (scurvy), फिरंगरोग (syphilis), मस्तिष्क आघात इत्यादि कारणों से भी रक्तमूर्च्छा उत्पन्न होती है।

लक्षण—स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष इस रोग से अधिक ग्रसित होते हैं। जब रोग का आक्रमण धीरे धीरे होता है तब प्रारंभ में मिचली (nausea), शिरपीड़ा, तथा हाथ पैरों में चैतन्यशून्यता होती है। परंतु जब रोग का एकाएक आक्रमण होता है, तब रोगी एकाएक मूर्च्छित होकर गिर जाता है, चेहरे पर लालिमा आ जाती है, सांस फूलने लगता है, नाड़ी की गति मंद पड़ जाती है, आँखों की दोनों पुतलियाँ असमान, एक छोटी और एक बड़ी, हो जाती हैं। चेहरा एक तरफ को टेढ़ा हो जाता है और शरीर के एक भाग में आक्षेप (convulsion) होने लगता है। रोगी के दाँत बैठ जाते हैं तथा रोगी तरल पदार्थ भी नहीं निगल सकता और जो कुछ भी वह मुँह में लेता है, वह किनारों से बाहर निकल जाता है। हाथ पैर ठंढे प्रतीत होते हैं तथा उनपर से ठंढा पसीना निकलता है। रोगी के बिना जाने ही उसका मलमूत्र निकल जाता है। जिस ओर पक्षाघात होता है उधर की त्वचा फूली सी प्रतीत होती है। नाड़ी की गति तीव्र तथा शरीर का ताप बढ़ जाता है। इस रोग में नाड़ी की गति कम से कम ६० प्रति मिनट तथा अधिक से अधिक ११० प्रति मिनट हो जाती है। रक्तमूर्च्छा का आक्रमण काल २–३ घंटे से लेकर कई दिनों तक रह सकता है और जितना ही रोगी के होश में आने में विलंब होता है उतनी ही साध्यासाध्यता की दृष्टि से घातक अवस्था समझी जाती है। पूर्ण घातक अवस्था में रोगी की पुतलियों की अभिक्रिया नष्टप्राय हो जाती है और यदि उपचार से ४८ घंटे में भी रोगी होश में न आया, तो अवस्था अत्यंत गंभीर समझी जाती है।

इस रोग की अति तीव्र मूर्च्छा की अवस्था में सापेक्ष निदान मूर्च्छा, मदिरा के विषाक्त प्रभाव, अफीम के अतिसेवन से उत्पन्न बेहोशी तथा मस्तिष्क आघातजन्य बेहोशी से करना चाहिए।

रक्तमूर्च्छा के प्रारंभिक उपचार के लिये रोगी के शरीर पर के वस्त्रों को तत्काल ढीला कर देना चाहिए। सिर ऊंचा करके शुद्ध वायु के संचार का उपाय करना चाहिए। माथे पर ठंढा पानी छिड़कना तथा पेड़ पर बर्फ रखना चाहिए। सिर और कंधे को रोगी के एक तरफ मोड़कर जीभ बाहर करके खींचे रहना चाहिए। रोगी में उच्च ताप रहने पर सिर पर बर्फ की टोपी रखें। मलावरोध एवं मूत्र रुक जाने पर शलाका एवं मूत्रनलिका की सहायता से उनका उत्सर्ग कराना चाहिए। रोगी को अधिक उत्तेजक एवं शमक औषधियों का सेवन कराना निषेध है तथा संज्ञा लौट आने पर भी रोगी को उठने बैठने नहीं देना चाहिए। आहार में तरल पदार्थ का ही समय समय पर सेवन कराना चाहिए। [प्रि० कु० चौ०]

रक्तस्राव (Haemorrhage) शब्द का अर्थ है रुधिरवाहिकाओं से रक्त का बाहर निकलना। जब तक रुधिरवाहिकाओं में दरार, या छिद्र न हो, तब तक रक्तस्राव का होना संभव नहीं है। चोट या रोग के कारण ही रुधिरवाहिकाओं में दरार या छिद्र होते हैं। चोट लगने पर तत्काल रक्तस्राव होना प्राथमिक रक्तस्राव कहलाता है और चोट लगने के कुछ काल पश्चात् रक्तस्राव होना गौण रक्तस्राव कहलाता है। यदि रक्त धमनी से बाहर निकलता है, तो यह धमनीय रक्तस्राव कहलाता है। इस रक्तस्राव का रंग चमकीला लाल होता है और यह हृदय के स्पंदन के समकालिक होता है। शिरा से बाहर निकलनेवाले रक्त का रंग कालिमा लिए लाल होता है और घाव से बहता है। केशिका से स्रवित होनेवाले रक्तस्राव का रंग उपर्युक्त दोनों स्रावों के रंग के बीच का होता है और त्वचा पर केवल छोटा सा लाल धब्बा पड़ जाता है। वमन, मूत्र तथा थूक में मिला हुआ रक्त निकल सकता है, या नाक से नकसीर फूटने के कारण रक्तस्राव होता है। आमाशय या पक्वाशय में व्रण हो जाने पर रक्तस्राव होने लगता है। स्वयं रुधिरवाहिकाओं के रुग्ण होने पर एवं उच्च रक्तचाप के कारण धमनियों में दरार पड़ जाती

है और रक्तस्राव होने लगता है। मस्तिष्क के ऊतकों से रक्तस्राव होने पर रक्तमूर्च्छा (apoplexy) हो जाती है।

स्वस्थ व्यक्तियों में रक्तस्राव रोकने की प्राकृतिक क्षमता होती है। यदि ऐसा न हो तो त्वचा के कट जाने, अथवा छिल जाने, पर घातक रक्तस्राव होने लगता है। जिन व्यक्तियों में रक्तस्राव को रोकने की प्राकृतिक क्षमता नहीं होती वे पैतृक रक्तस्राव (hemophilia) से पीड़ित रहते हैं (देखें **पैतृक रक्तस्राव**)।

रक्तस्राव की गति और परिमाण पर ही रक्तस्राव से होनेवाली हानि निर्भर रहती है। मंद गति से अधिक समय तक होनेवाले रक्तस्राव के कारण रक्तक्षीणता नामक रोग हो जाता है। एकाएक अधिक परिमाण में होनेवाला रक्तस्राव घातक होता है और उचित चिकित्सा के अभाव मे मृत्यु हो जाती है।

त्वचा के मामूली छिल जाने, या कट जाने अथवा नक्सीर फूट जाने, पर विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती, पर अन्य प्रकार के रक्तस्रावों के लिये विशेष चिकित्सा की आवश्यकता होती है। रक्तस्राव को रोकने के मुख्य सिद्धांत हैं — (१) रक्तस्राव को रोकने का प्रयास करना, (२) रक्त के परिमाण को रुधिराधान द्वारा सामान्य बनाना तथा रोगी को शांत, सुखद एवं विश्वासपूर्ण स्थिति मे रखना। जब अधिक रक्तस्राव हो रहा हो उस समय रोगी को बिना तकिया के चित लेटना चाहिए तथा रोगी को गरम रखना चाहिए। यदि रोगी को रक्त वमन न हो रहा हो, तो उसे दूध पिलाना चाहिए। रक्तस्राववाले स्थान पर सीधे दबाव डालकर रक्त बंद किया जाता है। धमनीय रक्तस्रावों को रोकने के लिये रक्तबंध (tourniquet) का उपयोग किया जाता है। शल्यकर्म के समय *रक्तवाहिकाओं को बाँधकर रक्तस्राव रोकते है, या ऐसे* अभिकर्मकों का उपयोग करते हैं जो रक्त को गाढ़ा करते हैं। शिरीय एवं केशिकीय रक्तस्राव को रोकना सहज कार्य है किंतु धमनीय रक्तस्राव को रोकने में कठिनाई होती है। धमनीय रक्तस्राव रोकने के लिये तत्काल डाक्टर द्वारा उपचार कराना चाहिए, अन्यथा विलंब के कारण अधिक रक्तस्राव हो जाने पर रोगी के मर जाने का भय रहता है। [अ० ना० मे०]

रघु अयोध्या के प्रसिद्ध इक्ष्वाकुवंशीय राजा जिनके नाम पर रघुवश की रचना हुई। ये दिलीप के पुत्र (रघुवंश, २) थे। जब पिता के अश्वमेध यज्ञ के अश्व की रक्षा का भार रघु को मिला और घोड़े को इंद्र चुरा ले गए तो रघु ने इंद्र से घोर युद्ध करके उन्हें परास्त कर दिया। रघु जब स्वयं गद्दी पर बैठे तो अपने पूरे राज्य में शांति स्थापित करके दिग्विजय करने निकले। चारों दिशाओं में अपना प्रभुत्व स्थापित कर रघु ने अतुल धनराशि एकत्र की। अपने गुरु विश्वामित्र या वरतंतु को गुरुदक्षिणा के लिये कौत्स मुनि द्वारा धन माँगने पर रघु ने कुबेर पर चढ़ाई कर चौदह करोड़ स्वर्णमुद्रा प्राप्त की थी। फिर इन्होंने विश्वजित् नामक दूसरा महायज्ञ किया जिसमें अपनी सारी संपत्ति ब्राह्मणों को दान दे दी।

अपने कुल में ये सर्वश्रेष्ठ गिने जाते हैं जिसके फलस्वरूप मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचंद्र जी भी अपने को रघुवंशी कहने में परम गर्व अनुभव करते हैं। सारा सूर्यवंश इन्हीं के कारण रघुवंश कहलाने लगा। इन्हीं के नाम पर रामचंद्र को राघव, रघुवर, रघुराज, रघुनाथ, रघुवीर आदि कहा जाता है। [रा० द्वि०]

रघुनाथदास गोस्वामी बंगाल के सप्तग्राम के मजूमदार हिरण्यदास तथा गोवर्धनदास दो भाई अत्यंत धार्मिक तथा विद्वान् थे। ऐश्वर्यशाली होते हुए भी बड़े उदार थे। ये कायस्थ थे तथा द्वितीय रघुनाथदास के पिता थे। इनका जन्म सं० १५५१ में हुआ। यह प्रकृति ही से विरक्त तथा ऐश्वर्य से उदासीन थे। इन्होंने शांतिपुर जाकर संन्यस्त श्री गौरांग का दर्शन किया। इसके अनंतर इनका विवाह हुआ। चार वर्ष बाद पुन. यह श्री गौरांग के दर्शन को शांतिपुर गए। उन्होंने उपदेश दिया कि कर्म किए बिना छुटकारा नहीं, मर्कटविरक्ति से लाभ नहीं; अत स्थिरधी हो कर्म करते रहो, भगवत्कृपा अवश्य होगी। रघुनाथदास गृह लौट आए। द्वेषियों के षड्यंत्र से यह गौड़ बुलाए गए और एक वर्ष कारागार मे रहने पर इन्हे छुट्टी मिली। श्री नित्यानंद के पानिहाटी आने पर यह उनसे मिलने गए। इसके अनंतर यह अवसर पा गृहत्यागी हो पुरी चले गए। यहाँ श्री स्वरूप दामोदर से भक्तिशास्त्र का अध्ययन करते हुए कठोर साधना की और श्री गौरांग के अप्रकट होने पर स० १५६० मे वृंदावन चले गए। गोवर्द्धन पर्वत के पास राधाकुंड पर कुटी बनाकर रहने लगे और श्रीगौर की दी हुई गोवर्धनशिला का पूजन करते रहे। रघुनाथ ने भठे हुए राधाकुंड को खुदवाकर स्वच्छ कराया। तथा उसके जल से भर जाने पर स्नानार्थी लोग आने लगे और चारों ओर क्रमश. मंदिर, कुंज, भजनकुटीर आदि बने। इस प्रकार यहाँ दूसरा वृंदावन बस गया और यह 'राधाकुड के रघुनाथ' कहे जाने लगे। यह रतिमंजरी या रसमंजरी सखी के अवतार माने जाते हैं। आश्विन शुक्ल १२, सं० १६४० मे इनका शरीरपात हुआ। रचनाएँ—१. स्तवावली, जिसमें उनतीस स्तव हैं, २. दानकेलि चिंतामणि, ३. मुक्ताचरित। [ब्र० र० दा०]

रघुनाथ भट्ट गोस्वामी पूर्व बंग के रामपुर ग्राम के निवासी तपन मिश्र श्री गौरांग के आदेश से काशी मे आ बसे। यहीं स० १५६२ मे रघुनाथ भट्टाचार्य का जन्म हुआ। जब श्री गौरांग काशी आए, मिश्र जी के यहाँ भिक्षा करते तथा उनकी सेवा करते। रघुनाथ ने संगीत, अनेक शास्त्रों तथा भागवत का यहीं अध्ययन किया। माता पिता की मृत्यु पर गृहत्यागी हो पुरी गए और गदाधर प्रभु का साधन-साध्य-तत्व तथा भागवत पर आठ महीने तक व्याख्यान सुना। सं० १५८६–७ में श्री गौरांग ने इन्हें कृष्णकथा जनसाधारण मे सुनाने तथा भागवत कथा का प्रचार करने वृंदावन भेजा। श्री गोविंद देव जी के मंदिर मे बैठकर यह कथा कहने लगे। यह परम भक्त, विद्वान्, संगीतज्ञ तथा मधुरकंठ थे अतः श्रोताओं की भीड़ जमने लगी। इन्होंने जीवन भर यही कार्य किया। इनका शरीरपात आश्विन शुक्ल ११, १६३६ वि० को हुआ। इनकी समाधि श्रीगोविंद देव जी के मंदिर के दूसरी ओर सेठ जी के मंदिर के पास है।

[ब्र० र० दा०]

रघुवीर डाक्टर रघुवीर देश के प्रख्यात विद्वान् तथा राजनीतिक नेता थे। आप महान् कोशकार, शब्दशास्त्री तथा भारतीय संस्कृति के उन्नायक थे। एक ओर आपने कोशों की रचना कर राष्ट्रभाषा हिंदी

का शब्दभांडार संपन्न किया, तो दूसरी ओर विश्व में विशेषत: एशिया में फैली हुई भारतीय संस्कृति की खोज कर उसका संग्रह एवं संरक्षण किया। राजनीतिक नेता के रूप में आपकी दूरदर्शिता निर्भीकता और स्पष्टवादिता कभी विस्मृत नहीं की जा सकती। आपका जन्म दिसंबर सन् १९०२ में हुआ और निधन १४ मई, १९६३ ई० को। आपकी शिक्षा लाहौर में हुई। बाद में उच्च के अध्ययन के निमित्त आप विदेश गए। लाहौर विश्वविद्यालय से एम० ए० करने के बाद आपने लंदन से पी–एच० डी० और हालैंड विश्वविद्यालय से डी० लिट् की उपाधि प्राप्त की। सन् १९३१ में आपने डच भाषा में उपनिवेशवाद के विरुद्ध क्रांतिसमर्थक ग्रंथ लिखा, जिससे हिंदेशिया के स्वतंत्रता आंदोलन को विशेष प्रेरणा एवं शक्ति मिली। सन् १९३४ में 'इंटरनेशनल एकेडमी ऑव इंडियन कल्चर' नामक संस्था की स्थापना कर भारतीय 'संस्कृति के अनुसंधान का कार्य आरंभ किया। इस कार्य के लिये आपने योरोप, सोवियत संघ, चीन तथा दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों की अनेक बार यात्राएँ कीं। इन यात्राओं में आपने भारतीय संस्कृति विषयक अपनी विशेष दृष्टि तो रखी ही, साथ ही उन देशों की राजनीतिक विचारधारा तथा भारत पर पड़नेवाले संभावित प्रभावों को भी ध्यान में रखा। विगत दशकों में भारतीय संस्कृति का संदेश आपने जिस प्रभावशाली ढंग से दिया, उतना किसी ने नहीं किया। आप महान् कोशकार तथा तथा भाषाविद् थे। आपने प्राय: छह लाख शब्दों की रचना की है। आपकी शब्द-निर्माण की पद्धति वैज्ञानिक है। आपने विज्ञान की प्रत्येक शाखा के शब्दों की कोशरचना की है। सन् १९४३ ई० में आपने आंग्ल हिंदी पारिभाषिक शब्दकोश का प्रणयन और प्रकाशन किया। सन् १९४६ में मध्यप्रदेश सरकार ने आपको हिंदी और मराठी के वैज्ञानिक ग्रंथों की रचना का कार्य सौंपा, जिसे आपने पूर्ण दक्षता तथा योग्यता से पूरा किया। मंगोलिया, हिंदेशिया, हिंदचीन, थाईलैंड आदि अनेक देशों से आप प्रभूत मात्रा में पांडुलिपियाँ तथा सांस्कृतिक सामग्री ले आए थे, जो आपकी दिल्ली स्थित भारतीय संस्कृति की अंतर्राष्ट्रीय अकादमी में सुरक्षित है। भारतीय संस्कृति के स्वरूप तथा उसके विश्वव्यापी प्रचार प्रसार के परिचायक अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों की भी आपने रचना की है। असाधारण विद्वत्ता तथा बहुमुखी प्रतिभा के कारण आप सन् ५२ और ५६ में राज्यसभा के सदस्य चुने गए। इसके पूर्व राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने के कारण सन् १९४१ में आपको कारावास का दंड मिला। राष्ट्र की स्वाधीनता के पश्चात् उसके निर्माण में आपका सदैव सक्रिय सहयोग रहा। राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्र के गौरव को बनाए रखने के लिये आपने समय समय पर कांग्रेस की तत्कालीन नीति की कटु आलोचना की। आपने राष्ट्रभाषा हिंदी को प्रतिष्ठित करने का आंदोलन ही नहीं किया अपितु उसके आधार को भी पुष्ट और प्रशस्त किया। भारत के आर्थिक विकास के संबंध में भी आपने पुस्तकें लिखी हैं और उनमें यह मत प्रतिपादित किया है कि वस्तु को केंद्र मानकर कार्य आरम्भ किया जाना चाहिए। संविधान की शब्दावली के कारण आपका यश सारे देश में फैल गया था। आप अनेक वर्षों तक संसदीय हिंदी परिषद् के मंत्री थे। सरकार की प्रतिरक्षा, चीन, कश्मीर तथा भाषानीति आदि के संबंध में कांग्रेस से आपका मतभेद हो गया और आप कांग्रेस दल से पृथक् हो गए। भारतीय कांग्रेस से अलग हो आप जनसंघ में संमिलित हुए और इसके अध्यक्ष चुने गए। सन १९६२ में आपने लोकसभा का चुनाव लड़ा था किंतु पराजित हो गए। भारतीय जनसंघ को आपके नेतृत्व में नवीन शक्ति, प्रेरणा तथा मान प्राप्त हुआ। प्रबल राष्ट्रप्रेम, प्रगाढ़ राष्ट्रभाषा प्रेम तथा भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धारक के रूप में डा० रघुवीर सदा सर्वदा श्रद्धापूर्वक स्मरण किए जाएँगे। भारतीय साहित्य, संस्कृति और राजनीति के क्षेत्र में आपकी देन विशिष्ट एवं उल्लेख्य है। [ल० धा० व्या०]

रजत शिल्प रजत शब्द का चाँदी के हेतु प्राचीन काल से भारत में व्यवहार होता आया है। सिंधु घाटी की सभ्यता में मिस्र की अपेक्षा हमें अधिक चाँदी की वस्तुएँ मिलती है, जिससे ऐसा अनुमान है कि यहाँ मिस्र की भाँति चांदी सोने से अधिक मूल्यवान नहीं समझी जाती थी। चाँदी के एक मनके के भीतर सुवर्ण का एक मनका मोहनजुदड़ो में प्राप्त हुआ था। उससे तो ऐसा अनुमान होता है कि सुवर्ण और चाँदी एक ही मूल्य के समझे जाते थे।

यह धातु श्वेत होती है और इसकी समानता चंद्रमा के रंग से की गई है। इसका घनत्व पानी की अपेक्षा १०.५ है। (देखें **चाँदी**) यह सुवर्ण से हलकी होती है और सुवर्ण से कम नरम। इसका रंग पानी में अथवा हवा में तो नहीं बदलता, परंतु आग में कुछ काला पड़ जाता है। यह शोरे के अम्ल (nitric acid) में विलय हो जाती है और इस विलयन में नमक मिलाने से प्राप्त पदार्थ प्रयोग फिल्म (film) बनाने में हो सकता है। नरम होने के कारण इस धातु में ताँबा या सीसा मिलाकर काम में लाते हैं। सबसे अधिक चांदी संसार को मेक्सिको से प्राप्त हुई है। भारत ने अतीत काल में चाँदी अफगानिस्तान के फरिजाल से आती थी और आजकल बर्मा से। मैसूर से जो सुवर्ण मिलता है उसमें भी चाँदी रहती है जो पोटैशियम साइनाइड के प्रयोग से निकाली जाती है। शुद्ध चाँदी प्राय ९६०.५° सेंटीग्रेड की आँच में गलती है। आज बिजली के द्वारा चाँदी अन्य धातुओं पर भी चढ़ाई जाती है।

सिंधु घाटी की सभ्यता के नगरों से प्राप्त आभूषणों और बर्तनों के देखने से ज्ञात होता है कि इस युग का भारतीय रजतकार चाँदी की प्रकृति से भली भाँति परिचित था। वह इसको गलाकर मिट्टी के साँचे में ढालकर पासा बना लेता था और इसी पासे को पीटकर पत्तर बनाता था, जिससे विविध आभूषणों का निर्माण होता था। रजतकार चाँदी के पत्तर से बरतन भी बनाते थे और चाँदी में मेल देकर उसके कोर को जोड़ते थे।

रजतकार चाँदी में उभारदार काम, खोदाई का काम, जड़ाई का काम तथा सादा काम, सभी कर लेता था। इसके बनाए हुए छोटे बड़े कड़े, अँगूठी जिसपर एक पुरुष मस्तक पर टोपी पहने हुए हाथ में माला लिए हुए खड़ा है और उसके सामने एक स्त्री एक हाथ कमर पर रखे हुए और दूसरा उठाए हुए नृत्य की मुद्रा में अंकित है, हड़प्पा और मोहनजुदड़ो में प्राप्त पोले हाथ के कड़े तथा अँगूठियाँ इत्यादि, सभी इसकी कारीगरी के साक्षी हैं। यह बर्मी, हथौड़ी, छेनी, चाकू इत्यादि से ही इतने सुंदर नमूने उपस्थित कर सकता था।

प्राचीन मिस्र में चाँदी सुवर्ण से अधिक कीमती समझी जाती थी। आमेनेमहाट द्वितीय (Amenemhat II) के मिश्रित ताँबे के ताबूतों में से प्राप्त चाँदी के गहनों में हाथ के कड़े, गले के आभूषण इत्यादि बड़े सुंदर हैं। इनका काल ईसा पूर्व १६३८ से १६०४ तक का कूता गया है (चित्र नं० १७३)। मिस्र के आभूषणों में स्कारब (Scarab) तथा कमल के आकारों की प्रधानता मिलती है। स्कारब के आकार के पत्थर भी काटकर आभूषणों में जड़े गए है। प्राचीन असीरिया में बर्मी का व्यवहार आकार काटने के हेतु किया जाता था।

ऋग्वेद में हिरण्य शब्द कई बार सुवर्ण के हेतु प्रयुक्त हुआ है, परंतु रजत शब्द हमें पहले यजुर्वेद मे मिलता है। इससे अनुमान होता है कि ऋग्वेद काल मे आर्यों को रजत का पता न था। जब वे भारत में आए तभी उन्होंने इस धातु को देखा। रजत से सूची अथवा सूई बनाने का निर्देश है। सुइयों के बनाने के हेतु चाँदी में ताँबा मिलाकर कड़ा करना पड़ता होगा और तार खींचना पड़ता होगा। अथर्ववेद में चाँदी सुवर्ण के पश्चात् मिलती है। इस काल तक हिरण्यकार से रजतकार की कोई अलग श्रेणी नहीं थी, क्योंकि वह अलग से पुरुषमेध के प्रकरण में नहीं वर्णित है।

शतपथ ब्राह्मण में रजत का रुक्म (आभूषण) बनाने की बात मिलती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसका पात्र बनाने का निर्देश प्राप्त होता है तथा पंचविंश ब्राह्मण मे रजत के निष्क (गोल सिक्कों की भाँति के चाँदी के टुकडो की माला) की चर्चा मिलती है तथा चाँदी के मनके का उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण मे है।

पाणिनि के समय में भी कदाचित् रजतकारों की अलग श्रेणी नहीं थी, सुवर्णकार ही चाँदी का भी काम बनाते थे। चाँदी के सिक्कों के नाम हमे यहाँ प्राप्त होते हैं।

जातकों में चाँदी की थाली में भोजन करने का उल्लेख है, परतु इनके बनाने का विवरण नही प्राप्त होता। जिन औजारों से ये विविध बरतन बनाए जाते थे, उनके कुछ नाम, जैसे हथौड़े, आरी, छेनी, चिमटा, सँड़सी, इत्यादि प्राप्त होते हैं। इस काल की बनी चाँदी की आहत मुद्राओं पर विविध आकार अतीव सुंदर हैं। ये आकार किन तथ्यों के द्योतक थे, यह अभी खोज का विषय है। तक्षशिला, कौशांबी, बस्ती, सारनाथ, पाटलिपुत्र आदि स्थानों से इस प्रकार के बहुत से सिक्के पाए गए हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सुवर्ण और चाँदी के आभूषणों को अलग अलग रखने का निर्देश प्राप्त होता है, जिससे ज्ञात होता है कि रजतकार स्वर्णकारों से भिन्न थे। श्वेत चमकती हुई मुलायम चाँदी उत्तम कोटि की मानी जाती थी। चाँदी में जितना और वस्तुओं का मिश्रण हो उसका चौथाई भाग सीसा मिलाने का निर्देश प्राप्त होता है। चाँदी के सिक्कों का भी विवरण हमें यहाँ प्राप्त होता है। चाँदी को शुद्ध करने की विधि भी बताई गई है। चाँदी की तौल श्वेत सरसों के दाने से की जाती थी। ८० सरसों का दाना एक माशा चाँदी के बराबर होता था।

सीरिया के किसी गिरजाघर की खोदाई से एक चाँदी का प्याला मिला है, जिसपर ईसा मसीह के शिष्यों की आकृति बनी है। यह ईसा की चौथी शताब्दी के सीरिया के रजतकारों की कारीगरी का अच्छा नमूना है।

प्राचीन यूनान के रजत के बने प्याले और बरतन, जिनपर उभाड़दार काम बड़ी सफाई से किया गया है, दर्शनीय हैं। यूनान से प्राप्त चाँदी के आभूषण में एक पिन, जो हीरा देवी पर चढ़ाई गई थी, बड़ी सुंदर है। यह अरगोलिस में मिली थी। साइप्रेस से प्राप्त एक चाँदी की करधनी वहाँ के रजत शिल्प की उन्नति सूचित करती है। किस प्रकार काँटी (pin) से रोमन लोगो की ब्रूच (pibula) बनी, यह खोदाई में प्राप्त काँटियों को देखने से स्पष्ट हो जाता है। फ्रांस के दक्षिण में निवास करनेवाले क्रोमैग्नॉन लोगों की भी एक पिन ब्रिटिश म्यूजियम में रखी है। रोमन लोग चाँदी के आभूषण भी व्यवहार करते थे, परंतु इनके प्रभुत्व के समय यूरोप मे चाँदी का प्रयोग बरतनो के बनाने में विशेष रूप से होता था। इन बरतनों पर खोदाई का काम, उभाड़दार काम, छिलाई का काम तथा जड़ाई का काम दिखाई देता है। चाँदी के तार के काम मे फीनेशियन लोग बड़े पारंगत थे। रोम के कारीगरो ने कदाचित् इन्हीं से इस प्रकार का काम सीखा।

तक्षशिला के बने बरतनों पर यूनानी सभ्यता की छाप दिखाई देती है, जैसे चाँदी के पनारीदार प्याले, सुराही इत्यादि पर, जिसका पार्थिया से यहाँ पहुँचना स्वाभाविक ही था; परंतु प्याले के आकार मोहन जु दड़ो से प्राप्त मट्टी के प्यालो से बहुत भिन्न न होने के कारण इन्हे वहाँ से आया हुआ नहीं माना जा सकता। चाँदी के सादे बरतनो के अतिरिक्त उनपर उभाड़दार काम भी होता था। इन्हे पहले साचे में ढालकर फिर पतली छेनी से छील लेते थे। यहाँ चाँदी की थाली, कटोरी, चाँदी की चलनी, प्याले इत्यादि प्राप्त हुए है। आभूषण प्रायः साँचे मे ढालकर बनाए गए हैं। मार्शल का मत है कि साँचे यहाँ प्रायः ताँबे के, या मिश्रित धातु के, बनते थे और इन्हीं पर पत्तर पीटकर कारीगर नक्श उठा लेते थे। कान के आभूषण जिनमें साँप के आकार की बालियाँ, जिनपर साँप की केंचुली के आकार की नक्काशी है, गले का कंठा, जिसमें ३७ घुंडियाँ लगी है (नं० ५५), हाथ के कड़े, जिनके मुँह चौकोर बने हुए हैं (नं० १०२-१०३), पैर के पोले कड़े, जिनपर नक्काशी बनी है (नं० १४६-५१) तथा चाँदी की अँगूठियाँ इत्यादि यहाँ से प्राप्त हुई हैं, जो तक्षशिला के रजतकार की कारीगरी के सुंदर नमूने हैं (मार्शल : तक्षशिला)।

गुप्तकाल के बने चाँदी के आभूषण सारनाथ तथा पटना के कुम्हरहार की खोदाइयों में मिले हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि इस काल में चाँदी के गहनों का चलन बहुत कम हो गया था। चाँदी के गुप्तकालीन सिक्के, जिनपर एक ओर कुमारगुप्त या स्कंदगुप्त की आकृति है और दूसरी ओर मोर अथवा वृषभ बना हुआ है, इस काल के रजतकारो की कारीगरी के अच्छे नमूने हैं। सातवाहनों के भी चाँदी के सुंदर सिक्के प्राप्त हुए हैं।

अकबर के काल में एक रुपए में एक तोला चाँदी मिलती थी। एक रुपया साढ़े ग्यारह माशा तौल में होता था। चाँदी को शुद्ध करने के हेतु पृथ्वी में एक गढा खोदते थे, उसमें गोबर को छिड़क देते थे। इसके पश्चात् उसमें बबूल की लकड़ी की राख डालते थे। जिसपर पानी

छिड़ककर एक थाली के आकार का बरतन बनाते थे। इसी बरतन में चाँदी को रख देते थे और उसके ऊपर चाँदी का ⅓ भाग सीसा (lead) रखते थे और इसकी चारों तरफ से कोयले से ढककर आग जलाते थे जिसे भाथी से फूँकते थे जब तक चाँदी गल न जाय। इस प्रकार इस क्रिया को चार दफे करते थे। चाँदी शुद्ध होने का यह प्रमाण था कि चाँदी में बिजली की भाँति चमक पैदा हो जाय और चारो ओर से जमने लगे। जब बीच में से भी जम जाती थी, उसपर पानी छिड़कते थे, इससे नीले रंग का धुँआ निकलने पर इसे शुद्ध समझते थे। इस प्रकार चाँदी की सिल बन जाती थी। चासनी गीर इसकी शुद्धता १ तोले चाँदी मे एक तोला सीसा देकर देखता था और यदि तीन चावल के बराबर चाँदी कम हो जाय तो इसे शुद्ध मानता था। सोने से चाँदी को अलग करने के लिये पहिले ताँबे के साथ गलाते थे और फिर गंधक के साथ।

यूरोप के मध्य युग में ईसाई धर्म के जोर के कारण प्राय: आभूषणों के आकारों में भी परिवर्तन हुआ। उसी प्रकार के चाँदी के बरतन, मोमबत्ती के दीयट, धूपदान इत्यादि सभी एक विशेष आकार के बने। ये ही रजतकार आभूषण भी बनाते थे, इस कारण ईसाई पादरियों के पहिनने के आकार प्रकार की नकल इनमें भी हुई जैसे घंटी का आकार, ताली का आकार, पत्ती की माला का आकार, धर्मचिह्न (cross) का आकार इत्यादि। इस काल में चाँदी पीतल पर भी चढाई जाती थी। कई ब्रोंच, कनखोदनी, जोड़ के आकार के आभूषण इत्यादि इस प्रकार के मिले हैं। पीछे चलकर आभूषणों पर कर लग जाने के कारण यूरोप के स्वर्णकार और रजतकार भाग गए या दूसरा धधा अपनाकर जीवनयापन करने लगे।

इंगलिस्तान में प्राय. सोलहवीं शताब्दी में सुवर्णकारों और रजतकारो ने अपने धधो को सुरक्षित रखने के हेतु श्रेणियाँ (guilds) बनाईं और बरतनो पर ये अपनी दुकानों का नाम अंकित करते थे। सामंत के नाम भी इनपर साइफर (cypher) मे अंकित रहते थे।

लंका के मध्य युग के रजतकारों ने बड़े सुंदर सुंदर आभूषणों, सिंहासनो तथा बरतनो का निर्माण किया था। इनके कुछ नाम हमें आनंद कुमारस्वामी के 'मिडीवल सिंहलीज़ आर्ट' मे मिलते हैं। इनकी विविध श्रेणियों को पट्टल हटर कहते थे।

अठारहवीं शताब्दी में यूरोप से सारे विश्व का संबंध हुआ और विविध देशों की वस्तुओं की कारीगरी को देखने का अवसर मिला। यूरोप में फ्रांस ही सभ्यता का केंद्र समझा जाता था जहाँ से विविध नए आकार प्रकार निकले। फूल के गुच्छे, फूल की डालियाँ इत्यादि के आकार का कला मे विशेष समन्वय दिखाई देता है। चाँदी की डिबियों पर, आभूषणों पर मीनाकारी की गई और प्रेम के विविध दृश्य अंकित किए गए। मिस्र का भी पीछे चलकर प्रभाव पड़ा जब फ्रांस से मिस्र का संबंध हुआ तथा गापिआई के गहनों ने भी अपना प्रभाव दिखाया। इस काल में चाँदी के आभूषण बहुत बने। पेटी के तस्मे प्राय. चाँदी के बनते थे। इसमें बहुतों में हीरे तथा नगीने जड़े होते थे। परंतु इस काल में प्राय: भरा हुआ काम बनता था जिसमें सादी जगह बहुत कम छूटती थी। हारों में प्राय: खुदे हुए अकीक, जिनपर विविध दृश्य अंकित होते थे, लगाए जाते थे। हाथ के गहने और ब्रोंच इन्हीं हारों के जोड़ के बनने लगे। अँगूठियाँ भी विविध भाँति की बनने लगीं परंतु मारक्विस के आकार की अँगूठियों का चलन इसी काल मे प्रारंभ हुआ जिनमें प्राय. खुदे हुए अकीक जड़े रहते थे।

भारत में इस काल में मुगल कालीन आभूषणों का ही चलन रहा तथा रजतकार प्राय: पिछले नमूनों की ही नकल करते रहे।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में चाँदी के कारीगरों ने पश्चिम के प्रभाव के कारण आभूषणो में और बरतनों में भी यूरोप के आकारों की नकल करना प्रारंभ किया। ढलाई का काम विशेष रूप से होने लगा जिसमे एक ही भाँति के बहुत से बरतन बन सकें।

यूरोप मे इस काल में छिलाई का उभाड़दार काम बहुत बढ़ गया। लॉकेट भी बहुत बने।

प्राय: १०वी शताब्दी में नेपाल तथा तिब्बत में चाँदी की अनेक मूर्तियाँ बनी। ये भारतीय रजतकारों की कारीगरी के उत्कृष्ट नमूने हैं। इन्हें प्राय: दो प्रकार से बनाया गया है, या तो मिट्टी में मूर्ति बनाकर उससे दो भागों में साँचा तैयार करके उसमे पिघली चाँदी डालकर अलग अलग दो भागो में बनाकर और फिर इन दोनों को जोड़कर या पूरी मूर्ति मोम की बनाकर और उसपर एक कोट मिट्टी चढ़ाकर फिर पिघली चाँदी अयस्क एक छेद से डालकर। इस प्रकार की मूर्तियाँ, अमिताभ बुद्ध की, कुबेर की, तारा की तथा अन्य ब्रिटिश म्यूजियम में रखी हैं। चीन में भी अनेक मूर्तियाँ इस भाँति की इसी काल की बनी हुई मिलती हैं। सन् १९०३ में दिल्ली की नुमाइश में रजत शिल्प के जो नमूने दिखाए गए थे उनमे भारतीय मीनाकारी, पच्चीकारी, खोदाई, छिलाई, उभाड़दार काम, तार के काम, इत्यादि सभी दिखाए गए थे। मीनाकारी के काम में चाँदी पर उतने रंग नहीं प्रदर्शित हो पाते जितने सुवर्ण पर, परंतु फिर भी विविध रंगों से बड़े सुंदर काम बनाए गए। इनमें (क) जापान और चीन की भाँति सतह पर तार से नक्शा बनाकर तार को वस्तु के साथ जोड़ देते थे और इस प्रकार बने गड्ढों में विविध रंग भरते थे। फिर आग में तपाते थे जिससे रंग पकड़ ले। या (ख) जयपुर, कच्छ, भावलपुर, दिल्ली, लखनऊ, वाराणसी, रामपुर की भाँति नक्शा वस्तु की सतह पर गहरा खोद दिया जाता था जिसमें रंग भरकर तपाते थे। या (ग) कश्मीर की भाँति जिन स्थानों में मीना नहीं करना है उनको नीचे से दबाकर उठा देते थे जिससे बीच बीच में गड्ढे बन जाते थे जिनमें भरते थे। भारत में भट्ठी छोटी होने के कारण छोटी छोटी वस्तुओं पर ही मीनाकारी हो सकती थी। पीले रंग के हेतु पोटाश के क्रोमेट (potash chromate) से, बैंगनी रंग मैंगनीज़ के कार्बोनेट (carbonate of manganese) से, नीला कोबाल्ट के ऑक्साइड (cobalt oxide) से, हरा ताँबे के ऑक्साइड (oxide of copper) से, भूरा लोहे के ऑक्साइड

(iron oxide) से, काला कोबाल्ट (cobalt) से, सफेद रंग पोटाश के ऐंटिमोनियेट (antimoniate of potash), हाइड्रेटेड लोहे के ऑक्साइड तथा जस्ते के कारबोनेट से बनता था। इन रंगों को सीसे के चूरे में मिलाकर लगाते थे। सबसे पहले उन्हीं रंगो को लगाया जाता है जो अधिक आँच लेते हैं। इसके उपरांत कम आँच लेनेवाले।

जयपुर के मीने में मुगल चित्र की भाँति पहले सफेद रंग भरते थे। उसके पश्चात् फूल पत्ती के रंग भरते थे। भागलपुर में गहरे नीले और हरे रंग का मीना होता था। यहाँ ऊँचा उठा हुआ काम दिखाने को मीने का मोटा पलस्तर देते थे। कश्मीर का मीना का काम ईरान की भाँति का होता था। इसमें वस्तु का सब भाग मीने से ढक दिया जाता था जिससे ऐसा ज्ञात होता था कि किसी रंगीन धातु की वस्तु हो। लखनऊ, रामपुर, बनारस का इस काल का गुलाबी मीना बहुत ही सुंदर होता था।

इस काल में मीनाकारी के अतिरिक्त कश्मीर दुशाले की कारीगरी के नमूने की खोदाई बरतनों पर करता था। कटक का कारीगर कटाव का बहुत बारीक काम करता था। उभाड़दार काम लखनऊ और बनारस का बहुत अच्छा होता था। नक्काशी का काम और सादा काम मद्रास का बहुत अच्छा होता था।

हैदराबाद में जस्ता और सीसा मिलाकर बरतन ढालकर बनता था जिसे खराद पर चढ़ाकर खराद लेते थे और उसमें चाँदी का तार नक्काशी पर बैठाकर गरम करते थे जिससे चाँदी का तार उसपर जम जाता था और स्थान स्थान पर अमोनिया (ammonia) और सोरा तीसी के तेल में मिलाकर लगाते थे जिससे एक प्रकार का हरा रंग चढ़ जाता था।

पंजाब में एक प्रकार का कोफ़्तगरी का काम होता था। इसमें एक धातु को दूसरी धातु पर जोड़कर काम बनाते थे। इस प्रकार का काम प्राय तलवारों की मूठो पर और ढाल पर होता था।

प्राय भारत में गंगा जमुनी अर्थात् चाँदी की वस्तु पर स्थान स्थान पर सोना चढ़ा हुआ काम लोग अधिक पसंद करते थे। इसे प्राय. रजतकार सुवर्ण को खार (acid) में गलाकर बने हुए बरतनों पर लगाते थे जिससे उसमें एक विचित्र सौंदर्य उत्पन्न होता था। पीछे सिकलीगर इसको थूक लगाकर रगड़कर चमका देते थे।

लंका में इधर तीस वर्ष में श्री पी० बी० टॉमस ड सिलवा के निदेश में प्राचीन कारीगरो के घराने के लड़को ने नए नमूने प्राचीन आधारों पर बनाए हैं जिनमें सिगमिनी पटाबदी एल० के० मुर्गलिहामी अप्पू स्वर्णतिले के, राजगुरु पटा बेन्दी अप्पू देव सुरेन्द्र इत्यादि प्रसिद्ध हैं। इन्होंने नक्काशीदार बक्स, सिगरेट रखने के बक्स, राखदान, पाउडर के बक्स, चाय के बरतन इत्यादि सभी पाश्चात्य वस्तुओं को भारतीय ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। कुछ इसी प्रकार का प्रयत्न कश्मीर में भी दिखाई देता है।

पाश्चात्य देशों के प्रभाव के कारण पीछे चलकर सादा काम लोग अधिक पसंद करने लगे जिसमें बरतन का सब भाग सादा होता था, केवल कोर पर कुछ थोड़ा सा काम रहता था। चाँदी के आभूषण भी इसी प्रकार बनते थे। आज कल भी सादा काम लोगों को रुचिकर होता है। इनको बनाने के हेतु मशीनें भी बन गई हैं। आज विशेष ध्यान आकार पर दिया जाने लगा है जैसे सितार या शंख के या खरबूजे के आकार के पनडब्बे, मछली के आकार के इतरदान, शंख तथा पद्म के आकार के सिंदूरदान, पुस्तक के आकार के सिगरेटदान इत्यादि। [रा० गो० च०]

रजिया, सुल्ताना सुल्ताना रजिया सुल्तान इल्तुतमिश की बेटी थी जो गुलाम वंश का एक मशहूर बादशाह हुआ है। वह अपने दोनों भाइयों से अधिक योग्य और बहादुर थी। इसीलिये इल्तुतमिश ने रजिया को अपनी उत्तराधिकारिणी बनाने का निश्चय किया। किंतु बादशाह की मृत्यु के बाद अमीरों ने अयोग्य राजकुमार रुक्नुद्दीन को राजगद्दी दी। कुछ महीनों बाद राजविद्रोह हुआ जिसके परिणाम स्वरूप सन् १२३६ ई० मे रजिया राजसिंहासन पर बैठी। वह मरदाना लिबास पहनती, दरबार करती, लोगो की फरियादे सुनती, उनका इंसाफ करती और भली भाति राज्य का प्रबंध करती थी। कई विरोधी अमीरों को मृत्युदंड देकर और अपने सहायकों को ऊँचे पद देकर उसने अपनी शक्ति बढ़ा ली। एक हबशी गुलाम याकूत के प्रति अधिकानुराग की प्रवृत्ति के कारण मलका से अमीर वजीर डाह करने लगे। लाहौर का शासक मलिक आइजउद्दीन विद्रोही हो गया। मलका ने उसपर चढ़ाई की। मलिक आइजउद्दीन ने मलका से सुलह कर ली।

जब मलका देहली वापस पहुँची तो मालूम हुआ कि भटिंडा के हाकिम मलिक अलतूनिया ने बगावत कर दी है। सुल्ताना रजिया लश्कर लेकर भटिंडा की तरफ बढ़ी। याकूत हबशी इस लड़ाई मे मारा गया और मलका गिरफ्तार करके भटिंडा भेज दी गई। अलतूनिया की फौजो ने देहली पर कब्जा किया और एक मरदार बहराम शाह को तख्त पर बिठा दिया।

सुल्ताना रजिया जब कैदी के रूप मे भटिंडा पहुँची तो अल्तूनिया उसके सौंदर्य और बुद्धिमत्ता से आकृष्ट हुआ। दोनो का निकाह हुआ और दोनो ने सेना एकत्र कर देहली पर हमला किया। रजिया और अल्तूनिया की फौज ने बहराम शाह की फौज से हार खाई। दोनो भटिंडा लौट आए और कुछ कालोपरांत फिर शत्रु पर आक्रमण किया किंतु इस बार भी कैथल मे उनकी हार हुई।

रजिया और अल्तूनिया निर्वासित होकर इधर उधर मारे मारे फिरे। अंत मे जमीदारों ने उन्हे गिरफ्तार करके सुल्तान बहराम शाह के हवाले किया और उसने दोनो को कत्ल करवा दिया।

रजिया सुल्ताना ने सन् १२३६ ई० से सन् १२४० ई० तक राज्य किया। [र० स० ज०]

रजोनिवृत्ति (Menopause) मासिकधर्म बंद हो जाने को रजोनिवृत्ति कहा जाता है। साधारणत कन्याओं को १४ या १५ की आयु मे और ऊष्ण प्रदेशो में इससे भी पूर्व मासिकधर्म प्रारंभ हो जाता है, जिसका अर्थ है कि कन्या गर्भधारण के योग्य हो गई है। तब से लेकर ४५ से ५० वर्ष की आयु तक साधारणतया प्रत्येक २८वें दिन मासिकधर्म होता रहता है। प्रत्येक मास में एक बार डिंबग्रंथि से एक डिंब परिपक्व होकर बाहर निकलता है

और डिंबवाहिका नली में शुक्राणु द्वारा संसेचित होकर गर्भाशय में आकर गर्भ बन जाता है।

जब डिंबग्रंथि में परिपक्व डिंबों का क्षरण बंद हो जाता है, तब मासिकधर्म भी बंद हो जाता है। डिंबग्रंथि में जो अंतःस्राव बनते है वे ही डिंब के परिपक्व होने के बाद अंडोत्सर्ग (ovulation), गर्भस्थापना और गर्भवृद्धि के कारण होते है। डिंबग्रंथि के सक्रिय जीवन के समाप्त होने पर इन स्रावों का बनना निसर्गत: बंद हो जाता है। रजोनिवृत्ति इसी का सूचक तथा परिणाम है।

रजोनिवृत्ति होने पर स्त्री के शरीर में शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के परिवर्तन हो जाते है। बहुधा ये परिवर्तन इतनी धीमी गति से तथा अल्प होते हैं कि स्त्री को कोई असुविधा नही होती, किंतु कुछ स्त्रियों को विशेष कष्ट होता है। रजोनिवृत्ति को अंग्रेजी मे मेनोपॉज कहते है, जिसका अर्थ 'जीवन मे परिवर्तन' है। यह वास्तव मे स्त्री के जीवन का परिवर्तनकाल होता है। इस काल का प्रारंभ होने पर चित्त में निरुत्साह, शरीर की शिथिलता, निद्रा न आना, शिर में तथा शरीर के भिन्न भिन्न भागों में पीड़ा रहना, अनेक प्रकार की असुविधाएँ, या बेचैनी होना आदि लक्षण प्रकट होते हैं। बहुतों के शरीर मे स्थूलता आ जाती है। आनुवंशिक या वैयक्तिक उन्माद की प्रवृत्तिवाले व्यक्तियों को उन्माद, या पागलपन होने की आशंका रहती है। अन्य प्रकार के मानस विकार भी हो सकते है।

प्रजनन क्रिया समाप्त होने के पश्चात्, प्रजनन अंगों म अर्बुद होने का भय रहता है। डिंबग्रंथि और गर्भाशय दोनों में अर्बुद उत्पन्न हो सकते है। गर्भाशय मे घातक और प्रघातक दोनों प्रकार के अर्बुदों की प्रवृत्ति होती है। मासिकधर्म की गड़बड़ी कैंसर का सर्वप्रथम लक्षण है। अधिक मात्रा मे स्राव होना, सौत्रार्बुद (fibroid) का सूचक है। उदर के आकार की वृद्धि का कारण अर्बुद हो सकता है। इस समय गलगंड, या घेघा (goitre) उत्पन्न होने की संभावना रहती है।

भिन्न भिन्न स्त्रियों मे रजोनिवृत्ति भिन्न भिन्न प्रकार से होती है। किसी में मासिकधर्म अकस्मात् बंद हो जाता है। कुछ मे धीरे धीरे, एक या दो वर्ष मे बंद होता है। [मु० स्व० व०]

रणजीतसिंह, महाराजा (१७८०–१८३९) शेर-ए-पंजाब के नाम से लोकप्रिय रणजीतसिंह सुकरचकिया मिसल के नेता सरदार महासिंह के पुत्र थे। वे गुजरांवाला (अब पाकिस्तान मे है) में राजकौर के गर्भ मे संवत् १८३७ (वि०) के मार्गशीर्ष मास की दूसरी तारीख तदनुसार ३ नवबर, १७८० को सोमवार के दिन उत्पन्न हुए। उन्होने अपनी प्रारंभिक शिक्षा अपने कस्बे मे ही भाई भागू सिंह की धर्मशाला मे प्राप्त की। अप्रैल, १७९० में पिता की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकारी के रूप मे सुक्करचक्किया मिसल के नेता हुए।

१७९८ में जब शाह जमान ने पंजाब पर आक्रमण किया, रणजीतसिंह ने बहादुरी से उसका मुकाबला किया और अंत में उन्होंने शाह जमान को पीछे हटने के लिये विवश कर दिया। जब यह समाचार फैला कि कसूर का निजामुद्दीन लाहौर पर आक्रमण करनेवाला है तो प्रमुख मुस्लिम, हिंदू और सिक्ख नागरिको ने १७९९ में उन्हे लाहौर की रक्षा के लिये आमंत्रित किया। तब निजामुद्दीन ने १८०० में भंगी और रामगढ़िया सिक्ख सरदारों से संधि की, किंतु यह संधि भंगी सरदार की आकस्मिक मृत्यु के कारण लड़खड़ा गई और रणजीतसिंह लाहौर के एकच्छत्र अधिपति हो गए।

रणजीतसिंह ने जम्मू और कश्मीर की ओर कूच किया और बीस हजार रुपयों की भेंट प्राप्त की। उन्होंने मिरोवाल, नंगेवाल और जैसरवाल जीत लिए और वे अकालगढ़ पर, जो भंगी सरदारों का गढ़ था, टूट पड़े। इन भंगी सरदारों ने रणजीतसिंह के पूर्वजो के नगर गुजरांवाला पर अधिकार करने का प्रयत्न किया था।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने १८०० के अंत के लगभग अपने एक प्रतिनिधि मीर यूसुफ अली खाँ के साथ १० हजार रुपए रणजीत सिंह के पास भेजे कि वे कंपनी की मित्रता स्वीकार कर ले। रणजीत सिंह ने यह मित्रता आजीवन निभाई।

सन् १८०१ के बैसाखी दिवस (१२ अप्रैल) को पंजाब के प्रमुख नागरिकों ने रणजीतसिंह को महाराजा की उपाधि दी और गुरु नानक के उत्तराधिकारी बाबा साहिब सिंह द्वारा उनका 'तिलक समारोह' संपन्न हुआ।

राजकीय प्रशासन हेतु चुनाव करते समय महाराजा जाति और और दल की अपेक्षा क्षमता और योग्यता का विचार करते थे। ऊँचे ऊँचे पदों पर हिंदू और मुसलमान समान रूप से नियुक्त किए जाते थे। यद्यपि वे स्वयं सिक्ख थे किंतु उनका राज्य केवल सिक्खों के लिये नही था।

१८०५ के अंत में यशवंतराव होल्कर जो अपने राज्य से पराजित होकर भागे थे, रणजीतसिंह के पास लार्ड लेक के विरुद्ध सहायता की याचना के लिये पहुँचे। लेक यशवंतराव होल्कर का पीछा करते हुए व्यास नदी तक पहुँच गया था। महाराजा ने उन दोनो के बीच संधि करा दी तथा दिल्ली के परे उसे उसके राज्य का सारा भाग दिला दिया। ईस्ट इंडिया कंपनी से १८०९ में की गई संधि में रणजीतसिंह को सतलज के उत्तर के क्षेत्रों में अंग्रेजों के हस्तक्षेप का भय न रहा। उनको केवल सतलज के दक्षिण का भाग छोड़ना पड़ा।

रणजीतसिंह ने तब छोटी छोटी रियासतों के विलयन का कार्य आरंभ किया और शिवालक पहाड़ी रियासतों तथा करोड़सिंधिया के हरियाना को लाहौर में मिला लिया। १८१० के आरंभ मे साहीवाल के बलोचियों की ओर उनका ध्यान गया और उन्ही दिनो उन्होंने गुजरात नगर पर अधिकार कर लिया। उसी वर्ष की गर्मियों में जम्मू और सियालकोट भी जीत लिए गए।

१८११ में महाराजा ने अफगानिस्तान के पदच्युत शाह शुजा के शरणार्थी परिवार को शरण दी और शाह की पत्नी वफा बेगम के अनुरोध पर उन्होंने वजीर फ़तेह खाँ से संधि कर ली और उसके दीवान मोहकम चंद को कश्मीर पर चढ़ाई के लिये नियुक्त किया, जहाँ अफगानों ने शाह को कैद करके बंद कर रखा था। शाह शुजा कारागार से मुक्त किया गया और सुरक्षित लाहौर लाया गया। इसपर शाह शुजा ने महाराजा रणजीतसिंह को कोहनूर हीरा भेंट किया।

१८१८ में उन्होंने मुल्तान और पेशावर जीते। १८१६ में कश्मीर को मिलाकर पंजाब की उत्तरी सीमाओं का विस्तार कर लिया। १८२६ में हैदराबाद के निजाम का एक प्रतिनिधि महाराजा के लिये अनेक उपहार लाया जिनमें एक सुंदर चँदोवा भी था। महाराजा ने उसे तुरंत स्वर्णमंदिर को भेंट कर दिया, वहाँ तोशाखाने में यह अब तक सुरक्षित है।

१८२७ में पेशावर सीमांत प्रदेश में बरेली के सैयद अहमद के सिक्ख विरोधी वहाबी जिहाद से शांति भंग हो गई। सैयद अहमद ने उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल से बहुत सा रुपया और अनेक कट्टरपंथी मुसलमानों को जुटाकर पेशावर पर अधिकार कर लिया था। अंत में राजकुमार शेरसिंह और सरदार हरिसिंह नलवा के नेतृत्व में महाराजा की सिक्ख सेना ने १८३१ में जिहाद को दबा दिया। सैयद अहमद और शाह इस्माइल आदि जिहाद के नेता ६ मई को बालाकोट में खेत रहे।

काबुल के दोस्त मुहम्मद खाँ ने १८३५ में सिक्खों का पठान क्षेत्रीय गढ़ तोड़ने के लिये पेशावर की ओर कूच किया किंतु महाराजा रणजीतसिंह के वहाँ पहुँचने पर वह बिना हमला किये चुपचाप वापस चला गया। उसने १८३८ में दूसरी बार प्रयत्न किया किंतु सिक्खों से पेशावर जीतने में असफल रहा। पेशावर पंजाब के अंग्रेजी राज्य में संमिलित किए जाने (१८४६) तक सिक्खों के हाथ में रहा। २६ जून १८३८, को अंग्रेजों, शाह शुजा और महाराजा के बीच होनेवाली एक त्रिदलीय संधि, जिससे शाह शुजा को काबुल की राजगद्दी पर बैठाया गया, महाराजा रणजीतसिंह के जीवन की अंतिम पूर्ण राजनीतिक घटना थी।

महाराजा रणजीतसिंह की सर्वप्रमुख उपलब्धि यह थी कि उन्होंने जम्मू और कश्मीर को मिलाकर पंजाब को एक शक्तिशाली, प्रभुतासंपन्न राज्य का रूप दिया और इसकी सीमाओं को तिब्बत के पश्चिम सिंध के उत्तर और खैबर दर्रे से लेकर यमुना नदी के पश्चिमी तट तक बढ़ाकर इसे राजनीतिक और भौगोलिक एकता प्रदान की। डब्ल्यू० जी० ऑसबर्न के शब्दों में 'महाराजा धार्मिक रीति रिवाजों के नियमित पालन में दृढ़ विश्वासी थे।' किंतु उनकी सरकार साप्रदायिक आग्रहों से मुक्त थी और उसमें सभी समुदायों के लोग संमिलित थे। जे० डी० कनिंघम के अनुसार 'उनका राज्य जनभावना पर आधारित था।' डॉ० डब्ल्यु० एल० म'ग्रेगर 'हिस्ट्री ऑव् दि सिक्ख्स' (१८४६) में लिखता है—'वह सामान्य व्यक्ति नहीं थे किंतु संपूर्ण पूर्व और पश्चिम संसार में दुर्लभ मानसिक शक्तियों के स्वामी थे'। [गं० सिं०]

रतननाथ, सरशार जन्म १८४७ में लखनऊ के एक प्रतिष्ठित कश्मीरी खानदान में हुआ। पहले अरबी, फारसी, उर्दू पढ़ी, फिर कैनिंग कालेज में अंग्रेजी पढ़ी। खीरी के जिला स्कूल में कुछ दिन अध्यापक रहे। कश्मीरियों के एक पत्र 'मरासये कश्मीर' में लिखने लगे। 'अवध पंच' में भी लिखा। फिर 'अवध अखबार' के संपादक हो गए जिसमें 'फसानये आजाद' को किस्तवार लिखने लगे। यही किस्तें बाद को किताबी सूरत में छापी गईं और यही वह किताब है जिसने 'सरशार' को अमर बनाया।

इस उपन्यास में लखनऊ की मिटती हुई तहजीब और उस जमाने के सामाजिक जीवन को अत्यंत खूबी के साथ बयान किया गया है। जबान लखनऊ की निहायत सुथरी बामुहावरा और शगुफ्ता है। किरदार ऐसे ऐसे पेश किए गए हैं जो उर्दू अदब में नमूना बन गए हैं। फसानये आजाद का उर्दू नस्र में जवाब नहीं।

फसानये आजाद के अलावा भी आपकी किताबें हैं 'सैरे कोहसार,' 'कामनी', 'पी कहाँ'। सन् १८६५ में आप हैदराबाद गए और वहाँ महाराजा सर किशनप्रसाद आपको अपना कलाम दिखलाया करते थे।

हैदराबाद में ही सन् १६०२ में आपका इंतिकाल हुआ। [र० स० ज]

रतलाम १. जिला, भारत के मध्यप्रदेश राज्य में, राजस्थान की सीमा के पास एक जिला है। इसका क्षेत्रफल १,७२७ वर्ग मील एवं जनसंख्या ४,८३,५२१ (सन् १६६१) है। इस जिले में सैलाना, जावरा, आलोट एवं रतलाम नामक चार तहसीलें हैं। जिले का पूर्वी भाग मालवा के पठार का ही भाग है, लेकिन इसकी मिट्टी काली और अधिक उपजाऊ है तथा यहाँ की मुख्य फसलें गेहूँ, चना, गन्ना एवं कपास हैं। पश्चिमी भाग मुख्यत. पहाड़ी एवं जंगली है। विंध्य पर्वत श्रेणियों की ऊँचाई कहीं भी समुद्रतल से १,६०० फुट से अधिक नहीं है। पश्चिमी भाग मुख्यतः पहाड़ी होने के कारण इस भाग में केवल मक्का तथा कुछ छोटे छोटे धान्य, जैसे कोदरा, कंगनी, भादली और सामली, की उपज होती है। रतलाम जिले में बहनेवाली मुख्य नदियाँ चंबल, शिप्रा एवं माही हैं। चंबल एव शिप्रा में पंप लगाकर 'लिफ्ट इरिगेशन' द्वारा सिंचाई होती है। अधिकांश सिंचाई कुओं से होती है। इस जिले की जलवायु समशीतोष्ण है। वार्षिक वर्षा का औसत ३३ इंच है। सूती वस्त्र, होजरी, कार्डबोर्ड, कागज, चीनी एव बिस्कुट निर्माण तथा कपास से बिनौला अलग करने के उद्योग उल्लेखनीय हैं।

२. नगर, स्थिति : २३° १५ उ० अ० तथा ७५° पू० दे०। मालवा के पठारी भाग में, इंदौर से ६५ मील उत्तर-पश्चिम स्थित रतलाम जिले का प्रशासनिक. व्यापारिक एवं रेलमार्गों का केंद्र है। यहाँ सूती एवं रेशमी वस्त्र, चीनी तथा सुँघनी और तंबाकू का निर्माण होता है। करघा उद्योग उन्नत दशा में है। रतलाम नामक भूतपूर्व देशी रियासत की राजधानी रह चुका है। महाराजा का महल दर्शनीय है। रतलाम नगर में एक राजकीय महाविद्यालय है। इस नगर की जनसंख्या ८७,४७२ (सन् १६६१) है। [रा० प्र० सिं०]

रतिरोग (Venereal Diseases) रति या मैथुन के द्वारा उत्पन्न रोगों का सामूहिक नाम है। इनमें (१) उपदंश (Syphilis), (२) सुजाक (Gonorrhoea), लिंफोग्रेन्युलोमा वेनेरियम (Lyphogranuloma Vanarium) तथा (४) रतिज व्रणाभ (Chancroid) प्रधान हैं।

(१) **उपदंश** — यह प्रधानतः संक्रामक रोग है, परंतु जन्मजात रूप में भी पाया जाता है। प्रारंभिक अवस्था में यह व्यापकीकृत (generalised) होता है और बाद में स्थानीकृत (localized) और प्रकीर्ण (dispersed) रूप में किसी अंग को आक्रांत कर

सकता है। रोगजनक जीवाणु ट्रिपोनिमा पैलिडम (Treponema pallidum), या स्पाइरोकीटा पैलिडम (Spirochaeta pallidum) है। उपदंश के जीवाणु शरीर से बाहर कुछ घंटे तक ही जीवित रह सकते है। शरीर की त्वचा या श्लेष्मल उपकला (epithelium) मे प्रविष्ट होने के बाद इनकी वृद्धि त्वरित गति से होती है और ये सारे शरीर में फैल जाते हैं।

भारत में विदेशियों के आ जाने पर यह यह रोग अधिक फैला, जिससे इसे फिरंग रोग नाम मिला। अमरीका में हब्शियों में तथा भारत में तराई के क्षेत्र में यह बहुत होता है। युद्धकाल में सैनिकों के माध्यम से प्राय: यह संक्रामक रूप से फैलता है। बड़े बड़े बंदरगाह तथा नगरों में, जहाँ संसर्ग के साधन सुलभ होते हैं, उपदंश बहुत फैलता है। उपदंश की निम्नलिखित अवस्थाएँ होती हैं :

(क) प्राथमिक उपदंश — प्राथमिक उपदंश प्रायः जननेंद्रियों पर प्रकट होता है। कभी कभी गुदाद्वार, जिह्वा, ओठ और स्तन तथा डाक्टर, नर्स और दाँतसाजों की उँगलियो पर भी हो जाता है। इसका उद्भवन काल (incubation period) सामान्यत २१ दिन का होता है परंतु यह १० से ९० दिन तक का हो सकता है। प्राय. यह इतना कष्टदायी नही हुआ करता कि रोगी इसे बहुत महत्व दे। जननेंद्रिय पर या अन्यत्र कही, जीवाणु-प्रवेश-स्थल पर, कड़ा, छोटा व्रण बनता है, जिसे रतिज व्रण (chancre) कहते हैं तथा उसके पास की लसीकाग्रंथि फूल जाती हैं।

(ख) द्वितीयक उपदंश या मितस्थायी (metastastic) उपदंश — प्राथमिक उपदंश व्रण के उत्पन्न होने के ४८ घंटों के अंदर रोगजनक जीवाणु शरीर के सारे अंगो, त्वचा, श्लेष्मकला, नेत्र तथा तंत्रिकाओं में पहुँचकर तेजी से बढने लगते हैं। रतिज प्राथमिक व्रण के होने के ६ सप्ताह बाद द्वितीयक उपदंश के लक्षण शरीर में उत्पन्न होते है। त्वचा या श्लेष्मकला पर उद्भेदन (eruption) होता है। गुदा तथा ओठ के पास जहाँ आर्द्रता रहती है वहाँ उद्भेदन अधिक होता है, जिसे कॉन्डिलोमा (Condyloma) कहते हैं। साथ ही ओठों का फटना, गले तथा टॉसिल में प्रदाह, हाथ पाँव और जोड़ों मे हलका दर्द, हरारत, सुस्ती, आँखों मे जलन आदि शिकायत रहती है। ये लक्षण कई महीनो तक बने रह सकते है और उपचार के अभाव मे भी स्वय लुप्त हो सकते हैं। द्वितीयक उपदंशग्रस्त रोगी रोग के संचारण का काम करते हैं।

अंधक्षेत्र सूक्ष्मदर्शी (darkfield microscope) द्वारा जीवाणुओं की परीक्षा द्वारा, या रक्त परीक्षा द्वारा उपदंश रोग का निदान होता है। कठोर उपदंश व्रण के तरल रस द्वारा परीक्षण होता है। ऋणात्मक प्रतिक्रिया सूचक फल प्राप्त होने पर भी उपदंश का न होना प्रमाणित नही होता। ऐसी स्थिति में कुछ समय बाद पुनः परीक्षण करना चाहिए।

(ग) गुप्त उपदंश (Latent Syphilis) — उपदंश के लक्षणों के लुप्त होने के बाद रोगी को उपदंश का कोई कष्ट कुछ काल तक नहीं प्रतीत होता। ऐसे रोगियों को बहुधा गुप्त उपदंश हो जाता है। गुप्त उपदंशग्रस्त गर्भवती स्त्रियों का गर्भ सम्यक् उपचार के अभाव में गिर सकता है, या उत्पन्न शिशु को जन्मजात उपदंश होने की संभावना रहती है। प्रसवकाल में नीरोग रहने पर भी कुछ मास बाद शिशु में उपदंश के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। उचित चिकित्सा होने पर भी शिशु का भविष्य अरक्षित रहता है। चिकित्सा के अभाव मे शिशु विकारग्रस्त होगा, जैसे माथा ऊँचा, नेत्र फूले हुए, चिपटी नाक, दंतविकार, बहरापन, मुखद्वार के आसपास फटने तथा दरार पड़ने या घाव भरने के चिह्न, धनुषाकार जंघास्थि। उपदंश की ठीक चिकित्सा न होने पर प्राय: २५ प्रतिशत लोगो को भावी जीवन में गुप्त उपदंश हो जाता है, जिससे उनकी मृत्यु तक हो सकती है।

उपदंश चिकित्सा — १९१० ई० में एरलिख (Ehrlich) द्वारा आविष्कृत सैलवारसन ६०६ (Salvarsan 606) और हाल ही मे पेनिसिलिन के आविष्कार से उपदंश की चिकित्सा मे सफलता मिलने लगी। इसके पूर्व चिकित्सा मे संखिया, बिस्मथ, पोटैशियम आयोडाइड तथा पारद का प्रयोग होता था।

(२) **सुजाक** (Gonorrhoea) — यह सबसे व्यापक रतिरोग है और गोनोकॉकस (Neisseira gonorrhoeae) जीवाणु द्वारा फैलता है। यौन संबंध द्वारा संक्रमण होने के दो दिन से लेकर दो सप्ताह के अंदर पुरुषो को पेशाब मे जलन और बाद मे तरल या गाढ़ा मवाद, या रक्तमिश्रित पेशाब, आना इसका प्रधान लक्षण है। स्त्रियों को पेशाब में जलन तथा सफेद तरल का स्राव, पेड़ू तथा कमर में दर्द, डिंबवाही नली (Fallopian tubes) में सूजन तथा बाँझपन होता है। यदि इस स्थिति मे यौन प्रसंग, मदिरा आदि का संयम बरता गया, तो अधिक जटिलता नहीं हो पाती।

नवजात शिशुओं की आँख मे सिल्वर नाइट्रेट की बूँदे डालने के निरोधक उपाय के कारण नेत्रस्राव बहुत घट गया है। सुजाक की चिकित्सा में पेनिसिलिन तथा सल्फोनेमाइड का प्रयोग आधुनिक है और सफल परिणाम देता है।

(३) **लिंफोग्रेन्युलोमा वेनेरियम** — यह विषाणुजन्य संक्रामक रोग है। इसमें जननेंद्रिय तथा गुदा की लसीका ग्रंथियों मे प्रदाह होता है। इसका संचारण मैथुन से होता है और उद्भवन काल तीन से २१ दिनों तक का होता है। यह छोटे से व्रण के रूप मे आरंभ होता है, जो कष्टदायी न होने के कारण महत्वहीन प्रतीत होता है। दो तीन सप्ताह के भीतर गिल्टी उभर आती है, या लसीका ग्रंथि सूजती है। गिल्टी फूटती है और फूटकर नासूर बन जाती है। सिरदर्द, ताप तथा हरारत की शिकायत होती है। स्त्रियो को प्राय. गुदा प्रदाह, ज्वर, ठंढ के साथ कँपकँपी, सिरदर्द और गाँठों मे दर्द होता है तथा बाद में गिल्टी उभड़ती और फूटकर नासूर बन जाती है। गुदानलिका की सिकुड़न भी होती है।

निदान के लिये त्वचा परीक्षण और पूरक स्थिरीकरण परीक्षण (complement fixation test) किया जाता है। चिकित्सा में सल्फोनेमाइडों और टेट्रासाइक्लिन का उपयोग किया जाता है।

(४) **लिंफोग्रेन्युलोमा इंग्युनेल** — इसमें रानों की लसीका ग्रंथियों में कणांकुर ऊतक (granulation tissue) बढ़ जाते हैं। यह रोग जननेंद्रियों पर आरंभ होता है और दोनों रानों तथा मूलाधार (perineum) तक पहुँचकर लाल व्रण बन जाता है। रोगजनक प्रोटोज़ोआ हैं, या जीवाणु, यह अभी तक संदिग्ध है।

(५) **रतिज व्रणाभ** — यह मूलतः जननेंद्रियों की सफाई न रखने से उत्पन्न होता है। संभोग के २ से १४ दिनों के भीतर जननेंद्रिय पर दाने के रूप में यह उभरता है और क्रमश: व्रण का रूप धारण करता है। रान की लसीका ग्रंथियों में गिल्टी पड़ जाती है। यह व्रण मृदु होता है। सल्फोनमाइड से चिकित्सा की जाती है।

रोकथाम — रतिरोग के निरोध के लिये मैथुन के समय रबर की झिल्लियों का प्रयोग और मैथुन के बाद साबुन से जननेंद्रिय की सफाई सर्वोत्तम उपाय है। रतिरोग का परीक्षण और उपचार सर्वसुलभ होना चाहिए और सर्वसाधारण को इन रोगों के संबंध में उचित जानकारी देनी चाहिए, जिससे रतिरोगग्रस्त लोग भय, लज्जा, संकोच आदि त्याग कर चिकित्सक की सलाह ले सकें। [उ० शं० प्र०]

रतूड़ी, चंद्रमोहन टिहरी नगर के निकट स्थित गोदी ग्राम के निवासी थे। उनकी अधिकांश कविताएँ तारादत्त गैरोला द्वारा संपादित 'गढ़वाली कवितावली' में संकलित है। वे उच्च कोटि के कवि थे। प्रकृति के प्रति अपार ममता उनके काव्य की अपनी विशेषता है। इस दृष्टि से उनकी 'देवता को वर्णन', 'विरह वसंत विलाप' कविताएँ उल्लेखनीय है। [गो० चा०]

रत्न, प्राकृतिक और संश्लिष्ट रत्न विशेष प्रकार के पत्थर, मोती, या इसी प्रकार के अन्य पदार्थ है, जो अपनी कठोरता, प्रकाशिक गुणधर्मों, पारदर्शकता, चमक आदि के कारण विशिष्ट स्थान प्राप्त किए हुए है। ये विशेषकर आभूषणों में प्रयोग में लाए जाते हैं। हीरा, लाल, नीलम आदि इनके ज्वलंत उदाहरण है।

रत्न अधिकतर क्रिस्टलों के रूप में पाए जाते है। क्रिस्टलों के फलक विशेष आंतरिक परमाणु संरचना के फलस्वरूप निर्मित होते है। ये साधारणत समतल और चिकने होते हैं। भिन्न भिन्न प्रकार के क्रिस्टलों को क्रिस्टली अक्षों की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के आधार पर छह क्रिस्टल समुदायों में विभाजित किया गया है: त्रिनताक्ष (Triclinic), एकनताक्ष (Monoclinic), विषमलंबाक्ष (Orthorhombic), षट्कोणीय (Hexagonal), चतुष्कोणीय (Tetragonal) तथा त्रिसमलंबाक्ष (Isometric) समुदाय (देखें, **मणिभ विज्ञान**)। अक्षीय कोण और अक्षीय निष्पत्ति के आधार पर क्रिस्टलों का संरचना में वर्गीकरण किया जा सकता है। हीरे में तीनों अक्ष समान हैं और एक दूसरे पर समकोण बनाते है, अत यह त्रिसमलंबाक्ष समुदाय के अंतर्गत आता है। लाल और नीलम षट्कोणीय समुदाय के खनिज कुरुविंद (corundum) की ही विशेष किस्में है। इसमें तीन समान क्षैतिज अक्ष एक दूसरे को ६०° के कोण पर काटते है, चौथा अक्ष असमान है और पहले तीनों अक्षों के समतल पर लंबवत् है। रत्न पत्थरों के क्रिस्टलों की विशिष्ट आकृति काटने से नष्ट हो जाती है। अँगूठी तथा अन्य आभूषणों के रत्नों में दिखाई देनेवाले सुव्यवस्थित फलक प्राकृतिक नहीं वरन् कृत्रिम हैं। ये फलक काटकर तथा पालिश करके बनाए जाते है। कुछ रत्न ऐसे भी हैं जिनमें अणु संरचना नहीं होती। इन्हें अक्रिस्टली कहते हैं, जैसे ओपल (opal)। कुछ रत्न बहुत छोटे छोटे क्रिस्टलों के बने होते हैं। इनके फलक सूक्ष्मदर्शी की सहायता से भी नहीं देखे जा सकते। इन्हें गुप्त क्रिस्टलीय कहते हैं, जैसे गोमेद (agate)।

कठोरता — यह रत्नों का एक विशेष भौतिक गुण है। यदि रत्न पत्थर कठोर नहीं होगा तो उसको घिसकर चमकदार नहीं बनाया जा सकता। रत्नों की कठोरता जानने के लिये उन्हें किसी दूसरे खनिज से रगड़ा जाता है। एक खनिज, जो दूसरे खनिज को आसानी से रगड, या खुरच देता है, अपेक्षाकृत कठोर होता है। कठोरता नापने के लिये मोस (Mohs) का कठोरता मापक अधिकतर उपयोग में लाया जाता है। इस मापक में दस खनिज हैं, जो बढ़ती हुई कठोरता के आधार पर चुने गए है। इन खनिजों के नाम तथा कठोरता क्रमश इस प्रकार है: टैल्क १, जिप्सम २, कैल्साइट ३, फ्लुओराइट ४, ऐपाटाइट ५, फैल्स्पार ६, क्वार्ट्ज ७, टोपैज ८, कुरुविंद ९, हीरा १०। इनमें टैल्क सबसे मुलायम (कठोरता १) और हीरा सबसे कठोर (कठोरता १०) है। यदि कोई रत्न टोपैज से खुरच जाता है, पर क्वार्ट्ज से उसपर कोई खुरच नहीं लगती, तब उसकी कठोरता ७ और ८ के बीच मानी जाती है। रत्नों की कठोरता साधारणत. ७ या ७ से अधिक होती है, पर बहुत से रत्न खनिजों की कठोरता ७ से कम भी है। इन पत्थरों को 'आभूषण पत्थर' कहना अधिक उपयुक्त होगा।

आपेक्षिक घनत्व — आपेक्षिक घनत्व के आधार पर भिन्न भिन्न रत्नों को सुविधा से पहचाना जा सकता है। रत्नों का आपेक्षिक घनत्व जानने के लिये उन्हें विरूपित नहीं करना पड़ता। इसके लिये साधारणत भारी द्रवों, जैसे मेथिलीन आयोडाइड (आ० घ० ३.३२), का प्रयोग किया जाता है। रत्न या नग आदि को मेथिलीन आयोडाइड द्रव में डाल देते है और इस में तब तक बेंजीन डाली जाती है जब तक रत्न उस द्रव में न तो डूबे, न तैरता रहे वरन् निलंबित रहे। इस दशा में द्रव का आपेक्षिक घनत्व समान होता है। इस द्रव का आपेक्षिक घनत्व उत्प्लावन तुला, या सूचकों की सहायता से जाना जा सकता है। रत्न पत्थरों का आपेक्षिक घनत्व २.२ और ४.६ के बीच होता है।

चमक — चमक पदार्थ की सतह से परावर्तित प्रकाश की मात्रा पर निर्भर करती है। यह कई प्रकार की होती है, जैसे हीरेसम, मोतीसम, रालसम, काचसम। रत्नों की चमक ही उनके आकर्षक होने का कारण है। साधारणत कठोर और उच्च अपवर्तनांकवाले खनिज ही अधिक चमकवाले होते है। हीरा सब रत्नों में कठोर है एवं इसका अपवर्तनांक भी सबसे अधिक है। इसकी चमक भी अन्य सब रत्नों से अधिक लुभावनी है। अधिकतर रत्नों की चमक काचसम है। जिन रत्न क्रिस्टलों का अपवर्तनांक सभी दिशाओं में समान होता है, वे समांगी कहलाते है। अन्य क्रिस्टल विषमांगी होते है। इनमें प्रवेश होने पर प्रकाश की एक किरण दो किरणों में विभाजित हो जाती है। इन दिशाओं में अपवर्तनांक भी भिन्न भिन्न होते हैं।

कुछ रत्न वर्णपरिवर्तन, अर्थात् भिन्न दिशाओं में भिन्न भिन्न रंग, दिखलाते हैं। यह क्रिस्टली दिशाओं में संचारित प्रकाश के वरणात्मक अवशोषण के कारण होता है, उदाहरणार्थ नीलम का रंग नीले से नीला हरा तथा लाल का वर्ण हल्के से गहरा लाल तक दिखाई देता है।

मुख्य रत्न

रत्न नाम	खनिजीय नाम	रंग	कठोरता	आपेक्षिक घनत्व	अपवर्तनांक	रासायनिक सूत्र
हीरा	हीरा	नील-श्वेत रक्त, पीत हरित, नील	१०·००	३·५२	२·४१–२·४२	का (C)
लाल	कुरुबिंद	रक्त	९·००	३·९–४·२४	१·७६–१·७७	ऐ$_2$ औ$_3$ (Al_2O_3)
नीलम	,,	नील	९·००	४·०१–४·०६	१·७६–१·७७	ऐ$_2$ औ$_3$ (Al_2O_3)
पन्ना (वैदूर्य)	बेरिल	हरित	७·५	२·६४–२·७३	१·५८–१·५९	(ऐ क्रो)$_2$ बे$_3$ (सि$_6$ औ$_{18}$) [$(Al\ Cr)_2 Be_3 (Si_6 O_{18})$]
ऐक्वामेरीन	,,	नील	७·२५–७·५०	२·६७–२·७१	१·५७–१·५८	ऐ$_2$बे$_3$ सि$_6$औ$_{18}$ ($Al_2Be_3Si_6O_{18}$)
बेरिल	,,	पीत	७·५०–८·००	२·६३–२·७६	१·५६–१·५८	ऐ$_2$बे$_3$ सि$_6$औ$_{18}$ ($Al_2Be_3Si_6O_{18}$)
पुष्पराग	टोपैज (पुष्पराग)	रंगहीन, पीत नीलाभ, हरित	८·०	३·५६–३·६०	१·६२–१·६३	ऐ$_2$ सि औ$_4$ फ्लो$_2$ ($Al_2SiO_4F_2$)
अलमंडाइट	गार्नेट	रक्त	७·२५–७·५	३·७०–४·२०	१·७८–१·८३	लो$_3$ ऐ$_2$ (सिऔ$_4$)$_3$ [$Fe_3Al_2(SiO_4)_3$]
पाइरोप	,,	,,	७·२५	३·६५–३·९०	१·७५–१·७७	मै$_3$ ऐ$_2$ (सिऔ$_4$)$_3$ [$Mg_3Al_2(SiO_4)_3$]
ऐक्रोआइट	टूरमैलीन	रंगहीन	७·५	३·०८–३·१०	१·६१–१·६४	बोरॉन सिलिकेट
रूबेलाइट	,,	रक्त	७–७·२५	३·०९–३·१५	१·६२–१·६५	बोरॉन सिलिकेट
इंडिगोलाइट	,,	नील	७·५०	३·१–३·१२	१·६२–१·६४	बोरॉन सिलिकेट
जारगन	जरकन	रंगहीन, धूमिल, आरंजित	७·५०	४·२०–४·६५	१·९२–१·९८	ज़र सि औ$_4$ ($ZrSiO_4$)
हायासिंथ	,,	रक्त	७·५०	४·४–४·८२	१·९२–१·९८	ज़र सि औ$_4$ ($ZrSiO_4$)
ऐमिथिस्ट	क्वार्ट्ज	(फालसई) जंबु	७·०	२·६४–२·६६	१·६३	सि औ$_2$ (SiO_2)
ऐवेंटुराइन	,,	सुनहरा, हरित	७·०	२·६५–२·६९	१·५४–१·५५	सि औ$_2$ (SiO_2)
शैल क्रिस्टल	,,	रंगहीन	७·०	२·६४–२·६६	१·६३	सि औ$_2$ (SiO_2)
ऐगेट,	कैल्सेडोनी	धारियों में रंग श्वेत और रक्त	६·५–७·०	२·५०–२·८०	—	सि औ$_2$ (SiO_2)
ओपल	ओपल	रंगहीन, दुग्ध-श्वेत	५·५०	२·००	१·४४	सि औ$_2$ हा$_2$ औ ($SiO_2\ H_2O$)
ऐडुलेरिया	फेल्स्पार	श्वेत नील	६–६·५	२·५०–२·६०	१·५२–१·५३	पो ऐ सि$_3$ औ$_8$ ($KAlSi_3O_8$)
मूनस्टोन	,,	दूधिया, मोतिया	६–६·५	२·५६–२·५९	१·५२–१·५२५	पो ऐ सि$_3$ औ$_8$ ($KAlSi_3O_8$)

रत्न नाम	खनिजीय नाम	रंग	कठोरता	आपेक्षिक घनत्व	वर्तनांक	रासायनिक सूत्र
अमेज़ॉनाइट	फेल्सपार	हरित	६–६·५	२·५४–२·६६	—	पोऐ सि३ औ८ ($K Al Si_3O_8$)
स्पिनेल	स्पिनेल	रक्त, पीत, नील हरित, काला आदि	८·००	३·५२–४·००	१·७२	मैऔ, ऐ२ औ३ ($Mg O Al_2O_3$)
स्पोड्यूमीन	पाइरॉक्सीन	नीला, हरित, पाटल	६·..–७·०	३·२०	१·६६–१·६७	ऐ लि (सि२ औ६) [$Al Li (Si_2 O_6)$]
जेडाइट	"	हरित, आश्वेत	६·५–७·०	३·३०–३·५०	१·६५–१·६८	सो ऐ (सि२ औ६) [$Na Al (Si_2 O_6)$]
नेफ़ाइट	हार्नब्लेंड	हरित	५·०–६·०	२·९–३·१०	१·६२–१·६५	सो२ कै४ (मैग लो)१० (औ हा)२ औ२ सि१६ औ४४ [$Na_2 Ca_4 (Mg Fe)_{10} (OH)_2O_2 Si_{16} O_{44}$]
मैलेकाइट	मैलेकाइट	हरित (धारीदार)	३·५–४·०	३·८–४·१०	—	ता२ { (औ हा)२ का औ३ } [$Cu_2 \{ (OH)_2 CO_3 \}$]
लापिस लाज़ुली	लेज़ुराइट	नील	५·५०	२·३८–२·४५	—	(सोकै)८ (गंऔ४ क्लो गं)२ (ऐ सि औ४)६ [$(Na Ca)_8 (SO_4 Cl S)_2 (Al Si O_4)_6$]
टुरकॉइस	टुरकॉइस	नील, नीला, हरित आपात, हरित	६·०	२·६०–२·८०	—	ताऐ६ (औहा)८ (पोऔ४)४ ४हा२औ [$Cu Al_6 (OH)_8 (PO_4)_4 . 4H_2O$]

रासायनिक संरचना — अधिकतर रत्न खनिज ऐलुमिना, या सिलिका, या इन दोनों से बने होते हैं। कुछ रत्न खनिजों के निर्माण में इनके अतिरिक्त अन्य रासायनिक तत्व भी भाग लेते हैं। लाल और नीलम कुरुविंद रत्न की किस्में हैं, जिनका निर्माण शुद्ध ऐलुमिना से ही हुआ है। शैल क्रिस्टल और ऐमिथिस्ट शुद्ध सिलिका से बने हैं। महत्वपूर्ण रत्न हीरा, शुद्ध क्रिस्टली कार्बन है। कार्बन से बना दूसरा खनिज ग्रैफाइट है, जो अपारदर्शक एवं काला है। एक ही तत्व के दो भिन्न भिन्न रूप भिन्न भिन्न परमाणु व्यवस्था के कारण हैं। कृत्रिम रत्न साधारणत: काच से बनाए जाते हैं। रत्नखनिज मूल्यवान् होते हैं, अत. आजकल कृत्रिम रत्नों का प्रयोग बढ रहा है। ऊपर की तालिका में मुख्य रत्नों और आभूषणों मे प्रयुक्त होनेवाले पत्थरों के विशेष गुण दिए गए हैं।

प्राप्तिस्थान — हमारे देश में आदि काल से रत्नों का प्रचलन है। महाभारत और सुश्रुत में भी इनका उल्लेख है। ब्राज़िल में हीरे की खोज से पूर्व, विश्व के कई भागों को भारत से ही हीरा प्राप्त होता था। भारत के हीरे विश्व में विख्यात रहे हैं। कोहनूर एक ऐसा ही प्रसिद्ध ऐतिहासिक हीरा है जिसकी आभा एवं द्युति निराली है। हमारे देश में पन्ना क्षेत्र से हीरे प्राप्त किए जाते हैं, पर उत्पादन की दृष्टि से अब यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। भारत के अतिरिक्त, हीरे दक्षिणी अफ्रीका, पूर्वी अफ्रीका, ब्राज़िल और ऑस्ट्रेलिया से भी प्राप्त होते हैं। दक्षिणी अफ्रीका की किंबर्लाइट शिलाएँ इसके लिये विश्वविख्यात हैं। बर्मा, लंका और कश्मीर लाल और नीलम के उत्पादन के मुख्य केंद्र रहे हैं। ब्राज़िल, ऑस्ट्रेलिया, थाइलैंड एवं अन्य देशों में भी ये रत्न पाए जाते हैं।

संश्लिष्ट रत्न — ये रत्न प्रकृति में प्राप्त नहीं होते, वरन् प्रयोगशाला में तैयार किए जाते हैं। इनके रासायनिक और भौतिक गुण प्राकृतिक रत्नों के समान होते हैं। वैज्ञानिक सभी प्राकृतिक रत्नों को कृत्रिम रूप से बनाने में सफल नहीं हुए हैं। प्रयोगशाला में बने संश्लिष्ट रत्नों में हीरा, लाल, नीलम और पन्ना मुख्य हैं।

प्रयोगशाला में हीरा तैयार करने के लिये विद्युत् भट्ठी में कार्बन की कटोरी में शुद्ध लोहा और कार्बन को गरम किया जाता है। लोहे के पिघलने पर कार्बन उसमें मिल जाता है। तप्तावस्था में ही इसे पिघले सीसे के ऊष्मक (bath) मे डाल दिया जाता है। अचानक ठंडा होने के कारण आंतरिक दबाव अत्यधिक हो जाता है और तरल कार्बन छोटे छोटे हीरे के कणों में क्रिस्टलित हो जाता है। हीरे का संश्लिष्ट उत्पादन संयुक्त राष्ट्र, अमरीका, में होता है।

लाल और नीलम औद्योगिक उत्पादन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। कृत्रिम लाल को तैयार करने के लिये शुद्ध ऐलुमिना को ऑक्सी-हाइड्रोजन ज्वाला में द्रवित किया जाता है। फिर पिघले पदार्थ को ज्वाला के ठंडे भाग मे लाने पर लाल का निर्माण होता है। नीलम कुरुबिंद के साथ लौह ऑक्साइड और टाइटेनियम ऑक्साइड को द्रवित करने पर प्राप्त होता है। यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि कृत्रिम रत्नों की रचना की अभिक्रियाएँ नाजुक होती है और इनकी रचना में बहुत सी सावधानियाँ बरतनी होती है। [म० न० मे०]

रत्न, संस्कृत वाङ्मय में

'रत्न' शब्द सर्वप्रथम हमें ऋग्वेद के प्रथम मंडल के प्रथम मंत्र में प्राप्त होता है। तत्कालीन टीका के अभाव में इस शब्द का वास्तविक अर्थ ऋग्वेद के काल में क्या था, यह कहना कठिन है। पीछे के लेखकों ने इस शब्द का अर्थ बहुमूल्य पाषाण लिया है। यों, कवियों ने 'निधि' के अर्थ में इसका प्रयोग किया है। संस्कृत वाङ्मय में समुद्रमंथन से चौदह रत्नों में लक्ष्मी, उच्चैःश्रवा घोड़े, ऐरावत हाथी इत्यादि को रत्न की संज्ञा दी गई। जिन बहुमूल्य पत्थरों को रत्न माना गया था उनके उद्गमस्थान नदी, पृथ्वी, पहाड़ तथा समुद्र थे। पहाड़ को रत्नाचल, पृथ्वी को रत्नगर्भा और समुद्र को रत्नाकर की संज्ञा दी गई।

रत्नों और उपरत्नों का विभाग करते हुए हमारे आचार्यों ने नौ पाषाणों को रत्न तथा दूसरों को उपरत्न माना है। नौ रत्नों में वज्र, नीलम, पुष्पराग, माणिक्य, मरकत, मुक्ता, गोमेदक, वैदूर्य तथा प्रवाल माने गए हैं। इनमें मुक्ता और मूँगा को पाषाण कहना उचित नहीं है क्योंकि ये दोनों ही इस श्रेणी में नहीं आते। दोनों समुद्र से प्राप्त होते हैं, एक सीप नाम के जंतु से दूसरा समुद्र के भीतर की जड़ों से।

अश्वघोष की कृतियों में हमें रत्नों में मुक्ता, नीलम, पद्मराग, वज्र, वैदूर्य, स्फटिक और शंख मिलते हैं। भरत नाट्य शास्त्र में हमें इनके अतिरिक्त मरकत, पन्ना तथा पद्म मणि रत्न (लाल) मिलते हैं। कालिदास के ग्रंथों में अतिरिक्त रत्नों में विद्रुम मणि (ओपल), चंद्रकांत मणि (सफेद पद्मराज), सूर्यकांत मणि, लोहितांक मणि तथा शिरमणि प्राप्त होती है। अगस्तिमत, रत्नसंग्रह, मणिमाहात्म्य, लघु-रत्न-परीक्षा ग्रंथों में हमें प्रत्येक रत्न की पहचान, जाति, रंग, दोष, गुण एवं उसकी उत्पत्ति का स्थान इत्यादि सब मिलता है। रत्नव्यवसाय नामक ग्रंथ में, जिसकी हस्तलिखित प्रति (नं० १५६७) बीकानेर के संग्रहालय में है, रत्नों के व्यवसाय के विषय में सभी व्यावहारिक बातें प्राप्त होती है। इन पुराणों में रत्न, मणि तथा उपल पर्यायवाची शब्द माने गए है, यों आजकल मणि छिदे हुए रत्न को कहते हैं।

ऋग्वेद में रत्नों की संख्या सप्तानि त्रय याने २१ मिलती है (१, २०, ७)। वराहमिहिर ने पाँच महारत्न तथा चार उपरत्न माने है। वज्र, मुक्ता, माणिक्य, नील तथा मरकत को महारत्न की पदवी दी गई है और गोमेद, पुष्पराग, वैदूर्य तथा प्रवाल को उपरत्न की। भारतीय रत्नपरीक्षा के ग्रंथों में प्राय: माणिक्य को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। आज मूल्य तथा आकर्षण की दृष्टि से वज्र को जौहरी लोग प्रथम स्थान देते हैं।

वज्र, कुलिश या हीरक— आजकल भारत में हीरा मध्यप्रदेश के पन्ना राज्य में और दक्षिण में कृष्णा के तट पर मिलता है। प्राचीन पुस्तकों से ज्ञात होता है कि पहले हीरा सौराष्ट्र, हिमालय, मातंग (मगध), पौंड्र, कलिंग, कोशल, वेणातट तथा सूपारा से प्राप्त होता था।

आज विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि हीरा पृथ्वी के गर्भ में पृथ्वी का बोझ कोयले पर पड़ने से स्वयं बन जाता है। कृत्रिम हीरा भी प्रयोगशालाओं में बनाया गया, परंतु इसपर व्यय बहुत अधिक पड़ने से इसको बनाना लाभप्रद सिद्ध नहीं हुआ। जो जो हीरा नकली बनता है वह पहचान में आ जाता है।

वज्र विविध रंगों के प्राप्त होते है, सफेद में गुलाबी, सफेद में हरा, सफेद में पीला, सफेद में नीला, सफेद में फिरोजा सफेद में भूरा इत्यादि। रत्नपरीक्षा ग्रंथों के अनुसार सौराष्ट्र का हीरा गुलाबी, हिमालय का तांबे के रंग का, मातंग का पीला, पौंड्र का हरा, कलिंग का सोनहरा, कोशल का सिरिस के फूल के सदृश, वेणा का चंद्रमा के रंग का तथा सूपारा का सफेद होता है। इस प्रकार रंग देखकर वज्र का प्राप्तिस्थान निश्चित किया जाता था परंतु आज तो सभी रंग के हीरे सभी खदानों से प्राप्त होते है। इस कारण यह विभाजन भ्रामक सिद्ध हो गया है। वराहमिहिर तथा बुद्ध भट ने चार जातियों को चार रंग के हीरे पहनने का विधान बताया है। ब्राह्मण को श्वेत, क्षत्रिय को गुलाबी, वैश्य को पीला तथा शूद्र को नीला। राजा के हेतु सभी वर्णों के हीरे पहनने का विधान है।

वज्र के गुण दोषों का वर्णन करते हुए इन ग्रंथों में हीरे के आकार को अष्टकोण माना है। हीरे की बनावट का आधार भी यही है और इसी आधार पर हीरा काटा भी जाता है। इसके छह अथवा कोण, बारह धार, आठ पहल या दल तथा एक माथा बनाया जाता था। दो पहलों के बीच की धार बड़ी तीक्ष्ण रखी जाती थी। इसमें दोषों को गिनाते समय कहा गया है कि बनाव के दोषों के अतिरिक्त पत्थर में प्राय: चार प्रकार के बिंदुदोष दिखाई देते हैं, श्वेत, रक्त, श्याम, मधु। इनमें रक्तबिंदु के पत्थर को सब से निकृष्ट माना जाता है। बिंदु के अतिरिक्त यव के आकार का दोष भी हीरे में मिलता है। यह प्राय: लाल, पीला और श्वेत रंग का होता है। चीर, धार, काग पैर, त्रास, अबरखी, गड्ढा, मलन इत्यादि दोष भी गिनाए गए हैं। दोषयुक्त हीरे को पहनने से क्या होता है, इसकी भी कल्पना इन ग्रंथों में मिलती है। इसके अतिरिक्त एक प्रकार का दुधिया हीरा होता है जो प्राय: गुप्त रहता है अर्थात् इसमें चमक बहुत कम रहती है। इन दोषों से रहित पानीदार हीरे को भारतीय अच्छा समझते है। प्रसिद्ध प्राचीन हीरों में गोलकुंडा का कोहनूर, परतियाल (कृष्णा से १५० मील पर) से प्राप्त पिट डायमंड, गोलकुंडा के किल्लूर खदान से प्राप्त दरियानूर, गोलकुंडा से प्राप्त अकबरशाह, गोलकुंडा से प्राप्त 'ताजेमाह', किल्लूर से प्राप्त 'होप' जिसमें नीली छवि पड़ती है, ब्राजिल से प्राप्त 'स्टार आफ दि साउथ', दक्षिण अफ्रिका की प्रीमियर माइन का 'कलियन' इत्यादि है।

भारत में हीरे पर पहल बनाने का काम प्राय १६वीं शताब्दी से चल रहा है। १६६२ ई० में टैवरनियर ने लिखा है कि

'भारत में बहुत से लोग हीरातराश का काम करते हैं।' यहाँ उस काल में प्रायः हीरों के प्राकृतिक घाट पर ही पहलों की बंदिश बाँधी जाती थी तथा हीरे के दोषों को छिपाने के हेतु पहल पर पहल लगाए जाते थे। पाश्चात्य देशों में लुई ड बरकेम ने यह आविष्कार किया कि यदि हीरे के चूरे से हीरा घिसा जाय तो उसपर पहल बन जाती है। सर्वप्रथम ड्यूक आफ बरगंडी ने अपने तीन हीरे इन्हें बनाने को दिए। पेरूजी ने सर्वप्रथम आज की भाँति का गोल हीरा काटना आरंभ किया, इसके पहले केवल २४ पहल गुलाब की पखुड़ियों की भाँति लगती थीं। अब ३२ लगने लगीं। इससे हीरे का पूरा यौवन निखर पड़ा। पीछे चलकर छोटी बड़ी ५६ पहलें बनाई जाने लगीं। हीरे को काटा भी जाता है और घिसा भी जाता है, परंतु हीरा अपने प्राकृतिक पहल पर ही कटता है।

भारत में हीरे की भस्म औषधि के रूप में भी व्यवहृत होती है परंतु हीरे की कणि या हीरे का चूरा नहीं खाया जाता क्योंकि वैद्यों का ऐसा विश्वास है कि इसको खाने से मृत्यु हो जाती है।

हीरे का मूल्य, उसकी तोल पर, उसके दोष गुण के आधार पर, उसके रंग पर तथा उसके पानी पर कूता जाता है। दक्षिण अफ्रिका, ब्राजील इत्यादि में हीरा मिल जाने पर अब इसका मूल्य प्रायः अंतरराष्ट्रीय स्तर पर निश्चित होता है। इसे काटने, बनाने इत्यादि का काम आजकल सब से अधिक एमस्टरडम (हालैंड), बेलिजयम, भारत तथा अमेरिका में होता है।

मुक्ता (कृशन, मुक्ताफल, मौक्तिक जलबिंदु) — मोती भारत में प्राचीन काल से व्यवहार में आता रहा है। अथर्ववेद के एक मंत्र मे (४, १०, १) यह कृशन नाम से उल्लिखित है। रत्नपरीक्षा ग्रंथों मे इसकी उत्पत्ति सीप, शंख, विद्युत्, सर्प के मस्तक, मछली, वाराह, हाथी तथा बाँस से बताई गई है। अगस्तिमत के अनुसार स्वाति की बूँद जब सीप में पड़ती है तब मोती उत्पन्न होता है। प्लीनी ने लिखा है कि भारत में मोती को लोग हीरे के अतिरिक्त और सब रत्नों से अधिक मूल्यवान् समझते हैं (३७, ४)। पिपरावा के स्तूप से शाक्यमुनि के कुछ अवशेषों में मोती के दाने भी मिले हैं जो इस बात का प्रमाण देते हैं कि भारत में मोती प्रायः ५वीं शताब्दी से व्यवहार में आता था। आज के विज्ञान ने यह पता लगा लिया है कि सीप के भीतर जब कोई बालू का कण चला जाता है तब उसका जंतु उसके ऊपर परत चढाने लगता है। धीरे धीरे इस प्रकार मोती बन जाता है। चीन के बौद्ध भिक्षुओं ने सर्वप्रथम इस भेद का आविष्कार किया था और उन्होंने छोटी छोटी बुद्ध की मूर्तियाँ बनाकर सीप में रखीं जिनपर कुछ दिन में ही मोती की परत चढ गई। इसी तथ्य के आधार पर आज जापान में कृत्रिम मोती बनता है। वहाँ जीवित सीप को पकड़कर उसमें एक मसाले की गोली रख देते हैं और उसे फिर समुद्र में छोड़ देते हैं। इस काम के हेतु इन्होने समुद्र में एक घेरा डाल रखा है। दो तीन वर्ष पश्चात् इन गोलियों पर मोती की दो या तीन परतें चढ जाती हैं। इस मोती को असली मोती से पहिचानना कठिन होता है क्योंकि यह प्राकृतिक ढंग से ही बनता है। मोती को छेदने पर उसमें सूई डालकर बिजली से परछाई के सहारे ही यह पता लग पाता है कि यह मोती असली है या नकली। असली मोती की परतें गोलाई में भीतर से बाहर तक प्रत्यक्ष दिखाई दे जाती हैं और नकली में ऊपर की दो या तीन परतों के पश्चात् भीतर की गोली दिखाई देती है।

रत्नपरीक्षा ग्रंथों के अनुसार मोती फारस, अरवट, सिंहल, बरबरू तथा दरभंग में मिलता है। इसका प्राप्तिस्थान उसके रंग से पहचाना जाता है। फारस का मोती श्वेत होता है, अरवट का कुछ पीला, बसरा और सिंहल का स्यानी होता है, बरबरू का रूखा और सफेद होता है, तथा दरभंग का लाली लिए हुए। फारस की खाड़ी में अरब के किनारे तथा मनार की खाड़ी मे सिंहल के किनारे पर मोती प्राचीन काल से पाए जाते थे। आज भी बढ़िया मोती बसरा तथा सिंहल से ही आते हैं। यों मोती आस्ट्रेलिया के उत्तर पश्चिमी किनारे पर, बर्मा के दक्षिण समुद्र के किनारे पर तथा दक्षिणी अमेरिका, जापान इत्यादि देशों के पास के समुद्र में भी प्राप्त होते हैं। यद्यपि मोती चार रंग का माना गया है, मधुर, पीत, शुक्ल और नील, पर किसी किसी ग्रंथ में रक्त वर्ण के मोती का भी विवरण प्राप्त होता है। आज मोती में विविध आभाएँ प्राप्त होती हैं। पाश्चात्य देशों में श्वेत के अतिरिक्त गुलाबी और नीली आभा के मोतियों की बहुत माँग है। एक प्रकार का काला मोती होता है। उसकी भी खपत उधर ही है। भारत में श्वेत मोती ही ग्राह्य माना जाता है।

आज भी गोल मोती बहुमूल्य समझा जाता है। यों मोती को घाट के अनुसार बीस विभागों में बाँटा गया है—कलगी, सिरा, सुजनी इत्यादि। वृत्त, सित, निर्मल, स्वच्छ, स्निग्ध, कोमल, गरू, सुघाट मोती ही अच्छा माना जाता है। मोती के शरीर पर के दोषों में शुक्ति, लग्न, मत्स्याक्ष, विस्फोठ पूर्ण, पंक पूर्ण, करकरावत, कर्कश शरकर, रुक्ष माने जाते हैं। श्वेत रंग से भिन्न होने पर मोती को दोषयुक्त माना जाता है।

बुद्ध भट्ट की रत्नपरीक्षा में कृत्रिम मोती बनाने की भी प्रक्रिया मिलती है (फिनों 'ले लापिडेर आडियाँ, प्रस्तावना पृ० ३६)। कदाचित् उस काल में भी नकली मोती बनाया जाता था, तभी उसकी परीक्षा की यहाँ विधियाँ भी दी गई हैं।

माणिक्य (पद्मराग, अरुणराग, चुन्नी) — माणिक्य को सूर्यमणि भी कहा गया है। यह लाल कमल के रंग का कोरुंड जाति का रत्न होता है। इसे स्तेन रत्न, वसु रत्न, भी कहते हैं। इसमें कई आभाएँ प्राप्त होती हैं, जैसे कदली के फूल की, अनार के दाने की, अड़हुल के फूल की, पारिजात के फूल की डण्डी की, गुंजा के फल की, जलते हुए अंगारे की, इत्यादि। आज वही माणिक्य अच्छा समझा जाता है जिसमे कुछ हरापन हो।

रत्नपरीक्षा के ग्रंथों के अनुसार अच्छा माणिक्य वह समझा जाता है जिसकी स्निग्ध छाया हो, जिसमें गुरुत्व हो, जो निर्मल हो, जो अतिरक्तता के गुण से संपन्न और दोषरहित हो। दोषों में सूत्र, दूधक, दो रंगा, धूमिल, चीर, मटमैला, श्वेत, कृष्ण अथवा मधु के रंग का छींटा, गढा, जाल तथा कौए के पर के सदृश चिह्न गिनाए गए हैं। प्राचीन ग्रंथों मे यह वर्णन मिलता है कि सब से बढ़िया माणिक्य सिंहल के रावन गंगा की तलहटी मे मिलता है। इसके अतिरिक्त माणिक्य मलय, सुवेल तथा गंधमादन से प्राप्त होता है। महाभारत में युधिष्ठिर को मलय के राजा बहुत से रत्न अर्पित करते हैं (२, ५२,३४-३५)। यह मलय कदाचित् आधुनिक ट्रावनकोर के पास

किसी स्थान का नाम हो या मलाया का हो। आज माणिक्य बर्मा के मोगोक से आठ मील पश्चिम के एक स्थान से आता है। यों गहरे रंग का कलछौंट लिए हुए संग बांगकाक से तथा रत्नपुरा (सिंहल) से आता है।

माणिक्य हीरे से कम परंतु और रत्नों से अधिक कड़ा होता है। हीरे की कड़ाई का मापदंड दस और माणिक्य का नौ माना जाता है। षट्कोण आकार में यह उत्पन्न होता है। खदान से जब निकलता है तो पारदर्शी नहीं होता तथा ऊपर दाने दाने रहते हैं। स्वच्छ करने के पश्चात् जब सूर्य की किरणें इसपर पड़ती हैं तो प्रकाश इसके भीतर से दो ओर छिटककर बाहर निकलता है।

दोषरहित माणिक्य का मूल्य रंग, छूट तथा ताल पर आँका जाता है। अगस्तिमत के अनुसार मूल्य का निर्धारण माणिक्य की जाति, तौल तथा उसके पानी पर किया जाता है। यहाँ माणिक्य के प्राप्त होने के स्थान के आधार पर पद्मराग, कुरुविंद तथा सौगंधिक जातियाँ मानी गई।

रत्नपरीक्षा के ग्रंथों के अनुसार नकली माणिक्य प्राचीन काल में बनने लगा था। ऐसा ज्ञात होता है कि उस काल मे माणिक्य सीप को पीसकर उसमें सिंदूर मिलाकर बनाया जाता था। बुद्ध भट्ट ने पाँच प्रकार के नकली माणिक्य बताए हैं। आज के नकली माणिक्य की विधि का आविष्कार वेर्नुई ने सन् १९०४ में किया था। इसने नाशपाती के रूप के पत्थर अलमूनिया को गलाकर और उसमें क्रोमिक आक्साइड मिलाकर बनाया।

प्रसिद्ध माणिक्यो मे इंग्लिस्तान का 'ब्लार्कप्रिंस' माणिक्य है जो वहाँ के राजा के मुकुट की शोभा बढ़ाता है। दूसरा है तैमूर माणिक्य जो ईस्ट इंडिया कंपनी ने महारानी विक्टोरिया को सन् १८५१ मे दिया था। इसका नाम 'खिराज ए आलम' भी था। यह प्राय: ३६६ रत्ती का है। इसपर अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब, फर्रुखसियर तथा अहमद शाह दुर्रानी के नाम अंकित है।

मरकत, तार्क्ष्य या पन्ना — रत्नपरीक्षा ग्रंथों के अनुसार बर्बर प्रदेश मे समुद्र के किनारे, रेगिस्तान के पास, तथा तुरुष्क देश मे पाया जाता है। कुछ ग्रंथो के अनुसार मगध के हजारीबाग में भी पाया जाता है, कुछ के अनुसार सिंधु के तीर पर तथा त्रिकूटगिरि पर मिलता है। प्लिनी ने 'लेलापिडेर आंडिया' में लिखा है कि 'मरकत' नाम का एक बंदरगाह मिस्र में था जिससे इस संग का नाम मरकत पड़ा। इसी स्थान के पास प्राचीन मरकत की खदान भी थी जो बंद हो गई।

इस रत्न का रंग प्राय: सिरस के पुष्प के सदृश, लहलहाते धान के खेत की भाँति, सुग्गे के पंख के रंग की तरह, मोर के पंख की भाँति, नीम, बबूल तथा बेल की पत्तियों की भाँति का होता है। सबसे सुंदर मरकत वही होता है जिसके हरे रंग में पीलापन हो। यह पत्थर रत्नों में बड़ा मुलायम होता है। सीसे से थोड़ा ही कड़ा होता है। रत्नपरीक्षा के ग्रंथों के अनुसार वही मरकत महा मरकत कहा जाता है जो कहीं रखने पर अपने आसपास की वस्तुओं को हरा कर दे।

मरकत के दस अवगुण तथा पाँच गुण वर्णन किए गए हैं। गुणों के विषय में कहा गया है कि वह निर्मल हो, गुरु हो, सुवर्ण हो, स्निग्ध हो तथा अरजस्क हो। इसके अतिरिक्त उसमें छूट और चमक होनी चाहिए। मरकत में जाला पड़ना, अबरखी होना, रूखा होना, गढ़ा पड़ना, खुरखुरा होना, रेखा और चीर पड़ना, दो रंग दिखाई देना, धुम्र होना, आदि दोष माने गए हैं।

पन्ना खदान में छह पहल जमता है और पहल के सहारे ही काटा जाता है। यदि इसे ठीक से न काटा जाय तो इसकी छूट मे कमी आ जाती है। ७ या ८ रत्ती के दोषरहित पन्ने का दाम आज बहुत अधिक है। प्राचीन समय मे ऐसा विश्वास था कि सर्प यदि पन्ना को देखे तो अंधा हो जाता है परंतु मनुष्य की आँख की ज्योति इसे देखने से बहुत बढ़ जाती है। आज पन्ना अमेरिका के कोलंबिया में, दक्षिण अमेरिका के ब्राजील में, रूस के साइबेरिया में, तथा दक्षिण अफ्रीका मे मिलता है परंतु इन पन्नों का रंग हरा होते हुए भी उनमें पीलापन नहीं रहता। भारत मे पन्ना जंमू से आता है परंतु यह बहुत अच्छे रंग का नहीं होता।

सबसे विख्यात बड़ा पन्ना डेवनशायर पन्ना है जो प्राय: १,८५० रत्ती का है। यह दक्षिण अमेरिका के कोलंबिया की खदान से निकला था। दूसरा बड़ा पन्ना 'ब्रिटिश संग्रहालय' मे है। यह १७० रत्ती का है। एक छोटी सोने में जड़ी पन्ने की चौकी भी ब्रिटिश संग्रहालय में है जो दोषरहित है। ऐसा ही एक सुंदर पन्ना लूव्र के संग्रहालय में है जो नेपोलियन की अँगूठी में था।

नीलम — नीलम, इंद्रनील या देवक की खदान, रत्नपरीक्षा के ग्रंथो के अनुसार, विंध्य पर्वत पर महानदी के किनारे, हिमालय मे, काबुल में, आबू पहाड़ पर, जंमू में, मुलतान में, सिंहल द्वीप, कलिंग, श्याम, बर्मा में बताई गई है। यह कोरूंड जाति का पाषाण होता है। यूनानी भाषा मे इसे सफाइरस कहते है जिसका अर्थ नीला होना है। इसका रंग अलसी के फूल की भाँति, नीले कमल के फूल के सदृश, मोर, नीलकंठ पक्षियों की ग्रीवा की तरह होता है। रत्नपरीक्षा ग्रंथो के अनुसार दस भाँति का नीला रंग नीलम मे मिलता है। यदि श्वेत रंग लिए हुए नीला रहता है तो उसे ब्राह्मण जाति का, लाली लिए हुए नीले को क्षत्रिय वर्ण का, पीला लिए हुए नीला को वैश्य और कलछौंह नीला को शूद्र वर्ण का माना जाता है। अच्छा नीलम वही है जो गुरु हो, स्निग्ध हो, सुरंग हो, तथा जो हृदयग्राही हो। रत्नपरीक्षा के अनुसार नीलम मे, अबरखी पड़ना, डोरिया पड़ना, दूधक होना, चीर पड़ना, दो रंग होना, जाल, गढ़ा, मगल, सुन्न होना, रक्त बिंदु, श्याम बिंदु तथा मधु के रंग का बिंदु होना दोष माने गए हैं। कहा गया है, यदि नीलम की तौल से बीस गुना दूध लेकर उसमें नीलम रखा जाय और वह दूध नीला हो जाय तो उस नीलम को अच्छा समझना चाहिए।

बिर्नुइ ने नीलम सर्वप्रथम प्रयोगशाला में १९०९ ई० मे बनाया। बुद्ध भट्ट ने नकली नीलम के विषय मे लिखा है कि शीशे, स्फटिक, वैदूर्य, करवीर तथा उत्पल से नीलम बनाया जाता है। आज जो नकली नीलम बनते हैं उनकी यही पहचान है कि उनमें गोलाई लिए हुए धारी पड़ती है और असली में सीधी। किसी किसी बने हुए रत्न में हवा के गोल बुल्ले भी दिखाई दे जाते हैं।

ऐतिहासिक नीलमों में 'सर एडवर्ड सफायर' है जो इंग्लिस्तान के राजा के मुकुट में लगा है। दूसरा है 'स्टुअर्ट सफायर' यह बेड इंच

लंबा और एक इंच चौड़ा है। यह भी राजा के मुकुट में लगा है।

पुखराज—(पुष्पराग) की गणना प्राचीन रत्नशास्त्रों में उपरत्नों में की गई है परंतु पीछे चलकर जब इसे नौ रत्नों में स्थान मिल गया तो इसकी भी गणना रत्नों में होने लगी। इसकी उत्पत्ति के स्थान तुर्की, ईरान, स्याम, बर्मा, कामरूप, उड़ीसा, महानदी, ब्रह्मपुत्र, विंध्याचल तथा हिमालय बताए गए हैं। आज रूस के यूराल पर्वत पर, दक्षिण अमेरिका के ब्राजील से, सिंहल तथा बर्मा से पुखराज आता है। अच्छा पुष्पराग चिकना, निर्मल, झलकते हुए पानी सदृश, पीला, एकरंगा माना गया है। इसके दस दोष गिनाए गए हैं जैसे चीर पड़ना, सुन्न दिखाई देना, दूधक होना, जाला होना, अबरखी होना इत्यादि। अन्य रत्नों की भाँति इसे भी रंग के हिसाब से चार जातियों में बाँटा गया है। सफेद पीले रंग के पुष्पराग को ब्राह्मण, लाल पीले रंग के रत्न को क्षत्रिय, पूर्ण पीले रंग के रत्न को वैश्य तथा पीले के साथ श्याम रंग को शूद्र जाति की संज्ञा रत्नपरीक्षा के ग्रंथों में दी गई है।

इसका कड़ापन हीरे के और माणिक्य के अनुपात में आठ माना जाता है। पाश्चात्य देशों में यह पहले आभूषणों में जड़ने के बहुत काम में आता था।

वैदूर्य—सूत्र मणि या लहसुनिया उस रत्न को कहते हैं जिसमें डोरा पड़ता है और जिसका रंग बिल्ली की आँख के सदृश होता है। पाणिनि के सूत्र के अनुसार (४, ३, ८४) इसकी उत्पत्ति विदुर नाम के स्थान से होनी चाहिए। यह स्थान संभवतः भारत के दक्षिण में सलेम जिले में था। पीछे के ग्रंथों में इसकी उत्पत्ति के स्थानों में वेनगंगा का तट, अटक, कटक, कामरूप, विंध्याचल, हिमालय, त्रिकूट, श्री पर्वत, महानदी का तट, बर्मा, काबुल तथा सुराती देश बताया गया है। इसकी छाया पीली, कृष्ण, हरी, श्वेत कनक के सदृश इत्यादि बताई गई है। अच्छा लहसुनिया वही समझा जाता है जिसमें हिलता हुआ डोरा पड़े। ढाई डोरा पड़ता हुआ लहसुनिया सबसे बढ़िया समझा जाता है। यह चिकना और चमकदार संग होता है। इसके दोषों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसमें धब्बा, गड्ढा, चीर, अबरखी, जाला, श्वेत, काला, लाल तथा मधु के रंग के छींटे नहीं होने चाहिए तथा ऊपर से यह सुन्न नहीं दिखाई देना चाहिए।

इसे भी चार वर्णों में इस प्रकार बाँटा गया है कि श्वेत घृत की भाँति के रंग का वैदूर्य ब्राह्मण, कंचन की झलक देता हुआ क्षत्रिय, पीली और हरी आभा का वैश्य तथा धूम्र वर्ण का शूद्र।

गोमेदक—गोमेदक या मेदक रत्नपरीक्षा के ग्रंथों के अनुसार बर्मा, अरब देशों में, कांतिपुर, हिमालय और विंध्याचल पर्वतों में, महानदी, सिंधु और सरस्वती के तटों पर पाया जाता है। भारत में गोमेदक उसी मणि को कहते हैं जो पीला, लाल तथा श्याम रंग मिला हुआ गोमूत्र के रंग का होता है, यों इस पत्थर में बहुत से रंग आते हैं। यह सफेद, नीला, हरा, गहरे लाल रंग का तथा पीला भी होता है। पाश्चात्य देशों में नीले गोमेदक की बहुत खपत है। आज यह प्रायः सिंहल, श्याम, वियतनाम, रूस, मेडागास्कर, दक्षिण अफ्रिका इत्यादि स्थानों से आता है। इसकी छवि को ग्रहण लगे हुए सूर्य के रंग से, उल्लू और बाज के नयन के रंग से समानता दी गई है। खदान में यह चतुष्कोण रूप में जमता है। इसका घनत्व ४·६५ से ४·७१ तक होता है और कड़ापन हीरे के अनुपात में ७½ है। अच्छा गोमेदक वही माना जाता है जो दोषरहित हो, जिसमें चमक हो, कोमल हो, चिकना हो और जिसका रंग एक सा हो। इसके जाल, अबरखी, गड्ढा, चीर, धब्बा, दोरंग, काला, लाल, सफेद, छींटा, सुन्न इत्यादि दोषों का वर्णन ग्रंथों में पाया जाता है।

आभा के सहारे इसे चतुर्वर्ण में बाँटा गया है। श्वेत को द्विज वर्ण, रक्त को क्षत्रिय वर्ण, पीत को वैश्य वर्ण तथा श्याम को शूद्र वर्ण माना है।

आज विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि गोमेदक को अग्नि का ताप देकर सफेद कर दिया जा सकता है। ऐसा करने पर इसमें हीरे का कड़ापन तो नहीं आता, परन्तु हीरे से मिलती जुलती चमक उत्पन्न हो जाती है।

मूंगा विद्रुम, प्रवाल—मणि न होते हुए भी मोती की भाँति नौ रत्नों में गिना जाता है। प्राचीन रत्नपरीक्षा के ग्रंथों के अनुसार मूँगा सकलत, ममलागक, देवक तथा रोमक में मिलता है। रोमक का अर्थ लुई फिनो ने (प्रस्तावना, पृ० ४८) एक लवण झील, जो म्लेच्छों के देश हेमरट में है, किया है। पीछे के ग्रंथों के अनुसार यह हुरमुज में, फिरंगिस्तान के समुद्र में, सिसली के पास के समुद्र में और आस्ट्रेलिया के समुद्र में पाया जाता है। प्लीनी के अनुसार प्राचीन समय में मूँगा पाश्चात्य देशों में बहुत प्रचलित था तथा औषधि के रूप में भी इसका व्यवहार किया जाता था। (ना० हि० ३२-२)।

भारतीय ग्रंथों के अनुसार इसका रंग सिंदूर, सिंगरफ, हिंगुल के सदृश या तोते की ठोर की भाँति तथा गरू के सदृश होता है। यह बाल्क के सदृश नरम होता है। सिंदूर के रंग के मूँगे को विप्र वर्ण, हिंगुल तथा सिंगरफ के रंग को क्षत्रिय वर्ण, गरू तथा सुग्गे की ठोर के सदृश रंग को वैश्य वर्ण तथा कृमि के रंग के श्याम मूँगे को शूद्र वर्ण कहा है। चिकना, चमकदार, एक रंग के दोषरहित मूँगे को अच्छा माना जाता है। इसमें दो रंग होना, गड्ढा पड़ना, धब्बा होना, चीर पड़ना आदि दोष माने गए हैं।

नौ रत्नों को एक साथ पहनने के हेतु माणिक्य को बीच में जड़ा जाता था। ऊपर की पाँत में क्रम से पन्ना, हीरा, मोती, दूसरी में पुष्पराग, माणिक्य, मूँगा और तीसरी पंक्ति में लहसुनिया, नीलम, गोमेदक। इन नौ रत्नों के अतिरिक्त स्फटिक, लालड़ी, फिरोजा, लाजवर्त, धूमणि या जबरजद्द, तिरमुली, तैल्यमणि, उपलक इत्यादि उपरत्नों की श्रेणी में आते हैं।

स्फटिक—को रत्नपरीक्षा के ग्रंथों में चंद्रमणि भी कहा गया है। यह श्वेत होता है और इसमें चंद्रमा की चमक होती है। यों आज स्फटिक बैंगनी रंग का तथा पीला भी मिलता है परन्तु भारत में जल की भाँति स्वच्छ स्फटिक ही अच्छा माना जाता है। इसकी विशेषता यह है कि किसी रंग का वस्त्र या डोरा इसके नीचे रख दिया जाय तो उसका रंग नहीं दिखाई देता।

लालड़ी—उन्नावी रंग का पत्थर होता है। इसी को मुगलों के समय लाल का नाम दिया जाता था। इसे सूर्य मणि भी कहा गया

है। रत्नपरीक्षा के ग्रंथों के आधार पर इसकी उत्पत्ति के स्थान विंध्याचल, हिमालय, सिंहल, स्याम, बर्मा, चीन तथा बदख्शाँ बताए गए हैं। आज लाड़ली बदख्शाँ, चीन, बर्मा, स्याम तथा रूस से आती है। इसकी आठ तरह की छवि कही गई है—अंगारे के रंग की, कनैल के फूल के रंग की, गुलाब के रंग की, इत्यादि। मुगल काल के भारत में लाड़ली की बड़ी माँग थी और उस काल के आभूषणों में प्राय: यह जड़ी जाती थी।

फिरोजा—वर्षा के पश्चात् आकाश के रंग का नीला पत्थर होता है। सब से अच्छा फिरोजा ईरान के निशापुर का होता है। यों यह इस्तंबोल और शिराज में भी पाया जाता है। भारत में यह गडक तथा महानदी के किनारे और विंध्याचल के पर्वत पर होता है। अच्छा फिरोजा चिकना, चमकदार और एक रंगवाला समझा जाता है। इसका चलन अफगानिस्तान, ईरान और अरब में बहुत है। अरब के लोगों का ऐसा विश्वास है कि इसको पहनने से आकस्मिक आपत्ति का निवारण होता है। प्राचीन काल में इसकी बड़ी माँग थी। फिरोजा की एक मणि सोने में मढ़ी मोहनजुदाड़ो में और एक मणि लोथल में प्राप्त हुई है। प्राचीन मिस्र में तो अनेक आभूषणों में यह जड़ा हुआ मिलता है।

लाजवर्द गहरे बैंगनी रंग का होता है जिसमें सुनहले छींटे भी होते हैं। भारत में यह सिंधु के किनारे, हिमालय पहाड़ पर, मध्यप्रदेश में मिलता है तथा लंका में आता है। प्राचीन समय में आक्सस नदी की एक सहायक नदी कोक्ष के पास से फिरगाना स्थान से लाजवर्द आता था। अब साइबेरिया के बैकाल झील के पास तथा चीन से भी आता है। लाजवर्द के कुछ पत्थर हलके आलोक में चमकते हैं। इससे भारतीय चित्रकार रंग भी तैयार करते थे।

इसमें गड्ढा, चीर, धब्बा, दो रंग, लूक, मैल, श्याम बिंदु दोष माने जाते हैं। इस रत्न की बनी अंगूठी राजघाट की खुदाई में भी मिली है।

कारबेंकल — (घृतमणि या जबरजद) हलके हरे रंग का पत्थर होता है। यह रत्नपरीक्षा के ग्रंथों के अनुसार महानदी, गंगा, सिंधु नदियों के किनारे, त्रिकूट, विंध्याचल, हिमालय, श्री पर्वत पर तथा बर्मा में उत्पन्न होता है। इसकी छवि पीली, हरी, हलकी लाली लिए हुए सन के फूल के समान होती है। देखने में ऐसा ज्ञात होता है जैसा बिना डोरे का वैदूर्य। और रत्नों की भाँति इसमें भी दोष पड़ते हैं। अंग्रेजी में इसे ओलिविन कहते हैं। आज यह यूराल पहाड़ से आता है।

तिर्मुली - (वैक्रांत, कुरुविंद) सफेद, गुलाबी, श्याम तथा पीला रंग लिए हुए पाषाण होता है। यह कावेरी, गंगा, वेन नदी के किनारे, हिमाचल, कामरूप, विंध्याचल के पर्वतों में तथा बर्मा में होता है। अभ्रक की छवि से इसकी उपमा दी जाती है। यह चिकना, कुछ कोमल पत्थर होता है। आज यह गुलाबी, बैंगनी, नीला तथा सफेद रंग का प्राप्त होता है।

सैंधवमणि, — (उदउक या उदऊ) सरसों के तेल के रंग का पत्थर होता है। यह बड़ा चिकना तथा कोमल होता है। आग में रखने से सुवर्ण की झलक देता है। फिर पानी में रखने से इसका अपना रंग लौट आता है। अंग्रेजी में इसे स्पिनेल (spinel) कह सकते हैं।

उपलक या ओपल — इसमें बहुत से रंगों की झलक मिलती है। प्लीनी ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है (ना० हिस्ट्री २७-६)। नकली ओपल प्राचीन काल में सीसे से बनाया जाता था। इसकी छवि की उपमा दूध में तारे की परछाईं से दी जाती है। इसमें जाला, गढ़ा, चीर, काला बिंदु दोष माने जाते हैं।

इनके अतिरिक्त ८४ संगों में और भी उपरत्नों के नाम जैसे एमनी, सुनैला, कासला, दाने फिरंग, एशब इत्यादि प्राप्त होते हैं। भारत में रत्नों की पहचान पर बहुत काम हुआ है और इनके व्यवहार पर अनेक ग्रंथ लिखे गए। इनमें रत्नों के विषय में बहुत सी तत्कालीन सामग्री प्राप्त होती है।

आभूषणों में रत्नों का व्यवहार मणियों के रूप में भारत में पाषाण युग से प्रारंभ हो गया था क्योंकि मध्य पाषाण युग के अस्त्रों के साथ उपरत्नों के मनके मिलते हैं। इनका रूप प्राय: फलों के बीजों से ही लिया हुआ प्रतीत होता है। कदाचित् पहले बीजों को ही छेद कर पहनने की प्रथा रही होगी। प्राचीन पाषाण युग के मनके और दूसरे आभूषण हड्डी और दाँतों के बने मिले हैं। प्रागैतिहासिक युग में जब काँसे और ताँबे का व्यवहार होने लगा था तो मनके बनने लगे थे जिनका ऊपर निर्देश हो चुका है। आभूषणों में रत्न जड़ने की कला का भारतीयों ने ही सर्वप्रथम आविष्कार प्राय: २,८०० वर्ष ईसा से पूर्व कर लिया था। पाषाण को घिसकर उसपर पहल देना भी भारतीयों ने उसी समय के लगभग प्रारंभ कर दिया था क्योंकि इस प्रकार का पहल दिया हुआ मनका भी हमें सिंधु घाटी की सभ्यता के चान्हूदाड़ो नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। हीरा, माणिक्य, पन्ना से जड़े हुए आभूषण आज भी व्यवहार में आते हैं।

यों भारत में प्राचीन काल से रत्नों को पीसकर, या उन्हें भस्म करके ओषधि के रूप में भी व्यवहार होता रहा है और आज भी होता है। कुछ रत्न, जैसे मोती इत्यादि, तो पाश्चात्य देशों में भी ओषधि बनाने के काम में आने लगे हैं। ऐसी किंवदंती है कि मिस्र की रानी क्लियोपाट्रा मोती को सिरके में घोलकर अपनी सुंदरता बनाए रखने के हेतु व्यवहार करती थी। [रा० गो० चा०]

रत्नत्रय (जैन) धर्मप्रणेताओं ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र यानी सद्दृष्टि, सद्ज्ञान एवं सद्वृत्ति को धर्म की संज्ञा दी है। 'सत्', 'सम्यक्', 'समीचीन', 'वीतकलंक', 'निर्दोष' आदि शब्द प्राय: एक से अर्थ या भाव रखते हैं। दर्शन या दृष्टि का संबंध होता है श्रद्धा से; ज्ञान का संबंध होता है विद्या, बोध या जानकारी से; चरित्र अथवा वृत्ति का संबंध होता है आचरण से। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र जीवात्मा के धर्म के त्रिकालबाधित लक्षण हैं। इन्हें ही 'रत्नत्रय' (समीचीन धर्मशास्त्र, कारिका १३, स्वयंभूस्तोत्र, कारिका ८४) तथा 'योग' (योगशास्त्र, प्र० प्रकाश, सूत्र-१५) कहते हैं। चूँकि इनसे मोक्ष की प्राप्ति होती है (पुरुषार्थ सिद्धयुपाय--२१७--२२१), अत: 'मोक्षमार्ग', 'सन्मार्ग', 'शुद्धमार्ग', 'शिवमार्ग', 'निर्वाण मार्ग', 'नि:श्रेयसमार्ग' आदि भी इनके नाम दिए गए हैं। [ब० ना० सिं०]

रत्नाकर, जगन्नाथदास आधुनिक युग के श्रेष्ठ ब्रजभाषा कवि। इनका जन्म सं० १९२३ (सन् १८६६ ई०) के भाद्रपद शुक्ल पंचमी के दिन हुआ था। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की भी यही जन्मतिथि थी

और वे रत्नाकर जी से १६ वर्ष बड़े थे। उनके पिता का नाम पुरुषोत्तमदास और पितामह का नाम संगमलाल अग्रवाल था जो काशी के धनीमानी व्यक्ति थे। रत्नाकर जी की प्रारंभिक शिक्षा फारसी में हुई। उसके पश्चात् इन्होंने १२ वर्ष की अवस्था में अंग्रेजी पढ़ना प्रारंभ किया और ये प्रतिभाशाली विद्यार्थी सिद्ध हुए। सन १८८८ ई० में इन्होंने बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। फारसी में एम० ए० इन्होंने करना चाहा था, पर पारिवारिक परिस्थितिवश न कर पाए। ये पहले 'जकी' उपनाम से फारसी में रचना करते थे। इनके हिंदी काव्यगुरु सरदार कवि थे। ये मथुरा के प्रसिद्ध कवि 'नवनीत' चतुर्वेदी से भी बड़े प्रभावित हुए थे।

रत्नाकर जी ने अपनी आजीविका के हेतु ३०-३२ वर्ष की अवस्था में जरदोजी का काम आरंभ किया था। उसके उपरात ये आवागढ़ रियासत में कोषाध्यक्ष के पद पर नियुक्त हुए। भारतेंदु जी के संपर्क और काशी की कविगोष्ठियों के प्रभाव से इन्होंने १८८६ ई० में व्रजभाषा में रचना करना आरंभ किया। रत्नाकर जी की सर्वप्रथम काव्यकृति 'हिंडोला' सन् १८६४ ई० में प्रकाशित हुई। सन् १८६३ में 'साहित्य सुधा निधि' नामक मासिक पत्र का संपादन प्रारंभ किया तथा अनेक ग्रंथों का संपादन भी किया जिनमें दूलह कवि कृत कंठाभरण, कृपारामकृत 'हिततरंगिणी' चंद्रशेखरकृत 'हमीर हठ' और घनानद कृत 'सुजान सागर' तथा नृपशंभुकृत 'नखशिख' हैं। नागरीप्रचारिणी सभा के कार्यों में रत्नाकर जी का पूरा सहयोग रहता था। सन् १८६७ में रत्नाकर जी ने घनाक्षरी नियम रत्नाकर, प्रकाशित कराया और १८६८ में 'समालोचनादर्श' (पोप के 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' का अनुवाद) प्रकाशित हुआ।

सन १६०२ के उपरांत ये अयोध्यानरेश राजा प्रतापनारायण सिंह के यहाँ प्राइवेट सेक्रेटरी (निजी सचिव) के रूप में काम करते रहे और अंतिम समय तक इनका संबंध अयोध्या दरबार से रहा। इस बीच इन्होंने 'बिहारी रत्नाकर' नाम से बिहारी सतसई का संपादन किया। १४ मई, सन् १६२१ ई० से अयोध्या की महारानी की प्रेरणा से इन्होंने 'गंगावतरण' काव्य की रचना प्रारंभ की, जो सन् १६२३ में समाप्त हुई। इसी समय 'उद्धवशतक' का भी रचनाकार्य चलता रहा। हरिद्वार यात्रा में एक बार इनकी पेटी खो गई जिसमे 'उद्धव शतक' के सौ सवा सौ छंद चोरी चले गए। पर रत्नाकर जी ने अपनी स्मृति से उन्हे फिर लिख डाला। 'उद्धव शतक' इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। ये सन् १६२६ में ओरियंटल कांफरेंस के हिंदी विभाग के सभापति हुए और सन् १६३० मे हिंदी साहित्य सम्मेलन के बीसवें अधिवेशन के सभापति चुने गए। इस अधिवेशन का सभापतित्व इन्होने राजसी ठाटबाट के साथ किया। सन् १६३२ ई० की २१ जून को इनका अचानक स्वर्गवास हो गया।

रत्नाकर जी केवल कवि ही नहीं थे, वरन् वे अनेक भाषाओं (संस्कृत, प्राकृत, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी) के ज्ञाता तथा विद्वान् भी थे। उनकी कविप्रतिभा जैसी आश्चर्यकारी थी, वैसी ही किसी छंद की व्याख्या करने की क्षमता भी विलक्षण थी। अनेक विद्वानों ने रत्नाकर जी की टीकाओं की प्रशंसा की है।

रत्नाकर जी का व्रजभाषा पर अद्भुत अधिकार था और उनकी प्रसिद्ध व्रजभाषा रचनाओं में सुंदर प्रयोगों एवं ठेठ शब्दावली का व्यवहार हुआ है। रत्नाकर जी स्वच्छ कल्पना के कवि हैं। उसके द्वारा प्रस्तुत दृश्यावली सदैव अनुभूति सनी है और संवेदना को जाग्रत करनेवाली है।

रत्नाकर जी की रचनाएँ — १. पद्य—हरिश्चंद्र (खंडकाव्य), गंगावतरण (पुराख्यान काव्य), उद्धवशतक (प्रबंध काव्य), हिंडोला (मुक्तक), कलकाशी (मुक्तक) समालोचनादर्श (पद्य-निबध), शृंगारलहरी, गगालहरी, विष्णुलहरी (मुक्तक), रत्नाष्टक (मुक्तक), वीराष्टक (मुक्तक), प्रकीर्णक पद्यावली (मुक्तक संग्रह)

२. गद्य (क) साहित्यिक लेख — रोला छंद के लक्षण, महाकवि बिहारीलाल की जीवनी, बिहारी सतसई संबंधी साहित्य, साहित्यिक व्रजभाषा तथा उसके व्याकरण की सामग्री, बिहारी सतसई की टीकाएँ, बिहारी पर स्फुट लेख।

(ख) ऐतिहासिक लेख—महाराज शिवाजी का एक नया पत्र, शुंगवंश का एक शिलालेख, शुंग वंश का एक नया शिलालेख, एक ऐतिहासिक पाषाणाश्व की प्राप्ति, एक प्राचीन मूर्ति, समुद्रगुप्त का पाषाणाश्व, घनाक्षरी नियम रत्नाकर, वर्ण, सवैया, छद आदि।

३. संपादित रचनाएँ—सुधासागर (प्रथम भाग), कविकुल कंठाभरण, दीपप्रकाश, सुंदरशृंगार, नृपशंभुकृत नखशिख, हम्मीर हठ, रसिक विनोद, समस्यापूर्ति (भाग १), हिततरंगिणी, केशवदास-कृत नखशिख, सुजानसागर, बिहारी रत्नाकर, सूरसागर।

सं० ग्रं० रत्नाकर जी की ग्रंथावली नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित; कृष्णशंकर शुक्ल : कविवर रत्नाकर; श्री बनारसीदास: रेखाचित्र; रामचंद्र शुक्ल: हिंदी साहित्य का इतिहास।

रत्नाकर स्वामी—कश्मीर मे अवंतिवर्मा के दरबार में मुक्ताकण, शिवस्वामी और आनंदवर्धन के साथ रत्नाकर का भी नाम लिया जाता है। अवंतिवर्मा का शासनकाल ८५५ से ८८४ ई० माना जाता है अतः इनका भी यही काल होना चाहिए। 'ध्वनि गाथा पंजिका', 'वक्रोक्तिपचाशिका' तथा ५० सर्गोवाले एक बृहत्, आलंकारिक शैली में लिखे गए 'हरविजय' नामक महाकाव्य के लेखक के रूप में इनकी प्रसिद्धि है। [रा० चं० पां०]

रत्नागिरि १. **जिला**, यह भारत के महाराष्ट्र राज्य का जिला है। इसका क्षेत्रफल ५,०२५ वर्ग मील एवं जनसंख्या १८,२७,२०३ (सन् १६६१) है। इस जिले के उत्तर में कोलाबा, पूर्व मे सतारा तथा कोल्हापुर जिले, पश्चिम में अरब सागर तथा दक्षिण में गोआ राज्य है। जिले का भूभाग साधारणतया पथरीला है, पर यहाँ अनेक छोटी नदियाँ हैं, जिनके किनारे का भूभाग उपजाऊ है। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा १०० इंच है। जिले में नारियल के पेड़ों की बहुतायत है। मछुवे सन की खेती करते हैं। रागी, वरी और हरिक (Harik) की खेती इस जिले में होती है। धान की खेती जिले के दक्षिणी भाग में होती है।

२. **नगर**, स्थिति १७° ८०' उ० अ० तथा ७३° १६' पू० दे०। यह उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक केंद्र है तथा समुद्र के किनारे, बंबई नगर से यह १३६ मील दक्षिण में स्थित है। यातायात

का साधन स्टीमर है। दो खाड़ियों के मध्य में प्राचीन किला स्थित है। पर ये खाड़ियाँ अच्छे पोताश्रय नहीं हैं। नगर की जनसंख्या ३१,०९१ (सन् १९६१) है। [अ० ना० मे०]

रदर्फर्ड, अर्नेस्ट (Rutherford, Ernest, सन् १८७१-१९३७) ब्रिटिश भौतिक-विज्ञानी का जन्म न्यूजीलैंड के नेल्सन नगर में ३०, अगस्त सन् १८७१ को हुआ था। न्यूजीलैंड विश्वविद्यालय मे प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद आपने कैंब्रिज विश्वविद्यालय की कैवेंडिश प्रयोगशाला मे सर जे० जे० टॉमसन की अध्यक्षता मे विद्युत्कणों पर अनुसंधान कार्य किया। सन् १८९८ में २७ वर्ष की अवस्था मे ही आप कैनाडा के मॉण्ट्रियल विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्रोफेसर नियुक्त हुए। सन् १९०७ में आप मैंचेस्टर मे प्रोफेसर के पद पर आ गए। सन् १९१९ मे आप कैवेंडिश प्रयोगशाला में प्रायोगिक भौतिकी के प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हुए। इसके साथ साथ सन् १९२० में आपने रॉयल इंस्टिट्यूशन के भौतिकी के प्रोफेसर के पद को भी सँभाला। तब से अपने मृत्युकाल (१९३७ ई०) तक आप कैंब्रिज की इसी प्रयोगशाला मे काम करते रहे।

अनुसंधान कार्य---सन् १९०३ मे रसायनज्ञ फ्रेडरिक सॉडी के सहयोग से रदर्फर्ड ने रेडियोऐक्टिवता के परमाणु विघटन के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। सन् १९११ में आपने ऐल्फा कणों की बौछार को स्वर्णपत्र पर डालकर, उनके विक्षेप का अध्ययन किया और निर्विवाद रूप से यह सिद्ध किया कि परमाणु की लगभग सारी संहति तथा संपूर्ण धनविद्युत् आवेश उसके केंद्र पर मकरी सी जगह में स्थित हैं, जिसे नाभिक (न्यूक्लियस, nucleus) का नाम दिया गया। इस प्रकार रदर्फर्ड ने ही परमाणु का आधुनिक स्वरूप निर्धारित किया। सन् १९१९ में आपने ऐल्फा कणों के आघात से नाइट्रोजन परमाणु को ऑक्सीजन मे परिणत किया। प्रयोगशाला में एक मूल तत्व को दूसरे तत्व मे बदलने का यह सर्वप्रथम दृष्टांत था। आप १९०३ ई० में रॉयल सोसायटी के सदस्य चुने गए, १९१४ ई० में आपको सर की उपाधि मिली तथा १९०८ ई० में आपको रसायन का नोबेल पुरस्कार मिला। सन् १९२५ ई० मे आप रॉयल सोसायटी के अध्यक्ष चुने गए थे। [अं० प्र० स०]

रबर का आदिमस्थान अमरीका है। अमरीका की एक आदि जाति 'माया' थी, जिसमे रबर के गेंद प्रचलित थे। कोलंबस ने सन् १४९३ ई० मे वहाँ के आदिवासियो को रबर के बने गेंदो से खेलते देखा था। ऐसा मालूम होता है कि दक्षिण पूर्व एशिया के आदिवासी भी रबर से परिचित थे और उससे टोकरियाँ, घड़े और इसी प्रकार की, व्यवहार की अन्य चीजे तैयार करते थे। धीरे धीरे रबर का प्रचार सारे ससार मे हो गया और आज रबर आधुनिक सभ्यता का एक महत्वपूर्ण प्रतीक माना जाता है। रबर के बने सामानो की सख्या और उपयोगिता आज इतनी बढ़ गई है कि उसके अभाव मे काम चलाना असंभव समझा जाता है। रबर का उपयोग शांति और युद्धकाल में, घरेलू और औद्योगिक कामों मे समान रूप से होता है। ससार के समस्त रबर के उत्पादन का प्रायः ७८ प्रति शत गाड़ियों के टायरों और ट्यूबों के बनाने मे तथा शेष जूतों के तले और एड़ियाँ, बिजली के तार, खिलौने, बरसाती कपड़े, चादरें, खेल के सामान, बोतलों और बरफ के थैलों, सरजरी के सामान इत्यादि, हजारों चीजों के बनाने में लगता है। अब तो रबर की सड़कें भी बनने लगी हैं, जो पर्याप्त टिकाऊ सिद्ध हुई है। रबर का व्यवसाय आज दिनोंदिन बढ़ रहा है।

प्राकृतिक रबर पेड़ों और लताओं के रस, या रबरक्षीर (latex) से बनता है। यूफॉर्बिएसिई (Euphorbiaceae) कुल तथा अर्टिकेसिई (Urticaceae), एपोसाइनेसिई (Apocynaceae) कुल तथा कंपोजिटी कुल की ग्वायुले (Guayule) इत्यादि के बड़े बड़े वृक्षों, कुछ लताओं और झाड़ियो के रबरक्षीर से रबर प्राप्त होता है। सबसे अधिक रबर हैविया ब्राजीलिएन्सिस (Hevea braziliensis) से प्राप्त होता है। यह अमरीका के आमेजन नदी के जंगलो मे उगता था और अब भारतके त्रावणकोर, कोचीन, मैसूर, मलाबार, कुर्ग, सलेम और लंका में उगाया जाता है। पाँच वर्ष के हो जाने पर पेड़ से रबरक्षीर निकलना शुरू होता है और लगभग ४० वर्षो तक निकलता रहता है। एक एकड़ में लगभग १५० पेड लगाए जाते हैं और उनसे १५० से ५०० पाउंड तक रबर प्राप्त होता है। एक पेड़ से प्रति वर्ष प्राय. ६ पाउंड तक रबर प्राप्त होता है। एक दूसरा पेड फाइकस इलैस्टिका (Ficus elastica), रबर बट, है, जो पूर्व एशिया में उपजता है। इसी पेड़ से असम, बरमा, मलाया और अन्य निकटवर्ती द्वीपों में रबर प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त मैन्होटि ग्लाज़ियोवी (Manhoti Glaziovie) से अमेज़न घाटियों और टैंगेनिका मे, कैस्टिला अलेइ (Castilla ulei) से अमेजन, मेक्सिको और मध्य अमरीका मे, किक्सिया इलैस्टिका (Kiksia elastica) से कैमेरून्स में और लैंडोल्फिया (Landolphia) से कांगो मे रबर प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त अन्य कई पेड़ो और लताओं से भी रबर प्राप्त होता है या हो सकता है।

पेड़ों के धड़ के छेवने, या काटने, से रबरक्षीर निकलता है। रबरक्षीर को इकट्ठा करते हैं। रबरक्षीर मे शुष्क रबर की मात्रा लगभग ३२ प्रति शत रहती है। रबरक्षीर पानी से हल्का होता है। इसका विशिष्ट घनत्व ०.९७८ से ०.९८७ होता है। रबरक्षीर मे रबर के अतिरिक्त रेज़िन, शर्करा, प्रोटीन, खनिज लवण और एंज़ाइम रहते हैं। पेड़ से निकलने के बाद रबरक्षीर का परीक्षण आवश्यक है, अन्यथा रबरक्षीर का स्कंदन होने से जो रबर प्राप्त होता है वह उत्कृष्ट कोटि का नहीं होता। परिरक्षण के लिये ०.५ से १.० प्रति शत अमोनिया, फॉर्मेलिन तथा सोडियम, या पोटैशियम हाइड्रॉक्साइड का प्रयोग होता है। इनमें अमोनिया सर्वश्रेष्ठ होता है। रबरक्षीर कोलॉयड सा व्यवहार करता है। इसका पीएच ७ होता है और अमोनिया से ८ से ११ हो जाता है।

रबर प्राप्ति के लिये रबरक्षीर का स्कंदन होता है। स्कंदन की पुरानी रीति है रबरक्षीर को मिट्टी के गड्ढे मे गाड़ देना। पानी बहकर मिट्टी में मिल जाता है और ठोस रबर गड्ढे में रह जाता है। दूसरी रीति है पेड़ के धड़ पर ही रबरक्षीर को स्कंदन के लिये छोड़ देना। पानी सूखकर निकल जाता है और रबर रह जाता है। तीसरी रीति है धुआँ से रबरक्षीर का स्कदन करना। काठ के पात्र में रबरक्षीर को रखकर धुएँ के घर में रख देते है। रबरक्षीर पीला और दृढ़ हो जाता है। उसपर दूसरा स्तर जमाकर 'पारा रबर' प्राप्त कर सकते हैं। आधुनिक रीति मे स्कंदन के लिये रसायनक, अम्ल, अम्लीय लवण, सामान्य लवण, ऐल्कोहॉल इत्यादि उपयुक्त होते हैं। ऐसीटिक अम्ल,

फॉर्मिक अम्ल और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल उत्तम पाए गए हैं। अपकेंद्रित्र से भी स्कंदन होता है। विद्युत् प्रवाह भी स्कंदन करता है।

शुद्ध रबर में न गंध होती है और न रंग। यह प्रत्यास्थ और पारदर्शक होता है। इसका घनत्व ०.९१५ से ०.९३० के बीच होता है। इसका अपवर्तनांक १.५२१९ है। बैक्टीरियों की क्रिया के कारण रंग पीला हो जाता और नीले धब्बे पड़ जाते हैं। दहन की ऊष्मा प्रति ग्राम १०,७०० कैलोरी है। इसकी चालकता बड़ी कम, ०.०००३२ है। इसका वैद्युत् गुण उत्तम होता है। वल्कनीकरण और जीर्णन से यह गुण घट जाता है। शुद्ध रबर कठिनता से प्राप्त होता है। यह जल्द ऑक्सीकृत होकर जीर्ण हो जाता है। अनेक कार्बनिक विलायकों, नैफ्था, बेंज़ीन, टॉलूईन, कार्बन डाइसल्फाइड, कार्बन टेट्राक्लोराइड, क्लोरोफार्म, पेट्रोलियम तथा ईथर में घुल जाता है। ईथर में घुलकर 'जेल रबर' बनता है। इसका विलयन बड़ा श्यान (viscous) होता है। गरम करने पर १२०° सें० पर यह कोमल होने लगता है। ऊँचे ताप पर यह विघटित होता है। भंजक आसवन से यह पेट्रोल सा द्रव बनाता है। रबर ओज़ोन से बड़ी जल्दी आक्रांत होकर जीर्ण हो जाता है।

कच्चे रबर में भौतिक या यांत्रिक बल नहीं होता। प्रकाश और ऊष्ण ताप से इसका ह्रास होता है। रबर को अधिक उपयोगी बनाने के लिये उसमें कुछ मिलाना आवश्यक होता है। रबर में कोमलकारक, सुनम्यकारक, पूरक (filler), वर्णक (pigments), त्वरक (accelerators), प्रतिऑक्सीकारक, (anti-oxidant), गंधक इत्यादि मिलाए जाते हैं। कोमलकारकों के रूप में बिटुमिन, पाइन-कोलतार, मोम, स्टियरिक अम्ल और खनिज पैराफिन, क्यूमेरोन, रेज़िन इत्यादि, पूरकों के रूप में जिंक ऑक्साइड, लौह ऑक्साइड, लिथोफोन, बेरियम सल्फेट, कीज़लगर, कैल्सियम कार्बोनेट, टाल्क, मैग्नीशियम कार्बोनेट, काजल इत्यादि प्रयुक्त होते हैं। वर्णकों के रूप में खनिज वर्णक और कार्बनिक रंजक दोनों प्रयुक्त हो सकते हैं।

रबर का वल्कनीकरण महत्व का प्रक्रम है। इसमें शुद्ध रबर के अनेक दोषों का निराकरण हो जाता है, जिससे रबर की उपयोगिता बढ़ जाती है। वल्कनीकरण के लिये कच्चे रबर को गंधक के साथ लगभग १४०° सें० पर तीन से चार घंटे तक गरम करते हैं। गंधक के साथ त्वरक को मिला देने से वल्कनीकरण शीघ्र संपन्न हो जाता और रबर में कुछ अधिक उपयोगी गुण भी आ जाते हैं। त्वरक की अत्यंत अल्प मात्रा लगती है। कुछ त्वरकों से तो सामान्य ताप पर ही वल्कनीकरण हो जाता है। वल्कनीकरण से भौतिक गुणों के साथ साथ रबर के रासायनिक गुणों में भी परिवर्तन हो जाता है। वल्कनीकरण में ०.१५ प्रति शत से ३२ प्रति शत गंधक इस्तेमाल हो सकता है। वल्कनीकृत रबर का गुण वल्कनीकरण के ढंग पर बहुत कुछ निर्भर करता है। वल्कनीकृत रबर पर पानी का कोई असर नहीं होता। वह चिपचिपा नहीं होता। वितानक्षमता और दैर्घ्य बढ़ जाता है। विलायकों, ऊष्मा, विदरण और अपघर्षण के प्रति प्रतिरोध बढ़ जाता है। वैद्युत गुण बहुत कुछ बदल जाता है। वल्कनीकरण प्रेस में, या भाप की उपस्थिति में, या शुष्क ताप पर संपन्न होता है। वल्कनीकरण में गंधक रबर के साथ रसायनतः संयुक्त होता है।

कृत्रिम रबर — रसायनशालाओं में अनुसंधान के फलस्वरूप आज कृत्रिम रबर भी बनने लगा है। कुछ गुणों में कृत्रिम रबर प्राकृतिक रबर से उत्कृष्ट होता है। यदि कृत्रिम रबर का उत्पादन मूल्य अधिक न होता तो इसमें कोई संदेह नहीं कि प्राकृतिक रबर का आज नामोनिशान न रहता। अनेक देश आज कृत्रिम रबर तैयार कर रहे हैं। भारत में भी कृत्रिम रबर तैयार करने के कारखाने खोलने का प्रयास हो रहा है। अनेक देशों ने कृत्रिम रबर के कारखाने इसलिये खोल रखे हैं कि युद्धकाल में यदि उन्हें प्राकृतिक रबर न मिलेगा, तो कृत्रिम रबर ही तैयार कर अपना काम चलाएँगे। कुछ विशेष कामों के लिये तो कृत्रिम रबर प्राकृतिक रबर से अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

कृत्रिम रबर का निर्माण अपेक्षया आधुनिक है। प्रथम विश्वयुद्ध के समय ही जर्मनी में पहले पहल इसका निर्माण बड़े पैमाने पर शुरू हुआ था। कृत्रिम रबर एलास्टमोर (Elastmore), इलास्टिन (Elastin), इथेनॉयड (Ethanoid), थायोप्लास्ट (Thioplast), इलास्टोप्लास्ट (Elastoplast) इत्यादि नामों से जाने जाते हैं। इनके निर्माण में अनेक असतृप्त हाइड्रोकार्बन आइसोप्रीन, ब्यूटाडीन, क्लोरोप्रीन, पिपरिलीन, साइक्लोपेंटाडीन, स्टाइरिन, तथा अन्य असतृप्त यौगिक मेथाक्रिलिक अम्ल, मेथाइल मेथाक्रिलेट विशेष उल्लेखनीय हैं। ये रसायनक अनेक स्रोतों से प्राप्त हुए हैं। कुछ रसायनक पेट्रोलियम से भी प्राप्त हुए हैं। रबर बनाने में इनका बहुलकीकरण होता है। बहुलकीकरण की अनेक रीतियाँ मालूम हैं और उनका उपयोग हो रहा है। कृत्रिम रबर का भी प्राकृतिक रबर सा ही वल्कनीकरण होता है। ब्यूटाडीन से प्राप्त कृत्रिम रबर ब्यूना-एस, परब्यूनान और परब्यूनानएक्स्ट्रा कहे जाते हैं। ब्यूना-एस का बना टायर पर्याप्त टिकाऊ होता है।

सं० ग्रं० — फूलदेव सहाय वर्मा : रबर, प्रकाशक राष्ट्रभाषा परिषद्, राजेंद्रनगर, पटना। [फू० व०]

रब्बी व्युत्पत्ति की दृष्टि से इस इब्रानी शब्द का अर्थ है महान् अथवा स्वामी। बाइबिल के उत्तरार्ध में रब्बी और रब्बौनी, दोनों रूप ईसा के सम्मानपूर्ण संबोधन के लिये मिलते हैं। गैरयहूदी पाठकों के लिये लिखने वाले संत लूक (दे० सुसमाचार) रब्बी के स्थान पर दो यूनानी शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका अर्थ है गुरु और शिक्षक। इब्रानी साहित्य (मिशना और तालमूद) में यहूदी पंडितों को रब्बी की उपाधि दी जाती है, बाद में साधारण शिक्षक के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होने लगा।

सं० ग्रं० — एनसाइक्लोपीडिक डिक्शनरी ऑव दि बाइबिल, न्यूयार्क, १९६३। [का० बु०]

रमणलाल वसंतलाल देसाई (१८९२-१९५४ ई०) को गुजराती साहित्य का 'युगमूर्ति वार्ताकार' कहा जाता है। साहित्यिक सौष्ठव और लोकप्रियता दोनों की दृष्टि से गुजरात के कथाकारों में उनका स्थान 'मुंशी' के बाद सर्वप्रमुख है। उनके साहित्यिक जीवन का आरंभ नाटककार के रूप में हुआ। परंतु उन्हें विशेष प्रसिद्धि

उपन्यासकार के रूप में मिली। लघु कथा और उपन्यास ही उनकी अभिव्यक्ति के मुख्य वाहन बने, यद्यपि नाटक, निबंध, कविता, चिंतन-विवेचन, आत्मचरित् लेखन इत्यादि विविध विधाओं में भी उन्होंने पर्याप्त महत्व का कार्य किया है। स्वराज्यप्राप्ति से पूर्व उनकी रचनाओं में 'जयंत', 'शिरीष', 'कोकिला' 'हृदयनाथ' नामक उपन्यासों को विशेष ख्याति प्राप्त हुई। गांधीवाद का उनपर गंभीर प्रभाव पड़ा। 'दिव्यचक्षु' और 'भारेलो अग्नि' की सृष्टि उन्होंने अहिंसा के सिद्धांत पर की है। इसी प्रकार 'ग्रामलक्ष्मी' में ग्रामीण जीवन के अनेक संघर्षपूर्ण प्रसंग समाविष्ट करते हुए अंततः मांगलिक पक्ष पर बल दिया गया है। देश की मुक्ति के अनन्तर जो चारित्रिक पतन और आदर्शहीनता, सामाजिक तथा व्यक्तिगत दोनों ही स्तरों पर व्यक्त हुई उनकी विषमता 'झंझावात' और 'प्रलय' नामक नवलकथाओं की आधारभूमि बनी। 'प्रलय' की रचना भविष्य कल्पना के समावेश से हुई है। उसमें २००६ ई० तक के आगामी कालविस्तार का विवरण करते हुए मानव की वर्तमान प्रगति के विडंबनापूर्ण पक्षों पर व्यंग किया गया है।

देसाई के उपन्यासों में सूक्ष्म भावप्रवाह के साथ साथ घटना-वैचित्र्य भी रहता है। फलत. उनकी रोचकता असंदिग्ध है। कहीं कहीं जासूसी उपन्यासों जैसी रहस्यमयता के दर्शन भी होते हैं। 'बंसरी' तो जासूसी उपन्यास है ही। उनके ऐतिहासिक उपन्यास भी घटना-बहुल, आघात प्रतिघात से युक्त एवं रोचक है, यद्यपि इस दिशा में 'मुंशी' की समकक्षता वे प्राप्त न कर सके। भावनाशील युवक-युवतियों की आशास्पद जीवनी तथा उनके संबंधों की विषम सामाजिक पृष्ठभूमि का आलेखन करके प्रेमत्रिकोणों द्वारा कथाप्रवाह में वेग उत्पन्न करना तथा चिंतनप्रधान आकर्षक वर्णनों और व्यंग्य की भंगिमाओं से पाठकों के मन को मुग्ध किए रहना उनकी कथाशैली की प्रमुख विशेषताएँ है। उनका महत्वपूर्ण प्रकाशित साहित्य निम्नलिखित है :

उपन्यास - 'जयंत', 'शिरीष', 'कोकिला', 'हृदयनाथ', 'स्नेहयज्ञ', 'दिव्यचक्षु', 'पत्रलालसा', 'ग्रामलक्ष्मी', 'पूर्णिमा', 'हृदयविभूति', 'छायानट', 'झंझावात' 'प्रलय', 'सौंदर्यज्योति', 'बंसरी', 'भारेलो अग्नि', 'ठग', 'क्षितिज', 'कालभोज', 'पहाड़ के पुष्प'।

कहानीसंग्रह — 'झाकल', 'काचन अने गरू'।

एकांकी संग्रह - 'परी अने राजकुमार', 'उश्केरायेलो आत्मा', 'तप अने रूप', 'बैजूबावरो'।

नाटक—'संयुक्ता', 'शंकित हृदय', 'अजनी'।

काव्यसंग्रह—स्वर्णरज', 'गुलाब अने कंटक'।

निबंध एवं इतिहास — 'अप्सरा' (५ खंड), 'रशिया अने मानव-शांति, भारतीय संस्कृति'।

आत्मचरित्—'गईकाल', 'मेरीविच', 'रेखाचित्र'।

कथा और नाटकों के अतिरिक्त जो साहित्य उन्होंने रचा उसमें उनकी उर्मिप्रधान कविताओं का संकलन 'नीहारिका' उल्लेखनीय है। इन गीतिमयी कविताओं पर नानालाल की शैली का प्रभाव स्पष्ट है। 'अप्सरा' नामक समस्यामूलक ग्रंथ में देसाई ने वेश्यावृत्ति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है जो अद्वितीय कहा जा सकता है। 'गईकाल' में लेखक ने प्रारंभिक जीवन के सोलह वर्षों का आत्मचरित् वर्णित किया है जो मार्मिक और रोचक है। 'भारतीय संस्कृति' नामक ग्रंथ में लेखक ने अपने दृष्टिकोण से भारत की सांस्कृतिक समृद्धि एवं समस्याओं की व्याख्या की है। इतना बहुमुखी कृतित्व होने पर भी उनका विशिष्ट स्थान कथाकार के रूप में ही माना जाता है क्योंकि उनकी मौलिक प्रतिभा का सर्वाधिक प्रस्फुटन उसी क्षेत्र मे हुआ है।

[ज० ग०]

रमाबाई अंबेडकर (१८९८-१९३७ ई०) इनका जन्म १८९८ में मुंबई के वड़ेगाँव में एक साधारण परिवार में हुआ। उनके पिता भिकूजी वलंगकर रामानंदपंथी थे। पिता से रमाबाई ने प्राकृत गीता, रामायण, ज्ञानेश्वरी आदि ग्रंथ पढ़े।

प्रारंभ से ही वह कन्याओं को एकत्र कर मराठी में ग्रंथ पढ़कर सुनाया करती। १९०७ मे उनका विवाह भीमराव अंबेडकर से (जो आगे चलकर डॉ० भीमराव अंबेडकर के नाम से विख्यात हुए) केवल नौ वर्ष की अवस्था में हुआ।

डॉ० अंबेडकर के निकट रहनेवाले जानते हैं कि उनके जीवन के निर्माण में रमाबाई का कितना अधिक हाथ था। वे आदर्श गृहिणी थी। कहते है कि उन्होंने अपने सास श्वसुर के गृह मे उपले तक पाथे और बराबर भोजन बनाकर, कपड़े धोकर पति को आगे बढ़ने मे सहायता दी। दिन भर उनका हाथ खाली नहीं रहता था। केवल ५० रु० मासिक में घर गृहस्थी का कार्य चला लेना रमाबाई का ही कार्य था। २ मार्च, १९३० ई० को नासिक में काला-राम मंदिर प्रवेश सत्याग्रह के समय, जो १९३५ तक चलता रहा, रमाबाई ने अनेक व्रत और उपवास सत्याग्रह की सफलता के लिये किए।

डॉ० अंबेडकर के विदेश में रहने पर रमाबाई घर का कार्य चलाती थी। बैरिस्टरी की उनकी पढाई के समय रमाबाई ने अपने श्रम की कमाई के पैसो से उनकी आर्थिक सहायता भी की थी।

समाजसेवा के क्षेत्र में रमाबाई का नाम महाराष्ट्र में आदर से लिया जाता है। उन्होने महिलाओं मे जाग्रति की भावना का संचार किया और अपने आदर्श से जनता को प्रोत्साहित किया। रमाबाई की चार संतानों में केवल एक जीवित है—यशवंतराय अंबेडकर।

डॉ० अंबेडकर के साथ रमाबाई की भी बौद्ध धर्म में बहुत आस्था थी। [वो०]

रमी (Rummy) ताश का एक लोकप्रिय खेल है। इसकी कई किस्में, जैसे जिन (Gin) रमी, नॉक (Knock) रमी, प्रोग्रेसिव रमी, बोटहाउस (Boathouse) रमी तथा कानैस्टा रमी, है। रमी के सामान्य खेल मे ताश की एक गड्डी अथवा दो गड्डियों का उपयोग होता है और इसमें दो या तीन जोकर रहते हैं। रमी जोकर लगाकर, या बिना जोकर लगाकर भी खेलते

है। जोकरवाले खेल में जोकर का १५ अंक होता है। बिना जोकर के खेल में जोकर का मान १० अंक होता है। बादशाह और बेगम के दस दस अंक तथा अन्य पत्तों पर लिखित अंक उनके अंक होते हैं। एक्का छोटा पत्ता होता है और इसका अंक एक होता है। एक्का जब बड़ा पत्ता बनाकर खेला जाता है, तब उसका अंक ११ होता है। जोकरवाले खेल में जोकर को इच्छानुसार पत्ता बनाया जा सकता है। यदि दो खिलाड़ी हों तो १०, तीन या चार हों तो सात तथा पाँच, या छह हों तो पाँच पत्ते बाँटे जाते हैं। इस खेल में दो से लेकर छह खिलाड़ी तक खेल सकते हैं। पत्ता बाँटने के बाद बचे हुए पत्तों को स्टॉक कहते हैं और इन्हें सब खिलाड़ियों के मध्य बंद रख दिया जाता है। स्टॉक का सबसे ऊपर वाला पत्ता खोलकर स्टॉक के बगल में रख देते हैं। बाँटने वाले के बाँए हाथ का खिलाड़ी स्टॉक में सबसे ऊपर का एक, अथवा इस खुले पत्ते को, उठाकर अपने पत्तों में रख लेता है और उसमें से अनावश्यक को खुला हुआ फेंक देता है, इस प्रकार खेलना प्रारंभ होता है। अन्य खिलाड़ी भी इसी प्रकार स्टॉक, या खुले पत्तों की गड्डी से सबसे ऊपर का एक पत्ता उठाकर अपने हाथ के पत्तों में लगाते हैं और अनावश्यक पत्ते को फेंक देते हैं। किसी खिलाड़ी के जीतने के पहले स्टॉक के समाप्त हो जाने पर खुले ताश की गड्डी को उलटकर नया स्टॉक बना लेते हैं।

इस खेल में खिलाड़ी को अपने हाथ के पत्तों में से कम से कम तीन को अवश्य ही एक रंग के क्रम (जैसे ईंट का अट्ठा, नहला तथा दहला) में लगाना पड़ता है। अन्य पत्तों में से तीन या चार एक ही प्रकार (जैसे तीन एक्का या चार दुक्का) के पत्तों का समूह बनाना होता है। जो खिलाड़ी सबसे पहले अपने पत्तो को नियमानुसार लगा लेता है, वही विजेता होता है। वह अपने अंतिम पत्ते को खुला फेंकने के स्थान पर बंद फेंकता है और अन्य खिलाड़ियों को अपने पत्ते दिखाता है। दूसरे खिलाड़ियों के हाथ में जो पत्ते नियमानुसार नहीं लगे होते, उनके अंकों का योग विजेता की जीत है। जब तक किसी खिलाड़ी के सौ अंक नहीं बन जाते तब तक खेल पूरा नहीं होता, अथवा एक बाजी को ही पूरा एक खेल समझा जाता है। इस खेल में लोग अपना पृथक् पृथक् अंक बनाते हैं, अथवा जोड़ा बनाकर साझे में भी यह खेल खेला जाता है। [अ० ना० मे०]

रमेशचंद्र दत्त (१८४८–१९०९)—प्रसिद्ध प्रशासक, इतिहासज्ञ तथा लेखक। इनका जन्म कलकत्ते में हुआ। सन् १८६८ में ये आइ० सी० एस० की परीक्षा देने के लिये इंग्लैंड गए तथा १८६९ में इस परीक्षा में तीसरा स्थान पाकर उत्तीर्ण हुए। सन् १८७१ में ये भारत वापस आए। इन्होने अपने इन तीन वर्षों के इंग्लैंड प्रवास के विषय में एक पुस्तक 'थ्री ईयर्स इन इंग्लैंड' लिखी। भारत आने के बाद इन्होंने अनेक प्रशासनिक पदों का कार्यभार सँभाला तथा उड़ीसा के कमिश्नर एवं पोलिटिकल एजेंट, बड़ौदा के दीवान और रॉयल कमीशन के सदस्य रहे।

सन् १८९७ से १९०४ तक ये लंदन विश्वविद्यालय में भारतीय इतिहास के प्राध्यापक रहे।

इनकी विलक्षण प्रतिभा केवल प्रशासनिक कार्यों तक ही सीमित नहीं थी, वरन् ये मौलिक लेखक तथा इतिहासज्ञ भी थे। अपने लेखनकाल के आरंभ में इन्होंने अंग्रेजी में लिखा, पर बाद में बंकिमचंद्र के प्रभाव से बँगला में भी रचना की। इनके मुख्य ग्रंथ निम्नलिखित हैं :

१. ए हिस्ट्री ऑव सिविलिजेशन इन एंशेंट इंडिया (तीन खंड);
२. लेटर हिंदू सिविलिजेशन;
३. इकानामिक हिस्ट्री ऑव ब्रिटिश इंडिया;
४. इंडियंस इन दि विक्टोरियन एज;
५. ए हिस्ट्री ऑव दि लिटरेचर ऑव बंगाल;
६. दि महाभारत ऐंड दि रामायण;
७. लेज ऑव एंशेंट इंडिया;
८. ग्रेट एपिक्स ऑव एंशेंट इंडिया;
९. शिवाजी (अंग्रेजी और बँगला);
१०. लेक ऑफ पाम्स;
११. दि स्लेव गर्ल ऑफ आगरा;
१२. थ्री ईयर्स इन इंग्लैंड;
१३. दि पेजेंट्री आफ बंगाल;
१४. ऋग्वेद (बँगला अनुवाद);
१५. इंग्लैंड ऐंड इंडिया; [अ० मो० पां०]

रमैनी और बीजक रमैनी 'बीजक' की प्रस्तावना है। कबीर ने रमैनी द्वारा हिंदू एवं मुस्लिम दोनों को समान रूप से धार्मिक शिक्षा दी है और अपने विचारों को निर्भयतापूर्वक समाज के समक्ष रखा है। रमैनी में चौरासी पद हैं। प्रत्येक पद में स्वतंत्र विचार हैं। प्रथम रमैनी मे सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन, समष्टि और व्यष्टि भाव से किया गया है। द्वितीय रमैनी मे व्यष्टि रूप से जीव तथा माया की त्रिगुणात्मक फाँस मे जीवात्माओं के फँस जाने का वर्णन किया गया है। तीसरी एवं चौथी रमैनी मे अनेक वाणियो एवं धर्मों के जाल का वर्णन किया गया है। पंचम पद में द्वंद्व के फंदे को मुक्ति का बाधक बतलाया गया है और छठे में आत्मा के असंग ज्ञान से माया के संग के परित्याग का विवेचन किया गया है। सातवें से लेकर दसवें तक वेदांत की चर्चा के साथ माया के बंधन और उनसे छूटने के मार्ग पर प्रकाश डाला गया है।

रमैनी में चार स्थलों पर जीवों को चेतावनी दी गई है। सर्वप्रथम ग्यारहवें पद में जीवों को संबोधित किया गया है कि भोगों की वासना, उन्हें माया के बंधनों में फाँस देती है। इक्कीसवें एवं बाइसवें पदों में यह चेतावनी दी गई है कि इस अपार दुःखमय जगत् में केवल दुःख ही दुःख है। अतः विवेक धारण करना आवश्यक है। चौवालीसवें पद में तीसरी बार कबीर ने जीवों को बतलाया है कि सत्संग से सन्मार्ग मिलता है। अंतिम याने, चौरासीवें पद में चौथी बार उद्बोधन किया है कि मनुष्य स्वयं सचेत नहीं होता अतः स्वप्नमय संसार से मुक्ति नहीं पाता। यदि वह स्वयं चेते तो वह एक हो जाय।

रमैनी के शेष पदों में भ्रमजाल, अभिमान, अज्ञान, अविद्या, कर्मबंधन, संसारी गुरुओं की कहानी, जीव, ईश्वर और मन का ताना बाना और उसकी दशा, जैन आदि मत की समीक्षा, शास्त्र-व्यवसायी पंडितों की दशा, ज्ञान की आवश्यकता, संसार की

अनित्यता, माया और मन की प्रबलता, हठयोगियों की दशा, मनुष्य जाति का निरूपण, शैव हठयोगियों तथा वाचक ब्रह्मज्ञानियों की दशा, अवतारवाद, मायाफाँस और उसका विनाश, कालपुरुष और जीव का स्वरूप, विवेक की आवश्यकता, संसारवृक्ष की विलक्षणता एवं क्षत्रिय कर्तव्यविचार का आध्यात्मिक विवेचन किया गया है। कायागढ़ जीतने पर अधिक बल दिया गया है।

कबीर के बीजक ग्रंथ का वास्तविक सार एवं आध्यात्मिक रहस्य रमैनी में मिलता है जो प्रायः चौपाई छंद में है।

बीजक

गुप्तधन को बतानेवाले सांकेतिक लेख को 'बीजक' कहते हैं। कबीर साहब की वाणियों को पुस्तक के रूप में भागोदास ने संकलित किया जो बीजक के नाम से विख्यात है। बीजक की भाषा ठेठ प्राचीन पूर्वी है। बीजक के सांकेतिक शब्द 'राम' का तात्पर्य अवतारी राम से और अधिकतर शुद्ध स्वरूप चैतन्य से है। इसी प्रकार हरि, जादवराम, गोविंद, गोपाल आदि का भी उसी अर्थ में प्रयोग किया गया है। मन के लिये मच्छ, मांछ, मीत, जुलाहा, साउज, सियार, रोझ, हस्ती, मतंग, निरंजन आदि का प्रयोग किया गया है। पुत्र, पारथ, जुलाहा, दुलहा, सिंह, मूस, भँवरा, योगी आदि शब्द जीवात्मा को सूचित करते हैं। माया के बोधक शब्द माता, नारी, छेरी, गैया, बिलैया आदि और संसार के बोधक शब्द सायर, बन, सीकस आदि हैं। इसी प्रकार नर-तन के लिये यौवन, दिवस, दिन और इंद्रियों के लिये सखी, सहेलरी आदि सांकेतिक शब्दो का प्रयोग हुआ है। इसी ग्रंथ में 'हंस कबीर' मुक्तात्मा सूचक है, 'कर्हांह कबीर' गुरुवचन (कबीर के लिये) कहैं कबीर 'और' 'कबीर' अन्योक्ति का, 'दास कबीर' ईश्वर के उपासकों का, और 'कबीरा' तथा 'कबिरन' अज्ञानी तथा वंचक गुरुओ के लिये प्रयुक्त हुआ है।

बीजक ग्रंथ को स्पष्ट रूप से ग्यारह प्रकरणों में विभक्त किया गया है। प्रथम प्रकरण 'रमैनी' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

बीजक का दूसरा प्रकरण 'शब्द' कहलाता है। इसमें कबीर के ११५ शब्दों का मार्मिक विवेचन है। कबीर ने क्रमशः सद्‌गुरुभक्ति, सदैव जाग्रत रहने का बोध, घर का झगड़ा, यह 'भ्रमभूत सकल जग खाया', माया की प्रबलता, चेतन की सत्ता, व्यापकता और प्रकाशता का वर्णन, मायिक अवतारों का वर्णन, जीवों की मूढ़ता, हिंदू और मुसलमानो के मतों की आलोचना, पुरोहित की समालोचना, प्रेम-प्रथा और आत्मतुष्टि, माया की प्रबलता और उससे छूटने का उपाय, अध्यास फाँस, हिंसारत और प्रतिग्रहपरायण ब्राह्मणों की दशा, अवतारमीमांसा, रामजपन विधि, रामरस का पान, भ्रम और आडंबर, सत्य-पद-प्रदर्शन, पुरुषोत्तम की बलिहारी, भक्तिविचार, विश्वात्मदर्शन, ज्ञानलक्षण भक्ति, वाणीरूप अद्‌भुत गाय, ब्रह्म ज्योति आदिक अनात्मोपासकों को उपदेश, राम और रहीम की एकता, प्रपंची गुरुओं की संगति का फल, शिक्षा और उद्‌बोधन, शरीरवियोग, निज भक्तों के लक्षण तथा हंसस्थिति, नामोपासकों की धारणा, मोहजाल, गुरुपद, आत्मविमुखता, अंधविश्वास, छुआछूत विचार, ज्ञानियों की स्थिति, स्वरूपस्थिति एवं तत्वविचार, अनोखी नारी, मनुष्यों की अज्ञानता, मन की लीला, अनधिकार चर्चा संसारतरु, 'कोइ काहू का हटा न माना, झूठा खसम कबीर न जाना, अंधा कहे अंधा पतियाय, जस बिसवा का लगन धराय, सुरति (वृत्ति) के निरोध की आवश्यकता, बंध्य ज्ञानी (वाचक ज्ञानी) और हठयोगियों की दशा, कामना अग्नि का विचार, माया, अहिंसा, सहज भावना, एवं कल्पना का विचार, अमृत वल्ली, बीजेश्वरवादियों के मत की आलोचना, मन की कल्पना, शब्द और शब्दी, मांसभक्षण एवं चेतन की व्यापकता का विचार, शरीर की असारता, भारी भ्रम, जीवात्मा के स्वरूप का परिचय, एकजातिवाद (मनुष्य जाति), निज भ्रम विचार, स्वावलंबन विचार, ज्ञानोदय दशा का वर्णन, शून्यवाद, निरास तथा आत्मोन्मुखता, जीवित मुक्ति विचार, सुगम भक्ति (रामोपासना) का विचार, हिंसा और अभक्ष्य-भक्षण-विचार, धर्म का पाखंड, धन और धाम की ममता का विचार, चेतावनी, स्मरणीय वस्तु 'तत्व', दुःखमय जगत्, संसार व्यवहार, ब्रह्मज्योति के उपासकों से प्रश्न, कलि की प्रबलता का विचार, पाखंडविचार, नामचर्चा और आदि तथा अंतिम अवस्था का विचार, सहज योग, विहंगम मार्ग, संवाद और उपदेश, भ्रमभूत विचार, कर्म एवं कामनाओं का विचार, अवतारोपासना का विचार, प्रारब्ध-फल-विचार, जीव पर मन की सेना का आक्रमण, आत्मदर्शन तथा आत्मपरिचय, मन का साम्राज्य, तत्वोपदेश एवं स्वरूपविस्मृति के वर्णन इत्यादि का चित्रण किया है।

बीजक का तीसरा प्रकरण 'ज्ञान चौंतीसा' के नाम से प्रसिद्ध है। इन चौंतीस पदों में कबीर ने हठयोग की समीक्षा की है। बीजक का चौथा प्रकरण 'विप्रमतीसी' के नाम से विख्यात है। इसमें विप्रकर्म मीमांसा का विशुद्ध वर्णन किया गया है। बीजक का पाँचवाँ प्रकरण 'कहरा प्रकरण' कहलाता है। इसमें सहजावस्था विषयासक्ति से आत्मप्रीति का अभाव, आत्मपूजा, रामनाम के व्यवसायी, संसार की असारता का विचार, आत्मपरिचय की आवश्यकता का उल्लेख, संसार की असारता और विनाशिता, शरीर की हीनता और अनित्यता, राम राजा का आत्मपरिचय और राम कहानी, ननद और भावज का प्रपंच, गाली शब्द और माया के अलेट खेल का निरूपण किया गया है। बीजक का छठा और सातवाँ प्रकरण बसंत के नाम से विदित है। इनमें नित्य वसंत और अनित्य के साथ साथ मायिक वसंत, कर्मी और उपासकों की संमिलित प्रार्थना, झीनी माया, माया की प्रबलता, अविद्या के दास, माया नारी का गृहकलह, माया की कठपुतली का खेल, माया का विद्युद्विलास, 'अनित्यता', अहंकार की प्रबलता का विचार, काशी-सेवन-विधि एवं प्रबोधन का स्पष्ट वर्णन किया गया है।

बीजक के आठवें प्रकरण 'चाचर' में माया के फगुवा खेल एवं धोखे की टट्टी का विशद वर्णन है। बीजक के नवें प्रकरण 'बेली' में हंसोद्‌बोधन चेतावनी एवं जीवोद्‌बोधन चेतावनी का खरा विवरण है। बीजक का दसवाँ प्रकरण 'बिरहुली' कहलाता है। इसमें कबीर ने तत्वोपदेश दिया है। बीजक का अंतिम ११वाँ प्रकरण 'हिंडोला' के नाम से विख्यात है। इसमें भ्रम का झूला, लोक लोकांतरों का झूला, मनमोहन झूले की रसीली पेंगे, प्रातिस्विक झूलों का वर्णन एवं साखी का विवरण है।

सं० ग्रं०—बीजक ग्रंथ (सं० स्वामी श्री हनुमानदास जी साहब षटशास्त्री); कबीर साहब का बीजक ग्रंथ (सं० पं० मोतीदास जी चेतनदास जी) डॉ० ताराचंद : इन्फ्लुएंस ऑव इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर । [यो० ना० चं०]

रवि वर्मा का जन्म १८४८ में त्रावणकोर (तिरुवांकुर) में हुआ था। चित्रकला की शिक्षा उन्होंने मदुरा के चित्रकार अलाग्री नायडू तथा विदेशी चित्रकार श्री थियोडोर जेंसन से, जो भ्रमणार्थ भारत आए थे, पाई थी। दोनों यूरोपीय शैली के कलाकार थे। श्री वर्मा की चित्रकला में दोनों शैलियों का संमिश्रण दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने लगभग ३० वर्ष भारतीय चित्रकला की साधना में लगाए। बंबई में लीथोग्राफ प्रेस खोलकर उन्होंने अपने चित्रों का प्रकाशन किया था। उनके चित्र विविध विषय के हैं किंतु उनमें पौराणिक विषयों के और राजाओं महाराजाओं के व्यक्ति चित्रों का आधिक्य है। विदेशों में उनकी कृतियों का स्वागत हुआ, उनका संमान बढ़ा और पदक पुरस्कार मिले। पौराणिक वेशभूषा के सच्चे स्वरूप के अध्ययन के लिये उन्होंने देशाटन किया था। डाक्टर आनंद कुमारस्वामी ने उनके चित्रों का मूल्यांकन कर कलाजगत् में उन्हें सुप्रतिष्ठित किया। ५७ वर्ष की उम्र में १९०५ में उनका देहांत हुआ। [पा० ना० मिं०]

रविवार सात दिनों के सप्ताह की कल्पना का मूल फलित ज्योतिष है। प्राचीन काल में बैबिलोनियावासियों ने महीने को पाँच दिनों के छह भागों में और ग्रीक तथा अन्य लोगों ने दशाहों में विभक्त किया था। मध्य अमरीका की प्राचीन माया जाति बीस दिनों का भाग मानती थी। फलित ज्योतिष के अनुसार सप्ताह का प्रत्येक दिन किसी न किसी ग्रहदेवता से संबद्ध है और मनुष्य का भाग्य उन्हीं देवताओं पर निर्भर है। उन दिनों लोग सूर्य और चंद्र को भी ग्रह मानते थे और बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति तथा शनि ग्रहों से परिचित थे। अतः उन्होंने सात ग्रहदेवताओं से संबद्ध सात दिनों का सप्ताह निर्धारित किया, जिसका प्रचलन पहले ईरान, मिस्र फिलस्तीन, यूनान और रोम में था और बाद में समस्त विश्व में हो गया। कुछ देशों में दिनों के नाम बदल गए हैं, पर उनके पीछे भाव वे ही थे। पीछे ईसाइयों ने बैबिलोन और मिस्रवासियों से भाव लेकर रविवार को विश्राम और प्रार्थना का दिवस निश्चित किया। [मं० म० प०]

रश्मिचिकित्सा (Heliotherapy) मनुष्य अपने उत्पत्तिकाल से ही सूर्य की उपासना तथा सूर्यकिरणों का रोगों की चिकित्सा के लिये प्रयोग करता आया है। इन किरणों को वैज्ञानिक रूप में प्रयुक्त करने का श्रेय फिनसन् (Finsen) को है। किरणचिकित्सा में कृत्रिम किरणों (artificial light), विशेषतः कार्बन आर्क (carbon arc) प्रयुक्त करने का सुझाव इन्हीं का है। उसी प्रकार रोलियर (Rollier) ने यक्ष्मा रोग (फुफ्फुस यक्ष्मा छोड़कर) की चिकित्सा में सूर्यकिरण-चिकित्सा को बहुत लोकप्रिय बनाया।

सूर्यकिरण चिकित्सा से विशिष्ट रोगों में बहुत लाभ होता है। चिकित्सा के समय इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है कि रोगी को चिकित्साकाल में न तो अधिक शीत या ऊष्मा में रहना पड़े, और न ही सूर्य के प्रखर, चौंधियानेवाले प्रकाश के कारण रोगी के मस्तिष्क में पीड़ा होने लगे। नेत्रों पर गहरा रंगीन चश्मा लगाना, सर को धूप से ढँका रखना, सूर्यकिरण चिकित्सा के समयमान पर उचित नियंत्रण तथा शरीर के खुले भाग के क्षेत्र आदि का ध्यान रखना आवश्यक रहता है। सूर्यरश्मियों के प्रति प्रत्येक रोग तथा रोगी की सहनशीलता भिन्न भिन्न होती है। गोरी त्वचावाले व्यक्तियों की अपेक्षा साँवली त्वचावालों में किरण के प्रति सहनशीलता की क्षमता अधिक होती है। श्वेत कुष्ट से पीड़ित व्यक्ति में रश्मियों के प्रति बहुत कम सहनशीलता होती है। औसत साधारण व्यक्ति की त्वचा पर रश्मिचिकित्सा के कारण, प्रायः ६ घंटे में, अतिरक्तिमा (Erythema) उभड़ आती है। इससे अधिक समय तक रश्मिप्रयोग नहीं करना चाहिए, अन्यथा फफोले, या छाले बनने का डर रहता है। धीरे धीरे त्वचा का रंग ताँबे के वर्ण का हो जाता है, क्योंकि त्वचा में अब विशेष वर्णक (pigment) उत्पन्न हो जाते हैं, जो सूर्यकिरणों से होनेवाली हानियों को रोकते हैं। चिकित्सा के दौरान ठंढे देशों में शरीर की उपापचयी क्रिया की गति बढ़ जाती है। सूर्यकिरणों में सब सूक्ष्म तरंग दैर्घ्यवाली किरणें पराबैंगनी किरणें होती हैं। ऊष्मा वाली किरणों से रोगी को बचाना चाहिए, तब रोगी को प्रफुल्लता तथा नवजीवन का अनुभव होगा तथा मानसिक क्रिया और शक्ति का विकास होगा। थकान नहीं होने देना चाहिए। सूर्यरश्मि जीवाणुनाशक भी होती है, जिससे त्वचा के रोगों में और दाह में लाभ होता है। ऐसा विश्वास है कि सूर्यकिरण त्वचा में प्रवेश कर रुधिर में मिश्रित होकर, सूर्य की भौतिक ऊर्जा से ऊष्मीय ऊर्जा (thermal energy) में रूपांतरित हो जाती है, जिससे रक्त में परिसंचरण करनेवाले कीटाणुओं, जीवाणुओं, तथा विष का नाश होता है। सूर्यताप से कैल्सियम, फॉस्फोरस तथा लोहे की मात्रा रक्त में बढ़ जाती है।

शल्ययक्ष्मा (surgical tuberculosis), सुखंडी रोग (rickets), दमा आदि रोगों में सूर्यकिरणचिकित्सा द्वारा लाभ होता है। चर्मरोग, विशेषतः सोरियोसिस (psoriasis) के उपशमन में, संतानोत्पादन, तथा अंतःस्रावी ग्रंथियों के उपचार में इससे अच्छा लाभ होता है। उपचार की अपेक्षा उपचार में सहायक के रूप में इसकी उपयोगिता शीघ्रता से बढ़ रही है। [उ० शं० प्र०]

रसखानि कविवर रसखानि दिल्ली के एक खानदानी पठान थे। 'प्रेमवाटिका' में अपना परिचय इन्होंने स्वयं इस प्रकार दिया है—

"विद्रोह की आग भड़की देखकर दिल्ली को इन्होंने त्याग दिया। साथ ही, बादशाही खानदान का गरूर भी छोड़ दिया।" पर इस संकेत से यह पता नहीं चलता कि किस बादशाही खानदान के साथ इनका रिश्ता था।

रसखानि का जन्म संवत् १६१५ के आसपास माना जाता है। संवत् १६७१ में इन्होंने 'प्रेमवाटिका' लिखी थी, जिसका प्रमाण यह है :

'विधु, सागर, रस, इंदु सुभ, बरस सरस रसखानि।
प्रेमवाटिका रचि रुचिर, चिर हिय हरषि बखानि ॥

एक मत यह भी है कि रसखानि का असली नाम सैयद इब्राहीम

था, और यह पिहानी के रहनेवाले थे। परंतु "२५२ वैष्णवन की वार्ता' में इस बात का कोई उल्लेख नहीं है। यदि ऐसा होता तो यह अपने आपको पठान न कहकर सैयद लिख देते, और दिल्ली के स्थान पर पिहानी। पिहानीवाले सैयद इब्राहीम एक दूसरे ही कवि थे और उनका भी उपनाम रसखानि था।

रसखानि ने इस्लाम को छोड़कर वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया था। गोसाईं विट्ठलनाथ के यह कृपापात्र शिष्य थे। '२५२ वैष्णवन की वार्ता' में इनकी भी वार्ता अर्थात् कथा दी गई है।

सांसारिक प्रेम की सीढ़ी से चढ़कर रसखानि भगवदीय प्रेम की सब से ऊँची मंजिल तक कैसे पहुँचे, इस संबंध की दो आख्यायिकाएँ प्रचलित हैं। 'वार्ता' में लिखा है कि रसखानि पहले एक बनिये के लड़के पर अत्यंत आसक्त थे। उसका जूठा तक यह खा लेते थे। एक दिन चार वैष्णव बैठे बात कर रहे थे कि भगवान् श्रीनाथ जी से प्रीति ऐसी जोड़नी चाहिए, जैसी प्रीति रसखानि की उस बनिये के लड़के पर है। रसखानि ने रास्ते से जाते हुए यह बात सुन ली। उन्होंने पूछा कि 'आपके श्रीनाथ जी का स्वरूप कैसा है?' वैष्णवों ने श्रीनाथ जी का एक सुंदर चित्र उन्हें दिखाया। चित्रपट में भगवान् की अनुपम छवि देखकर रसखानि का मन उधर से फिर गया। प्रेम की विह्वल दशा में श्रीनाथ जी का दर्शन करने यह गोकुल पहुँचे। गोसाईं विट्ठलदास जी ने इनके अंतर के परात्पर प्रेम को पहचानकर इन्हें अपनी शरण में ले लिया। रसखानि श्रीनाथ जी के अनन्य भक्त हो गए।

दूसरी आख्यायिका यह है कि रसखानि एक रूपगर्विता स्त्री पर आसक्त थे। पर वह इनके प्रेम की सदा उपेक्षा ही करती थी। एक दिन श्रीमद्भागवत के फारसी उल्थे में ब्रजगोपिकाओं के आत्यंतिक विरह का प्रसंग पढ़ते-पढ़ते यह सोचने लगे कि नंद के जिस फर्जंद पर हजारों हसीन गोपियाँ जान दे रही हैं, क्यों न उसी के साथ प्रीति जोड़ी जाय। जीवन का रास्ता मुड़ गया। 'प्रेमवाटिका' में यह स्वयं लिखते हैं—

> तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिनी मान।
> प्रेमदेव की छबिहिं लखि, भये मियां रसखान ।।

इनकी कविताओं के दो संग्रह प्रकाशित हुए हैं—'सुजान रसखान' और 'प्रेमवाटिका'। 'सुजान रसखान' में १३९ सवैये और कवित्त हैं। 'प्रेमवाटिका' में ५२ दोहे हैं, जिनमें प्रेम का बड़ा अनूठा निरूपण किया गया है। रसखानि के सरस सवैये सचमुच बेजोड़ हैं। सवैया का दूसरा नाम 'रसखानि' भी पड़ गया है। शुद्ध ब्रजभाषा में रसखानि ने प्रेमभक्ति की अत्यंत सुंदर प्रसादमयी रचनाएँ की हैं। यह एक उच्च कोटि के भक्त कवि थे, इसमें संदेह नहीं। [वि० ह०]

रसगंगाधर यह संस्कृत साहित्यशास्त्र पर प्रौढ़ एवं सर्वथा मौलिक कृति है। इसके निर्माता सर्वतंत्र स्वतंत्र पंडितराज जगन्नाथ हैं जो नवाब शाहाबुद्दीन के आश्रित तथा आसफ खाँ के द्वारा संमानित राजकवि थे। यह दाराशिकोह के समकालिक थे। पंडितराज न केवल मार्मिक, सहृदय एवं सूक्ष्म समालोचक ही थे अपितु एक प्रतिभाशाली निसर्ग कवि भी।

काव्य के सुकुमार तत्वों की परख के लिये मनीषी ग्रंथकार ने सहृदयगत भावुकता की कसौटी को ही सर्वोपरि स्थान दिया है। काव्य के स्वरूप के संबंध में अनेक प्राचीन सिद्धांत युग युग में प्रचलित हुए, परंतु प्रत्येक मत में कुछ न कुछ अरुचि पाई जाती है। रसगंगाधर की काव्यपरिभाषा इन अरुचियों को शांत कर देती है और वह काव्यगत चमत्कार के स्वरूप एवं महत्व पर मौलिक विवेचन प्रस्तुत कर सर्वमान्य निर्णय पर पहुँचती है।

रसगंगाधर के अनुसार रमणीयता को ही काव्य का सर्वस्व माना है। सहृदयाह्लाद ही काव्य का प्रयोजन है और कवि की अलौकिक प्रतिभा ही उसका मूल है। इसी तरह काव्यभेद, रसस्वरूप, भावध्वनि, गुणगौरव, शब्दशक्ति तथा काव्यालंकारों में सौंदर्य बीज एव परस्पर अंतर का विवेचन जैसा रसगंगाधर में पाया जाता है वैसा अन्यत्र नहीं। यह ग्रंथ ध्वनि संप्रदाय का प्रतिष्ठापक है। पूर्वोत्तर पक्ष की स्थापना करने का क्रम बहुत ही हृदयंगम है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें न केवल लक्षण ही मौलिक है अपितु लक्ष्य विषय के उदाहरण भी ग्रंथकार द्वारा स्वयं प्रणीत हैं, चाहे वह उदाहरण गुण का हो या दोष का। रसगंगाधर में 'न परस्य किंचित्' प्रतिज्ञा के अपूर्व निर्वाह ने इसे अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रंथों से कहीं उच्च स्थान दिलाने में सहयोग दिया है। इस ग्रंथ में मम्मट, विश्वनाथ एवं अप्पय दीक्षित के सिद्धांतों को युक्तिपूर्वक अपास्त कर मौलिक सिद्धांत स्थापित किए गए हैं।

कहा जाता है, रसगंगाधर का आयाम पाँच आनन में पूरा हुआ था परंतु दुर्भाग्यवश केवल डेढ़ ही आनन अद्यावधि उपलब्ध हुआ है, तथापि जितना कुछ अंश अधुना उपलब्ध है वह भी काव्यशास्त्र के अध्येता के लिये परम उपकारक है। प्रथम आनन में काव्य की परिभाषा एवं काव्यभेद का विवेचन कर रसस्वरूप और भावध्वनि का सांगोपांग निरूपण अत्यंत सहृदयगम्य सूक्ष्म दृष्टि के साथ किया गया है। द्वितीय आनन में शब्दशक्ति के प्रतिपादन के पश्चात् अलंकार प्रकरण प्रारंभ होता है, जो केवल उत्तरालंकार के निरूपण तक ही उपलब्ध होता है। विद्वानों की धारणा है कि शेष आननों में पंडितराज ने अन्यान्य काव्यतत्वों का एवं रमणीय काव्य के लक्षणों पर भी विचार अवश्य किया होगा।

रसगंगाधर पर सर्वप्राचीन एक टीका 'गुरुमर्मप्रकाश' नामक उपलब्ध है जिसकी रचना वैयाकरण नागेश के द्वारा हुई है। यह टीका मूल ग्रंथ के साथ अपेक्षित न्याय करने में सर्वथा असिद्ध हुई; अनेकत्र इस टीका में उपहासास्पद भ्रांतियाँ भी हैं। यह टीका ग्रंथकार के हृदय को खोलकर अध्येता के समक्ष उपस्थित न कर पाई। वस्तुत: टीकाकार की यह अनधिकार चेष्टा असूयाप्रसूत है। इसी त्रुटि के निवारणार्थ एक नवीन सरला नामक टीका जयपुर निवासी मंजु नाथ के द्वारा साहित्य विद्वान् आचार्यवर्य जग्गू वेंकटाचार्य के परामर्श में निर्मित की गई। यह टीका क्वचित् स्थलों पर तलस्पर्श अवश्य करती है परंतु समग्र ग्रंथ को अपेक्षित रूप से विशद करने का प्रयास नहीं करती। इसके अतिरिक्त काशी से रसगंगाधर का संस्करण लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री, सी० आई० ई० द्वारा रचित टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुआ है। रसगंगाधर

का श्री पुरुषोत्तम चतुर्वेदी द्वारा हिंदी अनुवाद किया गया दो भागों में काशी नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ है। इसका मराठी भाषांतर भी पंडित अभ्यंकर शास्त्री ने प्रस्तुत किया है जो पूना से प्रकाशित हुआ है।

वस्तुत: पंडितराज की अपूर्व विवेचनशैली एवं उच्चतर प्रौढ़ि के कारण रसगंगाधर को अप्रतिम संमान एवं महनीय उपादेयत्व प्राप्त हुआ है और वही उसपर अनेक टीकाओं एवं अनुवादों की बाढ़ की प्रतिरोधिनी भी सिद्ध हुई। [सु० ना० शा०]

रसनिधि दतिया राज्य के बरौनी इलाके के जमींदार पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' नाम से काव्यरचना करते थे। इनका रचनाकाल संवत् १६६० से १७१७ तक माना जाता है। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ 'रतनहजारा' है जो बिहारी सतसई को आदर्श मानकर लिखा गया प्रतीत होता है। बिहारी की दोहापद्धति का अनुकरण करते समय रसनिधि कहीं कहीं ज्यों का त्यों भाव ही अपने दोहे में लिख गए हैं। रतनहजारा के अतिरिक्त विष्णुपदकीर्तन, बारहमासी, रसनिधिसागर, गीतिसंग्रह, अरिल्ल और माँझ, हिंडोला भी इनकी रचनाएँ बताई जाती हैं। इनके दोहों का एक संग्रह छतरपुर के श्री जगन्नाथप्रसाद ने प्रकाशित किया है।

रसनिधि प्रेमी स्वभाव के रसिक कवि थे। इन्होंने रीतिबद्ध काव्य न लिखकर फारसी शायरी की शैली पर प्रेम की विविध दशाओं और चेष्टाओं का वर्णन किया है। फारसी के प्रभाव से इन्होंने प्रेमदशाओं में व्यापकता प्राप्त की किंतु भाषा और अभिव्यंजना की दृष्टि से इनका काव्य अधिक सफल नहीं हो सका। शब्दों का असंतुलित प्रयोग तथा भावों की अभिव्यक्ति में शालीनता का अभाव खटकनेवाला बन गया है। हाँ, प्रेम की सरस उक्तियों में रसनिधि को कहीं कहीं अच्छी सफलता मिली है। वस्तुत: जहाँ इनका प्रेम स्वाभाविक रूप से व्यक्त हुआ है वहाँ इनके दोहे बड़े सुंदर बन पड़े हैं। [वि० स्ना०]

रसायन विज्ञान जैसे जैसे समाज का विकास हुआ, रसायन विज्ञान का विकास भी उसी के साथ हुआ। प्रकृति में पाई जानेवाली अगाध संपत्ति और उसका उपभोग कैसे किया जाए, इस आधार पर इसकी नींव पड़ी। घर, भोजन, वस्त्र, नीरोग रहने की आकांक्षा, और आगे चलकर विलास की सामग्री तैयार करने की प्रवृत्ति ने इस शास्त्र के व्यावहारिक रूप को प्रश्रय दिया। अथर्वांगिरस ने इस देश में काष्ठ और शिलाओं के मंथन से अग्नि उत्पन्न की। अग्नि सभ्यता और संस्कृति की केंद्र बनी। ग्रीक निवासियों की कल्पना में प्रोमीथियस पहली बार अग्नि को देवताओं से छीनकर मानव के उपयोग के लिये धरती पर लाया।

भारत में और भारत से बाहर लगभग सभी प्राचीन देशों, चीन, अरब, यूनान में भी, मनुष्य की दो चिर आकांक्षाएँ थीं : (१) किस प्रकार रोग, जरा और मृत्यु पर विजय प्राप्त की जाय अर्थात् संजीवनी की खोज या अमरफल की प्राप्ति हो और (२) लोहे के समान अधम धातुओं को कैसे स्वर्ण के समान मूल्यवान् धातुओं में परिणत किया जाय। मनुष्य ने देखा कि बहुत से पशु प्रकृति में प्राप्त बहुत सी जड़ी बूटियाँ खाकर अपना रोग दूर कर लेते हैं। मनुष्य ने भी अपने चारों ओर उगनेवाली वनस्पतियों की मीमांसा की और उनसे अपने रोगों का निवारण करने की पद्धति का विकास किया। महर्षि भरद्वाज के नेतृत्व में हिमालय की तलहटी में वनस्पतियों के गुणधर्म जानने के लिये आज से २,५०० वर्ष पूर्व एक महान् संमेलन हुआ, जिसका विवरण चरक संहिता में मिलता है। पिप्पली, पुनर्नवा, अपामार्ग आदि वनस्पतियों का उल्लेख अथर्ववेद में है। यजुर्वेद में स्वर्ण, ताम्र, लोह, त्रपु या वंग तथा सीस धातुओं की ओर संकेत है। इन धातुओं के कारण धातुकर्म विद्या का विकास लगभग सभी देशों में हुआ। धीरे धीरे इस देश में बाहर से यशद और पारद भी आया। पारद भारत में बाहर से आया और माक्षिक तथा अभ्रक इस देश में थे ही, जिससे धीरे धीरे रसशास्त्र का विकास हुआ। सुश्रुत के समय शल्यकर्म का विकास हुआ, और व्रणों के उपचार के निमित्त क्षारों का उपयोग प्रारंभ हुआ। लवणों का उपयोग चरक काल से भी पुराना है। सुश्रुत में कॉस्टिक, या तीक्ष्ण क्षारों, को सुधा-शर्करा (चूने के पत्थर) के योग से तैयार करने का उल्लेख है। इसमें पुराना उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है। मयूर तुत्थ (तूतिया), कसीस, लोहकिट्ट, सौवर्चल (शोरा), टंकण (सुहागा), रसक, दरद, शिलाजीत, गैरिक, और बाद को गंधक, के प्रयोग ने रसशास्त्र में एक नए युग को जन्म दिया। नागार्जुन पारद-गंधक-युग का सबसे महान् रसवेत्ता है। रसरत्नाकर और रसार्णव ग्रंथ उसकी परंपरा के मुख्य ग्रंथ हैं। इस समय अनेक प्रकार की मूषाएँ, अनेक प्रकार के पातन यंत्र, स्वेदनी यंत्र, बालुकायंत्र, कोष्ठी यंत्र और पारद के अनेक संस्कारों का उपयोग प्रारंभ हो गया था। धातुओं के भस्म और उनके सत्व प्राप्त करने की अनेक विधियाँ निकाली गई और रोगोपचार में इनका प्रयोग हुआ। समस्त भोज्य सामग्री का भी वात, कफ, पित्त निवारण की दृष्टि से परीक्षण हुआ। आसव, कांजी, अम्ल, अवलेह, आदि ने रसशास्त्र में योग दिया।

भारत में वैशेषिक दर्शन के आचार्य कणाद ने द्रव्य के गुणधर्मों की मीमांसा की। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंचतत्वों ने विचारधारा को इतना प्रभावित किया कि आजतक ये लोकप्रिय हैं। पंचज्ञानेंद्रियों के पाँच विषय थे : गंध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द, और इनसे क्रमश: संबद्ध रखनेवाले ये पाँच तत्व 'पृथिव्या-पस्तेजोवायुराकाश' ('क्षिति, जल, पावक गगन समीरा', तुलसीदास के शब्दों में) थे। कणाद भारतीय परमाणुवाद के जन्मदाता हैं। द्रव्य परमाणुओं से मिलकर बना है। प्रत्येक द्रव्य के परमाणु भिन्न भिन्न हैं। ये परमाणु गोल और अविभाज्य हैं। दो परमाणु मिलकर द्व्यणुक और फिर इनसे त्र्यणुक आदि बनते हैं। पाक, या अग्नि के योग से परिवर्तन होते हैं। रासायनिक परिवर्तन किस क्रम में होते हैं, इसकी विस्तृत मीमांसा कणाद दर्शन के परवर्ती आचार्यों ने की।

पंद्रहवीं-सोलहवीं शती तक यूरोप और भारत दोनों में एक ही पद्धति पर रसायन शास्त्र का विकास हुआ। सभी देशों में अलकीमिया का युग था। पर इस समय के बाद से यूरोप में (विशेषतया इंग्लैंड, जर्मनी, फ्रांस और इटली में) रसायन शास्त्र का अध्ययन प्रयोगों के आधार पर हुआ। प्रयोग में उत्पन्न सभी पदार्थों को तौलने की परंपरा आरंभ हुई। कोयला जलता है, धातुएँ भी हवा में जलती हैं।

जलना क्या है, इसकी मीमांसा हुई। मालूम हुआ कि पदार्थ का हवा के एक विशेष तत्व ऑक्सीजन से संयोग करना ही जलना है। लोहे में जंग लगता है। इस क्रिया मे भी लोहा ऑक्सीजन के साथ संयोग करता है। रासायनिक तुला के उपयोग ने रासायनिक परिवर्तनों के अध्ययन में सहायता दी। पानी के जल-अपघटन से हेनरी कैवेंडिश (Cavendish, १७३१-१८१० ई०) ने १७८१ ई० में हाइड्रोजन प्राप्त किया। जोज़ेफ ब्लैक (Black, १७२८-१७९९ ई०) ने कार्बन डाइऑक्साइड और कार्बोनेटों पर प्रयोग किए (१७५४ ई०)।

जोज़ेफ प्रीस्टलि (Priestley, १७३३-१८०४ ई०), शेले (Scheele) और लाव्वाज़िये (Lavoisier, १७४३-१७९४ ई०) ने १७७२ ई० के लगभग ऑक्सीजन तैयार किया, राबर्ट बॉयल (Boyle, १६२७-१६९१ ई०) ने तत्वों की परिभाषा दी, जॉन डाल्टन (Dalton १७६६-१८४४ ई०) ने परमाणुवाद की स्पष्ट कल्पना सामने रखी, आवोगाद्रो (Avogadro, १७७६-१८५६ ई०), कैनिज़ारो (Cannizzaro, १८२६-१९१० ई०) आदि ने अणु और परमाणु का भेद बताया। धीरे धीरे तत्वों की संख्या बढ़ने लगी। अनेक धातु और अधातु तत्व इस सूची में संमिलित किए गए। बिखरे हुए तत्वों का वर्गीकरण न्यूलैंड्स (Newlands, १८६३ ई०), लोथरमेयर (Lothermeyer, १८३०-१८९५ ई०) और विशेषतया मेंडेलीफ (Mendeleev, १८३४-१९०७ ई०) ने किया। मेंडेलीफ ने अनेक अप्राप्त तत्वों के संबंध में भविष्यद्वाणी भी की। बाद मे वे तत्व बिलकुल ठीक वैसे ही मिले, जैसा कहा गया था। डेवी (Davy, १७७८-१८२९ ई०) और फैराडे (Faraday, १७९१-१८६७ ई०) ने गैसों और गैसों के द्रवीकरण पर काम किया। इस प्रकार रसायन शास्त्र का सर्वतोमुखी विकास होने लगा।

इस पश्चिमी रसायन के दो उपांग थे: इनॉर्गैनिक (अजैव पदार्थों से संबंधित) और ऑर्गैनिक (सजीव पदार्थों से संबंधित)। शर्करा, वसा, मोम, फलों मे पाए जानेवाले अम्ल, प्रोटीन, रंग आदि सब सजीव रसायन के अंग थे। लोगों का विश्वास था कि ये पदार्थ प्रकृति स्वयं अपनी प्रयोगशाला में सजीव चेतना के योग से तैयार करती है और ये प्रयोगशाला में संश्लेपित नहीं हो सकते। रसायनज्ञों ने इन पदार्थों का विश्लेषण प्रारंभ किया। कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और ऑक्सीजन, इन चार तत्वों के योग से बने हुए सहस्रों यौगिकों से रसायनज्ञों का परिचय हुआ। पता चला कि किसी यौगिक को समझने के लिये केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि इस यौगिक मे कौन कौन से तत्व किस अनुपात मे हैं, यह भी जानना आवश्यक है कि यौगिक के अणु मे इन तत्वों के परमाणु किस क्रम में सज्जित हैं। इनका रचनाविन्यास जानना आवश्यक हो गया। फ्रैंकलैंड (Frankland, १८२५-१८९७ ई०), ज़्हेरार (Gerhardt), लीबिख (Liebig), द्यूमा (Dumas), वर्ज़ीलियस (Berzelius) आदि रसायनज्ञों ने इन यौगिकों मे पाए जानेवाले मूलकों की खोज की, जैसे मेथिल, एथिल, मेथिलीन, कार्बोक्सिल इत्यादि। इस प्रकार सजीव पदार्थों के आधार की ईंटों का पता चल गया, जिनके रचनाविन्यास द्वारा विभिन्न यौगिकों की विद्यमानता संभव हुई। केकुले (Kekule) ने १८६५ ई० में खुली शृंखला के यौगिकों के साथ साथ बंद शृंखला के यौगिकों का भी प्रतिपादन किया (बेन्ज़ीन की संरचना)। बंद शृंखलाओं के यौगिकों ने कार्बनिक रसायन में एक नये युग का प्रवर्तन किया। नेफ्थालीन, क्विनोलीन, ऐंथ्रासीन आदि यौगिकों में एक से अधिक वलयों का समावेश हुआ।

कार्बनिक रसायन का एक महत्वपूर्ण युग वलर (Wohler) की यूरिया-संश्लेषण-विधि से आरंभ होता है। १८२८ ई० में उन्होंने इनॉर्गैनिक या अजैव रसायन के ढंग की विधि से अमोनियम सायनेट, (NH_4CNO), बनाना चाहा। उसने देखा कि अमोनियम सायनेट ताप के भेद से अनुकूल परिस्थितियों में यूरिया ($H_2N.\ CO.\ NH_2$) में स्वत: परिणत हो जाता है (देखें **यूरिया**)।

अब तक यूरिया केवल जैव जगत् का सदस्य माना जाता था। वलर ने अपने इस संश्लेषण से यह सिद्ध कर दिया कि जैव रसायन में जिन यौगिकों का प्रतिपादन किया जाता है, उनका भी संश्लेषण रासायनिक विधियों से प्रयोगशालाओं मे हो सकता है। इस नवीन कल्पना ने जैव रसायन को एक नया रूप दिया। जैव रसायन का जीव से संबंध न रहा। अब जैव रसायन कार्बनिक रसायन मात्र रह गया और इसलिये अजैव रसायन को हम लोग अकार्बनिक रसायन कहने लगे। वैसे तो कार्बनिक और अकार्बनिक दोनों रसायनों के बीच का भेद अब सर्वथा मिट चुका है।

रसायनशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र बड़ा व्यापक है, नीचे दिए चित्र से इसका कुछ अनुमान हो सकता है :
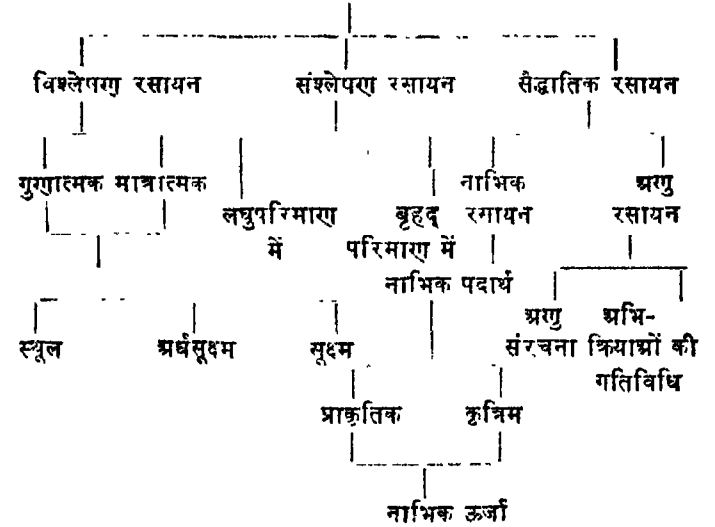
रसायन विज्ञान का क्षेत्र दूसरे विज्ञानों के समन्वय से प्रति दिन विस्तृत होता जा रहा है। फलत. आज हम भौतिक एवं रसायनभौतिकी, जीव रसायन, शरीर-क्रिया-रसायन, सामान्य रसायन, कृषि रसायन, आदि अनेक नवीन उपांगों के नाम भी सुनते हैं। विज्ञान का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें रसायन की विशिष्ट नवीनताओं का प्रस्फुटन न हुआ हो।

द्रव्य निर्माण के मूल तत्व — संसार मे इतने विभिन्न पदार्थ इतनी विभिन्न विधियों से विभिन्न परिस्थितियों में तैयार होते रहते हैं कि आश्चर्य होता है। जो भोजन हम ग्रहण करते हैं, वह शरीर में

रुधिर, मांस, वसा, विविध ग्रंथिरस, अस्थि, मज्जा, मलमूत्र आदि में परिणत होता है। भोज्य पदार्थ वनस्पतियों के शरीर में तैयार होते हैं। भोजन के सृजन और विभाजन का चक्र निरंतर चलता रहता है। यह सब बताता है कि प्रकृति कितनी मितव्ययी है। रासायनिक अभिक्रियाओं का आधार द्रव्य की अविनाशिता का नियम है। रसायनज्ञ इस आस्था पर अपने रासायनिक समीकरणों का निर्माण करता है कि द्रव्य न तो बनाया जा सकता है और न इसका विध्वंस हो सकता है। द्रव्य का गुणधर्म उन अणुओं का गुणधर्म है जिनसे द्रव्य बना है। वे अणु स्वयं परमाणुओं से बने हैं। प्रकृति में सौ से ऊपर तत्व हैं। प्रत्येक तत्व के परमाणु परस्पर भिन्न हैं, पर भिन्नता भी आकस्मिक नहीं है। एक तत्व दूसरे तत्व से उत्तरोत्तर कुछ भिन्न होता जाता है। डाल्टन ने परमाणुवाद की नींव डाली। बॉयल ने तत्व की कल्पना दी। मोज़लि (Moseley) ने १९१३-१४ ई० में परमाणुसंख्या का महत्व बताया। प्रत्येक तत्व का एक क्रमांक, या परमाणुसंख्या है तथा यह परमाणुसंख्या पूर्णांक है। मेंडेलीफ की आवर्तसारणी में तत्वों का वर्गीकरण परमाणुभारों की अपेक्षा से किया गया था। मोज़लि के बाद परमाणुसंख्या को महत्व मिला और इस संख्या के हिसाब से तत्वों का आवर्त वर्गीकरण किया गया। यह नियम बड़ा महत्व पूर्ण था कि तत्वों के गुणधर्म उनकी परमाणुसंख्या के आवर्ती फलन हैं।

द्रव्य की अविनाशिता के नियम ने रासायनिक समीकरणों की पद्धति को जन्म दिया। बर्ज़ीलियस (१७७९–१८४८ ई०) ने तत्वों की संकेतपद्धति को जन्म दिया। रसायनज्ञों ने समीकरणों द्वारा एक नई भाषा निर्धारित की। रसायन के समीकरण रसायन-विज्ञान की भाषा हैं। अणुओं के सूत्र और इन सूत्रों के आधार पर बने हुए समीकरणों द्वारा रसायनज्ञ दुरूह रासायनिक परिवर्तनों को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। जितना महत्व द्रव्य की अविनाशिता के इस नियम का था, उतना ही महत्व अभी ऊपर बताए गए आवर्ती नियम का भी हुआ। तत्वों और उनसे बने हुए यौगिकों के गुणधर्म आकस्मिक नहीं हैं। ये परमाणुसंख्या पर निर्भर हैं।

यह परमाणुसंख्या केवल निराधार अंक नहीं है। यह परमाणु की रचना की द्योतक है। डाल्टन का परमाणु अविभाज्य था, पर १९वीं शती के अंत में पता चला कि यह अविभाज्य नहीं है। परमाणु स्वयं मिली जुली एक सत्ता है। परमाणु के केंद्र में एक नाभिक है, जिसमें परमाणु का लगभग समस्त भार निहित है और जिसपर धनात्मक आवेश रहता है। इस नाभिक के चारों ओर इलेक्ट्रॉन चक्कर लगाते हैं। यह चक्कर वृत्ताकार परिधियों पर लगता है। ऐसी कल्पना नील्स बोर (Bohr) ने १९१३ ई० में दी। आर्नल्ड सोमरफेल्ड (Sommerfeld, १८६८–१९५१ ई०) ने कहा कि इन परिधियों में कुछ परिधियाँ दीर्घवृत्त या अंडाकार भी हो सकती हैं। श्रेडिंगर (Schrodinger, जन्म १८८७ ई०) ने बताया कि परमाणु और इलेक्ट्रॉन सभी तरंगमय हैं, और उसने इनकी स्थितियों को तरंग समीकरणों द्वारा व्यक्त किया। परमाणु के नाभिक पर कितना धन आवेश है और अमुक तत्व के परमाणु में कितने इलेक्ट्रॉन हैं, यह बात तत्व की परमाणुसंख्या से व्यक्त होती है।

बीसवीं शती में परमाणु के विभाजन पर कार्य हुआ, अर्थात् परमाणु के नाभिक का विखंडन किया गया। अनेक प्रकार के सूक्ष्म खंड मिले, जिनका अध्ययन इस युग मे रसायन और भौतिकी का स्वतंत्र उपांग बन गया। इस विखंडन में द्रव्य का कभी कभी लोप, या तिरोभाव देखा गया। आइंस्टाइन ने अपना प्रसिद्ध समीकरण बीसवीं शती के प्रथम दशक (१९०५ ई०) में ही दिया था : ऊर्जा (ऊ) = द्रव्य भार × (प्रकाश का वेग)^{२}, अथवा ऊ = मप्र^{२}, (म = द्रव्य भार, प्र = प्रकाश का वेग)। अतः पता चल गया कि द्रव्य का विलोप होने पर कितनी ऊर्जा प्राप्त हो सकती है। आज का युग इस नाभिक ऊर्जा के उपयोग का युग है। इसका ध्वंसकारी रूप परमाणु बम विस्फोट मे हुआ।

परमाणु नाभिकों के विखंडन से हमे निम्नलिखित खंड मिले :

इलेक्ट्रॉन — इस पर ४.८×१०^{-१०} स्थि० वै० मा० (e. s. u.) अर्थात् एक इकाई ऋण आवेश है। इसका भार ९.१×१०^{-२८} ग्राम (हाइड्रोजन परमाणु का १/१८३७) है।

पॉज़िट्रॉन — ऐंडरसन (Anderson) ने १९३२ ई० में इसकी खोज की। इसपर एक इकाई धनात्मक आवेश है। शेष बातों मे यह इलेक्ट्रॉन के समान है। हमारे विश्व में ये पाजिट्रॉन (e^{+}, या $इ^{+}$) क्षणभंगुर हैं। इलेक्ट्रॉनों (e^{-} या $इ^{-}$) से अभिक्रिया कर दोनो विलुप्त हो जाते हैं, और इनसे विद्युच्चुंबकीय विकिरण मिलते हैं।

$इ^{+} + इ^{-}$ ($e^{+} + e^{-}$) ⟶ विद्युच्चुंबकीय विकिरण

प्रोटोन — इसपर एक इकाई, अर्थात् $+ ४.८ \times १०^{-१०}$ स्थि० वै० मा० (e. s. u.) धन आवेश रहता है। इसका भार १.६७×१०^{-२४} ग्राम (या १.००८१३ परमाणुभार इकाई) है। यह हाइड्रोजन परमाणु का नाभिक है।

न्यूट्रॉन — १९३२ ई० मे चैडविक (Chadwick) ने इसकी खोज की। इसपर शून्य आवेश है। इसका १.००८९३ परमाणुभार इकाई है। बेरिलियम और ऐल्फा कणों के संघात से यह उत्पन्न होता है। इसकी अंत भेदकता बहुत अधिक है।

न्यूट्रिनो — इसका भार भी लगभग शून्य है और आवेश भी शून्य है। इसकी कल्पना पाउलि (Pauli) ने प्रस्तुत की, जिसके आधार पर उसने बीटा कणों के अवह्रास के कोणीय आवेग समन्वय की व्याख्या की।

मेसॉन — १९३५ ई० मे यूकावा (Yukawa) ने इनकी कल्पना प्रस्तुत की। मेसॉनों का भार इलेक्ट्रॉनों और प्रोटॉनों के बीच का है। कॉस्मिक (cosmic) या अंतरिक्ष किरणों में इनकी विद्यमानता पाई गई। मेसॉन कई प्रकार के हैं, जैसे पाई मेसॉन ($\pi^{+}, \pi^{-}, \pi^{\circ}$) और म्यू मेसॉन (μ^{+}, μ^{-})। धनात्मक पाई मेसॉन (π^{+}) धन नाभिक से उतनी शीघ्र क्रिया नहीं करेगा जितना कि ऋणात्मक पाई मेसॉन (π^{-})। पाई मेसॉन इलेक्ट्रॉन से २८५ गुना भारी होते हैं और म्यू मेसॉन २१६ गुना।

नाभिक रसायन का युग — इन परमाणु विखंडों द्वारा ऐसे अनेक नए तत्वों का संश्लेषण भी हुआ है, जो प्रकृति में पाए नहीं जाते, पर

जिनके अस्तित्व की संभावना हो सकती थी। संश्लेषित तत्व निम्न हैं (कोष्ठक में इनके परमाणुभार दिए हैं):

टैक्नीशियम	(४३)	बर्केलियम	(६७)
प्रोमीथियम	(८५)	कैलिफोर्नियम	(६८)
फ्रांसियम	(८७)	आइंस्टाइनियम	(६६)
नेप्चूनियम	(६३)	फर्मियम	(१००)
ऐमेरिकियम	(६४)	मेंडेलीवियम	(१०१)
क्यूरियम	(६६)	नोबेलियम	(१०२)

मेंडेलीफ के समय में उसकी आवर्त सारणी में कुछ स्थान रिक्त थे। अब न केवल वे सब भर गए हैं, बल्कि यूरेनियम के बाद भी १० कृत्रिम तत्वों का इस सारणी में और समावेश किया गया है।

ऐस्टन (Aston) ने १६१६ ई० में समस्थानिकों (isotopes) को पृथक् कर प्राउट (Prout) की उस कल्पना का समर्थन किया, जिसमें उन्होंने कहा था कि प्रत्येक तत्व हाइड्रोजन तत्व के संघनन से बना है और इसलिये उसका परमाणुभार पूर्णसंख्या होनी चाहिए। ऐस्टन के इन प्रयोगों के फलस्वरूप न केवल समस्थानिकों को पृथक् करने का ही प्रयास किया गया, बल्कि उनके गुणधर्मों का अध्ययन भी किया गया। यूरि (Urey) के प्रयोगों के फलस्वरूप साधारण हाइड्रोजन से बने हुए पानी के भीतर ही भारी हाइड्रोजन के भी अस्तित्व का पता चला (१६२६ ई०)। हाइड्रोजन के तीन समस्थानिक, जिनको क्रमशः हाइड्रोजन, ड्यूटीरियम, और ट्राइटियम (T) कहते हैं, क्रमश. १, २, और ३ परमाणुभार के हैं, पर उन सब की परमाणुसंख्या १ ही है (अर्थात् नाभिक पर एक इकाई धनात्मक आवेश है, $_1H^1$, $_1D^2$, $_1T^3$।) भारी हाइड्रोजन और भारी पानी का महत्व इस परमाणु युग में बहुत बढ़ गया है, क्योंकि इनकी सहायता से न्यूट्रॉनों की गति में सामंजस्य लाया जा सकता है। न्यूट्रॉनों की सहायता से अनेक नए समस्थानिकों का सृजन भी कृत्रिम विधियों से किया गया है। कृत्रिम रेडियोऐक्टिव तत्व भी तैयार किए गए हैं, जैसे रेडियोऐक्टिव फॉस्फोरस, रेडियोऐक्टिव आयोडीन, कार्बन^{14} आदि, जिनका उपयोग चिकित्साकार्य मे एवं रासायनिक अभिक्रियाओं के अध्ययन में बढ़ रहा है। कार्बन^{14} की सहायता से भूवैज्ञानिक युगों की तिथियों का निर्धारण करने में सहायता मिलती है।

साधारण यूरेनियम-२३८ मे थोडी सी मात्रा यूरेनियम-२३५ की भी मिलती है, जो यूरेनियम का ही एक समस्थानिक है। इस समस्थानिक का उपयोग परमाणु बम में किया गया। न्यूट्रॉनों के संघात से यह समस्थानिक बेरियम-१३६ और क्रिप्टॉन-६४ में विखंडित हुआ, कुछ न्यूटॉन नाभिक में से बाहर निकले और कुछ द्रव्य का लोप हुआ, जिसकी ऊर्जा बनी।

एक एक विखंडन क्रिया में १८०—२०० मिली इलेक्ट्रॉन वोल्ट, अर्थात् (१·८—२·०)×१०^6 इलेक्ट्रॉन वोल्ट, ऊर्जा प्राप्त होती है। साधारण यूरेनियम मे से यूरेनियम-२३५ का पृथक् करना सरल कार्य न था, पर अतुल संपत्ति का व्यय करके द्वितीय महायुद्ध के समय यह श्रमसाध्य कार्य भी सफलतापूर्वक संपन्न किया गया।

नाभिकों के विखंडन का कार्य जितने महत्व का है, नाभिकों के संघनन का कार्य उससे कम नहीं है। हल्के तत्वों के परमाणु परस्पर संयुक्त होकर कुछ भारी तत्व भी दे सकते हैं। इन प्रक्रियाओं को संलयन प्रक्रिया, या संघनन प्रक्रिया कहते हैं। इन प्रक्रियाओं के लिये लाखों, करोड़ों डिगरी ताप की आवश्यकता होती है, पर एक बार प्रक्रिया का आरंभ होने पर प्रक्रिया में स्वतः उच्च ताप की ऊष्मा प्राप्त होने लगती है। इन्हीं प्रक्रियाओं के कारण सूर्य ऊष्मा का भंडार है। कार्बन द्वारा उत्प्रेरित होकर सूर्य मे हाइड्रोजन से हीलियम बनता रहता है।

जिन हाइड्रोजन बमों के आतंक की इस युग में इतनी चर्चा है, वह भी लगभग इसी प्रकार की नाभिक संघनन या नाभिक संलयन प्रक्रियाओं द्वारा बनते हैं, जिनमें भारी हाइड्रोजन, $_1$हा^{2}, ($_1H^2$) के नाभिक भाग लेते हैं। हाइड्रोजन बम परमाणु विखंडन से प्राप्त बमों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल और ध्वंसकारी हैं।

अकार्बनिक, या सामान्य रसायन — कार्बन को छोड़कर शेष सभी तत्वों और उनके यौगिकों की मीमांसा करना अकार्बनिक रसायन का क्षेत्र है। बोरॉन, सिलिकन, जर्मेनियम आदि तत्व भी लगभग उसी प्रकार के विविध यौगिक बनाते हैं, जैसे कार्बन। पर इस पार्थिव सृष्टि में उनका उतना महत्व नहीं है जितना कार्बन यौगिकों का, इसलिये कार्बनिक रसायन का अन्य तत्वों से पृथक् रासायनिक क्षेत्र मान लिया गया है। मनुष्य एवं वनस्पतियों का जीवन कार्बन यौगिकों के चक्र पर निर्भर है, अतः कार्बनिक यौगिकों को एक अलग उपांग में रखना कुछ अनुचित नहीं है। यह कार्बन ही है जो पृथ्वी पर पाए जानेवाले सामान्य ताप (०° से ४०°) पर अनेक स्थायी समावयवी यौगिक दे सकता है।

अकार्बनिक रसायन मे जिन तत्वों का उल्लेख है, उनमे से कुछ धातु हैं, और कुछ अधातु। अधातु तत्वो मे कुछ मुख्य ये हैं:

गैस— हाइड्रोजन, हीलियम, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, फ्लुओरीन निऑन, क्लोरीन, आर्गन, क्रिप्टॉन तथा ज़ीनॉन।

ठोस — बोरॉन, कार्बन, सिलिकन, फॉस्फोरस, गधक, जर्मेनियम, आर्सेनिक, मोलिब्डेनम, टेल्यूरियम तथा आयोडीन।

द्रव — ब्रोमीन

धातुओं में केवल पारद ऐसा है जो साधारण ताप पर द्रव है। प्राचीन ज्ञात धातुएँ सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा, बंग या राँगा, सीसा, जस्ता और पारा हैं। लगभग सभी सभ्य देशों का इन धातुओं से पुराना परिचय है। सोना और चाँदी स्वतंत्र रूप में प्रकृति में पाए जाते हैं। शेष धातुएँ प्रकृति में सल्फाइड, सल्फेट, या ऑक्साइड के रूप मे मिलती हैं। इनसे शुद्ध धातुएँ प्राप्त करना सरल था। धातुओं के उन यौगिकों को जिनमे से धातुएँ आसानी से अलग की जा सकती थीं, हम अयस्क कहेंगे। इन अयस्कों को बहुधा कोयले के साथ तपा लेने पर ही धातु शुद्ध रूप मे मुक्त हो जाती है (देखें **ताँबा, लोहा**)।

फैराडे और डेवी के समय से विद्युत्धारा का उपयोग बढ़ा, और जैसे जैसे डायनेमो की बिजली अधिक सस्ती प्राप्त होने लगी,

उसका उपयोग विद्युद्विश्लेषण में बढ़ने लगा। उसकी सहायता से लवणों में से (उनके विलयनों के विद्युद्विश्लेषण से अथवा ऊँचे ताप पर गलित लवणों के विद्युद्विश्लेषण से) अनेक धातुएँ पृथक् की जा सकीं। ताँबे का एक यौगिक तूतिया (कॉपर सल्फेट) है। पानी में बने इसके विलयन में से विद्युत् धारा द्वारा ताँबा पृथक् किया जा सकता है। विद्युत्धारा के प्रयोग से मैग्नीशियम, सोडियम, लिथियम, पोटैशियम, कैल्सियम, बेरियम आदि धातुएँ, उनके लवण को गलाकर, पृथक् की गईं।

अकार्बनिक रसायन के प्रारंभिक युग में धातुओं के जिन यौगिकों को बनाने का विशेष प्रयास किया जाता था, वे ये थे : ऑक्साइड, हाइड्रॉक्साइड, फ्लुओराइड, क्लोराइड, ब्रोमाइड, आयोडाइड, सल्फाइड, सल्फाइट, सल्फेट, थायोसल्फेट, ऐसीटेट, ऑक्सलेट, नाइट्राइड, नाइट्रेट, सायनाइड, कार्बाइड, कार्बोनेट, बाइकार्बोनेट, फॉस्फेट, आर्सिनेट, टंग्स्टेट, मालिब्डेट, यूरेनेट। इन यौगिकों का तैयार करना साधारणतया सरल है। ऑक्साइड या कार्बोनेटों पर उपयुक्त अम्लों की अभिक्रिया से ये बनाए जा सकते हैं। विलेय लवणों के विलयनों में ऋण आयन (ऐनायन) मिलाकर इनमें से कुछ के अवक्षेप लाए जा सकते हैं, यदि ये अवक्षेप्य लवण पानी में अविलेय हों।

अकार्बनिक रसायन की अनेक अभिक्रियाएँ चार वर्गों में विभाजित की जाती हैं : (१) शिथिलीकरण या उदासीनीकरण अभिक्रिया, (२) अवक्षेपण अभिक्रिया, (३) अपचयन या अवकरण अभिक्रिया और (४) उपचयन या ऑक्सीकरण अभिक्रिया। अंतिम दो का एक संयुक्त नाम अपचयोपचय या रिडॉक्स (redox) अभिक्रिया भी दिया गया है।

संकुल, या संकीर्ण लवण — कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि अवक्षेपक की अधिक मात्रा छोड़ने पर अवक्षेप घुल जाता है। यह विलेय वस्तुतः संकुल आयन बनने के कारण होता है। रजत नाइट्रेट के विलयन में पोटैशियम साइआनाइड का विलयन छोड़ने पर रजत साइआनाइड का अवक्षेप आता है, पर यह अवक्षेप पोटैशियम साइआनाइड और मिलाने पर घुल जाता है।

ताम्र सल्फेट के विलयन में अमोनिया छोड़ने पर पहले तो ताम्र हाइड्रॉक्साइड का अवक्षेप आवेगा, जो अमोनिया के आधिक्य में घुलकर चटक नीला विलयन देगा। इसमें [ता (ना हा$_३$) $_४$]$^{++}$ $[Cu(NH_3)_4]^{++}$ संकुल आयन बनता है।

कीलेट, या नखर यौगिक — बहुत से धात्विक आयन कार्बनिक अभिकर्मकों के साथ विचित्र यौगिक बनाते हैं, जिनमें संयोजकताएँ नखर, या चील के पंजों, के समान अणुओं को थामे रहती हैं। इन्हें कीलेट (Chelate) या नखर यौगिक कहते हैं।

अकार्बनिक पदार्थों के औद्योगिक उपयोग — कुछ अकार्बनिक यौगिक इतनी अधिक व्यापारिक मात्रा में तैयार किए जाते हैं कि इनका नाम 'हेवी केमिकल्स' पड़ गया है। सलफ्यूरिक अम्ल, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, नाइट्रिक अम्ल, कॉस्टिक सोडा, सोडियम कार्बोनेट, अमोनियम लवण आदि की गिनती इस वर्ग में है। प्रत्येक वर्ष एक करोड़ टन गंधक सलफ्यूरिक अम्ल के रूप में, ३० लाख टन नाइट्रोजन अमोनिया और नाइट्रिक अम्ल के रूप में, और २० लाख टन क्लोरीन हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, ब्लीचिंग पाउडर (विरंजन चूर्ण) और क्लोरीन के रूप में व्यवसाय में खर्च होता है।

हवा के नाइट्रोजन का उपयोग नाइट्रोजन यौगिकों के बनाने में होता है। नाइट्रोजन को ऑक्सीजन के साथ संयुक्त कराके नाइट्रिक ऑक्साइड बनाते हैं, पर अमोनिया के आक्सीकरण द्वारा नाइट्रिक ऑक्साइड बनाना अच्छी विधि है। ऑस्टवाल्ड (Ostwald) ने यह बताया कि प्लैटिनम जाली के पृष्ठ पर, ८००° पर अमोनिया का ऑक्सीकरण होता है। इस नाइट्रिक ऑक्साइड से नाइट्रोजन परॉक्साइड और नाइट्रिक अम्ल एवं नाइट्रेट तैयार कर लेते हैं। यह सफल व्यावसायिक विधि है।

हाबर (Haber) ने हवा के नाइट्रोजन से अमोनिया तैयार करने की व्यापारिक विधि १९१३ ई० में प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के समय निकाली। २५० वायुमंडल दाब पर और ५००°–५५०° ताप पर लोह धातु से उत्प्रेरित होकर, लगभग १०% अभिक्रिया नाइट्रोजन और हाइड्रोजन के संयोग की होती है। अब तो लगभग सभी देशों में अमोनिया और अमोनिया लवण इस विधि से तैयार किए जाते हैं, जिनका विशेष उपयोग खाद के रूप में होता है। नाइट्रोजन का व्यावसायिक उपयोग विस्फोटकों में भी होता है।

सलफ्यूरिक अम्ल का व्यवसाय संसार के प्रमुखतम व्यवसायों में माना जाता है (देखें **सलफ्यूरिक अम्ल**)।

सलफ्यूरिक आदि अम्लों के समान ही क्षारों के निर्माण की भी उपयोगिता है (देखें **चूना और क्षार निर्माण**)।

अकार्बनिक व्यवसायों में **विरंजक चूर्ण** का व्यवसाय भी बड़े महत्व का है (देखें **विरंजक चूर्ण**)।

सिलिकेटों का उपयोग अब बढ़ता जा रहा है। काच का व्यवसाय तो प्रसिद्ध ही है (देखें **काच**)। सिलिकन और कार्बनिक यौगिकों से बने कुछ यौगिकों का नाम सिलिकोन है। ये मोम से मिलकर बहुत अच्छा स्नेहक (lubricant) और पॉलिश बनाते हैं। ये सूत के धागों को अच्छी चमक देते हैं। इनसे बने रेजिन विद्युत् अवरोधक होते है। सिलिकोन से रबर के समान लचीले पदार्थ भी बनते हैं। अभ्रक नामक प्राकृतिक सिलिकेट अपने विविध गुणों के लिये प्रसिद्ध है।

कार्बनिक रसायन

संयोजकताएँ (जिनके द्वारा अणु में परमाणु एक दूसरे के साथ संबद्ध होते हैं) दो प्रकार की होती हैं : वैद्युत् संयोजकता (electrovalency) और सहसंयोजकता (covalency)। अकार्बनिक लवणों में अणु में परमाणु, या मूलक, बहुधा विद्युत् संयोजकता द्वारा संबद्ध रहते हैं और ये अणु न केवल विलयनों में ही आयनों में विभक्त हो जाते है, बल्कि ठोस क्रिस्टलों में भी इनके आयन विशेष स्थिति में विद्यमान् रहते हैं।

कार्बन परमाणु की बाह्यतम परिधि पर चार इलेक्ट्रॉन (.) हैं। यह अपने चारों ओर चार और इलेक्ट्रॉन लेकर अपना अष्टक पूरा कर सकता है। एक कार्बन परमाणु इस प्रकार चार हाइड्रोजनों से भी संयुक्त हो सकता है, या क्लोरीन के चार परमाणुओं से। यह संयोजन विद्युत् संयोजन से भिन्न है। न तो कार्बन टेट्राक्लोराइड

विलयनों में विभाजित होकर क्लोराइड आयन देता है और न मेथेन विभाजित होकर हाइड्रोजन आयन। दो दो इलेक्ट्रॉनों के भागीदार बनने पर एक एक बंध बनता है। अतः कार्बन की सहसंयोजकता ४ है। कई कार्बन परमाणु भी सहसंयोजकताओं द्वारा आपस में उत्तरोत्तर क्रम से संयुक्त हो सकते हैं। इसी प्रकार साइक्लोपेंटेन, का$_5$हा$_{10}$ (C_5H_{10}), में, ५ कार्बनों का बंद वलय, और साइक्लोहेक्सेन, का$_6$हा$_{12}$ (C_6H_{12}), में ६ कार्बनों का बंद वलय है।

कभी कभी अणुओं में असंतृप्त संयोजकताएँ होती हैं। यदि दो कार्बन परमाणुओं के बीच में ४ इलेक्ट्रॉनों की भागीदारी हो, तो कहा जायगा कि इनके बीच में एक द्विबंध है, और ६ इलेक्ट्रॉनों की भागीदारी हो तो कहेंगे कि इनके बीच मे त्रिबंध है।

एकबंध (:) द्विबंध (::) की अपेक्षा और द्विबंध त्रिबंध (:::) की अपेक्षा अधिक प्रबल है। जिन यौगिकों में द्विबंध हैं, वे अधिक अस्थायी और अधिक असंतृप्त हैं।

बेन्ज़ीन, का$_6$हा$_6$ (C_6H_6), बंद वलय का एक यौगिक है। इसमें तीन द्विबंध भी माने जा सकते हैं, पर यह विशेष रूप से स्थायी है। इसके प्रत्येक दो कार्बनों के बीच का एक बंध अनुनादी माना जाता है, जिसके कारण बेन्ज़ीन वलय को विशेष स्थायित्व प्राप्त होता है (देखें **बेन्ज़ीन**)।

इस प्रकार के अनुनादी गुणों के कारण ऐरोमैटिक नाभिक (जैसा बेन्ज़ीन में है) ऐलिफैटिक की अपेक्षा भिन्न समझे जाते हैं। कार्बनिक यौगिकों की विशेषता उनकी विस्तृत समावयता के कारण है। एक ही अणु के विभिन्न गुणवाले अनेक यौगिक होते है। साइक्लोप्रोपेन और प्रोपिलीन दोनों का एक ही अणु सूत्र का$_3$हा$_6$ (C_3H_6) है।

दिग्विन्यास समावयता के कारण भी कार्बनिक यौगिको मे बहुत भिन्नता पाई जाती है। मलेइक अम्ल (सिस रूप) और फ्यूमैरिक अम्ल (ट्रान्स रूप) में इसी कारण अंतर है। दोनो अम्लों के भौतिक और रासायनिक गुणों में अंतर है (देखें **फ्यूमैरिक और मलेइक अम्ल**)।

लैक्टिक अम्ल, काहा$_3$.काहाऔहा.काऔऔहा (CH_3. CH. OH. COOH) में एक असममित कार्बन परमाणु है। जिस कार्बन की चार संयोजकताओं से भिन्न भिन्न मूलक संयुक्त हों, वह असममित कार्बन कहलाता है। जिन अणुओं में इस प्रकार के असममित कार्बन होंगे, वे विलयनों और क्रिस्टलों में प्रकाश-घूर्णन प्रदर्शित करते हैं। इनके अणु दक्षिण-भ्रामी (द—) और वामी भ्रामी (वा—) और निष्क्रिय तीनों रूपों मे पाए जा सकते हैं। ८ ऐल्डोपेंटोस और १६ ऐल्डो-हेक्सोस की कल्पना ही प्रस्तुत नहीं की, उन्हें पृथक् करके उनका रचना विन्यास भी स्पष्ट कर दिया। ८ पेंटोस ये हैं : लिक्सोस, ज़ाइलोस, ऐरेबिनोस और रिबोस और इन चारों के दक्षिणभ्रामी और वामभ्रामी दो दो रूप।

ऐल्डोहेक्सोस में ४ असममित कार्बन हैं। अतः ये १६ प्रकार के होंगे। आठ दक्षिणभ्रामी और आठ वामभ्रामी (देखें **कार्बोहाइड्रेट**)।

अणुओं की रचना तीनों विमाओं में प्रसारित है, न केवल दो विमाओं के धरातल में। इन संरचनाओं में अनेक प्रकार की समावयवताएँ संभव हैं और कार्बनिक रसायन के अध्ययन में इन सबका महत्व है।

कार्बन और हाइड्रोजन के यौगिकों को हाइड्रोकार्बन कहते हैं। मेथेन (CH_4) सबसे छोटे अणुसूत्र का हाइड्रोकार्बन है। ईथेन (C_2H_6), प्रोपेन (C_3H_8) आदि इसके बाद के हैं, जिनमें क्रमशः एक एक कार्बन जुड़ता जाता है। हाइड्रोकार्बन तीन श्रेणियों के हैं : ईथेन श्रेणी, एथिलीन श्रेणी और ऐसीटिलीन श्रेणी। ईथेन श्रेणी के हाइड्रोकार्बन संतृप्त हैं, अर्थात् इनमें हाइड्रोजन की मात्रा और बढ़ाई नहीं जा सकती। एथिलीन में दो कार्बनों के बीच मे एक द्विबंध (=) है, ऐसीटिलीन में त्रिगुण बंध (≡) वाले यौगिक अस्थायी हैं। ये आसानी से ऑक्सीकृत एवं हैलोजनीकृत हो सकते हैं। हाइड्रोकार्बनों के बहुत से व्युत्पन्न तैयार किए जा सकते हैं, जिनके विविध उपयोग है। ऐसे व्युत्पन्न क्लोराइड, ब्रोमाइड, आयोडाइड, ऐल्कोहॉल, सोडियम ऐल्कॉक्साइड, ऐमिन, मरकैप्टन, नाइट्रेट, नाइट्राइट, हाइड्रोजन फॉस्फेट तथा हाइड्रोजन सल्फेट हैं। असंतृप्त हाइड्रोकार्बन अधिक सक्रिय होता है और अनेक अभिकारकों से संयुक्त हो सरलता से व्युत्पन्न बनाता है। ऐसे अनेक व्युत्पन्न औद्योगिक दृष्टि से बड़े महत्व के सिद्ध हुए हैं। इनसे अनेक बहुमूल्य विलायक, प्लास्टिक, कृमिनाशक ओषधियाँ आदि प्राप्त हुई हैं। हाइड्रोकार्बनों के ऑक्सीकरण से ऐल्कोहॉल ईथर, कीटोन, ऐल्डीहाइड, वसा अम्ल, एस्टर आदि प्राप्त होते हैं। ऐल्कोहॉल प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक हो सकते हैं। इनके एस्टर द्रव सुगंधित होते हैं। अनेक सुगंधित द्रव्य इनसे तैयार हो सकते है।

काष्ठ का भंजक आसवन—लकड़ी या काष्ठ में दो पदार्थ मुख्यतया होते हैं, सेलुलोस और लिगनिन। सेलुलोस का साधारण सूत्र (का$_6$ हा$_{10}$औ$_5$)$_च$ [$(C_6H_{10}O_5)_n$] है। च (n) का मान इस सूत्र मे ३,००० तक हो सकता है। इस प्रकार सेलुलोस के अणु बड़े लंबे आकार के होते हैं और सेलुलोस के धागे बन सकते हैं। लिगनिन प्लास्टिक बंधक का काम करता है। इसकी रचना अज्ञात है। इसमें बेन्ज़ीन वलय, मेथॉक्सि मूलक,—औकाहा$_3$ ($-OCH_3$), पार्श्व शृंखलाएँ हैं। लकडी को ३८०° तक गरम करें तो इसमें से काफ़ी मात्रा में एक द्रव निकलता है, जिसमें ऐसीटिक अम्ल, मेथिल ऐल्कोहॉल, ऐसीटोन आदि पदार्थ होते है। ये पदार्थ सेलुलोस और लिगनिन के विभाजन से बनते हैं (देखें **काठ कोयला**)। काष्ठ के भंजक आसवन से निम्न यौगिक पृथक् किए जा सकते हैं : फॉर्मिक अम्ल, कई वसा अम्ल, असंतृप्त अम्ल, ऐसेटैल्डिहाइड, मेथिल ऐल्कोहॉल, मेथिल एथिल कीटोन, फरफ्यूरॉल, मेथिलाल, डाइमेथिल ऐसीटॉल, बेन्ज़ीन, जाइलीन, क्यूमीन, सायमीन, फीनोल आदि। ऐसीटिक अम्ल, मेथिल एल्कोहॉल और ऐसीटोन, ये तीन पदार्थ पाइरोलिग्निअस अम्ल से विशेष रूप से प्राप्त किए जाते है।

पाइरोलिग्निअस अम्ल से प्राप्त मेथिल ऐल्कोहॉल के आक्सीकरण से फॉर्मैल्डिहाइड बनता है, जिसका आविष्कारक हॉफमन था (१८६७ ई०)। फार्मैल्डिहाइड व्यापारिक मात्रा में तैयार करने की विधि पर्किन ने निकाली और इस पदार्थ की उपयोगिता का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

ऐल्कोहलीय किण्वन—सुरा, आसव, मद्य, मैरेय आदि मादक पदार्थों को किण्वन विधि से तैयार करने की प्रथा बहुत पुरानी है और अच्छी सुराओं के लिये विशेष बीज-किण्व तैयार किए जाते थे, जिनकी उपस्थिति में यव, महुआ, गुड़, अंगूर के रस आदि से शराबें तैयार होती थीं। इन किण्वों के जो शराब बनाने वाले प्रेरकाणु होते हैं, उन्हें साधारण भाषा में यीस्ट कहा जाता है (देखें किण्वन और यीस्ट)।

कोयला, अलकतरा और इससे प्राप्त पदार्थ — देखें कोयला, अलकतरा, बेन्ज़ीन, नैफ्थैलीन।

ऐरोमैटिक हाइड्रोकार्बनों के व्युत्पन्न — बेन्ज़ीन के क्लोरिनेशन से क्लोरो व्युत्पंन, ब्रोमीनेशन से ब्रोमो व्युत्पंन, नाइट्रेशन से मोनोनाइट्रेट, डाइनाइट्रेट और ट्राइनाइट्रो व्युत्पन्न तथा सल्फोनीकरण से सल्फोनिक अम्ल व्युत्पंन प्राप्त होते हैं। फिर इनसे ऐनिलीन, फिनोल, ऐल्डिहाइड, कार्बोक्सिलिक अम्ल, सैलिसिलिक अम्ल, सैलोल, ऐस्पिरिन इत्यादि अनेक बड़े उपयोगी पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं।

एक और प्रसिद्ध यौगिक सोडियम ऐमिनोसैलिसिलेट (PAS) है, जिसका उपयोग स्ट्रेप्टोमाइसीन के साथ राजयक्ष्मा के उपचार में करते हैं।

बेन्ज़ीन वलय में एक से अधिक हाइड्रॉक्सिमूलक भी संस्थापित किए जा सकते हैं और इस प्रकार डाइहाइड्रिक, ट्राइहाइड्रिक फीनोलें तैयार की जा सकती हैं।

कैटिकोल कत्थे में होता है। आलू, सेब और बहुत सी तरकारियाँ चाकू से काटने पर काली पड़ जाती हैं। इन सब में कुछ कैटिकोल की मात्रा होती है, जो हवा के संपर्क मे आक्सीकृत और बहुलीकृत होकर श्याम वर्ण के यौगिक देता है।

ऐल्केलॉइड (Alkaloid) — पौधों में से प्राप्त क्षारीय प्रवृत्ति के यौगिकों को पहले तो ऐल्केलॉइड कहा जाता था। अब उन सब पदार्थों को हम ऐल्केलॉइड कहेंगे जिनकी प्रवृत्ति क्षारीय हो, जो वनस्पतिजगत् से उपलब्ध किए गए हों और जिनमें कम से कम एक नाइट्रोजन वाला विषमचक्रीय वलय हो। क्विनीन, मॉर्फीन, सिंकोनीन आदि ओषधियाँ ऐल्केलॉइड के उदाहरण हैं (देखें **ऐल्कालॉयड**)।

प्रोटीन, पोलिपेप्टाइड और ऐमिनो अम्ल — वानस्पतिक और जांतव जगत् से प्राप्त ये उपयोगी पदार्थ हैं और भोजन के परम आवश्यक अंग हैं। प्रोटीनों के जल अपघटन से ऐमिनो अम्ल मिलते हैं। कई ऐमिनो अम्ल मिलकर पोलिपेप्टाइड (बहु पेप्टाइड) बनाते हैं (देखें **प्रोटीन**)।

डाइऐज़ो यौगिक और ऐज़ो रंजक — १८५८ ई० में पीटर ग्रीस (Peter Griess) ने यह देखा कि ऐरोमैटिक ऐमिनो नाइट्रस अम्ल का प्रभाव उससे भिन्न है जो ऐलिफैटिक ऐमिनो पर साधारणतया देखा जाता है। उसने देखा कि ऐनिलीन नाइट्रस अम्ल (अथवा सोडियम नाइट्राइट और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल) से क्रिया करके एक नवीन यौगिक देता है, जिसका नाम बेन्ज़ीन डाइऐज़ोनियम क्लोराइड है [देखें **डायज़ोयौगिक तथा ऐज़ोयौगिक रंजक** (कृत्रिम)]।

संश्लेषित ओषधियाँ — कार्बनिक रसायन के क्षेत्र मे संश्लेषित यौगिकों का बड़ा सफल प्रयोग ओषधियों के रूप में हुआ। कुछ और वनस्पतियों से प्राप्त ओषधियाँ वस्तुतः कार्बनिक ही हैं। इन ओषधियों के सक्रिय अवयवों की रसायनज्ञों ने परीक्षा की। इनकी रासायनिक संरचना जानने के अनंतर उन्होंने इनका संश्लेषण किया और फिर इनके व्युत्पन्नों की ओषधि की दृष्टि से परीक्षा की। हम केवल कुछ ऐतिहासिक संश्लेषणों का यहाँ उल्लेख करेंगे।

(क) पूतिनाशक — १८६७ ई० में लिस्टर (Lister) ने फीनोल में पूतिनाशक, या रोगाणुनाशक, गुण देखे। शौचालयों में 'फिनायल' का, जिसमें कोलतार से प्राप्त अवयवों का मिश्रण है, जैसे क्रिसोल, क्रैसिलिक अम्ल, क्रिओसोट, क्लोरोज़ाइलीनोल इत्यादि, आज तक उपयोग किया जाता है। डेटोल (Dettol) में, जिसका इतना प्रचार है, क्लोरोजाइलीनोल, टर्पिनिओल, एल्कोहॉल, और थोड़ा अंडी के तेल का साबुन है। डी सी एम एक्स (DCMX) नाम से डाइक्लोरो-ज़ाइलीनोल का उपयोग १९५२ ई० से बहुत होने लगा है। कुछ रंगों का उपयोग भी चिकित्सा में पूतिनाशकों के रूप में होता है, जैसे जेनशियम वॉयलेट (क्रिस्टल वायलेट), ब्रिलिएंट ग्रीन, मेलेकाइट ग्रीन आदि, जो ट्राइफीनिल मेथेन वर्ग के रंग हैं।

काष्ठ, सेलुलोस आदि से बने पदार्थों को यदि कीटाणुओं और फफूँदियों से बचाना हो, तो सैलिसिल ऐनिलाइड [व्यापारिक नाम शिरलान (Shirlan)] का उपयोग करें, अथवा धातु साबुनों का उपयोग करें, जैसे जिंक नैफ्थीनेट और पारद के यौगिक, पेंटाक्लोरोफ़ीनोल, डाइक्लोरोफीन [डी डी डी एम (D D D M) या डी डी एम (D D M): डाइहाइड्रॉक्सि डाइक्लोरो-डाइफेनिल मीथेन) आदि

क्लो ⬡ —का हा₂— ⬡ ओहा, ओहा, क्लो

Cl, OH ⬡ $-CH_2-$ ⬡ OH, Cl
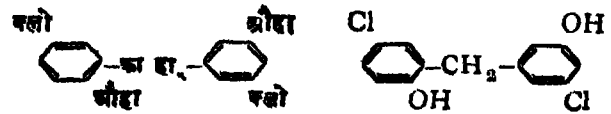
डाइक्लोरोफीन (डी डी डी एम)

(ख) सामान्य और स्थानिक निश्चेतक, या मूर्च्छोत्पादी — ईथर नामक द्रव का निश्चेतक के रूप में पहली बार प्रयोग हुआ और इसने प्रसव और शल्यकर्म दोनों में बड़ी सहायता दी। ईथर का क्वथनांक कम, अर्थात् ३५° सें० है। यह इसका अवगुण है। १९५३ ई० में ट्राइफ्लोरो एथिल विनिल ईथर, काफ्लो₃. काहा₂. ओकाहा = काहा₂ (CF_3. CH_2. $OCH = CH_2$), को ईथर से कहीं अधिक श्रेष्ठ पाया गया। क्लोरोफ़ॉर्म, काहाक्लो₃ ($CHCl_3$), एथिलक्लोराइड (CH_3CH_2Cl) और साइक्लोप्रोपेन, (काहा₂)₃ [$(CH_2)_3$], तो प्रसिद्ध है ही।

सामान्य निश्चेतना या मूर्च्छा पैदा करने की अपेक्षा स्थानिक निश्चेतना साधारण शल्यकर्म में बड़ी उपयोगी है। १८८४ ई० में कोलर (Koller) और फ्रॉयड (Freud) ने कोकेन का इस दृष्टि से प्रयोग किया। यह देखा गया कि पैराऐमिनो बेन्ज़ोइक अम्ल के व्युत्पन्न अच्छे स्थानिक निश्चेतक हैं। बेन्ज़ोकेन, प्रोकेन (नोवोकेन), एमीथोकेन आदि इसी वर्ग के यौगिक हैं।

हा₂ ना ⬡ काओओका₂. हा₄ना (का₂हा₅)₂

H_2N ⬡ $COOC_2 . H_4N (C_2H_5)_2$

प्रोकेन या नोवोकेन
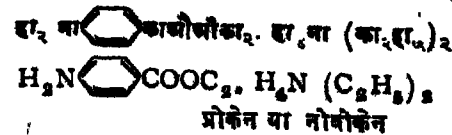
(ग) निद्राकारी—रोगी को अधिक कष्ट के समय निद्राकारियों

का सेवन कराया जाता है, जिससे रोगी सो जाय। क्लोरलहाइड्रेट, [$CCl_3 . CH(OH)_2$], का उपयोग इस कार्य में सबसे पुराना है। क्लोरोब्यूटोल [$(CH_3)_2C(CCl_3)OH.$] के गुण भी क्लोरल हाइड्रेट के समान ही हैं। सबसे प्रसिद्ध निद्राकारी बार्बिट्यूरिक अम्ल के व्युत्पंन हैं (यह अम्ल यूरिया और मैलोनिक अम्ल के संघनन से बनाया जाता है)।

नाहा₂ + काऔ औहा → नाहा — काऔ
काऔ + काहा₂ → काऔ काहा₂
नाहा₂ + काऔ औहा → नाहा — काऔ

NH_2 + COOH → NH — CO
CO + CH_2 → CO CH_2
NH_2 + COOH → NH — CO

यूरिया मैलोनिक अम्ल बार्बिट्यूरिक अम्ल
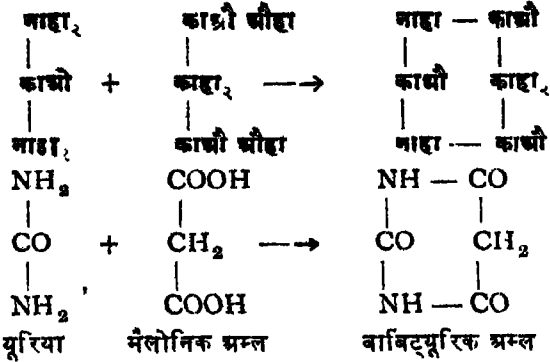
इसका द्वि ऐथिल व्युत्पंन बार्बिटोन नाम से विख्यात है और एथिल फेनिल व्युत्पन्न फीनोबार्बिटोन (ल्यूमिनाल) नाम से। कोडीन, मॉर्फीन आदि ऐल्कैलायड भी निद्राकारी हैं, जो अफीम से निकाले जाते हैं। मॉर्फीन से पीड़ा की अनुभूति कम हो जाती है और कोडीन शमनकारी है।

(घ) **तंत्रोरोजक** — स्नायुओं और मस्तिष्क की तन्त्रिकाओं को उत्तेजन देनेवाली चीजों में चाय, काफी आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें कैफीन, ग्वैन्थीन और इनसे मिलते जुलते प्यूरीन (Purine) वर्ग के यौगिक पाए जाते हैं। कोला के बीजों में कैफीन और थिओब्रोमीन होता है। एरगोट (Ergot) वर्ग के ऐल्कैलायडों में पेशियों को उत्तेजित करने का गुण है। ये ऐल्कैलॉइड लिसर्गिक अम्ल (lysergic acid) के व्युत्पन्न है। यह अम्ल अब संश्लेपित कर लिया गया है। मस्तिष्क के विकारों के उपचार मे इससे सहायता मिलती है।

(ङ) **ज्वरनाशी और वेदनानाशी** — ज्वर से ग्रस्त रोगी के शरीर का ताप जिन ओषधियों से कम हो जाय (ज्वर का कारण चाहे दूर न हो), वे इस वर्ग में आती हैं। कुछ ओषधियाँ केवल वेदना दूर करती हैं। सैलिसिलिक अम्ल, ज्वरहारियों में, सबसे पुराना है। इसका एक ऐसीटिल व्युत्पन्न ऐस्पिरिन है, जो शिर पीड़ा की अनुभूति दूर करने में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। फिनैसीटिन में ज्वर के ताप को कम कर देने के अच्छे गुण हैं। फिनैसिटीन ऐसीटो ऐनिलाइड का व्युत्पन्न है।

(च) **सल्फोनैमाइड और सल्फोन** — १९३० ई० में यह देखा गया कि प्रोंटोसिल (prontosil) नामक लाल रंग में शाकाणु या बैक्टीरिया के मारने के गुण विद्यमान है। बाद को देखा गया कि एक सरल यौगिक सल्फऐनिलैमाइड में भी बैक्टीरिया मारने के गुण हैं। तब से इस वर्ग के सैकड़ों यौगिकों और व्युत्पन्नों की इस दृष्टि से परीक्षा की गई। ये सब यौगिक सल्फोनैमाइड वर्ग के कहे जाते हैं।

हा₂नो⟨ ⟩गऔ₂नाहा₂ हा₂ना⟨ ⟩–ग औ₂–नाहा–⟨ ⟩ ना

H_2N⟨ ⟩$SO_2 . NH_2$ H_2N⟨ ⟩–SO_2–N H–⟨ ⟩ N

सल्फऐनिलैमाइड सल्फा-पिरिडिन
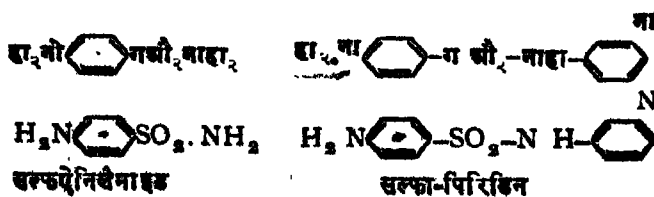
एफीड्रिन (ephedrine), का₆हा₅काहा(औहा)–काहा(नाहा काहा₃) [$C_6H_5 . CH(OH) . CH(NHCH_3) . CH_3$], और ऐड्रिनैलिन (adrenaline), (औहा)₂का₆हा₃–काहा (औहा)काहा₂.नाहा.काहा₃ [$(OH)_2 C_6H_3–CH(OH)CH_2 . NH. CH_3$], का उपयोग भी तंत्रोरोजना के सल्फा पिरिडिन, एम ऐंड बी ६९३ (M & B 693) नाम से विख्यात है। पिरिमिडिन व्युत्पन्न भी (जैसे सल्फडाइऐज़ीन) बड़े गुणकारी सिद्ध हुए हैं।

(छ) **मलेरियानाशी** — कुछ ओषधियाँ मलेरिया ज्वर दूर करने मे बड़ी गुणकारी सिद्ध हुई हैं। सिनकोना की छाल से प्राप्त क्विनीन का नाम तो विख्यात है ही, इसका प्रचार अब भी बहुत है। १९२० ई० से इस बात का प्रयत्न जर्मनी मे होता रहा कि मलेरिया ज्वर को दूर करने की और भी ओषधियाँ प्राप्त की जायँ। फलतः पेमाक्विन नामक यौगिक इस बात मे सफल पाया गया (१९२४ ई०)। यह प्रथम संश्लेषित मलेरियानाशी था। १९३० ई० मे एट्रीबिन (मेपाक्रिन और क्विनाक्रिन) भी अच्छे पाए गए। पेमाक्विन क्विनोलिन वर्ग का यौगिक है और मेपाक्रिन पीला एक्रिडिन रंग है।

गत महायुद्ध में जिन मलेरियानाशियों पर अमरीका में विशेष अनुसंधान हुए, उनमें प्रिमाक्विन और क्लोरोक्विन विशेष महत्व के पाए गए। पैलूड्रिन (Paludrine) प्रोग्वानिल हाइड्रोक्लोराइड का व्यापारी नाम है, यह भी मलेरिया रोग में काम आता है।

(ज) ऐंटिबायोटिक — १९२८ ई० में सर ऐलेग्जेंडर फ्लेमिंग (A. Fleming) ने देखा कि कुछ बैक्टीरिया विशेष फफूंदियों की विद्यमानता में मरने लगते हैं। इसी परंपरा मे पेनिसिलिन का आविष्कार हुआ। १९४६ ई० मे पेनिसिलिन के बेन्ज़िल व्युत्पंन (पेनिसिलिन-g) का संश्लेषण भी कर लिया गया। इसकी रासायनिक संरचना निम्न है :

ग — काहा — काहा — नाहा — काऔ — रा
(काहा₃)₂ का
काहा — ना — काऔ
का औ औ हा

S — CH — CH — NH — CO — R
$(CH_3)_2$ C
CH — N — CO
COOH
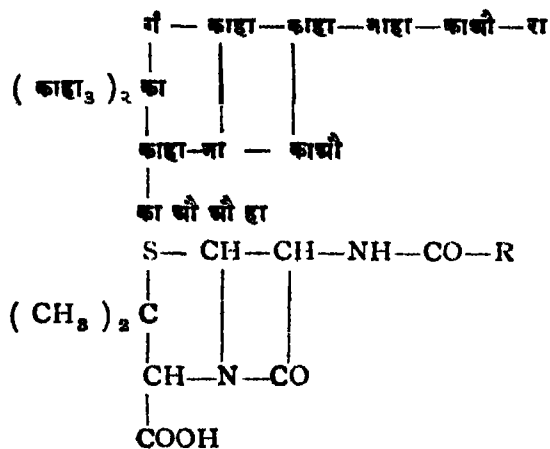
पेनिसिलिन की सामान्य संरचना पेनिसिलिन जी में, रा = का₆ हा₅ काहा₂ ($R = C_6H_5 CH_2$), बेन्जिल मूलक है। दूसरे मूलक भी प्रतिस्थापित किए जा सकते हैं। भूमि, या मिट्टी के भीतर पाए जानेवाले अनेक सूक्ष्म जीवाणुओं का परीक्षण किया गया। सबसे पहली बार १९३९ ई० में ड्यूबॉस (Dubos) को सफलता मिली और उसने बैसिलस ब्रेविस (Bacillus brevis)

नामक जीवाणु में से ग्रैमिसिडिन (Gramicidin) नामक पदार्थ प्राप्त किया जो पॉलिपेप्टाइडों का मिश्रण था। १९४४ ई० में स्ट्रेप्टोमाइसीज ग्रिसियस (Streptomyces griseus) नामक जीवाणु का पता चला, जो राजयक्ष्मा के प्रति भी क्रियाशील था। १९४७ ई० में वेनिज्वीला में एक जीवाणु का पता चला, जिससे क्लोरैंफेनिकोल (Chloramphenicol) नामक यौगिक प्राप्त किया गया। इस प्रकार ऐसे ऐंटिबायोटिक द्रव्य का पता चला जो अनेक रोगों में अकेले ही काम आ सकता था। इन सब अध्ययनों के फलस्वरूप क्लोरोमाइसेटिन का संश्लेषण किया गया। प्रोफेसर डुग्गर (Duggar) ने उस जीवाणु का पता चलाया जो एक सुनहरे रंग का पदार्थ भी देता था और जिसका नाम स्ट्रेप्टोमाइसीज ऑरिओफेसियन्स (Streptomyces aureofaciens) था। इस जीवाणु से जो पदार्थ मिला उसे ऑरिओमाइसीन (Aureomycin) नाम से प्रयोग में लाया गया। १९४९ ई० में नेओमाइसीन (Neomycin) की खोज वैक्समैन और लेकेवेलियर (Waksman and Lechevalier) ने की। टेरामाइसीन (Terramycin) का आविष्कार बाद में फिजर समुदाय की प्रयोगशालाओं में हुआ। इस प्रकार पेनिसिलिन युग का आरंभ हुआ।

भौतिक रसायन — द्रव्य की अविनाशिता के नियम के साथ ही साथ भौतिक रसायन की नींव पड़ी, यद्यपि १९वीं शती के अंत तक भौतिक रसायन को रसायन का पृथक् अंग नहीं माना गया। वांट हाफ, विल्हेल्म ऑस्टवाल्ड और आरिनियस के कार्यों ने भौतिक रसायन की रूपरेखा निर्धारित की। स्थिर अनुपात और गुणित अनुपात एवं परस्पर अनुपात के नियमों ने, और बाद को आवोगाड्रो नियम, गेलुसेक नियम आदि ने परमाणु और अणु की कल्पना को प्रश्रय दिया। परमाणुभार और अणुभार निकालने की विविध पद्धतियों का विकास किया गया। गैस संबंधी बॉयल और चार्ल्स के नियमों ने और ग्राहम के ग्रावसरण नियमों ने इसमें सहायता दी। विलयनों की प्रकृति समझने में परासरण दाब संबंधी विचारों ने एक नवीन युग को जन्म दिया। पानी में घुलकर शक्कर के अणु उसी प्रकार अलग अलग हो जाते हैं जैसे शून्य स्थान में गैस के अणु। राउल्ट (Raoult) का वाष्पदाब संबंधी समीकरण विलयनों के संबंध में बड़े काम का सिद्ध हुआ।

(१) **बॉयल-चार्ल्स समीकरण :**

$$\text{दा} \times \text{आ} = \text{क पा} \quad [P \times V = R\ T]$$

यहाँ दा (P) = दाब, आ (V) = आयतन, पा (T) = परम ताप तथा क (R) गैस नियतांक है। यह समीकरण १ ग्राम-अणु गैस के लिये है। यदि गैस च (n) ग्राम अणु हो, तो यह समीकरण दा × आ = च क पा (P V = n R T) हो जायगा।

(२) **ग्राहम का समीकरण :**

$$\frac{\text{गा}_1}{\text{गा}_2} = \frac{\text{स}_2}{\text{स}_1} = \sqrt{\frac{\text{घ}_2}{\text{घ}_1}} = \sqrt{\frac{\text{अ}_2}{\text{अ}_1}}$$

$$\left[\frac{D_1}{D_2} = \frac{t_2}{t_1} = \sqrt{\frac{d_2}{d_1}} = \sqrt{\frac{M_2}{M_1}}\right]$$

इसमें दो गैसों के लिये क्रमशः विसरण (diffusion) की गतियाँ गा$_1$ (D_1) और गा$_2$ (D_2) हैं, गैसों के घनत्व घ$_1$(d_1) और घ$_2$ (d_2), है, उनके अणुभार अ$_1$ (M_1) और अ$_2$ (M_2) हैं, एवं किसी छोटे से छेद में होकर गैस के निश्चित आयतन के विसरण का समय क्रमशः स$_1$ (t_1) और स$_2$ (t_2) है।

३. **डाल्टन का आंशिक दाब का नियम :**

$$\text{दा} = \text{द}_1 + \text{द}_2 + \text{द}_3 + \ldots\ldots\ldots$$
$$[P = p_1 + p_2 + p_3 + \ldots\ldots\ldots]$$

यहाँ किसी दिए हुए गैसों के मिश्रण में सब गैसों की समवेत दाब दा (P) है और उन गैसों की पृथक् पृथक् दाब द$_1$ (p_1), द$_2$ (p_2), द$_3$ (p_3)......आदि। ये सब गैसें आदर्श हों, इनका परम ताप पा (T) हो और सब गैसें आ (v) आयतन के पात्र में हों तो—

$$\text{द}_1 \text{आ} = \text{क पा च}_1 \therefore \text{द}_1 = \frac{\text{क पा च}_1}{\text{आ}}$$

$$p \times v = R\ T\ n_1 \therefore p_1 = \frac{R\ T\ n_1}{v}$$

इसी प्रकार

$$\text{द}_2 \text{आ} = \text{क पा च}_2 \therefore \text{द}_2 = \frac{\text{क पा च}_2}{\text{आ}} \quad \ldots\ldots\text{इत्यादि}$$

$$\left[p_2\ v = R\ T\ n_2 \therefore p_2 = \frac{R\ T\ n_2}{v}\right]$$

$$\therefore \text{दा} = \frac{\text{क पा}}{\text{आ}} (\text{च}_1 + \text{च}_2 + \text{च}_3 + \ldots\ldots\ldots)$$

$$\therefore \frac{\text{क पा}}{\text{आ}} = \frac{\text{दा}}{\text{च}_1 + \text{च}_2 + \text{च}_3 + \ldots}$$

$$\left[\therefore P = \frac{R\ T}{v} (n_1 + n_2 + n_3 + \ldots\ldots)\right.$$

$$\left.\therefore \frac{R\ T}{v} = \frac{P}{n_1 + n_2 + n_3 + \ldots\ldots}\right]$$

अत: गैस मिश्रण में किसी एक गैस की आंशिक दाब, द$_1$ के लिये :

$$\text{द}_1 = \frac{\text{दा} \times \text{च}_1}{\text{च}_1 + \text{च}_2 + \text{च}_3 + \cdots}, \text{द}_2 = \frac{\text{दा} \times \text{च}_2}{\text{च}_1 + \text{च}_2 + \text{च}_3 + \cdots} \quad \text{इत्यादि}$$

$$\left[p_1 = \frac{P \times n_1}{n_1 + n_2 + n_3 + \cdots},\ p_2 = \frac{P \times n_2}{n_1 + n_2 + n_3 + \cdots}\right]$$

(४) **परासरण दाब** — इसका समीकरण भी गैस दाब के समीकरण के समान है। यदि किसी विलयन की सांद्रता स (C) अणु प्रति इकाई आयतन हो और आयतन आ (V) हो (आ वह आयतन है, जिसमें विलयशील १ अणु घुला है), तो स(C) = १/आ, (1/V)। परासरण दाब दा के लिये समीकरण यह है :

$$\text{दा} \times \text{आ} = \text{क ता},\ \text{दा} = \text{क ता स}\ [P \times V = R\ T,\ P = R\ T\ C]$$

(५) **राउल्ट (Rault) का नियम** — एफ० एम० राउल्ट ने १८८७ ई० में, लगभग तनु विलयन में, वाष्पदाब के सापेक्ष अवनमन के संबंध में यह नियम दिया :

$$\frac{\triangle \text{द}}{\text{द}} = \frac{\text{द} - \text{द}_0}{\text{द}} = \frac{\text{च}_1}{\text{च}_1 + \text{च}_2} = \frac{\text{च}_1}{\text{च}_2}$$

$$\left[\frac{\triangle p}{p} = \frac{p - p_0}{p} = \frac{n_1}{n_1 + n_2} = \frac{n_1}{n_2}\right]$$

इसमें विलायक की वाष्पदाब द (p), विलयन की वाष्पदाब $द_०$ (p_0), विलायक की वाष्पदाब में कमी △ द (△ p) और $\frac{\triangle द}{द}$ $\left(\frac{\triangle p}{p}\right)$ विलयन की दाब में सापेक्ष अवनमन है। विलयन में विलायक के अणुओं की संख्या $च_२$ (n_2) है, और विलेय के अणुओं की संख्या $च_१$ (n_1) है।

अगर विलयन में विलेय का द्रव्यमान द्र (w), विलेय का अणुभार भ (m) शुद्ध विलायक का द्रव्यमान द्रा (W) और विलायक का अणुभार भा (M) हो, तो

$$\frac{\triangle द}{द} = \frac{च_१}{च_२} = \frac{द्र/भ}{द्रा/भा} = \frac{द्र\ भा}{द्रा\ भ}$$

$$\left[\frac{\triangle p}{p} = \frac{n_1}{n_2} = \frac{w/m}{W/M} = \frac{wM}{Wm}\right]$$

(६) विलायक में विलेय के घुलने पर विलायक की वाष्पदाब में कमी आ जाती है, और इसी कारण शुद्ध विलायक के क्वथनांक से विलयन का क्वथनांक अधिक, और शुद्ध विलायक के हिमांक से विलयन का हिमांक कम, होता है। क्वथनांक की वृद्धि △पा (△T), विलयन की सांद्रता और विलेय के अणुभार, भ (M), और विलायक के नियतांक (या क्वथनांक का आणविक उत्कर्ष), $का_{क्व}$ (K_b) पर निर्भर है। नीचे के समीकरण में यह $का_{क्व}$ १०० ग्राम विलायक की मात्रा के लिये है।

$$\triangle पा = \frac{१०० \times का_{क्व} \times क}{भ \times ख}, \left[\triangle T = \frac{100 \times K_b \times a}{M \times b}\right]$$

(क ग्राम विलेय ख ग्राम विलायक में घोला गया है)

इसी प्रकार हिमांक की कमी, △ पा (△ T) निम्न समीकरण द्वारा व्यक्त होती है नियतांक, $क_{हि}$ (K_f), हिमांक का आणविक अवनमन कहलाता है। १०० ग्राम विलायक के लिये यह नियतांक है।

$$\triangle पा = \frac{१०० \times का \times क}{भ \times ख}$$

$$\left[\triangle T = \frac{100 \times K_f \times a}{M \times b}\right]$$

$का_{क्व}$ (K_b) का संबंध विलायक के क्वथनांक पा (T) और उसके वाष्पीकरण गुप्त ऊष्मा, गु (L), से निम्नप्रकार है —

$$का_{क्व} = \frac{०\cdot०१९८७ \times पा^२}{गु}$$

$$\left[K_b = \frac{0\cdot01987 \times T^2}{L}\right]$$

इसी प्रकार का समीकरण हिमांक के आणविक अवनमन नियतांक $का_{हि}$ (K_f) के लिये भी है।

$$का_{हि} = \frac{०\cdot०१९८७ \times पा^२}{गु}, \left[K_f = \frac{0\cdot01987 \times T^2}{L}\right]$$

इसमें गु (L), हिमन की गुप्त ऊष्मा और पा (T) हिमांक है।

(७) **द्रव्यमान समानुपाती क्रिया या द्रव्यमात्रा क्रिया का नियम** — १८६४ ई० में गुल्डबर्ग (Guldberg) और वागे (Waage) ने इस नियम का प्रतिपादन किया। नियम यह है: 'रासायनिक अभिक्रिया का वेग अभिक्रिया में भाग लेनेवाले पदार्थों के सक्रिय द्रव्यमानों का समानुपाती होता है।' इस नियम का उपयोग बहुधा उत्क्रमणीय (reversible) क्रियाओं के साम्य के संबंध में भी किया जाता है। अभिक्रिया व्यक्त करनेवाला सर्वसामान्य समीकरण निम्नलिखित है:

$$क\ का + ख\ खा + ग\ गा + \ldots \rightleftharpoons क'\ का' + ख'\ खा' + ग'\ गा' + \ldots$$
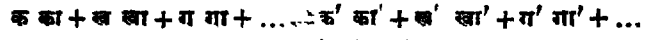
$$[a\,A + b\,B + c\,C + \ldots \rightleftharpoons a'\,A' + b'\,B' + c'\,C' + \ldots]$$

यहाँ क्रिया में भाग लेनेवाले पदार्थ का, खा, गा, (A, B, C,) आदि है और क्रिया से उत्पन्न पदार्थ का', खा', गा', (A', B', C') आदि हैं।

यह क्रिया उत्क्रमणीय है। साम्य स्थापित होने पर यदि का, खा, गा, .. (A, B, C ..), का', खा', गा'.. (A', B', C'...) आदि की मात्रताएँ क्रमश. (का), (खा), (गा),...[(A), (B), (C),...], (का'), (खा'), (गा'),...[(A'), (B'), (C')....] आदि हों, तो साम्य नियतांक ट (K) निम्नलिखित होगा.

$$ट = \frac{(का')^{क'}\ (खा')^{ख'}\ (गा')^{ग'} \ldots}{(का)^{क}\ (खा)^{ख}\ (गा)^{ग} \ldots}$$

$$\left[K = \frac{(A')^{a'}\ (B')^{b'}\ (C')^{c'} \ldots}{(A)^{a}\ (B)^{b}\ (C)^{c} \ldots}\right]$$

यह नियतांक ट (K) ताप पर निर्भर है। ऊष्मागतिकी के सिद्धांतों के अनुसार निम्न समीकरण द्वारा ट पर ताप, पा (T), का प्रभाव व्यक्त किया जाता है:

$$\frac{त\ लघु\ ट}{त\ पा} = \frac{\triangle ऊ}{क\ पा^२}$$

$$\frac{d \log T}{dT} = \frac{\triangle u}{RT^2}$$

इस समीकरण में △ ऊ (△ u) अभिक्रिया की ऊष्मा है (देखें ऊष्मागतिकी)।

स्वतंत्र ऊर्जा, फा (F), और साम्यनियतांक, ट (K), में निम्न संबंध है, जिसे वांटहॉफ का समपाती वक्र (isotherm) कहते हैं:

$$त\ फा = क\ पा\ लघु\ ट - क\ पा \sum ० \ लघु\ स$$

$$dF = RT \log K - RT \sum \circ \log C$$

∑C इस अभिक्रिया में भाग लेनेवाले पदार्थों की स्वयंमान्य सांद्रताएँ हैं।

(८) **गिब्ज़ (Gibbs) का कला नियम** (Phase rule) — यदि किसी निकाय (system) में घटकों (components) की संख्या स (C) हो, और कलाओं की संख्या क (P) हो तो स्वतंत्र चर राशियों की संख्या, या स्वातंत्र्य की मात्रा म (F), साम्य स्थापित होने पर निम्न समीकरण द्वारा व्यक्त की जाती है:

क + म = स + २, (P + F = C + 2)

अथवा म = स − क + २, (F = C − P + 2)

यह गिब्ज़ का कला नियम कहलाता है। ऊष्मागतिकी संबंधी लेख में इस नियम की प्रतिपत्ति दी हुई है। इस नियम के आधार पर अनेक निकायों (जल, गंधक, मिश्रधातु, विलायक–मिश्रण) के विवरण रेखाचित्रों द्वारा व्यक्त किए जाते हैं।

(९) **विद्युद्विश्लेषण संबंधी नियम** — माइकेल फैराडे (Faraday) ने १८८३ ई० में विद्युद्विश्लेषण संबंधी दो नियम दिए:

(क) विद्युत् धारा द्वारा उत्पन्न रासायनिक क्रिया विद्युत धारा की मात्रा की समानुपाती होती है, अर्थात् जितनी धारा प्रवाहित होगी उसी के अनुपात में कोई पदार्थ निक्षिप्त या विलीन होगा।

(ख) विद्युत् धारा की एक ही मात्रा द्वारा यदि कई पदार्थ निक्षिप्त, या विलीन हो रहे हों, तो उनकी मात्राएँ उसी अनुपात में होंगी, जिसमें उनके रासायनिक तुल्यांक भार हैं।

इन दोनों नियमों को एक संमिलित समीकरण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। यदि किसी पदार्थ की निक्षिप्त मात्रा या विलीन मात्रा भ (w) ग्राम, धारा की सामर्थ्य इ (I) ऐंपियर हो, धारा के प्रवाहित होने का समय स (t) सेकंड और तुल्यांक भार तु (e) हो तो

$$\text{भ} = \frac{\text{इ} \times \text{स} \times \text{तु}}{\text{फै}}, \left[w = \frac{I \times t \times e}{F} \right]$$

इसमें फै (F) को फैराडे इकाई कहते हैं। फै (फैराडे) विद्युत् की वह मात्रा है, जिसके प्रवाहित होने पर किसी भी पदार्थ का एक ग्राम तुल्यांक या तो निक्षिप्त होता है, या विलीन होता है :

फै = ९६,५०० कूलंब

(१०) धन और ऋण विद्युदग्रों पर धनात्मक और ऋणात्मक आयन एक ही तुल्यमात्रा में विसर्जित होते हैं, किंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि ये आयन एक ही गति से कैथोड (cathode) या ऐनोड (anode) की ओर अग्रसर नहीं होते। यदि धनायन (cation) की गति ग$_ध$ (w_c) और ऋणायन (anion) की गति ग$_ऋ$ (U_a) हो, तो धनायन की स्थानांतरण, या परिवहन (transferenc or transport) संख्या ट$_ध$ (T_c) और ऋणायन की परिवहन संख्या, ट$_ऋ$ (T_a) निम्नलिखित समीकरणों द्वारा व्यक्त की जायगी :

$$\text{ट}_\text{ध} = \frac{\text{ग}_\text{ध}}{\text{ग}_\text{ध} + \text{ग}_\text{ऋ}}, \quad \text{ट}_\text{ऋ} = \frac{\text{ग}_\text{ऋ}}{\text{ग}_\text{ध} + \text{ग}_\text{ऋ}}$$

$$\left[T_c = \frac{u_c}{u_c + u_a}, \; T_a = \frac{u_a}{u_c + u_a} \right]$$

हिटॉर्फ (Hittorf) ने १८५३ ई० में इन परिवहन संख्याओं के निकालने की विधि निकाली।

(११) आर्रेनियस (Arrhenius) ने १८८३–८७ ई० में विद्युद्वियोजन की कल्पना प्रस्तुत की। जल में घुलने पर विद्युद्विश्लेष्य, जैसे नमक, तूतिया, अम्ल, क्षार आदि, धन और ऋण आयनों में वियोजित हो जाते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि विद्युद्विश्लेष्यों के समस्त अणु वियोजित होते हों। ऐसीटिक अम्ल आदि के समान निर्बल विद्युद्विश्लेष्य कुछ प्रति शत ही वियोजित होते हैं, किंतु सोडियम क्लोराइड, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, कॉस्टिक सोडा आदि के समान सबल विद्युद्विश्लेष्य लगभग शत प्रति शत वियोजन, या आयनन प्रस्तुत करते हैं। आयनन की मात्रा (degree of ionisation) α (ऐल्फा) विलयन की तनुता पर निर्भर है। आर्रेनियस ने आयनन की मात्रा विलयन की विद्युच्चालकता के आधार पर निकाली। यदि किसी विलयन की विशिष्ट चालकता (specific conductivity), अर्थात् विशिष्ट रोधकता (resistance) का व्युत्क्रम च (K) हो और विलयन की सांद्रता १ ग्राम तुल्य प्रति आयतन ञ (v) घन सेंमी० हो, तो उसकी तुल्य चालकता (equivalent conductivity), त, (μ), निम्न समीकरण द्वारा व्यक्त की जायगी :

$$\text{त} = \text{च} \times \text{ञ}, \; [\mu = K \times v]$$

निर्बल विद्युत् अपघटयों की तुल्य चालकताएँ विलयन की तनुता बढ़ने पर बढ़ती जाती हैं, और जब विद्युत् अपघटयों शत प्रति शत आयनित हो जाता है तो यह स्थिर हो जाती है। इस समय की तुल्य विद्युच्चालकता को अनंत तनुता की विद्युच्चालकता (μ_∞ या त$_\infty$) कहते हैं। किसी तनुता, ञ, पर विद्युच्चालकता त$_ञ$ हो और अनंत तनुता पर त$_\infty$ तो आयनीकरण की मात्रा, α निम्न होगी :

$$\alpha = \frac{\text{त}_\text{ञ}}{\text{त}_\infty} = \frac{\mu_v}{\mu_\infty} \text{ या } \frac{\Lambda_v}{\Lambda_\infty}$$

अनंत तनुता पर आयनिक चालकताएँ (२५° सें०)

धनायन	चालकता	ऋणायन	चालकता
हा$^+$ (H^+)	३४९·८२	औहा$^-$ (OH^-)	१९८·५
पा$^+$ (K^+)	७३·५२	ब्रो$^-$ (Br^-)	७८·४
नाहा$_४^+$ (NH_4^+)	७३·४	आ$^-$ (I^-)	७६·८
सो$^+$ (Na^+)	५०·११	क्लो$^-$ (Cl^-)	७६·३४
र$^+$ (Ag^+)	६१·९२	नाओ$_3^-$ (NO_3^-)	७१·४४

निर्बल अम्लों के लिये ऑस्टवाल्ड (Ostwald) ने निम्नलिखित तनुता नियम (dilution law) प्रतिपादित किया :

$$\frac{\alpha^2}{(१ - \alpha)\,\text{ञ}} = \text{का} \quad \left[\frac{\alpha^2}{(1 - \alpha)\, v} = K \right]$$

इसमें ञ (v) लीटर मे वह आयतन है, जिसमें विद्युत् अपघटय का एक ग्राम अणु मात्रा घुली हो। का (K) को विद्युत् अपघटय का वियोजन नियतांक (dissociation constant) कहते हैं। सबल विद्युत् अपघटय के लिये ऑस्टवाल्ड के इस समीकरण का उपयोग नहीं किया जा सकता। डेबाई (Debye) और हूकल (Huckel) ने १९२३ ई० में और ऑनसैगर (Onsager) ने १९२९ ई० मे इन सबल विद्युत् विघटयो की विद्युच्चालकता के लिये दूसरे समीकरण दिए। पोटैशियम क्लोराइड के लिये, जिसमे दो एकसंयोजी आयन हैं, यह समीकरण इस प्रकार है :

$$\Lambda = \Lambda_0 - \left[\frac{८२\cdot४}{(\text{वि ता})^{१/२}\,\text{श्य}} + \frac{८\cdot२० \times १०^५}{(\text{वि ता})^{३/२}} \Lambda_0 \right] \sqrt{\text{स}}$$

$$\Lambda = \Lambda_0 - \left[\frac{82\cdot4}{(D\,T)^{1/2}\eta} + \frac{8\cdot20 \times 10^5}{(D\,T)^{3/2}} \Lambda^\circ \right] \sqrt{C}$$

वि (D) विलायक का परावैद्युतांक (dielectric constant) है, ता (T) परम ताप, श्य (η) श्यानता (viscosity) और स (C) विलयन की सांद्रता (अणु प्रति लीटर, या ग्राम-तुल्यांक प्रति लीटर) है। संक्षेप में इस समीकरण को इस प्रकार लिखेंगे :

$\Lambda = \Lambda_0 - ($ का + खा$\Lambda_0) \sqrt{स}$

$[\Lambda = \Lambda_0 - (A + B\Lambda_0) \sqrt{C}]$

इसमें का (A) और खा (B) दिए हुए विलायक के लिये स्थिरांक हैं, जो ताप पर ही निर्भर हैं।

(१२) पानी निर्बल विद्युद्विश्लेष्य है :

हा$_2$ औ $\rightleftharpoons$ हा$^+$ + औ हा

$[H_2O \rightleftharpoons H^+ + OH]$
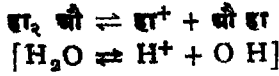
पानी का आयनन नियतांक, का$_w$ (K_w) = (हा$^+$) (औ हा$^-$) $[H^+] [OH^-] = 80{\cdot}95 \times 10^{-16}$ (२५° से० ताप के लिये)। पानी के इस आयनन के कारण ही जल-अपघटन होता है। जल-अपघटन का नियतांक का$_h$ (K_h), पानी के आयनन नियतांक और निर्बल अम्ल, या निर्बल क्षारक के वियोजन नियतांक, पर, का$_a$, (K_a), अम्ल के लिये एवं का$_b$ (K_b) क्षार के लिये, निर्भर है।

जल-अपघटन नियतांक, का$_h$ = $\frac{ज^2}{(१-ज) अ}$ $\left[K_h = \frac{h^2}{(1-h) v}\right]$,

जहाँ ज (h) = जल-अपघटन की मात्रा, अ (v) = लीटर में वह आयतन जितने में एक ग्राम अणु यौगिक घुला हो।

का$_h$ = $\frac{का_w}{का_a}$; $\left[K_h = \frac{K_w}{K_a}\right]$ (सोडियम ऐसीटेट ऐसे निर्बल अम्ल के लवण के जल-अपघटन के लिये)

का$_h$ = $\frac{का_w}{का_b}$ $\left[K_h = \frac{K_w}{K_b}\right]$ (अमोनियम क्लोराइड ऐसे निर्बल क्षार के लवण के लिये)।

का$_h$ = $\frac{का_w}{का_a \times का_b}$, $\left[K_h = \frac{K_w}{K_a \times K_b}\right]$ (अमोनियम ऐसीटेट ऐसे निर्बल क्षार और निर्बल अम्ल से बने लवण के लिये)।

(१३) **अम्ल और क्षारक** — आयनन पर जो पदार्थ प्रोटॉन, या हाइड्रोजन आयन, हा$^+$ (H^+) देते हैं, वे अम्ल हैं और जो हाइड्रॉक्सिल आयन, औहा$^-$ (OH^-) देते है, वे क्षारक (base) कहलाते है :

हाका $\rightleftharpoons$ हा$^+$ + का$^-$

$[HA \rightleftharpoons H^+ + A^-]$

अम्ल प्रोटॉन

खा औ हा $\rightleftharpoons$ खा$^+$ + औहा$^-$

$[BOH \rightleftharpoons B^+ + OH^-]$
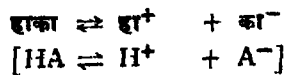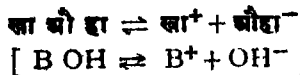
ब्रान्स्टेड (Bronsted) और लाउरी (Lowry) की परिभाषा के अनुसार उस पदार्थ को अम्ल कहते हैं जिसकी प्रवृत्ति प्रोटॉन दे देने की और क्षारक वह पदार्थ है जिसकी प्रवृत्ति प्रोटॉन ले लेने की हो

का $\rightleftharpoons$ हा$^+$ + खा

$[A \rightleftharpoons H^+ + B]$
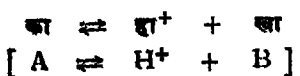
अम्ल प्रोटान क्षारक

पानी में घुले हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में निम्न साम्य है (पानी क्षारक का काम करता है)

हाक्लो + हा$_2$औ $\rightleftharpoons$ हा$_3$औ$^+$ + क्लो

$[HCl + H_2O \rightleftharpoons H_3O^+ + Cl]$

अम्ल क्षारक अम्ल क्षारक
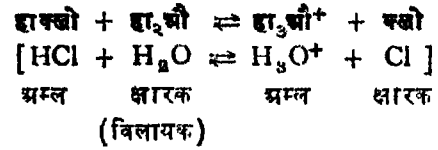
(विलायक)

इसी प्रकार पानी (विलायक) में घुले अमोनिया में निम्न साम्य है (पानी अम्ल का काम करता है) :

नाहा$_3$ + हा$_2$औ $\rightleftharpoons$ नाहा$_4^+$ + औहा$^-$

$[NH_3 + H_2O \rightleftharpoons NH_4^+ + OH^-]$

क्षारक अम्ल अम्ल क्षारक

(विलायक)
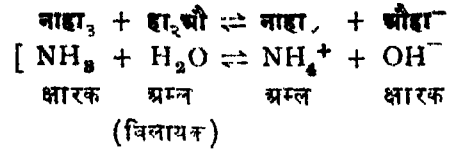
(१४) **हाइड्रोजन आयन सांद्रता एवं पी-एच, (pH) धारक** — ऐसीटिक अम्ल पानी में घुलने पर शत प्रति शत आयनित नहीं होता। इसी प्रकार अन्य अम्ल भी पूर्ण आयनित नहीं होते। विलयन की अम्लता हाइड्रोजन आयन की सांद्रता, सा$_H$ (C_H) पर निर्भर है। यह सांद्रता अनेक विधियों से निकाली जा सकती है (क) रंग सूचकों के रंगों की तुलना करके तथा (ख) विद्युद्वाहक बल (e. m. f.) विधि का प्रयोग करके। विलयन के हाइड्रोजन आयन की सांद्रता के अनुसार अनेक रंगसूचक रंगों का चटकीलापन प्रदर्शित करते हैं।

हाइड्रोजन आयन की सांद्रता सा$_H$ (C_H) व्यक्त करने की एक सरल प्रणाली पी-एच पद्धति कहलाती है। पी-एच और सा$_H$ (C_H) (सी-एच) में निम्न संबंध है

पी-एच = − लघु सा$_H$, या [− लघु सी-एच]

$[pH = -\log C_H]$

जिस विलयन का पी-एच सात से कम होता है, वह अम्लीय है, सात के निकट के पी-एच वाला विलयन शिथिल या उदासीन है, और सात से अधिक पी-एच वाला विलयन क्षारीय है।

(१५) **सूचक** (Indicators) — बहुत से कार्बनिक रंग ऐसे हैं, जो विलयन की विशेष पी-एच की एक सीमा में रंग में परिवर्तन प्रदर्शित करते है। इनका उपयोग अम्ल क्षारक अनुमापनों (titration) में होता है। ये सूचक स्वयं बहुत निर्बल अम्ल, या निर्बल क्षार, हैं।

हा सू $\rightleftharpoons$ हा$^+$ + सू$^-$

अम्ल क्षारक

$[HI_n \rightleftharpoons H^+ + I_n^-]$
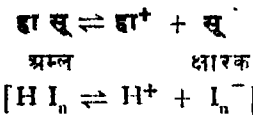
इस साम्य के लिये सूचक नियतांक या

सू = $\frac{[हा]^+[सू^-]}{[हा सू]}$, $\left[K_n = \frac{[H^+][I_n]}{[HI_n]}\right]$

अगले पृष्ठ की सारणी में सूचकों के ज्ञातव्य विवरण दिए गए है।

(१६) **इलेक्ट्रोड विभव** (Electrode Potential) — यदि हम किसी धातु को ऐसे विलयन में डुबाएं, जिसमें उसी धातुवाले आयन हों, तो परासरण दाब के कारण आयनों की कुछ मात्रा धातु पर जमा होना चाहेगी और विलयन दाब के अनुसार धातु का कुछ अंश विलयन में घुलना चाहेगा। इन दोनों प्रक्रियाओं में

साम्य उत्पन्न हो जाने की चेष्टा रहेगी। नर्स्ट (Nernst) ने इन प्रक्रियाओं पर विचार करके एकल इलेक्ट्रोड विभव (Single Electrode Potential) की कल्पना प्रस्तुत की।

सूचक सारणी

पी-का$_{सू}$ = लघु का$_{सू}$ [$pK_{In} = \log K_{In}$]				
सूचक	पी-का$_{स}$	पी-एच सीमा	रंग अम्लीय विलयन से	क्षारीय विलयन में
मेथिल वायलेट	—	०·२–३·२	पीला	बैंगनी
थायमोल ब्लू	१·७	१·२–२·८	लाल	पीला
मेथिल ऑरेंज	३·७	३·१–४·४	लाल	पीला
ब्रोमो फीनोल-ब्लू	४·०	३·०–४·६	पीला	नीला
मेथिल-रेड	५·१	४·३–६·१	लाल	पीला
लिटमस	६·५	५·५–७·५	लाल	नीला
फीनोल-रेड	७·८	६·८–८·४	पीला	लाल
फिनोल्फ्थेलिन	९·७	८·३–१०·०	रंगहीन	लाल

अगर किसी विलयन की सांद्रता, स (C) हो, अथवा सक्रियता क (a), हो, तो ताप पा (T), पर धातु इलेक्ट्रोड विभव, वि (E), निम्न समीकरण द्वारा व्यक्त किया जायगा :

$$\text{वि} = \text{वि}^\circ + \frac{\text{क पा}}{\text{न फै}} \text{लघु}_{e}\, \text{स} = \text{वि}^\circ + \frac{\text{क पा}}{\text{न फै}} \text{लघु क}$$

$$\left[E = E^\circ + \frac{RT}{nF} \log_e C = E^\circ + \frac{RT}{nF} \log a\right]$$

वि° (E°) प्रामाणिक विभव है, जबकि स, या क (C or a) का मान इकाई है।

विभवों के सापेक्ष मान के लिये मानक हाइड्रोजन के इलेक्ट्रोड (Standard Hydrogen Electrode) का विभव शून्य मान लिया गया है। यह प्रत्यावर्ती हाइड्रोजन-इलेक्ट्रोड का विभव है, जब १ वायुमंडल दाब का हाइड्रोजन एक इकाई हाइड्रोजन आयन सांद्रता के विलयन में शनैः शनैः प्रवाहित होता हो। इस इलेक्ट्रोड की अपेक्षा से अन्य इलेक्ट्रोडों का विभव, [जैसे धा$^+$ (M^+) आयन के विलयन के संपर्क में धातु ध (M) का विभव] प्रदर्शित किया जाता है।

$$\begin{array}{c|c|c|c} \text{ध} & \text{ध}^+ \text{ विलयन} & \text{हा}^+ (\text{क}=१) & \text{हा}_2 \\ M & M^+ & H^+ (a=1) & H_2 \end{array} \quad (१ \text{ वायु} \circ)$$

वि (E)
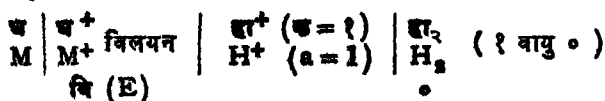
इस सेल का विभव वि (E) है।

अपचयोपचय (redox) तंत्रों का विभव — यदि कोई अभिक्रिया निम्न हो —

अपचित स्थिति = उपचित स्थिति + नइ (nE)

यहाँ इ (E) = इलेक्ट्रॉनिक आवेश तथा न (n) = इलेक्ट्रान की संख्या। ऐसे तंत्रों के विभव के लिये निम्न समीकरण उपयोगी है :

$$\text{वि} = \text{वि}^\circ_{\text{इले}} - \frac{\text{क पा}}{\text{न फै}} \text{लघु} \frac{[\text{ उपचित स्थिति }]}{[\text{ अपचित स्थिति }]}$$

$$E = E^\circ_{el} - \frac{RT}{nF} \log \frac{(\text{Oxidised form})}{(\text{reduced form})}$$

[सत्य प्र०]

रसिक गोविंद इनका असली नाम गोविंद था और ये जयपुर के रहनेवाले नटाणी जाति के वैश्य थे। श्री रामचंद्र शुक्ल के अनुसार इनका काव्यकाल सं० १८५१ से सं० १८९१ वि० तक था। कृष्णभक्त हो जाने के बाद इन्हें 'रसिक' उपाधि मिली थी। पिता का नाम सालिग्राम और माता का नाम गुमाना था। मोतीराम इनके चाचा और बालमुकुंद इनके बड़े भाई थे। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'रसिकगोविंदानंदघन' की रचना इन्होंने बालमुकुंद के पुत्र नारायण के लिये की थी। आर्थिक वैषम्य के कारण ही ये विरक्त हो वृंदावन चले गए थे। इन्होंने निंबार्क संप्रदायी आचार्य सर्वेश्वरशरण देव जी से दीक्षा ग्रहण की थी।

अब तक इनके नौ ग्रंथों का पता लगा है—'अष्टदेश भाषा', 'पिंगल', 'समय प्रबंध', 'रामायण सूचनिका' या 'ककहरा रामायण', 'युगल-रस-माधुरी', 'रसिक-गोविंदानंदघन', 'लछिमनचंद्रिका', 'कलिजुगरासो' और 'रसिकगोविंद'। 'अष्टदेश भाषा' में खड़ीबोली, पंजाबी, पुरबी, आदि आठ भाषाओं के माध्यम से कृष्णलीला वर्णित की गई है। इससे कवि के बहुभाषा ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है। 'पिंगल' रीतिपद्धति की रचना है जिसमें छंदों का निरूपण किया गया है। 'समयप्रबंध' में राधा कृष्ण की शृंगार-लीलाओं को अनेक ऋतुओं के संदर्भ में वर्णित किया गया है। ककारादि क्रम से सारी राम-कथा को ३३ दोहों में 'रामायण-सूचनिका' के अंतर्गत रखा गया है। इसके अनेक छंद 'रसिक-गोविंदानंदघन' में भी पाए जाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इसकी रचना सं० १८५८ वि० के पूर्व ही हो चुकी होगी। 'रसिक-गोविंदानंदघन' कवि की सर्वप्रसिद्ध और काव्यशास्त्रीय रचना है जिसका निर्माणकाल सं० १८५८ वि० है। राधा कृष्ण की वृंदावन लीला का वर्णन 'युगल-रस-माधुरी' में बड़ी ही भावात्मक शैली में किया गया है। इसका प्रकाशन सं० १९७३ वि० में नानपारा (जिला बहराइच) के पं० माधवदास ब्रह्मचारी ने किया था। 'कलिजुगरासो' में कुल १६ कवित्त हैं जिनमें कलि के दुष्प्रभावों से बचने के लिये श्रीकृष्ण से प्रार्थना की गई है। इसका निर्माणकाल सं० १८६६ वि० है। 'लछिमनचंद्रिका' की रचना काशीवासी जगन्नाथ कान्यकुब्ज के बेटे लक्ष्मण के लिये सं० १८८७ वि० में की गई थी। इसका निर्माण 'रसिक-गोविंदानंदघन' के वर्ण्यविषय को समझाने के लिये किया गया था। 'रसिकगोविंद' अलंकारनिरूपक ग्रंथ है जिसमें अलंकार-लक्षण-उदाहरण छंदबद्ध रूप में दिए गए हैं। इसका रचनाकाल सं० १८९१ वि० है।

[रा० के० मि०]

रसिकप्रिया यह आचार्य केशवदास की प्रसिद्ध रचना है। काव्यशास्त्र में रसविवेचन का प्रमुख स्थान है, इस दृष्टि से केशव ने

इस ग्रंथ में रस का विशद वर्णन किया है। इसमें कुल १६ प्रकाश हैं। शृंगार रस चूँकि रसराज माना गया है, इससे मंगलाचरणोपरांत प्रथम प्रकाश में इसी का, इसके दो भेदों के साथ, वर्णन किया गया है। फिर, दूसरे प्रकाश में नायकभेद और तीसरे में जाति, कर्म, अवस्था, मान के विचार से नायिका के भेद, चतुर्थ में प्रेमोत्पत्ति के चार मुख्य हेतुओं तथा पंचम में दोनों की प्रणय संबंधी चेष्टाओं, मिलनस्थलों, तथा अवसरों के साथ स्वयंदूतत्व का निरूपण किया गया है। फिर छठे में भावविभावानुभाव, संचारी भावों के साथ हावादि का कथन हुआ है। अष्टम में पूर्वानुराग तथा प्रियमिलन न होने पर प्रमुख दशाओं का, नवम में मान और दशम में मानमोचनोपायों का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् वियोग शृंगार के रूपों तथा सखीभेद, आदि का विचार किया गया है। चौदहवें प्रकाश में अन्य आठ रसों का निरूपण किया गया है। इसमें आधार भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही प्रतीत होता है। फिर भी यह मौलिक है।

इस ग्रंथ में उन्होंने किसी विशेष रसग्रंथ से सहायता नहीं ली, वरन् रससिद्धांत का सम्यक् अध्ययन कर स्वतंत्र रूप में ही लिखने का प्रयास किया है। रसों के इन्होंने प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो भेद किए हैं। ऐसा किसी अन्य आचार्य ने नहीं किया। भोजदेव ने अनुराग के ऐसे दो भेद किए हैं। कोककला की पटुता को भी नायकादि के प्रसंग में रखा गया है। नायिका के पद्मिनी आदि कामशास्त्रीय भेद किए गए हैं। कुछ भेदों में नामांतर भी किया गया है। स्वानुभव से भी काम लेकर केशव ने मौलिक लक्षणादि दिए हैं। कितनी बातें उनकी नितांत मौलिक हैं। जाति संबंधी भेद, अगम्या, सहेटस्थल और मिलनावसरादि नवीन वर्णन हैं। बोध हाव भी मौलिक है। इस प्रकार देखने से ज्ञात होता है कि रस रसांगादि विवेचन में केशव अधिक मौलिक और सफल हैं। अतः उन्हें रसहीन और केवल अलंकारप्रिय कवि मानना समीचीन नहीं। [रा० शं० शु०]

रसिक संप्रदाय, रामभक्ति शाखा में रामभक्ति साहित्य में यह धारा पाँच नामों से अभिहित है — जानकी संप्रदाय, रहस्य संप्रदाय, रसिक संप्रदाय, जानकीवल्लभी संप्रदाय और सिया संप्रदाय। इनमें से रसिक संप्रदाय नाम अधिक प्रचलित हुआ। इसका कारण है इस संप्रदाय के प्रवर्तक अग्रदास का अपने अनुयायियों को 'रसिक' नाम से संबोधित करना। उन्होंने अपनी कृतियों में 'रसिक' संज्ञा ऐसे भक्तों को दी है जो राम की रसमयी लीलाओं का ध्यान करते हैं और उनकी अंतरंगसेवा के आश्रित हैं।

'रसिक' शब्द का सामान्य अर्थ है—रसमर्मज्ञ या सहृदय। लोकव्यवहार में इसका प्रयोग विषयानंद में लिप्त प्रेमी जीवों के लिये हुआ करता है, किंतु आध्यात्मिक साधना में यह शब्द सगुण ब्रह्म के लीलारसभोक्ता का द्योतक है। मध्यकालीन भक्तिसाहित्य में इसे उस प्रवृत्तिविशेष के भक्तों का व्यंजक माना गया जो अनन्यभाव से सीताराम अथवा राधाकृष्ण की शृंगारी लीलाओं का ध्यान, गान और तदनुरूप सेवा का विधान करते थे। इनके लिये भक्ति भाव मात्र न होकर रसरूप में आस्वाद्य थी। कृष्णोपासना में यह छाप कुछ इने गिने शृंगारी साधकों को ही दी जाती रही, किंतु रामभक्ति शाखा में इस नाम से एक पृथक् संप्रदाय ही स्थापित हो गया, जिसमें माधुर्य के साथ दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा शांत भाव के उपासक भी संमिलित कर लिए गए। इन संतों के दो वर्ग माने गए हैं—रसिक और शुद्ध रसिक। प्रथम के अंतर्गत शृंगारी, सख्य, दास्य तथा वात्सल्य भाव के साधक आते हैं, दूसरे में केवल शांत भाव के। इन्हें क्रमशः माधुर्य तथा ऐश्वर्य प्रेमी कहा गया है।

रामभक्ति में माधुर्यभाव के अंकुर सर्वप्रथम शठकोप आलवार (नवीं शताब्दी) की रचनाओं में दिखाई पड़े। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' में इन्हें राम का 'आदि पारषद' कहकर प्रकारांतर से रसिक रामभक्ति का सूत्रपात इन्हीं से होना स्वीकार किया गया है। 'पेरुमाल-तिरुमोझी' में काकुत्स्थ राम के प्रति अभिव्यक्त प्रणयोद्गार यह सिद्ध करते हैं कि इनकी उपासना कांताभाव की थी। इनके परवर्ती वैष्णवाचार्यों में नाथमुनि और कुरेशस्वामी दास्य के, रामानुज दास्यमिश्रित वात्सल्य के और वरवर मुनि सख्य भाव के रामोपासक थे। इसी परंपरा में आविर्भूत लोकाचार्य ने सांसारिक जीवों के उद्धार के लिये सीता के 'पुरुषकारत्व' को विशेष महत्व दिया। आगे चलकर रामभक्ति की मर्यादावादी तथा शृंगारी दोनों शाखाओं में यह भाव एक अनिवार्य तत्व के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।

स्वामी रामानंद को पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित रसिक भक्ति के ये आधारभूत तत्व रिक्थ में मिले। उन्होंने राममंत्रार्थ की व्याख्या करते हुए ईश्वर जीव के विविध भावसंबंधो मे 'भार्या भर्तृत्व', अथवा 'भोग्य भोक्तृत्व' को विहित बताया और भक्ति की इस रसमयी धारा में मर्यादा तथा सदाचार की प्रतिष्ठा के लिये 'स्वकीयाभाव' को आदर्श ठहराया। किंतु १६वीं शताब्दी के अंत तक यह साधना कुछ इने गिने भक्तों तक ही सीमित रही। इसे सांप्रदायिक संगठन का रूप अग्रदास ने दिया। ये स्वामी रामानंद के प्रपौत्रशिष्य थे और सं० १६३२ के लगभग विद्यमान थे। इन्होंने सांप्रदायिक सिद्धांतों के निर्माण में पांचरात्र संहिताओं और आगमग्रंथों से पर्याप्त सहायता ली। इनका ध्यानयोग बहुत अंश तक तंत्रों पर आधारित है। ये आमेर के महाराज मानसिंह के गुरु थे। अग्रदास के शिष्य नाभादास की प्रसिद्ध रचना 'भक्तमाल' से ज्ञात होता है कि तुलसी की समकालीन रामभक्तिधारा माधुर्य से पूर्णतया अनुरंजित हो गई थी। मानदास, मुरारिदास, प्रयागदास और खेमाल रतन राठौर के वृत्त इसके प्रमाण रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

अकबर के उत्तराधिकारियों की धार्मिक असहिष्णुता तथा दशनामी शैवों के हिंसापूर्ण विरोध से लगभग एक शताब्दी तक रसिक संप्रदाय के विकास में एक दीर्घ गतिरोध बना रहा। इस काल में आलोच्य शाखा के अधिकांश भक्तों ने अयोध्या, काशी, प्रयागादि नगरस्थ तीर्थों को छोड़कर मुस्लिम प्रभाव से दूर मिथिला, चित्रकूट ऐसे निर्जन वन्य तीर्थों का आश्रय लिया। आंतरिक साधना में लीन रहते हुए भी सामाजिक हित के प्रति जागरूक साधकों ने विरोधी शक्तियों का प्रतिरोध करने के उद्देश्य से संगठन को 'अनी' और 'अखाड़ों' में विभक्त कर सैनिक रूप दिया, जो किसी न किसी रूप में अब तक चला आ रहा है।

अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के पतन और हिंदू जागरण के फलस्वरूप रामोपासकों में एक नई चेतना आई। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों और अवध के नवाबों की उदार हिंदू-परक नीति रसिकभक्ति के प्रचार में अत्यंत प्रेरणाप्रद सिद्ध हुई। परिस्थितियों के अनुकूल हो जाने से दूरस्थ रामतीर्थों के निवासी रामभक्तों का पारस्परिक संपर्क तो बढ़ा ही, कृष्णभक्तों से भी उनके संपर्क में वृद्धि हुई।

उन्नीसवीं शताब्दी रसिक संप्रदाय के इतिहास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण युग माना जाता है। इस काल में रसिकाचार्यों ने साधना संबंधी प्राचीन साहित्य का आलोडन कर उसका एक व्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया। रसिक भक्ति का जो स्वरूप आज हमारे सामने है, वह बहुत अंश तक इसी शताब्दी के संतों की देन है।

रसिकाचार्यों ने विशिष्ट भावसंपन्न वीतराग साधकों को ही पंचरसात्मिका भक्ति का अधिकारी बताया है और इसके लोकप्रचार का निषेध किया है। इसलिये इसका विकास एक गुह्य अथवा रहस्य साधना के रूप में हुआ। इसका साध्यतत्व है- दिव्यदंपति के सेवासुख की प्राप्ति और 'निकुंजसेवारस' अथवा 'महलमाधुर्य' का आस्वादन। युगलस्वरूप की अष्टयाम सेवा में ये सभी रस प्राप्त हो जाते हैं अतः उसे रसिकोपासना का मूलाधार माना जाता है। रासलीला में उपास्य के आनंदस्वरूप की चरम अभिव्यक्ति होती है। इसलिये साधनावस्था में भी 'रासध्यान' की व्यवस्था दी गई है।

रसिकाचार्यों ने लीलारस के आस्वादन की तीन विधियाँ बताई हैं---मनस्संभोग, दृष्टिसंभोग और स्पर्श अथवा स्थूल संभोग। इनमें से प्रथम दो स्थितियों में द्रष्टाभाव की प्रधानता रहती है किंतु तीसरी में भोक्ता भाव की। प्रथम को तत्सुख और द्वितीय को स्वसुख कहते हैं। तत्सुख का अभिप्राय है प्रियाप्रियतम की दिव्यक्रीडा में सीता द्वारा अनुभूत सुख को अपना सुख मानना किंतु स्वसुख का तात्पर्य प्रियतम के साथ की गई रसक्रीडा में स्वानुभूत सुख को ही अपना सुख मानने में है। तात्विक दृष्टिकोण से विचार करने पर तत्सुख और स्वसुख का यह भेद अवस्थाजन्य मात्र प्रतीत होता है। जब तत्सुख का स्वारस्य साधक की सर्वेंद्रियों में व्याप्त हो जाता है तो वही स्वसुख में परिणत हो जाता है अतः तत्सुख स्वसुख का ही सिद्ध तत्व है।

कालप्रभाव से यद्यपि आज इस संप्रदाय के कुछ वर्गों में रूढ़िवादिता तथा छिछली शृंगारिकता का प्रवेश हो गया है, तथापि लोकप्रियता एवं साहित्यनिर्माण की दृष्टि से रामभक्ति की सभी शाखाओं में इसका स्थान अन्यतम है। रामचरितमानस की टीका परंपरा और प्रवचनशैली के प्रवर्तन और प्रचार का मुख्य श्रेय इसी संप्रदाय के भक्तों को प्राप्त है। अयोध्या के महात्मा रामचरणदास, काशी के पं० शिवलाल पाठक, मिर्जापुर के पं० रामगुलाम द्विवेदी, बाराबंकी के बैजनाथ कूर्मवंशी और चित्रकूट के परमहंस रामदास की गणना इस कला के निष्णात आचार्यों में की जाती है।

रसिक साहित्य में साधनात्मक तत्वों की प्रधानता है। उसके प्रमुख आचार्यों-अग्रदास, बालअली, मधुराचार्य, कृपानिवास, रामचरणदास, जीवाराम तथा युगलानन्यशरण की काव्यरचना का एकमात्र उद्देश्य सैद्धांतिक साहित्य का निर्माण और प्रचार था। अतएव साहित्यिक दृष्टि से इनकी कृतियाँ विशेष महत्व नहीं रखतीं। इस शाखा के---नाभादास, प्रेमसखी, सूरकिशोर, रामसखी, पं० रामगुलाम द्विवेदी, रसिकबिहारी, महाराज विश्वनाथ सिंह, रघुराज सिंह, शीलमणि, बनादास आदि कुछ ही कवि ऐसे हैं जिनकी रचनाएँ उच्च कोटि के भक्तिसाहित्य में स्थान पा सकती हैं।

रसिक संप्रदाय में आराध्ययुगल का नित्य संयोग एवं स्वकीया भाव ही समाहित है---वियोग तथा परकीया भाव के लिये इसमें कोई स्थान नहीं। यही कारण है जिससे माधुर्य को अपनाते हुए भी इस शाखा के कवियों ने राम के एकपत्नीव्रत की मर्यादा अक्षुण्ण रखी है और सामाजिक सदाचार की रक्षा में इतर संप्रदायों के शृंगारी भक्तों की अपेक्षा इनका दृष्टिकोण अधिक संयत तथा व्यावहारिक रहा है।

सं० ग्रं०---आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास; डा० भगवतीप्रसाद सिंह : रामभक्ति में रसिक संप्रदाय।

[भ० प्र० सिं०]

रसेल, ई० जे० का जन्म ३१ अक्टूबर, सन् १८७२ को इंग्लैंड में हुआ। इनकी शिक्षा युनिवर्सिटी कालेज, वेल्स, तथा विक्टोरिया युनिवर्सिटी, मैनचेस्टर, में हुई। सन् १८९८-१९०१ तक ये विक्टोरिया युनिवर्सिटी में रसायन के अध्यापक भी रहे। सन् १९०९ में इनकी नियुक्ति रोथैम्स्टेड परीक्षण केंद्र में मृत्तिका रसायनज्ञ के रूप में हुई। शीघ्र ही सन् १९१२ में ये इस केंद्र के निदेशक नियुक्त हुए और तब से १९४३ ई० तक उसी पद पर कार्य करते रहे। इसी वर्ष इन्होने 'सॉयल कंडिशन्स ऐंड प्लांट ग्रोथ' (Soil Conditions and Plant Growth) नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में इन्होंने पहली बार ऐसे अनेक तथ्यों को स्थान दिया जो सर्वथा नूतन थे। फलतः इस पुस्तक का बहुत ही स्वागत हुआ है।

इन्होंने नाइट्रोजनीय उर्वरकों से होनेवाली क्षतियों के संबंध में, फॉस्फेट उपलब्धि के विषय में तथा भूमि के उपयोगी जीवाणुओं का विनाश करनेवाले प्रोटोज़ोआ (Protozoa) नामक प्राणी पर कार्य किया है। इन्होंने और भी कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें "वोबर्न प्रायोगिक केंद्र में होनेवाले प्रयोगों के ५० वर्ष" (Fifty Years of Field Experiments at Woburn) नामक पुस्तक उनके अनुभवों पर आधारित होने के कारण अत्यंत महत्वपूर्ण है।

अनेक संस्थाओं ने इन्हें मान उपाधियों से विभूषित किया है। सन् १९१८ में इन्हें ओ० बी० ई० तथा सन् १९२२ में "नाइट" की पदवी प्राप्त हुई। सन् १९४१ में ब्रिटिश ऐसोसियेशन ने इन्हें अपना सभापति चुनकर प्रथम कृषि रसायनज्ञ का संमान दिया था।

सन् १९३७ में ये भारत भी आए थे और नैशनल ऐकैडेमी ऑव साइंसेज के छठे वार्षिक अधिवेशन में इन्होने भाषण भी किया था।

[शि० गो० मि०]

रसेल, बर्ट्रेंड आर्थर विलियम रसेल की गणना बीसवीं शताब्दी के सुख्यात दार्शनिकों में की जाती है। इसका जन्म १८ मई, १८७२

ई० को इंगलैंड में हुआ था। बाल्यावस्था में ही माता पिता की मृत्यु हो जाने से पितामह और पितामही ने इसका पालन पोषण किया। ११ वर्ष की उम्र में रसेल यूक्लिड की ज्यामिति मे रुचि रखने लगा था। गणित की यह रुचि सारे जीवन विकसित होती रही। १५ वर्ष की उम्र में वह देकार्त से मिलते-जुलते सिद्धांत पर पहुँच गया था। कैंब्रिज का विद्यार्थी बनते समय उसकी अवस्था १८ वर्ष थी। घर पर उसने जर्मनी, स्विट्सरलैंड और इंगलैंड के शिक्षकों से ज्ञान अर्जित किया। कैंब्रिज में पहले वह तीन वर्ष गणित का अध्ययन करता रहा किंतु चौथे वर्ष उसने दर्शन पर अपना ध्यान विशेष केंद्रित कर लिया। वहाँ हेनरी सिजविक, जेम्स वार्ड और जी० एफ० स्टाउट जैसे विद्वानों से उसे मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा। रसेल ने कुछ समय के लिये अध्यापन कार्य भी किया किंतु उग्र राजनीतिक विचार का होने के कारण उसे विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा।

रसेल ने दर्शन, तर्कशास्त्र, गणित, शिक्षाशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि विषयों पर बहुत अधिक लिखा है। सभी रचनाओं की सूची बहुत लंबी है। कुछ महत्वपूर्ण रचनाएँ ये हैं—प्रिंसिपिया मैथेमेटिका (ह्वाइटहैड के साथ), फिलासाफिकल एसेज, दि प्राबलम, ऑव फिलासफी, इंट्रोडक्शन टु मैथेमेटिकल फिलासफी, दि एनालिसिस आव माईंड, दि एनालिसिस ऑव मैटर, ऐन आउटलाइन ऑव फिलासफी, ऐन इंक्वायरी इनटू मीनिंग ऐंड ट्रुथ, ए हिस्ट्री आव वेस्टर्न फिलासफी।

रसेल आधुनिक दर्शन का युगप्रवर्तक माना जाता है। आधुनिक तर्कशास्त्र (गणितीय तर्कशास्त्र) और दार्शनिक विश्लेषण समझने के लिये रसेल की रचनाओं का अध्ययन नितांत अपेक्षित है। गणित के क्षेत्र मे और विज्ञान का दर्शन निरूपित करने में उसका विशेष योगदान रहा है। राजनीति, अर्थशास्त्र आदि सामाजिक विषयो में भी उसकी रुचि प्रारंभ से ही रही है। इन विषयों पर भी वह समय समय पर लेख लिखता रहा है। आज भी वह स्वतंत्र चितक के रूप में प्रसिद्ध है।

दर्शन के क्षेत्र में रसेल के विचार परिवर्तित होते रहे हैं। जैसे जैसे उसने गभीरता से विचार किया और सिद्धातो मे परिवर्तन की अपेक्षा समझी, उसने बिना संकोच अपने पुराने सिद्धातों का खंडन कर नए सिद्धांत स्थापित कर दिए। प्रारंभ में उसने बर्कले के सिद्धांत 'दृष्टि-सृष्टि-वाद' का खंडन किया और चिंतन की क्रिया तथा चिंतन के विषय में भेद स्वीकार किया। इस प्रकार उसने बाह्य वस्तुओं की सत्ता मान ली। रसेल के विचार से संसार का निर्माण करनेवाले मूल तत्व थे—भौतिक वस्तुएँ, सामान्य, इंद्रिय विवरण और इन सब का ज्ञाता मन। भौतिक वस्तुओं का ज्ञान वर्णन से (बाई डिस्क्रिप्शन) प्राप्त होता है और सामान्य तथा इंद्रियविवरण का ज्ञान परिचय से (बाई एक्वेंटेंस) मिलता है। कुछ समय बाद रसेल ने तत्वों की संख्या कम कर दी। उसने भौतिक वस्तुओं को मूल तत्व मानना आवश्यक नहीं समझा किंतु उनको विभिन्न परिप्रेक्षों से प्राप्त इंद्रियविवरणों की तार्किक रचना (लाजिकल कंसट्रक्शन) मात्र माना। इस प्रकार उसने बाह्य जगत् को मानते हुए भी भौतिक वस्तुओं को समाप्त कर दिया। मन और पुद्गल की प्राचीन जटिल समस्या को उसने 'तटस्थ विशेषों' (न्यूट्रल पर्टीकुलर) की उद्भावना कर सुलझाने का प्रयत्न किया। उसके विचार से ये तटस्थ विशेष न मानसिक हैं और न भौतिक, वरन् एक प्रसंग में वे मनोविज्ञान की विषयवस्तु है और दूसरे प्रसंग मे भौतिक शास्त्र की। इस प्रकार रसेल वस्तुवाद से प्रारंभ करके बहुत कुछ अध्यात्मवादी हो गया, किंतु उसे प्राचीन अर्थ में न वस्तुवादी कहा जा सकता है और न अध्यात्मवादी।

रसेल ने तार्किक अणुवाद की उद्भावना करके दर्शन में एक नई दिशा खोल दी है। इसके अनुसार विश्लेषण के बाद जो परमाणु प्राप्त होते हैं वे भौतिक अणु न होकर तार्किक अणु होते है। विश्लेषण का विषय तथ्य है। श्लिष्ट तथ्यों का विश्लेषण करके रसेल ने मूल तथ्य खोजने का प्रयत्न किया है। इससे प्रभावित होकर अन्य दार्शनिकों ने विश्लेषणात्मक दर्शन मे महत्वपूर्ण प्रगति की।

गणितीय तर्कशास्त्र मे रसेल का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्रो० ह्वाइटहेड के सहयोग से उसने इस विषय पर एक विशाल ग्रंथ लिखकर तर्कशास्त्र में गंभीर चिंतन के लिये तार्किक भाववादियों को प्रेरित किया। इसमे विज्ञान की भाषात्मक अभिव्यक्तियों के रूपों का अध्ययन किया गया है। इस ग्रंथ मे रसेल ने प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र में भी नवीन खोजे की हैं। तर्कवाक्यीय व्यापार (प्रोपोजीशनल फंक्शन), वस्तुवाचक उपलक्षण (मैटीरियल इम्प्लिकेशन), अनुमान और उपलक्षण का अंतर आदि कई विषयों पर रसेल की मौलिक खोजें हैं। रसेल ने यह भी प्रमाणित किया है कि गणित तर्कशास्त्र का ही एक अंग है। (हृ० ना० मि०)

रसेल, लार्ड जॉन जन्म, १८ अगस्त, १७९२, को लंदन मे हुआ था। वे बेडफोर्ड के षष्ठ ड्यूक के तृतीय पुत्र थे। एडिनबरा विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करके सन् १८१३ में वे टेविस्टाक से संसद के लिये निर्वाचित हुए। अर्ल ग्रे के मंत्रिमंडल मे लार्ड रसेल को सेना के वेतनदाता (पेमास्टर) का पद प्राप्त हुआ। प्रथम सुधार विधेयक को बनानेवाली पाँच सदस्योंवाली सरकारी समिति के एक सदस्य वे भी थे। इस विधेयक को शाही स्वीकृति जून, १८३२, में प्राप्त हुई। मेलबोर्न के साथ जॉन रसेल ने भी अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। किंतु १८३५ ई० में पील सरकार के पतन के परिणामस्वरूप जब मेलबोर्न पुन सत्तारूढ़ हुआ तो जॉन रसेल गृहसचिव तथा लोकसभा के नेता बने। सन् १८३९ में वे उपनिवेश मंत्री थे। सन् १८४६ मे पील की पराजय हुई और जान रसेल प्रधान मंत्री निर्वाचित हुए। कई कारणो वश १८५२ में उनको पदत्याग करना पड़ा। सन् १८५५ में वे उपनिवेश मंत्री थे किंतु उसी वर्ष उन्होंने इस पद को त्याग दिया। चार वर्ष पश्चात् वे विदेश मंत्री बने।

सन् १८६५ में पामर्सटन की मृत्यु के बाद, अर्ल रसेल पुन. प्रधान मंत्री बने; किंतु नवीन सुधार विधेयक पर पराजित होने के कारण उन्होंने इस्तीफा दे दिया। २८ मई, १८७२ को उनकी मृत्यु हो गई। [ला० सिं०]

रसेल, लार्ड विलियम इसका जन्म सितंबर, १६३९, में हुआ था। ये बैडफोर्ड के पाँचवें अर्ल के तीसरे पुत्र थे। शिक्षा कैंब्रिज में प्राप्त

की। टैविस्टाक से वे लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए। सन् १६६६ में साउथैम्पटन के अर्ल की पुत्री से विवाह करने के कारण विलियम रसेल को उस मुकदमे से मुक्ति मिली जो ऋण इत्यादि के लिये न्यायालय ने उनपर चलाया था। सन् १६७४ में उन्होंने क्लैरेंडन मंत्रिमंडल के कार्यों का खंडन किया। रसेल ने फ्रांस से घूस लेनेवाले देशद्रोही मंत्रियों का विरोध किया। यार्क के ड्यूक को सरकार विरोधी बतलाकर अपना शत्रु बना लिया। हाउस ऑफ लार्ड्स में एक्सक्लूजन बिल प्रस्तुत कर उसे पारित कराने का दुराग्रह किया। राई हाउस षड्यंत्र में भाग लेने के कारण एसेक्स तथा सिडनी के साथ लार्ड रसेल भी बंदी बना लिए गए। राजद्रोह के अपराध में न्यायालय ने उनको दोषी सिद्ध किया। २१ जुलाई, १६८३ को उन्हें प्राणदंड दिया गया। [ला० सि०]

रसेश्वर दर्शन माहेश्वर दर्शनों में एक रसेश्वर दर्शन भी है। उसको माननेवाले, अन्य माहेश्वरों के समान, परमात्मा से जीव को अभिन्न मानते हैं परंतु जीवनमुक्ति की प्राप्ति के लिये पंच महाभूतों से बने हुए इस शरीर की स्थिरता आवश्यक है। यदि यह शरीर नष्ट हो जाता है तो जीवनमुक्त स्थिति का अनुभव नहीं हो सकता। अतः शरीर की स्थिरता के अनेक साधनों में पारद (रसेश्वर) को ही ये लोग प्रधान मानते हैं।

दृढ़ आत्मतत्व के साक्षात्कार से अज्ञान सर्वदा के लिये नष्ट होने पर प्रारब्ध कर्म का भोग करते हुए जो शरीर की स्थिति है उसी को जीवनमुक्ति कहते हैं। संसार से परस्थित तत्व को देनेवाला होने के कारण पारे को पारद कहते हैं। उसका एक नाम रस भी है, जिसके सेवन से परम एवं नित्य आनंद की प्राप्ति होती है। इस बात को तैत्तिरीय श्रुति ने स्पष्ट किया है 'रसो वै स' रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनंदी भवति (२, ७, १)। भाव यह है कि शरीर को दृढ़ एवं स्थिर करनेवाले साधनों मे श्रेष्ठ साधन रस अर्थात् पारा है। उसका सेवन करनेवाला मनुष्य जीवनमुक्ति का अनुभव कर आनंदयुक्त होता है।

रसार्णव ग्रंथ में लिखा है कि संपूर्ण दर्शनों में प्रायः देह नष्ट होने पर जीव मुक्त होता है, मुक्ति की यदि देह रहते अनुभूति नहीं होती तो उन दर्शनों के सिद्धांत और साधनों पर कोई विश्वास नहीं कर सकता, अतः मुक्ति की सत्यता सिद्ध होने के लिये इस देह मे उसके अनुभव का होना आवश्यक है और शरीर स्थिर नित्य करने के लिये रसों में मुख्य (रसेश्वर) याने पारद का उपयोग करना चाहिए। त्वग्, अस्थि, मांस आदि से बना हुआ यह शरीर नष्ट होगा ही, परंतु रस और अभ्रक के सेवन से बना हुआ शरीर नित्य हो जाता है। रसहृदय ग्रंथकार ने स्पष्ट लिखा है रस और अभ्रक के सेवन से जिनके शरीर दृढ़ होते हैं, संपूर्ण मंत्र उनके अधीन रहते हैं (१, ७)। रस शिव जी से और अभ्रक पार्वती से उत्पन्न हुआ है अतः उनके सेवन से मनुष्य शिव और पार्वती के समान नित्य और ज्ञानी हो जाते हैं। पारद और अभ्रक की शुद्धि के लिये उनके अठारह संस्कार करने पड़ते हैं। उन संस्कारों और उनके प्रयोग के बारे में श्री शंकराचार्य के गुरु श्री गोविंद भगवत्पाद ने विस्तृत रूप से लिखा है।

प्रथमतः पारा शुद्ध होने पर उसका लोहे पर प्रयोग करना चाहिए। यदि उसका सुवर्ण हो जाय तो फिर शरीर में उसका उपयोग करने पर आकाश में पक्षियों के समान गति होती है और सिद्ध पारे के सेवन से परम तत्व का ज्ञान भी हो जाता है।

शरीर के बिना ज्ञान नहीं होता, क्योंकि बिना शरीर से ज्ञान होने का कोई प्रमाण नहीं है। अतः शरीर पुष्ट और स्थिर करना आवश्यक है। शरीर स्थिर होने पर योगाभ्यास से परम तत्व का साक्षात्कार कर मनुष्य जीवनमुक्त बन सकता है। श्री गोविंद भगवत्पाद, मच्छिंद्रनाथ, गोरक्षनाथ आदि सिद्ध इसी प्रकार से जीवनमुक्त हुए हैं।

रसेश्वर दर्शन शैव दर्शनों में गिना जाता है क्योंकि इसके प्रवर्तक माहेश्वर शैव योगी लोग हैं, एवं उन्हीं लोगों में इसका प्रचार भी है। यद्यपि कई लोग इस दर्शन को प्रधान दर्शनों में नहीं गिनते क्योंकि इस दर्शन का अधिक संबंध शरीर से है, न कि ज्ञातव्य तत्वों से, परन्तु जैसे योग दर्शन शरीर, चित्त आदि से संबद्ध होने पर भी दर्शनों में गिना जाता है, उसी प्रकार इसकी भी गणना दर्शनों में की जा सकती है।

रसेश्वर दर्शन पर कुछ ग्रंथों तथा ग्रंथकारों के नाम ये हैं—

१. रुद्रयामल (शिवप्रोक्त); २. रसरत्नाकर (नागार्जुन) सन् ४०० के पूर्व; ३. रसहृदय (गोविंद भगवत्पादाचार्य) सन् ७८०, इसपर चतुर्भुज की बालचय बोधिका नाम की टीका है; ४. रसप्रकाश सुधाकर (यशोधर) सन् १२६०; ५. रसरत्न समुच्चय (वाग्भटाचार्य) सन् १२७५; ६. रस रत्नाकर (नित्य नाथ) सन् १३००; ७. रससार (गोविंदाचार्य) सन् १४००; ८. रसकौतुक (मल्लारी) सन् १६०४; ९. रसमंजरी (शाली नाथ) सन् १६५७; १०. रसपद्धति (महादेव), आदि। इनमें भारतीय रसशास्त्र का आदि प्रणेता, श्री शिव के अनंतर, नागार्जुन ही हुआ है। [अ० शा० फ०]

रस्किन (१८१९–१९००) रस्किन के पिता शराब के व्यापारी थे और बहुत समृद्ध थे। उनका स्वास्थ्य अच्छा न था और वे अकेली संतान थे। उन्हें नित्य बाइबिल पढ़नी होती थी। इस अभ्यास के कारण बाइबिल के गद्य का संगीत इनके मन और आत्मा में बस गया। उसी संगीत ने रस्किन के गद्य को इतना मधुर और सरस बनाया है।

रस्किन के पिता उन्हें प्रत्येक जन्मदिन पर किसी महान् कलाकार का चित्र भेंट करते थे। इस प्रकार रस्किन ने बाल्यावस्था से ही चित्रकला से प्रेम करना सीखा। रस्किन पहले चित्रकला के आलोचक के रूप में अंग्रेज पाठकसमुदाय के सामने आए, बाद में समाजशिक्षक के रूप में।

रस्किन की शिक्षा आक्सफर्ड में हुई। उनकी सब से पहली पुस्तक है 'आधुनिक चित्रकार'; पर लेखक के नाम के स्थान पर 'ऑक्सफर्ड का स्नातक' लिखा है। आधुनिक चित्रकार (माडर्न पेंटर्स) एक ग्रंथ है, जो पाँच भागों में लिखा गया है और जिसे उन्होंने सत्रह वर्षों में पूरा किया। वास्तव में यह ग्रंथ प्रसिद्ध चित्रकार टर्नर के बचाव के लिये लिखा गया था। किंतु चित्रकला संबंधी

समस्याओं पर एक व्यापक ग्रंथ बन गया। इसका पहला भाग सन् १८४३ में प्रकाशित हुआ और पाँचवाँ १८६० में।

रस्किन का अगला ग्रंथ 'स्थापत्य कला के सात दीप' १८४९ में प्रकाशित हुआ और 'वेनिस के पत्थर' १८५१–५३ में। रस्किन ने 'प्री रैफेलाइट' ग्रूप के चित्रकारों के बचाव में 'टाइम्स' को पत्र भेजे और पुस्तिकाएँ भी लिखीं।

रस्किन का रचनाकाल दो खंडों में बाँटा जाता है। पहले कालखंड में उन्होंने कला संबंधी पुस्तकें लिखीं और दूसरे में समाज संबंधी। रस्किन का विश्वास था कि स्वस्थ समाज ही स्वस्थ कला की सृष्टि कर सकता है। इस प्रकार स्वस्थ कला के स्रोत खोजते हुए रस्किन स्वभावत: स्वस्थ समाज के गुणों की विवेचना में लगे।

उन्होंने सन् १८६० में 'कौर्नहिल' नाम की पत्रिका में अर्थ संबंधी लेख लिखे और 'फ्रेजर्स' में १८६२–३ के बीच। रस्किन तत्कालीन समाज व्यवस्था पर निर्मम प्रहार कर रहे थे। इन लेखों में से कुछ (Unto This Last) संग्रह में सन् १८६२ में प्रकाशित हुए। इस विश्वविख्यात पुस्तक से महात्मा गांधी भी प्रभावित हुए थे।

रस्किन शिक्षा के राष्ट्रीय संगठन को महत्व देते थे। वे मजदूरों के हित में संस्थाएँ कायम करने के पक्ष में थे। और भी अनेक सामाजिक सुधार वे चाहते थे। उन्होंने सहकारी समितियाँ बनाईं जिनमें आदर्श जीवन बिताने की व्यवस्था थी। वे सड़कें बनाने और मजदूरों के लिये चाय की दूकानें चलाने के प्रयासों में भी लगे।

दूसरे काल की पुस्तकों में 'सिसेम ऐंड लिलीज' (Sesame and Lilies) की रचना १८६५ में हुई और दि क्राउन ऑव वाइल्ड ओलिव (The Crown of Wild Olive) की १८६६ में। उनकी आत्मकथा १८८५–९ के बीच प्रकाशित हुई। रस्किन अंग्रेजी साहित्य के गद्यकार और विचारक थे।

सं० ग्रं० — १. फ्रेडरिक हैरिसन : रस्किन; बेंसन : रस्किन; ३. पीटर क्विनैल : रस्किन। [प्र० चं० गु० [

रहस्यवाद दर्शनशास्त्र के दो प्रमुख भाग हैं, तत्वज्ञान और ज्ञानमीमांसा। तत्वज्ञान में रहस्यवाद अद्वैतवादी है। इसके अनुसार सत्ता एकरूप है; जो भेद दिखाई देते हैं, वे भ्रांति मात्र हैं। घटनाओं में पूर्व उत्तर का भेद किया जाता है; इसी भेद का एक आकार कारण-कार्य-भेद है। इस भेद को भ्रम मात्र सिद्ध करने के लिये, रहस्यवाद काल की वास्तविक सत्ता से ही इनकार करता है। गुण की दृष्टि से, कर्मों और वस्तुओं में भद्र और अभद्र, शुभ और अशुभ का भेद किया जाता है। रहस्यवाद अभद्र या अशुभ के अस्तित्व को भी अस्वीकार करता है। इसके अनुसार, अशुभ या तो आभास मात्र है, या शुभ का अनिवार्य साधन होने के कारण शुभ का अंश ही है।

ज्ञानमीमांसा में रहस्यवाद कुछ ऐसे अनुभवों का समाधान करता है, जो साधारण व्याख्या से स्पष्ट नहीं होते। विज्ञान की नींव इंद्रियदत्त बोधों पर है। बुद्धि अनुमान की सहायता से इस नींव पर एक बड़ा भवन खड़ा करती है। बाह्य जगत् विज्ञान के अध्ययन का मुख्य क्षेत्र है। इस जगत् में असंख्य पदार्थ हैं, जिनमें प्रत्येक अपनी सीमाओं में बंद है और अन्य पदार्थों से अलग है। बुद्धि ऐसे जगत् में दक्ष होती है। १९वीं शती में जैविकी ने विज्ञान की एक स्वतंत्र शाखा का पद प्राप्त किया। शापनहावर और उसके पीछे बर्गसाँ ने जीवन को दार्शनिक विवेचन का केंद्रीय विषय बनाया। जीवन देश में स्थित वस्तु नहीं। यह प्रवाह है, जिसका तत्व कालात्मक है। बुद्धि जीवन-प्रवाह को इसके वास्तविक स्वरूप में देख नहीं सकती। बर्गसाँ लिखता है—किसी वस्तु को जानने के दो अति भिन्न प्रकार होते हैं। पहले प्रकार के अनुसार हम वस्तु के गिर्द घूमते हैं, दूसरे के अनुसार उसके अंदर प्रविष्ट होते हैं। पहले प्रकार का ज्ञान उस दृष्टिकोण पर जिस पर हम स्थित होते हैं, और उन संकेतों पर जिनका हम प्रयोग करते हैं, निर्धारित होता है। दूसरे प्रकार का ज्ञान न तो किसी दृष्टिकोण पर आधारित होता है और न संकेत का आश्रय होता है। हम कह सकते हैं कि पहले प्रकार का ज्ञान सापेक्ष से आगे नहीं जाता। दूसरे प्रकार का ज्ञान, जहाँ इसकी संभावना होती है, निरपेक्ष को प्राप्त करता है।

दूसरे प्रकार के ज्ञान को बर्गसाँ अंतर्ज्योति का नाम देता है। अंतर्ज्योति ऐसा सहज ज्ञान है जिसे अपने स्वरूप का प्रतिबोध हो चुका है।

क्रियात्मक क्षेत्र में रहस्यवाद एक प्रयोजन की ओर संकेत करता है। यह प्रयोजन व्यक्ति का अपने आपको एकरूप अंतिम सत्ता में विलीन कर देना है। इस क्रिया में संसर्ग संयोग या एकत्व का रूप धारण कर लेता है। ऐसे संयोग के लिये प्रकृति से पूर्ण वियोग करना होता है। उपनिषदों के अनुसार आत्मा की प्रगति में चार पड़ाव हैं— पहले पड़ाव (जाग्रत) में व्यक्ति भौतिक पदार्थों में डूबा होता है, दूसरे पड़ाव (स्वप्न) में इन पदार्थों से संपर्क टूट जाता है, परतु उनके चित्रों से बना रहता है। सुषुप्ति में यह अस्पष्ट संपर्क भी कायम नहीं रहता, आत्मा अपने आपमें ही मस्त होता है। समाधि में अपना आपा भी भूल जाता है, और आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाता है; द्वैत रहे भी, तो इसकी अनुभूति नहीं रहती। ऐसे संयोग को प्राप्त करना रहस्यवादी का लक्ष्य है। [दी० चं०]

रांगेय राघव (१९२३-१९६२ ई०) रामानुजाचार्य परंपरा में तमिलदेशीय आयंगार ब्राह्मणकुलात्मज श्री रंगाचार्य तथा श्रीमती कनकांमा के पुत्र थे। श्री रंगाचार्य के पूर्वज लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व पहले जयपुर और फिर भरतपुर नरेश से प्राप्त 'वैर' (बयाना, राजस्थान के निकट) नामक कस्बे में जागीर पर स्थायी रूपेण रहने लगे थे। रांगेय राघव हिंदी प्रदेश में ही जन्मे किंतु उन्हें तमिल और कन्नड़ का भी ज्ञान था। उनकी शिक्षा सेंट जांस कालेज, आगरा में हुई। गोरखनाथ पर अनुसंधान करके उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

रांगेय राघव ने शताधिक ग्रंथ लिखे हैं—लगभग ४२ उपन्यास, ११ कहानीसंग्रह, १२ आलोचनात्मक ग्रंथ, ८ काव्य, ४ इतिहास, ६ समाजशास्त्र से संबंधित पुस्तकें, ५ नाटक और लगभग ५० अनूदित ग्रंथ। २० पुस्तकें अभी तक अप्रकाशित हैं।

हिंदी में राघव जी कथाकार के रूप में अधिक सफल हुए। 'मुर्दों का टीला' जैसे ऐतिहासिक और 'कब तक पुकारूँ' जैसे आंचलिक उपन्यासों में उनकी कला का सर्वोत्कृष्ट रूप दर्शनीय है। 'समाजवादी

यथार्थ' उनके उपन्यासों का विषय है—उन्होंने अनेक उपन्यासों में भारतीय इतिहास को द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से चित्रित किया है। लघु कथाओं में 'ऐयाश मुर्दे', 'देवदासी', 'अंगारे न बुझे' आदि संग्रह विशेष प्रसिद्ध हुए। कथाओं में भी लेखक का यथार्थवादी आग्रह ही सर्वत्र मिलता है, ब्रज क्षेत्र के जनजीवन को राघव जी ने बड़ी पैनी दृष्टि से अंकित किया है। रांगेय राघव प्रेमचंद की परंपरा को अधिक सूक्ष्म, अधिक विस्तृत और अधिक मनोविज्ञानपरक बनाने में सफल हुए हैं। उनका कथा साहित्य भारतीय समाज का दर्पण है।

'भारतीय परंपरा और इतिहास' और अन्य पुस्तकों में लेखक ने प्रागैतिहासिक युग से आधुनिक युग तक इतिहास और परंपराओं की भौतिकवादी व्याख्या की है। 'महायात्रा' में लेखक ने समूचे इतिहास को कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया है। उनके नाटकों के विषय भी ऐतिहासिक ही अधिक हैं, विरुद्धक, रामानुज आदि। इतिहास के प्रति इस रुचि के कारण ही रांगेय राघव अपने कथा-नाट्य-साहित्य में अन्य ऐतिहासिक उपन्यासकारों की तुलना में सामाजिक शक्तियों और मानवीय संबंधों का विश्लेषण अधिक गंभीरता से कर सके हैं।

काव्य के क्षेत्र में उनका 'मेधावी' काव्य 'हिंदुस्तानी अकादमी' से पुरस्कृत हुआ था जो कामायनी परंपरा का काव्य है, परंतु उसकी दृष्टि रहस्यवादी नहीं, जनवादी है। 'अजेय खंडहर' में 'स्तालिनग्राद' के युद्ध का रोमांचकारी वर्णन है। मृत्यु से पूर्व उनका 'उत्तरायण' महाकाव्य लिखा जा रहा था जो अपूर्ण रह गया।

राघव जी के बंगाल के अकाल पर लिखे गए रिपोर्ताज अत्यधिक मार्मिक हैं।

अनुवादों में उन्हें अपने शीघ्रतावाद के कारण उतनी सफलता नहीं मिली, विशेषकर शेक्सपियर के नाटकों के अनुवादों में, किंतु संस्कृत के अनुवाद आकर्षक हैं। मेघदूत का सचित्र अनुवाद उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

राघव जी प्रगतिवादी धारा के एक प्रमुख स्तंभ थे। किंतु वह मार्क्सवादी दर्शन को संशोधित रूप में ही स्वीकारते थे। 'कुत्सित समाजशास्त्र' के विरुद्ध उन्होंने 'प्रगतिशील साहित्य के मानदंड' में प्रबल अभियान किया है। हिंदी में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के वह सक्रिय सदस्य रहे और उसके प्रमुख पत्र 'हंस' में लिखते रहे। उन्होंने साहित्य पर राजनीतिक दलों के अंकुश को कभी स्वीकार नहीं किया। इस संबंध में उनका डा० रामविलास शर्मा से सैद्धांतिक विवाद भी चला था।

डा० रांगेय राघव ने केवल ३९ वर्ष की अवस्था में इतना अधिक कार्य किया है कि आश्चर्य होता है। [वि० ना० उ०]

राँची नगर बिहार राज्य के छोटा नागपुर पठार के २,१०० फुट ऊँचे स्थल पर बसा हुआ है। यह एक जिला भी है। १८वीं शती के प्रारंभ में कुछ गाँव और झोपड़ियाँ ही यहाँ थीं। उस समय यहाँ के निवासियों की जीविका खेती, जंगली फल मूल, पशुओं का शिकार और मछलियाँ थीं। गवर्नर जनरल के प्रथम एजेंट, कैप्टन विल्किंसन, ने १८३४ ई० में किशुनपुर गाँव में अपना कार्यालय बनाया और डोरोंडा में छावनी बनाई। तभी 'आर्ची' गाँव के नाम पर स्थान का नाम राँची पड़ा और उसका विकास शुरू हुआ। एक किंवदंती के अनुसार रंची नामक कोई आदिवासी मुंडा था जिसने एक गाँव बसाया और उसी के नाम पर इसका नाम पहले रंची पड़ा जो पीछे राँची हो गया।

गवर्नर जनरल के एजेंट पहले लोहरदगा में रहते थे। वहाँ से उनका कार्यालय १८४२ ई० में राँची चला आया। राँची स्थापित होने के कुछ ही समय पहले १८३१-३२ ई० में आदिवासी कोल लोगों ने विद्रोह कर दिया था। इससे ऐसे स्थान का होना आवश्यक था, जो केंद्र में पड़ता हो और जहाँ से आवागमन में सुविधा हो। पीछे छोटा नागपुर मंडल का राँची केंद्र बन गया। १९१४ ई० में ख्रिष्टीय प्रचारक यहाँ आए और उन्होंने आदिवासियों के बीच ख्रिष्टीय मत का प्रचार शुरू किया। बिहार प्रांत बनने के पश्चात् १९१२ ई० में बिहार सरकार की यह ग्रीष्मकालीन राजधानी बन गया। इसी वर्ष यहाँ महालेखाकार (ऐकाउंटेंट जनरल) का कार्यालय खुला। १९१४ ई० में राँची के निकट नामकुम में राज्य वैक्सीन संस्था की स्थापना हुई। पीछे इसी स्थान पर लैक रिसर्च इंस्टिट्यूट की स्थापना हुई। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् सैनिकों को रखने के लिये यह स्थान चुना गया और द्वितीय विश्वयुद्ध काल में पूर्वी कमान का प्रधान कार्यालय यहाँ स्थापित हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् आस पास में खनिजों के बाहुल्य और स्थान के स्वास्थ्यप्रद होने के कारण यह बहुत आकर्षक बन गया। इसके आसपास कोयले और लोहे की महत्वपूर्ण खानें हैं, जिससे नैशनल कोल डेवेलपमेंट कॉर्पोरेशन और हेवी मेशिनरी कॉरपोरेशन, हिंदुस्तान स्टील लिमिटेड आदि की स्थापना हुई। चेकोस्लोवाकिया की सहायता से इन्सुलेटेड पदार्थों का कारखाना डेढ़ मील लंबे और पौन मील चौड़े क्षेत्रफल में यहाँ खुला है। इस कारखाने में पाँच टन भार की ढलाई एक बार में हो सकती है। इसकी आबादी अब बढ़कर १,३९,४३७ (सन् १९६१) हो गई है। यहाँ के अधिवासी अधिकांश हिंदू और शेष में आदिवासी, मुसलमान तथा क्रिश्चियन हैं। यहाँ हिंदी के अतिरिक्त ओराँव, उर्दू, बंगाली, मुडारी आदि भाषाएँ बोली जाती हैं। यह प्रवासियों का नगर है। यहाँ के अधिवासियों की रहन सहन, संस्कार संस्कृति आदि में बहुत अंतर आ गया है।

राँची झरनों का देश है। यहाँ कई जलप्रपात अपनी मनोहरता के कारण यात्रियों को आकर्षित करते हैं। यहाँ शिक्षा का प्रचार भी बड़ी शीघ्रता से हो रहा है। विश्वविद्यालय के अतिरिक्त कई महाविद्यालय, एक मेडिकल कालेज, एक इंजीनियरी कालेज (मेसरा में), लॉ कालेज, इंजीनियरी स्कूल और अनेक विद्यालय हैं। रूस के सहयोग से भारी मेशिनरी के कारखाने के खुलने से इस नगर की रौनक और चहल पहल बहुत बढ़ गई है। शीघ्र ही, देश के बड़े औद्योगिक नगरों में इसका स्थान महत्व का हो जायगा।

राइखस्कामेरगेरिख्त (इंपीरियल चैंबर) पवित्र रोमन साम्राज्य का न्यायकक्ष था जिसने १४९५ और १८०६ ई० के बीच न्यायकार्य किया। इससे पहले के न्यायकक्ष 'होफगेरिख्त' और 'कामरगेरिख्त' सम्राट् की अध्यक्षता में कार्य करते थे, अब इस नए न्यायकक्ष की योजना सरकारी कानूनी पंडितों द्वारा संगठित हुई। इसके अध्यक्ष की नियुक्ति सम्राट् करता था पर अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति साम्राज्य द्वारा होती थी। इसके सदस्यों की संख्या प्रारंभ

में १६ थी जो रोमन कानून के विशेष जानकार होते थे। अब यह न्यायसभा सम्राट् की शक्ति से बाहर जनसभा 'डाएट' के संविधान द्वारा संघटित और संरक्षित हुई। इसके द्वारा रोमन कानून की समाराधना का प्रधान परिणाम यह हुआ कि जर्मन विधि के शरीर में रोमन कानून की आत्मा पैठी और साम्राज्य में रोमन कानून का प्राधान्य तथा प्रचार हुआ। केंद्र के साथ ही साथ साम्राज्य के विविध राज्यों ने जो इसे अपनाया तो सर्वत्र रोमन कानून का जनपदीय न्याय विधान में समावेश हो गया। यह साम्राज्य-न्यायालय जनपदीय न्यायालयों के फैसलों की अपील भी सुनता था। पर धन के अभाव से इसके न्यायकार्य में समय बहुत लगता था। [भ० श० उ०]

राइट, विल्बर (Wright, Wilbur, सन् १८६७-१९१२) तथा इनके भाई, ऑर्विल राइट (Orville Wright, सन् १८७१-१९४८) अमरीकन इंजीनियर तथा आविष्कारक थे, जिन्होंने सर्वप्रथम सफल वायुयान बनाया। इनके पिता पादरी थे, जिन्हें अपना निवास कई बार बदलना पड़ा। फलतः इनकी शिक्षा कई भिन्न स्थानों में हुई। एक दुर्घटना के कारण विल्बर लगभग आठ साल तक अपाहिज रहे। इससे इनको उच्च शिक्षा नहीं मिल सकी। सन् १८९० में ये अपने छोटे भाई को एक अखबार निकालने में सहायता देने लगे।

जर्मन इंजीनियर, ऑटो लिलिएंथाल के वायु में उड़ने के प्रयोगों के वृत्तांत पढ़कर इन्हें भी इस विषय के प्रति आकर्षण हुआ। लिलिएंथाल की मृत्यु ग्लाइडर विमान के संतुलन का यथेष्ट नियंत्रण न होने से हुई थी। वे यंत्र का संतुलन अपने शरीर को इधर उधर हटाकर उसके भार द्वारा करते थे। दोनों भाइयों ने इस रीति को अनुपयुक्त समझ ऐसी प्रणाली का विकास किया, जिसमें गुरुत्व-केंद्र स्थिर रहता था और यंत्र के विभिन्न भागों पर हवा के दबाव को घटा बढ़ाकर संतुलन स्थापित किया जाता था। यह कार्य डैनों तथा सहायी तलों के कोणों को अनुकूल कर पूरा होता था।

दोनों भाइयों ने वायुयान बनाना खेल और मनबहलाव के लिये आरंभ किया था, किंतु शीघ्र ही इसने वैज्ञानिक खोज का रूप ले लिया। इन्होंने पाया कि संबंधित वर्तमान वैज्ञानिक तथ्य और सामग्री अविश्वसनीय थे। इसलिये इन्होंने स्वयं आवश्यक प्रयोग कर सब प्रकार के तथ्य एकत्रित करने आरंभ किए। अपने प्रयत्नों में इन्हें अपूर्व सफलता मिली और सन् १९०२ में इन्होंने मोटर से चलनेवाला वायुयान बनाना प्रारंभ किया। १७ दिसंबर, १९०३ ई० को किटीहॉक नामक स्थान पर इसका सफल परीक्षण हुआ। उस परीक्षा में वह यंत्र चार बार उड़ा। पहली उड़ान में ऑर्विल १२ सेकंड तक वायु में उड़े और सबसे लंबी उड़ान केवल ५९ सेकंड की थी, किंतु इन उड़ानों से यह सिद्ध हो गया था कि हवा से कहीं अधिक भारी यंत्र में मनुष्य उड़ सकता है।

इसके पश्चात् राइट बंधु अपने वायुयान को उन्नत और अधिक उपयोगी बनाने में लगे। पाँच वर्ष के परिश्रम के पश्चात् ऑर्विल राइट ने १ घंटा १५ मिनट की उड़ान भरकर, ७७½ मील की दूरी तय की। इस आविष्कार के लिये दोनों भाइयों को विभिन्न देशों से आदर और पुरस्कार मिले, किंतु अपने आविष्कारों के स्वत्वाधिकार की रक्षा के लिये इन्हें बहुत से मुकदमे लड़ने पड़े और विपत्ति झेलनी पड़ी [भ० दा० व०]

राइन नदी यूरोप की बड़ी महत्वपूर्ण नदियों में से एक है। इसकी लंबाई ७०० मील है। स्विट्सरलैंड से निकलकर यह स्विट्सरलैंड एवं आस्ट्रिया, स्विट्सरलैंड एवं जर्मनी, जर्मनी एवं फ्रांस के मध्य सीमा का निर्माण करती है, तत्पश्चात् जर्मनी एवं हॉलैंड में बहती हुई उत्तरी सागर में विलीन हो जाती है। स्विट्सरलैंड में हिंटर राइन एवं वोरडर राइन मिलकर मुख्य राइन नदी का निर्माण करती हैं, जिसकी घाटी बुकस् (Buchs) के नीचे चौड़ी हो जाती है। बाज़ेल के बाद नदी जर्मनी में वॉज (Vosges) और ब्लैक फॉरेस्ट के गिरिपिंडों के मध्य से बहती है। हॉलैंड में इसकी दो शाखाएँ हो जाती हैं, जिनमें से एक की उपशाखा ज्यूडर ज़ी झील में गिरती है।

खनिज संपत्ति से भरपूर औद्योगिक क्षेत्र में बहने एवं संसार के सर्वाधिक व्यस्त सागर में गिरने के कारण नदी का महत्व व्यापारिक मार्ग के रूप में बहुत है। नदी बाज़ेल से मुहाने तक बिना किसी अवरोध के नाव्य है। मुहाने पर रॉटरडैम, ऐम्सटरडैम एवं ऐंटवर्प, मध्य में डूइबर्ग (Duisburg), रूरोर्ट (Ruhrort), कोलोन (Cologne) एवं ऊपरी घाटी में मैनहाइम, राइनाव (Rheinau) एवं लुटविक्सहाफेन (Ludwigshafen) आदि बंदरगाह हैं। इस नदी से आगे जानेवाले सामान का ४/५ भाग कोयला तथा लोहा एवं अनाज होता है। [सु० च० श०]

राई (Rye) का वानस्पतिक नाम सीकेल सीरिएल (Secale cereale) है। यह सीकेल वंश, सीरिएल जाति तथा ग्रामिनी (Gramineae) कुल का एक पौधा है, जो गेहूँ तथा जौ से बहुत मिलता जुलता है। पौधे की ऊँचाई चार से छह फुट तक होती है जिसके सिरे पर चार छह इंच लंबी सीकुरदार बाली लगती है, जो गेहूँ, या जौ की बाली के समान होती है। इसका दाना भी गेहूँ के दाने की भाँति, पर गेहूँ के दाने से कुछ छोटा, होता है। काला सागर तथा कैस्पियन सागर के पड़ोसी देश इसके उत्पत्तिस्थान हैं। इस अन्न का प्रधान उत्पादक रूस है। रासायनिक विश्लेषण से इसमें जल ११.६ %, प्रोटीन १०.६ %, चर्बी १.७ %, कार्बोहाइड्रेट ७२.५ % तथा अन्य पदार्थ ३.६ % पाया गया है। इससे माल्ट तथा मदिरा तैयार की जाती है।

यह गेहूँ से अधिक दृढ़ होता है तथा ठंढे देशों में इसकी खेती रेतीली, या लाल मिट्टी में की जाती है। गेहूँ की भाँति यह मान्य तथा बहुमूल्य अन्न नहीं है, परंतु उत्तरी यूरोप में खाद्य की दृष्टि से विशेष महत्ववाले पौधों में इसकी गणना की जाती है, क्योंकि शीतल जलवायु तथा हल्की मिट्टी में इसकी उपज गेहूँ की अपेक्षा अधिक होती है। इसकी अनेक किस्में हैं, परंतु इन्हें दो प्रधान वर्गों में विभाजित किया गया है : शरद् ऋतु में बोई जानेवाली तथा वसंत ऋतु में बोई जाने वाली किस्में। इसकी बोआई छिटकवाँ या सीड ड्रील द्वारा

पंक्तियों में की जाती है। प्रति एकड़ बीज की मात्रा ६० से ६० किलोग्राम होती है तथा उपज में ६०० किलोग्राम से ६०० किलोग्राम तक दाना और एक से दो टन भूसा होता है।

सं० ग्रं० — इन्साइक्लोपीडिया अमरीकाना, इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, मॉडर्न साइक्लोपीडिया ऑव ऐग्रिकल्चर।

[ज० रा० सि०]

२. राई एक प्रकार का तिलहन (Brassica nigra and Brassica alba) है, जो सरसों जाति से संबंधित है। इसका पौधा उत्तर पश्चिमी भारत में अधिकता से पैदा होता है। राई तेल निकालने तथा मसाले के रूप में खाने के उपयोग में आती है। पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान एवं बिहार के कुछ भागों में राई की खेती जाड़े की ऋतु मे होती है। इसे अकेले, अथवा गेहूँ एवं जौ में मिलाकर, किसान बोते हैं। अकेले बोने में तीन सेर एवं मिलवाँ बोने मे डेढ़ सेर बीज प्रति एकड़ बोया जाता है। बोआई अक्टूबर या शुरू नवंबर मे की जाती है। खेत की तैयारी, उस प्रधान फसल के खेत की तरह, जिसमें मिलाकर इसे बोते हैं, की जाती है। अकेले बोई हुई फसल में ५-६ जुताई एवं १०० मन गोबर की खाद प्रति एकड़ काफी होती है। दिसंबर एवं जनवरी में दो सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। राई के पौधे की पत्तियाँ मामूली आरीदार होती है। बीज छोटा एवं गोल तथा हल्के लाल रंग का होता है। पौधे ३-४ फुट ऊँचे और फलियाँ २ से २½ इंच तक लंबी होती हैं। ये सख्त होती हैं और पाला एवं बीमारियों से कम पीडित होती है। राई का मुख्य शत्रु माहू कीड़ा है, जिससे इस फसल को जनवरी-फरवरी में विशेष हानि होती है। रोकथाम करने के लिये निकोटीन सल्फेट अथवा तंबाकू एवं साबुन के विलयन का छिड़काव अधिक लाभप्रद होता है।

राई की फसल फरवरी के अंत से मध्य मार्च तक तैयार हो जाती है। पैदावार ८ से १० मन प्रति एकड़ होती है। इसमें तेल ३० से ३३ प्रति शत होता है। उत्तर प्रदेश की एक प्रसिद्ध उन्नत जाति राई नं० ११ है, जो शीघ्र उगनेवाली एवं अधिक उपज देनेवाली किस्म है। बनारसी राई मसाले के रूप में बहुत प्रयुक्त होती है। इसका दाना छोटा होता है तथा वायुविकार रोग के लिये यह अच्छी ओषधि है।

[दु० शं० ना०]

राउरकेला नगर उड़ीसा राज्य के सुंदरगढ़ जिले में स्थापित नया नगर है। इस नगर की स्थापना स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद इस्पात नगरी के रूप में हुई है। यहाँ की जनसंख्या ६०,२८७ (१९६१) थी। यहाँ का इस्पात का कारखाना जर्मन पूँजी एवं जर्मन इंजिनियरों की सहायता से स्थापित हुआ है।

राकफेलर, जान डेविडसन, जूनियर (१८७४-१९६०) अमरीका का विख्यात उद्योगपति और समाजसेवी। ब्राउन विश्वविद्यालय में शिक्षा लेने के बाद इसने अपने पिता के संरक्षण में कार्यारंभ किया। राकफेलर संस्थानों की ओर से सामाजिक कार्यों में व्यय होनेवाली पूँजी का प्रबंध करने में इसने विशेष रुचि दिखाई। पिता के देहांत के बाद भी इसने अपने जीवन में सबसे महत्वपूर्ण सेवाएँ इसी दिशा में कीं। सन् १९११ से ही उसके पिता ने अपनी संस्थाओं से अवकाश ग्रहण कर लिया था और तब से विविध संस्थाओं के नियमन का भार इसके कंधों पर पड़ा। इसने राकफेलर आयोजनाओं को सर्वथा नई रूपरेखाओं मे विकसित किया। अपनी अनेक व्यावसायिक संस्थाओं को कम करते हुए उसने समाजकल्याणप्रधान योजनाओं को प्रश्रय दिया। सन् १९१७ में राकफेलर फाउंडेशन की स्थापना हुई। इस संस्था ने अमरीकी राष्ट्र के सामाजिक हितों को पर्याप्त सहायता पहुँचाई। इस संबंध में सबसे अधिक उल्लेखनीय है राकफेलर इंस्टीट्यूट फॉर मेडिकल रिसर्च, जो राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय जनस्वास्थ्य संबंधी प्रयत्नों में अग्रणी संस्था बनी। इसकी स्थापना सन् १९०१ में हुई थी और पिता के उत्तराधिकारी के रूप मे राकफेलर इसका ट्रस्टी बना। जनरल एजूकेशन बोर्ड, समाज के शिक्षा संबंधी प्रयत्नों की प्रमुख संस्था, का यह नियामक था। सन् १९४६ मे उसने अपनी संपत्ति मे से छह विशाल इमारतें अमरीकी सरकार को प्रदान कीं जो सरकार का स्थायी प्रशासन केंद्र बनी।

[मु० रा०]

रॉकिंघम, चार्ल्स वॉटसन वेंटवर्थ (१७३०-१७८२) यह दो बार इंग्लैंड का प्रधान मंत्री चुना गया। यह निस्स्वार्थी था। इसमे योग्य और विभिन्न प्रवृत्ति के व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता थी और उनसे सहयोग प्राप्त करने की कला भी इसे ज्ञात थी। १७६५ में इसने पहला मंत्रिमंडल स्थापित किया। राजा जार्ज तृतीय के विरोध करने पर भी इसने उपनिवेशों पर लगाए गए मुद्रांक अधिनियम (Stamp Act) को रद्द कर दिया। परंतु उपनिवेश संतुष्ट नहीं हुए क्योंकि दूसरे अधिनियम द्वारा इसने ब्रिटिश संसद् की प्रभुशक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये घोषणा की कि ब्रिटिश संसद् आंतरिक और बाह्य विषयों पर कर लगाने की अधिकारिणी है।

[शु० ने०]

रॉकी पर्वत, या रॉकिज उत्तरी अमरीका के पश्चिमी भाग से सामान्यत: उत्तर-दक्षिण दिशा में अलास्का से उत्तरी न्यूमेक्सिको तक, फैली हुई पर्वतमाला का नाम है। पर्वतों की ऊँचाई १,००० फुट से १४,४३१ फुट तक है और पर्वतमाला का स्थलीय प्रसार ४,००० मील से कुछ अधिक है, यद्यपि यह विस्तार बीच बीच में खंडित होता गया है। पर्वतरचना की सभी भौमिक प्रक्रियाओं के संघात से यह श्रेणी बनी है। पर्वतखंडों का निर्माण वलन (folding), भ्रंशन (faulting) प्रायसमभूमिकरण (Peneplanation) और उत्क्षेप (uplift), प्रक्रियाओं से हुआ है। बर्फ और नदियों ने रॉकिज को नत (tilted), अंतर्भेदित (intruded), परिवर्तित और अपरदित (eroded) किया है। विभिन्न काल मे रॉकिज का ऋतु अपक्षय (weathering) हुआ है और श्रेणी के कई भागों मे ज्वालामुखी क्रिया हुई है।

इन संबद्ध पर्वतमालाओं को अलास्कन रॉकिज, कैनाडियन रॉकिज और संयुक्त राज्य, अमरीका, मे उत्तरी, मध्य और दक्षिणी रॉकी पर्वत नाम से विभक्त किया गया है। अलास्कन रॉकिज वर्ष में अधिकांश समय घने बर्फ से ढँके रहते हैं। तीव्र ढाल, बर्फानी चोटियाँ और अत्यधिक हिमनदियाँ आदि आल्पीय (Alpine) विशेषताओं के कारण कैनाडियन रॉकिज का दृश्य अत्यंत अभिराम है।

उत्तरी रॉकिज कैनाडा की सीमा पर स्थित हैं। यहाँ कई पर्वत-

श्रेणियाँ हैं, जिन्हें तीन उत्तर-दक्षिण-गामी खाइयाँ विभक्त करती हैं। मध्य रॉकिज़ येलो स्टोन नदी के दक्षिण में आरंभ होता है और मॉन्टैना (Montana) होते हुए वाइओमिंग (Wyoming) पार उत्तरी कॉलोरैडो (Colorado) और यूटा (Utah) तट तक जाता है। दक्षिणी रॉकिज़ का विस्तार उत्तरी कॉलोरैडो से न्यू मेक्सिको तक है। यहाँ पर रॉकिज़ की सबसे ऊँची बर्फानी चोटियाँ हैं और रॉकिज़ का सबसे विकसित रूप भी यहीं मिलता है। ४६ पर्वत ऐसे हैं जिनकी ऊँचाई १४,००० फुट से ज्यादा है और ३०० या अधिक पर्वतो की ऊँचाई १३,००० फुट से अधिक है।

रॉकिज़ ने अमरीका की जलवायु को बहुत प्रभावित किया है, क्योंकि ये पछुआ हवाओं को रोकते है। अनेक बड़ी नदियाँ जैसे, मिज़ूरी, आरकैनसो (Arkansas), प्लैट (Platte), रीओ ग्रैंड, कोलंबिया, कॉलोरैडो को पानी रॉकिज़ से मिलता है। रॉकी पर्वत बहुत समय तक स्थलीय यातायात में बाधक थे और इन्होने उत्तरी अमरीका को असंबद्ध खंडों में विभक्त कर रखा था। रॉकिज़ सोना, चाँदी, ताँबा और अन्य धातुओं के आगार है तथा इनकी वनभूमि में पशुधन भी अतुल है। इनमे अनेक झीलें हैं, जो जल और विद्युत् शक्ति के बड़े बड़े स्रोत हैं। [मा०]

रॉकेट वैज्ञानिक साहित्य के आधार पर रॉकेट के आविष्कार का समय एवं आविष्कारक का नाम ठीक ठीक बताना संभव नहीं है। प्राचीन काल मे लोग बारूद जैसे पाउडर का उपयोग तीर जैसे नुकीले शस्त्रों मे गति लाने के लिये करते थे। शायद इसी तथ्य की उपयोगिता 'अग्निवाण' के रूप मे विद्यमान रही हो। एक रूसी ज्ञानकोश द्वारा प्राप्य तथ्यो के आधार पर कहा जाता है कि रॉकेट की कल्पना सर्वप्रथम चीनियों ने ईसा से ३,००० वर्ष पूर्व की थी। लेकिन इसके बाद का चार हजार वर्ष इस संबंध में शांत सा जान पड़ता है। लगभग सन् १२२५ मे पुनः चीनियो ने, युद्धास्त्रो के रूप में, रॉकटो का उपयोग किया। तत्पश्चात् चीन में सन् १२३२ में रॉकेटो का उपयोग मंगोल सेनाओ के विरुद्ध किया था। फिर इस तरह का रॉकेटविज्ञान भारत, अरब, ग्रीस, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड आदि देशो मे करीब सन् १२७५ तक फैल गया। इटली मे रॉकेट का सर्वप्रथम प्रयोग सन् १२८१ मे फोर्ली (इमिला) नामक स्थान पर हुआ। साथ ही रॉकेट आतिशबाजी के क्षेत्र मे भी मनोरंजन के साधन बनते गए और इनका महत्व इस क्षेत्र मे ही बढ़ता गया। लगभग ५०० वर्ष बाद भारत मे अंग्रेज सेना के विरुद्ध रॉकेट पुन युद्धास्त्र के रूप मे प्रयुक्त हुए। सन १८०४ में इस तरह के प्रयोगों से इंग्लैंड का एक सैनिक अधिकारी, सर विलियम कांग्रीव, काफी प्रभावित हुआ और इस तरह के रॉकेट अस्त्रों का निर्माण प्रारंभ कर दिया गया, किंतु रॉकेट अस्त्र अधिक विश्वसनीय साबित न हो सके, क्योंकि अधिकांश परिस्थितियो मे इनका निशाना ठीक नहीं होता था। फलस्वरूप रायफल, गन तथा तोप के आगे रॉकेट अस्त्रों का महत्व लुप्त सा हो गया।

१९वीं सदी के अंतिम एवं बीसवी सदी के प्रारंभिक वर्षों में अंतरिक्ष अनुसंधान के लिये पुनः रॉकेट का विकास हुआ। साइरेनो-डी-बर्जिरेक के काल्पनिक रॉकेटचालित यान एवं जूली वेर्न के काल्पनिक कथानायक चंद्रयात्री साकार से होने लगे। सन् १९०३ में रूस के जिओल्कोवस्की ने अपनी पुस्तक में ऐसे रॉकेट के निर्माण का सुझाव दिया जिसमे ईंधन के लिये किरासन तेल तथा द्रव ऑक्सीजन का उपयोग किया जा सकता था, परंतु आधुनिक रॉकेट राबर्ट एच० गॉडर्ड (Robert H. Goddard) के अनुसंधान कार्य का ही परिणाम है। उन्होंने बहुत से पाउडर जैसे रॉकेट ईंधनों का आविष्कार किया, परतु अंतरिक्ष यात्रा के स्वप्नों के पूर्वाचल में ही प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया, जिससे अंतरिक्षयात्रा का महान् स्वप्न भंग हो गया।

उन्ही दिनों अमरीकन गवर्नमेंट ने फौजी आवश्यकताओं के लिये अधिक रेंज के रॉकेटों के निर्माण हेतु गॉडर्ड को धन प्रदान किया। नवम्बर, १९१८ ई० मे गॉडर्ड एवं हिकमैन (C. N. Hickman) ने सिंगल चार्ज 'रॉकेट' (४०% नाइट्रोग्लिसरीन + ६०% नाइट्रोसेलुलोस वाले) का प्रदर्शन ऐबर्डीन (Aberdeen) के मैदान में किया।

दूसरे विश्वयुद्ध के वर्षों पूर्व जर्मनो, रूसियो एवं अंग्रेजों ने रॉकेट अस्त्रों का विकास कर लिया था। जर्मनो ने द्रव ईंधन का प्रयोग कर वी-२ रॉकेटो का निर्माण किया और अक्टूबर, १९४२, को उन्हें छोड़कर विश्व को चकित कर दिया। ये करीब ३,६०० मील प्रति घंटे की चमत्कारिक गति से करीब ६० मील की ऊँचाई तक पहुँचे और लगभग १२ टन वजनी, ४६ फुट लंबे एवं ५ फुट व्यास के होते थे। इनमे प्रयुक्त द्रव ईंधन मे ७,६०० पाउंड ऐलकोहॉल एवं ११,००० पाउंड द्रव ऑक्सीजन था।

रॉकेट के मूलभूत सिद्धांत — संवेग अविनाशिता का सिद्धांत एवं गति संबंधी न्यूटन के तीसरे नियम पर ही रॉकेट के मूलभूत सिद्धांत आधारित है। न्यूटन के नियम के अनुसार, प्रत्येक क्रिया की उसके बराबर एवं उल्टी दिशा मे प्रतिक्रिया होती है। साधारण बंदूक से जब गोली छूटती है, तब उसी क्षण बंदूक को उल्टी दिशा में धक्का लगता है। इसी प्रकार जब आतिशबाजी के बाण की पूँछ में भरी बारूद को दागते है, तब धड़ाके के साथ बारूद जलती है एवं उस विस्फोट से उत्पन्न तप्त गैसें पूँछ से बाहर तेजी के साथ भागती है और प्रतिक्रिया बल उल्टी दिशा में बाण को वेग प्रदान करता है। इसी तरह जब रॉकेट में भी रखे हुए विस्फोटक पदार्थों का विस्फोट कराया जाता है, तब उत्पन्न हुई तप्त गैसें, अधिक ताप एवं दबाव पर, तीव्र वेग से चंचु (nozzle) के रास्ते बाहर, पीछे की दिशा में भागती हैं और परिणामस्वरूप रॉकेट को आगे बढ़ने के लिये प्रतिक्रिया बल मिलता है।

किसी भी रॉकेट में संपूर्ण ईंधन की मात्रा से प्राप्त संवेग का मान स्थिर होता है। यदि M_o रॉकेट एवं उसमें रखे ईंधनो की मात्रा (प्रज्वलन के पूर्व), M_e प्रज्वलन के बाद रॉकेट की मात्रा, 'C' तप्त गैसों का प्रभावी निकास वेग, V_o ईंधनों के प्रज्वलन के पूर्व रॉकेट का वेग एवं V दहन के बाद रॉकेट का वेग हो, तो यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि : $V = V_o + C \log_e M_o/M_e$। हवा के घर्षणबल एवं पृथ्वी के गुरुत्व-बल के कारण रॉकेट का वास्तविक वेग V से थोड़ा कम ही होगा। अधिक परास के प्रभावशाली रॉकेटों के निर्माण हेतु तप्त गैसों का प्रभावी निकास वेग (C) एवं मात्रा अनुपात (M_o/M_e) का उच्चमान होना चाहिए।

ईंधनो के प्रज्वलन गति एवं तप्त गैसों के निकास वेग द्वारा रॉकेट का प्रणोद (thrust) ज्ञात किया जा सकता है। यदि F रॉकेट का प्रणोद, M_p ईंधनों की मात्रा, एवं t ईंधनों के प्रज्वलन का समय हो, तो यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि $F = M_p . C/t$। सैद्धांतिक रूप से यह भी प्रदर्शित किया जा सकता है कि सर्वोच्च प्रणोदमान उसी समय प्राप्त होगा जब तप्त गैसें उच्च दाब से निर्वात में निकलती हों।

अनुसंधानों द्वारा ज्ञात किया गया है कि रॉकेट का वेग बढ़ाने के लिये निम्न दो उपाय काम में लाए जा सकते हैं :

(१) रॉकेट में रखे विस्फोटक पदार्थों की मात्रा बढ़ाई जाय, एवं (२) विस्फोटक पदार्थों का किस्म ऐसा हो जिससे C का मान बहुत अधिक हो। रॉकेट-ईंधनो के मँहगे होने से पहला तरीका फजूल-खर्ची का है। अतः कोशिश रहती है कि दूसरा तरीका ही अपनाया जाय। हिसाब लगाया गया है कि यदि रॉकेट का वेग C से तीन गुना करना हो, तो रॉकेट पर लादे गए ईंधनों का भार खाली रॉकेट के भार का १९ गुना होना चाहिए। यही कारण है कि रॉकेट काफी भारी भरकम होते हैं।

रॉकेट ईंधन — रॉकेट को दो प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है : ठोस ईंधन रॉकेट एवं द्रव ईंधन रॉकेट। ठोस ईंधन (बारूद, गंधक, कार्बन और पोटैशियम नाइट्रेट) रॉकेट के धड़ में रखा रहता है। ठोस ईंधन के साथ साथ परक्लोरेट भी रखा रहता है, जिससे विस्फोट के लिये ऑक्सीजन प्राप्त हो सके। परक्लोरेट ऑक्सीकारक का कार्य करता है। जब ईंधन प्रज्वलित किया जाता है, तब ऑक्सीजन और कार्बन मिलकर कार्बन डाइ-ऑक्साइड बनता है और साथ ही पोटैशियम नाइट्रेट के अणुओं के टूटने से नाइट्रोजन मुक्त हो जाता है। यही गैसें रॉकेट के चंचु से बाहर, ऊँचे वेग से निकलती हैं और तब प्रतिक्रिया बल पाकर रॉकेट ऊपर को उठता है। ठोस ईंधन के प्रयोग में एक भारी असुविधा यह है कि प्रज्वलन क्रिया पर कोई नियंत्रण नहीं किया जा सकता है। सारा ईंधन खतम होने तक रॉकेट इंजन चालू रहता है। चित्र १. में ठोस ईंधन रॉकेट की आवश्यक रूपरेखा प्रदर्शित है।
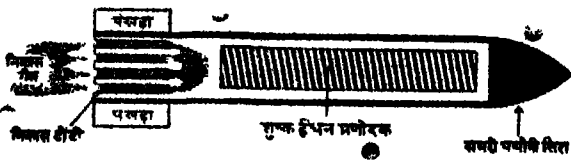
चित्र १. ठोस ईंधन वाला रॉकेट

द्रव ईंधन रॉकेट में मुख्यतया ऐल्कोहॉल, द्रव हाइड्रोजन, पेट्रोल और किरासिन उपयोग मे लाए जाते है। ये द्रव ईंधन रॉकेट में बने हुए एक कक्ष में रखे जाते हैं तथा इनके प्रज्वलन के लिये ऑक्सी-कारक, जैसे द्रव ऑक्सीजन, दूसरे कक्ष मे रखा जाता है। नियंत्रित रूप में ऊँची दाब की वायु के जोर से ईंधन एवं ऑक्सीकारक प्रज्वलन कक्ष में भेजे जाते हैं, जहाँ विद्युत् चिनगारी से प्रज्वलन क्रिया कराई जाती है। चित्र २. में द्रव ईंधन रॉकेट की आवश्यक रूपरेखा दी गई है।

एक से अधिक सोपान के रॉकेट — एक सोपान के रॉकेटों से अधिकतम वेग कुछ हजार मील प्रति घंटे के करीब का ही प्राप्त हो सकता है। अंतरिक्ष अनुसंधान एवं चाँद-सितारों की यात्राओं के लिये १८,००० मील प्रति घंटा, अथवा इससे भी ऊपर के वेग आवश्यक होंगे। उदाहरणार्थ भू-उपग्रह स्थापित करने के लिये रॉकेट का वेग १८,००० मील प्रति घंटा होना चाहिए। पृथ्वी के गुरुत्व बल को परास्त कर
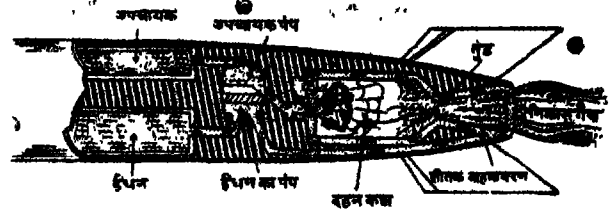
चित्र २. द्रव ईंधन वाला रॉकेट

पलायन वेग प्राप्त करने के लिये २५,००० मील प्रति घंटे का वेग आवश्यक होगा। समस्याओं को अमरीका एवं रूस के इंजीनियरों ने सफलतापूर्वक हल किया है। उन्होंने दो या तीन रॉकेट एक दूसरे के पीछे जोड़ दिए। यदि दो रॉकेट जोड़े गए हों, तो दो सोपानों का रॉकेट, या द्विखंडी रॉकेट, कहलाता है और इसी तरह तीन रॉकेटों से बने हुए रॉकेट को त्रिखंडी रॉकेट कहते हैं। सबसे पहले नीचे का प्रथम सोपान वाला रॉकेट दगता है और ऊपर के रॉकेट को लिये हुए यह आकाश में ऊपर उठ जाता है। प्रथम रॉकेट का ईंधन जब समाप्त हो चुकता है, तब ठीक उसी क्षण द्वितीय सोपान का रॉकेट स्वचालित यंत्रों द्वारा अपने आप दग जाता है और तब यह प्रथम सोपान के रॉकेट की गोद से ऊपर उठ जाता है। प्रथम सोपान का रॉकेट थोड़ी देर बाद नीचे गिर जाता है। इसी तरह द्वितीय सोपान के रॉकेट का ईंधन जिस क्षण समाप्त होता है ठीक उसी क्षण तृतीय का रॉकेट दगता है और द्वितीय सोपान के रॉकेट की गोद से यह ऊपर उठ जाता है। फल यह होता है कि इस रीति से तृतीय सोपान के रॉकेट को करीब १८ हजार मील प्रति घंटे का वेग प्राप्त हो जाता है। चार, या पाँच खंडवाले रॉकेट द्वारा २५,००० मील प्रति घंटे का भी वेग प्राप्त किया जा सकता है।

बर्जिरेक तथा जूली वेर्न की कल्पनाएँ यथार्थ की ओर – विज्ञान का सबसे बड़ा आश्चर्य, रूसी रॉकेट 'ल्यूनिक–१', २ जनवरी, १९५९ को छोड़ा गया था, जो चंद्रमा के निकट से गुजरता हुआ एक दम आगे बढ़ गया और सूर्य की पकड़ में आकर उसी की परिक्रमा करने-वाला ग्रह बन गया। निस्संदेह रूस का यह सूर्य-राकेट 'ल्यूनिक-१' बीसवी सदी की वैज्ञानिक सामर्थ्य का एक महान् प्रतीक है। इसके पूर्व कोई भी आकाशयान पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होकर बाहर नही जा सका था। तदुपरांत रूस ने पुनः अपना चंद्र रॉकेट 'ल्यूनिक-२' छोड़ा, जो अपनी ३४ घंटे की उड़ान के बाद चंद्रमा के पूर्वनिश्चित स्थल पर पहुँच गया। फिर ४ अक्टूबर, १९५९, को 'ल्यूनिक-३' छोड़ा गया, जिससे चंद्रमा के अदृश्य भाग का चित्र लिया जा सका। १२ अप्रैल, १९६१, को रूस ने 'वोस्तोक-१' छोड़ा, जिसमें दुनिया का सर्वप्रथम अंतरिक्ष यात्री मेजर यूरी ऐलेक्सीविच गागारिन बैठा था। फिर तो इस तरह की, एवं इससे भी बड़े पैमाने की, कई यात्राएँ अमरीका एवं रूस के साहसी उड़ाकों ने कीं।

भविष्य के रॉकेट — यातायात के क्षेत्र में परमाणु ऊर्जा का उपयोग सफलतापूर्वक प्रारंभ किया जा चुका है। अमरीका एवं रूस

ने कई पनडुब्बियाँ तैयार की हैं, जिनके इंजन परमाणु शक्ति पर ही आधारित हैं। स्वाभाविक ही था कि रॉकेटों लिये भी परमाणु ऊर्जा को काम में लाने की बात सोची जाय। 'आयन' एवं 'फोटॉन' रॉकेटों की कल्पना परमाणु ऊर्जा के उपयोग से ही की जा रही है। गणना-

चित्र ३. तीन सोपानवाले राकेट द्वारा पृथ्वी से चंद्रमा तक यात्रा और वापसी

बाएँ : झ. रॉकेट का प्रस्थान, ज. प्रथम सोपानकक्ष का त्याग, छ. द्वितीय सोपानकक्ष का प्रज्वलन, च. निकास टावर का त्याग, घ. द्वितीय सोपानकक्ष का त्याग, ग. तृतीय सोपानकक्ष तथा अंतरिक्षयान का पृथ्वी की कक्षा में स्थापन, ख, तृतीय सोपानकक्ष अंतरिक्षयान को पृथ्वी की कक्षा से चंद्रमा के प्रक्षेपपथ पर फेंकता है तथा क. तृतीय सोपानकक्ष का त्याग; मध्य में ऊपर : क. घूर्णन द्वारा अग्रस्थ पुच्छ स्थिति, ख, प्रतिवर्ती विस्फोट से गति धीमी हो जाने के कारण अंतरिक्षयान चंद्रमा की कक्षा में स्थापित हो जाता है, ग. चंद्रपर्यटन के लिये लघुयान अलग होकर चंद्रमा पर उतरता है तथा घ. आदेशक एवं सेवकयान चंद्रकक्षा मे रह जाता है; मध्य में नीचे : घ. आज्ञा को कार्यान्वित करानेवाला यान कक्षा में, ग. लघुयान से संमिलन, ख. अंतरिक्षयान रिक्त लघु यान को, जो चंद्रकक्षा में रह जाता है, त्याग देता है तथा क. अंतरिक्ष यान पृथ्वी की ओर घूमकर चलता है; दाहिने : क. सेवकयान अलग हो जाता है, ख. आदेशकयान घूम जाता है, ग. आदेशकयान का पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश, घ. गतिरोधक पैराशूट का खुलना, च. मुख्य पैराशूट का खुलना, तथा छ. पृथ्वी पर आगमन और पैराशूट से निस्तार।

नुसार 'आयन राकेट' थोड़े ही ईंधन से काफी अर्से तक चालू रखे जा सकते हैं, परंतु इनमें प्राप्त प्रतिक्रिया-बल रासायनिक ईंधनों की अपेक्षा कम ही होगा। अतः स्पष्ट है कि आयन-इंजन रासायनिक इंजनों के सहायक के रूप में प्रयुक्त हो सकता है। अंतरिक्ष में रॉकेट के पहुँच जाने के बाद आयन इंजन को चालू कर रॉकेट को काफी लंबे समय तक चलाया जाना संभव होगा और इच्छानुसार वेग एवं दिशा पर नियंत्रण रखा जाना संभव होगा।

अधिकांश सितारों की दूरियाँ कई प्रकाशवर्षों में हैं। अतः सितारों की दुनियाँ में पहुँचने के लिये ऐसे रॉकेटों का उपयोग जरूरी होगा जिनका वेग आजकल के रॉकेटों की अपेक्षा बहुत ही अधिक हो। वैज्ञानिकों ने सोचा कि संसार में महत्तम वेग प्रकाश-कणिकाओं, फोटॉनों (photons), का ही है, तो क्यों न हम अपने रॉकेट इंजन में फोटॉनों का ही उपयोग करें। 'फोटॉन' कणों की बौछार प्रकाश के वेग (१ लाख ८६ हजार मील प्रति सेकंड) से पीछे की ओर जायेगी, तो रॉकेट को आगे बढ़ने के लिये तीव्र वेग मिलेगा। हो सकता है, दो चार वर्षों के अंदर अंदर 'फोटॉन' राकेट अंतरिक्ष

की लंबी मंजिलों की यात्रा के लिये प्रयुक्त होने लगें। इनका वेग लगभग डेढ़ लाख मील प्रति सेकंड होगा। रूस एवं अमरीका इस क्षेत्र में काफी प्रयत्नशील हैं। [शु० प्र० मि०]

राखालदास बंद्योपाध्याय (आर० डी० बनर्जी, १८८५-१९३०) प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ एवं इतिहासकार, जो भारतीय पुराविदों के उस समूह में से थे जिसमें से अधिकांश ने २०वीं शती के प्रथम चरण में तत्कालीन भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के महानिदेशक जॉन मार्शल के सहयोगी के रूप में पुरातात्विक उत्खनन, शोध तथा स्मारकों के संरक्षण में यथेष्ट ख्याति अर्जित की थी।

राखालदास का जन्म मुर्शिदाबाद में हुआ था। प्रेसिडेंसी कॉलिज (कलकत्ता) में अध्ययन करते समय ये महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री तथा बँगला लेखक श्री रामेंद्रसुंदर त्रिपाठी और फिर तत्कालीन बँगाल सर्किल (मंडल) के पुरातत्व अधीक्षक डॉ० ब्लॉख के संपर्क में आए। इसी समय से बंद्योपाध्याय महोदय डॉ० ब्लॉख के अवैतनिक सहकारी के रूप मे अन्वेषणों तथा उत्खननों में काम करने लगे थे। १९०७ ई० में बी० ए० (आनर्स) करने पर इनकी नियुक्ति प्रांतीय संग्रहालय, लखनऊ, के सूचीपत्र बनाने के लिये हुई। इसी बीच इन्होंने कुछ महत्वपूर्ण इतिहास संबंधी लेख भी लिखे। सन् १९१० में एम० ए० करने के उपरांत ये उत्खनन सहायक (भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण) के पद पर नियुक्त हुए और लगभग एक वर्ष तक इन्होंने कलकत्ता स्थित इंडियन म्यूजियम में कार्य किया। १९१७ में इन्होंने पूना में पुरातत्व सर्वेक्षण के पश्चिमी मंडल के अधीक्षक के रूप में कार्य किया। लगभग ६ वर्षों तक महाराष्ट्र, गुजरात, सिंध तथा राजस्थान एवं मध्यप्रदेश की देशी रियासतों में पुरातत्व विषयक जो महत्वपूर्ण काम किए उनका विवरण 'एनुअल रिपोर्ट्स ऑव द आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया' (पुरातत्व सर्वेक्षण की वार्षिक रिपोर्ट) में उपलब्ध है। भूमरा (मध्य प्रदेश) के उल्लेखनीय प्राचीन गुप्तयुगीन मंदिर तथा मध्यकालीन हैहय-कलचुरी-स्मारकों संबंधी शोध राखाल बाबू द्वारा इसी कार्यकाल में किए गए; किंतु उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य था १९२२ में एक बौद्ध स्तूप की खुदाई के सिलसिले में मोहनजोदरो की प्राचीन सभ्यता की खोज। इसके अतिरिक्त उन्होने पूना में पेशवाओं के राजप्रासाद का उत्खनन कर पुरातत्व और इतिहास की भग्न शृंखला को भी जोड़ने का प्रयत्न किया।

१९२४ में राखालदास महोदय का स्थानांतरण पुरातत्व सर्वेक्षण के पूर्वी मंडल (कलकत्ता) में हो गया, जहाँ वे लगभग दो वर्ष रहे। इस छोटी सी अवधि में उन्होने पहाड़पुर (जि० राजशाही, पूर्वी बंगाल) के प्राचीन मंदिर का उल्लेखयोग्य उत्खनन करवाया। १९२६ में कुछ प्रशासकीय कारणों से वंद्योपाध्याय को सरकारी सेवा से अवकाश ग्रहण करना पड़ा।

तत्पश्चात् वे बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास के 'मनींद्र नंदी प्राध्यापक' पद पर अधिष्ठित हुए और १९३० में अपनी मृत्यु तक इसी पद पर रहे। जीवन के अंतिम वर्षों में वंद्योपाध्याय महाशय की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं रही, यद्यपि उनका लेखन और शोध सुचारु रूप से चलता रहा। 'हिस्ट्री ऑव ओरिसा', जो उनकी मृत्यु के बाद ही पूरी छपी, राखाल बाबू के अंतिम दिनों की ही कृति है।

सफल पुराविद् तथा इतिहासकार के अतिरिक्त राखालदास श्रेष्ठ साहित्यकार भी थे। बँगला मे रचित उनके ऐतिहासिक इतिवृत्तों का संग्रह 'पाषाणेर कथा', 'धर्मपाल', 'करुणा', 'मयूख', 'शशांक', ध्रुवा, लुत्फुल्ला, और 'असीम' आदि उपन्यास उनकी बहुमुखी प्रतिभा के द्योतक हैं। राखालदास के कुछ उल्लेखनीय ग्रंथ ये हैं—१, दि पालज ऑव बंगाल (मेम्वायर्स ऑव दि एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल, जि० ५, सं० ३). २. बाँगलार इतिहास (कलकत्ता) ३. द ओरिजिन ऑव बंगाली स्क्रिप्ट (कलकत्ता १९१९); ४. दि हैहयज ऑव त्रिपुरी ऐंड देयर मानुमेंट्स (मेम्वायर्स ऑव दि आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया २३); ५, बास रिलीवस् ऑव बादामी (मे० आर्क्यो० स० इंडि० २५); ६. शिव टेंपुल ऑव भूमरा (मे० आर्क्यो० स० इंडि० १६); ७ दि एज आव इंपीरियल गुप्तज (बनारस १९३१) ८. ईस्टर्न स्कूल ऑव मेडीवल स्कल्पचर (कलकत्ता १९३३); ९. हिस्ट्री ऑव ओरिसा (दो खंड) [मु० चं० जो०]

राजकुमारी अमृत कौर का जन्म २ फरवरी, १८८९ को उत्तर प्रदेश राज्य के लखनऊ नगर में हुआ था। इनकी उच्च शिक्षा इंगलैंड मे हुई। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से एम० ए० पास करने के उपरांत वह भारत वापस लौटी।

वह पर्याप्त समय तक भारत सरकार की एडवाइजरी बोर्ड ऑव एजूकेशन की सदस्या रहीं। वह महात्मा गांधी की अनुगामिनी तथा १६ वर्ष तक उनकी सचिव रही।

१९४५ मे यूनेस्को की बैठकों में संमिलित होने के लिये जो भारतीय प्रतिनिधि दल लंदन गया था, राजकुमारी अमृत कौर उसकी उपनेत्री थी। १९४६ में जब यह प्रतिनिधिमंडल यूनेस्को की सभाओं में भाग लेने के लिये पेरिस गया, तब भी वे इसकी उपनेत्री (डिप्टी लीडर) थी। १९४८ और १९४९ में वह 'आल इंडिया कान्फ्रेंस ऑव सोशल वर्क' की अध्यक्षा रहीं। १९५० ई० में वह वर्ल्ड हेल्थ असेंबली की अध्यक्षा निर्वाचित हुई।

१९४७ से १९५७ ई० तक वह भारत सरकार की स्वास्थ्य मंत्रिणी रही। १९५७ ई० में नई दिल्ली में उन्नीसवीं इंटरनेशनल रेडक्रास कान्फ्रेंस राजकुमारी अमृत कौर की अध्यक्षता मे हुई। १९५० ई० से १९६४ ई० तक वह लीग ऑव रेडक्रास सोसाइटीज की सहायक अध्यक्षा रहीं। वह १९४८ ई० से १९६४ तक सेंट जॉन एमबुलेंस ब्रिगेड की चीफ कमिश्नर तथा इंडियन कौंसिल ऑव चाइल्ड वेलफेयर की मुख्य अधिकारिणी रही। साथ ही वह आल इंडिया इंस्टीट्यूट ऑव मेडिकल साइंस की अध्यक्षा भी रहीं।

राजकुमारी को खेलों से बड़ा प्रेम था। नेशनल स्पोर्ट्स क्लब ऑव इंडिया की स्थापना इन्होंने की थी और इस क्लब की वह अध्यक्षा शुरू से रहीं। उनको टेनिस खेलने का बड़ा शौक था। कई बार टेनिस चैंपियनशिप उनको मिली।

वे ट्यूबरक्यूलोसिस एसोसियेशन ऑव इंडिया तथा हिंद कुष्ट निवारण संघ की आरंभ से अध्यक्षा रही थीं। वे गांधी स्मारक

निधि और जलियानवाला बाग नेशनल मेमोरियल ट्रस्ट की ट्रस्टी, कौंसिल ऑव साइंटिफिक तथा इंडस्ट्रियल रिसर्च की गवर्निंग बाडी की सदस्या, तथा दिल्ली म्यूजिक सोसाइटी की अध्यक्षा थीं।

राजकुमारी एक प्रसिद्ध विदुषी महिला थीं। उन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय, स्मिथ कालेज, वेस्टर्न कालेज, मेकमरे कालेज आदि से डाक्ट्रेट मिली थी। उन्हें फूलों से तथा बच्चों से बड़ा प्रेम था। वे बिल्कुल शाकाहारी थीं और सादगी से जीवन व्यतीत करती थीं। बाइबिल के अतिरिक्त व रामायण और गीता को भी प्रति दिन पढ़ती थीं। इन तीनों पुस्तकों के पढ़ने से उन्हें शांति मिलती थी।

उनकी मृत्यु ६ फरवरी, १९६४ को दिल्ली में हुई। उनकी इच्छा के अनुसार उनको दफनाया नहीं गया, बल्कि जलाया गया।

[मि० च०]

राजकोट १. **जिला**, यह भारत के गुजरात राज्य का जिला है। इसका क्षेत्रफल ४,५८८ वर्ग मील तथा जनसंख्या १२,०८,५१६ (सन् १९६१) है। वर्तमान जिला पुरानी रियासत का आधुनिक रूप है। जिले की औसत वार्षिक वर्षा २० से २५ इंच है। अप्रैल, मई और अक्टूबर मे यहाँ गरमी रहती है। यहाँ की जलवायु स्वास्थ्यवर्धक है।

२. **नगर**, स्थिति . २२° १८' उ० अ० तथा ७०° ४६' पू० दे०। यह नगर उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक केंद्र है। सौराष्ट्र विश्वविद्यालय का प्रधान कार्यालय इसी नगर मे है। नगर अजय नदी के किनारे स्थित है। नगर मे कई महत्वपूर्ण शिक्षा संस्थाएँ हैं, जिनमें राजकुमार कॉलेज अपने ढंग का अकेला विद्यालय है। नगर की जनसंख्या १,९८,१४५ (सन् १९६१) है। [अ० ना० मे०]

राजगढ़ १. **जिला**, भारत के मध्यप्रदेश राज्य में, राजस्थान की सीमा पर एक जिला है, जिसका क्षेत्रफल, २,३८३ वर्ग मील तथा जनसंख्या ५,१६,८७१ (१९६१) है। राजगढ़ का अधिकतर भाग पहाड़ी है। यहाँ काली मिट्टी की अधिकता है। वनो में खैर, बोर, करोंदी, रेड तथा धो के झाड़ है। यहाँ गोंद, शहद, मोम, लाख, घास और तेंदू की पत्ती का ठीका होता है। इन वनो मे चंदन के वृक्षों के समूह शासन की संपत्ति माने जाते हैं। यहाँ की जलवायु सम है। वर्षा की मात्रा विभिन्न भागों में वर्ष भर में २९ से ५३ इंच तक है। यहाँ का कुछ ही भाग सिंचित और शेष असिंचित है। जिले के लगभग आधे भूभाग में खेती होती है। यहाँ कपास से बिनोला अलग करने, चमड़ा पकाने एवं चीनी निर्माण के कारखाने हैं। शिक्षा की पर्याप्त व्यवस्था नहीं है। इस जिले में कई स्थानों पर विशाल किले एवं महल है, जिनमे नरसिंहगढ का किला तथा पाटन, राजगढ़ और खिलचीपुर के महल उल्लेखनीय हैं। मुगलकालीन बहुत सी भग्न इमारतें तथा बौद्ध एवं जैन मूर्तियाँ भी कई स्थानो पर पाई गई हैं।

२. **नगर**, स्थिति : २४° उ० अ० तथा ७६° ४०' पू० दे०। राजगढ़ नगर उज्जैन मे ८५ मील उत्तर पूर्व में स्थित, राजगढ़ जिले का प्रशासनिक केंद्र है। नगर कृषि उपज, गेहूँ, ज्वार एवं बाजरा, की मंडी है। यहाँ एक कॉलेज एवं वन विभाग का कार्यालय है। यह नगर इसी नाम की देशी रियासत की राजधानी रह चुका है।

[रा० प्र० सिं०[

राजगिर या राजगृह पटने से लगभग ६० मील पूर्व में एक दर्शनीय स्थान है। महाभारत काल में यह जरासंध की राजधानी था। उसके महलों और अखाड़े के खंडहर आज भी वहाँ बतलाए जाते हैं। बौद्ध काल में बिंबिसार ने इसे मगध राज्य की राजधानी बनाया था। बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु के समय में राजधानी राजगिर से पटना चली गई। राजगिर में तीर्थंकर महावीर और गौतम बुद्ध बहुत दिन तक रहे थे। गौतम बुद्ध अपना वर्षाकाल यहीं बिताते थे। गौतम बुद्ध के महानिर्वाण के बाद बौद्धों की प्रथम सभा इसी स्थान पर हुई थी। इसी के निकट नेज भडार में गौतम बुद्ध के जीवनकाल में भी बौद्धों की एक सभा हुई थी। अत राजगिर बौद्धों और जैनियों का प्रसिद्ध तीर्थ है। हिंदुओं का भी राजगिर तीर्थस्थान है। पुरुषोत्तम मास में सनातनधर्मी यात्री मास भर तक यहाँ आते रहते हैं और कुंडों में स्नान करते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी राजगिर उत्तम स्थल है। यहाँ के गरम जल के कुडो में स्नान करने से अनेक रोग, विशेषत: चर्मरोग और वातरोग, दूर हो जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि गरम कुंडो के जल मे गंधक है। पहले यहाँ ठहरने का कोई विशेष प्रबंध नहीं था, पर अब अनेक धर्मशालाएँ, विश्रामघर, अतिथिघर और होटल बन गए हैं।

कुंड — राजगिर मे अनेक कुंड, कुछ तो गरम जल के और कुछ ठंडे जल के, हैं। ऐसा कहा जाता है कि गौतम बुद्ध इन कुडो में स्नान करते थे। इन कुडो में ब्रह्मकुड, व्यासकुड, गंगा-जमुना-कुंड, अनंतकुंड, सप्तधारा तथा काशीधारा अधिक महत्व के है। एक छोटी नदी, 'सरस्वती', भी यहाँ बहती है। सरस्वती नदी से आधे मील की दूरी पर एक दूसरी नदी वैतरणी है, जिसके तट पर पितरो को पिंडदान दिया जाता है।

मंदिर — ब्रह्मकुंड के समीप हंसतीर्थ पर कई देवताओं की मूर्तियाँ हैं। ब्रह्मकुंड के दक्षिण में शिवमंदिर है। ब्रह्मकुंड के पश्चिम में दत्तात्रेय मंडप में कई देवमूर्तियाँ है। मार्कंडेयकुंड के दक्षिण में कामाक्षी मंदिर है। वैतरणी नदी के तट पर माधव के और महादेव के मंदिर हैं। नदी और गोदावरी धारा के संगम पर जरादेवी का मंदिर है, जिसके बारे में कहा जाता है कि जरासंध इसी देवी का पूजन करता था। एक समय राजगिर में १८ बौद्ध विहार थे, जिनका अस्तित्व आज नहीं है। यहाँ बौद्धों के कई मंदिर है, जिनमें बर्मा, जापान, थाईलैंड इत्यादि के मंदिर प्रमुख हैं। आसपास की पहाड़ियों पर जैनियो के अनेक मंदिर है।

पर्वतमालाएँ — राजगिर मे अनेक पर्वतमालाएँ हैं, जिनमें वैभार पर्वत पर पाँच जैन मंदिर और सोमनाथ-सिद्धनाथ शिवलिंग हैं। विपुलाचल पर्वत पर चार जैन मंदिर और एक गणेश मंदिर है। रत्नगिरि पर्वत पर एक जैन मंदिर है, जिसमें मुनिसुव्रतनाथ आदि के चरण चिह्न हैं। उदयगिरि पर्वत पर दो जैन मंदिर तथा दो चरणपादुकाएँ हैं। यहाँ नाटकेश्वर महादेव का मंदिर भी है। स्वर्णगिरि पर, जिसे श्रमणगिरि भी कहते है, दो जैन मंदिर है। अन्य दर्शनीय स्थानो में तपोवन, गिरिव्रज, गृद्धकूट, जहाँ गौतम बुद्ध वर्षा काल बिताते थे, अधिक उल्लेखनीय हैं। आसपास की भूमि बड़ी उपजाऊ है और बिहार का सर्वश्रेष्ठ धान इसी भूमि में उपजता है। सिलाव का खिउरा सुप्रसिद्ध है। राजगिर के आसपास की

पहाड़ियों को राजगिर पहाड़ी कहते हैं। इन पहाड़ियों की औसत ऊँचाई लगभग एक हजार फुट है। सबसे ऊँची पहाड़ी १,४६२ फुट की है। इसी पहाड़ी की घाटियों में प्राचीन राजगिर नगर बसा था। पहाड़ी में बौद्ध काल की बनी कई गुफाएँ हैं। [फू० स० ब०]

राजगीरी पत्थर या ईंट की चिनाई करनेवालों को राज कहते हैं और उनका काम व्यापक अर्थ में राजगीरी कहलाता है, किंतु व्यवहार में राजगीरी शब्द का प्रयोग प्राय: पत्थर की चिनाई के लिये ही हुआ करता है। ईंट का काम ईंट चिनाई ही कहा जाता है।

आदि मानव द्वारा निर्मित अनगढ़ी रचनाएँ तो शायद आदि काल से ही बनती रही होंगी, किंतु पत्थर का ऐसा काम जिसे राजगीरी कहा जा सकता है, अवश्य ही सभ्यता के विकास के साथ आया। राजगीरी के सबसे पुराने नमूने भारत और मिस्र के मंदिरों में मिलते हैं। इन प्राचीन संरचनाओं में से अनेक में बहुत बड़े बड़े पत्थर लगे हैं, जिन्हें देखकर आज आश्चर्य होता है कि हमारे पूर्वज उस युग में भी सात सात, आठ आठ सौ टन वजन के पत्थर न केवल खानों से निकालते थे, अपितु उन्हें बहुत ऊँचे उठाकर इमारतों में भी लगा लेते थे। यह सब कैसे किया जाता था, इसका भेद अभी तक नहीं मिल पाया।

अति प्राचीन राजगीरी में प्राय: हथौड़े की गढ़ाई ही मिलती है, छेनी या टाँकी की नहीं। गढ़ने और लगाने की विधियाँ प्राय: ऐसी ही थीं, जैसी आज कल हैं; अलबत्ता ढुलाई की असुविधा के कारण छोटे छोटे पत्थर ही प्राय: लगाए जाते थे। टाँकी की गढ़ाई जब होने लगी तब तो ऐसी कला प्रादुर्भूत हुई, जिसे देखकर ऐसा लगता है कि वास्तुकला यदि पत्थर की न होती तो शायद बोल ही पड़ती।

उपकरण — राजगीरी के उपकरण मोटे तौर से पाँच वर्गों में बाँटे जा सकते हैं: हथौड़े तथा मुँगरियाँ, आरे, छेनियाँ, निशानबंदी तथा स्थापन के औजार और उठाने के उपकरण।

भिन्न भिन्न प्रकार के काम के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के हथौड़े होते हैं, जैसे, घन, इमारती हथौड़ा, कोरदार हथौड़ा, नुकीला हथौड़ा, सूतकी छोटा हथौड़ा, बसूली, तेशी आदि। लकड़ी के हथौड़े, अर्थात् मुँगरियाँ भी कई आकार प्रकार की होती हैं।

खान से निकाला हुआ ताजा पत्थर नरम होता है और आसानी से कट जाता है। हाथ का आरा नरम पत्थर, जैसे पोरबंदर का चूने का पत्थर, काटने के काम आता है। यह बढ़ई के आरे जैसा ही होता है। बड़े बड़े खंड काटने के लिये दोहत्थी आरे होते हैं। बहुत बड़े खंड ढाँचायुक्त आरों से काटे जाते हैं। ये आरे ४ फुट से १५ फुट तक लंबे होते हैं और रस्सियों द्वारा गिरियों से लटकाए जाते हैं, ताकि चलानेवालों को उनका वजन न सँभालना पड़े। काटने का पत्ता सादे इस्पात का होता है, जिसमें दाँते बने होते हैं। कटाई करते समय पानी के साथ साथ बालू डाली जाती है। पानी स्नेहन का काम करता है, और बालू काटती है।

छेनियाँ या टाँकियाँ हथौड़े से भी अधिक प्रकार की होती हैं, जैसे, छोटी, बड़ी, दाँतेदार, सपाट अर्थात् चौरस, मोटी, पैनी, तेज, चौड़ी, सँकरी, नुकीली आदि। नुकीली टाँकी सुम्मा कहलाती है। बहुत बड़ी टाँकी सब्बल कहलाती है, जो किसी हद तक अपने वजन के कारण हथौड़े की चोटों की अपेक्षा नहीं रखती। इससे सुरंग लगाने के लिये बड़े पत्थर में छेद किए जाते हैं। बड़े पत्थर उठाने के लिये उत्थापक (लीवर) का काम भी इससे ले लिया जाता है।

निशानबंदी तथा स्थापन के औजार पत्थर की चिनाई के लिये भी वैसे ही होते हैं जैसे ईंट चिनाई के लिये, यथा कन्नी या करनी, सूत, साहुल, गुनिया, गज, पारा लेबिल या तलमापी, पाटा आदि।

पत्थर उठाने के उपकरण विशेष प्रकार के होते हैं, जो बड़े बड़े पत्थर उठाकर यथास्थान रखने के काम आते हैं। डोली या ल्यूइस, चुटकी या निपर्स, और गंत्री इस संबंध में उल्लेखनीय हैं ('**पाड़ बँधाई**' भी देखें)।

पकाई — खान से निकाले हुए ताजे पत्थर में रस बहुत होता है; इसलिये उसकी गढ़ाई आसानी से हो जाती है। हवा खाने पर रस सूख जाता है और पत्थर कठोर हो जाता है। खान पर ही गढ़ाई करने से अवांछित भार भी निकल जाता है और ढुलाई का व्यय भी घट जाता है। किंतु यह आवश्यक है कि इमारत में लगने से पहले पत्थर भली भाँति हवा खा ले, जिससे वह पककर मजबूत हो ले। संत पाल (लंदन) के बड़े गिरजाघर के वास्तुक, सर क्रिस्टोफर रेन, ने इस संबंध में यह शर्त रखी थी कि खान से निकलने के बाद ३ साल तक पत्थर समुद्रतट पर खुला पड़ा रहे, तब कहीं वह गिरजे में लगने योग्य समझा जायगा।

स्थापन — पत्थर जमाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि संधियाँ सही सही रखी जाएँ और सतह समतल हो। सतह उभरी हुई हो तो संधियाँ चौड़ी होती हैं। पत्थर भी डगमगाता रह सकता है। कत्तल लगा लगाकर इस प्रकार के पत्थर जमाना उचित नहीं है। सतह अवतल हो तो कोरों पर जोर पड़ता है, जिससे वह चटक सकती है और पपड़ी उखड़ सकती है। टूटी फूटी कोरोंवाले पत्थरों की चिनाई खराब दिखाई पड़ती है। बड़े बड़े पत्थर मसाले में जमाने से पहले सूखे ही यथास्थान रखकर देख लेना चाहिए कि ठीक बैठ जाते हैं कि नहीं। यह सावधानी रखनी चाहिए कि पत्थर टूटने न पाए और न पपड़ी ही उखड़े, क्योंकि फिर उसकी मरम्मत नहीं हो सकती। पत्थर सदा इस प्रकार जमाना चाहिए कि भार सदा प्राकृतिक नितल पर लंबवत् ही पड़े। इस प्रकार जहाँ केवल ऊर्ध्वाधर भार ही आता हो वहाँ पत्थर की प्राकृतिक परतें क्षैतिज रहनी चाहिए। लंबे खंभों आदि में लगाने के लिये उपयुक्त मोटाई की तह में से काटकर निकाला हुआ पत्थर छाँट लेना चाहिए। चिनाई में मसाला कम से कम लगाना चाहिए, किंतु संधियाँ पोली न रहनी चाहिए। यदि मुलायम किस्म का पत्थर हो, जैसे कच्चा बलुआ पत्थर या चूने का पत्थर, तो किसी भी पत्थर की लंबाई उसकी मोटाई के तीन गुने से अधिक न होनी चाहिए।

बंध — राजगीरी में उचित बंध का बहुत महत्व है। संगीन चिनाई में तो एक एक खंड भली भाँति बंधन में रहता है। वास्तुशिल्पी इसकी एक एक संधि का स्थान निश्चित कर देते हैं। ढोका चिनाई में टोड़े या धुर पत्थर लगाकर बंधन प्राप्त किया जाता है। धुर पत्थर आगे से पीछे तक काफी मोटे और चौड़े होने चाहिए। आम तौर से चौड़ाई ऊँचाई से ड्योढ़ी हो, और दीवार की सतह पर

इनका क्षेत्रफल सारे क्षेत्रफल के १/८ से १/४ तक होना चाहिए। रद्देदार चिनाई में ये प्रायः पाँच पाँच फुट की दूरी पर लगाए जाते हैं, और प्रत्येक रद्दे में स्थान बदल बदलकर विषम स्थिति में रखे जाते हैं।

जब संगीन चिनाई केवल सामने ही सामने होती है, तो वह ४" से ६" तक गहरी जाती है। दीवार का शेष भाग ईंट चिनाई या ढोका चिनाई से ही बनाया जाता है। प्रायः इसपर पलस्तर कर दिया जाता है। सामने की और पुश्त की, दोनों चिनाइयों में उचित बंध रखना आवश्यक होता है।

राजगीरी के प्रकार — ढोका चिनाई प्रायः दो प्रकार की होती है : रद्देदार चिनाई और बेरद्दा चिनाई। रद्देदार चिनाई में कभी कभी कुछ थोड़ा बहुत गढ़कर चौरस किए हुए पत्थर लगाए जाते हैं। इसे रद्देदार, चौरस, ढोका चिनाई कहते हैं। दूसरी रद्देदार, अनगढ़, ढोका चिनाई कहलाती है। बेरद्दा चिनाई तो अनगढ़ ढोकों की ही होती है।

संगीन चिनाई भी पत्थर की गढ़ाई के अनुसार कई प्रकार की होती है। पत्थर की सभी सतहें टाँकी से बहुत बारीक गढ़ी हों, और संधियाँ १/८" से अधिक मोटी न हों, तो वह बारीक संगीन चिनाई कहलाती है। यदि गढ़ाई बहुत बारीक न हो और संधियाँ १/४" मोटी हों, तो वह 'अधगढ़ संगीन चिनाई' होती है। कभी कभी इसके पत्थरों की बाहरी सतहों पर बारीक गढ़ाई करके एक हाशिया सा बना दिया जाता है और हाशिए के बीच का भाग अनगढ़ा ही छोड़ दिया जाता है। यह 'अनगढ़ संगीन चिनाई' कहलाती है; किंतु यदि पत्थरों की कोरों में लगभग एक इंच गहराई तक सलामी कर दी जाती है, अर्थात् पख मार दी जाती है, तो वह 'पखदार संगीन चिनाई' हो जाती है। कभी कभी दीवार के सिरों पर, या कभी कभी बीच में भी, स्तंभों के रूप में संगीन चिनाई करके शेष भाग में अनगढ़ पत्थरों की चिनाई के दिल्हे से बना दिए जाते हैं, जिसके रद्दे संगीन चिनाई के रद्दों से कम ऊँचे रहते हैं। दिल्हों की यह चिनाई 'पिंडक चिनाई' कहलाती है।

ईंट चिनाई — चूँकि एक स्थान पर लगनेवाली ईंटें प्रायः एक जैसी होती है, इसलिये ईंट चिनाई के लिये अनेक प्रकार के बंध, या चालें, प्रयुक्त होती हैं। प्रत्येक चाल में यह ध्यान रखा जाता है कि खड़ी संधियाँ एक दूसरी के ऊपर न पड़ें, बल्कि कम से कम इतना हटकर हों जितना ईंट की लंबाई का चौथाई होता है। इतना दबाव प्राप्त करने के लिये प्रत्येक एकांतर रद्दे में किनारेवाले टोड़े के बाद एक डेली छोड़ी जाती है जो चौथाई ईंट के बराबर चौड़ी होती है।

बंधों, अर्थात् चालों, में सबसे अधिक प्रचलन टोड़ा-पट्टी चाल का है, जिसे अंग्रेजी चाल भी कहते हैं। इसमें टोड़ों ही टोड़ों के और पट्टियों ही पट्टियों के एक एक रद्दे क्रमशः एक दूसरे के बाद आते हैं। पट्टियों के रद्दों में भी, जहाँ कहीं भरती की आवश्यकता होती है, केवल टोड़े ही भरे जाते हैं। भीतर पट्टियाँ न भरनी पड़ें, इस उद्देश्य से डेढ़, ढाई, साढ़े तीन ईंट आदि की चिनाई में प्रत्येक रद्दे में एक ओर पट्टी की चाल होती है तो दूसरी ओर टोड़े की।

दूसरी चाल, जो अधिक प्रचलित है, फ्लेमिश चाल है। इसमें प्रत्येक रद्दे में एकांतर क्रम से टोड़े और पट्टियाँ रखी जाती है। दीवार के दोनों ओर से फ्लेमिश चाल दीखता हो तो वह दोहरी फ्लेमिश कहलाती है। इसमें भीतरी संधियों के कुछ अंश सभी रद्दों में एक दूसरे के ऊपर ही आते हैं। इसलिये टोड़ा-पट्टी की चाल की अपेक्षा यह मजबूत कुछ कम होती है, यद्यपि दर्शनीय अधिक होती है। कभी कभी मजबूती और दर्शनीयता का समन्वय करते हुए, सामने की ओर फ्लेमिश और पुश्त में टोड़ा-पट्टी की चाल चली जाती है। इसे इकहरी फ्लेमिश चाल कहते हैं।

आधी ईंट की दीवार में टोड़े नहीं लग सकते; अतः इसमें प्रत्येक रद्दे में पट्टियाँ ही पट्टियाँ जोड़ काटकर रखी जाती हैं। यह पट्टी चाल कहलाती है। बहुत चौड़ी दीवार में भरती केवल टोड़ों की ही होने से, लंबाई की दिशा में दीवार कुछ कमजोर रह जाती है। इसलिये हर तीन चार रद्दों के बाद, एक रद्दे की भरती में, ईंटें तिरछी रख दी जाती हैं। इसे विकर्ण चाल कहते हैं। यदि सारी ईंटें एक ही दिशा में तिरछी न करके, एकांतर से समकोण पर घुमा घुमा कर लहरें जैसी बना दी जायँ, तो वह लहरिया चाल हो जाती है।

ईंट-चिनाई में भी संधियाँ यथासंभव कम चौड़ी होनी चाहिए। प्रथम श्रेणी की चिनाई वह है जिसमें संधियां १/४ इंच ही चौड़ी हों। द्वितीय श्रेणी की चिनाई में संधियाँ ३/८ इंच तक मोटी और तृतीय श्रेणी की चिनाई में संधियाँ असमान और १/२ इंच तक मोटी हो सकती हैं। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ईंटों के दिल्हे ऊपर की ओर हों, ताकि उनमें मसाला भली भाँति भर जाय और चिनाई पोली न रह जाय।

राजगीरी संबंधी कुछ पारिभाषिक शब्द — अनेक पारिभाषिक शब्द राजगीरी में प्रायः एक जैसे अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, जैसे चिनाई चाहे पत्थर की हो या ईंट की। दीवार की सामने दिखलाई पड़नेवाली खड़ी सतह सामना कहलाती है, और उसकी पीछे की ओर की खड़ी सतह पुश्त। दीवार के बीच का भाग, जो सामना और पुश्त के मध्य में होता है, भरती कहलाता है। पत्थर (या ईंट) की नीचेवाली सतह, जिसके बल वह रद्दे में बैठता है, नितल कहलाती है। पत्थर के बाहर की वे सतहें जो सामना और नितल के लंबवत् होती हैं, 'पार्श्व' कहलाती है। मसाले के क्षैतिज जोड़, या वे जोड़ जिनपर भार लंबवत् पड़ता है, नितल संधियाँ हैं, और जो जोड़ नितल संधियों तथा सामना के लंबवत् होते हैं, पार्श्व संधियाँ, या केवल संधियाँ कहलाते हैं।

पत्थर का वह खंड, या ईंट, जिसकी लंबाई सामने पर लंबवत् पड़ती है, टोड़ा और जिसकी लंबाई सामने के समांतर पड़ती है, पट्टी कहलाता है। धुर पत्थर वह है जो दीवार के सामने से पुश्त तक जाय। कोनिया, या कोण पिंडक, वे ईंटें या खंड हैं जो किसी रचना में दीवारों के बाहरी कोनों पर लगते है। कोनिया के पश्चात् टोड़ों के रद्दों मे एक टुकड़ा लगाना पड़ता है, जिससे आगे ईंट रखने पर संधि दब जाय और चढ़ाव मिल जाय। यह टुकड़ा डेली कहलाता है। यदि ईंट लंबाई की दिशा में इस प्रकार काटी

जाय कि प्रत्येक खंड की चौड़ाई पूरी ईंट की चौड़ाई की आधी रह जाय, तो वह खंड माथा ढेली होगा, किंतु यदि खंड की चौड़ाई एक ओर तो पूरी हो और दूसरी ओर आधी, तो वह नर ढेली कहलाएगा। खंडा ईंट का आधा होता है, जिसकी चौड़ाई पूरी ईंट की चौड़ाई के बराबर होती है। कसल वे छोटे छोटे टुकड़े हैं, जो चिनाई के भीतर की खाली जगह भरने के काम आते हैं। ईंट की एक सतह पर प्राय: एक गड्ढा बना रहता है, जिसमें निर्माता अपना नाम और संवत् आदि लिख देते हैं, इसे दिल्हा कहते हैं। दिल्हे से ईंट का वजन कुछ कम हो जाता है और मसाले से उसकी पकड़ बढ़ जाती है।

चिनाई की प्रत्येक क्षैतिज परत, जो दो क्रमागत नितल संधियों के बीच में होती है, रद्दा कहलाती है। प्रत्येक रद्दे में पत्थरों, या ईंटों के रखने की विशिष्ट व्यवस्था, जिससे वे परस्पर भली भाँति बँधे रहें, बंध या चाल कहलाती है। किंगरी रद्दा आगे निकला हुआ क्षैतिज रद्दा है, जिसके कारण बारिश का पानी नीचे की दीवार की सतह पर बहने नहीं पाता। यह प्राय: अलंकरणयुक्त होता है और प्रत्येक छावनतल पर लगाया जाता है। ओलती रद्दा सबसे ऊपरी रद्दा है, जो छत के ओलती सिरे के नीचे होता है। निकसा रद्दा प्राय: किसी संरचनात्मक आवश्यकता की पूर्ति के लिये, जैसे दासा आदि रखने के लिये, दीवार से कुछ बाहर निकलता हुआ लगाया जाता है। मुंडेर छत से ऊपर या पुल की पाटन से ऊपर उठाई हुई नीची दीवार को कहते हैं। शीर्षिका दीवार का सबसे ऊपरी रद्दा है, जो खुला हुआ होता है और वर्षा के पानी से नीचे की दीवार की रक्षा करता है। अपने उद्देश्य में सफल होने के लिये शीर्षिका की चौड़ाई दीवार की चौड़ाई से प्राय: कुछ अधिक रखी जाती है और बढ़े हुए भागों में नीचे की ओर कभी कभी तोता या टपक बना दिया जाता है, ताकि पानी दीवार की सतह पर न बहकर उससे दूर ही टपके। इनकी ऊपर की सतह भी कभी कभी बीच से दोनों ओर को ढालू रखी जाती है। गोलार्ध, या कमानीदार, या अन्य अनेक प्रकार की काटवाली शीर्षिकाएँ भी होती हैं। कार्निस अलंकरणयुक्त बाहर निकलता हुआ रद्दा है, जो प्राय: छत के पास होता है। दाब रद्दा कार्निस के ऊपर लगा हुआ वह रद्दा है जो उसे दबाए रहता है, ताकि दीवार से बाहर निकली होने के कारण कार्निस पलटकर गिर न जाय।

किसी दरवाजे, या मोखे, की बगलें पाखा कहलाती हैं। ये प्राय: गुनियावत, किंतु कभी कभी तिरछी भी होती हैं। इन्हीं में दरवाजे, या खिड़कियों की चौखटें कसी जाती हैं। मोखों की नीचेवाली सतह देहल कहलाती है। इसीपर चौखटें खड़ी की जाती हैं।

खंभ, या खंभा, किसी धरन, या सरदल को आलंब देनेवाला खड़ा अवयव है, जो तलचित्र में वर्गाकार, आयताकार, वृत्ताकार, या बहुभुजी हो सकता है। किसी दीवार में जुड़ा हुआ और उसकी सतह से कुछ थोड़ा सा आगे निकला हुआ खंभा भित्तिस्तंभ कहलाता है। किसी पुल का पाटन सँभालनेवाले बीच के अवयव पाये और किनारेवाले अंत्याधार, या पीलपाये कहलाते हैं। ढालदार, या सीढ़ीदार, चिनाई, जो किसी लंबी दीवार से आगे निकली रहती है और उसे किसी डाट या छत की ठेल के विरुद्ध अगली सहारा देती है, पुश्ता कहलाती है। डाट के बीच के पत्थर को चाभी कहते हैं, और अन्य पत्थर डाटपत्थर कहलाते हैं। (देखें डाटदार पुल)। [वि० प्र० गु०]

राजद्रोह सामान्य भाषा में किसी सार्वभौम प्रमुख की सुरक्षा पर अतिक्रमण करने का अपराध राजद्रोह (Treason) कहलाता है। राजद्रोह के दंड की व्यवस्था राज्य की कल्पन का आवश्यक अंग है। अत: प्राय: सभी देशों ने अपने इतिहास के प्रारंभिक काल से विधान या अभिसमय (Convention) द्वारा राजद्रोह के दंड की व्यवस्था कर ली थी।

प्राचीन काल में राजद्रोह का व्यापक अर्थ लगाया जाता था और इसमें बाह्य शत्रु के साथ मिलकर देश के प्रति विश्वासघात करना तथा देश की सुरक्षा पर अतिक्रमण करनेवाला अपराध अंतर्हित था। स्पष्ट परिभाषा के अभाव से इसका निर्वचन राजा तथा उसके निर्णायकों की इच्छा पर अवलंबित था। चूंकि सिद्धदोष अपराधी की संपत्ति भी जब्त हो जाती थी, अत: आर्थिक लाभ के लिये भी कई राजाओं ने इस विधान का दुरुपयोग किया।

इंगलैंड में १३५१ के राजद्रोह अधिनियम द्वारा इस अपराध की स्पष्ट परिभाषा की गई। इसके द्वारा निम्नलिखित अपराधों को राजद्रोह माना गया — (१) राजा, रानी या उनके उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र की हत्या करना या हत्या का प्रयास करना, (२) देश के अंदर राजा के विरुद्ध विद्रोह करना, (३) राजा के शत्रुओं की सहायता करना, (४) राजा की मुहर या उसके सिक्कों की नकल करना और जाली मोहर या सिक्के बनाना, (५) वित्त मंत्री (Chanceller), कोषाध्यक्ष या राज्य के किसी भी न्यायाधीश का वध करना, (६) राजा की पत्नी, या उसकी ज्येष्ठ अविवाहिता पुत्री या उसके ज्येष्ठ और उत्तराधिकारी पुत्र की पत्नी पर बलात्कार करना।

इस अधिनियम में रोमन और जर्मन विधानों का स्पष्ट प्रभाव था। बाद में १८३२ में जाली सिक्के और मुहर बनाना राजद्रोह के अपराधों में से हटा दिया गया। इस बीच में कई अन्य अपराध राजद्रोह के अंतर्गत जोड़े गए पर बाद में वे सब हटा दिए गए और अब १३५१ का अधिनियम ही राजद्रोह की परिभाषा का आधार माना जाता है।

चूंकि इंगलैंड के प्रारंभिक इतिहास में राजद्रोह के अपराध की आड़ में कई अत्याचार किए गए थे, अत: संयुक्त राज्य अमरीका ने अपने संविधान में राजद्रोह की स्पष्ट परिभाषा की है। इसके अनुसार संयुक्त राज्य के विरुद्ध युद्ध करना या उनके शत्रुओं की सहायता करना ही राजद्रोह माना जायगा। बिना दो साक्षियों की गवाही के या किसी खुले न्यायालय में स्वयं अपराध स्वीकार करने के, किसी व्यक्ति पर राजद्रोह का अपराध सिद्ध नहीं माना जा सकता। राजद्रोह का दंड वहाँ की केंद्रीय व्यवस्थापिका निर्धारित करेगी। राजद्रोह की इस परिभाषा को अमरीका की व्यवस्थापिका नहीं बदल सकती।

सदा से ही राजद्रोह के लिये बहुत कठोर दंड की व्यवस्था रही है। इंगलैंड में राजद्रोही को फाँसी के तख्ते पर लटकाया जाता था

और पूर्ण रूप से प्राण निकलने के पहले ही उसे उतारकर उसकी आँतें बाहर निकाल ली जाती थीं और फिर उसके शरीर को चार भागों में काटा जाता था। स्त्रियों को जलाने की व्यवस्था थी। १८७० के बाद से शरीर को चार भागों में काटना आदि बंद हो गया और केवल फाँसी पर लटकाने की व्यवस्था की गई। राजद्रोही की संपत्ति भी जब्त करना बंद कर दिया गया। भारतवर्ष के इतिहास में भी राजद्रोह के कठोर दंड के कई उदाहरण मिलते हैं, जैसे हाथ, पावँ, नाक, कान काटकर गंगा में बहा देना या हाथी के पाँव के नीचे कुचलवा देना आदि।

देश की शांति का अतिक्रमण भी राजद्रोह (Sedition) के अंतर्गत आ जाता है। यह समाज के विरुद्ध अपराध है और इसके अंतर्गत वे सब कार्य आ जाते हैं जो बोलने, कार्य करने या लिखने द्वारा देश की शांति भंग करने में सहायक हों। यह अपराध कुछ निम्न कोटि का है और इसका उद्देश्य संविधान तथा सरकार के प्रति असंतोष और विद्रोह की भावना फैलाना है। भारत में इसका उल्लेख भारतीय दंडसंहिता की धारा १२४ में है। इसका दंड आजीवन कारावास या तीन साल अथवा पाँच साल का कारावास है जिसके साथ जुरमाना भी जोड़ा जा सकता है।

चूँकि देश और राज्य एक ही तत्व हैं, अत. प्राय. देशद्रोह ही राजद्रोह भी होता है। परंतु परतंत्र देशों और उपनिवेशों में देश और सरकार के विभिन्न होने के कारण वैधानिक सरकार के विरुद्ध जनता का विद्रोह देशद्रोह नहीं माना जायगा। [स० मो०]

राजनयिक दूत (Diplomatic Envoys) राजनयिक दूत संप्रभु राज्य या देश द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि होते हैं, जो अन्य राष्ट्र, अंतरराष्ट्रीय संमेलन अथवा अंतरराष्ट्रीय संस्था में अपने देश का प्रतिनिधित्व करते हैं। वर्तमान अंतरराष्ट्रीय विधि का प्रचलन आरंभ होने के बहुत पूर्व से ही रोम, चीन, यूनान और भारत आदि देशों में एक राज्य से दूसरे राज्य में दूत भेजने की प्रथा प्रचलित थी। रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र और 'नीतिवाक्यामृत' मे प्राचीन भारत में प्रचलित दूतव्यवस्था का विवरण मिलता है। इस काल में दूत अधिकांशत: अवसरविशेष पर अथवा कार्यविशेष के लिये ही भेजे जाते थे। यूरोप में रोमन साम्राज्य के पतन के उपरांत छिन्न भिन्न दूतव्यवस्था का पुनरारंभ चौदहवीं शताब्दी में इटली के स्वतंत्र राज्यों एवं पोप द्वारा दूत भेजने से हुआ। स्थायी राजदूत को भेजने की नियमित प्रथा का श्रीगणेश इटली के गणतंत्रों एवं फ्रांस के सम्राट् लुई ग्यारहवें ने किया। सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक दूतव्यवस्था यूरोप के अधिकांश देशों में प्रचलित हो गई थी।

अंतरराष्ट्रीय विधि के अनुसार कोई भी राज्य या देश अन्य राज्यों से दौत्य संबंध स्थापित करने के लिये बाध्य नहीं है, परंतु अंतरराष्ट्रीय जगत् में उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पारस्परिक संबंध एवं सापेक्ष्य के कारण प्रत्येक राष्ट्र के लिये अन्य राष्ट्रों से दौत्य संबंध स्थापित करना उपयोगी सिद्ध होता है। दौत्य संबंध स्थापित करने का अधिकार केवल संप्रभु राष्ट्रों को ही है परंतु विशेष परिस्थितियों में यह अधिकार अर्धसंप्रभु और अधीनस्थ राज्यों को भी दिया जा सकता है। पोप और संयुक्त राष्ट्र यद्यपि राज्य की कोटि में नहीं आते तथापि दौत्य संबंध स्थापित करने का उनका अधिकार सर्वस्वीकृत है।

मध्यकालीन यूरोप में दूतों की वरिष्ठता और पौर्वापर्यक्रम के प्रश्नों पर बहुधा विवाद होता था अतएव वियेना की कांग्रेस ने १८१५ में दूतों को तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया। १८१८ मे एक्स-ला-शैपल की कांग्रेस ने एक चौथी श्रेणी जोड़ दी। तदनुसार वरिष्ठता के क्रम से दूतों के चार वर्ग हैं—

(१) राजदूत (Ambassadors), (२) पूर्णशक्तियुक्त महादूत तथा असाधारण दूत (Ministers Plenipotentiory & Envoys extraordinary), (३) निवासीमंत्री (Ministers Resident), (४) कार्यभारवाहक (Charges de' affaires)। औपचारिकता एवं शिष्टाचार के अतिरिक्त इस वर्गीकरण का अब कोई महत्व नहीं है। राष्ट्रमंडल के सदस्य राष्ट्रों के बीच परस्पर भेजे जानेवाले दूत 'उच्चायुक्त' कहे जाते हैं।

एक राष्ट्र में स्थित विदेशों के राजनयिक दूतों के समूह को 'राजनयिक निकाय' (Diplomatic corps) कहते हैं। इसमें वरिष्ठतम दूत को 'दूतशिरोमणि' (Doyen) कहते हैं। राजनयिक निकाय दूतों के संमान एवं उन्मुक्तियों के पालन का ध्यान रखता है।

नियुक्ति के समय प्रत्येक दूत को राज्य या राष्ट्र का अध्यक्ष एक मुद्रांकित 'प्रत्ययपत्र' (Letter of credence) प्रदान करता है, जिसे दूत प्रत्यातित राष्ट्र के अध्यक्ष को औपचारिक समारोह में स्वयं देता है। संधिवार्ता आदि के लिये नियुक्त दूत को एक 'पूर्णाधिकारपत्र' भी दिया जाता है। कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से दौत्य संबंध स्वीकार करने को बाध्य नहीं है परंतु प्रश्न विशेष पर वार्ताहेतु आए दूत को स्वीकार न करना उस प्रश्न पर वार्ता न करने के निश्चय का द्योतक है। व्यक्तिविशेष को अन्य राष्ट्र के दूत रूप में ग्रहण न करना उसी दशा में उचित होगा जब अपने चरित्र, प्रत्यातित राष्ट्र के प्रति व्यक्त विचार अथवा प्रत्यातित राष्ट्र का नागरिक होने के कारण वह व्यक्ति ग्राह्य न हो।

अस्थायी राजनयिक दूत, समारोह अथवा अंतरराष्ट्रीय संमेलन में, अपने देश का प्रतिनिधित्व करने के लिये अथवा प्रश्नविशेष पर वार्ता के लिये भेजे जाते हैं। उनके कृत्य और अधिकार उसी प्रयोजन तक सीमित रहते हैं। स्थायी राजदूतों की कार्यपरिधि बहुत विस्तृत है। दूत अपने राष्ट्र की नीति का आधिकारिक प्रवक्ता है और वह दोनों के बीच समस्त वार्ता संवहन एवं संपर्क का माध्यम होता है। अपने राष्ट्र की कीर्ति बढ़ाना एवं विदेशी राष्ट्र में स्वदेश के प्रति सद्भावना बढ़ाना उसका कर्तव्य है। दूत का अन्य महत्वपूर्ण कार्य है दूसरे देश की राजनीतिक स्थिति एवं गतिविधियों का पर्यवेक्षण करना और उसकी सूचना अपने देश को भेजना। दूत अपने देश के प्रवासी नागरिकों की तथा उनकी संपत्ति की रक्षा करता है और उनके जन्म, मरण, विवाहादि का पंजीकरण भी करता है।

राजनयिक दूत को संप्रभु देश का प्रतिनिधि होने के नाते तथा

अपना कार्य सुचारु रूप से करने की सुविधा के लिये कुछ विशिष्टाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्राप्त हैं। दूत परराष्ट्र में अनुल्लंघनीय है। अपने देश में स्थित समस्त दूतों की सुरक्षा का प्रबंध करना प्रत्येक राष्ट्र का कर्तव्य है। राजदूत और उसका निवासस्थान, वाहन आदि भी प्रत्यातित राष्ट्र के क्षेत्राधिकार से परे हैं। राजदूत पर उसकी स्वेच्छा के बिना प्रत्यातित राष्ट्र के न्यायालयों में मुकदमा नहीं चल सकता और न अन्य न्यायिक कार्यवाही ही की जा सकती है। स्थानीय सरकार दूतों से कोई भी कर नहीं ले सकती। कोई भी स्थानीय अधिकारी दूत की अनुमति के बिना उसके निवासस्थान अथवा कार्यालय में प्रवेश नहीं कर सकता। राजदूत को अपने देश से संपर्क स्थापन या संवादवहन की पूर्ण स्वतंत्रता है। दूतावास के कर्मचारियों और राजदूत के परिवार और वैयक्तिक सेवकों को भी राजनयिक विशिष्टाधिकार कुछ अंशों तक प्राप्त है।

राजनयिक दौत्य की समाप्ति दोनों में से किसी राष्ट्र के शासन में क्रांतिकारी परिवर्तन, राष्ट्रों की अध्यक्षता में वैधानिक परिवर्तन होने पर, दोनों में से किसी राष्ट्र के अनुरोध पर अथवा दोनों देशों में युद्ध छिड़ जाने पर हो जाती है। दोनों देशों में गंभीर वैमनस्य होने पर विरोध प्रकट करने के लिये भी स्थायी अथवा अस्थायी रूप से दौत्य संबंध का विच्छेद कर दिया जाता है।

सं० ग्रं०—राम शास्त्री : कौटिल्य अर्थशास्त्र; ओपेनहाइम : इंटरनेशनल लॉ; हालैंड : इंटरनेशनल ला; बायरले : दि लॉ ऑव नेशन्स; फास्टर : दि प्रेक्टिस ऑव डिप्लोमेसी; संपूर्णानंद : अंतर्राष्ट्रीय विधान; [र० कु० मि०]

राजमंड्रि (Rajahmundry) स्थिति : १७° १' उ० अ० तथा ८१° ४६' पू० दे०। यह नगर भारत के आंध्रराज्य के पूर्व गोदावरी जिले में, गोदावरी नदी के बाएँ किनारे पर, मद्रास शहर से ३६० मील उत्तर में स्थित है। नगर में गलीचे एवं कंबल के उद्योग हैं। नगरपालिका का संग्रहालय तथा डैमेर्ला आर्ट गैलरी नगर के दर्शनीय स्थान हैं। यहाँ की जनसंख्या १,३०,००२ (सन् १९६१) है।

[भ० ना० मे०]

राजयक्ष्मा, फेफड़े का तपेदिक देखें गुलिकार्ति (Tuberculosis)

राजराजवर्मा, प्रोफेसर ए० आर० मलयालम विद्वान्, आलोचक और कवि (१८६२–१९१७)। चंगनाश्शेरि के राजपरिवार में पैदा हुए थे। तिरुवनंतपुरम में महाराजा के कालेज में संस्कृत एवं द्रविड़ भाषाओं के प्रोफेसर थे। राजराजवर्मा ने मलयालम काव्य एवं आलोचना में आधुनिक आंदोलनों का सूत्रपात किया। वह संक्रमणकाल के एक महान् साहित्यकार हैं जिसका आरंभ १९ वीं शताब्दी के द्वितीय अर्धांश में अंग्रजी के संपर्क के प्रबल प्रभाव में हुआ था। उन्होंने शाकुन्तलम्, मालविकाग्निमित्रम्, मृच्छकटिकम्, मेघदूतम्, कुमारसंभवम् इत्यादि नाटकों एवं काव्यों का अनुवाद ऐसी शैली में किया जो मलयालम की प्रतिभा के अनुकूल था। उन्होंने प्रगति और प्राचीन शास्त्रीय साहित्यिक रूढ़ियों को नियंत्रित करने के लिये उद्योग किया और तरुण कवियों को प्रोत्साहित किया कि वे दोषयुक्त एवं क्लिष्ट शैली से परिपूर्ण नवीन संस्कृत साहित्य से संबंध विच्छेद करें। वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने आधुनिक युग के महान् रोमांटिक कवि कुमारन आशान की कविताओं को मान्यता दी एवं उनका अभिवादन किया। उन्होंने स्वयं मलयविलासम् नामक रोमांटिक कविता की रचना की।

राजराजवर्मा ने मलयालम में साहित्यिक अध्ययन एवं आलोचना को एक नवीन वैज्ञानिक आकार दिया। उन्होंने भाषाभूषणम् और साहित्यसाह्यम् की रचना साहित्यिक आलोचना के सिद्धांतों की स्थापना के लिये की। प्रामाणिक मलयालम व्याकरण की मूल पुस्तक केरलपाणिनीयम् ने उनको केरलपाणिनि की उपाधि से विभूषित किया है। [जी० बा० त०]

राजलेख (Charter) अंग्रेजी शब्द 'चार्टर'—Charter, लैटिन 'चार्टा' (Charta) से निकला है, जिसका अर्थ होता है कागज या उसपर लिखी कोई चीज। राजलेख (शासनपत्र) का यह आधुनिक रूप हुआ। पर जब कागज का आविष्कार नहीं हुआ था, उस समय भी राजलेख निकलते थे। भोजपत्र, तालपत्र, ताम्रपत्र, रेशमी वस्त्र (Scroll) आदि कागज के ही भिन्न भिन्न रूप थे। सम्राटों के शिलालेख [Edicts] तो राजलेख के विशिष्ट उदाहरण हैं। सम्राट् अशोक के शिलालेख अब भी वर्तमान हैं।

राजलेख के दो क्षेत्र हैं— एक निजी, दूसरा सार्वजनिक। निजी क्षेत्र अर्थात् प्राइवेट लॉ में इसका पर्याय दस्तावेज (Deed) है एवं किसी भी औपचारिक लेख (Formal writing) के प्रसंग में इसका व्यवहार किया जा सकता है। प्राइवेट लॉ मे इसका सबसे अधिक उपयोग भूमि के क्रय विक्रय में किया जाता है। विक्रेता खरीददार को जो दस्तावेज लिखता है, उससे खरीदार को हक (Title) मिलता है एवं राजा या राज्य का कोई अधिकारी दस्तावेज पर अपना हस्ताक्षर कर एवं सरकारी मुहर लगाकर इसे मान्यता देता है। यह राजलेख का ही दृष्टांत है, यद्यपि भारत या इंग्लैंड में इसका प्रयोग लिखित दस्तावेज के प्रसंग में अब प्रचलित नहीं है। किंतु फ्रांस में इसका प्रयोग अब भी किया जाता है।

सार्वजनिक क्षेत्र में अर्थात् पब्लिक लॉ में राजलेख वह आदेश है, जिसके द्वारा राजा अपनी प्रजा के अधिकार की रक्षा की घोषणा करता है या कोई सार्वभौम राज्य अपने उपनिवेश को अधिकार प्रदान करता है। राजलेख का प्रयोग बैंक या अन्यान्य कंपनी के प्रसंग में भी होता है। इस अर्थ में राजलेख वह दस्तावेज है, जिसके द्वारा राज्य चुने हुए लोगों की एक जमायत को किसी खास लक्ष्य के लिये अधिकार वा विशेषाधिकार प्रदान करता है।

१३वीं सदी के आरंभ में इंग्लैंड के राजा जॉन ने अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहा। उसके सामंतों ने अपने अधिकारों का अपहरण होते देख उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। निदान जॉन को एक विशिष्ट लिखित घोषणा के द्वारा उनके अधिकार की रक्षा का वचन देना पड़ा। यह घोषणापत्र मैगनाकार्टा (यानी विशिष्ट दस्तावेज) के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद इस शब्द का प्रयोग वैधानिक विशेषाधिकार (Privileges) के लिये होने लगा।

वर्तमान युग में राजलेख का प्रयोग राज्य द्वारा प्रदत्त विधान के प्रसंग में किया जाता है।

मध्य युग में राजा के अतिरिक्त उसके अनुचर सामंत लोग भी व्यक्ति विशेष को विशेषाधिकार देते थे। गिर्जा के महंत भी ऐसा करते थे। नगरपालिका एवं गिल्ड आदि सार्वजनिक संस्थाओं ने भी अपने 'नगर की स्वतन्त्रता' मान्य नेताओं को उनकी सार्वजनिक सेवाओं के लिये प्रदान करने का प्रचलन किया। वर्तमान समय में यह परंपरा प्रायः समाप्त हो चुकी है; तथापि इंग्लैंड में इस रूप में राज्य अब भी सार्वजनिक संस्थाओं को सनद प्रदान करता है।

वर्तमान युग में राजलेख का एक प्रमुख दृष्टांत राजपत्रित कंपनी (Chartered Company) है। ऐसी कंपनी को निगम कह सकते हैं। इसके अपने सामान्य अधिकार एवं विशेषाधिकार होते हैं। राज्य के सर्वोच्च प्राधिकार द्वारा प्रदत्त विशेष राजलेख में वर्णित कतिपय शर्तों से ऐसी कंपनी के अधिकार, विशेषाधिकार, भिन्न भिन्न शर्तें एवं क्षेत्र जिसमें कंपनी इनका उपयोग कर सकती हैं या निर्धारित नियमों के पालन करने को बाध्य है, वर्णित रहते हैं। इस प्रकार की कंपनी का ऐतिहासिक उद्गम, राजाश्रित होने के कारण प्राप्त होनेवाले लाभों से संबद्ध है। बड़ी कंपनी स्थापित करने के लिये पर्याप्त रकम की आवश्यकता होती है। कोई व्यक्ति स्वयं उतनी अधिक रकम नहीं लगा सकता। अतः उसे इसके लिये अन्यान्य लोगों के पास जाना पड़ता है। बहुधा उसे साधारण जनता से कर्ज लेना पड़ता है। कंपनी यदि राजानुमोदित होती है तो इसके प्रति लोगों का स्वतः विश्वास हो जाता है और उसे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने में कठिनाई नहीं होती। वर्तमान युग में इस प्रकार की कंपनी राजसंपोषित रूप में देखी जाती है। किसी कंपनी में सरकार साझेदार होती है, तो किसी को ऋण देती है।

भाटक (Charterparty) तथा **राजलेख** (Charter) — भाटक एवं राजलेख सर्वथा एक दूसरे से भिन्न हैं। भाटक एक विशेष प्रकार की संविदा है, जिसके द्वारा समुद्रमार्ग से एक निश्चित अवधि में एक स्थान से दूसरे स्थान तक जहाज द्वारा माल ढोने के लिये दो या अधिक पक्ष परस्पर सहमत होते हैं। जहाज का पूरा भाड़ा या तो यात्रा आरंभ होने के पहले एक मुश्त दे दिया जाता है अथवा संविदा की शर्तों के अनुसार यात्रा के दौरान यात्रा के भिन्न भिन्न चरणों की समाप्ति पर दिया जाता है। अवैध व्यापार भाटक की परिधि से बाहर है। कानून की प्रकल्पना है कि माल ढोने के निमित्त प्रस्तुत जहाज समुद्रयात्रा के लिये उपयुक्त हो, भले ही यात्रा आरंभ होने के पश्चात् इसमें अक्षमता क्यों न आ जाय। यदि यात्रा के कई चरण हों तो प्रत्येक यात्रा के आरंभ में जहाज का उपयुक्त होना आवश्यक है। यदि किसी अप्रत्याशित घटना, यथा युद्ध, के कारण भाटक का क्रियान्वयन न हो सके तो न्यायालय प्रसंगाधीन संविदा की समाप्ति घोषित करेगा। यदि किसी अवैध उद्देश्य से भाटक का आयोजन किया गया हो तो उक्त संविदा का आरंभ से ही कोई अस्तित्व नहीं माना जायगा। राजलेख प्राप्त कर ही व्यापारी मध्ययुग में बहुधा समुद्रमार्ग से माल ले जाते थे। संभवतः इसी कारण 'भाटक' एवं 'राजलेख' में निकट संबंध है।

सं० ग्रं०—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, भाग १ (१९५९); कैरेज ऑव गुड्स बाइ सी : टी० जी० कारवर (१९२५), चार्टर पार्टीज़ ऐंड बिल्स ऑव लेडिंग : टी० ई० स्क्रटन (१९२५)। [न० कु०]

राजशेखर कान्यकुब्ज के प्रतिहारवंशीय नरेश महेंद्रपाल के उपाध्याय। इनकी माता का नाम शिलावती तथा पिता का नाम दुहिक या दुदुक था और वे महामंत्री थे। इनके प्रपितामह अकालजलद का विरद 'महाराष्ट्रचूड़ामणि' था। राजशेखर की पत्नी चौहान कुल की क्षत्राणी विदुषी महिला थी जिसका नाम अवंतिसुंदरी था। महेंद्रपाल के उपाध्याय होने के साथ ये उसके पुत्र महीपाल के भी कृपापात्र बने रहे। इन दोनों नरेशों के शिलालेख दसवीं शताब्दी के प्रथम चरण (९०० ई० और ९१७ ई०) के प्राप्त होते हैं अतः राजशेखर का समय ८८०–९२० ई० के लगभग मान्य है।

राजशेखर ने निम्नांकित ग्रंथों की रचना की थी : (१) काव्यमीमांसा, (२) बालभारत, (३) बालरामायण, (४) कर्पूरमंजरी, (५) विद्धशालभंजिका, (६) भुवनकोश जिसका निर्देश राजशेखर ने काव्यमीमांसा (पृ० ८९) में स्वयं किया है और (७) हरिविलास जिसका उल्लेख हेमचंद्र ने अपने काव्यानुशासन में किया है। गीतिविषयक 'रीतिनिर्णय' नामक एक ग्रंथ का इनके नाम से और उल्लेख मिलता है किंतु वह अप्राप्य है।

राजशेखर की काव्यमीमांसा रीति-रस-अलंकार आदि किसी एक विषय को लेकर लिखी रचना नहीं है, किंतु अपनी नवीन प्रतिभाजन्य शैली द्वारा काव्य एवं कवि के समग्र प्रयोजनीय विषयों का एक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी संकलन है। इस ग्रंथ का प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध है जिसमें १८ अध्याय हैं। इसका नाम 'कविरहस्य' है जो वस्तुतः कवि के रहस्य को प्रकट करता है। इसमें कवियों का श्रेणीनिर्धारण, कवियों के बैठने का क्रम, वेशभूषा आदि का वर्णन है अतः इसमें प्रधान विषय कविशिक्षा का ही है। एक रोचक कथा को आधार बनाकर प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति के संबंध में राजशेखर का कथन है कि काव्यपुरुष के अन्वेषण के समय उनकी प्रिया साहित्यवधू देश के विभिन्न अंचलों में विलक्षण वेशभूषा, विचित्र विलास और नवीन नवीन वचनविन्यास को धारण करती जाती थी। इस प्रकार प्रवृत्ति अर्थात् वेशविन्यासक्रम; वृत्ति अर्थात् विलासविन्यासक्रम और रीति अर्थात् वचनविन्यासक्रम के आधार को लेकर भारत के विभिन्न अंचलों की साहित्यिक संपदा एवं काव्यगत सौंदर्य की समीक्षा के विवेक पर राजशेखर ने विभिन्न प्रदेशों के नाम से विभिन्न काव्यशैलियों का तथ्यमूलक नामकरण किया है।

राजशेखर ने अपने को कविराज कहा है और कवियों की दस श्रेणियों में महाकवि के ऊपर उसको स्थान दिया है। राजशेखर ने अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ और भवभूति की परंपरा का व्यक्त किया है। प्रदेश विशेष के आधार पर चार प्रवृत्तियाँ मानते हुए भी राजशेखर ने वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली, ये तीन ही रीतियाँ मानी हैं। काव्यमीमांसा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राजशेखर के विचार में सूक्ष्मतापूर्वक प्रकृतिनिरीक्षण न करना कवि का महान् दोष है। काव्यमीमांसा में देशकालविभाग का सुंदर ढंग से निरूपण काव्य में इसी प्रवृत्ति की अवतारणा की दृष्टि से

किया गया प्रतीत होता है। 'कविसमय' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भी राजशेखर ने ही किया है और इसकी परिभाषा में इसका संकेत भी कर दिया है। परवर्ती अनेक आलंकारिकों ने कविराज राजशेखर का अनुकरण किया है जिनमें क्षेमेंद्र, भोजराज, हेमचंद्र, वाग्भट्ट, केशव मिश्र, अजितसेन, देवेश्वर आदि उल्लेख्य हैं। क्षेमेंद्र ने अपने सुवृत्ततिलक में राजशेखर के शार्दूलविक्रीडित छंद की प्रशंसा की है और औचित्य-विचारचर्चा में भी इनका उल्लेख किया है।

'बालभारत' या 'प्रचंडपांडव' और 'बालरामायण' क्रमशः रामायण और महाभारत की कथा के आधार पर निर्मित नाटक हैं। ये नाटक संभवतः 'बालानां सुखबोधाय' न हो कर राजशेखर की प्रारंभिक कृतियाँ रही हैं। 'कर्पूरमंजरी सट्टक में प्रेमकथा निबद्ध है। 'विद्धशालभंजिका' भी एक प्रेमाख्यान है। कर्पूरमंजरी और काव्य-मीमांसा प्रौढ़ काल की रचनाएँ हैं।

आदिकवि वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ और भवभूति के अनंतर अपनी पीढ़ी की सत्ता को स्वीकार करते हुए कवि सगर्व कहता है—

बभूव वाल्मीकिभवः पुराकविः ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूति रेखया स वर्तते संप्रति राजशेखरः॥

—बालभारत, १।१३।

[वि० ना० त्रि०]

राजसात्करण (Escheat) हिंदू विधि के अनुसार राजसात्करण उस अवस्था में होता है जब वारिस न होने के कारण संपत्ति राज्य की हो जाती है। जहाँ राज राजसात्करण के अनुसार किसी संपत्ति का दावा करता है, वहाँ यह सिद्ध करने का भार राज्य पर आ पड़ता है कि अंतिम स्वामी मरते समय कोई वारिस नहीं छोड़ गया था। इस संबंध में मनु की व्यवस्था यह है कि जहाँ कहीं भी वारिस नहीं होगा वहाँ संपत्ति राज्य के अधिकार में चली जाएगी। परंतु यह नियम किसी ब्राह्मण की संपत्ति पर लागू नहीं होगा। इस निदेश के प्रसंग में कलेक्टर ऑव मसूलीपत्तम बनाम कवेली वेंकट १८६० (८ मूर्स इंडियन अपील्स ५००) का मामला उल्लेखनीय है, जहाँ इस निदेश को मान्यता नहीं दी गई। इसमें ब्राह्मण जाति के एक ऐसे हिंदू की संपत्ति के राजसात्करण के रूप में राज्य द्वारा लिए जाने के अधिकार के बारे में आपत्ति की गई जो मरते समय अपना कोई वारिस नहीं छोड़ गया था। इस संबंध में यह व्यवस्था दी गई थी कि यदि ब्राह्मण जाति के किसी हिंदू की मृत्यु बिना वारिस के होती है तो उसकी संपदा सम्राट् के अधिकार में चली जाएगी। मिताक्षरा के अध्याय २, धारा ८ और अनुच्छेद ५ में राजसात्करण की विधि दी गई है। इस बारे में माननीय न्यायाधिपतियों का यह मत था कि मिताक्षरा द्वारा उद्धृत नारद के वाक्यसमूह का उस धारा में होना, जिसमें मनु के प्रतिषेध का उद्धरण दिया हुआ है, यह बताता है कि इस विधि का कठोरतम रूप क्या था अर्थात् राजा को संपत्ति लेनी तो है परंतु इस कर्तव्य के साथ, जिसकी वह निष्पाप होकर अवहेलना नहीं कर सकेगा, लेनी है कि वह उस संपत्ति का अपने विवेक से उस प्रकार के ब्राह्मणों के बीच निपटारा कर देगा जिनका पिछले पाठों में प्रस्ताव किया गया है। यदि ऐसी स्थिति है तो न्यायाधिपतियों को यह प्रतीत होता है कि हिंदू विधि के अनुसार बिना वारिस के मरने वाले किसी ब्राह्मण की संपत्ति पर राजसात्करण द्वारा राजा का स्वत्व किसी ऐसे दावेदार के स्वत्व पर अभिभावी होना चाहिए जो और अच्छा स्वत्व सिद्ध नहीं कर सकता।

जब राजसात्करण द्वारा कोई संपदा ली जाती है तो उसके अधीन संपदा पर पड़नेवाले इस प्रकार के न्यास और प्रभार भी आ जाते हैं जैसे विधवाओं का पोषण और विधवा द्वारा वैधिक आवश्यकता के लिये किए गए बंधक। उदाहरण के लिये- 'क' किसी हिंदू विधवा को धन देता है तथा उस विधवा के स्वर्गीय पति की अचल संपदा पर बंधक द्वारा इसको प्रतिभूत करता है। इस प्रकार दिया गया धन उस विधवा द्वारा उन प्रयोजनों पर लगाया जाता है, जिनके लिये हिंदू विधि उस विधवा को अपने पति की संपदा का उसके वारिसों की संमति के बिना अभरण अथवा उसके अन्य संक्रामण की शक्ति प्रदान की गई है। विधवा की मृत्यु हो जाने पर राज्य कोई वारिस न होने के कारण राजसात्करण द्वारा उस संपदा को अपने अधिकार में ले लेता है तो उस दशा में राज्य की अपेक्षा वह व्यक्ति जिसने धन दिया है, राज्य के मोचन अधिकार के अधीन रहते हुए दी गई धनराशि तथा ब्याज के लिये प्रतिभूति के रूप में बंधकाधीन संपदा को धारण करने का अधिकारी होगा। [कृ० कि० चो०]

राजस्थान स्थिति : २६° ४५′ उ० अ० तथा ७३° ३०′ पू० दे०। यह भारत का पश्चिमी राज्य है। भारत की स्वतंत्रता के पहले यह कई देशी रियासतों में बँटा था एवं राजपूताना नाम से प्रसिद्ध था। इसके उत्तर-पूर्व में हरियाना एवं उत्तर प्रदेश, दक्षिण-पूर्व में मध्य प्रदेश, दक्षिण-पश्चिम में गुजरात तथा पश्चिम में पश्चिमी पाकिस्तान स्थित है। इसका क्षेत्रफल १,३२,१५२ वर्ग मील है।

धरातल — इसके मध्य में उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर अरावली पर्वत फैला है। इस पर्वत की ऊँचाई ४,००० से
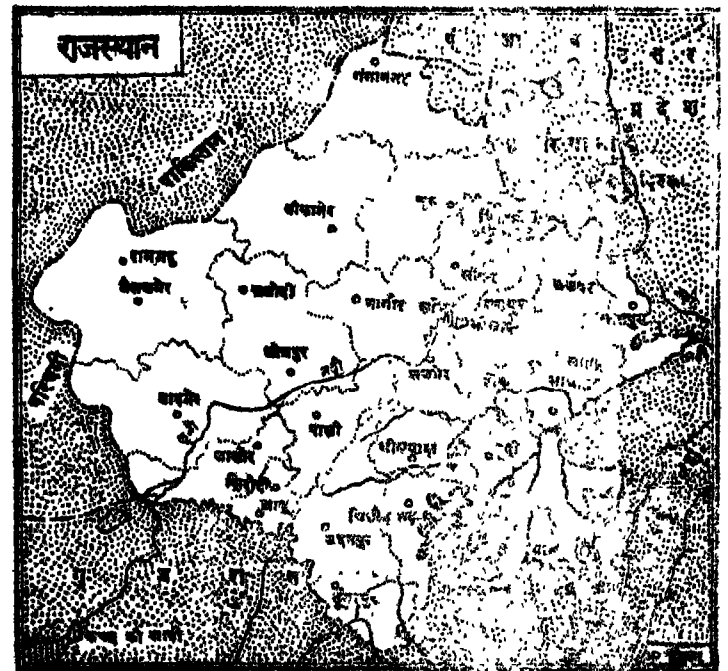
५,००० फुट तक है। यह पर्वत माउंट आबू से दिल्ली के पास तक

फैला है। इसकी ढालों पर वन हैं तथा नीची उपजाऊ घाटियों में कृषि होती है। सबसे ऊँची चोटी माउंट आबू (५,५४६ फुट) है। राज्य के उत्तरी तथा पूर्वी भाग मरुस्थली हैं। इसका पूर्वी भाग पठारी है। राजस्थान को दो भागों में बाँटा जा सकता है :

१. पश्चिमी मरुस्थली प्रदेश — यह प्रदेश अरावली के पश्चिम की ओर है। यह निचला एवं शुष्क प्रदेश है तथा यहाँ बालू की अधिकता है। इसका उत्तर पश्चिमी भाग कुछ उपजाऊ हो गया है। यहाँ के लोग भेड़, बकरियाँ तथा ऊँट पालते हैं। मकराना के पास संगमरमर पाया जाता है तथा साँभर झील से नमक बनाया जाता है।

२. पूर्वी राजस्थान — अरावली के पूर्वी भाग को पूर्वी राजस्थान कहते हैं। यहाँ की भूमि पठारी है तथा उत्तरी भाग यमुना की घाटी का एक भाग है। इस भाग में चंबल एवं बनास नदियाँ बहती हैं तथा यहाँ भूक्षरण से गहरे खड्ड बन गए हैं। यहाँ लगभग २० इंच वर्षा होती है।

जलवायु — यहाँ की जलवायु विषम तथा शुष्क है। दिन में अधिक गरमी तथा रात में ठंढक रहती है। अरावली पर्वत तथा दक्षिण-पश्चिमी मानसूनी हवाओं के समांतर होने के कारण, जलयुक्त हवाएँ यहाँ वर्षा नहीं करती हैं। गरमियों में तेज एवं गरम आँधियाँ चला करती हैं। गरमी में बंगाल की खाड़ी से आनेवाले मानसून से कुछ वर्षा होती है। वार्षिक वर्षा का औसत पूर्व में १५ से २० इंच तथा पश्चिम में १० इंच से भी कम रहता है।

कृषि — अधिकांश कृषियोग्य भूमि पूर्व में है। मक्का, गेहूँ, जौ, चना, ज्वार, बाजरा, तिलहन, कपास, मूगफली, प्याज, लहसुन, जीरा तथा दलहनों की कृषि की जाती है। कुआँ, तालाब तथा नहरों से सिंचाई होती है। सिंचाई का आधुनिक स्रोत भाखड़ा एवं नंगल बाँधों से निकली नहरें हैं।

खनिज — कोयला, संगमरमर, अभ्रक, ताँबा, लोहा, जिप्सम आदि यहाँ के प्रमुख खनिज हैं। साँभर से नमक भी बनाया जाता है।

उद्योग — यहाँ के मुख्य उद्योग-धंधे, पशुओं से प्राप्त ऊन से ऊनी कंबल, दरी, कालीन आदि बनाना, कपड़ा बुनना, छपाई एवं रँगाई का काम, पत्थर का काम, बरतन बनाना आदि हैं। जयपुर में एक लोहे का कारखाना भी है, जहाँ बॉलबियरिंग आदि बनते हैं। कुटीर उद्योगों में लकड़ी एवं कागज के खिलौने, नागरा जूता, चाँदी के गोटे, जरी एवं किनारे आदि बनते हैं।

जनसंख्या — राजस्थान की जनसंख्या २,०१,५५,६०२ (सन् १९६१) है। यहाँ के मुख्य नगर कोटा, बूँदी, जोधपुर, जयपुर, बीकानेर, उदयपुर आदि हैं। यहाँ अधिकतर हिंदू रहते हैं। इनके अतिरिक्त मुसलमान, ईसाई तथा भील आदि भी रहते हैं। यहाँ की मुख्य भाषा हिंदी है। १५.२ प्रति शत लोग साक्षर हैं। जयपुर राज्य की राजधानी है। [सु० चं० श०]

राजस्थानी भाषा और साहित्य राजस्थानी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से एक है, जिसका वास्तविक क्षेत्र वर्तमान राजस्थान प्रांत तक ही सीमित न होकर मध्यप्रदेश के कतिपय पूर्वी तथा दक्षिणी भाग में और पाकिस्तान के बहावलपुर जिले तथा दूसरे पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी सीमा प्रदेशों में भी है। राजस्थानी का विकास, अधिकांश विद्वानों के मतानुसार, मध्यदेशीय प्राकृत या शौरसेनी से हुआ है, किंतु डॉ० चाटुर्ज्या इसका विकास अशोककालीन सौराष्ट्री प्राकृत से मानते हैं, जो "शौरसेनी या मध्यदेशीय प्राकृत से कुछ विभिन्न थी"। इसी प्राकृत का क्षेत्र गुजरात प्रांत तथा मारवाड़ प्रांत था, और यह बोली वहाँ मध्यप्रदेश से न आकर "उत्तर-भारत के किसी और प्रांत या जनपद से आई थी। इसी आधार पर डॉ० चाटुर्ज्या गुजराती मारवाड़ी को पश्चिमी पंजाब की लँहदा तथा सिंध की सिंधी से विशेष संबद्ध मानते हैं। वैसे इस प्रदेश की बोलियों को मध्ययुग में शौरसेनी ने काफी प्रभावित किया है। ईसा की तीसरी-चौथी सदियों में स्वात प्रदेश के गुर्जर गुजरात, राजस्थान तथा मालवा में आ बसे थे। पिछले दिनों इन लोगों ने यहाँ कई राज्य स्थापित किए और ये लोग ही वर्तमान अग्निवंशी राजपूतों में बदल गए। गुर्जर जाति की मूल बोलियों ने इस प्रदेश की प्राकृत को पर्याप्त प्रभावित किया है तथा अपभ्रंश के विकास में, खास तौर पर उसके शब्दकोश के विकास में, इस जाति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। दंडी ने तो 'अपभ्रंश' भाषा को आभीरादि की ही बोलियाँ माना है। नागर अपभ्रंश के ही परवर्ती रूप से, जिसे याकोबी जैसे विद्वान् गुर्जर अपभ्रंश या श्वेतांबर अपभ्रंश कहना अधिक ठीक समझते हैं, गुजराती-राजस्थानी का विकास हुआ है। गुजराती मूलतः राजस्थानी (पश्चिमी राजस्थानी) की ही एक विभाषा थी, जो सोलहवीं सदी तक अविभक्त थी, किंतु बाद में चलकर सांस्कृतिक, प्रांतीय तथा साहित्यिक कारणों से स्वतंत्र भाषा बन बैठी। पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी जहाँ गुजराती और सिंधी के अधिक निकट है वहाँ पूर्वी राजस्थानी (जैपुरी हाड़ौती) ब्रजभाषा (पश्चिमी हिंदी) से पर्याप्त रूप में प्रभावित है। फिर भी पूर्वी राजस्थानी में भी स्पष्ट भेदक तत्त्व मौजूद हैं जो इसे हिंदी की विभाषा मानने से इंकार करते हैं। राजस्थानी भाषा की भाषाशास्त्रीय स्थिति बिहारी तथा पहाड़ी की तरह उन भाषाओं में है, जिन्हें हिंदी की विभाषा नहीं माना जा सकता, किंतु हिंदी के सांस्कृतिक तथा साहित्यिक इतिहास के साथ इसका गठबंधन इतना दृढ हो गया है कि साहित्यिक दृष्टि से राजस्थानी भाषा की स्वतंत्र सत्ता न रह पाई और यह उसकी विभाषा-सी बन गई।

राजस्थानी में पर्याप्त प्राचीन साहित्य उपलब्ध है। जैन यति रामसिंह तथा हेमचंद्राचार्य के दोहे राजस्थानी गुजराती के अपभ्रंश कालीन रूप का परिचय देते हैं। इसके बाद भी पुरानी पश्चिमी राजस्थानी में जैन कवियों के फागु, रास तथा चर्चरी काव्यों के अतिरिक्त अनेक गद्य कृतियाँ उपलब्ध हैं। प्रसिद्ध गुजराती काव्य पद्मनाभकविकृत 'कान्हडदेप्रबंध' वस्तुतः पुरानी पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी की ही कृति है। इसी तरह 'प्राकृतपैंगलम्' के अधिकांश छंदों की भाषा पूर्वी राजस्थानी की भाषा-प्रकृति का संकेत करती है। यदि राजस्थानी की इन साहित्यिक कृतियों को अलग रख दिया जाय तो हिंदी और गुजराती के साहित्यिक इतिहास को मध्ययुग से ही शुरू करना पड़ेगा। पुरानी राजस्थानी की पश्चिमी विभाषा का वैज्ञानिक अध्ययन डॉ० एल० पी० तेस्सितोरी ने 'इंडियन एंटिक्वेरी' (१९१४-१६) में प्रस्तुत किया था, जो आज भी राजस्थानी भाषा-

शासन का अकेला प्रामाणिक ग्रंथ है। हिंदी में डॉ० चाटुर्ज्या की "राजस्थानी भाषा" (सूर्यमल्ल भाषणों) के अतिरिक्त राजस्थानी भाषा के विषय में कोई प्रामाणिक भाषाशास्त्रीय कृति उपलब्ध नहीं है। वैसे दो तीन पुस्तकें और भी हैं, पर उनका दृष्टिकोण परिचयात्मक या साहित्यिक है, शुद्ध भाषाशास्त्रीय नहीं। ग्रियर्सन की लिंग्विस्टिक सर्वे में राजस्थानी बोलियों का विस्तृत परिचय अवश्य मिलता है।

पश्चिमी राजस्थानी का मध्ययुगीन साहित्य समृद्ध है। राजधानी की ही एक कृत्रिम साहित्यिक शैली डिंगल है, जिसमें पर्याप्त चारण-साहित्य उपलब्ध है। 'ढोला मारू रा दोहा' जैसे लोक-काव्यों ने और 'बेलि क्रिसन रुकमणी री' जैसी अलंकृत काव्य कृतियों ने राजस्थानी की श्रीवृद्धि में योग दिया है। भाषागत विकेंद्रीकरण की नीति ने राजस्थानी भाषाभाषी जनता में भी भाषा संबंधी चेतना पैदा कर दी है और इधर राजस्थानी में आधुनिक साहित्यिक रचनाएँ होने लगी हैं। राजधानी नागरी लिपि में लिखी जाती है। इसके अतिरिक्त यहाँ के पुराने लोगों में अब भी एक भिन्न लिपि प्रचलित है, जिसे 'बाण्याँ वाटी' कहा जाता है। इस लिपि में प्रायः मात्रा-चिह्न नहीं दिए जाते। राजस्थानी बनिये आज भी बहीखातों में इस लिपि का प्रयोग करते हैं।

डॉ० ग्रियर्सन ने राजस्थानी की पाँच बोलियाँ मानी हैं— (१) पश्चिमी राजस्थानी (मारवाड़ी), (२) उत्तर पूर्वी राजस्थानी (मेवाती अहीरवाटी), (३) मध्यपूर्वी (या पूर्वी) राजस्थानी (ढूंढाड़ी हाड़ौती), (४) दक्षिण-पूर्वी राजस्थानी (मालवी), (५) दक्षिणी राजस्थानी (निमाड़ी)। ग्रियर्सन ने भीली और खानदेशी को स्वतंत्र भाषा वर्ग में माना है, किंतु डॉ० चाटुर्ज्या इन्हें 'राजस्थानी वर्ग' के ही अंतर्गत रखना चाहेंगे, जो अधिक समीचीन जान पड़ता है। डूंगरपुर बाँसवाड़ा-प्रतापगढ़ तथा आसपास की भीली बोलियों और खानदेशी की व्याकरणिक संघटना राजस्थानी से विशेष भिन्न नहीं है। वस्तुतः ये राजस्थानी के वे रूप हैं जो क्रमशः गुजराती और मराठी तत्वों से मिश्रित हैं। राजस्थानी वर्ग के अंतर्गत पाकिस्तान तथा कश्मीर के सीमांत प्रदेश की गूजरी बोली और तमिल-नाड की सौराष्ट्र बोली भी आती है, जो पूर्वी राजस्थानी से विशेष संबद्ध जान पड़ती है। डॉ० चाटुर्ज्या ने ग्रियर्सन के राजस्थानी के पाँच बोली-भेदों को नहीं माना है। वे मारवाड़ी और ढूंढाड़ी हाड़ौती को ही 'राजस्थानी' संज्ञा देना ठीक समझते हैं। उनके अनुसार राजस्थानी के दो ही वर्ग हैं:—(१) पश्चिमी राजस्थानी (मारवाड़ी), (२) पूर्वी राजस्थानी (जैंपुरी हाड़ौती)। मेवाती, मालवी और निमाड़ी को वे पश्चिमी हिंदी की ही विभाषा मानने के पक्ष में हैं, यद्यपि इस संबंध में वे अंतिम निर्णय नहीं देते।

राजस्थानी भाषा की सामान्य विशेषताएँ निम्न हैं—

(१) राजस्थानी में 'ण', 'ड़' और (मराठी) 'ळ' तीन विशिष्ट ध्वनियाँ (Phonemes) पाई जाती हैं।

(२) राजस्थानी तद्भव शब्दों में मूल संस्कृत 'अ' ध्वनि कई स्थानों पर 'इ' तथा 'इ'उ' ध्वनियाँ 'अ' के रूप में परिवर्तित होती देखी जाती हैं—'मिनख' (मनुष्य), हरण (हरिण), कुंभार (कुंभकार)।

(३) मेवाड़ी और मालवी में 'च, छ, ज, झ' का उच्चारण भीली और मराठी की तरह क्रमशः 'त्स, स, द्ज, झ' की तरह पाया जाता है।

(४) संस्कृत हिंदी की पदादि 'स-ध्वनि' पूर्वी राजस्थानी में तो सुरक्षित है, किंतु मेवाड़ी-मालवी-मारवाड़ी में अघोष 'ह' हो जाती है। हि० सास, जैंपुरी-हाड़ौती 'सासू', मेवाड़ी-मारवाड़ी 'हाऊ'।

(५) पदमध्यगत हिंदी शुद्ध प्राणध्वनि या महाप्राण ध्वनि की प्राणता राजस्थानी में प्रायः पदादि व्यंजन में अंतर्भुक्त हो जाती है—हि० कंधा, रा० खांदो; हि० पढ़ना, रा० फड़बो।

(६) राजस्थानी के सबल पुल्लिंग शब्द हिंदी की तरह आकारांत न होकर ओकारांत हैं:—हि० घोड़ा, रा० घोड़ो, हि० गधा, रा० गंढो, हि० मोटा, रा० मोटो।

(७) पश्चिमी राजस्थानी में संबंध कारक के परसर्ग 'रो-रा-री' हैं, किंतु पूर्वी राजस्थानी में ये हिंदी की तरह 'को-का-की' हैं।

(८) जैंपुरी-हाड़ौती में 'नै' परसर्ग का प्रयोग कर्मवाच्य भूतकालिक कर्ता के अतिरिक्त चेतन कर्म तथा संप्रदान के रूप में भी पाया जाता है—'छोरा नै छोरी मारी' (लड़के ने लड़की मारी); 'म्हूं छोरा नै मारस्यूं' (मैं लड़के को पीटूंगा;—चेतन कर्म); 'ओ लाडू छोरा नै दे दो' (यह लड्डू लड़के को दे दो—संप्रदान)।

(९) राजस्थानी में उत्तम पुरुष के श्रोतृ-सापेक्ष 'आपां-आपण' और श्रोतृ निरपेक्ष 'म्हे-म्हें-मे' दुहरे रूप पाए जाते हैं।

(१०) हिंदी की तरह राजस्थानी के वर्तमानकालिक क्रिया रूप सहायक क्रियायुक्त शतृप्रत्ययांत विकसित रूप न होकर शुद्ध तद्भव रूप हैं। 'मूं जाऊं छूं' (मैं जाता हूँ)।

(११) सहायक क्रिया के रूप पश्चिमी राजस्थानी में 'हूं-हाँ-हो-है' (वर्तमान) और 'थो-थी-था' (भूतकाल) हैं, किंतु पूर्वी राजस्थानी में 'छूं-छां-छो-छै' (वर्तमान) और 'छो-छी-छा' (भूतकाल) हैं।

(१२) राजस्थानी में तीन प्रकार के भविष्यत्कालिक रूप पाए जाते हैं:—जावैगो, जासी, जावैलो। इनमें द्वितीय रूप संस्कृत के भविष्यत्कालिक तिङंत रूपों का विकास हैं—'जासी' (यास्यति), जास्यूं (यास्यामि)।

(१३) राजस्थानी की अन्य पदरचनात्मक विशेषता पूर्वकालिक क्रिया के लिये '—र' प्रत्यय का प्रयोग है:—'ऊ-पढ़-र रोटी खासी' (वह पढ़कर रोटी खाएगा)।

(१४) राजस्थानी की वाक्यरचनागत विशेषताओं में प्रमुख उक्तिवाचक क्रिया के कर्म के साथ संप्रदान कारक का प्रयोग है, जबकि हिंदी में यहाँ 'करण या अपादान' का प्रयोग देखा जाता है। 'या बात ऊँनै कह दो' (यह बात उससे कह दो)। पूर्वी राजस्थानी में हिंदी के ही प्रभाव से संप्रदानगत प्रयोग के अतिरिक्त विकल्प से करण-अपादानगत प्रयोग भी सुनाई पड़ता है—'या बात ऊं सूं कह दो'।

सं० ग्रं० — एल० पी० टेस्सितोरी : नोट्स ऑन ओल्ड वेस्टर्न राजस्थानी (इंडियन एंटिक्वेरी १९१४-१९१६); ग्रियर्सन :

लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया (जिल्द ९); चादुर्ज्या, डॉ० सुनीतिकुमार : राजस्थानी भाषा; डॉ० मोतीलाल : राजस्थानी भाषा और साहित्य; दिवेटिया : गुजराती लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर।

[भो० शं० व्या०]

राजाराम, छत्रपति (जन्म, १६७० : मृ.यु, १७००) शिवाजी का कनिष्ठ पुत्र राजाराम साधारण व्यक्तित्व का होते हुए भी, मुगल संघर्ष की पृष्ठभूमि में महाराष्ट्रीय स्वतंत्रता तथा हिंदू-पद-पादशाही का प्रतीक बना। उसकी अल्प योग्यता की पूर्ति उसके मेधावी राजनीतिज्ञों, रामचंद्र पंत और प्रह्लाद नीराजी, तथा प्रतिभाशाली सेनानायकों, संताजी घोरपड़े और धानाजी जाधव, द्वारा हुई। शिवाजी की मृत्यु पर, ज्येष्ठ पुत्र संभाजी के दुश्चरित्र के कारण एक पक्ष ने राजाराम को छत्रपति घोषित किया (१६८०); किंतु, वह तुरंत ही संभाजी द्वारा बंदी बना लिया गया। संभाजी की मृत्यु पर वैधरूपेण उसका राज्याभिषेक हुआ (९ फरवरी १६८९)। मुगल सेना द्वारा रायगढ़ में घेरे जाकर वह पन्हाला चला गया; और पन्हाला से जिंजी (१५ नवंबर, १६८९)। जिंजी के पतन पर, उसने पुनः महाराष्ट्र मे पदार्पण किया (१६९७)। मराठा सेना के निरंतर गुरिल्ला युद्ध से मुगल सेना शिथिल हो चुकी थी। किंतु सफलता के क्षणों में ही राजाराम की मृत्यु हो गई (२ मार्च, १७००)। राजाराम की तीन पत्नियाँ थीं, जिनमें ताराबाई ने राजाराम की मृत्यु के बाद महाराष्ट्र का नायकत्व ग्रहण कर मुगलो से सफल संघर्ष किया।

सं० ग्रं० — जी० एस० सरदेसाई : दि न्यू हिस्ट्री ऑव दि मराठाज़। [रा० ना०]

राजा रामपाल सिंह का जन्म भादों सुदी ४, संवत् १९०५ (१८४८ ई०) को प्रतापगढ़ जिले के कालाकांकर राजपरिवार में हुआ। आपके पिता लाल प्रताप सिंह की मृत्यु आपके पितामह राजा हनुमंत सिंह के जीवनकाल मे ही हो गई। अतः अपने बाबा के बाद राज्य के उत्तराधिकारी आप ही हुए। आप बचपन से ही स्वभाव के अति चंचल और बहुत ही तीव्र बुद्धि के थे। कुछ ही वर्षों में हिंदी, फारसी, संस्कृत और अँगरेजी की अच्छी योग्यता आपने प्राप्त कर ली। नए विचारों और पाश्चात्य सभ्यता के प्रति आपकी रुचि हुई और रूढ़िवाद के आप विरोधी हो गए। परिवार के विरोध की उपेक्षा करके आप इंग्लैंड गए और अपनी रानी स्वभाव कुँवरि को भी साथ ले गए। वहाँ आपने फ्रेंच, जर्मन और लैटिन भाषाएँ सीखीं तथा गणित और तर्कशास्त्र का अध्ययन किया। विद्योपार्जन के लिये इंग्लैंड आए हुए भारतीय विद्यार्थियों से वहाँ आपने संपर्क स्थापित किया और इंडियन एसोसिएशन के उपसभापति बने। इंग्लैंड के सामाजिक जीवन में आप घुले मिले और प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त किया। आप भारतीय विद्यार्थियों को धन की सहायता भी देते थे और भारत के पक्ष में सभाओं में व्याख्यान देते थे। भारतवासियों की असुविधाओं को दूर करने तथा उनके स्वत्वों की रक्षा के उद्देश्य से आपने सन् १८८३ ई० में इंग्लैंड से ही 'हिंदोस्थान' नामक त्रैमासिक पत्र निकाला जिसमें अँगरेजी, हिंदी तथा उर्दू तीनों भाषाओं में लेख छपते थे। ८-९ वर्ष इंग्लैंड में रहकर आप स्वदेश लौटे। इंग्लैंड प्रवास में ही आपकी रानी का शरीरांत हो गया जिनके शव को सुरक्षित रूप में दाहसंस्कार के लिये आप स्वदेश लाए। कुछ समय बाद आप दुबारा इंग्लैंड गए और वहाँ एक अँगरेज महिला से विवाह करके उसे भारत लाए। आप भारतीय कांग्रेस के सदस्य बने तथा उसके लिये धन संग्रह भी करते रहे। नवंबर, १८८५ ई० में आपने कालाकांकर से ही 'हिंदोस्थान' नाम का हिंदी दैनिक निकाला जिसका साप्ताहिक अँगरेजी संस्करण भी इसी नाम से निकलता था। इन दोनों पत्रों के संपादक आप स्वयं ही रहे परंतु संपादन का काम पं० मदनमोहन मालवीय, पं० प्रतापनारायण मिश्र, बाबू बालमुकुंद गुप्त आदि करते थे। अँगरेजी साप्ताहिक के संपादन के लिये आप एक अँगरेज सहकारी को इंग्लैंड से लाए। 'हिंदोस्थान' में शब्दों की वर्तनी सामान्य से भिन्न रहती थी, जैसे 'जितना' को 'ज्यतना', 'कितना को 'क्यतना', 'मैनेजर' को 'म्यनेजर'। आप हिंदी और फारसी में कविता करते थे और आपने अपने विलायत प्रवास पर अँगरेजी में एक पुस्तक लिखकर प्रकाशित की। अँगरेजी सीखने के लिये आपने 'दि सेल्फ टीचिंग बुक' भी लिखी। शिक्षा, उद्योग और व्यापार को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से आपने स्कूल, कालेज और अस्पताल खोले तथा रेशम के कीड़े पालकर रेशम उद्योग चालू किया। आप शतरंज के बहुत अच्छे खिलाड़ी तथा व्यायाम और शिकार के प्रेमी थे। समुद्रयात्रा तथा विधवा विवाह के आप समर्थक और बाल विवाह के विरोधी थे। १९०९ ई० में आपका शरीरांत हुआ।

[ब० प्र० मि०]

राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद बनारस की भाट की गली में माघ शुक्ल २, संवत् १८८० को जैन परिवार मे जन्म। पिता का नाम गोपीचंद। घर पर और स्कूल में संस्कृत, हिंदी, बँगला, फारसी, अरबी और अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त की। जागेश्वर महादेव की कृपा से उत्पन्न समझकर नाम शिवप्रसाद रखा गया। पूर्वजों का मूल स्थान रणथंभोर था। वंश के मूल पुरुष गोखरू से ग्यारहवीं पीढ़ी में उत्पन्न भाना नामक इनका पूर्वज अलाउद्दीन खिलजी के साथ रणथंभोर विजय के बाद चंपानेर चला गया। इनके एक पूर्वज को शाहजहाँ ने 'राय' की और दूसरे पूर्वज को मुहम्मदशाह ने 'जगत्सेठ' की उपाधि दी थी। नादिरशाही मे परिवार के दो आदमियों के मारे जाने पर इनका परिवार मुर्शिदाबाद चला गया। बंगाल के सूबेदार कासिम अली खाँ के अत्याचारों से तंग आकर इनके दादा राजा डालचंद अंग्रेजों से मिल गए जिसपर सूबेदार ने उन्हें कैद कर लिया। किसी प्रकार वहाँ से भागकर ये बनारस चले आए और यहीं बस गए। जब ये ग्यारह साल के थे, पिता का देहांत हो गया। सत्रह साल की उम्र मे ही भरतपुर के राजा की सेवा मे गए और राज्य के वकील का पद प्राप्त किया। तीन साल बाद नौकरी छोड़ दी। कुछ दिन बेकार रहकर सन् १८४५ में ब्रिटिश सरकार की सेवा स्वीकार की और सुबराँव के सिख युद्ध में सर हेनरी लारेंस की जासूस के रूप में सहायता की। तत्पश्चात् शिमले की एजेंटी के मीर मुंशी नियुक्त हुए। सात साल बाद नौकरी छोड़ काशी चले आए परंतु शीघ्र ही गवर्नर जेनरल के

एजेंट के आग्रह पर पुन: मीर मुंशी का पद स्वीकार किया और दो ही सालों के भीतर पहले बनारस में शिक्षा विभाग के संयुक्त इंस्पेक्टर और तत्पश्चात् बनारस और इलाहाबाद के स्कूल इंस्पेक्टर नियुक्त हुए। सन् १८७२ ई० में सी० आई० ई० और सन् १८८७ में राजा की वंशानुगत पदवी प्राप्त की। सन् १८८३ ई० में लार्ड मेयो ने इन्हें इंपीरियल कौंसिल का सदस्य बनाया जहाँ एलबर्ट बिल का विरोध कर उन्होंने उसे पारित न होने दिया। सन् १८७८ ई० में सरकारी नौकरी से पेंशन ले ली। इनकी यह इच्छा कि 'काशी की मिट्टी जल्द काशी में मिले' २३ मई, सन् १८९५ ई० को पूरी हुई।

राजा साहब 'आम फहम और खास पसंद' भाषा के पक्षपाती और ब्रिटिश शासन के निष्ठावान् सेवक थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने इन्हें गुरु मानते हुए भी इसीलिये इनका विरोध भी किया था। फिर भी इन्हीं के उद्योग से उस समय परम प्रतिकूल परिस्थितियों में भी शिक्षा विभाग में हिंदी का प्रवेश हो सका। साहित्य, व्याकरण, इतिहास, भूगोल आदि विविध विषयों पर इन्होंने प्राय: ३५ पुस्तकों की रचना की जिनमें इनकी सवान-ए उमरी (आत्मकथा), राजा भोज का सपना, आलसियों का कोड़ा, और इतिहास तिमिरनाशक उल्लेख्य हैं। [शि० प्र० मि०]

राजेंद्रनाथ मुखर्जी, सर (सन् १८५४–१९३६) प्रसिद्ध भारतीय इंजीनियर तथा उद्योगपति का जन्म २४ परगना (बंगाल) के भावला नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता, श्री भगवानचंद्र मुखर्जी, सदर मुकाम बसीरहाट के प्रमुख वकीलों में थे, किंतु उनकी मृत्यु राजेंद्र के बचपन में ही हो गई थी।

आपकी शिक्षा गाँव की पाठशाला तथा कलकत्ता के लंदन मिशनरी सोसायटी इंस्टिट्यूट और प्रेसीडेंसी कॉलेज की ओवरसियर कक्षा में हुई। बीमारी के कारण बिना डिप्लोमा प्राप्त किए ही आपको पढ़ाई छोड़कर, आजीविका की खोज में लगना पड़ा। आरंभ से ही इनकी प्रवृत्ति नौकरी न करने और स्वतंत्र व्यापार, या काम करने की ओर थी। कुछ कठिनाइयों और प्रारंभिक असफलताओं के पश्चात् इन्हें कलकत्ता के पलटा वाटर वर्क्स में काम मिल गया। इस काम में इन्होंने जिस कार्यक्षमता और योग्यता का परिचय दिया उससे अधिकारी बहुत प्रभावित हुए। बीच में कुछ बाधाएँ उत्पन्न हो जाने पर भी वे बराबर प्रगति करते गए।

प्रथम आपने एक सज्जन के साझे में कार्य आरंभ किया, पर कुछ समय बाद श्री ऐक्विन मार्टिन के साथ 'मार्टिन ऐंड कंपनी' की स्थापना की, जिसने कठिन प्रतियोगिताओं का सामना कर, बारी बारी से मेरठ, नैनीताल, वाराणसी और लखनऊ वाटर वर्क्सों के ठेके लिए और वाराणसी में एक बृहत् नाली योजना भी पूरी की। उस समय तक इंजीनियरी के इतने बड़े काम किसी भारतीय द्वारा संचालित कंपनी को ब्रिटिश सरकार नहीं देती थी, किंतु इनके संपर्क में आनेवाले उच्चाधिकारी श्री राजेंद्रनाथ की योग्यता, कार्यकुशलता और प्रतिभा के कायल हो गए थे। इसलिये इन्हें सफलता मिली और बड़े बड़े काम मिलते गए, जिनसे इन्होंने प्रचुर धन का भी उपार्जन किया।

देहात के स्थानों से मुख्य व्यापारी नगरों को जोड़ने के विचार से आपने पोषक रेलवे (फ़ीडर लाइन) की नीति निर्धारित की तथा 'हावड़ा-आमता लाइट रेलवे', राणाघाट-कृष्ण नगर, बारासेत-बसीरहाट लाइन, और फिर बिहार में बख्तियारपुर-बिहार तथा आरा-सहसराम लाइनों की स्थापना की। भवनों के निर्माण में भी आप पीछे न रहे। मैसूर स्मारक, एस्प्लेनेड के प्रासाद, तिपेरा महल, चार्टर्ड बैंक बिल्डिंग तथा विक्टोरिया मेमोरियल सदृश भवनों से आपने कलकत्ता नगर को सुशोभित किया।

ब्रिटिश सरकार ने आपकी अपूर्व सार्वजनिक सेवाओं के उपलक्ष्य में आपको सन् १९०१ में सी० आई० ई० की उपाधि प्रदान की। सन् १९११ में आप कलकत्ता के शेरिफ़ नामित हुए। दिल्ली दरबार के समय के० सी० आइ० ई० की तथा कुछ वर्ष बाद "नाइट" की उपाधि प्राप्त कर, आप सर राजेंद्रनाथ मुखर्जी हो गए। सन् १९२२ में आपको के० सी० वी० ओ० की उपाधि भी मिली।

सर राजेंद्रनाथ का संबंध देश की प्रमुख साहित्यिक और वैज्ञानिक संस्थाओं से बराबर रहा। सन् १९१० में आप इकॉनॉमिक कांफ्रेंस (इलाहाबाद) तथा सन् १९१६-१८ के औद्योगिक आयोग के अध्यक्ष रहे। आपकी अध्यक्षता में ही "हावड़ा पुल समिति" ने सर्वसंमत रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। सन् १९२१ में आप इंडियन सायंस कांग्रेस के तथा सन् १९२४ में एशियाटिक सोसायटी ऑव बेंगॉल के अध्यक्ष चुने गए। आप की सूझ और प्रयत्नों के कारण सन् १९२१ में इंस्टिट्यूशन ऑव इंजीनियर्स (इंडिया) की स्थापना हुई, जिसके आप संस्थापक अध्यक्ष निर्वाचित हुए। सन् १९२४-२५ में भारतीय कोल कमिटी तथा सन् १९२५-२६ में रॉयल कमीशन ऑव इंडियन करेंसी ऐंड फाइनैंस के सदस्य रहने के अतिरिक्त, आप बंगाल इंजीनिरिंग कालेज, शिवपुर, की प्रबंधकारिणी समिति के चेयरमैन, कलकत्ता टेक्निकल स्कूल कमिटी के अध्यक्ष, कलकत्ता म्यूज़ियम के ट्रस्टी, कलकत्ता विश्वविद्यालय की सेनेट के फेलो और इंपीरियल बैंक ऑव इंडिया के गवर्नर भी रहे। सन् १९३१ में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने आपको "डॉक्टर ऑव सायंस (इंजीनियरिंग)" की उपाधि से विभूषित किया।

सर राजेंद्र बात के स्थान पर काम के कायल थे। इन्होंने अपने को राजनीति से सर्वथा दूर रखा। बंगाल की ब्रिटिश सरकार के कैबिनेट मंत्री और मुख्य मंत्री पद को ग्रहण करने से भी आपने इनकार कर दिया था। सन् १९३०-३१ की राउंड टेबुल कांफ्रेंस में भाग लेने के लिये आप मनोनीत हुए, पर आप उसमें संमिलित होने नहीं गए, किंतु देश के चोटी के राजनीतिक नेता आपके अभिन्न मित्रों में थे।

इस कर्मठ महापुरुष का देहावसान, ८२ वर्ष की आयु में, १५ मई, सन् १९३६ को हुआ। [भ० दा० व०]

राजेंद्रप्रसाद (डाक्टर, भारतरत्न) का जन्म ३ दिसंबर, १८८४ ई० को सारन जिले (बिहार) के जीरादेई गाँव में हुआ था। आपके पूर्वज हथुआ राज में प्रतिष्ठित पदों पर आसीन थे और आपके दादा हथुआ राज के दीवान थे। राजेंद्र बाबू की शिक्षा उर्दू और फ़ारसी से आरंभ हुई थी और अंग्रेजी का अध्ययन आपने हथुआ स्कूल, पटने के टी० के० घोष ऐकेडमी और अंत में छपरे

के जिला स्कूल में किया था, जहाँ से आपने कलकत्ता विश्वविद्यालय की इंट्रेंस परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान पाने का गौरव प्राप्त किया। वहाँ से वे कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कालेज में भर्ती हुए जहाँ से एफ. ए. (इंटरमिडिएट परीक्षा), बी. ए. और अंग्रेजी की एम. ए. परीक्षाओं में प्रथम स्थान प्राप्त कर उत्तीर्ण हुए। उस समय सभी छात्रों के लिये विज्ञान का अध्ययन अनिवार्य था और इस प्रकार वे सर जगदीशचंद्र बसु तथा सर प्रफुल्लचंद्र राय के विद्यार्थी रहे। १९०९ ई० में कानून की बी. एल. परीक्षा देकर उन्होंने १९११ ई० से कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत शुरू की। शीघ्र ही उनकी वकालत चल निकली। १९१५ ई० में वे एम. एल. परीक्षा में बैठे और प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया। संभवतः वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने एम. एल. परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की थी। उनकी महत्ता, विद्वत्ता, त्याग और देशसेवा को देखकर ही इलाहाबाद युनिवर्सिटी ने उन्हे डाक्टर ऑव लॉ की संमानित डिग्री से विभूषित किया था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने कुछ उपाधियाँ प्रदान करने का प्रचलन चलाया, उनमें सर्वोत्कृष्ट उपाधि भारतरत्न की है। राजेंद्र बाबू को यह उपाधि सर्वप्रथम मिली।

कॉलेज के छात्र रहने के समय उन्होंने अनुभव किया कि बिहारी छात्रों की अवस्था संतोषजनक नहीं थी। उनमें आत्मसंमान, बड़े बड़े कामों के करने में उत्साह और अपनी कार्यकुशलता में विश्वास का सर्वथा अभाव था। इसे दूर करने के लिये उन्होंने १९०६ ई० में बिहारी छात्र संमेलन की स्थापना की। यह संमेलन पीछे बिहार छात्र समेलन मे परिणत हो गया। इसके अधिवेशन बिहार के विभिन्न नगरों में प्रति वर्ष होते रहे और छात्रों को निबंध लिखने, वक्तृता देने और मिलजुल कर काम करने की भावना की पर्याप्त जाग्रति हुई। ये ही छात्र पीछे देश के नेता बने और स्वतंत्रताप्राप्ति के प्रयत्नों में उनसे बड़ी सहायता मिली। महात्मा गांधी का असहयोग आंदोलन शुरू होने के बाद छात्रों में दो दल हो गए तथा अधिक क्रियाशील दल राजनीति में भाग लेने के कारण अलग हो गया और इस संमेलन का १९२० ई० के बाद प्रायः अंत हो गया।

१९१० ई० में सर्वेंट ऑव इंडिया सोसायटी के संस्थापक श्री गोपालकृष्ण गोखले की दृष्टि राजेंद्र बाबू पर पड़ी और वे चाहते थे कि राजेंद्र बाबू उस का सदस्य बनकर देशसेवा का कार्य करें। राजेंद्र बाबू उसके लिये तैयार भी हो गए थे पर अपने बड़े भाई श्री महेंद्र प्रसाद के आग्रह पर उन्हें अपना विचार छोड़ देना पड़ा। पूने के डेक्कन एडुकेशनल सोसायटी के सदृश एक संस्था खोलकर राजेंद्र बाबू एक कालेज की स्थापना कर शिक्षा का प्रसार करना चाहते थे पर राजनीति में सक्रिय भाग लेने के कारण उन्हें अपने विचार को कार्यान्वित करने का अवसर नहीं मिला।

जब १९१६ ई० में पटना हाईकोर्ट बना तब वे कलकत्ते से पटना चले आए। यहाँ उनकी वकालत प्रथम कोटि की हो गई और उनकी आमदनी ३००० रु० प्रति मास तक पहुँच गई। यदि वे कुछ दिन और वकालत करते रहते तो हाईकोर्ट के जज अवश्य हो गए होते। पर उन्हें देशसेवा के लिये परमात्मा ने भेजा था और वे उसमें लग गए।

बिहार के चंपारन जिले में अनेक अंग्रेज रहते थे जो नील की खेती कराते थे और संसार के बाजार में नील बेचकर पर्याप्त धन उपार्जित करते थे। ये निलहे वहाँ के किसानों पर बहुत अत्याचार करते थे। अंग्रेज सरकार इन्हें रोकने में असमर्थ थी। असमर्थ ही नहीं थी वरन् अत्याचार कराने में कुछ अंग्रेज कर्मचारी उन्हें प्रोत्साहन भी देते थे। वहाँ एक तिनकठिया प्रथा प्रचलित थी जिसके अनुसार प्रत्येक किसान को अपने खेत के प्रति बीघे पर तीन कट्ठे जमीन में नील की खेती करना अनिवार्य था। इस खेती से किसानों को विशेष लाभ नहीं होता था। इससे वे नील की खेती करना पसंद नहीं करते थे। ऐसा न करने पर नीलवर किसानों के घरों को लूटते और मकानों को जला देते। उन्हें अपने मुर्गीखाने में बंद कर रखते और मार पीटकर नाना प्रकार के अत्याचार करते थे। इन अत्याचारों की शिकायत महात्मा गांधी के पास पहुँची और इसका ठीक ठीक विवरण प्राप्त करने के लिये महात्मा गांधी चंपारन चल पड़े। नीलवर नहीं चाहते थे कि महात्मा गांधी वहाँ जाएँ। उनपर १४४ दफा लगाकर तुरंत चंपारन छोड़कर चले जाने की आज्ञा मिली। उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया और वे पकड़ लिए गए। उनकी मदद के लिये देश के कोने कोने से लोग चंपारन दौड़ पड़े। उसी सिलसिले में राजेंद्र बाबू भी अपनी वकालत छोड़कर महात्मा गांधी को सहयोग प्रदान करने के लिये चले आए। अंत में विजय महात्मा गांधी की हुई। इस आंदोलन का विस्तृत वर्णन राजेंद्र बाबू ने 'चंपारन में महात्मा गांधी' नामक अपनी पुस्तक में किया है। तब से राजेंद्र बाबू महात्मा गांधी के बड़े विश्वसनीय साथी बन गए।

रोलेट ऐक्ट (Rowlatt Act) के विरोध में तथा जालियाँवाला बाग के दर्दनाक कांड के प्रतिकारस्वरूप महात्मा गांधी ने असहयोग आंदोलन चलाया जिसमें वकीलों को वकालत छोड देने, छात्रों को स्कूलों और कालेजो से निकल आने और उपाधिधारियों को उपाधि छोड़ देने को कहा गया था। राजेंद्र बाबू इसमें जी जान से शामिल हो गए और उन्होने समस्त भारत में दौरा करके असहयोग आंदोलन को आगे बढ़ाया। १९२२ ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का एक अधिवेशन गया में करना निश्चित हुआ। राजेंद्र बाबू कांग्रेस की स्वागतकारिणी समिति के प्रधान मंत्री नियुक्त हुए। यह उनके ही अदम्य उत्साह और परिश्रम का परिणाम था कि अधिवेशन को पूरी सफलता मिली।

असहयोग आंदोलन में छात्रों के सरकारी स्कूलों और कालेजों को छोड़ने पर ऐसा महसूस हुआ कि इस आंदोलन की सफलता के लिये राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं का होना अत्यावश्यक है। इसके लिये बिहार में बिहार विद्यापीठ की स्थापना हुई जिसके प्रिंसिपल स्वयं राजेंद्र बाबू हुए और अनेक प्रख्यात विद्वान् प्राध्यापक के रूप में कार्य करने लगे। पीछे राजेंद्र बाबू इस विद्यापीठ के उपकुलपति और कुलपति नियुक्त हुए। पर अन्य राजनीतिक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण वे विद्यापीठ को अधिक समय और सहयोग न दे सके जिससे यह संस्था वैसी प्रगति नहीं कर सकी जैसी इसे करनी चाहिए थी।

असहयोग के समय राजेंद्र बाबू को अनेक बार जेल जाना पड़ा था। उनके चातुर्य, अदम्य साहस और सफलता में दृढ़ विश्वास के फलस्वरूप यह आंदोलन आगे बढ़ा और १९३० ई० में श्री राजगोपालाचारी ने कांग्रेस के अधिनायक पद पर इन्हें मनोनीत किया था। १९३४ ई० में बिहार में एक प्रलयकारी भूकंप आया जिसका प्रभाव डेढ़ करोड़ की आबादी पर पड़ा तथा जिसमें २० हजार व्यक्ति मरे और बहुसंख्यक मकान धराशायी हो गए। भूकंपपीड़ितों की सहायता के लिये राजेंद्र बाबू जेल से मुक्त कर दिए गए और यद्यपि उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, दमे से वे आक्रांत थे, पर इससे उनकी तत्परता तथा परिश्रम में कोई कमी नहीं आई और इस दैवी विपदा के हटाने में उन्होंने पूरी लगन के साथ सहयोग प्रदान किया।

१९३४ के अक्टूबर में जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन बंबई में हुआ, तो उसके अध्यक्ष सर्वसंमति से राजेंद्र बाबू नियुक्त हुए। बंबई में उनका जैसा शानदार स्वागत हुआ वैसा किसी राजे महाराजे का भी नहीं हुआ था। राजेंद्र बाबू की कार्यकुशलता, अदम्य उत्साह और कार्यसंचालन में सतर्कता के कारण अधिवेशन बड़ी सफलता से संपन्न हुआ।

भारत के स्वतंत्र होने के बाद राष्ट्रीय संविधान तैयार करने के लिये एक समिति बनी जिसके अध्यक्ष राजेंद्र बाबू थे। संविधान तैयार करने में आपका बहुत बड़ा हाथ था। कुछ समय तक आप संघ सरकार के खाद्यमंत्री भी थे। संविधान के संसद् द्वारा स्वीकृत हो जाने पर प्रथम राष्ट्रपति आप ही चुने गए और १९५१ ई० से १९६१ ई० तक आप उस पद पर रहे। २८ फरवरी, १९६३ ई० को पटने में आपका देहावसान हो गया।

राजेंद्र बाबू का विवाह उस समय की परिपाटी के अनुसार बाल्य काल में ही, लगभग १३ वर्ष की उम्र में, हो गया था जिस समय उन्हें यह ज्ञान तक न था कि विवाह का तात्पर्य क्या है। पर उनका वैवाहिक जीवन बहुत सुखी रहा और उससे उनके अध्ययन अथवा अन्य कार्यों में कोई रुकावट नहीं पड़ी।

यद्यपि राजेंद्र बाबू की पढ़ाई फारसी और उर्दू से शुरू हुई थी तथापि बी० ए० में उन्होंने हिंदी ले ली थी। वे अंग्रेजी, हिंदी, उर्दू, फ़ारसी तथा बंगाली भाषा और साहित्य से पूरे परिचित तथा इन भाषाओं में वे सरलता से प्रभावकारी व्याख्यान भी दे सकते थे। गुजराती का व्यावहारिक ज्ञान भी उन्हें था। एम० एल० परीक्षा के लिये हिंदू कानून का उन्होंने संस्कृत ग्रंथों से ही अध्ययन किया था। हिंदी के प्रति उनका प्रेम अगाध था। हिंदी पत्र-पत्रिकाओं जैसे भारतमित्र, भारतोदय, कमला आदि में उनके लेख छपते थे। उनके निबंध सुरुचिपूर्ण तथा प्रभावकारी होते थे। १९१२ ई० मे जब अखिल भारतीय साहित्य संमेलन का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ था तब स्वागतकारिणी समिति के वे प्रधान मंत्री थे। १९२० ई० में जब अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन का १०वाँ अधिवेशन पटने में हुआ था तब भी वे प्रधान मंत्री थे। १९२३ ई० में जब संमेलन का अधिवेशन कोकोनाडा में होने वाला था तब वे उसके अध्यक्ष मनोनीत हुए थे पर रुग्णता के कारण वे उसमें उपस्थित न हो सके। उनका भाषण श्री जमनालाल बजाज ने पढ़ा था। १९२६ ई० में वे बिहार प्रदेशीय हिंदी साहित्य संमेलन के और १९२७ ई० में उत्तर प्रदेशीय हिंदी साहित्य संमेलन के सभापति थे। हिंदी में इनकी आत्मकथा बड़ी प्रसिद्ध पुस्तक है। अंग्रेजी में भी इन्होंने कुछ पुस्तकें लिखी हैं। इन्होंने हिंदी के 'देश' और अंग्रेजी के 'पटना लॉ वीकली' का भी संपादन किया था।

राजेंद्र बाबू की वेशभूषा बड़ी सरल थी। उनके चेहरे मोहरे से पता नहीं लगता था कि वे इतने प्रतिभासंपन्न और उच्च व्यक्तित्ववाले सज्जन हैं। देखने में वे सामान्य किसान जैसे लगते थे।

जैसा इलाहाबाद यूनिवर्सिटी द्वारा उन्हें डाक्टर ऑव ला की संमानित उपाधि प्रदान करने के समय कहा गया था—'बाबू राजेंद्रप्रसाद ने अपने जीवन में सरल, निःस्वार्थ और निस्व सेवा का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत किया है।' 'जब वकील के व्यवसाय में चरम उत्कर्ष की उपलब्धि दूर नहीं रह गई थी, इन्हें राष्ट्रीय कार्य के लिये आह्वान मिला और उन्होंने व्यक्तिगत भावी उन्नति की सभी संभावनाओं को त्यागकर गाँवों में गरीबों तथा दीन कृषकों के बीच काम करना स्वीकार किया।' स्वर्गीय श्रीमती सरोजिनी नायडू ने लिखा था, 'उनकी असाधारण प्रतिभा, उनके स्वभाव का अनोखा माधुर्य, उनके चरित्र की विशालता और अति त्याग के गुण ने शायद उन्हें हमारे सभी नेताओं से अधिक व्यापक और व्यक्तिगत रूप से प्रिय बना दिया है। गाँधी जी के निकटतम शिष्यों में उनका वही स्थान है जो ईसा मसीह के निकट सेंट जॉन का था।'
[फू० स० व०]

राज्य का उत्तराधिकार ऑपेनहाइम के कथनानुसार 'किसी राज्य का उत्तराधिकार उस समय घटित होता है जब किसी राज्य की स्थिति में परिवर्तन होने के कारण अंतरराष्ट्रीय स्वीकृतिप्राप्त कोई राज्य ऐसे ही किसी या किन्हीं राज्यों का स्थान ग्रहण कर लेता है'।

राज्य के उत्तराधिकार का विषय उन दो राज्यों के अधिकारों और दायित्वों के हस्तांतरण से संबंध रखता है, जिनमें एक होता है तिरोहित या विलुप्त राज्य (वह राज्य जिसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है और उसी का उत्तराधिकार दूसरे राज्य को मिल जाता है) और दूसरा होता है उत्तराधिकारी राज्य (अर्थात् वह राज्य जो दूसरे राज्य का स्थान ग्रहण करता है)। पहले अथवा विलुप्त राज्य के अधिकार और दायित्व दूसरे राज्य के हाथ में चले जाते हैं।

राज्य का उत्तराधिकार दो प्रकार का होता है—(१) पूर्ण और (२) आंशिक।

पूर्ण उत्तराधिकार उस समय होता है जब पराजय अथवा ऐच्छिक विलयन के कारण कोई अंतरराष्ट्रीय स्वीकृतिप्राप्त राज्य अन्य ऐसे ही अंतरराष्ट्रीय स्वीकृतिप्राप्त राज्य द्वारा आत्मसात् कर लिया जाता है। उदाहरणस्वरूप, सन् १९३६ में इटली द्वारा अबीसीनिया का समामेलन या स्वाधिकरण, (Annexation) अथवा सन् १९५८ में मिस्र और सीरिया का विलयन।

आंशिक उत्तराधिकार उस समय होता है—(१) जब किसी राज्य का कोई प्रदेश विद्रोह करके पृथक् हो जाता है और स्वयं एक

अंतरराष्ट्रीय स्वीकृतिप्राप्त राज्य बन जाता है, जैसे सन् १७७६ में संयुक्त राज्य अमरीका का अपने पितृराज्य ब्रिटेन से पृथक् हो जाना; अथवा—

(२) जब अभ्यर्पण द्वारा कोई राज्य किसी अन्य राज्य के किसी प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लेता है, जैसे, सन् १८६७ में संयुक्त राज्य अमरीका में कैलिफोर्निया का अभ्यर्पण; अथवा—

(३) जब पूर्ण संप्रभुताप्राप्त कोई राज्य, अपनी स्वतंत्रता का कुछ अंश खोकर, किसी संघ राज्य में संमिलित हो जाता है, अथवा किसी अधिक शक्तिशाली सत्ता के आधिपत्य अथवा संरक्षण में आ जाता है, अथवा जब कोई अपूर्ण संप्रभुताप्राप्त राज्य पूर्ण संप्रभुताप्राप्त राज्य का स्वरूप प्राप्त कर लेता है, जैसे सन् १९३८ में चैकोस्लोवाकिया का विखंडित होना।

यह प्रश्न अभी तक असंदिग्ध रूप से निर्णीत नहीं हो सका है कि जब कोई राज्य किसी अन्य राज्य का स्थान ग्रहण कर लेता है तो वह लुप्त राज्य के अधिकारों और दायित्वों का उत्तराधिकारी बनता है अथवा नहीं। कुछ लेखक इस प्रश्न पर विचार करते करते इस अंतिम सिरे पर जा पहुँचते हैं कि अधिकारों और दायित्वों का उत्तराधिकार कभी होता ही नहीं। कुछ अन्य लोगों का विचार है कि उत्तराधिकारी राज्य पर कुछ अधिकार और दायित्व तो आ ही जाते हैं। परंतु ऐसी बात किसी भी लेखक ने मान्य नहीं की है कि लुप्त राज्य के सभी अधिकार और दायित्व उत्तराधिकारी राज्य पर आ ही जाते हैं। विभिन्न राज्यों में जो पद्धति प्रचलित है, उससे यह बात प्रकट है कि सामान्यतया ये सब बातें उत्तराधिकार में नहीं आतीं। व्यवहार और प्रचलन में रहनेवाली भिन्नता और विभिन्न लेखकों के विचारों में रहनेवाले मतभेदों के कारण ही उन संधिपत्रों में, जिनके द्वारा राज्य उत्तराधिकारिता स्थापित होती है, सामान्यतः इन विषयों के संबंध में स्पष्ट उल्लेख कर दिया जाता है।

संधि से प्राप्त होनेवाले अधिकार और दायित्व — संधिपत्रों द्वारा उत्तराधिकारी राज्य को तिरोभूत राज्य से जो अधिकार और दायित्व प्राप्त होते हैं, वे इस बात पर निर्भर करते हैं कि संधि किस प्रकार की है। शुद्ध राजनीतिक संधियों में (जैसे मैत्री अथवा पारस्परिक सुरक्षा संबंधी संधियों में) उत्तराधिकारी राज्य को कोई अधिकार अथवा दायित्व नहीं प्राप्त होते और जो विलुप्त राज्य इस प्रकार की संधियाँ करता है, उसकी परिसमाप्ति के साथ ही ये अधिकार या दायित्व पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं। ये व्यक्तिगत संधियाँ होती हैं और स्वभावतः इनमें पहले से ऐसा मान लिया जाता है कि संधि करनेवाले राज्यों का अस्तित्व है। परंतु यह प्रश्न अभी विवादास्पद है कि राज्य द्वारा की गई वाणिज्य संधियाँ, विदेशी अपराधियों के प्रत्यर्पण संबंधी संधियाँ अथवा इसी प्रकार की संधियाँ वैध रहती हैं अथवा नहीं। अधिकांश लेखकों का मत है कि तिरोहित राज्य की समाप्ति के साथ ये संधियाँ भी समाप्त हो जाती हैं। कारण, यों एक प्रकार से ऐसी संधियाँ अराजनीतिक प्रकार की संधियाँ होती हैं, परंतु इनमें भी कुछ राजनीतिक बातें तो रहती ही हैं।

संविदजनित दायित्व — अंतरराष्ट्रीय विधान में ऐसा कोई सामान्य सिद्धांत नहीं है कि उत्तराधिकारी राज्य तिरोहित राज्य के संविदजनित दायित्वों का भी उत्तराधिकारी होता है। संधिपत्र में यदि ऐसा कोई प्रतिकूल नियम न हो तो सामान्यतः ऐसा नहीं माना जाता कि उत्तराधिकारी राज्य को ये दायित्व प्राप्त हुए हैं। अंतरराष्ट्रीय विधान में पहले ऐसा माना जाता था कि उत्तराधिकार में संविदजनित दायित्व प्राप्त नहीं होते। वेस्ट रैंड सेंट्रल गोल्ड माइनिंग कंपनी बनाम रेक्स (१९०५) २ के० बी० ३९१ के मुकदमे में एक अंग्रेजी न्यायालय ने यह तर्क अस्वीकार कर दिया था कि विजयी राज्य की प्रभुसत्ता विजित राज्य के दायित्वों के लिये उत्तरदायी है। उक्त न्यायालय का मत था कि ऐसे दायित्वों को स्वीकार या अस्वीकार करना विजयी राज्य की इच्छा पर निर्भर करता है।

दायित्वों का उत्तराधिकार प्राप्त न होने के इस सिद्धांत की कठोरता में क्रमशः संशोधन होता गया और अब तो एक नया सिद्धांत विकसित हो रहा है कि उत्तराधिकारी राज्य का कर्तव्य है कि वह विलुप्त राज्य के व्यक्तियों के सनिहित अधिकारों का आदर करे।

राज्यों के हाल के प्रचलन से मानो अंतरराष्ट्रीय विधान का यह नियम सा स्थापित होता जा रहा है कि उत्तराधिकारी राज्य को जनता के व्यक्तिगत संप्राप्त अधिकारों का समुचित आदर करना चाहिए, फिर यह उत्तराधिकार चाहे किसी राज्य के समर्पण से प्राप्त हुआ हो, चाहे अनुबंध से अथवा राज्य के अगच्छेद से।

सार्वजनिक ऋण — सार्वजनिक ऋण के उत्तराधिकार के संबंध में विभिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न प्रकार की रीतियाँ प्रचलित हैं। वैधानिक भाषा में कहा जाय तो उत्तराधिकारी राज्य इस बात के लिये बाध्य नहीं है कि वह विलुप्त राज्य द्वारा लिए गए सार्वजनिक ऋणों का भुगतान करे। यह केवल तभी हो सकता है, जब इस संबंध में कोई विशेष संधि की गई हो। सामान्यतः अनुबंधन अथवा अभ्यर्पण की संधियों में इस बात का उल्लेख रहता है कि उत्तराधिकारी राज्य विलुप्त राज्य के सार्वजनिक ऋण का देनदार रहेगा अथवा नहीं।

विलुप्त राज्य के व्यक्तिगत ऋणदाताओं को ऐसा कोई हस्तक्षेप का अधिकार नहीं रहता, जिससे वे उत्तराधिकारी राज्य पर अपने ऋण का व्यक्तिगत रूप से दावा कर सकें। उनका अपना राज्य विलयनकारी राज्य पर इस बात के लिये दबाव डाल सकता है कि वह राज्य का ऋण चुकाने के अंतरराष्ट्रीय दायित्व को वहन करे।

जान माल की हानि और संविदाभंग की क्षतिपूर्ति — उत्तराधिकारी राज्य इस बात के लिये बाध्य नहीं है कि वह तिरोहित राज्य को पहुँचाई गई क्षति के संबंध में अदा न किया गया तावान या हर्जाना चुकाए। परंतु यदि उक्त राज्य के विलयन के पूर्व उसने क्षतिपूर्ति का ऐसा कोई दायित्व स्वीकार किया है और उसके फलस्वरूप यदि कोई ऋण लिया गया है तो उत्तराधिकारी राज्य का यह कर्तव्य है कि वह उसे चुकाए।

इसी प्रकार संविदाभंग की क्षतिपूर्ति भी उत्तराधिकारी राज्य से वसूल नहीं की जा सकती परंतु यदि पहले से ही परिलुप्त राज्य से ऐसी क्षतिपूर्ति का निश्चय कर लिया गया है तो विलयकारी राज्य को उसे चुकाना चाहिए।

सार्वजनिक कोष और सार्वजनिक संपत्ति — यह बात सामान्यत: स्वीकार कर ली गई है कि उत्तराधिकारी राज्य तिरोहित राज्य के सार्वजनिक कोष और उसकी सार्वजनिक चल अचल संपत्ति पर अपना अधिकार स्थापित कर लेता है।

विद्रोह दबाने पर संपत्ति का उत्तराधिकार — विद्रोह दबाने पर पितृराज्य, अपने सार्वभौम पद के नाते संपत्ति प्राप्त कर लेता है, फिर वह संपत्ति चाहे उसके प्रदेश के अंतर्गत हो, चाहे विदेशी राज्य के अंतर्गत पितृ राज्य की वह संपत्ति हो जिसपर विद्रोही सरकार ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। विद्रोही सरकार ने यदि स्वेच्छादत्त चंदे के रूप में विदेशी राज्यों में कुछ संपत्ति एकत्र कर ली हो तो पितृराज्य उसे भी प्राप्त कर सकता है। [ल० ना० टं०]

राज्यों की मान्यता किसी राज्य को मान्यता प्रदान करने से तात्पर्य उस कार्य से है जिसके द्वारा कोई राज्य यह स्वीकार करता है कि उसने जिस राज्य के राजनीतिक अस्तित्व को अपनी मान्यता प्रदान की है, उसमें राजत्व के गुण विद्यमान हैं। इसमें अंतरराष्ट्रीय परिवार का कोई वर्तमान सदस्य किसी राज्य अथवा किसी राजनीतिक दल को विधिवत् अपनी स्वीकृति प्रदान करता है। इसका अर्थ यह है कि मान्यता प्रदान करनेवाले राज्य के मत से उक्त राज्य अंतरराष्ट्रीय अधिकारों और कर्तव्यों का सामान्य अधिकारी है और उसमें अंतरराष्ट्रीय विधान के अनुसार प्राप्त होनेवाले दायित्वों को वहन करने की सामर्थ्य है।

मान्यता के परिकल्प या सिद्धांत —राज्य मान्यता के दो परिकल्प या सिद्धांत हैं—१. संघटना-निर्भर परिकल्प और २. घोषणात्मक अथवा घोषणात्मक परिकल्प। संघटना-निर्भर परिकल्प के अनुसार कोई भी राज्य केवल मान्यता के द्वारा ही अंतरराष्ट्रीय राज्य बन जाता है। अर्थात् केवल मान्यता के कार्य द्वारा ही किसी राज्य को राज्यत्व मिल जाता है और वहाँ की नई सरकार को अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र मे अधिकार प्राप्त हो जाता है। हीगेल इस परिकल्प का सर्वप्रथम व्याख्याता था। तदनंतर हालैंड, ओपेनहाइम तथा अन्य लोगों ने उसका समर्थन किया।

दूसरे परिकल्प के अनुसार कोई भी राज्य अपने अधिकार की बिना पर अंतरराष्ट्रीय पद और राष्ट्रपरिवार की सदस्यता प्राप्त कर लेता है। राज्यमान्यता का कार्य इस स्थापित सत्य की पुष्टि की विधिवत् मान्यतामात्र है। हाल, फिशर ब्रेयर्ली तथा अन्य लोग इस परिकल्प के व्याख्याता हैं।

इन दोनों मतों में से उचित मत यह प्रतीत होता है कि राज्य-मान्यता संघटना-निर्भर भी है और घोषणात्मक भी। भिन्न भिन्न तथ्य-समूहों के अनुसार किसी पर पहला परिकल्प लागू हो सकता है, किसी पर दूसरा। किसी राजनीतिक समुदाय का अस्तित्व है, इस सामान्य तथ्य की घोषणा मात्र करना ही राज्यमान्यता है। राज्यत्व की ऐसी घोषणा होने से मान्यता के कारण कुछ वैधानिक स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। लेंटरपाक्ट और स्टार्क जैसे आज के अधिकांश लेखक इस मत का प्रतिपादन करते हैं।

मान्यता देना या न देना राज्यों की इच्छा पर निर्भर करता है। पर यह इच्छा मनमानी नहीं होनी चाहिए। कानूनी सिद्धांतों के अनुसार ही राज्यमान्यता देनी या न देनी चाहिए। हाँ, यह अवश्य है कि राजनीतिक और कूटनीतिक विचारसरणी राज्य-मान्यता की स्वीकृति या अस्वीकृति पर अपना प्रभाव डालती ही है।

स्पष्ट और अंतर्भूत मान्यता—मान्यता दो प्रकार की हो सकती है — या तो स्पष्ट होगी या संकेतित। स्पष्ट मान्यता उस समय होती है जब मान्यता का विचार प्रकट करने के लिये विधिवत् कोई विज्ञप्ति निकाली जाती है या घोषणा की जाती है। जैसे, उस राज्य को या उस सरकार को इस आशय का पत्र लिखना जिसने मान्यता के लिये प्रार्थना की हो। संकेतित मान्यता वह है जहाँ स्पष्ट रूप से तो मान्यता प्रकट नहीं की जाती, परंतु अपने कार्यों से यह बात प्रकट कर दी जाती है कि मान्यता की स्वीकृति असंदिग्ध है; जैसे, दो राज्यों के बीच व्यापारिक संधि हो जाना अथवा दोनों राज्यों के बीच विधिवत् दूतावासीय संबंध स्थापित कर लेना।

वास्तविक मान्यता और विधिक मान्यता—विधिक मान्यता का अर्थ यह है कि मान्यता देनेवाले राज्य के अनुसार जिस राज्य को अथवा जिस सरकार को मान्यता प्रदान की जा रही है वह अंतरराष्ट्रीय समुदाय में सक्रिय भाग लेने के लिये अंतरराष्ट्रीय विधान में प्रतिपादित आवश्यकताओं की विधिवत् पूर्ति करता है। वास्तविक मान्यता का अर्थ यह है कि मान्यता देनेवाले राज्य के मतानुसार जिस राज्य को अथवा जिस सरकार को मान्यता प्रदान की गई है, वह अस्थायी रूप से अल्प काल के लिये उन आवश्यकताओं की वस्तुत: पूर्ति करता है, यद्यपि सारी आवश्यकताएँ उपस्थित नहीं हैं और उक्त राज्य अभी पर्याप्त दृढ़ता प्राप्त नहीं कर सका है। वास्तविक मान्यता अल्पकालीन होती है और वह उस समय लौटा ली जा सकती है, जब वे आवश्यकताएँ, जिनका मान्यता के लिये पूरा होना अनिवार्य है, बाद में भी पूरी नही हो पाती। विधिक मान्यता अंतिम एवं स्थायी होती है और एक बार दे देने के बाद वह लौटाई नही जा सकती। कई मामलों में यह बात स्वीकार कर ली गई है कि जहाँ तक इसके कानूनी परिणामों का संबंध है, वहाँ तक वास्तविक मान्यता और विधिक मान्यता में कोई अंतर नहीं है।

राज्यों के नए अध्यक्षों और नई सरकारों को मान्यता — जब अंतरराष्ट्रीय विशिष्टत्व प्राप्त किसी राज्य के अध्यक्ष पद में सामान्य और वैधानिक पद्धति से परिवर्तन होता है, तो अन्य राज्यों को इसकी सूचना दे दी जाती है। वे राज्य उक्त राज्य के नए अध्यक्ष को अपनी ओर से बधाई का संदेश भेजकर उसे अपनी मान्यता प्रदान करते हैं। इसमें कठिनाई तभी होती है जब क्रांति के द्वारा अध्यक्ष के पद में अथवा सरकार में परिवर्तन होता है। ऐसे मामलों में दो प्रकार के परीक्षण काम में लाए जाते हैं : पहला परीक्षण तो यह है कि क्या नई सरकार वास्तविक सरकार है, जिसका राज्य पर प्रभावकारी नियंत्रण है और क्या वह उक्त प्रदेश के पर्याप्त क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित किए हुए है तथा उसका कोई प्रभावकारी विरोधी पक्ष नहीं है। यह बाह्य विषयक (आब्जेटिव) परीक्षण कहलाता है। दूसरा परीक्षण यह होता है कि क्या नई सरकार उन दायित्वों को पूरा करने में समर्थ है जो अंतरराष्ट्रीय विधान द्वारा तथा राष्ट्रसंघ के

अधिकारपत्र द्वारा निर्धारित हैं ? इसे आंतरिक या विषयगत परीक्षण कहते हैं। जिन राज्यों से नए राज्य अथवा सरकार को मान्यता प्रदान करने के लिये कहा जाता है, वे ऐसे मामलों में वहीं अपना निर्णय स्थगित रखते हैं जहाँ सरकार स्थायी नहीं होती अथवा जहाँ प्राय: ही क्रांतियाँ होती रहती हैं जिनके कारण सरकार बदलती रहती है। परंतु किसी सरकार को मान्यता देने अथवा न देने से स्वयं राज्य की मान्यता का कोई संबंध नहीं है। राज्य को तो अंतरराष्ट्रीय इकाई के रूप में मान्यता प्राप्त ही रहती है।

मान्यता का पूर्वकालिक प्रभाव (Retroactivity of recognition) — कई देशों में प्रचलित परिपाटी के अनुसार राज्यों को दी गई मान्यता पूर्वकालिक प्रभाव रखती है और न्यायालय नए राज्य या नई सरकार के उन सभी कार्यों को वैध स्वीकार करते हैं जो नवमान्य सरकार द्वारा उसके हाथ में सत्ता आने के प्रारंभ से किए जाते हैं।

मान्यता के परिणाम — किसी नए राज्य अथवा नई सरकार को मान्यता मिलने से निम्नलिखित मुख्य परिणाम होते हैं :

(१) मान्यता प्राप्त करने के उपरांत—उक्त राज्य को अथवा सरकार को यह क्षमता मिल जाती है कि वह मान्यता प्रदान करनेवाले राज्यों के साथ कोई संधि कर सके अथवा कूटनीतिक संबंध स्थापित कर ले।

(२) मान्यताप्राप्त उक्त राज्य को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वह मान्यता देनेवाले राज्यों के न्यायालयों में मुकदमा दायर कर सके।

(३) मान्यताप्राप्त राज्य को मान्यता प्रदान करनेवाले राज्यों के न्यायालयों के अधिकारक्षेत्र से अपने संबंध में तथा अपनी संपत्ति के संबंध में उन्मुक्ति या छूट प्राप्त हो जाती है।

(४) मान्यताप्राप्त राज्य को यह अधिकार भी प्राप्त हो जाता है कि मान्यता देनेवाले किसी राज्य के सीमाक्षेत्र में यदि उसकी पूर्ववर्ती सरकार की कोई संपत्ति रही हो तो वह उसकी माँग कर उसे अधिगृहीत कर सके।

युद्धस्थिति और राज्यद्रोह की मान्यता — यदि किसी देश में गृहयुद्ध छिड़ जाय तो कुछ शर्तें पूरी होने पर विद्रोहियों को युद्धरत घोषित किया जा सकता है, जैसे—

(१) व्यापक शत्रुकार्य के साथ गृहयुद्ध।

(२) राज्यद्रोहियों द्वारा राष्ट्रीय सीमाक्षेत्र के पर्याप्त क्षेत्र पर आधिपत्य स्थापित कर लेना और उसपर व्यवस्थित शासन प्रबंध चलाना।

(३) राज्यद्रोहियों द्वारा किसी उत्तरदायी सत्ता के अधीन युद्ध के नियमों का पालन करना।

(४) अन्य—तीसरे—राज्यों के लिये गृहयुद्ध के संबंध में अर्थात् अपने रुख की व्याख्या करने की व्यावहारिक आवश्यकता का उत्पन्न हो जाना।

यदि ऐसी स्थिति हो कि इनमें से केवल थोड़ी सी ही शर्तें पूरी होती हों तो अन्य राज्य विद्रोहियों को राज्यद्रोही की मान्यता प्रदान कर सकते है और उन्हें कानून-भंग-कर्ता न मानकर उस क्षेत्र का वास्तविक अधिकारी मान सकते हैं जहाँ उनका अधिकार स्थापित हो गया हो।

मान्यता का प्रत्याहार — यों समान्यत: कोई राज्य यदि किसी राज्य को मान्यता दे देता है तो वह किसी राजनीतिक उद्देश्य से उसकी मान्यता वापस नहीं ले सकता। परंतु कुछ विशेष परिस्थितियों में मान्यता वापस ली जा सकती है। उदाहरणार्थ, यदि कोई राज्य अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है, अथवा उसकी सरकार प्रभावशून्य हो जाती है, अथवा गृहयुद्ध में कोई युध्यमान पक्ष पराजित हो जाता है तो ऐसी स्थिति में राज्य की मान्यता वापस ली जा सकती है।

[ल० ना० टं०]

रॉथम्स्टेड अनुसंधान केंद्र नामक कृषि अनुसंधान संस्थान की नींव १८४३ ई० में स्वर्गीय सर जे० बी० लॉज (J. B. Lawes) ने डाली, जिनका संपर्क सर जे० एच० गिल्बर्ट के साथ लगभग ६० वर्ष तक रहा। लॉज की १९०० ई० में तथा गिल्बर्ट की १९०१ ई० में मृत्यु हुई। सन् १९०२ ई० से १९१२ ई० तक सर ए० डी० हॉल तथा १९१२ ई० से १९४३ ई० तक सर ई० जे० रसेल ने उनका स्थान ग्रहण किया। १९४३ ई० में सर विलियम आंग संचालक नियुक्त किए गए।

अनेक वर्षों तक इस अनुसंधान केंद्र का कार्य, प्रथम तो सर जे० बी० लॉज से प्राप्त धन से तथा १८८९ ई० के पश्चात् लॉज ऐग्रिकल्चरल ट्रस्ट में इनके द्वारा प्रदत्त १,००,००० पाउंड की धनराशि से प्राप्त आय से, चलता था। अनुसंधान केंद्र के विकास हेतु धन की व्यवस्था करने के उद्देश्य से १९०४ ई० में एक समिति का निर्माण किया गया। १९०६ ई० में श्री जे० एफ० मेसन ने बैक्टीरियोलॉजिकल प्रयोगशाला स्थापित की। १९०७ ई० में गोल्डस्मिथ कंपनी ने उदारतापूर्वक १०,००० पाउंड के एक अन्य दान की व्यवस्था की, जिसकी आय, जो कंपनी ने बाद में बढ़ा दी, मृदा संबंधी अनुसंधानों में व्यय की जाती है। सन् १९११ में विकास आयोग ने अनुसंधान केंद्र को प्रथम अनुदान दिया। तब से प्रति वर्ष सरकारी अनुदान मिलते रहे हैं।

सन १९१९ में प्रयोगशालाओं का मुख्य खंड खोला गया। पीछे कुछ अन्य खंड खुले।

१९४५ ई० से रिवर्स लॉज अनुसंधान केंद्र की एक इमारत, जो प्रयोगशालाओं के दक्षिण तरफ है, सांख्यिकी विभाग द्वारा प्रयुक्त की जाती है।

१९४३ ई० में रॉथम्स्टेड लॉज स्थापन के लिये एक भवन मोल लिया गया, जो कीटशास्त्र, मधुमक्खी अनुसंधान एवं परामर्श विभागों के उपयोग में आने लगा।

१९४७ ई० में इंस्टिट्यूट ऑव पैरासाइटॉलोजी के डा० टी० गूडे के संरक्षण में होनेवाला प्लांट न्यूमोलोलोजी का कार्य रॉम्स्टेड अनुसंधान केंद्र में स्थानांतरित कर दिया गया। इस विभाग के लिये एक नई प्रयोगशाला का निर्माण किया गया है।

विशाल कांच भवन तथा वाइरस के अध्ययन हेतु विशिष्ट कीट कुप्रभाव से सुरक्षित भवन, कृषि मंत्रालय, इंपायर मारकेटिंग बोर्ड तथा रॉकफेलर फाउंडेशन के उदारतापूर्ण अनुदानों से १९२६ ई०, १९२८ ई० तथा १९३१ ई० में निर्मित किए गए। वनस्पति रोग-निदान संबंधी प्रयोगों के लिये १९३५ ई० में नए भवनों की एक श्रेणी का, जिसमें कुछ भवन कीट दुष्प्रभाव से सुरक्षित भी थे, निर्माण किया गया।

१९४० ई० में एक विशाल नवीन दक्षिण पक्ष का निर्माण पूर्ण हुआ तथा रसायनविज्ञान संबंधी प्राचीन प्रयोगशालाओं का पुनर्निर्माण किया गया। इस विकास एवं पुनर्निर्माण द्वारा रसायन विज्ञान, जीवरसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान तथा कीटाणु जीव-विज्ञान विभागों के लिये स्थान की सुंदर व्यवस्था हो गई। इनके अतिरिक्त पॉट कल्चर हाउसेज की एक सुंदर श्रेणी का निर्माण हुआ। एक नवीन प्रयोगशाला का निर्माण तथा उसकी साजसज्जा भी इंपीरियल कालेज ऑव साइंस तथा टेक्नॉलॉजी के कर्मचारियों हेतु की गई।

सन् १८३४ में २५० एकड़ का रॉथम्स्टेड होम फार्म सर जान लॉज के प्रबंध में रखा गया। सन् १९१३ में वर्तमान इमारतों के स्थान पर, इमारतों की प्रथम श्रेणी का निर्माण हुआ। सन् १९३०-३२ में इनका विकास किया गया तथा ये विद्युत् शक्ति एवं प्रकाश हेतु सुसज्जित की गईं। १९३९-४० ई० में इनका और अधिक विकास किया गया तथा इन नई इमारतों तक बिजली पहुँचाने की व्यवस्था की गई।

सन् १९४८ में निनिगन फील्ड में ६ कृषि क्षेत्रीय भवनों का निर्माण किया गया तथा प्रयोगशालाओं के पीछे से लेकर कृषि क्षेत्र तक पक्की सड़क बनाई गई।

सन् १९२८ में विद्यमान आर्थिक परिस्थितियों का सामना करने के लिये कृषि क्षेत्र के अनुसंधानीय भाग को सुसंगठित किया गया। अधिकांश क्षेत्र में स्थायी घास लगाई गई तथा गाय, भैंस और भेड़ें रखी गईं। सन् १९३९ में यह नीति परिवर्तित कर दी गई। लै फार्मिंग प्रारंभ की गई तथा युद्धकालीन परिस्थितियों का सामना करने के लिये क्षेत्रफल बढ़ा दिया गया।

सन् १९२१ मे इंग्लैंड में अनुसंधानों का विभिन्न, बाहरी केंद्रों तक किया गया प्रसार इतना उपयोगी सिद्ध हुआ कि इसका और अधिक विकास किया गया। इसके द्वारा न केवल किसानों तक उपयोगी सूचना ही पहुँचती है, बल्कि अनुसंधान केंद्र का परामर्शदात्री संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयो से संपर्क भी घनिष्ठ होता जाता है। प्रसार के सिलसिले में १९२६ ई० मे अनुसंधान केंद्र ने वोवर्न अनुसंधान क्षेत्र ले लिया। इस प्रकार रॉथम्स्टेड के भारी तथा वोर्बन के हल्के भूखंड पर साथ ही साथ प्रयोग करने की सुविधा प्राप्त हुई।

मई, सन् १९३४ मे रॉथम्स्टेड स्थापन के समीपस्थ कुछ भाग तथा कृषिक्षेत्र को मोल लेने के संबंध में होनेवाली बातचीत पूरी हुई। अब रॉथम्स्टेड के संरक्षकों के पास प्रयोगशालाओं की भूमि, अनुसंधान एवं साधारण कृषिक्षेत्र, नाट वुड, मेनर हाउस तथा मैदान, मैनेजर का मकान तथा ८ अन्य मकान हैं। कुल क्षेत्रफल ५२७ एकड़ है। इसका क्रयमूल्य ३५,००० पाउंड था, जो चंदे द्वारा एकत्रित धन है। सर रॉबर्ट मैकडूगल तथा अन्य लोगों से उदारतापूर्ण अनुदान प्राप्त हुए। किसानों, ग्राम्य स्कूल अध्यापकों तथा अन्य सूत्रों से चंदे के रूप में धन प्राप्त हुआ।

रॉथम्स्टेड की कार्यवाही इंग्लैंड तक ही सीमित नहीं है, वरन् अन्य देशों तक क्रमशः प्रसारित होती जा रही है। कॉमनवेल्थ की कृषि संबंधी महत्वपूर्ण समस्याओं के हल करने में इस अनुसंधान केंद्र का नियमित सहयोग रहता है।

उत्तर स्नातकीय छात्रों के लिये अनुसंधान संबंधी सुविधाएँ इस केंद्र में उपलब्ध हैं, परंतु दुर्भाग्यवश स्थानाभाव के कारण अतिरिक्त कार्यकर्ताओं की संख्या अत्यंत सीमित है।

कॉमनवेल्थ ब्यूरो ऑव सॉयल सायंस, जो १० इसी प्रकार की संस्थाओं मे से एक है तथा जो कृषिशास्त्र संबंधी सूचनाओं के प्रसार केंद्र के रूप में है, सन् १९२९ ई० से रॉथम्स्टेड में स्थित है। रॉथम्स्टेड अनुसंधान केंद्र में कृषि संबंधी अनुसंधान इतने अधिक हुए हैं कि उनका संक्षिप्त वर्णन भी देना संभव नहीं है।

[आर० के० टं०]

रॉटरडैम नीदरलैंड्स (हॉलैंड) के दक्षिणी भाग में स्थित नगर एवं बंदरगाह है, जो राइन नदी की सहायक न्यूमास नदी के किनारे बसा है। यहाँ की जलवायु यूरोप के तुल्य है। हॉलैंड का तीन चौथाई व्यापार यहीं से होता है। जर्मनी एवं स्विट्सरलैंड का व्यापार भी यही से होता है। जहाज बनाने का उद्योग सर्वप्रमुख है। सन, सन के बने सामान, दूध से निर्मित वस्तुएँ तथा पशुओं का निर्यात एवं चावल, चीनी, कोयला, मिट्टी का तेल आदि का आयात होता है। यहाँ की जनसंख्या ७,३०,२२५ (सन् १९६२) है।

[रा० स० ख०]

राधा १. वृंदावनविहारी श्रीकृष्णचंद्र की प्रियतमा, सर्वश्रेष्ठ गोपी, का नाम राधा है। उनके भौतिक जीवन की घटनाएँ नितांत स्वल्प हैं। ये वृंदावन के समीपस्थ बरसाने के आभीरपति वृषभानु नामक गोप की कन्या थीं। इनकी माता का नाम कीर्तिदा था। जन्म इनका हुआ था भाद्रपद शुक्ल अष्टमी चंद्रवार को। श्रीकृष्ण की बाललीलाओं में श्री राधा का अपूर्व योग था, परंतु इसकी पूर्णाहुति हुई महारास में, जहाँ राधा का प्रथम मिलन, तदनंतर विच्छेद और अनंतर पुनर्मिलन संपन्न हुआ था। राधा का श्रीकृष्ण के लिये प्रेम सामाजिक बंधन को उल्लंघन कर दिव्य भाव में परिणत हो गया, जो अक्रूर के द्वारा कृष्ण के मथुरा ले जाने पर और भी बढ़ता गया। श्रीकृष्ण के साथ गोपीजनों का—और श्रीराधा का—पुनर्मिलन हुआ कुरुक्षेत्र में, जहाँ सूर्यग्रहण के अवसर पर श्रीकृष्ण यादवों के साथ द्वारिका से सदलबल पधारे थे और नंदराय अपने गोप गोपीजनों के संग वृंदावन से आए थे (भागवत १० स्कंध, ८२–८३ अ०)। यही मिलन राधा के साथ कृष्ण का अंतिम मिलन था और इसके अनंतर कोई चर्चा मुख्यतया उल्लिखित नहीं है।

वृंदावन की दिव्य भूमि में पनपनेवाले वैष्णव संप्रदायों में राधा-वल्लभी, चैतन्य, वल्लभाचार्य तथा निंबार्क मतों में—राधाकृष्ण की युगल उपासना आज सर्वत्र प्रचलित है, परंतु किस संप्रदाय में राधा

का प्राकट्य संपन्न हुआ, इस तथ्य को इदमित्थंरूपेण निर्णीत करना नितांत कठिन है। वृंदावन के रसमय वैभव का प्रथम गायक कविवर जयदेव को माना जाता है, जिन्होंने द्वादश शती के अंतिम चरण में अपने अलौकिक रसमय काव्य 'गीतगोविंद' में राधाकृष्ण की नित्य केलि का मधुमय गायन किया। गीतगोविंद से पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य में राधाकृष्ण के दिव्य प्रेम का संकेत यत्रतत्र उपलब्ध होता है। आचार्य आनंदवर्धन ने (नवमी शती का मध्य भाग) 'ध्वन्यालोक' में दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें राधाकृष्ण की केलि का स्पष्ट संकेत है (निर्णयसागर सं०, पृ० ७७ तथा पृ० २१४)। ध्वन्यालोक से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व निर्मित 'वेणीसंहार' नाटक की नांदी में कालिंदी के तट पर रास को छोड़कर आनेवाली केलिकुपिता राधा का अनुगमन करनेवाले श्रीकृष्ण के अनुनय का विशद उल्लेख है। महाकवि भास द्वारा प्रणीत 'बालचरित्' नाटक मे राधा के नाम का अभाव अवश्य है, परंतु उस हल्लीसक (रास) का विशद वर्णन है जिसकी राधा प्राणभूता थीं। इस प्रकार जयदेव से पूर्ववर्ती संस्कृत काव्यजगत् में राधा कृष्णप्रेयसी के रूप में चिरपरिचिता थीं। प्राकृत साहित्य भी राधा के रमणीय रूप से परिचित है। हाल द्वारा संगृहीत गाथा छंदों में निबद्ध 'गाहा सत्तसई' (गाथा सप्तशती) की अनेक गाथाओं में जहाँ श्रीकृष्ण की बाललीला का सरस वर्णन है, वहाँ राधा भी प्रेम की प्रतिमा के रूप में अंकित की गई है। राधा के नाम से अंकित यह गाथा साहित्यिक दृष्टि से बहुत ही सुंदर तथा सरस है :

> मुह मारुएण तं कह्रण गोरअं राहिआएं अवणेन्तो
> एताणं वल्लवीणं अण्णाणापि गौरअं हरसि (१।८९)
> (त्वं कृष्ण राधिकाया मुखमारुता गौरजोऽपनयन्।
> आसामन्यासामपि गोपीनां गौरवं हरसि ॥)

गाथा का भाव है कि कृष्ण तुम अपने मुँह की हवा से, मुँह से, फूँक मारकर, राधिका के मुँह में लगे हुए गोरज (धूलि) को हटा रहे हो। इस प्रेमप्रकाशन द्वारा तुम इन गोपियों का तथा दूसरी गोपियों का गौरव हर रहे हो। इस गाथा में 'गौरज' शब्द दो संस्कृत शब्दों का समान प्राकृत रूप है—गोरज का तथा गौरव का। इन विभिन्न अर्थों को समान रूप पद के द्वारा अभिव्यक्त कर प्राकृत कवि ने शाब्दिक चमत्कार नि.संदेह पैदा किया है। साहित्यजगत् में राधा का नि:संदिग्ध प्रथम उल्लेख इसी गाथा में उपलब्ध होता है। हाल शालिवाहन के नाम से प्रथम शताब्दी में प्रतिष्ठानपुर में राज्य करते थे। फलत: राधा का साहित्यजगत् में आविर्भाव प्रथम शताब्दी से पूर्व की घटना नहीं माना जा सकता।

पुराण साहित्य में राधा के उदय तथा विकास की रूपरेखा निश्चित की जा सकती है। श्रीमद्भागवत की रासपंचाध्यायी (१०।३०।२४) में स्पष्टत: नहीं, केवल प्रकारांतर से, कृष्ण की परम प्रेयसी का नाम राधा संकेतित करनेवाला यह श्लोक इस विषय में ध्यातव्य है :

> अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
> यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः ॥

इस पद्य के आदि पद के द्वारा कृष्ण की आराधिका गोपी का अभिधान 'राधा' संकेतित किया गया है। परंतु श्रीमद्भागवत् में राधा नाम के विषय में स्पष्टोक्ति का अभाव क्यों है? इसका उत्तर सहृदय व्याख्याकारों ने जो दिया है, वह रसिकों के लिये हृदयावर्जक अवश्य है। इष्टवस्तु की संपत्ति गोपन से, छिपाने से, ही सिद्ध होती है—कुंभकार के आँवाँ में सिद्ध पात्र के समान। मिट्टी के बरतनों के ऊपर मिट्टी का मोटा लेप लगाकर ही आँवे में उन्हें सिद्ध करते हैं। यदि असावधानी से कोई अंश आवरण से रहित हो जाय और भाप निकलने लगे, तो वह अंश कच्चा ही रह जाता है—पककर सिद्ध नहीं होता। यही दृष्टांत इस तथ्य का प्रतिपादक है :

> गोपनादिष्टसम्पत्तिः सर्वथा परिसिध्यति।
> कुलालपुटके पात्रमन्तर्वाष्पतया यथा ॥

'विशुद्ध रसदीपिका' के अज्ञातनामा रचयिता की दृष्टि मे व्यंजना के द्वारा मार्मिक अभिव्यक्ति के अभिप्राय से ग्रंथकार ने अभिधा का आश्रयण नहीं लिया है। विपक्षी गोपियों से छिपाने के हेतु तथा रसिकों के लिये व्यंजना के द्वारा नामसिद्धि के तात्पर्य से ही शुक मुनि ने अभिधा द्वारा राधा नाम का निर्देशन नहीं किया।

विष्णुपुराण का रासप्रसंग भागवत के प्रसंग की अपेक्षा मात्रा में न्यून है, परंतु यहाँ भी राधा का नाम निर्दिष्ट नहीं है, केवल संकेतित ही है इस पद्य में—

> अत्रोपविश्य वै तेन काचित् पुष्पैरलंकृता।
> अन्यजन्मनि सर्वात्मा विष्णुरभ्यर्चितस्तया ॥
> (विष्णुपुराण ५।१३।३५)

इस श्लोक की अंतिम पदद्वयी भागवत के अनया राधित: के समान ही पदयोजना में है। राधित या आराधित: के स्थान पर यहाँ तदर्थक 'अभ्यर्चित:' का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार इन प्राचीन पुराणों में राधा नाम का गुह्य संकेत ही है, स्पष्ट अभिधान नहीं। पद्मपुराण (पाताल खंड) तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण (कृष्णजन्म खंड) ही राधातत्व के उन्मीलनकर्ता महनीय पुराण हैं। इन दोनों पुराणों के विशिष्ट खंडो में राधा की जीवनी, आविर्भाव, सौंदर्य तथा प्रभाव का बड़ा ही सांगोपांग विवरण उपलब्ध होता है। ये दोनों संमिलित रूप से राधाकृष्ण के तत्वोन्मीलन के विश्वकोश हैं। इनके रचनाकाल का निःसंदिग्ध परिचय न होने से अवांतरकालीन १६वीं शती के वैष्णव संप्रदायों पर इनके प्रभाव का ऐतिहासिक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। गौड़ीय गोस्वामियों ने पुराणों में से केवल पद्मपुराण तथा मत्स्यपुराण मे राधा की सत्ता मानी है। जीव गोस्वामी ने 'ब्रह्मसंहिता' की टीका में 'राधा वृन्दावने' इति मत्स्यवचनात् लिखकर मत्स्यपुराणीय राधा विवरण से अपना परिचय अभिव्यक्त किया है।

उपनिषदों में राधा—वैष्णव उपनिषदों में से कतिपय उपनिषदों में राधा की महिमा वर्णित है। रूप गोस्वामी ने अपने प्रख्यात ग्रंथ 'उज्ज्वलनीलमणि' में लिखा है कि गोपालोत्तरतापिनी उपनिषद् में राधा गांधर्वी के नाम से विश्रुत है तथा 'ऋक् परिशिष्ट' में राधा माधव के साथ कथित है :

गोपालोत्तरतापिन्यां गान्धर्वीति विश्रुता।
राधेत्यृक् परिशिष्टे च माधवेन सहोदिता।।

आज उपलब्ध राधोपनिषद्, राधिका तापनीयोपनिषद्, साम-रहस्य उपनिषदों में राधा की महिमा प्रतिपादित है। परंतु वैष्णव गोस्वामियों के ग्रंथों में इनके उद्धरण और निर्देश का अभाव इनकी प्राचीनता सिद्ध करने में मुख्यतया विघातक है।

वैदिक संहिताओं में भी राधा शब्द सकारांत राधस् तथा आकारांत राधा के रूप में उपलब्ध होता है। 'राधस्' शब्द का बहुत प्रयोग ऋक् संहिता में उपलब्ध है, राधा का केवल दो तीन बार।

यस्य ब्रह्मवर्धनं यस्य सोमो
यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः (ऋ० सं० २।१२।१४)
स्तोत्र राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते।
विभूतिरस्तु सूनृता।।

यह मंत्र ऋग्वेद (१।३०।५), सामवेद और अथर्ववेद (२०।४५।२), इन तीनों में समान रूप से उपलब्ध होता है।

'संसिद्धि' अर्थ में राध् धातु से सुन् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न राधस् शब्द निघंटु (२।१०) में धन के नामों में पठित है। मेरी दृष्टि में राधः तथा राधा दोनों पक्षों की व्युत्पत्ति राध् वृद्धौ धातु से है जिसमें 'आ' उपसर्ग के योग से आराधयति क्रियापद निष्पन्न होता है। फलतः इन दोनों शब्दों का समान अर्थ है—आराधना, अर्चना या अर्चा। पौराणिक राधा वैदिक राधस् या राधा का व्यक्तीकरण है। राधा पवित्र तथा पुण्यतम आराधना की प्रतीक है। आराधना की उदात्तता उसके प्रेमपूर्ण होने में है। सच्ची आराधना तथा विशुद्ध प्रेम का अन्योन्याश्रय संबंध है। जिस आराधना में विशुद्ध प्रेम नहीं झलकता, जो उदात्त प्रेम के साथ संपन्न नहीं की जाती, वह सच्ची आराधना कहलाने की अधिकारिणी नहीं होती। इस प्रकार राधा शब्द के साथ प्रेम के प्राचुर्य का, भक्ति की विपुलता का तथा भाव के उत्कर्ष का संबंध कालांतर में जुटता गया और धीरे धीरे राधा विशाल प्रेम की प्रतिमा के रूप में साहित्य तथा धर्म में प्रतिष्ठित हो गई।

राधातत्व का विमर्श—राधाकृष्ण का आध्यात्मिक तत्व पूर्णतया वैदिक है। श्रीकृष्ण शक्तिमान् हैं तथा राधा उनकी शक्ति है। क्षीर में धवलता, अग्नि में दाहिकाशक्ति तथा पृथ्वी में गंध के समान शक्ति तथा शक्तिमान् में अभेद संबंध है। शक्ति न तो शक्तिमान् को छोड़कर एक क्षण के लिये भी पृथक् रह सकती है और न शक्तिमान् ही अपनी शक्ति से विरहित होकर सामर्थ्यवान् हो सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण अचिंत्य अनंत शक्तियों से संपन्न हैं, परंतु इनमें तीन शक्तियाँ ही मुख्य मानी जाती हैं—(१) अंतरंगा शक्ति (= चित् शक्ति अथवा स्वरूप शक्ति); (२) तटस्था शक्ति (जीव शक्ति); (३) बहिरंगा शक्ति (माया शक्ति)। भगवान् के सच्चिदानंद विग्रह होने के हेतु उनकी स्वरूप शक्ति एकात्मिका होने पर भी त्रिविधा होती है—(क) संधिनी, (ख) संवित् तथा (ग) ह्लादिनी। आनंद का आश्रयण लेकर वर्तमान होती है। ह्लादिनी वह शक्ति है जिससे भगवान् स्वयं आनन्द का अनुभव करते हैं, और दूसरों को आनंद का अनुभव कराते हैं। ह्लादिनी शक्ति विकास की चरम काष्ठा है। फलतः यह भगवान् की समस्त शक्तियों की पूर्णता की द्योतिका है, इसीलिये यह सब शक्तियों में—तथा स्वरूप शक्ति में भी—मुख्य मानी गई है। राधा इसी ह्लादिनी शक्ति का नाम है। मधु में माधुर्य है, परंतु मधु को उसका अनुभव नहीं होता। उसी प्रकार श्रीकृष्ण में आनंद है, परंतु उन्हें इसकी अनुभूति स्वतः नहीं होती। राधा ही वह अनुभूतिप्रदायिनी शक्ति है जिसके द्वारा कृष्ण को अपने में विद्यमान नैसर्गिक आनंद का अनुभव होता है। वे स्वयं आनंद का अनुभव करते हैं तथा जीवों को वह आनंद देते हैं। वही है राधा—सच्चिदानंद भगवान् की ह्लादिनी शक्ति।

राधा महाभाव स्वरूपा है। प्रेम स्नेह, मान, प्रणय, राग अनुराग तथा भाव के रूप में क्रमशः उत्कर्ष पाता हुआ जिस विशिष्ट रूप में प्रतिष्ठित होता है वह वैष्णव शास्त्र में 'महाभाव' कहलाता है। यह प्रेम का चूडांत विकास है। श्रीकृष्ण विषयक प्रेम की अंतिम कोटि प्रेमा कहलाती है (भक्तिरसामृतसिंधु)। जब भाव या रति चित्त को अच्छी तरह से कोमल बना देती है, चित्त चिक्कण हो जाता है, तब साधक में श्रीकृष्ण के प्रति अतिशय ममता उत्पन्न होती है। भगवान् में यही घनीभूत प्रेम प्रेमा कहा जाता है। इसी प्रेमा का अभिधान महाभाव है। राधारानी यही महाभावरूपा हैं। इस प्रकार शक्ति की दृष्टि से तथा प्रेम की दृष्टि से इन दोनों की चरम परिणति राधा में विद्यमान है।

ह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीराधा के साथ ही भगवान् नित्य वृंदावन में नृत्यलीला किया करते हैं। राधा को पाकर ही श्रीकृष्ण अपने यथार्थ आनंदस्वरूप की अनुभूति करते हैं और इस प्रकार श्रीकृष्ण को आत्मस्वरूप की उपलब्धि के लिये राधा ही कारणभूता हैं। राधा भगवान् तथा भक्तों के बीच मध्यस्थता करती है। वे ईश्वरकोटि तथा जीवकोटि दोनों कोटियों में रसरूप तथा भक्तिरूप से अपने कार्य का विस्तार करती हैं। एक ओर वे राधा ब्रजनंदन श्रीकृष्ण के आनंद की विस्तारिणी है, तो दूसरी ओर भक्तों के ऊपर भगवान् की करुणा को प्रवाहित करने में भी कारण बनती हैं। राधावाद के ये मुख्य तथ्य प्राचीन तंत्रों में व्याख्यात शक्तिवाद के विकीर्ण विभिन्न तथ्य ही एकत्र कर प्रस्तुत किए गए हैं। गंभीरता से विचार करने पर यही सिद्धांत परिस्फुटित होता है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो शिव और शक्ति हैं, त्रिपुरामत में जो कामेश्वर और कामेश्वरी हैं, वे ही गौड़ीय वैष्णवदर्शन में कृष्ण और राधा हैं।

यही राधाकृष्ण की युगल मूर्ति वैष्णव संप्रदायों में तथा उनके साहित्य में उपासना के निमित्त स्वीकृत की गई है। श्री चैतन्य, श्री वल्लभाचार्य तथा श्री निंबार्काचार्य के संप्रदायों में युगल उपासना की मान्यता होने पर भी कृष्णचरण का आश्रय प्रधान है, परंतु राधावल्लभी संप्रदाय ही राधाचरण का आश्रय माननेवाला संप्रदाय है। राधा कृष्ण की निकुंजलीला में भी इन संप्रदायों में सूक्ष्म पार्थक्य है।

उपासना की पुष्टि के निमित्त ही साहित्य अपनी समृद्धि प्रदान करता है। वृंदावनाश्रयी कृष्णभक्तों में ही राधा मान्य नहीं हैं, अपितु दक्षिण भारत के वैष्णव मतों में भी वह कहीं गोपी के नाम से और तमिल देश में 'नप्पिनै' के अभिधान से अपनी रसिकता का विस्तार करती हैं। समग्र भारत की प्रांतीय भाषाओं में कृष्णचरित्र के कीर्तनप्रसंग में राधा की अनुपम सुषमा,

दिव्य प्रेम तथा उदात्त आनंद का सरस प्रतिपादन उपलब्ध होता है, परंतु राधालीला का कीर्तन तो ब्रजभाषा तथा ब्रजबुली का सर्वस्व है। संस्कृत में जयदेव का 'गीतगोविंद' पदावली साहित्य का प्रथम निदर्शन प्रस्तुत करता है जिससे तथा श्रीमद्भागवत की रसमयी वीथियों से स्फूर्ति तथा प्रेरणा लेकर विद्यापति ने मैथिली में, चंडीदास, गोविंददास तथा ज्ञानदास ने ब्रजबुली में, अष्टछाप के सूरदास, नंददास आदि ने, हितहरिवंश के द्वारा प्रतिष्ठित संप्रदाय के राधावल्लभी कवियों ने तथा निंबार्की कवियों ने ब्रजभाषा में इस केलि की अमृतमयी लीलाओं के चित्रण में अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है तथा साहित्य को रसाप्लुत से सिक्त बनाया है। तथ्य यह है कि राधा भारतीय भक्ति और अनुरक्ति की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति हैं। वह भारतीय साधना और आराधना की चरम परिणति हैं। प्रेमोत्कर्ष की दृष्टि से ऐसी अनुपम कल्पना संसार के इतर साहित्यों में खोज पाना दुष्कर है।

सं० ग्रं० — डा० शशिभूषण दासगुप्त : राधा का क्रमविकास (वाराणसी १९५६); डा० रामपूजन तिवारी : ब्रजबुली साहित्य (पटना, १९६०); श्री वागीश शास्त्री : श्री राधा सप्तशती (कलकत्ता २०१८ सं०); श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार : श्रीराधा माधव चिंतन (गोरखपुर, २०१८ सं०); डॉ० विजयेंद्र स्नातक : राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धांत और साहित्य (दिल्ली, १९५६), श्री राधागुणगान (कलकत्ता, २०१७ सं०); श्री मदनगोपालाचार्य द्रविडाम्नाय दिव्य प्रबंध विवर्त. (खेमराज श्रीकृष्णदास मुंबई, १९५८); श्री परशुराम चतुर्वेदी : भक्ति साहित्य में मधुरोपासना (इलाहाबाद सं० २०१८); बलदेव उपाध्याय : भारतीय वाङ्मय में श्री राधा (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६३) । [ब० उ०]

२. धृतराष्ट्र के साथी अधिरथ या नंदन की पत्नी जिसने कुंतीपुत्र कर्ण को पाला था (दे० 'कुंती') । इसीलिये वह सूतपुत्र रूप में प्रसिद्ध रहा। राधा के नाम पर कर्ण को राधेय भी कहते है।

[रा० हिं०]

राधाकृष्णदास जन्म श्रावण पूर्णिमा, सं० १९२२, पिता का नाम कल्याणदास तथा माता का नाम गंगाबीबी था, जो भारतेंदु हरिश्चंद्र की बूआ थीं। शरीर से प्रकृत्या अस्वस्थ तथा अशक्त होने के कारण इनकी शिक्षा साधारण ही रही पर विद्याध्ययन की ओर रुचि होने से इन्होंने हिंदी, बँगला, उर्दू आदि में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। पंद्रह वर्ष की अवस्था में ही 'दुखिनी बाला' नामक छोटा रूपक लिखा। इसके एक ही वर्ष बाद 'निस्सहाय हिंदू' नामक सामाजिक उपन्यास लिखा। इसी के अनंतर 'स्वर्णजता' आदि पुस्तकों का बँगला से हिंदी में अनुवाद किया। भारतीय इतिहास की ओर रुचि हो जाने से इसी काल में 'आर्यचरितामृत' रूप में बाप्पा रावल की जीवनी तथा 'महारानी पद्मावती' रूपक भी लिखा। समाजसुधार पर भी इन्होंने कई लेख लिखे।

यह अत्यंत धार्मिक कृष्णभक्त थे। 'धर्मालाप' रचना में अनेक धर्मों का वार्तालाप कराकर हरिभक्ति को ही अंत में प्रधानता दी है। इन्होंने तीर्थयात्रा कर अनेक कृष्णलीला-भूमियों का दर्शन किया और उसका जो विवरण लिखा है वह बड़ा हृदयग्राही है।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा, हरिश्चंद्र विद्यालय आदि अनेक सभा संस्थाओं के उन्नयन में इन्होंने सहयोग दिया। सरस्वती पत्रिका का प्रकाशनारंभ इन्हीं के संपादकत्व में हुआ और अदालतो में नागरी के प्रचार के लिये भी इन्होंने प्रयत्न किया। सभा के हिंदी पुस्तकों के खोज विभाग के कार्य का शुभारंभ इन्ही के द्वारा हुआ। स्वास्थ्य ठीक न रहने से रोगाक्रांत होकर यह बयालीस वर्ष की अवस्था में १ अप्रैल, सन् १९०७ ई० को गोलोक सिधारे। इनकी अन्य रचनाएँ नागरीदास का जीवन चरित, हिंदी भाषा के पत्रों का सामयिक इतिहास, राजस्थान केसरी वा महाराणा प्रताप सिंह नाटक, भारतेंदु जी की जीवनी, रहिमन विलास आदि हैं।

[ब्र० र० दा०]

राधाचरण गोस्वामी का जन्म वृंदावन में संवत् १९१५ में हुआ था। ये संस्कृत के उच्च कोटि के विद्वान् थे। इन्होंने युग की बदलती भावनाओं का उदारतापूर्वक स्वागत किया था। उस समय होनेवाले सामाजिक समारोहों में ये सोत्साह भाग लेते थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के कथनानुसार, समाजसुधार की उत्कट कामना से प्रेरित होकर ये ब्रह्मसमाज की ओर आकर्षित हुए थे। उसके परिणाम स्वरूप इन्होंने तत्संबंधी अनेक लेख 'हिंदू बांधव' नामक पत्र में लिखे थे। भाषा संबंधी आंदोलन के प्रारंभिक काल में इन्होंने ब्रजभाषा का दृढ़तापूर्वक समर्थन और खड़ी बोली का तीव्र विरोध किया था। इन्होंने 'हिंदुस्तान' नामक पत्र में संवत् १९४४ में एक लेख लिखकर ब्रजभाषा की वरीयता का प्रतिपादन किया था। पंडित श्रीधर पाठक ने उसी पत्र में इनके तर्कों का खंडन करते हुए प्रभावशाली शब्दों में खड़ी बोली की हिमायत की थी। वस्तुत. गोस्वामी जी ने उर्दू के प्रभावविस्तार को रोकने के लिये ही खड़ी बोली का विरोध किया था। ये भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के घनिष्ठ मित्र थे और उनके द्वारा संपादित 'हरिश्चंद्र मैगजीन' के लेखो ने इनके हृदय में देशप्रेम और समाजसुधार की भावना जगा दी थी। इनके लेखों से इनके देशप्रेम, साहित्यसेवा, समाजसुधार, साहित्यिक अभिरुचि और इनकी रसिकता का स्पष्ट पता चल जाता है। इनका देहावसान संवत् १९८२ (दिसंबर, सन् १९२५) मे हुआ।

इन्होंने अनेक उच्च कोटि के मौलिक नाटक लिखे हैं, जिनमे 'सती चंद्रावली' और 'अमर सिंह राठौर' बड़े नाटक हैं। इनके अतिरिक्त 'सुदामा', 'तन मन धन श्री गोसाईं जी के अर्पण' आदि अपेक्षाकृत छोटे नाटक हैं। इनमे कतिपय ऐतिहासिक और शेष काल्पनिक कथानकों को लेकर रचे गए हैं। सती चंद्रावली में इन्होने हिंदू धर्म पर होने वाले औरंगजेबी अत्याचारों का चित्रण बड़ी कुशलता के साथ किया है। इन्होंने 'विरजा', 'जाविश्री' और 'मृण्मयी' नामक बँगला भाषा की पुस्तकों के अनुवाद भी किए थे। भारतेंदु युग मे जिन महानुभावो ने अपने त्याग और तपस्या द्वारा हिंदी साहित्य की अनेक प्रकार से सेवा की उनमें गोस्वामी जी का स्थान गौरवपूर्ण है।

[ला० त्रि० प्र०]

राधाबाई नेवास के बर्वे परिवार की कन्या थीं। इनके पिता का नाम कुबेरकर अंताजी मल्हार बर्वे था। राधाबाई का विवाह बालाजी के साथ हुआ था। बालाजी के पिता विश्वनाथ भट्ट सिद्दियों के अधीन श्रीवर्धन गाँव के देशमुख थे। भारत के पश्चिमी

सिद्दियों से न पटने के कारण विश्वनाथ और बालाजी श्रीवर्धन गाँव छोड़कर बेला नामक स्थान पर भानु भाइयों के साथ रहने लगे। राधाबाई भी अपने परिवार के साथ बेला में रहने लगीं। कुछ समय पश्चात् बालाजी डंडाराजपुरी के देशमुख हो गए। १६९९ ई० से १७०८ ई० तक वे पूना के सर-सूबेदार रहे। राधाबाई में त्याग, दृढ़ता, कार्यकुशलता, व्यवहारचातुर्य और उदारता आदि गुण थे।

राधाबाई एवं बालाजी के दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। इनके बड़े पुत्र बाजीराव का जन्म १७०० ई० में और दूसरे पुत्र चिमाजी अप्पा का सन् १७१० में हुआ था। इनकी पुत्रियों के नाम अनूबाई और भिऊबाई थे।

बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु सन् १७२० में हुई। राधाबाई को बहुत दुःख हुआ, यद्यपि उनके पुत्र बाजीराव पेशवा बनाए गए। राधाबाई राज्य के विभिन्न कार्यों में बाजीराव को उचित सलाह देती थीं। जब १७३५ में राधाबाई ने तीर्थयात्रा पर जाने की इच्छा प्रकट की, चिमाजी अप्पा ने इसका प्रबंध शीघ्र ही किया। १४ फरवरी को इन्होंने पूना से प्रस्थान किया। ८ मार्च को वे बुरहानपुर पहुँची। ६ मई को उदयपुर में उन्हें राजकीय संमान मिला। २१ मई को नाथद्वारा का दर्शन किया और २१ जून को जयपुर पहुँची। सवाई राजा जयसिंह ने उनका अत्यधिक आदर सत्कार किया। वे यहाँ तीन माह तक ठहरीं। सितंबर मास में वे जयपुर से चल पड़ीं। वे मथुरा, वृंदावन, कुरुक्षेत्र और प्रयाग होती हुई १७ अक्टूबर को वाराणसी पहुँच गईं। वहाँ से दिसंबर के अंतिम सप्ताह में गया की ओर प्रस्थान किया। वहाँ से १७३६ में वे वापसी यात्रा पर चल पड़ीं। मार्ग में स्थानीय शासकों ने उनके लिये अंगरक्षकों की व्यवस्था की। मोहम्मद खान बंगश ने राधाबाई का बहुत संमान किया और उन्हें बहुमूल्य उपहार प्रदान किए। राधाबाई प्रसन्न हुईं और १ जून, १७३६ ई० को पूना पहुँचीं।

राधाबाई की इस यात्रा ने साधारणतः मराठों के लिये और विशेषकर पेशवा बाजीराव के लिये मित्रतापूर्ण वातावरण का निर्माण किया।

राधाबाई को यात्रा से लौटे दो वर्ष भी न हो पाए थे कि उन्हें एक और परिस्थिति का सामना करना पड़ा। मस्तानी और बाजीराव का संबंध सरदारों की आलोचना का विषय बन चुका था। बाजीराव के आलोचकों का तनाव उस समय और भी तीव्र हुआ जब पेशवा परिवार में रघुनाथ राव का उपनयन और सदाशिव राव का विवाह होने वाला था। पंडितों ने किसी भी ऐसे कार्य में भाग न लेने का निर्णय किया। राधाबाई ने बाजीराव को विशेष रूप से सतर्क रहने के लिये लिखा। अतत. राधाबाई उपर्युक्त कार्य कराने में सफल हुईं। मस्तानी और बाजीराव के संबंध को विशेष महत्व कभी नहीं दिया अपितु सदा ही यह प्रयत्न किया कि परिवार में फूट की स्थिति न उत्पन्न हो और पेशवा परिवार का संमान भी बना रहे। चिमाजी अप्पा ने मस्तानी को कैद किया। राधाबाई ने मस्तानी को कैद से छुड़ाया और वह बाजीराव के पास आ गई। बाजीराव ने भी राधाबाई की आज्ञाओं का पालन किया। १७४० ई० के अप्रैल मास में बाजीराव की मृत्यु से राधाबाई को बहुत दुःख हुआ। पाँच माह पश्चात् ही चिमाजी अप्पा की भी मृत्यु हो गई। अब राधाबाई का उत्साह शिथिल पड़ गया। फिर भी, जब कभी आवश्यकता पड़ती थी, वे परिवार की सेवा और राजकीय कार्यों में बालाजी बाजीराव को उचित परामर्श देती थीं। १७५२ ई० में जब पेशवा दक्षिण की ओर गए हुए थे राधाबाई ने ताराबाई और उमाबाई की संमिलित सेना को पूना की ओर बढ़ने से रोकने का उपाय किया। दूसरे अवसर पर उन्होंने बाबूजी नाइक को पेशवा बालाजी के विरुद्ध अनशन करने से रोका।

राधाबाई ने तत्कालीन राजनीति में सक्रिय भाग लिया। इनके व्यवहार में कभी भी कटुता नहीं आने पाती थी। इन्होंने अपने परिवार को साधारण स्थिति से पेशवा पद प्राप्त करते देखा। २० मार्च, १७५३ ई० को इनकी मृत्यु हुई। [सु० वै०]

राधावल्लभ 'विप्रवल्लभ' राधावल्लभ जोशी 'विप्रवल्लभ' का जन्म संवत् १८८८ वि० ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्दशी को डुमराँव (बिहार) में हुआ था। इनके पूर्वज विजयराम जयपुर के महाराज जयसिंह के दरबार में प्रतिष्ठित ज्योतिषी थे। उनके द्वितीय पुत्र पुष्करनाथ अपने एकमात्र पुत्र काशीनाथ को साथ लेकर जगन्नाथ जी के दर्शनार्थ जगन्नाथ पुरी पहुँचे। वहाँ से लौटते समय डुमराँव के राजदरबार में पुष्कर-नाथ जी को पर्याप्त संमान मिला। वे राधाकृष्ण के भक्त थे और तानपूरा बजाकर ललित कंठ से कीर्तन गाया करते थे। डुमराँव में भूमि, आवास तथा वृत्ति की व्यवस्था होने पर वहीं बस गए। वृद्धावस्था में वृंदावन जाकर उन्होंने शरीरत्याग किया। काशीनाथ ने स्थायी रूप से डुमराँव को अपना निवासस्थान बनाया। इनके दो पुत्र उत्पन्न हुए। प्रथम व्रजकिशोर तथा द्वितीय राधावल्लभ। राधावल्लभ ने काशी में संस्कृत तथा हिंदी काव्य का अध्ययन किया। तदनंतर डुमराँव के राज्याधीश राधाप्रसाद सिंह के आश्रित कवि हुए। 'विप्रवल्लभ' तथा 'वल्लभ' इनके काव्यनाम थे। इन्हे लंबी आयु प्राप्त हुई थी।

विप्रवल्लभ रीतिकाव्य परंपरा के अच्छे कवि थे। इन्होंने आचार्य केशवदास तथा बिहारी को कई स्थलों पर स्मरण किया है और स्पष्ट स्वीकार किया है कि उक्त दोनों कवियों का इनपर काफी प्रभाव पड़ा है। इनका 'अंगरत्नाकर' नखशिख परिपाटी का उत्तम ग्रंथ है। इनकी भाषा में पूर्वीपन की झलक अधिक है।

कृतियाँ — रसिकरंजन रामायण, रसिकोल्लास भागवत, महिम्न-लतिका, अंगरत्नाकर, गंगामृत तरंगिणी, अमृतषष्ठिका, खड्गावली, कृष्णलीलामृतध्वनि आदि। [रा० पां०]

राधावल्लभ संप्रदाय मध्यकालीन वैष्णव भक्ति संप्रदायों में राधा-वल्लभ संप्रदाय कृष्णभक्ति का एक प्रमुख संप्रदाय है। इस संप्रदाय का प्रवर्तन आचार्य श्री हितहरिवंश गोस्वामी ने संवत् १५९१ में वृंदावन में किया। सभी संप्रदायों की भाँति इस संप्रदाय का भी मूल स्रोत ब्रह्मा ही हैं। संप्रदाय में लंबी ऋषिपरंपरा और अनुयायी माने जाते हैं जिनकी सोलहवीं पीढ़ी में हितहरिवंश का स्थान है।

वैष्णव भक्ति के चतुःसंप्रदाय माननेवाले इस संप्रदाय को ब्रह्म संप्रदाय अथवा माध्व संप्रदाय के अंतर्गत बताते हैं और तदनुसार गुरु

परंपरा भी स्थिर करते हैं। किंतु भक्तिसिद्धांत एवं भक्तिपद्धति के अनुशीलन से यह संप्रदाय सर्वथा स्वतंत्र संप्रदाय ही प्रतीत होता है। इस संप्रदाय के सिद्धांत द्वैत या अद्वैतपरक किसी विशिष्ट दर्शन मार्ग का अनुसरण नहीं करते। प्रेम को ही भक्ति तथा संप्रदाय का मूलाधार माना जाता है। भक्तिसिद्धांतों में प्रेम, हित, प्रेम काम, प्रेम नेम, मान विरह, मिलन, अर्चा पूजा, आदि का वर्णन किसी शास्त्रीय विधिनिषेध पर आधारित नहीं है। प्रस्थानत्रयी आदि पर भाष्य लिखने का भी इस संप्रदाय में आग्रह लक्षित नही होता। अनंत भावों और अनंत रूपों में नित्य क्रीड़ा करनेवाला प्रेम ही केवल परात्पर तत्व है। रस रूप भगवान् कृष्ण और राधा तथा परात्पर प्रेमतत्व में कोई तात्विक भेद नहीं है। इस संप्रदाय में न तो मुक्ति की कामना है और न मुक्ति का कोई स्थान है। साधनापरक कर्मकांडमयी भक्ति भी स्वीकृत नही है। इस संप्रदाय मे मुख्य रूप से नित्यविहार दर्शन ही सहचरी (जीवात्मा) का उपास्य भाव है। इस भाव की प्राप्ति केवल प्रेम से ही होती है। नित्यविहार के विधायक चार तत्व हैं—कृष्ण, राधा, सहचरी और वृंदावन। राधा और कृष्ण नित्य विहारी हैं और जीवात्मा सखीभाव से उनके विहार दर्शन को परम सुख मानता है। प्रेम में नित्य मिलन और विरह दोनो का विचित्र शैली से इस संप्रदाय में समाहार किया गया है। अपने इस विलक्षण प्रेमतत्व को हितहरिवंश ने सारस तथा चकवा चकवी के प्रणय द्वारा स्पष्ट किया है। प्रेम में 'तत्सुखीभाव' को स्थान देने की जैसी सफल चेष्टा इस संप्रदाय में लक्षित होती है वैसी अन्यत्र कहीं नही है।

उपासना का आधार रस माना जाता है, अतः बाह्य विधिनिषेध को स्थान नही दिया जाता। नाभादास ने कहा है कि 'विधि-निषेध नहि दास अनन्य उत्कट व्रतधारी।' रसिक स्वरूप प्राप्त करने के लिये विधिनिषेध को त्यागने का बड़े जोरदार शब्दो में उपदेश 'राधा सुधानिधि' ग्रंथ में मिलता है। राधा को कृष्ण से भी उच्च स्थान पर रखकर उपास्य माना जाता है। कृष्ण की उपासना आनुषंगिक रूप से है। राधा स्वयं आनंदरूपा, नित्यभाव है। इस संप्रदाय की उपासना को इसीलिये रसोपासना कहा जाता है।

इस संप्रदाय के मंदिरों में राधा का विग्रह कृष्ण के साथ नहीं होता। कृष्ण के वाम भाग में वस्त्रनिर्मित एक गद्दी होती है जिसके ऊपर स्वर्णपत्र पर 'श्री राधा' शब्द अंकित रहता है। इसे गद्दी सेवा कहते हैं। नामसेवा, समाज, अष्टयामसेवा, नैमित्तिक उत्सव आदि संप्रदाय में स्वीकृत हैं। इस संप्रदाय का तिलक नासिका भाग से ऊर्ध्व भाग तक अर्थात् त्रिकुटी तक रहता है। बीच में काली बिंदी रहती है। तिलक की सीधी रेखाओं को कृष्ण और बिंदी को राधा माना जाता है। 'निज मंत्र ग्रहण करने पर दोलड़ी कंठी जिसमें तुलसी के मनके रहते हैं पहनना अनिवार्य है।

इस संप्रदाय का प्रमुख मंदिर वृंदावन में है। गुजरात, राजस्थान, बुंदेलखंड और मध्यप्रदेश में भी राधावल्लभीय संप्रदाय के अनुयायी हैं। [वि० स्ना०]

राधास्वामी फाउंडेशन की स्थापना १८६१ ई० में वसंत पंचमी के दिन शिवदयाल सिंह साहब द्वारा की गई जो स्वामी जी महाराज के नाम से विख्यात थे। स्वामी जी महाराज का जन्म आगरा में २४ अगस्त, सन् १८१८ को हुआ था। स्वामी जी महाराज ने छोटी उम्र में ही सच्चे धर्म के सिद्धातो की व्याख्या प्रारंभ कर दी तथा कुछ चुने हुए लोगों को धार्मिक अभ्यासों की विभिन्न विधियों रीतियों में भी दीक्षित करने लगे। रायबहादुर सालिगराम साहब उन चुने हुए लोगो में से एक थे। आप १८५८ ई० में स्वामी जी महाराज के शिष्य हो गए और आपके आग्रह से ही सन् १८६१ में राधास्वामी सत्संग की स्थापना की गई।

सन् १८७८ में रायबहादुर सालिगराम साहब स्वामी जी महाराज के स्थान पर आए जो हुजूर महाराज नाम से जाने जाते थे। सत्संग आंदोलन ने आपके समय मे विचारणीय उन्नति की और जगत्प्रसिद्ध हो गया, यहाँ तक कि विदेश में स्थित लोग भी आपके विषय में जान गए और आपकी मर्यादा करने लगे।

सन् १८६८ मे पंडित ब्रह्मशंकर मिश्र साहब हुजूर साहब के स्थान पर आए जो महाराज साहब के नाम से जाने जाते थे। महाराज साहब ने सत्सग के साधारण कामकाज की देखरेख के लिये एक कौंसिल की स्थापना की और सत्सग को संपत्तियों के लिये एक ट्रस्ट निर्मित किया। १६०७ में महाराज साहब की मृत्यु के बाद श्री कामताप्रसाद सिन्हा साहब, जो सरकार साहब नाम से जाने जाते हैं, राधास्वामी सत्सग के चतुर्थ नेता बने। आप बहुत अल्प समय तक ही जीवित रहे और सन् १६१३ मे आपकी मृत्यु के पश्चात् श्री आनंदस्वरूप साहब आए जो कि साहब जी महाराज नाम से जाने जाते हैं।

राधास्वामी सत्संग के स्थायी प्रमुख कार्यालय की नींव सन् १६१५ में दयालबाग मे श्री साहब जी महाराज द्वारा एक शहतूत के वृक्षारोपण द्वारा डाली गई।

साहब जी महाराज ने दयालबाग कालोनी मे शैक्षिक और औद्योगिक संस्थाओं की स्थापना की जो आगरे से करीब एक मील दूर है। साहब जी महाराज द्वारा दयालबाग मे स्थापित संस्था सारे देश में विख्यात हो गई।

१६३६ मे साहब जी महाराज के स्थान पर श्री गुरुचरनदास मेहता आए जो मेहता जी साहब के नाम से जाने जाते थे। सभी दिशाओं में विचारणीय प्रगति हुई, विशेषकर शिक्षा और कृषि के क्षेत्र मे।

राधास्वामी सत्संग मुख्य रूप से एक धार्मिक समाज है और केवल वे लोग जो भगवान् की अनुभूति करना चाहते हैं और उसके लिये आध्यात्मिक अभ्यास के इच्छुक हैं, इसके सदस्य बन सकते हैं। ऐसे लोगों को मांसाहार और मद्यपान को छोड़ने की शपथ लेनी पड़ती है और आध्यात्मिक अभ्यास सीखना पड़ता है — वे आध्यात्मिक अभ्यास जो सबद योग के अंतर्गत उपनिषद् काल मे भी सिखाए जाते थे और प्राचीन भारतीय संन्यासियो ने भी जिन्हें आदि काल से ही अपनाया था, जैसे कबीर साहब, नानक साहब, जगजीवन साहब आदि। यह सभा अपना साहित्य हिंदी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में प्रकाशित करती है। पर कुछ किताबें बँगला और तेलुगू में भी मिलती हैं। सभा पाँच साप्ताहिक प्रकाशित करती है,

उदाहरणार्थ 'प्रेम प्रचारक' हिंदी, उर्दू, तेलुगु और तमिल में तथा दयालबाग हेरल्ड अंग्रेजी में।

भारत के विभिन्न भागों में इसकी ५७५ सत्संग शाखाएँ हैं। दयालबाग स्टोर्स, दयालबाग की सभी चीजें देश के प्रमुख शहरों में बिकती हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों में उनका अपना स्कूल और चिकित्सालय भी है जो इस सोसाइटी और उसके सदस्यों द्वारा संचालित होता है।

संघ के सभी अंतर्जातीय सदस्य एक साथ भोजन करते हैं तथा अंतरजातीय और अंतरराष्ट्रीय विवाह भी प्रचलित है। इस सोसाइटी मे शिक्षितों की प्रतिशतता बहुत ऊँची है और समाजसुधार के मामलों में, यथा विधवाविवाह, वैवाहिक सुधार आदि, यह सोसाइटी सदैव ही अग्रणी रही है। इसने राजनीतिक आंदोलनों में अपने को व्यस्त नहीं रखा, न उसका कोई राजनीतिक उद्देश्य ही रहा।

दयालबाग कालोनी में प्रति वर्ष का प्रारंभिक और अंतिम दिन मौन आराधना और दयामय भगवान् के प्रशस्ति गीतों से प्रारंभ किया जाता है। तत्पश्चात् सभी सदस्य अपने अपने कार्यों के लिये चले जाते हैं और अपना संपूर्ण दिवस ईमानदारी पूर्वक दिए गए कर्तव्यों को पूर्ण करने में व्यतीत करते हैं, चाहे वह आफिस का कार्य हो या कारखाना, अस्पताल या स्कूल का। दिवस की समाप्ति पर रात्रि में उस कालोनी का प्रत्येक सदस्य, चाहे पुरुष हो या स्त्री, युवक हो या वृद्ध, सभी उस करुणामय भगवान् को कोटि कोटि धन्यवाद देते हैं।

दयालबाग कालोनी की स्थापना उच्च आदर्शों को लेकर हुई, अत: वहाँ पर हमें सुसंगठित समाज का दर्शन मिलता है। इसके सदस्य आध्यात्मिक और मानवीय पुनर्जीवन के लिये उच्च सिद्धांतों के अनुसार कार्य करते हैं और शांतिपूर्वक जीवनयापन करते हुए अपने तथा अपने पड़ोसियों के साथ सामंजस्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। [बा० रा० या०]

राधेश्याम (कथावाचक) इनका जन्म सन् १८९० में बरेली में हुआ। इन्होंने लोक-नाट्य-शैली के आधार पर खड़ीबोली में रामायण की कथा को कई खडों में पद्यबद्ध किया। इस कृति ने "राधेश्याम रामायण" के नाम से विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की। हिंदी भाषा-भाषी-प्रदेशों, विशेषतया उत्तर प्रदेश के ग्राम ग्राम में, इसका प्रचार हुआ। कथावाचकों ने अपने कथावाचन तथा रामलीला करनेवालों ने रामलीला के अभिनय के लिये इसे अपनाया। इसके कई अंशों के ग्रामोफोन रिकार्ड बने।

सन् १९१४ में इन्होंने पारसी नाटक कंपनी "न्यू एल्फ्रेड कंपनी" के लिये अपना प्रसिद्ध नाटक "वीर अभिमन्यु" लिखा। इस नाटक की ख्याति से व्यावसायिक कंपनियों का ध्यान सुरुचिपूर्ण पौराणिक नाटकों की ओर गया। अभी तक इनके रंगमंच पर प्राय: फारसी एवं अंग्रेजी प्रेमाख्यानों के आधार पर निर्मित कुरुचिपूर्ण नाटकों का ही अभिनय किया जाता था, जिनमें अशिष्ट एवं अश्लील हास्य सामग्री के साथ प्रेम के वासनाजनित बाजारू ढंग का ही चित्रण होता था। इन कंपनियों का उद्देश्य जनसाधारण की निम्नवृत्तियों को उभाड़कर धनोपार्जन करना था। राधेश्याम कथावाचक तथा नारायण प्रसाद बेताब जैसे लेखकों को ही यह श्रेय है कि इन्होंने सुरुचिपूर्ण आदर्शवादी हिंदी पौराणिक नाटकों के द्वारा जनसाधारण की रुचि को परिष्कृत एवं परिमार्जित करने का प्रयास किया। कथावाचक जी ने इन कंपनियों के लिये लगभग एक दर्जन नाटक लिखे जिनमें "श्रीकृष्णावतार", "रुक्मिणीमंगल", "ईश्वरभक्ति", "द्रौपदी स्वयंवर", "परिवर्तन" आदि नाटकों को रंगमंचीय दृष्टि से विशेष सफलता मिली। दूसरी पारसी कंपनी 'सूर विजय' के लिये लिखे हुए "उषा अनिरुद्ध" ने "वीर अभिमन्यु" नाटक के समान ही ख्याति प्राप्त की।

इन नाटकों में जनता के नैतिक स्तर को उठाने तथा रुचि का परिष्कार करने का प्रयास तो था परंतु अन्य सब बातों में पारसी रंगमंचीय परंपराओं का ही पालन किया गया था, जैसे घटना वैचित्र्ययुक्त रोमांचकारी दृश्यों का विधान, पद्यप्रधान संवाद, लययुक्त गद्य तथा अतिनाटकीय प्रसंगों की योजना आदि प्राय. ज्यों की त्यों इनमें विद्यमान थी।

कथावाचक जी की कृतियों का मूल्यांकन करते समय यह मानना पड़ेगा कि साहित्यिक दृष्टि से भले ही ये उच्चस्तरीय न हों, परंतु जनप्रिय रचनाओं के द्वारा हिंदीप्रचार एवं प्रसार में इनका महत्वपूर्ण योगदान है। [ल० श० श०]

रानाडे, महादेव गोविंद [१८४२–१९०१] भारत के विख्यात वकील, समाजसुधारक और लेखक। जन्म १८ जनवरी को नासिक जिले के एक गाँव मे हुआ था। उनके पिता कोल्हापुर रियासत के मंत्री थे। उनकी प्रारंभिक शिक्षा नगर के ही एक ऐंग्लोवर्नाक्यूलर स्कूल में हुई। १४ वर्ष की अवस्था में बंबई के एल्फिंस्टन इंस्टीट्यूट में दाखिल हुए। वे बंबई विश्वविद्यालय के सर्वप्रथम स्नातकों में मे थे। १८६६ मे उन्होंने कानून की उपाधि प्राप्त की। उनकी सर्वप्रथम नियुक्ति प्रसीडेंसी मजिस्ट्रेट के रूप में हुई और सन् १८७३ में प्रथम श्रेणी के न्यायाधीश बनाए गए। १८८४ में छोटे मामलों के न्यायाधीश हुए। सरकार ने राजकीय और प्रांतीय व्यय में कमी करने के लिये जो जाँच समिति नियुक्त की थी उसके सदस्य की हैसियत से रानाडे की महत्वपूर्ण सेवाओं के लिये उन्हें सरकार ने सी० आई० ई० की उपाधि दी।१८९३ में उन्हें बंबई हाईकोर्ट का प्रधान न्यायाधीश बनाया गया। समाजसुधारक के रूप में उन्होंने विधवाओं के मुडन, बालविवाह, वैवाहिक आडंबरों मे अपव्यय, विदेशयात्रा संबंधी रूढ़िवाद आदि कुरीतियों का खुलकर विरोध किया। नारीशिक्षा, विधवा पुनर्विवाह के लिये उन्होंने आंदोलन किए। भारतीय राजनीति का विद्यार्थी उन्हें अखिल भारतीय कांग्रेस के संस्थापकों मे से एक के रूप में बराबर याद रखेगा। उनका देहांत १७ जनवरी, १९०१ को हुआ। [मु० रा०]

रानाडे, डॉ० रामचंद्र दत्तात्रेय का जन्म ३ जुलाई, १८८६ को जमखिंडी नामक स्थान में हुआ। इनके पिता दत्तात्रेय रानाडे रामदुर्ग छोड़कर जमखिंडी में आ बसे थे। रामचंद्र रानाडे १९०३ में डेक्कन कॉलिज में प्रविष्ट हुए। १९०७ में वे बी० ए० द्वितीय श्रेणी में पास हुए। फिर प्रो० वुडहाउस के संपर्क में आकर वे पारमार्थिक क्षेत्र में

दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते रहे। सन् १९११ में फर्ग्युसन कॉलेज में अंग्रेजी के ट्यूटर का काम स्वीकार किया। दर्शनशास्त्र लेकर सन् १९१४ में एम० ए० में प्रथम श्रेणी में प्रथम आकर उन्होंने चान्सलर का स्वर्णपदक प्राप्त किया। अब वे तत्वज्ञान के प्राध्यापक के रूप में फर्ग्युसन कॉलेज में नियुक्त हुए। सन् १९२१ में उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया, इसलिये डी० ई० सोसायटी के सांगली कॉलेज में उनकी नियुक्ति हुई। दर्शनशास्त्र विषय में उनकी बड़ी गहरी पैठ थी तथा वे स्वयं भी एक बड़े तत्वज्ञ थे। सन् १९२४ में डी० ई० सोसायटी से उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। 'उपनिषदों का तत्वज्ञान' नामक ग्रंथ की रचना का कार्य वे अपने पुणे में स्थित 'अध्यात्म भवन' में करते रहे।

इसी समय उन्होंने अध्यात्म विद्यापीठ की स्थापना की। इसकी परामर्शदात्री समिति में डॉ० जयकर, डॉ० राधाकृष्णन, डॉ० बेलबेलकर, न्या० भवानीशंकर नियोगी आदि थे। भारतीय दर्शन का एक विस्तृत कोशनुमा इतिहास प्रकाशित करने की १६ खंडों की योजना बनाई गई। इसके तीन खंड प्रकाशित हो चुके हैं, जिनके नाम ये हैं —

(1) A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy 1926.

(2) History of Indian Philosophy : Creative Period 1927.

3. Philosophical and Other Essays, part I. 1956.

उनके अन्य ग्रंथ जो प्रकाशित हुए हे ये हैं—

1. Carlyle's Signs of Times & Characteristics 1916.
2. Mysticism in Maharashtra, 1933.
3. Path way to God in Hindi literature, 1954.
४. परमार्थ सोपान, १९५४।
5. The Conception of Spiritual life in Mahatama Gandhi & Hindu Saints, 1956 तथा मराठी में लिखे ग्रंथ। ६. ज्ञानेश्वर वचनामृत; ७. संतवचनामृत; ८. तुकाराम वचनामृत; ९. रामदासवचनामृत; १०. एकनाथ वचनामृत।

11. Mysticism in Karnatak, 12. The Bhagvadgita as a philosophy of God realisation, 13. The Vedanta as culmination of Indian Philosophical Thought, (१९२९ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिए गए बसु-मलिक व्याख्यानमाला के व्याख्यानों के रूप मे है)।

इसके सिवा दर्जनों स्फुट लेख और निबंध पत्रपत्रिकाओं में दार्शनिक विचारों पर प्रकाशित हुए हैं। १९२२ से १९२७ तक निंबाद में रहकर अनेक दार्शनिक ग्रंथों का उन्होंने निर्माण किया। निंबाद में उन्होंने अध्यात्म विद्यापीठ स्थापित किया था।

१ दिसंबर, १९२७ को दर्शन विभाग के अध्यक्ष तथा प्रोफेसर के रूप मे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए। बीस साल तक इस पद को उन्होंने विभूषित किया। बाद में वे वाइसचांसलर भी बने। निवृत्त हो जाने पर २६ अक्टूबर, १९४७ में सांगली में अध्यात्म विद्यामंदिर की स्थापना की। ६ जून, १९५७ को उनका स्वर्गवास हो गया। [एन० सी० जो०]

रानीगंज भारत के पश्चिमी बंगाल राज्य के बर्धमान जिले में कोयले की खानों के पास स्थित एक नगर तथा कोयला क्षेत्र है। यहाँ सर्वोत्तम श्रेणी का कोयला तथा कोक बनाने के लिये मिलाने लायक कोयला बेगुनिया, रामनगर तथा लायकडीह खानों में मिलता है। यहाँ की खानें छिछली हैं तथा बिना मशीन के खुदाई होती है। नगर की जनसंख्या ३०,११३ (१९६१) है। [ज० सि०]

राप्ती नदी मध्य नेपाल के दक्षिणी भाग की निचली पर्वतश्रेणियों में प्यूथान नगर के उत्तर से निकलती है। गंगा के मैदान में उतरने से पूर्व यह कुछ दूर तक शिवालिक पर्वत के समांतर पश्चिम दिशा में बहती है और मैदानी भाग में पूर्व एवं दक्षिण-दक्षिण-पूर्व दिशाओं में प्रवाहित होकर बरहज नगर (जिला देवरिया) के समीप घाघरा नदी से मिलती है। यह उत्तर प्रदेश के बहराइच, गोंडा, बस्ती एवं गोरखपुर जिलों के धान एवं गन्ना उत्पादक क्षेत्रों के मध्य से होकर बहती है। बाँसी एवं गोरखपुर इस नदी पर स्थित मुख्य नगर हैं। इसकी सहायक नदियों में मुख्यतः उत्तर के तराई प्रदेश से निकलनेवाली छोटी छोटी अनेक नदियाँ हैं। नदी की कुल लंबाई ४०० मील है। यह गोरखपुर से नीचे की ओर बड़ी नौकाओं द्वारा नौगम्य है। [रा० ना० मा०]

रॉप्स फेलीसिआं (१८३३-१८९८) अभिकल्पन और खुदाई की कला में प्रवीण इस बेल्जियन चित्रकार का जन्म नामूर मे हुआ। सन् १८५६ मे उसकी प्रथम हास्यरस-कृति 'क्रोकोडाईल' नामक एक पत्रिका में प्रकाशित हुई। तब वह प्रकाशकों में चर्चा का विषय बन गया। सन् १८५९-६० मे युलेन्स्पिएजेल संवादपत्र मे व्यंगचित्र बनाता रहा। सन् १८६२ में पेरिस आकर ब्रुसेल्स लौट गया। वहाँ उसने खुदाई की कला जाननेवालों की एक अंतरराष्ट्रीय सोसायटी की स्थापना की। सन् १८७४ के बाद वह मृत्यु पर्यंत पेरिस में ही रहा। 'बुव्यूस द अब्सिथ' और 'डेम ओ पंता' का प्रकाशन किया जिसमें इसकी काफी कृतियाँ है। उसने स्याही से रेखांकन, जलरंग और तैलरंग की कृतियों का बहुत निर्माण किया है। सन १८८० से १८९० तक वह पुस्तकों के लिये कृतियाँ बनाता रहा। [भा० स०]

राब, विलहेम (उपनाम जेकब कार्विनस) (१८३१-१९१०), जर्मन उपन्यासकार और कवि। किताबों की एक दूकान मे काम करते थे। बाद में बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। पहली ही कृति 'डाब क्रानिक डर स्पलिंग्सगासे (१८५७) से, जो पिछली शती की परंपरागत शैली मे थी, सफलता मिल जाने के बाद विश्वविद्यालयीय अध्ययन छोड़ पूरा समय लेखनकार्य को देने लगे।

इनके प्रारंभिक उपन्यासों में जर्मन जीवन के चित्र मात्र प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति थी और इनके रूढ़िवादी विचार समकालीन परिवर्तनों के प्रति अभिव्यक्त रुष्टता मे झलकते है। ऐतिहासिक उपन्यास 'अंजर्स हुरगाट कांजलेई' (१८६२) के बाद वे धीरे धीरे निराशावादी होते गए। शोपेनहार के दर्शन ने इन्हें बहुत प्रभावित किया। 'डर हुगरपास्टर' (तीन भाग, १८६४), अबु टेलफान (तीन भाग, १८६८), 'डर श्लडरेंप' (तीन भाग, १८७०) में उनके शोपेनहार प्रभाव-काल की दुःखांत रचनाएँ हैं। अंतिम काल

की 'ह्वोरेकर' (१८७६), 'डर ग्रूमलिंग' (१८७२), 'डास प्राडफेल्ड' (१८८६), 'स्टाफकुबेन' (१८९१) आदि रचनाओं में एक प्रकार के स्वस्थ हास्य की प्रवृत्ति देख पड़ती है। उनकी कृतियाँ १८ खंडों में संकलित होकर १९१२–१४ में प्रकाशित हुईं। [ली० म०]

रॉबिसन, जो० डब्लू० (Robinson, G. W.) इंग्लैंड के बहुत प्रसिद्ध भूमिरसायनज्ञ एवं वैज्ञानिक थे। उत्तरी वेल्स में बैंगर स्थित युनिवर्सिटी कालेज में ये बहुत दिनों तक कृषि रसायन के प्रोफेसर पद पर कार्य करते रहे। इन्होंने सन् १९३२ में 'सायल्स' (Soils) नामक एक पुस्तक लिखी जो अत्यंत प्रसिद्ध हुई। इस पुस्तक में भूमिविज्ञान संबंधी समस्त जानकारी को बड़े ही सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इससे विश्व भर के भूमिरसायन तथा भूमिविज्ञान के छात्र लाभान्वित होते रहे हैं।

रॉबिसन महोदय ने भूमि के वर्गीकरण के संबंध में उत्तरी वेल्स में काफी कार्य किया था, अतः इससे इन्हें जो अनुभव प्राप्त हुआ उसका उपयोग इन्होंने पुस्तक लेखन में किया। मिट्टियों के यांत्रिक वर्गीकरण की एक विधि, जिसे "पिपेट विधि" कहते हैं, इनके द्वारा ही चालू की गई। इसमें कुछ परिवर्धन करने के अनंतर अब यह विधि "अंतर्राष्ट्रीय पिपेट विधि" के नाम से विख्यात है। इन्होंने मिट्टियों में पाए जाने वाले कार्बनिक पदार्थ के ऑक्सीकरण के लिये हाइड्रोजन परॉक्साइड का पहली बार सफलतापूर्वक प्रयोग किया।

इन्हें एफ० आर० एस० की उपाधि प्राप्त थी। सन् १९४४ में इन्होंने रॉथम्स्टेड के निदेशक की पुस्तक 'सॉयल' का संशोधन भी किया। [शि० गो० मि०]

रॉबिसन एडविन आर्लिंगटन (१८६९-१९३५) अमरीकी कवि, संयुक्त राष्ट्र अमरीका के मेन प्रदेश के 'हेड टाइड' ग्राम में जन्म। १८९१ ई० में वे हार्वर्ड विश्वविद्यालय में दाखिल हुए। १८९६ में कविताओं का एक छोटा सा संग्रह 'दि टॉरेंट ऐंड दि नाइट बिफोर' प्रकाशित हुआ। किंतु उनके जीवन और जगत्-संबंधी मर्मभेदी विचार उनके दूसरे संग्रह 'दि चिल्ड्रेन ऑव दि नाइट' की कविताओं में बनते हुए देखे जा सकते हैं जो १८९७ में प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष जीविकोपार्जन हेतु रॉबिंस को न्यूयार्क चला जाना पड़ा।

रॉबिसन की कविताओं के विषय इस जगत् की अंध कारा में मनुष्य द्वारा रोशनी की खोज के प्रयत्नों से संबंधित हैं। एक विद्वान् भिखारी अल्फ्रेड हिमान के जीवन पर आधारित स्वगत वार्ताशैली की एक अंतर्दर्शिनी लंबी कविता 'कैप्टेन क्रेग' (१९०२) के बाद के दोनों कवितासंग्रहों 'दि टाउन डाउन दि रिवर' (१९१०) और 'दि मैन अगेंस्ट दि स्काई' (१९१६) में ये विचार परिपक्व रूप में सामने आ जाते हैं। अंतिम कवितासंग्रह में सूर्यास्त कालीन अग्निमय आकाश की पृष्ठभूमि में एक आकृति को उभरते और विलीन होते रहने के चित्र देते हुए कवि प्रश्नाकुल होता है—

> किधर जा रहा था मनुष्य यह नील गगन के साथ
> मुझे भी नहीं ज्ञात, और न ही तुम्हें।

मानवीय नियति की यह विडंबना है कि यद्यपि वह बहुत कुछ जानता, सोचता, समझता है, तथापि एक ओर उसकी आदिम प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें वह तुष्ट नहीं कर सकता, दूसरी ओर आध्यात्मिक जीवन है जिसके अस्तित्व के बारे में ही संदेह है और इन दोनों के बीच उसकी आत्मा पिसती, कराहती रहती है।

मानवीय जीवन से संबंधित विषयों को रॉबिसन ने अपने आगे के काव्यों में भी अधिक सूक्ष्म और गहराई के साथ परखा। इसके लिये उन्होंने इंग्लैंड की मध्ययुगीन कथाओं से चरित्र लिए। १९१७ और १९२७ के बीच में प्रकाशित 'मर्लिन', 'लेन्सलाट' और 'ट्रिस्ट्रम' प्राणवान और अपूर्व काव्यकृतियाँ हैं। रॉबिसन ने नाटक भी लिखे—'वान जार्न' (१९१५) और 'दि पार्कपिन' (१९१५); और 'डायोनिसिअस इन डाउट' (१९२५) जैसे ग्रंथ भी। उनकी अंतिम कविता 'किंग जास्पर्स' उनके मृत्युवर्ष में प्रकाशित हुई जो इस रहस्यमय विश्व की खोज में, उनकी अंतिम कृति थी। [ली० म०]

राबिया बसरी का जन्म अल कैसिय वंश के एक गरीब परिवार में ९५।७१३–७१४ अथवा ९९।७१७ में हुआ था। बाल्यावस्था में ही कोई उन्हें चुरा ले गया था और दासी के रूप में बेच दिया था परंतु उनकी धर्मनिष्ठा तथा पवित्रता के कारण मुक्ति प्राप्त हो गई थी। तत्पश्चात् उन्होंने एकांतवास तथा कौमार्य जीवन अपना लिया था। कुछ समय मरुभूमि में भ्रमण करने के उपरांत बसरा में जाकर निवास किया जहाँ उनके अनेक शिष्य थे। उनमें से मलिक बिन दीनार, सुफियान अल सावरी और सूफी शैख अल बल्खी के नाम उल्लेखनीय हैं। राबिया को ईश्वरीय कृपाओं पर अटूट विश्वास था। अतएव वे किसी का उपहार स्वीकार नहीं करती थी। एक बार उन्होंने कहा था 'क्या ईश्वर किसी दरिद्र को उसकी दरिद्रता के कारण भूल जाएगा अथवा धनी को उसके धन के कारण स्मरण रखेगा ? जब वह मेरी स्थिति से सुपरिचित है तो उसे फिर मुझे क्या याद दिलाना है ? 'मुझे ईश्वर से भौतिक पदार्थ माँगते लज्जा आती है क्योंकि सब कुछ उसका ही है। मैं कैसे उन लोगों से उपहार स्वीकार करूँ जिनके पास अपनी कोई वस्तु नहीं हैं।'

उनका जीवन कठोर तपस्या और अध्यात्मवाद से सुसंपन्न था। अन्य सूफियों की भाँति उनमें भी चमत्कार प्रदर्शन की विशेषता पाई जाती थी। अध्यात्मवाद की परंपरा को राबिया बसरी की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने ईश्वरप्रेम द्वारा भक्ति का प्रचार किया। पूर्ववर्ती सूफी नरक के भय तथा स्वर्ग की लालसा में ईश्वरभक्ति करते थे। उनका हृदय ईश्वरप्रेम से शून्य था। राबिया ने लालसा और भय का खंडन किया और निःस्वार्थ प्रेमभक्ति का प्रसार किया। यह सिद्धांत तत्पश्चात् सूफीवाद का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया। एक अवसर पर राबिया ने कहा था कि 'हे मेरे ईश्वर, मैं तेरी उपासना केवल तेरे ही लिये करती हूँ अतएव अपने अमर सौंदर्य के दर्शन से वंचित न कर'। सन् १८५।८०१ में उनका स्वर्गवास हुआ। बसरा में उनकी समाधि है।

सं० ग्रं० — फरीदुद्दीन अत्तर : तजकिरत-उल-औलिया (संपादित निकल्सन) १,५९–७३; मुहम्मद बिहनी : मआहिर-उलनिसा (लाहौर, १९०२) २२५; मौलाना अब्दुर्रहीम आमी : सफ़ाहातुल

उंस (नवलकिशोर) ५५२; इमाम ग़ज़ाली : अहमाउल उलूम अद्दीन (मिस्र) ६,२६७, २६६, २६१, ३०८; अल मक्की : क़ुत-अल-क़ुलूब (मिस्र, १३१०) १, १०३, १५६, इत्यादि, २, ४०, ५७ इत्यादि, दारा शिकोह, सफ़ीनतुल औलिया (उर्दू अनुवाद, कराची, १६६१) २५६–२६१; मौलाना ग़ुलाम सर्वर : ख़ज़ीनतुल आस्फ़िया (नवलकिशोर) २, ४१०–४१५; इंसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम (लंदन, १६३६) ३, १०८६–१०६१, मार्गरेट स्मिथ : रबिया दि मिस्टिक ऐंड हर फेलो सेंट्स इन इस्लाम (कैंब्रिज, १६२८) । [मु० उ०]

रॉबिलॉक लुई फ्रांस्वा (१६६५–१७६२) इस फ्रेंच शिल्पकार का जन्म लिम्रोन में हुआ। वह लंदन में बस गया था, ऐसा अनुमान किया जाता है। यहाँ उसे सन् १७३० में द्वितीय पुरस्कार का सुवर्ण पदक प्राप्त हुआ।

वालपोल के आश्रय के कारण समकालीन शिल्पकार फ्लेमिंग रिस्ब्रेक और स्की मेकर्स से भी बढ़कर वह इंग्लैंड में लोकप्रिय रहा। रॉबिलॉक हमेशा ही आवक्ष प्रतिमाओं और स्मारकों का निर्माण करता रहा। उसकी बनाई हुई हेंडेल, एमिरल वारन, मार्शल वादे, ड्यूक ऑव आर्गिल आदि स्मारक कृतियाँ वेस्टमिन्स्टर एबे में आज भी हैं। शिल्पकलातंत्र पर उसका प्रभुत्व था। फिर भी अपने जीवनकाल में ही उसकी कलाप्रियता कम होने लगी थी। गेरिक क्लब (लंदन) में रखी हुई शेक्सपियर की अर्ध प्रतिमा उसने ही बनाई है। वेस्ट मिंस्टर में रखा मिसेस नाइटिंगेल का स्मारक नष्टप्राय स्थिति में होने पर भी अपने अव्यक्त भावों से प्रभावित करता है।

[भा० स०]

राम अयोध्या के राजा दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र जिन्हें उनके भक्त तथा धर्मनिष्ठ हिंदू भगवान् का अवतार मानते हैं। अनेक विद्वानों ने उन्हें 'मर्यादापुरुषोत्तम' की संज्ञा दी है। वाल्मीकि रामायण तथा पुराणादि ग्रंथों के अनुसार वे आज से कई लाख वर्ष पहले त्रेता युग में हुए थे। पाश्चात्य विद्वान् उनका समय ईसा से कुछ ही हजार वर्ष पूर्व मानते हैं। अपने शील और पराक्रम के कारण भारतीय समाज में उन्हें जैसी लोकपूजा मिली वैसी संसार के अन्य किसी धार्मिक या सामाजिक जननेता को शायद ही मिली हो। भारतीय समाज में उन्होंने जीवन का जो आदर्श रखा, स्नेह और सेवा के जिस पथ का अनुगमन किया, उसका महत्व आज भी समूचे भारत में अक्षुण्ण बना हुआ है। वे भारतीय जीवनदर्शन और भारतीय संस्कृति के सच्चे प्रतीक थे। भारत के कोटि कोटि नरनारी आज भी उनके उच्चादर्शों से अनुप्राणित होकर संकट और असमंजस की स्थितियों में धैर्य एवं विश्वास के साथ आगे बढ़ते हुए कर्तव्यपालन का प्रयत्न करते हैं। उनके त्यागमय, सत्यनिष्ठ जीवन से भारत ही नहीं, विदेशों के भी मैक्समूलर, जोन्स, कीथ, ग्रिफिथ, बराश्निकोव आदि विद्वान् आकर्षित हुए हैं। उनके चरित्र से मानवता मात्र गौरवान्वित हुई है।

राम अद्वितीय महापुरुष थे। वे अतुल्य बलशाली, सौंदर्यनिधान तथा उच्च शील के व्यक्ति थे। किशोरावस्था में ही उन्होंने धार्मिक अनुष्ठानों में रत विश्वामित्र मुनि के परित्राणार्थ ताड़का और सुबाहु राक्षस का वध किया। राजा जनक की स्वयंवरसभा में उन्होंने शिव का वह विशाल धनुष अनायास ही तोड़ डाला जिसके सामने बड़े बड़े वीरपुंगवों को भी नतमस्तक होना पड़ा था। दंडक वन में सूर्पणखा के भड़काने से जब खर, दूषण, त्रिशिरादि ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया तो अकेले ही युद्ध करते हुए उन्होंने थोड़े समय में ही उनका विनाश कर डाला। किष्किंधा में एक ही बाण से राम ने सात तालवृक्षों का छेदन कर दिया और बाद में बड़े भाई के त्रास से उत्पीड़ित सुग्रीव की रक्षा के लिये बालि जैसे महापराक्रमी योद्धा को भी धराशायी कर दिया। लंका में रावण, कुंभकर्णादि से हुआ उनका युद्ध तो पराक्रम की पराकाष्ठा का ऐसा उदाहरण है जिसकी मिसाल अन्यत्र कठिनाई से ही मिलेगी।

अपनी छवि और कांति से अगणित कामदेवों को लज्जित करनेवाले राम के सौंदर्य का वर्णन भी रामायणादि ग्रंथों में यथेष्ट मात्रा में पाया जाता है। तुलसी के रामचरितमानस में तो स्थल स्थल पर इस तरह के विवरण भरे पड़े हैं। राजा जनक जब विश्वामित्र मुनि से मिलने गए तो वहाँ राम की सुंदर छवि देखकर उन्हें अपनी सुध बुध ही भूल गई, वे सचमुच ही विदेह हो गए। उनके अलौकिक सौंदर्य का यहाँ तक प्रभाव पड़ा कि 'बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा।' जनक की पुष्पवाटिका में सीता की एक सखी ने राम को जब देखा तो वह भौंचक रह गई। सीता के निकट आकर वह केवल इतना ही कह सकी 'स्याम गौर किमि कहौं बखानी, गिरा अनयन नयन बिनु बानी।' उनके अंग प्रत्यंग का जो वर्णन किया गया है, वह अद्वितीय है। मखभूमि में तथा विवाहमंडप में भी राम के नखशिख का ऐसा ही सुंदर वर्णन मानस में दिया गया है। सामान्य लोगों की तो बात ही क्या, परशुराम जैसे दुर्धर्ष वीर को भी राम के अलौकिक सौंदर्य ने हक्का बक्का बना दिया। वे निर्निमेष नेत्रों से उन्हें देखते रह गए। ऐसा ही एक प्रसंग उस समय आया जब खर दूषण की सेना के वीर राम का रूप देखकर हथियार चलाना ही भूल गए। उनके नेता को स्वीकार करना पड़ा कि अपने जीवन में आज तक हमने ऐसा सौंदर्य कहीं देखा नहीं, इसलिये 'यद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा, वध लायक नहिं पुरुष अनूपा।'

राम के पराक्रम और सौंदर्य से भी अधिक व्यापक प्रभाव उनके शील और आचार व्यवहार का पड़ा जिसके कारण उन्हें अपने जीवनकाल में ही नहीं, वरन् अनुवर्ती युग में भी ऐसी लोकप्रियता प्राप्त हुई जैसी बिरले ही किसी व्यक्ति को प्राप्त हुई हो। वे आदर्श पुत्र, आदर्श पति, स्नेहशील भ्राता और लोकसेवानुरक्त, कर्तव्यपरायण राजा थे। माता पिता का वे पूर्ण समादर करते थे। प्रातःकाल उठकर पहले उन्हें प्रणाम करते, फिर नित्यकर्म स्नानादि से निवृत्त होकर उनकी आज्ञा ग्रहण कर अपने काम काज में जुट जाते थे। विवाह हो जाने के बाद राजा ने उन्हें युवराज बनाना चाहा, किंतु मंथरा दासी के बहकाने से विमाता कैकेयी ने जब उन्हें १४ वर्ष का वनवास देने का वर राजा से माँगा तो विरोध में एक शब्द भी न कहकर वे तुरंत वन जाने को तैयार हो गए। उन्होंने कैकेयी से कहा 'सुन जननी सोइ सुत बड़ भागी, जो पितु मातु वचन अनुरागी।' वाल्मीकि के अनुसार राम ने यहाँ तक कह

दिया कि 'राजा यदि अग्नि में कूदने को कहें तो कूदूँगा, विष खाने को कहें तो खाऊँगा।' निदान समस्त राजवैभव, उत्तुंग प्रसाद और बहुमूल्य वस्त्राभूषणों का परित्याग कर लक्ष्मण तथा सीता के साथ वे सहर्ष वन के लिये चल पड़े। जाने के पहले उन्होंने गुरु से कहलाकर ब्राह्मणों तथा विद्वानों के वर्षाशन की व्यवस्था करा दी और भरत के लिये संदेश दिया कि 'नीति न तजहि राजपद पाये'। पिता और माताओं की सुख सुविधा का ध्यान रखने की प्रार्थना पुरजनों और हितेच्छुओं से करते हुए उन्होंने कहा 'सोइ सब भाँति मोर हितकारी, जाते रहैं भुआल सुखारी' तथा 'मातु सकल मोरे बिरह जेहि न होयँ दुखदीन, सो उपाय तुम करहु सब पुरजन प्रजा प्रवीन।'

राम जानते थे कि सीता अत्यंत सुकुमार हैं, अतः उन्होंने उन्हें अयोध्या में ही रहने को बहुत समझाया पर जब वे नहीं मानीं तब उन्होंने उन्हें अपने साथ ले लिया और गर्मी, वर्षा, थकान आदि का बराबर ध्यान रखते हुए सहृदय, स्नेही पति के रूप में उन्हें भरसक कोई कष्ट नहीं होने दिया। इसी तरह लक्ष्मण को भी पिता, माता और बड़े भाई का अनुराग देकर इस तरह आप्यायित करते रहे कि उन्हें अयोध्या तथा परिजनों के वियोग का दुःख तनिक भी खलने नहीं पाया। मेघनाद के शक्तिबाण से लक्ष्मण के आहत होने पर राम को मर्मांतक पीड़ा हुई और वे फूट फूटकर रो पड़े। नारी के पीछे भाई का प्राण जाने की आशंका से उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। धैर्यवान् होते हुए भी वे इस समय परम व्याकुल हो उठे। किंतु तभी संजीवनी बूटी लेकर हनुमान के लौट आने से किसी तरह लक्ष्मण की प्राणरक्षा हो सकी।

भरत पर भी राम का ऐसा ही स्नेह था। उनकी साधुता एवं निश्छलता पर राम का पूरा विश्वास था। इसी से भरत भी उनका पूर्ण समादर करते थे और सर्वदा उनकी आज्ञा का पालन करते थे। भरत जब इन्हें लौटा लाने के लिये चित्रकूट पहुँचे तब राम ने उन्हें सत्य और कर्तव्यनिष्ठा का उपदेश देते हुए बड़े प्रेम से समझाया और सहारे के लिये अपनी खड़ाऊँ देकर सहृदयतापूर्वक विदा किया। वनवास की अवधि बीतने में केवल एक दिन शेष रहने पर भरत की दशा का स्मरण कर राम अत्यंत व्याकुल हो उठे और उन्होंने विभीषण से पुष्पक विमान की याचना की, जिससे वे यथासमय अयोध्या पहुँच सकें।

राम के इन्हीं गुणों के कारण समस्त अयोध्यावासी और पशुपक्षी तक उनमें अनुरक्त थे। वनवास के लिये प्रस्थान करने पर भारी संख्या में लोग तमसा नदी तक उनके साथ साथ दौड़े गए। राम को आधी रात के समय उन्हें सोते छोड़कर लुक छिपकर वहाँ से कूच कर देना पड़ा। जागने पर लोगों को बड़ा पछतावा हुआ। अत्यंत दुःखित होकर वे अयोध्या लौट आए और वनवास की अवधि भर राम की मंगलकामना के उद्देश्य से नेम, व्रत, देवोपासना आदि करते रहे। उधर नाव में बैठकर राम के गंगा पार चले जाने पर सुमंत्र मूर्छित हो गया और उसके रथ के घोड़े भी रामवियोग में व्याकुल हो उठे। उस समय यदि कोई व्यक्ति राम लक्ष्मण का नामोल्लेख कर देता था तो वे पशु विस्फारित नेत्रों से उसकी ओर देखने लगते थे—'जो कहि रामलखन बैदेही, हिकरि हिकरि पशु चितवहिं तेही।' पिता दशरथ ने तो पहले ही कह दिया था कि राम के बिना मेरा जीना संभव नहीं, और यही हुआ भी। माता कौशल्या को इस बात का उतना दुःख न था कि रामवनगमन की बात सुनकर भी मेरी वज्र की छाती विदीर्ण नहीं हुई, जितनी उन्हें इस बात की ग्लानि थी कि राम जैसे आज्ञाकारी, सुशील पुत्र की मुझ जैसी माता हुई। मतिभ्रम से पूर्व कैकेयी का भी राम में पूर्ण विश्वास था। इसी से उनके राज्याभिषेक की बात सुनकर उसने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा था :

"रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये।
तस्मात्तुष्टास्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति"।

प्रजा को हर तरह से सुखी रखना वे राजा का परम कर्तव्य मानते थे। *उनकी धारणा थी कि जिस राजा के शासन में प्रजा* दुःखी रहती है, वह नृप अवश्य ही नरक का अधिकारी होता है। जनकल्याण की भावना से ही उन्होंने राज्य का संचालन किया, जिससे प्रजा धनधान्य से पूर्ण, सुखी, धर्मशील एवं निरामय हो गई—'प्रहृष्ट मुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः। निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः।' तुलसीदास ने भी मानस में रामराज्य की विशद चर्चा की है। लोकानुरंजन के लिये वे अपने सर्वस्व का त्याग करने को तत्पर रहते थे। इसी से भवभूति ने उनके मुँह से कहलाया है

'स्नेहं दयां च सौख्यं च, यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुंचतोनास्ति मे व्यथा'।

अर्थात् 'यदि आवश्यकता हुई तो जानकी तक का परित्याग मैं कर सकता हूँ।' प्रजानुरंजन के लिये इतना बड़ा त्याग करने पर उन्हें कितनी मर्मांतक व्यथा हुई, सीता-विरह-कातर होकर किस तरह वे मुमूर्षुवत् हो गए, इसका अत्यंत करुणोत्पादक चित्रण महाकवि भवभूति की कुशल लेखनी ने 'उत्तररामचरित' में किया है।

इस तरह राम के चरित्र में भारत की संस्कृति के अनुरूप पारिवारिक और सामाजिक जीवन के उच्चतम आदर्श पाए जाते हैं। उनमें व्यक्तित्वविकास, लोकहित तथा सुव्यवस्थित राज्यसंचालन के सभी गुण विद्यमान थे। उन्होंने दीनों, असहायों, संतों और धर्मशीलों की रक्षा के लिये जो कार्य किए, आचारव्यवहार की जो परंपरा कायम की, सेवा और त्याग का जो उदाहरण प्रस्तुत किया तथा न्याय एवं सत्य की प्रतिष्ठा के लिये वे जिस तरह अनवरत प्रयत्नवान् रहे, उस सबने उन्हें भारत के जनजन के मानसमंदिर में अत्यंत पवित्र और उच्च आसन पर आसीन कर दिया है। जब तक वाल्मीकि रामायण, तुलसी के रामचरितमानस तथा ऐसी ही शत-शत अन्य रचनाओं में वर्णित राम की कीर्तिगाथा का चिंतनमनन होता रहेगा, तब तक भारतीय संस्कृति और उच्च नैतिक आदर्शों की यह सुखद परंपरा अक्षुण्ण बनी रहेगी तथा घोर दुर्दिन के समय भी वह देशवासियों को शक्ति और प्रेरणा प्रदान करती रहेगी, इसमें संदेह नहीं। [मु०]

रामकृष्ण परमहंस रामकृष्ण ने पश्चिमी बंगाल के हुगली जिले में कमरपुकुर नामक ग्राम के एक दीन एवं धर्मनिष्ठ परिवार में सन् १८३६ ई० में जन्म लिया। बाल्यावस्था में वह गदाधर के नाम से प्रसिद्ध थे। वह अपने साधु माता पिता के लिये ही नहीं, बल्कि अपने

गाँव के भोले भाले लोगों के लिये भी शाश्वत आनंद के केंद्र थे। उनका सुंदर स्वरूप, ईश्वरप्रदत्त संगीतात्मक प्रतिभा, चरित्र की पवित्रता, गहरी धार्मिक भावनाएँ, सांसारिक बातों की ओर से उदासीनता, आकस्मिक रहस्यमयी समाधि, और सबके ऊपर उनकी अपने माता पिता के प्रति अगाध भक्ति—इन सबने उन्हें गाँव भर का आकर्षक व्यक्ति बना दिया था।

जगन्माता की पुकार के उत्तर में उन्होंने गाँव के वंशपरंपरागत गृह का परित्याग कर दिया और सत्रह वर्ष की अवस्था में कलकत्ता चले आए तथा कामपुकुर में अपने बड़े भाई के साथ ठहर गए। अंत में दक्षिणेश्वर में काली देवी के मंदिर के पुरोहित के रूप में रहने लगे।

वह शीघ्र ही जगज्जननी के गहन चिंतन में लीन हो गए और मानव जीवन के प्रत्येक संसर्ग को पूर्ण रूप से भुला दिया। माँ के दर्शन के निमित्त उनकी आत्मा की अंतरंग गहराई से रुदन के जो शब्द प्रवाहित होते थे वे कठोर से कठोर हृदय को दया एवं अनुकंपा से भर देते थे। अंत में उनकी प्रार्थना सुन ली गई और जगन्माता के दर्शन से वे कृतकार्य हुए। किंतु यह सफलता उनके लिये केवल संकेत मात्र थी। असाधारण दृढ़ता और उत्साह से बारह वर्षों तक लगभग सभी प्रमुख धर्मों एवं संप्रदायों का अनुशीलन कर अंत में आध्यात्मिक चेतनता की उस अवस्था में पहुँच गए जहाँ से वह संसार में फैले हुए धार्मिक विश्वासों के सभी स्वरूपों को प्रेम एवं सहानुभूति की दृष्टि से देख सकते थे।

इस प्रकार उनका जीवन द्वैतवादी पूजा के स्तर से क्रमबद्ध आध्यात्मिक अनुभवों द्वारा निरपेक्षवाद की ऊँचाई तक निर्भीक एवं सफल उत्कर्ष के रूप में पहुँचा हुआ था। उन्होंने प्रयोग करके अपने जीवन काल में ही देखा कि उस परमोच्च सत्य तक पहुँचने के लिये आध्यात्मिक विचार—द्वैतवाद, संशोधित अद्वैतवाद एवं निरपेक्ष अद्वैतवाद, ये तीनों महान् श्रेणियाँ मार्ग की अवस्थाएँ थीं। वे एक दूसरे की विरोधी नहीं बल्कि यदि एक को दूसरे में जोड़ दिया जाय तो वे एक दूसरे की पूरक हो जाती थीं।

जैसे जैसे समय व्यतीत होता गया, उनके कठोर आध्यात्मिक अभ्यासों और सिद्धियों के समाचार तेजी से फैलने लगे और दक्षिणेश्वर का मंदिर उद्यान शीघ्र ही भक्तों एवं भ्रमणशील संन्यासियों का प्रिय आश्रयस्थान हो गया। कुछ बड़े बड़े विद्वान् एवं प्रसिद्ध वैष्णव और तांत्रिक साधक, जैसे पं० नारायण शास्त्री, पं० पद्मलोचन तारकालकार, वैष्णवचरण और गौरीकांत तारकभूषण आदि उनसे आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त करते रहे। वह शीघ्र ही तत्कालीन सुविख्यात विचारकों के घनिष्ठ संपर्क में आए जो बंगाल में विचारों का नेतृत्व कर रहे थे। इनमें केशवचंद्र सेन, विजयकृष्ण गोस्वामी, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, बंकिमचंद्र चटर्जी, अश्विनीकुमार दत्त के नाम लिए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त साधारण भक्तों का एक दूसरा वर्ग था जिसके सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति रामचंद्र दत्त, गिरीशचंद्र घोष, बलराम बोस, महेंद्रनाथ गुप्त (मास्टर महाशय) और दुर्गाचरण नाग थे। उनकी जगन्माता की निष्कपट प्रार्थना के फलस्वरूप ऐसे सैकड़ों गृहस्थ भक्त, जो बड़े ही सरल थे, उनके चारों ओर समूहों में एकत्रित हो जाते थे और उनके उपदेशामृत से अपनी आध्यात्मिक पिपासा शांत करते थे।

आचार्य के जीवन के अंतिम वर्षों में पवित्र आत्माओं का प्रतिभाशील मंडल, जिसके नेता नरेंद्रनाथ दत्त (बाद में स्वामी विवेकानंद) थे, रंगमंच पर अवतरित हुआ। आचार्य ने चुने हुए कुछ लोगों को अपना घनिष्ठ साथी बनाया, त्याग एवं सेवा के उच्च आदर्शों के अनुसार उनके जीवन को मोड़ा और पृथ्वी पर अपने संदेश की पूर्ति के निमित्त उन्हें एक आध्यात्मिक बंधुत्व में बदला। महान् आचार्य के ये दिव्य संदेशवाहक कीर्तिस्तंभ को साहस के साथ पकड़े रहे और उन्होंने मानव जगत् की सेवा में पूर्ण रूप से अपने को न्योछावर कर दिया।

किंतु आचार्य अधिक दिनों तक पृथ्वी पर नहीं रह सके। १८८५ के मध्य में उन्हें गले के कष्ट के चिह्न दिखलाई दिए। शीघ्र ही इसने गंभीर रूप धारण किया जिससे वे मुक्त न हो सके। १८८६ की १६वीं अगस्त को उनका निधन हो गया।

सं० ग्रं० — रोमें रोलाँ : 'लाइफ ऑव रामकृष्ण परमहंस'।

[स्वा० ते०]

रामकृष्ण भांडारकर, देवदत्त (१८७५-१९५०) आप रामकृष्ण गोपाल भांडारकर के सबसे छोटे पुत्र थे। (दे० भांडारकर) पालि तथा पुरा लिपि लेकर एम० ए० पास करने के पहले ही आपने 'महाराष्ट्र के प्राचीन नगर' शीर्षक एक महत्वपूर्ण लेख लिखा था। सन् १९०० में उन्होंने दो और निबंध लिखे—'गुजरात राष्ट्रकूट कुमार कर्क प्रथम का नवसारी ताम्र अधिकारपत्र' तथा कुशाण शिलालेख और शक संवत् के उद्भव का प्रश्न।' 'इंडोसीथियन राजाओं का जो वंशक्रम उन्होंने दूसरे निबंध में निश्चित किया था उसे बाद में वार्थ और विंसेंट स्मिथ ने भी मान लिया। उन्होंने भारतीय जनगणना विभाग के बंबई कार्यालय में रहकर रिपोर्ट के 'धर्म और संप्रदाय' तथा 'जातियाँ और कबीले' नामक परिच्छेद लिखे। अहीरों, गुर्जरों तथा गुहलोतों पर उन्होंने विशेष निबंध लिखे। सन् १९०४ में वे भारत के पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग में नियुक्त हो गए और जुलाई, १९१७ तक वहीं काम करते रहे। फिर वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में भारत के प्राचीन इतिहास तथा संस्कृति के प्रोफेसर नियुक्त हुए। विदिशा के निकट उन्होंने जो खुदाई कराई वह अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण प्रमाणित हुई। ईसा पूर्व द्वितीय शती के वास्तविक फौलाद के टुकड़े, मौर्ययुग मे प्रयुक्त होनेवाला चूने का मसाला, यज्ञकुंडों में लगाई जानेवाली अग्निसह मिट्टी की ईंटें इत्यादि कई वस्तुओं का पता उन्होंने लगाया। इस काल की उनकी तीन महत्वपूर्ण पुस्तकें ये हैं—इंडियन न्यूमेसमैटिक्स (भारतीय मुद्रा विज्ञान), अशोक तथा किंगशिप ऐंड डेमॉक्रैटिक इंस्टिट्यूशन्स ऑव ऐंसेंट इंडिया (प्राचीन भारत में राजतंत्र एवं लोकतंत्रात्मक संस्थाएँ)। उन्होंने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय तथा मद्रास विश्वविद्यालय में भारतीय शासन व्यवस्था एवं प्राचीन भारतीय संस्कृति पर अनेक व्याख्यान दिए। गुप्त शिलालेखों का विवरण देनेवाली पुस्तक 'कार्पस इंस्क्रिप्शिओनम इंडिकेरम' का द्वितीय संशोधित संस्करण उन्होंने बड़े परिश्रम से तैयार किया, जो इस विषय का उनका बहुमूल्य अंशदान है। [आर० एन० दां०]

रामगंगा नदी भारत के उत्तर प्रदेश राज्य के चमोली जिले में कुमाऊँ (हिमालय) से निकलती है। यह आरंभ में दक्षिण-दक्षिण-पश्चिम और अंत में दक्षिण-दक्षिण-पूर्व दिशा में प्रवाहित होकर कन्नौज के समीप गंगा नदी से मिलती है। नदी तट पर स्थित मुख्य नगर मुरादाबाद एवं बरेली हैं। कालागढ़ के समीप, जहाँ यह शिवालिक पर्वत से मैदान में उतरती है, नदी पर बाँध बनाकर जलविद्युत् एवं सिंचाई की व्यवस्था की गई है। नदी की कुल लंबाई ३७० मील है। [रा० ना० मा०]

रामचरित उपाध्याय का जन्म सन् १८७२ में जिला गाजीपुर में हुआ था। प्रारंभ में ये ब्रजभाषा में कविता करते थे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के प्रोत्साहन से इन्होंने खड़ी बोली में रचना प्रारंभ की और इनकी रचनाएँ 'सरस्वती' तथा हिंदी की अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। यह राष्ट्रीय जागरण का युग था। इन्होंने 'भारत भक्ति', 'भव्य भारत' तथा 'राष्ट्र भारती' जैसी युगानुरूप रचनाएँ करके राष्ट्रीय जागरण में योगदान दिया।

इन्होंने 'रामचरित चिंतामणि' नामक प्रबंध काव्य की भी रचना की। युग की चेतना से स्पंदित होकर राम के लोकोत्तर रूप का चित्रण न करके मानवीय रूप की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार इस काव्य के पौराणिक पात्र अतीत काल के प्राणी न रहकर आधुनिक विचारधारा और विकासोन्मुख जीवन से ओतप्रोत हैं। इन्होंने सूक्ति एवं नीति के पद्य भी लिखे, जिनका संग्रह 'सूक्ति मुक्तावली' नामक पुस्तक में हुआ है। इन्होंने महाभारत की कथा के आधार पर एक महिलोपयोगी उपन्यास 'देवी द्रौपदी' की भी रचना की। अपनी बहुमुखी साहित्यसेवा के कारण द्विवेदी युग के साहित्यकारों में इनका विशिष्ट स्थान है। [र० श० श०]

रामचरितमानस यह हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास की सर्वप्रमुख कृति है। इसकी रचना उन्होंने सं० १६३१ में रामनवमी (चैत्र शुक्ला ६) को अयोध्या में प्रारंभ की थी; समाप्ति कब की, यह ठीक ठीक ज्ञात नहीं है। इसकी भाषा अवधी है, यद्यपि तत्कालीन बोलचाल की ठेठ अवधी न होकर उसका एक साहित्यिक रूप है, जिसमे कहीं कहीं पर ब्रजभाषा के भी रूप मिल जाते हैं। इसकी शब्दावली में संस्कृत के तत्सम तथा अर्धतत्सम शब्दों का भी बहुतायत से उपयोग हुआ है।

इसकी रचना 'चउपई-बंध' परिपाटी में की गई है। उस समय कई काव्य परिपाटियाँ प्रचलित थी जो प्रयुक्त मुख्य छंदो के नाम से अभिहित की जाती थी, यथा—वार्ता बंध, दूहा बंध, रासा बंध, छप्पय बंध, आदि। 'चउपई बंध' में, चउपई (चतुष्पदी) प्रमुख छंद होता था किंतु बीच बीच मे वस्तु, रड्डा, दूहा, सोरठा या इस प्रकार के एक दो और छंदों का भी प्रयोग किया जाता था। 'मानस' में सर्वप्रमुख छंद चौपाई है, जिसके बीच बीच में दोहा, या सोरठा छंद आया है; इनके अतिरिक्त हरिगीतिका तथा कुछ और छंद भी कहीं कहीं प्रयुक्त हुए हैं।

'रामचरितमानस' चरितकाव्य है। चरितकाव्यों की परंपरा भारतीय साहित्य में बड़ी प्राचीन है। ज्ञात काव्यों में से वह वाल्मीकि के 'रामायण' से आरंभ होती मानी जा सकती है। तुलसीदास की यह रचना भी उसी परंपरा में आती है, किंतु इस रचना का मुख्य आधार 'अध्यात्म रामायण' था जो शिव-पार्वती-संवाद के रूप में लिखा गया था और 'ब्रह्मांडपुराण' का एक अंश माना जाता था। अतः 'मानस' में पुराण शैली के भी कुछ तत्व मिलते हैं।

'चरित' की दृष्टि से यह रचना पूर्ण रूप से सफल है। इसमें राम के जीवन की समस्त घटनाएँ आवश्यक विस्तार के साथ सुशृंखलित रूप में कही गई हैं। मुख्य कथा के बीच में कवि ने प्रासंगिक कथाओं को नहीं आने दिया है। मुख्य कथा से जो भी संबद्ध प्रासंगिक कथाएँ आई हैं, वे उसके पूर्व या बाद में आई हैं। इन पूर्ववर्ती कथाओं मे प्रमुख राम के पूर्ववर्ती अवतारों और रावण के पूर्व भवो की हैं।

इन प्रासंगिक कथाओं के अतिरिक्त रचना में प्रस्तावना के रूप में भी कुछ कथाएँ आती हैं, जिनमें सबसे प्रमुख शिव-पार्वती-संवाद की कथा है। इस संवाद की कथा के पूर्व शिवपुराण के आधार पर संक्षेप में शिवचरित भी दिया गया है, जिसमें सीता के विरह में व्याकुल राम को देखकर पार्वती के मन में हुए उनके ईश्वरत्व के संबंध में मोह का वर्णन किया गया है। पार्वती के इसी मोह का समाधान शिव ने राम की कथा कहकर किया है, इसलिये 'मानस' की संपूर्ण रामकथा शिव-पार्वती-संवाद के साँचे में प्रस्तुत की गई है। प्रस्तावना के रूप में इसी प्रकार दो और संवाद भी रखे गए हैं—याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद तथा कागभुशुंडि-गरुड़-संवाद किंतु इन्हें बहुत संक्षेप में ही प्रस्तुत किया गया है। कागभुशुंडि-गरुड़-संवाद रचना के अंत में विस्तृत रूप धारण करता है और उसके साँचे में अनेक आध्यात्मिक विषयों का निरूपण होता है। यह अंश कथा से गरुडमोह की प्रासंगिक कथा रखकर जोड़ा भर गया है, और मुख्य कथा से स्वतंत्र सा है। गीतावली को छोड़कर तुलसीदास की समस्त रामकथा संबंधिनी रचनाओं मे उत्तर कांड मे रामभक्ति तथा कतिपय अन्य आध्यात्मिकि विषयों का इसी प्रकार निरूपण किया गया है। रचना के बीच बीच में भी कुछ स्थलों पर दार्शनिक विषयों का संक्षिप्त विवेचन कथा के पात्रों के सवादो के रूप मे किया गया है। प्रस्तावनाओं तथा तत्वनिरूपण की यह परंपरा रामचरितमानस में 'अध्यात्मरामायण' तथा पुराणों से ग्रहण की गई है।

किंतु 'चरित' और 'पुराण' होने के साथ साथ रामचरितमानस एक महान् काव्यकृति भी है—और इसी रूप में वह आज के परिवर्तित परिवेश में भी समादृत हो रहा है। राम कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे या नहीं और उनका जो चरित तुलसीदास ने प्रस्तुत किया है वह तथ्यपूर्ण है या नहीं, इसे आज कोई नहीं देखना चाहता; राम ईश्वर के अवतार थे, और जो कुछ भी उन्होंने किया वह लीला के रूप में ही किया, वास्तव में वे मनुष्य नहीं थे—'रामचरितमानस' के अनेकानेक पाठक इसमें कदाचित् विश्वास न करते हों। आज का युग विज्ञान और बुद्धिवाद का है, अतः तुलसीदास द्वारा कल्पित राम के ईश्वरत्व पर से कुछ लोगों का विश्वास उठता जा रहा हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नही। फिर भी 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता में कोई कमी नहीं आ रही है। इसका कारण यह है कि इस काव्यकृति के माध्यम से तुलसीदास ने जिन आदर्शों और जीवनमूल्यों का प्रतिपादन किया, आधुनिक विवेचन की दृष्टि उन्हें उत्तरोत्तर अधिकाधिक महत्व दे रही है। चिरकाल से मानवता

के संमुख यह प्रश्न रहा है कि सुख किसमें है — वह जीवन के भौतिक उपादानों की अधिकतर उपलब्धि में है, भले ही उसके लिये किन्हीं भी उपायों का अवलंबन लेना पड़े, अथवा वह किन्हीं आदर्शों की उपलब्धि में है जिनके लिये आवश्यक होने पर जीवन के समस्त भौतिक उपादानों का भी त्याग किया जा सकता है। 'रामचरितमानस' इसी प्रश्न का एक उत्तर देता है।

कैकेयी दशरथ के पास थाती के रूप में रखे हुए अपने दो वरों को माँग लेती है जिनमें से एक से वह अपने पुत्र के लिये अयोध्या का विशाल राज्य और दूसरे से उसके अकंटक भोगने के लिये संभव बाधा के रूप में राम का निर्वासन। दशरथ के सामने समस्या उपस्थित होती है, वचन की रक्षा और अकारण पुत्र के निर्वासन तथा वचनत्याग और पुत्र की रक्षा के बीच एक को चुनने की। वे प्रथम को चुनते हैं; यद्यपि उसका मूल्य उन्हें अपना जीवन देकर चुकाना पड़ता है। कौशल्या के संमुख भी इसी प्रकार का धर्मसंकट उपस्थित होता है, किंतु वह सपत्नी कैकेयी का भी अधिकार अपने पुत्र राम पर उतना ही मानती है जितना अपना और इसलिये राम को सहर्ष वन जाने की आज्ञा देती है। भरत के सामने राज्यग्रहण का प्रस्ताव रखा जाता है, और वह उन्हें उनके पिता के द्वारा दिया हुआ भी है, किंतु भरत के सामने यह राज्य कोई समस्या ही नहीं प्रस्तुत करता। उनके मन में एक क्षण के लिये भी यह प्रश्न नहीं उठता कि राज्य उनका है या राम का; और वे उसे राम का ही मानकर राम को वापस लाने के लिये निकल पड़ते हैं, और राम जब वापस नहीं आते तो वे उनकी चरण पादुकाओं को लाकर उनके स्थान पर सिंहासन पर बिठा देते हैं। चित्रकूट में भरत पिता से प्राप्त राज्य का अधिकार राम के चरणों में स्वयं रख देते हैं और उनसे उसे ग्रहण करने का आग्रह करते है, किंतु राम एक क्षण के लिये भी उस राज्य को स्वीकार करने पर विचार नहीं करते जिसे उनके पिता ने उनके भाई को दे दिया है और न वे उस निर्वासन का परित्याग करना चाहते है जिसे पिता के वचनों के निर्वाह के लिये उन्होंने स्वीकार किया है।

कहा जाता है कि महाकाव्य में किसी महान् संघर्ष की कथा होती है, किंतु सच पूछिए तो महाकाव्य कहलाने का अधिकारी वही होता है जिसमें आदर्शों के संघर्ष की कथा आती है। 'रामचरितमानस' इसी पिछले प्रकार का महाकाव्य है। इस संघर्ष में कैकेयी एक ओर है, राम और भरत दूसरी ओर हैं। राम और भरत के आदर्शों की विजय होती है, कैकेयी की स्वार्थ नीति पराजित होती है। कहा जा सकता है कि यह संघर्ष तो प्रायः समस्त रामचरित काव्यों में आता है, तुलसीदास का 'रामचरितमानस' इस क्षेत्र में अकेला नहीं हैं। यह कथन ऊपर ऊपर से ठीक लगता है, किंतु यदि इसे भी भीतर से देखा जाए, तो उतना ठीक नहीं लगेगा। धर्म, अथवा कर्तव्य और स्नेह अथवा स्वार्थ के बीच में उपस्थित हुए संघर्ष को संघर्ष का जो रूप तुलसीदास ने दिया है, वह अन्यत्र नहीं प्राप्त होता है और न धर्म अथवा कर्तव्य का निर्वाह ही उतनी प्रसन्नता से किसी भी रामकथाग्रंथ में किया गया चित्रित हुआ है जितना 'मानस' में। दशरथ और कौशल्या के चरित्रों में संघर्ष का यह चित्र तुलसीदास ने जितनी विशदता के साथ प्रस्तुत किया है, वह दर्शनीय है, और कौशल्या, राम तथा भरत के चरित्रों में धर्म अथवा कर्तव्य का निर्वाह जितनी पूर्णता तथा प्रसन्नता से तुलसीदास चित्रित करते हैं, उतना न उनके पूर्व चित्रित हो सका है और न बाद में। कौशल्या को जब राम दशरथ की वनगमन की आज्ञा सुनाते हैं, 'मानस' के पूर्ववर्ती ग्रंथों में कौशल्या पुत्र पर पिता से अधिक माता का अधिकार होता है' यह कहकर उन्हें वन जाने से रोकती है, किंतु 'मानस' में एक क्षण भर के लिये उनके मन में धर्म और स्नेह के बीच संघर्ष उपस्थित होता है, और दूसरे ही क्षण वह धर्म से प्रेरित होकर राम को वन जाने की आज्ञा सहर्ष देती हैं। राम 'वाल्मीकि रामायण' में पिता की निर्वासन की आज्ञा पर क्षुब्ध है और भरत से उन्हे इस बात की आशंका होती है कि वे राम के स्वजनों का उत्पीड़न करेंगे—यह बात उनके कौशल्या तथा सीता से विदा लेने के प्रसंगों में स्पष्ट व्यंजित होती है; सीताहरण के प्रसंग में वे उससे कैकेयी की इच्छापूर्ति का भी संदेह करते दिखाई पड़ते हैं। तुलसीदास के 'मानस' में इन सब की छाया भी नहीं है। उलटे निर्वासन के अनंतर जहाँ कहीं भी प्रसंग आता है, हम राम को भरत की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए ही पाते हैं। एक स्थान पर वे कहते है 'भएउ न भुवन भरत सम भाई' और यह कथन भी चित्रकूट में अयोध्या के राज्य को उन्हे देने के लिये किए हुए भरत के आग्रह के पूर्व आता है। कैकेयी को तो निर्वासन की इस घटना के बाद भी उन्होंने उसी प्रकार माना है जैसे वे पहले से मानते आ रहे थे; तुलसीदास की इस रचना में राम चित्रकूट में कैकेयी के आने पर तथा लंका से स्वयं वापस लौटने पर कौशल्या से भी पहले कैकेयी के चरणों में पड़ते हैं।

इसी उदाराशयता में मुख है, तुलसीदास का यह महान् संदेश है जो रचना में अभूतपूर्व सफलता के साथ उन्होंने रखा है। तुलसीदास की समस्त कला इसी तथ्य को उद्घाटित करने में प्रयुक्त होती है। और इसलिये हम यह कह सकते है कि जब तक मानव की आस्था जीवन के इन मूल्यों में रहेगी, जब तक उसमें आदर्शवाद के प्रति किसी भी मात्रा में आकर्षण बना रहेगा, 'रामचरितमानस' का संमान भी होता रहेगा, भले ही मानव कितना भी बदल जाए।

[मा. प्र. गु.]

रामदहिन मिश्र इनका जन्म चैत्र पूर्णिमा सं० १९४३ वि० ग्राम पथार, जिला आरा (बिहार) के शाकद्वीपीय परिवार में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही हुई और बाद में साहित्य तथा संस्कृत व्याकरणादि की शिक्षा डुमराँव एवं टेकरी संस्कृत पाठशाला से मिली थी। इसके पश्चात् ये काशी गए और वहीं से व्याकरण, वेदांत, न्याय एवं अंग्रेजी का सम्यक् अध्ययन किया।

इनका सबसे पहला लेख 'बिहार बंधु' (सन् १९०७ ई०) में प्रकाशित हुआ जिससे इनके साहित्यिक जीवन का सूत्रपात हुआ। सन १९०३ ई० में इन्होंने निजी प्रकाशन ग्रंथमाला कार्यालय की स्थापना की। ये १९२८ ई० तक प्रकाशन का व्यवसाय और अध्यापनकार्य साथ साथ चलाते रहे। तत्पश्चात् अध्यापन की नौकरी त्याग दी और पूरी तरह से प्रकाशन व्यवसाय में जुट गए। इन्होंने सन १९३७ से 'किशोर' का संपादन करना शुरू किया। १९४३ ई० में प्रकाशन का संपूर्ण कार्यभार अपने पुत्र के ऊपर छोड़कर स्वयं एकांत साहित्य-

साधना में लीन हुए। इनका निधन १ दिसंबर, १९५२ ई० को वाराणसी में हुआ।

'काव्यालोक' (द्वितीय उद्योत, १९४० ई०), 'काव्यदर्पण' (१९४७ ई०), 'काव्य में अप्रस्तुत योजना (१९५० ई०) और 'काव्यविमर्श' इनके प्रधान ग्रंथ हैं। 'काव्यदर्पण' संस्कृत ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' और साहित्यदर्पण' की पद्धति का ही ग्रंथ है जिसमें काव्य के सर्वांगों का विवेचन किया गया है। उदाहरण में आधुनिक कविताओं को रखा गया है, जो इसकी महत्वपूर्ण विशेषताओं में से है। 'काव्यालोक' में शब्दशक्ति—अभिधा, लक्षणा व्यंजना—आदि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद प्रभेदों के साथ विस्तार से वर्णन किया गया है। इसी प्रकार साहित्य, काव्य, कवि आदि का गंभीर विवेचन विश्लेषण 'काव्य विमर्श' में हुआ है। इस तरह, उन्होंने काव्य के सर्वांगों पर गंभीरता से विचार किया है।

उन्होंने पाश्चात्य और पौर्वात्य साहित्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया।

[रा० फे० त्रि०]

रामदास कछवाहा, राजा अकबर के दरबार में पहले पाँच सदी मंसब का पद प्राप्त हुआ। जब राजा टोडरमल मुनइम खाँ की सहायता के लिये बिहार की ओर गया तो रामदास ने नायब दीवान का कार्य किया। अकबर की मृत्यु पर इसने राजकुमार सलीम के सिंहासनारूढ़ होने का पक्ष लिया। जहाँगीर के शासनकाल में अधिक संमान प्राप्त हुआ। १६११ में गुजरात के सूबेदार अब्दुल्ला खाँ का सहायक नियुक्त हुआ और रणथंभोर दुर्ग की अध्यक्षता मिली। मलिक अंबर के विद्रोह में यह भाग खड़ा हुआ। सम्राट् जहाँगीर इसपर बहुत कुपित हुआ और गुजरात से बुलाकर इसे बंगश पर आक्रमण करने भेजा। वहीं १६१३ ई० में उसकी मृत्यु हुई।

रामदास, समर्थ महाराष्ट्र में गोदावरी नदी के किनारे बसा हुआ जांबगाँव रामदास की जन्मभूमि है। चैत्र शुक्ल नवमी को शक संवत् १५३० में रामदास का जन्म हुआ। ये विवाह करना नहीं चाहते थे परंतु माता के आग्रह से विवाहमंडप में जाना इन्होंने स्वीकार किया। 'शुभमंगल सावधान' इन शब्दों को सुनते ही ये सचमुच सावधान हुए और उसी क्षण सबको आश्चर्यचकित करते हुए विवाह मंडप से भाग गए तथा नासिक पंचवटी में आ पहुँचे। यहाँ टाकली नामक स्थान पर गोदावरी के जल में खड़े होकर उन्होंने शक १५४२ से १५५४ तक बारह वर्ष गायत्री और रामजप यज्ञ में व्यतीत किए। इसी समय इन्होंने नासिक क्षेत्र में निवास करनेवाले वैदिक विद्वानों के समीप वेदों का तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन किया।

शक १५५४ के अंत में तपश्चर्या समाप्त कर रामदास तीर्थयात्रा के लिये चल पड़े। निकलने के पूर्व इन्होंने टाकली स्थान पर हनुमान जी की स्थापना कर अपने भावी कार्यों का शुभारंभ किया। बारह वर्ष में इन्होंने भारत के चारो दिशाओं के तीर्थ क्षेत्रों के दर्शन करते हुए संपूर्ण देश का पर्यटन किया और उस समय की लोकस्थिति का सूक्ष्म रूप से अवलोकन किया। सभी समाज पर दुःख दारिद्र्य तथा किसी अकस्मात् भीषण संकट के उपस्थित होने के भय ने लोगों को निस्तेज बना रखा था। इस दुरवस्था को देख रामदास का अंतःकरण व्याकुल हो उठा और उन्होंने असहाय, दीन तथा दुःखी मूढ़ समाज को परमार्थ के दृढ़ पैरों पर आधारित कर्मयोग का पाठ पढ़ाने का मन में संकल्प किया तथा उसके अनुसार कृष्णा नदी के परिसर में अपने संप्रदाय की स्थापना की।

धर्म विषयक जागृति उत्पन्न होने के लिये रामदास ने कोदंडधारी रामचंद्र का आदर्श समाज के संमुख रखा और उसकी पुष्टि के लिये शक १५६७ में मसूर में रामजन्मोत्सव बड़े समारोह के साथ प्रारंभ किया। इसी प्रकार चाफल (ड़) नामक स्थान पर रामचंद्र जी की नई मूर्ति का स्थापन कर वहाँ भी रामोपासना का संवर्धन किया। इसी समय रामदास के कार्यों का परिचय शिवाजी महाराज को हुआ और शीघ्र ही इन दो महापुरुषों की प्रत्यक्ष भेंट हुई तथा परस्पर पोषक धर्मसंरक्षण तथा धर्मजागृति का कार्य अधिक उत्साह के साथ प्रारंभ हुआ। रामदास ने महाराष्ट्र के विभिन्न स्थानों पर ग्यारह हनुमानों की स्थापना कर अपने धर्मकार्यों के मानो ग्यारह केंद्र ही स्थापित किए और अनेक शिष्यों को इस उपासना की दीक्षा देकर अपने संप्रदाय का प्रचार कराया। साथ ही महाराष्ट्र को निरंतर प्रेरणा मिलती रहे, इस उद्देश्य से उन्होंने प्रभावशाली साहित्य का निर्माण किया।

जीवन के सभी अंगों पर रामदास ने अच्छा प्रकाश डाला है। विविध प्रकार का साहित्य होने पर भी इसका ढंग कुछ निराला ही है। फुटकर श्लोक, सैकड़ों पद्य, अनेक लघुकाव्य, प्रासंगिक उपदेश प्रकरण, रामायण जैसे कथाकाव्य, करुणार्त वाणी से प्रस्फुटित करुणाष्टक, सुभाषितों से ओतप्रोत 'मनाचे श्लोक और मराठी साहित्य में अद्वितीय माना जानेवाला दासबोध ग्रंथ, यह बहुमूल्य साहित्य उन्होंने प्रस्तुत किया।

विचारों की दृष्टि से रामदास के ग्रंथों पर सबसे अधिक प्रभाव भगवद्गीता का दिखलाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त वेदोपनिषद्, द्वादश गीता, भागवत इत्यादि ग्रंथों के अध्ययन का उल्लेख दासबोध के प्रारंभ में ही किया गया है। मराठी वाङ्मय के मुकुंदराज, दासोपंत, त्र्यंबकराज और एकनाथ के संस्कार भी न्यूनाधिक प्रमाण में रामदास के ग्रंथों पर पड़े हैं। ये संस्कार प्रधानतः पारमार्थिक विवेचन तक ही सीमित हैं। प्रपंचवाद, व्यवहारचातुर्य, राजकारण, कर्मयोग इत्यादि रामदास का अपना वैशिष्ट्य है।

फुटकर अभंग, भजन, करुणाष्टक आदि रामदास का काव्य आर्तवाणी से प्रस्फुटित हुआ है। करुणाष्टक उत्कट करुणरस से परिपूर्ण है। अपने उपास्य देव के गुणगान में लिखे हुए रामायण के युद्ध और सुंदर कांड रामदास की लेखनी से प्रसूत वीर रस के प्रभावशाली चित्रण हैं। भगवद्गीता की समता पर रचित 'मनाचे श्लोक' को रामदासी उपनिषद् कह सकते हैं। सेवाधर्म, क्षात्रधर्म, संभाजी को भेजा हुआ पत्र, इत्यादि फुटकर साहित्य में रामदास के राजकीय विचारों का प्रतिबिंब अत्यंत स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है।

रामदास की सारी विचारप्रणाली उनके दासबोध नामक ग्रंथ में संगृहीत है। इसका लेखन किसी एक समय में नहीं हुआ। कुछ

बीस दशकों (अध्यायों) में से प्रथम सात दशकों का एक स्वयंपूर्ण ग्रंथ लिखने का रामदास का विचार रहा होगा, किंतु इतने ही पर न रुकते हुए बाद में भी जीवन के अंतिम दिनों तक समय समय पर प्रस्फुटित फुटकर समासों को एकत्रित कर रामदास ने बीस दशकों तथा दो सौ समासवाले इस ग्रंथ का निर्माण किया। इसका पूर्वार्ध तो अध्यात्म निरूपण से ही ओतप्रोत है। उत्तरार्ध में राजकारण, समाजकारण, व्यवहारचातुर्य, लोकसंग्रह, इत्यादि राष्ट्रोन्नति संबंधी ऐहिक विषय आए हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्होंने कोई नवीन क्रांतिकारक विचारों का प्रतिपादन नहीं किया। पूर्वाचार्यों द्वारा प्रस्तुत अद्वैतता की भूमिका पर अधिष्ठित सनातन अध्यात्मवाद को ही उन्होंने अपनी सुबोध किंतु वैशिष्टयपूर्ण स्पष्ट भाषा में फिर से प्रतिपादित किया है।

रामदास का संपूर्ण साहित्य पद्यात्मक होते हुए भी उसमें काव्य-माधुरी स्वल्प मात्र ही है; ज्ञानेश्वर जी की काव्यप्रतिभा उनके पास नहीं। करुणाष्टक, स्फुट कविताएँ, भजन रामायण के दो कांड, इनमें तो रसविलास दिखलाई पड़ता है, किंतु सामान्यतया उनकी कविताएँ अलंकारहीन ही हैं। फिर भी समाजोद्धार की तीव्र लालसा हृदय में व्याप्त होने के कारण उनका सारा साहित्य ओजस्वितापूर्ण एवं स्फूर्तिदायक प्रेरणा से युक्त है।

इस प्रकार ओजस्वी मन:प्रवृत्ति के कारण रामदास तथा छत्रपति शिवाजी के संबंध अत्यंत घनिष्ठ हो गए थे। हिंदू साम्राज्य स्थापना के महत्वपूर्ण कार्य में रामदास का प्रयत्न यथेष्ट सहायक हुआ। शक १५७२ से उन्होंने सतारा के समीप सज्जनगढ़ पर निवास किया। संपूर्ण देश में फैले हुए शिष्यवर्गों द्वारा समाज को प्रपंच एवं परमार्थ के समन्वय का पाठ पढ़ाते तथा छत्रपति जैसे राज्यकर्ता पुरुष का पथप्रदर्शन करते हुए उन्होंने अपने जीवन का उत्तरार्ध व्यतीत किया। शिवाजी के मरणोपरांत अपनी जिम्मेदारी का मूल्य न समझनेवाले संभाजी को रामदास ने अनेक मूल्यवान उपदेश दिए और शिवाजी का आदर्श संमुख रख महाराष्ट्र पर राज्य करने की प्रेरणा दी किंतु वह निष्फल हुई।

हरिकथा निरूपण के साथ राजनीति को भी स्थान देना, धर्म संस्थापना के लिये संघटन की प्रशंसा करना, महाराष्ट्र धर्म तथा महाराष्ट्र राज्य की प्रेरणा देना, लोकसंग्रह की महिमा गाना तथा प्रपंच का महत्व प्रदर्शित करना आदि अनेक विषय रामदास के साहित्य में दिखलाई पड़ते हैं। शिवाजी महाराज की मृत्यु के कारण उदास तथा विरक्त रामदास ने माघ वदी ६, शक संवत् १६०३ को देह-विसर्जन किया। [शं० ग० दु०]

रामन प्रभाव प्रकाश और वर्ण ने मुझे सदैव आकर्षित किया है। वस्तुत. मैंने अपना जीवन ही प्रकाशिकी (Optics) के अनुसंधान में लगा दिया है। इस क्षेत्र में हमें ज्ञानेंद्रियों से बड़ी सहायता मिलती है। १९२१ ई० के अंतिम दिनों में इस क्षेत्र में कार्य करने के लिये मुझे नई दिशा मिली और मैंने पारदर्शक माध्यम द्वारा गुजरनेवाले प्रकाश के विसरण (diffusion) पर विधिवत् अनुसधान करने की योजना हाथ में ली। आगामी वर्षों में ज्ञान के क्षेत्र में मौलिक प्रगति की संभावना से इस योजना को मैंने नियमित रूप से कार्यान्वित किया।

१९३० ई० में मुझे प्रकाश के विसरण और मेरे ही नाम से अभिहित प्रभाव की खोज के संमान में भौतिकी का नोबेल पुरस्कार मिला। उक्त प्रभाव को अत्यंत सरल शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है। एकवर्णी प्रकाश (monochromaic light) का एक किरणपुंज (beam), जो सामान्यत: पारदवाप लैंप (mercury arc lamp) से प्राप्त होता है, ठोस, द्रव, या गैस अवस्था के गवेषणाधीन पदार्थ का संक्रमण (traverse) करता है। पदार्थ के अभ्यंतर (interior) में विसरित यह प्रकाश, जो नियमित रूप से पारगत (transmitted) प्रकाश से भिन्न दिशा में निर्गत होता है, स्पेक्ट्रमदर्शी द्वारा जाँचा जाता है। इस प्रकार से देखे हुए स्पेक्ट्रम में ऐसा नई रेखाओं का व्यूह (array) दिखाई पड़ता है, जो पदार्थ को प्रदीप्त करनेवाले किरणपुंज में नहीं होता।

इस खोज के प्रकाशन के आगामी वर्षों में स्वदेश और विदेश में इस क्षेत्र में बड़ी सक्रियता उत्पन्न हुई। नए उपकरण में नए प्रकाश-स्रोत और नव तकनीकों के साथ स्पेक्ट्रमिकी की एक नई शाखा का जन्म हुआ तथा व्यापक साहित्य का सृजन हुआ। यह प्रश्न उठना सहज है कि इन गतिविधियों का फल क्या हुआ? इसका उत्तर भी कठिन नहीं है। प्रकाश स्रोत के स्पेक्ट्रम की प्रत्येक नई रेखा के उद्गम का कारण प्रकाश का प्रकीर्णन (scattering) करनेवाले अणुओं के घूर्णन, या कंपन की विशिष्ट पद्धति है, अत: नई रेखाओं का प्रतिमान (pattern) अणु के विशिष्ट घूर्णन, या कंपन स्पेक्ट्रम को निरूपित करता है। स्पेक्ट्रम अणु की संरचना से, अर्थात् अणु को गठित करने वाले परमाणुओं की संख्या, संहति और ज्यामितीय स्थिति से, निर्धारित होता है और कंपन स्पेक्ट्रम तो परमाणुओं को संबद्ध करने वाले रासायनिक बलों की प्रकृति और सामर्थ्य से भी निर्धारित होता है। अत: प्रकाश प्रकीर्णन का अध्ययन हमें अणु संबंधी विशिष्ट सूचनाएँ देता है और उसका चरम संगठन (ultimate constitution) भी प्रकट करता है।

प्रकाश प्रकीर्णन के स्पेक्ट्रम का अध्ययन पदार्थ की संरचना के अध्ययन में बहुत ही समर्थ साधन सिद्ध हुआ है। इससे आणविक रूप तथा संरचना संबंधी और परमाणुओं के बीच विशिष्ट रासायनिक बंध के अस्तित्व से संबंधित सूचनाएँ अविलंब मिलती हैं। अनेक प्रकारों से, जैसे विलयन, तापन, या अन्य अणुओं से अभिक्रिया द्वारा, अणु की संरचना में हुए बदलाव का अनुसंधान भी किया जा सकता है। वस्तुत प्रकाश प्रकीर्णन का अनुप्रयोग रसायन की प्रायोगिक और सैद्धांतिक दोनों शाखाओं में होता है। कुछ वर्षों से वैश्लेषिक रसायन के क्षेत्र में एक समर्थ साधन के रूप में इसकी मान्यता बढ़ने लगी है।

सभी गैसों और विशेषत: हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन जैसी सरल अणुवाली गैसों के अनुसंधान से, जिनके घूर्णन प्रकाश प्रकीर्णन के रूप में प्रकट होते हैं, भौतिकी के मौलिक महत्व के परिणाम प्राप्त हुए हैं। नवविकसित तकनीकों से जटिल संरचनावाली गैसों के अणुओं का परीक्षण भी संभव हुआ है और उनके आणविक स्वरूप के संबंध में अत्यंत यथार्थ सूचनाएँ मिली हैं। द्रवों में प्रकाश प्रकीर्णन के अनुसंधान से आणविक व्यवहार (molecular behaviour) संबंधी दुष्प्राप्य ज्ञान उपलब्ध हुआ है। वस्तुत: कुछ चौंकाने-

वाली खोजें भी हुई हैं, जैसे इस बात का प्रमाण कि उच्च श्यानता (viscosity) के द्रव मापनीय दृढ़ता (rigidity) का प्रदर्शन करते हैं और यह एक प्रकार से उनका ठोस सा व्यवहार है। क्रिस्टल भौतिकी (Crystal Physics) के क्षेत्र में भी प्रकाश प्रकीर्णन के अध्ययनों से मौलिक प्रगति हुई है। क्रिस्टलों के प्रकाश प्रकीर्णन से प्रकट होता है कि क्रिस्टलों के कंपन स्पेक्ट्रम की प्रकृति असाधारण रूप से सरल होती है। बंगलोर में अभिनव अनुसंधानों से प्रकट हुआ है कि क्रिस्टल में होनेवाले परमाणवीय कंपन उस प्रतिमान के होते हैं जो क्रिस्टल की परमाणवीय और आणविक संरचना से निर्धारित होता है और जिसका क्रिस्टल के बाह्य स्वरूप, या आकार से कोई संबंध नहीं होता। क्रिस्टल भौतिकी के क्षेत्र में इन परिणामों का अतिशय महत्व है। [वं० वें० र०]

रामन महर्षि वकील सुंदरम् अय्यर और अलगम्मल को ३० दिसंबर, १८७९ को तिरुचुली, मद्रास, में जब द्वितीय पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई तो उसका नाम वेंकटरमन रखा गया। रामन की प्रारंभिक शिक्षा तिरुचुली और दिंडिगुल में हुई। उनकी रुचि शिक्षा की अपेक्षा मुष्टियुद्ध व मल्लयुद्ध जैसे खेलों में अधिक थी तथापि धर्म की ओर भी उनका विशेष झुकाव था।

लगभग १८९५ ई० में अरुचल (तिरुवन्नमलै) की प्रशंसा सुनकर रामन अरुचल के प्रति बहुत ही आकृष्ट हुए। वे मानवसमुदाय से कतराकर एकांत में प्रार्थना किया करते। जब उनकी इच्छा अति तीव्र हो गई तो वे तिरुवन्नमलै के लिये रवाना हो गए और वहाँ पहुँचने पर शिखासूत्र त्याग कौपीन धारण कर सहस्रस्तंभ कक्ष में तपनिरत हुए। उसी दौरान वे तप करने पठाल लिंग गुफा गए जो चींटियों, छिपकलियों तथा अन्य कीटों से भरी हुई थी। २५ वर्षों तक उन्होंने तप किया। इस बीच दूर और पास के कई भक्त उन्हें घेरे रहते थे। उनकी माता और भाई उनके साथ रहने को आए और पलनीस्वामी, शिवप्रकाश पिल्लै तथा वेंकटरमीर जैसे मित्रों ने उनसे आध्यात्मिक विषयों पर वार्ता की। संस्कृत के महान् विद्वान् गणपति शास्त्री ने उन्हें 'रामन्' और 'महर्षि' की उपाधियों से विभूषित किया।

१९२२ में जब रामन की माता का देहांत हो गया तब आश्रम उनकी समाधि के पास ले जाया गया। १९४६ में रामन की स्वर्ण जयंती मनाई गई। यहाँ महान् विभूतियों का जमघट लगा रहता था। असीसी के संत फ्रांसिस की भाँति रामन सभी प्राणियों से — गाय, कुत्ता, हिरन, गिलहरी, आदि—से प्रेम करते थे।

१४ अप्रैल, १९५० की रात्रि को आठ बजकर सैंतालिस मिनट पर जब महर्षि रामन महाप्रयाण को प्राप्त हुए, उस समय आकाश में एक तीव्र ज्योति का तारा उदय हुआ एवं अरुचल की दिशा में अदृश्य हो गया।

रामन ने अद्वैतवाद पर जोर दिया। उन्होंने उपदेश दिया कि परमानंद की प्राप्ति 'अहम्' को मिटाने तथा अंतःसाधना से होती है। रामन ने संस्कृत, मलयालम, एवं तेलगू भाषाओं में लिखा। बाद में आश्रम ने उनकी रचनाओं का अनुवाद पाश्चात्य भाषाओं में किया। [एन० वी० सु०]

रामनाथपुरम् भारत के मद्रास राज्य का जिला है, जो बंगाल की खाड़ी पर स्थित है। इसका क्षेत्रफल ४,८४६ वर्ग मील तथा जनसंख्या २४,२१,७८८ (सन् १९६१) है। वैगाई नदी इसके बीच से होती हुई बंगाल की खाड़ी में गिरती है। यह लाल मिट्टी का प्रदेश है। तट पर बलुई तथा पश्चिम में चिकनी मिट्टी मिलती है। उत्तर में वर्षा ९० सेमी० तथा दक्षिण में ६० सेमी० होती है। यहाँ अभ्रक तथा टिटेनियम के भंडार हैं, किंतु खुदाई नहीं होती। संपूर्ण जिले में तालाबों द्वारा सिंचाई होती है। [प्र० व०]

रामनाम भारतीय साहित्य में वैदिक काल से लेकर भाषा काल तक रामसंज्ञक अनेक महापुरुषों का उल्लेख मिलता है किंतु उनमें सर्वाधिक प्रसिद्धि वाल्मीकि रामायण के नायक अयोध्या नरेश दशरथ के पुत्र राम की हुई (दे० राम)। उनका चरित् जातीय जीवन का मुख्य प्रेरणास्रोत बन गया। शनैः शनैः वे वीर पुरुष से पुरुषोत्तम और पुरुषोत्तम से परात्पर ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। ईसा की दूसरी से चौथी शताब्दी के बीच विष्णु अथवा नारायण के अवतार के रूप में उनकी पूजा भी आरंभ हो गई।

आलवारों में शठकोप, मधुर कवि तथा कुलशेखर और वैष्णवाचार्यों में रामानुज ने रामावतार में विशेष निष्ठा व्यक्त की परंतु चौदहवीं शताब्दी के अंत तक रामोपासना व्यक्तिगत साधना के रूप में ही पल्लवित होती रही; उसे स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में संगठित करने का श्रेय स्वामी रामानंद को प्राप्त है। उन्होंने रामतारक अथवा षडक्षर राममंत्र को वैष्णव साधना के इतिहास में पहली बार "बीज मंत्र" का गौरव प्रदान किया और मनुष्यमात्र को रामनाम जप का अधिकार घोषित किया। इन्हीं की परंपरा में आविर्भूत गोस्वामी तुलसीदास ने इस विचारधारा का समर्थन करते हुए रामनाम को "मंत्रराज", "बीज मंत्र" तथा "महामंत्र" की संज्ञा देकर कलिग्रस्त जीवों के उद्धार का एकमात्र साधन बताया। उन्होंने उसे वेदों का प्राण, त्रिदेवों का कारण और ब्रह्म राम से भी अधिक महिमायुक्त कहकर नामाराधन में एकांत निष्ठा व्यक्त की।

सांप्रदायिक रामभक्ति के विकसित होने पर अर्थानुसंधानपूर्वक रामनाम जप साधना का एक आवश्यक अंग माना जाने लगा। अन्य नामों की अपेक्षा ब्रह्म के गुणों की अभिव्यक्ति की क्षमता "राम" में अधिक देखकर उसे प्रणव की समकक्षता की महत्ता प्रदान की गई। वैष्णव भक्तों ने सांप्रदायिक विश्वासों के अनुकूल "रामनाम" की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। सगुणमार्गी मर्यादावादी भक्तों ने उसे लोकसंस्थापनार्थ ऐश्वर्यपूर्ण लीलाओं के विधायक रामचंद्र और रसिक भक्तों ने सौंदर्य माधुर्यादि दिव्य गुणों से विभूषित साकेतविहारी "युगल सरकार" का व्यंजक बताया किंतु निर्गुणमार्गी संतों ने उसे योगियों के चित्त को रमानेवाले, सर्वव्यापक, सर्वांतर्यामी, अगमनिवास निराकार ब्रह्म का ही बोधक माना।

रामनाम की इस लोकप्रियता ने "रामभक्ति" के विकास का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उसकी असीम तारक शक्ति, सर्वसुलभता तथा भक्तवत्सलता का अनुभव कर भावुक उपासकों ने अर्चन तथा पादसेवन को छोड़कर नाम के प्रति सप्तधा भक्ति अर्पित की, जिनमें श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण को विशेष महत्व मिला। तुलसी ने

उसे स्वामी और सखा दोनों रूपों में ध्येय माना और बनादास ने उससे मधुर दास्यभाव का संबंध स्थापित किया। यह नामोपासना रामभक्ति शाखा में ही सीमित न रही। लीलापुरुषोत्तम के आराधक सूर और मीरा ने भी अपनी कृतियों में प्रगाढ़ रामनामासक्ति व्यंजित की है।

रामभक्ति की रसिक शाखा में नामभक्ति की प्राप्ति के लिये नामसाधना की अनेक प्रणालियाँ प्रवर्तित हुईं। रामसखे ने चित्रकूट के कामदवन में अनुष्ठानपूर्वक बारह वर्ष तक और बनादास ने अयोध्या के रामघाट पर गुफा बनाकर चौदह वर्ष तक अहर्निश नामजप में लीन रहकर आराध्य का दर्शनलाभ किया। युगलानन्यशरण ने नाम अभ्यास की एक अन्य व्यवस्थित प्रक्रिया प्रवर्तित की। इसकी तीन भूमिकाएँ हैं—भूमिशोधन, नामजप और नामध्यान। प्रथम के अंतर्गत संयम नियम द्वारा नामजप की पात्रता प्राप्त करने के लिये उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार की जाती है। दूसरी में नाम के महत्व, अर्थपरत्व तथा जपविधि का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। नामध्यानसंज्ञक तीसरी स्थिति नामसाधना का अंतिम सोपान है। इसके तीन स्तर हैं—ताड़नध्यान, आरतीध्यान और मौक्तिकध्यान। ताड़न का अर्थ है दंड देना। अतः प्रथम अवस्था में रामनाम की निरंतर चोट देकर अंतःकरण से वासना निकाली जाती है। विषयनिवृत्ति से अंतःस्थ ईश्वर का ज्योतिर्मय स्वरूप प्रकट हो जाता है। उसकी दिव्य आभा से साधक के मानसनेत्र खुल जाते हैं। तब वह अपनी उद्‌बुद्ध प्रज्ञा से ध्येय का अभिनंदन अथवा आरती करता है। तीसरी अवस्था में भवबंधन से मुक्त साधक अपने स्थूल शरीर से पृथक् चित् देह अथवा भावदेह का साक्षात्कार कर परमपुरुषार्थ की प्राप्ति करता है। इसके फलस्वरूप लोकयात्रा में जीवन्मुक्ति का सुख भोगता हुआ साधक स्वेच्छानुसार शरीर त्यागकर उपास्य की नित्यलीला में प्रवेश करता है।

स्वामी रामानंद से प्रत्यक्ष प्रेरणा ग्रहण करने के कारण अवतारवाद के घोर विरोधी संतमत में भी रामनाम की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनी रही। आदि संत कबीर ने निर्गुण ब्रह्म से उसका तादात्म्य स्थापित कर नामसाधना को एक नया मोड़ दिया। उनके परवर्ती नानक, दादू, गुलाल, जगजीवन आदि तत्वज्ञ महात्माओं ने एक स्वर से उसे निर्गुणपंथ का मूल मंत्र स्वीकार किया। इनकी नाम अथवा 'जिकिर' साधना तांत्रिक आदर्श पर निर्मित होने से प्राणायाम की जटिल विधियों से समन्वित थी। अंगुलियों से माला फेरने और जिह्वा से रामनाम रटने को निरर्थक बताते हुए इन संतों ने आंतरिक चित्तवृत्ति के साथ परम तत्व के परामर्श को ही जप की संज्ञा दी, जिसकी सिद्धि इड़ा पिंगला को छोड़कर सुषुम्ना मार्ग से श्वास का अवधारण करके रामनामस्थ होने से होती है, और "अनाहत नाम" सुनाई पड़ने लगता है। उससे निःसृत रामनाम-रस पानकर व्यष्टिजीव आत्मविभोर हो जाता है। संतों ने नामामृत पान के लिये कायायोग द्वारा परम तत्व के साथ एकात्मता का अनुभव आवश्यक बताया है। मात्र भावावेशपूर्ण नामोच्चारण से इसकी उपलब्धि असंभव है। मनरति के तनरति की यह अनिवार्यता संतों की नामसाधना में योगतत्व की प्रमुखता सिद्ध करती है।

संतों तथा वैष्णव भक्तों द्वारा प्रवर्तित नामसाधना की उपर्युक्त पद्धतियों में विभिन्नता का मुख्य कारण है उनका सैद्धांतिक मतभेद। साकारवादी, भक्ति में शुद्ध प्रेम अथवा भाव तत्व को अधिक महत्व देते हैं, किंतु निराकारवादी, ज्ञान तथा योग तत्व को। सगुणोपासक रूप के बिना नाम की कल्पना ही नहीं कर सकते। अतः वे आराध्य के आंगिक सौंदर्य तथा लीलामाधुर्य के वर्णन एवं ध्यान में मग्न होते हैं। इस स्थिति में उपासक के हृदय में उपास्य से अपने पृथक् अस्तित्व की अनुभूति निरंतर होती रहती है किंतु नाम रस से छके हुए तत्वज्ञान-स्पृही निर्गुणमार्गी संत वितर्कहीन स्थिति में पहुँचकर अपने को भूल जाते हैं। वहाँ ध्याता और ध्येय की पृथक् सत्ता का आभास ही नहीं होता। उनकी अंतर्मुखी चेतना ब्रह्मानुभव में निरत हो तद्रूप हो जाती है।

सं० ग्रं० — डा० भगवतीप्रसाद सिंह : रामभक्ति में रसिक संप्रदाय; डा० कामिल बुल्के : रामकथा; डा० उदयभानु सिंह : तुलसीदर्शन मीमांसा; डा० विश्वंभरनाथ उपाध्याय : संतवैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव; डा० मुंशीराम शर्मा : भक्ति का विकास; डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : रामानंद की हिंदी रचनाएँ।

[भ० प्र० सिं०]

रामनारायण मिश्र (१८७३–१९५३ ई०) अमृतसर के बड़े उच्च कुल में इनका जन्म हुआ था। यह सारस्वत ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम चिरौंजी मिश्र तथा माता का नाम छक्को देवी था। यह अपने माता पिता के साथ अपने मामा डाक्टर छन्नूलाल जी के पास काशी आए थे और काशी के ही हो गए। डाक्टर छन्नूलाल जी सरकारी अस्पताल भेलूपुर में प्रधान डाक्टर के पद पर थे। नगर में इनकी इतनी अधिक प्रेक्टिस हो गई थी कि इन्हें रोगियों के घर जा जाकर देखने से, दम मारने का अवकाश ही नहीं मिलता था। इससे इनके वैभव का अनुमान लगाया जा सकता है। पर इनकी बहन इनके वैभव से सर्वदा दूर रहीं और वे बालक राम को भी उससे दूर रखतीं। वे ब्राह्ममुहूर्त बेला में बालक राम को साथ लेकर गंगास्नान तथा देवदर्शनों को जातीं। यह अभ्यास पंडित रामनारायण जी के अंतिम समय के एक दिन पूर्व तक बना रहा।

बालक रामनारायण ने क्वीन्स कालेज से अंग्रेजी और अरबी विषय लेकर अरबी परीक्षा पास की थी। अंग्रेजी में वे प्रायः प्रथम आया करते थे जिससे वे कालेज के अध्यापक गण के बड़े प्रिय हो गए थे।

क्वींस कालेज में कुछ विद्यार्थियों ने, जिनमें पं० रामनारायण मिश्र, बा० श्यामसुंदर दास, ठा० शिवकुमार सिंह तथा बा० राधाकृष्ण दास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, मंत्रणा करके, कालेज में ही 'नागरीप्रचारिणी सभा' को जन्म दिया और इस निमित्त वहीं साप्ताहिक सभा (मीटिंग) भी करते रहे। बाद में बुलानाला में नागरीप्रचारिणी सभा की मीटिंग हुआ करती थी। बड़ी तत्परता के साथ प्रयत्न करते रहने पर कुछ काल पश्चात् सभा के लिये स्थान मिला और भवन का निर्माण हो गया।

बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण होने के अनंतर पंडित जी की नियुक्ति जौनपुर में सब डिप्टी इंस्पेक्टर के पद पर हुई। फिर वे बरेली, बस्ती तथा वाराणसी में, सब डिप्टी तथा डिप्टी इंस्पेक्टर पदों पर बड़ी ख्याति के साथ कार्य करते रहे।

उस समय उर्दू के कचहरी की भाषा होने से, लोगों में अपने बच्चों को स्कूल में उर्दू पढ़ाने की ओर अत्यंत अभिरुचि थी। लोगों की इस भावना को जड़मूल से उखाड़ फेंकने तथा हिंदी के प्रचारार्थ आपने अथक प्रयत्न किया। स्कूलों में प्रातःकालीन प्रार्थना में पं० श्रीधर पाठक का 'जय जय प्यारा भारत देश' तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र का 'पितु मातु सहायक स्वामि सखा तुमहीं एक नाथ हमारे हो' का गान प्रचलित कराया, जिससे विद्यार्थियों तथा अध्यापकों के मानसपटल पर हिंदी के प्रति प्रगाढ़ प्रेम का प्रभाव पड़े। उर्दू पढ़ने वाले विद्यार्थियों तथा उनके अभिभावकों से आग्रह कर वे उनके हिंदी पढ़ने पर बल देते रहे।

पंडित जी का जीवन निष्कलंक, उच्चादर्श युक्त एवं परम उदार था। परोपकार की प्रवृत्ति, स्वदेशप्रेम, स्वदेशी-वस्त्र-परिधान, सादा और संयमित जीवन, स्वल्पाहार, प्राचीन संस्कृति से प्रेम, धर्मनिष्ठा, स्त्रियों के प्रति आदर, स्त्रीशिक्षा में रुचि, सत्यनिष्ठता, निर्भीकता, स्पष्टवादिता, इत्यादि गुण उनमें थे तथा वे महान् मातृभक्त थे। उन्होंने महादेव गोविंद रानाडे का जीवनचरित्, जापान का इतिहास, यूरोप में छह मास, बालोपदेश तथा भारतीय शिष्टाचार नामक पुस्तकें लिखी हैं। [रा० ना० दु०]

रामपुर १. जिला, स्थिति : २८° २५' से २६° १०' उ० अ० तथा ७८° ५२' से ७६° २६' पू० दे०। यह जिला भारत के उत्तर प्रदेश राज्य में स्थित है। इसका क्षेत्रफल ८६५ वर्ग मील तथा जनसंख्या ७,०१,५३७ (सन् १९६१) है। रामगंगा, कोसी एवं नाहल इस जिले की प्रमुख नदियाँ हैं। गेहूँ, जौ, धान, मक्का तथा गन्ना जिले की प्रमुख फसलें हैं।

२. नगर, स्थिति : २८° ४८' उ० अ० तथा ७६° ५०' पू० दे०। यह नगर उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक केंद्र है तथा कोसी के बायें किनारे पर स्थित है। नगर में उत्तरी रेलवे का स्टेशन भी है। यहाँ का चाकू उद्योग प्रसिद्ध है। चीनी, वस्त्र तथा चीनी मिट्टी के बरतन के उद्योग भी नगर में हैं। नगर की जनसंख्या १,३५,४०७ (सन् १९६१) है। नगर में अरबी भाषा का एक महाविद्यालय है। [अ० ना० मे०]

रामपुरवा स्तंभ बिहार के चंपारन जिले के रामपुरवा गाँव के निकट सम्राट् अशोक का स्थापित किया यह स्तंभ वर्तमान है। अशोक के प्रधान स्तंभाभिलेख सात हैं जो सात विभिन्न स्थानों में पाए गए हैं; रामपुरवा का स्तंभाभिलेख उनमें से एक है। इस स्तंभ के शिरोभाग पर एक अत्यंत उच्च कलाप्रद साँड़ की मूर्ति रखी हुई थी जो इससे विलग होकर नीचे आ पड़ी; आजकल वह दिल्ली के राष्ट्रपति भवन के प्रांगण में रखी गई है। इस स्तंभ पर सम्राट् अशोक के पहले चार प्रज्ञापन ब्राह्मी लिपि में खुदे हुए हैं। इनकी मुख्य बातों में जीवहिंसा का निषेध, जनसाधारण के लिये निर्मित सम्राट् के परोपकारी कार्य एवं धर्म अनुशासन हैं। [आं० प्र० रो०]

रामप्रसाद निरंजनी अब तक की खोज के आधार पर ये हिंदी के प्रथम प्रौढ़ गद्यलेखक माने जाते हैं। आप पटियाला दरबार में कथावाचक थे। पटियाला रियासत की महारानी देसो (देस कौर) को सुनाने के लिये ही आपने एकमात्र रचना 'भाषा योगवासिष्ठ' (सं० १७४१) का परिमार्जित खड़ी बोली गद्य में प्रणयन किया था। बीच बीच में संस्कृत के शुद्ध तत्सम शब्द और हिंदी के कतिपय पुराने प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं।

सं० ग्रं० — नागरीप्रचारिणी पत्रिका, बनारस : वर्ष ४४, अंक २, श्रावण, संवत् १९९६; पं० रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास (सं० १९९६) [न० क०]

रामराय ये अपना वंश गीतगोविंद के रचयिता श्री जयदेव से चला हुआ मानते हैं। रामराय जयदेव से चौदहवीं पीढ़ी में हुए। इनका जन्म लाहौर में हुआ पर ये छोटी अवस्था में ही विरक्त होकर वृंदावन चले आए। इनकी 'गीतगोविंद भाषा' की रचना सं० १६२२ में हुई जिससे इनका काल सं० १५६० से १६४० तक मान्य है। इनके पिता का नाम गौरगोपाल तथा भाई का चंद्रगोपाल था। इनकी संस्कृत रचनाएँ गौर-विनोदिनी-वृत्ति, गौरगीता आदि हैं तथा व्रजभाषा में आदि वाणी और गीतगोविंद भाषा है। ये ऐसे विद्वान् भक्त हो गए हैं कि जीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ने स्वरचनाओं में इनकी वंदना की है। [व्र० र० दा०]

रामसहायदास ये 'भगत' नाम से प्रसिद्ध थे और इसी नाम से कविताएँ भी लिखते थे। वाराणसी के चौबेपुर के रहनेवाले ये अस्थाना कायस्थ थे। भवानीदास इनके पिता और चिंतामणि इनके गुरु थे। काशी नरेश महाराज उदितनारायण सिंह (१७९५-१८३५ ई०) ही इनके आश्रयदाता थे। इनके जन्मकाल के विषय में कोई सूचना नहीं मिलती, किंतु 'शिवसिंह सरोज' में इनका उपस्थिति-काल सं० १९०१ वि० दिया गया है। इनका काव्यकाल प्रायः सं० १८६१ वि० से १८८१ वि० तक माना जाता है। ये परम भक्त और प्रकृति से बड़े विनम्र थे।

इनकी रचनाओं के विषय में 'शिवसिंह सरोज' से पिंगलग्रंथ 'वृत्ततरंगिनी', 'मिश्रबंधु-विनोद' से 'रामसतसई' और रामनरेश त्रिपाठी कृत 'कविता कौमुदी (भा० १) से 'शृंगारसतसई', 'वृत्ततरंगिनी', 'ककहरा' 'रामसप्तसति' एवं 'वाणीभूषण' की रचना मिलती है। 'रामसतसई', 'रामसप्तसति' और 'शृंगारसतसई' तीनों एक ही रचना के तीन नाम ज्ञात होते हैं। नाम के आधार पर अनुमान है कि 'वाणीभूषण', अलंकारनिरूपक ग्रंथ रहा होगा, जो अनुपलब्ध है। पंडित रामचंद्र शुक्ल ने 'ककहरा' को कवि की अंतिम कृति माना है। यह जायसी के अखरावट की पद्धति पर रची गई धर्म-नीति-प्रधान रचना है। पिंगलनिरूपक कृति 'वृत्ततरंगिनी' की प्रति नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी में रक्षित है।

कवि की प्रख्याति का कारण उसकी महत्वपूर्ण रचना 'रामसतसई' ही है। इसकी अनूठी भावव्यंजना और अपूर्व भाषाकौशल के नाते रामसहायदास का नाम हिंदी के रीतिमुक्त काव्यकारों के साथ आदर से लिया जाता है। [रा० के० त्रि०]

रामानंद और उनका संप्रदाय रामानंद स्वामी की जन्मतिथि के विषय में विद्वानों में मतभेद है। जब तक कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती, रामानंद की जन्मतिथि सं० १३५६ वि० (सन् १२९९ ई०) माघ कृष्ण सप्तमी मानी जानी चाहिए जिस तिथि को प्रति वर्ष रामानंदीय मठों एवं इस संप्रदाय के अयोध्या, मिथिला, चित्रकूट आदि केंद्रों में स्वामी जी की जयंतियाँ धूमधाम से मनाई जाती हैं।

रामानंद का जन्म 'अगस्त्य संहिता' के अनुसार प्रयाग में हुआ था। वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे। उनके पिता का नाम पुण्यसदन और माता का नाम सुशीला देवी था। 'श्री रामाचरन पद्धति' में स्वयं रामानंद ने राघवानंद स्वामी को अपना गुरु कहा है। राघवानंद के विशिष्टाद्वैत का रामानंद जी के विचारों पर अधिक प्रभाव पड़ा। गुरु ने विशिष्टाद्वैत के अतिरिक्त उन्हें सर्व शास्त्रों एवं तत्वज्ञान की भी शिक्षा दी।

रामानंद पर युगधर्म का भी प्रभाव पड़ा था। काशी के विद्वान् मुसलमानों के संपर्क में आकर उन्होंने अपने दृष्टिकोण को काफी उदार बनाया। उन्होंने तीर्थों की यात्रा करके भी अपने विचारों को युगधर्म के अनुसार बना लिया। उन्होंने नए संप्रदाय की स्थापना की और रामभक्ति के आचार्य माने गए। वास्तव में वह भक्ति आंदोलन के उत्तर और दक्षिण भारत के मध्य एक अपूर्व पुल का काम करते रहे।

रामानंद स्वामी का केंद्रीय मठ पंचगंगा घाट काशी में था जो आज भी अपने अवशिष्ट रूप में विद्यमान है। इसी स्थान से अपने संप्रदाय का उन्होंने व्यापक प्रचार किया और यहीं से उस धर्म का प्रकाश निकला था जिसके फलस्वरूप तुलसी ने युग युग के अंधकार को दूर किया था।

'भक्तमाल' के अनुसार रामानंद के प्रमुख शिष्यों में अनंतानंद, कबीर, सुखानंद, सुरसुरानंद, पद्मावती, नरहर्यानंद, पीपा, भावानंद, रैदास, धना, सेन, सुरसुरी आदि द्वादश शिष्य अधिक प्रसिद्ध थे। रामानंद ने अपने मत का प्रचार करने के लिये भारतवर्ष के विभिन्न तीर्थों की यात्रा की और विपक्षियों को परास्त कर विशिष्टाद्वैत मत की प्रतिष्ठा की। रामनाम के सबसे महान् प्रचारक रामानंद स्वामी की ही साधना का फल था कि भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक रामषडाक्षर मंत्र का इतनी दृढ़ता से प्रचार हो सका। रामानंद की मृत्युतिथि सं० १४६७ वि० वैशाख सुदी तृतीया अधिकांश रूप से मानी जाती है।

रामानंद ने भाषा के क्षेत्र में भी नवीनता अपनाई। कहा जाता है कि उन्होंने स्वयं कुछ पद हिंदी में लिखे और अपने शिष्यों को हिंदी ही में लिखने के लिये उत्साहित किया।

रामानंद ने भक्ति को ही अपनाया। 'राम' उनके उपास्य हैं। 'राम के प्रति अनन्य शरणागति' उनकी साधना है।

संप्रदाय — तीर्थयात्रा करने के बाद रामानंद जब घर आए और गुरुमठ पहुँचे तो उनके गुरुभाइयों ने उनके साथ भोजन करने में आपत्ति की। उनका अनुमान था कि रामानंद ने तीर्थाटन में अवश्य ही खानपान संबंधी छुआछूत का कोई विचार नहीं किया होगा। राघवानंद ने अपने शिष्यों का यह आग्रह देखकर एक नया संप्रदाय चलाने की सलाह दे दी। यहीं से रामानंद संप्रदाय का जन्म हुआ। इन दृष्टियों से रामानंद संप्रदाय एवं रामानुज संप्रदाय में भेद है किंतु दार्शनिक सिद्धांत से दोनों ही संप्रदाय विशिष्टाद्वैत मत के पोषक हैं। दोनों ही ब्रह्म को चिदचिद्विशिष्ट मानते हैं और दोनों ही के मत से मोक्ष का उपाय परमोपास्य की 'प्रपत्ति' है। रामानंद संप्रदाय में निम्नलिखित बातें प्रधान हैं—१. द्विभुज श्रीराम परमोपास्य हैं। २. 'ओम् रामाय नमः' सांप्रदायिक मंत्र है। ३. इस संप्रदाय का नाम श्री संप्रदाय या 'रामानंद संप्रदाय' या 'वैरागी संप्रदाय' है। ४. इस संप्रदाय में आचार पर अधिक बल नहीं दिया जाता। कर्मकांड का महत्व यहाँ बहुत कम है। ५. इस संप्रदाय में शुक्लश्री, बिंदुश्री, रक्तश्री, लश्करी आदि अनेक प्रकार के तिलक प्रचलित हैं।

रामानंद ने उदार भक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया। उनके शिष्यों में जुलाहा, चमार, जाट, क्षत्रिय, आदि एवं स्त्रियाँ भी थीं। भक्ति का द्वार सभी के लिये मुक्त था। उन्होंने वैरागी संप्रदाय की स्थापना इसी कारण की। उनके उपदेशों के फलस्वरूप दो विचारधाराएँ धार्मिक क्षेत्र में उत्पन्न हुईं। प्रथम प्राचीन परंपरागत विचारधारा जो परिवर्तन के विरुद्ध थी। दूसरी नवीन विचारधारा जो परिवर्तन करके हिंदू, मुसलमान सभी को संमिलित करने को उद्यत थी। प्रथम विचारधारा के महानतम व्यक्ति संत तुलसीदास थे और दूसरी विचारधारा के प्रमुख व्यक्ति संत कबीरदास थे।

रामानंद संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत — रामानंद संप्रदाय को जो 'श्री संप्रदाय' कहा जाता है उसमें 'श्री' शब्द का अर्थ लक्ष्मी के स्थान पर 'सीता' किया जाता है। इस संप्रदाय का दार्शनिक मत विशिष्टाद्वैत ही माना जाता है, जैसा ऊपर उल्लिखित हो चुका है।

विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है —'विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे, विशिष्टयोरद्वैते विशिष्टाद्वैतम्' अर्थात् सूक्ष्म चिदचित् विशिष्ट अथवा कारण ब्रह्म और स्थूल चिदचिद् विशिष्ट अथवा कार्य ब्रह्म में अभिन्नता स्थापित करना ही विशिष्टाद्वैत का उद्देश्य है। रामानंद संप्रदाय में राम को ही ब्रह्म कहा गया है और 'सीताराम' आराध्य माने गए हैं।

ब्रह्म राम — स्वामी जी का ब्रह्म राम विश्व की उत्पत्ति, रक्षा और इसका लय करता है। उसके प्रकाश से सूर्य और चंद्रमा संसार को प्रकाशित करते हैं। जो वायु को चलायमान करता है, जो पृथ्वी को स्थिर रखता है, वह ज्ञानस्वरूप, साक्षी, अनेक शुभ गुणों से युक्त, अविनाशी एवं विश्वभर्ता ईश्वर ही ब्रह्म है। यह ब्रह्म नित्य है; ब्रह्मादि का विधायक, वेदों का उपदेष्टा, स्वयं सर्वज्ञ है। सद्योगियों की रक्षा करता है, चेतन को भी चेतनता प्रदान करता है, स्वतंत्र है। इस ब्रह्म पद से श्री रामचंद्र का ही बोध होता है। रामानंद उसी राम के सस्मित मुखकमल का स्मरण करते हैं जो जानकी के कटाक्षों से अवलोकित, भक्तों के मनोवांछित धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, को देने के लिये कल्पतरु के समान है।

सीतापति भगवान् राम समस्त गुणों के एकमात्र आकर, सत्यस्वरूप, आनंदस्वरूप तथा चित्स्वरूप हैं। स्वयं विष्णु ही राम के रूप में अवतीर्ण हुए थे। वे लोकोत्तर बलशाली, अद्भुत दिव्य अमूप

और भक्तों से पूजित तथा आजानुबाहु हैं। परम पुरुषोत्तम राम सीता और लक्ष्मण के साथ नित्य ही सुशोभित रहते हैं। भक्त का विश्वास है कि सरखागुंल भगवान् राम के प्रातः निद्रात्याग करने मात्र से सारा संसार जाग उठेगा। भगवान् ही जीवों के स्वामी हैं। एकमात्र वही शेषी हैं। जीव उनका शेष है। भगवान् राम ही जीवों के परम प्राप्य हैं। वही एकमात्र उपाय भी हैं। भगवान् राम के पार्षदों में लक्ष्मण परम प्रिय हैं। हनुमान भी उनके दूसरे पार्षद हैं। स्वामी जी ने भगवान् राम के अर्चावतार अथवा प्रतिमावतार के चारों स्वयं व्यक्त, दैव, सैद्ध और मानुष की पूजा षोडशोपचार से करने के लिये आदेश दिया है। रामानंद जी के मत से सीता के द्वारा ही राम की प्राप्ति होती है। महारानी सीता पुरुषकारभूता हैं और वही उपाय भी हैं।

जीव — रामानंद ने जीव की साधारण ढंग से इस प्रकार व्याख्या की है—जो सदैव एक स्वरूप में स्थित है, जो ईश्वर की अपेक्षा अज्ञ, चेतन, सर्वदा पराधीन (भगवदधीन), सूक्ष्म से सूक्ष्म, ब्रह्मादि भेदों से भिन्न भिन्न शरीरों में भिन्न भिन्न प्रकार का होकर भिन्न है। भगवान् से परिव्याप्त शरीर में जो रहता है, स्वकर्मानुसार फल भोगनेवाला, भगवान् ही जिसके सर्वदा सहायक हैं, अपने को कर्ता, भोक्ता समझने का जिसे अभिमान है, तत्व के जिज्ञासुओं द्वारा जानने योग्य है, श्रेष्ठ विद्वान् उसी को जीव कहते हैं। यह जीव ज्ञानस्वरूप, आनंदस्वरूप तथा ज्ञान और सुख आदि गुणोंवाला, अणु परिमाणवाला, देहेंद्रियादि से भी अपूर्व, परमात्मा का प्रिय, नित्य एवं स्वप्रकाश है। भगवान् शेषी और जीव उनका शेष है। भगवान् ही जीवों के स्वामी हैं। जीव परतंत्र है। अतः भगवान् की निर्हेतुक कृपा के बिना जीव को मोक्ष नहीं मिल सकता।

रामानंद ने भगवान् और जीव में पिता-पुत्र-संबंध, रक्ष्य-रक्षक-संबंध, सेव्य-सेवक-संबंध, आत्मा-आत्मीयत्व-संबंध तथा भोग्य-भोक्तृत्व आदि नव प्रकार के संबंधों को स्वीकार किया है। जीवों के दो भेद हैं—बद्ध और मुक्त।

बद्ध जीव — अनादि कर्मों की राशि से अनेक प्रकार के शरीर का अभिमानी जीव बद्ध कहा गया है। बद्ध जीव दो प्रकार के हैं—१. मुमुक्षु, २. बुभुक्षु। भगवान् की निर्हेतुक कृपा से अविद्यादि दुष्ट कर्मों की वासना की रुचि की प्रवृत्ति के संबंध से छूटने का प्रयत्न करनेवाले जीवों को मुमुक्षु कहते हैं। इसके विरुद्ध सांसारिक भोग की कामनावाले जीव बुभुक्षु कहलाते हैं।

मुमुक्षु जीव भी दो प्रकार के हैं — १. शुद्ध भक्त, २. चेतनांतर साधन। ज्ञानादि साधनहीन, स्मृति भक्ति में निष्ठित वेदोक्त वर्णाश्रम कर्म करनेवाले और उपासना निरत भक्त शुद्ध भक्त कहलाते हैं। स्वानुष्ठित कर्म विज्ञानादि समूह को ही प्रधान साधन मानकर किसी उत्तम संबंध विशेष को प्राप्त करके सदा मोक्ष में निश्चय वाले जीव चेतनांतर साधन कहलाते हैं।

मोक्षपरायण जीव भी दो प्रकार के हैं — १. प्रपन्न, २. पुरुषकारनिष्ठ। अन्य सभी को छोड़कर परम कृपालु, समर्थ, अविनाशी श्रीराम को ही प्राप्य और उनको ही उपाय समझकर जो जीव स्थित हैं, उन्हें प्रपन्न कहते हैं। श्रीराम की स्वतंत्रता का विचार करके कुछ संकुचित होकर, परम कृपालु आचार्य को ही उपाय मानकर स्थित रहनेवाले जीव पुरुषकारनिष्ठ कहलाते हैं।

प्रपन्न जीव भी दो प्रकार के होते हैं—१. दृप्त, २. आर्त। शरीर-स्थिति पर्यंत स्वकर्मानुसार प्राप्त दुःखादि का भोग करते हुए शरीर के अंत में मोक्ष सिद्धि का निश्चय करके महाबोध एवं अत्यंत विश्वासयुक्त रहनेवाले जीव दृप्त कहलाते हैं। संसृति को उसी क्षण न सहन करते हुए जो भगवत् प्राप्ति में अत्यंत शीघ्रता चाहते हैं वे आर्त जीव हैं।

पुरुषकारनिष्ठ जीव भी दो प्रकार के हैं—१. आचार्य-कृपा-मात्र प्रपन्न, २. महापुरुष-सेवातिरेक-प्रपन्न। अंत में रामानंद ने बद्ध जीवों के संबंध में कहा है कि शुद्ध भक्त वही हैं जो भगवान् के यश के श्रवण, कीर्तनादि में ही निष्ठा रखते हैं।

मुक्त जीव — ये जीव दो प्रकार के हैं १. नित्य, २. कादाचित्क। नित्य जीव गर्भ जन्मादि दुःखों के अनुभव करनेवाले कहलाते हैं, जैसे—हनुमान। नित्य जीव भी दो प्रकार के हैं — १. परिजन, २. परिच्छद। हनुमान परिजन और किरीट आदि परिच्छद की परिभाषा में आते हैं। इसी प्रकार कादाचित्क जीव के भी दो भेद किए गए हैं — १. भागवत, २. केवल। जो जीव भगवत्परायण हैं उन्हें भागवत कहते हैं। भागवत जीव के भी दो भेद हैं — १. भगवत्परायण होकर नित्य उनका ही ध्यान करनेवाले जीव। २. भगवद्-गुणानुसंधान-परायण के साथ कैंकर्यपरायण होनेवाले जीव। इसी प्रकार केवल जीव के भी दो भेद बतलाए गए हैं — १. दुःखाभावैकपरायण, २. अनुभूति परायण।

प्रकृति — रामानंद के मत के अनुसार प्रकृति के संबंध में उनकी वही धारणा है जो सांख्य में वर्णित है। तत्वविद्, विकार-रहित, संपूर्ण विश्व का कारण, एक होकर भी अनेक प्रकार से शोभित, शुक्लादि भेद से अनेक वर्णोंवाली, सत्व, रज, तम आदि गुणों को प्रश्रय देनेवाली, अव्यक्त प्रधान आदि शब्दों से अभिहित, स्वतंत्र व्यापारहीन, ईश्वराधीन रहनेवाली और महत्तत्व एवं अहंकार आदि को उत्पन्न करनेवाली सत्ता को ही प्रकृति कहते हैं। रामानंद जी ने इन विशेषणों का विवेचन नहीं किया है, केवल संकेत मात्र किया है।

मोक्ष — रामानंद के मत से भगवान् की कृपा से सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर साकेत लोक को प्राप्त करके परब्रह्म से सायुज्य की प्राप्ति करना ही मोक्ष कहलाता है। रामानंद संप्रदाय में भक्त, श्री राम की कृपा से सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता है और उनके साथ नित्य क्रीड़ा करता है।

साकेत — रामानंद के मत से जीव सुषुम्ना, अर्चिमार्ग, अहर्मार्ग, उत्तरायण, संवत्सर, सूर्य, चंद्र, और विद्युत् आदि मार्गों से होता हुआ दिव्य लोक साकेत में पहुँचकर विश्राम करता है। यही भगवान् राम का लोक है, जहाँ करोड़ों सूर्य के प्रकाश से युक्त हेम का सिंहासन है, जहाँ से भक्त फिर इस संसार में नहीं लौटता। इस साकेत लोक के चारो ओर विरजा नदी बहती रहती है जिसका जल अत्यंत निर्मल है।

सं० ग्रं० — आनंद भाष्य; परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत

की संत परंपरा; हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर; डा० रामकुमार वर्मा : संक्षिप्त संत कबीर; डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव : रामानंद संप्रदाय तथा हिंदी साहित्य पर उसका प्रभाव [यो० ना० ब०]

रामानंद चट्टोपाध्याय इनका जन्म सन् १८६५ ई० में बंगाल के बाँकुड़ा जिले के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। आप एक मेधावी छात्र थे। बी० ए० एवं एम० ए० दोनों ही परीक्षाओं में आपने प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया। १८८७ ई० में आप कलकत्ता के सिटी कालेज में प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुए। आप केशवचंद्र सेन के संपर्क में आए और ब्रह्मसमाजी हो गए। फिर १८९५ ई० में कायस्थ पाठशाला इलाहाबाद में प्रिंसिपल हुए। इस पद पर आप १९०६ तक रहे। इसी कालेज से "कायस्थ समाचार" एक उर्दू पत्र प्रकाशित होता था। इसका संपादनभार रामानंद बाबू पर आया। आपने उसका रूप ही बदल दिया, उर्दू के स्थान पर उसे अंग्रेजी का पत्र बना दिया तथा उसका उद्देश्य शिक्षाप्रचार रखा। १९०१ ई० में इंडियन प्रेस के चिंतामणि घोष के सहयोग से "प्रवासी" बंगला मासिक पत्र निकाला। इसी समय मतभेद के कारण आपको कालेज से इस्तीफा देकर कलकत्ता वापस आना पड़ा। बंगाल विभाजन के समय देश की राजनीतिक जाग्रति से आप अपने को अलग न रख सके। अतएव १९०७ में पुनः प्रयाग आकर 'माडर्न रिव्यू' प्रकाशित किया। 'माडर्न रिव्यू' की गिनती अंग्रेजी संसार के आधे दर्जन श्रेष्ठ पत्रों में की जाती थी। रामानंद बाबू की शैली तेजयुक्त, प्रवाहपूर्ण और निर्लिप्त थी। 'माडर्न रिव्यू' के कुछ अंकों ने ही देश विदेश में अपना प्रभाव फैला लिया। उनके बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर तथा उनकी आलोचनाओं से विचलित होकर यू० पी० सरकार ने उन्हें तुरंत प्रांत छोड़ने का आदेश दिया अतः वे पुनः कलकत्ता वापस आ गए। कई प्रसिद्ध अंतरराष्ट्रीय लेखक 'माडर्न रिव्यू' में लेख लिखने में अपना गौरव मानते थे।

रामानंद बाबू ने ही सर्वप्रथम रवींद्रनाथ टैगोर को अंग्रेजी जगत् के संमुख प्रस्तुत किया। रवि बाबू की सबसे पहली अंग्रेजी रचना 'माडर्न रिव्यू' में ही प्रकाशित हुई। १९२६ में राष्ट्रसंघ (लीग ऑव नेशन्स) की बैठक में उपस्थित होने के लिये आप आमंत्रित किए गए। इस बैठक में आप अपने ही खर्च से गए। सरकारी खर्च से यात्रा करना इसीलिये अस्वीकार कर दिया ताकि उनके स्पष्ट और निर्भीक विचारों पर किसी प्रकार भी आर्थिक दबाव की आँच न आने पाए। अमरीका के पादरी जे. टी. संडरलैंड की पुस्तक 'इंडिया इन बॉण्डेज' आपने 'माडर्न रिव्यू' में धारावाहिक रूप में और बाद में 'प्रवासी' प्रेस से पुस्तक रूप में प्रकाशित की। यह पुस्तक जब्त कर ली गई और रामानंद बाबू को पुस्तक के प्रकाशन के लिये दंडित होना पड़ा। सर यदुनाथ सरकार और मेजर वामनदास वसु के ऐतिहासिक शोध विषयक लेख 'माडर्न रिव्यू' में छपे।

रामानंद बाबू हिंदी को राष्ट्रभाषा नहीं मानते थे। फिर भी इसकी व्यापकता से वे अनभिज्ञ न थे। उन्हें अनुभव हुआ कि बिना हिंदी का आश्रय लिए उनका उद्देश्य अपूर्ण रह जाएगा। इसी उद्देश्य से १९२८ में आपने हिंदी मासिक 'विशाल भारत' निकाला। 'विशाल भारत' में प्रवासी भारतीयों की समस्या पर विशेष ध्यान दिया गया।

आपकी लिखी तीन पुस्तकें—'राजा राममोहन राय', 'आधुनिक भारत' तथा 'स्वशासन की ओर' भी उल्लेखनीय हैं। आप कुशल पत्रकार और लेखक ही नहीं वरन् सच्चे समाजसुधारक भी थे। १९२९ ई० में लाहौर कांग्रेस के अवसर पर जात पाँत तोड़क मंडल के अधिवेशन का सभापतित्व आपने किया। आप ५० वर्षों तक सार्वजनिक सेवाओं में रत रहे। आपकी मृत्यु ३० सितंबर, १९४३ को हुई। [र० मि०,]

रामानंद राय इनके पिता का नाम भवानंद राय था तथा जन्म संभवतः कटक के पास सं० १५२० के लगभग हुआ था। यह उड़ीसा के राजा गजपति प्रतापरुद्रदेव के अधीनस्थ विद्यानगर के शासक थे। यह भक्त, सुकवि, विरक्त तथा कृष्ण तत्व के विशिष्ट ज्ञाता थे। दक्षिण यात्रा को जाते हुए विद्यानगर में श्री गौरांग से इनका मिलन हुआ और कई दिनों तक सत्संग रहा। जब श्री गौर नीलाचल पुरी में रहने लगे तब यह भी संसार त्यागकर उन्हीं के सेवासत्संग में अंत तक रहे। इनका रचित 'जगन्नाथवल्लभ नाटक' श्रीगौर को अत्यंत प्रिय था। सं० १५९१ में इनकी मृत्यु हुई। इनका व्रजबुली में रचा हुआ एकाध पद मिलता है। [ब्र० र० दा०]

रामानुज का जन्म श्री पेरुंबुदूर में १०२७ ई० में हुआ। बाल्यावस्था में पिता का देहांत हुआ। कांजीवरम् के यादवप्रकाश से इन्होंने वेदांत पढ़ा। पर गुरु के मत से ये सहमत न थे। श्रीरंगम् मठ के आचार्य आलवंदार अथवा यामुनाचार्य इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर इन्हें श्रीरंगम् का महंत बनाना चाहते थे। पर इनके श्रीरंगम् पहुँचने के पूर्व ही आलवंदार का देहांत हो गया। जब ये उनके शव के पास पहुँचे तो इन्होंने देखा कि आलवंदार के दाहिने हाथ की तीन अंगुलियाँ बंद हैं। इसका अर्थ यह लगाया गया कि आलवंदार की तीन इच्छाएँ पूरी नहीं हो सकी हैं। एक इच्छा ब्रह्मसूत्र पर सुबोध भाष्य लिखने की थी। रामानुज कांजीवरम् लौट आए, यहाँ उन्हें पाँचरात्र सिद्धांत की मूल बातों का प्रत्यक्ष हुआ और इन्होंने वेरियनंबी से वेदांत का अध्ययन आरंभ किया। अध्ययन, चिंतन तथा भगवदाराधन का परिणाम यह हुआ कि ये गृहस्थाश्रम का परित्याग करके संन्यासी हो गए। संन्यासी रूप में इनकी बड़ी प्रसिद्धि हुई और लोग इन्हें आदर से यतींद्र, यतिराज आदि नामों से पुकारने लगे। रामानुज ने श्रीरंगम् में अपना आसन जमाया और आलवार भक्तिपरंपरा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया।

इन्होंने कई ग्रंथों की रचना की। वेदांतसार, वेदार्थसंग्रह, वेदांतदीप, इनके मौलिक ग्रंथ हैं। इन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य भी लिखे। वैष्णव आचार्यों ने इनके भाष्य की बड़ी सराहना की और इनके भाष्य को ही एकमात्र वेदांत का भाष्य बतलाने के लिये श्रीभाष्य की संज्ञा उसे दी। इन्होंने दक्षिण भारत का भ्रमण किया। वैष्णव मंदिरों के उद्धार का तथा बहुसंख्यक लोगों को वैष्णव धर्म में दीक्षित करने का कार्य भी इनके द्वारा संपन्न हुआ।

भागवत धर्म (देखिए) का विकसित रूप वैष्णव संप्रदाय है। इसके अनुसार विष्णु और भगवान् एक ही हैं। महाभारत में वर्णित

पांचरात्र धर्म में वैष्णव संप्रदाय के मूल तत्व निहित हैं। पुराणों में श्रीमद्भागवत (देखिए) को कृष्णभक्ति का वेद माना गया है। नानाघाट शिलालेख के आधार पर तथा श्रीमद्भागवत के साक्ष्य से कहा जा सकता है कि दक्षिण भारत मे वैष्णव धर्म का विकास हुआ। आलवार भक्त कवियों ने साधारण जनता में उन्हीं की भाषा तमिल में भक्ति का प्रचार किया। इसीलिये वैष्णव लोगों का धार्मिक साहित्य उभय वेदांत कहा जाता है क्योंकि इसमें संस्कृत के प्रस्थान-त्रयी तथा तमिल प्रबंधों को समान रूप से प्रमाण माना गया है। रामानुज इसी परंपरा में आते हैं। उन्होंने शंकर के अद्वैत वेदांत का खंडन करते हुए भक्ति को मोक्ष की प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय बताया। अपने मत को पुष्ट करने के लिये उन्होंने कहा कि वे केवल बोधायन, टंक, द्रमिड, कपर्दी, भारुचि जैसे शंकर के पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का ही विस्तार कर रहे हैं। इस प्रकार रामानुज का मत ईश्वरवादी उपनिषदों, पुराणों, वैष्णव आगमों, आलवारों के तमिल प्रबंधों और बोधायन आदि आचार्यों के मत पर आधारित है। इन्होंने भक्ति की दृष्टि से वेदांत के ग्रंथों का व्याख्यान किया और अपने मत को विशिष्टाद्वैतवाद नाम दिया।

रामानुज द्वारा प्रवर्तित भक्ति संप्रदाय आज भी जीवित है और दक्षिण भारत में तो इसका अत्यधिक प्रचार है। रामानुज के दार्शनिक मत के लिये देखिए—'विशिष्टाद्वैत' 'वेदांत' [रा० चं० पा०]

रामानुजन (श्रीनिवास रामानुजन आयंगार) अलौकिक प्रतिभा-शाली, भारतीय गणितज्ञ का जन्म कोयंबट्टर जिले (मद्रास राज्य) के इरोड नामक नगर के एक गरीब ब्राह्मण परिवार मे २२ दिसंबर, १८८७ को हुआ था। इनके दादा और पिता कुंभकोणम् (जिला तंजोर) में बजाजों के यहाँ गुमाश्ते का काम करते थे। गाँव की पाठशाला में अध्ययन करने के पश्चात्, ये कुंभकोणम् टाउन हाई स्कूल में भरती किए गए, जहाँ से दिसंबर, १९०३, में इन्होंने मैट्रिक परीक्षा पास की।

बालकपन से ही रामानुजन ने गणित में अद्भुत लगन और प्रतिभा का परिचय दिया। जब वे स्कूल की आठवीं कक्षा में थे तभी वे बी० ए० के विद्यार्थियों को गणित के कठिन प्रश्नों का हल बताया करते थे। उसी समय इन्होंने ज्या, कोटिज्या संबंधी नियमों को बिना पूर्वज्ञान के स्वयं खोज निकाला था। गणित के परिशीलन में इन्हे बड़ा आनंद मिलता था। उच्च गणित की कोई पुस्तक प्राप्त होने पर ये उसमें लीन हो जाते थे और उसके जटिल प्रश्नों का समाधान स्वयं ढूँढ निकालते थे। इस प्रकार इनकी अनुसंधान शक्ति का विकास हुआ।

दिसंबर, १९०३ ई० में ये मैट्रिकुलेशन परीक्षा में उत्तीर्ण होकर गवर्नमेंट कॉलिज की प्रथम वर्ष की कक्षा में भरती हुए, जहाँ इन्हें एक छात्रवृत्ति मिलने लगी। रात दिन ये गणित में ही तन्मय रहते थे और अन्य विषयों की ओर ध्यान न दे पाते थे। फलतः, आगे की कक्षा में ये न चढ़ाए गए और इनकी छात्रवृत्ति भी बंद हो गई। इससे कॉलिज में इनकी पढ़ाई बंद हो गई, किंतु गणित संबंधी इनके अनुसंधान चलते रहे, जिनसे कई मोटी मोटी कापियाँ भर गईं। सन् १९०९ में इनका विवाह हुआ और रोजी कमाने की चिंता सवार हुई। कुछ विद्वान् सज्जनों ने, जो गणित में रामानुजन की विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित हो चुके थे, इस बात की भरपूर चेष्टा की कि इन्हें ऐसी छात्रवृत्ति मिल जाय कि ये अपना सारा समय गणितीय अनुसंधान में लगा सकें, पर सब प्रयत्न विफल हुए।

रामानुजन को किसी पर भार स्वरूप अवलंबित रहना पसंद न था, इसलिये अन्य उपाय न देखकर इन्होंने मद्रास पोर्ट ट्रस्ट के कार्यालय में तीस रुपये मासिक वेतन की नौकरी स्वीकार कर ली, किंतु इनके गणितीय अनुसंधान चलते रहे और इनके कई लेख जर्नल ऑव दि इंडियन मैथेमेटिकल सोसायटी में प्रकाशित हुए। कुछ मित्रों की सलाह से इन्होंने अपने लगभग १०० गणितीय परिणामों को प्रसिद्ध गणितज्ञ और कैंब्रिज युनिवर्सिटी के प्रोफेसर, जी० एच० हार्डी, के पास राय के लिये भेजा। इनके गणित संबंधी शोधपत्र पढ़कर प्रो० हार्डी अत्यंत चकित और प्रभावित हुए। उन्होंने देखा कि रामानुजन की गणितीय विधि अत्यंत संक्षिप्त और मौलिक थी तथा स्थापित सूत्र प्रायः निर्दोष और उच्च कोटि के थे। उसी समय से प्रो० हार्डी ने रामानुजन को इंग्लैंड बुलाकर अपने पास रखने की चेष्टा आरंभ की, किंतु इसमें सर्वप्रथम रामानुजन और उनकी माता के कट्टर धार्मिक विचार, जिनके अनुसार समुद्र की यात्रा वर्जित थी, बाधक सिद्ध हुए।

जब भारतीय मिटीयरोलॉजी विभाग के अध्यक्ष, डाक्टर जी० टी० वाकर, मद्रास पधारे और उन्होंने रामानुजन का गणित संबंधी कार्य देखा तो वे बहुत प्रभावित हुए और उनके जोर देने पर मद्रास युनिवर्सिटी ने रामानुजन को ७५ रुपये प्रति मास की छात्रवृत्ति देना दो वर्ष के लिये स्वीकार किया। पहली मई, १९१३ ई०, से इन्होंने पोर्ट ट्रस्ट की क्लार्की छोड़ी और इसके पश्चात् जीवन के अंत तक केवल गणितीय अनुसंधान करते रहे। उधर प्रो० हार्डी रामानुजन को कैंब्रिज युनिवर्सिटी में बुलाने की चेष्टा में लगे रहे। उनकी चेष्टा के फलस्वरूप मद्रास युनिवर्सिटी ने रामानुजन को इस कार्य के लिये समुचित छात्रवृत्ति देना स्वीकार कर लिया। इस बीच रामानुजन तथा उनकी माता के समुद्रयात्रा संबंधी विचारों में भी परिवर्तन हो गया था, अतः रामानुजन कैंब्रिज के लिये चल पड़े। अप्रैल, १९१४ ई० में वे ट्रिनिटी कॉलिज में भरती हो गए। ६० पाउंड प्रति वर्ष की एक अन्य छात्रवृत्ति भी उन्हे कैंब्रिज विश्वविद्यालय से मिलने लगी।

लगभग चार वर्ष कैंब्रिज मे रहकर रामानुजन ने जो गवेषणाएँ की उनकी विद्वानो ने बड़ी प्रशंसा की है। प्रो० हार्डी की राय थी कि 'रामानुजन निःसंदेह वर्तमान काल के सबसे अद्भुत और उत्कृष्ट गणितज्ञ हैं। सन् १९१८ में जब रामानुजन केवल ३० वर्ष के थे, वे लंदन की प्रसिद्ध, विशिष्ट वैज्ञानिक संस्था, रॉयल सोसायटी के फेलो (सदस्य) निर्वाचित हुए। इसके पहले यह महान् गौरव किसी अन्य भारतवासी को नहीं प्राप्त हुआ था। इसी वर्ष ये ट्रिनिटी कॉलिज, कैंब्रिज, के भी फेलो चुने गए, जिससे ६ वर्ष तक के लिये २५० पाउंड प्रति वर्ष पाने के अधिकारी हुए। मद्रास युनिवर्सिटी ने भी ५ वर्ष के लिये वैसी ही छात्रवृत्ति प्रदान की और युनिवर्सिटी में उन्हें विशेष प्रोफेसर का स्थान देने की योजना भी बनने लगी, किंतु भवितव्यता के आगे क्या बस चल सकता है।

सन् १९१७ में ही रामानुजन को एक असाध्य रोग ने पकड़ लिया था। वे अविरल परिश्रम करते थे और इंग्लैंड सदृश ठंडे देश में भी

अपने प्रादेशिक भोजन, वस्त्र आदि का ही व्यवहार करते थे, जिससे रोग की रोकथाम कठिन हो गई। प्रथम विश्वयुद्ध के कारण भारत आना कठिन था। इसलिये वे २ अप्रैल, १९१९ ई० के पूर्व भारत वापस न पहुँच सके। तब तक उनकी दशा शोचनीय हो गई थी। सहृदय, धनी और विद्वान् लोगों ने उनकी चिकित्सा कराने में कुछ उठा न रखा, किंतु कुछ काम न आया और २६ अप्रैल, १९२० ई० को गणित संसार का यह सूर्य अस्त हो गया।

इनकी खोज के विषय मुख्यत: संख्या सिद्धांत. (Theory of Numbers), विभाजन सिद्धांत (Theory of Partition) तथा वितत भिन्नों का सिद्धांत (Theory of Continued Fractions) से संबंधित थे। रामानुजन में तीव्र स्मरणशक्ति के साथ साथ गणित संबंधी ईश्वरप्रदत्त, विस्मयकारक अंतर्बुद्धि थी। इन्हें अनेक परिणाम, बिना प्रमाणों का ज्ञान हुए, सूझ जाते थे, जिन्हें वे लिख लेते थे। उनके निकाले परिणामों को समझने के लिये बड़े उच्च और नूतन गणित का ज्ञान आवश्यक है। उच्च कोटि के विद्वान् गणितज्ञ इनके कार्य को अपूर्व और अद्भुत कहते हैं और उनका दृढ़ विश्वास है कि ज्यों ज्यों समय बीतेगा इनके कार्य की महत्ता अधिक आश्चर्यजनक सिद्ध होगी। [भ० दा० व०]

रामानुजन एलुत्तच्छन, तुंचत्तु मलयालम कवि (सोलहवीं शताब्दी)। उनकी कृतियाँ भक्ति आंदोलन का अंग हैं जो पंद्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दियों में विकसित हुआ। केरल के सामंत सरदारों या सेनानायकों के परस्पर विनाशकारी युद्धों के कारण अराजकतापूर्ण स्थिति पैदा हुई जिससे नैतिक आदर्शों में व्यापक अवनति हुई। एलुत्तच्छन ने मलयालम साहित्य में एक नए युग का संदेश दिया और मलयालम साहित्य को अपनी दो प्रमुख रचनाओं 'अध्यात्म रामायणम्' और 'भारतम्' द्वारा समृद्ध बनाया। वह प्रथम महान् कवि था जिसने ब्राह्मणों के धार्मिक एवं साहित्यिक एकाधिकार को तोड़ा। वह नायर होने के कारण ब्राह्मणेतर था। रूढ़िवादी धार्मिक एवं साहित्यिक वर्ग के लोगों ने उसकी रचना पर अनेक आक्षेप किए। फिर भी वह केरल का बहुत ही लोकप्रिय कवि हुआ। उसमें गहन साहित्यिक विद्वत्ता और कठोर आध्यात्मिक अनुशासन था। उसकी रचनाएँ किलिप्पाट्टु (शुकगीति) शैली में लिखी हुई हैं। अध्यात्म रामायणम् उसी नाम के संस्कृत महाकाव्य का स्वतंत्र अनुवाद है जिसकी रचना १४वीं शताब्दी में किसी अज्ञात लेखक ने की थी। एलुत्तच्छन का वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा इस पुस्तक की निष्पक्ष साहित्यिक श्रेष्ठता का चुनाव तत्कालीन भक्तियुक्त वातावरण से अवश्य ही प्रभावित हुआ होगा। केरल में इस पुस्तक की जनप्रियता की तुलना हिंदीभाषी जनता के मध्य रामचरितमानस की लोकप्रियता से की जा सकती है। महाकाव्य के कलात्मक गुणों को कुछ सीमा तक भक्तिरस की प्रधानता ने निर्बल बना दिया है।

उसका द्वितीय महाकाव्य भारतम्, जो व्यास के महाकाव्य का अद्वितीय संक्षिप्त विवरण है, इस प्रकार की भक्ति के अत्यधिक बोझ के दोषों से मुक्त है। मलयालम भाषा की साहित्यिक क्षमता सबसे पहले एलुत्तच्छन की रचनाओं में भली भाँति दृष्टिगोचर हुई। उसके पूर्व भी मलयालम साहित्य ने अपने को तमिल और संस्कृत की गहरी पकड़ से स्वतंत्र करने की प्रवृत्तियाँ प्रदर्शित की थी। एलुत्तच्छन ने इन प्रवृत्तियों को सक्रिय सहयोग प्रदान किया। उसने भाषा को शुद्ध किया और उसे उत्कृष्ट भावनाओं तथा उच्च विचारों को व्यक्त करने का प्रभावशाली सृजनात्मक उपकरण बनाया। उसने सरल द्रविडियन छंदों का प्रयोग महान् सुगमता से किया। [जी० वा० तं०]

रामायण आदि कवि महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित रामचंद्र के चरित्र से संबंधित संस्कृत का प्रथम महाकाव्य। इस काव्य की उत्पत्ति के संबंध में आख्यान है कि क्रौंच मिथुन में से एक के व्याध द्वारा मारे जाने पर वाल्मीकि को जो शोक हुआ उसका उद्गार अचानक श्लोक के रूप में उनके कंठ से निकला और फिर ब्रह्मा के आदेश से इन्होंने उसी छंद की प्रधानता रखते हुए रामायण की रचना की। उक्त अनुष्टुभ् श्लोक यह है :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती: समा:।
यत्क्रौंच - मिथुनादेकमवधी: काममोहितम् ॥

संस्कृत साहित्य में रामायण नाम के अनेक ग्रंथ हैं जिनमें से वाल्मीकि रामायण सबसे प्राचीन और प्रसिद्ध है। रामचरित्र के संबंध में इसकी प्रामाणिकता निर्विवाद है क्योंकि वाल्मीकि रामचंद्र के पिता दशरथ के सखा और समकालीन थे। इसमें कुल सात कांड हैं जिनमें से प्रत्येक कांड कई सर्गों में विभाजित है। साधारणत: भारत में तीन प्रकार के वाल्मीकि रामायण पाए जाते हैं—(१) औदीच्य या उत्तरपश्चिमीय, (२) दाक्षिणात्य और (३) गौडीय। इन तीनों रामायणों के सर्गों की संख्या और पाठ आदि में बहुत कुछ अंतर है पर ये तीनों पाठ प्रामाणिक माने जाते हैं। अत्यंत प्राचीन ग्रंथ होने के कारण इस ग्रंथ की विभिन्न प्रतियों में विशेष अंतर होना स्वाभाविक है पर जहाँ तक मूल कथा का संबंध है, तीनों प्रतियों में समानता है।

वाल्मीकीय रामायण के रचनाकाल के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के मत के आधार पर रामायण की रचना ईसवी सन् के कई शताब्दियों पूर्व की ठहरती है। श्लेगल और वेबर ने इसे ११वीं, १२वीं, शती ई० पू० की रचना माना और याकोबी इसे ई० पू० पाँचवी शती तक लाते हैं। भारतीय कालगणना के अनुसार इसका समय इन मान्यताओं से भी पुरातन माना जाना चाहिए। ग्रंथ-रचना-काल की इन परस्पर विरोधी मान्यताओं को यथास्थान रहने देकर यदि हम विचार करते हैं तो तथ्यत: इतना तो मानना पड़ता है कि बौद्ध जैन धर्मों की प्रारंभिक स्थिति के बहुत पूर्व से ही लोक में इसकी प्रियता सर्वमान्य हो चुकी थी जिससे प्रभावित होकर इन धर्मों को भी रामकथा को आत्मसात् करना पड़ा। यह आदिकवि वाल्मीकि की ही प्रतिभा थी कि न केवल भारत वरन् निकटवर्ती विभिन्न देशों के साहित्य में भी इसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ और वाल्मीकि रामायण की कथा भारतीय संस्कृति के दीप्तोज्वल प्रतीक के रूप में प्रथित हुई।

प्राचीन काल से बौद्धों ने राम की इस कथा को अपनाया और उसे जातक साहित्य में स्थान दिया। उनके इस प्राचीन साहित्य में रामकथा संबंधी तीन जातक प्राप्त हुए हैं। इनमें 'दशरथ जातक' अधिक प्रसिद्ध है और सिंहली मूल का पाली अनुवाद है। शेष दो 'अनामक

जातक' और 'दशरथ कथा' चीनी अनुवाद द्वारा प्राप्त हैं। इनका मूल भारतीय रूप अद्यावधि अप्राप्य है।

बौद्धों की तरह जैनों ने भी रामकथा को अपनाया और उनके कथाग्रंथों में विस्तृत रामसाहित्य प्राप्त होता है। कल्प के त्रिषष्ठि महापुरुषों में राम, लक्ष्मण और रावण की गणना है और क्रमशः वे आठवें बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव माने गए हैं। वानर और राक्षसों को विद्याधरों के वंश की शाखा माना गया है। इनमें श्वेतांबर संप्रदाय में विमलसूरि का 'पउम चरिउ' है, जिसकी परंपरा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंशादि में प्राप्य है जिसमें कथागत कोई आमूल परिवर्तन नहीं है। इसका संस्कृत रूपांतर भी मिलता है। दिगंबर संप्रदाय में विमलसूरि के साथ गुणभद्र की रामकथा (उत्तर पुराण) विशेष प्रथित है। इसमें वाल्मीकि और सूरि से कथागत भिन्नता है और संप्रदायानुरोध से यह मूल कथा से विकृत कर दी गई है।

तिब्बती रामायण की अनेक प्रतियाँ मिलती हैं जो गुणभद्र के उत्तर पुराण से प्रभावित हैं। खोतान (पूर्वी तुर्किस्तान) की रामायण तिब्बती रामायण से मिलती जुलती है जिसपर बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है और कथागत नवीनता है। यह नवीं शताब्दी की है।

भारत के पूर्वी पड़ोसी देशों में भी रामायण की कथा के रूप प्राप्त होते हैं, यद्यपि देशभेद से इनमें अंतर आ गया है। वाल्मीकि की कथा का निकटवर्ती रूप जावा (हिंदेशिया) की प्राचीन रामायण में मिलता है पर अर्वाचीन कथा में भिन्नता है। इनके 'ककविन रामायण' का आधार भक्ति काव्य है। जावा और मलय की अर्वाचीन रामकथा सुमात्रा, जावा आदि में लोकप्रिय है। जावा और मलय की रामायणों में विशेष अंतर नहीं है — इनका आधार भारतीय है। हिंदेशिया की रामकथा का मूल स्रोत 'सेरीराम' (मलय) है।

हिंदचीन का 'रामकेर्ति', स्याम का 'रामकिएन' और बर्मा का 'रामयागन', थोड़े से हेरफेर के साथ एक ही मूलाधार पर है। सिंहली रामकथा बौद्ध जातक के रूप मे अनूदित है। जावा की रामायण का नाम रामकेलिंग और सेरत कांड है। जावा और मलय की रामकथाओं पर, जो अर्वाचीन हैं, ककविन रामायण और मुसलिम धर्म का प्रभाव स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य मिशनरियों ने भी १५ वीं शताब्दी से लेकर रामायण के अनेक अंशों के अनुवाद विभिन्न भाषाओं में प्रस्तुत किए हैं।

भारत में भी संप्रदाय भेद से अनेक रामायण प्राप्त हैं, (अध्यात्म रामा०, आनंद रामा०, अद्‌भुत रामा०, महा रामायण इ०) जिनमें कई का उल्लेख स्वर्गीय रामदास गौड़ ने अपने ग्रंथ 'हिंदुत्व' में उनकी कथागत विशेषताओं को दिखाते हुए किया है जो द्रष्टव्य है (दे० अध्यात्म रामायण)। अन्य भारतीय भाषाओं में भी वाल्मीकि रामायण को आधार मानकर रामकथा की रचना की गई जिनमें कन्नड़, बँगला पंजाबी सिंहली आदि उल्लेख्य हैं (दे० बर्मी रामायण, बर्मी भाषा और साहित्य में; रामचरित काव्य, मलयालम भाषा और साहित्य में; रामचरितमानस, रामावतार')। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि रामायण की रामकथा अपने प्रारंभ काल से ही चारों ओर फैली। अनेक भारतीय भाषाओं ने इन्हें अपनाया और संप्रदायों में भी ब्राह्मण धर्म में वाल्मीकि के राम विष्णु के रूप में प्रथित एवं पूज्य माने गए; बौद्धों ने इन्हें बोधिसत्व के रूप में अपनाया और जैनों ने आठवें बलदेव के रूप में राम को अपने संप्रदाय में मान्यता दी। इस क्रौंच द्वंदवियोग जन्य शोक' को सभी लोगों ने देश विदेश में मान्यता दी और वाल्मीकि का करुण रस अपने विभिन्न रूपों तथा विकृतियों के साथ अपनी अपनी जगह आदरणीय हुआ। [वि० त्रि०]

रामावतारम् (*तमिल रामायण*) के रचयिता कंबन चोल राजा कुलोत्तुंग तृतीय (११७८—१२०२ ई०) के दरबार में थे। उन्होंने रामायण की रचना अपने संरक्षक सदयप्पा वल्लाल के प्रोत्साहन से की। उनका जन्म तिरुवेण्णैनलूर, जिला तंजौर (मद्रास) में हुआ। उनका संरक्षण कृपालु सदयप्पा ने किया जिनका उल्लेख कंबन की रचनाओं में बहुधा मिलता है। कंबन विस्तृत काव्य में दक्ष थे। उनकी समृद्धि उस काल में हुई जब भक्तिपंथ नयनमरों तथा आलवरों द्वारा लोकप्रिय हो रहा था। उत्कट वैष्णव होते हुए भी कंबन का दृष्टिकोण यथेष्ट उदार था। उन्होंने भगवान् शिव की प्रशंसा अपनी रामायण में की है। उनके युग में कई उत्कृष्ट ग्रंथों की रचना हुई किंतु उनकी रचित रामायण उनमें सर्वोपरि है।

कंबन कृत रामायण में एक हजार पद हैं। उन्होंने उत्तर कांड के विषय में कुछ नहीं लिखा और उनकी रामायण राम के राज्याभिषेक पर समाप्त हो जाती है। परंपरा के विरुद्ध रामायण की मुक्ति राजदरबार में न होकर श्रीरंगम के पावन स्थल पर होती है। कंबन ने अपनी रचना को रामावतारम् तथा रामकथा की संज्ञा दी। स्मरण रहे कि नेपाली रामायण का नाम भी रामावतारम् है। कंबन का काव्य उपमा तथा अर्थ की गूढ़ता में अतुलनीय है।

यद्यपि कंबन ने वाल्मीकि रामायण का अनुसरण किया, तथापि यह कहना अनुचित होगा कि यह संस्कृत का अनुवाद मात्र है। रामायण के चरित्रों के चित्रण में कंबन ने तमिल संस्कृति, परंपरा तथा रीति रिवाज ग्रहण किया। एक तमिल परंपरा एवं रुचि को ग्रहण करने के कारण कंबन चरित्र चित्रण में वाल्मीकि रामायण से विलग हो गए हैं। उदाहरणार्थ वाल्मीकि के अनुसार सुग्रीव ने बालि की विधवा से विवाह किया जब कि कंबन के अनुसार रत्न तथा सौभाग्य के बिना वह माता जैसी लगती थी। वाल्मीकि के अनुसार रावण ने सीता का हरण पंचवटी से किया लेकिन कंबन का कथन है कि रावण ने संपूर्ण आश्रम पृथ्वी पर से उठा लिया था। ब्रह्मा के शाप के कारण उसने सीता का स्पर्श नहीं किया। वाल्मीकि ने कहा है कि राक्षस ने सीता को लंका में कैद किया। कंबन एक बात और जोड़ कर कहते हैं कि सीता लंकेश के हृदय में भी कैद थीं। कंबन अंगद के शरणस्थल के विषय में भी लिखते हैं, जबकि इसका कोई उल्लेख वाल्मीकि ने नहीं किया। वाल्मीकि मौन हैं पर कंबन ने राम तथा सीता के प्रथम प्रेम के जन्म का भी वर्णन किया है जो राम सीता के प्रथम साक्षात्कार के समय हुआ जब राम विश्वामित्र और लक्ष्मण के साथ मिथिला की सड़क पर जा रहे थे।

कंबन के राजनीतिक विचार, जो रामावतारम् में पाए जाते हैं, और भी महत्वपूर्ण हैं। वह दो प्रकार के शासन का वर्णन करते हैं। पहला न्याययुक्त शासन जो सत्कार्यों पर आधारित होता है। दूसरा शक्तिशासन जिसका आधार साहस होता है। अयोध्या में न्याययुक्त

शासन था जबकि लंका में शक्तिशासन था। न्याययुक्त शासक अपने मंत्रियों की मंत्रणा मानता है जबकि शक्तिशासक उसकी उपेक्षा करता है। कंबन अनुभव करते हैं कि एक आदर्श शासक का उद्देश्य सर्वहित होना चाहिए। मुदालियर की कंबन रामायण व्याख्या उत्कृष्ट है।

कंबन की सर्वोत्तम रचनाओं के रचनाकाल के विषय में मतैक्य नहीं है। राघव आयँगर की बहुमूल्य खोजों के आधार पर यह मान लिया गया है कि रामावतारम् ११७८ ई० में समाप्त हुआ और इसका प्रकाशन ११८५ में हुआ।

महान् तमिल विद्वान् प्रो० सेल्वकेसवरयर ने ठीक ही कहा है कि 'तमिल भाषा के केवल दो लौह स्तंभ हैं। वे हैं कंबन और तिरुवल्लुवर।' [एन० वी० रा०]

रामेश्वरम् १. द्वीप, भारत के मद्रास राज्य में रामनाथपुरम् जिले के अंतर्गत एक द्वीप है, जो सँकरे पांबन जलसंयोजक द्वारा प्रधान स्थल खंड से अलग होता है। इस द्वीप को पांबन द्वीप भी कहते हैं। यह मदुरै से ८५ मील दक्षिण-पूर्व तथा मद्रास के समुद्रतट एवं लंका के मध्य स्थित है। द्वीप की लंबाई १६ मील एवं चौड़ाई एक से लेकर नौ मील तक है। द्वीप के पश्चिमी छोर पर पांबन एवं पूर्वी छोर पर धनुषकोटि स्थित हैं और एक रेलमार्ग द्वारा संबद्ध हैं। यह रेलमार्ग भारत लंका रेल एवं स्टीमर मार्ग का ही एक अंग है। मछली मारना एवं मोती के सीप निकालना यहाँ के मुख्य उद्योग हैं।

२. नगर, स्थिति : ९° १७′ उ० अ० तथा ७९° १९′ पू० दे०। यह मद्रास राज्य के पांबन द्वीप पर स्थित, हिंदुओं का महत्वपूर्ण तीर्थस्थान तथा मत्स्य उद्योग का केंद्र है। प्रचलित धारणा के अनुसार श्रीरामचंद्र ने लंका के राजा रावण पर चढ़ाई करने के पहले यहाँ शंकर की आराधना कर मंदिर की स्थापना की थी। अतः शताब्दियों से भारत के कोने कोने से लाखों यात्री प्रति वर्ष आकर इस मंदिर में भगवान् शंकर के दर्शन करते हैं। यह मंदिर ६५० फुट चौड़ा तथा १,००० फुट लंबा है। इसके मुख्य द्वार पर १०० फुट ऊँचा गोपुरम है। [रा० ना० मा०]

रायगढ़ १. जिला, भारत के मध्य प्रदेश राज्य के छोटा नागपुर पठार मे एक जिला है, जिसका क्षेत्रफल ५,०६४ वर्ग मील एवं जनसंख्या १०,४१,२२६ (सन् १९६१) है। छत्तीसगढ़ की जशपुर, रायगढ़, सक्ती, सारंगढ़ और उदयपुर नामक देशी राज्यों को मिलाकर १९४८ ई० में इस जिले का निर्माण हुआ। इस जिले का लगभग आधा भाग पहाड़ी है। सतपुड़ा पर्वतश्रेणियों की औसत ऊँचाई ३,००० फुट है। महानदी जिले की प्रमुख नदी है। यहाँ के घने जंगलों में साल, बाँस, खैर और हड़ के वृक्षों की अधिकता है। इन जंगलों में लाख का उत्पादन बहुत होता है। नदी की घाटियों में धान एवं तिलहन की खेती होती है। मधुमक्खी पालन और टसर रेशम के वस्त्रों की बुनाई जिले के मुख्य उद्योग हैं। यहाँ कोयला, लोहा, चूना पत्थर एवं बौक्साइट खनिज पाए जाते हैं। इस जिले की लगभग आधी जनसंख्या आदिवासियों की है।

२. नगर, स्थिति : २१° ५५′ उ० अ० तथा ८३° ३०′ पू० दे०। यह नगर रायगढ़ जिले का प्रशासनिक केंद्र है, जो बिलासपुर से ८० मील पूर्व-दक्षिण-पूर्व तथा कटक से १८५ मील उत्तर-पश्चिम में महानदी की एक सहायक नदी के किनारे स्थित है। जूट, रेशमी वस्त्र, साबुन और काँच की चूड़ियों के निर्माण उद्योग नगर में हैं। समीपवर्ती साल के वनों से पर्याप्त मात्रा में लाख मिल जाती है। निकट ही कोयला और लोह धातु के निक्षेप हैं। यह नगर छत्तीसगढ़ की रायगढ़ नामक देशी राज्य की राजधानी भी रह चुका है। इसकी जनसंख्या ३६,९३३ (सन् १९६१) है। [रा० प्र० सिं०]

रायटर, पाल जूलियस, फ्रेअर वान् का जन्म २१ जुलाई, १८१६ ई० को कासल नामक स्थान में हुआ था। तार द्वारा व्यावसायिक समाचार भेजने के लिये उसने १८४८ ई० में एक संस्थान को जन्म दिया जिसका मुख्य कार्यालय लंदन में स्थापित किया गया। धीरे धीरे उसकी समाचार प्रेषित करने की प्रणाली का प्रसार दूरस्थ स्थानों तक हो गया। सन् १८६५ ई० में रायटर ने अपने व्यापार को सीमित दायित्ववाली कंपनी के रूप में परिवर्तित कर लिया। सन् १८७० में सेक्स कोबर्ग गोथा के ड्यूक ने उसको बैरन बनाया। २५ फरवरी, १८९९ को रायटर की मृत्यु हो गई। [ला० सिं०]

रायटर्स विश्व की सर्वप्रथम एवं सबसे बड़ी अंतरराष्ट्रीय समाचार एजेंसी। पाल जूलियस ड रायटर नामक एक जर्मन द्वारा १८५० में सर्वप्रथम आचेन (जर्मनी) में स्थापित 'रायटर्स' की कहानी अपने ढंग की अकेली एक ऐसी अंतरराष्ट्रीय संस्था की कहानी है जिसके संस्थापक ने विश्व के समक्ष अपने अदम्य साहस, सूझ बूझ एवं कार्यपटुता का अभूतपूर्व मौलिक उदाहरण उपस्थित किया है।

१९वीं सदी के मध्य तक यूरोप में सभी देशों के बीच तारसंबंध स्थापित नहीं हुए थे। इस कारण एक स्थान से दूसरे स्थान को समाचार भेजने में बहुत अधिक समय—कभी कभी कई महीनों का—लग जाता था। जब समुद्री यातायात के साधन सुलभ हुए तो समाचारों का प्रेषण समुद्री डाक द्वारा होने लगा पर इसमें भी कभी कभी कई सप्ताह का समय लग जाता था, क्यों कि तब तक जहाजों में भाप के इंजनों का प्रयोग शुरू नहीं हुआ था और उनका आवागमन वायु एवं मौसम की अनुकूलता पर निर्भर रहता था।

जिस समय रायटर के मन में आचेन में एक समाचार एजेंसी स्थापित करने का विचार आया उस समय पेरिस और ब्रुसेल्स तथा बर्लिन और आचेन के बीच सीधा तार संबंध स्थापित हो चुका था। आचेन और ब्रूसेल्स के बीच करीब १०० मील का फासला था। रायटर ने सोचा कि तार द्वारा जो समाचार पेरिस से ब्रूसेल्स आते हैं, वे यदि कबूतरों द्वारा ब्रूसेल्स से आचेन लाए जाएँ तो रेल की तुलना में कम से कम ६ घंटे का समय बच सकता है। इसी विचार से उसने अप्रैल, १८५० में आचेन के अपने एक मित्र एवं कबूतर व्यापारी हेनरिक जेलेर से ४० ऐसे कबूतरों की माँग की जो आचेन और ब्रूसेल्स के बीच डाकिए का कार्य अच्छी तरह कर सकें।

प्रत्येक पक्ष में जब ब्रूसेल्स का बाजार बंद होता था या पेरिस के अंतिम बाजार भाव तार द्वारा ब्रूसेल्स आ जाते थे, तब रायटर का ब्रूसेल्स स्थित एजेंट उन्हें पतले कागजों पर लिखकर रेशम की छोटी छोटी थैलियों में बंद कर देता था। बाद में ये थैलियाँ कबूतरों के

पंखों में बाँधकर उन्हें आचेन की ओर उड़ा दिया जाता था। ब्रुसेल्स से आनेवाली दैनिक डाकगाड़ी (मेल ट्रेन) के आचेन पहुँचने के करीब ६-७ घंटे पूर्व ही ये कबूतर आचेन पहुँच जाते थे, जहाँ रायटर अपने परिवार के साथ उनकी प्रतीक्षा में रहता था।

कबूतरों के आचेन पहुँचते ही रायटर, उसकी पत्नी तथा उनका १३ वर्षीय पुत्र उन बाजार भावों की कई नकलें तैयार कर उन्हें हाथों हाथ स्थानीय ग्राहकों के पास भेज देते थे। बाहर के ग्राहकों के पास समाचार भेजने के लिये रायटर स्टेशन के तारघर में जाकर स्वयं समाचार भेज देता था।

पर रायटर की यह योजना केवल ८-९ माह तक ही चल सकी क्योंकि बाद में ब्रुसेल्स और आचेन तथा पेरिस और बर्लिन के बीच सीधा तार संबंध स्थापित हो गया। जब अन्य शहर भी बाद में तार से संबंधित हो गए तो १८५१ के प्रारंभ में रायटर अपनी अब तक की अर्जित थोड़ी सी जमापूँजी लेकर लंदन चला आया।

लंदन में रायटर ने सर्वप्रथम यूरोप के बाजारों की तेजी मंदी के समाचार वहाँ के स्टाक एक्सचेंज को देना शुरू किया। रायटर की सेवा से स्टाक एक्सचेंज बहुत संतुष्ट था क्योंकि उसे अब समाचार पहले की अपेक्षा अधिक जल्दी ही नहीं मिलते थे वरन् वे अधिक विश्वसनीय भी होते थे।

रायटर ने इस कार्य के लिये यूरोप के प्रायः सभी देशों की राजधानियों एवं प्रमुख शहरों में अपने आदमी नियुक्त कर रखे थे जो वहाँ के समाचार जल्दी से जल्दी लंदन भेज देते थे। बाद में रायटर ने लंदन के स्टाक एक्सचेंज के भाव यूरोपीय देशों को भेजना भी शुरू किया।

बाजारों की तेजी मंदी के समाचारप्रेषण का रायटर का कार्य जब अच्छी तरह जम गया, तब उसने यह अनुभव किया कि भावों की तेजी मंदी वस्तुतः राजनीतिक, सामाजिक एवं अन्य घटनाओं पर निर्भर रहती है, अतः बाजार भाव के अतिरिक्त अन्य समाचार भी बेचना चाहिए।

१८५५ में इंग्लैंड में समाचारपत्रों पर से 'स्टांप ड्यूटी' हटा ली जाने के कारण लंदन तथा अन्य शहरों से नए नए समाचारपत्रों का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। यह रायटर के लिये अच्छा अवसर था। अब उसने विविध समाचारपत्रों से संबंध स्थापित करने का विचार किया। प्रारंभ में उसे अपने प्रयत्नों में कोई सफलता नहीं मिली। सबसे पहले जब वह 'टाइम्स' के संपादक से मिला तो उसकी उपेक्षा की गई। उस समय भी 'टाइम्स' के अपने संवाददाता प्रायः सभी बड़े शहरों एवं देशों में थे। 'टाइम्स' के संपादक को विश्वास ही नहीं हुआ कि रायटर जैसा एक साधारण व्यक्ति 'टाइम्स' की सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित प्रणाली में कोई योगदान दे सकेगा। अन्य समाचारपत्रों से भी उसे निराशा ही हाथ लगी।

अंत में लाचार होकर उसने लंदन के छह समाचारपत्रों को इस आशा से दो सप्ताह तक 'परीक्षण' के लिये अपनी सेवाएँ निःशुल्क देना स्वीकार किया कि यदि उन्हें रायटर की सेवाओं से संतोष हुआ तो बाद में वे उसके साथ कंट्राक्ट कर लेंगे।

रायटर का अनुमान ठीक निकला। दो सप्ताह के अंदर ही वे पत्र उसके ग्राहक हो गए और कुछ ही दिनों में स्थिति यहाँ तक पहुँची कि 'टाइम्स' के अतिरिक्त इंग्लैंड का अन्य कोई समाचारपत्र रायटर की सेवाओं से अछूता न रहा। जो समाचार पहले केवल 'टाइम्स' में प्रकाशित होते थे वे अब कभी कभी रायटर के कारण 'टाइम्स' से पहले ही अन्य समाचारपत्रों में प्रकाशित होने लगे। निदान १३ अक्टूबर, १८५८ को 'टाइम्स' ने भी रायटर से समझौता किया कि वह उसे भी अपने समाचार दिया करे।

क्रमशः रायटर का कार्यक्षेत्र बढ़ता गया और उसे दूर दूर के देशों और नगरों में अपने संवाददाता तथा प्रतिनिधि रखने पड़े। ऐसा करना व्यावसायिक दृष्टि से भी आवश्यक था क्योंकि उस समय यूरोप में रायटर के प्रतिद्वंद्वी भी कम नहीं थे। जर्मन में वुल्फ और फ्रांस में हवास नामक एजेंसियाँ भी अपना कार्य सफलतापूर्वक चला रही थीं। इन तीनों कंपनियों में आपस में ईर्ष्या व द्वेष की भावना उत्पन्न न होने पाए अतः रायटर के सुझाव पर तीनों ने आपस में यह समझौता कर लिया कि वे अपने अपने क्षेत्र के समाचार एक दूसरे को दिया करेंगी। तीनों का यह समझौता करीब ५० वर्ष तक सफलतापूर्वक चलता रहा।

१८९९ में रायटर की मृत्यु के बाद उसके बड़े पुत्र हर्बर्ट रायटर ने पिता का कार्यभार सँभाला। उसकी योग्यता एवं कुशलता का ही यह परिणाम था कि रायटर्स ने सुव्यवस्थित एवं सुदृढ़ अंतरराष्ट्रीय समाचार एजेंसी का रूप ग्रहण किया।

क्रमशः रायटर्स ने इतनी उन्नति की कि इस सदी के प्रारंभ में उसकी वार्षिक आय दो लाख पौंड तक पहुँच गई थी। पर प्रथम महायुद्ध काल में उसे गहरी आर्थिक विषमता से गुजरना पड़ा। इस समय यूरोप के कई देशों से रायटर्स का संबंध टूट गया और युद्ध के कारण उसके अनेक ग्राहक भी छूट गए। आवागमन के साधन बंद हो जाने के कारण दूर देशों में स्थित रायटर्स के प्रतिनिधियों को समाचार भेजने में कठिनाई होने लगी। इसके साथ ही साथ इसी समय कुछ देशों में एक ओर तो यह अफवाह फैल गई कि रायटर्स एक सरकारी संस्था है और उसका संचालन ब्रिटिश सरकार द्वारा अपने स्वार्थ के लिये होता है। दूसरी ओर ब्रिटेन में इस बात की आलोचना होने लगी कि रायटर्स द्वारा ब्रिटेन के कुछ गुप्त समाचार बाहर भेज दिए जाते हैं। इन सब बातों से रायटर्स की स्थिति डावाँडोल सी हो गई।

इसी बीच १९१५ में हर्बर्ट रायटर की मृत्यु हो जाने तथा रायटर वंश का कोई और व्यक्ति न रहने के कारण आगामी कुछ वर्षों तक रायटर्स का भविष्य अनिश्चित सा रहा।

१९४१ में ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के समाचारपत्रों ने मिलकर समाचारप्रेषण करनेवाली एक स्वतंत्र अंतरराष्ट्रीय संस्था के रूप में रायटर्स ट्रस्ट बना लिया जिसके द्वारा आजकल रायटर्स का संचालन होता है। बाद में द्वितीय महायुद्धोपरांत भारत के समाचार पत्र भी रायटर्स ट्रस्ट के भागीदार बन गए।

रायटर्स ट्रस्ट की स्थापना के समय निम्न दो बातों पर विशेष ध्यान रखा गया और उन्हें ट्रस्ट के दस्तावेज में भी संमिलित किया गया—१. रायटर्स कभी किसी एक व्यक्ति या गुट के अधिकार में नहीं जाने पाएगा; २. रायटर्स की स्वतंत्रता, एकता तथा निष्पक्षता बराबर कायम रहेगी।

रायटर्स अपने इन सिद्धांतों पर बराबर दृढ़ है और शायद यही कारण है कि पूँजीवादी और कम्युनिस्ट, हिंदू और मुस्लिम, अरब और यहूदी, पूर्वी और पश्चिमी—सभी क्षेत्रों में उसकी मान्यता है और रायटर्स को उनका विश्वास प्राप्त है। रायटर्स की निष्पक्षता एवं अंतरराष्ट्रीयता का एक और प्रमाण यह भी है कि रायटर्स के देश विदेश स्थित कार्यालयों में काम करनेवाले कर्मचारी तथा प्रतिनिधि किसी एक देश के न होकर विविध देशों के हैं और उनका उद्देश्य किसी एक देशविशेष के हानि लाभ के लिये समाचारों का प्रेषण नहीं, वरन रायटर्स के लंदन स्थित प्रधान कार्यालय को संसार के प्राय: सभी देशों के सभी प्रकार के महत्वपूर्ण समाचार भेजना है। किसी भी देश में कोई महत्वपूर्ण घटना होने पर उसकी सूचना दो मिनट के अंदर ही रायटर्स द्वारा विश्व के सभी प्रमुख समाचारपत्रों के कार्यालयों में पहुँच जाती है। [म० रा० जै०]

रायपुर १. जिला, यह भारत के मध्य प्रदेश राज्य का जिला है। इसका क्षेत्रफल ८,२१४ वर्ग मील तथा जनसंख्या २०,०२,००४ (सन् १९६१) है। महानदी जिले की प्रमुख नदी है। वार्षिक वर्षा का औसत ५५ इंच है। धान जिले की प्रमुख फसल है। दलहन, कोदो तथा गेहूँ अन्य उपज हैं। जिले में कडप्पा शैलसमूह की रायपुर श्रेणी मिलती है।

२. नगर, स्थिति : २१° १५' उ० अ० तथा ८१° ४९' पू० दे०। नगर उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक केंद्र है। यह नागपुर से १८८ मील पूर्व में स्थित है। यह दक्षिण-पूर्वी रेलवे का जंकशन है। मंदिरों, तालाबों एवं किलों के भग्नावशेष यहाँ मिलते हैं। नगर लैटेराइट के मैदान में स्थित है और इसकी जलवायु अत्यधिक गरम है। यहाँ एक म्यूज़ियम, राजकुमार कालेज तथा विश्वविद्यालय है। नगर की जनसंख्या २,२८,१४८ (सन् १९६१) है। [अ० ना० मे०]

राय बरेली १. जिला, स्थिति : २५° ४९' से २६° ३६' उ० अ० तथा ८०° ४१' से ८१° ३४' पू० दे०। यह भारत के उत्तर प्रदेश राज्य में स्थित एक जिला है, जिसका क्षेत्रफल १,७५८ वर्ग मील तथा जनसंख्या १३,१४,६४९ (सन् १९६१) है। इसके दक्षिण में फतेहपुर, पश्चिम में लखनऊ एवं उन्नाव, उत्तर में बाराबंकी एवं पूर्व में सुल्तानपुर तथा प्रतापगढ़ जिले स्थित हैं। दक्षिणी सीमा पर गंगा नदी बहती है तथा मध्य में सई नदी बहती है। गंगा एवं सई नदियों के मध्य भाबरों का क्रम फैला है। मिट्टी उर्वर है। कहीं कहीं ऊसर भी मिलते हैं। दक्षिण की दलदली भूमि में धान अधिक पैदा किया जाता है। इसके अलावा गेहूँ, चना, जौ, दलहन, ज्वार आदि की फसलें भी पैदा की जाती हैं।

२. नगर, स्थिति : २६° १४' उ० अ० तथा ८१° १४' पू० दे०। रायबरेली जिले में लखनऊ से ४८ मील दक्षिण-पूर्व सई नदी के किनारे स्थित नगर है। इसी से मिली हुई जहाँनाबाद की बस्ती है, जिसको जहाँ खाँ ने बसाया था। यहाँ जहाँ खाँ की एक मस्जिद तथा एक महल भी है। व्यापार का यह प्रमुख केंद्र है। यहाँ सूती कपड़ा बुना जाता है। नगर की जनसंख्या २९,९४० (सन् १९६१) है। [र० चं० दु०]

रायमल्ल सन् १४६९ ई० में उदयसिंह महाराणा कुंभा को मारकर मेवाड़ का स्वामी बना। मेवाड़ के सरदारों ने छिपे छिपे इसका विरोध कर उसके छोटे भाई रायमल्ल को राज्य लेने के लिये बुलाया। अनेक लड़ाइयों में उदयसिंह को हराकर रायमल्ल सन् १४७४ में गद्दी पर बैठा। उदयसिंह के उकसाने पर मालवा के सुल्तान गयासुद्दीन ने रायमल्ल पर आक्रमण किया किंतु बुरी तरह से हारा। उसके बाद भी रायमल्ल और मालवा के सुल्तानों की लगातार शत्रुता रही। रायमल्ल ने सोलंकी, झाला आदि अनेक राजवंशियों को शरण देकर अपने राज्य में जागीरें दीं। उसने अनेक पुण्य कार्य भी किए। सन् १५०९ में रायमल्ल की मृत्यु हुई। [द० श०]

राय, मानवेंद्रनाथ मार्क्सवादी विचारधारा के महान् चिंतक और अंतरराष्ट्रीय प्रसिद्धि के राजनीतिक नेता तथा विद्वान्; जन्म ६ फरवरी, १८९३ को बंगाल में हुआ। शिक्षण के आरंभिक काल मे ही आप क्रांतिकारी आंदोलन में रुचि लेने लगे थे। यही कारण है कि आप मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के पूर्व ही क्रांतिकारी आंदोलन में कूद पड़े। आपका वास्तविक नाम नरेंद्रनाथ भट्टाचार्य था, जिसे बाद में बदलकर आपने मानवेंद्र राय रखा। पुलिस आपकी तलाश कर ही रही थी कि आप दक्षिण-पूर्वी एशिया की ओर निकल गए। जावा सुमात्रा से अमरीका पहुँच गए और वहाँ आतंकवादी गतिविधि का त्याग कर मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थक बन गए। मेक्सिको की क्रांति में आपने ऐतिहासिक योगदान किया, जिससे आपकी प्रसिद्धि अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में हो गई। आपके कार्यों से प्रभावित होकर थर्ड इंटरनेशनल में आपको आमंत्रित किया गया था और उन्हें उसके अध्यक्षमंडल मे स्थान दिया गया। १९२१ में वे मास्को के प्राच्य विश्वविद्यालय के अध्यक्ष नियुक्त किए गए। १९२२ से १९२८ के बीच उन्होंने कई पत्रों का संपादन किया, जिनमें 'वानगार्ड' और 'मासेज़' मुख्य थे। सन् १९२७ ई० में चीनी क्रांति के समय आपको वहाँ भेजा गया किंतु आपके स्वतंत्र विचारों से वहाँ के नेता सहमत न हो सके और मतभेद उत्पन्न हो गया। रूसी नेता इसपर आपसे क्रुद्ध हो गए और स्टालिन के राजनीतिक कोप का आपको शिकार बनना पड़ा। विदेशों में आपकी हत्या का कुचक्र चला। जर्मनी में आपको विष देने की चेष्टा की गई पर सौभाग्य से आप बच गए। इधर देश मे आपकी क्रांतिकारी गतिविधि के कारण आपकी अनुपस्थिति में कानपुर षड्यंत्र का मुकदमा चलाया गया। ब्रिटिश सरकार के गुप्तचर आपपर कड़ी नजर रखे हुए थे, फिर भी १९३० में आप गुप्त रूप से भारत लौटने में सफल हो गए। बंबई आकर आप डाक्टर महमूद के नाम से राजनीतिक गतिविधि में भाग लेने लगे। १९३१ में आप गिरफ्तार कर लिए गए। छह वर्षों तक कारावास जीवन बिताने पर २० नवंबर, १९३६ को आप जेल से मुक्त किए गए। कांग्रेस की नीतियों से आपका मतभेद हो गया था। आपने रैडिकल डिमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की थी। मार्क्सवादी राजनीति विषयक लगभग ८० पुस्तकों का प्रणयन आपने किया है जिनमें 'रीजन, रोमांटिसिज़्म ऐंड रिवॉल्यूशन, हिस्ट्री ऑव वेस्टर्न मैटीरियलिज़्म, रशन रिवॉल्यूशन, रिवाल्यूशन ऐंड काउंटर रिवाल्यूशन इन चाइना तथा रैडिकल ह्यूमैनिज़्म। सक्रिय राजनीति से अवकाश ग्रहण कर आप जीवन के

अंतिम दिनों में देहरादून में रहने लगे और यहीं २५ जनवरी १९५४, को आपका निधन हुआ। [ल० शं० व्या०]

रॉयल सोसाइटी (Royal Society) यूरोप की प्राचीनतम वैज्ञानिक संस्थाओं में से एक बहुत महत्वपूर्ण और साथ ही ब्रिटेन की सबसे प्राचीन वैज्ञानिक संस्था है। यह लगभग तीन सौ वर्ष पुरानी है। सन् १६४५ में लंदन एवं ऑक्सफर्ड के कुछ प्रसिद्ध वैज्ञानिकों एवं विचारकों ने एक क्लब बनाया, जिसमें वे सप्ताह में एक बार मिला करते थे। आगे चलकर सन् १६६० में इसी क्लब ने वर्तमान संस्था का रूप ले लिया, जिसका नाम रॉयल सोसाइटी पड़ा। इसका पूरा नाम रॉयल सोसाइटी ऑव लंदन फॉर इंप्रूविंग नैचुरल नॉलेज (Royal Society of London for Improving Natural Knowledge) है। प्रारंभ में इसकी बैठकें ग्रेशम कालेज (Gresham College) में होती थीं।

इंग्लैंड के तत्कालीन बादशाह चार्ल्स द्वितीय (Charles II) ने सन् १६६२ में शाही फर्मान (charter) प्रदान कर इसे मान्यता दी। शाही संरक्षण प्राप्त होने से इस संस्था की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। इसके प्रथम सभापति लॉर्ड ब्रूकनर (Bruckner) थे।

इस संस्था की बैठकें नवंबर से जून तक, सप्ताह में एक बार, होती थीं। इन बैठकों में वैज्ञानिक विषयों पर, विशेष कर मौलिक अनुसंधानों पर, व्याख्यान होते थे। बाद में सदस्य तर्क वितर्क करते थे। इस संस्था की एक विशेषता यह थी कि इसमें सदस्यों के संमुख प्रयोग भी करके दिखाए जाते थे। सन् १६६५ से सोसाइटी ने अपनी बैठकों का विवरण फिलॉसोफिकल ट्रैंजैक्शन्स (Philosophical Transactions) नामक पत्रिका में छापना शुरू किया। आजकल इस पत्रिका का नाम प्रोसीडिंग्स ऑव दि रॉयल सोसाइटी (Proceedings of the Royal Society) है। वैज्ञानिक जगत् में इस पत्रिका का बहुत अधिक मान है।

अपनी स्थापना के समय से ही यह संस्था सरकार को अनेक वैज्ञानिक मामलों में सलाह देती रही है। जब ग्रीनिच (Greenwich) की विश्वप्रसिद्ध वेधशाला को उपकरण आदि से सुसज्जित किया जाने लगा, तब रॉयल सोसाइटी के सदस्यों से सलाह ली गई थी। इसके अतिरिक्त इस संस्था की चेष्टा से कई वैज्ञानिक महत्व के कार्य किए गए हैं। उदाहरण के लिये कैप्टन कुक की यात्राएँ तथा ऐंटार्कटिक अभियान इसी के तत्वावधान में हुए। सन् १९१३–१७ में इसकी ओर से पूरे ब्रिटिश द्वीप पर चुंबकीय सर्वेक्षण (magnetic survey) किया गया। इस संस्था द्वारा ब्रिटिश गज (yard) और फ्रांसीसी मीटर (metre) की तुलना की गई। इसके अतिरिक्त इस संस्था द्वारा एक सेकंड में दोलन करनेवाले लोलक (pendulum) की लंबाई अत्यंत यथार्थ रूप में ज्ञात की गई।

रॉयल सोसाइटी ने वैज्ञानिक उपकरणों एवं विज्ञान से संबंधित अन्य महत्वपूर्ण वस्तुओं का एक संग्रहालय भी स्थापित किया था, परंतु अब इसका अधिकांश भाग ब्रिटिश म्यूजियम तथा विक्टोरिया ऐंड ऐल्बर्ट म्यूजियम को दे दिया गया है।

इस संस्था का सदस्य निर्वाचित होना वैज्ञानिकों के लिये बहुत बड़ा गौरव है। इसमें प्रति वर्ष २५ महान् वैज्ञानिकों को नए सदस्यों के रूप में लिया जा सकता है। विदेशी वैज्ञानिक भी इस संस्था के सदस्य हो सकते हैं, परंतु किसी भी समय उनकी संख्या ५० से अधिक नहीं हो सकती। किसी व्यक्ति के चुनाव के लिये यह आवश्यक है कि कम से कम छह सदस्य उसका नाम प्रस्तावित करें। इन छह सदस्यों में से दो सदस्यों का उस व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप से जानना आवश्यक है। इसके सदस्य रॉयल सोसाइटी के फेलो (Fellow of Royal Society) कहे जाते हैं और वे अपने नाम के आगे एफ० आर० एस० (F. R. S.) लिखते हैं। इस संस्था के सबसे महान् सदस्य सर आइज़क न्यूटन (Sir Issac Newton) थे।

महान् गणितज्ञ श्री रामानुजन सबसे पहले भारतीय थे, जिन्हें इस संस्था का सदस्य होने का गौरव प्राप्त हुआ था। उसके बाद तो कई भारतीय वैज्ञानिकों को रॉयल सोसाइटी का फेलो बनाया गया है।

सन् १९५५ से ब्रिटिश सरकार द्वारा इस संस्था को ६०,००० पाउंड (लगभग ८ लाख रुपए) वार्षिक का अनुदान प्राप्त होता है। इसके द्वारा यह संस्था वैज्ञानिक अनुसंधान एवं वैज्ञानिक साहित्य के प्रकाशन में सहायता करती है। यदि कोई ब्रिटिश वैज्ञानिक कॉमनवेल्थ (Commonwealth) देशों में जाकर शोधकार्य करना चाहे तो उसके लिये यह संस्था छात्रवृत्ति भी देती है।

इस संस्था द्वारा महान् वैज्ञानिक अनुसंधानों के लिये प्रति वर्ष पाँच पदक दिए जाते हैं। इन पदकों के नाम, उनके लिये आवश्यक धनराशि प्रदान करनेवालों के नाम के अनुसार निम्नलिखित हैं :

कॉप्लि (Copley), दो पदक शाही (Royal), डेवी (Davy) पदक और ह्यूज (Hughes) पदक। इन पाँच वार्षिक पदकों के अतिरिक्त रमफोर्ड (Rumford) पदक एवं डारविन (Darwin) पदक प्रत्येक दूसरे वर्ष, सिल्वेस्टर (Sylvester) पदक तीसरे वर्ष और बुकैनैन (Buchanan) पदक प्रत्येक पाँचवें वर्ष प्रदान किया जाता है।

इस संस्था द्वारा प्रति वर्ष कई स्मारक व्याख्यानमालाओं (memorial lecture series) का आयोजन किया जाता है। इसके अंतर्गत ब्रिटिश एवं विदेशी, अपने समय के महान् वैज्ञानिक व्याख्यान देते हैं, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित होते हैं। इसके अतिरिक्त इस व्याख्यानमाला के अंतर्गत ब्रिटिश महान् वैज्ञानिक विदेशों में व्याख्यान देने के लिये भेजे जाते हैं। उदाहरण के लिये सन् १९६३ में नोबेल पुरस्कार विजेता, सर विलियम ब्रैग (Sir William Bragg), ने भारत में रदरफर्ड स्मारक व्याख्यानमाला के अंतर्गत कई व्याख्यान दिए थे। [भ० कि० गु०]

रायसिंह सिसोदिया, राजा राणा अमरसिंह का पौत्र और महाराज भीम का पुत्र। भीम शासन अधिकरण प्रतिद्वंदिता में शाहजहाँ का साथ देते हुए मारा गया। उसके सम्राट् होने पर रायसिंह को उसी वर्ष दो हजारी एक हजार सवार का मंसब, राजा की उपाधि तथा अन्य उपहार देकर संमानित किया गया। १६३३ ई० में राजकुमार औरंगजेब के साथ जुझार सिंह का दमन करने को नियुक्त हुआ। १६३६ में राजकुमार दाराशुकोह के साथ कंधार गया। १६४१ में जम्मू के विद्रोही जागीरदार जगतसिंह का दमन करने भेजा गया। १६४५ में मुरादबख्श के साथ बलख बदख्शाँ की ओर कूच किया। १६४६ में औरंगजेब के साथ फिर से कंधार की ओर गया, और

बड़ी वीरता से काश्मिमवासियों का दमन किया। इसकी पदोन्नति हुई। १६५५ में अल्लामी सादुल्ला खाँ के साथ चित्तौड़ विजय को नियुक्त हुआ।

१६५८ में शायस्ता खाँ के साथ और १६६३ में मिर्जा राजा जयसिंह के साथ शिवाजी के दमन में इसने स्वामिभक्ति प्रदर्शित की। प्रसादस्वरूप इसका मंसब बढ़ाकर पाँच हजारी ५००० सवार का कर दिया गया। १६७२ ई० में इसकी मृत्यु हुई।

रायसेन १. जिला, भारत के मध्य प्रदेश राज्य का जिला है। इस जिले के उत्तर में विदिशा, उत्तर पूर्व तथा पूर्व में सागर, दक्षिण पूर्व में नरसिंहपुर, दक्षिण पश्चिम में होशंगाबाद तथा पश्चिम में सिहोर जिले हैं। इस जिले का क्षेत्रफल ३,२७२ वर्ग मील तथा जनसंख्या ४,११,४२६ (सन् १९६१) है।

२. नगर, स्थिति : २३° १५′ उ० अ० तथा ७७° ५०′ पू० दे०। यह नगर उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक केंद्र है। इसकी जनसंख्या २१,८३८ (१९६१) है। नगर एक प्राचीन किले के नीचे बसा है। इस किले की चहारदीवारी में नौ दरवाजे हैं। अब यह किला भग्नावशेष की अवस्था में है। नगर में तीन हिंदू महलों एवं अनेक प्राचीन मंदिरों के भग्नावशेष हैं। [अ० ना० मे०]

रायोलाइट (Rhyolite) शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग फॉन रिख्थोफेन ने सन् १८६१ में किया था। यह ग्रीक शब्द रायक्स (Rhyax) से निकला है, जिसका आशय 'लावा की धारा' होता है। रायोलाइट अधिसिलिक शैल है, जिसमें लावा प्रवाह के चिह्न भली भाँति देखे जा सकते हैं। यह ग्रैनाइट से अत्यधिक साम्य रखता है। रायोलाइट मोटी चादरों, या स्तरों में पाया जाता है। अधिसिलिक होने के कारण लावा अपेक्षाकृत अधिक श्यान होता है और रायोलाइट स्तरों की मोटाई उनके विस्तार की तुलना में अल्पसिलिक (basic) लावाओं से कहीं अधिक होती है।

रायोलाइट सामान्यत: सूक्ष्म दानेदार होते हैं और उनमें लावा की प्रवाहशीलता के चिह्न देखे जा सकते हैं। प्रवाहशीलता के ही कारण उनका स्वरूप पट्टित या पट्टीदार भी होता है। प्राय: उनका गठन पॉर्फ़िराइटी (porphyritic) होता है। स्फटिक (quartz) तथा सेनिडीन (sanidine), या कभी कभी ऑलिगोक्लेस (oligoclase) के अपेक्षाकृत इसके बृहत् और प्राय: संक्षारित क्रिस्टल होते हैं। कभी तो स्फटिक के बृहत् क्रिस्टलों का प्राधान्य रहता है और कभी क्रिस्टल इतने छोटे होते हैं कि आँखों से इन्हें देखना भी कठिन होता है। आधार द्रव्य (ground mass) प्राय: सघन तथा सूक्ष्मकणिक होता है और टूटने पर शंखाभ भंग दिखाई पड़ता है। रायोलाइट का रंग सामान्यतया हलका श्वेत, पीला, भूरा, या गुलाबी होता है। इसमें कभी कभी छोटी बड़ी, गोलाकार संरचनाएँ भी दिखाई पड़ती हैं।

रायोलाइट के मुख्य खनिज स्फटिक, सेनिडीन, ऑलिगोक्लेस, काला अभ्रक, हार्नब्लेंड तथा काँच हैं। सहायक खनिजों में मैग्नेटाइट, श्वेत अभ्रक, ट्रिडीमाइट, टाइटेनाइट, ऐपाटाइट, जरकॉनन, ऐनाटेस, टूरमैलीन, फ्लुओराइट, कुरुविंद, पुखराज आदि उल्लेखनीय हैं।

रासायनिक संघटन के आधार पर रायोलाइट का वर्गीकरण दो वर्गों में किया जा सकता है : सोडा रायोलाइट एवं पोटैश रायोलाइट। सोडा रायोलाइट के अंतर्गत ऐनॉर्थोक्लेस, या सोडा सेनिडीन, ऐल्बाइट और स्फटिक, ट्रिडीमाइट या क्रिस्टोबलाइट, सोडा ऐंफिबोल या सोडा-पाइरॉक्सीन आते हैं। सोडा रायोलाइट (Soda Rhyolite) को पैंटेलेराइट (Pantellerite) भी कहते हैं।

पोटैश रायोलाइट के अंतर्गत ऑर्थोक्लेस, या सेनिडीन, फ़ेल्सपार आदि आते हैं, जो कुछ अधिकता से पाए जाते है और कुछ विरल हैं, जैसे औजाइट, या हाइपरस्थीन।

रायोलाइट के एक विशेष प्रकार का नाम नेवाडाइट (Nevadite) रखा गया है। सुविकसित क्रिस्टल अत्यंत न्यून मात्रावाले आधार द्रव्य (ground mass) में अंत:स्थापित होते हैं। आधार द्रव्य का अनुपात इतना कम रहता है कि प्रथम दृष्टि में ये शैल वितलीय (plutonic) मालूम पड़ते हैं। ये बृहत् क्रिस्टल (phenocryts) संक्षारण संरचना (corrosion structure) को प्रदर्शित करते हैं।

उत्पत्ति — पृथ्वी के गर्भ में उत्पन्न मैग्मा धरती तल पर फैलते समय तेजी से ठंडा होता है। इस द्रुत शीतलन के कारण खनिजों का आकार सूक्ष्मतर हो जाता है और कभी कभी तो लावा नितांत काँचाभ (glassy) रूप में ढल जाता है। रायोलाइट के ऐसे काँचाभ रूप को ऑब्सीडियन (Obsidian), या पिचस्टोन (Pitchstone) कहते हैं। रायोलाइट लावा दूर तक नहीं फैल पाता, अत: रायोलाइट के मोटे मोटे स्तर (flows) बन जाते हैं। अधिक श्यानता के कारण ही रायोलाइट स्तरों में प्रवाह धाराएँ दिखाई पड़ती हैं। उच्चतापीय रायोलाइट लावा के उच्च ताप (high temperature) के द्योतक हैं।

भारतीय रायोलाइट — राजस्थान प्रदेश के जोधपुर जिले के मलानी क्षेत्र में कैंब्रियन पूर्व महाकल्प (Pre-cambrian era) के रायोलाइट पाए जाते हैं। कई हजार वर्ग मील में फैले हुए ये लावास्तर आंशिक रूप से काँचाभ हैं और बादामाकार संरचना प्रदर्शित करते हैं। रायोलाइट के स्तर टफ (tuff) एवं ज्वालाश्मचय (agglomerate) के संग संस्तरित हैं। उत्तर प्रदेश में सोनघाटी और मध्य प्रदेश के सरगुजा तथा डोंगरगढ़ जिलो में भी समकालीन रायोलाइटी टफ़ मिलते हैं।

गुजरात में बड़ोदरा (बड़ौदा) के निकट पावागढ़ की पहाड़ी का शीर्ष और जूनागढ़ के निकट ओशाम पहाड़ी रायोलाइट के स्तरों से ही बनी हैं। पश्चिमी घाट के पहाड़ों में भी रायोलाइट छिट पुट मिलते हैं। [वि० सा० दु०]

रालि, वाल्टर, सर (Raleigh, Walter, Sir, सन् १५५२?–१६१८ ई०) अंगरेज सेनापति, नौसेनापति तथा लेखक थे। इनका जन्म इस्ट बड्ले, डेवनशिर, (इंग्लैंड) में हुआ तथा इन्होंने मृत्युदंड, ओल्ड पैलेस यार्ड, लंदन (इंग्लैंड) में भुगता। इनकी शिक्षा ऑक्सफर्ड के ओरियल महाविद्यालय में हुई। तदनंतर सर हंफ्रे गिल्बर्ट के साथ पश्चिमी द्वीपसमूह क्षेत्र में अन्वेषणात्मक कार्य तथा स्पेन निवासियों के विरुद्ध समुद्री लूट में संलग्न हो गए। महारानी एलिजाबेथ प्रथम की कृपा से ये देश के धनी मानी एवं अत्यंत प्रभावशाली व्यक्तियों में से एक हो गए। १५८४ ई० में इन्हें नाइट बनाया गया,

१५८५ ई० में ये टिन की खानों के प्रमुख संरक्षक तथा डेवन और कॉर्नवाल के उवाइस ऐडमिरल (Vice Admiral) नियुक्त हुए।

उत्तरी अमरीका के विभिन्न भागों में अन्वेषण तथा बस्तियाँ स्थापित करने के आपने महत्वपूर्ण कार्य किए। १५८४–८६ ई० में इन्होंने वर्जिनिया में कई दल भेजे। तदनंतर अमरीकी क्षेत्र में इन्होंने अन्वेषणात्मक कार्य तथा लूटपाट करना प्रारंभ किया। १५६५ ई० में इन्होंने ट्रिनिडाड के सान जोसेफ नगर को अधिकृत कर लिया और ओरीनिको नदी में चार सौ मील तक अन्वेषण किया। जून, १५६६ ई० में इन्होंने काडिज पर ब्रिटिश आक्रमण में महत्वपूर्ण योग दिया और १५६७ ई० में फायल को भी अधिकृत कर लिया। १६०० ई० में इन्हें जर्सी का गवर्नर बनाया गया।

शत्रुओं ने इनके विरुद्ध जेम्स प्रथम के कान भर दिए। फलतः इन्हें जेल भेज दिया गया। लगभग तेरह वर्षों तक जेल में इन्होंने अपने परिवार के साथ शांतिपूर्वक जीवन बिताया। मार्च, १६१६ ई० में इनके इच्छानुसार इन्हें अन्वेषणार्थ अमरीका भेजा गया, किंतु जेम्स की आज्ञा तथा अपनी ही की हुई स्वीकारोक्ति के विरुद्ध स्पेन-अधिकृत क्षेत्रों तथा मेक्सिको के जहाजी बेड़ों पर आक्रमण करने के कारण इन्हें २६ अक्टूबर, १६१८ को फाँसी दे दी गई। जेल में इन्होंने संसार का इतिहास लिखा। इनकी कविताओं का संग्रह डा० जेहान्ने (१८८५ ई०) ने किया था। [का० ना० सिं०]

रावण लंका का प्रतापी और अत्यंत शूरवीर राक्षस सम्राट्। यह ऋषि पुलस्त्य का पौत्र तथा विश्रवा का पुत्र था। इसकी माता का नाम कैकसी था। इसके दो भाई और थे—कुंभकर्ण तथा विभीषण। मंदोदरी तथा धान्यमालिनी उसकी दो स्त्रियाँ थीं। इनके सिवा उसने युद्ध में परास्त कर अनेक देवों, गंधर्वों आदि की कन्याओं से भी विवाह किया था। उसके कई पुत्र थे, जिनमें मुख्य थे मेघनाद, अक्ष, अतिकाय, नरांतक, देवांतक आदि।

कामिल बुल्के के मतानुसार 'रावण एवं उसकी राक्षस प्रजा का विंध्य प्रदेश तथा मध्य भारत में निवास करनेवाली अनार्य जातियों से कुछ न कुछ संबंध अवश्य था।' कहते हैं, इसके दस मुँह और बीस हाथ थे। इसने कठिन तपस्या के उपरांत ब्रह्मा से यह वरदान प्राप्त किया था कि नर और वानर को छोड़कर यह किसी के हाथ मारा न जा सके। इस प्रकार अत्यंत शक्तिशाली और अजेय बनकर यह उद्दाम प्रकृति का तथा अत्याचारी हो गया। अपनी बहन शूर्पणखा के अपमान तथा राम द्वारा खरदूषण के वध से क्रुद्ध होकर इसने गोदावरी तट पर स्थित पंचवटी से सीता का हरण कर लिया। राम ने सुग्रीव और हनुमान की सहायता से वानरों की सेना तैयार कर लंका पर चढ़ाई कर दी। रावण ने दृढ़ता से युद्ध करते हुए राम के प्रचंड शस्त्रास्त्रों का सामना किया किंतु अंत में उसकी पराजय हुई। उसकी मृत्यु से सुर, नर, मुनि, सबके दुःख दूर हुए और समस्त संसार को उसके आतंक से छुटकारा मिला।

यद्यपि अपने कुकृत्यों तथा अनाचारों के कारण उसकी गणना राक्षस श्रेणी में की जाने लगी थी, तथापि वस्तुतः वह उच्च वंश में उत्पन्न अत्यंत पराक्रमी, साहसी और राजनीतिनिपुण महापुरुष था। वह वेदों का पारंगत विद्वान् और विविध शास्त्रों का ज्ञाता था। उसके नाम से प्रचलित ऋग्वेद का एक भाष्य और वेदों का एक पदपाठ भी उपलब्ध है। निम्न ग्रंथ उसके लिखे बताए जाते हैं, यद्यपि इस संबंध में कुछ मतभेद भी है—कुमारतंत्र, अर्कप्रकाश, इंद्रजाल, ऋग्वेद भाष्य, प्राकृत कामधेनु, प्राकृत लंकेश्वर आदि। [भु०]

राव रतनहाड़ा राव भोज हाड़ा का पुत्र। १६०८ में जहाँगीर की सेवा में पहुँचा, और इसे सरबुलंदराय की उपाधि दी गई। राणा अमर सिंह के विरुद्ध राजकुमार खुर्रम का सहायक नियुक्त हुआ। दक्षिण पर होनेवाले आक्रमणों में भी इसकी नियुक्ति हुई, और पदोन्नति हुई। राजकुमार शाहजहाँ के विद्रोही होने पर इसने बड़ी निष्ठा से सम्राट् की ओर से युद्ध किया। सरबुलंदराय को पाँच-हजारी ५००० सवार का मंसब प्राप्त हुआ। इसके साथ 'रावराजा' की सम्मानित उपाधि मिली। शाहजहाँ के सत्तारूढ़ होने पर यह महावतखाँ खानखाना के साथ काबुल में उजबेगों के उपद्रवों का दमन करने के लिये नियुक्त हुआ। तेलंगाना पर भी अधिकार करने के लिये भेजा गया था। बाद में शाहजहाँ ने इसे दरबार में बुलवा लिया। १६२६ ई० में बालाघाट में इसकी मृत्यु हो गई।

रावलपिंडी पश्चिमी पाकिस्तान के उत्तरी खंड के रावलपिंडी डिविजन तथा रावलपिंडी जिले का प्रशासनिक नगर है यह जून, १६६५ ई० तक संपूर्ण पाकिस्तान की राजधानी था। यह नगर समुद्र-तल से १,७२६ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। नगर की जनसंख्या ३,४०,१७५ (सन् १६६१) है। नगर में लोह-ढलाईघर, रेल की पटरी बनाने तथा मरम्मत करने के कारखाने, तंबू बनाने के कारखाने, गैस वर्क्स, तेल शोधशाला एवं मद्य निर्माणशाला है। नगर की जलवायु शुष्क एवं स्वास्थ्यवर्धक है। इस नगर में पाकिस्तान की सेना का मुख्यालय है। उत्तर-पश्चिमी सीमांत की सड़क के रक्षाकार्यों का नियंत्रण इस नगर से होता है। पाकिस्तान के स्वास्थ्यकेंद्र मरी जानेवाली सड़क का यह अंतिम पड़ाव है। [अ० ना० मे०]

रावी नदी भारत के हिमाचल प्रदेश राज्य में काँगड़ा जिले के हिमालय पर्वतीय क्षेत्र में मनाली के समीप से निकलती है। यह भूतपूर्व पंजाब की पाँच नदियों में से एक है। पर्वतीय भाग में यह मुख्यतः पश्चिमवाहिनी है, परंतु शाहपुर से मैदानी क्षेत्र में उतरकर, दक्षिण-पश्चिम दिशा में प्रवाहित होती है और अंत में पाकिस्तान (पश्चिम) में चिनाब नदी में मिलती है। देग नदी इसकी मुख्य सहायक नदी है। नदीतट पर स्थित मुख्य नगर लाहौर है। माधो-पुर (भारत) के पास नदी से बारी दोआब नहर निकाली गई है, जो पंजाब (भारत एवं पाकिस्तान) में सिंचाई का एक महत्वपूर्ण साधन है। नदी की कुल लंबाई ४५० मील है। [रा० ना० मा०]

राशिचक्र आकाश में क्रांतिवृत्त (ecliptic) के दोनों ओर नौ अंश तक फैला हुआ कटिबंध राशिचक्र (Zodiac) कहलाता है। चंद्र, सूर्य और अन्य ग्रह राशिचक्र में चलते प्रतीत होते हैं। सुदूर स्थित तारागण राशिचक्रीय कटिबंध की पृष्ठभूमि हैं। महाविषुव (vernal equinox) से आरंभ करते हुए राशिचक्र को १२ बराबर भागों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक को राशि कहते हैं। प्रत्येक राशि का नाम
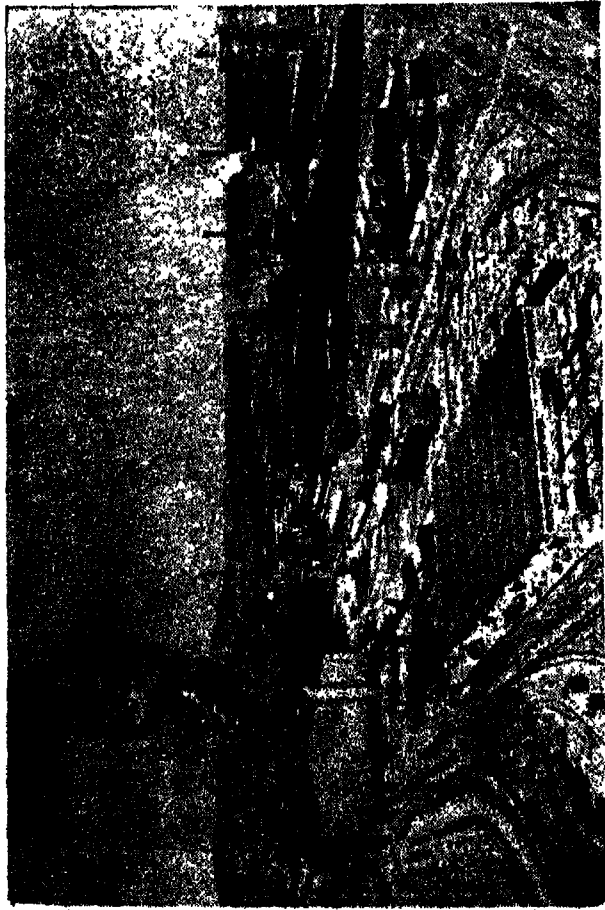
राउरकेला स्टील प्लांट का विहंगम दृश्य

उपजात (byproduct) प्लांट

प्लेट बेलन प्लांट
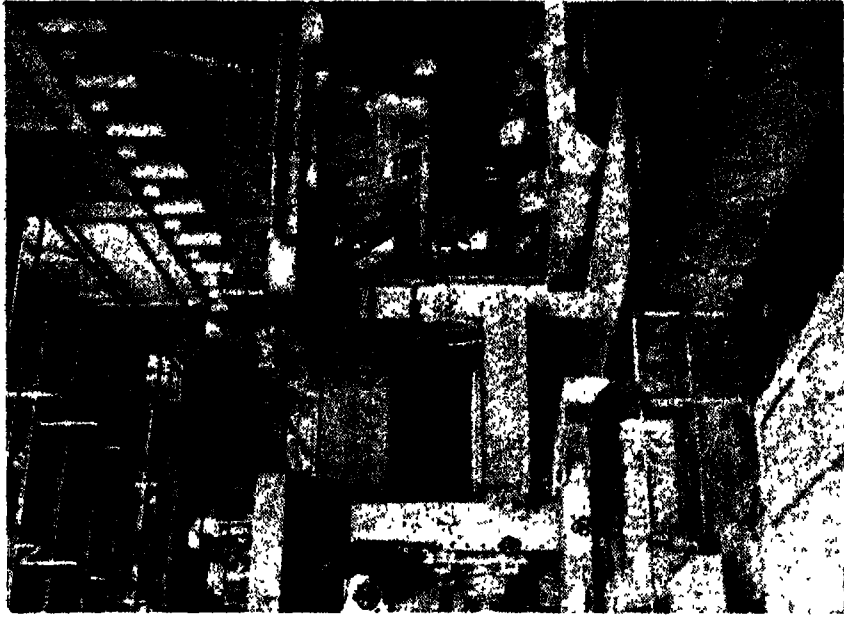
केंद्रीय काच तथा मृत्तिकाशिल्प अनुसंधान संस्थान
(Central Glass and Ceramic Research Institute)
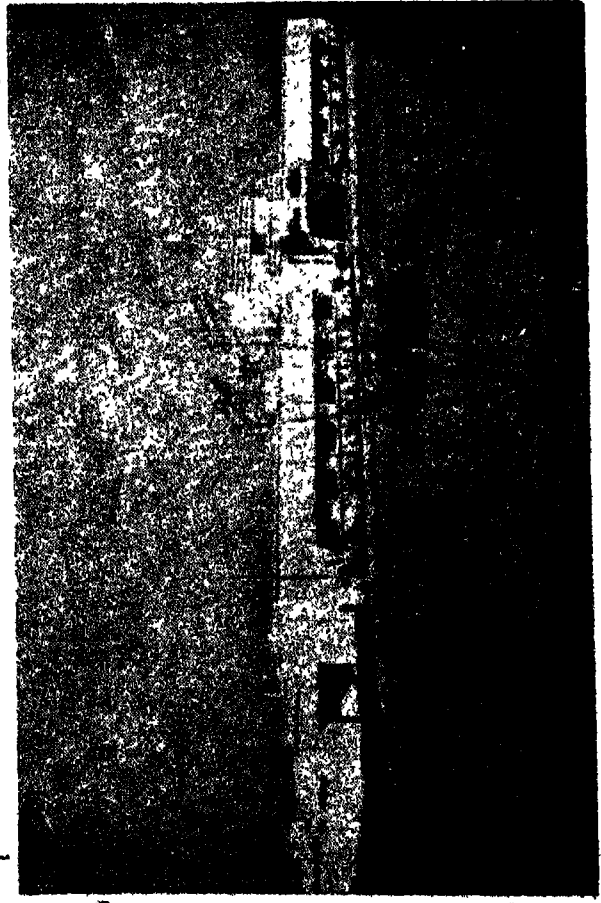
केंद्रीय भवन अनुसंधान संस्थान
(Central Building Research Institute)

केंद्रीय ईंधन अनुसंधान संस्थान (Central Fuel Research Institute)
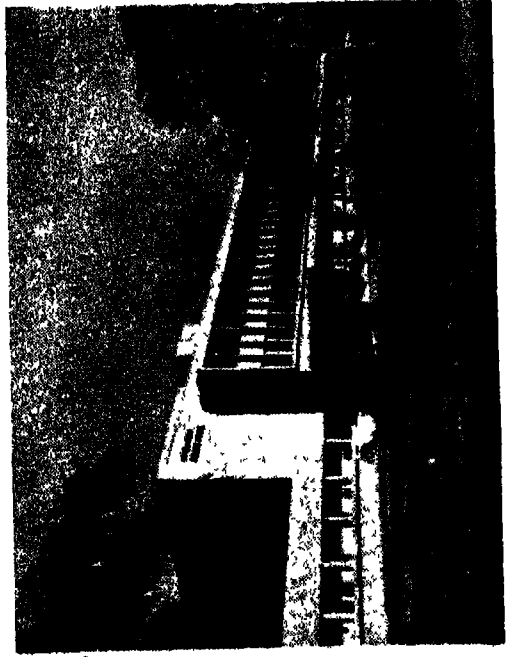
केंद्रीय सड़क अनुसंधान संस्थान (Central Road Research Institute)

उस राशि के तारा प्रतिरूप के अनुसार दिया गया है। सूर्य एक वर्ष में राशिचक्र का परिपथ पूरा करता है।

बैबिलोनियावासियों ने राशिचक्र को १६ राशियों में विभक्त किया था। चंद्रमा की दैनिक गति के अनुसार चीनियों ने राशिचक्र को २८ राशियों में विभक्त किया। भारत में चंद्रपथ २७ नक्षत्रों में विभक्त है। यह जानना आवश्यक है कि उपर्युक्त सब विभाजन चांद्र राशिचक्र के हैं। [मं० म० प०]

राष्ट्र साधारण बोलचाल में तथा राजनीतिक विवेचन में भी प्राय: राज्य (State) और राष्ट्र (Nation) पर्यायवाची शब्द हैं। अंग्रेजी शब्द 'नेशन' लैटिन भाषा के नेशियो (Natio) शब्द से निकला है। नेशियो शब्द से जन्म या जाति का बोध होता है। उत्पत्ति की दृष्टि से राष्ट्र शब्द का अर्थ एक जैसे जनसमुदाय से है, जिसकी उत्पत्ति एक ही जाति से हुई हो। बहुत से लेखक नेशन शब्द का प्रयोग नेशनेलिटि के अर्थ में करते हैं। इस भ्रम का कारण यह है कि जर्मन लेखक राष्ट्र (Nation) शब्द का प्रयोग उत्पत्ति के अनुसार राष्ट्रीयता (Nationality) के अर्थ में करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से जर्मन अर्थ ठीक है। परंतु नेशन अर्थात् राष्ट्र शब्द का अर्थ व्यावहारिक एवं परंपरागत दृष्टि से ही करना ठीक है। अत: राष्ट्र शब्द का अर्थ अंग्रेजी भाषा के अर्थ में लेना ही व्यावहारिक होगा। बरगेस (Burgess) राष्ट्र की व्याख्या जर्मन अर्थ में करता है। वह लिखता है 'राष्ट्र वह जनसमूह है जिसकी भाषा, साहित्य, परपरागत रीति रिवाज, तथा इतिहास समान हैं, जिनमें भले की चेतना के समान भाव हैं और जो ऐसी भूमि पर वास करते हैं जिसमें भौगोलिक एकता है।' राजनीतिशास्त्र में या बोलचाल की भाषा में समान जाति से उत्पत्ति ही राष्ट्र का द्योतक नहीं है। फ्रांस के लेखक प्रादियर फोदेरे तथा केल्वो ने भी प्रजाति, भाषा, रीति रिवाज तथा धर्म की समानता को ही राष्ट्र माना है। यदि जाति और भाषा पर ही बल दिया जाय तो बेलजियम तथा स्विट्जरलैंड, जहाँ एक से अधिक भाषाएँ बोली जाती हैं, राष्ट्र के वर्गीकरण में नहीं उतरेंगे। अत: आम तौर से 'राष्ट्र शब्द का प्रयोग राजनीतिक संगठन की दृष्टि से किया जाता है। तात्पर्य यह कि राष्ट्र केवल ऐसी संस्था नहीं है जो सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक बंधनों से बँधी हुई हो वरन् वह राजनीतिक रूप से संगठित समुदाय भी है। अत. राष्ट्र राज्य भी है। इसी कारण राज्य और राष्ट्र शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाता है। अत: लार्ड ब्राइस ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है 'राष्ट्र एक उपराष्ट्र (Nationality) है जिसने अपना संगठन एक राजनीतिक संस्था के रूप में कर लिया है'। या एस्मीन के अनुसार 'राज्य राष्ट्र का कानूनी व्यक्तित्व है'। परंतु संसार के देशों को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह आवश्यक नहीं कि राज्य अनिवार्य रूप से राष्ट्र हो या राष्ट्र अनिवार्यत: राज्य हो। राज्य की सीमा राष्ट्र की सीमा को भी पार कर सकती है और उसी प्रकार राष्ट्र की सीमा, राज्य से भी अधिक विस्तृत हो सकती है। कभी कभी राज्य और राष्ट्र की सीमाएँ एक भी हो सकती हैं। आधुनिक प्रवृत्ति 'एक राष्ट्र, एक राज्य' की है, अर्थात् राज्यों और राष्ट्रों की सीमाएँ एक करने की है। परंतु इस अभीष्ट की सफलता असंभव सी जान पड़ती है। गार्नर राष्ट्र की परिभाषा इन शब्दों में करता है, 'राष्ट्र समाज का वह भाग है, जो प्राकृतिक भौगोलिक सीमा द्वारा अन्य राष्ट्रों से पृथक् है, जहाँ के लोगों का जातीय मूल एक है, और जो एक भाषा बोलते हैं, जिनकी सभ्यता तथा संस्कृति एक सी ही है, जिनके रीति रिवाज तथा साहित्य एक हैं।' राष्ट्र छोटे भी हो सकते हैं तथा बड़े भी परंतु मात्र एक नगर या गाँव के निवासियों से राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता। एक राष्ट्र बनने के लिये कम से कम और अधिक से अधिक जनसंख्या निश्चित नहीं की जा सकती। राष्ट्र के निर्माण के लिये एकता की भावना का होना अनिवार्य है। यह एकता की भावना धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं अन्य समानताओं के फलस्वरूप हो अथवा किसी एक समानता के फलस्वरूप भी हो सकती है। वही मानव समाज में राष्ट्र कहलाता है जो उपर्युक्त समानताओं के कारण एकता के सूत्र में बँधा हो और अन्य राष्ट्रों से पृथकता का अनुभव करता हो। [शु० तै०]

राष्ट्रकूट राजवंश राष्ट्रकूट किसी समय वातापी के चालुक्यों के सामंत थे। सातवीं शताब्दी के आरंभ में इन्होंने बरार में एक छोटे से राज्य की स्थापना की। इंद्र प्रथम के समय यह राज्य कुछ विशेष समृद्ध हुआ। इंद्र का पुत्र दंतिदुर्ग जिस समय गद्दी पर बैठा, चालुक्यों की शक्ति क्षीण हो चली थी। दंतिदुर्ग ने इनके कुछ युद्धों में सामंत के रूप में भाग लिया। किंतु सन् ७४७ के लगभग जब कीर्तिवर्मा द्वितीय गद्दी पर बैठा, दंतिदुर्ग ने स्वतंत्र होने का निश्चय कर लिया। नांदीपुरी के गुर्जर राज्य को समाप्त करके प्रतिहार सम्राट् का सामंत भर्तृवड्ड द्वितीय लाट प्रदेश का स्वामी बन बैठा था। दंतिदुर्ग ने उसे हराकर अपने भतीजे कर्क को लाट का शासक बनाया। इसके बाद वह उत्तर की ओर बढ़ा। उसकी बढ़ती हुई शक्ति को देखकर कीर्ति वर्मा ने उसपर आक्रमण किया किंतु वह बुरी तरह हारा और साम्राज्य का अधिकांश खो बैठा।

सन् ७५८ के आस पास दंतिदुर्ग की मृत्यु हुई और उसका चाचा कृष्ण प्रथम गद्दी पर बैठा। उसने सन् ७६० में चालुक्य राज कीर्तिवर्मा द्वितीय को पुन: परास्त कर चालुक्य राज्य की इतिश्री कर डाली। इधर उधर भी उसने राज्य को काफी बढ़ाया। एल्लोरा का जगद्विख्यात कैलास मंदिर इसकी शिवभक्ति का ही नहीं, भारत के अनुपम स्थापत्य, तक्षण, और मूर्तिनिर्माण के अद्वितीय कौशल का भी ख्यापन करता है।

कृष्ण प्रथम का पुत्र गोविंद द्वितीय विषयलोलुप था। सामंतों की सहायता से गोविंद को हटाकर उसका छोटा भाई ध्रुव धारावर्ष गद्दी का मालिक बना। ध्रुव ने गंगावाडी के राजा को हराकर उसका राज्य राष्ट्रकूट साम्राज्य में मिला लिया। पल्लव राजा ने अनेक हाथी देकर उससे संधि की। वेंगी के राजा को भी युद्ध में परास्त होकर ध्रुव की शर्तें माननी पड़ी। ध्रुव दक्षिणापथ का ही नहीं, उत्तरापथ का भी स्वामी बनने का अभिलाषी था। कन्नौज का साम्राज्य उस समय इंद्रायुध के निर्बल हाथों में था। बंगाल के राजा धर्मपाल और राजस्थान के अधिपति वत्सराज प्रतिहार की आँखें उसके समृद्ध देश पर लगी थी। दोनों ही समझते थे कि भारत का सम्राट् वही होगा जो कन्नौज को अधिकृत कर सके। वत्सराज ने कन्नौज पर आक्रमण कर इंद्रायुध को अपने अधीन किया। साम्राज्या-

निकाली धर्मपाल को भी परास्त होकर बंगाल की ओर भागना पड़ा। किंतु इस विजय के अनंतर ही ध्रुव धारावर्ष के अप्रतर्कित आक्रमण से वत्सराज की महान् अभिलाषाएँ मिट्टी में मिल गईं। धर्मपाल से जो छत्र, धनादि सामग्री वत्सराज ने जीती थी वह ध्रुव धारावर्ष के हाथ लगी, और वत्सराज को परास्त होकर राजस्थान के मरु प्रदेश में शरण लेनी पड़ी। ध्रुव भी अधिक समय तक उत्तर भारत में न ठहर सका। दक्षिण की राजनीतिक परिस्थिति ही ऐसी थी कि उसके लिये दक्षिणापथ में रहना अत्यावश्यक था। ध्रुव के दक्षिण लौटते ही धर्मपाल ने कन्नौज पर आक्रमण किया और इंद्रायुध को हटाकर उसी वंश के राजकुमार चक्रायुध को कन्नौज का शासक बना दिया। इस विजय से धर्मपाल कुछ समय के लिये समस्त उत्तरापथ का अधीश्वर बन गया।

ध्रुव के अनेक पुत्र थे। उसने अपने तृतीय पुत्र गोविंद को सबसे योग्य समझकर अपना राज्यभार सौंप दिया। उसके अन्य भाई इससे अप्रसन्न हुए। ज्येष्ठ भाई स्तंभ ने विद्रोह किया और दक्षिण के अनेक राजाओं ने उसका साथ दिया। गोविंद ने स्तंभ को हराया किंतु फिर उसे गंगावाडी का शासक बना दिया। गंगवंशी शिवमार को उसने कैद किया, पल्लव राजा दंतिग को हराया, और वेंगी राज विष्णुवर्धन चतुर्थ को अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश किया। इसके बाद उत्तर भारत की बारी आई। धर्मपाल और चक्रायुध राष्ट्रकूट सेना की शक्ति से परिचित थे। अतः दोनों ने कम से कम औपचारिक रूप में ही गोविंद तृतीय की अधीनता स्वीकार करने में अपना कल्याण समझा। किंतु वत्सराज प्रतिहार के उत्तराधिकारी नागभट द्वितीय ने गोविंद तृतीय का सामना किया। नागभट हारा तो सही, किंतु गोविंद तृतीय के लौटते ही उसने फिर इधर उधर आक्रमण शुरू किए। पश्चिम में गुजरात के राष्ट्रकूट प्रांताधिकारी इंद्र ने मालवे के राजा की तो यथा तथा रक्षा कर ली, किंतु पूर्व की ओर बढ़कर नागभट द्वितीय ने कन्नौज पर अधिकार जमा लिया और धर्मपाल को मुंगेर के युद्ध में हराया। इस प्रकार गोविंद के लौटने पर उत्तरी भारत में राष्ट्रकूटों का प्रभाव मालवे और गुजरात तक ही सीमित रह गया। गोविंद तृतीय की अनुपस्थिति में कुछ राजाओं ने विद्रोह किया था। गोविंद के सेनापतियों ने उन्हें परास्त किया। गोविंद तृतीय की योग्यता निर्विवाद है। उसने कन्नौज से कन्याकुमारी और काशी से भरोच तक के राजाओं को परास्त किया और सुदूरस्थ सिंहलदेश के राजा ने भी उसकी अधीनता स्वीकार की। राष्ट्रकूट साम्राज्य उसके समय अपने उत्कर्ष की चरम कोटि पर पहुँच चुका था।

सन् ८१४ के लगभग तेरह या चौदह वर्ष की उम्र में गोविंद तृतीय का पुत्र अमोघवर्ष गद्दी पर बैठा। लाट के प्रांताधिकारी एवं उसके दायाद कर्क ने राज्य का अच्छा प्रबंध किया, किंतु फिर भी चारों ओर सामंतों ने इतना उपद्रव किया कि कुछ समय के लिये अमोघवर्ष को राज्य से वंचित रहना पड़ा। कर्क की स्वामिभक्ति और अध्यवसाय से अमोघवर्ष को लगभग तीन साल के बाद फिर अपने सम्राट्पद की प्राप्ति हुई। अमोघवर्ष ने कुछ वर्ष साम्राज्य को सुव्यवस्थित करने में लगाए और उसके बाद वेंगी के राजा विजयादित्य को परास्त किया। लगभग बारह साल तक वेंगी राज्य राष्ट्रकूट सैन्य के अधिकार में रहा। गांग राजा भी स्वतंत्र हो चुका था। लगभग बीस वर्ष तक अमोघवर्ष की सेनाएँ उसपर छोटे मोटे आक्रमण करती रहीं। अंत में सन् ८६० के लगभग अमोघवर्ष ने अपनी कन्या का विवाह गांग सरदार बूतुग से कर दिया और संघर्ष की समाप्ति की। अंग, वंग, मगध, और मालवा पर भी राष्ट्रकूट सेना ने आक्रमण किए। पहले तीन प्रदेशों का स्वामी धर्मपाल का उत्तराधिकारी देवपाल था। शायद उसकी मृत्यु के बाद अमोघवर्ष को इस दिशा में कुछ सफलता मिली हो। मालवा में संभवतः राष्ट्रकूट पराजित हुए और प्रतापी प्रतिहार राजा भोज प्रथम ने उस प्रदेश को अपने राज्य में संमिलित कर लिया। जीवन के अंतिम वर्षों में अमोघवर्ष को फिर विद्रोहों का सामना करना पड़ा किंतु प्रजा के लिये उसका समय प्रायः सुख और समृद्धि का था। अमोघवर्ष प्रजापालक और प्रजाप्रिय एवं स्वयं विद्वान् और विद्वानों का संरक्षक था। जिन सेन, महावीराचार्य, शाकटायन आदि जैन विद्वानों ने उसके राज्य में अनेक काव्य, व्याकरण, गणितादि के ग्रंथ लिखे। अमोघवर्ष का 'कविराज' कन्नड़ भाषा का प्रथम साहित्य समालोचनात्मक ग्रंथ है। अमोघवर्ष ने लगभग चौंसठ वर्ष तक राज्य किया।

अमोघवर्ष के बाद उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसका समय प्रायः युद्ध करते बीता। मालवा को फिर जीतने की इच्छा से इसने अपने सामंत लाट के प्रांताधिकारी कृष्णराज की सहायता से उत्तरी भारत पर आक्रमण किया। उज्जयिनी के संग्राम में राष्ट्रकूटों को विजय प्राप्त हुई। किंतु यह चिरस्थायी न थी। प्रतिहार राजा भोज प्रथम ने राष्ट्रकूटों को मालवा से ही नहीं निकाला, अपितु भरोच तक उनका पीछा किया और राष्ट्रकूटों के प्रांतीय गुजरात राज्य की समाप्ति कर दी। वेंगी के विरुद्ध कृष्ण द्वितीय को अधिक सफलता मिली। वेंगी राज भीम को परास्त कर उसने कैद कर लिया। कृष्ण के अधीनस्थ होकर राज्य करना स्वीकार करने पर कृष्ण ने उसे मुक्त किया। किंतु उसने फिर विद्रोह किया और हार खाई। चोल राज्य पर आक्रमण करने पर वह परांतक चोल से वल्लाल के युद्ध में हारा। सन् ९१४ के लगभग कृष्ण द्वितीय की मृत्यु हुई।

कृष्ण द्वितीय के बाद उसका पोता इंद्र तृतीय गद्दी पर बैठा। ध्रुव धारावर्ष और गोविंद तृतीय की तरह उसने भी उत्तर भारत पर आक्रमण किया। भोपाल-झाँसी-काल्पी के मार्ग से बढ़कर उसने कन्नौज पर अधिकार कर लिया। प्रतीहार सम्राट् महीपाल कन्नौज को छोड़ कर भागा। एक राष्ट्रकूट सेना की टुकड़ी ने कम से कम प्रयाग तक उसका पीछा किया। ऐसा प्रतीत होता था कि इस बार राष्ट्रकूट साम्राज्य की उत्तर भारत में भी स्थापना हो जाएगी। किंतु महीपाल के सामंतों ने अंततः अपने स्वामी का साथ दिया। उनकी सहायता से महीपाल ने राष्ट्रकूटों को अपने साम्राज्य से ही नहीं निकाल दिया, किंतु उनके राज्य पर प्रत्याक्रमण भी किया। वेंगी ने भी इंद्र तृतीय को तंग किया। इस प्रकार जिस राज्य का आरंभ सार्वभिक विजय से हुआ था, उसकी समाप्ति बिना किसी विशेष शान के हो गई। इंद्र के पुत्र अमोघवर्ष द्वितीय को प्रायः एक वर्ष के अंदर अपने भाई गोविंद चतुर्थ के लोभ का शिकार होना पड़ा। गोविंद को हटाकर

सामंतों ने इंद्र तृतीय के छोटे भाई को अमोघवर्ष तृतीय के नाम से अपना राजा बनाया।

अमोघवर्ष तृतीय का पुत्र कृष्ण तृतीय दक्षिण के राष्ट्रकूटों का अंतिम महान् राजा था। यह सन् ९३६ के लगभग गद्दी पर बैठा। अपने बहनोई गंग राजा बूतुग से मिलकर उसने चोल राजा परांतक पर आक्रमण किया और कांची, तंजोर आदि पर अधिकार कर लिया। परांतक ने कुछ भूभाग वापस जीत लिया; किंतु सन् ९४९ ई० में टक्कोलम् के युद्ध में चोल बुरी तरह से हारे। चोल युवराज राजादित्य मारा गया और राष्ट्रकूट सेनाएँ रामेश्वरम् तक जा पहुँची। चोलों के मुख्य प्रदेश तोंडमंडलम् को कृष्ण तृतीय ने राष्ट्रकूट साम्राज्य में संमिलित कर लिया। सन् ९६३ के लगभग कृष्ण ने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया। उज्जयिनी पर संभवतः उसने अधिकार कर लिया। कृष्ण तृतीय वास्तव में दक्षिणापथेश्वर था। उत्तर में भी उसका पर्याप्त प्रभाव था। किंतु उसकी नीति ने साम्राज्य के अनेक शत्रु उत्पन्न कर दिए थे। आंतरिक व्यवस्था और सामंतों की बढ़ती शक्ति पर भी वह विशेष ध्यान न दे सका था। सन् ९६७ में उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य को इसका फल भोगना पड़ा। कृष्ण के उत्तराधिकारी खोट्टिग पर मुंज परमार ने आक्रमण किया और राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट को लूटा। खोट्टिग के उत्तराधिकारी कर्क को उसके चालुक्य सामंत तैल द्वितीय ने हराया और राष्ट्रकूट राज्य की इतिश्री की।

राष्ट्रकूटों की अनेक छोटी मोटी शाखाएँ इधर उधर उसके बाद भी राज्य करती रहीं। प्रतिहारों के बाद कन्नौज पर भी राष्ट्रकूटों ने कुछ समय के लिये अधिकार किया था। हथूंडी (राजस्थान) में भी इनका एक राज्य था। जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़ आदि के राठौड़ अपने को कन्नौज के राठौड़ों का वंशज मानते हैं।

सं० ग्रं० — अल्तेकर : राष्ट्रकूटाज ऐंड देयर टाइम्स; अ. स. अल्तेकर; दि राष्ट्रकूट एंपायर, हिस्ट्री एंड कल्चर ऑव दि इंडियन पीपुल, खंड ४, पृ० १-१७; दशरथ शर्मा : इंपीरियल प्रतिहाराज, ए रिवाइज्ड स्टडी। [द० श०]

राष्ट्रपति (संयुक्त राज्य अमरीका के) अमरीका का राष्ट्रपति वहाँ के शासन का सर्वोच्च कार्यकारी अधिकारी होता है। उसका निर्वाचन चार वर्षों के लिये होता है और वह पुनः राष्ट्रपति चुना जा सकता है। उसके कर्तव्य, अधिकार और चुनाव आदि की व्याख्या अमरीकी संविधान के अनुच्छेद २, तथा संशोधनों के अनुच्छेद १२, २० तथा २२ में की गई है। वह अमरीकी स्थल सेना तथा नौसेना का प्रधान सेनापति होता है। राज्य के विरुद्ध अपराध करनेवालों को क्षमादान करने का तथा सिनेट की सहमति से संधि करने एवं राजदूतों, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायपतियों तथा महत्व के अन्य कतिपय अधिकारियों के नियुक्त करने का अधिकार भी उसे है।

राष्ट्रपति, संयुक्त राष्ट्र अमरीका के, १. जार्ज वाशिंगटन—जन्म २२ फरवरी, १७३२; मृत्यु, १४ दिसंबर, १७९९। आरंभिक जीवन में भूमि निरीक्षक के पद पर नियुक्त थे। १७५३ में ओहायो घाटी में फ्रांसीसियों को घुसने से रोकने के लिये भेजे गए। १७५५ से १७५८ तक फ्रांसीसियों के विरुद्ध युद्ध में संलग्न थे और अंततः फोर्ट डुक्वेने पर अधिकार कर लिया। स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भाग लेते रहे। प्रथम तथा द्वितीय कांटिनेंटल कांग्रेस के सदस्य रहे। जून, १७७५ में अमरीकी सेना के प्रधान नियुक्त हुए तथा अंगरेजी सेना के विरुद्ध ट्रेंटन, प्रिंस्टन और यार्कटाउन के युद्धों में विशेष सफल रहे। १७८७ में उस संघीय अधिवेशन के अध्यक्ष रहे जिसने अमरीका का संविधान स्वीकार किया। सर्वसंमति से राष्ट्रपति चुने जाने पर ३० अप्रैल, १७८९ को पद ग्रहण किया। इन्होंने हैमिल्टन की आर्थिक नीति अपनाई, विदेशों से तटस्थता की नीति रखी, और १७९६ में विदाई समारोह पर संगठित रहने एवं स्थायी संधियों से दूर रहने की सलाह देकर आठ वर्ष पश्चात् अवकाश लिया। इन्होंने अपने कठिन परिश्रम, गंभीर औपचारिकता तथा निष्पक्ष व्यवस्था द्वारा अमरीका की राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान किया। [चं० भू० त्रि०]

२. जॉन एडम्स—दे० एडम्स, जान

३. टॉमस जेफरसन—दे० जेफरसन, टॉमस

४. जेम्स मैडिसन, जन्म, मार्च १७५१; मृत्यु, २८ जून, १८३६। न्यूजर्सी कालेज में शिक्षा प्राप्त कर राजनीति में भाग लेना आरंभ किया। इन्होंने वर्जिनिया और संयुक्त राज्य के संविधान के निर्माण में विशेष योग दिया। संविधान के प्रथम दस संशोधन इन्हीं के द्वारा प्रस्तावित थे। यह जेफ़र्सन के अनुयायी थे और १८०१ से १८०९ तक उनके सेक्रेटरी ऑव स्टेट भी थे। १८०९ से १८१७ तक राष्ट्रपति के पद पर रहे। इनके प्रशासनकाल में, १८१२ में, अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध में अमरीका को क्षति उठानी पड़ी जिससे जनता में इनका संमान घट गया। [चं० भू० त्रि०]

५. जेम्स मुनरो — जन्म, २८ अप्रैल सं० १७५८; मृत्यु, ४ जुलाई, १८३१। अमरीका के स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेकर लेफ्टीनेंट पद प्राप्त किया। स्वतंत्रता स्थापित हो जाने के बाद कुछ दिन वकालत की। समय समय पर अनेक राज्य संबंधी महत्वशाली पद सुशोभित किए। प्रेसीडेंट मैडिसन के शासन में क्रमशः राज्य तथा युद्ध मंत्री का पद सँभाला। १८१६ में, तथा दूसरी बार १८२० में, राष्ट्रपति चुना गया। मुनरो का शासन अमरीका के इतिहास में 'सद्भावनाओं का युग' कहलाता है। अमरीका में किसी यूरोपियन शक्ति का हस्तक्षेप उसे पसंद न था। यह राजनीतिक सिद्धांत उसी के नाम पर 'मुनरो डॉक्ट्रिन' कहलाता है। १८२४ में मुनरो ने अवकाश ग्रहण किया। उसके अंतिम दिन घोर आर्थिक संकट में बीते। [वि० ध० व०]

६. जॉन क्विंसी एडम्स—दे० एडम्स, जॉन क्विंसी।

७. एँड्रू जेक्सन—दे० जेक्सन, एँड्रू

८ व्यूरेन, मार्टिन वान — जन्म, ५ दिसंबर, १७८२; मृत्यु, २४ जुलाई, १८६२। १८२१ और १८२७ में क्रमशः सिनेटर और १८२८ में न्यूयार्क का गवर्नर निर्वाचित हुआ। १८२९ से १८३१ तक राष्ट्रपति जैक्सन का मंत्री रहा। १८३२ में उपराष्ट्रपति निर्वाचित हुआ। उसे लोग 'छोटा जादूगर' कहते थे। राजनीति में उसने राष्ट्रपति जैक्सन की नीतियों पर भी प्रभाव डाला। १८३६ में राष्ट्रपति के निर्वाचन में विलियम हेनरी हैरिसन को पराजित किया। उसने स्वतंत्र कोष व्यवस्था आरंभ की और बैंकों के संचित

कोष के पारस्परिक बीमे का आरंभ उसी ने प्रथम बार किया। ब्यूरेन ने राजस्व के लिये टैरिफ के उपयोग को अधिक महत्व दिया, और आंतरिक विकास के हेतु राष्ट्रीय संपत्ति के व्यय को समाप्त किया।

९. **विलियम हेनरी हैरिसन** — जन्म, ९ फरवरी, १७७३; मृत्यु, ४ अप्रैल, १८४१ प्रारंभ में कुछ दिनों तक सेना में रहने के पश्चात् १८०१ से १८१२ तक इंडियाना प्रदेश के प्रथम गवर्नर रहे। १८१२-१८१४ के युद्ध में विशेष सफलताएँ प्राप्त कीं और ओहायो से कांग्रेस तथा सेनेट के सदस्य चुने गए। १८४० में राष्ट्रपति निर्वाचित हुए परंतु कार्यभार ग्रहण करने के एक मास पश्चात् ही इनकी मृत्यु हो गई।

१०. **जॉन टाइलर** — दे० टाइलर, जॉन।

११. **जेम्स नाक्स पोक** — जन्म, २ नवंबर, १७९५; मृत्यु, १५ जून, १८४९। १८१८ में उत्तरी कैरोलिना विश्वविद्यालय से शिक्षा-प्राप्त कर १८२० में इन्होंने वकालत आरंभ की। १८२५ से १८३९ तक कांग्रेस के सदस्य, १८३९ से १८४१ तक टेनेसी के गवर्नर तथा १८४५ में १८४९ तक राष्ट्रपति रहे। यह विस्तारवादी नीति के समर्थक थे और अपने प्रशासनकाल में इन्होंने ऑरेगन की सीमा संबंधी समस्या सुलझाई तथा कैलिफोर्निया और न्यूमैक्सिको का विलय कराया। [चं० मू० त्रि०]

१२. **जकारी टेलर** — दे० जकारी टेलर।

१३. **मिलर्ड फिल्मोर** — जन्म ७ फरवरी, १८००; मृत्यु, ८ मार्च, १८७४। इन्होंने १८२३ में वकालत प्रारंभ की तथा १८३३ से १८३५ तक और १८३७ से १८४३ तक कांग्रेस के सदस्य रहे। १८४८ में उपराष्ट्रपति निर्वाचित हुए और टेलर के देहावसान के उपरांत जुलाई १८५० से मार्च १८५३ तक राष्ट्रपति रहे।

[चं० मू० त्रि०]

१४. **फ्रैंकलिन पियर्स** — जन्म, २३ नवंबर, १८०४; मृत्यु, ८ अक्टूबर १८६९। इन्होंने १८२७ में वकालत आरंभ की और १८३३ से १८३७ तक कांग्रेस तथा १८३७ से १८४२ तक सेनेट की सदस्यता की। १८५३ से १८५७ तक राष्ट्रपति के पद पर थे। इन्होंने कमोडोर पेरी को जापान भेजा और १८५४ में कांसस नेब्रास्का ऐक्ट पास किया। यह दासप्रथा के अनुयाइयों से प्रभावित थे।

[चं० मू० त्रि०]

१५. **जेम्स ब्यूकैनन**, — जन्म, २३ अप्रैल, १७९१; मृत्यु, १ जून, १८६८। इन्होंने १८१२ में वकालत प्रारंभ की। १८२१ से १८३१ तक कांग्रेस के सदस्य रहे। १८३२ से १८३४ तक रूस में राजदूत रहे। १८३५ से १८४५ तक सीनेट के सदस्य थे। १८४५ से १८४९ तक पोक के सेक्रेटरी ऑव स्टेट और १८५३ से १८५६ तक ग्रेट ब्रिटेन में राजदूत रहे। डिमाक्रेटिक दल की सहायता से निर्वाचित होकर १८५७ से १८६१ तक राष्ट्रपति रहे। इन्होंने विभिन्न राज्यों के संयुक्त राज्य से पृथक् होने के अधिकार का विरोध किया।

[चं० मू० त्रि०]

एब्राहम लिंकन — जन्म, १२ फरवरी, १८०९; मृत्यु, १५ अप्रैल, १८६५। क्लार्क और पोस्टमास्टर के कार्य से जीवन आरंभ किया और १८३६ में वकालत आरंभ की। १८५६ में रिपब्लिकन दल के सदस्य बने तथा अपने प्रतिद्वंद्वी डगलस के साथ वाद विवाद कर यह प्रसिद्ध हो गए। १८६० में इनके राष्ट्रपति चुने जाते ही दक्षिण के कुछ राज्य संयुक्त राज्य से अलग होने लगे। पद ग्रहण करते ही इन्होंने संघ की रक्षा करने का बीड़ा उठाया और यह स्पष्ट किया कि राज्यों को पृथक् होने का अधिकार नहीं है। इनके प्रशासनकाल में घोर गृहयुद्ध हुआ, परंतु इन्होंने संघ की रक्षा की और दास प्रथा का विरोध किया। १८६४ में यह पुनः राष्ट्रपति निर्वाचित हुए परंतु १४ अप्रैल, १८६५ को थिएटर देखते समय गोली के शिकार हुए और दूसरे दिन चल बसे। अमरीका के महान् राष्ट्रपतियों में इनका विशिष्ट स्थान है।

[चं० मू० त्रि०]

(१७) **ऐंड्रू जॉन्सन** — दे० जॉन्सन, ऐंड्रू।

१८. **यूलीसीज सिंपसन ग्रांट** — जन्म, २७ अप्रैल, १८२२; मृत्यु, २३ जुलाई, १८८५। मिलिटरी अकादमी में शिक्षा प्राप्त कर अमरीकी सेना में भर्ती हुए और मैक्सिको, कैलिफोर्निया तथा ऑरेगन में बहुमूल्य सैनिक सेवाएँ कीं। गृहयुद्ध में अपनी सैनिक सफलताओं द्वारा जनरल का पद प्राप्त कर लिया। १८६७ से १८६८ तक यह युद्धमंत्री रहे और रिपब्लिकन दल की सहायता से निर्वाचित होकर १८६९ से १८७७ तक राष्ट्रपति के पद पर रहे। इनका प्रशासनकाल संकटपूर्ण था जिसमें भ्रष्टाचार भी फैला। [चं० मू० त्रि०]

१९. **रदरफोर्ड बर्चर्ड हेज** — जन्म, ४ अक्टूबर, १८२२; मृत्यु, १७ जनवरी, १८९३। हारवर्ड से कानून की शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने १८४५ से वकालत प्रारंभ की। १८६७, १८६९ और तीसरी बार १८७५ में ओहायो के गवर्नर नियुक्त हुए तथा १८७७ से १८८१ तक राष्ट्रपति रहे। इन्होंने ग्रांट के सैनिक शासन का अंत कर शांतिपूर्ण शासन व्यवस्था स्थापित करने की चेष्टा की।

२०. **जेम्स एब्राहम गारफील्ड** — जन्म, १९ नवंबर, १८३१; मृत्यु, १९ सितंबर १८८१। इन्होंने विलियम कालेज से शिक्षा प्राप्त कर वकालत आरंभ की और १८५९ में सेनेट के सदस्य चुने गए। गृहयुद्ध मे इन्होंने सैनिक सेवा भी की। १८८१ में राष्ट्रपति निर्वाचित हुए परंतु पदारोहण के कुछ ही महीने पश्चात् एक असंतुष्ट पदलोलुप व्यक्ति ने इनकी हत्या कर दी। [चं० मू० त्रि०]

(२१) **चेस्टर एलन आर्थर** — दे० आर्थर, चेस्टर एलन।

(२२) **स्टीफेन ग्रोवर क्लीवलैंड** — दे० क्लीवलैंड, स्टीफेन ग्रोवर।

२३. **बैंजामिन हैरिसन** — जन्म, २० अगस्त, १८३३; मृत्यु, १३ मार्च, १९०१। यह नवें राष्ट्रपति विलियम हेनरी हैरिसन के पोते थे। मियामी विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त कर १८५३ में वकील बने। १८८१ से १८८७ तक सेनेट के सदस्य थे। १८८९ से १८९३ तक के इनके प्रशासनकाल में प्रशांत महासागर की दिशा में अमरीका की साम्राज्यवादी नीति का विस्तार हुआ। [चं० मू० त्रि०]

२४. **विलियम मैकिन्ले** — जन्म, २९ जनवरी, १८४३; मृत्यु, १४ सितंबर, १९०१। गृहयुद्ध में सैनिक सेवा करने के उपरांत १८६७ में इन्होंने वकालत आरंभ की। रिपब्लिकन दल के सदस्य बनकर १८७७ से १८८३ तक कांग्रेस के सदस्य रहे और भीतरी आयातकर

राष्ट्रपति, अमरीका के (देखें पृष्ठ १२१-२१)

१. जॉर्ज वाशिंग्टन   २. जॉन एडम्स   ३. टॉमस जेफर्सन

४. जेम्स मैडिसन   ५. जेम्स मनरो   ६. जॉन क्विन्सी एडम्स
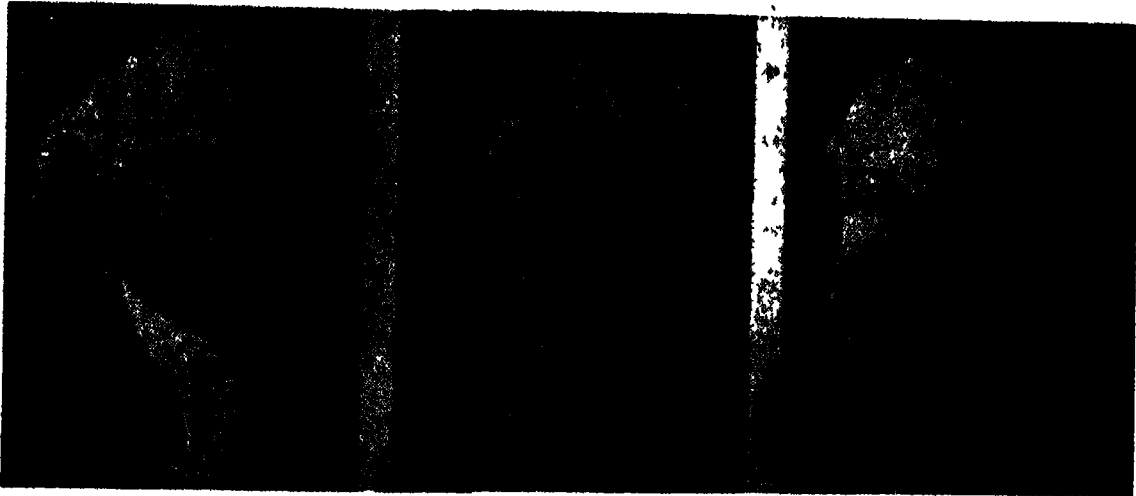
७. ऐंड्रू जैक्सन

८. मार्टिन वान ब्यूरेन   ९. विलियम हेनरी हैरिसन

राष्ट्रपति, अमरीका के (क्रमागत)

१०. जॉन टाइलर　　११. जेम्स नाक्स पोक　　१२. ज़ाकारी टेलर

१३. मिलार्ड फिलमोर　　१४. फ्रैंकलिन पियर्स　　१५. जेम्स ब्यूकैनन

१६. अब्राहम लिंकन　　१७. ऐंड्रू जॉन्सन　　१८. यूलीसीज सिम्पसन ग्रांट

का समर्थन करते रहे। सन् १८६२ से १८६६ तक ओहायो के गवर्नर और १८९७ से १९०१ तक राष्ट्रपति रहे। इनके प्रशासनकाल में आयात कर सबसे अधिक था। स्पेन से युद्ध छेड़कर इन्होंने फिलीपीन, पोर्टोरिको, और गुआम पर अधिकार कर लिया और हवाई पर अधिकार कर अमरीका को एक विश्वशक्ति बना दिया। १९०० में फिर राष्ट्रपति चुने गए परंतु ६ सितंबर, १९०१ को एक क्रांतिकारी ने इनपर गोली चलाई जिससे इनका प्राणांत हुआ। [चं० भू० त्रि०]

२५. **थियोडोर रूज़वेल्ट** — जन्म, २७ अक्टूबर, १८५८; मृत्यु, ६ जनवरी, १९१९। हारवर्ड से शिक्षा प्राप्त कर इन्होंने ऐतिहासिक ग्रंथ लिखना आरंभ किया। फिर विभिन्न सरकारी पदों पर काम कर शासन संचालन का समुचित ज्ञान प्राप्त किया। सन् १९०० में उपराष्ट्रपति निर्वाचित हुए और मैकिन्ली की मृत्यु के पश्चात् राष्ट्रपति हुए तथा १९०५ में पुन: निर्वाचित होकर १९०९ तक उक्त पद पर रहे। इन्होंने १९०३ में अमरीका के लिये पनामा नहर खुदवाने का अधिकार प्राप्त किया तथा १९०५ में रूस और जापान में संधि कराने के फलस्वरूप १९०६ में नोबेल पुरस्कार प्राप्त किया। प्रथम विश्व महायुद्ध में यह मित्र राष्ट्रों की ओर थे। [चं० भू० त्रि०]

२६. विलियम, हॉवर्ड टैफ्ट — दे० टैफ्ट, विलियम हावर्ड।

२७. **वुडरो विल्सन** — जन्म, २८ दिसंबर, १८५६; मृत्यु, ३ फरवरी, १९२४। प्रिंस्टन तथा वर्जिनिया विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त कर १८८२ में वकालत प्रारंभ की। जॉन हॉप्किंस विश्वविद्यालय से १८८६ में डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। ये विभिन्न स्थानों पर इतिहास तथा न्यायशास्त्र के अध्यापक रहे। १९११-१२ में न्यूजर्सी के गवर्नर रहे और डिमाक्रेटिक दल की ओर से १९१२ में राष्ट्रपति निर्वाचित होकर १९१९ तक उस पद पर रहे। इन्होंने शासन में महत्वपूर्ण सुधार किए। १९१७ में विश्वमहायुद्ध में भाग लेकर मित्र राष्ट्रों को विजय दिलाई और १९१८ में संधि के लिये इन्होंने अपने चौदह सिद्धांत रखे तथा राष्ट्रसंघ (लीग ऑव नेशन्स) की महत्ता स्पष्ट की। जब अमरीकन सेनेट ने संधि प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया तो इन्हें गहरा धक्का लगा। [चं० भू० त्रि०]

२८. **वारेन गेमेलियल हार्डिंग** — जन्म, २ नवंबर, १८६५; मृत्यु, २ अगस्त, १९२३। इन्होंने जीवन का आरंभ पत्रसंपादन से किया। रिपब्लिकन दल की ओर से १९०४ से १९०६ तक ओहायो के लेफ्टेनेंट गवर्नर और १९१५ से १९२१ तक सेनेट के सदस्य रहे। १९२१ में राष्ट्रपति का पद सँभाला। इनके प्रशासनकाल में १९२१-२२ में वॉशिंगटन कॉनफरेंस द्वारा नौसेना की शक्ति सीमित रखने का प्रयास किया गया। [चं० भू० त्रि०]

२९. कॉल्विन कूलिज — दे० कूलिज, कॉल्विन।

३०. **हर्बर्ट क्लार्क हूवर** — इनका जन्म १० अगस्त, १८७४ को हुआ। इन्होंने इंजीनियर के रूप में अपना जीवन आरंभ किया। इसी संबंध में आस्ट्रेलिया, चीन, अफ्रीका, मध्य एवं दक्षिणी अमरीका और रूस में रहे। १९२१ से १९२८ तक व्यापार मंत्री रहे तथा रिपब्लिकन दल की ओर से १९२८ में राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। १९४७ से १९४९ तक यह हूवर कमीशन के अध्यक्ष थे। [चं० भू० त्रि०]

३१. **फ्रैंकलिन डिलानो रूज़वेल्ट** — जन्म, ३० जनवरी, १८८२; मृत्यु, १२ अप्रैल, १९४५। हारवर्ड तथा कोलंबिया से शिक्षा प्राप्त-कर १९०७ में इन्होंने वकालत आरंभ की। १९१३ से १९२० तक नौसेना विभाग के सहायक सचिव थे। १९२१ में लकवे की बीमारी से ग्रस्त हुए परंतु साहस न छोड़ा। १९२८ से १९३२ तक न्यूयार्क के गवर्नर रहे और डिमाक्रेटिक दल की ओर से १९३२ में राष्ट्रपति निर्वाचित हुए तथा इस पद पर १९३३ से जीवन के अंत तक रहे। इन्होंने अपनी 'न्यू डील' नामक योजना द्वारा आर्थिक और सामाजिक दशा में क्रांतिकारी परिवर्तन किया। द्वितीय विश्वमहायुद्ध में इन्होने मित्र राष्ट्रों की सहायता कर विजय प्राप्त की। यह अकेले राष्ट्रपति हैं जिन्होंने परंपरा के विरुद्ध तीसरी और चौथी अवधि के लिये राष्ट्रपति का चुनाव लड़कर विजय प्राप्त की।

३२. हैरी एस० ट्रूमन—दे० ट्रूमन, हैरी एस०।

३३. ड्वाइट डेविड आइज़नहावर—दे० आइज़नहावर, ड्वाइट डेविड।

३४. **जॉन फिट्ज़ेराल्ड कैनेडी** — जन्म, २९ मई, १९१७; मृत्यु, २२ नवंबर, १९६३। हारवर्ड तथा लंदन स्कूल ऑव इकानॉमिक्स मे शिक्षा प्राप्त की। यूरोप, पश्चिमी एशिया तथा दक्षिणी अमरीका का भ्रमण करने के पश्चात् १९४१ में अमरीकी नौसेना में भर्ती हुए और द्वितीय महायुद्ध में सफल सैनिक रहे। युद्धोपरांत कुछ दिन संवाददाता का कार्य करते रहे और फिर राजनीतिक क्षेत्र में आए। १९४६ से १९५२ तक कांग्रेस के सदस्य तथा १९५२ से १९६० तक सेनेट के सदस्य थे। इन्होंने लेखक के रूप में भी सफलता प्राप्त की। १९६० में डिमाक्रेटिक दल की ओर से राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। न्याय पर आधारित शांति, शांतिप्रिय देशों को सहायता तथा स्वतंत्रता एवं मनुष्य के सामान्य अधिकारों की रक्षा, इनके मूल उद्देश्य थे। अमरीकी नीग्रो जनता के अधिकारों की रक्षा के समर्थक थे। डलास (टेक्सास) में भाषण देने के लिये जाते समय इनकी हत्या हो गई।

[चं० भू० त्रि०]

३५. लिंडन बी० जान्सन — दे० जान्सन बीस।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, (वर्धा) महात्मा गांधी की प्रेरणा से सन् १९३६ के हिंदी साहित्य संमेलन (प्रयाग) के नागपुर अधिवेशन में एक प्रस्ताव द्वारा डॉ० राजेंद्रप्रसाद की अध्यक्षता में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा का गठन हुआ।

दक्षिण भारत को छोड़कर शेष हिंदीतर भाषी प्रदेश समिति का कार्यक्षेत्र है। भारत में समिति से संबद्ध १७ प्रांतीय समितियाँ हैं जो स्वतंत्र रजिस्टर्ड संस्थाएँ हैं और अपने अपने क्षेत्र में हिंदी का प्रचार कार्य करती हैं।

दक्षिण अफ्रिका, पूर्व अफ्रिका, लंका, बर्मा, जापान, इंग्लैड, स्पेन, जर्मनी तथा चेकोस्लावेकिया आदि विदेशों में भी हिंदी-प्रचार-कार्य में समिति सहयोग देती और सहायता करती है। दक्षिण तथा पूर्व अफ्रीका विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रति वर्ष अफ्रीका के सहस्रों परीक्षार्थी समिति की परीक्षाओं में संमिलित होते हैं।

समिति का केंद्रीय कार्यालय वर्धा में है। वर्धा स्टेशन के पास ही १७ एकड़ भूमि पर हिंदी नगर बसा हुआ है जहाँ समिति का विशाल कार्यालय है तथा कार्यकर्ता निवास करते हैं।

राष्ट्रभाषा के प्रचार में परीक्षाओं का माध्यम उपयोगी होगा, इस विचार से समिति सन् १९३७ से विभिन्न परीक्षाओं का संचालन करती आ रही है। राष्ट्रभाषा प्राथमिक, राष्ट्रभाषा प्रारंभिक, राष्ट्रभाषा प्रवेश और राष्ट्रभाषा परिचय समिति की प्रचार परीक्षाएँ हैं। राष्ट्रभाषा कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न और राष्ट्रभाषा आचार्य उपाधि परीक्षाएँ हैं।

इनके अलावा प्रादेशिक भाषाओं की परीक्षाओं का भी संचालन समिति करती है। इसके लिये विभिन्न प्रदेशों से चुने हुए २१ सदस्यों की एक परीक्षा समिति है। समिति की परीक्षाओं का जनता में आदर है। केंद्रीय सरकार के विभिन्न विभागों द्वारा, राज्य सरकारों द्वारा और विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा समिति की ये परीक्षाएँ मान्य हैं।

समिति के परीक्षाकेंद्रों की संख्या ४००० से ऊपर है। वर्ष में तीन बार—सितंबर, फरवरी और अप्रैल में—परीक्षाएँ होती हैं। प्रति वर्ष तीन लाख से अधिक परीक्षार्थी समिति की विभिन्न परीक्षाओं में संमिलित होते हैं।

अब तक ४० लाख से अधिक परीक्षार्थी समिति की परीक्षाओं में संमिलित होकर हिंदी का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं।

८००० से अधिक राष्ट्रभाषा प्रचारकों का सक्रिय सहयोग समिति को प्राप्त है। निष्ठावान हिंदीप्रेमी प्रचारक हिंदी के प्रचारक्षेत्र में अपनी अवैतनिक सेवाएँ देते हैं। उसी प्रकार ४००० से अधिक केंद्र व्यवस्थापक निस्वार्थ सेवा द्वारा प्रचारकार्य को आगे बढ़ाते हैं।

समिति ने पाठ्य पुस्तक निर्माण कार्य के अंतर्गत लगभग सौ पुस्तकें प्रकाशित की हैं। साहित्य-निर्माण योजना के अंतर्गत राष्ट्रभाषा कोश, फ्रेंच स्वयं शिक्षक, भारतीय वाङ्मय के तीन भाग, सोरठ तेरा बहता पानी, धरती की ओर, लोकमान्य तिलक, मिर्जा गालिब आदि पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

देवनागरी माध्यम से विभिन्न भारतीय भाषा सीखने सिखाने की दृष्टि से 'भारत भारती' नामक पुस्तकमाला प्रकाशित की गई है। अब तक १२ प्रादेशिक भाषाओं की पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है। 'रजत जयंती साहित्य' के रूप में 'रजत जयंती ग्रंथ' के अलावा 'कविश्री माला' के अंतर्गत २५ ग्रंथ प्रकाशित किए गए हैं। प्रमुख भारतीय भाषाओं के दो दो कवियों पर स्वतंत्र रूप से एक ग्रंथ प्रकाशित किया गया है। 'कविश्री माला' विशेष लोकप्रिय बनी। समिति का अपना एक सुव्यवस्थित प्रेस है। इसकी लागत लगभग ४ लाख रुपया है।

समिति की ओर से प्राय: प्रति वर्ष राष्ट्रभाषा प्रचार संमेलन का आयोजन भारत के विभिन्न स्थानों पर होता है, जहाँ हजारों की संख्या में प्रतिनिधि इकट्ठे होकर राष्ट्रभाषा की समस्याओं पर विचार विनिमय करते हैं।

समिति प्रति वर्ष हिंदीतर भाषी किसी ऐसे विद्वान् को १५०१ रु० का महात्मा गांधी पुरस्कार देती है जिसने अपनी लेखनी द्वारा राष्ट्रभाषा हिंदी की सेवा की हो। अब तक के पुरस्कृत विद्वान् ये हैं— आचार्य क्षितिमोहन सेन, महर्षि श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, बाबूराव विष्णु पराडकर, आचार्य विनोबा भावे, पं० सुखलाल संघवी, पंडित संत रामजी, आचार्य काका कालेलकर, अनंत गोपाल शेवड़े तथा डा० रांगेय राघव।

समिति की प्रेरणा पर संपूर्ण भारत में १४ सितंबर को 'हिंदी दिवस' मनाया जाता है। समिति ने सन् १९४९ से इसके आयोजन का प्रबंध किया है।

समिति के मुखपत्र 'राष्ट्रभाषा' में राष्ट्रभाषा प्रचार संबंधी विभिन्न जानकारी दी जाती है। समिति की साहित्यिक पत्रिका 'राष्ट्रभारती' सन् '५१ से निकलती आ रही है। यह अंतर प्रांतीय भारतीय साहित्य की प्रतिनिधि मासिक पत्रिका है।

समिति की प्रवृत्तियों में राष्ट्रभाषा महाविद्यालय सबसे पुरानी प्रवृत्ति है। राष्ट्रभाषा रत्न के अध्यापन की इसमें व्यवस्था है। इसके साथ ही गत ९ वर्ष से नागा प्रदेश के भाई बहनों के दल वर्धा बुलाए जाते हैं, और उन्हें हिंदी का ज्ञान कराया जाता है। अब तक लगभग ८० नागा भाई बहन हिंदी सीखकर वहाँ हिंदी का प्रचार कर रहे हैं।

समिति के पास एक समृद्ध पुस्तकालय है जिसमें लगभग १५ हजार पुस्तकें हैं। साथ में एक अच्छा वाचनालय भी है।

[मं० रा० प्र०]

राष्ट्रमंडल, ब्रिटिश ब्रिटिश राष्ट्रमंडल २३ संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न राष्ट्रों और इनके अधीन राज्यों का एक स्वतंत्र संघ है। इन राष्ट्रों के नाम हैं — ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, घाना, मलएशिया, नाइजीरिया, साइप्रस, सियरालियोन, टांगानिका-जंजीबार (टांजानिया), जमैका, ट्रिनिडाड - टोबैगो, उगांडा, केन्या, माल्टा, जैंबिया, गैंबिया और मारीशस।

राष्ट्रमंडल के सदस्यों के अधीन लगभग ५० राज्य हैं, जिनमें छोटे छोटे द्वीप और विरल बस्तियों के प्रदेशों की संख्या अधिक है। इनमें ब्रिटेन के अधीन राज्यों की संख्या सर्वाधिक है, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के भी अधीन कुछ राज्य हैं। सारे अधीन राज्य सदस्य राष्ट्रों से संबद्ध होने के कारण ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में संमिलित हैं।

राष्ट्रमंडल के सब सदस्य राष्ट्र ब्रिटेन की महारानी को राष्ट्रमंडल का अध्यक्ष मानते हैं। ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, श्रीलंका, सियरालियोन, जमैका, ट्रिनिडाड, टोबैगो, मलावी और माल्टा में राजतंत्र है जिनमें (ब्रिटेन को छोड़कर) एक गवर्नर जनरल महारानी का प्रतिनिधित्व करता है। भारत, पाकिस्तान, घाना, नाइजीरिया, टांगानिका जंजीबार (टांजानिया), केनिया और गैंबिया गणराज्य हैं। मलएशिया स्वयं प्रभुतासंपन्न है। उगांडा का राष्ट्रपति ही राज्य का अध्यक्ष होता है।

कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में, जहाँ यूरोपीय बस्तियाँ अधिक हैं, १९वीं शताब्दी के मध्य से ही स्वायत्त शासन का विकास आरंभ हुआ। बीसवीं शती के प्रथम चतुर्थांश में ये देश अपनी स्वतंत्र परराष्ट्र और गृह नीतियों के कार्यान्वयन की स्थिति में हो गए थे और स्टैट्यूट ऑव वेस्टमिंस्टर (१९३१) द्वारा उनकी संप्रभुता को औपचारिक मान्यता भी मिल गई। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अन्य देशों में स्वतंत्रता और अंतरराष्ट्रीय संप्रभुता का

राष्ट्रपति, अमरीका के (देखें पृष्ठ १२१-२१)
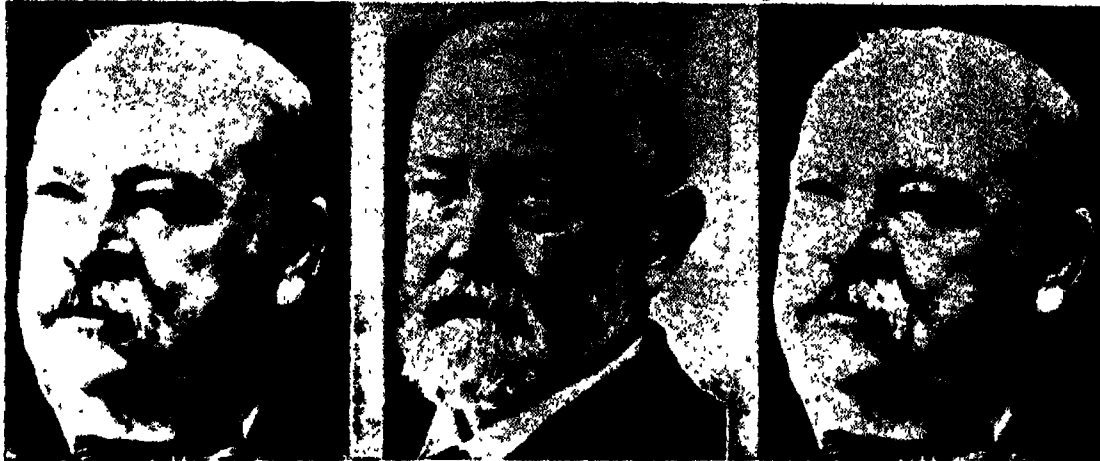
१९. रदरफोर्ड बर्चर्ड हेज   २०. जेम्स एब्राहम गारफील्ड   २१. चेस्टर एलन आर्थर

२२. स्टीफेन ग्रोवर क्लीवलैंड   २३. बैंजामिन हैरिसन   स्टीफेन ग्रोवर क्लीवलैंड

२४. विलियम मैकिन्ले   २५. थियोडोर रूज़वेल्ट   २६. विलियम हॉवर्ड टैफ्ट

राष्ट्रपति, अमरीका के (क्रमागत)

२७. वुड्रो विल्सन

२८. वारेन गेमेलियल हार्डिंग

२९. कॉल्विन कूलिज

३०. हर्बर्ट क्लार्क हूवर

३१. फ्रैंकलिन डिलानो रूजवेल्ट

३२. हैरी० एस० ट्रूमन

३३. ड्वाइट डेविड आइजनहावर

३४. जॉन फिट्जेरल्ड कैनेडी

३५. लिंडन बी० जॉन्सन
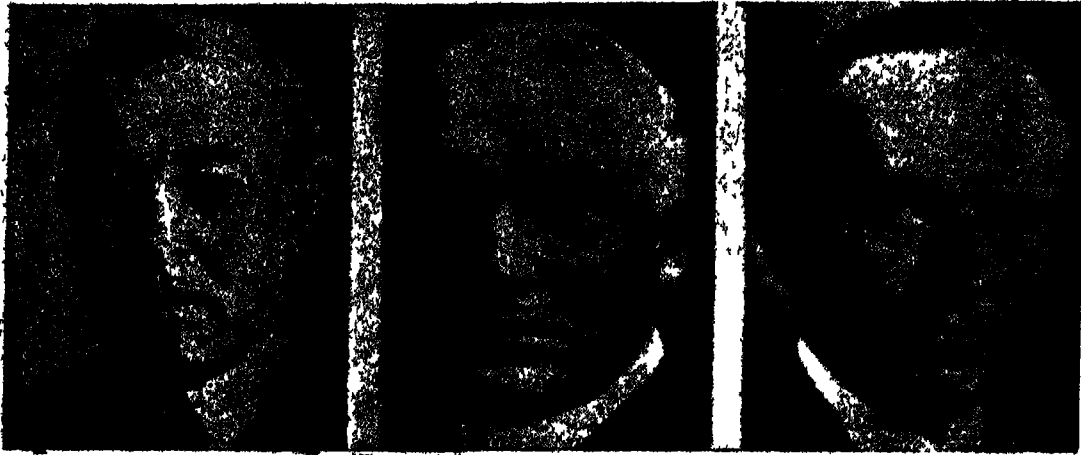
त्वरित गति से विकास हुआ। भारत और पाकिस्तान (१९४७), श्रीलंका (१९४८), घाना और मलाया संघ (वर्तमान मलएशिया, १९५७), नाइजीरिया तथा साइप्रस (१९६०), सियरालियोन और टांगानिका (१९६१), जमैका, ट्रिनिडाड, टोबैगो, और उगांडा (१९६२), जंजीबार और केनिया (१९६३), मलावी, मालटा, जैंबिया (१९६४) और गैंबिया (१९६५) राष्ट्र क्रमशः स्वतंत्र होते चले गए।

स्वतंत्र राष्ट्रों के रूप में संघटित होने के कारण ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के सदस्यों की परराष्ट्र, अर्थ और सुरक्षा नीतियों में केंद्रीय प्रशासन की ओर से किसी प्रकार के हस्तक्षेप का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपनी नीतियों में स्वतंत्र है और अपने अंतरराष्ट्रीय दायित्वों का सारा बोझ स्वयं वहन करता है। राष्ट्रमंडलीय देशों के परस्पर संबंधों की दृष्टि से यह आवश्यक है कि उनमें सर्वमान्य हितों के लिये अधिकतम वैचारिक एकरूपता और सक्रिय सहयोग स्थापित करने के प्रयत्न किए जायँ। इसके लिये प्रायः सदस्य राष्ट्रों के बीच सरकारों, सरकारी मंत्रियों, अधिकारियों और सरकारी प्रतिनिधियों में सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में खुले मस्तिष्क से विचार विमर्श, वार्ता, पत्राचार और दैनिक व्यक्तिगत संपर्कों आदि का सहारा लिया जाता है।

यद्यपि राष्ट्रमंडल का कोई भी सदस्य राष्ट्र विधानतः अपनी अपनी विदेश और सुरक्षा नीति पर अन्य सदस्य से परामर्श के लिये बाध्य नहीं है, फिर भी विचारों का मुक्त और सतत आदान प्रदान राष्ट्रों के नीतिनिर्धारण में सहायक होता है, इसे सभी स्वीकार करते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व साम्राज्य में राष्ट्रमंडल की सदस्यता का यह दायित्व तय कर लिया गया था कि प्रत्येक सदस्य आवश्यकतानुसार अन्य सदस्यों से अपनी उन नीतिगत योजनाओं के विषय में परामर्श कर ले, जो उनके निजी हितों, विशेषतया विदेशी मामलों को प्रभावित करें। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार का यह सामान्य दायित्व है कि अपनी सारी योजनाओं की जो राष्ट्रमंडल के हितों को प्रभावित करती हों, अन्य सदस्य सरकारों को सूचना दे दे, वह इसलिये कि वे उन मामलों पर, यदि उनकी इच्छा हो तो, अपना मत व्यक्त कर सकें। यह परामर्श संधि या समझौते के स्तर का नहीं होता, और कोई सदस्य राष्ट्र अन्य सदस्य राष्ट्र के उत्तरदायित्वों में भागीदार होने के लिये बाध्य नहीं होता।

परामर्श प्रणाली — संक्षेप में परामर्श और सहयोग की प्रणाली निम्नलिखित है। एक ओर दैनिक मामलों पर विचार करने के लिये प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का उच्चायुक्त अन्य सदस्य राष्ट्रों की राजधानियों में नियुक्त रहता है तथा लंदन स्थित राष्ट्रमंडल संबंध कार्यालय (Commonwealth Relation office) और अन्य देशों के विदेश विभागों द्वारा भी इसकी व्यवस्था होती है। दूसरी ओर सुविधानुसार समय समय पर प्रधान मंत्रियों तथा वित्त और विदेशी मामलों से संबंधित मंत्रियों के संमेलन होते रहते हैं। उच्च स्तरीय संमेलनों के अतिरिक्त सदस्य राष्ट्रों के मंत्रिगण भी एक दूसरे देशों की यात्रा किया करते हैं। राष्ट्रमंडल के मंत्रीगण अंतरराष्ट्रीय संमेलनों—राष्ट्रसंघ, अंतरराष्ट्रीय बैंक या व्यापार तथा टैरिफ संधि आदि में भी मिलते जुलते रहते हैं। विभागीय स्तरों पर सिविल अधिकारी और तकनीकी विशेषज्ञ भी परस्पर अनेक मामलों पर परामर्श किया करते हैं। सुरक्षा और व्यापार के मामलों पर सदस्य राष्ट्रों के सरकारी प्रतिनिधि सदैव परामर्श किया करते हैं। आर्थिक नीतियों के निर्धारण के लिये 'कामनवेल्थ एकॉनॉमिक कंसल्टेटिव कौंसिल' के तत्वावधान में समय समय पर विभिन्न स्तरीय बैठकें होने की भी व्यवस्था है। राष्ट्रमंडल के प्रतिनिधि अन्य देशों की राजधानियों — वाशिंगटन और पेरिस आदि में भी विचार विमर्श का प्रबंध रखते हैं, और राष्ट्रसंघ में भी कामनवेल्थ का प्रतिनिधि मंडल सबसे संपर्क करने की व्यवस्था करता है। महत्वपूर्ण विषयों की स्थिति का अध्ययन और उचित निर्देश के लिये अनेक समितियाँ और संगठन भी बने हुए हैं। राष्ट्रमंडल के भिन्न भिन्न स्थानों पर वाणिज्य और सांस्कृतिक प्रदर्शनियाँ, पुस्तकालय, चिकित्सा, शिक्षा और वित्त संबंधी सरकारी और गैरसरकारी संमेलन, परामर्श और सहयोग के धरातल को सुदृढ़ करते हैं।

राष्ट्रमंडल केवल सरकारी स्तर के सहयोग की संस्था नहीं है वरन् जनता के परस्पर संपर्क का भी संगठन है, जिसमें सहयोग का रूप प्राय: व्यक्तिगत तथा निजी मेल जोल होता है। शिक्षा संस्थाओं, अस्पतालों, चर्च, व्यक्तिगत संगठनों और व्यापार आदि में घनिष्ठ संपर्क रहता है। कला, खेल कूद तथा अन्य क्रिया कलापों द्वारा जीवन संबंधों में निकटता बढ़ती रहती है। छात्रों का भी, अन्य सदस्य राष्ट्रों में आना जाना दृढ़तर संपर्क स्थापित करने में सहायक होता है। 'कामनवेल्थ पार्लिमेंटरी एसोसिएशन' (Commonwealth Parliamentary Association) एक गैरसरकारी संगठन है जिसके वार्षिक संमेलनों में राष्ट्रमंडल के सभी संसद् सदस्य विचारों के स्वतंत्र आदान प्रदान का अवसर पाते हैं।

अधीन राज्य — उन राज्यों में, जो अब भी ब्रिटेन के अधीन हैं, अब संवैधानिक विकास हो रहा है। १८ फरवरी, १९६५ को गैंबिया स्वतंत्र हो गया। ब्रिटिश गायना में आतंरिक स्वराज्य है, उसमें नई निर्वाचनपद्धति अपनाई गई है। उसकी पूर्ण स्वतंत्रता की तिथि निश्चित होना शेष है। वाग्यादोम, जिसमें पूर्ण आंतरिक स्वराज्य है और एंटीगुआ, डॉमिनिका, मांतेसेरात, सेंट किट्स-नेविस-एंग्विला, सेंट लूसिया और सेंट विसेंट (सभी में आंतरिक स्वराज्य हैं) एक संघ बनाने की योजना पर विचार कर रहे हैं जिसका संविधान भी विचाराधीन है। ग्रेनाडा में भी पूर्ण आंतरिक स्वराज्य है, और इसको स्वतंत्र ट्रिनिडाड तथा टोबैगो के साथ मिलाने की योजना बनाई जा रही है। जनवरी, १९६४ से ब्रिटिश होंडुरास में भी आंतरिक स्वराज्य स्थापित हो गया है।

कुछ अधीन प्रदेश, जिनकी कुल जनसंख्या १ करोड़ से कम है, बहुत छोटे हैं और प्राकृतिक साधनों के अभाव में शीघ्र उन्नति करने में असमर्थ हैं। कुछ की जनसंख्या १ लाख से भी कम है। हांगकांग जैसे प्रदेश ब्रिटिश संरक्षण से हटने की स्थिति में नहीं है। बहुत छोटे राज्यों को स्वतंत्र होने में जो कठिनाइयाँ होती है उन्हे दूर करने का प्रयोग, अदन रक्षित प्रदेशों में किया जा रहा है जहाँ १६ में से १३ प्रदेशों ने दक्षिण अरब संघ बनाने का निश्चय किया है।

स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न—चूँकि राष्ट्रमंडलीय देशों के अधीनस्थ राज्यों की परिस्थितियाँ भिन्न भिन्न हैं इसलिये उनमें राजनीतिक उत्थान के लिये कोई एक निश्चित मार्ग नहीं है, किंतु जहाँ परिस्थितियाँ समान हैं, विकास का एक ढंग निश्चित कर ही लिया जाता है।

राजनीतिक उन्नति के लिये निश्चित विधि प्रादेशिक या क्षेत्रीय सरकारों का निर्माण करना है, जिनमें विधानमंडल, कार्य समिति (जिसका अध्यक्ष गवर्नर होता है) और स्वतंत्र न्यायपालिका संमिलित रहते हैं। स्थानीय जनता को शासन में अधिकाधिक उत्तरदायित्व प्रदान करने के लिये संविधान में भी समय समय पर संशोधन परिवर्तन होता रहता है।

प्रारंभिक अवस्थाओं में सलाहकार समिति की सहायता से अधिकारियों द्वारा प्रशासन का काम होता है। इस दशा में विधान समिति में उच्चपदीय सरकारी अधिकारियों (पदेन सदस्य जैसे मुख्य सचिव, एटार्नी जनरल और वित्तसचिव या गवर्नर द्वारा मनोनीत अन्य अधिकारी) और गवर्नर द्वारा नामांकित गैरसरकारी उच्चवर्गीय नागरिकों को नियुक्त किया जाता है। बाद में निर्वाचित सदस्य पहुँचते हैं और जब निर्वाचित सदस्यों का बहुमत हो जाता है तो विधानसमिति से सरकारी और गैरसरकारी अधिकारियों का कार्य समाप्त कर दिया जाता है। इसके साथ ही मताधिकार क्रमशः विस्तृत होता जाता है। इसके लिये (१) आय संबंधी या किसी अन्य प्रकार की विशेष योग्यता की शर्तें समाप्त कर दी जाती हैं या परोक्ष निर्वाचन, यथा विशेष निर्वाचक मंडल द्वारा निर्वाचन, की पद्धति हटा दी जाती है और उसके स्थान पर प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली लागू कर दी जाती है।

कार्यकारिणी (एक्जीक्यूटिव कौंसिल) की रचना में भी इस ढंग के परिवर्तन लाए जाते हैं। पहले सभी पदों पर सरकारी अधिकारी होते हैं, बाद में मनोनीत गैरसरकारी सदस्यों और फिर विधान मंडल के निर्वाचित सदस्यों को क्रमशः स्थान दिया जाता है। निर्वाचित सदस्य शनैः शनैः सरकारी विभागों का उत्तरदायित्व सँभाल लेते हैं। तत्पश्चात् मंत्रियों के रूप में कार्यसमिति में उनका बहुमत हो जाता है। अंत में शेष सरकारी अधिकारी भी हटा दिए जाते हैं, और इस प्रकार निर्वाचित कार्यकारिणी निर्वाचित विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी हो जाती है।

आंतरिक स्वशासन के काल में गवर्नर के माध्यम से ब्रिटिश सरकार कुछ निश्चित विभागों जैसे सुरक्षा और परराष्ट्र संबंधों की देखरेख करती है, किंतु मंत्रीगण क्रमशः इन विषयों से इस प्रकार संबद्ध कर दिए जाते हैं कि वे स्वतंत्रता के बाद पूरे उत्तरदायित्व से विभागों का भार वहन कर सकें।

स्थानीय शासन और लोकसेवा में भी ऐसे ही परिवर्तन होते हैं। द्वितीय और तृतीय श्रेणी की प्रशासकीय सेवाओं में स्थानीय लोगों को उचित अनुपात में भर्ती किया जाता है। ब्रिटिश सहायता से विशेष शिक्षा और प्रशिक्षण द्वारा प्रथम श्रेणी के विभागों में भी अधिकाधिक लोग नियुक्त किए जाते हैं।

संवैधानिक क्रियाओं पर सदैव समीक्षात्मक दृष्टि रखी जाती है, जिससे राजनीतिक अनुभवों की वृद्धि के साथ ऐसे सुधार किए जा सकें कि परिणामतः उपनिवेश में स्वशासन और अंत में स्वतंत्रता की स्थापना हो सके।

अधिकांश अधीन राज्यों ने राष्ट्रमंडल का सदस्य बने रहना स्वीकार कर लिया है, यद्यपि कुछ अवश्य स्वतंत्र होने के साथ ही उससे अलग हो गए। १९४८ में बर्मा स्वतंत्र होने के बाद राष्ट्रमंडल का सदस्य नहीं रहा। १९६० में ब्रिटिश सोमालीलैंड ने पूर्ववर्ती संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा 'शासनादिष्ट सोमालीलैंड' से मिलकर स्वतंत्र और विस्तृत सोमालिया राज्य बना लिया। १९६१ में दक्षिणी कैमरून्स स्वतंत्र हुआ। उसने राष्ट्रमंडल से अलग होकर पड़ोसी कैमरून गणराज्य (Republic of Cameroun) से संबंध कर कैमरून संघ गणराज्य (Federal Republic of Cameroun) स्थापित कर लिया।

पश्चिमी समोआ, जो पहले न्यूजीलैंड द्वारा शासित ट्रस्ट टैरीटरी (Trust Territory, शासनादिष्ट राज्य) था, १९६२ में स्वतंत्र हुआ। यद्यपि पश्चिमी समोआ ने राष्ट्रमंडल की सदस्यता के लिये आवेदन नहीं किया, तथापि न्यूजीलैंड उसे अब भी राष्ट्रीयता आदि के मामलों को छोड़कर अन्य बातों में राष्ट्रमंडल का सदस्य मानता है। कुछ विशेष मामलों में अन्य राष्ट्रमंडलीय देशों के साथ पश्चिमी समोआ के संबंधों में भी यही स्थिति है।

राष्ट्रमंडल और विश्व — संपूर्ण राष्ट्रमंडल का क्षेत्र, अधीन राज्यों को मिलाकर, पृथ्वी के लगभग चौथाई भाग के बराबर है और जनसंख्या का भी अनुपात प्रायः इतना ही है। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपने निजी इतिहास, विस्तार, भौगोलिक स्थिति, वर्ण, धर्म, भाषा, जनसंख्या, औद्योगिक और अंतरराष्ट्रीय स्थिति के अनुसार विकास करता रहा है। उदाहरण के लिये कनाडा अर्थ और सुरक्षा के मामले में संयुक्त राज्य अमरीका से संबद्ध है। ब्रिटेन ने ब्रूसेल्स संधि और यूरोपियन फ्री ट्रेड एसोसियेशन के अंतर्गत पश्चिमी यूरोप के अनेक देशों और नार्थ अटलांटिक ट्रीटी के अंतर्गत उत्तरी अटलांटिक देशों से संबंध स्थापित किए हैं। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड जिनके निवासी मुख्यतः अंगरेजी नस्ल के हैं, भौगोलिक और सामरिक दृष्टि से एशिया के भाग हैं। कनाडा में विशाल जनसंख्या अंग्रेजों से भिन्न जाति की है। राष्ट्रमंडल के एशियाई, अफ्रीकी और कैरिबियाई सदस्यों की अपनी अलग अलग संस्कृतियाँ और धार्मिक परंपराएँ हैं, जिनमें से मंडल के पुराने सदस्यों का कोई मेल नहीं है और वे सभी भिन्न भिन्न सामाजिक, राजनीतिक परिवेशों में रहते हैं। अतएव यह स्वाभाविक है कि भिन्न भिन्न देशों के उनके परिवेश और ऐतिहासिक अनुभवों के आधार पर अंतरराष्ट्रीय समस्याओं के प्रति दृष्टिकोणों में बहुत अंतर रहता है। संयुक्त राष्ट्र संघ में भी उनके मत प्रायः विभाजित हो जाते हैं, यद्यपि इस प्रकार का विभाजन उनके सामान्य हितों को हानि नहीं पहुँचाता।

राष्ट्रमंडल के सदस्य व्यापार, वाणिज्य और टैरिफ के संबंध में स्वतंत्र रूप से संधियाँ करते हैं, और विदेशों में उनके निजी वाणिज्य प्रतिनिधि रहते हैं। किंतु वित्तीय मामलों पर सदस्य राष्ट्रों में बराबर परामर्श होता रहता है। राष्ट्रमंडलीय संबंधों के परिणामस्वरूप सदस्यों को पूँजी विनियोग सुलभ किया गया है, और टैरिफ पद्धति में भी प्रत्येक के लिये कुछ वरीयता की सीमा निर्धारित की

गई है। फिर भी राष्ट्रमंडल को एक संकीर्ण वित्तीय इकाई नहीं बनने दिया जाता। स्टर्लिंग (ब्रिटिश मुद्रा) क्षेत्र, जो द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद संसार का सबसे बड़ा मुद्राक्षेत्र था, मुख्यत: राष्ट्रमंडलीय देशों में था। (इसमें कनाडा, जो कि भौगोलिक और आर्थिक दृष्टि से उत्तरी अमरीका का एक भाग है, संमिलित नहीं है। यह स्टर्लिंग और डालर क्षेत्रों में मध्यममार्गी है।) इसकी कार्यप्रणाली ने राष्ट्र-मंडलीय देशों में पारस्परिक सहयोग और सद्भावना की, तथा मतभेदों के अवसर पर कुछ सीमा तक सहकारिता की आवश्यकता उत्पन्न कर दी है। स्टर्लिंग क्षेत्र ने केवल राष्ट्रमंडलीय देशों की ही नहीं, वरन् विश्वव्यापार की भी बड़ी सेवा की है।

कोलंबो योजना मूलत: राष्ट्रमंडलीय योजना थी, जिसका उद्देश्य एशियाई सदस्यों को तकनीकी (तकनीकी विशेषज्ञों सहित) बड़े बड़े उपकरणों तथा प्रशिक्षण सुविधाओं की सहायता प्रदान करना था। कालांतर में यह योजना राष्ट्रमंडलेतर एशियाई देशों के लिये भी, जो अपने जीवन स्तर को ऊँचा करने के लिये संघर्षशील थे, बढ़ा दी गई।

मांट्रील संमेलन (१९५८) में हुए निर्णय के अनुसार तत्कालीन आर्थिक परामर्शदात्री समिति राष्ट्रमंडल के तत्वावधान में 'कामनवेल्थ इकनॉमिक कंसल्टेटिव कौंसिल' के नाम से गठित हुई, जिसकी उच्च-स्तरीय समिति में राष्ट्रमंडलीय देशों के वित्त और तत्संबंधी मंत्रीगण होते हैं, जो परस्पर आवश्यकतानुसार समय समय पर मिला करते हैं। इस प्रकार की एक बैठक १९६० में स्पेशल कामनवेल्थ अफ्रीकन असिस्टेन्स प्लान (अफ्रीका के हेतु राष्ट्रमंडलीय सहायता की विशेष योजना) निर्माण के लिये हुई थी, जिसके अंतर्गत अफ्रीकी सदस्यों को उभयदेशीय ढंग पर या अंतरराष्ट्रीय संगठनों के माध्यम से तकनीकी सहायता दी जा रही है।

एशियाई और अफ्रीकी देशों की पूर्ण राष्ट्रमंडलीय सदस्यता ने अनेक राष्ट्रपरिषदों में नये प्रभावों तथा नये दृष्टिकोणों को प्रस्तुत किया है। इससे विभिन्न वर्णों के लोगों के मिलकर काम करने और सहिष्णुता के मार्ग की समस्याएँ, जिनके संबंध में सदस्यों के हृदय में तीव्र भावनाएँ उठती रहती हैं, हल करने में सहायता का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। मई, १९६० और मार्च, १९६१ के प्रधान मंत्री संमेलनों में इसका उदाहरण मिला था जिनमें दक्षिण अफ्रीका की वर्णभेदनीति पर विचार हुआ था। मार्च, १९६१ के संमेलन में दक्षिण अफ्रीका ने अपने यहाँ गणतंत्रीय सरकार स्थापित करने के वादे का संकेत करते हुए राष्ट्रमंडल में बने रहने की याचना की थी। १५ मार्च १९६१ को प्रकाशित प्रधानमंत्रियों की संयुक्त विज्ञप्ति मे कहा गया था, इस आवेदन के संबंध में संमेलन ने, दक्षिण अफ्रीका के प्रधान मंत्री की सहमति से वहाँ की केंद्रीय सरकार की रंग नीति पर विचार किया। दक्षिण अफ्रीका के प्रधान मंत्री ने अन्य प्रधान मंत्रियों को सूचित किया—'कि सदस्य देशों की सरकारों के प्रतिनिधियों द्वारा व्यक्त विचारों और दक्षिण अफ्रीका की केंद्रीय सरकार की रंग नीति के विषय में उनकी भावी योजनाओं के संकेतों के प्रकाश में, उन्होंने राष्ट्रमंडल का सदस्य बने रहने का दक्षिण अफ्रीकी गणराज्य का आवेदन पत्र वापस ले लिया है।' संसार के विभिन्न प्रश्नों तथा राष्ट्रमंडल के आंतरिक, मामलों में भी राष्ट्रमंडल के बहुजातीय स्वरूप से तथा जाति संबंधी समस्याओं पर सदस्य राष्ट्र जिस दृष्टिकोण से विचार करने को सन्नद्ध हैं, उससे मंडल का नया चित्र सामने आया है।

राष्ट्रमंडल में केवल विभिन्न जातिरंग के स्वयं प्रभुतासंपन्न राष्ट्र ही नहीं संमिलित हैं, वरन् इसमें तटस्थ तथा किसी गुट से जुड़े रहनेवाले भी सदस्य हैं। इस प्रकार यह विश्व की एक प्रतिनिधि संस्था है। संसार के बड़े भूभाग पर फैली होने के साथ साथ यह संस्था विश्व में व्याप्त सभी समस्याओं में भागीदार बनती है। साथ ही इसके कई सदस्य देशों की राय है कि इसमें बने रहने से उन्हें विश्व राजनीति की कटुता का तीक्ष्ण अनुभव नहीं होने पाता। राष्ट्रमंडल एक दूसरे के कार्यों के सहृदय मूल्यांकन की इच्छा, मैत्रीपूर्ण संगठन में विश्वास और अंतरराष्ट्रीय समाज के ढाँचे में राष्ट्रों के मध्य भ्रातृत्व भावना का मूर्तिमान स्वरूप है।

राष्ट्रीय आय किसी देश की समस्त साधनों से उपार्जित की हुई वार्षिक आय राष्ट्रीय आय कहलाती है। इस आय में उत्पादन, उपभोग तथा वितरण में की हुई सेवाओं का मूल्य भी संमिलित होता है। देश के प्राकृतिक साधनों का पूँजी तथा श्रम के सहयोग से वैज्ञानिक रीतियों द्वारा प्राप्त हुआ उत्पादन राष्ट्रीय आय को बढ़ाता है। राष्ट्रीय आय का रहन सहन के स्तर से घनिष्ट संबंध है। जिस देश की राष्ट्रीय आय अधिक होती है वहाँ के निवासियों का जीवनस्तर भी प्राय: ऊँचा होता है और अच्छे रहन सहन के ढंग से उत्पादन की कार्यक्षमता भी बढ़ती है। किसी राष्ट्र की ठीक आर्थिक स्थिति भी राष्ट्रीय आय द्वारा ही ज्ञात होती है।

समय समय पर राष्ट्रीय आय को नापने के विभिन्न ढंगों का प्रयोग किया गया। देश की करनीति राष्ट्रीय आय पर ही आधारित होती है। भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना के बाद विभिन्न करों का मुख्य आधार राष्ट्रीय आय ही थी। सामान्यत: राष्ट्रीय आय को नापने के दो ढंग अपनाएं जाते हैं। (१) समस्त उत्पादन का योग (२) समस्त आय का योग। उत्पादन योग में हम देश की किसी वर्ष में तैयार की हुई समस्त वस्तुओं का मूल्यांकन करते हैं। इसमें कृषि, उद्योग, यातायात तथा व्यापार इत्यादि में की हुई सेवाओं का मूल्य भी संमिलित होता है। आययोग प्रणाली में देश के सभी नागरिकों की आय का योग होता है जो वे किसी वर्ष में प्राप्त करते हैं। इन दोनों प्रणालियों में कोई भी राष्ट्रीय आय का ठीक पता लगाने में सफल नहीं हुई है अत: लगभग सभी देश राष्ट्रीय आय को जानने के लिये दोनो ही प्रणालियाँ अपनाते हैं।

भारत में राष्ट्रीय आय नापने के लिये पिछले सौ वर्षों में कई प्रयास हुए है। दादाभाई नौरोजी ने राष्ट्रीय आय के संबंध में सर्वप्रथम आँकड़े प्राप्त किए थे। उसके बाद राष्ट्रीय आय का ठीक पता लगाने के लिये कई अर्थशास्त्रियों ने प्रयत्न किए। स्वतंत्रता के उपरांत अगस्त १९४९ में भारत सरकार ने राष्ट्रीय आय नापने के लिये एक स्थायी राष्ट्रीय आय कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी को राष्ट्र की आय के विस्तृत आँकड़े प्राप्त करने का काम सौंपा गया। इस कमेटी ने राष्ट्रीय आय नापने के ढंगों में कई महत्वपूर्ण सुधार किए और राष्ट्रीय आय के पर्याप्त मात्रा में सही आँकड़े प्राप्त होने लगे।

भारत की वर्तमान राष्ट्रीय आय दस हजार करोड़ रुपए से अधिक है। प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा हमारी राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई है। प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय लगभग ३२० रुपए है और आर्थिक नियोजन द्वारा इसका वितरण समुचित रूप से होने की आशा है। जनसंख्या की वृद्धि का प्रति व्यक्ति आय के ऊपर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। भारत की उत्तरोत्तर बढ़ती जनसंख्या के कारण प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय अधिक नहीं बढ़ पाती जिससे रहन सहन का स्तर उचित मात्रा में नहीं बढ़ पाया है।

भारत की राष्ट्रीय आय का लगभग ४५% भाग कृषि का, २०% भाग उद्योग धंधों का, २०% भाग व्यापार और यातायात का और शेष १५% भाग सेवाओं के मूल्य का होता है। उद्योगीकरण की प्रगति के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में कृषि द्वारा उत्पन्न किया हुआ प्रतिशत भाग कम होता जा रहा है और उद्योग तथा यातायात के भाग बढ़ रहे हैं। समृद्ध देशों में राष्ट्रीय आय का उद्योग व यातायात का भाग कृषि से सदा अधिक रहता है। यदि राष्ट्रीय आय बनने में कृषि, उद्योग तथा अन्य उपायों में संतुलन हो तो आर्थिक प्रगति और कार्यक्षमता बहुत तेजी से बढ़ती है। राष्ट्रीय आय बनने में ऊँचे जीवनस्तर का बहुत प्रभाव पड़ता है। अतः जीवनस्तर बनानेवाली विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में संतुलन होना बहुत आवश्यक होता है। हम अपने दैनिक प्रयोग में आनेवाली वस्तुओं के उत्पादन एवं निर्माण में कृषि और उद्योग दोनों का सहारा लेते हैं। इसीलिये कृषि और उद्योग दोनों में लगभग बराबर का भाग राष्ट्रीय आय के लिये हितकर होता है। यदि हमें राष्ट्रीय आय के सही आँकड़े प्राप्त हो सकें तो आर्थिक योजनाओं द्वारा इस संतुलन के लिये ठीक प्रयत्न किए जा सकते हैं। इसी उद्देश्य से भारत सरकार राष्ट्रीय आय में विभिन्न भागों के विस्तृत आँकड़े प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है। [अ० बि० मि०]

राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ, भारत की भारत के स्वतंत्र होने के बाद जब स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू प्रधान मंत्री हुए, तब उन्होंने यह महसूस किया कि देश की आर्थिक तथा औद्योगिक प्रगति के लिये विज्ञान के अध्ययन और अनुसंधान का कार्य अधिक शीघ्रता से होना चाहिए। इसके लिये उन्होंने राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं की स्थापना की योजना बनाई और इस योजना को कार्यान्वित करने में सुप्रसिद्ध रसायनज्ञ डा० शांतिस्वरूप भटनागर ने पूरा सहयोग प्रदान किया। फलस्वरूप देश के विभिन्न स्थलों में अनेक प्रयोगशालाओं की स्थापना हुई। ये प्रयोगशालाएँ आधुनिकतम संयंत्रों, उपकरणों, अन्य साधनों और आवश्यक साहित्य से सुसज्जित हैं। इनको सुसज्जित करने में करोड़ों रुपए व्यय हुए हैं। इन प्रयोगशालाओं में ऊँची से ऊँची कोटि के अनुसंधान कार्य हो सकते हैं और हो रहे हैं। इन प्रयोगशालाओं में सहस्रों वैज्ञानिक आज लगे हुए हैं। इनमें जो अनुसंधान हुए हैं, उनसे अनेक उद्योग धंधों की स्थापना में सहायता मिली है और अनेक वस्तुएँ, जिनका निर्माण पहले हम नहीं कर पाते थे, आज करने में समर्थ हैं। भारत की राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ निम्नलिखित हैं :

(१) नैशनल फिज़िकल लेबॉरेटरी, नई दिल्ली–१२; (२) नैशनल केमिकल लेबॉरेटरी, पूना–८; (३) सेंट्रल ग्लास ऐंड सिरैमिक रिसर्च इंस्टिट्यूट, कलकत्ता; (४) नैशनल एअरोनॉटिकल रिसर्च लेबॉरेटरी, बैंगलोर; (५) सेंट्रल लेदर रिसर्च इंस्टिट्यूट, मद्रास–२०; (६) सेंट्रल फ्युएल रिसर्च इंस्टिट्यूट, जियालगोरा, धनबाद; (७) नैशनल मेटालर्जिकल लेबॉरेटरी, जमशेदपुर–७; (८) सेंट्रल फूड टेक्नोलॉजिकल रिसर्च इंस्टिट्यूट, मैसूर; (९) सेंट्रल बिल्डिंग रिसर्च इंस्टिट्यूट, रुड़की; (१०) सेंट्रल जियोफिजिकल रिसर्च इंस्टिट्यूट, हैदराबाद; (११) नैशनल इंस्टिट्यूट ऑव ओशिअनोग्राफ़ी, रफी मार्ग, नई दिल्ली; (१२) इंडियन इंस्टिट्यूट ऑव पेट्रोलियम, देहरादून; (१३) सेंट्रल इंडियन मेडिसिनल प्लांट्स ऑर्गैनाइजेशन, सी० एस० आइ० आर० बिल्डिंग, नई दिल्ली; (१४) सेंट्रल रोड रिसर्च इंस्टिट्यूट, (पी० ओ०) सी० आर० आर० आई०, नई दिल्ली; (१५) सेंट्रल माइनिंग रिसर्च स्टेशन, धनबाद; (१६) सेंट्रल मिकैनिकैल इंजीनियरिंग रिसर्च इंस्टिट्यूट, महात्मा-गांधी ऐवेन्यू, दुर्गापुर स्टील टाउनशिप, दुर्गापुर–८, जिला बर्दवान; (१७) नैशनल बोटैनिकैल गार्डन्स, लखनऊ; (१८) इंडियन इंस्टिट्यूट फॉर बायोकेमिस्ट्री ऐंड एक्सपेरिमेंटल मेडिसिन, पी–२७, प्रिंसेप स्ट्रीट, कलकत्ता–१३; (१९) सेंट्रल इलेक्ट्रोनिक्स इंजीनियरिंग रिसर्च इंस्टिट्यूट, पिलानी; (२०) सेंट्रल साल्ट, मेराइन ऐंड केमिकल्स रिसर्च इंस्टिट्यूट, भावनगर; (२१) सेंट्रल इलेक्ट्रोकेमिकल रिसर्च इंस्टिट्यूट, करैकुडी; (२२) सेंट्रल ड्रग रिसर्च इंस्टिट्यूट, छतरमंजिल, लखनऊ; (२३) सेंट्रल डिज़ाइन ऐंड इंजीनियरिंग ऑर्गैनाइज़ेशन, सी० एस० आइ० आर० बिल्डिंग, रफी मार्ग, नई दिल्ली; (२४) सेंट्रल सायंटिफ़िक इंस्ट्रुमेंट्स ऑर्गैनाइज़ेशन, चंडीगढ़; (२५) रीजनल रिसर्च लेबॉरेटरी, जोरहट; असम, (२६) सेंट्रल पब्लिक हेल्थ इंजीनियरिंग रिसर्च इंस्टिट्यूट, ७०।१ सिविल लाइंस, नागपुर; (२७) रीजनल रिसर्च लेबॉरेटरी, हैदराबाद; (२८) रीजनल रिसर्च लेबॉरेटरी, भुवनेश्वर (उड़ीसा) तथा (२९) सेंट्रल डिज़ाइन ऐंड इंजीनियरिंग ऑर्गैनाइज़ेशन, सी० एस० आइ० आर० बिल्डिंग, नई दिल्ली।

उपर्युक्त राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित कुछ और संस्थान हैं, जिनमें वैज्ञानिक अनुसंधान आज हो रहे हैं :

(१) नैशनल शुगर इंस्टिट्यूट, कानपुर; (२) रिसर्च ऐंड डिवेलपमेंट ऑर्गैनाइज़ेशन, मिनिस्ट्री ऑव डिफेंस, नई दिल्ली; (३) इंडियन इंस्टिट्यूट फॉर इंडस्ट्रियल रिसर्च, १९ युनिवर्सिटी रोड, नई दिल्ली; (४) श्री राम इंस्टिट्यूट फॉर इंडस्ट्रियल रिसर्च, १९ युनिवर्सिटी रोड, नई दिल्ली; (५) इंडियन लैक रिसर्च इंस्टिट्यूट, नामकुम, राँची; (६) इंडियन इंस्टिट्यूट ऑव सायंस, बैंगलोर; (७) रिसर्च, डिज़ाइन ऐंड स्टैंडर्डाइज़ेशन ऑर्गैनाइज़ेशन, मिनिस्ट्री ऑव रेलवे, शिमला; (८) रिसर्च डिज़ाइन ऐंड स्टैंडर्डाइज़ेशन ऑर्गनाइजेशन, मिनिस्ट्री ऑव रेलवे, आलमबाग, लखनऊ; (९) रिसर्च, डिज़ाइन ऐंड स्टैंडर्डाइज़ेशन ऑर्गैनाइज़ेशन, मिनिस्ट्री ऑव रेलवे, चित्तरंजन, पश्चिमी बंगाल तथा (१०) फॉरेस्ट रिसर्च इंस्टिट्यूट, देहरादून।

राष्ट्रीय रसायन प्रयोगशाला (National Chemical Laboratory) — इसकी स्थापना ३ जनवरी, १९५० ई० को हुई थी। इस प्रयोगशाला के द्वार पर खुदा हुआ है 'ज्ञान को बढ़ाना और

रसायन ज्ञान को मानव के लाभ में प्रयुक्त करना। यह प्रयोगशाला ४७५ एकड़ भूमि में पूना के निकट सुंदर एक पठार पर, जिसके चारों ओर नीची पहाड़ियाँ हैं, स्थित है। यह १,८४,४०० वर्ग फुट में फैली हुई है। यहाँ रसायन और रासायनिक इंजीनियरी पर अनुसंधान होता है। इसमें एक निदेशक, एक डेपुटी निदेशक, १० सहायक, १०२ सायंटिफिक ऑफिसर और १८२ सायंटिफिक ऐसिस्टैंट हैं।

रसायन, रसायन टेक्नॉलोजी (शिल्पविज्ञान) और तत्संबंधी विषयों के ग्रंथों और पत्रपत्रिकाओं का यहाँ बहुत बड़ा संग्रह है। यहाँ जो अनुसंधान होते हैं, वे भारत और विदेश के जर्नलों में प्रकाशित होते हैं। निर्माण की नई नई विधियों के पेटेंट लिए जाते हैं। बाहर के लोगों को भी अनुसंधान के लिये सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। अनेक विश्वविद्यालयों ने पी-एच० डी० के लिये इस संस्थान को मान्यता दी है।

राष्ट्रीय भौतिकीय प्रयोगशाला (National Physical Laboratory) — इसकी स्थापना काउंसिल ऑव सायंटिफिक ऐंड इंडस्ट्रियल रिसर्च इंस्टिट्यूट द्वारा १९५० ई० में हुई। सौभाग्य से इसके निदेशक के रूप में सुप्रसिद्ध भारतीय भौतिकविद्, डा० के० एस० कृष्णन्, एफ० आर० एस०, की सेवा प्राप्त हुई। उनके निदेशन और देखरेख में इसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई और अनुप्रयुक्त तथा मौलिक अनुसंधानों में पर्याप्त सफलता मिली है। आज यह प्रयोगशाला संसार की सुप्रसिद्ध भौतिकी प्रयोगशालाओं में एक है। इसमें बड़ी उच्च कोटि के अनुसधान हुए हैं और हो रहे हैं। इस संस्थान के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

(क) उद्योगो के सहायतार्थ भौतिकी के सभी पहलुओं पर व्यावहारिक अनुसंधान करना।

(ख) ऐसे सभी विषयो पर सैद्धांतिक अनुसंधान करना जिनका संबंध उपर्युक्त व्यावहारिक अनुसंधान से है।

(ग) उद्योगों के सहायतार्थ यंत्रों और विधियों का विकासात्मक परीक्षण करना।

(घ) द्रव्यमान, लंबाई, समय, ताप आदि के मौलिक मान को तथा विद्युत्, इलेक्ट्रॉनिकी, ध्वानिकी और प्रकाशिकी के व्युत्पन्न मानकों का अनुरक्षण।

वैज्ञानिक अनुसंधान के लिये प्रयोगशाला में निम्नलिखित विभाग हैं : १. ध्वनिकी (Acoustics), २. वैश्लेषिक रसायनिकी (Analytical Chemistry), ३. व्यावहारिक यांत्रिकी (Applied Mechanics), ४. विद्युत् (Electricity), ५. इलेक्ट्रॉनिकी (Electronics), ६. कांचशिल्प विज्ञान (Glass Technology), ७. ऊष्मा (Heat), ८. औद्योगिक भौतिकी(Industrial Physics), ९. अवरक्त स्पेक्ट्रमिकी (Infra-red Spectroscopy), १०. निम्न ताप भौतिकी (Low Temperature Physics), ११. प्रकाशिकी (Optics), १२. रेडियो अवयव (Radio components), १३. रेडियो प्रसारण एकक (Radio Propagation Unit), १४. वर्षा और मेघ भौतिकी (Rain and Cloud Physics), १५. ठोस अवस्था भौतिकी (Solid State Physics), १६. सैद्धांतिक भौतिकी (Theoretical Physics), १७. समय और आवृत्ति (Time and Frequency), १८. तोल और माप (Weights and Measures) तथा १९. एक्स किरण क्रिस्टलिकी (X-Ray Crystallography) ।

उद्योगों तथा अन्य संस्थाओं से संपर्क के लिये प्रयोगशाला में एक नियोजन और संपर्क विभाग भी है। प्रति वर्ष देश के विभिन्न इंजीनियरिंग कालेजों और औद्योगिक संस्थानों के बहुत से विद्यार्थी ग्रीष्मावकाश में प्रशिक्षण के लिये प्रयोगशाला में आते हैं। यह प्रशिक्षण उनके पाठ्यक्रम का एक अंश होता है। कांचशिल्प विज्ञान विभाग में कुछ शिल्पी प्रशिक्षण भी प्राप्त करते हैं।

केंद्रीय ईंधन अनुसंधान संस्थान (Central Fuel Research Institute) — इसकी स्थापना १९५० ई० में बिहार के धनबाद नगर से १० मील दक्षिण, डिगवाडीह नामक स्थान में हुई थी। झरिया स्थित कोयले की खानों के बीच में यह संस्थान स्थित है।

यह संस्थान ठोस, द्रव और गैसीय ईंधनों के प्रयोगों के सभी पहलुओं पर मौलिक तथा अनुप्रयुक्त अनुसंधान करता है। इस संस्थान के प्रमुख कार्यक्षेत्र निम्नलिखित हैं :

१. कोयले के सर्वेक्षण केंद्रों द्वारा देश के ईंधन साधनों के गुण और मात्रा का निर्धारण करना।

२. कोयले की परिष्करण कला में वृद्धि कर ठोस कोयले को कार्य योग्य बनाना। इसके अंतर्गत कोयले की धुलाई, चलाई, पिंडीकरण आदि सब आ जाते हैं।

३. कोयले का निम्न., मध्य तथा उच्च ताप पर कार्बनीकरण करना, उससे प्राप्त उत्पादों का अध्ययन करना और उनपर प्रयोग करना।

४. ठोस ईंधन का गैसीकरण और गैसों का शोधन करना।

५. कोयले से पेट्रोल सदृश द्रव ईंधनों का निर्माण करना।

६. रासायनिक उद्योगों के लिये कोयले को अधिक उपयुक्त बनाना।

७. ईंधन के दहन में सुधार कर उसे आर्थिक दृष्टि से सफल बनाना।

८. कोयले के स्वतःज्वलन और उससे बचाव का अध्ययन करना।

९. कोयले का गंधक निकालना तथा लिग्नाइट को अधिक उपयोगी बनाना।

१०. कोयले और कोयले के उत्पाद (तैलों और गैसों) का परीक्षण तथा मानकीकरण करना।

११. कोयले से खाद प्राप्त करना और उससे मिट्टी को अनुकूल बनाना।

१२. कोयले के अपद्रव्यों के संगठन और गुण आदि का अध्ययन।

१३. कोयले के आँकड़ों का सांख्यिकी विश्लेषण।

१४. ईंधन की दक्षता का अध्ययन करना।

१६. ईंधन के संबंध में उद्योगों को तकनीकी सहायता प्रदान करना।

इस संस्थान के कर्मचारियों की संख्या लगभग १,४०० है, जिनमें लगभग ७०० सुदक्ष वैज्ञानिक और तकनीकी हैं। इसकी प्रयोगशालाएँ पूर्ण रूप से आधुनिक संयंत्रों और उपकरणों से सुसज्जित हैं, जिनमें ३ करोड़ से अधिक रुपया खर्च हुआ है। पुस्तकालय में लगभग १०,००० पुस्तकें हैं और ४०० से अधिक पत्रपत्रिकाएँ आती हैं। अनेक आवश्यक संयंत्र यहीं बनकर प्रयोग में काम आते हैं। बड़े पैमाने पर प्रयुक्त होनेवाले अनेक संयंत्रों के नमूने यहाँ बने हैं। कोयले के परिष्कार, कार्बनीकरण, गैसीकरण आदि के अनेक संयंत्र यहाँ स्थापित हुए हैं और उन संयंत्रों की सहायता से प्रयोग होते हैं। अभी तक इस संस्थान ने जो कार्य किए हैं, उनमें प्रमुख कार्य भारत के विभिन्न क्षेत्रों के कोयलों का सर्वेक्षण है। इस सर्वेक्षण के लिये नौ केंद्र विभिन्न स्थलों के कोयला क्षेत्रों — डिगवाडीह, रानीगंज, राँची, बिलासपुर, नागपुर, जोरहाट, जम्मू, बिसरामपुर और सिंगरौली — में स्थापित हुए हैं, जहाँ कोयले के संस्तरों का विस्तृत अध्ययन, कोयले के संचय का निर्धारण, खान की अवस्था का सामान्य अध्ययन, प्राप्त संस्तरों का भौतिक एवं रासायनिक परीक्षण तथा वाणिज्य की दृष्टि से कोयले के गुण का अध्ययन होता है। अनुसंधानों से पता चलता है कि किस क्षेत्र का कोयला किस कोटि का है और उससे किन किन उद्योगों में कौन कौन सा कार्य लिया जा सकता है। अब तक जो आँकड़े प्राप्त हुए हैं, वे हमारे कोयला साधनों के उचित उपयोग के लिये योजना बनाने में सहायक सिद्ध हो रहे हैं। लोहे के अनेक कारखानों, जैसे भिलाई, राउरकेला एवं बोकारो के इस्पात कारखानों, में जिन प्रकारों के कोयले काम में आते हैं, या आनेवाले हैं, वे इस संस्थान द्वारा ही निश्चित किए गए है। भारतीय कोयले में राख अधिक रहती है। कोयले की सफाई कैसे की जाय कि राख की मात्रा कम रहे, इस पर इस संस्थान ने बड़ा उपयोगी काम किया है। कोयले की धुलाई के कारखानों की स्थापना में इस संस्थान का योगदान बहुत अधिक है। अभी तक कोयले की धुलाई के छह कारखाने खुल चुके हैं तथा आठ और कारखाने खोलने की योजना बन गई है, या विचाराधीन है।

भारत में कोककर कोयले की मात्रा अपेक्षयाकृत कम है। २०,००० करोड़ टन कोयले में लगभग २,००० करोड़ टन कोयला ही कोककर कोयला होता है। वह भी झरिया क्षेत्र में सीमित है। उच्च कोटि में निकृष्ट कोटि का कोयला मिलाकर जो कोक प्राप्त होता है, उसे धातुकर्म के लिये उपयुक्त इसी संस्थान ने बतलाया है। घरेलू ईंधन के रूप में प्रयुक्त होनेवाले मृदु कोक के निर्माण के लिये ऐसा निम्न-ताप कार्बनीकरण संयंत्र इस संस्थान ने बनाया है जिसमें कोयले की क्षति कम होकर ऐसा कोक प्राप्त होता है जो जल्द आग पकड़ता है और जलने में बहुत कम धुआँ देता है।

कोयले के गैसीकरण पर इस संस्थान में बहुमूल्य अन्वेषण हुए हैं। यहाँ की रीति से गैसीय ईंधन ही नहीं प्राप्त होता, वरन इसमें अनेक रासायनिक पदार्थ और पेट्रोलियम तेलों का संश्लेषण भी होता है।

प्राकृतिक पेट्रोलियम पर भी इस संस्थान में बहुत कार्य हुआ है। इसके फलस्वरूप पेट्रोलियम के परिष्कार के संयंत्र बैठाने में बड़ी सहायता मिली है। कोयले और अलकतरे से डीजल तेल की प्राप्ति में सफलतापूर्वक कार्य हुआ है। संश्लिष्ट पेट्रोलियम तेल प्राप्त करने के हाइड्रोजन संयंत्र की भी शीघ्र ही स्थापना होने जा रही है। विमान में प्रयुक्त होनेवाले जेट तेल के, कोयले से, निर्माण का भी सफल प्रयोग हुआ है।

भिन्न भिन्न ताप पर कोयले के कार्बनीकरण से जो उत्पाद प्राप्त होते हैं उनका विस्तार और किस परिस्थिति में कौन उत्पाद कितनी मात्रा में प्राप्त होता है, इसपर विशेष रूप से अध्ययन किया गया है। कोयले के नियंत्रित ऑक्सीकरण से ह्यूमिक अम्ल और अमोनिया के यौगिक प्राप्त हुए हैं, जो खाद के लिये उपयुक्त पाए गए हैं। ये मिट्टी को भी सुधारते हैं। कोयले से और भी अनेक उपयोगी पदार्थों का निर्माण हुआ है, जैसे कार्बोमन (भारतीय पेटेंट सं० ४७४४६), एक आयन विनिमय (Ion Exchange) मिश्रण, कोलीन, क्यूमारोन-इंडेन पेंप, सक्रिय कार्बन (भारतीय पेटेंट सं० ५३६०७), ऐस्बेस्टॉस सीमेंट (भारतीय पेटेंट सं० ७३०६७) आदि।

केंद्रीय मार्ग अनुसंधान संस्थान (Central Road Research Institute) — इसकी स्थापना ३ सितंबर, १९५० ई०, को हुई और उद्घाटन स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू द्वारा १६ जुलाई, १९५२ ई०, को हुआ था। यह संस्थान ५० एकड़ भूमि पर दिल्ली-मथुरा रोड पर दिल्ली से सात मील दूर स्थित है। इसके उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

१. संसार में रोड संबंधी खोज से प्राप्त परिणामों का पता लगाकर उन्हें भारत की परिस्थिति के अनुकूल बनाना।

२. आधुनिक रोड निर्माण और रोड अनुरक्षण की तकनीकी में सुधार करना।

३. स्थानीय रोड निर्माण सामग्रियों का अध्ययन कर उन्हें सड़क निर्माण के योग्य बनाना, ताकि सड़क निर्माण का खर्च कम किया जा सके।

४. स्थानीय मिट्टियों और स्थानीय प्राप्य निकृष्ट कोटि के मिलावा (aggregates) का अध्ययन करना।

५. विभिन्न प्रकार के सड़क बंधकों के गुणों का अध्ययन और उन्हें प्रयुक्त करने का उपाय खोज निकालना।

६. सड़कों को निरापद बनाना।

७. देश के सड़क निर्माण विभाग की समस्याओं का समाधान खोज निकालने में सहायता करना।

इन विषयों के अनुसंधान के लिये सात अलग अलग विभाग बने हैं। इस संस्थान में २०० वैज्ञानिक, अर्थात् रसायनज्ञ, भौतिकीविद, भूगर्भविद, इलेक्ट्रॉनिक्सविद, गणितज्ञ तथा सांख्यिकीविद एवं अर्थशास्त्री, कामों में लगे हुए है, जो सड़क संबंधी विभिन्न पहलुओं पर अनुसंधान कार्य कर रहे हैं।

अभी तक यहाँ जो काम हुआ है, उससे स्पष्ट ज्ञात हुआ है कि सड़क बनाने का खर्च बहुत कुछ कम किया जा सकता है। बाहर से मँगाए सामानों के स्थान पर स्थानीय सामग्री का कुछ सुधार के साथ सफलतापूर्वक प्रयोग होता है। ऐसी बनी सड़कें पुरानी रीति से बनी सड़कों से निकृष्ट नहीं होतीं। आज तीन तीन वर्षों पर साधारणतया सड़कों की मरम्मत की जो प्रथा है उसके स्थान पर

नई सड़कों की पाँच पाँच वर्षों पर मरम्मत की जा सकती है, जिससे सड़कों की अनुरक्षण लागत में बड़ी कमी आ जाती है। बड़े बड़े नगरों के यातायात में जो भीड़भाड़ और दुर्घटनाएँ होती हैं उन्हें बहुत कुछ रोका जा सकता है।

केंद्रीय काँच एवं सिरैमिक अनुसंधान संस्थान (Central Glass and Ceramics Reseach) — इसकी स्थापना अगस्त, १९५० ई० में कलकत्ते के दक्षिणी भाग जादवपुर में हुई थी। इस संस्थान में काँच (glass), चीनी मिट्टी की वस्तुएँ (pottery), ऊष्मसह दुर्गलनीय पदार्थ (refractory materials), काचित (vitreous) इनैमल तथा अभ्रक (mica) का अध्ययन और अनुसंधान होता है। इस संस्थान का मुख्य काम काँच और सिरैमिक से संबंधित सब तरह का सैद्धांतिक और व्यावहारिक अनुसंधान करना है। इसके अलावा यह काँच और सिरैमिक उद्योगों की तकनीकी सहायता करता है तथा उनके कच्चे और तैयार माल को प्रमाणित करने की सुविधा देता है। काँच और सिरैमिक संबंधी सूचनाओं का प्रसार और चुने हुए विषयों में शिक्षा देना भी इस संस्थान के कामों में शामिल है।

देश की स्थिति को ध्यान में रखते हुए इस संस्थान के कार्यक्रम में उद्योग संबंधी समस्याओं को हल करने पर अधिक जोर दिया जाता है। बहुत से विषयों पर एक साथ ही खोज करने के बजाय, कुछ चुनी हुई समस्याओं पर काम होता है, ताकि उनका समाधान उचित अवधि में पूरा किया जा सके और खोज के नतीजे जल्दी से जल्दी उद्योगों में काम आने लगें।

इस संस्थान में अनुसंधान के फलस्वरूप जो विधियाँ विकसित की गई हैं और जिनका व्यावसायिक उपयोग हुआ है, उनमें से कुछ हैं : बेकार जानेवाले अभ्रक से ऊष्माप्रतिरोधी ईंटों का निर्माण, झगीला काँच (फोम ग्लास), केमिकल पोर्सिलिन, वायर वाउंड रजिस्टरों के लिये इनैमल, सिगनल काँच, ऑप्टिकल काँच, कोबाल्ट-युक्त इनैमल के लिये काला रंग, पीएच मीटरों के लिये काँच का इलेक्ट्रोड, रेजर ब्लेड की धार को तेज करने के लिये ग्राइंडिंग ह्वील, ऊँचे ताप पर उपयोग के लिये वहन नौका, थर्मोकपुल के खोल तथा अन्य खास रिफैक्टरी पदार्थों का निर्माण, वेल्डिंग करने के समय आँखों की सुरक्षा के लिये काँच, अभ्रक के द्रुत वर्गीकरण के लिये यंत्र तथा सिरैमिक रंग।

जिन विषयों पर सफल अनुसंधान हुआ है और जिनका व्यावसायिक उत्पादन में प्रयोग हो सकता है, उनमें से कुछ है : सिलिनियमरहित लाल रंग की चूड़ियाँ, गीला पिसा हुआ (वेट ग्राउंड) अभ्रक, ऐंटिमनीरहित सफेद इनैमल, रेलवे इंजनों के लिये उच्च क्वालिटी का हेड लाइट, बरफ के लिये काँच के चश्मे, धूप चश्मा, गहनों के लिये काचित इनैमल, गुलाबी रंग की इनैमल, हॉट फेस इंसुलेशन, रिफैक्टरी, बोरोनयुक्त इनैमल, क्वार्ट्ज के सिगनल क्रिस्टल तथा केओलिन को रंगरहित एवं सफेद करने की विधियाँ।

केंद्रीय भवन अनुसंधान संस्थान, (Central House Research Institute)— रुड़की स्थित, भारत की यह एक मात्र ऐसी राष्ट्रीय प्रयोगशाला है जहाँ भवननिर्माण संबंधी भिन्न भिन्न समस्याओं पर खोज की जा रही है और इस प्रयोगशाला के वैज्ञानिक यह प्रयत्न कर रहे हैं कि किस प्रकार मकानों को अधिक से अधिक मजबूत, आरामदायक और सस्ता बनाया जाय तथा भवननिर्माण का कार्य भी कम समय में पूरा किया जाय।

इस प्रयोगशाला का जन्म सन् १९४७ में रुड़की में एक छोटी सी इकाई के रूप में हुआ। सन् १९५० में इसे एक पूर्ण राष्ट्रीय प्रयोगशाला का पद प्राप्त हुआ। इसमें सात तकनीकी विभाग हैं : भवन सामग्री, नींव इंजीनियरी, भवन निपुणता, वास्तुकला, भवन व्यवहार एवं उत्पादन, सूचना एवं सर्वेक्षण और विस्तार। इन सब विभागों में तथा अन्य प्रशासकीय विभागों में लगभग ४०० व्यक्ति कार्य कर रहे हैं। इस प्रयोगशाला द्वारा किए गए आविष्कारों में से मुख्य ये हैं : कच्चे मकानों की सुरक्षा के लिये कट बैक लेप, झाग द्वारा निर्मित हलका कंकरीट, काली मिट्टी (चिकनी) से अच्छी ईंटें बनाना, ईंटें बनानेवाली मशीन, सूर्य पथ यंत्र, तापीय सुख एटलस, ईंटों के भट्ठे को सुधारना, इमारती रंग, जमीन का धँसाव नापने का यंत्र, मिट्टी की शक्ति नापने की कैंची, काली, चिकनी मिट्टी के क्षेत्र में मकानों को दरार से बचाने के लिये उनमें लट्ठा (पाइल) नींव का प्रयोग, विशेष प्रकार की ईंटों और सीमेंट का उत्पादन, फैक्ट्री और कारखानों द्वारा निष्कासित कोयले की राख एवं अन्य बेकार पदार्थों से भवनसामग्री का निर्माण तथा मकान बनाने के भिन्न भिन्न तरीकों द्वारा बचत इत्यादि।

केंद्रीय चर्म अनुसंधान संस्थान (Central Leather Research Institute) — इसकी स्थापना मद्रास के निकट हुई है। इसका प्रमुख उद्देश्य चर्म उद्योग को विकसित करना है, ताकि यहाँ के बने चमड़े के सामान संसार के अन्य देशों के बने सामानों की बराबरी कर सकें। इस संबंध में सबसे पहले पशुचर्म की ओर ध्यान गया। देखा गया कि भारत में प्राप्त कच्चे चमड़े बड़े निकृष्ट कोटि के होते हैं। उनके संरक्षण, संग्रह और अभिगमन के तरीके ऐसे हैं कि पशुचर्म का बहुत कुछ ह्रास हो जाता है। इस संबंध में जो अनुसंधान हुए हैं, उनके कार्यान्वियन से कच्चे चमड़े में बहुत कुछ सुधार हुआ है।

चमड़े के कमाने में टैनिन पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है। ये पदार्थ बहुत अधिक मात्रा में बाहर से आते थे। भारत में प्राप्य टैनिन पदार्थों की खोजें शुरू हुई और इसके फलस्वरूप ऐसे पदार्थों का निर्माण हो सका जिनसे टैनिन पदार्थों को अब बाहर से मँगाने की जरूरत नहीं रह गई है। चमड़े के कमाने में अन्य कई पदार्थों की आवश्यकता होती है, जैसे खालों पर से रोम हटानेवाले अभिकर्मक, चमड़े को सुरक्षित रखनेवाले अभिकर्मक, चमड़े को रँगनेवाले रंजक आदि। इन पदार्थों को देश में ही तैयार करने के प्रयत्न हो रहे हैं। इन्हें तैयार कर इनका परीक्षण किया जाता है और ठीक पाने पर इन्हें बनाने के लिये सब प्रकार का प्रोत्साहन दिया जाता है। भिन्न भिन्न कामों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के चमड़े की आवश्यकता पड़ती है। पहले ऐसे चमड़े बाहर से ही मँगाए जाते थे, पर अब इन्हें इस देश में तैयार करने का सफल प्रयत्न हुआ है। चमड़े के सामान तैयार करनेवालों को इसके लिये प्रशिक्षण दिया जाता है, जिससे चमड़ा उद्योग की वृद्धि में

सहायता मिलती है। चमड़े के उद्योग में सहायता देने के लिये अनेक स्थलों पर स्थानीय केंद्र खोले गए हैं। ऐसे केंद्र कलकत्ता, कानपुर, राजकोट, जालंधर और बंबई में हैं, जहाँ चमड़ा उद्योगवालों की समस्याओं पर विचार कर, उन्हें हल करने का सुझाव दिया जाता है।

चर्म के सामानों को तैयार करनेवाले कारखाने में अनेक उपोत्पाद प्राप्त होते हैं, जिनमें विशेष रूप से चमड़े की कतरनें होती हैं। इनसे उपयोगी वस्तुओं के तैयार करने, चमड़े के तल्ले बनाने, सरेस और जिलेटिन बनाने तथा रोमों एवं ऊनों के गुणों में सुधार करने के भी प्रयत्न हुए हैं। [फू० स० व०]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डाक्टर केशव बलीराम पंत हेडगेवार के शब्दों में "राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का अर्थ है–राष्ट्र की सेवा करने के हेतु स्वयं प्रेरणा से—स्वयं ही अग्रसर होनेवाले लोगों द्वारा राष्ट्रकार्य के लिये स्थापित संघ।"

नागपुर के एक वेदाध्यायी गरीब ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए डाक्टर हेडगेवार विद्यार्थी जीवन में ही देश की आजादी की लड़ाई में कूद पड़े थे। सन् १९२१ और १९३० में वे राष्ट्रीय आंदोलन में जेल गए। देश में चलनेवाले सब प्रकार के कार्यों एवं नेताओं के साथ विचारमंथन के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि असंगठित अवस्था, आत्मविस्मृति, परस्पर स्नेह का अभाव ही समाज का मुख्य रोग है और उसे दूर करने के लिये सुसंगठित तथा एकात्म-राष्ट्र-स्वरूप के साक्षात्कार से जाग्रत जीवन प्रस्थापित करना होगा।

सन् १९२५ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना कर उन्होंने कार्य के अनुकूल एक अत्यंत सरल शाखा-कार्यपद्धति उपलब्ध कराई। "हिंदुत्व ही राष्ट्रीयत्व" के आधार पर राष्ट्रजीवन के शुद्ध संस्कार व्यक्ति व्यक्ति को प्रदान कर अनुशासित और संगठित लोगों का संघ बनाने के लिये सायंप्रातः मैदानों पर शारीरिक, बौद्धिक कार्यक्रम शाखाओं में होते हैं। भगवा ध्वज को प्रणाम कर शाखा का कार्य प्रारंभ होता है और समाप्ति पर मातृभूमि की वंदना के साथ 'भारतमाता की जय' कहकर ध्वजावतरण होता है। दैनंदिन शाखा-कार्य-पद्धति में संस्कारों पर बहुत बल दिया गया है। संघ ने किसी व्यक्ति को गुरु नहीं माना। सब आयु के, सब व्यवसाय, श्रेणी, जाति, पंथ के हिंदू बंधु इस शाखाकार्य में संमिलित होते हैं। व्यक्तिगत स्वार्थ और अहंकार को भूलकर एक दूसरे से सहयोग करने के लिये अनुशासन को संगठन में महत्वपूर्ण माना गया है।

संगठन का खर्च स्वयंसेवकों द्वारा आपस में एकत्रित धनराशि से चलता है। वर्ष भर में समाज जागरण के लिये संघ छह उत्सव आयोजित करता है। उनमें से एक गुरुपूर्णिमा महोत्सव पर स्वयंसेवक अपनी अपनी शक्ति के अनुसार धन समर्पित करता है। इसी गुरुदक्षिणा के धन से कार्य-संचालन होता है। किंतु संघ में कोई भी कार्यकर्ता वैतनिक नहीं होता। कार्य के विस्तार के लिए संपूर्ण समय काम करनेवाले प्रचारक, संघचालक, कार्यवाही मुख्यशिक्षक, गुटनायकों की श्रेणियाँ हैं जो अहर्निश संगठन का कार्य करते हैं।

राष्ट्र के उत्थान के लिये चलनेवाले सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सहकारिता आदि के ऐसे सभी कार्यों में संघ का स्वयंसेवक अपनी शक्ति बुद्धि से संमिलित होने के लिये स्वतंत्र है जो राष्ट्रीय एकात्मता और सुखी समाजजीवन के निर्माण में सहायक हो।

सन् १९४० के जून मास में हेडगेवार जी की मृत्यु हुई। मृत्यु से पूर्व उन्होंने इस संगठन के कार्य की धुरी श्री माधव सदाशिवराव गोलवलकर के हाथों में सौंप दी थी। श्री गोलवलकर जी, जो काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राणिशास्त्र के अध्यापक रहने के कारण विद्यार्थियों के बीच प्रेमादर से 'गुरु जी' नाम से संबोधित हुए, इस संघ के सर्वोच्च सचालक हैं। उनके नेतृत्व में देश में जिले जिले के छोटे तक संघ की शाखाएँ फैली हैं। प्रतिक्रियात्मक वृत्तियों को संघ में स्थान नहीं दिया जाता। संघ का विश्वास है कि सामर्थ्यशाली हिंदू समाज अपने श्रेष्ठ मानवकल्याणकारी जीवनदर्शन को पुनः स्थापित कर न केवल स्वराष्ट्र जीवन को पुनर्जीवित करेगा वरन् ऐसा स्वाभिमानी समाज विश्व के अन्य मानवसमूहों को भी आकर्षित कर मानवकल्याण के कार्य में सहायक होगा।

संघ का केंद्रीय कार्यालय हेडगेवार भवन, नागपुर–२ में स्थित है। [श्री० अ०]

रॉस, जॉन, सर (Ross, John, Sir, सन् १७७७–१८५६) ब्रिटेन के रियर ऐडमिरल (Rear Admiral) तथा उत्तरी ध्रुव प्रदेश के अन्वेषक थे। १७८६ ई० में ये राजकीय नौसेना में भरती हुए। १८०८ ई० में इन्होंने स्वीडन के बेड़े के कप्तान के रूप में काम किया। १८१२ ई० में इनकी पदोन्नति हुई और ये कमांडर बने। उत्तर ध्रुवप्रदेशीय अभियान का इन्होंने समादेशन किया, किंतु किसी नई चीज को खोज निकालने में ये असफल रहे। पुन: १८२९–३३ ई० में इन्होंने द्वितीय उत्तर ध्रुवप्रदेशीय अभियान किया, जिसमें महत्वपूर्ण भौगोलिक तथा वैज्ञानिक तथ्यों का रहस्योद्घाटन हुआ। १८५० ई० में सर जान फ्रैंकलिन की खोज के सिलसिले में इनकी तीसरी समुद्रयात्रा हुई। इसके दूसरे साल इनकी पदोन्नति हो गई। इन्होंने अपनी यात्राओं से संबंधित पुस्तकें भी लिखी हैं। [जे० सिं०]

रॉस, जेम्स क्लार्क, सर (Ross, James Clark, Sir, सन् १८००–१८६२) ब्रिटेन के रियर एडमिरल तथा ध्रुव प्रदेश के अन्वेषक थे। इनका जन्म १५ अप्रैल, १८०० ई०, को लंदन में हुआ था। १८१२ ई० में ये नौसेना में भरती हुए। १८१८ ई० में इन्होंने अपने चाचा कप्तान जॉन रास के साथ उत्तर–पश्चिमी मार्ग की खोज में पहली ध्रुवप्रदेशीय यात्रा की। १८१९–२७ ई० के बीच सर डब्लू० पैरी (Sir W. Parry) के साथ इन्होंने चार ध्रुवप्रदेशीय अभियान किए। १८२९–३३ ई० के बीच फिर अपने चाचा के साथ उस क्षेत्र में गए तथा १८३१ ई० में इन्होंने उत्तरी चुंबकीय ध्रुव की स्थिति को निश्चित किया। १८३४ ई० में ये कप्तान नियुक्त हुए। १८३५ ई० से १८३८ ई० तक इन्होंने ग्रेट ब्रिटेन के चुंबकत्व पर्यवेक्षण में काम किया। १८३९–४३ ई० में इन्होंने दक्षिण ध्रुवप्रदेशीय अभियान में इरेबस (Erebus) तथा टेरर (Terror) का समादेशन किया। १८४७ ई० में इन्होंने अपने अन्वेषण से संबंधित पुस्तक लिखी। १८४८ ई० में ये रॉयल सोसायटी के सदस्य चुने गए तथा एंटरप्राइज (Enterprise) के, जिसने फ्रैंकलिन की खोज का प्रथम

अभियान किया था, समादेशक रहे। इनकी मृत्यु एल्सबरी (Aylesbury) में ३ अप्रैल, १८६२ ई० को हुई। [ज० सि०]

रास पंचाध्यायी मूलतः भागवत पुराण के दशम स्कंध के उनतीसवें अध्याय से तैंतीसवें अध्याय तक के पाँच अध्यायों का नाम है। यह संस्कृत का कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है। किंतु हिंदी में रास पंचाध्यायी नाम से स्वतंत्र ग्रंथ लिखे गए और यह नाम अत्यंत प्रसिद्ध हो गया। भागवत पुराण के इन पाँच अध्यायों को इस पुराण का प्राण माना जाता है क्योंकि इन अध्यायों में श्रीकृष्ण की दिव्य लीला के माध्यम से प्रेम और समर्पण की प्रतिष्ठा की गई है। इस लीला का उपास्य काम विजयी माना जाता है अत जो कोई भक्त इस लीलाप्रसंग को पढ़ता या दृश्य रूप में देखता है वह कामजय की सिद्धि प्राप्त करता है।

'रास पंचाध्यायी' के पाँच अध्यायों का संक्षेप में सार इस प्रकार है — शारदीय पूर्णिमा की रात्रि के समय भगवान् श्रीकृष्ण के मन में गोपियों के साथ रसमयी रासक्रीड़ा करने का संकल्प हुआ। उन्होंने अपनी मनोहारी कामबीज वंशी की ध्वनि बजाई। वंशी की मोहक ध्वनि सुनते ही गोपियाँ अपना समस्त क्रियाव्यापार त्याग कर रास प्रदेश में कृष्ण के पास पहुँच गई। श्री कृष्ण ने उन्हें पहले तो समझा बुझाकर अपने घर वापस जाने को कहा, किंतु गोपियाँ अपने निश्चय पर आरूढ़ रहीं और रासक्रीड़ा के लिये कृष्ण से आग्रह करती रहीं। जब गोपियाँ अपने घर लौटने को उद्यत न हुई तो श्री कृष्ण ने आनंदपुलकित मन से मंडलाकार स्थित होकर उनके साथ रासलीला प्रारंभ की। इस रासलीला को वैष्णव भक्त दिव्य क्रीड़ा मानते हैं और इसका आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत करते हैं। श्री कृष्ण चिदानंदघन दिव्य-शरीर हैं, गोपियाँ दिव्य जगत् की भगवान् की अंतरंग शक्तियाँ हैं। उनकी लीला भावभूमि की है, स्थूल शरीर और मन से उसका कोई संबंध नहीं। रास पंचाध्यायी पर टीका लिखनेवाले श्री वल्लभाचार्य, श्री श्रीधर स्वामी, श्री जीव गोस्वामी आदि ने इस आध्यात्मिक तत्व की व्याख्या बड़े विस्तार से की है।

हिंदी के भक्त कवियों ने भी 'रास पंचाध्यामी' के इस भागवत तत्व को ग्रहण कर अपनी सरस कृतियों में इसे स्थान दिया है। सूरदास ने इस प्रसंग को सूरसागर में समेटा है किंतु स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा। स्वतंत्र रूप से रास पंचाध्यायी लिखनेवालों में नंददास, रहीम खानखाना, हरिराम व्यास और नवलसिंह कायस्थ के नाम प्रसिद्ध हैं। नंददास की रास पंचाध्यायी रोला छंद में है। साहित्यिक ब्रजभाषा में बड़ी सरस शैली का कवि ने प्रयोग किया है। हरिराम व्यास रचित रास पंचाध्यायी त्रिपदी छंद में है। इसमें १२० छंद हैं। रासलीला का वर्णन हरिराम व्यास ने अपने ढंग से किया है। भागवत पुराण का आनुपूर्वी अनुकरण इसमें नहीं है। रहीमरचित रास पंचाध्यायी का वर्णन 'भक्तमाल' में मिलता है। दो पद भी उसमें संकलित हैं। संपूर्ण पुस्तक अप्राप्य है। नवलसिंह की रास पंचाध्यायी सामान्य कोटि की है। रास पंचाध्यायी का महत्त्व प्रेमलक्षणा भक्ति के संदर्भ में बहुत माना जाता है। इसकी कथा कहने की भी परिपाटी पड़ गई है। संक्षेप में, वैष्णव भक्ति के समर्पण भाव को स्थापित करनेवाला यह प्रधान प्रसंग है जो भागवत पुराण का अंश होने पर भी स्वतंत्र स्थान पा गया है [वि० स्ना०]

रासबिहारी बसु देश के जिन क्रांतिकारियों ने स्वतंत्रताप्राप्ति तथा स्वतंत्र सरकार का संघटन करने के लिये प्रयत्न किया, उनमें श्री रासबिहारी बसु का नाम प्रमुख है। आपका जन्म सन् १८८६ ई० में हुआ था और निधन सन् १९४५ ई० में। आप प्रख्यात क्रांतिकारी तो थे ही, सर्वप्रथम आजाद हिंद सेना के निर्माता भी थे। प्रथम महायुद्ध में सशस्त्र क्रांति की जो योजना बनाई गई थी, वह आपके ही नेतृत्व में निर्मित हुई थी। सन् १९१२ ई० में वाइसराय लार्ड हार्डिंज पर आपने ही बम फेंका था। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार की सारी शक्ति आपको पकड़ने में व्यर्थ सिद्ध हुई। सरकारी नौकरी में रहते हुए भी आपने क्रांतिकारी दल का संघटन किया। इसका गठन करने के लिये आपको व्यापक रूप से देश का बड़ी ही सतर्कता से भ्रमण करना पड़ता था। आपके क्रांतिकारी कार्यों का एक प्रमुख केंद्र वाराणसी रहा है, जहाँ आप गुप्त रूप में रहकर देश के क्रांतिकारी आंदोलन का संचालन किया करते थे। वाराणसी से सिंगापुर तक क्रांतिकारियों का संघटन करने में आपको सफलता मिली थी। क्रांतिकारी कार्यों में आपके प्रमुख सहायक श्री पिंगले थे। २१ फरवरी, सन् १९१५ ई० को एक साथ सर्वत्र विद्रोह करने की तिथि निश्चित की गई थी किंतु दल के एक व्यक्ति द्वारा भेद बता दिए जाने के कारण योजना सफल न हो सकी। इतना अवश्य कहा जायगा कि सन् १८५७ की सशस्त्र क्रांति के बाद ब्रिटिश शासन को समाप्त करने का इतना व्यापक और विशाल क्रांतिकारी संघटन एवं षड्यंत्र नहीं बना था। भेद प्रकट हो जाने के कारण श्री पिंगले को तो फाँसी पर चढ़ना पड़ा किंतु श्री रासबिहारी बसु बच निकले। अब आपने विदेश जाकर क्रांतिकारी शक्तियों का संघटन कर देश को स्वाधीन करने का प्रयत्न किया। बड़ी ही कुशलता तथा सतर्कता से आपने ठाकुर परिवार के एक व्यक्ति के पारपत्र के माध्यम से भारत से विदा ली और सन् १९१५ में जहाज द्वारा जापान रवाना हो गए। जब ब्रिटिश सरकार को विदित हुआ कि श्री रासबिहारी बसु जापान में हैं तो उन्हें सौंपने की माँग की। जापान सरकार ने इस माँग को मान भी लिया था किंतु जापान की अत्यंत शक्तिशाली राष्ट्रवादी संस्था ब्लैक ड्रैगन के अध्यक्ष श्री टोयामा ने श्री बसु को अपने यहाँ आश्रय दिया। इसके बाद किसी जापानी अधिकारी का साहस न था कि श्री बसु को गिरफ्तार कर सके। इस अवस्था में श्री बसु प्रायः आठ वर्षों तक रहे। अनंतर आपने एक जापानी महिला से विवाह किया और वहीं रहने लगे। यहीं आपने भारतीय स्वातंत्र्य संघ की स्थापना की। आप भारत की विभिन्न राष्ट्रीय भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। इसी कारण आपको देश में क्रांतिकारी संघटन करने में अभूतपूर्व सफलता मिली थी। जापान जाकर भी आपने भारतीय स्वतंत्रता के लिये ऐतिहासिक कार्य किए। यहाँ जापानी भाषा का अध्ययन कर आपने इस भाषा में भारतीय स्वतंत्रता के संबंध में पाँच पुस्तकें लिखीं। इन पुस्तकों का जापान में व्यापक प्रचार प्रसार हुआ। श्री संडरलैंड की 'पराधीन

भारत' शीर्षक पुस्तक का आपने जापानी भाषा में अनुवाद किया। भारतीय स्वातंत्र्य संघ के संस्थापन के अतिरिक्त आपने ही प्रथम आजाद हिंद सेना का संघटन किया। इस सेना के प्रधान श्री मोहन सिंह थे। इसी संघटन के आधार पर नेता जी श्री सुभाषचंद्र बसु ने द्वितीय आजाद हिंद सेना का संघटन किया। श्री रासबिहारी बसु देश के स्वातंत्र्य वीरों में अग्रगण्य हैं। क्रांतिकारी आंदोलन द्वारा भारत को पराधीनता से मुक्त करने के लिये आपने जो पराक्रम दिखाया, वह स्वाधीनता आंदोलन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों मे अंकित रहेगा। [ल० शं० व्या०]

रॉस, रोनाल्ड (सन् १८५७-१९३२), अंग्रेज चिकित्सक, का जन्म सन् १८५७ में अल्मोड़ा में हुआ था, जहाँ इनके पिता सेना में जनरल थे। दस वर्ष की आयु में अध्ययन के लिये रॉस इंग्लैंड भेजे गए। रॉस पढ़ते कम थे। इनकी रुचि संगीतरचना में थी। सेंट बारथलम्यू अस्पताल में ये चिकित्सा विज्ञान पढ़ते रहे, पर जब यहाँ असफल हुए, तब जहाज पर नौकरी कर ली। फिर लौटे और डाक्टर बने। १८८१ ई० में भारतीय चिकित्सा सेवा में प्रविष्ट हुए। अब ये संगीत छोड़कर कविता करने लगे थे। इन्होंने उपन्यास भी लिखे और फिर गणितशास्त्र में हस्तक्षेप करने का शौक हुआ।

भारत में काम करने के बाद, ये मोलमीन (बर्मा) भेजे गए। यहाँ इन्हें सर्जरी का शौक हुआ और ऑपरेशन कर डाले। १८८८ ई० में छुट्टी लेकर ये इंग्लैंड गए और वहाँ विवाह करके लौटे। इस बार इन्होंने एक उपन्यास लिखा और शीघ्रलिपि बनाने की चेष्टा की; साथ ही माइक्रासकोप की ओर भी शौक बढ़ा।

सन् १८८० में लावॉ (Laveran) ने रोगी के रक्त में मलेरिया के परजीवी ढूंढ़ निकाले थे। रॉस ने इन्हे देखने की चेष्टा की और जब वे न दिखे तो इन्होंने लिख मारा कि 'लावॉ' गलत है, मलेरिया पेट की खराबी से होता है।'

सन् १८९५ में, ये सिकंदराबाद में नियुक्त हुए। यहाँ इन्होंने हजारों रोगियों का रुधिर देखा, मच्छर पकड़े और उन्हें काटकर देखा। रॉस का मच्छर जाति से कोई परिचय न था, सिवाय इसके कि वे भूरे, या धूसर होते हैं। अवैज्ञानिक ढंग से किए गए प्रयोग असफल होते रहे। अत में भाग्य मुस्कराया। १८९७ ई० में एक दिन मच्छर के आमाशय की कोशिकाओं के बीचो बीच अजीब सी गोल गोल चीज और काला रंग देखा।

कलकत्ते के प्रेसिडेंसी जनरल अस्पताल में इन्होंने शोधकार्य नई लगन से आरंभ किया। इस बार इन्होंने चिड़ियों के मलेरिया पर शोध की। अंत में चिड़ियों को मलेरिया हुआ। रॉस ने मच्छर काटे तथा उनके आमाशय में क्रमशः मलेरिया परजीवी का विकास देखा। इन्होंने देखा कि आमाशय की दीवार पर एक से अनेक होकर वे परजीवी मच्छर की लाला ग्रंथि में प्रवेश करते हैं। मच्छर काटने के बाद थूकते हैं और तब रुधिर चूसते हैं। इस प्रकार उनके थूक से स्वस्थ चिड़िया को मलेरिया होता है। अज्ञात मेजर रॉस विश्वविख्यात हो गया।

ये रॉयल सोसायटी के सदस्य चुने गए और सोसायटी का पदक प्राप्त किया (सन् १९०१)। सन् १९०२ में इन्हे नोबेल पुरस्कार मिला और १९११ ई० में 'नाइटहुड' की उपाधि मिली। रॉस इंस्टिट्यूट की स्थापना हुई और ये उसके निदेशक नियुक्त हुए। ये 'साइंस प्रोग्रेस' के संपादक थे। इनके 'संस्मरण' प्रसिद्ध हैं। [भा० शं० मे०]

रासलीला के दर्शनपक्ष के संबंध में कहा जाता है कि रासलीलाकर्ता रसेश्वर श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं; राधा और गोपियाँ जीवात्माएँ हैं। रासलीला परमात्मा और जीवात्माओं का संमिलन है। दूसरे शब्दों में सत्-चित्-स्वरूप जीव सच्चिदानंद स्वरूप परब्रह्म के साथ मिलकर तद्रूप हो जाते हैं। जीव आनंद की अभावात्मक परिधि से मुक्त होकर रास मे परमानंद को प्राप्त होते हैं। रासलीला अंश का अंशी से, अंग का अंगी से मिलन है।

गोलोक में श्रीकृष्ण, राधा तथा अन्य गोपियों के साथ रासक्रीड़ा में नित्य निमग्न रहते हैं। लीला निर्बाध गति में होती रहती है—शाश्वत लीला। गोलोक की दूसरी संज्ञा अक्षरधाम है। भौतिक, लौकिक वृंदावन और कुछ नहीं, प्रत्युत श्रीकृष्ण का स्वधाम ही है—गोकुल। श्रीकृष्ण अपने स्वपरिकरों, सखाओं आदि के साथ अवतरित होते है। इस प्रकार रासलीला के सभी उपकरण एवं तत्व अवतार लेते हैं। इस दृष्टि से वृंदावन में श्रीकृष्ण द्वारा संपादित रासलीला अवतरित रासलीला है। भक्त जन इसे परम सत्य, परम नित्य एवं परमानंददायक मानते हैं।

भक्ति के धरातल पर रासलीला का विवेचन नातिभिन्न रूप में होता है। श्रीकृष्ण परमात्मा है, भगवान् है, परमाराध्य है, और गोपियाँ भक्त जनो की प्रतीक हैं। यह सर्वमान्य है कि भगवान् भक्तवत्सल, अंतर्यामी एवं अनुग्रही होते हैं। ऐसी मान्यता है कि जब तक भगवदनुग्रह नहीं होता तब तक भक्तों के हृदय मे भक्तिभाव का स्फुरण नहीं होता; और इसी तरह जब निष्काम भक्ति आती है तभी मुक्ति मिलती है। श्रीकृष्ण का सर्वव्यापी, अति प्रभावकारी मुरलीनाद उनका ही परमानुग्रह है। अनुग्रह होते ही सांसारिक ऐषणाओं के प्रति विरक्तिभाव भक्तों के मन में आता है। लौकिक आडंबरपूर्ण प्रपंचों से मुक्त हो भगवन्मिलन के लिये भक्त आकुलव्याकुल हो उठता है। जिस तरह गोपियाँ जब निर्विकार, निर्मलहृदया हो जाती हैं तो श्रीकृष्ण के दर्शन होते हैं, उसी तरह भक्त जब काम-मल मुक्त, विकाररहित तथा देह-धर्म-कर्म के बंधन से मुक्त हो जाता है तो उसे भगवान् के दर्शन होते हैं। गोपियों की परीक्षा होती है, भक्तों की भी। उसमें खरी या खरे उतरने पर ही उन्हें लीलाजन्य आनंद मिलता है। गोपियो के अनुरूप ही भक्तों को कीर्तन, वंदन, लीलागान करते रहना चाहिए, क्योंकि भगवद्वियुक्तों के लिये यह परम सुखकर साधन है। जब भक्त एकमात्र सर्वहितकारी, अप्रमेय, आप्तकाम, आत्मानंद श्रीकृष्णाश्रय ग्रहण करते हैं और उनका चित्त गर्व, अहंकार, दर्प, काम, क्रोधादि, लौकिक प्रपंचो से मुक्ति पा लेता है तथा श्रीचरणों मे पूर्ण आत्मसमर्पण कर देता है, तभी उन्हें भगवान् प्रसन्न मन हो स्वीकार करते हैं और उनकी चित्तवृत्तियों के साथ रमण कर परमानंद देते हैं। तात्पर्य यह कि रासलीला के श्रीकृष्ण और गोपियों की रमण लीला है भगवान् और भक्तों की चित्तवृत्तियों की लीला।

भागवत् पुराणांतर्गत 'योगमायामुपाश्रितः', 'योगेश्वरेश्वर' जैसे शब्दों को पाकर योगमार्ग के पथिकों ने भी रासलीला की सौंदर्यपूर्ण महत्ता को स्वीकार किया है। सहस्रदल कमल वृंदावन है; राधा कुंडलिनी शक्ति है; गोपियाँ मनोवृत्तियाँ हैं; और श्रीकृष्ण परमात्मा हैं। मुरली-स्वर ही अनाहत नाद है। "जब कुंडलिनी-शक्ति हृदय में अनाहत चक्र का भेदन करके स्थित होने लगती है तो साधक योगी त्रिकालज्ञता का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। अंततः जब शक्ति का परमात्मा के साथ कमल में संयोग हो जाता है तो योगी को ब्रह्म तथा ब्रह्ममय जगत् का ज्ञान होता है और वह परमानंद की पीयूषप्रवाहिणी मंदाकिनी की शीतलता के आनंद में डूब जाता है।" योगियों के अंतःकरण में नित्य रासलीला होती रहती है।

कथावस्तु — समस्त रासलीला साहित्य अत्यंत सरस, मधुर, प्रभावोत्पादक एवं मनोहारी है जिसका कथात्मक आधार पौराणिक साहित्य रहा है। रासलीला का गान करनेवाले कवियों ने ब्रह्म, विष्णु, श्रीमद्भागवत, हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त, पद्म आदि पुराणों से सामग्री ली है लेकिन श्रीमद्भागवत की रास पंचाध्यायी से वे जितना उपकृत हैं उतना अन्य किसी पुराण से नहीं। श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के २९वें से ३३वें तक पाँच अध्याय श्रीरास पंचाध्यायी की संज्ञा से सुविख्यात हैं जिसका स्वरूप खंडकाव्यात्मक गरिमा से संपन्न है। इसीलिये काव्यात्मक आलोक में देखने पर रासलीलाकाव्य खंडकाव्य के अधिक निकट रहा है। रसेश्वर लीलाशाली श्रीकृष्ण की तथा सौंदर्य-माधुर्य-विदग्धा श्रीराधा की मधुरमनोहर लीलाओं का गान ही प्रधान लक्ष्य कवियों का रहा है। रासलीला के नायक श्री कृष्ण हैं जो नायकभेद की दृष्टि से धीर ललित सिद्ध होते हैं। दिव्य-सौंदर्य-मूर्ति राधिका नायिका-पद पर प्रतिष्ठित हैं जिनमें नायिकोचित अलंकारों की पूर्ण सास्थिति है। गोपियाँ या राधाकृष्ण की सखियाँ भी अत्यंत भावप्रगल्भा तथा नृत्य-संगीत-कला-विदग्धा है। ऐसे एक दो कवि हुए हैं जिन्होंने श्रीकृष्ण की अपेक्षा श्रीराधा को ही प्रधानता दी है, जैसे राधावल्लभ संप्रदाय के अनुयायी श्रीवंशी अलि जी। इन्होंने श्रीकृष्ण को हटाकर उनके पद पर श्री राधिका की प्रतिष्ठा की और कलित-ललित लीला-व्यापारों का वर्णन किया। इनका 'राधिका महारास' अवलोक्य है।

रससृष्टि से रति स्थायी भाव है जिसका वर्ण श्याम और देव विष्णु भगवान् हैं। आलंबन विभाव के रूप में श्रीकृष्ण और उनकी प्रियतमा के लावण्यपूर्ण सौंदर्य अभिवर्णित हैं। उद्दीपन के अंतर्गत मुरलीनाद, चंद्रिकापूर्ण रजनी, दुग्ध-धवल-बालुकाराशि-मंडित कालिंदीतट, विविध पुष्प-पादप-पूरित वन, त्रिविध समीरसंचार, शृंगारोपयुक्त प्राकृतिक शोभा का वर्णन आता है। सात्विक, कायिक, मानसिक आदि अनुभावों का यथोचित वर्णन रासलीला साहित्य में मिलता है। आवेग, दैन्य, श्रम, मद, जड़ता, गर्व, औत्सुक्य, उन्माद आदि व्यभिचारी भावों का सविस्तर निरूपण होता है। इस तरह रासलीला-साहित्य शृंगाररस को पूर्ण प्रतिष्ठा देता है। संयोग, वियोग और संभोग—तीनों भेदों से मंडित हो यह 'रसराजत्व' को प्राप्त होता है। वृत्तियों में उपनागरिका और कोमला को विशेष रूप से प्रश्रय मिलता है। रीतिभेदों में वैदर्भी और पांचाली ही सर्वत्र प्रतिष्ठित हैं। परंपराभुक्त साम्यमूलक अलंकारों के सहारे काव्य का सौंदर्यविधान किया गया है। शब्दशक्तियों में तीनों को स्थान मिला है लेकिन सर्वाधिक अभिधा का ही प्रयोग मिलता है। प्रसाद और माधुर्य, दोनों गुणों से पूर्ण रासलीला साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं—गीतिकाव्यात्मकता, शास्त्रीय राग-विधान-संमतता, गेयता, कोमल-कांत-पदावली की बहुलता, रसात्मकता।

रासलीला में दर्शन, काव्य और संगीत तीनों के तत्वों का सम्यक् सामंजस्य मिलता है। यही कारण है कि हिंदी के भक्त कवियों ने तो इसका मुक्त कंठ से गान किया ही, भारत की विभिन्न भाषाओं, जैसे बँगला, गुजराती, मराठी, मलयालम, उड़िया, असमिया आदि के भक्त-गायक कवियों ने भी पूरी तन्मयता से इसका वर्णन गायन कर साहित्यसंवर्धन किया।

प्राचीन साहित्य में रास का उल्लेख प्राप्त है। भरत मुनि ने रास या रासक को उपरूपक के भेद के रूप में स्वीकार किया है जिसके तीन भेद हैं—१. ताल रासक, २. दंड रासक, ३. मंडल रासक। ये तीनों रूप आज भी सप्राण हैं। ताल का संबंध है हाथ से ताल देने की क्रिया से। दंड रासक में दंड या डंडे की प्रधानता रहती है। इसीलिये इसकी दूसरी संज्ञा लकुट रास है जिसका उल्लेख जिनदत्त सूरि ने किया है। ताल रास भाट लोगों द्वारा संपादित होता था और लकुट रास में नर्तक अपनी प्रवीणता का परिचय देते थे। १२ वीं-१३ वीं शती में इसका प्रचार था, यह पुष्ट हो जाता है। मंडल रासक ही हल्लीसक नृत्य था जिसका विशद वर्णन हरिवंश पुराण में है। अजंता आदि गुफाओं से यह बात सिद्ध होती है कि लोकजीवन को इससे गुप्तकाल से ही सरसता एवं मधुरता मिलती रही है। भारतीय नृत्यभेद लास्य का एक रूप है यह। लास्य और रास दोनों कोमल, शृंगाररसप्रधान, मधुर, तथा आकर्षक नृत्य हैं। नटवरी कत्थक और रास में नटवर कृष्ण की क्रीड़ाओं को साकार किया जाता है।

रासलीला का आरंभ, रासधारियों की मान्यता के अनुसार, श्रीवल्लभाचार्य ने सर्वप्रथम किया। माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण के आठ किशोरों के सहयोग से इसका श्रीगणेश तो हुआ लेकिन श्रीकृष्ण-रूप-धारणकर्ता के लुप्त होने से यह खंडित हो गया। तदुपरांत श्रीवल्लभाचार्य ने श्रीघमंडदेव को इस दिशा में अनुप्रेरित किया। करहला में उदयकरण और खेमकरण नामक दो ब्राह्मण पुरुषों के सहयोग से घमंडदेव जी ने रासलीला का समायोजन कर सर्वप्रथम साफल्यलाभ किया। कई वर्षों बाद श्री नारायण भट्ट के सत्प्रयास से इसका समुचित प्रचार प्रसार हुआ। यत्र तत्र रासमंडल का निर्माण कराकर भट्ट जी ने रासजन्य आनंद को सर्वसुलभ बना दिया। करहला निवासी रामराय तथा कल्याणराय, तत्कालीन विख्यात नृत्यकला-मर्मज्ञ वल्लभ — इन तीनों के साहचर्य तथा सहायता से भट्ट जी ने रासलीला स्वरूप की स्थापना की जो यत्किंचित् नवीन परिवर्तन के साथ समस्त उत्तर भारत में प्रचलित है। यह रास नृत्य, ब्रजभूमि की यह लीला, चार सौ वर्षों से जनमन को रसमग्न करती आ रही है।

रंगमंच के लिये अनावश्यक आडंबरपूर्ण साधनों की अपेक्षा नहीं होती। एक आयताकार मंच, दो यवनिकाएँ, एक आकर्षक

सज्जापूर्ण सिंहासन, कलात्मक कुर्सियाँ—इतने उपकरणों से रंगमंचीय आवश्यकता करीब करीब पूरी हो जाती है। मंच के आगे नृत्यादि के लिये १५–२० फुट लंबी तथा १०–१५ फुट चौड़ी समतल, प्रशस्त कार्योपयुक्त भूमि होती है। इस तरह यह लीला सहज ही कहीं भी की जा सकती है।

श्रीकृष्ण और श्रीराधिका, इन दोनों के स्वरूपधारण के लिये किशोर कुमारों का ब्राह्मण होना अनिवार्य सा माना जाता है। श्रीकृष्ण कछनी एवं किरीट धारण कर तथा राधिका 'लहँगा' फरिया से सज्जित हो सिंहासन पर विराजती हैं। रासारंभ के पूर्व की भूमिकाएँ हैं—मंगलाचरण, आरती, तदुपरांत सखियों के निवेदन पर श्री प्रीतम जी का श्री प्रिया जी से रास हेतु अनुरोध तथा स्वीकृतिकथन। रासमंडली के स्वामी जी सूत्रधार पद को गौरवान्वित करते हुए विधिपूर्वक संचालन करते हैं। श्री प्रिया जी 'अच्छौ हौ प्यारे' कह स्वीकृति देती हैं; गीत गाती हैं; तदुपरात दोनों मंच से उतर रास करते हैं। केवल नृत्य होता है; मुख, कटि, हस्तसंचालन से विभिन्न भावों को प्रदर्शित करते हैं। नृत्य की समाप्ति होती है तो स्वामी जी हाथों से ताल देने लगते हैं — तततता थेई, तततता थेई, तततता थेई। श्री प्रिया जी पगताल देती सक्रिय हो उठती हैं। इस नृत्य की परिसमाप्ति होती है 'ता' का उच्चारण होते ही।

थेई थेई थेई थेई थेई तत थेई थेई।
थेई थेई थेई थेई थेई थेई ता॥

स्वामी जी 'नाचत रास में रासबिहारी' पदगान से श्रीकृष्ण जी को उत्प्रेरित करते हैं श्री प्रिया जी के सेवार्थ। फिर विश्राम के क्षण आते हैं। स्वामी जी 'तततता थेई' गाकर नवीन नृत्यारंभ का संकेत देते हैं। सखियाँ कभी गाती हैं, कभी नाचती हैं, कभी श्री प्रिया जी तथा श्री प्रीतम जी के अनुकूल लघु लीलाएँ करती हैं।

इस रासलीला में अष्टछाप के पदों, सवैयों, कवित्तों, दोहों का मधुरालापपूर्ण गायन होता है; कथावस्तु में श्रीमद्भागवत पुराण, सूरसागर, व्रजविलास का आधार होता है; रसोत्कर्ष विधान के लिये मुरली, उपंग, ताल, मृदंग, झाँझ, मंजीरा, सारंगी, इसराज, आदि वाद्ययंत्रों का सहयोग आवश्यक होता है। अपने उदयकाल में इसकी कथावस्तु भागवतपुराण के दशम स्कंध के पाँच अध्यायों—२९वें से ३३वें तक —की होती थी लेकिन अब इसका रूप अत्यंत विस्तृत हो गया है। रासपंचाध्यायी के अतिरिक्त अन्य लीलाएँ भी उसके अंतर्गत समाविष्ट हो चुकी हैं, जैसे जन्मलीला, बहुलालीला, दानलीला, पनघटलीला, पूतनावधलीला, कंसवधलीला, भ्रमरगीत आदि।

रासलीला का क्षेत्र न केवल व्रज क्षेत्र है, बल्कि असम और गुजरात भी। मणिपुर में यह अपनी संपूर्ण कलात्मक विशेषताओं से मंडित हो संपादित होती है। रासनृत्य मंदिरों में. पर्वतीय भूमि में निश्चित काल में हुआ करता है। मणिपुरी रासनृत्य के चार भेद हैं — १. वसंतरास २. कुंजरास ३. महारास ४. नित्यरास। वसंतरास वसंतकालीन है और कुंज आश्विनकालीन। नित्यरास — नित्य है, कालमुक्त है। परंतु महारास का आनंद लिया जा सकता है तो कार्तिक मास में ही। यह कोमल शृंगारप्रधान नृत्य लघु लघु दीपों से प्रकाशित मंडप में होता है। पहले संकीर्तन, तदुपरांत नृत्य होता है। कृष्ण का अभिनय ९–१० वर्ष का बालक करता है। श्रीकृष्ण का अभिसारगमन, मिलनकुंज में मुरलीवादन, मधुर गति से नृत्य करती हुई गोपियों का राधा के साथ श्रीकृष्ण के निकट आगमन, राधा का कृष्णचरण पर पुष्पार्पण आदि क्रीड़ाएँ संपादित इस रूप में होती हैं कि रसग्राहक मुग्ध-मोहित सा आद्यंत बैठा रहता है। रंगमंचीय सौंदर्य, नृत्यकलाविदग्धा गोपियों का परिधान तथा अलंकरण, वाद्ययंत्रों की मंद मधुर ध्वनि, विभिन्न अलंकारों से मंडित श्रीकृष्ण तथा गोपियों की भावभंगिमाएँ—सब मिलकर अत्यंत उदात्त, अत्यंत आह्लादकारी दृश्य उपस्थित करते हैं।

गुजरात में रासलीला के प्रति नरसिंह मेहता की गहरी अभिरुचि थी। गुजरात का गरबा, नागा प्रदेश का खंबालिम, आंध्र प्रदेश का कोलाट्टम, जम्मू कश्मीर का फुंमनी आदि लोकनृत्यों को रासनृत्य के अत्यंत निकट माना जाता है। किसी नृत्य में ताल का प्राधान्य है तो किसी में डंडे का या मंडलाकार रूप का। इस तरह समस्त भारत में रासनृत्य विभिन्न लोकनृत्यों में जीवित है।

सं० ग्रं० — सेठ कन्हैयालाल पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ; भारतीय साधना और सूर साहित्य : डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम'; रासपंचाध्यायी — एक सांस्कृतिक अध्ययन : श्री रसिकविहारी जोशी; कत्थक नटवरी नृत्य : श्री के० एस० जैन; रास और रासान्वयी काव्य : डॉ० दशरथ ओझा। [रा० ना० रा०]

रासायनिक इंजीनियरी अर्थशास्त्र और मानवसंबंधों के नियमों का पालन करते हुए भौतिकीय विज्ञानों के सिद्धांतों के उन क्षेत्रों में अनुप्रयोगों को कहते हैं जिनमें प्रक्रमों (processes) और प्रक्रम उपस्करों (equipments) की सहायता से पदार्थ की अवस्था, ऊर्जाश, या संघटन परिवर्तित किया जाता है।

जिन क्षेत्रों में रासायनिक इंजीनियरी का महत्वपूर्ण स्थान है, वे निम्नलिखित हैं : जैविकी, आहार, उच्च दाब शिल्पविज्ञान, अकार्बनिक रसायनक, नाभिकीय विज्ञान कार्बनिक रसायन, प्रलेप (paints), वार्निश और लाक्षारस (lacquer), लुगदी और कागज, शैल रसायनक (petrochemicals), पेट्रोलियम उत्पादन, पेट्रोलियम शोधन, प्लास्टिक और उच्च बहुलक (polymers), काच और मृत्तिकाशिल्प, सीमेंट, साबुन और अपमार्जक (detergents) एवं प्रक्रम अभिकल्पन और नियंत्रण के लिये यंत्रीकरण (instrumentation) और संगणक।

रासायनिक इंजीनियर उपर्युक्त क्षेत्रों में से किसी भी क्षेत्र में अनुसंधान, विकास, तकनीकी सेवा, निर्माण, तकनीकी विक्रय या व्यवस्था करने, या कालेज में अध्यापन के लिये नियुक्त किया जा सकता है।

प्रकार और उत्तरदायित्व — रासायनिक इंजीनियर का संबंध ऐसे प्रक्रम से होता है जिसमें अनेक कच्चे माल अलग अलग, या संयोजन में, अनेक क्रमों के समग्र रूप में उपचारित किए जाते हैं। प्रत्येक क्रम में भौतिक, या रासायनिक, या दोनों प्रकार के परिवर्तन हो सकते हैं। अंतिम उत्पादों को पूर्वनिर्धारित अभीष्ट गुणों से युक्त होना ही चाहिए। कच्चा माल प्राकृतिक स्रोतों, या निर्माण के क्रमों से प्राप्त किया जाता है।

प्रक्रम में समाविष्ट भौतिक परिवर्तनों का अभिकल्प कच्चे माल से अवांछित अंशों को अलग करने, कच्चे माल का ताप, सांद्रता या भौतिक रूप बदलने, या उसे एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने के लिये किया जाता है। औद्योगिक प्रक्रम को सुगमता से प्रवाह आरेख, या अनुक्रम आरेख (flow sheet diagram) द्वारा निरूपित किया जा सकता है। ऐसे आरेख में प्रक्रम के विविध क्रम और वे बिंदु, जहाँ कच्चे माल प्रविष्ट कराए जाते हैं और उत्पाद निकाल लिए जाते हैं, वह अनुक्रम (sequence), जिसके अनुसार पदार्थ एक क्रम में पहुँचते हैं और विभिन्न क्रमों के संबंध आदि दिखाए जाते हैं। अधिक विस्तृत और व्यापक अनुक्रम आरेख मे प्रक्रम के लिये आवश्यक पदार्थों का परिमाण, ऊर्जा और श्रम, नियंत्रण बिंदु, उपकरण की महत्वपूर्ण परिमाप और अभिकल्पना की विशेषताओं का संकेत भी मिलता है।

रासायनिक इंजीनियर भौतिकी, रसायन, गणित और इंजीनियरी की अन्य शाखाओं से प्राप्त जानकारी पर निर्भर रहता है। अपने पेशे से संबद्ध उत्तरदायित्वों के निर्वाह के लिये उसने तत्वयोगमिति (Stoichiometry) जैसे विषयों को विकसित कर लिया है। रासायनिक इंजीनियरी के अंतर्गत जागतिक उपयोगिता के तीन नियमों के सरल सामान्यीकरण हैं। ये नियम हैं : पदार्थ संरक्षण का नियम, ऊर्जा संरक्षण का नियम और रासायनिक सूत्रों तथा समीकरणों से निरूपित संयोजी भार (combining weights) के तत्वयोगमितीय नियम। इन नियमों के महत्व का कारण यह है कि ये नियम परिमाणात्मक रूप से प्रयोज्य (applicable) हैं और तृतीय नियम का उपयोग कभी कभी प्रत्येक रासायनिक परिकलन में आवश्यक हो जाता है।

ऊष्मागतिकी के उपयोग से रासायनिक इंजीनियरी में प्रक्रम में आए हुए पदार्थों के भौतिक और रासायनिक गुणों के संबंध में महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती है तथा एक दूसरे के संपर्क में आई हुई गैसों और द्रवों की साम्यावस्था तथा प्रत्येक क्रम की चरम दक्षता सीमा का पता लगता है। ऊष्मागतिक सिद्धांतो से उन अवस्थाओं का संकेत मिलता है जिनमें कोई रासायनिक क्रिया संभव है, या जो अवस्थाएँ क्रिया के अनुकूल नहीं पड़तीं।

रासायनिक इंजीनियरी नामक मूल विज्ञान को कला, व्यवहारशास्त्र एवं क्यों और कैसे (know-how) की जानकारी पूर्णतया प्रदान करती है। इसमें विविध ज्ञानशाखाओ से उपलब्ध जानकारी को समग्र रूप में प्रयोग करने की ओर बल दिया जाता है, जिससे रासायनिक इंजीनियर अपने समाज और व्यवसाय की सेवा अधिक लाभप्रद रूप में कर सके। आधुनिक रासायनिक इंजीनियरी के विकास में यद्यपि अनेक बातों का योग रहा है, तथापि दो धारणाओं का महत्व असाधारण रहा है : (१) एकल प्रक्रम (Unit processes) और (२) एकल संक्रियाएँ (Unit operations)।

एकल प्रक्रम — इसके अंतर्गत तीन दर्जन, या इससे अधिक विधियाँ हैं, जिनकी सहायता से एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ में परिवर्तित किया जाता है। एकल प्रक्रम रासायनिक परिवर्तन, जैसे दहन (combustion), वैद्युत अपघटन (electrolysis), बहुलकीकरण आदि है।

एकल संक्रियाएँ — इनमें लगभग दो दर्जन भौतिक परिवर्तन समाविष्ट हैं। पदार्थ की अवस्था और ऊर्जास्तर में मौलिक परिवर्तन नहीं होता, परंतु पदार्थ की अवस्था और ऊर्जास्तर में भौतिक प्रकृति के परिवर्तन होते हैं।

इन एकल प्रक्रमों को औपचारिक मान्यता मिल जाने से रसायन विज्ञान और रासायनिक इंजीनियरी मे स्पष्ट अंतर करना संभव हो गया है। रसायन विज्ञान प्रक्रिया के पैमाने (scale of operation) के प्रभाव की उपेक्षा करता है और विलगित (isolated) रासायनिक प्रक्रिया पर ही ध्यान देता है। रासायनिक इंजीनियरी कच्चे मालों की खरीद और क्रिया के मौलिक बलगति विज्ञान (fundamental kinetics) से लेकर उत्पादों के पैकिंग करने और विक्रय करने तक की समग्र प्रक्रिया पर दृष्टि रखती है। रासायनिक इंजीनियर मौलिक वैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर प्रत्येक संक्रिया का विश्लेषण करता है, जिससे वह प्रयोगशाला, प्रारंभिक संयंत्र (pilot plant) या उत्पादन यूनिट से प्राप्य परिणामों की अग्रिम सूचना दे सके। तकनीकी योग्यता तो आवश्यक है ही, परंतु अर्थशास्त्र, मानव संबंध, नीति और सदाचार के मूल्यों का महत्व भी इस क्षेत्र में दिनोंदिन बढ़ रहा है।

प्रधान एकल प्रक्रम हैं : (१) दहन, (२) ऑक्सीकरण, (३) उदासीनीकरण, (४) वैद्युत् अपघटन, (५) निस्तापन (Calcination), (६) विहाइड्रोजनीकरण, (Dehydrogenation) (७) नाइट्रोजनीकरण, (८) ऐमोनी अपघटन (Ammonolysis), (९) हैलोजनीकरण, (१०) सल्फोनीकरण, (११) जलअपघटन (Hydrolysis), (१२) ऐल्किलीकरण (१३) संघनन, (१४) बहुलकीकरण, (१५) किण्वन, (१६) ताप अपघटन (Pyrolysis), (१७) भंजन (Cracking) तथा (१८) आयन विनिमय (Ion exchange)।

एकल संक्रियाएँ हैं : (१) तरल गतिकी (Fluid dynamics), (२) ऊष्मा स्थानांतरण, (३) वाष्पीकरण, (४) आर्द्रीकरण, (५) गैस अवशोषण, (६) विलायक निष्कर्षण (Solvent extraction), (७) अधिशोषण (Adsorption), (८) आसवन (Distillation) और ऊर्ध्वपातन (Sublimation), (९) शुष्कन, (१०) मिश्रण, (११) वर्गीकरण, (१२) अवसादन (Sedimentation), (१३) निस्यंदन (Filtration), (१४) आवरण (Screening), (१५) क्रिस्टलन, (१६) अपकेंद्रण (Centrifuging), (१७) आकार अवनमन, (१८) पदार्थ प्रबंध तथा (१९) तरलीकरण।

अन्य विज्ञानों की भाँति रासायनिक इंजीनियरी में भी क्रांतिकारी नहीं तो मौलिक परिवर्तन अवश्य हो रहे हैं। १९५० ई० से एकल संक्रिया धारणा इंजीनियरी विज्ञान के रूप में धीरे धीरे विकसित हो रही है। इस विज्ञान मे सभी भौतिक प्रक्रमो की संहति, ताप और संवेग (momentum) के पदों में गणितीय विवेचन पर

सर्वाधिक बल दिया जा रहा है। इन सबसे नई पीढ़ी को अवगत कराने के लिये स्नातक स्तर के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की गई है।

प्रारंभिक संयंत्र (Pilotplant) — रसायनज्ञ, या शिल्पवैज्ञानिक (technologist) द्वारा इस बात के निर्धारित कर लेने पर कि अमुक रासायनिक, या जैविक अभिक्रिया होगी प्रयोगशाला में छोटे पैमाने पर नए प्रक्रम का विकास किया जाता है। उपलब्ध सूचना रासायनिक इंजीनियर को दे दी जाती है कि वह इस प्रक्रम को व्यापारिक पैमाने पर चालू करे। जानकारियाँ प्रायः बहुत महत्व की नहीं होतीं। अतः परख अभिकल्प (trial design) का परीक्षण करना पड़ता है। सबसे आशाजनक अभिकल्प को अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर ही बनाया जाता है, जिससे यह बात मालूम हो जाय कि कोई ऐसी गंभीर समस्या नहीं उत्पन्न हो जाती है जिसका पूर्वानुमान प्राप्त जानकारी के आधार पर नहीं किया जा सकता है। ऐसे छोटे पैमाने पर बने संयंत्र को प्रारंभिक संयंत्र कहते हैं। प्रारंभिक संयंत्र के प्रचालन से जो सूचना प्राप्त होती है, वह पूर्ण दक्षता के संयंत्र के अभिकल्प का आधार बनती है। प्रारंभिक संयंत्र के अभिकल्प में पूरे पैमाने पर बननेवाले संयंत्र की समस्याओं को ध्यान में रखना आवश्यक है।

प्रक्रम नियंत्रण और यंत्रीकरण — रसायन उद्योग श्रम बचानेवाले ऐसे यंत्रों के उपयोग में अग्रणी है, जिनसे उत्कृष्ट गुणों के उत्पादों को कम से कम लागत द्वारा तैयार करने के लिये आवश्यक अवस्थाओं का अनुरक्षण (maintenance) हो सके। अब अविरत प्रक्रमों (continuous process) का प्रचालन प्रायः यंत्रों के नियंत्रण में होता है। समुचित प्रचालन अवस्थाओं में आए हुए अंतर, या तो स्वचालित रूप से सुधार लिए जाते हैं, या प्रचालक को संकेत पद्धति से चेतावनी मिल जाती है।

शैक्षिक कार्यक्रम — रासायनिक इंजीनियरी की शिक्षा १८९०–१९२२ ई० के काल में अत्यंत वैयक्तिक और विविध प्रकार की थी। औद्योगिक रसायन की शिक्षा लियो बेकेलैंड और ए० डी० लिटिल जैसे सफल रसायनज्ञ उद्योगपति देते थे। १९२२ ई० में अमरीकन इंस्टिट्यूट ऑव इंजीनियर्स ने इसे आधुनिक रासायनिक इंजीनियरी का रूप दिया।

आजकल विश्व के सभी विश्वविद्यालयों में रासायनिक इंजीनियरी की शिक्षा दी जाती है। अमरीका, इंग्लैंड, फ्रांस, रूस और जर्मनी के पाठ्यक्रम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारत में इसकी शिक्षा यद्यपि १९२१ ई० से ही दी जा रही है, तथापि इधर के १५ वर्षों में ही यह विश्व के प्रगतिशील राष्ट्रों के स्तर की शिक्षा हो सकी है।

पाठ्यक्रम के विवरण विभिन्न विश्वविद्यालयों में भिन्न भिन्न हैं। प्रायः बी० एस-सी० (केमिकल इंजीनियरिंग) के पाठ्यक्रमों में निम्नलिखित विषयों का समावेश होता है: (१) भौतिकी, (२) रसायन, (३) गणित, (४) वैद्युत और यांत्रिक इंजीनियरी, (५) एकल प्रक्रिया, (६) एकल प्रचालन, (७) ऊष्मागतिकी, (८) बलगतिकी और उत्प्रेरण, (९) रासायनिक संयंत्र अभिकल्पना, (१०) अनुसंधान और विकास तथा (११) अर्थशास्त्र।

व्यावसायिक संघ (Professional Societies) — ऐसे अनेक व्यावसायिक संघ हैं जिनके द्वारा रासायनिक इंजीनियरी का शिल्पवैज्ञानिक और व्यावसायिक विकास, शिक्षा के उच्च स्तर का अनुरक्षण और व्यवसाय के लिये महत्वपूर्ण सूचनाओं का विनिमय हो सका। ऐसे संघों में अमरीकन इंस्टिट्यूट ऑव केमिकल इंजीनियर्स (१९०८), दि इंस्टिट्यूशन ऑव केमिकल इंजीनियर्स ऑव लंदन (१९२२) और दि इंडियन इंस्टिट्यूट ऑव केमिकल इंजीनियर्स (१९४७) उल्लेखनीय हैं।

इंजीनियरी की नई शाखा के रूप में विकसित हो रही रासायनिक इंजीनियरी में अभिरुचि रखनेवाले मुट्ठी भर लोगों ने रासायनिक इंजीनियरों का संघ बनाने का प्रयास किया। १८८७ ई० में मैनचेस्टर टेकनिकल स्कूल में हुए जार्ज ई० डेविस के भाषणों को संकलित किया गया, जो आधुनिक रासायनिक इंजीनियरी की आधारशिला बना। इसमें डेविस ने उन बातों पर जोर दिया था और रासायनिक उद्योगों में उनके महत्व को सिद्ध किया था जिन्हें आगे चलकर एकल प्रचालन नाम से अभिहित किया गया।

अमरीका में रासायनिक इंजीनियरी में पहला पाठ्यक्रम मासाचूसेट्स इंस्टिट्यूट ऑव टेकनॉलोजी, कैंब्रिज (मासाचूसेट्स), में १८८८ ई० में निर्धारित हुआ। बाद में इस इंजीनियरी को महत्वपूर्ण गतिशक्ति देनेवाले हुए : एच० वॉकर, वारेन के० ल्युइस और डब्लू० एच० मैकादाम्स। इनकी पुस्तक का प्रथम प्रकाशन १९२७ ई० में और संशोधित रूप के प्रकाशन १९२३ ई० और १९२७ ई० में हुए। इसमें उन मौलिक सिद्धांतों की स्थापना कर दी गई है जिनपर रासायनिक इंजीनियरी आधारित है और इस प्रकार इसने इंजीनियरी का यथार्थ और परिमाणात्मक विभाग बनाने में महत्वपूर्ण योग दिया।

सं० ग्रं० — हेनले ऐंड बाइबर : केमिकल इंजीनियरिंग कैलकुलेशन्स; (२) जॉन. एच. पेरी : केमिकल इंजीनियरिंग हैंडबुक; (३) बिलब्राट ऐंड ड्राइडेन : केमिकल इंजीनियरिंग प्लांट डिज़ाइन

[बी० के० मा०]

रासायनिक उपकरण (Chemical Apparatus) किसी भी रासायनिक प्रयोगशाला में ठोस, द्रव, या गैस अवस्था में अनेक प्रकार के पदार्थों के साथ प्रयोग करने पड़ते हैं तथा विभिन्न प्रयोगों के साथ विशेष प्रकार के उपकरणों को जुटाना पड़ता है। अतः उन साधारण उपकरणों को, जिनसे अन्य अनेक प्रकार के जटिल उपकरण तैयार कर प्रयोग किए जाते हैं, जान लेना नितांत आवश्यक है। उपकरणों का चुनना इस बात पर भी निर्भर करता है कि क्रिया किस ताप पर होगी और क्रियाशील पदार्थ संक्षारक (corrosive) तो नहीं होंगे।

रासायनिक क्रियाएँ ठोस, द्रव, या गैस अवस्थावाले पदार्थों के साथ हो सकती हैं। अतः विलयन, निस्यंदन, निष्कर्षण, अवक्षेपण, वाष्पीकरण, संघनन, शोषण आदि अनेक विधियों के लिये विभिन्न प्रकार के उपकरण, जैसे बीकर, परखनली, कीप, पंप, निस्यंदन फ्लास्क, जल ऊष्मक, वायु ऊष्मक, आंशिक आसवन स्तंभ, फ्लास्क

शोषक स्तंभ, गैसजनित्र, धावन बोतल, काग, रबर तथा काँच की नली, तापमापी, मूषा, तोल बोतल, ब्यूरेट, पिपेट, अंशांकित फ्लास्क आदि, प्रयुक्त होते हैं।

किसी विशेष प्रकार का उपकरण तैयार करने के लिये विभिन्न उपकरणों को शीशे तथा रबर, या प्लास्टिक की नलियों की सहायता से जोड़ना पड़ता है। उनमें साधारण, या रबर के काग लगाने पड़ते हैं। उन कागों में छेद करने पड़ते हैं, काँच की नलियों को मोड़ना पड़ता है तथा उन्हें झुकाना, खींचना या किसी विशेष अभीष्ट रूप में बनाना आवश्यक होता है। आजकल घर्षित काँच के प्रामाणिक जोड़वाले उपकरण भी ऐसी नापों के मिलते हैं जो इस प्रकार छुट जाते हैं कि उनमें जल, या हवा का पूर्ण रोधन हो सके। अतः काग लगाने, या अन्य प्रकार से जोड़ने की आवश्यकता नहीं होती। प्रयोग करते समय जोड़ों का सिलीकोन ग्रीज से स्नेहन (lubrication) करना पड़ता है, जिससे वे पूर्णरूपेण वायुरोधी हो जायें।

प्रयोगशाला की विधियों में समय समय पर परिवर्तन होते रहे हैं, अतः कम मात्रा में पदार्थ लेकर काम करने के लिये सूक्ष्म-उपकरणों का, जैसे सूक्ष्म बीकर, सूक्ष्म ब्यूरेट, सूक्ष्ममापी तुला आदि का प्रयोग होने लगा है, जिनकी सहायता से हम कुछ ही मिलीग्राम पदार्थ से अनेक क्रियाएँ कर सकते हैं। ऐसे अधिकांश उपकरण अधिक मात्रा में पदार्थ लेकर काम में आनेवाले उपकरणों के लघु रूप हैं।

इसके अतिरिक्त प्रयोगशाला में कुछ भौतिक मापों को निकालना पड़ता है, जिसके लिये तुला, तापमापी, बैरोमीटर, स्पेक्ट्रोमीटर, पी-एच मापी, चालकतामापी, ध्रुवणमापी, विवर्तनमापी, श्यानतामापी आदि अनेक विशेष उपकरणों की आवश्यकता होती है।

कुछ साधारण उपकरणों का वर्णन तथा उनके उपयोग नीचे लिखे जाते हैं। चित्रों के लिये देखें फलक।

१. बुन्सेन ज्वालक — देखें,बुन्सेन ज्वालक

२. ऊष्मक : (क) जल ऊष्मक (Water bath) — इसमें जल भरा रहता है और इसमें ऊपर के छल्लेदार ढक्कनों को कम ज्यादा करके किसी भी आकार का बरतन इसपर रखकर गरम किया जा सकता है। (ख) तैल ऊष्मक — इसमें जल के स्थान पर तैल, या पैराफीन रहता है। (ग) बालु ऊष्मक — इसमें टीन के एक तवे के ऊपर बालू की एक समान तह फैला दी जाती है। आजकल इन ऊष्मकों के अतिरिक्त (घ) वैद्युत जल ऊष्मक, (ङ) हॉट प्लेट (गरम पट्टिका) तथा (च) गरम करनेवाले मैंटेल भी प्रयोग किए जाते हैं।

३. उपकरणों को कसने, जुटाने या ऊपर नीचे हटाकर लगाने के लिये (क) क्लैंप, (ख) बॉसहेड, या क्लैंप परिग्राही तथा (ग) क्लैंप रिंग (पकड़ छल्ला) प्रयुक्त किए जाते हैं।

४. रोधनी :(क) दाबक रोधनी (Pinch-cock)— यह रबर की नली को दबाने के काम आती है, (ख) पेंचदार रोधनी एक दूसरे प्रकार का उपकरण, जिसमें पेंच से कसकर रबर को दबा सकते हैं।

५. चम्मच (Spatula) — यह कई प्रकार के होते हैं तथा हाथ से बिना छुए पदार्थों को बोतलों से निकालने, या किसी उपकरण में डालने के काम आते हैं। यह चीनी मिट्टी, निकेल, या जंगरोधी इस्पात के बने होते हैं।

६. परख नली — परख नली को पकड़ने की चुटकी, परख नली का स्टैंड तथा क्वथन नली (यह परख नली से बड़ी, पर उसी प्रकार की होती है)।

७. जलधार चूषण पंप — इस पंप का प्रयोग (क) निस्यंदन फ्लास्क तथा (ख) बुकनर कीप, या (ग) गूच मूषा, या (घ) विट प्लेट के साथ किया जाता है। चूषण पंप की सहायता से दाब कम हो जाने पर छानन क्रिया तीव्र गति से होती है।

८. बीकर — यह विभिन्न परिमाप, ५०० मिली०, २५० मिली०, १५० मिली०, १०० मिली०, आदि के होते हैं।

९. धावन बोतल — यह जल की पतली धार को, जिसको किसी विशेष स्थान पर केंद्रित किया जा सकता है, प्राप्त करने के काम आती है।

१०. पोर्सिलीन की प्याली — यह विलयनों के वाष्पन के काम आती है।

११. (क) वाच ग्लास तथा (ख) क्लॉक ग्लास — यह बीकर में रखे पदार्थों को ढँकने, या इनमें कुछ पदार्थों के रखने, के काम आते हैं।

१२. गैस शोषण बोतल तथा शोषण स्तंभ — इनमें विभिन्न द्रव, या ठोस पदार्थ रखे जाते हैं, जिससे इनमें से प्रवाहित होनेवाली गैसों के वे अवयव जो अशुद्धि के रूप में उनमें हैं उस बोतल में रखे पदार्थों मे शोषित हो जाएँ।

१३. पृथक्कारी कीप — यह दो आकार की होती है : (क) एक गोलाकार तथा (ख) दूसरी नाशपाती के आकार की (pear shaped)। इसकी सहायता से दो अमिश्रणीय द्रव पृथक् किए जा सकते हैं।

१४. शोषित्र — ये नमी की उपस्थिति में पदार्थों को सुखाने, या ठंढा करने के काम आते हैं। इनके पेंदे में सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल, चूना, या अनार्द्र कैल्सियम क्लोराइड रखा रहता है। हवा की अनुपस्थिति में सुखाने के लिये निर्वात शोषित्र का उपयोग करते है। चूषण पंप की सहायता से इसकी हवा निकाली जा सकती है।

१५. खरल-मूसली — यह चीनी मिट्टी, या लोहे की होती है और पदार्थों को महीन पीसने के काम आती है।

१६. चूषित्र बोतल (Aspirator bottle) — इसमें से क्रमशः बूँद बूँद जल गिरने से हवा खिंचकर नली से होकर आती है। इसे अन्य उपकरण के साथ जोड़ा जा सकता है।

१७. रोधनी (Stopcock) — यह कई प्रकार की होती है : द्विमार्गी (two way), त्रिमार्गी (three way) आदि। उपकरण के एक भाग से दूसरे भाग की ओर किसी द्रव, या गैस के बहाव का नियंत्रण करने के काम आती हैं।

सायनाइड (Bromo benzyl cyanide) और जाइलिल ब्रोमाइड (Xylyl bromide) हैं, जो श्लेष्मिक झिल्ली को आक्रांत कर अत्यधिक आँसू उत्पन्न करते हैं और कुछ समय के लिये दृष्टि को अवरुद्ध कर देते हैं। इनका प्रभाव कुछ ही मिनटों तक रहता है। कुछ विषैले पदार्थ हृदय और तंत्रिकाप्रतिवर्त (nerve reflexes) को आक्रांत कर ऑक्सीजन के अवशोषण और आत्मीकरण में बाधा पहुँचाते हैं। ऐसे रसायनकों में कार्बन मोनोऑक्साइड और हाइड्रोसायनिक (Hydrocyanic) अम्ल हैं, पर हलके होने के कारण युद्ध में इनका प्रयोग सफल नहीं हो सका है। इनके अतिरिक्त क्लोरोपिक्रिन (Chloropicrin) अर्थात् ट्राइक्लोरोनाइट्रोमेथेन (Trichloronitromethane), ऐडैमसाइट अर्थात् डाइफेनिल क्लोरो-आरसीन (Adamsite or Diphenyl chloro-arsine), सफेद फॉस्फोरस, टाइटेनियम टेट्राक्लोराइड (Titanium tetrachloride) तथा थरमिट (Thermit) अन्य पदार्थ हैं, जो युद्ध में प्रयुक्त हुए हैं। सफेद फ़ॉस्फ़ोरस से गाढ़ा धूम उत्पन्न होता है, जिसमें से देखना संभव नहीं होता। थरमिट से तीव्र ऊष्मा उत्पन्न होकर आग लग जाती है। इनके अतिरिक्त इलेक्ट्रॉन बम भी बने हैं, जो सन् १९३९-४५ के युद्ध में प्रयुक्त हुए थे। रासायनिक युद्ध में प्रयुक्त होनेवाले रसायनकों की संख्या हजारों है।

रासायनिक युद्ध से संरक्षण — फुफ्फुस क्षोभकों से रक्षा के लिये गैसत्राण का उपयोग होता है। गैसत्राण से छनकर जो वायु फेफड़े में जाती है उसमें युद्धगैसों का पूर्णतया अवशोषण हुआ रहता है। यदि गैसत्राण इतना बड़ा हो कि आँखों को भी ढँक सके, तो आँसू-उत्पादक रसायनकों से भी रक्षा हो सकती है। गैसत्राण में कोयला और सोडा-चूना उपयुक्त अनुपात में भरे रहते हैं। ये गैसत्राण पर्याप्त समय तक काम देते हैं, पर कार्यक्षमता धीरे धीरे कम होती जाती है और बार बार के उपयोग से ये अंत में काम नहीं देते, तब उन्हें बदलने की आवश्यकता पड़ती है। गैसों से रक्षा के लिये कुछ संरक्षणगृह बने हैं, जिनमें छनकर वायु प्रविष्ट करती है, पर युद्धक्षेत्र में इनका प्रयोग संभव नहीं है। शरीर के संरक्षण के लिये दूसरे प्रकार के त्राण आवश्यक होते हैं। इसके लिये कुछ ऐसे वस्त्र बने हैं जिनके अंदर वायु प्रविष्ट नहीं करती। इससे शरीर की रक्षा होती है। इन त्राणों से संरक्षण लिये उपयुक्त युद्धप्रशिक्षण आवश्यक होता है। रासायनिक युद्ध में सेना की रक्षा के साथ साथ जनता की रक्षा का भी प्रश्न उपस्थित होता है। युद्ध में प्रयुक्त होनेवाले कुछ रसायनकों का प्रयोग शांतिकाल में भी भीड़ को तितर बितर करने में आज हो रहा है। [फू० स० व०]

रासायनिक संदीप्ति (Chemiluminescence) रासायनिक अभिक्रिया के अंतर्गत ऊष्मा के साथ साथ दीप्ति का निकलना रासायनिक संदीप्ति कहलाता है। इसे रासायनिक उत्पत्ति (origin) का ठंढा प्रकाश भी कह सकते हैं। इसमें सब प्रकार के विकिरण-दृश्यमान — अवरक्त तथा पराबैंगनी — संमिलित हैं।

रासायनिक संदीप्ति अधिकांश ऑक्सीकरण अभिक्रियाओं में उत्पन्न होती है। अमोनियम डाइक्रोमेट के गरम करने पर यह संदीप्ति देखी जा सकती है। गंधकवाले यौगिकों तथा फॉर्मैल्डिहाइड, एक्रोलीन, ग्लूकोज आदि पदार्थों का ऑक्सीकरण करने पर भी यह संदीप्ति उत्पन्न होती है।

रासायनिक संदीप्ति में उत्पन्न प्रकाश उन अणुओं के ऑक्सीकरण के स्थानांतरण के कारण होता है, जो ऑक्सीकृत नहीं होते हैं।

रासायनिक संदीप्ति साधारण प्रकाश अभिक्रियाओं (photo reaction) की उल्टी होती है। रासायनिक अभिक्रिया के फलस्वरूप प्रकाश अभिक्रिया में तो प्रकाश का अवशोषण होता है, पर रासायनिक संदीप्ति में प्रकाश निकलता है।

अँधेरे में श्वेत फ़ॉस्फोरस के चमकने का कारण रासायनिक संदीप्ति ही है। सिलोक्सीन (Siloxen) भी इसी के उदाहरण हैं। [रा० दा० ति०]

रासायनिक साम्यावस्था (Chemical Equilibrium) रासायनिक क्रियाओं में रासायनिक साम्यावस्था उस स्थिर स्थिति को कहते हैं जिसमें दो विपरीत क्रियाएँ समान गति से संपन्न होती रहती हैं तथा क्रिया में भाग लेने वाले पदार्थों की आपेक्षिक मात्रा समय के साथ स्थिर बनी रहती है। यदि उच्च ताप (५००° सें०) पर किसी बंद अभिक्रिया पात्र में हाइड्रोजेन तथा आयोडीन को आणविक अनुपात में साथ साथ रखा जाए, तो निम्नांकित क्रिया प्रारंभ होती है :

हा₂ + आ₂ = २हाआ $[H_2 + I_2 = 2\ HI]$

इस क्रिया में हाइड्रोजेन तथा आयोडीन के संयोग से हाइड्रोजेन आयोडाइड बनता है तथा समय के साथ हाइड्रोजेन आयोडाइड की मात्रा में वृद्धि होती है। इस क्रिया के विपरीत यदि शुद्ध हाइड्रोजेन आयोडाइड गैस को ५००° सें० तक क्रियापात्र में गरम किया जाए, तो इस यौगिक का विपरीत क्रिया के द्वारा विघटन होता है, जिससे हाइड्रोजन आयोडाइड का हाइड्रोजन तथा आयोडीन में विघटन हो जाता है तथा इन उत्पादों के अनुपात में समय के साथ साथ वृद्धि होती है। यह क्रिया निम्नांकित रूप में होती है :

२ हाआ = हा₂ + आ₂ $[2\ HI = H_2 + I_2]$
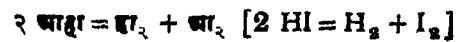
उपर्युक्त दोनों ही क्रियाओं में क्रिया की गति क्रमशः मंद होती जाती है और अंत में पूर्णतः स्थिर हो जाती है। रासायनिक क्रिया की इस स्थिति को रासायनिक साम्यावस्था कहते हैं। क्रिया के साम्यावस्था मिश्रण में उपर्युक्त पदार्थों की आपेक्षिक मात्रा एक ही रहती है, चाहे यह क्रिया हाइड्रोजेन और आयोडीन के संयोग से हाइड्रोजेन आयोडाइड बनाने की हो, अथवा हाइड्रोजेन आयोडाइड के विघटन से हाइड्रोजन तथा आयोडीन में पृथक्करण हो, अथवा तीनों संघटकों के साम्यावस्था संतुलन मिश्रण की प्रक्रिया हो, जिसमें हाइड्रोजेन तथा आयोडीन परमाणुओं की समान संख्या उपस्थित रहती है। इसके अतिरिक्त प्रयोगशाला के परीक्षणों में यह पाया जाता है कि चाहे हाइड्रोजेन तथा आयोडीन के परमाणुओं की समस्त संख्या समान हो अथवा नहीं, दोनों ही दशाओं में समान ताप पर तैयार किए हुए साम्यावस्था मिश्रणों की साम्यावस्था सांद्रता, अथवा साम्यावस्था दबाव के निम्नांकित अनुपातों का मान, स्थिर रहता है :

$$\frac{\text{सां}^2_{\text{हाआ}}}{\text{सां}_{\text{हा२}}\,\text{सां}_{\text{आ२}}} = \frac{\text{द}^2_{\text{हाआ}}}{\text{द}_{\text{हा२}}\,\text{द}_{\text{आ२}}} = \text{नि}_{\text{सां}} = \text{नि}_{\text{द}} = \text{नियतांक}$$

$$\left[\frac{C^2_{HI}}{C_{H2} \cdot C_{I2}} = \frac{p^2_{HI}}{p_{H2} \cdot p_{I2}} = K_c = K_p = \text{Constant} \right]$$

उपर्युक्त समीकरण में $\text{सां}^2_{\text{हाआ}}$ (C^2_{HI}) का आशय क्रिया में भाग लेनेवाले हाइड्रोजेन आयोडाइड की सांद्रता के वर्ग से है। इसी प्रकार से $\text{सां}_{\text{हा२}}$ (C_{H2}) तथा $\text{सां}_{\text{आ२}}$ (C_{I2}) क्रमशः हाइड्रोजेन तथा आयोडीन की सांद्रता को व्यक्त करते हैं। यह सांद्रता ग्राम-मौलेक्यूल प्रति लिटर के रूप में व्यक्त की जाती है। द (p) का आशय आंशिक दबाव से होता है। $\text{द}^2_{\text{हाआ}}$ (p^2_{HI}) हाइड्रोजेन आयोडाइड के आंशिक दबाव का वर्ग है तथा $\text{द}_{\text{हा२}}$ (p_{H2}) और $\text{द}_{\text{आ२}}$ (p_{I2}) क्रमशः हाइड्रोजेन तथा आयोडीन के आंशिक दबाव को प्रदर्शित करते हैं। $\text{नि}_{\text{सां}}$ (K_c) सांद्रता के नियतांक को तथा $\text{नि}_{\text{द}}$ (K_p) आंशिक दबाव के नियतांक को कहा जाता है। उपर्युक्त क्रिया में $\text{नि}_{\text{सां}}$ (K_c) तथा $\text{नि}_{\text{द}}$ (K_p) बराबर हैं। इन्हें साम्यावस्था नियतांक कहा जाता है।

सभी प्रकार की रासायनिक क्रियाओं में उपर्युक्त सिद्धांत लागू होते हैं, परंतु अनेक क्रियाओं में साम्यावस्था की दशा में क्रिया में भाग लेनेवाले तथा बचनेवाले उत्पादों की मात्रा इतनी कम होती है कि क्रिया की अपूर्णता का परीक्षणों द्वारा अनुमापन नहीं किया जा सकता है।

अनेक प्रकार की भौतिकीय साम्यावस्थाएँ, जैसे द्रव तथा वाष्प, विलयन तथा अविलेय विलेय के मध्य स्थापित साम्यावस्था रासायनिक साम्यावस्था के सदृश होती हैं, परंतु इनमें रासायनिक क्रियाओं के स्थान पर विपरीत आणविक स्तर की क्रियाएँ होती हैं। भौतिकीय साम्यावस्था में भी साम्यावस्था नियतांक का उपर्युक्त रीति से निर्धारण किया जा सकता है।

भौतिकीय रासायनिक साम्यावस्था के सिद्धांत का निरूपण ऊष्मागतिकी से किया जाता है। ऊष्मागतिकी के प्रथम तथा द्वितीय नियम के आधार पर किसी तत्व के पृथक् भाग अथवा तंत्र में, जिसे स्थिर ताप तथा स्थिर दबाव पर रखा गया हो तथा जिसमें भौतिकीय रासायनिक साम्यावस्था स्थापित हो चुकी हो स्वतंत्र ऊर्जा, ऊ (F) न्यूनतम हो जाती है। आंतरिक ऊर्जा ऊ (E) तथा दबाव दा (p) और आयतन आ (v) के गुणनफल को जोड़ने पर तथा योगफल में से ताप ता (T) तथा एंट्रोपी (Entropy) ए (S) के गुणनफल से प्राप्त राशि को घटा देने से शेष राशि ऊ (F) के बराबर होती है। अतः ऊ = ऊ + दाआ − ताए ($F = E + pv - TS$)। उपर्युक्त दशा में स्वतंत्र ऊर्जा का परिवर्तन चाहे कार्य हो अथवा नहीं, दोनों ही परिस्थितियों में समान होता है। साम्यावस्था नियतांक का सामान्य समीकरण निम्नांकित होता है :

Δऊ° = —नि ता लघु सा ($\Delta F^\circ = -R\,T \ln K_{equiv.}$), जिसमें ऊ° (F°) प्रामाणिक अवस्था में स्वतंत्र ऊर्जा होती है, [प्रामाणिक अवस्था में सामान्यतः दबाव द (p) एक वायुमंडलीय दबाव के बराबर होता है, अतः इस अवस्था में द = १ ($p = 1$)] Δऊ° (ΔF°) प्रामाणिक अवस्था में स्वतंत्र ऊर्जा के ह्रास को व्यक्त करता है, नि (R) नियतांक है तथा ता (T) ताप को व्यक्त करता है, सा (K_{equiv}) साम्यावस्था नियतांक है तथा (ln) लॉगरिथ्म (Logarithm) को प्रदर्शित करता है। [अ० सि०]

रासारियो स्थिति : ३०° ०' द० अ० तथा ६०° ५७' प० दे०। दक्षिणी अमरीका के अर्जेंटीना राज्य में, पैंपा प्रदेश की पूर्वी सीमा पर स्थित, यह देश का तीसरा बड़ा नगर है। पराना नदी पर स्थित होने के कारण यह प्रसिद्ध पत्तन बन गया है। नगर में शक्कर निर्माण, आटा पिसाई एवं मांस उद्योग हैं। चौड़ी सड़कें एवं विस्तृत उद्यान नगर की विशेषताएँ हैं। लिटोरल राष्ट्रीय विश्वविद्यालय उत्तम शिक्षण संस्थान है। नगर की जनसंख्या ७,५१,००० (सन् १९६१) है।

इसी नाम के नगर ब्राज़िल, मेक्सिको, पैराग्वे एवं यूरुग्वे में भी हैं। [कै० ना० सिं०]

रासीन, जाँ बैपटिस्ट (Racine Jean Baptiste) फ्रांस के इस महानतम दुःखांत नाटककार का जन्म सन् १६३९ में हुआ। इस प्रकार वह मोलियेर तथा ला फांटेन का समकालीन था। अध्ययनशील प्रवृत्ति के कारण उसके हृदय में ग्रीक और लैटिन साहित्य के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया था। सोफोक्लीज़ और यूरीपिडीज़ के प्रति उसकी सर्वाधिक श्रद्धा थी। सन् १६६४ में नाट्यलेखक के रूप में उसका साहित्यिक जीवन प्रारंभ हुआ, जब मोलियेर की नाट्यमंडली ने उसके प्रथम नाटक 'दि थीबाइड' या 'दि ब्रदर्स एनेमीज़' का अभिनय किया। परंतु उसकी सर्वाधिक सशक्त रचना 'एंड्रोमैच' थी जो सन् १६६७ में लिखी गई और अत्यंत सफल हुई। उसने भाग्य द्वारा उत्पीड़ित मानव के दुःखात्मक भावों का रहस्य पा लिया था। एक वर्ष बाद रासीन ने अपना एकमात्र सुखांत नाटक 'दी प्लीडर्स' लिखा, जिसमें फ्रांस की तत्कालीन न्यायव्यवस्था की व्यंग्यात्मक आलोचना है। सन् १६६९ में उसके 'ब्रिटेनिकस' तथा दूसरे ही वर्ष 'बीरेनियस' का अभिनय हुआ। 'बेरेनिस' की सफलता ने इसी विषय पर एक अन्य नाटक की रचना करनेवाले उसके प्रतिद्वंद्वी कार्नील से उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की। ग्रीक और रोमन इतिहास को छोड़कर उसने 'बजेट' (Bajazet) की कथावस्तु तत्कालीन तुर्की से ग्रहण की। 'इफीजेनिया' (Ipigenia) में वह ग्रीक पौराणिक आख्यानों की ओर लौटता हुआ लगा। सन् १६७७ में 'फीड्रा' (Phaedra) का अभिनय ऐसे दर्शकों के समक्ष हुआ जिन्हें दुःखांत नाटकों का 'निर्दय' सौंदर्य पसंद नहीं आता था। तत्पश्चात् १२ वर्ष तक रासीन ने कोई दुःखांत नाटक नहीं लिखा। वह १४ वें राजा लुई का जीवनवृत्त लिखने में प्रवृत्त हुआ। गहन धार्मिक भावना से वह बाइबिल से संबद्ध 'ईस्टर' (Esther) विषय पर एक करुणाप्रधान नाटक लिखने के लिये प्रेरित हुआ। बाइबिल से संबद्ध उसका दूसरा नाटक 'एथेली' (Athalie) है जिसका अभिनय सन् १६९१ में हुआ तथा जिसे कुछ लोग उसकी महत्तम कृति मानते हैं। फ्रेंच रंगमंच को यह उसकी अंतिम देन थी। धर्म की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त होने के कारण वह अपना समय प्रायः

धार्मिक विचारों में ही व्यतीत करता था, जब तक कि सन् १६६६ में उसकी मृत्यु नहीं हो गई।

दर्शकों एवं अभिनेताओं के हृदय मे परिताप और क्लेश के समय परस्पर सहानुभूति की भावना उत्पन्न करने में रासीन सफल रहा। रासीन के दुःखांत नाटक मानव की दुर्बलताओं पर नियति की विजय प्रदर्शित करते हैं। रासीन समय, स्थान और विषय के नियमों के प्रति पूर्ण आस्था रखता था। नियमानुपालन मे दृढ़ता और सरलता काव्य और संगीत प्रेम उसकी कला की विशेषताएँ हैं। [फां० भ०]

राहुल सांकृत्यायन (१८९३–१९६३) जन्म आजमगढ़ जिले (उत्तर प्रदेश) के कनैला गाँव में हुआ। अक्षरारंभ कनैला से ही एक मील की दूरी पर 'रानी की सराय, के एक मदरसे में हुआ। बालक का सर्वप्रथम नाम केदारनाथ था।

बालक की उम्र अभी ११ साल की ही थी कि उसका विवाह कर दिया गया। क्योंकि यह विवाह केदारनाथ की 'अबोध अवस्था' में ही किया गया था, इसलिये केदारनाथ ने इस विवाह को 'अपना-विवाह' न माना। १६ वर्ष की अवस्था होने पर उसने घर आना-जाना बिल्कुल बंद कर दिया।

अठारह वर्ष की उम्र में केदारनाथ ने बनारस के दयानंद हाई स्कूल के सातवें दर्जे में नाम लिखाया। केदारनाथ का उद्देश्य 'विद्वान्' बनना मात्र नहीं था, वह विद्वान् साधु बनना चाहता था। छपरा के एक महंत जी ने सन् १९१२ के सितंबर महीने में केदारनाथ को अपना शिष्य बना लिया। साधु बन जाने पर केदारनाथ का नाम रामउदार दास या रामोदार साधु हो गया। रामोदार दास ने अपना कुछ समय परसा (छपरा) के इस मठ की व्यवस्था सुधारने में लगाया। किंतु शीघ्र ही वे यहाँ से भी भाग खड़े हुए। इस बार वे दक्षिण की ओर गए।

दक्षिण भारत में हिंदुओं के जितने भी पवित्र स्थान हैं, वे सब 'दिव्य देश' कहलाते हैं। रामोदार साधु बहुत सी जगहों पर गए। कुछ समय बाद वे अयोध्या लौट आए और एक पाठशाला में 'वेद' तथा वेदांत पढ़ना शुरू किया। अयोध्या में ही रहकर उन्होंने व्याख्यान देने की अपनी योग्यता बढ़ाई। यहीं उन्होंने स्वामी दयानंद 'सरस्वती' का 'सत्यार्थ प्रकाश' पढ डाला। उन्हें आर्यसमाज के विचार बहुत पसंद आए। आगरे का 'मुसाफिर विद्यालय' प्रसिद्ध आर्यसमाजी धर्मप्रचारक पंडित लेखराम 'आर्य मुसाफिर' की स्मृति में खोला गया था। केदारनाथ 'विद्यार्थी' उसमें भर्ती कर लिए गए। इस समय (१९१५) केदारनाथ 'विद्यार्थी' के लिखे लेख समाचार-पत्रों में छपने लगे। हिंदी में उनका सबसे पहला लेख मेरठ से निकलनेवाले 'भास्कर' में छपा, और उर्दू मे आगरा से निकलने-वाले 'मुसाफिर आगरा' में। कुछ समय बाद वे लाहोर के डी० ए० वी० कालेज के संस्कृत विभाग में भर्ती हो गए।

१९१७ के अक्टूबर मास में रूस में क्रांति हुई। उसकी खबरें छन छनकर भारत पहुँचती थीं। वैसी साम्यवादी सूचनाओं से रामोदार दास बहुत प्रभावित होते थे। उनके साम्यवादी विचार १९२३–२४ में 'बाईसवीं सदी' के रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। रामोदार दास ने १९१९ के बाद लुंबिनी, बुद्धगया, सारनाथ तथा कुशीनगर, चारों बौद्ध तीर्थस्थानों की यात्रा की। कठिन संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन करने की इच्छा से वे दुबारा तिरुमिशी गए। तिरुमिशी में रहते समय रामोदार साधु ने कुछ तमिल भाषा भी सीखी। इसके बाद उन्होंने कुर्ग में चार मास बिताए। वहाँ कन्नड़ भाषा का भी परिचय प्राप्त कर लिया।

रामोदार साधु ने सन् १९२१ के स्वतंत्रता आंदोलन में खुलकर हिस्सा लिया। १९२२ में उन्हें छह महीने जेल में रहना पड़ा। अप्रैल, १९२३ से अप्रैल १९२५ तक के उनके पूरे दो साल भी हजारीबाग जेल में ही बीते। जेल में रहते समय उनका लिखना पढ़ना जारी रहा। अब वे कई भाषाओं से परिचित हो गए थे—हिंदी, उर्दू, पालि, संस्कृत, अरबी, फारसी, तमिल, कन्नड़, अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषा से भी।

इस बीच केदारनाथ 'विद्यार्थी' या रामोदार साधु की बौद्ध धर्म की ओर इतनी अधिक दिलचस्पी बढ़ी कि उन्होंने श्रीलंका पहुँचकर बौद्ध धर्म का बाकायदा अध्ययन करने का निश्चय किया। मई, १९२७ में वे संस्कृत के अध्यापक की हैसियत से वहाँ पहुँचे। बौद्ध धर्म का अध्ययन तथा अपना अध्यापन कार्य समाप्त करने के बाद अपने अध्ययन को और भी अधिक आगे बढ़ाने के लिये उन्होंने नैपाल के रास्ते तिब्बत जाने का निश्चय किया। अनेक कठिनाइयों को झेलकर वह किसी न किसी तरह तिब्बत की राजधानी ल्हासा जा पहुँचे। उन्होंने अपनी इस प्रथम तिब्बत यात्रा का रोचक वर्णन 'तिब्बत में सवा साल' में लिखा है।

ल्हासा से रामोदार साधु वापस श्रीलंका ही लौटे, जहाँ २० जुलाई, १९३० को उन्होंने बौद्ध भिक्षु की दीक्षा ग्रहण की और काषाय वस्त्र धारण किया। अब उनका नाम हुआ राहुल सांकृत्यायन।

१९३२ में बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ, राहुल जी ने कोलंबो से लंदन की यात्रा की। वे यूरोप में लगभग तीन महीने रहे। अपनी इस यात्रा का पूरा वृत्तांत उन्होंने 'मेरी यूरोप यात्रा' नामक पुस्तक मे दिया है।

राहुल जी लंदन से १९३३ के जनवरी महीने में वापस श्रीलंका लौट आए। लंका से वे भारत लौटे और जंमु कश्मीर के रास्ते दूसरी बार लद्दाख पहुँचे। अपनी इस 'लद्दाख यात्रा' में राहुल जी ने त्रिपिटक के एक प्रसिद्ध ग्रंथ 'मज्झिम निकाय' का हिंदी अनुवाद कर डाला। भोट (तिब्बती) भाषा सीखने के लिये कुछ रीडरें भी लिखीं।

१९३४ में बिहार में जोर का भूकंप हुआ। जनधन की अपार हानि हुई। ऐसे समय राहुल जी दुःखी जनों की सेवा करने के लिये बिहार में रहे। सेवाकार्य से अवकाश मिलते ही वे पुन: कालिंपोंग, सिक्किम होते हुए ल्हासा पहुँचे। उनका फिर तिब्बत जाने का उद्देश्य था, उन संस्कृत ग्रंथों का पता लगाना जिनका भारत में कहीं पता नहीं, किंतु जो अपने मूल रूप में या अनुवादों के रूप में आज भी तिब्बत में उपलब्ध हैं। तिब्बत से राहुल जी अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ साथ में लाए।

राहुल जी चुपचाप बैठनेवाले तो थे नहीं। अब उनकी इच्छा

हुई पूर्व के बौद्ध देशों—बर्मा, थाईलैंड, कोरिया, जापान—की यात्रा करने की। ३ मई, १९३५ को राहुल जी जापान पहुँचे।

इस यात्रा से लौटकर वे पुन: नैपाल के रास्ते तिब्बत गए। इस बार की तिब्बत यात्रा में उन्हें बड़े महत्व के प्राचीन ग्रंथ मिले। आचार्य धर्मकीर्ति के 'प्रमाण वार्तिक' और आचार्य असंग के 'योगाचार भूमि' जैसे ग्रंथों के देखने के लिये सुदूर लेनिनग्राद (रूस) के आचार्य ईचेरवास्की जैसे बड़े विद्वान् ने भारत आने की इच्छा व्यक्त की।

१९३७ के सितंबर में राहुल जी ईरान के रास्ते रूस गए। उनकी यह दूसरी सोवियत यात्रा थी। इस बार वे लेनिनग्राद के प्राच्य संस्थान में प्राध्यापक बनकर गए। इस संस्थान की सेक्रेटरी का नाम था, ऐलेना। यही ऐलेना (लोला) आगे चलकर राहुल सांकृत्यायन के सुपुत्र इगोर राहुलोविच की माता बनी।

राहुल जी को फिर चौथी बार तिब्बत जाना था। इसलिये वे शीघ्र ही रूस से वापस भारत लौट आए। तिब्बत यात्रा के अनंतर उन्होंने भारत की नंगी भूखी जनता की सेवा करने के लिये और देश में 'किसान मजदूर राज्य' स्थापित करने के लिये सक्रिय राजनीति में भाग लेने का निश्चय किया। फलस्वरूप वे ढाई वर्ष तक जेलों में रहे। इस सारे समय का उपयोग उन्होंने हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि करने में किया। इसी समय उन्होंने 'वोल्गा से गंगा' जैसी कहानियों की बेजोड़ पुस्तक लिखी, जिसका देशविदेश की १५ भाषाओं में अनुवाद हुआ।

राहुल जी को फिर रूस से निमंत्रण मिला। वे २५ महीने 'सोवियत भूमि' में बिताकर वापस भारत लौटे। इस बीच भारत स्वतंत्र हो गया था। राहुल जी अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन के सभापति चुन लिये गए। १९४९ के दिसंबर में हैदराबाद में इसका अधिवेशन हुआ। उस समय उनकी सेक्रेटरी कमला जी भी उनके साथ थीं, जो बाद में राहुल जी की प्रिय संतान जया जेता की माता बनी।

राहुल जी ने मसूरी में रहते समय 'मध्य एशिया का इतिहास' तथा 'हिमालय परिचय' योजना के अंतर्गत कई महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे।

१९५३ में राहुल जी साठ वर्ष के हो गए थे। इसी वर्ष उन्होने 'मार्क्स', 'स्तालिन', 'लेनिन' तथा 'माओ-त्से-तुंग की जीवनियाँ लिखीं। १५ जून, १९५८ को वे हवाई जहाज द्वारा पेकिंग के लिये रवाना हुए। साढ़े चार महीने बाद भारत लौटे।

चीन से लौटने पर राहुल जी को विद्यालंकार विश्वविद्यालय कैलानिया (सीलोन) के दर्शन विभाग के अध्यक्ष की हैसियत से श्रीलंका पधारने का निमंत्रण मिला। सितंबर, १९५९ से लेकर अस्वस्थ होकर भारत लौट आने के दिन तक वे श्रीलंका में ही रहे। इस बीच उन्होंने लगभग आधे दर्जन बड़े बड़े ग्रंथ तैयार किए।

१९६१ के अगस्त में उन्होंने लंका से अंतिम बार विदा ली। उनका शेष जीवन उनके 'रोग की करुण कहानी' मात्र बनकर रह गया। १४ अप्रैल, १९६३ को दार्जिलिंग में उनका निधन हो गया।

[आ० कौ०]

रिकार्डो, डेविड जन्म, १९ अप्रैल, १७७२; मृत्यु, ११ सितंबर, १८२३। चौदह वर्ष की उम्र में आपने लंदन के स्टॉक एक्सचेंज में कार्य करना आरंभ किया। आपने काफी धन और यश कमाया। सन् १८१४ में आपने अपने कार्य से अवकाश ग्रहण कर लिया और जमीन का एक बड़ा भाग खरीदकर रहने लगे। सन् १८१९ से लेकर मृत्यु पर्यंत आप आयरलैंड से ब्रिटिश लोकसभा के सदस्य भी रहे।

जेम्स मिल के साथ विचार विनिमय, माल्थस के साथ पत्रव्यवहार, ऐडम स्मिथ की पुस्तक 'वेल्थ ऑव नेशंस' (Wealth of Nations) का अध्ययन एवं स्टॉक एक्सचेंज के अनुभवों के आधार पर आपने प्रिंसिपल्स ऑव पोलिटिकल इकॉनमी ऐंड टैक्सेशन' (Principles of Political Economy and Taxation) की रचना की। इस पुस्तक में वितरण, मजदूरी, मूल्य, तथा लगान की समस्याओं पर विशेष रूप से विचार किया गया है।

लगान की परिभाषा करते हुए डेविड रिकार्डो ने कहा कि 'लगान भूमि की उपज का वह भाग है जो भूस्वामी को भूमि की प्राकृतिक तथा अक्षय शक्तियों के व्यवहार के बदले में दिया जाता है।'

रिकार्डो के अनुसार खेत के प्राकृतिक गुणों के कारण हुई बचत को ही लगान कहते हैं और भूस्वामी को इसे प्राप्त करने का अधिकार होता है। रिकार्डो के इस लगान सिद्धांत की महत्वपूर्ण बात यह है कि लगान का उपज के मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस सिद्धांत की बहुत आलोचना की गई है। मनुष्य को खेती करते समय यह ज्ञात नहीं रहता कि कौन सी भूमि सर्वोत्तम है। अत: भूमि की श्रेष्ठता पर लगान निर्भर नहीं है। अर्वाचीन अर्थशास्त्रियों के मतानुसार भूमि की दुर्लभता के कारण लगान उत्पन्न होता है, उसकी उर्वरा शक्ति के अनुसार नहीं।

'प्रिंसिपल्स ऑव पोलिटिकल इकॉनमी' के अतिरिक्त रिकार्डो के विचार उनके निम्नलिखित निबंधों में उपलब्ध हैं — (१) द हाइ प्राइस ऑव बुलियन, ए प्रूफ ऑव द डेप्रिसिएशन ऑव बैंक नोट्स (२) एसे ऑन द इंफ्लुएंस ऑव ए लो प्राइस ऑव कार्न ऑन द प्राफिट्स ऑव स्टॉक; (३) प्रोपोजल्स फॉर ऐन इकानॉमिकल ऐंड सिक्योर करेंसी।

[द० दु०]

रिख्थोफेन, फॉन, फर्डिनैंड (Richth. ofen, Von, Ferdinand, Baron, सन् १८३३–१९०५) जर्मन भूगोलवेत्ता, भूविज्ञानी तथा पर्यटक थे। इनका जन्म ५ मई, १८३३ ई० को साइलेशिया के कार्लस्रुए (Karlsruhe) में हुआ था। इनकी शिक्षा ब्रेस्लाउ (Breslau) तथा बर्लिन में हुई। १८५६ ई० में इन्होंने टिरोल तथा ट्रैंसिल्वेनिया में एक भूवैज्ञानिक (geological) खोज की थी। १८५९ ई० में इन्होंने सरकारी दल के साथ भूविज्ञानी के रूप में जापान, फारमोसा, फिलिपाइंस, जावा तथा श्रीलंका का भ्रमण किया। बैंकॉक से कलकत्ता तक इन्होंने पैदल यात्रा की

थी। १८६८ ई० में कैलिफोर्निया से वापस आने पर चीन गए। चीन साम्राज्य के अति दुर्गम भागों में भी ये पहुँचे। १८७२ ई० में स्वदेश वापस आए। १८७७--८५ ई० के बीच इनकी पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें चीन का भूशैलिकी वर्णन ही नहीं, वरन् हर भौगोलिक पहलू का वर्णन है। जिन देशों में ये गए, उनके आर्थिक साधनों पर अधिक ध्यान दिया। चीन के सांटुंग कोयले क्षेत्र की ओर लोगों का ध्यान रिख्थोफ़ेन ने ही आकर्षित किया। पहले ये लाइप्सिग में प्राध्यापक नियुक्त हुए। १८८६ ई० में ये उसी पद पर बर्लिन आ गए।

रिख्थोफ़ेन भूगोल के क्षेत्रवर्णनी (chorographical) दृष्टिकोण के समर्थक थे। इसे इन्होंने १८८३ ई० में लाइप्सिग में दिए गए उद्घाटन भाषण में स्पष्ट कर दिया है। यद्यपि इनकी अभिरुचि प्रधानत: भूआकृतिविज्ञान (geomorpholgy) में थी, तथापि ये भूगोल में क्षेत्रीय अंतर (areal differentiation) सिद्धांत को अपरिहार्य मानते थे। इनका तर्क यह था कि धरातल पर मिलनेवाली वस्तुओं की विविधता के कारण क्रमबद्ध अध्ययन (systematic study) अनिवार्य हो जाता है। इस अध्ययन के तीन प्रमुख अंग हैं : प्राकृतिक स्वरूपों का अध्ययन, वनस्पति एवं पशुओं का अध्ययन तथा मनुष्य एवं उसके कार्यों का अध्ययन; किंतु ये सब अध्ययन भूगोल के प्रमुख विषय, अर्थात् विभिन्न क्षेत्रों के बीच कार्य कारण संबंध, की भूमिका है। इस प्रकार रिख्थोफ़ेन ने प्रदेशानुसार (regional) एवं क्रमबद्ध अध्ययन प्रणालियों में सामंजस्य स्थापित किया।

हंबोल्ट और रिटर के बाद रिख्थोफ़ेन तथा रैज़ेल जर्मनी के बड़े प्रभावशाली भूगोलवेत्ता थे। रिख्थोफ़ेन विशेषकर प्राकृतिक स्वरूपों के विद्वान् थे, पर इन्होंने मानव पक्ष की उपेक्षा नहीं की। अपनी चीन पर लिखी पुस्तक में इन्होंने लोगों के जीवन पर पड़नेवाले वातावरण के प्रभाव पर काफी जोर दिया है। लेखक के रूप मे ये अधिक सफलता नहीं प्राप्त कर सके। [ज० सिं०]

रिचमंड १. नगर; संयुक्त राज्य, अमरीका, के पूर्वी समुद्री किनारे के पास, जेम्स नदी के किनारे, वाशिंगटन से १०० मील दक्षिण, सागरतल से ० फुट से लेकर ३१२ फुट तक की ऊँचाई पर स्थित, वर्जिनिया प्रांत का प्रमुख नगर एवं राजधानी है। शहर के उत्तरी एवं दक्षिणी भागों को जोड़ने के लिये जेम्स नदी पर आठ पुल बने हुए हैं। नदी में कई द्वीप भी स्थित हैं। व्हाइट हाउस, कानफीडरेट म्यूज़ियम, एडगर एलेन पो की मूर्ति, सेंट जॉन्स चर्च, मेडिकल कालेज, तथा विश्वविद्यालय दर्शनीय हैं। तंबाकू निर्माण उद्योग यहाँ के सबसे बड़े उद्योगों में से है। रसायनक उद्योग भी महत्वपूर्ण है। छपाई, कागज, जलयान तथा कपड़े संबंधी उद्योग भी यहाँ होते हैं। नगर की जनसंख्या २,३०,३१० (सन् १९५०) है।

२. इसी नाम की एक काउंटी संयुक्त राज्य, अमरीका, के न्यूयॉर्क प्रांत में है। इसी नाम के अन्य नगर कैनाडा के क्विबेक प्रांत में, इंग्लैंड में, पश्चिमी कैलिफोर्निया, पूर्वी इंडियाना तथा पूर्वी-मध्य केंटकी में भी हैं। [रा० चं० दु०]

रिचमंड, सर विलियम (१८४२-१९२१) इस अंग्रेज चित्रकार का जन्म लंदन में २९ नवंबर को हुआ। तीन वर्ष रॉयल अकादमी के स्कूल में अध्ययन करने के बाद सन् १८५९ में वह इटली गया था। यह यात्रा उसके कलाविकास में फलप्रद रही। वहाँ से लौटने पर उसने कई चित्र तैयार किए। सन् १८६५ में वह पुन: रोम गया और वहाँ चार पाँच साल रहा। अपनी युवावस्था मे वह पूर्व रैफ़ेल कालीन चित्रों से प्रभावित था। वह आक्सफोर्ड में तीन साल तक स्लेड प्रोफ़ेसर रहा तथा सन् १८९५ में रॉयल अकादमी में प्रोफेसर नियुक्त हुआ। वह सजावट कला मे भी उन दिनों अग्रणी था। सन् १८९१ में उसने संत पाल कैथेड्रल की मोज़ेइक डिज़ाइन से सज्जा की। जार्ज फोनिक्स द्वारा बनाया गया उसका व्यक्तिचित्र, लंदन की नेशनल गेलरी मे विद्यमान है। [भा० स०]

रिचर्ड प्रथम (११५७-११९९) इंग्लैंड के राजा हेनरी द्वितीय का तृतीय पुत्र था। वह सिंहहृदय के नाम से विख्यात हुआ। पिता की मृत्यु के बाद ११८९ में राजा बना। उसकी अधिकांश शासनावधि 'पावन धर्मयुद्ध' के संचालन एवं सफलता मे कटी। उसने चर्च तथा राज्य के उच्च पदों की बिक्री तथा भारी करों के द्वारा युद्धव्यय चलाया। उसने एक सैनिक टुकड़ी फिलिस्तीन भेजकर अर्सुफ तथा जाफ़ा के युद्धों में सलादीन को परास्त किया, किंतु जेरुसलम प्राप्त करने में असफल रहा। लौटते समय वह जर्मनी के सम्राट् का दो वर्ष तक कैदी रहा। उसकी अनुपस्थिति में इंग्लैंड का शासन, कैंटरबरी के आर्चबिशप ह्यूबर्ट (Hubert) द्वारा संचालित हुआ। इस शासन की महत्वपूर्ण घटनाएँ, जूरी प्रथा द्वारा न्याय, तथा प्रथम करविरोधी सफल आंदोलन हैं। रिचर्ड निर्दयी था परंतु प्रतिहिंसक नहीं। व्यक्तित्व, वैभव, अतिव्ययता, तथा औदार्य इत्यादि विशेषताओं के अतिरिक्त वह तत्कालीन प्रतिस्पर्धा का ज्वलंत उदाहरण था।

रिचर्ड द्वितीय (१३६७-१४००) एडवर्ड (ब्लैक प्रिंस) का पुत्र, रिचर्ड द्वितीय, अपने प्रपिता एडवर्ड तृतीय की मृत्यु पर १३७७ ई० में इंग्लैंड की गद्दी पर आरूढ़ हुआ। उसकी अल्पवयस्कता में राज्य संचालन एक प्रतिनिधि परिषद् को सौंपा गया। उसका राज्यारोहण उस कठिन परिस्थिति में हुआ जब इंग्लैंड 'काली मृत्यु' के परिणाम से गुजर रहा था। श्रम वर्ग के असंतोष के फलस्वरूप १३८१ में कृषक विप्लव हुआ। रिचर्ड ने अपने विश्वसनीय सामंतों की सहायता से स्वेच्छा से शासन किया। १३८८ में सामंतों ने एक विरोध संगठित कर कुछ समय के लिये शासनसूत्र हाथ में लिया तथा राजा के प्रिय पात्रों को मृत्यु के घाट उतार दिया। १३८९ ई० में राजा ने पुन: अपना प्रभाव दिखाकर शासन अपने हाथ में लिया तथा अधिक वर्षों तक समनीति से राज्य किया। किंतु १३९७ में राजा ने फिर स्वेच्छाचारी नीति अपनाई और वह अपने चचेरे भाई हेनरी तथा लंकास्टर के ड्यूक द्वारा राज्य परित्याग के लिये विवश कर दिया गया। रिचर्ड, अपनी मृत्यु तक (१४००) बंदीगृह में रहा। वह योग्य, शिष्ट, निर्भीक, तथा अहंवादी व्यक्ति था किंतु उसमें स्वेच्छाचारिता तथा राजनीतिक अदूरदर्शिता थी।

रिचर्ड तृतीय (१४५२-८५) इंग्लैंड का राजा (१४८३-१४८५)। यह यार्क के ड्यूक, रिचर्ड, का सबसे छोटा लड़का था।

जून, १४८३ ई० में उसने राज्यसिंहासन पर अधिकार किया तथा अपने दोनों भतीजों को उसने लंदन के टावर (Tower) में बंद रखा और वहीं इन दोनों का रहस्यमय अंत हुआ। बकिंघम के ड्यूक ने विद्रोह का झंडा उठाया, किंतु उसका दमन किया गया। रिचमांड के अर्ल हेनरी ट्यूडर, ने, परिस्थिति से पूरा लाभ उठाया तथा एक बृहत् सेना के साथ वेल्स पर आ धमका। रिचर्ड को बॉसवर्थ के युद्धक्षेत्र में परास्त कर २२ अगस्त (१४८५) को मार डाला। रिचर्ड वीर तथा प्रतिभावान् शासक था किंतु उसमें कूटनीति, निर्दयता तथा अनैतिकता के भाव भी विद्यमान थे। निर्दयता तथा उद्वेग दोनों के संमिश्रण के कारण उसका चरित्र विरोधाभास की अनुभूति कराता है। [गि० शं० मि०]

रिचर्डसन, सैमुएल (१६८९-१७६१) की गणना अंग्रेजी उपन्यास के निर्माताओं मे की जाती है। साधारण प्रतिभा के इस लेखक का साहित्यक्षेत्र मे प्रवेश अकस्मात् ही हुआ। लगभग पचास वर्ष की अवस्था तक इनका पूरा समय अपने निजी मुद्रण व्यवसाय के सफल संचालन मे ही लगा। इसी बीच दो पुस्तकविक्रेताओं ने इनसे पत्रों की शैली में एक उपदेशात्मक ग्रंथ लिखने का आग्रह किया जिससे सर्वसाधारण, विशेषतया महिलाओं को, जीवन की विभिन्न परिस्थितियों मे उचित आचरण की शिक्षा मिल सके। इस प्रकार 'फेमिलियर लेटर्स ऑन इंपॉर्टेंट अकेजंस' के प्रकाशन से इनके साहित्यिक जीवन का प्रारंभ हुआ। फिर तो इन्होंने पामेला (Pamela), क्लरिसा हार्लो तथा सर चार्ल्स ग्रैंडिसन नामक तीन बड़े बड़े उपन्यास लिखे जिनके कारण इन्हें इंग्लैंड के बाहर यूरोप में भी ख्याति मिली।

रिचर्डसन के सभी उपन्यास पत्रों की शैली में हैं। पत्रों के माध्यम से वे अपने पात्रों के भावों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। अंग्रेजी उपन्यास अपने प्रारंभिक युग मे घटनाप्रधान ही था। चरित्रचित्रण की दृष्टि से उसे एक लंबी मंजिल तय करनी थी। रिचर्डसन ने पहली बार उसमें चारित्रिक विवेचन का समावेश किया। विशेषतया नारी हृदय के परस्पर विरोधी भावों का उनके उपन्यासों में गूढ़ अध्ययन मिलता है।

रिचर्डसन के उपन्यासों की दूसरी विशेषता उनका नैतिक उद्देश्य है। उपन्यास उनके लिये केवल मनोरंजन का साधन न होकर पाठकों को धर्म तथा नैतिकता में शिक्षित करने का माध्यम था। 'पामेला' की रचना, जैसा लेखक ने उपन्यास के मुख पृष्ठ पर ही स्पष्ट कर दिया है, इसी उद्देश्य से की गई। नैतिकता का यह आग्रह संभवत: प्युरिटन प्रभाव तथा चार्ल्स द्वितीय के समय के नाट्य साहित्य में अश्लीलता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के कारण आया।

रिचर्डसन में एक दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया भी देखने को मिलती है। जहाँ १८वीं शताब्दी में साहित्य तथा जीवन के व्यापक क्षेत्र में बुद्धि पक्ष को ही प्रधानता दी जाती थी, उन्होंने अपने उपन्यासों में भाव पक्ष पर जोर दिया। [शु० ना० सिं०]

रिचर्डसन, हेनरी हैंडेल, इथिल फ्लोरेंस रिचर्डसन् (१८७०-१९४६) का उपनाम, आस्ट्रेलियाई लेखिका; मेलबोर्न में जन्म। प्रेस्बिटीरियन महिला कालेज से शिक्षा प्राप्त करने के बाद लाइप्जिग में संगीत की शिक्षा ली और लंदन विश्वविद्यालय के प्रो० जे० जी० रॉबर्ट्सन से विवाह होने के बाद संगीत व्यवसाय छोड़कर उपन्यास लिखना प्रारंभ किया। पहला उपन्यास 'मॉरिस गेस्ट' (१९०८) लाइप्जिग के संगीत जगत् के वातावरण में रची हुई एक दु:खांत प्रेमकथा थी और दूसरा उपन्यास 'द गेटिंग ऑव विज्डम' (१९१०) मेलबोर्न के बालिका विद्यालय के जीवन से संबंधित था। इन उपन्यासों को कोई विशेष ख्याति नहीं मिली पर १९२९ में विशाल उपन्यास 'दि फ़ॉर्च्यून्स ऑव महोनी' के तीसरे अंतिम भाग 'आल्टिमा थूल' के प्रकाशन के बाद रिचर्डसन को विश्वप्रसिद्धि मिली। साथ ही विश्वसाहित्य में अभी तक अज्ञात आस्ट्रेलियाई साहित्य को भी एक स्थान प्राप्त हुआ। इस उपन्यास का एक उपसंहार भी रिचर्डसन ने 'एंड ऑव ए चाइल्डहुड' (१९३४) नाम से लिखा। उनकी अंतिम कृति 'माइसेल्फ़ व्हेन यंग' (१९४८) मरणोपरात प्रकाशित हुई। [ली० म०]

रिचर्ड्स, आइवर आर्मस्ट्रांग यशस्वी अंग्रेज समीक्षक, जन्म चेशायर के अंतर्गत सैंडबाच में २६ फरवरी, १८९३ को हुआ था। उनकी शिक्षा क्लिफ्टन कालेज और मैगडालेन कालेज, कैंब्रिज में हुई। मैगडालेन में उन्होंने १९२२ से २५ तक अंग्रेजी और मॉरल साइंसेज में लेक्चरर के पद पर कार्य किया और उसके पश्चात् एक वर्ष सिंग हुआ विश्वविद्यालय, पेकिंग में विज़िटिंग प्रोफेसर के रूप मे व्यतीत किया। सन् १९३१ मे रिचर्ड्स हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के विज़िटिंग लेक्चरर होकर आए और सन् १९३९ में पुन: उसी विश्वविद्यालय में पंचवर्षीय राकफेलर ग्रांट योजना के फलस्वरूप आए।

रिचर्ड्स ने सी० के० आगडेन और जेम्स उड के सहयोग से सन् १९२१ में 'दि फाउंडेशन ऑव एस्थेटिक्स' नामक पुस्तक की रचना की। इसमें सौंदर्यशास्त्र संबंधी उनकी स्थापनाएँ हैं। सौंदर्य के विभिन्न संदर्भों और अभिप्रायों का विस्तृत उल्लेख करते हुए लेखक ने बतलाया है कि काव्य की रचनात्मक प्रक्रिया में किस प्रकार रचयिता और पाठक की मानसिक अवस्थाओं मे समीकरण की स्थिति उत्पन्न होती है। सन् १९२३ में सी० के० आगडेन के सहयोग से उन्होंने 'दि मीनिंग ऑव मीनिंग' की रचना की और अगले वर्ष उनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'दि प्रिंसिपिल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म' (१९२४) प्रकाश में आई। पहली पुस्तक में भाषा के प्रयोगों और शब्दशक्तियों का वर्णन है तथा दूसरी मे इस महान् आलोचक ने अपने समीक्षा सिद्धांतों का मौलिक विवेचन किया है। सन १९२५ में 'साइंस ऐंड पोयट्री' तथा १९२९ में 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' लिखी गई। 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' में व्यावहारिक समीक्षा पद्धति पर बल दिया गया है। रिचर्ड्स का कथन है कि साहित्यिक मूल्यांकन के लिये कविता का ज्ञान तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की निर्लिप्त क्षमता दोनों ही आवश्यक हैं। सन् १९३४ में 'कोलरिज ऑन इमैजिनेशन', १९३६ में 'दि फिलासफी ऑव रेटारिक' तथा सन् १९३८ में 'इंटरप्रेटेशन इन टीचिंग' की रचना की।

रिचर्ड्स की अन्य रचनाएँ हैं—'मेनसियस ऑन दि माइंड'

(१६३१), 'बेसिक रूल्स आव रीजन' (१६३३), 'हाउ टु रीड ए पेज' (१६४२), 'प्लेटोज रिपब्लिक' (१६४२), 'बेसिक इंगलिश ऐंड इट्स यूसेज' (१६४३), 'नेशंस ऐंड पीस' (१६४७), 'दि पोर्टेबुल कोलरिज' (१६५०), 'दी राथ ऑव एकिलिस' (१६५०), 'स्पेकुलेटिव इंस्ट्रू मेंट'।

रिचर्ड्स की गणना आज विश्व के महान् समीक्षकों में की जाती है। वे अपनी नवीन समीक्षा प्रणाली तथा मौलिक चिंतन के लिये विद्वानों और साहित्य के विद्यार्थियों में सर्वाधिक विख्यात हैं। अपने विशद अध्ययन के बल पर उन्होंने काव्य में मूल्य का स्थान, प्रेषणीयता का महत्व, अर्थ का वास्तविक अभिप्राय, नैतिकता का प्रश्न आदि समस्याओं पर नए ढंग से विचार किया है।

उन्होंने मूल्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है जिसे समीक्षा जगत् उनकी प्रथम मौलिक और सारगर्भित देन के रूप में स्वीकार करता है। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान और स्नायुमंडल की प्रक्रियाओं के अध्ययन से उद्भूत निष्कर्षों से रिचर्ड्स के विचार प्रभावित हुए हैं। मानव मन में अनवरत उठते हुए नवीन उद्वेगों और अंतर्वृत्तियों के समुचित संतुलन और सामंजस्य पर ही मानसिक सुख एवं शांति निर्भर है। हमारी अंतर्वृत्तियों में सदा पारस्परिक संघर्ष और द्वंद्व मचा रहता है। इनमें सुव्यवस्था और संतुलन उत्पन्न करना ही जीवन का कम है। रिचर्ड्स के मतानुसार, बिना किसी महत्वपूर्ण आकांक्षा को दलित और नष्ट किए हुए अधिक से अधिक आकांक्षाओं को संतुष्ट और सुव्यवस्थित करनेवाली वस्तु ही मूल्यंकेषण मूल्यवान् है। मन की यह संतुलित और सुव्यवस्थित अवस्था केवल अपनी इच्छा के द्वारा ही नहीं प्राप्त की जा सकती, वरन् बाह्य प्रभावों और विशेषतः दूसरों के विचारों द्वारा भी इस परम उद्देश्य की प्राप्ति होती है। साहित्य दूसरों के विचारों, भावनाओं और संवेगों का संकलन है। अतएव उसके द्वारा संवेगों, आकांक्षाओं और विचारों की सुव्यवस्थित संगति होती है। इसी में साहित्य के मूल्य की मनोवैज्ञानिक सार्थकता सन्निहित है। स्पष्ट है कि रिचर्ड्स के मूल्यवाद का आधार 'मनोवैज्ञानिक मानववाद' है।

श्रेष्ठ समीक्षक में रिचर्ड्स ने तीन गुणों का होना अनिवार्य बतलाया है : १—जिस मानसिक परिवेश में कोई कलाकृति लिखी गई हो उस परिस्थिति विशेष को बिना किसी पूर्वाग्रह के अनुभव और ग्रहण करने की क्षमता। २—अनुभवों के पारस्परिक विभेद द्वारा उनकी विविध श्रेणियों को समझने की योग्यता, तथा ३—साहित्यिक मूल्यों की स्वस्थ निर्णायक शक्ति। इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोचक मानसिक अवस्थाओं और अनुभूतियों का मूल्यांकन करता है जिनका संबंध मनोविज्ञान से है। इसीलिए जब कोई आलोचक अनुभवों के सामान्य मनोवैज्ञानिक स्वरूप की अवहेलना करता है तो कलागत तत्वों अथवा उनके सापेक्षिक महत्व के विषय में उसके निर्णय अस्पष्ट रह जाते हैं।

'अर्थ' से क्या तात्पर्य है, इस प्रश्न पर विस्तार के साथ विचार करते हुए रिचर्ड्स ने भाषा के स्वरूप तथा शब्दशक्तियों का विशद एवं गंभीर विवेचन किया है। भाषा ही भावप्रकाशन का माध्यम है। वह वक्ता और श्रोता के बीच अखंड मानसिक प्रवृत्ति का संचार करती है। काव्य में रूपक के प्रयोग पर रिचर्ड्स ने जोर दिया है। इन रूपकों के माध्यम से थोड़े में ही बहुत कुछ व्यक्त किया जा सकता है।

भाषा जीवन में सामान्य रूप से और साहित्य में विशेष रूप से अर्थवहन का कार्य करती है। रिचर्ड्स ने चार प्रकार के अर्थों का निर्देशन किया है जिनके पारस्परिक सामंजस्य से ही भाषा की पूर्ण अर्थवत्ता व्यक्त होती है। उत्तम काव्य में इन चारों प्रकार के अर्थों का सम्यक् योग रहता है। [रा० अ० द्वि०]

रिजका (Alfalfa) संसार की एक मुख्य तथा महत्वपूर्ण चारे की फसल है। इसकी उत्पत्ति संभवतः दक्षिण-पश्चिमी एशिया के किसी देश, टर्की ईरान, या अफगानिस्तान में समझी जाती है। अमरीका, पश्चिमी उत्तर प्रदेश आदि में यह अधिक बोया जाता है। एक बार बोने पर यह चार पाँच साल तक उपजता रहता है।

यह शुष्क प्रदेशों में, जहाँ सिंचाई के साधन उपलब्ध हों, सरलता से पैदा किया जा सकता है। ४० इंच से अधिक वर्षा तथा कम ताप का प्रभाव भी यह अच्छी तरह सहन कर सकता है। इसके फूलने फलने के लिये लगभग २७° सें० ताप अधिक उपयुक्त है। वर्षा ऋतु में यह अधिक बढ़ता नहीं और गर्मियों तथा जाड़ों में ४० या ४५ दिन के अंतर पर कटाई की जा सकती है।

इसके लिये गहरी, जलोत्सारी दुमट भूमि बहुत उपयुक्त है। यद्यपि यह अन्य प्रकार की भूमियों में भी हो सकता है, पर पानी भरनेवाली भूमि इसके लिये अनुपयुक्त है। अम्लीय भूमियों में चूने का उपयोग आवश्यक है। प्रति वर्ष लगभग २०० मन प्रति एकड़ घूरे की खाद, या कम्पोस्ट खाद, देना चाहिए। ५० पाउंड फॉस्फोरस की खाद भी उपयुक्त है। जिस खेत मे रिजका बोना हो, उसे गेहूँ के खेत के समान कई जुताई करके और पाटा देकर तैयार करना चाहिए। बोने के लिये, या तो खेत में बीज को छिटक कर हैरो चलाकर हल्का पाटा लगा देना चाहिए, या लगभग २ फुट के अंतर पर आलू की कूड़ी की भाँति ६, ७ इंच ऊँची कूड़ी बनाकर उसकी चोटी पर एक इंच गहरी नाली में बीज बोकर मिट्टी से ढँक देना चाहिए, या हॉवर्ड विधि से २ फुट चौड़ी समतल मेड़ें बनाकर तथा उनके बीच एक फुट चौड़ी नाली देकर बीज बो देना चाहिए। वर्षा ऋतु मे नालियों की फसल समाप्त हो जाएगी और कूड़ियों के ऊपर फसल बच जाएगी। यह विधि मटियार भूमियों के लिये तथा अधिक वर्षा-वाले स्थानों के लिये उपयुक्त है।

इसकी बोआई उत्तर प्रदेश में मध्य अक्टूबर से मध्य नवंबर तक की जा सकती है। ६ या ८ सेर प्रति एकड़ बीज की आवश्यकता होती है।

लाइन में बोई फसल में निराई तथा गोड़ाई कल्टिवेटर, या हो से बैलों द्वारा की जा सकती है। वर्षाकाल में खर पतवार दूर करना आवश्यक है।

कटाई — पहली कटाई बोने के तीन माह पश्चात् की जा सकती है। इसके पश्चात् डेढ़ दो माह के अंतर पर, वर्षा ऋतु को छोड़कर, कटाई की जा सकती है। साल में पाँच, सात कटाई की जा सकती

है। प्रति कटाई में १०० से १२५ मन हरा चारा मिल सकता है। भारत में दूध देनेवाले पशुओं को यह अधिक मात्रा में नहीं दिया जाता, परंतु अमरीका में इसे सब पशुओं को खिलाते हैं। सुखाने के लिये इसे फूलते समय काटना चाहिए। बीज के लिये कटाई ऐसे समय पर करनी चाहिए जिससे फूलते फलते समय वर्षा न हो और सिंचाई से पानी की आवश्यकता पूरी की जा सके। बीज पड़ने के लिये फूलते समय मधुमक्खियों आदि की आवश्यकता होती है, संयुक्त राज्य अमरीका में शहद की मक्खियों को पालकर और छह, सात छत्ते प्रति एकड़ खेत पर लगाकर इस आवश्यता की पूर्ति करते हैं।

साल में सिंचाई की आवश्यकता ऋतु के अनुसार होती है और लगभग छह, आठ बार सिंचाई करने की आवश्यकता होती है।

[दु० शं० ना०]

रिजर्व बैंक ऑव इंडिया की स्थापना, एक अप्रैल १९३५ को अंशधारियों के बैंक के रूप में उस समय के विदेशों के गण्यमान्य केंद्रीय बैंकों के आदर्श के आधार पर की गई। इसका उद्देश्य मुद्रा तथा साख, दोनों का नियंत्रण एक ही केंद्रीय संस्था के हाथ में सौंपना था, जिसकी आवश्यकता बहुत दिनों से महसूस की जा रही थी। सरकार और उसकी नीतियों में सामंजस्य स्थापित करने के लिये १९४५ में इसका राष्ट्रीयकरण किया गया। रिजर्व बैंक के १९४८ के विधान (ट्रांस्फर टु पब्लिक ओनरशिप) ने केंद्रीय सरकार को यह अधिकार दे दिया कि वह बैंक के गवर्नर से परामर्श करने के पश्चात् ऐसे निर्देश निर्गमित कर सके जो वह जनहित की दृष्टि से आवश्यक समझे। विधान के अंतर्गत केंद्रीय सरकार, सेंट्रल बोर्ड के समस्त संचालकों को मनोनीत करती है जिनमें गवर्नर तथा उप-गवर्नर भी शामिल हैं। क्षेत्रीय मंडलों के भी सब सदस्य केंद्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। बैंक का आतरिक संगठन बैंक के कार्यकलाप के आयतन तथा सीमा में विशेष प्रसार की माँग की पूर्ति को गतिशीलता प्रदान करने के लिये किया गया।

कर्तव्य और कार्य — बैंक का मुख्य कार्य, जैसा रिजर्व बैंक ऑव इंडिया के विधान की पूर्वपीठिका में उल्लिखित है, यह है कि वह भारत में मौद्रिक स्थायित्व की प्राप्ति के दृष्टि-कोण से बैंकनोट (कागजी मुद्रा) के निर्गमन का, तथा उसके लिये संरक्षित भँडार रखने की व्यवस्था को नियमित करने का और सामान्य रूप से यहाँ की मुद्रा तथा साखव्यवस्था का देश के हित में संचालन करने का कार्य करे। इसके लिये नोट जारी करने का पूर्ण अधिकार एकमात्र रिजर्व बैंक को प्राप्त है। यह व्यापारिक बैंकों के तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं के, जिनमें राज्य सहकारी बैंक भी शामिल हैं, बैंक का काम करता है। मौद्रिक ढाँचे का नियमन करने के लिये बैंक को केवल साधारण साख नियंत्रण के ही साधन प्राप्त नहीं हैं बल्कि 'बैंकिंग कंपनीज विधान, १९४९' के अंतर्गत उसे विशिष्ट तथा प्रत्यक्ष साख का नियमन करने का बृहत् अधिकार भी प्राप्त है। बैंक सरकार के बैंकर का भी कार्य करता है। रिजर्व बैंक ऑव इंडिया के संविधान की धारा २० तथा २१ के अनुसार बैंक को भारत सरकार का बैंक संबंधी कामकाज संपन्न करने का अधिकार तथा दायित्व प्राप्त है और तदनुसार उसे सरकार की ओर से खाते में रुपया जमा करना और इसकी ओर से भुगतान करने तथा विनिमय का भी संचालन करना, रुपया बाहर भेजना तथा अन्य बैंक संबंधी कार्य करना पड़ता है। बैंक को सार्वजनिक ऋण की देखरेख करने तथा नए ऋण के निर्गमन और खजाने की हुंडियों की व्यवस्था करने का अधिकार भी प्रदान किया गया है। बैंक उसी प्रकार के कार्य राज्य सरकारों के लिये भी करता है जो उनके साथ हुए समझौतों के अनुसार उसे सौंपे जाते हैं। रुपए के विनिमय मूल्य को स्थिर रखने के लिये बैंक को देश के अंतरराष्ट्रीय कोष की सुरक्षा तथा व्यवस्था का अधिकार भी दिया गया है। रिजर्व बैंक ऑव इंडिया के विधान की धारा ४० के अंतर्गत बैंक किसी भी आधिकारिक व्यक्ति से विदेशी मुद्रा का क्रय विक्रय समय समय पर सरकार द्वारा विनिश्चित दरों तथा शर्तों पर कर सकता है। विदेशी विनिमय नियमन १९४७ विधान को बैंक उन नीतियों के अनुसार कार्यान्वित करता है जो सरकार द्वारा बैंक के परामर्श से निर्धारित होती हैं। विदेशी मुद्रा के नियंत्रण का यह आशय नहीं है कि बैंक देश के आयात और निर्यात व्यापार का भी नियंत्रण करता है। यह तो केंद्रीय सरकार का उत्तरदायित्व है।

बैंक अदृश्य लेनदेनो से संबंधित नियमो का भी संचालन करता है। विधान के अंतर्गत रिजर्व बैंक ने कतिपय व्यापारिक बैंको को विदेशी विनिमय का कार्य करने का लाइसेंस दे दिया है। देश का केंद्रीय बैंक होने के कारण तथा अन्य बैंको और मुद्रा बाजार से घनिष्ठ संपर्क होने के कारण बैंक इस परिस्थिति मे है कि वह सरकार को आर्थिक तथा वित्तीय समस्याओं के संबंध में यथोचित सलाह दे सके। इस कार्य की सिद्धि के लिये बैंक को बड़े पैमाने पर आर्थिक, वित्तीय तथा बैंकिंग संबंधी आँकड़े एकत्र करने पड़ते हैं, मौद्रिक और तत्संबंधी समस्याओ का अध्ययन करना पड़ता है और देश के भीतर तथा बाहर की गतिविधियो तथा घटनाओ पर नजर रखनी पड़ती है। बैंक अपनी जाँच और अनुसंधान के परिणामो को मासिक विवरणों के द्वारा जनता को उपलब्ध कराता है तथा बहुत से प्रतिवेदन या विवरण प्रकाशित करता है जैसे मौद्रिक तथा वित्तीय स्थिति संबंधी, भारत मे बैंकिंग की प्रगति तथा उन्नति संबंधी रिपोर्ट इत्यादि।

साख नियंत्रण — मुद्रा की पूर्ति या उपलब्धि को नियमित करने के लिये बैंक के अधिकार में विभिन्न साधन है जैसे—बैंक दर जिसका प्रयोग बैंकों की ऋण नीति के साथ किया जाता है, खुले बाजार की क्रियाएँ, संरक्षित कोष का घटता बढ़ता अनुपात, विशिष्ट साख नियंत्रण, बैंकिंग संबंधी अन्य मामलों या नैतिक प्रलोभन (Moral suasion) के संबंध में निदेश जारी करना। उदाहरणार्थ वह अन्य बैंकों को उन समस्याओं के संबंध मे अपने विचारों से अवगत कराता है जो अर्थव्यवस्था में समय समय पर उत्पन्न होती हैं। वह उन्हें स्वयं ही उचित कार्यवाही के लिये प्रोत्साहित करता है। जो हो, यहाँ यह बात स्पष्ट कर देनी चाहिए कि व्यवहार में मुद्रा की आपूर्ति का नियमन पूर्णत: या अधिकांशत: बैंक के ही हाथ मे नहीं है। यह बहुलांश में सरकार की आय व्यय संबंधी क्रियाओं द्वारा प्रभावित होता है जिसके

ऊपर बैंक का कोई नियंत्रण नहीं है, यद्यपि बैंक को इस विषय में सरकार को परामर्श देने का अवसर मिलता रहता है। बैंक के अंतरराष्ट्रीय सौदे के दबाव पर भी यह अवलंबित रहता है जो मुद्रा आपूर्ति का एक दूसरा निर्णायक घटक है। स्थूल रूप से सरकार की आर्थिक नीति का व्यापक प्रतिरूप या साँचा केंद्रीय बैंक की अपनी कार्यविधियों की तुलना मे इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं, विशेषत: इसीलिये कि बैंक द्वारा सरकार को उधार देने के विस्तार की कोई वैधानिक सीमा नहीं है। अत. बैंक के साथ सरकार का सहयोग आवश्यक है।

बैंक दर — १९३६ में हुए अस्थायी परिवर्तन के सिवा बैंक रेट १९५१ के मध्य नवंबर तक ३ प्रतिशत पर अपरिवर्तित रही है, जबकि मुद्रास्फीति संबंधी परिस्थितियों के संदर्भ में बैंक दर बढ़ाकर ३॥ प्रतिशत कर दी गई। बैंक दर मे परिवर्तन के साथ बैंक ने अपनी खुले बाजार की नीति में भी एक महत्वपूर्ण परिवर्तन पाया। यह विदित हुआ कि सरकारी ऋणपत्रों से होनेवाली आमदनी को स्थिर बनाए रखने की नीति के कारण बैंकों को सरकारी ऋणपत्र खरीदकर मुद्रा अर्जित करना सुलभ हो गया जिससे वे अपने ग्राहकों को बिना संकोच के अधिक धन उधार देने मे सक्षम हो गए। इसलिये रिजर्व बैंक ने उनका इस तरह समर्थन करने से (कुछ अपवादों को छोड़कर) विरत रहने का निश्चय किया और इसके स्थान में एक नई योजना, हुंडी बाजार योजना, चालू की। इसके अंतर्गत वे अपने ग्राहकों को दिए गए अग्रिम धन को मुद्दती हुंडियों में परिवर्तित कर देते थे तथा रिजर्व बैंक से उनपर ऋण ले लेते थे। इस योजना के अंतर्गत सुविधाओं के प्रयोग के प्रोत्साहन के लिये बैंक ने योजना के अंतर्गत लिए गए ऋणों पर ३ प्रतिशत ब्याज लेने का प्रस्ताव किया जबकि बैंक दर ३॥ प्रतिशत थी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत, निजी कारखानों में धनविनियोग की मात्रा बढ़ जाने तथा वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने से बैंकों ने व्यापारियों को अधिक मात्रा मे ऋण देना शुरू किया जिससे उन्हें रिजर्व बैंक से अधिक ऋण लेना पड़ा। ऐसी स्थिति मे मौद्रिक अनुशासन में पुन: कड़ाई करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। मार्च, १९५६ में हुंडी बाजार योजना के अंतर्गत अग्रिम राशि पर ब्याज की दर ३ से बढ़ाकर ३। प्रतिशत और फिर नवंबर में ३॥ कर दी गई। मई १६, सन् १९५७ को बैंक दर ३॥ प्रतिशत से बढ़ाकर ४ प्रतिशत तथा साथ ही साथ मुद्दती बिलों (यूजन्स बिल) पर स्टांप ड्यूटी घटाकर १ प्रतिशत के १।५ भाग कर दिए जाने से योजना के अंतर्गत उधार की प्रभावकारी सूद दर ४.२० प्रतिशत हो गई।

क्रमिक ब्याज की दर — अक्टूबर, १९६० में एक निर्धारित आधारभूत खंडदर (स्लैब) के ऊपर रिजर्व बैंक ने एक दंड दर की प्रणाली को अपनाकर अपनी उधार नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया। इस क्रमिक उधार दर की प्रणाली के अंतर्गत सरकारी प्रभूतियों पर तथा हुंडी बाजार योजना के अंतर्गत रिजर्व बैंक से बैंकों द्वारा उधार लेने के लिये कोटा निश्चित कर दिया गया। इस कोटा के ऊपर रकम उधार लेने से दंड दर (पीनल रेट्स) लागू किए गए प्रारंभ से तीन खंड दर (स्लैब) थे। उदाहरण के लिये (१) बैंक दर पर; (२) बैंक दर के ऊपर १ प्रतिशत से अधिक पर तथा (३) बैंक दर के ऊपर २ प्रतिशत अधिक पर। प्रथम दो खंड दरों के लिये कोटा निर्धारित कर दिया गया, जबकि अंतिम खंड दर के अंतर्गत असीमित रकम उधार देना संभव रखा गया। जुलाई, १९६२ मे यह प्रणाली चार खंडदरों में संशोधित कर दी गई।

१९६२–६३ के कारोबारी मौसम के प्रारंभ में पुन: तीन खंडदर की नीति लागू कर दी गई किंतु तीसरे खंड में उधार लेने की अधिकतम सीमा निश्चित कर दी गई। किसी भी प्रकार, बैंकों की विशेष परिस्थितियों में, यदि उन्हें सहायता अपेक्षित है, बैंक दर पर सहायता देने का निश्चय कर दिया गया। २ जनवरी, १९६३ को प्रचलित ब्याजदरों के ढाँचे को सूत्रबद्ध करने के ख्याल से, जो खंडदर प्रणाली के क्रमिक संशोधन से चालू हो गई थी, बैंक दर ४ प्रतिशत से बढ़ाकर ४॥ प्रतिशत कर दी गई। साथ ही त्रिसूत्रीय खंडदर प्रणाली द्विसूत्रीय खंड प्रणाली में बदल दी गई।

अत मे साल भर तक मुद्रा की आपूर्ति मे तेजी से विस्तार होने तथा मूल्यों पर बढ़ते हुए दबाव के सिलसिले मे सितंबर २५, सन् १९६४ को घोषित साख नियंत्रण के उपायों का भी जिक्र किया जा सकता है। बैंक दर ५ प्रतिशत तक बढ़ा दी गई। उसी समय से बैंक ने उधार देने की वह योजना वापस ले ली जिससे कोटा प्रणाली द्वारा अनुसूचित बैंकों को ऋण देने का नियमन किया जाता था। उसके बदले बैंक ने ऐसी प्रणाली को प्रारंभ किया जिसका उद्देश्य था क्रमिक उच्च ब्याजदर के आधार पर केंद्रीय बैंक से उधार ली गई राशि के प्रयोग मे मितव्ययिता लाना।

इसके अनुसार कोई भी बैंक रिजर्व बैंक से बैंक दर पर तब तक उधार ले सकता है जब तक इसकी देय राशि को चुका सकने की विशुद्ध क्षमता २८ प्रतिशत या उसके ऊपर हो। देय भुगतान की विशुद्ध क्षमता का आशय उस अनुपात से है जो (१) रिजर्व बैंक ऑव इंडिया तथा अन्य बैंकों के पास जमा उक्त बैंक की रकम, (२) सरकारी प्रतिभूतियों में विनियुक्त धनराशि मे से रिजर्व बैंक ऑव इंडिया तथा स्टेट बैंक ऑव इंडिया से ली गई उधार रकम के घटाने पर बची अवशिष्ट धनराशि (३) तथा उसकी तात्कालिक माँग एवं मुद्दती दायित्वों के बीच विद्यमान हो। इस भेदकारी ब्याज दर की (Differential rate) प्रणाली को अधिकतम प्रभावकारी बनाने में निश्चितता प्रदान करने के लिये रिजर्व बैंक ऑव इंडिया ने पहली बार यह प्रतिबंध लगा दिया है कि बड़े भारतीय बैंक या विदेशी बैंक पेशगी दिए गए पर या जमा से अधिक की हुंडियों पर तथा बट्टे की रकमों पर ६ प्रतिशत से अधिक सूद नहीं ले सकते। चूँकि अल्पकालिक जमा राशियों तथा दीर्घकालिक जमा राशियों के ब्याज की दर में पर्याप्त अंतर नहीं था, जिससे रुपया जमा करनेवालों को अधिक प्रोत्साहन नहीं मिलता था, इसलिये रिजर्व बैंक ने यह निर्देश दिया है कि १४ दिनों तक जमा रहनेवाली धन राशियों पर ब्याज की दरें चालू खातों पर की दरों से अधिक ऊँची नहीं होनी चाहिए, जबकि १५ दिन से ४५ दिन तक और ४६ से ९० दिन तक के लिये जमा राशि पर सूद की दरें क्रमश: १। तथा २।। प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। बैंक ने यह भी संकेत किया है कि दीर्घावधिक

जमा राशि के संबंध में वह, ६१ दिन तक जमा राशि के लिये ४ प्रतिशत की न्यूनतम दर पर आधारित, ब्याज दर का अनुक्रम ठीक समझता है।

बैंकों की आरक्षित जमा का परिवर्तनशील अनुपात—१६५६ तक रिजर्व बैंक को अनुसूचित बैंकों की आरक्षित जमा की आवश्यकताओं में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं था। यह जमा मांग देयधन पर ५ प्रतिशत तथा मुद्दती देयधन पर २ प्रतिशत तक सीमित थी। अक्तूबर १६५६ में बैंक को मांग देयधन का २० प्रतिशत तक तथा मुद्दती देयधन का ८ प्रतिशत तक जमा कराने का अधिकार प्राप्त हुआ। ग्राहकों की जमा राशि में वृद्धि होने पर विधिविहित सीमा के ऊपर १०० प्रतिशत तक अतिरिक्त रिजर्व की मांग करने का अधिकार भी रिजर्व बैंकों को दिया गया।

ये अधिकार मार्च १६६० में उपयोग मे लाये गये जबकि बैंकों की देयता में तेजी से वृद्धि हुई। तब अनुसूचित बैंकों को ११ मार्च १६६० से न्यूनतम वैधानिक संचिति से ऊपर २५ प्रतिशत की वृद्धि को कायम रखने को कहा गया। ६ मई १६६० को इसे बढ़ाकर ५० प्रतिशत तक कर दिया गया। १६६२ में बैंकों की जमा राशि मे मुद्दती जमा राशि की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर रिजर्व की आवश्यकताओं के लिहाज से मांग देयधन तथा मुद्दती देयधन मे अंतर दूर कर दिया गया और अब न्यूनतम आवश्यकता संमिलित रूप से मांग देयधन तथा मुद्दती देयधन की ३ प्रतिशत पर स्थिर कर दी गई किंतु रिजर्व बैंक उसे बढ़ाकर १५ प्रतिशत कर सकता था।

विवेकपूर्ण नियंत्रण की नीति — हाल के वर्षों में विवेकपूर्ण नियंत्रण की नीति अल्पमात्रा में उपलब्ध वस्तुओं के अपसंचय पर रोक लगाने के उद्देश्य से प्रयोग में लाई गई थी। जिन वस्तुओं पर ये नियंत्रण लगाए गए वे या तो उपयोग की आवश्यक वस्तुएँ थीं या निर्यात के लिये महत्वपूर्ण मदें थीं (खाद्यान्न, तेलहन, चीनी तथा वनस्पति आदि)।

विकास और उन्नति के कार्य

बैंकिंग — मौद्रिक नीति को प्रभाव पूर्ण ढंग से कार्यान्वित करने के लिये, एक अच्छी उन्नतिशील व्यापारिक बैंकिंग पद्धति का होना आवश्यक है। इसलिये रिजर्व बैंक ने अनेकानेक तरीकों से बैंकिंग के ढाँचे को संघटित करने तथा मजबूत बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया है। बैंकिंग कंपनीज ऐक्ट के अंतर्गत रिजर्व बैंक को व्यापारिक बैंकों के ऊपर निरीक्षण और निगरानी करने का विस्तृत अधिकार प्राप्त है। रिजर्व बैंक क्रमशः आर्थिक रूप से स्वस्थ और विकासक्षम क्षेत्रीय बैंकिंग इकाइयों की स्थापना के लिये प्रयत्न करता आ रहा है, जो बैंकिंग की क्षेत्रीय आवश्यकताओं की अधिक कुशलता के साथ पूर्ति कर सकें। अधिकतर तो बैंक ने स्वयं ही ऐसी बैंकिंग इकाइयों को जिनके उचित अवधि के भीतर बड़ी और जीवनक्षम इकाइयों में विकसित होने की आशा नहीं है, समझा बुझाकर राजी किया है कि वे बड़ी इकाइयों को या तो अपने दायित्वों और संपत्तियों को हस्तांतरित कर दें या अपने को उनमें मिला दें। इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि छोटी इकाइयों का मिलन या एकीकरण आर्थिक रूप से स्वस्थ और सुप्रबंधित इकाइयों के साथ बिना किसी असुविधा के हो। रिजर्व बैंक समय समय पर निरीक्षण करके बैंकों के कार्य पर कड़ी नजर रखता है। बैंकिंग कंपनीज ऐक्ट के अंतर्गत उसे यह अधिकार प्राप्त है कि वह किसी बैंक का किसी भी समय निरीक्षण कर सके।

बैंक ने समय समय पर स्वस्थ बैंकिंग व्यवस्था की अभिवृद्धि करने के लिये ऐसे कानून बनवाने में पहल की है जिनसे जमाकर्ताओं के हितों की सुरक्षा हो सके। किसी बैंक के फेल हो जाने पर रुपया जमा करनेवालों की कुछ सीमा तक सुरक्षा हो सके, इस उद्देश्य से १ जनवरी, सन् १६६२ को रिजर्व बैंक द्वारा पूर्ण चुकता १ करोड़ रुपए की पूँजी से "जमा बीमा निगम" की स्थापना की गई। निगम द्वारा दिए गए बीमे के आवरण से प्रति बैंक में प्रत्येक जमाकर्ता को जमा रकम मे से १,५०० रु० तक की सुरक्षा प्राप्त हो जाती है और पाँच जमाकर्ताओं मे प्रायः चार को पूर्ण राहत मिल जाती है। रिजर्व बैंक बैंकिंग की शिक्षा देने तथा बैंकों में काम करनेवाले कर्मचारियों की योग्यता और स्तर में सुधार करने के प्रयत्न में सक्रिय भाग लेता है। बैंक ने १६५४ में व्यापारिक बैंकों के निरीक्षणकारी स्टाफ को प्रशिक्षण देने के लिये बैंकरों का ट्रेनिंग कालेज स्थापित किया और वह बैंकों के विभिन्न श्रेणियों के कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिये समुचित पाठ्यक्रम तैयार कराने का भी प्रबंध करता रहा है।

भारत में पिछले १०-१५ वर्षों से रिजर्व बैंक, राज्य की दूसरी एजेंसियों से मिल जुलकर कार्य करते हुए, कृषि और उद्योगों के लिये ऋण देने की व्यवस्था का विस्तार करने मे योगदान करता रहा है।

कृषि के लिये ऋण देने की सुविधा — यतः भारत की अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से कृषि पर आधारित है, अतः इस क्षेत्र में साख सुविधाओं के विस्तार तथा समन्वय की अतीव आवश्यकता को ध्यान में रखकर रिजर्व बैंक ऑव इंडिया ऐक्ट सन् १६३५ में एक विशेष कृषि ऋण विभाग स्थापित करने की व्यवस्था की गई। इसका उद्देश्य था विभाग में ऐसे लोगों को नियुक्त करना जो कृषि ऋण के तमाम प्रश्नों का अध्ययन करें और जो केंद्रीय सरकार, राज्य सरकारों, राज्य सहकारी बैंकों तथा अन्य बैंकिंग संगठनों द्वारा सलाह के लिये उपलब्ध हो सकें। विभाग का एक काम यह भी रखा गया कि वह कृषि ऋण की व्यवस्था के रिजर्व बैंक के कार्यों और राज्य सहकारी बैंकों तथा इस काम मे लगे अन्य बैंकों के संबंधों में सामंजस्य स्थापित करे।

यद्यपि प्रारंभ में परिस्थितियों के कारण रिजर्व बैंक इस दिशा में कोई सक्रिय भाग नहीं ले सका, लेकिन देश के स्वतंत्र होने, बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने तथा पंचवर्षीय योजनाओं के बाद उसकी कार्यविधि में नया परिवर्तन हुआ है। केंद्रीय बैंक के रूप मे रिजर्व बैंक ने यह सुनिश्चितता प्रदान करने का प्रयत्न किया है कि कृषि को, अर्थव्यवस्था के अन्य और भागों की तरह, उत्पादन के लिये पर्याप्त साख या ऋण की व्यवस्था की जाय। इस कार्य के लिये बैंक ने प्रत्येक राज्य में संघात्मक ढंग की सहकारी साख व्यवस्था को विकसित करने का प्रयत्न किया है जिसमें सबसे ऊपर प्रधान राज्य सहकारी बैंक तथा जिला स्तर पर जिलों का मुख्य सहकारी बैंक, ग्रामीण आधार पर प्रारंभिक सहकारी समितियाँ हों।

कुछ समय बाद बैंक ने निदेश कमेटी के अंतर्गत एक अखिल भारतीय ग्रामीण कृषि ऋण के सर्वेक्षण का संगठन किया। इस कमेटी का प्रतिवेदन दिसंबर, १९५४ में प्रकाशित हुआ था। उसी की सिफारिशों पर द्वितीय और तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत ग्रामीण ऋण व्यवस्था संबंधी हाल के प्रोग्राम आधारित हैं। संपूर्ण योजना के ये चार पहलू थे---(१) विभिन्न स्तरों पर राज्य की साझेदारी से सहकारी कृषि ऋण व्यवस्था का विकास, (२) सहकारी विपणन (मार्केटिंग) तथा निर्माण प्रणाली और अन्य ग्रामीण आर्थिक प्रक्रियाओं में सुधार, जैसे संग्रह और गोदाम की व्यवस्था, (३) सहकारी समितियों के लिये योग्य कर्मचारियों के प्रशिक्षण की सुविधा तथा (४) इंपीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधा का तेजी से विस्तार किया जा सके। इस योजना में रिजर्व बैंक को एक महत्वपूर्ण भूमिका निबाहने का भार सौंपा गया जिससे इसके कार्यों का, जैसे आर्थिक सहायता प्रदान करने, सलाह देने तथा सहयोग के कार्यों का, विस्तार तथा अनेक रूपों में विभाजन बढ़ गया।

रिजर्व बैंक के वित्तीय सहायता प्रदान करने से संबंधित कार्यों में सर्वप्रथम राज्य सहकारी बैंकों को मौसमी कृषि कार्यों के लिये तथा फसलों के विपणन के लिये सहकारी कागजों की अमानत पर, या राज्य सरकार की गारंटी पर, या सरकारी प्रतिभूतियों पर अल्पावधिक के वित्तीय सहायता की व्यवस्था, रियायती दर से, जैसे कि बैंक दर से २ प्रतिशत कम पर, करना है। बैंक राज्य सहकारी बैंकों को माध्यमावधि के भी कृषि कार्यों के लिये, जैसे बैलों की खरीद, भूमि का सुधार तथा कुएँ खुदवाने के लिये बैंक दर से डेढ़ प्रतिशत कम पर प्रदान करता है। बैंक राज्य सहकारी बैंकों को मान्यताप्राप्त कुटीर उद्योग धंधों को दुबारा धन लगाने के लिये अल्पावधि वित्तीय सहायता प्रदान कर सकता है तथा इस व्यवस्था के अंतर्गत दस्तकारी बुनकर सहकारी समितियों को वित्तीय सहायता प्रदान करता आ रहा है। फिर बैंक राज्य सरकारों को कम सूद की दर पर दीर्घावधिक ऋण प्रदान करता है ताकि वे ऋण देनेवाली सहकारी संस्थाओं के हिस्से खरीद सकें। अंत में रिजर्व बैंक सहकारी समितियों को निःशुल्क या सुविधाजनक दरों पर रुपया भेजने की सुविधा प्रदान करता है।

ग्रामीण कृषि ऋण सर्वेक्षण कमेटी की एक सिफारिश के अनुसार १९५६ में रिजर्व बैंक ने जो राष्ट्रीय कृषि ऋण निधि (नैशनल एग्रीकल्चरल क्रेडिट फंड) (दीर्घावधि कार्यों के लिये) स्थापित की थी उसी से बैंक राज्य सरकारों को दीर्घावधिक कृषि ऋण और खेती के तथा संबंधित अन्य कार्यों के लिये तथा कुछ विशेष प्रकार के भूमिबंधक बैंकों के ऋणपत्रों की खरीद के लिये मध्यमावधि ऋण प्रदान करता है। इसी तरह बैंक ने एक और राष्ट्रीय कृषिऋण (स्थिरीकरण) निधि की स्थापना की है, जिससे राज्य सहकारी बैंकों को ऐसी परिस्थितियों में मध्यमावधि ऋण प्रदान किया जा सकता है जब अकाल के कारण या अन्य प्राकृतिक विपत्तियों के कारण वे निश्चित तिथियों पर बैंक से लिए गए अल्पावधि कृषिऋणों का भुगतान करने में असमर्थ हो जायँ।

रिजर्व बैंक उन्नति के भी महत्वपूर्ण कार्य करता है। अपने विभाग के अनुसार बैंक कृषिऋण संबंधी प्रश्नों का अध्ययन करता है, जहाँ कहीं भी आवश्यकता पड़े केंद्रीय और राज्य सरकारों तथा सहकारी बैंकों को सलाह देता है तथा इस क्षेत्र में कार्य करनेवाली तमाम एंजसियों में सामंजस्य स्थापित करता है। इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत सहकारी विकास से संबंधित प्रोग्रामों तथा नीतियों के सामयिक पर्यवेक्षण तथा सूत्रीकरण कार्यों से बैंक का निकट संबंध रहा है। इसके अलावा स्वस्थ आधार पर राज्य व केंद्रीय सहकारी बैंकों के विकास में सहायता देने के लिये तथा उसके द्वारा दिए गए कोष का दुरुपयोग रोकने के लिये बैंक, अपने क्षेत्रीय दफ्तरों द्वारा, ऐसे बैंकों का सामयिक निरीक्षण भी करता आ रहा है। चूँकि बैंक को इस कार्य के लिये कोई वैधानिक अधिकार नहीं है इसलिये ये निरीक्षण ऐच्छिक आधार पर संचालित किए जाते हैं। फिर भी रिजर्व बैंक की वित्तीय सहायता से स्थापित सहकारी बैंकों के लिये यह शर्त अनिवार्य रखी गई है कि वे इस प्रकार के निरीक्षणों के लिये सहमत हों।

उद्योगों के विकास के लिये वित्तीय सहायता---रिजर्व बैंक ने विशेष एजेंसियों की स्थापना में सहायता प्रदान कर औद्योगिकीकरण में महत्वपूर्ण योगदान किया है। ये एजेंसियाँ, जैसे इंडस्ट्रियल फिनेंस कारपोरेशन ऑव इंडिया तथा स्टेट फिनेंशिएल कारपोरेशन ऐसे उद्योगों को मध्यमावधिक तथा दीर्घावधिक ऋण देंगी तथा पूँजी का भी कुछ अंश एवं उधार की सुविधाएँ प्रदान करेंगी। बैंक उनके, विशेषकर स्टेट फिनेन्शियल कारपोरेशनों के, संगठन तथा कार्यसंचालन में भी सहायता प्रदान करता है। १९५७ में बैंक ने विशेषकर इन समस्याओं का समाधान करने के लिये औद्योगिक आर्थिक सहायता देनेवाला विभाग स्थापित किया गया। वित्तीय तथा संगठनात्मक सहायता प्रदान करने के अलावा बैंक स्टेट फिनेन्शल कारपोरेशनों के कार्यों को श्रेणीबद्ध करने में भी सहायता करता है। बैंक अपने निरीक्षणों द्वारा, विशेषकर उनके उधारों तथा अग्रिम धनों के संबंध में, स्वस्थ व्यवहारों तथा परंपराओं को स्थापित करने में मदद देता है। बैंक ने १९५८ में उद्योगों को पुनः वित्तीय सहायता प्रदान करनेवाले निगम की स्थापना में महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसका उद्देश्य मौलिक रूप से द्वितीय पंचवर्षीय योजना तथा बादवाली योजनाओं में उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि लाने के लिये योग्य बैंकों तथा दूसरी आर्थिक सहायता प्रदान करनेवाली संस्थाओं द्वारा मध्यम कोटि की औद्योगिक संस्थाओं को मध्यमावधि ऋण पर पुनः आर्थिक सहायता प्रदान करने की सुविधा प्रदान करना था। इस निगम की संपत्तियाँ तथा दायित्व औद्योगिक विकास नियम (बाद में वर्णित) द्वारा १ सितंबर, सन् १९६४ को तथा (२) यूनिट ट्रस्ट ऑव इंडिया द्वारा लिया गया। इसकी स्थापना का उद्देश्य समाज की बचतों को एकत्रित कर उन्हें उत्पादक कार्यों में लगा देना है, विशेषकर ऐसा प्रयत्न करना कि उद्योगों का स्वामित्व अधिक व्यापक और विभिन्न वर्गों में फैल जाय।

उधार देनेवाली वर्तमान संस्थाओं के संमिलित प्रयत्न से भी द्रुत औद्योगिकीकरण की आवश्यकताओं की पूर्ति का होना संभव न देखकर एक नई वैधानिक संस्था जिसे 'भारत का औद्योगिक विकास बैंक,' कहा जाता है, रिजर्व बैंक ऑव इंडिया की सहायक

संस्था के रूप में १ जुलाई, १९६४ को स्थापित की गई। भारत का औद्योगिक विकास बैंक औद्योगिक संस्थानों को या तो प्रत्यक्ष रूप से या दूसरी आर्थिक सहायता देनेवाली संस्थाओं के जरिए सहायता प्रदान करेगा। यह उधार या अग्रिम धन देकर या स्टाकों के हिस्सों, बांडों या ऋणपत्रों को खरीदकर या खरीद लेने की जिम्मेदारी लेकर प्रत्यक्ष सहायता देगा। यह औद्योगिक संस्थानों के यहाँ बाकी भावी भुगतान तथा खुले बाजार से या विशिष्ट संस्थाओं से लिए गए ऋणों के भुगतान की गारंटी दे सकता है। औद्योगिक विकास बैंक लंबी या छोटी अवधि पर उधार देनेवाली वर्तमान संस्थाओं को, विशुद्ध अल्पावधि को छोड़कर, सभी अवधियों के लिये पुनः वित्तीय सहायता प्रदान करके और उनकी पूँजी तथा अन्य साधनों को जुटाने में हिस्सा बँटाकर नई ताकत प्रदान करता है। कुछ महत्वपूर्ण युद्धनीतिक क्षेत्र के उद्योगों को सहायता प्रदान करने के लिये जहाँ आर्थीगण कड़ी व्यापारिक शर्तों को पूर्ण कर सकने में असमर्थ हैं, वहाँ विकास बैंक उस निधि से विकास सहायता कोष की स्थापना करेगा जो भारत सरकार उसे अर्पित कर देगी।

इनमे निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों के जहाजरानी, यातायात तथा होटल उद्योग आदि उद्योग संमिलित हैं। विकास बैंक के पास ५० करोड़ की एक प्राधिकृत पूँजी है जो भारत सरकार की पूर्वस्वीकृति से रिजर्व बैंक द्वारा १०० करोड़ तक बढ़ाई जा सकती है। १० करोड़ की प्रारंभिक चुकता पूँजी को भारत सरकार द्वारा प्रदत्त १० करोड़ तक ब्याजरहित ऋण द्वारा बढ़ाया जा सकता है।

रिजर्व बैंक ने लघुकाय उद्योगों को ऋण सुविधा की व्यवस्था की तरफ भी विशेष ध्यान दिया है। लघुकाय उद्योगों को उधार देने में जोखिम के अंश को पूरा करने के लिये सरकार ने रिजर्व बैंक की सलाह से सन् १९६० में एक ऋण भुगतान गारंटी योजना का श्रीगणेश किया। बैंक को इस योजना का संचालन करने का भार सौंपा गया जो भारत सरकार तथा विशिष्ट उधार देनेवाली संस्थाओं के बीच कर्ज के आकार के अनुसार विभिन्न अनुपातों में हानि की रकम बँटाने की व्यवस्था करता है। बैंक, अभी हाल तक उन अनसूचित बैंकों के साथ रियायती व्यवहार करता आ रहा है जो लघुकाय उद्योगों को उधार देने के लिये उससे ऋण लिया करते हैं। [पी० वी० रं०]

रिटर, कार्ल (Ritter, Karl, सन् १७७९-१८५९) विश्वविख्यात जर्मन भूगोलवेत्ता थे। इनका जन्म क्वेडलीबुर्ग (प्रशिया) में तथा देहांत बर्लिन में हुआ। इनकी शिक्षा दीक्षा हाल नगर में हुई। ये आधुनिक भूगोल के संस्थापक तथा भूगोल के एक महत्वपूर्ण क्षेत्र 'तुलनात्मक भूगोल' के जनक माने जाते हैं।

इन्हें बर्लिन विश्वविद्यालय में भूगोल के विशेष प्रोफेसर का संभावित पद दिया गया, जहाँ इन्होंने आजीवन, लगभग चालीस वर्षों तक, सेवा की। इनके पहले के भूगोल में दर्शन का प्रचुर प्रभाव था और भूगोल संबंधी मान्यताएँ तथा सिद्धांत बिना प्रेक्षण के ही स्थापित कर लिए जाते थे। ये पहले भूगोलवेत्ता थे, जिन्होंने इस प्रकार की भौमीकिक मान्यताओं को प्रस्थापित करनेवाले विद्वानों का घोर विरोध किया। इनके दृष्टिकोण से भूगोल को 'पृथ्वी के विज्ञान' (Earth Science) के रूप में होना चाहिए तथा उसकी मान्यताएँ एवं सिद्धांत प्रेक्षण द्वारा निर्धारित होने चाहिए। इनका दृष्टिकोण भूगोल में मानवकेंद्रित (Anthropocentric) था, किंतु ये नियतिवादी न थे। मानव तथा प्रकृति के परस्पर प्रभावकारी तथ्यों का वैज्ञानिक अध्ययन एवं विवेचन इनके मूलभूत उद्देश्य थे।

इनकी पुस्तकों में 'मनुष्य की प्रकृति एवं इतिहास पर भूगोल का प्रभाव' सर्वप्रमुख है। अन्य रचनाओं में 'यूरोप, एक भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा तथ्यात्मक अध्ययन' प्रमुख है। [का० ना० सिं०]

रिपन, लार्ड (१८२७-१९०९) जन्म, २४ सितंबर, सन् १८२७; मृत्यु, ९ जुलाई, १९०९। १८४९ में जार्ज फ्रेडरिक सेमुएल रॉबिंसन (रिपन) ब्रुसेल्स में भेजे गए एक विशेष मिशन में अटैची के पद पर नियुक्त हुए। सन् १८५१ में इनका विवाह हुआ। सन् १८५२, १८५३ और १८५७ में वे हाउस ऑव कॉमन्स के सदस्य चुने गए। हाउस ऑव लार्ड्स् के सदस्य हो जाने (१८५९) के कुछ ही माह के पश्चात् रिपन युद्ध विभाग में अंडर सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त हुए। सन् १८६१ ई० में वे लंदन स्थित भारत के दफ्तर में अंडर-सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त हुए। सन्१८६३ में युद्ध विभाग के सेक्रेटरी के पद पर ब्रिटिश केबिनेट की सदस्यता के साथ नियुक्त हुए। सन् १८६६ में रिपन की नियुक्ति सेक्रेटरी ऑव स्टेट फॉर इंडिया के पद पर हुई। उदारवादी दल के प्रधान मंत्री ग्लैडस्टन के समय में रिपन सन् १८६८ के अंत में लार्ड प्रेसीडेंट ऑव द कौंसिल के पद पर नियुक्त हुए और इस पद पर सन् १८७३ तक आसीन रहे। सन् १८७१ में ये मार्क्विस की उपाधि से विभूषित हुए।

सन् १८८० में जब ग्लैडस्टन प्रधान मंत्री बने तो लार्ड रिपन की नियुक्ति भारत के वाइसराय के पद पर हुई। लार्ड रिपन ने लार्ड लिटन की अफगानिस्तान के प्रति अग्रगामी नीति में परिवर्तन कर दिया और दोस्त मोहम्मद के भतीजे अब्दुर्रहमान को अमीर मानकर अफगानिस्तान के साथ संधि की। लार्ड रिपन ने भारतीयों के अधिकारों को बढ़ाया। इनके कानूनी सदस्य सी० पी० इल्बर्ट ने एक विधेयक पेश किया जो 'इल्बर्ट बिल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस विधेयक के अनुसार भारतीय मजिस्ट्रेटों और न्यायाधीशों को यूरोप के निवासियों पर चल रहे मुकदमों के सुनने व फैसला करने का अधिकार मिला।

सन् १८८६ में लार्ड रिपन फर्स्ट लार्ड ऑव ऐडमिरैल्टी के पद पर और १८९२ में कलोनियल सेक्रेटरी के पद पर आसीन हुए। सन् १९०५ के अंत में सर हेनरी कैंपबेल बैनरमैन के शासन काल में लार्ड रिपन, लार्ड प्रिवीसील के पद पर आसीन हुए और इस पद पर सन् १९०८ तक बने रहे। [कृ० स्व० श्री०]

रिबेरा गिउसेप्पी (१५८८-१६५२) स्पेन में वेलेंशिया के पास जतिवा में जन्म हुआ। वेलेंशिया में फ्रांसिस्को रिबाल्टा तथा कारावग्गीओ के मार्गदर्शन में उसने चित्रकला की शिक्षा प्राप्त की। कारावग्गीओ के चित्रों के समान रंगों की मोटी मोटी

पर्श दर्शाते हुए खुरदुरे तकनीक से छाया और प्रकाश का तीखा प्रभाव व्यक्त करनेवाले चित्र उसने बनाए। दिल दहलानेवाले विषयों को उसने अपने चित्रों के लिये चुना। बाद में वह इटली गया। वैटिकन में उसने रैफेल के चित्रों का अध्ययन किया। फिर वह स्थायी रूप से नेपल्स में बस गया। वहाँ एक कलाकार की लड़की से विवाह कर लिया।

सन् १६१६ में स्पेनिश वाइसराय ड्यूक ऑव ओसेला, उसकी कला पर मुग्ध हो गया। उसके बाद के अन्य वाइसराय भी उसकी सहायता करते रहे। उसे चर्चों में चित्र बनाने का काम मिलता ही गया, और इस तरह वह काफी लोकप्रिय कलाकार बन गया। रोम की सान लुक अकादमी का वह सदस्य चुना गया। निसर्गवादी चित्रकार के रूप में उसकी ख्याति बढ़ने लगी। लेकिन जब आस्ट्रिया के डान जौन द्वारा उसकी दूसरी लड़की का अपहरण कर लिया गया तब वह निराशा में डूब गया। उसने कुछ कविताएँ भी लिखीं। वह खुदाई की कला भी जानता था। उसके बनाए व्यक्ति चित्र प्रादो, माद्रिद और कनाडा के टोरेंटो म्यूजियम में हैं। उसे लोग लो स्पेग्नोलेत्तो या छोटा स्पेनियार्ड भी कहते थे। [भा० स०]

रियाद (Riyadh) नगर, स्थिति: २४° ४५′ उ० अ० तथा ४६° ४५′ पू० दे०। साउदी अरब के मध्य रेगिस्तानी भाग में, फारस की खाड़ी से २४० मील दक्षिण-पश्चिम स्थित, अरब की दो राजधानियों में से एक है। सागरतल से ४,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित इस नगर का गरमियों का ताप ३८° सें० रहता है। जलवायु शुष्क, गरम एवं रेगिस्तानी है। वार्षिक वर्षा का औसत १० इंच रहता है। एक नखलिस्तान के किनारे होने से यहाँ कुछ खजूर के पेड़ तथा सब्जियाँ एवं खाद्यान्नों की हरियाली देखने को मिल जाती है। यहाँ १८० × १५० फुट क्षेत्र में प्रसिद्ध जामिदा मस्जिद बनी है। यह ईरान से मक्का जानेवाले यात्रियों के रास्ते में पड़ने से एवं मरुस्थल के मध्य अकेला बड़ा नगर होने से प्रसिद्ध हो गया है। नगर की जनसंख्या १,६६,००० (१६६३) है। [र० चं० दु०]

रियासतें, ब्रिटिश भारत में मुगल तथा मराठा साम्राज्यों के पतन के फलस्वरूप भारतवर्ष बहुत से छोटे बड़े राज्यों में विभक्त हो गया। इनमें से सिंध, भावलपुर, दिल्ली, अवध, रुहेलखंड, बंगाल, कर्नाटक मैसूर, हैदराबाद, भोपाल, जूनागढ़ और सूरत में मुस्लिम शासक थे। पंजाब तथा सरहिंद में अधिकांश सिक्खों के राज्य थे। आसाम, मनीपुर, कछार, त्रिपुरा, जयंतिया, तंजोर, कुर्ग, ट्रावनकोर, सतारा, कोल्हापुर, नागपुर, ग्वालियर, इंदौर, बड़ौदा तथा राजपूताना, बुंदेलखंड, बघेलखंड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, काठियावाड़, मध्य भारत और हिमांचल प्रदेश के राज्यों में हिंदू शासक थे।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के सर्वप्रथम संबंध व्यापार के उद्देश्य से सूरत, कर्नाटक, हैदराबाद, बंगाल आदि समुद्रतट पर स्थित राज्यों से हुए। तदनंतर फ्रांसीसियों के साथ संघर्ष के समय राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा को प्रेरणा मिली। फलतः साम्राज्य निर्माण का कार्य १७५७ ई० से प्रारंभ होकर १८५६ तक चलता रहा। इस एक शताब्दी में देशी राज्यों के आपसी झगड़ों से लाभ उठाकर कंपनी ने अपनी कूटनीति तथा सैनिक शक्ति द्वारा सारे भारत पर सार्वभौम सत्ता स्थापित कर ली। अनेक राज्य उसके साम्राज्य में विलीन हो गए। अन्य सभी उसका संरक्षण प्राप्त करके अधीन बन गए। यह अधीन राज्य रियासत कहे जाने लगे। इनकी स्थिति उत्तरोत्तर असंतोषजनक तथा डावाँडोल होती गई, शक्ति क्षीण होती गई, सीमाएँ घटती गईं और स्वतंत्रता कम होती गई।

१७५६ तक कर्नाटक और तंजोर ब्रिटिश कंपनी के अधीन हो गए। १७५७ में बंगाल उसके प्रभावक्षेत्र में आ गया। १७६१ तक हैदराबाद का निजाम उसका मित्र बन गया। १७६५ में बंगाल की स्वतंत्रता समाप्त हो गई। इसी वर्ष इलाहाबाद की संधि द्वारा दिल्ली के सम्राट् शाहआलम और अवध के नवाब शुजाउद्दौला के साथ कंपनी की मैत्री हो गई तथा देशी राज्यों के साथ उसके संबंधों का वास्तविक सूत्रपात हुआ।

१७६५ से १७६८ तक मराठों, अफगानों तथा मैसूर के सुल्तानों के भय के कारण आत्मरक्षा की भावना से प्रेरित होकर कंपनी ने आरक्षण नीति द्वारा पड़ोसी राज्यों को अंतराल राज्य बनाया जिससे नव निर्मित ब्रिटिश राज्य शक्तिशाली मित्र राज्यों से घिर कर सुरक्षित बन गया। इस अवसरवादी नीति को अवध और हैदराबाद के साथ कार्यान्वित किया गया। इसके अनुसार दिखावे के लिये उनके साथ समानता का व्यवहार किया गया पर वास्तव में उन्हें अधीन बनाने, उनकी सैनिक शक्ति क्षीण करने तथा उनके संपन्न भागों पर अधिकार करने के किसी अवसर को हाथ से न जाने दिया गया। रियासतों के प्रति जितनी नीतियाँ कंपनी ने भविष्य में अपनाईं उनमें से अधिकांश अवध में पोषित हुईं। इस काल में कंपनी ने मैसूर तथा मराठा राज्य में फूट डालकर हैदराबाद के सहयोग से उनके विरुद्ध युद्ध किए। अवध को रुहेलखंड हड़पने में सहायता देकर रामपुर का छोटा राज्य बना दिया। ट्रावनकोर और कुर्ग कंपनी के संरक्षण में आ गए।

१७६६ से १८०५ तक लॉर्ड वेलेजली की अग्रगामी नीति के फलस्वरूप सूरत, कर्नाटक तथा तंजोर के राज्यों का अंत हो गया। अवध, हैदराबाद, बड़ोदा, पूना और मैसूर सहायक संधियों द्वारा कंपनी के शिकंजे में जकड़ गए। वे केवल अर्ध स्वतंत्र राज्य रह गए। उनकी बाह्य नीति पर ब्रिटिश नियंत्रण हो गया। सैनिक शक्ति घटा दी गई। राज्यों में उन्हीं के खर्च पर सहायक सेना रखी गई। आक्रमणों तथा विद्रोहों से उनकी रक्षा की गई। राजाओं की गतिविधियों पर दृष्टि रखने तथा ब्रिटिश हितों की सुरक्षा एवं वृद्धि के लिये उनकी राजधानियों में ब्रिटिश प्रतिनिधि रहने लगे। राज्यों से ब्रिटिश विरोधी विदेशी हटा दिए गए। अंतरराष्ट्रीय झगड़ों का फैसला ब्रिटिश कंपनी करने लगी। ये अपमानजनक संधियाँ देशी राज्यों के लिये आत्मविनाश के समान थीं तथा ब्रिटिश साम्राज्य के लिये विकास शृंखला की महत्वपूर्ण कड़ियाँ थीं। युद्ध में परास्त होकर नागपुर और ग्वालियर भी उसी जाल में फँस गए। भरतपुर ने ब्रिटिश आक्रमणों को विफल बनाने के पश्चात् संधि कर ली। इसी समय से रियासतों के शासक अनुत्तरदायी होने लगे तथा उनके आंतरिक शासन में अनेक बहानों से ब्रिटिश रेजिडेंट हस्तक्षेप करने लगे।

१८०५ से १८१३ तक ब्रिटिश कंपनी ने देशी राज्यों के प्रति हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाई। इस काल में ट्रावनकोर तथा सरहिंद के राज्य उसके अधीन हो गए। सतलज पंजाब की सीमा बना दी गई। सिंध और पंजाब कंपनी के मित्र बन गए।

१८१७-१८१८ में कई राज्य लार्ड हेस्टिंग्ज की आक्रामक नीति के शिकार बने। मराठा संघ को नष्ट करके सतारा का छोटा सा राज्य बना दिया गया। राजपूताना, मध्य भारत तथा बुंदेलखंड के सभी राज्य सतत मित्रता तथा सुरक्षा की संधियों द्वारा कंपनी के करद राज्य बन गए। ग्वालियर, नागपुर तथा इंदौर पर पहले से अधिक अपमानजनक संधियाँ लाद दी गईं। भोपाल ने प्रतिरक्षात्मक संधि द्वारा अंग्रेजों की अधीनता मान ली। अमीर खाँ, गफूर खाँ तथा करीम खाँ को क्रमशः टोंक, जावरा तथा गणेशपुर की रियासतें दी गईं। ब्रिटिश सार्वभौम सत्ता सारे देश में फैल गई।

लार्ड एमहर्स्ट के शासनकाल में कछार, जयंतिया और त्रिपुरा ब्रिटिश संरक्षण में आ गए। मनीपुर स्वतंत्र मित्र राज्य बन गया। भरतपुर की शक्ति नष्ट कर दी गई। लॉर्ड विलियम बेंटिक ने कुर्ग, मैसूर तथा जयंतिया को कुशासन के बहाने तथा कछार को उत्तराधिकारी न होने के कारण हड़प लिया। लॉर्ड ऑकलैंड ने मांडवी, कोलाबा, जालौन तथा कर्नूल रियासतों पर अधिकार कर लिया। लॉर्ड एलनबरा ने सिंध जीत लिया तथा ग्वालियर की सैनिक शक्ति नष्ट कर दी। लॉर्ड हार्डिंज ने पंजाब की शक्ति संकुचित कर दी तथा जम्मू और कश्मीर के राज्य का निर्माण किया। लॉर्ड डलहौजी के समय रियासतों पर विशेष प्रकोप आया। उसने नागपुर, सतारा, झाँसी, संभलपुर, उदयपुर, जैतपुर, बघात तथा करौली के शासकों को पुत्र गोद लेने के अधिकार से वंचित करके उनके राज्यों को हड़प लिया; हैदराबाद से बरार ले लिया; तथा कुशासन का आरोप लगाकर, अवध को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। इन आपत्तिजनक नीतियों के कारण रियासतों में असंतोष फैल गया जो १८५७ की सशस्त्र क्रांति का कारण बना। क्रांति के समय स्वार्थ से प्रेरित होकर अधिकांश देशी शासक कंपनी के प्रति स्वामिभक्त रहे।

क्रांति के पश्चात् भारत में ५६२ रियासतें थीं जिनके अंतर्गत ४६ प्रतिशत भूमि थी। इनके प्रति अधीनस्थ सहयोग की नीति अपनाई गई तथा ये साम्राज्य के स्तंभ समझे जाने लगे। इनके शासकों को पुत्र गोद लेने का अधिकार दिया गया। राज्यसंयोजन नीति को त्यागकर रियासतों को चिरस्थायित्व प्रदान किया गया तथा साम्राज्य की सुरक्षा एवं गठन हेतु उनका सहयोग प्राप्त किया गया। १८५६ में गढ़वाल के राजा के मृत्यूपरांत इसके औरस पुत्र को उत्तराधिकारी मानकर तथा १८८१ में मैसूर रियासत के पुनःस्थापन द्वारा नई नीति का पुष्टीकरण हुआ। क्रमशः विभिन्न संधियों का महत्व जाता रहा और उनके आधार पर सभी रियासतों के साथ एक सी नीति अपनाने की प्रथा चल पड़ी। उनमें छोटे बड़े का भेद भाव सलामियों की संख्या के आधार पर किया गया।

१८७६ में देशी शासकों ने महारानी विक्टोरिया को भारत की सम्राज्ञी मानकर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। तदनंतर ब्रिटिश शासन की ओर से उन्हें उपाधियाँ दी जाने लगीं। प्रेस, रेल, तार तथा डाक द्वारा वे ब्रिटिश सरकार के निकट आते गए। चुंगी, व्यापार, आबपाशी, मुद्रा, दुर्भिक्ष तथा यातायात संबंधी उनकी नीतियाँ ब्रिटिश भारत की नीतियों से प्रभावित होने लगीं। उनकी कोई अंतरराष्ट्रीय स्थिति न रही। कुशासन, अत्याचार, राजद्रोह तथा उत्तराधिकार संबंधी झगड़ों को लेकर रियासतों में ब्रिटिश सरकार का हस्तक्षेप बढ़ गया। इस नीति के उदाहरण हैं—(१) १८६५ में झाबुआ के राजा पर १००००) दंड लगाना; (२) १८६७ मे ग्वालियर की सैनिक शक्ति में कमी; (३) उसी वर्ष टोंक के नवाब का पदच्युत होना तथा उसके उत्तराधिकारी की सलामी की संख्या घटाना; (४) १८७० में अलवर के राजा को शासन से वंचित करना; (५) मल्हारराव गायकवाड़ को बंदी बनाना और १८७५ में उसे पदच्युत करना; (६) १८८६ में कश्मीर के महाराज प्रताप सिंह को गद्दी से हटाना; (७) १८६० में मनीपुर के राजा को अपदस्थ करना तथा युवराज और सेनापति को फाँसी देना; और (८) १८६२ में कलात के शासक को पदच्युत करना।

१८६६ में लॉर्ड कर्जन ने रियासतों को साम्राज्य का अविभाज्य अंग घोषित किया तथा कड़े शब्दों में शासकों को उनके कर्तव्यों की ओर ध्यान दिलाया। इससे शासक शंकित हुए। उनकी स्थिति समृद्ध सामंतों के तुल्य हो गई। १६०६ में तीव्र राष्ट्रवाद के वेग को रोकने में रियासतों के सहयोग के लिये लॉर्ड मिंटो ने उनके प्रति मित्रतापूर्ण सहयोग की नीति अपनाई तथा साम्राज्य सेवार्थ सेना की संख्या में वृद्धि करने के लिये उन्हें आदेश दिया। प्रथम विश्व युद्ध में रियासतों ने ब्रिटिश सरकार को महत्वपूर्ण सहायता दी। बीकानेर, जोधपुर, किशनगढ़, पटियाला आदि के शासकों ने रणक्षेत्र में युद्धकौशल दिखाया।

१६१६ के अधिनियमानुसार १६२१ में नरेशमंडल बना जिसमें रियासतों के शासकों को अपने सामान्य हितों पर वार्तालाप करने तथा ब्रिटिश सरकार को परामर्श देने का अधिकार मिला। १६२६ में लार्ड रैडिंग ने ब्रिटिश सार्वभौम सत्ता पर बल देते हुए देशी शासकों को ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी घोषित किया जिससे वे अप्रसन्न हुए। इसलिये १६२६ में बटलर कमेटी रिपोर्ट में सार्वभौम सत्ता की सीमाएँ निश्चित कर दी गई। १६३० मे नरेशमडल के प्रतिनिधि गोलमेज संमेलन में संमिलित हुए। १६३५ के संवैधानिक अधिनियम में रियासतों को भारतीय संघ में संमिलित करने की अनुचित व्यवस्था रखी गई। पर वह कार्यान्वित न हो सकी। रियासतों में निरंकुश शासन चलता रहा। केवल मैसूर, ट्रावनकोर, बड़ौदा, जयपुर आदि कुछ रियासतों में प्रजा परिषदों के आंदोलन के परिणामस्वरूप कुछ प्रातिनिधिक शासन संस्थाएँ बनीं। पर अधिकाश रियासतें प्रगतिहीन एवं अविकसित स्थिति में रहीं। द्वितीय विश्व युद्ध में रियासतों ने इंग्लैंड को यथाशक्ति सहायता दी।

१५ अगस्त, १६४७ को ब्रिटिश सार्वभौम सत्ता का अंत हो जाने पर सरदार वल्लभभाई पटेल के नीतिकौशल के कारण हैदराबाद, कश्मीर तथा जूनागढ़ के अतिरिक्त सभी रियासतें शांतिपूर्वक भारतीय संघ में मिल गई। २६ अक्टूबर को कश्मीर पर पाकिस्तान का

आक्रमण हो जाने पर वहाँ के महाराज ने उसे भारतीय संघ में मिला दिया। जूनागढ़ में पाकिस्तान में संमिलित होने की घोषणा से विद्रोह हो गया जिसके कारण प्रजा के आवेदन पर राष्ट्रहित में उसे भारत में मिला लिया गया। वहाँ का नवाब पाकिस्तान भाग गया। १६४८ में पुलिस कारग्वाई द्वारा हैदराबाद भी भारत में मिल गया। इस प्रकार रियासतों का अंत हुआ। वहाँ पर लोकतंत्रात्मक शासन चालू हुआ। उनके शासकों को निजी कोष दिया गया।
[ही० ला० गु०]

रियूक् स्थिति : ३०° ४०' से २४° उ० अ० तथा १२३° से १३१° पू० दे०। जापान के दक्षिणी द्वीप क्यूशू के दक्षिण तथा फॉरमोसा द्वीप के उत्तर में, लगभग ६०० मील के क्षेत्र में फैले लगभग ५५ छोटे छोटे द्वीपों का समूह है, जो प्रशांत महासागर को पूर्वी चीन सागर से विभक्त करता है। ओकिनावा सबसे प्रमुख द्वीप है। ये द्वीप, जिनका क्षेत्रफल ८६४ वर्ग मील है, एक डूबी हुई पर्वतश्रेणी की चोटियाँ ही कहे जा सकते हैं। ये द्वीप दो समूहों, उत्तर में एमामिओ और टोकारा समूह एवं दक्षिण में साकीशिमा और ओकिनावा, में विभक्त है। औसत वार्षिक ताप २१° सें० रहता है। गन्ना, शकरकंद, केला एवं अनन्नास यहाँ की प्रमुख फसलें हैं। मील, सूती कपड़े, शराब एवं पैनामा टोपों का निर्माण रियूकू में होता है। ये सभी द्वीप संयुक्त राज्य, अमरीका, के अधिकार में हैं तथा इनकी जनसंख्या ७,४५,१६४ (१६५३) है। [र० चं० दु०]

रिहंद बाँध सोन नदी की सहायक रिहंद (रेणु) नदी पर, जो भारत में उत्तर प्रदेश राज्य के मिर्जापुर जिले में बहती है, बनाया गया है। यह मिर्जापुर से १६० किमी० दक्षिण मध्यप्रदेश की सीमा पर पिपरी नामक स्थान पर बना है। कंक्रीट का बाँध नींव से ६१·२७ मीटर और नदी तल से ७६२ मीटर ऊँचा है। इसकी लंबाई ६३३·६ मीटर है और सतह ६६·११ मीटर चौड़ी है। पानी एकत्र करने के लिये गोविंदवल्लभ पंत सागर बनाया गया है, जिसका क्षेत्रफल ४६६ वर्ग किमी० है। इसमें ८६ एकड़ फुट पानी भर सकता है। सागर का पानी बिजलीघर चलाने के लिये साल भर निकलता रहता है। यह पानी सोन में गिरकर नहरों द्वारा सिंचाई के लिये मिलता रहता है।

बाँध का काम १६५७ ई० में प्रारंभ हुआ था। यहाँ का बिजलीघर १२८ मीटर लंबा एवं १६ मीटर चौड़ा है तथा बिजली पैदा करने की छह मशीनें लगाने की व्यवस्था है। यहाँ उत्पन्न की गई बिजली को ट्रांसफार्मरों द्वारा दूर तक पहुँचाने की व्यवस्था है। इस बिजलीघर से ६,११८ लाख यूनिट बिजली प्राप्त होगी, जिससे गाँवों, नलकूपों, बड़े बड़े उद्योगों, मझले और लघु उद्योगों, रेलों एवं सिंचाई के लिये बिजली मिलने लगेगी। पिपरी के ऐलुमिनियम कारखाने को यहीं से विद्युत् प्राप्त होती है। इस योजना से बिहार तथा मध्यप्रदेश को भी लाभ हो रहा है।

रीओ दे ओरो उत्तरी अफ्रीका में ऐटलैंटिक महासागर के तट पर, पश्चिमी मोरक्को की सीमा से लेकर दक्षिण में ब्लैंको अंतरीप तक विस्तीर्ण यह स्पेन का उपनिवेश है। यह सहारा मरुस्थल का ही पश्चिमी भाग है। इसका क्षेत्रफल १,०५,००० वर्ग मील तथा जनसंख्या मात्र ३२,००० है। मानव बस्तियाँ नखलिस्तानों तथा तटीय क्षेत्रों तक ही सीमित हैं। यहाँ की जलवायु समशीतोष्ण है, किंतु वर्षा बहुत कम होती है और वनस्पति का अभाव है। खजूर प्रमुख उपज है। इसकी राजधानी विला सिसनीरोज है, जहाँ हवाई अड्डा भी है। [ले० रा० सिं०]

रीओ दे जानेरो स्थिति : २२° ३०' द० अ० तथा ४३° ०' प० दे०। यह दक्षिणी अमरीका में ऐटलैंटिक महासागर के किनारे, लगभग ६० मील में विस्तृत, दक्षिणी अमरीका का द्वितीय सबसे बड़ा नगर एवं ब्राज़िल की राजधानी तथा प्रमुख बंदरगाह है। यहाँ की जलवायु गरम एवं नम है। वर्ष का औसत ताप लगभग २५° सें० रहता है। नगर के ठीक पीछे २,५७५ फुट ऊँची गेविया नामक पहाड़ी स्थित है। यहाँ का राष्ट्रीय पुस्तकालय दक्षिणी अमरीका में सबसे बड़ा है। अवर लेडी ऑव कैंडलेरिया, सोल्जर्स क्रॉस गिरजाघर, क्विटा डे बोआ विस्ता पार्क, रीओ डे जानेरो विश्वविद्यालय, १,२६५ फुट ऊँचा सुगर लोफ नामक चट्टान, कॉर्कोवाडो, सिटी पार्क, नगरपालिका स्टेडियम (जिसमें १,५०,००० व्यक्ति बैठ सकते हैं), प्राका पैरिस के बगीचे आदि दर्शनीय हैं। यहाँ का पोताश्रय विस्तृत एवं सुरक्षित है। नगर रेलों एवं वायुमार्गों द्वारा अन्य नगरों से जुड़ा है। सूती कपड़ा बनाना, खाद्य पदार्थों का संसाधन करना तथा इमारती सामान तैयार करना प्रमुख उद्योग हैं। यहाँ की जनसंख्या ३३,०७,१६३ (१६६०) है। [रा० स० ख०]

रीओ मूनी स्थिति : १° ६' से २° १४' उ० अ० तथा ६° १३' से ११° ३४' पू० दे०। अफ्रीका में गिनी की खाड़ी के तटीय क्षेत्र में स्थित यह स्पेन का एक उपनिवेश है। इसका क्षेत्रफल २६,०१८ वर्ग किमी० है। १८ वर्ग किमी० में विस्तृत कुछ द्वीप भी इसमें सम्मिलित हैं। इसकी राजधानी बाटा है, जिसकी जनसंख्या १,०५७ (१६६०) है। इसकी जलवायु विषुवत् रेखीय है, जहाँ वर्षा एवं वनस्पति दोनों का आधिक्य है। रबर, नारियल तथा धान यहाँ की मुख्य उपजें हैं। उपनिवेश की जनसंख्या १,८३,३७७ (१६६०) है। [ले० रा० सिं०]

रीगा सोवियत संघ के लैट्विया राज्य की राजधानी है, जो रीगा की खाड़ी से सात मील दक्षिण ड्वीना नदी पर स्थित है और जोनहर द्वारा नीपर तथा वॉल्गा नदियों से संबद्ध है। रीगा नगर चार भागों में विभक्त है। रीगा अपने ऐतिहासिक एवं राजनीतिक प्रभाव के साथ ही औद्योगिक, व्यापारिक तथा बौद्धिक उत्थान के लिये भी उल्लेखनीय है। रेलगाड़ी के डिब्बे, मशीनरी, तेल, रसायनक, सूती एवं ऊनी वस्त्र तथा शराब निर्माण यहाँ के प्रमुख उद्योग हैं। नगर की जनसंख्या ३,८५,६०० (१६५०) है। [ले० रा० सिं०]

रीज डेविड्स, टी० डब्ल्यू० (१८४३–१६१७) इक्कीस वर्ष की उम्र में सिंहल सिविल सर्विस में प्रविष्ट हुए। राज्याधिकारी रहने की स्थिति में ही बौद्ध धर्म तथा पालि साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में गहरी दिलचस्पी ली। इसके बाद आप इंग्लैंड वापस लौटकर बैरिस्टरी करने लगे। तदनंतर रॉयल एशियाटिक सोसायटी में कार्य किया।

१८८२ से १९१२ तक श्री रीज डेविड्स लंदन के विश्वविद्यालय में पालि तथा बौद्ध साहित्य के प्रोफेसर रहे। १९०४ में उन्हें मानचेस्टर में धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन का प्राध्यापक नियुक्त किया गया। इस पद पर वह १९१५ तक बने रहे।

अपने जीवन के अंतिम पाँच छह वर्षों में आपको काफी शारीरिक कष्ट रहा। लेकिन आप उसकी उपेक्षा कर जीवन के अंतिम क्षण तक अपने नियत कार्य में लगे रहे।

उनका एक ही पुत्र था, जिसने १९१७ में फ्रांस की युद्धभूमि में वीरगति प्राप्त की। श्री रीज डेविड्स के जीवन में उनके हृदय पर लगा यही सबसे बड़ा आघात था।

इसमें कोई संदेह नहीं कि श्री रीज डेविड्स अपने समय के श्रेष्ठ विद्वानों में से एक थे। आप बड़े ही विद्याव्यसनी थे। १८७७ ई० में आपने अपना प्रथम पांडित्यपूर्ण अध्ययन 'सिंहल द्वीप के सिक्के और माप तौल' के रूप में उपस्थित किया। इसके तुरंत बाद ही आपकी युगांतरकारी कृति बौद्ध धर्म (बुद्धिज्म) प्रकाशित हुई। १९०३ में आपका प्रसिद्ध ग्रंथ 'बुद्धिस्ट इंडिया' (बौद्ध भारत) प्रकाशित हुआ, जो ऐतिहासिक तथ्यों की दृष्टि से अत्यंत प्रामाणिक तथा लेखन शैली की दृष्टि से अत्यंत आकर्षक है।

१८९६ में ही आपके बौद्ध धर्म संबंधी अमरीकी व्याख्यान प्रकाशित हुए और १९०८ में उनकी अत्यंत लोकप्रिय पुस्तक 'बौद्ध धर्म' प्रकाश में आई। इसमें बौद्ध धर्म के आरंभिक युग का विशद विवेचन है।

इन ग्रंथों को लिख सकने के लिये श्री डेविड्स को समस्त पालि त्रिपिटक का पारायण करना पड़ा। उन्होंने उसके अधिकांश ग्रंथों को स्वसस्थापित पालि टेक्स्ट सोसायटी द्वारा रोमन अक्षरों में मुद्रित भी कराया।

श्री रीज डेविड्स स्वतंत्र रचयिता ही न थे, वरन् अच्छे अनुवादक भी थे। सुत्तपिटक के संपूर्ण दीर्घनिकाय का तीन खंडों में प्रकाशित अंग्रेजी अनुवाद इसका प्रमाण है। वे अपने जीवन काल में ही इस कार्य को पूरा हुआ देखना चाहते थे। उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई, जब १९२१ में इसका अंतिम खंड प्रकाशित हो गया। इस कार्य में उन्हें अपनी विदुषी पत्नी श्रीमती रीज डेविड्स का भी बहुत सहयोग मिला।

१८८१ में उन्होंने 'बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज' (= बौद्ध जातक कथाओं) के नाम से जातकसंग्रह का प्रथम खंड छपवाया जिसकी भूमिका में उन्होंने इस जनकथा साहित्य के एक देश से दूसरे देशों तक पहुँचने की कथा बड़े विस्तार से कही।

१८८१ से १८८५ तक के पूरे चार वर्ष श्री रीज डेविड्स ने मिलिंदप्रश्न तथा विनयपिटक के दोनों ग्रंथों महावग्ग तथा चूलवग्ग का अनुवाद करने में लगाए। यह कार्य बड़े ही परिश्रमपूर्वक और अत्यंत उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से किया गया। इसमें से दूसरे कार्य में आपके मित्र श्री एच० ओल्डनबर्ग आपके सहयोगी रहे।

स्वतंत्र लेखक और अनुवादक के कार्य जैसा ही महत्वपूर्ण कार्य उनका पालि-अंग्रेजी-कोश के निर्माण का कार्य भी था। इससे पहले श्री आर० सी० चिल्डर्स का पालि-अंग्रेजी-कोश ही प्राप्य था। पालि अंग्रेजी के प्रथम कोश की हैसियत से उसका बड़ा मूल्य रहने पर भी वह बहुत संतोषजनक न था। श्री रीज डेविड्स उसकी अपेक्षा एक अधिक वैज्ञानिक, अधिक उपयोगी, बड़े कोश का निर्माण हुआ देखना चाहते थे। पूरे ४० वर्ष तक वह इसके लिये सामग्री जुटाते रहे। मार्ग में अनेक ऐसी बाधाएँ आईं जिनके कारण १९१५ से पहले यह कार्य इस नए रूप में आरंभ न किया जा सका।

इस कोश को वे अपने जीवनकाल में संपूर्ण हुआ न देख सके। इसे उनके अन्यतम घनिष्ठ सहयोगी डा० डब्ल्यू० स्टेड ने पूरा किया। [भ० आ० कौ०]

रीड, टॉमस (१७१०-१७९६) दर्शन के इतिहास में स्कॉट संप्रदाय का संस्थापक। एबर्डीन में दर्शन और फिर ग्लासगो में नीतिशास्त्र का आचार्य रहा। उसने चार ग्रंथों की रचना की, जिनके विषय थे 'एसे ऑन क्वाटिटी' (१७४८), 'इनक्वाइरी इनटु दि ह्यूमन माइंड ऑन दि प्रिंसिपिल्स कॉमन सेंस' मानव मन की लोकेंद्रिय के सिद्धांत (१७६४), मनुष्य की बौद्धिक शक्तियाँ (१७८५), एवं मानवमन की क्रियात्मक शक्तियाँ (१७८८)। उसने लॉर्ड केमीज कृत मनुष्य के इतिहास में अरस्तू के तर्कशास्त्र का वृत्तांत भी लिखा। वह एबर्डीन की दर्शन परिषद् का प्रमुख संस्थापक तथा प्रथम मंत्री भी था।

रीड ह्यूम के संशयवाद का विरोधी था। उसने बुद्धिवाद को भी धर्म तथा नीति का विनाशक कहा। इन दोनों सिद्धांतों के विपरीत उसने विश्व के नित्य अस्तित्व का प्रतिपादन किया। वह बाह्य भौतिक जगत् तथा आत्मा दोनों को असंदिग्ध सत्य मानता था। उसके अनुसार आत्मगत अनुभव की अवस्था से प्रत्यक्ष अनुभव की अवस्था तक उठने में प्रमुख मार्गदर्शक लोकेंद्रिय (कॉमन सेंस) है, जो बुद्धि का ही स्वयंसिद्ध तथ्यों को पहचाननेवाला रूप है। पंडितों, अपंडितों, राष्ट्रों और युगों द्वारा स्वीकृति इसका प्रमाण है। विश्व की सभी भाषाओं का विधान एवं व्याकरण इसी का प्रतिबिंब है। उदाहरणार्थ, पदार्थ तथा गुण के भेद, और मन तथा विचार के भेद सभी भाषाओं के विधान में निहित हैं, और इसलिये इन्हें दार्शनिकों के मन की गढ़ंत नहीं लोकेंद्रिय-ज्ञात सत्य मानना पड़ेगा।

सं० ग्रं० — टॉमस रीड वर्क्स (संपादित सर विलियम हैमिल्टन); ए० सी० फ्रेजर . टॉमस रीड; प्रो० एम० जोस : इंपिरिसिज्म ऐंड इट्यूशनिज्म इन रीड्स कामनसेंस फिलॉसॉफी।

[रा० मू० लू०]

रीड, वाल्टर (Read, Walter, सन् १८५१-१९०२) अमरीकन जीवाणु वैज्ञानिक तथा शल्य चिकित्सक थे। आप संयुक्त राज्य, अमरीका, की सेना में चिकित्सक थे।

पीत ज्वर (yellow fever) के संबंध में खोज करने के लिये वैज्ञानिकों का जो मंडल क्यूबा भेजा गया था, आप उसके अध्यक्ष थे। आपने खोज निकाला कि यह ज्वर संक्रमित मच्छर के काटने से होता है। इस रोग का नियंत्रण कैसे किया जा सकता है, यह प्रदर्शित कर आपने चिकित्सा विषयक आधुनिक अनुसंधान को महत्व की प्रगति प्रदान की। आपकी खोज के फलस्वरूप पैनामा

की नहर के निर्माण में लगे कार्यकर्ताओं को पीत ज्वर से मुक्ति मिली और नहर का निर्माण संभव हो सका। [भ० दा० व०]

रीबर्न, सर हेनरी (Raeburn Sir Henry, १७५६–१८२३ ई०) स्काटलैंड का लोकप्रिय आलंकारिक व्यक्ति चित्रकार।

इंग्लैंड में स्वाभाविक व्यक्तिचित्रण तथा दृश्यचित्रण का प्रत्यक्षिक प्रादुर्भाव और विकास अठारहवीं शताब्दी के अंत तथा उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ काल में हुआ। सर हेनरी रीबर्न ने अपने व्यक्तिचित्रों में अलंकरण को प्रधानता देकर सजे सजाए व्यक्तिचित्र बनाए जो अपनी एक अलग ही विशेषता रखते हैं।

प्रारंभिक शिक्षाकाल में ही उसे चित्रकला का शौक हो गया था। एक बार उसे एक धनी फ्रेंच युवती लीसली का व्यक्तिचित्र बनाना पड़ा और वहीं उससे उसका प्रेम हो गया और विवाह भी।

सर जोशुआ रेनाल्ड्स की संमति से वह रोम गया। दो वर्ष वहाँ रहकर उसने काफी सीखा। लौटने के बाद वह एडिनबरा में बस गया जहाँ उसकी तरह का शायद ही कोई कलाकार रहा हो, जो हमेशा सफलता की सीढ़ी पर चढ़ता ही चला गया हो। इसी बीच जार्ज चतुर्थ ने इसे नाइटहुड की उपाधि से विभूषित किया और अपने दरबार में मान्यता प्रदान की।

हेनरी रीबर्न पुरुषों के व्यक्तिचित्र बनाने में बेजोड़ था। 'सर जान सिंक्लेयर' का व्यक्तिचित्र अपनी तरह का अद्भुत चित्र है। वह रोज सुबह नौ बजे से शाम पाँच बजे तक जमकर काम करता था। वह व्यक्तिचित्र बनाने में काफी समय व्यक्ति का चरित्र अध्ययन करने में लगाता था। सन् १९११ में उसका एक व्यक्तिचित्र २२,३०० गिनी में बिका। रीबर्न का बनाया हुआ व्यक्तिचित्र 'खरगोश के साथ बालक' बालकों के भोलेपन की भावात्मकता का अत्यंत सजीव तथा प्रभावशाली चित्र है। [रा० शु०]

रीमान, जेऑर्ज फ्रीड्रिख बेर्नहार्ड (Riemann, Georg Friedrich Bernhard, सन् १८२६-१८६६), जर्मन गणितज्ञ, का जन्म १७ सितंबर, १८२६ ई० को हानोवार के ब्रेसलेंज स्थान पर हुआ था। पिता के इच्छानुसार ये गटिंगेन में अध्यात्मवाद की शिक्षा के हेतु गए, परंतु गणितज्ञ गाउस के लेक्चरों से गणित की ओर आकृष्ट हो गए। तदुपरांत वेबर से भौतिक विज्ञान की शिक्षा ग्रहणकर १८५१ ई० में इन्होंने डॉक्टरेट प्राप्त की। 'त्रिकोणमितीय श्रेणी में किसी फलन की अभिव्यक्ति' पर लिखित रीमान की 'हबिलिटाट्स्योंश्रिफ्ट' (Habilitationsschrift, १८५४ ई०, प्रकाशित १८६७ ई०) से स्पष्ट है कि इस विषय में इन्होंने डीरिक्ले (Dirichlet) से कहीं अधिक सफलता प्राप्त की थी। रीमान ने यह दिखाकर कि एक बिंदु की सीमा से परिभाषित सीमित अनुकलों के लिये फलनसातत्य की आवश्यकता नहीं है, सीमित अनुकलों को चलन कलन से पृथक् एक स्वतंत्र सत्ता प्रदान की। इन्होंने मिश्र कल्पित चल राशि के फलनों का भी आविष्कार किया और चित्रण के सिद्धांत का अनुप्रयोग कर इसको आंशिक अवकल समीकरण $\frac{\delta^2 u}{\delta x^2} + \frac{\delta^2 u}{\delta y^2} = 0$ (जिसको $z \equiv x + iy$ का वैश्लेषिक फलन $w \equiv u + iv$ संतुष्ट करता है) पर आधारित किया। ये महत्वपूर्ण 'रीमान तलों' के भी आविष्कारक थे। २० जुलाई, १८६६ ई० को सलास्का में इनका देहांत हो गया। [रा० कु०]

रीमानी ज्यामिति न (n) वास्तविक स्वतंत्र चरों के समुच्चय च¹, च²,…चन ($x^1, x^2, \cdots x^n$) को हम किसी न-विम (n-dimesional) के दिक् द$_न$ (V_n) के चलित बिंदु के निर्देशांक (coordinates of current point) रूप में इस अर्थ में ले सकते हैं, कि चरों के मानों का प्रत्येक समुच्चय (set) द$_न$ (V_n) के किसी बिंदु को निश्चित स्पष्ट (define) करता है। किसी तिर्यक् वक्ररेखी (oblique curvilinear) निर्देशांकों की पद्धति में आसन्न बिंदुओं प, फ, ब (u, v, w) और प + ताप, फ + ताफ, ब + ताब (u+du, v + dv, w + dw) के बीच की दूरी तास (ds) निम्नलिखित समीकरण से व्यक्त की जाती है :

तास² = क ताप² + ख ताफ²+ग ताब²+२च ताफ ताब+
२ज ताब ताफ + २ह ताप ताब

$$[\, ds^2 = a\, du^2 + b\, dv^2 + c\, dw^2 + 2f\, dv\, dw + 2g\, dw\, dv + 2h\, du\, dv \,]$$

समीकरण मे क, ख, ग, च, ज, ह (a, b, c, f, g, h) निर्देशांको के फलन हैं। इस प्रकार रैखिक अल्पांशों (linear elements) का वर्ग निर्देशांकों के अवकलों के द्विघात रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसी कल्पना को व्यापक रूप देकर रीमान ने न-विम दिक् मे अनुप्रयुक्त किया। रीमान ने, आसन्न बिंदुओं, जिनके निर्देशांक किसी पद्धति में च^इ (x^i) और च^इ + ताच^इ ($x^i + dx^i$) हों [इ (i) = १, २,…,न], के बीच की अनंत सूक्ष्म दूरी तास (ds) को इस समीकरण से व्यक्त किया है :

तास² = ज$_{इउ}$ ताच^इ ताच^उ [$ds^2 = g_{ij}\, dx^i\, dx^j$]…(१)

यहाँ इ उ (ij) = १, २,…न है। ज$_{इउ}$ (g_{ij}) के गुणांक च^इ (x^i) निर्देशांकों के फलन है तथा समीकरण (१) के दूसरे सदस्य (second member) में द्विघात अवकल रूप (quadratic differential form) को रीमानी मीट्रिक (metric) कहते हैं और ऐसा दिक् जिसका लक्षण इस प्रकार का मीट्रिक हो रीमानी दिक् कहलाता है। रीमानी मीट्रिक पर आधारित ज्यामिति को रीमानी ज्यामिति कहते है।

चूँकि अवकल ताच^इ (dx^i) प्रतिचर सदिश (contravariant vector) का अवयव है और परिमाण तास² (ds^2) एक अदिश द्विचर (scalar bivariant) है, अत: फलन ज$_{इउ}$ (g_{ij}) को अवश्य ही द्वितीय कोटि के सहपरिवर्त का टेंसर (covariant tensor) का अवयव होना चाहिए। यह टेंसर सममित होता है। यह रीमानी दिक् का मौलिक सहपरिवर्त टेंसर कहलाता है। इसका व्युत्क्रम टेंसर ज^{इउ} (g^{ij}) मौलिक प्रतिचर सदिश कहलाता है।

परिमाण तास² (ds^2) का मान धन हो और न (n) शून्य हो, इसके लिये कल्पना करते हैं कि द्विघात अवकल रूप ज$_{इउ}$ ताच^इ ताच^उ [$g_{ij}\, dx^i\, dx^j$] धनात्मक निश्चित (positive definite)

है। चूँकि कोई द्विघात अवकल रूप विचित्र (singular) नहीं हो सकता, अतः ज (g) का मान शून्य नहीं हो सकता। चूँकि अवकल रूप धन और साथ ही निश्चित है, इस कारण ज (g) अनिवार्यतः धनात्मक है।

यदि $\text{य}^{\text{इ}}$ (x^i) किसी वक्र व (C) के किसी बिंदु के निर्देशांक हों, तो $\frac{\text{ताय}^{\text{इ}}}{\text{तास}}$ [$\frac{dx^i}{ds}$] किसी एकल (unit) प्रतिचर सदिश के अवयव होते हैं। इस सदिश का मान वक्र के किसी बिंदु पा (P) पर उस बिंदु पर वक्र का एकल स्पर्शी (Unit tangent) कहलाता है। यदि किसी बिंदु पा (P) के दो विभिन्न अवकल समुच्चयों $\text{ताय}^{\text{इ}}$ (dx^i) और $\text{वय}^{\text{उ}}$ (δx^j) पर विचार करें, तो ज्ञात होगा कि रीमानी दिक् में, जहाँ मौलिक रूप धनात्मक निश्चित है, उस बिंदु पर दिशाओं के बीच का कोण अवकलों के दो समुच्चयों से निम्नलिखित संबंध द्वारा निर्धारित होता है :

$$\text{कोज्या}\ \theta = \frac{\text{ज}_{\text{इउ}}\ \text{प}^{\text{इ}}\ \text{क}^{\text{उ}}}{\sqrt{[\ (\text{ज}_{\text{इउ}}\ \text{प}^{\text{इ}}\ \text{प}^{\text{उ}})\ (\text{ज}_{\text{इउ}}\ \text{क}^{\text{इ}}\ \text{क}^{\text{उ}})\ ]}}$$
$$= \text{ज}_{\text{इउ}} \frac{\text{ताय}^{\text{इ}}}{\text{तास}} \frac{\text{वय}^{\text{उ}}}{\text{वस}} < 1$$

$$\left[\cos\theta = \frac{g_{ij}\, u^i v^j}{\sqrt{(g_{ij}\, u^i u^j)\ (g_{ij}\, v^i v^j)}} = g_{ij} \frac{dx^i}{ds} \frac{\delta x^j}{\delta s} < 1 \right]$$

रीमानी $\text{व}_{\text{न}}$ (V_n) के निर्देशांक बहुविम पृष्ठों (hypersurfaces) से परिबद्ध मूलतत्व का आयतन ताद (d v), जो प्राचलिक मानों (parameter values) य^1, $\text{य}^1 + \text{ताय}^1$; य^2, $\text{य}^2 + \text{ताय}^2$; ...... $\text{य}^{\text{न}}$, $\text{य}^{\text{न}} + \text{ताय}^{\text{न}}$ [x^1, $x^1 + dx^1$; x^2, $x^2 + dx^2$; ...... x^n, $x^n + dx^n$] का तदनुरूपी होता है, निम्नलिखित सूत्र से व्यक्त किया जाता है :

$$\text{ताद} = \sqrt{\text{ज}}\ \text{ताय}^1\ \text{ताय}^2 \cdots\cdots \text{ताय}^{\text{न}}$$
$$[\ d\,v = \sqrt{g}\ dx^1\ dx^2 \ldots\ldots dx^n\ ]$$

यह व्यंजक चर है। $\text{व}_{\text{न}}$ के परिमित क्षेत्र क्ष (R) का आयतन द इस सूत्र से व्यक्त किया जाता है :

$$\text{द} = \int \cdots \int \sqrt{\text{ज}}\ \text{ताय}^1\ \text{ताय}^2 \cdots\cdots \text{ताय}^{\text{न}}$$
$$[\ v = \int \cdots \int \sqrt{g}\ dx^1\ dx^2 \cdots\cdots dx^n\ ]$$

अब हम न (n) एक मानवाले फ (ϕ) फलनों के समुच्चय $\text{फ}^{\text{इ}}$ ($\text{य}^1, \text{य}^2, \ldots, \text{य}^{\text{न}}$) [ϕ^i ($x^1, x^2 \ldots x^n$)], जहाँ इ (i) = १, २ ·· न (n) है, फ (ϕ) का परीक्षण करेंगे जिनके फलनिक सारणिक (functional determinants) शून्य नहीं हैं। ऐसी स्थिति में न समीकरणों का समुदाय

$$\text{य}^{\text{इ}} = \text{फ}^{\text{इ}} (\text{य}^1, \text{य}^2, \ldots, \text{य}^{\text{न}})\ [x^i = \phi^i (x^1, x^2, \ldots x^n)] \text{—} (२)$$

का हल इस रूप में किया जा सकता है :

$$\text{य}^{\text{इ}} = \psi^{\text{इ}} (\text{य}^{-1}, \text{य}^{-2}, \cdots \text{य}^{-\text{न}})\ [x^i = \psi(x^{-1}, x^{-2}, \cdots x^{-n})]$$

समीकरण (२) निर्देशांकों के रूपांतरण को निश्चित स्पष्ट करता है।

यदि मौलिक द्विघात रूप $\text{ज}_{\text{इउ}}\ \text{ताय}^{\text{इ}}\ \text{ताय}^{\text{उ}}$ ($g_{ij}\, dx^i\, dx^j$) किसी खास निर्देशांक पद्धति $\text{र}^{\text{इ}}$ (y^i) में घटकर अवकलों के वर्गों के योग का रूप ले और

$$\text{तास}^2 = \sum_{\text{इ}}^{१\cdots\text{न}} (\text{तार}^{\text{इ}})^2 \left[\ [\ ds^2 = \sum_{i}^{1\cdots n} (dy^i)^2\ \right]$$

हो, तो मीट्रिक और दिक् यूक्लिडी (Euclidean) कहलाता है, और तदनुरूपी ज्यामिति न–विमा की यूक्लिडी ज्यामिति कहलाती है। $\text{र}^{\text{इ}}$ निर्देशांक, जो लंबकोणीय कार्तीय (orthogonal cartesian) निर्देशांकों की विशेष अवस्था होती है, यूक्लिडी निर्देशांक कहलाते हैं। यह सिद्ध किया जा सकता है कि रीमानी $\text{व}_{\text{न}}$ (V_n) को सदा म–(m–) विम यूक्लिडी दिक् $\text{स}_{\text{म}}$ (S_m) में निमज्जित (immersed) माना जा सकता है, जब कि म ≥ ½ न (न + १) [$m \geq \frac{1}{2} n (n+1)$]।

रीमानी दिक् $\text{व}_{\text{न}}$ (V_n) में जिओडेसिक (Geodesic) को उस वक्र के रूप में निश्चित स्पष्ट किया जा सकता है जिसकी $\text{व}_{\text{न}}$ के सापेक्ष सभी बिंदुओं पर पहली वक्रता (first curvature) शून्य है। जिओडेसिकों द्वारा संतुष्ट होनेवाले अवकल समीकरण निम्नलिखित समाकल पर आयलर अनुबंधों (Euler's conditions) के अनुप्रयोग से प्राप्त होते हैं :

$$\int_{\text{ट}_0}^{\text{ट}_1} \sqrt{\left[\text{ज}_{\text{इउ}} \frac{\text{ताय}^{\text{इ}}}{\text{ताट}} \frac{\text{ताय}^{\text{उ}}}{\text{ताट}} \right]}\ \text{ताट}$$
$$\left[\int_{t_0}^{t_1} \sqrt{\left(g_{ij} \frac{dx^i}{dt} \frac{dx^j}{dt} \right)} dt \right]$$

और यह

$$\frac{\text{ता}^2\text{य}^{\text{इ}}}{\text{तास}^2} + \left\{ {\text{इ} \atop \text{उ च}} \right\} \frac{\text{ताय}^{\text{उ}}}{\text{तास}} \frac{\text{ताय}^{\text{च}}}{\text{तास}} = 0 \quad \text{अथवा}$$
$$\frac{\text{ताय}^{\text{च}}}{\text{तास}} \left(\frac{\text{ताय}^{\text{इ}}}{\text{तास}} \right)_{,\text{च}} = 0$$

$$\left[\frac{d^2x^i}{ds^2} \left\{ {i \atop jk} \right\} \frac{dx^j}{ds} \frac{dx^k}{ds} = 0 \ \text{ or } \frac{dx^k}{ds} \left(\frac{dx^i}{ds} \right)_{,k} = 0 \right]$$

होता है, जिसमें $\left\{ {\text{इ} \atop \text{उ च}} \right\}$ ज और उसके पहले व्युत्पन्नों (derivatives) के फलन हैं।

किसी बिंदु पा (P) पर दो दिशाओं पर विचार किया जाय, जिसके संगत सकल सदिश पी (p) और क्यू (q) हैं। ये पा (P) पर दिशाओं की कूर्चिका (pencil) निर्धारित करते हैं, जिनके एकल सदिश के अवयव इस रूप के होते हैं :

$$\text{ट}^{\text{इ}} = \alpha\ \text{पी}^{\text{इ}} + \beta\ \text{क्यू}^{\text{इ}} \quad [\ t^i = \alpha p^i + \beta q^i\ ]$$

जहाँ α, β प्राचाल हैं। $\text{व}_{\text{न}}$ (V_n) के जिओडेसिक, जो इस दिशाओं की कूर्चिक में से गुजरते हैं, $\text{व}_{\text{न}}$ (V_n) में जिओडेसिक पृष्ठ का निर्माण करते हैं। बिंदु पा (P) पर इस पृष्ठ की गॉसियन वक्रता (Gaussian curvature) संबद्ध कूर्चिका के लिये $\text{व}_{\text{न}}$ (V_n) की रीमानी वक्रता कहलाती है। यह दिशाओं और चौथी कोटि के टेंसर के अवयवों (जिसमें फलन $\{\text{ज}_{\text{इ}\text{न}}\}$ $\left[{i \atop jk}\right]$ और उनके प्रथम व्युत्पन्न (derivatives) संमिलित हैं) में व्यक्त की

जाती है। इसे रीमानी वक्रता टेंसर कहते हैं। यदि रीमानी वक्रता टेंसर के सभी अवयव शून्य हों, तो दिक् को चपटा (Flat) कहते हैं। शूर (Schur) ने सिद्ध किया कि यदि हर एक बिंदु पर किसी दिक् की रीमानी वक्रता, वरण किए हुए दिक् विन्यास (orientation) पर निर्भर न हो, तो वह उस दिक् में सर्वत्र स्थिर होती है। ऐसे दिक् को स्थिर वक्रता का रीमानी दिक् कहते हैं।

रीमानी ज्यामिति में महत्वपूर्ण योगदान ब्याकी (Bianchi), बेल्ट्रेनी (Beltreni), क्रिस्टोफेल (Christoffel), रिकी (Ricci) आदि ने किए। इन योगदानों में रीमानी दिक् की उपसमष्टि (subspace) का अध्ययन भी शामिल है। उपसमष्टि के वक्रों में जिओडेसिक, वक्रता की रेखाएँ, उपगामी रेखाएँ (asymptotic lines), वक्रों की संयुग्मी पद्धति हैं, जो कि सामान्य दिक् के इन वक्रों के सामान्यीकरण हैं। आइंस्टाइन ने अपने गुरुत्व नियम के गणितीय व्यंजक में रिकी टेंसर का उपयोग किया, जिससे रीमानी ज्यामिति में शोध करनेवालों को बड़ी प्रेरणा मिली।

यादृच्छिक (arbitrary) दिक् में सदिशों की समांतरता (parallelism) के संबंध में रीमानी दिक् को महत्वपूर्ण योगदान करने का श्रेय लेवीसिविटा (Levicivita) को है। ऐसे दिक् में समांतरता परम (absolute) नहीं है, बल्कि उस वक्र के सापेक्ष है, जो सादिशों के अनुप्रयोग बिंदुओं (points of application) को मिलाती है। सजातीय योजित (Affinely connected) पिंडो की ज्यामिति में हेसेनबर्ग (Hessenberg) ने बहुत स्थूल रूप से रीमानी ज्यामिति के सामान्यीकरण का संकेत किया था। इस ज्यामिति में रीमानी मीट्रिक की आवश्यकता नहीं होती और उसमें ऐसा कोई टेंसर नहीं होता जिसके पदों में किसी सदिश का परिमाण निश्चित स्पष्ट किया जाय। इसके स्थान पर निर्देशांकों के कुछ फलन हैं जो दूसरे प्रकार के क्रिस्टोफेल संकेतों के तदनुरूपी हैं। इन्हें अफाइन (affine) संबंधी गुणांक कहते हैं। संगत दिक् द$_n$ अफाइन रूप से संबद्ध, या अफाइन दिक् कहलाता है। रीमानी ज्यामिति का दूसरा सामान्यीकरण फिन्सर (Finsler) ज्यामिति है, जिसमें रीमानी ज्यामिति को एक निर्देशांकों और अवकलों के अधिक व्यापक फलन फा(ब, ताब) [F(xdx)] द्वारा प्रतिस्थापित किया जाता है। वील (Weyl), वेब्लेन (Velben), आइसेनहार्ट (Eisenhart), कार्बन (Carbon) आदि ने अफाइन और प्रक्षेपी (Projective) ज्यामिति को महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

[प्र० दा० शा०]

रीम्स फ्रांस के मार्न प्रदेश में, पैरिस से ६८ मील पूर्व-उत्तर-पूर्व स्थित, एक ऐतिहासिक नगर है। यहाँ कई ऐतिहासिक ज्वार भाटे आए हैं। ऑगस्टस की स्मृति में बनाया गया 'मार्स गेट' एक प्रसिद्ध कीर्तिस्तंभ है। यहाँ ऊनी कपड़ा अधिक बनाया जाता है तथा शैंपेन शराब का निर्माण भी होता है। शराब खड़िया की चट्टानों में बने कमरों में दबाकर रखी जाती है ताकि वह उत्कृष्ट बन जाय। लिनोलियम, कागज, मोमबत्ती, साबुन एवं बोतल आदि के निर्माण संबंधी कार्य रीम्स में भी होते हैं। केक एवं बिस्कुट बनाने के लिये यह नगर प्रसिद्ध है। इसकी जनसंख्या १,१०,७४६ (१६४६) है।

[ले० रा० सिंह०]

रीवा १. जिला, यह भारत के मध्य प्रदेश राज्य का एक जिला है। इसके उत्तर में उत्तर प्रदेश राज्य, पश्चिम में सतना एवं पूर्व तथा दक्षिण में सीधी जिले स्थित है। इसका क्षेत्रफल २,५०६ वर्ग मील तथा जनसंख्या ७,७२,६०२ (१६६१) है। यह पहले एक बड़ी रियासत थी। यहाँ के निवासियों में गोंड एवं कोल जाति के लोग भी शामिल हैं, जो पहाड़ी भागों में रहते हैं। जिले में जंगलों की अधिकता है, जिनसे लाख, लकड़ी एवं जंगली पशु प्राप्त होते हैं। रीवा के जंगलों में ही सफेद बाघ की नस्ल पाई गई है। जिले की प्रमुख उपज धान है। जिले के ताला नामक जंगल में बांधवगढ़ का ऐतिहासिक किला है।

२. नगर, स्थिति २४° ३१′ उ० अ० तथा ८१° १६′ पू० दे०। रीवा जिले में, इलाहाबाद नगर से १३१ मील दक्षिण स्थित प्रमुख नगर है। इसकी जनसंख्या ४३,०३५ (१६६१) है।

[र० च० दु०]

रीशलू, आर्मान जाँ (१५८५-१६४२ ई०) फ्रांसीसी राजनीतिज्ञ। २१ वर्ष की उम्र में लूसों का बिशप नियुक्त हुआ। १६१४ की एस्टेट्स जनरल में वह पादरियों का प्रतिनिधि निर्वाचित हुआ। १६१६ में वह हेनरी चतुर्थ का सेक्रेटरी ऑव स्टेट नियुक्त हुआ। १६२२ में पोप ग्रेगरी पंद्रहवें ने उसे कार्डिनल की पदवी दी। १६२४ में तेरहवें लुई ने उसे प्रधान मंत्री नियुक्त किया। रीशलू ने अपनी सफल और सुगम नीति द्वारा फ्रांस को यूरोप का एक प्रभावशाली और शक्तिशाली देश बनाया। १६२६ की एक राजघोषणा के आधार पर सामंतों के बहुत से दुर्ग गिरवा दिए गए। उनके कई विशेषाधिकार छीन लिए गए और सरकार की समस्त शक्ति राजा में केंद्रित हो गई। फ्रांस के प्रॉटेस्टेंटों ने सरकार के विरुद्ध विद्रोह किया और ला रोशेल नगर को अपना गढ़ बनाया। रीशलू ने ला रोशेल का घेरा डालकर १६२६ में इस विद्रोह के दमन में सफलता प्राप्त की। इसी प्रकार फ्रांस की प्रतिनिधि सभाओं को भी रीशलू ने धीरे धीरे दबा डाला और समय बीतने पर फ्रांस में राजा और उसकी रायल कौंसिल, जिसमें राजा के ही द्वारा मनोनीत लोग होते थे, सर्वशक्तिमान् रह गए।

अंतरराष्ट्रीय नीति में भी रीशलू उतना ही सफल रहा जितना घरेलू नीति में। हेप्सबर्ग राज्य—स्पेन, आस्ट्रिया और नीदरलैंड—फ्रांस को घेरे हुए थे। वे उसको पनपने नहीं देते थे। उनके विरुद्ध ३० वर्षीय युद्ध (१६१८-१६४८) में रीशलू ने भाग लिया और हेप्सबर्ग की शक्ति को कम करके फ्रांस के बूर्बों को शक्तिशाली बना सका।

देखने में तो रीशलू दुबला पतला था पर जब वह कार्डिनल की पोशाक पहन लेता था तो गंभीर और रोबदार लगता था। लोग उसके सामने थरति थे, यहाँ तक कि राजा भी उससे सम खाता था। वीर और महात्वाकांक्षी होने के साथ साथ वह चालाक और लालची भी था। परंतु उसने फ्रांस को शक्ति और प्रगति के मार्ग पर अग्रसर किया। फ्रांस की सेना, जो सन् १६२१ में १२ हजार थी, सन् १६३८ में डेढ़ लाख से अधिक हो गई थी। उसने देश को

डाक्टर राजेंद्रप्रसाद (देखें पृष्ठ ८२—८३)
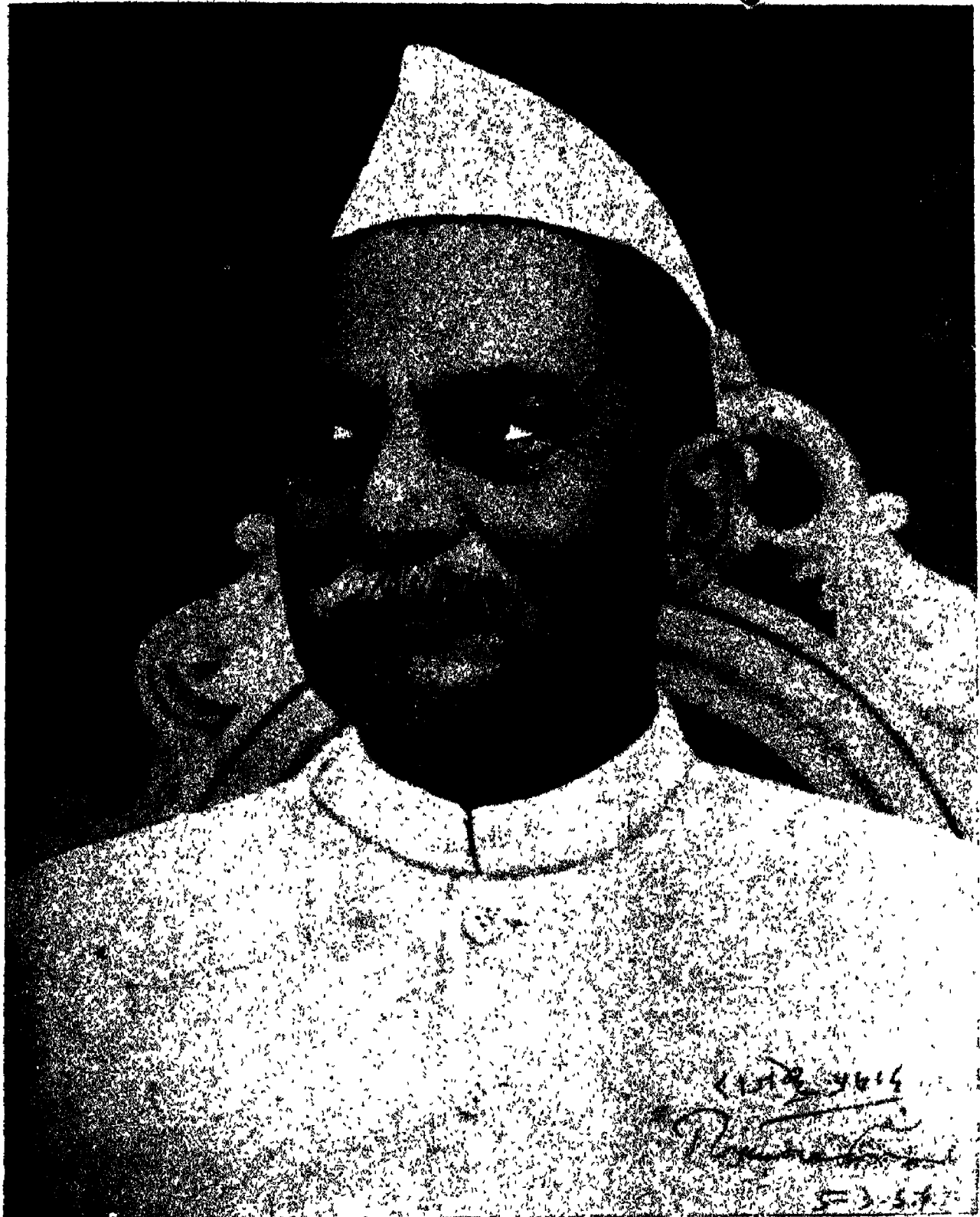
रुड़की विश्वविद्यालय (देखें पृष्ठ १६१)

रुड़की विश्वविद्यालय भवन

सिविल इंजीनियरी विभाग का भवन

चार सौ छात्रों का छात्रावास
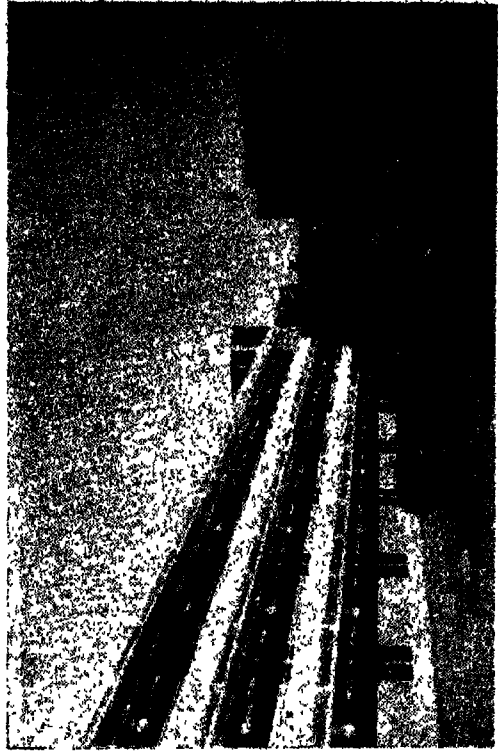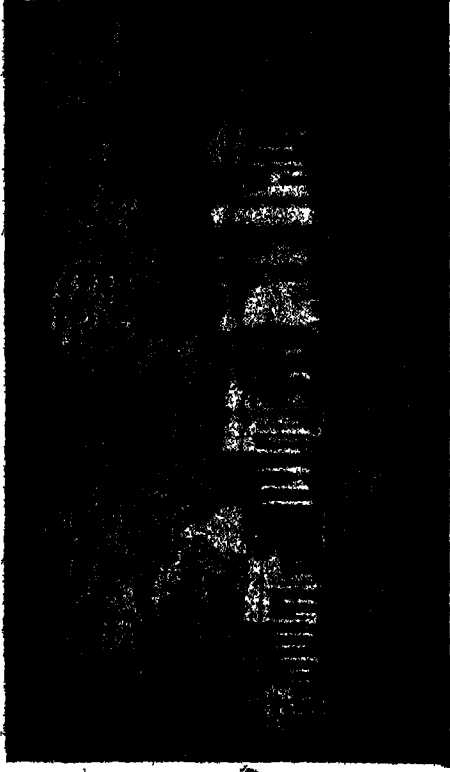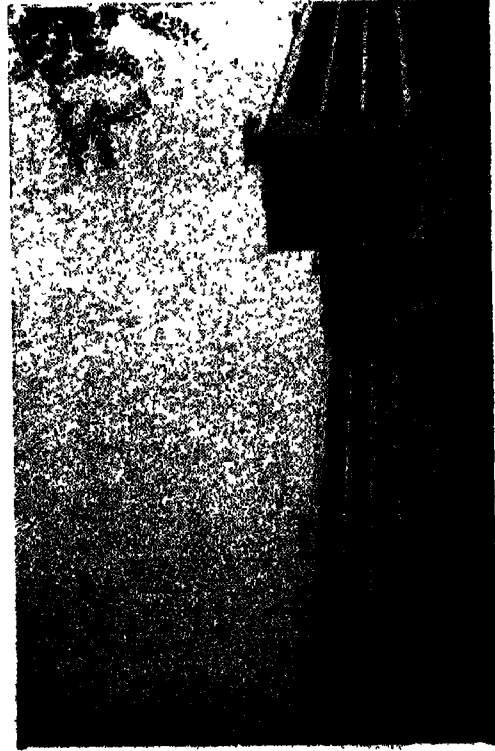
एशिया स्मारक होस्टल

सांस्कृतिक क्षेत्र में भी बहुत ऊँचा उठाया। फ्रांस में उसने पहले पहल एक सूचना पत्रिका निकाली जिसे गजट कहते हैं। १६३५ में उसने फ्रांसीसी साहित्य परिषद (फ्रेंच एकेडमी) की स्थापना की। वह स्वयं एक अच्छा लेखक था। १७ वीं शताब्दी के व्यक्तियों में रीशलू का बड़ा ऊँचा स्थान है। [कि० प्र० सा०]

रुआंडा (Rwanda) स्थिति : १° से ३° द० अ० तथा २६° से ३१° पू० दे०। यह मध्य अफ्रीका के पूर्वी भाग में स्थित एक गणतंत्र है, जो १ जुलाई, १६६२ ई० को स्वतंत्र हुआ। इसके उत्तर में युगैंडा, पूर्व में टैंगैन्यीका, दक्षिण में बरुंडी एवं पश्चिम में कांगो गणतंत्र (लियोपोल्डविल) तथा कीवू झील हैं। इसका क्षेत्रफल १०,१६६ वर्ग मील एवं जनसंख्या २६,६५,००० (१६६०) है। रुआंडा एक दर्शनीय पर्वतीय क्षेत्र है, जो अपनी स्वास्थ्यवर्धक जलवायु के लिये विख्यात है। इस देश के विभिन्न भागों में वार्षिक ताप का औसत लगभग १५°–२३° सें० एवं औसत वर्षा ४०–७० इंच है। वर्षा फरवरी से मई तक होती है। जून से लेकर अगस्त के महीने शुष्क रहते हैं। कीवू झील एवं विरुंगा पर्वतश्रेणी मुख्य भौगोलिक आकृतियाँ हैं। अनुर्वर भूमि, असामयिक वर्षा एवं अधिक जनसंख्या के कारण अकाल का भय हमेशा बना रहता है। कृषि यहाँ का प्रमुख उद्योग है। सोयाबीन, कसावा, मक्का, मटर, मूंगफली तथा सोरघम इस देश मे उत्पन्न होनेवाली मुख्य फसलें हैं। कहवा महत्वपूर्ण व्यापारिक उपज है। तंबाकू, कपास एवं चाय की भी उपज होती है। यहाँ पशुपालन होता है एवं खनन के अंतर्गत टिन, सोना एवं लिथियम धातु की खुदाई होती है, लेकिन इनपर आधारित उद्योग धंधे बिल्कुल ही नहीं है। रुआंडा में तीन जलविद्युत् केंद्र हैं। उद्योगों में शराब निर्माण का एक विशाल कारखाना है। यहाँ से कहवा का निर्यात होता है। अच्छी सड़कों का अभाव है और रेलमार्ग तो बिल्कुल है ही नहीं। वर्षा में सड़कों द्वारा गमनागमन कष्टसाध्य है। कंपाला, माबासा, उसुंबरा और दार–ए–सलाम नगरों से आयात होता है। किगाली इस गणतंत्र की राजधानी है। बुटारे, गिसेन्यी (Gisenyii) ग्यानगुगु (Gyangugu) और गिहराया अन्य नगर हैं। बुटारे (Butare) में उच्च न्यायालय एवं एक विश्वविद्यालयीय महाविद्यालय है। स्वाहिली, किनया रवांडा और फ्रांसीसी यहाँ की मुख्य भाषाएँ हैं। रुआंडा में रोमन कैथोलिक धर्मावलंबियों की प्रधानता है। जंगलों में पिग्मी वाटवा मिलते हैं।

किगाली के वायु अड्डे को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विकसित किया जा रहा है। यहाँ उसुंबरा और कांगो के कीवू प्रदेश के लिये वायुसेवाएँ उपलब्ध हैं। प्रशासन के लिये रुआंडा को १० विभागों तथा १४४ कम्यूनों में बाँटा गया है। [रा० प्र० सि०]

रुक्मिणी 'भैष्मी' और 'वैदर्भी' नामों से प्रसिद्ध विदर्भराज भीष्मक की कन्या और कृष्ण की प्रधान महिषी। नारद से कृष्ण का गुण वर्णन सुनकर यह उनपर अनुरक्त हुई और इसने उनके साथ विवाह करने का निश्चय किया। इधर कृष्ण भी उसपर अनुरक्त हुए किंतु रुक्मिणी का भाई रुक्म इसका विरोधी था। वह शिशुपाल से उसका विवाह करना चाहता था। इस स्थिति में उसने एक ब्राह्मण के हाथों कृष्ण के पास द्वारका को पत्र लिखा और यह प्रस्ताव किया कि विवाह की तिथि के एक दिन पूर्व जब वह अंबिकादर्शन के लिये जाय तब उसका हरण कर लिया जाय। पत्र के अनुसार शिशुपाल-रुक्मिणी-विवाह समारोह में संमिलित होने के बहाने कृष्ण सेना सहित कुंडिनपुर आए और रुक्मिणी को रथ पर बिठाकर भागे। बलराम के नेतृत्व में यादव सेना ने शत्रुओं को परास्त किया। किंतु रुक्मिणी के जेठे भाई रुक्म ने कृष्ण का पीछा किया। कृष्ण ने उसे पराजित कर विरूप कर दिया। अंत में द्वारका पहुँचकर कृष्ण और रुक्मिणी का विवाह संपन्न हुआ। कृष्ण से उसे चारुमती नामक एक पुत्री और दस पुत्र हुए जिनमें प्रद्युम्न प्रमुख थे (दे० प्रद्युम्न)। [रा० द्वि०]

रुड़की स्थिति : २९° ५१′ उ० अ० तथा ७७° ५३′ पू० दे०। यह भारत के उत्तर प्रदेश राज्य के सहारनपुर जिले में, उत्तरी रेलमार्ग पर स्थित, जिले का प्रमुख नगर एवं प्रशासनिक केंद्र है। यह एक पुराना नगर है, जिसका वर्णन आइने अकबरी में एक महाल, या परगना के प्रशासनिक केंद्र, के रूप में आया है। यह एक विकसित नगर है, जिसकी उन्नति का मुख्य श्रेय रुड़की विश्वविद्यालय को है। इस विश्वविद्यालय के कारण वैज्ञानिक यंत्र बनाने का उद्योग उन्नति पर है। यहाँ पर सैनिक छावनी भी है। नगर की जलवायु स्वास्थ्यप्रद है। इसकी जनसंख्या ४५,८०१ (१६६१) है। [सु० चं० श०]

रुड़की विश्वविद्यालय गंगा नहर के निर्माण में प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं की आवश्यकता को पूरा करने के लिये १६ अक्टूबर, १८४७ ई० को रुड़की कॉलिज की स्थापना हुई। सन् १८५२ से १८५६ के काल में भवन-निर्माण-कार्य पूरा हुआ। प्रारंभ में तीन विभाग खोले गए। सन् १८७० मे ये (१) इंजीनियर, (२) अपर सबॉर्डिनेट तथा (३) लोअर सबॉर्डिनेट क्लास कहे जाते थे। उस समय तक विद्यार्थियों की संख्या २८१ हो गई थी। पहले २० वर्षों तक प्रथम दो विभागों में केवल अंग्रेज लिए जाते थे, किंतु सन् १८७० से तीनों विभागों मे भारतीय लिए जाने लगे।

सन् १८८२ से कॉलिज संयुक्त प्रांत (आधुनिक उत्तर प्रदेश) के शिक्षा विभाग के संरक्षण मे आ गया। सन् १८६६ में यांत्रिक तथा एक वर्ष बाद विद्युत् इंजीनियरी की कक्षाएँ खोली गईं। एक औद्योगिक कक्षा, जिसमें मुद्रणकला, फोटोग्राफी तथा विविध हस्तकलाएँ सिखाई जाती थीं, पहले खोली गई, जिसे सन् १६१० में शिल्पविज्ञान विभाग का रूप दे दिया गया। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में यह कॉलिज संसार के अग्रगण्य इंजीनियरी शिक्षाकेंद्रों में था।

सन् १६३६ में सरकार द्वारा नियुक्त पुनःसंगठन समिति ने इस, टॉमसन कॉलिज ऑव इंजीनियरिंग को विश्वविद्यालय का रूप देने का सुझाव दिया, किंतु द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण यह उस समय न हो सका। यह कार्य सन् १६४८ में, भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात्, पूरा हुआ। इस विश्वविद्यालय का उद्देश्य संपूर्ण आधुनिक इंजीनियरी तथा तकनीकी और वैज्ञानिक क्षेत्र में उच्च शिक्षण और अनुसंधान है। उत्तर प्रदेश के रुड़की नगर में, गंगा नहर के तट पर,

समुद्रतल से ८८० फुट की ऊँचाई पर, ३६५ एकड़ भूमि में यह बसा है। स्वस्थ जलवायु तथा प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से भारत के कुछ ही शिक्षाकेंद्र इतनी सुंदर स्थिति में हैं। हिमाच्छादित हिमालयशृंग शीत ऋतु में विश्वविद्यालय के प्रांगण पर पहरा देते से जान पड़ते हैं।

संगठन तथा शिक्षण — उत्तर प्रदेश के राज्यपाल इस विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त होते हैं तथा उपकुलपति संस्था के उच्चतम शैक्षणिक अधिकारी हैं। शासकीय समिति सिनेट (Senate) तथा कार्यकारिणी समिति सिंडिकेट (Syndicate) कहलाती है।

सन् १९६४ से विश्वविद्यालय में निम्नलिखित ११ शिक्षण विभाग हैं : (१) सिविल इंजीनियरी, (२) विद्युत् इंजीनियरी, (३) यांत्रिक इंजीनियरी, (४) दूरसंचार इंजीनियरी, (५) रासायनिक इंजीनियरी, (६) धातुकर्म इंजीनियरी, (७) वास्तुशिल्प, (७) गणित, (९) भौतिकी, (१०) रसायन विज्ञान तथा (११) भूविज्ञान।

इनके अंतर्गत निम्नलिखित पाठ्यक्रम हैं :

(१) बी० ई० (B. E.), इंजीनियरी स्नातक परीक्षा। चार वर्ष का पाठ्यक्रम है तथा पूर्वस्नातक (undergraduates) जो गणित, भौतिकी तथा रसायन विज्ञान सहित परीक्षा में उत्तीर्ण हुए हों, प्रवेश पाते हैं। बी० एससी० में उत्तीर्ण विद्यार्थियों के लिये सिविल तथा दूरसंचार (tele-communication) पाठ्यक्रमों में दूसरे वर्ष भी कुछ स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं, जो एक प्रवेश परीक्षा के आधार पर भरे जाते हैं।

(२) बी० आर्क० (B. Arch.), वास्तुशिल्प स्नातक। पाठ्यक्रम पाँच वर्ष का है और गणित के सहित उत्तीर्ण पूर्वस्नातक भरती किए जाते हैं।

(३) एम० ई० (M. E.), मास्टर ऑव इंजीनियरिंग। दो वर्ष की अवधि का उत्तर-स्नातक पाठ्यक्रम है।

(४) पी-एच० डी० (Ph. D.)। सब विभागों में अन्वेषण तथा अनुसंधान की सुविधाएँ हैं। परीक्षा के उपरांत यह उपाधि दी जाती है।

ऊपर लिखे ११ शिक्षण विभागों के अतिरिक्त निम्नलिखित विशेष विभाग भी हैं : (१) भूकंप इंजीनीयरी अनुसंधान विद्यालय, (इस विषय की भारत में एकमात्र तथा अन्य देशों में केवल दो — जापान में एक तथा कैलिफोर्निया, अमरीका, में एक — संस्थाएँ हैं); (२) जल-साधन-विकास प्रशिक्षण केंद्र तथा (३) इंजीनियरी सेवाओं के लिये नवीकर (Refresher) प्रशिक्षण, जिनकी अवधि प्राय: तीन महीने की होती है।

एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीपों के अनेक देशों से विद्यार्थी इस विश्वविद्यालय में शिक्षा पाने के लिये आते हैं। इस संस्था ने इंजीनीयरी तथा प्रविधि शिक्षण की अग्रगण्य संस्थाओं में अपना स्थान सुरक्षित बना रखा है। [श० पां०]

रुद्रट अलंकार संप्रदाय के प्रमुख आचार्य। इन्होंने अलंकार शास्त्र के सिद्धांतों की विस्तृत एवं वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचना की है। अलंकारों के क्रमविकास के साथ रुद्रट ने उनका चार वर्गों में विभाजन किया है और इस वर्गीकरण के औचित्य का विज्ञानसम्मत प्रतिपादन किया है। रुद्रट ने काव्य में रसदोष को 'विरस' नाम से अभिहित किया है। उनके ग्रंथ का नाम 'काव्यालंकार' है जो विषय की दृष्टि से अत्यंत व्यापक है। इसमें काव्य के प्राय: सभी अंगों पर विचार किया गया है। ग्रंथ सोलह अध्यायों में पूर्ण है। प्रथमाध्याय में काव्यप्रयोजन और काव्यहेतु, द्वितीय में काव्यलक्षण, रीति, भाषाभेद, वक्रोक्ति आदि तीन शब्दालंकार, तृतीय चतुर्थ में क्रमश: यमक, और श्लेष, पाँचवें में चित्रकाव्य, छठे में शब्ददोष एवं उनका परिहार, सात से दस तक के चार अध्यायों में अर्थालंकार निरूपण, ११वें में अर्थालंकार दोष, बारह से पंद्रह तक के चार अध्यायों में रस आदि का निरूपण विवेचन और सोलहवें अध्याय में महाकाव्य, प्रबंध आदि का लक्षण विवेचन किया गया है। ग्रंथ की पद्यसंख्या ७३४ है और ग्रंथागत सभी उदाहरण ग्रंथकार द्वारा स्वयं निर्मित हैं।

रुद्रट ने अलंकारों के चार मूल तत्वों के वास्तव वर्ग में २३, औपम्य वर्ग में २१, अतिशय वर्ग में १२ और श्लेष वर्ग में १ अलंकार माना है। इस प्रकार भाषा, वृत्ति, रीति एवं रसादि संबंधी मीमांसा से युक्त होने पर भी अलंकारों का सुव्यवस्थित वर्णन और उनकी समीक्षा ही ग्रंथ का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है।

अलंकारवादी होते हुए भी आचार्य रुद्रट रसौचित्य के सिद्धांत के समीक्षक रूप में सामने आते हैं। रस के परिपोष के लिये ही इन्होंने अलंकारों की सत्ता मानी है। काव्यालंकार के दूसरे अध्याय में अनुप्रासालंकार की पाँच जातियों का विवरण और काव्य में उनके प्रयोगवाले प्रकरण में उन्होंने मुख्यत: औचित्य की सत्ता को स्वीकार किया है।

भामह, दंडी आदि की तरह रुद्रट ने भी विभिन्न काव्यदोषों की गुणत्वापत्ति की चर्चा की है। छठे अध्याय में इसपर विशेष विवेचन किया गया है जिससे पता लगता है कि ग्राम्य, पुनरुक्त आदि दोष किस अवस्थाविशेष को प्राप्त करने पर गुण के रूप में मान्य किए जा सकते हैं। अनुकरणावस्था में काव्य या नाटक के समस्त दोष दोष न रहकर गुण स्वरूप हो जाते हैं—यह मान्यता भी रुद्रट की अभिव्यक्ति है।

रुद्रट कश्मीरी थे। इनका कुछ परिचय 'काव्यालंकार' पर लिखी हुई नमिसाधु की टीका द्वारा प्राप्त होता है। पाँचवें अध्याय की टीका में चित्रकाव्य के अंतर्गत निबद्ध 'शतानंद पराख्येन भट्टवामुक सूनुना। साधितं रुद्रटेनेदम् सामाजा धीमतां हितम्।' श्लोक के आधार पर इतना ही ज्ञात होता है कि रुद्रट सामवेदी थे। इनका एक नाम 'शतानंद' था और इनके पिता का नाम 'भट्ट वामुक' था। राजशेखर, मम्मट आदि अनेक आचार्यों ने इनका उल्लेख किया है और इनके विचारों की आलोचना भी की है। इस आधार पर इनका समय ई० ९०० से पूर्व निश्चित होता है। इन्होंने अपने संबंध में कुछ ऐसा नहीं लिखा है जिससे इनके समय, राज्याश्रय, गुरुपरंपरा आदि का विशेष ज्ञान प्राप्त हो सके। [वि० मि०]

रुद्रदामन् दक्षिण पश्चिम के क्षत्रप शासकों में रुद्रदामन् का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। इन शासकों के वैदेशिक होने में संदेह नहीं

है, पर रुद्रदामन्, रुद्रसेन, विजयसेन आदि नामों से प्रतीत होता है कि वे पूर्णतया भारतीय बन गए थे। इसकी पुष्टि उन लेखों से होती है जिनमें इनके द्वारा दिए गए दानों का उल्लेख है। जूनागढ़ के शक संवत् ७२ के लेख से यह विदित होता है कि जनता ने अपनी रक्षा के लिये रुद्रदामन् को महाक्षत्रप पद पर आसीन किया। यह संभव है कि शातकर्णि राजा गौतमीपुत्र के आक्रमण से शकों को बड़ी क्षति पहुँची और वंश की प्रतिष्ठा को उठाने के लिये यह प्रयास किया गया हो। रुद्रदामन् ने जनता के अपने प्रति विश्वास का पूर्ण परिचय दिया, जैसा उक्त लेख में उसकी विजयों से प्रतीत होता है। उसने अपने पितामह चष्टन के साथ संयुक्त रूप से राज्य किया था। गौतमीपुत्र शातकर्णि ने शक, यवन तथा पल्हवों को हराया था तथा क्षहरातवंश का उन्मूलन किया था। चष्टन ने क्षति की पूर्ति के लिये मालवों पर विजय प्राप्त की और उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाया। अंधौ लेख के अनुसार शक सं० ५२ में रुद्रदामन् जब अपने पितामह चष्टन के साथ संयुक्त रूप से राज्य कर रहा था उस समय उसका पिता जयदामन् मर चुका था। सं० ५२ और ७२ के बीच रुद्रदामन् ने उन भागों को जीता जिनपर आंध्र सातवाहन शासक गौतमीपुत्र ने पहले अधिकार कर लिया था। इनका क्रमशः उल्लेख उसके जूनागढ़ के लेख में मिलता है। उसने दो बार दक्षिणापति शातकर्णि को पराजित किया पर निकट संबंधी होने के कारण उसका नाश नहीं किया। इस शासक की समानता वाशिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णि पुत्र पुलुमाइ से की गई है। इसकी सम्राज्ञी, कणेहरी से प्राप्त एक लेख के अनुसार, महाक्षत्रप रुद्र (रुद्रदामन्) की पुत्री थी।

जूनागढ़ के लेख में रुद्रदामन् के यौधेयों के साथ युद्ध का भी उल्लेख है पर उनके नष्ट होने का प्रमाण नहीं मिलता। इस लेख में इस शासक के प्रशासन कार्यों का भी विवरण है। मौर्यकालीन सुदर्शन झील का बाँध भीषण वर्षा के कारण टूट जाने का भी उल्लेख है। रुद्रदामन् के समय में इसकी मरंमत हुई थी। शक शासक स्वयं बड़ा विद्वान् था और वह विभिन्न विज्ञान, व्याकरण, न्याय, संगीत इत्यादि में पारंगत था। जनता के हित का उसे सदैव ही ध्यान रहता था और इसीलिये उसके शासन मे विष्टि (बेगार) तथा प्रणय (बिना वेतन के कार्य करवाने) इत्यादि की प्रथा न थी। मतिसचिव तथा कर्मसचिव नामक दो प्रकार के पदाधिकारी उसने नियुक्त किए थे।

सं० ग्रं० — रैप्सन : कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया भा० १; याजदानी : अर्ली हिस्ट्री ऑव दी डेकन; शास्त्री के० ए० : कांप्रीहेंसिव हिस्ट्री ऑव इंडिया, भाग २। [बै० पु०]

रुद्र देवता वैदिक धर्म के देवतागण अनेक हैं। उनमें एक 'रुद्रदेवता' भी हैं। इस रुद्र देवता का परिचय श्री यास्काचार्य ने इस प्रकार दिया है — रुद्रो रौतीति सतः, रोरूयमाणो द्रवतीति वा, रोदयतेर्वा, यदरुदंतद्रुद्रस्य रुद्रत्वं' इति काठकम्। (निरुक्त दै० १०।१।१–५)

'रु' का अर्थ शब्द करना है, जो शब्द करता है, अथवा शब्द करता हुआ पिघलता है, वह रुद्र है।' ऐसा काठकों का मत है। शब्द करना, यह रुद्र का लक्षण है। रुद्रों की संख्या के विषय में निरुक्त में कहा है—

'एक ही रुद्र है, दूसरा नहीं है। इस पृथिवी पर असंख्य अर्थात् हजारों रुद्र हैं।' (निरुक्त १।२३) अर्थात् रुद्र देवता के अनेक गुण होने से उनके अनेक गुणवाचक नाम प्रसिद्ध हुए हैं। एक ही रुद्र है, ऐसा जो कहा है, वहाँ परमात्मा का वाचक रुद्र पद है, क्योंकि परमात्मा एक ही है। परमात्मा के अनेक नाम हैं, उनमें रुद्र भी एक नाम है। इस विषय में उपनिषदों का प्रमाणवचन देखिए—

> एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः।
> य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः॥
>
> —श्वेताश्वतर उप० ३।२

'एक ही रुद्र है, दूसरा रुद्र नहीं है। वह रुद्र अपनी शक्तियों से सब लोगों पर शासन करता है।' इसी तरह रुद्र के एकत्व के विषय में और भी कहा है — रुद्रमेकत्वमाहुः शाश्वतं वै पुराणम्। (अथर्वशिर उप० ५) अर्थात् 'रुद्र एक है और वह शाश्वत और प्राचीन है।'

'जो रुद्र अग्नि में, जलों में औषधिवनस्पतियों में प्रविष्ट होकर रहा है, जो रुद्र इन सब भुवनों को बनाता है, उस अद्वितीय तेजस्वी रुद्र के लिये मेरा प्रणाम है।' (अथर्वशिर उप० ६)

> यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च।
> विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः॥
>
> —श्वेताश्व० उ० ४।१२

'जो रुद्र सब देवों को उत्पन्न करता है, जो संपूर्ण विश्व का स्वामी है और जो महान् ज्ञानी है।' यह रुद्र निःसंदेह परमात्मा ही है।

जगत् का पिता रुद्र—संपूर्ण जगत् का पिता रुद्र है, इस विषय में ऋग्वेद का मंत्र देखिए—

> भुवनस्य पितरं गीर्भिराभी
> रुद्रं दिवा वर्धया रुद्रमक्तौ।
> बृहन्तमृष्वमजरं सुषुम्नं
> ऋधग्हुवेम कविनेषितारः॥ — ऋ० ६।४९।१०

'दिन में और रात्रि में इन स्तुति के वचनों से इन भुवनों के पिता बड़े रुद्र देव की (वर्धय) प्रशंसा करो, उस (ऋष्वं) ज्ञानी (अ-जरं सुषुम्नं) जरा रहित और उत्तम मनवाले रुद्र की (कविना इषितारः) बुद्धिवानों के साथ रहकर उन्नति की इच्छा करनेवाले हम (ऋधक् हुवेम) विशेष रीतिसे उपासना करेंगे।'

यहाँ रुद्र को 'भुवनस्य पिता' त्रिभुवनों का पिता अर्थात् उत्पन्नकर्ता और रक्षक कहा है। रुद्र ही सबसे अधिक बलवान् है, इसलिये वही अपने विशेष सामर्थ्य से इस संपूर्ण विश्व का संरक्षण करता है। वह परमेश्वर ही है। इस रुद्र नामक परमेश्वर का गुहानिवासी रुद्र के रूप में वर्णन भी वेद में है—

> स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां
> राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम्।
> मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो
> अन्यमस्मत्ते निवपन्तु सैन्यम्॥ — अथर्व १८।१।४०

'(उग्रं भीमं) उग्रवीर और शक्तिमान् होने से भयंकर (उपहत्नुं) प्रलय करनेवाला, (श्रुतं) ज्ञानी (गर्तसदं) सबके हृदय में रहनेवाला, सब लोगों का राजा रुद्र है, उसकी (स्तुहि) स्तुति

करो। हे रुद्र! तेरी (स्तवानः) प्रशंसा होने पर (जरित्रे) उपासना करनेवाले भक्त को तू (मृड) सुख दे। (ते सेन्यं) तेरी शक्ति (अस्मत् अन्यं) हम सब को बचाकर दूसरे दुष्ट का (निवपन्तु) विनाश करे।' इस मंत्र में 'जनानां राजानं रुद्रं' ये पद विशेष विचार करने योग्य हैं। 'सब लोगों का एक राजा' यह वर्णन परमात्मा का ही है, इसमें संदेह नहीं है। इस मंत्र के कुछ पद विशेष मनन करने योग्य हैं, वे ये हैं—

१ **गर्त-सदः**—हृदय की गुहा में रहनेवाला, (**निहितं गुहा सद्**) (वा० यजु० ३८।२) जो हृदय रूपी गुहा में रहता है।

२ **गुहाहितः**—बुद्धि में रहनेवाला, हृदय में रहनेवाला, (परम **गुहा यद्**। अथर्व० २।१।१–२) जो हृदय की गुहा में रहता है।

३ **गुहाचरः, गुहाशयः**—(**गुहां प्रविष्टः**) — बुद्धि के अंदर रहनेवाला, यह परमात्मा ही है।

'रुद्र' पद के ये अर्थ स्पष्ट रूप से बता रहे हैं कि यह रुद्र सर्वव्यापक परमात्मा ही है। यही भाव इस वेदमंत्र में है – 'अंतरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया। (ऋ० ८।७२।३)

'ज्ञानी जन (तं रुद्रं) उस रुद्र को (जने परः अन्तः) मनुष्य के अत्यंत बीच के अंतःकरण में (मनीषया) बुद्धि के द्वारा जानने की (इच्छन्ति) इच्छा करते हैं।' ज्ञानी लोग उस रुद्र को मनुष्य के अंतःकरण में ढूंढते है। अर्थात् यह रुद्र सबके अंतःकरण में बिराजमान परमात्मा ही है। यही वर्णन अन्य वेदमंत्रों में है—

अनेक रुद्रों में व्यापक एक रुद्र—इस विषय का प्रतिपादन करने वाले ये मंत्र हैं—

१ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे (ऋ० १०।६४।८);
२ रुद्रो रुद्रेभिः देवो मृलयातिनः (ऋ० १०।६६।३);
३ रुद्रं रुद्रेभिरावहा बृहन्तम् (ऋ० ७।१०।४);

अर्थात् (१) अनेक रुद्रों में व्यापक रूप से रहनेवाले पूजनीय एक रुद्र की हम प्रार्थना करते हैं; (२) अनेक रुद्रों के साथ रहनेवाला एक रुद्र देव हमें सुख देता है; (३) अनेक रुद्रों के साथ रहनेवाले एक बड़े रुद्र का सत्कार करो।'

इससे स्पष्ट हो जाता है कि अनेक छोटे रुद्र अनेक जीवात्मा हैं और उन सब में व्यापनेवाला महान् रुद्र सर्वव्यापक परमात्मा ही है। इस विषय में यजुर्वेद का मंत्र (वा० यजु० १६।५४) भी द्रष्टव्य है।

अब रुद्र के विषय में भाष्यकारों ने क्या कहा है, यह देखेंगे।

रसायनाचार्य का मत—रुद्र पद के ये अर्थ अपने भाष्य में उन्होंने किए हैं। '(१) रुद्रकालात्मक परमेश्वर है; (२) रुलानेवाने प्राण हैं; (३) शत्रुओं को रुलानेवाले वीर रुद्र हैं; (४) रोग दूर करनेवाला औषध रूप; (४) संहार करनेवाला देव रुद्र है; वह सबको रुलाता है; (६) रुद् का अर्थ दुःख है, उसको दूर करनेवाला परमेश्वर रुद्र है; (७) ज्वर का अभिमानी देव रुद्र है।

श्री उवटाचार्य का मत—(१) शत्रु को रुलानेवाले वीर रुद्र हैं; (२) रुद्र का अर्थ धीर वीर है।

श्री महीधराचार्य का मत—(१) रुद्र का अर्थ शिव है। (२) रुद्र का अर्थ शंकर है। (३) पापी जनों को दुःख देकर रुलाता है वह रुद्र है। (४) रुद्र का अर्थ धीर बुद्धिमान्, (५) रुद्र का अर्थ स्तुति करनेवाला है, (६) शत्रु को रुलानेवाला रुद्र है।

स्वामी दयानंद सरस्वती का मत—(१) रुद्र दुःख का निवारण करनेवाला; (२) दुष्टों को दंड देनेवाला; (३) रोगों का नाशकर्ता; (४) महावीर; (५) सभा का अध्यक्ष, (६) जीव, (७) परमेश्वर, (८) प्राण, तथा (९) राजवैद्य है।

वेदों में रुद्र नाम परमात्मा, जीवात्मा, तथा शूरवीर के लिये प्रयुक्त हुआ है। यजुर्वेद के रुद्राध्याय में रुद्र के अनंत रूप वर्णन किए हैं। इस वर्णन से पता लगता है कि यह संपूर्ण विश्व इन रुद्रों से भरा हुआ है। इस लेख में दिए अर्थों का विचार करने पर सिद्ध होता है कि जैसा रुद्र परमात्मा है, वैसा ही जीवात्मा है और विश्व के अनंत रूप भी रुद्र के हैं। [श्री० दा० सा०]

रुधिर (Blood) एक तरल पदार्थ है, जिसके दो भाग हैं : (१) द्रव भाग, जिसे प्लाज़्मा कहते हैं और (२) ठोस भाग, जो कोशिकाओं का बना होता है। रुधिर कोशिकाएँ तीन प्रकार की होती हैं : (१) लाल रुधिर कोशिकाएँ (२) श्वेत रुधिर कोशिकाएँ और (३) बिबाणु, या प्लेटलेट्। प्लैज़्मा में ९१ से ९२ प्रति शत जल और शेष में (क) सोडियम, पोटैशियम और कैल्सियम, (ख) वसा, (ग) शर्करा, (घ) प्रोटीन आदि होते हैं।

रुधिर के कार्य — १. फुफ्फुसों से शरीर के विभिन्न अंगों को ऑक्सीजन ले जाना और वहाँ से कार्बन डाइऑक्साइड गैस को फुफ्फुसों तक वापस ले आना।

२. शरीर के चयापचयजन्य अंत्य पदार्थों को वृक्क में पहुँचाना, जिनको वृक्क बाहर विसर्जित कर देते हैं।

३. पोषक पदार्थों, ओषधि, विटामिन आदि को शरीर के सब भागों में पहुँचाना।

४. शरीर में लवण और क्षार का संतुलन बनाए रखना।

५. रोगोत्पादक जीवाणुओं का नाश कर इनसे शरीर की रक्षा करना। श्वेत रुधिर कोशिकाएँ ऐसे जीवाणुओं का भक्षण कर लेती है।

६. रुधिर के शीघ्रता से जमकर थक्का बनने की प्रवृत्ति से चोट लगने पर शरीर से रुधिर स्राव को बंद करना।

मानव शरीर मे प्रति किलोग्राम के भार पर ७८ से ९७ घन सेंटीमीटर रुधिर रहता है।

लाल रुधिर कोशिका — लाल रुधिर कोशिकाएँ लाल रंग की होती है। हीमोग्लोबिन के कारण इनका रंग लाल होता है। ये ७.२ म्यू व्यास की गोल परिधि की और दोनों ओर से पैसे या रुपए के समान चिपटी होती हैं। इनमें केंद्रक नहीं होता। वयस्क पुरुषों के रुधिर के प्रति घन मिलीमीटर में लगभग ५० लाख और स्त्रियों के रुधिर के प्रति घन मिलिमीटर में ४५ लाख लाल रुधिर कोशिकाएँ होती हैं। इनकी कमी से रक्तक्षीणता (देखें रक्तक्षीणता) तथा रक्त श्वेताणुमयता (Leukaemia) रोग होते हैं।

लाल रुधिर कोशिका का विकास — आधुनिक मत के अनुसार लाल रुधिर कोशिकाओं का निर्माण रक्त परिसंचरण तंत्र के बाहर होता है। सबसे पहले बनी कोशिका हीमोसाइटोब्लास्ट (Haemocytoblast) कहलाती है। पीछे यह कोशिका लाल रुधिर कोशिका में बदल जाती है। भ्रूण में लाल रुधिर कोशिका रुधिर परिसंचरण क्षेत्र में बनती है। पहले इसके मध्य में केंद्रक होता है, जो पीछे विलीन हो जाता है। शिशुओं के मध्यभ्रूण जीवन से लेकर जन्म के एक मास पूर्व तक लाल रुधिर कोशिकाओं का निर्माण यकृत एवं प्लीहा में होता है। शिशु जन्म के बाद लाल रुधिर कोशिकाएँ अस्थिमज्जा में बनती हैं।

लाल रुधिर कोशिकाओं (इरिथ्रोसाइट्स, erythrocytes) का जीवन १२० दिन का होता है, तत्पश्चात् प्लीहा में इनका अंत हो जाता है।

श्वेत रुधिर कोशिकाएँ — ये लाल रुधिर कोशिकाओं से पूर्णतया भिन्न होती हैं। इनमें हीमोग्लोबिन नहीं होता, पर इनमें केंद्रक होते हैं। ये आकार में लाल रुधिर कोशिकाओं से बड़ी होती हैं। कुछ श्वेत रुधिर कोशिकाओं में कणिकाएँ होती हैं।

श्वेत रुधिर कोशिकाओं में जीवाणुओं के भक्षण करने की शक्ति होती है। इनकी संख्या ६,००० से ८,००० प्रति घन मिलीमीटर होती है। संक्रामक रोगों के हो जाने पर इनकी संख्या बढ़ जाती है, पर मियादी बुखार, या तपेदिक हो जाने पर इनकी संख्या घट जाती है। श्वेत रुधिर कोशिकाएँ दो प्रकार की होती हैं, एक में कणिकाएँ नहीं होतीं और दूसरी में कणिकाएँ होती हैं। पहले प्रकार को एग्रैन्यूलोसाइट्स (agranulocytes) और दूसरे प्रकार को ग्रैन्यूलोसाइट्स (granulocytes) कहते हैं।

एग्रैन्यूलोसाइट्स कोशिकाएँ दो प्रकार की होती हैं: (१) लसीकाणु (lymphocyte) कोशिका और (२) मोनोसाइट (monocyte) कोशिका। लसीका कोशिकाएँ लघु और विशाल दो प्रकार की होती है। मोनोसाइट कुल श्वेत रुधिर कोशिकाओं की ५ से १० प्रतिशत तक होती हैं।

ग्रैन्यूलोसाइट कोशिकाएँ तीन प्रकार की होती हैं: (१) न्यूट्रोफिल्स (Neutrophiles, ६० से ७० प्रति शत), (२) ईओसिनोफिल्स (Eosinophiles, १ से ४ प्रति शत) और (३) बेसोफ़िल्स (Basophiles ०·५ से १ प्रतिशत)।

श्वेत रुधिर कोशिकाएँ निम्नलिखित कार्य करती हैं: (१) ये आगंतुक जीवाणुओं का भक्षण करती हैं, (२) ये प्रतिपिंडों की रचना करती हैं, (३) हिपेरिन उत्पन्न कर रुधिरवाहिकाओं में ये रुधिर को जमने से रोकती हैं, (४) ये प्लैश्मा प्रोटीन और कुछ कोशिका प्रोटीन की भी रचना करती हैं तथा (५) हिस्टामिनरोधी कार्य कर शरीर को एलर्जी से बचाने में सहायक होती हैं।

बिंबाणु या प्लेटलेट् — ये प्रति घन मिलीमीटर रुधिर में २·५ लाख से ५ लाख तक होते हैं। इनका आकार २·५ म्यू होता है। इनका जीवन चार दिन का होता है। इनके कार्य निम्नलिखित हैं:

(१) ये रुधिर के जमने (स्कंदन) में सहायक होते हैं तथा (२) रुधिरवाहिका के किसी कारणवश टूट जाने पर ये टूटे स्थान पर एकत्र होकर कोशिकाओं को स्थिर करते हैं।

प्लैज़्मा — रुधिर में प्लैज़्मा ५२-५५ प्रति शत होता है। इसमें निम्नलिखित पदार्थ रहते हैं: जल लगभग ९० प्रति शत, प्रोटीन (फाइब्रिनोजेन, ग्लोब्युलिन तथा ऐलब्यूमिन) ९ प्रति शत, लवण ०·९ प्रति शत और शेष में शर्करा, यूरिया, यूरिक अम्ल, क्रियेटिनिन, कॉलेस्ट्राल, क्रियेटिन इत्यादि। लवणों में सोडियम के अतिरिक्त पोटैशियम और मैग्नीशियम के लवण भी लेश मात्र रहते हैं।

रुधिर का थक्का बनना, या जमना — रुधिर द्रव होता है, पर शरीर से बाहर निकलने पर वह कुछ मिनटों में जम जाता है, जिसे थक्का कहते हैं। थक्का बनने के समय का निर्धारण कई विधियों से किया जा सकता है।

रुधिर के जमने में (१) प्रोथ्रॉम्बिन, (२) कैल्सियम परमाणु, (३) फाइब्रिनोजिन और (४) थ्रांबोप्लास्टिन की आवश्यकता होती है। पहले तीन पदार्थ रक्त में रहते हैं और चौथा प्लेटलेट के टूटने से निकलता है। इनके अतिरिक्त ऐंटिथ्रॉम्बिन और हिपेरिन भी रहते हैं। ताप के नीचा होने और कैल्सियम को निकाल लेने से तथा जल मिलाकर रुधिर को पतला कर देने से रुधिर का जमना रुक जाता है। मैग्नीशियम तथा सोडियम सल्फेट को मिलाने से तथा हिपेरिन, जोंकसत और डिकूमेरिन आदि रुधिर के जमने मे बाधक होते हैं। रुधिर के शीघ्र जमने में ऊष्मा, थ्रोंबीन, ऐड्रीनलीन, कैल्सियम क्लोराइड तथा विटामिन के (k) से सहायता मिलती है।

रुधिर वर्ग — संसार भर के मनुष्यों के रुधिर को चार वर्गों में वर्गीकृत किया गया है, जिनको ए (A), बी (B), ए बी (AB) और ओ (O) वर्ग कहते हैं। एक रुधिर वर्ग के व्यक्ति को उसी वर्ग का रक्त दिया जा सकता है। दूसरे वर्ग का रक्त देने से उस व्यक्ति की लाल रुधिर कोशिकाएँ अवक्षिप्त हो सकती हैं। पर समान वर्ग का रक्त देने से अवक्षेपण नहीं होता। दूसरे वर्ग का रक्त देने से व्यक्ति की मृत्यु तक हो सकती है। दुर्घटना में कहीं कट जाने से, या शल्य कर्म में कभी कभी इतना रक्तस्राव होता है कि शरीर में रक्त की मात्रा बहुत कम हो जाती है और व्यक्ति की मृत्यु हो सकती है। ऐसी दशा में रोगी के शरीर में रुधिर पहुँचाने से उसकी प्राणरक्षा संभव होती है। उस समय रुधिरपरीक्षा द्वारा रोगी का रुधिर वर्ग मालूम कर, उसी वर्ग के रुधिरवाले मनुष्य का रुधिर लेकर, रोगी को दिया जाता है। किंतु ओ (O) वर्ग का रुधिर ऐसा होता है कि उसको अन्य वर्गों के व्यक्ति ग्रहण कर सकते हैं। इस कारण ओ (O) वर्ग के रुधिर वाले व्यक्ति सर्वदाता (universal donors) कहे जाते हैं। एबी (AB) वर्ग के रुधिरवाले व्यक्ति अन्य सब वर्गों का रुधिर ग्रहण कर सकते हैं। इसलिये ये व्यक्ति सर्वग्रहणकर्ता (universal receipients) कहे जाते हैं। रक्त में आर. एच (Rh) तत्व भी होता है, जिसकी परीक्षा भी आवश्यक है।

हीमोग्लोबिन — लाल रुधिर कोशिकाओं में हीमोग्लोबिन रहता है, जिसके कारण रुधिर लाल दिखाई देता है। हीमोग्लोबिन ग्लोबुलिन और हीम, या हीमेटिन का बना होता है। ग्लोबुलिन एक प्रकार का प्रोटीन है। हीमेटिन के अंदर लोहा रहता है। हीमोग्लोबिन ही ऑक्सीजन का अवशोषण करता है और इसको रक्त द्वारा सारे शरीर में पहुँचाता है। रुधिर में हीमोग्लोबिन की मात्रा १४·५ ग्राम प्रति शत है। अनेक रोगों में इसकी मात्रा कम हो जाती है। हीम (Haem)

का सूत्र का$_{३४}$ हा$_{३०}$ ना$_{४}$ औ$_{६}$ लो औ हा ($C_{34}H_{30}N_4O_4FeOH$) है। इसमें लोहा रहता है। इसमें चार पिरोल समूह रहते हैं, जो क्लोरोफिल से समानता रखते हैं। इसका अपचयन और उपचयन सरलता से हो जाता है। अल्प मात्रा में यह सब प्राणियों और पादपों में पाया जाता है। हीमोग्लोबिन क्रिस्टलीय रूप में सरलता से प्राप्त हो सकता है।

रुधिर परीक्षा के लिये वयस्क व्यक्ति की अंगुली से या शिरा से रुधिर निकाला जाता है।

रुधिर को जमने से बचाने के लिये स्कंदन प्रतिरोधी पदार्थ डालते हैं। इसके लिये प्राय: अमोनियम और पोटैशियम ऑक्सेलेट प्रयुक्त किए जाते हैं।

डबल ऑक्सेलेटेड रुधिर को लेकर, अपकेंद्रित्र में रखकर, आधे घंटे तक घुमाते हैं। रुधिर का कोशिकायुक्त अंश तल में बैठ जाता है और तरल अंश ऊपर रहता है। यही तरल अंश प्लैज्मा है।

इरिथ्रोसाइट सेडिमेंटेशन रेट — लाल रुधिर कोशिकाओं का अंग्रेजी पर्यायवाची इरिथ्रोसाइट है। कुछ रोगों, जैसे यक्ष्मा (तपेदिक), में अवसेपण द्वारा इनकी तल में बैठने की गति बढ़ जाती है। इस परीक्षा से रोग पहचानने में सहायता मिलती है। यह ई एस आर (E S R) परीक्षा कही जाती है। [स० पा० गु०]

रुधिराधान (Blood transfusion) किसी व्यक्ति, या जानवर के रुधिर परिसंचारण में किसी व्यक्ति, या जानवर का रुधिर प्रविष्ट कराने की क्रिया है। रुधिराधान निम्नलिखित अवस्थाओं में किया जाता है :

(क) अचानक रुधिरस्राव होने पर।

(ख) लाल रुधिर कणिकाओं का अभाव होने पर। निम्नलिखित कारणों से लाल रुधिर कणिकाओं का अभाव हो सकता है : (१) अचानक रक्तक्षीणता होने पर, (२) रुधिरस्राव के कारण रक्तक्षीणता होने पर, (३) एप्लास्टिक (aplastic) तथा वर्तित रक्तक्षीणता होने पर तथा (४) शल्यकर्म के पहले।

(ग) श्वेत रुधिराणु का अभाव एवं न्यूनता होने पर (प्राथमिक एवं अनुगामी एग्रेन्यूलोसाइटोसिस में)।

(घ) रुधिर के बिंबाणुओं (platelets) का अभाव (अचानक एवं तीव्र थ्रॉबोसाइटोपीनिक परप्यूरा में)।

(ङ) हीमोग्लोबिन की न्यूनता। कोयले की खानों में खनिकों के रुधिर में कोयला गैस प्रवेश कर हीमोग्लोबिन को कार्बाक्सी हीमोग्लोबिन में परिवर्तित कर देती है। ऐसे रोगियों के शरीर से दूषित रुधिर निकालकर रुधिराधान करना आवश्यक होता है।

(च) रुधिर को स्कंदित करनेवाले पदार्थों का रुधिर में अभाव (Haemophilia)। इसमें रोगी के रुधिर में थ्रॉबोप्लास्टिन का अभाव बार बार रुधिराधान से दूर हो जाता है।

रुधिरप्रदाता का चयन — रुधिरप्रदाता की आयु १५ से ६० वर्ष की होनी चाहिए। रुधिर दान करने के पूर्व रुधिरप्रदाता को गरिष्ठ भोजन नहीं करना चाहिए। रुधिरप्रदाता उपदंश, मलेरिया तथा संक्रमित हिपेटाइटिस से ग्रसित न हो, अन्यथा रुधिर प्राप्तकर्ता में इन रोगों का संक्रमण हो जा सकता है। रुधिरप्रदाता का रुधिर उसी समूह का होना चाहिए जिस समूह का रुधिर उस रोगी का है। यदि रोगी के समूह वाला रुधिर प्रदाता न मिले तो अंतरराष्ट्रीय श्रेणी ओ (O) वाला रुधिर लेना चाहिए। एक जीवाणुरहित बोतल में, जिसमें ५० घन सेंमी० ३.८ प्रति शत का सोडियम साइट्रेट का विलयन हो, एक पाइंट रुधिर लिया जाता है।
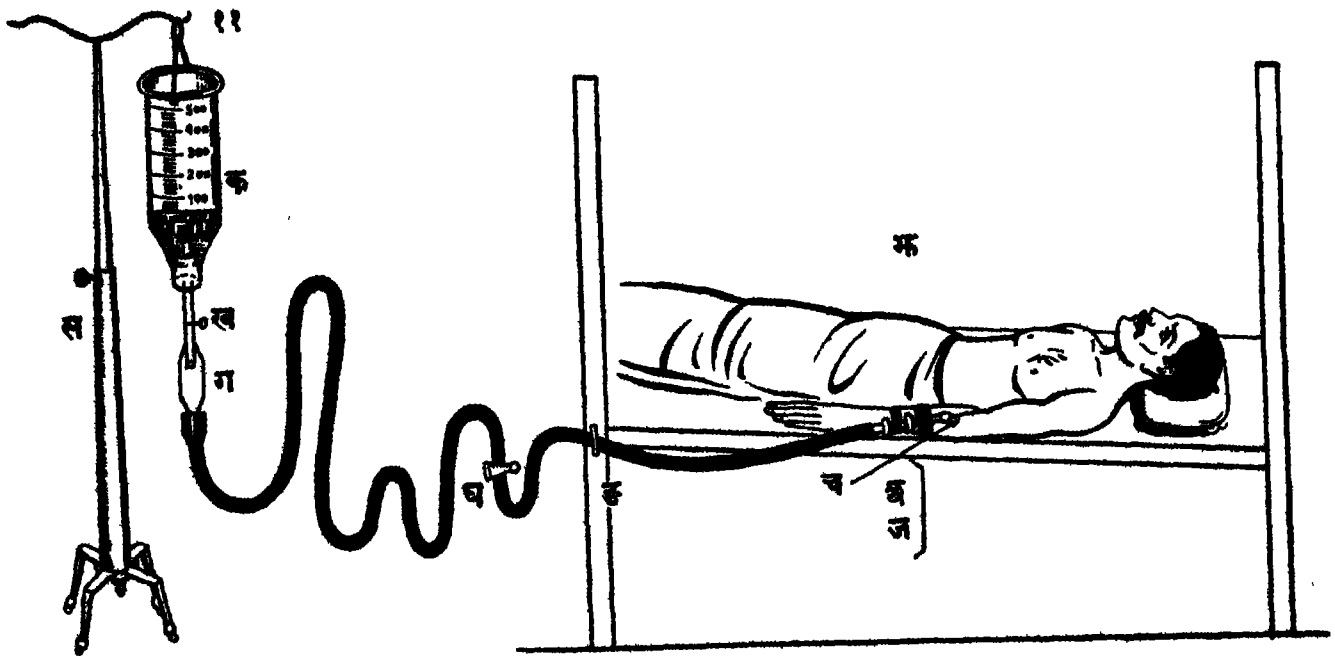
रुधिराधान

क. रुधिर, ख. तथा ग. स्टॉप कॉक और उसके भाग, घ. दाबक रोधनी, ङ. छ और ज. बंधक स्ट्रैप, च. सूई तथा स, उपस्तंभ।

धिरदान करने के पूर्व रुधिरप्रदाता यदि निराहार रहे तो अच्छा रहता है।

रुधिरप्रदाता से रुधिर निकालना — रुधिरप्रदाता की कुहनी के ऊपरी बाहु में बंधन का उपयोग करते हैं। इसके बाद त्वचा को स्वच्छ कर क्यूबिटल शिरा में सूई प्रवेश करते हैं। इस सूई में एक रबर की नली लगी रहती है, जो एक पाइंट की बोतल से जुड़ी रहती है। इस बोतल में सोडियम साइट्रेट का विलयन रहता है। १० से १५ मिनट का समय रुधिरप्रदाता से रुधिर लेने में लगता है। एक स्वस्थ मनुष्य ४०० से ६०० घन सेंमी० रुधिर दान कर सकता है। रुधिर का प्रवाह ठीक बना रहे, इसलिये रुधिर निस्रवण के समय रुधिरप्रदाता को मुट्ठी खोलने और बंद करने के लिये कहा जाता है। रुधिर के निस्रवण के समय रुधिर प्रदाता को किसी प्रकार की संवेदना नहीं होती। रुधिर एकत्र होने के तत्काल बाद ही रोगी के लिये रुधिर का उपयोग हो सकता है, अथवा रेफ्रिजरेटर में रख दिया जाता है।

रोगी को रुधिराधान करना — वह बोतल, जिसमें रुधिर रहता है, रोगी से तीन चार फुट ऊपर लटकी रहती है। इस बोतल से रबर की एक नली लगी रहती है, जिसमें सूई, या ट्यूब (कैन्यूला, cannula) लगा रहता है। यह सूई, या ट्यूब रोगी की शिरा में घुसेड़ देते हैं। रुधिर का प्रवाह गुरुत्वाकर्षण के कारण होता है। रुधिर के प्रवाह को रोगी की आवश्यकतानुसार तीव्र, या मंद किया जा सकता है। रुधिरप्रदाता की तरह रोगी को भी रुधिराधान के समय कोई संवेदना नहीं होती। प्रायः रुधिर की गति ४० बूँद प्रति मिनट रहनी चाहिए।

स्ट्रीवेक के द्वारा रुधिराधान — यह विधि अपेक्षया उत्कृष्ट, और साथ ही सरल है। इस विधि में संचित रुधिर पूर्ण रूप से बंद रहता है। स्ट्रीवेक दोनों ओर से बंद रहता है तथा इसमें साइट्रेट विलयन निर्वात में संचित होता है।

संचित रुधिर — कुछ वर्षों से रुधिर के कोश स्थापित किए जाने लगे हैं। अब अधिक से अधिक कोश में संचित रुधिर का ही उपयोग किया जाता है। संचित एवं रक्षित रुधिर के अवयव विभिन्न स्तरों में विलग हो जाते हैं। ऊर्ध्वस्तर पर आया प्लैज्मा नारंगी के रंग का तथा स्वच्छ होना चाहिए।

प्लैज्मा में धुँधलापन लाइपायडों (lipoids) की उपस्थिति के कारण होता है। अतः रुधिराधान के चार घंटा पूर्व रुधिरप्रदाताओं का वसा वाला भोजन न ग्रहण करना अच्छा है।

रुधिरकणिकाओं की क्षति कई कारणों से होती है: (१) संसर्ग रोग से, (२) यदि संचित रुधिर २१ दिन से अधिक का हो तो, (३) हिमीभवन से (संचित रुधिर को ३८° सें० पर रखा जाना चाहिए) तथा (४) तापन से। यदि रुधिर रेफ्रिजरेटर से निकाला गया है, तो आठ घंटे से पूर्व ही उसको उपयोग में ले आना चाहिए। अतिग्रस्त रुधिर का उपयोग न करना चाहिए।

प्लैज्मा और सीरम का आधान — इसका उपयोग इन लक्षणों में आवश्यक होता है: तीव्र आघात एवं संघातिक क्षोभ, आग से जलने पर तथा अन्य वे अवस्थाएँ जिनमें शरीर में द्रव की शीघ्र आवश्यकता हो, परंतु हीमोग्लोबिन अनावश्यक हो। इस प्रकार का आधान प्रति रुधिरस्राव में होता है, जबकि हीमोग्लोबिन की मात्रा ५० प्रति शत से न्यून न हो। इस आधान से यह लाभ है कि इसमें समान समूह के रक्त की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्लैज्मा अथवा सीरम दो रूपों, (१) द्रव और (२) सूखा हुआ में प्राप्त होता है।

द्रव प्लैज्मा ४° सें० पर महीनों भली प्रकार रखा जा सकता है तथा सूखा प्लाज्मा कमरे के ताप पर अपरिमित समय तक भली प्रकार रखा जा सकता है। यह बाजार में बिकता है। इसका व्यापारिक नाम 'लायवी' है। ३० ग्राम लायवी को ४०० घन सेंटीमीटर शुद्ध जल में घुलाते हैं। तत्पश्चात् प्लैज्मा को रुधिराधान की विधि द्वारा ही रोगी के शरीर में पहुँचाते हैं।

यंत्र संबंधी त्रुटि — यह निम्नलिखित दो प्रकार की होती है: (अ) वायु एंबोलिज्म (embolism) — रबर नली यदि जीर्ण हो अथवा छिद्रित हो, तो वायु छिद्र द्वारा प्रवेश कर रुधिर के साथ प्रवाहित होकर बुलबुले बना देती है, जिससे रुधिरप्रवाह रुक जाता है और रोगी की मृत्यु हो जाती है. (ब) क्लॉट एंबोलिज्म — यदि रुधिर जमा हुआ है या दूषित है तो यह शिरा में प्रवेश कर रुधिरप्रवाह को रोक देता है।

रुधिराधानीय हीमोलाइसिस — यदि रोगी का रुधिरसमूह रुधिरप्रदाता के समान न हो, तो यह क्रिया हो जाती है और रोगी की मृत्यु हो सकती है। अत. रुधिर के समूह का परीक्षण ध्यान से करना चाहिए। [स० पा० गु०]

रुय्यक कश्मीर के एक विद्वान् परिवार में राजानक रुय्यक या रुचक का जन्म द्वादश शतक के प्रथम भाग में हुआ था। उद्भट के काव्यालंकार संग्रह के विवृतिकार राजानक तिलक इनके पिता थे, जो अलंकारशास्त्र के पंडित थे। 'श्रीकंठचरित्' में मंखक ने अध्यापक, विद्वान् व्याख्याकार तथा साहित्यशास्त्री के रूप में अपने गुरु रुय्यक का परिचय दिया है। इनके ग्रंथों की संख्या बारह है। सहृदयलीला, साहित्यमीमांसा, काव्यप्रकाशसंकेत, व्यक्तिविवेकव्याख्यान तथा अलंकार सर्वस्व प्रकाशित ग्रंथ है। नाटकमीमांसा, अलंकारानुसारिणी, अलंकारमंजरी, अलंकारवार्तिक, (नाट्यशास्त्र, सुलंकारशास्त्र), श्रीकंठस्तव (काव्य), हर्षचरितवार्तिक, तथा बृहती (टीकाएँ) की सूचना सदर्भों से मिलती है पर अभी तक प्राप्य नहीं हैं। स्पष्ट है कि रुय्यक का प्रधान प्रतिपाद्य विषय काव्यशास्त्र -- विशेषतः अलंकारमीमांसा — है। अलंकारसर्वस्व, जिसका प्रणयन ११३५–५० ई० के बीच हुआ था, भाषा के पाक और चिंतन की प्रौढ़ि (परिपक्वता) से इनकी सर्वश्रेष्ठ देन है। इसी लिये रुय्यक की प्रसिद्धि सर्वस्वकार के रूप में है। इसके दो भाग है, सूत्र तथा वृत्ति। सत्तासी सूत्रों में छह: शब्दालंकार तथा पचहत्तर अर्थालंकारों का (जिनमें परिणाम, रसवदादि, विकल्प तथा विचित्र नवीन अलंकार हैं) संक्षेप में नपी तुली भाषा में निरूपण है। इन सूत्रों की वृत्ति में भामह से प्रारंभ कर सर्वस्वकार के समय तक विकसित अलंकारमीमांसा का — स्वरूप, भेद तथा उदाहरणों के साथ — मौलिक उपस्थापन है। इसके तीन टीकाकार हैं कश्मीर

के जयरथ (११६३ ई०), केरल के समुद्रबंध (१३०० ई०) तथा गुजरात के श्री विद्याचक्रवर्ती (१४ वीं शती) । प्रथम तथा अंतिम टीकाकार निर्विवाद रूप से अलंकारसर्वस्व का लेखक रुय्यक या रुचक को ही मानते हैं; शोभाकर से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक आलंकारिकों की सुदीर्घ परंपरा में मंखक का आलंकारिक के रूप में, एक प्रसंग को छोड़कर, कहीं संदर्भ नहीं है । प्राचीन पांडुलिपियों की पुष्पिकाएँ रुय्यक को सर्वस्व का लेखक घोषित करती हैं । अंतः साक्ष्य भी यही बात प्रमाणित करता है, तथापि समुद्रबंध ने अलंकार सर्वस्व को मंखक की कृति माना है । संभव है, संधिविग्रहिक मंखक ने अपने गुरु के ग्रंथ का संपादन संशोधन किया हो जिससे सुदूर दक्षिण में उसके कृतित्व की भ्रांत परंपरा चल पड़ी हो ।

अलंकारों के शब्द, अर्थ तथा उभय में विभाग के लिये रुय्यक का सिद्धांत (जिसके बीज राजानक तिलक की काव्यालंकार संग्रह की विवृति में थे) आश्रयाश्रयिभाव का है । जो अलंकार जिस पर आश्रित होता है वह उसका अलंकार होता है । किसी शब्द का होना या न होना (अन्वयव्यतिरेक) अलंकार विभाग का नियामक नहीं है । इस प्रकार तो इवादिप्रयोगसापेक्ष शाब्दी उपमा अर्थालंकार न होकर शब्दालंकार कहलाएगी । कुंडल कान का और तार हार कंठ का आभूषण कहलाता है, क्योंकि वे उनपर आश्रित हैं; कान या कंठ के रहने या न रहने से कर्णालंकार अथवा कंठ के हार का कोई संबंध नहीं है । लौकिकालंकार का सिद्धांत काव्यालंकार के संदर्भ में भी चरितार्थ है । इस आश्रय का बोध सहृदयसंवेद्य अनुभव पर अवलंबित है; शब्दार्थ के चमत्कार विच्छित्ति या वैचित्र्य का वही निर्णायक निकष है । अतः आश्रयाश्रयभाव का जीवातु यद्वैचित्र्यवाद है । रुय्यक ने अर्थालंकारों को साम्य, विरोध, शृंखलाबंध, तर्कन्याय, वाक्यन्याय, लोकन्याय, गूढार्थप्रतीति पर, तथा चित्तवृत्तिमूल के वर्गों में बाँटा है । इस वर्गीकरण को सर्वाधिक व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक माना जाता है । इसके पूर्व वस्तुतः किसी भी आलंकारिक ने किन्हीं मूलाधारों को लेकर व्यवस्थित वर्गीकरण की पद्धति नहीं अपनाई थी । प्रतीति का पौर्वापर्य तथा अलंकार लक्षणों का परस्पर साधर्म्य वैधर्म्य एक वर्ग में आनेवाले अलंकारों के क्रम के नियामक तत्व हैं ।

अलंकारों की सांगोपांग मीमांसा, ध्वनिसिद्धांत से उसका संबंध ही नहीं अपितु महिमभट्ट के ध्वनिविरोधी सिद्धांत अनुमितिवाद का व्याख्यान तथा ध्वनिसंप्रदाय की पुनःप्रतिष्ठा भी रुय्यक का प्रधान कार्य है । व्यक्तिविवेक व्याख्यान या 'विचार' में महिमभट्ट के मत का विवेचन करते हुए यह सिद्ध किया है कि अनुमानप्रक्रिया में ध्वनिमार्ग को या अनुमिति में व्यंग्यार्थ सौंदर्य को नहीं बाँधा जा सकता । अलंकारसर्वस्व की प्रस्तावना में रुय्यक ने भामह, उद्भट, रुद्रट आदि के अलंकारप्राधान्यवाद में तथा वामन के रीतिवाद में ध्वनि के बीज बताते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि भट्टनायक के भावना तथा भोग नामक काव्यव्यापारों में कुंतक की वक्रोक्ति तथा महिमभट्ट के 'अनुमान' में ध्वनि का अंतर्भाव संभव नहीं है । संस्कृत के साहित्य-शास्त्र का रुय्यक द्वारा यह संक्षिप्त सर्वेक्षण एक महत्वपूर्ण कार्य है ।

[रा० चं० द्वि०]

रुस्तम फारस का एक विख्यात वीर और योद्धा । वह जालजार का पुत्र और साम का पौत्र था । राजा बाहमन से हुई एक लड़ाई में उसकी मृत्यु हुई । जब वह युद्ध पर जानेवाला था तो उसकी स्त्री गर्भवती थी । अभियान पर जाते समय उसने उसे एक तावीज दिया और कह दिया कि यदि लड़के का जन्म हो तो उसके हाथ में वह तावीज बाँध दिया जाय । लड़के की उत्पत्ति होने पर उसका नाम सोहराब रखा गया किंतु शत्रुओं से बालक की रक्षा के विचार से तथा उसे अपने ही संरक्षण में रखे रहने की गरज से माता ने यह बात छिपा रखी और रुस्तम को यह खबर भेज दी गई कि लड़की पैदा हुई है । इससे रुस्तम को बड़ी निराशा हुई और वह घर न लौटकर अज्ञातवास में ही रहने लगा । निदान कई वर्ष बीतने पर सोहराब को भी युद्ध पर जाना पड़ा । संयोग से समरभूमि में रुस्तम से ही उसका मुकाबिला हुआ जिसमें पहचाने न जाने के कारण वह धोखे से पिता के ही हाथ से मारा गया । अंग्रेजी में मैथ्यू आरनल्ड नामक कवि ने 'सोहराब एंड रुस्तम' नामक खंडकाव्य में 'शाहनामा' के आधार पर इस घटना का बड़ा ही करुण और रोमांचकारी वर्णन किया है । रुस्तम का समय ईसा की नवीं शती माना जाता है ।

रुस्तम जी कामा दादाभाई के साथ खुरशेद जी रुस्तम जी कामा और मनशेर जी रुस्तम जी कामा इंग्लैंड गए और सबसे पहली व्यावसायिक कंपनी मेसर्स कामा ऐंड को० के नाम से स्थापित की । तीन मनुष्यों द्वारा किए हुए शासन की भाँति उन लोगों को मिलकर कार्य करना पड़ा । वे विषय जिनमें उन लोगों का मतवैभिन्य रहता था बंबई के प्रमुख कार्यालय को सूचित कर दिए जाते थे । मनशेर जी कामा चतुर, निपुण व व्यवहार कुशल व्यापारी थे । अन्य दोनों आदर्शवादी थे और सिद्धांत को लाभ से अधिक महत्व प्रदान करते थे । परिणामस्वरूप असफलता मिली और तीन व्यक्तियों का यह शासन समाप्त कर दिया गया । दादाभाई और खुरशेद जी कामा ने उस संस्था के साथ अपना संबंध विच्छिन्न कर लिया ।

इसके बाद खुरशेद जी ने पारसी धर्म, ईरान की प्राचीन भाषा और साहित्य तथा भाषाविज्ञान के अध्ययन में अपने को लगाया । फ्रांस और जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् जूल, मोहल, बरनाफ (Burnouf) तथा बाप्प (Bapp) आदि के संपर्क में आपने ईरानी विषयों का अध्ययन किया । भारत आकर आपने बंबई में पारसी पादरियों को शिक्षित करने के लिये कक्षाएँ खोलीं । पारसी धर्म पर शोधकार्य करने के लिये 'जरथुस्ती दीन जी खोल करनारी मंडली' नामक संस्था की स्थापना की । इस संस्था से शीघ्र ही शिक्षित धर्मप्रचारकों का एक समूह निकला जिसने अपने को लेखक और विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध किया । वह शोधसंस्था अभी तक जीवित है और अपने मूल्यवान् कार्यों के लिये प्रसिद्ध है ।

श्री कामा ने सामाजिक और धार्मिक सुधारों के लिये अपना संपूर्ण जीवन अर्पित किया । आप जरथुस्ती धर्म के एक पूजनीय प्राध्यापक के रूप में प्रसिद्ध रहे और प्रो० डार्मेस्टेटर द्वारा 'ले दस्तूर लायक' की उपाधि से विभूषित किए गए ।

श्री कामा बंबई रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी और ऐंथ्रोपोलॉजिकल सोसाइटी तथा अन्य अनेक संस्थाओं, स्कूलों एवं पुस्तकालयों के शक्तिस्तंभ थे । जनता के संमुख आपने अपने

नागरिकता के श्रेष्ठ आदर्शों को प्रस्तुत किया। १९०९ में जब आपकी मृत्यु हो गई बंबई की जनता ने बंबई में कामा ओरियंटल इंस्टीट्यूट की स्थापना करने के लिये चंदा एकत्रित किया जो प्राचीन अध्ययनों के लिये, प्रमुख रूप से अवेस्तन और पर्शियन की उन्नति के लिये, आपके स्मरणीय कार्यों का लेखा रखेगा। [इ० म०]

रूआँ (Rouen) स्थिति : ४९° २७' उ० अ० तथा १° ४' पू० दे०। पैरिस से ८७ मील उत्तर पश्चिम सेन नदी पर स्थित यह नगर सेनमेरीटाइम जिले की राजधानी है। अतीत में यह नॉर्मेंडी की राजधानी था। १४३१ ई० में इसी नगर में जोन ऑव आर्क को जलाया गया था। १३वीं-१६वीं शताब्दी में बने प्रसिद्ध कैथेड्रल के अतिरिक्त अन्य कई प्रसिद्ध भवन नगर में हैं। यह नगर शराब के व्यापार का केंद्र है। कताई, बुनाई, तेलशोधन एवं शराब निर्माण नगर के प्रमुख उद्योग हैं। यहाँ की जनसंख्या १,१६,५४० (१९५४) है। [अ० ना० मे०]

रूप गोस्वामी जी ये श्री सनातन गोस्वामी के छोटे भाई थे। इनका पूर्वनाम संतोष था पर श्री गौर ने रूप नाम दिया। ये भारद्वाज गोत्रीय यजुर्वेदी ब्राह्मण थे और इनका जन्म सं० १५२७ के लगभग हुआ था। इन्हें भी संस्कृत के साथ साथ फारसी अरबी की शिक्षा मिली थी। पितामह की मृत्यु पर जब सनातन मंत्रिपद पर नियत हुए तब कुछ वर्ष अनंतर रूप को भी एक उच्च पद दिला दिया और इन्हें साकर मल्लिक उपाधि मिली। कुछ दिन बाद अपने छोटे भाई अनुपम के साथ वृंदावन की ओर चल दिए। श्री गौरांग जब वृंदावन से लौटकर प्रयाग आए तब रूप वहीं उनसे मिले और उनके साथ ही कुछ दिन रहे। दस दिनों तक भक्ति-रस-तत्व पर उपदेश देकर श्री गौरांग ने इन्हें वृंदावन भेज दिया।

अनुपम की मृत्यु के बाद ये पुरी गए। यहीं अन्य विद्वानों से रसशास्त्र पर खूब विवेचना हुई तथा इन्होंने अपने नाटक भी लिखे। इसके अनंतर ये सं० १५७३ के लगभग वृंदावन चले आए और यहीं अंत तक रहे। यह अत्यंत प्रबंधकुशल थे अतः संप्रदाय के सभी कार्यों का संपादनभार इन्हीं पर था। इन्होंने गोमा टीले पर से श्री गोविंददेव जी का श्रीविग्रह निकलवा कर एक कुटी में प्रतिष्ठापित किया। आमेर नरेश राजा मानसिंह द्वारा निर्मित श्री गोविंददेव जी का विशाल मंदिर सं० १६४७ में पूर्ण हुआ। औरंगजेब की धर्मांधता के कारण यह विग्रह जयपुर ले जाया गया और वहीं वर्तमान है। इनकी साहित्यिक देन अपूर्व है। सं० १६१२ के लगभग बड़े भाई सनातन जी की मृत्यु के अनंतर इन्होंने भी शरीरत्याग कर दिया।

रचनाएँ — हंसदूत, उद्धव संदेश, अष्टादशलीला तथा निकुंज-रहस्य, चार काव्यग्रंथ; स्तवमाला, उत्कलिकावली, गोविंद विरुदावली, तथा प्रेमेंदुसागर, पाँच स्तोत्र ग्रंथ; विदग्ध माधव, ललित माधव तथा दानकेलि-कौमुदी तीन रूपक; नाटक-चंद्रिका नाट्यग्रंथ; भक्ति रसामृतसिंधु तथा उज्ज्वल नीलमणि, दो रस-ग्रंथ और मथुरा-महिमा, लघु भागवतामृत, गौरगणोद्देशदीपिका, पद्यावली आदि संकलनसंग्रह ग्रंथ हैं। [ब्र० र० दा०]

रूपमती मालवा के अंतिम स्वाधीन अफगान सुलतान बाजबहादुर की प्रेयसी। बाजबहादुर और रूपमती के प्रेम कथानक को लेकर १५९९ ई० में अहमद-उल्-उमरी ने फारसी में एक प्रेम-काव्य की रचना की थी और मुगल काल के अनेकानेक सुप्रसिद्ध चितेरों ने उसकी घटनाओं पर कई भावपूर्ण सुंदर चित्र बनाए थे।

परंतु इस इतिहासप्रसिद्ध प्रेमिका की जीवनी का कोई भी प्रामाणिक विवरण प्राप्य नहीं है। प्राप्य ऐतिहासिक आधारग्रंथों में तद्विषयक उल्लेख अस्पष्ट या परस्पर विरोधी हैं। रूपमती को कहीं सारंगपुर की ब्राह्मण कन्या अथवा कहीं वहीं की नर्तकी लिखा है। परंतु नर्मदा घाटी में प्रचलित आख्यानों के अनुसार रूपमती धरमपुरी या टांडापुर की राजपूत कन्या थी। बाजबहादुर और रूपमती का मकबरा अवश्य ही सारंगपुर (मालवा) में एक तालाब के बीच में बना हुआ है।

यह तो सर्वस्वीकृत है कि रूपमती अपार सुंदरी थी; उसकी स्वरलहरी बहुत मधुर थी और वह गायन-वादन-कला में भी पूर्ण निष्णात थी। बाजबहादुर स्वयं भी गायन-वादन कला का उस्ताद था। रूपमती के इन्हीं गुणों के कारण वह उसकी ओर आकर्षित हुआ था और तब उनमें परस्पर अगाध प्रेम हो गया। उस समय मालवा में संगीतविद्या बहुत ही बढ़ी चढ़ी थी; और अब तो बाजबहादुर और रूपमती दोनों ही उसकी उन्नति तथा साधना में ऐसे लीन हो गए कि जब अकबर के सेनानायक आदम खाँ के नेतृत्व में मुगल सेनाएँ मालवा पर चढ़ आईं और सारंगपुर के पास तक जा पहुँची तभी उन्हें उनका पता लगा। अंत में सन् १५६१ ई० में सारंगपुर के युद्ध में पराजित होकर बाजबहादुर को भागना पड़ा। तब रूपमती आदम खाँ की बंदिनी बनी। उसके रूप और संगीत से मुग्ध आदम खाँ ने जब रूपमती को अपनी प्रेयसी बनाना चाहा तब रूपमती ने विष खाकर बाजबहादुर के नाम पर जान दे दी और अपनी प्रेमकहानी को अमर कर दिया। रूपमती द्वारा रचित अनेक गीत और पद्य जनसाधारण में तब से प्रचलित हैं तथा अब तक मालवा के कई भागों में लोकगीतों के रूप में गाए जाते हैं। दे० 'बाजबहादुर'। [र० सिं०]

रूपसाहि ये बागमहल पन्ना (बुंदेलखंड) के रहनेवाले और जाति के गुनियार कायस्थ थे। इनके पिता का नाम कमलनैन तथा पितामह का शिवराम था। इनके आश्रयदाता थे छत्रसालवंशीय महाराज हिंदूपति सिंह (सं० १८१५–१८३४ वि०)। कवि ने इन्हीं के प्रीत्यर्थ अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'रूपविलास' की रचना की, जिसकी समाप्ति ४ सितंबर, सन् १७५६ ई० को हुई थी। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के याज्ञिक संग्रहालय में इसकी एक हस्तलिखित प्रति वर्तमान है। पूरे ग्रंथ में ९०० दोहे हैं और वह १४ 'बिलासों' में विभक्त है। यह रीतिग्रंथ काव्य के सर्वांग (विविधांग) पर विचार करता है—काव्यलक्षण, छंद (पिंगल), नौ रस, नायक नायिका, अलंकार और षड्ऋतु, आदि आदि। अलंकारों के वर्णन में कवि ने, 'भाषाभूषण' की परिपाटी को ग्रहण कर लक्षण और उदाहरण एक ही दोहे में दिए हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इन्होंने

अनेक काव्यवृत्तियों को विभिन्न रसों का समवाय माना है। इस प्रकार, कवि का कृतित्व जितना काव्यशास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से महत्व का है उतना कवित्व के विचार से नहीं।

सं० ग्रं० — मिश्रबंधु : मिश्रबंधु विनोद, भा० २; खोज विवरण, वार्षिक १९०५ ई०। शिवसिंह सेंगर : 'शिवसिंहसरोज'।

[रा० के० भि०]

रूबिडियम (Rubidium) आवर्त सारणी के प्रथम मुख्य समूह का चौथा तत्व है। इसमें धातुगुण वर्तमान हैं। इसके तीन स्थिर समस्थानिक प्राप्त हैं, जिनकी द्रव्यमान संख्याएँ क्रमशः ८५, ८६, ८७ हैं। इस तत्व की खोज बुंसन तथा किर्खहॉफ ने १८६० ई० में स्पेक्ट्रमदर्शी (spectroscope) द्वारा की थी। स्पेक्ट्रमदर्शी द्वारा प्रयोगों में दो नई लाल रेखाएँ मिलीं, जिनके कारण इसका नाम रूबिडियम रखा गया। लेपिडोलाइट अयस्क में रूबिडियम की मात्रा लगभग १ प्रति शत रहती है। इसके अतिरिक्त अभ्रक तथा कार्नेलाइट में भी यह न्यून मात्रा में मिलता है। पोटैशियम तथा रूबिडियम के प्लैटिनिक क्लोराइडों की विलेयता भिन्न भिन्न है, जिसके कारण इन दोनों को पृथक् किया जा सकता है।

रूबिडियम के यौगिकों को कैल्सियम अथवा विद्युत् द्वारा अपचयित कराकर धातु प्राप्त की जाती है। यह चमकदार धातु है। इसके गुण ये हैं : संकेत रू (Rb), परमाणुसंख्या ३७, परमाणुभार ८५.४७, गलनांक ३८.९ सें०, क्वथनांक ६८८ सें० तथा घनत्व १.५३ ग्राम प्रति घ० सेंमी०।

रूबिडियम का वायु में शीघ्र ऑक्सीकरण हो जाता है। यह जल का शीघ्रता से विघटन करता है। इसके लवण रंगहीन तथा जलविलेय हैं और इनके गुण प्रायः पोटैशियम लवणों से मिलते जुलते हैं।

[र० चं० क०]

रूबऐल खाली दक्षिणी अरब का मरुस्थलीय प्रदेश है, जिसका क्षेत्रफल लगभग २,५०,०० वर्ग मील है। इसका ८० प्रति शत से अधिक क्षेत्र बालू तथा बालुकास्तूपों से भरा हुआ है। यहाँ जल का नितांत अभाव है। जहाँ कहीं जल उपलब्ध है भी वहाँ का जल अपने खारेपन के कारण पीने के लिये अयोग्य है। इस मरुस्थल में स्थायी आबादी नगण्य है। घुमक्कड़ बद्दू ही एकमात्र यहाँ के निवासी हैं तथा २०वीं शताब्दी के प्रारंभ तक अन्य किसी ने यहाँ आने का दुस्साहस नहीं किया था। खनिज तेल की प्राप्ति की संभावनाओं ने इस क्षेत्र में अनेक भौमिकी परीक्षणों को प्रोत्साहन दिया है और आशा है कि परीक्षणों की सफलता रूबऐल खाली (रिक्त क्षेत्र) के नाम को निरर्थक सिद्ध कर देगी।

[ले० रा० सिं०]

रूबेंस, पीटर पाल (१५७७–१६४०) नीदरलैंड का विश्वविख्यात चित्रकार पीटर पाल रूबेंस संसार के उन महान् चित्रकारों में से एक है जिन्हें हाथ की उंगलियों पर गिना जा सकता है। आधुनिक समय के प्रसिद्ध कला आलोचक टॉमस कावेन ने कहा है कि रूबेंस की तुलना उसके अपने व्यवसाय के बाहर ही की जा सकती है और वह भी शेक्सपियर के अलावा और किसी से नहीं। शेक्सपियर का जो स्थान साहित्य में है रूबेंस का वही स्थान कला में है। पाश्चात्य कला आलोचक इन्हीं शब्दों में रूबेंस का जिक्र करते हैं।

रूबेंस की कला के बारे में अधिक मतभेद है उसके चित्रों में चित्रित स्थूलकाय नग्न स्त्रियों के कारण जिन्हें परियों और देवियों के रूप में भी चित्रित किया गया है। बहुतों को इन चित्रों की मादक नंगी नारियाँ बड़ी ही अप्रिय लगती हैं और वे सामाजिक परिष्कृत रुचि के विचार से उन्हें समाज के लिये उपयुक्त नहीं समझते।

रूबेंस का जन्म सन् १५७७ में एक सुसभ्य तथा सुसंस्कृत उच्च परिवार में, कलोन (Cologne) नामक नगर से पश्चिम में हुआ था। जिस समय वह उत्पन्न हुआ, राजनीतिक परिस्थिति बड़े उथल पुथल की थी; लोगों का जीवन अस्तव्यस्त तथा अरक्षित था पर बालक को माँ ने पूरे लाड़ प्यार और सावधानी से उसको पाला पोसा, पढ़ाया लिखाया। रूबेंस जर्मन, फ्लैमिश, लैटिन, और फ्रेंच आदि सात भाषाओं का जानकार था। तेरह वर्ष की उम्र होते होते उसकी कलात्मक प्रतिभा उभरने लगी। उसने तीन फ्लेमिश कलाकारों की शिष्यता ग्रहण की और तेईस वर्ष की उम्र होते होते वह उत्कृष्ट कलाकार के रूप में उभर पड़ा। वह देखने में हृष्ट पुष्ट, सुंदर राजकुमार सा था। इसी समय ड्यूक ऑव मांटुआ उससे इतना प्रभावित हुआ कि उसे राजकीय कलाकार बना दिया और राजदूत के रूप में अपने साथ स्पेन भी ले गया। नौ वर्ष तक अथक परिश्रम के बाद जब वह अनेक उत्कृष्ट चित्रों की रचना कर चुका था, वायसराय अलबर्ट तथा इसाबेला ने उसे अपना राजकीय कलाकार बना लिया। फ्रांस की सम्राज्ञी मेरी डि मदीसीस के लिये भी उसने बहुत से चित्र बनाए जिनसे फ्रेंच कलाकारों को बहुत प्रेरणा मिली। इसके पश्चात् वर्ष बीतते गए और सफलता की एक से एक ऊँची मंजिल वह चढ़ता चला गया।

काम करने की उसमें दैवी क्षमता थी। ऐंटवर्प में उसने अपने भव्य सुसज्जित भवन में वृहत् स्टूडियो बनाया और जमकर काम आरंभ किया। वहाँ से उसने तीन हजार कैनवस सारे यूरोप में वितरित किए और तब तक उसका स्टूडियो यूरोप का कलाकेंद्र बन चुका था। एक फ्लोरेंटाइन सेठ की लड़की के लिये उसने बहुत बड़े बड़े म्यूरल चित्र बनाए जो आज लूव्र की शोभा बढ़ा रहे हैं। अट्ठारह फलक तेरह तथा दस फुट के, तीन कैनवस चौबीस तथा बारह फुट के और अनेकों आठ फुट वाले व्यक्तिचित्र, यह सारा विशाल कार्य म्यूरल पेंटिंग के इतिहास में अपनी सानी नहीं रखता। यदि इसकी तुलना की जा सकती है तो कलाकार गिउटो के बनाए पडुआ के गिरजाघर तथा माइकेल ऐंजेलो के बनाए सिस्टाइन चैपेल के म्यूरल चित्रों से। इसके पश्चात् उसने इंगलैंड के सम्राट् चार्ल्स प्रथम के समय ह्वाइट हाल को अपने चित्रों से सुशोभित किया। स्पेन के सम्राट् के लिये उसने ११२ चित्र बनाए। बाद में जब वह बहुत थक गया तो उसने १२५,००० पौंड में अपने लिये शातु डे स्टीन नामक विशाल आवास खरीदा और उसे भी अपने उच्चतम चित्रों से सुशोभित किया। वहाँ उसने अपने जीवनकाल के कुछ विशाल तथा बड़े ही सशक्त व्यक्तिचित्र निर्मित किए जो अद्वितीय हैं। यही उसके आखिरी चित्र साबित हुए। तिरसठ वर्ष की आयु में वह अपने पीछे पड़े दुश्मन गठिया का शिकार हुआ और एकाएक उसके हृदय की धड़कन बंद हो गई।

रूस (देखें पृष्ठ १७१-१७२)
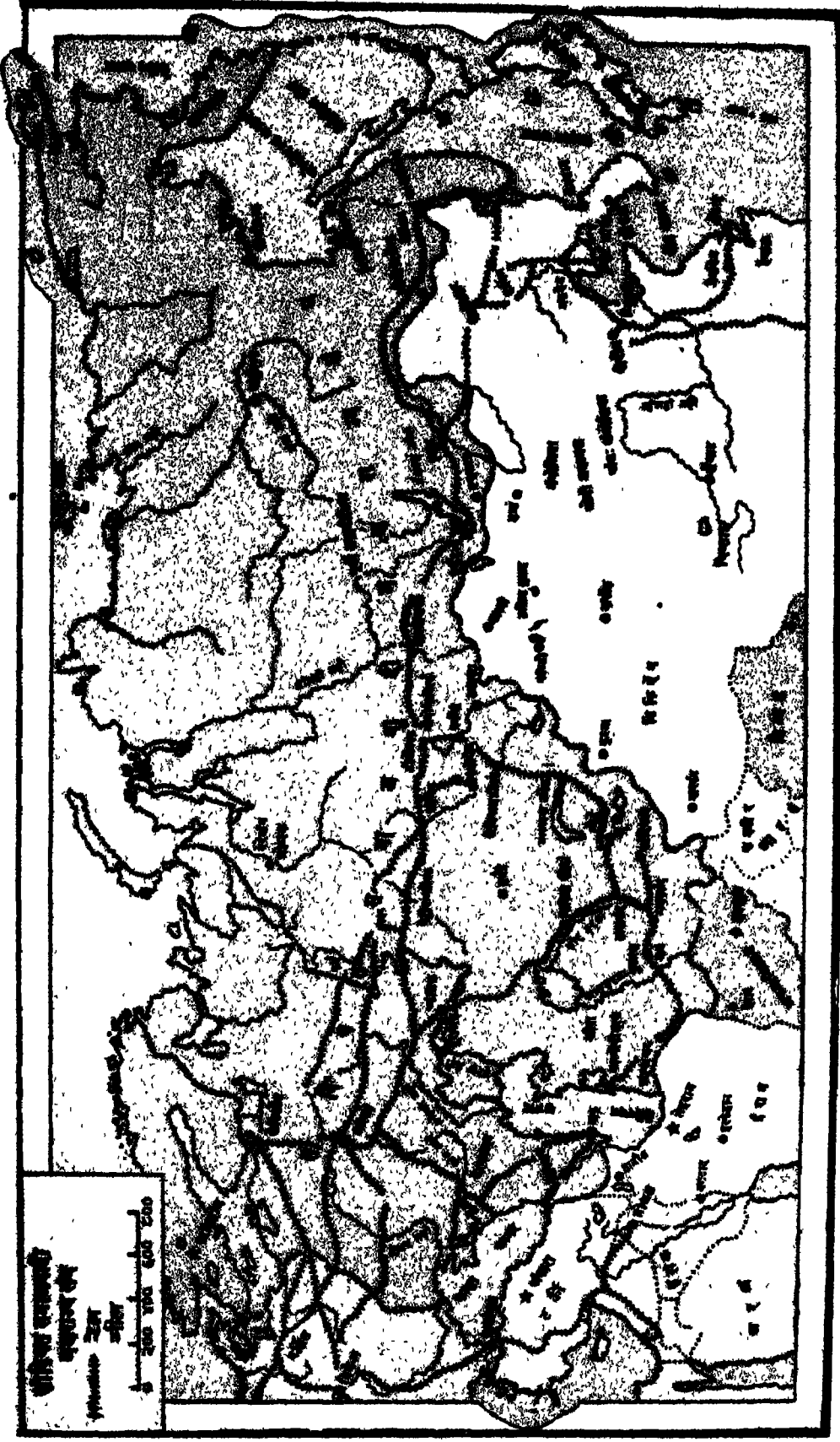
रूबेंस को लोग युगप्रवर्तक कलाकार के रूप में मानते हैं क्योंकि इटालियन कला, जो सारे यूरोप की कला पर सदियों से छाई हुई थी, रूबेंस के मैदान में आते ही तितर बितर हो गई। वैसे प्रारंभिक काल में रूबेंस पर भी इटालियन कला का प्रभाव पड़ा था, पर उसे उसने कभी उसी रूप में ग्रहण नहीं किया। उसको उसने अपने ढाँचे में ढाला और ऐसा ही उसका पहला विचित्र तथा सशक्त चित्र है सूली से क्राइस्ट का नीचे उतरना (डिसेंट फ्राम द क्रास)। यह चित्र अपनी गहरी संवेगात्मक अनुभूति, सशक्त अभिव्यक्ति, सुबद्ध चित्रसंयोजन तथा प्रभावशाली शैली के लिये विश्वविख्यात है। उसका दूसरा बहुचर्चित चित्र है जजमेंट ऑव पेरिस। यह चित्र प्राचीन कथा के आधार पर बना है पर इसमें उस दृष्टि से उतना आकर्षण नहीं जितना नंगी नारियों को खुले मैदान में लुभावने ढंग से चित्रित करने का। तीसरा प्रसिद्ध चित्र है 'फलों की माला' (गार्लैंड ऑव फ्रूट्स)। इसमें नन्हें मुन्ने स्वस्थ, हँसते खेलते बालकों को एक हरे भरे फल फूलोंवाले हार से खेलता दिखाया गया है। 'रेप आफ द सबाइंस', कलाकार के दो पुत्र, (द आर्टिस्ट्स टू संस), डायना की वापसी (रिटर्न आव डायना), रूबेंस का आत्मचित्र (सेल्फ पोर्ट्रेट), 'परस्यूज ऐंड आंद्रोमेदा', 'आजा कसांद्रा', 'द रेजिंग ऑव द क्रास' — इन सारे चित्रों को ध्यान से देखने के बाद इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि प्रतिभा, कौशल, प्रभावशालिता, सशक्त संवेगात्मक चित्रसंयोजन, रंगों के अद्भुत संयोजन, आकारों की लयात्मक अभिव्यक्ति, भावनाओं तथा कल्पना की उच्चतम पहुँच तथा चमत्कृत यथार्थचित्रण की दृष्टि से रूबेंस की कला क्रांतिकारी थी। परंतु उसके चित्रों से केवल एक ही बात उभरकर बार बार सामने आती है — वह यह कि उसने धरती पर धरती के प्राणियों को अपने अत्यंत पार्थिव रूप में रखते हुए भी एक अद्भुत आकर्षण उत्पन्न किया है। उसके बनाए चित्रों के पात्रों का शरीर इतना जीवंत हो उठा है कि लगता है, जैसे जीवित व्यक्ति की मांसपेशियाँ हों और उनमें ताजे गर्म खून की धमनियाँ दौड़ रही हों। कभी कभी तो भ्रम हो जाता है चित्र में वस्तु का। मांसपेशियाँ इतनी सजीव लगती हैं कि विश्वास नहीं होता कि वे चित्र में अंकित हैं। तबीयत होती है, उन्हें छूकर देखने की कि कहीं वे जिंदा तो नहीं। [रा० चं० शु०]

रूर क्षेत्र जर्मनी के पश्चिमी भाग में एक ऊँचे भूभाग पर राइन की सहायक रूर नदी की घाटी में पड़ता है। यहाँ यूरोप का सबसे बड़ा एवं विश्वविख्यात कोयला क्षेत्र है। जर्मनी का ८० % कोयला रूर क्षेत्र से निकाला जाता है। यहाँ से कोयले का निर्यात भी होता है। इसके समीप सीगन नामक स्थान पर कुछ लोहा भी मिलता है। यहाँ से राइन द्वारा कच्चा एवं तैयार माल बाहर भेजने की अच्छी सुविधा है। यह मध्य यूरोप तुल्य जलवायुवाले प्रदेश में पड़ता है। अतः इन कोयला क्षेत्रों के निकट विभिन्न उद्योग धंधों के, जिनमें लोहा इस्पात, सूती, ऊनी तथा रेशमी वस्त्र मुख्य हैं, स्थापित होने के कारण यह यूरोप का एक प्रधान औद्योगिक क्षेत्र बन गया है। यद्यपि स्थानीय लोहा अपर्याप्त है, तथापि बहुत सा लोहा फ्रांस और स्वीडेन से मँगाया जाता है। [रा० स० ख०]

रूस (सोवियत संघ) स्थिति : ३५° से ७७° ५२' उ० अ० तथा १६९° ३' प० दे० से २२° पू० दे०। यूरोप के पूर्वार्ध और उत्तरी तथा मध्य एशिया के विस्तीर्णांश में फैला हुआ यह विश्व का सबसे बड़ा राष्ट्र है। इसका नाम समाजवादी गणतंत्रों के सोवियत का संघ, अर्थात् यूनियन ऑव सोवियत सोशैलिस्ट रिपब्लिक्स है। विस्तार में यह भारत से सात गुना बड़ा है। इसका पूर्व से पश्चिम तक विस्तार ६,००० मील है, जो पृथ्वी की परिधि का प्रायः चतुर्थांश है तथा दक्षिण से उत्तर तक इसका विस्तार ३,७०० मील है। इसके पश्चिम में नॉर्वे, फिनलैंड, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी एवं रोमानिया, दक्षिण में टर्की, ईरान, अफगानिस्तान, चीन एवं मंगोलिया, पूर्व में बेरिंग जलडमरूमध्य और उत्तर में आर्कटिक महासागर है। रूस का क्षेत्रफल ८६,४९,८२१ वर्ग मील, अर्थात् पृथ्वी के स्थलभाग का सप्तमांश है।

रूस एक स्वतंत्र राष्ट्र है और यहाँ जनवादी गणतांत्रिक शासनव्यवस्था है। यह संयुक्त राष्ट्रसंघ का स्थायी सदस्य है। इसकी राजधानी मॉस्को एवं राष्ट्रभाषा रूसी है। इसका राष्ट्रध्वज लाल रंग का है, जिसमें हँसुए और हथौड़े का चिह्न रहता है और जो श्रमिकों एवं किसानों की शक्ति का द्योतक है। यह संघ १५ गणतंत्रों को मिलाकर बना है।

प्राकृतिक बनावट — प्राकृतिक बनावट की महत्वपूर्ण आकृति विस्तृत रूसी मैदान है, जो यूरोप से प्रारंभ होकर येनिसी नदी तक फैला है। इसमें उफा पठार और वॉल्गा आदि उच्च भूमियों को छोड़कर शायद ही कुछ भाग १,००० फुट से ऊँचे हों। अल्टाई से बाइकाल झील तक विस्तृत कैलेडोनियन पर्वतों की ऊँचाई १,००० फुट से अधिक नहीं है। यूरोपीय रूस तथा एशियाई रूस के मध्य, उत्तर से दक्षिण यूरेल पर्वत फैला हुआ है। मध्य एशिया में कैस्पिएन से सिंजियांग तक विस्तृत ऐल्पाइन पर्वत की चोटियाँ काफी ऊँची हैं। कॉकेशस में माउंट एल्बुर्ज १८,४७० फुट ऊँची चोटी है।

जलप्रवाह — रूस का आधा जलप्रवाह ऐसे सागर में है जो अधिकतर जमा रहता है। चतुर्थांश जल कैस्पिएन एवं अराल जैसे घिरे समुद्रों में तथा शेष चतुर्थांश ऐटलैंटिक, या प्रशांत महासागर में गिरता है। यहाँ की नदियों में उत्तरी द्विना, ओबि, येनिसी, लीना, डोन, नीपर, बुग, नीस्टर, वॉल्गा, यूरैल, पश्चिमी द्विना तथा आमुर आदि हैं। नदियाँ लंबी और उनकी प्रवाह तलहटियाँ विस्तृत हैं। ये नदियाँ शीत काल में जम जाती हैं और ग्रीष्म काल में ऊपरी भागों में बर्फ पिघलने से इनमें बाढ़ आ जाती है।

जलवायु — रूस में महाद्वीपीय जलवायु पाई जाती है। शीतकाल में संपूर्ण रूस का ताप हिमांक से नीचे रहता है। शीतकाल दक्षिण-पश्चिम में एक मास तथा पूर्वोत्तर में आठ मास का होता है। पूर्वी साइबीरिया और मंगोलिया के उच्च दाब क्षेत्र से पश्चिम की ओर फैलनेवाली ठंडी हवाएँ मध्य एशिया, यूरोप तथा कॉकेशस की ओर जाती हैं। ऐटलैंटिक सागरीय निम्न दाब का प्रभाव यूरेल के पूर्व में नहीं पहुँच पाता। पूर्वी एशिया में हवाओं के स्थल से चलने के कारण प्रशांत महासागर प्रभावहीन होता है। ग्रीष्म ऋतु में दक्षिण में ताप २७° सें० तथा पूर्व में ९° सें० तक रहता है। वर्षा कम होती है।

काला सागर के तट पर १०० इंच तक, यूरोपीय रूस के मध्य और पश्चिमांश में २४ इंच, पूर्वोत्तर साइबीरिया में ४ से ८ इंच, दक्षिणी गरम मरुभूमियों में ४ इंच तथा प्रशांत महासागरीय तट पर ४० इंच तक वर्षा होती है। काला सागर तट पर वर्षा अधिकतर बर्फ के रूप में होती है।

मिट्टी—टुंड्रा मे दलदली और स्पंजी मिट्टी और इसके दक्षिणस्थ वन प्रदेश में अधिक वर्षा के फलस्वरूप अनुर्वर मिट्टी पाई जाती है। मिश्रित वन क्षेत्र में राख के रंग की उर्वर मिट्टी और इसके दक्षिणस्थ, वनहीन मैदान में काले तथा गाढ़े भूरे रंग की मिट्टी मिलती है। यूक्रेन में चेरनोज़म नामक अत्यंत उपजाऊ मिट्टी मिलती है। मध्य एशियाई मरुभूमि तथा अर्धमरुभूमि में रेतीली, कॉकेशस तथा काला सागर के तट पर आर्द्र और उप-अयनीय क्षेत्र में उर्वर पीली एवं लाल मिट्टियाँ मिलती हैं।

वनस्पति—टुंड्रा प्रदेश की मुख्य वनस्पति काई और सेवार है। कोणधारी वनों की रूस में प्रधानता है और इनमें फर, लार्च, चीड़ तथा स्प्रूस मुख्य वृक्ष हैं। पूर्वी यूरोपीय मैदानों में मिश्रित कोणधारी पतझड़ वन हैं। साधारणतः पतझड़ वृक्षों में बीच, लिंडेन, एल्म, मेपल तथा ओक मुख्य हैं। घास के मैदान में लंबी लंबी घासें उगती हैं। मरुभूमि क्षेत्र वनस्पतिहीन है।

जीवजंतु — टुंड्रा प्रदेश में रेंडियर, आर्कटिक लोमड़ी, खरगोश, लेमिंग आदि मिलते हैं। वन प्रदेशों में भूरे भालू, हरिण, रेंडियर, चूहे आदि मिलते हैं। उपअयनीय क्षेत्रों में मृग, भालू, हरिण, तेंदुआ, चीता, बाघ आदि मिलते हैं।

कृषि — रूस के अर्धांश में वन फैले हैं। पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि में आधुनिक ढंगों तथा उन्नत मशीनों का व्यवहार तथा नए क्षेत्रों में कृषि का विस्तार हो रहा है। क्षेत्रफल में विशाल देश होते हुए भी कृषि योग्य भूमि की कमी है। कुल क्षेत्रफल का लगभग आधा भाग तो अति शीत के कारण कृषि के अयोग्य है। उत्पादन समय भी अति छोटा है। मध्य सोवियत संघ का हजारों वर्ग मील क्षेत्र अवर्षण के कारण कृषि के अयोग्य रहता है। बेलोरसिया जैसे भाग अतिवर्षण एवं दलदलों के कारण कृषि के अनुपयुक्त हैं। देश का केवल ६,००,००० वर्ग मील (देश का ७ प्रति शत) से भी कम भूभाग कृषि योग्य है। सिंचाई की सुविधावाले क्षेत्रों में कपास के साथ साथ धान, चुकंदर, ऐल्फाल्फा, तंबाकू, फल तथा सब्जियाँ उगाई जाती हैं। अन्य मुख्य फसलें हैं बसंत में होनेवाला गेहूँ, शीत ऋतु में होनेवाला गेहूँ, राई, जई, जौ, मक्का, सन, पटुआ एवं सूर्यमुखी। गेहूँ एवं अन्य खाद्यान्न मुख्यतया कज़ाकस्तान, पश्चिमी साइबीरिया, यूक्रेन एवं वॉल्गा क्षेत्र में, उत्तरी कॉकेशस में चुकंदर, यूक्रेन एवं आर० एस० एफ० एस० आर० के मध्यवर्तीय काली मिट्टी के क्षेत्र में कपास, उज़बेकिस्तान के सिंचित क्षेत्र में तथा उत्तर-पश्चिमी रूस में सन एवं आलू उगाया जाता है। रूस में कृषि की दो प्रणालियाँ हैं : (१) प्राय: १८,००० संमिलित फार्मों पर कुछ कृषक व्यक्तिगत खेती करते हैं। द्वितीय, कृषि क्षेत्र के पंचमांश पर राजकीय फार्म हैं, जिनमे सरकारी देखरेख में कृषक कार्य करते हैं।

खनिज एवं शक्ति के साधन — रूस के पास शक्ति के स्रोत एवं खनिजों की अधिकता तथा विभिन्नता दोनों है। यह इस दृष्टि से पूर्ण आत्मनिर्भर है। इसकी अन्वेषणा के अनुसार इसके कच्चा लोहा, मैंगनीज, ताँबा, जस्ता, सीसा, निकल, बॉक्साइट, टंग्स्टन, पारा, अभ्रक, पोटैश, नमक तथा कोयला के संचित भंडार विश्व में सबसे बड़े हैं। पेट्रोलियम, प्राकृतिक गैस, फॉस्फेट्स, टिटेनियम, मोलिब्डेनम, यूरेनियम तथा गंधक के भी विशाल भंडार हैं। कोयला, डोनेत्स क्षेत्र (यूक्रेन) में सबसे अधिक मिलता है। पेट्रोलियम कॉकेशस क्षेत्र वॉल्गा-यूरेल के मध्य, कज़ाकस्तान और मध्य एशिया में मिलता है। संसार की ३६ % जलविद्युत् शक्ति रूस में प्राप्त की जाती है।

उद्योग — पिछले ४४ वर्षों से रूस ने उद्योगों में काफी उन्नति कर ली है। १९१८ से १९६१ ई० तक मशीन एवं धातुनिर्माण उद्योग में २०० गुनी, रसायनक एवं रबर ऐस्बेस्टॉस में १५० गुनी तथा विद्युत् उपयोग में १६१ गुनी वृद्धि हुई है। देश के ¼ उद्योग मॉस्को में केंद्रित हैं। मॉस्को में मोटरगाड़ियाँ, विद्युत् सामान, विशेष इस्पात, मशीनों के औजार, रसायनक, संसाधित खाद्य सामग्री, छपाई तथा कपड़े संबंधी उद्योग हैं। इसके अतिरिक्त लेनिनग्राड में देश के ½ उद्योग केंद्रित हैं। यूक्रेन प्रमुख औद्योगिक गणतंत्र है। क्रिवाइरोग, स्टालिनो, माकेयेवका, लुगानस्क, नेप्रोपेट्रोफस्क तथा खारकोव प्रमुख औद्योगिक केंद्र हैं।

यातायात—साधनों के असमान वितरण के कारण रूसी आर्थिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग यातायात के साधन हैं। रूस में रेलों की लंबाई ७५,००० मील है। यहाँ सभी प्रकार की कच्ची-पक्की सड़कों की लंबाई १,३०,००० मील है। रूस का समुद्री किनारा २७,६०० मील लंबा है किंतु अधिकांश जाड़ों में जम जाता है; अतः बर्फभंजकों की सहायता से कुछ ही बंदरगाहों का उपयोग किया जाता है। अंतर्देशीय जलमार्ग में भी इसका प्रमुख स्थान है। श्वेत सागर (१४० मील), वॉल्गा-मॉस्को (८० मील), वॉल्गा-मॉस्को (६० मील) तथा अन्य नहरों द्वारा श्वेत, बॉल्टिक, काला तथा कैस्पियन सागरों को जोड़ दिया गया है। वायुमार्ग भी उन्नत हैं।

धर्म — यत्र तत्र इस्लामी स्कूल हैं, किंतु स्कूलों में धार्मिक शिक्षा देने की मनाही है। पूजा, प्रार्थना की सीमित अनुमति है, किंतु मौलवियों और पादरियों को राजनीतिक अधिकार नहीं हैं। रूस मे कट्टर रूसी के अतिरिक्त मुसलमान, रोमन कैथोलिक, यहूदी, बौद्ध तथा लूथरन धर्मावलंबी रहते हैं। यहाँ धर्म की स्वतंत्रता है। कोई भी किसी धर्म की परंपराओं को अपना सकता है एवं धर्मविरोधी प्रचार भी कर सकता है। अधिकांश रूसी नास्तिक हैं तथा क्रांति के बाद २।३ धार्मिक स्थानों को या तो बंद कर दिया गया, या अन्य काम में उनका उपयोग होने लगा।

जनसंख्या — यहाँ की जनसंख्या २२,३०,००,००० (१९६३) है। देश के आकार के सामने यह अति अल्प है। उत्तर में टुंड्रा, टैगा, पश्चिम-मध्य में प्रिपेट दलदल एवं दक्षिण-पूर्व में शुष्क स्टेप तथा मरुभूमि आवास के अयोग्य हैं। मध्य यूरोपीय रूस, युक्रेन, दक्षिणी युरेल आदि घने बसे भाग हैं। मॉस्को (राजधानी), लेनिनग्रेड, कीएव, गोर्की आदि प्रमुख नगर हैं। प्रत्येक परिवार का एक घर

रूस (देखें पृष्ठ १७१-१७३)
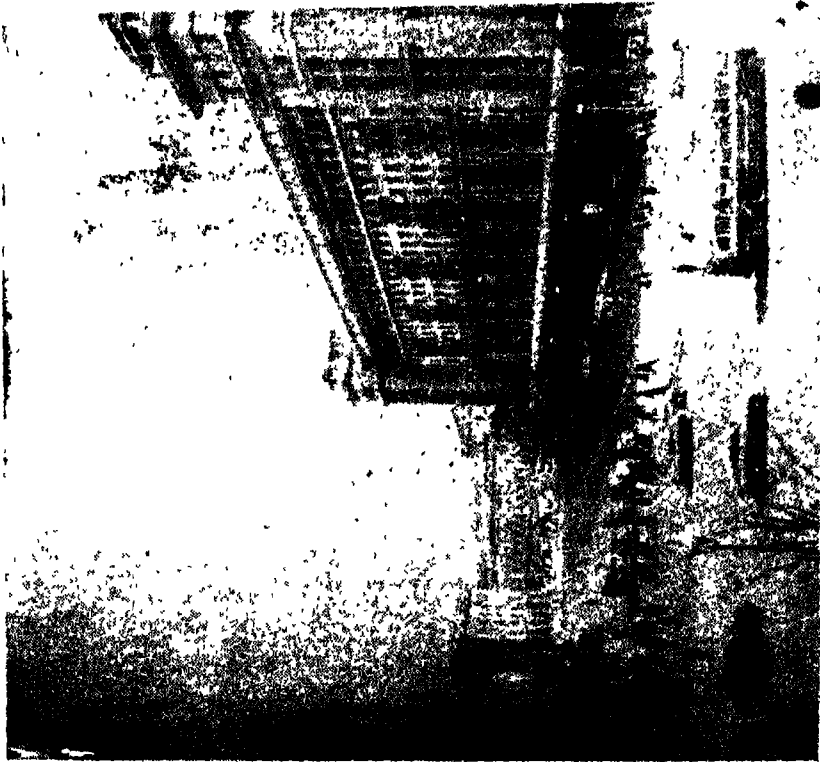
मॉस्को होटल का चौरास्ता
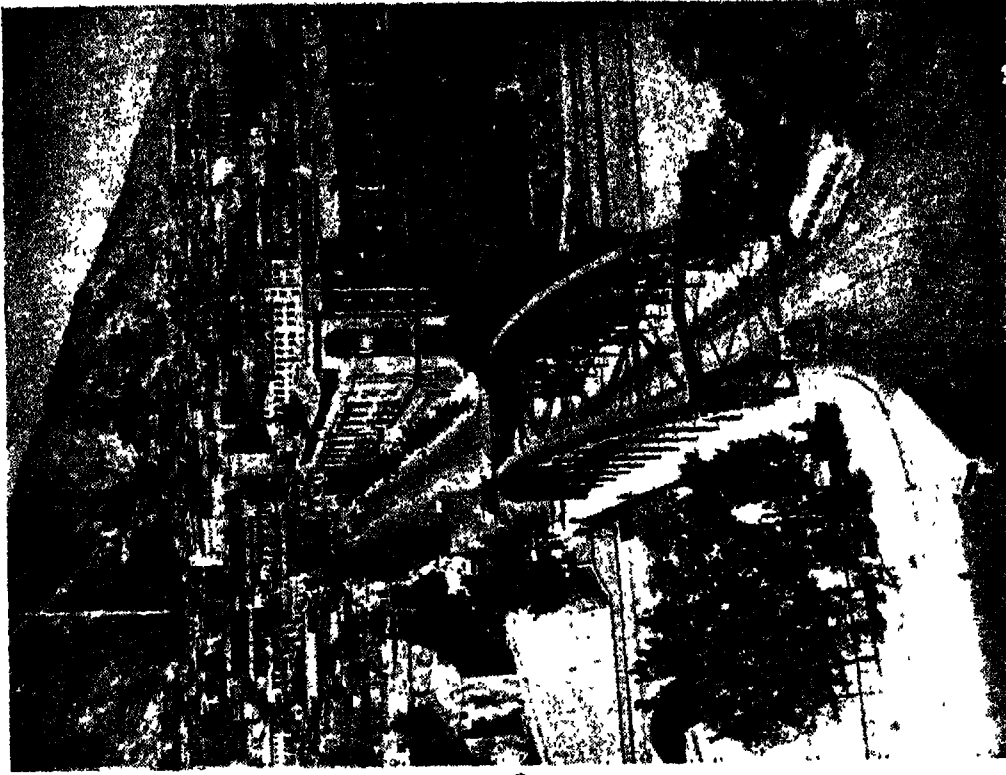
जॉर्जिया का एक नगर
टिबलिसी (Tbilisi) नगर की सड़क और पुल ।

रूस (देखें पृष्ठ १७१-१७३)
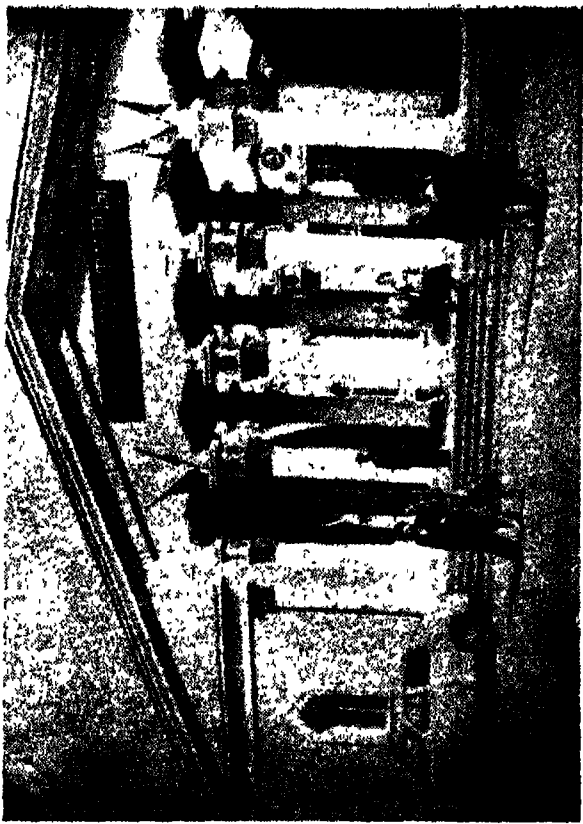
लेनिन सामूहिक फार्म का व्यवस्था भवन

ऐक्सा पेहा के सामूहिक फार्म का सांस्कृतिक भवन

कालमिन ग्राम में पुस्तक की दूकान

फार्म के युवा कार्यकर्ताओं में [illegible]
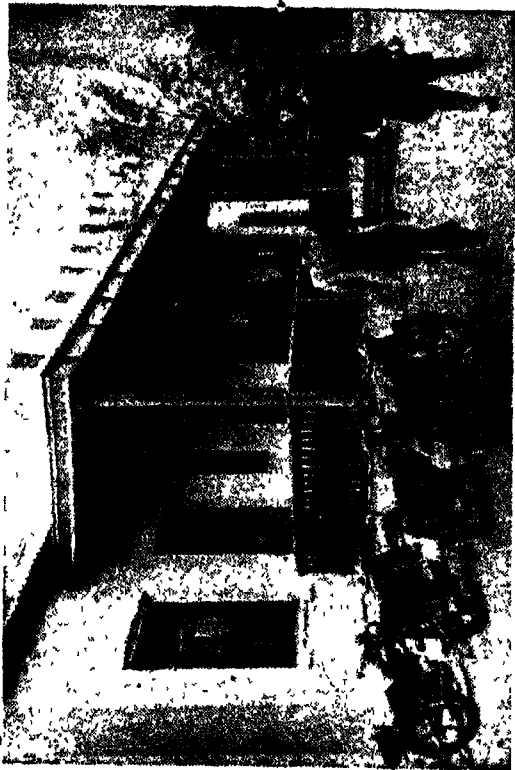
होता है तथा घर के पीछे एक व्यक्तिगत भूमि का टुकड़ा, जिसपर वह अपने निजी उपयोग के लिये सब्जियाँ या अन्य कुछ भी उगा सकता है। मांस तथा वोदका शराब रूसियों को प्रिय है। रूसी प्रमुख भाषा है, इसके अतिरिक्त लगभग १०० अन्य भाषाएँ एवं उपभाषाएँ बोली जाती हैं। सभी सोवियत संघ के राष्ट्र रूसी के साथ साथ अपनी अपनी भाषाएँ भी बोलते हैं। रूसी अच्छी प्रकृति के और हँसमुख होते हैं। [रा० गौण०]

रूसो (१७१२–७८) की गणना पश्चिम के युगप्रवर्तक विचारकों में है। किंतु अंतर्विरोध तथा विरोधाभासों से पूर्ण होने के कारण उसके दर्शन का स्वरूप विवादास्पद रहा है। अपने युग की उपज होते हुए भी उसने तत्कालीन मान्यताओं का विरोध किया, बुद्धिवाद के युग में उसने बुद्धि की निंदा की (विश्वकोश के प्रणेताओं (Encyclopaedists) से उसका विरोध इस बात पर था) और सहज मानवीय भावनाओं को अत्यधिक महत्व दिया। सामाजिक प्रसंविदा (सोशल कंट्रैक्ट) की शब्दावली का अवलंबन करते हुए भी उसने इस सिद्धांत की अंतरात्मा में सर्वथा नवीन अर्थ का सन्निवेश किया। सामाजिक बंधन तथा राजनीतिक दासता की कटु आलोचना करते हुए भी उसने राज्य को नैतिकता के लिये अनिवार्य बताया। आर्थिक असमानता और व्यक्तिगत संपत्ति को अवांछनीय मानते हुए भी रूसो साम्यवादी नहीं था। घोर व्यक्तिवाद से प्रारंभ होकर उसके दर्शन की परिणति समष्टिवाद में होती है। स्वतंत्रता और जनतंत्र का पुजारी होते हुए भी वह राबेसपीयर जैसे निरंकुशतावादियों का आदर्श बन जाता है।

किसी भी विचारक का दर्शन उसके जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। किंतु रूसो को समझने के लिये उसकी चारित्रिक विशेषताएँ तथा दुर्बलताएँ विशेष रूप से ज्ञातव्य हैं। अपने व्यक्तिगत दोषों के लिये समाज को उत्तरदायी ठहराकर रूसो ने न केवल अपने को निरपराध बल्कि मनुष्यमात्र को निसर्गतः नेक और विशुद्धात्मा बताया। पेरिस की भौतिकवादी सभ्यता के कृत्रिम वातावरण को अपने स्वभाव के प्रतिकूल पाकर उसने प्राकृतिक अवस्था के सरल जीवन की कल्पना की। शिक्षित और सभ्य समाज के साथ अपने व्यक्तित्व का सामंजस्य वह कभी नहीं स्थापित कर पाया। उसके जीवन के अंतिम वर्ष दैहिक संताप, मानसिक विषाद, काल्पनिक भय, विक्षोभ तथा उन्माद के आवेग से पूर्ण थे। बाल्यावस्था से ही वह चरित्रहीन था। किंतु वासनाओं का दास होते हुए भी उसमें उदात्त भावनाओं का अभाव नहीं था। उसकी कृतियाँ उसकी सहज अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हैं। इसीलिये वे इतनी मर्मस्पर्शिनी तथा प्रभावोत्पादक हैं। उसकी मुख्य रचनाएँ ये हैं—

१. डिस्कोर्स ऑन दि ऑरिजिन ऑव इनईक्वैलिटी; २. इकॉनॉमी पालिटिक; ३. दि सोशल कंट्रैक्ट ४. ईमिली।

आधुनिक सभ्यता के दोषों का वर्णन करते हुए रूसो अपने समय के अन्य विचारकों की भाँति प्राकृतिक और रूढ़िगत का अंतर प्रस्तुत करता है। किंतु प्राकृतिक अवस्था की कल्पना उसके राज्य संबंधी विचारों की पुष्टि के लिये अनावश्यक सी है। रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में जीवन सरल था। बुद्धि तथा भाषा का विकास नहीं हुआ था। मनुष्य अपनी सहज प्रवृत्तियों के अनुसार आचरण करता था। वह नैतिकता अनैतिकता से परे था। उसे न हम सुखी कह सकते हैं, न दुःखी। यह अवस्था रूसो का आदर्श नहीं है। वह बुद्धि तथा भावना का सामंजस्य चाहता है जो प्राकृतिक अवस्था के विकास की दूसरी मंजिल है। यह प्रारंभिक जीवन की सरल निष्क्रियता तथा वैज्ञानिक सभ्यता की विघातक जटिलता के बीच की स्थिति है। भाषा का विकास, सामाजिक सहयोग, शांति और सौहार्द्र, इसकी विशेषताएँ हैं। धीरे धीरे बुद्धि भावनाओं को पराभूत कर लेती है और श्रद्धा, विश्वास, प्रेम तथा दया का स्थान अविश्वास, वैमनस्य, स्वार्थ ले लेते हैं। व्यक्तिगत संपत्ति का आविर्भाव होता है और मनुष्य दासता की शृंखला में जकड़ जाता है। आर्थिक शोषण तथा सामाजिक अत्याचार के कारण उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। इस वर्णन में फ्रांस की राज्यक्रांति के पूर्व की अवस्था प्रतिबिंबित है। इसी स्थिति से मुक्ति पाने के लिये सामाजिक प्रसंविदा की आवश्यकता होती है।

रूसो की प्रारंभिक कृतियों तथा सामाजिक प्रसंविदा के कुछ अंशों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि लेखक समाज व्यवस्था का विरोधी है और व्यक्ति की निरपेक्ष स्वतंत्रता में विश्वास करता है। किंतु रूसो स्वयं आलोचकों द्वारा वर्णित 'समानता की उत्पत्ति' के घोर व्यक्तिवाद और 'सामाजिक प्रसंविदा' के घोर समष्टिवाद के परस्पर विरोध को नहीं मानता। अपनी प्रारंभिक कृतियों में उसका उद्देश्य प्रचलित मान्यताओं का खंडन मात्र था। किंतु सामाजिक प्रसंविदा में वह अपना स्वतंत्र दर्शन प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में ही उसके मानवोचित गुणों का विकास हो सकता है। किंतु वर्तमान समाज उसे अनावश्यक तथा अनिष्टकारी बंधनों से जकड़ देता है। प्रसंविदा का उद्देश्य ऐसे समाज की स्थापना करना है जो अपनी संपूर्ण सामूहिक शक्ति के द्वारा प्रत्येक सदस्य की स्वतंत्रता और संपत्ति की रक्षा कर सके और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समष्टि में सम्मिलित होकर भी अपनी ही आज्ञा का पालन करे और पूर्ववत् स्वतंत्र बना रहे। इसके लिये प्रत्येक व्यक्ति अपनी संपूर्ण शक्तियों को सामान्य संकल्प के सर्वोच्च निर्देशन में समाज को सौंप देता है और फिर समष्टि के अविभाज्य अंश के रूप में उन सभी अधिकारों को प्राप्त कर लेता है। प्रसंविदा के परिणामस्वरूप जिस राज्य की उत्पत्ति होती है वह एक नैतिक अवयवी है जिसका अपना स्वतंत्र संकल्प होता है। यह सामान्य संकल्प जो सदैव समष्टि और व्यष्टि दोनों की रक्षा और कल्याण में प्रवृत्त रहता है, समाज में विधान का स्रोत तथा न्याय का मानदंड है। स्पष्ट है कि ऐसा समाज प्रसंविदा का परिणाम कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि प्रसंविदा की पूर्ण मान्यता व्यक्ति की नैतिक तथा तार्किक प्राथमिकता है, न कि समाज की।

रूसो सामान्य संकल्प (जनरल विल) और सबके संकल्प (विल ऑव ऑल) में अंतर बताता है। सबका संकल्प विशेष संकल्पों (पर्टिकुलर विल्स) का योग मात्र है जो व्यक्तिगत हितों के ही स्तर पर रह जाता है। सामान्य संकल्प सदैव स्वार्थरहित तथा सामान्य हित के लिये होता है। कभी कभी रूसो बहुमत को ही सामान्य संकल्प कह देता है। वह यह भी कहता है कि परस्पर

विरोधी विचारों के टकराने से जो अवशेष रहता है वही सामान्य संकल्प है। किंतु ये बातें उसकी मूल धारणा के विरुद्ध हैं।

सामाजिक प्रसंविदा का सिद्धांत स्वतंत्रता का विरोधाभास उत्पन्न करता है। रूसो के अनुसार सामान्य संकल्प स्थायी अविभाज्य तथा अदेय है। वह नित्य सत्य है। व्यक्ति का हित उसी में संनिहित है। चूँकि मनुष्य को अपने हित के विरुद्ध कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं हो सकती, इसलिये जो व्यक्ति सामान्य संकल्प का विरोध करता है वह वास्तव में आत्मद्रोही है। सामान्य संकल्प का मूर्तरूप होने के नाते राज्य उसे सच्चे अर्थ में 'स्वतंत्र' होने के लिये बाध्य कर सकता है। दंड भी स्वतंत्रता का ही रूप है। इस प्रकार यह सिद्धांत स्वतंत्रता के नाम पर अधिनायकवाद का पोषक बन जाता है। रूसो स्वयं अधिनायकवाद का समर्थक है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वह कहता है कि संप्रभु समाज की मान्य प्रथाओं का उल्लंघन नहीं कर सकता। सामाजिक हित के लिये व्यक्तिगत स्वतंत्रता आवश्यक है।

राज्य के लिये रूसो विधायकों (लेजिस्लेटर्स) को आवश्यक बताता है। उसकी आवश्यकता इसलिये पड़ती है कि यद्यपि जनता सर्वदा लोककल्याण चाहती है तथापि उसको समझने में वह सदैव समर्थ नहीं होती। विधायक या व्यवस्थापक उचित परामर्श देकर उसका पथप्रदर्शन करता है।

रूसो संसदीय प्रतिनिधित्व को सामान्य संकल्प के प्रतिकूल बताता है। वह प्रत्यक्ष जनतंत्र के पक्ष में है जो केवल उसकी जन्मभूमि जिनीवा जैसे छोटे राज्य में ही संभव है। राष्ट्रसंघ की संभावना मानते हुए भी रूसो राष्ट्रराज्य को ही विशेष महत्व देता है। जब तक सत्ता जनता के हाथ में है, सरकार का स्वरूप गौण है। सरकार केवल जनता के हित का साधन है। अतः उसे किसी भी समय बदला जा सकता है। गायर्के (Gierke) ने इसे 'नित्य-क्रांति, (permanent revolution) का सिद्धांत कहा है। रूसो सरकार के दो अंगों की चर्चा करता है : व्यवस्थापिका तथा कार्यकारिणी। व्यवस्थापिका को वह श्रेष्ठ बताता है, क्योंकि सामान्य संकल्प उसी के द्वारा व्यक्त होता है। राजनीतिक दल सामान्य संकल्प की अभिव्यक्ति में बाधक होते हैं। अतः रूसो उनके विरुद्ध है। एक सीमित अर्थ में धर्म को वह राज्य के लिये उपयोगी बताता है। समाज की सुव्यवस्था के लिये राज्य को धर्म के कुछ सिद्धांतों को निर्दिष्ट कर देना चाहिए और जनता को उन्हें मानने के लिये बाध्य करना चाहिए।

बुद्धिवादी व्यक्तिवाद एवं प्राकृतिक विधान रूसो में कहाँ तक विद्यमान है, यह मतभेद का विषय है। किंतु इसमें संदेह नहीं कि उसने इन सिद्धांतों का अतिक्रमण किया और आधुनिक राजदर्शन में यूनानी दृष्टिकोण को पुनः प्रतिष्ठित किया जिसके अनुसार राज्य की सामूहिक चेतना ही व्यक्ति की नैतिकता और स्वतंत्रता का स्रोत है। जैसा अरस्तू ने कहा था, राज्य के बाहर रहनेवाला व्यक्ति या तो पशु है या देव। इसीलिये रूसो को प्रसंविदावादी विचारकों में अंतिम न कहकर आधुनिक प्रत्ययवादियों में प्रथम कहा जाता है। कांट ने उसे आचारशास्त्र का न्यूटन कहा है। हीगेल तथा उसके आंग्ल अनुयायियों (ग्रीन, बोसांके आदि) पर उसका प्रभाव स्पष्ट है। आधुनिक जनतंत्र तथा राष्ट्रवाद को उससे विशेष प्रेरणा मिली है। [र० सि०]

रूसो पियर इतीने थियोडोर (१८१२-१८६७) बार्बिजन शैली के फ्रेंच चित्रकार का जन्म पेरिस में एक दर्जी के परिवार में हुआ। दृश्य चितेरा चार्ल्स रिमांड और गुइलालेथिएर के मार्गदर्शन में उसने सोलह वर्ष की उम्र में ही कलाशिक्षा पूरी कर ली। फ्रांस में जगह जगह के प्राकृतिक दृश्यों को चित्रित करने के अध्ययन से उसने परिश्रमपूर्वक अपनी शैली का निर्माण किया। सन् १८३० में उसने मौलिक चित्रशैली के कलाकारों के कष्टों में हिस्सा बँटाया। रूढ़िवादी चित्रकारों ने पेरिस कलाप्रदर्शनी में इसके भाग लेने का विरोध किया। सन् १८३१ और १८३४ में उसकी साधारण कृतियों को प्रदर्शनी में रखा गया था लेकिन सन् १८३६ में 'ला देस्कैते दे वाचे' नामक महान् कलाकृति प्रदर्शनी के लिये अस्वीकृत कर दी गई। इस अपमान के कारण उसने प्रदर्शनी में सन् १८४८ तक भाग लेना अस्वीकार कर दिया। अपने ही देश में कलाक्षेत्र से बाहर रहकर रूसो ने जो कलानिर्मिति की वह बहुत ऊँची साबित हुई। 'दि चेस्टनट एवेन्यू', 'दि मार्श इन दि लैंड्स, 'होर फ्रास्ट' आदि इन दिनों की कृतियाँ हैं। सन् १८५१ की प्रदर्शनी में उसका सर्वोत्तम चित्र दि ऍज ऑव दि फॉरेस्ट (जंगल की सीमा) प्रदर्शित हुआ। इसी शीर्षक के समान दूसरा एक चित्र वेलेस कलेक्शन में रखा है। रूसो अबतक बार्बिजान में कभी कभी आकर रहता था। लेकिन अब उसने जंगल के इसी गाँव में अपना निवासस्थान बनाया। सन् १८५५ में रूसो के बीस साल में बनाए गए अस्वीकृत चित्र इकट्ठे कर एक प्रदर्शनी आयोजित की गई। वहाँ उसके चित्र श्रेष्ठ चित्रकारों के समूह द्वारा प्रशंसित किए गए। फिर भी उसका संघर्ष चलता रहा और स्वास्थ्य गिरता गया। सन् १८६७ की प्रदर्शनी का वह फाइन आर्ट ज्यूरी में अध्यक्ष चुना गया।

रूसो के चित्र हमेशा ही गंभीर रहे, इसका कारण उसका उदासीन जीवन भी हो सकता है। कई जलरंग की कृतियाँ, रेखा-चित्रण और स्याही से बनी कृतियाँ देखने पर कोई भी जान सकता है कि वह हमेशा ही नए अनुसंधानों या अन्वेषणों के पीछे लगा रहा। वेलेस और लोवरी में उसकी कृतियों का अच्छा संग्रह है। विक्टोरिया म्यूजियम में भी कुछ लघुकृतियाँ रखी हैं।

[भा० स०]

रेक्याविक (Reykjavik) आइसलैंड द्वीप की राजधानी तथा द्वीप का एकमात्र बड़ा नगर है। यह द्वीप के दक्षिण-पश्चिमी किनारे, फैक्सा खाड़ी के सिरे पर स्थित बंदरगाह भी है। द्वीप का यही एक नगर व्यापार, शिक्षा एवं शासन का केंद्र है। यहाँ एक आधुनिक हवाई अड्डा भी है। नगर के अधिकांश मकान लकड़ी निर्मित हैं। यहाँ विश्वविद्यालय, वेधशाला एवं पुस्तकालय आदि हैं। यहाँ के प्रायः सभी निवासी साक्षर हैं। धनी लोगों की संख्या कम है। जलवायु के कठोर होने के कारण यहाँ का निवास आसान नहीं है। द्वितीय विश्वमहायुद्ध में द्वीप एवं इस नगर की ब्रिटेन एवं अमरीका ने जर्मनी से रक्षा की थी। इसकी जनसंख्या लगभग ७५,००० (१९६६) है। नगर से ७० मील दूर स्थित 'ओक्कन खाड़ी'
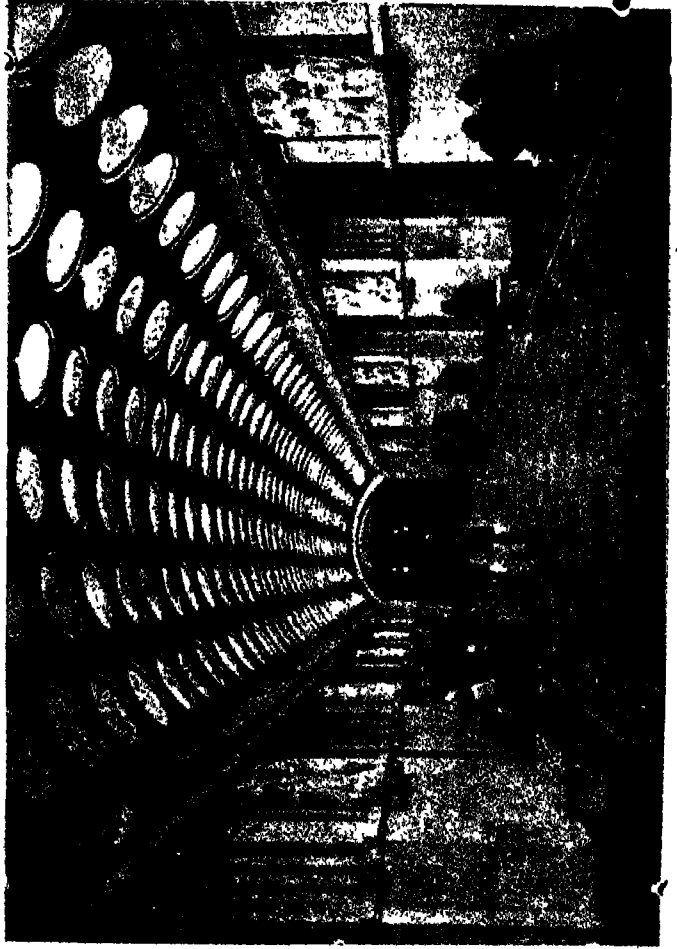
ऊपर —
गोर्की केंद्रीय विनोद उद्यान :
(बाएँ) उसका एक भाग,
(दाहिने) तालाब में नौका विहार

पार्श्व में—
मॉस्को का
एक मातृ सदन

रूस (देखें पृष्ठ १७१–१७३)

ग्राम विद्यार्थियों का संगीत अभ्यास

एक राज्य कृषिफार्म की किंडरगार्टेन कक्षा
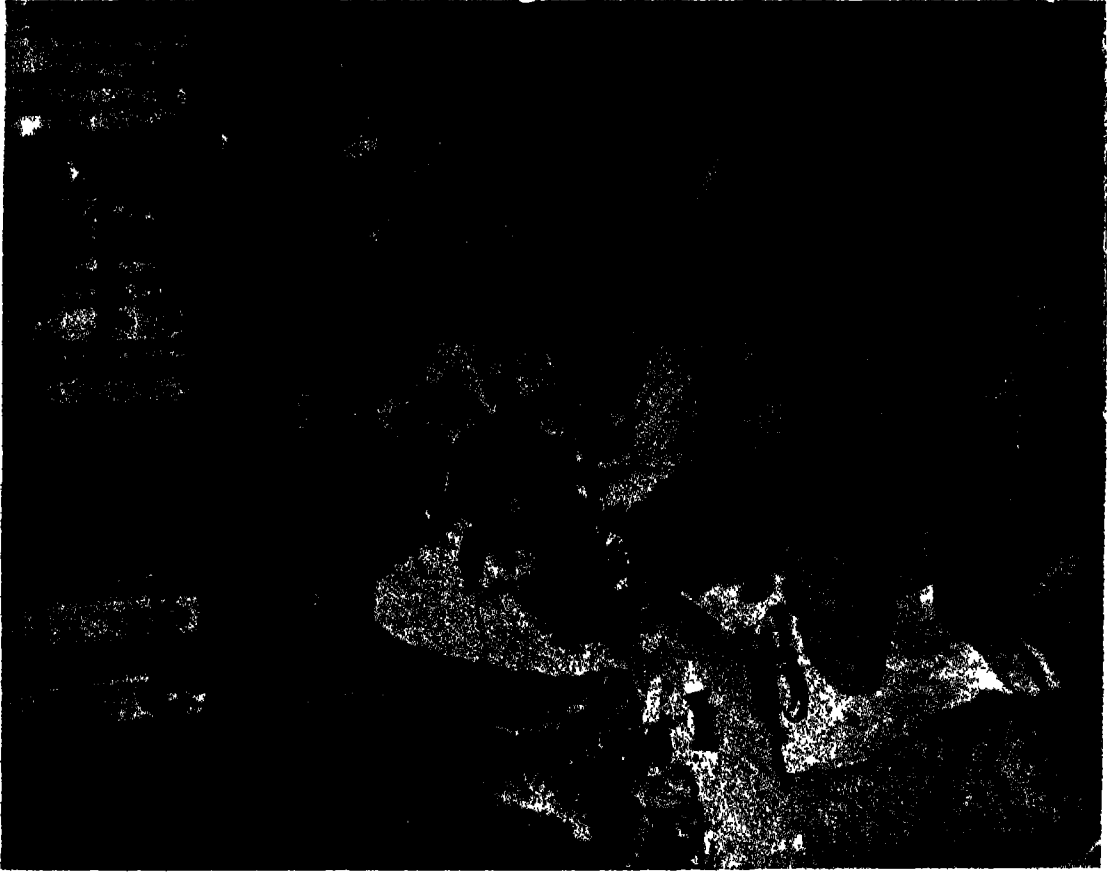
दर्शनीय जलप्रपात है। यहाँ से ४५ मील दूर 'थिंगवेलिर' है, जहाँ विश्व का सबसे प्राचीन पार्लियामेंट (सन् ६३०) भवन स्थित है। इसके समीप ही एक सोता है, जिसका जल २०० फुट तक ऊँचा जाता है। [र० चं० दु०]

रेखाज्यामिति ज्यामिति की वह शाखा है जिसमें रेखा को जनक मूलतत्व माना जाता है। आकाश में स्थित किसी बिंदु की, एक बिंदु पर प्रतिच्छेदन करनेवाले तीन तलों से जो दूरियाँ होती हैं उनसे वह बिंदु निश्चित स्पष्ट होता है (नीचे का चित्र देखें)।

$$य = थप, र = तन, ल = मप$$

तल उन बिंदुओं की संपूर्णता से निश्चित स्पष्ट होता है जिनके निर्देशांक अय + बर + सल + द = ० रूप के एकघात समीकरण को संतुष्ट करते हैं।

निर्देशांकों की समान संख्या के साथ विभिन्न मूलतत्वों पर निर्भर रहनेवाली ज्यामिति की दो पद्धतियों का विश्लेषिक रूप एक जैसा
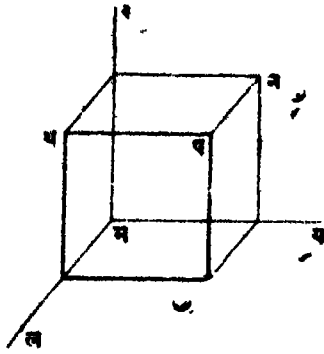
होगा, परंतु उनके विश्लेषण की व्याख्या भिन्न भिन्न होगी। ऐसे प्रकरणों में प्राय: एक पद्धति में निर्देशांकों का अर्थ और कुछ मौलिक संबंधों का निर्वचन ज्ञात किया जा सकता है। आपस में इस प्रकार से संबद्ध पद्धतियाँ द्वैतीय (Dualistic) कहलाती हैं।

द्वैत नियम (Principle of duality) का यह आग्रह है कि बिंदु निर्देशांकों (point coordniates) के गुणों से प्राप्त और बिंदुओं को अंतर्निहित करनेवाले प्रत्येक प्रमेय का संगत प्रमेय होना चाहिए, जिसमें तल अंतर्निहित हों, और इस नियम को विलोमत: ठीक होना चाहिए। यदि प्रत्येक बिंदुनिर्देशांक को उसके प्रक्षेपीय बिंदुनिर्देशांक (projective point coordinates) से प्रतिस्थापित कर दिया जाय तो भी ये गुण सत्य रहते हैं।

यदि $य_1, य_2, य_3, य_4$ प्रक्षेपीय बिंदु निर्देशांक हों और $त_1, त_2, त_3, त_4$ प्रक्षेपीय तल निर्देशांक हों, तो $त_1 य_1 + त_2 य_2 + त_3 य_3 + त_4 य_4 = ०$ वह प्रतिबंध है जिससे तल $त_क$ और बिंदु $य_क$ संयुक्त स्थिति में हों, अर्थात् तल इस बिंदु से गुजरे, या यह बिंदु तल पर पड़े।

सरल रेखा की स्थिति दो बिंदुओं ($य_1 : य_2 : य_3 : य_4$) और ($र_1 : र_2 : र_3 : र_4$) से निश्चित होती है। $य_क र_ग - य_ग र_क$ रूप के छह परिमाण इसके समघात रेखा निर्देशांक $स_{कग}$ कहलाते हैं। एक रेखा चार स्वतंत्र निर्देशांकों से निर्धारित होती है, इसलिये दिक् में ∞^4 रेखाओं का अस्तित्व है।

रेखा संमिश्र रेखाओं का त्रिविम विस्तार है। इस प्रकरण में निर्देशांक $स_{कग}$ एक समीकरण को संतुष्ट करते हैं, ∞^3 एकलकृत (singled out) रेखाएँ संमिश्र का निर्माण करती हैं। संमिश्र का घात उन रेखाओं की संख्या है, जो एक स्वेच्छ (arbitrary) तल पर पड़ती हैं और उसके एक स्वेच्छ बिंदु से गुजरती हैं। स्थिर रेखा का प्रतिच्छेदन (intersection) करनेवाली सभी रेखाओं से बना हुआ संमिश्र, रेखा संमिश्र का उदाहरण है।

एकघात समशेषता (Linear Congruence) रेखाओं का द्विविम विस्तार है। किसी समशेषता का घात एक स्वेच्छ बिंदु से गुजरनेवाली और उसका वर्ग एक स्वेच्छ समतल पर पड़नेवाली उसकी रेखाओं की संख्या है। एक घात समशेषता का उदाहरण दो स्थिर रेखाओं का प्रतिच्छेदन करनेवाली रेखाओं का उदाहरण है। यह प्रथम घात और द्वितीय वर्ग का उदाहरण है। यदि निर्देशांक $स_{कग}$ तीन समीकरणों को संतुष्ट करे, तो ∞^1 रेखाएँ रेखज पृष्ठ (ruled surface) की होती हैं। यदि वे चार समीकरणों को संतुष्ट करें तो रेखाएँ परिमित संख्या में होंगी।

रैखिक, संमिश्र $\sum अ_{कग} स_{कग} = ०$ को $य र' - य' र + ग (ल - ल') = ०$ के रूप में सरल किया जा सकता है, जिसमें $य', र', ल'$ और $य, र, ल$ किसी रेखा के किन्हीं दो बिंदुओं के कार्तीय निर्देशांक हैं। यदि $ग = ०$ हो, तो संमिश्र विशिष्ट है।

सिलिंडराभ (Cylindroid) — कूर्चिका के संमिश्र के अक्ष रेखज घनीय पृष्ठ का निर्माण करते हैं, जिसे सिलिंडराभ कहते हैं। गतिकी में रेखा ज्यामिति का अनुप्रयोग करने की दृष्टि से इसका बहुत महत्व है। इसका समीकरण है :

$$(य^2 + र^2)\, ल + \frac{१ + द^2}{द}\, ल\, य\, र = ०$$

प्रत्येक रेखज घन, जिसकी दो स्पष्ट नियताएँ (directrix) हों, इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

व्यापक संमिश्र (General Complex) — $स_{कग}$ में न घात का समघात समीकरण और सर्वांग समिका (identity) $स = ०$ न घात के संमिश्र को निश्चित स्पष्ट करता है। समीकरण को संतुष्ट करनेवाले सभी बिंदु (य) न घात के शंकु (cone) पर पड़ते हैं जिसका शीर्ष, र है। बिंदु र, जो एक शंकु का शीर्ष है और द्विजनक (Double generator) है, विचित्र बिंदु (Singular point) कहलाता है। इसका बिंदुपथ पृष्ठ होता है।

सर्वांगसमता दो संमिश्रों का संपूर्ण, या आंशिक प्रतिच्छेदन हो सकती है। तीन संमिश्रों का संपूर्ण, या आंशिक प्रतिच्छेदन रेखज पृष्ठ होता है। यदि कुछ प्रतिबंधों में किसी पृष्ठ के स्पर्शीतल तलों का एकविम विस्तार निर्माण करते हैं, तो पृष्ठों को विकासनीय पृष्ठ कहते हैं। किसी भी सर्वांगसमता की रेखा से दो विकासनीय पृष्ठ बनते हैं, जो सर्वांगसमताओं की रेखाओं से बने होते हैं।

द्विघात रेखा संमिश्र = द्विघात रेखा संमिश्र $\sum अ_{कग}\, य_क\, य_ग = ०$

रूप के समीकरण से निश्चित स्पष्ट होता है। द्विघात संमिश्र $\sum$ क$_{म}$ य$^{२}_{म}$ = ० के विचित्र बिंदुओं का बिंदुपथ चौथे घात का पृष्ठ है और विचित्र तलों का अन्वालोप (envelope) चौथे वर्ग का पृष्ठ है। ये दोनों पृष्ठ असल में एक ही हैं। यह पृष्ठ विचित्र पृष्ठ कहलाता है। इसके कार्तीय निर्देशांक ज्ञात करने के लिये क्लाइन (Klein) को प्लकर (Pluker) निर्देशांकों में रूपांतरित कर प्लकर के स्थान पर दो बिंदुओं य', र, ल और य,' र,' ल' के निर्देशांकों के मानों को स्थापित करना चाहिए। फिर यदि (य,'र,'ल') स्थिर हों तो समीकरण (य,' र,' ल') से गुजरनेवाले संमिश्र शंकु को निरूपित करता है। यह शंकु एक युग्म तलों के रूप में अपभ्रष्ट हो जाय, इसकी शर्त विचित्र पृष्ठ का कार्तीय समीकरण है। यह पृष्ठ चौथे घात और चौथे वर्ग का है और इसके १६ युग्म बिंदु और १६ युग्म स्पर्शी तल हैं। सर्वाधिक व्यापक कुमर के पृष्ठ (Kummer's surface) से यह सर्वसम है।

[ब्र० दा० शा०]

रेज़िन वृक्षों की दरार में से निकला हुआ द्रव है, जो बाहर आकर ठोस हो जाता है। यह अक्रिस्टली, पानी में अविलेय, ईथर, सगंध तेल, ऐल्कोहॉल एवं गरम वसीय तेलों में विलेय, सफेद, पीला, भूरा एवं काला तथा इनके बीच के किसी रंग का होता है, जो गरम करने पर पहले नरम फिर धीरे धीरे द्रवीभूत होता है। रेज़िन अधिक गरम करने पर ऊर्ध्वपतित नहीं होता, बल्कि धुएँ की लौ के साथ जलता है। यह पारदर्शक से अपारदर्शक के बीच किसी प्रकार का हो सकता है।

रेज़िनों का उपयोग वार्निश, मुद्रण स्याही, पॉलिश तथा दवाइयों के बनाने एवं धार्मिक कृत्यों के समय अग्नि में जलाकर सुगंध उत्पन्न करने के लिये किया जाता है। प्राचीन काल से इसकी सुगंध का उपयोग देवताओं को प्रसन्न करने के लिये एवं दवाओं के लिये होता आया है। प्राचीन ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है।

भारत में सभी पहाड़ी क्षेत्रों में पाए जानेवाले पेड़ों से रेज़िन प्राप्त होते हैं। हिमालय पर पाए जानेवाले चीड़ के पेड़ से भी यह प्राप्त होता है। आजकल प्राकृतिक रेज़िन के स्थान में संश्लिष्ट रेज़िन का उपयोग बढ़ता जा रहा है। संश्लिष्ट रेज़िन में कुछ गुण हैं, जो प्राकृतिक रेज़िन में नहीं होते। पर संश्लिष्ट रेज़िन के अधिक महँगे होने के कारण, प्राकृतिक रेज़िन का उपयोग अब भी अधिकता से होता है।

प्राकृतिक रेज़िन — ये दो प्रकार के होते हैं: (१) वृक्षों से प्राप्त अभिनव रेज़िन तथा (२) धरती की गहराई में प्राप्त फॉसिल रेज़िन।

(१) अभिनव रेज़िन — ये अनेक पेड़ों, चीड़, सोप उड आदि से प्राप्त होते हैं। कुछ छाल से प्राप्त होते हैं, जैसे डामर, कुछ गहरे छेदने से प्राप्त होते हैं, जैसे मनीला। अभिनव रेज़िन के निकालने की विधियाँ स्थान और वृक्ष की प्रकृति पर निर्भर करती हैं। यह रेज़िन नरम और विलेय होता है।

(२) फ़ासिल रेज़िन (Fossil resin) — पुराने समय में वृक्षों के धरती में दब जाने से उनसे ही निकला यह रेज़िन है। प्रत्येक स्थान पर इसके निकालने की अपनी विधि है। बाहर निकालकर धूप सुखाकर कहीं कहीं इसे कास्टिक सोडा के हलके विलयन से धोते हैं। यह रेज़िन कठोर होता है। धरती में अधिक दिनों तक दबे रहने के कारण सारे वाष्पशील अवयव उड़ जाते हैं और यह बहुलकीकृत भी समय के साथ साथ होता जाता है।

गाढ़े द्रव के रूप में जब रेज़िन वृक्ष से बाहर आता है, तब कुछ सगंध तेलों के उड़ने से ऑक्सीकरण एवं बहुलकीकृत होने से वह ठोस हो जाता है। यह अम्ल एवं क्षार से प्रभावित नहीं होता। रासायनिक दृष्टि से यह निष्क्रिय होता है। रेज़िन गरम करने से कुछ मुलायम होता है फिर द्रवीभूत होता है, साथ ही कुछ बहुलकीकरण की उत्क्रमण क्रिया होती है, जिससे रेज़िन कम जटिल हो जाता है। अधिक गरम करने से यह ऊर्ध्वपतित नहीं होता, बल्कि धुएँ से भरी लौ देकर जलता है एवं अपने अवयवों में टूटता जाता है।

रेज़िन में रेज़िन अम्ल, रेज़ेन, रेज़िनोल एवं सगंध तेल प्रधानतया रहते हैं।

रेज़िन अम्ल — विभिन्न रेज़िनों में विभिन्न रेज़िन अम्ल रहते हैं, जैसे कौरी में अगेथिक (agathic) अम्ल, का$_{२०}$हा$_{३०}$औ$_{४}$ ($C_{20}H_{30}O_4$), अंबर में सक्सिनिक (succinic) अम्ल, का$_{४}$ हा$_{६}$ औ$_{४}$ ($C_4H_6O_4$), कालोफोनी में ऐबीटिक (abietic) अम्ल, का$_{२०}$ हा$_{३०}$ औ$_{२}$ ($C_{20}H_{30}O_2$), और लाख में अल्यूरिटिक (aleuritic) अम्ल, का$_{१६}$ हा$_{३२}$ औ$_{५}$ ($C_{16}H_{32}O_5$), है।

रेज़ेन — ये ऊँचे अणुभारवाले हाइड्रोकार्बन हो सकते हैं। अभी तक इनकी ठीक संरचना नहीं ज्ञात हो पाई है।

रेज़िनोल — ये जटिल ऐल्कोहॉल हैं, जो अम्ल के साथ एस्टर बनाते हैं।

सगंध तेल — ये वायु के संसर्ग में आने से उड़ जाते हैं। ये टरपीन वर्ग के यौगिक हैं (देखें टरपीन)। फ़ॉसिल रेज़िन मे ये बिलकुल नहीं मिलते।

रंगों के आधार पर रेज़िन का महत्व घटता बढ़ता है। रंगहीन रेज़िन उत्तम माना जाता है। इनमें रहनेवाली गंध इनकी अपनी विशेषता है, जिससे इन्हें पहचानने में भी सुविधा होती है, पर गंध गरम करने से ही प्राप्त होती है। इनका गलनांक निश्चित नहीं होता। नरम रेज़िन एवं कठोर रेज़िन के मृदुभवन बिंदु एवं गलनांक में क्रमश: १०° सें० और २०° सें० का अंतर हो सकता है। यह कोलायड किस्म का पदार्थ है। रेज़िन का अम्लमान महत्व का होता है।

रेज़िनों में कोपाल, मास्टिक एवं सैंडार्क महत्व के हैं। इनका उपयोग वार्निश बनाने में होता है। मुलायम सुगंधित रेज़िन जैसे गोंद रेज़िन एवं ओलियोरेज़िन, जिनमें सुगंध तेल की मात्रा अधिक होती है, चिकित्सा एवं धूप आदि देने के काम आते हैं।

संश्लिष्ट रेज़िन — प्राकृतिक और संश्लिष्ट रेज़िन में बहुत समानता है। संश्लिष्ट रेज़िन में कुछ विशिष्ट गुण भी हैं, जिनके कारण उनका महत्व बहुत बढ़ गया है। वैज्ञानिकों ने देखा कि फिनोल को फॉर्मेल्डिहाइड के साथ गरम करने से रेज़िन से पदार्थ बनते हैं। यहाँ दोनों के बीच संघनन क्रिया संपन्न होती है। बेकलैंड ने इस प्रकार

के प्रयोगों से प्रथम महत्व का संश्लिष्ट रेज़िन तैयार किया, जो बैकेलाइट के नाम से विख्यात है। पीछे अनेक ऐसे रेज़िन प्राप्त हुए जो न तो जल में विलेय थे और न आग में जलनेवाले ही थे। अब तो अनेक प्रकार के संश्लिष्ट रेज़िन प्राप्त हुए हैं, जिनको निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं : (१) फिनोल फॉर्मैल्डिहाइड रेज़िन, (२) ऐल्किड रेज़िन, (३) पॉलिएस्टर रेज़िन, (४) यूरिया फॉर्मैल्डिहाइड रेज़िन, (५) मिलेमिन फॉर्मैल्डिहाइड रेज़िन, (६) कुमेरोन इंडीन रेज़िन और (७) सिलिकोन रेज़िन। ये सब संघनन और बहुलकीकरण से बनते हैं (देखें **प्लास्टिक**)। संघनन और बहुलकीकरण में उत्प्रेरकों, जैसे ऊष्मा, प्रकाश आदि, से सहायता मिलती है। विभिन्न निर्माताओं ने इनके निर्माण की अपनी अपनी विधियाँ निकाली हैं और उन्हीं से वे इन्हें तैयार करते हैं। कुछ का निर्माण खुले पात्रों में और कुछ का ऑटोक्लेव मे होता है। निर्माता इस्पात के पात्र, कुछ ऐलुमिनियम के पात्र और कुछ विशिष्ट मिश्रधातुओं के पात्र व्यवहृत करते हैं।

संश्लिष्ट रेज़िनों की पहचान — प्राकृतिक रेज़िनों से इनकी भिन्नता है। इससे ये तुरंत पहचाने जा सकते हैं। हर एक की पृथक् पृथक् पहचान करना कठिन है।

गंध — गरम करने से ये गंध देते हैं। कुछ मे फिनोलीय गंध होती है।

गलनांक — १८०° सें० तक होता है। कुछ रेज़िन तो गाढ़े द्रव के समान होते हैं।

आपेक्षिक घनत्व — प्राकृतिक रेज़िन का १.०७ से कम और संश्लिष्ट रेज़िन का १.०७ से १.५ तक आपेक्षिक घनत्व होता है।

विलेयता — विभिन्न विलायकों के द्वारा रेज़िनों की पहचान की जा सकती है।

अम्लमान — संश्लिष्ट रेज़िन का अम्लमान प्राकृतिक रेज़िन से कम होता है। फिनोलीय रेज़िन का १०-१२०, ऐल्किड रेज़िन का १२-५०, कूमारोन रेज़िन उदासीन एवं अल्प अम्लीय और विनायल रेज़िन का अम्लमान ५ से कम होता है।

संघटन — प्राकृतिक रेज़िन में **काओहा** (COH), यूरिया एवं मेलामीन में नाइट्रोजन और विनायल में क्लोरीन होता है। इनमें उपस्थित तत्वों की पहचान सामान्य रीति से की जाती है।

साबुनीकरण — संश्लिष्ट रेज़िन साबुनीकृत किए जा सकते है, फिर अम्ल अपघटन द्वारा ऐल्कोहॉल एवं अम्ल प्राप्त किए जा सकते हैं। इनका परीक्षण सामान्य रीति से हो सकता है।

प्रतिदीप्तिकरण — पराबैंगनी प्रकाश में संश्लिष्ट रेज़िन नीले, या बैंगनी रंग से प्रतिदीप्त होते हैं। [ल० शं० शु०]

रेज़ीज़ (Rhazes) या रेसिस (Rasis) फारस के प्रसिद्ध मुसलमान हकीम थे (संभवतः सन् ८५०-९२३), जिनका पूरा नाम अबू बकर मोहम्मद इब्न ज़कारिया था। इनका जन्म तेहरान के पास राज़ नामक नगर में हुआ था। इनके जन्म तथा मृत्यु का यथार्थ समय अनिश्चित है। ये फारस की खाड़ी पर स्थित बसरा नगर में बस गए थे।

अरबी में चिकित्साशास्त्र पर पुस्तक लिखनेवाले हकीमों में इन्हें अग्रगण्य समझा जाता है। इन्होंने लगभग २०० पुस्तकें लिखीं, जिनमें चिकित्साशास्त्र की अन्य पुस्तकों के सिवाय इस विषय का एक सार्वभौम कोश तथा गणित, ज्योतिष, धर्म और दर्शनशास्त्र पर भी पुस्तकें थीं। अपनी एक पुस्तक में इन्होंने सर्वप्रथम चेचक को मसूरिका से भिन्न रोग बताया।

इनकी अरबी की पुस्तकों का अनुवाद लैटिन भाषा में किया गया और इस प्रकार इनके द्वारा संचित ज्ञान का यूरोप में प्रसार हुआ। [भ० दा० व०]

रेडक्रास एक राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय एजेन्सी है जिसका प्रमुख उद्देश्य रोगियो, घायलों तथा युद्धकालीन बंदियों की देखरेख करना है। रेडक्रास आंदोलन के विकास में, विशेषकर १९१९ ई० से, किसी भी प्रकार की मानव पीड़ा को कम करने की विश्वव्यापी प्रवृत्ति की गणना रेडक्रास क्षेत्र के अंतर्गत मानी जाने लगी।

आंदोलन का सूत्रपात — रेडक्रास से संबंधित आधारभूत भाव १८६२ ई० में जेनोआ मे हेनरी ड्यूनैंट की सूवेनिर डी सफेरिनो (Souvenir De Sofferino) नामक पुस्तिका में प्रकाशित हुआ। ड्यूनैंट ने इटली में युद्ध के दौरान रक्तपात का भयानक दृश्य देखा था। चिकित्सकीय सहायता के अभाव में युद्धक्षेत्र में कालकवलित हो जाने के लिये छूटे हुए घायलों के कष्टों का हृदयविदारक विवरण उनकी पुस्तक में मिलता है। आहतों की सहायता के लिये उन्होने स्थायी समितियों के निर्माण की आवश्यकता पर जोर दिया।

ड्यूनैंट की अपील की प्रतिध्वनि शीघ्र सुनाई पड़ी। जेनोआ की सोसाइटी डी यूटिलिटी पब्लिक (Societe Genevose D utilite Publique) के अध्यक्ष श्री गस्टवे मोइनिए प्रस्तुत सुझावों के महत्व मे बहुत प्रभावित थे। उनकी प्रार्थना पर ड्यूनैंट इस समिति की एक बैठक में संमिलित हुए तथा उसके संमुख अपने विचारों को स्पष्ट किया। तदुपरांत युद्ध में आहतों की स्थिति के सुधार के साधनों के अध्ययनार्थ एक आयोग मनोनीत किया गया। इस आयोग के मौलिक सदस्य जनरल डूफोर (Dufour), स्विस सेना के सेनापति गस्टवे मोइनिए, हेनरी ड्यूनैंट, डाक्टर लुई एपिया और डाक्टर थियोडोर मोनोइ (Theodore Mounoir) थे।

इनका पहला काम ऐसी राष्ट्रीय समितियों के निर्माण के लिये एक प्रस्तावित समझौते का रूप तैयार करना था जिनका उद्देश्य स्वयंसेवक सहायक दल बनाकर सैन्य चिकित्सा सेवाओं की सहायता करना था। उन्होंने एक अंतरराष्ट्रीय बैठक भी बुलाई जो २६ अक्टूबर से २९ अक्टूबर सन् १८६३ तक जेनोआ में हुई। वहाँ रेडक्रास के आधारभूत सिद्धांत निश्चित किए गए। इस अंतरराष्ट्रीय समिति पर उस उद्देश्य को जारी रखने के लिये जोर दिया गया, जिसे इस अधिवेशन में निश्चित सिद्धांतों के संरक्षक के रूप में इसने स्वीकार

किया था और इस बात पर भी जोर दिया गया कि रेडक्रास आंदोलन का विकास करने के लिये तथा आहत सैनिकों और युद्ध के अन्य पीड़ितों की सहायता संगठित करने के लिये सभी देशों में राष्ट्रीय समितियाँ बनाई जाएँ।

इस आंदोलन के लिये, जो इस प्रकार प्रारंभ हुआ था, अंतरराष्ट्रीय वैधानिक स्थिति प्राप्त करना दूसरा प्रयास था, जिसमें एक स्वीकृत चिह्न के द्वारा सबकी रक्षा होते हुए आहत व्यक्तियों की सेवा तथा आहतों की देखरेख में लगे हुए कार्यकर्ताओं का आक्रमण से बचाव के लिये प्रयत्न करना तथा आवश्यकता के समय प्रयोग हेतु अलग रखी हुई चिकित्सा सामग्रियों को निश्चित करना था।

मार्ग में विकट कठिनाइयाँ थीं, किंतु जनरल डुफोर के नाम की प्रसिद्धि, हेनरी ड्यूनैंट के (जिन्होंने व्यक्तिगत रूप से अनेक विभिन्न देशों के अधिकारियों से बातचीत की) अथक कार्य और गस्टवे मोइनिए के विधिवत् संगठन कार्य के कारण ये कठिनाइयाँ सफलतापूर्वक दूर हो गईं। नैपोलियन तृतीय ने इस योजना के पक्ष में अपना व्यक्तिगत प्रभाव लगाया और अंतरराष्ट्रीय समिति स्विस फेडेरल कौंसिल को ८ अगस्त, १८६४ ई० को जेनोआ में संमेलन बुलाने के लिये राजी करने में सफल हुई। इस कूटनीतिक संमेलन में २६ सरकारों के प्रतिनिधि थे। इस संमेलन का परिणाम जेनोआ अधिवेशन हुआ, जिसमें सदा के लिये कुछ निश्चित सिद्धांत नियत हुए: आहतों का संमान होना चाहिए, सैनिक तटस्थ समझे जाने चाहिए, चिकित्सा सेवाओं की सामग्रियों तथा कर्मचारियों को सुरक्षा प्रदान की गई, और इस सुरक्षा का प्रतीक एक रेडक्रास वाला सफेद झंडा हुआ — वह झंडा जो आज सारे विश्व में रेडक्रास का चिह्न बन गया है। लगभग सभी देश अब जेनोआ अधिवेशन के निर्णयों को स्वीकार करते हैं। एक नए कूटनीतिक संमेलन द्वारा ६ जुलाई, १९०६ ई० को जेनोआ अधिवेशन के ये निर्णय संशोधित तथा पूर्ण किए गए। सन् १८९९ तथा १९०७ में हेग में होनेवाले संमेलन ने जेनोआ अधिवेशन सन् १८६४ तथा संशोधित अधिवेशन सन् १९०६ के सिद्धांतों का सामुद्रिक युद्धों तक विस्तार कर दिया।

अंतरराष्ट्रीय रेडक्रास समिति (Comite International De La Croix Rouge) — अंतरराष्ट्रीय रेडक्रास के उद्देश्य ये माने जाते हैं: सभी देशों में रेडक्रास आंदोलन को फैलाना, रेडक्रास के आधारभूत सिद्धांतों के संरक्षक के रूप में कार्य करना, नई रेडक्रास समितियों के संविधान से वर्तमान समितियों को सूचित करना, सभी सभ्य राज्यों को जेनोआ अधिवेशन स्वीकार करने के लिये राजी करना, अधिवेशन के निर्णयों का पालन करना, इसकी होने वाली अवहेलनाओं की भर्त्सना करना, कानून बनाने के लिये सरकारों पर दबाव डालना तथा ऐसी अवहेलनाओं को रोकने के लिये सेना को आदेश देना, युद्धकाल में बंदियों की सहायता तथा अन्य पीड़ितों की सहायता के लिये अंतरराष्ट्रीय एजेन्सी का निर्माण करना, बंदी-शिविर की देखरेख, युद्धबंदियों को संतोष और आराम पहुँचाना और सभी प्राप्य प्रभावों के प्रयोग से उनकी स्थिति सुधारने का प्रयत्न करना, शांति तथा युद्ध के समय में भी सरकारों, राष्ट्रों तथा उपराष्ट्रों के बीच शुभचिंतक मध्यस्थ के रूप में कार्य करना, युद्ध, बीमारी अथवा आपत्ति से होनेवाले कष्टों से मुक्ति का आकस्मिक कार्य स्वयं करना अथवा दूसरों को ऐसा करने के लिये सहायता देना।

युद्धकाल में कार्य — अंतरराष्ट्रीय रेडक्रास समिति के कार्यों के विस्तार का आभास कुछ उदाहरणों से हो जाएगा। प्रारंभ से ही स्वतंत्र रेडक्रास समिति के निर्माण तथा जेनोआ अधिवेशन के सदस्यों की स्वीकृति ने शीघ्र सफलता प्राप्त कराई। फ्रांसीसी और जर्मन आहतों तथा बीमार सैनिकों की भलाई के लिये बासले (Basle) में १८७० ई० में एक सूचना एजेन्सी का निर्माण हुआ।

१९१२ ई० में बालकान युद्ध के समय इसी तरह की एक ऐजेन्सी बेलग्रेड में बनी। १९१४ ई० में प्रथम विश्वयुद्ध के समय युद्धबंदियों के लिये दो हजार व्यक्तियों की, जिनमें विशेषकर स्वयंसेवक थे, एक अंतरराष्ट्रीय एजेन्सी जेनोआ में बनाई गयी। इस एजेन्सी के १७ विभिन्न विभागों ने युद्धलिप्त ३० देशों से आनेवाले आवेदनों का निपटारा किया। दो हजार से १५ हजार तक प्रतिदिन पत्रव्यवहार किया और इसके यहाँ युद्ध समाप्त होने के पहले सूचना हेतु प्रार्थनाएँ ५० लाख से अधिक थी।

इस एजेन्सी के कारण विभिन्न सेनाओं तथा जहाजी बेड़ों के हजारों खोए हुए मनुष्यों का पता लगाया गया, युद्धबंदियों को सहायता दी गई, ५०० विभिन्न बंदी-शिविरों की नियमित देखरेख हुई और अधीन जिलों के नागरिकों को हटाने के लिये तथा स्वदेश आगमन के लिये अथवा अधिक आहतों, कुछ श्रेणी के रोगी बंदियों और चिकित्सा कर्मचारियों को तटस्थ भागों के बंदी शिविर में रखने के लिये अधिक सुविधाएँ प्राप्त की गईं। अंतरराष्ट्रीय एजेन्सी की वित्तीय सेवा ने ३१ दिसंबर, १९१७ ई० तक ७१,५०० पौंड से ऊपर की धनराशि नकद रुपए के रूप में भेजी।

अंतरराष्ट्रीय समिति ने जेनोआ अधिवेशन के निर्णयों के विरुद्ध हुए कार्यों का प्रदर्शन प्रायः सरकारों के संमुख किया। इस प्रकार के कार्य चिकित्सालयों के बंद होने, बदला लिए जाने, चिकित्सा कर्मचारियों, या आहतों के साथ अनुचित व्यवहार, रेडक्रास से संबंधित चिकित्सा भंडारों को जब्त करने, रेडक्रास की निंदा की भर्त्सना करने आदि से संबंधित घटनाएँ थीं।

युद्धोत्तर कार्य — (राष्ट्रसंघ) लीग ऑव नेशन्स की कृपालु सहायता के कारण अंतरराष्ट्रीय समिति सभी देशों के युद्धबंदियों के लिये जो रूस और सायबेरिया में रह गए थे, स्वदेशागमन की व्यवस्था कर सकने में समर्थ हुई और मध्य यूरोप के विभिन्न देशों से रूसी बंदियों को वापस करने में भी सफल हुई। संबंधित सरकारों के यहाँ प्रदर्शन करने, सैनिकों को सुरक्षित जहाजों में ले जाने की व्यवस्था करने और उनकी पहचान करने, जहाज में उनकी देखरेख करने और रक्षित जहाजों को मास्को तथा बाल्टिक बंदरगाहों तथा ब्लाडीवास्टक, नोवरोसिस्क और ट्रिस्टे के बीच आने जाने का प्रबंध करने के लिये समिति के प्रतिनिधि बुलाए गए। इस प्रकार पाँच लाख बंदी स्वदेश पहुँचाए गए।

यूनान में नियमित स्थान पर बंदी व्यक्तियों की वापसी तथा यूनान और टर्की के बीच बंदियों का आदान प्रदान किया गया।

कार्यांतर में अंतरराष्ट्रीय समिति के सदस्यों का संबंध ऊपरी सिलेसिया में जर्मन और पोलैंड के शरीरबंधकों के आदान प्रदान से रहा।

जहाँ तक स्वास्थ्य संबंधी कार्यों का सवाल है, अंतरराष्ट्रीय समिति के सदस्यों को मलयेशिया, यूक्रेन तथा कृष्णसागर के क्षेत्रों में उस समय फैले हुए टाइफस (Typhus) से बचने में सहायता देने का निर्देश मिला था। अप्रैल, १९१८ ई० में इस महामारी का सामना करने के लिये मध्य और पूर्व यूरोप के विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों के साथ केंद्रीय अध्ययन विभाग की स्थापना में इस समिति ने भाग लिया। सन् १९१९ और १९२३ के बीच चिकित्सालयों की कमियों को पूरा करने तथा अकाल पीड़ितों को भोजन की पूर्ति करने के लिये दो चिकित्सा मिशन यूक्रेन भेजे गए। पोलैंड में समिति के प्रतिनिधि वहाँ की महामारी को रोकने के अभियान में संमिलित हुए। सन् १९१९ और १९२३ के बीच बहुत से यक्ष्मा चिकित्सालय तथा साधारण चिकित्सालय कृष्ण सागरीय भाग में स्थापित किए गए तथा समिति ने उनके लिये आवश्यक सामान जुटाने में सहायता की।

युद्ध के आर्थिक परिणामों से बुरी तरह प्रभावित जनसंख्या को मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से समिति ने आस्ट्रिया और हंगरी में सहायता कार्यों का व्यवस्थित रूप से गठन किया। रूस के अकालग्रस्त जिलों की सहायता की व्यवस्था करने के लिये समिति ने १५ अगस्त, १९२१ ई० को लीग ऑव रेडक्रास सोसायटी के साथ जेनोआ में अंतरराष्ट्रीय संमेलन बुलाने में हाथ बटाया। इस संमेलन में सरकारों तथा सहायता एजेन्सियों के ८० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। एक रूसी सहायता समिति बनाई गई, जिसके हाई कमिश्नर डाक्टर नानसेन (Nansen) हुए। इस समिति ने ८०,००,००० पौंड से अधिक धनराशि जनवरी, १९२२ ई० तक अपने हाथ में रखी। समिति के प्रतिनिधियों ने १९२३ ई० में जर्मनी तथा रूर (RUHR) की जनसंख्या की स्थिति की छानबीन भी की।

तत्पश्चात् द्वितीय विश्वयुद्ध में बड़ी तत्परता से काम किया। दोनों ओर के कैदियों को पत्र और भेंट से मदद पहुँचाई और रणक्षेत्र में स्थित अस्पतालों में निर्भीकतापूर्वक सेवा की।

भारतीय रेडक्रास — भारत का रेडक्रास से संबंध प्रथम विश्वयुद्ध से है। उस समय एक करोड़ रुपया, जो इस संस्था के लिये दान मिला था, इसका मूल धन बना। इस समय तक इसकी १८ प्रांतीय संस्थाएँ और ४१२ जिला शाखाएँ स्थापित हो चुकी हैं। बंगाल की भुखमरी से लेकर कई प्राकृतिक दुर्घटनाओं के समय इसने सहायता पहुँचाई है। [श्या० नं० सिं०]

रेडार (Radar) एक यंत्र है, जिसकी सहायता से रेडियो तरंगों का उपयोग दूर की वस्तुओं का पता लगाने में तथा उनकी स्थिति, अर्थात् दिशा और दूरी, ज्ञात करने के लिये किया जाता है। आँखों से जितनी दूर दिखाई पड़ सकता है, रेडार द्वारा उससे कहीं अधिक दूरी की चीजों की स्थिति का सही पता लगाया जा सकता है। कोहरा, धूंध, वर्षा, हिमपात, धुँआ अथवा अँधेरा, इनमें से कोई भी इसमें बाधक नहीं होते। किंतु रेडार आँख की पूरी बराबरी नहीं कर सकता, क्योंकि इससे वस्तु के रंग तथा बनावट का सूक्ष्म ब्योरा नहीं जाना जा सकता, केवल आकृति का आभास होता है। पृष्ठभूमि से विषम तथा बड़ी वस्तुओं का, जैसे समुद्र पर तैरते जहाज, ऊँचे उड़ते वायुयान, द्वीप, सागरतट इत्यादि का, रेडार द्वारा बड़ी अच्छी तरह से पता लगाया जा सकता है।

सन् १८८६ में रेडियो तरंगों के आविष्कर्ता, हाइनरिख हेर्ट्स ने ठोस वस्तुओं से इन तरंगों का परावर्तन होना सिद्ध किया था। रेडियो स्पंद (pulse) के परावर्तन द्वारा परासन, अर्थात् दूरी का पता लगाने, का कार्य सन् १९२५ में किया जा चुका था और सन् १९३० तक रेडार के सिद्धांत का प्रयोग करनेवाले कई सफल उपकरणों का निर्माण हो चुका था, किंतु द्वितीय विश्वयुद्ध में ही रेडार का प्रमुख रूप से उपयोग आरंभ हुआ।

स्थितिनिर्धारण की पद्धति — रेडार से रेडियो तरंगें भेजी जाती हैं और दूर की वस्तु से परावर्तित होकर उनके वापस आने में लगनेवाले समय को नापा जाता है। रेडियो तरंगों की गति १,८६,००० मील प्रति सेकंड है, इसलिये समय ज्ञात होने पर परावर्तक वस्तु की दूरी सरलता से ज्ञात हो जाती है। रेडार में लगे उच्च दिशापरक ऐंटेना (antenna) से परावर्तक, अर्थात् लक्ष्य वस्तु, की दिशा का ठीक ठीक पता चल जाता है। दूरी और दिशा मालूम हो जाने से वस्तु की यथार्थ स्थिति ज्ञात हो जाती है।

रेडार का प्रेषित्र (transmitter) नियमित अंतराल पर रेडियो ऊर्जा के क्षणिक, किंतु तीव्र, स्पंद भेजता रहता है। प्रेषित स्पंदों के अंतरालों के बीच के समय में रेडार का ग्राही (receiver), यदि बाहरी किसी वस्तु से परावर्तित होकर तरंगें आवें तो उनको ग्रहण करता है। परावर्तन होकर वापस आने का समय विद्युत् परिपथों द्वारा सही सही मालूम हो जाता है और समय के अनुपात में अंकित सूचक से दूरी तुरंत मालूम हो जाती है। एक माइक्रोसेकंड (सेकंड का दसलाखवाँ भाग) के समय से १६४ गज और १०.७५ माइक्रोसेकंड से १ मील की दूरी समझी जाती है। कुछ रेडार १०० मील दूर तक की वस्तुओं का पता लगा लेते हैं। अच्छे यंत्रों से दूरी नापने में १५ गज से अधिक की भूल नहीं होती और दूरी के कम या अधिक होने का इस नाप की यथार्थता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लक्ष्य वस्तु की दिशा अथवा उसकी ऊँचाई का कोण एक अंश के ०.०६ भाग तक परिशुद्ध नापा जा सकता है। रेडार के ग्राही यंत्र की ऋणाग्र-किरण-नली (cathod ray tube) में वस्तु की स्थिति स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

दिशा का ज्ञान — लक्ष्य का पता लगाने के लिये ऐंटेना को घुमाते, या आगे पीछे करते हैं। जब ऐंटेना लक्ष्य की दिशा में होता है, तब लक्ष्य का प्रतिरूप ऋणाग्र-किरण-नली के फलक पर प्रकट होता है। इस प्रतिरूप को पिप (Pip) कहते हैं। पिप सबसे अधिक स्पष्ट तभी होता है, जब ऐंटेना सीधे लक्ष्य की दिशा में होता है। रेडार के ऐंटेना अत्युच्च दिशापरक होते हैं। ये रेडियोतरंगों को सकरी किरणपुंजों में एकाग्र करते हैं तथा यंत्र में लगे विशेष प्रकार के परावर्तक इन किरणपुंजों को सघन बनाते हैं। रेडार के कार्य के लिये अति लघु तरंगदैर्घ्य वाली, अर्थात् अत्युच्च आवृत्तियों की, तरंगों का उपयोग होता है। इन सूक्ष्म तरंगों के उत्पादन के लिये

मल्टिकैविटी मैग्नेट्रॉन (Multicavity Magnetron) नामक उपकरण आवश्यक है, जिसके बिना आधुनिक रेडार का कार्य संभव नहीं है।

रेडार के अवयव — प्रत्येक रेडार के पाँच प्रमुख अवयव होते हैं : (१) मॉडुलेटर (modulator) से रेडियो-आवृत्ति-दोलित्र (radio frequency oscillator) को दिए जानेवाली विद्युत् शक्ति के आवश्यक विस्फोट प्राप्त होते हैं; (२) रेडियो-आवृत्ति-दोलित्र उच्च आवृत्तिवाली शक्ति के उन स्पंदों को उत्पन्न करता है जिनसे रेडार के संकेत बनते हैं, (३) ऐंटेना द्वारा ये स्पंद आकाश में भेजे जाते हैं और ऐंटेना ही उन्हें वापसी में ग्रहण करता है, (४) ग्राही वापस आनेवाली रेडियोतरंगों का पता पाता है तथा (५) सूचक (indicator) रेडार परिचालक को रेडियोतरंगों द्वारा एकत्रित की गई सूचनाएँ देता है। तुल्यकालन (synchronisation) तथा परास की माप के अनिवार्य कृत्य मॉडुलेटर तथा सूचक द्वारा संपन्न
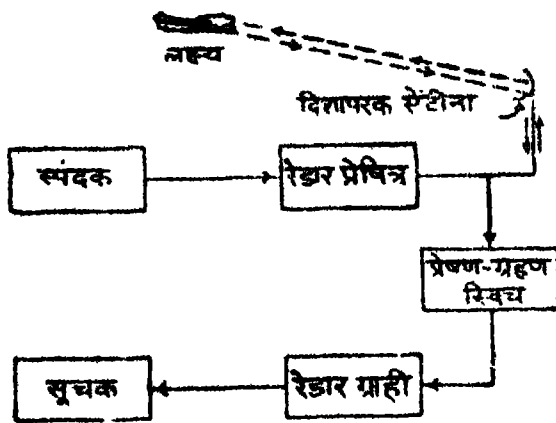
रेडार के अवयव तथा क्रिया

होते हैं। यों तो जिस विशेष कार्य के लिये रेडार यंत्र का उपयोग किया जानेवाला है, उसके अनुरूप इसके प्रमुख अवयवों को भी बदलना आवश्यक होता है।

रेडार के उपयोग — रेडार के कारण युद्ध में सहसा आक्रमण प्रायः असंभव हो गया है। इसके द्वारा जहाजों, वायुयानों और रॉकिटों के आने की पूर्वसूचना मिल जाती है। धुंध, अँधेरा आदि इसमें कोई बाधा नहीं डाल सकते और अदृश्य वस्तुओं की दूरी, दिशा आदि ज्ञात हो जाती हैं। वायुयानों पर भी रेडार यंत्रों से आगंतुक वायुयानों का पता चलता रहता है तथा इन यंत्रों की सहायता से आक्रमणकारी विमान लक्ष्य तक जाने और अपने स्थान तक वापस आने में सफल होते हैं। केंद्रीय नियंत्रक स्थान से रेडार के द्वारा २०० मील के व्यास में चतुर्दिक्, ऊपर और नीचे, आकाश में क्या हो रहा है, इसका पता लगाया जा सकता है। रात्रि या दिन में समुद्र के ऊपर निकली पनडुब्बी नौकाओं का, या आते जाते जहाजों का, पता चल जाता है तथा दुश्मन के जहाजों पर तोपों का सही निशाना लगाने में भी इससे सहायता मिलती है।

शांति के समय में भी रेडार के अनेक उपयोग हैं। इसने नौका, जहाज, या वायुयानचालन को अधिक सुरक्षित बना दिया है, क्योंकि इसके द्वारा चालकों को दूर स्थित पहाड़ों, हिमशैलों अथवा अन्य रुकावटों का पता चल जाता है। रेडार से वायुयानों को पृथ्वी तल से अपनी सही ऊँचाई ज्ञात होती रहती है तथा रात्रि में हवाई अड्डों पर उतरने में बड़ी सहूलियत होती है। १० जनवरी, १९४६, ई० को संयुक्त राज्य, अमरीका, के सैनिक संकेत दल (Army Signal Corps) ने रेडार द्वारा सर्वप्रथम चंद्रमा से संपर्क स्थापित किया। रेडियो संकेत को चंद्रमा तक आने जाने में ४,५०,००० मील की यात्रा करनी पड़ी और २·४ सेकंड समय लगा। यह प्रयोग महत्व का था और आशा की जाती है कि इससे ज्योतिष विज्ञान के क्षेत्र में नए तकनीकों का प्रादुर्भाव होगा। [भ० दा० व०]

रेडिंग रूफस डैनियल इज़ाक्स (१८६०-१९३५) आंग्ल राजनीतिज्ञ का जन्म लंदन में १० अक्तूबर, १८६० ई० को हुआ था। इनके पिता जोज़फ इज़ाक्स व्यापारी थे। इनकी शिक्षा लंदन की पाठशाला तथा विश्वविद्यालय में हुई। सोलह वर्ष की उम्र में इन्हें अनुशासन सीखने के लिये समुद्र पर भेजा गया। १८८७ ई० मे इन्होंने अधिवक्ता (ऐडवोकेट) के रूप में कार्य किया।

१९०४ ई० के उपचुनाव मे रेडिंग उदारवादी साम्राज्य दल की ओर से निर्वाचित हुए। दल में मान प्रतिष्ठा के कारण इन्हें १९१० ई० में महान्यायवादी नियुक्त किया गया तथा १९१२ ई० में मंत्रिमंडल में स्थान मिला। १९१३ ई० मे ये लार्ड चीफ जस्टिस नियुक्त हुए। १९१४ ई० में इन्हें 'बैरन ऑव रेडिंग' की उपाधि प्रदान की गई।

प्रथम विश्वयुद्ध में इन्होंने इंग्लैंड को आर्थिक संकट से बचाने के लिये न केवल उपचारों का मसविदा तैयार किया अपितु उन्हे कार्यान्वित भी किया। इन सेवाओं के उपलक्ष्य में २६ जून, १९१६ ई० को इन्हें 'वाईकाउंट रेडिंग' की उपाधि प्रदान की गई; और एक वर्ष बाद इन्हे अर्ल बना दिया गया। १९१८ ई० में इन्हे वाशिंगटन में विशेष दूत बनाकर भेजा गया।

१९२१ ई० में ये भारत के वायसराय नियुक्त होकर आए। उस समय यहाँ अनेक समस्याएँ थीं : स्वराज्य दल ने द्वैध शासन को अस्वीकृत कर निकृष्ट सिद्ध करने का प्रयास किया, गांधी जी के सविनय अवज्ञा आंदोलन ने देश में उथल पुथल पैदा कर रखी थी, जलियानवाले बाग की दुर्घटना तथा डायर के व्यवहार ने भारतीय असंतोष की अग्नि में घृत का कार्य किया, द्वैध शासन के विरोध को समाप्त करने के लिये अली भाइयों को पकड़ना पड़ा, प्रांतों में विशेष प्रकार का स्वायत्त शासन स्थापित करने का प्रयास किया गया और केंद्रीय धारासभा में भी सहयोग प्राप्त करने का यत्न हुआ। बंगाल और मध्य प्रांत में सफलता न मिली, अतः वहाँ स्वायत्त शासन स्थगित करना पड़ा।

अप्रैल, १९२६ ई० में इंग्लैंड वापस जाकर ये वहाँ की राजनीति में भाग लेने लगे। १९३१ ई० में रेम्जि मैकडॉनैल्ड की राष्ट्रीय सरकार में ये विदेशमंत्री नियुक्त हुए। ३० दिसंबर, १९३५ ई० को इनका देहांत हुआ। [गि० कि० ग०]

रेडियम (Radium) आवर्तसारणी के द्वितीय मुख्य समूह का अंतिम तत्व है। रेडियोऐक्टिव तत्वों में इसका मुख्य स्थान है। इसके

अनेक रेडियोऐक्टिव समस्थानिक मिलते हैं, जिनमें २२६ द्रव्यमान संख्या का समस्थानिक सबसे स्थिर है।

इस तत्व की खोज पियरे क्यूरी तथा श्रीमती क्यूरी ने १८९८ ई० में की थी। यूरेनियम अयस्क, पिचब्लेंड, की रेडियोऐक्टिवता विशुद्ध यूरेनियम से अधिक होती है। उपर्युक्त दोनों वैज्ञानिकों ने रासायनिक क्रियाओं द्वारा अधिक रेडियोऐक्टिववाले अंश को पिचब्लेंड से अलग कर इस तत्व की उपस्थिति सिद्ध की थी। १९०२ ई० में इसका विशुद्ध यौगिक बना और १९१० ई० में रेडियम धातु का निर्माण हुआ।

यूरेनियम अयस्कों के साथ रेडियम सदा मिश्रित रहता है। यूरेनियम रेडियोऐक्टिव तत्व है। इसी क्रिया द्वारा रेडियम की उत्पत्ति होती है, परंतु रेडियम का, स्वयं रेडियोऐक्टिव होने के कारण, क्षय भी होता रहता है। इस कारण यूरेनियम अयस्क में रेडियम की मात्रा वस्तुतः स्थिर रहती है। इसके अतिरिक्त थोरियम अयस्क भी इसका स्रोत है। समुद्र तथा उसकी निचली सतह और कुछ नदियों के जल में भी इसकी सूक्ष्म मात्रा मिलती है।

पिचब्लेंड अयस्क मुख्यतः अफ्रीका में कांगो के कटैंगा प्रांत में तथा कैनाडा और पश्चिम अमरीका में मिलता है। इसके अतिरिक्त यूरोप के कुछ स्थानों में, दक्षिणी अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया तथा मैडागास्कर में भी इसके अयस्क मिलते हैं। भारत के केरल राज्य मे मोनोज़ाइट अयस्क बहुत मात्रा में प्राप्य है। इससे रेडियम का दूसरा समस्थानिक, जिसे मिज़ोथोरियम कहते हैं, मिलता है। यह अधिक अस्थायी रूप का समस्थानिक है।

निर्माण विधि — रेडियम निर्माण के लिये यूरेनियम के अयस्क पिचब्लेंड का उपयोग होता है। अयस्क के चूर्ण को सर्वप्रथम नाइट्रिक और सल्फ्यूरिक अम्ल के मिश्रण में पचाते हैं। रेडियम को अलग करने के लिये थोड़ी मात्रा में बेरियम यौगिक को मिलाते हैं। बेरियम के रासायनिक गुण रेडियम से मिलते जुलते हैं, जिससे अयस्क का सारा रेडियम इसी के साथ मिल जाता है। तत्व की सूक्ष्म मात्रा को अलग करने की इस विधि को वाहक प्रविधि (Carrier Technique) कहते हैं। अविलेय रेडियम बेरियम मिश्रण को सोडियम कार्बोनेट के विलयन के साथ ऑटोक्लेव में गरम करने से वे कार्बोनेट में परिणत हो जाते हैं। इन्हें पुनः विशुद्ध कर हाइड्रोब्रोमिक अम्ल, हाब्रो (HBr), द्वारा ब्रोमाइड में परिणत करते हैं। रेडियम तथा बेरियम ब्रोमाइड को पुनः क्रिस्टलन द्वारा पृथक् किया गया है। कुछ वर्षों से इनका पृथक्करण आयन विनिमय रेज़िन (Ion exchange resin) द्वारा किया जाता है। रेडियम क्लोराइड, रेक्लो$_2$ ($RaCl_2$), विलयन के पारद ऋणाग्र द्वारा विद्युत् विश्लेषण से रेडियम धातु का निर्माण हुआ है।

गुणधर्म — रेडियम चमकदार श्वेत धातु है। इसका संकेत रे (Ra), परमाणुसंख्या ८८, गलनांक ७०० सें० तथा क्वथनांक १,१४० सें० है।

रेडियम के अनेक समस्थानिक ज्ञात हैं। यूरेनियम शृंखला में २२६ द्रव्यमान संख्या का समस्थानिक प्राप्त होता है। इसका अर्धजीवन काल (half life period) १६,००० वर्ष है। यह ऐल्फा कण मुक्त कर रेडॉन, रै$_न$ (Rn), में परिणत हो जाता है। रेडॉन शून्य वर्ग की गैसों का अंतिम तत्व है। इसके तत्वांतरण से अनेक तत्वों के अल्पजीवी समस्थानिक मिलते हैं, जिनके द्वारा तीक्ष्ण गामा विकिरण मुक्त होते हैं। सीस इस शृंखला का अंतिम तत्व है।

थोरियम शृंखला में रेडियम के दो समस्थानिक मिलते हैं, जिनकी द्रव्यमान संख्याएँ २२८ और २२४ हैं। इनकी अर्धजीवन अवधि क्रमशः ६.७ और ३.७ दिन है। इनके अतिरिक्त अनेक समस्थानिक कृत्रिम विधियों द्वारा बने हैं।

रेडियम द्विसंयोजक तत्व है। इसके रासायनिक गुण क्षारीय मृदा तत्वों के से हैं। विशेषकर बेरियम से यह बहुत मिलता जुलता है। इस कारण इन दोनो तत्वों का पृथक्करण अत्यंत कठिन होता है। रेडियम हाइड्रॉक्साइड, रे(ओहा)$_2$ [$Ra(OH)_2$], अत्यंत विलेय क्षार है। रेडियम सल्फाइड, रे ग (RaS), रेडियम क्लोराइड, रेक्लो$_2$ ($RaCl_2$), रेडियम ब्रोमाइड, रे ब्रो$_2$ ($RaBr_2$), और रेडियम नाइट्रेट, रे(ना औ$_3$)$_2$ [$Ra(NO_3)_2$] जल में विलेय हैं। रेडियम सल्फेट, रेगऔ$_4$ ($RaSO_4$) अत्यंत अविलेय है। यद्यपि रेडियम के यौगिक रंगहीन होते हैं, तथापि कुछ काल बाद रेडियोऐक्टिवता के कारण इनमें रंग उत्पन्न हो जाता है। यह गुण सब रेडियोऐक्टिव यौगिकों में देखा गया है।

अत्यंत सूक्ष्म मात्रा मे रेडियम का आमापन उसकी रेडियोऐक्टिवता द्वारा सरलता से हो सकता है। यह अन्य रासायनिक विधियों से कहीं अधिक सम्यक् विधि है। इससे मुक्त रेडॉन गैस की माप द्वारा भी रेडियम का आमापन हुआ है। $१०^{-१४}$ ग्राम तक रेडियम का पता इस विधि द्वारा लगाया जा सकता है।

उपयोग — रेडियम का मुख्यत. कैंसर चिकित्सा में उपयोग हुआ है। रेडियम को ट्यूब में रखकर, अथवा उसमें मुक्त रेडॉन गैस के ट्यूब को इस उपयोग में लाते हैं। धातु ढालने के उद्योग में भी रेडियम का उपयोग हुआ है। सूक्ष्म मात्रा में इसका धातु में मिश्रण करने से उसके आंतरिक ढाँचे का चित्र दिखाई देता है। इस विधि द्वारा पता लगाने की विधि को रेडियोग्राफी कहते हैं। अत्यंत सूक्ष्म मात्रा में रेडियम मिश्रित जिंक सल्फाइड को चमकीले लेप बनाने के काम में लाते हैं। इसे घड़ी के डायल मे लगाया जाता है। रेडियम का उपयोग करते समय बहुत सावधानी बरतना आवश्यक होता है, क्योंकि इससे उत्पन्न रेडियोऐक्टिवता तथा अन्य कण अत्यंत हानिकारक होते हैं। [र० चं० क०]

रेडियो शब्द का उपयोग सामान्यतः संयोजक शब्द के रूप में किया जाता है, जो किसी किरण, अर्धव्यास अथवा विकरण से संबंध व्यक्त करता है। शरीर विज्ञान में यह बाहु की दो अस्थियों के, जिन्हें संयुक्त रूप से 'रेडियोकार्पल' कहा जाता है, बाहरी अवयव, अर्थात् 'रेडियो' नामक अस्थि, को व्यक्त करता है। मेढक तथा तत्सदृश अन्य जीवों में 'रेडियस' और 'अलना' नामक दोनों अस्थियाँ संयुक्त होने के कारण 'रेडियो अलना' कही जाती हैं। इस प्रकार प्राणिविज्ञान में रेडियो शब्द का उपयोग एक अस्थिविशेष के लिये संयोजक शब्द के रूप में किया जाता है।

प्राकृतिक विज्ञानों में रेडियो शब्द का उपयोग अत्यंत व्यापक रूप से लघु तरंगों के लिये किया जाता है। बेतारी तार संचार में रेडियो

शब्द का उपयोग दो अथवा अधिक स्थानों के बीच विद्युच्चुंबकीय तरंगों की सहायता से प्रणीत संचारव्यवस्था के लिये किया जाता है। ये तरंगें अत्यंत तीव्र वेग (लगभग १,८६,००० मील प्रति सेकंड) से चलती हैं, सुगमतापूर्वक उत्पन्न की जा सकती हैं, अन्य साधनों की अपेक्षा इनके उत्पादन तथा संचार में कम व्यय होता है, इनके गमन के लिये किसी द्रव्य माध्यम की आवश्यकता नहीं पड़ती और इन्हें एक छोटे से, अल्प मूल्यवान तथा सुग्राही संग्राही (receiver) की सहायता से पहचाना जा सकता है तथा उसमें इनके संकेतों को प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार की संचारव्यवस्था, जिसे रेडियो - संचार - प्रणाली कहा जा सकता है, विविध रूपों में प्राप्त की जाती है। संतारित बेतार (wired wireless) संचार प्रणाली, बेतार संचार और टेलीफोन, आकाशवाणी प्रसारण, रेडियोवीक्षण (television) आदि, इन तरंगों के व्यावहारिक उपयोग एवं महत्व के प्रमाण हैं। इतना ही नहीं, अब तो तापप्रेषित्रों की सहायता से ऊष्मा का प्रेषण भी रेडियोतरंगों द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त, ब्रह्मांड के सुदूरस्थ अंचलों में स्थित खगोलीय पिंडों से, जिनका प्रकाश अभी तक पृथ्वी तक नहीं पहुँच सका है, अत्यंत लघु विद्युत्-चुंबकीय तरंगें पृथ्वी तक आती हैं, जिन्हें विशेष प्रकार के रेडियो संग्राही यंत्रों द्वारा ग्रहण किया जाता है। इन संयंत्रों को 'रेडियो दूरदर्शी' कहते हैं।

विद्युच्चुंबकीय तरंगों के अतिरिक्त रेडियम जातीय कतिपय पदार्थों के केंद्रक निरंतर अत्यंत लघु कणों का उत्सर्जन करते रहते हैं, जिन्हें 'रेडियोऐक्टिव किरणें' कहते हैं। सर्वप्रथम रेडियम में यह गुण परिलक्षित होने के कारण इसे रेडियोऐक्टिवता, कहते हैं (देखें **रेडियोऐक्टिवता**)।

वार्तावहन हेतु रेडियो-संचार-प्रणाली का उपयोग आधुनिक सभ्यता के इतिहास की संभवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण ही नहीं, अपितु युगांतरकारी घटना है। इसका जन्म १८४० ई० में जोसेफ हेनरी द्वारा उच्च आवृत्ति के दोलन उत्पन्न करने की विधि के अन्वेषण के साथ हुआ और इसका स्वरूप सन् १८७३ में मैक्सवेल द्वारा विद्युच्चुंबकीय तरंगों के सिद्धांत के विकास से स्पष्ट हुआ। सन् १८८७ में हाइनरिख हेर्ट्स ने सिद्ध कर दिया था कि विद्युच्चुंबकीय तरंगें पूर्णतः प्रकाशतरंगों की ही प्रकृति की होती हैं और इस कारण इनका उपयोग संकेतप्रेषण एवं ग्रहण के निमित्त किया जा सकता है। इसके आधार पर कार्य करते हुए गुल्येलमो-मार्कोनी ने सन् १८९७ ई० में बेतारी-तार-संचार द्वारा सागरतट से १८ मील दूर स्थित जहाज पर संकेत भेजने में सफलता प्राप्त की थी। १८८७ ई० तक बेतारी-तार-संचार सार्वजनिक स्तर पर संवादप्रेषण के लिये सर्वथा उपयुक्त सिद्ध हो चुका था, क्योंकि ६ दिसंबर, १८८६ ई० को प्रथम सशुल्क रेडियो टेलीग्राम इंग्लैंड के नीडिल्स नामक स्टेशन से भेजा गया था। सन् १९०३ तक पारमहासागरीय रेडियो-संचार-व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी और उसी वर्ष ३ मार्च को प्रथम बार ऐटलैंटिक महासागर के पार अमरीका से रेडियो टेलीग्राम (रेडियोग्राम) द्वारा प्राप्त समाचार लंदन के 'टाइम्स' नामक समाचारपत्र में प्रकाशित हुआ। सन् १९०५ में डी फॉरेस्ट द्वारा ट्रायोड वाल्व (triode valve) के अन्वेषण ने रेडियो-संचार-व्यवस्था के विकास के इतिहास में नया पृष्ठ जोड़ा। इन वाल्वों के उपयोग से प्रवर्धक (amplifire), संसूचक (detector) तथा दिष्टकारी (rectifier) आदि युक्तियों का जन्म हुआ। इन्हीं की सहायता से सन् १९१४ में आर्मस्ट्रांग ने पुनर्योजी परिपथों (regenerative circuits) की संरचना की, जिन्हें रेडियो संयंत्रों में प्रविष्ट कर रेडियोतरंगों को ध्वनितरंग में, अथवा ध्वनितरंगों को रेडियोतरंगों में, परिणत कर बेतारी टेलीफोन प्रणाली एवं आधुनिक रेडियो संचार प्रणाली का निर्माण किया गया। सर्वप्रथम २८ जुलाई, १९१५ ई० को अमरीकन टेलीफोन एवं टेलीग्राफी कंपनी ने वेस्टर्न इलेक्ट्रिक कं० के सहयोग से आर्लिंगटन से हवाई द्वीप, (लगभग ५,००० मील) तक और उसके तीन ही महीने बाद २८ अक्टूबर, १९१५ ई० को आर्लिंगटन से पैरिस तक, अर्थात् ऐटलैंटिक महासागर पार, बेतार द्वारा वार्तावहन का सफल प्रयोग किया। इसके अनंतर इस दिशा में बड़ी तीव्र गति से विकास हुआ और आज विज्ञान के इस अंग को इस सीमा तक पहुँचा दिया गया है कि अब विभिन्न अंतर्ग्रहीय एवं अंतरिक्ष रॉकेटों में स्वचालित रेडियो संग्राही एवं प्रेषण व्यवस्था की सहायता से वहाँ की सूचनाएँ पृथ्वी तक बड़ी सरलता से पहुँच जाती हैं।

[सु० चं० गौ०]

रेडियोऐक्टिवता (कृत्रिम) बहुत वर्षों तक केवल वे ही रेडियोऐक्टिव तत्व ज्ञात थे जो प्रकृति में पाए जाते हैं। पर सन् १९३४ में क्यूरी तथा जोलियो ने खोज निकाला कि कुछ हलके नाभिकवाली धातुओं के वर्कों में पॉजिट्रॉन-सक्रियता उत्पन्न की जा सकती है, यदि इन वर्कों को पोलोनियम जनित ऐल्फ़ा विकिरण की बौछार में रखा जाए। कोई भी पॉजिट्रॉन सक्रिय तत्व प्रकृति में नहीं पाया जाता। १९३४ ई० से लेकर अब तक जो समय बीता है, उसमें १,००० से भी अधिक रेडियोऐक्टिव तत्व कृत्रिम रूप से उच्च ऊर्जा त्वरित्रों (high energy accelerators) तथा न्यूक्लीय रिऐक्टरों की सहायता से उत्पन्न किए जा चुके हैं।

कृत्रिम रेडियोऐक्टिवता प्रायः सभी बातों में प्राकृतिक रेडियोऐक्टिवता के समान है तथा वह विघटन के समान नियमों और श्रेणी समीकरणों का पालन भी करती है, पर दो बातें ऐसी हैं जिनमें कृत्रिम रेडियोऐक्टिवता प्राकृतिक रेडियोऐक्टिवता से कुछ भिन्न है : (१) कृत्रिम रेडियोऐक्टिव तत्वों में पॉजिट्रॉन सक्रियता विद्यमान रहती है और (२) उन तत्वों के, जो इलेक्ट्रॉन-परिग्रहण की सक्रियता प्रदर्शित करते हैं, विघटन की दर में कुछ कुछ रासायनिक अथवा भौतिक अवस्था की प्रभावाधीनता भी विद्यमान होती है।

पॉजिट्रॉन की खोज १९३२ ई० में हुई थी। क्यूरी तथा जोलियो कुछ हलके तत्वों, जैसे बोरॉन तथा ऐलुमिनियम, को पोलोनियम जनित ऐल्फ़ा कणों की बौछार में रखने से उत्पन्न पॉजिट्रॉन का अध्ययन कर रहे थे। उस समय उन्होंने देखा कि ऐल्फ़ा कणों की बौछार हटा लेने पर भी उन तत्वों से पॉजिट्रॉन निकलते रहते थे तथा यह निष्कासन समय के साथ घटता घटता अंत में शून्य हो जाता था। उन्होंने इसका यह अर्थ निकाला कि ऐल्फ़ा कणों की बौछार से किसी नए तत्व का सृजन हो गया था। इस नए तत्व में पॉजिट्रॉन सक्रियता उत्पन्न हो गई थी तथा यह सक्रियता प्राकृतिक

रेडियोऐक्टिवता के ही समान थी। अंतर था तो केवल इतना ही कि प्राकृतिक रेडियोऐक्टिव पदार्थ ऋणात्मक बीटा कण तथा ऐल्फ़ा कण मुक्त करते थे, जब कि ये नए पदार्थ पॉजिट्रॉन निकालते थे। क्यूरी तथा जोलियो द्वारा ज्ञात किया गया कि बोरॉन तथा ऐलुमिनियम की अर्ध आयु क्रमशः १४ मिनट तथा ३·२५ मिनट थी, जबकि बोरॉन के लिये अब ज्ञात आयु १०·१ मिनट है। इन दोनों ने बोरॉन के लिये ऐल्फ़ा कणों के द्वारा निम्न क्रिया के घटित होने का सुझाव दिया :

$$_5B^{10} + {_2He^4} \rightarrow {_7N^{13}} + {_0n^1}$$

$$_7N^{13} \rightarrow {_6C^{13}} + e^+ \ (T = 10{\cdot}1 \text{ मिनट}),$$
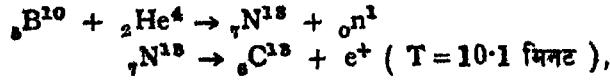
अर्थात् इनके अनुसार नाइट्रोजन पॉजिट्रॉन निकालकर स्थायी तत्व कार्बन^{13} में परिणत हो जाता है।

इन रेडियोऐक्टिव तत्वों को उन दोनों ने रासायनिक अभिक्रिया के द्वारा अन्य तत्वों से अलग किया था।

रेडियोऐक्टिव क्षय (विघटन) के प्रकार — इस खोज के तुरंत बाद विश्व भर के वैज्ञानिकों ने विभिन्न तत्वों को प्राकृतिक रेडियोऐक्टिव तत्वों तथा त्वरित्रों से प्राप्त विभिन्न प्रकार की गोलियों से आघात कराकर, नए नए रेडियोऐक्टिव आइसोटोपों का उत्पादन प्रारंभ कर दिया। अब तो प्रायः सभी तत्वों के रेडियोऐक्टिव् आइसोटोप हैं। इनमें से अधिकतर बीटा उत्पादक हैं, पर ऐल्फ़ा उत्पादन केवल भारी तत्वों द्वारा ही होता है। बीटा तथा पॉजिट्रॉन दोनों की गतिज उर्जा का ग्राफ एक ही प्रकार का है तथा अधिकतम, अथवा सीमांत, ऊर्जा नाभिकीय अभिक्रिया के 'क्यू'-के मान, अथवा विघटन ऊर्जा के बराबर होती है। दोनों का सिद्धांत भी समान है। दोनों के साथ ही न्यूट्रिनो निकलते हैं, पर नाभिक के अंदर क्रिया इस प्रकार बताई जाती है :

बीटा-निष्कासन हेतु : न्यूट्रॉन → प्रोटॉन + बीटा + न्यूट्रिनो
पॉजिट्रॉन निष्कास हेतु : प्रोटॉन (न्यूक्लियस में) → न्यूट्रॉन (न्यूक्लियस में) + पॉजिट्रॉन + न्यूट्रिनो।
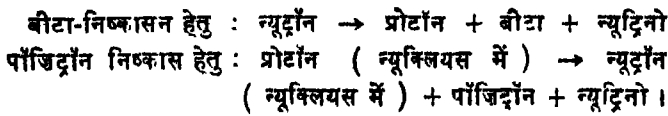
चूँकि प्रोटॉन न्यूट्रॉन की अपेक्षा हलका होता है, इस कारण प्रोटॉन से न्यूट्रॉन मे परिणति की क्रिया केवल नाभिक के भीतर ही संभव है।

बीटा निष्कासन हेतु शर्त :

क्यू का मान = $(\text{ज}, \text{अ})_{\text{प० मा०}} - (\text{ज} + १, \text{अ})_{\text{प० मा०}}$।

पॉजिट्रॉन निष्कासन हेतु शर्त :

क्यू का मान = $(\text{ज}, \text{अ})_{\text{प० मा०}} - (\text{ज} - १, \text{अ})_{\text{प० मा०}} - २\text{म}_{\text{इ}}$।

के-इलेक्ट्रॉन परिग्रहण हेतु शर्त :

क्यू का मान = $(\text{ज}, \text{अ})_{\text{प० मा०}} - (\text{ज} - १, \text{अ})_{\text{प० मा०}}$।

यहाँ पर 'क्यू का मान' = न्यूक्लीय अभिक्रिया की विघटन ऊर्जा, $(\text{ज}, \text{अ})_{\text{प० मा०}}$ = पिता न्यूक्लियस का परमाण्विक द्रव्यमान, $(\text{ज} + १, \text{अ})_{\text{प० मा०}}$ अथवा $(\text{ज} - १, \text{अ})_{\text{प० मा०}}$ = पुत्री नाभिक का परमाण्विक द्रव्यमान, ज = परमाणुक्रमांक, अ = द्रव्यमानसंख्या तथा $\text{म}_{\text{इ}}$ = इलेक्ट्रॉन का द्रव्यमान।

फ़र्मी एवं अन्य लोगों, जैसे डिरैक, गैमो, टेलर, मार्शाक एवं सुदर्शन, ली, यांग, गेलमान एवं सकुराई आदि ने जो सिद्धांत दिए हैं, वे उपरिलिखित तीनों प्रकार की सक्रियताओं के कारणों का स्पष्टीकरण करते हैं तथा तत्संबंधी तथ्यों, जैसे 'पेयरिटी' अथवा 'समता' के 'अचल न रहने का सिद्धांत', 'दुर्बल पारस्परिक क्रियाएँ' (weak interactions), न्यूट्रिनो, इलेक्ट्रॉन, ऐंटिन्यूट्रिनो तथा पॉजिट्रॉन आदि का 'कुंडलीपन' (helicity), 'विचित्र कणों' (strange particles) का विघटन आदि, का भी स्पष्टीकरण करते हैं।

कुछ कृत्रिम रेडियोऐक्टिव तत्व ऐल्फ़ा-अस्थिर अथवा ऐल्फ़ा-सक्रिय हैं। पर ऐसे तत्वों की कहीं बड़ी संख्या के-इलेक्ट्रॉन-प्रग्रहण द्वारा विघटित होती है। यदि कोई न्यूक्लियस साधारणतया पॉजिट्रॉन मुक्त करता है, तो कुछ संभावना इस बात की भी रहती है कि वह नाभिक अपने के-छद के इलेक्ट्रॉन का शोषण कर ले तथा पॉजिट्रॉन न निकाले। उस के-छद (के-परिकक्ष) के रिक्त स्थान को प्रायः बाह्यछद के इलेक्ट्रॉन आकर भरते हैं और इस प्रकार कुछ के-एक्स किरणें उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार उस नाभिक का परमाणु-क्रमांक एक इकाई उसी प्रकार घट जाता है जिस प्रकार पॉजिट्रॉन-निष्कासन द्वारा। ये के-ऐक्स-किरणें उस नए बने तत्व (पुत्री-नाभिक) की विशिष्ट, अथवा चरित्रगत, एक्स-किरणें होती हैं तथा इन एक्स-किरणों के द्वारा उस नए तत्व की पहचान की जा सकती है। यह एक्स-किरण सदा बाह्य प्रभाव के रूप में के-प्रग्रहण के साथ प्रस्तुत रहती है। यह बाह्य प्रभाव सर्वप्रथम सन् १९३७ में $_{३१}$गैलियम^{६७} के इस रीति में विघटित होने के प्रमाणस्वरूप देखा गया था जबकि के-प्रग्रहण से उत्पन्न $_{३०}$जिंक की के-ऐल्फ़ा तथा के-बीटा एक्स-किरणें पहचानी गई थीं। यहाँ के-प्रग्रहण द्वारा उत्पन्न पुत्री-न्यूक्लियस का नाम $_{३०}$जिंक है।

बीटा-विघटन में जो एक्स-किरणें उत्पन्न होती है, वे एक इकाई अधिक परमाणु-क्रमांकवाले तथा पॉजिट्रॉन-निष्कासन एवं के-प्रग्रहण दोनों में एक इकाई कम परमाणु-क्रमांकवाले तत्वों की विशिष्ट एक्स-किरणें होती हैं। उदाहरण के रूप में $_{५३}$आयोडीन^{१३१} एक बीटा निष्कासित कर $_{५४}$ज़ीनॉन की विशिष्ट एक्स-किरणें मुक्त करता है, जबकि $_{२९}$कापर^{६४} पॉजिट्रॉन निष्कासित कर $_{२८}$निकल की विशिष्ट एक्सकिरणें ही मुक्त करता है।

वैसे $_{२९}$कॉपर^{६४} की रेडियोऐक्टिवता विचित्र तथा असाधारण है। इसकी अर्ध-आयु १२·८ घंटे है। चूँकि तत्वों की सारणी में इसके एक परमाणु क्रमांक आगे एवं एक क्रमांक पीछे एक एक स्थायी आइसोटोप ($_{२८}$निकिल^{६४} तथा $_{३०}$जिंक^{६४}) हैं, इस कारण यह तीनों प्रकार की 'बीटा-सक्रियता' (अर्थात् बीटा-सक्रियता, पॉजिट्रॉन-सक्रियता तथा के-प्रग्रहण सक्रियता) दिखाता है। इसके ४० प्रति शत विघटनों का परिणाम $_{३०}$जिंक^{६४} के रूप में (बीटा निष्कासन करके) एवं शेष ६० प्रति शत का परिणाम स्थायी $_{२८}$निकल^{६४} के रूप में होता है तथा इन निकल^{६४} को ले जानेवाले विघटनों में से दो तिहाई के-प्रग्रहण तथा शेष पॉजिट्रॉन-निष्कासन होते हैं।

बीटा-विघटन का एक दिलचस्प एवं लाभप्रद उदाहरण $_६$कार्बन^{१३} है। इसका परमाणवीय द्रव्यमान = १४·००७५२६ परमाणवीय द्रव्यमान इकाइयाँ (प० द्र० इ०) तथा $_७$नाइट्रोजन^{१४} का प०

द्रव्यमान = १४·००७५२६ प० द्र० इ० है। इस प्रकार कार्बन[१४] के बीटा-विघटन के द्वारा उत्पन्न क्यू-ऊर्जा = (१४·००१६६२-१४·००७५२६) ९३१ = ०·१५४ मेव (Mev)। इस बीटा-विघटन का विशेष महत्व यह है कि इसका उपयोग पुरातन अथवा ऐतिहासिक वस्तुओं की आयु ज्ञात करने में होता है। इस विधि को 'कार्बन-आयु-निर्धारण-विधि' (Carbon Dating Method) कहते हैं। कार्बन का अर्ध-जीवन-काल = ५,५६० वर्ष है। जिस समय तत्वों की सृष्टि हुई थी, तब से अबतक प्रकृति में कोई भी कार्बन[१४] नहीं बचा है सब विघटित हो गया है। परंतु पृथ्वी के वायुमंडल में अंतरिक्ष-किरणों (cosmic rays) के न्यूट्रॉन नाइट्रोजन[१४] से अभिक्रिया करके बराबर कार्बन[१४] का सृजन करते रहते हैं। वह अभिक्रिया यह है : न्यूट्रॉन + नाइट्रोजन[१४] → प्रोटॉन[१] + कार्बन[१४]। इस प्रकार वायु के कार्बन डाइऑक्साइड के अणुओं में कुछ अंश कार्बन[१४] का भी रहता है। पौधे वायुमंडल से कार्बन डाइऑक्साइड सोख लेते हैं एवं अपने बढ़ने की क्रिया में उसका अपने अंदर समावेश भी कर लेते हैं। जब एक वृक्ष काट लिया जाता है, अथवा रुई की फसल काट ली जाती है, तो पौधे की वृद्धि रुक जाती है तथा वह रेडियोऐक्टिव कार्बन[१४] को अपने अंदर लेना भी बंद कर देता है। जो कुछ रेडियोऐक्टिव कार्बन पौधे ने अपने जीवनकाल में ले लिया था, उसका अब बराबर विघटन होता रहता है। ऐसी वस्तुओं की आयु जो वनस्पतीय पदार्थ से निर्मित हो, जैसे लकड़ी, कागज, कपड़ा आदि, अब इस बात की माप लेने से ज्ञात कर ली जाती है कि अब उसमें कितना कार्बन शेष रह गया है। इस प्रकार वस्तुओं की ५,००० वर्ष तक की आयु ज्ञात की जा चुकी है। इस प्रकार ज्ञात आयु में अशुद्धि ± ५० वर्ष होती है।

बहुत से परमाणु आंतरिक रूपांतरण (internal conversion) की क्रिया द्वारा विशिष्ट एक्स-किरणें मुक्त करते है, अर्थात् ऊर्जायुक्त, अथवा उत्तेजित, न्यूक्लियस एक गामा किरण निष्कासित करने की अपेक्षा सीधा परमाणु के नक्षत्रीय इलेक्ट्रॉनों से परस्पर क्रिया करता है और उस इलेक्ट्रॉन को मुक्त कर देता है, और उस इलेक्ट्रॉन के रिक्त स्थान को अन्य छद के इलेक्ट्रॉन भरकर विशिष्ट एक्स-किरणें मुक्त कर देते है। इस कारण सदा इस बात का विचार आवश्यक है कि जो एक्स-किरणें हम देख रहे हैं, वे आंतरिक रूपांतरण द्वारा मुक्त हुई हैं अथवा के-अग्रहण के द्वारा।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि गामा-निष्कासन तथा आंतरिक रूपांतरण दोनों स्वतंत्र क्रियाएं हैं तथा एक 'ऊर्जा युक्त' (उत्तेजित) नाभिक अपनी ऊर्जा का क्षय इन दोनों क्रियाओं द्वारा कर सकता है और इन दोनों क्रियाओं में पर्याप्त प्रतिस्पर्धा भी होती है। यदि किसी ब-छद का रूपांतरण इलेक्ट्रॉन निकलता है तथा उस क्रिया में प्राय: निकलनेवाली गामा किरण की ऊर्जा = $ऊ_{गा}$ है, तो उस रूपांतरित इलेक्ट्रॉन की गतिज-ऊर्जा $ऊ_{इ}$ इस सूत्र से दी जाएगी :

$$ऊ_{इ} = ऊ_{गा} - ऊ_{ब} \text{ अथवा } ऊ_{गा} = ऊ_{इ} + ऊ_{ब} \cdots\cdots (१)$$

यहाँ $ऊ_{ब}$ = ब-छद के इलेक्ट्रॉनों की 'बंधनकारी ऊर्जा' (binding (energy)। आंतरिक रूपांतरण गुणक (निष्पत्ति) = $\alpha_{ब}$ (जो ब-छद के लिये है, जैसे $\alpha_{क}$, $\alpha_{ख}$ इत्यादि की परिभाषा है :

$$\alpha_{ब} = \frac{न_{ब}}{न_{गा}}, \quad \cdots\cdots\cdots (२)$$

यहाँ $न_{ब}$ = ब-छद से निकलनेवाले इलेक्ट्रॉनों की संख्या तथा $न_{गा}$ = उन इलेक्ट्रॉनों के साथ निकलनेवाली गामा किरणों की संख्या है। पूर्ण रूपांतरण गुणक (Total Conversion Coefficient) की परिभाषा है :

$$\alpha = \sum \alpha_{ब} \;,$$

अर्थात् सब छदों से संबंधित गुणकों का जोड़। उदाहरण स्वरूप बेरियम[१३७] के लिये $\alpha_{क} = ०·०९५$ (सन्निकटतः) तथा $\alpha = ०·१२$ (सन्निकटतः)।

यदि $\alpha = १$ हो तो उसका अर्थ यह होगा कि यदि एक गामा किरण निकलती है तो उसके साथ ही उस विशिष्ट न्यूक्लीय संक्रमण (transition) में एक ही आंतरिक रूपांतरण इलेक्ट्रॉन भी निकलता है। गामा तथा इलेक्ट्रॉन एक ही न्यूक्लीय संक्रमण के होने चाहिए।

यह भी देखा गया है कि कुछ ऐसे भी दो तत्व होते हैं जिनमें प्रोटॉनों तथा न्यूट्रॉनों की संख्या तो समान है (अर्थात् परमाणुक्रमांक तथा द्रव्यमानसंख्या तो समान है), पर उनमें से एक किसी उत्तेजित ऊर्जास्तर (excited energy level) में मापे जा सकनेवाले काल तक रह सकता है, तो ऐसे तत्व समावयवी (isomers) कहलाते हैं। सॉडी ने १९१७ ई० में, प्रयोगों के आधार पर इनके प्राकृतिक रेडियोऐक्टिव तत्वों में उपस्थित होने का सुझाव दिया था, पर अब तो प्राय: १२० समावयवी ज्ञात हैं, जिनका औसत जीवनकाल $१०^{-१०}$ सेकंड से लेकर ४ वर्ष तक है। सबसे प्रथम उदाहरण $_{३५}$ब्रोमीन[८०] का था। इसकी रेडियोऐक्टिवता के विश्लेषण से दो अर्ध-जीवन-काल १८ मिनट तथा ४·४ घंटे के ज्ञात हुए हैं। विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि ४·५ घंटेवाला जीवनकाल एक समावयवी ऊर्जास्तर से दूसरी समावयवी स्तर में संक्रमण से संबंधित है, जिसमें एक गामा निष्कासित होता है, तथा १८ मिनट का जीवनकाल नीचेवाले समावयवी स्तर के बीटा-निष्कासन से संबंधित है। इसी प्रकार अन्य बहुत से समावयवों का अध्ययन किया गया है।

प्राय: समावयवों से गामा किरणें निकलने के स्थान पर आंतरिक रूपांतरण इलेक्ट्रॉन निष्कासित होते हैं और इस प्रकार गामा किरण के स्थान पर बहुत नीची ऊर्जावाले इलेक्ट्रॉनों का समूह देखा जाता है।

कृत्रिम रेडियोऐक्टिव तत्वों का महत्व तथा उपयोग

एक उपयोग पुरानी वस्तुओं की कार्बन-आयु-निर्धारण-विधि के रूप में वर्णित हो चुका है। कुछ लोग इसे 'परमाण्वीय घड़ी' कहते हैं। शरीर के रोगी अवयवों की चिकित्सा के लिये इन रेडियोऐक्टिव तत्वों को प्राकृतिक रेडियोऐक्टिव तत्वों के स्थान पर प्रयोग में लाया जा सकता है। इसके कारण मूल्य में बचत के अतिरिक्त कुछ अन्य लाभ भी संभव हैं। कुछ लघु जीवनकाल वाले पदार्थों को, जिनकी अर्धआयु कुछ घंटे मात्र ही हो, खुराक के रूप में किसी रोगी को देने पर, इस डर से उन्हें वापस प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहेगी कि कहीं खुराक अधिक न हो गई हो, क्योंकि वे तो स्वयं ही कुछ घंटों में विघटित हो जाएंगे। वैसे खुराक के लिये उचित मात्रा ही दी जाती है। इसके अतिरिक्त,

चूँकि उस पदार्थ को वापस प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती, इस कारण शरीर में इसका उपयोग बाह्य सेवन तथा अंत:सेवन, दोनों प्रकार से, हो सकता है।

यह विदित है कि शरीर की कुछ क्रियाओं द्वारा कुछ तत्व विशेष शरीर के विशेष भागों, इंद्रियों, अथवा ग्रंथियों में ही एकत्र हो जाते हैं। इस प्रकार किसी रोगविशेष, जैसे अर्बुद, फोड़ा, कैंसर आदि, में, केवल उसी स्थान तक इलाज को सीमित रखने के लिये, कुछ विशेष रेडियोऐक्टिव पदार्थों का उपयोग किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में, यदि आयोडीन का सेवन किया जाए, तो वह गलग्रंथि (thyroid) में ही जाकर एकत्र हो जाता है। इस कारण कोई भी समझ सकता है कि गलग्रंथि के कुछ रोगों के लिये रेडियोऐक्टिव आयोडीन का अंत:प्रयोग लाभकारी होगा तथा वह उस ग्रंथि तक ही सीमित रहेगा। इसी प्रकार रेडियोऐक्टिव लोहा, कैल्सियम तथा फॉस्फोरस आदि का उपयोग कुछ विशेष रोगों (जैसे हड्डी की दुर्बलता अथवा सड़न, दाँतों की तकलीफ आदि) के लिये किया जा सकता है।

कृत्रिम रेडियोऐक्टिव तत्वों का उपयोग कृषि में खाद के रूप में भी हुआ है। इस संदर्भ में रेडियोऐक्टिव फॉस्फोरस, रेडियोऐक्टिव गंधक तथा सोडियम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

यह भी देखा गया है कि गामा तथा एक्स किरणों के समान ही न्यूट्रॉन भी कुछ दैहिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। परंतु जहाँ एक्स तथा गामा किरणें अस्थि वाले भागों पर अधिक प्रभाव डालती हैं वहाँ न्यूट्रॉन मांसल भागो पर अधिक प्रभाव डालता है, क्योंकि मांस में हाइड्रोजन का जमाव अधिक होता है और न्यूट्रॉन द्वारा हाइड्रोजन से मुक्त किए हुए प्रोटॉन ही संभवतः दैहिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इन विकिरणों के उपयोग संबंधी अनुसंधान विश्व भर में हो रहे हैं।

शायद कृत्रिम रूप से उत्पादित रेडियोऐक्टिव तत्वों का सबसे अधिक उपयोग रासायनिक, जीव-रासायनिक तथा जैविक अध्ययनों में अनुज्ञापक के रूप में है। सच पूछा जाए तो रेडियोऐक्टिव तत्व ही नहीं अपितु स्थायी तत्व भी, जो कृत्रिम रूप से उत्पन्न किए जाते है, इन अध्ययनो के लिये लाभकारी हैं। उदाहरण स्वरूप, हाइड्रोजन, कार्बन, नाइट्रोजन तथा ऑक्सीजन आदि सब ज्ञात रासायनिक यौगिकों में से नब्बे प्रति शत से भी अधिक में पाए जाते हैं और इनसे कुछ कम पाए जानेवाले स्थायी आइसोटोप हाइड्रोजन^{2}, कार्बन^{13}, नाइट्रोजन^{15} तथा ऑक्सीजन^{17} हैं, जो 'अनुज्ञापक तत्व' के रूप में बहुत सी जैविक समस्याओं में उपयुक्त सिद्ध हुए हैं।

पर रेडियोऐक्टिव परमाणु अनुज्ञापक तत्व के रूप में अधिक उपयुक्त हैं, क्योंकि अपनी सक्रियता के कारण वे किसी भी स्थान पर अपनी उपस्थिति प्रदर्शित कर देते हैं। यदि इन पदार्थों को किसी व्यक्ति, पशु, अथवा जीव को खिला दिया जाए, तो इस बात का अध्ययन किया जा सकता है कि वह पदार्थ शरीर के भीतर कहाँ जाता है तथा कहाँ खपता है। उदाहरण के रूप में, रेडियोऐक्टिव फ़ॉस्फ़ोरस के उपयोग में देखा गया है कि पाचित फ़ॉस्फ़ोरस का ६२ प्रति शत अंश शरीर के हड्डी वाले भाग में पाँच दिन के भीतर पहुँच जाता है। ऐसा कैल्सियम फ़ॉस्फेट जिसमें फ़ॉस्फ़ोरस रेडियोऐक्टिव बना दिया गया है, चूहों को खिलाकर स्वांगीकरण का अध्ययन करने से ज्ञात हुआ है कि अधिकतम कैल्सियम आगे के दाँतों में जाता है। पौधों के द्वारा खनिजों के स्वांगीकरण के अध्ययन के लिये रेडियोऐक्टिव सोडियम तथा फॉस्फ़ोरस का उपयोग होता है।

कृत्रिम रेडियोऐक्टिव पदार्थों का उपयोग व्यवसाय में भी होता है। कृत्रिम रेडियोऐक्टिव पदार्थों की गामा-किरणें एक्सकिरणों तथा प्राकृतिक गामा-किरणों के स्थान पर, मशीनों के पुर्जों के निरीक्षण के लिये उपयुक्त हो सकती हैं। उदाहरण के रूप में, इंट्रियम, कोबल्ट तथा अमेरीशियम गामा किरणों के स्रोत के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इंट्रियम की गामा किरणों से दो इंच मोटी लोहे की चद्दर पार कर चित्र लिए जा चुके हैं तथा इसकी गामा-किरणें उतनी ही अंत:प्रवेशी हैं जितनी रेडियम की। अमेरीशियम की विशिष्ट सक्रियता रेडियम की तुलना में तीन गुनी अधिक है तथा इसका अर्ध-जीवनकाल लगभग ४५१ वर्ष है। यह ऐल्फ़ा कण भी मुक्त करता है। इस कारण बेरिलियम को इन ऐल्फ़ा किरणों के समक्ष रखने से न्यूट्रॉन का एक सुगम तथा स्थायी स्रोत उपलब्ध हो जाता है। अब तक कृत्रिम रूप से १०४ तत्व उत्पादित किए जा चुके हैं। इसका श्रेय नाभिकीय रिऐक्टरों तथा त्वरित्रों को है।

सं० ग्रं० — आई०, क्यूरी तथा एफ़०, ज्होल्यो : कौंपते रेंदस १९८, २५४ (१९३४); नेचर १३३, २०१ (१९३४); फेनमान तथा जेल-मान : फीज़िक्स रिवाइज्ड, १०९, १९३ (१९५८); सुदर्शन और मार्शक : फीज़िक्स रिवाइज्ड, १०९, १८६० (१९५८); होलैंडर, पर्लमान और सीबोर्ग : रिवाइज्ड मॉडर्न फीज़िक्स २५, ४६९ (१९५३)। [ल० रा० ख०]

रेडियोऐक्टिवता (प्राकृतिक) नाभिक का एक गुण है। जो कुछ ज्ञान हमें नाभिक के विषय में प्राप्त है, वह सब रेडियोऐक्टिवता के अनुसंधान के द्वारा ही प्राप्त हुआ है। यदि यह बात सत्य न होती कि U^{235}, U^{238} तथा Th^{232} रेडियोऐक्टिव हैं तथा उनकी अर्ध-आयु विश्व की आयु (३×१०^{९} वर्ष) से अधिक है, तो न तो प्रकृति में ऐसे तत्व होते जिनका परमाणु क्रमांक ८२ से अधिक है, न हमें नाभिकीय भौतिकी का ज्ञान होता और न आज परमाणु बम ही होते। लघु जीवनकाल वाले तत्व विश्व की रचना के समय से अब तक विघटित होकर लुप्त हो चुके हैं। केवल उपरि-लिखित तीन नाभिक तथा अन्य स्थायी तत्व सुदूर भूत में जन्म लेने के पश्चात् अब भी अवशिष्ट हैं। इस प्रकार प्राकृतिक रेडियो-ऐक्टिवता तथा कृत्रिम रेडियोऐक्टिवता में कोई मूलभूत अंतर नहीं है। सच पूछा जाय तो अधिकतर प्राकृतिक रेडियोऐक्टिव तत्व अब कृत्रिम रूप से प्रयोगशालाओं में उत्पादित हो चुके हैं।

जैसा ऊपर कहा गया है, रेडियोऐक्टिवता नाभिक का एक गुण है। कुछ परमाणुओं में से ऐल्फ़ा तथा बीटा कणों के निष्कासन से इस बात का संकेत प्राप्त हुआ कि परमाणु छोटी इकाइयों से निर्मित

हैं। ऐल्फ़ा कणों के प्रकीर्णन के प्रयोगों के निरीक्षणों से रदर्फ़र्ड का परमाणवीय नाभिक की संरचना संबंधी विचार सत्य सिद्ध हुआ। विभिन्न रेडियोऐक्टिव तत्वों के रासायनिक संबंधों के विश्लेषण से समस्थानिकों (isotopes) की खोज हुई। प्राकृतिक रेडियोऐक्टिव तत्वों से उपलब्ध ऊँची ऊर्जा वाले ऐल्फ़ा कणों द्वारा परमाणुओं पर बमबारी करने से कुछ नाभिकों को विघटित होते देखा गया। इसी से न्यूट्रॉन की खोज हो सकी तथा नाभिक की संरचना ज्ञात हो सकी। इस बमबारी से प्राप्त रूपांतरित परमाणु प्रायः रेडियोऐक्टिव होते हैं। इन कृत्रिम रेडियोऐक्टिव तत्वों के क्षय के नियम तथा पूर्वज्ञात प्राकृतिक रेडियोऐक्टिव तत्वों के क्षय के नियमों में समानता है।

नाभिक के सिद्धांत में बोर (Bohr) के परमाणु संबंधी सिद्धांत जैसा कोई सरल 'यांत्रिक प्रतिरूप' नहीं है, यद्यपि ऊर्जा-स्तरों का विचार नाभिक के लिये अपना लिया गया है। इस विज्ञान को न्यूक्लीय स्पेक्ट्रमिकी कहते हैं। यदि किसी परमाणु का कोई इलेक्ट्रॉन उत्तेजित अवस्था में पहुँचा दिया जाए, तो वह प्रायः $१०^{-८}$ सेकंड में अपने मूलभूत स्तर पर लौट आएगा। पर बहुत से नाभिक उत्तेजित अवस्था में बहुत लंबे काल तक (कुछ नाभिक तो अरबों वर्ष तक) रह सकते हैं और तत्पश्चात् एक स्थायी अवस्था में विघटित होते हैं। इसके अतिरिक्त परमाणुओं की अपेक्षा नाभिक अधिक प्रकारों से विघटित होते हैं। एक नाभिक का एक नीचे ऊर्जास्तर में संक्रमण एक ऐल्फ़ा उत्सर्जन द्वारा (ऐल्फ़ा-रेडियोऐक्टिवता), एक इलेक्ट्रॉन अथवा पॉज़ीट्रॉन निष्कासन द्वारा अथवा के-इलेक्ट्रॉन अग्रहण द्वारा (बीटा-रेडियोऐक्टिवता) अथवा एक 'फ़ोटॉन' (गामा किरण) निष्कासन द्वारा (गामा-रेडियोऐक्टिवता), हो सकता है।

प्रकृति में बहुत से रेडियोऐक्टिव तत्व पाए जाते हैं। प्राकृतिक रेडियोऐक्टिवता बहुत भारी तत्वों में सर्वाधिक पाई जाती है। ये सब तत्व ऐल्फ़ा सक्रिय होते हैं। ये तत्व प्रकृति में इसलिये विद्यमान हैं, क्योंकि ये इतने धीरे धीरे विघटित होते हैं कि तत्वों की सृष्टि के समय से अब तक भी वे शेष बच रहे हैं। जो रेडियोऐक्टिव तत्व प्रकृति में नहीं पाए जाते, वे न्यूक्लीय अभिक्रिया द्वारा बनाए जा सकते हैं।

रेडियोऐक्टिवता की खोज रंट्येन (Roentgen) द्वारा सन् १८९५ में एक्सकिरण की खोज के तुरंत बाद हुई। इसकी खोज का श्रेय फ्रांस के हेनरी बेकरेल (H. Becquerel) को है। रंट्येन की खोज के पश्चात् ऐसा शक किया जाता था कि एक्स-किरणों का उत्पादन एक्सकिरण-नलिका की दीवारों की प्रतिदीप्ति के कारण हुआ था। इस कारण बहुत से निरीक्षक इस बात की खोज में लगे हुए थे कि अन्य प्रतिदीप्तिशील, या स्फुरदीप्तिशील पदार्थों में एक वेधनशील विकिरण की खोज करें। इन्हीं लोगों में बेकरेल भी थे। बेकरेल यूरेनियम के एक लवण के साथ प्रयोग कर रहे थे। कुछ वर्ष पूर्व इन्होंने सिद्ध कर दिया था कि पराबैंगनी किरणों के प्रभाव से इस लवण में तीव्र स्फुरदीप्ति उत्पन्न हो जाती थी। इन्होंने थोड़ा सा लवण लेकर प्रकाश के सामने रखा और उसको काले कागज में लपेटकर एक फोटो प्लेट के समक्ष रखा। चाँदी की एक पट्टिका उस लवण तथा फोटो प्लेट के बीच में रख दी गई थी। कुछ घंटों के पश्चात् फोटो प्लेट डेवलेप करने पर एक प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई दिया, अर्थात् यूरेनियम लवण कुछ ऐसा विकिरण निकालता था जो उस चाँदी की पट्टिका को भी पार कर फोटो प्लेट पर प्रभाव डालता था। शीघ्र ही यह भी ज्ञात हो गया कि वह विकिरण उस यौगिक के यूरेनियम वाले अंग से आता था तथा उसके समतुल्य यूरेनियम लेने पर, अथवा उसके समान यूरेनियम की मात्रा रखनेवाले किसी भी यौगिक को लेने पर, उस विकिरण की तीव्रता सदा समान रहती थी। साथ ही यह भी देखा गया कि इस विकिरण का निष्कासन, स्फुरदीप्ति अथवा प्रतिदीप्ति के किसी भी गुण पर, अथवा उस पदार्थ की भौतिक अथवा रासायनिक अवस्था पर, बिलकुल निर्भर नहीं था। इस प्रकार रेडियोऐक्टिवता की खोज हो गई।

इस खोज के तुरंत बाद ही अन्य अन्वेषक हुए, जिनके नाम रदर्फ़र्ड, सॉडी, मैडम क्यूरी तथा पियरे क्यूरी आदि हैं। शीघ्र ही यह बात खोज निकाली गई कि थोरियम, पोलोनियम, रेडियम तथा ऐक्टीनियम से भी ऐसे ही वेधनशील विकिरण निकलते हैं। सच पूछा जाए तो बहुत से पदार्थ रेडियोऐक्टिव पाए गए, पर प्रायः ये सभी मूल रूप से यूरेनियम अथवा थोरियम से उत्पन्न ज्ञात हुए। यह बात साफ़ हो गई कि इन रेडियोऐक्टिव पदार्थों के परमाणु स्थायी नहीं हैं, उनका क्षय अथवा विघटन होता है, उनसे कुछ विकिरण निकलते हैं तथा ये पदार्थ नए तत्वों में परिणत हो जाते हैं। यही नहीं, यह नवोदित पदार्थ भी यदि रेडियोऐक्टिव हुआ, तो उसका भी इसी प्रकार क्षय होता है। इस प्रकार पुत्र नाभिक, पौत्र नाभिक आदि के क्षय का एक शृंखलाक्रम उस समय तक चलता जाता है जब तक परिणामी तत्व एक स्थायी तत्व, प्रायः सीसा (lead) तथा बिस्मथ, न हो जाए। इस प्रकार कम से कम प्राकृतिक रेडियोऐक्टिव तत्वों के विषय में तो कहा ही जा सकता है कि उनका पूर्वज या तो यूरेनियम है या थोरियम। ये प्राकृतिक रेडियोऐक्टिव तत्व प्रायः भारी परमाणुवाले हैं तथा इनका परमाणु द्रव्यमान सीसा के परमाणु द्रव्यमान से अधिक है। कुछ हल्के तत्व भी प्राकृतिक रेडियोऐक्टिवता प्रदर्शित करते हैं। ये हैं : पोटैशियम^{४०} ($_{19}K^{40}$), रूबिडियम^{८७} ($_{37}Rb^{87}$), समेरियम^{१४७} ($_{62}Sm^{147}$), ल्यूटीशियम^{१७६} ($_{71}Lu^{176}$), लैथेनम^{१३८}, न्यूडियम^{१५०} तथा रेनियम^{१८७} (Re^{187})। इनके परमाणुक्रमांक १९ तथा ७१ के बीच में हैं, जबकि भारी रेडियोऐक्टिव तत्वों के परमाणुक्रमांक ८१ तथा ९२ के बीच में हैं।

रेडियोऐक्टिवता के प्रकार — यदि कुछ रेडियम को सीसा की एक ऐसी मोटी प्याली में रखा जाए, जिसमें एक ओर एक महीन छेद हो, तो विकिरण केवल उसी छेद से निकलेगा तथा सीधी रेखा में चलेगा। पर यदि निकलने की दिशा के लंबतः एक चुंबकीय बल लगा दिया जाए, तो केवल आवेशित कण एक वृत्तीय पथ में चलकर, अपनी गति तथा बल के द्वारा बनाए तल के लंबतः अपनी दिशा बदल देंगे, पर आवेशरहित कण (अथवा किरणें) अपनी पूर्वदिशा में ही चलेंगे। इस प्रकार का विक्षेप (deflection) निम्नलिखित नियम के अनुसार होता है :

कण पर विक्षेप बल = आवेश × गति × चुंबकीय बल।

आवेश धनात्मक अथवा ऋणात्मक होने पर कण बाएँ, या दाएँ घूमेगा, क्योंकि विक्षेपबल की दिशा विपरीत हो जाएगी। यदि आवेश शून्य होगा, तो विक्षेपबल भी शून्य होगा। इस प्रकार चुंबकीय बल लगाने पर देखा गया कि एक विकिरण बाईं ओर कम अर्धव्यासवाले वृत्त में घूमा, तो अन्य विकिरण अधिक अर्धव्यासवाले वृत्त में दाईं ओर घूम गया तथा एक अन्य विकिरण अविचलित सीधा चला गया, जबकि गति कागज के तल पर नीचे से ऊपर की ओर थी तथा चुंबकबल कागज के तल से लंबत: अंदर को प्रवेश करता हुआ था। इस प्रकार बाईं ओर को घूमा विकिरण धनात्मक आवेशवाला 'ऐल्फा कण', दाईं ओर को घूमा विकिरण ऋणात्मक 'बीटा कण' तथा अविचलित विकिरण 'गामा किरण' कहलाए। ऐल्फा कण हीलियम तत्व के नाभिक हैं। इनपर आवेश $= +2e$ जहाँ $e =$ इलेक्ट्रॉन का आवेश। बीटा कण तीव्र गतिवाले ऐसे इलेक्ट्रॉन हैं, जो नाभिक से मुक्त हुए हैं, तथा गामा किरणें विद्युच्चुंबकीय तरंगें हैं, जिनका तरंगदैर्घ्य $= १०^{-१०}$ सेंमी० के लगभग होता है। रदरफ़र्ड व उनके सहयोगियों ने बड़े सुंदर ढंग से सिद्ध कर दिया था कि ऐल्फा कण हीलियम के ही नाभिक हैं।

सारणी (१): रेडियोऐक्टिवपूर्वजों की चार श्रेणियाँ

श्रेणी का नाम	'प्रकार'	अंतिम स्थायी नाभिक	अर्ध आयु (वर्ष)
थोरियम	४ न	सी^{२०८} (Pb^{208})	$१\cdot३९ \times १०^{१०}$
नेप्ट्यूनियम	४न+१	बि^{२०९} (Bi^{209})	$२\cdot२० \times १०^{६}$
यूरेनियम रेडियम	४न+२	सी^{२०६} (Pb^{206})	$४\cdot५० \times १०^{९}$
ऐक्टिनियम	४न+३	सी^{२०७} (Pb^{207})	$८\cdot५२ \times १०^{८}$

यहाँ न = एक पूर्णांक (integer) है। श्रेणी के प्रत्येक सदस्य की द्रव्यमान संख्या उपरिलिखित सूत्र (प्रकार) से दी जाती है।

रेडियोऐक्टिव क्षय का सांख्यिकीय नियम — सक्रियता की परिभाषा है, विघटनों की संख्या प्रति सेकंड, अर्थात् यह विघटन के प्रति सेकंड की दर है। यह दर भिन्न भिन्न रेडियोऐक्टिव तत्वों के लिये भिन्न भिन्न होती है। सक्रियता तथा समय का ग्राफ चरघातांकी (exponential) वक्र रेखा है तथा सक्रियता के लघुगणक (logarithm) एवं समय का ग्राफ एक सरल रेखा है।

विघटन का यह नियम संभाविता पर आधारित है तथा उसी के नियमों से इस नियम को सैद्धांतिक रूप से सिद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार ज्ञात सक्रियता का सूत्र निम्नलिखित है :

रेडियोऐक्टिवता, अर्थात् सक्रियता, $A = \frac{dN}{dt} = N \lambda \dots (1)$

यहाँ $N =$ उस क्षण अविघटित तथा उपस्थित परमाणुओं की संख्या है तथा $\lambda =$ एक परमाणु के प्रति सेकंड के क्षय की संभाविता है। λ को क्षय नियतांक (या विघटन स्थिरांक) भी कहते हैं। इस सिलसिले में अर्ध-आयु तथा औसत आयु की परिभाषा जानना भी आवश्यक है। एक रेडियोऐक्टिव पदार्थ की अर्ध-आयु वह काल है जिसमें परमाणुओं की वर्तमान संख्या घटकर आधी हो जाएगी तथा औसत आयु वह काल है जिसमें परमाणुओं की संख्या वर्तमान संख्या की $1/e$ के बराबर रह जाएगी। इनके सूत्र निम्नांकित हैं :

$$\text{अर्ध आयु} = \frac{\log_e २}{\lambda} = \frac{०\cdot६९३}{\lambda} \cdots (२)$$

$$\text{औसत आयु} = \frac{१}{\lambda} \quad \dots \quad \dots (३)$$

$$\text{इसलिए अर्ध-आयु} = ०\cdot६९३ \times \text{औसत आयु} \cdots (४)$$

रेडियोऐक्टिवता के मात्रक अथवा इकाइयाँ — $C =$ क्यूरी $=$ किसी रेडियोऐक्टिव पदार्थ की वह मात्रा जो $३\cdot७० \times १०^{१०}$ विघटन प्रति सेकंड दे। इस प्रकार रेडियम के एक ग्राम की रेडियो ऐक्टिवता एक क्यूरी होती है। इसी प्रकार मिली-क्यूरी $= १\ mC =$ क्यूरी का हजारवाँ भाग तथा माइक्रो-क्यूरी $= १\mu C$ $=$ क्यूरी का दस लाखवाँ भाग $= १०^{-६}$ क्यूरी।

एक रदरफ़र्ड $= १०^{६}$ विघटन प्रति सेकंड। इसी प्रकार इसका हजारवाँ तथा दस लाखवाँ भाग भी है।

यदि एक 'काउंटर' (रेडियोऐक्टिव कणों की संख्या गिननेवाला गणक, या गणित्र) को एक रेडियोऐक्टिव तत्व के निकट रख दिया जाए, तो वह कुल निकले हुए कणों का कुछ अंश ही अभिलेखन करेगा तथा उसकी गणना की दर उस रेडियोऐक्टिव तत्व की सक्रियता की समानुपाती होती है।

ऐल्फ़ा-विघटन — जैसा पहले कहा जा चुका है, ऐल्फ़ा कण हीलियम के नाभिक हैं। ऐल्फ़ा कणों को एक पतली काँच की दीवार से गुजराकर तथा कुछ दिन प्रतीक्षा करके, रदरफ़र्ड तथा राइड्स ने सन् १९०९ में पतली विसर्जन (discharge) नलिका में विसर्जन उत्पन्न कर, स्पेक्ट्रममापी से उस गैस का विश्लेषण किया तो हीलियम की पहचान हो गई।

न्यूक्लियस से ऐल्फ़ा का निष्कासन 'कूलॉम प्रतिकर्षण' के प्रभावस्वरूप होता है। चूँकि 'कूलॉम प्रतिकर्षी बल' (अथवा कूलॉम स्थितिज ऊर्जा) परमाणु-क्रमांक के वर्ग ($= Z^2$) का समानुपाती होता है, इस कारण ऐल्फ़ा निष्कासन अधिक भारी (बड़े परमाणु-क्रमांक वाले) नाभिकों में अधिक प्रभावकारी होता जाता है। यह भारी नाभिक स्वत: ऐल्फ़ा कण मुक्त करते हैं, अर्थात् इस प्रकार मुक्त ऐल्फ़ा कण पर्याप्त गतिज-ऊर्जा से युक्त होते हैं तथा यह ऊर्जा तंत्र (system) के द्रव्यमान के क्षय से उपलब्ध होती है। ऐल्फ़ा कण एक स्थायी तथा 'संघनित-संरचना' है। इसकी बंधन-ऊर्जा २८·३ मेव (Mev = दस लाख इलेक्ट्रॉन वोल्ट) है। इसका द्रव्यमान अपने संघटकों के द्रव्यमान की तुलना में यथेष्ट कम है। इस प्रकार यदि हम चाहते हैं कि विघटन द्वारा उत्पन्न पदार्थ अधिक से अधिक हल्का हो तथा साथ ही अधिक से अधिक ऊर्जा से युक्त हो, तो इसके लिये ऐल्फ़ा कण अन्य पदार्थों की अपेक्षा वरीय होगा। यह बात आगे सिद्ध हो जाएगी।

यदि कोई नाभिक (Z, A) स्वत: विघटित होकर एक ऐल्फ़ा कण तथा पुत्र-नाभिक ($Z-2, A-4$) मुक्त करता हो तथा

इस अभिक्रिया की विघटन-ऊर्जा = Q हो, तो ऐल्फ़ा कण की गतिज ऊर्जा, Ka. का सूत्र यह होगा :

$$Ka = \frac{A-4}{A} Q$$

अर्थात्, 'बड़े A' के लिये ऐल्फ़ा कण अधिकतम (पर संपूर्ण नहीं) विघटन-ऊर्जा ले जाता है।

उदाहरण के रूप में U^{232} ऐल्फ़ा कण निष्कासित करता है तथा इसकी अर्ध आयु ७० वर्ष है। यदि हम विभिन्न प्रकार के निष्कासित नाभिकों के लिये मुक्त गतिज ऊर्जा ज्ञात करें, तो हमें आगे सारणी (२) में दिया गया फल प्राप्त होगा। इसको देखने से ज्ञात हो जाएगा कि ऊर्जा के विचार से स्वतः विघटन में केवल ऐल्फ़ा निष्कासन ही संभव है।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि एल्फ़ा निष्कासन के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि ऊर्जा के विचार से ऐल्फ़ा-निष्कासन संभव हो, यह भी आवश्यक है कि विघटन-स्थिरांक, λ, का मान भी बड़ा हो। साथ ही अन्य कण, जैसे बीटा-कण, भी यदि वह निकालता हो, तो बीटा-निष्कासन के लिये आंशिक - विघटन-स्थिरांक इतना बड़ा न हो कि ऐल्फ़ा-विघटन का प्रभाव दब जाए। उस ऐल्फ़ा निष्कासन की अर्ध-आयु $१०^{१६}$ वर्ष से कम होना आवश्यक है।

सारणी (२)

यू^{२३२} (U^{232}) के विभिन्न प्रकार के क्षय में मुक्त गतिज ऊर्जा

मुक्त कण	मुक्त ग० ऊर्जा मेव (Mev)	मुक्त कण	मुक्त गतिक ऊर्जा मेव (Mev)
n	– ७·१५	ही^{४} (He^4)	+ ५·३८
हा^{१} (H^1)	– ६·०५	ही^{५} (He^5)	– २·२८
हा^{२} (H^2)	– १०·५	लि^{६} (Li^6)	– ३·७८
हा^{३} (H^3)	– १०·१	लि^{७} (Li^7)	– १·८३
ही^{३} (He^3)	– ९·६		

ऐल्फ़ा निष्कासन के स्पष्टीकरण के लिये क्वांटम यांत्रिकी के 'सुरंग प्रभाव' (टनेल एफेक्ट) का उपयोग करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त ऐल्फ़ा निष्कासन तथा ऐल्फ़ा से पिता नाभिक की अभिक्रिया, यौगिक नाभिक (compound nucleus) के अनुनाद के सिद्धांत (Resonance Theory) के आधार पर, यौगिक नाभिक के उत्तेजित ऊर्जा स्तरों से संबंधित है एवं उन स्तरों की उपलब्धता पर निर्भर करती है।

ऐल्फ़ा विघटन से संबंधित दो मुख्य राशियाँ हैं : विघटन ऊर्जा = Q तथा विघटन स्थिरांक (अथवा अर्ध-आयु)। ऊर्जा तथा संवेग की अविनाशिता के नियमों पर आधारित सूत्र यह है :

$$Q = \left[1 + \frac{m_a}{m_d} \right] K_a = \frac{A}{A-4} Q,$$

जहाँ m_a = ऐल्फ़ा का द्रव्यमान, m_d = पुत्र का द्रव्यमान, K_a = ऐल्फ़ा की गतिज ऊर्जा है, A पिता नाभिक की द्रव्यमान संख्या और (A–4) पुत्र नाभिक की द्रव्यमान संख्या है।

ऐल्फ़ा कणों का वेग तथा परास (Range) — गाइगर (Geiger) तथा नटॉल (Nuttal) ने सन् १९११ में प्रयोगों के द्वारा विघटन स्थिरांक, λ, तथा परास, R, में एक संबंध ज्ञात किया था। वह समीकरण निम्नलिखित है तथा केवल सन्निकट संबंध देता है :

$$\log \lambda = A + B \log R, \text{ अथवा } \lambda = A_1 R^B$$

यहाँ स्थिरांक B तीनों रेडियोऐक्टिव श्रेणियों (यूरेनियम-रेडियम, ऐक्टीनियम तथा थोरियम श्रेणियों) के लिये लगभग समान है तथा स्थिरांक A (या A_1) तीनों श्रेणियों के लिये भिन्न है। असली संबंध निम्नलिखित है :

एक श्रेणी विशेष के सभी के सदस्यों के लिये,

$$\lambda = \text{स्थिरांक} \times R^{57.5} \text{ सेंमी०},$$

जहाँ R हवा में चला फासला (परास) है तथा इस स्थिरांक का मान यूरेनियम श्रेणी के लिये $१०^{-६२.३}$, थोरियम श्रेणी के लिये $१०^{-४४.२}$ तथा ऐक्टिनियम श्रेणी के लिये $१०^{-४९.१}$ है।

नाभिकों द्वारा निष्कासित ऐल्फ़ा के ऊर्जा क्षेत्र (४ से १० मेव) में $R = a v^3$, जहाँ a = एक स्थिरांक = $९६·७ \times १०^{-२८}$ तथा v = ऐल्फ़ा कणों की हवा में गति है।

$$\text{इस कारण, } \lambda = 1/T = \text{स्थिरांक} \times v^{171.5}$$

$$\text{अथवा } T \propto v^{-171.5}$$

$$\text{तथा } \log t = \text{स्थिरांक} + \text{स्थिरांक} \times v^{-1}$$

यह संबंध गैमो के सिद्धांत से उन सीमित ऊर्जावाले ऐल्फ़ा कणों के लिये जो क्षय द्वारा मुक्त होते हैं, बिल्कुल मेल खाता है।

वर्तमान सिद्धांत द्वारा दिया गया सूत्र निम्नलिखित है :

$$\log T = \frac{2\pi z Ze^2}{\hbar v} - K$$

यहाँ Z = पुत्र नाभिक की परमाणुसंख्या, z = ऐल्फा कण की परमाणुसंख्या तथा K = ऐसा स्थिरांक, जो पुत्र नाभिक के अर्ध व्यास पर निर्भर करता है।

ऐल्फ़ा कणों की गति, या तो एक चुंबकीय क्षेत्र में उनको विक्षेप कराके, अथवा किसी वैद्युत विधि, जैसे आयनन कोष्ठ (chamber) द्वारा ज्ञात की जा सकती है, या एक प्रतिदीप्तिशील पदार्थ या स्फुरण-गणित्र, जैसे $Z_nS(Ag)$, प्रयोग में लाया जा सकता है।

जब एल्फ़ा कण किसी गैस में से गुजरता है, तब अपने सारे पथ भर में बहुत से आयन भी उत्पन्न करता है। इन आयनों की संख्या ऐल्फ़ा कण की प्रारंभिक ऊर्जा पर निर्भर करती है। विभिन्न ऐल्फ़ा कणों द्वारा उत्पन्न आयन संख्या की सारणियाँ भी उपलब्ध हैं। RaC′ से निकले ऐल्फ़ा कण की ऊर्जा ७·६८ मेव (Mev) तथा आयन-संख्या के ग्राफ़ से उपलब्ध परास (range) = ६·९५ सेंमी० है तथा यह हवा में रुकने से पहले $२·२ \times १०^{५}$ आयन जोड़े उत्पन्न करता है, अर्थात् एक आयन जोड़ा उत्पन्न करने में व्यय हुई औसत ऊर्जा = ३५ Mev है। एक आयन जोड़े के उत्पन्न करने में खर्च हुई ऊर्जा का मान, एक गैस से दूसरी गैस के लिये भिन्न होता है तथा प्रायः नापी गई गैसों के लिये २० से ४० Mev के मध्य में पाया गया है। यह ऊर्जा गैस के आयनन विभव से सदा अधिक होती है। यह कुछ अधिक ऊर्जा दो कारणों से होती है। ऐल्फ़ा कण निस्संदेह कुछ परमाणुओं को उत्तेजित तो कर देते हैं, पर आयनित नहीं करते। जो इलेक्ट्रॉन परमाणुओं से ऐल्फ़ा-कण द्वारा मुक्त होते हैं,

उनमें कुछ गतिज-ऊर्जा भी होती है। इस प्रकार ऐल्फ़ा कण को आयनन ऊर्जा तथा गतिज ऊर्जा दोनों प्रदान करनी पड़ती हैं।

उपरिलिखित बातों (data) से यह भी ज्ञात होता है कि ७·६८ मेव वाला ऐल्फ़ा कण औसतन ३ २ × १०² आयन जोड़े प्रति मिमी० अपने सारे पथ भर में पैदा करेगा। इस राशि को विशिष्ट आयन संख्या कहते हैं।

परास को प्रयोग द्वारा ज्ञात करने की कई विधियाँ हैं। इसको एक प्रतिदीप्तिशील (fluorescent) पट पर उत्पन्न 'स्फुरण' अथवा 'प्रतिदीप्ति-कण' की संख्या को गिनकर ज्ञात कर सकते हैं, यदि धीरे-धीरे पट को स्रोत से उस समय तक दूर हटाया जाए जब तक पट पर 'चमकते सितारे' समाप्त न हो जाएँ। इसको एक 'अभ्र कोष्ठ' (cloud chamber) में चले पथ की लंबाई को फ़ोटोग्राफ़ करके भी ज्ञात किया जा सकता। परास को एक छिछले आयनन कोष्ठ (ionisation chamber) में विभिन्न फासलों पर उत्पन्न आयनों की संख्या की माप लेकर (अथवा ऐसे उपकरण को उपयोग में लाकर, जो कणों द्वारा पूर्ण रूप से चले फासलों को नाप सकता हो) भी ज्ञात किया जा सकता है। इसके ज्ञात करने की एक वैद्युत विधि यह है कि कणों के स्रोत को एक खोखले सुचालक गोले के केंद्र में स्थित कर, गोले के अंदर विभिन्न वायुदबावों पर ऐल्फ़ा-कणों द्वारा उत्पन्न कुल आयनों की संख्या एक विद्युद्दर्शी (electroscope) द्वारा माप ली जाय। यदि गोले का अर्धव्यास परास से बड़ा होगा, तो आयनों की कुल संख्या वायुदबाव कम करते जाने पर भी स्थिर रहेगी, क्योंकि ऐल्फ़ा-कण रुकने से पहले सदा समान आयनों की संख्या उत्पन्न करेंगे। चूँकि जैसे-जैसे दबाव घटता जाता है वैसे-वैसे परास बढ़ता जाता है, इस कारण एक ऐसा विशेष दबाव भी होगा जिसपर परास ठीक अर्धव्यास के बराबर होगा। अब यदि दबाव को और घटाया जाएगा तो आयनों की कुल संख्या कम होना आरंभ हो जाएगी, क्योंकि अब परास अर्धव्यास से बड़ा होगा तथा कण वायु में पूर्ण रूप से न रोके जा सकेंगे, देखें चित्र १ तथा २.। इस स्थान पर वक्र रेखा अपनी प्रवणता (slope) की दिशा बदल देगी। इस प्रकार उस दबाव से, जब आयनों की कुल संख्या में कमी आरंभ हो गई थी, तथा गोले के अर्धव्यास के ज्ञान से साधारण दशाओं के लिये परास की गणना की जा सकती है।

लंबे परासवाले कण तथा सूक्ष्म संरचना (fine structure) — प्रायः एक रेडियोऐक्टिव तत्व एक ही ऊर्जा के ऐल्फ़ा मुक्त करता है। यदि सूक्ष्म निरीक्षण तथा माप ली जाएँ तो ज्ञात होगा कि वह तत्व कई ऊर्जाओं (अथवा गतियों) का समूह (ऐल्फा किरण समूह) मुक्त करता है तथा कुछ ऐल्फ़ा कण ऐसे भी होते हैं जिनका परास मुख्य समूह के परास से बहुत अधिक होता है। इनको प्रायः लंबे परासवाले कण कहा जाता है। यह देखा गया है कि ऐल्फा कणों का समूह बहुत कम ऊर्जा अंतरवाले समूह के रूप में निकलता है। इनकी गति तथा परास बहुत पास पास होते हैं तथा साधारण विधियों से उनमें कोई भेद नहीं किया जा सकता। एक ऐल्फा समूह में इन पास पास पड़े एवं भिन्न भिन्न अंगों (संघटकों) को इस विकिरण की 'सूक्ष्म संरचना' कहते हैं। इस संरचना को अभ्र कोष्ठ के फ़ोटोग्राफ़, अथवा शक्तिशाली चुंबक द्वारा इसका विक्षेप कराकर तथा एक फ़ोटो प्लेट में इसका रिकार्ड लेकर, पहचाना जा सकता है।

इस ऐल्फा किरण के स्पेक्ट्रम को इस परिकल्पना के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है कि कुल विघटनों के कुछ अंशों में पुत्र नाभिक एक 'उत्तेजित अवस्था' अथवा उत्तेजित ऊर्जास्तर में पाया
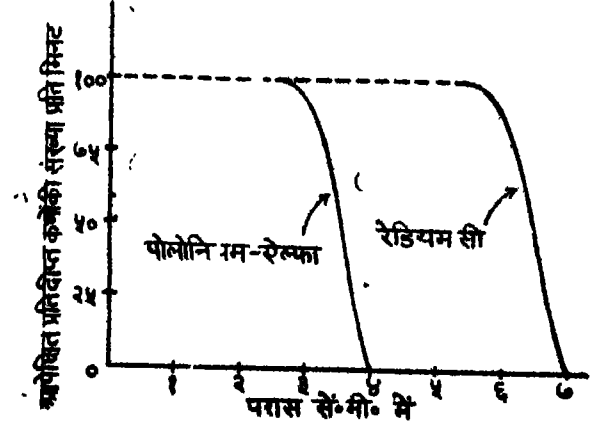
चित्र १. पोलोनियम के ऐल्फा का तथा रेडियम-सी के ऐल्फा का परास एक स्रोत से मुक्त ऐल्फा कणों का परास समान रहता है।

जाता है, जिसके कारण ऐल्फ़ा कण की उपलब्ध ऊर्जा घट जाती है और वह नीची ऊर्जा से युक्त होकर निकलता है तथा बाद में पुत्र नाभिक अपनी उत्तेजित अवस्था से नीची आधारभूत अवस्था में उतरकर, एक या अधिक फ़ोटॉन या गामा किरणें मुक्त कर देता है। इस प्रकार के फ़ोटानों को पकड़कर उनकी ऊर्जा ज्ञात करने पर उनको विभिन्न ऐल्फ़ा समूहों की ऊर्जाओं के अंतर के बराबर पाया गया है।

उदाहरण के रूप में $_{88}Ra^{226}$ के ऐल्फ़ा-क्षय में मुक्त दो ऐल्फा-समूहों की गतिज ऊर्जाएँ, $K_1 = 4{\cdot}793$ Mev तथा $K_2 = 4{\cdot}611$ Mev और एक गामा किरण 0·188 Mev की, पाई गई हैं (देखें चित्र २.)। K_1 तथा K_2 से संबंधित विघटन ऊर्जाओं के मान निम्नांकित हैं :

$$Q_1 = \frac{266}{222} \times 4{\cdot}793 = 5{\cdot}923 \text{ Mev}$$

$$\text{तथा } Q_2 = \frac{226}{222} \times 4{\cdot}611 = 4{\cdot}736 \text{ Mev}$$

इस प्रकार प्रत्याशित गामा ऊर्जा = 4·923 = 4·736 = 0·187 Mev है, जो देखी गई गामा ऊर्जा से बिल्कुल मेल खाती है।

ऐल्फ़ा कणों के लिये सूखी हवा में १५° सें० तथा १७६ मिमी० दाब पर परास दर्शानेवाला सन्निकट सूत्र दिया जाता है। उदाहरण के रूप में पोलोनियम^{210} (Po^{210}) के ऐल्फा कणों का सूखी हवा में परास लगभग ३·८ सेंमी० तथा ऊर्जा ५·२९ मेव (Mev) है। किसी दूसरे पदार्थ में इन ऐल्फा कणों का परास, R, निकालने के लिये ब्रैग क्लेमैन नियम का, जिसमें = १५ प्रति शत की त्रुटि है, निम्नलिखित सूत्र है :

$$R = (3{\cdot}2 \times 10^{-4}) \; R_{air} \frac{\sqrt{A}}{\rho},$$

जहाँ R_{air} = वायु में परास, A = द्रव्यमान संख्या, तथा ρ घनत्व है। उदाहरण के लिये ऐल्फा का ऐलुमिनियम[२७] में परास नीचे
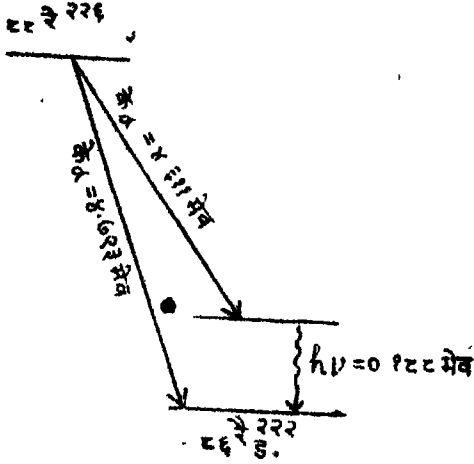
चित्र २. रेडियम का विघटन

दो ऐल्फा समूह तथा रेडान से मुक्त गामा।

दिया गया है, जहाँ इसका घनत्व २.७ ग्राम प्रति घन सेंमी० लिया गया है।

$$R = (3 \cdot 2 \times 10^{-4})\ (3 \cdot 8)\ \frac{\sqrt{27}}{2 \cdot 7}$$

$= 23 \cdot 4 \times 10^{-4}$ सेंमी० $= 23 \cdot 4\mu$ या माइक्रॉन्स।

मिश्रणों तथा यौगिकों में परास ज्ञात करने के लिये A का मान निम्नलिखित सूत्र से ज्ञात करते हैं :

$A = n_1\sqrt{A_1} + n_2\sqrt{A_2} + n_3\sqrt{A_3} + \ldots\ldots$, जहाँ n_1, n_2 $n_3 \cdots\cdots$ आंशिक भाग (fractional compositions) हैं।

बीटा तथा गामा विकिरण और उनके गुण — रेडियोऐक्टिव तत्वों के क्षय के द्वारा उत्पन्न बीटा-कण उच्च गतिवाले इलेक्ट्रॉन हैं। जिन वस्तुओं पर ये गिरते हैं, उनमें यह ऋणात्मक आवेश उत्पन्न कर देते हैं। इनको विद्युत् क्षेत्र, या चुंबकीय क्षेत्र में विक्षेपित किया जा सकता है। इनका e/m (आवेश तथा द्रव्यमान का अनुपात) सदा उतना ही आता है जितना गरम पतले फिलामेंट से निकले इलेक्ट्रानों का तथा इन दोनो के e/m तथा गति का संबंध भी समान है। इसमें अब लेशमात्र भी संदेह नहीं है कि ये इलेक्ट्रॉन हैं तथा ऐसे इलेक्टॉन, जिनको क्षय होते हुए नाभिक ने बहुत ऊर्जा प्रदान कर दी है। बीटा कणों की ऊर्जा प्रायः शून्य से लेकर कई मेव तक होती है तथा बीटा कण का ऊर्जा स्पेक्ट्रम (अर्थात् बीटा-कणों की संख्या तथा बीटा-ऊर्जा के मध्य खींचा गया ग्राफ़) तथा बीटा कणों की अधिकतम ऊर्जा (सीमांत ऊर्जा) का मान भिन्न भिन्न रेडियोऐक्टिव स्रोतों के लिये भिन्न भिन्न है। ऐसे पर्याप्त प्रमाण हैं कि कुछ पदार्थ कुछ ऐसे भी बीटा कण निष्कासित करते हैं जिनकी ऊर्जा ८ मेव, या संभवतः ११ मेव तक भी हो सकती है, पर प्रायः २ या ३ मेव से अधिक ऊर्जा के बीटा कण बहुत ही कम देखने में आते हैं। इनकी ऊर्जा प्रायः बहुत कम होती है।

इस तथ्य पर विश्वास करने के लिये समुचित कारण उपलब्ध हैं कि ये इलेक्ट्रॉन नाभिक के अंदर वास नहीं करते, अपितु केवल निष्कासन के समय ही उनका 'जन्म', या 'उनकी रचना' होती है। उनके निर्माण के लिये आवश्यक ऊर्जा, क्षय के समय, नाभिक की एक निम्न ऊर्जास्तरवाली अवस्था में पुनर्व्यवस्था के द्वारा उपलब्ध होती है। केवल एक इलेक्ट्रॉन की विराम ऊर्जा (rest energy) $= mC^2 = 0 \cdot 51$ Mev, उसके निर्माण में तथा शेष बाहर जानेवाले कणों की गतिज ऊर्जा के रूप में प्रकट होती है।

सामान्यतया बीटा कणों की ऊर्जा ऐल्फा कणों की अपेक्षा कम होती है। अधिकतर बीटा कणों की ऊर्जा ३ मेव से कम होती है तथा अधिकतर ऐल्फ़ा कणों की ऊर्जा ४ मेव तथा ६ मेव के मध्य में होती है। यद्यपि बीटा कण की ऊर्जा कुछ कम होती है, तो भी द्रव्यमान कम होने के कारण, इसकी गति अधिक होती है। ऐल्फा कणों के समान ही, बीटा कण भी, जब वह किसी पदार्थ से होकर गुजरते हैं तो कुछ निम्न ऊर्जावाले आयन उत्पन्न करते हैं। पर बीटा-कण कहीं अधिक कम आयनसंख्या प्रति मिमी० उत्पन्न करते हैं, अर्थात् इसका विशिष्ट आयनन बहुत कम है। उदाहरणस्वरूप, एक ३ मेव वाले ऐल्फ़ा कण की गति प्रकाश की गति का $\frac{1}{२०}$ भाग है और हवा में, ७६० मिमी० पारे की दाब तथा १५° सें० ताप पर, यह प्रति मिमी० ४,००० आयन-जोड़े (आयन युगल) उत्पन्न करता है। बहुत कम विशिष्ट आयनन (आयनसंख्या प्रति मिमी०) होने के कारण बीटा-कण का परास कहीं अधिक है, जबकि ३ मेव वाले ऐल्फ़ा कणों का वायुपरास लगभग १.७ सेंमी० है। इस ऊर्जा का एक बीटा कण वायु में रुकने से पहले १३ मीटर चलता है। केवल ०.५ मेव वाले बीटा का परास लगभग १ मीटर है। इस प्रकार एक औसत बीटा कण एक औसत ऐल्फा कण से हजारों गुना अधिक वेधनशील है। अधिकतम ऊर्जा वाले ऐल्फा कण भी एक साधारण कागज, या ऐलुमिनियम की लगभग ०.०६ मिमी० मोटी चद्दर, के द्वारा रोके जा सकते हैं पर यह मोटाई तो बीटा कणों के रोकने के लिये आरंभ मात्र है। कुछ बीटा कण तो ऐलुमिनियम की एक मिमी० से भी अधिक मोटाई से गुजर जाते हैं। ऐल्फ़ा कण हवा में प्रायः सीधे चलते हैं, पर अभ्रकोष्ठ में बने बीटा कण के पथ के फोटो देखने से ज्ञात हुआ है कि इसका पथ बिलकुल सीधी रेखा नहीं होता, वरन् रास्ते भर यह थोड़ा थोड़ा विक्षेपित होता चलता है। इसी कारण ऐल्फ़ा कण के परास का एक सुनिश्चित अर्थ है, किंतु बीटा कण के परास का उतना सुनिश्चित अर्थ नहीं है। बीटा कण के असली परास का मान केवल उसके द्वारा चले अनियमित, संपूर्ण पथ के निरीक्षण द्वारा ही आँका जा सकता है।

बीटा-कणों की ऊर्जा एक चुंबकीय क्षेत्र में, जो बीटा की गति की दिशा से लंबतः लगाया गया हो, बीटा को एक चक्रीय पथ में विक्षेपित कराकर नापी जा सकती है।

गामा किरणें — रेडियोऐक्टिव क्षय द्वारा मुक्त गामा किरणों तथा एक्स किरणों के गुण एक ही समान हैं। चुंबकीय, या विद्युत्, क्षेत्रों में इन दोनों की दिशा नहीं बदली जा सकती। गामा किरणें ऐक्स किरणों की तरह व्यतिकृत (interfered) तथा विवर्तित

(diffracted) भी होती हैं। इनकी भी गति प्रकाश की गति के बराबर होती है। ये पदार्थों से फोटो इलेक्ट्रॉन भी एक्स किरणों के समान ही निष्कासित करती हैं। गामा किरणें विद्युच्चुंबकीय तरंगें हैं तथा इनका तरंगदैर्घ्य एक्स किरणों की तुलना में छोटा होता है। इसी कारण ये एक्स किरणों से अधिक वेधी होती हैं। गामा किरणें जिस पदार्थ से निकलती हैं, उसी की विशिष्ट या लाक्षणिक होती हैं। किंतु अधिक नीची ऊर्जावाली गामा किरणों का तरंगदैर्घ्य बहुत सी एक्स किरणों से भी अधिक हो सकता है, और अब उपलब्ध उपकरणों द्वारा उत्पादित कुछ एक्स किरणें छोटी से छोटी गामा किरणों के लगभग समान होती हैं।

गामा किरणों का तरंगदैर्घ्य और उनकी ऊर्जा भी ज्ञात करने की कई विधियाँ हैं। यदि एक क्रिस्टल की 'स्पेसिंग' (अंतर) ज्ञात हो, तो उसमें गामा द्वारा व्यक्तिकरण कराकर तरंगदैर्घ्य ज्ञात किया जा सकता है, यद्यपि यह विधि केवल लंबी किरणों के लिये ही संभव है तथा छोटी गामा किरणों की नाप में त्रुटि आ जाती है। दूसरी विधि इनके द्वारा मुक्त किए हुए फोटो-इलेक्ट्रॉन की ऊर्जा ज्ञात करना है। यह प्रभाव आइंस्टाइन के वैद्युत समीकरण के अनुसार ही होता है।

गामा किरणों द्वारा आयनन की क्रिया बीटा तथा ऐल्फा कणों द्वारा आयनन से बहुत भिन्न है। जबकि एक आवेशित कण प्राय: सारे पथ भर में अनवरत आयन उत्पन्न करता है तथा इस क्रिया में बराबर धीरे धीरे अपनी ऊर्जा खोता जाता है, एक गामा किरण सीधे प्रत्यक्ष रूप से आयन उत्पन्न नहीं करती, अपितु छितरानेवाली, या प्रकीर्णन (scattering) की क्रिया में थोड़ी ऊर्जा खोने के सिवाय, यह अपनी सारी ऊर्जा एक फोटो इलेक्ट्रॉन को प्रदान कर स्वयं समाप्त हो जाती है और यह फोटो इलेक्ट्रॉन ही गौण या द्वितीयक क्रिया के द्वारा एक तीव्रगामी इलेक्ट्रॉन के रूप में आयन जोड़े उत्पन्न करता है।

एक नाभिक, जिसकी परमाणुसंख्या, Z, तथा जिसकी द्रव्यमान संख्या, A, हो, वह जब बीटा किरणों द्वारा एक पुत्र नाभिक $(Z+1, A)$ में परिवर्तित होता है, जहाँ $(Z+1)$ पुत्र नाभिक की परमाणु संख्या है तथा A उसकी द्रव्यमान संख्या है तो विघटन ऊर्जा, Q, के मान का सूत्र निम्नलिखित होगा :

$$Q = M_A (Z, A) - M_A (Z+1, A)$$ ।

यहाँ $M_A (Z)$ = पिता नाभिक का परमाण्विक द्रव्यमान है तथा $M_A (Z+1)$ = पुत्र नाभिक का परमाण्विक द्रव्यमान है। इस प्रकार बीटा विघटन के लिये शर्त यह है कि तत्वों की सारणी में दो निकटतम समभार (आइसोबार या समान द्रव्यमान संख्यावाले) परमाणु हों और यदि एक समभार का परमाण्विक द्रव्यमान, एक इकाई अधिक परामणुसंख्या $(= Z+1)$ वाले समभार के परमाणु द्रव्यमान से अधिक होगा, तो पहला समभार दूसरे समभार में एक बीटाकण इलेक्ट्रॉन निष्कासन द्वारा विघटित हो जायगा।

गामा विघटन उसी समय होता है जब नाभिक उत्तेजित अवस्था से निम्न ऊर्जा के स्तर पर उतरता है। इस क्रिया में 'न्यूक्लियानों' (न्यूट्रॉन अथवा प्रोटॉन) का संक्रमण 'कक्षीय सिद्धांत', [नाभिक की शेल थियोरी, Shell Theory)] के अनुसार होता है।

सं० ग्रं० — जे० बी० होग : इलेक्ट्रॉन ऐंड न्यूक्लियर फीजिक्स, (द्वितीय संकरण, डी० वैन नास्ट्रैंड, न्यूयार्क, १९३८); रदरफर्ड चैडविक ऐंड एलिस : रेडिएशंस फ्रॉम रेडियोऐक्टिव सब्स्टैंसेज (लंदन, कैंब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, १९३०); के० सीगबान : बीटा ऐंड गामा रे स्पेक्ट्रॉस्कोपी (नार्थ हालैंड कं०, ऐम्स्टर्डम); ब्लैट ऐंड वाइसकाफ : थियोरेटिकल न्यूक्लियर फिजिक्स। [ल० रा० ख०]

रेडियो संग्राही (Radio Receiver) रेडियो तरंगों के उत्पादन एवं उनके गुणों के अध्ययन का प्रयास सर्वप्रथम हाइनरिख हेर्ट्ज ने सन् १८८७ में किया था। अपने इतिहास प्रसिद्ध प्रयोग में रेडियो तरंगों के उत्पादन की व्यवस्था द्वारा उत्पन्न तरंगों को उन्होंने स्वयं ही स्फुलिंगों के रूप में दो घुंडियों (knobs) के बीच प्राप्त किया था जो तार के एक फंदे के दोनों सिरों पर स्थित थीं। हर्ट्स के इस प्रारंभिक प्रयोग ने रेडियो तरंगों की ग्रहण विधाओं की संभावना के संकेत दिए थे, जिनके आधार पर कार्य करते हुए ऑलिवर लॉज ने सन् १८९४ में इंग्लैंड में एक विशेष प्रकार के संसूचक (detector) का निर्माण किया, जो रेडियो तरंगों को श्रव्य आवृत्ति की तरंगों में परिवर्तित कर सकता था। यह संसूचक वस्तुत: काँच की एक नलिका थी, जिसमें धातु-रेतन भरा हुआ था। इस संसूचक को एक ऐंटेना तथा एक समस्वरित परिपथ (tuned circuit) से संयुत कर प्रथम रेडियो संग्राही का निर्माण किया गया था। इस प्रकार बेतार संचार प्रणाली के संग्राही घटक की परिकल्पना करने और उसका प्रथम उपयोगी रूप प्रस्तुत करने का श्रेय ऑलिवर लॉज को ही है। लॉज ने अपनी इस विशेष व्यवस्था द्वारा प्रथम रेडियो संग्राही का निर्माण सफलतापूर्वक कर उसे पेटेंट कराया। लॉज की सफलता से प्रोत्साहित होकर अनेक वैज्ञानिकों ने नए नए संसूचकों का निर्माण किया। इनमें गूल्येल्मो मार्कोनी ने चुंबकीय प्रकार के संसूचकों की, श्रीलैंड तथा फेस्नडन ने विद्युत् विश्लेष्य प्रकार के तथा ली डी फारेस्ट (Lee De Forest) ने सक्रिय विद्युद्विश्लेष्य प्रकार के संसूचकों की रचना की। इसी चेष्टाक्रम में अनेक क्रिस्टल संसूचक (crystal detectors) भी बने, जिनमें कार्बोरंडम, गैलेना, लौह पाइराइटों (iron pyrites) इत्यादि के क्रिस्टल प्रयुक्त हुए।

सन् १९०४ मे जे० ए० फ्लेमिंग ने द्विध्रुवी वाल्वों का निर्माण कर, रेडियो संचार प्रणाली के विकास के इतिहास में नए अध्याय का सूत्रपात किया। संसूचक के रूप मे इन वाल्वों के उपयोग ने अनेक कठिनाइयों एवं समस्याओं का निराकरण कर दिया। इसी के लगभग एक वर्ष के ही अनंतर ली डी फॉरेस्ट ने ट्रायोड वाल्व (triode valve) का प्रणयन कर, इलेक्ट्रॉनिक तथा रेडियो संचार प्रणाली के क्षेत्र मे क्रांति का आविर्भाव कर दिया। ये वाल्व तथा इनके अनेक संशोधित रूपों यथा टेट्रोड (tetrode) एवं पेंटोड (pentode) आदि वाल्वों को ही रेडियो संचार प्रणाली को आधुनिक रूप तक पहुँचाने का श्रेय दिया जा सकता है। प्रवर्धकों, संसूचकों एवं समस्वरित परिपथों की संरचना करनेवाले कंपित्रों (oscillators) की रचना इन्हीं वाल्वों की सहायता से की जाती है।

रेडियो संग्राही (Radio Receiver) — रेडियो संचार प्रणाली का वह अंग जो एरियल (ऐंटेना) तक निरंतर पहुँचनेवाली रेडियो

आवृत्ति ऊर्जा (radio frequency energy) से वांछित अंश (संकेत या सूचना) पृथक् कर ग्रहण करता है, रेडियो संग्राही कहलाता है। सभी प्रकार के रेडियो संग्राहियों को मूलत: निम्नलिखित कार्य करने पड़ते हैं : (१) वरण (selection), (२) प्रवर्धन (amplification), (३) संसूचन (detection) अर्थात् रेडियो आवृत्ति (r. f.) को ध्वनि आवृत्ति, या श्रव्यावृत्ति (audio frequency, या a. f.) में परिवर्तित करना, (४) श्रव्यावृत्ति प्रवर्धन (audio amplification) और (५) ध्वनि पुनरुत्पादन (sound reproduction)।

१. वरण (Selection) — ऐंटेना पर निरंतर अनेक प्रकार के रेडियो संकेत पहुँचते रहते हैं, जो संसार के विभिन्न भागों में स्थित प्रेषण केंद्रों से प्रेषित होते हैं। संग्राही में इस बात की उपयुक्त व्यवस्था होनी चाहिए कि वह किसी भी क्षण किसी वांछित संकेत विशेष का वरण कर, उसे अन्य संकेतों से पृथक् कर, ग्रहण कर सके। इस प्रयोजन की सिद्धि के हेतु संग्राही की वरण व्यवस्था (selector system) में अनेक प्रेरकत्वों (inductances) और संधारित्रों (condensers) का समावेश होता है। इनमें से एकाधिक परिवर्तनीय, या चर (variable) भी होते हैं। इन्हीं प्रेरकत्वों एवं संधारित्रों के संयोग से समस्वरित परिपथ की रचना होती है। इस परिपथ में प्रेरकत्वों एवं संधारित्रों के मान इस प्रकार समंजित किए जाते हैं कि परिपथ की आवृत्ति ग्राह्य संकेत की आवृत्ति के तुल्य हो जाए। उस दशा में परिपथ को उक्त संकेत के लिये समस्वरित कहते हैं। एतदर्थ प्रेरकत्वों एवं संधारित्रों के मान निम्नलिखित सूत्र के अनुसार नियत किए जाते हैं :

$$\text{आ} = १/२\pi \sqrt{\text{प्र. धा.}}$$
$$(f = 1/2\pi \sqrt{LC}),$$

जहाँ प्र (L) प्रेरक का प्रेरकत्व (inductance), धा (C) संधारित्र की धारिता (capacity) तथा आ (f) ग्राह्य संकेत (तथा समस्वरित परिपथ की भी) आवृत्ति है। इस प्रकार समस्वरित परिपथ केवल उसी आवृत्ति के संकेतों का वरण कर ग्रहण करता है जो उसकी आवृत्ति के तुल्य हैं, शेष को छाँटकर विलग कर देता है। अच्छे संग्राही संयंत्रों में ऐसे कई परिपथ श्रेणी क्रम में संयोजित किए हुए होते हैं जिनसे संग्राही की वरणशीलता, या वरणशक्ति पर्याप्त रूप से संवर्धित हो जाती है।

२. रेडियो आवृत्ति का प्रवर्धन (Amplification of Radio Frequency) — ऐंटेना से प्राप्त रेडियो संकेत अत्यंत क्षीण होते हैं। इस कारण वे लाउडस्पीकर को क्रियान्वित कर सकने में असमर्थ रहते हैं। अत: उनकी शक्ति को पर्याप्त प्रवर्धित कर सकने की क्षमता संग्राही में होनी चाहिए। एतदर्थ उसमें प्रवर्धन व्यवस्था संयुक्त होती है।

३. संसूचन (Detection) — प्रेषक केंद्रों से संग्राही के ऐंटेना तक आनेवाली संकेतवाहिनी तरंगें (carrier waves) अत्यंत उच्च आवृत्ति (रेडियो आवृत्ति) की होती हैं। इसलिये संग्राही में प्रविष्ट होने के पश्चात् इन्हें श्रव्यावृत्तियों में परिणत करना आवश्यक होता है। इन श्रव्यावृत्तियों को पृथक् कर ध्वनिविस्तारक में प्रविष्ट करने के पश्चात् ही संकेत को सुन सकना संभव होता है। रेडियो तरंगों को ध्वनि तरंगों में परिणत करने के हेतु प्रयुक्त यंत्र-व्यवस्था को संसूचक युक्ति (detector device) कहते हैं।

४. श्रव्यावृत्ति प्रवर्धन (Audio-amplification) — संसूचक से निसृत श्रव्यावृत्ति संकेतों की शक्ति अत्यंत क्षीण होती है, जिससे वह लाउडस्पीकर को क्रियान्वित कर सकने में अक्षम रहती है। अत: लाउडस्पीकर में प्रविष्ट होने के पूर्व इसको पर्याप्त मात्रा में प्रवर्धित करना आवश्यक होता है। इस हेतु प्रयुक्त व्यवस्था को श्रव्यावृत्ति प्रवर्धक कहते हैं।

५. पुनरुत्पादक व्यवस्था (Reproducer System) — श्रव्यावृत्ति संकेतों को विद्युत् से ध्वनि में रूपांतरित करने के लिये लाउडस्पीकर या शिरफोन (headphone) भी संग्राही सेट का एक मुख्य भाग होता है।

संग्राही के प्रकार

समस्वरित रेडियो आवृत्ति संग्राही (Tuned Radio-Frequency, या T. R F., Receiver) **या सरल संग्राही** (Straight Receiver) — यह संग्राही किसी विशेष रेडियो आवृत्तियों के लिये समस्वरित रहता है। इसके अंदर संविष्ट सभी परिपथ वांछित रेडियो आवृत्ति के लिये या तो मूलत: समस्वरित रहते हैं, या उनके साथ ऐसी व्यवस्था संबद्ध रहती है कि आवृत्ति विशेष के लिये सबको एक साथ समस्वरित कर दिया जाए। पुराने
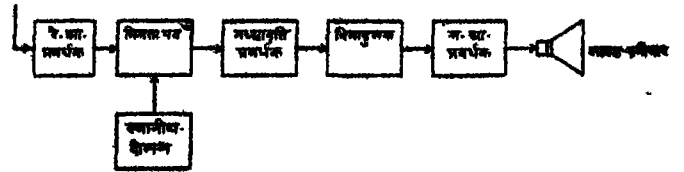
चित्र १. टी. आर. एफ (TRF) रेडियो संग्राही का संयोजन चित्र

ढंग के ऐसे संग्राही में ऐसे प्रत्येक परिपथ के साथ एक पृथक् समस्वरक (tuning) संधारित्र होता था, किंतु आधुनिक सेटों में एक ही परिवर्तनीय, या चर (variable) संधारित्र से सभी परिपथों को इस प्रकार संयुक्त कर दिया जाता है कि संधारित्र को घुमाने पर उसके भिन्न भिन्न धारितांश मानों से भिन्न भिन्न परिपथ जुड़ जाते हैं।

ऐसे एक संग्राही का संयोजन चित्र १. और चित्र २. में प्रदर्शित है। इसमें ऐंटेना से प्राप्त होनेवाले संकेत प्रथम रेडियो आवृत्ति परिणामित्र (radio frequency transformer, या r. f. transformer) से होकर वाल्व–१ (चित्र २.) द्वारा प्रवर्धित होते हैं। यह प्रवर्धित संकेत एक अन्य रे० आ० परिणामित्र (r. f. transformer) से अन्योन्य प्रेरण की विधि से गुजरता है। इस परिपथ की धारिता, धा_2, (C_2), तथा परिणामित्र का प्रेरकत्व, प्र_4 (L_4), उसी आवृत्ति के दोलन उत्पन्न करते हैं जैसे प्र_2 धा_1 (L_2 C_1) द्वारा उत्पन्न होकर इधर भेजे जाते हैं। संधारित्र धा_2 (C_2) के सिरों पर उत्पन्न विभव संसूचक वाल्व (detector valve), व – २ के नियंत्रक ग्रिड (controlling grid) पर आरोपित होता है, जो रेडियो-आवृत्ति को श्रव्यावृत्ति (श्र० आ०, a. f.) में परिणत करता है।

इस प्रकार निर्मुक्त श्रव्यावृत्तियों का प्रवर्धन आगे व–३ तथा व–४ वाल्वों द्वारा होता है। ये प्रवर्धित संकेत अंततः ध्वनिविस्तारक को क्रियान्वित करते है, जहाँ विद्युत् संकेतों का ध्वनि संकेतों में रूपांतरण होता है।

चित्र २. टी. आर. एफ. (T. R. F.) रेडियो संग्राही का परिपथ

प्र$_1$ – प्र$_2$ प्रथम रेडियो आवृत्ति परिणामित्र; प्र$_3$ – प्र$_4$ द्वितीय रेडियो आवृत्ति परिणामित्र; व–१ रेडियो आवृत्ति प्रवर्धक; व–२ संसूचक; व–३ तथा व–४ श्रव्यावृत्ति प्रवर्धक; बै. बैटरी तथा ध$_1$ और ध$_2$ धारिताएँ।

सुपरहेटरोडाइन संग्राही (Superheterodyne Receiver)— प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान मेजर एडविन आर्मस्ट्रांग नामक वैज्ञानिक ने सरल संग्राही में अपेक्षित सुधार कर ऐसी संग्राही व्यवस्था को जन्म दिया जिसमें किसी भी आवृत्ति के संकेत को किसी समय सुगमता से ग्रहण किया जा सकता है। यह व्यवस्था वस्तुतः आधुनिक लोकप्रिय रेडियो संग्राही सेटों की जनक है। इसका नियो-

चित्र ३. सुपरहेटरोडाइन संग्राही (स्थूल आरेख)

जन चित्र ३. में समझाया गया है। ऐंटेना से आनेवाले रेडियो आवृत्ति के संकेतों को सर्वप्रथम एक मिश्रण-पद (mixer stage) से होकर गुजारा जाता है, जहाँ उसी क्षण उपयुक्त आवृत्ति का एक अन्य रेडियो संकेत भी प्रविष्ट कराया जाता है। यह दूसरा संकेत एक अन्य स्थानीय कंपित्र (local oscillator) में उत्पन्न किया जाता है। मिश्रण पद में दोनों संकेतों के संयोजन से विस्पंद-सिद्धांत (beat theory) द्वारा एक निम्न आवृत्ति का संकेत उत्पन्न होता है, जो दोनों आवृत्तियों का अंतर होता है। मिश्रण-पद के आगे का संपूर्ण परिपथ इसी आवृत्ति के लिये समस्वरित होता है। यह आवृत्ति माध्य आवृत्ति (intermediate frequency, या i. f.) कहलाती है। इस क्षीण आवृत्ति को एक रेडियो-आवृत्ति प्रवर्धक (r. f. amplifier) द्वारा प्रवर्धित कर, तथा विमाडुलक (demodulator) द्वारा संशोधित कर, संसूचक वाल्व द्वारा श्रव्यावृत्ति में परिणत किया जाता है। आगे इस श्रव्य आवृत्ति को प्रवर्धित कर ध्वनि विस्तारक में प्रेषित कर दिया जाता है।

सुपरहेटरोडाइन संग्राही की विशेषताएँ — सुपरहेटरोडाइन संग्राही निम्नलिखित विशेषताओं के कारण उपयोगी होता है :

१. इसमें रेडियो आवृत्ति प्रवर्धन, वह भी विशेषकर निम्न आवृत्तियों के लिये, अधिक उत्तम एवं विघ्नरहित उत्पन्न होता है।

२. वांछित आवृत्ति का चयन कर सकने की क्षमता इसमें पर्याप्त होती है, क्योंकि समस्वरित परिपथ को उस आवृत्तिविशेष के लिये समस्वरित किया जा सकता है।

३. इसमें अनेक सचर संधारित्रों के बदले एक अस्थिर रेडियो आवृत्ति प्रवर्धक में कई प्रवर्धक पदों को सम्मिलित कर अभीष्ट उच्च आवर्धन प्राप्त किया जा सकता है, इसलिये ये संग्राही अपेक्षाकृत सस्ते भी होते हैं। साथ ही इनके भार में भी अनावश्यक वृद्धि नहीं होने पाती।

स्वचालित वाहनों में प्रयुक्त होनेवाले रेडियो संग्राही — स्वचालित वाहन, जैसे मोटर कार, या वायुयान इत्यादि, में प्रयुक्त रेडियो संग्राही के सेटों की रचना साधारण गृहोपयोगी सेटों से थोड़ा सा भिन्न होती है। इनमें शक्ति एवं ऊष्मा के लिये अपेक्षित वोल्टता वाहन के चालक बैटरी (starter battery) द्वारा ली जाती है और उसे अभीष्ट आवृत्ति तक संवर्धित करने के लिये एक कंपित्र (vibrator), या घूर्णी परिवर्तक (rotary converter) में प्रविष्ट किया जाता है। इस प्रकार के सेट का एरियल एक पतली धातु नलिका होती है,

जो कार के एक पार्श्व पर, या वायुयान के डैने पर सीधी खड़ी लगाई जाती है। इस प्रकार के सेट के नवीनतम मॉडल में समस्वरक तथा वॉल्यूम नियंत्रक (volume control) स्टीयर दंड (steering column) के साथ ही जड़े होते हैं, जिससे संग्राही का संचालन सुविधाजनक ढंग से किया जा सके।

ट्रांज़िस्टर संग्राही (Transistor Receiver) — रेडियो संग्राही को अधिक उपयोगी, सस्ता तथा सुवाह्य बनाने के हेतु वाल्वों के स्थान पर ट्रांज़िस्टर क्रिस्टल (transistor crystals) का उपयोग किया जाने लगा है। यह सेट केवल साढ़े चार से छह वोल्ट की बैटरी द्वारा चालित होता है तथा इसकी दक्षता, अर्थात् इसे दिए गए तथा इससे

चित्र ४. ट्रांज़िस्टर संग्राही का कंकाल चित्र

ए. फेराइट एरियल; दोप दोलनी परिपथ; म०पु०, मध्यावृत्ति पुन निविष्ट; प. संसूचक; प्र१, प्र२, प्र३ और प्र४. प्रवर्धक; श्र० पु०, श्रव्यावृत्ति पुन: निविष्ट तथा ल. लाउडस्पीकर।

उपलब्ध शक्ति का अनुपात, सामान्य वाल्व संग्राही की अपेक्षा छह से दस गुना तक अधिक होता है। इससे इसका रख रखाव व्यय वाल्व ट्रांज़िस्टर से ४ या ५ गुना कम होता है। इसके अतिरिक्त ये अत्यंत लघुकाय, सुवाह्य एवं सस्ते होते हैं। सुग्राही तो ये इतने अधिक होते हैं कि एक सामान्य फेराइट छड़ एरियल की सहायता से ही इन्हें क्रियान्वित किया जा सकता है। ऐसे एक सप्त संधि (seven junctions) ट्रांज़िस्टर का प्रारूप चित्र ४. की सहायता से सुगमता से समझा जा सकता है। [सु० चं० गौ०]

रेडीमनी, सर कोवासजी जहाँगीर (१८१२–१८७८) बंबई के विख्यात धनी व्यक्ति। अठारहवीं सदी में उनके पूर्वज गुजरात छोड़कर आ बसे थे। १५ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने डंकन, गिब ऐंड कंपनी में प्रवेश किया। सन् १८३७ में वे दो यूरोपियन व्यापार संस्थाओं के जमानती दलाल नियुक्त हुए। १८४६ में उन्होंने निजी व्यवसाय शुरू किया। उनकी सबसे महत्व की उपलब्धि थी नए प्रस्तावित आयकर के सिलसिले में। १८६६ में वे आयकर के कमिश्नर नियुक्त किए गए और उनके प्रयत्नों से इस दिशा में सरकार को काफी आमदनी हुई। सन् १८७१ में उन्हें सी० एस० आई० की उपाधि मिली और १८७२ में के० बी० की। बंबई की विविध संस्थाओं को उन्होंने अपने जीवनकाल में करीब २५ लाख रुपया दान किया। [मु० रा०]

रेण (संत) उदासी साधु बाबा साहबदास के शिष्य थे, जन्म सन् १७४१ में। ये जाति के गौड़ ब्राह्मण तथा अपने माता पिता की एकमात्र संतान थे। इनके पिता का नाम श्री हरिवल्लभ तथा माता का श्रीमती सावित्री देवी था। बचपन में ही इन्होंने अच्छी शिक्षा प्राप्त कर ली थी। ये पंजाबी, संस्कृत और हिंदी के अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने दीर्घ काल तक भूदन ग्राम (पंजाबी की भूतपूर्व रियासत मालेरकोटला स्थित) में निवास किया। आज भी भूदन में उत्तर की ओर ढाब के किनारे इनका आश्रम है। यहीं पर इन्होंने पाँच ग्रंथों का प्रणयन किया, जिनमें से 'नानकबोध' अप्राप्य है। शेष चार ये हैं — १. 'मनप्रबोध' शांतरसप्रधान, १६६ छंदों की रचना है। इसमें सिद्धांत-संप्रदाय-निरपेक्ष आत्मोपदेश का प्राधान्य है; सायास अलंकरण का आग्रह नहीं है, चिर परिचित उपमाओं का व्यवहार हुआ है। भाषा की कसावट के अभाव में छंदयोजना शिथिल है। २. 'नानकविजय' में शांत और अद्भुत रस की विशेष अभिव्यक्ति हुई है। यत्र तत्र करुण, बीभत्स और रौद्र के भी दर्शन होते हैं। विषयवस्तु की विविधता के साथ ही छंदवैभिन्य भी मिलता है। इसमें गुरु नानकदेव को पुराण पुरुष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ३. 'वचन संग्रह अथवा अनभै अमृतसागर' में चौदह अध्यायों के अंतर्गत वेदांत मत का प्रतिपादन हुआ है। तथा ४. 'उदासी बोध' में उदासी संप्रदायों के सिद्धांतों और भेष का इतिहास उल्लिखित है। अंतिम दोनों रचनाएं पद्यबद्ध हैं, किंतु काव्यगुणों से वंचित हैं। सभी ग्रंथों में खड़ी बोली मिश्रित ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। पंजाबी शब्द भी प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। मूलत: अद्वैतवादी होने पर भी रेण जी की रचनाओं में वेदांत और भक्ति का संयोग हुआ है। वे सांप्रदायिक संकीर्णताओं से ऊपर दिखाई पड़ते हैं।

सं० ग्रं० — श्री संत रेण ग्रंथावली; संत रेणाश्रम, भूदन, मलेरकोटला १९५३ ई०। [न० क०]

रेणुका रेणु राजा की कन्या, परशुराम की माता और जमदग्नि ऋषि की पत्नी जिनके पाँच पुत्र थे। जमदग्नि ने इनसे रुष्ट हो जाने पर अपने पाँचों पुत्रों को इनका सिर काट लेने की आज्ञा दी। चार ने तो ऐसा करने से इनकार कर दिया पर परशुराम ने पिता की आज्ञा का पालन किया। फिर पिता के प्रसन्न हो जाने पर उनके वरदान से रेणुका जीवित हो गईं। [रा० द्वि०]

रेतघड़ी, या होराकाच समय के अंतराल को मापने का उपकरण है। इसे रेतकाँच भी कहते हैं। इसमें नाशपाती के आकार के काँच के दो बल्ब एक बारीक नली से शिरोबिंदुओं पर जुड़े होते हैं। बल्बों में कुछ रेत, या कभी कभी पारा, रखा होता है। निश्चित समय, जैसे १ घंटा या १ मिनट, में एक बल्ब के सभी रेतकण दूसरे

रेत घड़ी
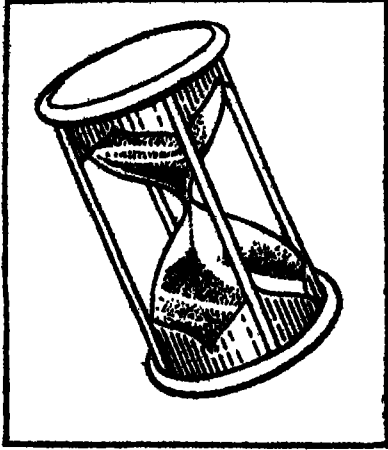
बल्ब में पहुँच जाते हैं। यह नली के अभ्यंतर व्यास पर निर्भर करता है। उपकरण से यथार्थ समय का मापन नहीं होता। होराकाँच का उपयोग पहले गिरजाघरों में बहुत हुआ करता था। ब्रिटेन की पार्लियामेंट में सदस्यों को मतदान समय की सूचना देने के लिये आज भी दो मिनटवाला होराकाँच काम आता है। [मा०]

रेनाल्ड्स, सर जोशुआ (१७२३-१७९२) इंगलैंड का सर्वोत्तम व्यक्तिचित्रकार (पोर्ट्रेट पेंटर)। इसने कला के क्षेत्र में इंगलैंड को गर्व करने का अवसर प्रदान किया है। उसे इंगलैंड की रायल अकादमी का सर्वप्रथम सभापति होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसी ने सर्वप्रथम रायल अकादमी स्कूलों की नींव डाली। सन् १७६९ मे उसे अपने देश का सर्वोत्तम कलाकार होने के नाते 'नाइटहुड' (सर) का संमान प्राप्त हुआ। उस समय का शायद ही कोई प्रसिद्ध या प्रतिष्ठित व्यक्ति हो जिसका उसके स्टूडियो में पदार्पण न हुआ हो। वहाँ जानेवालों में लार्ड्स, राजकीय उच्च अफसर, राजपरिवार के लोग, कलाकार, साहित्यकार तथा राजनीतिक सामाजिक नेता, सभी थे। गैरिक एडमंड बर्क तथा डा० जान्सन, रिचर्डसन तथा स्मोलेट ने अनेक स्थलों पर कलाकार रेनाल्ड्स की भूरि भूरि प्रशंसा की है।

रेनाल्ड्स के व्यक्तिचित्रों की सबसे बड़ी विशेषता है भव्यता। जिस पात्र को भी उसने व्यक्तिचित्र बनाने के लिये चुना वह जब उसकी तूलिका के द्वारा रंगों की भाषा में कैनवस पर मुखरित हुआ, तो ऐसा लगा जैसे उसे किसी महान् कलाकार की जादूभरी उँगलियों ने सहायता प्रदान कर दी। सचमुच रेनाल्डस ने जिन जिन व्यक्तियों को अपने कैनवस पर उतारा वे रंगों की भव्यता पाकर अमर हो गए हैं। यही कारण था कि अपना व्यक्तिचित्र बनवानेवालों का उसके स्टूडियो के सामने ताँता लगा रहता था।

रेनाल्डस के बनाए व्यक्तिचित्रों में आलोचकों की दृष्टि में सबसे अच्छे चित्र हैं नेल्ली ओब्रियाँ (Nellie O' Brien) डचेस ऑव डेवानशायर (Duchess of Devonshire) डायना, वाइकांउटेस क्रास्बी (Diana, Viscountess Crosbic) हेड्स ऑव ऐंजेल्स (Heads of Angels), द एज ऑव इनासेन्स (The Age of Innocence)

लारेंस स्टर्न (Laurence Sterne) तथा मिसेज सीडोंस ऐज द ट्रेजिक म्यूज (Mrs. Siddons As the Tragic Muse) 'नेल्ली ओब्रियाँ' व्यक्तिचित्रण की दृष्टि से रेनाल्डस का सर्वोत्तम चित्र है। यह चित्र उसने सन् १७६३ में बनाया था। १८८२ में बर्लिंग्गटन हाउस में पुराने कलाकारों की एक प्रदर्शनी में यह चित्र सबसे अधिक चर्चा का विषय बना रहा क्योंकि वह उतना ही ताजा लगता था।

रेनाल्ड्स अपने अंतिम काल तक नियमित रूप से चित्र बनाता रहा पर सन् १७८९ तक पहुँचते पहुँचते उसकी एक आँख की रोशनी जाती रही और उसे अपनी सर्वप्रिय चीज कला छोड़ देनी पड़ी।

[रा० चं० शु०]

रेनियम (Rhenium) संकेत रे॰ (Re), परमाणुभार १८६'३१, परमाणु संख्या ७५, का आविष्कार १९२५ ई० में इडा तथा वाल्टर नौडाक (Ida and Walter Noddock) द्वारा हुआ था। इसके स्थायी समस्थानिक की द्रव्यमान संख्या १८५ है और अन्य रेडियोऐक्टिव समस्थानिक १८२, १८३, १८४, १८६, १८७ और १८८ द्रव्यमान संख्याओं के प्राप्त हैं।

यह तत्व अनेक खनिजों में बहुत विस्तृत पाया जाता है, पर बड़ी अल्प मात्रा में ही। खनिजों में यह सल्फाइड के रूप में रहता है। इसके ऑक्साइड वाष्पशील होते हैं, अतः खनिजों के प्रद्रावण पर यह अवशेष में, या चिमनी धूल में, सांद्रित रहता है। इसका निष्कर्षण पोटैशियम पररेनेट के रूप में होता है, जो जल में अल्प विलेय है। लवण के पुनः क्रिस्टलीकरण से यह शुद्ध रूप में प्राप्त होता है। हाइड्रोजन के वातावरण में पोटैशियम या अमोनियम पररेनेट के अवकरण से धूसर, या काले चूर्ण के रूप में धातु प्राप्त होती है। ऊँचे ताप पर यह धातु स्थूल रूप में प्राप्त होती है। धातु का घनत्व २१ और गलनांक ३,१५०° सें० है। इसे १५०° सें० से ऊपर गरम करने से ऑक्साइड बनता है। इसके अनेक ऑक्साइड बनते हैं। इसका क्लोराइड, ऑक्सीक्लोराइड, सल्फाइड और फॉस्फाइड भी बनता है। यह हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में अविलेय है, पर नाइट्रिक अम्ल में विलेय है। इसकी अनेक मिश्रधातुएँ बनी हैं। [फू० स० व०]

रेन्वा पियर ओगुस्त (Renoir Pierre Auguste) फ्रेंच कलाकार जिसका जन्म लिमोज (Limoges) में २५ फरवरी, १८४१ में हुआ था। यह महान् प्रभाववादी चित्रकार माने का शिष्य था। शरीर की मांसलता और वर्ण को स्पष्ट रूप से उभारने में इसे दक्षता प्राप्त थी। इसके चित्रों में मनोभावों को भी स्पष्ट देखा जा सकता है। इसे दृश्यचित्रण मे भी अद्भुत सफलता प्राप्त थी। कहना गलत न होगा कि प्रभाववादी शैली के कलाकारों में यह

अपने प्रकार का निराला व्यक्ति था जिसकी मौलिकता उसे सबसे पृथक् करती है।

यह दर्जी का लड़का था। १३ वर्ष की उम्र में उसने काष्ठकला का अभ्यास किया लेकिन बाद में उसकी रुचि चीनी मिट्टी पर कार्य करने की दिशा में बढ़ी। बारीक तूलिका से इसने पारदर्शी रंजन का प्रयोग किया। कुछ काल तक चित्रकारी द्वारा पैसा कमाया। बाद मे ग्लेर (Gleyre) की चित्रशाला में प्रवेश प्राप्त किया। वहाँ माने और सिसली से भी संबंध स्थापित हुआ। कूर्बे (Courbet) ने इसे प्रकृति-निरीक्षण की प्रेरणा दी।

अपने प्रारंभिक चित्रों में यह फ्रांस की अठारहवीं शताब्दी की कला से प्रभावित है किंतु कालांतर में इसपर इंग्रेस (Ingres) का भी काफी प्रभाव पड़ा। अंत में इसने अपना संबंध प्रभाववादी दल से स्थापित कर लिया। बाद में इसकी गणना उस दल के नेताओं में होने लगी।

रेन्वा ने अपनी तूलिका कला के प्रत्येक क्षेत्र में आजमाई। उसकी उत्तम रचनाएँ आज फ्रांसीसी चित्रकला की बहुमूल्य निधियाँ हैं। उसके नग्नचित्रों में 'स्नानकर्त्री' प्रसिद्ध है। नाविक, दोपहर का भोजन, बक्स, विचार इत्यादि उसके उत्तम चित्र हैं। आकृतिचित्रों में 'जीन सेमरी' की विशेष ख्याति है। विश्व के उन समस्त संग्रहालयों में इस की रचनाएँ अवश्य उपलब्ध हैं जिनका संबंध प्रभाववादी कला से है। १७ दिसंबर, १६१६ को इसकी मृत्यु हुई। [गु० त्रि०]

रेयुन्यों (Reunion) या बूरबॉन, हिंद महासागर में, मैलागासी (मैडागैस्कर) से ४२० मील पूर्व ४५ मील लंबा एवं ३३ मील चौड़ा एक फ्रांसीसी द्वीप है। इसकी खोज १५२८ ई० में मैस्करीन महोदय ने की थी। यह ज्वालामुखी द्वीप पर्वतीय है। सर्वोच्च चोटी १०,००० फुट ऊँची है। ज्वालामुखी अब भी क्रियाशील है। जलवायु समुद्री उष्ण कटिबंधीय है। पश्चिमी आधा भाग कुछ शुष्क रहता है। समुद्री तटों पर ताप ऊँचा रहता है। गन्ना, मेनिओक, टैपिओका, वेनिला आदि प्रमुख उपजें हैं। तंबाकू, चाय तथा सिंकोना भी उगाया जाता है और शराब का निर्माण होता है। उत्तर पश्चिमी तट पर स्थित प्वांइटे-डेस गैलेट्स प्रमुख बंदरगाह एवं सेंट डेनिस राजधानी है। इस द्वीप की जनसंख्या लगभग ३,७३,००० (१६६४) है। [र० चं० दु०]

रेल इंजन रेल के डिब्बों को खींचकर चलानेवाला कर्षणयंत्र है। अंग्रेजी में इसे 'लोकोमोटिव' (locomotive) तथा साधारण बोलचाल में 'रेल इंजन' कहते हैं। इंजन वस्तुतः वह यंत्र है जो भाप, तैल या बिजली से मशीन को चलाता है। आज कई प्रकार के इंजन विकसित हो चुके हैं। पहले पहल जो इंजन रेलगाड़ियों में प्रयुक्त हुए थे, वे प्रत्यागामी (reciprocating) भाप के इंजन थे, जो भाप से चलते थे। पीछे डीजल और विद्युत् इंजन उपयोग में आए। रेलगाड़ी चलाने में चार प्रकार के इंजनों का प्रयोग होता है। वे हैं: १. भाप का इंजन, २. बिजली का इंजन, ३. गैस इंजन तथा ४. गैस टरबाइन इंजन।

रेल का भाप-इंजन — पहला रेल इंजन १८०२ ई० में रिचर्ड ट्रेविथिक (Richard Trevithick) द्वारा बनाया गया था, (देखें चित्र १.), जो बिछाई हुई पटरी पर चलता था। सन् १८२६-३० में सर्वश्रेष्ठ इंजन के लिये ५०० पाउंड के पारितोषिक की घोषणा
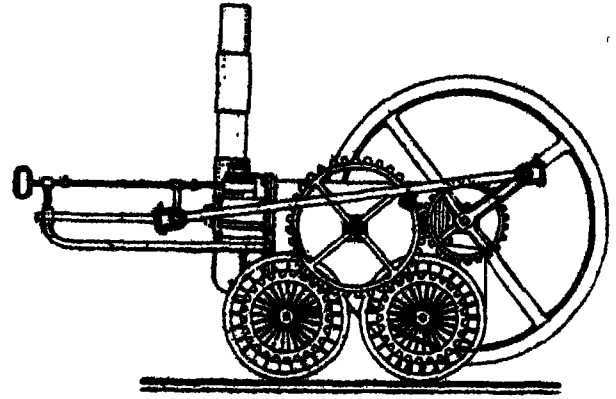
चित्र १. ट्रेविथिक का ट्राम इंजन (सन् १८०१)

की गई और इसके फलस्वरूप पाँच इंजन परीक्षा के लिये आए, जिनमें सात दिनों की परीक्षा के बाद स्टेफेन रॉकेट सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया (देखें चित्र २.)। यह इंजन यात्रियों को लेकर प्रति घंटा २४ मील की चाल से चल सकता था। वस्तुतः यह बहुत छोटा इंजन था। अधिक तेज चाल एवं अधिक भार वहन करने के उद्देश्य से बाद में कई रेल के भाप इंजन बने। ऐसे रेल के भाप इंजन के आगे सामान्यतः एक ट्रक होता है, जिसमें दो, या

चित्र २. 'रॉकेट' नामक इंजन

लिवरपूल-मैनचेस्टर रेलवे द्वारा सन् १८२६ में आयोजित रेनहिल प्रतियोगिता का दृश्य।

चार छोटे पहिए इंजन के आगे के भाग में होते हैं, जो मोड़ों पर इंजन को घुमा सकें। उसके पीछे कर्षण के लिये परस्पर जुड़े हुए चालक पहियों के एक, या दो समूह होते हैं, जो इंजन के भार का अधिकांश सँभालते हैं। एक, दो, या चार पहिएवाला पीछे का ठेला होता है, जो इंजन के बॉयलर और भट्ठी के पिछले भाग को सँभालता है। कभी कभी पीछे का ठेला नहीं रखा जाता।

रेल इंजनों का वर्गीकरण एवं क्रमनिर्धारण — रेल के भाप-इंजनों का वर्गीकरण पहियों और उनके विन्यास पर निर्भर करता है। सामान्यतः भाप के इंजनों के लिये एफ० एम० व्हाइट (F. M. White) का वर्गीकरण प्रयुक्त होता है।

सामर्थ्य और क्षमता — रेल इंजन की सामर्थ्य प्रारंभिक कर्षण-शक्ति और अधिकतम अश्वशक्ति के अनुसार होती है। कर्षणशक्ति चक्रसंसक्ति पर निर्भर करती है। चक्रसंसक्ति चक्र में प्रयुक्त सामग्री और रेल की पटरी की सूखी, गीली, चिकनी, या रेत पड़ी स्थिति पर निर्भर करती है। चालक पहिए पर प्रभावी भार का यह २५ % माना जाता है। अधिक शक्ति और चाल की माँग ने भाप के दबाव और ताप को बढ़ा दिया। १६०० ई० में भाप का दबाव प्रति वर्ग इंच २०० पाउंड होता था, जो पीछे बढ़कर २२५ पाउंड और अमरीकी इंजनों का ३१० पाउंड हो गया।

इंजन में अग्निनली, या जलनली बॉयलर होते हैं। जलनली बायलर कुछ इंजनों में ही प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि इस प्रकार के इंजनों में जल के कठोर होने पर कठिनता उत्पन्न होती है। कुछ रेल के इंजन के बायलरों में अतितापक (superheaters) लगे रहते हैं। इससे बिना दबाव बढ़ाए प्रति पाउंड भाप की ऊर्जा बढ़ जाती है। अतितापन से सिलिंडर में संघनन की मात्रा कम हो जाती है, जिससे प्रचालन दक्षता बढ़ जाती है। संयुक्त राज्य, अमरीका, में अतितापन का ताप १२१° सें० मानक माना गया है।

भाप के इंजन की तापीय दक्षता कर्षणदंड (draw bar) पर हुए कार्य के बराबर होती है। रेल के विभिन्न भाप इंजनों में तापीय दक्षता चार प्रति शत से आठ प्रति शत होती है। साधारणतया छह प्रति शत से अधिक नहीं होती।

रेल का विद्युत् इंजन — किसी केंद्रीय उत्पादक स्थान से पारेषण

चित्र ३. वाहनों की चौड़ाई (भारतीय गेज)
समस्त जुड़नारों सहित दरवाजे खोलने पर भी मालवाहनों की १४'–०" और सवारी वाहनों की १३'–३" से अधिक चौड़ाई नहीं होनी चाहिए।

द्वारा लाई गई बिजली से यह इंजन चलता है। बिजली दिष्ट धारा (D. C.), या प्रत्यावर्ती धारा (A. C.) की हो सकती है। वोल्टता ६०० से २५,००० तक की हो सकती है। अमरीका, यूरोप एवं अन्य देशों में विभिन्न वोल्टताओं की बिजली प्रयुक्त होती है। रेल के विद्युत् इंजनों का प्रचार संयुक्त राज्य, अमरीका, की अपेक्षा यूरोपीय देशों में अधिक शीघ्रता से हुआ है। अमरीका में यात्री इतने अधिक नहीं होते कि विद्युतीकरण पर अधिक खर्च किया जा सके।

रेल के विद्युत् इंजन के अनेक निश्चित लाभ हैं। इससे रेल के भाप-इंजन की अपेक्षा अत्यधिक उच्च शक्ति बड़ी सरलता से प्राप्त हो सकती है। अन्य इंजनों की अपेक्षा इसमें आवाज कम होती है और इनकी देखभाल में भी कम खर्च पड़ता है। ऐसे इंजनों में सफाई

चित्र ४. वाहनों की चौड़ाई (भारतीय गेज)
समस्त जुड़नारों सहित दरवाजे खोलने पर चौड़ाई १२'–६" से अधिक नहीं होनी चाहिए।

अधिक रहती है एवं धुएँ तथा दुर्गंध का सर्वथा अभाव रहता है। पहाड़ी क्षेत्रों में पुनर्योजी (regenerative) ब्रेक पद्धति विद्युत शक्ति को फिर से तंत्र में पहुँचा देती है और उतराई में रेलगाड़ी पर अधिक नियंत्रण रहता है। एक समय डीज़ल इंजन और रेल के विद्युत् इंजनों के खर्च एक से ही थे। पर ईंधन के मूल्य बढ़ जाने, या विद्युत् उत्पादन के मूल्य बढ़ जाने से संभवतः अपेक्षित मूल्य में कुछ परिवर्तन संभव हो सकता है।

रेल के विद्युत् इंजन की डिज़ाइन — विद्युत् रेल इंजन में एक ट्रक होता है। यह ट्रक के ढाँचे और धुरी से जुड़ा, या लटका रहता है। इसी ट्रक में कर्षण मोटर रहती है। इस मोटर से प्रत्येक धुरी जुड़ी रहती है। किसी समय में दो, या दो से अधिक धुरियाँ गियर और पार्श्वदंड से बँधी होती है और एक ही कर्षण मोटर से चलाई जाती हैं। स्थान की कमी के कारण धुरी पर बैठाई कर्षण मोटर की क्षमता सीमित होती है। ऊँची शक्ति वाली मोटर ट्रक की कमानी से लगाई जाती है और वह पहिए के साथ घूम सकती है। मोटर से धुरी तक चालन में आवश्यक लचीलापन विविध पारेषण कड़ियों की जुड़ाई से आ जाता है।

दिष्टधारा प्रणाली में मोटरों का उपयोग होता है। इनकी गतियों का नियंत्रण परिपथ संयोगों से होता है, जो क्षेत्र सामर्थ्य और मोटर में पहुँची वोल्टता को बदलते रहते हैं। प्रत्यावर्ती धारा से

चलनेवाले इंजन, जो भारी कार्य के लिये काम में लाए जाते हैं, एक प्रावस्थीय (single phase) विद्युत् को बहुप्रावस्थीय (polyphases) विद्युत् में बदलने के लिये प्रावस्था परिवर्तक का

चित्र ५. रेल का भारवाहक विद्युत् इंजन

(२५ किलोवाट, ५० साइकिल, डब्ल्यू० ए० जी० क्लास)

मुख्य आँकड़े

यह रेल इंजन १८३० टन की मालगाड़ियों का समतल पर ७५ किमी०, या ४६·५ मील, प्रति घंटा तथा १:१०० ढाल पर ३२ किमी०, या २० मील प्रति घंटा की गति से परिचालन करेंगे ।

कुल भार	८५·२ टन	संतत मूल्यांकन पर गति	३३ किमी० या २०·५ मील प्रति घंटा
धुरी पर बोझ	२१·३ टन		
संतत मूल्यांकन	२,९०० अश्व शक्ति	महत्तम गति	७५ किमी०, या ४६·५ मील प्रति घंटा।
संतत मूल्यांकन पर कर्षण प्रयास	२३,२०० कि० ग्राम	आरंभिक महत्तम कर्षण प्रयास	२८,८०० कि० ग्राम

एक मोटर बोगीवाले इन रेल इंजनों में पुनर्योजी ब्रेक तथा ऐसे उपकरण लगे होते हैं कि एक से अधिक मशीनों से काम लिया जा सकता है (एक चालन केबिन से ४ रेल इंजन तक चलाए जा सकते हैं) ।

उपयोग होता है। कर्षण मोटरें लपेटे आर्मेचर के साथ त्रिप्रावस्थीय प्रेरण की होती हैं।

प्रत्यावर्ती धारा के एक दूसरे प्रकार के रेल इंजन में प्रत्यावर्ती धारा को दिष्ट धारा में परिणत करने के लिये परिवर्तक प्रयुक्त होता है। कर्षण मोटर और नियंत्रक वैसे ही होते हैं जैसे दिष्ट धारावाले रेल इंजन में होते हैं। इसमें कर्षण मोटर और नियंत्रक ऐसे होते हैं जो दोनों प्रकार की धाराओं पर कार्य कर सकते हैं। मुख्य लाइनों पर चलनेवाले कुछ रेल इंजनों में फोटोग्राफ युक्तियाँ लगी रहती हैं।

ब्रेक — विद्युत् इंजनों में वायु-ब्रेक कार्य करते हैं। उतराई में पुनर्योजी ब्रेक साथ में लगाए जाते हैं। उपयुक्त स्विचयुक्ति द्वारा कर्षण मोटरों से काम लिया जाता है। वह रेलगाड़ी के संवेग (momentum) को विद्युत् ऊर्जा में बदलता है, जो फिर पारेषण लाइन में पहुँच जाती है। आधुनिक विशाल विद्युत् इंजन के उदाहरण दो-एकक जनरल इलेक्ट्रिक इंजन हैं, जो वरजीनियन रेलवे में पहाड़ पर ढुलाई के काम आते हैं।

रेल का डीज़ल विद्युत् इंजन — २०वीं शती के आरंभ में विद्युत् इंजन में कुछ त्रुटियाँ देखी गईं, अतः डीज़ल विद्युत् रेल के इंजन से संबंधित खोजें शुरू हुईं। अनेक प्रयोगों और परीक्षणों के फलस्वरूप ऐसे इंजन बने जिनमें डीज़ल इंजन और विद्युत् जनित्र लगे रहते हैं। ये भाप इंजन से अधिक भार ढो सकते हैं। ऐसे रेल इंजनों ने बड़ी शीघ्रता से भाप के इंजन का स्थान ले लिया। ऐसे रेल इंजनों की तापीय दक्षता रेल के भाप इंजन से चौगुनी होती है और ईंधन का खर्च भी कम पड़ता है। भाप के रेल इंजन को बार बार देखभाल की आवश्यकता पड़ती है, जब कि डीज़ल रेल इंजन बिना देखभाल के अधिक समय तक काम दे सकता है। इस इंजन में धुआँ नहीं होता, अतः अधिक सफाई रहती है। यात्रियों के कपड़े गंदे नहीं होते एवं आँखों में कोयले के टुकड़े पड़ने की संभावना नहीं रहती। जब चाहे तब उन्हें चलाया, या बंद किया जा सकता है, जब कि भाप-इंजन को चलाने के लिये पर्याप्त समय आवश्यक होता है। भाप-इंजन की अपेक्षा इसमें खर्च भी कम पड़ता है। इसमें ब्रेक भी अधिक सरलता से लगते हैं।

डीज़ल विद्युत् इंजन तीन उद्देश्य से बनते हैं : १. शंटिंग के लिये, २. सवारी गाड़ी के लिये और ३. मालगाड़ी के लिये। सवारी और मालगाड़ी के इंजनों में कोई स्पष्ट विभेद नहीं है, सिवाय इसके

रेल इंजन (देखें पृष्ठ १९६-१९९)
चित्तरंजन लोकोमोटिव वर्क्स में बने इंजन
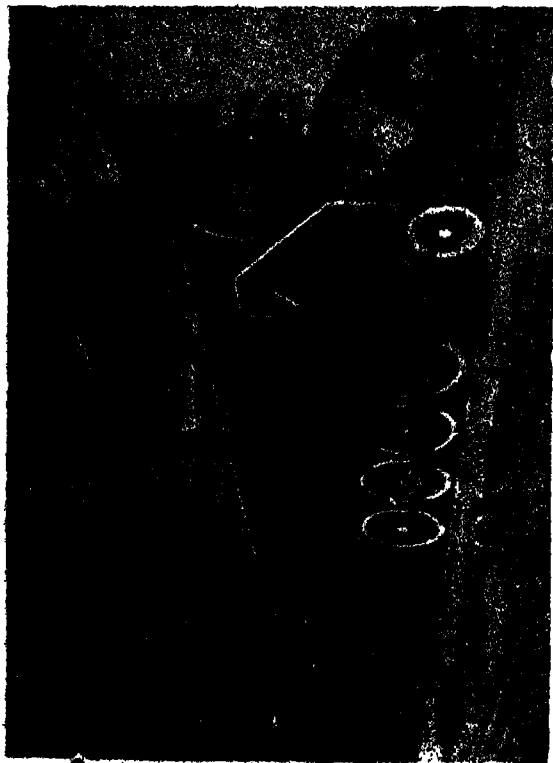
मालगाड़ी का डब्ल्यू०जी० इंजन

सवारी गाड़ी का डब्ल्यू०पी० इंजन

उपनगरीय सवारी गाड़ी का डब्ल्यू० टी० शीघ्रगामी इंजन

'लोकमान्य' नामक प्रथम दिष्टधारा विद्युत इंजन

रेल इंजन (देखें पृष्ठ १९६–१९९)

प्रत्यावर्ती धारा विद्युत रेल इंजन
२५ किवा०, ३,००० अश्वशक्ति का, चितरंजन लोको वर्क्स में बना यह प्रथम इंजन है।
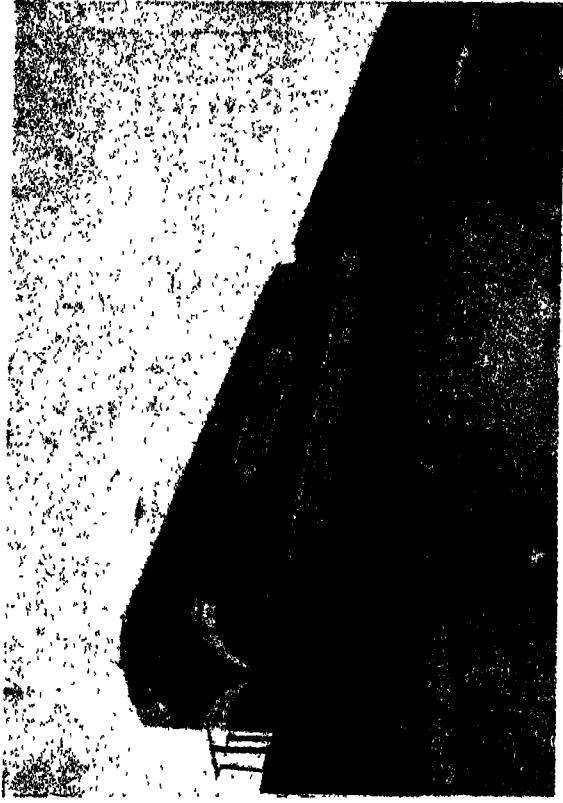
मालगाड़ी को खींचता हुआ डीज़ल इंजन
माल के बड़े डिब्बोंवाली यह गाड़ी ७,००० टन तक का बोझ ढो सकती है।

भारतीय रेलों में प्रयुक्त अति प्राचीन इंजन
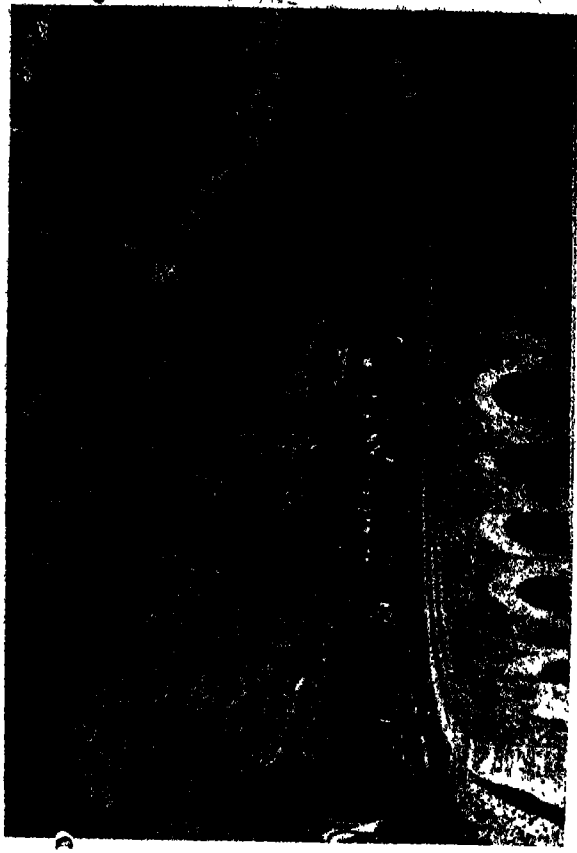
कालका -शिमला रेलवे तथा इंजन

कि ठंडे देशों की सवारी गाड़ी के इंजन में गाड़ी को गरम करने के लिये एक स्वचालित भाप अनित्र लगा रहता है। इंजन में एक कार होती है, जिसमें डीज़ल इंजन और शक्ति संयंत्र का विद्युत् जनित्र भाग बैठाया जाता है। एक चलता गियर रहता है, जिसपर दो, या तीन धुरीवाले दो ट्रक होते हैं। प्रत्येक चालक धुरी में अपनी विद्युत् कर्षण मोटर होती है। तीन धुरीवाले ट्रकों के बीच में एक निष्कर्मी धुरी होती है। इसका उपयोग विशेषावस्थाओं में ही किया जाता है।

रेल का गैस-टरबाइन-विद्युत्-इंजन — जब प्रत्यागामी भाप-इंजन का ह्रास होने लगा, तब इंजनों की शक्ति के लिये गैस-टरबाइन के उपयोग की संभावना पर खोजें शुरू हुई। गैस-टरबाइन का विकास १९०३ ई० से शुरू हुआ और रेलों के लिये भाप का टरबाइन लाभप्रद पाया गया। यदि ईंधन तेल का मूल्य कम हो तो ईंधन के खर्च में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता।

भारत में रेल के इंजन के निर्माण का विकास — भारत में प्रथम रेल की लाइन १६ अप्रैल, १८५३ को खोली गई। धीरे धीरे सारे देश में रेल की पटरियों का जाल सा बिछ गया। रेल के इंजन विदेशों से, विशेषकर इंग्लैंड से ही, मँगाए जाते रहे। अजमेर और जमालपुर में कुछ जरूरी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये मीटर गेज के लिये लगभग ७०० इंजन देश में ही बनाए गए। सन् १९२१ में जमशेदपुर में रेल इंजन बनाने के लिये सरकारी प्रोत्साहन से पेनिनसुलर लोकोमोटिव कंपनी खोली गई, पर सन् १९२४ में ही इस कंपनी का काम बंद करना पड़ा, क्योंकि उसे आवश्यक आर्थिक संरक्षण न मिला। सन १९३९ में एक कमेटी यह जाँच करने के लिये बैठाई गई कि कांचेरापारा की मरम्मत करनेवाले वर्कशापों में इंजन बनाए जायँ या नहीं, पर दूसरे विश्वयुद्ध के जारी हो जाने के कारण कुछ काम न हो सका। सन् १९४५ में भारत सरकार ने पेनिनसुलर लोकोमोटिव कंपनी को टाटा लोकोमोटिव ऐंड इंजीनियरिंग कंपनी (TELCO), जमशेदपुर, के हवाले कर दिया और उसे रेल इंजन तथा बॉयलर बनाने का काम सौंपा।

[म० मो० ला०]

रेल परिवहन पिछले १००-१५० वर्षों में हमारे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन मे जो क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं, उनमें रेल परिवहन के प्रसार का महत्वपूर्ण योग रहा है। भारत, अमरीका, या रूस जैसे विशाल देशों में रेलों के बनने से पहले एक कोने से दूसरे कोने तक जन, या सामान के यातायात में हफ्ते, या महीने लग जाते थे। इस पर भी केवल हलकी और मूल्यवान चीजें ही ढोई जा सकती थीं। रेलों के बनने के बाद दूरी की समस्या हल हो गई और अपरिमित माल और असंख्य यात्री आसानी से आ जा सकने लगे। दूरवर्ती लोगों के विचारों तथा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के बीच घनिष्ठ संबंध स्थापित हो सके। लोहा और कोयला जैसे भारी सामान के आसानी से और सस्ती दरों पर एक जगह से दूसरी जगह रेलों द्वारा ले जाने की सुविधा के फलस्वरूप, इस्पात, जहाज, या मशीन बनाने के भारी उद्योगों का विकास संभव हो सका। रेलों द्वारा कृषि और खानों के विकास में भी आमूल परिवर्तन हुए। अनाज और खनिजों के मूल्य राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय दरों के आधार पर निर्धारित होने लगे। वाणिज्य और व्यापार के क्षेत्र में ऐसी पद्धतियों का चलन हुआ जिन्होंने राज्यों की सीमाओं को लाँघकर सारे विश्व को एक कड़ी में बाँध दिया। आने जाने की सस्ती सुविधा के कारण ही लाखों की आबादीवाले बड़े बड़े शहरों का विकास संभव हो सका। इन शहरों की आवश्यकताओं की पूर्ति और वहाँ पर रहनेवाले लोगों के आने जाने के साधन के रूप में रेलों ने बहुत उपयोगी काम किया है। दुर्भिक्ष के समय अनाज और खनिज पदार्थों को रेलों द्वारा बहुतायतवाले क्षेत्र से कमी के इलाके में ले जाना संभव हो सका है। रेलों के निर्माण में बहुत भारी पूँजी और उच्च कोटि के इंजीनियरी और तकनीकी ज्ञान की जरूरत पड़ती है। घोर निर्जन वनों, अनंत मरुस्थलों, अलंघ्य पर्वतों और अपार नदियों को पार करने के लिये रेलवे के इंजीनियरों ने निराली योग्यता और कार्यक्षमता का प्रदर्शन किया। रेलवे स्टेशनों और अन्य कार्यालयों की इमारतों के बनाने से गृह निर्माण कला के विकास को बल मिला। इस तरह रेलों के कारण ही तकनीकी क्षेत्र में भी बहुत श्लाघनीय उन्नति हुई। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रेलों का आविष्कार और विस्तार हमारी आधुनिकता का मूल स्रोत है।

रेल परिवहन की विशेषता यह है कि उसे अपने लिये रेल पटरियों के निश्चित और पृथक् रेलमार्गों की आवश्यकता होती है। उनपर भाप, डीजल, या बिजली से संचालित इंजनों द्वारा सवारी, या मालगाड़ियों के अनेक डिब्बे आसानी से खींचे जा सकते हैं। १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में यूरोप के कई देशों में इस तरह के परिवहन के विकास की आवश्यकता महसूस होने लगी थी, किंतु इस क्षेत्र में प्रारंभिक सफलता प्राप्त करने का श्रेय ब्रिटेन को है। वहाँ पर सन् १८२५ में जॉर्ज स्टीफेंसन नामक व्यक्ति ने एक ऐसे भाप इंजन का आविष्कार किया जो १२ मील प्रति घंटे की गति से ३८ डिब्बों को खींच सकता था। सन् १८३० में दुनिया की पहली रेलवे लाइन ब्रिटेन में खोली गई, जो मैनचेस्टर से लिवरपूल तक ३१ मील लंबी थी। राष्ट्रीय विकास और उन्नति का आवश्यक अंग होने के अलावा, रेलों के निर्माण में लगाई गई पूँजी पर बहुत मुनाफा होने की आशा से बहुत सी रेल कंपनियों का सवेग विस्तार होने लगा। ब्रिटेन, यूरोप और संयुक्त राष्ट्र, अमरीका, जैसे विकसित देशों में रेलवे की लाइनें बिछाने के लिये स्पर्धा उठ खड़ी हुई, जो आगे चलकर पिछड़े देशों में रेल बिछाने की स्पर्धा के रूप में परिवर्तित हो गई। संसार भर में अब करीब ७,६५,००० मील लंबी रेल लाइनें हैं। इनमें से ९२,८८४ मील लंबी लाइनें एशिया में, २,५८,८९८ मील यूरोप में, २,७३,१३९ मेक्सिको को छोड़कर उत्तरी अमरीका में, ६५,०२६ मील दक्षिण अमरीका और मेक्सिको में, ४२,९९२ मील अफ्रीका में और २८,७६० मील ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में हैं।

एशिया में पहली रेलवे लाइन भारत में बनी। यहाँ पर १८५३ ई० में बंबई से थाना के बीच २१ मील लंबी रेलवे लाइन बिछाई गई। भारत के विभिन्न भागों में रेल बिछाने के लिये इंग्लैंड में कई रेल कंपनियाँ स्थापित की गई। उनकी पूँजी लंदन के शेयर बाजार में जमा की गई, जिसपर भारत सरकार की ओर से एक निश्चित दर

से मुनाफा देने की गारंटी भी दी गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि रेल बनाने के काम में फिजूलखर्ची बढ़ती गई और भारत को एक बहुत बड़ी राशि निश्चित ब्याज के रूप में प्रति वर्ष ब्रिटेन भेज देनी पड़ती थी। आगे चलकर इस नीति में समय समय पर परिवर्तन किए गए। सन् १८६० के बाद पहले तो सरकार ने सहूलियतें और आर्थिक मदद देकर कंपनियों को अपने जोखिम पर लाइनें बिछाने के लिये तैयार करना चाहा, पर इसमें सफलता न मिली। फिर सन् १८६६ से १८८० तक सरकार ने स्वयं रेल बिछाने का काम शुरू किया। पर पूँजी की कमी के कारण लाइनों का अधिक विस्तार न हो सका। अतः ब्रिटिश रेल कंपनियों को प्रारंभिक शर्तों पर ही लाइन बनाने की फिर से अनुमति दे दी गई।

भारतीय जन आंदोलन की माँगों के कारण १९२१ ई० में रेलों के राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाई गई। सन् १९२५ में ईस्ट इंडियन रेलवे और जी० आई० पी० रेलवे कंपनियों को सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। धीरे धीरे इस नीति पर चलने से भारतीय स्वतंत्रता मिलने तक करीब सभी रेलवे कंपनियों का राष्ट्रीयकरण हो चुका था। स्वतंत्रता के बाद भारत की देशी रियासतों के विलय के फलस्वरूप उन रियासतों की रेलवे लाइनें भी भारतीय रेलों का भाग बन गईं। इनके सुचारु संचालन के लिये १९५२ ई० में रेलों का फिर से वर्गीकरण किया गया, जिसके अनुसार देश की सब रेलवे लाइनों को छह प्रबंध क्षेत्रों में बाँटा गया। इन क्षेत्रों की संख्या अब आठ हो गई है। शीघ्र ही रेल क्षेत्रों का पुनर्गठन होनेवाला है।

रेल प्रशासन

भारत की सरकारी रेलों के प्रशासन का उत्तरदायित्व रेलवे बोर्ड पर है, जो केंद्रीय मंत्रिमंडल के रेल मंत्री के अधीन काम करता है। अध्यक्ष के अलावा रेलवे बोर्ड में चार और सदस्य हैं। इनके नीचे विभिन्न विभागों से संबंधित निदेशालय हैं, जो सरकारी निर्धारित नीति को अमल में लाते हैं। प्रत्येक रेलक्षेत्र का प्रमुख अधिकारी जनरल मैनेजर होता है। उसकी सहायता के लिये विभागीय प्रमुख होते हैं। एक रेल क्षेत्र कई मंडलों, या जिलों में बँटा होता है। मंडलों के अधिकारी मंडल अधीक्षक होते हैं। इंजन, या गाड़ी बनाने के कारखानों की प्रशासनिक व्यवस्था क्षेत्रीय प्रशासन की रूपरेखा से भिन्न है। रेलवे बोर्ड देश के सबसे बड़े राष्ट्रीयकृत उद्यम का संचालन करता है और संसार के रेल प्रशासनों में रूस के बाद वह सबसे बड़े संस्थान का स्वामी है।

६६२ किलोमीटर लंबी छोटी लाइनों को छोड़कर, जिनका स्वामित्व और संचालन गैरसरकारी संस्थाओं के हाथ में है, बाकी रेलमार्गों पर केंद्रीय सरकार का स्वामित्व है और उसी पर उनके संचालन का दायित्व भी है। भारतीय रेलों में तीन प्रकार की लाइनें हैं। बड़ी लाइन, जिसमें पटरियों की चौड़ाई १'६७६ मीटर होती है, २७,४५६ किलोमीटर मार्ग पर बिछी है। यह देश के प्रमुख नगरों को एक शृंखला में बाँधती है और उसपर रेलों में लादे जानेवाले ८० प्रति शत से अधिक माल की ढुलाई होती है। मीटर लाइन, जिसकी पटरियों की चौड़ाई १ मीटर होती है, २५,१४३ किलोमीटर मार्ग पर बिछी है। यह लाइन अधिकतर सौराष्ट्र, राजस्थान, पूर्वी उत्तर प्रदेश, उत्तरी बिहार और बंगाल, असम, मैसूर और भारत के दक्षिणी भाग में फैली है। शेष ४,३२१ किलोमीटर लंबी छोटी लाइनें हैं, जिनकी चौड़ाई ०'७६२, या ०'६१० मीटर है। ये पहाड़ी इलाकों, या देश के कम समुन्नत क्षेत्रों में बिछी हैं। १९६४ ई० में रेलों के पास लगभग १२,००० इंजन ३१,००० सवारी गाड़ियाँ और ३,४४,००० माल के डिब्बे थे। सरकारी रेलों पर ३,००० करोड़ रुपए की पूँजी लगी थी और इनसे प्रति वर्ष ६३० करोड़ रुपए की आमदनी होती थी। इस समय १२'७ लाख से अधिक लोग रेलों में काम करते हैं। देश में ८०० से अधिक रेलवे स्टेशन हैं, प्रति दिन १०,००० गाड़ियाँ चलती हैं, जिनमें प्रति दिन ५० लाख यात्री और ५ लाख टन माल ले जाया जाता है। इस तरह आज भारतीय रेलों का विस्तार में संसार में चौथा (अमरीका, कैनाडा और रूस के बाद) और एशिया में पहला स्थान है।

देश के आर्थिक और औद्योगिक विकास में भारतीय रेलों ने पूर्ण योगदान दिया है। स्वतंत्रता के बाद उनकी लंबाई, क्षमता और परिचालन कुशलता में महत्वपूर्ण उन्नति हुई है। अपनी जरूरतों के लिये विदेशों से मँगाए जानेवाले करोड़ों रुपए के साज सामान का निर्माण देश में ही प्रारंभ कर दिया गया है। भाप के इंजन के निर्माण के लिये चित्तरंजन में सन् १९५० में एक कारखाना बनाया गया, जिसमें अब तक १,८०० भाप इंजन बन चुके हैं। वहाँ पर अब बिजली के इंजन भी बनने लगे हैं और शीघ्र ही प्रति मास ६ इंजन बनने लगेंगे। सवारी गाड़ियों के डिब्बों के बनाने के लिये मद्रास के पास, पैरंबूर में, एक फैक्टरी की स्थापना १९५६ ई० में की गई थी। इसमें अभी तक ३,५०० से अधिक डिब्बे बनाए जा चुके हैं। वाराणसी में डीजल इंजन बनाने के कारखाने की स्थापना हुई है। इसकी १५० इंजन प्रति वर्ष बनाने की क्षमता है। मालगाड़ी के डिब्बों के बनाने के लिये भी देश के विभिन्न भागों में अनेक फैक्टरियों का विकास किया गया है। इसके अलावा जमशेदपुर में टाटा कंपनी द्वारा मीटर लाइनों के लिये इंजन बनाए जाते हैं। सन् १९६३-६४ में भारतीय रेलों ने २६८'६९ करोड़ रुपए के सामान की खरीद की, जिसमें ८८ प्रति शत स्वदेशी सामान था। सन् १९५८ में स्वदेशी माल केवल ६३ करोड़ का था। इस तरह रेलों ने देशी उद्योगों के विकास में पूरा हाथ बँटाया है।

वैज्ञानिक प्रगति के कारण संसार के सभी प्रगतिशील देशों में रेल परिवहन के लिये भाप इंजन की जगह डीजल और बिजली से चलनेवाले इंजनों का उत्तरोत्तर उपयोग किया जाने लगा है। इन नए इंजनों के उपयोग से रेल की क्षमता और उपयोगिता को बहुत बढ़ाया जा सकता है। इससे खर्च में भी बचत होती है। तीसरी योजना के अंत तक २,८६४ किलोमीटर मार्ग पर बिजली गाड़ियाँ चलाने का कार्यक्रम बनाया गया था। डीजल इंजनों का भी उपयोग उत्तरोत्तर बढ़ने लगा है और सन् १९६४ के अंत तक एक तिहाई से अधिक मालगाड़ियों का चलन बिजली या डीजल के इंजनों द्वारा होने लगा है। सिगनल पद्धति में भी नए नए प्रयोग काम में लाए जा रहे हैं, जिनसे रेलों की संरक्षा और कुशलता में वृद्धि हो सके। वैज्ञानिक और तकनीकी क्षेत्र में नये नये अनुसंधान और प्रयोग करके

उनको रेलों के उपयोग में लाने के लिये भारतीय रेलों ने कई अनुसंधानशालाएँ खोली हैं। अपने विस्तार, कार्यक्षमता और लाभ कमाने की दृष्टि से भारतीय रेलों ने संसार में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त किया है। ये हमारी राष्ट्रीय प्रगति की प्रतीक हैं और इनसे देश के गौरव की वृद्धि होती है।

परिवहन के क्षेत्र में दूसरे साधनों का विकास सभी जगह बड़ी तेजी से हो रहा है। मोटर यातायात, नावों और वायुयानों ने संसार भर में अद्भुत उन्नति की है। बहुत से देशों में उन्होंने रेलों को काफी नुकसान पहुँचाया है और उनके विकास को रोक दिया है। भारत में भी सड़कों के प्रसार, मोटर गाड़ियों की बढ़ती और वायुसेवा के विस्तार के कारण यातायात के क्षेत्र में रेलों को प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ रहा है। ऊँचे दर्जों में सफर करनेवाले यात्री और मूल्यवान् सामान रेलों से हटकर दूसरे साधनों द्वारा जाने लगे हैं। फिर भी ऐसा अनुमान है कि भारत में बहुत समय तक रेलों की बढ़ती होती रहेगी। देश में अभी ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जहाँ से रेलें सैकड़ों मील दूर हैं। उन क्षेत्रों में रेलों का विस्तार होगा। कच्चे और भारी माल, जैसे कोयला, लोहा, इस्पात, चूना आदि के लिये रेल ही सबसे सस्ता और समुचित परिवहन है। बड़े बड़े शहरों में लाखों स्त्री पुरुषों के रोज आने जाने की समस्या को भी रेलों के द्वारा हल किया जा सकता है। रेलों की क्षमता, कुशलता और रफ्तार बढ़ाने के लिये प्रगतिशील देशों में किए गए सफल प्रयोगों को हमारी रेलों पर भी लागू करने का श्रीगणेश हो चुका है। इससे भविष्य में भी देश की परिवहन व्यवस्था में भारतीय रेलों के प्रमुख स्थान के बने रहने की आशा है। [प्र० चं० गु०]

रेलमार्ग (Railway Track, Permanent way) रेलगाड़ियों के चलने के लिये रेलों (लोहे की पटरियों) को फिश प्लेट तथा फिश काबलों द्वारा जोड़कर स्लीपरों पर समांतर बिछाए हुए मार्ग को रेलमार्ग कहते हैं। पृथ्वी की ऊँची नीची सतह को मिट्टी की कटाई, या भराई से एक सा करके ऊपर रोड़ी, या मिट्टी बिछाई जाती है और फिर स्लीपरों के ऊपर रेलों की जड़ाई की जाती है। इस प्रकार रेलगाड़ी के चलने के लिये एक मजबूत तथा एक सा मार्ग तैयार हो जाता है।

पूर्व इतिहास — आरंभ में रेल परिवहन इंग्लैंड में कोयले की खानों में होता था। कोयले से लदी गाड़ियाँ, घोड़ों द्वारा खींची जाती थीं, पर गाड़ियों के भार के कारण पहिए मिट्टी में धँस जाते और उनका चलना कठिन हो जाता था। इस कठिनाई को दूर करने के लिये १७वीं शताब्दी में पहियों की दूरी का ध्यान रखते हुए मीलों तक दो लकड़ी के तख्तों की लाइन बिछा दी जाती थी, जिससे इन गाड़ियों के चलने में सुविधा हो। इन तख्तों को अपनी दूरी पर रखने के लिये लकड़ी के स्लीपरों से जोड़े जाने की आवश्यकता प्रतीत हुई और इस प्रकार स्लीपरों का उपयोग आरंभ हुआ। पर ये तख्ते कमजोर होने के कारण शीघ्र ही टूट जाते थे। इस कारण लकड़ी के तख्तों पर लोहे की पट्टियाँ जड़ी गईं। इन पट्टियों पर से पहिए आसानी से उतर जाते थे और इसको रोकने के लिये लोहे-कोणों का उपयोग किया गया और लोहे के किनारेदार पहिए (flanged wheels) बनाए गए। पहियों को जमीन में धँसने से बचाने के लिये रेलों को ऊँचा बनाया गया। समय की प्रगति के साथ भाँति भाँति के नमूने की रेलें बनाई गईं, जिनमें दुमुँही (double head, देखें चित्र १.), वृषभ सिरा (bull head, देखें चित्र २.) तथा चपटे तल वाली (flat foot, देखें चित्र ३.) मुख्य हैं। प्रारंभ में ये पटरियाँ चार फुट लंबी होती थीं और इनको सँभालनेवाली कुर्सी आधार तथा जोड़ दोनों का कार्य करती थी। बाद में जब रेलों की लंबाई अधिक होने लगी तथा उनपर गाड़ियों की गति तीव्र हुई, तब रेलों को जोड़ने के लिये फिश प्लेट (एक विशेष प्रकार की जोड़-पट्टी, देखें चित्र ७.) तथा फिश बोल्ट (जोड़नेवाले काबले, देखें चित्र ८.) काम में लाए गए।
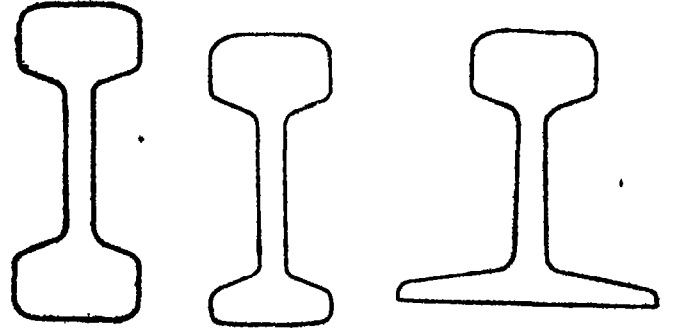
चित्र १. दोमुँही रेल — चित्र २. वृषभ सिरा रेल — चित्र ३. चपटे तल की रेल

निर्माण — रेलमार्ग के लिये आदर्श राह वह है जो दो व्यापारिक केंद्रों को एक सीध में, समतल भूमि में होती हुई, मिला पाए। इस प्रकार की लाइन बनाने से इस पथ की लंबाई कम होने के साथ साथ मिट्टी की कटाई तथा भराई में भी कमी होगी। पर व्यावहारिक रूप में अधिकतर ऐसी समतल राह संभव नहीं हो पाती। साथ ही बीच के छोटे-छोटे व्यापारिक केंद्रों को भी ध्यान में रखना पड़ता है। इस प्रकार इन सबका विचार करके रेलमार्ग के लिये ऐसी राह निर्धारित की जाती है, जो हर दृष्टिकोण से अधिकाधिक लाभप्रद हो और निर्माणव्यय भी कम हो। खड़ी चढ़ाई तथा तीव्र घुमाववाले रेलमार्ग में कटाई तथा भराई कम होने के कारण प्रारंभिक व्यय तो कम होता है पर उसके परिचालन में अधिक व्यय होता है। इस कारण जहाँ आरंभ में यातायात के विकास का पूरा भरोसा नहीं होता, सस्ता से सस्ता ऐसा मार्ग निर्धारित किया जाता है जिसको औद्योगिक विकास के साथ साथ उन्नत किया जा सके। अधिकतर निर्माण तथा परिचालन के व्यय दोनों में संधि करनी पड़ती है जिससे दोनों को मिलाकर न्यूनतम व्यय हो। पहाड़ी देशों में कटाई की मिट्टी भराई में डाली जाती है और ६० फुट से अधिक की भराई को पुल बनाकर पार किया जाता है।

निर्माण की दृष्टि से रेलमार्ग को तीन भागों में बाँटा जा सकता है: (१) आधार तल, (२) मिट्टी, या रोड़ी तथा (३) रेलपथ।

आधार तल — रेलगाड़ी के लिये समतल आधार की आवश्यकता होती है, जबकि अधिकतर पृथ्वी की सतह ऊँची-नीची है। अतः जिस स्थान से रेलपथ ले जाना होता है, उसको समतल करने के लिये मिट्टी की भराई, या कटाई की जाती है। रास्ते में नदी, नालों, नहरों, या अन्य नीचे स्थानों के लिये पुल बनाए जाते हैं, तथा पर्वतश्रेणियों के एक ओर से दूसरी ओर जाने के लिये सुरंगें काटी जाती हैं। विभिन्न स्थानों की ऊँचाई भिन्न होने के कारण रेलपथ में भी उतराव चढ़ाव देना होता है, पर इंजन की खींचने की शक्ति को ध्यान में रखते हुए इस चढ़ाव उतराव की ढाल काफी धीमी रखी जाती है। इस चढ़ाव उतराव की ढाल को अंग्रेजी में ग्रैडिएंट (gradient) कहते हैं और यह गति अनुपात, या प्रति शत में नापी जाती है। १%, या १०० में १ चढ़ाई का अर्थ होता है कि एक सौ फुट की दूरी में रेल सतह एक फुट ऊँची उठ गई है। इसी प्रकार २%, या ५० में १ का अर्थ होता है कि पचास फुट की दूरी में १ फुट की चढ़ाई। भारत में सबसे खड़ी चढ़ाई की रेल दक्षिण की नीलगिरि की पहाड़ियों में है, जहाँ ८% (१२.५ में एक) तक की चढ़ाई है और गाड़ियों को नीचे फिसलने से रोकने के लिये रेल पटरियों के मध्य एक तीसरी दाँतेदार पत्थर की शलाका लगाई जाती है, जिसमें इंजन के गरारीदार पहिए फँसकर गाड़ी को नीचे फिसलने से रोकते हैं। जहाँ चढ़ाई हलकी है, मध्य शलाका की आवश्यकता नहीं होती तथा इंजन साधारण तौर पर चलता है। मेट्टुपल्याम से ऊटकमंड तक की यह २८.५ मील लंबी लाइन मीटर गेज (आमान) की है।

अन्य बिना दाँतेदार खड़ी चढ़ाई की रेलों के नमूने हैं : पंजाब में कांगड़ा तथा कुलू की घाटी में बनी हुई लाइनें तथा कालका से शिमला तक २ फुट ६ इंच गेज की और दार्जिलिंग-हिमालयन २ फुट गेज की छोटी लाइनें। पहाड़ों में अधिकतर घुमाव अधिक होने के कारण गेज (आमान) छोटा ही रखा जाता है। हाँ बंबई से पूना तक तथा बंबई से इगतपुरी तक पहाड़ी रास्ता होते हुए भी बड़ी लाइन बनाई गई है। इन दोनों रास्तों की भी चढ़ाई काफी खड़ी है। काफी दूरी तक ३७ में एक के अनुपात की चढ़ाई है। श्रीलंका में भी पहाड़ी लाइन बड़े आमान (५'-६") की है तथा वहाँ के घुमाव भी काफी तीव्र (३०० फुट अर्धव्यास के) हैं।

राह में जहाँ नदी नाले, या गहरी खाइयाँ पड़ती हैं, वहाँ रेलमार्ग पर पुल बनाए जाते हैं। पुल कई प्रकार के होते हैं, जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं :

(अ) खुली पुलिया — छोटी छोटी नालियों को पार करने के लिये दोनों ओर पाए बनाकर पुल बना दिए जाते हैं। इनका उपयोग ऐसे स्थानों में होता है, जहाँ रेलतल तथा पृथ्वीतल में अधिक अंतर नहीं होता।

(ब) पाइप, या नल पुलिया — इसके लिये लोहे के लोह प्रबलित कंक्रीट के नलों को प्रयोग में लाया जाता है। कहीं कहीं ईंटों की चिनाई करके डाटदार नल भी बनाए जाते हैं।

(स) डाट पुल — जहाँ रेल की ऊँचाई पर्याप्त होती है, वहाँ ईंटों, पत्थरों, या कंक्रीट की डाट के पुलों का उपयोग होता है। अधिकांश २० फुट, या २५ फुट तक के दर के पुल डाट के बनते हैं, क्योंकि इनसे अधिक दर के लिये ढुला तैयार करना कठिन होता है, पर ६० फुट, ७५ फुट तथा १०० फुट तक चौड़ी डाट के पुल भी बनाए गए हैं।

(द) गर्डर पुल — लोहे के गर्डरों के पुलों का रेलपथ में पर्याप्त उपयोग होता है और ये भारत में ६ फुट से ४०० फुट की लंबाई तक उपयोग में लाए गए हैं। मोकामा के पास गंगा नदी पर राजेंद्र पुल में ४०० फुट के १४ गर्डर लगाए गए हैं। पश्चिमी पाकिस्तान में सक्कर के पास सिंध नदी पर एक विशेष पुल है, जिसमें नदी के दोनों किनारों पर पाए लगे हैं। इनसे ३१० फुट के गर्डर दोनों ओर से छज्जे की तरह निकाले गए हैं और इनके बीच की दूरी को २०० फुट के गर्डर से पूरा किया गया है। इस प्रकार ८०० फुट के विस्तार को बिना किसी पाए के पार किया गया। इस पुल का तला पानी की सतह से ५२ फुट ऊँचा है, पर बाढ़ के दिनों में ३५ फुट रह जाता है।

गिट्टी, या रोड़ी — गिट्टी के द्वारा जलनिस्सरण होता है तथा यह रेल लाइन की सिधाई स्थिर रखने में भी सहायक होती है। स्लीपरों के लिये यह मजबूत तथा समतल आधार प्रदान करती है। इससे रेल के ऊपर आया हुआ गाड़ी का भार अधिक विस्तृत क्षेत्र पर फैल जाता है। स्लीपरों के नीचे गिट्टी की मात्रा ६ इंच से फुट भर तक होती है। गिट्टी का एक कार्य रेलपथ को लचक प्रदान करना तथा उसकी सतह को सुरक्षित रखना भी है। जहाँ गाड़ियाँ तीव्र गति से चलती हैं, वहाँ अधिकतर गिट्टी सख्त, साफ टूटे हुए पत्थर के टुकड़ों की होती है। कहीं कहीं झाँवों की गिट्टी का भी प्रयोग करते हैं। जोधपुर की ओर संगमरमर का पत्थर

चित्र ४. कुत्ता कील
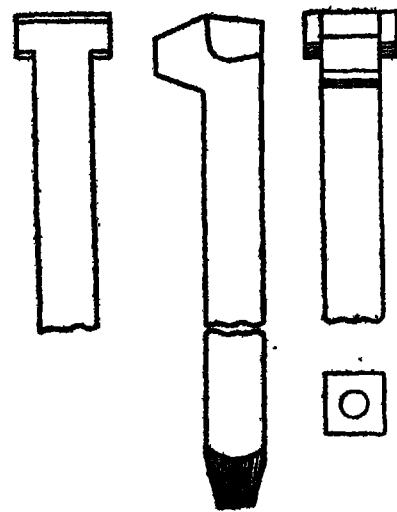
अधिकता से मिलने के कारण उसी का उपयोग किया जाता है।

जहाँ गाड़ी की गति तीव्र नहीं होती वहाँ रेत, मिट्टी इत्यादि को भी मिट्टी के स्थान पर उपयोग में लाया जाता है।

रेल पथ — रेल पथ के मुख्य अंग रेल पटरी, स्लीपर तथा उनको आपस में जोड़नेवाले सामान हैं।

रेल पटरियाँ लोहे की उन विशेष आकार की शहतीरों को कहते हैं जिन्हें जोड़कर रेलमार्ग बनाया जाता है। इनका कार्य इंजन तथा बोगी, या वैगनों के भार को सहन करना है। इनका आकल्पन गर्डरों की ही भाँति किया जाता है। आकार में ये मुख्यतः तीन प्रकार की होती हैं : (१) दोमुँही (चित्र १.), (२) वृषभसिरा या अर्धभारित (चित्र २.) तथा (३) चपटे तलवाली (चित्र ३.)।

प्रारंभ में रेल की पटरी का ऊपरी तथा निचला भाग एक ही तरह का रखा गया था, जिससे ऊपरी भाग के घिस जाने पर पटरी को उलटकर व्यवहार में लाया जा सके। पर यह देखा गया कि कुरसियों की जकड़ से निचला भाग कट जाता है, जिसके कारण उसको उलटकर व्यवहार में लाना संभव नहीं होता था।
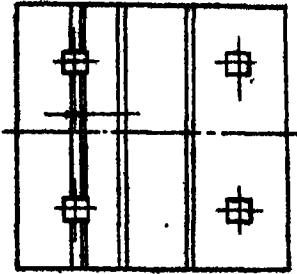
चित्र ५. आधार पट (बियरिंग प्लेट)

भाँति भाँति के आकारों की रेलों का उपयोग किया गया, पर अब केवल दो आकारों की रेल ही प्रचलित है। ब्रिटेन में अधिकतर वृषभसिरा रेल उपयोग में लाई जाती है, यद्यपि अब वहाँ भी समतल रेलो का उपयोग होने लगा है। भारत, अमरीका तथा यूरोप के अन्य देशों में अधिकतर समतल रेलों का उपयोग होता है।

वृषभसिरा रेलों को स्लीपर पर सहारा देने के लिये एक विशेष प्रकार की लोहे की कुरसी लगाई जाती है।

चपटे तलवाली रेल सख्त लकड़ी (साल, जाड़ा इ०) के स्लीपरों पर रखकर कुत्ता कीलों (dog spikes, देखें चित्र ४.) द्वारा जड़ दी जाती है। नरम लकड़ी (देवदारु, चीड़, कैल, फर इ०) के स्लीपरों पर रेल की जड़ाई करने के लिये बियरिंग प्लेट (आधार पट, देखें चित्र ५) काम में लाते हैं। देखा गया है कि पटरी गाड़ी की गति से अक्सर अपने स्थान से आगे को सरकती रहती है। इसको सरक (creep) कहते हैं। इस सरक को रोकने के लिये ऐंकर (anchor, चित्र ६.) लगाए जाते हैं। यह भिन्न भिन्न लोगों ने भिन्न भिन्न आकार तथा भिन्न भिन्न अभिकल्पों के बनाए हैं, पर मूलतः यह इस्पात का, एक विशेष आकार का टुकड़ा होता है, जो स्लीपर के किनारे पर रेल में फँसा दिया जाता है। इस प्रकार यह रेल को पकड़े रहता है और रेल को आगे सरकने से रोकता है। रेल की सरक रोकने के लिये एक विशेष प्रकार के लंगर पट भी काम में लाए जाते हैं।
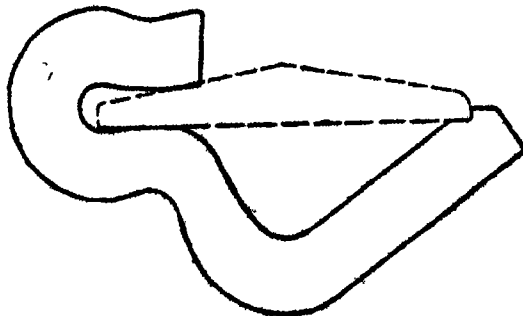
रेल की पटरियों की नाप पाउंड प्रति गज के अनुसार की जाती है। पर मीटरी पद्धति के चालू हो जाने से यह नाप किलोग्राम प्रति मीटर से होने लगी है। पटरियों का आकार तथा भार इसपर निर्भर करता है कि उनपर किस प्रकार के यातायात का आयोजन है। अधिकतर धुरी भार तथा गाड़ी की गति, या यातायात के घनत्व से, उनका आकार तथा भार प्रति गज निर्धारित करते हैं। बड़ी लाइन (broad gauge) पर पटरियाँ ७५ पाउंड प्रति गज से लेकर ११० पाउंड प्रति गज तक व्यवहार में आती हैं। मुख्य (main) लाइन मे जहाँ गाड़ी की गति ६० मील प्रति घंटा तक है, ६० पाउंड प्रति गज तथा शाखा (branch) लाइन में ७५ पाउंड प्रति गज की रेलें लगाई जाती है। खानों के आसपास जहाँ यातायात बहुत अधिक है, १०० या ११० पाउंड प्रति गज की रेलें उपयोग में लाई गई हैं। रेलवे बोर्ड ने अभी हाल ही में मुख्य लाइनों के लिये, जहाँ गति बढ़ाने का विचार है, १०५ पाउंड प्रति गज की रेल का अभिकल्प निर्धारित किया है। मीटर लाइन में सामान्यतः ५० से ७५ पाउंड प्रति गज की रेल उपयोग में आती है। कुछ पुरानी बड़ी लाइनों पर ६० पाउंड तथा मीटर लाइनों में ४१.५ पाउंड की रेलें लगी हुई हैं। इनपर बहुत ही हलके इंजिन चल सकते हैं और इस कारण शीघ्रता से इनके स्थान पर भारी पटरियाँ लगाई जा रही हैं। छोटी लाइन में ३० से लेकर ६० पाउंड प्रति गज तक की रेलें उपयोग मे आती हैं।

रेल-पटरियों की लंबाई अधिकतर ३० फुट से लेकर ४२ फुट तक होती है। कई देशों में ६० फुट लंबाई तक की रेलें भी प्रयुक्त की जाती हैं। रेलों को आपस में जोड़ने के लिये फिश प्लेट (देखें चित्र ७.) तथा फिश बोल्ट (देखें चित्र ८.) का व्यवहार होता है। ऐसे जोड़ों (देखें चित्र १६.) की देखभाल में काफी खर्च होता है। इसलिये इन जोड़ों को कम करने के लिये आजकल झलाई
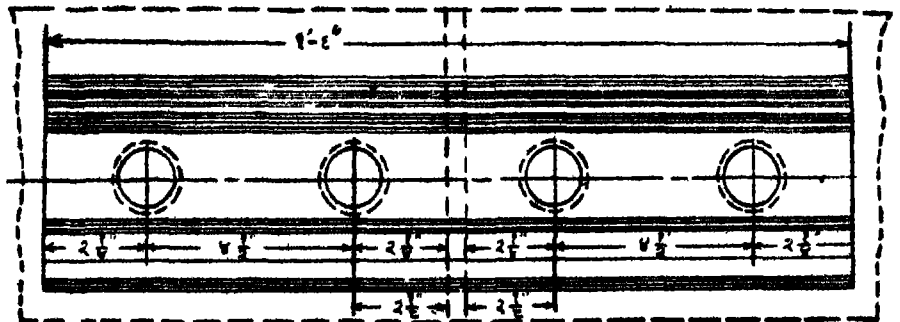
चित्र ६. ऐंकर (लंगर)

चित्र ७. फिश प्लेट का नमूना

करके लंबी लाइनें बना ली जाती हैं। ऐसी झलाई की हुई रेलों से देखभाल का खर्च तो कम हो ही जाता है, साथ ही झटके कम लगने से यात्रा भी बड़ी आरामप्रद हो जाती है। गर्मी में लाइनों की लंबाई बढ़ने से उनके टेढ़े-मेढ़े होने का डर होता है, जिसके लिये विशेष सतर्कता रखी जाती है तथा लाइन को मजबूती से स्लीपरों तथा मिट्टी में जकड़कर रखा जाता है। लंबी झली हुई पटरियों में जोड़ न होने के कारण अवैधानिक रूप से लाइन उखाड़ने का डर भी कम हो जाता है।
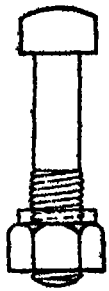
चित्र ८. फिश बोल्ट
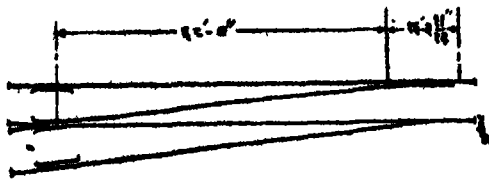
चित्र ९. पारपथ

रेलपटरियाँ तथा उनके जोड़ने के लिये फिश-प्लेट, फिश-बोल्ट, कुत्ता कीलें, ऐंकर इत्यादि इस्पात के बनते हैं। इस्पात में कार्बन की कमी और अधिकता करने से तथा मैंगनीज, कोबाल्ट तथा अन्य तत्वों को विभिन्न अनुपातों में मिलाने से उसकी मजबूती तथा अन्य गुणों में अदल बदल की जा सकती है।
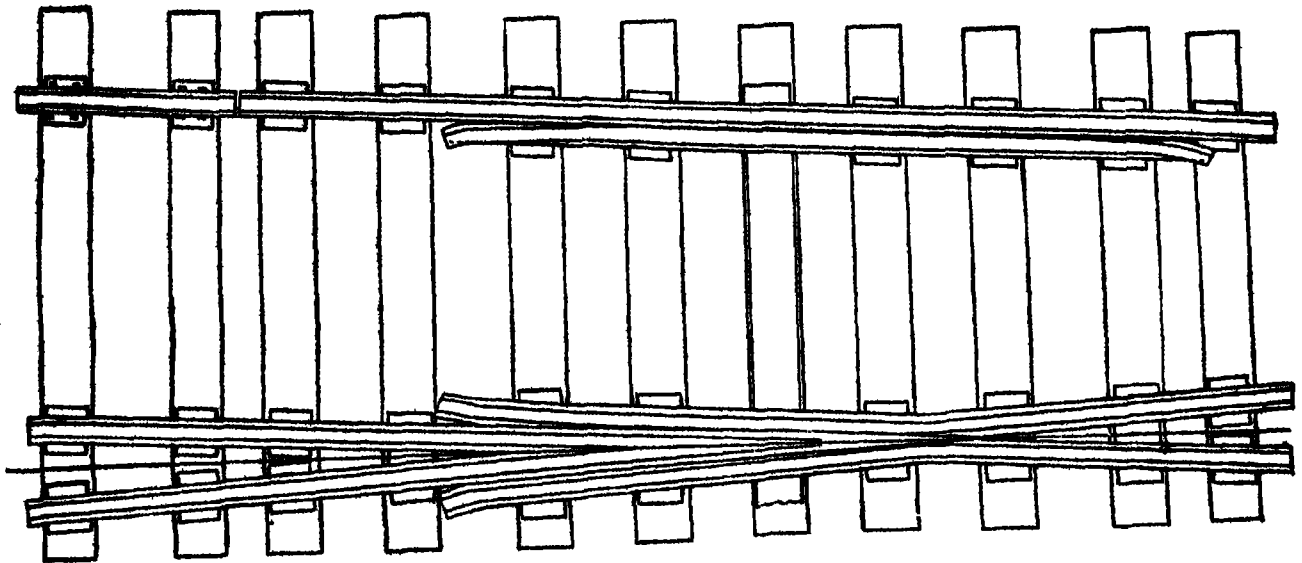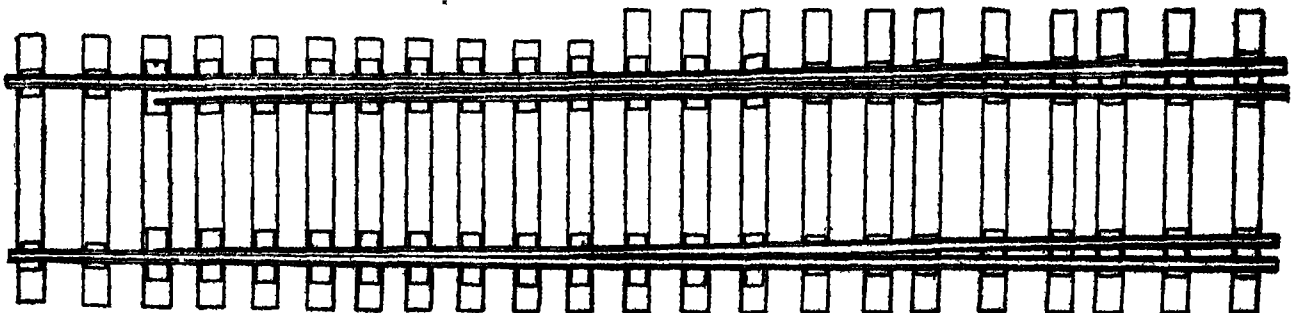
आमान, या गेज (gauge) — रेल की पटरियों की आपस की दूरी को गेज, या आमान कहते हैं। भारत में मुख्यतः दो आमान हैं : बड़ी लाइन का आमान, ५ फुट ६ इंच, तथा मीटर लाइन का आमान, एक मीटर (३ फुट ३⅜ इंच)। कुछ पहाड़ी तथा अन्य भागों में छोटी लाइनें भी हैं, जिनके आमान २ फुट ६ इंच तथा २ फुट हैं।

स्पेन, पुर्तगाल, ब्राज़िल और चिली में भी मुख्य लाइनें ५ फुट ६ इंच आमान की हैं। इंग्लैंड का सामान्य आमान ४ फुट ८½ इंच चौड़ा है, किंतु वेल्स के पहाड़ी क्षेत्र में कुछ कम चौड़ी लाइनें भी बनी हुई हैं। आरंभ में ब्रिटेन की ग्रेट वेस्टर्न रेलवे की लाइन ७ फुट चौड़े आमान की थी, किंतु अंत में प्रचलित दूरी (४ फुट ८½ इंच) ही अपना ली गई। अमरीका में ४ फुट ८½ इंच सर्वप्रचलित है। आस्ट्रेलिया, जापान, टैसमैनिया और नॉर्वे में अलग अलग कई गेज हैं, पर ३½' फुट गेज मुख्य है।

समपार या लेविल क्रॉसिंग (Level crossing) — सड़क को

चित्र १०. १ : ८½ के क्रॉसिंग का नमूना

चित्र ११. कौंटर रेल का नमूना

रेलपथ के एक ओर से दूसरी ओर ले जाने के लिये या तो पुल बनाए जाते हैं, या समपार। पुल द्वारा सड़क, या तो रेल की लाइन के
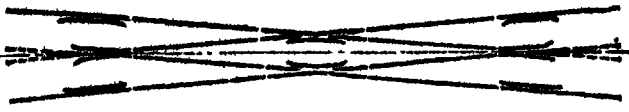
चित्र १२. डायमंड क्रॉसिंग
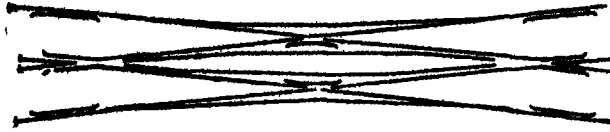
चित्र १३. सिंगल स्लिप पारपथ
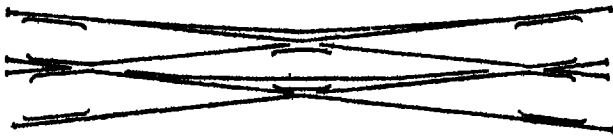
चित्र १४. डबल स्लिप पारपथ

नीचे से निकाल ली जाती है, या उसे रेल की लाइन के ऊपर से ले जाते हैं। ऊपर से, या नीचे से, ले जाने का निर्णय रेलवे लाइन से
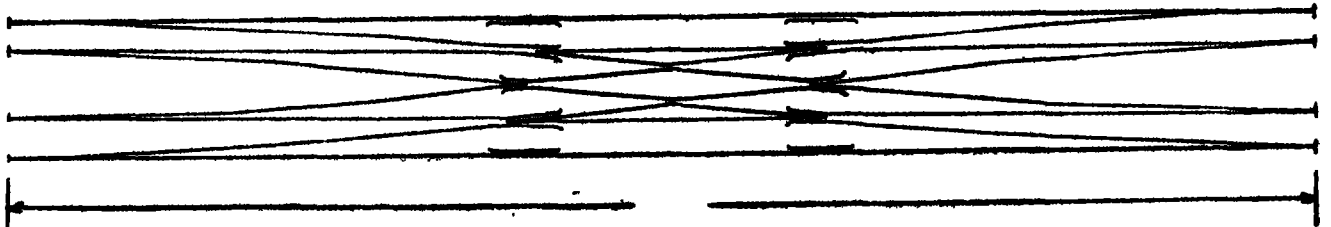
चित्र १५. कैंची पारपथ

सडक की ऊँचाई, या निचाई, पर निर्भर करता है। सड़क पार करने के लिये पुल बनाने में काफी व्यय होता है तथा अधिकतर सड़क तथा रेल के तल में अधिक अंतर न होने के कारण समपार ही का उपयोग होता है। रेल तथा सड़क के यातायात की मात्रा के अनुसार, समपार कई अलग अलग श्रेणियों में विभाजित किए जाते हैं। जहाँ यातायात अधिक होता है, वहाँ फाटकदार समपार लगाए जाते हैं, जिनपर फाटकवाले नियुक्त होते हैं। इन फाटकवालों का काम गाड़ी आने के समय फाटक बंद करना होता है। फाटकवालों की संख्या भी यातायात की मात्रा के अनुसार निर्धारित होती है। मुख्य समपारों पर संकेतक (सिगनल) भी लगाए जाते हैं और जब तक सड़क का फाटक बंद न हो, सिगनल अनुकूल नहीं किया जा सकता। इस प्रकार दुर्घटनाओं की संभावना कम हो जाती है। पर समपारों की संख्या बहुत अधिक होने के कारण हर समपार पर फाटकवाले की नियुक्ति तथा सिगनल लगाना आर्थिक दृष्टि से अनुचित होगा। इस कारण अधिकतर समपार, जहाँ यातायात बहुत कम होता है, बिना फाटकवाले के ही लगाए जाते हैं। ऐसे समपारों को पार करते समय बहुत ही सतर्कता रखनी चाहिए। अधिकतर देखा गया है कि लोग जल्दबाजी में समपार पार करते समय असावधानी से काम लेते हैं, जिसके कारण दुर्घटना की संभावना बहुत बढ़ जाती है और जीवन व्यर्थ ही संकट में पड़ जाता है।

विदेशों में कई समपारों पर फाटकवालों का व्यय कम करने के लिये ऐसी स्वचालित रोकें लगाई गई हैं जो गाड़ी आने से कुछ समय पहले अपने आप सड़क बंद कर देती हैं। भारत में भी लखनऊ रेलवे अन्वेषण केंद्र में इस प्रकार की रोक का अभिकल्प किया गया है और उसपर प्रयोग किए जा रहे हैं।

कहीं कहीं विदेशों में ऐसा प्रबंध भी किया जा रहा है कि गाड़ी आने के कुछ समय पहले से बिना फाटकवाले समपारों पर सड़क यातायात को सावधान किया जा सके। इसमें लगभग १ मील दूरी पर गाड़ी के पहिए के दबाव से बिजली द्वारा संबंधन हो जाता है और समपार पर घंटी बजने लगती है और साथ ही लाल बत्ती भी जलने बुझने लगती है। इस तरह सड़क यातायात को पता चल जाता है कि गाड़ी आनेवाली है और वे सावधान हो जाते हैं। अभी तक ऐसे साधन काफी महँगे पड़ते हैं, परंतु आशा है, समय की प्रगति के साथ ये सस्ते हो जायँगे। इनका प्रयोग सामान्य हो जाएगा और समपारों पर दुर्घटनाओं से बचाव हो सकेगा।

काँटा क्रॉसिंग — गाड़ी के रेलपथ बदलने के लिये काँटे क्रॉसिंग का उपयोग होता है। एक साधारण काँटा क्रॉसिंग को, जिसमें एक रेलपथ से दूसरा रेलपथ निकाला गया है, पारपथ कहते हैं (देखें चित्र ९.)। क्रॉसिंग का कोण अनुपात में नापा जाता है। १ : ८$\frac{१}{२}$ क्रॉसिंग का मतलब है, ८$\frac{१}{२}$ फुट लंबाई में एक फुट की दूरी हो जाना (देखें चित्र १०.)। इसी प्रकार १:१२, १:१६ तथा १:२० के भी क्रासिंग होते हैं। अधिक तीव्र गति के लिये घुमावदार काँटा रेल (देखें चित्र ११.) तथा चपटे क्रॉसिंगों का प्रयोग होता है। भिन्न भिन्न अवस्थाओं के लिये भिन्नभिन्न अभिकल्प किए गए हैं। यदि एक रेलपथ दूसरे पथ को केवल पार करता है, तो डायमंड क्रॉसिंग (diamond crossing, देखें चित्र १२.) काम में लाते हैं। यदि दो ओर से दो पथ बीच के एक पथ को एक ही जगह पार करते हैं, तो कैंची क्रॉसिंग, या सिज़र्स क्रॉस-ओवर (scissors cross-over, देखें चित्र १५.) प्रयोग में लाया जाता है। यदि ऐसा प्रबंध करना हो कि गाड़ी पार करनेवाले रेलपथ पर भी जा सके, तो ऐसे

प्रबंध को सिंगल स्लिप (single slip, देखें चित्र १३.) या
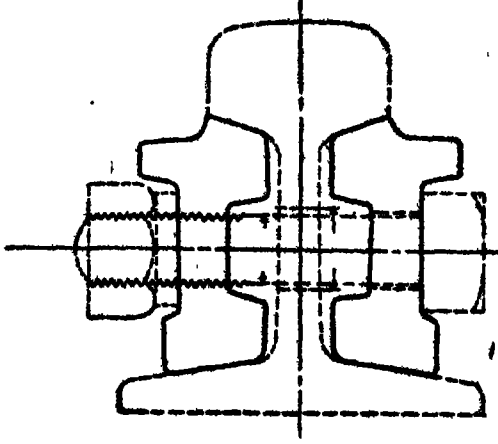
चित्र १६. रेल के जोड़ की काट (सेक्शन)

डबलस्लिप (double slip, देखें चित्र १४.) कहते हैं। भिन्न प्रकार के क्रॉसिंग चित्र में दिखाए गए हैं। [प्र० चं० गु०]

रेलमार्ग, हलके (Light Railways) उन रेलमार्गों को कहते हैं जो सस्ते ढंग से हलकी रेल द्वारा बनाए जाते हैं। किसी भी क्षेत्र में जब तक परिवहन साधनों की कमी रहती है, उसका विकास सीमित रहता है। अतः रेलमार्ग के प्रथम निर्माण के समय किसी क्षेत्र में यातायात की मात्रा कम ही होती है। रेल मार्ग के निर्माण के बाद शनैः शनैः क्षेत्र का विकास होता है और यातायात में वृद्धि होती है। अतः प्रारंभ में रेलमार्ग के परिचालन में लाभ संतोषजनक होने के लिये यह अति आवश्यक है कि उसमें कम पूँजी लगाई जाए और उसका संचालन व्यय भी कम हो। यातायात की मात्रा में कमी के कारण उस समय न तो तीव्र गति की ही इतनी आवश्यकता होती है और न ही अधिक सुविधाओं का दिया जाना महत्वपूर्ण है। सुविधारहित, धीमी चालवाली रेलगाड़ी, उसके न होने से तो कहीं अच्छी है। पूँजी की लागत कम करने के लिये निर्माणव्यय में जितनी कमी हो सके, की जाती है। इसके लिये हलकी पटरियों और हलके इंजिनों तथा गाड़ियों को व्यवहार में लाया जाता है। उतार, चढ़ाव और घुमाव में कमी की ओर, जिससे भराई और कटाई का खर्च बढ़ता है, ध्यान नहीं दिया जाता और लाइन को धरती की ढाल के अनुसार न्यूनतम कटाई भराई करके बिछा दिया जाता है। यदि संभव हो तो लाइन को किसी सड़क के किनारे किनारे बिछा दिया जाता है। स्टेशनों की इमारतों, यार्डों की बनावट तथा पुलों इत्यादि के निर्माण का खर्च भी कम से कम रखना आवश्यक है। संचालनव्यय को कम करने के लिये कर्मचारी आवश्यकतानुसार कम से कम रखे जाते हैं तथा गाड़ियों की धीमी चाल के कारण सिगनल तथा अंतरपाशन पर भी व्यय कम किया जाता है। इस प्रकार हलके रेलमार्ग, लाभ हानि को ध्यान में रखते हुए, किसी भी क्षेत्र के विकास में बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं।

पहाड़ी प्रदेश में साधारण रेलमार्गों की अपेक्षा हलके रेलमार्ग बनाने में सुविधा भी होती है और व्यय भी कम होता है। वहाँ मैदानी प्रदेश की अपेक्षा ढाल अधिक खड़ा और मोड़ कम त्रिज्या के रखने पड़ते हैं। इसलिये वहाँ के लिये हलके रेलमार्ग ही अधिक उपयुक्त होते हैं। दार्जीलिंग, कांगड़ा, शिमला और ऊटकमंड में हलके रेलमार्ग ही बनाए गए हैं।

रेल की लाइन का भार घटाने से उसकी उपयोगी आयु, कड़ेपन तथा धारण शक्ति में काफी कमी हो जाती है। रेल का मूल्य उसके भार पर निर्धारित होता है, जो चौड़ाई और ऊँचाई के अनुसार घटता बढ़ता है, पर उसका कड़ापन चौड़ाई × (ऊँचाई)[3] के अनुपात में बदलता है। धारण शक्ति चौड़ाई × (ऊँचाई)[2] पर निर्भर होती है। भारी रेल की आयु भी उसके मूल्य के अनुपात में कई गुना बढ़ जाती है। साथ ही अधिक कड़ेपनवाली रेलों की देखभाल में भी कम खर्च होता है, क्योंकि उनकी सिधाई और पैकिंग आसानी से गड़बड़ नहीं हो पाती। उपर्युक्त कारणों से रेलभार में कमी करने से आरंभिक बचत तो हो जाती है, पर मरम्मत, देखभाल, तथा रेलों के शीघ्र बदलने की आवश्यकता के कारण संचालनव्यय बहुत बढ़ जाता है और अंत में यह बचत बहुत महँगी पड़ती है। अतः विशेषज्ञों का कहना है कि रेलमार्गों में लगाए धन में थोड़ी बचत के लिये रेलभार में कमी करना अच्छा सिद्धांत नहीं है, क्योंकि यह बचत सामयिक ही होती है। अतः अपनी लभ्य पूँजी का ध्यान रखते हुए, जितनी अधिक भारी रेलें उपयोग में लाई जा सकें लगानी चाहिए।

अधिकांश लोगों की धारणा है कि हलके रेलमार्ग छोटे गेज (दो पटरियों के बीच की चौड़ाई) के ही बनने चाहिएँ, क्योंकि छोटे गेज की लाइनों में कम पूँजी लगती है। पर यह धारणा भ्रांतिपूर्ण है। जहाँ तक स्टेशन, सिगनल, तार, टेलीफोन तथा कर्मचारियों का खर्च है, वह तो उतना ही होगा चाहे लाइन छोटी हो, या बड़ी। पुलों इत्यादि के खर्च में भी कोई विशेष कमी नहीं होती, क्योंकि पुलों का आकार नदी के बहाव पर निर्भर करता है, या इंजन के धुरी भार पर, और एक निश्चित भार खींचने के लिये छोटे इंजन का धुरी भार भी अधिक ही रखना पड़ेगा। यदि थोड़ी बहुत कमी हो सकती है, तो वह जमीन खरीदने में, या मिट्टी की कटाई भराई में हो सकती है। रेल का भार भी इंजिन के धुरीभार पर ही निर्भर करता है। वैसे यह ऊपर दिखाया ही जा चुका है कि रेलभार पर की हुई बचत अस्थायी होती है। इस कारण जहाँ तक पूँजी की लागत का सवाल है, उसमें बहुत कम अंतर पड़ता है। इसके विपरीत छोटे गेज की लाइनों पर बड़े गेज की लाइन पर ढोए जानेवाले माल के बराबर माल ढोने के लिये अधिक गाड़ियों की आवश्यकता होती है। किसी भी भार को ढोने के लिये समान शक्ति आवश्यक है, चाहे वह छोटी गाड़ियों में ढोया जाय, चाहे बड़ी में। बड़ी लाइन के इंजनों के समान ही भार ढोने के लिये छोटी लाइन के इंजन भी, या तो उतने ही अधिक शक्तिशाली बनाने पड़ेंगे, या फिर उनकी संख्या बढ़ानी पड़ेगी। इसी प्रकार यदि छोटे डिब्बों का मूल्य कम होता है, तो उनमें माल भी कम भरा जा सकता है। अतः बड़े डिब्बों के मुकाबले एक निश्चित माल के लिये छोटे डिब्बों की संख्या कहीं अधिक होती है और इसमें परिचालन व्यय बढ़ जाता है। इस कारण अनुभव से ज्ञात हुआ है

कि किसी भी वस्तु के परिवहन के लिये बड़ी लाइन छोटी लाइन से सस्ती पड़ती है (जब तक यातायात की मात्रा बहुत ही कम न हो) और हलके रेलमार्गों के लिये भी बड़े गेज का ही उपयोग होना चाहिए। इससे जंक्शनों पर छोटे से बड़े डिब्बे में बदलने का व्यय भी बच जाता है।

यह अवश्य है कि रेलों के प्रचलन के आरंभ में मान्य धारणा इसके विपरीत थी और लोग समझते थे कि छोटी लाइन का संचालन सस्ता रहता है। यही कारण है कि अधिकांश हलके रेलमार्गों में छोटी लाइनों (२ फुट ६ इंच तथा २ फुट गेज) का ही प्रयोग हुआ है पर कहीं कहीं मीटर गेज (३ फुट ९ इंच) के हलके रेलमार्गों का भी निर्माण हुआ है। उदाहरणार्थ, भारत में ही उदयपुर-चित्तौड़गढ़ लाइन आरंभ में हलके रेलमार्ग के सिद्धांत पर ही बनी थी। पर ऐसे उदाहरण कम ही हैं। छोटी लाइन के इतिहास और प्रगति को ही हलके रेलमार्ग का इतिहास और प्रगति मान सकते हैं।

भारत में हलके रेलमार्ग का प्रचलन १९वीं शताब्दी के अंतिम भाग में हुआ था। प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद जब अंग्रेजी सत्ता की नींव सुदृढ़ हो गई, तब रेल, तार इत्यादि के क्षेत्रों में उन्नति की ओर कदम उठाए गए। आरंभ में यातायात के विकास के लिये निजी कंपनियों को एक निश्चित लाभ की गारंटी देकर हलके रेलमार्ग बनवाए गए। इन निजी कंपनियों में मुख्य उल्लेखनीय मार्टिन तथा मैक्लियाड कंपनियाँ हैं और इन कंपनियों की अभी भी कई लाइनें चालू हैं। पश्चिमी भारत तथा मध्य भारत में कुछ रियासतों ने भी अपनी अपनी रियासत का विकास करने के लिये हलके रेलमार्ग बनवाए थे।

सबसे पहली छोटी लाइन १८७३ ई० में गायकवाड़ (बड़ौदा) रियासत ने २०·०१ मील की लंबाई की, मियागम से डभोई तक, बनवाई थी। १८७९ से १८८१ ई० तक इसमें ३८·७५ मील की लाइन और बढ़ा दी गई। इन्हीं दो वर्षों में दार्जीलिंग-हिमालयन रेल की ५०·७५ मील लंबी लाइन भी खुली (छोटी लाइन होने पर भी इसको हलके रेलमार्गों में नहीं गिना जाता)। इस प्रकार १८८० ई० तक छोटी लाइनों की लंबाई केवल लगभग १०० मील थी। अगले १० वर्षों में यह बढ़कर २५० मील हो गई और सन् १८९५ तक इतनी ही रही। इसके बाद निजी कंपनियों की लाइनें खुलने लगीं और १९०३ ई० तक छोटी लाइनों की लंबाई १,००० मील से ऊपर पहुँच गई तथा बाद में भी सन् १९३१ तक इनकी लंबाई बराबर बढ़ती ही रही। उस समय यह लंबाई ४,००० मील से ऊपर थी। सन् १९३१ में बाजार मंदा पड़ जाने के कारण कंपनियों की आर्थिक स्थिति गड़बड़ाने लगी और रेलों की प्रगति रुक गई।

द्वितीय महायुद्ध में रेल की लाइनों तथा अन्य उपस्करों की आवश्यकता के कारण कई छोटी लाइनें उखाड़ ली गईं। इसके बाद १९४७ ई० में भारत के स्वतंत्र होने के बाद यद्यपि हर क्षेत्र में प्रगति हुई, तथापि छोटी लाइनों का प्रचलन कम हो गया। इसका मुख्य कारण सड़कों का विकास तथा मोटरों के व्यवहार में उन्नति है। जो हलके मार्ग चालू हैं, वे भी तीव्र गति की बसों और ट्रकों से प्रतियोगिता में पिछड़ते जा रहे हैं और ऐसा लगता है कि वे शीघ्र ही बंद हो जाएँगे। आज की तेजी की दौड़ में जब हरेक तेज से तेज रफ्तार से चलना चाहता है, जनता समझती है कि छोटी और हलकी लाइनों का जमाना गुजर गया और उसकी माँग दिन प्रति दिन बड़ी लाइनों के लिये बढ़ती जाती है।

जो लाइनें कंपनियों द्वारा ठीक प्रकार संचालित नहीं हो रहीं थीं, उनको, अवधि समाप्त होने पर, सरकार लेती रही है। साथ ही रियासतों के भारत में विलीन हो जाने के कारण रियासतों की रेलें भी सरकारी हो गईं। इस समय भारत में लगभग ३,११३ मील लंबाई की छोटी लाइनें हैं, जिनमें २,६६९ मील सरकारी हैं तथा ४४४ मील गैरसरकारी हैं।

जैसे जैसे लाइनें तथा इंजन पुराने होते जा रहे हैं, उनका संचालन व्यय भी बढ़ता जाता है। यहाँ तक कि एक समय में आय से भी अधिक हो जाता है और लाइनों से लाभ के बजाय हानि होने लगती है। जहाँ तक कंपनियों की लाइनों का प्रश्न है, जब तक उन्हें उनसे लाभ है वे उन्हें चला रही हैं, पर जब हानि होने लगती है, तो या तो उन्हें सरकार ले लेती है, या वे बंद हो जाती हैं, क्योंकि उनके स्थान पर परिवहन के अधिक तेज और उत्तम साधन आ गए हैं।

किंतु इन लाइनों को बंद करने, या हानि पर चलाने के स्थान पर, यदि इनका उत्तम रूप से संचालन किया जाए और पुराने तथा जर्जर इंजनों के स्थान पर तेज तथा आधुनिक डीज़ल इंजन लगाए जाएँ, तो इनसे अभी भी काफी काम लिया जा सकता है। मोटर सवारी से यह कहीं सस्ती पड़ती है। डीज़ल इंजन जितना माल ढो सकते हैं, उतना ही माल ढोने के लिये मोटर गाड़ी में १० गुना डीज़ल तेल अधिक खर्च होता है। वैसे तो, जैसा पहले कहा गया है, बड़ी लाइन द्वारा परिवहन सस्ता पड़ता है, पर जब ये हलकी लाइनें बनी हुई हैं तो इनसे काम लेकर इनको बड़ी लाइन में बदलने के लिये लगनेवाली राष्ट्र की एक बड़ी पूँजी बचाई जा सकती है। छोटी लाइनों के संचालन में एक लाभ यह भी है कि बड़ी लाइनों से घिसकर निकली हुई रेलें यहाँ आसानी से व्यवहार में लाई जा सकती हैं, जो उन्हें कम खर्च पर ही सुदृढ़ और तीव्र गति के योग्य बना सकेंगी।

सं० ग्रं० — हिस्ट्री ऑव इंडियन रेलवेज बाइ मिनिस्ट्री ऑव रेलवेज (रेलवे बोर्ड); मिल्स : रेलवे कंस्ट्रक्शन (१८९८), ए० एम० वेलिंगटन : एकोनॉमिक थ्योरी ऑव दि लोकेशन ऑव रेलवेज (१८९३)। [भा० मू०]

रेलमार्गीय दुर्घटनाएँ (Railway Accidents) रेल में दुर्घटना शब्द का प्रयोग उस आकस्मिक घटना के लिये होता है जिससे रेल परिवहन में रुकावट हो, या उसके कारण जान, माल अथवा दोनों को ही क्षति पहुँचे। इस परिभाषा के अनुसार बाढ़ से लाइन टूट जाना, या बह जाना भी, दुर्घटनाओं में ही आता है। दुर्घटनाएँ अपनी विशेषताओं के अनुसार निम्न श्रेणियों में विभाजित की गई हैं :

(१) **टक्करें** — (क) यात्री गाड़ी की ऐसी गंभीर टक्करें जिनमें किसी की मृत्यु हो गई हो, या गहरी चोटें आई हों, अथवा भारी आर्थिक हानि हुई हो। यदि टक्कर के कारण किसी आवश्यक मुख्य (main) लाइन के परिवहन में २४ घंटे से अधिक की रुकावट पड़ जाए, तो वह भी इसी श्रेणी में आती है।

(नोट — १. गहरी चोटों में अंगविच्छेदन, आँख की रोशनी खो जाना, कान की सुनने की शक्ति का खोना, चेहरे का विकृत होना तथा हड्डी, या दाँत टूटना इत्यादि इस श्रेणी में गिने जाते हैं। यदि किसी व्यक्ति को २० दिन, या इससे अधिक दिनों तक भारी पीड़ा रहे और वह अपने काम पर न जा सके, तो यह भी गहरी चोटों में ही संमिलित किया जाता है। २. २०,०००) से अधिक की हानि भारी आर्थिक हानि समझी जाती है।)

(ख) ऊपर की श्रेणी की भाँति अन्य गाड़ियों की गंभीर टक्करें, जिनमें यात्री न ले जाए जा रहे हों।

(ग) यात्री गाड़ी की ऐसी टक्करें, जिनमें १ (ख) श्रेणी की गंभीर दुर्घटना न हुई हो।

(घ) अन्य गाड़ियों की टक्करें, जिनमें १ (ख) श्रेणी की गंभीर दुर्घटना न हुई हो।

(ङ) अन्य टक्करें, जो गाड़ियों में न होकर गाड़ी के डिब्बों में शंटिंग में हुई हों और ऊपर की श्रेणियों में न आती हों।

(२) **गाड़ी का पटरी से उतरना :**

(क) यात्री गाड़ी का पटरी से उतरना, जिसमें १ (ख) श्रेणी की ही भाँति गंभीर दुर्घटना हुई हो, या परिवहन में २४ घंटे से अधिक की रुकावट पड़ी हो।

(ख) अन्य गाड़ी का पटरी से उतरना, जिसमें यात्री न जा रहे हों पर वैसी ही भारी गंभीर दुर्घटना हुई हो।

(ग) यात्री गाड़ी का पटरी से उतरना, जिससे उपरिलिखित गंभीर दुर्घटना न हुई हो।

(घ) अन्य गाड़ी का पटरी से उतरना, जिसमें उपरिलिखित गंभीर दुर्घटना न हुई हो।

(ङ) शंटिंग इत्यादि में डिब्बों का पटरी से उतर जाना, जिसमें भारी हानि न हुई हो।

(३) **संभावित टक्कर** — इसमें गाड़ियों की ऐसी स्थिति संमिलित की जाती है जिसमें टक्कर न होकर बचाव हो गया हो। उदाहरणार्थ, यदि एक गाड़ी ऐसी लाइन पर पहुँच जाए जिसपर दूसरी गाड़ी पहले से ही खड़ी है, और यदि उनमें टक्कर न होकर बचाव हो जाए, तो यह 'संभावित टक्कर श्रेणी की दुर्घटना में माना जाता है। इस श्रेणी में गाड़ियों के अनुसार चार उपविभाजन होते हैं।

(४) से (१४) तक की श्रेणियों के अंतर्गत सिगनल को पार करना, ब्लाक नियमों का उल्लंघन, गाड़ी में आग लगना, समपार पर गाड़ी तथा यातायात में टक्कर इत्यादि आते हैं।

(४) से (१४) तक की दुर्घटनाओं को उनकी विशेषताओं के अनुसार दो या अधिक उपविभागों में विभाजित किया गया है, जिनका विवरण यहाँ नहीं दिया जा रहा है (विस्तृत सूचना के लिये किसी भी रेल प्रशासन की दुर्घटना नियमावली देखें)।

साधारण जनता प्राय: रेलगाड़ी के पटरी से उतर जाने, या रेलों के आपस में ऐसी टक्कर होने को ही, जिसमें लोग हताहत हुए हों, दुर्घटना मानती है। संसार के विभिन्न देश अपनी रेलों की दुर्घटनाओं के वार्षिक आँकड़े निकालते हैं, जिनसे वर्ष में होनेवाली दुर्घटनाओं का पता चलता है। ये आँकड़े अलग अलग भागों में बाँटे जाते हैं, जैसे कि यात्रियों में मृत तथा आहतों की संख्या इत्यादि। विभिन्न देशों के आँकड़ों का मिलान करने के पूर्व इस बात का विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है कि हर देश के आँकड़ों की मान्यता विभिन्न होती है और अनेक प्रकार की दुर्घटनाएँ, जो एक देश के आँकड़ों में गिनी जाती हैं, दूसरे देश के आँकड़ों में नहीं आतीं। उदाहरणार्थ, कुछ देशों में रेलगाड़ी तथा सड़क यातायात की टक्कर को रेल दुर्घटना में नहीं संमिलित किया जाता, पर भारत में ऐसी टक्कर भी रेल दुर्घटना में ही मानी जाती है और इसका उत्तरदायित्व भी रेल प्रशासन पर ही होता है।

दुर्घटनाओं के आँकड़ों की जाँच करते समय इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि वर्ष भर में उस रेल-व्यवस्था पर कितना यातायात रहा है, क्योंकि यह तो मान्य है कि यातायात के आधिक्य से दुर्घटनाओं की संख्या में वृद्धि हो जाना अति संभाव्य है। अत: यदि किसी रेल व्यवस्था पर दुर्घटनाओं तथा हताहतों की संख्या तो अधिक है, पर यह संख्या प्रति गाड़ी-मील, या यात्री-मील कम है, तो वह रेल व्यवस्था उन रेल व्यवस्थाओं से सुरक्षित मानी जाएगी, जिनकी दुर्घटना तथा हताहत संख्या तो कम है, पर प्रति गाड़ी-मील तथा प्रति-यात्री मील संख्या अधिक है।

(गाड़ी-मील = गाड़ी × मील; यात्री-मील = यात्री × मील)

दुर्घटनाओं के कारण — दुर्घटनाएँ प्राय: निम्नलिखित कारणों से होती हैं : (१) यांत्रिक त्रुटि, (२) मानवीय त्रुटि, (३) बाह्य हस्तक्षेप (sabotage) तथा (४) दैवी प्रकोप, जैसे बाढ़ इत्यादि से लाइन बह जाना। रेल-प्रशासन यांत्रिक तथा मानवीय त्रुटियों पर नियंत्रण करने का पूरा प्रयत्न करते हैं। बाह्य हस्तक्षेप और दैवी प्रकोप के लिये भी यथासंभव देखभाल का प्रयत्न किया जाता है।

दुर्घटनाओं की रोकथाम — दुर्घटनाओं के कारण के विश्लेषण से पता चलता है कि अधिकतर दुर्घटनाएँ कर्मचारियों की असावधानी और उपस्करों की खराबियों के कारण होती हैं। रेल के कर्मचारियों की असावधानी दूर करने और उनमें सुरक्षा के प्रति समुचित जागरूकता पैदा करने के उद्देश्य से, रेलवे मंत्रालय जनरल मैनेजरों और परिचालन अधीक्षकों के साथ समय समय पर होनेवाले संमेलनों में इस बात पर जोर देता है कि आम तौर पर जिन भूलों के कारण दुर्घटनाएँ होती हैं उन्हें दूर करने के लिये कर्मचारियों को पर्याप्त और प्रभावपूर्ण ढंग से शिक्षा दी जाय। हर रेलव्यवस्था में सुरक्षा समितियाँ बनाई गई हैं, जो दुर्घटनाओं का अध्ययन कर उनको रोकने के लिये विशेष प्रयत्न करती हैं। जैसे जैसे यातायात बढ़ता जाता है, दुर्घटनाओं की संभावना भी बढ़ती जाती है और उसको रोकने के लिये सिगनल तथा अंतर्पाश की व्यवस्था में सुधार किया जाता है। जहाँ यातायात बहुत अधिक है, वहाँ पथ रिले अंतर्पाश संकेतन का उपयोग किया जा रहा है।

दुर्घटना होने पर सहायता — प्रत्येक दुर्घटना, जिसमें यात्रियों

की मृत्यु हो जाए या उन्हें गहरी चोटें आएं, तो उनका कष्ट दूर करने के लिये तुरंत उपचारिक सहायता पहुँचाई जाती है तथा हर प्रकार उनकी सुविधा का ध्यान दिया जाता है। हर स्टेशन पर जहाँ अस्पताल या डाक्टर स्थित हैं, उनकी सूची रहती है। दुर्घटना की सूचना मिलते ही उनको समाचार भेजा जाता है और शीघ्रातिशीघ्र घटनास्थल पर भेजने का प्रबंध किया जाता है। हर सवारी गाड़ी में गार्ड के पास प्राथमिक चिकित्सा पेटी होती है, जिसको तुरंत उपचार के काम में लाया जाता है। अधिकतर कर्मचारियों को प्राथमिक चिकित्सा की औपचारिक शिक्षा दी जाती है, जिससे वे समय पड़ने पर सहायता कर सकें। सहायता गाड़ियाँ तैयार रहती हैं। इन गाड़ियों में पथ-सुधार-वाहन, यंत्र-सुधार-वाहन तथा चिकित्सा वाहन होते हैं। दुर्घटना की सूचना मिलते ही जल्दी से जल्दी कुछ ही मिनटों में इन गाड़ियों को चल देना होता है और इनको अन्य किसी भी गाड़ी से प्रथम स्थान दिया जाता है। दुर्घटनास्थल के पास ही यदि फौजी छावनी होती है, तो सेना तुरंत ही सहायता के लिये पहुँच जाती है।

दुर्घटना में पीड़ित व्यक्तियों तथा उनके निकट संबंधियों को हर तरह की सुविधा तथा आर्थिक सहायता भी दी जाती है और उनकी क्षतिपूर्ति के लिये एक आयुक्त नियुक्त किया जाता है, जो उनको दिए जानेवाले हर्जाने की राशि का निर्णय करता है।

दुर्घटनाओं की जाँच — वैसे तो हर दुर्घटना की जाँच रेल प्रशासन करता है, जिससे उसके कारण का पता चले, पर सवारी गाड़ी की हर गंभीर दुर्घटना, जिसकी परिभाषा वर्गीकरण में दी जा चुकी है, जाँच का परिनियत दायित्व राजकीय रेलपथ निरीक्षक पर होता है। राजकीय रेलपथ निरीक्षक रेलवे मंत्रालय से असंबंधित, संचार मंत्रालय के आधीन होते हैं और इस कारण उनकी जाँच निष्पक्ष होती है। भारतीय रेलवे अधिनियम १८९० ई० की धारा ८३ के अनुसार प्रत्येक सवारी गाड़ी की दुर्घटना की सूचना राजकीय निरीक्षक, पुलिस तथा जिला अधिकारियों को शीघ्र देनी होती है। राजकीय निरीक्षक अपनी जाँच की रिपोर्ट में दुर्घटना का कारण तथा उसका उत्तरदायित्व नियत करता है और साथ ही भविष्य में उस प्रकार की दुर्घटनाओं को रोकने के लिये वह अपनी सिफारिश सरकार को भेजता है। दुर्घटना के लिये यदि कोई कर्मचारी दोषी पाया जाता है, तो उसे दंड दिया जाता है और यदि कर्मचारी पर भारी लापरवाही, या कर्तव्यच्युतता का दोषारोपण होता है, तो उसके विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही होती है और उसे कारावास का दंड तक हो सकता है।

कभी कभी बहुत ही भीषण दुर्घटनाओं से जब, हताहत की संख्या अत्यधिक होती है, जनता में असंतोष फैलता है और राजकीय निरीक्षक की जाँच के स्थान पर न्यायाधीश के द्वारा जाँच की माँग होती है। पिछले कुछ वर्षों के भीतर इस लेख के अंत में दी हुई दुर्घटनाओं में न्यायाधीश जाँच कमीशन नियुक्त हुए।

नवंबर, १९६० ई० से सरकारी रेलवे निरीक्षक का नाम बदलकर अपर रेलवे सुरक्षा कमिश्नर (Additional Commissioner of Railway Safety) हो गया तथा मुख्य सरकारी रेलवे निरीक्षक का बदलकर रेलवे सुरक्षा कमिश्नर (Commissioner of Railway Safety) हो गया है। ऐसे निरीक्षकों द्वारा जाँच की गई दुर्घटनाओं की संख्या सन् १९६०-६१ में १५, १९६१-६२ में १५ और १९६२-६३ में १४ थी।

दुर्घटना का नाम	तारीख
१. महबूब नगर दुर्घटना	२ सितंबर, १९५६
२. अरियालूर दुर्घटना	२३ नवंबर, १९५६
३. पदाली-असबाली दुर्घटना	२३ नवंबर, १९५७
४. मोहरी दुर्घटना	१ जनवरी, १९५८
५. डुमराँव दुर्घटना	२१ जुलाई, १९६०

[प्रा० भू०]

रेलवे बोर्ड भारत में रेल द्वारा यातायात १८५३ ई० में प्रारंभ हुआ था, किंतु रेलवे प्रशासन के लिये रेलवे बोर्ड गठित करने की बात बीसवीं शती के प्रारंभ मे सोची गई। १९०१ ई० में भारत सरकार ने सर टॉमस रॉबर्टसन को, जो ग्रेट नार्दर्न रेलवे, आयरलैंड, के भूतपूर्व जनरल मैनेजर थे, भारतीय रेलवे का विशेष आयुक्त नियुक्त किया ताकि वे राज्य तथा कंपनियों द्वारा संचालित भारतीय रेलवे की कार्यप्रणाली और प्रशासन व्यवस्था की जाँच करें और भविष्य में उनके संचालन का तंत्र कैसा हो, इसका विशेष ध्यान रखकर प्रतिवेदन दें। २५ मार्च, १९०३ ई०, को सर टॉमस ने प्रतिवेदन दिया। उनकी सिफारिश थी कि भारतीय रेलवे का प्रशासन तीन व्यक्तियों के एक बोर्ड द्वारा हो। उनमें से एक प्रधान आयुक्त, या अध्यक्ष, हो और दो अन्य आयुक्त हों। तीनों आयुक्तों को रेलवे कार्यप्रणाली का उत्तम व्यावहारिक ज्ञान होना आवश्यक है। सर टॉमस का कथन था कि पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट द्वारा रेलवे का विभागीय प्रशासन होने के कारण रेल विभाग अन्य सरकारी विभागों जैसा ही है। बृहद् उद्योग संस्था के रूप में प्रशासित न होने के कारण इसके कर्मचारियों मे आत्यंतिक स्वत:प्रेरण और उत्तरदायित्व की भावना नहीं है, जिसके कारण प्रगति कुंठित हो गई है और व्यापार मे मंदी आ रही है। ये दोनो ही बातें किसी उद्योग संस्था के लिये घातक हैं।

सर राबर्टसन की रिपोर्ट से ये प्रश्न उठ खड़े हुए कि रेलवे बोर्ड सरकारी निकाय होगा या गैरसरकारी, इस बोर्ड का कोई सचिव होगा या नहीं, बोर्ड भारत सरकार को कैसे संबोधित करेगा और सरकार का कौन सा अधिकारी बोर्ड के व्यापार की देखरेख करेगा। फलस्वरूप १९ फरवरी, १९०५ ई० को भारत सरकार के प्रस्ताव से रेलवे बोर्ड गठित हुआ और इसे इंडियन रेलवे बोर्ड ऐक्ट १९०५ ई० (१९०५ ई० का ६) [इंडियन रेलवे ऐक्ट १८९० ई० (१८९० ई० का ९) के साथ पढ़िए] के अंतर्गत सांविधिक अधिकार दिए गए। भारतीय रेलवे का नियंत्रण भारत सरकार के पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट की रेलवे शाखा से लेकर, दो सदस्यों और एक अध्यक्ष वाले रेलवे बोर्ड को अंतरित कर दिया गया। रेलवे बोर्ड की सभी

समस्याओं के संबंध में अध्यक्ष को अपने विवेक पर कार्य करने का अधिकार दिया गया। अध्यक्ष पर प्रतिबंध था कि वह बोर्ड का अनुमोदन प्राप्त करे। रेलवे बोर्ड वाणिज्य और उद्योग विभाग के अंतर्गत भारत सरकार के प्रति उत्तरदायी तथा अधीनस्थ बना दिया गया।

मार्च, १९०५ ई०, में रेलवे बोर्ड का कार्यारंभ हुआ। रेलवे बोर्ड के गठित होने के कुछ ही समय बाद यह अनुभव किया जाने लगा कि चेयरमैन के अधिकार सीमित होने के कारण और परिषद में गवर्नर जनरल और बोर्ड के बीच वाणिज्य तथा उद्योग विभाग के हस्तक्षेप के कारण अड़चनें उत्पन्न हो रही हैं। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये अक्टूबर, १९०८ ई०, में भारत सरकार ने निश्चय किया कि रेलवे बोर्ड के चेयरमैन पद को अध्यक्ष पद में परिणत कर दिया जाय और अध्यक्ष को अपने सहयोगियों की राय के विरुद्ध व्यवस्था करने का अधिकार दिया जाय। ऐसी स्थिति में सहयोगियों को सरकार के सामने अपने विचारों को रखने का अधिकार दिया गया।

कर्मचारीवर्ग सहित रेलवे बोर्ड रेलवे विभाग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह विभाग सरकार के वाणिज्य और उद्योग विभाग से भिन्न और स्वतंत्र था। बोर्ड का अध्यक्ष गवर्नर जनरल और कार्यकारी परिषद् के वाणिज्य और उद्योग से संबंधित सदस्य से इस प्रकार सीधा संबंध स्थापित कर सकता था, मानो वह भारत सरकार का सचिव ही हो।

१९१४ ई० में देखा गया कि भारतीय रेल-नीति-निर्धारण में वित्तीय और वाणिज्य संबंधी दृष्टिकोण भी आवश्यक है, अतः इस विधान में कि अध्यक्ष और सदस्यगण रेल की कार्यप्रणाली जानते ही हों, सुधार आवश्यक समझा गया। निश्चय यह हुआ कि वाणिज्य संबंधी और वित्तीय अनुभव प्राप्त सदस्य भी बोर्ड में शामिल कर लिए जाएँ। यह व्यवस्था १९२० ई० में पुनः बदली गई और तीनों सदस्यों के लिये रेल संबंधी अनुभव आवश्यक माना गया, साथ ही वित्तीय मामलों में बोर्ड को परामर्श देने के लिये एक वित्त-सलाहकार का पद बनाया गया। १९२० ई० में ७३ प्रति शत रेलमार्ग सरकारी था और १५ प्रति शत रेलमार्ग, जो ३७,००० मील से कुछ ही अधिक होता था, निजी कंपनियों का था। शेष रेलमार्ग देशी राज्यों की संपत्ति थी। लेकिन सरकार केवल २१ प्रति शत रेलमार्ग का ही संचालन करती थी और कंपनियाँ ७० प्रति शत का। इन ब्रिटिश कंपनियों के निदेशक लंदन में रहते थे। भारतीय रेलवे कंपनियों का लंदनस्थित ब्रिटिश बोर्ड द्वारा प्रबंध किए जाने की आलोचना होने लगी। यह अनुभव किया गया कि सरकारी प्रबंध देशी उद्योगक्षमता के विकास के अनुकूल होगा। इस प्रबंध से घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन मिलने की भी संभावना थी। इस आलोचना के कारण १९२० ई० में सरकार ने इंडियन रेलवे कमेटी नामक समिति गठित की। इसके अध्यक्ष सर विलियम आकवर्थ (Sir W. Acworth) थे। समिति का उद्देश्य प्रबंध, वित्त और भावी नियंत्रण तथा रेलवे संघटन संबंधी मामलों की जाँच था।

समिति के सुझावों के अनुसार रेलवे का कार्यकारी नियंत्रण रेलवे के प्रधान आयुक्त को सौंपा गया। प्रधान आयुक्त तकनीकी समस्याओं का समाधान करता और रेलवे नीति के बारे में सरकार को परामर्श देता था। आकवर्थ कमेटी का सुझाव था कि प्रधान आयुक्त और अन्य आयुक्तों के साथ ही बोर्ड में एक वित्त आयुक्त की नियुक्ति आवश्यक है। फलस्वरूप अप्रैल, १९२३ ई०, में वित्त आयुक्त का पद स्थापित हुआ। वित्त आयुक्त को सरकारी तौर पर रेल विभाग के आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप करने और बोर्ड के सदस्य के रूप में वित्तनियंत्रण के सभी अधिकार थे। मतैक्य के अभाव में प्रधान आयुक्त सहसदस्यों के विरुद्ध व्यवस्था कर सकता था, किंतु वित्त आयुक्त ऐसी स्थिति में कार्यकारिणी परिषद् के वित्तसदस्य के समक्ष अपने विचार प्रस्तुत कर सकता था।

इस प्रकार रेलवे बोर्ड प्रधान आयुक्त, वित्तआयुक्त और दो सदस्यों से गठित हुआ। प्रधान आयुक्त पदेन (ex-officio) रेल विभाग में भारत सरकार का सचिव होता था। दो सदस्यों में से एक तकनीकी मामलों में दखल देता था और दूसरा प्रशासन, कर्मचारी वर्ग और संचार संबंधी मामलों में।

१९२४ ई० में पुनर्गठन हुआ। इसका उद्देश्य प्रधान आयुक्त और बोर्ड के अन्य सदस्यों को विभाग के छोटे छोटे कामों से मुक्त करना था, ताकि वे बड़ी समस्याओं में अपना सारा ध्यान लगाएँ। इसके लिये बोर्ड की प्रत्येक शाखा, जैसे सिविल इंजीनियरी, मिकैनिकल इंजीनियरी, संचार और सिब्बंदी (establishment) का एक एक निदेशक नियुक्त किया गया।

१९२५-२६ ई० के पूर्व तक मजदूरों की समस्याओं का हल सिब्बंदी से संबंधित सदस्य ही करता था, किंतु अब मजदूर इतने बढ़ गए थे, उनकी समस्याएँ इतनी अधिक और इतनी जटिल हो गई थी कि एक ही सदस्य के लिये मजदूर और सिब्बंदी का काम देखना कठिन हो गया था। अतः इस वर्ष कर्मचारी वर्ग की समस्याओं को सुलझाने के लिये बोर्ड में एक नया सदस्य रखा गया, ताकि सिब्बंदी का सदस्य मनोयोगपूर्वक अपना काम कर सके।

१९३८ ई० में भारत सरकार ने संचार विभाग का गठन किया और कार्यकारिणी परिषद् के संचार सदस्य को रेलवे बोर्ड का चार्ज दिया गया। संचार विभाग का सचिव पदेन रेलवे बोर्ड का सदस्य होता था। युद्धसंचार विभाग बन जाने पर, रेलवे बोर्ड परिषद् के युद्धसंचार सदस्य के अधीन हो गया और संचार विभाग के सचिव का स्थान युद्धसंचार विभाग के सचिव ने पदेन सदस्य के रूप में ग्रहण कर लिया। यह व्यवस्था १९४७ ई० तक चली। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद रेल यातायात और संचार मंत्रालय एक ही मंत्री (रेल और यातायात मंत्री) के अधीन हो गया।

अप्रैल, १९५१ ई०, में बोर्ड के संगठन में परिवर्तन हुआ। प्रधान आयुक्त का पद स्थगित कर दिया गया। बोर्ड का एक कार्यकारी सदस्य रेलवे बोर्ड का अध्यक्ष बनाया गया। यह अध्यक्ष रेल मंत्रालय में भारत सरकार का पदेन सचिव होता था। अब बोर्ड में अध्यक्ष सहित कुल तीन कार्यकारी सदस्य रह गए, जिनके नाम क्रमशः इंजीनियरी, कर्मचारीवर्ग और संचार कार्यभारी थे। वित्त आयुक्त का विशेषाधिकार बरकरार रहा और वह आर्थिक मामलों में भारत सरकार के रेल मंत्रालय में पदेन सचिव के हैसियत का होता था।

प्रत्येक कार्यकारी सदस्य अपने कार्यभार के तकनीकी विषय के हर पहलू के व्यवहार और निर्देश के महत्व एवं लक्षण के अनुसार रेल प्रशासन को, जनरल मैनेजर या रेल के विविध तकनीकी विभागीय प्रधानों द्वारा, तकनीकी निर्देश देने का उत्तरदायी होता था। प्रधान आयुक्त विभागीय कार्यभारी न होने पर भी बोर्ड की बैठकों की अध्यक्षता, समस्त कार्यकारी परिवीक्षण और काम का समन्वय करता था। इसके विपरीत रेलवे बोर्ड का नवीन पदनामित अध्यक्ष विभागीय कार्यभारी भी होता था।

अक्टूबर, १९५४ में रेलवे बोर्ड में एक सदस्य की वृद्धि हुई। प्रधान आयुक्त (जो पद १९५१ से स्थगित था) के अधिकार और कार्य रेलवे बोर्ड के अध्यक्ष में निहित हुए। १८ अगस्त, १९५८ से अध्यक्ष पदेन भारत सरकार का सचिव हो गया और बोर्ड के अन्य सभी सदस्य अपने अपने क्षेत्र में सरकार के पदेन सचिव पदनामित किए गए।

जून, १९५६ में द्वितीय पंचवर्षीय योजना से उत्पन्न अतिरिक्त कार्य और उत्तरदायित्व को ठीक ठीक निभाने के लिये जनरल मैनेजर, रेलवे, के पद और हैसियत के पाँच अतिरिक्त सदस्य नियुक्त किए गए। ये बोर्ड के सदस्यों की सहायता करते हैं। ये (क) वर्क्स, (ख) मिकैनिक्स, (ग) वाणिज्य, (घ) कर्मचारी वर्ग तथा (ङ) वित्त से संबंधित मामलों के कार्यभारी हैं। ये अतिरिक्त सदस्य साधारणतया बोर्ड की बैठकों में भाग नहीं लेते। ये तभी भाग ले सकते हैं, जब उनसे संबंधित विभाग के मामले की चर्चा हो और वे निमंत्रित हों।

१८ अप्रैल, १९५७ से रेलवे बोर्ड रेलमंत्री के अधीन हो गया। रेलवे बोर्ड को कई तकनीकी अफसरों की सहायता मिलती है। इन अफसरों को निदेशक पदनामित किया गया है। प्रत्येक निदेशक एक निदेशालय का कार्यभारी है। निदेशक बोर्ड की नीति को कार्यान्वित करता है और ऐसे मसलों को बोर्ड में पेश करता है जिनपर बोर्ड का निर्णय आवश्यक है। निदेशक ही रेलवे प्रशासन संबंधी अनुदेश जारी करता है। सहनिदेशक निदेशक की सहायता करते हैं। निदेशालय के पद और पदक्रम की संख्या कार्य के परिमाण और महत्व पर निर्भर है।

रेलवे बोर्ड का सचिव, जो निदेशक की हैसियत का अफसर है, बोर्ड की शाखाओं के बीच समन्वय, रेलमंत्रालय और अन्य मंत्रालयों के बीच चालू संबंध और साधारण कार्यसंचालन का उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त यह बोर्ड के सचिवालय में सिब्बंदी के सभी पदक्रमों के मामलों में और राजपत्रित कर्मचारी वर्ग के कुछ विशिष्ट मामलों में दखल देता है। रेलवे बोर्ड के सचिव को इंडियन रेलवे बोर्ड ऐक्ट, १९०५ (१९०५ का ४), की धारा ३ के अंतर्गत रेलवे बोर्ड की ओर से मंजूरी देने और सभी आवश्यक कार्यवाही करने का अधिकार है।

रेलवे बोर्ड भारत सरकार के सचिवालय की हैसियत से काम करता है और वह रेलवे के नियंत्रण, निर्माण, देखभाल और संचालन के संबंध में केंद्रीय सरकार के सभी अधिकारों का उपयोग कर सकता है। रेलमंत्री मंत्रालय का कार्यभारी है। रेलमंत्री के दो सहायक हैं। रेलवे के संगठन में वित्त आयुक्त की नियुक्ति के कारण बोर्ड रेलवे खर्च के संबंध में भारत सरकार के अधिकारों का पूरा पूरा उपयोग करता है। ये अधिकार इंडियन रेलवे ऐक्ट १८९०, इंडियन रेलवे बोर्ड ऐक्ट, १९०५ और संविधान की व्यवस्था से व्युत्पन्न हैं। रेलवे बोर्ड सिब्बंदी और रेल-कर्मचारी-वर्ग के मामलों में व्यापक अधिकारों का उपयोग करता है।

वर्तमान रेल मंत्रालय जनता की माँग और सरकार की आवश्यकताओं के परिवर्तनशील प्रतिरूप के फलस्वरूप बना है। रेलवे बोर्ड का वर्तमान संविधान उसे रेल-नीति-निर्धारण एवं कार्यान्वयन करने की और रेलवे को वाणिज्य तथा लोकोपयोगी बनाकर बड़े उद्देश्य में देश की सेवा करने की पूरी स्वतंत्रता देता है।

[अ० मं० बे०]

रेलि, जॉन विलियम स्ट्रट, तृतीय बैरन (Rayleigh, John William Struit, Third Baron, सन् १८४२–१९१९), अंग्रेज गणितज्ञ तथा भौतिकविज्ञानी, का जन्म लैंगफोर्ड ग्रोव (एसेक्स, इंग्लैंड) में हुआ था।

सन् १८६५ में आप कैंब्रिज विश्वविद्यालय से गणित के सीनियर रैंगलर और सन् १८६६ में ट्रिनिटी कालेज के फेलो निर्वाचित हुए। आपने गणित का उपयोग भौतिकी की समस्याओं को सुलझाने में किया। ध्वनि संबंधी आपके प्रयोग तथा ध्वनि सिद्धांत पर आपकी पुस्तक ने प्रसिद्धि पाई। श्रवण तथा आकाश के नीले वर्ण के कारणों की आपकी व्याख्या ने इन विषयों पर विशद प्रकाश डाला। विवर्तन-ग्रेटिंग तथा स्पेक्ट्रमदर्शी की विभेदन क्षमता के सिद्धांत पर भी आपने कार्य किया। ओम तथा ऐंपियर की भी आपने बहुत यथार्थ नापें निश्चित कीं।

सन् १८७३ में संपत्ति के मालिक होने पर, आपने अपने घर पर एक प्रयोगशाला सुसज्जित कराई, जिसमें आपने अपना पिछला सब अनुसंधान कार्य किया। वायु से प्राप्त तथा रासायनिक क्रियाओं से प्राप्त नाइट्रोजनों के घनत्वों में हजारवें अंश का अंतर मिलने के कारण की जाँच करने पर आपने आर्गन गैस का पता पाया। आपने इस गैस को शुद्ध रूप में तैयार किया। विकिरण के सिद्धांत संबंधी समस्याओं को भी सुलझाने का आपने प्रयास किया। इस विषय में प्लांक द्वारा प्रस्तावित व्याख्या को पूर्णतः मानने के लिये आप तैयार न हुए।

लार्ड रेलि की रुचि आध्यात्मिक (psychical) घटनाओं में भी थी। सन् १९०१ में आप साइकिकल रिसर्च सोसायटी के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। आप रायल सोसायटी के फेलो तथा सन् १९०५–०८ तक अध्यक्ष रहे। सन् १९०४ में आपको भौतिकी में विशिष्ट आविष्कार के लिये नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। सन् १९०५ में प्रिवी काउंसिल के सदस्य तथा सन् १९०८–१९ तक आप कैंब्रिज विश्वविद्यालय के चैंसलर रहे। [भ० दा० व०]

रेवत ब्रह्मपुराण के अनुसार रेव नाम से प्रसिद्ध रोचमान अथवा आनर्त का पुत्र या पौत्र था जिसने कुशस्थली अथवा द्वारका की स्थापना की थी। इसी नाम के कपोतरोमन् राजा के पुत्र भी प्रसिद्ध हैं।

रेवती रैवत की कन्या और बलराम की पत्नी थीं। रेव या रेवत की माता को ऋतवाक् ऋषि के शाप से, रेवती नक्षत्र के पतन से बने सरोवर में उत्पन्न हुई थी, इसी नाम से प्रसिद्ध है। बड़ी होने पर ऋषि ने इसका विवाह विक्रमशील के युवराज दुर्गम से किया था।

रेशम और रेशम उत्पादन प्राकृतिक रेशम शहतूत के पत्ते खानेवाले कीटों की उपज है। अधिकांश प्रकृतिविज्ञानी मानते हैं कि यह पालतू कीट चीन में पाए जानेवाले रेशम के जंगली शलभ (moth) से, जो आज भी पाया जाता है, उत्पन्न है। रेशम के शलभ का इतिहास मानव इतिहास से घनिष्ठ संबंध रखता है। जनश्रुति है कि यदि अतीत में गरम चाय की प्याली में एक कोए के गिर पड़ने की घटना न घटी होती, तो संभवतः रेशम उद्योग प्राय: आज अंधकार में पड़ा होता। दो यूरोपीय साधुओं ने रेशम के स्रोत और प्रकृति का पता लगाया और एक छड़ी में रेशम के कीटों के कुछ अंडों और शहतूत के बीजों को छिपाकर वे यूरोप ले गए। इस प्रकार यूरोप में रेशम का आगमन हुआ।

जापान में, जो आज रेशम उद्योग में विश्व में अपना एकाधिकार स्थापित कर चुका है, रेशम उत्पादन का आरंभ लगभग दूसरी शताब्दी में हुआ और यूरोप में १२वीं शताब्दी में। अब यह उद्योग विश्वव्यापी हो चुका है और लगभग २१ देशों मे रेशम का उत्पादन होता है। १९५६ ई० में संसार में २८,८०८·४ मीट्रिक टन रेशम का उत्पादन हुआ था, जिसका लगभग ६३ प्रति शत जापान मे हुआ था।

भारतीय महाकाव्यों में रेशम का उल्लेख तो मिलता है, परंतु भारत में रेशम के उत्पादन का इतिहास छिटपुट मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृषि-कर्म-संचालकों के अभाव में यह उद्योग समुचित रूप से विकसित न हो सका। भारत में रेशम का उत्पादन प्रधानतया मैसूर, कश्मीर, बंगाल और असम मे होता है। वर्तमान काल में कुल उत्पादन लगभग १२,५०,००० किलोग्राम है। रेशम के उत्पादन में भारत का स्थान चौथा है। भारत का लगभग ६० प्रति शत रेशम मैसूर में उत्पन्न होता है। भारत में लगभग ५० लाख ग्रामीण प्रत्यक्ष, या परोक्ष रूप से रेशम उद्योग को गौण व्यवसाय के रूप में अपनाए हुए है। इस दृष्टि से हमारी ग्रामीण अर्थव्यवस्था और सामाजिक जीवन में रेशम के उत्पादन का महत्वपूर्ण स्थान है।

रेशम के कीड़े का जीवन चक्रीय होता है। अंडे से आरंभ होकर फिर अंडे तक पहुँचने में एक चक्र पूर्ण होता है, जिसमे लगभग ६० दिन लगते हैं। उसका जीवन अंडे के रूप में आरंभ होता है और मादा शलभ के संसेचित (fertilized) होने पर समाप्त हो जाता है। अंडा आलपीन की नोक के बराबर सूक्ष्म, अंडाकार, चिकना और समतल होता है। इसकी खोल कड़ी होती है और अंदर पीतक (yolk) भरा रहता है। मादा शलभ अंडो को चिपचिपे पदार्थ की सहायता से बड़े तरतीब से चिपका देती है। मादा शलभ २४ घंटे के समय में लगभग ५०० अंडे देती है। अनुकूलतम अवस्थाओं में देशी बहुसंजात (many brooded) जातियों में १०–१२ दिनों में अंडे फूटते हैं।

लगभग ३ मिमी० लंबा और बाल बराबर चौड़ाई का सूक्ष्म रोमिल शिशु अंडे से निर्गमित होता है। शरीर के लिहाज से सिर बड़ा होता है। देखने में इसका शरीर धूसर भूरा (greyish brown) होता है, जिसपर अनेक रोम होते हैं। इसकी त्वचा अंतर्रूपों, (instars) की समाप्ति के साथ साथ क्रमशः सफेद होती जाती है। शीघ्र ही यह अपना एकमात्र खाद्य शहतूत के पत्ते खाना आरंभ कर देता है। पूरी तरह से विकसित लारवा भार में अपने मूल रूप से १००० गुना हो जाता है और अपने भार से ३०,००० गुना पत्ती खाता है। इसका भार पहले ही दिन तिगुना बढ़ जाता है और फिर उम्र के बढ़ने के साथ वृद्धि क्रमशः घटने लगती है। एक-संजात (one brooded) जाति की ३०,००० कृमियों के पालन से, जो २५ ग्राम पोने से उत्पन्न होते हैं, ६३ किलोग्राम कोया प्राप्त होता है और इसमें ११००–१२०० किलोग्राम पत्तियों की, जो लगभग ९०–१०० घनमीटर स्थान घेरती हैं, खपत होती हैं।

रेशम के कीड़े को पहले नरम पत्तियाँ ही काट काटकर खिलाते हैं और उम्र बढ़ने पर बढ़ी हुई पत्तियाँ खिलाते हैं। ये खाना केवल गाढ़ी नींद में सो जाने के बाद ही बंद करते हैं और जागते ही फिर खाना आरंभ कर देते हैं। हर नींद के बाद कृमि अपनी पुरानी त्वचा उतार देता है, जैसे कोई कसी हुई पोशाक उतार फेंके। इसमें लगभग २४ घंटे का समय लगता है। रेशमकृमि अपने जीवनकाल में चार बार त्वचा बदलता है। जब इसकी ग्रंथियाँ पूरी विकसित हो जाती हैं तब यह खाना बंद कर देता है। अंतिम त्वचामोचन के आठ दिनों के बाद, या संभवतः इससे कुछ पहले ही, कृमि कोया बनाने का प्रारंभिक कार्य शुरू कर देता है।

लारवा की लंबी, जटिल ग्रंथियों से रेशम के रूप में स्राव बराबर स्रवित होता है। लारवा अंग्रेजी (8) आठ अंक की आकृति में वाह्य से आभ्यंतर में चक्कर लगाता है। कोया पूरा करने के लिये उसे ६०,००० से ३,००,००० बार चक्कर लगाना पड़ता है। एक मिनट में औसतन ६ इंच रेशम का सूत बनता है। इसका भीतरी क्रोड (core) फाइब्रोइन (रेशमप्रोटीन) का बना होता है, जो ग्रंथि के पश्च भाग से बनता है। फाइब्रोइन सेरिसिन से घिरा रहता है, जो ग्रंथि के मध्य भाग से बनता है। तरल रूप मे स्रावित द्रव स्रवित होते ही कड़ा होकर रेशम में परिणत हो जाता है।

कोए का आकार और रूप अनेक प्रकार का हो सकता है। इसका रंग भी सफेद, गुलाबी, मांस-लोहित, सुनहरा-पीला, पीला, फीका हरा, तेज हरा आदि हो सकता है। नर कीड़े के कोए से अधिक रेशम प्राप्त होता है। प्राच्य देशों के कीड़े अधिक सूक्ष्म रेशम प्रदान करते हैं, परंतु यूरोपीय देशों के कीड़ों से प्राप्त रेशम से यह कम प्रत्यास्थ और कम लगिष्णु (tenacious) होते हैं।

प्रत्येक कोए में एक हरा संतत सूत होता है, जिसकी लंबाई ५०० से १,५०० मीटर के लगभग होती है। शलभ के बाहर निकल आने से सूत का सातत्य टूट जाता है। जनन (reproduction) के लिये चुनी हुई जातियों को अलग से रखते हैं। अधिक और अच्छे गुणवाले रेशम के कोए को चुनकर कीटों से क्षतिग्रस्त होने से बचाते हैं और लगभग १० दिनों के बाद समूचे ढेर को गरम पानी में छोड़कर वाष्पन (steaming), या शुष्क तापन, या धूमन (fumiga-

tion) द्वारा अंदर स्थित प्यूपा को मार डालते हैं। इसके बाद रंग और बुनावट (texture) के अनुसार कोयों को वर्गीकृत करते हैं। श्लथ (loose) लोमक को हटाकर कोयों को गरम पानी में भिगोते हैं, ताकि गोंद, जो रेशम सूत को एक साथ बाँधता है, मुलायम हो जाय। अब सूत को दक्षता से खोलते हैं। कई कोयों के सूतों को एक साथ लपेटते हैं। इससे कच्चा रेशम प्राप्त होता है। अनेक उपचार के बाद यह सुंदर कपड़ों में बुने जाने योग्य होता है।

लारवा जब पूरा बढ़ जाता है तब वह अपने को प्यूपा में रूपांतरित करने की तैयारी करता है। वह खाना छोड़ देता है और प्यूपीकरण (pupation) के लिये किसी स्थल, या दरार की तलाश करता है। वहाँ वह कातना प्रारंभ करता और अंदर पड़ा रहता है। कोया धीरे धीरे मोटा होता जाता है। कृमि कोए की गहराइयों में पड़ा रहता है। इससे उसका संरक्षण होता है और मनुष्य को एक मूल्यवान् उपयोगी वस्तु प्राप्त होती है। तीन से चार दिनों में कोया तैयार हो जाता है। लगभग १० दिनों के बाद, प्यूपा शलभ के रूप में बाहर निकलने का मार्ग खोजता है। कोमल, दुर्बल, और झुर्रीदार जीव, जिसके पंख कोशवत् (sac-like) होते हैं, ऐसे स्थल पर पहुँच जाता है, जहाँ वह अपने पंख नीचे की ओर लटकाकर पड़ा रह सके। धीरे धीरे उसके शरीर की सारी संरचना कठोर हो जाती है। इसमें केवल १५ मिनट का समय लगता है। अब कीट का वयस्क जीवन प्रारंभ होता है। प्यूपा से शलभ रूप में रूपांतरण का जटिल प्रक्रम अनेक ग्रंथिल स्रावों से नियंत्रित होता है। इन स्रावों के संतुलन के परिणाम-स्वरूप रूपांतरण होता है।

निर्गमन के बाद, नर शलभ पागलों की तरह मादा की तलाश करता है और बहुत दूर से ही उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। मादा अपनी उपस्थिति का पता गंध द्वारा देती है जो उसकी गंधग्रंथि से निकलकर नर में तीव्र आवेग उत्पन्न करती है। शलभ का कामजीवन निर्गमन के साथ ही प्रारंभ हो जाता है। नर मादा को अंकुशों (hooks) से कसकर पकड़कर मैथुन प्रारंभ कर देता है। सफल मैथुन के लिये लगभग तीन घंटे का समय पर्याप्त होता है। मैथुन से निवृत्त होने पर वीर्यसंचित (inseminated) मादा अंडे देना प्रारंभ करती है।

आनुवंशिकता के अध्ययन के लिये रेशम का कृमि बहुत ही सुविधाजनक साधन है। नियंत्रित अवस्था में इसका सालों तक पालन सरल और कम खर्चीला है। एक वर्ष में इसकी छह से आठ तक पीढ़ियाँ पाली जा सकती हैं। अंडे कृत्रिम उत्तेजन के प्रति अनुक्रियाशील (responsive) होते हैं। एक मादा लगभग ५०० अंडे देती है और एक नर अनेक मादाओं से मैथुन कर सकता है। नर की सहायता के बिना भी कृत्रिम रूप से जनन प्रेरित किया जा सकता है।

अंडों के उत्पन्न होते ही उनका विकास प्रारंभ हो जाता है। एकसंजात जातियों में पाँच दिनों के बाद ही भ्रूण की डायापॉज (diapause) नामक प्रसुप्तावस्था शुरू हो जाती है, जिसमें लगभग छह से आठ महीनों तक कोई क्रियाशीलता नहीं रहती। दूसरी ओर, बहुसंजातक जाति बिना किसी रुकावट के अंडजउत्पत्ति (hatching) तक विकसित होती रहती है और उसके अंडे १०-१२ दिनों में फूटते हैं। ठंडे प्रदेशों के रेशमकृमि प्राय: एकसंजात होते हैं और गरम प्रदेशों के बहुसंजात। शीतनिष्क्रिय (hibernating) अंडों को हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के विलयन के उपचार से फोड़ा जा सकता है। १८° सें० पर उद्भवन (incubation) होने से संजात गुण (brood character) नष्ट नहीं होते और २४° सें० पर शीतनिष्क्रियता प्रेरित होती है। शीतनिष्क्रियता की स्थिति के लिये ६० से १०० दिनों तक, २° से ५° सें० तक ताप की आवश्यकता रहती है। अंडों के फूटने के अनुमानित दिन अंडों को शीतसंग्रहागार (cold storage) में भेज देते हैं। शीतनिष्क्रियता के बाद के दिनों में २३° सें० तक का ताप का क्रमिक परास (graded range) होना चाहिए।

पालन-पोषण-काल में ताप २०° सें० से २८° सें० के अंदर रखा जाता है। संकरों (hybrids) को प्रारंभिक अवस्था में २६°-२७° सें० और बाद की अवस्थाओं में २२°-२३° सें० पर पालते हैं। बहुसंजात जातियाँ प्राय: ताप का प्रतिरोध अधिक करती हैं। कताई और प्यूपा की अवस्थाओं में ताप और आर्द्रता का प्रभाव अत्यधिक महत्त्व का होता है। अत्युच्च और निम्न आर्द्रता रेशम के गुण को तुरंत प्रभावित करती है। फलस्वरूप अटेरने का प्रक्रम भी प्रभावित होता है। उच्च ताप से शलभ का निर्गमन त्वरित होता है।

रेशम का कृमि अनेक प्रकार के प्रोटोज़ोआ (protozoa), विषाणु (virus), जीवाणु तथा कवकी (fungal) रोगों के प्रति संवेदनशील (susceptible) होता है। यदि रक्षा न की जाय, तो इनसे सभी अंडे नष्ट हो सकते हैं और संभव है, वह स्थान, जहाँ अंडे रोगग्रस्त हुए हैं आगे की अनेक पीढ़ियो तक कृमिपालन के योग्य न रह जाय।

रेशम कृमि पर एक कवक (fungus) पराश्रयी होता है। यह श्वेतमारी (muscardine) नामक बीमारी पैदा करता है। इससे कृमि सूखकर कठोर हो जाता है। प्रोटोज़ोआ द्वारा फैलनेवाला एक भयंकर रोग पेब्रीन (pebrine) है। लगभग एक शताब्दी पूर्व यूरोप मे पेब्रीन से रेशम उद्योग के नष्ट होने की संभावना उत्पन्न हो गई थी और तब पाश्चर ने इस उद्योग की रक्षा की। उसने रोगजनक की खोज की और पता लगाया कि यह रोग, रोग के शलभ के द्वारा संतान को अंडे के जरिए विरासत के रूप में मिलता है। उसके परामर्श से अंडों के एकत्र करने की विधि प्राप्त हुई जो रोग के नियंत्रण का आधार बनी। पालने के घर और औजारों का रोगाणुनाशन (disinfection) रोग के निरोध का उपाय बना। अत्यधिक सावधानी बरतने पर छिटपुट रोग भले ही फैल जाय, किंतु व्यापक रूप से बीमारी फैलने की आशंका नहीं होती। अंडों द्वारा संचरण ही रोग के संक्रामण की मुख्य विधि है, परंतु आहार द्वारा भी संदूषण (contamination) बड़ी सरलता से हो सकता है। बिखरी हुई इल्लियाँ (caterpillars) और छिटपुट शलभ भी रोग फैला सकते हैं।

फ्लेचरी (flacherie) नामक रोग, जो जीवाणुओं से उत्पन्न होता है, रेशम के कृमि को सड़ा देता है। इस रोग से अत्यधिक हानि होती है। कृमि को हर उम्र में हानि हो सकती है। ग्रैसैरी (grassarie) एक विषाणु रोग है, जिसमें रेशम के कृमि का

बदन फूल जाता है, त्वचा पीली हो जाती है, रुधिर दूधिया हो जाता है और सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखने पर असंख्य षट्कोणीय क्रिस्टलों जैसा प्रतीत होता है। यह छूत की बीमारी है।

रोगग्रस्त रेशम के कीड़े को रोगमुक्त करने की किसी प्रभावी विधि का पता नहीं लगा है। रोगों के रोकने के उपायों को ही प्रोत्साहन दिया जाता है। अंडों के परिरक्षण और कृमियों के पालन, मैथुन आदि के समय सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है। रोगप्रतिरोधी वंशवाले संकरों का पालन सबसे अधिक महत्व की बात है।

शुद्ध, स्थिर और आनुवंशिक रेशम कीटों की अनेक प्रजातियाँ हैं। इनकी कुल संख्या २,००० से अधिक हो सकती है। ये प्रधानतया जापान में सुरक्षित रखी जाती हैं। विभिन्न देशों की रेशमकीट प्रजाति के गुण भिन्न होते हैं। ये प्रजातियाँ कोयों के आकार प्रकार और गुण, लारवा के चिह्नों (larval markings) तथा उसके पालन, शरीरक्रिया, प्रतिरोध, निर्मोचन (moulting) और संजात गुणों (brood characteristics) में भी भिन्न होती हैं। विभिन्नताएँ सुस्पष्ट होती हैं और किसी खास स्थान के उपयुक्त संकरों को तैयार करते समय विभिन्न शुद्ध जातियों के अभीष्ट आर्थिक विशेषकों (traits) का ध्यान रखा जाता है। स्थानीय शुद्ध जातियों को विदेशी जातियों के साथ संकरण द्वारा सुधारते हैं और उत्तरोत्तर अंतःप्रजनन (inbreeding) द्वारा अभीष्ट गुणों का संरक्षण करते हैं। संकर तैयार करने के लिये, शुद्ध जातियों के बदले उन विभेदों (strains) का, जिनको स्थिर प्रजाति कहते हैं, प्रयोग लाभदायक सिद्ध होता है।

भारत की देशी प्रजातियाँ एक, या बहुसंजात होती हैं। इनका लारवा काल छोटा होता है। विदेशी प्रजातियों की तुलना में ये ताप, आर्द्रता और रोग की अधिक प्रतिरोधक हैं। इनका कोया परत पतला होता और उनमें लोमक काफी होता है। कोए साधारणतया पीले और हरे होते हैं। बहुसंजात प्रजातियाँ मैदानों में और एक-संजात जातियाँ पहाड़ी क्षेत्रों में पाली जाती हैं।

दो असमान जनकों (parents) की पहली पीढ़ी साधारणतया अधिक प्रबल होती है और अधिक उपज के अच्छे कोए प्रदान करती है। यह प्रथा रेशम उत्पादन में बहुत प्रचलित है। संकरों का लारवा काल छोटा और मृत्युदर कम होती है। इनके रेशे लंबे और मोटे होते हैं। अंडे एक साथ निकलते हैं। ये खाने में तेज और पालने में आसान होते हैं। ये आकार और रूप में नियमित होते हैं। सुविधा और अधिक बीज उत्पादन की दृष्टि से आजकल जापान में दोहरे संकरों को प्रोत्साहित किया जा रहा है।

जापान की तरह भारत में कोई आधिकारिक संकर नहीं है, परंतु वसंत में कृमिपालन के लिये स्थानीय संजात प्रजातियों को विदेशी एकसंजात प्रजातियों से और ग्रीष्म-पतझड़ में दोहरी संजात प्रजातियों को दूसरी पीढ़ी से संकर कराया जाता है। देशी मादा और चीनी, जापानी, या यूरोपीय नर प्रजाति का संकर श्रेष्ठ समझा जाता है। कहीं कहीं शुद्ध प्रजातियों की अपेक्षा स्थिर प्रजातियों को वरीयता दी जाती है।

एरीपालन (Ericulture) — व्यापार की दृष्टि से शहतूत रेशमकृमि के बाद एरीकृमि का रेशम अधिक महत्व का है। भारत के अनेक भागों में होते हुए भी, इसका संवर्धन विस्तृत रूप से असम में होता है, जहाँ की आर्द्र जलवायु इसके विकास के लिये बड़ी अनुकूल है।

एरीकृमि का पालन अधिक सरल और कम खर्चीला होता है, क्योंकि यह रोगों का प्रतिरोधी होता है और चरम जलवायु सहन कर सकता है। यह अधिक शीघ्रता से वृद्धि भी करता है। १,६०० मीटर की ऊँची पहाड़ियों पर और शीत के १२° सें० ताप से लेकर ग्रीष्म के ३७° सें० ताप एवं ८० प्रति शत से १०० प्रति शत आर्द्रता पर पनप सकता है।

एरीकृमि घरों के अंदर पाले जाते हैं। ये सफेद, या ईंट सदृश लाल रंग के कोए बुनते हैं। इनका तंतु असतत और अटेरने लायक नहीं होता। यह कृमि बहुचक्री (multivoltine) है तथा साल में चार से छह चक्र तक पूरा कर लेता है।

एरीकृमि का प्रमुख आहार एरा (era) का पत्ता है, जिससे ही इसका नाम एरी पड़ा। एरी के अतिरिक्त यह एरंड, कसेरू, कसावा (cassava), पपीता, चंपा, बड़कसेरू का भी उपयोग करता है। कोयों का रंग और गुण उपयुक्त खाद्य पौधों पर निर्भर करता है। एरंड का आहार करनेवाले एरीकृमि के कोए का रंग सर्वोत्तम होता है।

निर्गमन की एकरूपता लाने के लिये एरी अंडों का, शहतूत वाले रेशम कृमियों के अंडों की तरह, ऊष्मायन (incubate) करना चाहिए। अंडे सामान्यतः प्रभात में फूटते हैं। निर्गमित कृमि के समस्त शरीर पर काले और छोटे छोटे रोम होते हैं, त्वचा हलकी पीली होती है, जो कृमि की उत्तरोत्तर अवस्थाओं के बाद खड़िए जैसी सफेद, या हलकी हरित हो जाती है। कृमि चार बार निर्मोचन (moulting) करते हैं। ये अपने कोए को पत्ते के अक्ष पर कातते हैं, पर अधिकतर पत्ते के किसी मोड़ में कातते हैं। कोए के अंदर ही कृमि प्यूपा में बदल जाते हैं। प्रभात में ही शलभ कोए से निकलकर दोपहर तक बने रहते हैं। निर्गमन के तुरत बाद शलभ सरककर पात्र (receptacle) के कोरों पर पहुँच जाते हैं और बाहरी कोरों से ऊर्ध्वाधर अवस्था में तब तक लटकते रहते हैं, जब तक उनके सभी अंग भली भाँति फैलकर पुष्ट न हो जाएँ। सामान्यतः शलभ अपने पंखों को गोधूलि के पूर्व फड़फड़ाते हैं। नर तब कुछ समय तक उड़ते हैं और तब मादा के साथ मैथुन करते हैं। दिन में बिरले ही मैथुन करते हैं। मादाएँ कदाचित् ही उड़ती हैं। लगभग ३/४ घंटों का मैथुन अंडो के संसेचन के लिये यथेष्ट होता है। नर शलभ दो, या तीन और मैथुन के काम आ सकते हैं। मादा शलभ रात में गुच्छे के रूप में अंडे देती है। अंडनिक्षेपण (oviposition) दो, या तीन रात तक चलता है। ताजा अंडे सफेद होते हैं। वे धीरे धीरे गहरे धूसर रंग में बदल जाते हैं और कुछ दिनों बाद प्रातः फूटते हैं।

मादा शलभ ३०० से ५०० तक अंडे देती है। अंडे प्रायः रात में दिए जाते हैं। वह अंडे देने के लिये खरिकों का उपयोग करती है। अंडनिक्षेपण के लिये ऊर्ध्वाधर स्थिति अच्छी होती है। अंडों और लारवों पर चूहे, चींटियाँ और छिपकली आक्रमण करते हैं। मादा शलभ

रेशम के कीट का जीवन चक्र

एकसंजात जाति के रेशम कीटों के अंडे

अंतिम अतरूप (instar) के रेशम कीट के लार्वे
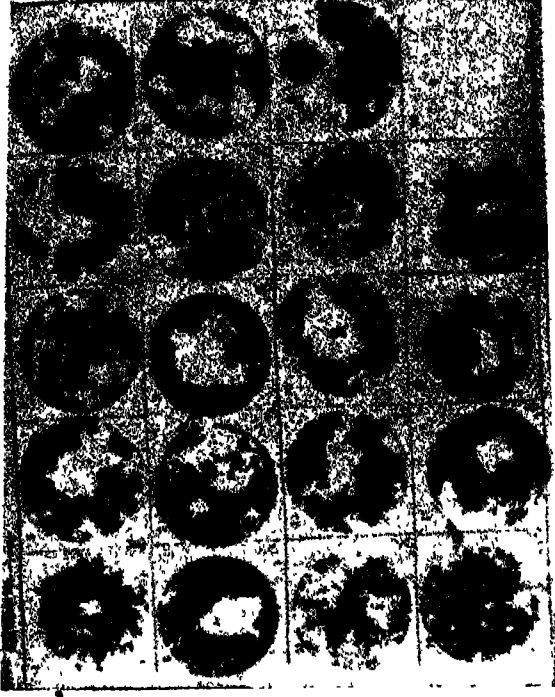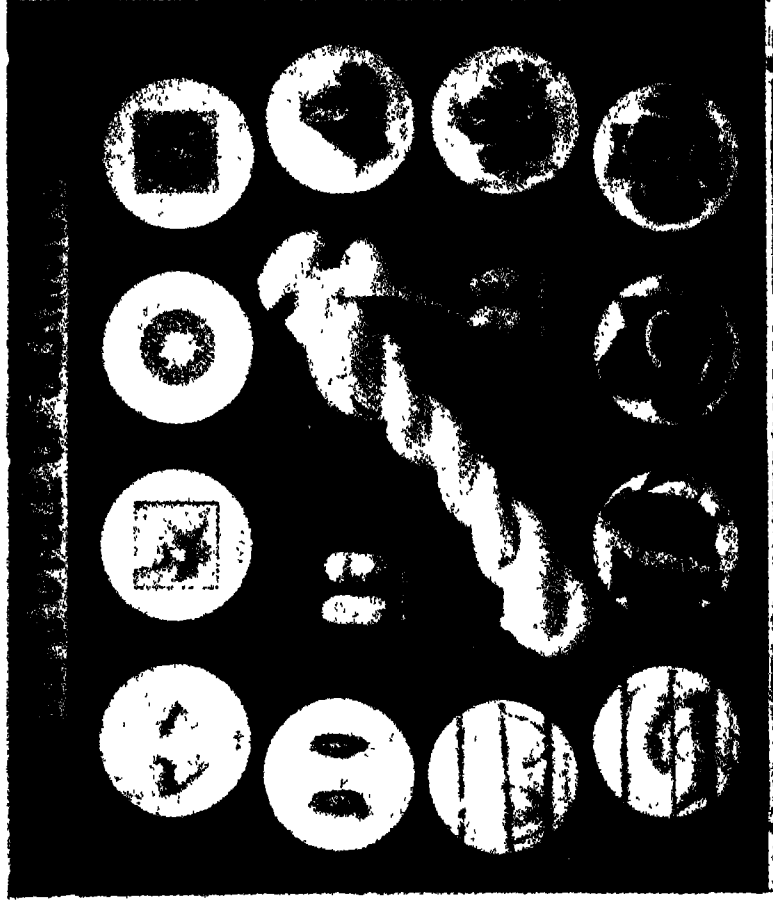
रेशम और रेशम उत्पादन (देखें पृष्ठ २१२-२१७)

स्वदेशी तथा विदेशी रेशम कीटों के कोये
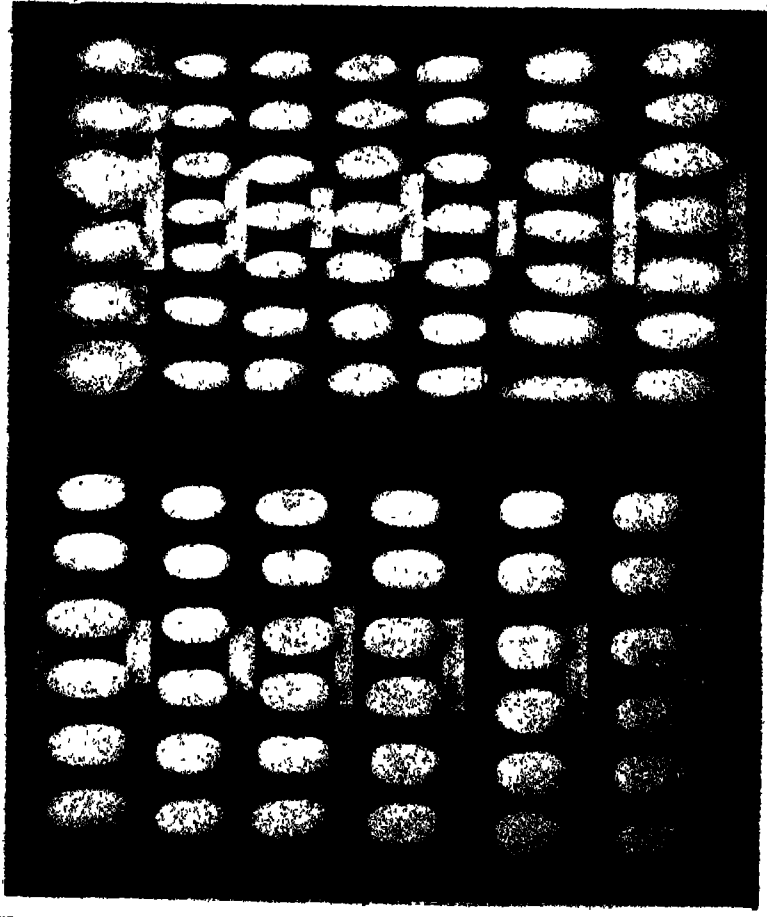
रेशम कीट के अंडों का विकास
ये अंडे बहुसंजात जाति (many brooded race) के कीटों के हैं।

का उदर बड़ा और नर का उदर शुंडाकार (tapering) होता है। इसी अंतर से लिंग का पता लगता है। अंडा देने का अनुकूलतम ताप २४° सें० और २६° सें० के बीच है। यह स्थिति कृत्रिम ऊष्मा, या कृत्रिम ठंढ से प्राप्त की जा सकती है। टूटे पंखवाले शलभ, या कम अंडे देनेवाले शलभों को त्याग दिया जाता है। स्वस्थ संजातों से ही बीज चुने जाते हैं। कातने के लिये, प्यूपा को निर्गमन के पहले निकाल लेते हैं।

अंडनिक्षेपण और अंडे फूटने के बीच कम से कम ७ दिनों, और अधिक से अधिक २० दिनों, या अधिक का अंतर होता है। यह अंतर पर्यावरण के ताप के कारण होता है। ताप के नियंत्रण से अंडे फूटने की क्रिया त्वरित, या मंदित और नियंत्रित की जा सकती है। अंडों को संकुचन (shrinkage) से बचाने के लिये उन्हें ठंढे स्थान में रखा जाता है। अंडे प्राय: प्रभात में ही फूटते हैं। एरंड के पौधे के ऊपरी भाग के कोमल पत्तों को ताजा तोड़कर कृमियों के ऊपर बिछा दिया जाता है। कृमि धीरे धीरे सरककर पत्तों के ऊपर आ जाते हैं। पत्तों को फिर हलके से उठाकर एक तश्तरी में रख दिया जाता है।

ज्यों ज्यों कृमियों की उम्र बढ़ती जाती है, उन्हें पुराने और दूसरे प्रकार के पत्ते खिलाए जाते हैं। गीले, गंदे, धूल से सने, रुग्ण, किण्वित, फटे, सूखे, या पके और पीले पत्ते नहीं खिलाए जाते। दिन में चार, या पाँच बार खिलाने से कृमि स्वस्थ रहते हैं। ज्यों ज्यों कृमि प्रौढ़ता को प्राप्त होते हैं, त्यों त्यों उनकी भूख बढ़ती जाती है। सफाई और पत्तों के मितव्यय की दृष्टि से पूर्ण विकसित कृमियों को पत्तों का गुच्छा ऊर्ध्वाधर लटकाकर खिलाया जाता है। स्वस्थ विकास के लिये अंतरण (spacing) महत्वपूर्ण कारक है।

परिपक्व होते ही लारवा मलोत्सर्जन और कोया कातने में समर्थ होता है। मल की अंतिम गोली एक द्रव पदार्थ के साथ गिरा चुकने पर कोया बनाना आरंभ होता है। गरमी में तीसरे और जाड़े में पाँचवें दिन कातना पूरा हो जाता है। कातने के समय से १५ से ४० दिन के भीतर शलभ निर्गमन करता है और यह अवधि ताप की अवस्थाओं पर निर्भर करती है।

घर के अंदर पाले हुए एरीकृमि कुछ रोगों के शिकार हो सकते हैं। यदि पालने की अवस्थाएँ समुचित नहीं हैं, तो सभी भ्रूण रोगग्रस्त हो सकते हैं। फ्लैचरी की अपेक्षा पैब्रीन रोग कम विनाशकारी होता है। शहतूत के कृमि की अपेक्षा एरी जाति अधिक स्वस्थ होती है और रोग का प्रतिरोध अधिक कर सकती है। रोग की पुनरावृत्ति को रोकने का एकमात्र उपाय शलभों की परीक्षा और रोगी शलभों द्वारा दिए गए अंडों को निकाल देना है।

मुगा पालन — असम का सुनहरा पीला रेशम इल्ली द्वारा उत्पन्न किया जाता है। यह तथाकथित अर्धपालतू कृमि केवल ब्रह्मपुत्र की घाटी में पाला जाता है। अन्य राज्यों में इसके पालन का प्रयास असफल रहा है, जिसका कारण उपयुक्त खाद्य पौधों, या जलवायु का अभाव हो सकता है।

यह बहुसंजात प्रति वर्ष पाँच संजात उत्पन्न करता है। इल्ली अवस्था यह उन पेड़ों पर व्यतीत करता है जिनके पत्तों पर यह निर्वाह करता है। अन्य अवस्थाएँ, जैसे कोया, शलभ और अंडे घरों के अंदर, व्यतीत होती हैं।

मुगा रेशम कृमि अनेक पेड़ों की पत्तियाँ खाता है। सबसे अधिक सोम (som) और सोआलू (soalu) वृक्षों की पत्तियाँ खाई जाती हैं। सोम ब्रह्मपुत्र की घाटी के ऊपरी भाग में और सोआलू निचले भाग में उपजता है। मुगा के अन्य खाद्य पौधे मेजांकरी, चपा, डिघलोटी, पटीहांडा और बोमजाटी हैं। पूर्वोक्त दो का उपयोग मजनकिया, सफेद रेशम उपजाने में होता है, जिसकी असम में बड़ी माँग है। विभिन्न खाद्य पौधों के उपयोग से विभिन्न रंग, गुण और परिमाण के रेशम प्राप्त होते हैं। सोम और सोआलू वृक्ष पाँच वर्ष की औसत उम्र में मुगा पालने के काम आ सकते हैं। मुगा पालन के लिये वृक्षों का उपयोग साल में दो बार करने से वृक्षों को कोई हानि नहीं पहुँचती।

अटेरने योग्य अधिकांश कोया शरद की फसल से प्राप्त होता है। यही वर्ष की सर्वोत्तम फसल होती है। इन दिनों पत्ते बहुत ही उपयुक्त होते हैं तथा मौसम और ताप भी उपयुक्त होता है। ततैये (wasp) और मक्खियाँ इस समय बहुत कम होती हैं और उत्पन्न कोए से रेशम भी अधिक प्राप्त होता है। जाड़े के संजात पोने कोयों के लिये ही उगाए जाते हैं। इनमें रेशम कम होता है।

असम में कुछ पहाड़ी भूभाग हैं, जहाँ मुगा स्थायी रूप से रखा जाता है। इन्हें पोना भूभाग कहते हैं। मुगा कृमि असम के मैदानों में शीघ्र ही अपविकसित (degenerate) हो जाते हैं। अत: मुगा पालन करनेवाले हर दो, या तीन संजातों के बाद पोने का ताजा भंडार प्राप्त करते हैं। मुगा पोनों को पालना लाभप्रद व्यवसाय है। मुगापालक पोना कोयों के बारे में बड़े जागरूक रहते हैं। वे अच्छे पोने प्राप्त करने के लिये लंबी यात्राएँ भी करते हैं। सरकारी बेसिक मुगा के पोना फार्मों में रोगमुक्त पोना तैयार करके मुगापालकों को वितरित किए जाते हैं, परंतु माँग की तुलना में पूर्ति बहुत कम हो पाती है।

पोना कोयों को बाँस की पिटारी में विरल रखकर पिटारी को सावधानी के साथ ऐसे लटका देते हैं कि वे चूहों, बिल्लियों और छिपकलियों आदि की पहुँच के बाहर रहें। गरमियों में शलभों को बाहर निकलने में १७-१८ दिन लग जाते हैं। ये प्राय: संध्या समय में निर्गमन कर मैथुन करते हैं। दूसरे दिन प्रभात में मैथुन किए हुए शलभों को बाहर निकालते हैं और मादा को पंख के मूल में कपड़े से बाँधकर एक खरिके (सूखी घास का झुकदार गोला) से बाँध देते हैं और नर को मैथुन के लिये मुक्त छोड़ देते हैं। नर को सामान्यत: २४ घंटे तक मैथुन करने की सुविधा दी जाती है। इसके बाद उसे पिटारी से बाहर कर उड़ने को छोड़ देते हैं। मादा अब खरिकों पर अंडे देती है। औसतन अंडों की संख्या २०० होती है। घास के झुकों को सावधानी से रखते हैं और उनमें स्थित अंडों को नित्य ध्यानपूर्वक देखते रहते हैं।

ग्रीष्म में आठवें दिन सवेरे अंडों से कृमि निर्गमन करते हैं। पहले से विशिष्ट रूप से चुने और चींटियों आदि से साफ रखे हुए छोटे वृक्षों की टहनियों पर खरिकों को निर्गमित कृमियों सहित टाँग

देते हैं। चींटियों को पेड़ पर चढ़ने से और कृमियों को उतरने से रोकने के लिये पेड़ के तने पर जमीन से ३–४ फुट की ऊँचाई पर थोड़ी सी घास बाँधकर उसपर थोड़ी राख, या रेत छोड़ देते हैं। इस बात की भी सावधानी बरती जाती है कि पेड़ पर उतने ही कृमि रखे जायें कि उनमें स्थित कृमियों को कम से कम तीसरे निर्मोक (moult) से गुजरने तक निर्वाह के लिये पत्ते पर्याप्त हों। जिन पेड़ों के पत्ते समाप्त हो जाते हैं, उनके कृमियों को स्थानांतरित करने के लिये दूसरे पेड़ों को तैयार करते हैं। प्रौढ़ावस्था में एकत्र करने की सुविधा के लिये चौथे निर्मोक के बाद कृमि बड़े वृक्षों पर रखे जाते हैं। अधिकांश पत्तों के समाप्त हो जाने पर आहार की तलाश में कृमि पेड़ों के नीचे उतर आते हैं। उन्हें हाथों से बीनकर, विकास की अवस्थाओं के अनुसार अलग करके, बाँस की त्रिकोणाकार चलनी (sieve) पर रखकर, नए वृक्षों पर टाँग देते हैं। पेड पर अभीष्ट संख्या में ही कृमि रखने के लिये काफी कौशल और अनुभव की आवश्यकता होती है। इल्लियाँ दिन रात थोड़े थोड़े समय के अंतर पर खाती रहती हैं। जाड़ों में रात के समय वे अधिक नहीं खातीं। खाते समय कूड़ा करकट गिरता है, जिससे पेड़ के नीचे सरसराहट होती है। अंतिम निर्मोक के बाद उनकी क्षुधा बहुत बढ़ जाती है और वे तेजी से बढ़ने लगती हैं। प्रौढ़ हो जाने पर वे रात होते ही पेड़ के तने के सहारे धरती पर आ जाती हैं। उन्हें सूखी पत्तेदार टहनियों के समूह जाली (jali) पर एकत्र करके कोया कातने के लिये घर के अंदर ले जाते हैं। प्रौढ़ कृमि की पहचान यह है कि उसे कानों के पास उँगलियों से मसलने पर मर्मर ध्वनि होती है। टसर कृमि के विपरीत, मुगा कृमि प्रौढ़ होने पर स्वतः पेड़ के तने से नीचे उतर आता है, जिससे उससे संचित करना आसान हो जाता है। एक ही संजात के कृमि सात, या आठ दिनों में सामान्यतः प्रौढ़ हो जाते हैं।

कृमियों के प्यूपीकरणके बाद जब कोया निर्माण पूरा हो जाता है, तब जाली से कोयों को हटा लेते हैं। यदि दूसरी पीढ़ी के लिये पोना कोयों की आवश्यकता हो, तो चार और छह दिनों के अंदर प्रौढ़ होनेवालों को अलग रख लेते हैं। सर्वोत्तम कोयों को चुनकर रखते हैं और शेष को नष्ट कर देते हैं। धूप में रखकर प्यूपों को सामान्यतः मार नहीं सकते। आग पर उन्हें मार डालते हैं और कुछ दिन धूप में सुखाकर अटेरने के लिये रख छोड़ते हैं।

मुगा जोखिम की फसल है, जिसे खुली हवा में पालना पड़ता है। दिन में चिड़ियों को गुलेल आदि से डराकर भगाते हैं। जिन स्थानों पर चमगादड़ों की बहुतायत हो, वहाँ विकसित कृमियों की रात में निगरानी आवश्यक होती है। अनेक प्रकार की चींटियाँ विभिन्न जाति के ततैए, बर्रे, कौए, चील और गौरैया आदि छोटी चिड़ियाँ भी हर दिन इनका शिकार करने पर तुली रहती हैं। रात के शत्रुओं में दिनऱाना नामक ततैया, चमगादड़ और उल्लू मुख्य हैं। गीदड़ और बंदर भी मुगा कृमि के शत्रु हैं। अतः समस्त पालनकाल में जागरूकता के साथ मुगा की देखभाल आवश्यक है। सामान्य बड़ी मक्खियाँ भी मुगा कृमि का शिकार करती हैं। तेज हवा, पाला, लगातार भारी वर्षा तथा गरम मौसम भी पेड़ पर स्थित कृमियों के लिये हानिकारक सिद्ध होते हैं।

पेब्रीन, फ्लैचरी और ग्रैसरी रोग बहुत व्यापक हैं, यद्यपि श्वेत-मारी मुगा कृमियों में नहीं पाया गया है। ताप और मौसम का एकाएक हेरफेर, आहार का असंयम और पेड़ों पर कृमि की भारी भीड़ संभवतः फ्लैचरी फैलने का प्रधान कारण हैं। ग्रैसरी बहुत विरले होता है। मुगा पालन में हानि बहुत अधिक होती है। १०० कोयों का प्रति ब्यांत में उत्पादन सफल फसल माना जाता है। परंतु उत्पादन की औसत दर बहुत कम है।

टसर कृमिपालन — टसर कृमि एक, दो, या बहुसंजात होता है। काते हुए कोए खाद्य पौधों के वृंत से संलग्न कर दिए जाते हैं। प्रति वर्ष भारत में टसर रेशम का कुल उत्पादन एक लाख पाउंड से कम है। भारत में टसर कृमि १,५०० मीटर की ऊँचाई तक पाए जाते हैं, जहाँ उनके खाद्य पौधे, साल, बोगोरी बेर, फुदुका आदि प्राप्य हैं। सामान्य खाद्य पौधे अर्जुन और असन हैं। इनके अतिरिक्त पर्वतीय क्षेत्रों में उपजनेवाले बाँज (oak) भी उपयुक्त खाद्य पौधे हैं।

टसर कृमि प्यूपा के रूप में शीतनिष्क्रिय रहते हैं। ऐसे शीत-निष्क्रिय प्यूपा अप्रैल मई में निर्गमन करते और अंडे देते हैं। लगभग १० दिन में अंडे फूटते हैं। अंडे की संख्या पेड़ के विस्तार पर निर्भर करती है। मौसम के अनुसार लारवा काल ३० से ४० दिनों तक का हो सकता है। कृमि चार निर्मोकों में से गुजरते हैं और इनका विकास अनियमित भी हो सकता है। मादाएँ धीरे धीरे बढ़ती हैं। शलभ का निर्गमन भी अनियमित और विलंबित होता है और कभी कभी निर्गमन तीन महीने तक के विलंब से हो सकता है।

लारवा को उसके कशेरुकी और कीटजगत् के शत्रुओं से बचाया जाता है। बागानों में तंबुओं में रहकर रक्षकों को दिनरात पहरा देना पड़ता है। वयस्क कृमियों को चिड़ियों और चमगादड़ो से भय रहता है, जिन्हें गुलेल, या मटर बंदूक (pea shooter) से भगाया जाता है। अन्य शत्रुओं, जैसे चींटी, मक्खियाँ, या ततैयों से सुरक्षा के लिये पेड़ के तने में कोई चिपचिपा पदार्थ लगा दिया जाता है।

कृमि पत्तों के निचले तल पर सामान्यतः चिपके रहते हैं। उनकी पकड़ मजबूत होती है। बलपूर्वक हटाने पर वे एक द्रव उगलते हैं। दोपहर की तेज धूप में वे बहुत कम खाते हैं। ये बहुत ही सुग्राही और चिड़चिड़े होते हैं। हिलाने, छू लेने, या शोर करने पर खाना बंद करके सिमट जाते हैं।

प्रौढ़ होने पर कीट रेचन कर आकार में छोटे हो जाते हैं और रेशम जमाने के उपयुक्त स्थान की तलाश में घूमते हैं। ये पहले पत्तों को जोड़कर पत्तों के डंठल के चारों ओर कातते हैं, जिससे कोया शाखा से बँध जाता है। इस प्रकार सुरक्षा से आश्वस्त होकर वे जुड़े हुए पत्रों के बीच के स्थान में प्रवेश कर कोए की परत पर परत कातते हैं और यह काम लगभग ४८ घंटों में पूरा करते हैं। एक दो दिन में रेशम बना चुकने पर, कीट का प्यूपीकरण होता है। छोटी शाखाओं की टहनियाँ काटकर कोयों का संचय किया जाता है। कभी कभी कोयों को ढूँढ़ निकालना कठिन होता है, क्योंकि वे पत्तों से सभी ओर से छिपे रहते हैं। संचित कोयों को घर के अंदर सूखे

आदि शत्रुओं से सुरक्षित स्थान में रखते हैं। शलभ आकार में बड़े, सुंदर और उड़ने योग्य होते हैं। नर काफी दूर तक उड़ सकते हैं। मैथुन के बाद मादा रात से सबेरे तक अंडे देती है। पोम कोयों को चुन लिया जाता है। सूर्यास्त के समय कोयों से शलभ निकलते हैं। सभी अंडों के निषेचन के लिये एक रात का मैथुन पर्याप्त होता है।

अच्छे पालन के लिये आहार और कीट का विकास एक ही समय में होना आवश्यक है। गर्भवती मादा शलभ के कागज के खोले, या बाँस के पिंजरे में अंडे देने की व्यवस्था की जाती है। अंडे के साथ निकले सरेस से अंडा पिंजरे की पार्श्व दीवारों में चिपका रहता है। मादा शलभ १५० से लेकर २५० तक अंडे देती है। १० दिनों में अंडे फूटते हैं।

पैब्रीन, ग्रैसरी और फ्लैचरी से संजातों को गंभीर क्षति पहुँचती है और संचित कोयों का उत्पादन प्रत्याशित फसल से प्रायः कम ही रहता है।

रेशम के अन्य कृमि — रेशम के अनेक जंगली शलभ भी रेशम उत्पन्न करते हैं पर वे बुनावट और सूक्ष्मता में शहतूत के रेशम के कीड़े की बराबरी नहीं कर सकते। इनमें से अनेक ऐसे कोए कातते हैं जिनमें अत्यंत दृढ़ रेशम की मात्रा पर्याप्त होती है परंतु पाट, एरी, मुगा या टसर रेशम के समान इनका व्यापारिक महत्व नहीं है।

'चाँद शलभ' जो फीके हरे रंग और पिछले पंखों पर स्थित शुंडाकार दुम से पहचाना जाता है, असम की पहाड़ियों और मैदानों में पाया जाता है। यह एक अतिशय सुंदर और सुकुमार शलभ है। यह नाशपाती, चेरी (cherry) और अखरोट आदि के पत्तों पर निर्वाह करता है।

ऐटलस (atlas) शलभ बड़ा ही व्यापक है। रेशम का यह सबसे बड़ा शलभ है। पूर्ण विकसित अवस्था में इसके पंखों का प्रसार ११ इंच होता है। इसके चारों पंखों पर पारदर्शी विचित्र गवाक्ष (window) होते हैं। फुदुकनी मुगानाशक जीव (pest) के रूप में प्रसिद्ध है। यह अनेक उपयोगी पौधों का भक्षण करता है। प्यूपा बौड़े जालीदार पीत भूरे (yellowish brown) कोए में रहता है। इसके रेशम का उपयोग नहीं किया जा सकता और कृमि का स्पर्श हलकी खुजली पैदा करता है।

जंगली शहतूत का कृमि पीपल के पत्तों पर भी फलता फूलता है। इसका रेशम महीन और मजबूत होता है और किसी भी रूप में पाटरेशम से घटिया नहीं होता है। परंतु इसका पालन घर के बाहर करना पड़ता है, अतः पालन कठिन होता है। चायपाशक (tea looper) इल्ली का नाशक जीव भी एक झीना कोया बनाता है।

रेशम का कृमि रेशम के अतिरिक्त अन्य उत्पाद भी बनाता है जिनका महत्व कम नहीं है। एरी और मुगा रेशम के वयस्क कृमि की ग्रंथियों को लंबा करके शहतूतवाले रेशम के कृमि के तांत (guts) जैसा तांत बनाया जा सकता है, जो शल्यकर्म में काम आनेवाली सीवन (suture) और मछली पकड़ने की बंसी बनाने के काम में आता है। रेशम के कीड़े का तांत साधारणतया १·६ इंच लंबा होता है, परंतु एरी और मुगा तांत क्रमशः १२ और ६ फुट लंबे होते हैं जिनका बहुत अच्छा उपयोग हो सकता है। [स॰ ना॰ चौ॰]

रेशम की रँगाई रँगाई के पूर्व रेशम का निर्घर्षण (scouring), या गोंद हटाना और विरंजन (bleaching) करना पड़ता है। निर्घर्षण द्वारा रेशम का गोंद, सेरिसिन (sericin) और अन्य उपार्जित अपद्रव्य दूर किए जाते हैं। इसके लिये कच्चे रेशम को अपमार्जकों (detergents) के उष्ण विलयन से उपचारित किया जाता है। विलयन में मंद क्षार रह सकता है, या नहीं भी रह सकता है। विरंजन से ऑक्सीकरण, या अपचयन द्वारा रेशम का रंग नष्ट हो जाता है। कपड़ों को निर्घर्षण द्वारा भली भाँति साफ कर लेने के बाद विरंजन का उद्देश्य रासायनिक क्रिया द्वारा रेशम को अतिरिक्त सफेदी प्रदान करना है।

रेशम के विरंजन की आवश्यकता सदैव नहीं रहती। सेरिसिन को हटाने के बाद प्रायः रेशम अपना सबका सब प्राकृतिक रंग खो देता है और उसमें सफेद फाइब्रोइन (fibroin) ही अवशेष रह जाता है। ऐसे उबाले हुए रेशम के लिये विरंजन की विरले ही आवश्यकता होती है, सिवाय उस दशा के जब रेशम को हलकी आभा में, या चमकीले रंग में रँगना हो। व्यापारिक कोया स्वतः ही सफेद होता है।

रेशम के सूत (yarn) के विरंजन की देशी रीति है रीठा (soap nut), सज्जी (कच्चा सोडा कार्बोनेट) और क्षार (केले के पत्तों की राख) से धोना। रीठे के फलों को पानी में डुबोकर और उसमें क्षार मिलाकर जलीय विलयन तैयार किया जाता है। विलयन को उबालकर उसमें लच्छियों को डुबाया जाता है और उसे प्रक्षुब्ध किया जाता है। जब लच्छियों में आवश्यक सफेदी आ जाती है, तब उन्हें बाहर निकालकर स्वच्छ जल से भली भाँति धोकर सुखाते हैं, फिर लच्छियों को सुव्यवस्थित करते हैं।

विरंजित सूत को रंगस्थापन (mordanting) के बाद रँगते हैं। रेशम के रंग को स्थायी बनाने के लिये रंगस्थापन आवश्यक होता है। रंगस्थापन के लिये रेशम को गरम उबले हुए फिटकरी के विलयन में रखकर आध घंटे तक रेशम को उसमें उलटते पलटते हैं ताकि रेशे में एकसा रंगस्थापित हो जाए। इसे फिर निचोड़कर गीली अवस्था में ही रंजक में छोड़ देते हैं। रेशम को लाल, अनाटो (anatto), या नील के रंजक से रँगने के लिये उपर्युक्त प्रारंभिक रंगस्थापन आवश्यक होता है।

रेशम को रँगने के लिये अनेक रंजक प्रयुक्त होते हैं। ऐसे रंजक हैं: इंडिगो, काला, नीला, धूसर या हलका नीला, लाल, पीला, नारंगी हरा, या मॉस (moss) हरा, नीललोहित (purple), चाकलेट, सुनहरा, धूमिल, आसमानी आदि। कुछ रंग, ताने बाने में प्रयुक्त हुए रेशम के दो विभिन्न रंगों के संयोजन के प्रभाव मात्र होते हैं। ऐसे संयोजित रंग के रेशम को 'शाट सिल्क' (Shot silks) कहते हैं।

मुगा रेशम से बने कपड़ों में साधारणतया सुनहरा पीला रंग होता है। मुगा रेशम में खनिज पदार्थों की अधिकता होती है और इसका

गोंद प्रतिरोधी होता है। अतः उसे हटाने और विरंजित करने में उपविधि का उपयोग करना पड़ता है।

गोंद हटाने के लिये रेशम को पानी में भिगोकर सोडियम कार्बोनेट के तीन प्रति शत विलयन में उबालते हैं। अच्छी तरह धो लेने के बाद पहले ६०°-७०° सें० ताप पर दो आयतन हाइड्रोजन-पर-ऑक्साइड और फिर प्रति लिटर चार ग्राम सोडियम सिलिकेट से विरंजित करते हैं। दो घंटे के पश्चात् रेशम को धोकर ६०° सें० ताप के प्रति लिटर पाँच ग्राम सोडियम हाइड्रोसल्फाइट के विलयन से आधे घंटे तक उपचारित करते हैं।

मुगा रेशम से बने कपड़ों को रँगने के लिये साइबाक्रोन (cibacron), आइर्गैलन (irgalan) और पोलर (polar) रंजकों आदि का उपयोग करते हैं, जिनसे कपड़ों को पक्का रंग प्राप्त होता है।

साबुन और सोडे द्वारा टसर रेशम का गोंद हटाया जाता है, फिर पहले गरम पानी और बाद में ठंढे पानी द्वारा बारी बारी से धोया जाता है। विरंजन कुंड में सोडियम-पर-ऑक्साइड, एप्सम लवण और साबुनकारी कर्मक रहते हैं। रात भर पानी में डुबा रखने के बाद टसर को धोकर रँगने के लिये ले जाते हैं। विभिन्न रंग के लिये विभिन्न देशी रंजकों का उपयोग होता है। रेशम को ६०°-८०° सें० ताप पर लगभग ४५ मिनट तक रंग के क्वाथ (decoction) में छोड़ देते हैं। रेशम की दूसरी धुलाई पोटैश के बाइक्रोमेट में लगभग आध घंटे तक होती है, तीसरी धुलाई ऐसीटिक अम्ल में होती है। पोटैश बाइक्रोमेट के स्थान में फिटकरी, तूतिया और कसीस के व्यवहार से विभिन्न आभाएँ प्राप्त होती हैं।

कुछ घंटों तक रेशम को पानी में डुबोकर और बाद में साबुन और सोडा के साथ उबालकर, परिष्कृति (finishing) प्रक्रम पूरा किया जाता है। टसर को पुनः ठंढे पानी, या साबुन के ठंढे विलयन से धोते हैं और अंत में साबूदाना या अरारोट, ऐसीटिक अम्ल और पानी से रेशम को चिकनाते हैं।

रेशम की छपाई ब्लॉक, या परदा मुद्रण विधि से की जाती है। ब्लॉक छपाई में विभिन्न डिजाइनों के ब्लाकों को रंगों में डुबोकर कपड़े पर छापते हैं। परदा मुद्रण छपाई में कपड़े पर डिजाइन रखकर उसपर रंग छिड़कते हैं। दोनों विधियों में अनेक प्रकार के पक्के रंगों का व्यवहार होता है। [स० ना० चौ०]

रेशम के सूत का निर्माण अहुता वाला प्राकृतिक रेशम कोए (cocoon) से प्राप्त होता है। कोए में संतत एकहरा तंतु रहता है। तंतु को लपेटने की आवश्यकता पड़ती है। रेशम के कई तंतुओं को एक सघन सूत के रूप में ऐंठने से कच्चा रेशम प्राप्त होता है। इकहरा तंतु बहुत महीन होने के कारण बुनने के काम में नहीं आ सकता है। ४५० मीटर लंबा तंतु, जिसका भार ०·०५ ग्राम हो, डेनयर (denier) कहलाता है। इकहरा तंतु साधारणतया दो तीन डेनयर का होता है। अभीष्ट आकार के लिये कितने तंतुओं, या कोयों को अटेरना, या लपेटना पड़ता है, इस संख्या की गणना के लिये डेनयर महत्वपूर्ण है, क्योंकि कोए की विभिन्न जातियाँ तथा एक ही कोए के विभिन्न भाग, विभिन्न मौसम में विभिन्न लंबाई के तंतु प्रदान करते हैं।

अटेरने (reeling) से पहले, कोयों का चुनाव बड़ी सावधानी से करते हैं। असामान्य और सदोष कोयों से सामान्य और स्वस्थ कोयों को अलग कर लेते हैं। रंग और आकार की एकरूपता के आधार पर स्वस्थ कोयों को छाँट लेते हैं। व्यापारिक रेशम के कोयों के लिये, अटेरने के लिये अनुपयुक्त कोयों का प्रति शत, कोया कक्षों की समता, कोया तंतु की लंबाई, अटेरे हुए कच्चे रेशम का भार, कच्चे रेशम की उपज और स्वच्छता आदि ज्ञात करने के लिये कोया पुंज का परीक्षण किया जाता है। ये परीक्षण सूखे कोयों पर किए जाते हैं।

बहुसंजात (many-brooded) जातियों में एक संजात (one brooded) जातियों की अपेक्षा बहुत अधिक लोमक (floss) होता है। लोमक को हाथ से, या हस्तचालित मशीन से, हटाया जाता है। विभिन्न आकार के कोयों को अलग करने के लिये कहीं कहीं मशीन का उपयोग किया जाता है। अटेरने के लिये प्रयुक्त जल साफ, कठोर और विशेष क्षारता का होना चाहिए। निलंबित अपद्रव्य रेशम के तंतुओं में चिपक जाते हैं। अतिक्षारता अम्ल अभिकर्मकों से कम कर ली जाती है।

अटेरने के पहले प्यूपा को मार डालते हैं, नहीं तो बाहर निकलते समय कीट कोया खोल में छेद कर देगा। इसके लिये कोए को भाप, या शुष्क ऊष्मा से उपचारित करते हैं। इस प्रक्रिया को श्वासरोधन (stifling) कहते हैं। कोयों का पाचन, या द्रव में मसलना (maceration) आवश्यक है। इससे कोये का बाह्य भाग मुलायम हो जाता है। अब बुरुश करके तंतु के छोरों का पता लगाते हैं। कोए के पाचन की दो रीतियाँ हैं: (१) प्लवन की और (२) निमज्जन की। पहली रीति में पाचन के बाद कोए में वायु का अधिक भाग रह जाता है और दूसरी विधि में कोया पानी का अवशोषण कर लेता है।

श्रम बचाने के लिये अब स्वचालित पाचन मशीन प्रयुक्त होती है पर इन मशीनों का संचालन सुदक्ष हाथों से होना चाहिए। तंतुओं के वास्तविक छोरों का पता हाथ से लगाया जाता है अथवा मशीन से जो अटेरन मशीन में लगी रहती है।

अटेरन मशीन के विकास की क्रमिक अवस्था इस प्रकार है: चरखा, घरेलू बेसिन (domestic basin), बीस सिरोंवाली अटेरन मशीन और स्वचालित अटेरन मशीन। चरखा सबसे प्राचीन और आद्य साधन है तथा स्वचालित अटेरन मशीन इसका सबसे आधुनिक रूप है। सभी में प्रधान अनुलग्न (adjuncts) भाग हैं: (१) तंतुओं को डालने के लिये जुगत (gadget), (२) क्रॉयसर (croissure) व्यवस्था, (३) चंक्रम (traverse) और (४) अटेरन।

अटेरन मशीन में पॉर्सिलेन का बटन, जिसके केंद्र में छेद होता है, स्थित रहता है। बटन विभिन्न आकार के मिलते हैं। इनके साथ जेटी बाउट (jette bouts), या बेव धारक (bave holders) भरे होते हैं। ये सामान्यतः पीतल, या काँसे के बने होते हैं और बेलनाकार खोल से ढँके रहते हैं। बटन, या जेटी बाउट से आनेवाला

सूत उद्वेष्टन (twining) और अनुद्वेष्टन की क्रिया के बाद, जिसका तकनीकी नाम कॉयथर है, फालतू पानी को निचोड़कर निकाल देते हैं और तंतुओं को दृढ़ता से संलग्न कर देते हैं। इसके बाद सूत चर्खी या अटेरन (swift) पर जाता है जिसकी परिधि १२०, १५० या १८० सेंमी० की होती है। यहाँ लकड़ी की छह शलाकाएँ (ribs) मृदु इस्पात की भुजाओं पर चढ़ी होती हैं। चर्खी पर पहुँचने से पहले, अंतिम कॉयथर घिरनी के बाद सूत चंक्रम से गुजरता है। चंक्रम की अग्रगति और उल्टी गति से रेशम आड़े तिरछे विन्यस्त होता है और समांतर नहीं हो पाता।

चर्खा यद्यपि बड़ा अपरिष्कृत उपकरण है, तथापि भारतीय गाँवों में यही साधारणतया व्यवहृत होता है। कुछ स्थानों में घरों, या कारखानों में घरेलू बेसिन प्रयुक्त होते हैं। इससे भारत में रेशम का गुण बहुत कुछ ऊँचा हो गया है। बहुसिरों (mul-tiend) वाला बेसिन और स्वचालित पावक मशीनें साथ साथ चलती हैं। इनसे रेशम अटेरने की कला में क्रांति आ गई है। स्वचालित अटेरन मशीन से एक समान रेशम का उत्पादन संभव हो गया है।

रेशम को छोटी चर्खियों पर अटेर लेने के बाद उन्हें पुनः लच्छियों में अटेरा जाता है। इससे गोंद के धब्बे कम हो जाते हैं, टूटे सिरों का ग्रंथिबंधन हो जाता है और हर लच्छी में सूत की निश्चित लंबाई मालूम हो जाती है।

अटेरन उद्योग के उपोत्पाद आमदनी के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। अवशिष्ट रेशम प्रधान उपोत्पाद है जिसका उपयोग रेशम के मिलों में होता है। प्यूपा का उपयोग तेल निकालने, मुर्गियों को खिलाने और खाद के रूप में होता है।

• एरी कीट (eri worm) शहतूत रेशम के कीड़ों के विपरीत खुले मुँह के कोए बनाते हैं। अतः तंतु अविरत न होने के कारण अटेरने लायक नहीं होता। इस कारण इसका कोया कातने के काम आता है। कोये को सोडा, या पोटैश के विलयन में पहले उबालते हैं। सोडा, या पोटैश के स्थान में केले के पत्ते, या पत्तों की राख, लकड़ी की राख, गेहूँ के डंठल की राख, धान का पुआल, मुगा (muga), या माटीकलई (matikalai) पौधे, तथा हरे पपीते के टुकड़े भी तंतु में चिपके गोंद के कुछ अंश को हटाने के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं। यदि गोंद का कुछ अंश हटा न दिया जाय तो उसे चर्खे, या तकली द्वारा काता नहीं जा सकता। अत्यधिक उबालने से तंतु निर्बल हो जाते हैं। कोयों को कपड़े के एक टुकड़े में ढीला बाँधकर विलयन वाले बरतन में डुबोया जाता है। पर्याप्त उबल जाने के बाद कपड़े में बँधे हुए कोयों को बाहर निकालकर ठंडे पानी से कई बार धोते हैं ताकि विलायक निकल जाय। कोयों को तब तक निचोड़ते हैं, जब तक उनका अधिकांश जल नहीं निकल जाता है। इसके बाद कोयों को फैलाकर सुखाते हैं। इस प्रकार तैयार कोए तकली, या चरखे पर काते जा सकते हैं।

एरी कोयों के कातने के सर्वाधिक प्रचलित साधन तकली और चरखे हैं। खास किस्म का एरी कताई का चरखा लकड़ी के चौखटे पर कसा होता है और पैर से चलाया जाता है। इसमें स्वचालित तिरछी गति (traverse motion) की व्यवस्था होती है। तंतुओं के भरण का नियंत्रण यहाँ अधिक सुविधा के साथ किया जा सकता है। असम में रेशम की कताई के मिल की स्थापना से एरी रेशों का उत्पादन बढ़ेगा और रेशम उत्कृष्ट कोटि का होगा। यह मिल एरी के कटे कोयों और अवशिष्ट रेशम का अच्छा प्रदायक होगा।

एरी रेशम गरीबों का रेशम कहा जाता है। एरी रेशम से निर्मित चद्दर बहुत टिकाऊ होती है, जो असम में शीतकाल में ओढ़ने के लिये लोकप्रिय है। १,००० मुगा कोयों से औसतन ८ आउंस कच्चे रेशम का उत्पादन होता है। अटेरने का सरलतम उपकरण भीर या भौरी (Bhir or Bhowri) कहलाता है। मुगा की क्षेपणी (paddling), सरलतम अटेरन उपकरण, भीर की अपेक्षा कुछ उन्नत उपकरण है। पैर से चलाए जाने के कारण दोनों हाथों का उपयोग अटेरने मे हो सकता है। इस मशीन में बाइसिकल की चेन और मुक्तचक्र (free wheel) जुड़ा होता है। अतः साधारण भीर की अपेक्षा इसकी चाल बहुत अधिक होती है। इन मशीनों से अटेरने के लिये दो व्यक्तियों की जरूरत पड़ती है। खास किस्म की मुगा अटेरन मशीन अन्य मशीनों की अपेक्षा अधिक यंत्रीकृत और उन्नत है। तंतु अटेरन की बेसिन से भरण चक्र (feeder wheel) की परिधि पर से होकर गुजरते हैं और तकुए (spindle) के घर्षण से ऐंठन पाकर फिरकी (bobbin) पर लिपट जाते हैं। चंक्रम व्यवस्था के कारण फिरकी पर सूत आड़े तिरछे रूप में लिपटता है। चक्र को गति क्षेपणी (paddle) से मिलती है। इस मशीन पर एक आदमी अटेर सकता है।

मुगा कोयों को पहले ही किसी क्षारीय विलयन में लगभग एक घंटे तक इतना पकाते हैं कि खींचने पर तंतु सरलता से निकलने लगें। कोयों को एक एक कर उपचारित करते हैं। लोमक को हटाकर तंतुओं का वास्तविक सिरा ढूँढ़ लेते हैं। फिर बहुत से कोयों को अटेरन की बेसिन मे, जिसका पानी सामान्यतः गुनगुना होता है, स्थानांतरित करते हैं। मुगा अटेरने का काम मुगा पालनेवाले ही प्रायः करते हैं। भारत में बहुत से लोगों का व्यवसाय ही मुगा अटेरना है। देश में जितने कोयों का उत्पादन होता है वे सभी देश में ही रेशम में परिवर्तित कर लिए जाते हैं। मुगा कोयों का निर्यात नहीं होता। १९५९ ई० में मुगा कोयो का औसत वार्षिक उत्पादन ८६,४०० किलोग्राम था। मिल के बने कपड़ो की भरमार के बावजूद आज भी देहाती महिलाओं में झिलमिल सुनहरा मुगा रेशम लोकप्रिय है और बदन को काफी उष्णता प्रदान करता है। मुगा रेशम की स्थानीय माँग अत्यधिक है। अतः शायद ही इसका निर्यात होता है।

अन्य कोयों के विपरीत, टसर कोयों में संतत तंतुओं के तीन स्तर होते हैं। पहले दो स्तर इस दृष्टि से अनोखे होते हैं कि उनके बाहरी स्तर एक कड़े खोल में ठोस रूप से संयोजित होते है। भीतरी संतत तंतु चमकीला होता है। टसर कोये को अटेरना कठिन होता है, क्योंकि तंतु आसानी से सूत का रूप नहीं धारण करते। लगभग एक तिहाई, या लगभग ३०० गज तंतु ही अटेरा जा सकता है, बाकी तंतु काते हुए रेशम के रूप में काम आता है।

कोयों को बहुधा अनेक बार लगभग छह घंटे तक कच्चे सोडे

और राख के विलयन में उबालते हैं, फिर कोए को धोकर सुखाते हैं। कोए को दाहक सोडा और भाप में भी मिलाते हैं।

टसर में लोमक बहुत होता है। उसे इतना ढील दिया जाता है कि संतत तंतु निकल सके। हाथ से चलनेवाले सरल तर्कु पर, जिसे नटवा (Natwa) कहते हैं, अटेरने का काम होता है। अटेरनेवाला आठ घंटे में लगभग ८० कोए अटेर सकता है। अटेरा हुआ सूत ताने के रूप में काम आता है। लोमक को हाथ से चलाए जानेवाले तर्कु, तकली, या कातने की मशीन से काता जाता है।

अटेरने और कातने के उन्नत उपकरणों में निचिराम दास टसर अटेरन और उन्नत निहाल किस्म मॉडल प्रचारित किए जा रहे हैं। पहला दो तर्कुवाला, पैर से चलनेवाला यंत्र है। दूसरे की यंत्रावलि काफी सरल है। दास अटेरन द्वारा प्रति दिन ६० से ७० टसर कोया अटेरा जा सकता है। निहाल मॉडल से उत्पादन अधिक होता है और इसके द्वारा लगभग २५० कोया प्रति दिन अटेरा जा सकता है। इसमें चार तर्कु, ऊर्ध्वाधर चंक्रम और मरोड़ यंत्र कार्य करते हैं।

अटेरने के लिये अनुपयुक्त कोए, बाहरी लोमक और छिद्रित कोए, अपशिष्ट रेशम के रूप में, रेशम कातनेवाले मिलों में खप जाते हैं। लगभग दो लाख किलोग्राम टसर और १ लाख ३६ हजार किलोग्राम से अधिक टसर अपशिष्ट, जिसकी कीमत लगभग २ करोड़ रुपए कूती गई है, भारत में, प्रति वर्ष उत्पन्न होता है। निर्यात बाजार में, विशेषकर अमरीकी बाजार में टसर रेशों की बड़ी माँग है। [स० ना० चौ०]

रैक्व वायु को सृष्टि का आदिकारण माननेवाले (छांदो०, ४-३-१-२) एक तत्वज्ञानी ऋषि (मत्स्य० उ० १७६) जो गाड़ी के नीचे निवास करने के कारण रैक्व 'सयुग्वा' कहलाए। जानश्रुति राजा मृगया के समय दो हंसों के वार्तालाप में इनके पुण्य की प्रशंसा सुन, ढूंढ़ता हुआ आया और इन्हें बहुमूल्य दान देना चाहा परंतु उसे अस्वीकार कर इसने उल्टे उन्हें ही अपनी गाड़ी दान में दे दी। तदनंतर राजा ने अपनी कन्या तथा एक गाँव (स्कंद पु० ३-१-२६) इन्हें दान में देकर तत्वज्ञान का उपदेश ग्रहण किया।

रैतजेल, फ्रेडरिख (१८४४–१९०४ ई०) जर्मन भूगोलवेत्ता तथा मानव विज्ञानी (anthropologist) थे। रिटर की भाँति ही रैतजेल आधुनिक भूगोल विज्ञान के प्रमुख सिद्धांतकारों (theorists) तथा उन्नायकों में प्रमुख हैं। १८७६–१८८६ ई० के दशक में इन्होंने म्यूनिक (जर्मनी) में प्रोफेसर के रूप में कार्य किया, तदनंतर ये लाइप्सिग (जर्मनी) विश्वविद्यालय में चले गए। इनकी अभिरुचि मानव भूगोल की ओर थी और उसके ये जनक कहे जाते हैं। इनके द्वारा प्रतिपादित तत्संबंधी सिद्धांत आज भी मान्य हैं। इनके पहले यह सिद्धांत प्रचलित था कि सभी पिछड़ी हुई जातियाँ, या समाज समान विकासक्रम से गुजरते हैं। इसका इन्होंने जोरदार खंडन किया और प्रतिपादित किया कि विभिन्न समाजों के विकासक्रम में, एक ओर एकांतता (isolation) है तथा दूसरी ओर मानव के संतत आवागमन प्रवाह (migration waves) के फलस्वरूप होनेवाले रक्तमिश्रण का प्रचुर प्रभाव है। राज्य संबंधी सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने पड़ोसी राज्यों के सीमा संबंधी झगड़ों तथा एक दूसरे को हड़प लेने की प्रवृत्ति का कारण लेबेंसरम (Lebensraum or living space) की मूल प्रवृत्ति को बताया। ये रिक्थॉफेन के समकालीन थे और इन्होंने जर्मन भूगोल के उत्थान में अपना योग दिया। आपने कई प्रसिद्ध भौगोलिक पुस्तकें लिखी हैं। [का० ना० सिं०]

रैदास तथा रैदासी संत रैदास या रविदास के विषय में प्रसिद्ध है कि इनका जन्म सं० १४७१ की माघी पूर्णिमा को, रविवार के दिन, मड़ुवाडीह (काशी) के निकटवर्ती लहरतारा तालाब के पास हुआ था। कहा जाता है, इन्होंने दीर्घजीवी होकर सं० १५९७ में किसी समय शरीर त्याग किया था। परंतु इसके लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं है और ये प्रायः संत कबीर के समकालीन मान लिए जाते हैं। भक्त व्यास जी (सं० १५६७–१६६९) ने इनका नाम स्वामी रामानंद के प्रसिद्ध शिष्यों में लिया है।

ये अधिकतर काशी में ही रहे किंतु इन्होंने दूर दूर तक बड़ी ख्याति प्राप्त कर ली और बहुत से लोग इनके द्वारा प्रभावित होने लगे। प्रसिद्ध हिंदी कवयित्री मीराबाई की अनेक उपलब्ध पंक्तियों से प्रकट होता है कि इन्होंने उन्हें भी आध्यात्मिक प्रेरणा प्रदान की थी, यद्यपि इस बात के लिये अभी तक वैसे पुष्ट प्रमाण नहीं मिले हैं जिनके आधार पर इन दोनों का प्रत्यक्ष मिलन सिद्ध किया जा सके। संत रविदास के अधिक शिक्षित होने का हमें कुछ भी पता नहीं चलता, किंतु इनकी प्राप्त रचनाओं के आधार पर इनके बहुश्रुत होने तथा अपने आत्मचिंतन एवं साधना द्वारा एक उच्च कोटि की योग्यता प्राप्त कर लेने की बात भली भाँति प्रमाणित हो जाती है।

ये हृदय के सच्चे थे और इन्हें तर्क वितर्क द्वारा उपलब्ध ज्ञान की अपेक्षा सत्य की यथेष्ट अनुभूतियों में ही कहीं अधिक आस्था रही। इनके अनुसार जब तक 'परम बैराग' की उपलब्धि नहीं हो जाती तब तक 'भगति' के नाम पर की जानेवाली सभी साधनाएँ व्यर्थ हैं। जब तक नदी समुद्र में जाकर प्रविष्ट नहीं हो जाती तब तक उसमें बेचैनी रहा करती है और उसमें लीन होते ही उसकी 'पुकार' मिट जाया करती है। संत रविदास ने 'सत्य' वा 'राम' को अनिर्वचनीय माना है और उसे अक्षर एवं अविनश्वर भी कहा है। इन्होंने उस अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये अपने 'अहं' के पूर्ण परित्याग तथा पूरी एकांतनिष्ठा को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास के अनुसार इन्होंने सदाचार के उपदेश दिए जिन्हें नीरक्षीर विवेकवाले महापुरुषों तक ने अपनाया और भगवत्कृपा से अपनी जीवितावस्था में ही परम गति प्राप्त करके ये उच्च वर्णवालों द्वारा भी अभिनंदनीय बन गए। (छप्पय ५९)। संत रविदास की उपलब्ध बानियों का संग्रह प्रकाशित है और इनके एक 'प्रह्लादलीला' ग्रंथ का भी पता चलता है जिसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

इनके बहुसंख्यक अनुयायी उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, एवं

राजपूताने तक पाए जाते हैं। ब्रिग्स साहब ने किसी ऐसे रैदासी संप्रदाय के अनुयायियों का पंजाब के गुड़गाँव एवं रोहतक जिलों में भी अच्छी संख्या में वर्तमान रहना लिखा है तथा उनका यह भी कहना है कि गुजरात के अंतर्गत वे लोग 'रविदासी' कहे जाते हैं। इस संबंध में कहा जा सकता है कि काठियावाड़ में जूनागढ़ से तीन मील की दूरी पर, चौंवड़ स्टेशन के पास कोई 'रविदास कुंड' है जिसके आसपास रविदास के अनुयायियों की बस्ती का भी होना बतलाया जाता है तथा ऐसे ही किसी अन्य कुंड का कहीं राजपूताने में भी वर्तमान रहना प्रसिद्ध है। इसके सिवाय यह भी कहते हैं कि मद्रास प्रांतवाले 'तिरुपति' नामक तीर्थस्थान में बालाजी पर्वत के नीचे 'बैकुंठ कोल' कहे जानेवाले स्थान पर संत रविदास की कोई 'गद्दी' भी प्रतिष्ठित है तथा इनकी वहाँ पर एक समाधि भी पाई जाती है।

चमार जाति के बहुत से लोग ऐसे किसी संप्रदायविशेष के अनुयायी न होने पर भी अपने को 'रैदासी' कहते हैं। किंतु इन सभी को 'रैदासी' कह देना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। ऐसे बहुत से लोग अपने को संत रविदास की जगह कई अन्य संतों के नाम से प्रचलित मतों का भी अनुयायी बतलाया करते हैं। इनमें से अनेक ऐसे मिलते हैं जो नानकपंथी वा सिक्खधर्मावलंबी हुआ करते हैं, कुछ ऐसे होते हैं जो कबीरपंथी वा दादूपंथी कहे जा सकते हैं तथा इनमें से एक बहुत बड़ी संख्यावाले शिवनारायणी जैसे संप्रदायों के अनुयायी रूप में भी पाए जाते हैं। इनकी प्रायः अपनी धार्मिक मान्यताएँ रहा करती हैं, अपने पूज्य ग्रंथ होते हैं तथा इनके यहाँ अपनी परंपरा के अनुसार विविध कृत्य एवं पवित्र स्थानादि हुआ करते हैं। फिर भी, जहाँ तक इन सभी के साधारण सामाजिक जीवन अथवा वैसे विश्वासादि का प्रश्न है, इनमें से कोई भी एक वर्ग किसी अन्य से अधिक भिन्न नहीं जान पड़ता। इनके व्यवसाय या रहन सहन में भी प्रायः विशेष अंतर नहीं लक्षित होता।

सं० ग्रं० — 'रैदास जी की बानी' (प्रयाग); 'दि चमार्स' ले० जी० डब्लू० ब्रिग्स (कलकत्ता); 'भक्तमाल' (नाभादास)।

[प० च०]

रैनकुलेसी (Ranunculaceae), रनेलीज गण के आर्किक्लामिडिई (Archichlamydae) प्रभाग के द्विबीजपत्री पौधों का कुल है। इसमें ४० वंश और १,२०० स्पीशीज हैं। यह कुल मुख्यतः उत्तरी शीतोष्ण प्रदेशव्यापी है। अधिकांश पौधे शाकीय, संयुतास प्रकंदयुक्त होते हैं। पिओनिया, एकोनाइटम आदि में गाँठदार मूल होती है। पर्णाधार प्रायः विशेष चौड़ा होता है, जो थैलिक्ट्रम आदि में अनुपत्री अंगों में परिवर्तित हो जाता है। इस कुल के पौधों का पत्रदल विभिन्न प्रकार का होता है, जो रैननकुलस के जलीय स्पीशीज तथा आरोही क्लिमैटिस में विशेष कटा हुआ होता है। क्लीमैटिस आफिला (Clematis aphilla) में संपूर्ण पत्रदल तंतु रूप होता है। एकिया, थैलिक्ट्रम आदि में स्तंभवाहिनीमूल एकबीजपत्री पादपों के सान्निध्यसूचक है। मुख्य मूल प्रायः नष्ट हो जाता है पर स्तंभ से अस्थानिक मूल निकल आता है। प्रति वर्ष की शाखा का अंत प्रायः एक पुष्पक्रम में हो जाता है। एनिमोन, हरैलिस आदि में अंतस्थ पुष्प (*terminal flower*) उत्पन्न होता है। प्रायः इस पुष्प के नीचे पत्ती के कक्ष से ससीमाक्षी (cymose) शाखाक्रम तैयार हो जाता है, पर नाइजेला आदि में इसी रूप से असीमाक्षी (racemose) शाखाक्रम बनता है। पुष्पप्राक्पिक कुंतल कुछ लंबे पुष्पासयुक्त तथा परिदल प्रायः दलाभ होते हैं। रैननकुलस में बाह्यदल तथा दल पृथक् होते हैं। परिदल और पुमंग के बीच विभिन्न रूप के मकरंदकोश स्थित रहते हैं, जो दलों के परिवर्तित रूप माने जाते हैं। कुछ वंशों के अध्ययन से उनके बीच मकरंदकोश की स्थिति का एक क्रम प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ कैल्था में मकरंदस्राव आयांग द्वारा होता है। इसमें

बच्छनाभ

एकोनाइटम नेपेलस (×½)

'बाह्यदल' तथा पुमंग के मध्य कुछ नहीं होता। हिल्लीबोरस हरैलिस आदि में छोटे नलाकार दलों से यह स्राव होता है। नाइजेला में भी ऐसा ही होता है। परिदलों का सिरा पत्ती जैसा होता है। रैननकुलस आरिकोमस में दल स्पष्ट रंगीन और मकरंद कोशयुक्त होता है। ऐकोनाइटम तथा डेलफीनियम में एकयुग्मी पुष्प होता है, जिसके पुमंग प्रायः आठ एवं कुंतल, परागकोश बहिर्मुखी, आयांग आठ तथा पृथक् अंडप होता है। नाइजेला में युक्तांडप, ऐक्टिया में केवल एक अंडप और इस प्रकार बरबेरीडेसी से संबंधित। पुष्प पूर्व पुंपक्व, क्लिमैटिस में पराग पुष्प, रैननकुलस के पुष्प बहुयुग्मी, मधु अनावृत, नाइजेला में मधु छोटी गुहाओं में, ऐक्वीलेजिया में लंबे दलपुटों (spurs) में आदि। फल एकीन अथवा एक सेवनी का समूह, नाइजेला में संपुट (capsules), ऐक्टिया में भरी। इस कुल का एक स्थायी लक्षण इसके बीजों का आंतरिक विन्यास है। प्रत्येक बीज में एक छोटा भ्रूण प्रचुर तैलयुक्त भ्रूणपोष (endospers) में स्थित रहता है।

आँत्वाँ लॉरेन डी जेसू ने इस कुल के अनेक वंशों, जैसे एकोनाइटम, रैननकुलस, क्लिमैटिस आदि, के पुष्प अंगों में विभिन्नता देखते हुए भी उनकी संख्या, उनकी स्थिति तथा उनके विन्यास में एक सामंजस्य का अध्ययन किया था और उसी आधार पर उन्हें एक कुल में निर्धारित किया। तारतम्यसूचक गुण ये हैं : मुक्त अधोजायांग परिदल, अनेक पुमंग, उत्तर अंडाशय, प्रचुर भ्रूणपोषयुक्त बीज जिसमें एक सीधा छोटा भ्रूण स्थित रहता है, आदि। इस कुल के दो

मुख्य उपविभाग हैं : (१) अनेक बीजांडवाले फल, एक सेवनी, भरी या, संपुट इसमें पिमोनिया, कैल्था, नाइजेला, इरैंथस, ऐक्टिया, ऐक्विलेजिया, डेल्फीनियम, एकोनाइटम आदि वंश हैं, (२) एक बीजांडवाले फल इसमें एनीमोन, क्लिमैटिस, रैननकुलस तथा थैलिक्ट्रम वंश हैं। इस कुल के अधिकांश पौधे विषैले होते हैं। एकोनाइटम आदि ओषधीय पौधे हैं। [वि० का० शु०]

रैफेल, मेंग्स आंतोनी (Raphel, Mengs Anthony) जर्मन चित्रकार। जन्म १२ मार्च, १७२८ को बुहेमिया के आसिग नामक स्थान में हुआ। १७५४ में रोम के चित्रकला के वैटिकन स्कूल का संचालक बना। स्पेन के चार्ल्स तृतीय के निमंत्रण पर माड्रिड गया और वहाँ भोजगृह की छत की सज्जा की। इसके चित्र माड्रिड चित्रशाला में हैं। इंग्लैंड के ड्यूक नार्थबरलैंड के पास 'पवित्र परिवार' है तथा आक्सफर्ड में इसके कतिपय वेदिकाचित्र हैं। १७७७ में रोम गया और वहीं २९ जून, १७७९ को इसकी मृत्यु हो गई। कुल मिलाकर यह कैथोलिक प्रवृत्ति का चित्रकार था।

[गु० चि०]

रैबेले (Rabelais, Francois) का जन्म सन् १४९४ में हुआ, यद्यपि इसपर मतैक्य नहीं है। सन् १५२० में वह साधु हो गया तथा मानवतावादियों एवं बुद्धिवादियों के वर्ग में संमिलित हो गया। उसने ग्रीक, लैटिन तथा इटैलियन का अध्ययन किया और रीतिवादी शिक्षा की ओर गंभीरतापूर्वक उन्मुख हुआ। सन् १५३० में रैबेले ने चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करने के लिये साधुवेश का परित्याग किया। लियों (Lyons) शहर में वह एक सुख्यात चिकित्सक हो गया। दो वर्ष बाद उसने काल्पनिक नाम से 'पैंटाग्रुवेल रॉय दे डिप्सोदी (Pantagruel, roy des Dipsodes) की कहानियाँ प्रकाशित कीं। पैंटाग्रुवेल की आलोचना करनेवाले सारबॉन (Sarbonne) आलोचकों के प्रत्युत्तर में सन् १५३४ में उसने 'गारगेंटुआ प्रकाशित की। गारगेंटुआ पैंटाग्रुवेल का पिता था। सारबोन ने प्रकाशित होते ही गारगेंटुआ की भर्त्सना करनी प्रारंभ की। इसके अनंतर ११ वर्ष तक रैबेले मौन रहा। अपने संरक्षक जाँदु बोए, की सहायता से वह रोम जा सका और वहाँ उसने शाही महत्व प्राप्त किया। सन् १५४६ में उसने ताईं लीवे तथा सन् १५५२ में क्वार्ट लीवे प्रकाशित किया। सन् १५५३ में उसकी मृत्यु हुई। मृत्यु के पश्चात् उसके नाम से उसकी पाँचवीं पुस्तक प्रकाशित हुई परंतु रैबेले ही उसका लेखक था, यह कहना संदिग्ध है।

रैबेले विनोदप्रिय था। वह मनोरंजन करना चाहता था परंतु साथ ही उसने दर्शन की भी अभिव्यक्ति की। ग्रीक और लैटिन विद्वानों के प्रति उसका प्रेम और आदर अहैतुक है। उसने मूल ग्रंथों के अध्ययन पर जोर दिया, सारबॉन कृत टीकाओं पर नहीं। उसकी ज्ञानपिपासा कभी शांत नहीं हो पाती थी।

उसने पुराने कवियों को अधिक पसंद किया क्योंकि उनमें मध्यकालीन धर्मप्रचारकों की तार्किक रूक्षता की अपेक्षा सहज बुद्धिमत्ता के दर्शन होते हैं। ईसाई होते हुए भी रैबेले स्वर्ग की अपेक्षा पृथ्वी के प्रति अधिक ममत्व रखता था। [फ्रां० क०]

रैमसे, विलियम, सर (Ramsay William, Sir, सन् १८५२-१९१६), ब्रिटिश रसायनज्ञ, का जन्म ग्लासगो में हुआ था। इन्होंने अपने ही नगर में शिक्षा पाई। पर सन् १८७२ में टुबिंगेन (Tubingen) से डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की। इसी वर्ष ये ग्लासगो के ऐंडरसन कॉलेज में तथा सन् १८७४ में विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुए। सन् १८८० में आप युनिवर्सिटी कॉलेज, ब्रिस्टल में रसायन के प्रोफेसर तथा एक वर्ष पश्चात् प्रधानाचार्य हो गए। सन् १८८७ से १९१३ तक आप युनिवर्सिटी कॉलेज, लंदन में प्रोफेसर थे। सन् १८९५ में रॉयल सोसायटी ने आपको 'डेवी पदक' प्रदान कर सम्मानित किया तथा सन् १९०४ में आपने रसायन शास्त्र में अनुसंधान के लिये, विश्व का सर्वोच्च 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त किया।

सन् १८७२ से १८८२ के लगभग तक आप अकार्बनिक रसायन संबंधी अनुसंधानों में लगे रहे। लंदन आने के बाद आपकी विशेष रुचि भौतिक रसायन की ओर हुई। लॉर्ड रेलि ने सन् १८९२ में रसायनज्ञों का ध्यान वायु से तथा रासायनिक रीति से प्राप्त नाइट्रोजन के घनत्वों में अंतर पर आकर्षित किया। इसपर रैमसे ने वायु से ऑक्सीजन और नाइट्रोजन दोनों को संपूर्णत: अलग कर दिखाया कि एक अज्ञात गैस शेष रह जाती है, जिसका नाम आगे चलकर 'आर्गन' रखा गया। सन् १८९५ में क्लीवाइट (Cleivite) को अम्ल के साथ गरम करने पर एक अन्य गैस 'हीलियम' प्राप्त की, जिसका तब तक केवल सूर्य में अस्तित्व का पता था। आर्गन तथा 'हीलियम' अक्रिय गैसें हैं। आवर्तसारणी (periodic table) में इनकी स्थिति के अध्ययन से यह धारणा हुई कि कम से कम ऐसी तीन अन्य गैसें और होनी चाहिए। रैमसे ने इन तीनों, अर्थात् निऑन, क्रिप्टॉन तथा जीनॉन, की भी वायु में उपस्थिति का पता लगाया यद्यपि ये सभी गैसें वायु में अत्यल्प मात्रा में रहती हैं, जैसे जीनॉन का १७,००,००,००० भाग वायु में केवल १ अंश। रैमसे ने सिद्ध किया कि रेडियम के विघटन द्रव्यों में हीलियम रहता है। इससे तत्वांतरण सिद्धांत तथा महत्व के फलों की प्राप्ति हुई।

सन् १९१० में रैमसे ने एक अद्भुत प्रयोग द्वारा रेडियम विघटन से प्राप्त एक घन इंच के तीस लाखवें अंश द्रव्य का घनत्व तथा परमाणुभार ज्ञात किया और इस प्रकार अक्रिय गैसों में से अंतिम 'नाइटॉन' का पता लगा।

सर विलियम रैमसे की सलाह पर ही तत्कालीन भारत सरकार ने बैंगलूर (Bangalore) में 'इंडियन इंस्टिट्यूट ऑव सायंस' की स्थापना की थी। प्रथम विश्वयुद्ध के समय ब्रिटेन के शासन को आपसे वैज्ञानिक विषयों में महत्व की सहायता मिली थी।

[भ० दा० व०]

रैमी (Rammie) रीआ, या रिहा, या चीनी घास एक प्रकार का पौधा है जो अर्टीकेसी (Urticaceae) कुल के बोमेरिया जीनस (Boehmeria Genera) के बोमेरिया निवीया (Boehmeria nivea) के नाम से ज्ञात है। इसके पत्ते नीचे की ओर हिमवत् सफेद होते हैं। पहले यह बोमेरिया टिनेसिसिमा (tenacissima) कहा जाता था जो उष्ण देशों में उपजता था। इसके पत्ते

पत्ते और नीचे ऊपर दोनों ओर हरे होते थे। इन दोनों ही रूपों के लिये भारत में रीया (असम में रिहा) नाम प्रचलित है।

बोमेरिया निवीया झाड़ीदार वर्षानुवर्षी पौधा होता है जिसके पत्ते आकार में बिच्छूबूटी (Nettle) के पत्तों जैसे होते हैं। पत्तों के पृष्ठ पर मृदुरोम होते हैं, जो चाँदी जैसे चमकते हैं। इसके फूल छोटे एवं हरित भूरे रंग के होते हैं। यह चीन, फारमोसा, जापान और फिलीपीन में अनेक वर्षों से उगाया जा रहा है। अब तो संसार के प्रायः समस्त उष्ण देशों में यह उगाया जाता है। अमरीका में भी इसके उगाने की चेष्टाएँ हुई हैं। बीज से, या कलम से, या जड़ों के विभाजन से पौधा उगाया जाता है। यह तीन से आठ फुट तक ऊँचा होता है। प्रति वर्ष इसकी दो से लेकर चार फसलें तक उपजती हैं। सामान्यतः प्रति एकड़ चार टन के लगभग पैदावार होती है किंतु विशेष ध्यान देने पर इसे और अधिक बढ़ाया जा सकता है।

रैमी का रेशा — हरे पौधे में लगभग २.५ प्रति शत रेशा रहता है। पौधे के पक जाने पर डंठलों को काट लेते हैं और पत्तों तथा टहनियों को तोड़ देने के बाद फीते की भाँति रेशे की परतें निकालते हैं। इन फीतों में रेशे के अतिरिक्त छाल और चिपकनेवाला पदार्थ (गोंद) रहता है। चीन में पौधों को सुखाने के पहले ही छाल और गोंद जितना निकल सकता है, निकाल लेते हैं। रेशों के सूख जाने पर उसे चीनी घास कहते हैं।

यह रेशा अन्य वानस्पतिक रेशों की अपेक्षा अधिक मजबूत होता है और चमक में रेशम को भी मात करता है। इसकी चमक मर्सरीकृत सूत जैसी होती है अर्थात् कृत्रिम रेशम से कुछ घटकर। यह रेशा वायु से प्रभावित नहीं होता, इसपर रंग भी सरलता से चढ़ जाता है और जल से प्रायः अप्रभावित ही रहता है। इसके रेशे विभिन्न लंबाइयों के, कभी कभी १२ इंच तक के, होते हैं। ऐसे रेशों से अच्छा सूत बनाना कुछ कठिन होता है।

पौधों से रेशे निकालने के बाद उनका गोंद अलग किया जाता है। इसके लिये रेशों को उष्ण दाहक सोडा, या इसी प्रकार के किसी अन्य रासायनिक विलयन में डुबोकर कुछ समय के लिये छोड़ देते हैं। इससे गोंद निकल जाता है। फिर उसे भली भाँति धोकर क्षार, या रासायनिक पदार्थों को निकाल लेते हैं। पानी निकालने के लिये जलकर्षक (hydro extractor) का उपयोग करते हैं। पानी निकल जाने पर रेशे को सुखाते हैं, फिर बेलन में लपेटकर कोमल बनाते, सँवारते, पूनी बनाते, गीली कताई करते, धागे को दोहराते और ऐसे बने धागे को आँच दिखाकर अतिरिक्त रोमों को जला डालते हैं।

रैमी रेशा गैस मैंटल, कागज, रस्सियों, जालों, अंतर्वस्त्रों, किरमिच और इसी प्रकार के अन्य पदार्थों के निर्माण में प्रयुक्त होता है। यदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो, तो इसके अन्यान्य उपयोगों का भी विकास किया जा सकता है, पर रेशों की कमी के कारण इसकी उपयोगिता अभी सीमित ही है। [फू० स० व०]

रैवत पाँचवें मन्वंतर के मनु, एक राजा जो तामस (भाग०) अथवा प्रमुख (विष्णु) और रेवती का पुत्र था।

रो, सर टॉमस (जन्म, १५८० ई०; मृत्यु, १६४४) मेगडेलन कालेज, आक्सफोर्ड, में इसकी शिक्षा हुई। अल्पावस्था में पिता की मृत्यु पर इसकी माता ने सर राबर्ट बर्कले से पुनर्विवाह किया। टॉमस रो रानी एलिजाबेथ का 'एस्क्वायर' नियुक्त हुआ। सन् १६०५ ई० में वह 'सर' की उपाधि से विभूषित हुआ। राजकुमार हेनरी के प्रोत्साहन से उसने गियाना की साहसिक समुद्रयात्रा संपन्न की (१६१०-१६११)। टैमवर्थ (Tamworth) क्षेत्र से निर्वाचित होकर वह पार्लिमेंट का सदस्य बना (१६१४)। २ फरवरी, १६१५ को इंग्लैंड के राजदूत के रूप में पंद्रह अनुयायियों के साथ टॉमस रो ने भारत के लिये प्रस्थान किया।

भारत पहुँचने पर टॉमस रो को प्रारंभ में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अंततः, अपने आकर्षक व्यक्तित्व, कुशल व्यवहार, कुशाग्र बुद्धि, कूटनीति तथा दृढ़ आचरण द्वारा सम्राट् जहाँगीर को प्रभावित कर, उसने अँगरेज व्यवसाइयों के लिये सूरत में फैक्टरी की स्थापना तथा व्यापार के संरक्षण की राजाज्ञा प्राप्त कर ली (सितंबर, १६१८)। टॉमस रो के ही सतत प्रयत्नों द्वारा मुगल दरबार में पुर्तगालियों के प्राबल्य का अंत हुआ तथा अँगरेजों को राजकीय संमान एवं आश्वासन प्राप्त हुआ। भारत में रहकर ही टॉमस रो ने फारस तथा लालसागर में अँगरेजी व्यवसाय की योजना भी निर्धारित की। भारत तथा मुगल दरबार संबंधी वृत्तांत के रूप में उसने बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत की। १६१९ में इंग्लैंड लौट गया। १६२१ में तुर्की में राजदूत नियुक्त किया गया। वहाँ भी उसने सफलता प्राप्त की। अंग्रेजी व्यापार का सुदृढ़ीकरण किया; पुर्तगाली प्रभाव का निराकरण किया, तथा पोलैंड और तुर्की में संधिस्थापन में सहायता प्रदान की। वहीं उसे एक यूनानी धर्माध्यक्ष द्वारा कोडेक्स अलेक्जेंड्रिनस (Codex Alexandrinus) की अलभ्य प्रति भेंट हुई, जो आज भी ब्रिटिश म्यूज़ियम की अमूल्य निधि है। जून, १६२९ में वह पोलैंड तथा स्वेडन के नरेशों में सामंजस्य स्थापित कराने में सफल हुआ। १६३० में उसी की मध्यस्थता से डैंजिग तथा डेनमार्क में संधि हुई। १६३७ में वह 'चांसलर ऑव दि आर्डर ऑव द गार्टर' के पद पर विभूषित हुआ। तदनंतर उसने हैमबर्ग (Hamburg), रेटिसबोन (Ratisbon) तथा विएना में शांति कांग्रेस की बैठकों में इंग्लैंड का प्रतिनिधित्व किया। १६४० में टॉमस रो प्रिवी काउंसिल का सदस्य नियुक्त हुआ, तथा उसी वर्ष ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में उसने पार्लिमेंट में पुनः पदार्पण किया। १६४३ में राजा तथा पार्लिमेंट के संघर्ष तथा अपने गिरते स्वास्थ्य के कारण उसने राजनीति से अवकाश ग्रहण कर लिया। टॉमस रो अपने समय के सबसे सफल और योग्य कूटनीतिज्ञों में तो था ही, चरित्रबल, सदाशयता, कर्तव्यनिष्ठा, सज्जनता तथा विद्याप्रेम में भी वह श्रेष्ठ था।

सं० ग्रं० — द एंबेसी ऑव सर टॉमस रो टु इंडिया, एडिटेड बाई विलियम फोस्टर। [रा० ना०]

रो को को अठारहवीं शती के फ्रांस की आंतरिक गृहसज्जा की एक शैली। रो को को फ्रेंच भाषा के एक शब्द रोसेल्ले से बना है जिसका अर्थ होता है चट्टान शैली (राक वर्क)। इसका आरंभ सन् १७१५

में हुई चौदहवें की मृत्यु के पश्चात् हुई। सन् १७१० तक यह अत्यंत प्रचलित हो गई थी। [रा० चं० शु०]

रोगनिरोधन (Prophylaxis) का आशय है रोग से बचने के लिये उपाय करना। रोगनिरोधी उपाय संक्रामक रोगों के प्रति सबसे अधिक सफल सिद्ध हुए हैं। संक्रामक रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को होते हैं और सूक्ष्म जीवों से उत्पन्न होते हैं। रोगनिरोधन की दो प्रमुख विधियाँ हैं : (१) प्रतिरक्षा रोगनिरोधन (immuno prophylaxis) और (२) रसायन रोगनिरोधन (chemo prophylaxis) ।

(१) **प्रतिरक्षा रोगनिरोधन** — यदि हम किसी व्यक्ति के रुधिर में संदिग्ध रोगजनक के प्रतिरक्षियों (antibodies) की मात्रा किसी प्रकार बढ़ा दें, तो व्यक्ति की रोग-प्रतिरोध-क्षमता बढ़ जाती है। संभाव्य व्यक्तियों के शरीर में प्रतिरक्षियों का अनुमापनांक (titre) बढ़ाने की दो विधियाँ हैं :

(अ) सक्रिय प्रतिरक्षण — तंत्र में संबद्ध रोगजनक जीवाणु के उपयुक्त प्रतिजन (antigen) इस प्रकार प्रविष्ट कर दिए जाते हैं कि रोग तो न उत्पन्न हो किंतु आवश्यक प्रतिरक्षी बन जाएँ। ऐसा टीका लगाकर किया जाता है (देखें टीका)। कुछ जीवाणु, जैसे डिफ्थीरिया (diphtheria), धनुस्तंभ आदि के जीवाणु, अपने शरीर से जीवविष (exotoxin) निकालते हैं, जो शरीर पर दुष्प्रभाव उत्पन्न करते हैं। ऐसे रोगों में सुधारे हुए जीवविष (toxin) की, जिसे जीवविषाभ (toxoid) कहते हैं, सूई दी जाती है। इनका प्रभाव हानिकारक नहीं होता पर इनमें प्रतिरक्षी उत्पन्न करने की क्षमता होती है। ये जीवविष के प्रभाव का निराकरण कर देते हैं।

सक्रिय प्रतिरक्षण का दोष यह है कि प्रतिरक्षा के प्रेरण में अधिक समय लगता है और कभी कभी एक एक महीने के अंतर पर कई बार सुई लगानी पड़ती है। परंतु इसमें लाभ यह है कि यह प्रतिरक्षा दीर्घकालिक होती है। चेचक, डिफ्थीरिया, धनुस्तंभ, कुक्कुर-खाँसी (whooping cough) और पोलियो (Poliomyelitis) आदि से बचाने के लिये शिशुओं को इस विधि से प्रतिरक्षित किया जाता है। इसके अभाव में वे किसी न किसी संक्रमण के शिकार हो सकते हैं। इसी प्रकार सैनिकों को धनुस्तंभ, और गैस गैंग्रीन (gas gangrene) से, जिनसे वे युद्धक्षेत्र में अरक्षित रहते हैं, प्रतिरक्षित किया जाता है। जब भी कभी हैजा, या प्लेग जैसी महामारी फैलती है, तब जनसाधारण को प्रतिरक्षित कर दिया जाता है।

(ब) निष्क्रिय प्रतिरक्षण — जब तात्कालिक प्रतिरक्षण अपेक्षित हो, जैसे रोग के प्रभाव में आ चुके व्यक्तियों के तंत्र में, तब बने बनाए प्रतिरक्षी प्रविष्ट कराए जाते हैं। ये विभिन्न स्रोतों से प्राप्त किए जाते हैं :

(क) विशिष्ट चिकित्सीय सीरम (Specific Therapeutic Serum) — विशिष्ट रोग के प्रति सक्रिय रूप से प्रतिरक्षित घोड़े से यह सीरम प्राय: प्राप्त किया जता है, यद्यपि अन्य पशुओं के सीरम भी काम में लाए जा सकते हैं। ऐसे सीरम से लाभ यह है कि उसमें प्रतिरक्षी अंश अधिक होता है। ऐसा सीरम किसी भी आवश्यक मात्रा में प्राप्त हो सकता है। इस सीरम में दोष यह है कि इसका प्रोटीन मानव शरीर के प्रोटीन से भिन्न होता है। अत: इन प्रोटीनों के प्रति ऐलर्जिक (allergic) मनुष्यों में सीरम प्रतिक्रियाएँ देता है। ऐसे सीरम के महत्वपूर्ण उदाहरण ऐंटीडिफ्थीरिया सीरम, ऐंटी टिटनस सीरम, ऐंटीगैसगैंग्रीन सीरम हैं।

(ख) अति प्रतिरक्षित सीरम (Hyperimmune serum)— इसमें और उपर्युक्त चिकित्सीय सीरम में अंतर यह है कि इसे मनुष्यों से प्राप्त किया जाता है, न कि अन्य पशुओं से। यह ऐसे मनुष्यों के रुधिर से बनाया जाता है जिनमें बार बार उपयुक्त प्रतिजन की सुई लगाकर असाधारण प्रतिरोध उत्पन्न किया गया है।

(ग) उपशमी सीरम (Convalescent serum) — यह सद्य: रोगमुक्त मनुष्य से प्राप्त किया जाता है। किसी विशिष्ट संक्रमण से मुक्त होने पर व्यक्ति में जो प्रतिरक्षी उत्पन्न होता है उसी के कारण उसमें प्रभावोत्पादक गुण होता है। पर्याप्त मात्रा में प्राप्त न होने के कारण इसकी उपयोगिता बहुत सीमित है।

(घ) गामा ग्लोब्यूलिन (Gamma Globulin) — मानवी सीरम में पाए जानेवाले अधिकतर प्रतिरक्षी गामा ग्लोब्यूलिन अंश में सीमित होते हैं। जिन बच्चों में मसूरिका (measles) के संक्रमण की आशंका होती है उन्हें गामा ग्लोब्यूलिन की सुई द्वारा, प्रतिरक्षण प्रदान किया जा सकता है। पोलियो महामारी में रोगनिरोधी उपाय के रूप में भी गामा ग्लोब्यूलिन का उत्साहवर्धक योग पाया गया है। ग्लोब्यूलिन का प्रधान स्रोत, रेडक्रॉस रक्तदान कार्यक्रम के अंतर्गत व्यक्तियों द्वारा प्रदत्त रुधिर है। व्यापार का ग्लोब्यूलिन प्लेसेंटा (placenta) से प्राप्त होता है।

२. **रसायन रोगनिरोधन** — जब मनुष्य किसी संचारी रोग के क्षेत्र में कुछ समय रह चुका होता है, तब वह रोगनिरोधन के लिये कुछ प्रतिजैविकी (antibiotics) और रसायन चिकित्सीय ओषधियों का प्रयोग कभी कभी करता है। विशेष रूप से प्रतिजैविकी आमवातिक ज्वर (Rheumatic fever), मेनिंगोकोकल तानिकाशोथ (Meningococcal meningitis), मलेरिया और कुछ योनिरोगों, जैसे सुजाक (Gonorrhoea) तथा सिफ़लिस (Syphilis) में लाभप्रद होता है।

इन सबके बावजूद समुचित व्यक्तिगत और पर्यावरण की स्वच्छता के साथ पृथक्करण और संगरोधन (quarantine) ही सर्वोत्तम रोगनिरोधक उपाय हैं और ये किसी भी जनस्वास्थ्य कार्यक्रम के अनिवार्य तत्व हैं। [बी० दु०]

रोगभ्रम (Hypochondriasis) शरीर के किसी अंग में रोग की कल्पना, या अपने स्वास्थ्य के संबंध में निरंतर दुश्चिंता, अटूट व्यग्रता और अतिचिंता की स्थिति को कहते हैं। अतिचिंता का केंद्र शरीर के एक अंग से दूसरे अंग में स्थानांतरित हो सकता है, जैसे कभी आमाशय के रोग की अनुभूति और अगले सप्ताह गुर्दे की बीमारी का भ्रम और फिर कभी फेफड़ों में शिकायत जान पड़ना। इसमें शरीर का कोई अंग निरापद नहीं रहता और इसके लक्षण अनेक आग्रही, या परिवर्तनशील हो सकते हैं। यह व्यक्ति को स्वप्नरोगी बना देता है और इस प्रकार की व्यग्रता से व्यक्ति की हानि हो सकती है। रोगभ्रम के लक्षणों में निम्नलिखित संमिलित हैं :

(१) क्रिया संबंधी अतिचिंता, अर्थात्, आत्मनिष्ठ रूप से हृत्स्पंद और आँत की हलचल जैसे शरीर के संवेदनों पर असाधारण ध्यान, बना रहता है।

(२) जीवनयापन में व्यतिक्रम से जीवनयापन की दक्षता कुप्रभावित होती है। जीवन का आनंद किरकिरा हो जाता है।

(३) रोगभ्रम किसी अन्य मानसिक रोग, जैसे मनस्ताप (Psychoneurosis), या मनोविक्षिप्ति (Psychosis) का ही एक भाग हो सकता है।

(४) व्यक्ति की कामवासना (libido) बाह्यजगत् से तिरोहित होकर, आंतरिक लक्षणों में लग जाती है। व्यक्ति बहुधा विलग विलग रहता है।

रोगभ्रम के मूल में प्राय: माता पिता की वह प्रवृत्ति पाई गई है जिसमें बच्चे की अतिसुरक्षा, या अतिचिंता की जाती है। इसके बाद वयस्क जीवन में बड़ी शल्यचिकित्सा होने पर, लंबी बीमारी, तनाव या शारीरिक चोट, निद्रावियोग, दु:खद घटना, मृत्यु या परिवार के किसी सदस्य की बीमारी आदि से रोगभ्रम का स्वरण हो सकता है। ढलती उम्र, बेंज़ेड्राइन तथा बारबिट्यूरेट (नींद लानेवाली दवा) जैसी दवाओं का सेवन भी रोगभ्रम को बल देता है।

रोगभ्रम चिकित्सा की एक महत्वपूर्ण और कठिन समस्या है। इसके रोगी अपनी जाँच और परीक्षण कराते रहना चाहते हैं। इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए। [नि० नं० गु०]

रोग हेतुविज्ञान चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में नाना प्रकार के रोगों के विभिन्न कारणों का वैज्ञानिक विवेचन हेतुकी अथवा हेतुविज्ञान (Etiology) कहा जाता है। मनुष्य को अपनी रक्षा, वृद्धि तथा विकास के लिये विरोधी परिस्थिति से निरंतर संघर्ष करना पड़ता है। प्रतिकूल परिस्थिति को अनुकूल बनाने की चेष्टा में यदि मनुष्य देह विफल होने लगती है, तो वह स्वयं अपने अंग प्रत्यंगों की रक्षा हेतु उनकी रचना तथा क्रिया में आवश्यक हेर फेर कर विरोधी परिस्थिति से यथासंभव सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करती है, किंतु जब परिस्थिति की विकटता देह की सहन अथवा समंजन शक्ति से अधिक प्रबल, या वेगवती हो जाती है तो प्रस्थापित सामंजस्य में उलट फेर हो जाता है, जिसके फलस्वरूप विरोधी परिस्थिति का दुष्प्रभाव देह के ऊतकों को विकृत कर पीड़ाकारी लक्षणों से युक्त रोग विशेष को प्रकट करता है।

मनुष्य का जीवन सभी प्रकार की अनुकूल, प्रतिकूल और परिवर्तनशील परिस्थितियों का सामना करने के कारण अत्यंत जटिल हो गया है। इसलिये रोगों के विभिन्न कारणों को वैज्ञानिक रीति से छानबीन कर किसी रोगविशेष का प्रधान कारण तथा उसके सहायक गौण कारणों का पता लगाना एक गोरखधंधा है। रोग हेतुविज्ञान की दृष्टि से प्राय: सभी वंशागत अर्जित रोगों का स्थूल वर्गीकरण इस प्रकार संभव है :

(१) विकास तथा वृद्धि में त्रुटि; (२) भौतिक और रासायनिक द्रव्यों का आघात तथा प्रहार; (३) पोषण में त्रुटि; (४) रोगकारी सूक्ष्म जीवों का संक्रमण; (५) अर्बुद (tumor) तथा नव-उद्भेदन (newgrowth)।

रोग के कारण भी कई प्रकार के होते हैं। पूर्वप्रवर्तक (predisposing) अथवा पूर्ववर्ती (antecedent) कारण स्वयं रोगजनक न होते हुए भी मनुष्य की देह की रोगप्रतिरोधक शक्ति को कम कर उसे संवेदनशील (sensitive), या ग्रहणशील (susceptible), बना देते हैं। तात्कालिक अथवा उत्तेजक कारण रोग के प्रकोप को सहसा भड़का देते हैं। परजीवी सूक्ष्म जीवाणु शरीर में प्रवेश कर बढ़ते हैं और विशेष प्रकार का जीवविष (toxin) उत्पन्न कर स्वयं आक्रामक होकर रोग के कर्ता होते हैं। सभी प्रकार के कारणों की श्रृंखला का तथा उनके परस्पर संबंध और अपेक्षाकृत बलाबल के अध्ययन द्वारा वातावरण की रोग-सहायक प्रवृत्तियों को वश में कर अनेक रोगों का सफल नियंत्रण या उन्मूलन संभव हो सका है। अब केवल रोग का ही अध्ययन नहीं किया जाता, अपितु समग्र वातावरण से संयुक्त मनुष्य का मन शारीरिक (psychosomatic) अध्ययन करने की ओर प्रवृत्ति है। इस कारण समाजमूलक चिकित्साविज्ञान (social medicine) के सिद्धांतानुसार रोग की कारणमाला की विभिन्न लड़ियों का ज्ञान मनुष्य के शरीर, मन तथा समाजगत दोषों के अध्ययन से प्राप्त होता है और उनके दूर करने के प्रयास से ही रोग के निरोधन में सहायता मिलती है।

रोग (disease) और मांद्य (illness) में भेद है। दोनों ही अस्वास्थ्यकर हैं। मांद्य की दशा में देह की स्वाभाविक क्रियाओं में ऐसी बाधा पड़ जाती है जिससे मनुष्य अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ सा हो जाता है। यह देह का क्रियागत दोष है। परंतु रोगावस्था में शरीर की अव्यवस्थित क्रिया के दुष्प्रभावों, अथवा घातक पदार्थों और दुर्घटनाओं, के कारण देह में असाधारण रूप से कायिक रोग (organic disease) हो जाता है। इस कारण रोग और मांद्य में केवल आंशिक संबंध है। रोग से मांद्य होना आवश्यक नहीं और मांद्य बिना रोग के भी संभव है। शरीर क्रियाविज्ञान, रसायन-विज्ञान तथा प्राणि-विज्ञान मांद्य के समस्त जटिल कारणों को प्रकट करने में असमर्थ हैं। यह अब स्पष्ट हो गया है कि केवल क्रियागत दोषों से उत्पन्न मांद्य ही नहीं, अपितु देह के अनेक कायिक रोगों का मूल सामाजिक, पारिवारिक अथवा औद्योगिक दुस्सामंजस्य, आर्थिक अरक्षिता, या आहार संबंधी हीनता द्वारा सिंचित होता रहता है। इसी कारण मनुष्य के स्वास्थ्य, सुख सुविधा और दक्षता के लिये क्रियागत दोष, कायिक रोग, मानसिक अस्थिरता और सामाजिक अव्यवस्था का विज्ञानमूलक अनुभवसिद्ध उपचार होना चाहिए। सभी प्राणियों की सभी प्रकार की पूर्ण देखभाल से ही रोग के गुंफित कारणों को दूर किया जा सकता है। अधूरे अथवा एकांग उपाय व्यर्थ ही हैं।

सौ सवा सौ वर्ष पूर्व संसार में जीवाणुजन्य संक्रामक रोगों का प्राधान्य इतना अधिक था कि अन्य कायिक अथवा क्रियागत रोगों की ओर वास्तविक ध्यान आकृष्ट नहीं हो सका। विकसित और समृद्ध देशों में संक्रामक रोगों का सफल नियंत्रण हो जाने पर, अन्य रोगों की

रोकथाम का प्रयास संतोषपूर्ण ढंग से हो रहा है और अब वृद्धावस्था के रोगों की समस्या पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। जीवन की विषम जटिलता के कारण मानसिक रोगों, औद्योगीकरण के कारण व्यावसायिक रोगों और मशीनों द्वारा दुर्घटनाओं की संख्या अपेक्षाकृत बढ़ रही है, जिनपर ध्यान देना आवश्यक हो गया है। भारत में संक्रामक रोगों की कमी अवश्य हुई है, किंतु उनका पूरा नियंत्रण नहीं हो पाया है। यहाँ कीट, वायु, जल तथा भोजन द्वारा प्रसारित संक्रामक रोगों की प्रधानता के साथ कुपोषणजनित विकार और बालरोगों का बाहुल्य है।

सं० ग्रं० — भोर कमेटी रिपोर्ट; कंट्रोल ऑव कम्यूनिकेबिल डिसीज़ेज इन मैन (अमरीकन पब्लिक हेल्थ ऐसोसिएशन)

[भ० सं० शा०]

रोजर्स, लेओनार्ड, सर (Rogers, Leonard, Sir, सन् १८६८-१९६२) का जन्म इंग्लैंड के प्लिमथ (Plymouth) नगर में हुआ था। इनके पिता नौसेना में कप्तान थे।

सन् १८८६ में मैट्रिकुलेशन परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात्, आपने चिकित्साशास्त्र का अध्ययन प्रारंभ किया, जिसमें आपका ध्यान आंत्र रोगों पर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। आगे चलकर ये ही आपके अनुसंधान के विषय हुए। एम० आर० सी० पी०, एल० आर० सी० पी० तथा एफ० आर० सी० एस० की उपाधियाँ प्राप्त करने के बाद सन् १८९३ में आप इंडियन मेडिकल सर्विस में नियुक्त हुए। राँची में आपने ज्वरों पर अनुसंधान प्रारंभ किया। यह कार्य बारह वर्ष तक चलता रहा। सन् १८९५ में आपने मैलेरिया तथा रक्त के जमाव पर लेख प्रकाशित किए तथा सन् १८९६-९७ में असम में कालाजार संबंधी अन्वेषण किए।

सन् १९०४ से सन् १९२० तक आप कलकत्ता विश्वविद्यालय में रोगविज्ञान के प्रोफेसर रहे। इस काल में इन्होंने प्रवाहिका से संबंधित खोजें कीं तथा सन् १९१२ में एमेटिन (emetine) के रोगहर गुण का पता लगाया। आपकी चेष्टाओं से उष्ण-कटिबंधीय रोगों के लिये एक अस्पताल की स्थापना हुई। साँपों के विष, उष्णकटिबंधीय रोगों का महामारीविज्ञान तथा कुष्ठ और क्षय रोग की चिकित्सा आपके अन्वेषणों के अन्य विषय थे।

'हैजा और उसकी चिकित्सा', 'उष्णकटिबंध के आंत्र रोग', 'उष्णकटिबंध के ज्वर', तथा 'उष्णकटिबंधीय चिकित्सा में प्रगति' अंग्रेजी में आपकी लिखी पुस्तकें हैं। रॉयल कॉलेज ऑव फिज़ीशियंस तथा लंदन मेडिकल सोसायटी ने स्वर्णपदक प्रदान कर आपको संमानित किया तथा भारत की ब्रिटिश सरकार ने आप को सी० आई० ई० और के० सी० आई० ई० की उपाधियाँ प्रदान कीं। सन् १९१९ में आप इंडियन सायंस कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। इंडिया ऑफिस के मेडिकल बोर्ड के आप सदस्य और बाद में अध्यक्ष तथा रॉयल सोसायटी ऑव ट्रॉपिकल मेडिसिन के भी अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे।

[भ० दा० व०]

रोज़ा साल्वातोर (Rosa Salvator, १६१५-१६७३) इटालियन चित्रकार, नेपिल्स के समीप अरनेला में जन्म हुआ। उनके पिता उसे वास्तुशिल्पी बनाना चाहते थे लेकिन उसने अपने श्वसुर फीको फ्रेंसो के पास और बाद में रिबेरा के शिष्य फ्रांसिस्को फ्रैकंजरो के साथ चित्रकला की शिक्षा ली। रिबेरा से भी उसने कलाज्ञान पाया। सन् १६३५ में ला फ्रैंको की प्रेरणा से वह रोम गया। लेकिन शीघ्र ही नेपिल्स तथा फाल्कोन में लौटकर उसने युद्धविषय पर चित्र बनाना शुरू कर दिया। अत्र निसर्गाकृति भी उसने चित्रित की है जिसमें ग्रामीण, समुद्री और सैनिकों का भी अंकन है। अभिनय, संगीत और कविता पर उसका समान अधिकार था। कार्डिनल ब्रांकासिओ के कहने पर वह फिर रोम में रहने लगा।

कार्डिनल जिआंकार्लो डी मेदिसी ने उसे फ्लारेंस बुलाया लेकिन वह टस्कन में ही आकर निसर्गचित्रण की अपनी नई शैली में ९ साल तक रमा रहा। उसका कोई शिष्य न था लेकिन उसके चित्रों की नकल काफी कलाकारों ने की। लोवेरी तथा पिटी गेलरी में उसके सबसे अंत में बनाए गए चित्र विद्यमान हैं।

[भा० स०]

रोज़िन और रेजिन एक पदार्थ नहीं हैं। ये दोनों भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। पेड़ों से एक स्राव ओलियो रेजिन प्राप्त होता है। इसमें रोज़िन के साथ साथ तारपीन का तेल रहता है। इसके आसवन से तारपीन का तेल आसुत हो निकल जाता है और आसवनपात्र में जो अवशिष्ट अंश रह जाता है, वही रोज़िन है। रोज़िन बड़े महत्व की व्यापारिक वस्तु है। कई प्रकार के रोज़िन बाजारों में बिकते हैं। उनके रंग स्वच्छता, साबुनीकरण मान और मृदुभवन बिंदु एक से नहीं होते।

तारपीन तेल के निर्माण में उपोत्पाद के रूप में रोज़िन प्राप्त होता है। इसका सर्वाधिक उपयोग (लगभग २८ प्रति शत) कागज के निर्माण में सज्जीकरण के लिये होता है। इसके बाद इसका उपयोग साबुन बनाने (१७ प्रति शत), पेंट, वार्निश और प्रलाक्षारस (१७.२ प्रति शत) बनाने, रसायनक और भेषज (९.० प्रति शत) १६ प्रति शत संश्लिष्ट रेजिन तैयार करने और १३ प्रति शत अन्य कामों में होता है। कोबल्ट और मैंगनीज के साथ इसका शोषक (drier) बनता है, जिसका उपयोग पेंट में होता है। कृमि और सूक्ष्माणु विनाशक ओषधियों में और चिपकने के गुण के कारण सीमेंट, लिनोलियम और मोहर लगाने के चपड़े में रोज़िन काम आता है। इसके एस्टर बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। मेथिल और एथिल एस्टर सुघट्यकारी रूप में और सहविलायक में काम आते हैं। इसका ग्लिसरील एस्टर 'एस्टर गोंद' के नाम से विख्यात है और जलप्रतिरोधक वार्निश बनाने में तुंग तेल के साथ प्रयुक्त होता है। संश्लिष्ट रेजिन और नाइट्रोसेलुलोज के लेप चढ़ाने में भी एस्टर गोंद काम आता है।

रोज़िन तेल — रोज़िन के भंजक आसवन से रोज़िन तेल प्राप्त होता है। इसका क्वथनांक ऊँचा और अणुभार भारी होता है। मुद्रण स्याही और वार्निश में यह बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। रोज़िन तेल से मिलता जुलता चीड़ का तेल होता है। इसमें टरपिन ऐल्कोहॉल, टरपिन ऐल्डीहाइड और कीटोन रहते हैं। चीड़ का तेल काठ में नहीं रहता, वरन् काठ के भंजक आसवन से बनता है। इसके प्रभाजक आसवन से ऐल्फा टरपिनियोल, फेंचील ऐल्कोहॉल, बोर्नियोल और

ऐनिसोल प्राप्त हुए हैं। अनेक उद्योगधंधों में इसका उपयोग होता है, जैसे उत्स्रावण विधि से अवस्कों के परिष्कार में, विलायक के रूप में रबर व्यवसाय में, अभिमार्जन (scouring) द्वारा वस्त्र की सफाई करने में और निस्संक्रामक तथा गन्धहर औषधियों के निर्माण में।

[फू० स० व०]

रोज़ेसी (Rosaceae) आर्किक्लामिडिई (Archichlamydeae) प्रभाग के रोज़ेलीज गण का बड़ा कुल है। इस कुल में १०० वंश और २,००० स्पीशीज हैं। इस विश्वव्यापी कुल के पौधे द्विबीजपत्री होते हैं। शाक, क्षुप एवं वृक्ष सभी इस कुल के सदस्य हैं। बहुवर्षी उपरिभूस्तरी का उदाहरण स्ट्रॉबेरी, काँटेदार क्षुप का उदाहरण गुलाब तथा वृक्ष का उदाहरण सेब, नाशपाती तथा चेरी हैं। कायिक प्रवर्धन, चेरी में मूल से निकलेप्ररोह से, स्ट्रॉबेरी में उपरिभूस्तरी (runner) द्वारा, जो शीर्ष पर जड़ बना जाती है, और रैस्पबेरी में अतःभूस्तरी (suckers) द्वारा होता है। उपगण प्रूनॉइडी में पत्तियाँ साधारण होती हैं। जीनस पाइरस में पत्तियाँ अनुपर्णी (stipulate) होती हैं और अनुपर्ण कभी छोटे और कभी बड़े होते हैं। वृक्षों की आंतरिक संरचना मूलभूतरूपेण एकसदृश होती है। उपगण रोज़ॉइडी आदि में मज्जारश्मि (medullary rays) चौड़ी तथा पोमॉइडी में सकरी होती है। प्रूनॉइडी में काष्ठ विघटन से श्लेष्मक (mucilage) निर्मित होता है।

पुष्प अग्रस्थ, अथवा असीमाक्षी (racemose) या ससीमाक्षी (cymose) होता है। पुष्पाक्ष प्राय: गर्ती (hollow) होता है, जिससे विभिन्न श्रेणी की परिजायांगीय (perigynous) अवस्था निर्मित हो जाती है। पुष्पाक्ष प्राय: पुष्प का ही एक अंग होता है। पुष्प प्राय: द्विलिंगी, बहुयुग्मी होते हैं। पाँच हरे वाह्यदल होते हैं। एपिकैलिक्स (epicalyx) भी, जो प्राय: छोटा होता है, उपस्थित रहता है। प्राय: पाँच रंगीन दल होते हैं। नीले दल केवल क्राइसोबेलनाइडी में रहते हैं। एलचीमेला, पोटीरियम आदि में दल अनुपस्थित रहते हैं। पुमंग तथा दल के मध्य में प्राय: परागकोश स्थित रहता है। २, ३, ४ या अधिक पुंकेसर अंतर्मुख होते हैं। जायांग प्राय: पृथक् अंडप (१–∞) तथा बीजांड अधोमुख होता है। प्रत्येक अंडाशय में दो वार्तिक या आधारीय पार्श्व होते हैं। इस कुल के फल सरस होते हैं। पोटेंटिला में एकीन का पुंजफल, रूबस में गुठलीदार पुंजफल, प्रूनस में केवल एक गुठलीदार फल तथा पाइरस में पोम (pome) होता है। रोज़ेसी-कुल के निम्नलिखित उपकुल हैं :

१. **स्पाइरिऑइडी** (Spiraeoideae) — यह उपकुल सैक्सीफ्रैगेसी के समान है। इसका पुष्पाक्ष चपटा अथवा अवतल (concave) होता है। इसके अनेक पौधे बगीचों में लगाए जाते हैं। क्विलेजा सैपोनेरिया की छाल से सैपोनिन निकाला जाता है। निकलिया का जायांग युक्तांडप तथा फल स्फोटी होता है।

२. **पोमॉइडी** — इसका पुष्प धर (receptacle) गहरे कटोरे के रूप का होता है। पुष्पधर की आंतरिक दीवारों से दो से पाँच तक अंडप (carpel) जुड़े रहते हैं। ये अंडप आपस में भी जुड़े रहते हैं। फल का मुख्य भाग सरस पुष्पधर होता है। इसके मुख्य जीनस हैं : पाइरस, पा० मैलस (सेब), [पा० कम्यूनिस (नाशपाती) आदि], मेसपाइलस, क्रैटेगस, कोटोनिएस्टर तथा इरियोबाट्रिया, जपोनिका (लुकाट) इत्यादि।

३. **रोज़ॉइडी** — इसमें अनेक अंडप होते हैं, जो पुष्पधर में रहते हैं। यह उपकुल रोज़ेसी के सब उपकुलों से बड़ा है। अलमेरिया, रूबस फ्रुटिकोकस (ब्लैकबेरी), फ्रैगेरिया, पोटेंटिला, ड्रियास (वर्तिकायुक्त), रोज़ (अनेक स्पीशीज सहित), एल्केमिला (एकलिंगी) तथा ऐग्रिमोनिया (अनेक काँटोयुक्त फल) इसके उदाहरण हैं।

४. **न्यूरैडॉइडी** — इसमें केवल दो जेनरा हैं, जो मरुस्थली हैं। न्यूरैडा तथा ग्रीलम प्राय: अफ्रीका में होते हैं।

५. **प्रूनॉइडी** — इसमें प्राय: अंतस्थ वर्तिकायुक्त एक अंडप होता है। फल गुठलीदार एवं एक बीजवाला होता है। प्रूनस के क्षुप, अथवा वृक्षरूप न्यूटेलिया में पाँच अंडप होते हैं। प्रूनस जीनस अनेक उपजेनरा में विभक्त है। इनमें विभेद का आधार कलिका अवस्था में पत्तियों का विन्यास है। इसका एक उपजीनस एमिगडिलस, अथवा प्रूनस एमिगडिलस (बादाम), है। प्रू० परसिका (आड़ू), प्रू० अरमेनियाका (जरदालू), प्रू० केरैसिफेरा आदि प्रूनस के स्पीशीज है। इस उपकुल में पाँच जेनरा हैं।

६. **क्रिसोबेलनॉइडी** — गुठलीदार फल और एक अंडप रखने के कारण यह उपगण प्रूनाइडी के सदृश है, पर अधारीय वर्तिका, आरोही बीजांड तथा एक व्यास सममित (zygomorphic) फूल के कारण प्रूनॉइडी से भिन्न है। इसके पुष्प का परागण लंबी शुंड वाले कीट से होता है। एक व्यास सममित फूल के कारण यह उपकुल लेग्यूमिनोसी के सदृश है।

आर्थिक दृष्टि से यह कुल विभिन्न फलों तथा पुष्पों के कारण उपयोगी है। [वि० भा० गु०]

रोटी गूँधे हुए आटे की लोई को हथेली, या चकले बेलन से गोल फैलाकर पकाई हुई टिकिया है। चर्पटी, चपाती इत्यादि इसके पर्यायवाची नाम हैं। उन सभी अन्नों की, जिन्हें पीसकर आटा बनाया जा सकता है, रोटी बनती है, किंतु साधारणतया संपूर्ण भारत में और विशेषतया उत्तर भारत में गेहूँ की रोटी का अधिक प्रचलन है। रोटी कई प्रकार की होती है, जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :

फुलका — आँच पर फुलाई गई रोटी फुलका कहलाती है। फुलका बनाने के लिये आटे के गूँधने की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। आटा जितना ही गूँधा जायगा रोटी उतनी ही मुलायम बनेगी। चकले बेलन की सहायता से फुलका बनाने के लिये आटा कुछ कड़ा गूँधा जाता है और यदि हाथ से फुलका बनाना हो तो आटा पहले की अपेक्षा मुलायम गूँधा जाता है। गूँधे हुए आटे को थाली में थोड़ा पानी भरकर दस पंद्रह मिनट के लिये छोड़ देना चाहिए और बाद में थाली का पानी गिराकर थोड़े थोड़े पानी का छींटा देकर आटे को ठीक कर लेना चाहिए। तवे को चूल्हे पर गरम होने के लिये रख दें और जब तवा अच्छी तरह तप जाय, तब बेली हुई रोटी को तवे पर डाल दें। एक ओर सिक जाने पर रोटी को दूसरी ओर सिकने के लिये उलट दें। जब इस ओर चित्ती पड़ जाय

तो चिमटे की सहायता से रोटी को पकड़कर अंगारे, या चूल्हे के चये में फुलाने के लिये इस प्रकार रखें कि रोटी का वह भाग, जो पहले सेंका गया था, अंगारे पर हो। रोटी फुलाते समय इस बात का ध्यान रहे कि न तो वह जलने पाए और न कहीं से कच्ची रहे। रोटी का फूलना अधिकांशत: उसके बेले जाने पर निर्भर करता है। चकले पर हलके हाथ से, बेलन की सहायता से, पलेथन लगी आटे की लोई को दबाकर एक सी गोल रोटी बेलनी चाहिए। कहीं मोटी, कहीं पतली, कहीं टेढ़ी मेढ़ी होने पर, रोटी बराबर नहीं फूलती और कहीं कहीं यह कच्ची रह जाती है।

हाथ की रोटी — यह वह रोटी है जो बिना चकले बेलन की सहायता से आटे की लोई को हाथ की हथेली और पंजे के सहारे धीरे धीरे बढ़ाकर, गोल मटोल बनाई जाती है। इस रोटी में भी एक सी मोटाई का ध्यान रखा जाता है। यह रोटी फुलके की अपेक्षा मोटी होती है। इस रोटी में पलेथन कम लगना चाहिए। इसकी सिकाई फुलके की तरह होती है।

बाटी — यह उपले पर सेंककर बनाई जानेवाली एक प्रकार की गोल रोटी है। इसके लिये आटा जितना मोटा पिसा होगा, यह उतनी ही अच्छी बनेगी। आटे को खूब कड़ा गूँधकर इतना मसलना चाहिए कि आटे की कनी अच्छी तरह गल जाय। उपलों का अहरा लगाकर सुलगा दें और जब तक यह सुलगे तब तक आटे में से लगभग दो तोले आटे की लोई लेकर, उसके हाथ से गोल गोल लड्डू बनाकर, हथेली से जरा सा दबाकर चपटी बना लें और इसी प्रकार संपूर्ण आटे की लोई बनाकर चपटी कर लें। जब अहरे से धुआँ निकलना बंद हो जाय, तब उसे तोड़कर छोटा कर लें, और उसे फैलाकर उसपर तैयार की हुई चपटी रोटी रख दें। एक के बाद दूसरी लोई को बराबर उलटते रहें। उलटते पलटते बाटियाँ जब आधी सिक जायें तब आग पर से सबको हटा लें और उपलों के अंगारों को चिमटे से तोड़कर चूर चूर कर लें। जहाँ अहरा लगाया था वहीं सब बाटियों को रखकर, उन्हें ऊपर से उपलों के अंगारे के चूर से ढँक दें, ऐसा करने पर थोड़ी देर में बाटियाँ सिककर फट जाएँगी। बाटियों पर लगी राख को साफ कपड़े से, अथवा जमीन पर पटककर, झाड़ दें। अब इन्हें गरम घी में डुबोकर भोजन के काम में लाएँ। लोई में सत्तू भर कर बनाई गई बाटी बिहार में लिट्टी और पूर्वी उत्तर प्रदेश में मकुनी कहलाती है। सत्तू को नमक, मिर्च और लहसुन मिलाकर भुरभुरा बना लेते हैं।

पराँठा — यह वह रोटी है जो घी लगाकर तवे पर सेंककर बनाई जाती है। पराँठे मोयनदार तथा बिना मोयनदार, दोनों प्रकार के बनते हैं। मोयन के लिये घी और तेल दोनों ही प्रयुक्त होते हैं। आटा गूँधते समय घी, या तेल मिला देने पर पराँठा मुलायम तथा खसखसा बनता है। आटे में अंदाज से मोयन डालकर तब पानी से गूँधते हैं। तोले सवा तोले से लेकर एक छटाँक आटे की लोई के पराँठे बनते हैं। लोई गोल पतली सी बेल ली जाती है और घी चुपड़कर इसे दोहरी कर लेते हैं। इस दोहरी तह पर भी घी चुपड़कर इसे दोहरा कर लेते हैं। अब यह लोई त्रिभुजाकार हो जाती है। इसे पलेथन लगाकर बेल लेते हैं। यदि बेलते समय कोने दबा दिए जाएँ, तो पराँठा गोल बनेगा, अन्यथा त्रिकोणात्मक रहेगा। तवे पर घी लगाकर बेले हुए पराँठे को डाल दें, थोड़ा सिक जाने पर पराँठे के ऊपरी सतह पर घी लगाकर उसको उलट दें। अब दूसरी ओर भी घी लगाएँ और उलट पलट कर दोनों ओर सेंक लें। यह खूब फूलते हैं। बिना मोयनदार आटे के पराँठे को चकले पर खड़ा करके, दो तीन बार दबा देना चाहिए। ऐसा करने से पराँठे ठंढे होने पर भी मुलायम रहते हैं।

पूरी — यह खौलते हुए घी में छानकर बनाई गई रोटी है। पूरी का आटा कड़ा गूँधा जाता है। लोई अपने इच्छानुसार बनानी चाहिए। लोई बनाने के बाद पूरियाँ बेलनी चाहिए। पूरी बहुत पतली नहीं बेलनी चाहिए। पतली पूरियाँ फूलती नहीं और कड़ी हो जाती हैं। अधिक मोटी होने पर पूरी अंदर से कच्ची रह जाती है। अगर पूरी घी में डालने पर न फूले, तो तुरंत उलट देना चाहिए। ऐसा करने से पूरी फूल जाती है। पूरी पकने पर बसंती रंग की होती है।

कचौड़ी — यह एक प्रकार की रोटी है, जो आटे की लोई में पीसी हुई दाल, हरी मटर, आलू, खोया इत्यादि भरकर, खौलते घी में छानकर, अथवा तवे पर पराँठे की तरह सेंककर, बनाई जाती है। दाल की कचौड़ी बनाने के पहले दाल को दो तीन घंटा भिगो देना चाहिए। उड़द की दाल के अतिरिक्त अन्य सभी दालों को छौंककर पकाना चाहिए और उन्हें पीसकर लोई में भरना चाहिए। उड़द की दाल सिल पर कच्ची पीसी जाती है। पीसते समय दाल में अदरक, खड़ी धनियाँ, लाल मिर्च, हींग इत्यादि डालकर पीसना चाहिए। कचौड़ी का आटा पूरी के आटे की अपेक्षा पतला गूँधा जाता है। आटा गूँधते समय उसमें थोड़ा नमक डाल देना चाहिए। लोई में दाल भरने से पहले दाल में नमक मिला लेना चाहिए। दाल पीसते समय नमक मिला लेने से दाल पतली हो जाती है और आटे की लोई में दाल भरना कठिन हो जाता है। अंदाज से लोई लेकर, उसमें तैयार की गई दाल में से अंदाज से दाल भर दें, तब उसे गोल कर लें। इसके बाद लोई को बेलकर तवे पर सेंकते या कढ़ाई में खौलते हुए घी में डालकर तल लें। जब दोनों तरफ अच्छी तरह सिक जाय तो उतार लें।

मक्के और बाजरे की रोटी — मक्के और बाजरे की रोटी बनाने के लिये इसके आटे को थोड़ा थोड़ा पानी डालकर, हथेली के बल गूँधते हैं। आटा गूँधते गूँधते रोटी बनाने के लायक पतला हो जाता है। तब उस आटे में से अंदाज से लोई लेकर, चकले तथा बेलन की सहायता से बेलकर, तवे पर सेंक लेना चाहिए। रोटी तवे पर जब फुलके की तरह सिक जाय तब उसे कोयले के चये में सेंक लेना चाहिए। लकड़ी के कोयले की आँच पर, या चये पर, सिकी हुई रोटी खूब सोंधी तथा मीठी रहती है। जिस प्रकार से गेहूँ के आटे की कचौड़ी दाल भरकर बनाई जाती है, उसी प्रकार इसके आटे में भी दाल भरकर कचौड़ी बनाई जाती है। बाजरे की रोटी का चूरमा भी बनता है। चूरमा बनाने के लिये रोटी को मसकर उसमें घी तथा गुड़, या चीनी पीसकर डालते हैं।

तंदूर की रोटी — तंदूर की रोटी पकाने के लिये मिट्टी की एक

प्रकार की बड़ी भट्ठी होती है। इसमें गेहूँ-चने के आटे की रोटी अथवा केवल गेहूँ के आटे की रोटी भी, बनाई जाती है। इसकी रोटी का आटा पतला और लसदार गूँधा जाता है। तंदूर तपाने से पहले उसके अंदर चारों ओर मट्ठा लगा देना चाहिए, और जब तंदूर अच्छी तरह तप जाय तब रोटी बनानी चाहिए। यदि तंदूर अच्छी तरह तपा न होगा, तो रोटी अच्छी न बनेगी। गीले हाथ से लोई को बढ़ाकर रोटी बनाई जाती है और तंदूर में लगाई जाती है। इसमें एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी, इस प्रकार से आठ, दस रोटियाँ लगा दी जाती हैं। रोटियों पर चित्तियाँ पड़ जायँ और रोटी फूलकर तंदूर में गिरने लगे, तो उन्हें लोहे की छड़ से, जिसका सिरा मुड़ा रहता है, निकालकर झाड़ लेते हैं और रुचि अनुसार घी में चुपड़ लेते हैं।

लूची — यह मैदे की पूरी है। मैदे को पानी डालकर गूँधलें और तब उसमें मोयन डालें। घी जब अच्छी तरह मिल जाय तब इच्छानुसार छोटी या बड़ी लोई बनाकर रख लें। इसे पतला बेलें और पलेथन न लगाएँ। कड़ाई में जब घी अच्छी तरह गरम हो जाय तब बेली हुई पूरी को उसमें डालकर तुरत उलट दें। पूरी को फूलने पर, या पूरी पर छोटे छोटे बुल्ले होने पर, निकाल लेना चाहिए। पूरी का रंग सिक जाने पर बिलकुल सफेद होना चाहिए। कड़ाई के स्थान पर यदि तई का उपयोग किया जाय तो अधिक अच्छा है। पूरी सिक जाने के बाद, उसे बाँस आदि की टोकरी में, जो किसी बर्तन पर रखी रहती है, रखना चाहिए। इस तरह पूरियाँ ठंढी हो जाती हैं और पसीजती नहीं। बिना मोयन डाले भी लूचियाँ बनाई जाती हैं, लेकिन ये पहले की तरह खस्ता नहीं होतीं।

फलाहारी रोटी — फलाहारी रोटी वह रोटी है जो सिंघाड़े, कुट्टू या मखाने की भाँति आटे की पीस कर बनाते हैं। सिंघाड़े के आटे की लोई बनाकर रोटी बनाई जाती है। एक पाव सिंघाड़े के आटे की रोटी बनाने के पहले उसके लिये आधा सेर पानी गरम करने के लिये बटुए या कड़ाई में रख देते हैं। पानी गरम हो जाने पर तब उसमे सिंघाड़े के आटे को डालकर कल्छी से चलाते रहते हैं। अब वह गूँधे हुए आटे की तरह हो जाता है तो उसे उतार लेते हैं और थाली में ठंढा होने के लिये निकालकर रख देते हैं। जब आटा ठंढा हो जाता है, तो उसमें अपने इच्छानुसार उबाले हुए आलू या अरुई को पीसकर मिला लेते हैं। जब आटा रोटी बनाने के योग्य हो जाता है, तो उसे चकले तथा बेलन की सहायता से बेलकर पराठे की तरह सेंक लेते हैं, अथवा कड़ाई में घी डालकर भी पूरी की तरह तल लेते हैं। इसी प्रकार से कुट्टू के आटे की भी रोटी बनाई जाती है। मखाने के आटे में केवल आलू या अरुई को पीसकर मिला लेते हैं और गेहूँ के आटे की तरह पानी का छींटा देकर मखाने के आटे को भी गूँध लेते हैं। आटा गूँधने के बाद उसकी रोटी भी पराठे की तरह सेंक लेते हैं। मखाने के आटे को उबाला नहीं जाता।

[र० मे०]

रोड द्वीप संयुक्त राज्य, अमरीका का एक पूर्वी राज्य है। इसके दक्षिण में ऐटलैंटिक महासागर है। इस राज्य में अक्विनेक, कोनानिकट, ब्रूसेंस तथा ब्लॉक नामक चार बड़े द्वीपों के अलावा अन्य कई छोटे छोटे द्वीप संमिलित हैं। राज्य का कुल क्षेत्रफल १,२१४ वर्ग मील है। इस राज्य को लिटिल रोडी भी कहा जाता है। राज्य की राजधानी प्रोवीडेंस है तथा वर्षा का वार्षिक औसत ४८ इंच है। यहाँ की जलवायु पर सागर का प्रभाव अधिक है। ग्रैनाइट यहाँ का प्रमुख खनिज है। यहाँ सब्जियों एवं फलों का उत्पादन होता है। राज्य के ४४ प्रति शत लोग उद्योगों में लगे हैं। कपड़े एवं आभूषण बनाना यहाँ के प्राचीन एवं सर्वप्रमुख उद्योग हैं। रबर के सामान, चाँदी की वस्तुएँ, औजार आदि का निर्माण भी यहाँ होता है। राज्य की जनसंख्या ७,९१,८९६ (१९५०) है।

[र० चं० दु०]

रोडियम संकेत रो (Rh), परमाणुभार १०२.९, परमाणु संख्या ४५। वुलैस्टन (Wollastion) ने १८०४ ई० में पहले पहल इसका पता लगाया था। यह सदा प्लैटिनम खनिजों के साथ पाया जाता है, पर उनमें इसकी मात्रा कम होती है।

प्लैटिनम खनिजों को ऐक्वा रेजिया (aqua regia) के साथ उपचारित करने से ऑस्मियम, इरीडियम और रुथेनियम अविलेय रह जाते हैं, पर अधिकांश रोडियम प्लैटिनम के साथ निकल जाता है। अमोनियम क्लोराइड के साथ क्रिया से प्लैटिनम अवक्षिप्त हो जाता है। अवशेष द्रव में रद्दी लोहे का डालने से अन्य धातुएँ निक्षिप्त होती हैं। निक्षेप का फिर पोटैशियम बाइसल्फेट के साथ उपचार कर, जल के निष्कर्षण से तथा पुन: क्रिस्टलन से रोडियम का शुद्ध लवण प्राप्त होता है।

स्थूल रूप में रोडियम अल्प नीला-श्वेत रंग का होता है। इसका घनत्व प्राय: १२.१ है। १८४०° सें० पर यह पिघलता है और इससे कुछ ऊँचे ताप पर वाष्पीभूत होता है। वायु में गरम करने से इसका बाह्य तल ऑक्सीकृत हो, नीले ऑक्साइड का आवरण बनाता है। यह अम्लों अथवा ऐक्वा रेजिया में अविलेय होता है, पर सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल से आक्रांत होता है। अन्य धातुओं, विशेषत: सीस, के साथ जो मिश्रधातु बनती है वह प्रबल अम्लों मे विलेय होती है।

रोडियम के चार ऑक्साइड ज्ञात हैं। इनमें एक काला चूर्ण है, जो रोडियम हाइड्राक्साइड को गरम करने से प्राप्त होता है और कुछ महत्व का है। इसके तीन क्लोराइड प्राप्त हुए हैं। क्षारीय क्लोराइडों के साथ इसके क्लोराइड युग्म लवण बनाते हैं। हाइड्रॉक्साइड पर तनु सल्फ्यूरिक अम्ल के प्रभाव से रोडियम सल्फेट बनता है, जो युग्म लवण बनाता है। अमोनिया के साथ रोडियम अनेक यौगिक, जैसे रोजियो (Roseo), परपुरियो (Purpureo) और लूटियो (Luteo) बनाता है, जो तदनुकूल कोबाल्ट के लवणों से समानता रखते हैं।

रोडियम के लवण अल्प मात्रा में द्रव स्वर्ण के निर्माण में प्रयुक्त होते हैं। चूड़ियों के निर्माण में द्रव-स्वर्ण उपयोग में आता है। प्लैटिनम के साथ रोडियम-प्लैटिनम मिश्रधातु बनता है, जिसका उपयोग उच्च ताप मापने के लिये थर्मोकपुल के निर्माण में होता है।

[फू० स० व०]

रोडीजिया देखें, दक्षिणी रोडीजिया एवं जैंबिया।

रोडोडेंड्रॉन (Rhododendron), झाड़ी अथवा वृक्ष की ऊँचाई-वाला पौधा है, जो एरिकेसिई (Ericaceae) कुल में रखा जाता है।

इसकी लगभग ३०० जातियाँ उत्तरी गोलार्ध की ठंढी जगहों में पाई जाती हैं। अपने वृक्ष की सुंदरता और सुंदर गुच्छेदार फूलों के कारण वह यूरोप की वाटिकाओं में बहुधा लगाया जाता है। भारत में रोडोडेंड्रॉन की कई जातियाँ पूर्वी हिमालय पर बहुतायत से उगती हैं। रोडोडेंड्रॉन आरबोरियम (Ro rboreum) अपने सुंदर चमकदार गाढ़े लाल रंग के फूलों के लिये विख्यात है। पश्चिम हिमालय पर कुल

रोडोडेंड्रॉन आरबोरियम

(×½)

चार जातियाँ इधर उधर बिखरी हुई, काफी ऊँचाई पर पाई जाती हैं। दक्षिण भारत में केवल एक जाति रोडोडेंड्रॉन निलगिरिकम (R. nilagiricum) नीलगिरि पर्वत पर पाई जाती है।

इस वृक्ष की सुंदरता के कारण इसकी करीब १,००० उद्यान नस्लें (horticultural forms) निकाली गई हैं। इसकी लकड़ी अधिकतर जलाने के काम आती है। कुछ अच्छी लकड़ियों से सुंदर अल्मारियाँ बनाई जाती हैं। फूल से एक प्रकार की जेली बनती है तथा पत्तियाँ ओषधि में प्रयुक्त होती हैं। [रा० अ०]

रोड्स, सिसिल जॉन रोड्स एक आंग्ल साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञ था। इसका जन्म ५ जुलाई, १८५३, को हरफर्टशायर के बिशप स्टौर्ट फोर्ट स्थान पर हुआ। १६ वर्ष की अवस्था में उसका स्वास्थ्य अधिक खराब होने लगा। १८७० में वह अपने बड़े भाई हर्बर्ट के पास नेटाल चला गया। उसी वर्ष किंबरले के मैदान में माणिक्य की खानि का पता लगा। एक वर्ष में ही वहाँ अपने भाई के साथ काम करते हुए वह एक सफल खनक बन गया। वहाँ की शुष्क जलवायु में उसका स्वास्थ्य भी सुधरने लगा। १९ वर्ष की अवस्था में वह पूर्णतया स्वस्थ हो गया। इधर, परिश्रमी होने के कारण, वह अल्पावस्था में ही आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी बन गया। स्वास्थ्य और धन दोनों ने मानो उसकी उन्नति के द्वार खोल दिए।

इसके बाद आठ मास तक उसने नेटाल का भ्रमण किया, जिससे उसे काफी लाभ हुआ। वहाँ की प्रभूत कृषि और खनिज संपदा ने उसको बहुत आकर्षित किया। तभी उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि क्यों न ब्रिटेन ही दक्षिण अफ्रीका के शासन का एकाधिकारी बन जाय। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने अपना भावी जीवन समर्पित कर दिया।

जब वह २२ वर्ष का था, तभी उसने एक रिक्थपत्र लिखा। उसमें उसने लिखा था कि दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति को बढ़ाकर सर्वोच्च आदर्शों को प्रयोगात्मक रूप दिया जाय। इसी पत्र में उसने यह प्रार्थना भी की कि 'मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरी संपूर्ण संपत्ति इसी उद्देश्य की पूर्ति में लगाई जाय'। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी संपत्ति आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय को सौंप दी गई। (उसकी) इस संपत्ति में से ३०० पौंड प्रति वर्ष प्रति छात्रवृत्ति पर व्यय किया जाता है। यह छात्रवृत्ति ब्रिटेन के उपनिवेशों और अमरीका के छात्रों को प्रदान की जाती है।

अपने विचारों की इसी अवस्था में उसके मन में एक बार शिक्षा ग्रहण करने की तीव्र लालसा उत्पन्न हुई। वह आक्सफोर्ड गया भी पर स्वास्थ्य ने उसका साथ नहीं दिया। वह पुनः दक्षिण अफ्रीका लौट आया। अब उसकी रुचि व्यापार की ओर बढ़ी। अपने परिश्रमी तथा ईमानदार स्वभाव के कारण व्यापार क्षेत्र मे उसने बहुत उन्नति की।

सन् १८८१ में वह केप विधान सभा का सदस्य निर्वाचित हुआ। इन्हीं दिनो ब्रिटिश और डच साम्राज्यों में दक्षिण अफ्रीका में अपना अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये प्रतिद्वंद्विता चल रही थी। रोड्स ने विचार रखा कि दक्षिण अफ्रीका का एक संघ बनना चाहिए। वह स्थानीय अधिकारों का संरक्षक था। उसने आयरलैंड के संघर्ष के लिये दस हजार पौंड का धन इस शर्त पर दिया कि आयरलैंड यूनाइटेड किंगडम से अलग न हो और स्वराज्य भी स्थापित कर ले। केप विधान सभा के निर्मित होते ही उसने सीमा आयोग की नियुक्ति की माँग की। १८८४ मे बैक्वाना लैंड का प्रतिनिहित उपआयुक्त नियुक्त हुआ। यह क्षेत्र दक्षिण अफ्रीका की कुंजी था। प्रश्न यह था कि यह कुंजी ब्रिटेन के अधिकार में होगी या ट्रांसवाल के। रोड्स के प्रयत्न से दक्षिणी बैक्यूना लैंड ब्रिटिश क्षेत्र बन गया। इसके बाद अगले ६ वर्षों में उसने रोडेशिया को ब्रिटिश साम्राज्य का एक प्रांत बना दिया।

१८९० में वह केप का प्रधान मंत्री बना। प्रधान मंत्री होने के बाद उसने प्रत्यक्ष रूप से दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटिश और डच हितों को मिलाने की कोशिश की। उसका उदार हृदय चाहता था कि दक्षिण अफ्रीका वासी शांत, शिक्षित और योग्य बनें।

१८९६ में 'जेम्सन आक्रमण' की घटना के कारण उसे प्रधान मंत्री का पद त्यागना पड़ा। यह उसके पवित्रचरित्र होने का उदाहरण है कि उसने इस घटना का संपूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया और तत्संबंधी समस्त परिणामों को स्वीकार किया।

मार्च, १८९६ में मटाबाला विद्रोह हुआ जिसके दमन के लिये सेना की आवश्यकता हुई। इस समय ब्रिटेन युद्धों में व्यस्त था। विद्रोह दबाने के लिये उसने सेना भेजी। दूसरी ओर रोड्स ने अकेले ही शांतिमय उपायों द्वारा विद्रोह शांत करने का प्रयत्न किया। इस कार्य के लिये वह सेना से पृथक् हो गया तथा अकेले छह सप्ताह तक अलग डेरा डाले रहा। इतने समय में

उसने वहाँ के मूल निवासियों को समझाया तथा उन्हें यह भी विश्वास दिलाया कि 'मैं शांति का संदेश लेकर आया हूँ।' रोड्स के प्रस्ताव पर विचार करने के लिये उन लोगों ने अपनी परिषद् एकत्र की और रोड्स को अपना आशय अच्छी तरह प्रकट करने के लिये निरस्त्र होकर बुलाया। वह अपने तीन मित्रों सहित वहाँ भाग लेने के लिये गया। उन लोगों की शिकायतें सुनीं। उन्हें दूर करने का वायदा किया, साथ ही उन लोगों से भी ऐसा वचन लिया जिससे भविष्य में कोई ऐसी घटना फिर न हो। इसके बाद उसने फिर स्पष्ट रूप से उनसे प्रश्न किया कि अब शांति होगी या युद्ध। परिषद् के मुखिया लोगों ने उत्तर दिया कि 'शांति होगी'। इस अंतिम दृश्य के विषय में उसने लिखा है कि यह मेरे जीवन की बड़ी महत्वपूर्ण घटना है। इससे प्रतीत होता था कि यदि हम शांति, सहयोग और सद्भावना के वातावरण का प्रसार करें तो निश्चय ही जीवन का सौंदर्य दिखाई दे सकता है।

१८९९ में दक्षिण अफ्रीकी युद्ध का प्रारंभ हुआ। रोड्स ने किंबरले में इस युद्ध में भाग लिया। इस स्थान पर जब उसने घेरा डाला था तब उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस कठिनाइयों से संघर्ष करते करते उसका स्वास्थ्य गिरने लगा। वह विजय देखने से वंचित रह गया, क्योंकि इसके पूर्व ही २६ मार्च, १९०२ को म्यूजिनबर्ग नामक स्थान पर उसका देहांत हो गया। [गि० कि० ग०]

रोथेंस्टाइन (Rothenstein), **सर विलियम** (१८७२-१९४५) यार्क शायर के ब्रेडफोर्ड नामक स्थान में इस अंग्रेज चित्रकार का जन्म हुआ। ब्रेडफोर्ड ग्रामर स्कूल में तथा लेग्रोस के मार्गदर्शन में स्लेड स्कूल में उसने शिक्षा प्राप्त की। बाद में वह पेरिस आया जहाँ उसे लेफेबेवर और कांस्टंट कलागुरुओं का लाभ मिला। चित्रकार देगाऽ तथा विसलर ने उसकी कला में मौलिकता के अंकुर देखे—समझे। १९ वर्ष की उम्र में ही उसने अनेक लोगो के व्यक्तिचित्र बनाए। इन चित्रों में पाटमोरे, स्विनबर्न और हार्डी जैसे विनोदी तथा साहित्य में प्रसिद्ध व्यक्तियों के चित्र शामिल हैं। सन् १८९३ में न्यू इंग्लिश आर्ट क्लब में उसके चित्रों की प्रदर्शनी आयोजित की गई। प्रथम महायुद्ध काल में वह फ्रांस, ब्रिटेन तथा कनेडियन सैनिकों के ऑफिस का चित्रकार रहा। सन् १९१७ से १९२६ तक वह शेफिल्ड यूनिवर्सिटी में सिविक आर्ट विषय का प्रोफेसर और १९२०-३५ तक रॉयल कॉलेज ऑव आर्ट का प्रिंसिपल रहा। उसकी कृतियों में निसर्गदृश्य, व्यक्तिचित्र तथा तैलचित्रों में बाह्य रूपों की अपेक्षा आंतरिकता को व्यक्त करनेवाली कुछ कृतियाँ हैं। इंग्लैंड की प्रमुख कला गैलरियो में, डब्लिन गैलरी ऑव मॉडर्न आर्ट और न्यूयार्क मेट्रोपोलिटन म्यूजियम में इसकी कृतियाँ रखी हैं। भारत में पंचम जार्ज के लिये आयोजित दरबार समारोह का चित्रण करने वह भारत भी आया था। चित्रकला, प्राचीन भारत, और चित्रकार गोया पर इसने पुस्तकें लिखी हैं। सन् १९३१ में उसे 'नाइट' का संमान प्रदान किया गया। [भा० स०]

रोदसी दो लोक अर्थात् द्यावा-पृथ्वी की युगल देवरूप में वैदिक धारणा के अनुसार दो बहनों अथवा पिता माता के रूप में एक दूसरे की ओर मुख किए, परस्पर अटवत् संबद्ध, आकाश और पृथ्वी की वैदिक संज्ञा है।

रोन नदी यूरोप की एक महत्वपूर्ण नदी है, जो भूमध्यसागर में गिरनेवाली नदियों में प्रमुख स्थान रखती है। नदी का उद्गम स्थान वाले (Valais) के स्विस प्रदेश में रोन हिमानी में है, जहाँ से निकलकर स्विट्सरलैंड एवं फ्रांस में बहती हुई यह भूमध्यसागर की लीयॉन की खाड़ी में गिरती है। इसकी कुल लंबाई ५०५ मील है, जिसमें से ४५ मील जिनीवा की झील में है। संपूर्ण रोन घाटी की ढाल ५,८६८ फुट है। नदी की घाटी को तीन भागों में बाँटा जा सकता है : (१) स्रोत से जिनीवा झील तक का भाग, (२) जिनीवा से लीयॉन तक का भाग तथा (३) लीयॉन से भूमध्यसागर तक का भाग। [सु० चं० श०]

रोपड़ (३०° ५८′ उत्तर अक्षांश, ७६° ३२′ पूर्व देशांतर)—अंबाला से ६७ किलोमीटर उत्तर, सतलज के बाएँ तट पर २१ मीटर ऊँचा टीला है। यहाँ सन् १९५३-५५ में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा किए गए उत्खनन के फलस्वरूप, सिंधु संस्कृति (हड़प्पा संस्कृति) से आधुनिक काल के अवशेष मिले। इनका अनुक्रम छह संस्कृतिकालों में विभाजित किया गया है।

रोपड़ के प्रथम काल (लगभग २०००-१४०० ई० पू०) के अवशेष सिंधु या हड़प्पा संस्कृति से संबंधित हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं : सिंधु लिपि अंकित स्टिएटाइट की मुहर, पकी मिट्टी की मुद्रा छाप और पिष्ट, चर्ट पत्थर के चाकू, ताँबे के बर्तन व हथियार, मोती, फेएंस की चूड़ियाँ और सादे तथा चित्रित मिट्टी के बर्तन। प्रथम काल के पूर्वार्ध के मकान नदी के पत्थरों के बने थे और उत्तरार्ध के चूने के मिश्र-पिंडाश्म काटकर बनाए गए थे। इसके अलावा पकी एवं कच्ची ईंटों का भी गृहनिर्माणार्थ प्रयोग होता था। इस युग के लोगों की शव-संस्कार-परंपरा का पता यहाँ से प्राप्त एक प्रलंबित शव समाधि से लगता है जिसमें मृत का सिर उत्तर दिशा की ओर था तथा आस-पास कुछ मिट्टी के पात्र रखे हुए थे।

अज्ञात कारणों से सिंधु संस्कृति के लोगों ने यह स्थान छोड़ दिया। कुछ साल बाद यहाँ एक नई बस्ती बसी जिसे रोपड़ के दूसरे काल (लगभग ११००-७०० ई० पू०) में रखा गया है। सलेटी रंग के चित्रित मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग इस युग की विशेषता थी। इसके साथ ही उपरत्नों के बने मनके, हड्डी की सूइयाँ एवं शर और अनिश्चित आकार के मकान भी मिले।

रोपड़ के तीसरे संस्कृतिकाल (ई० पू० ६००-२००) से उपलब्ध मुख्य वस्तुएँ हैं : उत्तरी काली ओपदार कुंभकला' से संबद्ध कुंभखंड, आहत तथा ढले हुए लेखहीन सिक्के, ताँबे एवं लोहे के औजार, 'भदपालकस' लेखांकित एक हाथीदाँत की मुद्रा और एक पॉलिशदार मंडलाकार प्रस्तरखंड जिसपर मातृदेवी से संबद्ध आकृतियाँ सूक्ष्म रूप से खुदी हैं। इस प्रकार के पत्थर तक्षशिला, पटना, राजगृह आदि से भी मौर्यकालीन स्तरों से प्राप्त हुए हैं। इस युग में मकान बनाने के लिये मिट्टी में बैठाए गए कंकर तथा उपलपिंड प्रयोग में लाते थे, यद्यपि कहीं कहीं मिट्टी और पकी ईंटों के मकान भी मिले। एक साढ़े तीन मीटर चौड़ी पकी ईंटों की धनुषाकार दीवार लगभग ७६ मीटर तक पाई गई; यह संभवतः किसी जलाशय के किनारे थी क्योंकि इस दीवार में एक प्रवेश मार्ग भी बना था जहाँ से

बरसाती पानी जलाशय में प्रवेश पाता था। इस काल के ऊपरी स्तरों पर कुछ पकी मिट्टी के कूप भी मिले जो चक्राकार मंडलों को उत्तरोत्तर एक दूसरे पर रखकर बनाए गए थे।

रोपड़ का चतुर्थ सांस्कृतिक काल ई० पू० २०० और ६०० ईसवी में पड़ता है। इस काल के प्रथम चरण में पंजाब का कुछ भाग इंडो-यूनानी शासकों के अधीन था तथा रोपड़ से प्राप्त अंतिआलकिदस (ई० पू० दूसरी शताब्दी), सोतेर मेगास उपाधिकारी राजा (लगभग १०० ई०) के सिक्के और अपोलोडोतस द्वितीय (ई० पू० प्रथम शताब्दी) की मुद्रा का मिट्टी का साँचा इसकी पुष्टि करते हैं। इन्हीं स्तरों से औदुंबर, कुणिंद और मथुरा के जनपदीय सिक्के भी प्राप्त हुए। इस काल के ऊपरी तलों से कुषाण सम्राट् वासुदेव के सिक्कों का समुदाय तथा 'चंद्रगुप्त कुमारदेवी प्रकार की एक सोने की गुप्तमुद्रा भी प्राप्त हुई। अन्य अवशेष हैं: शुंग तथा कुषाण शैली की मृण्मूर्तियाँ और गुप्तयुग के कुछ चाँदी के पात्र एवं मिट्टी की मूर्तियाँ। ऊपरी तहों में पाँचवीं छठी शताब्दियों के अक्षरों से अंकित कुछ मुद्राछापें भी मिलीं साधारण मृत्पात्रों के अतिरिक्त ठप्पे से दाबकर तथा उत्कीर्ण अभिप्रायांकित लाल रंग के मिट्टी के बर्तन इस काल में मिले हैं।

रोपड़ का पाँचवाँ सांस्कृतिक काल ईसा की नवीं शताब्दी और बारहवीं शताब्दी के बीच में पड़ता है। अंतिम सांस्कृतिक काल की बस्ती कुछ काल के अंतर के बाद प्रारंभ हुई। टीले के धरातल से प्राप्त मुस्लिम सिक्के, काचित भांड और लखौरी ईंटें इसके उदाहरण हैं।

सं० ग्रं०— इंडियन आरकेओलोजी १९५३-५४ : ए रिव्यू, पृ० ६-७; १९५४-५५, पृ० ९; वाइ० डी० शर्मा, ऐक्सप्लोरेशन ऑव हिस्टौरिकल साइट्स, ऐंशेंट इंडिया, भाग ९, पृ० ११६-१२; वाइ डी० शर्मा, पास्ट पैटर्न्स इन लिविंग ऐज अनफोल्डेड बाइ ऐक्सकेवेशंस ऐट रूपड़, ललित कला, भाग १-२, (१९५५-५६), पृ० १२१-२९। [बृ० मो० पां०]

रोपणयंत्र कृषि में, फसल उगाने के लिये, बीज ठीक मात्रा में एवं ठीक समय पर, उचित गहराई में, खेतों में देना आवश्यक है। ऐसा करने के बाद ही अच्छी फसल की आशा की जा सकती है। बीज तीन प्रकार से बोए जाते हैं: १ छिटकावाँ बोना (broadcasting , २. हाथ से बोना (dibbling) और ३. ड्रिल से बोना (drilling)।

हाथ से बीज को फेंक देने की प्रथा को छिटकावाँ कहते हैं। छींटने की साधारण मशीनें भी अब बनी हैं। गड्ढा खोदकर हाथ से, बीज डालकर बोने को डिबलिंग कहते हैं। गड्ढे में बीज डालकर गड्ढे को ढँक दिया जाता है। यह कार्य परिश्रमसाध्य है। इसके लिये मशीनें बनी हैं, जिन्हें डिब्लर कहते हैं। एक ऐसी मशीन डा० अंतबहादुर सिंह, भूतपूर्व कृषि निदेशक, उत्तर प्रदेश, ने बनाई है। ड्रिल से बोने में जमीन में कूँड़ बनाया जाता है, फिर नली द्वारा उचित मात्रा में बीज कूँड़ की तह में गिराया जाता है और तब बीज को मिट्टी से ढँक दिया जाता है।

१९वीं शती में अमरीका और यूरोप में रोपणयंत्रों का विकास हुआ। ऐसे वपित्र (seeders) बड़े बड़े कृषि अनुसंधान क्षेत्रों में भारत में भी देखे जाते हैं। इन वपित्रों के सिद्धांत पर, बैलों से चलनेवाले कुछ वपित्र भी बने हैं। ऐसे यंत्र, या तो बीज बोनेवाले होते हैं, या पौधों को कतार में, कुछ दूरी पर, बोनेवाले होते हैं।

पौधा रोपणयंत्र — ऐसे यंत्रों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है: (१) बीज छींटनेवा यंत्र और (२) छोटे छोटे पौधों को लगानेवाले यंत्र। बीज छींटनेवाले यंत्र हाथ से चलानेवाले, या एक पहिएवाले ठेले पर चलनेवाले होते हैं। बीज छींटनेवाले यंत्र अनेक प्रकार के बने हैं, जिनमें निम्नलिखित अधिक महत्व के हैं:

१. झोलेदार छिट्टा वपित्र (Knapsack Broadcasting Seeder)
२. अंतद्वार वपित्र (Endgate seeder)
३. द्विचक्री छिट्टा वपित्र (Two-wheel Broadcaster)
४. एकचक्री बैरो छिट्टा वपित्र (Wheel Barrow Broadcaster)

झोलेदार छिट्टा वपित्र में एक बड़े थैले के नीचे एक तख्ता और अन्य पुर्जे लगे रहते हैं। पेटी द्वारा पूरी मशीन को आदमी अपने कंधे पर लटकाए रखता है। एक हाथ से चलाया जानेवाला क्रैंक, या गियर, घुमाते हैं और बीज का वितरण एक तश्तरी द्वारा होता है। तश्तरी में ऊँचे किनारे से बने रहते हैं जो बीज को आगे की तरफ फेंकते हैं। बीज की मात्रा आगे पीछे चलनेवाले एक छोटे से रेखाछिद्र (slit) से नियंत्रित होती है। जितना ही चौड़ा यह रेखाछिद्र खोला जायगा उतना ही अधिक बीज गिरेगा। इस प्रकार के वपित्र घास बोने के काम में आते हैं।

अंतद्वार वपित्र में एक युक्ति (device) जोड़ी जाती है, जो एक गाड़ी में संदूक के पीछे रख दी जाती है। इस मशीन में बीज रखने का एक डिब्बा, बीज लेने का यंत्र और एक, या दो बीज बाटनेवाले पहिए होते हैं। इसका किनारा उठा हुआ रहता है। अरीय (radial) पहिए एक गियर और चेन द्वारा चलते हैं और पहियों को चलाने की शक्ति उस गाड़ी के पहिए से ली जाती है जिसपर मशीन रखी जाती है। द्विचक्री छिट्टा वपित्र घोड़ों से चलाया जाता है। ऐसी मशीनें दो प्रकार की, एक चौड़ी लीकवाली और दूसरी कम चौड़ी लीकवाली, होती हैं। कम चौड़ी लीकवाली अधिक उपयोगी समझी जाती है। एकचक्री बैरो छिट्टा वपित्र, पहिएवाले ठेले के फ्रेम पर बीज का लंबा संदूक रखकर, बनाया जाता है। यह संदूक २ वर्ग इंच चौड़ा और ८ से १६ इंच तक लंबा होता है।

बीज वपित्र (Seed Drills) — बीज वपित्रों में इधर बड़ी प्रगति हुई है। सर्वाधिक महत्व का सुधार लोहे के संदूक का उसपर बैठाने में है। इससे इन संदूकों की मजबूती और टिकाऊपन ही नहीं बढ़ गया है, वरन् बीज भरने की मात्रा भी बहुत बढ़ गई है। बीज वपित्र कई प्रकार के बने हैं। कुछ एक टिकलीवाले और कुछ दो टिकलीवाले बने हैं। एक टिकलीवाले दो टिकलीवाले से अच्छा काम करते हैं। बड़े कृषिक्षेत्र वाले किसान बड़ी मशीन और छोटे कृषि क्षेत्रवाले किसान छोटी मशीन अधिक उपयोगी समझते हैं। वपित्र आम तौर से ट्रैक्टर के पीछे लगाकर चलाए जाते हैं। बहुत बड़े वपित्र एक बार में २० से २५ पंक्तियाँ एक साथ बोते हैं। अधिकतर वपित्र तीन प्रकार के होते हैं:

१. कटोरीभरण और नालीदार पहिएवाले वपित्र (Cupfeed-type Fluted Roller)

२. दोहरी चाल के नालीदार पहिएवाले, या दो तवेवाले वपित्र (Double-run Fluted Roller)

३. आंतर दोहरी चालवाले वपित्र (Internal Double-run Force Feed Type)

कृषिक्षेत्र में अधिकतर दोहरी चाल के नालीदार पहिएवाले वपित्र ही प्रयोग में आते हैं। कटोरीभरण और नालीदार पहिए-वाले वपित्र का उपयोग कुछ दिनों तक ब्रिटेन में हुआ था, पर बड़े बड़े कृषिक्षेत्रों में यह सफल न हो सका।

कटोरीभरण क्रिया विधि — बीज का संदूक दो भागों में बँटा रहता है। ऊपर के हिस्से में बीज रखा जा जाता है और नीचे का भाग भरण संदूक कहलाता है। ये दोनों भाग एक कपाट (shutter) द्वारा मिले रहते हैं। ऊपर के हिस्से में बीज रखा जाता है और कपाट द्वारा दूसरे भाग में ऐसे जाता है कि बीज अधिक मात्रा में न आकर ठीक मात्रा में आए। दाना बाँटनेवाले हिस्से को कई छोटी छोटी कोठरियों में बाँट दिया जाता है, जिनमें बीज बाँटनेवाली क्रियाविधि चालू रहती है। इन पुर्जों की बनावट बहुत ही साधारण होती है। एक टिकली पर, जो एक शाफ्ट पर घूमती रहती है छोटे छोटे चम्मच लगे रहते हैं, और ये चम्मच कुछ दाने उठाकर हॉपर (धानकीप) के मुँह में जो एक नली द्वारा उस बीज को फोल्टर तक पहुँचा देता है डालते रहते हैं, और इस प्रकार बीज कुंड में गिर जाता है।

दोहरी चाल के नालीदार पहिएवाले वपित्र का निर्माण संयुक्त राज्य, अमरीका, में हुआ और यह अधिकतर दानेवाली फसलों के बोने के काम आता है, पर यह कटोरीवाले नालीदार वपित्र के बराबर सफल नहीं है। इस वपित्र के अंदर बीज गिरानेवाली हर एक टिकली, जिसके दोनों तरफ खाँचे होते हैं, एक शैफ्ट पर बीजवाले संदूक के नीचे की ओर वपित्र के अंदर पहियों के घूमने पर घूमा करती है और बीजवाले संदूक से बीज उठाकर एक नली के द्वारा कूँड़े में पहुँचा देती है।

कटोरीवाले नालीदार वपित्र में एक गोल लट्ठे पर नालियाँ सी कटी रहती हैं और यह एक शैफ्ट पर एक छोटे से डिब्बे में घूमता है, जो बीजवाले संदूक से बीज लेकर नली द्वारा कूँड़ में गिराता है। यह ऐसा बना होता है कि बीज की मात्रा कम और अधिक की जा सके। ऐसे वपित्र कृषिक्षेत्रों में बहुत उपयोगी हैं। ये छोटे बड़े सभी प्रकार के बनते हैं। बैलों, या घोड़ों से चलनेवाले से लेकर बड़ी बड़ी मशीनों से चलनेवाले वपित्र तक हैं, जिनसे एक बार में २५ कतारें तक बोई जा सकती हैं और यह कटोरी वाला नालीदार वपित्र ट्रैक्टर के पीछे चलता है।

कूँड़ा बनाने की मशीनें, कूँड़कारी (furrow opener), भी बनी हैं। कूँड़कारी मशीनें कुछ एक टिकलीवाली, कुछ दो टिकली-वाली और कुछ 'हो' किस्म की होती हैं।

धान प्रतिरोपक — धान रोपने के लिये एक मशीन बनी है, जिसकी बनावट बड़ी सरल है। इसके तीन भाग होते हैं: धान के पौधों को पकड़नेवाली चिमटी, धान को सीधा रखनेवाला बक्स और इस बक्स को सहारा देनेवाला चौखटा। ये सभी भाग बाँस और लकड़ी के बने होते हैं। धान के पौधों को पकड़नेवाली चिमटी के तीन भाग होते हैं: पकड़नेवाले दाँते, दाहिना और बायाँ मूठ और ऊपर तथा नीचेवाले पत्तवर तख्ते।

बक्स में पौधे रख दिए जाते हैं। इसमें एक तख्ता सामने और एक पीछे होता है। एक एक तख्ता दाहिनी और बाईं ओर और एक तख्ता तली में रहता है, जिसके सहारे बक्स सरकता है, पौधा पकड़ने का पुर्जा होता है। बक्स को पीछे की ओर हाथ से चलाए जानेवाले गियर और एक डोरी होती है, जो स्प्रिंग द्वारा बाँस के उन पहियों से जड़ी रहती है जिनके द्वारा पौधेवाले बक्स के तख्ते को सरकाया जाता है। यह तख्ता पौधे को बक्स के बाहर निकालने के द्वार तक पहुँचा देता है। द्वार के पास एक पटरी लगी रहती है, जिसके सहारे बक्स सरकता है। इस पटरी को आवश्यकतानुसार २० डिग्री से ३० डिग्री तक बदला जा सकता है। वहाँ पौधे के बक्स को सहारा देने के लिये चौखटा होता है, जो नाव की तरह तैरनेवाली पेंदी पर जड़ा होता है, ताकि खेतों में वह आसानी से सरकाया जा सके और जमीन में धँसने न पाए। यह जमीन को बराबर भी करता जाता है।

धान प्रतिरोपण मशीन से रोपाई जल्दी और ठीक समय पर होती है। इससे मानव श्रम की बचत होती और पैदावार में वृद्धि होती है। इससे धान का पौधा समांतर पंक्तियों में बोया जा सकता है, जिससे घास साफ करने में सुविधा होती है और प्रकाश का प्रवेश सरल होता है। पौधों की सघनता में कमी बेशी की जा सकती है। अधिक उपजाऊ भूमि में अधिक घना और कम उपजाऊ भूमि में कम घना बोया जा सकता है। प्रति हेक्टेयर में पौधे की संख्या तीन लाख से लेकर छह लाख तक, कतारों की दूरी १६·५ सेंटीमीटर तक और कलियों के बीच की दूरी १० से १३·२ सेंटीमीटर तक सरलता से रखी जा सकती है। समान दूरी और समांतर पंक्तियों में रोपने के लिये बक्स को बाएँ और दाएँ सरकाया जा सकता है। रोपण मशीन सरलता से सामान्य लोहारखाने और बढ़ईखाने में तैयार की जा सकती है। नानकिंग कृषि यंत्रीकरण अनुसंधान संस्था ने एक अच्छी, १०५वीं धान प्रतिरोपण मशीन बनाई है। धान की उपज में यह यंत्र बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है।

आलू रोपणयंत्र — आलू की पैदावार बढ़ाने तथा कम खर्च में अधिक आलू उपजाने के लिये अनेक देशों ने सफलता के साथ रोपणयंत्रों का उपयोग किया है। आलू की खेती में काम आनेवाले यंत्र दो प्रकार के होते हैं:

१. एक आदमीवाला, या पीकर टाइप यंत्र, और २. दो आदमी वाला, या प्लैटफॉर्म टाइप यंत्र।

एक आदमीवाला, या पीकर टाइप, यंत्र बड़ी सुगमता से आलू के एक एक टुकड़े को बक्से में से उठाता है और बीज को ठीक

जगह पर कूँड़ के अंदर डाल देता है। अन्य यंत्रों की अपेक्षा इस यंत्र का काम कुछ कठिन इस कारण होता है कि बीज छोटा बड़ा, टेढ़ा मेढ़ा होता है। इस यंत्र में एक उठानेवाला हाथ, पिक आर्म, होता है, जो बीज के बक्स से बीज उठाता है। उठानेवाले हाथ में दो सुइयाँ होती हैं, जो बीज के टुकड़े को छेदकर, इंजेक्टर नली द्वारा आलू के टुकड़े को कूँड़ में छोड़ देती हैं। आलू का टुकड़ा कूँड़ में ठीक जगह पर गिर जाता है। दूसरे तवे से मिट्टी बीज को ढँक देती है। भिन्न भिन्न क्षेत्रों की मिट्टी को गहरा और उथला करने के लिये इस मशीन में युक्तियाँ बनी रहती हैं। इस यंत्र में कुछ हानियाँ भी हैं। इससे फसलों की बीमारी फैल सकती है और बीज के एक के स्थान में दो टुकड़े गिर सकते हैं।

दो आदमीवाली प्लेटफार्म मशीन एक आदमीवाली मशीन से आकार और बनावट में भिन्न होती है। इसमें ऐसे पुर्जे रहते हैं जो बीज के बक्से में उथल पुथलकर बीज को ऊपर उठाते हैं और क्षैतिज घूमनेवाले एक प्लैटफार्म पर डालते हैं। प्लैटफार्म पर बीज पकड़ने का कोश (pocket) होता है। एक एक करके बीज प्लैटफार्म से बीज नली में गिरता है। यहाँ बीज का उठाना चेन द्वारा होता है, जिसमें छोटी छोटी कटोरियाँ लगी रहती हैं। यदि ये पुर्जे काम न करें, तो एक आदमी हाथ से आलू के टुकड़ों को रखता है। इन मशीनो में उर्वरक डालने की युक्तियाँ भी लगाई जा सकती है।

अन्य रोपणयंत्र — चुकंदर, गोभी, शकरकंद आदि साग-सब्जियों के उगाने में भी रोपणयंत्र का उपयोग हो सकता है। इससे श्रम, समय तथा धन की काफी बचत होती है। इन यंत्रों में कूँड़ बनाने की व्यवस्था रहती है, और पानी जमा करने की छोटी टंकी रहती है। कूँड़ की मिट्टी को समतल करने के लिये एक टिकली लगी रहती है। जब मशीन चलाई जाती है, तब कूँड़ में रासायनिक खाद अपने आप गिरती है, पौधे मिट्टी में जमा दिए जाते हैं और उनके चारों तरफ साथ ही साथ मशीन से पानी भी दिया जाता है। कैलिफ़ॉर्निया में इस यंत्र से एक दिन में तीन, या चार एकड़ भूमि में पौधे लगाए जाते हैं। कैलिफ़ॉर्निया में हवाई जहाज से भी बड़े कृषि क्षेत्रों में बीज का वितरण होता है।

मेंडकारी रोपकों (Lister Planters) द्वारा कम वर्षावाले क्षेत्रों में मक्का, कपास व दूसरी फसलें बोई जाती हैं। इन मशीनों से पहले कूँड़ बनाना, फिर बीज गिराना और साथ ही साथ बीज का मिट्टी से ढँकना, एक बार में ही हो जाता है। इसी प्रकार बोई हुई फसलों की निराई एवं गोड़ाई भी आसानी से की जा सकती है तथा खर पतवार से फसल को बचाया जा सकता है। मेंडकारी रोपक कई प्रकार के होते हैं। इनमे एक पक्तिवाले (one row working), एक पंक्ति दो चक्रवाले (one row, two wheel riding), एक पंक्ति चार चक्रवाले (one row, four wheel riding), एक पंक्ति वाइड ट्रेस ट्रैक गाइड (one row, wide trace, track guide), दो पंक्ति अश्व, या ट्रैक्टर (two row horse, or tractor) तथा तीन पंक्ति ट्रैक्टर (three row tractor) अधिक महत्व के हैं। ये जोतने और बोने दोनों का काम एक साथ करते हैं। अधिक कृषिक्षेत्रों में दो पंक्ति ट्रैक्टर और तीन पंक्ति ट्रैक्टर काम में आते हैं।

मक्का बोने की मशीन — मक्का बोनेवाले रोपक कई प्रक के बने हैं। कुछ एक पंक्तिवाले बीजवपित्र, (one row drill कुछ दो पंक्तिवाले वपित्र (two row drill), कुछ दो और च पंक्ति वाले शतरंजी (two and four check row) वपि और कुछ अन्य प्रकार के बने हैं।

कपास रोपक — आम तौर से कपास मेंडों पर बोई जाती है, जहाँ पर नमी की कमी होती है, वहाँ यह अन्य फसलों की भाँति बोई जाती है। प्राचीन काल में गाय के सींग में बीज भरक कूँड़ में बोया जाता था। पीछे मिट्टी के कूमों में बीज भरकर उसमें मिट्टी, रेती तथा बजरी मिलाकर बोया जाता था, ताकि कपास बीज एक दूसरे से चिपक न जाएँ। आज कपास बोने के अनेक प्रक के वपित्र बने हैं, जिनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं :

१. वन रो वर्किंग रेगुलर कॉटन ऐंड कॉर्न लिस्टर प्लैंटर (O row working, regular cotton and corn planter), वन रो राइडिंग रेगुलर कॉटन ऐंड कॉर्न लिस्टर प्लैंटर, ३. टू व्ही बैरो (Two wheel barrow), ४. थ्री व्हील बैरो (Three whe barrow), ५. फोर व्हील वाइड ट्रैक (Four wheel wi track), ६. टू रो राइडिंग (Two row riding), ७. रेगुलर कॉट ऐंड कॉर्न ड्रिल टाइप (Regular cotton and corn drill type ८. टू रो लिस्टर (Two row lister), ९. थ्री रो लिस्टर (Thr row lister) और १०. फोर व्हील वाइड ट्रैक (Four whe wide track).

इन वपित्रों की बनावट विचित्र है। इनमें कुछ में बीज साथ साथ उर्वरक डालने का भी प्रबंध रहता है। बोने के प्लेट बदलकर, कपास ही नहीं बल्कि मक्का, ज्वार आदि की भी बोआ की जा सकती है। एक पंक्तिवाले वपित्र से लगभग सात एकड़ भू की बोआई १० घंटे में की जा सकती है और चार पंक्तिवाले वपि से करीब ३५, ३६ एकड़ की बोआई १० घंटे में की जा सकती है।

[रा० प्र० स०

रोबट, (Robot) **या कृत्रिम पुरुष** किसी भी ऐसे यंत्र को कह हैं जो प्रायः मनुष्य के समान बुद्धिमान जान पड़ता है, चाहे उसक बाह्य आकार मनुष्य जैसा हो अथवा नहीं। रोबट शब्द चेक भा के रोबिट शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है काम (कर्म) चेकोस्लोवाकिया के कारेल कापेक (Karel Capek) नामक ए लेखक ने 'रोसम के विश्वव्यापी रोबट' (Rossum's Univers Robots) नामक एक नाटक लिखा था, जिसमें सब काम यांत्रि रोबट ही किया करते थे और जब वे घिसकर अदक्ष हो जाते तो वे बदल दिए जाते थे। नाटक में अंतिम परिणाम यह है कि इन रोबटों में वास्तविक बुद्धि आ गई और उन्होंने अंत में अप मालिकों का विनाश कर डाला। इसी नाटक से रोबट शब्द बहु प्रसिद्ध हो गया।

अलिफलैला में अली बाबा और चालीस चोर की कहानी है जिसमें गुफा का द्वार 'खुल जा समसम' कहने पर अपने आप खुलत था। अमरीका की एक कंपनी ने वस्तुतः ऐसा द्वार बनवाया था जो

इन्हीं शब्दों को उचित ढंग से कहने पर खुलता था और किन्हीं अन्य शब्दों के कहने से नहीं खुलता था। यह भी रोबट यंत्र का नमूना है।

रोबट यंत्र से ज्वारभाटा की ऊँचाई जानी जा सकती है। ऐसा यंत्र हारमोनिक विश्लेषण पर आश्रित होता है। प्रकाश विद्युत् सेलों (photo electric cell) के उपयोग से रोबट यंत्रों में मानो दृष्टि आ जाती है। विशेष ध्वनियों से समस्वरित (tuned) यंत्रों के
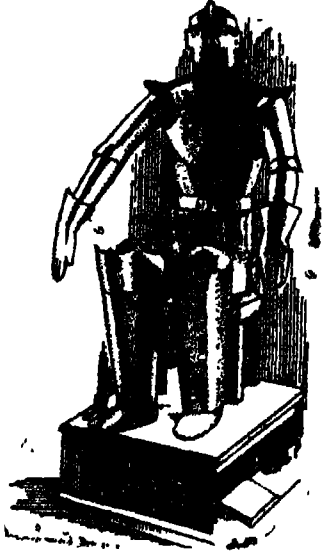
चित्र १. कृत्रिम पुरुष
यह भीतर छिपे यंत्रों के कारण
चल और बोल सकता है।

कारण मानो उनमें श्रवणशक्ति आ जाती है, सूक्ष्म तथा यंत्रचालित अंगुलिरूपी अवयवों से मानों इनमें स्पर्शशक्ति तथा कार्यकरण क्षमता आ जाती है, रासायनिक अभिक्रियाओं के उपयोग से मानों इनमें स्वाद तथा गंध की परख आ जाती है, और ग्रामोफोन की भाँति बोल तो निकल ही सकते हैं।

अमरीका की वेस्टिंगहाउस इलेक्ट्रिक ऐंड मैनुफैक्चरिंग कंपनी ने टेलवॉक्स (Televox) नामक यंत्र बनाया है, जो दूरस्थ विद्युत् मीटरों का पाठ बता सकता है, जल की ऊँचाई, गैस की दाब आदि भी बता सकता है और टेलिफोन द्वारा आज्ञा भेजने पर स्विच बंद कर, या खोल सकता है तथा इसी प्रकार के अन्य यांत्रिक कार्य कर सकता है। यह आज्ञा वस्तुतः कार्यकर्ता अपने मुख से नहीं देता, वह स्वरित्र द्विभुज (tuning fork) द्वारा देता है, जिसका स्वर सदा एक समान रहता है।

जहाजों में एक ऐसा यंत्र लगा रहता है, जिसका मुख्य भाग एक घूमता हुआ भारी चक्र होता है। यह जहाज को अधिक डगमगाने नहीं देता। इसे भी रोबट माना जा सकता है।

अनेक औद्योगिक कारखानों में ताप, आर्द्रता आदि के नियंत्रण के लिये यंत्र लगे रहते हैं। कार्य में त्रुटि होते ही मशीन को रोकने के लिये भी यंत्र रहते हैं। गणितीय समीकरणों को हल करने के लिये भी यंत्र बने हैं। गणना करने के ऐसे विद्युत् यंत्र बने हैं जो गणितज्ञ के महीनों के कार्य को मिनटों में कर डालते हैं। ये सब भी रोबट के नमूने माने जा सकते हैं (देखें स्वचालित मशीनें)।

राड्सकाया तथा क्राबोटिस्की के रूसी ग्रंथ में (जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'रेडियो टुडे' नाम से छपा है) अनेक इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों का विवरण है, जो सचमुच अत्यंत आश्चर्यजनक हैं। उदाहरणतः, ब्रिटिश इलेक्ट्रॉनिक मशीन 'ट्रिडैक' की सहायता से आलिखित (डिज़ाइन किए गए), परंतु बिना बने, वायुयान पर कई परीक्षण किए जा सकते हैं, जिनमें आँधी, पानी, हिम, यहाँ तक कि दुर्घटनाओं का भी प्रभाव उस वायुयान पर क्या पड़ेगा, यह सब पहले से जाना जा सकता है। परीक्षण का परिणाम लेखाचित्र (graph) के रूप में मिलता है, जो दिखाता है कि वायुयान की उड़ान किस प्रकार होगी। 'ट्रिडैक' से रॉकेट (Rocket) की उड़ान को दृष्टिगोचर किया जा सकता है और दो वायुयानों के युद्ध को भी देखा जा सकता है। यंत्र यह भी बता सकता है कि परीक्षित वायुयान से किस प्रकार लड़ना चाहिए कि विजय प्राप्त हो।

इसी ग्रंथ में अनुवाद करनेवाले यंत्रों का भी वर्णन है। सन् १९५५ में पहले से बने, बी० ई० एस० एम नामक रूसी इलेक्ट्रॉनिक गणक को अनुवाद के काम पर नियोजित किया गया। इन गणकों में केवल गिनतियाँ भरी जा सकती हैं और यंत्र केवल जोड़, बाकी, गुणा, भाग कर सकता है, परंतु इन क्रियाओं को इतनी शीघ्रता से करता है कि एक सेकंड मे लगभग दस हजार जोड़, या बाकी हो सकते हैं।
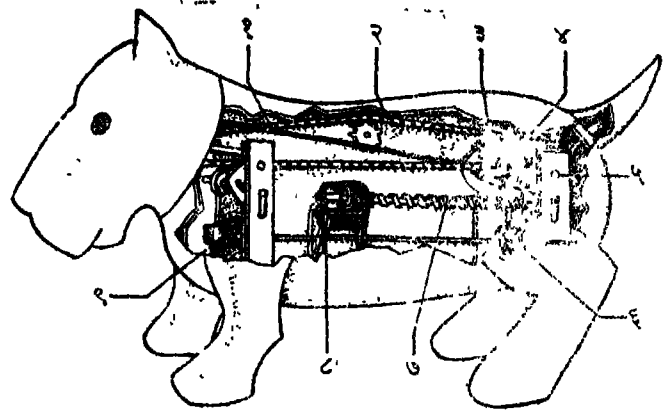
चित्र २. कृत्रिम श्वान

स्वामी के आदेशानुसार यह बैठता है, चलता है और भूँकता है।
(वेस्टिंगहाउस इलेक्ट्रिक ऐंड मैन्युफैक्चरिंग कंपनी)

शब्दों के बदले गिनतियाँ चुनकर यंत्र में ९५२ अंग्रेजी शब्द और १,०७३ रूसी शब्द भरे गए। वे शब्द गणित की एक पुस्तक के लिये चुने गए थे। अंग्रेजी शब्द दिए रहने पर, यंत्र उचित रूसी शब्द ढूँढ़ लेता था। जहाँ शब्द के एक से अधिक अर्थ लग सकते थे, वहाँ आगे और पीछे आनेवाले शब्दों के आधार पर उचित अर्थ देनेवाला शब्द ढूँढ़ता था, वाक्य के शब्दों को कुछ समय तक स्मरण रखता था और पहले से भरी गई वाक्यरचना के छह नियमों के अनुसार रूसी शब्दों को यथाक्रम लगा देता था। फिर एक अन्य यंत्र की सहायता से यह वाक्य छप जाता था। पता चला कि

यह यंत्र गणित की पुस्तकों का पर्याप्त अच्छा अनुवाद कर लेता था। एक गणितीय संमेलन पर समाचारपत्र में छपे विवरण का भी अनुवाद यंत्र ने कर दिया, परंतु उसमें कई शब्द ऐसे आए थे जिनका रूसी अनुवाद यंत्र में पहले से नहीं भरा गया था। इन स्थलों पर यंत्र ने अंग्रेजी के शब्दों को ज्यों का त्यों छाप दिया।

प्रसिद्ध रूसी वैज्ञानिक पैवलॉव (I. P. Pavlov) ने देखा कि कुत्तों को प्रति दिन खाना देने के पहले अनिवार्य रूप से घंटी बजाने का परिणाम यह होता है कि कुछ समय बाद घंटी बजाते ही कुत्तों के मुँह से लार टपकने लगती है। इसको प्रतिबंधित प्रतिवर्त (Conditioned reflex) कहते हैं। पूर्वोक्त ग्रंथ के अनुसार इसकी नकल में एक ऐसा यंत्र बनाया गया है जिसे 'कछुआ' नाम दिया गया है। यह कछुआ सीधी रेखा में चल सकता है, मुड़ सकता है, और उसमें प्रकाश तथा ध्वनि की अभिक्रिया उत्पन्न होती है। इसका प्रधान काम यह है कि प्रकाश को खोजकर ठीक उसकी ओर चले। बीच में बाधा पड़ने पर कछुआ पीछे हटता है, एकाएक मुड़ जाता है और फिर प्रकाश की ओर चलने लगता है। यदि प्रत्येक बार बाधा पड़ने पर घंटी बजाई जाय, तो कछुए के भीतर लगे एक विशेष यंत्र में स्मृति आ जाती है और अनेक बार के प्रयोग के बाद कछुए में ऐसी शक्ति आ जाती है कि केवल घंटी बजने से ही वह एकाएक मुड़ जाता है और फिर आगे बढ़ने लगता है। इससे बढ़कर प्रतिबंधित प्रतिवर्त का यांत्रिक उदाहरण और क्या हो सकता है? परंतु कछुए में इतना ही गुण नहीं है। यदि बहुत समय तक घंटी न बजाई जाय, तो कछुआ अपना पाठ 'भूल' जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे सजीव जंतु भूल जाते हैं। ऐसे यंत्र रोबट के वास्तविक नमूने माने जा सकते हैं।

[गो० प्र०]

रोम (Rome) स्थिति : ४१° ५५' उ० अ० तथा १२° २८' पू० दे०। यह इटली राष्ट्र की राजधानी है। वैटिकैन नगर को मिलाकर यह रोमन कैथोलिक धर्म का केंद्र भी है। नगर की स्थिति इटली प्रायद्वीप के मध्य में, पश्चिमी तट पर, टाइबर नदी के किनारे, नदी के मुहाने से १७ मील उत्तर-पूर्व में है।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि रोम नगर की नींव 'वर्गाकार रोम' के रूप में पैलेटाइन (Paletine) पहाड़ी पर रॉमुलस (Romulus) के द्वारा डाली गई थी। इसका विस्तार अन्य पहाड़ियों पर, एवं नदी के दोनों ओर, बाद में हुआ। रोम की एक विशेषता पहाड़ी ढालों पर इसके चित्ताकर्षक उद्यानों एवं गिरजाघरों की उपस्थिति है, जिनका दृश्य बड़ा ही रमणीक है। नगर में लगभग ३०० गिरजाघर कई पुस्तकालय, अजायबघर आदि हैं। विश्वविद्यालय भवन, यूरोप का सुंदरतम अस्पताल, पैलेस ऑव जस्टिस, आदि अन्य प्रसिद्ध भवन हैं। उद्योग धंधों का विकास पिछले ३५ वर्षों में हुआ है। रेल के डिब्बे, ट्रामकार, कृषियंत्र, शल्यचिकित्सा संबंधी यंत्र, कागज, रासायनिक पदार्थ, नकली रेशम, साबुन, कला-प्रदर्शन के सामान, जैसे फर्नीचर, काँच, गहना एवं चमड़े के सामान आदि तैयार करने के कारखाने यहाँ हैं। नगर पर्यटन का केंद्र एवं कृषिउपजों और ऊन का बाजार भी है। नगर की जनसंख्या २१,६०,७७३ (१९६१) है। इसी नाम के अन्य नगर संयुक्त राज्य, अमरीका, में भी हैं।

[सु० च० शै०]

रोमन काथलिक चर्च ईसा ने अपने भावी अनुयायियों की शिक्षा दीक्षा के लिये एक चर्च की स्थापना की थी और संत पीटर को इसका अध्यक्ष नियत किया था (दे० पीटर, संत)। संत पीटर का देहांत रोम में हुआ था जिससे प्रारंभ ही से रोम के बिशप को चर्च का परमाध्यक्ष माना जाने लगा। अनेक कारणों से इस चर्च की एकता अक्षुण्ण नहीं रह सकी (दे० चर्च का इतिहास)। पहले प्राच्य चर्च रोम से अलग हो गए (दे० प्राच्य चर्च)। बाद में प्रोटेस्टेंट धर्म का उदय हुआ जिसके फलस्वरूप पाश्चात्य चर्च के एक महत्वपूर्ण अंश ने रोम के बिशप का अधिकार अस्वीकार कर दिया (दे० प्रोटेस्टेंट धर्म)। यह सब होते हुए भी आजकल विश्व भर के ईसाइयों के आधे से कुछ अधिक लोग रोमन काथलिक चर्च के सदस्य हैं।

यह चर्च रोमन कहा जाता है क्योंकि रोम के वैटिकन नगर से इसका संचालन होता है (दे० वैटिकन)। काथलिक का मूल अर्थ व्यापक है। काथलिक चर्च का दावा है कि वह युगयुगांतर तक अर्थात् 'सब समय' सभी देशों के मनुष्यों के लिये खुला रहता है और ईसा द्वारा प्रकट की गई 'सभी' धार्मिक सच्चाइयाँ सिखलाता है। इन धर्मसिद्धांतों का सिंहावलोकन अन्यत्र दिया गया है (दे० ईसाई धर्म)।

काथलिक चर्च का संगठन सुदृढ़ और केंद्रीभूत है। इसके परमाध्यक्ष रोम के बिशप हैं जो संत पीटर के उत्तराधिकारी माने जाते हैं। (दे० पोप)। जहाँ कहीं भी काथलिक ईसाइयों का कोई समुदाय है, वहाँ उनके आध्यात्मिक संचालन के लिये रोम की ओर से अथवा रोम के अनुमोदन से एक बिशप की नियुक्ति की जाती है (दे० बिशप)। बिशप की अधीनता में पुरोहित विभिन्न स्थानो पर रहकर ईसाइयों को उपदेश दिया करते हैं और संस्कार प्रदान करते हैं (दे० पुरोहित)।

रोम में अनेक स्थायी समितियाँ और आयोग हैं जो कार्डिनलों की अध्यक्षता में समस्त रोमन काथलिक चर्च के संचालन तथा प्रशासन के लिये पोप की सहायता करते हैं (दे० कार्डिनल)।

[का० बु०]

रोमन सेना रोमन सेना की प्रगति को हम चार प्रमुख भागों में बाँट सकते हैं।

(१) रोम के प्रारंभिक युग में सेना एक नागरिक सेना थी।

(२) फिर इसका विकास विजयी गणतांत्रिक सेना में हुआ, जिसने क्रमशः इटली और भूमध्यसागरीय क्षेत्र का दमन किया। नागरिकों की पैदल सेना प्रति वर्ष की आवश्यकताओं के अनुसार आकार में बदलती हुई अंततोगत्वा अपनी लंबी सेवा तथा संगठन के साथ एक वेतनभोगी सेना के रूप में विकसित हुई।

(३) उसके बाद यह सुरक्षा की साम्राज्यवाहिनी बनी। नागरिक सेना से बदलकर यह दुर्गरक्षक सेना के रूप में परिणत हो गई और इसमें इटली तथा प्रदेशों के प्रतिनिधि भी थे।

(४) अंत में जंगली घुड़सवारों के आक्रमणों ने एक मैदानी सेना के निर्माण के लिये बाध्य किया, जो सीमा दुर्गरक्षक सेना से भिन्न थी और जिसमें बड़ी संख्या में सवार संमिलित हुए, और जो शीघ्र ही पैदल सेना से अधिक महत्वशाली सिद्ध हुई। रोमन

सेना पहले पैदल सिपाहियों की सेना थी, बाद की अवस्थाओं में उसमें घुड़सवारों की प्रमुखता हुई।

यह दीर्घ विकास निरंतर चलता रहा। वास्तव में यह विकास इतना अटूट है कि बहुत से सैनिक प्राविधिक शब्द युगों तक पूर्ववत् प्रयुक्त होते रहे। यद्यपि उनके अर्थ में गंभीर संशोधन हुए, किंतु उनका स्वरूप अपरिवर्तित रहा और साधारण पाठक प्राय: उस अनेकता को भूल जाते हैं जो इस भासित होनेवाली अपरिवर्तित व्यवस्था में निहित है। उदाहरण के लिये लीजन (Legion) शब्दावली सभी चार अवस्थाओं में आती है। किंतु प्रत्येक मे इसका महत्व भिन्न है। सदैव इससे नागरिक सैनिकों का बोध हुआ, सदा इससे यह भी प्रगट हुआ कि यह एक सेना थी जो यदि पूर्णतया नहीं तो प्रमुख रूप से विशाल पैदल सेना थी, किंतु इन दो लगातार ढाँचों की रचना समय समय पर बदलती रही। प्रथम अवधि में लीजन अनिवार्य भरती सेना थी, मैदान सँभालने के लिये जिसका आवाहन किया जाता था। द्वितीय अवधि में 'लीजन' संपूर्ण सेना नहीं थी, बल्कि यह प्रमुख इकाइयों में से एक थी जिनमें विकासमान संगठन से सेना को विभाजित कर दिया गया था, लीजन अब करीब पाँच हजार व्यक्तियों का समूह थी। लीजनों की संख्या परिस्थिति के अनुसार बदलती थी और सेना में नागरिकों के अतिरिक्त दूसरी टुकड़ियाँ भी संमिलित थी, यद्यपि अधिकतर वे महत्वपूर्ण नहीं थीं। तृतीय अथवा साम्राज्यवादी युग में बहुत सी लीजंस (वास्तव में एक नियत संख्या) विशेष दुर्गों में स्थित थी, अन्य टुकड़ियाँ भी थीं जिनमें बडी संख्या थी तथा जो महत्वपूर्ण थीं, यद्यपि अभी वे उतनी विशाल नहीं थी जितनी लीजन थीं। अंत मे लीजंस छोटी इकाइयाँ बन गई और अन्य तथा घुड़सवार सेना रोम की वास्तविक युद्ध वाहिनी बनी।

प्रथम चरण — प्रारंभिक रोमन सेना का इतिहास ठीक से अभिलिखित नहीं तथा से प्राय: मिथ्या कल्पनाओं दूषित भी है। हम तीन सौ सवारों की प्रारंभिक वाहिनी तथा तीन हजार पैदल सैनिकों, जिनमें घुड़सवार लगभग सब कुछ समझे जाते थे, के विषय में पढते हैं। किंतु यह संख्या स्पष्ट रूप से कृत्रिम तथा गढ़ंत है। घुडसवारों को दी गई प्रमुखता का कोई उल्लेख उत्तर रोम के इतिहास में नहीं मिलता। सर्वियस टूलिअस द्वारा किए गए संगठन के साथ हम दृढ़तर स्तर पर पहुँचते हैं। इस व्यवस्था में १७ वर्ष से लेकर ६० वर्ष तक की अवस्था के सभी नागरिक सेना में संमिलित होते थे। ४७ वर्ष से नीचे के व्यक्ति लड़नेवाली सेना में तथा अधिक बड़ी अवस्था के लोग रोम में दुर्गरक्षक का काम करते थे। सर्वप्रथम सैनिकों की श्रेणियाँ संपदा के आधार पर की जाती थीं। खुद अपने घोड़े और कवच इत्यादि देनेवाले घुड़सवार होते थे। उनके सिवा विशाल पैदल सेना, शेष लघु पैदल सेना और कुछ तोपखाना होता था। विशाल पैदल सेना का अत्यधिक महत्व था। लंबे बल्लमों के साथ सुसज्जित तथा तीन श्रेणियों में विभक्त होकर सैनिक युद्धपंक्ति बनाते थे और सामूहिक रूप में आक्रमण करते थे तथा घुड़सवार दलों की रक्षा करते थे। लोग एक वर्ष के लिये भर्ती किए जाते थे अर्थात् गर्मी के युद्ध के लिये। पतझड़ में असी प्रारंभ काल की सेना की भाँति घर चले जाते थे।

द्वितीय चरण — इस सरवियन सेना में क्रमिक परिवर्तन के होने पर विजयी गणतांत्रिक सेना का जन्म हुआ। प्राचीन अधिकारी बतलाते हैं कि कैमिलस ने वेतन और दीर्घ सेवा का प्रारंभ किया, कवच और हथियारों में सुधार किया और सेना के छोटे छोटे डिवीजन बनाए।

कैमिलस के विषय में जो कुछ भी सत्य हो इस तरह के कुछ सुधार कभी अवश्य ही सरवियन व्यवस्था को ऐसी सेना में बदलने के लिये किए गए थे, जो इटली और संसार को जीतने में लगभग तीन शताब्दियों तक (३५० ई० पूर्व से) लगी रही। इस सेना ने क्रमश: इटली के दृढ़ सैनिकों तथा स्पेन के पर्वतारोहियों को पराजित किया और मेसीडोनिया के प्रशिक्षित सैनिकों को भी हरा दिया। केवल एक बार हनीबाल के विरुद्ध अवश्य असफल रही किंतु हनीबाल भी इसे खाइयों से हटा न सके और उसकी विजय भी उसकी हिम्मत को स्थायी रूप से तोड़ न सकी। इसकी अधिक शक्ति का कारण था साधारण सिपाहियों का श्रेष्ठ चरित्र, कठोर अनुशासन और उच्च प्रशिक्षण।

द्वितीय चरण में सेना का आकार तथा उसकी बनावट — साधारण रिवाज के अनुसार दो कौंसलों (consul) में से प्रत्येक को एक सेना के दो लीजनों का संचालन करना पड़ता था। यदि दोनों कौसल अपनी सेनाओं को संयुक्त करते थे, तो इस संयुक्त सेना को वे क्रम से संचालित करते थे (जैसा प्राय: होता था), इसमें ४ लीजन, प्रत्येक में ४२०० पैदल, मित्रों की पैदल सेना की वही संख्या, (कुल ३३६०० पैदल सिपाही), १२०० लीजिनरी घुडसवार और लगभग ३६०० मित्र सेना के घुड़सवार, कुल ३८४०० मनुष्य थे। उदाहरणत: ट्रीबिया मे (२१८ ई० पूर्व) इस प्रकार की रोमन सेना थी, जहाँ सोलह हजार लीजनरी तथा बीस हजार मित्र पैदल सेना ने युद्ध किया। युद्धस्थल में मनुष्यों की कुल संख्या बढ़ाई जा सकती थी। द्वितीय प्यूनिक युद्ध में एक बार २३ लीजन सेना के लड़ने की बात हम सुनते हैं। २२५ ई० पूर्व मे, इस युद्ध के ठीक पहले रोम की कुल सैन्यशक्ति साढ़े सात लाख थी जिसमें से लगभग ६५००० युद्धस्थल में और ५५००० रोम में सुरक्षित सैनिक थे। कुल सैनिकों मे से ३२५००० रोमन नागरिक थे और ४४३००० मोटे अनुमान से मित्र सैनिक थे। सामान्य परिस्थितियों में युद्ध व्यवस्था साधारण थी। मध्य में रोम की पैदल सेना खड़ी होती थी। उसके उभय पार्श्व में मित्र पैदल सेना होती थी, दाएँ बाएँ घुड़सवार भी होते थे किंतु कभी कभी रोमन सेनाएँ रक्षित रहती थी और युद्ध प्रहार का काम मित्र सेनाओं के ऊपर छोड़ दिया जाता था। प्राय: आक्रमण एक पक्ष से प्रारंभ होता था, जैसे सीजर ने फारसेलस में किया था। स्पेन के इलिया नामक स्थान पर सिपियो ने अपनी सैन्य व्यवस्था में अंतिम समय परिवर्तन लाकर शत्रुओं को चकित कर दिया। अपनी स्पेनिश सहायक सेनाओं को मध्य में तथा रोमन टुकड़ियों को बगल में करके, उसने केंद्र को अनुप्राणित कर पुन: दोनों पक्षों से आक्रमण किया।

द्वितीय चरण से तृतीय चरण तक — गणतंत्र के अंतिम समय में रोमन सेना में स्वयं अनेक परिवर्तन कार्यशील होने लगे। स्पेन में और पूर्व में दीर्घकालीन विदेशी युद्धों के कारण यथेष्ट प्रभाव पड़ा।

इसके अतिरिक्त समृद्धिशाली राज्य के रूप में रोम का विकास होने से उस प्राचीन सिद्धांत का अंत हो गया जिसके अनुसार प्रत्येक नागरिक एक सैनिक था। परिणामस्वरूप अब व्यापारी और सेना के बीच श्रमविभाजन हो गया। साथ ही युद्ध की बढ़ती जटिलताओं के कारण दीर्घकालीन प्रशिक्षण तथा पेशेवर सैनिकों की आवश्यकता हुई। फलस्वरूप, लगभग १०४ ई० पूर्व में मैरिअस ने कुछ प्रकार की संपदा के आधार पर मनुष्यों के लिये सैनिक सेवा के पुराने प्रतिबंध को समाप्त कर दिया। अब सेनाएँ पूर्णतः सर्वहारा और पेशेवर हो गईं।

मेरिअस के नाम पर ही द्वितीय परिवर्तन द्वारा सेना का पुनः संगठन हुआ जिसमें ६००० सिपाही थे। ३० छोटी टुकड़ियों के स्थान पर सेना अब १० डिवीजनों (कोहर्ट्स) में विभाजित की गई। इस प्रकार कार्यनिपुणता की इकाई १२० व्यक्तियों के स्थान पर ६०० की हो गई। शीघ्र ही इसके पश्चात् सभी इटली वासियों के लिये रोमन मताधिकार के विस्तार ने मित्र राज्यों तथा अधीन राज्यों की प्रजाओं को भी नागरिकों का रूप दे दिया। एक चौथे परिवर्तन ने लीजनरी घुड़सवारों को समाप्त कर दिया और सहायक सेना को बहुत बढ़ा दिया।

तृतीय चरण — सुरक्षा की साम्राज्यवादी सेना–गृहयुद्धों (४९–३१ ई० पू०) की बुराइयों ने प्रथम सम्राट् आगस्टस को सेना के सुधार के लिये आवश्यकता तथा अवसर प्रदान किया। २० वर्ष से अव्यवस्था बनी हुई थी, अतः राजभक्ति तथा व्यवस्था समान रूप से पुनःस्थापित करना आवश्यक था। आगस्टस ने जिस प्रकार अपने सभी कामों को पुरानी बातों का अनुसरण करते हुए किया उसी प्रकार उसने यह भी किया। फिर भी इस कथन में सत्यता है कि उसके सैन्य सुधार उसके महानतम तथा सबसे अधिक मौलिक कार्य हैं। साम्राज्य की सेना अब दो श्रेणियों अथवा वर्गोंवाली हो गई, जो संख्या में लगभग समान, किंतु महत्व में असमान थे। प्रथम वर्ग की वह सेना थी जिसमें रोमन नागरिक, चाहे वे इटली के निवासी थे या प्रांतों के, भर्ती किए जाते थे। दूसरी श्रेणी सहायक सेना से बनी थी, जिसमें साम्राज्य की प्रजा (नागरिक नहीं) भर्ती की जाती थी। रोम में विशेष प्रकार की घरेलू टुकड़ियाँ भी थीं और "विजिलीस" या प्रहरियों का एक बहुत बड़ा दल था जो फायर ब्रिगेड और पुलिस दोनों का काम करता था।

तृतीय चरण में सेना का संगठन तथा टुकड़ियों का विभाजन — यदि लीजन्स और सहायक सेना की यह व्यवस्था साम्राज्य के प्रारंभिक दिनों में अनूठी थी, तो इनका प्रयोग भी इससे कम अनूठा नहीं था। बाद के गणतंत्र में विशाल सामरिक सेना दिखाई पड़ती है, यद्यपि विशेष प्रदेशों के लिये विशेष लीजन की व्यवस्था की प्रवृत्ति का भी आभास होता है, किंतु यह प्रवृत्ति बहुत क्षीण है। आगस्टस ने विशाल सामरिक सेना के युग को समाप्त कर दिया वह राजसिंहासन के भावी दावेदारों के लिये ऐसे हथियारों की छूट नहीं दे सकता था। निश्चित सीमा के भीतर साम्राज्य को रखते हुए उसने एक दूसरी प्रवृत्ति विकसित की। तत्कालीन सैनिक स्थिति में वह नीति पूर्णतः ठीक उतरी। प्रारंभिक रोमन साम्राज्य को आधुनिक साम्राज्यों की तरह समान शत्रु के साथ युद्ध संकट और अपनी पूरी राष्ट्रीय सेना को युद्ध करने के लिये प्रवृत्त करने की आवश्यकता का सामना नहीं करना पड़ा। आगस्टस के समय से लेकर २५० ई० तक रोम का कोई भी ऐसा शत्रु नहीं था जिससे आक्रमण का भय हो। सुदूरपूर्व में अवश्य उसके बराबर शक्तिशाली तथा उसके लिये घातक एक राज्य पार्थिया था पर वह उसपर हमला करने के योग्य नहीं था। अन्यत्र उसकी सीमाएँ कम या अधिक जंगली असभ्यों से घिरी हुई थीं जो प्रायः कष्टदायक होते हुए भी गंभीर क्षति नहीं पहुँचा सकते थे। इनका सामना करने के लिये दो या एक छावनियों में केंद्रित दृढ़ सेना की ऐसी कोई आवश्यकता नहीं थी बल्कि प्रत्येक सीमा पर बहुत से बिखरे हुए दुर्गरक्षकों की आवश्यकता थी जिनके निकट थोड़े से मजबूत किले हों जो इन दुर्गरक्षकों के लिये सैनिक केंद्र के रूप में कार्य कर सकें।

इसके अनुसार आगस्टस तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय एक व्यवस्था निश्चित हुई, जिससे पूरी सेना सीमाओं पर अथवा विशेष रूप से अव्यवस्थित जिलों में (उत्तरी पश्चिमी स्पेन) स्थायी दुर्गरक्षकों के रूप में विभाजित कर दी गई। वास्तविक सीमाओं पर तथा उनसे मिलनेवाले राजमार्गों पर मुख्य सेनाओं के डिवीजन और सहायक सैनिक टुकड़ियाँ अपने तीन से सात एकड़ विस्तार-वाली चौकियों की रक्षा करते हुए स्थित थे। सीमाओं के ठीक पीछे या सीमाओं पर भी ५०, ६० एकड़ के लघु दुर्गों में २५ लीजन सैनिक तैनात थे। कभी कभी जहाँ राइन अथवा डैन्यूब सहायता नहीं करती थीं और जहाँ बाहरी शत्रु बहुत होते थे, वहाँ सीमा की अतिरिक्त किलाबंदी लकड़ी के खंभों की लगातार दीवालों से होती थी (जैसे जर्मनी के भाग में) अथवा पत्थर की दीवालों से (जैसे ब्रिटेन में), या फिर सीमा पर स्थित चौकियों से पहरा दी जानेवाली सड़कों द्वारा सीमा की रक्षा होती थी (जैसे रोमन अफ्रीका के भागों में)। परिणाम यह हुआ कि जर्मन महासागर से कृष्ण महासागर तक ब्रिटेन और यूरोप तक तथा ऊपरी यूफ्रीटीज घाटी तथा ट्यूनिशिया अल्जिरिया और मोरक्को के दक्षिण सहारा के उपांत तक एक लंबी सीमा प्रहरियों द्वारा रक्षित थी किंतु विस्तृत साम्राज्य के भीतर शायद ही कभी एकाध सिपाही दिखाई देता था।

तृतीय चरण से हुए क्रमिक परिवर्तन — दो प्रमुख कारणों ने आगस्टस की सेना में क्रमशः परिवर्तन किया। सर्वप्रथम रोम-साम्राज्य की शांति ने अनेक जिलों में ऐसी समृद्धि ला दी कि उन जिलों से पर्याप्त मात्रा में सैनिक मिलने बंद हो गए। भारत में अंग्रेजों की भाँति रोमनों को भी असभ्य भागों तथा अपनी सीमाओं के बाहर भी अधिकाधिक ध्यान देना पड़ा। इसलिये दूसरी शताब्दी में और उसके बाद विदेशी सैनिकों का एक नया वर्ग आया जो अपने राष्ट्रीय हथियारों तथा युद्धविद्या का प्रयोग प्रारंभिक सहायक सैनिकों की भाँति करता रहता था। अधिक से अधिक गैर-रोमन तत्व सेना में देख पड़ने लगे। यह प्रवृत्ति तीसरी शताब्दी में बहुत स्पष्ट हो गई और इसके अंत में इसके गंभीर परिणाम निकले। दूसरी बात यह हुई कि केवल सीमा रक्षा के पुराने दिन समाप्त हो

गए। १६० ई० से ही जंगली लोगों ने साम्राज्य की सीमाओं पर धावा बोलना शुरू कर दिया। २५० ई० के लगभग कुछ स्थानों पर वे सफल हुए और इसके बाद उनकी संख्या सदा बढ़ती गई। इसके अतिरिक्त वे घोड़ों की पीठ पर चढ़कर आए थे, जिससे रोमन पैदल सेना को नई व्यूहरचना का सामना करना पड़ा। ऐसी स्थिति में साम्राज्य जो कुछ कर सकता था, किया। उसने जंगलियों से लड़ने के लिये जंगलियों की भर्ती की और सेना में रोमनों के अतिरिक्त अन्य तत्वों को स्वतंत्रतापूर्वक मिलाया। इससे उनके घुड़सवारों की शक्ति अपेक्षाकृत बढ़ गई और एक विशिष्ट क्षेत्रीय युद्धसेना संगठित होनी प्रारंभ हो गई।

चतुर्थ अवस्था — डायोक्लेशियन तथा कांस्टेंटिन महान् (२८४ ई० लगभग ३२०) के सुधारों में इसके परिणाम दिखाई दिए। नए सीमाप्रहरी स्थापित किए गए और प्राचीन सेना युद्धसेना के रूप में पुनः संगठित हुई जो युद्ध के समय सम्राट् के साथ प्रयाण करती थी या कर सकती थी। लीजन्स की महत्ता कम हुई। प्रमुख सिपाही वेतनभोगी थे जो अधिकतर जर्मन थे और असभ्य लोगों में से भर्ती किए गए थे। अब नए पदों की सृष्टि हुई और स्पष्ट हो गया कि बहुत बातों में व्यवस्था पुरानी नहीं है। इस व्यवस्था के विस्तृत विवरण उतने ही जटिल हैं जितने इस युग के प्रशासनिक ढाँचे।

युद्ध कार्यालय — गणतंत्र के भीतर न तो हम कोई ऐसी केंद्रीय संस्था पाते हैं और न पाने की वास्तव में हमें आशा ही करनी चाहिए, जिसे सैन्य व्यवस्था का विकास या सैन्य वित्त या युद्धकालीन सैन्य नीति का कार्य विशेष रूप से सौंपा गया हो। फिर साम्राज्य के भीतर भी इस तरह का कोई संगठन नहीं था। निःसंदेह सम्राट् ही, सेनापति के रूप में, और उनके कम या अधिक गैरसरकारी सलाहकार नीति के प्रश्नों का निश्चय करते थे। किंतु सेना प्रादेशिक सेनाओं का ऐसा समूह थी कि प्रत्येक प्रदेश में प्रमुख अधिकारियों के ऊपर बहुत कुछ छोड़ दिया जाता था। साम्राज्य के दूसरे भागों की तरह यहाँ भी यदि स्वशासन के लिये नहीं, तो कम से कम लगातार परिवर्तन के प्रति प्रेम हमें दिखाई देता है। रोम में एक केंद्रीय वित्त कार्यालय था। जिसका कार्य नौकरी से हटे हुए सिपाहियों की आर्थिक सहायता की व्यवस्था करना था सन् ६ ई० में आगस्टस ने इसे स्थापित किया था और इसकी आय के लिये वसीयतनामा पर ५ प्रतिशत, बिक्री पर १ प्रतिशत कर लगता था। वसीयतनामा का कर निकट के संबंधियों या थोड़ी रकमों पर नहीं लगाया जाता था। [शा० नं० सिं०]

रोमपाद धर्मरथ (बृहद्रथ) के पुत्र और अंगदेश के राजा थे जिन्हें चित्ररथ, दशरथ और लोमपाद भी कहते हैं (हरवंश पु० १.३१.४६)। इन्होंने अयोध्या के महाराज दशरथ की कन्या शांता को अपनी पोष्य कन्या बनाया था। एक बार जब अंगदेश में अवर्षण हुआ तो इनसे कहा गया कि विभांडक ऋषि के पुत्र ऋष्यशृंग को निमंत्रित करने पर वृष्टि होगी। ऋष्यशृंग परम तपस्वी थे। उन्हें बुलाने के लिये अप्सराएँ भेजी गईं। उस समय विभांडक अपने आश्रम से बाहर गए हुए थे। इसी बीच ऋष्यशृंग अंगदेश पहुँचे और वहाँ वृष्टि हुई। रोमपाद ने प्रसन्न होकर इन्हीं से शांता का विवाह किया और अपना राज्य भी इन्हें सौंप दिया (महा० व०, ११३, ११)। [रा० द्वि०]

रोमहर्षण क्षत्रिय पिता तथा ब्राह्मणी माता से सूत कुलोत्पन्न, व्यासकृत आद्यपुराण की छह संहिताओं का निर्माता, पुराणकथन के लिये ऋषियों द्वारा गौरवान्वित, अपनी रोमांचित कर देनेवाली वक्तृत्वशक्ति के कारण लोमहर्षण अथवा रोमहर्षण कहलाया जो नैमिषारण्य में शौनक आदि ऋषियों द्वारा आयोजित द्वादशवर्षीय सत्र के क्रम में कथावाचन के समय पधारे बलराम को, अस्वस्थ होने से उत्थापन न दे सकने के कारण आषाढ़ शुक्ल द्वादशी के दिन उनके द्वारा मारा गया।

रोमानॉफ (रोमानोव) राजवंश (१६१३-१९१७ ई०) रूस का राजवंश। १६१३ ई० में माइकेल रोमानॉफ इस वंश का पहला सम्राट् (ज़ार) चुना गया। इसके राज्यकाल (१६१३-१६४५ ई०) में स्टोलबोवा की संधि (१६१७) से स्वीडिश लड़ाई का अंत हुआ। १६१९ ई० में पोलैंड से भी संधि हुई। स्मोलेंस्क लेने का प्रयत्न (१६३२-१६३४) असफल रहा।

अलेक्सिस मिखाइलेविच ने १६४५ से १६७६ ई० तक राज्य किया। कई विद्रोहों का दमन किया गया। पोलैंड तथा स्वीडन से युद्ध हुए। १६६१ में स्वीडन से और १६६७ में पोलैंड से संधियाँ हुईं। रूसी साम्राज्य का विस्तार हुआ। अलेक्सियस प्रगतिवादी तथा विद्वान् शासक था। उसके उत्तराधिकारी थियोडोर तृतीय का शासन १६७६ से १६८२ तक रहा।

पीटर प्रथम (महान्) १६८२ में ज़ार चुना गया किंतु १६८९ तक इसकी बहन सोफिया ने राजप (रीजेंट) के रूप में कार्य किया। पीटर ने रूस को यूरोप में महत्वपूर्ण स्थान दिलाया। अजोव जीतकर (१६९६) रूस को समुद्री बंदरगाह दिलाया। १७२१ की संधि द्वारा उसने स्वीडन से एस्थोनिया, इंग्रिया, लिवोनिया, पेरेस्टर प्राप्त किया। पीटर्सबर्ग (लेनिनग्राड) शहर बसाया। पीटर प्रथम की पुत्री एलिजाबेथ (१७४१-६२) के शासनकाल में फिनलैंड (१७४३) रूस में मिलाया गया और सप्तवर्षीय युद्ध हुआ। दूसरी विख्यात सम्राज्ञी कैथरीन के शासनकाल (१७६२-१७९६) में पोलैंड का अंग भंग किया गया, तुर्की से दो युद्ध किए गए तथा क्रीमिया जीता गया। डार्डेनल मार्ग प्राप्त करने का यत्न प्रारंभ हुआ। नीस्तर नदी तक रूस का विस्तार हुआ। मोलडाविया और वालूचिया रूसी संरक्षण में आए। स्वीडन से युद्ध (१७९०) हुआ।

अपने शासनकाल (१८०१-१८२५) में अलेक्जैंडर प्रथम फ्रांस से संधि करने, नेपोलियन को हराने, विएना कांग्रेस में राजतंत्र को दृढ़ करने और फ्रेंच राज्यक्रांति के प्रभावों को मिटाने के लिये 'राज्यसंघ' बनाने का यत्न करने, तिलसित संधि (१८०७), स्वीडन से युद्ध (१८०८-१८०९) और तुर्की से तीसरा युद्ध (१८०९-१२) करने के कारण प्रसिद्ध है। नेपोलियन को पराजित करने के लिये मॉस्को इसी के समय में जलाया गया।

निकोलस प्रथम ने अपने शासनकाल (१८२५-१८५५) में ग्रीस

की स्वतंत्रता का समर्थन तथा पोलिश विद्रोह का दमन किया। डार्डेनल्स के मार्ग से रूसी जंगी जहाजों के जाने पर मनाही हो गई। क्रीमिया युद्ध (१८५३-१८५६) में रूस को भारी अपमान सहना पड़ा। परंतु इससे रूसी राज्यविस्तार रुका नहीं।

अलेक्जैंडर द्वितीय के समय (१८५५-८१) कॉकेसस रूस के अधिकार में आ गया (१८५६) और सुदूरपूर्व में आमूर (चीन से, १८६०) तुर्किस्तान-फ़रगना (१८६३) रूसी साम्राज्य का भाग हो गए। किंतु रूस के अंदर ज़ार के विरुद्ध षड्यंत्र होने लगे। निहिलिज़्म का उदय हुआ। पोलों का विद्रोह (१८६३) फिर दबा दिया गया। १८७७-७८ में तुर्कों से की गई लड़ाई सफल रही और सैन स्टेफानो की संधि हुई।

अलेक्जैंडर तृतीय के समय (१८८१-९४) रूस का झुकाव अधिकाधिक फ्रांस की ओर हो गया और १८९१ में फ्रांस के साथ रूस की संधि भी हुई। ब्रिटेन के साथ भी रूस की मैत्री हुई। यह ऑस्ट्रिया जर्मनी की मैत्री के विरोध में थी। एशिया में राज्य बढ़ा, परंतु बाल्कन प्रायद्वीप से रूस का प्रभाव लुप्तप्राय हो गया।

रोमानॉफ वंश के अंतिम सम्राट् निकोलस द्वितीय के समय (१८९४-१९१७) जापान से पराजित होने (१९०४-१९०५) के कारण देश का बहुत बड़ा भाग छिन गया। ज़ारशाही का अंत करने के लिये १९०५ में विद्रोह हुआ। जनता को शांत करने के लिये 'ड्यूमा' की स्थापना (१९०५) की गई। जनता असंतुष्ट रही और शासन की नीति प्रतिगामी रही। यूक्रेन में सांस्कृतिक स्वराज्य की माँग का जोर बढ़ा। फिनलैंड, पोलैंड और अन्यान्य स्थानों में विद्रोह का दमन तथा क्रांतिकारियों का निर्वासन हुआ। आर्थिक स्थिति बिगड़ी। १९१४-१८ के महायुद्ध में रूस जर्मनी के विरुद्ध लड़ा और बुरी तरह पराजित हुआ। १५ मार्च, १९१७ को ज़ार निकोलस द्वितीय को राजसिंहासन छोड़ना पड़ा। ८ जुलाई, १९१८ को एकाटेरिनबर्ग की जेल में रोमानॉफ वंश के अंतिम सम्राट् को गोली मार दी गई। [अ० कु० वि०]

रोमानिया स्थिति : ४३° ६' से ४८° ५' उ० अ० तथा २०° ४' से ३१° ०' पू० दे०। यह यूरोप महाद्वीप में स्थित एक स्वतंत्र देश है। इसका क्षेत्रफल ९१,६७१ वर्ग मील तथा जनसंख्या १,८५,९६,६३२ (१९६१) है। यहाँ के लगभग ८५ प्रति शत निवासी रोमानिया की भाषा बोलते हैं।

रोमानिया अन्न का देश कहा जाता है। यहाँ पर लोहे और कोयले की कमी है एवं पूँजी का अभाव तथा बाजार सीमित है, इसलिये यहाँ के १० प्रति शत मनुष्य ही उद्योग धंधों पर आश्रित हैं। ट्रैंसिलवेनिया के पूर्वी तथा पश्चिमी प्रदेशों में गेहूँ तथा मक्के की खेती होती है। प्राचीन ढंग से खेती होते हुए भी यहाँ गेहूँ अधिक पैदा होता है। चुकंदर, तंबाकू तथा अंगूर गौण उपज हैं।

रोमानिया में अनेक खनिज पदार्थ भी उपलब्ध हैं, जैसे खनिज तेल, सोना, ताँबा, सीसा, चाँदी, मैंगनीज, ऐंटीमनी, जस्ता आदि। पूर्वी मैदानों के पहाड़ी प्रदेश में खनिज तेल का वार्षिक उत्पादन ६० लाख टन से भी अधिक होता है। तेल के उत्पादन में संसार में रोमानिया का छठा स्थान है। नलों द्वारा तेलक्षेत्र काले सागर पर स्थित कॉन्स्टानत्सा बंदरगाह से संबद्ध है। कच्चा लोहा ट्रैंसिलवेनिया में मिलता है।

रोमानिया के पश्चिमी प्लेटो में ओक, बांज (beech) बीच आदि
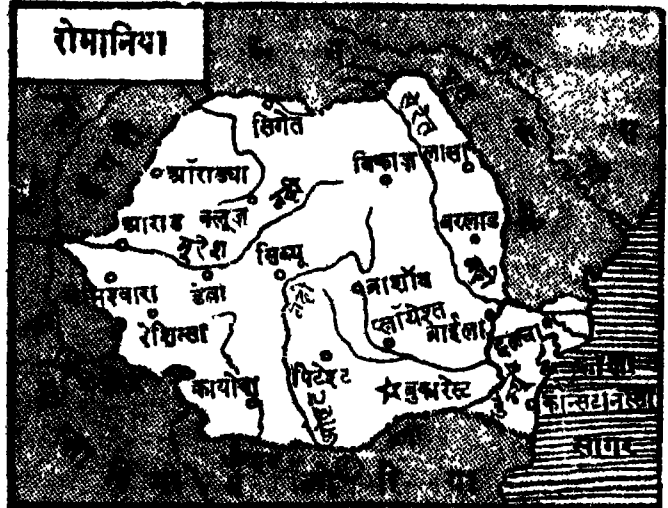
के वृक्ष पाए जाते हैं। शराब, कागज, आटा और रासायनिक पदार्थ बनाना यहाँ के प्रमुख उद्योग हैं।

बुकारेस्ट यहाँ की राजधानी तथा रेलों का केंद्र है। गोलाट्ज डैन्यूब नदी पर स्थित बंदरगाह है, जहाँ से गेहूँ तथा तेल का निर्यात होता है। कॉन्स्टानत्सा काले सागर पर स्थित रोमानिया का मुख्य बंदरगाह है। [रा० स० ख०]

रोमुलस मार्स (रणदेवता) का लड़का कहा जाता है। रोमुलस और रेमस एक ही साथ सिल्विया के गर्भ से उत्पन्न हुए और उनके दादा ने उन्हें एक डिब्बे में रखकर टाइबर नदी में फेंक दिया। बाद में इसी स्थान पर रोम बसा और बहुत समय तक इसे एक पवित्र स्थान माना जाता रहा। उस स्थान से इन दोनों बच्चों को निकालकर एक मादा भेड़िए ने उनको दूध पिलाया। इसके बाद वे दोनों बच्चे एक लकड़हारा के हाथ लगे। अंत में एक गड़रिया दंपति ने इनका पालन पोषण कर इन्हें बड़ा किया। ये दोनो ही उस गड़रिए के एक लड़ाकू दल के नेता बनकर इधर उधर लड़ाई झगड़ों में फँसे रहे। इसी बीच उनके बाबा ने उन्हें पहचान लिया और उन्होंने एमुलियस की हत्या कर उन्हें अपनी गद्दी पर बैठाया। बाद में एक झगड़े में रेमस मारा गया। रोमुलस ने भूले भटके और बिखरे हुए लोगों को एकत्र कर अपनी शक्ति दृढ़ की। बलात् औरतें पकड़कर उनसे शादी करवाई और अपने शत्रुओं से लड़ता रहा। उसका सर्वाधिक भयानक शत्रु टाइटस टेटियस था। लेकिन भीषण संघर्ष के बाद दोनों ने संधि कर ली और दोनों साथ साथ राज्य करते रहे। इसके बाद लेविनियम में टेटियस की मृत्यु हो जाने पर वह निर्विघ्न रूप से शासन करने लगा। पर एक दिन अचानक ही एक तूफान में फँसकर गायब हो गया। तभी से एक देवता के रूप में उसकी पूजा होने लगी। अनेक मनगढ़ंत उपाख्यान

रोमानिया (देखें पृष्ठ २४०)

बुखारेस्ट का एक संग्रहालय
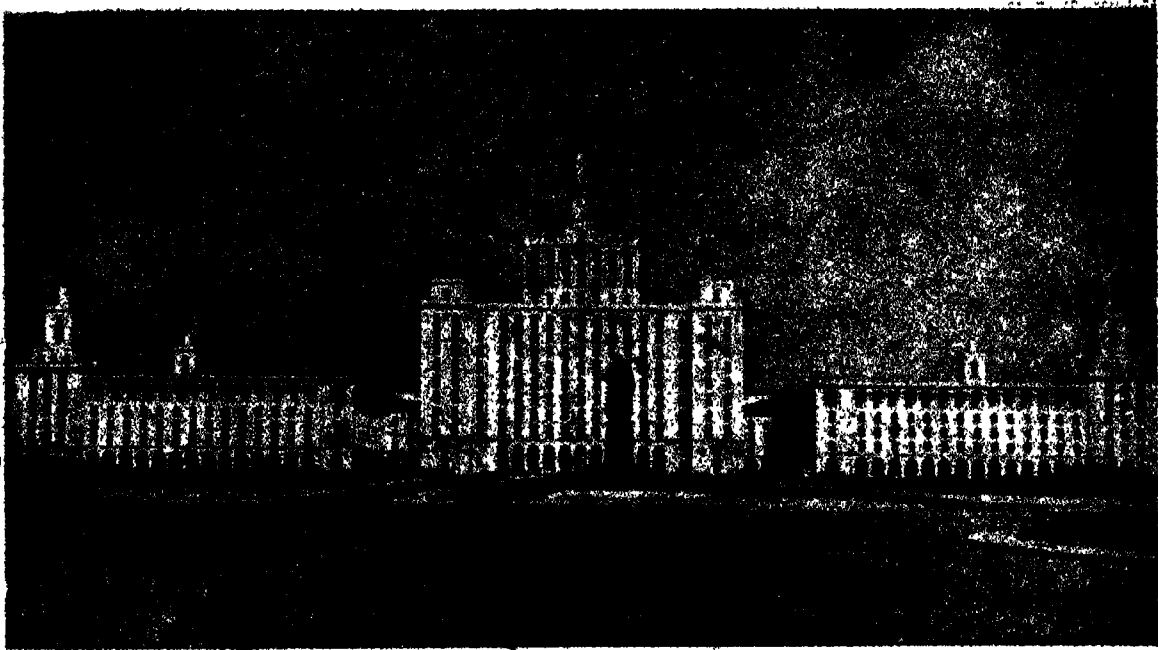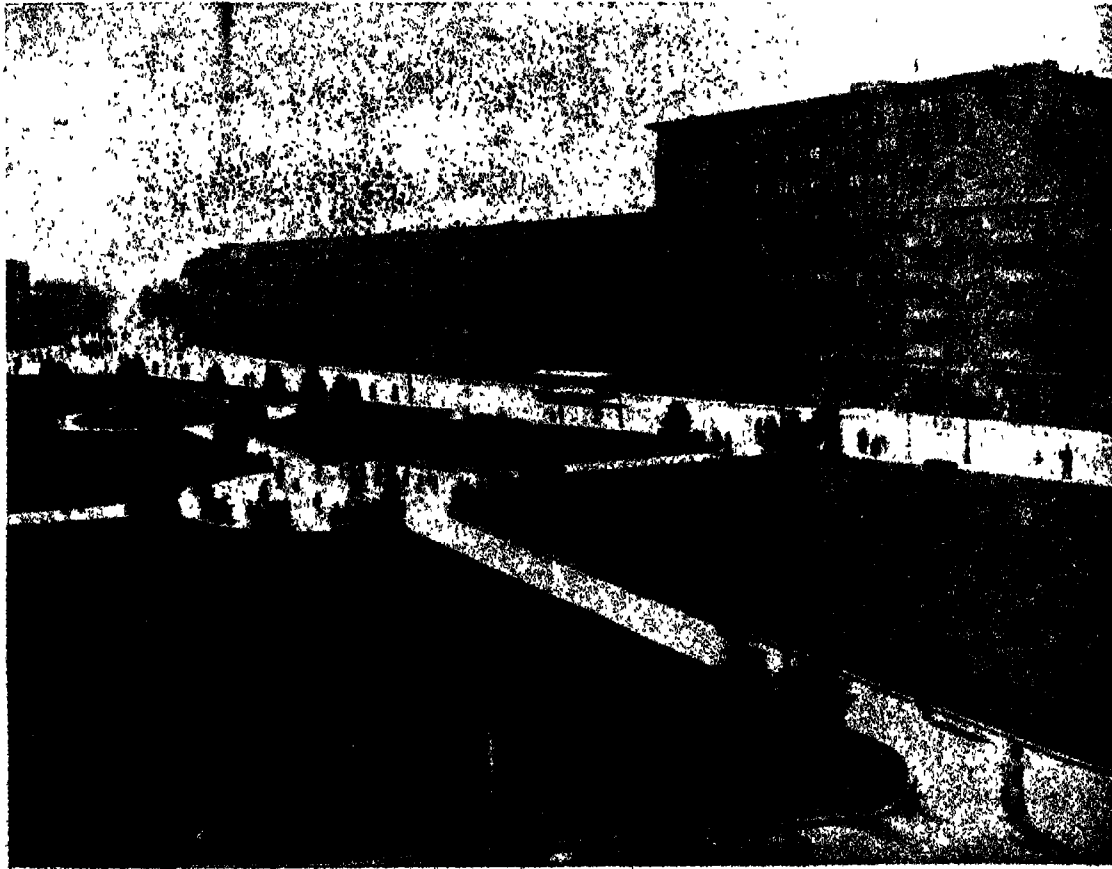
प्लोयेस्टी (Ploesti) नगर का एक दृश्य

रोमानिया (देखें पृष्ठ २४०)

कृष्ण सागर तट पर नये होटल

शीत ऋतु के खेल — स्की पर फिसलना

बालकों के ग्रीष्म शिविर

समुद्र में जलविहार
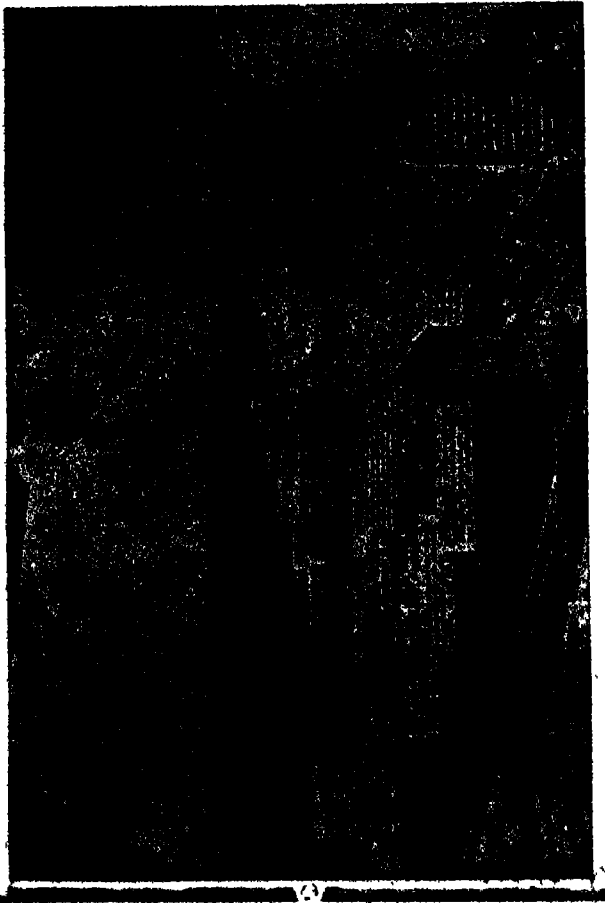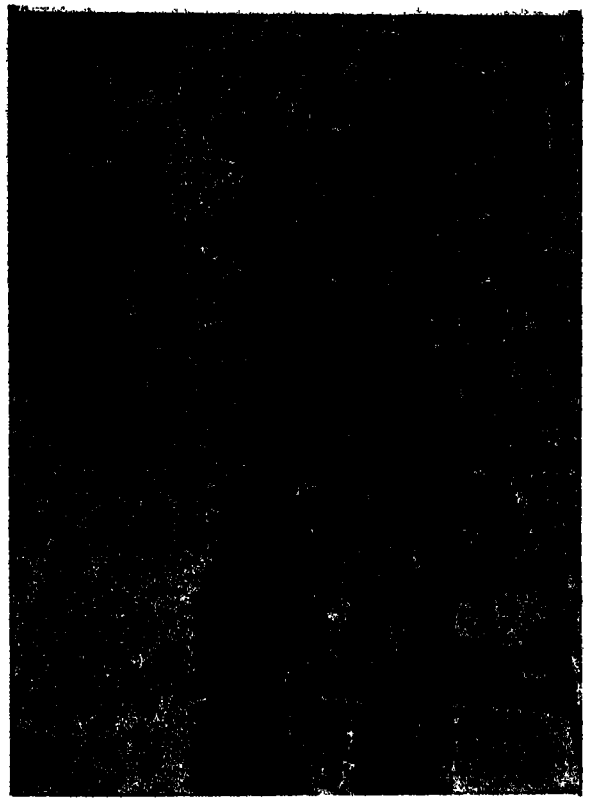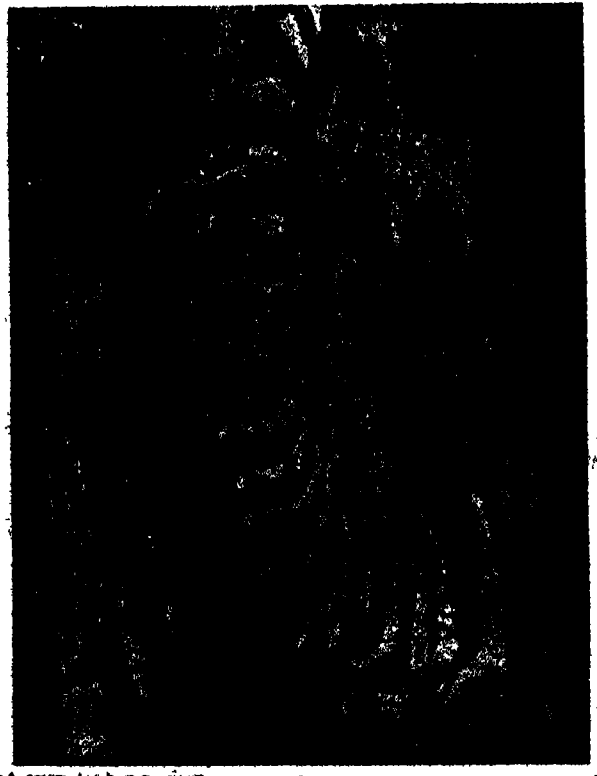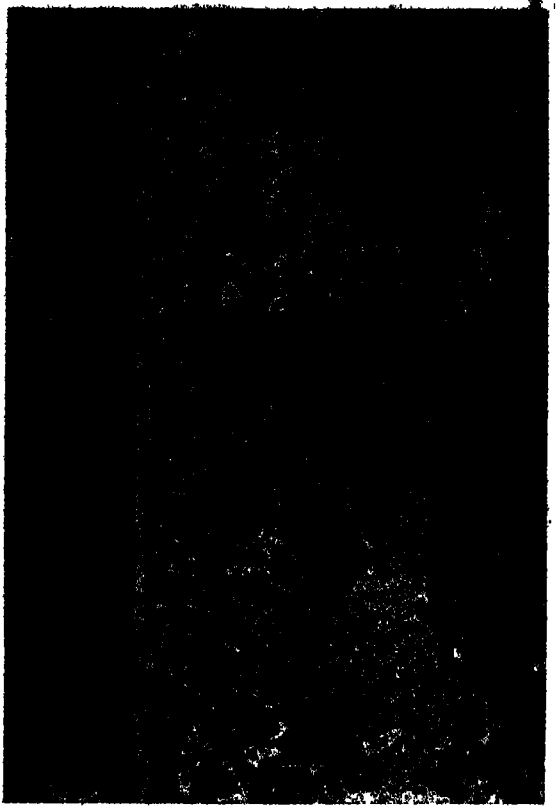
रूमानिया (देखें पृष्ठ २४०)

←बुखारेस्ट में स्वतंत्रता दिवस समारोह

←लोकनृत्य

←लोकशिल्प के नमूने
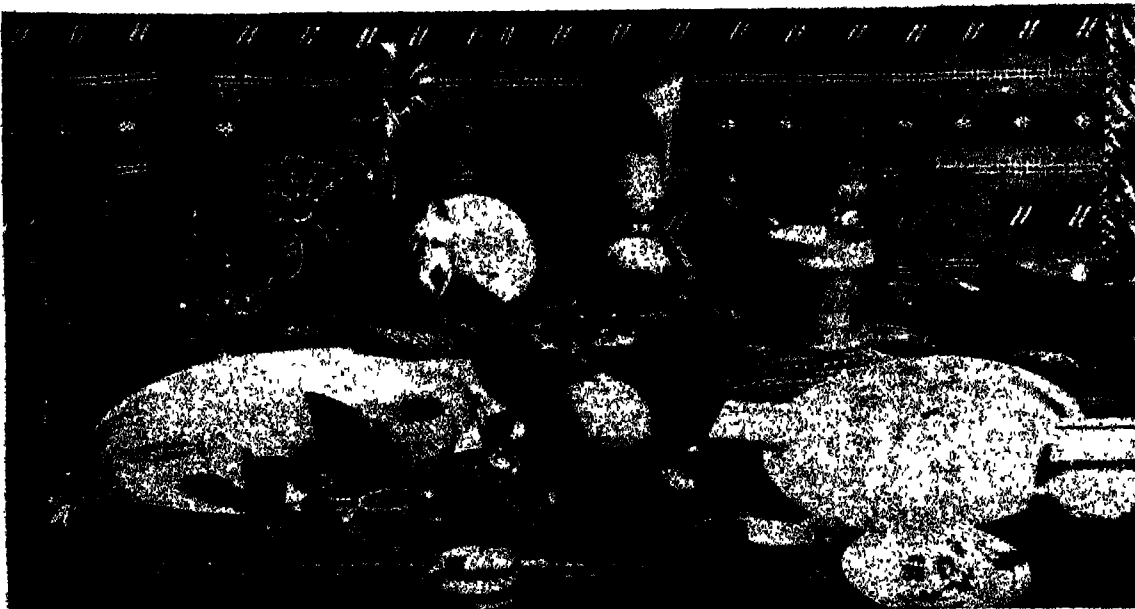
रोमानिया (देखें पृष्ठ २४०)
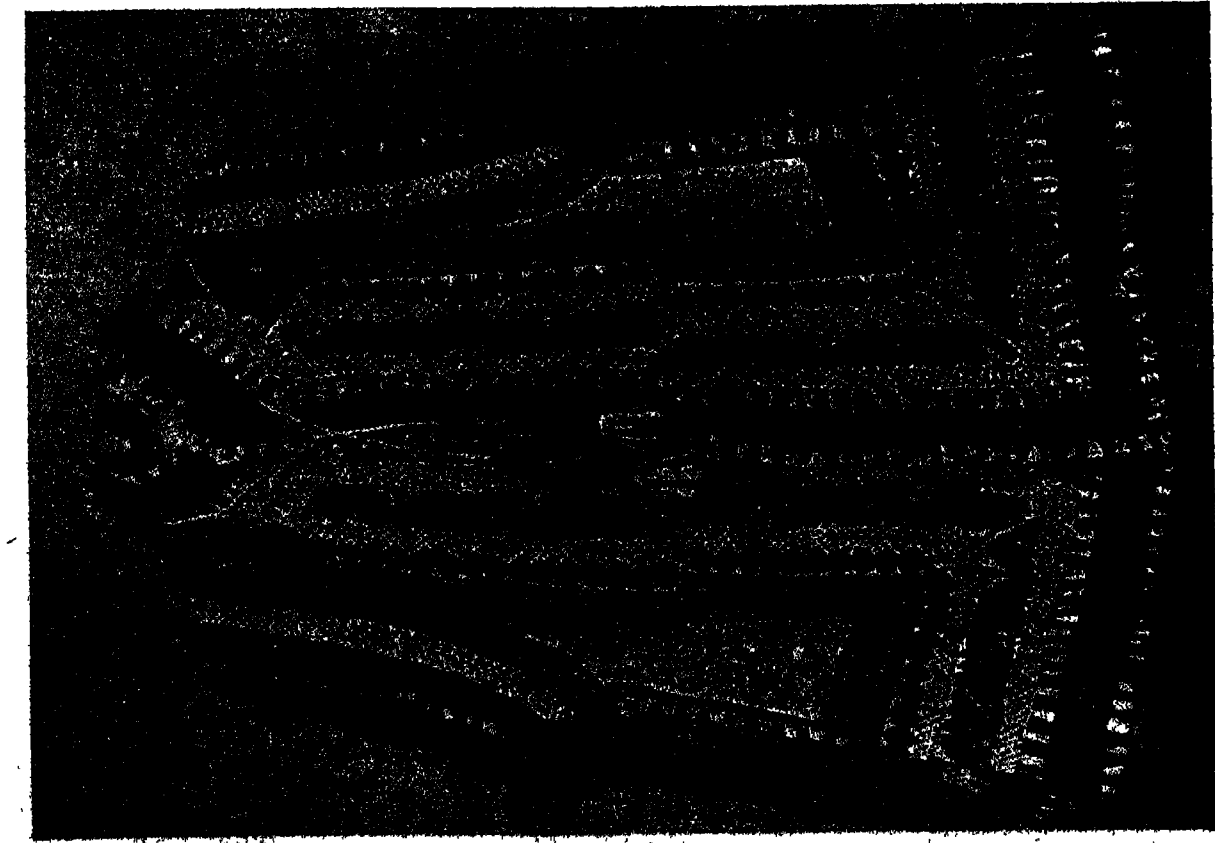
पुरुष का राष्ट्रीय पहनावा
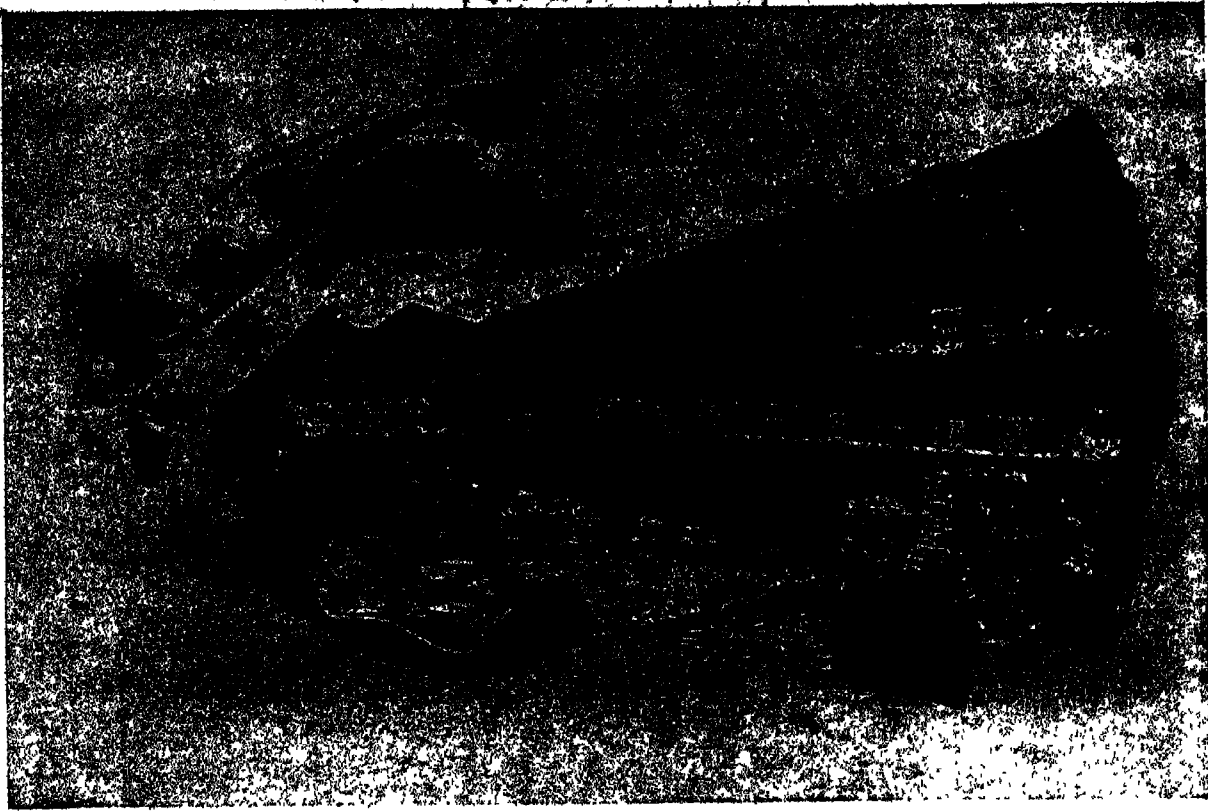
स्त्री की राष्ट्रीय पोशाक

उसके जीवन से जुटने लगे। उसके जीवनवृत्तांत ने पौराणिक कथा का रूप धारण कर लिया।

सामान्यतः 'रोमुलस' का अर्थ 'रोमन' होता है लेकिन रेमस की व्युत्पत्ति और उसके अर्थ का कुछ पता नहीं चलता।

रोमुलुस रोम की अनेक सैनिक, धार्मिक और राजनीतिक संस्थाओं का संस्थापक माना जाता है। [स० वि०]

रोमें रोलाँ (Romain Rolland) यूरोप में भारतीय ज्ञान को प्रोत्साहित करने में रोमें रोलाँ के सदृश कम लेखकों का योगदान रहा है। उसका जन्म २९ जनवरी, सन् १८६६ को क्लेमेंसी में हुआ था। वह एक ठीकेदार का पुत्र था। छह वर्ष बाद उसकी बहन मैडेलीन का जन्म हुआ जिसने अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के कारण रोलाँ और उसके भारतीय मित्रों के बीच दुभाषिया का कार्य संपन्न किया। सन् १८८० में यह परिवार पेरिस में बस गया। इकोले नार्मेल सुपीरियर में सन् १८८६ से सन् १८८९ तक के विद्यार्थी जीवन में रोलाँ ने इतिहास का अध्ययन किया तथा भगवद्गीता और उपनिषद् पढ़े जिन्हें उसने प्रेरणादायक बताया। सन् १८८९ में उसने एग्रीगेशन कांपीटीटिव एक्जामिनेशन उत्तीर्ण किया और रोम के फ्रेंच स्कूल का सदस्य बन गया। इटली के प्रवास में उसने अपने उपन्यास 'जीन क्रिस्टोफे' की प्रारंभिक रूपरेखा बनाई। सन् १८९७ में रोलाँ ने नाटककार के रूप में जीवन प्रारंभ किया। उसका नाटक 'एयर्ट' (Aert) खेला गया। तत्पश्चात् 'दी साइकिल ऑव रीवोल्यूशन' के क्रम का प्रथम नाटक 'दि वुल्व्स (Wolves) और फिर दाँतों (Doton) का अभिनय हुआ। उसने अपने 'लाइफ़ ऑव बीथोवेन' का प्रकाशन किया। सन् १९०३ से सन् १९१२ तक का समय एक काल्पनिक संगीतज्ञ की कथावस्तु पर आधारित अपना महान् महाकाव्य 'जीन क्रिस्टोफे' लिखने में व्यतीत किया। यह दस भागों में प्रकाशित हुआ। इस बीच उसने लाइफ ऑव माइकेल एंजिलो' (१९०६), हाएंडेल' (१९१०) तथा 'लाइफ ऑव टाल्स्टाय' (१९११) की रचना की। उसने स्विटजरलैंड की यात्रा की तथा 'कोला ब्रूग्नों नामक उपन्यास लिखा। फ्रेंच एकेडमी द्वारा उसे साहित्य का महान् पुरस्कार दिया गया। सन् १९१४ में जब युद्ध छिड़ा, वह स्विटजरलैंड में था और अपनी उम्र के कारण युद्ध में भाग लेने के लिये फ्रांस नहीं बुलाया गया। सितंबर, सन् १९१९ में 'एबव दि बैटिलफील्ड' नामक पहला लेख उसने लिखा। सन् १९२० में उसने 'क्लीरेंबाल्ट' (Clerambault) नामक उपन्यास की रचना की। नवंबर सन् १९१६ में उसे साहित्य के नोबेल प्राइज से विभूषित किया गया। सन् १९२२ और १९२३ के बीच 'दि इंचैंटेड सोल' शीर्षक एक बड़े उपन्यास का प्रणयन किया। तत्पश्चात् दो वर्ष तक उसने भारत संबंधी अध्ययन मनन किया और महात्मा गांधी पर एक लेख लिखा। मई, सन् १९२६ में उसने नेहरू और टैगोर का स्वागत किया। सन् १९२७ और १९३१ के बीच उसने 'मिस्टिसिज्म ऐंड ऐक्शन ऑव लिविंग इंडिया', 'लाइफ ऑव रामकृष्ण', 'लाइफ ऑव विवेकानंद ऐंड दि युनिवर्सल गास्पेल' नामक ग्रंथ लिखे। सन् १९३१ में स्विटजरलैंड के 'विलेनयोवे' नामक स्थान में गांधी जी से रोलाँ की भेंट हुई। एक युवा रूसी महिला से विवाह के उपरांत रोलाँ ने सोवियत रूस की यात्रा की और गोर्की सदृश कई महापुरुषों से भेंट की। २६ वर्ष तक स्विटजरलैंड में रहने के बाद सन् १९३७ में वह फ्रांस लौट आया और 'वेजले' (Vezelay) में उसने एक मकान खरीदा जहाँ ३० दिसबर, सन् १९४४ को उसकी मृत्यु हुई। मृत्यु के बाद के उसके प्रकाशन अनेक हैं — 'ले पेरिप्ल' Le Periple (१९४६) 'मेम्वायर्स ऑव यूथ', (१९४७), 'इंडिया डायरी', (१९५१) तथा १९५२ में प्रकाशित 'डायरी ऑव दि ईयर्स ऑव वार'। उसका बहुत सा पत्राचार अब भी अप्रकाशित है।

रोलाँ के लिये देश की सीमा भी उतनी ही कृत्रिम है जितनी समय की। इतिहासकार के रूप में वह फ्रांसीसी क्रांति के वीरों तथा बीथोवेन, हैंडेल और माइकेल एंजिलो सदृश प्रतिभावान् कलाकारों के प्रति आकृष्ट था। राष्ट्रीय आक्रोश की चरम सीमा के समय शत्रु में भी बंधुत्व ढूँढ़ने में वह कभी नहीं चूका।

राजनीति में वह सदैव दुर्बलों के साथ था और उसने विकास संबंधी नीति तथा समाजवाद का समर्थन किया। वह वामपंथी तथा ऐसा योद्धा था जो 'कला कला के लिये' का सिद्धांत गर्हणीय मानता था। कलाकार बनकर एकांत निर्जन कक्ष में एकाकी बंदी रहना उसने अस्वीकार कर दिया और अनेक संघर्षों में उसने भाग लिया। उसने दलों का संकुचित बंधन अस्वीकार कर दिया तथा गांधी जी की भाँति सदैव आत्मा की पुकार सुनता रहा। रोलाँ कभी भारत नहीं आया, इस तथ्य पर विचार करते हुए उसकी अंतर्दृष्टि पर आश्चर्यचकित न होना कठिन है। आध्यात्मिक भारत की महत्ता को उससे अधिक अच्छी तरह केवल कुछ लोगों ने ही समझा है। इने गिने लोगों ने ही भारत की अमर आत्मा से पश्चिम को परिचित कराने का यत्न किया है। फिर भी रोलाँ कभी भी अंधप्रशंसक नहीं रहा और न उसने अपनी तार्किक शक्ति ही कभी छोड़ी। पूर्व को यथेष्ट संमान देने के प्रयत्न में उसने पश्चिम का तिरस्कार नहीं किया। उसकी मान्यता थी कि आत्मा के ये दोनों क्षेत्र मानवता के विकास के लिये अनिवार्य और महत्वपूर्ण हैं। वह यूरोप को भारतीय स्वातंत्र्यसंघर्ष से परिचित कराने के लिये सदैव सचेष्ट था और एशिया की राजनीतिक घटनाओं में रुचि लेता रहा। उसने अनेक बड़े छोटे, ज्ञात अज्ञात भारतीयों का स्वागत किया।

लेखक के रूप में फ्रांस में उसकी महत्ता विवादग्रस्त रही है। किंतु यूरोप के दूसरे देशों में उसकी कृतियों का अपेक्षाकृत अधिक समादर हुआ है। अपने देश में उसके कुछ ही शिष्य थे। परंतु मनुष्य के रूप में वह एक महत्वपूर्ण मानवतावादी परंपरा का प्रतिनिधित्व करता था, जो उसकी मृत्यु के बाद समाप्त सी हो गई।

[फ्रां० भ०]

रोमेल, एर्विन (१८९१-१९४४) द्वितीय महायुद्धकाल में ख्याति प्राप्त करनेवाले जर्मन सेनापति। पिता का नाम भी संयोग से एर्विन रोमेल ही था। इनका जन्म १५ नवंबर को वर्टेंबर्ग में हुआ था। अपने परिवार में सैनिक ख्याति प्राप्त करनेवाले एकमात्र रोमेल ही थे। सन् १९१४-१८ के विश्वयुद्ध में उन्होंने अपने असाधारण साहस और युद्धकौशल के कारण राष्ट्रीय संमान प्राप्त किया था। प्रथम महायुद्ध के बाद उन्हें युवकों को सैनिक प्रशिक्षण का कार्य सौंपा गया। द्वितीय महायुद्ध के प्रारंभ में उन्हें हिटलर की

व्यक्तिगत सुरक्षा सेना का अधिकारी बनाया गया। इस युद्ध में उन्हें मध्य एशियायी क्षेत्र की कमान सौंपी गई। हिटलर की युद्धनीति से मतभेद होने के कारण रोमेल उक्त क्षेत्र से पीछे हटने को मजबूर हुए। युद्ध में घायल होकर लौटने के बाद हिटलर के षड्यंत्र से रोमेल को आत्महत्या कर लेनी पड़ी। विपक्षियों के मत से नैपोलियन के बाद रोमेल सबसे अधिक विख्यात सेनापति था।

[मु० रा०]

रोम्नी, जार्ज (१७३४-१८०२) इंगलैंड का प्रसिद्ध व्यक्तिचित्रकार (पोर्ट्रेट पेंटर) था। कहा जाता है, शायद ही कोई दूसरा व्यक्तिचित्रकार ऐसा हो जिसने जार्ज रोम्नी से बढ़कर स्त्रियों के सुकोमल तथा रसपूर्ण मधुर व्यक्ति चित्र बनाए हों।

रोम्नी लंकाशायर के एक मामूली किसान का लड़का था और शायद ही जीवन में उसे कुछ शिक्षा प्राप्त हो सकी हो पर जो भी समय उसे मिलता था वह आस पास के लोगों के चित्र बनाने में लगाता था। शुरू में उसकी मुलाकात एक घुमक्कड़ चित्रकार क्रिस्टोफर स्टील से हुई और वह उसी के साथ घूम घूमकर चित्र बनाता फिरता था। बाद में क्रिस्टोफर से उसका झगड़ा हो गया और उसने अपना खर्च चलाने के लिये दो दो गिनी पर व्यक्तिचित्र बनाना आरंभ किया। सन् १७६२ तक वह व्यक्ति चित्र बनाने की कला में काफी सिद्धहस्त हो चुका था। इसी बीच वह लदन सोसाइटी ऑव आर्ट्स की कलाप्रतियोगिता में भाग लेने गया। वहाँ उसे द्वितीय पुरस्कार पच्चीस गिनी का मिला जबकि वह वास्तव में वहाँ प्रथम आया था। वह बहुत दु:खी हुआ, पर उसने धैर्य न छोड़ा और कला की साधना करता रहा। बाद में उसकी सालाना आमदनी १००० पौंड तक हो गई। १७७३ ई० में वह इटली गया और वहाँ उसने अपनी कला में बड़ी तरक्की की। वहाँ से जब वह लंदन लौटा तो १५ के बजाय ८० पौंड पर व्यक्तिचित्र बनाने लगा।

अड़तालीस वर्ष की उम्र में उसकी मुलाकात इमा लिओं (Emma Lyon) नामक सुंदरी से हुई। वह उसके सौंदर्य से इतना प्रभावित हुआ कि बहुत दिनों तक उसने उसको छोड़कर किसी दूसरे का व्यक्तिचित्र बनाना स्वीकार ही नहीं किया। 'लेडी हैमिल्टन' के नाम से इस सुंदरी का उसने अद्भुत चित्र बनाया है। इसी युवती का एक चित्र नेशनल गैलरी में भी है। बाद में उसने एक अन्य प्रसिद्ध मिसेज राबिसन का व्यक्तिचित्र बनाया जो परदीता (Perdita) के नाम से विख्यात है। स्त्रियों के व्यक्तिचित्रों में रोम्नी का 'द पार्सन्स डाटर', जो नेशनल गैलरी में है, अत्यंत प्रसिद्ध हुआ।

रोम्नी सन् १८०२ में केंडाल में स्वर्गवासी हो गया। [रा० मु०]

रोरिक निकोलाई कांस्तांतिनोविच (Roerich Nikolai Konstantinovich, १८७४–१९४७) इस कलाकार का जन्म रूस में पिट्सबर्ग में हुआ। अंत तक वे भारत में कुलु घाटी पर ही रहे लेकिन उनके बहुत से चित्रों का म्यूजियम न्यूयार्क में है। यह कलाकार विचार और कृति से किसी राष्ट्रविशेष का न होकर सारे विश्व का है। इन्हें नोबल पुरस्कार प्राप्त होने की संभावना की चर्चा भी कुछ दिन चली थी।

शुरू में इन्होंने इतिहास-पूर्व-कालीन जीवन का तथा विकिंग्स की यात्रा का चित्रांकन कर प्रतिष्ठा प्राप्त की। यथार्थवादी शैली से शुरूआत कर उसमें बाइजेंटाईन और पूर्वीय चित्रशैली के मेल से उन्होंने अपनी स्वतंत्र शैली का निर्माण किया। मास्को के कज़ान रेलवे स्टेशन की भित्ति पर अंकित उनके पूर्वकाल के चित्रों में रूसी और तार्तरी शैली का प्रभाव साफ नजर आता है। वे रूसी क्रांति के बाद लंदन पहुँचे। वहाँ से सन् १९१७ में अमेरिका गए और बाद में लौटकर कुलु घाटी में बस गए। दक्षिण रूस और मध्य एशिया के सारे भौगोलिक पर्वतमय प्रदेशों का सफर करते हुए उन्होंने विशाल चित्रों की निर्मिति की। हिमालय के चित्र इनसे अधिक किसी दूसरे चित्रकार ने नहीं बनाए। उन्हें साहित्य और संगीत से समान रूप से प्रेम रहा, जिसे दर्शानेवाली कई घटनाएँ हैं। इनके चित्रों में सादे आकार और उसका पृष्ठभूमि से संबंध, रचना, शांत रंगों से आध्यात्मिक भावों का प्रभाव—निर्माण तथा संयमपूर्ण आलंकारिक चित्रण आदि विशेषताएँ हैं। लोवरी आदि कला गैलरियों में इनके चित्रों को संमानपूर्ण स्थान दिया जाता था। वे स्वयं अच्छे लेखक भी रहे। सन् १९४७ में वे हिमालय की गोद में अमर निद्रा में लीन हो गए।

[भा० स०]

रोहतक १. जिला, भारत के हरियाना राज्य का एक जिला है। जिले का क्षेत्रफल २,३३० वर्ग मील तथा जनसंख्या १४,२०,३११ (१९६१) है। यमुना और सतलज नदियों के मध्यवर्ती उच्चसम भूमि पर, दिल्ली के उत्तर-पश्चिम में यह जिला स्थित है, जिसका उत्तरी भाग पश्चिमी यमुना नहर के रोहतक और बुटाना शाखाओं द्वारा सींचा जाता है, किंतु मध्यवर्ती मैदान का अधिकांश अनिश्चित प्राकृतिक वर्षा पर निर्भर है। रोहतक कृषिप्रधान जिला है।

२. नगर, स्थिति : २८° ५४' उ० अ० तथा ७६° ३८' पू० दे०। यह रोहतक जिले का नगर है, जिसकी जनसंख्या ८८,१९३ (१९६१) है। यह नगर १८२४ ई० में एक ब्रिटिश जिले का मुख्यालय बना था। दक्षिणवर्ती सैकत पहाड़ियों से नगर के मध्य में स्थित श्वेत मस्जिद एवं पूर्व में स्थित भव्य दुर्ग अत्यंत मनोरम लगता है। दिल्ली से ४४ मील उत्तर पश्चिम स्थित रोहतक, उत्तरी रेलवे का एक स्टेशन है। यह महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र है। रोहतक में एक जाट महाविद्यालय भी है।

[शां० ला० का०]

रोहे (Trachoma) देखें अंधता।

लंगूर (Langur) प्राइमेट गण (Primate) के सर्कोपिथीसिडी कुल (Cercopithecidae family) का प्रसिद्ध प्राणी है, जो कहीं कहीं हनुमान बंदर भी कहा जाता है। यह कद में बंदरों से कुछ बड़ा, लगभग दो फुट का होता है। लेकिन इसकी दुम इसके शरीर से लंबी रहती है। मादा नर से छोटी होती है।

इसके शरीर का रंग सिलेटी तथा अमाल भूरा होता है जो ऊपर की ओर गाढ़ा और नीचे की ओर हलका रहता है। चेहरे, कान, तलुए और हाथ-पैर का बाहरी हिस्सा काला रहता है।

लंगूर, बंदरों से कम ऊधमी होते हैं और आबादियों की अपेक्षा जंगलों में रहना अधिक पसंद करते हैं, लेकिन कहीं कहीं बस्तियों में भी इनके बड़े बड़े गोल दिखाई पड़ते हैं।

इसका मुख्य भोजन फल फूल है, लेकिन बंदरों की तरह, ये गल्ला, कीड़े मकोड़े और अंडे भी खा लेते हैं। माता एक बार में एक बच्चा देती है, जो कुछ समय तक माँ के पेट से चिपका रहता है।

[सु० सिं०]

लंदन १. नगर, स्थिति : ५१° ३०' उ० अ० तथा ०° ५०' प० दे०। यह इंग्लैंड की राजधानी तथा कॉमनवेल्थ ऑव नेशन्स का मुख्य केंद्र है। यह संसार का सबसे बड़ा बंदरगाह तथा इंग्लैंड का सबसे बड़ा औद्योगिक नगर है। टेम्स नदी के दोनों किनारों पर, मुहाने से ३४ मील ऊपर यह फैला हुआ है। इस विशाल नगर के अंतर्गत दो मुख्य नगर वेस्ट मिंस्टर तथा लंदन 'सिटी' और २८ बड़े बड़े बरो (Boroughs) संमिलित हैं। संमिलित क्षेत्र को लंदन 'काउंटी' कहते हैं। बृहत्तर लंदन आस पास की बस्तियों (suburbs) सहित ७२२ वर्ग मील की भूमि में फैला हुआ है, जिसके अंतर्गत ८० लाख से अधिक मनुष्य निवास करते हैं।

लंदन का सबसे प्राचीन भाग 'सिटी ऑव लंदन' है, जिसे केवल 'सिटी' नाम से भी जाना जाता है। रोमन शासनकाल में इसकी अधिक उन्नति हुई। रोमन सम्राट् हेड्रियन ने १२० ई० में नगर के चारों ओर दीवार खड़ी करवाई थी। उसी समय टेम्स पर एक पुल का भी निर्माण हुआ। रोमन शासनकाल के भग्नावशेष अब भी कहीं कहीं पर मिलते हैं। लंदन की एक अधिक व्यस्त सड़क 'लंदन वाल' रोमन काल का चिह्न है। रोमनों ने इस नगर की एक पहाड़ी पर 'वीनस' का एक मंदिर स्थापित किया था। आज उस स्थान पर सेंट पॉल कैथेड्रल है।

सिटी ऑव लंदन अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण सन् ६१ के पूर्व तक प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र बन चुका था। यह स्थल यूरोपीय महाद्वीप के सबसे निकट पड़ता है, जहाँ टेम्स के ज्वार मुहाने को सुगमतापूर्वक पार किया जा सकता था। लंदन के व्यापार की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि यह अन्य देशों से वस्तुएँ आयात करके फिर निर्यात करता है। उदाहरण के लिये, भारत की चाय पहले लंदन जाती है, फिर वहाँ से संयुक्त राज्य, अमरीका, तथा यूरोपीय देशों को भेजी जाती है। ग्रेट ब्रिटेन की दो तिहाई चाय, आधा चावल, कहवा, मांस, पेट्रोल, कागज, आधी से अधिक चीनी, तीन चौथाई रबर लंदन में ही पहुँचते हैं। संसार का एक चौथाई ऊन लंदन नगर से होकर अन्य नगरों को जाता है। इसी प्रकार अन्य देशों से रबर, हीरे, हाथीदाँत, सोना, टिन और ताँबा आदि इस नगर में आकर विभिन्न देशों तथा नगरों को वितरित, या विक्रय किए जाते हैं। शताब्दियों से इस प्रकार के व्यापार से लंदन में अपार धन राशि एकत्र हो गई। यह नगर संसार के लिये एक केंद्रीय बैंक के रूप में काम करता रहा, जिससे लंदन के बैंकों को कमीशन के रूप में बहुत धन की प्राप्ति होती थी। पर अब नगर का यह एकाधिकार समाप्त हो चुका है और इसकी प्रधानता को बहुत बड़ा धक्का लगा है। लंदन पोर्ट की गोदी में प्रति वर्ष ५४,००० जहाज आते हैं और प्रति वर्ष आयात निर्यात ५ करोड़ २० लाख तक पहुँचता है।

टेम्स नदी लंदन की जान है, जिसका ज्वार मुहाना समुद्रतट से लंदन ब्रिज तक ५५ मील की लंबाई में एक चौड़े जलखंड के रूप में विस्तृत है। इस भाग को नाविक लोगों ने 'लंदन नदी' की संज्ञा दी है, परंतु नदी की महत्ता उसकी जलराशि के कारण नहीं बल्कि उसमें ज्वार आने के कारण है। लंदन ब्रिज पर नदी में ज्वार का पानी २१ फुट ऊँचा उठता है, जिससे बड़े बड़े जलयान नदी में दूर तक चले आते हैं। ज्वार आने से नदी में तलछट भी नहीं जमने पाता और उसकी गहराई बनी रहती है। लंदन बंदरगाह की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ का बंदरगाह अधिक दूरी में विस्तृत हो गया है और इसपर अनेक गोदियाँ स्थापित हो गई हैं। टिलबरी गोदी मुख्यत: यात्रियों के गमनागमन के लिये विशेष सुविधा प्रदान करती है तथा यहाँ भारत का गेहूँ, नारियल, चावल, और आस्ट्रेलिया से मक्खन एवं फल आदि वस्तुओं का आयात होता है। रॉयल विक्टोरिया गोदी, अलबर्ट गोदी तथा जॉर्ज पंचम गोदी में मुख्यत: मांस, तंबाकू और चावल का आयात होता है।

विश्व के सभी देशों से व्यापार संबंध होने के कारण लंदन में तथा उसके आस पास अपार संख्या में लोग बस गए। १९वीं शताब्दी में भी, जब संसार के बहुत से नगरों का उदय हुआ, लंदन आकार में सबसे बड़ा था।

लंदन सिटी में जनसंख्या का लगातार ह्रास होता जा रहा है। इसका मूल कारण यह है कि 'सिटी' लंदन का मुख्य व्यापारिक तथा प्रशासकीय क्षेत्र है, जहाँ लोग केवल दिन में काम करने जाते हैं। केवल पहरेदार तथा संरक्षक वर्ग ही वहाँ रात में रहता है। परंतु १९२१ ई० के पश्चात् काउंटी में भी जनसंख्या में ह्रास प्रारंभ हो गया। इससे स्पष्ट है कि काउंटी में भी जनसंख्या अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी है। अब जनसंख्या का विकास बाह्य लंदन में ही हो रहा है। इसका मूल कारण यह है कि लंदन, जो कभी औद्योगिक नगर था, द्वितीय महायुद्ध के बाद एक महान् औद्योगिक केंद्र हो गया है और ये उद्योग धंधे अधिकतर बाह्य लंदन में ही स्थापित हुए हैं। यहाँ व्यापारी वर्ग, मजदूर वर्ग तथा शासक वर्ग के लोग रहते हैं।

नगर का मुख्य व्यापार सिटी तथा उसके आस पास के क्षेत्रों में केंद्रित है। यहीं पर नगर की वाणिज्य, व्यवसाय तथा आर्थिक संस्थाएँ केंद्रित हैं। इसी क्षेत्र में लंदन के करीब करीब सभी एक्सचेंज स्थापित हैं—कोलमन स्ट्रीट में ऊन एक्सचेंज, मिंसिगलन से दवाइयाँ तथा चाय, लोअर टेम्स स्ट्रीट में कोयला एक्सचेंज, मार्कलेन में अन्न (कार्न) एक्सचेंज आदि। इसी प्रकार बहुमूल्य पत्थरों तथा हीरे जवाहरातों के व्यापारी हाटेन गार्डेन में, धातु की दुकानें व्हिटिंगटन ऐवेन्यू में तथा तंबाकू के व्यापारी फ्रेंच चर्च स्ट्रीट में रहते हैं।

इन क्षेत्रों के निकट शिपिंग कंपनियों के मुख्य कार्यालय स्थापित हैं। रॉयल एक्सचेंज इसी क्षेत्र में पड़ता है। बैंक ऑव इंग्लैंड के मुख्यालय की विशाल इमारतें इसी क्षेत्र में स्थित हैं। इन इमारतों के ऊपर से सेंट पॉल्स कैथेड्रल का गुंबज दिखाई पड़ता है, जो यहाँ का मुख्य धार्मिक स्थल है और जिसमें भूतपूर्व बड़े बड़े लोगों की कब्रें हैं। इन क्षेत्रों की सड़कें काफी भीड़भरी रहती हैं।

लंदन तथा उसके आस पास नए प्रकार के उद्योग धंधे स्थापित हैं। इनमें से मुख्य हैं, इंजीनियरिंग उद्योग, खाद्य पदार्थ, लकड़ी की वस्तुएँ, मुद्रालय, कपड़े की छपाई तथा रासायनिक उद्योग धंधे। यहाँ भारी से भारी वस्तुएँ, जैसे क्रेन, टैंक, बॉयलर से लेकर बिजली के

हलके औजार, मोटरकार के हिस्से, घरेलू काम की वस्तुएँ आदि निर्मित की जाती हैं। कपड़े का काम पूर्वी तथा पश्चिमी सीमांत क्षेत्रों में किया जाता है। कपड़े के अतिरिक्त हैट तथा टोपी बनाने, जूते तैयार करने तथा फ़र के सामान तैयार करने का काम भी इन क्षेत्रों मे होता है।

वस्त्र उद्योग की भाँति लकड़ी की वस्तुओं का उद्योग भी लंदन की बड़ी बड़ी दूकानों से संबंधित है। रासायनिक उद्योग भी बढ़ रहे हैं और वे अधिकतर बाहरी क्षेत्रों मे स्थापित हैं। परंतु तैलशोधन, गैस आदि के उद्योग नदी के किनारे पर स्थापित हैं, क्योंकि वे आयात की वस्तुओं पर अवलंबित हैं।

यहाँ के मकान जर्जर तथा अस्वास्थ्यप्रद हो गए हैं, भूमि का मूल्य अधिक बढ़ गया है तथा सड़कें एवं गलियाँ सदैव भीड़ से भरी रहती हैं। नगर के पूर्वी भाग बहुत घने आबाद हैं, जिनमें मजदूरों की संख्या अधिक है। यहाँ की गंदी, पतली तथा बदबू करनेवाली सड़कों पर फटे पुराने वस्त्र पहने हुए बच्चों को देखकर यहाँ की दुर्दशा पर दु:ख होता है। परंतु इस गरीबी में कुछ जीवन तथा प्रसन्नता भी लक्षित होती है। प्रति शनिवार को लगनेवाले बाजारों में पुरानी वस्तुओं की दुकानें, ठेलों पर बिकनेवाले अनेक फल तथा तरकारियों से और सिनेमा, थियेटरों तथा संगीत एवं नृत्यघरों मे भीड़ भाड़ से ज्ञात होता है कि वे अपनी गरीबी में भी संतुष्ट हैं। ध्यान देने की बात है कि इन क्षेत्रों में चीनी, हब्शी, यहूदी, इतालवी आदि लोगों ने अपनी बस्तियाँ स्थापित कर ली हैं, जिनका जीवनस्तर अपेक्षाकृत निम्न कोटि का है।

वेस्टमिन्स्टर — यहाँ शासन संबंधी कार्यों में रत लोगों तथा अन्य प्रकार के बुद्धिजीवी लोगों की संख्या बहुत अधिक है। ये लोग लंदन के पश्चिमी भाग में रहते हैं, जिसे सिटी ऑव वेस्टमिन्स्टर नाम से जाना जाता है। यह राजनीतिक केंद्र है। ट्रैफैलगर स्क्वायर से ह्वाइट हॉल स्ट्रीट होते हुए वेस्टमिन्स्टर ऐबे, पार्लियामेंट भवन आदि तक पहुँचते हैं। यहीं पर सभी सरकारी कार्यालय स्थापित हैं। नं० १०, डाउनिंग स्ट्रीट भी यहीं पर है। यहाँ ब्रिटिश प्रधान मंत्री सदैव से रहते आए हैं। निकट में राजप्रासाद, बकिंघम पैलेस, है।

लंदन की अखबारी दुनिया फ्लीट स्ट्रीट के दोनों ओर केंद्रित है। फ्लीट स्ट्रीट के दक्षिण स्ट्रैंड की सड़क मिलती है, जिसपर बड़े बड़े वर्तमान ढंग के कार्यालय तथा होटल स्थापित हैं। स्ट्रैंड के दक्षिण ट्रैफैलगर स्क्वायर है, जो लॉर्ड नेल्सन की विजय के उपलक्ष में १८०५ ई० में निर्मित हुआ। निकट में ही नैशनल गैलरी स्थापित है। ट्रैफैलगर स्क्वायर से थोड़ी ही दूर पर कई शानदार सड़कें एक गोलाकार क्षेत्र में मिलती हैं, जिसे पिकैडली सर्कस कहते हैं। यह लंदन का अत्यंत व्यस्त भाग है। पिकैडली का अंत हाइड पार्क में होता है, जो लंदन का मुख्य खुला भाग है। ऑक्सफर्ड स्ट्रीट के पीछे ब्रिटिश संग्रहालय तथा लंदन यूनिवर्सिटी स्थापित है। थोड़ी दूर पर कला तथा विज्ञान की लंदन की अपूर्व संपत्ति, प्राकृतिक ऐतिहासिक संग्रहालय, स्थित है। रॉयल जियोग्रैफिक सोसाइटी का कार्यालय, जिसमें ब्रिटिश साम्राज्य के विकास का इतिहास निहित है, इसी हिस्से में पड़ता है।

यातायात — लंदन ऐसे विशाल नगर में यातायात की समस्या बड़ी जटिल है। अत: धरातल के ऊपर के सभी साधनों, जैसे मोटर बस, ट्राली बस, रेल आदि के साथ साथ भूमि के भीतर सुरंग रेलों का भी उपयोग होता है। प्रति दिन १ करोड़ ८० लाख यात्री यातायात के विभिन्न साधनों से यात्रा करते हैं। रेल के करीब चार हजार डिब्बे इस कार्य में लगे रहते हैं। करीब नौ लाख यात्री चेरिंग क्रॉस रेलवे स्टेशन पर प्रति दिन चढ़ते उतरते हैं। मध्य भाग में भीड़ के समय प्रति ६० सेकंड पर रेलें दौड़ती हैं। नगर के अंतर्गत केवल यात्रियों के चढ़ने उतरने के लिये २७ रेलवे स्टेशन हैं।

लंदन बहुत विस्तृत नगर है और उसमें बाग बगीचों तथा खुले स्थानों का भी प्रचुर मात्रा में आयोजन किया गया है। सन् १९४८ ई० में नगर में कुल १०७ पार्क तथा खुले स्थान थे। लंदन के बाहरी भागों में रॉयल बोटैनिकल गार्डेन, अजायबघर, चिड़ियाघर तथा हवाई अड्डा हैं।

पुल तथा सुरंगें — टेम्स नदी को लंदन नगर की सीमा के अंतर्गत १९ स्थानों पर पार किया जाता है। इनमें से १४ सड़क के पुल, एक पैदल यात्रियों के चलने के लिये पुल तथा चार सुरंगें हैं, जिनमें से मोटर गाड़ियाँ तथा पैदल चलनेवाले लोग आते जाते हैं।

२. **नगर**, कैनाडा मे टेम्स नदी के उत्तरी तथा दक्षिणी शाखाओं के संगम पर, नियाग्रा प्रपात तथा विंडसर के बीच, ईरी झील से २३ मील उत्तर, कैनेडियन नैशनल रेलवे पर स्थित एक नगर है। यह कैनाडा का छठा औद्योगिक केंद्र है। यहाँ बननेवाली वस्तुओं मे खाद्य पदार्थ, तैयार कपड़े, स्टोव, फर्नीचर, कागज, जूते, खेती के औजार, रेडियो और शराब आदि मुख्य हैं। यहाँ पर पश्चिमी ऑण्टेरियो विश्वविद्यालय स्थापित है। इसकी जनसंख्या ९५,३४३ (१९५१) है।
[उ० सिं०]

लंबन (Parallax) दो विभिन्न बिंदुओं से किसी वस्तु की ओर देखने पर जो कोणीय विचलन (angular shift) प्रतीत होता है, उसे लंबन कहते हैं और इन बिंदुओं को मिलानेवाली आधार रेखा उस दूरस्थ वस्तु पर जो कोण बनाती है, उससे लंबन का निरूपण होता है। आधार रेखा जितनी ही बड़ी होगी (अर्थात् प्रेक्षण के बिंदु जितने ही दूर होंगे) वस्तु पर कोण उतना ही बड़ा होगा और
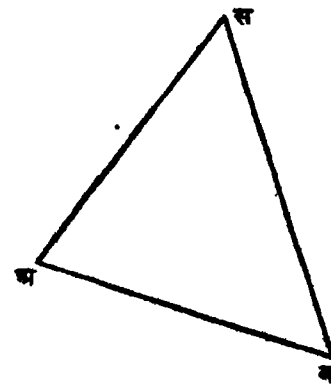
चित्र १.

परिणाम में यथार्थता की संभावना भी उतनी ही बढ़ेगी।

लंबन मापन ज्यामिति की एक सरल समस्या है, जिसका सर्वेक्षण में व्यापक उपयोग होता है। ∠ क ख स और ∠ ख क स

(देखें चित्र १.) तथा अ ब की लंबाई ज्ञात होने पर ∠ अ स ब ही नहीं, किंतु अ स और ब स लंबाइयाँ भी जानी जा सकती हैं।

स्थलीय वस्तुओं की दूरी का अत्यंत यथार्थ मापन हो सकता है, किंतु इसी सिद्धांत की प्रयुक्ति खगोलीय वस्तुओं पर करने पर वस्तुओं की दूरी मापने की समस्या जटिल हो जाती है। चंद्र और ग्रहों के संदर्भ में निर्देश के तौर पर जिस आधार रेखा को प्रयुक्त किया जाता है, उसे पृथ्वी के व्यास से निरूपित करते हैं, जो मानक मापनों के लिये प्रायः विषुवत् व्यास होता है (देखें चित्र २.)। किंतु तारों का लंबन (नाक्षत्र लंबन) मापने के लिये इतनी लंबी आधार रेखा भी पर्याप्त उपयोगी नहीं ठहरती। एतदर्थ सूर्य के चारों ओर पृथ्वी की कक्षा को आधार रेखा बनाते हैं, जो पर्याप्त लंबी होती है। पृथ्वी की कक्षा का व्यास मापने के लिये, छह महीने के अंतराल मे, किसी तारे का प्रतीत कोणीय विस्थापन (angular displacement) मापते हैं और वास्तविक निजी गति की शुद्धि के लिये पुनः छह महीने बाद दूसरा पठन लेते हैं (देखें चित्र ३.)।
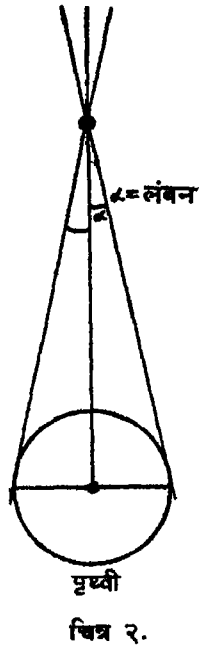
चित्र २.

साधारणतः लंबन अंतरित (subtended) कोण से निर्दिष्ट होता है, किंतु ज्योतिर्विज्ञान में इस कोण के आधे को लंबन कहते हैं। दूसरे शब्दों मे पृथ्वी का अर्धव्यास, या पृथ्वी की कक्षा का
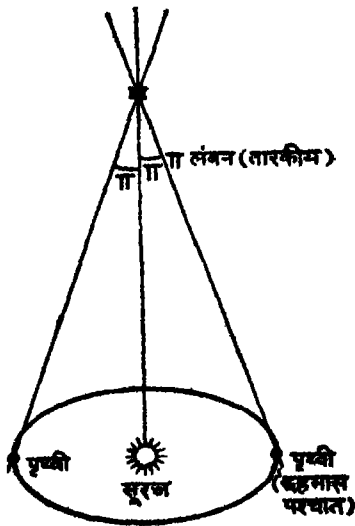
चित्र ३.

औसत अर्धव्यास निर्देशित है। पृथ्वी की कक्षा के औसत अर्धव्यास (९ करोड़ ३० लाख मील) जितनी बड़ी आधार रेखा को लेकर भी किसी भी तारे का नाक्षत्र लंबन चाप के एक सेकंड तक की यथार्थता में नही आ पाता। [रा० सु०]

लंबान, फ्रांस्वा (१६८८–१७३७) फ्रांस का चित्रकार जो वहाँ के प्रसिद्ध चित्रकार बोशेर का गुरु था। वह वातो का समकालीन था। उसने वर्साइ में बहुत से चित्र अलंकृत किए हैं। उसके दो चित्र लंदन में भी प्राप्त हैं। वह सत्रहवीं शताब्दी की कलापरिपाटी का सिद्धहस्त कलाकार था पर वातो ऐसे शक्तिशाली कलाकार की शैली का उसपर जरा भी प्रभाव नहीं पड़ा। [रा० चं० शु०]

लकड़ी इमारती किसी वृक्ष के भूमि के ऊपर के भाग में मुख्यतः तना और शाखाएँ होती हैं, जिनके अंतिम सिरे पत्तियाँ धारण करनेवाली टहनियों का रूप लेते हैं। तने और शाखाओं से ही इमारती लकड़ी प्राप्त होती है। भारत में शीशम, साखू, सागौन, महुआ, देवदार, कैल, चीड़, सिरसा, आबनूस, तून, पडौक, आम, नीम, आदि महत्वपूर्ण इमारती लकड़ियाँ होती हैं। सागौन बर्मा, थाइलैंड और जावा में भी होता है। उपर्युक्त वृक्षों के अतिरिक्त और भी अनेक वृक्ष हैं, जिनकी लकड़ियाँ किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिये अत्यंत उपयुक्त होती हैं, जैसे बबूल की लकड़ी पहियों के लिये और गूलर की लकडी कुओं के चक्के के लिये।

तना और शाखाएँ केवल अगले सिरे की ओर ही बढ़ते है। अतः उनका सबसे पुराना भाग नीचे की ओर आधार पर होता है और सबसे नया भाग अगले सिरे पर, किंतु अगले सिरों पर वृद्धि पूर्ण हो जाने पर भी इनकी मोटाई में प्रति वर्ष वृद्धि होती रह सकती है और नई लकड़ी तैयार होती रह सकती है। इस वृद्धि का मूलाधार छाल और लकड़ी के बीच मौजूद एधा (Cambium) नाम की अत्यंत पतली परत है। एधा पहले से मौजूद लकड़ी के बाहर नई परत जमा करती रहती है। शीत एवं शीतोष्ण प्रदेशों में यह क्रिया केवल बसंत और ग्रीष्म के कुछ काल मे होती है और जाड़े, या पतझड़ में एधा निष्क्रिय रहती है। इसलिये वर्ष के आरंभ में उत्पन्न लकडी से बाद में उत्पन्न लकड़ी भिन्न होती है। फलतः प्रत्येक वर्ष की लकडी एक छल्ले के रूप में अलग रहती है। ये छल्ले वार्षिक वलय कहलाते हैं और लकड़ी को आड़ी काटने पर स्पष्ट देखे जा सकते हैं। इन्हें गिनकर कटे हुए पेड़ की आयु का अनुमान लगाया जा सकता है।

रसकाष्ठ और अंतःकाष्ठ — एक विशेष आयु प्राप्त होने पर लकड़ी का रंग गहरा होने लगता है। जितना भाग गहरे रंग का हो जाता है, वह अंतःकाष्ठ कहलाता है और शेष बाहरी भाग रसकाष्ठ। रसकाष्ठ का अंतःकाष्ठ में शनैः शनैः परिवर्तन बहुत महत्वपूर्ण है। यह केवल जीवित वृक्षों में ही होता है। इस प्रकार यह परिवर्तन लकड़ी के उस उपचार, या पकाई से भिन्न होता है, जो लकड़ी काटने के बाद की जाती है। रसकाष्ठ की कोशिकाओं में जीवद्रव्य (Protoplasm) रहता है, जिसके मर जाने पर रसकाष्ठ पोषक पदार्थ के अभाव में अंतःकाष्ठ बन जाता है। अंतःकाष्ठ की कोशिकाओं में जीवद्रव्य की जगह वायु, टैनिक गोंद एवं रेज़िन सरीखे कुछ अपाच्य पदार्थ आ जाते हैं। अंतः-

काष्ठ में पानी की मात्रा कम हो जाती है, और उसके जल संचारण तंतुओं में अति सूक्ष्म थैलियों और गोंद कणों की डाट सी लग जाती है। इसलिये किसी एक ही वृक्ष के अंत:काष्ठ की अपेक्षा उसके रसकाष्ठ में काष्ठप्रतिरक्षी पदार्थ अधिक सरलता से प्रविष्ट हो सकते हैं। रसकाष्ठ से अंत:काष्ठ में परिवर्तन की आयु भिन्न भिन्न वृक्षों में भिन्न भिन्न होती है। अतएव किसी किसी वृक्ष में इमारती लकड़ी अपेक्षाकृत जल्दी तैयार हो जाती है और रसकाष्ठ उसमें अनुपातत: कम होता है।

लकड़ी के भीतर रस न रह जाने पर, उसपर मौसमी प्रभाव बहुत कम होता है। लकड़ी को अपने आप, प्राकृतिक ढंग से, सूखने में अधिक समय लगता है। इसलिये इसके लिये कृत्रिम उपचार किया जाता है, जिसे पकाना कहते हैं। भली भाँति पकाई हुई लकड़ी अनेक दोषों से मुक्त हो जाती है।

रेशे और गाँठें — गाँठ रहित लकड़ी के रेशे एवं अन्य संरचनात्मक तत्व प्राय: तने, या शाखा की लंबाई के समांतर हुआ करते हैं। ऐसी रेशोंवाली लकड़ी सीधे रेशेवाली लकड़ी कहलाती है, किंतु यदि तख्ते, कड़ियाँ, या खंभे इस प्रकार चीरकर बनाए जाएँ कि चिराई लकड़ी के अक्ष के समांतर न हो, तो रेशा किसी पहल के समांतर न होगा और चिरी लकड़ी तिरछे रेशेवाली कहलाएगी।

इमारती लकड़ी में निम्नलिखित सीमा तक रेशों का तिरछापन स्वीकार किया जा सकता है :

उत्कृष्ट कोटि १:२०; मानक कोटि १:१५; सामान्य कोटि १:१२

किंतु रेशे के तिरछेपन के लिये भिन्न भिन्न स्थिति में निम्न सीमा तक घटाकर सामर्थ्य की गणना करनी चाहिए।

रेशों का तिरछापन	अधिकतम प्रति शत सामर्थ्य : धरनों, कड़ियों और तानों में	अधिकतम प्रति शत सामर्थ्य : खंभों में
१:१०	६१	७४
१:१२	६६	८२
१:१४	७४	८७
१:१५	७६	१००
१:१६	८५	१००
१:१८	८५	१००
१:२०	१००	१०६

कभी कभी रेशा कुंडली की भाँति घूमता सा होता है, जिससे ऐसा लगता है मानो तना, या शाखा में मरोड़ दे दी गई हो। ऐसी लकड़ी कुंडल, या मरोड़ रेशेवाली कहलाती है।

कुछ छोटी मोटी शाखाएँ तने के मोटे होने के साथ साथ उसके भीतर ही विलुप्त हो जाती हैं। अनेक आकार गाँठों का रूप ले लेते हैं। ऐसे स्थानों पर रेशे की दिशा में अनिवार्यत: परिवर्तन होता है।

साधारण गुण — वास्तव में काष्ठ एक अत्यंत कठोर जेली, या सरेस, जैसा पदार्थ होता है, और सरेस, या गोंद से इसके गुणों की तुलना की जा सकती है। यह जलग्राही होता है और नमी ग्रहण करके फूलता है तथा सूखने पर सिकुड़ता है। काष्ठ जल की एक निश्चित मात्रा ही ग्रहण कर सकता है, जो उसके सूखे वजन के ३० प्रति शत के लगभग होती है। तरह तरह की लकड़ी का वजन भिन्न भिन्न होता है। आबनूस जैसी लकड़ी नितांत सूखी और भली भाँति उपचारित होने पर भी पानी में डूब जाती है, जबकि बोल्सा लकड़ियाँ कार्क से भी हलकी होती हैं।

गोंद, या सरेस की भाँति ही, गीले होने पर, लकड़ी की भी कठोरता, सामर्थ्य और दृढ़ता कम हो जाती है, और नमी से संतृप्त होने तक इसकी नम्यता एवं विस्तरणीयता बढ़ती ही जाती है। इसलिये गीली भाप के उपचार के द्वारा यह सरलता पूर्वक मोड़ी जा सकती है; और इस प्रकार फर्नीचर आदि बनाने के काम आती है।

नमी की मात्रा समान होने पर भी लकड़ियों के आयतन में परिवर्तन की मात्रा भिन्न भिन्न होती है। भारी, या अरेज़िनी लकड़ियाँ प्राय: हलकी होती हैं, या रेज़िनी लकड़ियों की अपेक्षा अधिक फूलती, या सिकुड़ती हैं। इसलिये नरम काष्ठ में कठोर काष्ठ की अपेक्षा कुछ कम परिवर्तन हुआ करता है, किंतु घनत्व के अनुपात में नहीं।

रेशे की दिशा में लकड़ी बहुत कम घटती, या बढ़ती है। यहाँ तक कि भली भाँति उपचारित लकड़ी के बने हुए पैमाने और गज आदि विश्वसनीय होते हैं। किंतु रेशों की आड़ी दिशा में प्रसार या संकोच अपेक्षाकृत बहुत अधिक, अरवत् लगभग ३० से ५० गुने तक और स्पर्श रेखीय लगभग ६० से १०० गुने तक, होता है। इसी कारण
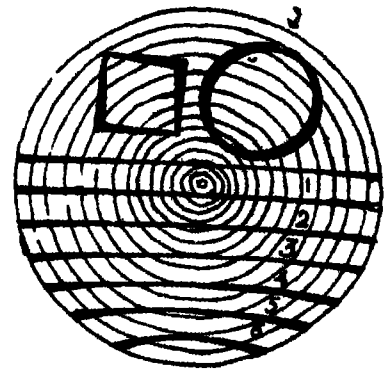
चित्र १.

लकड़ी का कोई टुकड़ा, कड़ी, या तख्ता आदि सूखने पर प्राय: शकल बदल देता है। चित्र १. में तख्तों, चौकोर कड़ी, या गोल छड़ की आकृति सूखने के बाद दिखाई गई है। तख्ता १., जो प्राय: अरवत् है, सूखने पर भी प्राय: सीधा ही रहता है और इसकी तुलना में तख्ता क्रमांक ३. या ५. की ऐंठन उल्लेखनीय है।

किसी किसी टुकड़े के रेशे इधर उधर विभिन्न दिशाओं में जाते हैं, जैसे अत्यंत गँठीली, या दंतिदार लकड़ी के। ये देखने में अत्यंत सुंदर लगते हैं, किंतु सूखने पर इनके चटकने, या फटने की संभावना रहती है। इसलिये सुंदर दर्शनीय फर्नीचर में लगाने के लिये ऐसी लकड़ी की बहुत पतली परतें काटकर सरेस द्वारा किसी सीधे रेशे वाली लकड़ी पर चिपका दी जाती हैं। परती लकड़ी, जिसका सर्व

साधारण उदाहरण तिपरती लकड़ी है, तीन परतें परस्पर इस प्रकार चिपकाकर बनाई जाती है कि एक के रेशे दूसरी के रेशों के आड़े रहें। ये परतें ऐंठती कम हैं, सिकुड़ती बराबर हैं और विभिन्न दिशाओं में इनकी सामर्थ्य एक सी रहती है।

काष्ठ का रंग बहुधा सफेद ही होता है, जो अंतःकाष्ठ बनते बनते गहरा होकर काला, या अनेक वर्ण धारण कर लेता है। भूरी, बादामी, पीली, लाल, हरी, और बैंगनी या मिश्रित रंगों की लकड़ियाँ मिलती हैं।

यांत्रिक गुण — प्राकृतिक शक्तियों का सामना करने के लिये वृक्ष की लकड़ी में इतनी सामर्थ्य होनी आवश्यक है कि वह टूट न सके, अथवा दबाव, खिंचाव, नमन और ऐंठन आदि के कारण उसमें स्थायी विकृति न आए। इसमें इन सब प्रकार के प्रतिबल अकस्मात् आ जाने से उत्पन्न आघात सहन करने की भी शक्ति होनी चाहिए। तना खंभे की भाँति सीधा खड़ा रहे, इसलिये लकड़ी में पर्याप्त दृढ़ता भी होनी चाहिए और इतनी लचक भी होनी चाहिए कि विकृति उत्पन्न करनेवाले प्रतिबलों के हटने पर वे अपनी पूर्वावस्था प्राप्त कर लें। ये ही सब गुण इमारती लकड़ी में होते हैं।

लकड़ी की रचना रेशों के समांतर कुछ और होती है तथा आड़े कुछ और। इसी के अनुरूप इन दोनों दिशाओं में उसकी सामर्थ्य और दृढ़ता भी भिन्न भिन्न होती है। दबाव और तनाव की सामर्थ्य रेशों के समांतर अधिकतम होती है और कर्तन सामर्थ्य उसकी आड़ी दिशा में। नमन में किसी धरन की सामर्थ्य सर्वाधिक तब होती है जब भार रेशों की दिशा के लंबवत् डाला जाता है। धरनें, कड़ियाँ, फ़र्शी तख्ते, खंभे, कुल्हाड़ी की बेंट, पहियों के अरें आदि सीधे रेशेवाली लकड़ी के ही मजबूत बनते हैं, तिरछे रेशेवाली लकड़ी कमजोर रहती है।

लकड़ी का सबसे महत्वपूर्ण गुण है, सामर्थ्य और हलकेपन का समन्वय। दबाव सामर्थ्य और घनत्व का अनुपात लकड़ी में सर्वाधिक
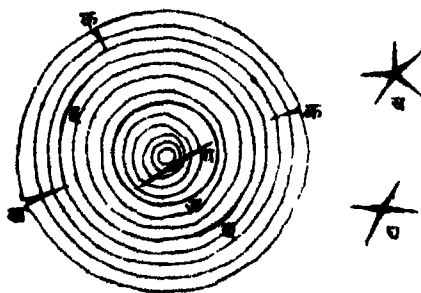
चित्र २.

क. पकाई या बाहरी तरेड़ (shake); ख. तुषार-पर्शुका एवं तरेड़; ग. सादी भीतरी तरेड़; घ. दोहरी भीतरी तरेड़; च. तारानुमा भीतरी तरेड़; छ. आंशिक गोल दरार तथा ज. पूर्ण गोल दरार।

होता है। तनाव सामर्थ्य में यह इस्पात की अपेक्षा कमजोर होती है। इसलिये इमारती संरचना में यथास्थान लकड़ी के साथ इस्पात आदि का उपयोग किया जाता है।

दोष — लकड़ी के कुछ दोष ऐसे होते हैं जिनके कारण इसमें कमजोरी आती है। गाँठों की चर्चा ऊपर आ चुकी है। इनसे सामर्थ्य घट जाती है। इनका दुष्प्रभाव दबाव, कर्तन, या दृढ़ता की अपेक्षा तनाव में अधिक पड़ता है। कभी कभी गाँठें ढीली पड़ जाती हैं। तख्तों के बीच में से ऐसी गाँठ निकल जाने से उनमें छिद्र हो जाते हैं। लकड़ी में भाँति भाँति की दरारें भी होती हैं। चित्र २. में इनके प्रकार दिखाए गए हैं। इनसे लकड़ी की कर्तनसामर्थ्य बहुत कम हो जाती है।

लकड़ी प्राकृतिक उत्पाद है, इसलिये यह दोषरहित नहीं हो सकती। हाँ, इमारती लकड़ी में इन दोषों की सीमा निर्धारित कर दी जाती है, जैसे किसी विशेष नाप से बड़ी गाँठें न रहें, गाँठें अधिकतर तनाव के क्षेत्र में न पड़ें, दरारें अधिकतम कर्तन के क्षेत्र में, या सतह पर न पड़ें, आदि।

सड़ने, घुनने और दीमक लगने की संभावनाएँ इमारती काम की दृष्टि से लकड़ी की उपयोगिता घटा देती हैं। इनसे बचाने के लिये अनेक प्रकार के उपचार किए जाते हैं (देखें **लकड़ी का परिरक्षण**)। [वि० प्र० गु०]

लकड़ी का परिरक्षण इमारती काम के लिये एक अत्यंत उपयोगी पदार्थ होते हुए भी लकड़ी में यह दोष है कि फफूँद, दीमक, तथा छेदक कीट इसे नष्ट कर सकते हैं और इसमें सरलता से आग लग सकती है। विनाशक तत्वों द्वारा उपयोगी काष्ठ का क्षरण व्यापक समस्या है, और अत्यंत प्राचीन काल से ही लकड़ी का उपयोग करनेवाले इन तत्वों के विनाश के लिये संघर्षरत रहे हैं। पटना (बिहार) के निकट 'बुलंदी बाग' की खुदाई से प्राप्त मौर्यकालीन अवशेषों में लकड़ी की दीवार, नाली आदि भी हैं, जो जमीन के अंदर गड़ी रहने पर भी अच्छी दशा में हैं। किंतु अभी तक न वह लकड़ी पहचानी जा सकी है और न उसमें व्यवहृत परिरक्षी की विशिष्ट रचना के विषय में ही कुछ ज्ञात हो सका है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समस्या का सामना अभी हाल में ही किया गया है और जैविक क्षरण से काष्ठ को बचाने की दिशा में विशेष प्रगति हुई है। यह मुख्यतः कुछ रासायनिक परिरक्षियों की खोज से संभव हुआ है, जिनसे काष्ठ के उपयोग के अनुसार विविध विधियों द्वारा उसका उपचार किया जाता है।

परिरक्षी अनेक प्रकार के होते हैं, कुछ ऐसे जिनके लिये कार्बनिक विलायकों की आवश्यकता होती है, और कुछ अन्य जो जलविलेय होते हैं। इसका ध्यान रखना होता है कि उपयोग में आने पर प्रतिरक्षी न तो रिस रिस कर बहे, और न उसका उद्वाष्पन ही हो। इनके कारण उपचार अप्रभावशाली रह जाता है।

प्रत्येक उद्देश्य से उपयोग में आनेवाला एक प्रमुख परिरक्षी क्रियोसोट है। यह अलकतरे के आसवन से प्राप्त होता है। सभी प्रकार के काष्ठ विनाशक तत्वों को नष्ट करने में यह विशेष प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। किंतु तैलवत् होने के कारण, इसके द्वारा उपचारित काष्ठ पर रंग, या पॉलिश सरलता से नहीं किया जा

सकता है। अतः इसकी माँग घर के कामों में प्रयुक्त होनेवाली लकड़ी के परिरक्षण के लिये अधिक नहीं है, पर बाहर के काम के लिये, यथा बिजली के खंभों, पुलों, और स्लीपरों आदि के लिये प्रयुक्त होनेवाली लकड़ियों के परिरक्षण के लिये, क्रिओसोट अनुपमेय है।

जहाँ परिस्थितियाँ बहुत कठिन नहीं हैं और जहाँ दर्शनीयता भी दृष्टि से ओझल नहीं की जा सकती, वहाँ ऐस्क्यू, जिंक क्लोराइड, सोडियम फ्लुओराइड, ताम्र नैफ्थनेट और पेंटाक्लोरोफ़िनोल सरीखे परिरक्षी व्यवहार में लाए जाते हैं। ऐस्क्यू और पेंटाक्लोरोफ़िनोल घर के बाहर के काम में प्रयुक्त होनेवाली लकड़ियों के परिरक्षण में भी व्यवहृत हो सकते हैं।

बोरिक अम्ल, सोहागा और अमोनियम फ़ॉस्फ़ेट जैसे रसायनकों से संसिक्त करने पर लकड़ी के आग पकड़ने का भय बहुत कुछ कम हो जाता है, किंतु प्रारंभ में मँहगे होने के कारण ये उपचार लोकप्रिय नहीं थे।

काष्ठ में परिरक्षियों को संसिक्त कराने की अनेक विधियाँ हैं, जैसे, कूँची से लगाना, डुबोना, फुहारे देना, सिरों से संसिक्त करना, खुली टैंक विधि, कोशिकापूर्ण विधि, लावरी और रूपिंग विधि।

कूँची से लगाने से परिरक्षी द्रव सतह पर ही लगता है और संसिक्ति गहरी नहीं होती; अतः काष्ठ परिरक्षण की यह विधि बहुत विश्वसनीय नहीं है। परिरक्षी में काष्ठ को डुबाना और उस परिरक्षी का फुहारे देना भी विशेष प्रभावशाली नहीं है। सिरे से संसिक्त करना, या विसरण इनसे अच्छा है। इस विधि में जल-विलेय परिरक्षी हरी लकड़ी के लट्ठे के एक सिरे से प्रवेश कराया जाता है और जलीय दबाव के कारण लट्ठे के भीतर की नमी को निकालकर उसका स्थान ले लेता है। इस प्रकार काष्ठ का भली भाँति उपचार हो जाता है।

औद्योगिक क्षेत्र में प्रायः अन्य विधियाँ, यथा खुली टैंक विधि, कोशिकापूर्ण विधि, लावरी (Lowry), या रूपिंग (Ruping) विधि आदि ही व्यवहार में आती हैं। खुली टैंक विधि में मशीनों के उपयोग की आवश्यकता नहीं होती। लकड़ी पहले गरम क्रिओसोट के टैंक में, और फिर ठंडे क्रिओसोट के टैंक में डुबोई जाती है। इस प्रकार भीतर की वायु एवं आर्द्रता निकल जाती है और तेल लकड़ी की कोशिकाओं मे प्रविष्ट हो जाता है। रस-काष्ठ के लिये यह विधि उत्तम है।

कोशिकापूर्ण विधि में लकड़ी एक बंद ढोल में रखी जाती है, जिसमें कुछ देर तक भाप की दाब पहुँचाने के अनंतर निर्वात उत्पन्न किया जाता है। तत्पश्चात् भारी दबाव के साथ गरम परिरक्षी प्रविष्ट कराया जाता है, जिससे लकड़ी द्वारा उसका अपेक्षित अव-शोषण हो जाय। यह विधि सभी प्रकार के परिरक्षियों के लिये उपयुक्त है, किंतु अधिक मात्रा में द्रव की आवश्यकता होने के कारण सामान्य व्यवहार के लिये महँगी हो सकती है।

लावरी विधि में गरम तेल के एक ढोल में कुछ देर के लिये पंप द्वारा भारी दबाव उत्पन्न किया जाता है और फिर उसे निर्वात कर दिया जाता है। प्रारंभिक ऊँचे दबाव के कारण परिरक्षी लकड़ी की कोशिकाओं में संसिक्त हो जाता है और लकड़ी का उपचार संपन्न हो जाता है। निर्वात होने पर अनावश्यक द्रव बाहर निकल-कर ढोल, या टंकी में आ जाता है। रेलवे स्लीपरों के उपचार के लिये इस विधि का व्यापक व्यवहार होता है

रूपिंग विधि में ढोल संपीड़ित वायु से भर दिया जाता है। फिर एक हौज से परिरक्षी भी उसी ढोल मे प्रविष्ट कराया जाता है, जो वायु को निकालकर उसका स्थान ले लेता है। ढोल भर जाने के पश्चात् द्रव का दबाव बढ़ाया जाता है। फिर लकड़ी द्वारा अपेक्षित अवशोषण हो चुकने पर दबाव कम कर शनैः शनैः शून्य तक लाया जाता है। इस विधि से कोशिकाओं मे की संपीडित वायु, दबाव घटने पर, अनावश्यक (२० से ६० प्रति शत तक) द्रव को बाहर निकाल देती है। इस प्रकार द्रव की कम मात्रा काम आती है और संसिक्ति गहरी होती है। इस विधि का भी काफी व्यापक व्यवहार होता है।

विसरण के अतिरिक्त अन्य विधियों में पहले लकड़ी की पकाई कर, नमी की मात्रा घटा देना वाछनीय है। छिलका उतारना, और तापसह काष्ठ के लिये तो छीलना या गोदना भी आवश्यक हो सकता है, जिससे संसिक्ति गहरी हो।

फर्नीचर और घरेलू काम की अन्य वस्तुओं का रंग रोगन और वार्निश से ही पर्याप्त परिरक्षण हो जाता है।

भारत में परिरक्षण उपचार व्यापक व्यवहार में नहीं आया है। प्रायः सरकारी संस्थान, यथा रेलवे, सार्वजनिक निर्माण विभाग आदि ही, परिरक्षियों का उपयोग करते रहे हैं। परिरक्षण उपचार द्वारा अपेक्षाकृत कम टिकाऊ लकड़ी का भी उपयोगी जीवनकाल बहुत बढ़ाया जा सकता है। [कि०]

लक्षदीवी, मिनिकोय और अमीनदीवी द्वीपसमूह अरब सागर में मालाबार समुद्रतट से लगभग २०० मील की दूरी पर, उत्तर दक्षिण फैले हुए, १९ प्रवाली द्वीपों का एक क्रम है, जो भारत के केंद्र प्रशासित राज्यों के अंतर्गत आता है। इनका प्रशासन इस समय केरल के कोलिकोड नगर से होता है। ये सब द्वीप लक्षदीवी एवं अमीनदीवी द्वीपसमूहों के अंतर्गत हैं। लक्षदीवी एक संस्कृत शब्द है, जिसका अर्थ एक लक्ष अथवा एक लाख द्वीपों से है। इन द्वीपों का कुल क्षेत्र ११ वर्ग मील है। कुल जनसंख्या २४,१०८ (१९६१) है। इन द्वीपों में से केवल दस ही बसे हुए हैं, अर्थात् लक्षदीवी द्वीप-समूह में : मिनिकोय, कलपेनी, कवराथी, अगाथी तथा अंडरोथ और अमीनदीवी द्वीपसमूह में : अमीनी, कडामथ, किलतान, चेतलत तथा बितरा। प्रवाल द्वीपों के मध्य स्थित अनूपों (lagoon) मे मछ-लियों की बहुलता है। औसत वार्षिक वर्षा ५० इंच है।

इन द्वीपों के लगभग सभी निवासी मुसलमान हैं। इनके पूर्वज हिंदू थे, जो ९वीं शताब्दी में केरल के मलाबारतट से आकर यहाँ बस गए थे (मिनिकोय द्वीप को छोड़कर) और १३वीं शताब्दी में अरब के एक पीर द्वारा इस्लाम धर्म मे परिवर्तित कर लिए गए। द्वीपसमूहों के रहन सहन का ढंग मलाबार तट के मोपाला लोगों के समान ही है (मिनिकोयवासियों को छोड़कर)। मलयालम बोल चाल की भाषा है। मिनिकोय को छोड़कर, साक्षरता २३.३ प्रति शत (१९६१) थी।

नारियल एवं मछली इन द्वीपों की मुख्य उपज है। कुछ मात्रा में रागी, ज्वार, बाजरा, केला, शाक इत्यादि की उपज भी होती है। भारत के अन्य भागों से आए हुए चावल के स्थान पर यहाँ से नारियल भेजा जाता है। सुगम यातायात की कमी द्वीपों की सबसे बड़ी समस्या है। [रा० ना० मा०]

लक्ष्मण (१) सुमित्रा से उत्पन्न दशरथ के पुत्र जो शत्रुघ्न के ज्येष्ठ सहोदर तथा उर्मिला के पति थे। ये शेषनाग के अवतार माने जाते हैं। वनवासकाल में राम और सीता के साथ रहकर जिस अटूट भक्ति और सेवाभावना का इन्होंने परिचय दिया वह श्रद्धा का अन्यतम उदाहरण है। राज्य, परिवार और जीवन के सभी सुखभोगों को ठुकराकर तपस्वी के वेष में राम के आज्ञाकारी अनुचर तथा सेवक के रूप में लक्ष्मण का चरित्र बड़ा ही रोमांचकारी है। इसीलिये यह राम को अत्यंत प्रिय थे। लक्ष्मण इंद्रियजित् और निद्राजित् थे तथा बारह वर्ष तक अनाहार रहकर ये राम की सेवा मे निमग्न रहे। इन्होंने वनवासकाल में राम के साथ अनेक राक्षसों से युद्ध किया। राम की आज्ञा से शूर्पणखा के नाक कान काटे तथा वैदेहीहरण से क्लांत राम की विरहदशा में ये उनके एकमात्र सहायक बने। लंका के युद्ध में इन्होंने मेघनाद के अतिरिक्त विरूपाक्ष, अतिकाय आदि राक्षसों का वध किया। रावण से युद्ध करते समय (तुलसी के अनुसार मेघनाथ से युद्ध करते समय) अमोघ शक्ति बाण से मूर्च्छित होने पर सुषेण और हनुमान की सहायता से संजीवनी द्वारा इनके प्राण बचाए जा सके। लक्ष्मण अत्यंत तेजस्वी, क्रोधी और परम पराक्रमी वीर पुरुष थे। राम के प्रति इनकी अनन्य भक्ति और आदर्श सेवाभावना का उल्लेख गोस्वामी तुलसीदास ने स्वकृत रामचरितमानस में बारंबार किया है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार दुर्वासा के शापभय से तथा राम की प्रतिज्ञा के निर्वाहार्थ इन्होंने सरयू तट पर योगक्रिया द्वारा प्राणत्याग किया था। उर्मिला से इन्हे चंद्रकेतु, और अंगद नामक दो पुत्र हुए थे।

(२) दुर्योधन का पुत्र, कौरव सेना का सारथी जो अभिमन्यु द्वारा युद्धक्षेत्र मे मारा गया था। [रा० द्वि०]

लक्ष्मण नारायण गर्दे (१८८९-१९६०) प्रख्यात संपादक तथा साहित्यकार का जन्म काशी में महाशिवरात्रि को हुआ। सन् १९०७ में आपने विज्ञान लेकर स्कूल फाइनल परीक्षा उत्तीर्ण की। कुछ समय एफ० ए० कक्षा में भी अध्ययन किया किंतु राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत होकर पढ़ाई छोड़ दी और राष्ट्रीय कार्यों में लग गए। हिंदी पत्रकारिता को आधुनिक उच्चस्तर तथा उन्नत स्वरूप तक पहुँचाने का श्रेय जिन आद्य संपादकाचार्यों को है, उनमें गर्दे जी का नाम प्रमुख है। ५० वर्षों तक आपने भारतीय साहित्य और संस्कृति का पत्रकारिता के माध्यम से जो संवर्धन किया है, वह सदा स्मरणीय रहेगा। हिंदी पत्रकारिता के विकासकाल में आपने उसे ऐसे साँचे में ढालने का सफल कार्य किया, जो राष्ट्रीयता से तो ओतप्रोत था ही, आध्यात्मिकता, नैतिकता और सांस्कृतिक भावना से भी युक्त था।

संपादक के रूप में आपका संबंध 'वेंकटेश्वर समाचार', 'हिंदी बंगवासी', 'भारत मित्र' तथा 'नवजीवन' से रहा है। काशी के दैनिक 'सन्मार्ग' से भी आपका संबंध रहा है और उसमें आप 'चक्रपाणि' के नाम से विशेष लेख लिखा करते थे। जुलाई, १९१९ में आपको 'भारत मित्र' के संपादक के रूप में आमंत्रित किया गया। छह वर्षों के आपके संपादकत्व में प्रकाशित 'भारत मित्र' की उल्लेख्य देन है—गांधीवाद तथा साम्यवाद का प्रमुख रूप से प्रचार। साम्यवाद का प्रचार उस समय अंग्रेजों से विरोध प्रकट करने के निमित्त किया जाता था। जिस समय महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन के समर्थन में लोग हिचकते थे, आपने निर्भीकता से उसका समर्थन किया। इस संबंध में आपने महामना मालवीय जी और विश्वकवि रवींद्रनाथ से भी महत्वपूर्ण विचार विमर्श कर अपनी स्थापनाएँ उनके संमुख प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत की थीं। 'भारत मित्र' में प्रकाशित आपके अग्रलेखों की सारे देश में चर्चा होती थी। लाहौर के उर्दू 'प्रताप', मद्रास के 'स्वराज्य' तथा कलकत्ता के 'सर्वेंट' पत्र में उनके अनुवाद प्रकाशित होते थे। उक्त दैनिक पत्रों के अतिरिक्त आपने कलकत्ते से 'श्रीकृष्ण संदेश' साप्ताहिक तथा काशी से मासिक 'नवनीत' पत्रिका भी निकाली थी, जिनका हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। स्मरणीय है कि 'श्रीकृष्ण संदेश' प्रथम सचित्र विचारशील आदर्श साप्ताहिक था।

आप न केवल सफल संपादक थे, अपितु बहुमुखी प्रतिभा के यशस्वी साहित्यकार भी थे। आपकी 'सरल गीता' का देश में ही नहीं, बृहत्तर भारत के प्रवासी भारतीयों में भी खूब प्रचार हुआ। श्रीकृष्ण चरित्र, एशिया का जागरण, जापान की राजनीतिक प्रगति, गांधी सिद्धांत, आरोग्य और उसके साधन आपकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। गांधी सिद्धांत, महात्मा गांधी की 'स्वराज्य' पुस्तक का अनुवाद है, जिसकी भूमिका स्वयं बापू ने लिखी है और जिस प्रसंग में गर्दे जी को कई महीनों तक उनके साथ गुजरात-महाराष्ट्र के दौरे में रहना पड़ा था। आपके दो उपन्यास नकली प्रोफेसर तथा मियाँ की करतूत काफी लोकप्रिय हुए। गीता तथा अरविंद दर्शन के आप महान् व्याख्याता थे। अरविंद आश्रम से आपके योग प्रदीप तथा गीता प्रबंध के दो अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। ज्ञानमंडल (काशी) से प्रकाशित प्रथम पुस्तक माटेगु-चेम्सफोर्ड-रिपोर्ट का हिंदी अनुवाद आपने माननीय श्री श्रीप्रकाश के साथ किया था। 'कल्याण' के योगांक, संतांक, वेदांतांक, साधनांक आदि अनेक विशेषांकों के संपादन मे आपका महान् योगदान रहा है। आपके महाराष्ट्र के संतों, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम के चरित्र गीता प्रेस (गोरखपुर) से प्रकाशित हुए हैं। इनके अतिरिक्त आपके सैकड़ों निबंध, संस्मरण आदि विभिन्न पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं, जिनका पुस्तकाकार प्रकाशन अभी नहीं हुआ। आपकी भाषा और शैली सहज तथा प्रभावपूर्ण है। गूढ़ से गूढ़ विषयों को सफलता से बोधगम्य कर देना आपकी शैली की प्रमुख विशेषता है।

जिन महान् साहित्यकारों तथा संपादकों ने साहित्यसेवा के साथ साथ राष्ट्रसेवा भी की है, उनमें गर्दे जी का अन्यतम स्थान है।

लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी आदि राष्ट्रीय नेताओं के अत्यंत निकट रहने तथा उनके कृपापात्र होने का सौभाग्य आपको प्राप्त था। आप नियमपूर्वक प्रति वर्ष कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में उपस्थित हुआ करते थे। सन् २० की विशेष कांग्रेस के बाद कलकत्ता स्थित बड़ा बाजार जिला कांग्रेस कमेटी के प्रथम अध्यक्ष आप ही चुने गए थे। आपको जेल भी जाना पड़ा, जहाँ राष्ट्रकवि माधव शुक्ल, नेता जी सुभाषचंद्र बसु, मौलाना अबुल कलाम आजाद आदि नेता भी बंदी थे। इस प्रकार आपने पत्रकारिता के माध्यम से देश की महान् सेवा की, जनजीवन में जागर्ति का संदेश फैलाया तथा राष्ट्रभाषा हिंदी को सहज सरल शैली दी है। पत्रकार कला को सैद्धांतिक एवं शास्त्रीय आधार प्रदान करने में आपका महान् योगदान रहा है। [ल० शं० व्या०]

लक्ष्मी भारत में प्राय: प्रत्येक हिंदू के घर दीवाली के दिन लक्ष्मी की पूजा होती है। कार्तिक अमावस्या की रात दीपकों के उजाले से शरद पूर्णिमा की भाँति खिल उठती है। उस समय लोग घर की सफाई करते हैं, नया वस्त्र पहनते हैं तथा बड़ी धूमधाम से लक्ष्मी का पूजन करते हैं। कुछ परिवारों में लक्ष्मी की मृण्मूर्ति स्वच्छ पृथ्वी पर चंदन से कमल बनाकर रखते हैं तथा गणेश का पूजन करके लक्ष्मी का पूजन विधिपूर्वक करते हैं। कुछ लोग इंद्र तथा कुबेर का भी पूजन करते हैं तथा एक अखंड घृत का दीप प्रज्वलित करते हैं। अंत में लक्ष्मी से प्रार्थना करते हैं कि वह परिवार को धनधान्य से सुसंपन्न करे। कुछ परिवारों में श्री का यंत्र चंदन से बनाते हैं और उसकी पूजा करते हैं। कहीं कहीं यह यंत्र लोग पत्थर पर खोदवाकर रख लेते हैं और दीवाली के दिन उसे चंदन लगाकर पूजा करते हैं। किसी किसी परिवार में लक्ष्मी की मूर्ति भीत पर चित्रित कर उनका षोडशोपचार से पूजन करते हैं।

यह विश्वास जनसाधारण में विस्तृत रूप से व्याप्त है कि दीवाली के दिन लक्ष्मी प्रत्येक गृह में पधारती हैं। उनके आगमन की प्रतीक्षा में लोग घर को स्वच्छ रखते हैं, दीपक जलाते हैं, जागरण करते हैं तथा समय काटने के हेतु द्यूत रचाते हैं।

लक्ष्मीव्रत—दीवाली के पूर्व कुछ नगरों में लक्ष्मी का मेला होता है तथा लोग लक्ष्मी का व्रत करते हैं। यह व्रत भाद्रशुक्ल अष्टमी से प्रारंभ होकर आश्विन कृष्ण अष्टमी तक चलता है। अष्टमी को उस व्रत का उद्यापन होता है। यह व्रत भदई की फसल कटने के पश्चात् तथा अगहनी बोने के पूर्व होता है। इस प्रकार इस उत्सव से हमारी कृषि से भी कुछ संबंध प्रतीत होता है। इस कथा का आरंभ एक मंगल राजा तथा उनकी दो रानियों चिल्लदेवी तथा चोलदेवी से होता है। ये नाम कुछ चालू कोक देवता से मिलते हुए हैं जिनकी मूर्ति भारहुत से प्राप्त हुई हैं (जिमर—दि आर्ट ऑव इंडियन एशिया—फलक ३३, बी)।

किसी किसी कुल में लक्ष्मी की कच्ची मिट्टी की मूर्ति रखकर पूजन करते हैं। यह मूर्ति केवल गर्दन तक रहती है। नीचे का भाग कपड़े से बनाया जाता है। इस प्रकार की दो मूर्तियाँ रखी जाती हैं। एक को छोटी तथा दूसरी को बड़ी लक्ष्मी कहते हैं। ये प्राय: राजा मंगल की दो रानियों की प्रतीक होती हैं। कई घरों में आश्विन की पूर्णिमा को रात्रि में इंद्र तथा लक्ष्मी का श्वेत पुष्प इत्यादि से पूजन होता है तथा श्वेत वस्तुओं जैसे रेवड़ी, गरी, दूध इत्यादि का भोग लगता है तथा द्यूत रचाते हैं। यह कदाचित् कौमुदी महोत्सव का प्रतीक है। इसका विवरण हमें मुद्राराक्षस में भी प्राप्त होता है।

आज जो लक्ष्मी की मूर्ति दीवाली के पूजन के हेतु बनती है उसका रूप विष्णुधर्मोत्तर पुराण में जैसा कहा गया है उससे भिन्न रहता है। इसके अनुसार जब विष्णु के साथ लक्ष्मी की मूर्ति बनाई जाय तो लक्ष्मी को दो भुजाओंवाली बनाना चाहिए। पृथक जब बनाई जाय तो उन्हें चतुर्भुज बनाना चाहिए। उनका रूप सुंदर बनाना चाहिए तथा उनको सब आभूषणों से सजाना चाहिए। उनकी चतुर्भुज मूर्ति कमलासन पर स्थित करनी चाहिए। यह कमल अष्टदल का हो। नीचे के दक्षिण कर में केयूर तक जिस कमल की डंडी हो ऐसा कमल, नीचे के वाम कर में अमृतघट, ऊपर के दो करों में एक में श्रीफल (बिल्व फल), तथा दूसरे में शंख; दोनों ओर दो हाथी बनाए जायँ जो घट पर स्थित अपनी सूँड़ों से घट लिए हुए देवी को स्नान कराते रहें। आज की मूर्ति चार भाँति की बनती है, एक तो विष्णु के साथ जिसमें लक्ष्मी विष्णु के चरण चापती हुई दिखाई जाती हैं, दूसरी केवल गरदन तक जो महालक्ष्मी व्रत के पूजन में विशेष प्रकार से व्यवहार में आती है, तीसरी बिना गज के पद्मासन में कमल के आसन पर बैठी मूर्ति जिसको चार भुजाएँ रहती हैं, दो में पद्म तथा एक वरद मुद्रा में तथा दूसरी जंघे पर स्थित, चौथी वह जिसमें गज स्नान कराते दिखाए जाते हैं। ये मूर्तियाँ प्राय: सफेद रंग से रँगी रहती हैं, गरदन तक की लक्ष्मी की मूर्ति कभी सेंदुरिया रंग से और कभी सफेद रंग से रँगी रहती है। ये सब मूर्तियाँ आभूषणों से सज्जित रहती हैं। मस्तक पर मुकुट, वक्षस्थल पर हार, कानों में कुंडल, बाहुओं में केयूर, मणिबंधों पर चूड़ी, कंगन इत्यादि, कटि प्रदेश में करधनी तथा नाक में नथ रहती है। (नथ—बारहवीं तेरहवीं शताब्दी के पूर्व मूर्तियों पर दृष्टिगोचर नहीं होती)।

उत्तर भारत में प्राय: व्यापारी वर्ग दीवाली को अपना नया वर्ष प्रारंभ करते हैं तथा अपनी बहियों का, काँटे बटखरों का, लेखनी मसीपात्र का पूजन करते हैं। जौहरी अपने रत्नों का पूजन करते हैं तथा कायस्थ लोग दीवाली के तीसरे दिन दावात कलम का पूजन करते हैं।

प्राय: सन् १९२१ के पूर्व पाश्चात्य विद्वान् यही मानते थे कि भारत में मूर्ति का आगमन यूनान से हुआ तथा बुद्धमूर्तियाँ अपोलो के ढाँचे पर बनाई गईं। परंतु अब सिंधु सभ्यता की मूर्तियों के प्राप्त होने के पश्चात् सभी यह मानने लगे हैं कि भारत में मूर्तियाँ ईसा से २५०० वर्ष पूर्व भी बनती थीं। उस समय की प्राप्त मूर्तियों में पत्थर की, काँसे की तथा पक्की मिट्टी की आज भारत के राष्ट्रीय संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही हैं।

कुमारस्वामी ने लक्ष्मी की मूर्तियाँ तीन प्रकार की मानी हैं—पद्मस्थिता (कमल पर बैठी हुई); पद्मग्रहा (कमल हाथ में लिए हुए); पद्मवासा (कमल से घिरी हुई)। गज लक्ष्मी की मूर्ति को उन्होंने अलग स्थान दिया है, परंतु जितनी भी लक्ष्मी की मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं उनमें कमल का प्राधान्य है। यह एक चिह्न सभी में प्राप्त होता है। हम यदि इस चिह्न के साथ किसी देवी की मूर्ति

की खोज मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, चांहुदाड़ो में करें तो कदाचित् किसी तथ्य पर पहुँच सकें। लक्ष्मी को जगन्माता के आदि स्वरूप से जोड़ना कुछ उचित नहीं ज्ञात होता, न मोहनजोदड़ो से प्राप्त योगी के स्वरूप से, क्योंकि इनमें कहीं कमल का कोई संबंध नहीं दिखाई देता। यह तो प्राय: अब विद्वान् मानने लग गए हैं कि भारत के प्राचीन नगर मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, अमरी, नाल, कुल्ली, चांहुदाड़ो से पश्चिम के ग्यान, किश, उर इत्यादि नगरियों से वाणिज्य संबंध था तो उस काल के भारत में एक वणिक् समाज का होना अनिवार्य सा है। इनके अपने कोई देवी देवता, जो धन को प्रदान करनेवाले हों, होना चाहिए। इस विषय में कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन है क्योंकि अभी तक यहाँ की लिपि पढ़ी नहीं गई है परंतु फिर भी यहाँ से प्राप्त कुछ मोहरों पर की आकृतियाँ इस अनुमान को पुष्ट करती हैं कि सिंधु घाटी के वणिक वर्ग की कोई देवी ऐसी थी जिसका बाद में लक्ष्मी का रूप हुआ।

श्री तथा लक्ष्मी शब्द ऋग्वेद में आते हैं परंतु इनसे किसी विशेष रूप का बोध नहीं होता। माता अदिति से लक्ष्मी का संबंध कहाँ तक जोड़ा जा सकता है, यह विचार का विषय है। यों अदिति से लक्ष्मी का संबंध कुछ बैठता नहीं, क्योंकि ये दोनों शब्द अलग अलग ऋग्वेद में प्राप्त हैं तथा इन दोनों को एक साथ जोड़ा नहीं गया है। डाक्टर कुमारस्वामी ने कहा है कि हिंदू देवी अदिति से बाबुल के इश्तर का बहुत कुछ साम्य है तथा दूसरी ओर श्री लक्ष्मी से भी। वैदिक देवी अदिति यजुर्वेद में विष्णुपत्नी के रूप में मिलती हैं। ऋग्वेद में वे जगन्माता सर्वप्रदाता. प्रकृति की अधिष्ठात्री देवी के रूप में वर्णित हैं। अदिति का इस प्रकार का एक रूप श्री लक्ष्मी से भी मिलता है और जब अदिति के दूसरे गुण और देवियों मे विभाजित करके पूजे जाने लगे तो एक रूप श्री लक्ष्मी का भी इन्हीं अदिति से बना, ऐसा कुमारस्वामी का मत है।

यजुर्वेद में श्री तथा लक्ष्मी दो देवियों के रूप हमें मिलते हैं 'श्रीश्चते लक्ष्मी सपत्न्या' तथा इनको विष्णु की दो पत्नियाँ माना है। अथर्ववेद में श्री, भूति, वृद्धि सौभाग्य इत्यादि की द्योतक है। ब्राह्मणों में जिन देवताओं को श्री है वे अमर हैं। श्री वह आसन है जिसपर ब्रह्मा स्थित हैं, श्री में चेतनधर्म का आरोपण सबसे प्रथम शतपथ ब्राह्मण में होता है, जब प्रजापति अपने तप के द्वारा अपनी श्री को प्रकट करते हैं।

श्रीसूक्त में श्री तथा लक्ष्मी एक ही देवी हो जाती हैं। सुवर्ण तथा रजत की (श्री सूक्त १) माला पहने हुए हिरण्य वर्ण वाली, पद्म पर स्थित, पद्म वर्ण वाली, जिससे संबंधित बिल्वफल है (श्री सूक्त ६) इत्यादि। तैत्तिरीय उपनिषद् में ये वस्त्र, भोजन, पेय, धन आदि की प्रदात्री के रूप में हमारे समक्ष आती हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में श्री की कल्पना करनेवालों को बिल्व के पेड़ का यूप शाखासहित बनाने का विधान मिलता है। बिल्व को श्रीफल भी कहा है, रामायण में श्री कुबेर के साथ संबंधित मिलती हैं जो इस सांसारिक सौख्य के प्रदाता हैं तथा धन के देवता हैं। रामायण के पुष्पक प्रासाद पर लक्ष्मी कर में कमल लिए हुए स्थित हैं, ऐसा वर्णन मिलता है। महाभारत में लक्ष्मी अथवा सोम की पुत्री के साथ कुबेर की स्त्री के रूप में उपस्थित होती हैं। यहाँ इनकी उत्पत्ति समुद्रमंथन से, अफ्रोडाइट की भाँति, मिलती है तथा इनका मांगलिक चिह्न मगर मिलता है। बौद्ध ग्रंथों में लक्ष्मी के प्रति बहुत श्रद्धा का भाव नहीं मिलता। इनके संप्रदाय का नाम मिलिंदपान: में मिलता है। दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सत्त में इनकी उपासना वर्जित है। जातक ५३५ में यह पूर्व में स्थित दिखाई गई हैं जैसे आसा दक्षिण में, सद्धा पश्चिम में, हिरी उत्तर में। श्री को लक्खनी जातक नं० ३९२ में धतरट्ठ की, जो पूर्व के दिग्पाल हैं, पुत्री माना है। वे कहती हैं कि मैं मनुष्य को सांसारिक वैभव की प्रदात्री हूँ। मैं सौंदर्य हूँ (श्री), लक्खी हूँ, मैं भूरिपञ्ञ हूँ। धम्मपद अट्ठकथा में रज्ज सिरी दायक देवता है अर्थात् वे राज्य पुन: दिलानेवाली देवता है।

जैन पज्जुसण कल्प में त्रिसला के १४ स्वप्नों में जो महावीर के आगमन के द्योतक थे, श्री अभिषेक भी मिलता है। भगवती सूत्र मे भी यही कथा मिलती है। इस ध्यान में श्री कमल पर स्थित हिमालय के गर्भ में हाथियों द्वारा अभिषिक्त हो रही थीं।

कालिदास के रघुवंश में लक्ष्मी पद्महस्ता राज्यलक्ष्मी के रूप में उपस्थित होती है। कालिदास ने अपनी नायिकाओं की उपमा लक्ष्मी से दी है। अग्निपुराण में लक्ष्मी को प्रकृति तथा नारायण को पुरुष माना है। विष्णुपुराण में श्री विष्णु की पत्नी तथा समुद्रमंथन से उत्पन्न मानी गई है, इनको कमलालया कहा गया है। भक्तमाला में भी लक्ष्मी को कमला तथा विष्णु की शक्ति कहा गया है।

ऐसा ज्ञात होता है कि वेदों में 'श्री' तथा 'लक्ष्मी' अमूर्त ऐश्वर्य के द्योतक शब्द थे। बाद में एक स्थूल रूपबोधक हो गए तथा जनता द्वारा पूजित एक देवी से संबंध जोड़ दिया गया। श्री शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखा जाय तो ग्रीक मे एक शब्द प्राप्त होता है जिसका अर्थ है अधिकारी, शासक, राजा इत्यादि। हिंदेशिया के उत्तरी सेलेबेस में बोली जानेवाली टोम-टेन बोआन में 'सिय' शब्द धनवान तथा सुंदर दोनों के हेतु व्यवहार किया जाता है। कदाचित् यह शब्द श्री से निकला हो। लक्ष्मी शब्द लक्ष्मण से बना है, ऐसा मोनियर विलियम्स का मत है। वह कौन सा चिह्न था जिससे लक्ष्मी का संबंध था, निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता परंतु ऐसा ज्ञात होता है कि स्वस्तिक जिसका आज भी हम व्यवहार करते हैं उसका संबंध लक्ष्मी से हो। श्री अक्षर स्वस्तिक से ही बना है, जैसे ब्रह्मश्री, राजश्री, मुखश्री, रणश्री, गृहश्री इत्यादि। लक्ष्मी से राजलक्ष्मी, गृहलक्ष्मी, रणलक्ष्मी, लक्ष्मीवान्, लक्ष्मीवार इत्यादि।

ऐसा ज्ञात होता है कि दूसरी शताब्दी ईसा से पूर्व तक लक्ष्मी का स्वरूप निर्धारित हो चुका था, जैसा हम भारहुत के कटघरों के खंभों पर देखते हैं। यहाँ हमें लक्ष्मी के दो स्वरूप मिलते हैं—एक बैठा हुआ तथा दूसरा खड़ा। बैठी हुई मूर्ति योगासन में दोनो हाथ जोड़े हुए है तथा कमल के फूल पर स्थित है। खड़ी मूर्तियाँ कमल का फूल एक हाथ में लिए हुए हैं। इन दोनों प्रकार के फलकों में गज उनको स्नान करा रहे हैं। इस प्रकार उस युग में इनका गज तथा कमल से संबंध स्थापित हो चुका था। फूसे का मत है कि यह गज लक्ष्मी की मूर्ति माया बुद्ध की माता की द्योतक है तथा हिंदू देवी लक्ष्मी का आधुनिक रूप इसी से लिया गया है परंतु यदि यह बात होती तो अश्वघोष ने सौंदरनंद में सुंदरी की लक्ष्मी से उपमा देते हुए यह न कहा होता कि 'पद्मानना पद्मदलायताक्षी पद्मा विपद्मा-

पतिरेव लक्ष्मी' इत्यादि तथा रामायण में गजलक्ष्मी का पुष्पक विमान प्रासाद पर अंकित होना न वर्णन किया गया होता। यदि

चित्र १. साँची फलक ४१
पूर्वी द्वार तोरण, दक्षिणी सिरा

यह माया का स्वरूप माना जाय तो दो हाथियों की इन देवी को स्नान कराने के हेतु आवश्यकता क्यों हुई, एक ही हाथी से काम

चित्र २. साँची फलक ११
दक्षिणी द्वार तोरण, मध्यभाग

चल सकता था। गर्भ के स्वप्न में माया को एक हाथी दिखाई देता है जैसा कई फलकों पर हम देखते हैं। वहाँ हाथियों का झुंड और उससे अलग होकर एक हाथी को माया देवी की ओर आते हुए नहीं दिखाया गया है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री तथा लक्ष्मी का संमिश्रण श्रीसूक्त के समय तक हो चुका था तथा इस देवी का मूर्त रूप किसी जनता की देवी से रामायण काल के पूर्व ही संबंधित हो गया था। उस जनता की देवी के चिह्नों में पद्म, गज, जल इत्यादि थे। वे सौंदर्य तथा वन की देवी भी बन चुकी थीं।

भारत में यक्ष तथा नागपूजा प्राचीन समय से होती चली आई है। फरगुसन के अनुसार यहाँ के आदिवासियों का विश्वास था कि इनके पूजन से ही पानी बरसता है तथा अन्न उत्पन्न होता है (ट्री ऐंड सर्पेंट वरशिप)। ये विचार वैदिक नहीं हैं जैसा डु ला वाले पूस्सा ने लिखा है। इन विचारों को माननेवालों की एक पूर्ण विकसित सभ्यता थी जैसा सिंधुघाटी की खोदाई से पता चला है (कुमारस्वामी 'यक्षाज')। आर्य इन्हें शिश्न (लिंग) के पूजक मानते थे तथा इन्हें अपनी आहुताग्नि के पास भी नहीं फटकने देते थे। बाद में कदाचित् इनके संपर्क में आने के पश्चात् तथा इनसे वैवाहिक संबंध होने से इनके देवता भी हिंदू धर्म में आए परंतु निम्न श्रेणी में ही रहे जैसा महादेव के साथ बहुत दिन तक होता रहा (वायु पु० ८८, २७)। शतपथ ब्राह्मण में यक्षराज कुबेर राक्षसों की गिनती में हैं परंतु जैमिनीय ब्राह्मण में यक्ष एक आश्चर्यजनक जीव है। बौद्ध साहित्य वैश्रवण कुबेर चार दिग्पालों में एक हैं। सांखायण गृह्यसूत्र मे (४,६), आश्वलायन गृहसूत्र में (३, ४), पाराशर गृह्यसूत्र मे (२, १२) यक्षों की स्तुति मिलती है। पीछे चलकर कुबेर देवताओं के रोकड़िया बन जाते हैं तथा १० दिग्पालों में उत्तर के अधिष्ठाता बन जाते है। महाभारत में एक यक्षिणी के मंदिर की चर्चा राजगृह में मिलती है (३,८३, २३)। क्या ऐसा संभव है कि इन्हीं यक्षिणियों में एक लक्ष्मी भी हों जो बाद में एक अलग देवी बन गईं ? हमें भारहुत मे श्री माँ देवता मिलती हैं। श्री से लक्ष्मी का संबंध हो ही गया था, इस प्रकार यह अनुमान करना कि लक्ष्मी भी किसी यक्षिणी के रूप मे आदिवासियों से पूजी जाती थीं, कुछ अनुचित न होगा। 'श्रीमां देवी' श्रीसूक्त में लक्ष्मी को कहा गया है (श्री सूक्त २) तथा मणिभद्र यक्ष का भी संबंध इनसे यहाँ मिलता है (श्री सूक्त ६)।

दूसरे देशों में भारतीय सभ्यता का जो प्रसार हुआ उसके विषय में खोज करने से पता चलता है कि बाली द्वीप में लोगों का विश्वास है कि हिंदेशिया के राजाओं की लक्ष्मी उनकी रानी के रूप में रहती थी परंतु उनका जब विष्णु से प्रेम हो गया तो उस प्रेम के फलस्वरूप उनकी मृत्यु हो गई। उनको पृथ्वी में गाड़ने के पश्चात् उस स्थान पर कई प्रकार के पौधे जम गए। धान का पौधा उनकी नाभि से उत्पन्न हुआ। इस कारण वह सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है (जे गोंडा—संस्कृत इन इंडोनेशिया, नागपुर—१९५२, पृ० १३२ तथा सिलवाँ लेवी श्री स्तव फ्राम बाली संस्कृत टेक्स्ट्स फ्राम बाली, बड़ोदा १९३३, पृ० २८)। सूडान में लक्ष्मी को धान को उत्पन्न करनेवाली देवी मानते हैं। वे स्वर्ग से इस पृथ्वी पर आती हैं। वे देवी हैं तथा विद्याधरों से उनका संबंध है। पानी तथा लक्ष्मी का योग है, इस कारण पृथ्वी पर उनका प्रभाव है जैसे गंधर्वों तथा यक्षों का (जे गोंडा—एसपेक्ट्स ऑफ विष्णुइज़्म पृ० २२१)।

जावा में प्राचीन सुवर्ण आभूषणों पर श्री शब्द खुदा रहता है।

इसकी खोदाई को देखकर ऐसा भान होता है जैसे कुंभ अथवा शंख हो। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि वहाँ के निवासी लक्ष्मी के विषय में और बातें तो भूल गए परंतु उनको सुवर्ण के देवता के रूप में केवल स्मरण करते रहे। प्राय: ऐसा होता है कि काल के प्रभाव से बहुत से देवताओं की पूजा लोप हो जाती है परंतु उसका कुछ अंश लोकाचार के रूप में रह जाता है जिस प्रकार आज भी भारत में आश्विन पूर्णिमा को उत्तर भारत के अनेक घरों में श्वेत वस्तु चंद्रमा के समक्ष रखी जाती है तथा इंद्र और लक्ष्मी को भोग लगाया जाता है परंतु इसके पीछे का इतिहास हम बिलकुल भूल गए है। हम यह नहीं जानते कि यह कौमुदी महोत्सव या कौमुदी मह का प्रतीक है।

डच गायना में जो भारतवासी हिंदू है उनके अब भी कुछ कुछ रीति रिवाज वैसे ही हैं जैसे हम लोगो के। वे भी दीवाली की रात्रि मे दरिद्रा देवी को सूप बजाकर घर से निकालते हैं। विदेशों में भी लक्ष्मी का जो स्वरूप माना गया है उसे भी देखने से इसी बात की पुष्टि होती है। पूर्व में ये कोई यक्षिणी थीं। कदाचित् इनका नाम मदिरा देवी था जो कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। पीछे चलकर इनका संबंध वैदिक शब्द श्री तथा लक्ष्मी से जोड़ दिया गया तथा इस प्रकार वे पुरुष की और बाद मे विष्णु की पत्नी हो गई। ये शब्द वैदिक काल मे केवल विभूतियों के द्योतक थे। इन देवियो से इनका कोई संबध न था। उत्तर और वैदिक काल मे इनकी समुद्र से उत्पत्ति की कथा भी जुड़ गई जो किसी प्राचीन गाथा पर आधारित ज्ञात होती है। क्योंकि ऐसा अनुमान है कि प्रागैतिहासिक काल में सुवर्ण पश्चिम भारत मे समुद्र मार्ग से आता था तथा ओरगी एक बदरगाह था। समुद्र से धन तथा सुवर्ण आने के कारण यह मान लेना स्वाभाविक था कि लक्ष्मी का जन्म समुद्र से हुआ।

सं० ग्रं० — मोतीचंद : अवर लेडी ऑव ब्यूटी ऐंड अबंडंस (नेहरू अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ४९७, ४९८), १९४९; जिम्मर : दि आर्ट ऑव इंडियन एशिया, फलक ३३ (बी); जे० गोंडा : ऐसपेक्ट्स ऑव विष्णुइज्म पृ० १९१, १९५, १९६, २२४; संस्कृत इंडोनेशिया, नागपुर १९९२, पृ० १३२; नेने, गोपालशास्त्री : प्रति वार्षिक कथा संग्रह, काशी, १९३३ (द्वितीयो भाग.); विशाखदत्त: मुद्राराक्षस, अंक ३, ४, ५; ह्वीलर : दि इंडस सिविलिजेशन; वत्स, माधोस्वरूप : एक्सकवेशंस ऐट हड़प्पा (खं० २, फलक ९५, सं० ३५२, ३९५–३९८, स्वस्तिक—फलक ९५ सं० ४१३ कमल); कुमारस्वामी : अर्ली इंडियन आइकोनोग्राफी, श्री लक्ष्मी ईस्टर्न आर्ट, खं० १ (जनवरी, १९२९), पृ० १७५; आर्केइक टेराकोटाज ७२, ७३. आपेकलेकजिग (१९२८); यक्षाज—खंड १, पृ० ३–४; बनर्जी : दि डवलपमेंट ऑव हिंदू आइकोनोग्राफी, पृ० १८३; गोविंदचंद : पारयूर ये बीजू डाँ लांड प्रोतोहिस्तारिक. थेज, युनिवर्सिटी डु पारी (१९५५); माके . फरदर एक्सकवेशन ऐट मोहनजोदड़ो, फलक ८२, सं० १–२, फलक ९९, सं० ए; वत्स : एक्सकवेशन ऐट हड़प्पा—फलक ९३, सं० ३१८; ग्रियर्सन, सर, जी० जे० आर० ए० एस०, १९१०, पृ० २७०; बोमाजाक, ई० · डिक्सियोनेर एटिमोलोजिक डला लांग ब्रेकर (१९२३) पृ० ५१३; फूशे आम दि आइन्सोनोग्राफी दी बुद्धाज नेटिविटी, आर्कयालाजिकल सर्वे ऑव इंडिया, मेमायर्स, ४६ (१९३६) पृ० २; लइक्नोग्राफी बुद्धिक दु लांड, खंड १, पृ० १२३; फर्गुसन : ट्री ऐंड सरपेंट वरशिप, पृ० २४४; बी० ए० गुप्त : हिंदू हालीडेज ऐंड सेरिमोनियल्स, कलकत्ता, पृ० ३६; कलकत्ता इंडियन म्युजियम, भारहुत खंभा ११०, २१०, १७७; वायु; विष्णु, रघुवंश, ५, ४, महाभारत, दीघनिकाय; वाल्मीकि रामायण, ऐतरेय ब्रा०, तैत्तिरीय उप०, तैत्तिरीय संहिता (वाजपेयी); श० ब्रा० कौशीतिकी ब्रा०, अथर्व, वाजसनेयी; इ०। [रा० गो० चं०]

लखनऊ १. जिला, यह भारत के उत्तर प्रदेश राज्य का जिला है, जिसका क्षेत्रफल ९७७ वर्ग मील एवं जनसंख्या १३,३८,८८२ (१९६१) है। इसके उत्तर में बाराबंकी एवं सीतापुर, पश्चिम में हरदोई, दक्षिण में उन्नाव तथा पूर्व में रायबरेली जिले स्थित हैं। गोमती नदी जिले के बीच से होकर बहती है। सघन ग्रामों से युक्त इस जिले की मिट्टी उर्वर है। कृषि की दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण जिला है। उर्वर मिट्टी के साथ यहाँ रेतीली भूमि की टुकड़ियाँ तथा रेहयुक्त ऊसर भी मिलते हैं। भूमि की ढाल लगभग नहीं के बराबर है। उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर एक फुट प्रति मील की ढाल है। सई नदी भी जिले से होकर बहती है। गेहूँ, जौ, तिलहन, ज्वार, बाजरा, चरी (sorghum) एवं गन्ना प्रमुख उपजे हैं।

२. नगर, स्थिति : २६° ५५′ उ० अ० तथा ८०° ५९′ पू० दे०। लखनऊ जिले में, गोमती नदी के किनारे पर यह प्रसिद्ध नगर स्थित है। यह नगर उत्तर प्रदेश राज्य की राजधानी है तथा भूतपूर्व अवध राज्य (सन् १७७५ से १८५६) की राजधानी था। यह नगर कानपुर से लगभग ४२ मील दूर स्थित है। यहाँ का विश्वविद्यालय, इमामबाडा, छतरमंजिल, नासिरुद्दीन की वेधशाला, जामा मस्जिद, वाजिदअली शाह का महल (कैसर बाग) आदि दर्शनीय भवन है। इमामबाडा यहाँ का एक सुप्रसिद्ध भवन है, जिसका एक कमरा विश्व के बड़े बड़े कमरों मे से एक है। इस कमरे का क्षेत्रफल १६२×५४ फुट है। यह भवन सन् १७८४ में नवाब आसफुद्दौला ने अकालपीडित लोगों की रक्षा करने के लिये बनवाया था। सन् १८१४ मे गाजीउद्दीन हैदर की पत्नी ने छतर मंजिल नामक भवन बनवाया था। यहाँ सेना की छावनी भी है। केंद्रीय ओषधि अनुसंधान सस्थान की भी यहाँ स्थापना की गई है। यहाँ कागज की मिलें, छपाई करनेवाले प्रेस तथा धातु के कारखानें हैं। यहाँ मलमल निर्माण, सोने चाँदी की जरी का काम, कशीदाकारी, ताँबे, एवं पीतल की वस्तुएँ, बरतन तथा चाँदी के आभूषणो का निर्माण होता है। रेलवे वर्कशाप भी यहाँ है। यहाँ एक प्रसिद्ध मेडिकल कालेज है, जिसकी इमारत आधुनिक नक्शे की बनी है। यहाँ का विधान-सभा-भवन भी दर्शनीय है।

लखीमपुर (Lakhimpur) १. यह भारत के असम राज्य का सबसे उत्तर-पूर्वी जिला है। इसके दक्षिण में शिवसागर और दक्षिण-पश्चिम में दरं जिले एवं शेष ओर नेफा स्थित है। इसका क्षेत्रफल ४,९२६ वर्ग मील एवं जनसंख्या १५,९३,८४२ (१९६१) है। जिले के अंदर ४०० मील तक ब्रह्मपुत्र नदी बहती है। यह नदी डिब्रुगढ़ तक तथा बरसात में सदिया तक नौगम्य है। यहाँ पर मिरी, अबोर, मिश्मी, खामटी, कचिन तथा नागा आदि जनजातियाँ निवास करती हैं। चाय के बागानों एवं कोयले की खानों के कारण जिला संपन्न है।

नाम प्रसिद्ध कोयले की खान है। माकुम क्षेत्र से पेट्रोलियम भी निकाला जाता है, जिसका शोधन डिग्बोई में किया जाता है। यहाँ लकड़ी की चिराई की अनेक मिलें भी हैं। चाय यहाँ की प्रमुख उपज है।

२. लखीमपुर उत्तर प्रदेश के खीरी जिले की एक तहसील है (देखें, खीरी)।

लघु क्षेत्र (छोटे खेत) भारतवासियों का मुख्य धंधा कृषि है। सदियों से कृषि ही जीविका का एक मात्र साधन रहा है। जनसंख्या के बढ़ने से प्रत्येक परिवार के पास कृषि के लिये भूमि की मात्रा कम होती गई जिससे उपज भी गिरती गई। खेतों के छोटेपन की समस्या लगभग एक शताब्दी से बहुत गंभीर हो गई। ब्रिटिश शासन स्थापित होने के पहले खेतों पर कृषकों का संयुक्त अधिकार होता था किंतु अंग्रेजी शासनकाल में उत्तराधिकार के नियम बदल गए और मनुष्य के सभी लड़कों का खेत पर समान अधिकार माना जाने लगा और प्रत्येक को पैतृक खेत का बराबर भाग मिलने लगा। इससे खेतों का क्षेत्रफल धीरे धीरे घटने लगा। साथ ही ब्रिटिश राज्य में शांति स्थापित होने के बाद जनसंख्या में भारी वृद्धि हुई तथा अनाज के निर्यात व्यापार के कारण भूमि की माँग बढ़ गई।

निजी संपत्ति और व्यक्तिवाद पाश्चात्य सभ्यता से हमें प्राप्त हुए और भारत में व्यक्तिवाद बढ़ने लगा जिसके फलस्वरूप संयुक्त परिवार की प्रथा का धीरे धीरे ह्रास होने लगा और छोटे छोटे परिवार अपनी संपत्ति और खेत बटवारे द्वारा लेकर अलग अलग रहने लगे। घरेलू उद्योग धंधों का महत्व कम होने से कृषि पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश शासन के पहले हमारे आर्थिक जीवन में घरेलू उद्योग धंधों का अधिक महत्व था। वे कृषि के अतिरिक्त जीविका का एक मुख्य साधन माने जाते थे। भारत में विदेशी माल की सर्वव्यापक बिक्री से ये घरेलू धंधे लगभग नष्ट हो गए और जो मनुष्य इस काम में लगे हुए थे उन्हें भी अपनी जीविका के लिये कृषि का ही सहारा लेना पड़ा जिसका खेतों के क्षेत्रफल पर और भी बुरा प्रभाव पड़ा। धीरे धीरे खेतों का क्षेत्रफल इतना कम हो गया कि उनसे परिवार की जीविका चलना भी कठिन हो गया तथा कृषि की मात्रा बहुत गिर गई। जब विदेशों में एक परिवार के पास कृषि के लिये सामान्यत: २०-२५ एकड़ भूमि है, भारत में यह ५ एकड़ से भी कम है क्योंकि यहाँ अपेक्षाकृत कृषि के पुराने और अवैज्ञानिक ढंगों का प्रयोग किया जाता है तथा खेतों की उत्पादन शक्ति भी कम होती है।

धीरे धीरे अर्थशास्त्रियों का ध्यान खेत के विभाजन से आर्थिक अवनति की ओर गया और एक परिवार की सामान्य जीविका के लिये 'आर्थिक जोत' का पता लगाने की ओर ध्यान दिया गया जिससे खेतों का विभाजन उस न्यूनतम आर्थिक जोत से कम न होने पाए। परंतु इस आर्थिक जोत के क्षेत्रफल के बारे में अनेक मत हो गए क्योंकि सभी भूमि की उत्पादन शक्ति एक सी नहीं है। अन्य सुझावों में यह भी सोचा गया कि उत्तराधिकार के नियम बदल दिए जाएँ ताकि खेतों का विभाजन रुक जाए। परंतु भूमिहीन व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि होने के डर से यह भी मान्य नहीं हुआ। तत्पश्चात् खेतों को छोटे छोटे टुकड़े मिटाकर बड़ा करने का आंदोलन ही उपयुक्त माना गया और चकबदी प्रथा विभिन्न राज्यों में कार्यान्वित की गई। [दे० चकबदी] [अ० वि० मि०]

लघुगणक (logarithms) किसी दिए हुए आधार पर किसी संख्या का लघुगणक (logarithm) उस घात (power) का घातांक (index) होता है जिसको आधार पर आरोहित करने पर प्राप्त फल उस संख्या के बराबर हो जाता है।

उदाहरणार्थ, यदि $अ^{य} = म$ हो, तो अ आधार पर म का लघुगणक य कहलाता है और उसे $लघु_{अ}$ म द्वारा व्यक्त किया जाता है। प्रत्येक लघुगणक का आधार होना आवश्यक है। भिन्न भिन्न आधारों के लिये एक ही संख्या के भिन्न भिन्न लघुगणक होते हैं।

साधारणत: आधार के लिये दो संख्याओं का व्यवहार होता है, जिनके अनुसार लघुगणक की दो प्रणालियाँ बनाई गई हैं।

प्राकृतिक प्रणाली में लघुगणक का आधार एक असम्मेय (incommensurable) संख्या e मानी जाती है। इसके आविष्कारक जॉन नेपियर के नाम पर ऐसे लघुगणकों को नेपिरीय लघुगणक भी कहते हैं। e का मान निम्नलिखित अनंत श्रेणी द्वारा व्यक्त होता है :

$$e = १ + \frac{१}{१!} + \frac{१}{२!} + \frac{१}{३!} + \cdots\cdots,$$

जिसका मान २·७१८२८१८······है। उच्च गणित के सैद्धांतिक कार्यों के लिये इसी प्रणाली का उपयोग होता है।

दूसरी प्रणाली के आविष्कारक हेनरी ब्रिग हैं। इस प्रणाली में लघुगणक का आधार १० है। इसे सामान्य प्रणाली कहते हैं। यह व्यावहारिक प्रयोगों के लिये उपयुक्त है।

लघुगणक के मौलिक नियम निम्नलिखित हैं :

(१) $लघु_{अ}$ म न = $लघु_{अ}$ म + $लघु_{अ}$ न

(२) $लघु_{अ}$ (म/न) = $लघु_{अ}$ म − $लघु_{अ}$ न

(३) $लघु_{अ}$ $(म^{य})$ = य $लघु_{अ}$ म

पूर्णांश (Characteristic) **और अपूर्णांश** (Mantissa)— यदि किसी संख्या का लघुगणक भिन्नात्मक हो, तो उसके पूर्णांक भाग को पूर्णांश और दशमलव भाग को अपूर्णांश कहते हैं।

पूर्णांश ज्ञात करने का नियम निम्नलिखित है :

(१) जिस धनात्मक संख्या ($\geqslant$ १) के पूर्णांक भाग में म + १ अंक हों, उस संख्या के लघुगणक का पूर्णांश म होता है।

(२) जिस धनात्मक संख्या (< १) में दशमलव बिंदु के बाद म शून्य हों, उसके लघुगणक का पूर्णांश − (म+१) होता है।

अपूर्णांश ज्ञात करने का नियम निम्नलिखित है :

अपूर्णांश संख्या के मान और उसमें व्यवहृत अंकों के क्रम पर निर्भर करता है। यदि दो संख्याओं में एक ही प्रकार के अंक एक ही क्रम में व्यवहृत हों और केवल दशमलव बिंदु का स्थान भिन्न हो, तो उन संख्याओं के अपूर्णांश एक ही होंगे, क्योंकि अपूर्णांश संख्या में दशमलव बिंदु के स्थान पर निर्भर नहीं होता है।

राजकुमारी अमृतकौर (देखें पृष्ठ ७०)

रामकृष्ण परमहंस (देखें पृष्ठ १८)

लखनऊ (देखें पृष्ठ २५३)

रूमी दर्वाजा
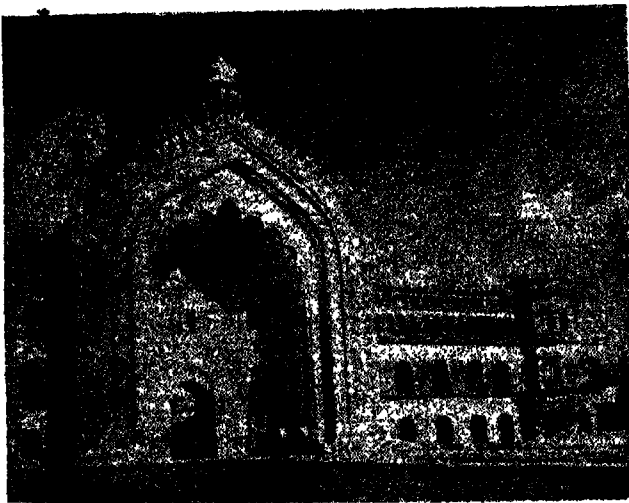
छतर मंजिल

रासायनिक उपकरण (देखें पृष्ठ १३८–१४०)
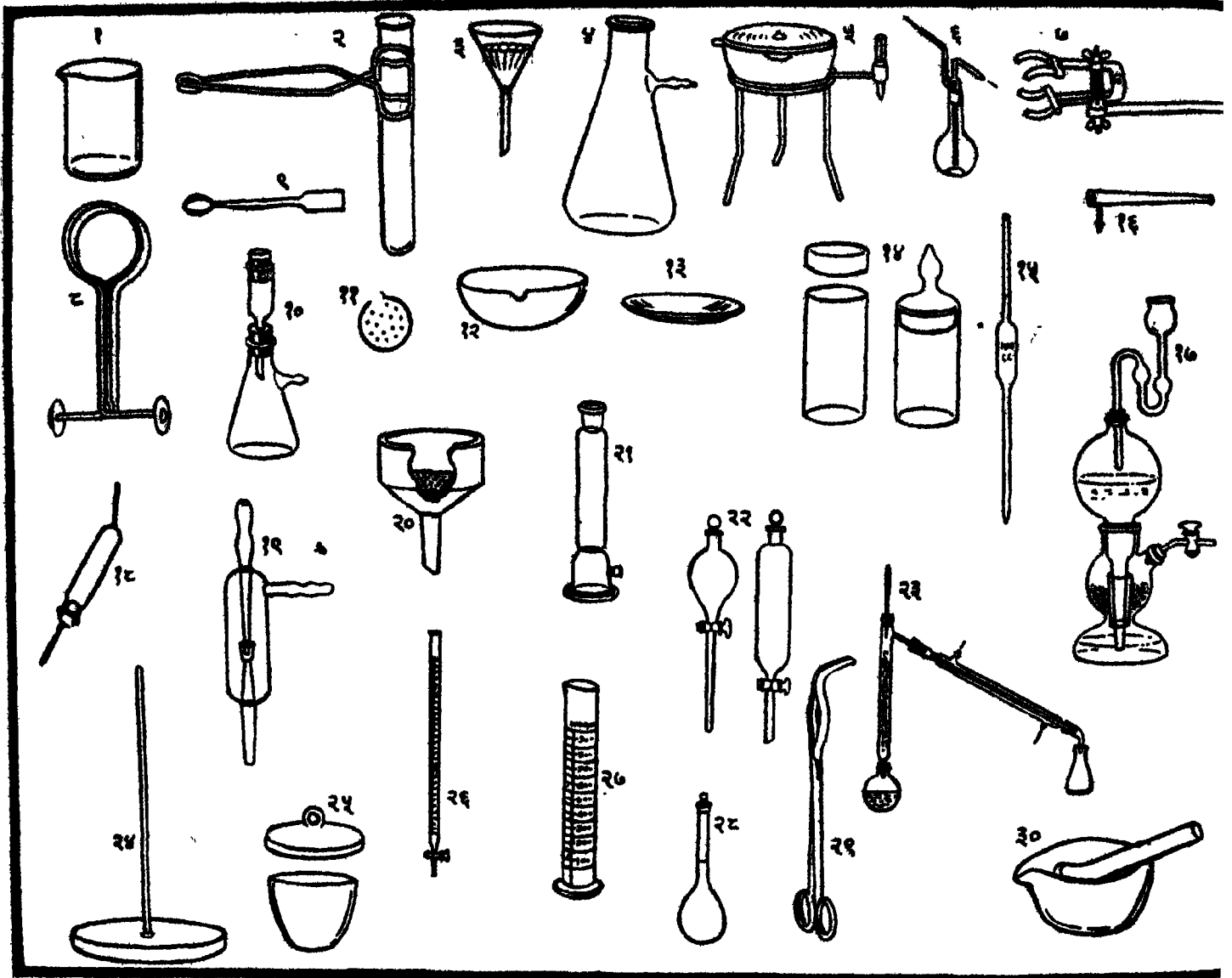
विविध उपकरण

१. बीकर ; २. परखनली; ३. कीप, ४. निस्यंदन फ्लास्क; ५. जलउष्मक; ६. धावन बोतल; ७. क्लेंप; ८. पिंच कॉक (रोधनी); ९. चम्मच (spatula); १०. निस्यंदक फ्लास्क (filtering flask); ११. छिद्रित चक्रिका (perforated disc); १२. पोर्सिलेन की प्याली ; १३. वॉचग्लास तथा क्लॉकग्लास; १४. तोलन नली, तोलन बोतल; १५. पिपेट; १६. फुंकनी; १७. किप का गैस जनित्र ; १८. ऐडेप्टर; १९. संघनित्र (condenser); २०. निस्यंदक कीप; २१. गैस शोषण बोतल, या स्तंभ; २२. पृथक्कारी कीप; २३. पूर्ण संघनित्र उपकरण, या भभका ; २४. आधार या स्टैंड ; २५. मूषा (crucible); २६. ब्यूरेट ; मापक जार, या सिलिंडर ; २८. मापक फ्लास्क; २९. चिमटी (tongs) तथा ३०. खरल और मूसली ।

उदाहरणार्थ : लघु १०·७९९ = १·०३३३८३
लघु ·०१०७९९ = $\bar{2}$·०३३३८३

प्रपूर्णांक को लघुगणकीय सारणी से ज्ञात किया जाता है।

आधारपरिवर्तन का नियम — किसी संख्या के लघुगणक को एक आधार से दूसरे आधार पर परिवर्तित करने के लिये निम्नलिखित नियम का उपयोग करते हैं :

$लघु_{ब}\, म = लघु_{अ}\, म \times लघु_{ब}\, अ$ ।

यदि अ = १०, ब = e तो $लघु_{१०} म = लघु_{e} म \times लघु_{१०} e$ । यदि म = ब, तो $लघु_{अ} ब \times लघु_{ब} अ = १$

संमिश्र संख्या (Complex Number) के लघुगणक —

यदि = क + i ख, अ = ग + i घ,

तो $क + i ख = e^{ग + i घ} = e^{ग}$ (कोज्या घ + i ज्या घ), जिसमें $क = e^{ग}$ कोज्या घ और $ख = e^{ग}$ ज्या घ ।

परंतु यदि आवर्तिता की मान्यता दी जाए, तो

$$क + i ख = e^{ग + i (घ + २\pi म)}$$

$$लघु_{e} (क + i ख) = ग + i (घ + २\pi म)$$

यदि य = क + i ख और $र = \sqrt{क^{२} + ख^{२}}$,

तो $लघु_{e}\, य = लघु_{e}\, र + i$ (घ + २π म), जिसमें म = ०, १, २,...।

इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी संमिश्र संख्या के लघुगणकों की संख्या अनंत होती है, अर्थात् संमिश्र संख्या का लघुगणक एक अनेकार्थ है। जब लघुगणक एक अनेकार्थ के रूप में देखा जाता है, तब इसे $लघु_{e}$ य (Log_{e} य) से व्यक्त किया जाता है।

$लघु_{e}\, य = 2\pi i\, म + लघु_{e}\, य$ ।

गाउसीय लघुगणक (Gaussian Logarithms) — यदि $लघु_{१०} अ + लघु_{१०} ब$ का मान ज्ञात हो, तो बिना अ और ब का मान ज्ञात किए बहुधा $लघु_{१०}$ (अ ± ब) का मान ज्ञात करने की आवश्यकता पड़ती है। इस उद्देश्य से १८०३ ई० में ज़िक्कीनी ल्योनेली (Zecchini Leonelli) ने एक नए प्रकार की लघुगणक सारणी निकाली। इसी प्रकार की, दशमलव के ५ स्थान तक यथार्थ, लघुगणक सारणी गाउस (Gauss) ने १८१२ ई० में प्रकाशित की। इसे गाउसीय लघुगणक कहते हैं। यदि अ = लघु य, ब = लघु (१ + १/य) और स = लघु (१ + य), य > १ तो अ + ब = स। गाउस ने सारणी बनाने में इसी नियम का प्रयोग किया था।

लघु अ और लघु ब से लघु (अ ± ब) का मान ज्ञात करना —

यदि अ > ब, $\frac{अ}{ब} = य$,

$$लघु\, (अ + ब) = लघु\, \left\{ अ \left(१ + \frac{१}{अ/ब} \right) \right\} = लघु\, अ + क ।$$

संगणन पद्धति निम्नलिखित है :

लघु अ − लघु ब = क से क का मान ज्ञात करें। सारणी से ख का क के आधारसंगत मान निकालकर लघु अ में जोड़ दें।

लघु (अ − ब) ज्ञात करने का नियम — यदि लघु अ − लघु ब > लघु २, तो मान लें कि लघु अ − लघु ब = ख

(अ/ब) = १ + (१/य), (१/य) = (अ/ब) − १ ।

इसलिये $लघु (अ - ब) = लघु \left\{ ब \left(\frac{अ}{ब} - १ \right) \right\} = लघु\, ब - क$ ।

सारणी से क का ख का संगत मान निकालकर, इसे लघु ब से घटा लें।

यदि लघु अ − लघु ब < २, तो मान लें कि लघु अ − लघु ब = स।

अ/ब = १ + य, य = (अ/ब) − १ तथा लघु (अ − ब) $= लघु \left\{ ब \left(\frac{अ}{ब} - १ \right) \right\} = लघु\, ब + क$ और सारणी की सहायता से वांछित मान प्राप्त करें।

लघुगणक सारणी के परिकलन की विधियाँ — जॉन नेपियर, हेनरी ब्रिग, जेम्स ग्रेगोरी, ऐब्राहम शार्प तथा अन्य गणितज्ञों ने भिन्न भिन्न पद्धतियों का उपयोग सारणी निर्माण में किया है। निकोलस मर्केटर (Nicolas Mercator) ने १६६८ ई० में लघु (१+य) की अनंत श्रेणी प्राप्त की :

$$लघु\, (१ + य) = य - \frac{य^{२}}{२} + \frac{य^{३}}{३} - \frac{य^{४}}{४} + \cdots (-१ < य \leqslant १)$$

संगणन में यह अधिक लाभप्रद नहीं है। १६९५ ई० में जॉन वालिस ने निम्नलिखित अनंत श्रेणी का प्रयोग किया :

$$\tfrac{१}{२} लघु\, \frac{१ + य}{१ - य} = य + \tfrac{१}{३} य^{३} + \tfrac{१}{५} य^{५} + \cdots\cdots$$

इस श्रेणी की अभिसृति शीघ्रतर है। १७९४ ई० में जी० एफ० भेगा द्वारा लिखित थिसॉरस (Thesaurus) में $य = (२र^{२} - १)^{-१}$ मानकर श्रेणी की अभिसृति अधिक शीघ्रतर कर दी गई है।

साधारणत: सारणी के उपयोग में अनुपाती अंशसिद्धांत की सहायता ली जाती है।

लघुगणक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि — स्कॉटलैंड निवासी जॉन नेपियर तथा स्विट्सरलैंड के जूस्ट बुर्गी (Joost Burgi) ने स्वतंत्र रूप से लघुगणक का आविष्कार किया। इन दोनों के लघुगणक एक दूसरे से भिन्न थे तथा प्राकृतिक लघुगणक और सामान्य लघुगणक भी भिन्न थे। नेपियर का लघुगणक १६१४ ई० में एडनबर (Edinburgh) में "मिरिफिसी लॉगेरिथमोरम केनोनिस डिसक्रिप्शियो (Mirifici logarithmorum canonis descriptio)" शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित हुआ। १६२० ई० में प्रेग (Prague) में जूस्ट बुर्गी का लघुगणक "अरिथमेटिशे उंडर ज्योमेट्रिशे प्रोग्रेस टेबुलेन (Arithmetische under Geometrische Progress Tabulen)" शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित हुआ। इस समय तक सारे यूरोप में नेपियर के लघुगणक का प्रचार हो चुका था। उनके सिद्धांत एवं परिकलन पद्धति का पूर्ण उल्लेख, उनकी पुस्तक "मिरिफ़िसी लॉगरिथमोरम केनोनिस कंस्ट्रक्शियो, (Mirifice logarithmorum canonis constructio)" में मिलता है, जो उनकी मृत्यु के दो वर्ष पश्चात् १६१९ ई० में प्रकाशित हुई। डब्लु० आर० मैक्डॉनैल्ड (W. R. Macdonald) ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद १८८९ ई० में किया। १६१४ ई० के नेपिरियन लघुगणक तथा प्राकृतिक लघुगणक का पारस्परिक संबंध निम्न ढंग से व्यक्त किया जाता है :

नेप लघु र = १०⁷ लघु $\frac{१०}{र}$

नेपियर ने इकाई के लघुगणक का मान शून्य नहीं माना था। फलस्वरूप इनके सिद्धांत के अनुसार, बिना संशोधन के लघुगणक से संगत समीकरण $ब^{म} = न$ संभव नहीं था।

१६२० ई० के बुर्गी (Burgi) के प्रकाशन में प्रतिलघुगणक (anti-logarithm) की सारणी है। इसमें लघुगणक लाल और संख्याएँ काले रंग में छपी हैं। इनका "ग्रुंडलिखे उटररिख्ट (grundliche unterricht)" १८५६ ई० में प्रकाशित हुआ, जिसमे इकाई के लघुगणक को शून्य माना गया है। बुर्गी की सारणी की कुछ पंक्तियाँ उदाहरणार्थ नीचे दी गई है :

लाल ० १० २० ....

काली १०००००००० १०००१०००० १०००२०००१.........

पहली पंक्ति समातर श्रेणी है। दूसरी पक्ति गुणोत्तर श्रेणी है, जिसका सामान्य अनुपात १·०००१ है। दूसरी पंक्ति के अंत के आठ अंक दशमलव अंक माने गए हैं और काले रंग मे व्यक्त किए गए हैं। यदि १·०००१ का लघुगणक १० है, तो स्पष्ट है कि इसका आधार $१०\sqrt{१·०००१} = १·००००००९९९$ ....है। लघुगणक के आधार के संबंध में बुर्गी का ज्ञान नेपियर से अधिक प्रतीत नहीं होता।

जॉन वॉलिस (John Wallis) ने १६८५ ई० तथा बेर्नूली ने १६९४ ई० में लघुगणक से संगत समीकरण $ब^{ल} = न$ का अनुमान किया। इस विचार पर आधारित लगुगणक का उल्लेख १७४२ ई० से मिलता है। इसका वर्णन "गार्डिनर्स टेबुल्स ऑव लॉगैरिथम्स (Gardiners Tables of Logarithms)" की भूमिका में मिलता है। इसका श्रेय विलियम जोन्स (William Jones) को दिया जाता है।

सामान्य लघुगणक — सामान्य लघुगणक का विकास जॉन नेपियर और हेनरी ब्रिग के सम्मिलित प्रयास का फल है। इसका उल्लेख ब्रिग के एरिथमेटिका लॉगरिथमिका (Arithmetica Logarithmica)" में है।

यदि र वृत्त की त्रिज्या है, तो ब्रिग का सुझाव था कि लघु र = ० और लघु $\frac{र}{१०}$ = १०¹⁰। नेपियर के अनुसार लघु १ = ०, लघु र = १०¹⁰। कुछ समय के पश्चात् लघु र = १०¹⁰ के स्थान पर लघु १० = १ का व्यवहार होना आरंभ हुआ। ब्रिग के १६२४ ई० के प्रकाशन में १ से २०,००० और ९०,००० से १,००,००० के लघुगणक का दशमलव के १४ स्थान तक का उल्लेख है। २०,००० से ९०,००० के लघुगणक ऐड्रिएन व्लाक (Adrian Vlacq) द्वारा निकाले गए। ब्रिग की १६२४ ई० की सारणी में कैरेक्टेरिस्टिक (characteristic) शब्द का उल्लेख है। १६९३ ई० में जॉन वॉलिस ने अपनी बीजगणित की पुस्तक में मैंटिसा (mantissa) शब्द का प्रयोग किया है।

प्राकृतिक लघुगणक — सर्वप्रथम प्राकृतिक लघुगणक का उल्लेख नेपियर्स डिस्क्रिप्शियो (Napier's Descriptio) में मिलता है, जो एडवर्ड राइट (Edward Wright) द्वारा अनुवादित १६१८ ई० के अंग्रेजी संस्करण में "जॉन स्पीडेल्स न्यू लॉगैरिथम्स (John Speidells New Logarithms)" के १६२२ ई० के संस्करण में १ से १००० तक की लघुगणक सारणी है। ये सब प्राकृतिक लघुगणक हैं, केवल दशमलव बिंदु लुप्त है। "जुसात्ज़े जू डेन लॉगरिथेमिशेन अंड ट्रिगोनोमेट्रिशेन टेबिलेन (Zusatza zu den Logarithmischen und Trigonometrischen Tabellen)" में १७७० ई० में जोहैन हाइनरिख लैंबर्ट (Johann Heinrich Lambert) ने दशमलव के सात स्थान तक १—१०० के प्राकृतिक लघुगणक प्रकाशित किए। दशमलव के ४८ स्थान तक, १७७८ ई० में वालफ्राम (Walfram) ने १—१०००० के लघुगणक "जे० सी० शुल्ट्सेज सामलुग (J. C. Schulze's Sammlung)" में प्रकाशित किए। [कृ० मु० स०]

लछिराम हिंदी में इस नाम के सात कवियों का उल्लेख मिलता है जिनमे बहुज्ञात और प्रख्यात हैं १९ वीं शती के अमोढ़ा या अयोध्यावाले लछिराम। इनका जन्म सं० १८९८ में पौष शुक्ल १० को शेखपुरा (जि० बस्ती) में हुआ। पिता पलटन ब्रह्मभट्ट ब्राह्मण थे। राजा अमोढ़ा इनके पूर्वजों को अयोध्या से अमोढ़ा लाए थे। इस कुल में कवियों की परंपरा विद्यमान थी। सं० १९०४ में लछिराम लामाचकनुनरा ग्रामवासी (जि० सुल्तानपुर) साहित्यशास्त्री कवि 'ईश' के पास अध्ययनार्थ गए। ५ वर्ष वहाँ अध्ययन करने के बाद घर चले आए। फिर इनकी भेंट अयोध्याधिपति राजा मानसिंह 'द्विजदेव' से हुई। उन्होंने इन्हे 'कविराज' की उपाधि दी और अपना आश्रय भी प्रदान किया। 'द्विजदेव' के माध्यम से लछिराम का संपर्क अनेक काव्यरसिक और गुणज्ञ राजाओं से हुआ जिनमे प्रत्येक के नाम पर एक एक रचना इन्होंने की। बस्ती के राजा शीतलाबख्श सिंह ने इन्हे ५०० बीघे का 'चरथी' गाँव दिया और निवासार्थ मकान भी बनवाया। आज भी इनके वंशज यहाँ रहते हैं। अपने आश्रयदाता राजाओं से कवि को अधिकाधिक द्रव्य, वस्त्राभूषण तथा हाथी, घोड़े आदि पुरस्कार में प्राप्त हुए। लछिराम ने अयोध्या में पाठशाला, राम जानकी का मंदिर और अपने निवासार्थ मकान बनवाया। भाद्रपद कृ० ११ सं० १९६१ को अयोध्या मे इनका शरीरांत हुआ।

लछिराम रीतिबद्ध परंपरा के आचार्य कवि हैं। उनकी कृतियों में रस, अलंकार, शब्दशक्ति, गुण और वृत्ति आदि रीतितत्वों का लक्षण, उदाहरण सहित, सांगोपांग निरूपण हुआ है। अपनी शास्त्रीय दृष्टि के लिये वह संस्कृत मे 'काव्यप्रकाश', भानुदत्त की 'रसमंजरी', अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानंद' आदि और हिंदी में भिखारीदास तथा केशव आदि के ऋणी कहे जा सकते हैं। ढाँचा पुराना होने पर भी उनकी सहज काव्य प्रतिभा रमणीय भाव द्रव्य चित्रण करती है।

रचनाएँ, प्रसादगुणयुक्त ब्रजभाषा में है। कुछ के नाम ये हैं— मुनीश्वर कल्पतरु, महेंद्र प्रतापरस भूषण, रघुबीर बिलास, लक्ष्मीश्वर रत्नाकर, प्रतापरत्नाकर, रामचंद्रभूषण, हनुमंतशतक, सरयूलहरी, कमलानंद कल्पतरु, मानसिंह जंगाष्टक और सियाराम चरण चंद्रिका। [रा० फे० त्रि०]

लज्हांद्र, आद्रियें मारि (Legendre Adrien Marie, सन् १७५२ से १८३३) फ्रांसीसी गणितज्ञ का जन्म १८ सितम्बर, १७५२ ई०

को हुआ था। इन्होंने शिक्षा पैरिस में प्राप्त की। गणित जगत् में इनकी ख्याति दीर्घवृत्तीय समाकलों एवं फलनों, संख्याओं के सिद्धांत, दीर्घवृत्तज एवं उपगोल के आकर्षण और लघुतम वर्ग संबंधित शोधों के कारण है। इनके अतिरिक्त इन्होंने भू-मापन विज्ञान के अनेक सूत्रों एवं प्रमेयों और 'सर्जाद्र के फलन' का भी आविष्कार किया। इनकी प्रसिद्ध पुस्तकें 'फौंक्स्योंजेलिप्तिक' (Fonctions Elliptiques), भाग १ और २, (१८२५ ई०, १८२६ ई०), 'काल्क्युलैतेग्राल' (Calcul Integral), भाग १, २ और ३ (१८११, '१६,' १७), 'थेओरि दे नोंब्र' (Theorie des Nombres, सन् १८३०) और 'एलेमां द जेओमेत्रि' (Elements de Geometrie, सन् १७६४) हैं। १० जनवरी, १८३३ ई० को पैरिस में इनकी मृत्यु हो गई। [रा० कु०]

लद्दाख स्थिति : ३२° ४०′ से ३६° १५′ उ० अ० तथा ७४° ६०′ से ८०° ३०′ पू० दे०। भारत के जम्मू और कश्मीर राज्य का एक पूर्वी जिला है। लद्दाख जिले का क्षेत्रफल ९७,७७६ वर्ग किमी० तथा जनसंख्या ८८,६५१ (१९६१) है। इसके उत्तर में चीन तथा पूर्व में तिब्बत की सीमाएँ हैं। सीमावर्ती स्थिति के कारण सामरिक दृष्टि से इसका बड़ा महत्व है। लद्दाख उत्तर पश्चिमी हिमालय के पर्वतीय क्रम में आता है, जहाँ अकृष्य धरातल ही अधिक है। गॉडविन आस्टिन (K_2, ८,६११ मीटर) और गाशरब्रूम I (८,०६८ मीटर) सर्वाधिक ऊँची चोटियाँ हैं। यहाँ की जलवायु अत्यंत शुष्क एवं कठोर है। वार्षिक वृष्टि ३·२ इंच तथा वार्षिक औसत् ताप ५° सें० है। नदियाँ दिन में कुछ ही समय प्रवाहित हो पाती हैं, शेष समय में जम जाती हैं। सिंध मुख्य नदी है। जिले की राजधानी एवं प्रमुख नगर लेह है, जिसके उत्तर में काराकोरम पर्वत तथा दर्रा है। अधिकांश जनसंख्या घुमक्कड़ है, जिसकी प्रकृति, संस्कार एवं रहन सहन तिब्बत एवं भारत से प्रभावित है। पूर्वी भाग में अधिकांश लोग बौद्ध हैं तथा पश्चिमी भाग में अधिकांश लोग मुसलमान हैं। हेमिस गोंपा बौद्धों का सबसे बड़ा धार्मिक सस्थान है। [शा० ला० का०]

ललित कला अकादमी राष्ट्रीय ललित कला अकादमी स्वतंत्र भारत में गठित एक स्वायत्त संस्था है जो ५ अगस्त १९५४ को भारत सरकार द्वारा स्थापित की गई। यह एक केंद्रीय संगठन है जो भारत सरकार द्वारा ललित कलाओं के क्षेत्र में कार्य करने के लिये स्थापित किया गया था, यथा मूर्तिकला, चित्रकला, ग्राफकला, गृहनिर्माणकला आदि। इसकी एक सामान्य कौंसिल है जिसमें कई सभासद, एक कार्यकारी बोर्ड, एक वित्त समिति (फ़ाइनैन्स कमेटी) आदि हैं। इस कौंसिल में प्रमुख कलाकार, केंद्रीय सरकार के तथा विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि और कलाक्षेत्र के प्रमुख व्यक्ति हैं। अकादमी के प्रति दिन का कार्यक्रम कार्यकारिणी समिति के मंत्री और सामान्य कौंसिल के अन्य उत्तरदायी लोगों द्वारा संचालित होता है।

ललित कला अकादमी में विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम होते हैं जिन्हें हम प्रमुख रूप से निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत विभक्त कर सकते हैं—

(१) प्रदर्शनी।

(२) प्रकाशन संबंधी कार्य।

(३) निरीक्षण (सर्वे), सेमीनार (विचार गोष्ठी), दीवारों पर चित्र बनाने की कला का अनुकरण।

(४) देशीय कला संगठनों और प्रांतीय अकादमियों के समन्वित कार्यक्रम को प्रोत्साहन देना।

(५) विदेशों से संपर्कस्थापन तथा छात्रों एवं कलाकारों का आदान प्रदान।

प्रदर्शनी कार्यक्रम के अंतर्गत राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी और विदेशों में भारतीय कला प्रदर्शनी दोनों ही आते हैं तथा सामयिक और प्रासंगिक दोनों की ही व्यवस्था की जाती है।

राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी प्रति वर्ष समकालीन भारतीय कला की श्रेष्ठ प्रतिनिध्यात्मक कृतियों का चयन प्रस्तुत करती है। प्रथम राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी मार्च, १९५५ में दिल्ली में की गई और दसवी प्रदर्शनी १९६४ मे। एक एक हजार रुपए के दस इनाम श्रेष्ठ सहायकों को प्रति वर्ष अकादमी देती है।

विदेशों मे होनेवाली भारतीय कला प्रदर्शनी के कार्यक्रमों का द्विमुखी दृष्टिकोण है। पहला, चित्रकला, मूर्तिकला और कला के अन्य पक्षों के मुख्य विदेशी कलाकेंद्रों के श्रेष्ठ और चुने हुए सामयिक संग्रहों को प्रस्तुत करना।

विदेशी कला प्रदर्शनी विभिन्न प्रदर्शनियों में भाग लेने और हमारे कलाकारो तथा अकुशल सामान्य कलाकारों को संपूर्ण संसार की श्रेष्ठ कलाओं से संपर्क स्थापित करने का अवसर प्रदान करती है।

अकादमी का प्रकाशन संबंधी कार्यक्रम दो स्तरों पर होता है—(१) प्राचीन भारतीय कला का प्रकाशन, २. समकालीन भारतीय कला का प्रकाशन।

भारतीय कला की ललित कला ग्रंथमाला के अंतर्गत अनेक छोटी पुस्तकें और लेख भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला के प्रमुख स्कूलों से प्रकाशित होते हैं। 'ललित कला' नामक एक पत्रिका, जो भारतीय कला, पुरातन वस्तुओं और पूर्वदेशीय कला के कुछ पत्रों से संबंधित है, वर्ष में दो बार प्रकाशित होती है।

ललित कला ग्रंथमाला की समकालीन कला के लेखो में प्रख्यात अभ्यासरत कलाकारो की चर्चा होती है। एक और पत्रिका 'समकालीन ललित कला' वर्ष में दो बार प्रकाशित होती है। ये सभी प्रकाशन पूर्णतः सचित्र और इस प्रकार के हैं कि विद्वान् तथा सामान्य व्यक्ति दोनों को ही आकर्षित करते हैं।

प्रतिलिपि कार्यक्रम के अंतर्गत संपूर्ण देश की प्रमुख दीवारों पर चित्र खींचने की विधि की सच्ची प्रतिलिपि आती है। उनमें से कुछ बहुत दिनों तक स्थायी नही रहती। जो युक्तियाँ पूरी की जा चुकी हैं वे निम्नलिखित हैं—

(१) बादामी फ्रेस्कोज (भित्तिचित्र खींचने की विधि) डेकन।
(२) कुलु महल के भीत संबंधी चित्र (हिमांचल प्रदेश)
(३) सित्तन्न वासल भित्तिचित्र (दक्षिण भारत)
(४) ब्रजराज मंदिर के „ (पंजाब)
(५) अंबर और बेरत के „ (राजस्थान)

(६) बाघ की गुफाओं के चित्र (मध्यप्रदेश)।

अकादमी ने कलाकारों के लिये शिविरों का भी आयोजन किया है—

(१) मूर्तिकला शिविर (१९६२,) मकराना, राजस्थान)

(२) चित्रकार शिविर (१९६४, त्रिवेंद्रम)

ललित कला अकादमी के ३० परिपूरक स्वीकृत कला संगठन संपूर्ण देश में हैं जो कि अकादमी के क्रियाकलापों से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं, विशेष रूप से प्रदर्शनी कार्यक्रमों से। इसके अतिरिक्त १२ राज्य अकादमियाँ हैं जो केंद्रीय अकादमी की सहायक और सहकारी हैं। अकादमी के बजट में देशी और प्रांतीय अकादमी के कार्यों को प्रोत्साहित करने के लिये अनुदान की व्यवस्था है।

ललित कला अकादमी ने सर्वश्री नंदलाल बोस, जामिनी राय, वेंकटप्पा, डी० पी० राय चौधरी, वी० पी० करमरकर, एस० एल० हलदार, रायकृष्ण दास, प्रो० डी० गांगुली आदि को भारतीय कला की उन्नति के लिये, उनके मौलिक योगदान को ध्यान में रखकर, सभासद के रूप में चुना है। [एम० ए० कृष्णन्]

ललित कलाएँ १. नृत्य कला (दक्षिण भारतीय)

भरत नाट्यम तमिलनाड में प्रसिद्ध यह नृत्य पहले पहल आडल, कूत्तु, दासियाट्टम, चिन्नमेलम आदि नामों से जाना जाता था। इस नृत्य में भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रणालियों का शुद्ध अनुकरण होने के कारण इसे 'भरतनाट्यम्' कहने लगे। भरत शब्द ही भाव, राग और ताल के संयोग को सूचित करता है। यह नाट्य तांडव, लास्य दो प्रकार के हैं। शिवजी द्वारा तंडु नामक भूतगण को प्रदत्त तांडव तथा पार्वती देवी से प्रदत्त लास्य है। अलग अलग रहनेवाली तथा श्रृंगार के आधार धरकर विकसित होनेवाली भावभूमिकाओं का अभिनय ही लास्य के रूप में वर्णित है।

यह नृत्य अत्यंत प्राचीन माना जाता है। सिंधु घाटी सभ्यता के अवशेष रूप में मिली हुई वस्तुओं में एक नर्तकी की प्रतिमा है। तमिल के पंचमहाकाव्यों में श्रेष्ठ शिलप्पधिकारम में भी हम इस नाट्यप्रणाली का उल्लेख पाते हैं। यह प्रणाली केवल दक्षिण भारत में ही प्रचलित नहीं थी, अपितु उत्तर भारत में भी एक काल में यह प्रचलित थी। प्रमाणस्वरूप हम उत्तर भारत के अनेक भग्न शिलाखंडों में इस नृत्यप्रणाली का प्रतिपादन पाते हैं। आज सांस्कृतिक नवजागरण के इस युग में पाश्चात्य देशों का ध्यान भरतनाट्यम की ओर आकृष्ट हुआ है।

भरतनाट्यम में एक ही नर्तकी के अश्रुप्रवाह, नयनमार्जन, हस्ताभिनय आदि से भावों का प्रतिपादन करने के कारण इसमें कलात्मकता अधिक विकासशील हो पाई है। भरत के द्वारा वर्णित गतिविधि, ग्रीवा-चालन-विधि आज भी व्यापक रूप से भरतनाट्यम में प्रचलित हैं। उनके द्वारा वर्णित हस्ताभिनय ही आज के हस्ताभिनय का आधार है। भरतनाट्यम के संबंध में प्राप्त होनेवाला प्राचीन ग्रंथ अभिनयदर्पण ही, जो नंदिकेश्वर रचित माना जाता है, आज के नर्तनाचार्यों का आधारग्रंथ है।

इस नृत्यप्रणाली में पहले पुष्पांजलि, फिर मुखचालि, फिर शुद्ध यति नृत्य, शब्दचाली, सूळादि शब्द नृत्त, शब्दसूळ, फिर अनेक प्रकार के गीतों का अभिनय, फिर प्रबंध नर्तन तथा अंत में सिंधुतर ध्रुवपद आदि का क्रम रखा गया है। यह नाट्य कविता, अभिनय, रस, राग आदि का संमिश्रित रूप है जो क्रमशः यजुः, साम, अथर्वण वेदों का सार तथा धर्म, अर्थ काम, मोक्ष को प्रदान करनेवाला माना जाता है। आजकल इस नृत्यप्रणाली का प्रचलन व्यापक हो गया है। राग, ताल, अभिनय, नृत्त, चित्रकारी, शिल्पकला आदि से युक्त इस कला का संपोषण इसकी बारीकियों की ओर विशेष ध्यान देते हुए बड़ी श्रद्धा के साथ हो रहा है।

२. भागवत नाट्य नाटक या भागवत् मेल नाट्य नाटक—नाट्य नाटकों में यह एक प्रकार का है जो बहुत ही श्रेष्ठ माना जाता है। इन नाटकों का अभिनय प्रायः पुरुषों के द्वारा ही होता है। गणपति, नरसिंह इत्यादि देवों की मुखाकृतियाँ होती हैं जिनकी पूजा नट नित्य किया करते हैं और नाट्य काल में व्रत धारण करते हैं। ये नाटक बहुधा मंदिरों में ही खेले जाते हैं, अन्यत्र नहीं।

नाटक के प्रारंभ में मंगलाचरण गाया जाता है। बाद में कोणंगीदा सर नामक विदूषक रंगमंच में प्रवेश करता है। नाटककार की विशेषताएँ और नाटक का लक्ष्य ओरडिसिंधु (एकाक्षर छंद) में गाए जाते हैं।

इसके बाद पात्रप्रवेश होता है, प्रवेश तरु गाए जाते हैं। तंजावूर जिला के मेरट्टूर, उल्लुक्काडु, शूलमंगलम् शालियमंगलम् आदि जगहों में यह नृत्यपद्धति प्रचलित है। आंध्रप्रदेश के कूचिपुडी नामक गाँव में भी नरसिंह जयंती महोत्सव के समय यह नृत्य होता है।

३. सदिर — इसका नर्तन प्रायः एक अथवा दो स्त्री पात्रों द्वारा होता है। यह नर्तन पहले प्रायः देवदासियों से ही कराया जाता था।

४. पल्लु — स्त्री और पुरुष संमिलित रूप से यह नृत्य करते हैं। इसमें बहुधा ग्रामीण गीतों की ही प्रधानता होती है।

५. कथकली — इसका अर्थ ही कथाप्रधान है। यह नृत्य प्राचीन कालीन नाट्य संप्रदायों एवं देवी देवताओं की पूजनपद्धति से जनित माना जाता है। मुडियेट्टु, भगवती पाट्टु, काली आट्टम, तुल्लुआदि—ये नृत्य आर्यों के आगमन के पूर्व स्थित अनार्यों के आचार-विचार को प्रतिबिंबित करनेवाले हैं। मूक अभिनय, धार्मिकता, तंत्र मंत्र, विचित्र भूषा, युद्ध, रक्तप्रवाह, आदि रूढ़िबद्ध होकर रंगमंच में प्रदर्शित किए जाते हैं। ये इस नृत्य की विशेषताएँ हैं। यह नाटक केरल के शाक्य लोगों से ही अधिक प्रचलित हुआ। तमिल महाकाव्यों में श्रेष्ठ शिलप्पधिकारम् में भी इस नृत्य का उल्लेख है। संस्कृत नाटकों का अंश कूडियाट्टम से अभिनयादि विशेष अंग कथकली में लिया गया है। शाक्यों के आंगिक अभिनय, उनकी मुद्राएँ, भावाभिनय, रंगमंच की रूढ़ियाँ इत्यादि कथानुसार अपनाई गई हैं।

कथकली में जो रंग काम में लाए जाते हैं उन रंगों का विशेष अर्थ होता है। इस नृत्य में प्रयुक्त होनेवाली हर चीज विशेष अर्थसूचक होती है, जैसे हरा रंग दैवी गुणों का सूचक, काला रंग राक्षसी प्रवृत्तियों का सूचक माना जाता है।

केरल में ज्यों ज्यों इस नृत्य का प्रचलन होने लगा त्यों त्यों केरल साहित्य का विकास हुआ।

६. कृष्णाट्टम कथकली का ही अंश माना जाता है। इस नृत्य-पद्धति के स्रष्टा थे राजा सामुद्रि। इसमें कृष्ण जीवन संबंधी कहानियों की प्रधानता होती है। इसके अलावा केरल में मोहिनी-याट्टम नामक नृत्य भी प्रचलित है। यह प्राय: स्त्रियों द्वारा ही किया जाता है।

कूच्चुप्पुडी — आंध्र प्रदेश में प्रचलित नृत्यपद्धति है। विजय-वाड़ा के समीप का कूच्चुप्पुडी गाँव इस नृत्य का जन्मस्थान है। इसके स्रष्टा हैं सिद्धेंद्र योगी। इस नृत्यप्रणाली में अभिनय, पद चालन और हस्तचालन अधिक हैं। इस नृत्य में पौराणिक कथांश ही अधिक होता है।

यक्षगानम्—यह मैसूर में प्रचलित एक पुरातन नृत्य प्रणाली है। [का० मु०]

१. धातु एवं काष्ठ कला

प्रत्येक देश में तथा प्रत्येक युग में धातु एवं काष्ठ कला मानव सभ्यता के जीवन के अभिन्न उपकरण रहे हैं, जिनके प्रयोग द्वारा मनुष्य ने अपने जीवन को सहज, सुखी और संपन्न बनाने की चेष्टा की है। प्रागैतिहासिक काल से ही प्रकृति को विजयी अथवा प्रमोहित करने के लिये और जीवन में एक नियमित नियंत्रण लाने के लिये, भय से हो अथवा श्रद्धा से, जब मनुष्य ने अपने चारों ओर के वातावरण की ताल से अपने जीवन को सयोजित किया तो उसका यह प्रयत्न कला को केवल सुंदरता के लिये वरण करना न था बल्कि उसमे उसके जीवननिर्वाह और दैनिक क्रिया का लक्ष्य केंद्रित था। हम देखते हैं कि प्रस्तर युग, ताम्र युग और उसके बाद के युगों की कला इसी आदर्श और लक्ष्य पर आधारित है, न कि एक किसी अनुपयोगी वस्तु का केवल सौंदर्यपान करने के लिये। यही कारण है कि जहाँ एक ओर उनके द्वारा बने हुए दैनिक कार्यों में काम आनेवाली इन धातु और काष्ठ की वस्तुओं में भी उनके जीवन, धर्म और सामाजिक व्यवस्था की छाप स्पष्ट है, वहाँ दूसरी ओर इन्हीं वस्तुओं द्वारा हम उनमें निहित सुप्त सौंदर्य बोध की झाँकी भी पाते हैं।

धातु की अपेक्षा लकड़ी का प्रयोग बाद में हुआ होगा, ऐसा कहना ठीक नहीं जँचता। हाँ, यह अवश्य है कि लकड़ी कम टिकाऊ माध्यम होने के कारण उसमें उदाहरण हमें इतने प्राचीन नही प्राप्त होते, जितने धातु, हड्डी अथवा पत्थर में मिलते हैं। ऐतिहासिक युग की वास्तुकला, चाहे वह रहने का आवास हो, मंदिर, चैत्य अथवा विहार हो इस बात की पुष्टि करती है कि इसके पूर्व यही सब चीजें लकड़ी में बनाई जाती रही होंगी। लोमस की कुटी, साँची के द्वार और खिड़की, अजंता की गुफाओं की बनावट इसका ज्वलंत प्रमाण है जो पत्थर में बनी होकर भी उनकी कल्पना और योजना लकड़ी के माध्यम पर ही आधारित है।

दैनिक जीवन की इन उपयोगी वस्तुओं का निर्माण यद्यपि ललित कला के लक्ष्य से नहीं हुआ, तथापि सामूहिक जीवन की कलाप्रियता का अंश इनमें हमें अवश्य दृष्टिगोचर होता है और यदि इन्हें कलात्मक वस्तुएँ कहा जाय तो भूल न होगी। सभ्यता के विकास के साथ साथ मानव ने यद्यपि अपनी निर्मित वस्तुओं में उपयोगी धारणा को नहीं छोड़ा पर हम देखते हैं कि उसकी कलाप्रियता ने अपनी प्रवाहशीलता द्वारा कुछ मात्रा में उन्हें ललित कला के सुंदर उपादान बना दिया है। यह केवल आधुनिक युग की ही देन है कि जहाँ कला एक ओर सामूहिक न होकर व्यक्तिगत हुई, दूसरी ओर उसकी उपयोगिता कला, कला के लिये हो, इस उद्देश्य को लेकर चली, यह दूसरी बात है कि इसी अनुपयोगी कला का प्रभाव भी हमारी उपयोगी वस्तुओं पर पड़ा और एक प्रकार से उसने सामूहिक रूप लिया। आज के वैज्ञानिक युग में यातायात के विकसित साधनों द्वारा कला का एक नवीन रूप अंतरराष्ट्रीयता भी सामने आ रहा है जहाँ किसी राष्ट्र की राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक परिधियाँ टूट चुकी हैं और मानवता एक संयुक्त दृष्टिकोण में आबद्ध होकर भी, कला व्यक्तिगत मौलिकता को नहीं छोड़ पाई है क्योंकि मनोवैज्ञानिक विचारों से भी अभिभूत होकर व्यक्तिविशेष के अंतराल में सुप्त लालसाओं, कामनाओं और प्रतिरोधी आशंकाओं को भी अब कला के उपादानों की उचित सामग्री मान लिया गया है।

मोहनजोदोड़ो की नर्तकी की धातु की मूर्ति से उस काल की कला का स्तर, दृष्टिकोण एवं आवश्यक गुण हमें स्पष्ट परिलक्षित होते हैं और यदि हम बाद की धातु की मूर्तियों में देखें, जो दसवीं शताब्दी से प्रचुर मात्रा में बननी प्रारंभ हो गई थीं, तो नर्तकी उन सब गुणों से परिपूर्ण है जो एक उच्च कोटि की मूर्ति में होने चाहिए। नटराज की काँसे की मूर्ति की भावपूर्ण गतिशीलता मे हम परपरागत कला सौंदर्य के सब लक्षणों के साथ साथ आधुनिक मापदंडों द्वारा भी उसे सर्वगुण संपन्न पाते हैं। नेपाली तारा की मूर्ति की शांत अर्धनयन निमीलित सौम्यता, उसके चारों ओर का अनावश्यक अलंकरण, जो धीरे धीरे बाद की मूर्तियों में और भी बढ़ गया, किसी से छिप नहीं पाती। यद्यपि इस प्रकार की यह सभी मूर्तियाँ धार्मिक भावनाओं को लेकर बनीं तथापि उनके कलासौंदर्य के कारण वह सर्वप्रिय धर्मनिरपेक्ष हो सकी।

धातु की मूर्तियाँ तीन प्रकार की होती थी, ढली हुई, पीटी हुई और ढली पीटी हुई। ढली हुई मूर्तियाँ प्रारंभ में मोम द्वारा बना ली जाती थीं। और फिर पतली महीन चिकनी मिट्टी के घोल मे मूर्ति को डुबाकर एक मोटा आवरण बना लिया जाता था। नीचे लगी हुई मोम की नली द्वारा जो प्रत्येक मूर्ति में आवश्यकतानुसार स्थानों पर लगा ली जाती है गर्मी देकर मोम बाहर निकाल दिया जाता और उसी रिक्त स्थान को उन्हीं नलीवाले मार्ग से धातु द्वारा भर दिया जाता है। चाँदी, सोना, काँसा, पीतल और अष्टधातु की सभी मूर्तियाँ इसी प्रकार ढाली जाती हैं।

दूसरी प्रकार की मूर्तियों में धातु की चादर को पीछे की ओर से पीट पीटकर उभार लिया जाता है और इसे उभरे हुए विभिन्न अंग के खोलों को जोड़ दिया जाता है। कभी कभी ढली हुई मूर्तियों के अलंकरण पीटकर बनाते और बाद में जोड़ देते हैं या पीटी हुई मूर्तियों के सिंहासन अथवा अलंकरण ढले हुए रहते हैं। दक्षिण भारत, नेपाल और गुजरात ऐसी मूर्तियों का केंद्र रहा है और अब भी वहाँ परंपरागत शैली और विधि से इन मूर्तियों का निर्माण होता है, यद्यपि अब

इनका लक्ष्य धार्मिक कम और अद्भुत वस्तुओं की रचना कर विदेशी मुद्रा अर्जन करना अधिक है। मूर्तियों के अतिरिक्त आराधना कार्य मंदिर और दैनिक जीवन में कार्य आनेवाली वस्तुएँ परंपरागत शैली में अब भी बनती है जैसे कलश, आरती, प्रदीप, पूर्ण कुंभ घंटे, दीप लक्ष्मी, सरौते, चाकू इत्यादि जो अब निर्जीव और रुढ़िगत होने पर भी एक अपनी स्थानीय शैली का आकर्षण रखते हैं।

काष्ठ कला के अधिकतर प्राप्त नमूने हमें मध्ययुग से पूर्व के नहीं मिलते पर उनकी कलानिपुणता और कौशलपराकाष्ठा देखकर सहज मे ही मान लिया जा सकता है कि उस उच्च कोटि के स्तर तक पहुँचने के लिये इस प्रकार की कला की परंपरा बहुत पुरानी रही होगी। चंदन, अखरोट, शीशम, आबनूस, कटहल, शील, नीम, की काष्ठकला के सर्वोत्तम उदाहरण हमें काठमांडू (नैपाल), अहमदाबाद (गुजरात) के भवनों में और केरल की रथयात्रा के समय कार्य आनेवाले बड़े आकार के रथों में मिलते हैं। स्वतंत्र मूर्तियों की अपेक्षा इन सभी का ध्येय काष्ठ वस्तु कला का एक अलंकृत अंग होना था पर कलाकारों को अपनी अपनी शिल्प चतुरता और प्रौढ़ता दिखाने को काफी अवसर मिला है और यह लकड़ी के मकान, आराधना अथवा वासस्थान होने के कारण, धार्मिक विषय पर ही अधिक प्रोत्साहन होने पर भी हम पाते हैं कि धर्मनिरपेक्ष विषय जैसे शिकारी, पशुपक्षी, दैनिक जीवन में तल्लीन नरनारियों से इन भवनों की खुदाई ओतप्रोत है। खुदाई करने के बाद इन भवनों को वार्षिक समारोह के समय परिष्कृत करने के लिये तेल का प्रयोग अवश्य किया गया जिसके कारण काष्ठ जैसा माध्यम पका होकर समय और जलवायु के क्रूर प्रघातों को सह पाया है। कुछ भवन तो अब भी कल के बने हुए से नए दिखते हैं।

चंदन और अखरोट की लकड़ी जिसका मैसूर और कश्मीर केंद्र है कलात्मक प्रकार की छोटी और बड़ी दैनिक जीवन की वस्तुएँ और पशुपक्षी, कंघे, डब्बे इत्यादि बनाने के कार्य में लाई गई है। उसका विशेष कारण इस प्रकार की लकड़ी की दुर्लभता और बड़ी परिधि के पेड़ न होना ही है। मुगल काल में भी यह कला पनपी और आबनूस के कार्य के लिये, जिसके अलंकृत कंघे, कंघियाँ, कलमदान डब्बे इत्यादि बनाए जाते रहे। उत्तर प्रदेश के नगर नगीना और सहारनपुर विख्यात हुए। उसी काल से लकड़ी के ऊपर पीतल का तार, सीप अथवा विभिन्न प्रकार की लकड़ियों के मेल से फूल बूटे का जड़ाऊ काम (inlay work) भी प्रारंभ हुआ।

सभी कलाओं की भाँति धातु और काष्ठ की मूर्तियाँ भी विदेशी राज्य के भिन्न दृष्टिकोण के कारण और उचित संरक्षण तथा प्रोत्साहन के अभाव में निर्जीव एवं रूढ़िग्रस्त हो गईं। कहीं उनका लोप हुआ तो कहीं उनके कुशल कारीगरों ने जीवननिर्वाह के लिये अन्य काम धंधे सम्हाल लिए। धनी शिक्षित वर्ग विदेशी वस्तुओं की सभ्यता और कला की चकाचौंध में अपनी परिष्कृत रुचि गवाँ बैठे। शिक्षित कलाकारों ने भी विदेशी कला का अनुसरण किया किंतु कालांतर से अब फिर इन खोई हुई वैभवशील कलाओं की ओर ध्यान जा रहा है और अनेक उदीयमान कलाकारों ने काष्ठ मूर्तिकला को अपना माध्यम बनाया है जिसमें भारतीय परंपरागत शैली के साथ हम आज अंतरराष्ट्रीय कलादृष्टि का सुंदर समन्वय पाते हैं। प्रत्येक माध्यम का अपना स्वतंत्र गुण और चरित्र है जो दूसरे माध्यम में हमें नहीं मिलता। धातु की मूर्ति काष्ठ जैसी न लगे और काष्ठ की मूर्ति पत्थर, सीमेंट अथवा धातु जैसी न लगे और उसके अंतर्हित गुणों को परखकर माध्यम के अनुकूल, नस, रंग, रूप को ध्यान में रख कलाकार अपनी कृति की कल्पना करे और उसके गोपनीय सौंदर्य को उन्मीलित कर दे जिससे उतार चढ़ाव, रेखा इत्यादि के संमिश्रण से एक मौलिक रचना प्रस्तुत हो, यही आधुनिक कलाकार का ध्येय और उद्देश्य है। बाह्यरूप कुछ भी हो पर हमारी कला के मूल सिद्धांत, जो षडंग के अंतर्गत आते हैं, अब भी किसी भी माप दंड से खरे उतरते हैं चाहे दृष्टिकोण कितना ही अति आधुनिक हो। [जै० कु०]

ललितकिशोरी तथा ललितमाधुरी शाहवंश के गोविंदचंद्र के दो पुत्र कुंदनलाल तथा फुंदनलाल का उपनाम क्रमश: ललितकिशोरी तथा,ललितमाधुरी था और ये दोनों सन् १८५७ ई० में सिपाही विद्रोह के कारण लखनऊ त्यागकर वृंदावन जा बसे थे। ये दोनों श्री राधारमणी संप्रदाय के परम कृष्णभक्त वैष्णव थे। इन्होंने सन् १८६०-६८ ई० में श्वेत मर्मर प्रस्तर का श्री बिहारीलाल का विशाल मंदिर बनवाया, जो अत्यंत भव्य तथा दर्शनीय है। प्रथम निस्संतान रहे पर द्वितीय का वंश चला। प्रथम की मृत्यु सन् १८७३ ई० मे हुई और द्वितीय की दस बारह वर्ष बाद। ये दोनों ही भक्त सुकवि थे और इनकी सारी रचनाएँ अभिलाषमाधुरी तथा लघुरसकलिका में संगृहीत हैं, जो सन् १८८१ ई० में लीथो में प्रकाशित हुई थीं।

[व्र० र० दा०]

ललितपुर स्थिति : २४° ४८′ उ० अ० तथा ७८° ३०′ पू० दे०। यह नगर, झाँसी जिले में स्थित है। यहाँ तिलहन, घी तथा पशुचर्म का व्यवसाय होता है। यहाँ अनेक हिंदू एवं जैन मंदिर है। प्रारंभ में यह अपने ही नाम के जिले का प्रशासकीय केंद्र था। यह जिला १८६१ ई० में झाँसी में मिला दिया गया। १८५७ ई० के स्वतंत्रता संग्राम के समय यहाँ के बुंदेले शासक ने कई लड़ाइयों के पश्चात् अंग्रेजों से समझौता कर लिया। यहाँ की जनसंख्या २५,२२० (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

लव सीता के दोनों पुत्र लव कुश वाल्मीकि के आश्रम में जुड़वाँ जन्मे थे। राम के अश्वमेध अश्व को दोनों भाइयों ने पकड़ लिया और युद्ध में एक एक करके जब लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न इनसे हारते गए तो अंत में राम स्वयं आए। पिता पुत्र में मेल हुआ और फिर लव को कोसल और कुश को उत्तर कोसल का राज्य मिला। लव की दो पत्नियाँ सुमति तथा कंजानना थी। [रा० द्वि०]

लवण (Salt) वह यौगिक है जो किसी अम्ल के एक, या अधिक हाइड्रोजन परमाणु को किसी क्षारक के एक, या अधिक धनायन से प्रतिस्थापित करने पर बनता है। खानेवाला नमक एक प्रमुख लवण है। रसायनत: यह नमक सोडियम और क्लोरीन का सोडियम क्लोराइड नामक यौगिक है (देखें नमक)। पोटैशियम नाइट्रेट एक दूसरा लवण है, जो नाइट्रिक अम्ल के हाइड्रोजन आयन को पोटैशियम

हाइड्रॉक्साइड के पोटैशियम आयन (धनायन) द्वारा प्रतिस्थापित करने से बनता है। नाइट्रिक अम्ल के अणु में केवल एक हाइड्रोजन होता है, जो पोटैशियम से प्रतिस्थापित होता है। सल्फ्यूरिक अम्ल में प्रतिस्थापनीय हाइड्रोजन की संख्या दो है। अतः सोडियम द्वारा सल्फ्यूरिक अम्ल के दोनों हाइड्रोजन के प्रतिस्थापित होने पर सोडियम सल्फेट तथा केवल एक प्रतिस्थापित होने पर सोडियम हाइड्रोजन सल्फेट नामक लवण प्राप्त होता है। दोनों ही यौगिक लवण कहलाते हैं। पहला नॉर्मल (normal) लवण और दूसरा अम्लीय लवण कहलाता है। विविध अम्लों और विविध क्षारों के सहयोग से अनेक लवण बने हैं।

लवणों का निर्माण निम्नलिखित रीतियों से होता है :

(१) धातुओं पर अम्लों की क्रिया से, जैसे यशद पर सल्फ्यूरिक अम्ल की क्रिया से जिंक सल्फेट प्राप्त होता है।

(२) क्षार, या क्षारकों तथा कार्बोनेटों पर अम्लों, या अम्लीय ऐनहाइड्राइडों की क्रिया से, जैसे पोटैशियम हाइड्रॉक्साइड पर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की क्रिया से पोटैशियम क्लोराइड बनता है।

(३) तत्वों के सीधे संयोग से, जैसे सोडियम एवं क्लोरीन के सीधे संपर्क से सोडियम क्लोराइड बनता है।

(४) अम्लीय ऑक्साइडों और क्षारक ऑक्साइडों के संयोजन से, जैसे सल्फर ट्राइऑक्साइड (अम्लीय) एवं पोटैशियम ऑक्साइड (क्षार) के संयोजन से पोटैशियम सल्फेट बनता है।

(५) किसी लवण की एक धातु को दूसरी धातु से विस्थापित करने से, जैसे कॉपर सल्फेट को लोहे के संपर्क में लाने से ताँबे का स्थान लोहा ले लेता है, जिससे फेरस सल्फेट बनता है।

(६) किसी लवण एवं कम वाष्पशील अम्ल की परस्पर अभिक्रिया द्वारा, जैसे सोडियम क्लोराइड पर अल्प वाष्पशील सल्फ्यूरिक अम्ल की क्रिया से सोडियम हाइड्रोजन सल्फेट बनता है।

(७) लवण पर क्षार की क्रिया से, जैसे अमोनियम क्लोराइड पर पोटैश की क्रिया से पोटैशियम क्लोराइड बनता है।

(८) दो क्षारों की परस्पर क्रिया से, जैसे सोडियम हाइड्रॉक्साइड पर जिंक हाइड्रॉक्साइड की क्रिया से सोडियम जिंकेट बनता है।

(९) धातु एवं क्षारक की परस्पर क्रिया से, जैसे जिंक पर पोटैशियम हाइड्रॉक्साइड की क्रिया से पोटैशियम जिंकेट बनता है।

(१०) दो लवणों के बीच उभय अपघटन से, जैसे पोटैशियम क्लोराइड तथा सोडियम नाइट्रेट से पोटैशियम नाइट्रेट एवं सोडियम क्लोराइड बनते हैं। इस रीति से जल में विलेय दो लवणों, जैसे सिल्वर नाइट्रेट तथा पोटैशियम क्लोराइड, के उभय अपघटन से जल में अविलेय सिल्वर क्लोराइड तथा जल में विलेय पोटैशियम नाइट्रेट प्राप्त होते हैं। सामान्यतया जल में अविलेय लवण की प्राप्ति में इस रीति का विशेष रूप से उपयोग होता है।

(११) लवणों के उपचयन, या अपचयन से, जैसे लेड सल्फाइड के उपचयन से लेड सल्फेट तथा बेरियम सल्फेट के अपचयन से बेरियम सल्फाइड प्राप्त होता है।

लवणों के नाम क्षार और अम्लों के योग से बनते हैं। धातु, या धातुमूलक पहले आते हैं और अम्ल पीछे। अम्लों के अंग्रेजी नाम के अंतिम अंश को हटाकर उसमे 'आइड' (–ide), 'आइट' (–ite) या 'एट' (-ate) जोड़ते हैं। द्विअंगी यौगिक लवणों में 'आइड' और त्रिअंगी लवणों में 'आइट' या 'एट' जोड़ते हैं। सोडियम और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के लवण को सोडियम हाइड्रोक्लोराइड, या सोडियम क्लोराइड भी कहते हैं। त्रिअंगी लवणों में लवण यदि अम्लीय है, तो उसमें 'आइट' (–ite) जोड़ते हैं, जैसे सोडियम सल्फाइट, सोडियम फ़ास्फ़ाइट इत्यादि और यदि लवण नार्मल है, तो उसमें एट (–ate) जोड़ते हैं, जैसे सोडियम सल्फेट, कैल्सियम फ़ास्फ़ेट इत्यादि। दूसरे शब्दों में जिस अम्ल के अंत में 'अस' (ous) होता है उसका लवण आइट और जिस अम्ल के अंत में 'इक' (ic) होता है उसमें एट जोड़ते हैं. जैसे सल्फ्यूरस अम्ल का लवण सल्फाइट और सल्फ्यूरिक अम्ल का लवण सल्फेट है।

लवणों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है, जैसे लवणों के गुण एवं प्रकृति के आधार पर, लवणों के संघटन के आधार पर एवं उनके जलीय विलयन के व्यवहार पर। एक वर्गीकरण के अनुसार लवण को 'नॉर्मल लवण', 'अम्लीय लवण', या 'क्षार लवण' कहते हैं। वर्गीकरण की यह रीति इस बात पर निर्भर करती है कि अम्ल के सभी हाइड्रोजन आयनों का, अथवा क्षारक के सभी हाइड्रॉक्साइड आयनो का, प्रतिस्थापन हुआ है, अथवा नहीं। इस वर्गीकरण में अम्ल तथा क्षारक के सभी हाइड्रोजन तथा हाइड्रॉक्साइड आयनों के प्रतिस्थापन से प्राप्त होनेवाले लवण को नार्मल लवण कहा जाता है। हाइड्रोजन के सभी आयनों का प्रतिस्थापन न होने के कारण जो लवण प्राप्त होते हैं, उनमें प्रतिस्थापनीय हाइड्रोजन के आयन विद्यमान होते हैं और ऐसे लवण को अम्लीय लवण कहा जाता है। इसी प्रकार से हाइड्रॉक्साइड के सभी आयनों का प्रतिस्थापन न होने के कारण जो लवण प्राप्त होते हैं, उनमें प्रतिस्थापनीय हाइड्रॉक्साइड की विशेष उपस्थिति के कारण उन्हें क्षारकीय लवण कहा जाता है। उदाहरणार्थ, सोडियम क्लोराइड, सोडियम सल्फेट आदि नार्मल लवण हैं। सोडियम हाइड्रोजन सल्फेट, सोडियम हाइड्रोजन फ़ॉस्फेट आदि अम्लीय लवण एवं क्षारकीय मैग्नीशियम क्लोराइड, क्षारकीय कॉपर कार्बोनेट आदि क्षारकीय लवण हैं।

लवण के वर्गीकरण की एक अन्य रीति में लवण की विशेषता एवं आयनीकरण की पूर्णता के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है। इस वर्गीकरण में आयनीकरण से केवल एक अम्लीय, अथवा एक क्षारकीय, अथवा एक एक दोनों के मूलक प्रदान करनेवाले लवण को सरल लवण कहा जाता है। उदाहरण के लिये, सोडियम क्लोराइड, सोडियम हाइड्रोजन (बाइ) कार्बोनेट आदि सरल लवण हैं। आणविक अनुपात में दो सदृश लवणों के संयुक्त लवण को इस वर्गीकरण के अनुसार द्विक या द्विअंगी लवण कहा जाता है, जैसे पोटैशियम क्लोराइड तथा मैग्नीशियम क्लोराइड के संयुक्त लवण को द्विक लवण कहा जाता है। विशेष प्रकार के द्विक लवण तथा दो से अधिक सदृश लवण के संयोग से निर्मित होनेवाले लवण को फिटकरी, या ऐलम कहा जाता है। पोटैशियम सल्फेट, ऐलुमिनियम सल्फेट तथा

क्रिस्टलीय जल के संयोग से निर्मित लवण को पोटैश-फिटकरी, या पोटैश ऐलम कहा जाता है। किसी लवण में एक से अधिक क्षारक अथवा अम्लीय मूलक की उपस्थिति होने पर ऐसे लवण को मिश्रित लवण कहा जाता है, जैसे सोडियम पोटैशियम सल्फेट। संकर लवण सामान्य द्विक लवण के सदृश होते हैं, परंतु विलयन में इनका व्यवहार द्विक लवण से भिन्न होता है, क्योंकि इनके आयनन की रीति भिन्न होती है। पोटैशियम फेरोसाइनाइड तथा पोटैशियम डाइक्रोमेट संकर लवण हैं।

सामान्यत: नॉर्मल लवण के विलयन उदासीन होते हैं, पर अनेक नॉर्मल लवण के विलयन अम्लीय अथवा क्षारीय भी होते हैं। नॉर्मल लवण के विलयन का यह प्रभाव जल के साथ लवण के आयन की क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। इस क्रिया को जल अपघटन (Hydrolysis) कहा जाता है। सोडियम साइनाइड लवण को जल में घोलने पर विलयन में जलअपघटन की क्रिया होती है, जिसके फलस्वरूप विलयन में सोडियम हाइड्रॉक्साइड (क्षार) तथा हाइड्रोजन साइनाइड (हाइड्रोसायनिक अम्ल) बनते हैं और चूँकि सोडियम हाइड्रॉक्साइड तीव्र क्षार है, अत: लवण का विलयन क्षारीय होता है। अमोनियम क्लोराइड लवण का जलीय विलयन जल अपघटन क्रिया के कारण अम्लीय होता है।

आधुनिक काल में अम्ल तथा क्षार के सामान्य सिद्धांत में विकास होने के फलस्वरूप, लवण के ज्ञान के संबंध में बहुत विस्तार हो गया है। इस दिशा में ब्रोंस्टेड नामक वैज्ञानिक का सिद्धांत अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। इस सिद्धांत में क्रिया के अंतिम उत्पाद लवण की अपेक्षा अम्ल तथा क्षार के प्रक्रियाक्रम पर अधिक बल दिया गया है। [अ० सिं०]

लवेर्ये, अर्बेन ज़्हाँ जोजेफ (Leverrier, Urbain Jean Joseph, सन् १८११-१८७७), फरासीसी खगोलज्ञ, पैरिस की वेधशाला के निदेशक थे।

यूरेनस की गति की अनियमितता के आपके अध्ययन से एक नये ग्रह, नेप्चून, का पता लगा। आप द्वारा तैयार की गई ग्रहीय तथा सौर सारणियाँ नाविक पचांग में प्रामाणिक मानी गई हैं।

आपको मौसम विज्ञान में भी अभिरुचि थी। विस्तृत क्षेत्र से एकत्रित की हुई मौसम संबंधी प्रति दिवस की रिपोर्टों से आपने तूफानों के मार्ग का पता लगाना तथा उनके संबंध में पूर्व सूचना देना आरंभ किया। इससे मौसम संबंधी मानचित्रों का विकास हुआ। [भ० दा० व०]

ल सर, उस्ताख (१६१६-१७—५५) उस्ताख ल सर वूएट नामक चित्रकार का शिष्य था और उसी शैली में उसके अधिकतर चित्र बने मिलते हैं। सर्वप्रथम उसने लैंबर्ट होटेल में, कैबिनेट दामोर के लिये १६४६-४७ में क्यूपिड का इतिहास चित्रित किया। कैबिनेट देम्यूसेज के लिये भी उसने चित्र बनाए। इनमें रफील तथा पूसाँ की कला का प्रभाव विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। सेंट ब्रूनो के जीवन से संबंधित उसके सारे चित्रों में भी पूसाँ का यथेष्ट प्रभाव है। बाद में उसके चित्रों में रफील की कला प्रभावशाली हुई। पेरिस और फ्रांस के अन्य संग्रहालयों में उसके चित्र प्राप्त हैं। [रा० चं० शु०]

लसीका लगभग रंगहीन स्कंदित एवं हलका क्षारीय द्रव है, जो लसीकावाहिकाओं में रहता है। यदि रुधिर वाहिकाओं के आस पास के ऊतकों की सूक्ष्मदर्शी से परीक्षा की जाय, तो ज्ञात होगा कि कोशिकाओं और रुधिर वाहिकाओं के बीच के स्थान में सूक्ष्म वाहिकाओं का घना जाल है। इन वाहिकाओं की दीवार बनाने तथा इन्हें ऊतक स्थलों से पृथक करने का कार्य अत्यंत पतली अंत:कला कोशिकाएँ करती हैं। इस जालिका में विभिन्न सुनिश्चित नालियों से, जिन्हें लसीकावाहिनियाँ कहते हैं, संचार होता है। यदि तरल पदार्थ अधिक हो जाता है, तो वह इन लसीकावाहिनियों से निकल जाता है। सभी लसीकावाहिनियों का मुख वक्ष की ओर होता है और उनके आपस में मिलने से लसीकामहावाहिनी बनती है।

प्लाज़्मा में से कोशिका की दीवारों से नि:स्रावित ऊतक-तरल से लसीका की व्युत्पत्ति होती है। लसीका सभी ऊतक तत्वों का संभरण करती है और ग्रंथियों के स्रावनिर्माण में भी योगदान करती है। तरल का आधिक्य अंत:कला कोशिकाओं में से, या उनके बीच से गुजर, परिसर कर लसीकावाहिनीजाल में गिरता है और यहाँ से लसीका कांड द्वारा लसीकामहावाहिनी में ले जाया जाता है, जो इसे पुन: रुधिर को लौटा देती है।

लसीका के गुणधर्म — लसीकामहावाहिनी से प्राप्त लसीका रूप और रचना में विभिन्न परिस्थितियों मे भिन्न होती है। उपवास कर रहे पशुओं में लसीका पारदर्शक और हल्का पीतवर्ण तरल होती है। यदि वसायुक्त आहार खाने के थोड़ी ही देर बाद पशु में लसीका प्राप्त की जाय, तो वसा के सूक्ष्म कणों की उपस्थिति के कारण वह दुधिया होती है।

सूक्ष्मदर्शी परीक्षा — लसीका में वर्तमान लसीकाणु रुधिर के से ही होते हैं। सभी लसीकावाहिनियाँ अपने मार्ग में कहीं न कहीं लसीकाग्रंथि में से होकर गुजरती हैं, और ग्रंथियाँ उन्हें लसीकाणु प्रदान करती हैं। महावाहिनी की लसीकावाहिनी से निकलने के बाद लसीका धीरे धीरे जमती है और फाइब्रिन (fibrin) का वर्णहीन थक्का बनता है। इसमें करीब छ: प्रति शत ठोस पदार्थ होते हैं, जो प्लाज़्मा में वर्तमान पदार्थों के अनुरूप और उसी अनुपात में होते हैं सिवाय इसके कि इसमें प्रोटीन की मात्रा कहीं कम होती है।

कुत्ते के सीरम और लसीका की तुलना

घटक	सीरम, ग्राम प्रति शत	लसीका, ग्राम प्रति शत
कुल ठोस पदार्थ	८·३	५·२
क्लोराइड	०·३६२	०·४१३
ग्लूकोज	०·१२३	०·१२४
अप्रोटीन नाइट्रोजन (एम. पी. एन.)	०·०२७२	०·०२७०
प्रोटीन नाइट्रोजन	०·९०	०·५७

जब किसी कारण रुधिर की रचना में परिवर्तन होता है, तब उसी तुलना में लसीका की रचना में भी परिवर्तन होता है।

लसीका का उत्पादन — शरीर में लसीका की कुल मात्रा में समय समय पर परिवर्तन होता है। इसके उत्पादन के लिये दो प्रकार के कारक उत्तरदायी होते है: (१) यांत्रिक और (२) रासायनिक।

यांत्रिक कारक केशिकाओं में रुधिर के चाप और वाहिकाओं के सक्रिय विस्तारण की मात्रा पर निर्भर रहते हैं। रासायनिक कारक रक्तवाहिकाओं के बाहर अवस्थित कोशिकाओं के उपापचय पर निर्भर रहते हैं। किसी भी केशिका क्षेत्र मे ऊतक-तरल की मात्रा केशिका पारगम्यता और वाहिकाओं में रुधिर के तथा ऊतक-स्थलों में तरल के चाप के अंतर पर निर्भर रहती है। ऊतक तरल का चाप बहुधा बहुत कम (लगभग २० मिमी० जल का) होता है। इसलिये स्पष्ट है कि केशिका चाप घटने, या बढ़ने पर निस्रवण चढ़े और उतरेगा। मुख्य कारक तो रुधिर केशिकाओं की दीवारों की पारगम्यता ही है (देखें चित्र १.)।

लसीका संचालन — लसीका का आगे की ओर प्रवाह कुछ तो उस चाप द्वारा प्रभावित होता है जिसपर लसीका, लसीका केशिकाओं में प्रविष्ट होती है और कुछ निकट की धमनियों के स्पंदन से; किंतु यह कंकाल पेशियों के संकुंचन पर भी निर्भर
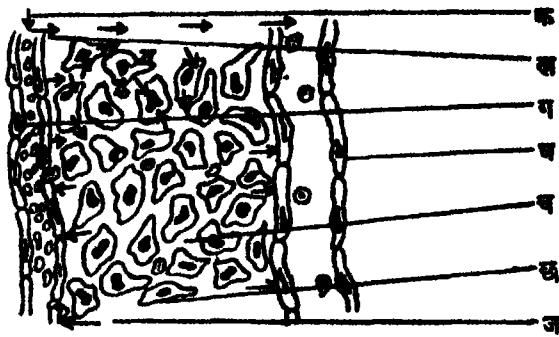
चित्र १. सक्रिय ऊतक में द्रवों का आदान प्रदान

तीरों से द्रव के प्रवाह की दिशा दिखाई गई है। द्रव रक्तवाहिका से आकर, ऊतक की कोशिकाओं से होता हुआ, लसीका केशिकाओं में जाता है और इससे लसीका बनती है। ऊतक की कोशिकाओं पर बने तीरों से दिखाया गया है कि उनमें तथा चतुर्दिक् ऊतक द्रव में द्रव का आदान प्रदान होता है।

क. रक्त का प्रवाह, ख. द्रव बाहर निकलता है, ग. रक्त केशिका, घ. लसीका केशिका, च. ऊतक में ऊतक द्रव से भरा स्थान, छ. ऊतक कोशिका तथा ज. द्रव अंदर जाता हुआ।

होता है। छोटे लसीका मूलांकुरों में लसीका का चाप जल के ८ से १० मिमी० तक पहुंच सकता है। लसीकामहावाहिनी में, जहाँ यह कंठ की बृहद् शिराओं में खुलती है, चाप शिराओं के चाप के समकक्ष ही होता है, अर्थात् पारे के ४ से० मिमी० तक।

चूंकि सभी लसीकावाहिनियाँ कपाटयुक्त होती हैं (देखें चित्र २.), बाह्य चाप लसीका को एक ही दिशा में प्रवाहित होने देता है, यानी लसीकामहावाहिनी और बृहद्‌शिराओं की ओर। पेशीय व्यायाम लसीका संचार में सबसे बड़ा भाग लेता है।

लसीका ग्रंथियाँ — अनेक अभिवाही वाहिनियाँ ग्रंथि के प्रांतस्था (cortex) भाग में खुलती हैं और लसीका इसमें से अंतःस्रवित होती है और एक अपवाही वाहिनी अंतःस्रावित लसीका को अंतस्था या मज्जका (medulla) से बाहर ले जाती है। निर्गत लसीका में अभिवाही धारा की अपेक्षा कम से कम ३० गुने अधिक लसीकाणु
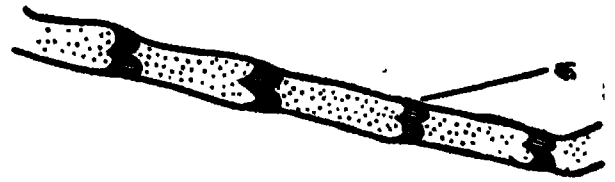
चित्र २. लसीकावाहिनी की काट

क. वाल्व या कपाट।

(lymphocyte) होते हैं। लसीकाग्रंथियाँ लसीका धारा द्वारा लाए गए कण संग्रह करती हैं और जीवाणुओं एवं विषों को निष्क्रिय बनाती हैं। ग्रंथि में उपस्थित लसीकाणु और मोनोसाइट (monocyte) यह कार्य करते हैं और बहुधा देखा गया है कि जब ऊतक जीवाणुओं द्वारा संक्रांत हो जाते हैं, तो अनुप्रवाह लसीकाग्रंथियाँ सूज आती हैं और दुखने लगती हैं।

यदि लसीकाग्रंथि का एक भाग काट दिया जाय, तो ऊतक पुनर्जनित होता है, किंतु संपूर्ण ग्रंथि निकाल देने पर उसका पुनः निर्माण नहीं होता।

लसीका वाहिनियों के कार्य — केशिका के धमनी सिरे पर रक्त से तरल पारस्रुत (transudate) होता है। इसका अधिकतर जलीय अंश शिरा के सिरे पर पुन अवशोषित हो जाता है, पर प्रोटीन लसीका में चले जाते हैं। लसीकाकेशिका इस कारण विशेष वाहिका है जहाँ से प्रोटीन लौटाया जाता है।

अन्य कोलायड के, या कणीय पदार्थों के, जो ऊतकस्थलों में प्रविष्ट कराए गए हों, अवशोषण से भी यह संबद्ध है।

लसीका का प्रवाह बढ़ानेवाली दशाएँ — ये दशाएँ निम्नलिखित हैं: (१) केशिका-चाप-वृद्धि — शिरावरोध के फलस्वरूप जब शिराचाप जल के १२ या १५ सेंमी० से ऊपर बढ़ता है, तब केशिकाओं से निस्यंदन भी बढ़ता है। केशिकाओं से निस्यंदन की गति शिराचाप की वृद्धि के समानुपात में होती है (देखें चित्र ३.)।

किसी एक शिराचाप पर निस्यंदन की गति पहले तेजी से बढ़ती है, पर शनैः शनैः शिथिल होती जाती है और अंत में बद हो जाती है। केशिका के अंदर तरल स्थैतिक दाब विरोधी तरल संचय के कारण होनेवाली केशिका में अतिरिक्त केशिका चाप वृद्धि निस्यंदन की गति में यह गिरावट उत्पन्न करती है। कोशिकीय बाह्य तरल का संचयन उन क्षेत्रों में अधिक होता है जहाँ गठन ढीला होता है और त्वचा आसानी से तन सकती है।

निर्वाहिका (portal) क्षेत्र में शिराओं में चापवृद्धि, जो निर्वाहिका शिरा, या यकृतशिराओं को अवरुद्ध करके की जा
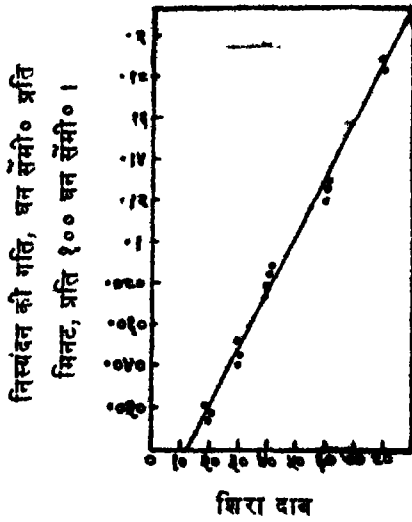
शिरा दाब
जल स्तंभ सेंमी० में

चित्र ३. निस्यंदन की विभिन्न गतियाँ
तीस मिनट में २० से ८० से ८० सेंमी० तक जलस्तंभ के बराबर, विभिन्न शिरादाबों पर उत्पन्न।

सकती है, उदरांग ऊतकों में निस्यंदन की वृद्धि और लसीका महावाहिनी में प्रवाहित लसीका के आयतन में भारी वृद्धि करती है।

(२) केशिकाओं की दीवारों की पारगम्यता में वृद्धि — इसका प्रत्यक्ष प्रभाव होता है : (क) ताप में वृद्धि तथा (ख) केशिका विष, जैसे पेपटोन, स्ट्राबेरी का सत्व, क्रेफिश, हिस्टामीन तथा विजातीय प्रोटीनें तथा ऊतकों को ऑक्सीजन (O_2) पूर्ति की कमी संभवत: अंत:कला को हानि पहुँचाकर पारगम्यता उत्पन्न करते हैं।

(३) प्रतिबली विलयन — ये ऊतक स्थानों से विशेषकर पेशियों और अंगों के अधस्त्वक् ऊतकों से तरल खींच लेते हैं। फलस्वरूप रुधिर के आयतन में वृद्धि होती है और भारी मात्रा में तरल का नि:सरण होता है, जो लसिका महावाहिनी में लसीका की मात्रा बढ़ा देता है।

(४) कार्यसक्रियता में वृद्धि — जब कोई ग्रंथि, या पेशी, सक्रिय होती है, तब लसीका प्रवाह मे वृद्धि होती है। विश्राम की अवस्था में पेशियों और अधस्त्वक् ऊतकों से लसीका प्रवाह बहुत हल्का होता है और लसीका को प्रोटीन मात्रा अधिक होती है। सक्रिय अवस्था में प्रोटीन सांद्रता घटती है, क्योंकि अपेक्षाकृत कम मात्रा में पारस्रुत जल का रुधिर में पुन: अवशोषण होता है और अधिक मात्रा में लसीका वाहिनियों मे बह जाती है। पेशी का संकुंचन वाहिनियों में लसीका प्रवाहित करने में पंप का सा प्रभाव डालता है।

कार्य सक्रियता में वृद्धि होने पर प्रवाह में वृद्धि के कारण ये हैं : (क) उपापचयजों (metabolite) की उत्पत्ति, जिससे ऊतक तरलों का रसाकर्षण दाब बढ़ता है और इसलिये वाहिकाओं से अधिक तरल आकर्षित होता है। (ख) वाहिकाविस्फारण और केशिका-चाप में वृद्धि।

(५) मर्दन तथा निष्चेष्ट संचलन — कुछ सीमा तक ये पेशीय सक्रियता की भाँति कार्य करते हैं। ये रुधिर प्रवाह और केशिका चाप को संवर्धित कर लसीका का निर्माण बढ़ाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हस्त प्रयोग और पेशियों का संचलन लसीका का लसीका वाहिनियों में नोदन करते हैं।

सं० ग्रं० — (१) बार्न्स, जे० एम० और ट्रुएटा, जे० लांसेट, १९४१, १, ६२३; (२) रिचर्ड्स, डी० डब्लू० : अमे० ज० मेडि०, १९४९, ६, ७७२, (३) स्टर्लिंग, ई० एच० : 'द फ्लुइड्स ऑव् द बॉडी', कॉन्स्टेबुल, लंदन १९०९। [रा० चं० शु०]

लसीकातंत्र (Lymphatic System) जब रुधिर केशिकाओं से होकर बहता है तब उसका द्रव भाग (रुधिर रस) कुछ भौतिक, रासायनिक या शारीरिक प्रतिक्रियाओं के कारण केशिकाओं की पतली दीवारों से छनकर बाहर जाता है। बाहर निकला हुआ यही रुधिर रस लसीका (Lymph) कहलाता है। यह वस्तुत: रुधिर ही है, जिसमें केवल रुधिरकणों का अभाव रहता है।

लसीका का शरीरस्थ अधिष्ठान लसीकातंत्र कहलाता है। इस तंत्र में लसीका अंतराल (space), लसीकावाहिनियाँ और वाहिनियों के बीच बीच में लसीकाग्रंथियाँ रहती हैं।

लसीका तंतुओं के असंख्य सूक्ष्म तथा अनियमित लसीका-अंतरालों में प्रकट होती हैं। ये अंतराल परस्पर अनेक ऐसी सूक्ष्म लसीकावाहिनियों द्वारा संबद्ध होते हैं, जो पतली शिराओं के समान अत्यंत कोमल दीवार तथा अत्यधिक कपाटों से युक्त होती हैं। ये केशिकाओं के सदृश कोषाणुओं के केवल एक स्तर से ही बनी होती हैं और उन्हीं के सदृश इनमें मायलिन पिधान रहित तंत्रिकातंतुओं
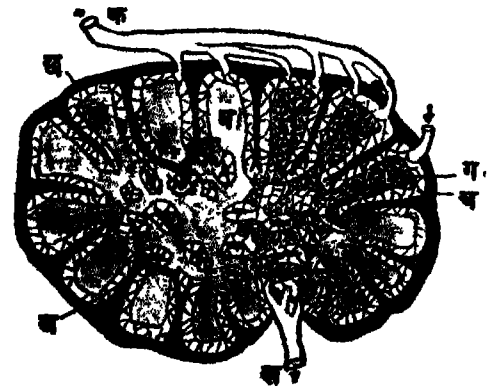
चित्र १. लसीकाग्रंथि
लसीकावाहिनियाँ क. से प्रवेश करती हैं और ख. से होती हुई ख. पर बाहर जाती हैं। ग. लसीकाभ ऊतक; घ. प्रांतस्था (cortical) पदार्थ तथा ङ. ग्रंथि को घेरे हुआ तंतुमय कोष, जिससे ग्रंथि के मुख्यांश च. में प्रभाग प्रवेश करते हैं।

(non-medullated nerve fibres) का वितरण होता है। छोटी छोटी ये लसीकावाहिनियाँ परस्पर मिलकर बड़ी बड़ी लसीका वाहिनियों का रूप धारण कर लेती हैं, जिनमें आगे चलकर दो शाखाएँ निकलती हैं : (१) दक्षिण तथा (२) वाम। दक्षिण

शाखा में शरीर के थोड़े भाग से लसीकावाहिनियाँ मिलती हैं, यथा सिर और ग्रीवा का दक्षिण भाग, दक्षिण शाखा (हाथ पैर) एवं वक्ष का दक्षिण पार्श्व। वाम शाखा में शरीर के शेष भाग से, जिनमें पाचननलिका भी संमिलित है, लसीकावाहिनियाँ आकर मिलती हैं। इन दोनों शाखाओं में कपाटों का बाहुल्य होता है। लसीका पीछे की ओर नहीं लौट सकती। प्रत्येक शाखा के खुलने के स्थान पर भी एक कपाट होता है, जो लसीका के शिराओं मे ही
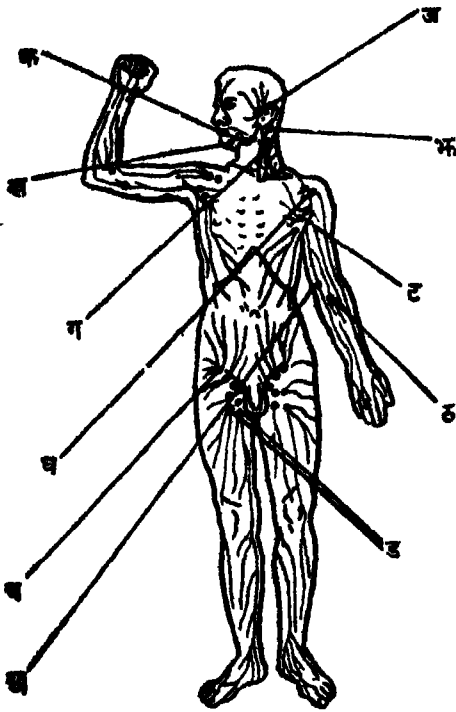
चित्र २ पृष्ठीय लसीका वाहिकाएँ तथा ग्रंथियाँ

अक्षर क्रम से ग्रंथियों के समूह का नाम निम्नलिखित है : क, अधोजंभ (submaxiliary), ख. सबमेंटल (submental), ग. पृष्ठीयग्रीव (superficial cervical), घ. अधोजत्रुक (infraclavicular), च. वक्षण (inguinal), छ अधिचक्रक (supratrochlear), ज पूर्व कर्णिका (preauricular), झ. कर्णमूल (mastoid), ट. अग्रोपसंगी (anterior auxiliary), ठ. अग्रांत: प्रकोष्ठिक (antecubital) तथा ड. पृष्ठीय ऊरु (superficial femoral)।

प्रविष्ट होने में सहायक होता है, शिरारक्त को विपरीत दिशा में नहीं जाने देता।

लसीकाग्रंथियाँ — सभी लसीकावाहिनियाँ अपने मार्ग के किसी न किसी भाग में लसीकाग्रंथियों से होकर गुजरती हैं। इन्हीं ग्रंथियों में लसीकाकणिकाओं (lymph corpuscles) का निर्माण होता है। ये ग्रंथियाँ आकार में गोल या अंडाकार होती हैं तथा इनकी आकृति वृक्क जैसी होती है। इसके सबसे बाहर संयोजक ऊतक का एक कोष होता है, जिसमें कुछ अनैच्छिक पेशीसूत्र (involuntary muscle fibres) भी रहते हैं। कोष से प्रवर्धन ग्रंथि के भीतर वृंत की ओर जाते हुए बहुत से ट्रैबेक्यूला (trabecula) होते हैं। लसीकाग्रंथि का बाह्य भाग अनेक कोष्ठों में विभक्त रहता है, जिन्हें लसीका कोष्ठिकाएँ (Alveoli) कहते हैं। इन कोष्ठिकाओं में जाल के समान लसीकातंतु भरा रहता है, जिसके बीच बीच में लसीकाकणिकाएँ भरी रहती हैं।

लसीकाग्रंथि का आभ्यंतरिक भाग दो भागों से बना है :

(१) प्रांतस्था (Cortical) — यह भाग हलके रंग का होता है।

(२) अंतस्था या मज्जका (Medullary) — यह भाग कुछ लाली लिए हुए होता है। अनेक अंतस्थ नलिकाओं से लसीकावाहिनियाँ लसीकाग्रंथि में प्रविष्ट होती हैं, जो इसके उत्तल भाग में कोष को पारकर लसीकापथों में खुलती हैं।

कुछ प्राणियों में तथा शरीर के कुछ भागों मे इन ग्रंथियों का रंग लाल होता है। इन्हें रुधिर (haemal) लसीकाग्रंथि कहते हैं। इनकी लसीकावाहिनियों में रुधिर भरा रहता है।

लसीका का प्रवाह — २४ घंटों में लसीकापथों से निकलकर रुधिर में प्रविष्ट होनेवाली लसीका का परिमाण बहुत अधिक होता है। यह देखा गया है कि आहार पूरा मिलने पर रुधिर के बराबर परिमाण में ही लसीका २४ घंटों में दक्षिण और वाम शाखाओं से गुजरती है। इसलिये यह स्पष्ट है कि लसीका संस्थान में लसीका का प्रवाह अति शीघ्रता से होना चाहिए।

चित्र ३. बाँह की लसीकावाहिकाएँ
क. ग्रंथियाँ।

रुधिरपरिवहन को बनाए रखने के लिये शरीर में हृदय की व्यवस्था है। लसीका के परिवहन के लिये लसीका की आगे की ओर गति निम्नलिखित कारणों पर निर्भर करती है :

(१) दबाव का अंतर — भौतिक नियमों के अनुसार द्रव पदार्थ अधिक दबाव से कम दबाव की ओर बहते है। लसीका के उत्पत्तिस्थान लसीका अंतराल से लक्ष्यस्थान ग्रीवा की शिराओं के दबाव में बहुत अंतर है। अतः दबाव के इसी अंतर के कारण प्रवाह आगे की ओर होता रहता है।

(२) वक्षीय चूषण (Thoracic Aspiration)।

(३) लसीकावाहिनी का नियमित संकोच।

(४) शरीर की चेष्टाएँ।

(५) लसीकावाहिनी में स्थित कपाट।

लसीका का निर्माण — (देखें लसीका)। [प्रि० कु० चौ०]

लांगफेलो, हेनरी वाड्सवर्थ अमरीका का प्रथम राष्ट्रीय कवि जिसने सुंदर छंदों में उच्च भावों का समावेश कर जीवन का ऐसा

आदर्श उपस्थित किया जो अनुकरणीय और सर्वथा ग्राह्य है। अमरीकी साहित्य तथा विश्वसाहित्य को यही उसका अंशदान है। अपने समय का वह बड़ा लोकप्रिय कवि माना जाता है और आज भी वहाँ के विद्यालयों में उसकी कविताएँ तथा भावगीत रुचिपूर्वक गाए जाते और कंठस्थ किए जाते हैं। श्रोताओं और पाठकों को प्रभावित करने की अपूर्व क्षमता उसमें थी। जब 'दि बिल्डिंग ऑव दि शिप' नामक कविता राष्ट्रपति लिंकन को सुनाई गई तो उनके नेत्रों में आँसू छलछला आए और उनके कपोल गीले हो गए। कुछ क्षण बाद वे केवल इतना ही कह सके 'लोगों को इस तरह हिला देने की शक्ति सचमुच एक अद्‌भुत वरदान है।'

लांगफेलो का जन्म सन् १८०७ ई० में मेन में हुआ था। उसने अपनी माता से दिवास्वप्न देखने की प्रवृत्ति विरासत में पाई और क्रियात्मक प्रकृति उसे अपने पिता से मिली। दिवास्वप्न देखने की प्रवृत्ति के कारण पुरातत्वप्रेमियों जैसी उसकी आदत पड़ गई थी और उसे किसी वस्तु में तब तक कोई आनंद नहीं आता था जब तक वह उसमें पुरातत्व एवं दूरता का पुट नहीं भर देता था। यह चीज हम उसकी प्रायः सभी कथाओं में देख सकते हैं, मुख्य रूप से 'दि रेक ऑव हेस्पीरस' में। इस कविता में जिस घटना का वर्णन किया गया है, वह मुश्किल से दो सप्ताह पूर्व और लगभग ५० मील दूर पर घटित हुई थी, किंतु उसे पढ़ने से प्रतीत होता है, मानो वह किसी मध्ययुगीन वृत्त का विवरण हो।

लांगफेलो की शिक्षा जब बोडोइन कालेज में चल रही थी, तभी उसने अपने पिता को लिखा कि साहित्यसेवा में ख्याति पाने की मेरी बड़ी इच्छा है। इसी समय कालेज के अधिकारियों ने वहाँ आधुनिक भाषाओं के लिये एक पीठ की स्थापना की और लांगफेलो से आग्रह किया कि वह यूरोप जाकर इस पद पर काम करने के लिये आवश्यक योग्यता प्राप्त करे। साढ़े तीन वर्ष यूरोप में बिताने के बाद जब वह लौटा तो पाँच वर्ष तक वह इस कालेज में उक्त पद पर काम करता रहा। इसी समय उसने भाषा संबंधी लेखों का एक संग्रह तथा कई पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित कीं और यूरोपीय भाषाओं के कतिपय ग्रंथों का अनुवाद किया।

इसके बाद उसने दुबारा यूरोप की यात्रा की। इसी समय उसकी युवती पत्नी का निधन हो गया। अब वह हारवर्ड विश्वविद्यालय में काम करने लगा। यूरोप की यात्राओं के कारण उस ओर उसका रुझान अधिक हो गया। यूरोपीय साहित्य पर दिए गए उसके व्याख्यानों में सहानुभूति और प्रशंसा का भाव तो था किंतु विद्वत्ता के बजाय उनमें सामान्य संस्कृति की ही अभिव्यक्ति अधिक हुई। होम्स तथा लोवेल के साथ मिलकर उसने उस समाज में साहित्य की कद्र बढ़ा दी जिसमें लोग अन्यान्य बातों की ओर ही अधिक ध्यान देते थे। बहुत से श्रोताओं तथा पाठकों ने उनका साथ दिया जिससे ऐसी सांस्कृतिक परंपरा का निर्माण करने में सहायता मिली जिसके बिना कोई भी अच्छा साहित्य उन्नति नहीं कर सकता।

उसकी कविताओं ने अमरीकी लोककथाओं को, जिनपर उसने कल्पना का रंग चढ़ाकर सुंदर बना दिया था, जनता में लोकप्रिय बना दिया। वह सच्चे अर्थ में अमरीका का पहला राष्ट्रीय कवि था। उसे उतना सम्मान तो नहीं मिला, किंतु उसकी रचनाएँ सभी पढ़ते थे और सभी को उनमें आनंद आता था। वह अमरीका का प्रथम अंतरराष्ट्रीय कवि भी था जिसकी कृतियों ने साहित्यजगत् में अमरीका का प्रवेश कराया। वह पहला अमरीकी कवि था जिसे अन्य देशों में भी मान्यता प्राप्त हुई और जिसकी रचनाओं का अन्यान्य भाषाओं में भी अनुवाद किया गया।

संपन्नता की ओर बढ़ते समय सन् १८४३ में उसने दूसरा विवाह किया। उसकी परिणीता कुमारी फ्रैंसिस एलिजाबेथ एपिलटन बड़ी धनाढ्य थी जो अपने साथ क्रेगी हाउस नामक विशाल भवन स्त्रीधन के रूप में लाई। इसपर कुछ लोगों ने हृदय की आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ साथ सांसारिक संपत्ति बटोरने की भी उसकी योग्यता पर कटाक्ष किया। जो हो, पत्नी के प्रति उसकी अनुरक्ति बढ़ती गई और वह सृजनशील सुस्थिर जीवन की ओर अग्रसर होता गया।

लांगफेलो ने अमरीकी साहित्य में गीतिकाव्य के नए प्रकार, लंबी वर्णनात्मक कविता, को जन्म दिया। इस तरह की प्रथम लंबी वर्णनात्मक रचना 'इवेंजेलीन' अधिक प्रभावोत्पादक न होती हुई भी काफी लोकप्रिय हुई। किंतु 'हिआवाथा' में उसकी काव्यप्रतिभा चरम सीमा तक पहुँच गई। 'टेल्स ऑव ए वेसाइड इन' में उसने उस रचनाक्रम को अपनाया जो चौसर ने 'कैंटरबरी टेल्स' में तथा बोकेशियो ने 'डीकामेरान' में प्रस्तुत किया था।

लांगफेलो सच्चे अर्थ में कलाकार है, सजग और विचारशील। उसकी भाषा से स्पष्ट है कि वह छंदों की रचना के नियमों में पारंगत था। यद्यपि आधुनिक आलोचकों ने उसके गीतिकाव्यों में उपदेश देने की प्रवृत्ति का और उसकी कथाओं में अत्यधिक कल्पनाशीलता का दोषारोप किया है, फिर भी उसे मानवता के ऐसे कवि के रूप में निरंतर मान्यता प्राप्त होती रहेगी जो सीधेसादे ढंग से कथा कहने और सबके हृदय में, चाहे वे युवक हों या वृद्ध, उच्च आदर्श एवं उच्च विचार उद्‌भावित करने में आनंद की अनुभूति करता था।

[पी० एन० दास]

लाइएल, सर चार्ल्स (Lyell, Sir Charles, सन् १७९७–१८७५) अंग्रेज भूविज्ञानी का जन्म १४ नवंबर, सन् १७९७ को हुआ। आपकी शिक्षा ऑक्सफर्ड में हुई। यद्यपि आपने वकालत की शिक्षा पाई थी, तथापि आपकी रुचि भूविज्ञान की ओर थी। यहाँ तक कि सन् १८२७ में आपने भूविज्ञान के पक्ष में वकालत का काम छोड़ दिया।

सन् १८१९ में आप लिनियन और जिओलॉजिकल सोसाइटी के फेलो चुने गए। चार वर्ष उपरांत आप जियोलॉजिकल सोसाइटी के मंत्री (अवैतनिक) तथा सन् १८३५ में उसके अध्यक्ष चुने गए। सन् १८२४ में आप डा० बकलैंड के साथ स्कॉटलैंड गए और वहाँ की भौमिकी का अध्ययन किया। सन् १८२६ में आप रायल सोसाइटी के फेलो चुने गए। सन् १८४८ में आपको नाइटहुड की उपाधि मिली तथा सन् १८६४ में आप 'बैरोनेट' बनाए गए।

आपने डेनमार्क, स्वीडन, अमरीका, कैनाडा, नोवास्कोशिया और सिसली की यात्राएँ कीं।

आपकी निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हुई : 'दि प्रिंसिपल्स ऑव जिऑलोजि (१८३०-३३ ई०) तीन भागों में प्रकाशित हुई। सन् १८७६ तक इस शास्त्रीय ग्रंथ के १२ संस्करण निकले। सन् १८३८ में आपकी 'एलिमेंट्स ऑव जिऑलोजि' तथा सन् १८६३ में 'दि ऐंटिक्विटि ऑव मैन' प्रकाशित हुई। इनके अतिरिक्त आपकी अन्य पुस्तकें हैं : 'ट्रैवेल्स इन नॉर्थ अमरीका' (१८४५) तथा 'ए सेकंड विज़िट टु युनाइटेड स्टेट्स' (१८४९)। उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त आपने भौमिकी पर बहुत से लेख भी लिखे। जीवन के अंतिम वर्षों में आपके नेत्रों की ज्योति जाती रही। २२ फरवरी, सन् १८७५ को आपका देहावसान हो गया। [म० ना० मे०]

लाइकेन निम्न श्रेणी की ऐसी छोटी वनस्पतियों का एक समूह है, जो विभिन्न प्रकार के आधारों पर उगे हुए पाए जाते हैं। इन आधारों में वृक्षों की पत्तियाँ एवं छाल, प्राचीन दीवारें, भूतल, चट्टान और शिलाएँ मुख्य हैं। यद्यपि ये अधिकतर धवल रंग के होते हैं, तथापि लाल, नारंगी, बैंगनी, नीले एवं भूरे तथा अन्य चित्ताकर्षक रंगों के लाइकेन भी पाए जाते हैं। इनकी वृद्धि की गति मंद होती है एवं इनके आकार और बनावट में भी पर्याप्त भिन्नता रहती है।

इन पौधों का वानस्पतिक शरीर एक थैलस (thallus) होता है, जो पूर्णतया जड़, पत्ती और शाखारहित होता है। लाइकेनों के समुदाय को मुख्यत: तीन प्रकार के थैलस में विभाजित किया जा सकता है :

(१) कुछ चपटा और उठा हुआ; (२) पत्ती की भाँति, जिसमें ऊपरी तथा भीतरी दोनों ही धरातल पर्याप्त स्पष्ट होते हैं एवं (३) ध्वजा की भाँति, जो ऊर्ध्वाधर दिशा में व्यवस्थित होता है। ये तीनों प्रकार के वर्ग क्रमश: पर्पटीमय (crustose), पर्णिल (foliose) और क्षुपिल (fructose) लाइकेन कहे जाते हैं।

पर्पटीमय लाइकेन चपटे और पतले होते हैं तथा वृक्ष की छाल, या शिलाओं से चिपके हुए उगते हैं। इनमें अधिकांश का तो कुछ भाग आधार के भीतर होता है और ये आधार पर भूरे रंग की धारियों तथा बिंदुओं की भाँति दिखाई देते हैं। इनकी विभिन्न जातियाँ आधार के रंग से मिलती हैं, अत: ये चट्टान के समान ही दिखाई देती हैं। पर्णिल लाइकेन मुड़ी हुई पत्ती की भाँति होते हैं, जिनमें आरोह अवरोह होते हैं। ये पतले पतले मूलाभासों (rhizoids) की सहायता से शिलाओं, या शाखाओं से चिपके रहते हैं। मूलाभास इनके निचले धरातल से निकलते हैं। क्षुपिल लाइकेन अत्यधिक विभाजित बेलनाकार तथा फीते की भाँति होते हैं, जो अपने अध:-स्तर (substratum) से आधारिक (basal) भाग द्वारा ध्वजा की भाँति जुड़े होते हैं। सभी लाइकेन अधिपादप (epiphyte) हैं, परजीवी नहीं। ये अपने परपोषी (host) पर केवल सहारे (anchorage) के लिये ही आश्रित होते हैं।

वास्तव में लाइकेन दो पूर्णतया भिन्न वनस्पतियों से बना एक द्वैध पादप होता है। इन वनस्पतियों में से एक है शैवाल (algae) और दूसरा है कवक (fungus), किंतु इन दोनों में इतना निकटतम साहचर्य होता है कि इनसे बना लाइकेन एक ही पौधा प्रतीत होता है। इस साहचर्य में अधिकांशत: कवक ही होता है, जो शैवालवाले अंग के ऊपर एक थैले की भाँति आवरण होता है तथा थैलस के आकार के लिये उत्तरदायी होता है। दोनों वनस्पतियों की मिश्रित वृद्धि से ही

चित्र १. चर्मेधर (Peltigera rupescens)
एक पर्णिल लाइकेन। उर्वर पालियों (Lobes) सहित थैलस (thallus) का भाग।

लाइकेन को एक विशेष आकार और आंतर संरचना प्राप्त होती है, जिससे लाइकेन कई कुल और जातियों में विभक्त हो जाते हैं। इनके लगभग ४०० वंश और १५,००० स्पीशीज़ ज्ञात हैं।

लाइकेन का मुख्य भाग कवक तंतुओं से ही निर्मित होता है, जो

चित्र २. सामान्य शाखिकाय (Usnea barbata)
प्रलंबित प्रकार का एक क्षुपिल लाइकेन। ऐपोथोसियम सहित थैलस।

रेशों की एक जाली सा बना होता है। यह जाली प्राय: ऐस्कोमाइसिटीज़ (Ascomycetes) वर्ग के कवक का वानस्पतिक भाग होती है। कुछ में कवक बासिडियोमाइसिटीज़ (Basidiomycetes) वर्ग का

भी होता है। लाइकेन के ऊपरी स्तर में इन कवक तंतुओं से मिश्रित हरे रंग की जो क्लोरोफाइसी (chlorophyceae), या नीले हरे रंग की वनस्पति, होती है, वह मिक्सोफ़िसी (Myxophyceae) वर्ग की होती है। यह नीले, या हरे रंग की वनस्पति एककोशिक तथा बहुकोशिक तंतुवत् (filamentous) होती है। इन वनस्पतियों में क्रोओकॉकस (Chroococus), साइटोनेमा (Scytonema) अथवा नॉस्टॉक (Nostoc) आदि होते हैं।

कवक के भाग और स्वरूप के अनुसार लाइकेन को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(१) ऐस्कोलाइकेनीज़ (Ascolichenes) — इसमें कवक भाग ऐस्कोमाइसिटीज़ वर्ग का एकक होता है।

(२) बासिडियोलाइकेनीज़ (Basidiolichenes) — इसमें कवक भाग बासिडियोमाइसिटीज़ वर्ग का एकक होता है।

ऐस्कोलाइकेन को उसी फलकाय की बनावट पर फिर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : (१) पलिघकाय (pyrenocarpeae), जिसमें फलकाय पेरीथीसियम (perithecium) तथा (२) विवृतकाय, (gymnocarpeae), जिसमें फलित भाग विवृतकाय ऐपोथीसियम (apothecium) होता है।

अधिकांश पर्णिल लाइकेन की आंतरिक संरचना निम्नलिखित चार उतकों में विभक्त होती है :

(क) वल्कुट (cortex), जो प्रायः उदग्र कवच सूत्रों से निर्मित होती है, जिनके बीच बीच में, या तो रिक्त स्थान नहीं होते और यदि होते हैं तो वे श्लेषी सामग्री से भरे होते हैं।

(ख) शैवाल स्तर ठीक वल्कुट के नीचे होता है। इसमें शैवाल की हरी कोशिकाएँ उलझे हुए कवक सूत्रों में मिली रहती हैं। इस स्तर को कणीस्तर (Gonidial layer) भी कहते हैं।

(ग) मज्जा (medulla) शैवाल स्तर के नीचे होती है और यह शिथिल तथा उलझे हुए कवक सूत्रों से बनी होती है।

(घ) अधः वल्कुट, घने कवक सूत्रों से निर्मित होता है और यह सबसे नीचे का स्तर होता है।

अधः वल्कुट के निचले धरातल से मूलाभास निकले होते हैं। ये थैलस को आधार से जोड़ने का काम देते हैं तथा खनिज लवण और जल का संवाहन करते हैं।

पर्पटीमय लाइकेन में अधः वल्कुट नहीं होता और क्षुपिल लाइकेन के थैलस में अधिकांशतः एक वल्कुट बाहर की ओर होता है, जिसके नीचे शैवाल स्तर तथा उसके नीचे एक मध्यक अक्ष होता है। लाइकेन के भीतर निहित शैवाल अधिकांशतः बाहरी उगनेवाले शैवालों से अभिन्न होते हैं। इनकी कोशिकाओं में हरा रंग निहित होता है, जिसकी सहायता से ये भोजन निर्माण करते हैं, किंतु जब तक शैवाल लाइकेन के अंग हैं, तब तक ये प्रजननांग नहीं बनाते। कवक कोशिकाओं में भी वृद्धि की गति कम होती है। ये कवक स्वतंत्र जीवनयापन के अयोग्य हो जाते हैं।

लाइकेन विश्व भर में फैले हुए हैं। इनमें से अधिकांश तो ताप की चरम सीमाओं और दीर्घशोषावधि में भी जीवित रहने में समर्थ हैं, अतः ये ऐसे क्षेत्रों में प्रचुरता से पाए जाते हैं जहाँ साधारणतया अन्य वनस्पतियाँ नहीं उग सकतीं। ये समुद्री तल से अधिक ऊँचाई पर उष्ण प्रदेश, ध्रुव प्रदेश, रेगिस्तान एवं जल स्थानों पर पाए जाते हैं। विरले ही लाइकेन पानी के भीतर मिलते हैं, जिनमें हाइड्रोथीरिया वेनोसा (Hydrothyrea venosa) नामक शैवाल सबसे विचित्र है।

अधिक ठंढी जलवायु में लाइकेन शैलारोही बन जाते हैं, अर्थात् अपना जीवन चट्टानों, या शिलाओं पर व्यतीत करते हैं। किंतु समशीतोष्ण-रैखिक क्षेत्रों में ये वल्कारोही ही रहते हैं, अर्थात् वहाँ इनका आधार वृक्ष के तने तथा शाखाओं की छालें होती हैं। कुछ लाइकेन स्थलारोही और कुछ समुद्र में भी होते हैं। इनके बड़े वर्गों में छोटे छोटे समुदाय मिलते हैं, जिनका विभाजन छाल की प्रकृति, मिट्टी के स्वरूप, चट्टान की विशेषता तथा ताप, आर्द्रता एवं अनावरण पर निर्भर होता है।

कुछ लाइकेन उपजाऊ भूमि पर उगते हैं, जहाँ अन्य वनस्पतियाँ भी प्रचुर मात्रा में होती हैं। किंतु ये बड़े शहरों के पास कभी नहीं उग पाते, क्योंकि नगरों के आस पास के कारखानों का धुँआ तथा अन्य गैस आदि इनके लिये घातक हैं। ये वायु की स्वच्छता पर विशेष निर्भर करते हैं। केवल स्वच्छ वायु में ही लाइकेन की प्रचुर वृद्धि हो पाती है। यद्यपि लाइकेन के उगने के लिये प्रकाश आवश्यक है, तथापि कुछ जातियाँ ऐसे स्थानों में भी उग सकती हैं जहाँ पूर्णतया अंधकार होता है, जैसे फिसिया ऑब्स्क्यूरा (Physcia obscura)। थैलस का रंग प्रकाश की किरणों की तीव्रता पर निर्भर होता है।

लाइकेन के थैलस के सूखने पर शैवाल कोशिकाओं का हरा रंग कवक सूत्रों से छिपे रहने के कारण अस्पष्ट हो जाता है। आर्द्र लाइकेन का रंग हरा होता है, क्योंकि इसके अंदर स्थित तंतुओं द्वारा प्रकाश का पारेषण होता है, जिससे शैवाल भाग का हरा रंग स्पष्ट हो जाता है। कई लाइकेनों का रंग विशेष चित्ताकर्षक होता है। ये रंग विभिन्न कार्बनिक अम्लों के कारण होते हैं, जो लाइकेनों का लांगलन (anchor) करने में सहायता तो देते हैं परंतु साथ ही खाने के लिये अरुचिकर बनाते हैं।

जब सर्वप्रथम लाइकेन की बनावट और संरचना की खोज की गई तब इन शैवाल कोशिकाओं की उपस्थिति एक पहेली थी, क्योंकि ये शेष थैलस से बहुत भिन्न थीं।

लाइकेन के कुछ विद्यार्थियों ने इन हरी वस्तुओं को लाइकेन पादप का अभिन्न भाग मानकर यह विचार प्रकट किया है कि इनकी उत्पत्ति रंग रहित कवक तंतुओं से ही हुई है। कुछ विशेषज्ञों ने इन्हें प्रजनन का अंग माना है तथा कुछ ने इन्हें भोजन बनाने के अंगों के रूप में स्वीकार किया है।

सर्वप्रथम श्वेंडेनर (Schwendener, १८६७-६८ ई०) ने यह प्रमाण उपस्थित किया था कि यह हरी वनस्पति शैवाल है जो कवक तंतुओं द्वारा ठहराई गई है और परजीवी की गई है। इस सिद्धांत की परीक्षा उपयुक्त शैवाल तथा कवक को मिलाकर लाइकेन का संश्लेषण होने पर की गई। यदि लाइकेन के दोनों अंग अलग

अलग कर दिए जाएँ तो शैवाल अंग स्वतंत्र जीवनयापन कर सकता है, किंतु अनाश्रित होने पर कवक अंग जीवित नहीं रह सकता।

अब यह पूर्णतया सिद्ध कर लिया गया कि लाइकेन का शरीर दो वनस्पतियों से बना है, जो क्रमश: शैवाल और कवक हैं, तब लाइकेन के विशेषज्ञों का ध्यान इन दोनों भागों के संबंध की ओर आकर्षित हुआ जिसके लिये विद्वानों ने अलग अलग नाम और ब्योरा दिया है। कुछ लोग लाइकेन की तुलना एक संकाय (consortium) से करते हैं, जिसमें एक शैवाल एक कवक से संबंधित होता है। इस प्रकार के संबंध से दोनों को ही परस्पर लाभ पहुँचता है तथा इस प्रकार के जीवन को सहजीवन (Symbiosis) कहते हैं। इसमें प्रत्येक भाग कुछ ऐसे भौतिक कार्यों का संपादन करता है, जिनसे दूसरे को लाभ हो सके। शैवाल अंग अपने हरे रंग के पदार्थों की उपस्थिति से भोजन बनाने का संपूर्ण कार्य करता है। इस कार्य के लिये कवक पूर्णतया असमर्थ होता है और शैवाल अंग द्वारा बना भोज्य पदार्थ कवक को भी प्राप्त होता है। दूसरी ओर कवक भाग के मूलाभास, खनिज लवण और जल प्रवाहित करने के लिये उत्तरदायी होते हैं तथा कवक ही शैवाल भाग की अधिक शुष्कता, नमी, ठंढ और ताप से रक्षा भी करते हैं।

कुछ वनस्पतिज्ञों के विचारों के अनुसार यह परस्पर लाभ का संबंध होते हुए भी एक के लिये हानिकारक है। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह परजीविता का उदाहरण है, जिसमें शैवाल भाग कवक के द्वारा पीड़ित होता है।

जनन — लाइकेन का कोई भी पृथक् हुआ भाग उचित वातावरण में स्वतंत्रतापूर्वक बढ़ सकता है। कुछ लाइकेन जनन के लिये एक विशेष प्रकार के अंग बनाते हैं, जिन्हें सोरिडिया (Soridia) कहते हैं। ये थैलस के छोटे छोटे भाग होते हैं, जिनमें एक या दो शैवाल कोशिकाएँ कवक तंतुओं द्वारा आवरित होती हैं। ये पैतृक थैलसों से टूटने के पश्चात् वायु, वर्षा या जंतुओं द्वारा उचित वातावरण मे पहुँचकर नवीन पौधे बनाते हैं। इनमें लाइकेन के दोनों संघटक शैवाल तथा कवक की संतुलित वृद्धि होती है।

कुछ लाइकेनों में शाखाओं की भाँति उद्वर्ध (outgrowth) वृद्धियाँ होती हैं, जिनमें शैवाल तथा कवक दोनों ही के अंश होते हैं। ये उद्वर्ध आसानी से पृथक् हो जाते हैं और उचित वातावरण में नए पौधों को जन्म देते हैं। लाइकेन के संवर्धन के अतिरिक्त संघटक कवक और शैवाल भी स्वेच्छया पृथक् जनन करते हैं।

बहुत से लाइकेनों में कवक नियमित रूप से ऐस्कोकार्प (ascocarp) तथा धानी (asci) बनाते हैं, जिनका रूप पेरीथीसियम (perithecium), ऐपोथीसियम (apothecium), या अन्य प्रकार का होता है। ये फलकाय अधिक रंगीन और चमकीले होते हैं। क्लैडोनिया क्रिस्टाटेला (Cladonia cristotella) की आरोही शाखाओं की लाल अग्र धानियों का एक समूह होता है।

अनुकूल अवस्था में धानीबीजाणु अंकुरित होकर, एक सूत्र को जन्म देते हैं और यदि यह सूत्र किसी ऐसी शैवाल कोशिकाओं के समीप आ जाय जिनसे वह लाइकेन से संबंधित था तो एक नए लाइकेन थैलस का संश्लेषण हो जाता है। यदि उगते हुए कवक जाल को अनुकूल शैवाल नहीं मिलता, तो इसकी मृत्यु हो जाती है। इस कारण यह संदिग्ध है कि धानीबीजाणु लाइकेन के संवर्धन में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं. या नहीं। यह संभव है कि लाइकेन जनन में खंडन (fragmentation) तथा सोरीडेम (Soredem) का बनना अधिक कार्यसाधक हो।

आर्थिक महत्व — लाइकेन प्रकृति तथा मनुष्य के जीवन में एक प्रमुख कार्य करते हैं। ये वनस्पतियों और उचित भूमि (मृदा) निर्माण के आविष्कर्ता हैं। कड़ी और नंगी चट्टानों पर उगनेवाली पहली वनस्पति पर्पटीमय लाइकेन है। पर्पटीमय लाइकेन अपने द्वारा निर्मित अम्लों की सहायता से चट्टानों के कड़े शरीर का संक्षारण तथा विबंधन करते हैं और चट्टानों के लावों को अपने अवशिष्ट के साथ मिलाकर एक प्रकार की मिट्टी बनाते हैं, जो हरिता के बीजाणु के लिये अभिजनन स्थान बनता है और फिर पुष्पीय वनस्पतियों से इसका उपनिवेशन हो जाता है।

लाइकेन की कई जातियाँ छोटे छोटे जंतुओं के लिये भोज्य पदार्थ हैं। इनमें से कई जंगली पशुओं के मूल्यवान् भोज्य पदार्थ हैं। प्राय: इनको भ्रम से रेनडियर मॉस (हरिता) कहा जाता है। मनुष्य भी, या तो स्वाद के कारण या अकाल की स्थिति में कोई अन्य खाद्य पदार्थ न प्राप्त होने पर, इनका उपयोग करते हैं। लैपलैंड, आइसलैंड तथा अन्य उपोत्तरध्रुवीय प्रदेशों के अतिरिक्त भारत, जापान एवं अन्य देशों में इनको काफी मात्रा में सुखाकर मानव भोजन या गाय, भैंस, सूअर तथा घोड़ों के खाने लिये एकत्र किया जाता है। जाइरोफोरा एस्क्यूलेंटा (Gyrophora esculenta) चीन और जापान में एक स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ माना जाता है। सेट्रेरिया आइसलैंडिका (Cetraria icelandica) एक मूल्यवान् खाद्य लाइकेन है, जिसका उपयोग आइसलैंड और स्कैंडेनेविया (Scandanavia) में किया जाता है। ऐसा विश्वास है कि बाइबल में वर्णित 'मन्ना' लेकानोरा एस्क्युलेंटा (Lecanora esculenta) नामक लाइकेन है, जो एशिया माइनर के रेगिस्तान में रहनेवाली जातियों द्वारा खाया जाता था। साधारणतया लाइकेन अपने अम्लीय और कटुस्वाद के कारण मानव भोजन के लिये अनुपयुक्त होते हैं।

लाइकेन की कई जातियाँ प्राचीन काल में व्याधियों की चिकित्सा के लिये प्रयुक्त होती रही हैं, क्योंकि वे मानव शरीर के अंगों से मिलती जुलती थीं। विश्वास था कि अस्निया (Usnea) जाति का लाइकेन केशवर्धन में लाभदायक होता था। इसी प्रकार कुकुर लाइकेन, पेल्टीजेरा कैनिना (Peltigera canina), हाइड्रोफोबिया में लाभप्रद माना जाता था। अन्य लाइकेन पीलिया (jaundice), दस्त तथा बुखारों के लिये प्रयुक्त किए जाते थे।

प्राचीन काल में जब संश्लिष्ट रंगों का निर्माण नहीं हुआ था, लाइकेन की कुछ जातियाँ रंग प्राप्त करने का प्रमुख साधन रहीं। इनसे प्राप्त चटकीले और सुहावने रंग अति मूल्यवान् होते थे। एक चटकीला नीला रंग ऑरकिल, रॉकसेला और लेकानोरा नामक लाइकेन से प्राप्त होता है। ऑरसिन (Orcin) इन लाइकेनों से प्राप्त रंग को शुद्ध करने पर प्राप्त होता है और सूक्ष्मदर्शीय निर्मितियों

को रँगने के कार्य में प्रयुक्त होता है। लिटमस रंग भी लाइकेन से प्राप्त किया जाता है।

कुछ लाइकेनों में टैनिन होता है, जो पशुओं की कच्ची खाल पकाने में प्रयुक्त होता है। लाइकेन की कुछ जातियों में सुहावनी गंध होती है, इस कारण वे सुगंध और साबुन बनाने के काम में लाए जाते हैं।

लाइकेन हमारे लिये अपने अगणित गुणों के कारण बड़े उपयोगी हैं। इनकी अनुपस्थिति से पृथ्वी का एक बड़ा भाग निस्संदेह बंजर एवं निर्जीव होता तथा कोई वनस्पति भी नहीं होती।

[का० स० ग्रा०]

लाइपनिट्स, गॉटफ्रीड विल्हेल्म (Leibniz, Gottfried Wilhelm, १६४६ ई०–१७१६ ई०) जर्मन गणितज्ञ का जन्म १ जुलाई, १६४६ ई० को लाइपसिग में हुआ। पंद्रह वर्ष की आयु में इन्होंने लाइपसिग विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। यहाँ इनका मुख्य अध्ययन विषय धर्मशास्त्र था, परंतु अपने परिश्रम से गणित में भी इन्होंने पर्याप्त योग्यता प्राप्त कर ली। २९ अक्टूबर, १६७५ ई० को लिखित इनकी क्षेत्रकलन से संबंधित एक हस्तलिपि में समाकलन गणित (integral calculus) के संकेत और अवकलन गणित (differential calculus) की चर्चा की गई है। तदुपरांत 'स्पर्श रेखाओं' के 'व्युत्क्रम निर्मेयों' के हल करने में इस कलन का प्रयोग इन्होंने सफलतापूर्वक किया। १६८४ ई० में सर्वप्रथम इनका अवकलन गणित पर केवल ६ पृष्ठों का एक महत्वपूर्ण शोधपत्र 'आक्टा एरुडिटोरम' में प्रकाशित हुआ, जिसमें इन्होंने कलन के संकेत एवं बिना प्रमाण के नियम दिए थे। तदुपरांत इन्होंने लघुगणकीय अवकलन का अध्ययन किया और कलन में चल परामिति और आंशिक भिन्नों का प्रयोग किया। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'अपूर्व लब्धफल' का प्रथम उदाहरण दिया, 'अन्वोलोप के सिद्धांत' की नींव डाली और आश्लेषक वक्रों पर लिखा। किसी चलराशि के दो फलनों के गुणनफल का नवाँ अवकल गुणक ज्ञात करने का इनका प्रमेय अत्यंत प्रसिद्ध है। गणित की संकेतलिपि को भी इनकी कुछ देन है। इन्होंने ही अवकल गणित एवं समाकलन गणित की संकेतलिपि प्रदान की। अनुपातों को प्रदर्शित करने के लिये साम्यता के चिह्नों का उपयोग किया और 'समरूप' के लिये चिह्न ∽ तथा 'समान और समरूप' के लिये चिह्न ≌ का उपयोग किया। १४ नवंबर, १७१६ ई० को इनका देहांत हो गया। [रा० कु०]

लाइपसिग (Leipzig) स्थिति : ५१° २०′ उ० अ० तथा १२° २३′ पू० दे०। यह पूर्वी जर्मनी का एक प्रसिद्ध व्यापारिक एवं औद्योगिक नगर है, जो बर्लिन से ११० मील दक्षिण पश्चिम में स्थित है। पूर्वी बर्लिन के बाद यह देश का सबसे बड़ा नगर है। अक्टूबर, १८१३ ई० में होनेवाला लाइपसिग का युद्ध इसी के समीप हुआ था, जिसमें नेपोलियन को ऑस्ट्रिया, रूस, प्रशा एवं स्वीडन की संयुक्त सेनाओं से हार खानी पड़ी थी। सेंट टॉमस, सेंट जान तथा सेंट निकोलस गिरजाघर, नया एवं पुराना टाउन हाल, विश्वविद्यालय भवन, लाइपसिग युद्धस्मारक आदि दर्शनीय हैं। १४०९ ई० में स्थापित किया गया विश्वविद्यालय भी दर्शनीय है। रेलमार्ग का यह सबसे प्रमुख केंद्र है। यहाँ का सबसे बड़ा उद्योग पुस्तकमुद्रण एवं पुस्तकों का विक्रय करना है। अन्य उत्पादों में नकली पुष्प, रसायनक, विभिन्न तेल एवं सुगंधियाँ, शराब, तंबाकू, सिगार, पेंट, वाद्ययंत्र, सूती कपड़ा, मशीनें, फीते एवं फर-उत्पाद प्रमुख हैं।

लाइबेरिया स्थिति : ४° २२′ से ८° ३०′ उ० अ० तथा ९° ०′ प० दे०। यह अफ्रीका के पश्चिमी तट पर स्थित एक नीग्रो राष्ट्र है। इसका क्षेत्रफल ४३,००० वर्ग मील तथा सागरीय तटरेखा ३५० मील लंबी है। इसके दक्षिण-पश्चिम में ऐटलैंटिक महासागर है। कुछ उत्तरी भाग को छोड़कर शेष समस्त देश में १०० से १६० इंच तक वर्षा होती है। फ्रांसीसी गिनी पर्वत सहारा की शुष्क एवं गरम हवाओं को यहाँ तक नहीं आने देता है। यहाँ मार्च का ताप लगभग २७° सें० रहता है। इस भूभाग का अधिकांश जंगलों से ढँका है। यहाँ जंगली जानवरों की अधिकता है तथा सोना, लोहा एवं हीरा प्रमुख खनिज हैं। यहाँ जंगलों के कारण कृषि में कम उन्नति हुई है। पर फलों में केला, नीबू, संतरा, अनन्नास एवं सेब आदि उगते हैं। खाद्यान्नों में मक्का, धान तथा सोरघम, कंदों में कसावा, कचालू तथा शकरकंद यहाँ की प्रमुख कृषि उपज हैं। यहाँ कपास तथा कोकोआ का उत्पादन भी बढ़ रहा है। यह राष्ट्र उद्योगों में पिछड़ा है। यहाँ की राजधानी मनरोविया है तथा लाइबेरिया की जनसंख्या २५ लाख के लगभग है।

लाओस स्थिति : १३° ४०′ से २२° ४०′ उ० अ० तथा १००° से १०७° ४०′ पू० दे०। यह दक्षिण पूर्वी एशिया मे हिंदचीन प्रायद्वीप पर स्थित देश है। इसका क्षेत्रफल ८८,७८० वर्ग मील तथा जनसंख्या १८,५०,००० (अनुमानित १९६१) है। इसके उत्तर में चीन एवं उत्तरी वियतनाम, दक्षिण में कंबोडिया, दक्षिण पश्चिम में थाईलैंड तथा पश्चिम में बर्मा स्थित है। उत्तरी भाग पहाड़ी है। थाईलैंड की सीमा पर मेकांग नदी बहती है। जलवायु उष्णकटिबंधीय है। अप्रैल सबसे गरम मास है। ताप २२° से ३४° सें० के मध्य रहता है। लाओस का लगभग २/३ भाग जंगलों से ढँका है। जंगलों में हाथी, तेंदुआ, चीता एवं सर्प आदि मिलते हैं। यहाँ की भाषा थाई प्रकार की है, जिसमें संस्कृत, पाली तथा फ्रांसीसी शब्दों की भरमार है। फ्रांसीसी राजकाज की द्वितीय भाषा है। बौद्ध धर्म प्रमुख है। रेल एवं सड़क द्वारा यातायात की प्रगति कम हुई है। धान सर्वप्रमुख कृषि उपज है। सब्जियों में ककड़ी, टमाटर, प्याज, फलियाँ (बीन) एवं मिर्च आदि उगाई जाती हैं। अन्य कृषि उत्पादों में इलायची, मक्का, काफी, चाय, कपास, पटुवा तथा तंबाकू का स्थान आता है। पहाड़ी भागो में अफीम के पौधे भी उगाए जाते हैं। टिन तथा सेंधा नमक प्रमुख खनिज हैं। ऐंटिमनी, ताँबा, कोयला, सोना, जिप्सम लोहा, सीसा, मैंगनीज, पाइराइट, गंधक एवं बहुमूल्य पत्थरों के प्राप्त होने की भविष्य में आशा है। यातायात एवं शक्ति के साधनों की कमी के कारण उद्योग कम उन्नति कर पाए हैं। थोड़ी मात्रा में खान खोदने, लकड़ी चीरने, सीमेंट निर्माण, तंबाकू, धान एवं फर्नीचर संबंधी उद्योग होते हैं। यहाँ की राजधानी वियेंटाइन है।

लॉक, जॉन (१६३२-१७०४) आंग्ल दार्शनिक जान लॉक का जन्म २९ अगस्त, १६३२ ई० को रिंगटन नामक स्थान पर हुआ। इनके पिता एक साधारण स्थिति के जमींदार और अभिकर्ता थे। वे प्यूरिटन थे, और आंग्ल गृहयुद्ध में (१६४१-४७) सेना की

ओर से लड़े थे। पिता और पुत्र का संबंध आदर्श था। इन्होंने १६४६ में वेस्टमिंस्टर पाठशाला में प्रवेश लिया। यहाँ के अध्ययन के पश्चात् सन् १६५२ में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के क्राइस्ट चर्च कालिज में प्रविष्ट हुए। यहाँ पर स्वतंत्र विचारधारा का अधिक प्रभाव था। १६६० में वे इसी प्रख्यात महाविद्यालय में यूनानी भाषा एवं दर्शन के प्राध्यापक नियुक्त हुए। उनके दर्शन जैसे गहन विषय में रुझान उत्पन्न करने का श्रेय डेकार्ट को है। धर्मशास्त्रों में विचारस्वातंत्र्य के अभाव के कारण वे रसायन शास्त्र की ओर आकर्षित हुए और राबर्ट बोइल के मित्र बन गए।

१६६६ ई० में उनकी भेंट लार्ड एशली से हुई। समान विचारों ने उन्हें स्थायी मैत्री के सूत्र में बाँधा। १६६७ से वे एशली के लंदन स्थित निवासस्थान एक्सेटर हाउस में रहने लगे। उन्होंने १५ वर्ष तक एशली के विश्वस्त सचिव के रूप में कार्य किया। १६७५ में एशली के पतन के कारण वे उनके साथ पेरिस चले गए। यहाँ पर उनकी भेंट अनेक वैज्ञानिकों और साहित्यकारों से हुई। एशली के राजनीतिक उत्थान पतन के कारण लॉक को भी उनके साथ हालैंड भागना पड़ा। १६८३ में एशली की मृत्यु हुई। चूँकि लॉक पर भी संदेहात्मक दृष्टि थी, अतः उन्हें वहाँ पर ५ वर्ष व्यतीत करने पड़े, और यहाँ उनकी ऑरेंज के राजकुमार विलियम से मित्रता हुई। नवंबर, १६८८ में विलियम को इंग्लैंड का राजा घोषित किया गया। फरवरी, १६८९ में लॉक ने हालैंड से उसी जलयान में यात्रा की जिसमें विलियम की पत्नी रानी मेरी यात्रा कर रही थी।

इंग्लैंड लौटने पर लॉक को राजदूत का पद प्रदान किया गया किंतु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया, क्योंकि अब वे अपना शेष जीवन इंग्लैंड में ही बिताना चाहते थे। उन्होंने पुनर्विचार आयुक्त का पद ग्रहण किया, परंतु उनके स्वास्थ्य ने साथ नहीं दिया। सन् १६९१ में वे सर फ्रांसिस मेहाम के ग्राम्य निवासस्थान में रहने लगे। यहाँ पर १४ वर्ष तक वे उस शांत वातावरण में रहे जो उनके गिरते स्वास्थ्य के लिये आवश्यक था। १६९६ में वे व्यापार आयुक्त नियुक्त हुए। स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण १७०० में इस पद को भी छोड़ना पड़ा। अपनी जीवनसंध्या धार्मिक अध्ययन एवं साधना में बिताते हुए २८ अक्टूबर, १७०४ को स्वर्ग सिधारे।

उनके दार्शनिक विचार 'ऐसेज कंसर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग' में स्पष्ट हैं। यह पुस्तक आधुनिक प्रयोग सिद्धवाद का आधार है। 'बिना विचारों के ज्ञान असंभव है, परंतु विचार न सत्य हैं न असत्य, वे केवल आकृति रूप हैं। सत्य अथवा असत्य विचार का दृढ़तापूर्वक स्वीकार अथवा अस्वीकार करना निषिद्ध है। विचार के पूर्व मानव-मस्तिष्क कोरे कागज के समान है जिसपर अनुभव समस्त विचारों को लिखता है।'

वे ज्ञान को चार प्रकार का बताते हैं : १ — विश्लेषणात्मक जहाँ हम विचारों की भिन्नता तथा समानता का पता लगाते हैं। जैसे काला सफेद नहीं है। २—गणित संबंधी — जैसे दो त्रिकोण जो अनुरूप हैं और जो दो समानांतर रेखाओं के बीच हैं वे परस्पर समान होते हैं। ३—भौतिक विज्ञान के आधार पर—जहाँ हम यह निश्चय करते हैं कि एक गुण का दूसरे गुण के साथ सहअस्तित्व है अथवा नहीं। जैसे आग ठंढी नहीं है। ४. आत्मा और परमात्मा का ज्ञान वास्तविक है।

उनके धार्मिक विचार उनके चार पत्रों 'लेटर्स कंसर्निंग टालरेशन' द्वारा व्यक्त हैं। वे धार्मिक सहिष्णुता में विश्वास करते थे, यदि इसके द्वारा शिवम् का विकास होता हो, किंतु वे नास्तिकवाद के समर्थक न थे।

उनके सामाजिक एवं राजनीतिक विचार उनकी प्रख्यात पुस्तक 'टू ट्रीटाइजेज ऑव गवर्नमेंट' (१६९०) में व्यक्त किए गए हैं।

उनके समय में प्रजातंत्र एवं सहनशीलता के सिद्धांत राजा के दैवी अधिकारों से टकरा रहे थे। राज्य संविदा का परिणाम था। मनुष्य के प्राकृतिक अवस्था से राज्य तथा समाज की व्यवस्था में आने से नैसर्गिक अधिकारों का अपहरण नहीं हुआ। इन नैसर्गिक अधिकारों में संपत्ति और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार भी संमिलित है। जनसमुदाय को सार्वजनिक भलाई के लिये किसी भी प्रकार से, स्वशासन करने का अधिकार है। सरकार को किसी के उन धार्मिक विश्वासों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है जो समाज के अनुकूल हैं। ये विचार उनके राजनीतिक दर्शन की जड़ हैं। समाज संविदा पर आधारित है और संविदा की शर्तों में, परि-स्थिति के अनुसार जनता की सर्वोच्च इच्छा द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है। समाज के शासकों की सत्ता निरंकुश नहीं है अपितु वह एक धरोहर है। शासक उसका अधिकारी तभी तक है जब तक कि वह अपने उत्तरदायित्व को निभाता है।

शिक्षा पर उनके विचार थॉट्स ऑन एजूकेशन (१६९१) में व्यक्त हैं। उनके उपयोगितावादी दृष्टिकोण से शिक्षा का उद्देश्य बुद्धि व चरित्र का विकास है और उसके साथ ही साथ एक स्वस्थ शरीर का निर्माण भी है। बच्चों को शिक्षा देते समय उनके आनंद का भी ध्यान रखना चाहिए। अध्यापक में पांडित्य की अपेक्षा बुद्धि की अधिक आवश्यकता है।

विद्रोह करने की स्वाधीनता के अधिकार का लॉक ने समर्थन किया जो अमरीका, भारत तथा अन्य उपनिवेशों के स्वतंत्रता संग्राम का प्रेरक रहा। इस प्रकार उनका प्रशासन के सिद्धांतों का विचार आज तक सुदृढ़ और प्रजातंत्र की आधारशिला बना हुआ है।

[गि० कि० ग०]

लॉक्यर, जोज़ेफ नॉर्मन, सर (Lockyer, Joseph Norman, Sir, सन् १८३६–१९२०), अंग्रेज खगोलज्ञ थे। ये रॉयल कॉलिज ऑव सायंस में खगोल भौतिकी के प्रोफेसर तथा लंदन की सौर भौतिकीय वेधशाला के निदेशक थे।

आपने सूर्य के धब्बों का अध्ययन किया, दिन के प्रकाश में सौर ज्वालाओं (अर्थात् सूर्यबिंब के चतुर्दिक्‌वाली लाल लपटों) के निरीक्षण की एक विधि ढूँढ निकाली तथा सूर्य के परिमंडल में हीलियम की उपस्थिति का पता लगाया।

'नेचर' नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक पत्रिका सन् १८६९ में आपने ही स्थापित की थी। [भ० दा० व०]

लाख, या लाह संस्कृत के लाक्षा शब्द से व्युत्पन्न समझा जाता है। संभवतः लाखों कीड़ों से उत्पन्न होने के कारण इसका नाम लाक्षा पड़ा था। प्रागैतिहासिक समय से भारत के लोगों को लाख का ज्ञान है। महाभारत में लाक्षागृह का उल्लेख है, जिसको कौरवों ने पांडवों के आवास के लिये बनवाया था। कौरवों का इरादा लाक्षागृह में आग लगाकर पांडवों को जलाकर मार डालने का था। ग्रास्या द ग्रार्टा (Gracia de Orta, १५६३ ई०) में भारत में लाख रंजक और लाख रेज़िन के उपयोग का उल्लेख किया है। आइन-ए-अकबरी (१५९० ई०) में भी लाख की बनी वार्निश का वर्णन है, जो उस समय चीजों को रँगने में प्रयुक्त होती थी। टावर्न्ये (Tavernier) ने अपने यात्रावृत्तांत (१६७६ ई०) में लाख रंजक का, जो छींट की छपाई में, और लाख रेज़िन का, जो ठप्पा देने की लाख में और पालिश निर्माण में प्रयुक्त होता था, उल्लेख किया है। आज भी लाख का उपयोग ठप्पा देने का चपड़ा बनाने, चूड़ियों (लहठियों) और पालिशों के निर्माण, काठ के खिलौनों के रँगने और सोने चाँदी के आभूषणों में रिक्त स्थानों को भरने में होता है। लाख की उपयोगिता का कारण उसका ऐल्कोहॉल में घुलना, गरम करने पर सरलता से पिघलना, सतहों पर दृढ़ता से चिपकना, ठंढा होने पर कड़ा हो जाना और विद्युत् की अचालकता है। अधिकांश कार्बनिक विलायकों का यह प्रतिरोधक होता है और अमोनिया तथा सुहागा सदृश दुर्बल क्षारों के विलयन में इसमें बंधन गुण आ जाता है।

१९वीं शताब्दी तक लाख का महत्व लाख रंजकों के कारण था, पर सस्ते संश्लिष्ट रंजकों के निर्माण से लाख रंजक का महत्व कम हो गया। मनोरम आभा, विशेषकर रेशम के वस्त्रों में, उत्पन्न करने की दृष्टि से लाख रंजक आज भी सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है, पर महँगा होने के कारण न अब बनता है और न बिकता है। आज लाख का महत्व उसमें उपस्थित रेज़िन के कारण है, किंतु अब सैकड़ों सस्ते रेज़िनों का संश्लेषण हो गया है और वे बड़े पैमाने पर बिकते हैं। किसी एक संश्लिष्ट रेज़िन में वे सब गुण नहीं हैं जो लाख रेज़िन में हैं। इससे लाख रेज़िन की अब भी माँग है, पर कब तक यह माँग बनी रहेगी, यह कहना कठिन है। कुछ लोगों का विचार है कि इसका भविष्य तब तक उज्वल नहीं है जब तक इसका उत्पादन-खर्च पर्याप्त कम न हो जाय। लाख में एक प्रकार का मोम भी रहता है, जिसे लाख मोम कहते हैं।

लाख कीटों से उत्पन्न होता है। कीटों को लाख कीट, या लैसिफर लाक्का (Laccifer lacca) कहते हैं। यह कॉक्सिडी (Coccidae) कुल का कीट है। यह उसी गण के अंतर्गत आता है जिस गण का कीट खटमल है। लाख कीट कुछ पेड़ों पर पनपता है, जो भारत, बर्मा, इंडोनेशिया तथा थाइलैंड में उपजते हैं। एक समय लाख का उत्पादन केवल भारत और बर्मा में होता था। पर अब इंडोनेशिया तथा थाइलैंड में भी लाख उपजाया जाता है और बाह्य देशों, विशेषतः यूरोप एवं अमरीका, को भेजा जाता है।

पचासों पेड़ हैं, जिनपर लाख कीट पनप सकते हैं, पर भारत में जिन पेड़ों पर लाख उगाया जाता है, वे हैं कुसुम (Schleichera trijuga), खैर (Acacia catechu), बेर (Ziziphus jujuba), पलाश (Butea frondosa), घोंट (Zizyphus xylopyra) के पेड़ और अरहर (Cajanus indicus) के पौधे, यद्यपि शीशम (Dalbergia latifolia), पंजमन (Ougeinia dalbergioides), सिरिस (Albizzia stipulata), पाकड़ (Ficus infectoria), गूलर (Ficus glomerata), पीपल (Ficus religiosa), बबूल (Acacia arabica), पीर हो और शरीफे इत्यादि के पेड़ों पर भी यह कीट पनप सकता है। लाख की अच्छी फसल के लिये पेड़ों को खाद देकर उगाया जाता है और काट-छाँटकर तैयार किया जाता है। जब नए प्ररोह निकलकर पर्याप्त बड़े हो जाते हैं तब उनपर लाख बीज बैठाया जाता है।

लाख की दो फसलें होती हैं। एक को कतकी-अगहनी कहते हैं तथा दूसरी को बैसाखी-जेठवी कहते हैं। कार्तिक, अगहन, बैशाख तथा जेठ मासों में कच्ची लाख एकत्र किए जाने के कारण फसलों के उपर्युक्त नाम पड़े हैं। जून-जुलाई में कतकी-अगहनी की फसल के लिये और अक्टूबर नवंबर में बैसाखी-जेठवी फसलों के लिये लाख बीज बैठाए जाते हैं। एक पेड़ के लिये लाख बीज दो सेर से दस सेर तक लगता है और कच्चा लाख बीज से ढाई गुना से लेकर तीन गुना तक प्राप्त होता है। अगहनी और जेठवी फसलों से प्राप्त कच्चे लाख को 'कुसुमी लाख' तथा कार्तिक एवं बैसाख की फसलों से प्राप्त कच्चे लाख को 'रंगीनी लाख' कहते हैं। अधिक लाख रंगीनी लाख से प्राप्त होती है, यद्यपि कुसमी लाख से प्राप्त लाख उत्कृष्ट कोटि की होती है। लाख की फसल 'एरी' हो सकती है, या 'फुंकी'। कीटों के पोआ छोड़ने के पहले यदि लाखवाली टहनी काटकर उससे लाख प्राप्त की जाती है, तो उस लाख को 'एरी' लाख कहते हैं। एरी लाख में कुछ जीवित कीट, परिपक्व या अपरिपक्व अवस्थाओं में, रहते हैं। कीटों के पोआ छोड़ने के बाद जो टहनी काटी जाती है, उससे प्राप्त लाख को 'फुंकी' लाख कहते हैं। फुंकी लाख में लाख के अतिरिक्त मृत मादा कीटों के अवशेष भी रहते हैं।

लाख के वे ही उपयोग हैं जो चपड़े के हैं। लाख के शोधन से, और एक विशेष रीति से (देखें चपड़ा) चपड़ा तैयार होता है। चपड़ा बनाने से पहले लाख से लाख रंजक निकाल लिए जाते हैं। लाख ग्रामोफोन रेकार्ड बनाने में, विद्युत् यंत्रों में, पृथक्कारी के रूप मे, वार्निश और पॉलिश बनाने में, विशेष प्रकार की सीमेंट और स्याही के बनाने में, शानचक्रों में चूर्ण के बाँधने के काम में, ठप्पा देने की लाख बनाने इत्यादि, अनेक कामों में प्रयुक्त होता है। भारत सरकार ने राँची के निकट नामकुम में लैक रिसर्च इंस्टिट्यूट की स्थापना की है, जिसमें लाख से संबंधित अनेक विषयों पर अनुसंधान कार्य हो रहे हैं। इस संस्था का उद्देश्य है उन्नत लाख उत्पन्न करना, लाख की पैदावार को बढ़ाना और लाख के उपयोग के क्षेत्र को विस्तृत करना, ताकि देश में ही लाख की खपत अधिक हो और निर्यात के लिये विदेशों की माँग पर निर्भर रहना न पड़े। लाख के संबंध की पूरी जानकारी नामकुम के लाख रिसर्च इंस्टिट्यूट के निदेशक से पत्र व्यवहार करके प्राप्त की जा सकती है।

सं० ग्रं० — फूलदेव सहाय वर्मा : लाख और चपड़ा (हिंदी समिति, लखनऊ)।

[फू० व०]

लागोस यह नाइजीरिया की राजधानी, ओगम नदी के मुहाने के पास एक द्वीप पर स्थित है। यह नाइजीरिया का प्रमुख बंदरगाह भी है, जिसमें आधुनिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। पहले इसका नाम ओको, या एको, था जो पुर्तगालियों द्वारा बदलकर लागोस कर दिया गया। यहाँ के बंदरगाह से ताड़ का तेल, मूँगफली, कपास, वनस्पति तेल रबर, चमड़ा एवं खालों का निर्यात किया जाता है। इसकी जनसंख्या ३,७६,००० (१९६१) है।

लाग्रांज, जोसेफ लुई (Lagrange, Joseph Louis, १७३६ ई०-१८१३ ई०) फ्रांसीसी गणितज्ञ का जन्म २५ जनवरी, १७३६ ई० को ट्यूरिन में हुआ। १७ वर्ष की अल्पायु में ये राजकीय सैनिक अकादमी में गणित के प्रोफेसर नियुक्त हुए। गणित एवं खगोल शास्त्र को इनकी देन अपूर्व है। खगोल शास्त्र में इन्होंने 'चंद्र-मुक्ति-सिद्धांत' तथा 'बृहस्पति के चार उपग्रह संबंधी सिद्धांत' की व्याख्या की और पुच्छल तारा संबंधी अग्रता एवं केप्लर के निर्मेयों पर अनेक अन्वेषण किए। १७६६ ई० में ये बर्लिन में गणित के प्रोफेसर नियुक्त हुए। तदुपरांत लाग्रांज ने समीकरणों एवं संख्याओं के सिद्धांतों पर अनेक खोजें की और द्विघातीय अनिर्णीत समीकरण का हल दिया (जो हिंदू गणितज्ञों के ही अनुरूप था), तृतीय वर्ण के सारणिकों का सूची स्तभ संबंधी अन्वेषणों में खूब प्रयोग किया और विचरण कलन (जिसके आविष्कार का श्रेय आयलर के साथ इनको भी है) की सहायता से काल्पनिक-वेग-सिद्धांत से यंत्रविज्ञान की संपूर्ण पद्धतियों का निगमन किया। इनके अतिरिक्त इन्होंने संभाव्यता, परिमित अंतर, आरोह सितत भिन्नों और दीर्घवृत्तीय समकलों पर भी अनेक अन्वेषण किए। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'मेकानिक अनालितिक' (Mecanique Analytique, १७८८ ई०), 'थेओरी दे फोंक्स्यों-जनालितिक' (Theoric des fonctions analytiques, १७९७ ई०), लसों स्यूर ल काल्क्युल दे फोंक्स्यों' (Lecons sur le calcul des fonctions, १८०१ ई०), रेजोल्यूस्यों देजोक्वास्यों न्यूमेरिक' (Resolution des equations numeriques, १७९८ ई०) और 'नूवेल मेथोद पूर रेजूद्र लेजोक्वास्यों लितेराल पार ल मुआइयें द सेरि' (Nouvelle methode pour resoudre les equations littera'es par le moyen des series, १७७० ई०) है। १० अप्रैल, १८१३ ई० को पैरिस में इनका देहांत हो गया।

सं० ग्रं० — सेर एव दार्बू आयव्र दे लाग्रांज, १४ वाँ खंड (१८६७-९२)। [रा० कु०]

लॉज, ऑलिवर जोसेफ, सर (Lodge, Oliver Joseph, Sir, सन् १८५१-१९४०) ब्रिटिश भौतिक विज्ञानी। आपका जन्म १८ जून, १८५१ ई० को स्टैफर्डशिर नगर में हुआ था। लंदन के युनिवर्सिटी कालेज में उच्च शिक्षा प्राप्त कर, आप १८७५ ई० में महिला कॉलेज, बेडफर्ड में प्राकृतिक विज्ञान के रीडर नियुक्त हुए, तदुपरांत सन् १८७९ में आप लंदन युनिवर्सिटी कालेज में गणित विभाग मे सहायक प्रोफेसर बने। दो वर्ष बाद लिवरपूल युनिवर्सिटी कालेज में आप भौतिकी के प्रोफेसर नियुक्त हुए। सन् १९०० में लिवरपूल के नवनिर्मित विश्वविद्यालय के आप प्रथम प्रिंसिपल बनाए गए। आपकी मृत्यु १९४० ई० में हुई।

अनुसंधान कार्य — तड़ित विद्युत्, वोल्टा सेल में विद्युद्वाहक बल का उद्‌गम स्थान, विद्युद्विश्लेषण तथा आयनों का वेग, विद्युच्चुंबकीय तरंगों और रेडियो टेलिग्राफी के क्षेत्र में आपके मौलिक शोधकार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कुहरे और धुएँ को हटाने के लिये विद्युत् के उपयोग के सिलसिले में आपने महत्वपूर्ण खोज की थी। सन् १९१० के उपरांत आपने मृत आत्माओं से संपर्क स्थापित करने के सिलसिले में अनेक प्रयोगात्मक खोजें भी कीं। भौतिकी में किए गए अनुसंधानों के उपलक्ष में आप रॉयल सोसायटी के सदस्य चुने गए तथा सन् १९०२ में आपको सर की उपाधि मिली। आपने निम्नलिखित वैज्ञानिक पुस्तकें भी लिखीं ईथर ऐंड रिऐलिटी, रिलेटिविटी, टॉक्स अबाउट वायरलेस तथा लाइटनिंग एंड लाइटनिंग कंडक्टर्स। [अ० प्र० स०]

लॉज, जान बेनेट, सर (१८१४-१९०० ई०) सुप्रसिद्ध अंग्रेज कृषिवेत्ता थे। इनका जन्म इंग्लैंड के विख्यात स्थान रॉथम्स्टेड में २८ दिसंबर, सन् १८१४ को हुआ। इनकी शिक्षा दीक्षा ऑक्सफर्ड में हुई। इनकी रुचि कृषि संबंधी प्रयोगों की ओर अधिक थी, अतः उसी दिशा में कार्य किया। सन् १८४२ में इन्होंने एक फॉस्फेट उर्वरक का पेटेंट कराया। यह प्रथम सुपरफॉस्फेट था, जिसे काप्रोलाइट पर सल्फ्यूरिक अम्ल की अभिक्रिया से तैयार किया गया था। इस प्रकार इन्होने ही इंग्लैंड में सर्वप्रथम कृत्रिम खादो के उद्योग का सूत्रपात किया।

लॉज के साथ जे० एच० गिलबर्ट का भी नाम सदा अमर रहेगा। ये ही लॉज के रसायन के प्रोफेसर थे। इन दोनों ने साथ साथ रॉथमस्टेड प्रायोगिक केंद्र की स्थापना की। यह केंद्र न केवल इंग्लैंड का सर्वश्रेष्ठ कृषि संबंधी प्रायोगिक केंद्र है, वरन् विश्व मे अग्रगण्य स्थान रखता है। सन् १८४३ से ही भूमि में उर्वरक डालने के संबंध में जो प्रयोग प्रारंभ हुए थे, वे आज तक उसी रूप में चल रहे हैं।

लॉज को उनकी कृषि सेवाओं के उपलक्ष में १८५४ ई० में एफ० आर० एस० की उपाधि से विभूषित किया गया। [शि० गो० मि०]

लाजपतराय, लाला सन् १९०५-६ में भारत की सजीव राष्ट्रीयता के तीन प्रमुख कर्णधार थे – बाल, लाल और पाल अर्थात् बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय और विपिनचंद्र पाल। लाजपतराय जी पंजाबकेसरी के नाम से विख्यात हैं। आप जगरॉव (जिला लुधियाना) के निवासी थे। उनका जन्म २८ जनवरी, सन् १८६५ को ढुडेकी (जि० फीरोजपुर) नामक छोटे से ग्राम में हुआ। वहीं पर आपके पिता श्री राधाकिशन गवर्नमेंट हाई स्कूल में अध्यापक थे। बाल्यावस्था से वे धर्मभीरु माता के विचारों से प्रभावित हुए। उर्दू और फारसी के विद्वान् पिता से आपने इन भाषाओं का विशेष ज्ञानार्जन किया। वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण कर आपने पहले हिसार में और फिर लाहौर में वकालत शुरू की।

कालेज की पढ़ाई के दिनों में ही आप सार्वजनिक कार्यों में रुचि लेने लगे थे। डी० ए० वी० कालेज, लाहौर की स्थापना के अनंतर वे अपना पर्याप्त समय आर्यसमाज और कालेज को देते थे। आप

म्यूनिसिपल कमेटी, हिसार के अवैतनिक मंत्री भी रहे। १८९६ से १९०८ ई० के बीच भारत के विभिन्न खंडों में पड़नेवाले दुर्भिक्षों के समय आपने अकालपीड़ितों की अच्छी सहायता की। सन् १९०५ के कांगड़ा भूकंपपीड़ितों की सहायता के लिये भी आप अग्रसर हुए। आपने व्याख्यान और लेखन के अतिरिक्त ४० हजार रुपए की निजी सहायता से अछूतोद्धार में योगदान किया। आप सन् १९१२ में गुरुकुल काँगड़ी के अछूतोद्धार संमेलन के सभापति भी रहे।

कांग्रेस के समाजसुधार विषयक कार्यक्रम से आकृष्ट होकर आप इलाहाबाद अधिवेशन के समय कांग्रेस के सदस्य बन गए। ब्रिटिश पार्लमेंट के समक्ष भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के अभिप्राय से सन् १९०५ में एवं दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी के सत्याग्रह आंदोलन से संबद्ध प्रतिनिधिमंडलों के साथ आप इंग्लैंड भी गए। १९०७ ई० में मांडले के निर्वासनकाल के उपरांत उन्होंने कांग्रेस के गरम और नरम दल में समझौता कराने का प्रयास किया; किंतु असफल रहे। १९२० ई० में वे कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के अध्यक्ष हुए। भारतीय युवकों की राजनीतिक शिक्षा के निमित्त उन्होंने 'तिलक स्कूल ऑव पॉलिटिक्स' की नींव रखी। 'सर्वेंट्स ऑव दि पीपुल सोसाइटी' के संस्थापक भी आप ही थे।

उग्रवादियों के कार्यों से भयभीत होकर अंग्रेजी सरकार ने लाला जी को भारत परित्याग का आदेश दिया। फलतः आप १९१४ ई० में इंग्लैंड, जापान और तत्पश्चात् अमेरिका चले गए। अमेरिका में आपने 'इंडियन होमरूल' तथा 'इंडियन इंफार्मेशन' नामक दो समितियों की स्थापना की तथा 'यंग इंडिया' साप्ताहिक पत्र भी निकाला। ४० हजार की राशि संचित करके महात्मा गांधी के ब्रिटिश विरोधी दक्षिण अफ्रीकी आंदोलन के सहायतार्थ प्रेषित की।

सन् १९२३ में आप भारतीय विधान सभा के सदस्य चुने गए। आप प्रभावशाली वक्ता और सिद्धहस्त लेखक थे। अंग्रेजी और उर्दू में आपने कई पुस्तकों का प्रणयन किया है। इनमें से 'दि आर्य-समाज' बड़ा लोकप्रिय हुआ और इसके कई संस्करण निकले। अमेरिकी प्रचारिका मिस कैथेराइन मेयो के उत्तर-स्वरूप 'अनहैपी इंडिया' विरचित हुआ। (मिस मेयो ने भारत संबंधी अनेक बातें अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से कटु भाषा में लिखी थीं।) अन्य अंग्रेजी पुस्तकें उनके आत्मचरित्, यात्रा तथा भारत की राष्ट्रीय समस्याओं पर प्रकाश डालती हैं। उर्दू पुस्तकों में अधिकांशतः भारतीय और अभारतीय महापुरुषों की जीवनियाँ हैं। लाहौर से प्रकाशित होनेवाला उर्दू दैनिक पत्र 'वंदेमातरम' भी आपके संपादकीय और ज्वलंत समस्याओं पर लिखे गए परिमार्जित भाषा के लेखों के कारण अति प्रसिद्ध हुआ।

लाला जी का स्वाभिमान, निर्भीकता, स्वच्छंद प्रकृति और संगठनक्षमता उदाहरणीय है। हिसार में डिप्टी कमिश्नर का विरोध होने पर भी आपने लाट साहब को उर्दू में अभिनंदनपत्र भेंट किया था; १८८८ में कांग्रेस के अधिवेशन में सर सैयद की कट्टरवादिता के विरुद्ध आवेगपूर्ण भाषण किया; हिंदूवर्ग और संप्रदाय को एक मंच पर एकत्र करने के निमित्त 'पंजाब हिंदू सभा' की स्थापना की; विधान सभा दल के नेता से मतभेद होने पर 'इंडिपेंडेंट कांग्रेस पार्टी' की नींव रखी, किंतु बाद में उन्हें पूरा सहयोग भी प्रदान किया; गांधी जी के असहयोग आंदोलन के समर्थन में जब महात्मा हंसराज ने डी० ए० वी० कालेज बंद करना अस्वीकार किया तो उस संस्था से संबद्ध विच्छेद कर लिया; असहयोग आंदोलन काल में कारावास में क्षयरोग हो जाने पर भी क्षमायाचना न की।

३० अक्तूबर, १९२८ को साइमन आयोग के विरुद्ध लाहौर में जो जुलूस निकाला गया उसका नेतृत्व लाला जी ने किया। जुलूस पर पुलिस के लाठी प्रहार से लाला जी की छाती पर गहरी चोट आई। कहते हैं, इसी आघात से १७ नवंबर, १९२८ को उनकी मृत्यु हो गई। [न० क०]

लॉड, विलियम (१५७३-१६४५) कैंटरबरी का आर्कबिशप। लॉड इंग्लैंड के रीडिंग नामक कस्बे में ७ अक्टूबर, १५७३ ई० को पैदा हुआ था। आक्सफोर्ड के सेंट जान कॉलेज से १५९४ ई० में स्नातक हुआ और १६०१ ई० में मठीय वृत्ति ग्रहण की। उग्र प्यूरिटन मत की ओर उदासीन होने से उसने विश्वविद्यालय के अधिकारियों को रुष्ट कर दिया था। अपनी विद्वत्ता, अध्यवसाय, प्रशासकीय क्षमता तथा चर्च के प्रति आस्था एवं निष्ठा से बकिंघम ऐसे व्यक्तियों की मित्रता प्राप्त कर ली, जो उसके उत्कर्ष के प्रमुख साधन बने। किंतु इतनी क्षमता होते हुए भी वह एक असावधान और संकीर्ण मस्तिष्क का व्यक्ति था। वह क्रमशः सेंट जान कालेज का अध्यक्ष १६११ ई० में, हंटिंगटन का आर्कडिकन १६१५ ई० में, और ग्लॉस्टर का डीन १६१७ ई० में नियुक्त हुआ। १६२५ ई० में चार्ल्स प्रथम के राज्यारोहण पर वह इंग्लैंड के चर्च का प्रमुख नेता बना, और राजा के अत्यधिक विश्वासपात्र सेवकों में उसकी गणना हुई। राजा और संसद के पूरे संघर्ष में वह राजा के विशेषाधिकारों (prerogative) का घोर समर्थक रहा। वह प्रिवी काउंसिलर १६२६ ई० में, लंदन का बिशप १६२८ ई० में, तथा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का कुलपति १६३० में बना। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में उसने कई उपयोगी सुधार किए। १६३३ ई० में चार्ल्स प्रथम ने उसे कैंटरबरी का आर्कबिशप बनाया। अब वह राज्य की धार्मिक नीति का निर्देशन करने लगा। जनतंत्र तथा प्यूरिटन मत के विरोध में, लॉड ने स्ट्रैफर्ड की सहायता से राज्य तथा चर्च दोनों में समान रूप से निरंकुशता स्थापित की। चर्च पर बिशप तथा राजा की सर्वोच्चता सिद्ध करने, चर्च आचरणों में एकरूपता लाने तथा प्यूरिटनों द्वारा घृणित अनुष्ठानों को कार्यान्वित करने के लिये वह दृढ़प्रतिज्ञ था। उसका प्रमुख उद्देश्य इंग्लैंड से कालविन मत तथा स्काटलैंड से प्रेसबिटिरियन मत का उन्मूलन था। प्रेस का दमन करके उसने जनमत नियंत्रित रखा। कोर्ट ऑव स्टार चैंबर तथा कोर्ट ऑव हाई कमीशन द्वारा उसकी नीति कठोरता से चलाई गई। स्काटलैंड के राष्ट्रीय धर्म पर, राज्य द्वारा किए गए आघात उसकी व्यवस्था को ढहाने में सहायक हुए। घटनाओं का अंत बिशप युद्ध तथा दीर्घ पार्लिमेंट की उस बैठक में हुआ जिसने लॉड पर १८४० ई० में देशद्रोह का आरोप लगाकर टावर में बंदी कर दिया। उसपर तीन वर्ष उपरांत मुकदमा चलाया गया किंतु पर्याप्त साक्ष्य न मिलने पर पार्लिमेंट ने एक प्रस्ताव पास कर उसे मृत्युदंड दिया। १० जनवरी, १६४५ ई० को उसे फाँसी दी गई।

सं० ग्रं० — १. डब्लू० एच० हटन : विलियम लॉड (१८८५);

ए० बेंसन : विलियम लॉड (१८८७); हुक : लाइव्स ऑव दि आर्कबिशप ऑव कैंटरबरी; ए० एस० डंकन जोंस : आर्कबिशप लॉड (१९२७); एच० आर० ट्रेवर रोपर : आर्कबिशप लॉड (१९४०)। [मि० शं० मि०]

लॉत्से, रुडाल्फ हरमन (१८१७-१८८१ ई०) हेगल के बाद जर्मनी के दार्शनिकों में हरमन लात्से का नाम बहुत प्रसिद्ध है। विद्यार्थी काल में उसने विज्ञान और सौंदर्य शास्त्र का विशेष अध्ययन किया, और इस अध्ययन ने उसके दार्शनिक दृष्टिकोण को निर्णीत किया। उसने तथ्य, नियम और मूल्य को सत्ता के अंश स्वीकार किया। विज्ञान में वह अनुभववादी था; दर्शन में प्रयोजनपरक प्रत्ययवादी था, और धर्म में ईश्वरवादी। उसके विचारानुसार, जगत् तथ्यों का क्षेत्र है; इसमें जो कुछ होता है, नियम के अधीन होता है, और मूल्यों के उत्पादन और सुरक्षण के प्रयोजन से होता है। तथ्य, नियम और मूल्य का यह सामंजस्य चेतन परमदेव की अध्यक्षता में होता है।

किसी वस्तु के अस्तित्व का अर्थ क्या है? जार्ज बर्कले ने कहा था कि किसी वस्तु का अस्तित्व उसका ज्ञात होना है। लॉत्से के अनुसार किसी वस्तु का अस्तित्व उसका अन्य वस्तुओं के साथ संबद्ध होना है। दो संबंध प्रमुख हैं : घटनाओं में कारण-कार्य-संबंध और जीवों में पारस्परिक संसर्ग। यह संबंध विद्यमान तो है, परंतु विवेचन के लिये समस्या यह है कि कोई दो पृथक् पदार्थ एक दूसरे पर प्रभाव डाल कैसे सकते हैं। लॉत्से कहता है कि पदार्थ एक दूसरे से पृथक हैं ही नहीं—यह सब एक ही सत्ता, ईश्वर, के आभासमात्र हैं। क्रिया-प्रतिक्रिया या जीवों के संसर्ग में होता यही है कि ईश्वर में कोई परिवर्तन होता है और उसका प्रतिफल कोई दूसरा परिवर्तन प्रकट हो जाता है।

दार्शनिक विवेचन में लॉत्से एकवादी था, परंतु जब वह नीति और धर्म पर विचार करता है, तो ईश्वर और अनेक जीवों का समर्थन करता है। हेगल और उसके अनुयायी अन्य वस्तुओं की तरह जीवों को भी आभासमात्र मानते थे; लॉत्से जीवों को स्वाधीन कर्ता मानता है। इसी के साथ वह निरपेक्ष को पुरुष विशेष के रूप में देखता है। वह कहता है कि सत्ता में मौलिक तत्व मूल्य है और मूल्यों में सर्वोत्तम मूल्य आत्मचेतना है। यह आत्मचेतना ईश्वर में ही पूर्ण रूप में विद्यमान है; जीवों में तो यह अपूर्ण रूप में दिखती है।

लॉत्से एकवाद और अनेकवाद में चुन नहीं सका—दार्शनिक विवेचन ने उसे एकवाद की ओर खींचा, नैतिक विचार ने अनेकवाद की ओर खींचा। [दी० च०]

लापाज जूल बास्तीं (Lepage Jules Bastien) फ्रांस के प्रसिद्ध आकृति तथा ग्रामजीवन के चित्रकार। इनका जन्म १ नवंबर, १८४८ को एक कृषक परिवार में हुआ। यह प्रभाववादी कलाकार थे। इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—'वसंतागमन', 'भेड़िहारा', 'गेहूँ के खेत' तथा 'भिखारी'। इनके कतिपय श्रेष्ठ आकृतिचित्र हैं—अपने माता, पिता, पितामह तथा एडवर्ड सप्तम के आकृतिचित्र। इनकी मृत्यु १० दिसंबर, १८८४ को पेरिस में हुई। [गु० मि०]

ला पास (La Paz), बोलिविया की राजधानी, सागरतल से १२,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। नगर चारों ओर १,४०० फुट ऊँचे कार्डिलेरा रियल पहाड़ियों से घिरा है। यह विश्व की सबसे अधिक ऊँचाई पर स्थित राजधानी है। यहाँ स्थित हवाई अड्डा विश्व का सबसे ऊँचा (१३,३५८ फुट) अड्डा है। जलवायु समशीतोष्ण है। नगर के मध्य में प्लाजा मुरिलो है। यहाँ एक प्रसिद्ध क्रीड़ास्थल है, जिसमें ५०,००० व्यक्ति बैठ सकते हैं। यह देश का सांस्कृतिक, शैक्षिक, व्यापारिक तथा राजनीतिक केंद्र है। राष्ट्रीय संग्रहालय, पुस्तकालय तथा विश्वविद्यालय दर्शनीय हैं। यहाँ की जनसंख्या ४,५०,००० (१९६२) है।

ला प्लाटा (La Plata) पूर्वी अर्जेंटीना में ब्यूनस एयरिज नगर से ३० मील दक्षिण पूर्व, रिओ डि ला प्लाटा के मुहाने पर स्थित एक प्रमुख नगर है। यह व्यापार तथा जलयान निर्माण का प्रमुख केंद्र है। दर्शनीय स्थलों मे संग्रहालय, पशु उद्यान (जो विभिन्न पशु पक्षियों के संग्रह के लिये प्रसिद्ध है) तथा वेधशाला प्रसिद्ध हैं। मांस उद्योग यहाँ का प्रमुख उद्योग है। यातायात का उत्तम प्रबंध है। यहाँ की जनसंख्या ३,३३,३०० (१९६०) है।

लाप्लास, पियेर सिमों (Laplace Pierre Simon, १७४९ ई०–१८२७ ई०) फ्रांसीसी गणितज्ञ का जन्म २८ मार्च, १७४९ ई०, को एक दरिद्र किसान के परिवार में हुआ। इनकी शिक्षा धनी पड़ोसियों की सहायता से हुई। इन्होंने खगोलविज्ञान एवं गणित की अनेक शाखाओं पर महत्वपूर्ण आविष्कार किए। खगोलविज्ञान पर इनकी तीन प्रसिद्ध पुस्तकों, 'मेंवार प्रेजांते पार दिवैर सवाँ' (Memoirs presentes par divers savans), एक्सपोजिस्यों दद्यु सिस्तेम दद्यु मौद' (Exposition du systeme du monde) और 'मेकानिक सेलेस्त' (Mecanique Celeste) में से प्रथम मे 'सौर समुदाय के स्थायित्व के नियम' का प्रमाण एवं गुरुत्वाकर्षण के नियम से सौर समुदाय की संपूर्ण गतियों की व्याख्या, द्वितीय में इनकी तारामंडल संबंधी कल्पना और तृतीय में सौर समुदाय द्वारा प्रस्तुत यांत्रिक निर्मेय का पूर्ण हल दिया है। इन्होने संभाव्यता के अध्ययन में आंशिक अवकल समीकरणों का और लघुतम वर्गों की विधि में संभाव्यता का प्रयोग किया। संभाव्यता पर लिखित इनके शोधपत्रों का संग्रह इनकी पुस्तक 'थिओरी अनालितिक दे प्रोबाबिलिते' (Theorie analytique des probabilites, १८१२ ई०) में है। यंत्रविज्ञान में इन्होंने किसी दीर्घवृत्तज के तल पर, अथवा तल के बाहर स्थित किसी कण पर, उसके आकर्षण के निर्मेय का पूर्ण हल प्रदान किया। इसमें इन्होंने 'लाप्लास के गुणक' एवं 'विभव फलन' का प्रचुर उपयोग किया और सिद्ध किया कि विभव फलन लाप्लास समीकरण $\frac{\partial^2 v}{\partial x^2}+\frac{\partial^2 v}{\partial y^2}+\frac{\partial^2 v}{\partial z^2}=0$ को संतुष्ट करता है। भौतिकी में इन्होंने गैसों में ध्वनिवेग पर न्यूटन के सूत्र का शोधन किया। ज्वार भाटे के सिद्धांत पर महत्वपूर्ण अन्वेषण किए और वायुदाब मापक से ऊँचाई मापने का सूत्र ज्ञात किया। ५ मार्च, १८२७ ई० को इनका देहांत हो गया। [रा० कु०]

ला फांतेन (La Fontaine) जीन डी ला फांतेन का जन्म चैटो थिएरी (फ्रांस) में सन् १६२१ में हुआ। धर्मशास्त्र तथा

कानून की शिक्षा ग्रहण करने के कुछ समय बाद वह पेरिस चला गया। वहाँ उसने देहाती काव्यसंवाद, वीरकाव्य, गाथाकाव्य, गीतिकविता आदि लिखना प्रारंभ किया। १६६५ में उसने अपनी कहानियाँ प्रकाशित कीं। सन् १६६८ से १६९४ के बीच उसने पंचतंत्र के ढंग की कल्पित कथाओं की १२ पुस्तकें प्रकाशित कीं। सन् १६९५ में उसकी मृत्यु हो गई।

अपने प्रकृतिप्रेम, मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि तथा आह्लादकारी हास्य विनोद के कारण उसने इन कल्पित आख्यायिकाओं के रूप रंग में नया विस्तार किया। नैतिक उपदेशक के रूप में वह प्रायः निराशावादी था किंतु मनुष्य की कमजोरियों की जानकारी के बावजूद उसमें कटुता नहीं आने पाई। सुखप्राप्ति के इच्छुक लोगों को उसने एकांतवास तथा प्रकृतिसंपर्क में रहने की सलाह दी है। वह उस समय का महान् कलाकार था जब सौभाग्य से चौदहवें लुई के शासनकाल में फ्रांस में सुख्यात लेखकों की अच्छी जमात विद्यमान थी। [फां० भ०]

ला फार्ज, जॉन (La Farge John) अमरीकी चित्रकार। जन्म न्यूयार्क नगर में ३१ मार्च, १८३५ को हुआ। चित्रकारिता की प्रथम शिक्षा पितामह से मिली। पेरिस में कानून और स्थापत्य का अध्ययन किया। बोस्टन के ट्रिनिटी चर्च की सज्जा में इसका विशेष योग है। न्यूयार्क के संत टामस, संतपीटर पावलिस्ट तथा इनकारनेशन चर्च की खिड़कियों पर इसने चित्र बनाए। १८९९ में अमरीकी कलाकार संघ का प्रधान बना तथा चित्रकला की राष्ट्रीय अकादमी का प्रधान। कला संबंधी कतिपय ग्रंथों का प्रणयन भी किया। इसकी मृत्यु १९१० में हुई। [गु० त्रि०]

लामार्क एवं लामार्कवाद लामार्क, जीन बैप्टिस्ट पियेर आंत्वान द मॉनेट शीवेलियर द (Lamark, Jean Baptiste Pierre Antoine De Monet Chevalier De; १७४४ से १८२९ ई०) फ्रांसीसी जैववैज्ञानी का जन्म १ अगस्त, १७७४ को बैजेंटाइन के पिकार्डी में हुआ था। १७ वर्ष की आयु में ये सेना में भर्ती हो गए और सन् १७६३ में सैनिक जीवन त्याग कर ये पैरिस चले गए, जहाँ इन्होंने वनस्पतिशास्त्र का अध्ययन किया। १७७८ ई० इनकी फ्लोर फैंक्षाइज (Flore Francasie) नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसके दूसरे वर्ष ऐकेडेमी सायंस के वनस्पति विभाग में इनकी नियुक्ति हो गई, पर ये इसे छोड़कर समकालीन, फ्रांसीसी, प्राकृतिक विज्ञानी, बुफाँन् के पुत्रों के साथ यात्रा पर प्रशिक्षक के रूप में चले गए। यात्रा से दो वर्ष बाद लौटने पर ये शाही बाग के वनस्पति संग्रहालय के रक्षक नियुक्त हुए। १७९३ ई० में ये अजायबघर में प्रोफेसर नियुक्त हुए और अकशेरुकी संग्रह का उत्तरदायित्व लिया। यहाँ इन्होंने १८१९ ई० तक, अपने अंधे होने तक, कार्य किया। इनका बुढ़ापा बड़ी गरीबी में बीता। १८ दिसंबर, १८२९ ई० को इनका देहावसान हो गया।

लामार्क प्रथम वैज्ञानिक थे, जिन्होंने कशेरुकी और अकशेरुकी जीवों में भेद किया और सर्वप्रथम इनवर्टिब्रेट (invertebrate) शब्द का उपयोग किया। १८०२ ई० में इन्होंने जीव, या पौधों के अध्ययन के लिये बायोलोजी (Biologie) शब्द का उपयोग किया। इन्होंने मौसम विज्ञान और मौसम की पूर्वसूचनाओं से संबंधित वार्षिक रिपोर्टों का भी प्रकाशन किया था। ये विकासवाद के जन्मदाता हैं। इनका विकासवाद का सिद्धांत लामार्कवाद कहलाता है, जो निम्नलिखित है :

लामार्कवाद — संक्षेप में लामार्क का विकासवाद यह है: वातावरण के परिवर्तन के कारण जीव की उत्पत्ति, अंगों का व्यवहार या अव्यवहार, जीवनकाल में अर्जित गुणों का जीवों द्वारा अपनी संतति में पारेषण। इस मत और डारविन के मत में यह अंतर है कि इस मत में डारविन के प्राकृतिक वरण के सिद्धांत का अभाव है।

लामार्क ने निम्नलिखित दो नियम अपने विकासवाद के संबंध में प्रतिपादित किए हैं :

(१) उस प्रत्येक जीव में, जिसने अपने विकास की आयु पार नहीं की है, किसी अंग का सतत व्यवहार उस अंग को विकसित एवं दृढ़ बनाता है और यह दृढ़ता उस काल के अनुपात में होती है जितने काल तक यह अंग व्यवहार में लाया गया है। इसके विपरीत यदि किसी अंग का व्यवहार नहीं किया जाता है, तो वह निर्बल होने लगता है और शनैः शनैः उसकी कार्यकारी क्षमता कम होती जाती है और अंत में वह अंग विलुप्त हो जाता है।

(२) दीर्घकाल से किसी परिस्थिति में रहनेवाली प्रजाति के जीवों को, परिस्थिति के प्रभाव के कारण, अनेक बातें अर्जित करनी पड़ती हैं, या भुला देनी होती हैं। किसी अंग का प्रभावी व्यवहार, अथवा उस अंग के व्यवहार में सतत कमी, आनुवंशिकता के द्वारा सुरक्षित रहती है और ये बातें इन जीवों से उत्पन्न होनेवाले जीवों में अवतरित होती हैं, पर शर्त यह है कि अर्जित परिवर्तन नर और मादा दोनों में हुआ हो, अथवा उन नर मादा में हुआ हो जिनसे नए जीवो की उत्पत्ति हुई है।

लामार्क को विश्वास था कि जीवित जीवों के स्पीशीज में या तो प्राकृतिक शृंखला रहती है या अंतर रहता है। जीवित प्राणियों के सातत्य के विचार ने उन्हें यह विचारने के लिये प्रेरित किया कि जीव और वनस्पति श्रेणी किसी बिंदु पर अवश्य ही संतत होने चाहिए और इन्होंने इस बात पर जोर दिया कि जीवित प्राणियों का समग्र रूप में अध्ययन होना चाहिए।

लामार्क तीन महत्वपूर्ण एवं परस्पर संबंधित संकल्पनाओं पर पहुँचे : (१) परिवर्तनशील बाह्य प्रभावों के अंतर्गत रहनेवाले स्पीशीज में अंतर होता है, (२) स्पीशीज की असमानताओं में भी मूलभूत एकता अंतर्निहित रहती है तथा (३) स्पीशीज में अग्रगामी विकास होता है। लामार्क की मुख्य कल्पना यह थी कि अर्जित गुण वंशानुक्रम से प्राप्त होते हैं। अब लामार्क का सिद्धांत मान्य नहीं है। [अ० ना० मे०]

लॉयर नदी फ्रांस की सबसे अधिक लंबी (लगभग ६५० मील) नदी है, जो दक्षिणी फ्रांस में रोन नदी के ३० मील पश्चिम, मॉएट गरबियर डि जोंक से निकलती है। निकलने के बाद नेवर्स नगर तक यह उत्तर की ओर ही बहती है। इसके बाद उत्तर - पश्चिम तथा दक्षिण - पश्चिम की ओर बहती हुई बिस्के की खाड़ी में गिर जाती है। मुहाने पर नैंट्स नगर स्थित है। इसका प्रवाहक्षेत्र ४६,७०० वर्ग मील है।

लॉरेंस उन्नीसवीं शताब्दी में तीन लॉरेंस भाइयों का भारत में आगमन १८२२, १८२३ और १८३० में हुआ। इनके नाम थे क्रमशः सर जॉर्ज, सर हेनरी और सर जॉन (लॉर्ड लारेंस)। ये तीनों आयर्लैंड के प्रोटेस्टेंट मतावलंबी व्यक्ति थे। इनके पिता भी ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी कर चुके थे।

जॉर्ज लॉरेंस (१८०४-१८८४ ई०) शाहशुजा के दरबार में अंग्रेज दूत मैकनाटन के साथ अफ़गानिस्तान गया था। सन् १८४१ में अफ़गानों ने मैकनॉटन को मार डाला। जार्ज लॉरेंस अपनी जान लेकर वहाँ से भागा पर बाद में बंदी कर लिया गया और पूर्वगामी अमीर दोस्त मोहम्मद के बेटे अकबर खाँ को सौंप दिया गया। लगभग आठ मास पश्चात् उसे १८४२ ई० में छोड़ा गया। सन् १८५७ के विद्रोह में जॉर्ज ने अपनी नीतिकुशलता दिखाई और विद्रोह के समाप्त होने तक राजपूताने को शांत रखा। १८६४ में यह सेवा-मुक्त हुआ।

हेनरी लॉरेंस (१८०६-१८५७) को १८४७ में लाहौर में अंग्रेजों का 'रेज़ीडेंट' नियुक्त किया गया। लाहौर का शासन व्यावहारिक रूप में अंग्रेज रेज़ीडेंट के आदेश पर होने लगा। लॉर्ड हार्डिंज के साथ ही सर हेनरी लॉरेंस सन् १८४८ में इंग्लैंड चला गया। हेनरी ने द्वितीय सिक्ख युद्ध के बाद पंजाब को अंग्रेजी राज्य में मिलाने की राय नहीं दी। फिर भी पंजाब अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। तत्पश्चात् पंजाब का शासन करने के लिये एक बोर्ड बनाया गया। सर हेनरी इस बोर्ड का अध्यक्ष था। उसने पंजाब के शासन विभागों मे कई सुधार किए। सन् १८५३ में यह बोर्ड समाप्त कर दिया गया और हेनरी राजपूताने में गवर्नर जेनरल का एजेंट नियुक्त कर दिया गया। विद्रोह के कुछ पूर्व अवध में बड़ी अशांति फैली थी। १८५७ के मार्च मास में सर हेनरी लॉरेंस अवध का चीफ़ कमिश्नर नियुक्त हुआ। उसने स्थिति को भरसक सँभाला। मई, १८५७ में अवध में विद्रोह प्रारंभ हो गया। जुलाई में कुछ ईसाइयों तथा स्वामिभक्त सैनिकों के साथ सर हेनरी रेजीडेंसी में पहुँच गया जहाँ कुछ ही समय बाद एक गोला फट जाने से उसकी मृत्यु हो गई।

जॉन लॉरेंस (१८११-१८७९) बड़ा प्रतिभाशाली था। वह दिल्ली का कलेक्टर रहा और इटावा में भी कई वर्ष कार्य किया। अपने गुणों के कारण पैंतीस वर्ष की अवस्था में वह जलंधर तथा दोआब का कमिश्नर बना दिया गया। द्वितीय सिक्ख युद्ध के समय उसने अपने वैयक्तिक गुणों से काफी लोगों मे स्वामिभक्ति उत्पन्न कर दी थी। पंजाब के ब्रिटिश राज्य में मिल जाने पर वहाँ का शासन चलाने के लिये एक बोर्ड बना था। सर जॉन इस बोर्ड का सदस्य था। सन् १८५३ में जब यह बोर्ड समाप्त हो गया तब सर जॉन पंजाब का चीफ कमिश्नर बना दिया गया। सन् १८५९ में यह इंग्लैंड वापस चला गया। इसे 'बैरोनेट' तथा 'जी० सी० बी०' की उपाधियाँ दी गईं। इसकी एक हजार पौंड की नियमित पेंशन में दो हजार पौंड वार्षिक की वृद्धि की गई।। इंग्लैंड में सन् १८५९ से १८६४ तक सर जॉन भारत मंत्री की काउंसिल का सदस्य रहा। सन् १८६४ में वह पाँच वर्षों के लिये भारत का वाइसरॉय बनकर आया। अपने कार्यकाल में उसने भारतवासियों के हितों का यथासंभव ध्यान रखा तथा प्रशासन के विभिन्न विभागों में सुधार किए। सन् १८६९ में यह इंग्लैंड लौट गया। वहाँ इसे 'लॉर्ड' की उपाधि दी गई। इसने लगभग चालीस वर्षों तक भारत की नौकरी की। [मि० चं० पां०]

लॉरेंस, टामस एडवर्ड (१८८८-१९३५ ई०) प्रख्यात ब्रिटिश सैनिक अन्वेषक एवं लेखक थे। १५ अगस्त, १८८८ ई० में इनका जन्म वेल्स के ट्रेमाडोक नामक स्थान पर हुआ था। इन्होंने ऑक्सफर्ड में शिक्षा प्राप्त की थी। १९१० ई० में सिरिया गए और इन्होंने चार वर्ष के अपने प्रवास में अरब लोगों का अध्ययन किया। १९१५ ई० में ये मिस्र भेजे गए और इसी वर्ष तुर्की ब्रिटेन के विरुद्ध प्रथम विश्वयुद्ध में संमिलित हो गया। इस समय लारेंस ने अरब कबीलों का संगठन तुर्कों के विरुद्ध किया, जिससे इस प्रदेश में तुर्कियों का प्रभाव नष्ट हो गया। अपने इस कार्य के कारण ये अरब के लारेंस नाम से प्रसिद्ध हुए।

इनका 'द सेवेन पिलर्स ऑव विजडम' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है। जिसमें इन्होंने अपने साहसिक कार्यों का विवरण दिया है। १९२७ ई० में 'रिवोल्ट इन द डेजर्ट' प्रकाशित हुआ। १९ मई, १९३५ में एक मार्ग दुर्घटना में इनकी मृत्यु हो गई। [श० ला० का०]

लारेंस, सर टामस (१७६९-१८३०) इंग्लैंड का प्रतिष्ठित लोकप्रिय चित्रकार। वह देश उच्चतम यथार्थवादी चित्रकला के लिये प्रसिद्ध रहा है और लारेंस उसका एक प्रमुख कलाकार है। इंग्लैंड वासियों ने उसके संमान में उसे नाइटहुड (सर) की पदवी दी और रायल अकादमी का प्रेसीडेंट बनाया। किंग जार्ज तृतीय का वह दरबारी कलाकार था। उसके चित्र दिन पर दिन लोकप्रिय होते गए। 'इलीजा फैरें' सन् १८६३ में ७९ गिनी में बिका और यही चित्र १८९७ में दो हजार गिनी से भी अधिक पर बिका।

उसके पिता वकील थे और बाद में एक होटल चलाने लगे थे। बालक लारेंस घूम घूमकर ग्राहकों के रेखाचित्र बनाया करता था और उस समय भी उसकी कलाप्रतिभा देखकर लोग दंग रह जाते थे। बाद में उसका परिवार जब बाथ नामक स्थान पर चला आया तो वहाँ १२ वर्ष की अवस्था मे बालक लारेंस ने अपनी एक चित्रशाला स्थापित की। चित्रशाला जल्दी ही सभ्य समाज में चर्चा की वस्तु बन गई। १७८७ में लारेंस ने उस समय के इंग्लैंड के अति प्रतिष्ठित कलाकार सर जोशुआ रेनाल्डस से मुलाकात की और अपनी कला के बारे में संमति ली। २१ वर्ष की अवस्था होते होते वह एक लोकप्रिय व्यक्ति चित्रकार (पोर्ट्रेट पेंटर) के रूप में माना जाने लगा। उसने अपना बहुप्रशंसित व्यक्तिचित्र 'इलीजा फैरें' बनाया। इलीजा फैरें बाद में काउंटेस ऑव डर्बी बनी। अब तो लारेंस अपनी सफलता के शिखर पर था। इंग्लैंड के राजदरबार में भी उसकी प्रतिष्ठा हुई।

लारेंस ने पहले शास्त्रीय पद्धति से क्लासिकल शैली में चित्र बनाए थे, क्लासिकल विषयवस्तु के आधार पर। बाद में उसने मौलिक ढंग पर व्यक्तिचित्रण किया। अधिकतर उसने सोसाइटी गर्ल्स के चित्र बनाए हैं और इनमें उसकी विशेष रुचि थी पर बालकों के चित्र बनाने में भी उसने अजीब दक्षता दिखाई। 'मास्टर लैंबटन' उसका विश्वविख्यात चित्र है। पिंकी नामक उसका एक चित्र १९२६ मे ७४,००० गिनी में बिका। [रा० चं० शु०]

लारेंस, स्टर्न (१७१३-१७६८) अंग्रेजी उपन्यासकार। कैंब्रिज में शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् स्टर्न ने अपना जीवन पादरी की तरह बिताया। इस पेशे में उसकी कोई विशेष रुचि नहीं थी। साहित्य की ओर वह बहुत देर से मुड़ा। १७६० में 'दि लाइफ एंड ओपिनियंस ऑव ट्रिस्ट्रैम शैंडी, जेंट' नामक दो खंडों में उसने एक काल्पनिक नायक ट्रिस्ट्रैम को आधार बनाकर उपन्यास प्रकाशित किए। इससे उसे एकदम प्रसिद्धि मिल गई। वह अपना गिर्जाघर छोड़कर भाग गया, यद्यपि वह उसकी नाममात्र सेवा करता रहा। वह इसी उपन्यास के और खंड लिखता गया जो १७६७ में पूरे हुए। इस उपन्यास में तीसरे खंड तक नायक का जन्म नहीं होता। उसमें परिवेश के विस्तृत विवरणयुक्त वर्णन में ही उसने अपनी शक्ति खर्च की है। उसके अगले वर्ष १७६८ मे यानी अपनी मृत्यु के पूर्व उसने 'ए सेंटिमेंटल जर्नी थ्रू फ्रांस ऐंड इटैली' (फ्रांस और इटली से होते हुए एक भावपूर्ण प्रवास) प्रकाशित किया। प्रसिद्धिप्राप्ति के बाद उसने स्वयं यह प्रवास किया था, जिसको औपन्यासिक रूप इस ग्रंथ में दिया गया है। इसके साथ ही उसने कई धार्मिक प्रवचन भी लिखे, जो प्रकाशित हुए।

स्टर्न की साहित्यिक विशेषताएँ हैं उसकी अत्यंत व्यक्तिगत शैली। उसमें असंगति, जान बूझकर विषयांतर, अनिश्चित पात्र, अनिर्दिष्ट घटनाएँ आदि विचित्रताएँ होती हैं। विसंगति जैसे उसकी रचना का मूल स्वर है। वह अपने उपन्यास में भी कोई कथानक लेकर नहीं चला है। सब कुछ यों ही चलता है। विचित्र सनकी किस्म के पात्र एक के बाद एक चले आते हैं। उनमें कोई शृंखलाबद्धता या पूर्वा-योजन नहीं। उसकी भावुकता भी जान बूझकर बढ़ी चढ़ी, अति-रंजित लगती है। अट्ठारहवीं शताब्दी की अतिबौद्धिकता के विरोध में स्टर्न के विद्रोह का एक लक्षण यह भावुकता है। स्टर्न ने बहुत कुछ रैबेले नामक फ्रांसीसी लेखक के अनुकरण में यह शैली अपनाई है। रैबेले मे अधिक उन्मुक्तता और रूढ़ नीतिबंधनों के प्रति विद्रोह है, स्टर्न में उतनी नही। स्टर्न की नकल बाद के कई लेखकों ने की। पर वैसी शैली पुन: और कोई नहीं पा सका।

स्टर्न का स्थान अंग्रेजी साहित्य मे, उपन्यासकार के नाते या प्रवास वर्णनकार के नाते कोई बहुत बड़ा नहीं है। परंतु अंग्रेजी गद्य में एक नई विधा, एक नई दिशा देने में स्टर्न बहुत सफल रहा। बाद के पत्रकारों ने उसके टेकनीक को अपनाया। स्टर्न की वर्णनशक्ति अद्भुत थी; और न कुछ को भी वह बहुत रोचक बना दे सकता था। भाषा पर प्रभुत्व, वक्तृतामयी वाग्मिता के साथ साथ अपने परिवेश का बहुत सूक्ष्म अवलोकन स्टर्न की अपनी क्षमताएँ और विशेषताएँ हैं।

लाल कवि गोरेलाल का उपनाम पूर्वज पहले आंध्र प्रदेश में राज-महेंद्री जिले के नृसिंहक्षेत्र धर्मपुरी में रहते थे, किंतु बाद में वे रानी दुर्गावती के समय (सं० १५३५ वि०) में आंध्र छोड़ बुंदेलखंड में आ बसे। इनके पूर्वज काशीनाथ भट्ट की कन्या 'पूर्णा' का विवाह महाप्रभु वल्लभाचार्य जी से हुआ था। काशीनाथ के पुत्र जगन्नाथ के क्रमश: गिट्टा, लंबुक, जोगिया, तिथरा, गिरधन और भरम नामक छह पुत्र हुए। गोरेलाल का जन्म संवत् १७१५ वि० के आसपास इन्हीं गिट्टा के पुत्र नागनाथ की दसवीं पीढ़ी में हुआ था। 'मुद्गलक-मौद्गल्यगोत्रे प्रथिततरयशा नागनाथान्वयेऽभूत्। बुंदेलाधीशपूज्य: कविकुलतिलको गौरिलालाख्यो भट्ट:' के अनुसार दाक्षिणात्य विद्वान् कृष्णशास्त्री ने 'वल्लभदिग्विजय' में लिखा है कि 'मुद्गल गोत्रीय नागनाथ के वंश में कवि-कुल-तिलक गोरेलाल हुए, जिन्हें बुंदेलखंड के अधीश्वर (छत्रसाल) बड़ी पूज्य दृष्टि से देखते थे।' लाल को अपने एकमात्र आश्रयदाता महाराज छत्रसाल से बढ़ई, पठारा, अमानगंज, सगेरा तथा दुग्धा नामक पाँच गाँव मिले थे। लाल दुग्धा मे रहते थे और अब तक उनके वंशज वहीं रहते हैं। यद्यपि कवि की मृत्यु के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं, तथापि 'छत्रप्रकाश' में वर्णित अंतिम घटना का समय सं० १७६४ वि० मानकर मिश्रबंधु और रामचंद्र शुक्ल आदि ने उक्त समय को ही कवि का मृत्युकाल होने का गलत अनुमान लगाया है जबकि उक्त रचना की उपलब्ध प्रति में अंतिम वर्णित घटना 'लोहागढ़ विजय' है, जिसका समय है सं० १७६७ वि०। इसलिये कवि का निधन सं० १७६७ वि० के पश्चात् ही मानना संभावित होगा।

कवि की कई रचनाएँ—'छत्रप्रशस्ति', 'छत्रछाया', 'छत्रकीर्ति', 'छत्रछंद', 'छत्रसालशतक', 'छत्रहजारा', 'छत्रदंड', 'छत्रप्रकाश', 'राजविनोद' बरवै आदि बताई जाती हैं, किंतु इनमें एकमात्र प्राप्य और महत्व की रचना 'छत्रप्रकाश' ही है। रचनाओं के नाम से ही जान पड़ता है कि कवि अपने चरितनायक के गुणों पर इतना लट्टू था कि उसने जो कुछ और जितना भी लिखा सब 'छत्र' (छत्रसाल) को ही लेकर। 'छत्रप्रकाश' की गिनती वीररस के अनूठे काव्यग्रंथों मे की जाती है। इसकी रचना महाराज छत्रसाल की आज्ञा से की गई थी। 'छत्रप्रकाश' का सर्वप्रथम प्रकाशन कलकत्ते के फोर्ट विलिअम कालेज से मेजर प्राइस द्वारा किया गया था, लेकिन वह प्रति अब प्राप्य नहीं। वर्तमान संस्करण नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से बाबू श्यामसुंदरदास के संपादकत्व में निकला था। इसमें कुल २६ अध्याय और १६३ पृष्ठ हैं। इसमे न केवल महाराज छत्रसाल के जीवन से संबंधित घटनाओं का ही वर्णन किया गया है वरन् सं० १७६७ वि० तक की बुंदेलखंड संबंधी छोटी से छोटी घटनाओं का विवरण भी दिया गया है। ऐतिहासिक सत्य की सुरक्षा के प्रति कवि की गहरी निष्ठा दिखाई पड़ती है। कला और कल्पना, जिनसे घटनाओं की सचाई काफी धुँधली और मंद पड़ जाती है, का बहुत कम प्रयोग होने से 'छत्रप्रकाश' के वर्णन तथ्य से भरे हुए और इतिवृत्तात्मक हो गए हैं। इसकी ऐतिहासिक महत्ता से आकर्षित होकर ही कैप्टन पाक्सन ने इसका उल्था अंग्रेजी में किया था।

काव्यसौष्ठव के विचार से लाल की प्रबंधपटुता श्लाघनीय है। वे कथा का संबंधनिर्वाह भी खूब जानते हैं और मार्मिक स्थलों का चुनाव भी। टकार डकारादि लोमहर्षक वर्णों का प्रयोग बड़ी ही स्वाभाविक पद्धति पर वीररसोद्रेक के लिये किया गया है। कवि की दृष्टि जितनी घटनावर्णन की ओर रहती है उतनी रसचित्रण की ओर नहीं; फिर भी भावों को समुचित उत्कर्ष मिला है। इसके विपरीत युद्धप्रसंग में थोड़े अंतर पर अनेक व्यक्तियों के नामों के उल्लेख, वर्णन-विस्तार-प्रियता और इतिवृत्तात्मकता आदि के संयोग ने उसकी काव्यात्मक सरसता को नीरस और फीका बना दिया है। भाषा उसकी ब्रजभाषा है जिसमें बुंदेली की अच्छी मिलावट है।

सं० ग्रं० — रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास;

टीकम सिंह तोमर : हिंदी वीरकाव्य; उदयनारायण तिवारी : वीरकाव्य।

लालबहादुर शास्त्री गांधी युग के सच्चे प्रतिनिधि और स्वतंत्र भारत के द्वितीय प्रधान मंत्री। अपने उन्नीस महीने के प्रधानमंत्रित्व काल में आपने राष्ट्र की जिस दृढ़ता एवं निर्भीकता से गौरववृद्धि की, वह भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी। राष्ट्र की स्थिरता, शक्तिसंचार तथा एकता की भावना, आपके शासनकाल की उल्लेख्य देन है।

आपका जन्म २ अक्टूबर, सन् १६०४ ई० को सांस्कृतिक नगरी काशी में हुआ। आपके पिता का नाम श्री शारदा प्रसाद था और माता का श्रीमती रामदुलारी देवी। पिता बाल्यकाल में ही चल बसे थे। माता के स्नेह से पोषित होकर बालक लालबहादुर ने अपना जीवननिर्माण विषम परिस्थितियों में किया। आपके परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। यही कारण है कि अभाव की स्थिति में बालक श्री लालबहादुर को एकाध बार दशाश्वमेध घाट से तैरकर गंगा पार कर रामनगर आना पड़ता था। इसीलिये स्वावलंबन और आत्मविश्वास आपके जीवन के मूल मंत्र बन गए। आरंभ में आपने भारतेंदु द्वारा स्थापित हरिश्चंद्र विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की। बाद में आपने काशी विद्यापीठ से शास्त्री की उपाधि प्राप्त की। गांधी विचारधारा से प्रभावित होकर सन् १६२१ में पढ़ाई छोड़कर आप असहयोग आंदोलन में कूद पड़े और ढाई वर्षों तक जेल में रहे।

सन् १६२६ में श्री लालबहादुर शास्त्री लोकसेवक संघ के सदस्य बने और इलाहाबाद को अपने कार्यक्षेत्र का केंद्र बनाया। सात वर्षों तक आप इलाहाबाद म्युनिसिपल बोर्ड के सदस्य रहे। प्राय: चार वर्षों तक आप इलाहाबाद इंप्रूवमेंट ट्रस्ट के भी सदस्य रहे। सन् १६३० से ३६ तक आप इलाहाबाद जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे। उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी के सन् १६३५ से ३८ तक प्रधान मंत्री भी आप चुने गए। सन् १६३७ में आप उत्तर प्रदेश विधान सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। सन् १६४१ में आपको पुन: गिरफ्तार किया गया। आपको कुल मिलाकर आठ बार जेलयात्रा करनी पड़ी और प्राय: नौ वर्षों तक जेल में बंदी जीवन बिताना पड़ा। सन् १६४६ में आप पुन. उत्तर प्रदेश विधान सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। तत्कालीन मुख्य मंत्री श्री गोविंदवल्लभ पंत ने आपको संसदीय सचिव नियुक्त किया। सन् १६४७ में आप प्रदेश के गृह एवं यातायात मंत्री नियुक्त किए गए, जिस पद पर आप चार वर्षों तक रहे।

पद से अधिक महत्व राष्ट्रसेवा का है, यह बात श्री लालबहादुर शास्त्री ने अपने जीवन में अनेक बार उच्च पदों से त्यागपत्र देकर जनता के समक्ष उपस्थित की। सन् १६५१ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के महामंत्री का पदभार ग्रहण करने के लिये आपने मंत्रिपद से इस्तीफा दिया। इसके बाद १६५२ में जब आप केंद्रीय रेल तथा परिवहन मंत्री नियुक्त किए गए तब रेल दुर्घटना होने पर सार्वजनिक एवं प्रशासनिक जीवन में उच्च आदर्श उपस्थित करने के लिये आपने रेल मंत्री के पद से इस्तीफा दिया। सन् १६५७ में आप लोकसभा के सदस्य चुने गए और संचार तथा परिवहन मंत्री के पद पर मार्च, सन् १६५८ तक बने रहे। इसके पश्चात् आप केंद्रीय वाणिज्य एवं उद्योग मंत्री नियुक्त किए गए (१६५८–६१)। स्वराष्ट्र मंत्री श्री गोविंदवल्लभ पंत के निधन के बाद अप्रैल, सन् १६६१ में आप केंद्रीय स्वराष्ट्र मंत्री के पद पर नियुक्त किए गए।

सन् १६६२ के महानिर्वाचन में इलाहाबाद क्षेत्र से आप लोकसभा के सदस्य पुन: चुने गए। कामराज योजना के अंतर्गत कांग्रेस का संघटनात्मक कार्य करने के लिये अगस्त, १६६३ में आपने केंद्रीय मंत्रिमंडल से पदत्याग किया। प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू की अस्वस्थता के कारण आपको केंद्रीय मंत्रिमंडल में पुन: नियुक्त किया गया और आप निर्विभागीय मंत्री बनाए गए। प्रधान मंत्री श्री नेहरू के आप अत्यंत विश्वासपात्र थे और उनके कार्यों में सहायता देना आपका मुख्य कर्तव्य था। जवाहरलाल नेहरू के निधन पर ६ जून, सन् १६६४ को सर्वसंमति से लोकसभा के कांग्रेस दल के नेता चुने जाने के बाद आपने प्रधान मंत्री पद का भार ग्रहण किया।

श्री शास्त्री का प्रशासन काल देश की अग्निपरीक्षा का काल था। आंतरिक शांति तथा आर्थिक एवं खाद्य समस्याओं का समाधान जहाँ आवश्यक था, वहीं बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा का भी प्रश्न महत्वपूर्ण था। इन सभी राष्ट्रीय प्रश्नों पर शास्त्री जी ने जिस दृढ़ता, दूरदर्शिता, धैर्य एवं साहस का परिचय दिया, वह राष्ट्र को संकटकाल में सहज शक्ति और स्फूर्ति देता रहेगा। संसदीय लोकतंत्र में आपकी अटूट श्रद्धा थी। यही कारण है कि विरोधी दल के नेताओं से भी आप राष्ट्रीय प्रश्नों के समाधान में परामर्श किया करते थे। आप अत्यंत उदार और विनयी प्रकृति के थे किंतु जब दृढ़ता की आवश्यकता होती तो हिमालय की भाँति अटल और अजेय हो जाते थे।

नेपाल की सद्भाव यात्रा कर जहाँ आपने भारत नेपाल की परंपरागत मैत्री एवं ऐतिहासिक संबंधों में यथेष्ट सुधार किया वहीं कश्मीर जाकर हजरत बल कांड का बड़ी युक्ति और बुद्धि से समाधान किया। प्रधान मंत्री बनने के पूर्व ये दो कार्य आपकी राजनीतिज्ञता का सहज परिचय देते हैं।

१५ अगस्त, १६६४ को लाल किले पर राष्ट्रीय ध्वज फहराते हुए आपने राष्ट्रीय गौरव का जो सहज स्वाभिमान प्रकट किया वह सदैव स्मरण रखने योग्य है। इस अवसर पर आपने कहा—'हम रहें या न रहें, लेकिन यह झंडा रहना चाहिए और देश रहना चाहिए। मुझे विश्वास है कि यह झंडा रहेगा, हम और आप रहें या न रहें, लेकिन भारत का सिर ऊँचा होगा। भारत दुनिया के देशों में एक बड़ा देश होगा और शायद भारत दुनिया को कुछ दे भी सके।' राष्ट्र की महत्ता तथा उसके गौरव का जो विश्वास इन शब्दों में व्यक्त है, वही प्रधान मंत्री श्री शास्त्री की महत्ता का भी परिचायक है।

प्रधान मंत्री का पदभार ग्रहण करने के उपरांत शास्त्री जी ने संयुक्त अरब गणराज्य की राजधानी काहिरा जाकर तटस्थ राष्ट्रों के संमेलन में बड़ी तेजस्विता से भारत का पक्ष उपस्थित किया। इसी अवसर पर आपने मार्शल टीटो तथा राष्ट्रपति नासिर से महत्वपूर्ण वार्ता की। दिसंबर में आपने लंदन में ब्रिटिश प्रधान मंत्री से विचार-विनिमय किया। फरवरी, १६६५ में आपने बर्मा के प्रधान जनरल ने विन से वार्ता की। २३ अप्रैल को आप दुबारा नेपाल की सद्भाव

यात्रा पर गए। १२ मई को शास्त्री जी एक सप्ताह की रूस की राजकीय यात्रा पर गए। १० जून को आपने कनाडा की भी सद्भाव यात्रा की और १७ जून को लंदन में राष्ट्रमंडल संमेलन में भाग लिया। जुलाई में आपने यूगोस्लाविया की यात्रा की और मार्शल टीटो से वार्ता की।

जुलाई में ही शास्त्री जी ने पाकिस्तान से प्रयुद्ध समझौते का प्रस्ताव रखा। सितंबर में पाकिस्तान ने जंमू व कश्मीर की अंतरराष्ट्रीय सीमारेखा का उल्लंघन कर पैदल, टैंक तथा वायुसेना को भारतीय सीमा में आगे बढ़ने का आदेश किया तो शास्त्री जी ने भी भारतीय विजयवाहिनी को लाहौर क्षेत्र में प्रवेश कर प्रहार करने का संकेत किया। पाकिस्तान सेना के बढ़ाव को रोकने में यह काररवाई बहुत सहायक हुई और अंततः उसे युद्धविराम के लिये विवश होना पड़ा। पाकिस्तानी सेना के अमरीकी पैटन टंकों और सैबर जेट विमानों को भारतीय जवानों ने अद्भुत वीरता और साहस से पस्त कर डाला। इस विजय का श्रेय प्रधानमंत्री शास्त्रीजी की निर्भीक तथा दूरदर्शितापूर्ण नीति को ही है।

इसी संकटकाल में आपने 'जय जवान और जय किसान' का नारा देकर राष्ट्र की सुरक्षा तथा आत्मनिर्भरता के प्रश्न की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया। २४ सितंबर को आपने रूस के आमंत्रण को स्वीकार किया कि अयूब से शिखर वार्ता हो। ३ जनवरी, १९६६ को आप ताशकंद गए। १० जनवरी को ताशकंद समझौते पर हस्ताक्षर किए गए किंतु उसी रात हृद्रोग के आक्रमण के फलस्वरूप ताशकंद में ही आपका निधन हो गया। युद्धकाल में जिस शांति से आपने काम किया, शांतिस्थापन में भी उसी लगन एवं निष्ठा से निर्णय किया। आपको अपनी पत्नी श्रीमती ललिता शास्त्री से बड़ी प्रेरणा मिलती थी। स्वतंत्र भारत के महान् सपूत के रूप में आप सदैव स्मरणीय रहेंगे। [ल० शं० व्या०]

लाल सागर पश्चिम में अफ्रीका, पूर्व में अरब प्रायद्वीप से घिरा एक सँकरा तथा लंबा, उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व को फैला सागर है, जिसकी लंबाई १,४३५ मील तथा सर्वाधिक चौड़ाई २१५ मील है। इसका उत्तरी भाग सिनाई प्रायद्वीप द्वारा दो खाड़ियों में, पश्चिम में स्वेज तथा पूर्व में अकाबा की खाड़ी में, बँट गया है। स्वेज की खाड़ी २१० मील लंबी तथा १८ मील चौड़ी है और अकाबा की खाड़ी ११८ मील लंबी तथा १० मील चौड़ी है। स्वेज की खाड़ी १०३ मील लंबी स्वेज नहर द्वारा भूमध्य सागर से संबद्ध है। लाल सागर दक्षिण में १६ मील चौड़े बैब एल मैंडेब, जल संयोजक, द्वारा हिंद महासागर से संबद्ध है। वैसे यह एक उथला (औसत २६७ फैदम गहरा) सागर है, किंतु कहीं कहीं, जैसे पोर्ट सूडान के पास, १,४२० फैदम तक गहरा है। इसके दोनों किनारों पर कई छोटी छोटी खाड़ियाँ भी हैं। इसके अंदर सौकिन, जेबाजिर, ड्राईक, बूकर, ग्रेट हैनिश, पेरिम तथा फारासान आदि द्वीप स्थित हैं। इसके आस पास वर्ष भर ऊँचा ताप रहने के कारण रेगिस्तानी जलवायु वाले देश स्थित हैं। इसके किनारे जिद्दा, हेजाज, मोका, क्युसिर, मिस्र, पोर्ट सूडान, स्वेज, अकाबा आदि नगर स्थित हैं। उत्तरी अफ्रीका तथा यूरोप का एशिया के देशों से स्वेज नहर द्वारा संबंध होने से इसकी व्यापारिक महत्ता बहुत बढ़ गई है। इसके जल में एक प्रकार का लाल शैवाल होने के कारण इसका नाम लाल सागर पड़ा है। [सु० चं० श०]

लॉवेल, पर्सिवैल (Lowell, Percival, सन् १८५५-१९१६), अमरीकन खगोलज्ञ, का जन्म बोस्टन नगर में हुआ था। हारवर्ड विश्वविद्यालय से आप स्नातक परीक्षा में ससंमान उत्तीर्ण हुए।

सन् १८८३ से १८९३ तक ये साहित्यसेवा तथा यात्रा में व्यस्त रहे, किंतु बाद में आप खगोल की ओर आकर्षित हुए और आपने ऐरिज़ोना प्रदेश के फ्लैगस्टाफ़ नामक स्थान पर एक वेधशाला स्थापित की, जो इनके नाम से प्रसिद्ध है। आपने मंगल ग्रह का विशेष रूप से तथा बुध, शुक्र और शनि ग्रहों का भी अध्ययन किया।

आपने व्याख्यानों तथा लेखों द्वारा इस विचार का प्रतिपादन किया कि मंगल ग्रह पर बुद्धिमान् जीव निवास करते हैं, जिन्होंने वहाँ के ध्रुवों पर की पिघलती हुई बरफ के जल को नहरों द्वारा उपयुक्त स्थान पर लाकर खेतों की सिंचाई का प्रबंध किया है।

आपने एक अज्ञात ग्रह (प्लूटो, जिसका पता पीछे सन् १९३० में लगा) के अस्तित्व तथा स्थिति के संबंध में पूर्वसूचना दी थी। [भ० दा० व०]

लॉवेल संस्थान (Lowell Institute) मासाचूसेट्स की राजधानी बोस्टन में स्थित शिक्षण संस्थान है। इसकी स्थापना जॉन लॉवेल (१७९९-१८३६ ई०) की वसीयत से प्राप्त ढाई लाख डालर की धनराशि से हुई। वसीयत में लॉवेल ने अपनी जन्मभूमि के अभ्युदय के लिये देशवासियों के ज्ञान और बुद्धि की वृद्धि को आवश्यक बताते हुए इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये बोस्टन नगर में सार्वजनिक व्याख्यानों के लिये धनराशि की व्यवस्था की।

इस वसीयत से दो प्रकार के व्याख्यानों का प्रबंध किया जाता है, एक सर्वसाधारण के लिये और दूसरा विद्वानों के लिये। विगत सौ वर्षों से प्रति वर्ष यूरोप के विशिष्ट विद्वान् संस्थान की ओर से सार्वजनिक व्याख्यान देते रहे हैं। विद्वानों के लिये व्याख्यानों का प्रबंध कुछ समय बाद हुआ और वह आज भी किसी न किसी रूप मे हो रहा है। [मा०]

लाव्वाज़्ये, आँत्वाँ लॉरेंत (Lavoisier, Antione Laurent, सन् १७४३-९४), फ्रांसीसी रसायनज्ञ, का जन्म पैरिस के एक धनी व्यापारी परिवार में हुआ था। इन्होंने कॉलेज माज़ारँ में कानून के साथ साथ गणित, खगोलिकी तथा वनस्पति और रसायन शास्त्र की शिक्षा पाई।

रसायन शास्त्र में अत्यधिक आकर्षण के कारण आपने कानून का धंधा छोड़कर, अपने जीवन का उद्देश्य वैज्ञानिक अनुसंधान बनाया तथा सन् १७६५ में फ्रांस की वैज्ञानिक परिषद् में अपना प्रथम लेख उपस्थित किया। इसी परिषद् से, सन् १७६६ में एक बड़े नगर की सड़कों को प्रकाशित करने की सर्वोत्तम रीति पर लेख लिखकर, एक स्वर्णपदक प्राप्त किया। इसके पश्चात् दो वर्ष तक ये फ्रांस के भौमिकीय सर्वेक्षण में लगे रहे और सन् १७६८ में फ्रांस देश का प्रथम भूवैज्ञानिक मानचित्र तैयार किया। इसी वर्ष आप वैज्ञानिक परिषद् के सहकारी सदस्य नामांकित हुए।

लाव्वाज्ये को आधुनिक रसायन का जन्मदाता माना जाता है। रसायन के क्षेत्र में इनका वही स्थान है जो भौतिकी के क्षेत्र में न्यूटन का है। दो हजार वर्ष से यह विश्वास चला आता था कि जल को पृथ्वी में परिवर्तित किया जा सकता है। सन् १७७० में लव्वाज्ये ने अपने उन प्रयोगों तथा उनके फलों का वर्णन किया, जिनसे यह विश्वास मिथ्या सिद्ध हो गया। पाँच वर्षों तक लगातार विविध प्रयोग कर इन्होंने खोज निकाला कि वायु दो गैसों का मिश्रण है। इनमें से एक का नाम ऑक्सीजन इन्हीं का दिया हुआ है। आपने दिखाया कि वस्तुओं के जलने के लिये ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है तथा साँस लेने में भी यही गैस काम आती है। इस प्रकार आपने सिद्ध किया कि दहन और श्वसन मुख्यतया एक ही प्रकार की प्रक्रियाएँ हैं तथा वायु के ऑक्सीजन के साथ धातुओं के संयोग से धातुभस्में बनती हैं।

सन् १७८३ में आपने घोषणा की कि जल हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का यौगिक है। तत्व ऐसे पदार्थ माने जाते थे जिनसे संसार के अन्य सब पदार्थ बने है, किंतु वे स्वयं किसी अन्य पदार्थ से नहीं बनते। इस प्रकार यह परंपरागत धारणा कि जल एक तत्व है, टूट गई। लाव्वाज्ये ने रासायनिक तत्वों की सूची सर्वप्रथम तैयार की। आपने अन्य वैज्ञानिकों के सहयोग से पदार्थों के रासायनिक नाम रखने की एक पद्धति भी तैयार की, जिसका उपयोग अभी भी होता है। लाव्वाज्ये ने स्वयं तथा अन्य रसायनज्ञों, जैसे ब्लैक, प्रीस्टलि, कैवेंडिश आदि, द्वारा किए गए प्रयोगों से प्राप्त ज्ञान का संकलन कर, एक नए रसायनशास्त्र की रूपरेखा तैयार की, जिसने शनैः शनैः आधुनिक रसायन का रूप लिया। आपने रसायन आदि विषयों पर कई उत्कृष्ट ग्रंथ लिखे हैं।

लाव्वाज्ये ने पैरिस के सार्वजनिक जीवन में भी महत्व के काम किए। राजनीति में इनके विचार उदार थे। उस समय के फ्रांस में, वे सामाजिक सुधार को आवश्यक स्वीकार करते थे, किंतु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अवैधानिक उपाय अपनाने के पक्ष में वे न थे। सरकार को सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से अस्पताल, जेल आदि से संबंधित अनेक प्रश्नों पर आपने विस्तृत जाँचें कीं। आप उन महान् वैज्ञानिकों में से सर्वप्रथम थे जिन्होंने अपने जीवन का बड़ा भाग राष्ट्र की सेवा में समर्पित किया है। किंतु ये फ्रांस में राज्यक्रांति के दिन थे और क्रांति के विचारों का ही यह फल था कि सन् १७६८ मे राज्य के मुख्य इजारेदार नियुक्त होने पर यद्यपि आपने लगानबंदी मे महत्व के सुधार किए थे, फिर भी उनका यही पद सन् १७६३ में गिलोटीन पर उनके प्राण लिए जाने का कारण हुआ। इस दुःखद घटना के दूसरे दिन प्रसिद्ध गणितज्ञ तथा खगोलज्ञ, जोसेफ़ लुई लाग्रांज, ने कहा था 'उस सिर को काटने में केवल एक पल लगा, जिसके सदृश अन्य सौ वर्ष में भी पैदा न होगा'। [भ० दा० व०]

लासाल, फर्डिनेंड (१८२५-१८६४) जर्मनी में सामाजिक जनवादी आंदोलन का प्रमुख प्रवर्तक। यहूदी व्यापारी का पुत्र फर्डिनेंड लासाल अपने संक्षिप्त परंतु अत्यंत प्रतिभाशाली एवं सक्रिय राजनीतिक जीवन में कुशल नेतृत्वशक्ति एवं प्रभावोत्पादक वक्तृत्व के कारण जर्मनी के श्रमिकों का मुख्य संगठनकर्ता बना। १८४५ ई० मे, २० वर्ष की अवस्था में ही वह काउंटेस हट्सफेल्ड्ट का विश्वासपात्र मित्र बना। काउंटेस के पति के विरुद्ध उसके तलाक के मुकदमे को तैयार करने में उसने काउंटेस की सहायता ही नहीं की वरन् एक विधिवेत्ता एवं व्याख्याता के रूप में अपनी क्षमताओं का विकास भी किया। काउंटेस ने भी लासाल के राजनीतिक जीवन में अंत तक साथ दिया। १८४८ की पेरिस क्रांति के अवसर पर लासाल मार्क्स का साथी था एवं अपने को मार्क्सवादी घोषित करता था, परंतु बाद में समाजवादी आंदोलन के संगठन के प्रश्न पर उनमें मौलिक मतभेद उत्पन्न हो गया और मार्क्स ने लासाल का कड़ा विरोध कर उसपर अवसरवादिता का आरोप लगाया। १८६२ तक लासाल सक्रिय आंदोलन से अलग अपनी दार्शनिक एवं विधिशास्त्रीय वृत्तियों में लगा रहा. परंतु उसके बाद दो वर्ष तक उसके व्याख्यान जर्मन श्रमिकों को उत्तेजित करते रहे। १८६३ में, लाइपजिग में, उसने अखिल जर्मन श्रमिक संघ (आलगेमाइनर डोएट्शर आरबाइटरफेराइन) की स्थापना की। लासाल का यह संघ जर्मनी की प्रसिद्ध सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी का पूर्वगामी था। १८६४ ई० में एक द्वंद्व युद्ध में वह गोली से घायल हुआ तथा उसकी मृत्यु हो गई।

लासाल कार्ल मार्क्स के समान कुशल सिद्धांतकार तो नहीं था, परन्तु उसने श्रमिकों को व्यावहारिक नेतृत्व प्रदान कर समाजवादी क्रांति की सफलता के लिये प्रजातंत्रीय पद्धति का समर्थन किया। अत. उसके दो मुख्य नारे थे . (१) बालिग मताधिकार, (२) राज्य की सहायता से सहकारी उत्पादक समितियों की स्थापना। श्रमिकों के आर्थिक उन्नयन के लिये राज्य से हस्तक्षेप की माँग लासाल की राज्य की अपनी धारणा का परिणाम था। उसके अनुसार राज्य संपत्तिवानों की संपत्ति की रक्षा के लिये नियुक्त 'रात्रि के चौकीदार' से भिन्न एक ऐसी आदर्श संस्था है जो न केवल स्वतंत्रता के लिये मानव द्वारा किए संघर्षों का परिणाम है, वरन् भविष्य की सामाजिक प्रगति के लिये अनिवार्य साधन भी है। राज्य की यह धारणा लासाल ने हीगल तथा फिश्टे से प्राप्त की थी जिनके आदर्शवादी दर्शन का उसके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा था। [ ]

लास्की, हैरोल्ड जोसेफ (Laski, Harold Joseph) इंग्लैंड के मैंचेस्टर नगर के एक संभ्रांत यहूदी परिवार मे ३० जून, १८६३ ई० को जन्म। पिता नाथन लास्की इंग्लैंड में कपास के आयात के प्रमुख व्यवसायी; माँ सारा लास्की। हैरोल्ड उनकी दूसरी संतति थे। लालन पालन परंपरागत यहूदी संस्कार में हुआ। मैंचेस्टर के ग्राम स्कूल तथा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के न्यू कालेज में शिक्षा, १९१३ में 'बेट' पुरस्कार मिला। १९१४ में आधुनिक इतिहास में फर्स्ट क्लास ऑनर्स। राजनीति विज्ञान के पंडित। शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् अमरीका के मैकगिल विश्वविद्यालय के अध्यापक (१९१४-१६) नियुक्त हुए। इसके पश्चात् हारवर्ड (१९१६-१९१८), ऐमहर्स्ट (१९१७), येल (१९१९-२०, १९३१), विश्वविद्यालयों में उन्होने अध्ययन किया। १९२० ई० में 'लंदन स्कूल

ऑव इकोनॉमिक्स में अध्ययनार्थ लंदन आए। १८३६ में वहीं राजनीति के प्रोफेसर हो गए एवं जीवन पर्यंत अध्यापन करते रहे। इसी व्यवधान में मैगडेलेन कालेज, कैंब्रिज (१६२२-२५), येल (१६३१-३३) मास्को (१६३४), ट्रिनिटी कॉलिज, डबलिन (१६३६) में उन्होंने विशेष व्याख्यान दिए। उनकी कृतियों में निम्नलिखित मुख्य हैं— १. ऑथोरिटी इन मॉडर्न स्टेट (१६१६); २. ए ग्रामर ऑव पॉलिटिक्स (१६२५); ३. लिबर्टी इन मॉडर्न स्टेट (१६३०); ४. दि अमेरिकन प्रेसीडेंसी (१६४०)। उनकी रचना की विशेषता है धैर्य और प्रतिभा, जो समान मात्रा में उपलब्ध है। सन् १६३७ ई० में एथेंस (ग्रीस) विश्वविद्यालय ने उन्हें एल-एल० डी० की उपाधि दी।

लास्की १६२१ से १६३० तक ब्रिटिश इंस्टिट्यूट ऑव एडल्ट एड्यूकेशन के उपाध्यक्ष रहे। १६२२-२६ की अवधि में वह फेबियन सोसायटी के सदस्य थे। १६२६ में लॉर्ड चांसलर के डेलिगेटेड लेजिस्लेशन कमेटी के सदस्य हुए। इसी तरह स्थानीय शासन की विभागीय कमेटी, लीगस एड्यूकेशन; इंडस्ट्रियल कोर्ट; काउंसिल ऑव दी इंस्टिट्यूट ऑव पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन; मजदूर दल (लेबर पार्टी) की एक्जिक्यूटिव कमेटी के सदस्य रहे।

लास्की सिद्धांत से समाजवादी थे। व्यक्तिगत स्वातंत्र्य में उनकी बड़ी आस्था थी। किंतु १६३१ में जब ब्रिटेन में मजदूर सरकार का पतन हुआ तो वह इस विचार के हो गए कि ब्रिटेन में थोड़ी क्रांति आवश्यक है। निदान १६४६ में द्वितीय महायुद्ध का अवसान होने पर, जब ब्रिटेन में मजदूर सरकार अत्यधिक बहुमत से स्थापित हुई तो एक सामाजिक क्रांति अलक्षित रूप में हो गई एवं लास्की की कल्पना—'जन-कल्याण-राज्य' सत्य हो उठी। उस समय वह ब्रिटेन के मजदूर दल के अध्यक्ष थे। राजनीति में रहने पर भी उन्हें अपने निर्वाचन में दिलचस्पी नहीं थी। मजदूर दल के टिकट पर पार्लिमेंट में अपना निश्चित निर्वाचन एवं मंत्रिमंडल में आने की संभावना रहते हुए भी उन्होंने टिकट नहीं लिया।

हैरोल्ड का विवाह फ्रीदा केरी से हुआ एवं १६१५ में उनकी एकमात्र संतान कन्या डायना [डायना मेटलैंड] पैदा हुई। विवाह के समय हैरोल्ड १८ साल के थे; फ्रीदा २६ साल की! वह बहुत ही प्रगतिशील विचार की थी। संतति-सौंदर्य-वर्धन शास्त्र (Eugenics) पर भाषण देती थी। वह क्रिस्तान थी; हैरोल्ड यहूदी। धर्म की विषमता के कारण लास्की परिवार से उन दोनों को अलग होना पड़ा। पर १६२० में फ्रीदा यहूदी धर्म में दीक्षित हो गई। अत: परिवार से लास्की का संबंध पुन: स्थापित हो गया।

लास्की की शिक्षा पूर्णतः बौद्धिक थी। कला या संगीत का कोई प्रभाव उनके जीवन में परिलक्षित नहीं होता। संतति-सौंदर्य-वर्धन में उनकी विशेष रुचि थी। उन्होंने गॉल्टन क्लब की स्थापना की, जहाँ इस विषय पर विचार वार्ता होती रहती थी। पुस्तकों का संकलन उनकी हॉबी थी। टेनिस के वह अच्छे खिलाड़ी थे। पत्रकारिता से उनका घनिष्ठ संबंध था। किसी समय वह दैनिक डेली हेरल्ड के सह संपादक रह चुके थे। उन्होंने एडमंड बर्क तथा जॉन स्टुअर्ट मिल की कृतियों का संपादन किया। इंग्लैंड एवं अमरीका के पत्रों में वह बहुधा अपना निबंध प्रकाशित करते रहते थे। लार्ड ब्राइस के पश्चात् अमरीका की राजनीति, इतिहास तथा विधान से लास्की के समान अन्य कोई व्यक्ति परिचित नहीं रहा है। वाग्मिता में उनका स्थान इस शताब्दी के उच्चतम वक्ताओं में है।

मार्च २४, सन् १६५० ई० को इनका देहांत हुआ। बहुत से लोगों का अनुमान है कि अत्यंत कार्यसंकुल जीवन रहने के कारण उनकी असामयिक मृत्यु हुई।

लास्की का प्रभाव विश्वव्यापी रहा है। लंडन स्कूल ऑव इकॉनॉमिक्स में अध्यापन करते समय संसार के भिन्न भिन्न देशों से छात्र-छात्राएँ अध्ययन के निमित्त उनके पास आते रहे और उनकी प्रगतिशील समाजवादी भावनाओं से प्रभावित हो अपने अपने देश में जनकल्याण की योजनाओं में उन सबों ने किसी न किसी रूप में अवश्य योग दिया। उनके कितने ही छात्र आज एशिया एवं अफ्रीका के विभिन्न देशों में राजनीति में एवं उच्च सरकारी पदों पर विराजमान हैं। विद्यार्थियों से उन्हें अत्यधिक प्रेम था। उन्हें हर तरह सहायता पहुँचाने के लिये वह सर्वदा इच्छुक रहते थे। उनके लिये लास्की के घर का दरवाजा सदा खुला रहता था। एक विशिष्ट विद्वान् ने कहा—लास्की वर्तमान युग के सबसे प्रगतिशील एवं निर्भीक विचारकों में थे। राजनीति विज्ञान का एक स्कूल ही उन्हें केंद्र बनाकर विकसित हुआ है।'

सं० ग्रं०—मार्टिन, किंग्सली : हैरोल्ड लास्की (१६५३)

[न० कु०]

लाहुल एवं स्पिटी स्थिति : ३१° ४५' से ३२° २' उ० अ० तथा ७३° ४५' से ७८° ४०' पू० दे०। यह भारत के केंद्रशासित हिमाचल प्रदेश राज्य का एक जिला है। पहले यह पंजाब में था। जिले का क्षेत्रफल ४,७१४ वर्ग मील तथा जनसंख्या २०,४५३ (१६६१) है। हिमालय पर्वतश्रेणी द्वारा यह दो भागों में विभक्त है: १. लाहुल — चंबा पर्वतों तथा गंजाम श्रेणी के बीच स्थित है। धरातल चट्टानी, कटा फटा, ऊँचा तथा घाटियों से युक्त है। चंद्रा एवं भागा प्रमुख नदियाँ हैं। जलवायु अत्यंत ठंढी तथा कठोर है। मानव निवास चंद्रा तथा भागा की निचली घाटियों में ही है। शेष भाग निर्जन है। निवासी चरवाहे तथा घुमक्कड़ हैं। जौ प्रमुख उपज है। २. स्पिटी — इस भूभाग में स्पिटी नदी पूर्व की ओर बहती है। यहाँ चोटियाँ २०,००० से २३,००० फुट तक ऊँची हैं। यहाँ के गाँव १२,००० से १४,००० फुट की ऊँचाई तक बसे हैं। आबादी स्पिटी नदी के किनारे स्थित है। प्रमुख उपज जौ है। [शां० ला० का०]

लाहौर (Lahore) स्थिति : ३१° ३२' उ० अ० तथा ७४° २२' पू० दे०। पाकिस्तान बनने के पूर्व यह पंजाब प्रांत की राजधानी था, पर अब यह केवल पश्चिमी पाकिस्तान की राजधानी है। नगर का प्राचीन भाग हजारों वर्ष पुराना है और मुगल राज्य के अनेक चिह्न यहाँ स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। अंग्रेजों के पूर्व यहाँ सिक्खों का राज्य था और लाहौर उनकी राजधानी थी। यहाँ अनेक ऐतिहासिक गुरुद्वारे विद्यमान हैं। पुराने शहर के चारों ओर १५ फुट ऊँची ईंटों की दीवार मौजूद है। नगर में राणा रणजीतसिंह की समाधि स्थित है। लाहौर से ६ मील उत्तर में रावी नदी के उस पार सम्राट्

जहाँगीर की संगमरमर की बनी भव्य कब्र स्थित है, जिसके चारों ओर बगीचा लगा है। नगर से ६ मील पूर्व में भारतीय ढंग का शालामार नामक सुंदर बगीचा है, जो शाहजहाँ द्वारा लगवाया गया था। पुराने नगर के बाहर दक्षिण और १८४९ ई० में यूरोपीय लोगों के आवास बने थे। अब पुराने नगर के आसपास अनेक बस्तियाँ हो गई हैं। लाहौर का आधुनिक नगर चार भागों में बँटा है : पुराना नगर, डोनैल्ड टाउन, अनारकली बाजार तथा मियाँ मीर की छावनी। सिविल लाइन की मुख्य सड़क माल कहलाती है। लाहौर पंजाब की शिक्षा का प्रमुख केंद्र है। यहाँ पंजाब विश्वविद्यालय है, जिसके साथ अनेक चिकित्सा, विधि, अध्यापक प्रशिक्षण तथा आर्ट्स महाविद्यालय संलग्न हैं। नगर की जनसंख्या १२,९६,००० (१९६१) है। कपड़ा बुनना, तथा आटा चक्कियों के अतिरिक्त यहाँ अनेक अन्य उद्योग धंधे भी हैं।

लिंकनशिर (Lincolnshire) स्थिति : ५३° ११′ उ० अ० तथा ०° २०′ प० दे०। यह इंग्लैंड की पूर्वी समुद्रतटीय काउंटी है, जिसका क्षेत्रफल २,६६५ वर्ग मील है। यह पश्चिम में नॉटिंगैमशिर, एवं लिस्टरशिर काउंटियों से, दक्षिण में नॉर्थैंपटनशिर, रटलैंडशिर एवं कैंब्रिजशिर से, उत्तर में यॉर्कशिर से तथा पूर्व में नार्थ सी से घिरा हुआ है। यह काउंटी पार्ट्स ऑव हालैंड, पार्ट्स ऑव केस्टीवेन तथा पार्ट्स ऑव लिंडसे में विभक्त है, ये पार्ट्स स्वप्रशासित हैं। यहाँ की भूमि, विशेषतः तटीय भूमि, चौरस और नीची है। पार्ट्स ऑव हालैंड का दक्षिण पूर्वी भाग कृष्यकृत पंक भूमि है तथा यह नहरों के जाल द्वारा जलउत्सरित होती है। इस भूमि पर अन्न उपजाया जाता है। पार्ट्स ऑव लिंडसे का उत्तरी भाग अजोत भूमि (heath), दलदली भूमि तथा परती भूमि से ढँका हुआ है। पार्ट्स ऑव केस्टीवेन दक्षिण पश्चिम में जंगली है। जहाज बनाना, जाल बुनना, डोरियाँ बनाना तथा कुछ सीमा तक मशीन निर्माण का कार्य यहाँ होता है। लिंकनशिर धार्मिक वास्तुकला के लिये विख्यात है। लिंकन कैथेड्रल इसका उदाहरण है। रोमनों के काल से ही काउंटी का प्रशासनिक नगर लिंकन प्रसिद्ध है। मध्ययुग में लिंकन ऊन निर्माण करनेवाला नगर था, जो लिंकनग्रीन वस्त्र बनाने के लिये प्रसिद्ध था। अब यह नगर कृषि उपकरणों तथा इंजीनियरिंग के सामानों के बनाने का केंद्र है। काउंटी का दूसरा बड़ा नगर ग्रिम्जबि (Grimsby) है। यहाँ की जनसंख्या ७,०६,००० (१९५२) है।
[अ० ना० मे०]

लिंग (Sex) से तात्पर्य उन पहचानों या लक्षणों से है, जिनके द्वारा जीवजगत् में नर को मादा से पृथक् पहचाना जाता है। जंतुओं में असंख्य जंतु ऐसे होते हैं जिन्हें केवल बाह्य चिह्नों से ही नर, या मादा नहीं कहा जा सकता। नर तथा मादा का निर्णय दो प्रकार के चिह्नों, प्राथमिक (primary) और गौण (secondary) लैंगिक लक्षणों (sexual characters), द्वारा किया जाता है। वानस्पतिक जगत् में नर तथा मादा का भेद, विकसित प्राणियों की भाँति, पृथक् पृथक् नहीं पाया जाता।

लिंग का विकास — जगत का इतिहास देखा जाए तो ज्ञात होगा कि संसार के आदि जीवों की उत्पत्ति अलैंगिक (asexual) ढंग पर हुई; जैसे, प्रोटोज़ोआ (Protozoa) तथा प्रोटोफ़ाइटा (Protophyta) के अनेक रूपों में नर तथा मादा द्वारा मिलकर सृष्टि नहीं हुई। इन जीवों की उत्पत्ति शरीर विखंडन (fission), मुकुलन (budding) तथा बीजाणुनिर्माण (spore formation) द्वारा हुई।

विकास के दूसरे चरण में नर तथा मादा के अत्यंत सूक्ष्म लक्षण प्रकट होने लगे। प्रोटोज़ोआ श्रेणी के कुछ अन्य जीव संयुग्मन (conjugation) द्वारा संतानोत्पादन करने लगे। इसमें एक ही प्रकार के दो जीव आपस में मिलकर एकाकार होने और फिर विभाजित होकर अनेक संख्या में उत्पन्न होने लगे, जैसे वॉल्वॉक्स (Volvox) के निवहों (colonies) में देखा जाता है।

इसके पश्चात् लिंग विकास की तीसरी अवस्था आई, जिसमें एक ही प्राणी के अंदर नर तथा मादा दोनों जननांग विकसित हुए, जैसे, केंचुआ (earth-worm), जोंक (leech) आदि में।

लिंग विकास की अंतिम अवस्था में नर तथा मादा जननांग सर्वथा पृथक् हो गए, जैसा कुत्तों, बंदरों, गाय, बकरियों तथा मनुष्यों आदि में देखा जाता है।

प्राथमिक लैंगिक लक्षणों के अंतर्गत नर में वृषण (testes) तथा मादा में अंडाशय (ovaries) आते हैं। गौण लैंगिक लक्षणों में उन अंगों तथा लक्षणों की गणना की जाती है, जिनसे नर और मादा को उनकी आकारिकी (morphology) द्वारा ही पृथक् पहचान लिया जाता है, जैसे कुछ कशेरुकी (vertebrate) जंतुओं में मैथुनांगों (copulatory organs) को स्पष्टतः पृथक् देखा जा सकता है। नर प्राणी में शिश्न (penis) तथा मादा में भग (vulva) मैथुनांग होते हैं। कतिपय अन्य जीवों में गौण लैंगिक लक्षणों के अंतर्गत मूँछ दाढ़ी, सुंदर तथा भड़कीले पंख, सिर की कलगी, सींग, स्तन, प्रभुत्व जमाना, मधुर स्वर, मातृत्व की इच्छा, आक्रमण क्षमता आदि आते हैं। इसी प्रकार वनस्पतिजगत् में भी फूलों की सुगंध, रंग, भड़कीलापन, फलोत्पादन आदि लैंगिक लक्षण होते हैं।

लिंग का निर्धारण — प्राणियों में लिंग का निर्धारण तीन प्रकार से होता है : (१) निषेचन (fertilization) के पहले ही, (२) निषेचन के समय तथा (३) निषेचन के बाद। किंतु, सामान्यतया लिंग का निर्धारण निषेचन के ही समय होना माना जाता है। नर के शुक्राणु (sperm) का मादा के अंडाशय से संयुक्त होना निषेचन कहा जाता है। वातावरण में निषेचित अंडे, या युग्मनज (fertilized egg or Zygote), की क्रमशः वृद्धि होती रहती है।

नर तथा मादा का निर्धारण कुछ जटिल प्रक्रियाओं द्वारा होता है। वैज्ञानिकों ने इस संबंध में कई सिद्धांत उपस्थित किए हैं। इन सिद्धांतों में निम्नलिखित दो सिद्धांत अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध हैं : (१) गुणसूत्र, या क्रोमोसोम सिद्धांत तथा (२) हॉर्मोन सिद्धांत।

(१) क्रोमोसोम सिद्धांत — आनुवंशिक विज्ञान (Genetics) के अनुसार प्राणियों के शरीर में जो कोशिकाएँ (cells) पाई जाती हैं, उनमें कुछ ऐसी रचनाएँ होती हैं जो विशेष प्रकार के रंजकों और अभिरंजकों (dyes and stains) को ग्रहण कर लेती

हैं, इन रचनाओं को क्रोमोसोम कहा जाता है। आनुवंशिक विज्ञान में विशेषकर युग्मकों, या लिंग कोशिकाओं (gametes or sex-cells), में पाए जानेवाले क्रोमोसोमों पर ही विचार किया जाता है। भिन्न-भिन्न प्राणियों की जनन कोशिकाओं में क्रोमोसोमों की संख्या इस प्रकार पाई गई है :

प्राणी का नाम	क्रोमोसोमों की संख्या	प्राणी का नाम	क्रोमोसोमों की संख्या
साइकन (Sycon) स्पंज	२६	नेट्रिक्स (Natrix)	४०
हाइड्रा (Hydra)	३०–३२	कपोतवंश या कोलंबा (Columba)	६६
लंब्रिकस (Lumbricus) वंश की जोंक	३२	मुर्गा (Fowl)	१८–२०
यूनियो (Unio) सीप	३२	चमगादड़ (Bat)	२४
तारामीन (Starfish)	३६	लीपस (Lepus) वंश का खरगोश	२८–३६
झींगा (Squilla) मछली	४८		
बिच्छी (Buthus)	२४	कुत्ता (Dog)	५०–७८
एक मछली (Scyllium)	२४	लोमड़ी (Fox)	३८
ब्यूफोटोड (Bufo toad)	२४–२६	बिल्ली (Cat)	६६
कच्छपगण (Chelonia)	५६	चौपाए (Cattle)	३८–६०
मगर (Crocodile)	३२	बकरा (Goat)	६०
भेड़ (Sheep)	६०	भैंसा (Buffalo)	४८–५६
घोड़ा (Horse)	६०–६६	सूअर (Pig)	३८–४०
बंदर (Monkey)	४८	चिंपैंजी (Chimpanzee)	४८
मानव (Humans)	४६	ऊँट (Camel)	७०

सन् १९०१–२ में मैक्लंग (Macclung) नामक विद्वान् ने क्रोमोसोम का पता लगाया। उसी ने कुछ सिद्धांत भी बनाए, जो कालांतर में वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा पुष्ट होते गए। इस सिद्धांत में यह माना जाता है कि प्रत्येक प्राणी के कुछ विशिष्ट क्रोमोसोमों की संख्या पर उसका लिंग निर्भर करता है। क्रोमोसोमों की रचना को यदि अधिक शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी, जैसे इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी, द्वारा देखा जाए, तो उसमें भी कुछ बहुत ही सूक्ष्म रचनाएँ दिखाई पड़ेंगी। इनको जीन (Genes) कहा जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि ये ही जनक के आनुवंशिक (hereditary) गुणों को उनकी संतानों तक पहुँचाते हैं। जंतुओं और वनस्पतियों के क्रोमोसोमों तथा जीनों को लेकर बहुत अधिक अनुसंधान और प्रयोग हुए हैं।

यह पाया गया है कि प्रत्येक प्राणी की जनन कोशिकाओं में पाए जानेवाले क्रोमोसोमों में कुछ ऐसे होते हैं, जिन्हें अलिंगसूत्र (Autosomes) कहते हैं। ये नर तथा मादा दोनों में एक प्रकार के ही होते हैं और सदा युग्म (pair) में रहते हैं। कुछ दूसरे प्रकार के क्रोमोसोम भी पाए जाते हैं, जिन्हें लिंग निर्धारक (Sex determiner) कहा जाता है। अब तक जितने प्रकार के क्रोमोसोम पाए गए हैं, उन्हें एक्स (X), वाई (Y), डब्ल्यू (W), जेड (Z) तथा ओ (O) की संज्ञा दी गई है। माना जाता है कि नर तथा मादा का निर्धारण इन्हीं लिंगनिर्धारक क्रोमोसोमों की सम तथा विषम संख्या द्वारा होता है, जैसे मनुष्यों में लिंग का निर्धारण इस प्रकार होता है :

२१ अलिंग सूत्र+१ एक्स+१ वाई = पुरुष; तथा
२१ „ „ +२ „ = स्त्री।

क्रोमोसोमों की संख्या के अनुसार नर तथा मादा को विषमयुग्मकी (heterogamous), या समयुग्मकी (homogamous), कहा जाता है। किसी प्राणी में नर समयुग्मकी होता है, तो किसी में मादा। पक्षियों, तितलियों, मछलियों, जलस्थलचर (amphibians) आदि में मादा विषमयुग्मकी होती है। इन प्राणियों में लिंगनिर्धारक क्रोमोसोमों को ज़ेड (Z) तथा डब्ल्यू (W) नाम दिया जाता है, जबकि अन्य प्राणियों तथा वनस्पतियों में इन्हें एक्स (X) तथा वाई (Y) के नाम से संबोधित किया जाता है।

अनेक प्राणियों में एक्स तथा वाई ही नर या मादा लिंग का निर्धारण करते हैं। जब एक्स वाला शुक्राणु मादा के अंडे से संयुक्त होता है, तब युग्मनज को दो एक्स एक्स (X X) मिलते हैं और वह मादा बनता है। किंतु जब शुक्राणु का वाई मादा के अंडे के एक्स से संयुक्त होता है, तब युग्मनज को एक्स वाई, अर्थात् विषम संख्या, प्राप्त होती है और वह नर होता है। मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों के नर तथा मादा के क्रोमोसोमों में जो विभेद पाया जाता है, वह अगले पृष्ठ की सारणी में दिखाया गया है।

वनस्पतियों में क्रोमोसोम — जिस प्रकार जंतुओं में क्रोमोसोमों का अध्ययन किया गया है, उसी प्रकार वनस्पतियों में भी उनका अध्ययन किया गया है। अधिकतर बीजवाले पौधे उभयलिंगाश्रयी (monoecious) होते हैं, अर्थात् उनमें नर तथा मादा लिंग एक साथ होते हैं। क्रोमोसोमों की गणना होने पर भी लिंग की चर्चा केवल नर-मादा-विश्लेषण के ही संदर्भ में की जाती है, क्योंकि लिंग और आनुवंशिकता की समस्या वनस्पतिजगत् में नहीं है। कुछ जाति में नर तथा मादा पौधे पृथक् होते हैं। ऐसे पौधों के भी एक्स (X) तथा वाई (Y) क्रोमोसोमों का पता चला है, जैसे इलोडिया कैनाडेंसिस (Elodea canadensis), मिलैंड्रियम एल्बम (Milandrium album) आदि। बीजवाला एक पौधा, फ्रेगेरिया इलैटिओर (Fragaria elatior), चिड़ियों की भाँति क्रोमोसोम वाला (abraxas type) बतलाया जाता है। कुछ अन्य पौधों में नर विषमलिंगी (heterogametic) होते हुए भी दो वाई (Y) तथा एक एक्स (X) धारण करता है। ह्रास विभाजन (meiosis) के समय दोनों वाई (Y) तथा एक्स (X) पृथक् हो जाते हैं और दो वाई (Y) जनन कोशिका से मिलकर नर तथा एक एक्स (X) मादा भ्रूण के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इसी प्रकार लिंग का निर्धारण अन्य पौधों में भी होता है।

(२) **हार्मोन सिद्धांत** — प्राणियों के शरीर में कुछ ऐसी ग्रंथियाँ होती हैं जिन्हें वाहिनीहीन या अंतःस्रावी (Ductless, या Endocrine) कहा जाता है। कुछ विकसित, विशेषकर कशेरुकी, जंतुओं में इन ग्रंथियों के स्रावों का, जिन्हें हॉर्मोन कहते हैं, अध्ययन, किया गया है। वनस्पतियों में भी हॉर्मोन होते हैं या नहीं, यह विवादग्रस्त विषय है। जंतुओं के शरीर में पाई जानेवाली ग्रंथियों के नाम हैं : पीयूष (Pituitary, या Hypophysio), पीनियल (Pineal), अवटुग्रंथि (Thyroid), पैराथाइरॉइड (Parathyroid), थाइमस (Thymus), पैंक्रियस या अग्न्याशय

(Pancreas), वृक्क (Adrenal); जननग्रंथि (Gonads), नर में वृषण (Testis) तथा मादा में अंडाशय (Ovary)। इन ग्रंथियों से निकलनेवाले हॉर्मोनों का अध्ययन विस्तार से किया गया है और यह पाया गया है कि नर प्राणी में पुरुषत्व (maleness) और मादा में स्त्रीत्व (femaleness) संबंधित गौण लैंगिक लक्षणों का अस्तित्व इन्हीं की क्रिया पर निर्भर करता है। जीन और क्रोमोसोम केवल यह निश्चित करते हैं कि युग्मनज नर होगा या मादा। वास्तविक पुरुषत्व और स्त्रीत्व का निर्धारण तथा उचित दिशा में उनका विकास वाहिनीहीन ग्रंथियों के स्रावों की सहायता से ही होता है। जैसे, कोई भ्रूण पुरुष के रूप में जन्म लेनेवाला हो तो स्त्री हॉर्मोनों की सूई लगाकर अथवा उसे बधिया कर देने (castration) और उसके स्थान पर अंडाशय ग्रंथियों को आरोपित कर देने पर वह या तो पूर्णरूपेण स्त्री हो जाएगा, या उसमें स्त्रीत्व के लक्षण विकसित हो जाएँगे।

लिंग निर्धारण का संतुलन सिद्धांत — वनस्पतियों तथा जंतुओं का समुचित अध्ययन करने पर यह पाया गया है कि लिंग का निर्धारण नर और मादा प्रवृत्तियों का ही एकमात्र परिणाम नहीं होता। भ्रूण के विकास के साथ ही साथ नर और मादा निर्धारक तत्व भी समान रूप से ही विकसित होते हैं। कोई प्राणी नर या मादा केवल इसलिये नहीं हो जाता कि उसकी रचना विशेष संख्यावाले क्रोमोसोमों द्वारा हुई होती है, अपितु वह नर या मादा इसलिये भी हो जाता है कि उसने मादा या नर निर्धारक अन्य तत्वों को 'दबा' (outweigh) दिया। सभी हॉर्मोनों का उत्पादन शरीर मे होता रहता है, अत. जब स्त्रीत्व, या पुरुषत्व निर्धारक हॉर्मोन अधिक शक्तिशाली होंगे तब भ्रूण स्त्री, या पुरुष शरीर तथा प्रवृत्तियो की ओर अग्रसर होगा। हॉर्मोनों के संतुलन का ही यह परिणाम होता है कि प्राणी नर या मादा के रूप में जन्म लेता है। कर्ट स्टर्न (Curt Stern) ने यह दिखलाया है कि यदि किसी स्त्री में दो एक्स के स्थान पर तीन एक्स हों, तो उसमें अपेक्षाकृत अधिक स्त्रीत्व होगा। किंतु ऐसी स्त्री देर में ऋतुवती, अत्यधिक अल्पायु और सर्वथा वध्या होगी। इसी प्रकार गोल्डश्मिट (Goldschmidt) ने लिमैंट्रिया जैपोनिका नामक (Lymantria japonica) शलभ (moth) का अध्ययन कर यह बतलाया है कि जब बलवान नरों का निर्बल कीटों से संयुग्मन होता है तब ५०% सामान्य नर और ५०% अंतर्लिंगी मादा (intersexed female) की उत्पत्ति होती है। किंतु जब अत्यधिक सशक्त नरो का निर्बल मादाओं से संयोग होता है तब १००% नर कीट उत्पन्न होते हैं। प्रो० एफ० ए० ई० क्रिउ (F. A. E. Crew) भी कहते हैं कि भ्रूण के लिंग का निर्धारण केवल क्रोमोसोमों से ही न होकर, उनमें पाए जानेवाले जीनों (genes) की तथा अलिंगसूत्रों (autosomes) में पाए जानेवाले जनकों की अंतर्क्रिया (interaction) से भी होता है, जैसे पक्षियों में मादा विषमलिंगी एक्स वाई (X Y) तथा नर समलिंगी एक्स एक्स (X X) होते हैं। कीटों में लैंगिक विभाजन जनन ग्रंथियों पर निर्भर नहीं करता। उनके मुख्य जनकात्मक लक्षण इस प्रकार होते हैं : नर = एक्स ओ (X O), या एक्स वाई (X Y); मादा = (X X) एक्स एक्स। फिकलर (Finkler) ने सन् १९२३ में कुछ नर कीटों के मस्तक काटकर मादाओं पर तथा मादाओं के

कुछ प्राणियों के नर तथा मादा के क्रोमोसोमों की सारणी

नाम	नर	मादा	नाम	नर	मादा
कछुआ	एक्स एक्स (X X)	एक्स ओ (X O)	साँड़ा	एक्स एक्स (X X)	एक्स ओ (X O)
कबूतर	एक्स एक्स, या जेड जेड (X X या Z Z)	एक्स ओ, या जेड डब्ल्यू (X O या Z W)	मुर्ग	एक्स एक्स, या जेड जेड (X X या Z Z)	एक्स ओ या जेड डब्ल्यू (X O या Z W)
चमगादड़	एक्स ओ (X O)	एक्स एक्स (X X)	खरगोश	एक्स वाई, या एक्स ओ (X Y या X O)	एक्स एक्स (X X)
चूहा	एक्स वाई (X Y)	,, (X X)	कुत्ता	एक्स वाई (X Y)	, (X X)
चौपाए	एक्स ओ (X O)	,, (X X)	भैंस	,, (X Y)	,, (X X)
भेड़	एक्स वाई (X Y)	,, (X X)	घोड़ा	,, (X Y)	,, (X X)
चिंपैंजी	एक्स वाई (X Y)	,, (X X)	बंदर	,, (X Y)	,, (X X)
झींगुर, तेलचट्टा, टिड्डे	एक्स ओ, या एक्स वाई (X O या X Y)	,, (X X)	ड्रोसोफिला (Drosophila)	,, (X Y)	,, (X X)

मस्तक नरों पर लगा दिए। इन प्रयोगों में यह पाया गया कि कीटों ने अपने शरीर के अनुसार नहीं अपितु मस्तक के अनुसार काम किया, अर्थात् नर मस्तकवाली मादाओं ने नर की भाँति तथा मादा मस्तकवाले नरों ने मादा की भाँति लैंगिक लक्षण प्रकट किए।

लैंगिक द्विरूपता (Sexual Dimorphism) — यह बतलाया जा चुका है कि लैंगिक विकास के तृतीय चरण में नर मादा के भेद प्रकट होने लग गए थे। धीरे धीरे अंडाशय तथा वृषणों का विकास हुआ और सहायक अंग भी क्रमशः विकसित होते गए। अनेक निम्न जीवों में, तथा वनस्पतियों में भी नर तथा मादा जननांग एक ही शरीर में पाए जाते हैं। ज्यों ज्यों उच्च वर्ग की ओर बढ़ा जाएगा तो यह मिलेगा कि लिंग स्पष्ट ही पृथक् हो गए हैं और नर तथा मादा शरीर की रचना भी पृथक् है।

लैंगिक द्विरूपता का परिचित उदाहरण बोनेलिया विरिडिस (Bonellia viridis) नामक एक समुद्री कृमि है। इसकी मादा हरे रंग की तथा आकृति में बेर जैसी होती है। समुद्र के तल में पत्थरों के नीचे, या उनके छिद्रों में, यह कृमि निवास करता है। वहीं से अपनी द्विशाखित (bifurcated) शुंड (proboscis) को बाहर लहराते हुए यह जीव आहार ढूँढता रहता है। नर कृमि अत्यंत सूक्ष्म होता है और जननांगों के अतिरिक्त इसके अन्य सभी अंगों का ह्रास हो गया होता है। मादा के शरीर के भीतर नर कृमि परोपजीवी की भाँति रहता है। निषेचित अंडाशय विकसित होकर जल में स्वतंत्र रूप से तैरते हुए लार्वा की भाँति होते हैं। यदि कोई लार्वा समुद्रतल में बैठ जाता है, अथवा किसी मादा के शुंड में पहुँच नहीं पाता है, तो वह मादा के रूप में विकसित होने लगता है। किंतु यदि किसी प्रकार वह मादा के शुंड में आकर्षित होकर पहुँच जाता है, तो वह नर के रूप में विकसित होता है। मादा के शुंड में बंदी बौना नर, सरकते हुए उसके मुँह में तथा वहाँ से भी धीरे धीरे नीचे सरकते हुए मादा की जनन नलिका में पहुँचकर, डिंबाशयों को निषेचित करता है। निषेचित अंडाशय पुनः जल में त्याग दिए जाते हैं और स्वतन्त्र रूप से लार्वा की भाँति तैरने लग जाते हैं।

इसी प्रकार सैकुलाइना (Sacculina) नामक एक परजीवी क्रस्टेशिया (crustacea) नर तथा मादा केकड़ों पर आश्रित रहता है। गियार्ड (१८८७ ई०) तथा स्मिथ (१९०६ ई०) ने लिखा है कि इस क्रस्टेशिया का शरीर केकड़े के उदर में पलता है और कुछ भाग शरीर भेदकर बाहर भी निकल आता है। जिस केकड़े के शरीर में यह घुसता है, उसके जननांगों को यह चूस डालता है। इसके कारण वह वंध्या हो जाता है। अधिकांश केकड़े मर जाते हैं, कुछ नर मादा गुणों से युक्त हो जाते हैं, अथवा मादा केकड़े अंतर्लिंगी बनकर वृषण तथा डिंबाशय दोनों उत्पन्न करने लग जाते हैं।

लिंग सहलग्न वंशागति (Sex-linked Inheritance)—लिंग सहलग्नता का अर्थ है, लैंगिक क्रोमोसोमों में पाए जानेवाले जीनों के अनुसार लिंगों में विभिन्नता। इन जीनों पर जो गुण या विशेषक (traits) निर्भर करते हैं, उन्हें लिंग सहलग्नता कहते हैं। इन गुणों या विशेषकों की पारेषण विधि को लिंग सहलग्न वंशागति कहते हैं, जैसे पुरुष में एक्स वाई (X Y) तथा स्त्री में एक्स एक्स (X X) क्रोमोसोम होते हैं। कोई पुरुष यदि किसी आनुवंशिक दोष से दूषित है, तो केवल उसके पुत्र ही उस दोष को वंशगति में ग्रहण कर सकते हैं, पुत्रियाँ नहीं। सर्वप्रथम डॉङ्कास्टर (Doncaster) ने सन् १९०८ में इस विषय पर प्रकाश डाला था। उन्होंने एक शलभ अब्रैक्सस लैक्टिकलर (Abraxas lacticolor) की मादा का अब्रैक्सस ग्रॉस्सुलैरियाटा (Abraxas grossulariata) के नर से संयोग कराया। परिणामस्वरूप प्रथम पीढ़ी में सभी शलभ ग्रॉस्सुलैरियाटा वर्ग के कीट पाए गए। दूसरी पीढ़ी में ग्रॉस्सुलैरियाटा तथा लैक्टिकलर के अनुपात ३:१ थे, किंतु सभी लैक्टिकलर मादा निकले। इससे पता चला कि इस प्राणी में नर एक प्रकार के युग्मक (gametes) उत्पन्न करता है, किंतु मादा दो प्रकार के। अतः नर समयुग्मजी (homozygous) तथा मादा विषमयुग्मजी (Heterozygous) होती हैं। ब्रैंबेल (Brambell) कहते हैं कि एक्स (X) क्रोमोसोम में कुछ अन्य प्रकार के आनुवंशिक कारक तथा जीन होते हैं। यदि यह सिद्धांत ठीक है, तो समयुग्मजी माता पिता के विशेषक (traits) उनके विषमयुग्मजी संतानों में चले जाएँगे। इस सिद्धांत को लिंग सहलग्नता (Sex linkage) कहा जाता है, जैसे फलमक्खी ड्रॉसोफिला (Drosophila) की मादा में दो एक्स (X) तथा नर में एक्स वाई (X Y) क्रोमोसोम पाए जाते हैं। इसके एक्स (X) क्रोमोसोमों में लाल आँखों के जीन होंगे, या श्वेत आँखों के। लाल आँखवाले जीनों को प्रभावी (dominant) तथा श्वेत को अप्रभावी (recessive) कहते हैं। अतः जब श्वेत तथा लाल आँखोंवाली मक्खियों का संयुग्मन होता है, तब लाल आँखोंवाली संतान अधिक होती है। लिंग सहलग्नी रोगों में हीमोफिलिया (haemophilia) तथा रंगांधता (colour blindness) प्रमुख रोग माने जाते हैं।

अवियोजन (Non-disjunction) — शुक्राणु तथा डिंब संयुक्त होकर एक युग्मज (zygote) का निर्माण करते हैं। खंडी भवन (segmentation) की प्रक्रिया में एक ही निषेचित डिंब अनेक खंडों में तब तक विभाजित होता रहता है, जब तक वह पूर्ण भ्रूण नहीं बन जाता।

इस प्रक्रिया में शुक्राणु के क्रोमोसोम तथा डिंब के क्रोमोसोम एक साथ मिलकर विभाजित होते रहते हैं। उदाहरण के लिये, पुरुष के २३ तथा स्त्री के २३ क्रोमोसोम मिलकर ४६ क्रोमोसोम हो जाते हैं। विभाजन के समय २३ क्रोमोसोम एक छोर (pole) की ओर तथा २३ दूसरी ओर चले जाते हैं। इन दोनों छोरों को पुत्रीकोशिका केंद्रक (Daughter cell nucleus) भी कहते हैं। विभाजन की इस सामान्य प्रक्रिया में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जा सकते हैं, जैसे एक केंद्र में २२ क्रोमोसोम चले जाएँ तथा दूसरे में २४, या कोई अन्य दुर्घटना घट जाए, तो इसे अवियोजन कहा जाएगा। इस सिद्धांत के साथ ब्रिजेज (Bridges) का नाम लिया जाता है। इन्होंने सन् १९१६ में कुछ उत्परिवर्ती (mutant) प्राणियों का अध्ययन किया था। इन्होंने पाया कि एक्स एक्स एक्स (XXX) तथा एक्स एक्स वाई (XXY) वाले दोनों प्राणी मादा थे, एक्सओ (XO) वाला प्राणी नर, किंतु संतानोत्पादन में अक्षम था, और ओवाई (OY) वाला प्राणी बढ़ा ही नहीं। जिस प्राणी में एक एक्स (X) कम था, उसे प्राथमिक तथा जिसमें एक एक्स (X) अधिक था, उसे गौण अवियोजित कहा गया।

लैंगिक असामान्यताएँ (Sexual abnormalities) — अविभोजन की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप लैंगिक असामान्यताएँ हो जाती हैं। ये असामान्यताएँ मुख्यत: तीन प्रकार की होती हैं : (१) स्त्री पुंरूप (२) उभयलिंगी तथा (३) मध्यलिंगी।

स्त्रीपुंरूपता (Gynandromorphism)— स्त्रीपुंरूपता के अंतर्गत ऐसे प्राणी आते हैं जिनमें नर तथा मादा दोनों की विशेषताएँ पाई जाती हैं, जैसे तितलियों, पक्षियों तथा कीट पतंगों में से कुछ तो आधे आधे स्त्री पुरुष होते हैं तथा कुछ में ये विशेषताएँ भिन्न भिन्न अनुपात में होती हैं। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि स्त्रीपुंरूप प्राणी का जीवन मादा के, जिसमें एक्स एक्स (XX) उपस्थित है, रूप में प्रारंभ होता है। जब कोशिका विभाजन प्रारंभ होता है। उस समय विभाजित कोशिका के एक भाग में क्रोमोसोम की संख्या में घटबढ़ हो जाती है। फलस्वरूप एक विभाजित कोशिका में केवल एक वाई (Y) ही आ पाता है। इस प्रकार के क्रोमोसोमों की असमान संख्या के कारण नर तथा मादा की आकृतियों में भिन्नता होती जाती है। ऐसे स्त्रीपुंरूपवाले प्राणियों की आंतरिक रचना के परीक्षणों से पता चलता है कि उनके शुक्राणु तथा डिंब जननांग भी उपस्थित रहते हैं। यह असामान्यता उन में अधिक मात्रा में पाई जाती है जिनमें हॉर्मोनो का प्रभाव अत्यल्प होता है, अथवा सर्वथा नहीं होता। यही कारण है कि कुछ पक्षियों को छोड़कर स्त्रीपुंरूपता अन्य विकसित तथा उच्च प्राणियों में नहीं पाई जाती।

उभयलिंगता (Hermaphroditism) — संसार के लगभग सभी जीव उभयलिंगी होते हैं। पुरुषत्व तथा स्त्रीत्व की दिशा में किसी प्राणी का विकास किस आधार पर होता है, इस संबंध में सभी वैज्ञानिक एक मत नहीं हैं। कोशिका विभाजन के समय क्रोमोसोमों की संख्या में क्यों अंतर आ जाता है, अथवा लिंगनिर्माण के समय वोल्फ़ी तथा म्यूलरी वाहिनियों (Wolffian and Mullerian ducts) में से एक का क्यों ह्रास हो जाता है, या पुरुषत्व अथवा स्त्रीत्व निर्धारक हार्मोन किसी नियम, या मात्रा से, क्यों और कैसे निःस्रवित होते हैं ? इन सब प्रश्नों का कोई संतोषजनक उत्तर अभी वैज्ञानिक नहीं दे पाए हैं। अतः हम यह मान लेंगे कि स्त्री या पुरुष होना निरे संयोग की बात है।

प्रत्येक प्राणी में यह क्षमता होती है कि वह नर, या मादा में विकसित हो जाए। उभयलिंगता इसका ज्वलंत उदाहरण है। उभयलिंगी कई प्रकार के होते हैं, जैसे (१) ऐसे प्राणी जो स्वनिषेचन (self-fertilization) करते हैं, जैसे हाइड्रा (hydra), फीताकृमि (tapeworm), चपटाकृमि (flatworm) आदि (इन जंतुओं में इनका अपना ही शुक्राणु अपने ही डिंबों को निषेचित करता है), (२) दूसरे ऐसे प्राणी होते हैं जो निषेचन के लिये एक दूसरे पर निर्भर करते हैं; जैसे केंचुआ, जोंक आदि।

वनस्पतियों की भी अनेक जातियों में एक ही पौधे में कुछ फूल पौधे के किसी विशेष भाग में ही पाए जाते हैं। उच्च श्रेणी के अनेक पौधों में एक ही फूल में स्त्रीकेसर (pistils) तथा पुंकेसर (stamens) समीपस्थ होते हैं ताकि गर्भाधान में सरलता हो।

उभयलिंगियों में नर तथा मादा के अंत: और बाह्य लक्षण एक साथ पाए जाते हैं। भेकों (toads) की मादाओं में शुक्र तथा नरों में डिंब ग्रंथियाँ प्रायः साथ साथ पाई जाती हैं। कछुओं में भी अंडवृषण (ovotestes) पाए गए हैं। कबूतरों में नर की शुक्र ग्रंथि में डिंब तथा तारामीन की मादा के डिंबाशय में वृषण पाए गए हैं। केकड़ों में वृषण तथा डिंबाशय साथ साथ पाए गए हैं। इलास्मोब्रैंक (Elasmobranch) मछलियों में निष्क्रिय वृषण और सक्रिय डिंबाशय साथ साथ पाए गए हैं। कुछ मछलियाँ ऐसी भी पाई गई जिनमें दो डिंबाशय तथा एक वृषण था।

मध्यलिंगता (Intersexuality) — यह वह स्थिति है जब कोई प्राणी किसी एक लिंग की ओर विकसित होते होते सहसा, किसी कारणवश, दूसरे लिंग को भी धारण कर ले। मनुष्यों में हिजड़ों (eunuchs) की यही अवस्था होती है। आनुवंशिकविज्ञान के अनुसार ऐसी अवस्था का कारण तीन वायिक, या दैहिक क्रोमसोम समूह के साथ दो एक्स (X) क्रोमोसोमों का होना है। इसका अनुपात X : 2 X, या १½ : १ होता है (गोल्ड्श्मिट्)। इस अनुपात के कारण मक्खियों की बाहरी आकृति नर तथा मादा का मिश्रण होती है, यद्यपि जनन से उनके शरीर में नर तथा मादा ऊतक (tissues) नहीं पाए जाते। वे आकृति में या तो नर ही होंगी, या मादा ही। ऐसे प्राणी वंध्या होते हैं। क्रैबेल ने बतलाया है कि अंतर्लिंगी की जनन ग्रंथियाँ तो एक ही प्रकार की होती हैं, किंतु कुछ या सभी सहायक अंग तथा गौण लक्षण दूसरे लिंग के होते हैं। क्रिउ का मत है कि स्तनधारी पशुओं में जीन केवल लिंग का निर्णय मात्र कर देते हैं उनका वास्तविक विकास हार्मोनों के प्रभाव से ही होता है। सन् १९२३ मे क्रिउ ने कुछ घरेलू पशुओं (बकरे, सूअर, घोड़े, चौपाए, भेड़ तथा ऊँट) की जाँच की और पाया कि उनमें मिथ्या मध्यलिंगता (pseudo-intersexuality) थी, अर्थात् कुछ में तो नारी जननांग अत्यंत संकुचित थे, कुछ में सीधे और स्पष्ट, किंतु अनपेक्षित लंबे थे, तथा कुछ में स्पष्टतः नर के समान, किंतु अपूर्ण नलिकायुक्त थे। कुछ में वृषण तथा डिंब ग्रंथियाँ भी उपस्थित थीं। पुरुषों (मनुष्यो) में कुछ को मासिक धर्म होते तथा कुछ को दूध पिलाते हुए पाया गया है। जननांग में घाव, या शल्यक्रिया, या हार्मोन प्रयोग द्वारा मध्यलिंगता उत्पन्न हो सकती है।

लैंगिक परिवर्तन (Sexual Reversals) — अनेक प्राणियों में स्वत: लिंग परिवर्तन होता रहता है, उनका जीवनचक्र इस प्रकार होता है : नर (या मादा) → उभयलिंगी → मादा (या नर)। बोनेलिया, परजीवी केकड़ों, घोंघों, मधुमक्खियों, तारामीनों तथा पक्षियों में लैंगिक परिवर्तन प्रायः होते रहते हैं। प्रायः सभी वैज्ञानिकों ने मुर्गों में लैंगिक परिवर्तन का अध्ययन किया है और पाया है कि कोई मुर्गा आरंभ में मादा था और अंडे देता था, किंतु, डिंबाशय में रोग हो जाने के कारण अंडोत्पादन बंद हो गया। मुर्गी में धीरे धीरे मुर्गा के लक्षण प्रकट होने लगे और वह मुर्गियों मे गर्भाधान करने लगी। क्रिउ का कहना है कि मादाओं में (चिड़ियों में) सामान्य डिंबाशय के साथ साथ एक छोटा, अल्पवर्धित वृषण भी होता है। डिंबाशय के निष्क्रिय होते ही वृषण सक्रिय हो जाता है। यही स्थिति उन मुर्गियों की हुई जिनकी डिंबग्रंथियाँ काटकर निकाल दी गई थीं।

चौपायों के जुड़वों (twins) में स्वतंत्र मार्टिन (Free Martin) नाम से एक असामान्य घटना का उल्लेख किया गया है। यह हॉर्मोन प्रभाव का उदाहरण है। जुड़वें तीन प्रकार के होते हैं : दोनों नर या दोनों मादा, या एक नर और एक मादा। अंतिम प्रकार में ऐसा होने की संभावना रहती है कि भ्रूणीय विकास में दोनों भ्रूणों में पारस्परिक रक्त का प्रवाह एक शरीर से दूसरे शरीर में होता रहे। ऐसी दशा में हॉर्मोनों का भी आदान प्रदान चल सकता है। नर हॉर्मोन पहले विकसित होता है और जुड़वों को नरत्व (maleness) की ओर ले चलता है। मादा हॉर्मोन देर में विकसित होता है और जुड़वों में से एक को मौलिक रूप से मादा बनाता है। फलस्वरूप जो मादा उत्पन्न होगी, उसमें नर के स्पष्ट लक्षण होंगे और वह वंध्या होगी। लिलि (Lillie) ने यह बतलाया है कि चौपायों के जुड़वों में सामान्य रक्तप्रवाह होता है और मादा को वास्तव में नर हॉर्मोनयुक्त रक्त प्राप्त होता है। अन्य पशुओं में जुड़वों में सामान्य रक्तप्रवाह की व्यवस्था नहीं होती, अतः उनमें स्वतंत्र मार्टिन नहीं होते।

लैंगिक परिवर्तन का प्रभाव मनुष्यों पर भी देखा जाता है। प्रायः समाचारपत्रों में पढ़ने को मिलता है कि अमुक का लिंग परिवर्तन हो गया। सन् १९३५ तथा ३६ के ओलिंपिक चैंपियनों में दो स्त्रियाँ ऐसी पाई गईं जो बाद में चलकर पुरुष हो गईं। मनुष्यों में यौवनारंभ के पूर्व (prepuberty) यदि स्त्री पुरुष की जननग्रंथियाँ काट दी जाएँ, तो उनका लिंग परिवर्तन तो हो जाएगा, किंतु वे पूर्णतया स्त्री, या पुरुष नहीं हो सकेंगे और न तो संतानोत्पादन ही कर सकेंगे। उनके हाव भाव अवश्य स्त्रियोचित, या पुरुषोचित हो जाएँगे। पक्षियों में लिंगपरिवर्तन स्त्रीत्व से पुरुषत्व की ओर ही होता है।

लिंग अनुपात — इस का अर्थ है किसी प्राणी वर्ग में नर तथा मादा की उत्पत्ति, स्थिति तथा मृत्यु की दर। यह अनुमान किया जाता है कि कम से कम मनुष्यों में प्रथम संतान नर ही होती है। युद्ध के दिनों में भी अधिकांश संतानें नर होती हैं, क्योंकि प्रकृति स्वयं पुरुषों की कमी को पूरा करती है। प्राथमिक लिंग अनुपात की बात केवल मनुष्य ही नहीं, अपितु पशु जगत् में भी लागू होती है। वहाँ भी उन पशुओं में जो हरम बनाकर रहते हैं, नर अधिक होते हैं, जैसे बंदरों की कुछ जातियाँ, शहद की मक्खी, चींटी, दीमक आदि। एक घोड़ा अनेक घोड़ियों को गर्भित करता है। यदि वह अधिकाधिक बार मैथुन करे तो लिंगानुपात में अद्भुतपूर्व परिवर्तन हो सकता है। मुर्गी से बलपूर्वक बच्चे पैदा कराए जाएँ, तो मादा बच्चे अधिक पैदा होंगे। गौण लिंगानुपात के संबंध में क्रिउ (Crew) ने कुछ नियम बतलाए हैं :

(१) प्राणियों की जातियों (species) के साथ अनुपात घटता बढ़ता रहता है, जैसे १०० मादाओं के अनुपात में मनुष्य नर १०३-१०७, घोड़ा ९८·६, कुत्ता ११८·५, चौपाए १०७·३, भेड़ ९७·७, सूअर १११·८, खरगोश १०४·६, मुर्गा ९३·४-९४·७, कबूतर ११५, मछली, कोटस (Cottus) १८८ तथा लोफियस (Lophius) ३८५ होते हैं।

(२) प्रजाति (race), नस्ल (breed) तथा गोत्र (strain) के अनुसार अनुपात में अंतर होता है, जैसे : अमरीका में १०६, ग्रेट ब्रिटेन, में ९३·५, स्पेन में ९५·३, जर्मनी, में ९६·९, फ्रांस में ९७·९, बेल्जियम में ९८·४, इटली में ९९, पोलैंड में १००, जापान में १०२, भारत में १०४ तथा चीन में १२५ और यहूदियों में १०४-१०५ पुरुष प्रति १०० स्त्रियों पर पाए जाते हैं।

(३) लैंगिक अनुपात में प्रति वर्ष अंतर होता रहता है।

(४) वर्ष की विशेष मैथुन ऋतु (breeding season) का भी प्रभाव पशुओं पर पड़ता है।

(५) माता पिता की आयु और शारीरिक अवस्था का प्रभाव संतानों के अनुपात पर पड़ता है।

(६) गर्भ की कालानुक्रम संख्या (chronological number) का प्रभाव लैंगिक अनुपात पर पड़ता है।

(७) दो गर्भों के बीच का क्रम भी प्रभावशाली होता है। कर्ट स्टर्न (Curt Stern) के अनुसार अवैध (illegitimate) संतानों में नर की संख्या मादाओं से कम होती है। दूसरों के अनुसार नागरीकरण (urbanization), संकरण (cross breeding), सामाजिक आर्थिक अवस्था (socio economic status), भौगोलिक वातावरण आदि का भी प्रभाव लिंगानुपात पर पड़ता है।

अन्य प्राणियों में लिंगपरिवर्तन द्वारा लिंगानुपात निर्धारित होता है, जैसे जिफोफोरस हिलेरी (Xiphophorus hilleri) के अपरिपक्व प्राणियों में नर तथा मादा का अनुपात ०·५ : १ का होता है, किंतु परिपक्व (mature) प्राणियों में यह अनुपात विपरीत (१ : ०·५) होता है।

सं० ग्रं० — रिले : जिनेटिक्स ऐंड साइटोजेनेटिक्स, विली, १९४८; डा० ए० बी० मिश्र : प्राणियों में लिंग और लिंग-निर्धारण, नरनारी, पटना, वर्ष १, अंक ८, ९; कर्ट स्टर्न : प्रिंसिपल्स ऑव ह्यूमैन जिनेटिक्स (द्वितीयावृत्ति), डब्ल्यू० एच० फ्रीमैन ऐंड कं०, सैनफ्रांसिस्को, १९६०; साजिरो मैकिनो होकुर्यु-कान : ए रिव्यू ऑव क्रोमोसोम नंबर्स इन ऐनिमैल्स, टोकियो, जापान, १९५६। [रा० सि०]

लिंपोपो नदी (Limpopo River) अफ्रीका के दक्षिणी-पूर्वी भाग में ट्रैंसवाल की उत्तर-पश्चिमी तथा उत्तरी सीमा बनाती हुई बहती है। यह दक्षिणी ट्रैंसवाल के पठार के उस भाग से निकलती है, जहाँ सोने की खानें पाई जाती हैं। यह जोहैनिसबर्ग के ठीक उत्तर-पश्चिम में स्थित है। यहाँ इसको क्रोकोडाइल कहते हैं, क्योंकि इसमें क्रोकोडाइल बहुत रहते हैं। उत्तर-पश्चिम में यह लिंपोपो नाम से प्रसिद्ध है। इसके तट पर ताँबे के बड़े बड़े निक्षेप स्थित हैं। इसके बाद यह नदी दक्षिणी रोडेशिया के उत्तर पूर्व और ट्रैंसवाल एवं दक्षिणी रोडेशिया के साथ पूर्व की तरफ प्रवाहित होती हुई, मोज़ैंबीक प्रांत में प्रवेश करने के लिये एक चौड़ा अर्धचंद्राकार मोड़ बनाती है। यहाँ पर यह पफुरी के पास दक्षिण-पूर्व की तरफ मुड़ जाती है और लारेंको मारक्वीस के ८० मील उत्तर-पूर्व में हिंद महासागर में गिरती है। वर्षा ऋतु की

छोड़कर अन्य ऋतुओं में यह नदी छिछली रहती है और वीला-डी-जाओ-बेला के काफी ऊपर तक नव चालन के योग्य नहीं रहती है। इसकी प्रधान सहायक नदियों में पश्चिम से पूर्व की तरफ मगाल क्वीन, सांसी उम्जीयवाने, वूवी, मुवानेट्सी, प्रोलीफेंट तथा चंगाने हैं। लिंपोपो तथा सहायक नदियों का जल कुछ हद तक सिंचाई कार्यों में प्रयुक्त होता है। पुर्तगाल की सरकार ने कानीकोडा नामक स्थान पर एक बांध बनवाया है। यह बांध वीला-डी-जाओ-बेला से ५० मील ऊपर है। १४६७ ई० में पुर्तगाल के प्रसिद्ध नाविक वास्को डि गामा ने इस नदी का नाम रियो-डू स्पीरीट-सांटो रखा था। [बा० सिं०]

लिक्टेंस्टाइन (Liechtenstein) स्थिति : ६° २६′ से ६° ३८′ पू० दे० तथा ४७° ३′ से ४७° १४′ उ० अ०। यूरोप में स्थित यह एक राज (principality) है। इसके पूर्व तथा उत्तर पूर्व में ऑस्ट्रिया और पश्चिम, उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण में स्विट्सरलैंड स्थित है। राज उत्तर से दक्षिण १७·४ मील लंबा तथा पूर्व से पश्चिम ७ मील चौड़ा है। इसकी पश्चिमी सीमा पर राइन नदी बहती है। यहाँ के निम्न प्रदेश का वार्षिक औसत ताप लगभग ८° सें० रहता है। यहाँ की वार्षिक औसत वर्षा ३५ इंच होती है और लगभग ३५ दिन हिमपात भी होता है। यहाँ की जनसंख्या १६,८०० (१९६०) है। यहाँ की राजधानी फाडूट्स (Vaduz) है, जिसकी जनसंख्या ३,४०० (१९६०) है। लिक्टेंस्टाइन की प्रमुख भाषा जर्मन है। यहाँ ईसाई धर्म प्रमुख है। राइन घाटी में मक्का एवं अन्य खाद्यान्न, आलू तथा बगीचों में उत्पन्न होनेवाली फसलें उगाई जाती हैं। अंगूर एवं फलों का भी उत्पादन होता है। राज खनिजों से रहित है। उद्योगों में संगणक यंत्र, चश्मे के कांच, माइक्रोमीटर, सिलाई की मशीनों की सूइयाँ, बुनाई की मशीनें एवं कपड़े का कुछ मात्र में उत्पादन होता है।

लिग्नाइट (Lignite) निकृष्ट वर्ग का पत्थर कोयला है। इसका रंग कत्थई होता है तथा आपेक्षिक घनत्व भी पत्थर कोयला से कम होता है। यह वानस्पतिक ऊतक (plant tissue) के रूपांतरण की प्रारंभिक अवस्था को प्रदर्शित करता है। लाखों वर्ष पूर्व वानस्पतिक विकास की दर संभवत: अधिक द्रुत थी। वानस्पतिक पदार्थों का संचयन तथा उनके जीवरसायनिक क्षय (biochemical decay) से पीट (peat) की रचना हुई, जो गलित काष्ठ (rotten wood) की भाँति होता है। यह प्रथम अवस्था थी। संभवत: द्वितीय अवस्था में मिट्टियों आदि के, जो युगों तक पीट के ऊपर अवसादित होती रहीं, दबाव ने जीवाणुओं की क्रियाओं को समाप्त कर दिया और पीट के पदार्थ को अधिक सघन तथा जलरहित कर लिग्नाइट में परिवर्तित कर दिया। जब लिग्नाइट पर अधिक दबाव विशेषत: क्षैतिज क्षेप (thrust) और भी बढ़ जाता है, तो लिग्नाइट अधिक सघन हो जाता है तथा इस प्रकार कोयले का जन्म होता है।

लिग्नाइट के प्राप्ति स्थान

गुडलूर (Cuddalore) तथा पांडिचेरी क्षेत्र (मद्रास) — पांडिचेरी तथा गुडलूर के बीच स्थित तटीय समतलों में लिग्नाइट मिला है, जिसका अन्वेषण सन् १८८४ में ही हो चुका था।

दक्षिण आर्कोट क्षेत्र — सन् १९३० में भूविज्ञानियों का ध्यान नेवेली के लिग्नाइट की ओर गया। सन् १९४३–४६ के मध्य भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण ने इस क्षेत्र में अनेक वेधन किए, जिनसे लगभग २३ वर्ग मील के क्षेत्र में लिग्नाइट के अस्तित्व की पुष्टि हुई। मद्रास प्रदेश में ईंधन तथा शक्ति के अभाव के कारण तथा पत्थर कोयले को उत्तरी भारत से मद्रास प्रदेश तक ले जाने में आनेवाली अनेक कठिनाइयों तथा कुछ आर्थिक असुविधाओं के कारण मद्रास की राज्य सरकार का ध्यान लिग्नाइट के विकास की ओर गया। सन् १९४८–५१ के मध्य और भी अनेक वेधन किए गए, जिनसे अनुमान लगा कि इस क्षेत्र में लिग्नाइट की मात्रा लगभग २०० करोड़ टन है तथा क्षेत्र का विस्तार लगभग १०० वर्ग मील में है। इस क्षेत्र के लगभग केंद्र में साढ़े पाँच वर्ग मील का क्षेत्र मिला है। यहाँ २० करोड़ टन के लगभग लिग्नाइट के खनन योग्य निक्षेप प्राप्त हुए हैं जिनपर अत्यंत सुगमता एवं पूर्ण आर्थिक तथा औद्योगिक दृष्टि से कार्य किया जा सकता है। लिग्नाइट स्तर की औसत मोटाई ५५ फुट है, जो १८० फुट की गहराई पर स्थित है।

नेवेली लिग्नाइट योजना — सन् १९५५ में इस योजना को पूर्ण रूपेण नवीन रूप दिया गया और केंद्रीय सरकार ने योजना के आर्थिक उत्तरदायित्व को अपने ऊपर ले लिया। मेसर्स पॉवेल डफरिन टेकनिकल सर्विसेज लिमिटेड से भारत सरकार ने नेवेली समायोजना के लिये अनेक सेवाएँ प्राप्त कीं। इस योजना के अंतर्गत प्रति वर्ष ३५ लाख टन लिग्नाइट का खनन किया जायगा। लगभग २½ टन कच्चे लिग्नाइट का तापीय मूल्य एक टन उत्तम कोयले के समान होता है। इस प्रकार नेवेली के वार्षिक उत्पादन का लक्ष्य १४ लाख टन उत्तम कोयले के समान होगा। ३५ लाख वार्षिक उत्पादन की दर के अनुसार इस क्षेत्र का संपूर्ण लिग्नाइट ५७ वर्ष में समाप्त हो जायगा। अनेक और भी निक्षेप आर्थिक एवं वाणिज्य स्तर पर शोषित किए जा सकेंगे, ऐसी संभावना है। ढाई लाख किलोवाट प्रतिस्थापित क्षमता (installed capicity) का एक तापीय शक्ति स्टेशन भी यहाँ स्थापित किया जा रहा है, जिसके साथ एक 'पश्च निपीड टरबाइन संयंत्र' (back pressure turbine plant) का भी प्रतिस्थापन हो रहा है। खाद का एक विशाल संयंत्र, जो संपूर्ण खाद की मात्रा का उत्पादन करेगा और जिसमें केवल यूरिया के रूप में नाइट्रोजन आधेय (content) लगभग ७० हजार टन प्रति वर्ष होगा, स्थापित हो रहा है। यह यूरिया संयंत्र संभवत: विश्व का विशालतम संयंत्र होगा।

पलाना क्षेत्र बीकानेर (राजस्थान) — एक गहरे कत्थई वर्ण का रेजिनी (resinous), काष्ठीय तथा पीटीय (peaty) लिग्नाइट बीकानेर के पलाना नामक स्थान में सन् १८९६ में ही पाया जा चुका था। पलाना के पश्चिम में लगभग २० मील की दूरी पर मध नामक स्थान पर १०० फुट की गहराई में लिग्नाइट प्राप्त हुआ है। चनेरी के समीप तल से १८० फुट की गहराई पर एक अन्य स्तर पाया गया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बीकानेर के लिग्नाइट स्रोत भी विचारणीय महत्व के हैं।

शाली गंगा तथा हंडवारा (कश्मीर) — कश्मीर की करेवा संरचनाओं में प्राप्त लिग्नाइट तृतीयक युग का है। रायथान तथा लन्यालान बेसिन के शाली गंगा क्षेत्र में लिग्नाइट की चालीस लाख टन मात्रा विद्यमान है। हंडवारा क्षेत्र में ३·२ करोड़ टन लिग्नाइट है, जिस पर सुगमता से कार्य किया जा सकता है। कश्मीर घाटी स्थित करेवा बेसिन के दक्षिण-पश्चिमी भाग में भी लिग्नाइट प्राप्त होने के संकेत मिले हैं। यह निम्न कोटि का लिग्नाइट है तथा अपेक्षाकृत अशुद्ध ईंधन है, जिसमें औसतन १५% आर्द्रता, २८% वाष्पशील पदार्थ (volatile matter), २७% कार्बन तथा ३०% राख होती है। [वि० मा० दु०]

लिच्छवि लिच्छवि नामक जाति ईसा पूर्व छठी सदी में बिहार प्रदेश के उत्तरी भाग यानी मुजफ्फरपुर जिले के वैशाली नगर में निवास करती थी। लिच्छ नामक महापुरुष के वंशज होने के कारण इनका नाम लिच्छवि पड़ा अथवा किसी प्रकार के चिह्न (लिक्ष) धारण करने के कारण ये इस नाम से प्रसिद्ध हुए। इस जाति का इतिहास तथा शासनवृत्तांत एक सहस्र वर्षों तक किसी न किसी रूप में मिलता है। पालि साहित्य में लिच्छवि वज्जि संघ की प्रधान जाति थी अतएव अंगुत्तर निकाय (१,२१३ : ४,२५२), महावस्तु (२,२) तथा विनयपिटक (२,१४६) में षोडश महाजनपद की सूची में वज्जि का ही नाम आता है, लिच्छवि का नहीं। संभवतः इसी कारण पाणिनि ने (अष्टा ०४।२।१३१) वृज्जि संघ का ही उल्लेख किया है। (मद्र वृज्योः कन्)। कौटिल्य ने भी इसी की पुष्टि की है (वृजिक—अधि० ११।१)। वज्जि संघ की आठ जातियों (अट्टकुलिक) में लिच्छवि को सबल तथा सर्वशक्तिसंपन्न जाति मानते थे जिसकी राजधानी वैशाली का उल्लेख रामायण में भी आता है। (इक्ष्वाकु के पुत्र धर्मात्मा राजा 'विशाल' ने इसका निर्माण कराया था अतएव इस नगरी का नाम वैशाली रखा गया।)

भारतीय परंपरा के अनुसार लिच्छवि क्षत्रिय वंशज थे, इसी कारण महापरिनिर्वाण के बाद लिच्छवि संघ ने बुद्ध के अवशेष में हिस्सा बँटाया था। उन लोगों ने उस अवशेष पर स्तूप का निर्माण किया था जो वैशाली की खुदाई से (१९५८ ई०) प्रकाश में आया है। बौद्ध तथा जैन धर्मों का क्षेत्र होने के कारण पालि-साहित्य में लिच्छवि जाति का विशेष वर्णन किया गया है। इसे अपार शक्तिशाली तथा उत्तम ढंग से संगठित संघ कहा गया है। बौद्ध धर्म की द्वितीय संगीति भी वैशाली में हुई थी।

ऐसा कहा जाता है कि लिच्छवि लोगों ने बिंबसार के शासनकाल में मगध पर चढ़ाई की थी [ह्वेनसांग का विवरण-बुधिस्ट रेकर्ड ऑव वेस्टर्न वर्ल्ड, भा० २, १६६]। मगध तथा वैशाली राज्यों में संधि के फलस्वरूप वैवाहिक संबंध हो गया परंतु बिंबसार के पश्चात् इस युद्ध का बदला चुकाने का विचार अजातशत्रु ने किया। संसार से विरक्त रहने पर भी बुद्ध ने अजातशत्रु को सचेत किया था कि लिच्छवि संघ अजेय है, अभेद्य है तथा उसके प्रजातंत्रात्मक संगठन को कोई निर्बल नहीं कर सकता। बुद्ध के इन वचनों से अवगत होकर अजातशत्रु ने सीधा आक्रमण करने का विचार त्याग दिया और लिच्छवि संघ को तोड़ने तथा भेद उत्पन्न कर निर्बल बनाने का निंदनीय कार्य अपने मंत्री वस्सकार को सौंपा। अंत में अजात सफल हुआ [भगवतीसूत्र ३००]। वैशाली पर आक्रमण करने के निमित्त गंगा के दक्षिण किनारे पर पाटलिपुत्र नगर की स्थापना की, जहाँ मगधसेना संगठित की गई और लिच्छवि संघ फूट के कारण पराजित हुआ।

बौद्ध धर्मानुयायी होने के कारण लिच्छवि जाति ने शांति तथा अहिंसा का समर्थन किया। संभवतः मगध साम्राज्य के अंतर्गत लिच्छवि जाति प्रजातंत्र ढंग पर सदियों तक शासन करती रही। ईसवी सन् के प्रारंभ से कुषाण काल में लिच्छवि संघ ने पुनः स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। उनका संगठन प्रबल हो गया और उत्तरी बिहार में वैशाली राज्य प्रमुख हो गया। चौथी सदी में गुप्त वंश का उदय होने पर गुप्त नरेश लिच्छवि वंश से वैवाहिक संबंध के कारण शक्तिशाली हो गए। गुप्त साम्राज्य का प्रादुर्भाव लिच्छवियों के सहयोग से संभव हो सका था। इसकी पुष्टि गुप्त अभिलेखों तथा स्वर्णमुद्राओं से हो जाती है।

गुप्त कालीन स्वर्ण मुद्राओं में 'चंद्रगुप्त व श्री कुमार देवी' के नाम से प्रसिद्ध एक स्वर्णमुद्रा मिलती है जिसके अग्रभाग में राजा तथा रानी की आकृति खुदी है और 'चंद्रगुप्त' तथा 'श्री कुमार देवी' अंकित है। पृष्ठ भाग पर सिंह की पीठ पर बैठी अंबिका की मूर्ति है। दाहिनी ओर 'लिच्छवय.' मुद्रालेख पढ़ा गया है। पर्याप्त विवेचन के पश्चात् यह सिद्ध किया गया है कि गुप्त नरेश प्रथम चद्रगुप्त ने लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी से विवाहोपरांत यह सिक्का निकाला। इस विवाह की पुष्टि समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तंभलेख से होती है जहाँ समुद्र निम्न शब्दों में वर्णित किया गया है : — 'श्री महाराजाधिराज चंद्रगुप्तस्य लिच्छवि दौहित्रस्य महादेव्या कुमार-देव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य'। इससे दोनों राष्ट्रों में पारस्परिक सहानुभूति तथा सहयोग रहा। संभवतः साम्राज्यवादी कल्पना के संमुख लिच्छवि आदि गण राज्य अस्तित्व को बचाए न रख सके। प्रजातंत्रों के भारतीय रंगमंच से हट जाने के कारण राजनीतिक चेतना को नवजीवन प्रदान करनेवाला स्रोत समाप्त हो गया। लिच्छवि जाति उत्तरी बिहार से हटकर छठी सदी में नेपाल चली गई। उन्होंने काठमांडु के सुरक्षित भूभाग में प्रवेश कर राज्य स्थापित किया। लिच्छवि जाति (वंश) के कई अभिलेख (पाटन, पशुपतिनाथ मंदिर) वहाँ मिले हैं जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि इस जाति ने कई सदियों तक नेपाल में शासन किया। इनका शासनकाल नेपाल के इतिहास में 'स्वर्ण युग' कहा गया है। संतान न होने के कारण लिच्छवि जाति का उस देश में अंत हो गया।

दीघनिकाय के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वज्जिसंघ में स्त्रियों का समादर तथा वृद्धजनों का संमान किया जाता था। कुलकुमारियों के साथ बलप्रयोग नहीं किया जाता था। संघ के सदस्य चैत्यों का मान करते, पूजा करते तथा धार्मिक कार्यों को समुचित रूप से संपन्न करते थे।

प्रशासनीय कार्यों के संपादन के लिये लिच्छविगण की सभा थी जिसके ७७०७ सदस्य थे और सब राजा कहलाते थे। स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में यह कहना कठिन है कि संघसभा के सभी सदस्यों का

निर्वाचन होता था। ललितविस्तर में वर्णन आता है कि लिच्छवि परस्पर एक दूसरे को छोटा बड़ा नहीं मानते थे, सभी अपने को राजा समझते थे [ललित विस्तर अ० ३] इस संबंध में जातक का यह कथन भी महत्वपूर्ण है कि शासन निमित्त वैशाली नगर के गण राजाओं का अभिषेक किया जाता था। [वेसालिनगरे गणराजकुलानं अभिषेक पोक्खरणियं—जा० ४] भगवान् बुद्ध ने लिच्छवि गण के संबंध में कहा था कि सभी सदस्य एकमत होकर अधिवेशन में उपस्थित होते थे। बिना नियम बनाए कोई आज्ञा प्रेषित नहीं करते तथा पूर्व नियमों के अनुसार कार्य करते थे। [समग्गा सन्निपतिस्संति समग्गा संघकरणीयानि करिस्संति महापरिनिब्बाण सुत्त, भा० २]

सं० ग्रं० — अंगुत्तर निकाय; दीघनिकाय; महावस्तु; ललितविस्तर; जातक; विनयपिटक; अष्टाध्यायी; कौटिल्य अर्थशास्त्र; कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया; डा० ए० एस० आल्तेकर: गुप्तकालीन मुद्राएँ। [वा० उ०]

लिस्बन (Lisbon) स्थिति : ३८° ४४' उ० अ० तथा ९° ६०' प० दे०। यह पुर्तगाल की राजधानी, प्रमुख व्यापारिक एवं औद्योगिक नगर है, जो टेगस नदी के मुहाने से १० मील ऊपर उत्तरी किनारे पर स्थित है तथा पुर्तगाल का सबसे बड़ा नगर है। जलवायु ऐटलैटिक महासागर से प्रभावित रहती है। सर्दियों में बर्फ कभी ही पड़ती है। गरमियाँ सह्य होती हैं तथा औसत वार्षिक वर्षा ३० इंच होती है। यहाँ मशीनें, खाद्य पदार्थ, कपड़े, लकड़ी उद्योग, रसायनक, छोटे बड़े जलयान आदि संबंधी उद्योग होते हैं। समुद्री मार्गों का यह केंद्र है। विश्व की बड़ी बड़ी हवाई जहाज कंपनियों के जहाज यहाँ से गुजरते हैं। नगर का आधा भाग पहाड़ी तथा आधा भाग घाटी में स्थित होने के कारण, समुद्र की ओर से देखने पर नगर की सुंदरता अधिक लगती है। प्राका डोम पीट्रो नगर का मुख्य केंद्र है। राष्ट्रीय पुस्तकालय, सैन कार्लोस नैशनल थिएटर, कार्मो संग्रहालय, ऐल्फामा आदि दर्शनीय स्थल हैं। प्राका डो कोमर्सिओ के तीन मील पश्चिम बेलेम उपनगर स्थित है। लिस्बन प्रमुख बंदरगाह भी है। इसकी जनसंख्या ८,०२,२३० (१९६०) है। [रा० स० ख०]

लिटन, लार्ड लॉर्ड लिटन अप्रैल, १८७६ में वाइसरॉय होकर भारत आया और सन् १८८० तक इस पद पर काम करता रहा। लिटन के वाइसरॉय नियुक्त होने पर बहुत लोगों को आश्चर्य हो रहा था क्योंकि उसे शासन का कोई विशेष अनुभव नहीं था, यद्यपि अपनी नीतिज्ञता का परिचय वह कई बार दे चुका था। वह अंग्रेजी भाषा का अच्छा विद्वान् था। इंग्लैंड के प्रधान मंत्री बीकंसफ़ील्ड ने लिटन को मध्य एशिया की जटिल समस्या को सुलझाने के लिये विशेष रूप से भारत भेजा था। सन् १८७७ में लिटन ने दिल्ली में एक विशाल दरबार किया जिसमें विक्टोरिया को 'भारत की साम्राज्ञी' घोषित किया गया। इसी समय दक्षिण में भीषण अकाल पड़ रहा था जिसमें लाखों व्यक्ति भूखों मर गए। पश्चिमोत्तर प्रांत तथा मध्य प्रांत में भी खाद्यान्न की कमी थी। भारतीयों के इस दारुण दुःख को दूर करने के लिये लिटन ने कुछ प्रयत्न अवश्य किया पर ऐसे कष्ट के समय दिल्ली दरबार में लाखों रुपया उड़ाना तथा आनंद मनाना लोगों को पसंद नहीं आया।

इसके अतिरिक्त, सरकार की नीति से भारतीय जनता असंतुष्ट थी। भारतीय समाचारपत्रों में सरकार की कटु आलोचना हो रही थी। सन् १८७८ में लिटन ने वर्नाक्यूलर-प्रेस-ऐक्ट पास कर दिया जिसके द्वारा देशी भाषाओं में प्रकाशित होनेवाले समाचारपत्रों पर कुछ प्रतिबंध लगा दिए गए और उनकी स्वतंत्रता छिन गई। मध्य एशिया की समस्या बजाय सुलझने के और उलझ गई। लिटन ने जिस नीति से काम लिया उसका फल हुआ सन् १८७८ का द्वितीय अफ़गान युद्ध। युद्ध के फलस्वरूप अफ़ग़ानिस्तान छिन्न भिन्न हो गया। लिटन की अफ़गान नीति की हर तरफ से तीव्र आलोचना की गई। उसका मुख्य आलोचक ग्लैड्सटन था जो बाद में प्रधान मंत्री हो गया, तभी लिटन को अपना पद छोड़ना पड़ा। [मि० चं० पां०]

लिथो छपाई (Lithography) पत्थर पर चिकनी वस्तु से लेख लिखकर अथवा डिज़ाइन बनाकर, उसके द्वारा छाप उतारने की कला है। लिथोग्रैफी शब्द यूनानी भाषा के लिथो (पत्थर) एवं ग्रैफी (लिखना) शब्दों के मिलने से बना है। पत्थर के स्थान पर यदि जस्ता, ऐलुमिनियम इत्यादि पर उपर्युक्त विधि से लेख लिखकर या डिज़ाइन बनाकर छापा जाए तो उसे भी लिथोग्रैफी कहेंगे।

लिथोछपाई को सतह या समतल लिखावट (Planographic) प्रक्रम (process) भी कहते हैं। इसमें मुद्रणीय और अमुद्रणीय क्षेत्र एक ही तल पर होते हैं, परंतु डिज़ाइन चिकनी स्याही से बने होने के कारण और बाकी सतह नम रखी जाने के कारण, स्याही-रोलर स्याही को स्याही ग्राही डिज़ाइन पर ही निक्षिप्त कर पाता है। अमुद्रणीय क्षेत्र की नमी, या आर्द्रता, स्याही को प्रतिकर्षित करती है। इस प्रकार लिथोछपाई चिकनाई और पानी के विद्वेष सिद्धांत पर आधारित है। इस प्रक्रम का आविष्कार बैवेरिया में एलॉइस जेनेफ़ेल्डर (Alois Senefelder) ने ६ नवंबर, १७७१ ई० का किया था। सौ वर्षों से अधिक काल तक प्रयोग और परख होते रहने के बाद आधुनिक फ़ोटो ऑफ़सेट लिथो छपाई के रूप में उसका विकास हुआ।

लिथो छपाई में आरेखन और मुद्रण दोनों की विधियाँ सन्निहित हैं। समतल लिखावट मुद्रण द्वारा प्रिंटों (prints) को छापने की दो प्रमुख विधियाँ हैं : स्वलिथोछपाई (autolithography) और ऑफ़सेट फ़ोटोलिथोछपाई। स्वलिथोछपाई नक्शानवीस (draftsman), या कलाकार द्वारा प्रस्तर, धातु की प्लेट, या अंतरण कागज (transfer paper) पर अंकित मूल लेखन, या आरेखन से आरंभ होता है। डिज़ाइन में सर्जक के मन की छाप और कलाकार के व्यक्तिगत स्पर्श की छाप होती है। इस शिल्प के व्यापारिक पक्ष के अनेक विभाग हैं और ऐसे शिल्पी कम होते हैं जो अपने विभाग के अलावा दूसरे विभाग की भी जानकारी रखते हों। अतः सहज कलात्मक प्रेरणाएँ व्यर्थ जाती हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि ऑफसेट लिथोछपाई में कलापक्ष का अभाव होता है, परंतु यह मान लेने की बात है कि इसमें कलापक्ष क्रमशः गौण हो रहा है, खास कर उस स्थिति में जबकि फोटोग्राफ़ी स्वलिथोछपाई का स्थान

ले रही है। लिथो छपाई का आरंभ पत्थर से छापने के रूप में हुआ और आज भी उसका महत्व कम नहीं हुआ है, परंतु फ़ोटोऑफसेट को, जो छपाई का परोक्ष प्रक्रम है और जिसमें शीघ्रता, सस्तापन और यथार्थता के लिये छपाई के काम में प्रकाशयांत्रिक (photomechanical) विधियों का उपयोग होता है, त्यागा नहीं जा सकता।

वर्णलिथोछपाई और फोटोलिथोछपाई — रंगीन छपाई के लिये, विशेषकर विज्ञापन में, वर्णलिथोछपाई (बिना फोटोग्राफी के) उत्तम विधि है। (१) विभिन्न आकार के उत्कीर्ण (stippled) बिंदुओं से, या (२) दानेदार पत्थर, या प्लेट, पर अंकनी (crayon), या खड़िया से आरेखन करके और आरेखन के समय खड़िया पर दबाव के बदलाव से प्रभावित दानों का क्षेत्र और उनके टोन की गहराई निर्धारित करके, हाथ की लिथोछपाई में चिकने पत्थर पर रंगों का क्रमस्थापन उत्पन्न किया जाता है। चित्रकार यांत्रिक आभा (tint), या छायाकारी माध्यम, या उन सभी विधियों के संयोजन का भी उपयोग कर सकता है, जिनमें फोटोग्राफी, या फोटोग्राफी विधि से निर्मित बिंब भी संमिलित है।

अंतरण कागज — फोटोग्राफी की मदद के बिना लिथोग्रैफिक प्रतिबिंब बनाने का प्राचीनतम प्रक्रम अंतरण कागज है। आज भी अनेक भारतीय और विदेशी लिथोग्रैफिक छपाई के संस्थान धातु की प्लेटों पर लिथोग्रैफिक प्रतिबिंबों को बनाने के लिये प्रकाशयांत्रिक प्रक्रम का प्रयोग नहीं करते। सम बुनावट और उपयुक्त आधारी कागज पर अनेक पदार्थों, जैसे आटा, स्टार्च, जिलेटिन, सरेस, प्लास्टर ऑव पैरिस, या गच (stucco), सादा सफेद, कांबोज्य (gamboge) आदि के साथ पानी, गोंद और चाशनी (syrup) से बनाए हुए संयोजन, की परत से विभिन्न प्रकार के अंतरण कागज बनाए जाते हैं।

अंतरण कागज अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे (अ) द्रव अंतरण अर्थात् स्याही या लिथोलेखन स्याही द्वारा आरेखन या लेखन के लिये प्रयुक्त होनेवाला कागज, (ब) लिथोलेखी खड़िया से बने आरेखन के लिये दानेदार या खड़िया अंतरण कागज, (स) ताँबा प्लेट, या इस्पात प्लेट अंतरण कागज तथा (द) प्रस्तर, जस्ता या ऐलुमिनियम प्लेटों पर अंतरण के लिये उपयुक्त अंतरण कागज।

प्रकाश लिथोछपाई — न्यूनाधिक स्वचालित प्रकार के भौतिक और रासायनिक प्रक्रमों का यह संयोजित रूप है। छपाई की सतह पर पहला प्रतिबिंब बनाने में फ़ोटोग्राफी का सहारा लिया जाता है। रंगीन मूल के बड़े, या छोटे आकार का पुनरुत्पादन नेगेटिव कैमरे में तैयार होता है।

हाफ़टोन फोटोग्राफ़ी — प्रकाशलिथो पुनरुत्पादन की हाफटोन वस्तुएँ रूलदार परदों द्वारा बनाई जाती हैं। यदि मूल बहुत अच्छा न हो, तो केवल फोटोग्राफी से अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करना बिलकुल सरल नहीं है। ऐसी दशा में सामान्यत: 'हाइलाइट' नेगेटिव बनाया जाता है। इससे हाफ़टोन के बिंदु बनते हैं, जो बहुत बड़े होते हैं। नेगेटिव बनाने का काम पूरा हो जाने पर प्रकाशलिथो अनुशोधक (retoucher) बिंदुओं को रासायनिक अवकारक (हाइपो-फेरिसायनाइड विलयन) की स्थानीय प्रयुक्ति से उपचारित कर बिंदुओं को अभीष्ट आकार में परिणत करते हैं। इससे वह न्यूनाधिक मूल के टोन का हो जाता है। 'हाइलाइट' नेगेटिव तैयार करने की दो विधियाँ हैं : एक प्रत्यक्ष और दूसरी परोक्ष।

लाइन फोटोग्राफी — रेखा मूल का आर्द्र कोलोडियन प्रक्रम द्वारा सुविधा से फोटो खींचा जा सकता है। ऐसा निरंतर टोनमूल में नहीं हो सकता। यह प्रक्रम केवल सस्ता और सुविधाजनक ही नहीं है, बल्कि इससे परिणाम भी बहुत अच्छा प्राप्त होता है। इस प्रक्रम में केवल यही कमी है कि यह वर्णसंवेदी नहीं है और इसके द्वारा केवल 'काला-सफेद' मूल का उपयुक्त फोटोग्राफ प्राप्त हो सकता है।

लिथोग्रैफिक प्रतिबिंब निर्माण — ऐल्ब्यूमेन प्लेट निर्माण उपचार : यहाँ नेगेटिव, या पॉजिटिव काँच बनाना पहला क्रम है।

काँच से अंतरित चिकना प्रतिबिंब तैयार करना उद्देश्य है। धातु प्लेटों पर फोटोलिथो प्रतिबिंब तैयार करने की सरलतम और मितव्ययी विधि स्याही-ऐल्बूमेन, या सतही फोटोलिथो प्रक्रम है।

धातु की सतह पर जल में अविलेय पतली फिल्म के रूप में विलेपित (coated), डाइक्रोमेटेड कोलाइड विलयन को नेगेटिव पारदर्शी चित्र के नीचे तीव्र क्रियाशील प्रकाश में उद्भासित कर चित्रण करना उपर्युक्त प्रक्रम का अंतर्निहित सिद्धांत है। नेगेटिव के अपारदर्शी भागों से रक्षित स्थल सादे पानी में डेवलप करते समय घुल जाते हैं।

जस्ते, या ऐलुमिनियम धातु की एक दानेदार (grained) प्लेट को पानी से साफ धोते हैं। इसे ५ प्रति शत ऐसीटिक अम्ल, या १½ प्रति शत हाइड्रोक्लोरिक, या सल्फ्यूरिक अम्ल विलयन के कुंड (bath) में डुबोकर, अल्पसंवेदी और ग्रीजमुखी (grease face) बनाते हैं। इसके बाद यांत्रिक आघूर्णक (whirler) में प्लेट पर अंडा, ऐल्बूमेन, अमोनियम बाइक्रोमेट, द्रव अमोनिया और पानी का लेप चढ़ाते हैं।

इसके बाद लेपित प्लेट को भली प्रकार सुखाकर निर्वात छपाई फ्रेम में रखते हैं और नेगेटिव की धूल पोंछकर उसे ऐसी स्थिति में रखते हैं कि फिल्मवाला भाग लेपित प्लेट पर पड़े।

उद्भासन (exposure) की मात्रा अनेक बातों पर, जैसे डाइक्रोमेट और अमोनिया की मात्रा, लेपन विलयन की प्रकृति और गाढ़ापन (consistency), फ़िल्म में अवशिष्ट आर्द्रता, वायुमंडल की आर्द्रता, या शुष्कता और प्रकाश की तीव्रता आदि पर निर्भर करती है। प्लेट को उद्भासित करने के बाद उसपर डेवलप करनेवाली विशिष्ट स्याही का लेप कर देते हैं। डेवलप करनेवाली स्याही के दो कार्य हैं : (१) छपाई के क्षेत्रों को स्याही ग्रहणशील बनाने के लिये क्षेत्रों पर चिकनी फिल्म तैयार करना और (२) छपाई के क्षेत्रों को डेवलप करने के बाद स्पष्ट बनाना, जिससे उसकी त्रुटियों को दूर करने में आसानी हो सके।

अब प्लेट प्रतिबिंब को दृश्य बनाने, अर्थात् डेवलप करने, की स्थिति में है। डेवलप करने की प्रचलित विधि प्लेट को सादे, या अल्पक्षारीय (सोडियम बाइकार्बोनेट की मिलावट से) पानी में लगभग दो मिनट डुबोकर पानी के अंदर ही कच्ची रुई के गुच्छे से रगड़ना है।

मशीन से छापने के लिये ऐल्यूमिन प्लेटों का निर्माण — निक्षारण (etching) से पहले प्रतिबिंब के रक्षार्थ प्लेट का उपचार लगभग सभी छपाई के प्रेसों में किया जाता है। इसमें : (१) प्लेट पर हल्का गोंद लगाकर सुखाना, (२) प्लेट को गीला कर के २५ प्रति शत पुनः अंतरण (retransfer) स्याहीयुक्त काली लिथोस्याही और नैप रोलर (nap roller) द्वारा प्लेट को बेलना, (३) प्लेट पर गोंद लगाकर पंखों द्वारा सुखाना, (४) प्लेट को पुन: पानी के साथ डेवलप करना और काली स्याही से बेलकर फ्रेंच खड़िया से पोंछना, (५) प्यूमिस पेंसिल या कड़े रबर से अवांछित धब्बों और चिह्नों को मिटाना, (६) निक्षारण विलयन से प्लेट को भली भाँति निक्षारित करना और (७) प्लेट को धोना और (८) अंतिम बार विटमेन विलयन से धोना तथा सुखाना संमिलित हैं। इसके बाद प्लेट को छपने के लिये मशीन पर चढ़ा दिया जाता है।

धनात्मक उत्क्रमण (गोंदविधि)

गहरा निक्षारण प्रक्रम — धनात्मक उत्क्रमण प्रक्रमों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : (अ) वे प्रक्रम, जिनमें डेवलप करनेवाले विशिष्ट विलयनों (अल्प जलांश के) का उपयोग होता है और जो बाद में जलमुक्त स्पिरिट द्वारा जल को हटाया जाता है। इसके उदाहरण हैं, गोंद उत्क्रमण और बोल्ट कोर्ट (Bolt Court) प्रक्रम, (ब) वे प्रक्रम, जिनमें स्टेंसिल प्रतिबिंब को डेवलप करने में बहता पानी काम आ सकता है, जैसे सरेस, या वानडाइक (Vandyke) प्रक्रम।

काँच के पारदर्शी चित्रों के अतिरिक्त कागजी मूल सबसे संतोषप्रद हैं। पारगत (transmitted) प्रकाश द्वारा देखने पर उन पर काम ठोस और घना जान पड़ता है। कोडाटीसि (Kodateace) आदि अन्य मैट (matt) सतह वाले पारदर्शी पदार्थ भी काफी अच्छे परिणाम देते हैं।

गोंद उत्क्रमण में धातु के प्लेट को बबूल का गोंद, अमोनियम बाइक्रोमेट, द्रव अमोनिया और पानी के विलयन से विलेपित किया जाता है। ऊपर वर्णित विधि से इसे एक पॉजिटिव के नीचे उद्भासित किया जाता है। उद्भासित प्लेट के लेप के मृदुभाग को हटाने के लिये प्लेट को लैक्टिक अम्ल, या अन्य किसी कार्बनिक अम्लयुक्त सांद्र कैल्सियम क्लोराइड विलयन से डेवलप किया जाता है।

इस रीति से प्लेट के मुद्रणीय क्षेत्र उभड़ जाते हैं। इनको एक ऐसे विलयन से हल्का निक्षारित किया जाता है, जो धातु को प्रभावित करता है, परंतु हल्के कठोरकृत स्टेंसिलों को अछूता छोड़ देता है। निक्षारक विलयन को निर्जल मेथिलित स्पिरिट से धोकर साफ कर लेते हैं। लिथोग्रैफिक आधार (लाख या सेलुलोस) और डेवलप करनेवाली स्याही को क्रम से लगाते हैं। प्रकाश से कठोरीकृत स्टेंसिल दूर करने के लिये प्लेट को पानी के अंदर मुलायम ब्रश से रगड़ते हैं। 'निक्षार' विलयन से निक्षारित करने के बाद प्लेट पर गोंद लगाकर सुखाते हैं और तब यह प्लेट मशीन पर छपाई करने लायक हो जाता है।

धनात्मक उत्क्रमण (सरेस विधि) या वानडाइक प्रक्रम — सूक्ष्मग्राहीकृत विलयनों के नुस्खे में मछली सरेस (fish glue), अमोनियम डाइक्रोमेट और पानी होता है। ऊपर वर्णित रीति से तैयार करके सूक्ष्म दानेदार प्लेट पर लेप चढ़ाते हैं। उद्भासन के बाद ठंढे पानी में प्लेट को डेवलप करते है, जिससे अनुद्भासित सरेस घुल जाता है। इसके बाद प्लेट को मेथिल बैंगनी रंजक विलयन के कुंड में अभिरंजित (stained) करते हैं, जिससे ऋणात्मक प्रतिबिंब प्रिंट दिखाई पड़े। प्लेट को सांद्र प्रतिबिंबकारी स्याही से रगड़ते है। प्लेट को अति तनु हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के विलयन के कुंड में डुबोया भी जा सकता है। इसके बाद ताजे अंतरित प्लेट के समान ही इसका उपचार करते हैं। उसपर रोलर चलाते हैं, खड़िया से रगड़ते हैं, गोंद लगाते हैं और सुखाकर छापने के लिये तैयार करते हैं।

धातु प्लेट को दानेदार बनाना — सभी धातु प्लेटों को दानेदार बनाना पड़ता है, या उनके पृष्ठ को मैट (matt) करना पड़ता है, जिससे धातु के अमुद्रणीय क्षेत्र में आर्द्रता बनी रहे और वह क्षेत्र छपाई के समय स्याही को विकर्षित कर सके।

धातु को दानेदार बनाने का काम काँच, जस्ता, इस्पात, संगमरमर और रेत, या कारबोरंडम चूर्ण और पर्याप्त पानी द्वारा एक मशीन में होता है, जिसमें उत्केंद्र (eccentric) आधार पर ट्रे (tray) को वर्तुल गति (circular motion) देने की व्यवस्था होती है। प्रत्येक परिक्रमण मे जो दोलन होता है, वह ट्रे मे स्थित संगमरमर के पथ को प्रभावित करता है। इस क्रिया से धातु प्लेटों पर दाने या मैट पृष्ठ उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे धातु प्लेट के अप्रतिबिंब भाग में छपाई के समय आर्द्रता बनी रहती है।

प्रूफ़ निकालना — प्लेटों की जाँच के लिये धातु प्लेटों से प्रूफ़ उठाते हैं। प्लेट को प्रूफ़ निकालने के प्रेस पर कस देते हैं और पानी से धोने के बाद उसपर लिथोग्रैफिक स्याही रोलर से फेर देते हैं। प्रूफ़ पूर्णतया रंगीन उठाए जाते हैं। एतदर्थ पहले काली छपाई की जाती है और फिर अन्य धातु प्लेटो की सहायता से अध्यारोपित किया जाता है। प्रूफ को बारीकी से जाँच कर छोटे सुधार निक्षार छड़ी (etchstick) से और लिथोलेखन स्याही से आरेखित किए जाते हैं। बड़े सुधार प्राय: नेगेटिव या पॉजिटिव पर किए जाते हैं या नए प्लेट तैयार किए जाते हैं।

छपाई — लिथोछपाई का आरंभ लिथोप्रस्तर द्वारा चपटे आधार के लिथोछपाई प्रेस पर हुआ था। रूडीमान जॉनस्टन ने रोटरी मशीन का अभिकल्पन करके १८५३ ई० में एडिनबरा में इसका प्रयोग किया। १६०५ ई० में इरा रूबेल नामक अमरीकी लिथोमुद्रक ने ऑफ़सेट छपाई मशीन का अभिकल्पन किया।

आधुनिक ऑफसेट मशीन में निम्नलिखित प्रधान भाग होते हैं : फ्रेम, सिलिंडर, स्याही फेरनेवाले रोलर, गीला करनेवाले रोलर, भरण और निकास प्रणाली। एकरंगी मशीन में तीन सिलिंडर होते हैं : एक धातु प्लेट को धारण करने के लिये, दूसरा ऑफसेट रबर आवरण के लिये और तीसरा छपाई के लिये। छपाई का कागज धातु प्लेट के सीधे संपर्क में नहीं आता, बल्कि रबर आवरण के संपर्क में आता है, जो धातु प्लेट से स्याही की छाप लेकर कागज स्थानांतरित करने में मध्यस्थ का काम करता है।

दो और चार रंगों की छपाई करनेवाली मशीन, जिसमें सभी प्रकार के स्वचालित नियंत्रक होते हैं, प्रति घंटा औसतन लगभग ६,००० प्रति छापती है। इस छपाई में शीघ्रता तथा सस्तापन के साथ अच्छेपन में भी सुधार हुआ है।

आधुनिक विकास — प्रकाश लिथोमुद्रण एक अभिनव कला है, जिसने छपाई उद्योग में बड़ी तेजी से प्रगति की है।

नेगेटिवों के वर्ण पृथक्करण की प्रच्छादन (masking) विधि — इस तकनीक का उपयोग मुख्यतया नेगेटिवों के पृथक्करण में होता है। इस तकनीक के विकास के पूर्व वर्ण सुधार का सारा काम हाथ से फोटो अनुशोधन (retouch) द्वारा होता था। प्रच्छादन वर्ण सुधार की फोटो तकनीक के लिये व्यवहृत शब्द है। यह तकनीक न तो नया है और न मानक है।

प्रच्छादकों के उपयोग की तीन प्रमुख विधियाँ हैं : (१) प्रक्षेप द्वारा, (२) संपर्क में और (३) कैमरे के पृष्ठ भाग में। चौथा वर्ग समग्र (integral) प्रच्छादन का है, जो कलात्मक है।

संक्षेप में, प्रच्छादन एक नेगेटिव या पॉजिटिव प्रतिबिंब है, जिसे एक दूसरे नेगेटिव या पॉजिटिव के साथ किसी तीसरे नेगेटिव या पॉजिटिव को उद्भासित करते समय प्रकाश की मात्रा को संशोधित करने के लिये उपयोग मे लाया जाता है। प्रच्छादन विधि का उपयोग वर्णों, या टोनों को सुधारने, या पृष्ठभूमि को हटाने आदि के लिये किया जा सकता है। फोटो प्रच्छादन में विस्तरांकन (details) की हानि नहीं होती। उत्तम स्याही और कुशल प्रच्छादन द्वारा हाथ के न्यूनतम काम से बढ़िया गुण उत्पन्न किया जा सकता है। औसत अच्छी स्याही और औसत सावधानी से ही प्रायः हाथ का काम ५० प्रति शत कम हो जाता है।

फोटोकंपोजिंग मशीन (Photocomposing Machine) — फोटोकंपोजिंग मशीन और फोटो यांत्रिक टाइपयोजी (type-setting) मशीन तैयार हो चुकी हैं। यह मशीन विभिन्न आकार के टाइप फलकों (type face) और कंपोज करने की व्यवस्था से सज्जित होती है और सजावट के मैटरों को फोटोनेगेटिवों पर छाप सकती है। इस उपस्कर में फलकों के फोटो प्रतिबिंब का उपयोग होने के कारण यथार्थ टाइपों का उपयोग, फर्मा कसना आदि अनेक झंझटों से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार यह आत्मनिर्भरता का मार्ग प्रशस्त करता है और टाइपलेखन (typography) से मुक्ति दिलाता है।

द्विधातुक छपाई प्लेट — द्विधातुक छपाई प्लेटों का उपयोग, अर्थात् मुद्रणीय और अमुद्रणीय भागों के लिये अलग अलग प्लेट तैयार करने की विधि, लिथोछपाई में प्रगति का सबसे बड़ा कदम है। इस प्रक्रम के अंतर्गत जलग्राही, अनुपचायक (non-oxidising) धातु प्लेट (जैसे क्रोमियम या अविकारी इस्पात) पर प्रकाशसंवेदी फिल्म का पतला लेप चढ़ाना और पॉजिटिव द्वारा उद्भासित करना, डेवलप करना और धातु प्लेट के सुरक्षित अकठोरीकृत क्षेत्रों को ऐसे विलयन से उपचरित करना जो उनपर रसायनिकः रीति से स्याहीग्राही धातु को (जो अक्सर ताँबा होती है) निक्षेपित कर दे, संमिलित है।

अन्य विधियों में प्रतिबिंब और अप्रतिबिंब क्षेत्रों में बरखास्तक विद्युत् निक्षेप (electrodeposition) होता है। इसके लिये मुद्रणीय क्षेत्रों के लिये पीतल और अमुद्रणीय क्षेत्रों के लिये निकल धातु का उपयोग होता है।

अधिकांश यूरोपीय देशों में आजकल ऐलर प्रक्रम चल पड़ा है, जिसमें मुद्रणीय क्षेत्र के रूप में अविकारी इस्पात की प्लेट पर विद्युत निक्षेपित ताँबा अल्प उभार में होता है। एक प्लेट से लगभग ४-५ लाख प्रतियाँ छापी जा सकती हैं। प्लेट तैयार करने में व्यय बहुत होता है और एक बार प्लेट के बन जाने पर फिर उसमें कोई परिवर्तन या परिवर्धन संभव नहीं होता।

शुष्क ऑफसेट प्रक्रम — अमरीका और कुछ यूरोपीय देशों में नोट आदि की छपाई के लिये शुष्क ऑफसेट में कच्चे रंग, या जलविलेय स्याही, का उपयोग बहुत पहले से होता रहा है। इसमें छपाई प्रायः जस्ते, या मैग्नीशियम की मिश्रधातु से की जाती है। मैग्नीशियम का उपयोग अधिक प्रचलित है, क्योंकि इससे निक्षारण में शीघ्रता होती है और मशीन पर उसका जीवनकाल अधिक होता है।

डॉन, या आधुनिक निक्षार प्रक्रम, का उपयोग समाचार प्रकाशन में अधिक होता है। इसमें मुद्रणीय पृष्ठ के रूप में मैग्नीशियम का उपयोग होता है, जिससे निक्षारण क्रिया सीधे होती है और रेखाओं तथा बिंदुओं के पार्श्वों को सुरक्षित नहीं करना पड़ता। चेको फ़ोटो प्रॉडक्ट्स कंपनी, ग्लेनकोव, न्यूयार्क, ने एक नवीन निक्षार मशीन का अभिकल्पन किया है। इसमें १७" × २" की प्लेट को ०·०६०" तक या कुछ अधिक निक्षार करने में केवल ३-४ मिनट समय लगता है।

इस विधि की मुख्य त्रुटियाँ ये हैं : इसमें तैयारियाँ बहुत करनी पड़ती हैं और सूक्ष्म हाफटोन का, विशेषतः विनेटों (vignettes) का प्रतिधारण (retention), बड़ा कठिन होता है। हर काम के लिये एक नया प्लेट तैयार करना पड़ता है, जिससे खर्च बहुत बढ़ जाता है, परंतु कुल लागत ऑफसेट द्विधातुक प्रक्रम की तुलना में अधिक नहीं बढ़ती। [वि० चं० द०]

लिनलिथगो, लार्ड १८ अप्रैल, १९३६ को भारत का वाइसरॉय नियुक्त हुआ और २० अक्टूबर, १९४३ तक इस पद पर रहा। वाइसरॉय होने से पहले 'रॉयल कृषि कमीशन' के अध्यक्ष के रूप में वह भारत आया था और यहाँ के ग्रामीण जीवन से संपर्क स्थापित कर चुका था। पद ग्रहण करते समय उसने भारतीयों की स्थिति सुधारने का आश्वासन दिया तथा उनसे सहयोग की अपील की।

सन् १९३५ में भारत सरकार का ऐक्ट पास हो चुका था जो प्रांतों में १९३७ में लागू हुआ। इस ऐक्ट से केंद्रीय व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। प्रांतों में, कांग्रेस ने ग्यारह में से आठ प्रांतों में बहुमत प्राप्त किया। इसी बीच सितंबर १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। ब्रिटिश सरकार ने भारत से बिना पूछे ही उसकी ओर से युद्ध घोषित कर दिया। इसपर प्रांतीय कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफा दे दिया। लिनलिथगो के कार्यकाल की एक अन्य महत्वपूर्ण घटना थी सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स का भारत आगमन। कुछ अपने हित के कारण तथा कुछ भारतीय एवं अंतरराष्ट्रीय दबाव के कारण

ब्रिटिश सरकार ने भारतीय समस्या को सुलझाने के लिये क्रिप्स को कुछ प्रस्ताव देकर भारत भेजा। सर स्टैफर्ड मार्च, १९४२ में नई दिल्ली पहुँचा। उसकी योजना से भारत में कोई संतुष्ट नहीं हुआ। इसपर क्रिप्स अपना प्रस्ताव वापस लेकर चला गया। कांग्रेस नेताओं ने यह समझ लिया कि सरकार भारत को वास्तविक स्वतंत्रता नहीं देना चाहती है, अतः गांधी जी के नेतृत्व में 'भारत छोड़ो' आंदोलन शुरू हो गया। इसपर लिनलिथगो के शासन ने गांधी जी आदि मुख्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। गिरफ़्तारी के समाचार से देश भर में कोहराम मच गया और उपद्रव होने लगे। इसपर लिनलिथगो ने दमन चक्र चलाया। [मि० चं० पां०]

लिनीअस कारोलस (Linneaus, Carolus, सन् १७०७-८७) स्वीड (Swed) वनस्पतिज्ञ का जन्म राशल्ट (Rashult) नामक स्थान में हुआ था। इन्होंने चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन लंद (Lund) तथा अपसाला (Upsala) विश्वविद्यालयों में किया था। अपसाला में में ही सहायक प्रोफेसर नियुक्त हुए और सन् १७४२ में प्रोफेसर हो गए।

इन्होंने लंबी यात्राएँ कीं तथा अनेक और विविध वनस्पतियों के नमूने स्वयं एकत्रित किए तथा अपने शिष्यों द्वारा करवाए। इन्होंने पौधों के वर्गीकरण की एक पद्धति निकाली, वनस्पतियों के यथार्थ वर्णन की रीति मे सुधार किया तथा द्विपद नामपद्धति के उपयोग को साधारण बना दिया। इनका प्रमुख कार्य वर्गीकर्ता का था।

सन् १७५७ में आपको कार्ल फॉन लिने के नाम से अभिजात्य वर्ग में गिने जाने का राज्याधिकार पत्र प्रदान किया गया। आपने लगभग १८० ग्रंथ लिखे, जिनमें से अनेक इनके जीवनकाल में तथा कुछ बाद में प्रकाशित हुए। [भ० दा० व०]

लिबराले आंतोनियो (Liberale Antonio) इटालियन चित्रकार। जन्म १४४५ में हुआ था। इसका संबंध वेरोना आम्नाय से था। १४६५ ई० के पश्चात् यह वेरोना से मांट ओलिवटो चला आया और वहाँ तीन वर्ष तक धार्मिक पुस्तकों के निमित्त चित्र बनाता रहा। ये चित्र क्यूज़ी (Chiusi) में सुरक्षित हैं। १४८८ में पुन. वेरोना लौट आया और मृत्यु पर्यंत वहीं रहा। इसकी कतिपय मुख्य रचनाएँ हैं--मरियम संतों के साथ, माँ जी की पूजा, ईसा जन्म, और मरियम की मृत्यु। [गु० त्रि०]

लिबिया (Libya) स्थिति : १९° ३०' से ३४° उ० अ० तथा ९° ३०' से २५° पू० दे०। अफ्रीका का यह एक स्वतंत्र संघ राज्य है। २४ दिसंबर, १९५१ ई० को इसे स्वतंत्र घोषित किया गया। इस संघ का प्रधान बादशाह होता है, जिसका उत्तराधिकार आनुवंशिक है। इस संघ में सिरेनेइका (Cyrenacia), ट्रिपोलिटैनिया (Tripolitania) तथा फैजेन (Fazzan) प्रांत संमिलित हैं। यह राज्य उत्तर में भूमध्य सागर से, दक्षिण में चैड प्रजातंत्र एवं नाइजर प्रजातंत्र से, पश्चिम में ट्यूनिजिया एवं अलजीरिया से तथा पूर्व में संयुक्त अरब गणराज्य एवं सूडान से घिरा हुआ है। इस संघ राज्य का संपूर्ण क्षेत्रफल १७,५९,५०० वर्ग किमी० तथा जनसंख्या १५,६६,३३६ (सन् १९६४) है।

भूमध्य सागर एवं रेगिस्तान के प्रभाव के कारण मौसमी परिवर्तन हुआ करते हैं। ग्रीष्म ऋतु में ट्रिपोलिटैनिया के समुद्री किनारे का ताप ४१° सें० से ४६° सें० के मध्य रहता है। सुदूर दक्षिण में ताप अपेक्षाकृत ऊँचा रहता है। उत्तरी सिरेनेइका का ताप २७° सें० से लेकर ३२° सें० के मध्य रहता है। टोब्रुक (Tobruk) का जनवरी का औसत ताप १३° सें० तथा जुलाई का औसत ताप २६° सें० रहता है। भिन्न भिन्न क्षेत्रों में वर्षा का औसत भिन्न भिन्न है। ट्रिपोलिटैनिया तथा सिरेनेइका के जाबाल क्षेत्र में वार्षिक वर्षा का औसत १५ से २० इंच तक है। अन्य क्षेत्रों में आठ इंच से कम वर्षा होती है। वर्षा प्रायः अल्पकालीन शीत ऋतु में होती है और इसके कारण बाढ़ आ जाती है।

यहाँ अनेक प्रकार के आर्वाषित फल के पेड़, छुहारा, सदाबहार वृक्ष तथा मस्तगी (mastic) के वृक्ष हैं। सुदूर उत्तर में बकरियाँ तथा मवेशी पाले जाते हैं। दक्षिण में भेड़ों और ऊँटों की संख्या अधिक है। चमड़ा कमाने, जूते, साबुन, जैतून का तेल निकालने तथा तेल के शोधन करने के कारखाने हैं। यहाँ सन् १९६३ में एक सीमेंट फैक्टरी की स्थापना की गई है। जौ और गेहूँ की खेती होती है।

यहाँ पेट्रोलियम के अतिरिक्त फ़ॉस्फ़ेट, मैंगनीज, मैग्नीशियम तथा पोटैशियम मिलते हैं। खानेवाला समुद्री नमक यहाँ का प्रमुख खनिज है।

छह वर्ष तक के बालकों के लिये शिक्षा अनिवार्य है। यहाँ कई विदेशी स्कूल तथा लिबिया विश्वविद्यालय नामक एक विश्वविद्यालय है।

ट्रिपोली तथा बेंगाजि यहाँ की संयुक्त राजधानियाँ हैं। अप्रैल, १९६३ ई० में संविधान का संशोधन हुआ, जिसके अनुसार स्त्रियों को मताधिकार दिया गया और संघीय शासनव्यवस्था के स्थान पर केंद्रीय शासनव्यवस्था लागू की गई। इस नई व्यवस्था की दस इकाइयाँ हैं, जिनके प्रधान अधिकारी मुहाफिद कहलाते हैं।

सेबहा से ट्रिपोली तक तट के साथ साथ तथा देश के भीतरी भाग में अच्छी सड़कें हैं। यहाँ पर्याप्त संख्या में हल्की रेल लाइनें हैं। ट्रिपोली, बेंगाजि तथा टोब्रुक बंदरगाह हैं। इद्रिस तथा बेनिना यहाँ के अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डे है। [ब० सिं०]

लियांग शिह यी (जन्म १८६९) क्वांगतुंग के निवासी एक राजनीतिज्ञ। इनकी सारी शिक्षा चीन मे ही हुई और चीनी के सिवाय ये दूसरी भाषा नहीं जानते थे। ग्रेजुएट होने के पश्चात् ये तांग शाओ-यि (देखिए तांग शाओ-यि) के सचिव हो गए। अन्य सरकारी पदों पर भी इन्होंने काम किया। सन् १९१३ में ये वित्त उपमंत्री के पद पर रहे और १९२१ में मुख्य मंत्री बने। सन् १९२२ में लियांग पीकिंग छोड़कर चले गए। [ज० चं० जै०]

लिलि (Lily or Lilium) लिलिएसी (Liliaceae) कुल, का जीनस है, जिसके १०० स्पीशीज़ हैं। इसके पौधे कठोर, अर्धकठोर तथा कंदीय शाक होते हैं। लिलि के कीपाकार फूल अपनी सुंदरता सुगंध एवं आकृति के कारण विख्यात हैं। फूलों की पंखुड़ियों में बाहर की ओर भूरी, या गुलाबी वर्णरेखाएँ रहती हैं और अंदर

की ओर पीली अथवा श्वेत आभा रहती है। इसका तना कई फुट ऊँचा होता है और इसमें अंतस्थ फूल, या अंतस्थ फूलगुच्छ लगता है। यह वंश उत्तरी शीतोष्ण क्षेत्र का देशज है और इसका प्रवर्धन, बीज, शल्कीकंद, पत्र प्रकलिकाओं (bulbils) तथा भूस्तरी द्वारा होता है। टाइगर लिलि, मैडोना लिलि, चीनी

टाइगर लिलि
(Lilium tigrinum)

लिलि, जापानी लिलि, श्वेत ऐस्टर लिलि, प्याज, लहसुन तथा शतावरी (Asparagus) इसके मुख्य सदस्य हैं। केवल लिलियन वंश के पौधे ही लिलि कहे जाने चाहिए, पर अन्य पौधे भी लिलि कहे जाते हैं जो लिलि हैं नहीं, जैसे वाटर लिलि तथा लिलि ऑव वैली इत्यादि।

गहरी, बलुई दोमट तथा उचित तरह सिंचित मिट्टी में लिलि उत्तम रूप से उगती है। अधिकांश लिलियों के कंद विलंबित वर्षा के बाद छह इंच गहरी मिट्टी में लगाए जाते हैं। मोज़ेइक (mosaic) तथा बॉट्रिटिस ब्लाइट (botrytis blight) नामक बीमारियाँ लिलि के लिये घातक होती हैं। [भ० ना० मे०]

लिलिएसी कुल के एक बीजपत्री पादप (monocotybdon) प्राय: विश्वव्यापी हैं। इस कुल के पौधे अधिकतर शाकीय होते हैं, जो अपने संगुताक्ष प्रकंद, अथवा बल्ब या प्रकंद (root stock) द्वारा चिरजीवित रहते हैं। थोड़े से पौधे क्षुप, या छोटे वृक्ष रूप में भी होते हैं, जैसे युका (Yucca), ड्रासिना (Dracaena) आदि। इनमें उत्तर वृद्धि भी होती है। अनेक पौधे मरुद्भिदी, घीकुँवार (Aloe) सदृश कुछ मांसल या सरस, चोपचीनी या स्माइलेक्स (Smilax) तथा ग्लोरिओसा (Gloriosa) सदृश, कुछ आरोही और रसकस (Ruscus) एवं शतावरी (Asparagus) सदृश, कुछ पर्णाभस्तंभ (phylloclade) युक्त होते हैं। इस कुल के २०० वंश तथा २०० स्पीशीज ज्ञात हैं।

पुष्पक्रम — प्राय: असीमाक्षी (racemose) शाखाएँ ससीमाक्षी। प्याज (cymose) आदि के छत्रक सदृश पुष्पक्रम वास्तव में मिश्रित ससीमाक्ष हैं। पुष्प प्राय: द्विलिंगी (bisexual) पंचचक्रिक (pentacyclic), त्रितयी (trimerous), त्रिज्या सममित (actinomorphic), जायांगाधर (hypogynous), परिदल पुंज (perianth) ३ + ३ स्वतंत्र या कुछ जुड़ा हुआ, दलाभ (petaloid), पुंकेसर (stamen) दो चक्करों में ३ या ६, प्राय: अंतर्मुख परागकोश, अंडप तीन, युक्तांडप प्राय: उत्तरी (कभी अधोवर्ती) बीजांडन्यास (placentation) प्राय: अक्षीय, बीजांड एक या अनेक (प्रत्येक विवर में दो पंक्तियों में), फल कोष्ठ विदारक (loculicidal) या पटविदारक (septicidal), कुछ पादपों में भरी।

परागण — स्वयं तथा अपर दोनों रीतियों से, सिला (Scilla), ऐलियम (Allium) आदि में अंडाशय भित्ति में, अंडपों के बीच तथा अन्य पुष्पों में परिपुष्प के आधार (base) पर मधु उत्सर्जित होता है। युका में परागणविधि मनोरंजक है। यह एक विशेष कीट प्रोनुबा युकासिला (Pronuba yuccasella) द्वारा होता है। पुष्पों के खिलते ही यह कीट अंदर घुसता है और परागकोशों से पराग एकत्रित कर, इसे एक छोटी गोली के रूप में बनाकर अपनी शृंगिका (antenna) में दबा लेता है। अब वह पुष्प के अंडाशय पर बैठकर यह टटोलता है कि उसमें बीजांड कहाँ है। जहाँ एक बीजांड होता है, ठीक उसके बाहर अंडाशय भित्ति में वह एक छेद कर देता है और उसमें एक अंडा दे देता है। फिर दौड़कर वह वर्तिकाग्र पर पहुँचता है और शृंगिका में दबाई हुई परागकण की गोली में से कुछ परागकण वर्तिकाग्र पर रखकर अपनी टाँगों द्वारा जितना हो सकता है भीतर दबा देता है। इसके बाद कीट पुन: अंडाशय पर लौट आता है। दूसरे बीजांड को टटोलकर वह कीट अंडाशय की भित्ति में पुन: दूसरा छेद कर एक और अंडा दे देता है तथा फिर वह वर्तिकाग्र पर दौड़ जाता है और पहले की भाँति परागकण उसके भीतर दबा देता है। ऐसा वह बारंबार करता है और अंडाशय भित्ति में अपने कई अंडे दे देता है। कुछ समय बाद इधर कीट के अंडे, डिंभक आदि तैयार होते हैं और उधर अनेक बीजांड निषेचित होकर मुलायम बीज के रूप में तैयार हो जाते हैं। अब डिंभक और बीज में एकत्रित भोज्य सामग्री के बीच अंडाशय की भित्ति की केवल थोड़ी सी ही कोशिकाएँ शेष बची रहती हैं। डिंभक इन्हें काट डालता है और बीज की भोजन सामग्री के सहारे बढ़ने लगता है। इस प्रकार युका और प्रोनुबा युकासिला कीट का जीवन परस्पर संबंधित है।

इस कुल के मुख्य पौधे ये हैं : १. प्याज या ऐलियम सीपा (Allium cepa), २. लहसुन या ऐलियम सेटाइवम (Allium sativum) (इन दोनों की पर्याप्त खेती की जाती है), ३. शतावरी या ऐस्पैरेगस (इसके ह्रासित (reduced) शल्कपत्रों के कक्ष में हरे पर्णाभ पर्व (cladodes) निकलते हैं तथा इसकी जड़ें सगंध होती हैं), ४. अग्निशिखा या ग्लोरिओसा सुपर्बा (Gloriosa superba) (इसके पत्तों का अग्रभाग तंतु रूप हो जाता है), ५. चोपचीनी या स्माइलेक्स (इसका शिराविन्यास जालिकावत है; एक मत के अनुसार इसके अनुपत्रों का अग्रभाग तंतु रूप में परिवर्तित हो जाता है), ६. रसकस (यह पर्णाभस्तंभ का एक अच्छा उदाहरण है), ७. घीकुँवार या एलो (मांसल पत्तियों से युक्त ओषधि

पादप हैं), ८. युका तथा ड्रासिना (छोटे क्षुपी पादप हैं, जिनमें परवर्ती वृद्धि (secondary growth) होती है)।

लंबे श्वेत पुष्पोंवाली लिलि
(Lilium longiflorum)
नीचे : शल्की शल्क कंद पर दो छोटे शल्क कंद लगे हैं।

९. ऐस्फोडलस (Asphodelus) (एक अपतृण (weed) है, जिसके सामान्य वल्कुट (general cortex) में भी जड़ें होती हैं।)
[वि० भा० शु०]

लिवरपूल स्थिति : ५३° २६' उ० अ० तथा २° ५८' प० दे०। यह इंग्लैंड का एक प्रसिद्ध बंदरगाह है। यह लंदन की बराबरी का बंदरगाह माना जाता है। यह मर्सि नदी के मुहाने पर बसा हुआ है। यहाँ पर पश्चिमी यूरोप के तुल्य जलवायु पाई जाती है। लैंकाशिर में कपड़े के व्यापार की उन्नति होने से इस नगर का महत्व काफी बढ़ गया है, क्योंकि इसकी पृष्ठभूमि में होने से लैंकाशिर का सारा व्यापार इसी के द्वारा होता है। लिवरपूल के पृष्ठप्रदेश में केवल लैंकाशिर ही नहीं बल्कि यार्कशिर, स्टैफर्डशिर और चेशिर भी संमिलित हैं। लिवरपूल में अनेक जहाजी कंपनियाँ हैं। इस बंदरगाह से रूई, अनाज, खाद्य सामग्री का आयात तथा ऊनी वस्त्र, इस्पात, सूती वस्त्र, बरतन, रासायनिक पदार्थ और लोहे तथा पीतल की बनी वस्तुओं का निर्यात होता है। यहाँ पर आटा पीसने, चीनी साफ करने, रासायनिक पदार्थ बनाने और साबुन तैयार करने के कारखाने हैं। यहाँ हवाई अड्डा भी है। [रा० स० ख०]

लिविंग्स्टन, डेविड (१८१३-१८७३) का जन्म स्कॉटलैंड में ग्लासगो के निकट ब्लैंटायर नामक स्थान पर १९ मार्च को हुआ था। उसके पिता चाय के व्यापारी थे और धर्मप्रचार में बहुत रुचि रखते थे। डेविड को बाल्यकाल से ही विज्ञान और यात्रा संबंधी पुस्तकों में बहुत रुचि थी। दस वर्ष की अवस्था में उसे स्थानीय कपड़े की मिल में काम करने भेजा गया, परंतु इस कार्य में उसका मन न लगा। ग्लासगो विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वह धर्मप्रचारक बना।

१८४० ई० में ८ दिसंबर को उसने इंग्लैंड से दक्षिण अफ्रीका के लिये प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचकर उसने अफ्रीका की भूमि तथा वनस्पति आदि का वर्णन लिखा। उसने वहाँ के निवासियों को खेती करना सिखाया। कालाहारी के मरुस्थल को पार करके उसने १८४९ ई० में नगामी झील का पता लगाया। अपने स्वास्थ्य की परवाह न करके उसने जँबेसी नदी के उत्तरी भाग की यात्रा प्रारंभ की और दक्षिण अफ्रीका के पश्चिमी समुद्रतट पर पहुँच गया। इसके पश्चात् उसने विक्टोरिया झरने का पता लगाया। १८५६ ई० के अंत में वह इंग्लैंड लौटा। वहाँ उसका बहुत संमान हुआ। १८५८ ई० में वह दूसरी बार दक्षिण अफ्रीका गया। १८६२ ई० में वहीं उसकी पत्नी की मृत्यु हो गई किंतु उसने साहस न छोड़ा और न्यासा झील का पता लगाकर १८६४ में वह इंग्लैंड लौटा। वह एक बार फिर दक्षिण अफ्रीका गया। इस बार बहुत दिनों तक उसके कोई समाचार न मिले। अंत में स्टैनले ने उसका पता लगाया। फिर दोनों ने टैंगैनिका झील और नील नदी के उद्गम स्थान का पता लगाया। रोगों के कारण दक्षिण अफ्रीका में ही १ मई, १८७३ को उसकी मृत्यु हो गई। वह एक दयालु मनुष्य था जो अफ्रीका के निवासियों का जीवन सुधारना चाहता था। इसी भावना से प्रेरित होकर उसने अनेक कष्ट सहकर भी अफ्रीका के अज्ञात प्रदेशों की खोज की। [ओं० प्र०]

लिसिप्पस इन्हें मेसेडेन के अलेग्जैंडर (सिकंदर) और फिलिप्स के जमाने के सिसियॉन तथा अर्गो शैली का प्रमुख ग्रीक शिल्पकार माना जाता है। इसने अपनी कला के लिये काँसा धातु को माध्यम रखकर जीवन में लगभग १५०० मूर्तियों का निर्माण किया जिनमें से कुछ अत्यंत भव्य हैं। लिसिप्पस ने विजेता अलेग्जैंडर की अनेक शिल्पाकृतियाँ बनाईं। वह राजशिल्पी माना जाने लगा। सिकंदर और उसके दरबारियों से उसे बार बार संमान मिलता रहा। पोलीक्लिटस के पुराने नियमों में सुधार कर उसने अपनी शिल्पशैली में प्रभाववादी गुणों का समावेश किया। उसने देवी देवताओं की मूर्तियों को अपनी नई शैली से बनाया। हरक्यूलिस की अनेक मूर्तियाँ बनाईं तथा पेलोपोनेस के कसरती खिलाड़ियों के मुख शिल्प बनाए। मुख शिल्प या अर्ध शिल्प बनाने की कला का जनक यही है। वेटिकान में रखी कई प्राचीन मूर्तियाँ इसकी मूल कृतियों की नकल मात्र हैं, ऐसा समझा जाता है। [भा० स०]

लिस्टर, जोसेफ प्रथम बैरन (Lister, Joseph, first Baron, सन् १८२७-१९१२), अंग्रेज सर्जन तथा पूतिरोधी शल्यकर्म के जन्मदाता का जन्म अपटन (एसेक्स) नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता जोसेफ जैक्सन लिस्टर ने अवर्णक लेंस तथा संयुक्त सूक्ष्मदर्शी में उन्नति कर, प्रकाशीय विज्ञान के क्षेत्र में नाम कमाया था। पुत्र ने लंदन के यूनिवर्सिटी कॉलेज से चिकित्सा शास्त्र में एम० बी० तथा एफ० आर० सी० एस० की उपाधियाँ सन् १८५२ में प्राप्त कीं। सन् १८५३ में इन्होंने एडिनबरा में जेम्स साइम नामक प्रसिद्ध शल्य चिकित्सक के अधीन काम करना प्रारंभ किया। सन् १८५६ में इन्होंने साइम की पुत्री से विवाह किया और राजकीय अस्पताल में सहायक सर्जन नियुक्त हुए।

विद्यार्थी अवस्था में ही लिस्टर ने सर्वप्रथम सिद्ध किया था कि

चक्षुओं की परितारिका में दो भिन्न पेशियाँ होती हैं, जिनमें से एक तो पुतली को फैलाकर बड़ा तथा दूसरी संकुचित कर छोटा कर देती है। सन् १८५३ में आपने चर्म की अनैच्छिक पेशियों पर एक ग्रंथ प्रकाशित किया। सन् १८५७ में इन्होंने शोथ की प्रारंभिक अवस्था में सूक्ष्म रक्तवाहिनियों के कार्य तथा विविध उत्तेजकों के, इन पर और ऊतकों पर, प्रभाव का दिग्दर्शन कराया। घावों में इन घटनाओं का विवेचन भी किया। सन् १८५६ में आपने एक लेख द्वारा मेढक के चर्म में वर्णपरिवर्तन की क्रिया पर प्रकाश डाला। इससे शोथ की प्रारंभिक अवस्था के परिवर्तनों का भी स्पष्टीकरण हुआ। सन् १८५८ में रक्त के जमाव पर आपका प्रथम लेख प्रकाशित हुआ। इन विशिष्ट अनुसंधानों के अतिरिक्त लिस्टर ने शल्य चिकित्सा में क्रांतिकारी विधियों का आविष्कार तथा प्रचलन किया।

सन् १८६० में लिस्टर ग्लासगो विश्वविद्यालय में शल्य चिकित्सा के प्रोफेसर तथा कुछ ही समय पश्चात् राजकीय अस्पताल में शल्य चिकित्सक नियुक्त हुए। इस समय संवेदनहारी पदार्थों का आविष्कार कुछ वर्ष पूर्व हो जाने के कारण, बड़ी तथा दीर्घकालीन शल्यक्रियाएँ की जाने लगी थीं, जिनके पश्चात् रोगी में प्रायः भयानक सेप्टिक अवस्था उत्पन्न हो जाती थी। ग्लासगो का लिस्टरवाला अस्पताल इस संबंध में बदनाम था। इस विषय में चिंता करते हुए लिस्टर का ध्यान लुई पास्टयर के अनुसंधान की ओर गया। पास्टयर ने सिद्ध किया था कि हवा और धूल से लाए सूक्ष्म जीवों के कारण ही वस्तुएँ सड़ती हैं। इसी सिद्धांत के आधार पर लिस्टर ने ऐसे उपायों और द्रव्यों का उपयोग आरंभ किया जो इन सूक्ष्म जीवों को घाव में तथा उसके निकट मारकर उनका प्रभाव न होने दें। इस प्रकार इन्होंने शल्य चिकित्सा में न केवल पूतिदोषरोधी (antiseptic) वरन् अपूतिदोषी (aseptic) सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

लिस्टर का अन्य महत् अनुसंधान कार्य घावों को सीने और धमनियों को बाँधने के लिये उपयुक्त तंतु के बारे में था। तब तक इस कार्य के लिये रेशम, या सन का डोरा काम में आते थे। इन पदार्थों को शरीर अवशोषित नहीं कर पाता था और इससे अनेक बार घातक द्वितीयक रक्तस्राव उत्पन्न हो जाता था। लिस्टर ने इस काम के लिये ताँत (catgut) को चुना, जो अवशोषित हो जाता है। ताँत की पुष्टता को हानि पहुँचाए बिना उसे विसंक्रमित करने की विधि की खोज में कई वर्ष लगे। लिस्टर के इन अनुसंधानों के कारण पेट, छाती और मस्तिष्क की शल्य चिकित्सा संभव हो गई।

सन् १८६५ से १६०० तक आप रॉयल सोसायटी के अध्यक्ष रहे। बैरन की उपाधि देकर आपको अभिजात वर्ग में संमिलित किया गया तथा सन् १६०६ में आपको 'ऑर्डर ऑव मेरिट' मिला। लिस्टर इंस्टिट्यूट ऑव मेडिसिन को लिस्टर के नाम से संयुक्त कर आपको संमानित किया गया। अपनी प्रतिभा से विश्व के प्राणियों का उपकार करनेवाले इस वैज्ञानिक ने ८५ वर्ष की दीर्घायु तक मानव सेवा की। [भ० दा० व०]

लीआँ (Lyons) स्थिति : ४५° ४५' उ० अ० तथा ४° ५०' पू० दे०। यह फ्रांस देश के दक्षिणी भाग का एक प्रसिद्ध नगर है। लीआँ रोन तथा सोन (Saone) नदियों के संगम पर बसा होने के कारण प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र बन गया है। यहाँ भूमध्य सागरीय जलवायु पाई जाती है। रोन तथा सोन की घाटी में शहतूत के वृक्ष अधिक होते हैं, जिनकी पत्तियों पर रेशम के कीड़े खूब पाले जाते हैं। अतः यह नगर रेशम बनाने तथा रेशमी कपड़े तैयार करने एवं रँगने के उद्योग के लिये जगत्प्रसिद्ध है। इतना होते हुए भी यहाँ के उद्योग के लिये और रेशम चीन, जापान तथा इटली से मँगाया जाता है। यहाँ रेशमी वस्त्र घरों में तथा छोटे छोटे कारखानों में तैयार किए जाते हैं। लीआँ के आस पास कृत्रिम रेशम के भी कारखाने हैं। यह नगर देश के अन्य भागों से रेल तथा सड़कों द्वारा जुड़ा हुआ है। [रा० स० ख०]

लीओपोल्ड प्रथम (१७६०-१८६५) बेल्जियम के राजा का जन्म १८ दिसंबर, १७६० को कोबर्ग में हुआ था। १८ वर्ष की अवस्था में रूस की सेना में प्रविष्ट होकर १८१३-१४ में नेपोलियन के विरुद्ध लड़ा। उसने इंग्लैंड के राजा जार्ज चतुर्थ की पुत्री शर्लाट से विवाह किया। १८१७ में शर्लाट की मृत्यु हो गई किंतु वह इंग्लैंड में ही रहा। इससे उसे ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली का पूरा ज्ञान हो गया। १८३० में उसे यूनान का राजा बनाने का प्रस्ताव रखा गया जिसे उसने अस्वीकार कर दिया।

वियना संमेलन में (१८१५) हॉलैंड और बेल्जियम को मिलाकर हॉलैंड के राजा के अधीन एक देश बना दिया गया परंतु यह प्रबंध सफल न हो सका क्योंकि दोनों देशों की संस्कृतियाँ भिन्न भिन्न थीं। हॉलैंड के निवासी प्रोटेस्टेंट और व्यापारी, बेल्जियम के निवासी कैथलिक और किसान थे। १८३० में बेल्जियम निवासियों ने विद्रोह किया। १८३१ ई० में यूरोपीय शक्तियों ने बेल्जियम को स्वतंत्र राज्य घोषित किया और लीओपोल्ड को वहाँ का शासक चुना। थोड़े दिन पश्चात् उसने फ्रांस के राजा लुई फ़िलिप की पुत्री से विवाह किया। इससे फ्रांस उसका सहायक हो गया। वह बेल्जियम का संवैधानिक शासक बना; देश की शासनसत्ता जनता के प्रति उत्तरदायी मंत्रिमंडल के हाथ में रही। १८४८ में जब यूरोप के सभी देशों में क्रांतियाँ हुईं, लीओपोल्ड की बुद्धिमत्ता के कारण बेल्जियम में कोई गड़बड़ न हुई।

लीओपोल्ड उदार विचारों का योग्य और बुद्धिमान व्यक्ति था। उसी के प्रयत्न से बेल्जियम का समझौता संभव हुआ क्योंकि हॉलैंड और फ्रांस दोनों ही बेल्जियम की स्वतंत्रता में बाधक थे। उसके राज्यकाल में बेल्जियम में कला, विज्ञान और शिक्षा की पर्याप्त उन्नति हुई। उसकी मृत्यु १० दिसंबर, १८६५ को हुई। [ओं० प्र०]

लीओपोल्ड द्वितीय (१८३५-१६०६), बेल्जियम के राजा का जन्म ६ अप्रैल, १८३५ को ब्रुसेल्स में हुआ। वह लीओपोल्ड प्रथम का पुत्र था। उसने युवराज बनते ही एशिया माइनर, मिस्र, पूर्वी द्वीपसमूह तथा चीन की यात्राएँ कीं। उसका विवाह ऑस्ट्रिया की राजकुमारी से हुआ। १८६५ में राजा बनते ही उसने राजनीतिक दलों के संघर्षों को कम करने का प्रयत्न किया। देश की सुरक्षा के लिये लीओपोल्ड ने सैनिक शक्ति बढ़ाई। फ्रांस और प्रशा के युद्ध के समय (१८७०-७२) उसने तटस्थता की नीति अपनाई।

उसके राज्यकाल में (१८८४ से १९१४ तक) कैथलिक दल की सरकार रही। इसने धार्मिक शिक्षा पर जोर दिया और प्राइमरी शिक्षा का बहुत प्रसार किया। अधिक व्यक्तियों को मतदान का अधिकार मिला। १८९० ई० के पश्चात् सामाजिक सुधार करने के लिये भी कुछ कानून बनाए गए।

लीओपोल्ड द्वितीय के समय में हेनरी स्टैनले ने उससे कहा कि कांगो में रबड़ के पेड़ों से बहुत आय हो सकती है। इससे आकर्षित होकर १८७६ ई० में उसने एक निजी कंपनी बनाई जिसने कांगो के सरदारों से कौड़ियों में सारी जमीन खरीद ली। जब इस कंपनी ने वहाँ के निवासियों पर बहुत अत्याचार किए तो १९०८ ई० में लीओपोल्ड ने कांगो को बेल्जियम की सरकार को दे दिया जिससे कांगो के निवासियों की दशा सुधारी जा सके।

इस उपनिवेश के कारण बेल्जियम को बहुत आर्थिक लाभ हुआ। नए नगरों का निर्माण हुआ किंतु वह अधिक लोकप्रिय राजा न बन सका। उसकी मृत्यु १७ दिसंबर, १९०९ को हुई।

[ओं० प्र०]

लीओपोल्ड, इन्फेल्ड (Leopold Infeld) पोलैंडवासी भौतिकीविद् थे, जिन्होंने सन् १९२१ में डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् माध्यमिक विद्यालय के शिक्षक के पद से आजीविका आरंभ की और लगभग ४० वर्ष की आयु हो जाने पर मुक्त रूप से वैज्ञानिक अनुसंधान प्रारंभ किया।

अन्य वैज्ञानिकों के अतिरिक्त डा० इन्फेल्ड ने महान् जर्मन भौतिकीविद्, मैक्स बॉर्न, के साथ काम किया, जिसके फलस्वरूप विद्युतगतिकी संबंधी बॉर्न-इन्फेल्ड सिद्धांत का जन्म हुआ। सन् १९३७ से १९५८ तक इन्फेल्ड प्रिंसटन में थे, जहाँ वे आधुनिक काल के संभवतः सबसे महान् वैज्ञानिक आइंस्टाइन के साथ काम करते रहे। सन् १९३८ में आइंस्टाइन-इन्फेल्ड-हॉफमैन लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें परस्पर गुरुत्वाकर्षण से प्रभावित पिंडों की प्रणाली के गतिसमीकरणों का विकास किया गया है। आइंस्टाइन तथा इन्फेल्ड ने मिलकर एक अन्य पुस्तक 'भौतिकी का विकास' भी लिखी है। सन् १९५० में वारसॉ वापस आने पर, आपने 'सैद्धांतिक भौतिकी का केंद्र' की स्थापना की, जिसमें इनके सिवाय प्रोफेसर बायलोब्रेस्की (Bialobrzeski) तथा रुबिनोविक्स (Rubinowicz) भी काम करते थे।

डा० इन्फेल्ड ने १०० से अधिक वैज्ञानिक ग्रंथ लिखे। जनसुगम विज्ञान पर भी आपने बहुत कुछ लिखा है।

१५ जनवरी, १९६८ को आपकी मृत्यु से पोलैंड में विज्ञान की प्रगति को बड़ा धक्का लगा है। [भ० दा० व०]

लीओपोल्डविल (Leopoldville), या रिपब्लिक ऑव द कांगो (Republic of the Congo), १. राज्य, यह मध्य अफ्रीका के बीच में स्थित बड़ा राज्य है, जिसका क्षेत्रफल २३,४५,४०९ वर्ग किमी० है। यह उत्तर पश्चिम में कांगो नदी तथा कांगो रिपब्लिक (ब्राजविल) से, उत्तर में सूडान एवं सेंट्रल अफ्रीकन रिपब्लिक (Central African Republic) से, पूर्व में उगांडा, रुवांडा-बरुंडी एवं तंजानिया से, और दक्षिण में जैंबिया एवं अंगोला से घिरा हुआ है। यहाँ की जलवायु उष्ण है और औसत ताप २७° सें० रहता है तथा वार्षिक वर्षा का औसत ६० से ८० इंच है। यहाँ अनेक बंतु भाषाएँ बोली जाती हैं। इस राज्य में २१ प्रांत हैं। कटांगा की ताँबे की खानें राष्ट्र की प्रमुख संपत्ति हैं। मैंगनीज, जस्ता, यूरेनियम तथा अन्य खनिज भी राज्य में मिलते हैं। कासाइ (Kasai) में हीरे की संपन्न खानें हैं। यहाँ के प्रमुख कृषि उत्पाद केले, खजूर का तेल, रबर, कॉफी, इमारती लकड़ियाँ, तथा मंडशिफ (manioc) हैं। इनके अतिरिक्त गेहूँ, मूँगफली, मटर, मक्का, धान, आलू तथा गन्ने की भी खेती होती है। यद्यपि उद्योगों का विकास अभी तक नहीं हो पाया है, फिर भी सीमेंट, सिगरेट, वस्त्र तथा ईंटों का निर्माण होता है। इस राज्य में तीन विश्वविद्यालय तथा ग्यारह महाविद्यालय हैं। लीओपोल्डविल यहाँ की राजधानी है। इसके अतिरिक्त एलिजाबेथविल (४,००,०००) तथा स्टैन्लिविल (३,००,०००) अन्य महत्वपूर्ण नगर हैं।

२. नगर, स्थिति : ४° २०' द० अ० तथा १५° १५' पू० दे०। यह लीओपोल्डविल राज्य की राजधानी है। कांगो नदी के दक्षिणी तट पर स्थित यह नगर ऐटलैंटिक महासागर के तट पर स्थित कांगो नदी के मुहाने से ३५० मील दूर पर स्थित है। कांगो क्षेत्र के सभी बहुमूल्य उत्पाद यहाँ से जहाज पर लदकर बाहर जाते हैं तथा बाहर से सामान लादकर जहाज यहाँ आते हैं। लीओपोल्डविल से ठीक दक्षिण में लिविंग्स्टोन प्रपात है, जिसके कारण लीओपोल्डविल से आगे जहाजों का जाना संभव नहीं है। नगर का नाम बेल्जियम के शासक लीओपोल्डविल द्वितीय के नाम पर पड़ा है और १९२३ ई० में यह बेल्जियम कांगो की राजधानी बना था। इसकी सड़कें सुंदर हैं। यहाँ विद्युत प्रकाश का प्रबंध है तथा ईंटों और सीमेंट के मकान सड़क के किनारे बने हुए हैं। यहाँ की जनसंख्या ६,००,००० (१९६४) है। नगर में कपड़े, रेलों की पटरियाँ तथा सीमेंट के कारखाने हैं। हवाई यातायात की उत्तम सुविधा है। [अ० ना० मे०]

लीची नामक फल की जन्मभूमि चीन है। संसार में सबसे अधिक लीची पैदा करनेवाला देश चीन है। लगभग १८वीं शताब्दी में यह भारत में आई। लीची के उत्पादन में भारत का तीसरा स्थान है। भारत में बिहार, बंगाल और उत्तर प्रदेश में इसका उत्पादन होता है।

मुख्य किस्में — भारतीय लीची की मुख्य किस्में कलकतिया, लेट, बेदाना, अर्ली, सीडलेस, लेटलार्जरेड तथा रोज सेंटेड हैं।

लीची के लिये तर और थोड़ी गरम जलवायु की आवश्यकता है। पाला पड़नेवाले और लूवाले प्रदेशों में लीची अच्छी नहीं होती, क्योंकि लू से फल चटककर खराब हो जाता है और पाले से प्रायः छोटे पेड़ों को हानि पहुँचती है।

लीची के लिये गहरी उपजाऊ दुमट भूमि, जिसमें पानी का निकास अच्छा हो, उपयुक्त होती है। जिस भूमि में चूना नहीं हो, उसमें थोड़ा चूना मिलाना लीची के लिये लाभप्रद होता है।

लीची के पेड़ गूटी बाँधकर तैयार किए जाते हैं। लगभग ¾ इंच मोटाई की स्वस्थ शाखाएँ चुनकर, उनको फुनगी से १½ से लेकर

२ फुट नीचे चारों ओर १½ से लेकर २ इंच लंबाई में छिलका छील लेते हैं। छिले स्थान के चारों ओर चिकनी मिट्टी और गोबर का मिश्रण बाँध देते हैं। ऊपर से टाट के टुकड़े से उसे लपेट देते हैं। मिट्टी सदा नम रखते हैं। यह कार्य जुलाई-अगस्त में करते हैं। लगभग तीन चार माह में बाँधी गई मिट्टी में से जड़ें फूट आती हैं। अब जड़वाली शाखा को काटकर क्यारी, या गमले में लगा देते हैं।

लीची के पेड़ लगाने के लिये ३० से ४० फुट के फासले से ३' अर्धव्यास के और ३' गहरे गोलाकार गड्ढे गर्मियों में खोद लेने चाहिए। वर्षा प्रारंभ होने पर प्रत्येक गड्ढे में सड़े गोबर की लगभग ३० सेर खाद और दो सेर हड्डी की खाद मिलाकर भर देना चाहिए। गड्ढों के बीचोबीच पेड़ लगा देना चाहिए। प्रारंभ के दो वर्ष तक पेड़ों को लू एवं पाले से बचाना पड़ता है। सिंचाई सदा आवश्यकतानुसार करते रहना चाहिए। लीची की जड़ें उथली रहती हैं, इसलिये बाग को कभी गहरी गुड़ाई, या जुताई न करनी चाहिए। बाग में द्विबीजपत्री फसलें लगाना लाभप्रद होता है। प्रति वर्ष प्रति पेड़ लगभग १ मन गोबर की खाद, २ सेर हड्डी की खाद और ४ सेर लकड़ी की राख देना चाहिए।

लीची के फल नई टहनियों में आते हैं। पुरानी टहनियाँ फलों के साथ ही टूट जाती हैं, क्योंकि लीची सदा मय टहनी के तोड़ी जाती है। इसके अलावा लीची में कोई कटाई छटाई की आवश्यकता नहीं होती।

लीची लगभग ५ से ६ साल में फलना प्रारंभ करती है तथा २० से २५ साल तक इसकी फसल बढ़ती जाती है। स्वस्थ पेड़ १०० साल तक जीवित रहता है और एक पेड़ में लगभग ३ से लेकर ५ मन तक फल लगता है।

लीची में कोई खास कीड़ा, या बीमारी नहीं लगती। सफेद छोटा कीड़ा, जिसे माइट कहते हैं, कभी कभी हानि पहुँचाता है। इसके लिये ०·५ प्रति शत डी० डी० टी० का छिड़काव कर देना चाहिए।

भारत में चमगादड़ और चिड़ियाँ फलों को बहुत हानि पहुँचाते हैं। पटाखे आदि छोड़कर उनसे फलों को बचाना चाहिए। यदि २-४ पेड़ हों, तो उन्हें अलग अलग बड़े जाल से ढँक कर उनकी रक्षा कर सकते हैं। [श्री रा० गु०]

लीना नदी एशिया में बैकाल पर्वत से निकलकर साइबीरिया के पूर्वी भाग में बहकर उत्तरी हिम महासागर की एक सँकरी खाड़ी में गिरती है। अगल बगल से इसमें आकर मिलनेवाली कई सहायक नदियों सहित इसकी जलप्रवाह प्रणाली द्रुमाकृतिक है। यह वर्ष में सात आठ महीने जमी रहती हैं और वसंत ऋतु में पिघलती है, परंतु इसका मुहाना उस समय भी हिमाच्छादित रहता है। फलस्वरूप जल मैदानों में फैल जाता है, जिससे दलदल बन जाते हैं।

[रा० स० ख०]

लीबरमान माक्स (१८४७-१९३५) जर्मन चित्रकार और खुदाई कला का यह कारीगर बर्लिन में ही रहता था। स्टेफेड का वह शिष्य था। विमर के स्कूल ऑव आर्ट में १८६८ ई० तक उसने अध्ययन किया। सन् १८७३ से १८७८ में उसने प्रभाववादी दृष्टि अपनी कृतियों में अपनाई थी। इसके बनाए गए बिरस के ग्रामीण दृश्यों, हॉलैंड के खेतों और जर्मनी के कारखानों के दृश्य के चित्रों पर जे० इजरायल्स के चित्रों का प्रभाव लगता है। 'सन बुनकर', 'स्त्री और बकरियाँ', 'वृद्ध का आश्रयस्थान' आदि कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। इसके कुछ चित्र बर्लिन नेशनल आर्ट गेलरी में रखे हैं।

[भा० स०]

लीबिख, जस्टस फॉन, बैरॉन (Liebig, Justus Von, Baron; १८०३-१८७३ ई०) जर्मन रसायनज्ञ का जन्म जर्मनी के डार्मस्टाट नामक स्थान में हुआ था। इन्होंने १८१९ ई० में बॉन विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। १८२२ ई० में रसायन में पीएच० डी० की उपाधि ग्रहण की। इसके पश्चात् पैरिस जाकर इन्होंने गे लुसाक तथा थेनार्ड के निरीक्षण में अपना रासायनिक अनुसंधान पूर्ण किया। सन् १८२४ में जब ये जर्मनी लौटे तो गीसेन विश्वविद्यालय में रसायन के प्रोफेसर नियुक्त हुए और वहीं पर इन्होंने कार्बनिक रसायन अनुसंधानशाला स्थापित की।

इन्होंने एक नवीन उपकरण निर्मित किया था, जिसके द्वारा कार्बनिक पदार्थों की संरचना ज्ञात की जा सकती थी। वलर (Wohler) के साथ (१८३२, १८३७) इन्होंने कड़ुए बादाम के तेल (बेंज़ेलडीहाइड) तथा एमिगडैलिन पर अनुसंधान किया। फिर इन्होंने सिरका उत्पादन में हाथ लगाया और यह दिखा दिया कि शराबों में प्राप्त ऐलकोहॉल से (ऐल्डिहाइड से होकर) ऐसीटिक अम्ल उत्पन्न होता है। १८३२ ई० में ही इन्होंने एक अनुसंधान पत्रिका प्रकाशित करनी प्रारंभ की, जो आगे चलकर बहुत विख्यात हुई। इसी में वे अपने शोध परिणामों को प्रकाशित करते रहे। ब्रिटिश ऐसोसिएशन फॉर द ऐडवांसमेंट ऑव सायंस (British Association for the Advancement of Science) ने १८४० में इन्हें कार्बनिक रसायन की उन्नति पर रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिये आमंत्रित किया, जो एक पुस्तक, ऑर्गैनिक केमेस्ट्री ऐंड इट्स ऐप्लिकेशन टु ऐग्रिकल्चर ऐंड फिज़िऑलोजी (Organic Chemistry and its Application to Agriculture and Physiology) की आधारशिला बनी। यह पुस्तक बहुत जनप्रिय हुई।

लीबिख का मत था कि फसलों को तीन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है : १. कार्बन तथा नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ, जो पौधों को कार्बन एवं नाइट्रोजन तत्व प्रदान कर सकें, २. जल तथा ३. भूमि, जो पौधों के लिये आवश्यक अकार्बनिक तत्वों की पूर्ति कर सके। लीबिख का मत था कि पौधों द्वारा आवश्यक कार्बन तथा हाइड्रोजन की पूर्ति कार्बन डाइऑक्साइड तथा जल से और नाइट्रोजन की पूर्ति वायुमंडल में वर्तमान अमोनिया से होती है। परंतु लिबिख की सर्वाधिक ख्याति 'खादों के खनिज सिद्धांत' के कारण हुई। इस सिद्धांत के अनुसार पौधों की वृद्धि के लिये आवश्यक खनिज तत्वों की पूर्ति होनी आवश्यक है। यदि मिट्टी में इन तत्वों की कमी होती है, तो उन्हें खादों के रूप में बाहर से डालने की आवश्यकता पड़ती है। प्रत्येक दशा में ऐसे तत्वों को, जो पौधों की राख में वर्तमान होते हैं, अनुर्वर मिट्टी में खादों के रूप में डालकर ही उनकी पूर्ति की जा सकती है। पशुओं के मल तथा अस्थियों की उर्वराशक्ति उनमें निहित अकार्बनिक अवयवों के कारण ही होती है। इन्होंने अस्थियों

को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये उनपर सल्फ्यूरिक अम्ल (अस्थि की आधी मात्रा में) डालने की विधि निर्धारित की। इस प्रकार से उन्होंने सर्वप्रथम फ़ॉस्फ़ेट उर्वरकों के ऐसे उद्योग को जन्म दिया जिससे अविलेय फ़ॉस्फ़ेट विलेय होकर पौधों के लिये उपलब्ध हो सके। पोटैश तथा अन्य तत्वों को, जो वर्षा के जल द्वारा प्लावित हो जाते थे, उर्वरक के रूप में डालने के पहले लीबिग ने सिलिकेटों के साथ इन्हें संगलन करने की विधि अपनाई। परंतु इस प्रकार फलदायक परिणाम न प्राप्त हुए और उनकी आलोचना हुई, क्योंकि ऐसा करने से विलेय तत्व अविलेय हो जाते हैं। उन्होंने खनिज सिद्धांत के द्वारा पूर्ववर्ती ह्यूमस सिद्धांत को त्रुटिपूर्ण सिद्ध कर दिया।

लीबिग ने पशु तथा मानव शरीरक्रियाविज्ञान (Physiology) पर जो अनुसंधान किए थे, उनके आधार पर १८४२ ई० में एक दूसरी पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसका नाम था ऐनिमैल केमिस्ट्री (Animal Chemistry)। उन्होंने बताया कि भोजन से ऊर्जा की प्राप्ति श्वसन क्रिया द्वारा ही संभव है।

सन् १८४७ में उनकी एक तीसरी पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें भोजन रसायन पर अनुसंधान वर्णित है। इनके अतिरिक्त १८४३ ई० में लंदन से उनके उन पत्रों का संग्रह प्रकाशित हुआ जो रसायन शास्त्र की उपयोगिता (वाणिज्य, शरीरक्रिया विज्ञान तथा कृषि में) पर थे। इन्हीं पुस्तकों के द्वारा लीबिग विश्व के कोने कोने में विख्यात हो सके।

लीबिग सदैव रसायन के सर्वश्रेष्ठ अध्यापक के रूप में स्मरण किए जाएँगे।

१८५२ ई० में म्यूनिख विश्वविद्यालय में लीबिग का स्थानांतरण हो गया। वहाँ वे अपना अधिकांश समय पुस्तकों के परिवर्धन में लगाते रहे। [शि० गो० मि०]

लीमा १. मध्य पीरू में एक राजनीतिक भाग एवं नगर। इस भाग का क्षेत्रफल १५,०४८ वर्ग मील तथा जनसंख्या १२,१६,३२५ (१९५०) है। धरातल मैदानी है एवं शंकु के आकार के जलोढ़ निक्षेपों से ढँका हुआ है। यहाँ का जलवायु शुष्क है तथा तटीय प्रदेश में कपास, फल एवं तरकारियाँ उत्पन्न होती हैं।

२. **नगर**, स्थिति : १२° ३' ३" द० अ० तथा ७७° २' १४" प० दे०। रिमेक (Rimac) का अपभ्रंश लीमा हो गया है और नगर पीरू तथा लीमा नामक राजनीतिक क्षेत्र की राजधानी है। यह नगर रिमेक नदी के किनारे उसके मुहाने से ८·५ मील दूर, समुद्र तल से ५०० फुट की ऊँचाई पर, मरुस्थली मैदान में स्थित है। नगर की जलवायु साधारण है, वार्षिक औसत ताप १९° सें० है तथा वर्षा बहुत कम होती है। यह समय समय पर वाइसरायों की राजधानी रहा है। प्लाज़ा ड आरमस (Plaza De Armas) नगर का केंद्र है। नैशनल पैलेस ऑव जस्टिस, म्युनिसिपल पैलेस, सरकारी महल एवं पादरी का महल सुंदर दर्शनीय भवन हैं। सैन मारकोज (San Marcos) विश्वविद्यालय के अतिरिक्त कई अन्य शिक्षा संस्थाएँ हैं। नगर में अजायबघर, पुस्तकालय, अस्पताल तथा हवाई अड्डा भी है। यहाँ सूती वस्त्रों के आठ तथा ऊनी वस्त्रों के दो कारखाने हैं। इनके अतिरिक्त चमड़ा कमाने चमड़े का सामान बनाने, हैट, फर्निचर, चॉकलेट, बिस्कुट, मोमबत्ती, पाउडर, कांच, सीमेंट तथा ऐलुमिनियम के सामान बनाने के कारखाने भी नगर में हैं। यहाँ की जनसंख्या ८,३५,४६८ (१९५०) है।

३. **नगर**, संयुक्त राज्य, अमरीका के ओहिओ राज्य में उत्तर पश्चिम में यह नगर स्थित है और टोलेडो से ७६ मील दूर है। मांस, दूध, अंडा एवं खाद्य पदार्थों के संसाधन (processing) के कारखाने तथा सिगार, बस, बिजली के मोटर, रबर के सामान के कारखाने यहाँ हैं। नगर की जनसंख्या ५०,२४६ (१९५०) है। [सु० चं० अ०]

लीला भारतीय धर्म दर्शन की स्थापना है कि परब्रह्म अपने परिकरों के साथ नित्य लीला में संलग्न रहते है। राम और कृष्ण के अनन्य उपासकों ने अपने आराध्य को परब्रह्म या उसका अवतार मानकर उनकी समस्त क्रिया क्रीड़ाओं का मुक्त कंठ से गान किया है। राम भक्ति साहित्य में परमेश्वर राम की लीलाओं के तीन प्रकार बताए गए हैं—(१) नित्य, (२) अवतरित (३) अनुकरणात्मक। वैष्णव भक्तों के अनुसार परब्रह्म साकेत धाम में नित्य क्रीड़ा मे संलग्न है। यह लीला चिरंतन, शाश्वत, और अविराम परमानंददायिनी है। जीवों का उद्धार करने के सदुद्देश्य से, अवतरित हो भगवान् अपनी पार्थिव लीला से विश्वोपयोगी ऐश्वर्यगुणों को प्रस्तुत करते हैं। इस अवतरित लीला की अति पावन भूमि अयोध्या है : साकेत की नित्य लीला अंतरंग है, अयोध्या की अवतरित बहिरंग। लीला का मूलोद्देश्य मायाबद्ध जीवों को अंतरंग में प्रवेश करा उपास्यानंद में तल्लीन कराता है। रसिक आचार्यों के मतानुसार नित्य लीला ही निर्गुण लीला है, अप्रकट लीला है। और, अवतरित लीला सगुण और प्रकट लीला है। वय: दृष्टि से राम की संपूर्ण लीलाओं को बाल्यावस्था, विवाह, वन, रण, राज्याभिषेक संबंधी लीलाओं का समूह कहा जाता है। स्थान की दृष्टि से थल लीला और जल लीला तत्वानुसार सात्विकी और असात्विकी दो भेद हैं।

लीलानायक राम परब्रह्म के साकार रूप हैं, परंतु एकपत्नी-व्रत न रह कर दक्षिण नायक बन जाते हैं। नायिका सीता आह्लादिनी शक्ति है जो इच्छा, ज्ञान, क्रिया इन तीनों शक्तियों का समन्वय है राम और सीता का संबंध भक्तों के अनुसार पुरुष और प्रकृति का, परब्रह्म और आह्लादिनी शक्ति का है। परिकर जीवात्मा के रूप में स्वीकृत है। राम द्वारा किए गए सारे क्रियाव्यापारों का उनके भक्त जन अनुकरण करते हैं। यह अनुकरणात्मक लीला ही इन दिनों प्रचलित रामलीला है। (श्रीकृष्ण की लीला के लिये देखिए 'रासलीला')।

रामलीला — आसेतु हिमाचल प्रख्यात रामलीला का आदि प्रवर्तक कौन है, यह विवादास्पद प्रश्न है। भावुक भक्तों की दृष्टि में यह अनादि है। एक किंवदंती का संकेत है कि त्रेता युग में श्री रामचंद्र के वनगमनोपरांत अयोध्यावासियों ने चौदह वर्ष की वियोगावधि राम की बाल लीलाओं का अभिनय कर बिताई थी। तभी से इसकी परंपरा का प्रचलन हुआ। एक अन्य जनश्रुति से यह प्रमाणित होता है कि इसके आदि प्रवर्तक मेघा भगत थे जो काशी के कतुआपुर महल्ले में स्थित फुटहे हनुमान के निकट के निवासी माने जाते हैं। एक बार पुरुषोत्तम रामचंद्र जी ने इन्हें

स्वप्न में दर्शन देकर लीला करने का आदेश दिया ताकि भक्त जनों को भगवान् के चाक्षुष दर्शन हो सकें। इससे सत्प्रेरणा पाकर इन्होंने रामलीला संपन्न कराई। तत्परिणामस्वरूप ठीक भरत मिलाप के मंगल अवसर पर आराध्य देव ने अपनी झलक देकर इनकी कामना पूर्ण की। कुछ लोगों के मतानुसार रामलीला की अभिनय परंपरा के प्रतिष्ठापक गो० तुलसीदास हैं, इन्होंने हिंदी में जन मनोरंजनकारी नाटकों का अभाव पाकर इसका श्रीगणेश किया। इनकी प्रेरणा से अयोध्या और काशी के तुलसी घाट पर प्रथम बार रामलीला हुई थी।

रामलीला का मूलाधार गो० तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' है लेकिन एकमात्र वही नहीं। श्री राधेश्याम कथावाचक रचित रामायण को भी कहीं कहीं यह गौरव प्राप्त है। ऐसे काशी की सभी रामलीला में गोस्वामी जी विरचित 'मानस' ही प्रतिष्ठित है। इस लोक आयोजन के लिये वर्ष भर दो माह ही अधिक उपयुक्त माने गए हैं—आश्विन और कार्तिक। ऐसे इसका प्रदर्शन कभी भी और कहीं भी किया जा सकता है। काशी के रामनगर की लीला भाद्रपद शुक्ल चौदह को प्रारंभ होकर शरत्पूर्णिमा को पूर्णता प्राप्त करती है और नक्कीघाट की शिवरात्रि से चैत्र अमावस्या अर्थात् ३३ दिनों तक चलती है। उत्तर प्रदेश के अनेकानेक भागों में यह लीला आश्विन मास में होती है। गो० तुलसीदास अयोध्या में प्रतिवर्ष रामनवमी के उपलक्ष्य में इसका आयोजन कराते थे। कहीं दिन के अपराह्न काल में और कहीं रात्रि के पूर्वार्ध में इसका प्रदर्शन होता था। लोकनायक राम की लीला भारत के अनेक क्षेत्रों में होती है। हमारे देश के बाहर के भूखंडों जैसे बाली, जावा, लंका आदि में प्राचीन काल से यह किसी न किसी रूप में प्रचलित रही है। जिस तरह श्रीकृष्ण की रासलीला का प्रधान केंद्र उनकी लीलाभूमि वृंदावन है उसी तरह रामलीला का स्थल है काशी और अयोध्या। मिथिला, मथुरा, आगरा, अलीगढ़, एटा, इटावा, कानपुर, काशी आदि नगरों या क्षेत्रों में आश्विन माह में अवश्य ही आयोजित होती है लेकिन एक साथ जितनी लीलाएँ नटराज की क्रीड़ाभूमि वाराणसी में होती है उतनी भारत में अन्यत्र कहीं नहीं। इस दृष्टि से काशी इस दिशा में नेतृत्व करती प्रतीत होती है। राजपूताना और मालवा आदि भूभागों में यह चैत्रमास में समारोह संपन्न होती है। वीर, करुण, अद्भुत, शृंगार आदि रसों से आप्लावित रामलीला अपना रंगमंच संकीर्ण नहीं वरन् उन्मुक्त, विराट, प्रशस्त स्वीकार करती है। कहीं भी किसी मैदान में बाँसों, रस्सियों तारों आदि से घेरकर रंगमंच और प्रेक्षागृह का सहज ही निर्माण कर लिया जाता है।

रंगमंचीय दृष्टि से रामलीला तीन प्रकार की हैं—सचल लीला, अचल लीला तथा स्टेज लीला। काशी नगरी के चार स्थानों में अचल लीलाएँ होती हैं। गो० तुलसीदास द्वारा स्थापित रंगमंच की कई विशेषताओं में से एक यह भी है कि स्वाभाविकता, प्रभावोत्पादकता और मनोहरता की सृष्टि के लिये, अयोध्या, जनकपुर, चित्रकूट, लंका आदि अलग अलग स्थान बना दिए गए थे और एक स्थान पर उसी से संबंधित सब लीलाएँ दिखाई जाती थीं। यह ज्ञातव्य है कि रंगशाला खुली होती थी और पात्रों को संवाद जोड़ने घटाने में स्वतंत्रता थी। इस तरह हिंदी रंगमंच की प्रतिष्ठा का श्रेय गो० तुलसीदास को और इनके कार्यक्षेत्र काशी को प्राप्त है।

गोपीगंज आदि में भरतमिलाप के दिन विमान तथा लागें निकाली जाती हैं। इलाहाबाद में दशहरे में अवसर पर रामलीला के सिलसिले में जो विमान और चौकियाँ निकलती हैं, उनका दृश्य बड़ा भव्य होता है।

लीला के पात्र, किशोर, युवा, प्रौढ़ सभी होते हैं। सीता या सखियों का पार्ट आज तक किशोर द्वारा ही संपन्न होता है। रामलीला के सभी अभिनेता प्राय: ब्राह्मण होते हैं, किंतु अब कहीं कहीं अन्य वर्णों के भी लोग देखे जाते हैं। पात्रों का चुनाव करते समय रावण की कायिक विराटता, सीता की प्रकृतिगत कोमलता और वाणीगत मृदुता, शूर्पणखा की शारीरिक लंबाई आदि पर विशेष ध्यान रखा जाता है। लीलाभिनेता चौपाइयों, दोहों को कंठस्थ किए रहते हैं और यथावसर कथोपकथनों में उपयोग कर देते हैं।

रामलीला की सफलता उसका संचालन करनेवाले व्यास सूत्रधार पर निर्भर करती है, क्योंकि वह संवादों की गत्यात्मकता तथा अभिनेताओं को निर्देश देता है। साथ ही रंगमंचीय व्यवस्था पर भी पूरा ध्यान रखता है। रामलीला के प्रारंभ में एक निश्चित विधि स्वीकृत है। स्थान-काल-भेद के कारण विधियों में अंतर लक्षित होता है। कहीं भगवान के मुकुटों के पूजन से तो कहीं अन्य विधान से होता है। इसमें एक ओर पात्रों द्वारा रूप और अवस्थाओं का प्रस्तुतीकरण होता है, दूसरी ओर समवेत स्वर में मानस का परायण नारद-बानी-शैली में होता चलता है। लीला के अंत में आरती होती है।

काशी में शूर्पणखा की नाक काटे जाने के बाद खर-दूषण की सेना का जो जुलूस निकलता है उसमें जगमग करते हुए विमान तथा तरह तरह की लागें निकलती हैं जिनमें धार्मिक, सामाजिक दृश्यों, घटनाओं की मनोरम झाकियाँ रहती हैं। साथ में काली का वेश धारण किए हुए पुरुषों का तलवार संचालन, पैतरेबाजी, शस्त्र-कौशल आदि देखने लायक होता है।

रामलीला में नृत्य, संगीत की प्रधानता नहीं होती इसलिये कि चरितनायक गंभीर, वीर, धीर, शालीन एवं मर्यादाप्रिय पुरुषोत्तम हैं। तत्परिणामस्वरूप वातावरण में विशेष प्रकार की गंभीरता विराजती रहती है। इस लीला की पहले मंडली नहीं होती थी अब कुछ पेशेवर लोग मंडलियाँ बनाकर लीलाभिनय से अर्थोपार्जन करते हैं। भारत के ग्वालियर, जयपुर, इलाहाबाद आदि नगरों में इसका मूक अभिनय (dumbshows) होता है।

दर्शकों को अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों फलों की प्राप्ति होती है। रामलीला देखने से भारतेंदु हरिश्चंद्र के हृदय से रामलीला गान की उत्कंठा जगी। परिणामत: हिंदी साहित्य को 'रामलीला' नामक चंपू की रचना मिली। [रा० ना० रा०]

लीवर्ड द्वीपसमूह पश्चिमी इंडीज द्वीपसमूह में, प्वेर्टोरिको के दक्षिण-पूर्व स्थित द्वीपों का एक समूह है, जो चाप रूप में विस्तृत है। द्वीपों में ऐंटीगुआ, मॉण्ट सेरात, सेंट क्रिस्टोफर-नेविस-ऐंग्वीला प्रसिद्ध हैं। इन द्वीपों का क्षेत्रफल ३३७ वर्ग मील एवं जनसंख्या १,११,१५५

(१९६०) है। सेंट जॉन्स यहाँ की राजधानी है, जिसकी जनसंख्या २१,००० (१९६०) है। उपर्युक्त प्रत्येक द्वीप अपनी निजी कार्यकारिणी एवं विधान परिषद् द्वारा शासित होता है। ये द्वीप ज्वालामुखी द्वारा निर्मित हैं। इन द्वीपों की खोज सन् १४९३ में कोलंबस ने अपनी द्वितीय समुद्रयात्रा के समय की थी। गन्ना, कपास, खट्टे फल, सब्जियाँ, नारियल, केला, कॉफी, ककोओ आदि इस द्वीपसमूह की प्रमुख उपजें हैं। इन द्वीपों की जलवायु स्वास्थ्यप्रद है।

लुइनी बेर्नार्दिनो (१४७०-१५३५) मिलान का चित्रकार। बेर्नार्दिनो लुइनी की चित्रकला विख्यात कलाकार लियोनार्दो दा विंची से काफी मिलती जुलती है और अकसर उसके चित्रों को लोगों ने लियोनार्दो का ही समझ लिया। अब वैज्ञानिक सुविधाओं से स्पष्ट है कि लुइनी की चित्रकला अलग ही थी। वैसे उसे लोग लियोनार्दो का शिष्य भी बताते हैं, क्योंकि दोनों के चित्रों में समता दिखाई पड़ती है पर निश्चित रूप से कुछ नहीं मालूम। उसका जन्म १४७० ईसवी के करीब माजियोर झील के किनारे लुइनो में माना जाता है। शायद स्टिफानो स्कोटो उसका प्रथम कलागुरु था। अनुमान है कि १५०० ई० के लगभग उसने लियोनार्दो दा विंची की शिष्यता ग्रहण की, यद्यपि कुछ लोग तो इसमें भी शक करते हैं कि दोनों की कभी मुलाकात हुई थी। जो हो, लुइनी के बनाए चित्र प्राप्त हैं और उनमें लियोनार्दो दा विंची की कला की अच्छी झलक मिलती है। ऐसे चित्रों में 'द बेरियल ऑव सेंट कैथेरीन' उल्लेखनीय है।

[रा० चं० शु०]

लुई यूरोप में लुई नाम के कई राजा हुए। शार्लमेन का तीसरा पुत्र लुई प्रथम (७७८-८४०) 'पवित्र' कहलाता था। उसी का तृतीय पुत्र लुई (८०४-८७६) जर्मन राज्य का संस्थापक माना जाने लगा। एक लुई (१३२६-१३८२) हंगेरी और पोलैंड का शासक था। उसे 'महान्' कहा जाता है और वेनिस नगर राज्य से उसने इटली का काफी भूभाग लड़कर जीता। इसी प्रकार नेपल्स में भी तीन राजा लुई नाम के हुए। २०वीं शताब्दी तक लुई नाम के राजा होते रहे हैं, जैसे बवेरिया का लुई तृतीय (१८४५-१९२१)। स्पेन, जर्मनी, नेपल्स, आदि में भी लुई नाम के कई राजा हुए, लेकिन इस नाम के अठारह राजा केवल फ्रांस में हुए। इन्होंने ८वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी के मध्य तक समय समय पर राज्य किया। परंतु फ्रांस के लुई राजाओं के उत्थान और पतन का काल तेरहवें लुई से लेकर अठारहवें लुई तक है।

लुई तेरहवाँ (१६१०-१६४३) — यह फ्रांस के राजा हेनरी चतुर्थ का पुत्र था। राज्यारोहण के समय वह केवल नौ वर्ष का था। उसकी माँ मारी डी मैडिची, जो राजमाता बनी, कट्टर कैथलिक थी। उसने फ्रांस के प्रॉटेस्टेंटों पर बड़े अत्याचार किए। १६१७ में बालिग हो जाने पर तेरहवें लुई ने राज्य की बागडोर स्वयं अपने हाथ में ले ली। १६२४ में राजमाता को राज्य के कार्यों में भाग लेने से सर्वथा रोक दिया गया और कार्डिनल रिशल्यू को फ्रांस का प्रधान मंत्री बनाया गया। रिशल्यू की नीति थी फ्रांस में राजकीय शक्ति को, एवं यूरोप में फ्रांस को सर्वश्रेष्ठ बनाना।

ग्यारहवें लुई की नीति पर चलते हुए तेरहवें लुई ने स्टेट्स जनरल (प्रतिनिधि सभा) का अधिवेशन कभी नहीं बुलाया और प्रजातंत्रीय विचारों को पनपने नहीं दिया। १६२९ में फ्रांस के प्रॉटेस्टेंटों के भी बहुत से अधिकार छीन लिए गए।

चौदहवाँ लुई (१६४३-१७१५) — १५ मई १६४३ को तेरहवें लुई का देहांत हो गया। अब उसका पुत्र लुई चौदहवाँ राजसिंहासन पर बैठा। उस समय उसकी आयु केवल पाँच वर्ष की थी। रिशल्यू के उपरांत राज्य की बागडोर कार्डिनल मेज़ारिन के हाथ में आ गई थी। मेज़ारिन ने रिशल्यू की ही नीति को पूर्णतः स्थायी रखा। चौदहवें लुई के राज्यारोहण के समय फ्रांस की सेनाएँ तीस वर्षीय युद्ध में जर्मनी में लड़ने में व्यस्त थीं। फिर भी फ्रांस में विद्रोहियों का सफलतापूर्वक दमन किया गया। चतुर्थ हेनरी व रिशल्यू दोनों ने फ्रांस में स्वेच्छाचारी राजसत्ता जमाने का यथेष्ट प्रयत्न किया था। १६६१ में मेज़रिन की मृत्यु के उपरांत चौदहवें लुई ने इस बात की घोषणा की कि वह स्वयं राज्य करेगा और मंत्रियों की सहायता की उसे कोई आवश्यकता नहीं है। लुई का कहना था, 'मैं ही राष्ट्र हूँ।' लुई के समय में फ्रांस के सर्वसाधारण को इस बात पर विश्वास दिलाया गया कि मनुष्य जाति के लाभ के लिये ही भगवान राजा को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजता है।

चौदहवें लुई के तत्कालीन वित्तमंत्री कोलबेर ने देश की आर्थिक उन्नति की जिसके परिणामस्वरूप युद्ध के साधन उपलब्ध हुए। लुई (१६६१ से १७१३ तक), फ्रांस की सीमाएँ बनाने के लिये यूरोप में युद्ध करता रहा। इनमें डेवोल्यूशन (Devolution) का युद्ध (१६६७-१६६८), डच युद्ध (१६७२-१६७८), ऑग्सबर्ग की लीग का युद्ध (१६८९-१६९७) और स्पेन के उत्तराधिकार का युद्ध (१७०१-१७१३) प्रसिद्ध हैं। अंत में इन युद्धों से फ्रांस की आर्थिक दशा बहुत बिगड़ गई।

ऐसा होते हुए भी चौदहवें लुई के समय में फ्रांस का सांस्कृतिक अभ्युदय कुछ आश्चर्यजनक गति से हुआ। उसके समय के कला कौशल और सांस्कृतिक श्रेष्ठता का सिक्का यूरोप के हृदय पर अब भी जमा हुआ है। पेरिस से बारह मील दूर वर्साय में उसने अपने रहने के लिये एक राजप्रासाद बनवाया था। प्रासाद की लागत उस समय लगभग इक्कीस करोड़ रुपए थी। वर्साय भर में बाग, बगीचे, झरने, छोटे तथा बड़े प्रासाद ही दिखाई देते थे।

कला क्षेत्र में भी फ्रांस को अपूर्व मर्यादा प्राप्त हुई। कार्नें (Corneille, १६०६-१६८४) और मोल्येअर (१६२२-१६७३) प्रसिद्ध नाटककार थे। मडाम डी सेवीनये (Sevigne) (१६२६-१६९६), ला फॉनटेन (१६२१-१६९५) और रेसीन (१६३९-१६९९) के लेखों और शब्दों के प्रयोग ने फ्रेंच भाषा को समस्त यूरोप में सर्वप्रिय बना दिया था। इंग्लैंड के खाने के सूचीपत्र (menu) आज तक फ्रेंच में छपते हैं। फ्रांस को यह गौरव १४वें लुई के समय से ही प्राप्त हुआ।

शिल्प विद्या, मूर्तिकला, चित्रकला तथा संगीत में फ्रांस के कलाकारों ने यूरोप की कलाशैली पर बहुत प्रभाव डाला। फ्रांस की राजनीतिक श्रेष्ठता के कारण फ्रांस की कला को और भी प्रतिष्ठा मिली। इस सांस्कृतिक उन्नति के कारण उसका राज्यकाल फ्रांस का

स्वर्णयुग बन गया। उसका राज्यकाल यूरोपीय इतिहास में 'चौदहवें लुई का युग' कहलाता है।

लुई जितना प्रतापी राजा था, उतना ही दु:खद उसका अंत हुआ। अपने अंतिम दिनों में बूढ़ा और क्षीण लुई, स्पष्ट देख रहा था, कि उसके युद्धों के परिणामस्वरूप हुई क्षति के कारण उसकी प्रजा दु:खी है, कृषक भूखे हैं और मध्यवर्ग के लोग निर्धन होते चले जा रहे हैं। लुई का केवल एक पुत्र था। सम्राट् ने उसे शिक्षा देने का भरसक प्रयत्न किया परंतु वह अनपढ़ ही रहा। १ सितंबर, १७१५ को चौदहवें लुई का देहांत हुआ।

लुई पंद्रहवाँ (१७१५–१७७४) — चौदहवें लुई की मृत्यु के बाद उसके प्रपौत्र को पाँच वर्ष की आयु में पंद्रहवें लुई के नाम से फ्रांस के राजसिंहासन पर बैठाया गया। बाल्यावस्था में उसका चाचा, ड्यूक ऑव ऑरलेऑन् रीजेंट नियुक्त हुआ। देश की आर्थिक अव्यवस्था को सुधारने के लिये जॉन ला की मिसिसिपी योजना के अनुसार एक कंपनी खोली गई और नोट छापे गए। १७२० में नवनिर्मित कंपनी का दीवाला निकल गया। नोटों का कोई मूल्य न रहा। देश की गरीबी और अधिक बढ़ गई। इसी बीच १७२३ में रीजेंट की मृत्यु हो जाने पर लुई पंद्रहवें ने राज्य का कार्य अपने हाथ में ले लिया। उसने कार्डिनल फ्ल्यूरी को प्रधान मंत्री नियुक्त किया। फ्ल्यूरी ने आर्थिक दशा को काफी सँभाला, लेकिन लुई ने पोलैंड के निर्वाचन की लड़ाई (१७३३–१७३८), आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध (१७४०–१७४८) और सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६–१७६३) में भाग लेकर देश की आर्थिक स्थिति को और भी बिगाड़ दिया। इसके साथ साथ उसके भोग विलास की भी सीमा नहीं थी। सारे देश में राजा के विरुद्ध असंतोष बढ़ता गया।

लुई सोलहवाँ (१७७४–१७९३)—लुई पंद्रहवें का पौत्र था और उसके बाद फ्रांस का राजा बना। उसका जन्म १७५४ में हुआ था। वह ईमानदार था और उसके विचार भी अच्छे थे लेकिन वह एक कमजोर प्रकृति का व्यक्ति था और सदैव किसी न किसी के प्रभाव में रहता था—पहले माँ और भाई के और बाद में अपनी पत्नी मारी ऐंत्वानेत् के।

लुई का यह दुर्भाग्य था कि अपने पूर्वजों के कार्यों का भुगतान उसने अपने प्राणों की बलि देकर किया। चौदहवें और पंद्रहवें लुई का स्वेच्छाचारी शासन, बिगड़ती आर्थिक दशा, सामंतों के अत्याचार और हर प्रकार की असमानता से पीड़ित जनता ने १७८९ में क्रांति का झंडा खड़ा कर दिया। लुई की दयापूर्ण नीति के कारण भी परिस्थिति बिगड़ती गई। वर्साय पर जनता ने आक्रमण किया और एक संविधान को संचालित किया। लुई को ट्यूलरी के प्रासाद में बंदी कर दिया। लुई का वहाँ से भागने का प्रयत्न असफल रहा। उसपर यह भी दोष लगाया गया कि अपनी सत्ता पुनः स्थापित करने के लिये वह दूसरे राजाओं से चोरी चोरी सहायता की याचना करता रहा है। देशद्रोह के आरोप में उसे २१ जनवरी, १७९३ को ३८ वर्ष की आयु में प्राणदंड दे दिया गया।

लुई अठारहवाँ (१८१४–१८२४) सोलहवें लुई का पुत्र (सत्रहवाँ लुई) जेल में मरा था। १७९३ से १८१४ तक फ्रांस में पहले क्रांतिकारी सरकार और फिर नेपोलियन बोनापार्ट का राज्य रहा। नेपोलियन के पतन के उपरांत सोलहवें लुई का भाई काउंट ऑव प्रोवेंस अठारहवें लुई के नाम से फ्रांस के सिंहासन पर बैठा। उसका जन्म १७ नवंबर, १७५५ को हुआ था। क्रांति और नेपोलियन के समय वह देश देश भटकता रहा था और उसे प्रवासी राजकुमार (Wandering Prince) कहते थे। लौटकर उसने यूरोप के मित्र देशों की सहायता से (जो नेपोलियन के विरुद्ध रहे थे) ३ मई १८१४ को अपने वंश के सफेद झंडे के साथ पेरिस में प्रवेश किया। ४ जून को वह राजा घोषित किया गया। समय की परिस्थिति के अनुसार उसने देशवासियों को एक संविधान दिया। जब नेपोलियन एल्बा से भागकर फ्रांस लौटा तो अठारहवाँ लुई पेरिस छोड़कर भाग गया। वाटरलू के युद्ध के बाद वह फिर पेरिस लौटा और राज्य करने लगा। दस वर्ष राज्य करने के बाद १६ सितंबर, १८२४ को लुई की मृत्यु पेरिस में हो गई। [कि० श० ला०]

लुक्सेमबुर्ग (Luxembourg) १. राजतंत्र, स्थिति : ४९° ३०′ उ० अ० तथा ६° पू० दे०। यह राज्य पश्चिमी यूरोप में स्थित है तथा उत्तर एवं पश्चिम में बेल्जियम से, पूर्व में जर्मनी से तथा दक्षिण में फ्रांस से घिरा हुआ है। इसका संपूर्ण क्षेत्रफल २,५८६ वर्ग किमी० है और उत्तर से दक्षिण तक इसकी सर्वाधिक लंबाई १०० किमी० एवं पूर्व से पश्चिम तक इसकी सर्वाधिक चौड़ाई ६१ किमी० है। जाउर (Sauer) तथा मोज़ेल नदियाँ जर्मनी के साथ इसकी सीमा निर्धारित करती हैं। उत्तरी लुक्सेमबुर्ग आर्डेन (Ardennes) पठार का भाग है। इस पठार की ऊँचाई ३६६·२४ मीटर से लेकर ५४८·६४ मीटर तक है। उत्तरी भाग पथरीला तथा कम उपजाऊ है। दक्षिणी लुक्सेमबुर्ग पूर्वी फ्रांस के लॉरेन (Lorraine) पठार का अंश है, जो अत्यंत उपजाऊ है। दक्षिणी भाग का समुद्रतल से ऊँचाई २४३·८४ मीटर से लेकर ३६५·७६ मीटर तक है। सुदूर दक्षिणी भाग लौह खनिज के निक्षेपों में समृद्ध है, पर यह लोहा निम्न कोटि का है। लगभग संपूर्ण लुक्सेमबुर्ग मोज़ेल (Mosel) नदी के बेसिन में स्थित है।

यहाँ की जलवायु शीतोष्ण एवं सौम्य है। ग्रीष्मऋतु ठंढी रहती है और इस समय का औसत ताप १७° सें० रहता है। जाड़े का ताप ०° सें० रहता है। वार्षिक वर्षा का औसत ३० इंच है। वर्षा के जल का निकास पूर्व की ओर मोज़ेल तथा इसकी सहायक नदियों जाउर, आउर (Our) तथा आलज़ेत (Alzette) द्वारा होता है।

फल के वृक्षों के साथ साथ, चीड़, चेस्टनट, ओक, एल्म आदि के वृक्ष मिलते हैं। यहाँ अब केवल जंगली सूअर तथा हरिण के कुछ स्पीशीज बचे हुए हैं, पर पक्षी काफी हैं। यहाँ की नदियों में अनेक किस्म की मछलियाँ मिलती हैं। गेहूँ, राई, जौ, ओट तथा आलू देश की प्रमुख उपज हैं। मोज़ेल नदी के किनारे की पूर्वी भूमि अंगूर के उत्पादन का प्रमुख क्षेत्र है।

इस्पात के निर्माण में लुक्सेमबुर्ग का विश्व में आठवाँ स्थान है। रेल के उपकरणों तथा इंजीनियरी के सामानों का यहाँ निर्माण होता है। मृत्तिका-शिल्प-उद्योग का यहाँ विकास हो रहा है। शराब बनाने तथा तंबाकू के कारखाने भी यहाँ हैं।

लुक्सेमबुर्ग में संवैधानिक राजतंत्र है। वैधानिक अधिकार ५२ सदस्यीय चैंबर ऑव डेपुटीज में निहित है। इसके अतिरिक्त १५ सदस्यीय काउंसिल ऑव स्टेट भी है, जिसके सदस्य राजा द्वारा नामजद किए जाते हैं। यह राज्य तीन जिलों में विभक्त है। राज्य की राजधानी लुक्सेमबुर्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमुख नगर हैं: एश सुर आलजेत (Esch sur-Alzette), डाइफरडेंज (Differdange) तथा डडलेंज (Dudelange)।

राज्य के प्राकृतिक दृश्य तथा लगभग १३० ऐतिहासिक किले दर्शनीय हैं। राज्य के बहुसंख्यक लोग रोमन कैथोलिक हैं। यहाँ की जनसंख्या ३,१४,८८९० (१९६१) थी। लुक्सेमबुर्ग में निरक्षरता नहीं है। यहाँ प्राथमिक, उच्चमाध्यमिक, तथा कृषि एवं माइनिंग विद्यालय हैं, पर कोई विश्वविद्यालय नहीं है। उच्च शिक्षा के लिये लोग फ्रांस या बेल्जियम जाते हैं। छह तथा १४ वर्ष के बालकों के लिये शिक्षा अनिवार्य है। जर्मन और फ्रांसीसी भाषा शिक्षा एवं राजकाज की भाषाएँ हैं, पर दिन प्रति दिन की भाषा लेत्सी बर्गेश्श (Letze burgesh) है।

२. नगर, यह उपर्युक्त राज्य की राजधानी एवं प्रधान नगर है। यह देश के दक्षिण मध्य भाग में चट्टानी प्रायद्वीप पर स्थित है, जो चारों ओर ढलुआँ पहाड़ियों से घिरा हुआ है। नगर में प्रवेश करने का एकमात्र मार्ग तंग भूपुल है। नगर का प्रमुख उद्योग शराब को बोतलों में भरना है। नगर की जनसंख्या ७१,६६७ (१९६१) है।

[अ० ना० मे०]

लुधियाना १ जिला, भारत के पंजाब राज्य का जिला, तहसील तथा नगर है। जिले का क्षेत्रफल ३,४२६ वर्ग किमी० तथा जनसंख्या १०,२२,५१६ (१९६१) है। इसमें ८५६ ग्राम तथा ५ नगर हैं। प्रति वर्ग मील जनसंख्या ७७३ (१९६१) है। जिले का मुख्यालय लुधियाना नगर में है। जिले का धरातल अधिकांश मैदानी है, बीच में नदियाँ या पर्वत नहीं हैं। ये मैदान उत्तर में सतलुज तक फैले हैं। यहाँ की मिट्टी बड़ी उपजाऊ है। वर्षा कम होती है, किंतु परिश्रमी जाट कृषक कुओं तथा नहरों से सिंचाई करके अच्छी फसल उगा लेते हैं। कृषि योग्य लगभग संपूर्ण भूमि पर खेती की जाती है। गेहूँ, जौ, चना, ज्वार, मक्का, कपास तथा गन्ना मुख्य उपज हैं।

२. नगर, स्थिति : ३०° ५५' २५" उ० अ० तथा ७५° ५३'३०" पू० दे०। सतलुज नदी के उच्च दक्षिणी तट से आठ मील दूर स्थित है। नगर की जनसंख्या २,४४,०३२ (१९६१) तथा क्षेत्रफल १९.६६ वर्ग किमी० है। उत्तरी भाग में एक दुर्ग है। १४८० ई० में, दिल्ली के तत्कालीन शासक लोदी वंश के राजकुमारों ने, सुनेत नामक प्राचीन नगर के चार मील पूर्व में, इसकी स्थापना की। रेलवे की व्यवस्था हो जाने से व्यापार विकसित हो गया है। होजरी, साइकिल के सामान, सिलाई मशीन आदि नगर के मुख्य उद्योग हैं।

[शां० ला० का०]

लुसाई पहाड़ियाँ असम के पहाड़ी जिले मिजो में स्थित हैं। ये पहाड़ियाँ कई उत्तर-दक्षिण समांतर पर्वतश्रेणियों के रूप में फैली हुई हैं। इनकी समुद्रतल से औसत ऊँचाई पश्चिम में ३,००० फुट से लेकर पूर्व में ४,००० फुट तक है, परंतु कहीं कहीं ८,००० फुट तक की ऊँचाई भी मिलती है। ये पर्वतश्रेणियाँ मुख्यतः तृतीयक कल्प की बालुकाश्म एवं शेल (shale) शिलाओं द्वारा निर्मित हैं, जिन्होंने अब मोड़दार पर्वतों का रूप धारण कर लिया है। इन शिलाओं का निर्माण संभवतः तृतीयक कल्प की एक विशाल हिमालयी नदी के डेल्टा अथवा मुहाने में उसके निक्षेपण से हुआ था। यहाँ उत्तर-दक्षिण फैली पर्वतश्रेणियों के मध्य प्रवाहित नदियों का एक समांतर क्रम बन जाता है। नदियों में बराक नदी की मुख्य सहायक नदियाँ कालादान एवं करनफूली हैं। इस पर्वतीय क्षेत्र में वर्षा अधिक होती है। ऐजल एवं लुंगलेह की औसत वार्षिक वर्षा क्रमशः ८० एवं १३० इंच है।

पर्वतीय ढालों पर बाँस एवं अन्य वृक्षों के घने वन मिलते हैं। मुख्य जंगली पशु हाथी, गैंडा, हरिण, बाघ, तेंदुआ तथा हिमालय प्रदेशीय काला रीछ हैं। यहाँ कुछ मात्रा में धान, तिल, गन्ना तंबाकू एवं संतरे की उपज भी होती है। इस क्षेत्र के अधिकांश निवासी आदिवासी हैं और झूम पद्धति से खेती करते हैं।

[रा० ना० मा०]

लूकस, फान लेइडन (१४९४–१५३३) वह अपने समय का बहुचर्चित कलाकार था। उसने चित्रकला अपने पिता से सीखी थी। बाद में उसने कार्नेलियस एँजेलब्रेश से चित्रकला में दीक्षा ली और उसी शैली में चित्र बनाने लगा। अक्सर दोनों के चित्र अलग अलग पहचानना कठिन हो जाता है। १५२१ में उसकी मुलाकात प्रसिद्ध कलाकार दूरर से ऐंटवर्प में हुई। वह माब्यूस तथा मिडिलबर्ग में रहा। फ्लैंडर्स भी घूमने गया। उसके चित्रों की मुख्य विशेषता रेखाकौशल है। रंग भी बड़े अजीब ढंग से लगाए हैं। काठ और धातु पर खुदाई का काम भी उसने अच्छा किया है। उसके चित्र ऐम्सटर्डम, बोस्टन, ब्रेमेन, ब्रंसविक, ब्रुसेल्स, लेनिनग्राड, लाइडेन, लंदन, म्यूनिख, न्यूरेमबर्ग, पेरिस, फिलाडेलफिया इत्यादि स्थानों में प्राप्त हैं।

[रा० चं० शु०]

लूजॉन फिलिपीन द्वीपसमूह का सबसे बड़ा, सबसे अधिक घना आबाद एवं सबसे उत्तरी द्वीप है, जिसका क्षेत्रफल ४०,८१४ वर्ग मील है। यह पहाड़ी द्वीप है, जहाँ ९,००० फुट तक ऊँची चोटियाँ हैं। सबसे प्रमुख नगर मनीला इसी द्वीप के पूर्वी भाग में स्थित है। कृषि महत्वपूर्ण उद्योग है तथा धान, मक्का प्रमुख फसलें हैं। गन्ना, मनीला हैंप, तंबाकू, केला, अन्य फल, सब्जियाँ एवं कंदमूल का भी स्थान गौण नहीं है। सोना, क्रोमाइट, लोहा, ताँबा, कोयला आदि यहाँ के प्रमुख खनिज हैं।

लूथरकिंग, मार्टिन अमरीका के अहिंसावादी महान् नीग्रो नेता। इनका जन्म १५ जनवरी १९२९ को हुआ था। १५ वर्ष की उम्र में अटलांटा के मोरहाउस कालेज में इन्होंने हेनरी डेविड थॉरो की 'सविनय अवज्ञा' पढ़ी, जिससे वे बड़े प्रभावित हुए। यों वे बाल्यावस्था से ही अहिंसक प्रदर्शन की प्रवृत्तियों पर बल दिया करते थे।

वे शारीरिक दृष्टि से दुर्बल नहीं थे किंतु वे हिंसा का जवाब हिंसा से देना पसंद नहीं करते थे। एक बार विद्यालय के एक दुष्ट विद्यार्थी ने उन्हें पीटा और धक्का देकर सीढ़ी से नीचे गिरा दिया, फिर भी उन्होंने इसके बदले में उसे पीटने से इनकार कर दिया।

अमरीका में हब्शियों के प्रति भेदभाव की घटनाएँ अक्सर होती रहती थीं। एक बार एक बस में गोरों के लिये सुरक्षित स्थान पर बैठ जाने के कारण एक नीग्रो को जब १० डालर का जुर्माना हुआ, तो अलाबामा के नीग्रो जनों में बड़ा क्षोभ फैला। प्रतिक्रिया स्वरूप डाक्टर मार्टिन लूथर किंग के नेतृत्व में बसों के बहिष्कार का आंदोलन शुरू हुआ जो एक वर्ष तक चलता रहा। बस सेवा बिल्कुल ठप हो गई। निदान अमरीकन सर्वोच्च न्यायालय ने उस पूर्ववर्ती आदेश की पुन: पुष्टि की जिसके द्वारा बस यात्रा में भेदभाव पर रोक लगा दी गई थी।

मार्टिन किंग शीघ्र ही हब्शी जनों के महान् उद्धारक नेता माने जाने लगे। उनके जीवन पर घातक हमले होने लगे। १९५६ में उनके घर पर बम फेंका गया। कुछ दिनों बाद न्यूयार्क में उन्हें छुरा भोंका गया तथा शिकागो में उनपर पत्थर फेंके गए किंतु वे अपने पथ से किंचित् भी विचलित नहीं हुए। अंत में अप्रैल, १९६८ में उनकी हत्या कर दी गई। इस प्रकार मानवोचित अधिकारों की रक्षा के अहिंसापूर्ण संघर्ष में उन्होंने अपने प्राणों की आहुति चढ़ा दी। अपने लक्ष्य के प्रति ऐसी अपूर्व निष्ठा उन्हें अपने मातापिता के धार्मिक जीवन से, अपनी पवित्र आत्मा से और थौरो के उपदेशों के अतिरिक्त महात्मा गांधी के सत्याग्रह आंदोलन से मिली। इसमें उनकी पत्नी कारेटा का भी पूर्ण सहयोग उन्हें प्राप्त हुआ।

जातीय भेदभाव और संकुचित मनोवृत्तियों से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र की एकता और समानता के लिये सतत प्रयत्न करनेवाले इस शांतिवादी महामानव को सन् १९६४ में शांति का नोबेल पुरस्कार प्रदान कर संमानित किया गया। इसके पहले सन् १९५६ में उन्हें विश्व की दस महान् विभूतियों में स्थान मिल चुका था और १९६३ में 'टाइम' पत्रिका द्वारा आयोजित वर्ष के 'महानतम व्यक्ति' का पुरस्कार भी उन्हें प्रदान किया गया था। गांधी की तरह वे भी कहा करते थे कि "व्यक्ति के दुष्कर्मों से घृणा करते हुए भी हमें उससे प्रेम करना है। हम अपनी कष्टसहन की क्षमता से कष्ट पहुँचाने की आपकी शक्ति का मुकाबला करेंगे।" इसी सिद्धांत के अनुपालन में एक उद्धत गोरे की गोली का शिकार होकर वे शहीद हुए, किंतु मृत होकर भी वे अमर हैं। [मु०]

लूथर, मार्टिन (सन् १४८३-१५४६ ई०)। लूथर का जन्म जर्मनी की आइसलेबन नामक नगरी में हुआ था। उनके पिता हैंस लूथर खान के मजदूर थे, जिनके परिवार में कुल मिलाकर आठ बच्चे थे और मार्टिन उसकी दूसरी संतान थे। अट्ठारह वर्ष की अवस्था में मार्टिन लूथर एरफुर्ट के नए विश्वविद्यालय में भरती हुए और सन् १५०५ में उन्हें एम० ए० की उपाधि मिली। इसके बाद वह अपने पिता के इच्छानुसार विधि (कानून) का अध्ययन करने लगे किंतु एक भयंकर तूफान में अपने जीवन को जोखिम में समझकर उन्होंने संन्यास लेने की मन्नत की। इसके फलस्वरूप वह सन् १५०५ में ही संत अगस्तिन के संन्यासियों के धर्मसंघ के सदस्य बने और १५०७ ई० में उन्हें पुरोहित का अभिषेक दिया गया। लूथर के अधिकारी ने उनको अपने संघ का अध्यक्ष बनाने के उद्देश्य से उन्हें विट्टेनबर्ग विश्वविद्यालय भेजा जहाँ लूथर को सन् १५१२ ई० में धर्मविज्ञान में डाक्टरेट की उपाधि मिली। उसी विश्वविद्यालय में वह बाइबिल के प्रोफेसर बने और साथ साथ अपने संघ के प्रांतीय अधिकारी के पद पर भी नियुक्त हुए।

लूथर शीघ्र ही अपने व्याख्यानों में निजी आध्यात्मिक अनुभवों के आधार पर बाइबिल की व्याख्या करने लगे। उस समय उनके अंत:करण में गहरी अशांति व्याप्त थी। ईश्वर द्वारा ठहराए हुए नियमों को सहज रूप से पूरा करने में अपने को असमर्थ पाकर वह सिखलाने लगे कि आदिपाप के कारण मनुष्य का स्वभाव पूर्ण रूप से विकृत हो गया था (दे० आदिपाप)। चर्च की परंपरागत शिक्षा यह थी कि बपतिस्मा (ईसाई दीक्षास्नान) द्वारा मनुष्य आदिपाप से मुक्त हो जाता है किंतु लूथर की धारणा थी कि बपतिस्मा संस्कार के बाद भी मनुष्य पापी ही रह जाता है और धार्मिक कार्यों द्वारा कोई भी पुण्य नहीं अर्जित कर सकता अत: उसे ईसा पर भरोसा रखना चाहिए। ईसा के प्रति भरोसापूर्ण आत्मसमर्पण के फलस्वरूप पापी मनुष्य, पापी रहते हुए भी, ईश्वर का कृपापात्र बनता है। ये विचार चर्च की शिक्षा के अनुकूल नहीं थे किंतु सन् १५१७ ई० तक लूथर ने खुलमखुल्ला चर्च के प्रति विद्रोह नहीं किया।

सन् १५१७ की घटनाओं को समझने के लिये 'दंडमोचन' विषयक धर्मसिद्धांत समझना आवश्यक है। चर्च की तत्संबंधी परंपरागत शिक्षा इस प्रकार है—सच्चे पापस्वीकार द्वारा पाप का अपराध क्षमा किया जाता है (दे० पापस्वीकार) किंतु पाप के सभी परिणाम नष्ट नहीं होते। उसके परिणाम दूर करने के लिये मनुष्य को तपस्या करना अथवा दंड भोगना पड़ता है। पाप के उन परिणामों को दूर करने के लिये चर्च पापी की सहायता कर सकता है। वह उसके लिये प्रार्थना कर सकता है और ईसा और अपने पुण्य फलों के भंडार में से कुछ अंश पापी को प्रदान कर सकता है। चर्च की उस सहायता को इंडलजंस (Indulgence) अथवा दंडमोचन कहते हैं। पापी कोई 'दंडमोचन' तभी मिल सकता है जब वह पाप स्वीकार करने के बाद पाप के अपराध से मुक्त हो चुका हो तथा उस दंडमोचन के लिये चर्च द्वारा ठहराया हुआ पुण्य का कार्य (प्रार्थना, दान, तीर्थयात्रा आदि) पूरा करे। सन् १५१७ ई० में रोम के संत पीटर महामंदिर के निर्माण की आर्थिक सहायता करनेवालों के पक्ष में एक विशेष दंडमोचन की घोषणा हुई। उस दंडमोचन की घोषणा करनेवाले कुछ उपदेशक पाप के लिये पश्चात्ताप करने की आवश्यकता पर कम बल देते थे और रुपया इकट्ठा करने का अधिक ध्यान रखते थे। उसी दंडमोचन को लेकर लूथर ने विद्रोह किया। उन्होंने दंडमोचन विषयक दुरुपयोग की निंदा ही नहीं की, दंडमोचन के सिद्धांत का भी विरोध करते हुए वह खुल्लमखुल्ला सिखलाने लगे कि चर्च अथवा पोप पाप के परिणामों से छुटकारा दे ही नहीं सकते, ईसा मात्र दे सकते हैं। ईसा मनुष्य के किसी पुण्य

कार्य के कारण नहीं बल्कि अपनी दया से ही पापों से घृणा करनेवाले लोगों को दंडमोचन प्रदान करते हैं।

रोम की ओर से लूथर से अनुरोध हुआ कि वह दंडमोचन के विषय में अपनी शिक्षा वापस ले किंतु लूथर ने ऐसा करने से इनकार किया और तीन नई रचनाओं में अपनी धारणाओं को स्पष्ट कर दिया। उन्होंने रोम के अधिकार का तथा पुरोहितों के अविवाहित रहने की प्रथा का विरोध किया, बाइबिल को छोड़कर ईसाई धर्म ने कोई और आधार नहीं माना तथा केवल तीन संस्कारों को अर्थात् बपतिस्मा, पापस्वीकार तथा यूखारिस्ट को स्वीकार किया। उत्तर में रोम ने सन् १५२० ई० में काथलिक चर्च से लूथर के बहिष्कार की घोषणा की। उस समय से लूथर अपने नए संप्रदाय का नेतृत्व करने लगे। सन् १५२४ ई० में उन्होंने कैथरिन बोरा से विवाह किया। उनका आंदोलन जर्मन राष्ट्रीयता की भावना से मुक्त नहीं था और उन्हें अधिकांश जर्मन शासकों का समर्थन प्राप्त हुआ। संभवत: इस कारण से उन्होंने अपने संप्रदाय का संगठन जरूरत से अधिक शासकों पर छोड़ दिया। जब काथलिक सम्राट् चार्ल्स पंचम ने लूथरन शासकों से निवेदन किया कि वे अपने अपने क्षेत्रों के काथलिक ईसाइयों को सार्वजनिक पूजा करने की अनुमति दें तब लूथरन शासकों ने उस प्रस्ताव के विरोध में सम्राट् के पास एक तीव्र प्रतिवाद (प्रोटेस्ट) भेज दिया और सम्राट् को झुकना पड़ा। इस प्रतिवाद के कारण उस नए धर्म का नाम प्रोटेस्टैंट रखा गया था।

पाश्चात्य ईसाई धर्म के इतिहास मे लूथर का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। रोमन काथलिक चर्च के प्रति उनके विद्रोह के फलस्वरूप यद्यपि पाश्चात्य ईसाई संप्रदाय की एकता शताब्दियों के लिये छिन्न भिन्न हो गई थी और आज तक ऐसी ही है किंतु इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि लूथर असाधारण प्रतिभासंपन्न व्यक्ति थे जिन्होंने सच्चे धार्मिक भावों से प्रेरित होकर विद्रोह की आवाज उठाई थी। भाषा के क्षेत्र में भी लूथर का महत्व अद्वितीय है। उन्होंने जर्मन भाषा में बहुत से भावपूर्ण भजनों की रचना की तथा बाइबिल का जर्मन अनुवाद भी प्रस्तुत किया जिससे आधुनिक जर्मन भाषा पर लूथर की अमिट छाप है।

काथलिक चर्च से अलग हो जाने के बाद लूथर ने अपना अधिकांश जीवन विट्टेनबर्ग मे बिता दिया जहाँ वह विश्वविद्यालय मे अपने व्याख्यान देते रहे और धर्मविज्ञान तथा बाइबिल के विषय में अपनी बहुसंख्यक रचनाओं की सृष्टि करते रहे। सन् १५४६ ई० में वह किसी विवाद का समाधान करने के उद्देश्य से मैंसफेल्ड गए थे और वहाँ से लौटते हुए वह अपने जन्मस्थान आइसलेबन में ही चल बसे। उनके देहांत के समय वेस्टफेलिया, राइनलैंड और बावेरिया को छोड़कर समस्त जर्मनी लूथरन शासकों के हाथ में थी। इसके अतिरिक्त लूथरवाद जर्मनी के निकटवर्ती देशों में भी फैल गया तथा स्कैनडिनेविया के समस्त ईसाई लूथरन बन गए थे।

आजकल ऐंग्लिकन समुदाय को मिलाकर सभी प्रोटेस्टैंट धर्मावलंबियों के उनतीस प्रतिशत लूथरन हैं। लूथरवाद का प्रधान केंद्र जर्मनी ही है जहाँ बावन प्रतिशत लोग लूथरन हैं। स्कैनडिनेवियन देशों में नब्बे से अधिक प्रतिशत लोग उसी धर्म के अनुयायी हैं। जर्मनी के अन्य निकटवर्ती देशों में लगभग एक करोड़ लूथरन है, उत्तर अमरीका में उनकी संख्या छियासी लाख है। इसके अतिरिक्त लूथरनों ने ब्रेज़िल, छोटानागपुर आदि कई मिशन क्षेत्रों में सफलतापूर्वक अपने मत का प्रचार किया है।

सन् १९४७ ई० में प्रमुख लूथरन समुदायों ने मिलकर एक लूथरन विश्वसंघ (लूथरन वर्ल्ड फेडरेशन) की स्थापना की, उसका मुख्य कार्यालय जनीवा में है और वर्ल्ड कौंसिल ऑव चर्चे़स से उसका निकट संबंध है। लूथरन विश्वसंघ का अधिवेशन पाँच वर्ष के बाद होता है। इसके द्वितीय अधिवेशन के अवसर पर तीन नए संगठन स्थापित किए गए थे, अर्थात् (१) लूथरन विश्वसेवा परिषद्, इसका उद्देश्य है विस्थापितों का पुनर्वास, आवश्यकतानुसार भाइयों को आर्थिक सहायता तथा गिरजाघरों का निर्माण, (२) मिशन परिषद्, विभिन्न लूथरन समुदायों के धर्मप्रचार के कार्यों का विनियोजन इसका उद्देश्य है, (३) धर्मविज्ञान परिषद् जिसके द्वारा लूथरन चर्चे़स के धर्मविज्ञान विषयक अनुसंधान का समन्वय किया जाएगा।

सं० ग्रं० — जे० एम० रोड : मार्टिन लूथर, लंदन १९६४, जे० लोर्त्से दी रेफोर्मा शियोन इन डूत्सलैंड १९५२। [का० बु०]

लूनी नदी राजस्थान की एक प्रमुख नदी है, जो अजमेर के दक्षिण-पश्चिम अरावली पर्वत से निकलकर अरावली के ही समांतर सामान्यत: उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर, प्रदेश के अर्धमरुस्थलीय क्षेत्र में लगभग २०० मील की लबाई में बहती हुई, कच्छ की खाड़ी में गिरती है। बाँदी, सुकरी, जवाई, खारी, सुलेरी आदि कई सहायक नदियाँ पूर्व में अरावली श्रेणियों से आकर इससे मिलती हैं और द्रुमाकृतिक जल-प्रवाह-प्रणाली प्रस्तुत करती हैं। लूनी को केवल वर्षाकाल में दक्षिणी-पश्चिमी मानसून द्वारा जल की प्राप्ति होती है। [रा० स० ख०]

लूसर्न (Lucern) १. प्रांत, यह स्विट्ज़रलैंड का प्रांत है, जिसका क्षेत्रफल ५७६ वर्ग मील है। इसका नाम यहाँ स्थित लूसर्न झील पर पड़ा है। प्रांत का सर्वोच्च शिखर ७,७१४ फुट है। यहाँ रेल तथा हवाई जहाज मार्गों का जाल बिछा हुआ है। प्रांत की जनसंख्या २,२३, २४९ (१९५०) है। लूसर्न के निवासी जर्मनभाषी एवं रोमन कैथोलिक धर्मावलंबी हैं। यहाँ पर आबादी का घनत्व प्रति वर्ग मील ३८७ है। रायस (Reuss) यहाँ की प्रमुख नदी है। प्रांत की राजधानी लूसर्न नगर है। [रा० बृ० सिं०]

२. झील, स्विट्ज़रलैंड के मध्य में स्थित इस झील की सर्वाधिक गहराई ७०० फुट तथा क्षेत्रफल ४३ वर्ग मील है। झील की आकृति ऑक्टोपस (octopus) की तरह है। रायस नदी झील में दक्षिण-पूर्व किनारे पर फ्लुइलेन नामक स्थान पर मिलती है और इसके पश्चात् झील से निकलने के बाद लूसर्न नगर के पास बहती है।

३. नगर, ज़ूरिख से २५ मील दक्षिण-पूर्व मे लूसर्न झील के उत्तरी-पश्चिमी किनारे पर, जहाँ रायस नदी झील से बाहर निकलती है, स्थित है। यह नगर ऐल्प्स का प्रवेश द्वार होने के कारण प्रमुख पर्यटन केंद्र है। यहाँ के प्रमुख उद्योग रेशम के वस्त्र तथा लकड़ी पर नक्काशी बनाना है। यहाँ के टाउनहाल का वास्तु इतालवी तथा

गॉथिक वास्तुकला का मिश्रण है। रायस नदी पर लकड़ी की छतवाले दो पुराने पुल हैं, जिन्हें नगर के इतिहास से संबंधित चित्रों से अलंकृत किया गया है। नगर की जनसंख्या ६२,६०० (१९५३) है। सुप्रसिद्ध ग्लेशियर गार्डेन के समीप चट्टान पर बर्टेल थॉर्वाल्डसन (Bertel Thorwaldsen) द्वारा बनाई गई लायन ऑव लूसर्न (Lion of Lucern) की प्रसिद्ध बृहत्काय मूर्ति है।

लूसियन (लगभग ११७–१८० ई०) यूनानी वक्ता तथा लेखक, जो अपनी आलंकारिक एवं वैधिक वक्तृताओं तथा हास्य व्यंग्य संवादों के लिये प्राचीन साहित्य के इतिहास में प्रसिद्ध है। वह सीरिया में, फ़रात नदी के किनारे स्थित सैमोसाता नगर के मूर्तिकार परिवार में उत्पन्न हुआ था। प्रारंभ में अपने चचा से मूर्तियाँ बनाना सीखा भी, किंतु बाद में उसकी रुचि बदल गई और उसने सोफिस्त विचारकों की आलंकारिक एवं वैधिक संभाषण कला का अध्ययन किया। कुछ समय तक, वह अंतिओक नामक स्थान पर, वकालत करता रहा, पर इस व्यवसाय में उसे कोई विशेष सफलता प्राप्त न हुई। अतएव न्यायालय के दायरे से निकलकर वह सोफिस्त वक्ता बन गया। इसे नए व्यवसाय के सहारे उसने एशिया माइनर, मकदूनियाँ, यूनान, इटली और गाल का भ्रमण किया। रोम में अफलातून के मतानुयायी निग्रीनस से उसकी मुलाकात हुई थी। १६५ ई० के आसपास वह स्थायी रूप से यूनान के एथेंस नगर में बस गया। वहीं उसने अपने जीवन का शेष भाग लगभग पूरा कर लिया था। इसी काल में उसने लेखनकार्य किया। लूसियन का युग पुराने विश्वासों के ह्रास का युग था। पुरानी परंपराएँ, जो जीवित भी थीं, अपना अर्थ खो चुकी थीं। युग की प्रवृत्तियों के अनुरूप उसने व्यंग्य साहित्य का प्रणयन प्रारंभ किया। उसे अच्छी सफलता मिली। अंतिम दिनों में वह मिस्र देश में किसी उच्च पद पर नियुक्त हो गया था। वहीं उसकी मृत्यु हुई।

लूसियन के नाम पर लगभग ७९ गद्य ग्रंथ, २ उपहासात्मक त्रासदियाँ तथा ५३ सूक्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इन रचनाओं की प्रामाणिकता के संबंध में कोई निश्चित स्थापना नहीं की जा सकती। उचित रूप से क्रमनिर्धारण भी संभव नहीं। केवल यही कहा जा सकता है कि उसने अपरिपक्व अवस्था में आलंकारिक तथा प्रौढ़ होने पर व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग किया होगा। उसके विस्तृत साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

१ **आलंकारिक संभाषण** — लूसियन के वे संवाद भी हास्यप्रधान ही हैं, जिनमें सोफिस्तों की आलंकारिक शैली के संभाषणों का समावेश किया गया है। उदाहरण के लिये, उसके 'टिरेनीसाइड' (आतताई वध) में, एक पुरुष किसी आततार्ई की हत्या करने जाता है। उसे वह आततार्ई नहीं, उसका पुत्र मिलता है, जिसे वह तलवार भोंककर मार डालता है। किंतु मृत्यु देखकर वह इतना सहम जाता है कि तलवार उसके शरीर में धँसी हुई छोड़कर भाग जाता है। आततार्ई आता है तो अपने पुत्र को मरा हुआ देखकर, भावावेश में वही तलवार जिससे उसके पुत्र का वध हुआ था, खींचकर आत्महत्या कर लेता है। यह समाचार पाकर पुत्र का वध करनेवाला प्रकट होता है और आततार्ई का वध करने की घोषणा करता है।

२. **जीवनियाँ** — लूसियन की कुछ रचनाओं का आकार जीवन कथाओं का है। इनमें 'पेरेग्रिनस' बहुत महत्वपूर्ण है। पेरियम निवासी पेरेग्रिनस ईसाई था, किंतु बाद में वह सिनिक मतानुयायी हो गया। अंत में उसने धर्मत्याग के पश्चात्ताप के कारण, ओलिंपिया के समीप हार्पीन नामक स्थान पर, खुले आम चिता में जलकर प्रायश्चित्त किया। यह घटना १६५ ई० के आस पास की है। लूसियन ने पेरेग्रिनस को, अपनी आँखों, चिता में जलते देखा था। पेरेग्रिनस की कथा में उसने ईसाई धर्मावलंबियों पर बीच बीच में कुछ फबतियाँ कसी हैं, जिनके कारण उसकी यह पुस्तक काफी प्रसिद्ध हो गई है।

३. **रूमानी कथाएँ** — इस श्रेणी की पुस्तकों में 'लूकियस, अथवा गधा' उल्लेख के योग्य है। दूसरी शताब्दी के एक अन्य लेखक, एप्यूलियस ने इसी पुस्तक से प्रेरणा प्राप्त कर, 'रूपांतर, अथवा सोने का गधा' शीर्षक कथा लिखी थी, जो आजकल, ट्रांस्फार्मेशंस ऑव लूकियस ऑर द गोल्डेन ऐस' शीर्षक से 'पेलिकन सिरीज' में उपलब्ध है। इसमें लूकियस अपने एक मित्र के घर मेहमानी करने जाता है और वहाँ रात में देखता है कि उसके मित्र की पत्नी, सबके सो जाने पर, अपने जादू के पिटारे से कोई मरहम निकालकर अपने शरीर में मलती है और चिड़िया बन जाती है। लूकियस को यह बहुत अच्छा लगा और एक रात, मौका पाकर, उसने भी एक मरहम निकाल कर लगा लिया। किंतु वह गधा बन गया। इस जीवन में वह जाने कहाँ कहाँ मारा मारा फिरता रहा, जाने कितने दुःख सहे और अपनी आँखों, संसार के कितने ही कुकृत्य देखे। उस समय की सामाजिक दशा पर यह एक तीखा व्यंग है।

इस श्रेणी की दूसरी पुस्तक 'सत्य कथा' है। इसमें जलयात्रियों के एक जत्थे के, जो 'हरक्यूलिस के स्तंभों' से रवाना हुआ था, साहसिक अनुभवों का वर्णन किया गया है। उनका जलपोत वायुमंडल में चला जाता है, जहाँ चंद्रमा और सूर्य के बीच उषा नक्षत्र पर अधिकार का निबटारा करने के लिये युद्ध छिड़ा हुआ था। यात्रियों ने चंद्रमा की ओर से युद्ध में भाग लेकर अपूर्व शौर्य प्रदर्शन किया। लूसियन की इस उपहासात्मक वीर गाथा को अंग्रेज लेखक जोनेथन स्विफ्ट के 'गलीवर्स् ट्रेवेल्स्' का आधार माना जाता है।

४. **व्यंग्य संवाद** — यों तो लूसियन का संपूर्ण साहित्य हास्य और व्यंगमय है, पर कुछ कृतियों में लूसियन के व्यंग्य का आशय अधिक स्पष्ट है। 'निग्रीनस' में एक दार्शनिक ऊँचे बैठा बैठा एक रंगशाला में झाँकता और हँसता है। रंगशाला में बड़ी भीड़ है और पात्रों के क्रियाकलाप में कोई साम्य नहीं। स्पष्टतया लूसियन की रंगशाला संसार के अतिरिक्त कुछ नहीं, जिसके बेमेल व्यापारों को देखकर, दार्शनिक, जो बुद्धिमान् है, उपेक्षापूर्ण हँसी हँसता है। 'मेनिप्पस' नामक संवाद में तो लूसियन ने अपना मत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है—'वही पात्र अभी क्रियॉन के रूप में आता है, अभी प्रायम, अथवा ऐगेमेमनन बन जाता है,···नाटक समाप्त होते होते अपने को साधारण मनुष्य पाता है।' 'आक्शन ऑव फ़िलॉसॉफर्स्' (दार्शनिकों का नीलाम) में तो लूसियन ने सुकरात, अरस्तू आदि महान् दार्शनिकों को, बाजार में खड़ा कराकर, सबसे अधिक दाम लगानेवालों के हाथ बिकवाकर, साफ साफ कह दिया है कि प्राचीन काल के भव्य भवनों में सियार और भेड़ियों ने डेरे डाल रखे हैं।

५. साहित्यसमीक्षा — हास्य व्यंग्य का प्रचुर साहित्य निर्मित करने के साथ ही लूसियन ने उचित साहित्य के निर्माण के संबंध में काफी सुझाव छोड़े थे। इतिहासलेखन के प्रसंग में तो उसने बहुत ही सुंदर शब्दों में कहा था—'मैं चाहूँगा कि इतिहासकार बहुत ही निडर और पक्षपातरहित हो। उसे स्वतंत्र, स्पष्टवादिता तथा सत्य का प्रेमी होना चाहिए। वह अंजीर को अंजीर और कुदाल को कुदाल कह सके। घृणा और प्रेम से उसे कोई मतलब नहीं।··· वह सोचता ही नहीं कि उसे कोई क्या कहेगा। वह तथ्यों को जैसे वे घटित हुए थे, बताता है।'

अंग्रेजी में, लूसियन के ग्रंथों के एच० डब्ल्यू० और एफ० जी० फ़ाउलर कृत (१९०५ ई०) अनुवाद उपलब्ध हैं। [शि० श०]

लेंस (Lens) गोलीय, बेलनाकार आदि जैसे नियमित, ज्यामिती रूप की दो सतहों से घिरा हुआ पारदर्शक माध्यम, जिससे अपवर्तन के पश्चात् किसी वस्तु का वास्तविक अथवा काल्पनिक प्रतिबिंब बनता है, लेंस कहलाता है। लेंस, लैटिन शब्द लेटिल (lentil) से बना है, जिसका अर्थ है मसूर। उत्तल (convex) ताल मसूर की आकृति का होता है। अतः इसका नाम लेंस पड़ा।

लेंस की सतह प्रायः गोलीय (spherical) होती है, परंतु आवश्यकतानुसार बेलनाकर, या अगोली (aspheric) लेंस भी प्रयुक्त होते हैं। आँख के क्रिस्टलीय लेंस ही एकमात्र प्राकृतिक लेंस हैं।

हजारों वर्ष पहले भी लोग लेंस के विषय में जानते थे और माइसनर (Meissner) के अनुसार प्राचीन काल में भी चश्मे से लाभ उठाया जाता था। चश्मे के अलावा प्रकाशविज्ञान में लेंस का उपयोग दूरदर्शक, सूक्ष्मदर्शी, प्रकाशस्तंभ द्विनेत्री इत्यादि मे होता है।

लेंस को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, उत्तल (convex) और अवतल (concave)। जैसा चित्र १. में
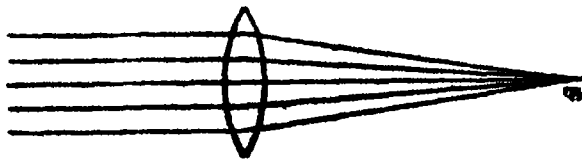
चित्र १. उत्तल लेंस में किरणों का अभिसरण
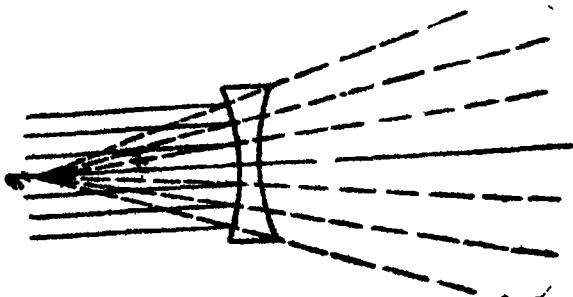
चित्र २. अवतल लेंस में किरणों का अपसरण

दिखाया गया है, अनंत से आनेवाली समांतर किरणें उत्तल लेंस में अपवर्तन के पश्चात् बिंदु फ पर अभिसरित (converge) होकर वहाँ वास्तविक प्रतिबिंब बना रही हैं, जब कि अवतल लेंस में अपवर्तन के पश्चात् वे बिंदु 'फ' पर (देखें चित्र २.) बने काल्पनिक प्रतिबिंब से अपसारित (diverge) होती प्रतीत होती हैं। अतः उत्तल लेंस को अभिसारी लेंस और अवतल लेंस को अपसारी लेंस भी कहते हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि उत्तल लेंस अभिसारी लेंस और अवतल लेंस अपसारी लेंस के रूप में तभी काम करता है, जब उसके चारों तरफ के माध्यम का अपवर्तनांक (refractive index) लेंस के माध्यम के अपवर्तनांक से कम होता है। (काच का अपवर्तनांक, म्यू (μ) = १·५, हवा का अपवर्तनांक, म्यू (μ) = १·०० होता है)। यदि चारों तरफ के माध्यम का अपवर्तनांक लेंस के माध्यम के अपवर्तनांक से अधिक होगा, तो उत्तल लेंस अपसारी और अवतल लेंस अभिसारी हो जाएगा।

लेंस का निर्माण — जी० बैटिस्टा डेल पोर्टा (G. Battista dell Porta) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक मैगिया नेचुरलिस (Magia Naturalis) में काँच को घिसकर लेंस बनाने की विधि लिखी है। थोड़े सुधार के साथ अभी भी वही विधि काम में लाई जाती है। इच्छित काँच के टुकड़े को हथौड़ी, या सँड़सी से चारों तरफ से तोड़कर

चित्र ३. लेंसों की किस्में

१, २ तथा ३. उत्तल लेंस और ४, ५ तथा ६. अवतल लेंस।

लेंस के आकार का बना लेते हैं। उत्तल लेंस बनाने के लिये प्याले के आकार का और अवतल लेंस बनाने के लिये गुंबद के आकार का यंत्र लोहे के एक छड़ के ऊपर लगा रहता है, जिसे बिजली के मोटर द्वारा घुमाया जाता है। इन यंत्रों की वक्रता-त्रिज्या लेंस की वांछित वक्रता-त्रिज्या (radius of curvature) के बराबर होती है। काँच के टुकड़े को इसी यंत्र में घिसा जाता है और घिसने के लिये काँच और यंत्र के बीच में रेत का उपयोग करते हैं। आजकल रेत के स्थान पर कार्बोरंडम का चूर्ण उपयोग में आता है। जैसे जैसे लेंस घिसता है, अधिक शुद्ध यंत्र लगाते जाते हैं और चूर्ण भी पतला प्रयुक्त करते जाते हैं। घिसने के बाद लेंस पर फेरिक-ऑक्साइड की पॉलिश करते हैं। पॉलिश करते समय घिसनेवाले यंत्र पर मोम, या पिच (pitch) की पतली परत जमा देते हैं। लेंस के दोनों सतहो को घिसने के पश्चात् इसके किनारों को घिसकर गोल बना देते हैं।

आजकल हीरे का चूर्ण लगा यंत्र वक्रता पैदा करने के लिये प्रयुक्त होता है। यदि किसी गोलीय सतह पर उसकी वक्रता-त्रिज्या से कम त्रिज्या का वृत्ताकार वलय (ring) रखा जाय तो वलय गोलीय सतह पर ठीक बैठेगा। चक्कर लगाते हुए प्याले के आकार का यंत्र, जिसके किनारों पर हीरे का चूर्ण लगा रहता है इस तरह समंजित (adjust) किया जाता है कि

इसका घूर्णन अक्ष (axis of rotation) लेंस के अक्ष को वांछित गोलीय सतह के वक्रताकेंद्र पर काटे। यंत्र इस तरह झुका रहता है कि उसका किनारा बनाए जानेवाले लेंस को बीच में काटता है। जब लेंस और यंत्र अपने अपने अक्ष पर चक्कर लगाते हैं, तब वांछित वक्रता-त्रिज्या का लेंस बनता है।

अच्छी घिसाई एवं पॉलिश के लिये बहुत ही शुद्ध वक्रता-त्रिज्या का यंत्र प्रयुक्त होता है तथा कार्बोरंडम चूर्ण भी बहुत बारीक लिया जाता है। घिसते समय चूर्ण के कण भिन्न भिन्न आकार के कणों में टूट जाते हैं। फिर से चूर्ण का उपयोग करते समय भिन्न भिन्न आकार के कणों को अलग अलग कर लेना आवश्यक है, क्योंकि पतले चूर्ण में बड़े आकार के एक कण की उपस्थिति भी लेंस में खरोंच पैदा कर देगी। भिन्न भिन्न आकार के कण पानी की धारा प्रवाहित कर अलग किए जाते हैं, क्योंकि पानी में प्रवाहित करने पर समान आकार के कण एक स्थान पर एकत्रित होते है।

अवरोधन (Blocking) — अधिक शुद्ध वक्रता-त्रिज्या के लेंस बनाने के लिये पहले बताए ढंग से घिसे लेंसों को लोहे के एक यंत्र पर समूह के रूप में रखते है। लेंसों की ऊपरी सतह पर पिच का एक छोटा बटन बना दिया जाता है और निचली सतह को भिगोकर कुछ देर के लिये यंत्र से चिपका दिया जाता है। लोहे के एक दूसरे ढाँचे को गरम कर लेंसों पर बने बटनों के ऊपर रख देते हैं। गर्मी से बटन मुलायम हो जाते हैं और ऊपरी ढाँचे से चिपक जाते हैं। पूरे उपकरण को ठंडे पानी से ठंढा करते हैं, जिससे ऊपरी ढाँचे से लेंसों का समूह जुड़ जाता है। घिसते समय निचला यंत्र ऊर्ध्वाधर अक्ष के चारो ओर घूमता है, जब कि ऊपरी ढाँचा एक ओर से दूसरी ओर दोलन करता है।

पॉलिश करते समय नीचे के घिसनेवाले यंत्र के स्थान पर एक दूसरा यंत्र लगाते हैं, जिसकी सतह पर पिच की एक पतली परत लगी रहती है। पॉलिश करने के यंत्र पर लगे पिच की सतह की वक्रता की त्रिज्या, यंत्र को विपरीत वक्रता वाले यंत्र (opposite curved foot) से दबाकर ठीक करते हैं। इसी कारण पॉलिश करनेवाले यंत्रों के जोड़े बनाए जाते है, जोड़े के एक सदस्य की सतह उत्तल होती है और दूसरे की अवतल।

घिसने और पॉलिश करने की क्रिया के संबंध में लोगों के भिन्न भिन्न विचार हैं। परंतु इतना निश्चित है कि घिसते समय कार्बोरंडम के चूर्ण में उपस्थित कणों के किनारे काँच पर दबाव डालते हैं, जिससे काँच में से छोटे छोटे टुकड़े कटकर निकल जाते है और काँच लेंस की आकृति का हो जाता है। इस समय काँच की सतह खुरदरी होती है। पॉलिश की क्रिया के संबंध में कुछ लोगों का विचार है कि यह क्रिया भी घिसने की क्रिया ही है। परंतु आजकल कार्बोरंडम के चूर्ण की जगह पर फेरिक ऑक्साइड का उपयोग होने से एमरी (emery) के कण बहुत छोटे होते हैं। दूसरी विचारधारा के अनुसार फेरिक ऑक्साइड के कण पिच की सतह पर जम जाते हैं और वे रेगमाल की तरह लेंस की सतह को घिसकर सभी जगह एक समान और चिकना कर देते हैं।

लेंस के केंद्र और किनारों को ठीक करना — लेंस का केंद्र उसके प्रधान अक्ष पर होना चाहिए। ऐसा करने के लिये इस्पात के दो समान प्याले लिए जाते हैं। प्यालों के किनारों के बीच लेंस को इस तरह से कस देते हैं कि दोनों प्याले समाक्ष (coaxial) हों। इस स्थिति में प्यालों का अक्ष ही लेंस का अक्ष होगा। इसके बाद प्यालो को घुमाते हुए लेंस के किनारों को घिसने के यंत्र पर घिस लेते हैं।

पृष्ठीय विलेपन (Surface Coating) — पॉलिश किए हुए काँच की सतह पर यदि प्रकाश की किरणें लंबवत् पड़ती हैं, तब कुल प्रकाश का $\left(\frac{\text{म्यू} - १}{\text{म्यू} + १}\right)^२ \left[\left(\frac{\mu - 1}{\mu + 1}\right)^2\right]$ भाग सतह से परावर्तित हो जाता है, जहाँ म्यू (μ) काँच का अपवर्तनांक है। साधारण काँच के लिये यह भाग कुल प्रकाश का ४ प्रति शत है, परतु कैमरा लेंसों के लिये यह भाग लगभग ७ प्रतिशत होता है। इसके कारण अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। नई पालिश किए गए लेंस की अपेक्षा कुछ धुँधले सतहवाले लेंसों के लिये यह भाग कम होता है। सन् १९३६ में जॉन स्ट्रॉङ्ग (John Strong) ने देखा कि निर्वात में लेंस की सतह पर कैल्सियम फ्लुओराइड के वाष्प की पतली परत जमा देने पर, लेंस द्वारा परावर्तित प्रकाश की मात्रा कम हो जाती है। आजकल प्रायः सभी लेंसों की सतहों पर वाष्पीकृत मेग्नीशियम-फ्लुओराइड की हलकी परत जमा दी जाती है। इससे लेंस की सतह द्वारा प्रकाश का परावर्तित भाग घटकर कुल प्रकाश का १ प्रति शत से २ प्रति शत तक हो जाता है।

लेंसों को जोड़ना (Cementing) — गोलीय विपथन और वर्ण विपथन (chromatic aberration) को हटाने के लिये भिन्न पदार्थों के दो, या कई लेंसों को पारदर्शक सीमेंट से जोड़कर संयुक्त लेंस (compound lens) बनाते हैं। सन् १९४० तक कैनाडा बाल्सम सीमेंट के रूप में प्रयुक्त होता था। कैनाडा बाल्सम से जुड़े लेंस बहुत निम्न ताप पर अलग हो जाते हैं, अत: आजकल प्राय: ब्युटिल मेथाक्रिलेट (butyl methacrylate) सीमेंट के रूप में प्रयुक्त होता है। लेंसों के जोड़े जानेवाली सतह पर गरम सीमेंट लगा दिया जाता है तथा लेंसों को रगड़कर अतिरिक्त सीमेंट हटा दिया जाता है। कैमरा, दूरदर्शक, सूक्ष्मदर्शी इत्यादि के अभिदृश्यक (objective) और नेत्रिका (eye- piece) लेंस संयुक्त लेंस होते हैं।

लेंसों का आरोपण (Mounting) — क्राउन काँच और फ्लिंट काँच का तापीय प्रसार असमान होने के कारण, तीन इंच से अधिक व्यासवाले लेंस सीमेंट द्वारा नहीं जोड़े जाते। ऐसे लेंसों को कुछ दूरी पर रखा जाता है, परंतु यदि उन्हें पास रखना आवश्यक हो तो भी वे इस तरह रखे जाते हैं कि एक दूसरे को न छुएँ। ऐसा करने के लिये उन्हें किसी धातु के फ्रेम में फँसाकर रखा जाता है। कभी कभी लेंसों के किनारों को फ्रेम में सीमेंट द्वारा जोड़ भी दिया जाता है।

अगोलीय (Nonspherical) सतहोंवाले लेंस — प्राय: लेंसों

की सतह गोलीय होती है, क्योंकि यही एक ऐसी ज्यामितीय प्राकृति है जिसे पूर्ण शुद्धता और आसानी से बनाया जा सकता है।

अगोलीय लेंस विपरीत वक्रता के बेलनाकार यंत्र पर घिसकर बनाया जाता है। घिसते समय यंत्र का घूर्णन अक्ष लेंस के अक्ष के समांतर होना चाहिए। यदि लेंस भी चक्कर लगाने के लिये स्वतंत्र होगा, तो बेलनाकार के स्थान पर गोलीय हो जाएगा। अत: घिसते समय लेंस स्थिर होना चाहिए।

यदि किसी लेंस का अक्ष ही घूर्णन अक्ष हो, परंतु लेंस की सतह गोलीय न हो, तो ऐसे लेंस को अगोली (aspheric) लेंस कहते हैं। ऐसे लेंस को वांछित आकार के घिसने के यंत्र पर घिसकर बनाया जाता है। अगोली लेंस का प्रयोग संग्राही (condenser) लेंस के रूप में तथा छिनेमी की नेत्रिका एवं कुछ कैमरों में होता है।

काँच के सिवाय अन्य पदार्थों के लेंस — काँच पराबैंगनी (ultra-violet) और अवरक्त (infra-red) प्रकाश को अवशोषित कर लेता है। अतः स्पेक्ट्रम के पराबैंगनी क्षेत्र में कैल्सियम फ्लुओराइड, लिथियम फ्लुओराइड, क्वार्ट्ज इत्यादि के लेंस प्रयुक्त होते हैं। स्पेक्ट्रम के अवरक्त क्षेत्र में पोटैशियम आयोडाइड, आर्सेनिक सल्फाइड, सिल्वर क्लोराइड, थैलियम ब्रोमाइड-आयोडाइड सिलिकन और जर्मेनियम लेसों का उपयोग होता है।

जब प्लास्टिक पदार्थों को ऊष्मा द्वारा गलाकर लेंस बनाया जाता है, तब वे सस्ते भी पड़ते हैं और हलके भी। आजकल दूरदर्शी और कैमरा के प्लास्टिक अभिदृश्यक लेंस को बनाने के प्रयत्न हुए हैं। एक समुचित मेथाक्रिलेट को क्राउन काँच और पॉलिस्टिरीन (polystyrene) को फ्लिंट काँच की जगह लगाया गया, परंतु आर्द्रता और ताप आदि के प्रभाव से प्लास्टिक पदार्थों में परिवर्तन होने के कारण बहुत सी समस्याएँ पैदा हो जाती हैं।

लेंसों का परीक्षण (Lens Testing) — लेंस घिसते समय बीच बीच में इस बात की जाँच की जाती है कि सतह गोलीय है और लेंस वांछित वक्रता की त्रिज्या का है या नहीं। पीतल के एक प्लेट के बाहरी किनारे के, जो गोल और वांछित लेंस की वक्रता त्रिज्या के बराबर त्रिज्या का होता है, लेंस की सतह पर रखते हैं और देखते हैं कि वह ठीक बैठता है या नहीं। यदि वह ठीक नहीं बैठता है, तो उसी के अनुसार लेंस को फिर घिसा जाता है। अधिक शुद्धता के लिये पालिश करते समय फिर जाँच की जाती है। इसके लिये काँच का एक परीक्षण पट्ट (plate) प्रयुक्त होता है, जिसकी वक्रता की त्रिज्या विपरीत चिह्न के साथ (with opposite sign) लेंस की वांछित वक्रता त्रिज्या के बराबर होती है, अर्थात् यदि लेंस उत्तल है और उसकी वक्रता त्रिज्या २५ सेंमी० है, तो परीक्षण पट्ट अवतल होगा और उसकी भी वक्रता त्रिज्या २५ सेंमी० होगी। यदि लेंस ठीक होगा, तो लेंस और परीक्षण पट्ट की सतहों के बीच हवा का समांतर फिल्म (air film) बनेगा। प्रकाश की किरण फिल्म की दोनों सतहों से परावर्तन के पश्चात् केवल एक रंग की दिखाई देगी (जैसा साबुन के बुलबुलों में होता है) और परावर्तित किरण का रंग फिल्म की मोटाई पर निर्भर करेगा। परंतु लेंस की सतह गोलीय न होने पर अथवा वक्रता त्रिज्या ठीक न होने पर, प्रत्येक बिंदु पर फिल्म की मोटाई भिन्न होगी और फिल्म में न्यूटन वलय (ring) बनेगा। लेंस को फिर से थोड़ा घिसकर ठीक किया जाता है।

चश्मा — चश्मे का लेंस पतला होता है और इसे भी पहले बताई हुई रीति से ही बनाते हैं। परंतु इसकी सतह का उतना यथार्थ होना आवश्यक नहीं है जितना उन लेंसों की सतह का जो दूरदर्शी और फोटोग्राफी में प्रयुक्त होते हैं। लेंस के किनारों को पत्थर के पहिए पर घिसकर चश्मे के फ्रेम के आकार का बना लेते हैं।

निकट दृष्टि (short sight or myopia) दोष को दूर करने के लिये अवतल लेंस और दूर दृष्टि (long sight or hypermetropia) दोष को दूर करने के लिये उत्तल लेंस प्रयुक्त होता है। अबिंदुकता (astigmatizm) के दोष को दूर करने के लिये बेलनदार लेंस प्रयुक्त होता है। यदि इस दोष के साथ साथ निकट दृष्टि, या दूर दृष्टि, का दोष भी हो, तो गोलीय बेलनाकार लेंस (spherocylindrical lens) प्रयुक्त होता है। ऊर्ध्वाधर अक्ष (vertical axis) की दिशा में ऐसे लेंसों की शक्ति, क्षैतिज अक्ष (harizontal axis) की दिशा में लेंस की शक्ति से, भिन्न होती है।

द्विफोकसी या बाइफोकल लेंस (Bifocal Lens) — जरादूर दृष्टि (presbyopia) के दोष को दूर करने के लिये बाइफोकल लेंस काम मे आता है, जिसमे अवतल तथा उत्तल एक ही लेंस में दोनों तरह के लेंस संयुक्त रहते हैं। ऊपर का भाग दूर की वस्तुओं तथा निचला भाग पास की वस्तुओं को देखने के लिये होता है। काँच को एक विशेष प्रकार की मशीन पर घिसकर बाइफोकल लेंस तैयार करते हैं। आज कल प्राय: दोनों तरह के लेंसो को एक भट्ठी में गरम कर तथा जोड़कर बाइफोकल लेंस बनाया जाता है और इस तरह से बनाए गए लेंस मलीन द्विफोकसी लेंस (Fused bifocal lens) कहलाते हैं।

संपर्क लेंस (Contact Lens) — कुछ लोग, जैसे अभिनेता, सुंदरता की रक्षा के लिये चश्मा नहीं लगाना चाहते। उनकी आँख में एक पतला लेंस लगा दिया जाता है, जो कॉर्निया (cornea) पर ठीक बैठता है। लेंस और आँख के बीच का स्थान एक उपयुक्त द्रव से भर दिया जाता है। कॉर्निया के शंक्वाकार हो जाने, या सिकुड़ जाने पर भी संपर्क लेंस लगाया जाता है। संपर्क लेंस लगाने के लिये बहुत ही सावधानी एवं धन की आवश्यकता होती है।

फ्रेनेल लेंस (Fresnel Lenses) — प्रकाशस्तंभ (light houses) के लेंस बहुत बड़े और मोटे होते हैं। इतना बड़ा और मोटा लेंस पहले बताई गई रीति से बनाना संभव नहीं है। दूसरे, लेंस बड़ा तथा मोटा होने के कारण इतना भारी हो जाता है कि इतना भारी लेंस बनाना भी उचित नहीं है। सन् १८२० में ऑगस्टिन फ्रेनेल (Augustin Fresnel) ने प्रकाशस्तंभ में प्रयुक्त होनेवाले लेंसों के बनाने की विधि बतलाई। उचित वक्रता की, काँच की छड़ों को अलग अलग घिसा और पॉलिश किया जाता है। फिर उन्हें एक धातु के फ्रेम में सिलसिलेवार जोड़कर प्रकाशस्तंभ का लेंस बनाया जाता है।

कभी कभी काँच को गलाकर तथा साँचे में ढालकर भी फ्रेनेल

लेंस बनाए जाते हैं। ऐसे लेंस पुंजप्रकाश (flood lights), रेल मार्ग (rail road), यातायात संकेत (traffic signal) इत्यादि में प्रयुक्त होते हैं। सन् १९४५ के बाद प्लास्टिक पदार्थों को गलाकर पतले फ्रेनेल लेंस भी बनाए गए, जो प्राय: अभिक्षेत्र (fieled) लेंस के रूप में प्रयुक्त होते हैं। [भू० ना० त्रि०]

लेग्रॉन (Leon) १. नगर, स्पेन में यह लेग्रॉन नामक राज्य की राजधानी है, जो बरनेसगा एवं टोरियो नदियों के मध्य स्थित है। यह ग्रोव्येदो (Oviedo) नगर से ६० मील उत्तर में बसा है। प्राचीन काल में यह एक आयताकार दीवार से घिरा था, जिसके अवशेष अब भी प्राप्त हैं। नगर के पश्चिमी भाग में अब कुछ नए भवन भी बन रहे हैं, शेष भाग काफी प्राचीन इमारतों से भरा है। यहाँ का कैथेड्रल एवं कुछ महल दर्शनीय हैं। इसके आसपास कृषि एवं पशुपालन होता है।

२. नगर, मेक्सिको के ग्वानाह्वाटो (Guanajuto) राज्य का सबसे बड़ा नगर है, जो मेक्सिको सिटी से सड़कमार्ग द्वारा २७७ मील उत्तर-पश्चिम स्थित है। यह गोमेज नदी की उपजाऊ घाटी में सागर तल से ५,६८३ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। कृषि संबंधी वस्तुओं के केंद्र के अतिरिक्त यह एक औद्योगिक केंद्र है, जहाँ शाल तथा चमड़े की वस्तुएँ, जैसे जूते, बटुए (purse) बनते हैं। इसकी जनसंख्या १,२२,६६३ (१९५०) है।

३. नगर, लेग्रॉन नाम का नगर पश्चिमी निकारागुआ में मानागुआ से ५० मील उत्तर पश्चिम में स्थित है। नगर में काफी, शक्कर तथा तंबाकू का व्यापार होता है। यहाँ एक कैथेड्रल है, जो मध्य अमरीका का सबसे बड़ा कैथेड्रल है। [रा० वृ० सिं०]

लेग्रोनार्डो डा विंचि (Leonardo da Vinci, सन् १४५२–१५१९) इटलीवासी, महान् चित्रकार, मूर्तिकार, वास्तुशिल्पी, संगीतज्ञ, कुशल यांत्रिक, इंजीनियर तथा वैज्ञानिक का जन्म फ्लोरेंस प्रदेश के विंचि नामक ग्राम में हुआ था। इसी ग्राम के नाम पर इनके कुल का नाम पड़ा। ये अवैध पुत्र थे। शारीरिक सुंदरता तथा स्फूर्ति के साथ साथ इनमें स्वभाव की मोहकता, व्यवहारकुशलता तथा बौद्धिक विषयों में प्रवीणता के गुण थे।

लेग्रोनार्डो ने छोटी उम्र से ही विविध विषयों का अनुशीलन प्रारंभ किया, किंतु इनमें से संगीत, चित्रकारी और मूर्तिरचना प्रधान थे। इनके पिता ने इन्हें प्रसिद्ध चित्रकार, मूर्तिकार तथा स्वर्णकार, आँद्रेग्रा देल वेरॉक्यो (Andrea del Verrochio), के पास काम सीखने को बैठाया। यहाँ इन्होंने सात वर्ष व्यतीत किए, किंतु थोड़े ही समय में ये अपने गुरु से भी आगे बढ़ गए। सन् १४७७ से सन् १४८२ तक ये महाप्रभ लोरेंज़ो (Lorenzo the Magnificent) की छत्रच्छाया में रहकर कार्य करते रहे और तत्पश्चात् मिलैन के रईस लुडोविको स्फॉर्सा (Ludovico Sforza) की सेवा में चले गए, जहाँ इनके विविध कार्यों में सैनिक इंजीनियरी तथा दरबार के भव्य समारोहों के संगठन भी संमिलित थे। यहाँ रहते हुए इन्होंने दो महान् कलाकृतियाँ, लुडोविको के पिता की घुड़सवार मूर्ति तथा (ईसा का) 'अंतिम व्यालू' (Last Supper) शीर्षक चित्र, पूरी कीं। लुडोविको के पतन के पश्चात्, सन् १४९९ में, लेग्रोनार्डो मिलैन छोड़कर फ्लोरेंस वापस आ गए, जहाँ इन्होंने अन्य कृतियों के सिवाय "मोना लिसा" (Mona Lisa) शीर्षक चित्र तैयार किया। यह चित्र तथा "अंतिम व्यालू" नामक चित्र, इनकी महत्तम कृतियाँ मानी जाती हैं। सन् १५०८ में फिर मिलैन वापस आकर, वहाँ के फरासीसी शासक के अधीन ये चित्रकारी, इंजीनियरी तथा दरबारी समारोहों की सजावट और आयोजनों की देख भाल का अपना पुराना काम करते रहे। सन् १५१३ से १५१६ तक रोम में रहने के पश्चात् इन्हें फ्रांस के राजा, फ्रैंसिस प्रथम, अपने देश ले गए और आँब्वाज़ (Amboise) के कोट में इनके रहने का प्रबंध कर दिया। यहीं इनकी मृत्यु हुई।

लेग्रोनार्डो तथा यूरोप के नवजागरणकाल के अन्य कलाकारों में यह अंतर है कि विंचि ने प्राचीन काल की कलाकृतियों की मुख्यत: नकल करने में समय नहीं बिताया। वे स्वभावत: प्रकृति के अनन्य अध्येता थे। जीवन के इनके चित्रों में अभिव्यंजक निरूपण की सूक्ष्म यथार्थता के सहित सजीव गति तथा रेखाओं के प्रवाह का ऐसा संमिलन पाया जाता है जैसा इसके पूर्व के किसी चित्रकार में नहीं मिलता। ये पहले चित्रकार थे, जिन्होंने इस बात का अनुभव किया कि संसार के दृश्यों में प्रकाश और छाया का विलास ही सबसे अधिक प्रभावशाली तथा सुंदर होता है। इसलिये इन्होंने रंग और रेखाओं के साथ साथ इसे भी उचित महत्व दिया। असाधारण दृश्यों और रूपों ने इन्हें सदैव आकर्षित किया और इनकी स्मृति में स्थान पाया। ये वस्तुओं के गूढ नियमों और कारणों के अन्वेषण में लगे रहते थे। प्रकाश, छाया तथा संदर्श, प्रकाशिकी, नेत्र-क्रिया-विज्ञान, शरीररचना, पेशियों की गति, वनस्पतियों की संरचना तथा वृद्धि, पानी की शक्ति तथा व्यवहार, इन सबके नियमों तथा अन्य अनेक इसी प्रकार की बातों की खोज में इनका अतृप्त मन लगा रहता था।

लेग्रोनार्डो डा विंचि के प्रामाणिक चित्रों में बहुत थोड़े बच पाए हैं। कई कृतियों की प्रामाणिकता के संबंध में संदेह है, किंतु ऊपर वर्णित दो चित्रों के सिवाय इनके अन्य चौदह चित्र प्रामाणिक माने जाते हैं, जो यूरोप के पृथक् पृथक् देशों की राष्ट्रीय संपत्ति समझे जाते हैं। धन में इनके वर्तमान चित्रों के मूल्य का अनुमान संभव नहीं है।

इनकी बनाई कोई मूर्ति अब पाई नहीं जाती, किंतु कहा जाता है कि फ्लोरेंस की बैप्टिस्टरी (गिर्जाघर का एक भाग) के उत्तरी द्वार पर बनी तीन मूर्तियाँ, बुडापेस्ट के संग्रहालय में रखी काँसे की घुड़सवार मूर्ति तथा पहले बर्लिन के संग्रहालय में सुरक्षित, मोम से निर्मित, फ्लोरा की आवक्ष प्रतिमा लेग्रोनार्डो के निर्देशन में निर्मित हुई थीं। कुछ अन्य मूर्तियों के संबंध में भी ऐसा ही विचार है, पर निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

ऐसा जान पड़ता है कि लेग्रोनार्डो चित्रकारी, वास्तुकला, शरीर-संरचना, ज्योतिष, प्रकाशिकी, जल-गति-विज्ञान तथा यांत्रिकी पर अलग अलग ग्रंथ लिखना चाहते थे, पर यह काम पूरा नहीं हुआ। इन विषयों पर इनके केवल अपूर्ण लेख या टिप्पणियाँ प्राप्य हैं। लेग्रोनार्डो ने इतने अधिक वैज्ञानिक विषयों पर विचार किया था तथा इनमें से अनेक पर इनकी टिप्पणियाँ इतनी विस्तृत हैं कि उनका वर्णन यहाँ संभव नहीं है। ऊपर लिखे विषयों के सिवाय वनस्पति-

लालबहादुर शास्त्री (देखें पृ० २७६)
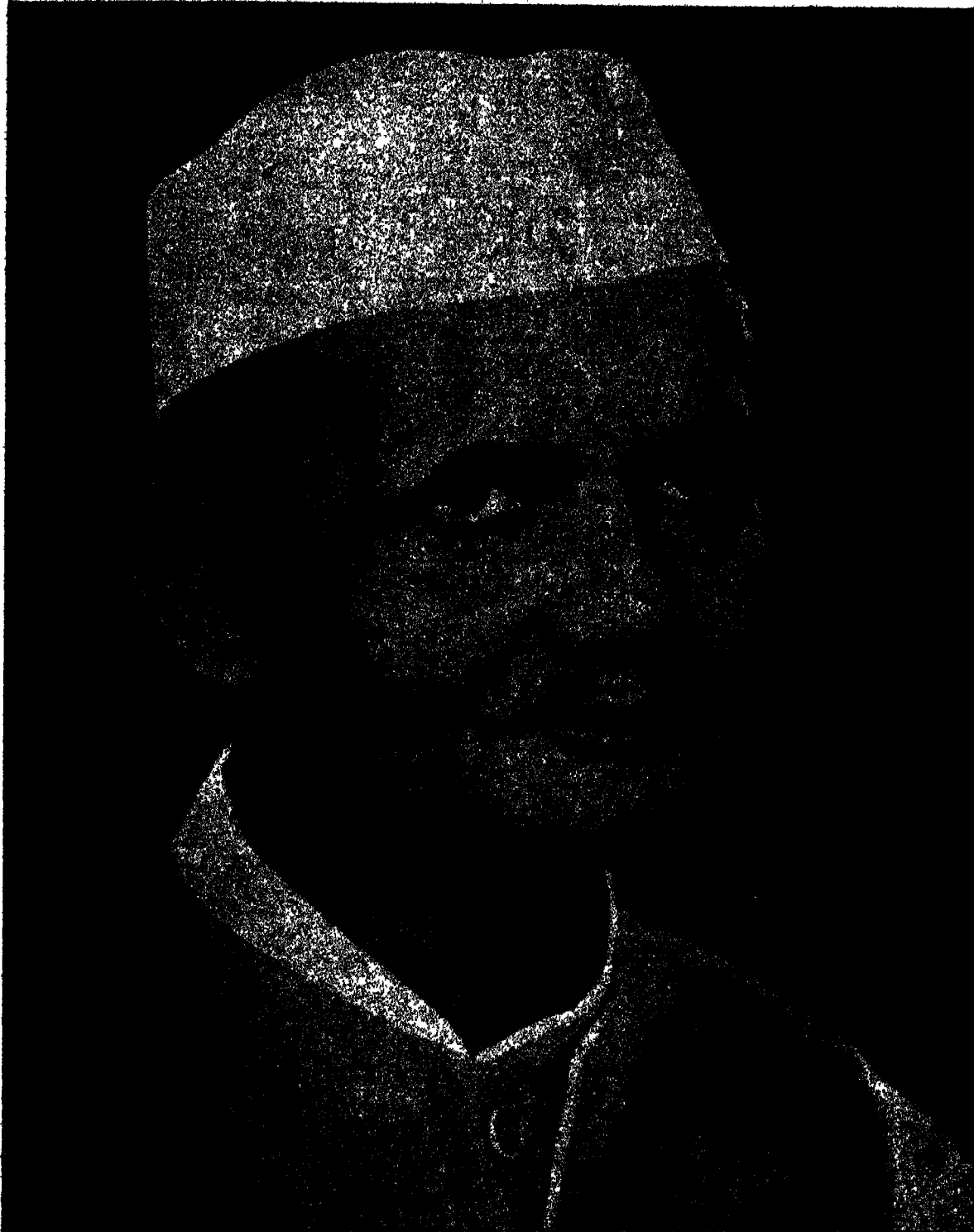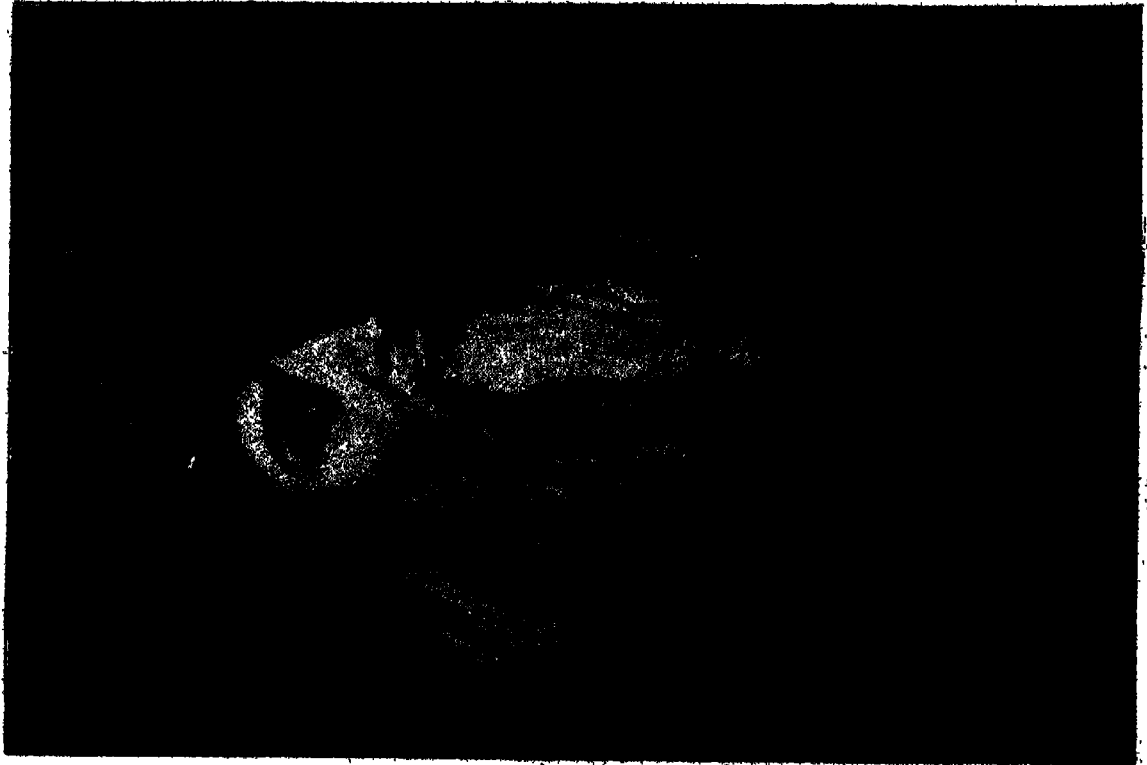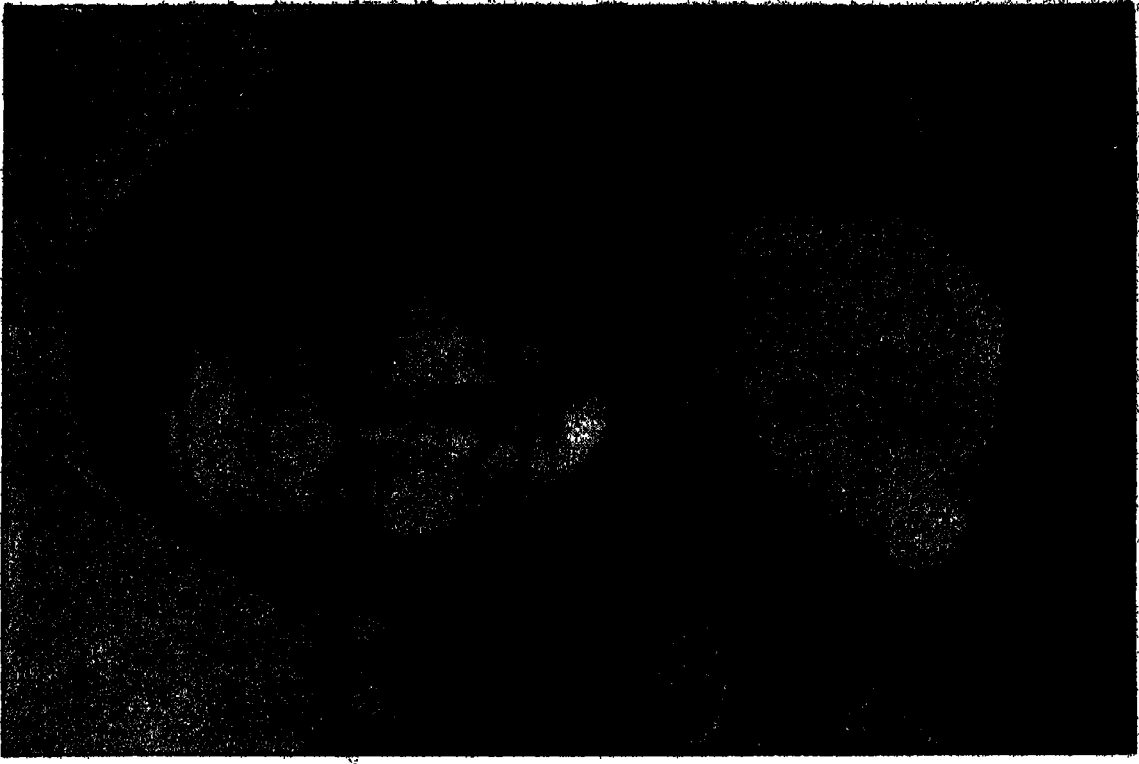
लेओनार्दो दा विंचि (देखें पृष्ठ ३१२)

लेओनार्दो दा विंचि (आत्म चित्रण)

मोना लीसा (Mona Lisa)

विज्ञान, प्राणिविज्ञान, शरीरक्रिया विज्ञान, भौतिकी, भौमिकी, प्राकृतिक भूगोल, जलवायुविज्ञान, वैमानिकी आदि अनेक वैज्ञानिक विषयों पर इन्होंने मौलिक तथा अंतःप्रवेशी विचार प्रकट किए हैं। गणित, यांत्रिकी तथा सैनिक इंजीनियरी के तो ये विद्वान् थे ही, आप दक्ष संगीतज्ञ भी थे।

लेग्रोनार्डो को अपूर्व ईश्वरीय वरदान प्राप्त था। इनकी दृष्टि भी वस्तुओं को असाधारण रीति से ग्रहण करती थी। वे उन बातों को देख और अवधृत कर लेते थे जिनका मंदगति फोटोग्राफी के प्रचलन के पूर्व किसी को ज्ञान नहीं था। प्रक्षिप्त छाया के रंगों के संबंधों में वे जो कुछ लिख गए हैं, उनका १६वीं सदी के पूर्व किसी ने विकास नहीं किया। उनके धार्मिक तथा नैतिक विपर्ययों के संबंध में भी कुछ कहा जाता है, किंतु असाधारण प्रतिभावान मनुष्यों को साधारण मनुष्यों के प्रतिमानों से नापना ठीक नहीं है।

[भ० दा० व०]

लेखराम जन्म ८ चैत्र, संवत् १९१५ (१८५८ ई०) को सैदपुर तहसील चकवाल में हुआ था। उन्होंने आरंभ में उर्दू फारसी पढ़ी। सत्रह वर्ष की उम्र में वे सन् १८७५ ईसवी में पेशावर पुलिस में भरती हुए और उन्नति करके सारजेंट बन गए।

इन दिनों इनपर 'गीता' का बड़ा प्रभाव था। वे ऋषि दयानंद से भी प्रभावित हुए और उन्होंने संवत् १९३७ विक्रमी में पेशावर मे आर्यसमाज की स्थापना की। १७ मई, सन् १८८० को उन्होंने अजमेर में स्वामी जी से भेंट की। शंकासमाधान के परिणामस्वरूप वे उनके अनन्य भक्त बन गए। लेखराम जी ने सन् १८८४ में पुलिस की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। अब उनका सारा समय वैदिक धर्म-प्रचार में लगने लगा। कादियाँ के अहमदियों ने हिंदू धर्म के विरुद्ध कई पुस्तकें लिखी थीं। लेखराम जी ने उनका जोरदार खंडन किया।

स्वामी दयानंद का जीवनचरित् लिखने के उद्देश्य से उनके जीवन संबंधी घटनाएँ इकट्ठी करने के सिलसिले में उन्हें भारत के बहुसंख्यक स्थानों का दौरा करना पड़ा। इस कारण उनका नाम 'आर्य मुसाफिर' पड़ गया। पं० लेखराम हिंदुओं को मुसलमान होने से बचाते थे। एक कट्टर मुसलमान ने ३ मार्च, सन् १८९७ को ईद के दिन, 'शुद्धि' कराने के बहाने, धोखे से लाहौर में उनकी हत्या कर डाली।

[सं० रा०]

लेग्युमिनोसी (Leguminosae) द्विबीजपत्री पौधों का विशाल कुल है, जिसके लगभग ५५० वंशों (genera) तथा १२,००० जातियों का वर्णन मिलता है। इस कुल के पौधे प्रत्येक प्रकार की जलवायु में पाए जाते हैं, परंतु प्रायः शीतोष्ण एवं उष्ण कटिबंधों में इनका बाहुल्य है।

इस कुल के अंतर्गत शाक (herbs), क्षुप (shrubs) तथा विशाल पादप हैं। कभी कभी इस कुल के सदस्य आरोही, जलीय (aquatic), मरुद्भिदी (xerophytic) तथा समोद्भिदी (mesophytic) होते हैं।

इस कुल के पौधों में एक मोटी जड़ होती है, जो आगे चलकर मूलिकाओं (rootlets) एवं उपमूलिकाओं में विभक्त हो जाती है। अनेक स्पीशीज की जड़ों में ग्रंथिकाएँ (nodules) होती हैं, जिनमें हवा के नाइट्रोजन का स्थायीकरण (fixing) करनेवाले जीवाणु विद्यमान रहते हैं। ये जीवाणु नाइट्रोजन का स्थायीकरण कर, खेतों को उर्वर बनाने में पर्याप्त योग देते हैं। अतः ये अधिक आर्थिक महत्व के हैं। इसी वर्ग के पौधे अरहर, मटर, ऐल्फैल्फा (alfalfa) आदि हैं।

लेग्युमिनोसी कुल के पौधों के तने साधारण अथवा शाखायुक्त तथा अधिकतर सीधे, या लिपटे हुए होते हैं। पत्तियाँ साधारणतया अनुपर्णी (stipulate), अथवा संयुक्त (compound), होती हैं। अनुपर्णी पत्तियाँ कभी कभी पत्रमय (leafy), जैसे मटर में, अथवा शूलमय (spiny), जैसे बबूल में, होती हैं। आस्ट्रेलिया के बबूल की पत्तियाँ, जो डंठल सदृश दिखलाई पड़ती हैं, पर्णाभवृंत सदृश (phyllode-like) होती हैं।

पुष्पक्रम (inflorescence) कई फूलों का गुच्छा होता है। फूल या तो एकाकी (solitary) होता है या पुष्पक्रम में लगा रहता है। पुष्पक्रम असीमाक्षी (racemose) अथवा ससीमाक्षी (cymose) होता है। पुष्प प्रायः एकव्याससममित (zygomorphic), द्विलिंगी (bisexual), जायांगाधर (hypogynous), या परिजायांगी (perigynous) होते हैं। बाह्यदलपुंज (calyx) पाँच दलवाला तथा स्वतंत्र, या कभी कभी थोड़ा जुड़ा, रहता है। पुमंग
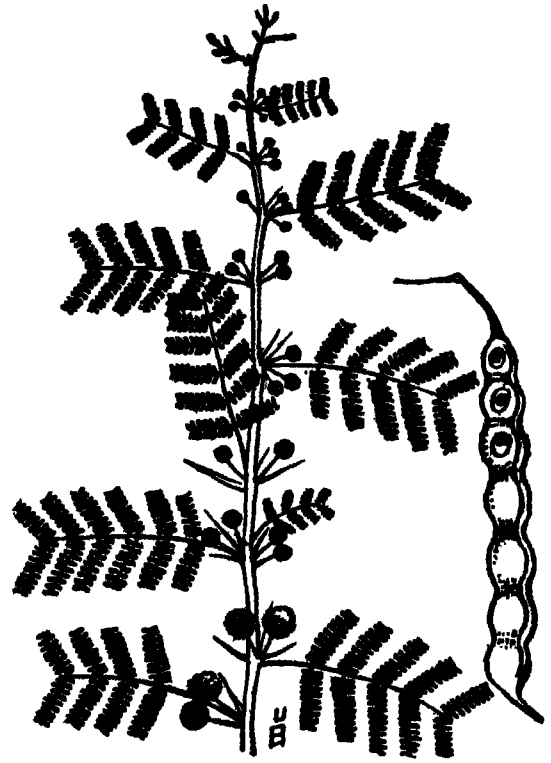
बबूल
(Acacia arabica)

(androecium) में १० या अधिक पुंकेसर (stamens) होते हैं। जायांग (gynaeccum) एक कोष्ठिकीय तथा असमबाहु (inequilateral) होता है। एकलभित्तीय (parietal) बीजांडासन (placenta) अभ्यक्ष (ventral) होता है, पर अपाक्षीय (dorsally) घूम जाता है। बीजांड (ovules) एक, या अनेक होते हैं। फल या फली गूदेदार तथा बीज अएेल्बूमिनी (exalbuminous) होते हैं। यह कुल निम्नलिखित तीन उपकुलों में विभाजित है: (१) पैपिलियोनेटी (Papilionatae), (२) सेज़ैलपिनाइडी (Caesalpinioideae) तथा (३) मिमोसॉइडी (Mimosoideae)।

१ पैपिलियोनेटी उपकुल — इस कुल के पौधे शाक, क्षुप, या वृक्ष होते हैं। जड़ों में ग्रंथिकाएँ होती हैं, जिनमें हवा के नाइट्रोजन का स्थायीकरण करनेवाले जीवाणु रहते हैं। तने नरम, या कठोर, सीधे या लता की भाँति होते हैं। पत्तियाँ एकांतर (alternate), साधारण, संयुक्त, या अनुपर्णी होती हैं। पुष्प पुष्पक्रम में लगते हैं और वे असीमाक्षी अथवा एकाकी, उभयलिंगी, पूर्ण, एकव्याससममित तथा परिजायांगी होते हैं। बाह्यदल में जुड़े हुए पाँच दल होते हैं। विषम बाह्यदल बाहर की ओर रहता है। दलपुंज (corolla) में पाँच स्वतंत्र दल रहते हैं, जिसमें विषमदल सबसे बड़ा होता है, जिसे ध्वज (vexillum) कहते हैं। दो दल पार्श्व एली (alae), या पक्ष (wings) होते हैं, और दो दल नीचे जुड़े रहते हैं। ये नाव के आकार के होते हैं जिसे कूटक (Carina) कहते हैं। इसी नाव के आकार वाले कूटक में जनन अंग विद्यमान रहते है। पुंकेसर दस होते हैं, जिनमें नौ जुड़े रहते हैं तथा एक अलग रहता है। एककोष्ठकी (unilocular) अंडाशय में कई बीजांड रहते हैं। इसमें कीड़ों द्वारा निषेचन होता है। कीड़े चमकीले एवं रंगीन दलों की ओर आकर्षित होते हैं। इस कुल के प्रमुख पौधे हैं: मीठा मटर (sweet pea, or Lathyrus odoratus), घुंघची (Abrus precatorius) जवास, या ऐल्हेजाइ केमीलोरम (Alhagi camelorum), मूँगफली, बोड़ा, अरहर, चना, सनई, सेम, शीशम, मटर आदि।

२. सेज़ैलपिनाइडी उपकुल — इस उपकुल के पौधे प्राय: विशाल वृक्ष होते हैं, पर कभी कभी शाक तथा क्षुप भी होते हैं। जड़ विशाल तथा मूलिकाओं एवं उपमूलिकाओं से युक्त होती है। तना सीधा, कड़ा, या आरोही होता है। पत्तियाँ संयुक्त पिच्छाकार (pinnate), या द्विपिच्छाकार, तथा कभी कभी साधारण अनुपर्णी होती हैं। अनुपर्ण सूक्ष्म होता है। पुष्पक्रम असीमाक्ष होता है। पुष्प एकव्याससममित, अनियमित, उभयलिंगी तथा परिजायांगी होता है। बाह्यदलपुंज पाँच दलों का होता है, जो कभी कभी रंगीन होते हैं। ये दल स्वतंत्र, या जुड़े हुए भी रहते हैं। दलपुंज पाँच दल का तथा रंगीन होता है। पुंकेसर दस, स्वतंत्र या जुड़े हुए तथा भिन्न भिन्न लंबाई के होते हैं। कभी कभी वंध्यपुंकेसर (staminode) होते हैं। जायांग एक अंडप का होता है। अंडाशय एककोष्ठकी तथा ऊर्ध्व अंडाशय (superior ovary) होता है। वर्तिकाग्र (stigma) साधारण तथा बीजांडन्यास (placentation) सीमांत (marginal) होता है। फल फलीदार होता है। इस उपकुल के मुख्य पौधे हैं: अमलतास (Cassisa fistula), कचनार (Bauhenia variegata), कैसिया टोरा (Cassia tora), गोल्ड मोहर (Poinciana regia), अशोक (Saraca indica), इमली (Tamarindus indicus) आदि।

३. मिमोसॉइडी उपकुल — इस उपकुल के पौधे प्राय: वृक्ष, कभी कभी लता, या बहुवर्षी (perennial) शाक होते हैं। जड़ लंबी, विस्तृत एवं उपमूलिकाओं से युक्त होती है। तना मोटा एवं कठोर होता है। पत्तियाँ एकांतर पिच्छाकार, या द्विपिच्छाकार, संयुक्त तथा अनुपर्णी होती हैं। अनुपर्ण कंटक में परिवर्तित हो जाते हैं। डंठल वृत्तफलक में परिवर्तित रहता है। पुष्पक्रम असीमाक्षी, या शूकी होता है। पुष्प नियमित, अरतः सममित, उभयलिंगी, पूर्ण तथा जायांगाधर होते हैं। बाह्यदल एवं अंतर्दल पाँच होते हैं। पुंकेसर ग्यारह, या दस होते हैं। इस उपकुल के प्रमुख पौधे हैं: बबूल (Acacia arabica), सिरस (Albizzia labbek), लाजवंती (Mimosa pudica), जंगल जलेबी, या पिथीकोलोबियम डल्से (Pithecolobium dulce) आदि।

आर्थिक महत्व — लेग्युमिनोसी कुल के पौधे बड़े आर्थिक महत्व के हैं। अनेक पौधों के बीज आहार में काम आते हैं, जैसे अरहर, मटर, चना, उड़द, मूंग, मसूर आदि की दालें बनती हैं। कुछ बड़े वृक्षों, जैसे शीशम, बबूल, इमली आदि से इमारती लकड़ी मिलती है। मूंगफली से खाद्य तेल प्राप्त होता है। कुछ पौधों के फल और पत्तियाँ साग सब्जी के रूप में प्रयुक्त होती हैं, तो कुछ पौधे चारे के काम आते हैं। कुछ पौधों, जैसे सनई, से रेशे प्राप्त होते हैं, जिनसे रस्सियाँ बनती हैं। आकेशा कैटेचू नामक वृक्ष से कत्था प्राप्त होता है। कुछ पौधे हरी खाद में काम आते हैं कुछ पौधे ओषधियों के रूप में व्यवहृत होते हैं, और कुछ पौधे वायुमंडल के नाइट्रोजन का अपनी जड़ की ग्रंथिकाओं में रहनेवाले जीवाणुओं द्वारा स्थायीकरण कर खेत की उर्वरा शक्ति को बढ़ाते हैं। [रा० र० अं०]

लेग्रोस अलफांजो (Legros Alphonso) ऐंग्लो-फ्रांसीसी चित्रकार। जन्म ८ मई, १८३७ को डिजोन (Dijon) में हुआ। इसके चित्रों का प्रथम प्रदर्शन १८५७ में हुआ लेकिन इसे प्रोत्साहन नहीं मिला। परिणाम स्वरूप वह लंदन चला आया। १८७० मे युनिवर्सिटी कालेज में प्राध्यापक बना और १७ वर्ष तक रहा। इसके अधिकांश चित्रों का विषय फ्रांसीसी ग्राम्य जीवन है। इसकी कतिपय प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—तीर्थयात्री, समुद्र का आशीर्वाद, बपतिस्मा, मृत ईसा तथा उपासिका। इसका शरीरांत लंदन में ८ दिसंबर, १९११ को हुआ। [गु० त्रि०]

लेटिमर ह्यू (१४९०-१५५५) इंग्लैंड का प्रमुख धर्मसुधारक। लीस्टरशायर के थर्कस्टिन नगर में १४९० में लेटिमर का जन्म एक साधारण किसान के घर हुआ। उसका बाल्यकाल गरीबी में बीता। उसने कैंब्रिज विश्वविद्यालय के क्लेयर कालेज से १५१२ में बी० ए० तथा १५१४ में एम० ए० की उपाधियाँ प्राप्त कीं। विश्वविद्यालय के अध्ययनकाल में ही उसने धर्मसेवा के उद्देश्य से दीक्षा ले ली थी। प्रचलित ईसाई धर्मव्यवस्था और शास्त्र के अध्ययन से उसके मन

में शंकाएँ उत्पन्न कीं। उसने लूथर का प्रोटेस्टैंट मत ग्रहण किया और अत्यंत उत्साह के साथ अपने देश में धर्मसुधार के कार्य में जुट गया। उसने प्रचलित धार्मिक अंधविश्वासों और बुराइयों का खंडन किया। १५२६ के दिसंबर मास के उसके दो उपदेशों से कैंब्रिज के धर्माचार्य बहुत क्रुद्ध हुए। वे उसे दंड दिलाना चाहते थे पर देश के राजा हेनरी अष्टम ने उनके कोप से उसकी रक्षा की। राजा ने लैंट के धार्मिक पर्व पर उसके उपदेश सुने और शीघ्र ही उसे अपने निजी गिरजाघर का पादरी नियुक्त कर दिया। दरबारी जीवन में लेटिमर का मन नहीं लगा। १५३१ में राजा ने उसको विल्टशायर के वेस्टकिंगटन का रैक्टर नियुक्त कर दिया।

लेटिमर कुछ काल तक काफी अस्वस्थ रहा पर अपने प्रिय कार्य में उसने कभी शिथिलता न आने दी। अपने एक उपदेश के स्पष्टीकरण के लिये उसे लंदन के धर्माधिकारियों के समक्ष बुलाया गया। कन्वोकेशन* (धर्मसभा) में भी उसके मामले की सुनवाई हुई। धर्मसभा ने उसको बहिष्कृत कर कारागार में भिजवा दिया। दो के अतिरिक्त धर्मसंबंधी अन्य बातों को मान लेने पर राजा के हस्तक्षेप से उसकी मुक्ति हुई।

१५३३ में क्रैनमर के आर्कबिशप (प्रधान धर्माधिकारी) नियुक्त होने के बाद लेटिमर का कार्य सुगम हो गया। धर्मसुधार के संबंध में दोनों के समान विचार थे, १५३४ में हेनरी ने पोप से संबंध विच्छेद कर दिया। इंग्लैंड में पोप के अधिकारों और कर्तव्यों की समाप्ति के कानूनों की रचना में लेटिमर का प्रमुख हाथ था। बड़े भाई की विधवा कैथरीन के साथ विवाह को अवैध बताकर भी उसने राजा की सहायता की थी। १५३५ में हेनरी ने उसको वोर्स्टर के बिशप के उच्च पद पर नियुक्त किया। प्रोटेस्टैंट धर्म के सिद्धांतों, विश्वासों और पूजापद्धति को इंग्लैंड में प्रतिष्ठित कराने में लेटिमर के उपदेश बहुत सहायक हुए। पर जब १५३६ में राजा ने कैथलिक धर्म की रक्षा के लिये 'सिक्स आर्टिकिल्स' का कानून बनवा दिया तो लेटिमर ने बिशप का पद त्याग दिया। अब स्वतंत्रतापूर्वक प्रचार करना लेटिमर के लिये कठिन हो गया।

१५४० में प्रोटेस्टैंट धर्म के उत्कट समर्थक टामस क्रामवेल के प्राणदंड के बाद वह अधिकतर मौन रहा। धर्मप्रचारक एडवर्ड क्रोम से संपर्क के कारण १५४६ में ग्रीनिच की कौंसिल ने उसको कारागार में भेज दिया। उसके अभियोग की सुनवाई से पहले ही हेनरी की मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी एडवर्ड षष्ठ के राज्यारोहण के अवसर पर लेटिमर की कारागार से मुक्ति हुई। एडवर्ड के राज्यकाल में प्रोटेस्टैंट सिद्धांतों पर आधारित धर्मव्यवस्था इंग्लैंड का राजधर्म बनी।

जनवरी, १५४८ में दूने उत्साह के साथ उसने धर्मप्रचार का कार्य फिर आरंभ कर दिया। लंदन नगर और अन्य स्थानों मे उसके उपदेशों को सुनने के लिये दूर दूर से लोग आने लगे; किंतु १५५३ में एडवर्ड की मृत्यु के बाद उसकी बहन मेरी के देश का शासक होने से परिस्थितियाँ बदल गईं। मेरी कट्टर कैथलिक थी। उसने कैथलिक धर्म को फिर देश का राजधर्म घोषित किया और विरोधियों के लिये कठोर दंड की व्यवस्था की। लेटिमर को फिर कारागार में भेज दिया गया। वेस्टमिंस्टर की कौंसिल में उसकी सुनवाई हुई। कारागार के कठोर जीवन का उसके स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ा पर उसने हार नहीं मानी। उसको जीवित ही अग्निप्रवेश का दंड दिया गया। १६ अक्टूबर, १५५५ के दिन आक्सफर्ड में उसने प्रसन्नचित्त अपने आपको आग में समर्पित कर दिया। उस अवसर पर उसमे समान दंड के भागी प्रोटेस्टैंट धर्माचार्य रिडले से कहा था, 'ईश्वर की कृपा से हम आज इंग्लैंड में ऐसी ज्योति जलाएँगे जो कभी भी बुझाई न जा सकेगी।' उसकी यह भविष्यवाणी सत्य हुई। इंग्लैंड ने प्रोटेस्टैंट सिद्धांतों पर आधारित धर्मव्यवस्था को ही अपनाया और वही आज भी उस देश का राजधर्म है। लेटिमर के उपदेश बहुत लोकप्रिय हुए। १८४४-४५ में धर्माचार्य कोरी ने उनका संपादन कर चार जिल्दों में लंदन से प्रकाशित कराया। तब से कई बार उनका प्रकाशन हो चुका है। [त्रि० पं०]

लेनपूल, स्टेनली एडवर्ड (१८५४–१९३१) पुरातत्ववेत्ता तथा इतिहासकार। लंदन में १८ दिसंबर, १८५४ को जन्म हुआ। एडवर्ड स्टेनली लेनपूल अरबी के विद्वान् थे। बाल्यकाल में ही पिता और माता दोनों का निधन हो गया था। प्राच्य विद्या में प्रारंभ से ही रुचि थी। शिक्षा कौर्पास क्रिस्टी कॉलेज, ऑक्सफोर्ड और डबलिन विश्वविद्यालय मे हुई। ब्रिटिश म्यूजियम के मुद्रा विभाग में प्रथम नियुक्ति (१८७४–९२) हुई। "कैटेलोग ऑव द ओरिएंटल ऐंड इंडियन कॉमन्स इन दी ब्रिटिश म्यूजियम" का प्रकाशन १४ खंडों मे किया।

पुरातत्व कार्य के संबंध में वह मिस्र (१८८३) और रूस (१८८६) गया। मिस्री सरकार के नियोजन मे पुरातत्वान्वेषण का कार्य १८९७ मे संपन्न किया। वहाँ से इंगलैंड लौटने पर वह डबलिन विश्वविद्यालय में अरबी का प्रधानाचार्य नियुक्त हुआ, और १९०४ तक उस पद पर आसीन रहा। अवकाश ग्रहण करने के बाद वह लंदन में रहने लगा। वहाँ २९ दिसंबर १९३१ को उसका निधन हो गया।

लेनपूल के भारत संबंधी प्रकाशनों में निम्नलिखित उल्लेखनीय, हैं—मेडीवल इंडिया (१९०२, ६वाँ संस्करण, १९१५; हिंदी रूपातर, मध्य कालीन भारत, एस० चांद एंड कं०); एसेज इन ओरिएंटल न्यूमिस्मेटिक्स (३ भाग); मेडीवल इंडिया फ्रोम कनटेंपररी सोर्सेज (१९१६); ए शार्ट हिस्टरी ऑव इंडिया इन दी मिडिल एजेज (१९१७); औरंगजेब (१८९२); बाबर (१८९९); तथा हिस्टरी ऑव द मुग़ल एंपरर्स ऑव हिंदुस्तान (१८९२)। [स० चं०]

लेनबाख फ्रांज वान (Lenbach Franz Von) जर्मन चित्रकार। इसका जन्म १३ दिसंबर, १८३६ को शोबेन हाउजेन (बवेरिया) में हुआ। आग्सबर्ग तथा म्यूनिख की चित्रदीर्घाओं के निरीक्षण के पश्चात् इसकी रुचि कला की ओर हुई। तत्पश्चात् कुछ काल तक ग्रेफ़्ल की चित्रशाला में कार्य करता रहा। पिलोटी की शिष्यता के पश्चात् 'गड़ेरिये का लड़का' शीर्षक चित्र बनाया। लेनबाख ने जर्मनी के लिये यथार्थवादी आंदोलन की भूमिका प्रस्तुत की। इसकी विशेष ख्याति आकृति चित्रकार के रूप में है तथा उसके प्रसिद्ध आकृतिचित्र हैं—'बिस्मार्क' तथा 'विलियम प्रथम'। ६ मई, १९०४ में इसकी मृत्यु म्यूनिख में हुई। (गु० त्रि०)

लेनिन, व्लादिमिर इलीइच (१८७०–१९२४) रूस का प्रसिद्ध क्रांतिकारी तथा राजनेता जिसने रूस में समाजवादी राज की स्थापना की। उसका जन्म सिंबिर्स्क नामक स्थान में हुआ था और उसका वास्तविक नाम 'उल्यानोव' था। उसका पिता विद्यालयों का निरीक्षक था जिसका झुकाव लोकतंत्रात्मक विचारों की ओर था। उसकी माता, जो एक चिकित्सक की पुत्री थी, सुशिक्षित महिला थी। सन् १८८६ में पिता की मृत्यु हो जाने पर कई पुत्र पुत्रियों वाले बड़े परिवार का सारा बोझ लेनिन की माता पर पड़ा। ये भाई बहन प्रारंभ से ही क्रांतिवाद के अनुयायी बनते गए। बड़े भाई अलेग्जांदर को ज़ार की हत्या का षड्यंत्र रचने में शरीक होने के आरोप में फाँसी दे दी गई।

उच्च संमान के साथ स्नातक बन चुकने पर लेनिन ने १८८७ में कज़ान विश्वविद्यालय के विधि विभाग में प्रवेश किया किंतु शीघ्र ही विद्यार्थियों के क्रांतिकारी प्रदर्शन में हिस्सा लेने के कारण विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिया गया। सन् १८८९ में वह समारा चला गया जहाँ उसने स्थानीय मार्क्सवादियों की एक मंडली का संघटन किया। १८९१ में सेंट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय से विधि परीक्षा में उपाधि प्राप्त कर लेनिन ने समारा में ही वकालत करना आरंभ कर दिया। १८९३ में उसने सेंट पीटर्सबर्ग को अपना निवासस्थान बनाया। शीघ्र ही वह वहाँ के मार्क्सवादियों का बहुमान्य नेता बन गया। यहीं सुश्री क्रुप्सकाया से, जो श्रमिकों में क्रांति का प्रचार करने में संलग्न थी, उसका परिचय हुआ। इसके बाद लेनिन को क्रांतिकारी संघर्ष में जीवन पर्यंत उसका घनिष्ठ सहयोग प्राप्त होता रहा।

सन् १८९५ में लेनिन बंदीगृह में डाल दिया गया और १८९७ में तीन वर्ष के लिये पूर्वी साइबेरिया के एक स्थान को निर्वासित कर दिया गया। कुछ समय बाद क्रुप्सकाया को भी निर्वासित होकर वहाँ जाना पड़ा और अब लेनिन से उसका विवाह हो गया। निर्वासन में रहते समय लेनिन ने तीस पुस्तकें लिखीं, जिनमें से एक थी "रूस में पूँजीवाद का विकास"। इसमें मार्क्सवादी सिद्धांतों के आधार पर रूस की आर्थिक उन्नति के विश्लेषण का प्रयत्न किया गया। यहीं उसने अपने मन में रूस के निर्धन श्रमिकों या सर्वहारा वर्ग का एक दल स्थापित करने की योजना बनाई।

सन् १९०० में निर्वासन से वापस आने पर एक समाचारपत्र स्थापित करने के उद्देश्य से उसने कई नगरों की यात्रा की। ग्रीष्म ऋतु में वह रूस के बाहर चला गया और वहीं से उसने 'इस्क्रा' (चिनगारी) नामक समाचारपत्र का संपादन आरंभ किया। इसमें उसके साथ "श्रमिकों की मुक्ति" के लिये प्रयत्न करनेवाले वे रूसी मार्क्सवादी भी थे जिन्हें ज़ारशाही के अत्याचारों से उत्पीड़ित होकर देश के बाहर रहना पड़ रहा था। १९०२ में उसने "हमें क्या करना है" शीर्षक पुस्तक तैयार की जिसमें इस बात पर जोर दिया कि क्रांति का नेतृत्व ऐसे अनुशासित दल के हाथ में होना चाहिए जिसका मुख्य कामकाज ही क्रांति के लिये उद्योग करना हो। सन् १९०३ में रूसी श्रमिकों के समाजवादी लोकतंत्र दल का दूसरा संमेलन हुआ। इसमें लेनिन तथा उसके समर्थकों को अवसरवादी तत्वों से कड़ा लोहा लेना पड़ा। अंत में क्रांतिकारी योजना का प्रस्ताव बहुमत से मंजूर हो गया और रूसी समाजवादी लोकतंत्र दल दो शाखाओं में विभक्त हो गया—क्रांति का वास्तविक समर्थक बोलशेविक समूह और अवसरवादी मेनशेविकों का गिरोह।

सन् १९०५–०७ में उसने रूस की प्रथम क्रांति के समय जनसाधारण को उभाड़ने और लक्ष्य की ओर अग्रसर करने में बोलशेविकों के कार्य का निदेशन किया। अवसर मिलते ही नवंबर, १९०५ में वह रूस लौट आया। सशस्त्र विद्रोह की तैयारी कराने तथा केंद्रीय समिति की गतिविधि का संचालन करने में उसने पूरी शक्ति से हाथ बँटाया और कारखानों तथा मिलों में काम करनेवाले श्रमिकों की सभाओं में अनेक बार भाषण किया।

प्रथम रूसी क्रांति के विफल हो जाने पर लेनिन को फिर देश से बाहर चले जाना पड़ा। जनवरी, १९१२ में सर्व रूसी दल का संमेलन प्राग में हुआ। लेनिन के निदेश से संमेलन ने क्रांतिकारी समाजवादी लोकतंत्र दल से मेनशेविकों को निकाल बाहर किया। इसके बाद लेनिन ने क्रैको नामक स्थान में रहकर दल के पत्र 'प्रावदा' का संचालन करने, उसके लिये लेख लिखने और चौथे राज्य ड्यूमा के बोलशेविक दल का निदेशन करने में अपने आपको लगाया।

सन् १९१३–१४ में लेनिन ने दो पुस्तकें लिखीं—'राष्ट्रीयता के प्रश्न पर समीक्षात्मक 'विचार' तथा (राष्ट्रों का) आत्मनिर्णय करने का अधिकार।' पहली में उसने बूर्ज्वा लोगों के राष्ट्रवाद की तीव्र आलोचना की और श्रमिकों की अंतरराष्ट्रीयता के सिद्धांतों का समर्थन किया। दूसरी में उसने यह माँग की कि अपने भविष्य का निर्णय करने का राष्ट्रों का अधिकार मान लिया जाय। उसने इस बात पर बल दिया कि गुलामी से छुटकारा पाने का प्रयत्न करनेवाले देशों की सहायता की जाय।

प्रथम महासमर के दौरान लेनिन के नेतृत्व में रूसी साम्यवादियों ने सर्वहारा वर्ग की अंतरराष्ट्रीयता का, 'साम्राज्यवादी' युद्ध के विरोध का, झंडा ऊपर उठाया। युद्धकाल में उसने मार्क्सवाद की दार्शनिक विचारधारा को और आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। उसने अपनी पुस्तक 'साम्राज्यवाद' (१९१६) में साम्राज्यवाद का विश्लेषण करते हुए बतलाया कि वह पूँजीवाद के विकास की चरम और आखिरी मंजिल है। उसने उन परिस्थितियों पर भी प्रकाश डाला जो साम्राज्यवाद के विनाश को अनिवार्य बना देती हैं। उसने यह स्पष्ट कर दिया कि साम्राज्यवाद के युग में पूँजीवाद के आर्थिक एवं राजनीतिक विकास की गति सब देशों में एक सी नहीं होती। इसी आधार पर उसने यह निष्पत्ति निकाली कि शुरू शुरू में समाजवाद की विजय पृथक् रूप से केवल दो तीन, या मात्र एक ही, पूँजीवादी देश में संभव है। इसका प्रतिपादन उसने अपनी दो पुस्तकों में किया—'दि यूनाइटेड स्टेट्स ऑव यूरोप स्लोगन' (१९१५) तथा 'दि वार प्रोग्राम ऑव दि पोलिटिकल रिवाल्यूशन' (१९१६)।

महासमर के समय लेनिन ने स्विटसरलैंड में अपना निवास बनाया। कठिनाइयों के बावजूद अपने दल के लोगों का संघटन और एकसूत्रीकरण जारी रखा, रूस में स्थित दल की संस्थाओं से पुनः संपर्क स्थापित कर लिया तथा और भी अधिक उत्साह एवं साहस के

साथ उनके कार्य का निदेशन किया। फरवरी-मार्च, १९१७ में रूस में क्रांति का प्रारंभ होने पर वह रूस लौट आया। उसने क्रांति की व्यापक तैयारियों का संचालन किया और श्रमिकों तथा सैनिकों की बहुसंख्यक सभाओं में भाषण कर उनकी राजनीतिक चेतना बढ़ाने और संतुष्ट करने का प्रयत्न किया।

जुलाई, १९१७ में क्रांतिविरोधियों के हाथ में सत्ता चली जाने पर बोलशेविक दल ने अपने नेता के अज्ञातवास की व्यवस्था की। इसी समय उसने 'दि स्टेट ऐंड रिवाल्यूशन' (राज तथा क्रांति) नामक पुस्तक लिखी और गुप्त रूप से दल के संघटन और क्रांति की तैयारियों के निदेशन का कार्य जारी रखा। अक्टूबर में विरोधियों की कामचलाऊ सरकार का तख्ता उलट दिया गया और ७ नवंबर, १९१७ को लेनिन की अध्यक्षता में सोवियत सरकार की स्थापना कर दी गई। प्रारंभ से ही सोवियत शासन ने शांतिस्थापना पर बल देना शुरू किया। जर्मनी के साथ उसने संधि कर ली; जमींदारों से भूमि छीनकर सारी भूसंपत्ति पर राष्ट्र का स्वामित्व स्थापित कर दिया गया, व्यवसायों तथा कारखानों पर श्रमिकों का नियंत्रण हो गया और बैंकों तथा परिवहन साधनों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। श्रमिकों तथा किसानों को पूँजीपतियों और जमींदारों से छुटकारा मिला और समस्त देश के निवासियों में पूर्ण समता स्थापित कर दी गई। नवस्थापित सोवियत प्रजातंत्र की रक्षा के लिये लाल सेना का निर्माण किया गया। लेनिन ने अब मजदूरों और किसानों के संसार के इस प्रथम राज्य के निर्माण का कार्य अपने हाथ में लिया। उसने 'दि इमीडिएट टास्क्स ऑव दि सोवियत गवर्नमेंट' तथा 'दि प्रोलेटेरियन रिवाल्यूशन ऐंड दि रेनीगेड कौत्स्की' नामक पुस्तकें लिखीं (१९१८)। लेनिन ने बतलाया कि मजदूरों का अधिनायकतंत्र वास्तव में अधिकांश जनता के लिये सच्चा लोकतंत्र है। उसका मुख्य काम दबाव या जोर जबरदस्ती नहीं वरन् संघटनात्मक तथा शिक्षण संबंधी कार्य है।

बाहरी देशों के सैनिक हस्तक्षेपों तथा गृहकलह के तीन वर्षों १९१८–२० में लेनिन ने विदेशी आक्रमणकारियों तथा प्रतिक्रांतिकारियों से दृढ़तापूर्वक लोहा लेने के लिये सोवियत जनता का मार्गदर्शन किया। इस व्यापक अशांति और गृहयुद्ध के समय भी लेनिन ने युद्ध काल से हुई देश की बर्बादी को दूर कर स्थिति सुधारने, विद्युतीकरण का विकास करने, परिवहन के साधनों के विस्तार और छोटी छोटी जोतों को मिलाकर सहयोग समितियों के आधार पर बड़े फार्म स्थापित करने की योजनाएँ आरंभ कर दीं। उसने शासनिक यंत्र का आकार घटाने, उसमें सुधार करने तथा खर्च में कमी करने पर बल दिया। उसने शिक्षित और मनीषी वर्ग से किसानों मजदूरों के साथ सहयोग करते हुए नए समाज के निर्माणकार्य में सक्रिय भाग लेने का आग्रह लिया।

जहाँ तक सोवियत शासन की विदेश नीति का प्रश्न है, लेनिन ने अविकल रूप से शांति बनाए रखने का निरंतर प्रयत्न किया। उसने कहा कि 'हमारी समस्त नीति और प्रचार का लक्ष्य यह होना चाहिए कि चाहे कुछ भी हो जाय, हमारे देशवासियों को युद्ध की आग में न झोंका जाय। लड़ाई का खात्मा कर देने की ओर ही हमें अग्रसर होना चाहिए।' उसने साम्यवाद के शत्रुओं से देश का बचाव करने के लिये प्रतिरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने पर बल दिया और सोवियत नागरिकों से आग्रह किया कि वे 'वास्तविक' लोकतंत्र तथा समाजवाद के स्थापनार्थ विश्व के अन्य सभी देशों में रहनेवाले श्रमिकों के साथ अंतरराष्ट्रीय बंधुत्व की भावना बढ़ाने की ओर अधिक ध्यान दें।

गृहयुद्ध के दिनों में सोवियत शासन का अंत करने के उद्देश्य से क्रांतिविरोधियों ने लेनिन की हत्या के लिये एक षड्यंत्र का आयोजन किया। परिणामस्वरूप ३० अगस्त, १९१८ को उसपर हमला किया गया जिससे उसे काफी चोट लगी और वह बीमार रहने लगा। वर्षों के कठोर परिश्रम का प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर पड़ा और २१ जनवरी, १९२४ को उसका निधन हो गया।

लेनिनग्रैड स्थिति : ५९° ५७' उ० अ० तथा ३०° २०' पू० दे०। यह नगर रूस में स्थित है। यह नीवा नदी के मुहाने पर फिनलैंड की खाड़ी के शीर्ष पर बसा हुआ बाल्टिक सागर का प्रसिद्ध बंदरगाह है। इसका पुराना नाम पेटरोग्रैड है। पहले यह रूस की राजधानी था, पर अब यह बॉल्टिक सागर पर दृष्टि रखने के लिये रूस की आँख का काम दे रहा है। लेनिनग्रैड पश्चिमी यूरोप को जाने के लिये रूस का प्राकृतिक द्वार है। यहाँ साइबेरिया जैसी जलवायु पाई जाती है। बंदरगाह लगभग पाँच महीने तक बर्फ से जमा रहता है। जलयानों के निर्माण के लिये यह एक प्रसिद्ध स्थान है। विशेषकर यहाँ पर हिमत्रोटक पोत बनाए जाते हैं। यहाँ पर कागज, सेलुलोस तथा ऐलुमीनियम के उद्योग भी हैं। नगर के समीप ही वन तथा उपजाऊ प्रदेश होने के कारण यहाँ से गेहूँ, अलसी, लकड़ी तथा समूर का निर्यात होता है। उपनगरों सहित यहाँ की जनसंख्या ३४,९८,००० (१९६२) है। [रा० स० ख०]

लेपिडॉप्टेरा (Lepidoptera), या शल्किपक्षा, कीटों का गण है, जिसमें तितलियाँ एवं शलभ (moths) संमिलित हैं। कीटों के वर्गीकरण के लिये लेपिडॉप्टेरा शब्द का उपयोग सर्वप्रथम लिनिअस (Linnaeus) ने किया। यह शब्द लैटिन के लेपिडॉस (lepidos) तथा टिरॉन (pteron) के मिलने से बना है। इस गण के कीटों की पहचान बड़ी सरल है। तितलियों ने सुंदर होने के कारण मनुष्य का ध्यान सदा से अपनी ओर आकर्षित किया है। सुंदरता के कारण ही मनुष्य तितलियों को अपने संग्रहालय मे रखने के लिये लालायित रहता है। इनके पक्ष तथा लगभग संपूर्ण शरीर शल्कों से ढंके रहते है, अतः इन्हें शल्किपक्षा भी कहते हैं। जब हम इन कीटों को पकड़ते हैं, तो हमारी अँगुलियों पर कुछ धूल सी चपक जाती है। यदि इस धूल को सूक्ष्मदर्शी से देखा जाए, तो ज्ञात होगा कि यह धूल नहीं अपितु अनेक शल्क हैं। इन शल्कों का एक निश्चित आकार होता है। लेपिडॉप्टेरा की जिह्वा घड़ी की कमानी के आकार की होती है, जिससे ये अपना भोजन चूसते हैं। इनमें पूर्ण रूपांतरण होता है। इनके डिंभ इल्ली (caterpillar) कहलाते हैं। प्यूपा रेशम से बने कोए में या मिट्टी की कोष्ठिका में रहता है। तितलियों और शलभों की लगभग १,२०,००० जातियाँ अभी तक ज्ञात हो चुकी हैं। इनमें से लगभग २०,००० जातियाँ भारत में पाई जाती हैं। यह गण मनुष्य को सबसे अधिक हानि पहुँचाता है। सदस्यों की अधिकतम संख्या की दृष्टि से इस गण का स्थान दूसरा है।

शरीर — इस गण के प्राणी का सिर छोटा, लगभग गोलाकर, बड़े संयुक्त नेत्र तथा एक जोड़ी सरल नेत्र होते हैं। शृंगिकाएँ (antenna) अनेक खंडोंवाली होती हैं। अधिकतर शलभों की शृंगिकाओं पर महीन महीन बाल होते हैं। इस प्रकार की शृंगिकाएँ नरों में अधिकतर पाई जाती हैं।

तितलियों की शृंगिकाओं का सिरा डंडे की मूठ के समान मोटा होता है। इनके मुख भाग ऐसे बने होते हैं जिनसे केवल द्रव पदार्थ ही चूसा जा सकता है। मुख भाग इस प्रकार हैं : मैंडिबल (mandible), या तो अति दुर्बल या अनुपस्थित होते हैं। दोनों मैक्सिला (maxilla) की दोनों गलियाएँ (galeae) बहुत लंबी तथा इस प्रकार आपस में गुथी होती हैं कि एक चूसनेवाली नली सी बन जाती है। इस नली द्वारा ही कीट अपना भोजन चूसता है। इस प्रकार के मुख भाग साइफनो (siphoning) मुख भाग कहलाते हैं। जिस समय यह नली चूसने का कार्य नहीं करती, उस समय घड़ी की कमानी का आकार धारण कर लेती है, किंतु फूलों से मकरंद चूसते समय यह नली पूर्ण रूप से सीधी हो जाती है। जंभिका स्पर्शक (maxillary palps) प्राय: दुर्बल होते हैं, या इनका पूर्ण अभाव होता है। लेबियम (labium) भी प्राय: छोटा ही रह जाता है, किंतु इसके
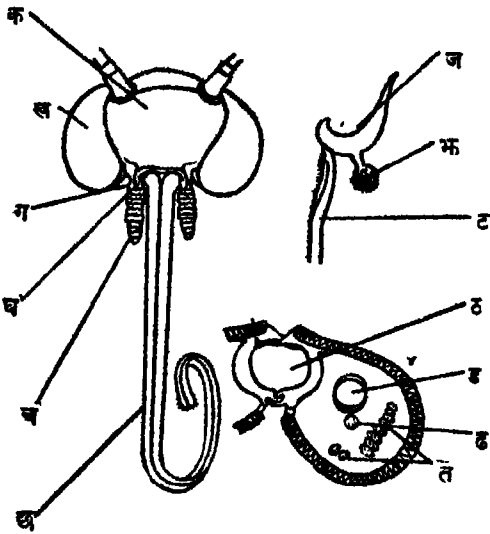
चित्र १. सामान्य शलभ के मुखांग
(अति प्रवर्धित अनुप्रस्थ काट)

क. अग्रमुखपालि (Frontoclypens]; ख. संयुक्त नेत्र (Compound eye); ग. अवशेषी चिबुकास्थि (Vestegial mandible); घ. लैब्रम (Labrum); च. ओष्ठीय स्पर्शक (Labial palp); छ. प्रथम जंभिका का गेलिया (Galeae of 1st maxillae); ज. सिर से विच्छेदित प्रथम जंभिका का आधार; झ. अवशेषी स्पर्शक; ट अधिक प्रवर्धित गेलिया; ठ. आहार प्रणाल; ड. आहार नलिका; ढ. तंत्रिका तथा त. पेशी तंतु।

दोनों स्पर्शक बड़े तथा तीन तीन खंडोंवाले होते हैं। कुछ लेपिडॉप्टेरा अपनी प्रौढ़ावस्था में कुछ भी भोजन नहीं करते, अत: इनके मुख भाग अपूर्ण होते हैं, अर्थात् इनकी चूषणनली अनुपस्थित रहती है। कुछ शलभों की जिह्वाएँ बहुत ही लंबी होती हैं, जैसे बाज-शलभ (hawk moth)। इसकी जिह्वा छह इंच लंबी होती है, जिसके द्वारा यह उन फूलों से भी मकरंद चूस लेता है जिनका मकरद बहुत ही गहराई पर होता है। कुछ शलभ फलों का रस चूसकर ही अपना जीवननिर्वाह करते हैं। इनकी जिह्वा पर फलों के छिलके काटने के लिये काँटे होते हैं।

वक्ष का अग्रखंड प्राय: कम चौड़े कॉलर (collar) के आकार का होता है, जिसके दोनों ओर एक एक प्रवर्धक होता है, जो चर्म-प्रसार (patagium) कहलाता है। मध्यवक्ष (mesothorax) बहुत बड़ा और पश्चवक्ष (metathorax) प्राय: छोटा होता है। पक्ष झिल्लीमय होते हैं और सदा शल्कों से ढँके रहते हैं। शल्कों के अनेक आकार होते हैं। ये बालों की भाँति महीन से लेकर बहुत चौड़े तक हो सकते हैं। शल्क का निचला भाग वृंत (Pedicel) कहलाता है, जो पक्ष की झिल्ली में स्थिति प्याले के आकार की गर्तिका में फंसा रहता है। बहुत सी तितलियों में शल्क नियमानुसार पंक्तियों में लगे होते है। शल्क पक्षों को पुष्ट करते हैं और इस प्रकार वेग से उड़ने में सहायक होते हैं। अति वेग से उड़नेवाले शलभों में पक्ष के अग्रभाग के शल्क अत्यधिक पूर्ण रूप से क्रमबद्ध होते हैं। शल्क शरीर की रक्षा करते हैं और इसको विभिन्न प्रकार के रंग प्रदान करते है। कुछ नरों के पक्षों पर विशिष्ट प्रकार के शल्क होते है, जो छोटे छोटे दो, या तीन धब्बों की तरह दिखलाई पड़ते हैं और एक प्रकार की ग्रंथि बनाते हैं। ग्रंथि के स्राव में एक विशिष्ट प्रकार की गंध होती है। भिन्न भिन्न जाति के नरों से भिन्न भिन्न प्रकार की गंध आती है। संभवत: यह गंध मादा को नर की ओर आकर्षित करती है। एक ओर के दोनों पक्ष एक दूसरे से अटके रहते है। ये कई ढंग से अटके रहते हैं। कुछ शलभों के अग्रपक्ष से अंगुली की भाँति एक प्रवर्ध निकला रहता है। यह प्रवर्ध पश्चपक्ष के निचले भाग को ढँक लेता है और जब शलभ उड़ता है उस समय पश्चपक्ष को अग्रपक्ष के साथ अटकाए रखता है। अधिकतर शलभों के पश्चपक्ष पर कड़े बालों का एक समूह होता है, जो अग्रपक्ष के नीचे की ओर रहता है और इसके बालो के समूह में फँसा रहता है। नर शलभों के पश्चपक्ष के बाल प्राय: जुड़कर एक मोटा सा बाल बन जाते हैं, जो अग्रपक्ष के नीचे की ओरवाले मुड़े हुए काँटे में फँसा रहता है। पक्षों के शिराविन्यास (venation) का वर्गीकरण में अत्यधिक महत्व है। प्रत्येक पक्ष मे अनुप्रस्थ शिरा (cross veins) बहुत कम होती हैं, किंतु एक बड़ी कोशिका अवश्य होती है। अग्रपक्ष का रेडियल सेक्टर (radial sector) चार शाखाओं में विभाजित होता है, किंतु पश्चपक्ष का रेडियल सेक्टर अविभाजित रहता है। मध्य शिरा (median vein) प्राय: तीन शाखाओं में विभाजित हो जाती है। कुछ तितलियों की अग्र टाँगें प्राय: दुर्बल हो जाती है और चलने का कार्य नहीं कर पाती हैं। गुल्फ (tarsus) में पाँच खंड होते हैं।

उदर में दस खंड होते हैं, किंतु प्रथम खंड प्राय: क्षीण हो जाता है और नवें तथा दसवें खंड का आकार परिवर्तित हो जाता है,

क्योंकि बाह्य जननांगों का इन्हीं खंडों से संबंध रहता है। बहुत से लेपिडॉप्टेरों में उदर के अग्र सिरे के दोनों ओर एक एक कर्णपटह पाया जाता है, जिसकी रचना से ऐसा अनुमान होता है कि संभवतः यह एक श्रवण इंद्रिय होगी। नर का बाह्य जननांग इस प्रकार होता है; उदर का नवाँ खंड चक्राकार बन जाता है, इसका नीचे का भाग रेखाबंधनी (vinculum) कहलाता है। एक जोड़ा आलिंगक (clasper) होते हैं, जो रेखाबंधनी से जुड़े रहते हैं। आलिंगक के भीतर की ओर काँटे के आकार के हार्पी (harpe) पाए जाते हैं। नवें खंड के ऊपरी भाग के पिछले किनारे से एक प्रवर्ध, जो अंकस (Uncus) कहलाता है, जुड़ा रहता है। अंकस के नीचे की ओर एक नैथोस (gnathos) भी प्राय: पाया जाता है। अंकस और नैथोस के मध्य गुदा होती है। लिंगाग्रिका (aedeagus) नैथोस के नीचे की ओर रहती है। मादा के उदर के पिछले खंड दुर्बल होकर भीतर की ओर घुसे रहते हैं और बाह्य जननांग बनाते हैं। ये खंड अंडा देने के समय बाहर निकल आते हैं। इस प्रकार उदर का यह भाग बाहर और भीतर हो सकता है और अंडे देने का कार्य करता है।

परिवर्धन — अंडों के ऊपरी आवरण पर अनेक प्रकार के चिह्न बने होते है। तितलियों के अंडो के आवरण पर कई प्रकार की कोशिकाएँ भी बनी रहती हैं। किसी किसी जाति की एक एक मादा एक एक सहस्र या इससे भी अधिक अंडे देती है। कुछ जातियों के शलभों की मादाएँ अपने अंडे उन वनस्पतियों पर गिरा देती हैं जिनको इनकी इल्लियाँ खाती हैं। लेपिडॉप्टेरा के डिंभ इल्लियाँ कहलाते हैं। इनके मुख भाग भोजन चबा सकते हैं। सभी जातियों की इल्लियों की आकृति एक सी होती है। ये बेलनाकार होती हैं और इनके शरीर मे शिर के अतिरिक्त तेरह खंड पाए जाते हैं। अगले तीन खंड वक्ष बनाते हैं और इस प्रत्येक खंड पर एक जोड़ी टाँगे होती हैं। इनके अतिरिक्त उदर पर भी टाँगें पाई जाती हैं,

चित्र २. प्ररूप इल्ली, क. ख. ज्यामितीय इल्ली की चाल की दो अवस्थाएँ।

किंतु ये टाँगें छोटी और बिना खंडवाली होती हैं। प्रत्येक टाँग के सिरे पर नन्हें नन्हें काँटे होते हैं, जो पौधों को पकड़े रहने में इनकी सहायता करते हैं। इस प्रकार की टाँगों की संख्या प्राय. पाँच जोड़ी होती है, किंतु किसी किसी में छह जोड़ी भी हो सकती है। ये टाँगें प्राय तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और दसवें उदर खंड पर पाई जाती हैं। किन्हीं किन्हीं इल्लियों में इन टाँगों का अभाव रहता है। इल्ली के सिर पर दोनों ओर सरल नेत्र होते हैं, जिनकी संख्या छह जोड़ी तक हो सकती है। श्रृंगिकाएँ बहुत छोटी होती हैं। चिबुकास्थि (mandible) बड़ी और दृढ़ होती हैं, किंतु जंभिकाएँ बहुत छोटी होती हैं। लेबियम के मध्य एक नलिका होती है, जो तंतुग्रंथि (spinneret) कहलाती है और इसमें ही कातनेवाली ग्रंथि की वाहिनी खुलती है। ये लार ग्रंथियाँ होती हैं, जो रेशम उत्पादन करती हैं। लार ग्रंथियाँ बहुत लंबी होती हैं। रेशम के कीड़े की ये ग्रंथियाँ उसके शरीर से पाँच गुनी लंबी होती हैं। कुछ इल्लियों के शरीर पर ऐसे बाल होते हैं, जिनके छूने से मनुष्य के शरीर में खुजली होने लगती है। ये बाल खोखले होते है और कुछ इल्लियों के ऐसे प्रत्येक बाल में एक विशिष्ट प्रकार की ग्रंथि खुलती है। इन ग्रंथियों का स्राव विषैला होता है। इन बालों के कारण ये इल्लियाँ अपने शत्रुओं से अपनी रक्षा करती हैं।

प्यूपा दो प्रकार के होते हैं : अपूर्ण प्यूपा तथा पूर्ण प्यूपा। अपूर्ण प्यूपा के अवयव कुछ कुछ स्वतंत्र होते हैं। पूर्ण प्यूपा के अवयव शरीर से चिपके रहते हैं। अत: यह ठोस मालूम पड़ता है। उदर के केवल तीन खंडों में ही गति हो सकती है, और ये अधिकतर कोये के भीतर बनते हैं। कोया रेशम, पत्तियों, चबाई हुई लकड़ी, या मिट्टी से बनाया जाता है। तितलियों के प्यूपा के ऊपर कोया प्राय: नहीं होता हैं, अर्थात् यह अरक्षित होता है और रेशम के धागे से लटका रहता है। बहुत से अपूर्ण प्यूपो मे एक कड़ा प्रवर्ध होता है, जो कोया फाड़ने का काम करता हैं, किंतु अधिकतर प्यूपों में हुक, काँटे आदि कोये को काटने के लिये पाए जाते हैं। पूर्ण प्यूपों के प्यूपावरण (puparium) मे कुछ कोमल स्थान होते हैं, जहाँ से प्यूपावरण टूट जाता है और कीट बाहर निकल आता है। कुछ प्यूपा एक स्राव निकालते हैं, जो प्यूपावरण को कोमल कर देता है और इस प्रकार सरलता से कोया टूट जाता है।

लाभ और हानि — इल्लियाँ अत्यंत ही हानिकारक हैं। इनमें से अधिकतर फसलों और वन वृक्षों को हानि पहुँचाती हैं। वास्तव में ऐसा कोई भी पौधा अथवा वृक्ष नहीं है जिसको किसी न किसी जाति की इल्ली हानि न पहुँचाती हो। पिरालिडिडी (Pyralididae) कुल के प्ररोह छेदनेवाले, सिरपोफेगा (Scirpophaga) और तना छेदनेवाले आरजीरिया (Argyria) और डाइट्रिया (Diatroea) ईख को अत्यधिक हानि पहुँचाते हैं। धब्बेदार बोडी कृमि (ईरिअस, Earias) और गुलाबी बोड़ी कृमि (प्लेटीडेरा, Platydera) कपास को हानि पहुँचाती है। आलू शलभ, जो लगभग सारे ससार में पाया जाता हैं, गोदाम में रखे आलू को नष्ट कर देता है। नॉकट्यूइडी (Noctuidae) वंश के स्पोडॉप्टेरा (Spodoptera) धान तथा घास को, हीलिओथिस (Heliothis) दलहन की फलियों को, सिसेमिया (Sessamia) गेहूँ को, लेफिगमा (Laphygma) मक्का आदि को और प्लूसिया (Plusia) मूँगफली को अत्यधिक हानि पहुँचाते हैं। टिनीया (Tinaea) ऊनी कपड़ों, कालीनों आदि को हानि पहुँचाता है। साइटोट्रोगा (Sitotroga) गोदाम में रखे गेहूँ, मक्का आदि का बहुत बड़ा शत्रु है। इन हानिकारक कीटों के अतिरिक्त कुछ वंशों की जातियाँ लाभदायक भी बहुत हैं। बॉम्बीसाइडी (Bombycidae) और सैटर्नाइडी (Saturnidae) वंश की इल्लियाँ रेशम बनाती हैं (देखें रेशम)।

प्रौढ़ लेपिडॉप्टेरा प्राय: पुष्पों से मकरंद चूसते हैं, कोई कोई मधु-

ओस तथा पके हुए फलों का रस भी चूस लेते हैं। कुछ ऐसी भी तितलियाँ हैं जो सड़े गले फलों का रस चूस लेती हैं। इस प्रकार अधिकतर प्रौढ़ लेपिडॉप्टेरा कोई हानि नहीं पहुँचाते हैं, किंतु कुछ शलभों की जातियाँ प्रौढ़ अवस्था में भी हानिकारक हैं। ये फल-रस-चूषण शलभ कहलाते हैं। ये शलभ मध्य भारत में संतरे तथा नारंगियों का रस चूसते हैं, जिसके कारण फल अधपके ही वृक्ष से गिर जाते हैं। अधिकतर लेपिडॉप्टेरा शीतकाल में डिंभ अथवा प्यूपा अवस्था में ही शीत निष्क्रियता को प्राप्त होते हैं। लेपिडॉप्टेरा में प्रति वर्ष प्राय: दो ही पीढ़ियाँ होती हैं, किंतु कुछ मे प्रति वर्ष पाँच या छह पीढ़ियाँ तक हो जाती हैं।

तितली और शलभ में भेद — तितलियाँ प्राय: सुंदर रंगोंवाली होती हैं, दिन में ही उड़ा करती हैं, जब ये बैठती हैं तो इनके पक्ष शरीर पर सीधे खड़े रहते हैं तथा इनकी शृंगिकाओं का सिरा डंडे के
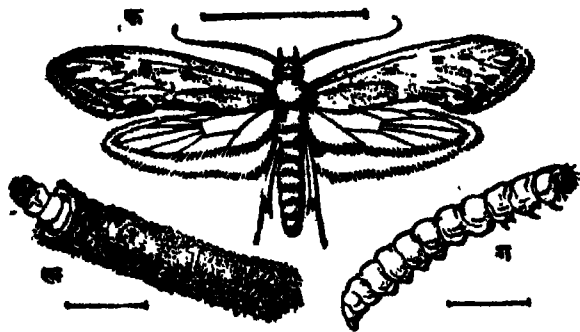
चित्र ३. कपड़ों का शलभ, क.
(Tinea pellionella, प्रवर्धित चित्र)
नीचे : केस (Case) के अंदर, ख., और बाहर, ग., इल्ली दिखाई गई है। वास्तविक नाप सीधी रेखाओं के बराबर होती है।

सिरे की तरह मोटा होता है। शलभ प्राय: मंद रंग के होते हैं और रात में उड़ते हैं। जब बैठते हैं तो इनके पक्ष शरीर को ढँके रहते हैं और इनकी शृंगिकाओं के सिरे मोटे नहीं होते।

लैंगिक द्विरूपता — लेपिडॉप्टेरा के दोनों लिंगों में प्राय: भेद मालूम होता है। कुछ वंशों के नर शलभों की शृंगिकाएँ कंघों के आकार की और मादा की शृंगिकाएँ सादे धागे के समान होती हैं। नरों की शृंगिकाओं पर विशेष प्रकार की ज्ञानेंद्रियाँ भी हो सकती हैं। संभवत: ये घ्राणेंद्रियाँ हैं, जो मादा को खोजने में सहायक होती हैं। ऐसा अनुमान है कि मादाएँ एक प्रकार की गंध निकालती हैं, जो नरों को आकर्षित करती है। बहुत से लेपिडॉप्टेरा के नरों और मादाओं के रंगों में बड़ा भेद पाया जाता है। पपिलिओनिडी (Papilionidae) वंश की तितलियों के दोनों लिंगों के रंग तथा आकार में बहुत भेद रहता है। ऑरजिया पोस्टिका (Orgyia postica) शलभ की मादा पक्षहीन होती है, किंतु नर के पक्ष पूर्ण रूप से विकसित रहते हैं।

एक ही जाति की कुछ तितलियों के रंग में विभिन्न ऋतुओं में इतना अधिक भेद हो जाता है कि वे विभिन्न जातियों की मालूम होने लगती हैं। सबसे अच्छा उदाहरण अरैशनिया लिवेना (Araschnia levana) है, जो यूरोप में पाई जाती है। इस तितली के दो रूप होते हैं : एक वसंत रूप, जो वसंत ऋतु में पाया जाता है और लिवेना कहलाता है तथा दूसरा, जो ग्रीष्म में ऋतु में मिलता है, प्रोसा (Prosa) कहलाता था। पहले ये दोनों रूपवाली दो जातियाँ समझी जाती थीं। कुछ तितलियाँ तीन तीन रूपों में भी पाई जाती हैं। उत्तरी अमरीका की तितली, इफिक्लिडीज मारसेलस (Iphiclides marcellus) का, जो शीतकाल के प्यूपों से वसंत ऋतु के आरंभ में निकलती है, रूप मारसेलस जैसा होता है, किंतु जो कुछ समय पश्चात् निकलती है उसका रूप टेलोमोनाइडिस (Telamonides) का सा होता है। जो अंडे ग्रीष्मकाल में दिए जाते हैं, उनसे उत्पन्न हुई तितलियों का रंग इन दोनों से भी भिन्न होता है और वे लिकॉन्टी (Lecontei) कहलाती हैं।

लेपिडॉप्टेरा के जीवन में विचित्रताएँ — भारत और ऑस्ट्रेलिया में पाई जानेवाली तितली, लिफाइरा ब्रैसोलिस (Liphyra brassolis), के डिंभों के ऊपर कड़े बाह्यत्वक का आवरण होता है और शरीर मे किसी प्रकार के खंड दिखाई नहीं पड़ते। ये डिंभ ईकोफिला स्मारग्डिना (Oecophylla smaragdina) नामक चींटी के अंडों को खाते हैं। इनका कड़ा आवरण चींटियों से इनकी रक्षा करता है। प्यूपा डिंभ के आवरण के भीतर ही बन जाता है। जब तितली प्यूपा से निकलती है, उस समय इसके शरीर पर नारंगी और भूरे शल्कों के ऊपर श्वेत वर्ण के शल्क लगे होते हैं। श्वेत वर्ण के शल्क तितलियों की रक्षा करते हैं। ये शीघ्रता से छूटकर गिर जाते हैं और जब चींटियों को चिपट जाते हैं तो उनको क्लेश पहुँचाते हैं। उत्तरी अमरीका के युका शलभ (yucca moth), या टेजिटिकुला ऐल्बा (Tegeticula alba) की मादा के मैक्सिला पर एक लंबी स्पर्शिका (tentacle) होती है, जो युका पुष्प (yucca flower) से पराग एकत्र करने के लिये विशेष प्रकार की बनी होती हैं। जब युका शलभ की मादा पर्याप्त मात्रा में पराग एकत्र कर लेती है, तो अपने अंडों को पुष्प के अंडाशय में रख देती है। प्राय: यह पुष्प वह नहीं होता जिससे इसने पराग एकत्र किया था। यह अंडे रखने के पश्चात् अपने लाए हुए पराग पुंकेसर के मुख में ठूँस देती है। इस विधि से मादा युका पुष्प के बीज का उत्पादन निश्चित कर देती है, क्योंकि इसके डिंभ इन्हीं बीजों को खाते हैं। जो बीज इन डिंभों के खाने से बच जाते हैं, उनसे युका पौधों का उत्पादन होता रहता है। तीसरा उदाहरण जलवासी शलभों का है। एसिंट्रोपस (Acentropus) जाति के शलभों के डिंभ जल में उगनेवाले पौधों की पत्तियों में सुरंगे बनाकर रहते हैं। जब ये डिंभ बड़े हो जाते हैं, तब पत्तियों को मिलाकर एक छोटा सा घर बना लेते हैं। प्यूपा भी इसी प्रकार के बने घर में रहता है। मादा के दो रूप होते हैं। लंबे पक्षवाली मादाएँ हवा में उड़नेवाली होती हैं तथा छोटे पक्षवाली मादाएँ जल के भीतर रहती हैं और अपने पक्षों द्वारा तैरती हैं।

कुछ लेपिडॉप्टेरा ध्वनि भी कर सकते हैं। ऐकरोंशिया (Acherontia) शलभ चीं चीं ध्वनि करता है। यह ध्वनि संभवत: जिह्वा के मध्य से हवा निकालने से उत्पन्न होती है। इल्ली भी तेज चिटकाने

लेपिडॉप्टेरा (देखें पृष्ठ ११७–१२१)

मॉनर्क (Monarch) तितली का आदि और अंत

कोशस्थ (Chrysalis)

कोश विदारण से तुरत पूर्व

कोश का विदारण
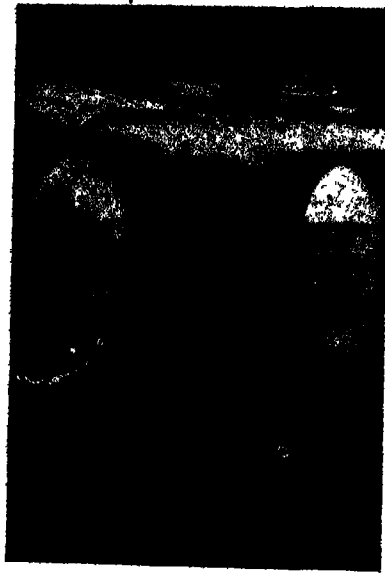
कोश विदारण तथा निर्गमन
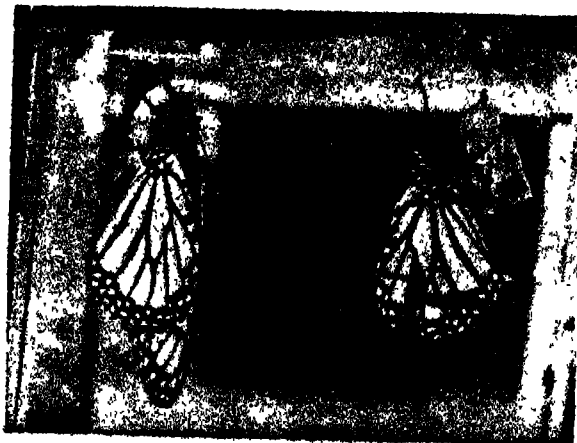
मृत मॉनर्क तितली सूखती हुई

लेपिडॉप्टेरा (देखें पृष्ठ ११७-१२१)
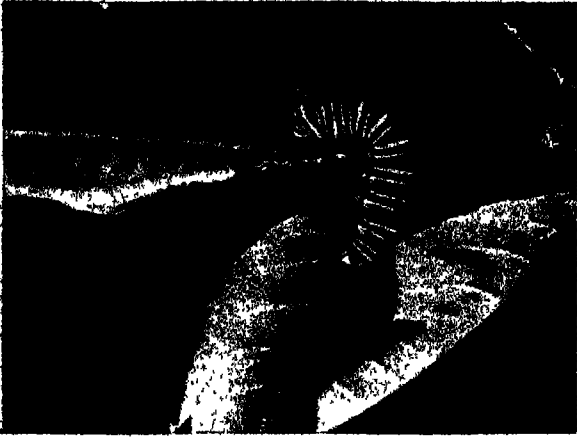
मिल्कवीड (Milk-weed) की इल्ली

कपड़ों के शलभ की मादा, अंडे देती हुई

चीनी रेशमकीट

कातता हुआ चीनी रेशमकीट
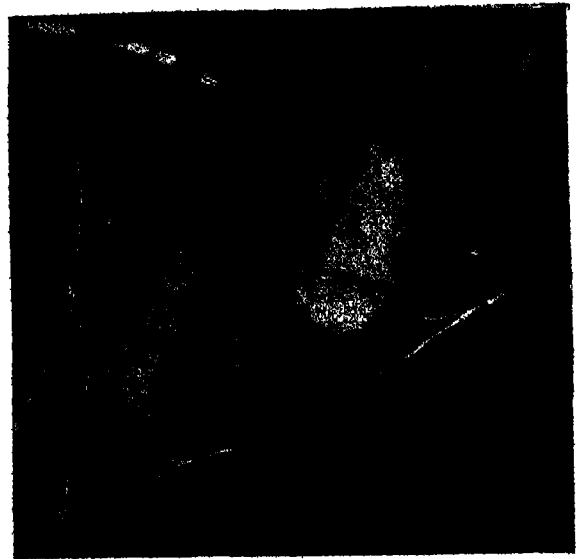
के सदृश ध्वनि करती है, यह ध्वनि मैंडिबलों को पास लाने से उत्पन्न होती है। कुछ शलभ उड़ते समय अपने अग्रपक्ष को अपनी टाँग पर के काँटों से रगड़कर ध्वनि करते हैं।

प्रव्रजन—लेपिडॉप्टेरा की कुछ जातियाँ संसार के एक भाग से दूसरे भाग को प्रव्रजन करती हैं। उत्तरी अमरीका की डैनेग्रस आर्किपस (Danaus archippus) नामक तितलियाँ सहस्रों की संख्या में शीतकाल में दक्षिण की ओर प्रव्रजन करती हैं, किंतु वसंत ऋतु में फिर उत्तरी भागों में लौट आती हैं। भारत में कोलिया (Colia) नामक तितलियाँ ग्रीष्म ऋतु में हिमालय पर्वत की ओर १७,००० फुट की ऊँचाई तक प्रव्रजन करती देखी गई हैं। पाइरेमिस कार्डुइ (Pyrameis cardui) नामक तितलियाँ वसंत ऋतु में उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी यूरोप से उत्तर की ओर आइसलैंड तक पहुँच जाती हैं। प्रव्रजन के समय तितलियों के झुंड महासागरों की ओर से आते हुए देखे गए हैं। कभी कभी ये तितलियाँ उन जहाजों पर भी आ जाती है जो स्थल से कई सौ मील दूरी पर महासागर में जा रहे होते हैं।

भौगोलिक वितरण—लेपिडॉप्टेरा उन स्थानों में तो अवश्य पाए जाते, हैं जहाँ पुष्पयुक्त पादप उग सकते हैं। ये कीट केवल उन्हीं स्थानों में नहीं रह सकते हैं जो ध्रुवों के पास हैं। उत्तर की ओर ८८° अक्षांश से दक्षिण की ओर ५०° अक्षांश तक ये पाए जाते हैं। कुछ जातियाँ तो सारे संसार में पाई जाती हैं। पाइरेमिस कार्डुइ नामक तितली दक्षिणी अमरीका के अतिरिक्त सभी देशों में पाई जाती है। अग्रोटिस इपसिलॉन (Agrotis ypsilon) शलभ सारे संसार में पाया जाता है। भारत में भी अनेकों जातियाँ पाई जाती हैं। संसार की कुछ सबसे सुंदर तितलियाँ भारत में ही पाई जाती है, किंतु सबसे अधिक जातियाँ ब्राज़िल में मिलती हैं।

भूवैज्ञानिक (geological) वितरण — उत्तरी अमरीका में आदिनूतन (Eocene) और अल्पनूतन (Oligocene) युग के तितलियों के कुछ अवशेष मिले है तथा कुछ शलभ बॉल्टिक सागर से प्राप्त ऐंबर में पाए गए हैं। वास्तव में लेपिडॉप्टेरा के फॉसिल बहुत थोड़ी संख्या में मिले हैं। इसका कारण संभवतः लेपिडॉप्टेराओं की कोमलता है।

वर्गीकरण—पक्षों की रचना के आधार पर लेपिडॉप्टेरा गण दो उपगणों में विभाजित किया गया है: (१) होमोन्यूरा (Homoneura) में दोनों जोड़ी पक्षों का शिराविन्यास एक सा ही होता है, (२) हेटरोन्यूरा (Heteroneura) के दोनों पक्षों के शिराविन्यास में भेद पाया जाता है। कुछ कीटविज्ञानी इस गण को मादा के बाह्य जननांगों के आधार पर तीन उपगणों में विभाजित करते हैं, किंतु यह विभाजन उचित नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें नर का कोई महत्व ही नहीं रहता।

सं० ग्रं०—ए० डी० इम्स: ए जेनरल टेक्स्ट बुक ऑव एंटोमॉलोजी, रिवाइज्ड बाई ओ० डब्लू०-रिचर्ड्स ऐंड आर० जी० डेविस (१९५७); टी० वी० आर० ऐय्यर: ए हैंड बुक ऑव इकोनॉमिक एंटोमॉलोजी फॉर साउथ इंडिया (१९४०); के पी. श्रीवास्तव: मॉरफॉलोजी ऑव लेमन बटफ्लाई पैपीलियो

डिमोलियस, थीसिस (१९५५); एच० एम० लेफराय: इंडियन इंसेक्ट लाइफ़ (१९०९)। [रा० र० पा०]

लेबनान (Lebanon) गणतंत्र, स्थिति: ३४° ०' उ० अ० तथा ३६° ०' पू० दे०। यह गणतंत्र एशिया महाद्वीप में भूमध्यसागर के पूर्वी छोर पर स्थित है। १९४१ ई० में इसे स्वतंत्र घोषित किया गया और १९४६ ई० में फ्रांसीसी सेनाओं ने लेबनान को छोड़ दिया। यहाँ का क्षेत्रफल १०,४०० वर्ग किमी० तथा जनसंख्या १७,५०,००० (१९६३) है। बेरूत यहाँ की राजधानी है। लेबनान की जलवायु अधिक परिवर्तनीय है। किनारे की नीची भूमि की जलवायु ग्रीष्म में गरम तथा आर्द्र और जाड़े में सौम्य रहती है, पर पहाड़ियों पर जाड़े में अत्यधिक हिमपात होता है। सक्षम आबादी का ४० प्रति शत खेती में लगा है। अरबी भाषा सर्वत्र बोली जाती है, पर अंग्रेजी और फांसीसी भाषा भी अधिक लोग समझ लेते हैं। ईसाइयों और मुसलमानों का जनसंख्या में लगभग बराबर अनुपात है। त्रिपोली, सईदा तथा ज़ाह्‌लाह (Zah lah) अन्य प्रमुख नगर हैं।

फलों की खेती यहाँ प्रमुख कृषि कार्य है। केले, नीबू प्रजाति के फल, सेब, जैतून, अंजीर और अंगूर प्रमुख उपज हैं। गेहूँ, जौ और मक्का अन्य उपज हैं। पालतू पशुओं की संख्या कम है। मांस के लिये पशु सीरिया से आयात किए जाते हैं। लेबनान का प्रमुख उद्योग तेल परिष्करण, सीमेंट निर्माण तथा खाद्य पदार्थों का संसाधन है। पर्यटन भी यहाँ की आय का प्रमुख स्रोत है।

देश में ५०० मील लंबा रेलमार्ग है। नगर अच्छी सड़कों से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। देश में चार विश्वविद्यालय हैं। १९६० ई० से देश मे निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा दी जा रही है।

लेबनान निर्बाध बाजार है और यहाँ का दो तिहाई से अधिक व्यापार पारवहन तथा यातायात का है। बेरूत मध्य पश्चिम का वाणिज्य एवं आर्थिक केंद्र है। बेरूत का नैशनल म्यूज़ियम, अमरीकन युनिवर्सिटी म्यूजियम और लेबनान के ऐतिहासिक तथा प्राकृतिक स्थान दर्शनीय हैं। [अ० ना० मे०]

ले ब्रन चार्ल्स (Le Brun Charles) फ्रांसीसी चितेरा। जन्म २४ फरवरी, १६१९ को पेरिस में हुआ। कला के प्रति अभिरुचि लेकर चांसलर सेगिए की सहायता से रोम गया। १६४६ ई० में पेरिस लौटा और क्रमशः कला तथा विज्ञान की अकादमी का प्राध्यापक, चांसलर तथा संचालक बना। चौदहवें लुई ने इसे राजचित्रकार घोषित किया। लूव्र की अपोलो चित्रदीर्घा की सज्जा की। इसके सबसे बड़े चित्र फलक का नाम है 'बेकर जैकब परिवार का चित्र'। इसने कला संबंधी अनेक ग्रंथों की रचना भी की। फरवरी, १६९० में चल बसा। [गु० त्रि०]

लेरू, पियेर (Leroux Pierre १७९८-१८७१) फ्रेंच दार्शनिक तथा अर्थशास्त्री। सन् १८३१ में वह संत साइमोनियन संप्रदाय का सदस्य बना किंतु स्त्रियों के निर्वाचनाधिकार के संबंध में मतभेद होने पर वह संप्रदाय से पृथक् हो गया। सन् १८४० में उसने 'डी ह्यूमैनिटी' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इसमें उसके विचारों का सम्यक् विवेचन देख

पड़ता है। यह 'मानवहितवादी' (ह्यूमैनिटेरियन) दार्शनिकों का नीतिदर्शक ग्रंथ माना गया। १८४८ की क्रांति के बाद वह फ्रांसीसी संविधान सभा का और विधान सभा का प्रभावशाली उग्र समाजवादी सदस्य बना। उसके दार्शनिक विचारों में संत साइमन, पायथागोरस और बौद्ध सिद्धांतों का प्रभाव परिलक्षित है। वह एक त्रिगुण या त्रयी ('ट्रायड') का समर्थक था जो सब वस्तुओं में व्याप्त है। ईश्वर में शक्ति, विवेक तथा प्रेम के रूप में और मनुष्य में संवेदन, भावना तथा ज्ञान के रूप में यह विद्यमान है। सामाजिक अर्थव्यवस्था में वह परिवार, देश तथा संपत्ति को बनाए रखना चाहता था, पर वह समझता था कि इस समय इस त्रयी में एक तरह की स्वेच्छाचारिता व्याप्त है, जिसका दूर किया जाना आवश्यक है। [श्री० स०]

लेली, सर, पीटर (१६१८-१६८०) इंग्लैंड का दरबारी चित्रकार; जन्म सन् १६१८ में यूट्रेक्ट के सोयस्ट नामक स्थान पर हुआ था। लेली के पिता का जन्म एक इत्र की दुकान में हुआ था जहाँ लिली की खुशबू उड़ा करती थी। इनके पिता अपने नाम के आगे लेली (लिली) जोड़ा करते थे। इसी से पीटर भी आगे चलकर सर पीटर लेली कहलाया। पिता से ज्यादा सार्थक नाम पीटर का हुआ, क्योंकि उसने जीवन भर लिली की तरह सुंदर, सुगंधित नवयुवतियों के चित्र बनाए। वास्तव में पीटर स्त्रियों का चित्रकार ही कहलाता है।

पीटर लेली ने अपनी कलाशिक्षा फ्रांज द ग्रेबर से हार्लेम में पाई। १६४१ में वह इंग्लैंड चला आया। वान डाइक की कला से वह बहुत प्रभावित था और उसी ढंग पर चित्र बनाता था। वह इंग्लैंड में ही बस गया और बाद में उसकी इतनी प्रसिद्धि हुई कि किंग चार्ल्स प्रथम ने उसे अपने दरबार का कलाकार नियुक्त किया। उसके चित्रों से क्रामवेल और चार्ल्स द्वितीय भी बड़े प्रभावित थे। सन् १६८० में जब वह ड्यूक ऑव सामरसेट का चित्र बना रहा था, वह अपाप्लेक्सी रोग से पीड़ित होकर मर गया। 'नेल ग्वाइन' उसका एक विख्यात चित्र है। [रा० चं० शु०]

लेविस, जार्ज हेनरी (१८१७-१८७८) अंग्रेज दार्शनिक और साहित्यालोचक, जिसने मेरी ऐन इवांस (जार्ज इलियट) से स्नेहानुरक्त हो अपनी पत्नी से संबंधविच्छेद कर लिया। साहित्य में उसकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है 'गेटे का जीवन व कृतियाँ', तथा मनोविज्ञान में 'जीवन व मन (बुद्धि) की समस्याएँ'। मनोविज्ञान में कॉम्टे की तरह वह अंतर्दर्शन विधि का विरोधी नहीं था। उसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन शायद यह है कि उसने मानसिक विषय के अध्ययन में सामाजिक तथा ऐतिहासिक स्थितियों पर ध्यान रखना आवश्यक बताया। उसकी कुछ अन्य रचनाएँ हैं—'दि स्पेनिश ड्रामा', 'ऑन ऐक्टर्स ऐंड दि आर्ट ऑव ऐक्टिंग', 'बायोग्रैफिकल हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी', 'दि एनिमल लाइफ'। [श्री० स०]

लेश्या जैन दर्शन में लेश्या कषायोदय योग परिणाम अर्थात् कषाय के उदय अथवा योगजनक शरीर नाम कर्म के उदय का परिणाम है। लेश्या छः हैं — कृष्ण, कापोत, तेजः, पद्म, नील और शुक्ल। [अ० शु०]

लेसेप्स, द, फर्डिनैंड मारी, वाइकाउंट (Lesseps, de, Ferdinand Marie, Viscount, सन् १८०५-१८९४) फ्रांसीसी राजनयिक थे, जिनकी चेष्टा से भूमध्यसागर को लाल सागर से मिलाकर, यूरोप से पश्चिमी एशिया, भारत आदि के मार्ग को छोटा करनेवाली, स्वेज नहर का निर्माण हुआ।

इनका जन्म फ्रांस के वेरसाइ नगर में हुआ था। फ्रांस की राजनयिक सेवा में नियुक्त होने के पश्चात् ये मिस्र के अलेक्जैंड्रिया नगर में जब कांसुल थे, तो ऐसी नहर के निर्माण से लाभ की ओर इनका ध्यान गया। यह संपूर्णतः नई योजना न थी, क्योंकि प्राचीन काल में ईसा से ६०० वर्ष पूर्व स्वेज स्थल संयोजक को काटकर एक नहर बनाई गई थी, जो ७६७ ई० के लगभग मिस्र के शासक द्वारा नष्ट कर दी गई थी। नेपोलियन ने भी इस नहर का पुनर्निमाण करने का विचार किया था।

लेसेप्स ने सन् १८५४ में मिस्र के शासक, सईद पाशा, से नहर बनवाने की आज्ञा तथा फ्रांस और मिस्र, दोनों देशों, की सरकारों से सहायता प्राप्त कर, एक कंपनी स्थापित की और वे १०० मील से अधिक लंबी नहर बनवाने में सफल हुए। इसका उद्घाटन १७ नवंबर, १८६९ को हुआ।

इस नहर के निर्माण में सफलता के कारण पैनामा स्थलसंयोजक के आर पार भी नहर बनाने और ऐटलैंटिक तथा प्रशांत महासागरों को जोड़कर, एक से दूसरे महासागर में जानेवाले जहाजों को दक्षिणी अमरीका के संपूर्ण चक्कर से बचाने की बात लेसेप्स को सूझी। नई कंपनी खड़ी कर काम आरंभ भी किया गया, पर इंजीनियरी की कठिनाइयाँ; वहाँ के जंगलों में मलेरिया के जोर तथा धनाभाव से इस कार्य में तब प्रगति न हो सकी। [भ० दा० व०]

लेसोथो (Lasotho) स्थिति : २९° ४०' द० अ० तथा २८° ०' पू० दे०। दक्षिणी अफ्रीका में ब्रिटिश लोगों के अधिकार में एक राज्य (टेरिटरी) है। इसके पश्चिम और उत्तर में ऑरेंज फ्री स्टेट, पूर्व में नेटाल तथा पूर्वी ग्रीक्वालैंड तथा दक्षिण में केप प्रॉविंस हैं। इसका क्षेत्रफल ११,७१६ वर्ग मील तथा जनसंख्या ६,८५,००० (१९६०) है। यहाँ का औसत ताप लगभग १५·५° सें० तथा जलवायु शुष्क है। लगभग ३० इंच वर्षा होती है। यहाँ बाँटू जाति के बासूतो लोग रहते हैं। इसकी पूर्वी सीमा पर १०,००० फुट ऊँचा ड्रेकेंज़बर्ग नामक पठार है। ऑरेंज प्रमुख नदी है। मुख्यतः गेहूँ, मक्का, सोरघम, जौ, जई, फलियों (बीन), मटर एवं सब्जियों की उपज है। घोड़े, बंदर, भेड़, बकरे, खच्चर आदि प्रमुख पशु हैं। मसेरू यहाँ की राजधानी तथा रेलवे स्टेशन है। यहाँ यूरोपीय बस्तियाँ नहीं हैं, केवल कुछ गोरे सरकारी कर्मचारी, डाक्टर एवं व्यापारी रहते हैं। [उ० कु० सिं०]

लेह स्थिति : ३४° १०' उ० अ० तथा ७७° ४०' पू० दे०। यह जम्मू और कश्मीर राज्य (भारत) के लद्दाख जिले का मुख्यालय एवं प्रमुख नगर है। नगर की जनसंख्या ३,७२० (१९६१) है। यह समुद्र तल से ११,५०० फुट की ऊँचाई पर, श्रीनगर से १६० मील पूर्व तथा यारकंद से लगभग ३०० मील दक्षिण, लद्दाख पर्वत श्रेणी के आँचल में, ऊपरी सिंध के दाहिने तट से ४ मील दूर स्थित है। यहाँ एशिया की सर्वाधिक ऊँची मौसमी वेधशाला (meteorological observatory) है। नगर तिब्बत, सिंकियांग तथा भारत के मध्य

का महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र है। लेह में, १६वीं एवं २०वीं शताब्दी के डोगरा वंशी राजाओं के पूर्व के राजाओं का एक राजप्रासाद भी है। यूरोपवासियों में से एक ने १७१५ ई० में, सर्वप्रथम लेह की यात्रा की थी। लेह से, श्रीनगर एवं कुल्लू घाटी होती हुई, सड़कें भारत के आंतरिक भाग में आती हैं तथा एक मार्ग कराकोरम दर्रे की ओर जाता है। [शां० ला० का०]

लैंकाशिर (Lancashire) स्थिति : ५३° ४०' उ० अ० तथा २° ३०' प० दे०। यह इंग्लैंड के उत्तर पश्चिमी किनारे पर स्थित काउंटी है, जिसका क्षेत्रफल १,८६६ वर्ग मील है। यह पश्चिम में आइरिश सागर से, पूर्व में यॉर्कशिर से, दक्षिण में चेशिर (Cheshire) काउंटी से तथा उत्तर में कंबरलैंड एवं वेस्टमरलैंड (Westmorland) काउंटी से घिरा हुआ है। इस काउंटी की तटरेखा अनियमित है। यहाँ के मुख्य प्रवेशद्वार मोरकैम बे (Morecambe Bay) और मर्जि (Mersey) एवं रिब्ल (Ribble) नदियों के ज्वारनदमुख हैं। काउंटी का उत्तरी तथा पश्चिमी भाग पहाड़ी है। लंकाशिर के कोयले का क्षेत्र मर्जि तथा रिब्ल नदियों के मध्य के भूभाग में ४०० वर्ग मील में फैला हुआ है। जहाज निर्माण करने के लिये प्रसिद्ध फर्नेस (Furness) क्षेत्र में पर्याप्त लोहा मिलता है। लैंकाशिर सूती वस्त्र के लिये विश्वविख्यात है तथा अन्य प्रकार के भी वस्त्र यहाँ बनते हैं। यहाँ सभी प्रकार की मशीनों का भी निर्माण होता है। स्लेट तथा फर्शबंदी के लिये पत्थरों का खनन यहाँ की खानों में होता है। काउंटी के प्रशासनिक नगर का नाम भी लैंकाशिर है, जहाँ नॉर्मन काल का ऐतिहासिक किला है। लैंकाशिर काउंटी में साबुन, मोमबत्ती, क्षार तथा काँच निर्माण करने के कारखाने हैं। दक्षिणी लैंकाशिर में सूती वस्त्र उत्पादन करनेवाला प्रमुख जिला मैंचेस्टर है, जो संसार में सबसे घना बसा हुआ क्षेत्र है। १४वीं शताब्दी में ऊनी तथा लिनेन वस्त्रों की बुनाई प्रारंभ होने पर, मैंचेस्टर का विकास प्रारंभ हुआ और १८वीं शताब्दी के मध्य में सूती वस्त्र के उद्योग का विकास आरंभ हुआ। इंग्लैंड का दूसरा बंदरगाह तथा लिवरपूल में प्रथम डॉक १७०० ई० में खुला। यह डॉक मर्जि नदी के साथ साथ सात मील तक चला गया है। लंदन के बाद लैंकाशिर इंग्लैंड की सबसे घनी बसी हुई काउंटी है। यहाँ की जनसंख्या ५१,०४,००० (१९५२) है। यहाँ से पार्लियामेंट के लिये १८ सदस्य चुने जाते हैं। [अ० ना० मे०]

लैंगम्यूर, इर्विंग (Langmuir, Irving) अमरीकन रसायनज्ञ का जन्म सन् १८८१ में, ब्रूकलिन (Brooklyn) में हुआ था तथा इन्होंने कोलंबिया के खानों के स्कूल से एम० ई० की तथा गटिंजेन (Gottingen) विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधियाँ प्राप्त कीं।

जेनरल इलेक्ट्रिक कंपनी के अनुसंधान विभाग के ये अध्यक्ष नियुक्त हुए। इन्होंने उच्च निर्वात के व्यवहार की प्रविधि का विकास किया, पारे के वाष्प पंप का आविष्कार किया, निम्न दाब पर पदार्थ के व्यवहार का अनुसंधान किया तथा स्वप्रस्तावित परमाणुओं के अष्टकवाद द्वारा तत्वों के संयोजकता गुणों की व्याख्या की।

रॉयल सोसायटी ने सन् १९१८ में आपको ह्यू ज (Hughes) पदक द्वारा संमानित किया तथा सन् १९३२ में आपको नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। [अ० दा० व०]

लैंगिक प्रौढ़ता जब अधिकांश प्राणी लैंगिक प्रौढ़ता की अवस्था में पहुँचते हैं, तब उनमें जनन क्रियाशीलता का नियतकालिक प्रादुर्भाव होता है, जिसे प्रजनन, या काम, ऋतु कहते हैं। यह प्रादुर्भाव नर में कम और मादा में अधिक स्पष्ट होता है। प्रजनन ऋतु में प्रत्येक प्राणी पर, किसी में एक बार और किसी में अनेक बार, कामक्रियाशीलता की लयात्मक तरंगों का प्रभाव पड़ता है। प्रजनन ऋतुओं के मध्यांतर में कामप्रवृत्ति स्थगित रहती है।

विभिन्न वर्ग के प्राणियों में विभिन्न आंतर तथा बाह्य कारणों से प्रजनन ऋतु का तीव्र आक्रमण होता है। इसके मूल में यह सिद्धांत निहित है कि अधिकांश प्राणियों का जननचक्र बदलती ऋतुओं के अनुरूप घटित होता है तथा भावी शिशु के विकास के अनुकूल काल में होता है। प्रजननचक्र के आविर्भाव में, बाह्य, या आंतर कारणों से पोषणाहार की प्राप्ति का भी महत्वपूर्ण हाथ है।

स्तनधारी प्राणियों में प्रजननचक्र की आवृत्ति ऋतु, व्यक्तिगत और मातृक प्रभावों (दूध देने तथा गर्भ की अवधियों), भ्रूणविकास की दर में विभिन्नता तथा उपचर्या की शक्तियों पर निर्भर करती है। वर्ष के किसी अनुकूल समय में शिशु के आगमन के लिये ये कारक यथेष्ट हैं।

एक ही प्रजननकाल की अवधि में 'ऊष्माकाल' (heat period) का सिलसिला सफल मैथुन के अवसरों की वृद्धि करता है। 'ऊष्मा' की संख्या और आवृत्ति, पर्यावरण और मौसम से प्रभावित होती हैं। 'ऊष्मा' के कारण स्तनधारियों में मदचक्र (oestrus cycle) उत्पन्न होता है।

स्तनी वर्ग में मदचक्र — प्रजननऋतु वर्ष का वह समय है, जब काम इंद्रियों में विशेष उत्तेजना होती है। इन्हीं दिनों मैथुन होता है। प्रजनन ऋतु में अधिकांश स्तनधारी मादाओं का मदकाल निश्चित होता है और उसी में वे मैथुन कर सकती हैं, किंतु नर इच्छानुसार जब चाहे मैथुन कर सकते हैं। नर यौन या काम ऋतु का अनुभव, जिसे नर का कामोन्माद कहते हैं, शायद ही करते हैं।

कामोन्माद एक प्रबल मनोवेग है। जीवविज्ञान की भाषा में इस मनोवेग को 'यौन रतिक्षण' या 'प्राणी की कामार्ति' कहते हैं। इसमें मादा कामातुर होती है। अप्रजनन ऋतु, या मदाभाव काल (Anoestrous period) में डिबग्रंथियाँ और सहायक प्रजननेंद्रिय निष्क्रिय होती हैं और मादा को मैथुन की इच्छा नहीं होती। अनेक स्तनधारियों में यह निश्चलता काल बहुत अधिक समय तक बना रहता है। मदाभावकाल के बीतते बीतते कामऋतु के लक्षण प्रकट होने लगते हैं और मादा के शरीर में जननग्रंथियों, जननमार्गों और अंतःस्रावी ग्रंथियों (Endocrine glands) में उपापचयी (metabolic) परिवर्तन होने लगते हैं। यह समय कामऋतु का पूर्व भाग या पूर्वमदकाल कहलाता है। प्रजनकों की भाषा में यह पशुओं के 'गरमाने' की स्थिति होती है। इसके बाद इस प्रक्रिया की चरम स्थिति मदकाल होती है। यदि सब नहीं तो

अधिकांश स्तनधारी मादाएँ केवल मदकाल के समय में ही नर के साथ समागम की इच्छा करती हैं। इससे मैथुन के फलीभूत होने की संभावना होती है।

पूर्वमदकाल और मदकाल को संयुक्त रूप से ऊष्माकाल कहते हैं। ऊष्माकाल मादा की कामैषणा का ही बोध नहीं कराता, इससे जनक अंगों के शारीरीय (anatomical), शरीरक्रियात्मक (physiological) तथा समूचे शरीर के उपापचयी सहवर्ती परिवर्तनों का भी बोध होता है। यदि मदकाल में मैथुन के परिणाम स्वरूप गर्भधारण होता है, तो इसके बाद गर्भावस्था और दुग्धस्रवण की अवस्थाएँ आती हैं और कुछ प्राणियों में, जैसे चूहों में, अविलंब प्रसव होता है। गर्भ न ठहरने पर, मदकाल के बाद थोड़े समय तक, अनुमदकाल रहता है, जिसमें मदकाल में जननतंत्र में हुए सारे परिवर्तन शमित हो जाते हैं, या लंबी अवधि की मिथ्या गर्भावस्था (pseudopregnancy) रहती है। मिथ्यागर्भावस्था के बाद दूसरा मदकाल आरंभ होता है।

कुछ प्राणियों में, जैसे चूहों में, मदकाल के बाद कुछ दिनों तक स्त्रीमदविश्राम (Dioestrum) नामक निश्चलता (quiescence) की स्थिति रहती है। इसके बाद ही दूसरा पूर्वमदकाल (proestrous period) प्रारंभ होता है। यह सिलसिला प्रजनन ऋतु की समाप्ति तक चल सकता है। पूर्वमदकाल, मदकाल, अनुमदकाल, (metaoestrum) तथा स्त्रीमदविश्राम के पूरे चक्र को मदचक्र, या स्त्रीमदविश्राम चक्र, कहते हैं।

प्रजनन ऋतु में, मदकाल में सफल मैथुन के होने या न होने पर मदचक्रों की संख्या निर्भर करती है। यदि प्रजनन ऋतु के पहले ही मदकाल में गर्भ रह जाय, तो प्रसव होने तक चक्र की आवृत्ति नहीं हो सकती। यदि प्रजनन ऋतु के किसी भी मदकाल में गर्भधारण नहीं होता, तो अंतिम अनुमदकाल के बाद लंबी अवधि तक निर्मदकाल या अजननकाल रहता है। अंत में पुनः एक पूर्वमदकाल प्रारंभ होता है, जो नए प्रजनन ऋतु के आगमन का सूचक होता है। नर या सफल मैथुन के अभाव में, स्त्रीमदविश्राम चक्रों की संख्या मादा की जाति पर निर्भर करती है। स्कॉटलैंड के पहाड़ी प्रदेश की काले मुँह की भेड़ों के स्त्रीमदविश्राम चक्र की संख्या दो है। अनेक कृंतकों में एक प्रजनन ऋतु मे चक्रसंख्या ६, ७, या इससे अधिक हो सकती है।

जिन पशुओं में एक ऋतु में केवल एक मदकाल होता है, जैसे भालू में, वे एकमदकालिक (Monoestrous) पशु, तथा जिनमे अनेक मदकाल होते हैं, जैसे कृंतक, वे बहुमदकालिक (Polyoestrous) पशु कहलाते हैं।

पशुओं को पालतू बनाने से, उनके प्रजनन के कालक्रम में अंतर आ जाता है। अनेक वन्य पशु बंदी अवस्था में प्रजनन से इनकार करते हैं और पालतू पशु एकमदकालिक से बहुमदकालिक हो जाते हैं। पालतू मुर्गियों का प्रजननकाल लगभग साल भर चलता है।

स्त्रियों का कामचक्र — स्त्रियों की प्रजनन ऋतु बाह्य कारकों पर निर्भर नहीं करती और यौवनारंभ से ४५–५० वर्ष की उम्र तक, जब तक रजोनिवृत्ति (menopause) नहीं होती, यह ऋतु अबाध रूप से चलती है। इस अवधि में यदि गर्भावस्था जैसी कोई असामान्य स्थिति न हो, तो लगभग हर चार सप्ताह बाद मदकाल की पुनरावृत्ति होती है।

स्त्रियों के समूचे काम जीवन में गर्भाशय की भित्तियों में डिंब (ovum) के संभावित निरोपण के लिये आवधिक सुधार के रूप में तैयारियाँ होती हैं। इन तैयारियों में गर्भाशय ग्रंथियों का विस्तार तथा श्लेष्मल झिल्ली (mucosa) में, जिसकी मोटाई सामान्य अवस्था की अपेक्षा कई गुनी हो जाती है, तरल का संचय प्रमुख है। यह स्थिति कुछ ही दिन रहती है। यदि इस बीच उर्वरित अंडाणु का आरोपण (implantation) नहीं होता, तो श्लेष्मल झिल्ली में और भी परिवर्तन होते हैं और उत्तल परतें (superficial layers) टूटकर लगभग १०० घन सेंमी० रक्त के साथ रजःस्राव के रूप में बाहर निकल आती हैं। रजःस्राव के बाद श्लेष्मल झिल्ली की मरंमत और आगामी तैयारी प्रारंभ होती है।

रजःस्राव के पहले दिन को मदचक्र का प्रथम दिन माना जाय, तो १२वें, या १६वें दिन ग्राफियान पुटिका (Graffian follicle) से अंडाणु स्रावित होता है। यदि फालोपियै नलिका (fallopian tube) में स्तनधारी के अवरोही अंडाणु और आरोही शुक्राणु का मिलन हो, तो डिंबाशय की भित्तियों में यह रोपित और विकसित हो सकता है। इन परिस्थितियों में डिंबाशय की श्लेष्मल झिल्ली में विनाशी परिवर्तन नहीं होते और गर्भावस्था तथा दुग्धस्रवण की स्थिति में रजोधर्म प्रसुप्तावस्था मे रहता है। गर्भाशय की श्लेष्मल झिल्लियों के पुनर्गठन की पुनरावृत्ति का आरंभ और अंत गरम देशों की स्त्रियों के जीवनकाल में ठंढे देशों की स्त्रियो की अपेक्षा शीघ्र होता है। [रा० चं० स०]

लैंडर, वाल्टर सैवेज, (Landor) अंग्रेजी कवि और गद्यलेखक लैंडर का जन्म वारविक में ३० जनवरी, १७७५ को हुआ और मृत्यु फ्लोरेंस में १७ सितंबर, १८६४ को। इसके जीवन की घटनाओं में और इसकी साहित्यिक कृतियों में कोई साम्य नहीं था। अपने पड़ोसियों से और खेतों पर काम करनेवालों तथा किराएदारों से वह लैंटनी अबे में लड़ता रहा, और बाद मे इटली में जाकर उसने अपने जीवन के शेष दिन लेखन के लिये पूरी तरह देने के लिये जल्द ही अन्य कामों से छुट्टी कर ली। १७९८ मे लिखी एक कविता 'जेबिर' से उसकी आजीवन मैत्री सदे के साथ हो गई, परंतु उससे उसकी ख्याति नही बढ़ी। वह आजीवन कविता लिखता रहा। ग्रीक विषयों पर बहुत छोटे छोटे गीतों से लगाकर लंबे ऐतिहासिक नाटकों तक उसने पद्य में लिखे। परंतु उसके पद्य नाटक रंगमंच पर खेले नही गए। उसकी गीतिकाव्यात्मक रचनाओं में भाषा और शैली की सरलता और प्रसादगुण झलकता है। परंतु 'इमैजिनरी कन्वर्सेशंस' (काल्पनिक संवाद, १८२४-२९) नामक गद्यग्रंथ में उसने इतनी काव्यमयी शैली का प्रयोग किया कि भाषा अलंकारबहुल और लचीली बन गई है। उन्हें पढ़ते हुए गद्यकाव्य का सा आनंद आता है। उसकी रचनाओं की प्रशंसा वर्ड्सवर्थ और अन्य समकालीन साहित्यकारों ने की है; परंतु कई आलोचकों को उसकी शैली केवल शब्दचमत्कार भरी और अर्थशून्य जान पड़ती है। प्राचीन अभिजात विषयों की ओर रोमैंटिक युग में लैंडर ने अंग्रेजी साहित्य की रुचि बढ़ाई।

लैंडर की प्रमुख कृतियों के नाम ये हैं : 'काउंट ज्यूलियन : ए ट्रैजेडी' (काउंट जूलियन : एक शोकांत नाटक, १८३६); 'जिग्रोवाम्रा आफ नेपिल्स (नेपल्स की जिओवाम्रा, १८३६); 'साइटेशन ऐंड एक्जामिनेशन ऑव विलियम शेक्सपीयर टचिंग डीअर स्टीलिंग' (विलियम शेक्सपीयर के हिरन चुराने का मुकदमा, (१८३४); पेरिक्लीस और एस्पेशिया (दो खंड, १८३६); पेंटामेराम और पेंटालौगिया (१८३७); 'दि हेलेनिक्स' (हेलेनिक लोग, १८४७); 'दि इटालिक्स' (इटालवी लोग, १८४८); 'हिरोइक इडिल्स' (वीर गाथापूर्ण जानपद गीति, १८६३), 'लास्ट फ्रूट ऑव एन ओल्ड ट्री' (एक पुराने वृक्ष के अंतिम फल, १८५३) । इनकी संपूर्ण कृतियाँ कई खंडों में प्रकाशित हुई हैं। रोमैंटिक युग के कवियों में लैंडर का स्थान गौण कवि के रूप में है, यद्यपि उसके कुछ गीत और छोटी कविताएँ सूक्ति जैसी बहुत लोकप्रिय है। [प्र० मा०]

लैंसडाउन, लॉर्ड लैंसडाउन का प्रथम मार्क्विस, विलियम पेटी फ़िट्स मॉरिस एक प्रसिद्ध अंग्रेज राजनीतिज्ञ था। वह 'शेलबर्न का अर्ल' के नाम से अधिक विख्यात था। उसका जन्म डबलिन में २० मई, १७३७ को हुआ था और मृत्यु ७ मई, १८०५ को। सप्तवर्षीय युद्ध में वुल्फ की रेजीमेंट में योग्यतापूर्वक कार्य किया जिसके पुरस्कार स्वरूप सेना में कर्नल बनाया गया। सन् १७६० में यह ब्रिटिश सम्राट्, जॉर्ज द्वितीय, का अंगरक्षक बना। अगले वर्ष 'शेलबर्न का अर्ल' की उपाधि ग्रहण की। सन् १७६३ में 'बोर्ड ऑव ट्रेड' के अध्यक्ष के रूप में ग्रेनविल मंत्रिपरिषद् में पदार्पण किया किंतु कुछ महीने बाद त्यागपत्र दे दिया। सन् १७६६ में पिट के प्रधान मंत्रित्व में 'सेक्रेटरी ऑव स्टेट' बनाया गया, पर १७६८ में ही अमरीका संबंधी नीति के कारण पदच्युत कर दिया गया। अमरीका को मान्यता देने की शर्त पर सन् १७८२ में यह रॉकिंघम के मंत्रिमंडल में संमिलित हुआ। रॉकिंघम की मृत्यु के पश्चात् प्रधान मंत्री बना पर १७८३ में ही इसे पदत्याग करना पड़ा। अगले वर्ष 'मार्क्विस ऑव लैंसडाउन' बनाया गया।

लैंसडाउन का पंचम मार्क्विस, हेनरी चार्ल्स कीथ पेटी फिट्समॉरिस का जन्म १४ जनवरी, सन् १८४५ ई० को हुआ था। यह भारतवर्ष से अधिक संबंधित था। १८८३ से १८८८ ई० तक यह कनाडा का गवर्नर-जेनरल भी रह चुका था। कुछ समय तक इसने भारत के उपसचिव पद पर भी कार्य किया था। सन् १८८८ से १८९३ तक भारतवर्ष का वाइसरॉय रहा और सन् १८९४ में इंग्लैंड वापस चला गया। इसके समय में सन् १८९२ का 'इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट बना। इस ऐक्ट के अनुसार काउंसिलों में भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई तथा निर्वाचन सिद्धांत का श्रीगणेश किया गया। विश्वविद्यालयों, नगरपालिकाओं तथा जिला परिषदों को विधानसभाओं में अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया। केंद्रीय विधानपरिषद् में सदस्यों को वार्षिक बजट पर बहस करने तथा प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया।

१८८९ में कश्मीर के राजा प्रतापसिंह को प्रजा पर अत्याचार करने तथा रूस से पत्रव्यवहार करने के झूठे आरोप लगाकर शासन के सारे अधिकार अंग्रेजों की एक समिति के हवाले करने को बाध्य किया। सीमाओं के संबंध में लैंसडाउन 'आगे बढ़ने की नीति' में विश्वास रखता था। इसके मतावलंबियों का विचार था कि चौकियाँ स्थापित करके तथा रेलें चलाकर अंग्रेजों को अफ़गान सीमा तक पहुँच जाना चाहिए। इसीलिये गिलगिट को हड़पने का प्रयत्न किया जा रहा था। अफगान अमीर अब्दुर्रहमान लैंसडाउन से चिढ़ गया था। पर अंग्रेज दूत हेनरी मॉर्टिमर डूरंड की चतुराई के कारण सब मामला ठीक हो गया और अमीर अंग्रेजों से प्रसन्न हो गया। ३ जून, १९२७, को यह परलोक सिधारा। [मि० चं० पां०]

लैटिविया (Lativia) राज्य बाल्टिक राज्यों मे सबसे बड़ा है। इसका क्षेत्रफल २४,६०० वर्ग मील है। यह उत्तरी यूरोप में स्थित है। यहाँ की जमीन मे नीची पहाड़ियाँ और उथली घाटियाँ हैं। कुछ भूमि रेतीली भी है। छह मास तक यहाँ की जलवायु सौम्य रहती है, पर जाड़ा अत्यधिक ठंढा होता है, जिसमें जमीन पर बर्फ जम जाती है। देश के उत्तरी भाग में बर्फ के कारण जहाजों का आवागमन बंद हो जाता है। यहाँ घने जंगल है और खनिज का अभाव है, केवल कुछ भूरा कोयला पाया जाता है। यहाँ की नदियाँ तीव्रगामी हैं। यहाँ की आबादी १९,००,००० है। यहाँ के आदि निवासी लैटिवियाई हैं। इनके अतिरिक्त कुछ रूसी और जर्मन लोग भी यहाँ बस गए हैं। यहाँ पशुपालन तथा डेयरी उद्योग प्रमुख व्यवसाय है। यहाँ की भूमि उपजाऊ है तथा जौ, जई, आलू एवं तीसी की खेती होती है। यहाँ उद्योगों का भी विकास हुआ है। लकड़ी पर नक्काशी करना, तीसी का तेल निकालना तथा कागज, रसायनक, ऊनी एवं सूती वस्त्रों को बनाना और खाद्य पदार्थों तथा मशीनों का उत्पादन अन्य उद्योग हैं। जलविद्युत् शक्ति का बहुत विकास हुआ है। राज्य की राजधानी रीगा (Riga) है। इसके अन्य प्रमुख नगर है : डाउग्वपिल्स (Daugavpils, ४५,०००) तथा ल्येपाया (Liepaja) है। यहाँ की भाषा यूरोप की प्राचीन, लैटिवीयन भाषा है। यहाँ के आधे से अधिक लोग प्रोटेस्टेंट, चौथाई रोमन कैथोलिक तथा शेष यहूदी एवं अन्य धर्मावलंबी हैं।

लैटी सयाडो भिक्षु लैटी सयाडो का जन्म सन् १८४६ में पिता ऊठुनथा और माता डौच्यों के यहाँ बर्मा के श्वेबो जिले में हुआ। इन्होंने किशोर अवस्था में ही प्रव्रज्या ग्रहण की और बीस वर्ष की युवावस्था में उपसंपदा ग्रहण कर ऊ भान के नाम से भिक्षु हो गए। इनकी सारी शिक्षा दीक्षा बौद्ध विहारों में ही हुई। इन्होंने बौद्ध धर्म की उच्चतम शिक्षा पंचम बौद्ध संगायन के व्यवस्थापक बर्मी नरेश मिडोन् के धर्मगुरु सांजाऊँ सयाडो से प्राप्त की थी। मिंगेन और उसके उत्तराधिकारी तीबों के राज्यकाल में ये मांडले के सांजाऊँ विहार में अध्ययन अध्यापन करते रहे। परंतु सन् १८८७ में अंग्रेजों द्वारा तीबो नरेश के बंदी बना लिए जाने पर ये मांडले छोड़कर उत्तर की ओर मनेवा नगर के समीप लैटी टोया विहार की स्थापना कर वहीं रहने लगे। तब से ये लैटी सयाडो के नाम से प्रख्यात हुए। यहीं इन्होंने बौद्ध धर्म दर्शन का अध्यापन आरंभ किया।

विद्यार्थी जीवन से ही ये अत्यंत प्रतिभासंपन्न और प्रखरबुद्धि

थे। इन्हीं दिनों 'पारमीदीपनी' नामक इनकी प्रथम रचना प्रकाशित हुई। लैटी विहार में रहते हुए इन्होंने कई अन्य टीकाएँ लिखीं। सन् १८९७ में इन्होंने 'परमात्थ दीपनी' का प्रणयन किया जो कि इस विषय की अद्वितीय रचना है। अब वे बर्मा के नगर नगर, गाँव गाँव में चारिका करते हुए अभिधम्म की शिक्षाशालाएँ और विपश्यना के ध्यानकेंद्र स्थापित करने लगे। इन्हीं दिनों इन्होंने बर्मी और पाली में बहुत से पद, निबंध, टीकाएँ और पत्र लिखे जो बौद्ध साहित्य की अनमोल निधियाँ हैं। इनकी कुल रचनाएँ ७६ हैं। इनकी लेखनशैली अत्यंत रोचक और अभिव्यंजना अत्यंत स्पष्ट थी। अभिधम्म जैसे गंभीर विषय का विश्लेषण इन्होंने अत्यंत सुबोध और सरल ढंग से किया है।

इनके पांडित्य से प्रभावित होकर तत्कालीन भारत सरकार ने सन् १९११ में इन्हें 'अग्र महापंडित' की उपाधि से विभूषित किया। तत्पश्चात् रंगून विश्वविद्यालय ने इन्हें डी० लिट्० की मानद डिग्री और 'पिटकत्रय पारगू' की उपाधि प्रदान की। सन् १९२३ में ७७ वर्ष की परिपक्व अवस्था में इन्होंने स्वर्गारोहण किया। यह लैटी सयाडो का ही पुण्य प्रताप है कि अभिधम्म और विपश्यना क्षेत्र मे आज बर्मा समग्र बौद्ध जगत् का नेतृत्व कर रहा है।

[स० ना० गो०]

लैटेराइट (Laterite) एक प्रकार का आवरण-प्रस्तर (regolith) है। यह भारत, मलाया, पूर्वी द्वीपसमूह, ऑस्ट्रेलिया, अफ्रीका, दक्षिण अमरीका, क्यूबा आदि अनेक उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में पाया जाता है। भारत प्रायद्वीप में व्यापक रूप में प्राप्त होने के कारण इसका अध्ययन भारत के लिये विशेष महत्व रखता है।

लैटेराइट शब्द लैटिन के लैटर (Later, ईंट) से बना है। इस नाम का आधार इसका रंग है। इसका लाल रंग लोहे के ऑक्साइड के कारण है। फ्रैंसिस ब्युकानन-हैमिल्टन (Francis Buchanan-Hamilton) ने १८०७ ई० में दक्षिण भारत से प्राप्त एक शैल (rock) के लिये यह नाम प्रयुक्त किया था। लैटेराइट एक प्रकार का स्फोटगर्ती (vesicular), मृण्मय (clayey) शैल है। अवयवों की विभिन्न मात्राओं के कारण लैटेराइट की अनेक किस्में पाई जाती हैं। इसी कारण इनके बाह्य रूपों में भी विभिन्नता पाई जाती है। लोहे के सांद्रण से कहीं कहीं अंडकीय संग्रथन (oolitic concretion) भी देखा जाता है। कहीं पर यह श्वेत होता है और कहीं चितकबरा (mottled)। शैलों के शिखरों पर लोहे का स्थान कहीं कहीं मैंगनीज ऑक्साइड ले लेता है। जिस लैटेराइट में लोहे का आधिक्य है उसे लोहमय (ferruginous), जिसमें ऐलुमिनियम का आधिक्य है उसे ऐलुमिनियममय (aluminiferous) और जिसमें मैंगनीज का आधिक्य है उसे मैंगनीजमय (manganiferous) लैटेराइट कहते हैं। लोहमय लैटेराइट लाल, या भूरे रंग का, ऐलुमिनियममय लैटेराइट धूसर या मटमैले श्वेत रंग का और मैंगनीजमय लैटेराइट गहरा भूरा या काले रंग का होता है। लैटेराइट सरंध्र (porous), पारगम्य (permeable) और गर्तमय (pitted) शैल है। यह पिस्टोलाइटी (pistolitic) आकार का होता है। पिस्टोलाइट सकेंद्रीय संरचनाएँ बनाते हैं। ये लोहे, या एलुमिना सीमेंट से जुड़े रहते हैं। कोमल, ताजे शैल को वायु में खुला रखने से वह निर्जलित होकर कड़ा हो जाता है।

उष्ण और उपोष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों की सपाट शीर्ष पहाड़ियों के ऊपरी संस्तर में लैटेराइट पाया जाता है। क्वार्टजाइट और सिलिकामय शैलों को छोड़कर, शेष सब नाना प्रकार के क्षारीय शैलों, चूना-पत्थरों तथा अवसादी शैलों से लैटेराइट बनते हैं। ऐलुमिना मृदा से भी लैटेराइट बनता है। अपक्षय के फलस्वरूप ही अधिकांश स्थलों में पाए जानेवाले लैटेराइट बने हैं।

भारत में दक्षिणी लावास्तर में लैटेराइट मिलता है। इसकी मोटाई सौ फुट तक पहुँच जाती है। ऊपर के स्तर में लोहे का आधिक्य रहता है। उसके नीचे के स्तर में ऐल्यूमिनियम का आधिक्य रहता है और लोहे की मात्रा क्रमशः कम होती जाती है। ऐसे लैटेराइट को बौक्साइट कहते हैं और ऐलुमिनियम के निर्माण में इसका उपयोग हो सकता है। उसके नीचे का अंश लियोमार्जिक मृदा और अपरिवर्तित शैल रहते हैं। पूर्वीघाट का लैटेराइट खोंडेलाइट (khondalite) से बना है। इसमें गार्नेट, सिलिमेनाइट तथा फेल्स्पार रहते हैं। मलाबार का लैटेराइट शैलों से बना है।

शैल सिलिकेट होते हैं। बारी बारी से गीली और शुष्क ऋतुओं के होने से, वर्ष भर उष्ण मौसम, या गरम भूपृष्ठीय जल के रहने से एवं जीवाणुओं और बनस्पतियों की क्रिया से शैलों का अपक्षय होता रहता है। सिलिकेट विघटित होते हैं। सिलिका का बहुत कुछ अंश पानी में घुलकर बह जाता है और लोहे तथा ऐलुमिनियम के ऑक्साइड सजल अवस्था में रह जाते हैं। उनके साथ कुछ सिलिका और अन्य धातुओं के ऑक्साइड, जैसे मैंगनीज, टाइटेनियम आदि धातुओं के ऑक्साइड भी रह जाते हैं। यही लैटेराइट है।

भारत में लैटेराइट का वितरण — दक्षिण भारत, मध्य प्रदेश, और बिहार के पठारों के उच्च स्थलों पर लैटेराइट के निक्षेप पाए गए हैं। ऐसे पठारों की ऊँचाई २,००० से ५,००० फुट, या इससे अधिक है। यहाँ जो निक्षेप पाए गए हैं, उनकी मोटाई ५० फुट से २०० फुट तक की है। कुछ निक्षेप बहुत विस्तृत हैं। पूर्वी घाट और पश्चिमी घाट में भी लैटेराइट के निक्षेप मिले हैं। यहाँ ये पतले स्तर में हैं। मद्रास के त्रिचनापल्ली जिले में, उच्चतर गोंडवाना और ऊपरी क्रिटेशस संस्तरों के संधिस्थान पर भी लैटेराइट पाया गया है।

भारत के लैटेराइट को उच्चस्तरीय या निम्नस्तरीय लैटेराइट में बाँटा गया है। २,००० फुट से ऊँचे स्थलों पर पाए जानेवाले लैटेराइट को उच्चस्तरीय और उससे कम ऊँचे स्थलों पर पाए जानेवाले लैटेराइट को निम्नस्तरीय लैटेराइट कहा जाता है। निम्नस्तरीय लैटेराइट पूर्वी घाट और बर्मा में पाए जाते हैं। निम्न स्तरवाले लैटेराइट कम स्थूल (massive) और अपरदी (detrital) होते हैं। ये उच्चस्तरीय लैटेराइट के विघटन से बने हैं।

लैटेराइट की आयु—उच्चस्तरीय लैटेराइट के निर्माण काल

के संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ अतिनूतन युग (Pliocene) के, या इससे भी प्राचीन हैं। कहीं कहीं के लैटेराइट अत्यंत नूतन, या अभिनव काल के भी बने हैं। निम्नस्तरीय लैटेराइट निश्चित रूप से अभिनव काल के बने हैं, क्योंकि इनमें प्रस्तर युग के पाषाण के औजार मिलते हैं। आदिनूतन (Eocene) काल के लैटेराइट भी पश्चिमी पाकिस्तान में पाए गए हैं।

आर्थिक महत्व — लैटेराइट में यदि लोहे की मात्रा अधिक है, तो उससे लोहा प्राप्त किया जा सकता है। ऐलुमिनियम की मात्रा अधिक रहने से ऐसे लैटेराइट को बौक्साइट कहते हैं और उससे ऐलुमिनियम प्राप्त किया जा सकता है। मैंगनीज की मात्रा अधिक रहने से मैंगनीज प्राप्त किया जा सकता है। कच्ची सड़कों के निर्माण में गिट्टी के रूप में ये काम आते हैं। गृहनिर्माण में लोहमय लैटेराइट प्रयुक्त होते हैं। आजकल भारत के अनेक स्थलों में लैटेराइट का उत्खनन बड़े पैमाने पर हो रहा है। ऐसे स्थलों में उड़ीसा का पुरी तथा आंध्र प्रदेश का गोदावरी, जिला और मलाबार, दक्षिण कनारा, चिंगलपट जिला आदि तथा त्रावनकोर, कोचीन, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश एवं मैसूर प्रमुख हैं। [र० कां० मि०]

लैब्राडॉर (Labrador) **१. प्रांत,** स्थिति : ५३° क्षेत्र २०' उ० अ० तथा ६१° ०' प० दे०। यह कैनाडा के न्यूफाउंडलैंड प्रांत का भाग है। इसका क्षेत्रफल १,१२,६३० वर्ग मील है। यह क्षेत्र क्यूबेक के उत्तर पूर्व में स्थित है। उत्तरी ऐटलैंटिक की तटीय रेखा, बेल आइल (Belle Isle) जलसंधि से सेंट लारेंस तक, ६५० मील लंबी है। लैब्राडॉर की जलवायु न्यूफाउंडलैंड की अपेक्षा अधिक ठंढी है। इस ठंढक के दो कारण हैं : (१) लैब्राडॉर धारा तथा (२) दक्षिण-पश्चिमी गरम वायु का हडसन खाड़ी के जल से ठंढा हो जाना। यहाँ जाड़े में ताप – ५६° सें० तक गिर जाता है और लगभग ८° सें० से शायद ही कभी ऊपर जाता है। वार्षिक वर्षा का औसत १६ इंच है। तट पर प्रायः तूफान आया करते हैं। यहाँ पर सोना, ताँबा, फेल्सपार तथा लोहे की खानें हैं। यहाँ के प्रपात अपार जलविद्युत् के स्रोत हैं। यहाँ के जंगलों में बहुमूल्य इमारती, लकडी पाई जाती है। रेनडियर, भालू, लोमड़ी, कशीका (marten) मिंक (mink), बनबिलाव, जलमार्जार (otler) और ऊदबिलाव यहाँ के जंगलों में पाए जाते हैं। लैब्राडॉर के समुद्र में कॉड, हेरिंग और सेलमान नामक मछलियाँ पकड़ी जाती हैं तथा समुद्री किनारे के पास सील का शिकार होता है। यहाँ की जनसंख्या ७,८९० (१९५१) है, जिसमें एस्किमो एवं रेड इंडियन आदि वासी हैं तथा शेष गोरे लोग हैं। यहाँ कृषि बगीचों तक सीमित है। इनमें आलू, पात गोभी, शलजम तथा सलाद की खेती होती है।

२. **लैब्राडॉर धारा,** यह ठंढी धारा ऐटलैंटिक महासागर में से निकलकर लैब्राडॉर के किनारों के साथ साथ बहती है और गल्फस्ट्रीम में मिल जाती है। इस धारा का प्रभाव, सुदूरवर्ती न्यू इंग्लैंड तक अनुभव किया जाता है। लैब्राडॉर के बंदरगाह छह मास तक बर्फ से जमे रहते हैं और लैब्राडॉर की धारा भी बंदरगाहों के जमने का एक कारण है। गल्फस्ट्रीम के ऊपर गरम और आर्द्र हवा तथा लैब्राडॉर की ठंढी धारा के मिलने से न्यूफाउंडलैंड तथा लैब्राडॉर के किनारों से दूर तक घना कुहरा बनता है। इस कुहरे से जहाजों को बड़ी सावधानी से गुजरना होता है, अन्यथा तैरती हुई बर्फ की चट्टानों से टकरा जाने का भय रहता है। [अ० ना० मे०]

लैम, चार्ल्स (१७७५–१८३४) इनका जन्म क्राउन आफिस रो, लंदन में सन् १७७५ ई० में हुआ। उनके पिता इनर टेंपुल के सैमुअल साल्ट नामक वकील के लिपिक थे। शिक्षा का प्रारंभ घर पर हुआ, फिर उन्होंने क्राइस्ट्स हास्पिटल नामक शिक्षा संस्था में प्रवेश किया। वहाँ सात वर्ष तक उन्होंने शिक्षा प्राप्त की और इसी काल में सैमुअल टेलर कोलरिज से उनकी प्रगाढ़ और चिरस्थायी मैत्री का प्रारंभ हुआ। सन् १७९२ में उनकी नियुक्ति ईस्ट इंडिया हाउस के कार्यालय में हुई। वहाँ ३३ वर्षों तक अनवरत कार्य करने के बाद उन्होंने सन १८२५ में पेंशन के साथ अवकाश प्राप्त किया। उनका देहावसान सन् १८३४ ई० में हुआ।

सन् १७९६ में उनकी बहन मेरी ने उन्माद के आवेश में अपनी माता की हत्या कर डाली। इस दुःखद घटना के फलस्वरूप लैम ने अविवाहित रहकर आजीवन अपनी बहन की देखरेख का निश्चय किया। वह स्वयं भी १७९५–९६ में कुछ समय के लिये उन्मादग्रस्त हो गए थे और मानसिक विक्षेप का भय सदा मेरी और चार्ल्स दोनों को ही त्रस्त बनाए रहा।

लैम की मैत्री अपने समय के अनेक प्रतिष्ठित कवियों और लेखकों से हुई जिनमे कोलरिज, हैजलिट, ले हंट, वर्ड्सवर्थ, प्राक्टर, क्रैब राबिंसन आदि प्रमुख थे। लैम अत्यंत कोमल मन के भावुक व्यक्ति थे तथा उनके दैनिक जीवन और साहित्य में हास्य की प्रवृत्ति सदैव विद्यमान रहती थी। उनका व्यक्तित्व अत्यंत आकर्षक था तथा अपने जीवनकाल में उन्हे सदैव मित्रों तथा परिचितों का संमान और स्नेह मिला।

साहित्यिक जीवन के प्रारंभ में लैम ने कुछ कविताएँ लिखीं जिन्हें १७९६ में कोलरिज ने अपने एक संग्रह में प्रकाशित किया तथा सन् १७९८ में अतुकांत छंद में लिखी हुई कुछ कविताएँ पुनः प्रकाशित हुईं। सन् १७९८ में ही रोजामंड ग्रे नामक अवसादपूर्ण कथा प्रकाशित हुई। इसके बाद लैम ने दो नाटक लिखे, जान उडविल नामक दुःखांत नाटक (१८०२ ई०) तथा मिस्टर एच नामक प्रहसन (१८०६ ई०)। सन १८०७ में उन्होंने अपनी बहन मेरी लैम के सहयोग से शेक्सपियर के नाटकों के कथानकों को नवयस्कों के मनोरंजनार्थ लघु कथाओं के रूप मे प्रस्तुत किया। सुखांत नाटकों से संबद्ध कहानियाँ मेरी लैम द्वारा तथा दुःखांत नाटकों की कहानियाँ चार्ल्स लैम द्वारा लिखी गई थीं। सन् १८०८ में स्पेसिमेन्स ऑव् इंग्लिश ड्रैमेटिक पोएट्स के प्रकाशन के अनंतर १८१० और १८२० के बीच शेक्सपियर के नाटकों के बारे में लैम ने आलोचनात्मक निबंध लिखे। इन दस वर्षों में इनके स्फुट लेख रिफ्लेक्टर, एग्जामिनर आदि पत्रों में छपते रहे।

लंदन मैगेजीन में 'ईलिया' के छद्म नाम से कई निबंध लिखे जिनका प्रकाशन सन् १८२० ई० में शुरू हुआ। अगले दस वर्षों में निबंध लेखन में चार्ल्स लैम ने अप्रत्याशित एवं आश्चर्यजनक सफलता

प्राप्त की। इन निबंधों का प्रथम संग्रह सन् १८२३ और दूसरा संग्रह १८३३ में निकला। निबंधों में लैम के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। उनकी रोचकता किसी विषय के क्रमिक विवेचन में नहीं वरन् लेखक के आत्मप्रकाशन में है। प्राय: सभी निबंध व्यंग्य, अवसाद तथा वैयक्तिता से ओतप्रोत हैं। उनसे लेखक के लंदनप्रेम, साहित्यप्रेम, तथा विनोदी प्रकृति का पता लगता है। नवीन और प्राचीन उपकरणों के संमिश्रण से शैली अत्यंत प्रभावोत्पादक बन गई है।

चार्ल्स लैम के पत्रों का संग्रह सर्वप्रथम टामस टैलफोर्ड ने सन् १८३४ में प्रकाशित किया। अधिकांश पत्र मित्रों को लिखे गए हैं और उनमें सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं जिनका उल्लेख निबंधों के संबंध में किया गया है। पत्रों में लैम का व्यक्तित्व और भी उभरकर सामने आया है तथा उनके मन में निहित हास्य, करुणा, उदारता और स्नेह की अत्यंत सफल अभिव्यक्ति हुई है।

लैम की कविताओं में भी उनकी आत्माभिव्यक्ति हुई है और प्राचीन स्मृतियों के आधार पर ही वे लिखी गई हैं। लैम के आलोचना संबंधी लेख उनकी सुरुचि और मर्मस्पर्शी अंतर्दृष्टि के द्योतक हैं। [रा० अ० द्वि०]

लैम, हॉरिस (Lamb, Horace, १८४६ ई०-१९३४ ई०) अंग्रेज गणितज्ञ का जन्म इंग्लैंड के स्टॉकपोर्ट नामक स्थान में २७ नवंबर, १८४६ ई० को हुआ। इनकी शिक्षा ओवंस कॉलेज और ट्रिनिटी कॉलेज, कैंब्रिज, में हुई। १८७२ ई० में ये ट्रिनिटी कॉलेज के फेलो चुने गए और वहीं पर सहायक शिक्षक नियुक्त हुए। तदुपरांत १८७५ ई० से १९२० ई० तक ये मैंचेस्टर में गणित के प्रोफेसर रहे। ये द्रव्यगति विज्ञान के मान्य पंडित थे। १८७८ ई० में इन्होंने 'मैथिमैटिकैल थ्योरी ऑव फ्लुइड्स' (Mathematical Theory of Fluids) और १८९५ में अपना प्रामाणिक ग्रंथ 'हाइड्रोडाइनैमिक्स' (Hydrodynamics) प्रकाशित किया। इनके संशोधित संस्करणों में ये अपने नवीन अन्वेषण बराबर संमिलित करते रहे। द्रव्यगति विज्ञान के अतिरिक्त इन्होंने तरंग संचरण, वैद्युत प्रेरण और प्लेट के प्रत्यास्थ विरूपण पर भी अनेक शोधपत्र लिखे। इनकी अन्य प्रकाशित पुस्तकें 'इनफिनिटिसिमल कैलकुलस (Infinitesimal Calculus), 'डाइनैमिकल थ्योरी ऑव साउंड' (Dynamical Theory of Sound), 'स्टैटिक्स'(Statics), 'डाइनैमिक्स' और हायर मिकैनिक्स (Higher Mechanics) हैं। [रा० कु०]

लैमेलिब्रैंकिया (Lamellibranchia) अकशेरुकी तथा जलीय प्राणी हैं। यह मोलस्का (Molausca) संघ का एक वर्ग (cllass) है। इसे लैमेलिब्रैंकियाटा, द्विकपाटी (Bivalve), या पेलेसिपोडा (Pelecypoda) भी कहते हैं। चूँकि इनके पाद चपटे होने के स्थान पर नवतलित अधरीय होते हैं, इसलिये ये पेलेसिपोडा कहलाते हैं। इस वर्ग के प्राणियों में सिर नहीं होता, अत: यह वर्ग मोलस्का के अन्य वर्गों से भिन्न है। इनमें लेबियल स्पर्शकों (labial palp) के द्वारा सिर का प्रतिनिधित्व होता है। ये द्विपार्श्व सममित प्राणी हैं। इनके सभी अंग जोड़े में अथवा मध्यस्थ होते हैं। लैमेलिब्रैंकिया स्थानबद्ध प्राणी हैं। कुछ द्विकपाटी चट्टानों से बद्ध रहते हैं, जब कि अन्य धागे सदृश पुलिंदे से जमीन से संलग्न रहते हैं। इस पुलिंदे को सूत्रगुच्छ (Byssus) कहते हैं। यह सूत्रगुच्छ पाद की एक गुहिका से स्रवित होता है। अधिकांश द्विकपाटियों के पाद बिल बनाने, या गमन के लिये व्यवहृत होते हैं। कुछ द्विकपाटी अपने

चित्र १. कार्डियम एक्सिग्यूम (Cardium exiguum) का ऊँचे चढ़ना
क. पैर बारी बारी से बढ़ाए (क) और सिकोड़े (ख और ग) जाते हैं। इस बीच कवच शीघ्र घूर्णन (क→ख, ख→ग) करता है।

कवचों को एकाएक बंद कर, पानी को बाहर निकालने के द्वारा तैरते हैं।

इनके कवक में दो प्राकृपिक, समान कपाट होते हैं। दोनों कपाट एक प्रत्यास्थ स्नायु (elastic ligament) के द्वारा जुड़े रहते हैं। यदि स्नायु आंतरिक होते हैं, तो ये रेसिलियम (resilium) कहलाते हैं। ये स्नायु कपाटों को अलग रखते हैं, जबकि दो अभिवर्तनी (adductor) पेशियाँ कवचों को बंद रखने का प्रयास करती हैं। कवच के आंतर पृष्ठीय भाग, या हिंजपट्ट (hinge plate) में हिंज दाँत होते हैं, जो अंतर्कीलित होते हैं। दाँतों का साधारण रूप अनेक समान दाँतों का बहुदंती (taxodont) हिंज है। कुछ विभेदित दाँतों का उच्चतम विकास हुआ हैं। अनेक द्विकपाटियों में अधर और पार्श्विक उपांत के सूक्ष्म दंत द्वारा कपाटों का ठीक ठीक बंद होना साहाय्यित होता है।

प्रावार (mantle) के स्राव से कवच का निर्माण होता है। प्रावार संपूर्ण शरीर को ढँक लेता है। इसकी दाईं एवं बाईं दो पालियाँ होती हैं। ये पालियाँ प्रावार पेशियों (pallial muscles), या वर्तुल (orbicular) पेशियों के द्वारा कपाटों से जुड़ी रहती हैं।
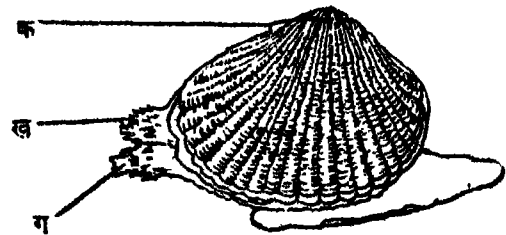
चित्र २. कार्डियम का बाह्यरूप
जिह्वा सदृश पैर दाहिनी ओर है। क. स्नायु, ख. अपवाहीनाल, तथा ग. अंतर्वाहीनाल।

कवच का प्रावार (pallial) क्षतचह्न संलग्नी रेखा (line of attachment) को प्रकट करता है। प्रावार रेखा के अंत में अनुप्रस्थ

अभिवर्तनी पेशियाँ होती हैं। प्रावार पालि के स्वतंत्र अधर, सीमांत दो, तीन या चार छिद्रक छोड़ते हुए, अंशतः जुड़े रहते हैं।

अपवाही (exhalant) तथा अंतर्वाही (inhalant) धाराओं के लिये पश्चछिद्रक होते हैं। इन दो छिद्रकों पर प्रावार प्रायः दो पेशीय ट्यूब के रूप में बढ़ा रहता है। ऊपरवाला ट्यूब अपवाही, या गुदा-नाल तथा नीचेवाला ट्यूब अंतर्वाही, या क्लोमनाल (देखें चित्र २.) होता है। तीसरे छिद्र से पाद का बहिर्वेधन होता है। प्रावार गुहिका में दो मुख्य धाराएँ होती हैं। अंतर्वाही छिद्रक से मुँह को ढँकनेवाले लेबियल स्पर्शकों तथा गिलों की ओर एक धारा पश्चतः दिष्ट होती है। दूसरी धारा उलटी दिशा में अपवाही नाल की ओर दिष्ट होती है। बालू, या बजरी में गड़े रहनेवाले पिन्ना (pinna) और सोलेन (solen) में अपवाही धाराएँ पक्ष्माभिकामय नाल द्वारा जाती हैं। प्रावार की कोर पर प्रायः ग्रंथियाँ, स्पर्शक, वर्णक चकत्ता (pigment spot) तथा आँखें होती हैं।

प्रायः लैमेलिब्रैंकिया के गिल, या क्लोम, कंकत क्लोम (Ctenidium) कहलाते हैं, क्योंकि अब इनका मुख्य कार्य श्वसन नहीं है। श्वसन मुख्यतः प्रावार से होता है। ये पक्ष्माभिकी गति के द्वारा अंतर्वाही छिद्रक से एक धारा उत्पन्न करते हैं, जो सूक्ष्म जीवों को भोजन के लिये छाँटकर लेबियल स्पर्शक पर पहुँचा देती है। लेबियल स्पर्शक मुहँ के ओष्ठ, या युग्मित पालियुक्त प्रक्षेपण हैं। दो गिलों में से प्रत्येक में एक केंद्रीय अक्ष होता है, जिसमें तंतुओं की दो श्रेणियाँ होती हैं, जिन्हें अर्धक्लोम (demibranchs) कहते हैं। प्रोटोब्रैंक (protobranch) द्विकपाटियों में तंतु साधारण पट्टिकाएँ होते हैं, फिलिब्रैंक (filibranch) गिलों में तंतु समांतर दंड होते हैं, जो अंतर्कीलित पक्ष्माभिकी टफ (ciliary tuff) द्वारा जुड़े रहते हैं तथा यूलैमेलिब्रैंक गिलों में दंड संवहनी (vascular) संधियों द्वारा जुड़े रहते हैं।

प्रायः नर और मादा पृथक् पृथक् होते हैं। समुद्री लैमेलिब्रैंकिया में ट्रोकोस्फीयर (trochosphere) एवं वेलीजर (veliger) लार्वा होते हैं। अलवण जल के लैमेलिब्रैंकिया की विशेषता ऊष्मायन (incubation) है।

हिंज दाँतों के रूपों, गिलों की संरचनाओं तथा विशेषतः पक्ष्माभिकी गुणों के आधार पर लैमेलिब्रैंकिया को चार गणों

चित्र ३. लैमेलिब्रैंकिया के विभिन्न रूप

क. न्यूकुला फलटॉम (Nucula fultom) के बाएँ कपाट का अभ्यांतर, **ख.** पैंडोरा ऐल्बिडा (Pandora albida) तथा **ग.** कस्पिडेरिया रॉस्ट्रेटा (Cuspidarea rostrata)

(orders) में विभक्त किया गया है, जो निम्नलिखित हैं :

(१) **प्रोटोब्रैंकिएटा** (Protobranchiata) — इस गण के लैमेलिब्रैंकियाओं के गिल में चपटे अपरावर्तित तंतु होते हैं, जो क्लोम अक्ष की उल्टी ओर, दो पंक्तियों में विन्यस्त रहते हैं। इस गण के उदाहरण हैं : सोलेनोमिया (Solenomya), न्यूकुला (Nucula) तथा योल्डिया (Yoldia)।

(२) **फिलिब्रैंकिएटा** (Filibranchiata) — इस गण के लैमेलिब्रैंकियाओं में गिल समांतर, अधरीय दिष्ट तथा परावर्तित तंतु बनाता है। आंतर पक्ष्माभिकी संधियों द्वारा क्रमिक तंतु आपस में जुड़े रहते है। इस गण के उदाहरण हैं : अनोमिया (Anomia), आर्का (Arca), मिटिलस (Mytilus) तथा पेक्टेन (Pecten)।
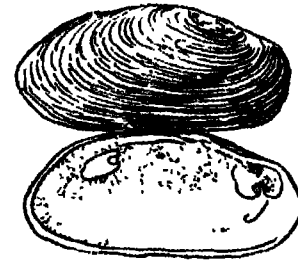
चित्र ४. अलवणजलीय मसल (Mussel)

(Margaritifera)

जनक के कवच से बाहर निकलने पर दो से छह सप्ताह तक बच्चे मछलियों के परजीवी रहते हैं। इन मसलों में बहुधा मोती पाए जाते हैं।

(३) **यूलैमेलिब्रैंकिएटा** (Eulamellibranchiata) — इस गण के यूलैमेलिब्रैंकियाओं के गिल के तंतु समान अंतरों पर संवाहनी संधियों द्वारा जुड़े रहते हैं। ये संधियाँ रेखीय तंतु जैसे स्थान को गवाक्षों (fenestrae) में रूपांतरित कर देती हैं। इस गण के उदाहरण हैं : ऐनोडोंटा (Anodonta), ऑस्ट्रिया (Ostrea), टेलिना (Tellina), कार्डियम (Cardium) तथा फोलैस (Pholas)।

(४) **सेप्टिब्रैंकिएटा** (Septibranchiata) — इस गण के प्राणियों के गिल श्वसन अंग के रूप में नहीं रहते हैं। अब ये पेशीय पट (septum) बनाते हैं, जो अभिवर्तनी पेशी से लेकर साइफनों के परस्पर पृथक् होने के स्थान तक जाते है। इस गण के उदाहरण हैं : पोरोमाइया (Poromya) तथा कस्पीडेरिया Cuspidaria)।

लैमेलिब्रैंकिया के १०० से अधिक कुल एवं ७,००० स्पीशीज ज्ञात हैं। [अ० ना० मे०]

लेली, टॉमस आर्थर, काउंट (१७०२ ई०–१७६६ ई०) लैली निर्भीक फ्रांसीसी सेनापति था। १७२१ में वह सैनिक अफसर नियुक्त हुआ। आस्ट्रिया के उत्तराधिकारयुद्ध तथा जैकोबाइट विद्रोह में विशेष

पराक्रम के पुरस्कारस्वरूप लुई पंद्रहवें ने उसे ब्रिगेडियर का पद दिया।

सप्तवर्षीय युद्ध आरंभ होते ही अंग्रेजों को भारत से निकाल बाहर करने के लिये लैली को सर्वोच्च अधिकारी बनाकर पांडिचेरी भेजा गया इस उद्देश्य की पूर्ति में पदाधिकारियों के ईर्ष्या-द्वेष तथा अपने अहंकार के कारण उसे किसी का हार्दिक सहयोग न मिला। जलसेनानायक ने उसे देर से पाँडिचेरी पहुँचाया और किसी अभियान में उसकी सहायता नहीं की। पाँडिचेरी के गवर्नर ने युद्ध के साधन नहीं जुटाए। अन्य पदाधिकारियों ने भी कोई उत्साह नहीं दिखा।। इसपर भी लैली ने गूडलूर, फोर्ट सेंट डेविड तथा देविकोट को अंग्रेजों से छीनकर अद्भुत कर्मण्यता दिखाई। धनाभाव के कारण मद्रास पर आक्रमण स्थापित करके उसे तंजोर पर आक्रमण करना पड़ा। किंतु पांडिचेरी पर संकट आने के भय से उसे छोड़ना पड़ा।

दिसंबर, १७५८ में बुसी के सहयोग से कांचीपुरम् जीतकर लैली ने मद्रास का घेरा डाला, पर सफल न हुआ। बुसी को हैदराबाद से बुलाकर उसने बड़ी भूल की। इससे सलाबतजंग ने अंग्रेजों के संरक्षण में आकर उत्तरी सरकार उन्हें सौंप दिया। १७६१ में पाँडिचेरी में उसे आत्मसमर्पण करना पड़ा। साधनों तथा सहयोग के अभाव से उसकी योजना विफल रहीं। पेरिस की संधि होने पर उसे फ्रांस भेज दिया गया। वहाँ राजद्रोह का झूठा अभियोग लगाकर १७६६ में उसे फाँसी दे दी गई। [ही० ला० गु०]

लैवेंडर (Lavender) का पौधा, जिसका वानस्पतिक नाम लैवेंडुला (Lavandula) है, लैबिएटी (Labiatea) कुल का जीनस है। यह कई प्रकार का होता है। इस जीनस के फूल एवं पत्तियाँ सुगंधित होती हैं। भूमध्यसागरीय देशों के जंगलों में जो लैवेंडर पाया जाता है, उसे लैवेंडुला स्पाइका (L. spica) कहते हैं। लैवेंडर की झाड़ी तीन से चार फुट तक ऊँची होती है। इसकी पत्तियाँ लंबी, सँकरी तथा हलकी हरी होती हैं। इसके फूल हलके नीललोहित एवं पूंपूर्वी होते हैं। एक वृंत के चारों ओर चक्कर में फूल खिलते हैं। फूल तथा पत्तियाँ सूखने पर भी पर्याप्त समय तक सुगंधित रहती हैं। इसी कारण सूखे फूलों को कपड़ों में रखकर बहुत से लोग उन्हें सुगंधित रखते थे।
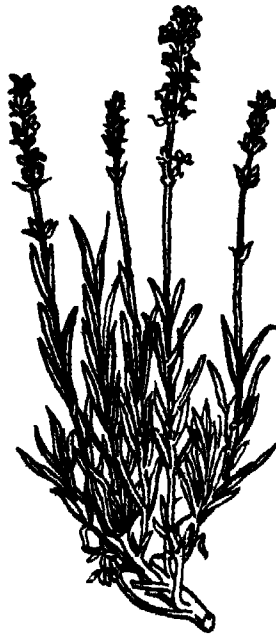
लैवेंडर
(लैवेंडुला स्पाइका,
Lavandula spica)

फूल में वाष्पशील तेल लगभग १५ प्रति शत रहता है, जो ओषधि, इत्र तथा चित्रकारी में प्रयुक्त होता है। इस तेल को ऐल्कोहॉल में घुलाकर लैवेंडर जल बनाते हैं। इससे तेल के साथ कुछ अन्य सुगंधित द्रव्य, जैसे मुश्क, गुलाब तथा बर्गामॉट (bergamot) का सत भी डालते हैं। चौड़ी पत्तीवाले लैवेंडर से कम सुगंधित इत्र बनता है। तेल निकालने के लिये फूल अगस्त में एकत्र किए जाते हैं। २५° सें० पर तेल गतिशील रहता है और उसका आपेक्षिक घनत्व ०·८७५ से ०·८८८ तक रहता है। [भ० ना० मे०]

लोककथा लोकगीतों की भाँति लोककथाएँ भी हमें मानव की परंपरागत वसीयत के रूप में प्राप्त हैं। दादी अथवा नानी के पास बैठकर बचपन में जो कहानियाँ सुनी जाती हैं, चौपालों में इनका निर्माण कब, कहाँ, कैसे और किसके द्वारा हुआ, यह बताना असंभव है। कथाओं की प्राचीनता को ढूँढ़ते हुए अंत में अन्वेषक ऋग्वेद के उन सूक्तों तक पहुँचकर रुक गए हैं जिनमें कथोपकथन के माध्यम से 'संवाद-सूक्त' कहे गए हैं। पीछे ब्राह्मण ग्रंथों में भी उनकी परंपरा विद्यमान है। यही क्रम उपनिषदों में भी मिलता है किंतु इन सबसे पूर्व कोई कथा कहानी थी ही नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रश्न उठता है जो प्रथाएँ उन सब में आई हैं उनका उद्गम कहाँ है? जहाँ उनका उद्गम होगा लोककथाओं का भी वही प्रारंभिक स्थान माना जाना चाहिए। पंचतंत्र की बहुत सी कथाएँ लोककथाओं के रूप में जनजीवन में प्रचलित हैं। किंतु यह भी सही है कि जितनी कथाएँ (पंचतंत्र के प्रकार की) लोकजीवन में मिल जाती हैं उतनी पंचतंत्र में भी नहीं मिलती। यदि यह कहा जाय कि विष्णु शर्मा ने लोकजीवन में प्रचलित कथाओं से लाभ उठाया होगा तो कोई अनुपयुक्त बात नहीं होगी। हितोपदेश, बृहच्छ्लोक संग्रह, बृहत्कथा मंजरी, कथा बेताल पंचविंशति आदि का मूल लोकजीवन है। जातक कथाओं को अत्यधिक प्राचीन माना जाता है। इनकी संख्या ५५० के लगभग है किंतु लोककथाओं की कोई निर्धारित संख्या नहीं है। प्राकृत भाषा में भी अनेक कथाग्रंथ हैं। मूल पैशाची में लिखित 'बड्डकहा' कथा सरित्सागर, बृहत्कथा आदि का उपजीव्य बनी। संस्कृत मे उसकी कुछ कथाएँ रूपांतरित हुई। अपभ्रंश के 'पउम चरिअ' और 'भविसयत्त कहा' भी इसी क्रम में आती हैं। इस तरह लिखित रूप में वैदिक संवाद सूक्तों से प्रवाहित कथाधारा निरंतर प्रवाहित है किंतु इन सबका योग भी लोकजीवन में प्रचलित कहानियों की बराबरी तक नहीं पहुँच सकता। अत: हम कह सकते हैं कि लोककथाएँ वे कहानियाँ हैं जो मनुष्य की कथा प्रवृत्ति के साथ चलकर विभिन्न परिवर्तनों एवं परिवर्धनों के साथ वर्तमान रूप में प्राप्त होती हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कुछ निश्चित कथानक रूढ़ियों और शैलियों में ढली लोककथाओं के अनेक संस्करण, उसके नित्य नई प्रवृत्तियों और चरितों से युक्त हुकर विकसित होने के प्रमाण हैं। एक ही कथा विभिन्न संदर्भों और अंचलों में बदलकर अनेक रूप ग्रहण करती है।

हिंदी लोककथाओं के अध्ययन से इनकी कुछ अपनी विशेषताओं का पता चलता है। मनुष्य आदिकाल से सुखों की खोज में लगा हुआ है। सुख लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार के हैं। भारतीय परंपरा में पारलौकिक को लौकिक से अधिक ऊँचा स्थान दिया जाता है 'अंत भला तो सब भला' के अनुसार हमारी लोककथाएँ भी सुखांत हुआ करती है। शायद ही ऐसी कोई कथा हो जो दु:खांत हो। फिर प्राचीन काल से ही भारतीय लोककथाओं की यही मुख्य प्रवृत्ति रही

इसलिये लोककथाओं के पात्र अनेक साहसिक एवं रोमांचकारी घटनाओं से होकर अंत में सुख की प्राप्ति करते हैं। संस्कृत के नाटकों की भाँति इनका भी अंत संयोग में ही होता है। ये कथाएँ मूल रूप में मंगलकामना की भावनाएँ लेकर आईं। इसीलिये लोककथा कहनेवाले प्राय: कथाओं के अंत में कुछ मंगल वचन भी कहा करते हैं। जैसे—'जिस प्रकार उनके (कथा के प्रमुख पात्र के) दिन फिरे, वैसे ही साल दुश्मन (बहुत बड़े शत्रु) के भी दिन फिरें।'

विभिन्न प्रकार के दैविक एवं प्राकृतिक प्रकोपों का भय दिखाकर श्रोताओं को धर्म तथा कर्तव्यपालन के पथ पर ले आना भी बहुत सी लोककथाओं का लक्ष्य होता है। सारी सृष्टि उस समय एक धरातल पर उतर आती है जब सभी जीव-जंतुओं की भाषा एक हो जाती है। कहीं मनुष्य पशु से बात करता है तो कहीं पशु पक्षी से। सब एक दूसरे के दु:ख सुख में समीप दिखाई पड़ते हैं। लोकगीतों की भाँति लोककथाएँ भी किसी सीमा को स्वीकार नहीं करतीं। अंचलों की बात तो जाने दीजिए ये कथाएँ देशों और महाद्वीपों की सीमाएँ भी पार कर गई हैं। इन कथाओं की विशेषता यह भी है कि ये मानव जीवन के सभी पहलुओं से संपर्क रखती हैं। इधर लोककथाओं के जो संग्रह हुए हैं उनमें तो बहुत ही थोड़ी कथाएँ आ पाई हैं। भले ही हम उनके संरक्षण की बात करें परंतु अपनी विशेषताओं के कारण ही श्रुति एवं स्मृति के आधार पर जीवन प्राप्त करनेवाली ये कथाएँ युगों से चली आ रही हैं। ये कथाएँ मुख्य रूप से तीन शैलियों में कही जाती हैं। प्रथम गद्य शैली; इस प्रकार में पूरी कथा सरल एवं आंचलिक बोली में गद्य में कही जाती है। द्वितीय गद्य पद्य मय कथाएँ—इन्हें चंपू शैली की कथा कहा जा सकता है। ऐसी कथाओं में प्राय: मार्मिक स्थलों पर पद्य रचना मिलती है। तीसरे प्रकार की कथाओं में पद्य गद्य के स्थान पर एक प्रवाह सा होता है। यह प्रवाह श्रोताओं पर अच्छा असर डालता है किंतु इस में द्वितीय प्रकार की कथाओं के पद्यों की भाँति गेयता नही होती, जैसे :

जात रहे डाँड़े डाँड़े,
एक ठे पावा कौड़ी
ऊ कौड़ी गंगा के दिहा
गंगा बेचारी बालू दिहिनि
ऊ बालू मइँ भुँजवा के दिहा
भुँजवा बेचारा दाना दिहेसि—इत्यादि

कहानी कहनेवाला व्यक्ति कथा के प्रमुख पात्र (नायक) को पहले वाक्य में ही प्रस्तुत कर देता है; जैसे—'एक रहे राजा' या 'एक रहा दानव' आदि। इस विशेषता के कारण लोककथाओं का श्रोता विशेष उलझन में नहीं पड़ता। लोकजीवन में कथा कहने के साथ ही उसे सुनने की शैली भी निर्धारित कर दी गई है। सुननेवालों में से कोई व्यक्ति, जब तक हुँकारी नहीं भरता तब तक कथा कहने वाले को आनंद ही नहीं आता। हुँकारी सुनने से कहनेवाला अँधेरे में भी समझता रहता है कि श्रोता कहानी को ध्यानपूर्वक सुन रहा है।

लोककथाओं को मुख्य रूप से निम्नलिखित विभागों में बाँटा जा सकता है—

उपदेशात्मक कथाएँ—हिंदी की अनेक छोटी बड़ी कथाओं में मानव कल्याण के लिये विभिन्न प्रकार के उपदेश भरे पड़े हैं। ऐसी कथाएँ प्राय: अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा देती हैं। इसलिए ऐसा आभास नहीं होता कि उनका निर्माण उपदेश के लिये ही किया गया होगा। इनके माध्यम से गृहकलह एवं सामाजिक बुराइयों से बचने के लिये प्रेरणाएँ मिलती हैं। ऐसी बहुत सी कथाएँ हैं जिनमें कर्कशा नारियों के कारण परिवार को विभिन्न प्रकार के कष्टों का भाजन होना पड़ा है। इनमें विमाताओं तथा सौतों की कथाएँ प्रधान होती हैं। इनके अतिरिक्त ऐसी भी कथाएँ मिलती हैं जिनमें मायावी स्त्रियाँ पर पुरुषों पर डोरे डालती हैं या जादू टोना किया करती हैं जिससे कथा के नायक को तथा उससे संबंध रखनेवालों को विभिन्न संघर्षों का शिकार होना पड़ता है। पुत्र द्वारा पिता की आज्ञा न मानने पर कष्ट उठाने से संबद्ध भी अनेक कथाएँ हैं किंतु, जैसा कि ऊपर बताया गया है, ये सभी कथाएँ अंत में सुख एवं संयोग में समाप्त होती हैं। जब तक कथा समाप्त नहीं होती तब तक पात्रों और मुख्य रूप से नायकों को इतनी भयानक घटनाओं में फँसा देखा जाता है कि सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कुछ श्रोता तो वहीं कथा कहनेवाले तथा अन्य श्रोताओं की परवाह किये बिना नायक को कष्ट देनेवाले के नाते अपशब्द भी कहने लगते हैं। उन्हें ये सारी घटनाएँ सही मालूम पड़ती है।

सामाजिक कहानियाँ — इनमें विभिन्न प्रकार की बुराइयों से उत्पन्न घटनाओं का समावेश होता है। इनमें विशेष कर गृहकलह (सास-बहू एवं ननद भावज के झगड़े) एवं दुश्चरित्र और लंपट साधु संतों की करनी तथा अयोग्य नरेश के कारण प्रजा का दुखी होना दिखाया जाता है। बाल विवाह, बेमेल विवाह, बहु विवाह, विजातीय विवाह तथा दहेज आदि की निंदा भी इन कथाओं में मिलती हैं। योग्य या निरपराध व्यक्ति अयोग्य दुष्ट व्यक्ति के चंगुल में फँसकर परेशान होते दिखाई पड़ते हैं। सामाजिक कहानियों में वे कथाएँ अपना विशेष स्थान रखती हैं जिनमें नायिका मुख्य रूप से और नायक गौण रूप से भयानक परीक्षाएँ देते हैं। ऐसी परीक्षाओं में प्राय: सामाजिक एवं व्यक्तिगत चरित्र को प्रधानता दी जाती है। जिन नायक नायिकाओं के चरित्र ठीक होते हैं वे ऐसी कठोर परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते दिखाई पड़ते हैं। जैसे सच्चरित्र नारी जब तप्त तैल के कड़ाहे में हाथ डालकर अपने सतीत्व की परीक्षा देती है तो कड़ाहे का तप्त तेल शीतल होता है। पतिव्रता स्त्री सूर्य के रथ को भी रोक देती है। उसके भय से बड़े बड़े दैत्य दानव तथा डाइनें भूतप्रेत पास नहीं फटकते। इसी तरह चरित्रवान् नायक भी विकट परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति करते हैं।

धार्मिक लोककथाएँ — इनमें जप तप, व्रत-उपवास एवं उनसे प्राप्त उपलब्धियाँ संजोई गई हैं। सुखों की कामना के लिये कही गई इन व्रत कथाओं से उपदेश ग्रहण कर संबद्ध पर्वों के अवसरों पर स्त्रियाँ व्रतों का पालन किया करती हैं। पति, पुत्र एवं भाइयों की कुशलता तथा संपत्तिप्राप्ति इनका लक्ष्य होता है। ऐसी लोक कथाओं में 'बहुरा' (बहुला), जिउतिया (जीवित्पुत्रिका), करवा चौथ, अहोई, गनगौर और पिड़िया की कथाएँ मुख्य स्थान रखती

हैं : पिड़िया का व्रत कुमारी बालिकाओं द्वारा भाइयों की कुशलता के लिये किया जाता है। यह व्रत कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से अगहन शुक्ल प्रतिपदा तक चलता हैं। इसे गोधन व्रत कथा की संज्ञा भी दी जाती है। जीवत् पुत्रिका (जिउतिया) व्रत पुत्र की प्राप्ति तथा उसके दीर्घ जीवन के लिये किया जाता है। इस अवसर पर भी कई लोककथाएँ कही जाती है। किंतु चील्ह और स्यारिन की कथा तो अवश्य कही जाती है। कहते हैं कि चील्ह तथा स्यारिन दोनों ने ही इस पर्व पर किसी समय व्रत किया था परंतु भूख की ज्वाला न सह सकने के कारण स्यारिन ने चुपके से खाद्य ग्रहण कर लिया। परिणाम यह हुआ कि उसके सभी बच्चे मर गए और व्रत निभानेवाली चील्ह के सभी बच्चे दीर्घ जीवन को प्राप्त हुए। इस पर्व के व्रतविश्वास से जब पुत्र की प्राप्ति होती है तो लोककथाओं में दिए गए संकेत के अनुसार उसका नाम 'जीउत' रखा जाता है। ऐसा लगता है कि पुराणों मे जीवत्पुत्रिका व्रत की कथा के साथ जो जीमूत वाहन की कथा संबद्ध है वह लोककथाओं के आधार पर ही है, क्योंकि पौराणिक जीमूत वाहन ने नागों की रक्षा के लिये अपनी देह का त्याग किया था। जिउतिया की कथा का भी उद्देश्य परोपकार के लिये आत्मोत्सर्ग कर देना ही है। करवा चौथ के व्रत में मुख्य रूप से उस राजा और रानी की कहानी कही जाती हैं जो दूसरों के बालकों से घृणा किया करते थे। इसीलिए उन्हें पुत्र नहीं हुआ। अंत में सूर्य की उपासना करने पर उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई।

प्रेमप्रधान लोककथाएँ — भी खूब मिलती हैं। इनमें मुख्य रूप में माता का पुत्र के प्रति, पुत्र का माता के प्रति, पत्नी का पति के और पति का पत्नी के प्रति तथा भाइयों बहनों का प्रेम दिखलाया जाता है। प्रायः सभी कथाओं में वर्णित प्रेम कर्तव्य एवं निष्ठा पर आधारित होता हैं। कुछ कथाएँ तो ऐसी भी हैं जिनमें जन्म जन्मांतर का प्रेम पल्लवित होता है। सदावृज सारंगा की कथा पूर्व जन्मों के प्रेम पर ही आधारित हैं। शीत वसंत की कहानी में जहां विमाता के दुर्व्यवहार की बात आती है वहीं भाई भाई का प्रेम भी चरम सीमा पर पहुँचता दिखाई पड़ता है। भाई बहिन और पतिपत्नी के प्रेम पर आधारित तो अनेक कथाएँ हैं। कई कथाओं में कुलीन एवं पतिपरायण स्त्रियाँ कुपात्र तथा घृणित रोगों से ग्रस्त पतियों को अपनी सेवा, श्रद्धा और भक्ति के बल पर बचा लेती हैं।

मनोरंजन संबंधी कथाएँ — इनका मूल उद्देश्य श्रोताओं के दिल बहलाव की सामग्री प्रस्तुत करना होता है। बालक बालिकाएँ ऐसी कहानियों को अति शीघ्र याद कर लेते हैं। ये कथाएँ प्रायः छोटी हुआ करती हैं। भिन्न भिन्न जानवरों जैसे कुत्ता, बिल्ली, गीदड़, नेवला, शेर, भालु, सुग्गा, कौवा, चील्ह आदि से संबंध रखनेवाली ये कहानियाँ बालकों का मनोरंजन करती हैं। इनमें वर्णित विषय गंभीर भी होते हैं किंतु प्राथमिकता हलकी फुलकी बातों को दी जाती है। उदाहरण के लिये ढेले पर पात की एक लघु कथा लें—ढेले पत्ते में मित्रता हुइ। ढेले ने पत्ते से कहा, आँधी आने पर मैं तुम्हारे ऊपर बैठ जाऊँगा तो तुम उड़ोगे नहीं। पत्ते ने कहा 'पानी आने पर मैं तुम्हारे ऊपर हो जाऊँगा तो तुम गलोगे नहीं।' संयोग की बात कि आँधी पानी का आगमन साथ ही हुआ। पत्ता भाई उड़ गये और ढेला भाई गल गए। विभिन्न प्रकार की हास्य कथाएँ भी इसी प्रकार के अंतर्गत आती हैं।

अंत में ऐसी लोककथाओं की चर्चा भी अपेक्षित है जो जातीय पात्रों पर आधारित होती हैं। ऐसी कथाएँ अहीरों, धोबियों, नाइयों, मल्लाहों, चमारों तथा कुछ अन्य जातियों में हुए विशिष्ट नायकों पर आधारित होती हैं। इन कथाओं को संबंधित जातियाँ ही आपस में कहती सुनती हैं। वन्य जातियों, जैसे कोलों, भीलों, धीमरों, खरवारों, किरातों तथा दुसाधों आदि में ऐसी कथाएँ अधिक मात्रा में पाई जाती हैं। [चं० शे० मि०]

लोकगाथा (भारतीय) भारत में लोकगाथाओं की बड़ी ही व्यापक और दीर्घ परंपरा पाई जाती है परंतु इसकी कोई निश्चित संज्ञा नहीं है। विभिन्न भारतीय भाषाओं में इनके भिन्न भिन्न नाम मिलते हैं। महाराष्ट्र मे इन्हे 'पाँवड़ा', गुजरात में 'कथागीत' तथा राजस्थान में 'गीतकथा' कहते हैं।

कथात्मक गीत, अंग्रेजी में 'बैलेड' शब्द से अभिहित है। इस की व्युत्पत्ति लैटिन के 'बेल्लेर' शब्द से है जिसका अर्थ है नाचना अथवा नृत्य करना। कालांतर में इसका प्रयोग केवल लोकगाथाओं के लिये किया जाने लगा। अंग्रेजी साहित्यकार इसकी ओर अधिक आकृष्ट हुए और यह अंग्रेजी साहित्य का लोकप्रिय काव्यरूप ही बन गया।

लोकगाथा की परिभाषा करते हुए विभिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न विचार प्रकट किए हैं। किंतु परिभाषाओं में कुछ सर्वसामान्य तत्व विद्यमान हैं। इस विषय में कुछ प्रमुख विद्वानो के विचार ये हैं —

जी० एन० किटरेज ने लोकगाथा को कथात्मक गीत अथवा गीत-कथा कहा है। फ्रैंक सिजविक लोकगाथा को सरल वर्णनात्मक गीत मानते हैं जो लोकमात्र की संपत्ति होती है और जिसका प्रसार मौखिक रूप से होता है। प्रो० एफ० बी० गुमेर ने इसकी विस्तृत चर्चा की है। उनके अनुसार लोकगाथा गाने के लिये लिखी गई ऐसी कविता है जो सामग्री की दृष्टि से प्रायः व्यक्ति-शून्य रहती है और संभवतः उद्भव की दृष्टि से सामुदायिक नृत्यों से संबद्ध रहती है पर इसमें मौखिक परंपरा ही प्रधान है। डा० मेर लोकगाथा को छोटे छोटे पदों में रची कविता मानते हैं जिसमें कोई लोकप्रिय कथा विस्तार से कही गई हो। लुसी पौंड लोकगाथा को एक साधारण कथात्मक गीत मानते और इसकी उत्पत्ति को संदिग्ध बताते हैं।

तात्पर्य यह कि लोकगाथाओं में गीतात्मकता अनिवार्य तत्व है। कथानक प्रभावशाली और विस्तृत होता है। पर वह व्यक्तित्व-विहीन होती हैं अर्थात् उनके रचयिताओं का पता नहीं होता। ये समाज के किसी वर्ग और व्यक्ति विशेष से संबद्ध नहीं हैं अपितु, संपूर्ण समाज की धरोहर हैं। इनका उद्भव जनसाधारण की मौखिक परंपरा से होता है। काव्यकला के सौंदर्य और गुणों का इनमें अभाव रहता है।

भारतीय लोकगाथाओं के अनेक प्रकार हैं। स्थूल रूप से इनका वर्गीकरण विषय तथा आकार की दृष्टि से किया जा सकता है। आकार की दृष्टि से ये रचनाएँ लघु और बृहद् दोनों प्रकार की पाई जाती हैं। बृहद् गाथाओं का आकार कभी कभी प्रबंध काव्यों के समान भी पाया जाता है।

किंतु लोकगाथाओं का वास्तविक वर्गीकरण विषय की दृष्टि से ही समीचीन होगा। डा० कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार ये त्रिविध हैं: १. प्रेमकथात्मक गाथा, २. वीरकथात्मक गाथा, ३. रोमांच कथात्मक गाथा।

प्रथम कोटि की लोकगाथाओं में प्रेम संबंधी वर्णन ही अधिक रहता है। प्रणय में उत्पन्न अनेक घटनाएँ एक स्थान पर सँजो दी जाती हैं। इनमें प्रेम विषम परिस्थिति में उत्पन्न होता है तथा उसी में पलता और बढ़ता है। इसी कारण संघर्ष की अवस्था अनिवार्य होती है। भोजपुरी लोकगाथाओं में 'कुसुम देवी', 'भगवती देवी' और 'लचिया' की गाथाएँ इसी प्रकार की है। बिहुला बाला, लखंदर, 'शोभानयका बनजारा' तथा भरथरी चरित में वियोग की शीर्षावस्था के दर्शन होते हैं। राजस्थान में प्रचलित 'ढोला मारू' की गाथा तथा पंजाब की 'हीर राँझा' एवं 'सोहनी महीवाल' नामक गाथाएँ हृदय को रसमान कर देने में पूर्ण सक्षम हैं।

द्वितीय वर्ग की गाथाएँ वीर कथात्मक गाथाएँ हैं। इन लोकगाथाओं में किसी वीर के साहसपूर्ण कौशल का वर्णन अभीष्ट होता है। इस प्रकार की लोकगाथाओं में प्रायः उसी वीर पुरुष के चरित्र को उभारा जाता है जो नायक होता है। कहीं तो वह किसी आपद्-ग्रस्त नारी की रक्षा करते हुए दिखाई पड़ता है, वहीं न्याय की विजय के लिये अन्याय से संघर्ष करता हुआ। इस प्रकार की गाथाओं मे 'आल्हा' सर्वश्रेष्ठ है। 'लोरिकायन' तथा 'कुँवर विजयमल' की गाथाएँ भी इसी कोटि में आती हैं।

तृतीय प्रकार की गाथाओं में रोमांच या रोमास की प्रधानता होती है। इस प्रकार की गाथाएँ प्रायः नायिकाप्रधान पाई जाती हैं। नायिकाओं का लौकिक जीवन रोमांचकारी घटनाओं से भरा हुआ होता है। इस कोटि में प्रमुख रूप से दो लोकगाथाएँ उल्लेखनीय हैं— 'सोरठी' तथा बिहुल विला लखंदर'। इनका मुख्य उद्देश्य सत्य की असत्य पर विजय है।

डा० सत्यव्रत सिनहा ने इन तीनों के अतिरिक्त एक और वर्ग माना है—योगकथात्मक लोकगाथाएं।

कथा में नायक बाद में योग धारणकर जोगी बन जाते है और सभी सुखसुविधाएं छोड़कर संसार से विरक्त हो जाते है। इन्होंने इस कोटि के अंतगत' 'राजा भरथरी' तथा 'राजा गोपीचंद्र' की गाथाओं को अलग से स्थान दिया है।

प्रमुख गाथाओं का संक्षिप्त विवरण — विभिन्न भारतीय भाषाओं में प्रधान रूप से कुछ प्रमुख लोकगाथाएँ प्रचलित हैं। इनमें से कुछ हृदयग्राही लोकगाथाओं का विवरण इस प्रकार है—

सोरठी — यह एक प्रेमगाथा है। अपनी अतीत लोकप्रियता के कारण यह भोजपुरी अंचल में खूब प्रचलित है। इसमें 'सोरठी' तथा नायिका 'बृजमार' नायक के प्रेमप्रसंगों का बड़ा ही विस्तृत और प्रभावशाली वर्णन दृष्टिगोचर होता है। सोरठी जन्म के बाद अपने माता पिता से बिछुड़ जाती है और एक कुम्हार के यहाँ पाली पोसी जाती है। इसी सोरठी को प्राप्त करने के लिये बृजाभार अनेक प्रयत्न करता है। प्रायः इसे एक साथ दो व्यक्ति गाते हैं। इसके प्रकाशित रूप भोजपुरी तथा मैथिली में उपलब्ध हैं। यह मगही में भी गाई जाती है।

शोभा नयका बनजारा — भारतीय बनजारों के जीवन से संबंधित यह प्रेमकथा बड़ी ही प्रभावोत्पादक है। इसका नायक शोभा नायक है जो व्यापार के लिये मोरंग देश जाता है, तथा इसकी नायिका जसुमति है। विरह और पातिव्रत धर्म का इस गाथा में बड़ा ही मनोहारी वर्णन है। इसमें सामाजिक कुरीतियों तथा अंधविश्वासों एवं अनेक कौटुंबिक पहलुओं पर रोचक ढग से प्रकाश डाला गया है। इस लोकगाथा के मैथिली, मगही तथा भोजपुरी रूप मिलते हैं।

आल्हा — अपने मूल रूप में यह बुंदेलखंडी लोकगाथा है। इसका संबंध चारण काल से भी माना जाता है। इसके रचयिता के रूप में 'जगनिक' का नाम लिया जाता है। इस लोकगाथा के नायक आल्हा और ऊदल नामक वीरों का संबंध महोबे के राजा परमर्दिदेव से है। महोबे का पक्ष लेकर इन दोनों वीरो ने अनेक भयानक युद्ध किए तथा उस काल के प्रसिद्ध वीर पृथ्वीराज चौहान को भी परास्त किया। इस लोकगाथा में वीररस की प्रधानता है और यह ढोल एवं नगाड़े पर गाई जाती है।

लोरिकी — यह मुख्य रूप स अहीरों की लोकगाथा है। भोजपुरी अंचल मे अहीर लोग उत्सवों तथा शुभ अवसरों पर लोरिकी बड़े उत्साह से गाते हैं। नायक लोरिक के शौर्य से ही यह गाथा भरी पड़ी है। लोरिक का चरित्र प्रधान होने से यह लोकगाथा लोरिकी के नाम से अभिहित हुई। लोरिक का मुख्य उद्देश्य सती स्त्रियों का उद्धार तथा दुष्टों का विनाश करना था। चार खडों में यह लोकगाथा गाई जाती है। इसमे वीरकाव्य के सभी गुण विद्यमान हैं। यद्यपि यह मुख्य रूप से भोजपुरी प्रदेशो मे ही गाई जाती है पर इसके भिन्न भिन्न रूप मैथिली, छत्तीसगढ़ी तथा बँगला में भी मिलते हैं।

विजयमल — इसमें विजयमल का मल्ल क्षत्रियों के प्रतिनिधि के रूप में चित्रण किया गया है। यह भी एक वीरगाथा है जिसमें युद्ध के वर्णन के साथ ही साथ मल्ल क्षत्रियों के शौर्य का विशेष उद्-घाटन किया गया है। इसमें विवाह के कारण युद्ध हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे यह लोकगाथा मध्य युगीन हो।

बाबू कुँवरसिंह की लोकगाथा — यह भोजपुरी प्रदेशों में बड़े उत्साह और शौर्यप्रदर्शन के साथ गाई जाती है। यह अमर गाथा भोजपुरी वीरता का प्रतिनिधित्व करती है। बाबू कुँवरसिंह बिहार के शाहाबाद जिलांतर्गत भोजपुरी गाँव के रहनेवाले थे। आप एक छोटे से राज्य के शासक थे। १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में आप अंग्रेजों से संघर्ष करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। यह गाथा इतनी प्रभावकारी है कि जहाँ एक ओर श्रोता वीरता से झूमने लगते हैं, वहाँ आठ आठ आँसू भी बहाते देखे जाते हैं। बाबू कुँवर सिंह का विशेष संमान आज भी भोजपुरी अंचलों में किया जाता है, क्योंकि

उन्होंने अंग्रेजों से लोहा लेकर स्वतंत्रता के संग्राम में देशवासियों का साथ दिया था।

बिहुला — इस लोकगाथा को बिहुला बाला लखंदर के नाम से भोजपुरी अंचल में सुना जा सकता है। इसमें स्त्रियों की पतिव्रतता का बड़ा ही प्रभावशाली चित्रण हुआ है। यहाँ इसका स्थान सावित्री-सत्यवान से किसी भी स्थिति में कम नहीं है। बिहुला अपने पति बाला लखंदर को, जिसे साँप काट खाता है, बचाने के लिये स्वर्ग जाती हैं और वहाँ अपने अभीष्ट को प्राप्त करती है। पूर्वी बिहार और बंगाल में नागपंचमी के दिन बिहुला सती की पूजा होती है। गायक इस गाथा को बड़ी ही श्रद्धा के साथ गाते हैं। स्त्रियों में यह गाथा अधिक लोकप्रिय है। इस लोकगाथा का मैथिली और बँगला रूप भी मिलता है।

राजा गोपीचंद — राजा गोपीचंद का नाम नाथ संप्रदाय के अंतर्गत एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी है। नौ नाथों में इन्हें भी एक नाथ का स्थान प्राप्त था। इनकी गाथा विशेष रूप से जोगियों में ही प्रचलित है। गोपीचंद राजपाट, भोगविलास सब कुछ छोड़कर माता मैनावती के कहने पर वैराग्य ग्रहण करने वन में चले गए। उनके इस त्याग की कथा ही प्रस्तुत लोकगाथा में प्रचलित है। भारतवर्ष की प्रायः समस्त जनपदीय बोलियों में गोपीचंद की गाथा प्रचलित है। चूँकि गोपीचंद का संबंध बंगाल के पालवंश से था, इसलिये इस गाथा का सबसे अधिक प्रचलन बंगाल में है। यह लोकगाथा भोजपुरी, मगही, मैथिली, पंजाबी, सिंधी इत्यादि में भी पाई जाती है।

राजा भरथरी — राजा भरथरी भी नाथपंथी थे। नौ नाथों में इनका भी नाम लिया जाता है। राजा भरथरी और रानी सामदेई का वृत्तांत ही इस लोकगाथा का वर्ण्य विषय है। इसे प्रायः जोगी लोग ही गाते हैं। राजा भरथरी का संबंध उज्जैन के राजवंश से था। किन्हीं कारणों से कालांतर में इन्होंने गुरु गोरखनाथ का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और अपनी युवा रानी को छोड़कर योगी बन गए। इनके कई ग्रंथ भी मिलते हैं। ऐसी धारणा है कि ये राजा विक्रमादित्य के बड़े भाई तथा राजा गोपीचंद के भांजे थे।

लोकगाथाओं की विशेषताएँ — ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभी देशों की लोकगाथाओं की विशेषताएँ प्रायः समान हैं। लोकगाथाओं की ये विशेषताएँ ही प्रायः उन्हें अलंकृत काव्य से पृथक् करती हैं। मुख्य विशेषताएँ हैं—१. रचयिता का पता न होना; २. प्रामाणिक मूल पाठ का न मिलना; ३. संगीत और कभी कभी नृत्य की अनिवार्य स्थिति; ४. स्थानीय प्रभाव; ५. मौखिक स्थिति; ६. अलंकृत शैली के अभाव के साथ साथ स्वाभाविकता का पुट; ७. उपदेशों का अभाव; ८. रचयिता के व्यक्तित्व का अभाव; ९. लंबी कथावस्तु; १०. टेक पदों की बार बार आवृत्ति; ११. ऐतिहासिक दृष्टि से संदिग्धता।

लोकगाथाओं की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इनके रचयिता अज्ञात हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके रचयिता लापरवाह थे और लंबी लोककथाओं की रचना के बाद अपना नाम देना भूल जाते थे। यही कारण है कि परंपरा से चली आती हुई लोकगाथाओं में जब लोग अपने बनाए हुए पद जोड़ देते हैं तब पता ही नहीं चलता। इन लोकगाथाओं में तत्कालीन सामाजिक स्थिति की झलक मिलती है।

लोकगाथाओं के प्रामाणिक मूल पाठ का अभाव मिलता है। रचयिता के अज्ञात होने के कारण यह स्वाभाविक भी है। प्राप्त लोकगाथाओं के रचयिता एक बार लोकगाथाओं का सूत्रपात करके उन्हें समाज को सौंप देते तथा स्वयं हट जाते हैं, और उसके बाद लोकगाथाओं की एक ऐसी निरंतर धारा प्रवाहित होने लगती है जिसका कभी अंत नहीं होता। लोकगाथाओं को प्रत्येक युग अपनी निजी संपत्ति समझता है और प्रत्येक गवैया अपने इच्छानुसार कुछ पंक्तियाँ भी जोड़ देता है। जैसे जैसे ये लोकगाथाएँ एक गवैये से दूसरे गवैये के पास जाती हैं इनमें परिवर्तन होता जाता है। इस प्रकार इन के प्रामाणिक पाठ का मिलना नितांत असंभव हो गया है।

लोकगाथाओं में संगीत की स्थिति अनिवार्य होती है। चूँकि इनमें सूक्ष्म भावों की व्यंजना नहीं पाई जाती, इसलिये इनमें साहित्यिकता का अभाव होता है। यद्यपि प्राचीन भारतीय लोकगाथाओं में प्रायः नृत्य का समावेश अनिवार्य था, तथापि धीरे धीरे यह गौण होता गया और आज तो दिखाई ही नहीं पड़ता।

लोकगाथाएँ चाहे जहाँ की भी हों, स्थान विशेष पर पहुँचकर वहाँ की विशेषताएं अपना लेती हैं। उनका निर्माण प्रायः किसी घटना के कारण होता है और इनमें तद्देशीय वातावरण एवं स्थानीयता का समावेश हो जाता है। 'लोरिकी' में बिहार के कई गाँवों का स्पष्ट वर्णन मिलता है। 'ढोलामारू' की लोकगाथा में ऊँट का विशेष महत्व है क्योंकि वहाँ का यातायात साधन ऊँट ही है। पर्वतीय अंचलों मे चूँकि सर्दी अधिक पड़ती है अतएव वहाँ की बालाएँ अपने पिता से कहती है कि (लोकगाथाओं के अंतर्गत) मेरा ब्याह ऐसी जगह मत कीजिएगा जहाँ गर्मी अधिक पड़ती हो और पसीने से परेशान हो जाऊं। मैथिली लोकगाथाओं में वहाँ की स्थानीय प्रथाओं की झाँकी मिलती है।

हमारे देश में मौखिक परंपरा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। वेद साहित्य भी इसी परंपरांतर्गत गुरु शिष्यों के माध्यम से आगे बढ़ता रहा और बाद में लिपिबद्ध किया गया। लोकगाथाएँ लिपिबद्ध नहीं होती थीं; अपितु मौखिक परंपरा के रूप में ही चली आ रही है। वास्तव में इनकी महत्ता भी तभी तक है जब वे लिपिबद्ध न हों। लिपिबद्ध होने के पश्चात् इनका विस्तार रुक जाता है तथा इनकी स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। कारण यह है कि जब तक ये मौखिक परंपरा में रहती हैं तब तक तो लोक की सामग्री रहती हैं पर जब लिपिबद्ध हो जाती हैं तब साहित्य की संपत्ति हो जाती हैं।

लोकगाथाएँ हृदय का धन होती हैं। इनमें अपने आप ही माधुर्य और स्वाभाविकता आ जाती है। इनमें अलंकृत शैली के अभाव का कारण यह है कि ये किसी व्यक्तिविशेष की संपत्ति न होकर संपूर्ण समाज की संपत्ति होती हैं। इनकी उत्पत्ति चूँकि प्राचीन काल से

है तथा उस समय अलंकृत रूप का विकास नहीं हुआ था इसलिये अलंकृत शैली का अभाव स्वाभाविक है।

लोकगाथाओं में उपदेशात्मक प्रवृत्ति का नितांत अभाव पाया जाता है। लोकजीवन का संपूर्ण चित्र उपस्थित करना ही प्राय: उनका उद्देश्य होता है। लोकगाथाओं का गायन मात्र ही गायकों का कार्य होता है। उससे कुछ प्राप्त कर लेना श्रोताओं का कार्य है।

लोकगाथाओं में लेखक के व्यक्तित्व का पूर्ण अभाव पाया जाता है। चूँकि इन गाथाओं के रचयिता के बारे में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह कोई एक विशिष्ट व्यक्ति है, इसलिये उसके व्यक्तित्व का प्रभाव भी समाज पर नहीं पड़ता। इनमें केवल विषय की प्रधानता होती है, लेखक के व्यक्तित्व का अस्तित्व नहीं होता।

इन गाथाओं का कथानक अत्यंत विस्तृत होता है। चूँकि कथात्मक गीतों को ही लोकगाथा कहते हैं इसलिये स्वभावत: कथा के विस्तार के साथ ही गाथा का विस्तार भी बढ़ जाता है।

इसके विस्तार का दूसरा कारण यह हो सकता है कि इसे समाज अपनी संपत्ति समझता है और मनमाने ढंग से सभी इसमें कुछ न कुछ बढ़ा देते है। चूँकि लोकगाथाओं का उद्देश्य केवल कथा कहना होता है इसलिये ये अतीव लंबी हो जाती हैं।

लोकगाथाओं की एक उल्लेखनीय विशेषता उसके टेक पदों की पुनरावृत्ति है। गाथा को आनंददायक तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिये गीतों को बराबर दुहराकर गाने का प्रचलन पाया जाता है। इनकी इस प्रवृत्ति से यह विदित होता है कि ये गाथाएँ सामूहिक रूप से गाई जाती थीं। इस प्रवृत्ति से कुछ लाभ भी हैं। गाथाओं के गायन के लिये जब दो वर्ग एकत्र होते हैं तब टेक पदों की पुनरावृत्ति से वातावरण ओजस्वी हो जाता है तथा दूसरा समूह भी ऊब से बच जाता है। इस प्रवृत्ति से श्रोताओं को भी आनंद की अनुभूति होती है और गायक भी राहत तथा उत्साह अनुभव करते है।

इन लोकगाथाओं की ऐतिहासिकता तो होती नहीं, और यदि किसी प्रकार कहीं इनका ऐतिहासिक आधार मिल भी गया तो वह संदिग्ध होता है। 'आल्हा', 'राजा गोपीचंद' 'राजा भरथरी' 'बाबू कुँवर सिंह' इत्यादि लोकगाथाओं का इतिहास से कुछ समर्थन मिलता पर कुछ का कोई सूत्र नहीं मिलता। उदाहरणार्थ 'शोभानयका बनजारा', 'लोरिकी' सोरठी' इत्यादि का इतिहास मे कोई वर्णन नहीं मिलता।

सं० ग्रं० — भोजपुरी लोकगाथा : डॉ० सत्यव्रत सिनहा; लोक-साहित्य की भूमिका : डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय; नाथ संप्रदाय : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी; भोजपुरी भाषा और साहित्य : डॉ० उदय नारायण तिवारी। [श्री० कु० उ०]

लोकगीत (हिंदी) वर्तमान हिंदीभाषी क्षेत्र प्राचीन भारत का मध्य देश है। इस क्षेत्र में बोली जानेवाली बोलियों को भाषा वैज्ञानिकों ने चार भागों में बाँटा है। 'पश्चिमी हिंदी' जिसके अंतर्गत खड़ी बोली, ब्रज, बांगरू, कन्नौजी, राजस्थानी तथा बुंदेलखंडी भाषाएँ आती हैं। अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी मध्य की भाषाएँ हैं और इसके पूर्व में बिहारी भाषा समुदाय की भोजपुरी, मैथिली तथा मगही भाषाएँ हैं। उत्तर में कुमाऊनी भाषा है जो नैनीताल, अल्मोड़ा, गढ़वाल, टेहरी गढ़वाल, पिथौरागढ़, चमोली तथा उत्तर काशी में बोली जाती है। बोलियों की बहुत सी उप-बोलियाँ भी हैं, जिनके लोकगीतों का यथास्थान संक्षिप्त परिचय दिया जायगा। लोकगीत चाहे कहीं के भी हों वे प्राचीन परंपराओं, रीतिरिवाजों एवं धार्मिक तथा सामाजिक जीवन के, या यों कहिए कि संस्कृति के, द्योतक हैं। यहाँ विभिन्न क्षेत्रों के विविध लोकगीतों का परिचय देने के पूर्व ऐसे गीतों की चर्चा कर दी जा रही है जो मात्र शब्दावली बदलकर अनेक क्षेत्रों में गाए जाते हैं। इनमें भाषा अथवा बोली की अनेकता भले हो पर भाव की एकता एवं उसे व्यक्त करने तथा पात्रों का चयन एक जैसा होता है। ऐसे गीतों में ऋतुसंबंधी गीत, संस्कार गीत और जातीय गीत मुख्य रूप से आते हैं। पद्य गाथाएँ एवं पँवारे भी विभिन्न प्रकार से गाये जाते हैं।

ऋतुगीतो में फाग और पावस गीत ऐसे हैं जो अनेक क्षेत्रों में प्रचलित दिखाई पड़ते हैं। फाग गीत मुख्य रूप से पुरुषों का गीत है जो वसंतपंचमी से लेकर होलिकादहन के सबेरे तक गाया जाता है। अवधी, ब्रज, राजस्थानी, बुंदेलखंडी, छत्तीसगढ़ी, बैसवाड़ी, बघेली, भोजपुरी आदि अनेक बोलियो में फाग संबंधी गीत पाए जाते हैं। फाग के होली, चौताल, डेढ़ताल, तिनताल, देलवइया, उलारा, चहका, लेज, झूमर और कबीर आदि अनेक प्रकार हैं। इन सब में केवल धुनों का अंतर है। पावस गीतों की भी बहुक्षेत्रीय परंपरा है। ये गीत उपर्युक्त सभी क्षेत्रों में न्यूनाधिक मात्रा में पाए जाते हैं किंतु अवधी और भोजपुरी में अधिक प्रचलित हैं। इन दोनों क्षेत्रों में इन्हें कजली कहा जाता है। संस्कार के गीतों में सोहर (जन्मगीत), मुंडन, जनेऊ के गीत और विवाह के गीत प्राय: सभी स्थानों में गाए जाते हैं। मृत्यु के समय प्राय: प्रत्येक क्षेत्र की स्त्रियाँ राग बाँधकर रोती हैं। जातीय गीतों में काफी पृथकता होती है किंतु जहाँ एक ही जाति के लोग अनेक क्षेत्रों में बसे है, उनके गीतों की मूल प्रवृत्ति एक जैसी ही है। जैसे, पँवरिया जाति के लोग पँवारा, नट जाति के लोग आल्हा, अहीर जाति के लोग बिरहा कई क्षेत्रों में गाते हैं। पद्य गाथाएँ तो प्राय. सभी क्षेत्रों में मिल जाती हैं। ये स्थानीय जननायकों के चरित्रों पर आधारित होती हैं।

प्राय: सभी क्षेत्रों में माताएँ बच्चों को सुलाने के लिये लोरी तथा प्रात: उन्हें जगाने के लिये प्रभाती गाया करती हैं। बालक बालिकाएँ भी कुछ खेलों में गीतों का सहारा लेते हैं। बहुत से ऐसे खेल भी हैं जिनमें वयस्क स्त्री पुरुष गीत गाया करते हैं। लोकप्रचलित भजन और श्रमगीत तो सभी क्षेत्रों में गाए जाते हैं। लोकगाथाओं में ऐसी बहुत सी गाथाएँ भी हैं जो कई क्षेत्रों में बीच बीच गाई जाती है। इन पृथक्ताओं के बावजूद गीतों की प्रवृत्ति एक जैसी ही है जिससे हिंदीभाषी क्षेत्रों की अनेकता एकता में बद्ध दिखाई पड़ती है। नीचे सभी क्षेत्रों के लोकगीतों का संक्षिप्त एवं क्रमबद्ध परिचय दिया जा रहा है।

राजस्थानी लोकगीत — राजस्थान का लोकगीत साहित्य बहुत घना है। जन्म के गीत सोहर को यहाँ 'हालरा' कहते हैं। अभी कुछ दिनों पूर्व तक उत्तर प्रदेश के उस क्षेत्र में जहाँ अवधी एवं

भोजपुरी बोलियाँ संगम करती हैं, किंगरिहा नाम की जाति पुत्रजन्म पर दरवाजे दरवाजे जाकर विशेष गीत गाती थी जिसके बोल 'लाले हालरः' हैं। इस क्षेत्र में प्रायः यह गीत अब सुनने को नहीं मिलता। राजस्थान में गाया जानेवाला हालरा समाप्ति के लिये स्वतंत्र है। जैसे, 'मारे बीरे जी रे बेटो जायो'। 'झडूलो' मुंडन के गीतों को कहते हैं। यहाँ प्रत्येक शुभ कार्य की पूर्ति के लिये स्त्रियों द्वारा 'विनायक गीत' गाकर गणेश को प्रसन्न करने की परंपरा है। विवाह में आरंभ से लेकर अंत तक जब जब गीत आरंभ होता है, पहले विनायक बंदना अवश्य होती है — 'गढ़ रणत भँवर सूं आवो विनायक।' 'पीठी' गीत लगन आरंभ होने के बाद भावी वर वधू को नियमतः उबटन लगाते समय गाया जाता है—'मगेर रा मूंग मँगावो ए म्हाँ री पीठी मगर चढ़ावो ए'। विवाह होने के पूर्ववाली रात को यहाँ 'मेहँदी की रात' कहा जाता है। उस समय कन्या एवं वर को मेहँदी लगाई जाती है और मेहँदी गीत गाया जाता है — मेँहदी वाई वाई बालड़ा री रेत प्रेम रस मेँहदी राजणी'। विवाह में वर के माथे पर मौर बाँधते समय 'सेवरो' (सेहरा) गाया जाता है — 'म्हाँरे रंग बनड़े रा सेवरा'। बारात जब विवाह के लिये चलती है तो दूल्हे को घोड़ी पर बैठाया जाता है। उस समय घोड़ी गीत गाया जाता है। जैसे, — 'घोड़ी बाँधों अगर रे रूंख मोड दरवाजे चंपेरी दोय कलियाँ बे।

राजस्थानी बोली में कामण नामक एक गीत गाया जाता है। कामण का अर्थ जादू टोना है। यह गीत उस समय गाते हैं जब बारात विवाह के लिये वर के घर से चलती है — 'कोंगड़ आया राई वर थरहर कंप्या, राज बूझां सिरदार वनी ने कामण कूण कर्‌या छै राज।' राजस्थानी स्त्रियाँ जब वर एवं बारात का न्योता देने के लिये जनवासे में जाती हैं अथवा जब वे कुम्हार की चाक पूजने जाती हैं तो 'जलो गीत' गाती हैं जैसे — 'जला जी मारू, म्हे तो थां डेरा निरखण आई हो मिरगा नैणी रा जलाल'। हस्ताक्षान से लेकर विवाह तक प्रायः प्रतिदिन वर-कन्या के घर 'बनड़े बनड़ी' के गीत गाए जाते हैं। जैसे — 'काँची दाख हेठे बनड़ी पान चाबै, फूल सूंघै करे ए बाबेजी सूं बीनती।' बधू जब पीहर से बिदा होती है तो 'आलूं' गीत गाया जाता है जो बहुत ही करुण होता है —'म्हे थाने पूछाँ म्हाँ री धवड़ी इतरो बाने जी रो लाड छोड़ र, बाई सिध चाल्या।' इसी प्रकार 'बधावै' भी विदा गीत ही है।

भात भरना राजस्थान की एक महत्वपूर्ण प्रथा है। इसे 'माहेरा' भी कहते हैं। जिस स्त्री के घर पुत्र या पुत्री का विवाह पड़ता है वह घर की अन्य स्त्रियों के साथ परात में गेहूँ और गुड़ लेकर नैहरवालों को निमंत्रण देने जाती है। इसको 'भात' कहते हैं। मूल रूप में भात भाई को दिया जाता है। भाई के अभाव में पीहर के अन्य लोग 'माहेरा' स्वीकार कर वस्त्र तथा धन सहायता के रूप में देते हैं। इस अवसर पर भात गीत की तरह अनेक गीत गाए जाते हैं। एक प्रसिद्ध गीत की पंक्ति है — 'थारा घोड़लिया शिश गारो, जी मारूजी भात भरण ने चालो रूड़े भाग जैं'। जब बारात ब्याह के लिये चली जाती है तो वर पक्ष की स्त्रियाँ रात के पिछले पहर में 'राती जागो' नामक गीत गाती हैं। देवी देवताओं के गीतों में 'माता जी', 'बालाजी' (हनुमान जी), भैरूं जी, सेढ़ल माता, सतीराणी, पितराणी आदि को प्रसन्न करने की भावना छिपी है। सबके अलग अलग गीत होते हैं।

राजस्थानी स्त्रियाँ कार्तिक शुक्ल पक्ष में तुलसी का त्यौहार मनाती हैं। तीन दिनों का व्रत रखती हैं तथा पूजन के अवसर पर गाती हैं — धन बाई तुलछाँ धन बन थारो नाम। धनबाई तुलछाँ उत्तम काम।' क्वाँरी लड़कियों का त्यौहार गँवर है जो उत्तम वर की प्राप्ति के लिये चैतमास में होलिकादहन के दूसरे दिन से शुक्ल चतुर्थी तक मनाया जाता है। इसे गणगौर भी कहते हैं। गौरी पूजन करते समय जो गीत गाए जाते हैं उनमें प्रमुख गीत की पंक्ति है — 'हे गवरल रूड़ो है न जारो तीखा है नैणाँ रो, गढां है कोरां-सूं गवरल ऊतरी।' गणगौर के प्रसिद्ध मेले में गौरी प्रतिमा की शोभायात्रा निकाली जाती है और गाया जाता है — गवर गिण गोर माता खोल किवाड़ी। शीतलाष्टमी के पश्चात् मिट्टी के कूंडे में गेहूं या जौ बोए जाते हैं, उनकी जई से गौरीपूजा की जाती है। इसके गीत अलग होते हैं। पूजन के लिये फूल चुनते समय अन्य गीत गाए जाते हैं। पूजन करनेवाली कन्याएँ 'घुड़ला' (छिद्रोंवाला घड़ा जिसमें दीपक जलता रहता है) लेकर गाती हुई अपने सगे संबंधियों के यहाँ जाती हैं। इसे 'घुड़ला घुमाना' कहा जाता है। गीत है — 'घुड़लो घूमैं छै जी घूमै छै।' तीज यहाँ का सर्वाधिक प्रिय पावसकालीन पर्व है। जैसे अवधी एवं पूर्वी हिंदी क्षेत्र में सावन भादों में कजली के लिये स्त्रियाँ पीहर में बुलाई जाती हैं, उसी प्रकार तीज के अवसर पर राजस्थानी स्त्रियाँ भी नैहर में बुलाई जाती हैं। तीज के गीतों में भाई बहन के शुद्ध प्रेम के गीत गाए जाते हैं जैसे, 'सुरंगी रूत आई म्हारे देश'। होली के अवसर पर भी लड़कियाँ गीत गाती हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से गीत हैं। पनिहारी गीत राजस्थान के प्रमुख लोकगीत है जो पनिहारिनों द्वारा सामूहिक रूप से सिर पर जल से भरे घड़े लेकर घर जाते आते गाया जाता है। दांपत्य प्रेम के अनेक गीत हैं। इनमे पक्षी प्रियतम को संदेश ले जाते हैं। वृक्ष भी मनुष्य की तरह बातें करते हैं। बालिकाएँ खेलते समय बड़े सुंदर सुंदर भोले गीत गाती हैं। राजस्थानी लोकनायकों, वीर सिपाहियों पर आधारित अनेक गीत मिलते हैं जो विभिन्न धुनों में गाए जाते हैं।' 'गोगोजी' रामदेव जी, उमादे (रूठी रानी) की गीतकथा (जो जैसलमेर के रावल लूणकरण की लड़की थी), राजपूत जोरसिंह तथा 'राणा काछवे' के पद्यगीत खूब गाए जाते, हैं। (दे० राजस्थान रिसर्च सोसाइटी द्वारा प्रकाशित राजस्थान के लोकगीत)।

ब्रज के लोकगीत — ब्रजमंडल के निवासियों द्वारा गाए जानेवाले गीत भाषा और भाव की दृष्टि से अत्यंत सरस होते हैं। जन्म के गीतों में सोभर (सोहर), ननद भावज, नेगा के गीत, छठी के गीत और जगमोहन लुगरा नामक गीत प्रसिद्ध हैं। विवाह के गीतों में सगाई, पीली चिट्ठी, लगुन, भात न्योतना, हरद हात, रतजगा, तेल, घूरा पूजन, अछूता, मढ़ावा गाड़ना, भात, ब्याह का दिन, भाँवर, बढ़ार गीत, पलकाचार, रहस बधावा, बंदनवार, मुँहमड़ई, बिदा, बरनी वर के घर, बहू नचना, दर्द देवता के गीत, लगन के गीत, भात के गीत, रतजगे के गीत, सतगढ़ा, झाड़ी, गारी, पलकाचार, खेल

के गीत, पूरनमल और छप के गीत मुख्य हैं। त्यौहार, व्रत एवं देवी आदि के गीतों में देवीगीत, जाहर पीर, एकादशी का गीत, श्रावण गीत, कार्तिक के गीत, देवठान के गीत और होली उल्लेखनीय हैं। प्रबंध गीतों में पवाँरे, बहुला, सरमन (श्रवण) ढोला, मदारी का ढोला, लवकुश के गीत और हिरनावती अधिक गाए जाते हैं। अन्य गीतों में टेसू झाँझी के गीत, चट्टों के गीत, तीर्थों के गीत, पुरहे के गीत, सिला बीनने के गीत, बधाया और हीरों का नाम आता है। मृत्यु के समय यहाँ की स्त्रियाँ भी हिंदीभाषी अन्य क्षेत्रों की भाँति पद्यमय रुदन (विलाप) करती हैं (दे० डाक्टर सत्येंद्र लिखित 'ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन')।

छत्तीसगढ़ी लोकगीत — छत्तीसगढ़ (मध्य प्रदेश) क्षेत्र मे 'लरिया' (संबलपुर जिले की बोली) और 'खलौटी' (बालाघाट जिले के आस पास की बोली) का संयुक्त रूप छत्तीसगढ़ी है। देवी गीत, बारहमासा, भोजली गीत, ददरिया, डंडा गीत, होली, गहिरा-गीत, बाँसगीत, पुतरा पुतरी के गीत, मंडप गान, छैला और सोहर, इस क्षेत्र के गीत हैं। बोली के अंतर से देवीगीत, बारहमासा, होली और सोहर अन्य बोलियों के गीतों की भाँति होते हैं। भोजली गीत रक्षाबंधन के दिन गाया जाता है। जैसे उत्तर प्रदेश में कजली के दिनों जई बोई जाती है उसी प्रकार यहाँ भोजली लगाई जाती है। रक्षाबंधन के दिन भोजली का जुलूस निकलता है। भोजली तालाब में सिराई जाती है। पश्चात् काफी रात गए तक युवक एवं युवतियाँ गाँव के गुरुजनो का पाँव छूती हैं। गीत इस प्रकार है—

माडी भर जोंधरी, पोरिस कुसियारे
जल्दी जल्दी बढ़ो भोजली होवा हुसियारे, अहो देवी गंगा !

डंडा गीत वर्ष में दो बार, क्वार तथा फागुन में, पुरुषों द्वारा डंडा नृत्य के समय गाया जाता है। नाचते गाते समय गायक एक दूसरे के डंडे पर एक साथ मारते हैं। एक आदमी 'कुट्टी' शब्द का उच्चारण करता है जिसे कुट्टकी पाडना कहते हैं। इसके बाद नृत्य के साथ गीत आरंभ हो जाता है। गीत गाते समय 'उई' शब्द से ताल का सकेत किया जाता है।

तिरिहारी नाना मोर नाना री ना ना,
कुम्हरा के बोले भैया मितनवाँ मोर बर फैला गढ देय।
सब पर गढ़बे ऐसन तैसन मोर बर मन चित लाय।

रावतों द्वारा कार्तिक एकादशी से पूर्णिमा तक गहिरा गीत गाया जाता है। गाते समय लाठी से पैतरा भी भाँजते हैं। रावत जिनकी गाय चराते है उनके दरवाजे पर जाकर गीत गाते हैं। गाने के पूर्व दुधारू गाय के गले में सुहई (पलाश की जड़ की छाल से बनती है) रक्षा के भाव से बाँधते हैं और तब भीने स्वर में गाते हैं —

धन गोदानी भुइयाँ पावा, पावा हमर असीस।
नाती पूत ले घर भर जावे जीवा लाख बरीस। अथवा
बैठो मालिक रंग महल में लेओ हमार असीस। इत्यादि।

रावतों का ही दूसरा गीत बाँस गीत है। कदाचित् दो हाथ लंबी-लंबी बाँस की मोटी बाँसुरी के साथ गाए जाने के कारण ही इस गीत को बाँस गीत कहते हैं।

पुतरी पुतरा का गीत — विवाह गीत है। अन्य क्षेत्रों की भाँति यहाँ भी स्त्रियों के स्थान पर कुमारियाँ पुतरा पुतरी का ब्याह रचाती हैं और गाती हैं —

नवा बन के हम कनई मँगायेन, वृंदावन के बाँसे हो।
वही बाँस के हम मड़वा छायेन, छड़ गए धरती अकासे हो॥

जब बारात मंडप में आती है तो मंडप गीत गाया जाता है। इसी तरह भाँवर के गीत भी गाए जाते हैं। उपर्युक्त गीतों के अतिरिक्त 'देवारों' द्वारा गीतबद्ध गाथाएँ भी गाई जाती हैं।

गोंडी लोकगीत — सतपुड़ा की घाटियों में बसनेवाली गोंड जाति की गोंडो बोली का लोकसाहित्य काफी धनी है। इस बोली में गीत को 'पाटा' और गाने को 'बराना' कहते है। ददरिया, करमा और सुवा इनके प्रमुख लोकगीत है।

ददरिया — नामक गीत श्रमगीत है जो महुआ बीनते, लकड़ी तोड़ते, पत्ते बटोरते समय या खेत खलिहान में काम करते समय गाया जाता है। यह अकेले एवं समवेत रूप में भी गाया जाता है। इसकी धुनें इतनी मादक एवं सरस होती हैं कि इस क्षेत्र में इसे 'गीतों की रानी' कहा जाता है। स्त्री और पुरुष में से कोई गीत आरंभ करता है और दूसरा उसका उत्तर देता है। वैसे तो ददरिया कई प्रकार का होता है परंतु पठारी और कछारी नामक ददरिया गीतों को अधिक ख्याति मिली है। महुआ बीनते समय जब स्त्रियाँ ददरिया गाती है तो वनप्रांत गूँज उठता है। इसे 'साल्हों' भी कहा जाता है। गाते समय नृत्य भी किया जाता है जिसे 'साल्हा नृत्य' कहते हैं। ददरिया की यह शैली छत्तीसगढ़ के चारों ओर प्रचलित है। मंडला की ओर इसे चाकर कहते हैं। एक उदाहरण है—

युवती :— करे मुखारी करोंदा रुख के
एक बोली सुना दे आपन मुख के।
युवक :— एक ठन आमा के दुइ फाँकी
मोर आँखीय आँखी झुलते तोर आँखी।

करमागीत की उत्पत्ति के बारे मे कहा जाता है कि प्राचीन काल में करमा नाम का राजा जब किसी विपत्ति में फँसा तो उसने देवता की मनौती की। उसने उस समय जो गान देवता को प्रसन्न करने के लिये गाया वही करमा गीत कहा जाने लगा। करमा नृत्य भी होता है। छत्तीसगढ़ी रावतगणो द्वारा यह गीत करमसेन देवता को प्रसन्न करने के लिये गाया जाता है। इसके लिये भादों की पूर्णिमा को पर्व मनाया जाता है। इसका प्रचार मंडला, छत्तीसगढ़ और मिरजापुर के अरण्यवर्ती दक्षिणी क्षेत्र में है। करमा, झूमर, करमा लहकी, करमा ठाढा, बैगानी झूमर और करमा रागिनी इसकी प्रमुख प्राचीन शैलियाँ हैं किंतु अब तो इनमें भी नवीनता का प्रवेश होता जा रहा है। करमा झूमर युवक और युवतियों द्वारा झूम झूमकर गाया जाता है। करमा लहकी एक मादक गीत है। करमा ठाढा खड़े होकर गाया जाता है। बैगनी झूमर बैगा जाति के लोग गाते हैं। इस समय वे एक साथ नाचते हैं। करमा रागिनी बैठकर

गाई जाती है। कुछ लोग बैठकर अलग अलाप लेते हैं और अधिक लोग नाचते हैं। उदाहरण—

बैला चलित राई चाट करोंदे
बैला छोटे छोटे रे—
डोंगर मां आगी लगै जरत है पतेरा
सुन सुन के हीरा मोर जरत है करेजा
बैला छोटे छोटे रे।

दीपावली के अवसर पर 'सूमा गीत' गाया जाता है। स्त्रियाँ सज धजकर तथा झुंड बनाकर चलती हैं और उनमें से एक स्त्री अपने सिर पर अनाज से भरी टोकरी लिए रहती है जिसमें मिट्टी के तोते का जोड़ा रखा रहता है। इनमें से एक शिव और दूसरा पार्वती का प्रतीक माना जाता है। स्त्रियों का झुंड टोकरी को लेकर घर घर घूमकर नाचता जाता है और तेल, चावल तथा पैसे एकत्र करता है जिससे दीवाली के अवसर पर गौरी देवी का विवाहोत्सव मनाया जाता है। रात भर नृत्य गान चलता रहता है और तीसरे दिन तोते के जोड़े को जल में प्रवाहित कर दिया जाता है। उदाहरण—

जाओ रे सुअना चंदन बन, नंदन बन आमा गोंद लइ आव
ना रे सूआ हो आमा गोंद लइ आव
जाए बर जाहौं आमा गोंद बर कइसे क लइहौं टोर
गोड़न रंगिहा पंखन उड़िहा मुँहे म लइहा टोर

इनके अतिरिक्त इस क्षेत्र में भी कुछ लोक गाथाएँ प्रचलित हैं जिन्हें गद्य के साथ ही बीच बीच में गानेवाले गाया करते हैं। ऐसे गीत प्राय: कथा में एक पात्र द्वारा दूसरे से कहे जाते हैं। 'अंकुमराजा की कहानी' और 'ढोला की कहानी' प्रमुख पद्यात्मक कहानियाँ हैं।

बुंदेलखंडी लोकगीत — जो लोकगीत उत्तर प्रदेश के झाँसी, जालौन, बाँदा और हमीरपुर जिले में, ग्वालियर के विस्तृत क्षेत्र में, और मध्यप्रदेश के उत्तरी भाग में सागर, जबलपुर, छतरपुर, पन्ना, मंडला, होशंगाबाद और भोपाल के आस पास गाए जाते हैं उन्हें बुंदेलखंडी लोकगीत की संज्ञा दी जाती है। फाग, विवाह, सोहर, देवीगीत जैसे व्यापक क्षेत्रवाले गीत यहाँ भी गाए जाते हैं। चूँकि आल्हा, ऊदल, छत्रसाल, हरदौल एवं झाँसी की रानी का यह क्षेत्र रहा है, अत: इन लोकनायकों की लंबी लंबी वीरगाथाएँ भी लोकगायकों द्वारा गाई जाती हैं। ब्रजभाषा के करीब होने के कारण सूर के अनेक पद यहाँ लोकगीत बन गए हैं और इसी तरह दूसरे गीत भी चलते हैं। बारात लौटने पर वरवधू के स्वागत में जो गीत गाए जाते हैं उन्हें कहीं कहीं 'सगुन चिरैया' भी कहते हैं। एक गीत है 'ब्याह ल्याए रघुवर जानकी जू को'। ईसुरी नामक जनकवि द्वारा रचित फाग खूब प्रचलित हैं। यही एक ऐसा क्षेत्र है जिसने लोकगीत (बुझौवल) के माध्यम से अपनी सीमा निर्धारित की है—

भैंस बँधी है ओरछा, पड़ा हुशंगाबाद।
लगवैया है सागरे चपिया (दूध दुहने का पात्र) रेवा पार॥

बैसवाड़ी और बुंदेलखंडी लोकगीतों में काफी साम्य दिखाई पड़ता है।

बघेली लोकगीत — बुंदेलखंडी के समीपवर्ती क्षेत्र रीवा, नागौद, सुहावल, कोठी तथा मैहर के इर्द गिर्द बघेली लोकगीतों का क्षेत्र है। यहाँ भी भाषा का कलेवर बदलकर प्राय: वही गीत गाए जाते हैं जो अवधी और भोजपुरी बोलियों के क्षेत्र में गाए जाते हैं। वीर पँवारे इधर बहुत चलते हैं। पद्यबद्ध बुझौवल और लोकोक्तियाँ भी खूब मिलती हैं। बुंदेलखंडी की तरह वीरगाथाएँ भी लोकगायकों द्वारा गाई जाती हैं। सोहर, विवाह-गीत, पँवारे, जनेऊ गीत, देवी के गीत, बिदा गीत के अतिरिक्त इस क्षेत्र का अत्यधिक सरल गीत है दादरा — 'कहउँ होतिउँ बदरिया घुमड़ि रहतेउँ'। 'बनाफरी, मरारी तथा पँवारी भी बघेलखंड की उपबोलियाँ हैं। इनके लोकगीत भी बघेली लोकगीतों की तरह ही होते हैं पर बोली एवं लहजे में थोड़ा अंतर आ जाता है।

निमाड़ी लोकगीत — मध्यप्रदेश के निमाड़, धार, देवास और इंदौर के आसपास निमाड़ी बोली बोली जाती है। निमाड़ी किसान खेत में जब हल चलाता है तो गाता है, मजदूर मिट्टी कूटता है तो गाते हुए और स्त्रियाँ दही बिलोती हैं तो गाए बिना नहीं रहतीं। चक्की के गीत, सोहर, नामकरण, मुंडन, जनेऊ और ब्याह के गीत यहाँ भी गाए जाते हैं। इस क्षेत्र के दो गीत सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं जो अन्य क्षेत्रों से भिन्न परंपरावाले हैं: १—विवाह के समय गाए जानेवाले रुदनगीत (जो रोते हुए गाए जाते हैं), इसमें स्त्रियाँ पितरों को आमंत्रित करती हुई गाती हैं — 'जेय सरऽ ओमाऽ हमारो तो आवणी नी होय।' २—गनगौर गीत, जो सरसता में अपना सानी नहीं रखते, चैत्र मे गाए जाते हैं।

अवधी और भोजपुरी के लोकगीत — अवधी और भोजपुरी के लोकगीतों को एक साथ लिखने का कारण यह है कि दोनों बोलियों में भाषा का अंतर तो अवश्य है किंतु रीति रिवाजों, परंपराओं, धर्म, जातियों एवं संस्कृति में अंतर नहीं है जिनके आधार पर लोकगीतों के प्रकार बदला करते है। जहाँ ये दोनों बोलियाँ मिलती हैं वहाँ से लेकर दोनों छोर तक बोलियों का भारी अंतर हो जाता है। पर गीतों के प्रकार में काफी साम्य है। संस्कार के गीतों में सोहर, मुंडन, कनछेदन, जनेऊ, विवाह एवं गौना (वधू बिदाई) के गीत दोनों क्षेत्रों में गाए जाते हैं। जातीय गीतों में एक गीत बिरहा है जिसे अहीर जाति के लोग गाते हैं। कुछ बिरहे लंबे होते हैं और कुछ दो दो, चार चार पंक्तियों के छोटे बिरहे होते हैं। ऐसे 'बिरहों को' 'पिलमा' कहते हैं। लंबे बिरहों में वीर अथवा शृंगार-रस की प्रधानता होती है। पौराणिक आख्यानों, वीर चरित्रों पर भी बिरहे होते हैं। डोली ढोते समय कहारों के कँहरवा गीत श्रमगीत का काम करते हैं और विवाह शादी तथा कुछ उत्सवों में नृत्य के साथ कहरवा गाया जाता है। धोबियों के गीत बिरहे से मिलते जुलते हैं। ये लोग भी नाच के साथ गीत गाते हैं। चमारों का अपना गीत "चनैनी" भी एक तरह से नृत्यगीत ही होता है। 'नौवा झक्कड़' नाइयों के गीत को कहते हैं। मल्लाह लोग विवाह शादियों में 'मलहिया' गीत गाते हैं। यह गीत तब और रंग लाता है जब पूजन के लिये बाँस रगड़ते रगड़ते उसमें से आग निकलने लगती है। 'गंगा गीत' भी इन्हीं द्वारा गाया जाता है। जब मल्लाह नई नाव

बनवाता है तो उसके जलावतरण के समय नदी तथा नाव दोनों की पूजा भिक्षाटन से अर्जित धन से की जाती है। इसमें यह भावना छिपी रहती है कि यदि भिक्षा देनेवालों में एक भी धर्मात्मा होगा तो नैया दुर्घटनाग्रस्त नहीं होगी। भीख माँगते और पूजा करते समय ये गीत गाए जाते हैं। गीत की हर पंक्ति के अंत में गंगा जी का नाम आता है। तेली जाति के लोग रात में घानी चलाते समय कथात्मक गीत 'बजरवा' या 'नयकवा' गाया करते हैं। धार्मिक गीतों में देवीगीत, दोनों क्षेत्रों में चलते हैं। मेला गीत मेला अथवा तीर्थयात्रा को जाते समय स्त्रियों द्वारा राह में गाए जाते हैं। श्रमगीतों में जँतसार, जाँत पीसते समय गाया जाता हैं। ये गीत काफी लंबे एवं प्रायः करुण-रस से ओतप्रोत होते हैं। अब तो गाँवों में भी आटा पीसनेवाली मशीनें पहुँच गई हैं, इसलिये इन गीतों का उठान होता जा रहा है। धन-रोपनी के गीत धान रोपते समय ग्राम्याओं द्वारा गाए जाते हैं। 'निरवाही के गीत' खेत की निराई करते समय गाए जाते जाते हैं।

ऋतुगीतों में तीन प्रकार के गीत आते हैं—होली, चैती और कजली। होली की चर्चा ऊपर की गई है। चैती चैत में गाई जाती है। चैती गीतों की ऊपर तथा टेक की पंक्तियों में 'हो रामा' शब्द आता है। होली और चैती पुरुषों के गीत हैं। अब से लगभग २० वर्ष पूर्व एक प्रकार का गीत स्त्रियों द्वारा फागुन में ही गाया जाता था जिसका नाम था 'मनोरा झूमक'। अब यह गीत सुनने को नहीं मिलता। गीत की एक पंक्ति है— 'फागुन जाड़ गुलाबी मनोरा झूमक हो'। पद्मावत में भी आया है—'चहइ मनोरा झूमक होई, फर अउ फूल लिहे सब कोई।'

कजली स्त्रियों का गीत है और पावस काल में गाया जाता है। इसके कई भेद हैं, जैसे ढुनमुनियाँ, झूमर, बारहमासा और झूला गीत आदि। इन गीतों में भाई बहन के विशुद्ध प्रेम की भावनाएँ होती हैं। इस क्षेत्र में भी जननायकों की गाथाएँ लोकनायकों द्वारा गाई जाती हैं। नयकवा, बंजरवा, लोरिकी, विजयमल तथा सोरठी आदि प्रबंध गीत बहुत प्रसिद्ध हैं। गद्य के साथ लोककथाओं में पद्य कहने की भी परंपरा है, जैसे शीत बसंत, जरेवा परेवा और सदावृज सारंगा की कथाएँ। अन्य प्रकार के गीतों में लोरियाँ, लचारियाँ दोनों क्षेत्रों में चलती हैं किंतु पूर्वी और बिदेसिया भोजपुरी के लोकगीत है।

मैथिली लोकगीत — मैथिली लोकगीत बिहार प्रांत के चंपारन, दरभंगा, पूर्वी मुंगेर, भागलपुर, पश्चिमी पूर्णिया और मुजफ्फरपुर के पूर्वी भाग के ग्रामीणों द्वारा गाए जाते हैं। सोहर, जनेऊ के गीत, संमरि लग्न, गीत, नचारी, समदाउनि, झूमर तिरहुति, बरगमनी, फाग, चैतावर, मलार, मधु श्रावणी, छठ के गीत, स्यामा-चकेवा, जट जटिन और बारहमासा यहाँ के मुख्य लोकगीत हैं। सोहर, जनेऊ, फाग, चैतावर आदि का परिचय दिया जा चुका है। 'नचारी' गीत प्रायः शिवचरित्र से भरा रहता है। जैसे,—'उमा कर बर बाउरि छवि घटा, गला माल बघ छाल बसन तन बूढ़ बयल लटपटा'। विद्यापति रचित नचारियाँ खूब गाई जाती हैं। 'समदाउनि' प्रमुख बिदा गीत है। जब लड़की ससुराल जाने लगती है तो यह गाया जाता है जो अत्यधिक करुण होता है। सीता के देश में इस गीत से वही करुणा उत्पन्न होती है जो कभी जनक के घर में उमड़ी थी, यथा, 'बड़ रे जतन हम सिया जी के पोसलौं से हो रघुबंसी ने जाय आहे सखिया'। इस गीत की बहुत सी धुनें होती हैं। 'झूमर' गीत मुख्य रूप से शृंगारिक होता है और धुनों के अनुसार कई प्रकार से गाया जाता है। मैथिली क्षेत्र के झूमरों की खास विशेषता है कि उनमें अधिकांश संदेशसूचक होते हैं। हिंडोला के झूमर बहुत सरस होते हैं, जैसे 'छोटका देवर रामा बड़ा रे रँगिलवा, रेसम के डोरियवा देवरा बान्हथि हिंडोरवा'। कुछ में स्त्री पुरुष के प्रश्नोत्तर होते हैं। 'तिरहुति' गीत स्त्रियों द्वारा फागुन में गाया जाता है। पहले यह गीत छह पदों का होता था, फिर आठ का हुआ और अब तो काफी लंबा होने लगा है। उसे साहित्य में तथा लोकजीवन में मान्यता भी मिल गई है। इसमें प्रायः विरह भावनाएँ होती हैं : 'मोंहि तेजि पिय मोरा गेलाह विदेस'। साहब राम, नंदलाल, भानुनाथ, रमापति, धनपति, कृष्ण, बुद्धिलाल, चंद्रनाथ, हर्षनाथ एवं बबुजन नामक प्राचीन लोककवियों के तिरहुति खूब गाए जाते है। हर्ष की बात है कि तिरहुति के प्राचीन रचनाकारों का नाम भी गीतों के साथ ही जा रहा है जबकि अन्य गीतों के साथ यह बात नहीं है। बटगमनी (पथ पर गमन करनेवाली) मुख्य रूप से राह का गीत है। मेले ठेले में जाती ग्राम्याएँ, नदी किनारे से लौटती हुई पनिहारिनें प्रायः बटगमनी गाया करती हैं। इस गीत का एक नाम सजनी भी है। इसमें संयोग और वियोग दोनों भावनाएँ होती हैं। गीत की पंक्ति है—'जखन गगन घन बरसल सजनि गे सुनि हहरत जिव मोर'। पावस ऋतु में स्त्रियाँ बिना बाजे के और पुरुष बाजे के साथ मलार गाते हैं। जैसे—कारि कारि बदरा उमड़ि गगन माझे लहरि बहे पुरवइया'। मधुश्रावणी गीत इसी नाम के त्योहार के समय गाया जाता है जो श्रावण शुक्ल तृतीया को पड़ता है। मधुश्रावणी नवविवाहितों का भविष्यबोधक है। इस पर्व पर एक भयकर विधि इसलिये की जाती है कि विवाहिता अधिक दिनों तक सधवा रहेगी या नहीं। उसे दीपक से जला दिया जाता है। यदि छाला खूब उभरता है तो शुभ है। **छठ के गीत**—सूर्यषष्ठी व्रत (कार्तिक शुक्ल षष्ठी) के उपलक्ष्य में गाए जाते हैं। कहीं कहीं चैत्र शुक्ल षष्ठी को भी यह व्रत पड़ता है। छठ के गीत पूर्णतः धार्मिक गीत हैं और सौभाग्य तथा पतिप्रेम के दायक हैं। स्त्रियाँ गाती हैं—'नदिया के तीरे तीरे बोअले मैं राइ। छठी माई के मृगा चरिय चरि जाइ। **स्याम चकेवा** एक खेल गीत है जो कार्तिक शुक्ल सप्तमी से कार्तिक पूर्णिमा तक खेल में गाया जाता है। स्यामा बहन और चकेवा भाई के अतिरिक्त इस खेल के चंगुला, सतभइया, खंडरिच, झाँझी बनतीतर कुत्ता और वृंदावन नामक छह और पात्र हैं। खेल भाई बहन के विशुद्ध प्रेम का पोषक है। बहनें गाती हैं—'किनकर हरिअर हरिअर दिभवा गे सजनी। जट जटिन एक अभिनय गीत है। जट (पुरुष पात्र) एक तरफ और जटिन (स्त्री पात्र) दूसरी ओर सज धजकर खड़ी होती हैं। दोनों ओर प्रधान पात्रों के पीछे पंक्तिबद्ध स्त्रियाँ खड़ी हो जाती हैं। इसके बाद जट जटिन का सवाल जवाब गीतों के माध्यम से आरंभ हो जाता है। ये गीत शरद निशा में गाए जाते हैं।

कुमाऊँनी लोकगीत—कुमाउँनी लोकगीत मध्य हिमालय के नैनीताल, अल्मोड़ा, गढ़वाल, टेहरी, पिथौरागढ़, चमोली, और उत्तर

काशी में रहनेवाली पर्वतीय जातियों के गीत हैं। इन गीतों को दो भागों में बाँटा जा सकता है : १—संस्कार के गीत, जो नारियों द्वारा पुत्रजन्म, नामकरण, यज्ञोपवीत एव विवाह के समय गाए जाते हैं, तथा २—मेलों, त्योहारों और ऋतुओं के गीत। इस क्षेत्र के प्रायः सभी संस्कार शंकुनाखरगीत से प्रारंभ होते हैं। इनमें गणेश, ब्रह्मा, राम तथा अन्य देवताओं से कार्यसिद्धि की प्रार्थना की जाती है। गीतों में मनुष्य, पशु, पक्षी संदेशवाहक का कार्य करते दिखाई पड़ते हैं, जो देवी देवताओं के अतिरिक्त दूरस्थ संबंधियों का भी संदेश ले जाते हैं। बिदाई के गीत अन्य स्थानों की तरह ही मार्मिक होते हैं।

दूसरे प्रकार के गीतों में झोड़ा, चाँचरी भगनौल और बैर प्रमुख हैं। इन गीतों में सामाजिक जीवन एवं समस्याओं की विशेष चर्चा रहती है। ये विभिन्न मेलों एवं उत्सवों के अवसर पर गाए जाते हैं। इन्हें कई गायक अथवा गायिकाएँ मिलकर गाती हैं। ऋतुगीतों को यहाँ 'ऋतुरेण' कहते हैं। ये गीत चैत मास में गाए जाते हैं। ऋतुरेण में मंगलसूचक एवं प्राकृतिक सौंदर्य की बहुलता होती है। ग्रामगायक 'औजी', जिन्हें ढोली भी कहते हैं, एक गीतबद्ध कथा सुनाते हैं, जो भाई-बहन के विशुद्ध स्नेह पर आधारित है। 'हुडुकिया बोल' यहाँ के किसानों का गीत है। यह गीत धान की रोपाई के अवसर पर नर नारियों द्वारा गाया जाता है। इनमें स्थानीय नायकों (राणरौत रामीबौर हिरुहित आदि) की गाथाएँ बद्ध होती हैं। प्रेम के फुटकर गीत भी खूब चलते हैं। बरुँश नामक लाल फूल प्रेमी का प्रतीक माना जाना है। अतः कई गीतों में इसका नाम आता है, जैसे, 'पारा डाना बुरूँशी फुलै छ, में जे कौलुं मेरि हिरु ए रै छ'। नैनीताल से लेकर काठगोदाम तक के बीच के पर्वतीय क्षेत्र में एक अलिखित लोक महाकाव्य प्रचलित है जिसका नाम है 'मालूसाही'। कुमाऊँनी लोकसाहित्य में इसके टक्कर की कोई रचना है ही नहीं। धर्मगाथाओं के अतर्गत 'जागर' (जागरण) गीत अधिक प्रचलित हैं। उत्तर काशी, पिथौरागढ़ एवं चमोली में प्रचलित पांडव नृत्य के समय जागर गीत गाए जाते है। इसमें महाभारत के विभिन्न आख्यान गीतबद्ध होते हैं। यह गीत क्रमशः द्रुततर होता जाता है। इसके अंतर्गत किसी एक व्यक्ति पर देवात्मा की अवतारणा की जाती है। जब वह आत्मा उसके ऊपर अवतरित होती है, वह उठकर नाचने-गाने लगता है। भोलानाथ, एड़ी, ग्वाला आदि ग्रामदेवताओं के 'जागर' के अतिरिक्त नंदादेवी का 'बैसी जागर' इतना लबा होता है कि वह २२ दिनों में समाप्त होता है। 'घोड़ी नृत्य' गीत भी चलता है। इसमें बाँस पर 'ओहार' (पर्दा) डालकर घोड़ी बनाई जाती है जिसके बीच में नर्तक इस तरह खड़ा होकर घोड़ी को कमर से पकड़ता है कि वह सवार जैसा मालूम होता है। नर्तकों का जोड़ा तलवार भाँजता है, गायक गीत गाते हैं। 'भड़ौ' नामक गीत प्राचीन जातीय वीरों, जिनमें दिगोली माना, कालू कहेड़ी, नागी भागी मल, सुपिया रौत और अजुआ बफौल आदि के वृत्तांत होते हैं, वीरगाथाओं के रूप में गाया जाता है।

[चं० शे० मि०]

लोकतंत्र, आधुनिक लोकतंत्र की कोई ऐसी सुनिश्चित सर्वमान्य परिभाषा नहीं की जा सकती जो इस शब्द के पीछे छिपे हुए संपूर्ण इतिहास तथा अर्थ को अपने में समाहित करती हो। भिन्न भिन्न युगों में विभिन्न विचारकों ने इसकी अलग अलग परिभाषाएँ की हैं, परंतु यह सर्वदा स्वीकार किया है कि लोकतंत्रीय व्यवस्था वह है जिसमें जनता की संप्रभुता हो। जनता का क्या अर्थ है, संप्रभुता कैसी हो और कैसे संभव हो, यह सब विवादास्पद विषय रहे हैं। फिर भी जहाँ तक लोकतंत्र की परिभाषा का प्रश्न है अब्राहमलिंकन की परिभाषा—लोकतंत्र जनता का, जनता के लिये और जनता द्वारा शासन—प्रामाणिक मानी जाती है। लोकतंत्र में जनता ही सत्ताधारी होती है, उसकी अनुमति से शासन होता है, उसकी प्रगति ही शासन का एकमात्र लक्ष्य माना जाता है। परंतु लोकतंत्र केवल एक विशिष्ट प्रकार की शासन प्रणाली ही नहीं है वरन् एक विशेष प्रकार के राजनीतिक संगठन, सामाजिक संगठन, आर्थिक व्यवस्था तथा एक नैतिक एवं मानसिक भावना का नाम भी है। लोकतंत्र जीवन का समग्र दर्शन है जिसकी व्यापक परिधि में मानव के सभी पहलू आ जाते हैं।

सामान्यतः लोकतंत्र-शासन-व्यवस्था दो प्रकार की मानी जानी है : (१) विशुद्ध या प्रत्यक्ष लोकतंत्र तथा (२) प्रतिनिधि सत्तात्मक या अप्रत्यक्ष लोकतंत्र। वह शासनव्यवस्था जिसमें देश के समस्त नागरिक प्रत्यक्ष रूप से राज्यकार्य संपादन में भाग लेते हैं प्रत्यक्ष लोकतंत्र कहलाती है। इस प्रकार का लोकतंत्र अपेक्षाकृत छोटे आकार के समाज मे ही संभव है जहाँ समस्त निर्वाचक एक स्थान पर एकत्र हो सकें। प्रसिद्ध दार्शनिक रूसो ने ऐसे लोकतंत्र को ही आदर्श व्यवस्था माना है। इस प्रकार का लोकतंत्र प्राचीन यूनान के नगरराज्यों में पाया जाता था। यूनानियों ने अपने लोकतंत्रात्मक सिद्धांतों को केवल अल्पसंख्यक यूनानी नागरिकों तक ही सीमित रखा। यूनान के नगरराज्यों में बसनेवाले दासों, विदेशी निवासियों तथा स्त्रियों को राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा गया था। इस प्रकार यूनानी लोकतंत्र घोर असमानतावाद पर टिका हुआ था।

वर्तमान युग में राज्यों के विशाल स्वरूप के कारण प्राचीन नगरराज्यों का प्रत्यक्ष लोकतंत्र संभव नहीं है, इसीलिये आजकल स्विट्जरलैंड के कुछ कैंटनों को छोड़कर, जहाँ प्रत्यक्ष लोकतंत्र चलता है, सामान्यतः प्रातिनिधिक लोकतंत्र का ही प्रचार है जिसमें जनभावना की अभिव्यक्ति जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा की जाती है। जनता स्वयं शासन न करते हुए भी निर्वाचन पद्धति के द्वारा शासन को वैधानिक रीति से उत्तरदायित्वपूर्ण बना सकती है। यही आधुनिक लोकतंत्र का मूल विचार है।

लोकतंत्र की आत्मा जनता की संप्रभुता है जिसकी परिभाषा युगों के साथ बदलती रही है। इसके आधुनिक रूप के आविर्भाव के पीछे शताब्दियों लंबा इतिहास है। यद्यपि रोमन साम्राज्यवाद ने लोकतंत्र के विकास में कोई राजनीतिक योगदान नहीं किया, परंतु फिर भी रोमीय सभ्यता के समय में ही स्टाइक विचारकों ने आध्यात्मिक आधार पर मानव समानता का समर्थन किया जो लोकतंत्रीय व्यवस्था का महान् गुण है। सिसरो, सिनेका तथा उनके पूर्ववर्ती दार्शनिक जेनो एक प्रकार से भावी लोकतंत्र की नैतिक आधारशिला निर्मित कर रहे थे। मध्ययुग में बारहवीं और तेरहवीं

शताब्दी से ही राजतंत्र विरोधी आंदोलन और जन संप्रभुता के बीज देखे जा सकते हैं। यूरोप में पुनर्जागरण एवं धर्मसुधार आंदोलन ने लोकतंत्रात्मक सिद्धांतों के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। इस आंदोलन ने व्यक्ति की धार्मिक स्वतंत्रता पर जोर दिया तथा राजा की शक्ति को सीमित करने के प्रयत्न किए। लोकतंत्र के वर्तमान स्वरूप को स्थिर करने में चार क्रांतियों, १६८८ की इंगलैंड की रक्तहीन क्रांति, १७७६ की अमरीकी क्रांति, १७८९ की फ्रांसीसी क्रांति और १९ वीं सदी की औद्योगिक क्रांति का बड़ा योगदान है। इंगलैंड की गौरवपूर्ण क्रांति ने यह निश्चय कर दिया कि प्रशासकीय नीति एवम् राज्य विधियों की पृष्ठभूमि में संसद् की स्वीकृति होनी चाहिए। अमरीकी क्रांति ने भी लोकप्रभुत्व के सिद्धांत का पोषण किया। फ्रांसीसी क्रांति ने स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धांत को शक्ति दी। औद्योगिक क्रांति ने लोकतंत्र के सिद्धांत को आर्थिक क्षेत्र में प्रयुक्त करने की प्रेरणा दी।

आजकल सामान्यतया दो प्रकार के परंपरागत लोकतंत्रीय संगठनों द्वारा जनस्वीकृति प्राप्त की जाती है—संसदात्मक तथा अध्यक्षात्मक। संसदात्मक व्यवस्था का तथ्य है कि जनता एक निश्चित अवधि के लिये संसद् सदस्यों का निर्वाचन करती है। संसद् द्वारा मंत्रिमंडल का निर्माण होता है। मंत्रिमंडल संसद् के प्रति उत्तरदायी है और सदस्य जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अध्यक्षात्मक व्यवस्था में जनता व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी के प्रधान राष्ट्रपति का निर्वाचन करती है। ये दोनों एक दूसरे के प्रति नहीं बल्कि सीधे और अलग अलग जनता के प्रति विधिनिर्माण तथा प्रशासन के लिये क्रमश: उत्तरदायी हैं। इस शासन व्यवस्था के अंतर्गत राष्ट्र का प्रधान (राष्ट्रपति) ही वास्तविक प्रमुख होता है। इस प्रकार लोकतंत्र में समस्त शासनव्यवस्था का स्वरूप जन सहमति पर आधारित मर्यादित सत्ता के आदर्श पर व्यवस्थित होता है।

लोकतंत्र केवल शासन के रूप तक ही सीमित नहीं है, वह समाज का एक संगठन भी है। सामाजिक आदर्श के रूप में लोकतंत्र वह समाज है जिसमें कोई विशेषाधिकारयुक्त वर्ग नहीं होता और न जाति, धर्म, वर्ण, वंश, धन, लिंग आदि के आधार पर व्यक्ति व्यक्ति के बीच भेदभाव किया जाता है। वास्तव में इस प्रकार का लोकतंत्रीय समाज ही लोकतंत्रीय राज्य का आधार हो सकता है।

राजनीतिक लोकतंत्र की सफलता के लिये उसका आर्थिक लोकतंत्र से गठबंधन आवश्यक है। आर्थिक लोकतंत्र का अर्थ है कि समाज के प्रत्येक सदस्य को अपने विकास की समान भौतिक सुविधाएँ मिलें। लोगों के बीच आर्थिक विषमता अधिक न हो और एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण न कर सके। एक ओर घोर निर्धनता तथा दूसरी ओर विपुल संपन्नता के वातावरण में लोकतंत्रात्मक राष्ट्र का निर्माण संभव नहीं है।

नैतिक आदर्श एवं मानसिक दृष्टिकोण के रूप में लोकतंत्र का अर्थ मानव के रूप में मानव व्यक्तित्व में आस्था है। क्षमता, सहिष्णुता, विरोधी के दृष्टिकोण के प्रति आदर की भावना, व्यक्ति की गरिमा का सिद्धांत ही वास्तव में लोकतंत्र का सार है।

आधुनिक युग में लोकतंत्रीय आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करने के लिये अनेक उपादानों का आविर्भाव हुआ है। जैसे लिखित संविधानों द्वारा मानव अधिकारों की घोषणा, वयस्क मताधिकार-प्रणाली द्वारा प्रतिनिधि चुनने का अधिकार, लोकनिर्णय, उपक्रम, पुनरावर्तन तथा जनमत संग्रह जैसी प्रत्यक्ष जनवादी प्रणालियों का प्रयोग, स्थानीय स्वायत्त शासन का विस्तार, स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायालयों की स्थापना, विचार, भाषण, मुद्रण तथा आस्था की स्वतंत्रता को मान्यता, विधिसंमत शासन को मान्यता, बलवाद के स्थान पर सतत वादविवाद और तर्कपद्धति द्वारा ही आपसी संघर्षों के समाधान की प्रक्रिया को मान्यता देना है। वयस्क मताधिकार के युग में लोकमत को शिक्षित एवं संगठित करने, सिद्धांतों के सामान्य प्रकटीकरण, नीतियों के व्यवस्थित विकास तथा प्रतिनिधियों के चुनाव में सहायक होने में राजनीतिक दलों की उपादेयता—आधुनिक लोकतंत्र का एक वैशिष्ट्य है। मानव व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी विकास के लिये प्रशासन को जनसेवा के व्यापक क्षेत्र में पदार्पण करने के लिये आधुनिक लोकतंत्र को लोक कल्याणकारी राज्य का आदर्श ग्रहण करना पड़ा है। [र० ना० मि०]

लोकनाट्य भारत में नाट्य की परंपरा अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। भरत मुनि ने (ई० पू० तृतीय शताब्दी) अपने नाट्यशास्त्र में इस विषय का विशद वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त धनंजयकृत 'दशरूपक' में तथा विश्वनाथ कविराजविरचित 'साहित्यदर्पण' में भी एतत्संबंधी बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध है, परंतु नाट्यशास्त्र ही नाट्यविद्या का सबसे मौलिक तथा स्रोतग्रंथ माना जाता है।

नाट्यशास्त्र में वर्णित एक कथा से पता चलता है, देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने समस्त मानवों के मनोरंजनार्थ नाट्य की रचना की। शूद्रों के लिये वेदों के पठन पाठन का अधिकार निषिद्ध था अत: पंचम वेद (नाट्य) की रचना अत्यंत आवश्यक प्रतीत हुई। इस प्रकार सभी वर्णों के मनोरंजन के लिये ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर 'नाट्यवेद' की सृष्टि की :

'जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्, सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान्, रसमाथर्वणादपि ।। नाट्यशास्त्र १।१७-१८

वास्तव में नाटकों की 'अपील' सार्वजनीन होती है। इसीलिये कालिदास ने ठीक ही लिखा है कि नाटक विभिन्न प्रकार की रुचि रखनेवाले मनुष्यों के मनोरंजन का अद्वितीय साधन है :

"नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य,
बहुधाप्येकं समाराधनम्"।

इस देश में मुसलमानी शासन की प्रतिष्ठा के पश्चात् राजनीतिक एकसूत्रता नष्ट हो गई। मुसलमानी शासकों की प्रवृत्ति नाट्यकला की ओर उदासीन थी। फलत: उनके शासन में नाटकरचना तथा उसके अभिनय का ह्रास होने लगा। राजाश्रय के अभाव में इसका पतन स्वाभाविक ही था। संस्कृत साहित्य की नाट्यपरंपरा, जो हजारों वर्षों से अबाध गति से चली आ रही थी, सदा के लिये नष्ट हो गई।

उत्तरी भारत में भक्ति आंदोलन के प्रवर्तक गोस्वामी वल्लभा०

चार्य जी थे। इन्होंने कृष्णभक्ति का प्रचुर प्रचार किया। इनके अनुयायियों ने भागवत के दशम स्कंध की कथा को—जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण के जीवनचरित् का वर्णन किया गया है — अभिनय के माध्यम से जनता के सामने सजीव रूप प्रदान किया। श्रीकृष्ण की बाललीलाओं का अभिनय मंदिरों, मठों तथा अन्य स्थानों में होने लगा, जिसको देखने के लिये श्रद्धालु जनता की भीड़ हजारों की संख्या में जुटने लगी। भगवान् कृष्ण की इसी प्रारंभिक लीला ने आगे चलकर 'रास लीला' का रूप धारण किया जो आज भी मथुरा तथा वृंदावन में बड़े प्रेम से की जाती है (दे० रासलीला)।

भारत के उत्तरी भाग में रामभक्ति के प्रचार का श्रेय स्वामी रामानंद जी को प्राप्त है। परंतु रामभक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा इनके शिष्य गोस्वामी तुलसीदास जी के द्वारा ही हुई। साधारण जनता में कृष्णभक्ति के प्रचार का जो श्रेय महात्मा सूरदास को प्राप्त है, रामभक्ति के प्रचार का उससे कहीं अधिक श्रेय गोस्वामी जी को उपलब्ध है।

उत्तरी भारत में रामलीला का प्रचार गोस्वामी तुलसीदास जी की देन है। गोस्वामी जी ने सर्वप्रथम काशी में रामलीला करानी प्रारंभ की थी। इस प्रकार भक्ति आंदोलन के प्रभाव से उत्तरप्रदेश में दो लोकधर्मी नाट्यपरंपराओं का जन्म हुआ—(१) रासलीला और (२) रामलीला।

इसी समय बंगाल में चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव हुआ जिन्होंने इस प्रांत में कृष्णभक्ति का प्रचुर प्रचार किया। श्री चैतन्य भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति का गान करते समय आत्मविभोर हो जाते थे। वे भगवान् की आराधना करते समय कीर्तन भी किया करते थे। उन्होंने अनेक तीर्थस्थानों की यात्रा की थी जिसमें इनके अनुयायी भी संमिलित होते थे। धीरे धीरे इन यात्राओं तथा कीर्तनों ने लोकनाट्य का रूप धारण कर लिया, जिसमें श्रीकृष्ण की लीलाएँ अभिनय के माध्यम से दिखलाई जाने लगीं। आज बंगाल में यात्रा या जात्रा तथा कीर्तन का प्रचुर प्रचार है। इस प्रकार उत्तरी भारत में अनेक लोकनाट्यों का विकास हुआ जिनकी पृष्ठभूमि धार्मिक थी।

विशेषताएँ — लोकनाट्यों का लोकजीवन से अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। यही कारण है कि लोक से संबंधित उत्सवों, अवसरों तथा मांगलिक कार्यों के समय इनका अभिनय किया जाता है। विवाह के अवसर पर अनेक जातियों में यह प्रथा है कि स्त्रियाँ बारात विदा हो जाने पर किसी 'स्वाँग' या 'साँग' का अभिनय प्रस्तुत करती हैं जिसे 'भोजपुरी प्रदेश में 'डोमकछ' कहते हैं।

लोकनाट्यों की भाषा बड़ी सरल तथा सीधी सादी होती है जिसे कोई भी अनपढ़ व्यक्ति बड़ी आसानी से समझ सकता है। जिस प्रदेश में लोकनाट्यों का अभिनय किया जाता है, नट लोग वहाँ की स्थानीय बोली का ही प्रयोग करते हैं। ये लोग अभिनय के समय गद्य का ही प्रयोग करते हैं। परंतु बीच बीच में गीत भी गाते जाते हैं। लोकनाट्यों के संवाद बहुत छोटे तथा सरस होते हैं। लंबे कथोपकथनों का इनमें नितांत अभाव होता है। लंबे संवादों को सुनने के लिये ग्रामीण दर्शकों में धैर्य नहीं होता। अतः नाटकीय पात्र संक्षिप्त संवादों का ही प्रयोग करते हैं।

लोकनाट्यों का कथानक प्रायः ऐतिहासिक, पौराणिक, या सामाजिक होता है। धार्मिक कथावस्तु को लेकर भी अनेक नाटक खेले जाते हैं। बंगाल के लोकनाट्य 'जात्रा' और 'कीर्तन' का आधार धार्मिक आख्यान होता है। राजस्थान में अमरसिंह राठौर की ऐतिहासिक गाथा का अभिनय किया जाता है। केरल प्रदेश मे प्रचलित 'यक्षगान' नामक लोकनाट्य का कथानक प्रायः पौराणिक होता है। उत्तरप्रदेश की रामलीला और रासलीला की पृष्ठभूमि धार्मिक है। नौटंकी और स्वाँग की कथावस्तु समाज से अधिक संबंध रखती है।

लोकनाट्यों में प्रायः पुरुष ही स्त्री पात्रों का कार्य किया करते हैं परंतु व्यवसायी नाटक मंडलियाँ साधारण जनता को आकृष्ट करने के लिये सुंदर लड़कियों का भी इस कार्य के लिये उपयोग करती हैं। लोकनाट्यो के पात्र अपनी वेशभूषा की अपेक्षा अपने अभिनय द्वारा ही लोगो को आकृष्ट करने की चेष्टा करते हैं। इन नाटकों के अभिनय में किसी विशेष प्रकार के प्रसाधन, अलंकार या बहुमूल्य वस्त्र आदि की आवश्यकता नहीं होती। कोयला, काजल, खड़िया आदि देशी प्रसाधनों से मुख को प्रसाधित कर तथा उपयुक्त वेशभूषा धारण कर पात्र रंगमंच पर आते हैं। कुछ पात्र प्रसाधन के लिये अब पाउडर और क्रीम का भी प्रयोग करने लगे हैं।

लोकनाट्य खुले हुए रंगमंच पर खेले जाते हैं। दर्शकगण मैदान में आकाश के नीचे बैठकर नाटक का अभिनय देखते हैं। किसी मंदिर के सामने का ऊँचा चबूतरा या ऊँचा टीला ही रंगमंच के लिये प्रयुक्त किया जाता है। कहीं कहीं काठ के ऊँचे तख्तों को बिछाकर मंच तैयार किया जाता है। इन रंगमंचो पर परदे नहीं होते। अतः किसी दृश्य की समाप्ति पर कोई परदा नहीं गिरता। नाटक के पात्रगण किसी पेड़ या दीवाल की आड़ में बैठकर अपना प्रसाधन किया करते हैं जो उनके लिये 'ग्रीन रूम' का काम करता है।

कुछ प्रसिद्ध लोकनाट्य — भारत के विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार के लोकनाट्य प्रचलित हैं। उत्तर भारत में प्रचलित रामलीला और रासलीला की चर्चा पहले की जा चुकी है। मध्यप्रदेश, विशेषतया मालवा प्रांत, में 'माँच' नामक लोकनाट्य प्रसिद्ध है। 'माँच' शब्द मंच का अपभ्रंश रूप है। राजस्थान में 'माँच' 'ख्याल' के रूप से प्रचलित है। इसका प्रारंभ १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से माना जाता है। मालवा में माँचों की परंपरा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में नौटंकी का बड़ा प्रचार है। हाथरस की नौटंकी बड़ी प्रसिद्ध है। इसे 'स्वाँग' या 'भगत' भी कहते हैं। आगरा में 'भगत' नामक लोकनाट्य का प्रचुर प्रचार है। ब्रजमंडल में खुले हुए रंगमंच पर नौटंकी के ढंग पर 'भगत' का अभिनय किया जाता है। इस प्रदेश के पूर्वी जिलों में 'बिदेसिया' नाटक बड़ा ही लोकप्रिय है जिसे देखने के लिये हजारों की भीड़ एकत्र हुआ करती है।

बंगाल की 'यात्रा' धार्मिक लोकनाट्य है। 'गंभीरा' लोकनाट्य का दूसरा रूप है जो इस राज्य में प्रचलित है। यह नाटक शैव मतावलंबियों से संबंधित है। महाराष्ट्र में तमाशा, ललित, गोंधळ,

बहुरूपिया और दशावतार आदि लोकनाट्य मराठी रंगमंच के आधार हैं। तमाशा महाराष्ट्र का प्राचीन लोकनाट्य है। तमाशा करनेवाली मंडली 'फड़' कहलाती है। 'ललित' मध्ययुगीन धार्मिक नाट्य है। यह नवरात्र संबंधी विशिष्ट कीर्तन है, जिसमें भक्तों को 'स्वांग' आदि दिखलाया जाता है। गोंधल धर्ममूलक लोकनाट्य है। महाराष्ट्र में इसका आनुष्ठानिक महत्व है। विवाह आदि उत्सवों में गोंधल के अभिनय की व्यवस्था की जाती है।

'यक्षगान' दक्षिण भारतीय लोकनाट्य का वह प्रकार है जो तमिल, तेलुगु तथा कन्नड़ भाषा भाषी क्षेत्र की ग्रामीण जनता में प्रचलित है। तेलुगु में इसे 'विथि' या 'विथि भागवतम्' कहते हैं। यक्षगान की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। यह नृत्य नाट्य (डांस ड्रामा) है जिसमें गीतबद्ध संवादों का प्रयोग होता है। इसमें वर्णन का प्राधान्य होता है। इसकी कथावस्तु रामायण, महाभारत और भागवत से ली जाती है।

'विथि नाटकम्' या 'विथि भागवतम्' तेलुगु का लोकनाट्य है। 'विथि नाटकम्' का शाब्दिक अर्थ है वह नाटक जो मार्ग में प्रदर्शित किया जा सके। इस नाटक में एक या दो ही पात्र रंगमंच पर आते हैं। स्त्रियाँ सामूहिक रूप से नृत्य करती हैं। नृत्य और अभिनय के द्वारा कृष्णलीला को 'विथि नाटकम्' का विषय बनाया गया है। इस प्रकार भारत के विभिन्न राज्यों में लोकनाट्य प्रचलित हैं जो बड़े ही लोकप्रिय हैं।

सं० ग्रं० —श्री जगदीशचंद्र माथुर : फोक थिएटर; श्री प्रजेश बनर्जी : फोक डांसेज आफ इंडिया; डा० श्याम परमार . लोकधर्मी नाट्यपरंपरा; बलवंत गार्गी : फोक थिएटर आफ इंडिया।

[कृ० दे० उ०]

लोकनाथ, गोस्वामी यशोहर (जैसोर) के तालखडि ग्राम में सं० १५४० में जन्म। पिता का नाम पद्मनाभ चक्रवर्ती तथा माता का सीता देवी था। यह पद्रह वर्ष के वय में नवद्वीप आए तथा अद्वैताचार्य के यहाँ भक्तिशास्त्र का अध्ययन करने लगे। श्रीगौरांग तथा गदाधर पंडित यहाँ इनके सहपाठी थे। इनकी भक्ति से प्रसन्न हो आचार्य ने स्वयं इन्हें दीक्षा दी। श्रीगौरांग के आदेश से अपने सहपाठी भूगर्भ स्वामी के साथ वृंदावन के लुप्त लीला-स्थानों को खोजने के लिये गए। वहाँ पता लगाकर इन्होंने सैकड़ों तीर्थों का उद्धार किया तथा उन्हें लेखबद्ध किया। किशोरी-कुंड के पास रहते समय श्री राधागोविंद की मूर्ति इन्हें मिली। इन्होंने केवल एक शिष्य नरोत्तमदास ठाकुर को बनाया और उन्हें भी सं० १६२९ मे बंगाल में भक्तिप्रचारार्थ भेज दिया। इसके दो तीन वर्ष बाद इन्होंने शरीर त्याग दिया। [व्र० र० दा०]

लोकवार्ता (भारतीय तथा अन्य) प्रचलित परिभाषाओं के अनुसार लोकवार्ता के अंतर्गत लोक में प्रचलित, मौखिक परंपरा पर आधारित गीत, वीरकाव्य, कथाएँ, लोकोक्तियाँ और मुहावरे, पहेलियाँ, मौसम, खेती और बीमारियों से संबंधित सूत्र, तथा जादू टोने के मंत्र आते हैं। इस वाङ्मय के अलिखित लोकप्रचलित विश्वासों, रीतिरिवाजों, अनुष्ठानों, त्योहारों, मेलों और प्रविधियों आदि का अध्ययन भी लोकवार्ताशास्त्री करते रहे हैं, किंतु आज के समाजशास्त्री तथा नृतत्वशास्त्री इनके अध्ययन को लोकवार्ता के अंतर्गत रखने के पक्ष में नहीं हैं। इनका मत है कि ऐसा करने से लोकवार्ता का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो जाता है। जीवन के इन पक्षों का अध्ययन आज अन्य सामाजिक विज्ञान अधिक विधिवत् रूप से करते हैं। अत: सामाजिक विज्ञान के विद्वान् लोकवार्ता का मुख्य क्षेत्र मौखिक परंपरा से हस्तांतरित लोकप्रचलित साहित्य एवं वाङ्मय का अध्ययन ही मानने लगे हैं।

यूरोप में तब लोकवार्ता का अध्ययन १९वीं शताब्दी के मध्य में प्रारंभ हुआ जब वह अपनी जीवनशक्ति खोने लगी थी। औद्योगिकीकरण और नगरीकरण की शक्तियाँ कृषक समाज और लोकसंस्कृति को भाँति भाँति से क्षीण कर रही थीं। साक्षरता और मुद्रण के प्रसार के कारण ज्ञान विज्ञान, विश्वासों और साहित्यिक कृतियों के संचार का प्रमुख साधन मौखिक परंपरा नहीं रह गई थी। फलत: लोकवार्ता को यूरोपीय विद्वानों ने प्रारंभ से ही संस्कृति का एक जीवंत भाग न मानकर पुरातन के अवशेष के रूप में देखा। उस समय जीवशास्त्र में उद्‌विकास के सिद्धांत ने क्रांति उत्पन्न कर दी थी और अन्य क्षेत्रों में भी इस सिद्धांत को लागू करने के सबल प्रयत्न किए जा रहे थे। जीवशास्त्रीय उद्‌विकास की व्याख्या में अवशेषों का महत्वपूर्ण स्थान है। जीवशास्त्रियों ने पाया है कि मनुष्य व अन्य जीवों में कुछ अवयव ऐसे पाए जाते हैं जिनका आज की स्थिति में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं पर जो उद्‌विकास की पिछली सीढ़ियों में शरीर के महत्वपूर्ण भाग थे। इन अवयवों को जीवशास्त्री अवशेष कहते हैं। मानव शरीर में रीढ़ की हड्डी का सबसे निचला भाग और उंडुक (एपेंडिक्स) इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार के अवशेष जीवशास्त्री को उद्‌विकास का क्रम निर्धारित करने में सहायता देते हैं। १९वीं शताब्दी के अंतिम भाग में, जब मानवशास्त्र समाजशास्त्र आदि में भी उद्‌विकासीय सिद्धांतों का बोलबाला था, संस्कृतियों के अनेक व्याख्यातीत भागों को अवशेष घोषित किया गया। स्वभावत: लोकवार्ताशास्त्र के टाइलर और लैंग जैसे अग्रदूतों ने भी लोकवार्ता के तत्वों को अवशेष मानकर इनकी व्याख्या की।

किंतु जब हम लोकवार्ता का अध्ययन भारत तथा इस जैसे अन्य समाजों के संदर्भ में करते है तो इसे अवशेष मानना समीचीन प्रतीत नहीं होता। लोकगीत, दंतकथाएँ, वीरकाव्य, पहेलियाँ और लोकप्रचलित सूत्र तथा मंत्र आदि आज भी भारत जैसे देशों में लोकजीवन के जीवंत अंग हैं। यहाँ आज भी हम पुत्रजन्म के उत्सव की कल्पना बिना सोहर गीतों के नहीं कर सकते। एक ही परिवार में विवाह की विभिन्न रस्मों से संबंधित गीतों के बीस मे अधिक प्रकार आसानी से उपलब्ध हो जाते है। आल्हा जैसे वीरकाव्यों का गायन आज भी बड़ी बड़ी भीड़ें एकत्र करने की क्षमता रखता है। बच्चे अब भी नानी, दादी से कहानी सुने बिना सोने से इन्कार करते हैं। सौदे पटाते समय, और लड़ाई झगड़े में, पैनी कहावतों का प्रयोग सामान्य बात है। बैल खरीदते समय और मौसम के संबंध में भविष्यवाणी करने में अब भी किसान सूत्रों को काम में लाता है। आग बुझाने, लाठी बाँधने, ततैया, बिच्छू और साँप का जहर उतारने के

लिये अब भी मंत्रों पर भरोसा किया जाता है। भारतीय समाज तथा अन्य समाजों ने लोकवार्ता की जीवनशक्ति का प्रमाण हमें इसमें हो रही वृद्धि से भी मिलता है (दे० लोकगीत, लोकसाहित्य)

लोकवार्ता सामग्री मौखिक परंपरा से संचारित होती है और इसके द्वारा ही उसका अस्तित्व बना रहता है। अतः यह जब जनता पर अपना प्रभाव खो देती है तो या तो समाप्त हो जाती है या लेखबद्ध अथवा रेकार्ड की जाकर संग्रहालयों में अपने मूलरूप में सुरक्षित की जाती है। जीवंत लोकसंस्कृति में गीत, कहावतें आदि व्यक्तिविशेष की संपत्ति नहीं होतीं। इनमें से अधिकतर के कर्ता का भी पता नहीं होता। समस्त समुदाय इन्हें अपना मानकर उपयोग करता है। इच्छा अथवा आवश्यकता के अनुसार इनमें सहज ही परिवर्तन कर लिया जाता है। अतः प्रत्येक गीत, कथा आदि के अनेक रूप मिलते हैं और इनमें से किसी को अनधिकृत नहीं माना जा सकता। लोकसंस्कृति की वाहक जनता द्वारा लोकवार्ता के विविध अंगों का सतत पुनर्निर्माण वास्तविक लोकवार्ता सामग्री का प्रधान लक्षण है। यह प्रक्रिया तभी अपने सामान्य रूप में चलती है जब जनसाधारण लोकवार्ता को अपने जीवन का भाग मानते हैं। इसी प्रक्रिया के कारण लोकवार्ता में नवीन तत्वों को अंगीकार करने की क्षमता रहती है।

भारतीय लोकवार्ता में अब भी यह क्षमता विद्यमान है। विशेष रूप से लोकगीतों में आधुनिक घटनाओं और परिस्थितियों का सहज समावेश स्पष्ट दिखाई देता है। गांधी जी, बिहारभूकंप, कुंभ दुर्घटना, दुर्भिक्ष, मँहगाई आदि की स्पष्ट छाप लोकगीतों पर पड़ी है। महत्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रकार के सभी गीत पढ़े लिखे लोगों द्वारा रचित नकली लोकगीत नहीं हैं। अनेक ऐसे गीत निस्संदेह उन लोगों की कृति हैं जो पुस्तकों की दुनिया से दूर हैं और जिनकी चेतना लोकमानस की चेतना है। भारतीय लोकगीतों में रेलगाड़ी, साइकिल, मोटर आदि आधुनिक वस्तुओं का स्वाभाविक समावेश मिलता है। यह बात पश्चिमी देशों में जहाँ लोकवार्ता की परंपरा मृतप्राय हो गई है, नहीं पाई जाती। उदाहरण के लिये, पाश्चात्य लोकगीतों में रेलगाड़ी-संबंधी रूपक, विद्वानों के अनुसार, सप्रयास ही गढ़े गए हैं। किंतु एक प्रसिद्ध भारतीय लोकगीत सहज ही रेल को सौत कह देता है, क्योंकि वह पति को अलग ले जाती है। इस अंतर का कारण यही है कि भारतीय लोकवार्ता सामग्री अभी भी अवशेष मात्र नहीं बनी है और इसमें नए तत्वों को आत्मसात् करने की शक्ति विद्यमान है। नए तत्वों का समावेश कभी कभी नए गीतों के निर्माण द्वारा होता है किंतु अधिकतर पुराने गीतों में ही कुछ शब्दों के हेर फेर द्वारा यह संपन्न होता है। लोकवार्ता सामग्री अनेक पीढ़ियों से अनेक लोगों द्वारा किए गए ऐसे ही छोटे छोटे हेर फेर से संवर्धित होती रहती है।

जो भी लोकगीत, कथाएँ, कहावतें, नृत्य, विश्वास, क्रियाएँ आदि हमें आज लोक में प्रचलित मिलती हैं वे किसी एक व्यक्ति द्वारा पूर्णतः न रचित होकर असंख्य लोगों से प्रभावित होकर इस रूप में आई हैं। इस दृष्टि से हर्डर और ग्रिम भ्राताओं के इस मत में कि लोकगीत का निर्माता कोई एक व्यक्ति नहीं होता, सत्य का अंश है।

लोकवार्ताशास्त्र को विश्व के बहुत कम भागों में स्वतंत्र विषय के रूप में स्वीकार किया गया है। यद्यपि फिनलैंड तथा स्कैंडिनेवियन देशों की संस्थाएँ और ब्लूमिंगटन इंडियाना (अमरीका) के फोकलोर संस्थान जैसी कुछ संस्थाओं ने लोकवार्ता पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया है तथापि अधिकतर विश्वविद्यालयों में इस शास्त्र के अलग विभाग नहीं हैं। फलतः लोकवार्ता के सिद्धांत अनेक शास्त्रों में बिखरे हुए मिलते हैं और इसपर शोधकार्य भी भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से हुआ है। फ्रेज बोआस जैसे नृतत्वशास्त्रियों ने इसे संस्कृति के अंग के रूप में देखा है, तो युंग जैसे मनोवैज्ञानिकों ने इसे मानव मस्तिष्क के रहस्योद्घाटन का साधन बनाया है। भाषा और साहित्य के विद्वानों ने भी अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार लोकवार्ता का अध्ययन किया है। फिर भी आर्चर टेलर, स्टिथ टामसन, रिचर्ड डोरसन और ऐकेडेमीशियन सोकोलोव जैसे समकालीन विद्वानों को मुख्यतः लोकवार्ताशास्त्री कहा जा सकता है। इनके तथा पूर्ववर्ती लोकवार्ताशास्त्रियों के कार्य में इस शास्त्र के सामान्य सिद्धांत पाए जा सकते हैं। लोकवार्ताशास्त्र के चार प्रमुख पक्ष हैं : संकलन, वर्गीकरण, तुलनात्मक अध्ययन और व्याख्या।

लोकवार्ता शास्त्रियों ने संकलन को प्रारंभ से ही अपने कार्य का महत्वपूर्ण भाग माना है। संकलन प्रणाली के संबंध में उपादेय सुझाव लोकवार्ता साहित्य में अनेक स्थानों पर मिलते हैं। मुख्य बात यह है कि यथासंभव लोकप्रचलित वाङ्मय, व्यवहार और विश्वासों को ज्यों का त्यों लिखना या वर्णन करना चाहिए। लोकवार्ता के संग्रहकर्ता को अपनी ओर से सामग्री में किसी प्रकार का संशोधन नहीं करना चाहिए। यथावत् लेखन अथवा वर्णन के बाद वह अपनी संमति अवश्य दे सकता है, किंतु इसे और प्राथमिक सामग्री को स्पष्टतः पृथक् रखना चाहिए। ऐसा करने से यह सामग्री भविष्य में विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन के लिये उपलब्ध हो सकेगी। आधुनिक सामाजिक शक्तियों के फलस्वरूप लोकवार्ता का लोप तीव्र गति से हो रहा है। अतः इसका विधिवत् संकलन शीघ्रता से करना अत्यंत आवश्यक है।

वर्गीकरण लोकवार्ताशास्त्र का प्रमुख आधार रहा है। लोकवार्ता के विभिन्न अंगों को उनके अभिप्राय, स्वरूप, सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भ और कार्यभाग के आधार पर अनेक वर्गों और उपवर्गों में बाँटा गया है। इन वर्गों और उपवर्गों के लिये सर्वमान्य नामों को निश्चित करने का प्रयत्न भी अंतरराष्ट्रीय लोकवार्ता संस्थाओं ने किया है। इससे विभिन्न स्थानों पर पाए जानेवाले समान और विभिन्न तत्वों का तुलनात्मक अध्ययन सुगम हो जाता है। उदाहरण के लिये यदि हम यह पहचान सकें कि आल्हा वीरकाव्य है तो इसकी तुलना ग्रीक, ट्यूटोनिक, स्कैंडिनेवियन और अनेक मध्यएशियाई देशों के वीरकाव्यों से भी की जा सकती है। तब हम देख सकेंगे कि अपनी भावना, शैली, चरित्रचित्रण और घटनाओं में आल्हा चैडविक और सी० एम० बाओरा द्वारा वर्णित वीरकाव्यों से कितना मिलता जुलता है। इसके विपरीत यदि हम इस लोककाव्य को बैलेड मान लें तो इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन का द्वार बंद हो जाएगा। अतः ठीक वर्गीकरण का तुलनात्मक अध्ययन एवं व्याख्या के लिये बड़ा महत्व है।

विभिन्न देशों की लोकवार्ता सामग्री में समानता का अध्ययन

इस शास्त्र की एक प्रमुख देन है। इस क्षेत्र में जेम्स जी० फ्रेजर का एक दर्जन खंडों वाला बृहत् ग्रंथ (गोल्डन बाउ) जिसमें उन्होंने विश्व भर के विभिन्न भागों में प्रचलित जादू टोने संबंधी विश्वासों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। स्टिथ टामसन का छह खंडोंवाला मोटिफ़ इंडेक्स आफ़ फोक लिटरेचर, लोककथाओं, गीतों आदि में पाए जानेवाले समान अभिप्रायों के अध्ययन में बहुत सहायक है। पेंजर द्वारा संपादित कथासरित्सागर के अनुवाद (ओशन आव स्टोरी) में अनेक लोकवार्ता अभिप्रायों का अच्छा तुलनात्मक अध्ययन मिलता है।

लोकवार्ता सामग्री की व्याख्या अत्यंत गहन विषय है। एक ही प्रकार की सामग्री का अनेक स्तरों पर अध्ययन किया जा सकता है। नृतत्वशास्त्री समग्र संस्कृति में उसके स्थान और कार्य का अध्ययन कर सकता है, समाजशास्त्री उसके द्वारा संस्थाओं और सामाजिक मूल्यों के अध्ययन में सहायता ले सकता है, मनोविश्लेषण का विद्वान् उसकी व्याख्या अचेतन मन के प्रतीकों के आधार पर कर सकता है, दार्शनिक उसमें निहित सनातन सत्यों का निरूपण कर सकता है और साहित्यशास्त्री उसके सौंदर्य का मूल्यांकन कर सकता है। ये सभी दृष्टिकोण एक दूसरे के पूरक हैं।

विभिन्न परंपरागत समाजों की लोकवार्ता में आश्चर्यजनक समानताएँ मिलती हैं। निकटवर्ती देशों की लोकवार्ता सामग्री में ही साम्य नहीं मिलता बल्कि महासागर के द्वीपों आदि अलग अलग स्थानो पर रहनेवाले जनजातीय समुदायो की परंपरा में भी अन्य समुदायों के सुपरिचित अभिप्राय (मोटिफ्स) दृष्टिगोचर होते हैं। लोकवार्ता सामग्री में प्राप्य समान तत्वों की व्याख्या नृतत्वशास्त्र और लोकवार्ताशास्त्र के लिये कठिन समस्या रही है। सामाजिक सांस्कृतिक उद्विकास में विश्वास करनेवाले विद्वान् यह मानते थे कि सभी समाजों में उद्विकास का समान क्रम रहता है। उद्विकास के समान चरण में विभिन्न समाजों की संस्कृति समान हो, यह उन्हें स्वाभाविक प्रतीत हुआ। इसी आधार पर विद्वानो ने लोकवार्ता-सामग्री में साम्य की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। इसके विपरीत पेरी, इलियट, स्मिथ, बोआस आदि विद्वानो ने सांस्कृतिक तत्वों की समानता की व्याख्या में विसरण (diffusion) अर्थात् विभिन्न समाजों के बीच सांस्कृतिक आदान प्रदान को महत्व दिया है। उद्विकासवादियों और विसरणवादियों के बीच विवाद बहुत काल तक चलता रहा है। इन दोनों विचारधाराओं ने लोकवार्ता संबंधी अध्ययनों को प्रभावित किया है। एक ओर उद्विकास के आधार पर लोकवार्ता तत्वों की उत्पत्ति खोजने का प्रयत्न हुआ है और दूसरी ओर लोक-कथाओं आदि के अभिप्रायों के प्रवसन का विधिवत् और श्रमसाध्य अध्ययन हुआ है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक विज्ञानों की अर्वाचीन प्रगतियों के परिप्रेक्ष में आज आवश्यकता इस बात की है कि लोकवार्ता सामग्री का अध्ययन समग्र सामाजिक सांस्कृतिक ढाँचे के अंग के रूप में हो। अवलोकन एवं विश्लेषण करके यह देखने का प्रयत्न होना चाहिए कि लोकवार्ता तत्वों का सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था में क्या स्थान और कार्यभाग रहा है।

लोकवार्ता मानव संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग रही है, और आज के भारत तथा अन्य विकासशील देशों में इसके अध्ययन का अच्छा अवसर है। लोकवार्ता सामग्री के विधिवत् विश्लेषण से हमें परंपरागत समाज की संस्थाओं, सामाजिक प्रक्रियाओं और मूल्यों का गहन और विश्वासयोग्य ज्ञान प्राप्त हो सकता है। बहुत से ऐसे सामाजिक तथ्य जिनके अध्ययन के लिये सामाजिक अनुसंधान के अधिक औपचारिक ढंग अत्यंत खर्चीले और अनुपयुक्त हैं, लोकवार्ता के व्यवस्थित संकलन और विश्लेषण से सहज ही प्राप्त किए जा सकते हैं। भारत में लोकवार्ता के अध्ययन से इस विषय के सैद्धांतिक विकास को भी बहुत सहायता मिल सकती है। यूरोप और अमरीका के विद्वानों को अपने समाज में इस संबंध में आज ऐसे जीवित तथ्य उपलब्ध नहीं जो भारत में हमें आसानी से मिल जाते हैं, क्योंकि यहाँ अभी लोकवार्ता की परंपरा जीवित है।

सं० ग्रं० —एम० लीच (सं०) : स्टैंडर्ड डिक्शनरी ऑफ़ फ़ोकलोर' माइथालोजी ऐंड लीजेंड, दो खंड, १९५०; स्टिथ टामसन : मोटिफ़ इंडेक्स ऑव फ़ोक लिटरेचर, छह खंड १९३२–३६; जे० जी० फ्रेजर : द गोल्डेन बाउ, बारह खंड, १९०७–१६; पेंजर (सं०) ओशन आव स्टोरी, दस खंड, १९२४–२८; वाई० एम० सोकोलोव : रशन फ़ोकलोर १९५०; सी० एल० बर्न्स : दि हैंडबुक ऑव फ़ोकलोर, १९१४; सेसिल शार्प : इंगलिश फोकसांग, १९५४; टी० एफ० हेंडरसन: बैलाड इन लिटरेचर, १९१२; एम० जे० सी० होडगार्ट। द बैलाड्स, १९५०; एच० एम० चैडविक : द हीरोइक पोइटरी, १९४२; स्टिथ टामसन : द फ़ोकटेल, १९५१; आर्चर टेलर : इंगलिश रिडिल्स फ्राम ओरल ट्रेडीशन, १९५१; जी० ए० ग्रियरसन: बिहार पीजेंट लाइफ, १९२६; डब्लू० कुक . ऐन इनट्रोडक्शन टु द पापुलर रेलिजन ऐंड फ़ोकलोर ऑव नार्दर्न इंडिया, १८९४; एच० एच० रिजले : ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑव बेंगाल, चार खंड, १८९१; डब्लू० कुक : ट्राइबस् ऐंड कास्टस् ऑव नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऐंड अवध, चार खंड, १८९६; जे० पी० एच० वोगेल : इंडियन सर्पेंट लोर, १९२६; सत्येंद्र : ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन, १९४९; कुंजबिहारी दास : ए स्टडी ऑव ओरीसन फोकलोर, १९५३; रामनरेश त्रिपाठी : ग्रामगीत, १९२९; रामइकबाल सिंह . मैथिली लोकगीत, १९४२; डब्लू० जी० आर्चर तथा संकठाप्रसाद . भोजपुरी ग्रामगीत, १९४३; कृष्णदेव उपाध्याय : भोजपुरी लोकगीत, दो खंड. १९४८–५४; दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह : भोजपुरी लोकगीत में करुण रस, १९४४; दिनेशचंद्र सेन : ईस्ट बेंगाल बैलेड्स, दो भाग, १९२३–२६; वेरियर एलविन : मिथस् ऑव मिडिल इंडिया, १९५४; जॉन क्रिश्चियन : बिहार प्रावर्ब्स १८९१। [इं० दे०]

लोकसंपर्क लोकसंपर्क का अर्थ बड़ा ही व्यापक और प्रभावकारी है। लोकतंत्र के आधार पर स्थापित लोकसत्ता के परिचालन के लिये ही नहीं बल्कि राजतंत्र और अधिनायकतंत्र के सफल संचालन के लिये भी लोकसंपर्क आवश्यक माना जाता है। कृषि, उद्योग, व्यापार, जनसेवा और लोकरुचि के विस्तार तथा परिष्कार के लिये भी लोकसंपर्क की आवश्यकता है। लोकसंपर्क का शाब्दिक अर्थ है जनसाधारण से अधिकाधिक निकट संबंध। प्राचीन काल में लोकमत

को जानने अथवा लोकरुचि को सँवारने के लिये जिन साधनों का प्रयोग किया जाता था वे आज के वैज्ञानिक युग में अधिक उपयोगी नहीं रह गए हैं। एक युग था जब राजा लोकरुचि को जानने के लिये गुप्तचर व्यवस्था पर पूर्णतः आश्रित रहता था तथा अपने निदेशों, मंतव्यों और विचारों को वह शिलाखंडों, प्रस्तरमूर्तियों, ताम्रपत्रों आदि पर अंकित कराकर प्रसारित किया करता था। भोजपत्रों पर अंकित आदेश जनसाधारण के मध्य प्रसारित कराए जाते थे। राज्यादेशों की मुनादी कराई जाती थी। धर्मग्रंथों और उपदेशों के द्वारा जनरुचि का परिष्कार किया जाता था। आज भी विक्रमादित्य, अशोक, हर्षवर्धन आदि राजाओं के समय के जो शिलालेख मिलते हैं उनसे पता चलता है कि प्राचीन काल में लोकसंपर्क का मार्ग कितना जटिल और दुरूह था। धीरे धीरे सभ्यता का विकास होने से साधनों का भी विकास होता गया और अब ऐसा समय आ गया है जब लोकसंपर्क के लिये समाचारपत्र, मुद्रित ग्रंथ, लघु पुस्तक-पुस्तिकाएँ, प्रसारण यंत्र (रेडियो, टेलीविजन), चलचित्र, ध्वनि-विस्तारक यंत्र आदि अनेक साधन उपलब्ध हैं। इन साधनों का व्यापक उपयोग राज्यसत्ता, औद्योगिक और व्यापारिक प्रतिष्ठान तथा अंतरराष्ट्रीय संगठनों के द्वारा होता है।

वर्तमान युग में लोकसंपर्क के सर्वोत्तम माध्यम का कार्य समाचारपत्र करते हैं। इसके बाद रेडियो, टेलीविजन और चलचित्रों का स्थान है। नाट्य, संगीत, भजन, कीर्तन, धर्मोपदेश आदि के द्वारा भी लोकसंपर्क का कार्य होता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्गत जुलूस, सभा, संगठन, प्रदर्शन आदि की जो सुविधाएँ हैं उनका उपयोग भी राजनीतिक दलों की ओर से लोकसंपर्क के लिये किया जाता है। डाक, तार, टेलीफोन, रेल, वायुयान, मोटरकार, जलपोत और यातायात तथा परिवहन के अन्यान्य साधन भी राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय संपर्क के लिये व्यवहृत किए जाते हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्गत जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि भी लोकसत्ता और लोकमत के मध्य लोकसंपर्क की महत्वपूर्ण कड़ी का काम करते हैं। लोकसंपर्क की महत्ता बताते हुए सन् १७८७ ईसवी में अमरीका के राष्ट्रपति टामस जेफर्सन ने लिखा था—"हमारी सत्ताओं का आधार लोकमत है। अत हमारा प्रथम उद्देश्य होना चाहिए लोकमत को ठीक रखना। अगर मुझसे पूछा जाय कि मैं समाचारपत्रों से विहीन सरकार चाहता हूँ अथवा सरकार से रहित समाचारपत्रों को पढ़ना चाहता हूँ तो मैं नि.संकोच उत्तर दूँगा कि शासनसत्ता से रहित समाचारपत्रों का प्रकाशन ही मुझे स्वीकार है। पर मैं चाहूँगा कि ये समाचारपत्र हर व्यक्ति तक पहुँचें और वे उन्हें पढ़ने में सक्षम हों। जहाँ समाचारपत्र स्वतंत्र हैं और हर व्यक्ति पढ़ने की योग्यता रखता है वहाँ सब कुछ सुरक्षित है।" मेकाले ने सन् १८२८ में लिखा "संसद् की जिस दीर्घा में समाचारपत्रों के प्रतिनिधि बैठते हैं वही सत्ता का चतुर्थ वर्ग है"। इसके बाद एडमंड बर्क ने लिखा—"संसद् में सत्ता के तीन वर्ग हैं किंतु पत्रप्रतिनिधियों का कक्ष चतुर्थ वर्ग है जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।" इसी प्रकार सन् १८४० में कार्लाइल ने योग्य संपादकों की परिभाषा बताते हुए लिखा—'मुद्रण का कार्य अनिवार्यत· लेखन के बाद होता है। अत: मैं कहता हूँ कि लेखन और मुद्रण लोकतंत्र के स्तंभ हैं। लिखो और लोकतंत्र अनिवार्य है।"

लोकसंपर्क की दृष्टि से समाचारपत्रों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने एक बार कहा था—"मेरे ख्याल से दीर्घ काल तक प्रेस लोकसंपर्क का माध्यम बना रहेगा। यद्यपि भारत में आज भी मौखिक वार्तावहन का विशेष महत्व है, तथापि गाँवों में भी अब धीरे धीरे परिवर्तन हो रहा है तथा समाचारपत्र वहाँ पहुँचने लगे हैं।" अब यह स्पष्ट है कि लोकसंपर्क की दृष्टि से वर्तमान युग में समाचारपत्रों, संवाद समितियों, रेडियो, टेलीविजन, फिल्म तथा इसी प्रकार से अन्य साधनों का विशेष महत्व है। यह स्थिति केवल भारत में ही नहीं है बल्कि, विदेशों में है। लोकसंपर्क की दृष्टि से वहाँ इन साधनों का खूब उपयोग किया जाता है। इंगलैंड, अमरीका, फ्रांस, सोवियत रूस, जापान, जर्मनी तथा अन्यान्य कई देशों में जनसाधारण तक पहुँचने के लिये सर्वोत्तम माध्यम का कार्य समाचारपत्र करते हैं। इन देशों में समाचारपत्रों की बिक्रीसंख्या लाखों में है।

जनसाधारण तक पहुँचने के लिये इसी प्रकार रेडियो, टेलीविजन और चलचित्रों का उपयोग भी अधिक किया जाता है। भारतवर्ष में लोकसंपर्क की दृष्टि से समाचारपत्रों का प्रथम प्रकाशन सन् १७८० से आरंभ हुआ। कहा जाता है, २६ जनवरी, १७८० को भारत का पहला पत्र "बंगाल गजट" प्रकाशित हुआ था। इसके बाद सन् १७८४ में कलकत्ता गजट का प्रकाशन हुआ। सन् १७८५ में मद्रास से कूरियर निकला, फिर बंबई हेरल्ड, बंबई कूरियर और बंबई गजट जैसे पत्रों का अंग्रेजी मे प्रकाशन हुआ। इससे बहुत पहले इंग्लैंड, जर्मनी, इटली और फ्रान्स से समाचारपत्र प्रकाशित हो रहे थे। इंग्लैंड का प्रथम पत्र आक्सफोर्ड गजट सन् १६६५ में प्रकाशित हुआ था। लंदन का टाइम्स नामक पत्र सन् १७८८ में निकला था। मुद्रण यंत्र के आविष्कार से पहले चीन से किंबयाड और कियल 'तथा रोम से "रोमन एक्टा डायरना' नामक पत्र निकले थे।

भारत में पत्रों के प्रकाशन का क्रम सन् १८१६ से प्रारंभ हुआ। बंगाल गजट के बाद जान बुलइन, तथा "दि ईस्ट" का प्रकाशन हुआ। इंगलिशमैन १८३६ में प्रकाशित हुआ। १८३८ में बंबई से बंबई टाइम्स और बाद में 'टाइम्स आफ इंडिया' का प्रकाशन हुआ। १८३५ से १८५७ के मध्य दिल्ली, आगरा, मेरठ, ग्वालियर और लाहौर से कई पत्र प्रकाशित हुए। इस समय तक १६ ऐंग्लो इंडियन और २५ भारतीय पत्र प्रकाशित होने लगे थे किंतु जनता के मध्य उनका प्रचार बहुत ही कम था। सन् १८५७ के विद्रोह के बाद 'टाइम्स आफ इंडिया', 'पायोनियर', 'मद्रास मेल', 'अमृतबाजार पत्रिका', 'स्टेट्समैन', 'सिविल ऐंड मिलिटरी गजट' और 'हिंदू' जैसे प्रभावशाली समाचारपत्रों का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। बिहार से बिहार हेरल्ड, बिहार टाइम्स और बिहार एक्सप्रेस नामक पत्र प्रकाशित हुए। भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होनेवाला प्रथम पत्र समाचारदर्पण सन् १८१८ में श्रीरामपुर से बँगला में प्रकाशित हुआ। सन् १८२२ में बंबई समाचार, गुजराती भाषा में प्रकाशित हुआ। उर्दू में 'कोहेनूर', 'अवध अखबार' और 'अखबारे आम' नामक कई पत्र निकले।

हिंदी का प्रथम समाचारपत्र 'उदंत मार्तंड' था, जिसके संपादक

श्री युगलकिशोर शुक्ल थे। दूसरा पत्र 'बनारस अखबार' राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने सन् १८४५ में प्रकाशित कराया था। इसके संपादक एक मराठी सज्जन श्री गोविंद रघुनाथ भत्ते थे। सन् १८६८ में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'कवि वचन सुधा' नामक मासिक पत्रिका निकाली। पीछे इसके पाक्षिक और साप्ताहिक संस्करण भी निकले। १८७१ में 'अल्मोड़ा समाचार' नामक साप्ताहिक प्रकाशित हुआ। सन् १८७२ में पटना से 'बिहार बंधु' 'नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशन में पंडित केशोराम भट्ट का प्रमुख हाथ था। सन् १८७४ में दिल्ली से सदादर्श, और सन् १८७६ में अलीगढ़ से 'भारत बंधु' नामक पत्र निकले। ज्यों ज्यों समाचारपत्रों की संख्या बढ़ती गई त्यों त्यों उनके नियंत्रण और नियमन के लिये कानून भी बनाते गए। राष्ट्रीय जागरण के फलस्वरूप देश में दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक आदि पत्रों का प्रकाशन अधिक होने लगा। समाचारपत्रों के पठनपाठन के प्रति जनता में अधिक अभिरुचि जाग्रत हुई। १५ अगस्त, १९४७ को जब देश स्वतंत्र हुआ तो प्रायः सभी बड़े नगरों से समाचारपत्रों का प्रकाशन होता था। स्वतंत्र भारत के लिए जब संविधान बना तो पहली बार भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के सिद्धांत को मान्यता दी गई। समाचारपत्रों का स्तर उन्नत बनाने के लिये एक आयोग का गठन किया गया। सन् १९६० में १७ शृंखलाबद्ध, ११५ समूहबद्ध और २३ बहुविध समाचारपत्र प्रकाशित होते थे। ४४.६ प्रतिशत समाचारपत्र वैयक्तिक स्वामित्व के अंतर्गत थे। राजनीतिक दलों द्वारा संचालित समाचारपत्रों में २४ पत्र साम्यवादी दल के थे। सन् १९६० मे कुल ८०२६ पत्रपत्रिकाएँ प्रकाशित हुई जिनमें अंग्रेजी की पत्रपत्रिकाओं की संख्या १६४७ और हिंदी की १५३२ थी। मलयालम में १९९, पंजाबी मे १३५, उर्दू में ६८०, बगला में ५२६, गुजराती मे ५१९, मराठी में ४०४, तमिल में ३७७, तेलगु में २५६, कन्नड़ मे २१९, उड़िया में ७६, असमिया मे १६, सस्कृत में १२ और अन्य भाषाओं में १२५ पत्रपत्रिकाएँ प्रकाशित हुई। ८२५ पत्रपत्रिकाएँ द्विभाषी और ४८७ पत्रपत्रिकाएँ बहुभाषाओं की थीं। संपूर्ण देश में समाचारपत्रों की बिक्रीसंख्या कुल मिलाकर १ करोड़ ७२ लाख २ हजार है (१९६०)।

भाषा के आधार पर इसका विवरण इस प्रकार है

समाचारपत्रों की प्रचार संख्या (१९६०)

पत्र	सख्या
अंग्रेजी	४१४७०००
हिंदी	३५८३०००
तमिल	२४८६०००
गुजराती	१२०२०००
मलयालम	११३००००
मराठी	१०७१०००
उर्दू	१०५५०००
बंगला	९३९०००
तेलुगू	६३१०००
कन्नड़	४४९०००
पंजाबी	२०३०००
उड़िसा	१३४०००
असमिया	५२०००
संस्कृत	७०००
अन्य	११३०००
	१८२१९०००

ऊपर जो आँकड़े प्रस्तुत किए गए हैं उनसे पता चलता है कि पत्रपत्रिकाएँ लोकसंपर्क के लिये समुचित माध्यम का कार्य करती हैं। इनके अतिरिक्त पुस्तकों का प्रकाशन भी लोकसंपर्क का उपयुक्त माध्यम है। भारतवर्ष में पुस्तकप्रकाशन का अधिकांश कार्य निजी प्रतिष्ठानों के द्वारा होता रहा है किंतु स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद से भारत सरकार और राज्य सरकारों के प्रकाशन विभागों के अंतर्गत बहुसंख्यक पुस्तकपुस्तिकाएँ और पत्रपत्रिकाएँ प्रकाशित की जा रही है। उनके माध्यम से जनसाधारण को विभिन्न विषयों की जानकारी दी जाती है। केवल मार्च, १९६० मे इस विभाग के द्वारा प्रकाशित पुस्तक पुस्तिकाओं और पत्रपत्रिकाओं की ४ लाख ७३ हजार प्रतियाँ बेची गई तथा ५ लाख ३३ हजार प्रतियाँ निःशुल्क वितरित की गई। लगभग १२००० शिक्षण संस्थाओं और अनुसंधानकेंद्रो में २८०० एजेंटों के माध्यम से ये प्रतियाँ पहुँचती हैं। भारत की प्रायः सभी भाषाओं में दर्जनों पत्रपत्रिकाएँ और पुस्तकपुस्तिकाएँ प्रकाशित की जाती हैं जो देश की विभिन्न प्रवृत्तियो और गतिविधियों से जनता को अवगत रखती है। बालकों के लिये भी उपयोगी साहित्य का प्रकाशन किया जाता है। नेशनल बुक ट्रस्ट, साहित्य अकादमी, ललितकला अकादमी, आदि संगठनो द्वारा प्रकाशित पुस्तकें भी लोकसंपर्क के माध्यम का कार्य करती हैं।

रेडियो, टेलीविजन — लोकसंपर्क की दृष्टि से समाचारपत्रों के बाद दूसरा स्थान रेडियो और टेलीविजन का आता है। टेलीविजन अभी हमारे देश में बहुत लोकप्रिय नही हुआ है, किंतु सीमित रूप में इसका प्रयोग किया जा रहा है। जहाँ तक रेडियो का प्रश्न है, लोकसंपर्क की दृष्टि से उसका व्यापक प्रभाव है। ३० सितंबर १९६० तक सारे देश मे कुल १९ लाख ६१ हजार ९५६ रेडियो लाइसेंस जारी किए गए थे किंतु दिसंबर, १९६७ तक देश मे इनकी सख्या ७५ लाख, ७९ हजार, ४६ हो गई। १९६५ और १९६६ में लगभग १०,००,००० रेडियो लाइसेंस बढ़े थे। रेडियो के अधिकाधिक प्रसार के लिये सस्ते मूल्य के रेडियो सेट जारी किए गए है। आकाशवाणी केंद्रो से २० भाषाओं में प्रतिदिन कार्यक्रम प्रसारित किए जाते है। औद्योगिक केंद्रों, विद्यालयों, ग्रामीण अंचलो, महिलाओं, बच्चो और किसानों के लिये भिन्न-भिन्न कार्यक्रम प्रसारित किए जाते है। परिवार-नियोजन पर भी आकाशवाणी केंद्रों से कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं। आकाशवाणी केंद्रों का संचालन पूर्णत. केंद्र सरकार के नियंत्रण में है और उनके द्वारा लोकरुचि के अनेकानेक कार्यक्रम प्रसारित होते हैं। विदेशों के लिये जो कार्यक्रम प्रसारित होते हैं वे भी विशेष महत्व रखते है। मार्च, १९६८ तक सारे देश में आल इंडिया रेडियो के ३६ मुख्य स्टेशन तथा २२ सहायक स्टेशन स्थापित किए जा चुके हैं। इनके अतिरिक्त आल इंडिया रेडियो के चार स्टेशनों से प्रतिबंधित समय के लिये कार्यक्रम प्रसारित

किए जाते हैं। विविधभारती कार्यक्रम अब आल इंडिया के ३२ स्टेशनों से सुना जा सकता है। १२६ मीडियम और शार्ट वेव ट्रांसमिटर तथा एक टेलीविजन सेंटर की स्थापना की जा चुकी है। नाटक, संगीत, कविता, वार्ता, लोकगीत, हास्य निबंध, कथा, रूपक, विचारविमर्श (विचारगोष्ठी) आदि से संबंधित जो कार्यक्रम प्रसारित होते हैं उनसे लोकरुचि के निर्माण में विशेष सहायता मिलती है। संसद् की कार्यवाही, खेलकूद का विवरण और राज्य-विधान-मंडलों की कार्यवाहियाँ भी रेडियो केंद्रों से प्रसारित होती रहती हैं। सामुदायिक केंद्रों में लोग बहुत बड़ी संख्या में रेडियो कार्यक्रम सुनते हैं। १५ सितंबर, १९५९ को टेलीविजन का कार्यक्रम प्रयोगात्मक रूप में प्रस्तुत हुआ और इस समय सप्ताह में प्रत्येक दिन, रविवार को छोड़कर दिल्ली के आसपास ३० किलोमीटर के लिये यह कार्यक्रम डेढ़ घंटे प्रसारित होता है। रविवार को यह कार्यक्रम २ घंटे प्रसारित होता है। किसानों, स्कूलों व टेलीक्लबों के लिये भी विशेष कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं। इस समय करीब ६००० व्यक्तिगत टेलीविजन सेट हैं। (अद्यावधिक आँकड़े भारत सरकार के सूचना विभाग से प्राप्त)।

इस प्रकार लोकसंपर्क की दृष्टि से रेडियो और टेलीविजन का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। स्पष्ट है कि समाचारपत्रों के अतिरिक्त जनसाधारण तक पहुँचने का उपयुक्त माध्यम रेडियो ही है। साहित्य, काव्य, नाटक, संगीत, प्रहसन, समाचार और प्रशासकीय विचारों के प्रचार और प्रसार में रेडियो का प्रमुख हाथ है। रेडियो जनसाधारण तक पहुँचने का उत्तम माध्यम है।

चलचित्र — लोकसंपर्क की दृष्टि से समाचारपत्रों और रेडियो की तरह चलचित्रों का भी अपना महत्व है। यद्यपि चलचित्रों का निर्माण मुख्यत: लोकरंजन और लोकरुचि के परिष्कार के लिये होता है तथापि इनके द्वारा लोकसंपर्क और लोकशिक्षा का कार्य भी होता है। भारत में पहले जो चलचित्र बनते थे वे सवाक् चित्र नहीं होते थे। वस्तुत: वे मूक चित्र होते थे। चलचित्रों के निर्माण का प्रथम कार्य दादा साहब फडके ने प्रारंभ किया। अब तो विभिन्न दृश्यावलियों और कथानकों के साथ सवाक् चित्र भी भारी संख्या में बनने लगे हैं। व्यवसाय और मनोरंजन की दृष्टि से जो चित्र बनते हैं उनका लोकसंपर्क की दृष्टि से भले ही अधिक महत्व न हो किंतु डाकूमेंट्री और वृत्तचित्रों का तो लोकसंपर्क की दृष्टि से महत्व है ही। केंद्र और राज्य की सरकारों की ओर से जो डाकूमेंट्री चित्र बनाए जाते हैं उनका उद्देश्य लोकभावना को जाग्रत करना ही होता है। इन चित्रों में राष्ट्रनिर्माण की गतिविधियाँ तो होती ही हैं, ऐतिहासिक और भौगोलिक महत्व के स्थानों और दृश्यावलियों का भी परिदर्शन होता है। इस प्रकार के चित्र विदेशी दूतावासों की ओर से भी प्रदर्शित किए जाते हैं। सन् १९६० में ऐसे ३२४ फीचर फिल्म बनाए गए थे जिन्हें फिल्म सेंसर बोर्ड ने जनता के मध्य प्रदर्शित किए जाने के लिये प्रमाणपत्र दिया था। ये ३२४ फीचर फिल्म हिंदी, तमिल, तेलुगु, बँगला, मराठी, मलयालम, कन्नड़, उड़िया, पंजाबी, गुजराती, उर्दू, सिंधी और अंग्रेजी भाषाओं में प्रस्तुत किए गए थे। बच्चों के लिये उपदेशात्मक चित्र बनाए जाते हैं। जनसाधारण की जानकारी और शिक्षण के लिये जो वृत्तचित्र और संवादचित्र बनाए जाते हैं उन्हें प्रस्तुत और वितरित करने के लिये भारत सरकार का फिल्म डिवीजन उत्तरदायी है। लोकसंपर्क की दृष्टि से चित्रों का कितना महत्व है, यह बताने के लिये केवल एक दृष्टांत का उल्लेख पर्याप्त है। भारत सरकार के प्रचार विभाग ने योजनाओं के प्रचार के लिये १ जनवरी, १९६० से ३१ मार्च, १९६१ के मध्य ४६५५ प्रदर्शनों का जो आयोजन किया उसे ५३ लाख व्यक्तियों ने देखा। प्रत्येक प्रदर्शन में छह से दस फिल्मों का प्रदर्शन किया गया। इस अवधि में ६१२७ सभाओं का आयोजन किया गया तथा ३६३ नाटक दिखलाए गए। कविसंमेलन, मुशायरा, हरिकथा और बुर्रकथा आदि के आयोजन भी संपन्न हुए। केवल १९६० में योजना और विकास से संबंधित २० हजार फिल्म और २ लाख वृत्तचित्र प्राय: २ करोड़ व्यक्तियों के समक्ष प्रदर्शित हुए। लोकसंपर्क की दृष्टि से मेला, प्रदर्शनी, सभा, जुलूस आदि का आयोजन किया गया। स्पष्ट है कि फिल्मों के माध्यम से इस समय लोकसंपर्क का काम अधिक तेजी से हो रहा है। एक समय था जब मेले, प्रदर्शनी, तीर्थस्थान और सभाओं के जरिए ही लोकसंपर्क होता था किंतु विज्ञान के इस युग में रेडियो, समाचारपत्रों, फिल्मों, रेलगाड़ियों, वायुयानों, ट्रकों, चलती फिरती गाड़ियों, ध्वनिविस्तारक यंत्रों तथा अन्यान्य साधनों का उपयोग भी लोकसंपर्क के लिये किया जाने लगा है। किसानों, विद्यार्थियों, शिक्षकों, मजदूरों और अन्य भ्रमणकारियों के दल संगठित होते हैं और उन्हें देशविदेश का दर्शन कराया जाता है। इस प्रकार लोकसंपर्क के साधनों का बहुत तेजी से विस्तार हो रहा है। विज्ञापन और प्रचार के इस युग में लोकसंपर्क के जो नए नए साधन आविष्कृत हुए हैं उन्होंने मानव जीवन को विशेष रूप से प्रभावित किया है। [अ० मि०]

लोकसंस्कृति, पर्वतीय भारत की पर्वतीय संस्कृति का क्षेत्र उत्तर में कश्मीर की घाटियों से लेकर पूर्व में असम की पर्वतमालाओं तक विस्तृत है जिसके दक्षिण में गंगा ब्रह्मपुत्र के मैदान फैले हुए हैं। लगभग २००० मील लंबी यह हिमालय शृंखला स्पष्टत: तीन श्रेणियों में विभक्त हो सकती है—(१) हिमालय की उच्च शृंखलाएँ जिनके उस पार तिब्बत है, (२) हिमालय की मध्यवर्ती श्रेणी जहाँ पार्वत्य जातियाँ निवास करती हैं, और (३) हिमालय की तलेटी जहाँ के लोकजीवन में पार्वत्य एवं आर्य तत्वों का पर्याप्त संमिश्रण हुआ है। पर्वतीय संस्कृति के अंतर्गत मुख्यत: मध्यवर्ती श्रेणी के निवासियों तथा अंशत: हिमालय की तलेटी के निवासियों का लोक-जीवन समाविष्ट है।

इस संस्कृति के दो स्पष्ट धरातल हैं—विशिष्ट रूप के अंतर्गत अधिकांश शिक्षित वर्ग की उपलब्धियाँ, साहित्यिक रचनाएँ तथा सामाजिक, धार्मिक आदि विशेषताएँ आती हैं और दूसरे सामान्य रूप को लोकसंस्कृति का धरातल कहा जा सकता है जिसमें जनसाधारण की परंपराएँ, रीतिनीतियाँ, प्रथाएँ, लोकविश्वास आदि समाविष्ट होंगे। इस संस्कृति के ये दोनों रूप अत्यंत प्राचीन काल से उभरते हुए परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं। दोनों की क्रिया प्रति-क्रिया से आज तक जनजीवन संबंधी आचारविचारों, विधिनिषेधों, विश्वास प्रथाओं आदि का जो स्वरूप निखरता रहा उसी का समन्वित नाम पर्वतीय संस्कृति है।

भौगोलिक दृष्टि से इसका प्रसार कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश के पहाड़ी भागों, नेपाल, सिक्किम एवं भूटान, तथा असम, इन छह राज्यों तक है। यहाँ रहनेवाली भिन्न भिन्न जातियों ने अपने इतिहास के प्राचीनतम युग से लेकर अभी तक मानसिक संपन्नता की दिशा में जो जो कार्य किए, उन सब का समावेश इनकी संस्कृति के अंतर्गत मानना चाहिए। अतः सामान्य परिचय के लिये इसका अध्ययन चार दृष्टियों से संभव है—(१) पार्वत्य जीवन के लोकविश्वास तथा लोकपरंपराएँ।—आत्मा, परमात्मा, सृष्टि, शकुन, अशकुन, जादू टोना आदि संबंधी धारणाएँ इसके अंतर्गत हैं। (२) रीति रिवाज, मूढ़ाग्रह आदि। इसी वर्ग में निवासियों के व्यवसायों, उद्योग धंधों, व्रतों, त्योहारों आदि का समावेश भी हो सकता हो। (३) धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन। और (४) लोककलाएँ—जिनमे संगीत, चित्रकला, मौखिक एवं लिखित रचनाओं आदि की चर्चा की जा सकती है। मौखिक गीत, कथाएँ, कहावतें, पहेलियाँ, सूक्तियाँ तो इन लोगों की अपनी संपत्ति हैं। समग्र रूप से इस संस्कृति का बहुलांश लोकधरातल का ही है, इसलिये लोकसंस्कृति की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है। इसका बहुरंगी रूप भी ध्यान में रखना चाहिए क्योंकि यहाँ ऐसी जातियो का निवास रहा है जो अपनी मूल परंपराओं मे बिल्कुल ही भिन्न थी।

इन पार्वत्य प्रदेशों का उल्लेख न्यूनाधिक रूप से अत्यंत प्राचीन काल से मिलता है। 'रामायण' में कुछ क्षेत्र वर्षा, धूप, रोग और दुःख से रहित प्रदेश के रूप में वर्णित हुए हैं। 'महाभारत' में स्थान-स्थान पर यहाँ निवास करनेवाली किरात, खस आदि जातियों का उल्लेख है। पुराण ग्रंथों में तो अधिकांश भूभागों की चर्चा हुई है, यद्यपि उनके स्थान निश्चित कर सकना इस समय संभव नही। साहित्यिक रचनाओं में कालिदास के 'कुमारसंभव' एवं 'रघुवंश' में, चंद कवि के 'पृथ्वीराज रासो' में, उसमान की 'चित्रावली' में और तुलसी के 'रामचरितमानस' में यहाँ की अधिकांश जातियों (संभवतः आर्येतर) का नामोल्लेख मिलता है। यूनानी इतिहासकारों में प्लिनी, टॉल्मी आदि ने भी कुछ जातियों का उल्लेख किया है तथा ह्वेन साँग के यात्राविवरण और मुगल फरमानों में भी यहाँ का वर्णन है।

पर्वतीय संस्कृति की रूपरेखा निर्धारित करने मे यहाँ दो तत्व स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। एक ओर तो कुछ स्थानीय विशेषताएँ हैं, दूसरी ओर व्यापक हिंदू संस्कृति का प्रभाव है। रामायण, महाभारत, गोरखनाथ, कबीर आदि से प्रभावित लोकरचनाओं से लेकर मुसलमान शासनकाल में विकसित कुछ राग रागिनियों तथा गायनशैलियों का विवरण भी मिलता है। प्राकृतिक स्थिति और जलवायु ने यहाँ के निवासियो को प्राकृतिक सौंदर्य का पुजारी बनाने के साथ कर्मठ व उद्योगशील बनाया है। यह प्रकृति इनके प्रति कठोर भी रही है क्योंकि इन्हें अपनी आजीविका के लिये अथक परिश्रम करना पड़ता है। प्राकृतिक स्थिति के कारण थोड़ी थोड़ी दूर पर पर्याप्त भिन्नता उत्पन्न हो गई है। यातायात की कठिनाई जनसंपर्क में बाधक होती है, इस कारण एक ही लोकगीत एकाधिक धुनों में बद्ध मिलता है अथवा घाटी घाटी में बोलियों की विशिष्टता उत्पन्न हो गई है। लोकजीवन में प्राकृतिक स्थिति से उत्पन्न प्रवृत्तियाँ स्पष्ट लक्षित होती हैं जिनके कारण यहाँ की संस्कृति ने विशेष रूप ग्रहण कर लिया है।

यहाँ के मूल निवासी कौन थे, यह कहना तो कठिन है, फिर भी उनके अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। इनके अतिरिक्त समय समय पर अन्य जातियाँ भी आती रहीं जिन्होंने अपनी विशेषताओं से स्थानीय जीवन को प्रभावित किया। प्रागैतिहासिक काल में गंधर्व, यक्ष, किन्नर, दस्यु, यवन आदि जातियों का वर्णन मिलता है। इनके विषय में पर्याप्त मतभेद होते हुए भी इनके अस्तित्व को सभी विद्वान् मानते हैं। ऐटकिंसन ने किरातो को विदेशी जाति माना है जिनके आधुनिक वंशज मध्य हिमालय में रहनेवाले जंगलवासी राजी लोग हैं। गंधर्व, यक्ष आदि जातियो के वंशज संभवतः वर्तमान नायक तथा डोम आदि हैं। यहाँ के अनेक त्योहार एवं व्रत नागों से संबंध रखते हैं अतः इस जाति का भी इधर अवश्य प्रसार रहा होगा।

सबसे प्रसिद्ध जाति खसों की है जिनका विस्तार कभी बड़े व्यापक क्षेत्र में रहा। किसी समय पामीर के पठार, कश्मीर, पंजाब, गढ़वाल, कुमाऊँ और नेपाल से लेकर ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी तक, संपूर्ण हिमालय में ये लोग फैले हुए थे और आज भी अपनी सख्या के कारण ये इन पहाड़ो में बहुत महत्व रखते है। इनके उपरांत शक जाति के आगमन की परिचायक यहाँ कुछ स्थानो की सूर्यप्रतिमाएँ है: तिब्बत के साथ ऊन का व्यापार करनेवाली वर्तमान 'शौक' जाति से इनका संबंध जोड़ सकते है। तत्कालीन इतिहास में हूणों का उल्लेख भी हुआ है एवं तिब्बत का दक्षिण-पश्चिमी भाग 'हूणदेश' कहलाता भी है। किंतु प्राचीन आर्यों की भाँति इनका आगमन अनिश्चित ही है। तिब्बती प्रभाव यहाँ अवश्य रहा जिसका उदाहरण वेशभूषा या दारमा-जोहार के निवासी भोटियो का जीवन है। मध्यकाल के प्रारंभ में उत्तर भारत के मैदानों से यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि और भी लोग आए। धीरे धीरे कुछ मुसलमान, ईसाई और अन्य जातियों के लोग भी यहाँ बस गए। इस स्थिति का प्रभाव यह हुआ कि जहाँ विभिन्न जातियो का संमिश्रण आचार विचार की भिन्नता सूचित करता है, वहीं एक विराट् समन्वय की ओर भी संकेत करता है।

धार्मिक जीवन में प्रकृतिपूजा, यक्षपूजा एवं नागपूजा के उदाहरण प्राप्त होते हैं। 'जाखन देवी' अर्थात् यक्षिणी देवी के नाम पर अनेक स्थानों पर मंदिर बने हुए है। नागो के आधार पर तो मंदिरो के ही नहीं, प्रत्युत पर्वतो और स्थानो तक के नाम रखे गए हैं। पौराणिक देवी देवताओं की उपासना संभवतः उत्तर भारत की जातियों के आगमन के साथ आई। शिव-पार्वती तो पहले से थे, बाद में रामकृष्ण की पूजा का समावेश हुआ। सातवीं शताब्दी से कुछ बौद्ध धर्म के संकेत मिलते है। मध्यकाल मे सिद्धों, नाथों और कनफटे जोगियों ने धार्मिक जीवन को प्रभावित किया। पहाड़ों में आज भी शैव धर्म का आधिक्य है जो इस तथ्य से प्रकट होता है कि यहाँ के मंदिर अधिकतर शिव, दुर्गा एवं अन्य शिवशक्तियों से संबंध रखते हैं। इतने देवी-देवताओं के होते हुए भी भूत प्रेत, मसान खबीस, जादू टोना आदि पर जनसाधारण का अधिक विश्वास है।

प्राचीन आर्य जनपदों के साथ किसी न किसी रूप में इन स्थानों का संबंध रहा। कुरु, पांचाल जनपदों से विशेष संबंध मालूम होता है, यद्यपि इन पार्वत्य प्रदेशों का पृथक् अस्तित्व था और इनका

संमिलित नाम 'किरात मंडल' व 'खस मंडल' था। यहाँ स्थानीय खस शासक राज्य करते रहे। मध्यवर्ती भागों में कत्यूरी राजवंश का राज्य रहा जिसका संबंध काबुल के कटौर वंश तथा बंगाल के पाल वंश से किया जाता है। राजनीतिक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि यहाँ मध्यकाल तक किसी एक ही शक्ति का प्रभुत्व नहीं रहा। कभी कुमाऊँ गढ़वाल के चंद राजा शक्तिशाली हुए तो कभी नेपाल के गोरखा लोग। अंग्रेज भी सभी पार्वत्य प्रदेशों को अपने स्वायत्त नहीं कर सके। आर्थिक स्थिति ने जनसाधारण का जीवनस्तर प्रभावित किया, इस प्रकार उसके सुख दुःख, हर्ष उल्लास आदि का स्वरूप निर्धारित करने में योग दिया। यही भावनाएँ कालांतर में चलकर पर्वतीय संस्कृति की विशेषताएँ बन गईं।

स्पष्ट ही यहाँ कभी एक जाति का प्रभुत्व नहीं रहा। किरात, दरद, खस और आर्य जातियों का आर्येतर जातियों से जो व्यापक संपर्क हुआ उसी की परिणति वर्तमान व्यापक जातीय समन्वय में हुई। हिमालय के पूर्वी भाग भूटान, असम की ओर इस संस्कृति का निर्माण मुख्यत: मोन ख्मेर अथवा किरात तत्वों से हुआ। उत्तरी असम में इस समय उनके उत्तराधिकारी अहोर, मीरी, मिशमी आदि लोग रहते हैं। नेपाल की पहाड़ियों तथा सिक्किम के केंद्रवर्ती भाग में अभी तक किरातों के वंशज रहते हैं। लिंबू, ल्होपा, लेपचा, नेवार, सनवार, गुरुंग, मगर, मुरमी, राई आदि यहाँ की प्रमुख जातियाँ हैं। इनके पश्चिम कुमाऊँ, गढ़वाल की ओर खस एवं राजपूत तत्वों की प्रधानता है। पंजाब और कश्मीर की ओर यद्यपि आर्य तत्व की प्रमुखता है, फिर भी आर्येतर जातियों तथा तिब्बतवंशियों का वहाँ पर्याप्त मिश्रण लक्षित होता है। चंबा के आसपास 'गादी' लोग, और पहाड़ियों में टक्का, ठाकर आदि लोग रहते हैं जिनकी मुख्य, आजीविका कृषि है। कश्मीर में बाटल, छिबली, डोगरा, गक्कर, एंड आदि जातियाँ हैं तथा छोटे कदवाले कुछ मूलवासी रहते हैं। इन सभी पार्वत्य लोगों का जीवन अत्यंत विविध एवं स्फूर्तिदायक है। नृत्यों, कलाओं, भाषा, मौखिक रचनाओं आदि की दृष्टि से इस संपूर्ण भूभाग की कुछ विशिष्ट क्षेत्रीय विशेषताएँ भी स्पष्ट झलकती हैं।

कश्मीर घाटी के प्राकृतिक सौंदर्य ने वहाँ के लोकजीवन को पर्याप्त प्रभावित किया है। जंगलों में लकड़ी काटना तथा पशुओं का शिकार मुख्य उद्यम है। कुछ लोग भेड़ पालते या कृषि करते हैं। ऊनी शाल, कंबल, बेल बूटे का काम उन्नति कर गया है। जंमू, श्रीनगर, मंडी आदि नगर जनजीवन के केंद्र हैं। जंमू का हिमाचल के लोकजीवन में अलग स्थान है। 'भाँगड़ा', 'गिद्धा' यद्यपि पंजाब के लोकप्रिय नृत्य हैं, फिर भी इनकी विशिष्ट झाँकी कश्मीर की घाटियों, जंमू तथा हिमाचल प्रदेश के चंबा आदि स्थानों पर दिखाई देती है। जंमू के श्रमगीतों में चरवाहों, भेड़ पालकों का जीवन अधिक मुखरित होता है। 'ढोलरू' गीत गानेवाले गायक मंगलमुखिए कहे जाते हैं। इधर 'कुड्ड' नामक समूहनृत्य अधिक प्रचलित है।

आगे हिमाचल प्रदेश है जिसे राहुल जी ने 'किन्नर प्रदेश' ठीक ही कहा है। चारों ओर सघन वन हैं जहाँ कहीं कहीं खेती, चराई होती है। लोग आलू, तंबाकू की खेती करते हैं और अवकाश के समय नृत्य एवं गीतों द्वारा मनोरंजन करते हैं। चंबा, शिमला, बिलासपुर मुख्य नगर अत: लोकसंस्कृति के केंद्र भी हैं। यहाँ गुगा जी के वीर-गीत प्रसिद्ध हैं। लोहड़ी एवं सैर के त्योहार मनाए जाते हैं। गीतों, कथाओं में कहीं लोकविश्वासों एवं प्राचीन परंपराओं के दर्शन भी होते हैं, जैसे भागदेव पुरोहित का गीत यज्ञ के समय नरबलि का अच्छा उदाहरण है। एक किंवदंती के अनुसार चंबा की किसी महारानी ने पानी का कष्ट दूर करने के लिये स्वयं अपना ही बलिदान कर दिया था।

गढ़वाल, कुमाऊँ का लोकजीवन आकर्षक है। उत्तर में भोटिया व्यापारी जोहार दारमा की ओर फैले हुए हैं। तिब्बत तक खाद्य-सामग्री पहुँचाना एवं ऊन का क्रयविक्रय इनके प्रमुख उद्योग हैं। इनकी वेशभूषा तथा बोली पर तिब्बती छाप है। नवंबर के महीने में मैदानों की ओर उतरकर मार्च तक ये लोग वापस लौटते हैं। गीतों में इस स्थिति का चित्रण हुआ है। बोलियों में इधर श्रीनगरिया, सलाणी, खसपरजिया, कुमइयाँ प्रमुख हैं जिनके उच्चारण में मूर्धन्य ल, ण, एवं ओकारांत प्रवृत्ति की विशेषताएँ लक्षित होती हैं। गढ़वाल की ओर पवाँड़े, चैती गीत और 'राकस' (राक्षस) कथाएँ अधिक प्रचलित हैं। कुमाऊँ के झोड़ा, चाँचरी, छपेली जैसे लोकनृत्य अभी कम प्रसिद्ध होने पर भी पगसंचालन की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। पक्षीकथाएँ तो नितांत मौलिक और रोचक हैं। मेलों, त्योहारों के अवसरों पर इन लोगों का जीवन अपना पूर्ण हास उल्लास लेकर निखर उठता है।

नेपाल के त्योहार, संस्कार, गीत आदि कुमाऊँ से मिलते जुलते हैं। भाषा 'खसकुरा' कही जाती है जो पूर्व में दार्जिलिंग, सिक्किम तक प्रयुक्त होती है। रोपाई के गीत यहाँ 'असारे,' और धान काटते समय के गीत 'दँवाई' कहे जाते हैं। 'सोरठे', 'मोंदले', 'डंफू', 'बालन', 'कहवा' आदि प्रमुख नृत्यगीत हैं। भूटान, सिक्किम तथा असम में लोकनिवासियों पर फिर प्रकृति का प्रभाव गहरा होता गया है। कोरव, बोदो, ढीयल, कीचक जातियों की कुछ प्रथाएँ आदिम जातियों की भाँति हैं। शरीर के अंग प्रत्यंग में गोदना गोदाना सामान्य प्रथा है। उत्तरवासी लोग तिब्बती भाषा बोलते हैं। असम के दक्षिण में खसिया, गारो, कूकी, नागा जातियाँ निवास करती हैं। इधर सदाबहार वनों की सघनता है। ढालों पर चाय के बगीचों में लोग काम करते हैं। नागा पहाड़ियों पर आदिवासी रहते हैं जिनके मुख्य धंधे कुटीर उद्योग हैं। असमी व बँगला भाषाएँ प्रयुक्त होती हैं। मणिपुर राज्य के निवासी संगीत और नृत्य कला के अधिक प्रेमी हैं। त्रिपुरा के निवासी हथकरघों से रंगीन वस्त्र बुनते हैं और कुछ तिलहन, जूट, अनन्नास की खेती करते हैं। मणिपुरी नृत्य प्रतीकात्मक हैं जिनमें अंगप्रत्यंगों के आकस्मिक उतार चढ़ाव तथा अपेक्षाकृत कोमल ताललय उन स्थानों के भीषण तूफानों और वृक्षों के टूटने का संकेत करते हैं। नर्तकों का बार बार घूमना, झुकना भी विशाल हिमालय शृंखलाओं का उतार, चढ़ाव तथा घुमाव सूचित करता है।

पर्वतीय लोकजीवन के विशिष्ट लोकोत्सवों में मेले अधिकांश धार्मिक जीवन से संबद्ध हैं। स्थानीय मेले किसी देवी देवता के उपलक्ष्य में लगाए जाते हैं। कुछ मेलों में पत्थरों की मार कुमाऊँ की ओर 'बगवाल' कही जाती है। त्योहार अधिकतर तीन प्रकार के हैं — प्रकृतिविषयक, कृषिविषयक और नारीवर्ग संबंधी।

वसंतपंचमी, हरियाला त्योहार सर्वत्र मनाए जाते हैं। बीज बोते समय, कृषि तैयार हो जाने पर सर्वप्रथम नवधान्य कुलदेवताओं को समर्पित करते समय, नई गाय के पहली बार दूध देते समय के त्योहार विभिन्न स्थानीय नामों से प्रसिद्ध हैं। लोककलाओं में यद्यपि संगीत, नृत्य आदि की प्रधानता है, फिर भी चित्रकला के क्षेत्र में पहाड़ी चित्रकला का विशिष्ट स्थान है।

हिमाचल प्रदेश के दक्षिणी भूभाग से लेकर नेपाल की तराई तक बोक्सा, थाड़ू जातियाँ रहती हैं। 'बोक्साड़ें की विच्ना मारूँ —' लोकोक्ति से मालूम होता है यहाँ के लोग जादू टोना करने में निपुण थे। मनुष्यों को इनके द्वारा पशु बना देने की कथाएँ अब भी सुनी जाती हैं। पीर, नत्थे आदि स्थानीय देवताओं की पूजा होती है। थारू लोग भूत प्रेतों पर अधिक विश्वास करते हैं। झाड़ फूँक द्वारा विशिष्ट आत्मा का आवाहन कराया जाता है। इनके समाज में पुरुष की अपेक्षा स्त्री का स्थान उच्चतर है। वे सिर पर ऊँचा उठा हुआ चुट्टा बाँधती हैं। अब इन लोगों की संख्या घटती जा रही है।

पर्वतीय लोकसंस्कृति में वेशभूषा, संगीत के वाद्ययंत्रों, साज के उपकरणों आदि की विविधता भी दर्शनीय है जो कश्मीर से लेकर असम तक भिन्न होती गई है। स्त्री और पुरुष सामान्यत. पुष्पों, अलंकारों, आभूषणों में बड़ी अँगूठी, बाजूबंद, हार, रंग बिरंगे वस्त्रों का प्रयोग करते हैं। वाद्यों में भिन्न आकार के छोटे बड़े, ढोल, बाँसुरी, बीन बाजा आदि मुख्य हैं। स्त्रियाँ व्यापक रूप से घाघरा, ओढ़नी पहनती हैं तो पुरुष चूड़ीदार पाजामा, वास्कट और नुकीली टोपी पहनते हैं। ये पर्वतवासी निरंतर अपने उल्लासपूर्ण, चमकते हुए मुखमंडल से मानो यहाँ की विषम एव कठोर प्रकृति को चुनौती देते रहते हैं, तभी इनकी संस्कृति का स्वरूप उत्तरोत्तर विकासोन्मुख है।

सं० ग्रं० --- (१) लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया, भाग १ — ग्रियर्सन; (२) दि हिमालय डिस्ट्रिक्ट्स ऑव दि नॉर्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऑव इंडिया, भाग १,२ — ऐटकिंसन (३) वेस्टर्न टिबट ऐंड दि ब्रिटिश बॉर्डर लैंड — शेरिंग; (४) हिमालयन फोक लोर — ओक्ले ऐंड गैरोला, (५) दि खस फेमिली लॉ — डा० एल० डी० जोशी; (६) दि फोक डांसेज ऑव इंडिया — प्रजेश बनर्जी; (७) रेसेज ऐंड कल्चर ऑव इंडिया — डी० एन० मजुमदार; (८) हिमालयन ट्रैवल्स — जोधसिंह नेगी; (९) रिलिजन ऐंड फोक लोर ऑव नार्दर्न इंडिया — डब्ल्यू० क्रुक; (१०) 'किन्नर देश'— राहुल सांकृत्यायन; (११) कुमाउँनी भाषा और लोकसाहित्य — त्रिलोचन पांडेय; (१२) हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास (लोकसाहित्य) — ना० प्र० सभा, काशी।

[त्रि० पां०]

लोकसाहित्य साधारण जनता से संबंधित साहित्य को लोकसाहित्य कहना चाहिए। साधारण जनजीवन विशिष्ट जीवन से भिन्न होता है अतः जनसाहित्य (लोकसाहित्य) का आदर्श विशिष्ट साहित्य से पृथक् होता है। किसी देश अथवा क्षेत्र का लोकसाहित्य वहाँ की आदिकाल से लेकर अब तक की उन सभी प्रवृत्तियों का प्रतीक होता है जो साधारण जनस्वभाव के अंतर्गत आती हैं। इस साहित्य में जनजीवन की सभी प्रकार की भावनाएँ बिना किसी कृत्रिमता के समोई रहती हैं। अतः यदि कहीं की समूची संस्कृति का अध्ययन करना हो तो वहाँ के लोकसाहित्य का विशेष अवलोकन करना पड़ेगा। यह लिपिबद्ध बहुत कम और मौखिक अधिक होता है। वैसे हिंदी लोकसाहित्य को लिपिबद्ध करने का प्रयास इधर कुछ वर्षों से किया जा रहा है और अनेक ग्रंथ भी संपादित रूप में सामने आए है किंतु अब भी मौखिक लोकसाहित्य बहुत बड़ी मात्रा में असंगृहीत है।

आदिकाल से श्रुति एवं स्मृति के सहारे जीवित रहनेवाले लोकसाहित्य के कुछ विशेष सिद्धांत हैं। इस साहित्य में मुख्य रूप से वे रचनाएँ ही स्वीकार की जाती हैं अथवा जीवन पाती हैं जो अनेक कंठों से अनेक रूपों में बन बिगड़कर एक सर्वमान्य रूप धारण कर लेती हैं। यह रचनाक्रम आदि काल से अबतक जारी है। ऐसी बहुत सी साहित्यक सामग्री आज भी प्रचलित है जो अभी एकरूपता नहीं ग्रहण कर पाई है। परंपरागत एवं सामूहिक प्रतिभाओं से निर्मित होने के कारण विद्वानों ने लोकसाहित्य को 'अपौरुषेय' की संज्ञा दी है। निश्चय ही परंपरागत लोकसाहित्य किसी एक व्यक्ति की रचना का परिणाम नहीं है। वैसे तो इसके कई प्रमाण दिए जा सकते है कि एक ही गीत, कथा या कहावत एक स्थल पर जिस रूप में होता है दूसरे स्थल पर पहुँचते पहुँचते उसका वह रूप बदल जाता है किंतु एक अच्छा प्रमाण यह होगा कि सैकड़ों वर्ष से गाए जानेवाले लोकमहाकाव्य आल्हा खंड को आजतक एकरूपता नहीं प्राप्त हो सकी। इस कार्य में लोकप्रवृत्ति किसी प्रतिबंध को स्वीकार ही नहीं करती। स्फुट गीतों में तो केवल पंक्तियाँ ही इधर उधर होती हैं किंतु प्रबंध गीतों (गाथाओं) एवं कथाओं में घटनाएँ भी बदलती रहती हैं। यह सब होते हुए भी उन प्रबंधों एवं कथाओं के परिणामो में प्रायः कोई परिवर्तन नहीं स्वीकार किया जाता। परिणाम एवं लोकप्रचलित सत्य तथा तथ्य को आधार मानकर घटनाचक्र मनमाने ढंग से चलाए जाते हैं। रामकथा को ही लें। 'नाना भाँति राम अवतारा रामायन सत कोटि अपारा' वाली बात शत प्रतिशत सत्य है। रामकथा संबंधी जितनी विविधताएँ लोकसाहित्य में प्रचलित हैं यदि उन सब को एकत्र किया जाय तो एक विचित्र प्रकार का 'लोकरामायण' ग्रंथ तैयार होगा जो अबतक के सभी रामाख्यानो से भिन्न अस्तित्व का होगा। घटनाचक्रों को देखते हुए कभी कभी तो उनकी संगति बैठाना भी कठिन हो जायगा। उदाहरणस्वरूप लोकगीतो में भी रामजन्म के कई कारण हैं किंतु एक बहुत ही साधारण कारण यह है कि एक बार जब महाराज दशरथ प्रातःकाल सरयू मे स्नान करने जा रहे थे तो उनका दर्शन सबेरे ही गली में झाड़ू देनेवाली हेलिन (भंगिन) को हो गया। उसने ताना मारा कि आज प्रातःकाल ही संतानहीन व्यक्ति का दर्शन हुआ, पता नहीं दिन कैसे बीतेगा। दशरथ को यह बात लग गई और तभी वे रानी समेत पुत्रप्राप्ति के लिये वन में तप करने चले गए। इस प्रकार कारण दूसरा दिखाते हुए भी लोककथाकार दशरथ को फिर तपस्यावाले स्थल पर ले आता है जहाँ कथा अन्य रामायणों की कथा से मिल जाती है। ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं जो परिणाम में तो नहीं किंतु घटनाओं के मामले में एक नहीं हैं। ऐसे परिवर्तनों एवं संशोधनों को लोकसाहित्य बहुत ही आसानी से स्वीकार कर लेता है। इस साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह अनेक

रूपों में होते हुए भी अनेकता में एकता की भावना से युक्त होता है । भाषा के कलेवर को बदलकर भी भावपक्ष में कोई परिवर्तन नहीं दीखता । एक ही रचना जो किसी स्थल पर वहाँ की बोली में पाई जाती है, वही बहुत दूर दूसरी बोली में भी मिल जाती है । स्फुट गीतों के भावों एवं प्रबंधों की कथाओं की वह यात्रा कभी कभी तो इतनी लंबी होती है कि आश्चर्य होता है । क्षेत्रों एवं देशों की सीमा मनुष्य भले ही निर्धारित कर दे पर लोकसाहित्य इसे स्वीकार नहीं करता । ऐसा शायद इसलिये संभव हुआ होगा कि यात्राकाल में प्राचीन मानव जब कभी दूर गया होगा तो अपना साहित्य साथ लेता गया होगा और गंतव्य स्थान पर उसकी छाप छोड़ आया होगा जिसे वहाँ के लोगों ने स्वीकार कर लिया होगा । यह क्रम आज भी जारी है । जब कोई ग्राम्या नैहर से ससुराल जाती है तो स्वभावत: वह नैहर की उन लोकरचनाओं को अपने साथ लेती जाती है जो उसे स्मरण रहती हैं । यदि उसका विवाह मायके की बोलीवाले क्षेत्र में हुआ तब तो कोई बात नहीं, किंतु अन्य बोली के क्षेत्र में विवाह होने पर वह नैहर के गीतों को स्थानीय बोली के लहजों में ढाल लेती है । उसे इस कार्य में ससुराल की ग्राम्याओं द्वारा भी सहायता मिलती है । इस प्रकार बनाव बिगाड़ बराबर चलते रहते हैं । लोकगायक एवं गायिकाओं का यह स्वभाव बहुत दिनों से चला आ रहा है कि यदि उन्हें किसी कवि की रचना पसंद आ गई तो उसे तोड़ मरोड़कर अपनी बोली के अनुकूल बना लेती हैं । ऐसा करते समय कभी कवि का नाम निकाल दिया जाता है और कभी रहने दिया जाता है । प्रमाण के लिये आज भी ऐसे लोकगीत सुने जा सकते हैं---जो सूर, कबीर, तुलसी एवं मीरा के प्रकाशित ग्रंथों में जिस तरह मिलेंगे लोकगायकों के कंठ पर उनका वह रूप नहीं होगा । कुछ लोकगीतों में तो अनायास ही उनके नाम डाल दिए गए हैं । यह प्रवृत्ति हिंदी ही नहीं अन्य भाषाओं के लोकसाहित्य में भी पाई जाती है । कुछ विद्वानों का कहना है कि ऐसे भजन तथा गीत लोककवियों द्वारा स्वयं बना लिए गए हैं और उनकी उपयोगिता को बढ़ाने के लिये उच्च एवं बहुश्रुत कवियों के नाम जोड़ दिए गए ताकि अधिकांश लोग ऐसे गीतों को याद कर लें । पर यह बात है नहीं । लोककवि इसी स्थल पर तो उदार होता है । ऐसे बहुत से भजन लोकजीवन मे न जाने कब से चले आ रहे हैं जिनके रचनाकारों के बारे में पता ही नहीं चलता । सत्य तो यह है कि इस प्रकार के भजनों की संख्या नामयुक्त भजनों की संख्या से कहीं अधिक है और वे सरसता में भी नामधारी भजनों से घटकर नहीं है । लोकगायकों की एक प्रवृत्ति यह भी होती है कि वे स्थानीय घटनाओं को तुरंत भावबद्ध कर लेते हैं, जैसा १९३४ के बिहार भूकंप के समय हुआ था । बहुत दिनों से चली आ रही आंचलिक कथात्मक सामग्रियाँ इसी प्रवृत्ति की देन हैं । घटनाप्रधान प्रबंध एवं लोककथाएँ इस प्रवृत्ति से जन्म तो पा जाती हैं किंतु दीर्घ जीवन मात्र उनको मिलता है जो जनमानस को अधिक कुशलता के साथ छूती हैं ।

लोकसाहित्य की जो अपनी कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ हैं वे उतनी ही प्राचीन है जितना प्राचीन यह साहित्य है । इन प्रवृत्तियों की पुष्टि को ही विशाल एवं विभिन्न रचना कराने का श्रेय है । सुविधा के लिये इन्हें निम्नलिखित प्रकारों में बाँटा जा सकता है :

देवी देवताओं एवं प्राकृतिक उपलब्धियों पर आधारित साहित्य— आदिकालीन मानव के प्रकृतिप्रदत्त विभिन्न कल्याणकारी परिणामों से प्रभावित होने के कारण उनपर जो विश्वास आरोपित किया इससे संबद्ध साहित्य इसके अंतर्गत आता है । इसमें भक्ति एवं भय दोनों प्रकार की भावनाएँ सन्निहित होती हैं । देवी देवताओं की पूजा के लिये रचित तथा अंधविश्वासों से संबद्ध साहित्य (टोना, टोटका, मंत्र एवं जादू इत्यादि) इसी के अंतर्गत है । इनमें कुछ विश्वासों को आंचलिक और कुछ को व्यापक महत्व दिया जाता है । स्थानीय उपलब्धियों पर स्थानीय और व्यापक पर व्यापक रचनाएँ मिलती हैं । धरती, आकाश, कुँआ, तालाब, नदी, नाला, डीह, ड्योहार, मरी मसान, वृक्ष, फसल, पौधा, पशु, दैत्य दानव, देवी देवता, कुलदेवता, ब्रह्म एवं तीर्थ आदि पर जो भी मंत्र या गीत प्रचलित हैं वे इसी के अंग हैं । जब भी ग्रामीण कोई शुभ कार्य (जन्म से लेकर मरण तक के सभी संस्कार तथा खेती बारी, फसल की पूजा, गृहनिर्माण, कूपनिर्माण, मंदिर एवं धर्मशाला का निर्माण और परमार्थ संबंधी अन्य कार्य) प्रारंभ करते हैं तो उससे संबद्ध देवीदेवताओं को प्रसन्न करने के लिये जिन गीतों अथवा मंत्रों का प्रयोग होता है वे सब इस साहित्य में आते हैं । रोगों के निदान के लिये भी बजाय औषधि के गीतों एवं मंत्रों का प्रयोग होता है । उदाहरण के लिये शीतला माता के गीतों को लिया जा सकता है । पृथक् पृथक् देवी देवताओं के लिये पृथक् पृथक् मंत्र, गीत, पूजन एवं भोग आदि की सामग्रियाँ पता नहीं कब से निर्धारित की जा चुकी हैं । किसी को कुछ पसंद होता है तो किसी को कुछ । देवी बलि चाहती है, दानव दारू से प्रसन्न होता है परंतु ब्रह्म को इन सब के स्थान पर जनेऊ चाहिए । इन्हीं के अनुसार गीत एवं मंत्र तो बदलते ही हैं, साथ ही पुजारी भी बदलते रहते हैं ।

लोकाचार के लिये रचित साहित्य — इसके अंतर्गत आचार विचार एवं व्यावहारिकता तथा विभिन्न लोकमान्यताओं से संबद्ध साहित्य आता है । आचार विचार के लिये रचित साहित्य में भावनाओं और मान्यताओं का प्रवेश है किंतु व्यवहार के लिये रचे गए साहित्य मे यह बात कम देखने को मिलती है । व्यवहार की विशेषता लोकसाहित्य में मुख्य रूप से देखने को मिलती है । आपसी व्यवहार की बात तो जाने दें । यहाँ साँप को भी दूध पिलाया जाता है । वृक्ष (बरगद, पीपल) को भी बाबा कहा जाता है और बदली तथा नदियाँ बहन का रूप धारण करती हैं । इसी तरह अनेक अमानवीय तत्वों से तथा हिंसक जंतुओं से संबंध जोड़कर सारी सृष्टि को एक रूप में बाँधा गया है । इस संदर्भ में रचे हुए साहित्य का मूल उद्देश्य व्यावहारिकता के आधार पर सरल एवं सुखी जीवन व्यतीत करना है । यही कारण है कि जनजीवन एक रिश्ते में बँधा हुआ है और जातीय भेदभाव, जो भीषण रूप से व्याप्त हैं, उसकी दीवार को तोड़ नहीं सके हैं । दादी दादा, भाई बहन आदि के रिश्ते पूरे गाँव में बिना किसी जातीय भेदभाव के चला करते हैं । विभिन्न अवसरों के लिये प्रचलित लोकाचार भी इसी विधा के अंग हैं ।

वैज्ञानिकता पर आधारित साहित्य — इस साहित्य के अंतर्गत

ऋतुविद्या, स्वास्थ्यविज्ञान, कृषिविज्ञान, एवं शकुन आदि से संबद्ध साहित्य आता है। लोकजीवन में इस प्रकार के साहित्य को आधुनिक वैज्ञानिक युग में काफी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इनमें पूर्वाचार्यों द्वारा निर्धारित अनुभूतियों, नियमों एवं तत्संबंधी उपदेशात्मक बातों का समावेश होता है। यह मान्यताएँ प्रायः परीक्षा की कसौटी पर खरी उतरती है किंतु साथ ही कुछ अपवाद भी हैं। ऋतुविज्ञान के अंतर्गत अतिवृष्टि, अनावृष्टि एवं अल्पवृष्टि के कारणों तथा तज्जन्य क्षतियों और उनसे बचने के उपायों की ओर संकेत किए गए हैं। इस प्रकार के वैज्ञानिक साहित्य के आधार परंपरागत अनुभव ही होते हैं। चूँकि यह अनुभव बहुत पक्के होते हैं इसलिये लोकगीतों की भाँति इनके बनने बिगड़ने की संभावनाएँ कम हुआ करती हैं। यही दशा कृषिविज्ञान के लिये रचे गए साहित्य की है। इसके अंतर्गत खेती से संबद्ध प्रायः आवश्यक बातें कह दी गई हैं। खेत की जुताई किस तरह हो, किस प्रकार के खेत में किस प्रकार की बुआई की जाय, बीज की मात्रा कितनी हो, सिंचाई कब की जाय, निरवाही एवं गुड़ाई कब की जाय तथा किस समय फसल की कटाई हो, यह सब बातें तो वैज्ञानिक साहित्य के अंतर्गत आती ही हैं, इनके अतिरिक्त फसल संबंधी रोगों तथा उपचारों का भी वर्णन मिलता है। कृषि कार्यों में काम आनेवाले उपकरणों तथा बैलों की पहचान आदि पर भी भारी मात्रा में साहित्यरचना की गई है। बैलों के अतिरिक्त अन्य पालतू पशुपक्षियों के बारे में भी प्रचुर संकेत मिलते हैं। बैलों के बाद सार्वजनिक साहित्य घोड़ों की पहचान के संबंध में प्राप्त होता है। चूँकि आधुनिक वैज्ञानिक वाहनों के कारण अब घोड़े कम रखे जाते हैं इसलिये इस प्रकार के साहित्य का धीरे धीरे अभाव होता जा रहा है। गाँव गाँव में ट्रैक्टरों के पहुँच जाने से बैलों की पहचान के बारे मे लिखे गए साहित्य की भी आगे शायद यही दशा होगी। अन्य पालतू पशुओं में गाय, भैंस एव कुत्तों की चरचा आती है किंतु इनपर नाम मात्र के लिये संकेत किया गया है। पक्षियों में तोता, मैना, कौआ, मुनियाँ, मोर, कोयल तथा कबूतर आदि के बारे में संकेत दिए गए हैं। ग्रामीणों के उपयोग में जितने प्रकार के पशुपक्षी आते हैं उन सबकी पहिचान एवं उनसे होनेवाले लाभहानि के बारे में इस साहित्य के अंतर्गत संकेत प्राप्त होते हैं।

स्वास्थ्यविज्ञान में विभिन्न रोगो के लक्षण और उनसे बचने के उपाय तथा औषधियों की ओर संकेत मिलता है। कौन सा रोग क्यों उत्पन्न होता है तथा किन आचरणों से रोग उत्पन्न नहीं होता या दूर हो जाता है आदि बातें इसके अंतर्गत आती हैं। साथ ही स्वास्थ्यप्रदायिनी दिनचर्या के लिये कुछ आदेश भी दिए गए हैं। जड़ी बूटियों की पहचान, उनके उपयोग तथा इससे उत्पन्न लाभ-हानि की चर्चा भी इस विभाग के विषय हैं। इस तरह के संकेत प्रायः आदेश के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं और वे पद्यों में हैं।

यही विधा कृषिविज्ञान एवं शकुनविज्ञान के लिये रचे गए साहित्य में भी अपनाई गई है। शकुनविचार संबंधी साहित्य में मुख्य रूप से यात्रा आरंभ करने के लिये कालक्रमानुसार शुभ लक्षणों को देखते हुए या तो आदेश दिए गए हैं या अपशकुनों के कारण यात्रारंभ के लिये मनाही की गई है। यदि यात्रा बहुत ही आवश्यक हो और दिनों की गणना में उसका समय अनुकूल न पड़ता हो तो उससे बचने के लिये उपाय बताए गए हैं। ऋतुओं, मानव लक्षणों एवं पशुपक्षियों की विभिन्न हरकतों द्वारा भी शकुन अपशकुन की जानकारी इस प्रकार के साहित्य के अंतर्गत कराई जाती है। जैसे वर्षा काल में घर नहीं छोड़ना चाहिए, मुँडेरे पर यदि प्रातःकाल काग बोले तो उसे किसी प्रिय जन के आगमन की सूचना समझनी चाहिए, इत्यादि।

जातीय लोकसाहित्य — संपूर्ण लोकसाहित्य का एक सर्वमान्य रूप तो होता ही है किंतु साथ ही विभिन्न जातियों की परंपरागत संस्कृति पर आधारित साहित्य भी होता है। इनमें उन जातियों के निजी देवी देवता, कुल देवता के आदेश तथा आचार्यों एवं संत महात्माओं द्वारा बताए गए नियम, उपनियम और उनकी वाणी शामिल होती है। विभिन्न जातियों जैसे—नाई, धोबी, अहीर, चमार, कुर्मी, कोयरी, नोनियाँ, बारी, भाट आदि एवं अन्य तथा अन्य जातियों की पृथक् पृथक् संस्कृति जातीय लोकसाहित्य के अंतर्गत आती है। यदि यह कहा जाय कि कहीं का संपूर्ण लोक-साहित्य वहाँ की विभिन्न जातियों की सामूहिक संस्कृति का प्रतीक होता है तो अनुपयुक्त नहीं होगा। जातीय साहित्य को निकाल देने पर लोकसाहित्य का जो रूप बच जायगा वह उसका सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं करेगा।

लोकसाहित्य की रचनास्थली — इस साहित्य की रचनास्थली विशिष्ट साहित्य की रचनास्थली से भिन्न होती है। यह लोकसाहित्य की ही विशेषता है कि उसके किसी भी प्रकार का निर्माण एकांत में नहीं होता। प्रायः वे सभी स्थल उक्त साहित्य के रचनाकेंद्र होते हैं जहाँ समय समय पर उसके प्रेमी अथवा आवश्यकताओं से प्रेरित ग्राम्य जन जुटा करते हैं। इसीलिये ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता कि लोकसाहित्य के अंग का आज जो रूप है वही कल भी था और आगे भी बना रहेगा। यदि हम कहें कि लोकसाहित्य की प्रमुख रचनास्थली चौपाल एवं आँगन है तो बेजा नहीं होगा। चौपालों में प्रायः अवकाश के समय गाँव के लोग एकत्र हो जाते हैं। तरह तरह की बातें चलती हैं। रीतिरिवाजों की चर्चा, धर्मचर्चा, कथाकहानियाँ, खेती बारी की बात तथा लोकगीत आदि समय समय पर चौपालों को मुखरित करते रहते हैं। वर्तमान काल की स्थानीय प्रमुख घटनाएँ भी कुछ दिनों तक वार्ता के लिये आधार बनी रहती हैं। इन सबके निचोड़ रूप में जो सामग्री जीवन पा जाती है वही कुछ दिनों बाद स्थानीय साहित्य मे शामिल हो जाती है। यदि महत्व अधिक हुआ तो ऐसी रचनाओं का प्रचार बढ़ जाता है और वे एक चौपाल से दूसरी में तथा एक गाँव के दूसरे गाँव मे जाकर अपना क्षेत्र व्यापक बनाती रहती हैं। इस प्रकार वे रचनाएँ कुछ वर्षों में विस्तृत लोकसाहित्य के भंडार में संमिलित हो जाती हैं। यही बात आँगन में रचे गए साहित्य पर लागू होती है जहाँ ग्राम्याएँ समय समय पर एकत्र होती हैं। इस तरह पुरुषों एवं स्त्रियों का साहित्य जन्म से ही पृथक् पृथक् होता है। चौपालों एवं आँगनों के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे स्थान हैं जहाँ इस साहित्य की विभिन्न विधाएँ निर्मित होती हैं। खेतों में निरवाही अथवा कटिया करते

समय, हाट के गट्ठर ढोते समय, अन्य सामूहिक मजदूरी करते समय, तीर्थ अथवा मेला यात्रा में, जाड़े में सायंकाल अलावों के पास, पर्वों एवं सांस्कारिक आयोजनों के समय अथवा संक्षेप में यह कहिए कि जब और जहाँ ग्रामीण स्त्री पुरुषों के जुटाव का अवसर आता है तब और तहाँ लोकसाहित्य का निर्माण होता रहता है।

लोकसाहित्य का जीवन — ऐसा नहीं कहा जा सकता कि भूतकाल में रचा गया सभी लोकसाहित्य जीवित है और आज जिनका निर्माण हो रहा है उनका अंत कभी नहीं होगा। सच तो यह है कि इस साहित्य की विधाएँ युगप्रभाव को स्वीकार करके अपना रूप बराबर बदलती रहती हैं। इधर पचास वर्ष के भीतर रचे गए साहित्य को देखने से यह बात स्पष्ट भी हो जाती है। इस अवधि में गाँवों को जितनी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ प्राप्त हुई हैं उनमें अधिकांश का समावेश लोकसाहित्य में हो चुका है। प्राचीन लोकसाहित्य में आए जादू के उड़न खटोले को छोड़कर इस युग के लोकसाहित्य ने सीधे सीधे हवाई जहाज को स्वीकार किया है। वैसे लोकसाहित्य में बैलगाड़ी, घोड़ा, ऊँट, हाथी तथा नौका आदि वाहन अब भी जीवित हैं किंतु मोटर एवं रेलगाड़ी ने भी अपना स्थान बना लिया है। वर्तमान काल में होनेवाले नव निर्माणों को भी उक्त साहित्य में स्थान मिलता जा रहा है। इन साहित्यिक रचनाओं के साथ वे सभी लक्षण भी लगे हुए हैं जो उन्हें दीर्घ जीवन प्रदान करते हैं। प्रायः विद्वान् लोग यह कहा करते हैं कि यदि विस्तृत लोकसाहित्य का संग्रह नहीं कर लिया गया तो उनका लोप हो जायगा। बात सही है क्योंकि युगप्रभाव के कारण प्राचीन रचनाएँ अनुपयुक्त प्रतीत होने लगती हैं और फिर धीरे धीरे लुप्त हो जाती हैं, जैसा कि इस समय हो भी रहा है। सिनेमा के गीतों ने गाँवों में अपना स्थान बना लिया है जिससे लोकगीत क्षीणता को प्राप्त हो रहे हैं। शिक्षा का प्रसार होने के कारण भी गाँवों की बोलियों में गीत गानेवाले पुरुषों एवं स्त्रियों का अभाव होता जा रहा है। ऐसा लग रहा है कि कुछ दिनों में विभिन्न संस्कारों के अवसर पर गाए जानेवाले प्राचीन लोकगीतों का लोप हो जायगा और उनके स्थान पर नवीन गीत स्थान पाएँगे या यदि इच्छा हुई तो लोकसाहित्य के संग्रहों को देख-देख कर पढ़ी लिखी स्त्रियाँ गीत गाकर काम चलाएँगी। आटा पीसनेवाली कल गाँव गाँव में पहुँच चुकी है और भी बहुत से यंत्रों का प्रसार होता जा रहा है इसलिए 'जंतसर' (जाँत के गीत) तथा कुछ अन्य श्रम संबंधी गीतों की कमी होती जा रही है।

इसी तरह वर्तमान युग की घटनाएँ भी इसमें स्वीकार की जा रही हैं। झाँसी की रानी, कुँवर सिंह, गांधी जी, सुभाषचंद्र, भगत सिंह, खुदीराम एवं चंद्रशेखर आजाद आदि लोकसाहित्य में प्रतिष्ठा के साथ जीवित हैं। ये वीर सेनानी उसी कड़ी में जोड़े गए हैं जिनमें प्राचीन काल के वीरों के नाम आते हैं।

लोकसाहित्य का स्थान — उपर्युक्त विवेचन से लोकसाहित्य का स्थान स्पष्ट हो जाता है किंतु धरातल से उठनेवाले इस साहित्य ने अपना एक शीर्षस्थ स्थान भी बनाया है जहाँ उसे वैदिक साहित्य के समकक्ष आसन प्राप्त है। प्रमाण यह है कि हमारे लोकजीवन के बहुत से और विशेषकर सांस्कारिक तथा धार्मिक कार्य वैदिक मंत्रों से पूर्ण होते हैं। जहाँ ये मंत्र संस्कृत में पढ़े जाते हैं वहाँ ग्राम्याओं द्वारा गाए जानेवाले लोकगीत तथा लोकाचार पर आधारित अन्य क्रियाकलाप भी चलते रहते हैं। एक ओर पुरोहित मंत्रोच्चार करता है तो दूसरी ओर ग्रामीण स्त्रियाँ गीत गाती हैं। मुंडन, कर्णवेध, यज्ञोपवीत तथा विवाह आदि संस्कारों पर और मकान, धर्मशाला, कुआँ तथा तालाब आदि का शुभारंभ करते समय भी मंत्र तथा लोकगीत साथ साथ चलते हैं। ऐसा एक भी सांस्कारिक एवं धार्मिक तथा परमार्थ का कार्य लोकजीवन में नहीं मिलता जिसमें वैदिक साहित्य के साथ लोकसाहित्य को स्थान न प्राप्त हो। (दे० हिंदी लोकसाहित्य)। [कं० शे० मि०]

लोक-सेवा-आयोग दे० "यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन"।

लोकसेवाएँ, भारत में सन् १९४७ में लोकसेवाओं का जो स्वरूप हमें विदेशियों से उत्तराधिकार स्वरूप प्राप्त हुआ, वह विदेशी शासन की स्वस्थ और प्रशंसनीय व्यवस्थाओं में एक था, यद्यपि इसकी संरचना में विदेशियों का प्रधान दृष्टिकोण इसे एक कल्याणकारी राज्य की जटिल और अनिवार्य आवश्यकताओं के अनुरूप बनाना नहीं, वरन् विधि और व्यवस्था की रक्षा मात्र था। राजनीतिक स्वतंत्रता तथा उसके परिणामस्वरूप राज्य के कार्यों में होनेवाले परिवर्तन का प्रभाव स्पष्ट रूप से भारतीय लोकसेवाओं पर पड़ा। परंतु सामान्य रूप में नागरिक सेवाएँ हमारे संविधान द्वारा निर्धारित व्यवस्थाओं के अंतर्गत, स्वतंत्र होने के पूर्व के विधि-विधानों एवं उद्देश्यों के अनुसार ही चल रही हैं। चूँकि विगत कई वर्षों से हमारा देश अनेकानेक जटिल समस्याओं से जूझने में व्यस्त रहा है, अतः किसी व्यापक प्रशासकीय पुनःसंगठन अथवा परिवर्तन की व्यवस्था संभव नहीं हो पाई, यद्यपि अनेकानेक समस्याओं का विश्लेषण और समाधान तदर्थ समितियों द्वारा किया गया है।

२. स्वतंत्र भारत के समक्ष सर्वप्रमुख समस्या प्रशासकीय कर्मचारियों की थी, जो कि महत्वपूर्ण नागरिक सेवाओं जैसे, भारतीय नागरिक सेवा में रत विदेशी पदाधिकारियों के स्वदेश लौट जाने तथा भारत- विभाजन के कारण मुस्लिम पदाधिकारियों के पाकिस्तान चले जाने के कारण उत्पन्न हुई। इसके साथ ही परिवर्तित परिस्थितियों में भारत के अनुकूल सेवाओं के स्वरूप के निर्धारण की भी समस्या थी। महत्वपूर्ण सेवाओं में रिक्तता की स्थिति दुरंत थी। उदाहरण के लिये सन् १९४७ में भारतीय नागरिक सेवा (आई० सी० एस०) में १०६४ पदाधिकारी थे, जिनमें से केवल ४५१ पदाधिकारी १५ अगस्त सन् '४७ के बाद सेवारत रहे। रिक्तताजन्य स्थिति की गंभीरता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि केंद्र और राज्यों में भारतीय नागरिक सेवाओं के प्रमुख पदों पर प्रतिष्ठित ५१ प्रतिशत ब्रिटिश पदाधिकारी भारत छोड़कर चले गए। इस रिक्तता की पूर्ति अविलंब अपेक्षित थी। अखिल भारतीय सेवाओं—भारतीय नागरिक सेवा (आई० सी० एस०), भारतीय पुलिस (आई-पी०) और साम्राज्य सचिवालय सेवा (इंपीरियल सेक्रेटेरिएट सर्विस) सबमें समुचित उत्तराधिकारियों के चयन का व्यापक प्रयत्न किया गया। अक्टूबर, १९४६ के आयोजित संमेलन के निश्चयानुसार आई० सी० एस० और आई० पी० एस० के स्थान पर प्रशासकीय सेवा (आई०

ए० एस०) और भारतीय पुलिस सेवा (आई० पी० एस०) की स्थापना की गई। इसी प्रकार सन् १९४८ में हुए निश्चयों के अनुसार साम्राज्य सचिवालय सेवा (इंपीरियल सैक्रेटरिएट सर्विस) के स्थान पर केंद्रीय सचिवालय सेवा की स्थापना की गई। केंद्रीय सचिवालय के पुन:संगठन से संबद्ध अन्यान्य विषयों, जैसे—केंद्रीय कर्मचारियों के वेतन भत्ते, उनकी सेवा की स्थितियों आदि के संबंध में भी सन् १९४६ से १९५० तक अनेक आयोगों और समितियों द्वारा विचार किया गया और इस प्रकार सरकार को अनेक विवरण प्राप्त हुए, जैसे १९४५-४६ में केंद्रीय प्रशासन के पुन.संगठन से संबंधित टाटेनहम रिपोर्ट (Tottenham), १९४७ में केंद्रीय वेतन आयोग के विवरण तथा १९४६ में सरकार की संरचना के संबंध में गोपाल स्वामी आयंगार रिपोर्ट। सन १९५० से लोकसेवाओं से संबद्ध अन्यान्य विषयों जैसे,—नई सेवाओं की स्थापना, राज्यों के विलयन के बाद सेवाओं की एकता तथा उनका पुन:संगठन, उनकी रचना, प्रक्रिया आदि पर तदर्थ समितियों, भारत सरकार के तत्संबंधी विभागों, योजना आयोग, लोक सभा की प्राक्कलन समितियों, प्रो० एपुलबी और अशोक चंदा जैसे विदेशी और भारतीय समीक्षकों, नई दिल्ली स्थित भारतीय लोक सेवा संस्थान (इंडियन इंस्टीच्यूट ऑव पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन) तथा मसूरी स्थित राष्ट्रीय प्रशासकीय अकादेमी (नेशनल एकेडमी ऑव ऐडमिनिस्ट्रेशन) आदि द्वारा विचार विमर्श और सर्वेक्षण किया गया। अभी हाल में कुछ महत्वपूर्ण विषयों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है; जैसे,—वेतन निर्धारण का प्रश्न और केंद्रीय कर्मचारियों की सेवा की शर्तें (जाँच आयोग—'द्वितीय वेतन आयोग' १९५७-५९), लोकसेवाओं में भ्रष्टाचार (संतानम् कमिटी रिपोर्ट, १९६४) और प्रशासकीय दुर्व्यवहारों के विरुद्ध शिकायतों की सुनवाई की प्रक्रिया आदि। उपर्युक्त विषय तथा प्रशासकीय सुधारों से संबद्ध व्यापक प्रश्न भारत सरकार के गंभीर सर्वेक्षण के विषय रहे हैं। राजकीय सेवाओं के संबंध में इसी प्रकार के अध्ययन विभिन्न राज्यों में भी किए गए हैं।

३. १९४७ से ५० की अवधि में इन सेवाओं की स्थापना तथा तत्संबंधी अन्य निश्चयों के साथ ही साथ संविधान सभा ने स्वतंत्र भारत के लिये एक संविधान का निर्माण कर दिया और विभिन्न रियासतों के विलयन के बाद देश में राजनीतिक एकता स्थापित हो गई। संविधान का स्वरूप, जिसके अधीन ये लोकसेवाएँ थीं, इन राजनीतिक परिवर्तनों को ध्यान में रखकर स्थिर किया गया था। संविधान का आदर्श यह था कि राज्य एक शक्तिसंपन्न प्रजातांत्रिक संगठन हो और वह धर्मनिरपेक्ष तथा कल्याणकारी राज्य हो, इस आशय के विचार संविधान की प्रस्तावना तथा मूलाधिकार और राज्य की नीति के निर्देशक तत्वोंवाले अध्याय में विस्तृत रूप से सन्निहित किए गए हैं। इस आदर्श की सिद्धि के लिये सरकार के कार्यों में आमूल परिवर्तन की अपेक्षा थी, क्योंकि राज्य को अब समाजसुधार की दिशा में सक्रिय कार्य करना था तथा समाजवाद की बुनियाद पर राजनीतिक प्रजातंत्र और विधिव्यवस्था के अनुकूल द्रुतगति से आर्थिक विकास की ओर अग्रसर होना था। इसके साथ ही संविधान ने ब्रिटिश संयुक्त राज्य के आदर्श पर प्रशासनिक कार्यों की संसदीय समीक्षा की भी व्यवस्था की। राजनीतिक कार्यपालिका (या मंत्रिमंडल) को संसद् अथवा विधानसभा के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। संसद् या विधान सभा प्रश्न पूछ सकती थी, प्रस्ताव तथा निश्चय पारित कर सकती थी, सरकार की नीतियों पर बहस कर सकती थी और सार्वजनिक आय व्यय या प्राक्कलन समिति, सरकारी निश्चय, याचिका, गौण विधि व्यवस्था और सार्वजनिक कार्य संबंधी विभिन्न समितियों के माध्यम से सरकार के क्रियाकलापों का सर्वेक्षण कर सकती थी।

४. संपूर्ण देश में एक स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना की गई जिसके हाथ में इतनी शक्ति दी गई कि वह संविधान के प्रतिकूल विधियों को तथा प्रशासन के ऐसे आदेशों को रद्द कर दे सकती थी जो असंवैधानिक हों, अवैध हों या दुर्भावना से प्रेरित होकर जारी किए गए हों।

५. संरचना या गठन की दृष्टि से भारत एक संघ राज्य के रूप में स्थापित हुआ। अतएव यहाँ दो प्रकार की सेवाएँ प्रचलित हुई—प्रथम, प्रत्येक संघटक राज्य में तथा दूसरी सेवाएँ केंद्रीय कार्यों के संपादनार्थ। कुछ भी हो, अखिल भारतीय सेवा के रूप में भारतीय प्रशासकीय सेवा (I. A. S.) और भारतीय पुलिस सेवा (I. P. S.) की स्थापना की गई। भारतीय नागरिक सेवाओं (I. C. S) का भारतीय प्रशासकीय सेवाओं में विलय कर दिया गया यद्यपि उनकी सेवास्थितियों तथा अधिकारों की सुरक्षा की गई। संविधान ने अपेक्षाकृत अधिक संख्या में अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना की व्यवस्था की ही थी, १९५५ के राज्य पुन.संगठन आयोग ने भी इसकी सिफारिश की। दिसंबर १९६२ में एक संसदीय निश्चयानुसार भारतीय अभियंता (इंजीनियर) सेवा, भारतीय वन सेवा तथा भारतीय चिकित्सा और स्वास्थ्य सेवा की भी स्थापना की सिफारिश की गई है।

६. फिर, यद्यपि राज्यों का ढाँचा संघात्मक बनाया गया था, तथापि सार्वजनिक सेवारत कर्मचारियों की मनमानी पदच्युति, स्थानांतरण, पदों के न्यूनीकरण आदि से बचाव के लिये सारे देश में एक जैसी व्यवस्था संविधान द्वारा की गई। समस्त देश में सार्वजनिक सेवाओं और पदों पर भरती और नियुक्ति लोकसेवा आयोगों के माध्यम से करने की व्यवस्था की गई। सेवा की स्थितियों, उन्नति, स्थानांतरण, अनुशासनिक कार्यवाही तथा सेवाकाल में हुई क्षति अथवा विवाद आदि की अवस्था में इन कर्मचारियों के अधिकारों से संबंधित नियमादि बनाने के संबंध में भी इन आयोगों की राय लेना आवश्यक माना गया।

७. संविधान द्वारा यह भी उपबंधित किया गया कि लोकसेवाओं में स्थान पाने का अवसर और स्वतंत्रता सबको समान रूप से सुलभ हो। यह विषय इतना महत्वपूर्ण समझा गया कि संविधान के मूलाधिकार संबंधी अध्याय में समाविष्ट किया गया। लोकसेवाओं में केवल अनुसूचित और पिछड़ी जातियों या जनजातियों के लिये स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई। यह भी निश्चय किया गया कि संसद अथवा संबंधित राज्य का विधानमंडल सेवाओं या पदों की स्थापना करेगा और इनमें नियुक्ति, तथा सेवा की स्थिति आदि से संबंधित नियमों का निर्माण करेगा। जब तक ऐसा न हो सके तब तक कार्यपालिका को यह अधिकार दिया गया कि वह इन

विषयों से संबद्ध निश्चय स्वतः कर ले और नियम बना ले जिनका प्रभाव विधि या कानून के समान ही माना जाय। १९४७ से पूर्व प्रचलित नियम जारी रखे गए।

८. यहाँ आर्थिक ढाँचे पर भी विचार करना अपेक्षित है। आय के साधन जुटाना, केंद्र या राज्य की समेकित निधि (Consolidated fund) में सार्वजनिक कोश का न्यास, सार्वजनिक कोश का व्यय आदि विषयों के संबंध में निश्चय करने के लिये विधानमंडल की स्वीकृति आवश्यक मानी गई। कंट्रोलर या आडिटर जनरल द्वारा निर्धारित प्रपत्र के अनुसार इनका लेखा या हिसाब रखना आवश्यक बनाया गया। आडिटर जेनरल का यह भी काम था कि वह अखिल देशीय स्तर पर इनकी जाँच करके अपना विवरण राष्ट्रपति या राज्यपाल के संमुख प्रस्तुत करे। विधान मंडल के प्रत्येक सदन के समक्ष यह विवरण उपस्थित करना अनिवार्य माना गया और ऐसी व्यवस्था की गई कि सदन की वित्त समिति द्वारा इनकी समीक्षा की जाय। इस प्रकार यह प्रक्रिया ऐसी बनाई गई कि वित्त विभागों के अतिरिक्त संसद और कंट्रोलर तथा आडिटर जेनरल यह निश्चय कर सकें कि राजस्व की प्राप्ति कम खर्च में योग्यतापूर्वक की जा रही है और उसका उपयोग भी समुचित रूप से हो रहा है।

९. इस प्रकार स्वयं संविधान से ही ऐसी व्यवस्था कर दी गई जिससे लोकसेवाएँ संसद् और न्यायपालिका के प्रति उत्तरदायी और अनुप्रवृत्त रहें। उद्देश्य यह था कि संसद् में, समाचारपत्रों तथा सार्वजनिक संस्थाओं में आलोचना तथा भंडाफोड़ का भय तथा न्यायालय में प्रशासकीय आदेशों को चुनौती दिए जाने का भय लोकसेवाओं में नियुक्त कर्मचारियों की परंपरागत निरंकुशता तथा नौकरशाही प्रवृत्ति को संतुलित तथा स्वस्थ बनाने में सहायक हो।

१०. १९५० के बाद विकसित लोकसेवाओं की संरचना पर विचार करने से स्पष्ट है कि भारत में तीन प्रकार की सेवाएँ प्रचलित हैं — केंद्रीय सेवाएँ, राज्यसेवाएँ और अखिल भारतीय सेवाएँ जो दोनों क्षेत्रों में कार्य करती हैं। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, अखिल भारतीय सेवाएँ भारतीय नागरिक सेवा (आई० सी० एस०) तथा भारतीय पुलिस सेवा (आई० पी० एस०) की उत्तराधिकारिणी ही हैं। शासन का संघीय रूप स्थापित हो जाने पर भी ये कायम रखी गई हैं जिससे देश की एकता को बल मिले, सुनियोजित प्रशासकीय विकास संभव हो सके, राज्यों में उच्च-योग्यता-युक्त प्रतिभासंपन्न पदाधिकारी नियुक्त हो सकें, राजकीय प्रशासन में पारंगत इन पदाधिकारियों के सहयोग से केंद्रीय सरकार केंद्रीय स्तर पर अखिल भारतीय नीतियों का निर्धारण करने में सक्षम हो सके। केंद्र तथा राज्य दोनों में सार्वजनिक कर्मचारी नियमित सेवाओं के रूप में संघटित किए जा सकते हैं या तात्कालिक और अस्थायी पदों पर काम पर सकते हैं। लोकसेवाएँ अथवा लोकसेवकों के पद तकनीकी हो सकते हैं या गैर तकनीकी। ये सभी सेवाएँ स्थूल रूप में उच्च, अधीनस्थ और निम्न श्रेणियों में याने प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ श्रेणियों में वर्गीकृत की जा सकती हैं, यद्यपि एक ही वर्ग में भी वेतन और प्रतिष्ठा की मात्रा में अंतर अब भी कायम है। उच्चतम और निम्नतम वर्गों के पदाधिकारियों में वेतन का जो अंतर था उसे थोड़ा कम करने का प्रयत्न अवश्य किया गया है। अब भी संपूर्ण वेतनराशि का अधिकांश लोकसेवा के उच्च और मध्यवर्गीय कर्मचारियों में वितरित होता है। सन् १९४७ में सरकारी कर्मचारियों की संख्या सात लाख से कुछ ही अधिक थी। १९६१ तक यह संख्या बढ़ते बढ़ते बीस लाख से भी अधिक हो गई, फिर भी लोकसेवाओं का स्वरूप या ढाँचा पहले जैसा ही है। राजपत्रित और अराजपत्रित तथा स्थायी और अस्थायी कर्मचारियों का भेद अब तक प्रायः उसी अनुपात में चलता आ रहा है।

११. अखिल भारतीय स्तर की भारतीय प्रशासकीय सेवाएँ तथा भारतीय विदेशी सेवाएँ (I. F. S.) दो अत्यंत संमानित सेवाएँ हैं। दूसरी अर्थात् आई० एफ० एस० अपेक्षाकृत नए प्रकार की सेवाएँ हैं, यद्यपि भारतीय नागरिक सेवाओं (I. C. S.) में कार्य करनेवाले कुछ कर्मचारी इन सेवाओं में भी प्रगृहीत कर लिए गए हैं। भारतीय प्रशासकीय सेवाओं के कई विभाग किए जा सकते हैं—(क) भारतीय नागरिक सेवाओं के अवशिष्ट उत्तराधिकारी, जिनकी संख्या वर्तमान में दो सौ से कम ही है, (ख) युद्धसेवाओं में नियुक्त कर्मचारी, (ग) आपत्कालीन अथवा विशेष प्रयोजनों के लिये नियुक्त कर्मचारी, (१९४७ और १९५६-५७ में नियुक्त); (घ) १९४८ के बाद नियमित रूप से नियुक्त कर्मचारी, और (ङ) राज्य सेवाओं से क्रमशः उन्नतिप्राप्त कर्मचारी', जिनमें १९५८ के बाद से जंमू और कश्मीर के कर्मचारी भी संमिलित हैं।

१२. भारतीय प्रशासकीय सेवाओं में नियुक्त कुल कर्मचारियों की संख्या संप्रति में लगभग २३०० है, यद्यपि कार्यरत कर्मचारियों की संख्या इससे न्यूनाधिक दो सौ कम होगी। भारतीय प्रशासकीय सेवाओं और भारतीय विदेशी सेवाओं में नियुक्ति एक कड़ी प्रतिद्वंद्वात्मक परीक्षा के आधार पर होती है, अंशतः इसी प्रकार की परीक्षा प्रथम वर्ग की अप्राविधिक सेवाओं तथा द्वितीय वर्ग की कुछ सेवाओं में भी होती है। उनका वेतनमान अन्य सेवाओं की तुलना मे अधिक है। यद्यपि केंद्रीय सचिवालय में, वित्त और व्यापार विभाग को संमिलित करके भारतीय नागरिक सेवाओं के कर्मचारियों के लिये स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था अब नहीं है, तथापि सचिवालय के प्रायः सभी उच्चतर पद भारतीय प्रशासकीय सेवाओं के स्थानापन्न कर्मचारियों के हाथ में है हालाँकि केंद्रीय सचिवालय सेवा के पदाधिकारी अब अंडर सेक्रेटरी या डिप्यूटी सेक्रेटरी के अधिकतर पदों पर कार्य कर रहे है। संयुक्त सचिव (ज्वाइंट सेक्रेटरी) के ७५ प्रतिशत पदों तथा केंद्रीय सचिवालय के इससे भी अधिक पदों पर भारतीय नागरिक सेवाओं अथवा भारतीय प्रशासकीय सेवाओं के कर्मचारी आसीन हैं। १९५९ से एक केंद्रीय प्रशासकीय निकाय की स्थापना की गई है जिसमें भारतीय प्रशासकीय सेवा के श्रेष्ठ कर्मचारी होते हैं। इसका उद्देश्य यह है कि विशेष महत्व के पदों पर योग्य व्यक्ति बिना किसी व्यवधान के मिलते जायँ। इसी तरह औद्योगिक व्यवस्था निकाय की स्थापना इस उद्देश्य से की गई है कि उद्योग और सार्वजनिक कार्यों के योग्य पदाधिकारी सरलतापूर्वक उपलब्ध हो सकें। भारतीय प्रशासकीय सेवाओं के कार्यों में जो परिवर्तन हुए वे भी

उल्लेखनीय हैं। जहाँ इसकी पूर्ववर्तिनी भारतीय नागरिक सेवा का प्रधान उद्देश्य केंद्रीय और प्रांतीय सचिवालय अथवा जिला प्रशासन के माध्यम से राज्य की नियमित व्यवस्था करना था, वहीं भारतीय प्रशासकीय सेवाओं के जिम्मे तरह तरह के कार्य रहते हैं। जिले तथा राज्य की नियमित व्यवस्था अब भी उनका एक प्रधान कार्य है परंतु भारतीय प्रशासकीय सेवा के बहुसंख्यक कर्मचारी अन्यान्य कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, जैसे,—आर्थिक विकास, पंचायती राज, भूमि-सुधार-संबंधी व्यवस्था तथा सरकार के विभिन्न विभागो, प्राविधानिक संघों अथवा सरकारी संस्थाओं द्वारा संचालित औद्योगिक एवं अन्य प्रकार के रचनात्मक कार्य। विकासगति की तीव्रता के कारण इन सेवाओं का कार्यभार निरंतर बढ़ता जा रहा है। उदाहरणार्थ, महाराष्ट्र राज्य में स्थापित नवीन प्रकार के पंचायती राज के प्रचलन से जिला स्तर पर द्वैध प्रशासन दिखलाई पड़ता है। वहाँ पर विकास कार्य और सामान्य प्रशासन अलग अलग कर दिए गए हैं। प्रशासन के ये दोनों विभाग भारतीय प्रशासकीय सेवा के पदाधिकारियों के अधीन रखे गए हैं। प्रथम विभाग का प्रधान मुख्य प्रशासनिक अधिकारी तथा द्वितीय विभाग का प्रधान जिलाधीश बनाया गया है। १५ अगस्त, १९६२ से प्रचलित इस निश्चय के अनुसार महाराष्ट्र में प्रशासकीय सेवा में २५ अतिरिक्त पदाधिकारियों की आवश्यता होती अर्थात् प्रत्येक जिले में एक अतिरिक्त पदाधिकारी की नियुक्ति अपेक्षित थी। अतएव इन नए कार्यों के विकास से स्वाभाविक ही था कि यह सेवा सामान्य प्रकृति की हो जाय, जो कि भारतीय नागरिक सेवा या भारतीय प्रशासकीय सेवाओं की स्थापना का मूलभूत उद्देश्य था। इस उद्देश्य के अनुकूल प्रवेश के पूर्व मध्यवर्ती स्तर पर तथा अन्य स्तरों पर गंभीर प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। प्रशिक्षण की अवधि में प्रशिक्षार्थी की अवाप्ति अथवा लोकसेवा के प्रारंभिक सिद्धांतों में निष्णात कुशल पदाधिकारी की प्राप्ति पर ही बल नहीं दिया जाता था, वरन् लोकसेवा के प्रति समुचित प्रवृत्ति की भी अपेक्षा की जाती थी।

१३. प्रायः यह परामर्श दिया जाता है कि उत्तरदायी और अधिक प्रभावकारी होने के लिये किसी शासनतंत्र को उस समाज का प्रतिनिधि होना चाहिए जिसकी वह सेवा करता है। संसदीय लोकतंत्र में तो इसकी और भी अपेक्षा है। यह बात उत्साहवर्धक है कि जहाँ तक भारत में उच्चतर प्रशासकीय पदाधिकारियों का प्रश्न है, उनमें यह स्थिति क्रमशः शीघ्रता के साथ बढ़ रही है। सन् १९६० में राष्ट्रीय प्रशासकीय अकादेमी में तत्कालीन प्रशासकीय सेवा के २०१० कर्मचारियों में से ६१५ कर्मचारियों की एक अध्ययन गोष्ठी उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि का पता लगाने के लिये आयोजित की गई थी। यह पाया गया कि असम, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और आंध्र-प्रदेश के अतिरिक्त समस्त देश का पूर्ण प्रतिनिधित्व इस सेवा में हो रहा था। यह क्षेत्रीय असंतुलन १९६० के बाद की गई नियुक्तियों में एक सीमा तक दूर किया जा सका है और उक्त राज्यों का प्रतिनिधित्व पर्याप्त बढ़ गया है। यह कहना असत्य है कि इस सेवा में केवल संपन्न व्यक्तियों, पब्लिक स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करनेवालों तथा विदेशों में योग्यता हासिल करनेवालों का प्रतिनिधित्व होता है। सर्वेक्षण से यह ज्ञात होता है कि इन सेवाओं में तीन सौ रुपए मासिक से भी कम आयवाले परिवारों के प्रतिनिधित्व में निश्चित रूप से वृद्धि हुई है। सन् १९६१ मे उनकी संख्या ३१ प्रतिशत से अधिक थी, यद्यपि कुल नियुक्त होनेवाले लोगों में अब भी बड़ी संख्या उन मध्यमवर्गीय परिवारो के प्रवेशार्थियो की थी जिनकी मासिक आय तीन सौ से आठ सौ रुपए के बीच है। फिर, इस दशक के केवल दस प्रतिशत ऐसे लोग ही सेवा में प्रविष्ट हुए हैं जिनकी शिक्षा-दीक्षा प्रसिद्ध पब्लिक स्कूलों में हुई है। जो हो, यह सत्य है कि इस सेवा में नियुक्त होनेवालों मे से अधिकांश के अभिभावक सरकारी कर्मचारी हैं। नियुक्त होनेवालों में अध्यापकों की संख्या भी काफी अच्छी थी। इन में कुछ विश्वविद्यालय अब भी अन्य विश्वविद्यालयों की अपेक्षा अधिक प्रतिनिधित्व पा जाते थे। मद्रास विश्वविद्यालय का स्थान अब भी प्रथम था जिसके विद्यार्थी भारतीय नागरिक सेवाओं में २७ प्रतिशत से भी अधिक स्थान प्राप्त कर लेते थे। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्थान क्रमशः दिल्ली, पंजाब और इलाहाबाद विश्वविद्यालय का था। संभवतः यह देश में शिक्षास्तर की विभिन्नता का सूचक हो। इस सेवा में समाज के हीन वर्गों विशेषतः 'अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों' का प्रतिनिधित्व क्रमशः बढ़ता गया है। केवल सन् १९६१ मे हुई नियुक्तियों में ही १०० में से ३२ पदाधिकारी इन वर्गों से लिए गए थे।

१४ सन् १९५० के बाद से लोकसेवा के प्रवेशार्थियों तथा इनमें नियुक्त पदाधिकारियो के प्रशिक्षणार्थ अनेक प्रशिक्षण संस्थाएँ विकसित हुईं। सन् १९५९ में 'आई० ए० एस० ट्रेनिंग स्कूल' का पुनर्गठन 'नेशनल ऐकेडमी ऑव ऐडमिनिस्ट्रेशन' के रूप में हुआ। यह एक ऐसी आधिकारिक संस्था थी जो अखिल भारतीय सेवाओं में प्रत्यक्षतः नियुक्त प्रवेशार्थियो को प्रशिक्षित करती थी। केंद्रीय प्राविधिक सेवाओं में नियुक्त होनेवाले लोगों को भी यही प्रशिक्षित करती थी। इस राष्ट्रीय अकादेमी का विकास आवश्यकतानुरूप हुआ। अपने प्रशिक्षण के कार्यक्रम मे इसने एक विकासमान देश की अपेक्षाओं को ध्यानस्थ रखा है। इसी प्रवृत्ति से यह उपर्युक्त रचना-विधान से युक्त हो कार्य करती है। प्रशिक्षण की अवधि में संविधान, लोकसेवा के सिद्धांत, विधि या कानून, भारतीय संस्कृति और सभ्यता, भाषाविज्ञान तथा अन्यान्य संबद्ध विषयों का अध्ययन अनिवार्य होता है। साथ ही प्रशिक्षार्थी को इन सेवाओं के इतिहास और परंपराओं से परिचित कराते हुए उसे इनके योग्य बनाया जाता है। उसे इस प्रकार की शिक्षा दी जाती है कि उसमें स्वस्थ चिंतन तथा अच्छी आदतों को अपनाने की प्रवृत्ति विकसित हो। प्रशिक्षार्थी को सदैव परामर्श दिया जाता है कि वह संबद्ध विषय तथा अन्य समस्याओं पर संतुलित दृष्टिकोण से विचार करे और मित्रों के साथ सहयोगपूर्वक कार्य करने की प्रवृत्ति अपने में विकसित करे। इस अवधि में उसमें यह प्रवृत्ति भी विकसित की जाती है कि वह दूसरी सेवाओं का महत्व मनोयोगपूर्वक समझे। प्रशिक्षार्थी को रचनात्मक अनुभव और अध्ययन के लिये बाहर ले जाया जाता है। इस प्रकार अबतक वर्तमान वेतन तथा संमानदृष्टि की असमानता के बावजूद भी उनमें सहयोग तथा समस्त लोकसेवाओं में मनोयोग-पूर्ण रुचि लेने की प्रवृत्ति विकसित की जाती है। यह अकादेमी

मध्यम स्तर के प्रशासकों की आवश्यकता पर भी ध्यान रखती है, तथा तदर्थ व्यावसायिक महत्व के विषयों के गहन अध्ययन के लिये प्रबोधन पाठ्यक्रमों का आयोजन करती है। विभागीय कर्मचारियों, प्रत्यक्ष रूप से भरती किए गए प्रवेशार्थियों तथा पुनर्बोध पाठ्यक्रमवालों द्वारा अकादेमी में जो अनुसंधानकार्य संपन्न होता है उसे अकादेमी की मुख पत्रिका में प्रकाशित कराया जाता है जिसमें लोकसेवा-संबंधी महत्वपूर्ण विवरण और दृष्टिकोण रहते हैं।

१५. हैदराबाद स्थित ऐडमिनिस्ट्रेटिव स्टाफ कालेज व इंडियन इंस्टीच्यूट ऑव कम्यूनिटी डेवलपमेंट, नई दिल्ली स्थित इंडियन इंस्टीच्यूट ऑव पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन तथा विभिन्न राज्यों और सार्वजनिक प्रतिष्ठानों द्वारा संचालित अनेक प्रशिक्षण संस्थान, औद्योगिक व्यवस्था, सामुदायिक विकास तथा प्रशासन से संबद्ध अन्यान्य विषयों का प्रशिक्षण करते हैं तथा इन विषयों में गहन अनुसंधान करने के लिये प्रबोधन पाठ्यक्रम आयोजित करते हैं। इन संस्थानों में किया गया अधिकांश कार्य उच्चस्तर का होता है।

१६. बहुधा एक प्रश्न यह पूछा जाता है कि आई० सी० एस० की अनुवर्तिनी आई० ए० एस० में सेवारत अधिकारी क्या योग्यता, कार्यक्षमता, निष्ठा तथा स्वतंत्रता आदि उन गुणों से युक्त हैं जिनके कारण आई० सी० एस० से घृणा करनेवाले लोग भी उनकी प्रशंसा किया करते थे, भले ही वे उन्हें विदेशी तथा भारतविरोधी समझते रहे हों? यदि दोनों प्रकार की सेवाओं की विभिन्न स्थितियों को ध्यान में रखा जाय तथा भारतीय प्रशासकीय सेवा की संरचना और उसके उस राजनीतिक ढाँचे पर विचार किया जाय जिसमें छोटी से छोटी असफलता भी आलोचना, प्रत्यालोचना का विषय बन जाती है, तो निश्चित रूप से उक्त प्रश्न का उत्तर सकारात्मक होगा। यह भी उल्लेखनीय है कि स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद की संघर्षमय स्थिति में भारतीय नागरिक सेवा के जो पदाधिकारी कार्यरत थे उन्होंने देश के राजनीतिक नेतृत्व में कम सहायता नहीं प्रदान की। उन्होंने विभिन्न समस्याओं के समाधान की दिशा में महत्वपूर्ण सहयोग देकर सत्तापरिवर्तन को प्रभावकारी बनाया तथा भारतीय प्रशासकीय सेवा के नए सहयोगियों के साथ उन लोगों ने प्रारंभिक विकास के कार्य में अपने प्रशासकीय दायित्वों का निर्वाह किया।

१७. कर्मचारियों की नौकरशाही (निरंकुश व्यवहार), लालफीताशाही एवं भ्रष्टाचार की व्यापक भर्त्सना के बावजूद हमारे प्रशासकीय संगठन और लोकसेवाओं के अधिकारी नैतिकता का उच्चादर्श बनाए रखने और कर्तव्य के प्रति एकनिष्ठ रहने के लिये प्रयत्नशील रहे हैं। अनेक निष्पक्ष पर्यवेक्षकों द्वारा यह बात स्वीकार की गई है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस क्षेत्र में सुधार या परिवर्तन के लिये गुंजाइश नहीं है, तथापि इस संबंध में अनावश्यक रूप से चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है। [आ० ना० झा०]

लोखनेर स्टेफन (Lochner Stephen १४००–१४५१) यह कोलों शैली का प्रमुख जर्मन चित्रकार था। सन् १४१४ से १४१८ तक कलारसिक पोप मार्टिन के पाँचवें पोप चुने जाने पर कोंस्टांस में विद्वानों और कलाकारों का आवागमन शुरू हुआ। अत: बाल्यावस्था में ही दरबारी समारंभ, दरबारी सजावट तथा अच्छी अच्छी चित्रा-कृतियाँ देखने का अवसर स्टेफन को बार बार मिलता रहा। नेदरलैंड की कला के कारण उसके चित्रों में यथार्थवादी शैली का प्रभाव दीखता है। कोलों शैली के चित्रों में चमकीले रंग का ही वह उपयोग करता रहा। उसके चित्रों के विषय परंपरानुसार धार्मिक कथा और उनके पात्र ही रहे हैं। उसकी कलाकृतियाँ गोथिक शैली से नैसर्गिक शैली तक के संक्रमण की सूचक हैं। शहर के भवनों की काँच की खिड़कियों में अंकित चित्र इसी शैली से बनाए गए हैं। [भा० स०]

लोगॉस मूलत: यह प्रत्यय यूनानी दर्शन मे संसार में व्याप्त बुद्धि के लिये प्रयुक्त हुआ था। किंतु प्राचीन हिब्रू धर्मग्रंथ में कारण शब्द की कल्पना विद्यमान थी। इसीलिए, पहली-दूसरी शताब्दी के आसपास, जब यूनानी दर्शन ने अलेक्जेंड्रिया के यहूदी दार्शनिकों को प्रभावित किया और यहूदी-यूनानी-दर्शन का विकास हुआ, तो दोनों विचारो के समन्वय से लोगॉस का अर्थ बुद्धि और शब्द दोनों हो गया। अतएव, लोगॉस के विचार का विकासक्रम समझने के लिये, यूनानी दर्शन के 'लोगॉस', हिब्रू 'शब्द' और यहूदी-यूनानी-दर्शन के लोगॉस का इतिहास जानने की आवश्यकता है—

१. **यूनानी लोगॉस** — यूनानी दर्शन का प्रारंभ भौतिकवाद से हुआ। छठी शताब्दी ईसा पूर्व मे, मिलेटस के दार्शनिको ने, जिनका दृष्टिकोण प्राचीन अर्थ में वैज्ञानिक कहा जा सकता है, जल, वायु, अथवा किसी ऐसे तरल पदार्थ से, जिसका स्वभाव जल और वायु के बीच का समझा जा सकता है, जगत् की उत्पत्ति की कल्पना की थी। किंतु ससार की व्याख्या के निमित्त किसी ऐसे तत्व की कल्पना आवश्यक थी, जो संसार की प्रत्यक्ष व्यवस्था का स्रोत माना जा सकता। इसी समस्या को लेकर एफेसस के गतिवादी दार्शनिक हेराक्लीतॉस (हेराक्लाइटस) ने, उसी शताब्दी में, एक वैश्व बुद्धितत्व की कल्पना की, जिसे उसने 'लोगॉस' नाम दिया। हेराक्लीतॉस ऐसे काल का दार्शनिक था जिसमें यूनानी विचारधारा पुराने देववाद से टक्करें खाते खाते भौतिक पदार्थों की ओर मुड़ चुकी थी। इसलिये वह अपने कल्पित बुद्धितत्व को भी अपदार्थ नहीं मान सकता था। वह यह भी न बता सका कि उसकी कल्पना किसी चेतन तत्व की थी अथवा जड़ तत्व की। किंतु हेराक्लीतॉस को विश्वास था कि 'लोगॉस' संसार में है। वह संसार के ऊपर नही, संसार का पूर्ववर्ती नही, संसार मे ही है और उसे व्यवस्थित करता है, उसकी वस्तुओ की गति का नियमन करता है। संभवत:, हेराक्लीतॉस का 'लोगॉस' प्राकृतिक नियम का स्थानापन्न था।

हेराक्लीतॉस के विचार से अरस्तू तक किसी यूनानी दार्शनिक ने काम नही लिया। एनेक्सागोरस ने, पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में, बुद्धि के ही अर्थ में 'नाउस' की स्थापना की थी और इसे संसार से परे माना था। ओलिम्पस से उतर कर पृथ्वी पर आई हुई यूनानी बुद्धि कम से कम इतना तो चाहती ही थी कि उसे संसार से थोड़ा अलग रखा जाय। किंतु स्टोइक दार्शनिक अफलातून और अरस्तू के अध्यात्मवाद से अलग जाना चाहते थे। उन्होंने फिर संसार की व्यवस्था के लिए भौतिक 'लोगॉस' ही उपयुक्त समझा। स्टोइक भी पदार्थवादी थे। उनके लिये प्रकृति, ईश्वर और 'लोगॉस', सभी एक समान पदार्थमय थे। पर स्टोइक दार्शनिकों ने 'लोगॉस' के पुराने

अर्थ में विस्तार कर दिया। उनका 'लोगॉस' व्यवस्थापक ही नहीं, उत्पादक (लोगॉस स्पर्मालिकॉस) भी था। वह विश्व एवं व्यक्ति दोनों में व्याप्त था। मनुष्य में व्याप्त 'लोगॉस' बुद्धि (रेशियो) और शब्द (ओरेशियो) दोनों रूपों में कार्य करता था। स्टोइकों की व्याख्या से ही यूनानी 'लोगॉस' यहूदी दार्शनिकों की रुचि के अनुकूल हो गया था।

२. हिब्रू 'शब्द' — प्राचीन हिब्रू धार्मिक दर्शन में ईश्वर को संसार से परे माना गया था। किंतु वही संसार का रचयिता तथा नियामक भी था। अतएव किसी ऐसे तत्व की कल्पना आवश्यक थी, जिसके द्वारा ईश्वर का उसके संसार से संबंध जुड़ सके। इसीलिये बाइबिल में संकलित 'जेनेसिस' (सृष्टिवर्णन) में बुद्धि, दैवी नियम, ईश्वर के शब्द आदि मध्यस्थ तत्वों का प्रयोग हुआ है। 'जेनेसिस' का शब्द रचनात्मक और व्यवस्थापक दोनों ही है। ईश्वर कहता है, 'प्रकाश हो' और प्रकाश हो जाता है। इसी प्रकार, बैबेल के लोग पहले एक ही भाषा बोलते थे, लेकिन ईश्वर ने कहा, 'इन सबको भुलवाना चाहिए' और वे एक दूसरे की भाषा न समझने लगे। पर, उक्त धर्मग्रंथ का विकास प्रत्ययात्मक चिंतन के विकास से पहले का था। इसलिये, उसमें प्रत्ययों की एकता न थी। विविध प्रसंगों में, एक ही कार्य भिन्न प्रत्ययात्मक तत्वों के द्वारा संपन्न हुआ है।

३. यहूदी यूनानी लोगॉस — पुरानी बाइबिल के शब्द और स्टोइक लोगॉस का तादात्म्य स्वीकार करने का श्रेय एलेक्जेंड्रिया के फिलो (३० ई० पू०–४० ई०) नामक यहूदी दार्शनिक को प्राप्त है। संभवतः ईसाई धर्मशास्त्र में प्रत्ययात्मक एकता लाने के लिये ही उसने ऐसा किया था। किंतु, फिलो ने स्टोइकों की भाँति लोगॉस को संसार में व्याप्त भौतिक तत्व नहीं माना था। उसका लोगॉस अफलातून के 'शुभ' की भाँति संसार से परे था। पर वह ईश्वर से स्वतंत्र न था। उसी के माध्यम से ईश्वर मनुष्य को अपना स्वरूप प्रकट करता है। पुरानी बाइबिल में वर्णित प्रभु के दूत, उसके अनुसार, लोगॉस की अभिव्यक्तियाँ हैं। इजराइल के संतों ने 'लोगॉस' से ही दिव्य ज्ञान प्राप्त किया था। मनुष्य 'लोगॉस' के ही माध्यम से, मानवीय दृष्टि से ऊपर उठकर, वैश्व बुद्धि का भागी होता है और उच्च आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है। फिलो की व्याख्या से, लोगॉस सिद्धांत ने प्रारंभिक ईसाई धर्मशास्त्र में प्रवेश किया।

संत जॉन के 'गॉस्पेल' में ईसा का कथन है कि 'मैं और मेरा पिता एक हैं।' वहीं यह भी कहा गया है, 'मैं वही काम करता हूँ जिसके लिये मेरे पिता ने मुझे भेजा है।'····'मैं मार्ग हूँ, सत्य हूँ और जीवन हूँ : पिता के पास वही जाता है, जिसे मैं पहुँचाता हूँ।' ये कथन ईसा की मध्यस्थता की ही पुष्टि करते हैं। यहूदी-यूनानी दर्शन में 'लोगॉस' की स्वीकृति इसी अर्थ में हुई थी। अतएव, दूसरी-तीसरी शताब्दी के धर्मशास्त्रियों ने 'लोगॉस' और 'ईसा' के बीच अव्यक्त और व्यक्त का भेद माना।

अंतिम यूनानी दार्शनिक प्लॉटिनस (२०५–७०) ने 'लोगॉस' सिद्धांत को धार्मिक वातावरण से मुक्त कर उसे एक बार फिर प्रत्ययात्मक रूप देना चाहा था। उसने रचनाशक्ति के अर्थ में 'लोगॉस (एक) और 'लोगोई' (बहु) दोनों का प्रयोग किया। वह इसे समष्टि और व्यष्टि दोनों रूपों में देखना चाहता था। उसका सिद्धांत अरस्तू के आकार सिद्धांत के समीप था। प्लॉटिनस के अनुसार वह एक व्याप्त तत्व है, जो निर्जीव पदार्थ को चेतन वस्तु के आकार में ढाल देता है।

इस ऐतिहासिक वातावरण से बाहर आकर, 'लोगॉस' का बुद्धि अथवा युक्ति अर्थ ही शेष रह सका। (दे० 'यूनानी दर्शन')।

सं० ग्रं०—हेराक्लीतॉस : स्टोइक संप्रदाय; एडवर्ड केयर्ड : एवोल्यूशन ऑव ग्रीक थियालॉजी इन द ग्रीक फिलॉसफर्स; बाइबिल (संपूर्ण) : जेनेसिस तथा द गास्पेल ऑव सेंट जॉन। [शि० श०]

लोचनप्रसाद पांडेय का जन्म १८८७ ई० में बिलासपुर के बालपुर ग्राम में हुआ था। आपके पिता पंडित चिंतामणि पांडे विद्याव्यसनी थे। उन्होंने अपने गाँव में बालकों की शिक्षा के लिये एक पाठशाला खुलवाई। इसी पाठशाला में बालक लोचनप्रसाद की शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। सन् १९०५ में पांडेय जी ने कलकत्ता विश्वविद्यालय से एंट्रेंस परीक्षा पास की, किंतु अपने प्रयत्न से इन्होंने उड़िया, बँगला और संस्कृत का भी ज्ञान प्राप्त किया। इन्होंने हिंदी एवं उड़िया, दोनों में काव्यरचना की है। सन् १९०५ से ही इनकी कविताएँ सरस्वती तथा अन्य मासिक पत्रिकाओं में निकलने लगीं थीं। इनकी कुछ रचनाएँ कथाप्रबंध के रूप में हैं तथा कुछ फुटकर। 'भारतेंदु-साहित्य-समिति' के भी ये सदस्य थे। मध्य प्रदेश के साहित्यकारों में इनकी विशेष प्रतिष्ठा थी तथा आज भी इनका नाम आदर से लिया जाता है। इनका स्वभाव सरल एवं निश्छल था तथा इनका व्यवहार आत्मीयतापूर्ण हुआ करता था। आपने अपनी रचनाओं के माध्यम से पाठकों को चरित्रोत्थान की प्रेरणा दी। उस समय उपदेशक का कार्य भी साहित्य के सहारे करना आज की तरह न था, इसलिये इनकी रचनाओं ने पाठकों के संयम के प्रति रुचि उत्पन्न की। हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग ने आपको 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया तथा सन् १९२१ में मध्य प्रदेश में प्रादेशिक हिंदी साहित्य संमेलन के अवसर पर आप सभापति पद पर प्रतिष्ठित किए गए। इस प्रकार जीवनपर्यंत मातृभाषा की सेवा करते हुए सन् १९५९ में आपका देहावसान हो गया। आपकी रचनाएँ हैं—दो मित्र, बालविनोद, नीति कविता, माधव मंजरी, मेवाड़गाथा, चरित्रमाला, रघुवंशसार, पद्य कुसुमांजलि, कविता कुसुममाला। [गि० चं० त्रि०]

लोतो, लोरेंजो (Lotto, Lorenzo, १४८०-१५५५ ई०) इस इटालियन चित्रकार का जन्म वेनिस में हुआ। यह जीवन भर धर्म-प्रधान चित्र ही बनाता रहा। वेनिस के कारमाईन चर्च, सान जिओ-वानी-ए-पोलो, असोला का कैथेड्रल, अंकोना के समीप मोंते सान जुर्दस्तो आदि में उसकी बनाई धार्मिक चित्राकृतियाँ आज भी हैं। ख्रीस्त का क्रास पर चढ़ने का व्ययचित्र, मोंतेसान् जुर्दस्तो में है। उसमें पुरुषाकार ऊँचाई की तेईस आकृतियाँ अंकित की गई हैं। इसके बनाए व्यक्तिचित्रों में से कुछ नमूने उत्कृष्ट कोटि के हैं।

[भा० स०]

लोदी दिल्ली का प्रथम अफ़ग़ान शासक परिवार लोदियों का था। वे एक अफ़ग़ान कबीले के थे, जो सुलेमान पर्वत के पहाड़ी क्षेत्र में

रहता था, और अपने पड़ोसी सूर, नियाजी और नूहानी कबीलों की ही तरह गिल्जाई कबीले से जुड़ा हुआ था। गिल्जाइयों में ताजिक या तुर्क रक्त का संमिश्रण था।

पूर्व में मुल्तान और पेशावर के बीच और पश्चिम में गजनी तक सुलेमान पर्वत क्षेत्र में जो पहाड़ी निवासी फैले हुए थे लगभग १४वीं शताब्दी तक उनकी बिल्कुल अज्ञात और निर्धनता की स्थिति थी। वे पशुपालन से अपनी जीविका चलाते थे और यदा कदा अपने संपन्न पड़ोसी क्षेत्र पर चढ़ाई करके लूटपाट करते रहते थे। उनके उच्छृंखल तथा लड़ाकू स्वभाव ने महमूद गजनवी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और अल-उत्बी के अनुसार उसने उन्हें अपना अनुगामी बना लिया। गोरवंशीय प्रभुता के समय अफ़गान लोग दुःसाहसी और पहाड़ी विद्रोही मात्र रहे। भारत के इलबरी शासकों ने अफ़ग़ान सैनिकों का उपयोग अपनी चौकियों को मजबूत करने और अपने विरोधी पहाड़ी क्षेत्रों पर कब्जा जमाने के लिये किया। यह स्थिति मुहम्मद तुगलक के शासन में आई। एक अफ़ग़ान को सूबेदार बनाया गया और दौलताबाद में कुछ दिनों के लिये वह सुल्तान भी बना। फीरोज तुगलक के शासनकाल में अफगानों का प्रभाव बढ़ना शुरू हुआ और १३७९ ई० में मलिक बीर नामक एक अफ़ग़ान बिहार का सूबेदार नियुक्त किया गया। दौलत खां शायद पहला अफगान था जिसने दिल्ली की सर्वोच्च सत्ता (१४१२-१४१४) प्राप्त की, यद्यपि उसने अपने को सुल्तान नहीं कहा।

सैयदों के शासनकाल में कई प्रमुख प्रांत अफ़ग़ानों के अधीन थे। बहलोल लोदी के समय दिल्ली की सुल्तानशाही में अफ़ग़ानों का बोलबाला था।

बहलोल लोदी मलिक काला का पुत्र और मलिक बहराम का पौत्र था। उसने सरकारी सेवा सरहिंद के शासक के रूप में शुरू की और पंजाब का सूबेदार बन गया। १४५१ ई० तक वह मुल्तान, लाहौर, दीपालपुर, समाना, सरहिंद, सुनाम, हिसार फिरोजा और कतिपय अन्य परगनों का स्वामी बन चुका था। प्रथम अफ़ग़ान शाह के रूप में वह सोमवार १९ अप्रैल, १४५१ को अबू मुजफ्फर बहलोल शाह के नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठा।

गद्दी पर बैठने के बाद बहलोल लोदी को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। उसके सबसे बड़े प्रतिद्वंद्वी थे जौनपुर के शर्की सुल्तान किंतु वह विजित प्रदेशों में अपनी स्थिति दृढ़ करने और अपने साम्राज्य का विस्तार करने में सफल हुआ।

बहलोल लोदी की मृत्यु १४८९ ई० में हुई। उसकी मृत्यु के समय तक लोदी साम्राज्य आज के पूर्वी और पश्चिमी पंजाब, उत्तर प्रदेश, और राजस्थान के एक भाग तक फैल चुका था। सुल्तान के रूप में बहलोल लोदी ने जो काम किए वे सिद्ध करते हैं कि वह बहुत बुद्धिमान तथा व्यवहारकुशल शासक था। अब वह लड़ाकू प्रवृत्ति का या युद्धप्रिय नहीं रह गया था। वह सहृदय था और शांति तथा व्यवस्था स्थापित करके, न्याय की प्रतिष्ठा द्वारा तथा अपनी प्रजा पर कर का भारी बोझ लादने से विरत रहकर जनकल्याण का संवर्धन करना चाहता था।

बहलोल लोदी का पुत्र निजाम खाँ, जो उसकी हिंदू पत्नी तथा स्वर्णकार पुत्री हेमा के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, १७ जुलाई, १४८९ को सुल्तान सिकंदर शाह की उपाधि धारण करके दिल्ली के सिंहासन पर बैठा।

अपने पिता से प्राप्त राज्य में सिकंदर लोदी ने बियाना, बिहार, तिरहुत, धोलपुर, मंदरैल, अवंतगढ़, शिवपुर, नारवार, चंदेरी और नागर के क्षेत्र भी मिलाए। शर्की शासकों की शक्ति उसने एकदम नष्ट कर दी, ग्वालियर राज्य को बहुत कमजोर बना दिया और मालवा का राज्य तोड़ दिया। किंतु नीतिकुशल, रणकुशल कूटनीतिज्ञ और जननायक के रूप में सिकंदर लोदी अपने पिता बहलोल लोदी की तुलना में नहीं टिक पाया।

सिकदर लोदी २१ नवंबर, १५१७ को मरा। गद्दी के लिये उसके दोनों पुत्रों, इब्राहीम और जलाल में झगड़ा हुआ। अतः साम्राज्य दो भागों मे बँट गया। किंतु इब्राहीम ने बँटा हुआ दूसरा भाग भी छीन लिया और लोदी साम्राज्य का एकाधिकारी बन गया। जलाल १५१८ में मौत के घाट उतार दिया गया।

लोदी वंश का आखिरी शासक इब्राहीम लोदी उत्तर भारत के एकीकरण का काम और भी आगे बढ़ाने के लिये व्यग्र था। ग्वालियर को अपने अधीन करने मे वह सफल हो गया और कुछ काल के लिये उसने राणा सांगा का आगे बढ़ना रोक दिया। किंतु अफगान सरकार की अंतर्निहित निर्बलताओं ने सुल्तान की निपुणताहीन कठोरता का संयोग पाकर, आंतरिक विद्रोह तथा बाहरी आक्रमण के लिये दरवाजा खोल दिया। जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर ने २० अप्रैल, १५२६ ई० को पानीपत की लड़ाई मे इब्राहीम को हरा और मौत के घाट उतारकर भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना की। तीनों लोदी राजाओं ने चौथाई शताब्दी तक शासन किया। इस प्रकार मुगलों के पूर्व के शाही वंशों में तुगलकों को छोड़कर उनका शासन सबसे लंबा था।

दिल्ली के लोदी सुल्तानों ने एक नए वंश की स्थापना ही नहीं की; उन्होने सुल्तानशाही की परंपराओं में कुछ परिवर्तन भी किए; हालाँ कि उनकी सरकार का आम ढाँचा भी मुख्यतः वैसा ही था जैसा भारत में पिछले ढाई सौ वर्षों के तुर्क शासन मे निर्मित हुआ था।

हिंदुओं के साथ व्यवहार में वे अपने पूर्ववर्तियों से कहीं अधिक उदार थे और उन्होंने अपने आचरण का आधार धर्म के बजाय राजनीति को बनाया। फलस्वरूप उनके शासन का मूल बहुत गहराई तक जा चुका था। लोदियों ने हिंदु-मुस्लिम-सदभाव का जो बीजारोपण किया वह मुगलशासन में खूब फलदायी हुआ।

सं० ग्रं० — याह्या सरहिंदी : तारीखे मुबारकशाही; अंग्रेजी अनुवाद के० के० बसु, बड़ोदा, १९३२; ई० टॉमस : द क्रॉनिकल्स ऑव द के० पठान किंग्स ऑव डेल्ही, लंदन, १८७१; रामप्रसाद त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑव मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, इलाहाबाद १९३६; ए० बी० पांडेय : द फर्स्ट अफ़ग़ान ऍपायर इन इंडिया, कलकत्ता, १९५६।

[मु० या०]

लोनावला भारत के महाराष्ट्र राज्य में, पुणे जिले का एक नगर है, जो रेल द्वारा पुणे से ४० मील उत्तर-पश्चिम में स्थित है। यह भोर घाट दर्रे पर स्थित है। इसी दर्रे से होकर पुणे बंबई रेलमार्ग गुजरता है। यह छोटा सा शैलावास भी है तथा यहाँ टाटा जलविद्युत् योजना का मुख्यालय है। यहाँ नौसैनिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है। इसकी जनसंख्या २१,७१३ (१९६१) है।

लोपामुद्रा महर्षि अगस्त्य की पत्नी जिनकी सृष्टि उन्होंने स्वयं की थी। इनका पालनपोषण विदर्भराज निमि या क्रथपुत्र भीम ने किया इसीलिये इन्हें 'वैदर्भी' भी कहते थे। अगस्त्य से विवाह हो जाने पर राजवस्त्र और आभूषण का परित्याग कर इन्होंने पति के अनुरूप वल्कल एवं मृगचर्म धारण किया। अगस्त्य जी द्वारा प्रह्लाद के वंशज इल्वल से पर्याप्त धन ऐश्वर्य प्राप्त होने पर दोनों में समागम हुआ जिससे 'दृढस्यु' नामक पराक्रमी पुत्र की उत्पत्ति हुई।

रामचंद्र जी अपने वनवास में लोपामुद्रा तथा अगस्त्य से मिलने उनके आश्रम गए थे। वहाँ ऋषि ने उन्हें उपहारस्वरूप धनुष, अक्षय तूणीर तथा खड्ग दिए थे। [रा० द्वि०]

लोमश एक महर्षि जो रामकथा के वक्ताओं में से थे। शरीर पर रोएँ अधिक होने से इन्हें यह नाम मिला था। कथा है कि सौ वर्षों तक कमलपुष्पों से इन्होंने शिव जी की पूजा की थी, इसी से इन्हें यह वरदान मिला था कि कल्पांत होने पर इनके शरीर का केवल एक बाल झड़ा करेगा। ये सदा तीर्थाटन किया करते थे और बड़े धर्मात्मा थे। तीर्थाटन के समय युधिष्ठिर ने इनसे अनेक आख्यान सुने थे। इन्होंने दुर्दम राजा को देवी भागवत की कथा पाँच बार सुनाई थी जिससे रैवत नामक पुत्र की प्राप्ति हुई थी। इन्होंने नर्मदा स्नान का निर्देश कर पिशाचयोनि में प्रविष्ट गंधर्वकन्याओं आदि का उद्धार किया था। इनके लिखे ये दो ग्रंथ बताए जाते हैं — लोमशसंहिता तथा लोमशशिक्षा। इनके नाम पर एक लोमश रामायण भी प्राप्त है।

लोयोला, संत इग्नासियस (सन् १४९१-१५५६)। वह उत्तरी स्पेन की बास्क नामक जाति के एक अभिजात परिवार के वंशज थे। आमोद प्रमोद में अपना यौवन बिताकर वह पंप्लोना नगर की रक्षा में घायल हुए और अपने जन्मस्थान लोयोला स्वास्थ्यलाभ करने के लिये लौटकर अन्य साहित्य के अभाव में आध्यात्मिक ग्रंथ तथा संतों की जीवनियाँ पढ़ने लगे। इनसे प्रभावित होकर उन्होंने सन्यास लिया और उत्तरपूर्व स्पेन के मानरेसा में प्रार्थना तथा घोर तपस्या में कुछ समय बिताया। मानरेसा में उन्होंने साधना के विषय में 'स्पिरिच्युअल एक्सरसाइज़ेस' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की। फिलिस्तीन की तीर्थयात्रा के बाद वह पेरिस के सोरबोन विश्वविद्यालय के छात्र बनकर पुरोहित बनने की तैयारी करने लगे। विश्वविद्यालय के कुछ अन्य प्रतिभाशाली छात्रों के साथ उन्होंने १५ अगस्त, सन् १५३४ ई० को जेसुइट धर्मसंघ की स्थापना की। बाद में वह अपने साथियों के साथ रोम गए जहाँ १५४० ई० में विधिवत् इस नए धर्मसंघ का अनुमोदन हुआ (दे० जेसुइट धर्मसंघ)।

संत इग्नासियस ने धर्मसंघ के संचालन में अपने सूक्ष्म मनोविज्ञान तथा अपनी अपूर्व सहृदयता का परिचय दिया। वह इस बात पर बहुत बल देते थे कि सफलतापूर्वक दूसरों की आध्यात्मिक सेवा कर सकने के लिये प्रार्थना, तपस्या तथा ईसा के साथ संयुक्त रहना परमावश्यक है। सन् १६२२ ई० में काथलिक चर्च ने उनको संत घोषित कर दिया, उनका पर्व उनके मरण की तिथि अर्थात् ३१ जुलाई को मनाया जाता है।

सं० ग्रं०—जे॰ ब्रोड्रिक : सेंट इग्नासियस लोयोला, लंदन, १९५६। [का० बु०]

लोरेंजो मोनाको इटालियन चित्रकार (१३७०-१४२५) जन्म सियेना में हुआ। 'वर्जिन का राज्याभिषेक' शीर्षक चित्र से सिद्ध होता है कि उसने पुनर्जागरण काल के पूर्व की यथार्थवादी शैली को अपनाया था। फ्लोरेंटिन परंपरा के सियेनिज शैली के चित्रकार जिओत्तो की कला में, रंजित भावों का आविष्कार आकारों द्वारा किया गया है। इसे अपनाकर लोरेंजो ने सुंदर आवेगपूर्ण लयदार रेखाओं से भावाभिव्यक्ति की है। इसलिए कुछ अंश तक वह फ्लोरेंस में कला परिवर्तक माना जाता रहा। फ्लोरेंस के सान त्रिनिता चर्च में 'घोषणा' चित्र इसकी कला का सुंदर नमूना है। लंदन नेशनल आर्ट गेलरी में उसकी छोटी कृतियाँ सुरक्षित हैं। बर्लिन में भी उसके बनाए चित्र हैं। चित्रों के विषय हमेशा धर्मकथाओं पर ही आधारित हैं। [भा० स०]

लोरेंट्स, हेंड्रिक ऐंतू (Lorentz, Hendrik Antoon, सन् १८५३-१९२८) डच भौतिकीविद् का जन्म आर्नहेम में हुआ था। इन्होंने लेडेन (Leyden) में शिक्षा पाई और यहीं सन् १८७८ में गणितीय भौतिकी के प्रोफेसर नियुक्त हुए। बाद में ये हारलेम (Haarlem) के टेलर इंस्टिट्यूट में अनुसंधान के निदेशक हो गए, किंतु लेडेन में प्रति सप्ताह भौतिकी विषयक व्याख्यान देते थे।

सन् १८७५ में प्रकाशित अपने लेख में इन्होंने विद्युत्पारगों और धातुओं द्वारा प्रकाश के परावर्तन और अपवर्तन की व्याख्या की तथा सन् १८८० में आपने माध्यमों के अपवर्तनांक तथा घनत्व के संबंध पर प्रकाश डाला। भौतिकी में लोरेंट्स का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत था। इन्होंने विद्युत्, चुंबकत्व तथा प्रकाश संबंधी घटनाओं का गणितीय समाधान ढूंढ निकालने की चेष्टा की। अपने निष्कर्षों को स्थापित करने के लिये इन्होंने मैक्सवेल के सिद्धांतों का उपयोग किया तथा सन् १८९२ और १८९५ में दो महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किए। पिछले ग्रंथ में इन्होंने एकसमान गति से चलनेवाले निकाय की वैद्युत्गतिकीय क्षेत्र संबंधी गवेषणा की थी। सन् १८९६ में आपने ज़ेमान प्रभाव (देखें हिं० वि० खं० ५ पृष्ठ ३६-३८) की व्याख्या की। इन्होंने अन्य कई श्रेष्ठ ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें आइन्स्टाइन का आपेक्षित सिद्धांत (सन् १९२०) तथा क्लार्क-मैक्सवेल का विद्युच्चुंबकीय सिद्धांत (सन् १९२४) मुख्य हैं।

आप इंग्लैंड की रॉयल सोसायटी के सदस्य मनोनीत हुए तथा इस परमोच्च वैज्ञानिक संस्था ने आपको सन् १६०८ मे रफोर्ड पदक तथा सन् १६१८ में कॉप्लि पदक प्रदान किए। सन् १६०२ में आपको ज़ेमान के साथ भौतिकी का नोबेल पुरस्कार मिला था।

[भ० दा० व०]

लोलार्ड यह चौदहवी शताब्दी में उत्पन्न इंग्लैंड के सामाजिक तथा धार्मिक आंदोलन के अनुयायियों का नाम है। वे जान विक्लिफ (दे० चर्च का इतिहास, १५) की शिक्षा से प्रेरणा लेकर चर्च की भू-संपत्ति, पुरोहितों के ब्रह्मचर्य, पूजापद्धति के आडंबर, पापस्वीकरण (कनफेशन) की प्रथा आदि के विरोध में प्रचार करने लगे। उनकी शिक्षा थी कि प्रत्येक युद्ध बाइबिल की शिक्षा के विरुद्ध, अन्यायपूर्ण है और राजा की महिमा बढ़ाने के उद्देश्य से हत्या तथा गरीबों के शोषण का साधनमात्र है। विक्लिफ (सन् १३२०-१३८४ ई०) की मृत्यु के बाद यह आंदोलन विशेष रूप से सफल रहा और चर्च के संगठन को चुनौती देने लगा। सन् १४०१ ई० से राजा मृत्युदंड, कैद आदि के द्वारा उसे मिटाने का प्रयास करने लगा। इसके फलस्वरूप लोलार्डों का प्रकट आंदोलन तो समाप्तप्राय हो गया किंतु वह लुके छिपे जारी रहा और १६वीं शताब्दी में प्रोटेस्टैंट विचारों के प्रचार में सहायक सिद्ध हुआ। [का० बु०]

लोलिंबराज ये धारा के प्रसिद्ध परमारवंशी नरेश भोज के समकालिक दक्षिण के हरिहर नामक नरेश की सभा के प्रतिष्ठित कवि एवं विद्वान् थे। इनके पिता का नाम दिवाकर सूनु था। लोलिंबराज के अग्रज नि.संतान थे। उन्होंने इनका पुत्रवत् लालन पालन किया। फलत: यौवनागम तक ये निरक्षर ही रहे। आवारों की भाँति दिन भर इधर उधर घूमते रहते, केवल भोजनवेला में घर पर आते। एक बार जब बड़े भाई वृत्ति उपार्जन के लिये परदेश गए हुए थे, इन्होंने अपनी भाभी के हाथ से झपटकर भोजनपात्र छीन लिया। पतिवियोग से संतप्त भाभी ने लोलिंब की इस अविनयपूर्ण अशिष्टता से क्रुद्ध होकर इन्हें दुत्कारा, जिससे लोलिंब के हृदय पर गहरा धक्का लगा। तुरंत सभी विषयों से विमुख हो इन्होंने 'सप्तशृंग' नामक पर्वत पर विराजमान अष्टादश भुजाओंवाली भगवती महिषासुरमर्दिनी की पूर्ण विश्वास के साथ सेवा की, और स्वल्प समय में ही जगदंबा की प्रसन्नता का वर प्राप्त कर लिया। फलत: एक घड़ी में सौ उत्तम श्लोकों की रचना की सामर्थ्य प्राप्त कर ली। इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं इस प्रकार किया है :

रत्नं वामदृशां दृशां सुखकरं श्रीसप्तशृङ्गास्पदं
स्पष्टाष्टादशबाहु तद्भगवतो भर्गस्य भाग्यं भजे।
यद्भक्तेन मया घटस्तनि घटीमध्ये समुत्पाद्यते
पद्यानां शतमङ्गनाधरसुधा स्पर्धाविधानोद्धुरम् ॥(वैद्यजीवन)

आयुर्वेद, गांधर्ववेद, तथा काव्यकला में इन्हें विशिष्ट नैपुण्य प्राप्त हुआ।

इनकी अनुपम काव्यप्रतिभा से पूर्ण दो वैद्यक ग्रंथ मिलते हैं, 'वैद्यजीवन' तथा 'वैद्यावतंस' और पाँच सर्गों का एक अतिशय मधुर काव्य 'हरिविलास', जिसमें श्रीकृष्णभगवान् की नंदगृह में स्थिति से कंसवध तक की लीला का वर्णन हुआ है। इस काव्य की रचना लोलिंब ने अपने आश्रयदाता श्री सूर्यपुत्र हरि (या हरिहर) नरेश के अनुरोध से की थी—

नाना गुणैरवनिमंडल-मंडनस्य
श्रीसूर्यसूनुहरि-भूमिभुजो नियोगात्।
काव्यामृतं हरिविलास इति प्रसिद्धं
लोलिंबराजकविना कविनायकेन--(ह०वि० २।३५)

काव्यकला की दृष्टि से इस काव्य में कोई वैशिष्ट्य नहीं प्रतीत होता है। रीति वैदर्भी तथा कहीं-कहीं यमक एवं अनुप्रास की छटा अवश्य देखने को मिलती है।

पूर्ववर्ती कवियों में कालिदास तथा भारवि का प्रभाव अत्यधिक प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, रघुवंश के प्रसिद्ध श्लोक 'कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्' की छाया इन पंक्तियों में स्पष्ट दिखाई पड़ती है—'पुष्पाणि प्रथमं ततः प्रकटिता. स्वान्तोत्सवाःपल्लवाः। पश्चादुन्मदकोकिलालिललना कोलाहलाः कोमला'-आदि। कहीं कहीं कुछ अपाणिनीय प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे—

'प्रिय इति पतिनोक्ता सा सुखाब्धौ ममज्ज (ह० वि०४।२७) में पतिशब्द का, 'पतिना' तृतीयान्त प्रयोग।

भोज के समकालिक होने के कारण लोलिंबराज का भी समय ईसा की एकादश शताब्दी निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

[चं० प्र० शु०]

लोल्लट आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में इनका उल्लेख भरत के नाट्यसूत्र के मान्य टीकाकार आचार्य के रूप में किया है। भरत के रसपरक सिद्धांत की व्याख्या करनेवाले सर्वप्रथम विद्वान् लोल्लट ही हैं। रसनिष्पत्ति के संबंध में इनका स्वतंत्र मत साहित्यजगत् में विख्यात है। ये मीमांसक और अभिधावादी थे। इनके मत में शब्द के प्रत्येक अर्थ की प्रतिपत्ति अभिधा से ठीक उसी तरह हो जाती है, जैसे एक ही बाण कवच को भेदते हुए शरीर में घुसकर प्राणों को पी जाता है। इनकी दृष्टि से महाकाव्य के प्रधान रस तथा उसके विभिन्न अंगों में पूरा सामंजस्य होना आवश्यक है। ये रस की स्थिति रामादि अनुकार्य पात्रों में मानते हैं, नटों एवं सहृदयों में नहीं मानते।

औचित्यसमर्थक आचार्यों में इनका एक महत्वपूर्ण स्थान है। इनके कथनानुसार अर्थ के समुदाय का अंत नहीं है, किंतु काव्य में रसवाले अर्थ का ही निबंधन उचित एवं युक्त है, नीरस का नहीं। कोई भी वर्णन सरस भले ही हो, किंतु यदि वह प्रकृत रस के साथ सामंजस्य नहीं रखता तो इसका विस्तार नहीं करना चाहिए। महाकाव्यों में यमक तथा चित्रकाव्य का निबंधन कवि के अभिमान का ही परिचायक होता है, वह काव्य के मुख्य रस का अभिव्यंजक नहीं होता।

अलंकार संप्रदाय के मान्य अनुयायी आचार्य उद्भट के इस सिद्धांत को कि वृत्तियाँ तीन ही हैं और वे भरत द्वारा निर्दिष्ट चार वृत्तियों से भिन्न हैं, लोल्लट ने कड़ी आलोचना की है और उद्भट द्वारा निरूपित न्यायवृत्ति, अन्यायवृत्ति, और फलवृत्ति को न मानते हुए उसकी कल्पना को अप्रामाण्य ठहराते हैं। 'शकली गर्भ' नाम से

नाट्यशास्त्र के आचार्यों का भी इन्होंने खंडन किया है, जिन्होंने उद्भट का खंडन किया है पर 'भरत' की वृत्ति चतुष्टयी को मानते हुए 'आत्मसंवित्ति' नाम की एक पाँचवीं वृत्ति की उद्भावना की है। भट्ट लोल्लट के तीन पद्यों को राजशेखर, हेमचंद्र तथा नमिसाधु ने उद्धृत किया है जो औचित्यविचार की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। राजशेखर ने इन पद्यों को 'काव्यमीमांसा' में 'इति आपराजितिः यदाह' कहकर आपराजिति के नाम से उद्धृत किया है और हेमचंद्र ने 'काव्यानुशासन' में इनमें से दो पद्यों को भट्ट लोल्लट के नाम से उद्धृत किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि इनका एक नाम आपराजिति था। संभवतः ये अपराजित के पुत्र थे। ध्वन्यालोक की टीका में इनका मत प्रभाकर के अनुसार कहा गया है—'भाट्टं प्राभाकरं वैयाकरणं च पक्षं सूचयति'।

इनके समय का तथा ग्रंथ आदि का निश्चित पता नहीं। अभिनवभारती, ध्वन्यालोक आदि में इनके कुछ स्फुट विचार प्राप्त होते हैं, जिनसे इनकी विद्वत्ता और सिद्धांत का परिज्ञान होता है। काव्यप्रकाश की संकेत टीका से और शंकुक आदि आचार्यों द्वारा इनका खंडन करने से ज्ञात होता है कि ये शंकुक के पूर्ववर्ती थे। शंकुक का समय ई० ८५० है। अतः इनका समय नवीं सदी के प्रथम चरण के लगभग ठहरता है। ये कश्मीरी थे। [वि० ना० त्रि०]

लोहड़ी पौष के अंतिम दिन, सूर्यास्त के बाद (माघ संक्रांति से पहली रात) यह पर्व मनाया जाता है। यह प्रायः १२ या १३ जनवरी को पड़ता है। यह मुख्यतः पंजाब का पर्व है, यह द्योतार्थक (एक्रॉस्टिक) शब्द लोहड़ी की पूजा के समय व्यवहृत होने वाली वस्तुओं के द्योतक वर्णों का समुच्चय जान पड़ता है, जिसमें ल (लकड़ी) + ओह (गोहा = सूखे उपले) + ड़ी (रेवड़ी) = 'लोहड़ी' के प्रतीक हैं। श्वतुर्यज्ञ का अनुष्ठान मकर संक्रांति पर होता था, संभवतः लोहड़ी उसी का अवशेष है। पूस-माघ की कड़कड़ाती सर्दी से बचने के लिये आग भी सहायक सिद्ध होती है—यही व्यावहारिक आवश्यकता 'लोहड़ी' को मौसमी पर्व का स्थान देती है।

लोहड़ी से संबद्ध परंपराओं एवं रीति रीवाजों से ज्ञात होता है कि प्रागैतिहासिक गाथाएँ भी इससे जुड़ गई हैं। दक्ष प्रजापति की पुत्री सती के योगाग्नि-दहन की याद में ही यह अग्नि जलाई जाती है। इस अवसर पर विवाहिता पुत्रियों को माँ के घर से 'त्योहार' (वस्त्र, मिठाई, रेवड़ी, फलादि) भेजा जाता है। यज्ञ के समय अपने जामाता शिव का भाग न निकालने का दक्ष प्रजापति का प्रायश्चित्त ही इसमें दिखाई पड़ता है। उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल में 'खिचड़वार' और दक्षिण भारत के 'पोंगल' पर भी—जो 'लोहड़ी' के समीप ही मनाए जाते हैं—बेटियों को भेंट भेजी जाती है।

लोहड़ी से २०-२५ दिन पहले ही बालक एवं बालिकाएँ 'लोहड़ी' के लोकगीत गाकर लकड़ी और उपले इकट्ठे करते हैं। संचित सामग्री से चौराहे या मुहल्ले के किसी खुले स्थान पर आग जलाई जाती है। मुहल्ले या गाँव भर के लोग अग्नि के चारों ओर आसन जमा लेते हैं। घर और व्यवसाय के कामकाज से निपटकर प्रत्येक परिवार अग्नि की परिक्रमा करता है। रेवड़ी (और कहीं कहीं मक्की के भुने दाने) अग्नि को भेंट किए जाते हैं तथा ये ही चीजें प्रसाद के रूप में सभी उपस्थित लोगों को बाँटी जाती हैं। घर लौटते समय 'लोहड़ी' में से दो चार दहकते कोयले, प्रसाद के रूप में, घर पर लाने की प्रथा भी है।

जिन परिवारों में लड़के का विवाह होता है अथवा जिन्हें पुत्र-प्राप्ति होती है, उनसे पैसे लेकर मुहल्ले या गाँव भर में बच्चे ही बराबर बराबर रेवड़ी बाँटते हैं। लोहड़ी के दिन या उससे दो चार दिन पूर्व बालक बालिकाएँ बाजारों में दुकानदारों तथा पथिकों से 'मोहमाया' या महामाई (लोहड़ी का ही दूसरा नाम) के पैसे माँगते है, इनसे लकड़ी एवं रेवड़ी खरीदकर सामूहिक लोहड़ी में प्रयुक्त करते है।

शहरों के शरारती लड़के दूसरे मुहल्लों मे जाकर 'लोहड़ी' से जलती हुई लकड़ी उठाकर अपने मुहल्ले की लोहड़ी में डाल देते हैं। यह 'लोहड़ी व्याहना' कहलाता है। कई बार छीना झपटी में सिर फुटौवल भी हो जाती है। महँगाई के कारण पर्याप्त लकड़ी और उपलों के अभाव मे दुकानो के बाहर पड़ी लकड़ी की चीजें उठाकर जला देने की शरारतें भी चल पड़ी हैं।

लोहा (Iron) आवर्त सारणी के आठवें समूह का पहला तत्व है। इसके चार स्थायी समस्थानिक मिलते हैं, जिनकी द्रव्यमान संख्या ५४, ५६, ५७ और ५८ है। लोह के चार रेडियोऐक्टिव समस्थानिक (द्रव्यमान संख्या ५२, ५३, ५५ और ५९) भी ज्ञात है, जो कृत्रिम रीति से बनाए गए हैं।

लोह धातु का पुरातन काल से मनुष्यो को ज्ञान है। भारत के लोगो को ईसा से ३००–४०० वर्ष पूर्व लोह के उपयोग ज्ञात थे। मद्रास राज्य के तिन्नवेली जनपद में, मैसूर प्रदेश के ब्रह्मगिरी तथा तक्षशिला में पुरातत्व काल के लोहे के हथियार आदि प्राप्त हुए हैं, जो लगभग ४०० वर्ष ईस्वी के पूर्व के ज्ञात होते है। कपिलवस्तु, बुद्धगया आदि में आज से १,५०० वर्ष पहले भी लोग लोहे के उद्योग मे निपुण थे, क्योंकि इन स्थानों मे लोह धातुकर्म के अनेक चिह्न आज भी प्राप्त है। दिल्ली की कुतुबमीनार के सामने लोहे का विशाल स्तंभ चौथी शताब्दी में पुष्करण, राजस्थान के राजा चंद्रवर्मन, के काल में बना था। यह भारत के उत्कृष्ट धातुशिल्प का ज्वलंत उदाहरण है। इस स्तंभ की लंबाई २४ फुट और अनुमानित भार ६ टन से अधिक है। इसके लोहे के विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि इसमें ९९·७२ प्रति शत लोहा है। चौथी शताब्दी की धातुकर्मकला का अनुमान इसी से हो सकता है कि १५ शताब्दियों से यह स्तंभ वायु और वर्षा के बीच अप्रभावित खड़ा है। आश्चर्य की बात तो यह है कि इतना लंबा चौड़ा स्तंभ किस प्रकार बनाया गया, क्योंकि आज भी इतना विशाल दंड बनाना कठिन काय है।

भारत में इस्पात उद्योग की परंपरा भी बहुत प्राचीन है। ऐतिहासिक लेखों से ज्ञात होता है कि ईसा से ५ शताब्दी पूर्व भारत की इस्पात की तलवारें ईरान आदि देशों मे बहुत विख्यात थीं। भारत से लोहा और इस्पात आज से २,००० वर्ष पूर्व यूरोप तथा ऐबिसिनिया (अफ्रीका) में भेजा जाता था। सम्राट् अशोक के काल में इस्पात के उपकरण अनेक विशेष कार्यों में प्रयुक्त होते थे। ईरानियों

तथा चरकों ने इस्पात पर पानी चढ़ाने (tempering) की कला को भारत से ही सीखा। चरक के समय में लोहे का औषधि के रूप में भी उपयोग होता था। उस समय दो प्रकार के लोहे का वर्णन आया है : कालायस् और तीक्ष्णायस्, अर्थात् लौह चूर्ण तथा मोरचा (rust)। मोरचे का प्रयोग रक्तक्षीणता (anaemia) के उपचार में होता था। प्रथम कसीस या फेरस सल्फेट (ferrous sulphate) तथा माक्षिक (pyrites) का उपयोग अनेक रोगों (जैसे–दाद या पामा, कुष्ठ, योनिरोग आदि) में बताया गया है।

लोह का उपयोग कुछ अन्य देशों में भी प्राचीन काल से ज्ञात है। प्राचीन मिस्र, ऐसीरिया, यूनान तथा रोम में लोग लोहे का उपयोग करते थे। यूरोप की सर्वप्रथम वात भट्ठी सन् १३५० में जर्मनी में बनी। अठारहवीं शताब्दी में कोक (coke) का उपयोग प्रारंभ होने से लोहे के उद्योग में बहुत वृद्धि हुई। उन्नीसवीं शताब्दी में इस्पात बनाने की दो मुख्य विधियाँ, बेसेमर तथा सीमेंस मार्टिन प्रक्रम, निकाली गईं।

पृथ्वी का क्रोड (core) लोह धातु का बना है, परंतु ऊपरी सतह पर दूसरे तत्वों द्वारा अभिक्रिया के फलस्वरूप लोह के यौगिक ही मिलते हैं। पृथ्वी की ऊपरी सतह पर लोह के यौगिक प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं। इसकी मात्रा अन्य तत्वों की तुलना में चौथे स्थान पर है। लोह दो मुख्य रूपों में पाया जाता है : मैग्नेटाइट, लो$_3$औ$_4$ (Fe_3O_4), और हेमाटाइट, लो$_2$औ$_3$ (Fe_2O_3)। मैग्नेटाइट काला क्रिस्टलीय खनिज पदार्थ है, जिसमें तीव्र चुंबकीय गुण होते हैं। हेमाटाइट प्राय. जल द्वारा हाइड्रेट लिमोनाइट, लो$_2$ औ$_3$. हा$_2$ औ ($Fe_2O_3.H_2O$), बनने के कारण क्रिस्टलीय रूप में कम मिलता है। शुद्ध हेमाटाइट के क्रिस्टल गहरे भूरे, या काले रंग के होते हैं, जिनमें लाल धारियाँ पड़ी रहती हैं। इसमें निर्बल चुंबकीय गुण होते हैं। प्रायः लोह के अयस्क में यह दोनों रूप विभिन्न मात्रा में वर्तमान रहते हैं। कुछ अयस्कों में फेरस कार्बोनेट भी उपस्थित रहता है। कभी कभी लोह माक्षिक के रूप में भी पाया जाता है, जो फेरस सल्फाइड है। इसको जलाने पर फेरो फेरिक या फेरिक ऑक्साइड, लो$_3$ औ$_4$ या लो$_2$ औ$_3$ (Fe_3O_4 या Fe_2O_3) बचता है तथा सल्फर डाइऑक्साइड मुक्त हो जाता है।

भारत में बिहार (सिंहभूम), मध्यप्रदेश (दुर्ग), उड़ीसा (मयूरभंज) तथा मैसूर (बाबु डी) में लोहे की मुख्य खानें हैं।

लोहे के अयस्क लगभग सब क्षेत्रों में पाए जाते हैं। ब्रिटेन में यार्कशिर और उत्तरी मिडलैंड में, जर्मनी के उत्तरी समुद्री किनारे पर तथा स्वीडन में लोहे के उत्तम अयस्क हैं। उत्तरी अमरीका के सुपीरियर झील के क्षेत्र पर अमरीका का विशाल इस्पात उद्योग निर्भर करता है।

निर्माण — लोह अयस्क को सर्वप्रथम भूनकर (roast) जल वाष्प आदि दूर कर तथा कार्बोनेट एवं सल्फाइड का ऑक्सीकरण कर देते हैं। इस अयस्क का अपचयन कोक द्वारा एक भट्ठी में करते हैं, जिसे वात्य भट्ठी कहते हैं। अयस्क को कैल्सियम कार्बोनेट अथवा मैग्नीशियम कार्बोनेट, सिलिका तथा कोक के साथ मिलाकर, भट्ठी के ऊपरी छिद्र से, भट्ठी में प्रवेश कराते हैं। नीचे के छिद्रों से गरम वायु को ऊपर की ओर प्रवाहित किया जाता है। अंवर की प्रक्रिया द्वारा गैस बाहर निकलती है और द्रव लोह तथा धातुमल (slag) नीचे जमा हो जाते हैं, जिन्हें समय समय पर निकाला जा सकता है। भट्ठी में होनेवाली मुख्य प्रक्रियाएँ निम्न समीकरणों द्वारा प्रदर्शित की जा सकती हैं :

कार्बन+ऑक्सीजन = २ कार्बन मोनॉक्साइड

$$[2\ C + O_2 = 2\ CO]$$

३ कार्बन मानॉक्साइड+फेरिक ऑक्साइड = २लोह+३कार्बन डाइऑक्साइड

$$[\ 3\ CO + Fe_2O_3 = 2Fe + 3\ CO_2\ ]$$

कैल्सियम कार्बोनेट = कैल्सियम ऑक्साइड + कार्बन डाइऑक्साइड

$$[\ CaCO_3 = CaO + CO_2\ ]$$

कैल्सियम ऑक्साइड+सिलिका = कैल्सियम सिलिकेट (धातुमल)

$$[\ CaO + SiO_2 = CaSiO_3 \quad (slag)\ ]$$
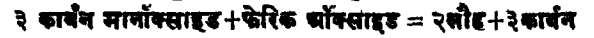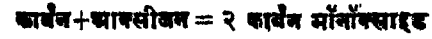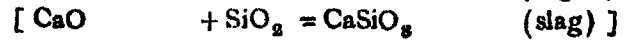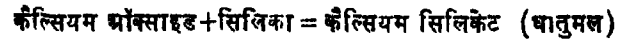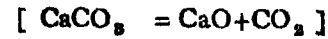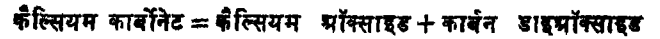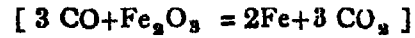
प्राप्त लोहे द्वारा ढलवाँ लोहा, या इस्पात (steel) तैयार कर सकते हैं। इस्पात बनाने के दो मुख्य तरीके हैं, एक बेसेमर विधि (Bessemer process) और दूसरा सीमेंज-मर्टिन की ओपेन हार्थ विधि (Siemen Martins-Open Hearth Process) (देखें धातुकर्म)।

ये सब लोह के शुद्ध रूप नहीं हैं। इनमें कार्बन तथा अन्य अपद्रव्य सर्वदा मिले रहते हैं। उच्च ताप के लोह ऑक्साइड पर हाइड्रोजन प्रवाहित करने से शुद्ध लोहा प्राप्त हो सकता है। लोह लवण के विद्युत् अपघटन द्वारा भी शुद्ध धातु मिलेगी।

गुणधर्म — लोहा श्वेत रंग की धातु है, जो नमी अथवा जल में शीघ्रता से मलीन हो जाती है। यह कोमल, आघातवर्ध्य और तन्य धातु है, जिसमें तीव्र चुंबकीय गुण वर्तमान हैं। इसके अपररूप ज्ञात हैं। साधारण ताप पर लोहा ऐल्फा रूप (α form) में रहता है। ७६८° सें० पर यह बीटा रूप (β form) में बदल जाता है, जिसमें चुंबकीय गुण नहीं रहते। ९०६° सें० पर यह गामा (γ) रूप में परिणत हो जाता है, जिसकी क्रिस्टलीय संरचना सामान्य रूप से भिन्न है। तत्पश्चात् १४०१° सें० पर लोहा फिर ऐल्फा रूप पर आ जाता है। लोहे के कुछ भौतिक नियतांक निम्नांकित हैं :

संकेत लो (Fe), परमाणु संख्या २६, परमाणु भार ५५०.८५, गलनांक १५३९° सें०, क्वथनांक २७४०° सें०, घनत्व ७.८६ ग्रा० प्रति घन सेमी०, विद्युत् प्रतिरोधकता ९.७१ माइक्रोओम–सेंमी०, परमाणु व्यास २.५२ ऐंग्स्ट्राम तथा आयनन विभव ७.८६८ इवो०।

लोहे के रासायनिक गुण निकल तथा कोवाल्ट से मिलते जुलते हैं। यह सक्रिय तत्व है और ऑक्सीजन में जलने पर फेरसफेरिक ऑक्साइड बनाता है। लोह तनु अम्ल विलयनों द्वारा हाइड्रोजन मुक्त करता है, परंतु अत्यंत सांद्र नाइट्रिक अम्ल में डालने पर यह निष्क्रिय हो जाता है। इसके पश्चात् यह तनु अम्लों से अभिक्रिया नहीं करता। निष्क्रियता का गुण धातु पर ऑक्साइड के हल्के स्तर बनने के कारण आ जाता है। यदि निष्क्रिय धातु पर वेग से चोट की जाय, तो चोट लगने के स्थान पर ऑक्साइड की परत टूट जाएगी और उस स्थान से क्रिया प्रारंभ होकर सारी धातु को सक्रिय बना देगी। लोहा अपचायक धातु है और स्वर्ण, प्लैटिनम, रजत, पारद, ताम्र आदि के लवणों

का अपचयन कर वायु में परिणत कर देता है। लोहा अनेक अधातु तत्वों से क्रिया कर यौगिक बनाता है।

उच्च ताप का जलवाष्प (५७०° सें०), लोहे द्वारा विघटित होकर, फेरोफेरिक ऑक्साइड, लो$_3$ औ$_4$ (Fe_3O_4), बनाता है और हाइड्रोजन मुक्त होता है। उच्च ताप पर अमोनिया लोहे से अभिक्रिया कर लोह नाइट्राइड, लो$_2$ ना (Fe_2N), बनाता है।

लोहा मुख्यत: दो और तीन संयोजकता के यौगिक बनाता है। दो संयोजकता के फेरस, लो$^{++}$ (Fe^{++}), आयन का विलयन हल्के हरे रंग का है। वायु के ऑक्सीजन द्वारा उसका ऑक्सीकरण हो जाता है। तीन संयोजकता के फेरिक, लो$^{+++}$(Fe^{+++}), आयन का अम्लीय विलयन पीले रंग का रहता है। फेरस तथा फेरिक दोनों आयन अनेक जटिल यौगिक बनाते हैं। इनके अतिरिक्त इनके अनेक कीलेट (chelate) यौगिक भी ज्ञात हैं।

लोह के चार संयोजकता के परफैराइट, लो औ$_3^{--}$ (FeO_3^{--}) और छह संयोजकता के फेरेट, लो औ$_4^{--}$ (FeO_4^{--}) यौगिक भी ज्ञात हैं। ये क्षारीय अवस्था में प्रबल ऑक्सीकारकों द्वारा बनते हैं। ये अस्थायी यौगिक हैं और बहुत कम मात्रा में बनाए जा सकते हैं।

यौगिक — लोहे के तीन ऑक्साइड ज्ञात हैं: फेरस ऑक्साइड, लो औ (FeO), फेरिक ऑक्साइड, लो$_2$ औ$_3$ (Fe_2O_3), और फेरोफेरिक ऑक्साइड, लो$_3$ औ$_4$ (Fe_3O_4)। फेरस यौगिक में क्षार डालने पर फेरस हाइड्रॉक्साइड, लो (औहा)$_2$ [$Fe(OH)_2$], का श्वेत अवक्षेप प्राप्त होता है। यह वायु में शीघ्र आक्सीकृत हो भूरे फेरिक ऑक्साइड में परिणत होता है। फेरिक यौगिक में क्षार डालने पर भूरा अवक्षेप प्राप्त होता है, जो जलयोजित (hydrated) फेरिक ऑक्साइड कहलाता है। यदि फेरस विलयन में कार्बोनेट विलयन मिश्रित किया जाय, तो फेरस कार्बोनेट का श्वेत अवक्षेप प्राप्त होता है। वायु में रखने पर यह शीघ्र ही फेरिक अवस्था में परिणत हो जाता है। शुद्ध फेरिक कार्बोनेट ज्ञात नहीं है।

लोहे के अनेक नाइट्राइड ज्ञात हैं। लोहे को अमोनिया के साथ उच्च ताप पर रखने से लौह नाइट्राइड, लो$_2$ ना (Fe_2N) बनता है। इसके अतिरिक्त दो और नाइट्राइड, लो$_3$ ना$_2$ (Fe_3N_2), और लो ना (FeN) भी विशेष अभिक्रियाओं द्वारा बनाए गए हैं। 'नाइट्रिक अम्ल के साथ दो लवण फेरस नाइट्रेट, लो(ना औ$_3$)$_2$. ६हा$_2$ औ [$Fe(NO_3)_2 . 6H_2O$] और फेरिक नाइट्रेट, लो (ना औ$_3$)$_3$. ६ हा$_2$ औ, तथा लो (ना औ$_3$)$_3$.९ हा$_2$औ [$Fe(NO_3)_3 .6 H_2O$, and $Fe(NO_3)_3$ $9 H_2O$] बनते हैं। फेरस नाइट्रेट अस्थायी यौगिक है।

फ़ॉस्फ़ोरस से अभिक्रिया कराकर लोहे के चार फ़ॉस्फ़ाइड बनाए गए हैं, लो$_3$फा (Fe_3P), लो$_2$फा (Fe_2P), लो फा (FeP) तथा लो$_2$फा$_3$ (Fe_2P_3)। इनके अतिरिक्त फेरस फ़ॉस्फेट, लो$_3$ (फा औ$_4$)$_2$ ८हा$_2$औ [$Fe_3(PO_4)_2 8H_2O$] और फेरिक फ़ॉस्फ़ेट, लो फा औ$_4$ ($FePO_4$), भी निर्मित हुए हैं।

लोहे और सल्फर की अभिक्रिया द्वारा दो यौगिक बनते हैं, एक फेरस सल्फाइड, लो गं (FeS), और दूसरा फेरस डाइसल्फाइड, लो गं$_2$ (FeS_2)। यह ध्यान देने योग्य है कि दोनों यौगिकों में लोह की संयोजकता दो है। दूसरी अभिक्रियाओं द्वारा फेरिक सल्फाइड, लो$_2$गं$_3$ (Fe_2S_3), भी बनाया गया है।

लोह को सलफ्यूरिक अम्ल. हा$_2$ गं औ$_4$, (H_2SO_4), में घुलाने पर फेरस सल्फेट, लो गं औ$_4$.७ हा$_2$औ ($FeSO_4 . 7 H_2O$), बनता है। इसमें तप्त नाइट्रिक अम्ल डालने पर यह फेरिक सल्फेट, लो$_2$(गंऔ$_4$)$_3$ [$Fe_2(SO_4)_3$] में परिणत हो जाता है।

यदि हाइड्रोजन क्लोराइड, हाक्लो(HCl), के वातावरण में लोहे को तप्त किया जाय, तो श्वेत फेरस क्लोराइड, लोक्लो$_2$ ($FeCl_2$) बनता है। लौह कार्बोनेट पर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की क्रिया द्वारा हल्के हरे रंग का हाइड्रेट (hydrate), लोक्लो$_2$ ४ हा$_2$ औ ($FeCl_2 .4H_2O$) बनता है। परंतु रक्त तप्त लोहे पर क्लोरीन प्रवाहित करने पर गहरे हरे रंग का ठोस फेरिक क्लोराइड बनता है। यह यौगिक सुलभ, लोक्लो$_3$ ($FeCl_3$) न होकर द्विलक, लो$_2$क्लो$_6$ (Fe_2Cl_6) के रूप मे प्राप्त होता है। यह शीघ्र वाष्प का अवशोषण कर लोक्लो$_3$. ६हा$_2$औ ($FeCl_3 .6H_2O$) हाइड्रेट बन जाता है। लोहे के अन्य हैलोजन तत्वों के साथ दो और तीन संयोजकता के यौगिक भी बनते हैं।

लोह चूर्ण कार्बन मॉनॉक्साइड, का औ (CO), से क्रिया कर लोह कार्बोनिल यौगिक बनाता है। यह उच्च ताप और दबाव पर अधिक मात्रा में बनता है। लोह पेंटाकार्बोनिल, लो(काऔ)$_5$ [$Fe(CO)_5$], पीला पदार्थ है। इसके अतिरिक्त दो और कार्बोनिल, लो$_2$ (का औ)$_9$ [$Fe_2(CO)_9$] और लो$_3$ (का औ)$_{12}$ [$Fe_3(CO)_{12}$], भी ज्ञात हैं। इन यौगिको मे प्रत्येक अंश सवर्ग बंध (coordinate bonds) द्वारा लोहे से जुड़े रहते हैं। इसी प्रकार के नाइट्रोसिल यौगिक, लो (नाऔ)$_4$ [$Fe(NO)_4$], और मिश्रित कार्बोनिल नाइट्रोसिल, लो(नाऔ)$_2$(काऔ)$_2$[$Fe(NO)_2 ,(CO)_2$], भी ज्ञात हैं।

लोहे के जटिल यौगिकों (complex compounds) में साइआनाइड यौगिकों का विशेष स्थान है। यदि किसी फेरस या फेरिक लवण के विलयन में कोई साइआनाइड विलयन डाला जाय, तो सर्वप्रथम क्रमश: लो (काना)$_2$ [$Fe(CN)_2$] और लो (काना)$_3$ [$Fe(CN)_3$] के अवक्षेप प्राप्त होंगे, परंतु अधिक साइआनाइड डालने पर वे फिर विलीन हो जाएँगे। इन विलयन में क्रमश: फेरोसाइआनाइड (Ferrocyanide), लो(काना)$_6^{4-}$ [$Fe(CN)_6^{4-}$], और फेरिसाइआनाइड (Ferricyanide), लो(काना)$_6^{3-}$ [$Fe(CN)_6^{3-}$], उपस्थित रहते हैं। यदि फेरिसाइआनाइड में फेरस, लो$^{++}$ (Fe^{++}), आयन मिलाएँ अथवा फेरोसाइआनाइड में फेरिक, लो$^{+++}$ (Fe^{+++}), आयन मिलाएँ, तो क्रमश: गहरे नीले रंग के प्रशियन ब्लू (Prussian blue) और टर्नबुल ब्लू (Turnbull's blue) रंजक प्राप्त होते हैं।

शारीरिक क्रिया में लोहे का स्थान — लोहा शरीर के लिये आवश्यक तत्व है। रक्त की लाल कोशिकाओं (red cells), हीमोग्लोबिन, का यह आवश्यक अंग है। साथ साथ यकृत, प्लीहा, और मेरुदंड में यह जमा रहता है, ताकि आवश्यकता पड़ने पर यह हीमोग्लोबिन बनाने के काम आ सके। इनके अतिरिक्त मांसपेशियों में भी यह उपस्थित

रहता है । लोह मूलतः हीमोग्लोबिन का$_{३४}$हा$_{३३}$ना$_{४}$औ$_{४}$ओलौहा ($C_{34}H_{33}N_4O_4FeOH$), के हीम (haem) में फेरस, लो$^{++}$ (Fe^{++}), स्थिति में रहता है, परंतु यह अणु ऑक्सीजन से क्रिया कर ऑक्सीहीमोग्लोबिन बनाता है, जिसके द्वारा एक ऑक्सीजन अणु एक हीमोग्लोबिन अणु से संयुक्त हो जाता है। परंतु दाब कम होने पर यह ऑक्सीजन अणु पुन. मुक्त हो सकता है। इस प्रकार हीमोग्लोबिन अणु शरीर मे ऑक्सीजन वाहक का कार्य करता है, जो आवश्यकतानुसार ऑक्सीजन ग्रहण, या मुक्त करता है। शरीर में लोहे की मात्रा कम होने पर अनेक लौह यौगिक ओषधि के रूप में दिए जाते हैं।

[र० चं० क०]

लोहा और इस्पात देखें धातुकर्म और इस्पात ।

लोहित नदी चीन देश में, दक्षिण-पश्चिम सिक्यांग प्रांत से निकलती है तथा भारत में नेफा राज्य के लोहित जिले में हिमालय के पूर्वी मोड़ (syntaxiss) से प्रवेश करती है और पश्चिम दिशा में प्रवाहित होकर सादिया के समीप डिबांग नदी से मिलती है, जो ब्रह्मपुत्र की सहायक नदी है। ये दोनों नदियाँ यहाँ ब्रह्मपुत्र के मोड़ पर एक डेल्टा का निर्माण करती है। लोहित नदी की कुल लंबाई १६१ मील है। [रा० ना० मा०]

लोहिया, राममनोहर (१६१०–१६६७) भारतीय समाजवादी आंदोलन के नेता, राष्ट्रवादी विचारक और लेखक । २३ मार्च, १६१० को फैजाबाद जिले के अकबरपुर नामक स्थान में उत्पन्न हुए। उनका परिवार राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ा हुआ था; पिता हीरालाल लोहिया गांधी जी के अनुयायियों में थे। इसलिये आरंभ से ही बालक राममनोहर ने अपने परिवार से ऐसे संस्कार ग्रहण किए जो आगे चलकर उनके संघर्षशील जीवन के प्रेरक बने। उनकी प्रारंभिक शिक्षा बंबई में हुई और वाराणसी के सेंट्रल हिंदू स्कूल से उन्होंने माध्यमिक परीक्षा पास की। कलकत्ता विश्वविद्यालय से स्नातक होने के पश्चात् जर्मनी चले गए जहाँ उन्होंने बर्लिन के हुंबोल्ट विश्वविद्यालय से राजनीतिक दर्शन में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। १६३३ में जब राममनोहर स्वदेश लौटे, तब देश महात्मा गांधी के नेतृत्व मे अंग्रेजी गुलामी के विरुद्ध पूरी शक्ति से जूझ रहा था, और तत्कालीन प्रतिभासंपन्न युवक पीढ़ी स्वाधीनता संग्राम के महायज्ञ की आहुति बन रही थी। २३ वर्षीय युवक लोहिया भी उत्साह सहित राष्ट्रीय आंदोलन में शरीक हो गए।

परदेश में शिक्षित होने के कारण कार्ल मार्क्स और समाजवाद जैसी प्रगतिशील धाराओं के प्रति उनका आकर्षण स्वाभाविक था; किंतु गांधी जी के प्रभाव में आने के कारण वे मार्क्सवादी नहीं हुए। कांग्रेस में वे वामपक्षीय समाजवादी विचारों का प्रतिनिधित्व करते थे। १६३४ में उन्होंने आचार्य नरेंद्रदेव तथा अपने युवक मित्रों जयप्रकाश नारायण, यूसुफ मेहर अली, अशोक मेहता, अच्युत पटवर्धन और मीनू मसानी आदि के साथ मिलकर, 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' की स्थापना की और 'कांग्रेस सोशलिस्ट' नाम का अंग्रेजी अखबार निकाला। १६४६ में 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के कानपुर अधिवेशन की अध्यक्षता आपने की।

१६३६ में जवाहरलाल नेहरू के अनुरोध पर लोहिया कांग्रेस की विदेश नीति समिति के सचिव हुए। उस समय इस समिति ने जो निर्णय किए थे, वे सदा कांग्रेस की विदेश नीति के आधार रहे। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान युद्धविरोधी प्रचार करने के कारण उन्हें लंबी अवधि का कठोर कारावास भुगतना पड़ा। अगस्त, १६४२ के 'भारत छोड़ो' आंदोलन में लोहिया ने देशव्यापी ख्याति अर्जित की। अपने समाजवादी साथियों के साथ उन्होंने उस आंदोलन का संचालन इतनी कुशलता से किया कि वे आंदोलन के अंत तक सरकार की पकड़ में न आ सके। १६४३ में उन्हें जयप्रकाश नारायण के साथ लाहौर जेल में बंद किया गया, जहाँ उन्होंने भयंकर यातनाएँ झेलीं।

देश के स्वतंत्र होने के पश्चात् भी लोहिया का पुराना विद्रोही रूप स्थिर रहा। १६४८ में समाजवादी लोग कांग्रेस से अलग हो गए और पार्टी के नाम से कांग्रेस शब्द हटा दिया गया। उसके बाद वे जीवनपर्यंत कांग्रेस शासन के तीखे आलोचक रहे। १६५३ के इलाहाबाद अधिवेशन मे वे किसान मजदूर प्रजा पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी के विलय से बनी प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के महामंत्री नियुक्त हुए। आगे चलकर उनका अपने साथियों से तीव्र मतभेद हो गया और जून, १६५५ में उन्होंने अलग होकर सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की। मई, १६६३ में वे फर्रुखाबाद संसदीय निर्वाचन क्षेत्र से लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए। संसद में अनेक राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय प्रश्नों पर अपनी विद्वत्तापूर्ण और प्रखर वाग्मिता से उन्होंने समाजवादी विचार की प्रगति मे विशेष योगदान दिया। १६६४ में उनके प्रयासों से सोशलिस्ट पार्टी तथा प्रजा सोशलिस्ट पार्टी में एकता हुई और संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की गई। तब से वे संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य रहे। फरवरी, १६६७ के चतुर्थ आम निर्वाचन में कन्नौज संसदीय क्षेत्र से पुन: लोकसभा के लिये चुने गए। लोहिया ने चतुर्थ आम निर्वाचन मे कांग्रेस के विरुद्ध विरोधी दलों के संयुक्त मोर्चे और मिली जुली सरकारों की स्थापना का देशव्यापी आंदोलन चलाया जिसमें उन्हें बड़ी सीमा तक सफलता मिली।

लोहिया का समाजवादी चिंतन मार्क्स और गांधी से प्रभावित होते हुए भी सर्वथा मौलिक है। उन्होंने भारतीय संस्कृति, इतिहास और परंपराओं की पृष्ठभूमि पर मार्क्स के वर्गसंघर्ष सिद्धांत को वर्णसंघर्ष में संशोधित किया। अनरराष्ट्रीय राजनीति में वे पश्चिम पूर्व के दो विरोधी राष्ट्रगुटों से असंबद्ध नवस्वतंत्र राष्ट्रों की लोकतांत्रिक समाजवादी ढंग पर एक तीसरी शक्ति रचना के पक्षधर थे। उनकी मान्यता थी कि एशियाई और अफ्रीकी गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की लोकतांत्रिक एकता सारी दुनिया को शोषण से मुक्ति दिलाने में सहायक होगी। उनकी विश्वसरकार संबंधी कल्पना पूर्ण मानवीय स्वतंत्रता पर आधारित थी। लोहिया ने अंग्रेजी और हिंदी में अनेक पुस्तकें लिखी हैं जिनमें 'फ्रैगमेंट्स ऑव द वर्ल्ड माइंड', 'मार्क्स, गांधी ऐंड सोशलिज्म', 'विल टु पावर', 'इंडिया, चाइना ऐंड नॉर्दर्न फ्रंटियर्स', 'इतिहासचक्र' तथा 'भाषा' प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

१२ अक्टूबर, १६६७ को दिल्ली के विलिंगडन नर्सिंग होम में, जहाँ उनकी पुरस्थ ग्रंथि का आपरेशन हुआ था, लोहिया का देहांत हो गया। [चा० वि०]

लौंग मर्टेसी (Myrtaceae) कुल के यूजीनिया कैरियोफ़ाइलेटा (Eugenia caryophyllata) नामक मध्यम कद वाले सदाबहार वृक्ष की सूखी हुई पुष्प कलिका है। लौंग का अंग्रेजी पर्यायवाची क्लोव (clove) है, जो लैटिन शब्द क्लैवस (clavus) से निकला है। इस शब्द से कील, या काँटे का बोध होता है, जिससे लौंग की आकृति का सादृश्य है।

चीन में लौंग का उपयोग ईसा से तीन शताब्दी पूर्व से होता चला आ रहा है तथा रोमन लोग भी इससे अच्छी तरह परिचित थे, किंतु यूरोपीय देशों में इसकी जानकारी १६वीं शताब्दी में तब हुई जब पुर्तगाली लोगों ने मलैका द्वीप में इसे खोज निकाला। वर्षों तक इसके वाणिज्य पर पुर्तगालियों एवं डचों का एकछत्र आधिपत्य रहा।

लौंग मलैका का देशज है, किंतु अब सारे उष्णकटिबंधी प्रदेशों में बहुतायत से प्राप्य है। जंजीबार में समस्त उत्पादन का ९० प्रति शत लौंग पैदा होता है, जिसका बहुत सा भाग बंबई से होकर बाहर भेजा जाता है। सुमात्रा, जैमैका, ब्राजिल, पेबा एवं वेस्ट इंडीज में भी पर्याप्त लौंग उपजता है।

बीज से पौधे धीरे धीरे पनपते हैं, इसलिये नर्सरी के पौधे जब ४ फुट ऊँचे हो जाते हैं तब उन्हें वर्षा के प्रारंभ होते ही २०-३० फुट की दूरी पर लगा देते हैं। पहले वर्ष तेज धूप एवं हवा से पौधों को हानि

लौंग

१. पत्र-पुष्प-युक्त शाखा, २. विकसित पुष्प तथा ३. अविकसित कली या लौंग।

पहुँचती है। छठें वर्ष फूल लगने प्रारंभ हो जाते हैं तथा १२ से २५ वर्ष तक अच्छी उपज होती है, पर १५० वर्ष तक वृक्ष से थोड़ा बहुत लौंग मिलता रहता है। प्रत्येक वृक्ष से तीन से चार सेर तक लौंग निकलता है।

लौंग के फूल गुच्छों में सुर्ख लाल रंग के खिलते हैं, किंतु पुष्प खिलने के पहले ही तोड़ लिए जाते हैं। ताजी कलियों का रंग ललाई लिए हुए या हरा रहता है। लौंग के चार नुकीले भाग बाह्यदल (sepal) हैं तथा अंदर के गोल हिस्से में दल (petal) और उनसे ढँका हुआ आवश्यक भाग है, पुमंग (ardroecium) एवं जायांग (gynaeceum)। नीचे का हिस्सा फूल का डंठल है। जैसे ही इन कलियों का रंग हलका गुलाबी होता है एवं वे खिलती है, इन्हें चुन चुनकर हाथ से तोड़ लिया जाता है। कभी कभी पेड़ के नीचे कपड़ा बिछा देते हैं और शाखा को पीटकर इन कलियों को गिरा देते हैं। अच्छे मौसम में इन्हें धूप में सुखा लेते हैं, किंतु बदली होने पर इन्हें आग पर सुखाते हैं। कभी कभी कलियों को सुखाने से पहले गरम पानी से धो लेते हैं। सुखाने के बाद केवल ४० प्रति शत लौंग बचता है।

लौंग को पीसकर, या साबुत खाद्य पदार्थ में डालने से, वह सुगंधमय हो जाता है, अतः भिन्न भिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों को सुवासित करने के लिये इसका उपयोग मसाले की तरह करते हैं। आसवन से निकाला गया लौंग का तेल अत्यंत उपयोगी है। दाँत का मंजन, साबुन, इत्र वेनिला तथा पौधों की आंतरिक रचना देखने के लिये एवं दवा के रूप में इस तेल का उपयोग होता है। लौंग के फल एवं फूल के डंठल का भी कभी कभी उपयोग किया जाता है। [सा० जा०]

लौरिया अराराज बिहार के चंपारन जिले के लौरिया नाम के गाँव के पास रधिया से ढाई मील पर अराराज महादेव के मंदिर से एक मील दक्षिण पश्चिम में सम्राट् अशोक के प्रधान स्तंभाभिलेखों में से एक इस स्थान पर वर्तमान है। इस स्तंभ पर पहले छह प्रज्ञापन खुदे हुए हैं। लौरिया नंदनगढ़ का स्तंभाभिलेख भी इसी जिले के लौरिया ग्राम के पास मथिया से तीन मील उत्तर में स्थित है और इस पर भी पहले के छह प्रज्ञापन खुदे मिले हैं। इन प्रज्ञापनों की मुख्य बातें ये हैं —१. राज्य के सिद्धांत; २ राजकीय दृष्टांत; ३. आत्मचिंतना अथवा आत्मनिरीक्षण की विशेष बातें; ४. महामात्रों के अधिकार एवं कर्तव्यों की समीक्षा; ५. पशुओं की हत्या और उनके अंगभंग के निषेध के विशेष कानून; ६. विशेष धर्मसिद्धांत की आवश्यकता। [शां० प्र० रो०]

लौरिया नंदनगढ़ के स्तंभ के शीर्षभाग पर सिंह की मूर्ति बनी हुई है। सिंह का आधारपीठ गोलाकार है जिसपर हंस दाना चुगते दिखाए गए हैं। स्तंभ का लेप अत्यंत चिकना एवं भव्य है। सिंह का मुख कुछ टूट गया है। लौरिया अराराज का स्तंभ नंदनगढ़ की अपेक्षा अधिक भारी एवं कला की दृष्टि से उस मानदंड का नहीं है। स्थानीय लोग इसकी पूजा करते हैं एवं लोग इसे अज्ञानवश भीमसेन की लाठी कहते हैं।

लौरिया गाँव के आधा मील दक्षिण पश्चिम एक विस्तृत टीला मिला है जिसकी ऊँचाई लगभग ८० फुट है। इसकी खुदाई से मिली ईंटों की माप २४'×१२'×५½" है एवं इसके दक्षिणी भाग में दस फुट मोटी दीवार का घेरा मिला है। इसके ऊपर एक छोटे भवन की नींव के अवशेष भी ज्ञात हुए हैं। विंसेंट स्मिथ इसे

शारीरिक स्तूप मानते हैं जिसमें भगवान बुद्ध की अस्थियों का अंश रखा गया था, किंतु स्मॉक की राय में यह ईंटों का भारी टीला किसी प्रकार की प्राचीन किलेबंदी का अवशेष है जो किसी प्राचीन शहर का किला रहा होगा। इसके चारों ओर की खाई का निशान भी कहीं कहीं दिखता है। ऊपर स्थित अवशेषों को वह सुरक्षा के लिये निरीक्षण चौकी मानते हैं। इससे भी विलक्षण कुछ मिट्टी के टीले गाँव से उत्तर में पाए गए हैं। इनमें से कुछ एक की खुदाइयों से जली लकड़ी एवं मनुष्य के अस्थिअवशेष भी मिले हैं। इसके साथ ही एक सोने से निर्मित पत्ती मिली है जिसपर नारी की प्रतिमा अंकित है। इसके मध्य में एक खाली जगह मिली है जहाँ पहले स्पष्ट ही साल की लकड़ी का स्तंभ गड़ा होगा। विदित होता है कि ये टीले मृतकपूजा की विधियों से संबंधित रहे होंगे।

ऐसी जगहों के समीप स्तंभाभिलेख खड़े किए जाने का सम्राट् अशोक का कोई विशेष लक्ष्य अवश्य रहा होगा।

[शां० प्र० रो०]

ल्यूइस, गिल्बर्ट न्यूटन (Lewis, Gilbert Newton, सन् १८७५-१९४६) अमरीकी रसायनज्ञ का जन्म मैसाचुसेट्स प्रदेश के बोस्टन नगर के पास हुआ था। आप हारवार्ड विश्वविद्यालय के स्नातक थे और यहीं से सन् १८९९ में आपने पी-एच० डी० की डिग्री प्राप्त की।

सन् १९०४ में आप फिलिपीन द्वीप में बाट और मापों के पर्यवेक्षक तथा वैज्ञानिक विभाग में रसायनज्ञ नियुक्त हुए, किंतु एक वर्ष पश्चात् ये मैसाचुसेट्स के इन्स्टिट्यूट ऑव टेक्नॉलोजी की भौतिकी रसायन प्रयोगशाला में अनुसंधान करने लगे। सन् १९१२ में आपकी नियुक्ति कैलिफॉर्निया विश्वविद्यालय (बर्कलि) में रसायन के प्रोफेसर तथा कालेज के डीन के पद पर हुई। प्रथम विश्वयुद्ध के समय सैनिक सेवा की। इसके बाद ये फिर कैलिफॉर्निया विश्वविद्यालय लौट आए। यहाँ आपने 'संयोजकता तथा परमाणुओं और अणुओं की संरचना पर तथा, रैंडल के सहयोग से,' 'ऊष्मागतिकी तथा रासायनिक पदार्थों की मुक्त ऊर्जा" पर दो महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे।

ल्यूइस ने संयोजकता के आधुनिक सिद्धांत की नींव डाली तथा अम्ल और क्षारक की धारणा को विस्तृत रूप दिया। भारी हाइड्रोजन को आपने ही सर्वप्रथम वियुक्त किया था। आपके अनुसंधानों से जैविक पदार्थों के रंगों तथा प्रतिदीप्ति और स्फुरदीप्ति की जटिल प्रक्रियाओं के समझने में बड़ी सहायता मिली। [भ० दा० व०]

ल्यूसाइट शैल (Leucite rocks) आग्नेय ज्वालामुखी शैलों का एक किस्म है। आग्नेय शैलों में ही ल्यूसाइट प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। अभिनव लावा ही इसके स्रोत हैं। जिस मैग्मा में पोटाश की मात्रा प्रचुर और सिलिका की अपेक्षाकृत कम होती है उसी मैग्मा के क्रिस्टलन से ल्यूसाइट बनता है। ल्यूसाइट वस्तुतः पोटैशियम और ऐलुमिनियम का सिलिकेट होता है। ल्यूसाइट लोह-मैग्नीशियम खनिजों और ऐलुमिना, या अधिक क्षार वाले खनिजों के साथ पाया जाता है। पातालीय शैलों (plutonic rocks) में ल्यूसाइट विरला ही पाया जाता है। ऐसी स्थिति में अधिक दबाव के कारण ल्यूसाइट स्थायी ऑर्थोक्लेज में बदल जाता है। ऐसे शैलों में ल्यूसाइट का कूटरूप (Pseudomorph) कूट-ल्यूसाइट मिलता है। कूट-ल्यूसाइटों में नेफेलाइट (Nephelite), ऑर्थोक्लेज, ऐनैल्साइट (Analcite) होते हैं। ल्यूसाइट विरल खनिज है और इटली और मध्ययूरोप के लावा में पाया जाता है।

ल्यूसाइट चट्टानों में ल्यूसाइट के अतिरिक्त नेफेलिन (Nepheline), सोडालाइट (Sodalite), नोज़िऐन (Nosean), हाविन (Hawyne), मेलानाइट गार्नेट (Melanite-garnet) तथा मेलिलाइट (Melilite) रहते हैं। क्रिस्टल संरचना, रंग और विदलन से खनिज की पहचान होती है। कुछ स्थान के ल्यूसाइटों में पोटाश का तथा कुछ स्थान के ल्यूसाइटों में सोडियम का आधिक्य रहता है।

लावा की आग्नेय चट्टानों में ल्यूसाइट सबसे अधिक मात्रा में पाया जाता है। ऐसे ल्यूसाइट हैं : (१) ल्यूसाइट फेनोलाइट (Leucite phenolite) और ल्यूसाइट ट्रेकाइटीज़ (Leucitc-trachytes), (२) ल्यूसिटोफ़ायर (Leucitophyre), (३) ल्यूसाइट बेसेनाइट (Leucite basanit e), और ल्यूसाइट टेफ़ाइटिस (Leucite tephritis), (४) ल्यूसाइट बेसल्ट तथा (५) ल्यूसिटाइटिज़।

ल्यूसाइट फेनोलाइट और ल्यूसाइट ट्रेकाइटीज़ में सैनिडीन (Sanidine) की प्रचुरता रहती है। ल्यूसिटोफ़ायर मे सैनिडीन कम और नेफेलिन (Nepheline) अधिक मात्रा में रहता है। ल्यूसाइट, बेसेनाइट और टेफाइट में ल्यूसाइट, प्लेजियोक्लेस (Plagioclase) और औजाइट (Auzite) रहते हैं। इनमें कुछ में ऑलिवीन (Olivene) रहता है और कुछ में नहीं।

संघटन —ल्यूसाइट चट्टानों में सिलिका के अतिरिक्त ऐलुमिनियम, लोह, मैग्नीशियम, कैल्सियम, सोडियम और पोटैशियम प्रधानरूप से रहते हैं। कुछ नमूनों में टाइटेनियम भी अल्प मात्रा में पाया गया है। चट्टानों में धातुएँ सिलिकेट के रूप में रहती हैं। पोटैशियम की मात्रा किसी किसी नमूने में १२ (K_2O) प्रति शत तक पाई गई है। इनसे पोटाश प्राप्त करने की निष्फल चेष्टाएँ हुई हैं। इटली में पोटाश के लिये उर्वरक के रूप में खनिज ही प्रयुक्त होता है।

खनिज का धारारेखित रूप, (stream lined) स्तरों (flors), चादरों और कभी कभी डाइकों (dykes) के रूपों पाया जाता है। ल्यूसाइट चट्टानों की उत्पत्ति क्षारीय मैग्मा से होती है। स्थल मंडलों के गहरे भागों से निकले तरल (लावा), जिसमें पोटाश और ऐलुमिना रहते हैं, पूर्ववर्ती मिश्रित चट्टानों के रासायनिक प्रतिस्थापन (metasomatism) और आंशिक गलन से ल्यूसाइट चट्टानों का निर्माण हो सकता है। इनके क्रिस्टलन के संबंध में क्रिस्टलन स्व-समाकृतिकता (automorphism) के कारण कुछ नहीं कहा जा सकता। क्रिस्टलन में ऐपैटाइट (apatite) और लोहे के अयस्क पहले बनते हैं। ऑलिवीन (olivine), ऐंफिबोल (amphibole) और बाइटाइट सोडालाइट भी प्रारंभिक अवस्था में बनते हैं। ल्यूसाइट औजाइट साथ साथ बनते हैं, क्योंकि कभी कभी ल्यूसाइट क्रिस्टल में औजाइट का अंतर्वेश पाया जाता है।

ल्यूसाइट सघन, दानेदार, अश्मधूसर, गहरा भूरा या काला होता

है। ल्यूसिटाइट में लक्ष्य क्रिस्टल (phenocryst) मिलता है, कभी कभी पाइरॉक्सीन (pyroxene) भी मिल जाता है। सूक्ष्मदर्शी से परीक्षण करने पर भिन्न भिन्न किस्म के खनिजों के क्रिस्टल भिन्न भिन्न प्रकार के दिखाई पड़ते हैं। इससे उन खनिजों की पहचान हो सकती है। [र० चं० मि०]

वंग या टिन (Tin) आवर्त सारणी के चतुर्थ मुख्य समूह (main group) की एक धातु है। वंग के दस स्थायी समस्थानिक (द्रव्यमान संख्या ११२, ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२२ तथा १२४) प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त चार अन्य रेडियोऐक्टिव समस्थानिक (द्रव्यमान संख्या ११३, १२१, १२३ और १२५) भी निर्मित हुए हैं।

वंग की मिश्रधातु का उपयोग आज से ५,००० वर्ष पूर्व भी होता था। वंग धातु की बनी सबसे प्राचीन बोतल मिस्र की स्थित समाधि में पाई गई, जो लगभग ईसा से १,५०० वर्ष पूर्व काल की है। वंग के अयस्क मिस्र में नहीं मिलते। इस कारण वहाँ यह धातु अवश्य ही बाहर से आई होगी। ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व इंग्लैंड में वंग के धातुकर्म के नमूने मिलते हैं। यहाँ वंग की खानें थीं। उस समय यह धातु रोम में जाती थी। दक्षिणी अमरीका के आदिवासियों को वंग की मिश्रधातुओं का ज्ञान था।

भारत में सिंधु घाटी की सभ्यता के काल के प्राप्त धातु पदार्थों में वंग पाया गया है। ऐसा अनुमान है कि उस समय वंग ईरान से आता था। ईसा से पाँच शताब्दी पूर्व आयुर्वेद काल में सुश्रुत में त्रपु (वंग) तथा वाग्भट्ट के अष्टांगहृदयम् में भी वंग के यौगिक का वर्णन आया है। रसरत्नसमुच्चय में वंग धातु तथा वंग भस्म दोनों के गुणों की विवेचना की गई है।

उपस्थिति — वंग मुक्त अवस्था में प्राप्त नहीं है। पृथ्वी की सतह पर इसकी मात्रा लगभग ४० ग्राम प्रति टन है। इसके प्रमुख अयस्क हैं : कैसिटेराइट, वंऔ$_2$ (SnO_2), और सल्फाइड। मलयेशिया, थाइलैंड, इंडोनेशिया, कांगो, नाइजीरिया तथा बोलिविया में वंग की मुख्य खानें हैं।

धातुकर्म — वंग के अयस्क में प्राय. १ से ५ प्रति शत टिन ऑक्साइड वं औ$_2$ (SnO_2) उपस्थित रहता है। इस कारण इसे सांद्रित करना आवश्यक है। उच्च घनत्व तथा अचुंबकीय गुणों के द्वारा ही कैसिटेराइट का सांद्रण करते हैं। सांद्रित अयस्क को कोयले से मिश्रित कर परावर्तनी (reverberatory) अथवा वात्या (blast) भट्ठी में रखकर अपचयन (reduction) करने से वंग धातु प्राप्त होती है। अशुद्ध वंग के विशुद्ध करने की अनेक विधियाँ हैं।

गुणधर्म — वंग श्वेत रंग की कोमल तन्य (ductile) धातु है। इसके तार सरलता से खींचे जा सकते हैं, परंतु वंग की चादर मोड़ने पर कटकटाने की ध्वनि होती है, जिसे "वंग की चिल्लाहट" कहते हैं। धातु के दो अपररूपी रूपांतरण (allotropic modifications) हैं। सामान्य अवस्था में यह श्वेत रंग की धातु है, परंतु यदि वंग को अधिक काल तक १३° सें० ताप से नीचे रखा जाय, तो यह भुरभुरा एवं भूरे रंग के चूर्ण में परिवर्तित होकर वंग का दूसरा अपररूप बनाता है, जो निम्न ताप पर स्थायी है।

वंग के कुछ भौतिक स्थिरांक ये हैं : संकेत वं (Sn), परमाणु संख्या ५०, परमाणु भार ११८·६९, गलनांक २३१·९° सें०, क्वथनांक २,२७२° सें०, घनत्व ७·३१ ग्राम प्रति घन सेमी०, परमाणु व्यास ३·१६ ऐंग्स्ट्रॉम, विद्युत् प्रतिरोधकता ११·५ माइक्रोओम-सेंमी० तथा आयनन विभव (ionization potential) ७·३ इवो (ev.)।

सामान्य ताप पर वंग वायु द्वारा प्रभावित नहीं होता, परंतु उच्च ताप पर उसपर ऑक्साइड की परत जम जाती है। श्वेत ताप पर वंग वायु में जल कर डाइऑक्साइड, वंऔ$_2$ (SnO_2) बनाता है। यह तप्त अवस्था में पीले रंग का और सामान्य ताप पर श्वेत रंग का पदार्थ है। वंग तनु अम्लों में धीरे धीरे घुलकर स्टैनस, वं$^{++}$(Sn^{++}), यौगिक बनाता है और हाइड्रोजन मुक्त करता है। धातु पर सांद्र नाइट्रिक अम्ल की अभिक्रिया द्वारा जलयुक्त स्टैनिक ऑक्साइड, अथवा मेटास्टैनिक अम्ल (metastannie acid) बनता है। वंग क्षारीय विलयन में घुलकर स्टैनेट बनाता है, जिसके फलस्वरूप हाइड्रोजन मुक्त हो जाता है।

यौगिक — वंग के दो प्रकार के यौगिक ज्ञात हैं : एक स्टैनस, जिसमें वंग की संयोजकता २ है और दूसरा स्टैनिक, जिसमें वंग की संयोजकता चार रहती है। इसके दो ऑक्साइड, स्टैनस ऑक्साइड, वं औ (SnO), और स्टैनिक ऑक्साइड, वंऔ$_2$ (SnO_2), होते हैं। गंधक के साथ वंग को गरम करने से स्टैनस सल्फाइड, वंगं (SnS) प्राप्त होता है। स्टैनिक सल्फाइड वंगं$_2$ (SnS_2) भी बनता है।

हैलोजन के साथ वंग स्टैनस हैलाइड और स्टैनिक हैलाइड बनाता है। वंग के क्लोराइड रंगबंधक के रूप में रेशम रंगने में काम आते हैं। यह नाइट्रोजन, हाइड्रोजन और फ़ॉस्फोरस के साथ भी यौगिक बनाता है। इसके नाइट्रेट और फ़ॉस्फ़ेट अस्थायी होते हैं। क्लोरोस्टैनिक अम्ल का अमोनियम लवण, (ना हा$_4$)$_2$ वंक्लो$_6$ [$(NH_4)_2 SnCl_6$] रेशम रँगने में काम आता है।

वंग अनेक उपसहसंयोजकता (coordinate) यौगिक बनाता है।

उपयोग — वंग मुलम्मा करने और मिश्रधातुओं के निर्माण में काम आता है। लोहे पर वंग से कलई करने पर उसपर न मुरचा ही लगता और न अम्लों का जल्दी असर पड़ता है। काँसा इसकी महत्व की मिश्रधातु है। खाद्य पदार्थों के डिब्बों में वंग की कलई करने से वे जल्द आक्रांत नहीं होते। वंग के अनेक यौगिक वस्त्र उद्योग, रँगाई, काँच एवं चीनी मिट्टी के पात्र के उद्योगों में काम आते हैं।

[र० चं० क०]

वंगभंग १९०३ में कांग्रेस का १९वाँ अधिवेशन मद्रास में हुआ था। उसी अवसर पर, उसके सभापति श्री लालमोहन घोष ने अपने अभिभाषण में सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति की आलोचना करते हुए एक अखिल भारतीय मंच पर आसन्न वंगभंग की सूचना दी। उन्होंने कहा कि इस प्रकार का एक षड्यंत्र चल रहा है।

कांग्रेस के अगले अधिवेशन में सभापति पद से बोलते हुए सर

हेनरी कॉटन ने भी यह कहा कि यदि यह बहाना है कि इतने बड़े प्रांत को एक राज्यपाल सँभाल नहीं सकता तो या तो बंबई और मद्रास की तरह बंगाल का शासनसूत्र सपरिषद् राज्यपाल के सिपुर्द हो या बँगला भाषियों को अलग करके एक प्रांत बनाया जाए। उन दिनों बंगाल प्रांत में बिहार और उड़ीसा भी शामिल थे।

पर ब्रिटिश सरकार ने न तो कांग्रेस की परवाह की, न जनमत की। उस समय के वायसराय और गवर्नर जनरल लार्ड कर्जन ने लैंड होल्डर्स एसोसिएशन या जमींदार सभा में लोगों को यह समझाने की चेष्टा की कि बंगभंग से लाभ ही होगा। वह स्वयं पूर्व बंगाल में भी गए, पर मुट्ठी भर मुसलमानों के अतिरिक्त किसी ने इस प्रस्ताव का समर्थन नहीं किया। मुसलमानों में प्रतिष्ठित ढाका के तत्कालीन नवाब ने भी प्रथम आवेश में इसका विरोध किया था।

प्रबल सार्वजनिक विरोध के बावजूद २० जुलाई, १९०५ को बंगभंग के प्रस्ताव पर भारत सचिव का ठप्पा लग गया। राजशाही, ढाका तथा चटगाँव कमिश्नरियों को आसाम के साथ मिला कर एक प्रांत बनाया गया, जिसका नाम पूर्वबंग और आसाम रखा गया और बाकी हिस्सा यानी प्रेसीडेन्सी और वर्धमान कमिश्नरियाँ बिहार, उड़ीसा और छोटा नागपुर मिलाकर बंगाल नाम का प्रांत बनाया गया। यह विभाजन बिल्कुल मनमाना था और इसका कोई आधार नहीं था।

इस अवसर पर हिंदुओं और मुसलमानों को यह कहकर लड़ाने की चेष्टा की गई कि इस विभाजन से मुसलमानों को फायदा है क्योंकि पूर्वबंग और आसाम में उन्हीं का बहुमत रहेगा। ढाका के नवाब ने पहले विरोध किया था, पर जब बंगभंग हो गया तो वह उसके पक्ष में हो गए। सर जोजेफ बैमफील्ड फुलर (Joseph Bamfylde Fuller) पूर्वबंग और आसाम के नए लेफ्टिनेंट गवर्नर बने। कहा जाता है, उन्होंने कई जगह खुल्लमखुल्ला कहा कि हिंदू और मुसलमान उनकी दो बीबियाँ हैं, इनमें से मुसलमान उनकी चहेती हैं। इस कथन का आशय स्पष्ट था।

बंगभंग का उद्देश्य प्रशासन की सुविधा उत्पन्न करना नहीं था, जैसा दावा किया गया था, बल्कि इसके दो स्पष्ट उद्देश्य थे, एक हिंदू मुसलमान को लड़ाना और दूसरे नवजाग्रत बंगाल को चोट पहुँचाना। यदि गहराई से देखा जाए तो यहीं से पाकिस्तान का बीजारोपण हुआ। मुस्लिम लीग के १९०६ के अधिवेशन में जो प्रस्ताव पास हुए, उनमें से एक यह भी था कि बंगभंग मुसलमानों के लिये अच्छा है, और जो लोग इसके विरुद्ध आंदोलन करते हैं, वे गलत काम करते हैं और वे मुसलमानों को नुकसान पहुँचाते हैं। बाद को चलकर लीग के १९०८ के अधिवेशन में भी यह प्रस्ताव पारित हुआ कि कांग्रेस ने बंगभंग के विरोध का जो प्रस्ताव रखा है, वह स्वीकृति के योग्य नहीं।

बंगभंग के विरुद्ध बंगाल के बाहर बहुत भारी आंदोलन हुआ (देखिए 'स्वदेशी आंदोलन')। १९११ के १२ दिसंबर को दिल्ली में एक दरबार हुआ, जिसमें सम्राट् पंचम जार्ज, सम्राज्ञी मेरी तथा भारत सचिव लार्ड क्रू आए थे। इस दरबार के अवसर पर एक राजकीय घोषणा द्वारा पश्चिम और पूर्व बंग के बँगला भाषी इलाकों को एक प्रांत में लाने का आदेश दिया गया। राजधानी कलकत्ते से दिल्ली में हटा दी गई। मुस्लिम लीग का १९१२ का वार्षिक अधिवेशन नवाब सलीमुल्ला खाँ के सभापतित्व में ढाके में हुआ। इसमें नवाब साहब ने अपने अभिभाषण में हिंदुओं की शोरिशों और सरकार की बेमुरव्वतियों का बड़ा जोरदार चित्र खींचा और बंगभंग रद्द करने का विरोध प्रकट किया।

सं० ग्रं० — पट्टाभि सीतारमैया : द हिस्ट्री ऑव द कांग्रेस (अंग्रेजी); योगेशचंद्र बागल मुक्तिसंधाने भारत (बंगला)

[भ० गु०]

वक्फ (Wakf) के शाब्दिक अर्थ हैं प्रतिबंध। विधि के क्षेत्र में भारत में इस शब्द की परिभाषा भारतीय वक्फ विधि १९१३ की धारा २ में दी गई है। उसके अनुसार किसी मुस्लिम धर्म के अनुयायी द्वारा मुस्लिम विधि द्वारा मान्य धार्मिक, पवित्र या धर्मादा विषय के लिये संपत्ति के स्थायी अनुदान को वक्फ कहते हैं। किंतु यह परिभाषा उस विधि के विषय तक ही सीमित है, सर्वग्राही नहीं। सामान्य रूप से वक्फ की मान्यता के लिये तीन वस्तुएँ आवश्यक हैं। एक, प्रेरणा धार्मिक हो; दो, अनुदान स्थायी हो; तीन, अनुदान का उपयोग मानवकल्याण के लिये हो।

कुरान में वक्फ के निमित्त कोई उल्लेख नहीं है। इसकी उत्पत्ति-परंपरा ('हदीस') से है। कथा इस प्रकार है : उमर ने खैबर के प्रदेश में कुछ भूमि प्राप्त की और पैगंबर के पास जाकर इस भूमि के सर्वोत्तम उपयोग के लिये संमति माँगी। इसपर पैगंबर ने कहा—संपत्ति पर बंधन लगा दो और उसका भोग मानव मात्र के निमित्त कर दो और न तो उसका—संपत्ति का—क्रय होगा, न दान, न दाय, और उसकी उपज को संतान के लिये, संबंधियों के लिये, निर्धनों के लिये एवं ईश्वर के कार्य के लिये व्यय करो। उमर ने इसी नियम के अनुसार संपत्ति का उपयोग किया और वह वक्फ शताब्दियों तक चलता रहा जब तक वह भूमि अनुपयोगी न हो गई। यह कथा गैत-उल-बयान में दी है और अमीर अली ने भी अपनी पुस्तक में इसका उल्लेख किया है। यह कथा ही है वक्फ संस्था की आधारभूत शिला। इसी पर कालांतर में भिन्न भिन्न विधिविशेषज्ञों ने अपने विचारों का निर्माण किया। मिस्र की संसद् ने १९४६ में वक्फ के विषय में कुछ नियम बनाए और १९५२ में जनता के इच्छानुसार वक्फ संस्था ही समाप्त कर दी। लेबनान ने १९४७ में वक्फ को भी अनंतोपभोग के विरुद्ध नियम के अंतर्गत विधि द्वारा कर दिया है और कोई भी वक्फ अनिश्चित अवधि तक वैध नहीं है। १९४९ में सीरिया ने वक्फ आल-अल-औलाद (पुत्रपौत्रादिक्रम) अवैध घोषित कर दिए हैं।

इन सब प्रतिबंधों की पृष्ठभूमि में है वक्फ के कारण उत्तरोत्तर आर्थिक क्षीणता की वृद्धि एवं आधुनिक आर्थिक संगठन में वक्फ की अनुपयुक्तता। इसी कारण मरक्को में १८३० में व तुर्की में १९२४ में ही इस संस्था का निर्मूलन हो गया।

वक्फ के पूर्ण होने के विषय में इमाम अबू यूसुफ व इमाम मुहम्मद में मतभेद है। अबू यूसुफ के अनुसार घोषणा होते ही वक्फ पूर्ण हो जाता है। इमाम मुहम्मद के अनुसार घोषणा के साथ ही मुतवल्ली की नियुक्ति एवं कब्जा देना भी आवश्यक है। भारत के न्यायालयों ने अबू यूसुफ के मत को प्रधानता दी है।

लिया इसना आशारी मजहब के अनुसार भी कब्जा देना आवश्यक है।

भारतीय रजिस्ट्रीकरण ऐक्ट के अनुसार यदि वक्फ की संपत्ति का मूल्य १०० रुपए से अधिक हो तो रजिस्ट्रीकरण अनिवार्य है। वक्फ तीन वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं—सार्वजनिक, अर्ध सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत। वक्फ के मूल ये हैं—१. वक्फ का अनुदान स्थायी हो, २—अनुदान लिखित होना आवश्यक नहीं है, मौखिक भी हो सकता है, ३—चिरकाल से होता आया उपयोग भी वक्फ-निर्माण के लिये पर्याप्त है, ४—वक्फ की निर्मिति वसीयत द्वारा भी हो सकती है, ५—कोई भी मुस्लिम संपत्ति वक्फ कर सकता है।

प्रारंभ में यह नियम था कि केवल स्थावर संपत्ति ही वक्फ की जा सकती है। किंतु कुछ काल पश्चात् विधिनिष्णातों ने यह नियम बनाया कि वे वस्तुएँ जो व्यवहार से क्षीण नहीं होती हैं वक्फ की जा सकती हैं। अतएव पढ़ने के लिये कुरान या कंपनी का अंश आदि भी वक्फ की संपत्ति हो सकती है। किंतु यदि संपत्ति संदिग्ध रूप से उल्लिखित हो तो उसका वक्फ अवैध होगा।

भारतीय वक्फ विधि के अनुसार, वक्फ के निमित्त को मुस्लिम धर्मानुसार धार्मिक, पवित्र या जनहिताय होना अनिवार्य है। निमित्त यदि अस्पष्ट हो तो वक्फ अनुचित होगा। इस विषय पर मतभेद है कि स्पष्टता व निश्चिति के अंग्रेजी विधि के सिद्धांत भारत में अपनाए जाने चाहिए या नहीं। अमीर अली व तैयबजी प्रभृति लेखकों का मत है कि विदेशी सिद्धांत लागू नहीं किए जाने चाहिए। उनके अनुसार यदि वक्फ निर्माण का आशय स्पष्ट व सुनिश्चित है तो निमित्त अनिश्चित होने पर भी वक्फ उचित होगा।

वक्फ के अंतर्गत कृपापात्र कौन हो सकते हैं, इस विषय पर भी मतैक्य नहीं है। मुस्लिम विधि के अनुसार धनी व निर्धन सभी कृपापात्र (मौकूफ़ अलेही) हो सकते हैं। किंतु केवल हनफी वाकिफ़ ही स्वयं के लाभ के लिये प्रबंध कर सकता है, अन्य मतावलंबी नहीं। इस मतभेद के पृष्ठ में है, अबू हनीफा का विचार कि अनुदान के उपरांत भी वाकिफ का अधिकार विनष्ट नहीं होता।

वक्फ़ अल-अल-औलाद (परिवार हेतु अनुदान) न्यायालयों के संमुख विवाद का प्रश्न रहा है। प्रिवी कौंसिल ने १८९४ में अपने निर्णय द्वारा घोषित कर दिया कि इस प्रकार के वक्फ हानिकारक एवं अधार्मिक हैं और परिणामस्वरूप अवैध हैं। इस निर्णय का मुस्लिम विधिनिष्णातों व जनसाधारण ने एक होकर न्यायाधिपति अमीर अली व मौलाना शिबली नुमानी के नेतृत्व में विरोध किया। असंतोष विस्तृत हो जाने पर भारतीय संसद् ने १९१३ में वक्फ मान्यकरण विधि द्वारा प्रिवी कौंसिल के निर्णय के विरुद्ध व्यवस्था देते हुए परिवार हेतु किए गए वक्फ को वैध घोषित कर दिया। धारा ३ (अ) के अंतर्गत वाकिफ के परिवार अथवा संतति के निर्वाह या आधार के निमित्त वक्फ की संपत्ति का पूर्ण या आंशिक व्यय वैध है।

१९२२ में प्रिवी कौंसिल ने अपने निर्णय में कहा कि वक्फ मान्यकरण विधि १९१३ भूतलक्षी नहीं है, अतएव १९१३ के पूर्व के पारिवारिक वक्फ अब भी अवैध हैं। इस कमी को दूर करने के उद्देश्य से १९३० में विधि द्वारा १९१३ की विधि को भूतलक्षी बना दिया गया।

वक्फ निर्माण के पश्चात् प्रश्न उठता है उसके सुचारु शासन का। वक्फ की संपत्ति की रक्षा एवं वक्फ के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उत्तरदायी मुतवल्ली होता है। मुतवल्ली व न्यासी के कार्य व अधिकारों में भिन्नता है। उसकी न्यासिता को तौलियत कहते हैं।

साधारणतया वाकिफ स्वयं मुतवल्ली के पद के उत्तराधिकार के विषय में नियम वक्फनामा में लिख देता है। यदि ऐसा न हुआ हो तो वाकिफ अपने जीवन काल में मुतवल्ली नामित कर देता है। वाकिफ नाम निर्दिष्ट करने का अधिकार निष्पादक को भी सौंप सकता है। तौलियत वंशानुगत नहीं है। प्रिवी कौंसिल ने अपने निर्णय में यह स्पष्ट कर दिया है कि स्त्रियों के इस पद पर आसीन होने पर कोई प्रतिबंध नहीं है। यदि इस पद के साथ जुड़े हुए कुछ धार्मिक कृत्य ऐसे हों जो स्त्रियाँ स्वतः या प्रतिनियुक्त द्वारा करवा सकने में असमर्थ मानी जाती हों तब स्त्री मुतवल्ली नहीं हो सकती। उदाहरणतः सज्जादमशीन खतीब, मुजावर आदि।

नियुक्ति के पश्चात् मुतवल्ली को हटाना वाकिफ की शक्ति से परे है। न्यायालय यदि चाहे तो अपकरण, शोधाक्षमता आदि किसी दोष के आधार पर हटा सकता है। मुतवल्ली का पारिश्रमिक निश्चित करने का अधिकार प्रतिष्ठापक को है। ऐसा न होने पर न्यायालय को अधिकार है कि पारिश्रमिक निश्चित कर दे किंतु यह मद वक्फ की आय के दशांश से अधिक न हो। मुतवल्ली को न्यायालय की अनुमति के बिना संपत्ति को क्रय करने का या बंधक रखने का अधिकार नहीं है यदि यह अधिकार वक्फ़नामे में प्रदत्त न हो।

१९२३ के पश्चात् कतिपय विधियों द्वारा भिन्न भिन्न राज्यों में वक्फ के शासन के लिये नियम बनाए गए हैं।

मस्जिद, खानकाह, तकिया, दरगाह, इमामबाड़ा आदि के शासनादि के नियम वक्फ से भिन्न हैं।

सं० ग्रं० — मुहम्मदन ला, तैयबजी (Muhammadan Law By Tyabji 1940); मुहम्मदन ला, भाग १, अमीर अली १९१२ मुस्लिम ला, के० पी० सक्सेना १९५५ (Muslim Law K. P. Saxena 1955); आउटलाइंस ऑव मुहम्मदन ला १९५५ ए० ए० ए० फैजी (Outlines of Muhammadan Law A. A, A. Fyzee 1955); मुहम्मदन ला - डी० एफ० मुल्ला १९५५ (Mahammadan Law, D. F. Mulla 1955); जीवनदास साहू वि० शाह कबीरुद्दीन (१८४०) २ एम० आइ० ए० ३६०; रहीमन वि० बकरीदन (१९३५) ११ लखनऊ ७३५; खलील अहमद खाँ वि० मलिका मेंहर निगार बेगम ए० आइ० आर० (१९५४) इलाहाबाद ३७३; अबुल फता मोहम्मद वि० रसमयधर चौधरी (१८९४) २२ आइ० ए० ७६; बिकनी मिया वि० सुखलाल पोद्दार आइ० एल० आर० २० कलकत्ता ११६। [श०कि० श०]

वक्र (Curve) बोलचाल की भाषा में कोई भी टेढ़ी मेढ़ी रेखा वक्र कहलाती है। गणित में, सामान्यतया, वक्र ऐसी रेखा है जिसके प्रत्येक

बिंदु पर उसकी दिशा में किसी विशेष नियम से ही परिवर्तन होता हो। यह ऐसे बिंदु का पथ है जो किसी विशेष नियम से ही विचरण करता हो। उदाहरण के लिये, यदि किसी बिंदु की दूरी एक नियत बिंदु से सदा समान रहती हो, तो बिंदुपथ एक वक्र होता है जिसे वृत्त कहते हैं। नियत बिंदु इस वृत्त का केंद्र होता है। यदि वक्र के समस्त बिंदु एक समतल में हों तो उसे समतल वक्र (Plane curve) कहते हैं, अन्यथा उसे विषमतलीय (Skew) या आकाशीय (Space) वक्र कहा जाता है। आगे वक्र से हमारा तात्पर्य समतल वक्र होगा।

प्रत्येक वक्र दो चरों के केवल एक समीकरण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। यदि किसी वक्र के कार्तीय (Cartesian), या प्रक्षेपीय निर्देशांकों को केवल एक स्वतंत्र चर, या प्राचल (parameter), के बीजीय फलनों के रूप में लिखा जा सके, तो वक्र को बीजीय वक्र कहते हैं। इस वक्र के समीकरण में केवल बीजीय फलन ही आते हैं। यदि समीकरण में अबीजीय (transcendental) फलन आते हैं, तो वक्र अबीजीय वक्र कहलाता है। विभिन्न शांकव बीजीय वक्रों के, और चक्रज (cycloid), कैटिनरी (catenary) आदि, अबीजीय वक्रों के उदाहरण हैं। वक्र प्रथम, द्वितीय, तृतीय, कोटि के कहे जाते हैं, यदि उनके समीकरणों में य (x), या र (y) के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, घात आते हों। वृत्त, दीर्घवृत्त (ellipse) परवलय (parabola), अतिपरवलय (hyperbola) द्वितीय कोटि के वक्रों के उदाहरण हैं। वक्र किसी बिंदु पर असंतत भी हो सकता है। संतत वक्रों पर विचार करते समय उन्हें बिंदुओं की एक एकल अनंती के रूप में भी लिया जा सकता है।

कोई बीजीय वक्र कहीं पर टूट नहीं सकता, या असंतत नहीं हो सकता। उसकी स्पर्श रेखाओं (tangents) की दिशाओं में अचानक ही परिवर्तन नहीं हो सकता। उसका कोई भी भाग एक सीधी रेखा नहीं हो सकता। इस प्रकार किसी बीजीय वक्र का यह एक सामान्य लक्षण है कि उसको बनानेवाले बिंदु की विभिन्न स्थितियाँ क्रमिक और संतत होती हैं और इन बिंदुओं पर खींची गई स्पर्श रेखाओं की दिशा में परिवर्तन भी क्रमिक और संतत होता है।

किसी बिंदु पर वक्र की वक्रता उस बिंदु पर वक्र की दिशा में परिवर्तन की मात्रा होती है। यदि चित्र १. में ब (P) पर वक्र की
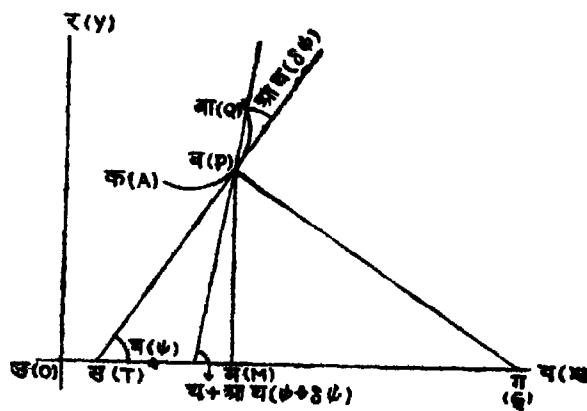
चित्र १.

स्पर्श रेखा य (X) अक्ष से थ (ψ) कोण बनाती हो, बा (Q) अत्यंत समीप पर दूसरा बिंदु हो जिससे ब बा = आच (PQ = δs) (किसी नियत बिंदु क (A) से ब (P) की चापीय दूरी च (s) होने पर), तो ब (P) पर वक्रता

$$\text{सीमा}_{\text{आथ}\to 0} \frac{\text{आथ}}{\text{आच}} = \frac{\text{अथ}}{\text{अच}} \quad \left[\lim_{\delta\psi\to 0}\frac{\delta\psi}{\delta s} = \frac{d\psi}{ds}\right]$$

कही जाएगी। आथ ($\delta\psi$) को वक्रताकोण कहते हैं। यदि ब (य, र) { P (x, y) } पर वक्र की स्पर्श रेखा और अभिलंब य (X) अक्ष को स (T) और ग (G) पर काटे, तो ब स (PT) और ब ग (PG) क्रमश: इन दोनों की लंबाइयाँ कही जाती हैं। य (X) अक्ष पर ब स (P T) के प्रक्षेप स म (T M) को अध:-स्पर्शी (subtangent) और ब ग (P G) के प्रक्षेप मग (MG) को अधोलंब कहते हैं।

कार्तीय निर्देशांक दिए रहने पर इन चारों की लंबाइयाँ क्रमश:

$$\text{र}\sqrt{१+\left(\frac{\text{अर}}{\text{अय}}\right)^{२}} \Big/ \frac{\text{अर}}{\text{अय}},\ \text{र}\sqrt{१+\left(\frac{\text{अर}}{\text{अय}}\right)^{२}}$$

$$\text{र} \Big/ \frac{\text{अर}}{\text{अय}} \text{ और } \text{र}\frac{\text{अर}}{\text{अय}}$$

$$\left[\frac{y\sqrt{1+y_1^2}}{y_1},\ y\sqrt{1+y_1^2},\ y/y_1 \text{ और } y\,y_1\right]$$ है। यदि कोई स्पर्श रेखा वक्र की किसी शाखा को मूल से अनंत दूरी पर स्पर्श करती हो, तो उसे अनंतस्पर्शी (Asmyptote) कहते हैं। उदाहरण के लिये, फोलियम (folium), अनंतस्पर्शी (asmypote), य + र + क = ० ($x+y+a=0$) युक्त वक्र है (चित्र २.)। यदि वक्र में कोई ऐसा बिंदु हो, जहाँ पर स्पर्श रेखा निश्चित और अद्वितीय न हो, तो ऐसा बिंदु विचित्र बिंदु
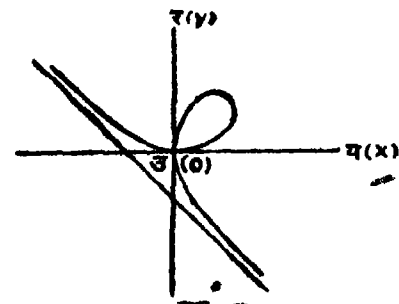
चित्र २.

(Singular point) कहलाता है। दूसरे शब्दों में ऐसे बिंदु के समीप कोई विचित्रता, या विशेषता अवश्य होती है। यदि बिंदु पर वक्र उत्तल से अवतल, या इसका उल्टा, हो रहा हो, अर्थात् ऐसे बिंदु पर वक्र का कुछ भाग स्पर्श रेखा के एक ओर तथा कुछ भाग दूसरी ओर हो (चित्र ३.), तो बिंदु को नतिपरिवर्तन बिंदु (Point of inflexion) कहते हैं। यदि किसी बिंदु से वक्र की एक से अधिक शाखाएँ गुजरती हों, तो बिंदु को बहुल बिंदु (Multiple point) कहते हैं और यदि वक्र की दो शाखाएँ गुजरती हैं, तो इसे द्विक् (double) बिंदु, तीन शाखा गुजरती हैं तो त्रिक् (triple) बिंदु (चित्र ४.), इत्यादि कहा जाता है। यदि किसी ऐसे बिंदु पर स्पर्श रेखाएँ वास्तविक और अलग अलग हों, तो बिंदु को नोड (Node)

कहते हैं (चित्र ५.) और यदि अलग अलग न हों, तो बिंदु को कस्प (Cusp) कहते हैं (चित्र ६.) ।

चित्र ३. चित्र ४.
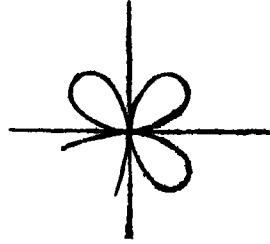
न (n) घात के किसी वक्र के द्विक् बिंदुओं आदि की अधिकतम संख्या $\frac{1}{2}$ (न – १) (न – २), [$\frac{1}{2}$ (n – 1) (n – $\frac{1}{2}$)] हो सकती हैं। वक्र में किसी बिंदु से खींची जा सकनेवाली स्पर्श रेखाओं की

चित्र ५. चित्र ६.

संख्या न' = न (न – १), [n' = n (n – 1)], नोडों की संख्या द (δ), कस्पों की संख्या क (k), द्विक् स्पर्श रेखाओं की संख्या द' (δ') और नतिपरिवर्तनों की संख्या क' (k') हो, तो समीकरणों के द्वारा इन छह राशियो में परस्पर संबंध स्थापित किए जा सकते हैं। इनमें से कोई भी तीन, शेष तीन के पदो में व्यक्त हो सकते हैं उदाहारणार्थ,

न' = न(न–१) – २द–३ क, [$n' = n(n-1) - 2\delta - 3k$]

क' = ३न(न–२)–६द–८क, [$k' = 3n(n-2) - 6\delta - 8k$]

क' – क = [३(न' – न)], [$k' - k = 3(n' - n)$]

२(द' – द) = (न' – न)(न' + न – ९), [$2(\delta' - \delta) = (n' - n)(n' + n - 9)$]

इत्यादि इत्यादि। इनको प्लकर (Plucker) समीकरण कहते हैं।

म (m) और न (n) घातों के दो वक्रों के उभयनिष्ठ बिंदुओं की संख्या मन (mn) होती है और प्रत्येक बिंदु दोनों वक्रों के समीकरणों को संतुष्ट करता है। वक्र का समीकरण दिए रहने पर वक्र का अनुरेखन संभव होता है। चरों के ऐसे संगत मान ज्ञात करके, जिनसे समीकरण संतुष्ट हो जाय, उन अनेक बिंदुओं का पता लग सकता है जिनसे वक्र गुजरता है। इन बिंदुओ को जोड़ने पर वक्र की एक मोटी रूपरेखा का पता लग जाता है। फिर भी कुछ ऐसी बातें होती हैं, जिनसे उसके आकार प्रकार, लक्षण, स्वरूप आदि जानने में आसानी हो जाती है, जैसे :

(क) सममिति (Symmetry) — यदि वक्र के समीकरण में र (y) का कोई विषमघात नहीं है, तो वक्र ब – अक्ष (X-axis) के प्रति सममित होगा।' यदि ब (x) का कोई विषघात नहीं है, तो वक्र र – अक्ष (Y-axis) के प्रति सममित होगा, तथा ब (x) और र (y) दोनों का कोई विषमघात नहीं है, तो वक्र दोनों अक्षों के प्रति सममित होगा। यदि ब (x) और र (y) को क्रमश: –ब(–x) और –र (–y) रखने से समीकरण में कोई अंतर नहीं पड़ता है, तो वक्र संमुख चतुर्थांशों में सममित होगा। य (x) और र (y) के विनिमय से समीकरण यदि अपरिवर्तित रहता है, तो वक्र र = ब (y = x) रेखा के प्रति सममित होगा। ध्रुवी समीकरण में ठ (θ) को –ठ (θ) रखने से यदि कोई अंतर नहीं पड़ता है, तो वक्र आदि रेखा के प्रति सममित होगा। यदि र (r) का कोई विषमघात नहीं है, तो वक्र मूल के प्रति सममित होगा और ध्रुव एक केंद्र होगा।

(ख) अनंतस्पर्शी — इनकी संख्या और वक्र के सापेक्ष इनकी स्थिति।

(ग) वक्र के नतिपरिवर्तन बिंदु, बहुल बिंदु, कस्प, नोड आदि तथा इनकी संख्या और स्वरूप।

(घ) वक्र और अक्ष जहाँ कटते हैं, उन बिंदुओं पर वक्र की स्थिति और स्पर्श रेखाओं की दिशा आदि।

(च) मूल परस्पर्शी, वक्र के सापेक्ष उसकी स्थिति, विचित्रता आदि, यदि वक्र मूल से गुजरता हो।

(छ) वक्र की सीमाएँ। [फ़० ला० श०]

वचनेश मिश्र का जन्म वैशाख शुक्ल ४, सं० १६३२ वि० को फर्रुखाबाद में हुआ था। इनके पूर्वज पहले जिला हरदोई के नौगाँव (सुठिआएँ) में रहते थे पर बाद में फर्रुखाबाद चले आए थे। पुत्तूलाल वचनेश के पिता, मुन्नालाल पितामह, ठाकुरदास प्रपितामह और बद्रीप्रसाद वृद्ध प्रपितामह थे। चूँकि वचनेश अपने माता-पिता के एकमात्र पुत्र थे, इस कारण उनका लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार के साथ किया गया। जब वे फारसी पढ़ रहे थे तब उनकी भेंट स्वामी दयानंद सरस्वती से हुई। स्वामी जी से प्रेरणा पाकर वचनेश ने फारसी छोड़ हिंदी संस्कृत को अपने अध्ययन का विषय बनाया। कुछ समय बाद 'ब्रजविलास' पढ़ना आरंभ किया। बाद में उससे प्रेरित हो वे भजनों का निर्माण करने लगे।

नौ वर्ष की उम्र में उनका विवाह हुआ। १० वर्ष की उम्र से ही ये स्थानीय कविसभा में भाग लेने लगे। इसके बाद उन्होंने 'भारत हितैषी' (सन् १८८७ ई० आरंभ) नामक मासिक पत्र निकाला। फतेहगढ़ से निकलनेवाले पत्र 'कवि चित्रकार' की समस्या पूर्तियाँ भी वे करने लगे, जिसके संपादक कुंदनलाल से उन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन भी मिला था। कालाकाकर के राजा रामपाल सिंह के अनुरोध से 'हिंदोस्थान' में भी वे अपनी रचनाएँ भेजने लगे। राजा रामपालसिंह के बुलाने पर १६ वर्ष की अवस्था (सन् १८९१ ई०) में वचनेश जी कालाकांकर चले गए और राजा साहब को पिंगल पढ़ाने लगे। 'हिंदोस्थान' के सपादक रूप में अब वे संपादकीय लेख और टिप्पणियाँ भी लिखने लगे। अब तक उनकी 'भारती-भूषण' और 'भर्तृहरि निर्वेद' संज्ञक कृतियाँ निकल चुकी थीं। उन्होंने कालाकांकर में 'कान्यकुब्ज-सभा', 'कविसमाज', 'नाटक मंडली', 'धनुषयज्ञ लीला' और 'रामलीला' जैसी कई संस्थाओं की स्थापना कर उनमें खेले जाने के लिये अनेक नाटकों की रचना भी की थी।

कुछ दिनों बाद वचनेश जी सन् १९०८ ई० में राजा रामपालसिंह से रूठकर फर्रुखाबाद चले आए। वहाँ आकर उन्होंने शिवप्रसाद मिश्र और लालमणि भट्टाचार्य वकील के साझे में 'आनंद प्रेस' स्थापित किया जिसमें अंततोगत्वा उन्हें भारी आर्थिक हानि उठानी पड़ी। इसी प्रेस में उनकी 'अनन्य प्रकाश' और 'अष्टांग व्यवस्था' नामक कृतियाँ प्रकाशित हुई थीं।

इसी बीच वचनेश जी 'नागरीप्रचारिणी सभा' काशी द्वारा 'हिंदी-शब्दसागर' के संपादन के लिये आमंत्रित किए गए। उन्हें काव्य ग्रंथों से शब्द चुनने एवं उनके अर्थ लिखने का काम सौंपा गया। तीन मास काम करने के बाद वे अस्वस्थ हो गए और बाद में स्वस्थ होकर कालाकांकर नरेश राजा रामपालसिंह के निधन के बाद उनके उत्तराधिकारी राजा रमेशसिंह के बुलाने पर पुन. कालाकांकर चले गए। वे अब निश्चित रूप से वहाँ रहकर पहले से ही निकलनेवाले पत्र 'सम्राट' का संपादन करने लगे।

फिर वे प्रतापगढ़ राज्य के सेक्रेटेरियट में काम करने लगे। पर इस नीरस काम में उनका मन न लगा और वे वहाँ से रायबरेली चले गये जहाँ 'मानस' पर हो रहे कार्य में तीन महीने तक रहकर सहायता पहुँचाई। तत्पश्चात् वे फर्रुखाबाद आए और रस्तोगी विद्यालय के प्रधानाध्यापक बने।

वचनेश जी फर्रुखाबाद से 'रसिक' नामक पत्र मार्च, १९२४ ई० से निकाल रहे थे, पर बाद में गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के आग्रह से यह पत्र 'सुकवि' में संमिलित कर लिया गया। अब 'सुकवि' में उनकी कविताएँ निकलने लगीं। इसके बाद राजा रमेशसिंह के पुत्र अवधेशसिंह फिर साग्रह उन्हें कालाकांकर लिवा ले गए। उन्होंने वहाँ 'दरिद्रनारायण' (जुलाई, १९३१ ई० से आरंभ) पत्र का संपादन किया। अवधेशसिंह की मृत्यु के बाद वे फिर फर्रुखाबाद आ गए और तब से अंत तक यहीं रहे। सन् १९५८ ई० में वचनेश जी गोलोकवासी हुए।

वचनेश जी उदार, शालीन, काव्यक्षेत्र में परंपरावादी, अछूतोद्धार पक्षपाती, विधवा-विवाह-समर्थक, तलाक प्रथा को प्रेम के लिये हानिकारक समझनेवाले, दहेज विरोधी और भूत प्रेत तथा शकुन-अपशकुन आदि को व्यर्थ माननेवाले थे।

चूँकि वचनेश जी ने आठ वर्ष की अवस्था से ही काव्यरचना आरंभ कर दी थी, इस कारण मृत्युकाल तक आते आते उन्होंने दर्जनों पुस्तकों का प्रणयन कर डाला था। स्वयं वचनेश जी अपने को ४७ पुस्तकों का रचयिता बतलाते थे, जिनमें कई प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त रचनाओं में 'शबरी' का स्थान काफी ऊँचा है जिसके प्रौढ़ काव्यकौशल और मनोरम भावविधान की सराहना समस्त हिंदीजगत् ने मुक्त कंठ से की है। शृंगार, हास्य, नीति और भक्ति ही उनकी सारी कविता के प्रमुख विषय थे। [रा० के० मि०]

वजही मुल्ला इनका जन्म इब्राहीम कुतुबशाह के समय में हुआ पर सन् ठीक नहीं ज्ञात है। यह समय सन् १५३४ ई० से सन् १५६० ई० तक है। वजही अल्पावस्था ही से शेर कहने लगे थे, पर इनकी प्रसिद्धि इस बात से है कि कविता के साथ साथ दक्खिनी गद्य भी खूब लिखते थे। वजही की दो रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं—कुतुब मुश्तरी तथा सबरस। 'कुतुब मुश्तरी'' मसनवी में सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुबशाह की प्रशंसा के साथ जहाँ अन्य बातें लिखी गई हैं वहाँ सुल्तान के प्रेम का आख्यान भी बड़े आकर्षक ढंग से वर्णित है। यह मसनवी १०१८ हि० (सन् १६०९ ई०) में लिखी गई; जैसा इस रचना के एक शेर से ज्ञात होता है। इसमें दो सहस्र शेर हैं और इससे उस समय की सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था का अच्छा अनुमान होता है। दूसरी पुस्तक ''सबरस'' दक्खिनी उर्दू गद्य का उत्कृष्ट नमूना है, जिसे 'किस्सए हुस्नो दिल'' भी कहते हैं। इसमें सूफी सिद्धांतों तथा मनुष्य की प्रवृत्तियों का संघर्ष पशुओं के किस्से-कहानियों के रूप में बड़े सुंदर ढंग से प्रदर्शित किया गया है। उर्दू भाषा में स्यात् भावप्रधान वर्णन की यही पहली तथा उत्कृष्टतम रचना है। यह प्रकाशित हो चुकी है तथा कई विश्वविद्यालयों को उर्दू एम० ए० कक्षा के पाठ्यक्रम में भी है। उर्दू के प्रसिद्ध आलोचक नसीरुद्दीन हाशिमी की संमति है कि यह पुस्तक पहले वजीहुद्दीन गुजराती द्वारा फारसी के कुछ किस्से संगृहीत कर रची गई थी, जिसे वजही ने पुन: सरल करके लिखा है, किंतु कुछ अन्य आलोचकों का मत है कि यह मूलतः वजही की कृति है। [र० ज०]

वज्जिका (भाषा और साहित्य) वज्जिका उत्तर बिहार के उस क्षेत्र की भाषा है जहाँ भगवान् महावीर और बुद्ध की जन्मभूमि एवं कर्मभूमि थी तथा प्रथम गणतंत्रात्मक वज्जिसंघ का राज्य था। अत: वज्जिका की प्राचीनता एवं गरिमा वैशाली गणतंत्र के साथ जुड़ी हुई है और शायद इसका पतन भी वैशाली के पतन के साथ ही साथ हो गया। यह भाषा लोककंठ में ही जीवित रही है, लिखित साहित्य के रूप में नहीं। या ऐसा भी संभव है कि इसका लिखित साहित्य विनष्ट हो गया हो, जैसा प्राकृत अपभ्रंश के बहुतेरे ग्रंथों के साथ हुआ। वज्जिका के स्वरूप का दर्शन बौद्ध-जैन-साहित्य से लेकर संतसाहित्य तक देखा जा सकता है।

इस भाषा के स्वतंत्र अस्तित्व की ओर संकेत करनेवाले राहुल सांकृत्यायन थे, जिन्होंने अपने लेख 'मातृभाषाओं की समस्या' में भोजपुरी, मैथिली, मगही और अंगिका के साथ साथ वज्जिका को हिंदी के अंतर्गत जनपदीय भाषा के रूप में स्वीकृत किया। (पुरातत्व निबंधावली, पृ० १२, २४१) ग्रियर्सन ने कभी इसे पश्चिमी मैथिली कहा, कभी मैथिल भोजपुरी'। ग्रियर्सन ने स्थूल दृष्टि से वज्जिका के क्रियापदों में 'छ' देखकर इसे मैथिली समझ लिया। लेकिन वज्जिका और मैथिली के इस क्रियापद मे अंतर है; जैसे — आबि रहल अछि (मैथिली) अबइछी (वज्जिका) और जहाँ इस क्रियापद का प्रयोग मैथिली में भूत और वर्तमान काल में होता है वहाँ वज्जिका में केवल वर्तमान काल में ही। फिर, क्रियापदों का छयुक्त रूप से भिन्न रूप देखकर उन्होंने भोजपुरी मान लिया। लेकिन उन्हें कहाँ पता था कि भोजपुरी भाषा में बहुवचनबोधक चिह्न या प्रत्यय नि, न, न्ह होते हैं परंतु वज्जिका में नि के स्थान पर 'नी' का प्रयोग होता है तथा अन्य दोनों चिह्न एकदम नहीं पाए जाते। फिर वे आगे लिखते हैं — 'मैंने सेवेन ग्रामर्स ऑव दि बिहारी लैंग्वेजेज, भाग दो में इसे भोजपुरी का एक भेद बताया था, किंतु वर्तमान सर्वेक्षण में इसे मैथिली की विभाषा इसलिए बता रहा हूँ कि जिस क्षेत्र में वह बोली जाती है वह ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन मिथिला राज्य के अंतर्गत है।'

डॉ० जयकांत मिश्र और डॉ० उदयनारायण तिवारी ने क्रमश. मैथिली और भोजपुरी में चार चार रूपों को स्वीकार किया है— अतिह्रस्व, ह्रस्व, अतिदीर्घ, दीर्घ; जैसे घोर, घोरा, घोरवा और घोरउमा। लेकिन वज्जिका में अतिह्रस्व और अतिदीर्घ दोनों ही रूप नहीं पाए जाते। इस प्रकार इस भाषा की प्रकृति परवर्ती भाषाओं के साथ कुछ मेल खाते हुए भी एकदम भिन्न है। इस भाषा के स्वतंत्र अस्तित्व और सत्ता को स्वीकार करते हुए जगदीशचंद्र माथुर और गणेश चौबे ने तो यहाँ तक कहा है कि थारू भाषा भी वज्जिका ही है। डॉ० सियाराम तिवारी के अनुसार वज्जिका क्षेत्र के उत्तर में नेपाल, दक्षिण में गंगा नदी, पश्चिम में सारण और चंपारण के भाग और पूर्व में दरभंगा जिला है।

इस भाषा में गयाधर, हलदर दास, मँगनीराम आदि की कुछ रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जहाँ से वज्जिका भाषा का साहित्य प्रारंभ होता है। गयाधर का रचनाकाल १०४५ ई० माना जाता है। ये वैशाली के रहनेवाले थे और बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ तिब्बत गए थे। इनकी कोई ठोस रचना अभी नहीं मिली है। हलधर दास का समय १५६५ ई० ठहरता है, जिनका लिखा हुआ एक खंडकाव्य सुदामाचरित्र प्राप्त है, जो संपूर्ण वज्जिका में लिखा गया है। कहा जाता है इन्होंने बहुत सी रचनाएँ वज्जिका में की थीं। लेकिन अभी और कोई रचना इनकी मिली नहीं है। मँगनीराम का जीवनकाल १८१५ ई० के आसपास माना जाता है जिनकी तीन पुस्तकें — मँगनीराम की साखी, रामसागर पोथी और अनमोल रतन — मिली हैं। इनके अलावा इनके भजन और साखी जनता में प्रचलित हैं, जिनका संकलन संपादन अभी नहीं हो पाया है।

वज्जिका भाषा के साहित्य का दूसरा अध्याय २०वीं शताब्दी से शुरू होता है। इस काल में बहुत सी रचनाएँ साहित्य के विभिन्न अंगों पर लिखी गई हैं और लिखी जा रही हैं। रामसंजीवन सिंह द्वारा लिखित बुद्ध वैशालिक वज्जिका भाषा का सरस एवं सफल काव्य है, जो वज्जिका भाषा की काव्यात्मकता की सफलता का द्योतक है। डा० अजितनारायण सिंह तोमर का कहानी संग्रह — 'पच्छन के परमाण की' वज्जिका भाषासाहित्य की कहानी विधा को गौरवान्वित करता है।

सं० ग्रं० — पुरातत्व निबंधावली : राहुल सांकृत्यायन; Linguistic Survey of India Gr. Vol V, Part II [अ० गु०]

वज्रेश्वरी बौद्धों की देवी है, जिसे वज्रयोगिनी अथवा वज्रबाई भी कहा गया है। आजकल नेपाल में इसकी पूजा की जाती है। कोटेश्वरी, भुवनेश्वरी, वत्सलेश्वरी और गुह्येश्वरी आदि प्राचीन देवियों के साथ इसका उल्लेख है। आगे चलकर इसका बिगड़ा हुआ रूप व्रजेश्वरी हो गया। जालंधर पीठ में व्रजेश्वरी का मंदिर है। पौराणिक मान्यता के अनुसार शिव जी ने सती के मृत शरीर को लेकर जब तांडव नृत्य किया तो उनका शव ८४ खंडों में बिखरकर धरती पर गिरा। जालंधर में उनका स्तनभाग गिरा था, यही स्तनपीठ की व्रजेश्वरी देवी कही जाती है। कहते हैं, जालंधर दैत्य का वध करने के कारण शिव पाप से ग्रस्त हो गए थे और जब जालंधर पीठ में आकर उन्होंने तारा देवी की उपासना की तब उनका पाप दूर हुआ। वैसे यहाँ की अधिष्ठात्री देवी त्रिशक्ति अर्थात् त्रिपुरा, काली और तारा हैं, लेकिन स्तन की अधिष्ठात्री व्रजेश्वरी ही मुख्य देवी है। इन्हें विद्याराज्ञी भी कहते हैं। स्तनपीठ में विद्याराज्ञी के चक्र और आद्या त्रिपुरा की पिंडी की स्थापना है।

सं० ग्रं०—हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ संप्रदाय। [ज० चं० जै०]

वत्स राजवंश वत्स देश, जिसे वत्स भूमि कहा गया है, गंगा के दक्षिण में था। इसकी राजधानी कौशांबी (वर्तमान कोसम) इलाहाबाद से ३८ मील दक्षिणपश्चिम यमुना पर स्थित थी। वत्स-देश की उत्पत्ति का संबंध काशी के चंद्रवंशी राजाओं से जोड़ा जाता है। काशी के राजा दिवोदास के पुत्र का नाम वत्स था। उसका मुख्य नाम द्युमान् था किंतु वह प्रतर्दन, ऋतुध्वज और कुवलयाश्व नामों से भी विख्यात था। ब्रह्मांड एवं वायु पुराणों में वत्स और प्रतर्दन को एक न कहकर वत्स को प्रतर्दन का पुत्र कहा गया है। वत्स ने काशी राज्य के प्रभाव में वृद्धि की और कौशांबी के समीप के प्रदेशों की विजय की, जो वत्स या वत्स भूमि के नाम से प्रसिद्ध हुए। प्रसिद्ध सम्राट् अलर्क इसी वत्स का पुत्र था। महाभारत के युद्ध में वत्स लोग पांडवों के पक्ष से लड़े थे।

शतपथ ब्राह्मण में प्रोति.कौशांबेय का नाम आता है जिसे टीकाकार हरिस्वामिन् कौशांबी का निवासी बतलाता है। यहीं वत्स राज्य की राजधानी का सर्वप्रथम उल्लेख है।

काशी के प्रभाव से पृथक् वत्सों का इतिहास कुरुवंशीय निचक्षु के समय से प्रारंभ होता है। अर्जुन के पौत्र और परीक्षित के पुत्र जनमेजय थे। जनमेजय के बाद वंशक्रम में शतानीक, अश्वमेधदत्त, अधिसीम कृष्ण और निचक्षु हुए। गंगा की बाढ़ से हस्तिनापुर के नष्ट हो जाने पर जनमेजय ने कौशांबी में अपना राज्य स्थापित किया। इस प्रकार वत्स राज्य पर पौरवभारत राजवंश का अधिकार हुआ। पुराणों में निचक्षु के बाद २३ राजाओं के नाम आते हैं। इनमें से अधिकांश हमारे लिये नाममात्र हैं। यह संभव है कि इस तालिका में कुछ नाम उन राजकुमारों के भी हों जो सिंहासन पर नहीं बैठे थे; कुछ समकालीन नरेशों को अनुवर्ती बतलाकर और उपशाखाओं के कुछ राजाओं को भी मुख्य वंश में जोड़कर तालिका में वृद्धि की गई हो।

इन राजाओं में से प्रथम, जिसके विषय में हमें कुछ निश्चित बातें ज्ञात हैं, वह पुराणों का द्वितीय शतानीक है जो परतप के नाम से भी विख्यात था। पुराणों में उसके पिता का नाम वसुदान किंतु भास के अनुसार सहस्रानीक था। उसने विदेह की एक राजकुमारी से विवाह किया था। उसने अंग के नरेश दधिवाहन की राजधानी चंपा पर आक्रमण किया था। स्पष्ट है कि शतानीक परंतप के समय में वत्स राज्य के प्रभाव और महत्व में उल्लेखनीय वृद्धि हुई थी। शतानीक का राज्यकाल ५५० ई० पू० के लगभग रखा जा सकता है। छठी शताब्दी ईसा पूर्व के सोलह महाजनपदों की तालिका में वत्स या वंस का भी नाम आता है।

इस राजवंश की सर्वोच्च उन्नति शतानीक के पुत्र उदयन के समय में हुई थी। कहा जाता है, उसका जन्म उसी दिन हुआ था जिस दिन गौतम बुद्ध का हुआ था। इतना तो निश्चित है कि वह बुद्ध का

समकालीन था और अपने समय के प्रमुख व्यक्तियों में से एक था। उसकी राजधानी कौशांबी अपनी समृद्धि के कारण उत्तरी भारत के प्रमुख नगरों में गिनी जाती थी। इसी प्रकार वत्स राज्य उत्तरी भारत के चार बड़े राज्यों में से एक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ था। उदयन के संबंध में प्रचलित अनेक अद्भुत कथाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने समकालीन समाज पर उसके व्यक्तित्व की छाप गहरी थी। कालिदास ने अपने मेघदूत में अवंति के उदयन-कथा-कोविद ग्रामवृद्धों का उल्लेख किया है।

उदयन संबंधी प्रेमकथाओं में उसकी कई रानियों के नाम मिलते हैं। ये वैवाहिक संबंध उसके राजनीतिक प्रभाव एवं कुशल नीति के परिचायक हैं। अवंति नरेश प्रद्योत की राजकन्या वासुलदत्ता (वासवदत्ता) के साथ उसके प्रणय एवं विवाह की कथा धम्मपद अट्ठकथा में दी गई है। उसकी अन्य रानियाँ थीं सामावती, कुरु के एक ब्राह्मण की पुत्री मागंदिया तथा मगध नरेश दर्शक की बहन पद्मावती। हर्षकृत प्रियदर्शिका में अंगनरेश दृढ़वर्मन् की पुत्री आरण्यका के साथ उसके विवाह का उल्लेख है। रत्नावली में वासवदत्ता की परिचारिका सागरिका के साथ उसके प्रेम की कथा है (दे० उदयन)।

उदयन के साम्राज्य की सीमाएँ ज्ञात नहीं हैं। किंतु संभवतः उसका राज्य गंगा और यमुना के दक्षिण में था और पूर्व में मगध तथा पश्चिम में अवंति से इसकी सीमाएँ मिली थीं। हर्ष की प्रियदर्शिका के अनुसार उदयन ने कलिंग की विजय करके अपने श्वसुर दृढ़वर्मन् को पुनः अंग के सिंहासन पर स्थापित किया था। कथासरित्सागर में उसकी दिग्विजय का विशद वर्णन है। किंतु इन विवरणों में ऐतिहासिक सत्य को खोज निकालना कठिन है। एक जातक कथा से प्रतीत होता है कि सुंसुमारगिरि के भग्ग (भर्ग) लोगों का राज्य भी वत्स राज्य के अधीन था।

प्रारंभ में उदयन बौद्धधर्म के विरुद्ध था। उसने नशे में क्रुद्ध होकर एक बार पिंडोल नाम के भिक्षु को उत्पीड़ित किया था किंतु बाद में पिंडोल के प्रभाव के कारण ही वह बुद्ध का अनुयायी बना।

यह स्वाभाविक था कि वत्स और अवंती के राजवंश अपनी शक्ति की स्पर्धा में परस्पर शत्रु बनें किंतु उदयन के जीवनकाल में अवंतिनरेश प्रद्योत भी वत्सराज पर आक्रमण करने का साहस न कर सका। कालांतर में, ऐसा प्रतीत होता है कि वत्स राज्य अवंति राज्य के प्रभाव में आकर उसी में मिल गया।

पुराणों में उदयन के बाद वहिनर, दंडपाणि, निरमित्र और क्षेमक के नामों के साथ वत्स के राजाओं की सूची समाप्त होती है। इन राजाओं के विषय में हमे कुछ भी ज्ञात नहीं है। इनमें से वहिनर ही संभवतः बोधिकुमार के नाम से एक जातक में और नरवाहन के नाम से कथासरित्सागर में उल्लिखित है। पुराणों के अनुसार क्षेमक के साथ वत्स के राजवंश का अंत हुआ। मगध-नरेश शिशुनाग के द्वारा अवंति राज्य की विजय के साथ ही वत्स राज्य भी मगध राज्य का अंग बन गया।

सं० ग्रं० — नगेंद्रनाथ घोष : अर्ली हिस्ट्री ऑव कौशांबी।

[ल० गो०]

वन और वनविज्ञान वन शब्द पहले सभी बिना जोती भूमि के लिये, चाहे उसमें पेड़ पौधे उगे हों या न उगे हों, प्रयुक्त होता था। आधुनिक काल में कोई भी विस्तृत क्षेत्र जो, विशाल एवं घने वृक्षों से आच्छादित हो, वन कहलाता है। वन एक समय मानव विकास में बड़ा बाधक समझा जाता था। वनों के कारण कृषि के लिये भूमि का अभाव प्रतीत होने लगा। यह यातायात में भी बाधा उपस्थित करता था तथा हिंसक जंतुओं, विशेषतः खेती को क्षतिग्रस्त करनेवाले जंतुओं, को आश्रय देनेवाला स्थल समझा जाता था। इस कारण उस समय वनों को अंधाधुंध काटकर जो लकड़ी काम की होती थी उसको काम में लाते थे और शेष को जलाकर नष्ट कर देते थे। वनों को जलाकर नष्ट करने की चाल बहुत दिनों तक रही। पीछे लोगों ने अनुभव किया कि वनों का रहना आवश्यक है और उनसे अनेक लाभ हैं। तब वनों को नष्ट होने से बचाने, उनका संरक्षण करने, नए पेड़ पौधों को लगाकर कृत्रिम रीति से वन तैयार करने का प्रयत्न शुरू हुआ और इसके फलस्वरूप 'वन विज्ञान' का विकास हुआ। आज वन विज्ञान के अंतर्गत वनों की रचना, प्रबंध, इनमें उपजनेवाले उत्पादों की उपयोगिता, उनके संरक्षण, वनोत्पादों की सतत उपलब्धि के लिये प्रबंध आदि का नियमित और वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जाता है।

विस्तार — प्राचीन काल में कुछ विशिष्ट क्षेत्रों को छोड़कर अन्य सभी स्थान वनों से आच्छादित थे। अनुमान है कि पृथ्वी के दो तिहाई भाग पर एक समय वन फैला हुआ था। आज वनों का क्षेत्र बहुत संकुचित हो गया है। एक समय जहाँ ३२ अरब एकड़ पर वन फैला हुआ था वहाँ अब वन केवल १० अरब एकड़ पर रह गया है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक १०० एकड़ भूमि में अब केवल १६ एकड़ भूमि पर वन रह गया है।

जलवायु और सघनता के आधार पर वन तीन भागों में विभाजित किए जा सकते हैं : १. विषुवतीय वन, २. उत्तर और दक्षिणी शीतोष्ण क्षेत्रीय वन और ३. ध्रुव क्षेत्रीय वन। वन वहाँ ही पनपते हैं, जहाँ की जलवायु गरम, मिट्टी उपजाऊ और वर्षा पर्याप्त होती है। ऐमेज़न घाटी और कांगो घाटी के जंगल सबसे अधिक सघन हैं। इसका कारण जलवायु का ऊष्ण होना और वर्षा की प्रचुरता है। अनेक स्थलों पर पेड़ इतने घने हैं और वे इतनी शीघ्रता से उगते हैं कि वहाँ के धरातल पर धूप कदाचित् ही पहुँचती है। अन्य स्थानों के जंगल इतने सघन नहीं हैं। ध्रुव क्षेत्रीय वन सबसे कम सघन हैं। वनों में एक ही प्रकार के वृक्ष नहीं पाए जाते, यद्यपि इसके कुछ अपवाद भी हैं। बड़े बड़े पेड़ों के साथ साथ छोटी छोटी वनस्पतियाँ भी उपजती हुई पाई जाती हैं। एक ही समान सब तरह के पेड़ों का मिलना वनों के लिये सबसे प्राकृतिक स्थिति है। यह स्थिति उत्तरी शीतोष्ण क्षेत्र के बड़ी पत्ती वाले एवं नुकीली पत्तीवाले वनों में तथा शुष्क उष्णीय एवं उष्ण क्षेत्र के वनों में पाई जाती है, यदि नम उष्ण क्षेत्र के किसी हरे भरे सदाबहार वन का निरीक्षण किया जाय, तो उसके वृक्षों की असमानता ही उसका विशेष गुण होगी। यह स्थिति केवल बड़े वृक्षों तक ही सीमित नहीं रहती, वरन् छोटे वृक्षों में भी रहती है।

ऊपर कहा गया है कि वनों से अनेक लाभ हैं। उनसे हमें बड़ी उपयोगी और प्रति दिन व्यवहार की अनेक वस्तुएँ प्राप्त होती

वन और वन विज्ञान (देखें पृष्ठ ३७६–३७८)

कान्हा किसली राष्ट्रीय वन उद्यान

राष्ट्रीय उपवन, हजारीबाग
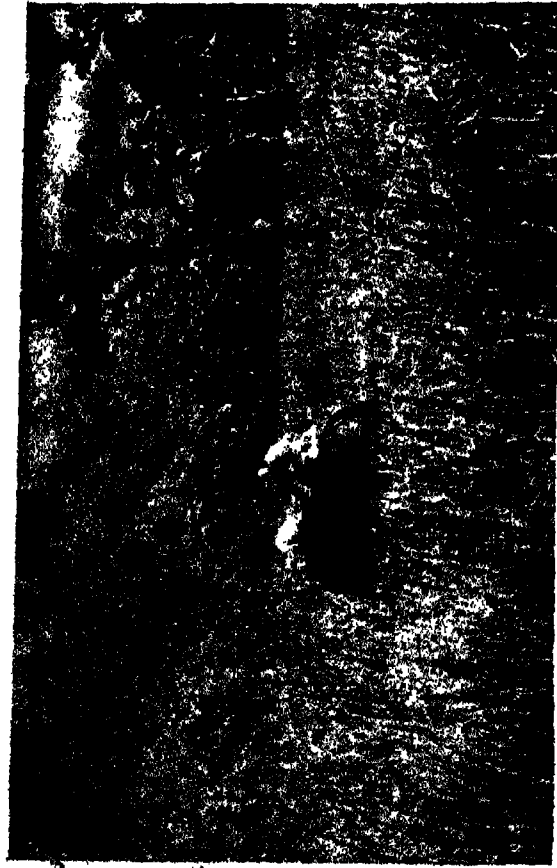
उत्तर कामरूप पशुसंरक्षित वन

काजीरंगा पशु संरक्षित वन

लेनिन, व्लादिमिर इलीइच (देखें पृष्ठ ३१६)

विलियम वर्ड्सवर्थ (देखें पृष्ठ ३८६)

विंध्याचल (देखें पृष्ठ ४६०)

है, जिनमें इमारती लकड़ी, जलावन लकड़ी, काष्ठ कोयला, प्लाईवुड, बाँस, बेंत, लुगदी, सेलुलोस, लिग्निन, अनेक खाद्य फल, फूल और पत्तियाँ, चरागाह, पशुओं के लिये चारे (घास आदि), अनेक ओषधियाँ (कुनैन, कर्पूरादि), अनेक प्रकार के गोंद, धूपादि और तैलरेजिन, रबर, तारपीन के तेल, रेशेदार पदार्थ, टैनिन, वानस्पतिक रंजक तथा लाख एवं रेशम परिपालक वृक्ष अधिक महत्व के हैं। वनों में अनेक पशु पक्षी भी रहते हैं, जो मनुष्यों के लिये बड़े उपयोगी हैं।

वनों का जलवायु पर प्रभाव — वनों से आसपास की जलवायु पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। वनों का ताप आसपास की भूमि के ताप से साधारणतया निम्न रहता है। गरमी में यह अंतर लगभग २° से० तक अधिक और जाड़े में लगभग १° सें० तक कम रह सकता है। स्थल की ऊँचाई के कारण ताप का अंतर अधिक हो सकता है। उष्ण और उपोष्ण क्षेत्रों में ताप का अंतर महत्तम होता है। मिट्टी के ताप पर भी वन का प्रभाव पड़ता है। शीत और शिशिर ऋतु में मिट्टी का ताप आसपास की खुली मिट्टी के ताप से ऊँचा रहता है और ग्रीष्म तथा वसंत में ताप निम्न रहता है।

वनों का वर्षा और आर्द्रता पर प्रभाव — वनों के कारण आस पास की भूमि में वर्षा कुछ अधिक होती है, ऐसा कुछ लोगों का मत है, पर यह मत सर्वग्राह्य नहीं है। निरीक्षणों से पता लगता है कि वनों के कारण वर्षा की बारंबारता और प्रचुरता अवश्य बढ़ जाती है और यह वृद्धि २५ प्रति शत तक हो सकती है। वनों की वायु की आर्द्रता अवश्य बढ़ी हुई रहती है। आसपास की वायु की आर्द्रता से यह ४ से १० प्रति शत तक, और कहीं कहीं १२ प्रति शत तक, अधिक रह सकती है। इसका कारण है कि वनों में हवा तेज नहीं चलती। इससे जल का वाष्पायन कम होता है और वायु में नमी बनी रहती है। आर्द्रता की अधिकता के कारण वनों के आस पास के खेतों में कुहरा और ओस अधिक पड़ते हैं, जिससे खेतों में पाला पड़ने की घटना या उपलवृष्टि बहुत कम होती है।

मिट्टी का अपरदन से बचाव — वर्षा की बूँदें वनों की धरती पर सीधे नहीं गिरतीं। धरती पर गिरने से पहले वे पेड़ पौधों, उनकी डालियों और पत्तियों से टकरा जाती हैं, जिससे बूँदों की गति धीमी हो जाती है। बहुधा वे छोटी छोटी बूँदों के रूप, में ही धरती पर गिरती हैं। पेड़ों के नीचे भी सड़ी हुई पत्तियों की सतह बनी रहती है, जिसकी क्षमता बूँदों के आघात सहन करने की तो होती ही है, पर साथ साथ जल के सोखने की भी क्षमता काफी होती है। इससे पानी की बूँदों द्वारा भूमि का कटाव बहुत कम हो जाता है। पानी के बहाव में जितनी ही अधिक अवरुद्धता आती है उतना ही कम कटाव होता है। जहाँ पर वन आवरण नहीं है, वहाँ लगातार वर्षा होने से भूमि की ऊपरी सतह जल्दी भीग जाती है और वह पानी से संतृप्त हो जाती है, जिससे पानी नीचे ढलाव की तरफ बहने लगता है। इससे भूमि का अपरदन अधिक होता है। पानी की कमी और बहाव की गति में कमी होने के कारण वन अपरदान को बहुत कुछ रोकते हैं। पेड़ पौधों की जड़ों द्वारा मिट्टी को पकड़े रहने के कारण भी अपरदन में बहुत कमी हो जाती है।

वनों से बाढ़ में कमी — पानी के बहाव और गति में वृद्धि होने से नदियाँ तीव्रगामी हो जाती हैं और उनमें बाढ़ आ जाती है। वनों के वर्षा के पानी में बहाव और गति दोनों ही कम रहते हैं। वर्षा के पानी का पर्याप्त अंश मिट्टी अवशोषित कर पृथ्वीस्तर में नीचे भेज देती है। इससे और पेड़ पौधों के होने के कारण पानी की गति की तीव्रता में कमी हो जाती है तथा नदियों में बाढ़ आने में रुकावट पैदा हो जाती है।

जलाशयों में मिट्टी का जमाव कम करना — जलाशयों या छोटे छोटे पोखरों में वर्षा के कारण मिट्टी बहकर जमा हो जाती है, जिससे वे छिछले हो जाते हैं। वनों के वर्षा के पानी में मिट्टी का अंश बहुत कम रहता है, क्योंकि इस पानी की गति बड़ी मंद रहती है। इससे जलाशयों में मिट्टी के जमने की संभावना कम रहती है।

वनों से भूपृष्ठ के जल का संरक्षण — भूपृष्ठ से पानी उड़कर हवा में मिलता रहता है। इससे भूमि का जल जल्दी उड जाता है। पर वनों के भूपृष्ठ से जल उतनी जल्दी नहीं उड़ता। वनों में जल पेड़ पौधों से ही उड़कर हवा में मिलता रहता है। ऐसे जल की मात्रा भूपृष्ठ से उड़े जल की अपेक्षा बहुत कम, लगभग आधा ही, रहती है। अतः वनों से भूपृष्ठ के जल का संरक्षण होता है।

हवा का प्रभाव — हवा साधारणतया भूपृष्ठ की मिट्टी का कटाव करती है, जिससे मिट्टी उड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान को चली जाती है। इसी प्रकार रेत के फैलने से मरुभूमि का विस्तार होता है। ऐसे विस्तार के रोकने का एक उपाय पेड़ पौधों को उगाना है, क्योंकि हवा का प्रभाव सीधे धरती पर न पड़कर पेड़ पौधों पर पड़ता है, जिससे मिट्टी का स्थानांतरण रुक जाता है।

मिट्टी की उर्वरता पर प्रभाव — वनों से मिट्टी की उर्वरता बढ़ जाती है। कार्बनिक पदार्थों के सड़ने गलने से वानस्पतिक पदार्थ मिट्टी में मिल जाते हैं, जिससे मिट्टी में ह्यूमस की मात्रा बढ़ जाती है। वानस्पतिक पदार्थों में अकार्बनिक खाद भी रहती है, जो मिट्टी में मिल जाती है। यह खाद वस्तुतः पेड़ पौधों की जड़ों द्वारा बहुत गहरी मिट्टी से लाकर पत्तियों में इकट्ठा होती है, जिनके सड़ने पर वह पुनः सतह की मिट्टी में मिलकर उसकी उर्वरता को बढ़ाती है।

वन और स्वास्थ्य — वनों का स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पडता है। वनों की वायु शुद्ध रहती है तथा उसमें धुँआ, हानिकर गैसें और धूल के कण बहुत कम रहते हैं। यहाँ की वायु में जीवाणु भी २३ से २८ प्रति शत कम रहते हैं। ये पेड पौधों की पत्तियों द्वारा छन जाते हैं और सूर्य की धूप से नष्ट हो जाते हैं। यह देखा गया है कि वनों के निकट गाँवों में हैजा और टायफाइड ज्वर बहुत कम होता है। यही कारण है कि सैनिकों के शिविर जंगलों के आसपास ही स्थापित किए जाते हैं।

पशु पक्षियों का संरक्षण — कुछ पशु पक्षियों का वनों से संरक्षण होता है। यदि वन नहीं होते, तो वे अब तक नष्ट हो गए होते और उनका अस्तित्व ही मिट गया होता। इधर वन्य पशुओं के संरक्षण का विशेष प्रयत्न हो रहा है और उनके रहने के लिये कुछ स्थान

सुरक्षित घोषित कर दिए गए हैं, जहाँ बिना विशेष आज्ञा के उनका शिकार नहीं किया जा सकता। ऐसे रक्षित वन बिहार के हजारीबाग जिले, उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर में और असम, मैसूर आदि स्थानों में हैं।

नीचे की तालिका में सन् १९५०-५१, १९५५-५६ और १९५७-५८ में वनों का क्षेत्रफल दिखाया गया है।

उत्पादन दृष्टि से, वन का क्षेत्रफल (वर्ग मील में)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९५७-५८
उपयोगी वन	२,२५,७१४	२,१८,१२२	२,१४, ८८६
दुर्गम वन	५१,५१८	५३,५६२	५९ ५२८
योग	२,७७,२३२	२,७१,६८४	२७,४४,१४

कानून की दृष्टि से, वन का क्षेत्रफल (वर्ग मील में)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९५७-५८
(अ) सुरक्षित (Reserved)	१,३२,९७५	१,३८,७९१	१,३१,५८६
(ब) सरक्षित (Protected)	४५,५३२	६५,-६७	९३,७५९
(स) अवर्गीकृत (Unclassed)	९८,७२५	६५,७३०	४९,०६६
योग	२,७७,२३२	२,६९,५८८	२७४,४११

उपज — निम्नलिखित तालिका में सन् ११५०-५१, १९५५-५६ एव १९५७-५८ की इमारती एवं जलावन लकड़ियों की पैदावार की मात्रा तथा कीमत दी गई है।

इमारती एवं जलावन लकड़ियों की पैदावार की मात्रा (हजार घन फुट में) तथा उनका मूल्य

वर्ष	इमारती लकड़ी	गोली लकड़ी	लुगदी (pulp) तथा दियासलाई की लकड़ी	जलावन लकड़ी	कोयले की लकड़ी	योग	मूल्य (हजार रुपए में)
१९५०-५१	१०५६७६	२९५४९	४७५	३९४३१९	२७५६९	५५७५८८	१९०८०७
१९५५-५६	११९८६७	२५४३७	१४८१	३२६०५७	५५६६१	५२८५०३	२७६८८२
१९५७-५८	१३३२३२	२९६५६	११७८	३६०१९१	२७३८८	५५२४४६	२८९३३०

भारत में लगभग ३ लाख वर्ग मील के क्षेत्र में वन फैले हुए हैं। अपेक्षाकृत यहाँ पर वन का क्षेत्रफल कम होने के साथ साथ असमान रूप से भी वितरित है तथा अन्य देशों की तुलना में प्रति वर्ष औसत उपज भी कम है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय वन अधिनियम सन् १९५२ में प्रस्तावित किया गया कि वन का क्षेत्रफल पूरे भूमि के क्षेत्रफल के ३३.३ प्रति शत तक बढ़ाया जाए। ६० प्रतिशत पहाड़ी क्षेत्र तथा २० प्रति शत मैदानी क्षेत्र में वनवृद्धि का लक्ष्य रखा गया।

विकास योजनाएँ — पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत वनों से पैदावार बढ़ाने के लिये विभिन्न प्रांतों में योजनाएँ बनाई गई हैं, जिनसे कृषि कार्य में आने वाली लकड़ियों की पैदावार में वृद्धि, लाभकर वन विकास, नष्ट होते हुए वनो का पुनरुद्धार, वनों में आवागमन के साधनों का सुधार एवं विकास, वन अनुसंधानों में उन्नति, वनो एवं वन जंतुओं के संरक्षण आदि की व्यवस्था हो सके। शीघ्र बढ़नेवाले ऐसे पेड़ों की जातियों को पैदा करने के लिये, जिन्हें दियासलाई, प्लाईउड, कागज, लुगदी आदि के कारखानों में प्रयुक्त करते हैं, एक विशेष योजना बनाई है, जिसके लिये २.७५ करोड़ रुपया तृतीय पंचवर्षीय योजना में निर्धारित हुआ है। दो अन्य योजनाएँ संयुक्त राष्ट्र विशिष्ट कोश (U. N. special fund) की सहायता से प्रारंभ होनेवाली हैं, जिनमें से एक का उद्देश्य विभिन्न प्रांतों के दुर्गम वनों से कच्चे माल की उपलब्धि के बारे में जाँच पड़ताल करना है और इसके लिये १.२७ करोड़ रुपया दिया गया है। दूसरी योजना देहरादून, जबलपुर, गोहाटी, कोयंबटूर आदि केंद्रों पर वन विद्या की उन्नतिशील शिक्षा देने के लिये है और इसके लिये ३० लाख रुपया निर्धारित हुआ है। [सं० सिं०]

वनस्पति उद्यान से तात्पर्य एक ऐसे उद्यान से है, जहाँ देश विदेश के विभिन्न प्रकार के पौधों का संकलन हो और साथ ही वनस्पति संबंधी विभिन्न समस्याओं पर अन्वेषण कार्य करने की सुविधा हो। वनस्पति उद्यान में वह सब कुछ तो होता ही है जो एक साधारण उद्यान में, परंतु उसके साथ साथ वनस्पति से अधिक से अधिक लाभ उठा सकने के उद्देश्य से, यह अनुसंधान कार्य का केंद्र भी होता है। इस प्रकार जहाँ साधारण उद्यान मात्र मनोरंजन के लिये एक सुंदर स्थल होता है, वहाँ वनस्पति उद्यान एक जीती जागती उपयोगी

शैक्षणिक संस्था होता है। उदाहरण के लिये हमारे देश में लखनऊ का राष्ट्रीय वनस्पति उद्यान एक ऐसी प्रमुख संस्था है जिसमें वनस्पति विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के अंतर्गत निरंतर उपयोगी अनुसंधान कार्य चलता रहता है। शिवपुर (कलकत्ता), दार्जिलिंग, ऊटकमंड, सहारनपुर, पूर्ण और बंगलुरु में भी वनस्पति उद्यान हैं। विदेश के प्रख्यात वनस्पति उद्यानों में क्यू (इग्लैंड) का रॉयल बोटैनिक गार्डन, अमरीका के मिज़ुरी बोटैनिक गार्डन, आरनोल्ड आरबोरेटम और न्यूयार्क बोटैनिक गार्डन, जापान का टोकियो बोटैनिक गार्डन और जावा का बोगोर बोटैनिक गार्डन इत्यादि के नाम गिनाए जा सकते हैं।

वनस्पति उद्यान का इतिहास अति प्राचीन है। मनुष्य शुरू में शिकार करके पेट पालता था, परंतु धीरे धीरे उसका ध्यान ऐसे पौधों की ओर आकर्षित होने लगा जो खाने के और दवाइयों के काम में आ सकें और इस प्रकार के पौधे वह अपने आसपास लगाने लगा। संभवतः वनस्पति उद्यान उन उद्यानो से विकसित हुए हैं जो प्राचीन काल में मंदिरों के आसपास मुख्यतः औषधोपयोगी पौधे उगाने के विचार से लगाए जाते थे। कारनक (मिस्र) के मंदिर के साथ, ईसा से लगभग १,५०० वर्ष पूर्व, एक वनस्पति उद्यान था। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक जीवशास्त्री अरस्तू ने ईसा से लगभग ३५० वर्ष पहले एक वनस्पति उद्यान लगाया था। आगे चलकर यूरोप में सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में जड़ी बूटियों के गुणज्ञो तथा व्यवसायियो ने वनस्पति उद्यान के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया।

भारत की प्राचीन पौराणिक कथाओ तथा प्रचलित किंवदंतियों के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारत में वनस्पति उद्यान की नींव ईसा से कई हजार वर्ष पहले पड़ चुकी थी। भारत के अत्यंत प्राचीन ग्रंथों, जैसे वेदादि में पौधों का वर्गीकरण मिलता है। जीवक ने ईसा से ५२८ वर्ष पूर्व तक्षशिला के आसपास के पौधों का वर्णन किया है। अशोक महान् (ईसा से लगभग २२५ वर्ष पहले) के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उस समय औषधोपयोगी पौधे तथा फल वृक्ष बाहर से मँगाकर वनस्पति उद्यानों में लगाए जाते थे। इसके बाद भी बाग लगाने की प्रथा भारत में जारी रही, चाहे वे केवल मनोरंजन के लिये ही क्यों न लगाए गए हों। ईस्ट इंडिया कंपनी तथा उसकी उत्तराधिकारी सरकार ने अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में जगह जगह बाग लगाए, जो कंपनी बाग के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये बाग आरंभ में तो केवल सामाजिक कार्यक्रमों के केंद्र अथवा आमोद-प्रमोद के क्रीड़ास्थल ही रहे, किंतु धीरे धीरे इनमें से कुछ वनस्पति उद्यानों में परिवर्तित हो गए।

वनस्पति उद्यान के कार्यों की रूपरेखा निर्धारित करने में यद्यपि विभिन्न देशों के वनस्पति विज्ञानी आपस में एकमत नहीं हैं, फिर भी इतना सब मानते हैं कि वनस्पति उद्यान एक ऐसी सार्वजनिक शैक्षिक संस्था होनी चाहिए जहाँ वनस्पति से लाभ उठाने के लिये अनुसंधान कार्य किए जाएँ, विशेषतया उन पौधों पर जो उस संस्था के क्षेत्र में पाए जाते हैं। वनस्पति उद्यान का कार्यक्षेत्र अधिकतर इस बात पर निर्भर रहता है कि वह किस प्रदेश में स्थित है और किस संस्था से संबंधित है। पर हम यह जरूर कह सकते हैं कि यह वनस्पति उद्यानों का कार्य होगा कि वे पौधों के प्रति जनता में सुरुचि उत्पन्न कर, उनका ज्ञानवर्धन करें, जिससे वनस्पति विज्ञान के विकास में जनता का वांछित सहयोग प्राप्त हो सके। इतना ही नहीं, वरन् वनस्पति विज्ञान, उद्यान विज्ञान तथा दूसरे संबंधित विषयों की प्राविधिक शिक्षा का प्रबंध भी वनस्पति उद्यान में होना चाहिए। वनस्पति उद्यान में एक सुव्यवस्थित वनस्पतिसंग्रहालय (herbarium) का होना अनिवार्य है, जहाँ पौधों के नमूनों का संग्रह हो, जिससे सारे संसार की वनस्पति का, मुख्यतया अपने देश की वनस्पति का, ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिले। इन उद्यानों में अपने और अन्य देशों के पौधे इस प्रकार लगाए जा सकते हैं कि विभिन्न प्राकृतिक वनस्पति क्षेत्रों का दिग्दर्शन कराया जा सके। दुनियाँ में किस किस तरह के, किन किन विधियों से बाग लगाए जाते हैं, इसका नमूना भी वनस्पति उद्यान में दिखाया जा सकता है। वनस्पति उद्यान में एक प्रजनन विभाग का होना भी आवश्यक है, जिससे उपयोगी पौधों की वंशवृद्धि और नस्ल सुधारने का कार्य सुचारु रूप से किया जा सके। इस प्रकार वनस्पति उद्यान के विभिन्न कार्यों से कृषि, वन विज्ञान तथा दूसरे संबंधित विषयों को भी लाभ पहुँचता है।

वनस्पति उद्यान हमारा चित्त प्रसन्न करने के साथ साथ हमें अपनी प्राकृतिक संपत्ति का उपभोग और उपयोग करना सिखाता है। यह हमारी भूमि संबंधी समस्याओं को सुलझाने में योग देता है। औषधोपयोगी तथा दूसरे सभी प्रकार के पौधों के विषय मे प्रत्येक प्रकार की जानकारी वनस्पति उद्यान से प्राप्त की जा सकती है। पौधों की सही सही पहचान, उनके विस्तार, फैलाव संबंधी तथ्य हम सहज ही वनस्पति उद्यान से प्राप्त कर सकते हैं। पौधों की रोपण संबंधी कठिनाइयों का निदान भी वनस्पति उद्यान के प्रमुख कार्यों मे से गिना जायगा। इस प्रकार वनस्पति उद्यान किसी देश की औद्योगिक प्रगति में सहायक हो सकता है।

सारांश यह है कि वनस्पति उद्यान, वनस्पति विज्ञान तथा इससे संबंधित विषयों के विकास का केंद्रस्थल माना जा सकता है। देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने में वनस्पति उद्यान के अंतर्गत होनेवाले कार्य समुचित योगदान देते हैं।

[रा० व० सि० तथा श्या० ला० क०]

वनस्पतिविज्ञान में वनस्पति जगत् में पाए जानेवाले सब पेड़ पौधों का अध्ययन होता है। जीवविज्ञान का यह एक प्रमुख अंग है। दूसरा प्रमुख अंग प्राणिविज्ञान है। सभी जीवों को जीवननिर्वाह करने, वृद्धि करने, जीवित रहने और जनन के लिये भोजन या ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है। यह ऊर्जा सूर्य से प्राप्त होती है। सूर्य में परमाणु के विखंडन या संलयन (fusion) से फ़ोटोन (photon) तरंगों के रूप में चलकर यह ऊर्जा पृथ्वी पर आती है। केवल पौधों में ही इस ऊर्जा के ग्रहण करने की क्षमता विद्यमान है। पृथ्वी के अन्य सब प्राणी पौधों से ही ऊर्जा प्राप्त करते हैं। अतः विज्ञान में वनस्पति के अध्ययन का विशिष्ट और बड़े महत्व का स्थान है।

वनस्पतिजगत् के सदस्य अत्यंत सूक्ष्म से लेकर अत्यंत विशालकाय तक होते हैं। उत्पत्ति के विचार से शैवाल या एककोशिक पौधा सबसे साधारण और प्राचीनतम हो सकता है। यह अपना भोजन स्वयं बनाता है। आज कई प्रकार के

गूढ़ आकार के भी शैवाल पाए जाते हैं। शैवालों से ही पृथ्वी पर के अन्य सब पौधों के उत्पन्न होने का अनुमान वैज्ञानिकों ने लगाया है। वनस्पतियों के अध्ययन में सबसे पहला कदम पेड़ पौधों का नामकरण और वर्गीकरण है। जबतक उनके नाम का पता न लगे और वे पहचान में न आवें, तब तक उनके अध्ययन का कोई महत्व नहीं है। अत: वनस्पतिविज्ञान का सबसे पुराना और सबसे अधिक महत्व का विभाग वर्गिकी या वर्गीकरण विज्ञान (Taxonomy) है (देखें वर्गिकी)। इसमें केवल नाम का ही पता नहीं लगता, अपितु पेड़ पौधों के पारस्परिक संबंध का अध्ययन कर उन्हें विभिन्न समूहों में रखा भी जाता है। वर्गिकी का अध्ययन केवल जीवित पेड़ पौधों के संबंध में ही नहीं होता, बल्कि उन पेड़ पौधों के संबंध में भी होता है जो एक समय इस पृथ्वी पर थे पर वे, आज केवल जीवाश्म के रूप में ही उपलब्ध हैं।

वर्गिकी के लिये पौधे के रूप और संरचना का अध्ययन आवश्यक होता है। रूपों और संरचनाओं के अध्ययन के बिना पौधों का वर्गीकरण संभव नहीं है, अत: पेड़ पौधों के रूप और संरचना का अध्ययन आकारिकी या आकृति विज्ञान (Morphology) के अंतर्गत होता है। अन्य जीवों की भाँति पेड़ पौधे भी कोशिकाओं से बने होते हैं। सरलतम पौधा एक कोशिका का बना होता है, पर अधिकांश पौधे अनेक प्रकार की कोशिकाओं से बने होते हैं। कुछ कोशिकाएँ हरे पत्ते में रहती हैं और कुछ कोशिकाएँ काष्ठ का निर्माण करती हैं। कोशिका का अध्ययन कोशिकाविज्ञान (Cytology) के अंतर्गत और विभिन्न प्रकार की कोशिकाओं और उनकी व्यवस्थाविधि का अध्ययन ऊतकविज्ञान (Histology) के अंतर्गत होता है। कोशिकाविज्ञान और ऊतकविज्ञान दोनों ही पादप आकारिकी की शाखाएँ हैं। इन्हीं के अध्ययन से हमें पता लगता है कि पेड़ पौधे कैसे बढ़ते हैं, कैसे जनन करते हैं, अपने विशिष्ट लक्षणों को अपनी संतानों में कैसे पहुँचाते हैं और कैसे अपना आहार बनाते तथा उनका उपयोग करते हैं।

पौधे जीवित रहने के लिये कैसे कार्य करते हैं? इसका अध्ययन शारीरक्रिया विज्ञान, या फ़िज़ियोलॉजी (Physiology) के अंतर्गत होता है। पौधे कैसे अपना आहार प्राप्त करते हैं, उनकी कोशिकाएँ उनके बढ़ने और जनन मे कैसे कार्य करती हैं, उनपर बाह्य पदार्थों, प्रकाश, ऊष्मा और नमी का क्या प्रभाव पड़ता है, पौधे कैसी मिट्टी और वायु से पदार्थों को ग्रहण कर उनसे अपना आहार बनाते और उसे पचाते हैं, पौधों में उपापचय (metabolism) की क्रियाएँ कैसे होती हैं, अनावश्यक पदार्थों को पौधे कैसे निकाल बाहर करते हैं, प्रकाश संश्लेषण द्वारा पौधे विभिन्न प्रकार के पदार्थों का कैसे सृजन कर अपनी वृद्धि करते हैं और अन्य सब प्राणियों के लिये आहार प्रदान करते हैं, इन सबका अध्ययन फ़िज़ियॉलोजी में होता है।

विभिन्न परिस्थितियों, जैसे वन, मरुभूमि, अनूप मिट्टी (swamp soil), प्रशाद्वल मृदा (prairie) आदि में पौधे कैसे उगते हैं, जलवायु, जलभरण और मिट्टी का पौधे की वृद्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है, इन सबका अध्ययन पादप परिस्थितिकी (Plant-ecology) के अंतर्गत किया जाता है। इनके अतिरिक्त वनों का संरक्षण, फसलों का वर्धन, मिट्टी का संरक्षण, पादपों का कीड़ों और रोगों से बचाव आदि तथा पादप वितरण, या पादप भूगोल का भी अध्ययन पादप परिस्थितिकी के अंतर्गत होता है।

जिस शाखा में हम पेड़ पौधों के रोगों का अध्ययन करते हैं, उसे रोगविज्ञान (Pathology) कहते हैं। उपयुक्त आहार के अभाव में, या जीवाणुओं या रोगाणुओं द्वारा, या कवकों द्वारा पौधों के रोग होते हैं। कवकों में क्लोरोफिल का अभाव रहता है। क्लोरोफिल प्रकाश विश्लेषण के लिये अत्यावश्यक है। कवक अपना आहार अन्य हरित पौधों से प्राप्त करते हैं। ऐसा करने में वे हरित पौधों को क्षतिग्रस्त कर दे सकते हैं, या नष्ट कर दे सकते हैं। पौधों के रोगों के अध्ययन के लिये रोगविज्ञानी सामान्य पौधों का अध्ययन कर उनके कार्य को समझता है। वह उन पौधों और जीवाणुओं का भी अध्ययन करता है जो सामान्य पौधों पर आक्रमण करते हैं। रोगों के निवारण के लिये वह रसायनों का भी उपयोग करता है।

पेड़ पौधे कैसे अपने विशिष्ट लक्षणों को अपनी संतानों को प्रदान करते हैं, इसका अध्ययन आनुवंशिक विज्ञान, या आनुवंशिकी (Genetics), के अंतर्गत होता है। विज्ञान की यह शाखा अपेक्षाकृत नई है और लगभग १९०० ई० से ही विकसित हुई है। विशेषत: ग्रेगर मेंडेल (Gregor Mendel) के प्रयोगों से आनुवंशिकी के कुछ नियमों का प्रतिपादन हुआ था, जिनसे बड़ी यथार्थता से उनके संबंध में भविष्यवाणी की जा सकती है।

वनस्पतिविज्ञान के व्यावहारिक उपयोग का अध्ययन आर्थिक वनस्पतिविज्ञान (Economic Botany) के अंतर्गत होता है। नए नए पेड़ पौधों की खोज करना, उनको उगाने के लिये किस उर्वरक की आवश्यकता होगी इसका पता लगाना और उनसे अधिक मात्रा में उत्पाद कैसे प्राप्त हो सकता है, इसका अध्ययन करना आर्थिक वनस्पतिविज्ञानी का कार्य है।

वनस्पतिविज्ञान की एक शाखा पादपाश्म विज्ञान (Paleobotany) है, जिसके अंतर्गत हम उन पौधों का अध्ययन करते हैं, जो एक समय पृथ्वी पर थे, किंतु अब नहीं उगते। पर उनके अवशेष ही अब चट्टानों, या पृथ्वीस्तरों में दबे यत्र तत्र पाए जाते है।

पेड़ पौधों के नामकरण तथा वर्गीकरण इत्यादि के संबंध में देखें पादपविज्ञान। [रा० श्या० अं०]

वरंगल १. जिला स्थिति : १७° ३०′ से १८° ३६′ उ० अ० तथा ७८° ५०′ से ८१° ४०′ पू० दे० यह भारत के आंध्र प्रदेश राज्य का एक जिला है। इसका क्षेत्रफल ४९८८ वर्ग मील है। इसके उत्तर-पूर्व एवं पूर्व में खम्मम जिला, दक्षिण में नलगोंडा और पश्चिम में करीमनगर जिला है। इसका धरातल असम है। गोदावरी यहाँ की मुख्य नदी है। प्राचीनतम नीस एवं शिस्ट चट्टानें यहाँ पाई जाती हैं। कोयला एवं लोहा के भंडार भी पाए गए हैं। वनों में सागौन की लकड़ी पाई जाती है। चीता, भालू, भेड़िया एवं तेंदुआ आदि जंगली जानवर भी मिलते हैं। ताप गर्मियों में लगभग ४४° सें० तक तथा वार्षिक वर्षा २९ इंच है। ज्वार, बाजरा, धान, मक्का, तिलहन एवं दलहन जिले की मुख्य कृषि उपज हैं। यहाँ रेशमी वस्त्र, सूती वस्त्र, तेल पेरने, खाद्य एवं

चमड़ा तैयार करने के कारखाने हैं। वरंगल, महबूबाबाद, जलगाँव, आदि मुख्य नगर हैं।

२ नगर, स्थिति : १७° ५८' उ० अ० तथा ७९° ३७' पू० दे०। यह वरंगल जिले का प्रमुख नगर व प्रशासनिक केंद्र है। नगर की स्थापना एक हिंदू राजा, प्रोदराजा (Prodraja), के द्वारा १२वीं शताब्दी में हुई थी। गोदावरी एवं कृष्णा नदियों के जलविभाजक पर, १,०५० फुट की ऊँचाई पर, नगर बसा है। इसके आसपास लाल बलुआ दोमट तथा काली मिट्टी के क्षेत्र हैं, जिनमें कहीं बैसाल्ट एवं ग्रैनाइट की चट्टानों के टीले भी हैं। इसकी जनसंख्या १,५६,१०६ (१९६१) है। [सु० च० श०]

वरण (Selection) जीव समुदाय में कुछ परिवर्तों (variants) को दूसरे परिवर्तों के मुकाबले में वरीयता (preference) मिलने की क्रिया को वरण कहते हैं। इसके तीन प्रकार हैं : (१) प्राकृतिक वरण (Natural Selection), (२) कृत्रिम वरण (Artificial Selection) और (३) लैंगिक वरण (Sexual Selection)।

(१) **प्राकृतिक वरण** — यह क्रिया स्वयं प्रकृति में सक्रिय है और इसके द्वारा संसार के सभी जंतु और पौधों का विकास हुआ है। इस सत्य की खोज करने का श्रेय चार्ल्स डारविन (Charles Darwin, १८०९-१८८२ ई०) और ऐल्फ्रेड रसेल वॉलिस (Alfred Russel Wallace, १८२२-१९१३ ई०) को प्राप्त है। इन वैज्ञानिकों ने देखा कि एक ही जाति के जीवों मे कुछ जीव दूसरों की तुलना में जीवित रहने के लिये अधिक उपयुक्त (fit) होते हैं और इसके विपरीत कुछ अनुपयुक्त जीव हैं, जो लुप्त होते जाते हैं। प्राकृतिक वरण के कारण निम्नलिखित हैं :

(क) संतानोत्पादन की बड़ी शक्ति — इसके द्वारा सभी जीव अधिक से अधिक संतति छोड़ जाने की चेष्टा करते हैं। हक्सलि ने हिसाब लगाया कि यदि केवल एक मादा ऐफ़िड (aphid) की सभी संतान जीवित रहने पाएँ तो ग्रीष्म काल के अंत तक उनकी संख्या इतनी बढ़ जाएगी कि उनका संयुक्त भार चीन की आबादी के संयुक्त भार के बराबर हो जाएगा।

(ख) जीवनसंघर्ष (Struggle for existence) — जीवों की संख्या में वृद्धि होने के कारण जीवों में भोजन एवं वास स्थान, जिनकी मात्रा पृथ्वी पर निश्चित रहती है, प्राप्त करने के लिये होड़ लगी रहती है। इसे जीवनसंघर्ष कहते हैं। यह संघर्ष तीन प्रकार के होते हैं : (१) अंतःजातीय (intraspecific) संघर्ष — यह एक ही जाति के सदस्यों में होता है, (२) अंतराजातीय (interspecific) संघर्ष — यह विभिन्न जातियों में होता है तथा (३) जीवों और वातावरण (enviroment) में संघर्ष।

(ग) योग्यतम की उत्तरजीविता (Survival of the fittest)— उपर्युक्त संघर्ष में सफल होनेवाले जीव, असफल जीवों से इस बात में भिन्न होते हैं कि उनमें कुछ विशेष, अर्थात् लाभकारी, गुण अथवा विभिन्नताएँ उपस्थित रहती हैं। ये सं. ५५ पर विजय पाने में सहायक होते हैं। इन गुणों की मात्रा आने वाली पीढ़ियों में क्रमशः तब तक बढ़ती जाती है जब तक नई जातियाँ नहीं बन जाती हैं।

(२) **कृत्रिम वरण** — इस क्रिया द्वारा मनुष्य अपने मनचाहे गुणवाले जंतु एवं पौधे उत्पन्न करता है। मनुष्य अपने इच्छानुसार जीवों में पूर्णतः नवीन गुण अभी उत्पन्न नही कर सका है। परंतु यदि जीवों में स्वयं (प्राकृतिक वरण द्वारा) नवीन गुण उत्पन्न हो जाएँ, तो मनुष्य प्रजनन (breeding) के उपयुक्त तरीकों द्वारा उन गुणों को, यदि वे लाभकारी हैं तो, नई नसलों में समाविष्ट करा सकता है, अन्यथा उन गुणों को वर्तमान नस्लों से निष्कासित कर सकता है। प्रारंभ में ये लाभकारी गुण बहुत ही क्षीण मात्रा में होते हैं, जिन्हें पहचानने एवं वंशों में कायम रखने के लिये धैर्य तथा लंबी अवधि के अनुभव की आवश्यकता होती है। कृत्रिम ढंग से उत्पन्न किए गए गुण केवल मनुष्य की आवश्यकता, या पसंद के अनुसार होते हैं। अतएव यह आवश्यक नहीं है कि वे गुण स्वयं गुणधारी के लिये भी लाभप्रद हों। ऐसे गुणों वाले जीवो को यदि अपने आप पर छोड़ दिया जाय, अर्थात् उनके प्रजनन पर नियंत्रण न रखा जाय, तो वे शीघ्र अपने पूर्वजों की अवस्था को पुनः प्राप्त कर लेते है। आज कृत्रिम वरण द्वारा उत्पन्न किए गए बहुत से जंतु और पौधे वर्तमान हैं। भेड़िए जैसे पूर्वज से विभिन्न जाति के कुत्तों तथा जंगली कबूतर से उत्पन्न किए गए अनेक किस्मों के पालतू कबूतर इस वरण की विशेष देन हैं।

कृत्रिम वरण दो प्रकार से होता है : अचेतन वरण (Unconcious Selection) और चेतन वरण (Conscious Selection) अचेतन वरण मे लाभकारी जाति के जंतुओं को नितांत अलग रखते हैं, जिससे उनकी नसल खराब नही होने पाती। जंतुओं के विशेष गुणों को ध्यान मे रखकर तथा उनमें संगम (mating) करवाकर, चेतन वरण की क्रिया की जाती है, जिससे संतति में जनकों के ही गुण उत्पन्न हों। जिन गुणों का साधारणतया ध्यान रखा जाता है, उनके उदाहरण हैं : जंतु का रूप, आकार, माप, मांसलता, वश्यता (docility), प्रसवनशक्ति (fertility) आदि। जंतुओं की वंशावलि तथा संतति अभिलेखन पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है।

(३) **लैंगिक वरण** — डारविन ने जंतुओं में कुछ ऐसे लक्षणों को भी प्रेक्षित किया जो जीवन संघर्ष में सहायक नही होते, वरन् जो जनन की क्रिया को प्रोत्साहित करते है। इन लक्षणों को उन्होंने गौण लैंगिक लक्षण कहा। गौण लैंगिक लक्षण प्राथमिक लैंगिक लक्षणों, जैसे शुक्र, डिंब ग्रंथियाँ, गर्भाशय, बाह्य जननेंद्रिय (external genitalia) आदि, से इस बात में भिन्न होते हैं कि इनकी तरह वे स्वयं जनन क्रिया मे प्रत्यक्ष भाग नही लेते है, वरन् वे नर और मादा को परस्पर पहचानने में और संपर्क स्थापित करने में सहायता करते हैं। गौण लैंगिक लक्षणों के अंतर्गत विशेष अंगों का वर्गीकरण इस प्रकार है : (१) आलिंगन अंग (clasping organs), जो नर और मादा के परस्पर आलिंगन में सहायक होते है, जैसे नर मेढक की हथेली और अंगुलियों पर मैथुनी गद्दियाँ (nuptial pads) होती हैं। (२) भ्रूणधानी (brood pouch), जैसे नर हिप्पोकैंपस (hippocampus) मछली के उदर पर भ्रूण पोषणार्थ थैली (देखें चित्र १)। (३) जननांग को प्रभावित करनेवाले गुण, जैसे जंतुओं (पक्षियों, तितलियों आदि) के भड़कीले रंग, जो दृष्टि को, ध्वनि उत्पादक अंग (नर मेढक के स्वरकोष्ठक तथा कीटों के ध्वनिउत्पादक

अंग आदि), जो श्रवणांग (audioory organs) को, और गंध ग्रंथियों द्वारा उत्पन्न गंध, जो घ्राणेंद्रिय को प्रभावित कर नर एवं मादा को एक दूसरे की ओर आकर्षित करवाते हैं। (४) आक्रमणकारी अंग (organs of offence), जैसे नर बारहसिंगे (deer) के सींग (antlers), सूअर के दाँत (tusks), मुर्गे का पदकंट (fighting spur) आदि जिसके द्वारा एक नर आवश्यकता पड़ने पर प्रतिद्वंद्वी नर को परास्त कर अपनी मादा को प्राप्त करता है। (५) सुरक्षा करनेवाले अंग (organs of defence), जैसे सिंह के गर्दन का अयाल (mane), जो आक्रमण के समय आक्रमणकारी के पैने दाँतों और नाखूनों से सिंह के गर्दन और सिर को बचाते हैं।
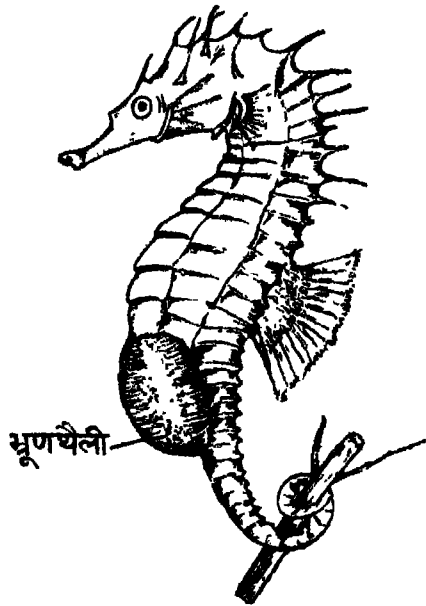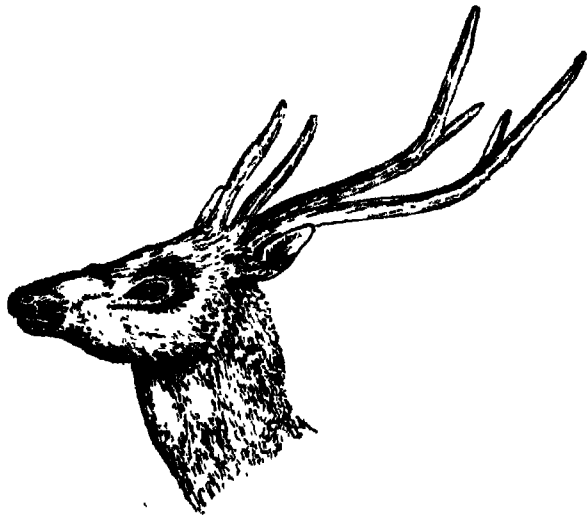
चित्र १. अश्वमीन (हिप्पोकैंपस)

चित्र २. हिरन के सींग

उपर्युक्त वर्णन से यह प्रत्यक्ष है कि जहाँ प्राकृतिक वरण द्वारा उपयुक्त जंतु ही जीवनसंघर्ष में विजयी हो पाते हैं, वहीं लैंगिक वरण द्वारा केवल उपयुक्त जंतु ही संगम में सफल हो पाते हैं। इस प्रकार दोनों वरणों में भेद करना कठिन हो जाता है, क्योंकि दोनों का ही उद्देश्य उपयुक्त जंतु उत्पन्न करना होता है। [कु० प्र० श्री०]

वरमॉन्ट स्थिति : ४३° ४०′ उ० अ० तथा ७२° ५०′ प० दे०। यह संयुक्त राज्य, अमरीका, मे न्यू इंग्लैंड समूह का सुदूर पश्चिमी राज्य है। इस राज्य का क्षेत्रफल ६,६०९ वर्ग मील तथा जनसंख्या ३,८९,८८१ (१९६०) है। ३३१ वर्ग मील में पानी है। राज्य के उत्तर में क्विक, पूर्व में न्यूहैंपशिर, दक्षिण में मैसाचूसेट्स तथा पश्चिम में न्यूयॉर्क है। मॉण्टप्लीयर (Montplier) यहाँ की राजधानी है।

राज्य का धरातल असम है तथा यहाँ की औसत ऊँचाई १,००० फुट है। मैंसफील्ड पर्वत की ४,३९२ फुट ऊँची चोटी सर्वोच्च ऊँचाई है। उत्तर पश्चिम की ओर ग्रीन पर्वत फैले हुए हैं। लामॉइली (Lamoille) एवं मिसिस्कुइ (Missisqui) आदि नदियाँ यहाँ बहती हैं। मोरे (Morey) तथा फेयरली (Fairlee) आदि यहाँ की प्रमुख झीलें हैं। घाटियों की मिट्टी उपजाऊ है। ढाल पर सुंदर वन एवं चरागाह हैं। यहाँ का जलवायु समशीतोष्ण एवं स्वास्थ्यप्रद है। वार्षिक औसत ताप ४·५° से ८° सें० एवं वर्षा ३७·५ इंच है। जाड़े में बर्फ गिरती है। लगभग ६६ प्रति शत भूभाग पर खेती होती है। यहाँ आलू, शीत प्रदेश के अन्न, सोयाबीन आदि की उपज होती है।

दूध व्यवसाय यहाँ का विकसित उद्योग है। संगमरमर, ग्रैनाइट, स्लेट, ताँबा, चूनापत्थर, अभ्रक, डोलोमाइट आदि राज्य की प्रमुख खनिज संपदा हैं। बेरि (Barre), बर्लिंगटन, बेलोसफॉल्स आदि यहाँ के प्रमुख नगर हैं। [सु० चं० श०]

वराहमिहिर भारतीय गणितज्ञ एवं खगोलज्ञ थे। इनका जन्म छठी शताब्दी ईसवी में हुआ था। इनके पिता का नाम आदित्य दास था और ये अवंती के निवासी थे। ५५० ई० के लगभग इन्होंने तीन महत्वपूर्ण पुस्तकें. बृहज्जातक, बृहत्संहिता और पंचसिद्धांतिका, लिखीं। इन पुस्तकों में त्रिकोणमिति के महत्वपूर्ण सूत्र दिए हुए हैं, जो वराहमिहिर के त्रिकोणमिति ज्ञान के परिचायक हैं।

पंचसिद्धांतिका में वराहमिहिर से पूर्व प्रचलित पाँच सिद्धांतों का वर्णन है। ये सिद्धांत हैं : पोलिश, रोमक, वसिष्ठ, सूर्य तथा पितामह। वराहमिहिर ने इन पूर्वप्रचलित सिद्धांतों की महत्वपूर्ण बातें लिखकर अपनी ओर से बीज नामक संस्कार का भी निर्देश किया है, जिससे इन सिद्धांतों द्वारा परिगणित ग्रह दृक्‌ हो सकें। इन्होंने फलित ज्योतिष के लघुजातक, बृहज्जातक तथा बृहत्संहिता नामक तीन ग्रंथ भी लिखे हैं। बृहत्संहिता में वास्तुविद्या, भवन-निर्माण-कला, वायुमंडल की प्रकृति, वृक्षायुर्वेद आदि विषय संमिलित हैं।

[रा० कु० एवं मु० ला० अ०]

वरुण (Neptune) सूर्य के नव ग्रहों में से एक ग्रह है। ग्रहीय मानकों से बहुत बड़ा पिंड होने पर भी, इसे अत्यंत दूरस्थ होने के कारण दूरदर्शी के बिना नहीं देखा जा सकता। १८४६ ई० में पहली बार दूरदर्शी द्वारा इसकी स्थिति ज्ञात हुई। किंतु आश्चर्य की बात यह है कि इसके कुछ समय पूर्व ही बिना दूरदर्शी की सहायता के ही इसका आविष्कार हो चुका था।

वरुण का आविष्कार ज्योतिर्विज्ञान के इतिहास में एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है और मानव की सर्वोच्च उपलब्धियों में से एक है। दो व्यक्तियों, फ्रांस में ले वेरियर (Le Verrier) और इंग्लैंड में ऐडैम्ज़ (Adams), ने एक दूसरे से निरपेक्ष रूप से वरुण ग्रह के अस्तित्व की आवश्यकता का अनुभव किया। यह इसलिये कि वारुण (Uranus) की गति में पूर्वकथित पथ से विचलन पाया गया। इस विसंगति को दोनों ने किसी अज्ञात ग्रह की गुरुत्व क्रिया का प्रभाव माना और विशुद्ध तर्क तथा गणना द्वारा वे ग्रह की स्थिति का अन्वेषण करने में जुट पड़े। कार्य पूरा हो जाने पर ले वेरियर ने अपने अंतिम निष्कर्षों को बर्लिन वेधशाला के प्रेक्षक ज्योतिर्विद् गैले (Galle) के पास और ऐडैम्ज़ ने अपने अंतिम निष्कर्षों को ग्रेट ब्रिटेन के राजकीय ज्योतिर्विद् एयरी (Airy) के पास भेज दिया। ऐडैम्ज़ के दुर्दैव से उसकी गणना के परिणामों की पुष्टि दूरदर्शी से नहीं हुई, किंतु डा० गैले ने जब दूरदर्शी को ले वेरियर द्वारा सुझाए स्थान की ओर निर्देशित किया, तो उन्होंने एक नए ग्रह की स्थिर चमक के साथ मानव बुद्धि का गौरव गान करते पाया।

वरुण का व्यास लगभग ३३,००० मील है। यह सूर्य से लगभग २७९ करोड़ मील पर स्थित है। ३$\frac{१}{२}$ मील प्रति सेकंड की गति से चलकर यह १६५ वर्षों में सूर्य की एक परिक्रमा पूरी करता है। इसका घूर्णनकाल १६ घंटों से कुछ ही कम है। इसके कुल दो उपग्रह अब तक ज्ञात हो सके हैं। स्पष्ट ही इसका भारतीय नाम परंपरागत नहीं है। वरुण नाम अभिनव लेखकों द्वारा सुझाया हुआ है।

[र० स०]

वर्गप्रहेलिका एक प्रकार की शब्द पहेली है। एक बड़े वर्ग में छोटे छोटे वर्ग दिए रहते हैं. जिनमें से कुछ काले, कुछ सफेद और कुछ में अक्षर लिखे रहते है। इन खाली वर्गों में अक्षरों को इस प्रकार बैठाना होता है कि यदि ऊपर से नीचे, अथवा बाईं से दाईं ओर पढ़ा जाए, तो एक शब्द बने। ऊपर से नीचे तथा बाएँ से दाएँ के शब्द में एक अक्षर उभयनिष्ठ होता है। जिन वर्गों में अक्षर बैठाने होते हैं उनमें संख्या लिखी रहती है और इन संख्याओं का संबंध संकेतसूची से रहता है। दो संकेतसूचियाँ होती हैं। एक में संकेत ऊपर से नीचे और दूसरी में बाएँ से दाएँ दिए रहते हैं। इन्हीं संकेतों के आधार पर शब्द वर्गों में बैठाने पड़ते हैं। पूर्तिकर्ता पूर्ति के लिये शब्दकोश, विश्वकोश तथा गजट आदि की सहायता ले सकता है।

हिंदी अंग्रेजी आदि लगभग सभी भाषाओं की साप्ताहिक पत्रिकाओं तथा समाचारपत्रों में प्राय: ऐसी पहेलियाँ प्रकाशित होती हैं। इससे उनकी बिक्री बढ़ जाती है, क्योंकि पत्रिका में प्रकाशित वर्ग में ही पूर्ति भरकर भेजनी पड़ती है। पूर्तिकर्ता कई हल भेज सकते हैं। हल भेजने के लिये कहीं प्रवेश शुल्क देना पड़ता है और कहीं नहीं। प्राय: शुद्ध हल के लिये कुछ राशि पारितोषिक के रूप में निर्धारित रहती है। शुद्ध हल भेजनेवाले यदि कई होते हैं, तो उनमें पारितोषिक का बँटवारा समान अनुपात में हो जाता है। शुद्ध हल पत्रिका के संपादक के पास पहले से ही सुरक्षित होता है। पत्रिका के संपादक का निर्णय ही अंतिम होता है। निम्नलिखित चित्र से वर्गप्रहेलिका

■	■	१ उ		छ	ला	■	■
२ आ	ज	म	■	■	३ क	४ स	
वे	■		■	■	■	ा	■
	५ न	■	■	च	म	चा	■
■	६ क	ा	र	■	■	र	७ वे
■	ी	■	■	■	८	■	
९	र	म	■	■	ह	व	न
■	■	१० वा	रि		र	■	■

की संरचना स्पष्ट हो जायगी।

संकेत : बाएँ से दाएँ — (१) पति का बात बात पर...... अभ्यागतों में घिरी पत्नी को कभी कभी बहुत बुरा लगता है। (उबलना, उछलना)

(३) आपसी व्यवहार में यदि कुछ......महसूस होती रहे, तो संवेदनशील व्यक्ति का मन दुखी रहता है। (कसक, कसर)

(६) नदी के......की स्थिति प्राय: स्थिर नहीं रहती। (कगार, कछार)

(९) वृद्ध व्यक्तियों को......खाना ही अधिक अच्छा लगता है। (गरम, नरम)

(१०) पावस ऋतु में नौकाविहार के समय सहसा भयानक...... दिखाई देने पर नायिका का नायक के पास खिसक आना स्वाभाविक ही है। (वारिधर, वारिचर)

संकेत : ऊपर से नीचे — (१)......व्यक्ति कभी ऐसा आचरण कर बैठता है कि दूसरों के लिये कष्टकारक हो जाए। (उन्माद, उन्मन)

(२)......में किए गए काम में गलती हो जाने की संभावना रहती ही है। (आवेग, आवेश)

(४) बड़े बड़े आयोजनों मे भाग लेनेवाले व्यक्ति को सामान्य...... का ज्ञान तो होना ही चाहिए। (सदाचार, समाचार)

(५) चुनाव में कुछ नेता सिर्फ......से ही जीतते जान पड़ते हैं। (तकदीर, तकरीर)

(७) शरीर का......यदि बढ़ता ही जाए तो सहनशक्ति भी जवाब दे देती है। (वेपन, वेदन)।

(८)......का लाभ उठानेवाले किसान अक्सर अधिक समृद्ध दिखाई देते हैं। (नहर, शहर)

पहले ऐसी पहेलियों की बड़ी धूम थी। सर्वशुद्ध हल पर कभी कभी लाखों रुपए के पुरस्कार विज्ञापित होते थे, जिससे आकृष्ट होकर लोग अपनी समाई से अधिक द्रव्य शुल्क के रूप में लगा दिया करते थे। अनेक ऐसी पत्रपत्रिकाएँ निकलती थीं जो हल प्रस्तुत करने में

सहायता देती थीं। जब विचार और बुद्धि के इस मनोरंजन ने भारी जुए का रूप धारण कर लिया, तो भारत सरकार ने इसपर प्रतिबंध लगा दिया और शुल्क तथा पारितोषिक की राशि पर कठोर नियंत्रण लगा दिया।

सं० ग्रं० — धर्मयुग। [अ० ना० मे०]

वर्गिकी (Taxonomy) जिस तरह कार्यालयों में भिन्न भिन्न कार्य संबंधी लिखित पत्र पृथक् पृथक् फाइलों में रखे जाते हैं, उसी तरह अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि विभिन्न जातियों के जंतु और पौधे विभिन्न श्रेणियों में रखे जाएँ। इस तरह जंतुओं और पादप के वर्गीकरण को वर्गिकी, या वर्गीकरण विज्ञान, कहते हैं। अंग्रेजी में वर्गिकी के लिये दो शब्दों का उपयोग होता है, एक है टैक्सॉनोमि (Taxonomy) और दूसरा सिस्टेमैटिक्स (Systematics)। टैक्सॉनोमि शब्द ग्रीक शब्द 'टैक्सिस', जिसका अर्थ है क्रम से रखना और 'नोमोस', जिसका अर्थ है नियम, के जोड़ से हुआ है। अत: टैक्सॉनोमि का अर्थ हुआ क्रम से रखने का नियम। सन् १८१३ में कान्डोल (Candolle) ने इस शब्द का प्रयोग पादप वर्गीकरण के लिये किया था। सिस्टेमैटिक्स शब्द 'सिस्टेमा' से बना है। यह लैटिन-ग्रीक शब्द है। इसका प्रयोग प्रारंभिक प्रकृतिवादियों ने वर्गीकरण प्रणाली के लिये किया था। लिनीअस (Linnaeus) ने १७३५ ई० में "सिस्टेमा नेचुरी" (Systema Naturee) नामक पुस्तक सिस्टेमैटिक्स शब्द के आधार पर लिखी थी। आधुनिक युग में ये दोनों शब्द पादप और जंतुवर्गीकरण के लिये प्रयुक्त होते हैं।

वर्गिकी का मूल निर्माण आकारकी या आकृतिविज्ञान (morphology), क्रियाविज्ञान (physiology), परिस्थितिकी (ecology) और आनुवंशिकी (geneties) पर आधारित है। अन्य वैज्ञानिक अनुशासनों की तरह यह भी अनेक प्रकार के ज्ञान, मत और प्रणालियों का संश्लेषण है, जिसका प्रयोग वर्गीकरण के क्षेत्र में होता है। जीवविज्ञान संबंधी किसी प्रकार के विश्लेषण का प्रथम सोपान है सुव्यवस्थित ढंग से उसका वर्गीकरण, अत: पादप, या जंतु के अध्ययन का पहला कदम है उसका नामकरण, वर्गीकरण और तब वर्णन।

आजकल पादप की चार लाख जातियों से अधिक जातियाँ ज्ञात हैं। ये लिनीअस के समय से साठगुनी अधिक हैं। प्रति वर्ष लगभग ४,७५० नई जातियों का वर्णन होता है। समानार्थक (synonyms) और उपजातियों (subspecies) को मिलाकर केवल फ़ैनरोगैम्स (phanerogams) और क्रिप्टोगैम्स (cryptogams) नामक पादप समूहों में १७६३ से १९४२ ई० तक दस लाख से भी अधिक नाम दिए जा चुके है।

वर्णित जंतुओं की जातियाँ गिनती में पादप जातियों से कहीं अधिक हैं। उपजातियों को मिलाकर २० लाख से अधिक जंतु-जातियों के नाम ज्ञात हैं और प्रति वर्ष लगभग १०,००० नई जातियों का वर्णन होता है।

वर्गीकरण विज्ञान का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मानव का इतिहास। समझ बूझ होते ही मनुष्य ने आस पास के जंतुओं और पौधों को पहचानना तथा उनको नाम देना प्रारंभ किया।

ग्रीस के अनेक प्राचीन विद्वान, विशेषत: हिपॉक्रेटीज (Hippocrates, ४६०-३७७ ई० पू०) ने और डिमॉक्रिटस (Democritus, ४६५-३७० ई० पू०), ने अपने अध्ययन में जंतुओं को स्थान दिया है। स्पष्ट रूप से ऐरिस्टॉटल (Aristotle, ३८४-३२२ ई० पू०) ने अपने समय के ज्ञान का उपयुक्त संकलन किया है। ऐरिस्टॉटल के उल्लेख में वर्गीकरण का प्रारंभ दिखाई पड़ता है। इनका मत है कि जंतु अपने रहन सहन के ढंग, स्वभाव और शारीरिक आकार के आधार पर पृथक् किए जा सकते हैं। इन्होंने पक्षी, मछली, ह्वेल, कीट आदि जंतुसमूहों का उल्लेख किया है और छोटे समूहों के लिये कोलियॉप्टेरा (Coleoptera) और डिप्टेरा (Diptera) आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है। इस समय के वनस्पतिविद् ऐरिस्टॉटल की विचारधारा से आगे थे। उन्होंने स्थानीय पौधों का सफल वर्गीकरण कर रखा था। ब्रनफेल्स (Brunfels, १५३०ई०) और बौहिन (Bauhim, १६२३ ई०) पादप वर्गीकरण को सफल रास्ते पर लानेवाले वैज्ञानिक थे, परंतु जंतुओं का वर्गीकरण करनेवाले इस समय के विशेषज्ञ अब भी अरस्तू की विचारधारा के अंतर्गत कार्य कर रहे थे।

जंतुशास्त्र विशेषज्ञों में जॉन रे (John Ray १६२७-१७०५ ई०) प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने जाति (species) और वंश (genus) में अंतर स्पष्ट किया और प्राचीन वैज्ञानिकों में ये प्रथम थे, जिन्होंने उच्चतर प्राकृतिक वर्गीकरण किया। इनका प्रभाव स्वीडन के रहनेवाले महान् प्रकृतिवादी लिनीअस (१७०७-१७७८) पर पड़ा। लिनीअस ने इस दिशा में अद्वितीय कार्य किया। इसलिये इन्हें वर्गीकरण विज्ञान का जन्मदाता माना जाता है।

अठारहवीं शताब्दी में विकासवाद के विचारों का प्रभाव वर्गीकरण विज्ञान पर पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में यह प्रभाव अपने शिखर पर पहुँच गया। इसी समय दूरवर्ती स्थानों के जंतुओं में वर्गीकरण विशेषज्ञों की गंभीर रुचि हो गई थी। वे दूर देशों के जानवरों के विषय में जानकारी करना चाहते थे और परिचित जानवरों से उनका संबंध करना चाहते थे। इसलिये इस समय लंबी जलयात्राएँ हुईं। दूर दूर के जानवरों का अध्ययन किया गया और उनके वंश तथा कुटुंब आदि का अध्ययन किया गया। एक ऐसी यात्रा बीगले नामक जहाज पर हुई थी जिसमें चार्ल्स डार्विन नामक प्रकृतिवादी भी संमिलित था। इस काल में वर्गीकरण विज्ञान में बड़ी प्रगति की गई और वर्गीकरण में अनेक नई जातियाँ, वंश और कुटुंब जोड़े गए।

बीसवीं शताब्दी में किया गया वर्गीकरण विज्ञान की विशेषता है। हक्सलि (Huxely, १९४० ई०) के विचारानुसार आधुनिक वर्गीकरण विज्ञान भूगोल (geography), पारिस्थितिकी (ecology), कोशिकी (cytology) और आनुवंशिकी (genetics) आदि का संश्लेषण है। पहले समय में वर्गीकरण विज्ञान का आधार था 'प्रकार' (type), जिसको आकृतिक लक्षणों की सहायता से उपस्थित करते थे। आधुनिक वर्गीकरण विज्ञान में जातियों का वर्णन पूर्णतया आकृतिक लक्षणों पर आधारित नहीं है, जैविक है, जिसकी वजह

से भौगोलिक, पारिस्थितिक, जननीय तथा कुछ अन्य लक्षणों पर भी ध्यान दिया जाता है। प्ररूप संकल्पना (type concept) श्रेणियों की स्थिरता को विस्तृत रूप देती है, एक दूसरे के बीच अंतर को बढ़ाती है और परिवर्तनशीलता को कम करती है। इसके विपरीत है जनसंख्या संकल्पना (population concept), जिसके अनुसार स्पीशीज परिवर्तनशील जनसंख्या से बनी है और स्थिर नहीं है।

उत्क्रम से विशेष समूहों अथवा श्रेणियों की परिभाषा करना वर्गीकरण का निश्चित ढंग है। लिनीग्रस ने ऐसी पाँच श्रेणियाँ बनाई थीं : क्लासिस (Classis) अथवा वर्ग, गण (Ordo), जीनस (Genus) अथवा वंश, स्पीशीज (Species) अथवा जाति और वैराइटाज (Varietas) अथवा प्रजाति। प्रत्येक श्रेणी में एक अथवा एक से अधिक नीचे स्तर के समूह संमिलित होते हैं और वे निम्न श्रेणी बनाते हैं। इसी तरह प्रत्येक क्रमिक श्रेणी एक अथवा एक से अधिक ऊँची श्रेणी से संबंधित होती है। ये श्रेणियाँ प्राकृतिक प्रभेद कम करके एक व्यापक प्रणाली बना देती हैं।

ज्ञान के विकास के साथ साथ इन श्रेणियों की संख्या बढ़ती गई। जगत् और वर्ग के बीच संघ और गण (order) तथा वंश के बीच में कुटुंब नामक श्रेणियाँ जोड़ी गईं। लिनीग्रस के विचारानुसार प्रजाति (varietas) एक वैकल्पिक श्रेणी है, जिसके अंतर्गत भौगोलिक अथवा व्यक्तिगत विभिन्नता आती है। इस तरह अब निम्न सात श्रेणियाँ हो गई हैं : जगत् (Kingdom), संघ (Phylum), वर्ग (Class), गण (Order), कुटुंब (Family) वंश (Genus) और जाति (Species)।

वर्गीकरण की और अधिक परिशुद्ध व्याख्या के लिये इन श्रेणियों को भी विभाजित कर अन्य श्रेणियाँ बनाई गई हैं। अधिकतर मूल नाम के पहले अधि (super) अथवा उप (sub) उपसर्गों (prefixes) को जोड़कर इन श्रेणियों का नामकरण किया गया है। उदाहरणार्थ, अधिगण (Super order) और उपगण (Suborder) आदि। ऊँची श्रेणियों के लिये कई नाम प्रस्तावित किए गए, परंतु सामान्य प्रयोग में वे नहीं आते। केवल आदिम जाति (tribe) का कुटुंब और वंश के बीच प्रयोग किया जाता है। कुछ लेखकों ने, जैसे सिंपसन, (Simpson, १९४५ ई०) ने गण और वर्ग के बीच सहगण (Cohort) नाम का प्रयोग किया है।

इस तरह साधारण तौर से काम लाई जानेवाली श्रेणियों की संख्या इस समय निम्नलिखित है :

जगत् (Kingdom), संघ (Phylum), उपसंघ (Subphylum), अधिवर्ग (Superclass), वर्ग (Class) उपवर्ग (Subclass), सहगण या कोहॉर्ट (Cohort), अधिगण (Superorder), गण (Order), उपगण (Suborder), अधिकुल (Superfamily), कुल (Family), उपकुल (Subfamily), आदिम जाति (Tribe), वंश (Genus), उपवंश (Subgenus), जाति (Species) तथा उपजाति (Subspecies)।
[प्र० श्री०]

वर्जिन द्वीपसमूह (Virgin Islands) पश्चिमी द्वीपसमूह में १०० द्वीपों का एक अलग समूह वर्जिन द्वीपसमूह के नाम से विख्यात है। इसमें केवल १४ द्वीप ही अब तक आबाद हो सके हैं। ये द्वीप पोर्टोरिको से ४० मील पूर्व में स्थित हैं और फिर ८० मील तक फैले हुए हैं। इनका संपूर्ण क्षेत्रफल केवल २०० वर्ग मील है। ये द्वीप डूबे हुए पर्वतों की चोटियाँ प्रतीत होते हैं, जिनका फैलाव पूर्व की तरफ था। कुछ बिखरी हुई चोटियों की ऊँचाई २,००० फुट तक भी है, अन्यथा द्वीपों की कुल ऊँचाई समुद्र से कुछ ही फुट (१०० फुट) है। जलवायु सामान्य तथा स्वास्थ्यवर्धक है। ताप कभी कभी लगभग २७° सें० और कम से कम १८° सें० के नीचे पहुँच जाता है। तूफान अक्सर तो नहीं आते, परंतु कभी कभी आनेवाले भयंकर तूफानों से जनजीवन अस्तव्यस्त और क्षतिग्रस्त हो जाता है। यहाँ की वार्षिक वर्षा ४० इंच है, परंतु कुछ खुली हुई तथा वर्षानुकूल ढालों पर वर्षा अधिक भी होती है। द्वीपों का धरातल सामान्यत: ऊँचा नीचा है। इन द्वीपसमूहों में अच्छी एवं उपजाऊ मिट्टी की कमी है। आबाद होने के पूर्व अधिकतर भूभाग पतझड़ किस्म के वनों से आच्छादित था, परंतु कोयले की आवश्यकता और भूमि को कृषि योग्य बनाने के ख्याल से जंगल साफ कर दिए गए हैं। प्रधान प्राकृतिक वनस्पति, लकड़ी तथा गिनी घास है। गन्ना, कपास, तंबाकू, मक्का तथा शकरकंद मुख्य फसल और भेड़ और बकरियाँ पशुओं में मुख्य हैं।

आपस में अच्छे संबंधों के बावजूद द्वीपसमूह दो भागों, ब्रिटिश वर्जिन द्वीपसमूह तथा संयुक्त राज्य, अमरीका, का वर्जिन द्वीपसमूह, में विभक्त है। कोलंबस ने सन् १४९३ में इसकी खोज की थी।

ब्रिटिश वर्जिन द्वीपसमूह — इसमें चार बड़े तथा ३२ छोटे छोटे द्वीप हैं, जिनका कुल क्षेत्रफल केवल ५९ वर्ग मील है। इसमें संमिलित प्रधान द्वीपों के नाम टार्टोला, अनेगादा, वर्जिनगोर्डा तथा जोस्टवान डाइक हैं। सन् १९५७ में इनकी संपूर्ण जनसंख्या ७,७६० थी, जिसमें से अधिकांश लोग टार्टोला में ही रहते थे। रोडटाउन यहाँ की राजधानी है, जिसकी जनसंख्या १,२०० (१९५७) है। यह टार्टोला द्वीप के दक्षिणी भाग में स्थित एक प्रसिद्ध पत्तन भी है। कुछ मछुए तथा नाविक मछली पकड़ने का काम करते हैं तथा उससे संबंधित छोटे मोटे कार्यों की सहायता से जीविकोपार्जन करते हैं।

संयुक्त राज्य, अमरीका, का वर्जिन द्वीप समूह — सेंट टॉमस, सेंट जान तथा सांताक्रूज नामक प्रधान द्वीपों के साथ लगभग ५० अन्य छोटे द्वीप इस समूह में संमिलित हैं। तीनों बड़े बड़े द्वीपों को १९१७ ई० में डेनमार्क से २५०,००,००० डालर देकर खरीदा गया था। इनकी खरीद का प्रधान कारण अनेगदा मार्ग में इनकी महत्वपूर्ण स्थिति थी। ये द्वीप न्यूयॉर्क तथा पनामा के लगभग मध्य में स्थित हैं। सेंट टॉमस द्वीप पर एक व्यापारिक पत्तन भी है।

इन द्वीपों का संपूर्ण क्षेत्रफल १३३ वर्ग मील तथा संपूर्ण जनसंख्या ३२,०९९ (१९६०) है। सेंट टॉमस द्वीप आबादी (१६,२०१, सन् १९६०) [illegible] से प्रथम, परंतु क्षेत्रफल की

दृष्टि से दूसरा स्थान रखता है। शारलोट अमाल्ये नामक शहर यहाँ की राजधानी (१२,८८०, १९६०) है। सांताक्रुज के निवासी पशुपालन, गन्ना उत्पादन तथा शराब बनाने जैसे कार्यों में लगे हुए हैं। [ब० सिं०]

वर्जिनिया (Virginia) संयुक्त राज्य अमरीका के तेरह प्रारंभिक राज्यों में से एक है। इसका संपूर्ण क्षेत्रफल ४०,८१५ वर्ग मील है, जिसमें से १,०३५ वर्ग मील जलाच्छादित है।

यहाँ की जलवायु संपूर्ण राज्य में सामान्यतः एक समान है। यहाँ वर्षा पर्याप्त होती है। टाइडवाटर क्षेत्र के दक्षिण-पूर्वी भाग में हिमपात विरल ही होता है। टाइडवाटर क्षेत्र के निचले भाग में दक्षिण-पश्चिमी वर्जिनिया की अपेक्षा तुषाररहित उपज के लिये उपयुक्त मौसम एक या दो महीने बड़ा होता है। वर्जिनिया में विभिन्न प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं। तटीय मैदान में बालू का परतदार जमाव देखा जाता है। इसके साथ ही साथ पिडमांट क्षेत्र की मिट्टी क्रिस्टली ग्रेनाइट तथा नाइस के अपक्षय से बनी है। घाटी की मिट्टी चूने से परिपूर्ण है, साथ ही साथ उपजाऊ भी है। वर्जिनिया का आधे से अधिक भाग वनों से ढँका हुआ है, जिसमें ओक, पाइन, बर्च, आदि के वृक्ष प्रधान हैं। इन वनों में विभिन्न प्रकार के मौसमी तथा रंग बिरंगे पुष्पों की भी कमी नहीं है।

भेड़िया, लोमड़ी, चूहा, आदि की बहुलता है। शिकार के लिये चिड़ियों की भी कमी नहीं है। बहुत प्रकार के सर्प, मछलियाँ तथा अनेकानेक रूप रंग के जीव जंतुओं से पूरा राज्य भरा पड़ा है। यहाँ बहुत से स्थानीय, राजकीय तथा राष्ट्रीय स्तर के सुंदर बगीचे तथा स्वास्थ्यवर्धक और दर्शनीय स्थल हैं। वर्जिनिया विश्वविद्यालय, मेरी-वाशिंगटन महाविद्यालय तथा अन्य विश्वविद्यालय और शैक्षिक संस्थानों द्वारा जनजीवन में शिक्षा के प्रचार का कार्य किया जाता है।

वर्जिनिया की समस्त आय की आधी से भी अधिक पशु पालन और मुर्गीपालन से होती है। २० प्रति शत आय तंबाकू से भी होती है। रासायनिक वस्त्र व्यवसाय, तंबाकू, खाद्य तथा कागज की लुगदी आदि के भी उत्पादन प्रधान व्यवसाय के अंतर्गत हैं। बिटुमेनी कोयला यहाँ का प्रधान खनिज है। [ब० सिं०]

वर्ड्स्वर्थ, विलियम यह सुप्रसिद्ध अंग्रेजी कवि थे। इनका जन्म ७ अप्रैल, १७७७ ई० को करमथ नामक नगर में हुआ जहाँ उनके पिता वकालत करते थे। किंतु जब वे तेरह ही वर्ष के थे उनके पिता का देहांत हो गया। उनकी शिक्षा हाकशेड के व्याकरण विद्यालय के सेंट जॉन नामक महाविद्यालय में हुई। वहाँ से बी० ए० की उपाधि प्राप्त करने के उपरांत वे कुछ समय के लिये लंदन चले गए। जब वे कैंब्रिज विश्वविद्यालय के छात्र थे तभी गर्मियों की छुट्टियों में फ्रांस गए थे और फिर सन् १७९१ में उन्होंने फ्रांस तथा स्विट्जरलैंड की पदयात्रा की और फ्रांस के आर्लियंस तथा ब्लाव नामक नगरों में कई सप्ताह तक रहे। फ्रांसीसी क्रांति के नेताओं से भी उनका संपर्क हुआ जिसका फल यह हुआ कि वे फ्रांसीसी क्रांति के उत्साहपूर्ण समर्थक बन गए और यदि उनके मित्रों तथा संबंधियों ने उन्हें घर लौटने को बाध्य न किया होता तो उनकी भी वही दुर्गति होती जो अन्य नेताओं की हुई। वर्ड्स्वर्थ को फ्रांस की क्रांति से बहुत आशाएँ थीं किंतु फ्रांस के आतंक राज्य में जो दुर्घटनाएँ हुईं उन सब ने उनकी आशाओं पर प्रचंड आघात किया। विलियम गाडविन की प्रसिद्ध पुस्तक पोलिटिकल जस्टिस से भी वे बहुत प्रभावित हुए थे; यहाँ तक कि वे अपने को गाडविन का शिष्य कहने लगे थे और इसी प्रभाव के कारण वे दो-तीन वर्ष तक लोकतंत्रवादी, हेतुवादी तथा अनीश्वरवादी रहे। फ्रांस की क्रांति की असफलता के कारण उनको घोर मानसिक कष्ट हुआ जिसके चंगुल से उनकी बहन डोरोथी वर्ड्स्वर्थ ने अपनी सेवा शुश्रूषा से उनको बचाया। किंतु वे सदैव के लिये क्रांति अथवा परिवर्तन के विरोधी हो गए।

वर्ड्स्वर्थ ने अपने छात्रकाल ही में कविता लिखना प्रारंभ कर दिया था। सन् १७९३ में उनकी दो रचनाएँ 'ईवनिंग वाक' तथा 'डेस्क्रिप्टिव स्केचेज' प्रकाशित हुईं। इन दोनों कविताओं पर पोप और उनके संप्रदाय की स्पष्ट छाप है किंतु उनमें भी उनका मौलिक प्रकृति-निरीक्षण विद्यमान है। दो वर्ष उपरांत उनका कोलरिज से परिचय हुआ। क्योंकि वे एक दूसरे की विलक्षण प्रतिभा को भली भाँति समझते थे। उन दोनों में दृढ़ मैत्री हो गई, जिसके फलस्वरूप सन् १७९८ में उनकी संयुक्त रचना 'लिरिकल बैलड्स' प्रकाशित हुई जो स्वच्छंदतावाद संप्रदाय की प्रसिद्ध घोषणा है। उसी वर्ष वे अपनी बहन तथा कोलरिज के साथ जर्मनी गए और लौटने पर ग्रेस्मियर नामक गाँव में रहने लगे जो सन् १८१७ तक उनका निवासस्थान रहा। वहाँ से वे राइडल माउंट चले गए जहाँ वे जीवन के अंत समय तक रहे।

१८०२ ई० में उनका अपनी प्रेमिका मेरी हचिनसन से विवाह हुआ। १८१३ ई० में उनकी वेस्टमोरलैंड के लिये उन्हें वेतन तो मिलता था परंतु किसी प्रकार का काम नहीं करना पड़ता था। १८४२ ई० में सरकार ने उनका नाम अधिकारियों की सूची में संमिलित कर लिया और उनको नियमानुसार सेवावृत्ति अथवा पेंशन मिलने लगी। १८४३ ई० में वे राजकवि के पद पर नियुक्त हुए। २३ मार्च, १८५० ई० को उनका स्वर्गवास हो गया।

वर्ड्स्वर्थ की काव्य रचनाएँ बहुसंख्यक हैं। उन्होंने प्रायः सभी प्रकार की कविताएँ लिखीं। 'बार्डर्स' नामक एक दुःखांत नाटक भी लिखा। 'दि व्हाइट डो आव रिलस्टोन,' 'एक्सकर्शन' दी रिवर डडन,' 'एक्लाजिआस्टिकल सानेट्स,' तथा दि प्रिल्यूड' उनकी विशेष विख्यात कृतियाँ हैं।

उनकी फुटकर रचनाओं में 'टिंटर्न ऐबी', 'माइकेल', 'कैरक्टर ऑव दि हैपी वारियर', 'दि सॉलिटरी रीपर', 'ओड टु ड्यूटी', 'इम्मोर्टेलिटी ओड', 'रिजल्यूशन ऐंड इंडिपेंडेन्स', 'ले ओडेम्पिा', तथा 'गिल्ट ऐंड सॉ', उनकी अमर कृतियाँ हैं।

वर्ड्स्वर्थ में हास्य रस एवं नाटकीय प्रतिभा का अभाव था और उनकी वृत्तात्मक शक्ति भी प्रायः साधारण ही थी। उनकी कविता का सबसे बड़ा दोष विषमता है। किंतु यह सब दोष होते हुए भी वे अपने युग के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। उनका 'प्रिल्यूड' १९ वीं शताब्दी का सर्वोत्तम आत्मचरितात्मक महाकाव्य है। उनकी महत्ता इंगलैंड के

सबसे बड़े चतुर्दशपदी लेखकों में होती है। उनकी प्रतिभा विचारशील गीत काव्यात्मक थी। वे प्रकृति के सर्वोत्कृष्ट निरूपक तथा आध्यात्मिक कवि हैं। वे दार्शनिक समालोचक भी थे। 'लिरिकल बैलड्स' की प्रस्तावनाएँ और परिशिष्ट उनकी प्रसिद्ध समालोचनात्मक कृतियाँ हैं। सरलता, सौंदर्य, गौरव तथा ओज उनकी काव्यशैली के प्रमुख गुण हैं और अंग्रेजी कवियों में उनकी कीर्ति अमर है। [बी० एल० सा०]

वर्णमंडल सूर्य के वायुमंडल का निम्नस्तर, जो प्रकाशमंडल (photosphere) के ठीक ऊपर स्थित है उत्क्रमण मंडल (Reversing layer) कहलाता है। इस उत्क्रमण मंडल से ऊपर लगभग ११,२०० किमी० तक फैले हुए गोलीय मंडल को वर्णमंडल कहते हैं। पूर्ण सूर्यग्रहण के समय इस मंडल का वर्ण सिंदूरी (scarlet) होता है। यह वर्ण हाइड्रोजन के परमाणुओं द्वारा किए गए विकिरण की अधिकता के कारण उत्पन्न होता है।

वर्णमंडल तीक्ष्ण पट्टियों का बना होता है, जिन्हें कंटिकाएँ (spicules) कहते हैं। कंटिका घास के फलकों की भाँति एक दूसरे से लिपटी हुई दिखाई देती हैं। कंटिकाओं का अर्धव्यास कई सौ मील का होता है और ऊँचाई ८०० किमी० से १६,००० किमी० तक होती है। विषुवतीय प्रदेशों में कंटिकाओं की दिशाएँ प्रकाशमंडल की त्रिज्याओं का अनुसरण नहीं करती हैं। इसके विपरीत ध्रुवप्रदेश की अधिकांश कंटिकाएँ त्रिज्याओं की दिशा में ऊपर उठती हैं। ये कंटिकाएँ वर्णमंडल को सूर्य के साधारण चुंबकीय क्षेत्र से संबंधित करती हैं। यदि यह कल्पना की जाय कि सूर्य का चुंबकीय क्षेत्र द्विध्रुवी चुंबक के कारण है, जिसका अक्ष सूर्य के परिक्रामी अक्ष की दिशा में है, तो चुंबकीय क्षेत्र की रेखाएँ विषुवतीय प्रदेशों में त्रिज्याओं के साथ अधिक कोण बनाएँगी तथा ध्रुवीय प्रदेशों में वे त्रिज्याओं की दिशाओं का लगभग अनुसरण करेंगी।

विषुवतीय एवं ध्रुवी प्रदेशों की कंटिकाओं की रचनाओं में एक और भी महत्वपूर्ण अंतर है। ध्रुवीय कंटिकाएँ विषुवतीय कंटिकाओं की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से उत्पन्न होती हैं। ध्रुवीय कंटिकाएँ प्रकाश मंडल पर एक फफोले के रूप में प्रकट होती हैं, जिसका विस्तार शीघ्रता से बढ़ता जाता है और अंत में वह फट जाता है। उस समय कंटिका के शिखर से एक गैसीय धारा प्रचंड वेग से ऊपर की ओर उठती है, ज्यों ज्यों यह धारा ऊपर की ओर बढ़ती जाती है त्यों त्यों उसकी ज्योति घटती जाती है और साथ ही फफोला भी संकुचित होता हुआ विलीन हो जाता है। कंटिकाओं का औसत जीवन काल चार से पाँच मिनट होता है। कंटिकाओं के अवशेष पदार्थ पुनः वर्णमंडल में नहीं लौटते, वे किरीट में मिल जाते हैं।

सौरज्वाला (Prominences) — वर्णमंडल का पदार्थ कभी कभी तीव्र गति से ऊपर उठता हुआ, कभी कभी घने मेघों के समान वर्णमंडल के ऊपर छाया हुआ और कभी कभी वर्णमंडल की ओर गिरता हुआ दृष्टिगत होता है। वर्णमंडल के ऊपर उठी हुई गैसों की ये लपटें सौरज्वाला कहलाती हैं। सौरज्वालाएँ अनेक आकार एवं विस्तार में प्रकट होती हैं। सौरज्वाला जाल धागों की गुथी हुई गुच्छियों जैसी लगती है। मजुमदार (१९४८ ई०) के मतानुसार पूर्ण रूप से विकसित सौरज्वाला गैसों का एक तंतु है, जो औसतन् २०,००,००० किलोमीटर लंबा, ४,००० किमी० ऊँचा और ६,००० किलोमीटर के लगभग मोटा होता है। सूर्यबिंब के कोर पर सौरज्वालाएँ चाप के आकार की दिखाई देती हैं। सौरज्वाला में पदार्थों की गति ठीक फुहारे के जल के सदृश होती है। सौरज्वाला कितने ऊपर तक उठ सकती है, इसका अनुमान ४ जून,
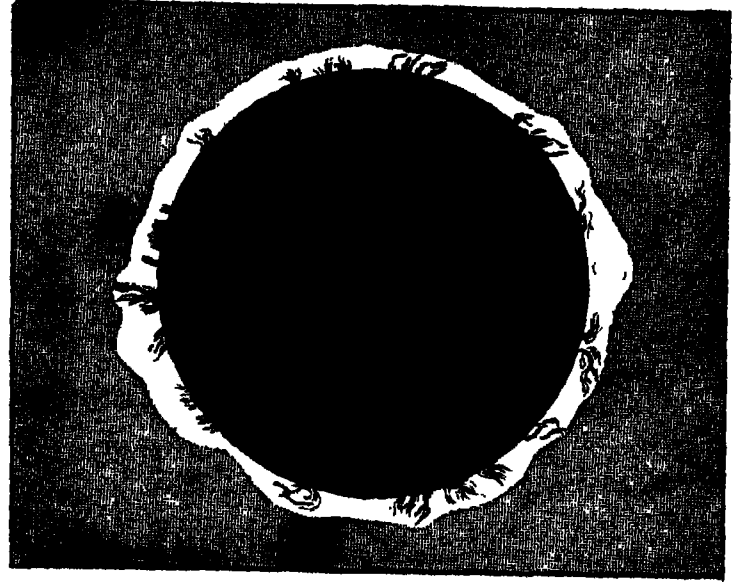
सूर्य के खग्रास ग्रहण पर वर्णमंडल
सौर ज्वाला की लपटें बाहर निकलती दिखाई पड़ रही हैं।

१९४६ ई० को हुए विस्फोट से लग सकता है। इस विस्फोट की गणना प्रचंड विस्फोटों में की जाती है। ठीक सूर्योदय के समय सूर्यबिंब की कोर पर प्रज्वलित गैस एक विशाल चाप के आकार में प्रकट हुई जिसकी ऊँचाई लगभग ६,४०० किलोमीटर थी। देखते ही देखते लगभग ३३ मिनटों में इसकी ऊँचाई ४,००,००० किलोमीटर हो गई। सौरज्वाला की ऊँचाई लगभग ६४,००,००० किलोमीटर प्रति घंटे की गति से बढ़ती गई और प्रथम प्रेक्षण के १ घंटे २० मिनट के पश्चात् चाप इतना ऊपर उठ गया कि वह दूरदर्शी के प्रेक्षण क्षेत्र से बाहर निकल गया। पटी (Petit) का मत है कि यह असंभव नहीं है कि यह चाप सूर्य के व्यास की ऊँचाई से भी ऊँचा उठ गया हो।

सौर ज्वालाओं का वर्गीकरण — सौर ज्वालाओं को लक्षण और विकास के विचार से पटी ने निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया है :

(१) सक्रिय (Active), (२) उद्गारी (Eruptive), (३) कलंक संबंधी, (४) सौरज्वाला भँवर (Tornado), (५) शांत, तथा (६) किरीटीय। इन वर्गों के नाम उनके लक्षणों के द्योतक हैं। इनमें से कुछ का वर्णन निम्नलिखित है :

(१) सक्रिय सौरज्वाला : के तीन अंतर्विभाग हैं : (क) अंतरासक्रिय, (ख) साधारण सक्रिय तथा (ग) किरीटीय। (क) अंतरासक्रिय सौरज्वाला दो, या दो से अधिक, सौर

ज्वालाओं का समूह होता है; (ख) साधारण सक्रिय सौर ज्वाला लिपटे हुए तंतुओं एवं ग्रंथियों के रूप में होती है; (ग) किरीटीय सक्रिय सौर ज्वाला किरीट के बाह्य खंडों से आती हुई दिखाई देती है।

(२) उद्गारी सौर ज्वाला गैसीय वर्णमंडल की ओर जाती हुई दृष्टिगत होती है।

(३) सूर्यकलंक संबंधी सौर ज्वाला सौर कलंकों के ऊपर विद्यमान रहती है। पटी ने इन्हें नौ वर्गों में विभक्त किया है, जो आकार और अन्य लक्षणों में एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

(४) सौर ज्वाला भँवर-तूफान में देखे जाते हैं और शंकु के आकार के होते हैं। अभी तक यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि किन बलों के कारण ये भँवर कई मास तक स्थायी रहते हैं। इनके संबंध की अनेक बातों के, जैसे सूर्य कलंक से संबंधित इनके आकार तथा रूप, ऊपर उठानेवाला बल आदि, के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

सौर ज्वाला के पदार्थों का घनत्व किरीटीय पदार्थों के घनत्व से लगभग १० गुना तथा ताप १/२०० गुना होता है। सौरज्वाला की गति का रहस्य अभी तक पूर्ण रूप से समझा नहीं जा सका है।

सं० ग्रं० — जी० पी० क्यूपर: दि सन; डी० एच० मेंजल: ग्रावर सन; ऐस्ट्रोफिज़िकल जर्नल; मंथली नोटिसेज़ ऑव रॉयल ऐस्ट्रोनॉमिकल सोसायटी। [प्र० ला० भ०]

वर्णांधता (Colourblindness) रोग में रोगी को विविध रंगों का बोध नहीं हो पाता है, जिससे उसकी रंगबोध की शक्ति साधारण व्यक्तियों के रंगबोध की शक्ति से कम होती है। यह रोग जन्म से हो सकता है, अथवा कतिपय रोगों के बाद उत्पन्न हो सकता है।

साधारण व्यक्ति रंग के हलकेपन, या गहरेपन, का भली भाँति बोध (perception) कर सकता है। पर इस रोग में व्यक्ति की, रंगों के गहरेपन का बोध या रंगों को पहचानने की शक्ति लुप्त हो जाती है।

स्पेक्ट्रम (spectrum) के एक रंग अथवा रंगों के मिश्रण के बोध के लोप होने के आधार पर रोग के पृथक् पृथक् वर्ग तथा उनके नाम भी हैं।

मनुष्य में समान रूप से रंग का बोध त्रिवर्णता (Trichromatism) के सिद्धांत से होता है। इस सिद्धांत के अनुसार रंग का बोध तीन रंगों के विविध मिश्रण से होता है। ये तीनों शुद्ध और मुख्य (primary) रंग हैं: लाल, हरा तथा नीला, जिनकी पृथक मात्रा के मिश्रण से सब प्रकार के रंग बन जाते हैं तथा इन पृथक रंगों का विशेष बोध दृष्टि द्वारा होता है (देखें मुखपृष्ठ)। यह त्रिवर्णता पुरुषों में प्राय: ९२ प्रति शत तथा स्त्रियों में ९९·५ प्रति शत सामान्य होती है। शेष पुरुषों तथा स्त्रियों में यह बोधशक्ति मानक से इस अर्थ में भिन्न होती है कि उन्हें पूरे स्पेक्ट्रम के बोध के लिये तीनों शुद्ध रंगों से कम रंगों या अधिक रंगों की आवश्यकता होती है। ऐसे व्यक्तियों को विकृत त्रिवर्णक (Anomalous Trichromats) कहते हैं, जिनको सामान्य व्यक्तियों की तुलना में रंगबोध के लिये तीनों शुद्ध रंगों की विभिन्न अनुपात में आवश्यकता पड़ती है। जिन व्यक्तियों में तीन के स्थान पर दो, या एक ही रंग द्वारा रंगबोध होता है, वे क्रमश: द्विवर्णक (Dichromates) तथा एकवर्णक (Monochromates) कहलाते हैं। वर्णांधता का विकार सबसे अधिक एकवर्णिक (monochrmatic) व्यक्तियों में, इनसे कम द्विवर्णिक (dichromatic) व्यक्तियों में तथा अंत में सबसे कम त्रिवर्णिक (trichormatic) व्यक्तियों में पाया जाता है। जिन व्यक्तियों को लाल तथा हरे रंगों का बोध नहीं होता, उन्हें लाल एवं हरा वर्णांध तथा पीले एवं नीले रंगों का बोध न होने पर पीला एवं नीला वर्णांध आदि कहते हैं।

जन्म के वर्णांध को हरे रंग की मात्रा की सबसे अधिक आवश्यकता पड़ती है तथा ऐसे व्यक्ति को हल्के हरे और पीले रंग के अलग अलग बोध में कठिनाई पड़ती है। कुछ व्यक्तियों को लाल रंग का बोध नहीं होता है, अत: ऐसे व्यक्तियों को इस वर्णांधता के कारण सामान्य जीवन में बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती है। यह सच है कि ऐसा वर्णांध व्यक्ति रंग की विविध गहराई, चमक, तथा आकार से ही वस्तुओं को पहचान लेने की शक्ति उत्पन्न कर लेता है, लेकिन ऐसा व्यक्ति ठीक ठीक रंग पहचानने के ज्ञान पर निर्भर विषयों पर निश्चय लेने में गलती करता है, जिसका भीषण परिणाम हो सकता है, उदाहरणार्थ ट्रैफिक सिगनल पहचानने की गलती आदि।

कभी कभी नेत्ररोग, जैसे दृष्टितंत्रिका (optic nerve) विकार या मस्तिष्क विकार, के कारण वर्णांधता उत्पन्न हो जाती है, जो उचित उपचार द्वारा दूर की जा सकती है, पर जन्म की वर्णांधता का कोई उपचार नहीं है [उ० शं० प्र०]

वर्तनांकमापी या अपवर्तनांकमापी (Refractometer) अपवर्तनांक (refractive index) को मापने का प्रकाशीय उपकरण है। शून्य में और किसी पदार्थ में प्रकाश के वेगों का अनुपात उस पदार्थ का अपवर्तनांक कहलाता है। इसे ज्या आ/ज्या अ, $\left(\frac{\sin i}{\sin r}\right)$ द्वारा निर्दिशित करते हैं, जहाँ आ (i) और अ (r) क्रमश: आपतन (incidence) और अपवर्तन के कोण हैं। पदार्थ आपाती किरणपुंज को अपने पथ से कितना विचलित कर सकता है, इसकी माप अपवर्तनांक है। किसी पदार्थ का अपवर्तनांक आपाती प्रकाश के तरंगदैर्घ्य, ताप और दाब पर निर्भर करता है। अपवर्तनांक की तरंगदैर्घ्य पर निर्भरता पदार्थों में वर्णविक्षेपण (dispersion) का गुण उत्पन्न करती है। काँच के प्रिज्म के वर्ण विक्षेपण गुण का उपयोग करते हुए, न्यूटन ने अपने ऐतिहासिक प्रयोग द्वारा निर्दिशित किया था कि श्वेत सूर्य प्रकाश सात रंगों से बना है (देखें फलक)। अपवर्तनांकमापी मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं: (१) व्यतिकरण प्ररूप के (interference type) और (२) विचलन (deviation) प्ररूप के।

(१) **व्यतिकरण अपवर्तनांकमापी** — इस प्ररूप के अपवर्तनांकमापियों का सामान्य सिद्धांत इस प्रकार है: यदि किसी एकवर्णी (monochromatic) प्रकाश के किरणपुंज को दो संबद्ध (coherent) किरणपुंजों में रेखाछिद्र (slit) आदि से विभाजित

कर दिया जाय और भिन्न पथों पर चलनेवाले इन दो पुंजों को अध्यारोपित (superimposed) होने दिया जाय, तो व्यतिकरण फ्रिंजें (fringes) बनती हैं (देखें व्यतिकरणमापी)। अब यदि μ अपवर्तनांक का पारदर्शी पदार्थ व्यतिकारी किरणपुंजों के मार्ग में प्रविष्ट कराया जाय और दूसरे किरणपुंज को μ_0 अपवर्तनांक के मूल माध्यम में ही तुलनीय दूरी तक जाने दिया जाय, तो किरणपुंजों के अध्यारोपण के सभी बिंदुओं पर पुंजों के पथांतर (path difference) के बदलाव के कारण फ्रिंजों में पार्श्वीय विस्थापन (lateral displacement) होगा। उन बिंदुओं का, जिनपर किरण पुंज कला (phase) में अधिकतम तीव्रता में है, अर्थात् फ्रिंज बनाने की स्थिति में है, बिंदुपथ परिवर्तित हो जाता है और फलतः फ्रिंजों का विस्थापन होता है। फ्रिंजों के विस्थापन की मात्रा स्पष्ट ही एक किरणपुंज के परिवर्तित प्रकाशीय पथ की लंबाई पर, और इसलिये $(\mu-\mu^0)$ पर, निर्भर करती है। चूँकि फ्रिंजों के क्रम में एक का बदलाव, अर्थात् एक फ्रिंज अंतराल का पार्श्विक विस्थापन, एक तरंगदैर्घ्य से किरणपुंजों के सापेक्ष मंदन (relative retardation) के तदनुरूपी होता है, इसलिये प्रेक्षित न (n) फ्रिंजों का विस्थापन अपवर्तनांक μ से इस सूत्र के अनुसार संबद्ध है :

$$\mu-\mu_0=\frac{\lambda न}{म}, \left[\mu-\mu_0=\frac{\lambda n}{t}\right]$$

इसमें λ प्रकाश का तरंगदैर्घ्य है और म (t) मध्यस्थ पदार्थ की मोटाई है। λ, न, म और μ_0 ज्ञात रहने पर मध्यस्थ पदार्थ का अपवर्तनांक μ इस अपवर्तनांकमापी द्वारा ज्ञात किया जा सकता है।

(क) रेलि (Rayleigh) का अपवर्तनांकमापी — इसका उपयोग गैसों और द्रवों के अपवर्तनांक ज्ञात करने में प्रचुरता से होता है। चित्र १. में इसके अनिवार्य अंशों का आरेखी निदर्शचित्र प्रस्तुत किया गया है। चित्र १(क) में अनुविक्षेप दृश्य है। रेखाछिद्र उद्गम (slitsource) से प्राप्त प्रकाश लंबी फोकस दूरी के अवर्णक (achromatic) लेंस ल₁ द्वारा समांतरित (collimated) होकर लगभग एक सेंमी० के अंतर पर स्थित दो चौड़े रेखाछिद्रों, या द्वारकों
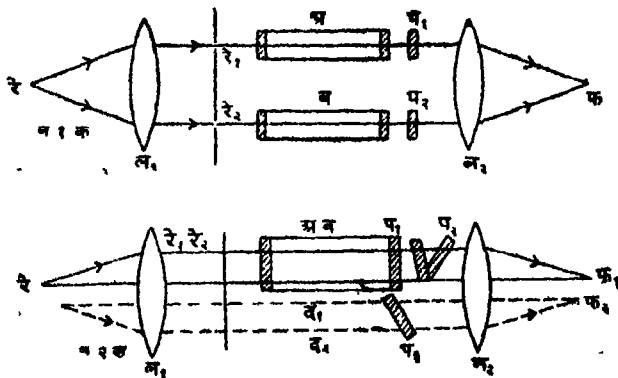
चित्र १. रेले का अपवर्तनांकमापी

१. क अनुविक्षेप तथा १ ख संमुख दर्शन चित्र।

(apertures), में से गुजारा जाता है। यह युक्ति आपतित (incident) तरंगाग्र (wave front) को दो बराबर आयामों (amplitudes) के भागों में बाँटती है, जो समांतर नलिकाओं अ और ब में और जामें की प्रतिकारी प्लेटों (Jamin's compensating plate), प₁ और प₂, में से निकलकर अवर्णक लेंस ल₂ के फोकस समतल में पुनः संयुक्त होते हैं, जिससे व्यतिकरण फ्रिंजें बनती हैं। फ्रिंजों को उच्च आवर्धन (magnification) के बेलनी लेंस (cylindrical lens) द्वारा देखा जा सकता है। स्पष्ट है कि इन फ्रिंजों के निर्माण में तरंगाग्र का विभाजन समाविष्ट है, न कि आयाम (amplitude) का।

चित्र १ (ख) अपवर्तनांकमापी का संमुख दर्शन चित्र है। दृश्य क्षेत्र के ऊपरी आधे भाग में अ और ब नलिकाएँ हैं, जिनमें वह नमूना (sample) भरा होता है जिसका अध्ययन अपेक्षित है। नत (tilted) काँच प्लेट प₃ की सहायता से बिंदुरेखा द्वारा निर्दशित किरणपुंजों, द₁ और द₂, में, जो दृश्य क्षेत्र के निम्नार्ध भाग में चक्रमण करते हैं, सापेक्ष पथांतर निर्मित किया जा सकता है। ल₂ के फोकसतल के निम्नार्ध क्षेत्र में, अर्थात् फ₁ में, फ्रिंज निकाय (system), जिसका संदर्भ निकाय के रूप में उपयोग हो सकता है, बनता है। यह ऊपरी अर्धभाग में बने फ्रिंजों के समान होता है। प्लेट प₃ को ठीक प्रकार से नत करने पर फ₂ में स्थित फ्रिंजों के संदर्भ निकाय को फ₁ में स्थित सर्पी (movable) फ्रिंज निकाय के निकट लाया जा सकता है। निम्नार्ध की फ्रिंजें संदर्भ स्थिर रेखाओं का काम करती हैं। इनके सापेक्ष ऊर्ध्वार्ध की फ्रिंजों का विस्थापन सुविधापूर्वक, दुविधारहित और यथार्थतापूर्वक मापा जा सकता है।

प₁ और प₂ लघुकोण पर नत समरूप (similar) काँच के प्लेट हैं और ऊर्ध्वार्ध भाग के दो व्यतिकारी किरणपुंज, अ और ब नलिकाओं में से पारित होने के बाद, इन दो प्लेटों में से अलग अलग पारित होते हैं। जिस गैस का अध्ययन करना होता है, उसे दो सर्वसम नलिकाओं अ और ब में भर देते हैं। गैस के घनत्व या सांद्रता पर निर्भर रूप से अपवर्तनांक में होनेवाले विचरण के कारण यदि नलिकाओं में विभेदक गैस भराव (differential gas filling) हो, तो उनमें से गुजरनेवाले किरणपुंजों में स्पष्ट रूप से सापेक्ष पथांतर उत्पन्न हो जायगा। प्लेट प₁ और प₂ को जरा सा घूर्णित करने से, इनमें से किसी एक किरणपुंज के पथ में पथांतर उत्पन्न होता है, जिससे विभेदक गैसभराव के कारण उत्पन्न सापेक्ष मंदन का प्रतिकार होता है। इस रीति से जिस तरंगदैर्घ्य λ के लिये गैस का अपवर्तनांक ज्ञात करना है, उसके प्रति अंश घूर्णन के साथ फ्रिंज विस्थापन यथार्थतापूर्वक माप लिया जाता है। अंतिम प्रेक्षण श्वेत प्रकाश फ्रिंजों के साथ किए जाते है, क्योंकि केंद्रीय श्वेत-प्रकाश-फ्रिंज के उपयोग से जामें प्रतिकारक (Jamin's compensator) प₁ प₂ द्वारा पुनः स्थापित किया जानेवाला यथार्थ प्रकाशीय पथ निस्संदिग्ध रूप से निर्धारित किया जा सकता है। अब यदि इनमें से एक नलिका को निर्वात किया (evacuate) जाय, अर्थात् यदि संगत अपवर्तनांक $\mu_0 = १$, तो ऊर्ध्वार्ध की फ्रिंजें विस्थापित होंगी। प्रतिकारक को उपयुक्त और समुचित रूप से घूर्णित करके विस्थापित फ्रिंजें अपनी अपनी मूल स्थितियों में, निम्नार्ध की फ्रिंजों के स्थिर तंत्र के संदर्भ के उपयोग से, लाई जा सकती हैं। यह घूर्णन प्रत्यक्ष रूप से अभीष्ट फ्रिंज विस्थापन न बताता है, क्योंकि प्रतिकारक पहले से λ के लिये अंशांकित (calibrated) है। इस प्रकार फ्रिंज विस्थापन न ज्ञात होने पर और नलिका की लंबाई म माप कर गैस का अपवर्तनांक

सूत्र ($\mu - १$) = $\frac{\lambda \text{ स}}{\text{ल}}$ से ज्ञात किया जा सकता है। चूंकि फ्रिंज के $\frac{१}{१०}$वें भाग का विस्थापन मापा जा सकता है, अतः १०० सेंमी लंबी नलिका के उपयोग से अपवर्तनांक में १×१०^{-८} का परिवर्तन पहचाना जा सकता है।

(ख) जामें अपवर्तनांकमापी — इस अपवर्तनांकमापी में अपवर्तनांक मापने के लिये समान नति के ब्रूस्टर फ्रिंजों का उपयोग किया जाता है। ब्रूस्टर फ्रिंज तब बनते हैं जब आपस में अल्प नत दो समरूप (identical) समतल समांतर प्लेटों से परावर्तित होकर प्रकाश लौटता है। चित्र २. में जामें के व्यतिकरण का आरेखी
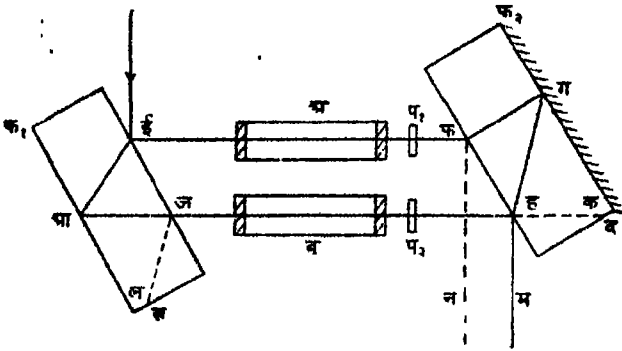
चित्र २. जामें का व्यतिकरण अपवर्तनांकमापी

निदर्श चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिसमें ४५° आपतन के तदनुरूपी ब्रूस्टर फ्रिंजों का अध्ययन किया गया है। दो समरूप मोटे काँच के प्लेट स और द आपस में अल्पनत (लगभग समांतर) स्थापित किए जाते हैं। प्लेटों के फ₁ और फ₂ फलक घने रजतित (silvered)होते हैं। प्लेट स के ई बिंदु पर प्रकाश का एक समांतरित सँकरा किरणपुंज ४५° कोण पर आपतित होता है। ई पर परावर्तन और पारगमन (transmission) के कारण यह दो संबद्ध (coherent) किरणपुंजों में विभाजित हो जाता है। आरेख से स्पष्ट है कि परावर्तित और पारगमित किरणपुंज क्रमशः ई फ ग ह और ई आ ज ह पथों पर संक्रमण (traverse) करने के बाद म ह दिशा में समान तीव्रता के दो किरणपुंजों के रूप में ह पर पुनः संयोग करते हैं। इस प्रकार से समान नति की सरल रेखाफ्रिंजें बनती हैं (म ह दिशा में), जिन्हें अनंत पर स्थापित दूरदर्शक द्वारा देखा जा सकता है। जल, ह क और फ न जैसे किरणपुंजों को सुविधानुसार रोकों द्वारा काटकर अवांछनीय प्रभाव को बचाया जाता है। प्लेट प₁ और प₂ जामें प्रतिकारक कहलाते हैं। अ और ब नलिकाओं को पहले निर्वातित किया जाता है और श्वेत प्रकाश के प्रयोग से केंद्रीय अवर्णक श्वेत प्रकाश फ्रिंज को दूरदर्शक के क्रॉसतार (cross wire) से संपाती (coincide) कराया जाता है। अब यदि इनमें से एक नलिका में गैस भर दी जाय, तो व्यतिकारी किरणपुंजों में से एक के परिवर्तित प्रकाशीय पथ के कारण फ्रिंजें विस्थापित हो जाएँगी। प्रतिकारक की सहायता से (जैसे रेलि अपवर्तनांकमापी में) फ्रिंजों को अपनी अपनी मूल स्थिति में लाया जाता है। प्रतिकारक पहले से ही λ तरंगदैर्घ्य के अवर्णक प्रकाश द्वारा, जिसमें गैस का अपवर्तनांक ज्ञात करना है, समांतरित किया रहता है। इस प्रकार न, λ और ल के ज्ञात हो जाने पर गैस का अपवर्तनांक गणना द्वारा मालूम हो जाता है।

(ग) प्रकाश सेल (Photo cell) अपवर्तनांकमापी — कोई भी व्यतिकरण-अपवर्तनांकमापी, जिसमें नेत्रों के बजाय प्रकाश-वैद्युत-सेल प्रकाशसंसूचक (detector) के रूप में प्रयुक्त हो रहा हो, स्वचालित अभिलेखन युक्ति के रूप में काम आ सकता है। ऐसे उपकरण विज्ञान और उद्योग में प्रवाही गैसों और द्रवों के अपवर्तनांक के अल्प परिवर्तनों की संसूचना के लिये काम आ सकते हैं।

(घ) फैब्री पेरॉट (Fabry Perot) अपवर्तनांकमापी — फैब्री पेरॉट व्यतिकरणमापी का उपयोग प्लेटों के बीच स्थित माध्यम, अर्थात् हवा, का अपवर्तनांक ज्ञात करने के लिये भी हो सकता है। निर्वात में तथा हवा या गैस के प्रविष्ट हो जाने पर, नए प्रकाशपथ में प्लेटों का यथार्थ मापीय अलगाव (metrical separation) निर्धारित करके अपवर्तनांक आसानी से ज्ञात किया जा सकता है। इसमें समाननति की बहुकिरणपुंज फ्रिंजें अत्यंत तीक्ष्ण (sharp) होती हैं, अतः अपवर्तनांक के मापन में अत्यधिक यथार्थता संभव है। उदाहरणार्थ, लाल कैडमियम रेखा के लिये हवा का अपवर्तनांक (७६ सेंमी० पारे के दबाव, १५ से० ताप और ०.०३ प्रति शत कार्बन डाइआक्साइड अंश पर) बैरेल और सियर्स (Barrell and Sears) द्वारा १.०००२७६३८० मापा गया है।

उपर्युक्त व्यतिकरण-अपवर्तनांकमापी गैसों के अपवर्तनांक मापने के लिये अनिवार्य हैं। ये पारदर्शी द्रव और ठोसों के लिये भी उपयोगी हैं। व्यतिकरणमापी विधियों से अत्यंत तनु विलयनों में पदार्थों की सांद्रता बड़ी सुविधा से ज्ञात हो सकती है।

१० लाख में एक अंश तक की कोटि का अपवर्तनांक में विचरण व्यतिकरण अपवर्तनांकमापी द्वारा आसानी से पहचाना जा सकता है। इनका उपयोग विस्फोटन निवारण युक्ति के रूप में कोयले की खानों में हवा में मेथेन (Methane) के १ प्रति शत अल्पांश (traces) को पहचानने के लिये किया गया है। हवा के औद्योगिक विश्लेषण में भी अपवर्तनांकमापी बहुत काम आते हैं।

२ विचलन प्ररूप के अपवर्तनांकमापी — अपवर्तनांक ज्ञात करने के लिये अपवर्तनांक के कारण आपाती किरणपुंज का विचलन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन उपकरणों द्वारा मापा जाता है। स्नेल (Snell) का अपवर्तन का नियम अर्थात् $\mu = \frac{\text{ज्या आ}}{\text{ज्या अ}}$ है, जिसमें आ और अ क्रमशः आपतन और अपवर्तन के कोण हैं। इनमें से मुख्य अपवर्तनांकमापियों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है :

(क) प्रिज्मीय अपवर्तनांकमापी — इस विधि में उस पारदर्शक पदार्थ को जिसका अपवर्तनांक ज्ञात करना है, जैसे काँच, प्रिज्म के रूप में लिया जाता है। स्पेक्ट्रमितीय प्ररूप के उपकरण में अभीष्ट तरंगदैर्घ्य λ की प्रकाश किरणें सँकरे रेखाछिद्र से निकलती हैं और उपयुक्त लेंस तंत्र द्वारा समांतरित होती हैं। प्रिज्म द्वारा अपवर्तित किरणों का स्थाननिर्धारण एक समुचित रूप से समायोजित

(adjusted) दूरदर्शक द्वारा होता है। यह आसानी से दिखाया जा सकता है कि न्यूनतम विचलन के प्रतिबंधों में, अर्थात् जब आपाती
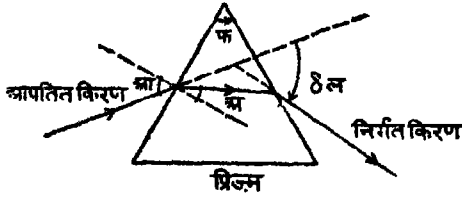
चित्र ३ अपवर्तनांक मापने की प्रिज्मीय रीति

और निर्गत (emergent) किरणों के बीच का कोण न्यूनतम होता है (देखें चित्र ३) प्रिज्म के पदार्थ का अपवर्तनांक $\mu = \frac{\text{ज्या } \frac{\text{क} + \delta \text{ न}}{२}}{\text{ज्या } \frac{\text{क}}{२}}$

होता है, जिसमें क प्रिज्म के अपवर्ती फलकों के बीच का कोण और δन न्यूनतम विचलन का कोण है। सममित रूप से समायोजित प्रिज्म के दो अपवर्ती फलकों से रेखाछिद्रों के परावर्तित प्रतिबिंबों की स्थिति निर्धारित करके प्रिज्म का कोण आसानी से मापा जा सकता है। न्यूनतम विचलन का कोण प्रिज्म के अद्वितीय दिक्‌विन्यास (unique orientation) के तदनुरूपी होता है और यदि प्रिज्म को घूर्णित करके आपतन के कोण को जरा भी बढ़ाया जाय, तो अपवर्तन किरण 'वापस लौटने' की स्थिति में होती है। इस प्रकार यह कोण यथार्थ रूप से मापा जा सकता है और μ की गणना की जा सकती है।

(ख) पूर्ण परावर्तन अपवर्तनांकमापी — प्रकाश जब एक घने माध्यम से विरल माध्यम मे जाता है और आपतन का कोण क्रांतिक कोण से अधिक होता है, अर्थात् उसका तदनुरूपी अपवर्तन कोण ९०° होता है, तब प्रकाश पूर्णतया घने माध्यम में परावर्तित हो जाता है। अतः आपतन के ठीक क्रांतिक कोण पर विरल माध्यम का घने माध्यम के संदर्भ में अपवर्तनांक स्नेल के नियम के अनुसार $\mu = \frac{\text{ज्या आ}_\text{क}}{\text{ज्या } ९०^\circ}$ = ज्या $\text{आ}_\text{क}$ होता है। अतः इस अपवर्तनांकमापी में आपतन का क्रांतिक कोण यथार्थता से माप कर १/μ ज्ञात किया जाता है, विरल
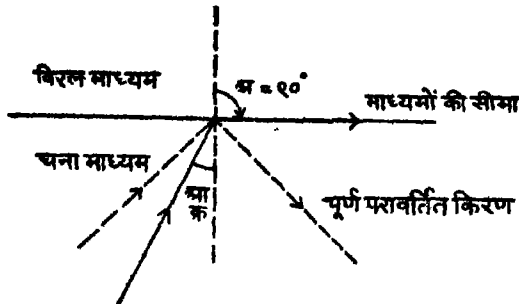
चित्र ४. पूर्ण परावर्तन का सिद्धांत
यह परावर्तन घने माध्यम से विरल माध्यम में जानेवाली प्रकाशकिरण का माध्यमों की सीमा पर होता है।

माध्यम की तुलना में घने माध्यम का अपवर्तनांक होता है। आपतन के क्रांतिक कोण पर अपवर्तित किरण दोनों माध्यमों की सीमा पर पृष्ठसर्पण (grazing) करती है। दूरदर्शक की सहायता से इस सीमा पर अँधेरे और उजाले क्षेत्रों के बीच एक तीक्ष्ण क्रांतिक सीमा देखी जा सकती है। यह स्पष्ट प्रेक्षण विलोमतः क्रांतिक कोण और उसके द्वारा १/μ के निर्धारण में काम आता है। इस विधि से पानी का अपवर्तनांक हवा के संदर्भ में पानी तथा हवा के पार्थक्यपृष्ठ (interface) पर उचित प्रेक्षणों द्वारा सरलता से ज्ञात हो सकता है।

(ग) ऐबि (Abbe) अपवर्तनांकमापी — यह भी, जो सुधरे हुए रूप में बहुत प्रचलित है, क्रांतिक कोण उपकरण है। यह मुख्यतः घने फ्लिंट काँच के दो समान प्रिज्मों (जिनके कोण ३०°, ६०° और ९०° होते हैं) से बना होता है, इनके कर्णफलक सटे हुए होते हैं और बीच में अपवर्ती द्रव की एक पतली परत होती है। एक एकवर्णी प्रकाश-किरणपुंज दर्पण से परावर्तित होकर, प्रिज्म $\text{प}_१$ के लघुफलक पर पड़ती है, जिससे इसका कुछ भाग $\text{प}_२$ के लघुफलक से निर्गत होता है। स्पष्ट ही, प्रिज्म $\text{प}_२$ में, किरणपुंज अधिकतम अपवर्तन कोण और अतः $\text{प}_२$ से निर्गत हो सकनेवाले प्रकाश
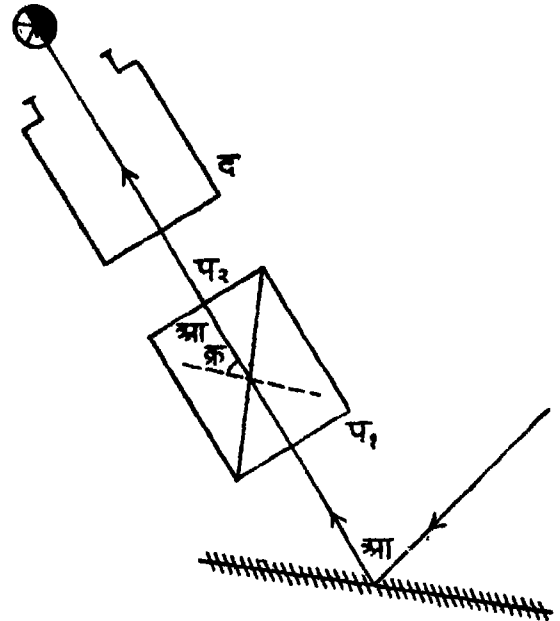
चित्र ५. ऐबि के अपवर्तनांकमापी का आरेखी चित्र

की सीमांत दिशा (limiting direction) उस स्थिति की तनुरूपी है जिसमें आपाती किरणपुंज द्रव परत और प्रिज्म $\text{प}_२$ के कर्णपृष्ठ की सीमा पर पृष्ठसर्पण करता है। अपवर्तन का सीमांत कोण स्पष्ट ही काच और द्रव के लिये आपतन का क्रांतिक कोण है।

प्रिज्मों से निर्गत होनेवाले प्रकाश को ग्रहण करने के लिये एक दूरदर्शक द का उपयोग किया जाता है, जिसे एक उपयुक्त अक्ष पर घुमा कर सीमांत दिशा प्राप्त की जा सकती है। स्पष्ट है कि इस क्रांतिक दिशा के उच्चकोण पार्श्व में अंधकार होगा और निम्नकोण पार्श्व में प्रकाशित क्षेत्र होगा, जैसा कि चित्र ५, में दिखाया गया है। स्पष्ट है कि उपर्युक्त प्रेक्षणों को प्रिज्मों के दो समुचित सममित दिक्‌विन्यासों में लेने पर, क्रांतिक कोण यथार्थता से निर्धारित हो सकता

है, जिससे परिबद्ध द्रव परत के अपवर्तनांक की गणना की जा सकती है।

चूँकि अपवर्तनांक, और अतः क्रांतिक कोण, प्रकाश के तरंगदैर्घ्य पर निर्भर करता है, इसलिये सफेद प्रकाश का उपयोग करने पर छायाकोर (shadow edge) अस्पष्ट और रंगीन होता है। छाया को अवर्णीकृत (जैसे पीले सोडियम प्रकाश के अनुरूप), और वर्ण-प्रभाव को किसी बराबर परंतु विपरीत प्रकीर्णन (dispersion) द्वारा निष्प्रभावित, किया जा सकता है। यह प्रकीर्णन दो प्रत्यक्ष दृष्टि प्रिज्मों (चित्र में प्रदर्शित नहीं) द्वारा प्राप्त होता है।

निचले प्रिज्म को हटाकर, ऊपरी प्रिज्म के कर्णफलक पर पदार्थ को रखकर, और किसी उच्च अपवर्तनांक के द्रव की पतली परत को पृष्ठों के बीच रखकर ऐबि अपवर्तनांकमापी का उपयोग ठोसों का अपवर्तनांक ज्ञात करने के लिये हो सकता है। इसका उपयोग पारभासी (translucent) पदार्थों, जैसे तेल, मक्खन, मुरब्बा (jam) आदि, का अपवर्तनांक ज्ञात करने में भी हो सकता है। उपकरण का सबसे बड़ा लाभ यह है कि द्रव प्रतिदर्श (sample) की चंद बूँदों से ही काम चल जाता है और पाँच मिनट से भी कम समय में अपवर्तनांक ज्ञात हो जाता है। उपकरण का परास प्रिज्म के अपवर्तनांक द्वारा सीमित होता है और प्रायः १.३ से १.७ तक के अपवर्तनांक ही निर्धारित हो सकते हैं।

(ब) पुल्फ्रिक (Pulfrich) अपवर्तनांकमापी — यह क्रांतिक कोण अपवर्तनांकमापी बिल्कुल उसी सिद्धांत पर आधारित है जिसपर ऐबि अपवर्तनांकमापी निर्मित है। प्रायोगिक व्यवस्था और विधि भी लगभग ऐबि अपवर्तनांकमापी जैसी ही है।

परिशुद्ध अपवर्तनांकमिति में अनेक कारकों को, जिनके प्रति अपवर्तनांक बड़ा ही संवेदनशील है, जैसे ताप, प्रकाश का तरंगदैर्घ्य, और दाब (गैसों के लिये) को, यथार्थतापूर्वक नियंत्रित और निर्दिष्ट करना पड़ता है। अपवर्तनांक लगभग सदैव ही पीली सोडियम रेखाओं के औसत तरंगदैर्घ्य (५,८९३° A) के संदर्भ में बताया जाता है।

सं० ग्रं० — डिक्शनरी ऑव् ऐप्लाइड फ़िज़िक्स, भाग ४ (१९२३), सर ग्लेज़बुक द्वारा संपादित; ए० वाइसबर्गर: फिजिकल मेथड्स ऑव ऑर्गेनिक केमिस्ट्री, भाग १, अध्याय १६, द्वितीय संस्करण (१९४९); मॉडर्न इंटरफियरोमीटर्स (१९५१) ए० सी० कैंडलर : [वि० कु० श्री०]

वर्धा १. ज़िला, यह भारत के महाराष्ट्र राज्य का जिला है। इस जिले का क्षेत्रफल २,४२६ वर्ग मील तथा जनसंख्या ६,३४,२७७ (१९६१) है। हिंगणघाट तथा पुलगाँव में सूती वस्त्र की मिलें हैं। यह मराठी भाषाभाषी जिला है।

२. नगर, नागपुर से ५० मील दूर दक्षिण-पश्चिम में स्थित यह नगर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के आश्रम के कारण प्रसिद्ध है। यहाँ की जनसंख्या ४९,११३ (१९६१) है। यह नगर उपर्युक्त जिले का मुख्यालय है। [भ० ना० मे०]

३. नदी — भारत में मध्य प्रदेश राज्य की मध्य सतपुड़ा पर्वत-श्रेणी से नागपुर नगर से ७० मील उत्तर-पश्चिम से निकलती है। मुख्यतः दक्षिण-पूर्व दिशा में यह महाराष्ट्र राज्य से होकर महाराष्ट्र-आंध्र प्रदेश सीमा पर, चाँदा जिले (महाराष्ट्र राज्य) के सिवनी स्थान पर, वेनगंगा नदी से मिलती है। इन दोनों के संगम के बाद नदी का नाम प्राणहिता हो जाता है, जो गोदावरी नदी की सहायक नदी है। वर्धा नदी की मुख्य सहायक नदी पेनगंगा है। यह नदी एक कपास उत्पादक क्षेत्र के मध्य से बहती है। वर्धा नदी की कुल लंबाई २९० मील है। [रा० ना० मा०]

वर्ष देश और काल का एक निश्चित विभाग वर्ष कहलाता है। पौराणिक दृष्टि के अनुसार यह पृथिवी जंबू-प्लक्ष-शाक-कुश-क्रौंच-पुष्कर शाल्मलि नामक सात द्वीपों में विभक्त है, प्रत्येक द्वीप कई वर्षों में विभक्त है। यथा—जंबू के ९, प्लक्ष के ७, शाल्मलि के ७, कुश के ७- क्रौंच के ७, शाक के ७ तथा पुष्कर के २ वर्ष हैं। इन वर्षों में बहनेवाली नदियाँ एवं पर्वत आदि भी पुराणों में उक्त हुए हैं (द्र० पुराणों का भुवनकोश प्रकरण)। पुराणों में इन वर्षों के नाम, उनके अधिपति के नाम के साथ उक्त हुए हैं। उदाहरण के लिये जबूद्वीप के ९ वर्षों के नाम यहाँ दिए जा रहे हैं — भरत, किंपुरुष, हरि, रम्यक, हिरण्मय, कुरु या उत्तरकुरु, इलावृत, भद्राश्व और केतुमाल।

संवत्सरवाची वर्ष शब्द भी है। शतपथ ब्राह्मण २।२।३ इसके लिये द्रष्टव्य है। इस वर्ष के भी चांद्र, सौर आदि भेद हैं। विद्वानो का अनुमान है कि वेदकाल में वर्ष सौर था (भारतीय ज्योतिष, पृ० ४३)। चांद्र वर्ष में लगभग ३५४ दिन तथा सौर में ३६५.२४२२ दिन होते हैं। (दे० पंचांग)।

वैदिक परंपरा में सहस्र वर्षव्यापी यज्ञों का उल्लेख है। ऐसे स्थलों में वर्ष का तात्पर्य दिन है — ऐसा मीमांसकों का मत है। पुराणों में जो अनेक 'वर्ष सहस्र' राज्य करने का उल्लेख मिलता है, वहाँ भी वर्ष का अर्थ दिन लिया जाता है। इस विषय में मीमांसादर्शन का षष्ठ अध्याय, सप्तम पाद विशेषतः द्रष्टव्य है। रामराज्य-परिमाण, प्रदर्शक वाक्य (दशवर्षसहस्राणि, बालकांड १।९८) की व्याख्या में कई टीकाकारों ने वर्ष = दिन माना है।

[रा० शं० भ०]

वर्षा (Rainfall) वायु में मिला जलवाष्प शीतल पदार्थों के संपर्क में आने से संघनन (condensation) के कारण ओसांक तक पहुँचता है। जब वायु का ताप ओसांक से नीचे गिर जाता है, तब जलवाष्प पानी की बूँदों अथवा ओलों के रूप में धरातल पर गिरने लगता है। इसी को वर्षा कहते हैं। किसी भी स्थान पर किसी निश्चित समय में बरसे हुए जलकणों तथा हिमकणों से प्राप्त जल की मात्रा को वहाँ की वर्षा की माप कहते हैं। गरमी के कारण उत्पन्न जलवाष्प ऊपर आकाश में जाकर फैलता है एवं ठंढा होता है। अतः जैसे जैसे वायु ऊपर उठती है, उसमें जलवाष्प धारण करने की क्षमता कम होती जाती है। यहाँ तक कि अधिक ऊपर उठने से वायु का ताप उस अंक तक पहुँच जाता है, जहाँ वायु जलवाष्प धारण कर सकती है। इससे भी कम ताप हो जाने पर, जलवाष्प जलकणों में परिवर्तित हो जाता है। इसी से बादलों का निर्माण होता है। फिर बादल जल के कारण धरातल पर बरस पड़ते हैं। जलकण

बनने के उपरांत भी यदि वायु का ताप कम होते होते हिमांक से भी कम हो जाता है, तो जलकरण हिमकणों का रूप धारण कर लेते हैं, जिससे हिमवर्षा होती है। वर्षा के लिये दो बातें आवश्यक हैं : १. हवा में पर्याप्त मात्रा में जलवाष्प का होना, तथा २. वाष्प से भरी हवाओं का शीतल पदार्थों के संपर्क में आने से ठंढा होना और ओसांक तक पहुँचना।

वर्षा तीन प्रकार की होती है :

१. **संवहनीय वर्षा** (Convectional rain) — इस प्रकार की वर्षा अधिकतर भूमध्यरेखीय प्रदेशों में प्रायः प्रति दिन होती है। भूमध्यरेखा पर अधिक गरमी पड़ने से समुद्रों से प्रचुर मात्रा में जलवाष्प बनकर वायु में मिला करता है; गरमी और वाष्प के कारण आर्द्र वायु हल्की होकर ऊपर उठती है और इसका

चित्र १. संवहनीय वर्षा

स्थान ग्रहण करने के लिये अन्य हवाएँ आती रहती हैं। ऊपर उठी वायु ऊपर आकर ठंढी होती है तथा फैलती है। वाष्प की मात्रा अधिक होने से ओसांक तक पहुँचने के लिये ताप को कम गिरना पड़ता है। अतः वाष्प शीघ्र जल का रूप ले लेता है और प्रति दिन प्रायः दो बजे के बाद घनघोर वर्षा होती है (देखें चित्र १.)। इस वर्षा को संवहनीय वर्षा कहते हैं।

२. **पर्वतकृत वर्षा** (Orographical rain) — वाष्प से भरी

चित्र २. पर्वतकृत वर्षा

हवाओं के मार्ग में पर्वतों का अवरोध आने पर इन हवाओं को ऊपर उठना पड़ता है जिससे पर्वतों के ऊपर जमे हिम के प्रभाव से तथा हवा के फैलकर ठंढा होने के कारण हवा का वाष्प बूँदों के रूप में आकर धरातल पर बरस पड़ता है। ये हवाएँ पर्वत के दूसरी ओर
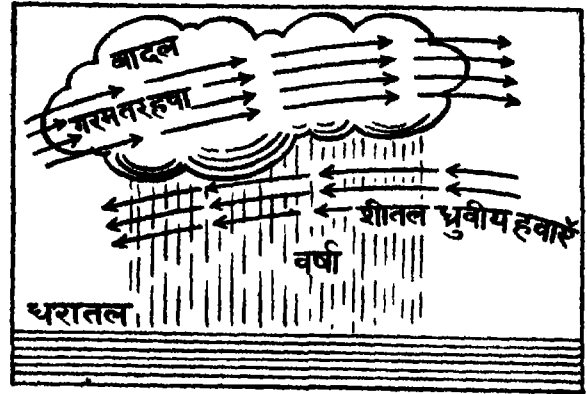
चित्र ३. चक्रवात वर्षा

मैदान में उतरते ही गरम हो जाती हैं और आसपास के वातावरण को भी गरम कर देती है (देखें चित्र २)। विश्व के अधिकतर भागों में इसी प्रकार की वर्षा होती है। मानसूनी प्रदेशों (भारत) में भी इसी प्रकार की वर्षा होती है। इस वर्षा को पर्वतकृत वर्षा कहते हैं।

३. **चक्रवात वर्षा** (Cyclonic rain) — इस प्रकार की वर्षा
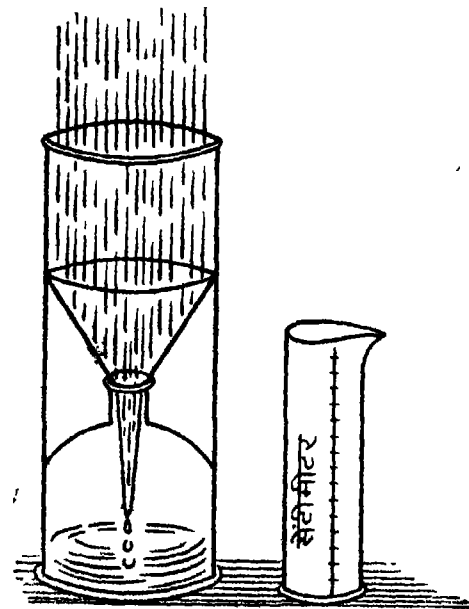
चित्र ४. वर्षामापी

गरम और शीतल वायुराशियों के आपस में मिलने से होती है, क्योंकि हल्की गरम वायु ऊपर उठती है तथा भारी शीतल वायु नीचे बैठती है। अतः ऊपर उठनेवाली वायु ठंढी होकर वर्षा करने (देखें चित्र ३.) लगती है। इस प्रकार वर्षा प्रायः शीतोष्ण कटिबंध में हुआ करती है।

वर्षामापन — किस स्थान पर कितनी वर्षा हुई है, इसे मापने के लिये एक यंत्र काम में लाया जाता है, जिसे वर्षामापी (Rain gauge) कहते हैं (देखें, चित्र ४)। इसे एक निश्चित समय में तथा निश्चित स्थान पर वर्षा में रखकर पानी के बरसने की मात्रा को माप लिया जाता है। वर्षामापी कई तरह का होता है। वर्षा अधिकतर इंच, या सेंटीमीटर में मापी जाती है। वर्षामापी एक खोखला बेलन होता है जिसके अंदर एक बोतल रखी रहती है और उसके ऊपर एक कीप लगा रहता है। वर्षा का पानी कीप द्वारा बोतल में भर जाता है तथा बाद में पानी को मापक द्वारा माप लिया जाता है। इस यंत्र को खुले स्थान में रखते हैं, ताकि वर्षा के पानी के, कीप में, गिरने में किसी प्रकार की रुकावट न हो। [भ० प्र० स०]

वर्साइ (Versailles) पैरिस के पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में १२ मील की दूरी पर उत्तरी फ्रांस में सेनएट-वाज डिपार्टमेंट की राजधानी तथा प्रधान शहर है। यह रेलमार्ग द्वारा पैरिस से जुड़ा हुआ है। इसकी संपूर्ण जनसंख्या ७२,०३८ (१९५४) है। समुद्र सतह से ४६० फुट की ऊँचाई पर चौदहवें लुई द्वारा बनवाया गया महल अब भी अपने अस्तित्व को कायम रखे हुए है। यहाँ की जलवायु स्वास्थ्यवर्धक है। वर्तमान महल का अधिकांश निर्माण कार्य मांसार ने संपन्न करवाया था। इस समय यह अजायबघर के रूप में सुरक्षित है। द्वितीय महायुद्ध के समय महल लगभग २,००० व्यक्तियों के लिये सैनिक चिकित्सालय भी रहा था। नगर में बिशप का निवासस्थान है। यहाँ एक न्यायालय तथा प्रथम श्रेणी की पंचायत और वाणिज्य केंद्र भी है। यहाँ बैंक ऑव फ्रांस की एक शाखा, वाणिज्य चैंबर, तकनीकी शालाएँ, सैनिक इंजीनीयरिंग तथा आर्टिलरी की शालाएँ हैं। प्रधान उद्योग धंधों में जूते बनाने का उद्योग विशेष उल्लेखनीय है। [बि० सिं०]

वली, दक्खिनी इनके नाम के संबंध में कई मत हैं। मीर हसन ने शाह वली अल्लाह लिखा है और मौलाना आजाद ने शम्स वली अल्लाह। कोई इन्हें गुजराती बतलाते हैं तो कोई औरंगाबादी। औरंगाबाद ही इनका जन्मस्थान है, यह अधिक ठीक माना गया है। इनका जन्म सन् १६६८ ई० में कहा जाता है और मृत्यु सन् १७४४ ई० में बतलाई जाती है। मौलाना आजाद ने अपनी पुस्तक आबेहयात में इनको उर्दू का प्रथम दीवान रचयिता कवि माना है, पर क़ुतुबशाही सुलतानों के दीवानों के प्राप्त हो जाने से यह बात गलत सिद्ध हो गई है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि वली ने उर्दू कविता, विशेषकर उर्दू गजल की नींव खूब दृढ़ की और उसे अच्छी प्रकार बनाया, सँवारा।

औरंगाबाद में शिक्षा समाप्त कर वली अहमदाबाद गए और शाह वजीहुद्दीन के मदरसे में भर्ती हुए। यह उनके शिष्य (मुरीद) भी हो गए और बहुत दिनों तक उनके यहाँ रहकर अपनी जन्मभूमि लौट आए। इन्हें भ्रमण करने का बहुत शौक था और ये कई बार उत्तरी भारत गए। इनकी कविता से इधर के लोग बहुत प्रभावित हुए। इन्होंने भी उत्तरी भारत से बहुत कुछ सीखा। औरंगजेब के राज्यकाल में सन् १७०० ई० में यह एक बार दिल्ली आए और दूसरी बार मुहम्मदशाह के राज्यकाल में। दूसरी बार यह दीवान भी साथ लाए और इनकी कविता की दिल्ली में बड़ी चर्चा रही। वली ने कर्बला के शहीदों (मारे गए वीरों) के संबंध में एक मसनवी लिखी है, जिसका नाम 'देह मज्लिस' है। सूफी रंग में लिखा गया इनका हिंदी का दीवान तथा रिसाला 'नूरुल मारफत' है। इनकी समग्र रचना 'कुल्लियाते वली' के नाम से अंजुमने तरक्कीए उर्दू ने प्रकाशित की है।

वली की भाषा अत्यंत सरल तथा सरस है। उसमें प्रवाह, स्वच्छता तथा निर्दोषता सर्वत्र है। शृंगारिकता तथा सूफी रंग इनकी कविता में भरा हुआ है। जीवन संबंधी विचार, नगरों तथा अन्य अनेक दृश्यों के वर्णन और मित्रों के उल्लेख इनकी कविता में हैं पर किसी बादशाह की प्रशंसा इन्होंने नहीं की। [र० ब०]

वल्लभरसिक प्रसिद्ध संस्कृत काव्य 'प्रेमपत्तन' के रचयिता रसिकोत्तंस जी के यह अनुज थे। ये दोनों भाई गदाधर भट्ट जी के पुत्र माने जाते हैं। संभव है, वे एक दो पीढ़ी बाद के हों। उत्सवादि संबंधी इनके सरस सुंदर पद बड़े चाव से वृंदावन के मंदिरों में गाए जाते हैं। इनकी 'माँझ' प्रसिद्ध है। इनका समय सत्रहवीं शती विक्रमीय है। इनकी समग्र प्राप्त वाणी का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। [श० र०]

वल्ला लोरेंजो या लारेंतियस इस इतालियन मानवतावादी का जन्म १४०६ ई० में हुआ था। शिक्षा इनकी रोम मे हुई। १४३१ में ये पादरी बने और इसके बाद विश्वविद्यालयों मे व्याख्यान देते हुए घूमते रहे। १४३५ के लगभग अरागान के अलफोंसो पंचम के साथ उनकी मित्रता हुई, जो उनके संरक्षक बन गए। वे इस समय तक दो पुस्तकें लिखकर प्रसिद्ध हो चुके थे, एक लातिन व्याकरण पर थी और दूसरी स्टोइक, एपीक्युरियन और ईसाई सदाचार पर थी। इसमें ईसाइयत को रहने दिया गया था पर प्रशंसा एपीक्यूरसवाद की अधिक थी। उन्होंने कई प्रचलित धर्मपुस्तकों को प्रक्षिप्त प्रमाणित किया। इसपर धर्मध्वजियों ने उनपर मुकदमा चलाया, पर अलफोंसो की सहायता से वे छूट गए। उन्होंने संत अगस्तीन पर भी धर्मच्युति का दोष लगाया, बाद को उन्हें पोप निकोलस पंचम ने आश्रय दिया, जिसे कट्टरपन पर मानवतावाद की विजय माना गया। उनका देहांत १४५७ में हुआ। बाद को वे बहुत बड़े आलोचक माने गए और लूथर ने तो उनकी बड़ी प्रशंसा की। [म० गु०]

वशीकरण मंत्र के कई भेद हैं—मारण, उच्चाटन, शमन, स्वस्तिक, वशीकरण आदि। मारण मंत्र का प्रयोग शत्रु की मृत्यु के लिये, उच्चाटन का शत्रु को भगाने के लिये या भूतप्रेत को हटाने के लिये, शमन मंत्र विपत्तियों की शांति के लिये और स्वस्तिक मंत्र शांति तथा लाभ के लिये काम में लाया जाता है। वशीकरण मंत्र किसी को वश में करने के लिये प्रयुक्त होता है।

जब कोई व्यक्ति अन्य किसी प्रकार से वश में नहीं किया जा सकता तो इस मंत्र का प्रयोग होता है। यह प्रयोग ऐसे लोगों से करवाया जाता है जो इसमें दक्ष हों। कुमारी लड़कियाँ वरविशेष को प्राप्त करने के लिये वशीकरण मंत्र कराती हैं। इसी प्रकार पत्नीप्राप्ति के लिये भी इस मंत्र से काम लिया जाता है। नववधू अपने पति को

सदैव वश में रखने के लिये इस मंत्र का सहारा लेती है। शत्रु के प्रति भी वशीकरण मंत्र का प्रयोग किया जाता है।

वशीकरण मंत्र में विविध पौधों, घासों और शहद से क्रिया की जाती है। ऐसा विश्वास है कि शहद का प्रयोग करने से प्रेमी की जिह्वा में माधुर्य आ जाता है और वह अपनी मधुर वाणी से कन्याविशेष को वश में कर सकता है। इसी प्रकार औषधविशेष तथा लताविशेष के द्वारा भी मंत्र का प्रयोग होता है। ऐसा विश्वास है कि लता को अभिमंत्रित करने से कन्या भी अभिमंत्रित हो जाती है तथा जिस प्रकार लता द्रुम से लिपटती है उसी प्रकार कन्या प्रेमी से आ लिपटती है। पौधे को हिला हिलाकर मंत्र पढ़ा जाता है कि पत्तों की भाँति लड़की का हृदय उसके प्रेमी के प्रति हिलेगा। मंत्रोच्चार के समय विविध देवताओं का भी आवाहन किया जाता है। पति पर वशीकरण मंत्र करते समय वायु से प्रार्थना की जाती है कि 'तू उसको उखाड़कर मेरे पास ले आ।' कन्या पर वशीकरण मंत्र करते समय कन्या का और पुरुष पर इसका प्रयोग करते समय पुरुष का मिट्टी, आटे या अन्य किसी पदार्थ का पुतला बनाया जाता है, तथा उसपर वशीकरण मंत्र की क्रियाएँ की जाती हैं और यह माना जाता है कि ज्यों ज्यों उस पुतले पर वशीकरण मंत्र की क्रियाएँ की जाती हैं त्यों त्यों उस स्त्री या पुरुष पर प्रभाव होता जाता है। जो स्त्रियाँ पति को छोड़कर चली जाती हैं, उनकी वापसी के लिये, और जब पति किसी अन्य स्त्री से प्रेम करने लगता है तब उसका मन हटाने के लिये वशीकरण मंत्र का प्रयोग होता है। पत्नी और सपत्नी एक दूसरी पर इसका प्रयोग करती है। शत्रु पर वशीकरण मंत्र करते समय भी पुतला बनाया जाता है। इसी मंत्र का प्रयोग पिता पुत्र पर और पुत्र पिता पर भी किया करता है। इस प्रयोग के कई उद्देश्य हुआ करते हैं परंतु मूल उद्देश्य अनुकूलता प्राप्त करना है।

वशीकरण मंत्र का प्रयोग बहुत व्यापक माना जाता है। इस समय भी यह प्रचलित है एवं विविध प्रकार से इसका प्रयोग किया जाता है। इसमें कई प्रकार की क्रियाओं के अतिरिक्त भूत, प्रेत और पिशाच आदि की भी सहायता ली जाती है। ऐसी कथाएँ भी प्रचलित हैं कि पिशाच अमुक स्त्री या पुरुष को उठाकर इष्ट स्थान पर ले जाता है अथवा अन्य प्रकार से उसको अनुकूल कर देता है। प्राचीन और मध्य काल में इसका प्रयोग किसी न किसी रूप में सारे संसार में होता था। अब जैसे जैसे विज्ञान का प्रचार होता जाता है, तैसे तैसे मंत्रशक्ति पर लोकविश्वास कम होता जाता है।

[भ० ला० श०]

वषट्कार यज्ञ कई प्रकार के होते थे जिनमें देवोद्देश्य हवि देने के लिये स्वाहा, श्रौषट्, वौषट्, वषट् तथा स्वधा-ये पाँच शब्द प्रयुक्त होते थे। ऐसे ही देवयज्ञ को वषट्कार कहते थे और उसे ही वषट्कृत भी कहा जाता था। यथा – 'अग्नौ हुतं तु यद्द्रव्यं तत्स्याद् त्रिषु वषट्कृतम्'।

[रा० द्वि०]

वसारी आर्जियो (१५११-१५७४) वसारी अरेस्सो में उत्पन्न हुआ था पर उसकी शिक्षा दीक्षा फ्लोरेंस में हुई। वह बहुमुखी प्रतिभा का व्यक्ति था। चित्रकला, मूर्तिकला, भवन - निर्माण - कला के अतिरिक्त वह अपने समय का सुप्रसिद्ध कलाआलोचक भी था। उसने १५६८ ई० में कला के इतिहास पर एक पुस्तक प्रकाशित की जो इस विषय पर सबसे पहला प्रयास माना जाता है और अब तक संसार की तमाम भाषाओं में उसका अनुवाद हो चुका है। कला के इतिहास की दृष्टि से यह संसार की सबसे महत्वपूर्ण कृति मानी जाती है। सोलहवीं शताब्दी तक की कला को समझने के लिये यह पुस्तक अमूल्य सूचनाएँ प्रस्तुत करती है।

वसारी के बनाए चित्र फ्लोरेंस तथा रोम में प्राप्त हैं। अरेस्सो में उसका घर आज एक संग्रहालय बन चुका है। [रा० चं० शु०]

वसिष्ठ गोत्रसूची में वसिष्ठ (वशिष्ठ) नाम है। यह निश्चित है कि वेद से लेकर पुराणों तक विभिन्न ग्रंथों में वसिष्ठ के जितने चरित्र मिलते हैं, वे सब एक वसिष्ठ के नहीं हो सकते। कुछ वसिष्ठ ऐसे भी हैं, जिनकी ऐतिहासिकता पर भी संदेह किया जा सकता है, जैसा पर्जिटर आदि, ने किया है (दे० ऐंशेंट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रैडिशन ग्रंथ का वसिष्ठप्रकरण)।

वसिष्ठ संबंधी अनेक तथ्य इतिहास, पुराणादि में मिलते हैं। वसिष्ठ मित्रावरुण के पुत्र हैं, अतः वे मैत्रावरुणि भी कहलाते हैं। अयोध्या के सूर्यवंशीय राजाओं के पुरोहित के रूप मे वसिष्ठ का नाम आता है। व्यास (कृष्णद्वैपायन) के चतुर्थ पुरुष (प्रपितामह) भी वसिष्ठ हैं। महाराज सगर के पालक के रूप में वसिष्ठ का नाम है। कल्माषपाद और दिलीपादि के पुरोहित के रूप में किसी वसिष्ठ का चरित् पुराणों में विस्तार के साथ उपनिबद्ध हुआ है। विश्वामित्र के साथ वसिष्ठ का विवाद प्रसिद्ध है। वसिष्ठ के पुत्र का नाम शक्ति (या शक्त्रि) है।

वसिष्ठ का दार्शनिक ज्ञान शांतिपर्वगत करालजनकचरित् में द्रष्टव्य है। वसिष्ठ चरण ऋग्वेदीय है। इनके धर्मसूत्र का अध्ययन ऋग्वेदी करते हैं।

वसिष्ठ का नाम कई शास्त्रों से संबद्ध है। वसिष्ठप्रोक्त रसायन चरकसंहिता (चिकित्सास्थान १।३) में है। आयुर्वेद संबंधी वसिष्ठ-संहिता का उल्लेख भी मिलता है। मत्स्य पुराण (२५२ अ०) मे वास्तुशास्त्रकारों की जो सूची है, उसमें भी वसिष्ठ का नाम है। वसिष्ठ ने वामदेव के लिये ज्योतिषशास्त्र का उपदेश किया था—ऐसा किसी किसी ज्योतिष ग्रंथ में कहा गया है। वसिष्ठ धर्मसूत्र प्रसिद्ध है। वसिष्ठ सांख्य शास्त्र के ज्ञाता थे, यह सांख्याचार्यों के वाक्यो से जाना जाता है। यह सामान्यतया निश्चित है कि ये सब विभिन्न वसिष्ठ हैं।

[रा० शं० भ०]

वसु वसुगण प्राय: अष्टवसु कहलाते हैं क्योंकि इनकी संख्या आठ है। यद्यपि इनके नामों में भेद पाया जाता है, तथापि आठों का जन्म दक्षकन्या और धर्म की पत्नी वसु से हुआ था। यह 'अष्टवसु' एक देवकुल था। स्कंद, विष्णु तथा हरिवंश पुराणों में इनके नाम धर, ध्रुव, सोम, अप्, अनल, अनिल, प्रत्यूष तथा प्रभास हैं। भागवत में इनके नाम क्रमश: द्रोण, प्राण, ध्रुव, अर्क, अग्नि, दोष, वसु और विभावसु हैं। महाभारत में अप् के स्थान में अह: और शिवपुराण में अयज नाम दिया है। अष्टवसुओं के नायक अग्नि हैं। ऋग्वेद के अनुसार ये

पृथ्वीवासी देवता हैं। तैत्तिरीय संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों में इनकी संख्या क्रमशः ३३३ और १२ है। पद्मपुराण के अनुसार वसुगण दक्ष के यज्ञ में उपस्थित थे और हिरण्याक्ष के विरुद्ध युद्ध में इंद्र की ओर से लड़े थे।

जालंधर दैत्य के अनुचर शुंभ को वसुओं ने ही मारा था। भागवत में कालकेयों से इनके युद्ध का वर्णन है। स्कंदपुराण के अनुसार महिषासुरमर्दिनी दुर्गा के हाथों की उँगलियों की सृष्टि अष्टवसुओं के ही तेज से हुई थी।

पितृशाप के कारण एक बार वसु लोगों को गर्भवास भुगतना पड़ा। फलस्वरूप उन्होंने नर्मदातीर जाकर १२ वर्षों तक घोर तपस्या की। पश्चात् भगवान् शंकर ने इन्हें वरदान दिया। तदनंतर वसुओं ने वहीं शिवलिंग स्थापित करके स्वर्गगमन किया।

वसु नाम के अनेक वैदिक एवं पौराणिक व्यक्तियों का उल्लेख आया है। उत्तानपाद, नृग, सुमति, वसुदेव, कृष्ण, ईलिन्, भूतज्योति, हिरण्यरेतस्, पुरूरवस्, वत्सर, कुश आदि राजाओं के पुत्रों के नाम भी यही थे। इनके अतिरिक्त सावर्णि मनु, स्वायंभुव मनु, इंद्र, वसिष्ठ ऋषि, मुर दैत्य, भृगवारुणि ऋषि के पुत्र भी वसु नामधारी थे। [रा० द्वि०]

वसुदेव यदुवंशी शूर तथा मारिषा के पुत्र, कृष्ण के पिता, कुंती के भाई और मथुरा के राजा उग्रसेन के मंत्री थे। इनका विवाह देवक अथवा आहुक की सात कन्याओं से हुआ था जिनमें देवकी सर्वप्रमुख थी। वसुदेव के नाम पर ही कृष्ण को वासुदेव कहते हैं। वसुदेव के जन्म के समय देवताओं ने आनक और दुंदुभि बजाई थी जिससे इनका एक नाम 'आनकदुंदुभि' भी पड़ा। वसुदेव ने स्यमंतपंचक क्षेत्र में अश्वमेधयज्ञ किया था। कृष्ण की मृत्यु से उद्विग्न होकर इन्होंने प्रभासक्षेत्र में देहत्याग किया। [रा० द्वि०]

वस्तुनिष्ठावाद (Positivism) फ्रांसीसी शब्द 'पाजिटिफ्' से उद्भूत वस्तुनिष्ठावाद 'निश्चित', 'असंदिग्ध' एवं 'दृढ़तापूर्वक कहे जाने' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह अनुभवातीत तत्व वैज्ञानिक अटकलों तथा पूर्व धारणाओं का परित्याग कर अनुभवप्रदत्तों तक सीमित रह सभी अनुभववादी दर्शनों पर लागू होता है। कॉन्त (Comte) ने यह पद विचार तथा जीवन की उस प्रणाली के लिये चुना था जो ज्ञान को केवल यथार्थ भौतिक घटनाओं की खोजों तथा विधियों पर आधारित मानती है परंतु विभिन्न संदर्भों में प्रयुक्त होकर 'वस्तुनिष्ठावाद' यथार्थ, निश्चित एवं शुद्ध के अतिरिक्त उपयोगी, सापेक्ष, नियमबद्ध तथा सहानुभूतिपूर्ण भी बन गया।

यद्यपि व्यवस्थित ज्ञान की उपलब्धि में वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग बाबीलोनिया, मिस्र तथा ग्रीस में प्राचीन काल में तथा कोपरनिकस, केपलर, गैलिलियो, बेकन और देकार्त द्वारा आधुनिक काल में भी हो चुका है, तथापि सामान्यतया 'वस्तुनिष्ठावाद' कॉन्त के दर्शन के लिये ही प्रयुक्त होता है जो अतींद्रिय निरपेक्ष सत्ता के ज्ञान के समक्ष वैज्ञानिक ज्ञान की अधिक उपयोगिता स्वीकार करता है, क्योंकि वह प्राकृतिक शक्तियों को अधिकृत कर मानवोन्नति में योग देता है। कॉन्त के अनुसार वैज्ञानिक विधियों के अतिरिक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना भी आवश्यक है जिससे भौतिक घटनाओं की भाँति ही जीवन के नैतिक एवं सामाजिक व्यापार भी व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध किए जा सकें।

ह्यूम की भाँति अतींद्रिय परिकल्पनाओं का परित्याग कर वस्तुनिष्ठावाद संशयवादी अथवा अज्ञेयवादी निषेधात्मक दर्शन नहीं अपनाता वरन् निश्चित रूप से सिद्ध करता है कि संवेदनों के अतिरिक्त अनुभव में वैज्ञानिक नियम प्राप्त होते हैं जो प्रकृति की एकरूपता की अतींद्रिय परिकल्पना पर आधारित होने से केवल संभाव्य हैं परंतु अप्राप्त निरपेक्ष नियमों से उत्कृष्ट हैं।

कॉन्त ने 'वस्तुनिष्ठावादी दर्शन' मे सांस्कृतिक विकास की तीन अवस्थाओं के मौलिक नियमों के द्वारा वस्तुनिष्ठावादी दर्शन के अर्थनिर्धारण का प्रयास किया है। धार्मिक, दार्शनिक तथा निश्चित जैसी तीन अवस्थाओं में से प्रथम अंतिम कारणों की खोज में ईश्वर पर पहुँचती है; दूसरी, अदृष्ट शक्तियों के चिंतन मे प्रकृति पर टिकती है; तथा तृतीय निश्चित नियमों की खोज कर सामान्य नियम प्राप्त करती है। विभिन्न अवस्थाएँ मनुष्य जाति की शैशव, किशोर तथा प्रौढ़ अवस्थाओं की द्योतक हैं। मनुष्य मात्र का सांस्कृतिक विकास मानवीयकरण की प्रारंभिक प्रवृत्ति से प्रारंभ होकर दार्शनिक नियमों की प्रतिष्ठा के मध्य होकर वस्तुनिष्ठावादी स्तर पर पहुँचता है।

परंपरागत दर्शनों की प्रतिक्रिया के रूप में वस्तुनिष्ठावाद का पर्याप्त प्रचार, विशेषकर दक्षिण अमरीका में, हुआ। संयुक्त राज्य मे व्यवहारवाद, नव्य वस्तुवाद, आलोचनात्मक वस्तुवाद तथा जड़वाद के प्रचलन से वस्तुनिष्ठावाद का केवल एक विशेष रूप 'तार्किक अनुभववाद' पनप सका जो कॉन्त का दृष्टिकोण अपनाए हुए है।

तार्किक वस्तुनिष्ठावाद ह्यूम के अनुभववाद, कॉन्त के वस्तुनिष्ठावाद तथा ह्वाइटहेड रसेल के तार्किक विश्लेषण का विचित्र संमिश्रण है। विज्ञानों को निरापद आधारप्रदान तथा अतींद्रिय तत्वविज्ञान की निरर्थकता के युगल उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु वह भाषा के तार्किक विश्लेषण की विधि अपनाता है जिससे यह परंपरागत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का परित्याग कर देता है। सत्यापन की प्रक्रिया को ही किसी प्रस्तावना का अर्थ मानकर तार्किक वस्तुनिष्ठावादी परंपरागत दार्शनिक प्रश्नों को निरर्थक मानते हैं क्योंकि इस नवीन व्याख्या के अनुसार इंद्रियातीत विषयों से संबंधित होने के कारण वे कोई अर्थ नहीं रखते। उद्गमन को 'कार्य करने का नियम' तथा वैज्ञानिक नियमों को 'एकवचनीय प्रस्तावनाओं की योजनाएँ' मानकर तार्किक अनुभववादी विज्ञान का वह संगत चित्र प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार तत्ववैज्ञानिक परिकल्पनाएँ पूर्णतया बहिष्कृत हैं।

परंतु व्यक्ति के अनुभव पर आधारित विज्ञान में वस्तुगतता का सर्वथा अभाव ही होगा। इस वस्तुनिष्ठावाद में इस प्रकार निश्चित निरपेक्ष तथा वस्तुगत कुछ भी नहीं रह जाता। अनुभववाद तथा तार्किक बुद्धिवाद जैसी विरोधी प्रवृत्तियों का यह रचनात्मक संश्लेषण अर्थ के अर्थनिर्धारण में ही स्वयं अपने सिद्धांत को तिलांजलि दे देता है। [रा० भ० क०]

वस्तुविक्रय किसी वस्तु का स्वामित्व धन के बदले में हस्तांतरित करने को विक्रय कहते हैं। वस्तु के स्वामित्व को हस्तांतरित करनेवाला

विक्रेता, जिसे वह स्वामित्व प्राप्त होता है उसे क्रयी, क्रेता अथवा क्रयकर्ता तथा उक्त धनराशि को उस वस्तु का मूल्य कहा जाता है। वस्तु का स्वामित्व अन्य प्रकार से भी हस्तांतरित किया जा सकता है, जैसे कोई अपनी वस्तु किसी को उपहारस्वरूप दे दे अथवा किसी वस्तु के बदले में दे दे। इस प्रकार के संपत्तिहस्तांतरण को विक्रय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विक्रय का मूल आधार मूल्य-विनिमय ही है। यहाँ उल्लेखनीय है कि अमरीकी, फ्रांसीसी तथा जर्मन विधि में वस्तुविनिमय को भी वस्तुविक्रय की परिधि में माना गया है।

विक्रय शब्द के सामान्य अर्थ के अनुसार विक्रय की जानेवाली वस्तु चल और अचल दोनों प्रकार की संपत्ति हो सकती है। भारत में अचल संपत्ति के विक्रय संबंधी तथा स्वामित्व हस्तांतरण संबंधी नियम संपत्ति - हस्तांतरण - विधि (Transfer of Property Act) में दिए गए हैं। और चल संपत्ति के विक्रय विषयक नियम वस्तु-विक्रय-विधि (१९३०) में उपलब्ध हैं।

संपत्ति-हस्तांतरण-विधि की धारा ५४ के अनुसार यदि अचल संपत्ति की कीमत १०० रुपए से अधिक है तो उसका विक्रय लिखित दस्तावेज द्वारा ही हो सकता है। चल संपत्ति के लिये ऐसी अनिवार्यता नहीं है।

वस्तुविक्रय एक प्रकार का अनुबंध है। अतः बेचनेवाले की ओर से प्रस्ताव तथा दूसरे पक्ष द्वारा उस प्रस्ताव की स्वीकृति और कुछ मूल्यवान् प्रतिदेय आवश्यक है। यह प्रस्ताव और स्वीकृति लिखित रूप में भी हो सकती है, जबानी भी हो सकती है और तत्संबंधी पक्षों के आचरण द्वारा भी प्रकट की जा सकती है। किसी दूकान में किसी वस्तु का दाम पूछने पर दूकानदार जो मूल्य बताता है वही विक्रेता का प्रस्ताव है और वह मूल्य जो हम उसे देते हैं वही प्रतिदेय तथा हमारी स्वीकृति है। यह प्रस्ताव क्रयकर्ता की ओर से भी आ सकता है।

वस्तुविक्रय में चूँकि वस्तु के स्वामित्व का हस्तांतरण होता है अतः स्पष्ट है कि वस्तुविक्रय वही कर सकता है जिसे विक्रय करने का अधिकार है। वस्तुविक्रय उस वस्तु का स्वामी तो कर ही सकता है, उस स्वामी का अभिकर्ता भी कर सकता है। अचल संपत्ति के विक्रय में तो किसी न किसी पद पर संपत्ति के स्वामी की अथवा उसके अभिकर्ता की (जिसके पास लिखित अधिकारपत्र है) स्वीकृति उपलब्ध होना अनिवार्य है क्योंकि उसका विक्रय लिखित होता है। लेकिन चल संपत्ति के विषय में यह स्थिति अनिवार्य नहीं होती। अनेक प्रकार के व्यापारिक संबंधों में ऐसा हो सकता है कि वस्तु का स्वामी कोई और हो और वह वस्तु अधिकार में किसी दूसरे के हो। यह तथ्य सभी पर प्रकट हो, ऐसा भी आवश्यक नहीं है। इसलिये वस्तु-विक्रय-विधि का यह नियम है कि जब कोई व्यक्ति कोई वस्तु विक्रय करता है तो उसके इस कृत्य का यह प्रतिबंध (condition) है कि उसे उस वस्तु के विक्रय का अधिकार है और यह अध्याभूति (warranty) है कि वह वस्तु किसी प्रभार आदि से मुक्त है तथा क्रयकर्ता उसका शांतिपूर्ण उपयोग कर सकता है।

वस्तुविक्रय के लिये यह अनिवार्य नहीं है कि विक्रय के समय विक्रेता के पास वस्तु उपलब्ध ही हो। भविष्य में उपलब्ध होनेवाली वस्तु का भी विक्रय अनुबंध हो सकता है। भावी वस्तुविक्रय तथा माल और मेहनत का अनुबंध इन दोनों में अंतर है और उनसे संबंधित विधिनियम भी भिन्न हैं। दोनों पक्षों की मंशा के आधार पर ही यह निश्चय होता है कि वह भावी वस्तुविक्रय है या नहीं।

प्रतिनिवेदन (Representations), **प्रतिबंध** (conditions) **तथा अध्याभूति** (warranties) — वस्तुविक्रय के लिये विक्रेता अनेक प्रतिनिवेदन करता है। जिस प्रकार अपने दही को कोई खट्टा नहीं कहता, सभी मीठा कहते हैं, उसी प्रकार उनमें कुछ सही होते हैं कुछ गलत भी होते हैं। सामान्यतया उनका प्रभाव विक्रय अनुबंध की वैधता पर नहीं पड़ता लेकिन अगर विक्रेता के किसी प्रतिनिवेदन से ही क्रयकर्ता प्रेरित हुआ हो और वह प्रतिनिवेदन मिथ्या तथा धोखा देनेवाला हो तो क्रयकर्ता उस विक्रय के अनुबंध से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। साथ ही विक्रेता को अपने प्रतिनिवेदन के विपरीत जाने से रोका जा सकता है।

वस्तु-विक्रय-अनुबंध में अनेक शर्तें या अभिसंवेदन होते हैं। जो अभिसंवेदन विक्रय अनुबंध का सार है और जिसकी पूर्ति न होने से अनुबंध को अस्वीकृत किया जा सकता है, उसे प्रतिबंध (condition) कहते हैं और जो अभिसंवेदन अनुबंध के सार का आनुषंगिक मात्र है तथा जिसकी पूर्ति न होने पर क्षतिपूर्ति की तो माँग की जा सकती है किंतु विक्रय अनुबंध को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता, उसे अध्याभूति (warranty) कहते हैं। कौन सा अभिसंवेदन प्रतिबंध है और कौन सा अध्याभूति, इसका निर्णय विक्रय अनुबंध के तथ्यों पर निर्भर होता है और इसका निर्णय करने के सामान्य नियम (यदि अनुबंध में दोनों पक्षों के मत स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं हुए हैं तो) भा० वस्तु-विक्रय-विधि की धारा ११ से १८ में दिए गए हैं। उदाहरणार्थ—सामान्य रूप से मूल्य अदायगी का समय निर्धारण विक्रय अनुबंध का सार नहीं है (धारा ११)। जहाँ वस्तु का वर्णन करके विक्रय अनुबंध किया गया हो वहाँ यह ध्वनित प्रतिबंध है कि विक्रय की गई वस्तु उस वर्णन के अनुरूप हो। यदि विक्रय अनुबंध वर्णन और नमूने पर आधारित हो तो वहाँ वह वस्तु केवल वर्णन अथवा केवल नमूने के नहीं वरन् दोनों के अनुरूप होनी चाहिए (धारा १५)। वस्तुविक्रय में दो परिस्थितियों को छोड़कर इस बात की कोई अध्याभूति अथवा कोई प्रतिबंध नहीं होता कि वह वस्तु किसी विशेष कार्य के अनुकूल होगी अथवा किसी विशेष श्रेणी की होगी (भा० व० वि० वि० धारा १६)। इस नियम का प्रथम अपवाद यह है कि यदि क्रयकर्ता ने अपना उद्देश्य, जिसके लिये वह वस्तु क्रय कर रहा है, बता दिया है तथा विक्रेता के तत्संबंधी विशिष्ट ज्ञान एवं निर्णय पर निर्भर है तब विक्रेता पर (भले ही वह उस वस्तु का स्वयं निर्माता न हो) यह प्रतिबंध है कि वह वस्तु उस उद्देश्य की पूर्ति के अनुरूप हो। लेकिन अगर क्रयकर्ता कोई वस्तु उसके पेटेंट अथवा ट्रेड मार्क के नाम से मँगाता है तब उक्त प्रतिबंध नहीं है।

दूसरा अपवाद है कि जहाँ कोई वस्तु उस वस्तु के सामान्य व्यापारी से क्रय करता है (वह विक्रेता उस वस्तु का निर्माता हो या न हो) वहाँ यह प्रतिबंध है कि वह वस्तु वाणिज्य योग्य श्रेणी की

होगी। लेकिन अगर क्रयकर्ता ने उक्त वस्तु की जाँच कर ली हो तो कोई प्रतिबंध नहीं है।

वस्तु-विक्रय-अनुबंध का मूल आधार यद्यपि मूल्य विनिमय है तथापि मूल्य की तुरंत अदायगी अनिवार्य नहीं है। यह परस्पर अनुबंध का विषय है कि पूरा मूल्य वस्तु मिलने के पूर्व अदा कर दिया जाय अथवा वस्तु मिलने पर किया जाय या वस्तु मिलने के बाद भी उसकी अदायगी किस्तों में होती रहे।

इसी प्रकार क्रय की गई वस्तु पर तुरंत अधिकार उपलब्ध होना भी विक्रय की पूर्ति के लिये अनिवार्य नहीं है। यह हो सकता है कि विक्रय करने के बाद भी वह वस्तु विक्रेता के अधिकार में ही रहे अथवा उपनिधान (Bailment) के रूप में वाहक के अधिकार में रहे। वस्तु पर अधिकार किसी का रहे, किंतु विक्रय के बाद वस्तु का स्वामित्व क्रयकर्ता में ही निहित होता है। यदि विक्रय की पूर्ति किन्हीं शर्तों पर निर्भर है तो इन शर्तों की पूर्ति होने पर ही वस्तु की संपत्ति हस्तांतरित होती है (धारा १८ से २६ तक)। जब तक वस्तु का स्वामित्व हस्तांतरित नहीं होता तब तक वस्तु का दायित्व विक्रेता पर ही रहता है (धारा २६)।

वस्तुविक्रय संबंधी अनुबंध में यदि किसी ओर से अनुबंध की शर्तों का पालन नहीं होता तो दूसरे पक्ष को भी अनुबंध की शर्तें अस्वीकृत करने का सापेक्ष अधिकार है। जैसे विक्रेता यदि अनुबंध के विपरीत वस्तु की कुल मात्रा एक बार में न पहुँचाकर किस्तों में पहुँचाए तो क्रयकर्ता उन्हें स्वीकार करने से इनकार कर सकता है। इसी प्रकार अनुबंध के अनुसार मूल्य की किस्त मिलने पर ही वस्तु की किस्त पहुँचाता है और मूल्य की किस्त अदा नहीं होती तो विक्रेता वस्तु पहुंचाने से इनकार कर सकता है। क्रय-विक्रय-कर्ताओं के इन परस्पर अधिकारों और उत्तरदायित्वों का उल्लेख वि० वि० की धारा ३१ से ४४ तक में है।

यदि विक्रेता को वस्तु का कुल मूल्य प्राप्त नहीं हुआ हो और उधार खाते की व्यवस्था उक्त अनुबंध में अथवा उन पक्षों के व्यापारिक व्यवहार में न हो तथा वस्तु क्रयकर्ता के अधिकार में न पहुँची हो तो तथा वस्तु क्रयकर्ता के अधिकार में पहुंचने के पहले ही क्रयकर्ता दिवालिया हो गया हो, विक्रेता क्रमश: अपने धारणाधिकार (lien) का अधिकार प्रयोग कर सकता है, वस्तु को रास्ते में रोक सकता है तथा उक्त वस्तु का पुन: विक्रय कर सकता है। इस विषय के नियम धारा ४५ से ५४ तक में उपलब्ध हैं।

क्रयकर्ता तथा विक्रेता द्वारा विक्रय अनुबंध की अवहेलना करने पर दूसरे पक्ष को क्षतिपूर्ति का अथवा अनुबंध को भंग घोषित करने या दावा करने का अधिकार है। उन नियमों का उल्लेख धारा ५५ से ६१ तक में किया गया है। [जी० के० अ०]

वह्निवेश या अग्निवेश आयुर्वेदाचार्य जिन्होंने अग्निवेशतंत्र संहिता की रचना की। अग्निवेश पुनर्वसु आत्रेय के सबसे अधिक प्रतिभाशाली शिष्य थे। इनके अन्य सहपाठी भेल, जतुकर्ण, पराशर, क्षीरपाणि एवं हारीत थे। अग्निवेशतंत्र संहिता का ही प्रतिसंस्कार चरक ने किया तथा उसका नाम चरक संहिता पड़ा। अग्निवेश के नाम से नाड़ी परीक्षा तथा हस्तिशास्त्र भी प्रसिद्ध हैं। इनके लिये वह्निवेश (चरक-सू. १३।३), हुताशवेश (चरक सू. १७।१५) नाम भी आते हैं। वह्निवेश का समय वही है जो पुनर्वसु आत्रेय (७०० ई० पू०) का है। अग्निवेश का नाम उपनिषद् (बृहदा २।६।२-३) में भी आता है। [अ० दे० वि०]

वाइर्स्ट्रास, कार्ल (Weierstrass, Karl, १८१५ ई०–१८९७ ई०) जर्मन गणितज्ञ का जन्म ३१ अक्टूबर, १८१५ ई० को वेस्टफालिया के ऑस्टनफेल्ड ग्राम में हुआ था। आरंभ में वे मुंस्टर, दयट्श्क्रोने और ब्राउन्सबेर्ख में अध्यापक रहे। ब्राउन्सबेर्ख में इन्होंने 'आबेल के फलनों' का अध्ययन आरंभ किया और यहाँ पर लिखित शोधपत्रों पर कयेनिग्सबेर्ख विश्वविद्यालय ने इन्हें ससंमान पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। ४९ वर्ष की आयु में वे बर्लिन विश्वविद्यालय में गणित के प्रोफेसर नियुक्त हुए। १८४९ ई० के पश्चात् 'आबेल के अनुकलों' पर इन्होंने अनेक महत्वपूर्ण अन्वेषण किए। १८६१ ई० में इन्होंने एक ऐसे आश्चर्यजनक फलन का आविष्कार किया जिसके एक विशेष अंतर में कोई अवकल नहीं है। ये उन विश्लेषिक फलनों को, जिनका घात श्रेणी में विस्तार किया जा सके, अत्यंत महत्व दिया करते थे। १९ फरवरी, १८९७ ई० को बर्लिन में इनका देहांत हो गया। [रा० कु०]

वाकर, गिल्बर्ट टॉमस, सर (Walker, Gilbert Thomas, Sir, सन् १८६८–१९५८) ब्रिटिश वैज्ञानिक का जन्म लैंकाशिर के राचडेल (Rochdale) नामक कस्बे में हुआ था। कैंब्रिज से गणित की उच्चस्तरीय स्नातक परीक्षा में सीनियर रैंगलर का स्थान प्राप्त कर आप ट्रिनिटी कॉलेज के फेलो तथा सन् १८९२ में लेक्चरर नियुक्त हुए। विद्युच्चुंबक तथा गतिविज्ञान में कार्य के लिये आपको डी० एस-सी० की उपाधि मिली तथा ऐडैम्स पुरस्कार भी मिला।

सन् १९०३ में आप भारत में डाइरेक्टर जेनरल ऑव ऑबजर्वेटरीज नियुक्त हुए। सन् १९०८ में आपने कलकत्ता विश्वविद्यालय में विद्युच्चुंबकीय सिद्धांत पर व्याख्यान दिए। सन् १९०४ में रायल सोसायटी के आप फेलो निर्वाचित हुए। सन् १९२० में जब आप सेवानिवृत्त हुए, तो भारत सरकार ने आपको नाइट की उपाधि दी।

इंग्लैंड लौटने पर आप लंदन के इंपीरियल कॉलिज में मीटिऑरोलॉजी के प्रोफेसर नियुक्त हुए। इस पद पर दस वर्ष रहकर आपने वैज्ञानिक क्षेत्र में सक्रिय भाग लिया और बाद में सेवानिवृत्त होने पर भी आप अनुसंधान और वैज्ञानिक विवेचन में लगे रहे। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय आपने इंग्लैंड के वायुमंत्रालय को ऋतुविज्ञान से संबंधित विषयों पर बहुमूल्य सुझाव और सहायता दी।

सन् १९१८ में आप इंडियन सायंस कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए तथा सन् १९२६-२७ में इंग्लैंड की रॉयल मीटिऑरोलॉजिकल सोसायटी के अध्यक्ष रहे थे। [भ० दा० व०]

वाकाटक शब्द का प्रयोग प्राचीन भारत के एक राजवंश के लिये किया जाता है जिसने तीसरी सदी के मध्य से छठी सदी तक

शासन किया था। उस वंश को इस नाम से क्यों संबंधित किया गया, इस प्रश्न का सही उत्तर देना कठिन है। स्यात् वकाट नाम का मध्यभारत में कोई स्थान रहा हो, जहाँ पर शासन करनेवाला वंश वाकाटक कहलाया। अतएव प्रथम राजा को अजंता लेख में "वाकाटक वंशकेतु:" कहा गया है। इस राजवंश का शासन मध्यप्रदेश के अधिक भूभाग तथा प्राचीन बरार (आंध्र प्रदेश) पर विस्तृत था, जिसके सर्वप्रथम शासक विंध्यशक्ति का नाम वायुपुराण तथा अजंतालेख में मिलता है। संभवत: विंध्य पर्वतीय भाग पर शासन करने के कारण प्रथम राजा विंध्यशक्ति की पदवी से विभूषित किया गया। इस नरेश का प्रामाणिक इतिवृत्त उपस्थित करना कठिन है, क्योंकि विंध्यशक्ति का कोई अभिलेख या सिक्का अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका। तीसरी सदी के मध्य में सातवाहन राज्य की अवनति हो जाने से विंध्यशक्ति को अवसर मिल गया तो भी उसका यश स्थायी न रह सका। उसके पुत्र प्रथम प्रवरसेन ने वंश की प्रतिष्ठा को अमर बना दिया। अभिलेखों के अध्ययन से पता चलता है कि प्रथम प्रवरसेन ने दक्षिण में राज्यविस्तार के उपलक्ष में चार अश्वमेध किए और सम्राट् की पदवी धारण की।

प्रवरसेन के समकालीन शक्तिशाली नरेश के अभाव में वाकाटक राज्य आंध्रप्रदेश तथा मध्यभारत में विस्तृत हो गया। बघेलखंड के अधीनस्थ शासक व्याघ्रराज का उल्लेख समुद्रगुप्त के स्तंभलेख में भी आया है। संभवत. प्रवरसेन ने चौथी सदी के प्रथम चरण में पूर्वदक्षिण भारत, मालवा, गुजरात, काठियावाड़ पर अधिकार कर लिया था परंतु इसकी पुष्टि के लिये सबल प्रमाण नहीं मिलते। यह तो निश्चित है कि प्रवरसेन का प्रभाव दक्षिण में दूर तक फैल गया था। परंतु कितने भाग पर वह सीधा शासन करता रहा, यह स्पष्ट नहीं है। यह कहना सर्वथा उचित होगा कि वाकाटक राज्य को साम्राज्य के रूप में परिणत करना उसी का कार्य था। प्रथम प्रवरसेन ने वैदिक यज्ञों से इसकी पुष्टि की है। चौथी सदी के मध्य में उसका पौत्र प्रथम रुद्रसेन राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, क्योंकि प्रवरसेन का ज्येष्ठ पुत्र गौतमीपुत्र पहले ही मर चुका था।

वाकाटक वंश के तीसरे शासक महाराज रुद्रसेन प्रथम का इतिहास अत्यंत विवादास्पद माना जाता है। प्रारंभ में वह आपत्तियों तथा निर्बलता के कारण अपनी स्थिति को सबल न बना सका। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि उसके पितृव्य साम्राज्य को विभाजित कर शासन करना चाहते थे, किंतु पितृव्य सर्वसेन के अतिरिक्त किसी का वृत्तांत प्राप्य नहीं है। वाकाटक राज्य के दक्षिण-पश्चिम भाग में सर्वसेन ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था जहाँ (बरार तथा आंध्र प्रदेश का उत्तरी-पश्चिमी भूभाग) उसके वंशज पाँचवीं सदी तक राज्य करते रहे। इस प्रसंग में यह मान लेना सही होगा कि उसके नाना भारशिव महाराज भवनाग ने रुद्रसेन प्रथम की विषम परिस्थिति में सहायता की, जिसके फलस्वरूप रुद्रसेन अपनी सत्ता को दृढ़ कर सका। [चंपक ताम्रपत्र का० इ०, इ० भा० ३, पृ० २३६] इस वाकाटक राजा के विनाश के संबंध में कुछ लोगों की असत्य धारणा बनी हुई है कि गुप्तवंश के उत्थान से रुद्रसेन प्रथम नष्ट हो गया। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने कौशांबी के युद्ध में वाकाटक नरेश रुद्रसेन प्रथम को मार डाला (अ० भ० ओ० रि० इ०, भा० ४, पृ० ३०-४०, अथवा उत्तरी भारत की दिग्विजय में उसे श्रीहत कर दिया। इस कथन की प्रामाणिकता समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति में उल्लिखित पराजित नरेश रुद्रदेव से सिद्ध करते हैं। प्रशस्ति के विश्लेषण से यह समीकरण कदापि युक्तियुक्त नहीं है कि रुद्रदेव तथा वाकाटक महाराज प्रथम रुद्रसेन एक ही व्यक्ति थे। वाकाटकनरेश से समुद्रगुप्त का कहीं सामना न हो सका। अतएव पराजित या श्रीहत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके विपरीत यह कहना उचित होगा कि गुप्त सम्राट् ने वाकाटक वंश से मैत्री कर ली। वाकाटक अभिलेखों के आधार पर यह विचार व्यक्त करना सत्य है कि इस वंश की श्री कई पीढ़ियों तक अक्षुण्ण बनी रही। कोष, सेना तथा प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि पिछले सौ वर्षों से होती रही [मानकोष दण्ड साधन-संतान पुत्र पौत्रिण : ए० इ०, भा० ३, पृ० २६१] इसके पुत्र पृथ्वीषेण प्रथम ने कुंतल पर विजय कर दक्षिण भारत में वाकाटक वंश को शक्तिशाली बनाया। उसके महत्वपूर्ण स्थान के कारण ही गुप्त सम्राट् द्वितीय चंद्रगुप्त को (ई० स० ३८० के समीप) अपनी पुत्री का विवाह युवराज रुद्रसेन से करना पड़ा था। इस वैवाहिक संबंध के कारण गुप्त प्रभाव दक्षिण भारत में अत्यधिक हो गया। फलत: द्वितीय रुद्रसेन ने सिंहासनारूढ़ होने पर अपने श्वशुर का काठियावाड़ विजय के अभियान में साथ दिया था।

द्वितीय रुद्रसेन की अकाल मृत्यु के कारण उसकी पत्नी प्रभावती गुप्ता अप्राप्तवयस्क पुत्रों की संरक्षिका के रूप में शासन करने लगी। वाकाटक शासन का शुभचिंतक बनकर द्वितीय चंद्रगुप्त ने सक्रिय सहयोग भी दिया। पाटलिपुत्र से सहकारी कर्मचारी नियुक्त किए गए। यही कारण था कि प्रभावती गुप्ता के पूनाताम्रपत्र में गुप्तवंशावली ही उल्लिखित हुई है। कालांतर में युवराज दामोदरसेन द्वितीय प्रवरसेन के नाम से सिंहासन पर बैठा, किंतु इस वंश के लेख यह बतलाते हैं कि प्रवरसेन से द्वितीय पृथ्वीषेण पर्यंत किसी प्रकार का रण अभियान न हो सका। पाँचवीं सदी के अंत में राजसत्ता वेसीमशाखा (सर्वसेन के वंशज) के शासक हरिषेण के हाथ में गई, जिसे अजंता लेख मे कुंतल, अवंति, लाट, कोशल, कलिंग तथा आंध्र देशों का विजेता कहा गया है (इंडियन कल्चर, भा० ७, पृ० ३७२) उसके उत्तराधिकारियों की निर्बलता के कारण वाकाटक वंश विनष्ट हो गया।

अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत में वाकाटक राज्य वैभवशाली, सबल तथा गौरवपूर्ण रहा है। सांस्कृतिक उत्थान में भी इस वंश ने हाथ बटाया था। प्राकृत काव्यों में 'सेतुबंध' तथा 'हरिविजय काव्य' क्रमश: प्रवरसेन द्वितीय और सर्वसेन की रचना माने जाते हैं। वैसे प्राकृत काव्य तथा सुभाषित को 'वैदर्भी शैली' का नाम दिया गया है। वाकाटकनरेश वैदिक धर्म के अनुयायी थे, इसीलिये अनेक यज्ञों का विवरण लेखों में मिलता है। कला के क्षेत्र में भी इसका कार्य प्रशंसनीय रहा है। अजंता की चित्रकला को वाकाटक काल में अधिक प्रोत्साहन मिला, जो संसार में अद्वितीय भित्तिचित्र माना गया है। नाचना का मंदिर भी इसी युग में निर्मित हुआ और उसी वास्तुकला का अनुकरण कर

उदयगिरि, देवगढ़ एवं अजंता में गुहानिर्माण हुआ था। समस्त विषयों के अनुशीलन से पता चलता है कि वाकाटक नरेशों ने राज्य की अपेक्षा सांस्कृतिक उत्थान में विशेष अनुराग प्रदर्शित किया। यही इस वंश की विशेषता है।

सं० ग्रं० — दि वाकाटक : गुप्त एज, १९४६; जे डुब्रील : एंशेंट हिस्ट्री ऑव दकन; डाइनेस्टी ऑव कलि एज, वाकाटकवंशी अभिलेख (ए० इ० में प्रकाशित) [वा० उ०]

वाक्पट का प्रारंभ सन् १९२६ में हुआ जब सबसे पहले न्यूयार्क में डॉन ह्वाँ (Don Juan) नामक फिल्म का ध्वनि के साथ प्रदर्शन हुआ था। इस फिल्म के लिये ध्वनि पृथक् ग्रामोफोन रेकार्ड पर आलेखित थी और इस रेकार्ड को चलचित्र दिखाते समय साथ साथ बजाया जाता था जिससे चलचित्र के साथ ही ध्वनि भी सुनाई पड़े।

आजकल चलचित्रों में ध्वनि का अंकन भी फिल्म के ही एक किनारे पर होता है। ध्वनि अंकन प्रारंभ में तो फोटोग्राफी द्वारा ही होता था परंतु आधुनिक काल में अधिक झुकाव चुंबकीय आलेखन की ओर है। फोटोग्राफी द्वारा ध्वनि अंकन के लिये दो विधियाँ प्रयुक्त हुई हैं। इनमें से एक विधि है परिवर्ती क्षेत्रफल विधि (Variable area method) तथा दूसरी विधि है परिवर्ती घनत्व विधि (Variable density method)। इन दोनों ही विधियों का आधारभूत सिद्धांत समान है, अर्थात् ध्वनि के अनुरूप परिवर्ती छायांकन चलचित्र फिल्म के एक किनारे पर होता है। आजकल अधिक प्रचलन परिवर्ती क्षेत्रफल विधि का है।

परिवर्ती क्षेत्रफल विधि से जिस ध्वनि का आलेखन करना है उसको माइक्रोफोन की सहायता से विद्युच्चुंबकीय तरंगों में परिवर्तित कर देते हैं। इन विद्युच्चुंबकीय तरंगों को प्रवर्धक (amplifier) की सहायता से प्रवर्धित करते हैं। प्रवर्धन के अतिरिक्त यहीं पर ध्वनि के अनेक अन्य लक्षणों (characteristics) का, जैसे तीव्रता आदि, नियंत्रण किया जाता है। इसके बाद ध्वनि के विद्युच्चुंबकीय संकेतों को एक धारामापी (galvanometer) पर देते हैं जिससे धारामापी का दर्पण इधर उधर दोलन करता है। दर्पण पर किसी स्थिर तीव्रतावाले प्रकाशस्रोत का प्रकाश एक प्रकाशिक व्यवस्था द्वारा केंद्रित किया जाता है। दर्पण से परावर्तित होने पर यह प्रकाश एक अन्य प्रकाशिक संयंत्र से होता हुआ फिल्म की पट्टी पर पड़ता है और यहाँ उसका छायांकन होता है। माइक्रोफोन पर पड़नेवाली ध्वनि की आवृत्ति और तीव्रता के अनुरूप विद्युच्चुंबकीय संकेत जब धारामापी पर पड़ते हैं, तो इसके दर्पण के भी दोलन इस ध्वनि परिवर्तन से संबंधित होते हैं। दर्पण के दोलन के कारण प्रकाश, जो इस दर्पण से परावर्तित होता है तथा प्रकाशिक संयंत्रों से गुजरता हुआ फिल्म पर पड़ता है, भिन्न भिन्न क्षेत्रफल में छायांकन करता है। यहाँ क्षेत्रफल में परिवर्तन माइक्रोफोन पर पड़नेवाली ध्वनि के ही कारण होता है, अतः यह परिवर्तन उस ध्वनि के संगत भी होता है। यहाँ ध्वनि छायांकन में कालिमा (blackness) की मात्रा सर्वत्र समान रहती है, केवल काले क्षेत्रफल की तीव्रता में परिवर्तन होता है, अतः इस विधि को परिवर्ती क्षेत्रफल विधि कहते हैं।

परिवर्ती घनत्व विधि में स्थिर तीव्रतावाले प्रकाशस्रोत का प्रकाश एक ऐसे प्रकाश वाल्व पर पड़ता है जो दिए गए संकेतों के अनुरूप कम, या अधिक प्रकाश पारगमित करता है। इस वाल्व पर माइक्रोफोन द्वारा उत्पन्न तथा प्रवर्धक द्वारा प्रवर्धित संकेत दिए जाते हैं। फलस्वरूप इस वाल्व से निकलनेवाले प्रकाश की तीव्रता माइक्रोफोन पर पड़नेवाली ध्वनि के अनुरूप परिवर्तित होती रहती है। जब यह प्रकाश फिल्म पर छायांकन करता है, तब यद्यपि छायांकन का क्षेत्रफल समान रहता है, तथापि इसके कालेपन के घनत्व में परिवर्तन होता है, अतः इस विधि को परिवर्ती घनत्व विधि कहते हैं।

ध्वनि पुनरुत्पादन का सिद्धांत ध्वनि आलेखन का लगभग उल्टा है। फिल्म की पट्टी, जिसपर ध्वनि का आलेखन छाया के रूप में है, एक ड्रम के ऊपर से गुजरती है। इस ड्रम का कार्य केवल फिल्म की गति की संभव अनियमितताओं को दूर करना है। स्थिर तीव्रता के प्रकाशस्रोत से निकलनेवाला प्रकाश प्रकाशिक संयंत्र द्वारा केंद्रित होकर एक संकीर्ण रेखाछिद्र से होता हुआ फिल्म के ध्वनिछायांकित भाग पर पड़ता है। इससे होकर गुजरनेवाले प्रकाश की तीव्रता में ध्वनिआलेखित भाग के कालेपन के अनुरूप परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन स्पष्टतया माइक्रोफोन पर पड़नेवाली ध्वनि के अनुरूप होगा। इस प्रकार परिवर्ती तीव्रता का प्रकाश एक प्रकाश-विद्युत्-सेल, या फोटोसेल पर पड़ता है। इस फोटोसेल के परिपथ में एक विद्युद्धारा उत्पन्न होती है जिसमें फोटोसेल पर आपतित प्रकाश की तीव्रता के अनुरूप परिवर्तन होता है। इस परिवर्ती विद्युद्धारा से फोटोसेल के परिपथ में जो विद्युच्चुंबकीय संकेत उत्पन्न होते हैं, उन्हें प्रवर्धक द्वारा प्रवर्धित किया जाता है तथा बाद में उन संकेतों को एक लाउडस्पीकर पर देते हैं, जो पर्दे के पीछे रखा रहता है। इन प्रवर्धित संकेतों के कारण लाउडस्पीकर से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह उस ध्वनि के ही अनुरूप होती है जो माइक्रोफोन पर पड़ रही थी।

चुंबकीय ध्वनिआलेखन और पुनरुत्पादन — उपर्युक्त छायांकन की विधि में ध्वनि का पुनरुत्पादन बहुत उच्च कोटि का नहीं होता। यद्यपि इस विधि से जो आलेखन, चलचित्र स्टूडियो में, होता है, वह तब भी अधिक उच्च कोटि का हो सकता है, तथापि चलचित्र प्रदर्शनगृहों में ध्वनि का पुनरुत्पादन उतनी उच्च कोटि का नहीं हो सकता। पुनरुत्पादित ध्वनि में आवृत्ति की उच्चतम सीमा प्रायः ७,००० ही हो पाती थी। परंतु इस विधि का एक बड़ा लाभ यह था कि प्रकाशिक छायांकन होने के कारण इसे फिल्म की पट्टी पर चित्र छापने के साथ ही छापा जा सकता था।

प्रकाशविधि की कठिनाइयाँ दूर करने के लिये वैज्ञानिकों ने चुंबकीय ध्वनि आलेख एवं पुनरुत्पादन विधि का सहारा लिया। इस विधि का सिद्धांत टेप रेकार्डर के सिद्धांत जैसा ही है। जिस ध्वनि का आलेखन करना होता है उसको सर्वप्रथम एक माइक्रोफोन की सहायता से विद्युच्चुंबकीय तरंगों में परिवर्तित करके एक

प्रवर्धक द्वारा प्रवर्धित करते हैं। तत्पश्चात् इन प्रवर्धित संकेतों को एक विद्युच्चुंबक के कुंडल में भेजते हैं। इस कुंडल में धारा का मान प्राप्त संकेतों के अनुसार परिवर्तित होता है तथा इस धारा के मान के अनुसार विद्युच्चुंबक की चुंबकीय तीव्रता में भी परिवर्तन होता है। इस विद्युच्चुंबक के दोनों ध्रुवों के बीच की दूरी अत्यंत कम होती है, अतः उनके बीच चुंबकीय क्षेत्र की तीव्रता बहुत अधिक होती है और इसके कुंडलों में प्रवाहित होनेवाली धारा में परिवर्तन से क्षेत्र की तीव्रता में अधिक परिवर्तन भी होता है। इस विद्युत् चुंबक के अत्यंत निकट से एक टेप गुजरता है, जिसपर किसी चुंबकीय पदार्थ, जैसे लौह ऑक्साइड (iron oxide), का लेप चढ़ा रहता है।

विद्युत् चुंबक के संमुख से गुजरते समय इस टेप पर लेपित चुंबकीय पदार्थ के चुंबकीय गुणों में परिवर्तन होता है, जो विद्युच्चुंबक के चुंबकत्व में परिवर्तन के अनुरूप होता है, और चूँकि विद्युच्चुंबक के चुंबकत्व में परिवर्तन माइक्रोफोन पर पड़नेवाली ध्वनि के अनुरूप होता है, अतः टेप के चुंबकीय गुणों में परिवर्तन भी माइक्रोफोन पर पड़नेवाली ध्वनि के अनुरूप होता है। इस विधि से टेप पर ध्वनि का चुंबकीय आलेखन हो जाता है।

पुनरुत्पादन के लिये जब यही टेप किसी विद्युच्चुंबक के संमुख चलाया जाता है, तब उसके कुंडलों में प्रवाहित होनेवाली धारा में तदनुरूप परिवर्तन होता है। धारा का यह परिवर्तन एक प्रवर्धक द्वारा प्रवर्धित करके लाउडस्पीकर पर देने से ध्वनि का पुनरुत्पादन होता है। फिल्म पर इस विधि से आलेखन के लिये आवश्यक है कि फिल्म के एक किनारे पर किसी चुंबकीय पदार्थ का लेप हो। साथ ही प्रदर्शन गृह में पुनरुत्पादन के लिये प्रकाशस्रोत एवं फोटोसेल के स्थान पर चुंबकीय हेड की आवश्यकता होगी।

स्टीरीओफोनिक साउंड — आधुनिक समय में अनेक चलचित्रों के प्रदर्शन का आकार साधारण चित्र से भिन्न होता है। सिनेमास्कोप, सिनेरामा, विस्टाविजन आदि नामों से प्रचलित विधियों में प्रदर्शित चित्र की चौड़ाई बहुत अधिक होती है। इस विधि के साथ यदि ऊपर वर्णित ध्वनि-पुनरुत्पादन-विधि का उपयोग किया जाए, जिसमें एक ही लाउडस्पीकर का उपयोग किया जाता है, तो एक कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि पर्दे पर ध्वनि का स्रोत चाहे दाएँ सिरे पर, या बाएँ सिरे पर, या बीच में कहीं भी हो, ध्वनि सदैव एक उसी स्थान से आती हुई प्रतीत होगी, जहाँ लाउडस्पीकर रखा है। यदि इस विधि में कई लाउडस्पीकर समांतर में लगाए जाएँ, जो पूरे पर्दे की चौड़ाई में वितरित हों तब भी पूरे पर्दे पर से समान ध्वनि आएगी जबकि बोलनेवाला कहीं एक ही स्थान पर होगा। इस कठिनाई को दूर करने के लिये स्टीरीयोफोनिक ध्वनि संयंत्र का उपयोग किया जाता है।

इस विधि में ध्वनि आलेखन के समय भिन्न भिन्न स्थलों पर रखे हुए कई माइक्रोफोन का उपयोग किया जाता है, जिनकी संख्या प्रायः चार से सात तक होती है। प्रत्येक माइक्रोफोन से उत्पन्न संकेतों को पृथक् पृथक् प्रवर्धित करते हैं तथा उन्हें आलेखन पट्टी पर अलग अलग आलेखित करते हैं। इस प्रकार ध्वनि आलेखन कई ट्रैकों (tracks) पर होता है और इसे बहुल ट्रैक रेकार्डिंग (Multi track recording) कहते हैं। पुनरुत्पादन के समय भी अलग अलग चुंबकीय हेड से अलग अलग ट्रैक के आलेखन को विद्युच्चुंबकीय संकेतों में परिवर्तित करते हैं, फिर उन्हें पृथक् पृथक् प्रवर्धकों से प्रवर्धित करते हैं। अंत में इन संकेतों को अलग अलग लाउडस्पीकरों पर देते हैं। प्रत्येक लाउडस्पीकर इस प्रकार रखा जाता है कि उसकी स्थिति संगत माइक्रोफोन की स्थिति के अनुरूप हो। उदाहरण के लिये, यदि ध्वनि आलेखन के समय एक माइक्रोफोन स्टेज के एक दम बाएँ कोने पर रखा है, तो उस ध्वनि के पुनरुत्पादित करनेवाला लाउडस्पीकर भी पर्दे के पीछे एक दम बाएँ रखा जाएगा। इसी प्रकार अन्य लाउडस्पीकर भी संगत माइक्रोफोनों के अनुसार वितरित होंगे। अब कल्पना कीजिए कि ध्वनि आलेखन के समय स्टेज के बाएँ सिरे पर ध्वनि उत्पन्न होती है, तब वहाँ रखे माइक्रोफोन में ध्वनि की तीव्रता सब से अधिक होगी तथा क्रमशः दूर होते गए माइक्रोफोन में तीव्रता क्रमशः कम होती जाएगी। चूँकि आलेखन और पुनरुत्पादन काल में सभी ट्रैक के संकेत समान रूप से प्रवर्धित होते हैं, अतः पुनरुत्पादन काल में सबसे बाईं ओर रखे लाउडस्पीकर से तीव्रतम ध्वनि उत्पन्न होगी और क्रमशः दूर के लाउडस्पीकर क्रमशः हलकी ध्वनि उत्पन्न करेंगे। अतएव फलस्वरूप दर्शक को ध्वनि पर्दे की बाईं ओर से आती प्रतीत होगी। इसी प्रकार ध्वनि आलेखन काल में स्टेज के जिस भाग में ध्वनि उत्पन्न होगी, उसके निकटतम रखे हुए माइक्रोफोन में संकेत तीव्रतम होगा तथा पुनरुत्पादन काल मे उसी के संगत लाउडस्पीकर से महत्तम ध्वनि उत्पन्न करेगा। अतः ध्वनि भी चित्र के उसी भाग से आती प्रतीत होगी, जहाँ ध्वनि उत्पन्न होती जान पड़ती है। जितने ही अधिक तथा स्पष्ट ट्रैक होंगे उतना ही वास्तविक ध्वनि पुनरुत्पादन होगा। परंतु व्यय एवं व्यावहारिक कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए प्रायोगिक रूप में सात ट्रैक तक उपयोग में आते हैं। [ध० कि० गु०]

वाक्यपदीय व्याकरण का एक बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसके रचयिता 'नीतिशतक' के रचयिता महावैयाकरण तथा योगिराज भर्तृहरि हैं। वसुरात इनके गुरु का नाम था। भर्तृहरि को किसी ने तीसरी, किसी ने चौथी तथा छठी या सातवी सदी में रखा है। यह ग्रंथ तीन भागों में विभक्त है जिन्हें 'कांड' कहते हैं। यह समस्त ग्रंथ पद्य में लिखा गया है। प्रथम 'ब्रह्मकांड' है जिसमें १५७ कारिकाएँ हैं, दूसरा 'वाक्यकांड है जिसमें ४९३ कारिकाएँ हैं और तीसरा 'पदकांड' के नाम से प्रसिद्ध है।

मूल में व्याकरण शास्त्र एक प्रकार से आगम शास्त्र है। इसकी अभिव्यक्ति महेश्वर से है। आगम के अनुसार शब्द के चार स्वरूप हैं — 'परा', 'पश्यंती', 'मध्यमा' तथा 'वैखरी'। इनमें 'परा' ही ब्रह्म है। इसीलिये वाक्यपदीय की प्रथम कारिका में ही शब्दतत्व को अनादि और अनंत तथा अक्षर ब्रह्म कहा है। इसी परारूप ब्रह्म से संसार के पदार्थों की उत्पत्ति तथा व्यवहार विवर्तरूप में माना गया है। प्रथम कांड में, शब्दतत्व के दार्शनिक रूप का विचार है, अतएव इसे 'ब्रह्मकांड' नाम दिया गया है और साधारण रूप में इसका वाचकत्व सिद्ध किया गया है। वस्तुतः यह आगमिक कांड है। आगम की दृष्टि से लिखा गया है।

इस कांड की कुछ उपयोगी तथा जानने योग्य बातें ये हैं —

उस ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय तथा स्वरूप को महर्षियों ने 'वेद' कहा है। यह एक होता हुआ भी अनेक मालूम होता है। इसीलिये ऋग् यजुष्, साम तथा अथर्वन् नाम से चार वेद कहे जाते हैं। ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १००, सामवेद की १००० तथा अथर्ववेद की ९ मिलाकर ११३० शाखाएँ वेद की हुई। ऐसा होने पर भी सभी वेदों तथा उनकी शाखाओं का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय 'कर्म' है। यह स्मरण रखना है कि जो शब्द या मंत्र जिस स्वर में जिस शाखा में पढ़ा गया है वह शब्द उसी तरह उच्चारण किए जाने पर फल देनेवाला होता है। वही शब्द उसी रूप में दूसरी शाखा में पढ़े जाने से इस शब्दोच्चारण का फल होगा अन्यथा नहीं, अथवा अन्य कोई फल देगा।

आगम के बिना कर्तव्य एवं अकर्तव्य का निश्चय नहीं हो सकता। ऋषियों में जो अतींद्रिय वस्तु को देखने का ज्ञान है वह भी आगम ही के द्वारा प्राप्त है (वाक्य० १।३७)। तर्क के द्वारा कोई यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, वह परिवर्तनशील है। ऊँचे स्तर के ऋषियों के लिये भूत और भविष्य सभी प्रत्यक्ष हैं। ज्ञान के स्वप्रकाश होने के कारण उसमें आत्मा का स्वरूप तथा घट आदि ज्ञेय पदार्थ का स्वरूप दोनों भासित होते हैं। उसी प्रकार शब्द में अर्थ का स्वरूप और उसका अपना स्वरूप, दोनों की प्रतीति होती है।

जिस प्रकार जपापुष्प के लाल रूप से संबद्ध ही स्फटिक का ग्रहण होता है उसी प्रकार स्फोट से मिली हुई ध्वनि का ही ग्रहण होता है। किसी का मत है कि जिस प्रकार इंद्रियों का गुण असंवेद्य होकर भी विषयों के ज्ञान का कारण है, उसी प्रकार ध्वनि असंवेद्य होती हुई भी शब्द के ज्ञान का कारण होती है। दूसरा मत है कि 'दूरत्व' दोष के कारण स्फोट के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, केवल ध्वनि का ही भान होता है। तीसरा मत है कि स्फोट का भान तो होता है परंतु दूरत्व दोष के कारण अस्फुट रहता है, जैसे दूर होने के कारण किसी वस्तु का 'परिमाण' स्पष्ट रूप में भासित नहीं होता।

अणुओं में सभी प्रकार की शक्तियाँ हैं, इसीलिये भेद और संसर्ग (वियोग तथा संयोग) रूप में अणुओं से (संसार के सभी) कार्य होते हैं। ये अणु छाया, आतप, तमस् तथा शब्द के रूप में परिणत होते रहते हैं। ये शक्तियाँ अभिव्यक्त होने के समय में बड़े प्रयत्न से प्रेरित की जाती हैं। और जिस प्रकार (जल के परमाणुओं के क्रमशः इकट्ठे होने से) बादल बनते हैं उसी प्रकार शब्द के परमाणु क्रमशः इकट्ठे होकर सभी कार्य करते हैं। इन परमाणुओं का नाम 'शब्द' या 'शब्दपरमाणु' है।

इस प्रकार शब्द के आगमिक स्वरूप का विवेचन तथा शब्द ही से समस्त जगत् की सृष्टि का निरूपण ब्रह्मकांड में है। द्वितीय कांड में 'पद' वाचक है या 'वाक्य', इसका विशद विचार है। भिन्न भिन्न मतों का आलोचन है। इसी कांड में भर्तृहरि ने कहा है – शब्द और अर्थ एक ही परमतत्व के दो भेद हैं जो पृथक् नहीं रहते (२।३१)। ऋषियों को तत्व का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है किंतु उससे व्यवहार नहीं चल सकता। इसलिये व्यवहार के समय उन अनिर्वचनीय तत्वों का जिस प्रकार लोग व्यवहार करते हों उसी तरह सभी को करना चाहिए (२।१४३)। 'प्रतिभा' को सभी प्रामाणिक मानते हैं और इसी के बल से पक्षियों के भी व्यवहार का ज्ञान लोगों को होता है (२।१४९)। बीज बोने के साथ साथ 'लाह' का रस आदि पदार्थ के मिला देने से उस बीज के फलों के रंग में तथा उसके फलों में भेद हो जाता है। 'शास्त्रार्थ' की प्रक्रिया केवल अज्ञ लोगों को समझाने के लिये है, न कि तत्व के प्रतिपादन के लिये। शास्त्रों में प्रक्रियाओं के द्वारा अविद्या का ही विचार है। 'अविद्या' के उपमर्दन के पश्चात् आगम के विकल्पों से रहित शास्त्रप्रक्रिया प्रपंचशून्य होने पर 'विद्या' के रूप में प्रकट होती है। इसीलिये कहा है कि असत्य के मार्ग के द्वारा ही सत्य की प्राप्ति होती है, जैसे बालकों को पढ़ाते समय उन्हें पहले शास्त्रों का प्रतिपादन केवल प्रतारणामात्र होता है। इत्यादि दार्शनिक रूप से व्याकरण के तत्वों का विचार ४९३ कारिकाओं में दूसरे कांड में है।

तीसरे कांड में 'पदविचार' का प्रक्रम किया गया है। अर्थ द्वारा पदों की परीक्षा होती है। न्याय-वैशेषिक के मत में आकाश में सामान्य (जाति) नहीं है किंतु वाक्यपदीय के अनुसार मुख्य या औपाधिक देशभेद के कारण आकाश में भी जाति है (३।१५-१६)। 'ज्ञान' स्वप्रकाश है। विषयज्ञान तथा उसका परामर्शज्ञान, ये दोनों भिन्न हैं। इस कांड में १३ खंड हैं जिनमें ४५० से अधिक कारिकाओं में दार्शनिक रूप से व्याकरण के पदार्थों का विशद विचार किया गया है। यह कांड खंडित ही है।

वाक्यपदीय पर भूतिराज के पुत्र हेलाराज ने बहुत सुंदर तथा विस्तृत टीका लिखी है। आधुनिक समय में भी कुछ विद्वानों ने टीका लिखी है किंतु इन सबकी दृष्टि आगमिक न होने के कारण वाक्यपदीय का वास्तविक ज्ञान नहीं प्राप्त होता। इसकी बहुत सी कारिकाएँ नष्ट हुई मालूम होती हैं। अभी हाल में युधिष्ठिर मीमांसक तथा साधुराम ने लुप्त कारिकाओं पर कुछ विचार किए हैं। व्याकरण के आगमिक रूप के विचार में इस ग्रंथ के समान अन्य ग्रंथ बहुत नहीं हैं।

वाग्भट १. 'वाग्भटालंकार' के रचयिता जैन संप्रदाय के विद्वान्। प्राकृत भाषा में इनका नाम 'वाहट' था और ये 'सोम' के पुत्र थे। इनके ग्रंथ के टीकाकार सिंहगणि के कथनानुसार ये कवींद्र, महाकवि और राजमंत्री थे। ग्रंथ में उदाहृत पद्य ग्रंथकार द्वारा प्रणीत हैं जिसमें कर्ण के पुत्र जयसिंह का वर्णन किया गया है। वाग्भट का काल प्राप्त प्रमाणों के आधार पर ११२१ से ११५६ तक निश्चित है। वाग्भटालंकार पर पाँच टीकाएँ उपलब्ध हैं। वाग्भटालंकार में कुल पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम चार परिच्छेदों में काव्यलक्षण, काव्यहेतु, कविसमय, शिक्षा, काव्योपयोगी संस्कृत आदि चार भाषाएँ, काव्य के भेद, दोष, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार और वैदर्भी आदि रीतियों का सरल विवेचन है। पाँचवें परिच्छेद में नव रस, नायक एवं नायिका भेद आदि का निरूपण है। इन्होंने चार शब्दालंकार और ३५ अर्थालंकारों को मान्यता दी है। वाग्भटालंकार सिंहगणि की टीका के साथ काव्यमाला सीरीज से मुद्रित एवं प्रकाशित है।

[बि० ना० बि०]

वाग्भट २. काव्यानुशासन नामक ग्रंथ के रचयिता। इनका समय लगभग १४ वीं सदी ई० है। इनके पिता का नाम नेमिकुमार और माता का नाम महादेवी था। यह ग्रंथ सूत्रों में प्रणीत है जिसपर ग्रंथकार ने ही 'अलंकार तिलक' नाम की टीका भी की है। टीका में उदाहरण दिए गए हैं और सूत्रों की विस्तृत व्याख्या की गई है। काव्यानुशासन पाँच अध्यायों में विभक्त है। इसमें काव्यप्रयोजन, कविसमय, काव्यलक्षण, दोष, गुण, रीति, अर्थालंकार, शब्दालंकार, रस, विभावादि का विवेचन और नायक-नायिका-भेद आदि पर क्रमबद्ध प्रकाश डाला गया है। ग्रंथकार ने अलंकारों के प्रकरण में भट्टि, भामह, दंडी और रुद्रट आदि द्वारा आविष्कृत कुछ ऐसे अलंकारों को भी स्थान दिया है जिनके ऊपर ग्रंथकार के पूर्ववर्ती और अलंकारों के आविष्कारकों के परवर्ती मम्मट आदि विद्वानों ने कुछ भी विचार नहीं किया है। ग्रंथकार ने 'अन्य' और 'अपर' नाम के दो नवीन अलंकारों को भी मान्यता दी है। इस ग्रंथ का उपजीव्य काव्यप्रकाश, का०.मीमांसा आदि ग्रंथ हैं। इन्होंने ६४ अर्थालंकार और ६ शब्दालंकार माने हैं। ग्रंथ के प्रारंभ में ग्रंथकार ने स्वयं अपना परिचय दिया है और 'वाग्भटालंकार' के प्रणेता का नामोल्लेख 'इतिवामनवाग्भटादिप्रणीत दश काव्यगुणाः' कहकर किया है। अतः यह 'वाग्भटालंकार' के प्रणेता वाग्भट से भिन्न और परवर्ती हैं।

वाग्भट ३. नेमिनिर्वाण नामक महाकाव्य के रचयिता। ये हेमचंद्र के समकालीन विद्वान् हैं। इनका समय ई० ११४० के लगभग है। नेमिनिर्वाण महाकाव्य में कुल १५ सर्ग हैं। जैसा नाम से ही प्रकट है, इस महाकाव्य में जैन तीर्थंकर श्रीनेमिनाथ के चरित्र का वर्णन किया गया है। इनकी कविता प्रसाद और माधुर्य गुणों से युक्त एवं सरस है। [वि० ना० मि०]

वाग्भट ४. आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रंथ अष्टांगहृदय के रचयिता। प्राचीन संहितयकारों में यही व्यक्ति है, जिसने अपना परिचय स्पष्ट रूप में दिया है। अष्टांगसंग्रह के अनुसार इनका जन्म सिंधु देश में हुआ। इनके पितामह का नाम भी वाग्भट था। ये अवलोकितेश्वर गुरु के शिष्य थे। इनके पिता का नाम सिद्धगुप्त था। यह बौद्धधर्म को माननेवाले थे। इत्सिंग ने लिखा है कि उससे एक सौ वर्ष पूर्व एक व्यक्ति ने ऐसी संहिता बनाई जिसमें आयुर्वेद के आठो अंगों का समावेश हो गया है। अष्टांगहृदय का तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ था। आज भी अष्टांगहृदय ही ऐसा ग्रंथ है जिसका जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ है। गुप्तकाल में पितामह का नाम रखने की प्रवृत्ति मिलती है : चंद्रगुप्त का पुत्र समुद्रगुप्त, समुद्रगुप्त का पुत्र चंद्रगुप्त (द्वितीय) हुआ। गुप्तकाल में पश्चिमी विज्ञान का प्रभाव आ गया था। इसी से वाग्भट के बनाए दोनों ग्रंथों में (अष्टांगसंग्रह एवं अष्टांगहृदय में) पलांडु सेवन तथा मद्यपान का वर्णन सुंदर ललित भाषा में किया गया है; साथ ही शकांगनाओं के मुख की कांति का उल्लेख किया है।

इत्सिंग का समय ६७५ से ६८५ शती ईसवी के आसपास है। वाग्भट इससे पूर्व हुए हैं। वाग्भट की भाषा में कालिदास जैसा लालित्य मिलता है। छंदों की विशेषता देखने योग्य है (संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद, भाग १.)। वाग्भट का समय पाँचवीं शती के लगभग है। ये बौद्ध थे, यह बात ग्रंथों से स्पष्ट है (अष्टांगसंग्रह की भूमिका, अत्रिदेव लिखित)। वाग्भट नाम से व्याकरण शास्त्र के एक विद्वान् भी प्रसिद्ध हैं [आ० बृ० इ० पृ० २१७]। वराहमिहिर ने भी बृहत्संहिता में [अ० ७६] माक्षिक औषधियों का एक पाठ दिया है। यह पाठ अष्टांगसंग्रह के पाठ से लिया जान पड़ता है [उत्तर० अ० ४९]। रसशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथ रत्नसमुच्चय का कर्ता भी वाग्भट कहा जाता है। इसके पिता का नाम सिंहगुप्त था। पिता और पुत्र के नामों में समानता देखकर, कई विद्वान् अष्टांगसंग्रह और रसरत्नसमुच्चय के कर्ता को एक ही मानते हैं, परंतु वास्तव में ये दोनों भिन्न व्यक्ति हैं [रसशास्त्र, पृष्ठ ११०]। वाग्भट के बनाए आयुर्वेद के ग्रंथ अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय हैं। अष्टांग हृदय की जितनी टीकाएँ हुई हैं उतनी अन्य किसी ग्रंथ की नहीं। इन दोनों ग्रंथों का पठन पाठन अत्यधिक है। [अ० दे० वि०]

वाचाघात (Aphasia) मस्तिष्क की ऐसी विकृति है जिसमें व्यक्ति के बोलने, लिखने तथा बोले एवं लिखे हुए शब्दों को समझने या प्रकट करने में अनियमितता, अस्पष्टता एवं स्थायी विकार उत्पन्न हो जाता है।

वाचाघात के मुख्य कारण मस्तिष्क का थ्रॉम्बोसिस, रक्तस्रोतरोधन (embolism), अर्बुद (tumour), फोड़े (abscess) इत्यादि हैं, जो यदि मस्तिष्क के दाहिने गोलार्ध में हों तो शरीर का बायाँ भाग और यदि मस्तिष्क के बाएँ गोलार्ध में हों, तो शरीर का दाहिना भाग आक्रांत होता है।

सिल्वियन धमनी (Sylvian artery) का थ्रॉम्बोसिस एवं रक्तस्रोतरोधन रोगोत्पत्ति में अधिक सहायक होता है। अर्बुदजन्य वाचाघात एकाएक उत्पन्न होता है। शनैः शनैः वाचाघात की उत्पत्ति मिर्गी, अपकपारी, रक्तमूत्रविषाक्तता (uraemia), उन्मादी का व्यापक पक्षाघात (general paralysis of the insane), जो उपदंश की चतुर्थ अवस्था में उपद्रव स्वरूप होता है, तथा मस्तिष्कशोथ, तंद्रा (encephalitis lethargia) इत्यादि कारणों से होती है।

लक्षणों के आधार पर वाचाघात का वर्गीकरण इस प्रकार हुआ है :

(१) प्रेरक (motor) वाचाघात में रोगी केवल स्पष्ट रूप से बोल नहीं सकता, पर बोलते समय काम में आनेवाली मांसपेशियों में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। इस अवस्था में रोगी केवल छोटे छोटे शब्दों का ही सही उच्चारण कर सकता है।

(२) सांकेतिक (nominal) वाचाघात में रोगी पहचानी हुई वस्तु का सही नाम बतलाने में असमर्थ रहता है।

(३) अलेखन वाचाघात (agraphia) में लेखन शक्ति का ह्रास हो जाता है।

(४) दूषित शब्दोच्चारण वाचाघात (anathna) में रोगी शब्दों का उच्चारण स्पष्ट नहीं कर सकता।

(५) मिश्रित वाचाघात (mixed aphasia) में वाचाघात के साथ साथ रोगी के सामान्य बुद्धिविकास में भी शिथिलता आ जाती है।

(६) चेष्टा अक्षमता (apraxia) तथा प्रत्यक्ष अक्षमता

वाचाघात (agnosia) में चेष्टा अक्षमता के अंतर्गत रोगी कुछ विशिष्ट कार्य, जैसे बटन लगाना इत्यादि, नहीं कर पाता तथा प्रत्यक्ष अक्षमता में रोगी सामान्य चीजों का ठीक व्यवहार नहीं कर पाता।

वाचाघात के निदान के लिये नाड़ीमंडल की पूर्ण परीक्षा करनी चाहिए तथा इस बात का पता लगाना चाहिए कि रोगी दाहिने हाथ से काम करता है अथवा बाएँ हाथ से। इसके अलावा रोगी से प्रश्नों द्वारा उसकी बुद्धिक्षमता का एवं वाचाघात की तीव्रता आदि का पता लगाते हैं।

इस रोग की साध्यासाध्यता इसपर निर्भर करती है कि मस्तिष्क का कौन सा और कितना भाग आक्रांत हुआ है। अर्बुद और रक्तस्रावजन्य वाचाघात को छोड़कर अन्य कारणों से उत्पन्न वाचाघात में रोग के अच्छे होने की अधिक संभावना रहती है, परंतु प्रत्येक अवस्था में रोग का पुनराक्रमण हो सकता है। वाचाघात के समुचित उपचार के लिये वाक् प्रशिक्षक (speech instructor) की मदद लेनी चाहिए तथा कारणों के अनुसार रोग का उपचार करना चाहिए। [प्रि० कु० चौ०]

वाजपेयी, चंद्रशेखर का जन्म सं० १८५५, पौष शुक्ल १०, को मोजवाबाद (फतेहपुर) में हुआ था। इनके पिता मनीराम वाजपेयी भी अच्छे कवि थे। इनके गुरु असनी के करनेश महापात्र थे, जो 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' और भूपभूषण' नामक ग्रंथों के रचयिता करनेश से भिन्न १९वीं शती में रहे होंगे। २२ वर्ष की उम्र में इन्होंने दरभंगा की यात्रा की। वहाँ सात वर्ष बिताकर ये जोधपुर के राजा मानसिंह, पटियालाधीश कर्मसिंह और महाराज नरेंद्रसिंह के आश्रय में रहे। इनका शरीरपात सं० १९३२ वि० में हुआ।

इनकी १० रचनाएँ कही जाती हैं—(१) हम्मीर हठ (र० का० १९०२ वि०), (२) नखशिख, (३) रसिकविनोद (१९०३ वि०), (४) वृंदावनशतक, (५) गुरुपंचाशिका, (६) ज्योतिष का ताजक, (७) माधुरीवसंत, (८) हरि-भक्ति-विलास (हरि-मानस-विलास), (९) विवेकविलास और (१०) राजनीति का एक बृहत् ग्रंथ। इनमें सर्वाधिक महत्व की रचना 'हम्मीरहठ' है, जिसपर कवि की कीर्ति अवलंबित है। इसमें रणथंभोर के राजा हम्मीर और सम्राट् अलाउद्दीन के युद्ध का वर्णन बड़ी ही ओजपूर्ण शैली में किया गया है। इसका प्रधान रस वीर है। वाराणसी के लहरी बुक डिपो से यह प्रकाशित भी हो चुका है। रसिकविनोद नायिकाभेद और रसों के वर्णन का ग्रंथ है।

वीर, शृंगार और भक्ति तीनों रसों का अच्छा परिपाक इनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। इसीलिये आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि 'उत्साह की, उमंग की व्यंजना जैसी चलती, स्वाभाविक और जोरदार भाषा में इन्होंने की है वैसे ढंग से करने में बहुत ही कम कवि समर्थ हुए हैं। वीररस वर्णन में इस कवि ने बहुत ही सुंदर साहित्यिक विवेक का परिचय दिया है' (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३८९, पंचम संस्क०)। कवि का अपनी साहित्यिक भाषा पर पूरा अधिकार है। उसमें व्यवस्था, प्रवाह और रसानुकूल उत्कृष्ट पदविन्यास भी पाया जाता है। प्रसंगविधान पूर्ववर्ती कवियों का सा ही है। बहुल अनुप्रास योजना रसबाधक न होकर रसोपकारी सिद्ध हुई है। [रा० के० त्रि०]

वाट, जेम्स (सन् १७३६-१८१९), स्कॉच इंजीनियर तथा आविष्कारक, का जन्म ग्रीनकॉक नामक नगर में हुआ था। इनके पिता छोटे व्यापारी थे, जिनको व्यापार में घाटा उठाना पड़ा। फलतः १९ वर्ष की आयु में जेम्स वॉट ने लंदन जाकर जेम्स मॉरगन नामक यंत्र निर्माणकर्ता के कारखाने में काम करना प्रारंभ किया। यहाँ इन्हें कड़ा परिश्रम कर गरीबी से जीवन बिताना पड़ता था। इसलिये एक वर्ष पश्चात् स्कॉटलैंड वापस आकर, इन्होंने स्वतः यंत्र निर्माण करना आरंभ किया और कुछ समय में ग्लासगो विश्वविद्यालय में इसी कार्य पर नियुक्त हो गए।

अस्वस्थता के कारण ये किसी पाठशाला में नियमित रूप से शिक्षा नहीं पा सके थे। जो कुछ सीखा, अपने से ही सीखा। मशीनों और यांत्रिक गणनाओं की ओर इनको अत्यंत आकर्षण था। प्रचलित विश्वास कि जेम्स वाट भाप के इंजन के अविष्कारक थे, सही नहीं है। इन्होंने वर्तमान इंजन को सुधार कर उपयोगी बनाया। उस समय निउकोमेन के बनाए वाष्प इंजन से काम लिया जाता था, किंतु यह बहुत असंतोषजनक था। जेम्स ने भाप संबंधी अनेक प्रयोग किए और अलग काम करनेवाले संघनित्र का अविष्कार कर, भाप इंजन का खर्चा तीन चौथाई कम कर दिया। भाप का सफल पूर्ण इंजन बनाने में धन की कमी के कारण इन्हें कई वर्ष लग गए। इस कमी को पूरा करने के लिये सन् १७६५ में विवाह के पश्चात्, इन्होंने नहरों के निर्माण के लिये सर्वेक्षण कार्य करना स्वीकार किया। सन् १७७४ में मैथ्यू बोल्टन नामक व्यक्ति इन्हें सोहो इंजीनियरिंग वर्क्स नामक अपने कारखाने में बर्मिंघैम ले गए और धन से इनकी सहायता करने लगे। इसी वर्ष नवंबर मास में इनका पूर्ण और सफल इंजन प्रस्तुत हुआ और व्यापारी ढंग पर इसका निर्माण होने लगा। अगले वर्ष ये बोल्टन के साझेदार हो गए।

अब ये अपने अन्योन्यगतिक (reciprocating) भाप इंजन से सीधे घूर्णक गति (rotary motion) प्राप्त करने की चेष्टा में लगे। सर्वप्रथम इन्होंने इसके लिये क्रैंक (crank) का उपयोग किया, किंतु अंत में इसे छोड़कर सूर्य तथा ग्रह चक्र (sun-and-planet wheel) की युक्ति के प्रयोग का निश्चय किया। वाट ने भाप के प्रसार के सिद्धांत का उपयोग अपने इंजन को द्वि-क्रियावाला (double acting) बनाने में किया, पिस्टन दंड तथा धरन (beam) में समांतर-गति-योजन की युक्ति का आविष्कार किया, भाप के इंजनों की गति को नियमित करने के लिये अपकेंद्री नियामक (centrifugal governor) का निर्माण किया, सिलिंडर में भाप के विविध दबावों के रेखाचित्र बनानेवाले सूचक को पूर्ण रूप दिया तथा अन्य अनेक यांत्रिक सुधार संबंधी आविष्कार किए।

भाप इंजन के सिवाय, वाट ने लेखों, पत्रों की प्रतियाँ उतारने का यंत्र तथा इस कार्य के लिये उपयुक्त स्याही का आविष्कार किया, नाव या जहाज चलाने के लिये पेंचदार पंखे (screw propeller) का सुझाव दिया तथा जल की संरचना का स्वतंत्र रूप से पता लगाया।

सन् १८०० में इन्होंने कारखाने से निवृत्ति ली, किंतु फिर भी अपनी मृत्यु तक घर की प्रयोगशाला में अनुसंधान कार्य में प्रवृत्त रहे।

[भ० दा० व०]

वाटरलू १. स्थिति : ४२° ३३' उ० तथा ९२° २६' दे०। यह नगर संयुक्तराज्य, अमरीका, के पूर्वी आइग्रोवा प्रांत में, सीडर नदी के किनारे बसा हुआ है। यहाँ पर नदी लगभग २०० से ९०० फुट तक चौड़ी है, एवं सर्वदा स्वच्छ जल से परिपूर्ण रहती है। इसके लगभग ६० मील पश्चिम की ओर ब्यूक तथा २७५ मील पश्चिम में शिकागो नगर स्थित है। इस नगर में ९० प्रति शत गोरे लोग रहते हैं। यहाँ पर कृषि तथा पशुपालन ही मुख्य उद्यम हैं तथा दुग्ध व्यवसाय का यह एक प्रधान केंद्र है। अन्य उद्योगों में ट्रैक्टर, मोटर आदि बनाना ही मुख्य हैं।

२. इसी नाम का नगर बेल्जियम में स्थित है। यहीं पर इतिहास प्रसिद्ध वह युद्ध हुआ था जिसमें नेपोलियन बोनापार्ट को हार का सामना करना पड़ा था। इसी युद्ध के कारण इसका नाम प्रसिद्ध हो गया।

[दी० ना० ब०]

वाटर्स, एमिली (१८४६–१९३३) बेल्जियन चित्रकार, जन्म ब्रुसेल्स में हुआ। 'हेस्टिंग्ज की लड़ाई' शीर्षक के चित्र से उसने रसिकों का ध्यान अपनी कला की ओर खींच लिया। पोरताएल और जेरामी से उसने शिक्षा ली। इटली की प्रवास यात्रा में उसकी कृतियाँ बहुत प्रशंसित हुईं। बेल्जियन राजा ने भी इसका एक चित्र खरीद कर उसका उत्साह बढ़ाया। ब्रुसेल्स प्रदर्शनी में इसका एक चित्र सर्वोत्तम माना गया पर प्रौढ़ उम्र के अभाव में उसे पुरस्कार नहीं दिया गया। ३८० फुट लंबा और ४६ फुट चौड़ा 'कैरो और नाइल नदी की कगार' शीर्षक चित्र बनाकर वह अमर हो गया। उसने रंगकांडियों द्वारा काफी व्यक्तिचित्र बनाए।

[भा० स०]

वाटर्स, टॉमस (१८४०–१९०१) का जन्म ९ फरवरी, १८४० में 'न्यूटाऊनडंस' में हुआ। इनके पिता इसी नगर के श्रेष्ठ पादरी थे। सुशिक्षित परिवार में रहने के कारण वाटर्स को उच्च अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त होती रही। वैसे इनकी प्रारंभिक शिक्षा दीक्षा घर पर ही सपंन्न हुई। तदनंतर सन् १८६१ में इन्होंने आयरलैंड के 'क्वींस विश्वविद्यालय' से स्नातक परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। एम० ए० पास करने के बाद सन् १८६३ में चीन शासन की राजनयिक सेवा में आपकी नियुक्ति हुई। आप पीकिंग जाकर अनेक वर्षों तक कार्य करते रहने के अनंतर १८९५ में अस्वस्थ होने के कारण सेवामुक्त हुए।

वाटर्स अपने व्यक्तिगत जीवन में अत्यंत नम्र, एवं निरहंकार रहे। राजकीय कार्य में व्यस्त रहने पर भी ये साहित्यप्रेमी थे। अंग्रेजी के साथ साथ आपका चीनी भाषा पर भी पूर्ण अधिकार था। कालांतर में बौद्ध धर्म एवं दर्शन में भी इनकी रुचि जाग्रत हुई। इसके फलस्वरूप आपने बौद्ध साहित्य संबंधी अनेक ग्रंथ लिखे। इस क्षेत्र में टॉमस वाटर्स और भी प्रसिद्ध हुए जब उन्होंने चीनी यात्री 'युआन-च्वाङ्' की यात्रा के विवरण का चीनी भाषा से अंग्रेजी में अनुवाद किया। वाटर्स के पूर्व, इस ग्रंथ का अनुवाद सेम्युल बील ने भी किया था किंतु वह अनुवाद अनेक त्रुटियों से युक्त होने से जनप्रिय न हो सका। वाटर्स ने इन त्रुटियों को शुद्ध कर तथा संस्कृत, पालि शब्दों की व्याख्या कर अपने अनुवाद को पूर्ण रूप से परिमार्जित किया। वाटर्स का यह अनुवाद इतना प्रभावपूर्ण रहा कि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, लंदन ने इसे तत्काल प्रकाशित कर दिया।

इसके अतिरिक्त टॉमस ने अनेक ग्रंथों की रचना की जिनमें निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं —

१. लाउत्जू : ए स्टडी इन चाइनीज फिलासफी, लंदन १८७०। २. एसेज ऑन दि चाइनीज लैंग्वेज, शंघाई १८८९। ३. स्टोरीज ऑव एव्रीडे लाइफ इन माडर्न चाइना, लंदन ४. कपिलवस्तु इन बुद्धिस्ट बुक्स १८९८.

[नि० शा०]

वाट्स, जॉर्ज फ्रेडिक (१८१७-१९०४) विक्टोरियन आंग्ल चित्रकार और मूर्तिकार। जन्म एक वेलश कुटुंब में लंदन में हुआ। विलियम बेनेस के दिग्दर्शन में उसने शिक्षा प्राप्त की। अपने काम में वह शुरू से ही यशस्वी रहा। लार्ड्स सभा के लिये जो प्रतियोगिता हुई उसमें उसे प्रथम पुरस्कार मिला। इसके कारण वह उच्च शिक्षणार्थ रोम जा सका। लौटने के बाद उसको एक और पुरस्कार मिला। अब वह अगले दस साल तक भित्तिचित्र बनाने में व्यस्त रहा। पार्लिमेंट में तथा न्यायालयों में उसने अपनी कला का उपयोग सजावट के कार्य में किया। वाट्स स्वभावतः लोगों की भलाई चाहता था और उसका विश्वास था कि लोक-हित-साधना ही चित्र का अंतिम ध्येय होना चाहिए।

फलस्वरूप उसने बहुत से चित्र प्रतीकात्मक रूपों में (allegorical forms) बनाए हैं। वाट्स अक्सर 'पादरी चितारी' के नाम से संबोधित किया जाता है, क्योंकि वह अपने चित्रों द्वारा गंभीर शब्दों में लोगों को नीति उपदेश का रसपान करवाना चाहता था। वाट्स को विक्टोरियन युग का प्रतिनिधि चित्रकार कहना चाहिए। १८६७ ई० में वह रायल अकादमी का सदस्य चुना गया और फिर अध्यक्ष भी निर्वाचित हुआ। वाट्स चित्रकारी के साथ साथ मूर्तियाँ आदि भी गढ़ा करता था।

[दि० को०]

वाणिज्य धनप्राप्ति के उद्देश्य से वस्तुओं का क्रय विक्रय करना ही वाणिज्य है। संसार मे प्रत्येक व्यक्ति की कई आवश्यकताएँ होती हैं। उनको प्राप्त करने के लिये वह आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इनमें से कुछ वस्तुएँ तो वह स्वयं बना लेता है और अधिकांश वस्तुएँ उसे बाजार से मोल खरीदनी पड़ती हैं। वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये उसे धन की आवश्यता पड़ती है, और इस धन को प्राप्त करने के लिये या तो वह दूसरों की सेवा करता है अथवा ऐसी वस्तुएँ तैयार करता है या क्रय विक्रय करता है जो दूसरों के लिये उपयोगी हों। वस्तुओं का रूप बदलकर उनको अधिक उपयोगी बनाने का कार्य उद्योग माना जाता है। वाणिज्य में वे सब कार्य संमिलित रहते हैं जो वस्तुओं के क्रय विक्रय में सफलता प्राप्त करने के लिये आवश्यक हैं। जो व्यक्ति वाणिज्य संबंधी कोई कार्य करता है उसे वणिक् कहते हैं

वाणिज्य के दो प्रधान अंग हैं—दूकानदारी और व्यापार। जब

वस्तुओं का क्रयविक्रय किसी एक स्थान या दूकान से होता है, तब उस संबंध के सब कार्य दूकानदारी के अंदर आते हैं। जब वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान भेजकर विक्रय किया जाता है, तब उस संबंध के सब कार्य व्यापार के अंदर समझे जाते हैं। देशी व्यापार में वस्तुओं का क्रयविक्रय एक ही देश के अंदर होता है। विदेशी व्यापार में वस्तुओं का क्रयविक्रय दूसरे देशों के साथ होता है। बड़े पैमाने पर दूर दूर के देशों से व्यापार के लिये बड़ी पूँजी की आवश्यकता होती है जो संमिलित पूँजीवाली कंपनियों और वाणिज्य बैंकों द्वारा प्राप्त होती है। संसार के भिन्न भिन्न देशों में संसारव्यापी वाणिज्य में लगे हुए व्यक्तियों ने मिलकर प्रत्येक देश में वाणिज्य मंडलों (Chambers of Commerce) की स्थापना कर ली है। इन मंडलों का प्रधान कार्य देश के वाणिज्य के हितों की संमिलित रूप से रक्षा करना और सरकार द्वारा रक्षा कराना है। वाणिज्य संबंधी कार्यों का उचित रूप से नियंत्रण करने के लिये प्रत्येक देश की सरकार जो कानून बनाती है, वे वाणिज्य विधि कहलाते है।

वाणिज्य में सफलता प्राप्त करने के लिये वणिक् को विक्रय कला का व्यावहारिक ज्ञान होना आवश्यक है। उसे हिसाब रखने की पद्धति को भी ठीक तरह से जानना और उपयोग में लाना पड़ता है। अपने कार्यों की जोखिम कम करने के लिये उसे अपने माल का बीमा कराना होता है। इसलिये उसे इस विषय का ज्ञान भी प्राप्त करना पड़ता है। अपने व्यापार को दूर दूर तक देशों में फैलाने के लिये उसे पत्रव्यवहार और विज्ञापनकला का उचित उपयोग करना पड़ता है। वाणिज्य में स्वतंत्र बुद्धि और दृढ़ विश्वास की अत्यंत आवश्यकता है। ईमानदारी द्वारा ही वणिक् अपने कार्य की प्रसिद्धि प्राप्त करता है। उसकी बात की सचाई उसकी साख को बढ़ाती है, जिससे वह आवश्यक पूँजी आसानी से प्राप्त कर लेता है।

किसी देश के उद्योग धंधों की दशा का उसके वाणिज्य पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जिस देश में उद्योग धंधो द्वारा वस्तुओं की उत्पत्ति बराबर बढ़ती रहती है, उसका वाणिज्य भी उन्नत दशा में रहता है। किसी देश के वाणिज्य की उन्नति उसके यातायात के साधनों की दशा पर बहुत कुछ निर्भर रहती है। पहाड़ी देशों में, जहाँ सड़कों का प्रायः अभाव रहता है, वाणिज्य और व्यापार पिछड़ी हुई दशा में रहता है। रेलों के प्रचार और समुद्री जहाजों की उन्नति से बीसवीं सदी में संसार के अधिकांश देशों में वाणिज्य की वृद्धि में बहुत सहायता मिली है। अब वायुयान द्वारा भी कीमती वस्तुओं का व्यापार होने लगा है। इससे भी वाणिज्य को प्रोत्साहन मिला है।

जब किसी देश में अशांति रहती है, और चोर तथा डाकुओं का भय बढ़ जाता है, तब उसके वाणिज्य पर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। वाणिज्य की उन्नति में एक और बाधा उस आयातकर की होती है, जो कोई देश अपने उद्योग धंधों को दूसरे देशों की प्रतियोगिता से बचाने के लिये कुछ वस्तुओं के आयात पर लगाता है।

वाणिज्य में धनप्राप्ति की भावना ही प्रधान रहती है। कभी कभी स्वार्थ की भावना इतनी प्रबल हो जाती है कि वणिक् लोग वस्तुओं में मिलावट करके बेचते हैं, माल के तौलने में बेईमानी करते हैं और झूठे विज्ञापन देकर अथवा चोरबाजारी करके अपने ग्राहकों को ठगने का प्रयत्न करते हैं। वे इस बात का विचार नहीं करते कि उनके इन प्रयत्नों से दूसरों की क्या हानि होती है। वे अपने कर्तव्य या धर्म का कोई विचार नहीं करते, इसी कारण हमारे वणिक् धनवान् होने पर भी असंतुष्ट बने रहते हैं और जीवन को शांतिमय नहीं बना पाते। जब वणिक् अपने सामने उच्च आदर्श रखेंगे और अपने सब कार्यों में दूसरों के स्वार्थों का उतना ही ध्यान रखेंगे जितना वे अपने स्वार्थों का रखते हैं, तब वाणिज्य भी धनोपार्जन के साथ ही साथ सुख और शांति का भी साधन हो जावेगा।

वाणिज्यवाद (mercantilism) का मुख्य उद्देश्य विदेशी व्यापार को इस तरह से संगठित करना था जिससे देश के अंदर दूसरे देशों से सोना एवं चाँदी बराबर अधिक मात्रा में आती रहे। वाणिज्यवादी सरकार द्वारा विदेशी व्यापार की ऐसी नीति निश्चित करना चाहते थे जिससे देश के निर्यात की मात्रा देश के आयात से सदा ही अधिक रहे और दूसरे देश निर्यात की रकम को पूरा करने के लिये सोना बराबर भेजते रहें। बाद में अंग्रेज अर्थशास्त्रियो ने वाणिज्यनीति को नया रूप दिया। इसके अनुसार वणिक् समाज और सरकार को विदेशी व्यापार में आयात और निर्यात दोनों को इस प्रकार से बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे देश मे उपयोगी वस्तुओं का बाहुल्य हो जाए और वस्तुओ का अधिक परिमाण में उपयोग करने से देशवासियों के रहन सहन का दर्जा बराबर बढ़ता जाए।

भूत काल में, भारत भी वाणिज्य संबंधी कार्यों में बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। प्राचीन आर्यों की आर्थिक व्यवस्था का पता वैदिक साहित्य से लगता है। वैदिक काल से ही द्रविड़ तथा आर्य लोगों ने मिस्र, असीरिया और बैबिलोन से व्यापारिक एवं सांस्कृतिक संबंध स्थापित किए। ईसामसीह के सैकड़ों वर्ष पूर्व से ही भारत में शिल्प और वाणिज्य का सर्वांगीण विकास हुआ। वणिकों के संघो का उल्लेख उस समय के साहित्य में मिलता है। उस समय के विदेशी यात्रियों ने यहाँ के उन्नत उद्योग धंधे और वाणिज्य की बड़ी प्रशसा की है। भारत ने करीब तीन हजार वर्षों तक समुद्र पर अपना प्रभुत्व जारी रखा और अपने व्यापार और वाणिज्य की खूब उन्नति की। वह सैकड़ों वर्षों तक संसार का नेता और वाणिज्य का केंद्र बना रहा। उस काल में भारतवासियों ने वाणिज्य में अपने लाभ के साथ ही साथ दूसरों को लाभ पहुँचाने का हमेशा ध्यान रखा है।

मुगल काल में भी भारत के गृह उद्योग उन्नत दशा में थे और एशिया, यूरोप और अफ्रीका के अनेक देशों में यहाँ से तैयार माल जाता था। संसार के कई देश तो केवल भारत के वस्त्रों पर ही निर्भर रहते थे। सूती, रेशमी तथा ऊनी वस्त्र तैयार करनेवाले भारतीय कारीगरों का कौशल संसार में दूर दूर तक फैल गया था। वस्त्रों के अतिरिक्त मोती, मूँगा, हाथीदाँत, मसाले, सुगंधित द्रव्य इत्यादि का भी खूब रोजगार होता था।

भारत से वाणिज्य द्वारा लाभ उठाने की इच्छा से ही यूरोपवासियों ने भारत में पदार्पण किया और उसके व्यापार पर कब्जा

करने का प्रयत्न किया। अंग्रेजों ने धीरे धीरे संपूर्ण भारत पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व जमा लिया। इन अंग्रेजों के समय में भारत के गृह उद्योग धंधे नष्ट कर दिए गए और देशी जहाजी बेड़े का भी अंत हो गया। भारत के वाणिज्य पर अंग्रेजों का प्रभुत्व होने से भारतवासियों की आर्थिक दशा दयनीय हो गई। स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भारत को संसार में एक बार फिर से वाणिज्य का प्रधान केंद्र बनाने के प्रयास किए जाने लगे।

सं० ग्रं० — श्री कृष्णदत्त भट्ट : भारतवर्ष का आर्थिक इतिहास; श्रीकृष्ण वाजपेयी : भारतीय व्यापार का इतिहास; श्री कांतानाथ गर्ग : आधुनिक व्यापार; श्री केदारनाथ प्रसाद : व्यापारी संगठन।

[द० शं० दु०]

वातानुकूलन (Air-conditioning) किसी निश्चित क्षेत्र अथवा कक्ष के ताप, आर्द्रता, वायु की गति तथा वायुमंडल के स्तर के स्वतंत्र अथवा एक साथ की नियंत्रण क्रिया को वातानुकूलन कहा जाता है। वातानुकूलित क्षेत्र के ताप, आर्द्रता, वायु की गति तथा वायुमंडल के स्तर में विभिन्न कारकों का नियंत्रण आवश्यकतानुसार विभिन्न स्तरों पर किया जाता है। सामान्यतः, वातानुकूलन का उद्देश्य शारीरिक सुख तथा औद्योगिक सुविधा प्रदान करना होता है। शारीरिक सुख के लिये ऊष्मा-संबंधी उपयुक्त एवं सुखप्रद परिस्थितियों को उत्पन्न करने में कक्ष के ताप, आर्द्रता, वायु की गति एवं वायुमंडल के स्तर को शरीरक्रिया विज्ञान की दृष्टि से निश्चित सीमाओं के भीतर नियंत्रित किया जाता है। जब औद्योगिक उद्देश्यों के लिये, जैसे विभिन्न संगृहीत पदार्थों की सुरक्षा के लिये, वस्त्र एवं सूत तथा संश्लिष्ट रेशों के उत्पादन में, अथवा छपाई में, वातानुकूलन का उपयोग होता है, उस समय प्रक्रम तथा औद्योगिक आवश्यकतानुसार विभिन्न स्तरों पर उपर्युक्त वातानुकूलन कारकों का निर्धारण किया जाता है।

सामान्य रूप में किसी व्यक्तिविशेष के लिये वायुमंडल एवं वातावरण का ताप, आर्द्रता, वायु की गति एवं वायुमंडल का स्तर शरीर के सुख तथा सुविधा की दृष्टि से सदा अनुकूल अथवा सुखप्रद नहीं होता। इन कारकों को सुखप्रद बनाने में वातानुकूलन करनेवाले संयंत्रों का आधुनिक युग में विशेष प्रचार हुआ है। वातानुकूलित वातावरण मनुष्य के लिये केवल सुखप्रद ही नहीं होता, वरन् उसकी कार्यक्षमता में वृद्धि करनेवाला भी होता है। मनुष्य के शरीर में विभिन्न उपापचयी क्रियाओं द्वारा एवं शारीरिक श्रम द्वारा ऊष्मा का उत्पादन होता है तथा शरीर द्वारा वायुमंडल एवं वातावरण में ऊष्मा का निष्कासन होता है। शरीरक्रिया विज्ञान की दृष्टि से यदि शरीर में ऊष्मा का उत्पादन तथा शरीर द्वारा ऊष्मा के निष्कासन की गति समान होती है, तो यह दशा, मनुष्य के लिये सुखप्रद होती है। वातानुकूलन का यह प्रमुख उद्देश्य होता है कि वायुमंडल एवं वातावरण के उन सभी कारकों का इस प्रकार से नियंत्रण हो कि शरीर में ऊष्मा का उत्पादन एवं उसके द्वारा ऊष्मा निष्कासन की गति प्रायः समान हो जाए। मनुष्य के लिये शारीरिक दृष्टि से सुखप्रद वातावरण का ताप २१°–२४° सें० तथा सापेक्ष आर्द्रता ५० प्रति शत होनी चाहिए। इसी प्रकार १५ से २५ फुट प्रति मिनट वायु की गति शरीर के लिये सुखप्रद होती है। वातानुकूलन के उपर्युक्त कारकों को सभी ऋतुओं में समान स्तर पर रखने पर अधिकतम सुख प्राप्त नहीं होता। ग्रीष्म ऋतु में ताप २४° सेंटीग्रेड होना अधिक उपयुक्त होता है।

वातानुकूलन करनेवाले संयंत्रों में सामान्यतः एक वायुशीतक तथा एक वायुतापक संयंत्र होता है। वायुतापक संयंत्र वायु के ताप को निश्चित बिंदु से कम होने पर तापन के द्वारा बढ़ाता है तथा वायुशीतक संयंत्र ताप अधिक होने पर वायु के ताप को शीतलन की क्रिया के द्वारा निर्धारित स्तर पर लाता है। वायुशीतक यंत्र संपीड़न प्रकार का यांत्रिक प्रशीतन एकक होता है। इसके यांत्रिक संपीड़न तंत्र के अधिशोषण संयंत्र से संघनक, विस्तारणकारक एवं वाष्पक यंत्र लगे होते हैं। वातानुकूलन संयंत्रों में बाह्य वायुमंडल की वायु छन्ने के द्वारा भीतर प्रवेश करती है। इस छन्ने से वायु के धूल के कण इत्यादि संयंत्र के भीतर प्रवेश नहीं कर पाते हैं। यांत्रिक प्रशीतक में वायुछन्ने का प्रमुख कार्य वायु के साथ प्रवेश करने वाले ठोस कणों की मात्रा को कम करना होता है, परंतु इस क्रिया में प्रवेश के दबाव तथा निष्कासन दबाव में दबाव का ह्रास न्यूनतम होना चाहिए। दबाव के ह्रास से वायुसंचालन मे अधिक बिजली खर्च होती है। वायुछन्ने की क्रियाशीलता संबंधी क्षमता वायु के साथ प्रवेश करनेवाले कणों के आकार पर तथा वायु में कणों की सांद्रता एवं वायु के प्रवेश की गति पर निर्भर करती है। इस प्रकार से छनकर आई हुई वायु को यांत्रिक शीतक में अथवा अधिशोषण शीतक मे पूर्वनिर्धारित ताप तक शीतल किया जाता है।

सामान्यतः वायु को शीतल करने में संवेदी-ऊष्मा (sensible heat), अथवा आंतरिक ऊष्मा की ऊर्जा का, गरम वायु से अपेक्षाकृत कम तापवाले स्तर, अथवा माध्यम, में प्रत्यक्ष संवहन (convection) द्वारा स्थानांतरण होता है। ऊष्मा का यह स्थानांतरण, द्रववाष्प के संमिश्रण के द्वारा ऊष्मापारेषण स्तर से परिवाही शीतल द्रव, अथवा कम दबाव पर वाष्पन से होता है। वायुशीतलन की इस पद्धति में द्रववाष्प का संमिश्रण शीतल द्रव अथवा वाष्प रूप में परिवर्तित होते हुए वायु की ऊष्मा को ग्रहण करता है। ऊष्मा-स्थानांतरण की एक अन्य पद्धति में, प्रवेश करनेवाली वायु की ऊष्मा का स्थानांतरण किसी भीगे हुए स्तरयुक्त वायुशीतलक में होता है। इस पद्धति को वायु का आर्द्रशीतलन कहा जाता है। वायु शीतलन की उपर्युक्त दोनों ही पद्धतियों में वायु की संचित आंतरिक गतिज ऊर्जा वायु को त्याग कर, ऊष्मा-ग्रहण-स्तर में पहुँचकर, संचित हो जाती है, अथवा ऊष्मा-ग्रहण-स्तर के आंतरिक गतिज ऊर्जा में वृद्धि करती है, जिससे स्तर के ताप में वृद्धि होती है अथवा स्थिर ताप वाष्पन प्रक्रम में आंतरिक स्थितिक ऊर्जा के रूप में संचित हो जाती है।

वातानुकूलन में वायु को शीतल करने में जब ऊष्मा स्थानांतरण के लिये शुष्क स्तर का उपयोग होता है, तो गुप्त ऊष्मा में परिवर्तन नहीं होता तथा इस अवस्था में संवेदी ऊष्मा की हानि संपूर्ण ऊष्मा की हानि के बराबर होती है। जैसे जैसे ऊष्मा के स्थानांतरण स्तर का ताप कम होने लगता है तथा वह निर्धारित आर्द्रता पर ओसांक बिंदु (dewpoint) के समीप होने लगता है संवेदी ऊष्मा की

हानि में वृद्धि होने लगती है। वातानुकूलन की आर्द्र-शीतन रीति में ऊष्मा-स्थानांतरण-स्तर के ताप का इस प्रकार से नियंत्रण होता है कि संवेदी ऊष्मा की हानि तथा संपूर्ण ऊष्मा की हानि का अनुपात वायु-अनुकूलन-अधिष्ठापन की आवश्यक भार-परिस्थिति को वहन कर सके। निर्धारित आर्द्रता की परिस्थितियों में ऊष्मा-स्थानांतरण-स्तर का ताप यदि ओसांक बिंदु से नीचे पहुँच जाता है (अर्थात् प्रवेश करनेवाली वायु के वाष्प के संमिश्रण के ओसांक बिंदु से नीचे पहुँच जाता है), तो उस अवस्था में संपूर्ण ऊष्मा की हानि में वृद्धि हो जाती है, तथा साथ ही साथ संवेदी ऊष्मा की हानि तथा संपूर्ण ऊष्मा की हानि के अनुपात में कमी उत्पन्न हो जाती है।

वातानुकूलन संयंत्र में यांत्रिक संपीड़न व्यवस्था से, ऊष्मा ऊर्जा के विद्युत-स्थानांतरण में शक्ति का प्रयोग उच्च ताप की वायु से कम ताप वाले ऊष्मा स्थानांतरण स्तर में उपर्युक्त रीति से होता है। ऊष्मा अवशोषण की पद्धति में यांत्रिक संपीडन पद्धति के संघनक, विस्तारण कारक तथा वाष्पक संयंत्रों का प्रयोग होता है, परंतु वायुशीतलक द्रव के संतृप्त दबाव में वृद्धि उत्पन्न होने से, यंत्र की कार्य-क्षमता में वृद्धि हो जाती है। वातानुकूलन की इस रीति में गौण अवशोषक द्रव का प्रयोग होता है। वाष्प रूप में होने पर इस द्रव में वातानुकूलक के शीतलक द्रव के प्रति बंधुता होती है। जल अमोनिया अवशोषण पद्धति में द्रव रूप में जल का उपयोग अमोनिया के वाष्प के अवशोषण के लिये किया जाता है। इस प्रकार से प्राप्त शीतल तथा सांद्र अमोनिया के विलयन को उच्च दबाव की स्थिति में लाने पर तथा ताप में वृद्धि के कारण पुन: वाष्पीकरण होता है।

वातानुकूलन संयंत्र में शीतलक यंत्र के अतिरिक्त तापक यंत्र भी लगा हुआ होता है। प्रवेश करनेवाली वायु के ताप के कम होने पर इलेक्ट्रॉनिक (electronic) अभिचालन पद्धति स्वत: चालित हो जाती है, जिससे तापक कार्य करने लगता है और वातानुकूलन संयंत्र से निकलनेवाली वायु का ताप निर्धारित सीमा तक हो जाता है। इस प्रकार से शीतलक तथा तापक यंत्रों के संयुक्तिकरण द्वारा किसी कक्ष अथवा क्षेत्र के ताप को पूर्वनिर्धारित सीमा पर स्थिर रखने के लिये यह आवश्यक होता है कि वातानुकूलन संयंत्र में कक्ष की वायु का संतत परिवहन होता रहे। अत: संयंत्र में ऐसी व्यवस्था होती है कि कक्ष की वायु का चूषण होता रहता है तथा शीतलन अथवा निश्चित ताप पर इस वायु का, अथवा बाह्य वायुमंडल की वायु का, संयंत्र से कक्ष के भीतर मंद गति से (१५ से २५ फुट प्रति मिनट) प्रवाह होता रहता है। इससे कक्ष के ताप के नियंत्रण के साथ साथ वायु में कार्बन डाइऑक्साइड (श्वसन द्वारा निष्कासित) की मात्रा अधिक नहीं होने पाती तथा कक्ष की वायु में यदि कोई दुर्गंध हो, तो उसका भी निष्कासन होता रहता है। वातानुकूलन में ताप का नियंत्रण ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। संयंत्र में प्रवेश करनेवाली वायु को आर्द्र स्तर से होकर आने से जल के वाष्पन का नियंत्रण होता है तथा इसके फलस्वरूप कक्ष की आर्द्रता का भी उचित स्तर पर नियंत्रण होता है। इस प्रकार से कक्ष अथवा क्षेत्र के ताप, आर्द्रता, वायु की गति तथा वातावरण के स्तर का पृथक् एवं संयुक्त रूप में निश्चित स्तर पर नियंत्रण होता है। इस प्रकार के कक्ष को वातानुकूलित कक्ष कहा जाता है। वातानुकूलन की इस क्रिया में वायुमंडल तथा वातावरण के उपर्युक्त कारकों को शारीरिक सुख एवं औद्योगिक आवश्यकताओं के लिये वातानुकूलन की रीति से अनुकूलतम बनाया जाता है। [अ० सिं०]

वातिल उपकरण (Pneumatic Tools) आधुनिक औद्योगिक कार्यों में, निर्वातन उत्पन्न कर वायुमंडलीय दाब तथा संपीडित हवा में निहित शक्ति द्वारा चालित अनेक प्रकार के उपकरण बनाकर, अनेक प्रकार के काम किए जाते हैं, जिनसे मानवीय श्रम तथा समय की बचत होकर बड़ी सुविधा से और अच्छा काम होता है। १९वीं शताब्दी के मध्योत्तर काल में हवा की शक्ति तथा विद्युत् शक्ति के प्रयोग में एक प्रकार से बड़ी स्पर्धा सी हो गई थी। दोनों ही में निहित शक्ति का प्रयोग, शक्ति उत्पादक केंद्र से बहुत दूरी पर जाकर, सुविधानुसार किया जा सकता है। लेकिन अब हवा तथा बिजली एक दूसरे की सहायक होकर, औद्योगिक कार्यों के लिये वरदान स्वरूप हो गई हैं। बहुत बड़े बड़े विस्तृत कारखानों में तो सैकड़ों मील की दूरी पर स्थित जलविद्युत् संयंत्रों द्वारा उत्पादित बिजली ग्रिड-प्रणाली से प्राप्त कर, मोटरें चलाई जाती हैं और उनके द्वारा वायु-संपीडक यंत्र अथवा निर्वातन यंत्र चलाकर, विभिन्न प्रकार के वातिल-उपकरणों से अंडस की जगहों पर विशेष प्रकार के काम किए जाते
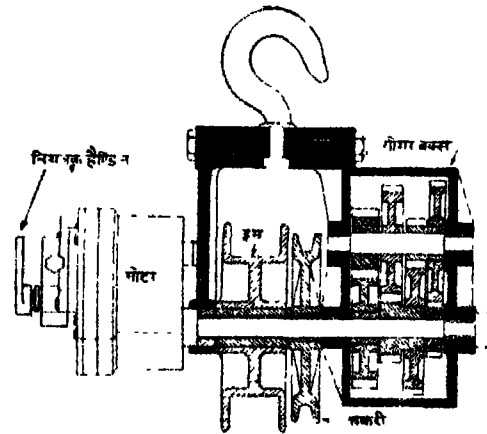
हवाई मोटर युक्त हविस

चित्र १

हैं। जहाजों के निर्माण तथा मरम्मत के कामों में तथा संरचनीय इंजीनियरी के कामों में, जब छेदे अथवा काटी जानेवाली वस्तु कारखाने के साधारण स्थायी यंत्रोपकरणों पर नहीं लाई जा सकती, तब विशेष वातिल उपकरणों से उनपर, जहाँ वह है उसी स्थान पर, काम कर लिया जाता है। यही काम विद्युत् तारों को जहाँ तहाँ ले जाकर उठौआ विद्युतोपकरणों से भी किया जा सकता है, लेकिन ऐसा करने में जरा सी भी असावधानी से बिजली का झटका लगने से मृत्यु भी हो सकती है। वातिल उपकरणों के उपयोग में इस प्रकार का कोई डर नहीं रहता। खानों के काम के लिये तो वातिल प्रणाली महान वरदान ही है, क्योंकि इनमें काम करने के बाद निकली हुई

हवा के द्वारा खानों का संवातन भी ठीक होता रहता है। वातिल प्रणाली से अनेक प्रकार के वाहित्र बनाकर विशेष परिस्थितियों में सामान इधर से उधर ले जाया जाता है, बोझा उठाया जाता है और कुएँ से पानी खींचा जाता है। कलाई खानों में तो अनेक यंत्र वातिल प्रणाली से ही काम करते हैं। इस लेख में प्रमुख प्रकार के वातिल उपकरणों का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

१. हविस (Hoist), हवाई मोटर युक्त — चित्र १ में दिखाए हुए प्रकार का हविस कई नापों में बनाया जाता है, जिसके द्वारा २०० किग्रा० से लेकर ९,००० किग्रा० तक बोझा उठाया जा सकता है। चित्र में बाएँ हाथ की तरफ चार सिलिंडर युक्त शक्तिशाली मोटर लगी है जो ८० से १०० पाउंड प्रति वर्ग इंच दाब की संपीडित हवा से चलाई जाती है। यह मोटर पहले दाहिने हाथ की तरफ लगे गियरों (gears) को चलाती है जिनसे संबंधित बीच में लगा ड्रम (ढोल) घूमता है जिसपर बोझे की रस्सी लिपटती या खुलती है। इसमें खूबी यह है कि मोटर में हवा की दाब बंद होते ही स्वतः ब्रेक लग जाते हैं जिससे भार को बीच में कहीं भी रोका जा सकता है और ज्यों ही बोझे को ऊपर चढ़ाने या उतारने के लिये संपीडित हवा खोली जाती है, वह एक नली द्वारा ब्रेक युक्ति में पहुँचकर ब्रेक के गुटके को हटा देती है। इस प्रकार के हविस निर्माण कारखानों में भारी सामान उठाने धरने और वर्कशाप में खराद, मिलिंग, तथा प्लेनिंग मशीनों पर लगाए जाते हैं।
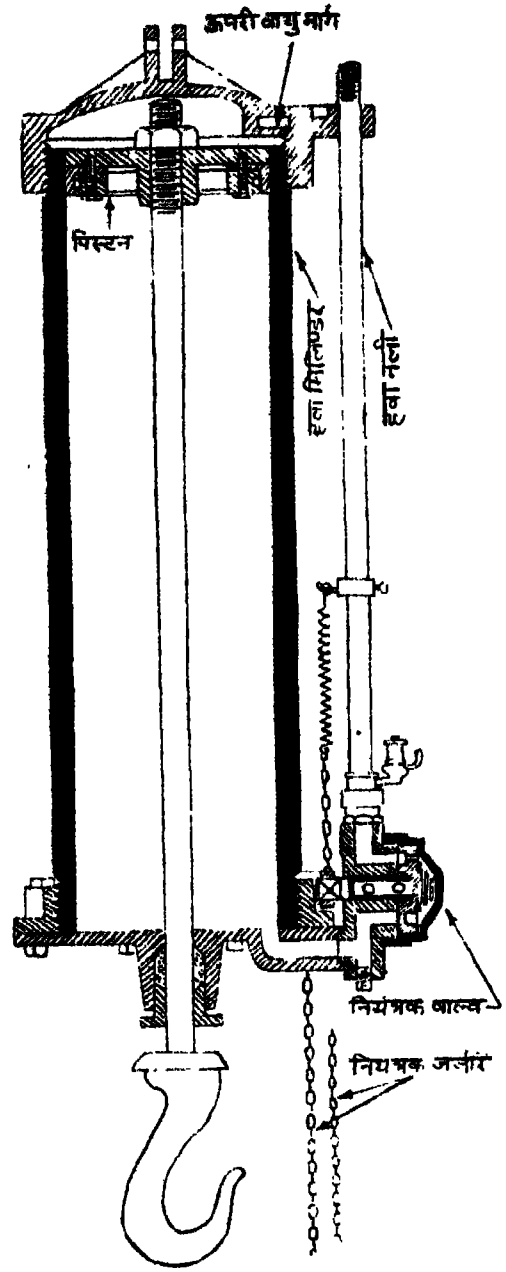
२. खड़े हविस, सिलिंडरनुमा — खड़े अथवा आड़े सिलिंडरनुमा हविसों में एक पिस्टन अपने दंड सहित संपीडित वायु की दाब से सरक कर काम करता है। यह भी तीन प्रकार का होता है: एकक्रियात्मक, द्विक्रियात्मक और संतुलित पिस्टनयुक्त। संतुलित प्रकार के हविस की बनावट चित्र २. में दिखाई गई है, जिसका उपयोग ढलाई खानों में क्रोड (core) बैठाने, साँचों को बंद करने, फरमे को साँचे से बाहर निकालने आदि कामों में किया जाता है जिसमें बिना झटके के मिट्टी के नाजुक तथा भंगुर साँचों आदि को उठाना होता है। इस प्रकार के हविस में हवा की दाब सदैव पिस्टन के नीचे की तरफ बनी रहती है, अतः बोझे को उठाने के लिये केवल पिस्टन के ऊपर की हवा को निष्कासित करना होता है और नीचे उतारने के लिये ऊपर की तरफ हवा भरनी पड़ती है, क्योंकि पिस्टन के नीचे की तरफ के अंतराल में पिस्टनदंड भी कुछ जगह रोकता है, अतः उसमें प्रभावकारी दाब कम होने के कारण ही बोझा धीरे धीरे नीचे उतरता है। ऊपर की हवा को थोड़ा निकाल तथा संतुलित कर बोझ को बिलकुल सही सही जहाँ चाहें वहाँ रोक भी सकते हैं। गैंट्री अथवा शिरोपरि गरडरों पर लगे ठेले से लटकाकर बोझे सहित इसे अपनी सीमा के भीतर भीतर इधर से उधर भी ले जा सकते हैं। इसके सिलिंडर ३ इंच से लेकर २४ इंच व्यास तक के बनाए जाते हैं और विभिन्न व्यासों के अनुसार बने हविसों को ६० से १०० पाउंड प्रति वर्ग इंच दाब की संपीडित हवा से चलाया जा सकता है। २४ इंच व्यास के सिलिंडर से, ६० पाउंड वायुमंडलीय दाब पर २५,४३० पाउंड, ८० पाउंड वायुमंडलीय दाब पर ३२,५७० पाउंड

बेलनाकार खड़ी हविस

चित्र २.

और १०० पाउंड वायुमंडलीय दाब पर ४०,७२० पाउंड तक का बोझा उठाया जा सकता है।

३. झकझोरनेवाली (jarring) साँचा मशीन — यह मशीन चित्र ३. में दिखाई गई है। इसकी मेजनुमा क्षैतिज टोपी पर साँचे का

बक्स मिट्टी और फरमे सहित रख दिया जाता है, जैसा बिंदु रेखाओं द्वारा चित्र मे प्रदर्शित किया गया है। इस मेज के नीचे एक पिस्टन लगा है जो आधार पर कसे हुए सिलिंडर में चलता है। संपीडित हवा
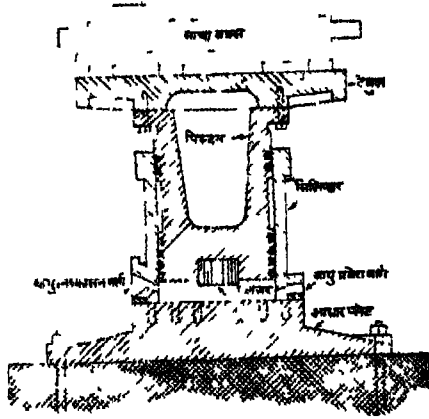
चित्र ३.

सिलिंडर के पेंदे में दाहिने हाथ की तरफ से प्रविष्ट होती है जिससे पहले तो पिस्टन २–२½ इंच ऊपर उठता है फिर जब हवा बाएँ हाथ की तरफ के रास्ते से निकल जाती है, तब पिस्टन नीचे उतर जाता है। पिस्टन के नीचे की तरफ एक प्लंजर लगा है जब वह आधार प्लेट से टकराता है, तब पिस्टन पर लगी टेबल और उसपर लगे साँचे को झटका लगता है। इस प्रकार पिस्टन के बार बार उठने और गिरने से साँचे में मिट्टी ठँसकर बैठ जाती है। इस यंत्र को चलाने के लिये ६० से १०० पाउंड प्रति वर्ग इंच दाब की संपीडित हवा की आवश्यकता होती है। इस यंत्र से १०० से लेकर १६० झटके प्रति मिनट तक लगते हैं।

४. **लोटन (roll over) साँचा मशीन** — फिलाडेल्फिया की टेबर (Tabor) कंपनी द्वारा बनाई गई लोटन मशीन, जो पूर्ववर्णित मशीन से भिन्न सिद्धांतों पर काम करती है, चित्र ४. मे दिखाई है। इसके द्वारा साँचा बनाने के लिये फरमे को बोर्ड पर लगाकर फ्रेम क में रख देते हैं, फिर फरमे के चारों तरफ सही बैठनेवाला साँचा
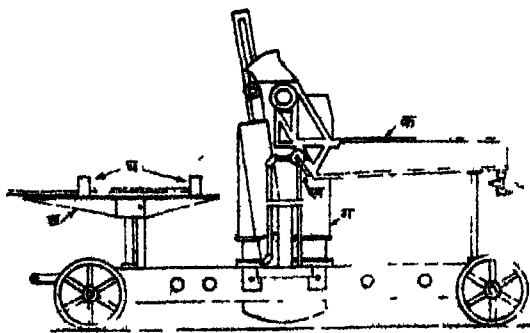
चित्र ४.

बक्स रखकर उसमें मिट्टी भरकर प्रकंपक घ के द्वारा संपीडित वायु के बल से मशीन को चलाकर साँचे की मिट्टी को बैठा दिया जाता है। फिर साँचे के नीचे लगनेवाले बोर्ड को साँचे के ऊपर रखकर, शिकंजों से कस देते हैं। इसके बाद वाल्व ग को खोलने से सिलिंडर ग में संपीडित वायु प्रविष्ट होकर फ्रेम क को इस प्रकार से संचालित करती है कि उसपर रखा साँचा लौटकर टेबल ख पर कमानी ग की सहायता से सही सही स्थान पर आ जाता है, तब पहले के बाँधे हुए शिकंजे खोल लिए जाते है और फ्रेम क को खड़ा कर साँचे मे से फरमा भी निकाल लिया जाता है। फिर फ्रेम क दाहिने हाथ की तरफ दूसरा साँचा बनाने के लिये वापस आ जाता है।

५. **प्रेसनुमा साँचा मशीनें** — इस प्रकार की साँचा मशीनें संपीडित हवा के बल से चलाई जाती हैं जिनका ढलाईखानों में बहुत उपयोग होता है। इन्हें ठेलों पर बिठाकर इधर से उधर भी ले जाने योग्य बनाया जाता है।

६. **रेतमारी (sand blasting) यंत्र** — एक उठौआ प्रकार के यंत्र की बनावट चित्र ५. में दिखाई गई है। इसके द्वारा, संपीडित वायु के बल से रेत की धारा चलाकर, ढली हुई वस्तुओं की ऊपरी
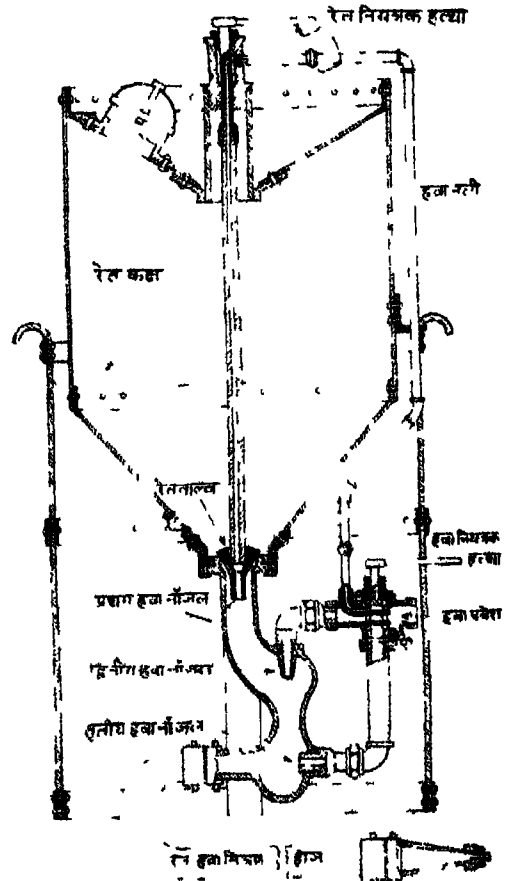
चित्र ५.

सफाई बड़ी सरलता से की जा सकती है जिससे उनके ऊपर लगी हुई बची मिट्टी और पपड़ी छूट जाती है और वे चिकनी तथा पालिश की हुई दिखाई देने लगती हैं। ढली हुई हलकी वस्तुओं के लिये ५ से १० पाउंड, मध्यम दरजे की भारी वस्तुओं के लिये १५ से २० पाउंड

और ढले हुए इस्पात की भारी वस्तुओं के लिये ३० से ७५ पाउंड प्रति वर्ग इंच दाब की संपीडित वायु का प्रयोग किया जाता है।

७. हवाई हथौड़ा — इस उपयोगी उपकरण का आविष्कार सेंटलुई के बॉयर नामक इंजीनियर ने १८८३ ई० मे किया था जिसमें पीछे से कई सुधार किए गए। एक आधुनिक प्रकार के हवाई हथौड़े की बनावट चित्र ६. में दिखाई गई है। यह इसी मे लगी डाइ के अनुसार रिवटों के मत्थे ठोकने के लिये ही उपर्युक्त है। चिप करने का हथौड़ा भी बिलकुल इसी प्रकार का होता है। अंतर केवल यही रहता है कि उसमें रिवट की स्नैप डाइ के बदले एक छेनी लगी होती है। चित्र में स्नैप डाइ क अपने स्थान पर एक क्लैंप द्वारा लगी है, इसके ऊपर की तरफ ही एक पिस्टन, अथवा प्लंजर ख अपने सिलिंडर में बैठा है, जो हवा के जोर से बार बार सरककर डाइ क पर चोट करता है। इस प्लंजर को आगे पीछे सरकाने के लिये, हवा को दोनों तरफ बारी बारी से भेजने का काम वाल्व ग के द्वारा होता है, रबर होज में बैठे हुए च चिह्नित नल में से संपीडित हवा प्रविष्ट होती है जिसका नियमन वाल्व घ के द्वारा होता है और काम कर चुकने के बाद वह हवा छेद छ में से होकर निकल जाती है। रिवट करने के हथौड़ो का समग्र भार १३ से २१ पाउंड तक, उनके प्लंजरो का व्यास १$\frac{1}{16}$ इंच और दौड़ ४ से ६ इंच तक होती है। इनके द्वारा प्रति मिनट ७०० से लेकर १,००० चोटें तक मारी जाती है। चिप करने अथवा ठस्सा लगाने (calking) के हथौड़े अपेक्षाकृत कुछ हलके होते हैं, अर्थात् उनका भार १२ से १८ पाउंड तक ही होता है। इनके प्लंजरों की दौड़ १ से ५ इंच तक और प्रति मिनट चोटों की संख्या ८०० से ३,००० तक होती है।

चित्र ६.
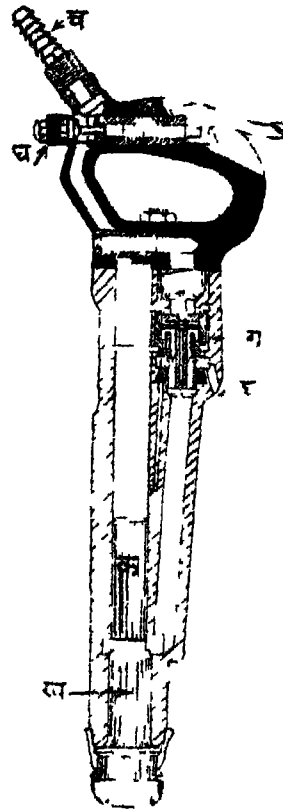
८. हवाई बैंती — यह उपकरण भी सिद्धांततः हवाई हथौड़े के समान ही होता है लेकिन दो प्रकार का बनाया जाता है: एक तो छोटे हैंडिल से युक्त होता है और उन्ही स्थानो पर सुरंगें खोदने के काम में आता है, जहाँ जगह की अंड़स होती है। दूसरा लंबे हैंडिल से युक्त होता है तथा वह खुलासा जगहों मे और खाइयाँ खोदने के काम आता है। इसकी चोट से मिट्टी ढीली होकर बिखर जाती है, क्योंकि इसका प्लंजर एक बेलचेनुमा भाग पर चोट करता है जिससे वह मिट्टी में घुसता चला जाता है। उपयोगकर्ताओं का अनुमान है कि इसके द्वारा एक आदमी छह आदमियों के बराबर काम कर सकता है (चित्र ७.)। फर्शतोड़ (paving breaker) भी हवाई छेनी के समान ही होता है जिसका प्लंजर एक फन्नीनुमा भाग पर चोट करता है। इसके द्वारा पुरानी इमारतों को तोड़ने का काम बड़ी सरलता से होता है, क्योंकि इसके द्वारा एक आदमी
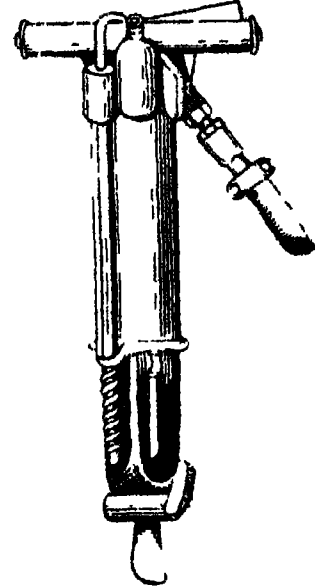
चित्र ७. चित्र ८.

१२ आदमियो के बराबर काम कर सकता है (चित्र ८.)।

९. हवाई दुरमुस — पुराने ढंग के ढलाईखानों में तो साँचो की मिट्टी दबाने के लिये मुँगरानुमा दुरमुसो का उपयोग होता है लेकिन आधुनिक प्रकार का हवाई दुरमुस, जो काफी हलका भी होता है और ३० से १०० पाउंड प्रति वर्ग इंच की दाबवाली संपीडित हवा से चलता है; साधारण मुँगरे की अपेक्षा लगभग ड्योढा काम बिना किसी थकावट के कर देता है। रबर की पतली हवानली से इन्हें संबंधित कर कही भी और आड़ी टेढ़ी किसी भी अवस्था मे एक समान कुटाई की जा सकती है जो ढलाई करने पर किसी भी प्रकार का दोष नही दिखाती।

१०. हवाई घन — चित्र ९. मे वातिलशक्ति चालित एक लोहारोपयोगी घन की बनावट दिखाई गई है जिसका उपयोग आधुनिक कारखानो मे बहुत होता है। इस यंत्र मे पृथक् पृथक् दो सिलिंडर होते हैं जिनमे से दाहिने हाथ की तरफवाले सिलिंडर मे एक पिस्टन क, संयोजी दंड (connacting rod) और क्रैंक धुरे ख के द्वारा मोटर की शक्ति से चलता रहता है। दूसरे सिलिंडर च मे एक रैम ग, जो किसी भी अन्य पुर्जे से संबंधित नहीं है, इस सिलिंडर मे स्वतंत्रता से सरक सकता है और इसके नीचे के सिरे पर ही घन का टप जुड़ा रहता है। इस रैम को सरकाने के लिये द्विक्रियात्मक पिस्टन के द्वारा उत्पन्न किया गया निर्वात और संपीडित वायु बारी बारी से काम करती है, अर्थात् जब पिस्टन क के ऊपर की तरफ निर्वात हो जाता है तब उसका असर रैम ग के ऊपर की तरफ भी होता है, जिसके कारण रैम अपने टप सहित ऊपर को उठ जाता है और जब उसी स्थान मे संपीडित वायु दाहिनी तरफ के

सिलिंडर में ले जाती है, तब वह रैम बड़े जोर के साथ, टप सहित नीचे गिरकर चोट मारता है। इन दोनों सिलिंडरों के बीच के कक्ष में हवा के दो वाल्व घ और ङ लगे हुए हैं जिनको संचालित करने से

चित्र ६
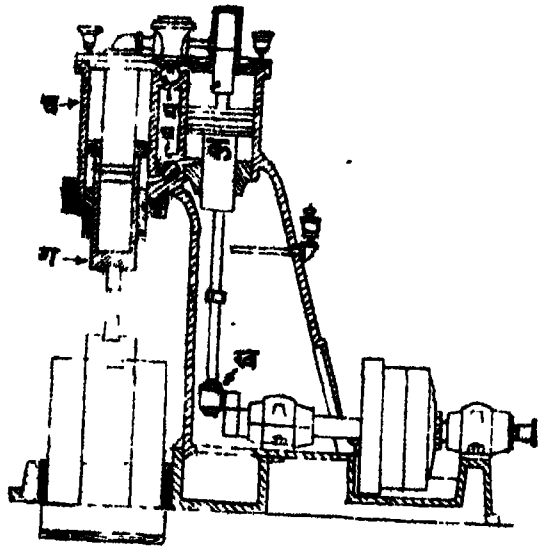
दाहिने सिलिंडर के दोनों सिरे आपस में संबंधित हो जाते हैं। अतः इन वाल्वों को कम या ज्यादा खोलकर हवा की दाब को आवश्यकतानुसार नियंत्रित किया जा सकता है। उचित नियंत्रण के द्वारा इस यंत्र को, समान भार के टप युक्त, ६० पाउंड प्रति वर्ग इंच दाब के वाष्प से चलनेवाले वाष्पघन के जैसा ही, शक्तिशाली बनाया जा सकता है।

११. रिवट लगाने की हवाई मशीन – इसकी बनावट चित्र १०.
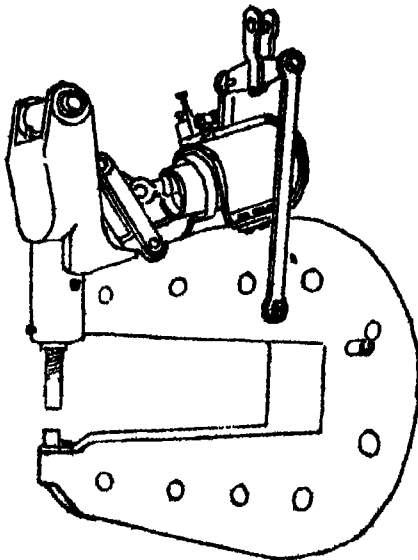
चित्र १०.

में दिखाई गई है। इसके ऊपर की तरफवाले सिलिंडर में हवा की दाब से एक पिस्टन सरककर, रिवट दबानेवाले प्लांजर को कुछ लिवरों की टॉगलयुक्त बनावट की सहायता से चलाकर आवश्यक दाब पहुँचाता है। फिर एक लीवर की सहायता से, वह दाब आवश्यक मात्रा में डाइ के ऊपर बनाई रखी जाती है, जिससे रिवट का लोहा, दम न देकर, अपनी जगह पर ठसकर बैठ जाए।

१२. स्वेज (swaging) यंत्र — ताँबे और पीतल की नलियों के मुँह फुलाने के लिये स्वेज यंत्र इस प्रकार से बनाए जाते हैं कि फुलाए जानेवाली नली को चक में बाँधने एवं डाइयों में फीड करने और डाइयों को दबाने तथा उन्हें खोलकर ढीली करने का काम संपीडित हवा के बल से होता है। यंत्र के मुँह के पास हवा से चलनेवाले दो सिलिंडर और पिस्टन लगे होते हैं जो आपस में एक दूसरे से स्वतंत्र होते हुए भी एक ही त्रिमार्गी वाल्व में से हवा लेकर अपने पिस्टनों पर दाब देते हुए उनसे संबंधित डाइयों को चला देते हैं। इस वाल्व को चलाने के लिये एक हथ लीवर और उसकी मुठ के साथ ही लगा एक अंगुष्ठ लीवर होता है। अतः हथ लीवर से तो डाइयों के बीच में नलियों को सरकाने और वापस खींचने की क्रिया की जाती है तथा अंगुष्ठ लीवर से चक में लगी डाइयों पर दबाव डाला जाता है। चक में कमानियाँ भी लगी होती हैं जो पिस्टनों के पीछे लौटते ही नली को ढीला कर आगे सरका देती हैं।

११. ठप्पा ढलाई यंत्र (Die casting machines) — कई प्रकार की डाइ कास्टिंग मशीनों में भी गली हुई धातु को संपीडित वायु की
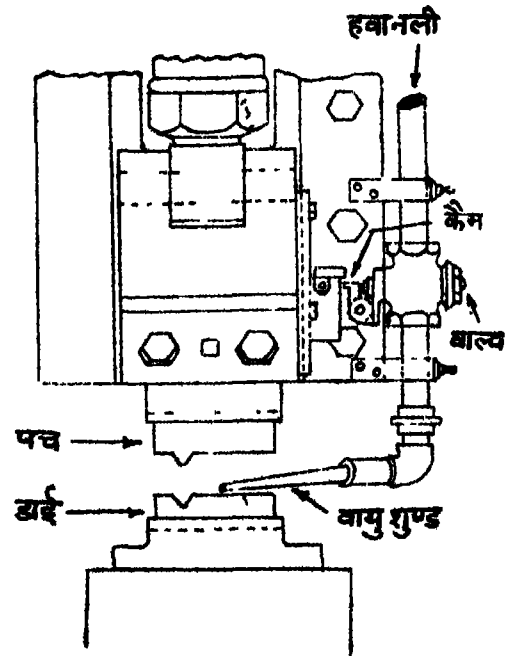
चित्र ११.

दाब से बलपूर्वक धातु के ठप्पों तथा साँचों में भरा जाता है। इन के आविष्कार के प्रारंभिक काल में एक बड़ा दोष यह रह जाता था कि गली हुई धातु संपीडित हवा के संपर्क में आने से ठंडी होने के अतिरिक्त उसके ऑक्सीजन का अवशोषण कर लेती थी, जिससे ढली हुई वस्तु स्पंज जैसी छिद्रल बन जाती थी और पुर्जों के ठंडे हो जाने से प्लांजर आदि अपने सिलिंडरों में जाम भी हो जाया करते

है, लेकिन अब कुछ विशेष युक्तियों के द्वारा इस दोष का सर्वथा निराकरण कर दिया गया है।

१४. प्रेसों में धातु की चादर को दबाने से बनी वस्तुओं को बाहर निष्कासित करने के लिये, संपीडित हवा से चलनेवाली एक युक्ति चित्र ११. में दिखाई गई है। चित्र में पंच और डाइ के बगल में संपीडित हवा की एक नली, वाल्व, कैम और नीचे की तरफ एक शुंड दिखाया गया है। पंच के ऊपर उठते ही वाल्व, कैमयुक्त एक विशेष युक्ति द्वारा खुलकर, शुंड में से बड़े जोर से हवा देता है, जिससे डाइ में फँसी हुई कठोर वस्तु उड़कर एक तरफ गिर जाती है।

१५. वातिल पंचिंग मशीन — सेलर्स की बहुसुंमीयुक्त पंचिंग मशीन, सर्वथा वायुनियंत्रित तथा स्वचालित है। इसमें पंच करते समय अनुदैर्घ्य तथा अनुप्रस्थ फासलों पर नियंत्रण सर्वथा वातिल संचालित युक्तियों द्वारा ही होता है। यंत्र के प्रत्येक स्ट्रोक पर कौन सी सुंभी काम करेगी इस बात का नियंत्रण भी इस यंत्र में लगी ५½ इंच चौड़े कागज की पट्टी पर कटी जालीनुमा स्टेंसिल की सहायता से स्वतः ही होता रहता है। यंत्र में काम (work) का आगे खिसना और उपयुक्त पंचों (सुंमियों) का समय पर काम करना भी संपीडित वायुचालित युक्तियों द्वारा ही होता है।

१६. वातिल काउंटर शाफ्ट — वर्कशाप के मुख्य चालक धुरे से प्रत्येक मशीन को अलग अलग चलाने के लिये काउंटर शाफ्टों का प्रयोग करते है जिनकी पक्की और ढीली पुलियों पर माल को सरका कर मशीन को क्रमशः चालू और बंद किया जाता है और इस काम के लिये अँकुड़ी और लीवरों का उपयोग होता है। वातिल काउंटर शाफ्ट लगाने से यही काम संपीडित हवा के द्वारा भी किया जा सकता है। वातिल काउंटर शाफ्ट में दो पुलियों के बीच एक बेलनाकार ढला हुआ सिलिंडर लगा दिया जाता है जिसमें छेद कर पिस्टन लगा दिए जाते है, ज्यों ही एक तरफ के सिलिंडर में हवा प्रविष्ट करती है, उसका पिस्टन सरककर अपने पड़ोस में लगी हुई पुली को बलपूर्वक बाहर की तरफ ढकेल देता है जिससे यह एक घर्षण क्लच से संबंधित हो जाती है। यह क्लच धुरे पर चाबी द्वारा पक्का लगा होता है जिससे शक्ति का पारेषण उसी के माध्यम से होने लगता है। सिलिंडरों में हवा पहुँचाने के लिये धुरे की अक्षीय दिशा में एक लंबा छेद होता है, जिसमें एक नली इतनी ढीली लगी होती है कि छेद में, उस नली के चारो तरफ की खाली जगह में, से होकर भी एक तरफ के सिलिंडर में हवा जा सकती है और दूसरा सिलिंडर उस हवा नली से ही संबंधित रहता है। इसी धुरे पर एक उचित प्रकार का हवा वाल्व और हवा नली लगाकर एक ही काउंटर शाफ्ट द्वारा दो मशीनों का नियंत्रण किया जा सकता है।

१७. खराद मशीन के चक — खराद मशीनों में खरादी जानेवाली वस्तुओं को कसकर पकड़ने के लिये हाथ से काम करने के, चार स्वतंत्र जबड़ों युक्त और स्क्रॉल से कसे जानेवाले तीन जबड़ों युक्त, चक हुआ करते हैं। कई बड़ी टरेट खरादों में संपीडित वायु द्वारा कसे जानेवाले दो जबड़ों युक्त चकों का भी उपयोग हुआ करता है। इस प्रकार के एक चक की बनावट चित्र १२. में दिखाई गई है। यह चक खराद मशीन के स्पिंडल के दाहिने सिरे पर अन्य चकों की भाँति ही चढ़ा दिया जाता है और उस पोले स्पिंडल के दूसरे सिरे पर एक हवाका सिलिंडर और पिस्टन होता है जो एक छड़ के द्वारा उस पोले स्पिंडल के मध्य में से होकर चक से संबंधित रहता है। पोले सिलिंडर में दो हवा नलियाँ लगी होती हैं जो पिस्टन के दोनों तरफ, एक
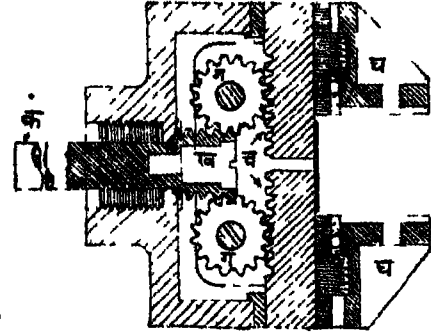
चित्र १२.

लीवर संचालित वाल्व के द्वारा, आवश्यकतानुसार हवा पहुँचा सकती हैं। चित्र में दिखाया गया है कि जैसे ही छड़ क हवा पिस्टन के द्वारा, चक के भीतर या बाहर को आवश्यकतानुसार सरकाई जाती है, इस छड़ के दाहिने सिरे पर, चक के भीतर कसा हुआ रैक, ग चिह्नित पिनियनों को घुमा देता है और यही पिनियन, अपने दाँतों द्वारा, दोनों घ चिह्नित जबड़ों के रैक ध से भी संबंधित होने के कारण उन जबड़ों को चलाकर वस्तु को कसकर बाँध लेते हैं, या ढीला कर देते हैं।

१८. हवाई बरमा — चित्र १३. में बॉयर के हवाई बरमे की बनावट दिखाई गई है। चित्र को देखने से मालूम होगा कि यह यंत्र तीन भागों में विभक्त किया गया है। ऊपर के भाग क में हवा से चलनेवाले तीन सिलिंडरों से युक्त एक मोटर तथा उनका वायुनियंत्रक वाल्व लगा है। इस यंत्र के हाथ से पकड़े जानेवाले दाहिनी तरफ के हैंडिल से ही रबर के होज द्वारा संपीडित वायु प्रविष्ट होती है, और ऊपर के भाग क के भीतर सदैव भरी रहती है, इसलिये इस भाग को 'जिंदा हवाघर' भी कहते हैं। इस प्रकोष्ठ के नीचे की तरफ गियरों का ख प्रकोष्ठ है जिसमे वायु निष्कासक स्पिंडल ग चालक गियर तथा बरमे की धुरी लगी है। इन दोनों प्रकोष्ठों के बीच में, हवाबंद दीवार के रूप में डायाफाम ख लगा है जो दोनों प्रकोष्ठों को पृथक् करता है। ऊपर के हवाघर में लगी मोटर के सिलिंडर एक क्रियात्मक तथा भ्रमनेवाले प्रकार के हैं, जो घूमनेवाले तिकोने फ्रेम च की चूलों में बैठे रहते हैं। इस तिकोने फ्रेम का एक प्लेट तो सिलिंडरों के ऊपर और दूसरा नीचे लगा है और यह सब के सब सिलिंडरों सहित अपने केंद्र पर लगे दो बेयरिंगों पर घूमता है। फ्रेम में बनी जिन चूलों के ऊपर सिलिंडर घूमते हैं उन्हीं चूलों में हवा के पोर्ट भी बने हैं जिनमें से होकर वह सिलिंडरों में प्रवेश करती तथा निकलती है। ये पिस्टन और सिलिंडर एक क्रियात्मक होने के कारण और भीतरी सिरे खुले रहने की वजह से सदैव जिंदा हवाघर में भरी रहनेवाली

संपीडित हवा के संपर्क में रहते हैं। इस प्रकार से तीनों पिस्टनों के भीतरी सिरों पर तो हवा की दाब निरंतर बनी ही रहती है और इन तीनों में से एक सिलिंडर का बाहरी सिरा वायु निष्कासन पोर्ट से संबंधित रहता है जो खोखले स्पिंडल ग में घूमता है, अतः उस
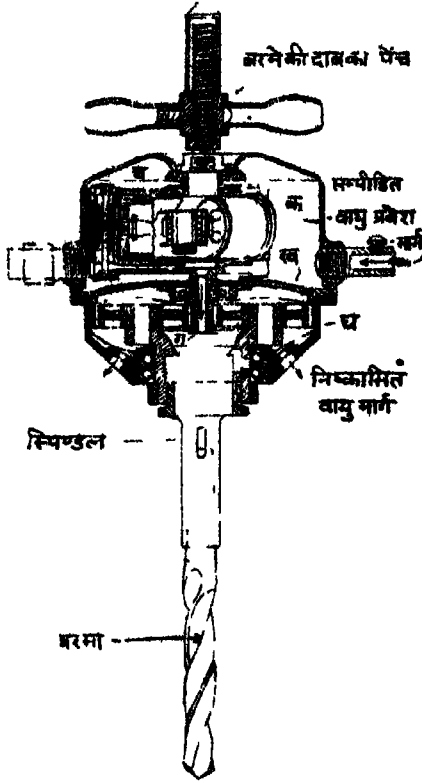
चित्र १३.

एक पिस्टन पर संपीडित हवा की पूरी दाब पड़ने से वह चल पड़ता है और तिकोने फ्रेम को थोड़ा, ⅓ चक्कर घुमा देता है, फिर इसी प्रकार की स्थिति में दूसरा सिलिंडर आ जाता है और वह भी फ्रेम को ⅓ और आगे घुमा देता है तथा फिर तीसरा सिलिंडर भी इसी प्रकार अपना काम करता है। अतः इस क्रियाचक्र में केवल एक ही सिलिंडर जब चलता रहता है शेष दो सिलिंडरों के पिस्टनों के दोनों तरफ संपीडित हवा भरी रहने के कारण वे संतुलित अवस्था में रहते हैं। सिलिंडरों के तिकोने फ्रेम अपने जिस केंद्रीय पिननुमा बेयरिंग पर घूमते हैं उसके नीचे के भाग में एक गियर जड़ा हुआ होता है जिसके द्वारा अन्य गियर भी घूमकर बरमे को चलाते रहते हैं। यह हवाई बरमे कई प्रकार से तथा कई नापों में बनाए जाते हैं। जिस प्रकार का बरमा चित्र में दिखाया गया है वह अपने परिमाणानुसार १¼", १½", १¾", अथवा २" व्यास के सिलिंडरों से युक्त होता है जिनकी स्ट्रोकें क्रमशः ⅞", १¼", १½", अथवा १¾", होती है जिनमें प्रति मिनट १५, २०, २५ अथवा ३५ घन फुट स्वतंत्र हवा क्रमशः खर्च हो जाती है।

१९. चट्टानी बरमा — चट्टानी बरमों के निर्माण का सिद्धांत तो उपर्युक्त बरमे के समान ही होता है लेकिन चट्टानों की कठोरता तथा उनकी किस्म, छेद की गहराई आदि के अनुसार इन बरमों की परिकल्पना में कुछ भिन्नता हो जाती है। इनका उपयोग पहाड़ी प्रदेशों में बुनियादें खोदने, सड़कें बनाने और खनिज कर्म में बहुत होता है। चट्टानी बरमों में एक "जैक हैमर" नामक बरमा बहुत प्रसिद्ध है इसमें भी संपीडित हवा, उसके हैंडिल में ही लगे एक नियामक वाल्व में से प्रविष्ट होकर, चपटे ढक्कन नुमा एक वाल्व में जाकर पिस्टन की चाल पर नियंत्रण करती है। इसके सिलिंडर में जब पिस्टन नीचे जाता है तब, वह, उस समय बरमे के डंठल पर चोट मारता है जिससे बरमे की नोक पर कटाकोपयोगी दाब पड़ती है। वापस लौटते समय पिस्टन वेष्टननुमा गली (खाँचे) युक्त एक राइफलबार के ऊपर से होकर सरकता है, अतः उन वेष्टन युक्त गलियों के कारण घूमते समय वह बरमे को भी घुमा देता है। इस प्रकार से बरमे को नई फीड (feed) मिल जाती है, जिससे वह आगे सरकता जाता है। इस यंत्र में एक रैचट (ratchet) गियर भी लगा होता है जिसके कारण बरमा केवल एक ही दिशा में घूमने पाता है। बुरादे को छेद में से निकलने के लिये बरमे के भीतर ही भीतर लंबे छेदनुमा कुछ अक्षीय मार्ग बने होते हैं जिनमें पिस्टन की चाल के कारण हवा प्रविष्ट होकर उस बुरादे अथवा छीलन को बाहर फेंकती रहती है। निर्माणकर्ताओं के लेखानुसार इस प्रकार के बरमे से एक आदमी दिन भर में ८ घंटे काम कर, कुल मिलाकर लगभग १०० से १५० फुट गहराई के छेद बना सकता है, जब कि साधारण छेनी एवं हथौड़े से दिन भर में केवल ८--१० फुट गहरे छेद ही खोदे जा सकते हैं।

२०. वातिल चक्की — उपर्युक्त हवाई बरमे के सिद्धांतों पर ही उठौआ चक्की यंत्र भी बनाए जाते हैं। अंतर केवल यही होता है कि साधारण बरमों की अपेक्षा इनके घूमने की गति बहुत अधिक
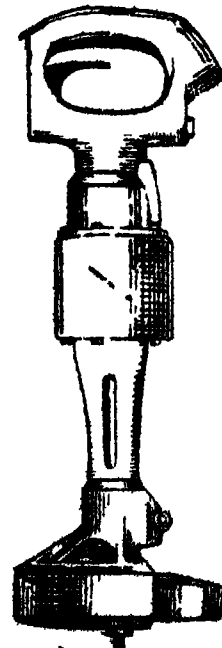
चित्र १४.

अर्थात् ३,००० से ६,००० चक्कर प्रति मिनट तक होती है। इसके स्पिंडल पर बरमे के बदले छोटे छोटे सान चक्र लगा दिए जाते हैं।

इसका उपयोग, ढलाईखानों में ढली वस्तुओं को साफ करने, मोटर गाड़ी और इंजनों के कारखानों में अपने स्थान पर लगे पुर्जों को पेचित कर सही करने तथा पालिश और बफ करने अथवा डाइयाँ खोदने के काम में, होता है (देखें चित्र १४)।

२१. वातिल शिकंजा (Vice) — चित्र १५. में संपीडित हवा की दाब से पकड़ करनेवाले शिकंजे की आकृति दिखाई गई है। आधुनिक
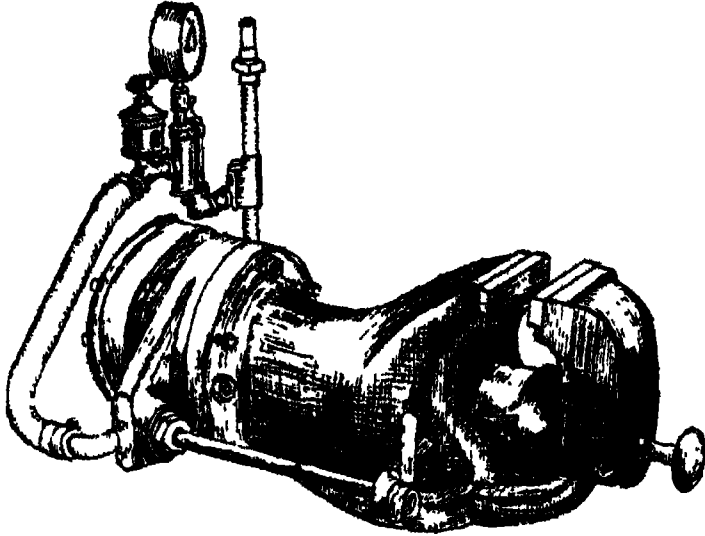
चित्र १५.

यंत्र निर्माण मे कई बार आवश्यक समझा जाता है कि किसी विशेष पुर्जे को काटते, छीलते या रेतते समय, उसे किसी विशेष दाब से ही पकड़ा जाए। साधारण पेचों द्वारा कसे जानेवाले शिकंजों में दाब का कोई अंदाजा नहीं रहता पर वातिल शिकंजों में दाबमापी लगा रहने के कारण, उसके अनुसार काम करने से दाब में भिन्नता नहीं आने पाती। इसके बगल में जो खड़ा हैंडिल लगा है उसे चलाने से ही दाब पर नियंत्रण किया जा सकता है।

२२. वातिल नियंत्रित जिग और फिक्सचर — चित्र १६. में
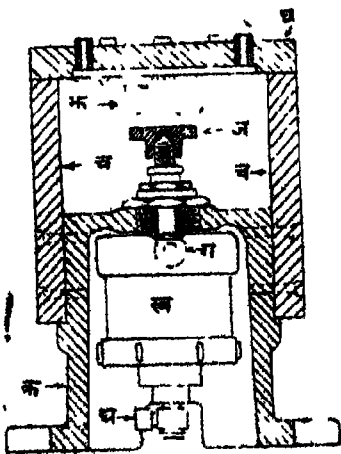
चित्र १६.

बरमे से छेदने का एक जिग और फिक्सचर दिखाया गया है। इसके निम्नलिखित बेलनाकार अंग क में हवा का सिलिंडर है और ऊपर की तरफ जिगप्लेट ख लगा है। इसमें ग शिकंजाप्लेट और घ बगली की प्लेट हैं। क और ख स्थानों पर हवा की नलियाँ जोड़ दी जाती हैं। चित्र में च वह पुर्जा है जिसमें जिग की सहायता से छेद करना अभीष्ट है। सिलिंडर में नीचे की तरफ हवा भरने से शिकंजा ऊपर बढ़कर पुर्जे को सही जगह पर स्थिरता से थाम लेता है।

२३. वातिल फुहार द्वारा रँगाई (Spray painting) — मकानों की दीवारों पर सफेदी तथा रंग, मोटर गाड़ियों, रेलगाड़ियों, इंजनों तथा यंत्रों के ढाँचों पर रंग और रोगन आदि का काम वातिल-फुहार द्वारा बड़ी किफायत से, सब जगह एक सा और उसमता से बहुत थोड़े समय में किया जा सकता है। चित्र १७. मे इस प्रकार का एक उठौआ उपकरण दिखाया गया है जो छोटे से ठेले पर रखकर इधर उधर यथेच्छा लेजाया जा सकता है। इसमे ½ अथवा ¼ अश्वशक्ति की बिजली की मोटर से एक वायुसंपीडक यंत्र चलाया जाता है जिसमें ऊपर बाएँ हाथ की ओर ताजी वायु के प्रवेश के लिये जालीदार एक कीप लगा है जिसमें से छनकर हवा संपीडक में प्रविष्ट होती है। इस यंत्र पर वायु की दाब पर आवश्यक नियंत्रण रखने के लिये एक दाबघड़ी और आवश्यक वाल्व आदि भी लगे होते हैं, जो चित्र में नहीं दिखाए गए हैं। संपडीन के बाद, हवा, यंत्र के दाहिनी ओर खड़े हुए, लगभग २ इंच व्यास तथा १५ इंच
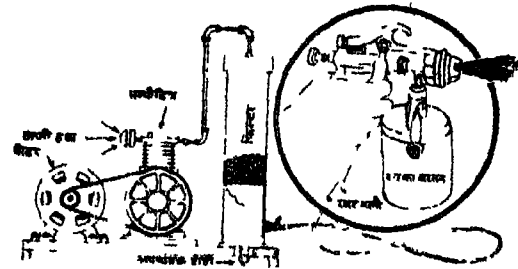
चित्र १७.

लंबे सिलिंडर में जाती है जिसमे ऊन, और नारियल के रेशे भरे होते हैं, अतः बाहर निकलने के पहले हवा को उनमें से होकर गुजरना पड़ता है जिससे वह छन जाती है। ऊन के साथ कुछ रासायनिक पदार्थ भी रखे रहते हैं जिनके द्वारा हवा की नमी भी सोख ली जाती है। यदि हवा मे अधिक पानी होता है, तो वह टपककर नीचे इकट्ठा हो जाता है जिसे समय समय पर, नीचे लगी एक टोंटी के द्वारा निकाल दिया जाता है। अंत में हवा एक बारीक जाली में से फिर छनकर रबर की नलियों द्वारा फुहार यंत्र में जाती है। इस फुहार यंत्र की परिवर्धित आकृति चित्र के दाहिने भाग में दिखाई गई है जिसके साथ एक डिब्बा लगा होता है जिसमें रंगीन तरल पदार्थ भर दिया जाता है, जो संपीडित वायु के संपर्क में आकर बारीक झींसी के रूप में बाहर निकलता है। रंग के बारीक कण हवा में उड़ते हुए, रँगी जानेवाली सतह पर एक समान मोटाई में चिपक जाते हैं। प्रयोगकर्ताओं का अनुभव है कि इसके द्वारा एक साधारण मजदूर एक घंटे में लगभग ७५ वर्ग गज सतह को बड़े आराम से रँग सकता है।

२७. एयरोग्राफ ब्रुश (Aerograph brush) — चित्र १८. में दिखाया उपकरण, आकार में एक फाउंटेन पेन जैसा और वजन में लगभग १½ आउंस का होता है। इसके साथ में, हाथ से पंप कर संपीडित वायु तैयार करने की एक छोटी टंकी होती है जिसमें

चित्र १८.

से एक पतली रबर की नली के द्वारा ब्रुश में हवा ली जाती है। छिड़के जानेवाले रंग का ट्यूब ब्रुश के भीतर ही बैठा दिया जाता है। आवश्यक होने पर दूसरे रंग की ट्यूब भी उसमें आसानी से पहले ट्यूब के बदले लगाई जा सकती है जिसके कारण कई रंगों में बारीक से बारीक चित्रकारी का काम और स्टेंसिलों की छपाई भी की जा सकती है। इसके द्वारा बाल के समान बारीक रेखा भी बनाई जा सकती है।

सं० ग्रं० — मिकैनिकल कैटलॉग, अमरीकन सोसायटी ऑव मिकेनिकल इंजीनियर्स का [ओं० ना० श०]

वातिक परिवहन और प्रेषण वायु के प्रवाह में निहित शक्ति का उपयोग पवनचक्की आदि चलाने के लिये तो बहुत प्राचीन काल से ही होता आया है लेकिन अन्य प्रकार के हल्के ठोस और द्रव पदार्थों के संवाहन की विधियों का विकास अधिकतर १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ। संपीडित हवा अथवा निर्वात के द्वारा नाना प्रकार के उपकरणों के संचालन का विवरण 'वातिक उपकरण' शीर्षक लेख में दिया जा चुका है। इस लेख में हम वायु द्वारा संवाहन संबंधी अन्य प्रयोगों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

वातिक परिवाहक (Pneumatic conveyors) — अनाज आदि ढोनेवाले व्यापारी जहाजों के तहखानों में तटवर्ती गोदामों से अनाज भरने की क्रिया, तो पट्टा तथा डोलची युक्त वाहकों एवं संवाहक नलों द्वारा, गुरुत्वाकर्षण तथा यांत्रिक शक्ति की सहायता से सरलतापूर्वक हो ही जाती है लेकिन अनाज आदि को जहाज के तहखानों से तटवर्ती गोदाम में पहुँचाने अर्थात् नीचे से ऊपर की तरफ खाली करने का काम कुछ जटिल होता है, क्योंकि जहाजों के भीतर जब भी जहाँ चाहें वहाँ परिवाहक आदि सरलता से नहीं लगाए जा सकते हैं। जहाजों में संपीडित हवा तैयार करने तथा निर्वात करने के यंत्र तो लगे ही रहते हैं और लचीले रबर होज की पहुँच भी सब जगह सरलता से हो सकती है, अतः जहाज के जिस भी तहखाने को अनाज आदि पदार्थ से खाली करना होता है उसमें रबर के होज पाइप का, शुंडाकार तुंड (nozzle) युक्त सिरा अनाज की ढेरी में घुसेड़ दिया जाता है और ऊपर डेक पर लगे एक शक्तिशाली निर्वात यंत्र से, होज के दूसरे सिरे में से हवा खींची जाती है (देखें चित्र १९.)। इसका नतीजा यह होता है कि निचले सिरे के शुंड में अनाज अथवा कोयले का चूरा हवा के साथ प्रविष्ट होकर, होज में ऊपर को चढ़ता है। ऊपर के सिरे पर पहुँचकर विक्षेपक जाली की टक्कर से, ऊर्ध्वाधर शाखा में गुरुत्वाकर्षण के कारण अनाज आदि तो उस कोठो में गिर जाता है जिससे उसे भरना है और हवा प्रसारित होकर, निर्वात पंखे की अक्षीय अथवा स्पर्शरेखीय दिशा में निकल जाती है। यह युक्ति डकहैम (Duckham) प्रणाली के नाम से १९वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में बनाई गई थी। इसके बाद
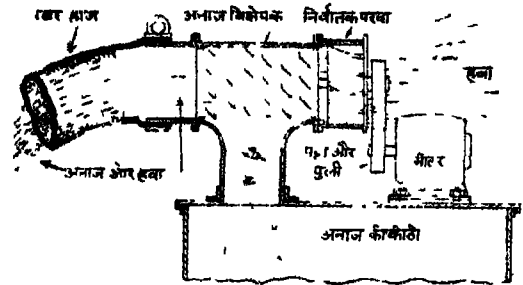
चित्र १९.

वातिल चालित अनेक प्रकार के परिवाहकों का अविष्कार हुआ, जो आधुनिक कारखानों में, अनाज, आटा, पार्थिव बुकनियाँ (चूर्ण), छोटा कोयला, रासायनिक चूर्ण, राख, बालू, युद्धोपयोगी गोलियों की खोलें (shells) और यहाँ तक कि लाल गरम की हुई रिवटें भी इस प्रकार के परिवहन के द्वारा स्थानांतरित की जाती हैं। अन्य प्रकार की यंत्रचालित वाहिकाओं की अपेक्षा वातिल परिवाहकों का सबसे बड़ा गुण यह होता है कि इनमें कोई चालू पुर्जे नहीं होते जिनके खराब हो जाने का डर हो। दूसरे, इनके द्वारा स्थानांतरित भोज्य पदार्थ स्वास्थ्यकर अवस्था में ही रहते हैं, क्योंकि उनका संपर्क मशीनी तेल आदि से भी नहीं होने पाता। लेकिन इस प्रकार के परिवहन में यह दोष है कि सामान्य मात्रा के पदार्थों को स्थानांतरित करने के लिये निर्वात अथवा वायु संपीडन करने में बहुत अधिक शक्ति खर्च करना पड़ता है। यांत्रिक परिवाहकों में वास्तविक संवहन कार्य तथा यंत्र की क्षमता के अनुसार ही शक्ति खर्च होती है।

वातिक पत्र प्रेषण विधि — संपीडित वायु अथवा निर्वात के, पहले उपयोग से सर्वथा भिन्न दूसरे प्रकार के इस उपयोग का आविष्कार १८५३ ई० में जे० एल० क्लार्क ने किया। इसने लंदन के इलेक्ट्रिक और इंटरनैशनल टेली-

डाक कंपनी के सेंट्रल और स्टॉक एक्सचेंज स्टेशनों के बीच डाक भेजने की व्यवस्था की थी। फिर कई लोगों ने इसमें अनेक सुधार भी किए, जिसके फलस्वरूप इंग्लैंड के कई बड़े बड़े डाक और तारघरों तथा दफ्तरों में एक कमरे से दूसरे कमरे में तथा एक भवन से दूसरे भवन में भी छोटे छोटे कागज भेजने का काम इसी युक्ति द्वारा किया जाने लगा। कुछ वर्ष पहले तक कलकत्ते के डाक और तारघर में भी इस युक्ति का उपयोग होता था और एक मंजिल से दूसरी में भी पत्रादि प्रेषित किए जाते थे। इस युक्ति में १½", २¼" अथवा ३" भीतरी व्यास की पीतल की नलियों का उपयोग होता है, जिन्हें एक कमरे से दूसरे कमरे या भवन तक लगा दिया जाता है। इन नलियों की भीतरी सतह बहुत ही चिकनी तथा सर्वत्र समान व्यास की होती है। चिट्ठियाँ अथवा कागज रखने के लिये गटापारचा की बनी लगभग एक फुट लंबी बेलनाकार डिबियाएँ होती हैं, जिनपर फेल्ट मढ़ा रहता है तथा उनके मुँह पर भी फेल्ट की ही डाट लगी होती है, जो ठोकर भी सह सकती है। १½" व्यास की डिबिया में ५, २¼" व्यास की डिबिया में २० और ३" व्यास की डिबिया में ५० कागजों तक का पुलंदा रबर की डोरी से लपेटकर रखा जा सकता है। इन डिबियाओं में कागज भरकर, उपर्युक्त लंबी नलियों के मुँह में घुसेड़कर, नलियों के मुँह का ढक्कन बंद कर दिया जाता है फिर विद्युत चालित किसी हवा देनेवाली धौंकनी (blower) को चलाकर लंबी नली में हवा प्रविष्ट कराई जाती है, जिसके जोर से वह डिबिया सरककर दूसरे कमरे या भवन में चली जाती है और वहाँ घंटी का संकेत मिलने पर उस डिबिया को निकाल लिया जाता है और इधर धौंकनी स्वतः ही बंद हो जाती है। जहाँ डिबियों के निकलकर गिरने का प्रबंध होता है, वहाँ नली में हवा की दाब कम होते ही धौंकनी स्वतः बंद हो जाती है और डिबिया सुविधानुसार उठा ली जाती है। इसी के समांतर एक नली और लगी होती है, जिससे डिबियाएँ वापस लौट आती हैं। कई जगहों पर धौंकनी से हवा देने के बदले निर्वात पंखों का प्रबंध होता है। इनमें एक सिरे पर डिबिया को भरकर रखने के बाद नली का ढक्कन बंद करते ही, दूसरे सिरे का पंखा विद्युतयुक्ति से स्वयं चलकर चूषण द्वारा डिबियों को खींच लेता है और फिर स्वतः बंद हो जाता है। कई बड़े कार्यालयों में किसी केंद्रीय स्थान पर एक वायु संपीडक इंजन भी लगा दिया जाता है, जिसमें एक बड़े ढोल (reservoir) में लगभग २० पाउंड प्रति वर्ग इंच दाब की हवा भरी रहती है। इसी ढोल में से वायुवाहिनी नलियाँ, जहाँ जहाँ वातिल प्रेषण उपकरण काम करता है, उपर्युक्त पीतल की नलियों के समांतर लगा दी जाती है और उनको स्थान स्थान पर, जहाँ से चिट्ठियाँ डाली या निकाली जाती हैं, एक बारीक छेद की टोंटी द्वारा संबंधित कर देते हैं। कागज भरी डिबिया प्रेषकनली में रखने के बाद ढक्कन बंद कर के, वह टोंटी खोल दी जाती है जिसमें से संपीडित हवा आकर उन डिबियाओं को ढकेल देती है। अंतिम छोर तक जाते जाते प्रसारित होने पर भी हवा की दाब लगभग एक पाउंड प्रति वर्ग इंच रह जाती है। इस प्रेषक नली की लंबाई के हिसाब से ही टोंटी के छेद का व्यास निश्चित किया जाता है। संपीडित हवा के ढोल में एक सेफ्टी वाल्व भी लगा होता है, जो नियत दाब से ऊपर हवा की दाब नहीं बढ़ने देता। दाब की सीमा पहुँचने पर यदि वायु खर्च नहीं होती, तो एक विद्युत चालित रिले युक्ति के द्वारा इंजन बंद हो जाता है और वायु खर्च होना आरंभ होते ही फिर स्वतः चालू हो जाता है, अथवा वातिल संचायकों (pneumatic accumulators) का उपयोग किया जाता है। अमरीका के न्यूयार्क आदि शहरों में एक बैचलर प्रणाली का उपयोग किया जाता है, जिसमें ६", ८" और १०" व्यास तक की वाहकनलियों का उपयोग किया जाता है। इन नलियों को ढले लोहे की बनाकर इनके भीतरी भाग को बहुत सही तथा चिकना बोर (bore) कर दिया जाता है। ८" व्यास की नली में ७" व्यास की और २१" लंबी इस्पात की बनी डिबियाँ रखी जाती हैं, जिन्हें वाहक नली में वायुरुद्ध (airtight) रखने के लिये ग्रैफाइट आदि से चिकनी की हुई पैकिंग रिंगें भी लगाई जाती हैं, जैसी पिस्टनों में लगाते हैं। इस प्रकार की एक डिबिया में ८ पाउंड के लगभग कागज भरे जा सकते है और उनके चलने की रफ्तार लगभग २५-३० मील प्रति घंटा होती है।

जलप्रेषण — संपीडित वायु का तीसरा एक बड़ा ही महत्वपूर्ण उपयोग, बहुत गहरे कुओं से पानी को खींचकर बहुत ऊँचाई और दूरी पर प्रेषित करना है। चित्र २. में इस विधि से हवा और जलप्रदाय के नल लगाने की चार विधियाँ, आकृति क. ख. ग. और घ. के रूप में दिखाई गई हैं। इस प्रकार के जलप्रेषण कार्य के लिये एक स्वतंत्र नली द्वारा संपीडित हवा नलकूप के पेंदे तक पहुँचाई जाती है, जहाँ वह, पानी में मिश्रित होकर उसे नलकूप के बाहर भरे रहनेवाले पानी की अपेक्षा हलका कर देती है। नलकूप वास्तव में जलप्रदाय नल का भी काम देता है। जब नलकूप के पानी में संपीडित हवा बलात् मिश्रित होती हैं, तब उस पानी की दाब
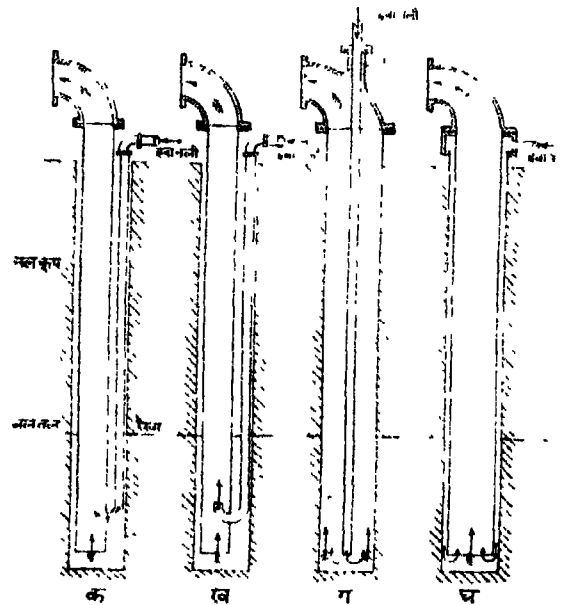
चित्र २.

चट्टानों की दरारों और स्रोतो में भरे पानी से, जो वायुमंडल की दाब से प्रभावित है, नलकूप के पेंदे में बाहर के पानी की अपेक्षा

प्रति वर्ग इंच कम हो जाती है। इसके कारण बाहर के स्रोतों द्वारा पानी आ-आकर प्रदाय नल (नलकूप) में बढ़ने लगता है। संपीडित हवा खोलने के पहले तक तो प्रदाय नल और उसके बाहर के पानी की सतह एक ही रहती है, लेकिन प्रदाय नल में हवा के मिश्रित होते ही पानी हलका होकर, शांतिपूर्वक, बिना किसी झटके या आवाज के ऊपर चढ़कर बाहर निकलने लगता है। जहाँ पर पानी को अपने निर्दिष्ट लक्ष्य स्थान पर पहुँचने के पहले काफी ऊँचाई पर बढ़ना अथवा दूर जाना होता है, वहाँ इस काम के लिये अतिरिक्त शक्ति खर्च होती ही है, अतः अतिरिक्त शक्ति प्राप्त करने के लिये प्रदाय नल के ऊपरी मुँह पर एक बड़ा हवाबंद प्रकोष्ठ लगाकर, उसमें पानी छोड़ा जाता है और उस समय उस पानी के बहाव के वेग और उसमें मिश्रित हवा की दाब का सदुपयोग कर, उपर्युक्त कार्य के लिये कुछ ऊर्जा संग्रह कर ली जाती है। इसके लिये ज्यों ही पानी उपर्युक्त प्रकोष्ठ में गिरता है, उसमें की पूर्वमिश्रित संपीड़ित हवा स्वतंत्र होकर प्रकोष्ठ के ऊपरी भाग में इकट्ठी होने लगती है और उसमें तेजी से भरता हुआ पानी अपनी गत्यात्मक ऊर्जा और प्रकोष्ठ में प्रवर्धनशील आयतन के द्वारा उस हवा को पुनः संपीडित करता है, जिससे हवा भी इस पानी को प्रकोष्ठ में दबाकर आगे की तरफ प्रेषित करती है। इस प्रकोष्ठ के ऊपर अचल भारयुक्त, अथवा कमानी युक्त, एक सुरक्षावाल्व भी लगा होता है, जो प्रकोष्ठ में हवा की दाब को एक नियत मात्रा से अधिक नहीं बढ़ने देता। पंप की अपेक्षा इस विधि में सुविधा यह है कि इसमें कोई ऐसे चालू पुर्जे, यथा पिस्टन और वाल्व आदि, नहीं होते, जिनके टूट जाने, या घिस जाने का डर हो।

सं० ग्रं० — मैक्ग्रा हिल बुक कं०: १. मैटीरियल हैंडलिंग; २. पंप। [ओं० ना० श०]

वातिलवक्ष (Pneumothorax) जब किसी कारण से फुप्फुसावरण गुहा (pleural cavity) में वायु या गैस प्रविष्ट हो जाती है, अथवा की जाती है, तो उस अवस्था को वातिलवक्ष कहते हैं।

यह अवस्था प्रायः फुप्फुसावरण गुहा में टी० बी० के फोकस विद्रधि (abcess), कोथ (gangrene), अर्बुद, यकृत विद्रधि (liver abcess) इत्यादि के फटने तथा पसली के अस्थिभंग के कारण होती है। इसके अतिरिक्त वक्ष पर बाह्य आघात तथा अनेक फुप्फुस विकारों में उपचार के हेतु कृत्रिम रूप से वायु प्रविष्ट कराने से वातिलवक्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसे कृत्रिम वातिलवक्ष (Artificial Pneumothorax) कहते हैं।

वातिलवक्ष के लक्षण कारणों के अनुसार या तो यकायक उत्पन्न होते हैं, अथवा अन्य फुप्फुसगत रोगों के उपद्रव के रूप में शनैः शनैः प्रकट होते हैं। एकाएक उत्पन्न लक्षणों के अंदर रोगी को एकाएक तीव्र कास के साथ वक्ष में तीव्र शूल उत्पन्न होता है, जिसके फलस्वरूप रोगी को श्वास लेने तक में कष्ट होता है। इसकी उग्रता फुप्फुसावरण गुहा में प्रविष्ट वायु एवं गैस की मात्रा पर निर्भर करती है और इसके फलस्वरूप हृदय तथा अन्य अवयवों का अपने स्थान से विस्थापन (displacement) भी हो जाता है। ऐसी अवस्था में परीक्षा करने पर रोगी तकिए के सहारे वक्ष को दबाए बैठा कराहता हुआ मिलता है तथा साँस की गति मंद एवं कष्टप्रद होती है। विकृत पार्श्व की गति देखने में मंद मालूम देती है तथा हृदय स्वस्थ पार्श्व की तरफ हटा हुआ मालूम देता है। नाड़ी की गति बढ़कर १२० प्रति मिनट हो जाती है तथा साँस की गति भी बढ़कर २०-३० प्रति मिनट हो जाती है। एक्स रे परीक्षा से ही इसके निदान की पुष्टि हो सकती है। यदि वातिलवक्ष का समय से उचित उपचार न किया गया, तो उपद्रव स्वरूप वायु के दोनों पार्श्व में प्रसारित हो जाने, अथवा संक्षोभ (shock) के कारण मृत्यु की भी संभावना रहती है। टी० बी० की उग्रावस्था में वातिलवक्ष का होना घातक अवस्था का द्योतक है।

उपचार — इसके प्राथमिक उपचार के अंतर्गत रोगी को पूर्ण विश्राम कराते हैं तथा विकृत पार्श्व को, अर्थात् जिधर वातिलवक्ष है, इस रूप से स्थिर रखते हैं कि उसमें कम से कम हरकत हो। यंत्र की सहायता से वक्ष में से वायु निकालने की व्यवस्था करने से ही स्थायी लाभ की आशा होती है। वक्ष से वायु निकालनेवाले यंत्र को वातिलवक्ष यंत्र कहते हैं। रोग के अन्य कारणों का भी उपचार कर रोग का निर्मूलन करते हैं। [प्रि० कु० चौ०]

वातो अंत्वान (१६८३–१७२१) फ्रांसीसी चित्रकार। जन्मस्थान वालेनसीयेन् (फ्रांस और बेल्जियम की सीमा पर स्थित एक फ्रांसीसी गाँव) था। इसका पिता बढ़ई का काम किया करता था। बचपन में अंत्वान को बड़ा दुख उठाना पड़ा। गेरें (Guerin) नामक चित्रकार इन दिनों में वालेन्सीयेन-नगर पालिका में काम किया करता था। अंत्वान उसका शिष्य बना। दुर्भाग्यवशात् गेरें की मृत्यु हो गई (१७०२) और उन्नीस साल का अपक्व अंत्वान पेरिस जा पहुँचा। वहाँ कुछ दिन तक नाटकों के लिये पार्श्वभूमि चित्रण (scene painting) करता रहा। अन्न, वस्त्रादि के कष्टों से अंत्वान का स्वास्थ्य गिरता गया। बिक्री के लिये दिन रात काम करते रहना और संतोषी रहकर दिन यापन करना-- इसी तरह दिन बीतते गए। फिर भी चित्रकला में उसकी रुचि बढ़ती गई।

प्रसंगवशात् फ्रांसीसी अकादमी के एक सदस्य द ला फॉस अंत्वान की उदीयमान कला से प्रभावित हुए। उसके चित्रों में एक विशेष ताजगी और रंगवैभव था जिससे फॉस अतिशय मुग्ध हुए। उन्होंने अंत्वान वातो को अकादमी का सदस्य बनवा लिया। इस घटना के बाद वातो की ख्याति बढ़ने लगी। उसकी एक तस्वीर 'सिथेर की ओर प्रयाण'—लूव्र संग्रहालय में रखी गई है: इसमें हम चित्रकला के इतिहास में प्रथम बार प्रकाशमय रंगसंगति का परिचय पाते हैं। यह पद्धति डेढ़ सौ साल के बाद पुनः फ्रांस में प्रचलित हुई थी। इसका शास्त्रीय विधि से अभ्यास किया गया और माने मोने पिसारो, सिसले सोरा आदि ने उसको (impressionism) के नाम से प्रचलित किया। 'सिथेर की ओर प्रयाण' चित्र में एक स्वप्नमय वातावरण है। किसी अद्भुत प्रेमद्वीप की ओर युवक वृंद यात्रा शुरू कर रहे हैं। इस चित्र में रंगों का (Vibration) तूली के अनुपमेय चित्रण से बँध गया है। प्रथम रंगों का वैपुल्य कॅनवस पर उड़ेलने के बाद बारीक रूपों का (suggestion) चंद रेखाओं से

दृष्टिगोचर हो जाता है। उसके चित्रण में एक विशेष अप्रतिहत प्रवाह, सहज भाव और रंगवैभव है।

उसका स्वास्थ्य उत्तरोत्तर बिगड़ता गया। कुछ दिन वह लंदन में भी रहा। चित्र भी बनाता रहा जो वहाँ के कलारसिकों को अतिशय प्रिय लगे। अंत में अनेक दु:खों और पीड़ाओं के बाद गरसाँ (Gersaint) नामक चित्रविक्रेता की गोद में १७२१ में उसका देहांत हुआ, जब उसकी आयु केवल सैंतीस साल की थी।

[दि० कौ०]

वानर (Ape) शब्द से प्रसिद्ध प्राइमेट (Primate) गण के चार लांगूलविहीन मानवसम नरवानरों या बनमानुषों का, जिनमें पॉन्जिडी (Pongidae) कुल के चिंपैंजी, गोरिल्ला तथा ओरांग ओटान आदि बड़े और हाइलोबेटिडी (Hylobatedae) कुल के गिब्बन नाम के छोटे बनमानुष का बोध होता है।

इन चारों बनमानुषों की शारीरिक रचना बहुत कुछ मनुष्यों के अनुरूप रहती है, लेकिन इनके अवयवों का अनुपात मनुष्यों के अवयवों के अनुपात सा नहीं होता। इनका मस्तिष्क मनुष्यों जैसा होकर भी पशुओं के मस्तिष्क जैसा अपूर्ण रहता है। ये पृथ्वी पर अपनी पिछली दोनों टाँगो के सहारे सीधे नहीं खड़े हो पाते।

इनके हाथ काफी लंबे और मजबूत होते हैं, जिनके सहारे ये पेड़ों पर आसानी से चढ़ लेते हैं और अपना अधिक समय पेड़ों पर ही बिताते हैं।

बनमानुषों में गोरिल्ला सबसे बड़ा, करीब ६-६॥ फुट ऊँचा, चिपैंजी ४-५ फुट ऊँचा, ओरांग उटान ४-४॥ फुट ऊँचा और गिब्बन दो ढाई फुट ऊँचा होता है। इनमें गोरिल्ला सबसे बलवान, चिपैंजी सबसे बुद्धिमान और गिब्बन सबसे अधिक ऊधमी और शोर मचानेवाला बनमानुष है।

ये सब मुख्यतया शाकाहारी जीव हैं, जिनका मुख्य भोजन फल फूल और पत्तियाँ हैं, लेकिन ये कीड़े मकोड़े और अंडे भी बड़े स्वाद से खाते हैं।

[सु० सिं०]

वामदेव ऋग्वेद के चतुर्थ मंडल के सूक्तद्रष्टा, गौतम ऋषि के पुत्र, 'जन्मत्रयी' के तत्ववेत्ता, वामदेव गौतम, जिन्हें गर्भावस्था में ही अपने विगत दो जन्मों का ज्ञान हो गया था और उसी अवस्था में इंद्र के साथ तत्वज्ञान पर इसकी चर्चा हुई थी। वैदिक उल्लेखानुसार सामान्य मनुष्यों की भाँति जन्म न लेने की इच्छा से इन्होंने माता का उदर फाड़कर उत्पन्न होने का निश्चय किया। किंतु माता द्वारा अदिति का आवाहन करने और इंद्र से तत्वज्ञानचर्चा होने के कारण ये वैसा न कर सके। तब यह श्येन पक्षी के रूप में गर्भ से बाहर आए (ऋ०, ४.२७.१)। एक बार यह कुत्ते की आँत पका रहे थे। उसी समय इंद्र श्येन पक्षी के रूप में अवतीर्ण हुए। युद्ध में इन्होंने इंद्र को परास्त किया और उन्हें ऋषियों के हाथ बेच दिया (बृहद्देवता ४,१२६, १३१)। ये सारी कथाएँ प्रतीकात्मक तथा रूपकात्मक होने के कारण असंगतियों से युक्त और अस्पष्ट हैं।

इस नाम के अनेक पुराणेतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है जिनमें मनु-शतरूपा के पुत्र रूप में शिवावतार (मत्स्य० ४.२७. ३०-३१), अंगिरस् और सुरूपा का पुत्र (ब्रह्मांड० ३.१); रामचंद्र के समय के एक ऋषि और ग्यारह रुद्रों में से दसवें रुद्र (भाग० २.१२,७) आदि उल्लेखनीय हैं।

वामन अलंकार शास्त्र के आचार्यों में उद्भट के बाद वामन का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। ये साहित्यशास्त्र की प्रसिद्ध एवं प्रमुख धारा रीति संप्रदाय के प्रवर्तक हैं। काव्य में अलंकार के स्थान पर रीति की प्रधानता का इन्होंने प्रतिपादन किया है और 'रीतिरात्मा काव्यस्य' इनका प्रमुख सिद्धांत है। रीति की व्याख्या करते हुए वामन 'विशिष्टा पदरचना रीतिः' अर्थात् विशिष्ट पदरचना को रीति मानते हैं और विशिष्ट से उनका अभिप्राय गुणात्मक है। इस प्रकार रचना में माधुर्यादि गुणों का समावेश ही उसकी विशेषता है। इस सिद्धांत में गुण और रीति का घनिष्ठ संबंध है, अतः रीति संप्रदाय को गुण संप्रदाय भी कहा जाता है।

'काव्यालंकार सूत्र' वामन का एकमात्र ग्रंथ है जो अलंकार शास्त्र पर सूत्रशैली में लिखा गया है। पाँच अधिकरणों में विभक्त इस ग्रंथ में १२ अध्याय हैं और सूत्रों की संपूर्ण संख्या ३१९ है। ग्रंथ के प्रथम अधिकरण का नाम 'शरीराधिकरण' है जिसके तीन अध्यायों में क्रमशः काव्यप्रयोजन, अधिकारिवर्णन, 'रीतिरात्मा काव्यस्य' सिद्धांत का निरूपण, रीति के तीन भेद तथा काव्यप्रकारों का वर्णन है। द्वितीय अधिकरण का नाम 'दोषदर्शनाधिकरण' है, जिसके दो अध्यायों में काव्यदोषों का विवेचन किया गया है। तीसरे 'गुणविवेचनाधिकरण' में दो अध्याय हैं जिनमे काव्य के गुणों का विवेचन तथा गुण और अलंकारों का भेद निरूपण किया गया है। चौथे 'आलंकारिक अधिकरण' के तीन अध्यायों मे अलंकार विवेचन है। पाँचवें अधिकरण का नाम प्रायोगाधिकरण है। इसमें दो अध्याय हैं जिनमें शब्दप्रयोग के संबंध में विवेचन किया गया है। ग्रंथ सूत्र, वृत्ति और उदाहरणों के रूप में है जिनमे सूत्र और 'कविप्रिया' नाम की उसकी वृत्ति वामन रचित है और उदाहरणों में कुछ उनके स्वरचित तथा अधिकांश दूसरों के हैं।

वामन के पूर्ववर्ती उद्भट आदि विद्वान् काव्य में गुण तथा अलंकारों का भेद नहीं मानते। उनके अनुसार लोक में तो शौर्य आदि गुण और हार आदि अलंकारों मे यह भेद किया जा सकता है कि गुण समवाय संबंध से और हार आदि संयोग संबंध से शरीर में रहते है, किंतु काव्य में ओज, प्रसाद आदि गुण और उपमा आदि अलंकार समवाय संबंध से ही रहते हैं अतः उनमे भेद नहीं किया जा सकता। वामन ने 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः' और 'तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' के आधार पर गुण तथा अलंकारो का भेद प्रदर्शित करते हुए अलंकारों की अपेक्षा गुणों का विशेष महत्व बताया है।

रीति संप्रदाय ने गुण और अलंकार का भेद स्पष्ट कर साहित्य का बड़ा उपकार किया है। वामन ही प्रथम आचार्य है जिन्होने इन भेदों का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। भामह आदि ने तो रस को अलंकार मानकर उसे काव्य का बहिरंग साधन ही स्वीकारा है किंतु वामन ने कांति गुण के अंदर रस का अंतर्निवेश कर काव्य में रस की महत्ता पर विशेष बल दिया। वामन ध्वनि का अंतर्भाव

वक्रोक्ति में मानते हैं। मम्मट आदि परवर्ती आचार्य रीति का महत्व तो स्वीकार करते हैं, उसे काव्यशरीर के लिये उपयोगी और शोभाधायक भी मानते हैं किंतु 'रसीयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्' कहकर उसे काव्यशरीर की आत्मा का स्थान नहीं देते। फिर भी अलंकार संप्रदाय की अपेक्षा रीति संप्रदाय का विवेचन कहीं अधिक हृदयंगम तथा व्यापक है।

वामन का समय विभिन्न प्राप्त प्रमाणों के आधार पर निश्चित-प्राय है। 'राजतरंगिणी' से ज्ञात होता है कि आचार्य वामन उद्भट के समकालीन एवं सहयोगी थे। कश्मीर नरेश जयादित्य की राजसभा के सभापति के रूप में आचार्य उद्भट और महामात्य के रूप में आचार्य वामन का राजतरंगिणीकार ने सादर उल्लेख किया है। अतः वामन का समय जयादित्य का राजकाल अर्थात् आठवीं शती का अंत और नवीं शती का प्रारंभिक भाग मान्य है।

[वि० त्रि०]

वामन २ — विष्णु के अवतार के रूप में वामन का नाम पुराणादि में प्रसिद्ध है। दशावतार सूची में इनका स्थान पाँचवाँ है। गौडीय वैष्णवाचार्यों ने इनको श्री-सौंदर्य-प्रधान अवतार माना है। इन आचार्यों ने यह भी कहा है कि ब्राह्मकल्प में तीन बार इनका आविर्भाव हुआ था। प्रथम स्वायंभुव मन्वंतर में वास्कलि दैत्य के यज्ञ में, वैवस्वत मन्वंतर में धुंधु असुर के यज्ञ में तथा वैवस्वत मन्वंतर के सप्तम चतुर्युग में बलि के यज्ञ में। यह तृतीय अवतार ही अत्यंत प्रसिद्ध है।

पुराणों में वामन की कथा प्रायः सर्वत्र आई है तथा विवरणों में क्वचित् विभिन्नता भी है। मूल कथा यह है–प्रह्लाद का पौत्र बलि विष्णुभक्त था। वह त्रैलोक्य पर आधिपत्य करना चाहता था। भयभीत देवताओं की प्रार्थना से विष्णु वामन रूप में अदिति और कश्यप के पुत्र रूप में आविर्भूत हुए और ब्रह्मचारी के रूप में उन्होंने यज्ञ में दानकारी बलि के पास जाकर तीन पग भूमि की याचना की। बाद में त्रिलोक को नापते हुए इन्होंने विराट् रूप धारण किया और अंत में इनके द्वारा बलि बद्धावस्था में पाताल को भेज दिया गया, जिससे त्रिलोक का अधिपति बनने की उसकी कामना नष्ट हो गई (दे० बलि)।

वामनावतार का बीज ऋग्वेद के 'इदं विष्णुर्वचक्रमे (१।२२।१७) मंत्र में दिखाई पड़ता है। निरुक्त (१२ अ) से ज्ञात होता है कि यहाँ विष्णु सूर्य है तथा इसमें सूर्य का विविध अवस्थान उक्त हुआ है। शतपथ ब्राह्मण १।२।५।१५ में भी 'वामनो ह विष्णुरास' कहा गया है। वेद में वामन संबंधी उल्लेख अत्यंत सामान्य है। पुराणकारों ने इस बीज का उपबृंहण किया है जो जनता के लिये उपदेशप्रद है।

[रा० शं० भ०]

वामन शिवराम आपटे (१८५८–१८९२) का जन्म सावंतवाडी रियासत के असोलीपाल नामक स्थान पर हुआ। माता पिता की असमय में मृत्यु हो जाने से उनका प्रारंभिक जीवन कष्टप्रद रहा। इन दिनों उन्हें अपने गुरु हेडमास्टर कुंटे जी की सहानुभूति और सहायता प्राप्त होती रही। गुरु के आशीर्वाद तथा विद्या के प्रति सच्ची लगन से उन्होंने १८७३ में मैट्रिक परीक्षा जगन्नाथ शंकरशेठ शिष्यवृत्ति के साथ उत्तीर्ण की। गणित में एम० ए० की उपाधि उन्होंने प्रथम श्रेणी के साथ डेक्कन कॉलिज से प्राप्त की।

१८८१ में 'केसरी' और 'मराठा' पत्रों का जन्म हुआ। उन्होंने इन पत्रों तथा न्यू इंग्लिश स्कूल के चलाने में विष्णुशास्त्री चिपलूणकर, लोकमान्य तिलक, गोपालराव आगरकर तथा महादेवराव नामजोशी के साथ मिलकर कार्य किया था। न्यू इंग्लिश स्कूल की सेवा आपने अध्यापक और व्यवस्थापक के रूप में की। इस स्कूल के अनुशासन की ख्याति सर्वत्र थी। १८८२ में सरकारी शिक्षा आयोग के संमुख उन्होंने अपने विचार प्रस्तुत किए थे।

१८८५ में वे फर्ग्यूसन कॉलिज के प्रधानाध्यपक नियुक्त हुए। इस कॉलिज की वर्धमान प्रतिष्ठा और कीर्ति के पीछे उनका निरंतर उद्योग और प्रयत्न था।

वे संस्कृत के महान् पंडित थे। उनकी पुस्तकों में 'स्टूडेंट्स् गाइड टु संस्कृत कांपोजीशन' तथा इंग्लिश-संस्कृत और संस्कृत-इंग्लिश कोश विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रथम पुस्तक के रूप में उनकी कीर्ति चिरस्थायी है। इस पुस्तक में संस्कृत वाक्यरचना के संबंध में उनके विचार नवीन हैं और उनकी बुद्धिमत्ता के परिचायक हैं। यह पुस्तक हिंदुस्थान में ही नहीं, बाहर भी सर्वत्र मान्य है। [ह० अ० फ०]

वायुगतिकी (Aerodynamics) गतिविज्ञान की वह शाखा है जिसमें वायु तथा अन्य गैसीय तरलों (gaseous fluids) की गति का और इन तरलों के सापेक्ष गतिवान ठोसों पर लगे बलों का विवेचन होता है। इस विज्ञान के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अनुप्रयोगों में से एक अनुप्रयोग वायुयान की अभिकल्पना है। सभी गैसों में श्यानता (viscosity), (देखें **श्यानता**) और संपीड्यता (compressibility), दो गुण न्यूनाधिक मात्रा में होते हैं। तीसरा गुण समांगता (homogeneity) का है। यद्यपि वायु विविक्त अणुओं (discrete molecules) से बनी होती है, इसे संतत माध्यम अथवा सातत्यक (continuum) मान लेने में त्रुटि तब तक उपेक्षणीय रहती है, जब तक वह अत्यधिक विरल न हो। सातत्य माने बिना सैद्धांतिक उपचार प्राय: असंभव सा ही है। श्यानताहीन, अर्थात् घर्षणहीन, असंपीड्य तथा समांग तरल को परिपूर्ण तरल (Perfect fluid) कहते हैं। जल और ध्वनि वेग से कम वेगवती (३०० मील प्रति घंटा तक की) वायु दोनों परिपूर्ण तरल की अपेक्षाएँ, केवल पिंडपृष्ठ के निकटवर्ती प्रांत को छोड़कर, जहाँ श्यानताप्रभाव अत्यंत ही महत्वपूर्ण होते हैं, पूरी करती हैं। कम वेगवाले वायुप्रवाह के वायुगतिविज्ञान के गणितीय सिद्धांत प्रायः द्रवगति विज्ञान (देखें **द्रवगति विज्ञान**) जैसे हैं। वायुगति विज्ञान की क्लिष्टतर समस्याओं का हल परिपूर्ण तरल की मान्यता पर प्राप्त हल में श्यानताजन्य अतिरिक्त प्रभाव जोड़ देने पर मिल जाता है। श्यान तरलों के वायुगतिविज्ञान में सर्वाधिक महत्तावाला सिद्धांत परिसीमा स्तर (boundary layer) सिद्धांत है, जिसके आधार पर वायु में गतिवान पिंड के त्वक्-घर्षण-कर्ष (skin friction drag) की व्याख्या दी जाती है।

संपीड्य तरल का गतिविज्ञान — जब वायु में गतिवान पिंड

का वेग ध्वनि वेग के समीप आ जाता है, या उससे भी अधिक हो जाता है, तब घनत्व और ताप में परिवर्तनों का प्रभाव पिंड पर क्रियान्वित दाबबलों की व्याख्या में महत्वपूर्ण हो जाता है। तब तरल को असंपीड्य नहीं माना जा सकता और दाब, घनत्व तथा ताप के पारस्परिक संबंध का ज्ञात होना आवश्यक है। संपीड्य प्रवाह के वायुगति विज्ञान का व्यावहारिक अनुप्रयोग प्रक्षेप्यों के बाह्य क्षेपण विज्ञान (Ballistics) में और तीव्रगामी वायुयानों अथवा उनके नोदकों (propellers) की उड़ान-तकनीकी में है। इसका उपयोग शक्ति-संयंत्र (Power Plant) की डिज़ाइन में, वाष्प तथा गैस टरबाइन और जेट- नोदन एककोंवाले प्रवाह के अध्ययन में किया गया है।

पिंडवेग और तरलीय ध्वनिवेग के अनुपात को मेक संख्या कहते हैं। चूँकि किसी तरल में ध्वनिवेग तरलघनत्व के सापेक्ष दाब परिवर्तन दर की माप है, मेक संख्या M तरल की संपीड्यता का सूचक है। सिद्ध किया जा सकता है कि यदि —M> 1, अर्थात् पराध्वानिक प्रवाह में तुंड (nozzle), वाहिनी (duct), अथवा धारा रेखाओं के बीच क्षेत्रफल वेगवर्धन के साथ बढ़ना चाहिए। इसके विपरीत स्थिति अवध्वानिक प्रवाह के लिये है।

विविध प्रकार के प्रवाह — तरल की ऐसी गति को, जिसमें समय के साथ वेग और दिशा कोई नहीं बदलती, अपरिवर्ती प्रवाह (Steady flow) कहते हैं, अन्यथा उसे परिवर्ती प्रवाह कहते हैं। दोलायमान पक्षक (ऐरोफ़ॉइल) अथवा स्थिर कुंद पिंड के पीछेवाला प्रवाह परिवर्ती होता है। वायुगतिविज्ञान में व्यवहृत अधिकांश समस्याएँ अपरिवर्ती प्रवाहवाली होती हैं। प्रवाह को एकविम, द्विविम या त्रिविम इस बात के अनुसार कहते हैं कि उसमें वेग, घनत्व और दाब केवल एक, दो या तीन आकाशचरों (अर्थात् निर्देशांकों) के फलन हैं। वात सुरंग (wind tunnel) की डिज़ाइन एक विम प्रवाह सिद्धांत का अनुप्रयोग है। द्विविम अर्थात् समतल प्रवाह में गति रेखाएँ, अर्थात् धारा रेखाएँ(stream lines), या तो एक ही समतल में होंगी या समांतर समतलों में होंगी, और तब इन समतलों मे गति तत्सम होगी। अनंत विस्तारवाले पक्षक पर से प्रवाह द्विविम होता है, क्योंकि पक्षक के अनुप्रस्थ परिच्छेदों पर तत्सम प्रवाह मिलेगा। यदि पक्षक सीमित विस्तार का हो, तो त्रिविम प्रवाह प्राप्त होता है।

जब वेग इतना कम हो (लगभग २०० मील प्रति घंटा तक) कि वायु को द्रव के समान संपीड्य माना जा सके, तो प्रवाह को 'असंपीड्य प्रवाह' कहते हैं। वेग की दृष्टि से प्रवाह को अवध्वानिक (Subsonic), ट्रांसध्वानिक (Transonic), पराध्वनिक (Super sonic), या अतिध्वानिक (Hypersonic), इस तथ्य के अनुसार कहते हैं कि प्रवाहवेग ध्वनिवेग (लगभग ७६० मील प्रति घंटा) से कम, उसके निकट, उससे अधिक, या उससे कहीं अधिक है। पिंडजन्य दाबसंकेतों का वेग ध्वनिवेग से, आगेवाले पिंड के सापेक्ष उसके वेग को घटाने पर, या पीछेवाले पिंड के सापेक्ष उसके वेग को जोड़ देने पर, प्राप्त होता है। कालांतर में संकेत आकाश के सभी बिंदुओं पर पहुँच जाते हैं। अत्यंत न्यून अवध्वानिक वेगों पर दाबसंकेतों का संचरण (propagation) सभी दिशाओं में सममित होता है और यदि दाबसंकेतों का वेग अनंत माना जा सके, तो अवध्वानिक प्रवाह असंपीड्य प्रवाह जैसा हो जाता है। पराध्वानिक प्रवाह में दाबसंकेत आगे नहीं जा पाते और किसी बिंदु विशेष पर का विक्षोभ अनुप्रवाह दिशा में 'मेक' शंकु (mach cone) के भीतर ही सीमित रहता है। जैसा कि कार्मा ने सिद्ध किया है, अतिध्वानिक प्रवाह का वायुगति- विज्ञान कई बातों में न्यूटन के कणिकावाद (Corpuscular Theory) से मेल खाता है। रॉकेट उड़ान के विकास ने अतिध्वानिक प्रवाह के अध्ययन को प्रेरित किया। इस अध्ययन में शांकवीय प्रवाह के, जिसमें एक मूल बिंदुगामी त्रिज्यों के अनुदिश तरल गुण अपरिवर्तित रहते हैं, अनेको अनुप्रयोग हैं।

अत्यंत ही विरल गैसों के वायुगतिविज्ञान को परावायुगतिविज्ञान की संज्ञा दी गई है, क्योंकि अब पिंड के विस्तार की तुलना मे गैस का माध्य मुक्तपथ उपेक्षणीय नही रहता। स्तरीय और विभव (laminar और potential) प्रवाहों की परिभाषाओं के लिये द्रव यांत्रिकी नामक लेख देखें। वहाँ तरल प्रवाह के मूलभूत नियम बर्नूली प्रमेय और वेंटुरी तथा पिटोट नलिकाओं में उसके अनुप्रयोग की व्याख्या दी गई है।

वायुगतिविज्ञान संबंधी घटनाओं को गणितीय प्रतिरूप द्वारा निरूपित करने का पहला ध्येय यह जानना होता है कि पिंड पर दाब किस प्रकार वितरित है और उसके कारण वायुयान के बाह्य और आंतरिक पृष्ठों पर क्या परिणामी बल और घूर्ण क्रियावंत हैं, जिससे उन्हें समुचित दृढ़ता का बनाया जा सके। दूसरे, वायुयान के एक अंग पर वायुप्रवाह का प्रकार ज्ञात करना, जिससे उसके प्रभाव का पुच्छपृष्ठ जैसे अन्य अंगो पर अध्ययन किया जा सके।

समरूप प्रवाह (Similar flows) — वायु जैसे अल्प श्यान तरल के गतिसमीकरण बन तो जाते हैं, किंतु सामान्यतया वे हल नहीं हो पाते। अतएव वैमानिकी (aeronautics) में प्रयोग कर फल प्राप्त किए जाते हैं; किंतु पूरे पैमानेवाले पिंडों पर प्रयोग करना अत्यंत व्यय और श्रमसाध्य है। पिंडों के छोटे प्रतिरूपों को वात सुरंग (wind tunnal) में लटकाकर, समुचित वायुप्रवाह में उनकी प्रतिक्रिया देखी जाती है। वर्जीनिया में एक वातसुरंग ६०'×३०' के परिच्छेदवाली है और इसमें ३५' ५" व्यास के दो पंखे ४,००० अश्वसामर्थ्य की मोटर से चलते हैं। इसमें एक या दो सवारीवाला संपूर्ण वायुयान समा सकता है। वैमानिक समस्याओं में वायु को परिपूर्ण माना जा सकता है। उस स्थिति में यह गणितसिद्ध तथ्य है कि पिंड का परिमाण, अथवा उसका वेग, या तरल का घनत्व कुछ भी हो, समरूपत: गतिवान समरूप पिंडों से समरूप वायुप्रवाहों का जनन होगा। द्रव तरल के लिये भी यह सत्य है। यदि ४०० मील प्रति घंटे से बड़े वेगों का सामना हो, तो समरूपता के लिये यह ध्यान रखना होगा कि जलवाले प्रयोगों में वेगों का जलीय ध्वनिवेग से वही अनुपात रहे जो वायुवाले प्रयोगों में वायु का ध्वनिवेग से है, अर्थात् जलवाले वेग वायुवालों के लगभग चौगुने हों। श्यानता से प्रभावित तरल प्रवाहों में समरूपता के लिये आवश्यक है कि दोनों की रेनोल्ड संख्या, pvl μ, वही रहे। यहाँ μ तरल की श्यानता, ρ उसका घनत्व, v उस तरल में होकर पिंड का वेग और l उस पिंड का परिमाण परिभाषित करनेवाली कोई समुचित लंबाई है, जैसे वायुयान के लिये उसकी लंबाई और गोले के लिये उसका व्यास। यदि किसी प्रवाह

की रेनोल्ड संख्या लघु है, तो उस गति में श्यानता का महत्वपूर्ण प्रभाव होगा और वह सीरे, या भारी तेल, के जैसा प्रवाह देगा।

सुप्रवाही पिंड के परितः प्रवाह — परिकल्पित अश्यान (inviscid) तरल के सिद्धांत का एक निष्कर्ष यह है कि यदि कोई पिंड ऐसे तरल में चलता है जो केवल पिंड के कारण ही विरामावस्था को छोड़े हुए है, तो पिंड के परितः प्रवाहप्रकार अद्वितीय रूप से पिंड के आकार और उसकी गति से निर्धारित हो जाता है और पिंडपृष्ठ के विभिन्न बिंदुओं पर जो दाबें तरल लगाता है, उनका परिणामी शून्य होता है, भले ही उनका आघूर्ण शून्य न हो। यह स्थिति वायुयान पक्षक जैसे चपटे सुप्रवाही पिंड पर उपलब्ध होती है। जो भी थोड़ा बहुत कर्ष (drag) रहता है, वह केवल त्वक्घर्षण (skin friction), अर्थात् पृष्ठ पर वायुघर्षणजनित स्पर्शरेखीय बलों, के कारण होता है। बड़ी रेनोल्ड संख्यावाले प्रवाहों में त्वक्घर्षण पिंडपृष्ठ से लगी अत्यंत पतली परत में, जिसे परिसीमा स्तर (boundary layer) कहते हैं, सीमित रहता है। इस स्तर के भीतर का प्रवाह अत्यंत जटिल है। स्तर के बाहर का प्रवाह धारारेखी अश्यान तरल जैसा होता है। जब तक पक्षक का वेग से आपात कोण (incidence angle) अत्यधिक न हो, पक्षक के परितः प्रवाह धारारेखी होगा, कर्ष कम होगा और पक्षक पर उत्थापक बल (lift) लगाएगा, जो आपात कोण के साथ बढ़ेगा। यदि आपात कोण एक सीमा से बढ़ जाता है, तो प्रवाह धारारेखी न रह विक्षुब्ध (turbulent) हो जाता है और पक्ष अव्यवस्थित होने लगता है (अर्थात् stalls), कर्ष एकदम बढ़ जाता है और उत्थापक बल आपात कोण के बढ़ने पर कुछ कम होने लगता है। कम आपात कोण की अवस्था में भी बलों का सैद्धांतिक विवेचन जटिल है; विशेषकर परिमित परिमाण के पक्षक में प्रेरित कर्ष (induced drag), पार्श्व कर्ष (profile drag) आदि, पर विचार करना होता है। मुक्त उड़ान (free flight) में स्थायित्व (stability) की समस्या भी उपस्थित हो जाती है। उड़ानविज्ञान में इनका विवेचन अत्यंत महत्व का है।

सं० ग्रं० — जी० पी० टॉमसन : ऐप्लाइड एयरोडाइनैमिक्स (१९२०); एल. बेरस्टो : ऐप्लाइड एयरोडाइनैमिक्स; एच० ग्लाउर्ट : दि एलिमेंट्स ऑव एयरोफाइल ऐंड एअर स्क्रू थ्योरी (१९२६); ऐबट ऐंड एलबर्ट : थ्योरी ऑव विंग सेक्शंस (१९६०); डबल्यू० एफ० डुरेंड : एयरोडाइनैमिक थ्योरी (डावर); जे० एच० ह्विनेल : प्रिंसिपल्स ऑव एयरोडाइनैमिक्स (१९४९) मैकग्रॉ); ई० बर्नार्ड : डाइनैमिक्स ऑव फ्लाइट (१९५९, वाइले); एस० गोल्डस्टाइन : मॉडर्न डेवलेपमेंट्स इन फ्लूइड डाइनैमिक्स (१९३८); डबल्यू० कोफमेन : फ्लूइड मिकैनिक्स (१९६३), एम० कुथे ऐंड जे० डी० सेजर : फाउंडेशंस ऑव एयरोडाइनेमिक्स (१९५९ वाइले); एल० एम० मिलने टॉमसन : थ्योरेटिकल एयरोडाइनैमिक्स (१९५२); ए० पोप : बेसिक विंग ऐंड एयरोफॉइल थ्योरी (१९५१); एल० फ्रेडिल : फंडामेंटल्स ऑव हाइड्रो ऐंड एयरोमिकैनिक्स (१९३४); टी० वी० कार्मा : एयरोडाइनैमिक्स (१९५४); एल० सी० वुड्स : थ्योरी ऑन सबसोनिक फ्लो (१९६१) [ह० चं० गु०]

वायुदाबआलेख (Barogram) वायुदाबआलेखी द्वारा अंकित वह वायुदाब है जो समदाब-रेखाओं में अंकित रहता है। समवायुदाब वाले स्थानों को मिलानेवाली रेखाओं को ही समदाब-रेखाएँ (Isobars) कहा जाता है। इन्हें दाबआलेख चित्रों पर प्रदर्शित करने से पहले सभी स्थानों के वायुदाबों को स्थानों की ऊँचाई, ताप तथा स्थिति के आधार पर शुद्ध कर लिया जाता है। यह सर्वविदित है कि ऊँचाई के क्रमशः बढ़ने पर वायुदाब कम होती जाती है। प्रत्येक २७५ मीटर की ऊँचाई पर तीन मिलिबार वायुदाब कम हो जाती है। इसी तरह इसके ऊपर ताप का भी प्रभाव पड़ता है। विभिन्न स्थानों की दूरी में अंतर होने के कारण वायुदाब में अंतर पड़ता है, अतः इस त्रुटि को दूर करने के लिये ४५° अक्षांश रेखा पर पाई जानेवाली वायुदाब प्रामाणिक मानी जाती है। इन कसौटियों पर कस लेने के पश्चात् ही वायुदाब विषयक लेखाचित्रों का अंकन किया जाता है।

ये चित्र आँधी, शुष्क वायु, निर्मल गगन, बादल की अधिकता तथा वर्षा की संभावनाओं के द्योतक होते हैं। ये संभावनाएँ समदाब-रेखाओं की विभिन्न आकृतियों के ऊपर निर्भर होती हैं जैसे अगर समदाब रेखाएँ अत्यधिक निकट होती हैं, तो वे तेज आँधी की द्योतक होती हैं, अथवा यदि वे एक दूसरे से दूर दूर होती हैं, तो आकाश की स्वच्छता प्रदर्शित करती हैं। [वि० रा० सि०]

वायुदाबमापी (Barometer) वायु में भार होता है और इसी कारण पृथ्वी के ऊपर सहस्रों मील तक विस्तृत वायुमंडल हमारे ऊपर निरंतर, चतुर्दिक् दबाव डालता रहता है। इस तथ्य का प्रायोगिक परीक्षण सर्वप्रथम टॉरीसेलि नामक वैज्ञानिक ने किया था। इस दाब को उसने 'वायुमंडलीय दाब' (Atmospheric pressure) की संज्ञा दी और पारे से भरी हुई नली मे पारे के स्तंभ को इस दाब द्वारा संतुलित कर इन्होंने वायुमंडलीय दाब को नापने का सफल प्रयास किया, जिसकी प्रेरणा से वायुदाबमापी नामक यंत्र की सृष्टि हुई।

वायुदाबमापी का सिद्धांत — यदि किसी U आकृति की नली में, जिसकी एक भुजा छोटी और दूसरी बड़ी हो और उसके दोनों सिरे खुले हों, कोई द्रव भर दिया जाय तो दोनों भुजाओं में द्रव का तल समान होगा (चित्र १.)। किंतु यदि छोटी भुजा के सिरे को बंद कर दिया जाय और उसमें इस प्रकार द्रव भरा जाय कि छोटी भुजा में द्रव के ऊपर के रिक्त स्थान में द्रववाष्प के अतिरिक्त वायु अथवा अन्य कोई गैस अवशिष्ट न रहे, तो दोनों भुजाओं के द्रवतलों में स्पष्ट अंतर दिखलाई पड़ेगा (चित्र २.)। इस अंतर का कारण स्पष्ट है। पहले प्रयोग में दोनों भुजाओं में द्रवतल समान हैं, किंतु दूसरे प्रयोग में खुली नली में द्रवतल पर वायुमंडलीय दाब तथा बंद नली में द्रव के वाष्प की दाब पड़ रही है। ये दोनों दबाव असमान हैं, इस कारण दोनों द्रवतलों में भी अंतर आ गया। यदि द्रव का वाष्प उपेक्षणीय हो, तो स्पष्ट है कि दूसरे प्रयोग में ब बिंदु पर पड़नेवाला वायुमंडलीय दाब अ और ब के द्रवतलों के अंतर के समान लंबे द्रव-स्तंभ के भार के बराबर होगा। यदि द्रव का घनत्व तथा प्रयोग-स्थल पर गुरुत्वीय त्वरण या गुरुत्व, (acceleration due to gravity, or gravity) जिसे g द्वारा व्यक्त किया जाता

है, ज्ञात हो तो वायुमंडलीय दाब की गणना की जा सकती है, क्योंकि
वायुमंडलीय दाब = अ ब ऊँचाई के द्रवस्तंभ का भार
= अ ब स्तंभ की ऊँचाई × द्रव का आपेक्षिक घनत्व × गुरुत्व (ग)

चित्र १. चित्र २.
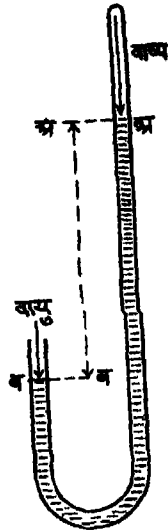
अपने अनेक सुविधाजनक गुणों के कारण व्यावहारिक वायुदाबमापियों में पारे का उपयोग द्रव के रूप में किया जाता है। पारे के ऐसे दो गुण मुख्य हैं : (१) पारा शीशे की दीवार से चिपकता नहीं, और (२) पारे का आपेक्षिक घनत्व अन्य द्रवों की तुलना में बहुत अधिक होता है। इसलिये वायुमंडलीय दबाव को नापने के लिये पारे के बहुत ऊँचे स्तंभ की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, अन्यथा इस हेतु अत्यधिक लंबी नलिकाओं का उपयोग करना पड़ता। उदाहरणार्थ, पारे के बदले पानी का उपयोग करने पर ३४ फुट लंबी नलिका प्रयुक्त करनी पड़ती। यह स्थिति निस्संदेह असुविधाजनक होती।

उपर्युक्त वायुदाबमापियों में द्रव का उपयोग करना पड़ता है इसलिये उनके प्रयोग में तथा उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। इस असुविधा को दूर करने के लिये १८४५ ई० में विडी (Vidi) नामक वैज्ञानिक ने निर्द्रव (aneroid) वायुदाबमापी का निर्माण किया। यद्यपि यह वायुदाबमापी द्रव (पारा) वायुदाबमापी के सदृश सुग्राही एवं यथार्थ नहीं होता, फिर भी परिवहन की दृष्टि से अत्यंत सुविधाजनक होने के कारण इसकी भी उपयोगिता बहुत अधिक है।

पारद वायुदाबमापी (Mercurial Barometer) — प्राय: तीन प्रकार के पारद वायुदाबमापियों का प्रयोग वैज्ञानिक कार्यों में किया जाता है।

(१) **साइफन (Siphon) वायुदाबमापी** — इसका रूप और कार्यसिद्धांत वही है जो चित्र २. के स्पष्टीकरण के संदर्भ में वर्णित किया जा चुका है।

(२) **फॉर्टिन का (Fortin's) वायुदाबमापी** — इसमें पैमाने का शून्य स्थिर होता है और नीचे से पारे का तल उठाकर उस बिंदु तक लाया जाता है और फिर पैमाने पर पारदस्तंभ की ऊँचाई का पाठ्यांक ले लिया जाता है।

क्यू (Kew) वायुदाबमापी — इसमें पैमाने के शून्य का समायोजन (adjustment) नहीं करना पड़ता, वरन् बंद नली में पारे के परिवर्तन के द्वारा ही वायुमंडलीय दाब ज्ञात कर ली जाती है।

फॉर्टिन का वायुदाबमापी — इस यंत्र में पारे की एक प्याली प में पारा से भरी हुई काँच की नली, जिसका एक सिरा बंद होता है, उलटी ऊर्ध्वाधर रख दी गई होती है, ताकि नली का बंद सिरा ऊपर और खुला सिरा प्याली में पारे के अंदर डूबा हुआ रहता है। फलस्वरूप नली के ऊपरी भाग मे पारा कुछ दूर तक गिर जाता है और निर्वात उत्पन्न हो जाता है, जिसे टॉरिसेलि का निर्वात (Torcelli's vacuum) कहते हैं (चित्र ३. तथा ४.)। प्याली का आधार नरम चमड़े का होता है, जिसके नीचे एक पेंच, ट, लगा होता है। संपूर्ण तंत्र को पीतल के आवरण, ब, से आवृत कर देते हैं। नली के ऊपर पारे के तल के समीप कुछ दूर तक पीतल का आवरण खुला रहता है, ताकि पारे का तल पढ़ा जा सके। आवरण के उस खुले भाग में एक पैमाने के लगभग २७ से ३२ इंच

चित्र ३.

तक के और सेंटिमीटर में ७० से ८० सेंमी० तक की माप के चिह्न अंकित रहते हैं। इस पैमाने का शून्य नीचे प्याली की ऊपरी दीवार से लटके हुए हाथीदाँत के एक सूचक, स, की नोक पर स्थित होता है। ऊपर पैमाने के चिह्नों से सटा हुआ एक वर्नियर पैमाना, व, (देखें चित्र ४. और ५.) होता है, जो एक पेंच, प, द्वारा ऊपर नीचे खिसकाया जा सकता है। समस्त उपकरण लकड़ी के एक ऊर्ध्वाधर स्टैंड पर जड़ा रहता है (देखें चित्र ४.)।
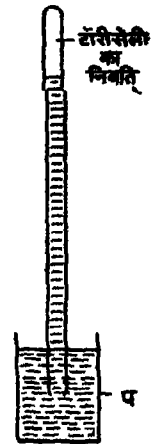
प्रयोग में लाते समय सर्वप्रथम पेंच, ट, को घुमाकर प्याली में पारे का तल इतना ऊपर उठाते हैं कि वह हाथीदाँत के सूचक की नोक का ठीक स्पर्श करने लगे। इस दशा में प्याली में पारे का तल पैमाने के ठीक शून्य पर होता है। अब ऊपर पेंच, प, को घुमाकर वर्नियर पैमाने को खिसकाते हैं, ताकि वर्नियर पैमाने का शून्य नली में पारे के तल का ठीक स्पर्श करने लगे। सुविधा के लिये वर्नियर का निचला भाग शून्य पर इस प्रकार कटा होता है कि पारे का तल उस कटे भाग की ठीक सीध मे आने पर वर्नियर का शून्य पाठ प्रदान करता है।

चूँकि फॉर्टिन वायुदाबमापी के पाठ में ताप का संशोधन करना पड़ता है, अतः प्रयोग के समय ठीक ठीक ताप ज्ञात करने की आवश्यकता पड़ती है, इसलिये वायुदाबमापी में ही एक तापमापी, त, भी लगा रहता है।

कालांतर में न्यूमैन ने फ़ॉर्टिन वायुदाबमापी से मिलता जुलता एक वायुदाबमापी बनाया था, जिसमें पारे [का तल स्थिर रखा जाता था और हाथीदाँत का सूचक एक पेंच के द्वारा खिसकाकर नीचे लाया जाता था, जिससे उसकी नोक पारे के तल का स्पर्श करने लगे। संकेतक की नोक जब पारे के तल का स्पर्श करती थी तब नली में पारे के तल का पाठ पैमाने पर पढ़ लिया जाता था। यह पाठ वायुमंडलीयदाब व्यक्त करता था। कुछ असुविधाओं के कारण इस वायुदाबमापी का प्रचलन अब प्राय: समाप्त सा हो गया है।

चित्र ४. फ़ॉर्टिन (Fortin) का बैरोमीटर

क्यू वायुदाबमापी — इस प्रकार के वायुदाबमापी में पारद प्याली या कुंड में पारे के तल का समंजन करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती वरन् केवल पारे के स्तंभ के शीर्ष का ही समंजन करना पड़ता है। यदि कुंड तथा नली बेलनाकार हो, तो दाब में परिवर्तन के कारण, कुंड में पारे के तल में परिवर्तन पारे के स्तंभ के शीर्ष में होनेवाले परिवर्तन का एक निश्चित अंश होता है, जो यंत्र के आयाम पर निर्भर करता है। चित्र ६. और चित्र ७. से क्रमश: क्यू वायुदाबमापी के पारदकुंड एवं नली की रचना समझी जा सकती है। यह वायुदाबमापी, यद्यपि फ़ॉर्टिन वायुदाबमापी की भाँति अत्यंत सूक्ष्म एवं सटीक माप नहीं देता, तथापि सुवाहक होने के कारण इसका उपयोग सागरीय जलयानों एवं भारी वायुयानों में किया जाता है। इन यानों के डगमगाने के कारण पारे के तल में संभावित उथल पुथल, या आंदोलन को नि:शेष करने के हेतु वायुदाबमापी की नली में एक स्थान पर 'संकीर्णन' (constriction) बना दिया जाता है।

वायुदाबमापी के पैमाने (Scales) — ऋतुविज्ञानेतर प्रयोजनों में प्रयुक्त होनेवाले वायुदाबमापी के पाठ्यांक प्राय: सेंटीमीटर, या इंच में व्यक्त किए जाते हैं। अधिक सूक्ष्म मापों के लिये वायुदाबमापी के पाठ्यांकों में तापसंशोधन कर लेना आवश्यक होता है। यह संशोधन वायुदाबमापी के पैमाने की धातु तथा पारे के तापीय प्रसार के लिये किया जाता है। इस संशोधन की विधि नीचे दी गई है।

निरपेक्ष-दाब-मान ज्ञात करने के लिये वायुदाबमापी के पाठ्यांक में, प्रयोग के समय के ताप पर, पारे के घनत्व तथा गुरुत्व ग (g) का गुणा कर दिया जाता है। इस मान को 'डाइन प्रति सेंमी०²' में व्यक्त किया जाता है। पारे का प्रामाणिक घनत्व ०° सें० पर १३.५९५५ (४५° अक्षांश के समुद्रतल पर) है। प्रयोगस्थल के ताप त° सें० के लिये निम्नलिखित विधि से संशोधन करना पड़ता है·

(घनत्व)०° सें० = (घनत्व) त° सें० [१ + घ त]

जहाँ घ पारे का आयतन प्रसार गुणांक (coefficient of cubical expansion) है।

ऋतुविज्ञानशालाओं में व्यवहार्य वायुदाबमापी में वायुदाब को दबाव की इकाइयों, अर्थात् मिलिबार (millibar), में व्यक्त किया जाता है और यही इकाइयाँ प्राय: सर्वत्र मान्य हैं। एक मिलिबार १,००० डाइन प्रति सेंमी०² के बराबर होता है और १,००० मिलिबार दाब पारे के २९.५३०६ इंच स्तंभ, या ७५.०१ सेंमी० स्तंभ, की दाब के बराबर होता है।

चित्र ५. पारे की सतह पढ़ने के लिये वर्नियर

वायुदाबमापी के पाठ्यांक में तापसंशोधन — वायुदाबमापी में पारा के स्तंभ की लंबाई पीतल के पैमाने की सहायता से नापी जाती है, जो ०° सें० पर अंशांकित किया हुआ रहता है। तापवृद्धि के कारण पैमाने में प्रसार होता है, जिससे उसके भागों का मान बढ़ जाता है तथा साथ ही पारे का घनत्व कम हो जाता है, अत: प्रयोगशाला के ताप पर वायुदाबमापी द्वारा व्यक्त वायुदाब के मान में दो प्रकार के संशोधन करने पड़ते हैं : (१) पैमाने के प्रसरण
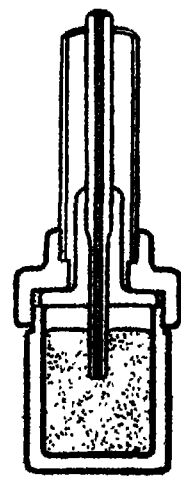
चित्र ६. वायुदाबमापी की कुंडिका (क्यू का पारद वायुमापी)

चित्र ७. क्यू वायुदाबमापी की नली

के लिये और (२) पारे के घनत्व में परिवर्तन के लिये। ०° सें० पर पारदस्तंभ की संशोधित लंबाई

$$उ_0 = उ [१ - (घ - ल) त]$$

$$[H_0 = H \{ 1 - (\gamma - \alpha) t \}]$$

यहाँ $उ_0$ (H_0) और उ (H) क्रमश: ०° सें० तथा त° (t°) सें० पर पारदस्तंभ की ऊँचाइयाँ हैं और घ (γ) तथा ल (α) क्रमश: पारे के आयतन प्रसार का गुणांक तथा पैमाने की धातु के रेखीय प्रसार का गुणांक (coefficient of linear expansion) हैं। साधारणतया पैमाना पीतल का होता है, जिसके लिये ल (α) = '००००१८ होता है और पारे के लिये घ (γ) = '०००१८१ होता है। इनकी सहायता से पारदस्तंभ की संशोधित लंबाई एवं वायुमंडलीय दाब ठीक ठीक ज्ञात हो जाती हैं।

गुरुत्व संशोधन (Gravity Correction) — ऊपर वर्णित तापसंशोधन के अतिरिक्त और भी कतिपय संशोधन वायुदाबमापी द्वारा वायुदाब का अत्यंत सूक्ष्मांश तक यथार्थ मान ज्ञात करने के हेतु किए जाते हैं। इनमें **गुरुत्व संशोधन** मुख्य है। वायुदाबमापी का मानकीकरण जिस स्थान पर होता है, वहाँ गुरुत्व, ग (g), का मान प्रयोगस्थल के मान से भिन्न हो सकता है। अत: संशोधन करना आवश्यक हो जाता है। इस हेतु प्रयोगकेंद्र पर वायुदाबमापी का प्रयोग करने के पूर्व वायुदाबमापी के पाठ्यांक एवं अन्य किसी प्रामाणिक वायुदाबमापी द्वारा प्राप्त (गुरुत्व संशोधित) यथार्थ मान के बीच विभिन्न वायुदाबों पर संबंध व्यक्त करनेवाली एक तालिका (chart) तैयार कर ली जाती है और उसी के आधार पर, अथवा एक लेखाचित्र पर उन मानों को अंकित कर उनकी सहायता से, किसी भी वायुदाब के पाठ्यांक की संगत संशोधित दाब ज्ञात कर ली जाती है।

निर्द्रव वायुदाबमापी — फॉर्टिन वायुदाबमापी तथा अन्य द्रव वायुदाबमापी यद्यपि वायुदाब की अत्यंत सूक्ष्म मान तक माप दे सकते हैं, किंतु उनमें दो मुख्य असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। पहली असुविधा तो यह है कि उनको उपयोग में लाने के कुछ प्रारंभिक समायोजन (adjustmeut) करने पड़ते हैं। दूसरी असुविधा यह है कि उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में कठिनाई होती है और ऐसी परिस्थितियों में, जहाँ वायुदाब में अत्यंत द्रुत गति से परिवर्तन हुआ करता है, उनका प्रयोग अत्यंत कठिन हो जाता है। इन कठिनाइयों के परिहारार्थ निर्द्रव वायुदाबमापी का आविष्कार किया गया।

इस वायुदाबमापी में इस्पात की नालीदार (corrugated) चद्दर का बना हुआ आधारपृष्ठ होता है, जिससे एक कमानी या स्प्रिंग (spring) जुड़ी रहती है। यह कमानी एक लीवर तंत्र (system of levers) द्वारा एक तर्कु (spindle) से संबद्ध रहती है। जब वायुदाब में परिवर्तन होता है, तो नालीदार

चद्दर अंदर की ओर दबती अथवा बाहर की ओर फैलती है। इससे कमानी में गति उत्पन्न होती है और वह तर्कु को घुमाती है।
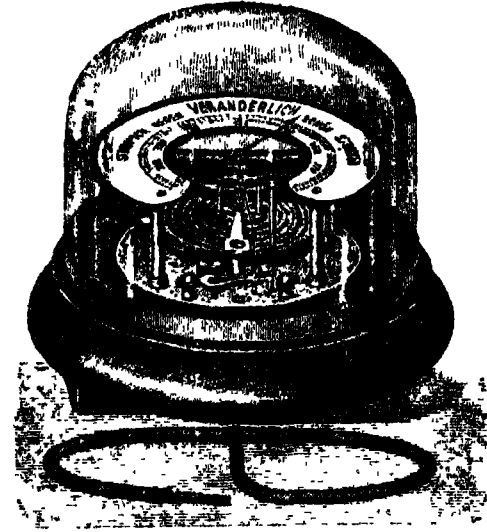
चित्र ८. ऐनेरॉयड (Aneroid) वायुदाबमापी

तर्कु से एक सूचक (pointer) लगा रहता है, जो तर्कु के घूमने के साथ साथ एक अंशांकित डायल (dial) पर घूमता है। इस डायल पर एक मानक द्रव-वायुदाबमापी की सहायता से अंशांकन किया हुआ होता है। इस प्रकार यह वायुदाबमापी वायुदाब का प्रत्यक्ष पाठ्यांक देता है। डायल पर वायुदाब के साथ ही ऋतुपरिवर्तन के भी संकेत उल्लिखित होते हैं। शुष्क, आर्द्र, वर्षा एवं तूफान, आँधी आदि का भी उल्लेख उसपर रहता है। सूचक की गति जिस ओर होती, उसी के अनुसार मौसम में परिवर्तन की पूर्वसूचना हमें मिल जाती है।

निर्द्रव वायुदाबमापी से वायुदाब में लगभग ०'०५ इंच तक होनेवाले परिवर्तन का ठीक ठीक अभिलेख मिल सकता है।

[सु० चं० गौ०]

वायुदाबलेखन (Barography) स्वत: वायुदाब पढ़नेवाला यंत्र है। इसके अंतर्गत एक खोखले बेलन के ऊपर विशेष प्रकार का ग्राफ कागज लगा दिया जाता है, जिसपर वायुभार का परिवर्तन एक सूचक द्वारा स्वयं अंकित होता रहता है। यह ढोल दो प्रकार का होता है, एक ढोल २४ घंटे के बाद अपना चक्कर पूरा करता है और दूसरा एक सप्ताह के पश्चात्। अगर एक सप्ताहवाला बेलन या ढोल होता है, तो उसके ऊपर चढ़ा हुआ कागज प्रत्येक सोमवार को प्रात:काल बदला जाता है और अगर २४ घंटेवाला बेलन होता है, तो उसे हर दिन प्रात:काल बदलते हैं। ढोल पर से कागज बदलने के लिये पहले लीवर को दाहिनी ओर हटा देते हैं, जिससे सूचक कागज से अलग हो जाता है। ढोल की धुरी को ढीला करके कागज को ऊपर की ओर खींचकर ढोल से अलग किया जाता है। इसके पश्चात् ऊपर की ओर से ढोल पर नया कागज चढ़ा

दिया जाता है, सूचक की स्याही बदल देते हैं, फिर लीवर को बाईं ओर कर दिया जाता है, जिससे सूचक कागज से सट जाता है और वायुभार में परिवर्तन के अनुसार कागज के ऊपर नीचे लकीरें बनने लगती हैं। ढोल में घड़ी के सूचक के अनुसार चाभी भर दी जाती है, जिससे ढोल बराबर घूमता रहे। इन क्रियाओं को करने में बराबर सावधानी से काम करना चाहिए, जिससे सूचक ढोल के कागज के ऊपर अधिक दबाव नहीं डाले, नहीं तो कागज के फटने का डर रहता है और रेखाएँ भी स्वच्छ अंकित नहीं हो पातीं। ऐसी दशा में सूचक के स्क्रू को ढीला कर देना चाहिए। इस यंत्र द्वारा प्राप्त वायुदाब शुद्ध नहीं होता, अत: पारे-वाले वायुदाबमापी से इसकी तुलना करके इसे शुद्ध कर लिया जाता है। भारत में इस यंत्र का प्रयोग अभी प्रथम श्रेणी की वेधशालाओं में ही किया जाता है। [वि० रा० सि०]

वायुमंडल पृथ्वी को घेरती हुई जितने स्थान में वायु रहती है उसे 'वायुमंडल' कहते हैं। वायुमंडल के अतिरिक्त पृथ्वी का स्थलमंडल (Litho sphere) ठोस पदार्थों से बना, और जलमंडल (Hydro sphere) जल से बना होते हैं। वायुमंडल कितनी दूर तक फैला हुआ है, इसका ठीक ठीक पता हमें नहीं है, पर यह निश्चित है कि पृथ्वी के चतुर्दिक् कई सौ मीलों तक यह फैला हुआ है। वायुमंडल के निचले भाग को (जो प्राय: चार से आठ मील तक फैला हुआ है) क्षोभमंडल (Troposphere), उसके ऊपर के भाग को समतापमंडल (Stratosphere) और उसके और ऊपर के भाग को आयनमंडल (Ionosphere) कहते हैं। क्षोभमंडल और समतापमंडल के बीच के भाग को 'शांतमंडल' (Topopause) और समतापमंडल और आयनमंडल के बीच को स्ट्रैटोपॉज (Strato-pause) कहते हैं। साधारणतया ऊपर के तल बिलकुल शांत रहते हैं।

वायुमंडल की वायु गैसों का मिश्रण है। ऊँचाई में गैसों की आपेक्षिक मात्रा में परिवर्तन पाया जाता है। पृथ्वीतल पर की सूखी वायु का औसत संगठन इस प्रकार है—

	प्रति शत आयतन
नाइट्रोजन	७८·०९
ऑक्सीजन	२०·९५
आर्गन	०·९३
कार्बन डाइऑक्साइड	०·०३
नीऑन	०·००१८
हाइड्रोजन	०·००१
हीलियम	०·०००५२४
क्रिप्टन	०·०००१
ज़ीनान	०·००००08
ओज़ोन	०·०००००१

प्राणियों और पादपों के जीवनपोषण के लिये वायु अत्यावश्यक है। पृथ्वीतल के अपक्षय (weathering) पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। नाना प्रकार की भौतिक और रासायनिक क्रियाएँ वायुमंडल की वायु के कारण ही संपन्न होती हैं। वायुमंडल के अनेक दृश्य, जैसे इंद्रधनुष, बिजली का चमकना और कड़कना, उत्तर ध्रुवीय ज्योति (aurora borealis), दक्षिण ध्रुवीय ज्योति (aurora australis) प्रभामंडल (halo), किरीट (corona), मरीचिका इत्यादि प्रकाश या विद्युत के कारण उत्पन्न होते हैं।

वायुमंडल का घनत्व एक सा नहीं रहता। समुद्रतल पर वायु का दबाव इतना होता है कि वह पारे के स्तंभ को २९·९२ इंच या ७६ सेंटीमीटर उठाता है। प्रति वर्ग इंच यह १५.५ पाउंड दबाव के बराबर होता है। ऊपर उठने से दबाव में कमी होती जाती है। ताप या स्थान के परिवर्तन से भी दबाव में अंतर आ जाता है।

सूर्य की लघुतरंग विकिरण ऊर्जा से पृथ्वी गरम होती है। पृथ्वी से दीर्घतरंग भौमिक ऊर्जा का विकिरण वायुमंडल में अवशोषित होता है। इससे वायुमंडल का ताप –६८° सें० से ५५° सें० के बीच ही रहता है। ६० मील के ऊपर पराबैंगनी (ultraviolet) प्रकाश से आक्सीजन अणु आयनों में परिणत हो जाते हैं और परमाणु इलेक्ट्रॉनों में। इसी से इस मंडल को आयन मंडल कहते हैं। रात्रि में ये आयन या इलेक्ट्रॉन फिर परस्पर मिलकर अणु या परमाणु में परिणत हो जाते हैं, जिससे रात्रि के प्रकाश के वर्णपट में हरी और लाल रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं। [फू० स० व०]

वायुमंडलीय आर्द्रता — वायु में उपस्थित जलवाष्प के ऊपर निर्भर करती है। यह जलवाष्प वायुमंडल के निचले स्तरों में रहता है। इसकी मात्रा सभी स्थानों में तथा सदैव एक सी नहीं रहती। समयानुसार उसमें अंतर होते रहते हैं। यह जलवाष्प नदी, तालाब, झील, सागर आदि के जल के वाष्पीकरण से बनता है।

वायुमंडलीय आर्द्रता में दो बातों पर ध्यान देना चाहिए : (क) परम आर्द्रता—किसी विशेष ताप पर वायु के इकाई आयतन में विद्यमान भाप की मात्रा को कहते हैं और (ख) आपेक्षिक आर्द्रता — प्रति शत में व्यक्त वह संबंध है जो उस वायु में विद्यमान भाप की मात्रा में और उसी ताप पर उसी आयतन की संतृप्त वायु की भाप की मात्रा में होता है।

वायुमंडलीय आर्द्रता को मुख्यत: दो प्रकार के मापियों से मापते हैं : (१) रासायनिक आर्द्रतामापी एवं (२) भौतिक आर्द्रता-मापी द्वारा।

वायुमंडलीय ताप का मूलस्रोत सूर्य है। वायु को सूर्य की अपेक्षा पृथ्वी के संस्पर्श से अधिक ऊष्मा मिलती है, क्योंकि उसपर धूलि-कणों का प्रभाव पड़ता है। ये धूलिकण, जो ऊष्मा के कुचालक होते हैं भूपृष्ठ पर एवं उसके निकट अधिक होते हैं और वायुमंडल में ऊँचाई के अनुसार कम होते जाते हैं। अत: प्रारंभ में सूर्य की किरणें धरातल को गरम करती हैं। फिर वही ऊष्मा संचालन द्वारा क्रमश: वायु-मंडल के निचले स्तर से ऊपरी स्तर की ओर फैलती जाती है। इसके अतिरिक्त गरम होकर वायु ऊपर उठती है, रिक्त स्थान की पूर्ति अपेक्षाकृत ठंढी वायु करती है; फिर वह भी गरम होकर ऊपर उठती है। फलत:, संवाहन धाराएँ उत्पन्न हो जाती हैं। अत: ऊष्मा के ऊपर फैलने में संचालन और संवाहन काम करते हैं। धरातल से वायुमंडल में ऊपर जाने पर ताप क्रमश: प्रत्येक ३२०′ की ऊँचाई पर १° फा० घटता जाता है।

वायुमंडलीय दबाव — इसका अर्थ है किसी स्थान के इकाई

क्षेत्रफल पर वायुमंडल के स्तंभ का भार। किसी भी समतल पर वायु-का मंडल दबाव उसके ऊपर की वायु का भार होता है। यह दबाव भूपृष्ठ के निकट ऊँचाई के साथ शीघ्रता से, तथा वायुमंडल में अधिक दबाव पर धीरे धीरे, घटता है। परंतु किसी भी स्थान पर वायु का ऊँचाई स्थिर नहीं है। मौसम और ऋतुओं के परिवर्तन के साथ उसमें अंतर होते रहते हैं।

वायुमंडलीय दबाव विभिन्न बैरोमीटरों द्वारा नापा जाता है। सागर समतल पर वायुमंडलीय दबाव १४.७ पाउंड प्रति वर्ग इंच, अथवा बैरोमीटर का दबाव २९.९" है। इनका अर्थ एक ही है। इसके आधार पर नक्शे पर इसे समभार रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इन्हीं पर वायु-भार-पेटियाँ, हवाओं की दिशा, वेग, दिशा परिवर्तन आदि निर्भर करते हैं। [गा० स० स०]

वायुमंडलीय विक्षोभ (Atmospheric Turbulence) वैमानिकी की एक बहुत बड़ी समस्या है। विमानचालक इसे झटकों के रूप में अनुभव करते हैं और वायुगर्त (air pocket), वायुछिद्र (air hole), वायुप्रहार (dunt) आदि नामों से पुकारते हैं, जिनका आशय वायुशून्यता है, पर जो प्रकृति में नहीं हो सकती। झटके की स्थितियाँ वायु के क्षैतिज संचलन में तेज उतार चढ़ाव, या वायु की स्थानीय ऊर्ध्व या अधो धाराओं के कारण उत्पन्न होती हैं। पाइलट को इन झटकों से लगभग वैसा ही संवेदन मिलता है जैसा लिफ्ट के एकाएक संचलन से शरीर की संतुलन व्यवस्था पर प्रभाव पड़ने से प्राप्त होता है। विक्षोभ या उसका अवयव (भँवर) अनेक प्रकार का हो सकता है। इस विविधता का कारण है उसके उत्पन्न होने की विविध परिस्थितियाँ। विक्षोभ के दो प्रकार मुख्य हैं : यांत्रिक और ऊष्मीय। यांत्रिक विक्षोभ घर्षणात्मक कारणों से होता है और ऊष्मीय विक्षोभ भूपृष्ठ के तापन के कारण।

यांत्रिक विक्षोभ — किसी रूक्ष पृष्ठ से वायु का घर्षण होने पर यांत्रिक विक्षोभ उत्पन्न होता है। पृथ्वी पर स्थित अवरोध वायु के मुक्त प्रवाह में बाधा उत्पन्न करते हैं, जिससे वायु के क्षैतिज संचलन की दिशा और चाल दोनों में परिवर्तन होता है। समतल भूभागों में भी लगभग २०० मीटर की ऊँचाई तक पृथ्वी के पृष्ठ के घर्षण के कारण वायु में पर्याप्त झोंकीलापन (gustiness) रहता है। पहाड़ी प्रदेशों में क्षैतिज संचलन के परिवर्तन के साथ ही पर्याप्त ऊर्ध्वधाराएँ भी रहती हैं, जो सामान्य मौसम में जिस ऊँचाई पर अवरोध होते हैं उसकी डेढ़ गुनी ऊँचाई तक फैलती हैं, और खराब मौसम में और भी अधिक ऊँचाई तक, विशेषतया ताजी वायु के अंतर्वाह की स्थिति में, पहुँचती हैं। चित्र १. द्वारा भूपृष्ठ पर स्थित विविध अवरोधों से वायुसंचलन में उत्पन्न यांत्रिक विक्षोभ के प्रभाव स्पष्ट हो जाएँगे। चित्र में (क) भूतल के ऊपर वायुप्रवाह में भँवर निर्माण, चित्र में (ख) आयताकार, अनुप्रस्थ काट के (जैसे ऊँची इमारत) के अवरोध से उत्पन्न भँवर और चित्र में (ग) पर्वतमाला से उत्पन्न भँवर निर्दर्शित करता है। पर्वतों के अनुवात पार्श्व (leeside) में उत्पन्न भँवर प्रायः पाइलटों के लिये संकट खड़ा कर देते हैं। इससे बचने के लिये उन्हें पर्वतीय प्रदेशों में वायु के विपरीत चलते समय काफी ऊँचाई पर उड़ना पड़ता है।

ऊष्मीय विक्षोभ — यह वायुमंडल के निचले भाग में वायु के संलग्न भागों के ताप में अंतर होने के कारण उत्पन्न होता है। भूपृष्ठ के अनियमित तापन की ऊष्मा से उत्पन्न ऊर्ध्व धाराएँ उच्छलन (bumpines) का प्रधान कारण हैं। ऊष्मीय विक्षोभ के लिये तीव्र सूर्यताप और रूक्ष स्थलाकृति अनुकूल होती है। जहाँ कहीं इन दो शर्तों की पूर्ति होती है, जैसे शुष्क कटिबंधों में, विक्षोभ स्पष्ट रूप से होने लगता है। ऊष्मीय विक्षोभ बड़ी झीलों और महासागरों के सीमांत में तथा वनभूमि और प्रेअरी भूभागों में प्रायः प्रबल रहता है। एक
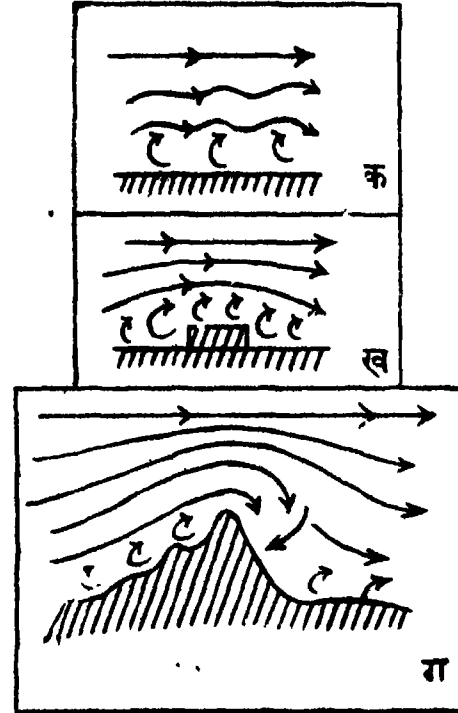
घर्षण से उत्पन्न विक्षोभ

दूसरे प्रकार का ऊष्मीय विक्षोभ, जो अधिकतर एक स्पष्ट उभाड़ (hump) के रूप में होता है, तीव्र व्युत्क्रमण (inversion) की परतों में से उड़ते समय अनुभव किया जाता है। यहाँ पर वायुपन्नी (air foil) की उछाल एकाएक बदलने से उभाड़ अनुभव किया जाता है। कपासाभ मेघों (cumuliform cloud) में ऊर्ध्व मेघ और धाराएँ प्रायः होती हैं और ये प्रायः बहुत तीव्र होती हैं। कपासाभ मेघ और आसपास की वायुधारा के ऊर्ध्वाधर वेगों में जो विपर्यास (contrast) होता है, उसी से विक्षुब्ध गति होती है। जब पाइलट असंतृप्त वायु से कपासाभ मेघ की ओर उड़ता है और जब मेघ में उड़ता रहता है, तब उसे प्रचंड झटकों की अनुभूति होती है।

भारत में गरमी की ऋतु में भूतापन के फलस्वरूप १० बजे प्रातः से शाम पाँच बजे (स्थानीय समय) तक झटके सर्वाधिक होते हैं। सूर्योदय के समय झटके बिलकुल नहीं लगते। ज्यों ज्यों दिन बढ़ता है, झटके तीव्र होने लगते हैं और सूर्यास्त के बाद समाप्त होने लगते हैं। भारत में विक्षोभ से प्रभावित अधिकतम ऊँचाई स्थलाकृति और

ऋतु पर निर्भर करती है। उत्तर भारत के अंतरंग क्षेत्रों में मार्च से जून तक यह ऊँचाई ३ किमी० तक हो सकती है। दक्षिण भारत और बंगाल में यह ऊँचाई कुछ कम, अर्थात् लगभग २ किमी० होती है। मॉनसून के दिनों में (मध्य जून से सितंबर तक) प्रधानतया मेघों के बनने के कारण झटके लगते है। [कि० चं० च०]

वायुराशि हवा का वह घना भाग है जिसका ताप एवं आर्द्रता एक समान एवं समतल हो। कुछ निश्चित स्थानों पर वायुमंडल में हवाओं की सामान्य गति के कारण वायु की विशाल राशि एकत्र हो जाती है, जिसकी अपनी विशेषताएँ और भौतिक दशाएँ, विशेषकर ताप और आर्द्रता, निश्चित तथा स्पष्ट होती हैं। विश्व के मानचित्र पर ये स्थायी रूप से एक निश्चित स्थान पर पाई जाती हैं। इनकी स्थिति में थोड़ा बहुत परिवर्तन सूर्य की किरणों के साथ हुआ करता है।

वायुराशि के उत्पत्तिस्थान को 'स्रोतक्षेत्र' (source regions) कहते हैं। प्रतिचक्रवातीय क्षेत्र इस प्रकार की वायुराशि की उत्पत्ति के लिये उपयुक्त स्थान है, जैसे वायुराशि के प्रमुख क्षेत्र कैनाडा का हिमाच्छादित ध्रुववृत्तीय मैदान, शीतकाल में साइबेरिया, उष्ण कटिबंधी महासागरों के विस्तृत क्षेत्र तथा गरम एवं शुष्क सहारा क्षेत्र। वायुराशि अधिक समय तक अपने उत्पत्ति स्थान पर नहीं ठहर सकती है, बल्कि शीघ्रता से बाहर की ओर चलना प्रारंभ कर देती है। इसका क्षेत्र इतना विशाल एवं गति इतनी मंद होती है कि चलते समय इसकी विशेषताओं में अंतर होता जाता है। जब दो वायुराशियों के ताप और आर्द्रता में अंतर होता है, तो ये सरलता से आपस में नहीं मिल पाती हैं और इनके बीच में सीमांत क्षेत्र बन जाता है, जिसके दोनों ओर दो प्रकार के ताप पाए जाते हैं।

वायुराशि के भेद

भेद के आधार	भेद
ताप	(१) गरम वायुराशि (२) शीतल वायुराशि
उत्पत्ति अक्षांश	(१) आर्कटिक वायुराशि (२) ध्रुवीय वायुराशि (३) उष्णकटिबंधी वायुराशि (४) विषुवतीय वायुराशि
उत्पत्ति स्थान (जल स्थल)	(१) समुद्री वायुराशि (२) महाद्वीपी वायुराशि

प्रत्येक वायुराशि के जीवन की तीन अवस्थाएँ होती हैं :

१. **परिवर्तन** — आक्रांत भूमि के गुणों के अनुसार वायुराशि में परिवर्तन होने की अवस्था।

२. **मध्यगत** — वायुराशि के निजी मूल गुणों के समाप्त हो जाने पर, आक्रांत भूमि की वायु में परिवर्तन होनेवाली अवस्था।

३. **अस्तित्वहीनता** — जब वायुराशि का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह नवीन रूप धारण कर लेती है। [च० प्र० स०]

वायुसेना (Air Force) स्कीन कमेटी (Skeen Committee) द्वारा १९२६ ई० में की गई सिफारिश के आधार पर १ अप्रैल, १९३३ में भारतीय वायुसेना का गठन किया गया। कुछ वापिटि (Wapiti) विमानों, क्रानवेल (Cranwel) प्रशिक्षित कुछ उड़ाकों तथा वायुसैनिकों (airmen) के छोटे से दल से इस सेना ने कार्यारंभ किया। गत ३५ वर्षों में भारतीय वायुसेना ने विशेष विस्तार और प्रतिष्ठा अर्जित की है। आज भारतीय वायुसेना राष्ट्र की सुरक्षा की दृष्टि से सशस्त्र सेना का न केवल अपरिहार्य एवं पृथक् अंग है, बल्कि यह आधुनिकतम वायुयानों से सुसज्जित एक विस्तारी वायुसेना का उड़ाकू बेड़ा बन गया है।

भारतीय वायुसेना का प्रमुख अधिकारी चीफ ऑव एअर स्टाफ (Chief of Air Staff) कहलाता है और इसका पद चीफ एअर मार्शल (Air Marsnal) का होता है। वायुसेना का मुख्यालय दिल्ली में स्थित है, जिसके द्वारा संपूर्ण संगठन पर नियंत्रण रखा जाता है। चीफ ऑव एअर स्टाफ की सहायता के लिये एअर मार्शल तथा वाइस एअर मार्शल (Vicem Air Marshal), या एअर कमोडोर (Air Commodor) पद के मुख्य चार स्टाफ अफसर (staff officers) होते हैं। ये ही वायुसेना की प्रमुख शाखाओं पर नियंत्रण रखते है। वायुसेना का मुख्यालय निम्नलिखित चार मुख्य शाखाओं में विभक्त है :

(१) एअर स्टाफ (Air Staff) शाखा, (२) प्रशासनिक शाखा, (३) अनुरक्षण (Maintenance) शाखा तथा (४) कार्यनीति एवं योजना (Policy and Plans) शाखा।

एअर स्टाफ शाखा — इस शाखा के अंतर्गत निम्नलिखित निदेशालय हैं : सिगनल, प्रशिक्षण (Training), आसूचना(Intelligence), मौसम विज्ञान और सहायक एवं रिजर्व (Auxiliary and Reserve)।

प्रशासनिक शाखा — इस शाखा में निम्नलिखित निदेशालय हैं : संगठन, (Organization), कार्मिक (Personnel), चिकित्सा व्यवस्था लेखा, कार्मिक सेवा, वायुसेना निर्माण (Airforce Works), मुख्य अभियंता, वायुसेना खेलकूद, नियंत्रक बोर्ड तथा जज-एडवोकेट। इनमें चिकित्सा व्यवस्था और लेख विभाग विशेष महत्व के हैं।

कमान तथा फौजी काररवाई (Command and Operations) — वायुसेना के मुख्यालय के अंतर्गत चार प्रधान विरचनाएँ (formations) हैं, जिन्हें कमान कहते हैं। वायुसेना की कुछ यूनिटों के अतिरिक्त अन्य सभी यूनिटें इन कमानों के अंतर्गत आती हैं। देश के विभिन्न भागों में स्थित विंगों (wings) एवं केंद्रों (stations) के द्वारा कमान वायुसेना पर अपना नियंत्रण रखता है। प्रत्येक विंग एवं केंद्र के अंतर्गत अनेक उड़ान, प्रशिक्षण, तकनीकी एवं स्थैतिक यूनिटें रहती हैं। उपर्युक्त चार कमानें निम्नलिखित हैं :

(१) फौजी काररवाई कमान, (२) प्रशिक्षण कमान, (३) अनुरक्षण कमान तथा (४) ईस्टर्न एअर कमान (Eastern Air Command)। १९५२ ई० में संसद् द्वारा रिजर्व ऐंड ऑक्जिलियरी एअर फोर्स ऐक्ट पारित किया गया। इस ऐक्ट का पालन करने के लिये निम्नलिखित सात स्क्वाड्रनों का गठन किया गया : ५१ नं० (दिल्ली), ५२ नं० (बंबई), ५३ नं० (मद्रास), ५४ नं० (उ०प्र०), ५५ नं० (बंगाल), ५६ नं० (उड़ीसा) और ५७ नं० (पंजाब)।

वायुसेना के पद — वायुसेना के कमीशन अफसरों के निम्नलिखित पद हैं :

चीफ एअर मार्शल, एअर मार्शल, एअर वाइस मार्शल, एअर कमोडोर, ग्रुप कैप्टन, विंग कमांडर, स्क्वॉड्रन लीडर, फ्लाइट लेफ्टिनेंट, फ्लाइंग अफसर तथा पाइलट अफसर।

उपर्युक्त पदों के अतिरिक्त अन्य अधिकारियों के पद निम्नलिखित हैं :

मास्टर वारंट अफसर, वारंट अफसर, फ्लाइट सारजेंट, सारजेंट कार्पोरल, लीडिंग एअरक्राफ्ट मैन, एअरक्राफ्ट मैन क्लास १ तथा एअरक्राफ्ट मैन क्लास २।

वायुसेना में प्रशिक्षण सुविधा — एअर फोर्स फ्लाइंग कॉलिज, जोधपुर, और पाइलट ट्रेनिंग स्कूल, इलाहाबाद, में विमानचालकों को उड़ान का प्रारंभिक प्रशिक्षण एक वर्ष तक दिया जाता है। हैदराबाद स्थित जेट ट्रेनिंग ऐंड ट्रांसपोर्ट ट्रेनिंग विंग्स में जेट एवं बहुइंजन (multiengined) वायुयानों पर एक वर्ष तक उच्च उड़ान एवं संपरिवर्तन (conversion) प्रशिक्षण दिया जाता है। जलाहल्लि (बंगलोर) स्थित एअर फोर्स टेक्निकल कॉलेज (Airforce Technical College) में इंजीनियरिंग तथा सिगनल आदि के अधिकारी प्रशिक्षण देकर तैयार किए जाते हैं। जलाहल्लि स्थित स्कूल में उच्च सिगनल ट्रेड के वायुसैनिकों को प्रशिक्षित किया जाता है। पूर्णांग हवाई कर्मी (air crew) की उपाधि पाने से पूर्व छात्र नेविगेटर (pupil navigator) का प्रारंभिक प्रशिक्षण जोधपुर में और उच्च प्रशिक्षण हैदराबाद में प्राप्त करता है। कोयंबुत्तूर स्थित एअर फोर्स ऐडमिनिस्ट्रेटिव कॉलिज में अनेक स्थलीय कार्यों के लिये अधिकारियों का प्रशिक्षण होता है। बंगलोर के ऐविएशन मेडिसिन कालेज में मेडिकल अफसरों को प्रशिक्षित किया जाता है। तंबारम स्थित स्कूल में फ्लाइंग इंस्ट्रक्टरों का प्रशिक्षण होता है। हैदराबाद में उच्चाधिकारियों को स्थल तथा हवाई युद्ध का एक साथ अध्ययन कराने के लिये एक स्कूल है। आगरा में छाताधारी सैनिकों (paratroopers) के प्रशिक्षण के लिये एक स्कूल है।

भारतीय वायुसेना निम्नलिखित विमानों का उपयोग करती है :

प्रशिक्षण विमान (Training Aircraft) — टाइगर मॉथ (Tiger Moth), पर्सिवल प्रेंटिस (Percival Prentice), एच. टी-२ (H. T-2), हार्वार्ड स्पिटफायर (Harvard Spitfire), वैंपायर (Vampire) तथा डाकोटा (Dakotas)।

२. **लड़ाकू विमान** (Fighter Aircraft) — स्पिटफायर (Spitfire), टेंपीट (Tempeet), वैंपायर, तूफानी (Toophani), हंटर (Hunter) तथा नैट (Gnat)।

३. **परिवहन वायुयान** (Transport Aircraft) — डाकोटा, डीवान सी-११९ (Devon C-119) बॉक्सकार (Boxcar), ऑटर्स (Otters), वाइकाउंट (Viscount), इलिशिन (Illyshin) तथा पेकेट (Paket)।

४. **बमवर्षक** (Bombers) — लिबरेटर (Liberator) तथा कैनबरा (Canberra)।

५. **टोह लेनेवाले विमान** (Reconnaissance) — स्पिटफायर, ऑस्टर (Auster) तथा हार्वार्ड (Harvard)।

६. **अतिरिक्त विमान** — हेलिकॉप्टर (Helicopter), ऑस्टर, तथा कानपुर-१ (Kanpur-1)

विमान का उत्पादन (Aircraft Production) — भारत सरकार ने बंगलोर स्थित हिंदुस्तान एअरक्रैफ्ट फैक्टरी (Hindustan Aircraft Factory) में विमानों का निर्माण प्रारंभ किया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रों की अत्यधिक व्यस्त वायुसेना के विमानों के ओवरहाल (overhaul) के लिये इस फैक्टरी की स्थापना हुई थी। कुछ ही वर्षों के बाद १९४० ई० में यह कारखाना गैरसरकारी लिमिटेड कंपनी में परिवर्तित हो गया था और इसका नाम हिंदुस्तान एअरक्राफ्ट लिमिटेड (Hindustan Aircraft Ltd) पड़ा। १९४५ ई० यह कारखाना पूर्णतः सरकारी प्रबंध में आ गया।. भारत के स्वतंत्र होने के बाद इस कारखाने में विमानों का निर्माण प्रारंभ हुआ। इसका नाम हिंदुस्तान ऐयरोनॉटिक्स लिमिटेड (Hindustan Aeronautics Ltd.) रखा गया। इस कारखाने में प्रथम भारतीय प्रशिक्षण विमान एच. टी-२ (H. T-2) भारतीय इंजीनियरों द्वारा बनाया गया। वैंपायर जेट लड़ाकू विमान तथा नैट विमान लाइसेंस के अंतर्गत यहाँ बनाए गए। गत दस वर्षों में पुष्पक एवं कृषक विमानों तथा मारुत नामक भारतीय पराध्वनिक (supersonic) विमान एच. एफ-२४ (H. F-24) का निर्माण इस कारखाने में हुआ है। लाइसेंस के अंतर्गत बने ब्रिस्टल आरफीयस (Bristol Orpheus) तथा रोल्स रॉयस डार्ट (Rolls Royce Dart) इंजन और भारतीय अभिकल्प के जेट ऐरो (jet aero) इंजन इस कारखाने के अन्य उत्पादन हैं। इस कारखाने में भारतीय विमानों की मरम्मत तथा ओवरहाल के अतिरिक्त विदेशी ग्राहकों, जैसे साउदी अरब, अफगानिस्तान, श्रीलंका, बर्मा के विमानों की मरम्मत एवं ओवरहाल होता है।

कानपुर के हवाई केंद्र (air base) पर भी भारत सरकार ने विमान निर्माण डिपो की स्थापना की। इस डिपो में ब्रिटेन की प्रसिद्ध फर्म हाकर सिडले ग्रुप (Hawker Siddeley Group) के सहयोग से आधुनिक परिवहन विमान ऐवरो-७४८ (AVRO 748) का निर्माण हुआ है। भारत सरकार ने कानपुर में विमान निर्माण का एक कारखाना स्थापित किया है। कुछ दिनों पूर्व हिंदुस्तान एयरोनॉटिक्स लिमिटेड तथा कानपुरवाली फैक्ट्री एकीकृत होकर एक कंपनी में परिवर्तित हो गए हैं, जिसका नाम इंडिया एयरोनॉटिकल लिमिटेड (India Aeronautical Ltd.) रखा गया है।

[श० ना० रा०]

इंडिया ऐरोनॉटिकल लिमिटेड की अन्य तीन नई इकाइयाँ नासिक, हैदराबाद तथा कोरापुट (Koraput) में स्थापित की गई हैं। इनमें मिग-२१ (MIG-21) नामक विमान के ढाँचे, इंजन और इलेक्ट्रॉनिक उपकरण बन रहे हैं। विमान के ढाँचे नासिक में, इंजन कोरापुट में तथा इलेक्ट्रॉनिक उपकरण हैदराबाद में बन रहे हैं।

वार पंजाबी साहित्य का एक काव्यभेद। यह वर्णनात्मक शैली में लिखा जाता है। 'वार' शब्द संस्कृत की 'वृ' धातु से व्युत्पन्न है। 'कीर्ति', 'घेरा', 'धावा' (आक्रमण), 'बार बार', बाह्य (पंजाबी बाहर=बाहर) प्रभृति 'वार' शब्द के अर्थ अनुमित हुए हैं। किंतु रूढ़ अर्थों में यह युद्ध संबंधी काव्य का पर्याय हो गया है। संयोग से फारसी शब्द 'बार' (आक्रमण) और अंग्रेजी शब्द (war) (वार) में उच्चारण और रूपसाम्य ही नहीं, युद्धविषयक भावसाम्य भी है। वस्तुतः गुणगानसंपन्न युद्धविषयक काव्य के लिये 'वार' शब्द क्यों प्रचलित हुआ, एतदर्थ इस शब्द के विभिन्न अर्थों के आधार पर यह विकल्प प्रस्तुत किया जा सकता है: "इसमें 'बाहर' के (बाह्य) आक्रांताओं के 'वार' (आक्रमण) और उसके प्रतिरोध में नायक पक्ष के 'वार' (प्रत्याक्रमण) का 'बार बार' वर्णन तथा दोनों पक्षों का 'कीर्तिगान' होता है"।

वार में नायक की भरपूर प्रशंसा और विरोधी वर्ग का शौर्यप्रदर्शन एक प्रकार से परंपरागत हो गया है। यदि प्रतिनायक पक्ष की दुर्बलताओं का चित्रण करना भी होता है तो केवल उपहासात्मक ढंग से। संभवतः 'यश दी वारां गाना' पंजाबी मुहावरा इसी प्रथा और भाई गुरदास के इस कथन के अनुसार चल पड़ा है: "ढाढी वारां गाँवदे वैर विरोध जोध सालाहीं" (वार १५। पौड़ी ६। चरण २)।

सिक्ख गुरुओं ने 'वार' शब्द को आध्यात्मिक काव्यक्षेत्र में भी स्थान दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुरु महाराजाओं ने सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति के हेतु हुए मानवीय संघर्ष को विशेष प्रश्रय न देकर जीव के ईश्वर तक पहुँचने और उसमें आत्मसात् होने तक के द्वंद्वों को ही सबसे बड़ा युद्ध माना है। किंतु जनरुचि के अनुसार युद्ध संबंधी वारों को प्रेरणास्रोत के रूप में स्वीकार किया है।

इतिहास — वार साहित्य का मूल चारणों और राजाश्रयी कवियों की कविता में ढूँढ़ा जा सकता है। वे राजाओं महाराजाओं का यशोगान और उनके पूर्वजों का कीर्तिवर्णन किया करते थे। युद्धक्षेत्र में भी वे वीरों के शौर्यगान से योद्धाओं को प्रेरित किया करते थे। असंभव नहीं कि ढाढी और रबाबी भी आजीविका उपार्जन के हेतु मेलों, तमाशों आदि में इन्हें गाया करते हों। अब तक उपलब्ध वीररस की वारों में कवि खुसरो विरचित 'तुगलक दी वार' ही सर्वप्राचीन मानी जाती है। आध्यात्मिक वारों में गुरु नानकदेव प्रणीत 'मलार की वार' है। यह सन् १५२१ में कर्तारपुर रावी में लिखी गई थी।

सिक्ख गुरुओं ने अपढ़ और सरल स्वभाव की जनता की रुचि को पहचानकर प्रचारहेतु 'वार' को अपनाया। गुरु ग्रंथ साहिब में २२ वारें संकलित हैं। इनमें से एक वार पंचम गुरु अर्जुनदेव जी के रबाबी सत्ता और बलवंड निर्मित है, जिसमें गुरुओं का यशोगान हुआ है। शेष २१ वारों का प्रणेता और रागानुसार श्रेणीबंधन इस प्रकार है:

(क) श्री गुरु नानकदेव — माझ राग (१), आसा राग (१), मल्हार राग (१)।

(ख) श्री गुरु अमरदास — गूजरी राग (१), सूही राग (१), रामकली राग (१), मारू राग (१)।

(ग) श्री गुरु रामदास — सिरी राग (१), गौड़ी राग (१), बिहागड़ा राग (१), वडहंस राग (१), सोरठ राग (१), बिलावल राग (१), सारंग राग (१), कानड़ा राग (१)।

(घ) श्री गुरु अर्जनदेव — गौड़ी राग (१), गूजरी राग (१), जैतसरी राग (१), रामकली राग (१), मारू राग (१), बसंत राग (१)।

श्री गुरु अंगददेव (द्वितीय गुरु) की कोई वार नहीं है। पंचम गुरु श्री अर्जनदेव ने 'गुरु ग्रंथ साहिब' का संकलन करते समय वारों के भाव को सुबोध बनाने के हेतु प्रत्येक गुरु की वारों की पौड़ियों के साथ उसी गुरु के सलोक भी जोड़ दिए हैं। अपनी वारों में उन्होंने स्वरचित सलोकों का ही व्यवहार किया है। कौन सी वार किस गुरु की है, इसका बोध 'महला' ('महिला' से व्युत्पन्न; गुरुओं ने अपने को स्त्री और ईश्वर को पति रूप में स्वीकार किया है) शब्द और संख्याविशेष से हो जाता है (जैसे महला १ = गुरु नानकदेव, महला ३ = गुरु अमरदास आदि)। इन वारों में से नौ वारों की धारणा (तर्ज) भी दे दी गई है।

कतिपय विद्वानों के अनुसार छठे गुरु हरगोविंद साहिब के ढाढियों मीर अब्दुल्ला और मीर नत्था ने ७२ वारों की रचना की थी। इनमें से केवल नौ की तर्जों को षष्ठ गुरु ने प्रतीक रूप में गुरवाणी की वारों के प्रारंभ में उद्धृत कर दिया। किंतु यह मत सर्वमान्य नहीं है। अधिकांश विद्वानों का विचार है कि गुरु हरगोविंद जी की प्रार्थना पर उनके पिता पंचम गुरु श्री अर्जनदेव ने प्राचीन भाटों की धारणा के अनुसार (धुनि गावणी = तर्ज या धारणा के अनुसार गाना) चुनी हुई वारों की तर्ज भी प्रस्तुत कर दी।

गुरवाणी की इन २१ वारों का विषय आध्यात्मिक है। यथास्थान समाजगत न्यूनताओं का चित्रण, जीवनोपयोगी अनेक तथ्यों का निर्धारण एवं गुरुओं के जीवनदर्शन का प्रदर्शन हुआ है। इनका नायक अकालपुरुष (ईश्वर) है। नायक की प्राप्ति में सहायक विट पात्र 'सत्गुरु' है। ईश्वर से बिछुड़ी आत्मा सत्गुरु (सच्चे गुरु) के उपदेश एवं दया से प्राप्त हरिनामस्मरण से, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार नामक पाँच शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर परमात्मा से मिलती है। इनकी भाषा केंद्रीय पंजाबी है। रागों में आबद्ध होने के कारण गाकर इनका पाठ होता है।

आध्यात्मिक वारों में भाई गुरदास की वारों का स्थान महत्वपूर्ण है। भाई साहब की ४० वारें उपलब्ध हैं, जिनमें प्रत्येक को 'ज्ञान रत्नावली' कहा गया है और यथाक्रम उनकी संख्या दी गई है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में संकलित वारसाहित्य से ये पृथक् हैं। इनकी भाषा भी केंद्रीय पंजाबी है, जिसमें यत्र तत्र ब्रज का पुट भी है। दृष्टांत और अन्योक्ति के व्यवहार में गुरदास जी सिद्धहस्त हैं। इनकी वारों में बुद्धिवाद और भाव का सुंदर द्वंद्व है, जिसमें अंततः बुद्धिवाद की विजय होती है। वर्ण्य विषय और नायकादि गुरवाणी के सदृश हैं। विद्वानों ने गुरदास जी की वाणी को 'गुरवाणी की कुंजी' कहा है, जिसमें किंचित् भी अत्युक्ति नहीं है।

"वार श्री भगउती जी की पातशाही १०", जो एक अन्य गुरदास की रचना है, का प्रणयन सन् १७२३-२८ ई० के लगभग हुआ है। इसमें भी सिक्ख गुरुओं का विशेषत: दशम गुरु श्री गोविंदसिंह जी का, गुणगान हुआ है।

वीर रस की वारें — 'गुरु ग्रंथ साहिब' की वारों को गाने के लिये जो नौ वारें तर्ज के रूप में प्रस्तुत की गई हैं, वे वीर-रस-संपृक्त हैं। इनमें से छह तो गुरु नानकदेव (संवत् १५२६-१५९६) के समय से पूर्व की हैं। शेष तीन में से 'मलक मुरीद तथा चंद्रहड़ा सोहीआं' की वार में अकबर के दो सरदारों का, 'राणी कैलास तथा मालदेव' की वार में जहाँगीर के समकालीन दो राजपूत भाइयों का तथा 'जोधै वीरै पूरबाणी' की वार में लक्खी जंगल के मुगलकालीन दो वीरों का युद्ध एवं यशोगान वर्णित है। ये वारें अधूरी ही मिलती हैं।

गुरु गोविंदसिंह जी प्रणीत 'चंडी दी वार' (दुर्गासप्तशती पर आधृत) के उपरांत बहुत सी वीररसात्मक वारें रची गईं। उनमें से जशोधानंदनकृत 'लवकुश दी वार', पीरमुहम्मद रचित 'चट्ठियाँ दी वार' (परगना रसूलनगर के चट्ठे मुस्लिम जाटों तथा शुक्रचक्किए मिसल के सरदारों का युद्ध) तथा नजाबत निर्मित 'नादरशाह दी वार' (नादिरशाह दुर्रानी और मुगल नरेश मुहम्मद शाह का युद्ध) तथा भाई जवाहर सिंह लिखित 'वार सिरी राम जी की (सूर्यवंशी रामचंद्र और राक्षसों के युद्ध)' मुगलों के ह्रासकाल में रची गईं।

अंग्रेजों के शासनकाल में रामसिंह ने 'आनंदपुर दी वार' (सोढी सुरजनसिंह आनंदपुरवाले तथा बिलासपुर के राजा महाचंद कहिलूरिया का युद्ध), हरिंदर सिंह रूप ने 'बंदे दी वार' (बंदा बैरागी का मुगलों से युद्ध), प्रो० मोहनसिंह ने 'वार राणी साहिब कौर' (महाराजा पटियाला की वीरांगना बहन का मराठों से युद्ध), हजारासिंह ने 'राणापरताप दी वार (राजस्थानकेसरी महाराणाप्रताप तथा अकबर का युद्ध), हरसासिंह ने 'वार महाराजा पोरस' की रचना की।

वार साहित्य की यहीं पर इतिश्री नहीं हो जाती। कुछेक प्राचीन वारें तो भूत के गर्भ में ही विलीन हो चुकी हैं। कुछेक अधूरी मिल रही हैं, कई ऐसी भी हैं जो अज्ञातनामा हैं।

छंदयोजना — पंजाबी के युद्धविषयक काव्य के लिये 'वार' के अतिरिक्त 'जंगनामा' और 'भेड़ा' शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। किंतु अधिकांश विद्वानों का यही मत है कि 'वार' केवल 'पौड़ी' छंद में ही रची जा सकती है। 'पौड़ी' शब्द संस्कृत के 'नि:श्रेणी' (निसेनी) का ही पर्याय है। कवि रामदास जी ने इसके लिये 'सीढ़ी' शब्द का प्रयोग भी किया है। इसके प्रत्येक चरण में २३ मात्राएँ रहती हैं, जिसमें १३ और १० पर यति होती है और अंत में गुरु+गुरु। प्रत्येक वृत्त में चरणों की संख्या में विभिन्नता दृष्टिगत होती है, कम से कम चार चरण तो प्राय: मिलते हैं। अधिकतर वारों में अंत्यानुप्रास मिलता है, किंतु 'रामकली की वार' (गुरु ग्रंथ साहिब में संकलित) में अंतिम चरण का अंतिम शब्द बदल जाने से अंत्यानुप्रास नहीं रह पाया है। 'आसा की वार' में गुरु नानकदेव जी ने एक और नवीन प्रयोग किया है। उसमें अंत्यानुप्रास तो उपलब्ध है, परंतु पौड़ी के अंतिम चरण को थोड़ा छोटा कर दिया गया है। भाई गुरदास ने भी इसी प्रवृत्ति को कई वारों में अपनाया है। वस्तुत: 'पौड़ी' के विविध रूप तथा सिरखंडी ही 'वार' में बहुप्रयुक्त छंद हैं। जिन कवियों ने वीररस की कविता में 'पौड़ी' के अतिरिक्त सोरठा, दोहा, कवित्त प्रभृति छंद भी व्यवहृत किए हैं, उन्होंने 'गुरु ग्रंथ साहिब' की वारों के साथ 'सलोक' जुड़े देखकर, गुरु अर्जनदेव के मंतव्य को न समझकर, स्वयं अपने ही भ्रमवश अन्य छंदों का प्रयोग कर दिया है। किंतु कई एक ने पौड़ी को भी अवश्य ही अपनाया है, जैसे अणीरायकृत 'जंगनामा श्री गुरु गोविंद सिंह जी का' में। प्रत्युत कवि केशवदास विरचित 'वार राजा अमरसिंह' में अन्य छंदों के साथ जहाँ 'पौड़ी' का प्रयोग हुआ है, वहाँ साथ ही संकेत रूप में "वारछंद (पौड़ी)" का उल्लेख हुआ है।

सं० ग्रं० — कान्हसिंह : महान कोश : गुरु शब्द रत्नाकर (भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला; द्वितीय संस्करण, १९६०); गंडासिंह : पंजाब दीआँ वाराँ; शमशेर सिंह अशोक : प्राचीन जंगनामे (श्रोमणी गुरद्वारा प्रबंधक कमेटी, अमृतसर, प्रथम संस्करण सन् १९५०); साहिब सिंह : दस वाराँ (लाहौर बुक शॉप, लुधियाना, प्रथम संस्करण); सुरिंदर सिंह कोहली : पंजाबी साहित्त दा इतिहास (लाहौर बुक शॉप, लुधियाना); वाराँ भाई गुरदास जी (श्रोमणी गुरद्वारा प्रबंधक कमेटी, अमृतसर); पंजाबी दुनीआ : बीर साहित्त अंक; अप्रैल-मई, १९६३ (पंजाबी विभाग, पंजाब, पटियाला)।

[न० क०]

वारता नदी यह यूरोप की मुख्य नदियों में से एक है, जो पोलैंड और जर्मनी में होती हुई बहती है। इसका उद्गम कारपेथिएन पहाड़ से हुआ है। यह ओडर नदी की मुख्य सहायक नदियों में से एक है। जर्मनी में इस नदी को वारते तथा पोलैंड में इसे वारता कहते हैं। इसकी कुल लंबाई ५०० मील है। इस नदी में २५० मील तक नावें चलाई जा सकती हैं। ओडर नदी में इसका अंत हो जाता है।

[दी० ना० बा०]

वारसा १. प्रांत, पोलैंड का एक प्रांत है। इसका क्षेत्रफल १३, ३१३ वर्ग मील तथा जनसंख्या २५,३१,००० (१९३९) है। धरातल मैदानी है तथा यहाँ विस्चला (Vistula) नदी बहती है। यहाँ की मिट्टी कम उपजाऊ है। राई, ओट, जौ, गेहूँ एवं आलू मुख्य उपज हैं। उत्तर में जंगल तथा दलदल अधिक हैं। चीनी एवं दियासलाई बनाना, चमड़ा कमाना, आटा पीसना तथा वस्त्र उद्योग यहाँ हैं। वॉरसॉ, प्लोक, गॉस्टीनिन, प्लोंस्क आदि मुख्य नगर हैं।

२. नगर, स्थिति ५२° १५' उ० अ० तथा २१° पू० दे०। यह पोलैंड की राजधानी है। यहाँ की जनसंख्या १२,८९,००० (१९३९) है। नगर विस्चुला नदी के बाएँ किनारे पर बर्लिन के ३८७ मील पूर्व में है। वॉरसॉ का संबंध छह बड़े मार्गों के द्वारा वियना, कीएव, लेनिनग्रैड, मॉस्को, दक्षिणी-पश्चिमी रूस, डानज़िग एवं बर्लिन से है। इस्पात, चाँदी की चद्दर, जूते, मोजे, बनयाइन, दस्ताने, तंबाकू, चीनी एवं मकानों के सजानेवाले सामान के उद्योग यहाँ हैं, क्योंकि यहाँ पर कुशल कारीगर पाए जाते हैं। यहाँ मोटे अनाज, चमड़ा एवं कोयले का व्यापार होता है। नगर में कई भव्य भवन

हैं, जिनमें कुछ राजमहल, कुछ गिरजाघर हैं तथा कुछ म्युनिसिपल-बोर्ड द्वारा एवं व्यक्तिगत रूप से बनवाई हुई इमारतें हैं। सुंदर उद्यान भी हैं। कला, साहित्य, कृषि एवं वन से संबंधित संस्थाएँ यहाँ हैं।

३. वॉरसॉ नाम के नगर इलीनॉय, इंडियाना, केंटुकी, मिजुरी न्यूयॉर्क, उत्तरी कैरोलिना एवं वर्जिनिया में भी हैं। [सु० कं० म०]

वाराणसी १. जिला, स्थिति : २४° ४०′ से २५° ३५′ उ० अ० तथा ८२° १४′ से ८३° ३५′ पू० दे०। यह उत्तर प्रदेश राज्य का एक जिला है। इसका क्षेत्रफल १,९६५ वर्ग मील और जनसंख्या २३,६२,१७६ (१९६१) है। इस जिले के उत्तर में जौनपुर एवं गाजीपुर, दक्षिण में मीरजापुर, पश्चिम में इलाहाबाद, पूर्व में शाहाबाद (बिहार) जिले हैं। यहाँ की भूमि की ढाल दक्षिण-पश्चिम से उत्तर पूर्व की ओर है। गंगा नदी जिले को दो भागों में विभक्त करती हुई बहती है। जिले में गंगा के अतिरिक्त वरुणा, गोमती, कर्मनाशा, चंद्रप्रभा, गरई तथा कई बरसाती नदियाँ भी हैं। यहाँ की भूमि काफी उपजाऊ है। यहाँ की मुख्य उपज गेहूँ, धान, चना, सावाँ, कोदो, मक्का, अरहर तथा मटर है। यहाँ जनवरी का औसत ताप ६५° से ७५° फा० तथा मई में ८५° से ९५° फा० रहता है। इस जिले के प्रमुख नगर वाराणसी, रामनगर तथा भदोही हैं। जिले के दर्शनीय स्थल वाराणसी में सारनाथ, हिंदू विश्वविद्यालय, गंगा के घाट, मंदिर आदि, रामनगर में राजा का किला, तथा चकिया तहसील में चंद्रप्रभा जंतुविहार हैं।

२. नगर, स्थिति : २५° १५′ से २५° २३′ उ० अ० तथा ८२° ५९′ से ८३° ५′ पू० दे०। काशी, बनारस या वाराणसी नगर गंगा नदी के बाईं ओर बसा हुआ है। इसका क्षेत्रफल २८·५३ वर्ग मील और जनसंख्या ४,८९,८६४ (१९६१) है। प्राचीन काल में काशी के राजपथ पश्चिम से पूरब गंगा की ओर जाते थे और अब उत्तर से दक्षिण की ओर जाते हैं। नगर में पाँच मुख्य सड़कें हैं। पहली कैंट स्टेशन से काशी हिंदू विश्वविद्यालय तक जाती है। इस मार्ग पर काशी विद्यापीठ है, जिसकी स्थापना १० फरवरी, १९२१ ई० को महात्मा गांधी, डा० भगवानदास और बाबू शिवप्रसाद गुप्त के सहयोग से हुई थी। भारत के अनेक नेता इसी संस्थान के छात्र रह चुके हैं। इसके पीछे मुसलमानों का ऐतिहासिक कब्रगाह, फातमान, है। काशी विद्यापीठ के आगे भारतमाता मंदिर है। इसका शिलान्यास सं० १९८४ वि० में डा० भगवानदास जी के द्वारा हुआ है। यह बाबू शिवप्रसाद गुप्त जी की अविस्मरणीय देन है। मंदिर का भूचित्र संगमरमर और भवन सादे पत्थरों से बनवाया गया है। इसी मार्ग पर आगे नगरमहापालिका का आधुनिक ढंग से निर्मित विशाल भवन, सन् १८९८ ई० में डा० ऐनीबेसेंट द्वारा स्थापित सेंट्रल हिंदू स्कूल, महाराजकुमार विजयानगरम् का विशाल भवन और काशी का सबसे विशाल भवन, जीवन बीमा निगम, का है। आगे रानी भवानी द्वारा निर्मित दुर्गा जी का मंदिर, कुंड और श्री सुरेका द्वारा निर्मित बहुत ही भव्य मानस मंदिर है। पास ही में गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा स्थापित संकटमोचन का मंदिर है। नगर के अंत में महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी द्वारा स्थापित भारत में अपने ढंग का सबसे विशाल विश्वविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, है। इस विश्वविद्यालय में अनेक कालेज हैं तथा प्रत्येक कालेज में एक से अधिक विभाग हैं। वाराणसी का सबसे ऊँचे शिखरवाला विश्वनाथ मंदिर भी विश्वविद्यालय में ही है।

विश्वविद्यालय से मैदागिन जानेवाली सड़क नगर की दूसरी प्रमुख सड़क है। इसकी बाईं ओर तुलसीघाट पर तुलसी मंदिर है। इस मंदिर में गोस्वामी तुलसीदास की पादुका और कंठी है। यहीं अमरीकी ऐकेडेमी नामक एक संस्था है, जहाँ कला संबंधी पुस्तकों और चित्रों का अद्वितीय संग्रहालय है। यहाँ संसार के श्रेष्ठ कला आलोचक बराबर आते रहते हैं। आगे शिवाला घाट है, जहाँ सन् १७८१ में ईस्ट इंडिया कंपनी के सैनिकों के साथ चेतसिंह और वाराणसी के नागरिकों का घमासान युद्ध हुआ था। पास ही वाराणसी की दूसरी श्मशानभूमि हरिश्चंद्र घाट है। इस घाट के आगे संसारप्रसिद्ध बनारसी साड़ियों के कारीगरों का मुहल्ला, मदनपुरा, है। गोदौलिया से, जो नगर का प्रमुख चौराहा है, एक सड़क पश्चिम की ओर डीजल लोकोमोटिव वर्क्स की ओर चली गई है। गोदौलिया से आगे ज्ञानवापी पर काशी का सबसे प्राचीन पुस्तकालय, कारमाइकेल लाइब्रेरी, है, जिसकी स्थापना १८७२ ई० में हुई थी। पास ही में औरंगजेब द्वारा नष्ट किए गए विश्वनाथ मंदिर पर निर्मित ज्ञानवापी मसजिद, विश्वनाथ मंदिर, मानसिंह द्वारा निर्मित आदिविश्वेश्वर मंदिर इत्यादि हैं। यहीं चौक है। काशी का यही प्रमुख बाजार है।

नगर की तीसरी सड़क गोदौलिया से कचहरी तक चली गई है। इस सड़क पर काशी का सबसे प्राचीन कॉलेज, क्वींस कॉलेज, है। १७९१ ई० में सर्वप्रथम इसकी स्थापना संस्कृत पाठशाला के रूप में की गई थी। बाद में, १८५३ ई० में इसे क्वींस कालेज का रूप दे दिया गया। अब इस भवन में संस्कृत विश्वविद्यालय स्थापित है। क्वींस कालेज लहुराबीर पर स्थानांतरित कर दिया गया है। संस्कृत विश्वविद्यालय के अंतर्गत सरस्वती भवन नामक पुस्तकालय है, जहाँ हस्तलिखित और मुद्रित संस्कृत पुस्तकों का भारत में सबसे बड़ा संग्रहालय है। संस्कृत विश्वविद्यालय से आगे महाराजा बनारस की नंदेश्वर कोठी है। नगर की अंतिम और पाँचवीं सड़क कैंट स्टेशन से राजघाट तक गई है। इस मार्ग पर कबीर पंथियों का कबीर मठ, नागरी नाटक मंडली का भवन, १८९० ई० में स्थापित ईश्वरी मेमोरियल अस्पताल, सन् १८७७ में स्थापित किंग एडवर्ड अस्पताल (जिसका वर्तमान नाम प्रसिद्ध दानवीर, बाबू शिवप्रसाद गुप्त, के नाम पर शिवप्रसाद गुप्त अस्पताल हो गया है), राधास्वामी बाग (यह वह बाग है जहाँ वारेन हेस्टिंग्ज आकर ठहरा था), भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाम पर १८७५ ई० में स्थापित वर्तमान हरिश्चंद्र कालेज, तथा हिंदी की सबसे बड़ी संस्था नागरीप्रचारिणी सभा (देखें नागरीप्रचारिणी सभा) है :

काशी मुख्यतः मंदिरों और गलियों की नगरी है। गलियों में बसी बस्ती ही प्राचीन काशी है, जिसे 'पक्का महाल' कहा जाता है। बाहरी बस्तियाँ विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं तथा व्यक्तियों के स्मारक के रूप में बसाई गई हैं। जैसे दाराशिकोह के नाम पर

वाराणसी (देखें पृष्ठ ४३२)

धमेख स्तूप, सारनाथ
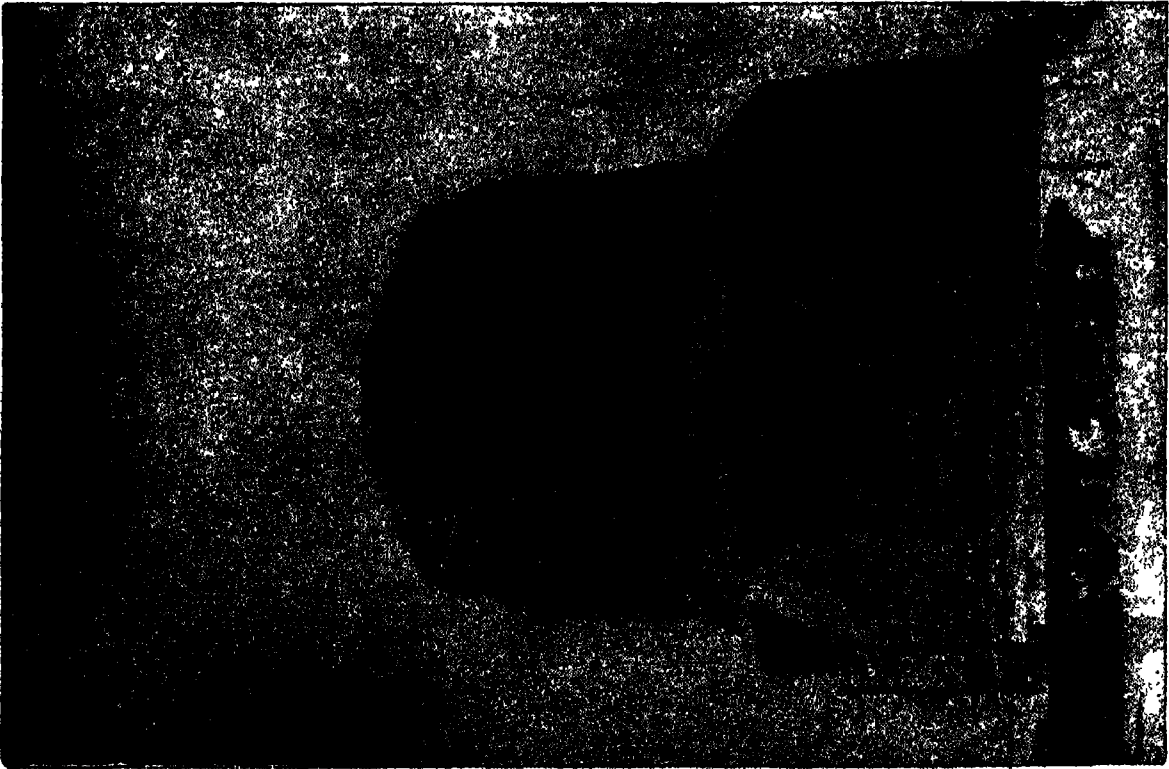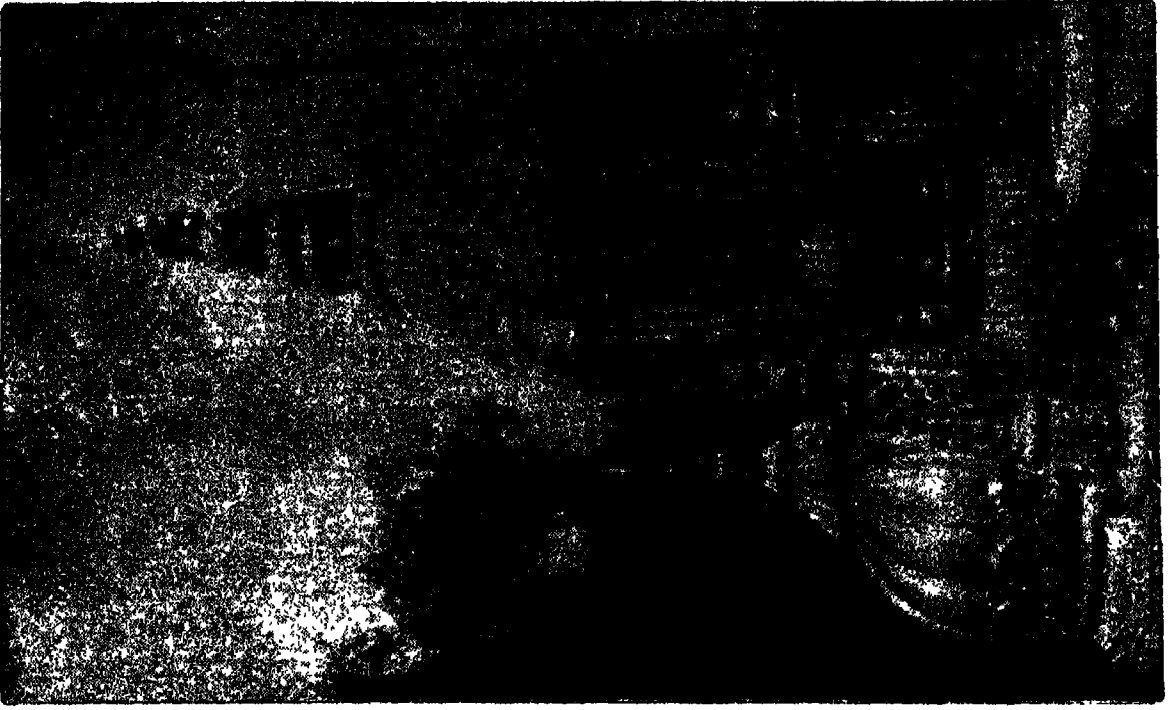
विश्वनाथ मंदिर

वाराणसी (देखें पृष्ठ ४१२)
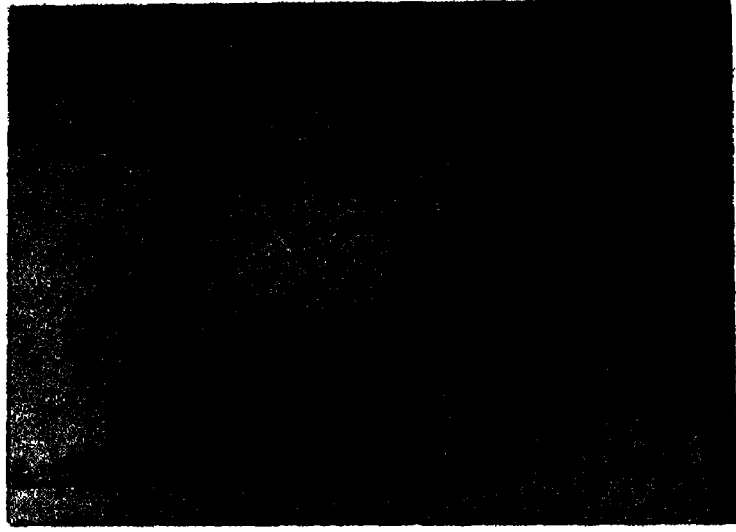
मूलगंधकुटी विहार, सारनाथ
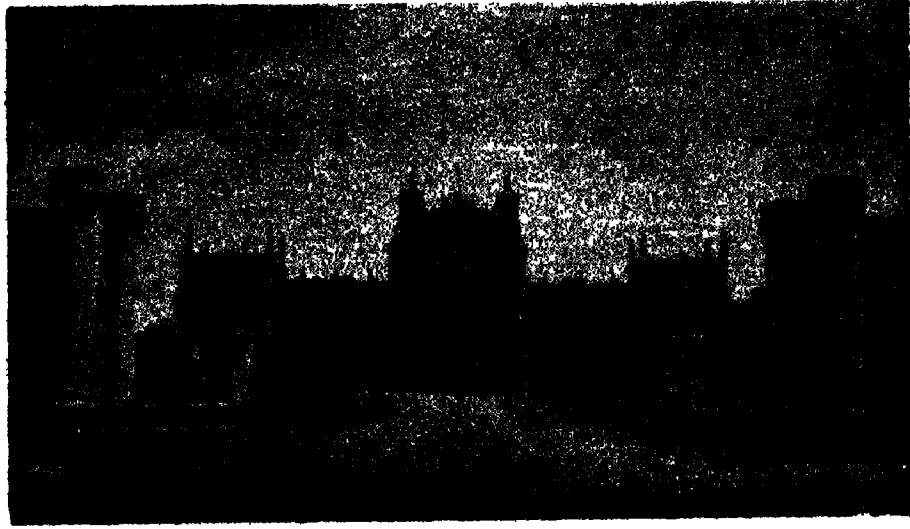
संस्कृत विश्वविद्यालय
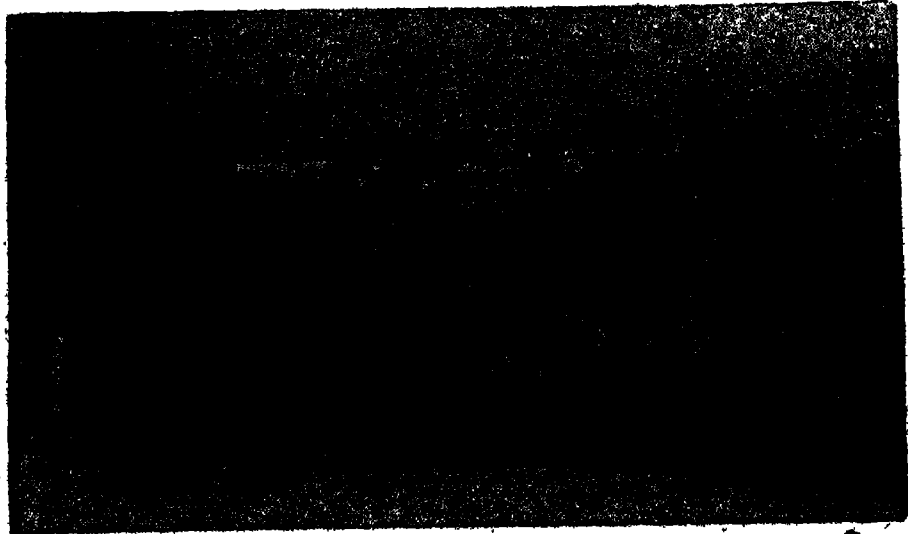
दारानगर, नवाब सआदत अली के ठहरने के स्थान पर नवाबगंज, बसे। जहाँ नवाब के खोजे और घसियारे ठहरे थे, वे स्थान खोजवां और घसियारी टोला कहलाए। इसी प्रकार मानमंदिर, मानसरोवर, औरंगाबाद, मीरघाट और अलईपुर क्षेत्र की अनेक गलियाँ व्यक्तिविशेष के स्मारक हैं। काशी के मुख्य देवता बाबा विश्वनाथ हैं, पर इनका विश्वनाथ नाम तुगलककाल के बाद हुआ है। इसके पूर्व नाम 'अविमुक्तेश्वर' और 'देवदेव स्वामी' रहा। खुदाई से प्राप्त सामग्री तथा अन्य विवरणों से इस बात की पुष्टि होती है। स्वयं ह्वेनसांग ने काशीवासियों को 'महेश्वर के पूजनेवाले' लिखा है। आज भी काशी के अनेक मुहल्लों और मंदिरों के नाम मध्यमेश्वर, विश्वेश्वर, शूलटंकेश्वर, पातालेश्वर, मोक्षेश्वर, रामेश्वर जैसे हैं। वाराणसी में मुख्य मंदिर राजघाट के समीप था, जिसे गोरी ने सर्वप्रथम तोड़ा था। इसके बाद हरतीरथ के पास दूसरा मंदिर बनाया गया था। तीसरा विश्वनाथ मंदिर १६वीं शताब्दी के अंतिम चरण में नारायण भट्ट ने राजा टोडरमल की सहायता से बनवाया, जिसे १६६६ ई० में औरंगजेब ने ध्वस्त कर दिया। इसके ११६ वर्ष बाद वर्तमान विश्वनाथ मंदिर रानी अहिल्याबाई ने बनवाया। आजकल काशी में तीन विश्वनाथ मंदिर हैं, लेकिन काशी में स्थित सभी मंदिर ३००–३५० वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं हैं। काशी का सबसे प्राचीन मंदिर कर्दमेश्वर मंदिर है, जो शहर से काफी दूर होने के कारण ध्वस्त नहीं हुआ। इसका निर्माण ११वीं शताब्दी में कर्णचेदी ने करवाया था।

दर्शनीय स्थल — धार्मिक क्षेत्र होने के कारण काशी प्रत्येक धर्मावलंबी के लिये तीर्थस्थल है ही, इसके अलावा विदेशी यात्रियों के लिये सारनाथ और काशी के घाट विशेष रूप से दर्शनीय हैं। सारनाथ वाराणसी के उत्तर में ६ मील दूर स्थित है। यहीं बुद्ध ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। इस स्थान को इसीपत्तन, मृगदाव, सारंगनाथ और सारनाथ कहा गया है। ई० पू० तीसरी शताब्दी में अशोक ने यहाँ धमेख स्तूप, धर्मराजिका बनवाया था। गोरी के आक्रमण के बाद से सारनाथ की अवनति होती गई। जगतसिंह नामक व्यक्ति ने वहाँ से अनेक सामग्री लाकर नगर में एक मुहल्ला बसा डाला, बाद में जब ब्रिटिश सरकार का ध्यान इस ओर गया तब इसकी सुरक्षा की व्यवस्था की गई। स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् प्रांतीय सरकार ने सारनाथ की ओर विशेष ध्यान दिया। नए राजमार्गों के अलावा, हिरणों के विचरण के लिये बाग, नहर और फूलों के बाग लगाए गए हैं। इस स्थान की उन्नति के लिये लंकानिवासी अनागरिक धर्मपाल की देन अविस्मरणीय है। यहाँ सरकार द्वारा स्थापित अजायबघर, चीनी बौद्ध मंदिर, अतिथिशाला और वाराणसी का रेडियो स्टेशन है।

काशी के घाट सबसे महत्वपूर्ण दर्शनीय स्थल हैं। गंगा यहाँ आकर इस प्रकार उत्तरवाहिनी हुई हैं कि काशी के घाटों को धनुषाकार रूप ग्रहण करना पड़ा है। काशी की सुरक्षा तथा इस तरह धनुषाकार रूप में घाटों को बसाने का एकमात्र श्रेय काशीनरेश बलवंत सिंह को दिया जा सकता है, जिन्होंने भारत के विभिन्न देशी राजाओं को गंगातट पर घाट बनवाने के लिये आमंत्रित किया था। काशी के अधिकांश घाट भारत के देशी राजाओं की देन हैं। इन घाटों के कारण ही प्राचीन काशी सुरक्षित है। घाटों के अलावा रामनगर का किला, भारतमाता मंदिर, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, मानमंदिर घाट पर स्थित वेधशाला, ललिता घाट पर स्थित नेपाली मंदिर आदि दर्शनीय स्थल हैं।

धर्म और साहित्य — प्राचीन काल से ही काशी आर्य धर्म और संस्कृत का केंद्र रही है। वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म के अलावा हिंदू धर्म की अन्य शाखाओं के मठ और पीठस्थान यहाँ हैं। शंकराचार्य द्वारा सनातन धर्म का उद्धार करने के पश्चात् काशी संन्यासियों का गढ़ बन गया। रामानुज, निंबार्क, चैतन्य, गौड़, माधवाचार्य, बल्लभाचार्य, नानकपंथी, गोरखपंथी, अघोरपंथी, लिंगायत, राधास्वामी, तोताद्रि मठवालों के अखाड़े और पीठ यहाँ हैं। नगर मे रामकृष्ण मिशन, भारतसेवा संघ आदि की शाखाएँ हैं तथा आनंदमयी माँ का आश्रम है।

काशी की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि काशी बिना प्रांतीयता का भेदभाव बरते, प्रत्येक व्यक्ति को संस्कृत भाषा के अध्ययन में सहयोग देती रही। फलस्वरूप संस्कृत के विकास में काशी की देन अक्षुण्ण है और यह संसारप्रसिद्ध विद्वानों का गढ़ बन गई। इन विद्वानो के कारण भारत की प्राचीन संस्कृति और धर्म सुरक्षित है। भाषाविज्ञान के आचार्यों के मत से हिंदी साहित्य का मूल स्थान काशी है। भक्ति साहित्य का सूत्रपात करनेवाले रामानंद के शिष्य कबीर एवं रैदास ने निर्गुण भक्ति साहित्य तथा गोस्वामी तुलसीदास ने सगुण भक्ति साहित्य का निर्माण यहीं किया था। आधुनिक हिंदी साहित्य के जन्मदाता भारतेंदु हरिश्चंद्र, छायावाद के महान् कवि जयशंकर प्रसाद, ब्रजभाषा के अंतिम कवि जगन्नाथदास 'रत्नाकर', महान् आलोचक रामचंद्र शुक्ल तथा अमर उपन्यासकार मुंशी प्रेमचंद काशी के ही रहे। काशी हास्यरस के लेखकों का भी गढ़ है। शीघ्र ही भारत में इसे अरबी साहित्य के विकास की केंद्रभूमि बनने का गौरव भी प्राप्त हो जायगा।

अब काशी में औद्योगिक विकास की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। यहाँ की बनारसी साड़ियाँ, लकड़ी के खिलौने, पीतल के बरतन तो प्रसिद्ध रहे ही हैं, अब काशी देश को प्रति वर्ष रेलवे इंजन देने लगा है। बनारस लँगड़े आम, अमरूद, नीबू और भंटों के लिये भी प्रसिद्ध है।

इतिहास—देखें काशी।

सं० ग्रं० — प्रो० भोलानाथ सिंह तथा श्री फूलदेव सहाय वर्मा, संपादक : बनारस; डा० मोतीचंद : काशी का इतिहास; डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : प्राचीन काशी; विश्वनाथ मुखर्जी : बना रहे बनारस तथा अतीत और वर्तमान काशी : डा० संपूर्णानंद : चेतसिंह का विद्रोह। [वि० मु०]

वारियर, उण्णायि मलयालम कवि। १८ वीं शताब्दी में मध्य केरल के इरिञालक्कुडा नामक स्थान में पैदा हुए थे। कार्तिक तिरुनाल रामवर्मा महाराजा (१७५८–१७९८) के संरक्षण में

तिरुवनंतपुरम् में उन्होंने अनेक वर्ष व्यतीत किए। उण्णायि वारियर कथकलि साहित्य में सबसे महान् नाम है यद्यपि उन्होंने केवल एक आट्टककथा [कथकलि नाटक] जिसे नलचरितम् कहते हैं, लिखा है। नलचरितम् चार भागों में विभाजित है—चार दिन का अभिनय। इस ग्रंथ का मलयालम साहित्य में अद्वितीय स्थान है। नाटकीय भावुकता और काव्यात्मक आकर्षण में इसका कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं है। कथानक के निर्माण एवं चरित्रचित्रण दोनों में वारियर ने अपूर्व कलामर्मज्ञता प्रदर्शित की है। साधारण पात्रों का चित्रण भी, सूक्ष्म विवरणों के प्रति अद्भुत सतर्कता दिखलाते हुए, किया गया है। कवि ने भाषा का प्रयोग अत्यंत रूढ़िमुक्त ढंग से किया है। व्यंजनाओं की प्रचुरता और नलचरितम् की संगीतज्ञता ने इसे कथकलि और काव्यप्रेमियों का स्नेहभाजन बना दिया है।

[जी० बा० तं०]

वारिस शाह (सय्यद)

वारिस शाह (सय्यद) हीर राँझा की कथा पर काव्यरचना करनेवालों में सातवें कवि हैं। 'हीर' (सन् १७६७-६८) नामक आपकी कृति में पात्रों का चरित्रचित्रण नाटकीय ढंग से हुआ है। कथावस्तु उपन्यास के सदृश प्रस्तुत की गई है। वातावरण की अनुकूलता और महाकाव्यत्ववाला काव्यचमत्कार इसके विशेष गुण हैं। पंजाबी में हीर राँझा काव्य के आदि प्रेरक दामोदर से वारिस की रचना में पर्याप्त अंतर है। हीर के विवाह के समय उपस्थित होनेवाले दामोदर के पात्रों को वारिस ने अपनी काव्यकृति से बहिष्कृत कर दिया है। उसके स्थान पर उसने पंजाबी जीवन, सूफी सिद्धांतों एवं शरीअत के अनुकूल इस्लामी तथ्यों तथा वैवाहिक साजसज्जा, दहेज प्रभृति का उल्लेख किया है। हीर की माता का नाम 'मिहर कुंदी' के स्थान पर 'मलकी' तथा 'कैदो' को ताऊ की बजाय चाचा लिखा है। अनेकशः स्थलों पर संकोच एवं विस्तार में भी वारिस ने कविस्वातंत्र्य का उपयोग किया है। 'हीर' का प्रणयन लहँदीप्रधान पंजाबी में हुआ है। यत्र तत्र अरबी, फारसी, संस्कृत, व्रज आदि के प्रचलित शब्दों को पंजाबी उच्चारण के अनुरूप परिणत कर लिया गया है। सामूहिक रूप से भाषा इतनी सरल एवं स्वाभाविक है कि वारिस शाह के बहुत से कथन ग्रामीण जनता में लोकोक्तियों के रूप में व्यवहृत होते हैं। इस रचना में ६१२ बंद और ४१२७ बैत छंद हैं।

सय्यद साहिब का जन्मकाल १७२०-३५ ई० अनुमित हुआ है। इनकी मृत्यु सन् १७९८-९९ में हुई। जन्म और निधनस्थान जंडियाला शेर खाँ, जिला शेखूपुरा (पश्चिमी पाकिस्तान) है। इन्होंने कसूर, पाकपटन में शिक्षा प्राप्त की। सय्यद जलालुद्दीन बुखारी मखदूम जहानियाँ इनके गुरु थे।

सं० ग्रं०—डॉ० जीतसिंह सीतल : हीर वारिस (नवयुग पब्लिशर्स-चाँदनी चौक, दिल्ली, प्रथम संस्करण); पंजाबी दुनीआ (वारिस-अंक) जनवरी-फरवरी, १९६४ (पंजाब भाषा विभाग, पटियाला); आलोचना : हीर साहित्त गोष्ठी अंक (१) मार्च १९५९ ; सरदार-लालसिंह : हीर दी कहानी, [पंजाबी साहित्य अकादमी, लुधियाना]।

[न० क०]

वार्निश

वार्निश के लेप चढ़ाने का उद्देश्य होता है किसी तल को चिकना, चमकीला और आकर्षक बनाना। यदि तल लकड़ी का है, तो तल की कीटों से रक्षा भी वार्निश से हो सकती है। यदि तल धातुओं का है, तो उसपर वायु, जल, प्रकाश आदि, से रक्षा कर मुरचा लगने से उसे बचाया जा सकता है।

वार्निश दो किस्म के होते हैं, एक स्पिरिट वार्निश और दूसरा तेल रेज़िन वार्निश। स्पिरिट वार्निश में कोई रेज़िन किस्म का पदार्थ किसी वाष्पशील विलायक में घुला रहता है। विलायक के उड़ जाने से रेज़िन का एक पतला लेप तल पर चढ़ जाता है। कुछ संश्लिष्ट रेज़िन से बने स्पिरिट वार्निश को पकाने की आवश्यकता पड़ सकती है, पर सामान्य स्पिरिट वार्निश बिना पकाए ही बनते हैं। सरलतम स्पिरिट वार्निश चपड़े को एथिल एल्कोहल या स्पिरिट में घुलाने से प्राप्त होता है। तेल रेज़िन वार्निश में रेज़िन और शुष्कन तेल के साथ वाष्पशील विलायक मिला रहता है। वार्निश का विलायक उड़कर निकल जाता है और अवशिष्ट अंश का आक्सीकरण और बहुलकीकरण होकर तल पर एक ठोस लेप चढ़ा रह जाता है।

वार्निश के कच्चे माल, शुष्कन तेल, अर्ध-शुष्कन तेल, रेज़िन, विलायक और शोषक (drier) हैं। वार्निश को पतला बनाने के लिये कुछ तरलक (thinner) भी डाले जाते हैं।

शुष्कन तेल — प्रयुक्त होनेवाले शुष्कन तेल, अलसी तेल, तुंग तेल, पेरिला (perilla) तेल, निर्जलीकृत रेंडी तेल, मेनहाडेन तेल, सारडाइन तेल और सोयाबीन के तेल हैं। भारत में प्रधानतया अलसी और तुंग तेल व्यवहार में आते हैं।

रेज़िन—पहले केवल प्राकृतिक रेज़िन ही वार्निश में व्यवहृत होते थे। अब संश्लिष्ट रेज़िनों का व्यवहार अधिकता से हो रहा है। कुछ विशिष्ट किस्म के वार्निशों में सिलिकोन रेज़िन बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। प्राकृतिक रेज़िनों में कौरी, कौंगो, पोराटिएनक, ईस्ट इंडिया, बाटु, मैनिला और डामर अधिक महत्व के हैं (देखें रेज़िन) पहले के दो रेज़िन केवल तेल रेज़िन वार्निश में और अंतिम दो रेज़िन केवल स्पिरिट वार्निश में प्रयुक्त होते हैं। शेष तेल रेज़िन और स्पिरिट दोनों वार्निशों में प्रयुक्त होते हैं। लाख या चपड़ा प्रधानतया स्पिरिट वार्निश में काम आता है। इनके अतिरिक्त रोज़िन और संश्लिष्ट रेज़िन (फीनोल-फार्मैल्डीहाइड रेज़िन, ऐल्कीड रेज़िन, मिलेमिन रेज़िन, यूरिया-फार्मैल्डीहाइड रेज़िन, विनील रेज़िन, क्लोरीनीकृत रबर और सेलुलोस एस्टर इत्यादि) भी व्यापक रूप से प्रयुक्त हो रहे हैं।

विलायक और तरलक — वार्निश विलायकों में स्पिरिट (एथिल ऐल्कोहॉल), तारपीन तेल, पेट्रोलियम, स्पिरिट, नैफ्था और अनेक एस्टर, जैसे ब्यूटिल ऐसीटेट, एमाइल ऐसीटेट, सेलो-साल्व, ब्यूटिल ऐल्कोहॉल तथा ऐसीटोन उल्लेखनीय विलायक और तरलक हैं। इनमें एथिल ऐल्कोहॉल सबसे अधिक व्यापक है। चपड़े के वार्निश में यही प्रयुक्त होता है। कुछ अन्य विलायक भी अल्प मात्रा में प्रयुक्त होते हैं।

शोषक — शोषक केवल तेल रेज़िन में ही प्रयुक्त होते हैं। स्पिरिट वार्निश में इनकी आवश्यकता नहीं पड़ती। ये शोषक

खनिज लवण, सीसा, मैंगनीज और कोबल्ट के ऑक्साइड, ऐसीटेट कार्बोनेट और बोरेट होते हैं, जो पकाने पर तेल में विलीन हो जाते हैं। उपर्युक्त धातुओं के लिनोलियेट, रेज़िनेट और नैफ्थिनेट भी प्रयुक्त होते हैं।

वार्निश निर्माण—स्पिरिट वार्निश बनाने में रेज़िन को विलायक के साथ प्रक्षुब्ध कर घुलाते हैं। यदि आवश्यक हो, तो उसे गरम भी करते हैं। पर अधिकांश विलायक ज्वलनशील होते हैं। आग न पकड़ ले इसके लिये बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। यह वार्निश कागज, लकड़ी और धातु के तलों के लिये अच्छी होती है।

तैल रेज़िन वार्निश बनाने में तेल और रेज़िन को केटली में पकाकर स्थायी रूप से मिश्रण बनाते हैं। केटली विभिन्न आकार और विभिन्न विस्तार के होते हैं। ये तीन से चार फुट गहरे और इतने ही व्यास के ताँबे, एल्यूमिनियम, अविकारी इस्पात या मोनेल धातु के बने होते हैं। इनकी धारिता २०० गैलन की होती है। इनमें तापमापी रखने और प्रक्षुब्ध करने के लिये विलोडक की व्यवस्था भी होती है। केटली को कोयला तेल या गैस या बिजली से गरम करते हैं। पकाने के बाद उसे ठंढा कर बड़ी सावधानी से धीरे धीरे तरलक डालकर, भली भाँति मिलाते हैं। पकाने के समय ही शोषक डालते हैं। ऐसे एकरूप वार्निश को टंकी में संग्रहीत करते हैं।

वार्निश की किस्म — वार्निश में उपस्थित रेज़िन और तेल के अनुपात पर वार्निश की किस्म निर्भर करती है। यदि १० गैलन तेल में १०० पाउंड रेज़िन हो, तो उसे '१० गैलन' वार्निश कहते हैं। यदि १५ गैलन तेल में १०० पाउंड रेज़िन हो तो उसे '१५ गैलन' वार्निश कहते हैं। १२ गैलन वार्निश से कम वार्निश को 'कम तेल वार्निश' और इससे अधिक गैलन वार्निश को 'अधिक तेल वार्निश' कहते हैं। जहाजों के विभिन्न भागों पर जो वार्निश प्रयुक्त होता है उसे 'स्पार' वार्निश, फर्नीचर पर लेप होनेवाले वार्निश को 'फर्नीचर वार्निश' और जो वार्निश पकाकर कठोर बनाया जाता है, उसे 'बेकिंग वार्निश' और जो वार्निश पात्र के भीतरी तल के वार्निश में प्रयुक्त होता है, उसे 'अंतरंग (interior) वार्निश' कहते है। बेकिंग वार्निश में शोषक का प्रयोग नहीं होता, अथवा बड़ी अल्प मात्रा में होता है। पकाने का ताप १५०° फा० से ३००° फा० रहता है।

[स० व०]

वार्ले जान (Varley John) अंग्रेज चित्रकार जिसे जलीय चित्रण (Water painting) में दक्षता प्राप्त थी। इसका जन्म लंदन के हैकनी नामक स्थान में १७ अगस्त, १७७८ को हुआ। बाल्यावस्था से ही इसकी अभिरुचि कला के प्रति थी लेकिन इसे अपने पिता से प्रोत्साहन कभी नहीं मिला, उलटे वे उसे हतोत्साह ही करते रहे। परिणामस्वरूप पिता ने इसे एक चाँदी का काम करनेवाले कलाकार के यहाँ रख दिया लेकिन इस व्यवसाय में रुचि न होने के कारण वह वहाँ सफल नहीं हो सका। पिता की मृत्यु के पश्चात् इसने क्षेत्र-परिवर्तन किया और एक स्थापत्य कला के विशेषज्ञ के साथ कार्य करना प्रारंभ कर दिया। वार्ले ने अनेक नगरों का भ्रमण किया और उनके भवनों का खाका भी तैयार किया। इसकी विशेष अभिरुचि चित्रकला के प्रति थी। अतः अवकाश के क्षणों में प्राकृतिक दृश्यों के रेखाचित्र बनाए। डॉ० मुनरो के घर पर प्रत्येक सायंकाल का उपयोग लोहे के खराद के काम में करता था। १७९८ में इसकी पहली रचना 'पीटर ब्रोवर्थ का दृश्य' का प्रदर्शन रायल अकादमी में हुआ। १८०४ में वह जलरंग चित्रकारों की रायल सोसाइटी का सदस्य बना तथा चालीस से अधिक चित्रों को इसकी प्रदर्शनी के निमित्त प्रदान किया। लंदन नगर में १७ नवंबर, १८४२ को इसकी इहलीला समाप्त हो गई।

[गु० चि०]

वार्षिक भृति (Annuities) किसी दरिद्र या योग्य व्यक्ति की सहायता के लिये दी जानेवाली वृत्ति (stipend), अथवा किसी व्यक्ति के भरण पोषण के लिये दिए जानेवाले भत्ते, को भृति कहते हैं। इस प्रकार की सहायता के रूप में दिया गया धन अनेक किस्तों में, किसी निश्चित समय के अंतर पर, जैसे मासिक, त्रैमासिक या वार्षिक, दिया जाता है। अधिक व्यापक रूप में हम अनुदानों की किसी भी शृंखला (series of payments) को भृति कह सकते हैं। छात्रवृत्ति तथा पेंशन से सभी परिचित हैं। भारत सरकार के १५ वर्षीय भृतिपत्र (Annuity Certificates) भी इसी के उदाहरण हैं तथा राष्ट्रीय कोष बचत जमापत्रों (Treasury Saving Deposit Certificates) पर मिलनेवाले ब्याज की शृंखला भी भृति कहलाती है।

अनुदानों की शृंखला के भेद से भृतियों के भी अनेक भेद हो सकते हैं। जिस प्रकार ब्याज की दर साधारणतः 'प्रति वर्ष' दी जाती है, चाहे ब्याज वर्ष में अनेक बार देय हो, उसी प्रकार भृति चाहे वर्ष में कितनी बार भी देय हो, 'भृति धन प्रतिवर्ष' के हिसाब से आँका जाता है। यदि किसी को १०० रु० मासिक मिलते हैं, तो भृतिधन १,२०० रु० हुआ।

भृतियाँ दो प्रकार की होती हैं, एक जिनका संबंध केवल 'काल' से होता है, जैसे १५ वर्षीय भृतिपत्र। यहाँ पर भृतिपत्र का मालिक कोई भी हो, भृति ठीक १५ वर्ष तक मिलती रहेगी, न कम न अधिक। इसलिये इस प्रकार की भृतियों को 'नियत अवधि' या 'निश्चित' भृतियाँ (Annuities Certain) कह सकते हैं।

दूसरी वे भृतियाँ हैं, जिनका किसी जीवन (या अनेक जीवनों) से संबंध होता है, यथा मोहन के जीवन पर १,२०० रु० प्रति वर्ष की त्रैमासिक भृति है। इसके अंतर्गत मोहन जब तक जीवित रहेगा, तब तक हर तीन महीने पर ३०० रु० मिलते रहेंगे। यदि मोहन भृति के प्रारंभ के बाद ५० वर्ष जीता है, तो उसे ६०,००० रु० मिल सकते हैं, किंतु यदि १५ वर्ष जीवित रहता है तो केवल १८,००० रु० मिलेंगे। जैसे जीवन बीमे में यह नहीं कह सकते कि बीमाकर्ता (Insurer) को प्रस्तावक से कितना धन बीमा शुल्क (premiums) में मिलेगा, उसी प्रकार यहाँ पर भी नहीं कह सकते कि प्रस्तावक को कुल कितना धन भृति के रूप में मिलेगा। ऐसी भृति को 'जीवन भृति' (Life Annuity) कहेंगे।

मनुष्य की मृत्यु निश्चित है, पर उसका समय कोई नहीं बता सकता। फलतः दो समस्याएँ मनुष्य के सामने आती हैं, प्रथम असमय में मृत्यु हो जाने पर आश्रितों का भरण पोषण कैसे होगा?

दूसरी श्रम से थक जाने पर, अथवा सेवानिवृत्त होने पर, अपना ही भरणपोषण मृत्युपर्यंत कैसे होगा ?

एक ६० वर्ष का वृद्ध पुरुष बीमा निगम को ४० हजार देकर ३०० रु० मासिक की जीवन भृति प्राप्त करता है। अब वह ४० छोड़ चाहे ५० वर्ष जीवित रहे, कोई चिंता नहीं, उसे ३०० रु० प्रति मास मिलते ही रहेंगे। ४० हजार की पूँजी कहाँ और कैसे लगाई जाए कि अच्छा सूद भी मिले तथा रुपया भी न डूबे आदि, कोई चिंता उसे अब नहीं करनी है। चिंता न होने से अधिक स्वस्थ और दीर्घजीवन की भी संभावना है।

किंतु यदि वही पुरुष चार ही वर्ष बाद मर जाए, तो कुल १४,४०० रु० ही प्राप्त होंगे। उस समय यह कह सकते हैं कि इस माया रूपी संसार से जीर्णशीर्ण शरीर को जल्दी छुट्टी मिली। किंतु ऐसी बात से किसी को संतोष न होगा, विशेष कर यदि कोई सगे संबंधी जीवित हों। ऐसी दशा में यह व्यक्ति नियत अवधि गारंटी जीवन भृति ले सकता है। उदाहरण के लिये, उस व्यक्ति ने १५ वर्ष की गारंटी के साथ जीवन भृति ली। अब उसे ४० हजार रुपए से रु० २४४·८० प्रति मास मिलेंगे। यदि प्रस्ताव करते ही उसकी मृत्यु हो जाए, तो भी नामित (nominee) को रु० ४४,०६४ भृति के रूप में प्राप्त होंगे। इस प्रकार इस दशा में भी १½ प्रति शत की दर से सूद सहित पूँजी वापस हो जाएगी। यदि १५ वर्ष से अधिक जीवित रहे, तो जितने दिन जीवित रहेगा उतना ही लाभ होगा। जीवन से संबंधित होने के कारण, इनका क्रयमूल्य मर्त्यता पर निर्भर करता है।

यह आवश्यक नहीं कि जीवनभृति सेवानिवृत्त होने पर ही ली जाए। सेवानिवृत्त होने पर तत्काल देय भृति (immediate annuity) ली जाती है। पर बहुत पहले ही आस्थगित (deferred) भृति ली जा सकती है। ३५ वर्ष की आयु पर ही लगभग १,०२५ रु० वार्षिक शुल्क (२५ वर्षों तक) देकर ६० वर्ष की आयु से मृत्युपर्यंत ३०० रु० मासिक अथवा १५ वर्ष की गारंटी सहित २४७·७३ रु० मासिक बीमा निगम के द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं। दिए हुए शुल्कों पर आयकर से छूट भी प्राप्त हो सकती है।

एक प्रश्न और आता है कि भृति के अधिष्ठित होने से पूर्व ही यदि भृतिदार की मृत्यु हो जाए, तो ऐसी दशा में यदि नामित को कुछ न दिया जाए तो अच्छा न होगा। वास्तव में सेवानिवृत्त होने से पूर्व प्रस्तावक की मृत्यु हो जाने की दशा में उसके आश्रितों को धन की अधिक आवश्यकता होती है। अतएव साधारणतः ऐसी दशा में दिए हुए शुल्क वापस कर दिए जाते हैं। १,०२५ रु० का वार्षिक शुल्क इसी प्रकार की भृति योजना के लिये है। यह शर्त साथ न होती तो शुल्क और कम होता।

इस दृष्टि से शायद यह अधिक अच्छा होगा कि कुछ अधिक शुल्क (१,२७५ रु० वार्षिक) देकर ३०,००० रु० का लाभ सहित, या (१,४६३ रु० वार्षिक द्वारा) ४०,००० रु० का लाभरहित बीमा २५ वर्षों के लिये बंदोबस्ती योजना में करा लिया जाए और ६० वर्ष की आयु प्राप्त होने पर बीमा धन से तत्काल देय जीवन भृति ले ली जाए। किंतु संभव है, २५ वर्ष बाद सूद की दरें गिर जाएँ और तत्काल देय भृति का क्रय मूल्य बढ़ जाए। ऐसी अवस्था में दूसरा ढंग यह हो सकता है कि जीवन की दोनों समस्याओं (अकाल मृत्यु और दीर्घायु) का अलग अलग, कम से कम मूल्य में, समाधान किया जाए। पहले के लिये उचित धनराशि का केवल अवधि बीमा (term assurance) किया जाए, जिसमें सेवानिवृत्त होने से पूर्व मृत्यु हो जाने की दशा में बीमाधन मिले, अन्यथा कुछ नहीं। दीर्घायु व्यक्ति के लिये वह आस्थगित जीवन भृति दी जाए, जिसमें मृत्युपरांत कुछ न मिले। साधारणतः ऐसे बीमे दिए नहीं जाते, किंतु सामूहिक बीमा योजनाओं में प्राप्त होते हैं।

एक प्रश्न यह भी है कि सेवानिवृत्त होने पर कितनी भृति की आवश्यकता होगी, उस समय जीवन निर्वाह का स्तर क्या होगा तथा मूल्य कैसे होंगे ? उत्तर आसान नहीं, किंतु कह सकते हैं कि यदि भृति सेवानिवृत्त होने से ठीक पूर्व की आय से संबंधित हो, तो प्रश्न का बहुत कुछ समाधान हो जाता है। ऐसा प्रबंध वेतनभोगियों के सामूहिक बीमा योजनाओं द्वारा सुगमता से होता है।

इनमें नियोजक (employer) के लिये शुल्क का एक भाग (प्रायः ९५ प्रति शत) वहन करना आवश्यक होता है। साथ ही भविष्य में प्रत्येक नए बीमे योग्य (eligible) कर्मचारी का संमिलित होना आवश्यक होता है। बीमाधन एवं भृतिधन वेतनादि पर निर्धारित किए जाते हैं तथा हर वर्ष फिर से (बढ़ाकर) नियत किए जाते हैं। शुल्क भी इसी प्रकार निर्धारित होते हैं कि या तो नियोजक पूर्ण भार वहन कर सकता है, या कुछ भाग नियोजक और कुछ कर्मचारी। नियोजक शुल्क का एक निश्चित भाग यथा चतुर्थांश, या तृतीयांश, वहन कर सकता है और शेष कर्मचारी; अथवा कर्मचारी वेतन का एक निश्चित भाग, यथा ५ या ७·५ प्रति शत, वहन कर सकता है और शेष नियोजक। नियोजक के नाम एक बृहत् बीमापत्र (Master Policy) बन जाता है, जिसमें सब कर्मचारियों के नाम तथा उनके जीवन पर बीमे की धनराशि आदि का विवरण होता है। बीमे योग्य सभी नए कर्मचारी तथा प्रारंभ में भी बहुत से, यथा कम से कम ५०% तथा संख्या में कम से कम ५० या १०० व्यक्ति, संमिलित होते हैं। अतः बीमा निगम ऐसी दशा में शुल्क में कुछ छूट भी देता है। डाक्टरी परीक्षा एवं प्रस्ताव पत्र के मामले में भी विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं। आयकर विभाग भी कुछ दशाओं में छूट देता है। सरकारी कर्मचारियों को तो सरकार की ओर से पेंशन मिलती ही है, पर अन्य नियोजक जीवन बीमा निगम की इन योजनाओं से लाभ उठा सकते हैं। [ओं० प्र०]

वालपरायजो स्थिति : ३३° २′ द० अ० तथा ७१° ४०′ प० दे०। दक्षिणी अमरीका के चिली देश में है। यह प्रशांत महासागर के तट पर दक्षिणी अमरीका का एक प्रसिद्ध बंदरगाह तथा व्यापारिक नगर है। यहाँ पर भूमध्यसागरीय जलवायु पाई जाती है। यहाँ पर पछुवा हवाओं से जाड़ों में अच्छी वर्षा हो जाती है, परंतु गर्मी में वर्षा नहीं होती, जिससे उन दिनों जलवायु बड़ी शुष्क और उष्ण रहती है। वालपरायजो एक अच्छी खाड़ी पर बसा है और इसकी स्थिति सैन-फ्रांसिस्को की ही तरह है। चिली के प्रमुख खनिजक्षेत्र इसके पृष्ठप्रदेश में आते हैं। अतः शोरे की खाद, ताँबा, चाँदी और सोने का

निर्यात होता है। यह नगर रेल द्वारा राज्य की राजधानी सेंटियागो तथा महाद्वीप के पूर्वी किनारे पर स्थित प्रसिद्ध नगर ब्येनस एयरिस से मिला हुआ है। पनामा नहर के कारण इसका महत्व और बढ़ गया है। [रा० स० ख०]

वालपोल, हरोशियो (१७१७–१७९७ ई०) आंग्ल राजनीतिज्ञ एवं साहित्यकार वालपोल का जन्म २४ सितंबर, १७१७ को लंदन में हुआ। इनकी शिक्षा ईटन और किंग्स कालेज, कैंब्रिज में हुई। यहाँ पर इनकी मित्रता भावी साहित्यकार टामस ग्रे, रिचार्ड वेस्ट, टामस स्टर्न हेनरी, सैमूर कान के और जार्ज आगस्टस सिलविन से हुई। ये मई, १७४१ में संसद् सदस्य निर्वाचित हुए, किंतु राजनीतिक जीवन की सफलता संतोषजनक न होने से इन्होंने संसद् से अवकाश ग्रहण कर लिया। अपने पिता के प्रभाव से इन्हें सरकारी नौकरी मिल गई, जहाँ पर इन्होंने १७४५ से १७८४ तक कार्य किया। १७४७ में इन्होंने टामस नदी के किनारे 'विला ऑव स्टेबैरी हिल' क्रय किया, और यहाँ पर एक मुद्रणालय स्थापित किया, जिसका नाम "अफीसीना आरब्बटीयना" रखा। इस मुद्रणालय से इनकी बहुत सी रचनाओं के प्रथम संस्करण प्रकाशित हुए। यह आजीवन गठिया के रोग से पीड़ित रहे। २ मार्च, १७९७ को ये अविवाहित ही स्वर्गगामी हुए। इनकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं :

"कासिल ऑव ओटरांटो" (१७६४) एक प्रकार का रोमांचकारी उपन्यास है। "हिस्टोरिक डाउट ऑन दी लाइफ ऐंड रेन ऑव किंग रिचर्ड दी थर्ड" (१७६०) इनकी पहली कृति है, जिसमें अनुसंधान और ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा राजा रिचार्ड के कुख्यात चरित्र को ठीक ठीक समझाया गया है। "दी मिस्टीरियस मदर" (१७६८) इनका दुःखांत उपन्यास है। "एनैक्डोट्स ऑव पेंटिंग इन इंगलैंड" (१७६२ से ७१ तक) आंग्ल चित्रकला की अभूतपूर्व पुस्तक है। ये अपनी दैनिकी में आंग्ल राजनीति की मुख्य घटनाएँ लिखा करते थे। उनका इनकी मृत्यु के पश्चात् संपादन हुआ। ये पत्रों के कुशल लेखक थे। इनकी गणना आंग्ल भाषा के स्वतंत्र पत्रलेखकों में होती है। [गि० कि० ग०]

वॉलिस जान (Wallis, John, १६१६ ई०–१७०३ ई०) अंग्रेज गणितज्ञ एवं तार्किक का जन्म २३ नवंबर, १६१६ ई० को ऐश्फोर्ड (कैंट) में हुआ। इनकी उच्च शिक्षा कैंब्रिज में हुई और रॉयल सोसायटी के प्रारंभिक दिनों में ही ये उसके सदस्य चुने गए। १६४९ ई० में ये आक्सफोर्ड में सेवीलियन प्रोफेसर नियुक्त हुए। इनकी गणित को अनेक देन हैं। 'अविभाज्यों की विधि' में विश्लेषण का प्रयोग करके क्षेत्रकलन निकालने में इन्होंने इस साधन की शक्ति में अत्यंत वृद्धि की। इन्होंने वृत्त का क्षेत्रकलन और π का मान विचित्र ढंग से ज्ञात किया। 'सातत्य के नियम' पर इनकी अति श्रद्धा थी और 'अंतर्वेशन विधि' की प्रसिद्धि सर्वप्रथम इन्हीं के कारण हुई। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'कोनिक सेक्शन्स' (Conic Sections), 'ऐलजेब्रा' (Algebra) और 'अरिथमेटिका इन्फिनिटोरम' (Arithmetica Infinitorum) हैं। २८ अक्टूबर, १७०३ ई० को आक्सफोर्ड में इनकी मृत्यु हो गई। [रा० कु०]

वालीबॉल वालीबॉल के मैदान की लंबाई १८ मीटर एवं चौड़ाई ९ मीटर होती है। लंबाई में इसको दो बराबर बराबर भागों में बाँट दिया जाता है। तत्पश्चात् दो इंच (५ सेंमी०) चौड़ाई की रेखा से इस मैदान की सीमारेखा बना दी जाती है। किसी भी प्रकार की रुकावट मैदान के चारों तरफ, तीन मीटर तक और ऊँचाई में ७ मीटर तक, नहीं होनी चाहिए। मध्य रेखा के समांतर दोनों तरफ उससे तीन मीटर की दूरी पर आक्रामक रेखा खींच दी जाती है। मैदान के पीछे की रेखा के साथ, बगल की रेखा से दोनों तरफ, क्रीड़ाक्षेत्र की ओर तीन मीटर की दूरी पर, मैदान के बाहर पीछे की ओर एक रेखा खींच दी जाती है। इसे सेवाक्षेत्र (Service area) कहते हैं।

मैदान के बीचों बीच ९.५ मीटर लंबाई की एवं १ मीटर चौड़ाई की साथ ही १० सेंमी० वर्गाकार छोटे छोटे खानों वाले जाल को २ मीटर ४३ सेंमी० (७' ११.६") की ऊँचाई पर, बगल के दो मजबूत खंभों से बाँध दिया जाता है। इसकी ऊँचाई पुरुष एवं महिलावर्ग के लिये भिन्न भिन्न है। पुरुष के लिये जहाँ २ मीटर ४३ सेमी० है वहीं महिलावर्ग के लिये २ मीटर २४ सेंमी० होती है।

इस खेल की गेंद संभवतः छोटे छोटे मुलायम चमड़े के बारह टुकड़ों से बनाई जाती है और इसके अंदर एक रबर का ब्लेडर अलग से रखा जाता है। इस गेंद का व्यास ६५ सेंमी० से ६८.५ सेंमी० तक तथा वजन २५० से ३०० ग्राम होना चाहिए।

अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिता के लिये इसका अधिकतम व्यास ६७.० सेंमी० से ६८.५ सेंमी० एवं वजन २८० ग्राम से ३०० ग्राम तक ही रखा जाता है।

वालीबाल के खिलाड़ियों को यदि किसी भी अधिकारी के निर्णय के विरुद्ध कुछ कहना हो, तो उन्हें चाहिए कि वे अपने कप्तान द्वारा ही कहलवाएं। किसी भी खिलाड़ी को यह छूट नहीं है कि वह
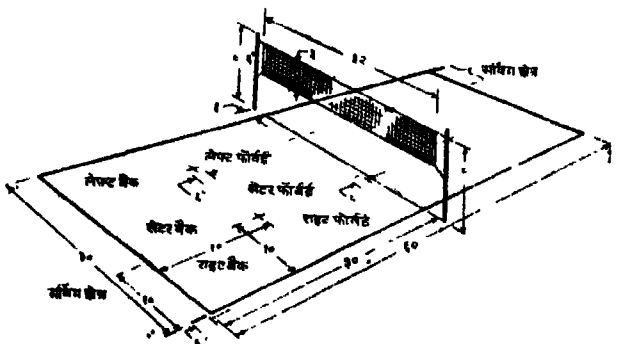
वॉलीबाल का खेल

किसी भी अधिकारी को कटु शब्द कहे, या चिढ़ावे, एवं अपने क्रीड़ाक्षेत्र में अपने साथियों को खेलने के लिये निर्देश दे, या दूसरी टीम के खिलाड़ियों के प्रति व्यंगात्मक शब्द कहे। वालीबाल के खिलाड़ियों को जरसी, हाफ पैंट एवं बिना एड़ी या कील के साधारण जूतों का

प्रयोग करना चाहिए। प्रत्येक खिलाड़ी को अपने वक्षस्थल एवं पीठ पर १५ सेंमी० लंबाई और चौड़ाई का संख्यापट्ट लगाना चाहिए।

प्रत्येक दशा में एक टीम (दल) में छह खिलाड़ी ही खेलेंगे, लेकिन कोई भी दल १२ खिलाड़ियों से अधिक के नाम नहीं भेज सकता। खेल प्रारंभ होने पर सर्विस के समय दोनों टीमों के खिलाड़ियों को अपने अपने क्षेत्र में केवल दो पंक्तियों में ही खड़ा होना चाहिए। वालीबॉल का खेल रोटेशन पद्धति द्वारा ही होना चाहिए।

वालीबॉल प्रतियोगिता के लिये सब मिलाकर, एक निर्णायक (Referee), उसकी सहायता के लिये एक ऍपायर, एक गणक (Scorer) तथा दो रेखानिरीक्षक, अर्थात् पाँच अधिकारियों की व्यवस्था होनी चाहिए। दोनों दलों के कप्तान सिक्के की उछाल द्वारा सर्विस एवं क्रीड़ाक्षेत्र का चुनाव निर्णायक के निर्देश पर करते हैं। प्रत्येक पाली की समाप्ति पर क्रीड़ाक्षेत्र का आपस में बदलना आवश्यक है। बहुधा देखा जाता है कि प्रतियोगिता तीन पाली की ही होती है, किंतु फाइनल मैच पाँच पाली का होता है। यदि तीन पाली के खेल में प्रत्येक दल एक एक पाली जीत चुके हों और पाँच पाली के खेल में दो दो, तो अंतिम निर्णायक पाली में ८ अंक प्राप्त करने पर क्रीड़ाक्षेत्र बदल दिया जाता है, क्योंकि पाली १५ अंक पहले बना लेनेवाले दल के पक्ष में समाप्त हो जाती है।

खेलते समय निम्नलिखित त्रुटियों से खिलाड़ियों को बचना चाहिए, अन्यथा ये ही त्रुटियाँ उनके दल के लिये हार का कारण बन जाती हैं :

(१) कमर के नीचे किसी भाग से गेंद का लगना।

(२) गेंद को हाथों में कुछ क्षण रुकने से बचाना, क्योंकि इसे होल्डिंग माना जाता है।

(३) एक बार से अधिक गेंद को मारने से ड्रिबलिंग होने का भय रहता है।

(४) तीन से अधिक बार गेंद को एक ही दल द्वारा मारा जाना त्रुटि समझी जाती है।

(५) दो व्यक्तियों का एक साथ गेंद को मारना और उससे दो आवाज होना डबल फाउल कहलाता है।

(६) ब्लॉक करते समय जाल का किसी अंग से छू जाना, या विरोधी खिलाड़ी का कोई अंग छू जाना, या मध्य रेखा पार कर विरोधी क्षेत्र में चला जाना, या गेंद का कमर के नीचे किसी भाग से छू जाना, या एक से अधिक बार एक ही खेलाड़ी द्वारा गेंद को मारा जाना, आदि त्रुटियों में संमिलित है।

(७) सर्विस बाल का नेट से छू जाना।

(८) बाल का जाल सीमा के बाहर से आना।

(९) गेंद का सीमारेखा से बाहर गिरना।

(१०) रोटेशन करते समय पीछे की पंक्तिवाले अग्रिम क्षेत्र से आक्रमण नहीं कर सकते, या गलत ढंग से रोटेशन करना, या पीछे की पंक्ति का जाल पर आकर ब्लाक करना।

(११) यदि बाल जाल के नीचे के किनारे से चला जाता है, तो वह गलत समझा जाएगा।

(१२) एक ही पाली में दो बार से अधिक टाइम आउट (समय मांगना), या एक मिनट से अधिक देर तक खेल को रोक रखना इत्यादि भी त्रुटियों में संमिलित हैं।

(१३) क्रीड़ाक्षेत्र से बिना निर्णायक की आज्ञा लिए किसी खिलाड़ी का बाहर जाना, या क्रीड़ाक्षेत्र में आ जाना इत्यादि।

(१४) सर्विस क्षेत्र से सर्विस का न करना या सर्विस करते समय पिछली सीमारेखा को छूना, या पार करना, या ठीक ढंग से सर्विस का न लगाना, ये सब भी त्रुटियों में संमिलित हैं।

अपनी सर्विस का गेंद बनने पर ही अंक मिलता है।

२८ अक्टूबर से १५ नवंबर, १९६० मे विश्व चैंपियनशिप की प्रतियोगिता हुई। इसमें निम्नलिखित २१ पुरुषों की तथा १२ महिलाओं की टीमें संमिलित हुई थीं : ब्राज़ील, अर्जेंटिना, बलगेरिया, टर्की, चेकोस्लोवाकिया, सोवियत यूनियन, यूरुग्वे, पेरू, जर्मनी, फ्रांस, हंगरी, पुर्तगाल, रोमानिया, वेनेजुला, मेक्सिको, जापान तथा भारत। अंत में विजयश्री रूस की ही दोनों टीमों को मिली।

भारत में पंजाब, मद्रास, दिल्ली तथा उ० प्र० मे विशेषकर इसका स्तर दिनोदिन बढ़ता जा रहा है। पिछले कई वर्षों से लखनऊ में डा० संपूर्णानंद अखिल भारतीय वालीबॉल टूर्नामेंट होता है। इसमें देश की प्रसिद्ध प्रसिद्ध टीमें भाग लेती है।

पंजाब पुलिस ने सन् १९६१ में विजय पाई। १९६१ से लखनऊ में आर० के० सिंह वालीबॉल टूर्नामेंट चलाया गया। देश की अच्छी टीमें उसमें संमिलित हुई। अंत में देहली वाई० एम० सी० ने धारीवाल क्लब को बड़ी कठिनाई से जीता।

इसी प्रकार की अन्य प्रतियोगिताएँ भी देश के विभिन्न भागों में चलती हैं। पुरुषों एवं महिलाओं की वालीबॉल प्रतियोगिताएँ पृथक् पृथक् होती है। [भा० सि० गौ०]

वालेन्स्टाइन आल्बेख्त वेन्त्सेल यूसेबिग्रस फान (१५८३-१६३४) वालेन्स्टाइन बड़ा बहादुर, महत्वाकांक्षी और भाग्यवादी सेनापति था। ज्योतिषियों और ग्रहों पर बड़ा विश्वास रखता था। उसने अनेक बार जर्मन सम्राट् फर्डीनेंड के लिये विशाल सेना जुटाई और जर्मन साम्राज्य की आक्रामकों से रक्षा की, परंतु अपनी महत्वाकांक्षा के कारण वह सम्राट् का कोपभाजन बना और गुप्त षड्यंत्र के कारण अंत में उसकी हत्या कर दी गई।

वह बोहेमिया के हरमानिक स्थान में १५ सितंबर, १५८३ को साधारण सरदार के घर में पैदा हुआ था। हंगरी के राजा रुडोल्फ द्वितीय की सेना में सैनिक के रूप में उसका जीवन शुरू हुआ। १६०६ में बोहेमिया में उसने एक धनी बूढ़ा विधवा के साथ विवाह किया। १६१४ में उसको उसके मरने के बाद उसकी मोराविया की जागीर मिली। उसकी आमदनी से उसने २०० सुसज्जित घुड़सवार आर्कड्यूक फर्डीनेंड को भेंट किए। उसने स्वयं इनका सेनापतित्व किया और बड़ा नाम कमाया।

१६१८ में बोहेमिया में जो क्रांति हुई और जिसके कारण "तीस वर्षीय युद्ध" जारी रहा, उसमें क्रांतिकारियों के निमंत्रण पर भी उसने राजा का ही साथ दिया। मोराविया का खजाना भी लाकर राजा को सौंप दिया। एक बड़ी सेना खड़ी करके काउंट मान्सफेल्ट के विरुद्ध युद्ध में उसने बड़ा यश प्राप्त किया। क्रांतिकारियों से उसने अपनी मोराविया जागीर वापस ले ली। फर्डीनेंड ने जब्त की हुई जमीन भी मामूली कीमत पर उसको दे दी। अपनी जागीर और उस सारी जमीन को मिलाकर उसने फ्रीडलैंड नाम का एक स्वतंत्र प्रदेश बना लिया और उसके सफल शासक के रूप में उसका चहुँमुखी विकास किया। १६२५ ई० मे वह फ्रीटलांट (Friedland) का ड्यूक बनाया गया।

१६२६ के संकट में उसने फर्डीनैंड के लिये ५०००० सेना संगठित की। हंगरी, साइलीसिया, मेकलेनबर्ग आदि में उसने शासन को व्यवस्थित किया। बाल्टिक सागर को जीतकर और संयुक्त जर्मनी का निर्माण करके वह अपनी जलसेना को स्कैंडेनेविया, नीदरलैंड और इंग्लैंड के बराबर शक्तिशाली बनाना चाहता था, परंतु स्ट्रालसंड की पराजय के कारण उसका यह स्वप्न पूरा न हो सका। सितंबर, १६३० में उसके शत्रुओं के दबाव में आकर फर्डीनेंड ने उसको अनिच्छापूर्वक सेनापति के पद से हटा दिया।

एक ओर गस्तावस आडॉल्फस ने म्यूनिक तक का प्रदेश हस्तगत कर लिया और दूसरी ओर सैक्सनों ने बोहेमिया पर आक्रमण कर दिया। उसकी इच्छा गस्तावस द्वारा अपने शत्रुओं का विनाश कर दिए जाने के बाद उसके साथ मिलकर संयुक्त जर्मन राष्ट्र संगठित करने की थी परंतु फर्डीनेंड के निमंत्रण पर उसने उसका साथ देना आवश्यक समझा और पहले से भी अधिक विशाल सेना तैयार करके उसने गस्तावस का मुकाबिला किया। लुत्सेन की लड़ाई में गस्तावस मारा गया परंतु वालेन्स्टाइन को भी पराजित होना पड़ा। बोहेमिया को उसने सैक्सनों से अनायास खाली करा लिया। ब्रांडेनबर्ग, स्वीडन, फ्रांस और सैक्सनों के साथ उसने संयुक्त जर्मन राष्ट्र के निर्माण और स्वयं सर्वोच्च सत्ता प्राप्त करने के लिये जो गुप्त मंत्रणा की उससे फर्डीनेंड को संदेह हुआ और उसने उसको सेनापति के पद से हटाने के लिये एक गुप्त आदेश पर हस्ताक्षर कर दिए। फर्डीनेंड के विश्वासपात्र लोगों ने उसके साथियों की हत्या के बाद उसकी भी हत्या कर डाली। [स० वि०]

वॉल्गा (Volga) नदी यूरोप तथा यूरोपीय रूस की सबसे लंबी नदी तथा रूस का महत्वपूर्ण जलमार्ग है। वल्डाइ पहाड़ी पर ६६५ फुट ऊँचाई पर स्थित स्रोत से निकलकर, यह नदी १,३०० मील लंबे घुमावदार मार्गों से होती हुई कैस्पिऐन सागर में गिरती है और मुहाने पर डेल्टा बनाती है। यह डेल्टा लगभग ७० मील चौड़ा है और इसमें लगभग २०० निर्गम मार्ग हैं तथा डेल्टा समुद्रतल से ८६ फुट नीचा है। वल्डाइ पहाड़ी से उतरने के बाद नदी छोटी छोटी झीलों की शृंखलाओं को मिलाती है। अका (Oka), कामा (Kama) तथा ऊँका मुख्य सहायक नदियों के अतिरिक्त इसकी अनेक छोटी सहायक नदियाँ हैं। वॉल्गा और इसकी सहायक नदियों के द्वारा ५,६३,००० वर्ग मील क्षेत्र का जलनिकास होता है तथा २०,००० मील तक जलयात्रा की जाती है। वॉल्गा की अधिकांश लंबाई वर्ष में तीन महीने के लिये जम जाती है, जिसपर इन दिनों स्लेज के द्वारा माल की ढुलाई की जाती है। नदी नहर के द्वारा बाल्टिक सागर, आर्कटिक सागर तथा मॉस्को से जुड़ी हुई है। नदी की घाटी गेहूँ के उत्पादन का तथा इमारती लकड़ी के उद्योग का महत्वपूर्ण क्षेत्र है। इस नदी के किनारे पर स्थित महत्वपूर्ण नगर हैं : स्टालिनग्रैड, गोर्की, सराटफ तथा ऐस्ट्राकैन। वाल्गा नदी का डेल्टा और उसके समीप का कैस्पिऐन सागर का जल विश्व के प्रसिद्ध मत्स्य क्षेत्रों में से एक है। बसंत ऋतु में वॉल्गा में इतनी भीषण बाढ़ आती है कि कैस्पिऐन सागर के जल का स्तर बढ़ जाता है। ऋतु और स्थान के अनुसार इस नदी की गहराई परिवर्तित होती रहती है। [अ० ना० मे०]

वाल्ट व्हिटमैन अमरीका का महान् कवि, जन्म ३१ मई, १८१६ को। बचपन से ही उसे प्रकृति से बड़ा प्रेम था और वह पाठशाला छोड़कर अक्सर खेतों में या समुद्रतट पर विचरण करने के लिये निकल जाया करता था। ११ वर्ष की उम्र में ही उसने पढ़ाई छोड़ दी और वह एक समाचारपत्र के कार्यालय में शिक्षार्थी के रूप में प्रविष्ट हो गया। उसे देश विदेश में भ्रमण करने का भी बड़ा शौक था। ३७ वर्ष की उम्र तक उसने कंपोजिटर, बढ़ई और अध्यापक के रूप में दिन बिताए तथा कई संवादपत्रों में भी काम किया किंतु उसके उच्च विचार उसे पत्रकार जीवन तक सीमित न रख सके और उसने उसका परित्याग कर कविता के क्षेत्र में प्रवेश किया।

उसकी प्रथम रचना "लीव्ज ऑव ग्रास" पहली बार १८५५ ई० मे प्रकाशित हुई। उस समय उसमें केवल १२ कविताएँ संगृहीत थीं, किंतु १८९२ में उसका जो संस्करण प्रकाशित हुआ उसमें उनकी संख्या बढ़कर १२३ हो गई। इस कवितासंग्रह के प्रथम बार प्रकाशित होते ही उसकी बड़ी तीव्र और कटु आलोचना शुरू हो गई। किंतु प्रसिद्ध विचारक इमर्सन ने उसका महत्व समझा और कहा कि मैं इसे 'बुद्धिचातुर्य की अद्भुत रचना' समझता हूँ। इसके बाद व्हिटमैन पर इमर्सन का प्रभाव बराबर बढ़ता गया, जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया है।

व्हिटमैन ने 'स्पेसिमन डेज' तथा गद्य में भी कई रचनाएँ प्रस्तुत कीं किंतु "लीव्स ऑव् ग्रास" पुस्तक ही उसके जीवनदर्शन का सबसे अधिक प्रतिनिधित्व करती है। वह ऐसा परिधान है जिसमें उसने जीवन के वर्ष वर्ष के अनुभव सी दिए हैं और उसे मनुष्य की आंतरिक गरिमा की ऐसी पोशाक के रूप में परिणत कर दिया है जिसे गर्व के साथ आज भी पहना जा सकता है। उसका लक्ष्य उसके इन शब्दों से स्पष्ट है "कवि को सुंदरता से रचित पद्यावलियों से ही संतोष न कर लेना चाहिए। उसे द्रष्टा, भविष्यद्वक्ता, शिक्षक तथा नैतिक आदर्शों का प्रतिपादक होना चाहिए। उसकी वाणी केवल उसके अपने विचारों की ही अभिव्यक्ति नहीं करती, वरन् वह समूचे राष्ट्र का ही प्रतिनिधित्व करती है।"

व्हिटमैन के विचारों और भारतीय दर्शन में आश्चर्यजनक समानता है। वेदांतियों की तरह वह भी परमार्थ की प्राप्ति के लिये चिंतन और ध्यान पर बल देता है। यद्यपि उसने भगवद्गीता का अंग्रेजी अनुवाद भी पढ़ा तथापि प कुछ विद्वानों का ख्याल है कि

अमरीकन यात्रों के कारण ही उसे भारतीय दर्शन के प्रति अनुराग की प्रेरणा मिली। जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि वेदांत की दृष्टि से देखने पर उसके विचार और भाव अधिक बोधगम्य तथा सरल प्रतीत होने लगते हैं। [म० प्री०]

वॉल्टा ऊपरी गिनी तट की गैंबिया एवं नाइजर के मध्य सबसे बड़ी नदी है, जिसकी लंबाई ६०० मील है। इसका नाम पुर्तगालियों ने इसके टेढ़े मेढ़े मार्ग के कारण वॉल्टा रखा था। काली एवं श्वेत वॉल्टा मिलकर इस नदी का निर्माण करती हैं। काली वॉल्टा भिमीतट के वनों की पेटी के उत्तर में स्थित पठार से ११° उ० अ० तथा ४° ५०' प० दे० से निकलती है, जहाँ से पूर्व, उत्तर-पूर्व एवं फिर दक्षिण की ओर बहती है तथा ८° १५' उ० अ० से पूर्व-उत्तर की ओर बहती है। इस भाग में नदी की साधारण चौड़ाई १५०-२०० गज है। ०° १५' प० दे० में श्वेत वॉल्टा मिलती है, जो १३° उ० अ० से दक्षिण की ओर बहती है। दोनों नदियाँ शुष्क मौसम में कम चौड़ी रह जाती हैं। संगमस्थल के नीचे वॉल्टा दक्षिण-पूर्व, दक्षिण, एवं फिर पूर्व की ओर बहती है। ७° १७' उ० अ० में ओटी नदी मिलती है। निचली घाटी में वर्षा ऋतु में नदी की चौड़ाई लगभग आधा मील तथा गहराई ४०-५० फुट रहती है। नदी की घाटी में क्षिप्रिकाओं (rapids) तथा उसके मुहाने पर बालुकाभित्ति होने के कारण नौगम्य सुविधाजनक नहीं है। छोटे छोटे जलयान मुहाने से ६० मील अंदर तक पहुँच सकते हैं। [सु० ज० अ०]

वाल्व (Valve) वे यांत्रिक युक्तियाँ हैं जिनका उपयोग पाइप तथा जैविक वाहिकाओं (vessels) में तरल के प्रवाह को रोकने के लिये किया जाता है। शरीर क्रिया-विज्ञान (physiology) में भी इस
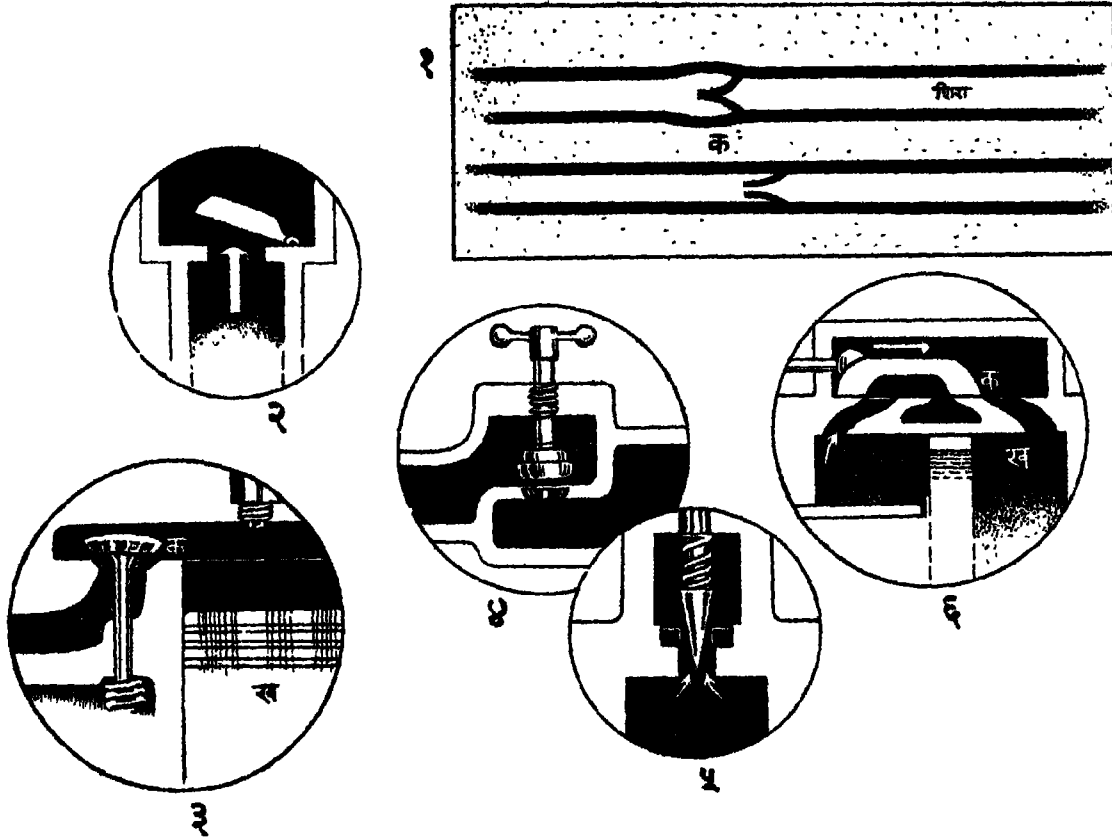
विविध प्रकार के वाल्व

१. शरीर की शिराओं के वाल्व; ये रक्त के हृदय की ओर जाने पर खुलते और विपरीत दिशा में जाने पर बंद हो जाते हैं; क. वाल्व। २. पंप का वाल्व दाब के बढ़ जाने से खुलता और घट जाने से बंद होता है। ३. पेट्रोल से चलनेवाले इंजन का वाल्व, गियर (gear) और गाम (cam) से खुलता तथा सशक्त स्प्रिंग द्वारा बंद होता है। ४. जल की टोंटी का वाल्व, हाथ से पेंच को घुमाने पर खुलता और बंद होता है। ५. वाल्व में एक सुई को घुसेड़ या निकालकर तरल पदार्थ के बहाव को नियंत्रित किया जाता है। ६. भाप इंजन में सरक वाल्व, आगे पीछे चलकर वाल्व के भाग को खोलता और बंद करता है।

शब्द का प्रयोग उन प्राकृतिक वृद्धियों के लिये किया जाता है, जो शरीर में वे ही कार्य करती हैं, जिन्हें यांत्रिक वाल्व करते हैं। इन प्राकृतिक वृद्धियों में हृदय के वाल्व उल्लेखनीय हैं, जो खुलकर या बंद होकर हृदयकोष्ठ से रक्त के प्रवाह को नियंत्रित करते हैं।

अनेक प्रकार के यांत्रिक वाल्व आजकल उपयोग में आ रहे हैं, जिनमें स्वचालित (automatic), अस्वचालित (nonautomatic) तथा सरक (slide) वाल्व अच्छी तरह प्रचलित हैं। स्वचालित वाल्व तरल की दाब तथा पश्चदाब (back pressure) से खुलते एवं बंद होते हैं। वास्तव में ये वाल्व लघु कपाट हैं, जो मुख के एक ओर झूलते हुए खुल जाते हैं। जब वाल्व के पीछे तरल की दाब होती है, तो तरल की दाब वाल्व को खुलने के लिये दबाव डालती है और तरल वाल्व को ढकेलकर निकल जाता है। इसके बाद दूसरी ओर की दाब वाल्व को पीछे जाने के लिये दबाव डालती है और वाल्व लौटकर मुख को बंद कर देता है। हृदय का वाल्व इसी प्रकार कार्य करता है।

अस्वचालित वाल्व हाथ या अन्य किसी बाह्य बल से खोला जाता है, पानी की टोंटी का वाल्व इसी श्रेणी का (चित्र में ४) है।

भाप इंजन के सिलिंडर के वाल्व की तरह सरक वाल्व कार्य करता (चित्र में ६.) है। सरक वाल्व का गतिशील भाग पीछे की ओर सरक जाता और सिलिंडर में बने मुखों के आरपार आगे की ओर निकल जाता है। वाल्व का सरकनेवाला भाग सरकने की दिशा बदलकर सिलिंडर के मुखों को खोलता तथा बंद करता है।

[भ० ना० मे०]

वॉल्वर हैंप्टन स्टैफर्डशिर में, इंग्लैंड का एक काउंटीबरो है। यहाँ की आबादी १,६२,६६६ (१९५१) है। बर्मिघम के १३ मील उत्तर-पश्चिम में इंग्लैंड के औद्योगिक क्षेत्र का यह प्रमुख औद्योगिक केंद्र है। यहाँ मोटर, टायर, हवाईजहाज, बिजली के समान, रेयन आदि के कारखाने हैं और कोयले की खानें भी हैं। यहाँ का सेंटपीटर गिरजा १३वीं शताब्दी से विख्यात है। यहाँ तकनीकी विद्यालय तथा १६वीं शताब्दी में स्थापित एक ग्रामर स्कूल है। यहाँ वुलवरी का औद्योगिक नगर भी है।

[वि० मु०]

वॉल्स, जोहैनीज डिडरिक वान डर (Waals, Johannes Diderik Van der, सन् १८३७-१९२३), डच भौतिकी विज्ञानी का जन्म लेडन नगर में हुआ था। इन्होंने 'गैस तथा द्रव के अवस्था-सातत्य' पर एक प्रबंध लिखा था, जिससे आपका नाम हुआ और डॉक्टर की उपाधि मिली।

सन् १८७७ से १९०७ तक ये ऐम्स्टर्डैम विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्रोफेसर रहे। आपने आयतन, ताप तथा दाब के मानों में इनके क्रांतिक मानों का भाग देकर ऐसा समीकरण प्राप्त किया जिससे सब पदार्थों से संबंधित क्रांतिक घटनाओं का स्पष्टीकरण होता है। आपने 'संगत अवस्थाओं के नियम' (Law of corresponding states) का प्रतिपादन किया, जिससे सर जेम्स ड्यूअर (Dewar, सन् १८४२-१९२३) को गैसों के द्रवीकरण में सहायता मिली। आपने 'द्विर्यंगी मिश्रणों का नियम' का भी आविष्कार किया।

सन् १९१० में आपको नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया।

[भ० दा० व०]

वाशिंगटन १. राज्य, स्थिति ४५° ३२′ से ४९° ०′ उ० अ० तथा ११६° ५७′ से १२४° ४८′ प० दे०। यह संयुक्त राज्य अमरीका के उत्तर-पश्चिमी ओर पर ३६० मील पूर्व-पश्चिम तथा २४० मील उत्तर-दक्षिण तक फैला हुआ है। इसका नाम अमरीका के प्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन के नाम पर पड़ा है। राज्य का क्षेत्रफल ६८,१९२ वर्ग मील और जनसंख्या २३,७८,९६३ (१९५०) है। यहाँ का धरातल काफी ऊबड़ खाबड़ है। कैसकेड पर्वत श्रेणियाँ, समुद्रतटीय श्रेणियाँ, ब्लू पर्वत, ओकानॉगैन तथा कोलंबिया पठार, समुद्रतटीय मैदान एवं प्यूजेट साउंड खाड़ी के द्वीप प्रमुख धरातलीय विभाग हैं। यहाँ की जलवायु समशीतोष्ण है पर एक भाग से दूसरे भाग में काफी विभिन्नता मिलती है। यहाँ काफी घने तथा अच्छी लकड़ियोंवाले वन पाए जाते हैं। यहाँ के व्यवसाय के मुख्य आधार वन, खेती तथा जलविद्युत् हैं। लकड़ी काटना, लकड़ी तैयार करना तथा कागज के कारखाने प्रमुख उद्योग हैं। गेहूँ तथा सेब प्रधान उपज हैं। पशुपालन तथा मुर्गी पालन भी महत्वपूर्ण उद्योग है। यहाँ रसायनक तथा धातुनिर्माण के कारखाने हैं जिनमें ऐलुमिनियम निर्माण सर्वप्रमुख है। सियेटल का बोइंग विमान (Boeing aeroplane) बनाने का कारखाना तथा हार्नफर्ड का परमाण्विक ऊर्जा (Atomic Energy) का कारखाना बहुत महत्वपूर्ण हैं।

२. नगर, स्थिति : ३८° ५३′ उ० अ० तथा ७६° ५८′ प० दे०। पोटोमैक नदी के मुहाने से १०० मील ऊपर, चेसापीक खाड़ी से ३० मील पश्चिम तथा बाल्टीमोर के ४० मील दक्षिण-पश्चिम, वर्जिनिया एवं मेरीलैंड के मध्य पोटोमैक तथा अनाकोशिया नदियों के संगम पर बसा नगर है। नगर का क्षेत्रफल ६९·२४५ वर्ग मील और जनसंख्या ८,०२,१७८ (१९५०) है। जाड़े में साधारण शीतोष्णता, गरमी में अत्यधिक गरम तथा बीच बीच में अत्यधिक आर्द्रता, यहाँ के जलवायु की विशेषता है। जनवरी का औसत ताप १·५° सें० तथा जुलाई का ताप लगभग २२° सें० है। औसत वार्षिक वर्षा ४२·०२ इंच तथा औसत वार्षिक हिमपात २०·४ इंच है।

वाशिंगटन का असली महत्व केंद्रीय सरकार की राजधानी के रूप में ही है। सरकारी कार्यालयों की संख्या में वृद्धि के साथ शहर का निवासक्षेत्र भी बढ़ता गया है।

सरकारी केंद्रीय कार्यकारिणी, विधायिका सभा तथा न्यायपालिका के विभिन्न कार्यालय २ × १ मील के आयातकार क्षेत्र में नगर के दक्षिणी भाग में स्थित हैं। पूरब की ओर पोटोमैक नदी से ९० फुट ऊँचे स्थल पर संयुक्त राज्य कैपिटोल खड़ा है। कैपिटोल से १½ मील पश्चिम में ह्वाइट हाउस है जिसके पूर्व-पश्चिमी ओर पर क्रमशः कोषभवन (Treasury Building) तथा पुराना राज्य विभाग भवन हैं। पूरब-पश्चिम दिशा में आमने सामने कैपिटोल तथा लिंकन मेमोरियल भवन हैं। उत्तर-दक्षिण दिशा में ह्वाइट हाउस

तथा जेफर्सन मेमोरि य ल एक दूसरे छोर पर हैं। इन्हीं चारों स्थानों को मिलानेवाले आयताकार क्षेत्र के भीतर सरकारी कार्यालय भरे पड़े हैं। यही नगर का असली भाग है।

यहाँ की सड़कों का खाका एल' इन्फैंट (L' Enfant) ने तैयार किया था। उन्होंने कैपिटोल को केंद्र मानकर वहाँ से पूरब, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण दिशाओं में सड़कें निकालीं। इससे नगर चार भागों में विभक्त हो गया तथा सड़कों के नामकरण एवं अंकन की सुविधा हुई। तीन सड़कों का नाम उत्तरी कैपिटोल, दक्षिणी कैपिटोल एवं पूर्वी कैपिटोल पड़ा। पश्चिम वाली ३ मील लंबी एवं ४०० फुट चौड़ी सड़क ग्रैंड ऐवेन्यू कहलाई जो बाद में दि माल (The Mall) के नाम से विख्यात हुई। इन सड़कों के समांतर अन्य सड़कें निकलीं और इस प्रकार नगर का आयताकार प्रारूप हुआ। इनके उपरांत कैपिटोल से कई बड़ी त्रिज्यात्मक सड़कें बनीं और जहाँ कहीं वे सड़कों से लंबवत मिलीं, वहाँ ग्रैंड चौक (Grand squares) बन गए। वाशिंगटन की सड़कों की प्रधान विशेषता है, उनकी अधिक चौड़ाई, सफाई, सजावट, एवं वृक्षों की घनी पंक्तियाँ। सड़कों तथा जनपथों की चौड़ाई ६० से १६० फुट के बीच है। पेंसिलवेनिया राजमार्ग सबसे चौड़ा है।

वाशिंगटन में उद्यान भी आलीशान एवं असंख्य हैं। दि माल सड़क के दोनों किनारों पर लगा उद्यान सर्वप्रमुख है। पोटोमैक, नैशनल जोओलॉजिकल, अनाकोशिया, ग्लोवर आर्कबोल्ड तथा बोटैनिक गार्डेन अन्य मुख्य उद्यान हैं।

वाशिंगटन में शिक्षण एवं अन्य संस्थाएँ भी असंख्य हैं। जॉर्ज वाशिंगटन विश्वविद्यालय, जॉर्जटाउन विश्वविद्यालय, कैथोलिक युनिवर्सिटी ऑव अमरीका, अमरीकन विश्वविद्यालय एवं हारवर्ड विश्वविद्यालय प्रमुख विश्वविद्यालय हैं। इनके अतिरिक्त, कारकोरन स्कूल ऑव आर्ट, नैशनल स्कूल ऑव फाइन ऐंड ऐप्लाइड आर्ट्स, एबॉट स्कूल ऑव आर्ट, फिलिप्स मेमोरियल गैलेरी आर्ट स्कूल, वाशिंगटन स्कूल फाइन ऐंड ऐप्लाइड आर्ट्स तथा किंग स्मिथ स्टुडियो स्कूल भी उल्लेखनीय हैं।

नगर में औद्योगिक कारखाने कम हैं किंतु फुटकर व्यापार काफी उन्नतिशील है। यहाँ के प्रधान उद्योग संस्थान स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हैं। पशुपालन, खाद्य सामग्री, कागज, मानचित्र एवं सर्वेक्षण के औजार, इस्पात के सामान, समुद्री यातायात के सामान एवं रेल के सामान आदि के निर्माण के उद्योग प्रमुख हैं।

नगर में रेल तथा सड़कों का जाल है। नगर में वायुयान सेवा भी है। [ज० सिं०]

वाशिंगटन अर्विंग अमरीकन लेखक और साहित्यकार, जन्म ३ अप्रैल, १७८३ को न्यूयार्क में। १६ वर्ष की उम्र में ही उसने विद्यालय छोड़ दिया और पिता के आदेश से कानून के दफ्तर में प्रवेश किया, पर वहाँ उसका मन नहीं लगा। समाचारपत्रों के लिये व्यंग्यात्मक लेख लिखने में उसे अधिक रुचि थी और रंगमंच की ओर भी उसकी रुझान थी। जब वह २१ वर्ष का हुआ तब उसका स्वास्थ्य बिगड़ता देखकर उसके भाइयों ने उसे यूरोप भेज दिया, जहाँ उसने फ्रांस, इटली, नेदरलैंड तथा इंग्लैंड की सुखद यात्राएँ कीं। विभिन्न स्थानों में भ्रमण करते समय उसने जो कुछ देखा, सुना या अनुभव प्राप्त किया उसे वह अपनी नोटबुक में लिखता गया। यह सामग्री आगे चलकर उसके सफल लेखक बनने में यथेष्ट सहायक सिद्ध हुई। उसने "सल्मागुंडी" नामक अर्धमासिक पत्र में कई लेख लिखे और फिर १८०६ में "न्यूयार्क नगर का इतिहास" प्रकाशित किया। इसमें न्यूयार्क का तथ्यपूर्ण इतिहास तो दिया ही गया, पर साथ साथ वहाँ के डच अधिवासियों और उनकी रहन सहन आदि का व्यंग्यात्मक चित्रण भी प्रस्तुत किया गया था। इस रचना ने साहित्य क्षेत्र में उसकी कीर्ति फैला दी।

सन् १८१५ में अपने परिवार के कारोबार आदि के सिलसिले में उसे फिर इंग्लैंड जाना पड़ा। इस बार लगातार १५ वर्ष उसने यूरोप में ही बिताए और अनेक पुस्तकों की रचना की। इनमें मुख्य "दि स्केच बुक" है जो १८१६-२० में इंग्लैंड तथा अमरीका में एकसाथ प्रकाशित हुई। इसमें निबंध थे, व्यक्तियों के संक्षिप्त चरित्र-चित्रण थे, और कुछ विवरण तथा छोटी छोटी कहानियाँ भी थीं, जिनमें जीवन के व्यक्तिगत अनुभवों के साथ पुस्तकों से संकलित छिटफुट अंश सँवारकर, सजाकर रखे गए थे। उसकी तीन अन्य पुस्तकें 'ब्रेसब्रिज हाल', 'टेल्स ऑव् ए ट्रैवलर' तथा 'दि अलहंब्रा' क्रमशः १८२२, १८२४ तथा १८३२ में प्रकाशित हुईं।

स्पेन की यात्रा के समय उसके तत्कालीन उत्कर्ष की जो झलक उसने देखी थी, उसकी अभिव्यक्ति हुई "हिस्ट्री ऑव् दि लाइफ ऐंड वायेजेज ऑव् कोलंबस" तथा "दि कांक्वेस्ट ऑव् ग्रैनेडा" मे। सन् १८३५ में वह स्वदेश लौट आया। तब तक वहाँ प्रचुर परिवर्तन और हेरफेर हो गया था। अतः उसने फिर अमरीकन विषयों पर लिखने का निश्चय किया। "ए टूर ऑव् प्रेयरीज" १८३५ में और "एस्टोरिया" एक वर्ष बाद प्रकाशित हुई। सन् १८३७ मे "दि-एडवचर्स ऑव् कैपटेन बानविल" नामक पुस्तक निकली, जिसमें एक अमरीकी सैनिक अधिकारी के उन अनुभवों का वर्णन किया गया था जो उसे राकी पर्वतमाला की खोजबीन के सिलसिले में हुए थे। यह तथा इसके पहले की 'ऐस्टोरिया' पुस्तक यात्रा तथा खोज की अद्भुत घटनाओं का वर्णन करने के कारण आज भी महत्वपूर्ण कृतियाँ समझी जाती हैं।

सन् १८४२ में वह स्पेन में राजदूत नियुक्त किया गया। चार वर्ष वहाँ रहने के बाद १८४६ में वह स्वदेश लौट आया और उसने पाँच खंडों में जार्ज वाशिंगटन की जीवनी लिखने का कार्य हाथ में लिया जो उसकी मृत्यु के ठीक पहले प्रकाशित हुई। यद्यपि उसके बाद अमरीका में उससे बढ़कर और अधिक प्रसिद्ध लेखक हुए, फिर भी अपने समय का वह महान् लेखक था और इस दृष्टि से साहित्य में उसका स्थान आज भी सुरक्षित है। [यू० एम० श्री०]

वाष्पखनिजन (Pneumatolysis) शैलविज्ञान के इस शब्द का अर्थ है आग्नेय मैग्मा से वाष्पउन्मुक्ति तथा शैलसमूहों पर उसके प्रभाव। ऊष्मा तथा मैग्मा निस्सृति के, जिसमें मुख्यतः हैलोजन तत्व, जल तथा बोरॉन, फ़ॉस्फोरस एवं अन्य

क्षारीय धातुओं के यौगिक होते हैं, संमिलित प्रभाव के कारण शैलों में हुए परिवर्तन को वाष्पखनिजीय कायांतरण (preumatolytic metamorphism) कहा जाता है। अतएव वाष्पखनिजन शब्द (वाष्प क्रिया) मुख्यतः उच्च ताप पर वाष्पीय अवस्था में, उपर्युक्त तत्वों से प्रभावित कायांतरण प्रक्रिया की ओर इंगित करता है। इस क्रिया के मुख्य उत्पाद खनिजों में मस्कोवाइट, लीथियम अभ्रक, फ्लुराइट, टोपैज, टुरमैलीन, ऐक्सीनाइट, ऐपाटाइट तथा स्कैपोलाइट आते हैं। परिवर्तन स्वयं आग्नेय शैलों को तो प्रभावित कर ही सकता है, आसन्न प्रदेशीय शैलों को भी प्रभावित करता है।

वाष्पखनिजन में भाग लेनेवाले तत्व मैग्मा की प्रकृति के अनुसार भिन्न भिन्न होते हैं। ग्रेनाइट (granite) के साथ क्रिया करनेवाले पदार्थों में जल के अतिरिक्त क्लोरीन, बोरॉन, क्षारीय धातुओं (लीथियम तथा बेरिलियम संमिलित हैं) के यौगिक तथा वंग, ताँबा, जस्ता, सीसा, टंग्सटन, मोलिब्डेनम और यूरेनियम जैसे विशिष्ट धातुसमूहों के यौगिकों का समावेश है। क्षारीय मैग्मा के वाष्पखनिजन से संबंधित पदार्थों में जल के साथ मुख्यतः क्लोरीन, फॉस्फोरस तथा वंग के यौगिक निकलते हैं।

ग्रेनाइट-मैग्मा के अंतर्वेधन (intrusion) से वाष्प खनिजन के तीन प्रकार मुख्यतः संबंधित हैं : टुरमैलिनीभवन, ग्राइजेन एवं केओलिनीकरण।

टुरमैलीनीभवन (tourmalinisation) जल, बोरॉन तथा फ्लुओरीन, जो ग्रेनाइट के क्रिस्टलन के अंत में अवशिष्टलिकर(residual liquors) में संकेंद्रित हो जाते हैं, के संमिलित प्रभाव के कारण होता है। आग्नेय पिंड के अब तक ठोस बने (soliditied) भागों पर ये आक्रमण करते हैं तथा फेल्स्पार अंशतः 'टुरमैलीन द्वारा प्रतिस्थापित हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप टुरमैलीन ग्रेनाइट का प्रादुर्भाव होता है। क्रिया की उग्रता अधिक होने पर फेल्स्पार पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं और तब शैल क्वार्ट्ज तथा टुरमैलीन के समुच्चय (aggregate) में, जिसे 'श्याल-शैल' कहा जाता हैं, परिवर्तित हो जाती है।

ग्राइजेनन (greisening), अतितप्त जलवाष्प तथा फ्लुओरीन की क्रिया के फलस्वरूप कायांतरण की प्रक्रिया को कहते हैं। ग्रेनाइट में फेल्स्पार आक्रांत होकर, अभ्रक में जो बहुधा लीथियम युक्त होता है, परिवर्तित हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप मस्कोवाइट और क्वार्ट्ज का समुच्चय, जिसे 'ग्रीसेन' कहते हैं, का निर्माण होता है। ऐल्बाइट इस प्रकार के वाष्पखनिजन से अप्रभावित रह कर बच जाता है, जब कि पोटैश, फेल्स्पार पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। टोपैज बहुधा ग्रीसेन का मुख्य संघटक है, और जब इसकी मात्रा इस शैल प्रकार में अत्यधिक हो जाती है, तब शैल को 'टोपैज शैल' कहा जाता है। ग्राइजेनन के कारण आसन्न प्रदेशीय शैलों का अत्यधिक 'मस्कोवाइटीकरण' हो जाता है, तथा उनकी संरचना में टोपैज और फ्लुओराइड का भी समावेश हो जाता है।

केओलिनीकरण (kaolinisation) अतितप्त जलवाष्प के साथ थोड़ी फ्लुओरीन और बोरॉन के कारण होता है। ग्रेनाइट के फेल्स्पार आक्रांत होते हैं और केओलिनाइट (Al_2O_3. 2 SiO_2. 2 H_2O) जो चीनी मिट्टी का प्रमुख संघटक है, बन जाता है।

क्षारीय शैलों के अंतर्वेधन के साथ वाष्पखनिजीय प्रभावों का संबंध ग्रेनाइट की अपेक्षा असामान्य है और जब संबंध होता है, तब इसका कारण सदा उपस्थित जल के साथ क्लोरीन, फ़ॉस्फ़ोरस वंग तथा उनके यौगिकों की क्रिया ही पाया गया है। ऐपाटाइट [क्लोरऐपाटाइट, $Ca_3(PO_4)_2 CaCl_2$] तथा रूटाइल की पट्टिकाएँ यहाँ ग्रेनाइट अंतर्वेधों से संबद्ध फ्लुओराइट, टुरमैलीन एवं टिनस्टोन पट्टिकाओं के सदृश ही होती है। फेल्स्पार के अणु मे क्लोरीन के समावेश से स्कैपोलाइट नामक खनिज बन जाता है।

[वि० सा० दु०]

वासरमान प्रतिक्रिया रुधिर परीक्षण की एक ऐसी प्रतिक्रिया है जिससे पता लगता है कि कोई व्यक्ति उपदंश रोग से आक्रांत है या नहीं। उपदंश रोग स्पाइरोकीट नामक दंडाणु से उत्पन्न होता है। इस प्रतिक्रिया का पता लगानेवाले जर्मन प्राध्यापक ऑगस्टवॉन वासरमान (१८६६-१९२५ ई०) थे जिन्होंने इस प्रतिक्रिया का १९०६ ई० में आविष्कार किया।

ऑगस्टयॉन वासरमान (फरवरी, सन् १८६६ से मार्च, सन् १९२५) ओषधि के जर्मन प्रोफेसर और अनुसंधानकर्ता थे। ये डाक्टरी भी करते थे। ये बर्लिन-डेल्हम के कैसर विलहेल्म इंस्टिट्यूट में निदेशक हो गए थे। इन्होंने मेडिकल विषयो पर अनेक महत्व के लेख लिखे हैं। इन्हीं के नाम पर रुधिर की प्रतिक्रिया का नाम पड़ा, जो वासरमान प्रतिक्रिया के नाम से ज्ञात है। इस प्रतिक्रिया में रुधिर का परीक्षण किया जाता है जिससे पता लगता है कि रोगी उपदंश रोग से आक्रांत है या नही। उपदंश रोग एक दंडाणु स्पाइरोकीट से उत्पन्न होता है। उपदंशग्रस्त रोगी के रुधिर में एक प्रोटीन रहता है जिसे ऐंटीबॉडी कहते हैं। उपदंशग्रस्त मानव ऊतक के जलीय निष्कर्ष में यह 'ऐंटीबॉडी' रहता है। इस प्रतिक्रिया का अनेक रोगियो के निदान में प्रयोगशालाओं में परीक्षण हुए हैं। यदि ठीक से यह परीक्षण किया जाय तो ९५ प्रति शत रोगियों में रोग की पहचान हो जाती है।

यदि रोगी उपदंश से ग्रस्त है, तो उसके रुधिर में 'ऐंटीबॉडी' बनता है जो रोगाणु का प्रतिरोध करता है। यदि रोगी उपदंश से आक्रांत है, तो उससे प्रतिक्रिया धनात्मक (+) होती है। यदि उपदंश से आक्रांत नही है, तो प्रतिक्रिया नकारात्मक होती है। यह प्रतिक्रिया शत-प्रति-शत निश्चित नहीं है। ९५% आक्रमण में यह धनात्मक प्रतिक्रिया देती है। इस प्रतिक्रिया में पर्याप्त सुधार हुए हैं और अब पता लगता है कि कुछ अन्य रोगों में भी इससे धनात्मक प्रतिक्रिया प्राप्त होती है। ऐसे रोग हैं कुष्ठ, कैंसर, मलेरिया, पुरातन कालाजार, निद्रारोग इत्यादि। अतः केवल वासरमान प्रतिक्रिया से उपदंश रोग होने की बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती है। पर इस परीक्षण से यह पता अवश्य लगता है कि उपदंश से आक्रांत रोगी को आराम हो गया है या नहीं। आराम हो जाने पर क्रिया अवश्य ही ऋणात्मक होगी। [स० पा० गु०]

वासुकी प्रसिद्ध नागराज जिसकी उत्पत्ति प्रजापति कश्यप के औरस और कद्रू के गर्भ से हुई थी। इसकी पत्नी शतशीर्षा थी। नागधन्वातीर्थ

में देवताओं ने इसे नागराज के पद पर अभिषिक्त किया था। शिव का परम भक्त होने के कारण यह उनके शरीर पर निवास करता था। जब उसे ज्ञात हुआ कि नागकुल का नाश होनेवाला है और उसकी रक्षा इसके भगिनीपुत्र द्वारा ही होगी तब इसने अपनी बहन जरत्कारु को ब्याह दी। जरत्कारु के पुत्र आस्तीक ने जनमेजय के नागयज्ञ के समय सर्पों की रक्षा की, नहीं तो सर्पवंश उसी समय नष्ट हो गया होता। समुद्रमंथन के समय वासुकी ने पर्वत को बाँधने के लिये रस्सी का काम किया था। त्रिपुरदाह के समय यह शिव के धनुष की डोर बना था। [रा० द्वि०]

वासुदेव हुविष्क के बाद उसका पुत्र वासुदेव सिंहासन पर बैठा। हुविष्क के राज्यकाल का अंतिम लेख कनिष्क संवत् ६० का मिलता है। वासुदेव के राज्यकाल के लेख सं० ६७ से ९८ अथवा ९९ तक के प्राय: मथुरा में ही मिले हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि इसके समय में कुषाण साम्राज्य की सीमाएँ संकुचित हो गई थीं। वासुदेव के सिक्के (स्वर्ण तथा ताँबे के) उत्तरी-पश्चिमी भारत (वर्तमान पाकिस्तान) के शहरी बहलोल, जमालगढ़ी, सिरकप तथा तक्षशिला के अन्य भागों से प्राप्त हुए हैं। बेगराम (प्राचीन कापिश) की खुदाई में भी इस शासक के सिक्के (मुद्राएँ) मिले। कदाचित् पो० टि० ओ० नाम से यह चीनी इतिहासकारों को विदित था। उसने २३० ई० में चीनी सम्राट् को एक दूत भेजा और इसे ता-यूची सम्राट् की उपाधि मिली। कुछ विद्वानों का विचार है इस पो० टि० ओ० से वासुदेव द्वितीय का संकेत है। इस संबंध में घिशमान द्वारा बेगराम में की गई खुदाई प्रकाश डालती है। यहाँ पर वासुदेव प्रथम के सिक्के मिले। उसने अर्दशीर के सिंहासनारूढ़ होने पर ससानी शासक के विरुद्ध आरमीनिया के खुसरो प्रथम का साथ दिया था। शापुर प्रथम ने कुषाणवंश का अंत किया था जैसा उपलब्ध प्रमाणों से प्रतीत होता है। वहाँ एक लेख भी मिला जिसमें कई संवतों की तिथियाँ दी गई हैं। वासुदेव की समानता इस फ्रांसीसी विद्वान् ने खोरेन के आरमीनी लेखक मोजेज (मूसा) के वेहसजदन नामक कुषाण शासक से की है।

मथुरा में वासुदेव के समय के लेखों में प्राय: जैन दानियों द्वारा तीर्थंकरों की मूर्तियों के स्थापन का उल्लेख मिलता है। सं० ६७ के एक लेख में महासंघिकों के हेतु बुद्ध प्रतिमा के निर्माण का उल्लेख है। सं० ७७ के एक अन्य लेख में उड्डियान से आए हुए जीवक नामक भिक्षु के दान का उल्लेख है जो उसने हुविष्क द्वारा मथुरा में स्थापित विहार में किया था। इससे प्रतीत होता है कि इस कुषाण शासक के समय में यातायात का समुचित प्रबंध था।

वासुदेव स्वयं शिव का उपासक था, यद्यपि इसका नाम इसके वैष्णव होने का द्योतक है। इसके सिक्कों पर केवल शिव और नंदी की प्रतिमाएँ अंकित हैं। मथुरा संग्रहालय में शिवलिंग के निकट जाते हुए एक राजसी वेशधारी की मूर्ति की समानता इस शासक से की गई है। अपने पूर्वजों की भाँति इसने भी महाराज राजाधिराज देवपुत्र षाहि की उपाधियाँ धारण कीं। यह सम्राट् कनिष्क का अंतिम वंशज था, यद्यपि उत्तरार्ध के कुषाण शासकों—कुषाण पुत्रों के लेख तथा सिक्के भी मिलते हैं।

सं० ग्रं० :—स्टेनकोनो—कॉर्पस इंस्क्रिप्शंस इंडिकेरम भाग २, (१) पुरी बी० एन—इंडिया अंडर दि कुषाणज् (बंबई, शास्त्री, के० ए० नीलकंठ कांप्रिहेंसिव हिस्ट्री आफ इंडिया) : भाग २। [बै० पु०]

वासुदेव महादेव अभ्यंकर (जन्म १८६२, मृत्यु १९४३) सुप्रसिद्ध वैयाकरण तथा अनेक शास्त्रों के पारंगत विद्वान्। हिंदुस्तान की सरकार ने १९२१ में आपको 'महामहोपाध्याय' की उपाधि से विभूषित किया। संकेश्वर के शंकराचार्य जी ने भी उन्हें 'विद्वद्रत्न' की पदवी प्रदान की।

सतारा के प्रसिद्ध विद्वान् पंडित राजाराम शास्त्री गोडबोले उनके गुरु थे। इनके गुरु भास्कर शास्त्री अभ्यंकर उनके पितामह थे। उनके पिता की मृत्यु के बाद राजाराम शास्त्री ने उनका सारा भार अपने ऊपर ले लिया। न्यायमूर्ति म० गो० रानडे ने उनकी विद्वत्ता को देखकर फर्गुसन कालेज में शास्त्री के पद पर उनकी नियुक्ति की। व्याकरण के साथ साथ वेदांत, मीमांसा, साहित्य, न्याय, ज्योतिष आदि शास्त्रों में भी उन्होंने अपनी प्रतिभा का समान रूप में परिचय दिया। इन विषयों का अध्ययन, अध्यापन तथा लेखन आपका अव्याहत गति से चलता रहा। अभ्यंकर की लेखनशैली बहुत ही मार्मिक, मौलिक तथा सरल है। ग्रंथों का स्तर ऊँचा है। संस्कृत में अनेक ग्रंथों पर उन्होंने टीकाएँ लिखी हैं। स्वतंत्र रचनाओं में अद्वैतामोद:, कायशुद्धि:, धर्मतत्वनिर्णय:, सूत्रांतर परिग्रह विचार: आदि हैं। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य तथा पातंजल महाभाष्य का मराठी अनुवाद भी उनकी कृतियाँ हैं। ये रचनाएँ 'आनंदाश्रम, बंबई, ग्रो० सीरीज, गायकवाड सीरीज में प्रकाशित हैं।

बंबई विश्वविद्यालय के वे एम० ए० के परीक्षक थे। पूना की वेदशास्त्रोत्तेजक सभा को भी उनकी सहानुभूति प्राप्त थी। जिस विद्वत्परंपरा में उनका निर्माण हुआ था वह महान् थी। इसी परंपरा में प्रो० कीलहार्न, बाल सरस्वती रानडे तथा गंगाधर शास्त्री तेलंग हुए थे। उनकी शिष्य परंपरा में पं० रंगाचार्य रेड्डी, शंकर शास्त्री मारुलकर, गणेशशास्त्री गोडबोले, सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव आदि प्रसिद्ध विद्वान् हुए हैं। [हु० म० फ०]

वासुदेव वामन शास्त्री खरे (जन्म सं० १८५८, मृत्यु सं० १९२४) इनका जन्म कोकण के गुहागर नामक गाँव में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा वहीं पर प्राप्त करने के बाद सतारा में आपने अनंताचार्य गजेंद्रगडकर के पास संस्कृत का विशेष अध्ययन किया। उसके बाद पूना के न्यू इंग्लिश स्कूल में संस्कृत के अध्यापक के रूप में उनकी नियुक्ति उनके जीवन की महत्वपूर्ण घटना थी। यहीं पर लोकमान्य तिलक के साथ उनका परिचय और दृढ़ स्नेह हुआ। 'केसरी' और 'मराठा' से उनका संबंध उनके जन्म से ही था। तिलक जी की प्रेरणा से वे मिरज के नए हाई स्कूल में संस्कृत के अध्यापक का काम करने लगे। वहीं उन्होंने ३० वर्षों तक विद्यादान का कार्य किया, वहीं पर अंग्रेजी भाषा का अध्ययन किया तथा इतिहास संशोधन के प्रति रुचि यहीं पर उनमें उत्पन्न हुई थी। लगभग २७ वर्षों तक पटवर्धन दफ्तर के अमूल्य ऐतिहासिक साधनों का अध्ययन कर 'ऐतिहासिक लेखसंग्रह' के रूप में उसे उन्होंने महाराष्ट्र को दिया।

बचपन से ही वे कविता किया करते थे। 'यशवंतराव' नामक एक महाकाव्य की उन्होंने रचना की थी। संस्कृत पढ़ाते समय संस्कृत श्लोकों का समवृत्त मराठी अनुवाद अपने विद्यार्थियों को सुनाते थे। शिक्षक के रूप में वे बहुत अनुशासनप्रिय थे। वे नाटककार भी थे। गुणोत्कर्ष, तारामंडल, उग्रमंडल आदि अनेक ऐतिहासिक नाटकों की उन्होंने रचना की। इसके अतिरिक्त नाना फड़णवीस चरित्र, हरिवंशाची बखर, इचल करंजी चा इतिहास, मालोजी व शहाजी, उनकी विशेष प्रसिद्ध पुस्तकें हैं।

परंतु उनकी कीर्ति इतिहास के प्रति सेवाओं के कारण चिरंतन है। उनके 'ऐतिहासिक लेख संग्रह' में १७६० से १८०० तक के मराठों के इतिहास की विवेचना है। रसिक और विद्वान होने के नाते उनसे इतिहास के संबंध में अनेक नई बातें लोगों को सुनने को मिलती थीं। उनका अधिकतर जीवन गरीबी में बीता। उन्होंने बिना किसी की आर्थिक सहायता के अपने ही पैरों पर खड़े होकर श्रेष्ठ इतिहास अन्वेषक और ग्रंथकार के रूप से कीर्ति प्राप्त की थी। इन परिस्थितियों में लगभग तीन दशाब्दियों तक इतिहास-अन्वेषण का जो ठोस और सुव्यवस्थित कार्य उन्होंने किया वह किसी भी उच्च कोटि के विद्वान् के लिये अभिमानास्पद है। उनकी विवेचनाशक्ति तथा सारग्रहण करने की क्षमता अद्भुत थी। ठोस और बृहत् आधार पर वे अपने मतों को स्थिर करते थे इसीलिये वे अकाट्य और अबाधित रहते थे। इस सुदीर्घ परिश्रम को उनका शरीर न सह सका। वे तपेदिक से पीड़ित हो गए और ११ जून, १९२४ को मिरज में उनका देहांत हुआ। [हु० अ० फ०]

वास्को-डा-गामा (Vasco, da Gama, सन् १४६०?'–१५२४) पुर्तगाली नाविक थे। इनका जन्म १४६० ई० के लगभग साइंज (Sines) में हुआ था। जुलाई, १४९७ ई० में इन्होंने केप का चक्कर लगाने की कठिन यात्रा का प्रयास किया। सन् १४९८ में इन्होंने भारत की प्रथम यात्रा उत्तमाशा अंतरीप (Cape of Good Hope) से होते हुए की। इस प्रकार यूरोप और पूर्वी देशों के बीच नए व्यापारिक मार्ग की स्थापना हुई। वास्को-डा-गामा ने जहाजों पर तोपों का उपयोग किया और यह प्रथम अवसर था, जब हिंद महासागर में यूरोपीय आग्नेयास्त्र देखे गए।

अफ्रीका के मालिंदी तट से हिंद महासागर के पार तक की यात्रा एक अरबी नाविक द्वारा निर्देशित की गई थी। गामा ने २५ दिन में महासागर पार किया और २० मई, १४९८ ई० को ये कालीकट पहुँचे और वहाँ इन्होंने एक बस्ती बसाई। १४९९ ई० में ये पुर्तगाल लौट गए। इन्होंने इस असाधारण यात्रा की सफलता में दो वर्ष और दो मास बिताए और इस यात्रा का यूरोप के आर्थिक एवं राजनीतिक विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। कालिकट में विद्रोह हो गया और गामा उसका दमन करने के लिए भेजे गए। १५०३ ई० में वे पुर्तगाल लौटे। सन् १५२४ ई० में पुनः कुछ कठिनाई कालीकट में उपस्थित हुई और गामा पुनः वापस आए तथा पुर्तगालियों की प्रतिष्ठा कायम की। अप्रैल, १५२४ ई० में भारत में पुर्तगाली अधिकृत क्षेत्र के वे वाइसराय बनाए गए। २४ दिसंबर, १५२४ ई० को पुर्तगाल जाते समय कोचीन में इनका देहांत हो गया। [कां० ना० का०]

वास्तुक (Architect) वह व्यक्ति है, जो भाँति भाँति की इमारतों की व्यापक संकल्पना और दूरगामी कल्पनायुक्त अभिकल्पना से संबंधित कलाओं और विद्याओं में दक्ष हो तथा नकशे द्वारा या पैमाने द्वारा प्रतिरूप बनाकर त्रिविमितीय दृश्य वास्तु संबंधी अपने विचार व्यक्त करने में समर्थ हो, और फिर अपनी अभिकल्पित इमारतों के निर्माण कार्य का यथोचित रूप से निरीक्षण करता हो, अथवा जो उत्कृष्ट कोटि के भवन और उनके पर्यावरण तैयार करने में आस्था रखते हुए वास्तुकला को यथोचित रूप में समझता और काम में लाता हो तथा भवनों के अभिकल्पन और उनकी रचना के निर्देशन का भलीभाँति व्यवसाय करता हो।

इसके अतिरिक्त वास्तुक का पवित्र कर्तव्य है कि वह भवननिर्माण के काल, स्थान तथा युग की प्रवृत्ति का चित्रण करे। उसके समस्त सृजनात्मक क्रियाकलाप के फलस्वरूप कुछ नवीन, कुछ असाधारण, कुछ भावनापूर्ण तथा उपयुक्त सृष्टि होती है, जिसके विषय में उसका अनुमान स्पष्ट और कल्पनाचातुर्य प्रत्युत्पन्न तथा प्रत्यक्ष होना चाहिए, वास्तुक के उद्यम से उत्साह, समृद्धि, न्यूनतम पुनरावृत्ति के साथ अधिकतम सौंदर्य और वास्तविक उपयोगिता के साथ स्वरूप की पवित्रता प्रकट होती है। इस नेतृत्वपूर्ण नैष्ठिक सृजनात्मकता के कारण ही वास्तुक को मूर्तिमान सृष्टा का औचित्यपूर्ण नाम दिया जाता है।

प्राचीन तथा अर्वाचीन लेखों में तथा वास्तुकलाविदों ने किसी कुशल वास्तुक के लिये जो विविध अनिवार्य गुण और विशेषताएँ निर्धारित की हैं वे कठिनाई से प्राप्त होते हैं। उनके अनुसार वास्तुक अत्यधिक सामान्य ज्ञान वाला और विस्तृताधार संस्कृति वाला व्यक्ति होना चाहिए, जो सांसारिक बातों में और संसार के विकास में रुचि रखे तथा वैज्ञानिक, तकनीकी और राजनीतिक गतिविधियों के प्रति तथा अपने चुने हुए व्यवसाय एवं संबंधित कलाओं के क्षेत्रों में समय के साथ रहे।

इस प्रकार उसे गणित, ज्यामिति, यांत्रिकी, प्रकाशिकी, ध्वानिकी, प्रवार जनन, तापन, संवातन और विद्युत के नियमों, जनस्वास्थ्य, रसायन विज्ञान, पदार्थों की प्रकृति, संरचना इंजीनियरी, निर्माता के काम में आनेवाले सभी व्यवसायों की पद्धतियों, संपत्ति के अधिकार और विभाजन तथा निर्माण संबंधी प्रतिबंधों और अन्य बातों से संबंधित कानूनों की स्थिति, संपत्ति, श्रम तथा सामग्री के वर्तमान मूल्यों, संविदा प्रलेख तैयार करने और निर्माण के सामान्य निर्देशन एवं पर्यवेक्षण में, प्रवीण होना चाहिए।

सामग्री के ललित-कला-संस्कार के लिये आकृति, स्थल-दृश्य-निर्माण आदि के बारे में उर्वर, किंतु प्रतिभा के निर्देशन के लिये पर्याप्त उदार विवेक द्वारा नियंत्रित, कल्पनाशक्ति का प्रयोग अपेक्षित है। वास्तुक का यह विवेक सामान्य ललितकला (सौंदर्य शास्त्र) और दार्शनिक पक्ष के ज्ञान पर आधृत होता है। इसके लिये उसे भाषाओं का ज्ञान होना आवश्यक है।

वास्तुक मानव के पर्यावरण का आकल्पी होता है, इसलिये उसके लिये भूगोल, जलवायुशास्त्र, अर्थशास्त्र, और वनस्पति-जीवन का ज्ञान तथा दूरविवेक एवं नागरिक आकल्प से इन्हें संबद्ध करने का सम्यक् ज्ञान भी, महत्वपूर्ण है।

ये लक्ष्य प्राप्त करने के लिये वास्तु संबंधी कला, विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रभावी तथा मूल्यवान शिक्षा देना वास्तुक के वर्तमान प्रशिक्षण का उद्देश्य होता है, जिससे स्नातक विभिन्न वर्गों की विविध इमारतों की उपयोगिता, सौंदर्य और स्थायित्व का ध्यान रखते हुए उनके अभिकल्पन और निर्माण के निर्देशन का पर्याप्त व्यापक ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

१. यद्यपि वास्तुकला का, उसके सरलतम रूपों सहित, मूलाधार पूर्णतया उपयोगिता है, किंतु विशुद्ध कला के क्षेत्र में जो कुछ भी महत्वपूर्ण है, वह अशेषतया इसके वितान के अंतर्गत है। सर्वप्रथम, वास्तुकला के अध्ययन का संबंध उन सामग्री, रचनाओं और उद्देश्यों से है, जिनमें कला के रूप में इसका आधार, संरचना के वैज्ञानिक निर्माण के साथ इसका निर्वाह, और सांस्कृतिक घटक के रूप में इसका स्पष्टीकरण प्रत्यक्ष हो सके।

२. वास्तुस्नातक से यह अपेक्षा की जाती है कि उसे वास्तुकला के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का भी ज्ञान हो। प्राचीन महान् रचनाओं का महत्व और उनका सच्चा वास्तुकीय मूल्य समझने के लिये उनका अध्ययन किया जाता है। उनका निर्माण किस ऐतिहासिक परिस्थिति विशेष पर निर्भर था, इससे मूल वास्तुकीय रचना की आवश्यकता प्रकाश में आ जाती है। प्राचीन वास्तुकला की शिक्षा सामाजिक इतिहास के संदर्भ में भी दी जाती है और उसका विकास भली भाँति समझ लिया जाता है। इससे यथासमय आवश्यकतानुसार वर्तमान कालीन निर्माण में उपयोग करने की दृष्टि से मूल का मूल्यांकन करने में सहायता मिलती है।

३. वास्तुक के लिये निर्माण की व्यावहारिक विधियों का, सामग्री के उपयुक्त उपयोग का, उसके गुणधर्म का, और निर्माण संबंधी विशेषज्ञता तथा आपेक्षिक मितव्ययिता का भली भाँति ज्ञान होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त भवनों के स्थायित्व संबंधी आवश्यक ज्ञान देने के लिये उसे संरचना इंजीनियरी सिखाई जाती है।

४. निर्माण में होनेवाले व्यय का और प्रयुक्त होनेवाली सामग्री के परिमाण का सही सही अनुमान लगाने के लिये उसे प्राक्कलन और विशिष्टियाँ सिखाई जाती हैं। उचित और स्वस्थ जीवननिर्वाह की सृष्टि में वह और भी दक्ष हो सके, इसलिये स्वच्छता, स्वास्थ्य विज्ञान, संवातन और जलवायु का अध्ययन उसे कराया जाता है। भवनों में विद्युत्, यांत्रिकीय उपकरणों और ध्वानिकी के प्रयोग के संबंध में सामान्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये वह इनका अध्ययन करता है। जीवन का पर्यावरण सुधारने के लिये वह स्थल-दृश्य-वास्तु सीखता है। गृह निर्माण तथा पुरनिवेश की व्यापकता तथा उपयोग समझने के लिये वास्तुक उनका अध्ययन करता है। संतोषजनक आजीविका की पृष्ठभूमि तैयार करने के लिये वह अधीक्षण, ठेके की शर्तों और व्यावसायिक व्यवहारसंहिता का अध्ययन करता है।

५. केवल वैज्ञानिक ज्ञान पर्याप्त नहीं होता, अपितु सार्वभौम भाषा आलेखन के माध्यम से विचार व्यक्त करने में वास्तविक प्रवीणता अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह जन्मजात हो सकती है, अथवा मुक्तहस्त या अन्य वास्तुआलेखों का अध्ययन करके विकसित की जा सकती है। वास्तुक को, सफल होने के लिये, अपनी कलात्मक योग्यता का विकास करना आवश्यक है, ताकि वह उपयुक्त माध्यम द्वारा विचार व्यक्त करके अपने ग्राहकों का विश्वास प्राप्त कर सके।

६. स्थानीय निकायों और प्राधिकरणों के नियमों एवं विनियमों को जानना और उनका अर्थ निकाल सकना वास्तुक के लिये आवश्यक है। उसमें ठेका, क़रार, मूल्यन और इसी प्रकार के कानूनी दस्तावेज तैयार करने की योग्यता होनी चाहिए। व्यवहार में वास्तुक के लिये यह भी आवश्यक हो जाता है कि वह अपने ग्राहक के धन की बड़ी बड़ी राशियों का लेनदेन करे और सदा सतर्क रहे कि आर्थिक, या कानूनी मामलों में ग्राहक किसी कठिनाई में न आने पाए।

७. आजकल इमारतों के विविध प्रकार और उनके निर्माण की विधियाँ इतनी अधिक हैं कि किसी वास्तुक का अपने काम की प्रत्येक शाखा में प्रवीण होना असंभव है। इसलिये वह प्रायः *निवास भवन, विद्यालय, चिकित्सालय, प्रेक्षागृह, फ्लैट, या* अन्य किसी एक प्रकार की इमारत की वास्तुकला में विशेषज्ञता प्राप्त करना पसंद करता है। इसके लिये स्नातकोत्तर अध्ययन की आवश्यकता होती है। भारत में अभी ऐसी कोई संस्था स्थापित नहीं हुई, जहाँ वास्तुकला में स्नातकोत्तर अध्ययन करके कोई 'मास्टर की उपाधि प्राप्त कर सके। इसलिये उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए लोगों को विदेश जाना पड़ता है।

किंतु बिना विशेषज्ञता प्राप्त किए भी अधिकांश दशाओं में भाँति भाँति की इमारतों का संतोषजनक काम चलाने के लिये वास्तुक सक्षम होता है, पर एक या अधिक सलाहकार की आवश्यकता हो सकती है। वास्तुक बहुधा विशेषज्ञों के एक दल का, जिसमें संरचना इंजीनियर, तापन और संवातन इंजीनियर, ध्वानिकी विशेषज्ञ, प्रकाश इंजीनियर, भू-सर्वेक्षक, मात्रा प्रागणक, स्वास्थ्य इंजीनियर और भू-दृश्य सलाहकार होते हैं, संयोजक बन जाता है। विशाल और जटिल प्रकार की इमारत ग्राहक के इच्छानुसार अत्यंत संतोषजनक ढंग से तैयार कराने में विशेषज्ञों के दल का संयोजक होने के नाते, वास्तुक उनके काम में समन्वय स्थापित करता है।

८. वास्तुकला का व्यवसाय सच्चा और संमाननीय है। वास्तुक अपने काम में उतना ही उत्साही और निष्ठावान् होता है जितना एक कुशल वकील या सहानुभूतिपूर्ण चिकित्सक। केवल धन कमाने के लिये वास्तुशास्त्र की शिक्षा लेनेवाला युवक कभी सच्चा वास्तुक नहीं बन सकता। वास्तुक को अपने व्यवसाय को सर्वाधिक महत्व देना चाहिए और उसका मान बढ़ाना चाहिए।

९. वास्तुक के योगदान के लिये पहली शर्त यह है कि वह व्यक्तियों और समाजों की आवश्यकता को समझे। फिर द्वितीय शर्त यह है कि वह परिस्थितिविशेष में उन आवश्यकताओं का सही सही विश्लेषण करे। तीसरी शर्त है, कि उसमें कमरों के उचित विन्यास और दिक्स्थापन के साथ उनका समन्वय करने की योग्यता हो। चौथी शर्त है कि वह स्थल विशेष में सामान्य नक्शों की सादी और सस्ती रचनापद्धति और सुधरी तथा मितव्ययी सामग्री एवं निर्माण विधियों में हुई गवेषणा के साथ समन्वय करे। पाँचवीं शर्त है कि चूँकि वास्तुसंबंधी आकल्पों और अभिव्यक्तियों में दार्शनिक चेष्टाएँ अनुपात और मौलिकता के

नियंत्रित रहती हैं, ताकि वे मुखर हो सकें। इसलिये नियमों से नहीं बल्कि सिद्धांतों से स्पष्टीकरण करते हुए उसे कार्य का उद्देश्य और लक्ष्य सिद्ध करना चाहिए। छठी बात जो वास्तुक में अपेक्षित है, वह यह कि उपकरणों से, सामग्री के उपयोग और अनुप्रयोग से उसकी आयोजना इस प्रकार घुल मिल जाय कि उसके साथी प्रयोक्ता के लिये सुविधा, स्वास्थ्य और आनंदप्रद अवस्था सदा बनी रहे।

१०. कठोर प्रशिक्षणयुक्त शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध होने से वास्तु व्यवसाय को अब पर्याप्त मान्यता मिली है। अतः इसके लिये इसे राज्य का प्रोत्साहन, संबद्ध व्यवसायों का सहयोग और हर तरह के भवन निर्माण करने की इच्छा रखने वाले का आश्रय मिलना चाहिए। इमारतों के आकल्पन और निर्माण के लिये, अनुग्राही स्वभाव वाला, तकनीकी योग्यतावाला, और सुविधा, स्वास्थ्य एवं आनंदप्रद परिस्थितियाँ उत्पन्न करनेवाली गंभीर मौलिकता वाला वास्तुक ही उपयुक्त व्यक्ति है जिससे संपर्क स्थापित करना चाहिए।

११. इस समय भारत में चूँकि सरकार और जनता सार्वजनिक और निजी भवनों में गहरी रुचि लेने लगी है, इसलिये वास्तुक के लिये रोजगार के अवसर बड़े अच्छे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आवास समस्या सर्वोपरि हो गई है। इसके अतिरिक्त भारतीय गणतंत्र योजनाकालीन विकास कार्यों द्वारा बड़ी तेजी से सुदृढ़ आधार वाला एक नया सामाजिक ढाँचा खड़ा करने में लगा हुआ है, जिसमें मानव के दैनिक जीवन के पर्यावरण का आकल्पी वास्तुक अत्यंत महत्वपूर्ण योग देगा। उन्हें लोक निर्माण विभाग जैसी सरकारी संस्थाओं, शिक्षा संस्थाओं, नगर नियोजन विभागों, स्थानीय निकायों, ग्रामोत्थान कार्यों, निजी फर्मों और आजीविका के निमित्त खोले हुए अपने ही कार्यालयों में काम मिलेगा। इस प्रकार व्यवसाय करनेवाले सभी व्यक्तियों के लिये सबसे महत्वपूर्ण गुण हैं : व्यवसाय कुशलता, व्यवहार चातुर्य, और पेशे के लिये आवश्यक क्षमता।

१२. वास्तुक अपना परामर्शशुल्क प्रतिशत आधार पर लेते हैं। किंतु निजी व्यवसाय करते हुए प्रत्येक वास्तुक भारतीय वास्तुक संस्था द्वारा निर्धारित नियम पालन करने के लिये बाध्य है। यदि सरकारी नौकरी में आता है, तो उसका वेतनमान अन्य इंजीनियरी कर्मचारियों के समकक्ष होता है। प्रतिशत आधार पर संस्थापन व्यय का विभाजन वित्तीय पुस्तिका के प्रथम खंड के प्रथम भाग में दिया हुआ है, जो इस प्रकार है : ३ प्रतिशत वास्तुकीय कर्मचारियों के लिये, ८ प्रतिशत इंजीनियरी कर्मचारियों के लिये, और १ प्रतिशत लेखा और लेखा परीक्षा विभाग के लिये। इस विभाजन से आर्थिक सीमाओं के भीतर संस्थापन का ढाँचा बनाने में सहायता मिलती है।

१३. वास्तुक यदि निजी व्यवसाय करता है, तो अपने ग्राहक की आवश्यकताएँ मालूम करना, और उपलब्ध वित्तीय साधनों के अनुसार आकल्प तैयार करना उसका काम होता है। ग्राहक की यथाविधि स्वीकृति के पश्चात् सभी आवश्यक कार्यकारी आलेख तैयार किए जाते हैं और नगर प्राधिकारियों का अनुमोदन प्राप्त किया जाता है। फिर वह ठेका संबंधी कागजात तैयार करता है, और इमारत के निर्माण के लिये जिस प्रकार के श्रमिक, सामग्री, और सेवाएँ चाहिए, उनके विषय में विस्तृत अनुदेश देता है। वह अपने ग्राहक का अभिकर्ता होने के नाते निर्माता का चुनाव करता है, और 'ग्राहक और निर्माता के बीच ठेके की शर्तें निश्चित करता है। मौके पर दिन-प्रति-दिन के पर्यवेक्षण के लिये वास्तुक की संमति से एक कर्मलिपिक नियुक्त किया जाता है, जिसका वेतन ग्राहक देता है।

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि आधुनिक वास्तुक संरचना, वास्तुरूप के ज्ञान और पारस्परिक संबंध में पटु होता है, तथा प्रबलित कंक्रीट, इस्पात, काच, पर्ती लकड़ी, ऐलुमिनियम, एवं प्लास्टिक के प्रयोग से संबंधित अद्यतन जानकारी रखता है, और मानव के पर्यावरण का आकल्पी होने के कारण वह ऊष्मारोधन तथा वातानुकूलन के सिद्धांतों का प्रयोग करता है। वर्तमान परिस्थितियों में प्राचीनकाल की, जब उपर्युक्त आधुनिक विशेषताएँ थी ही नहीं, आकृतियों, मूर्तिकला, विशिष्ट ऐतिहासिक ढंग की सजावट और गढ़ाई का प्रयोग करने के लिये यदि किसी वास्तुक को कहा जाय, तो यह अपव्यय ही होगा। नए मानक और नए रूपों (शैलियों) का प्रयोग आधुनिक वास्तुकला की माँग है, जिनका सभी संबंधित व्यक्तियों की कल्पना संतुष्ट करने में अवश्य ही व्यापक और सीधा प्रभाव होगा।

[गो० म० मो०]

वास्तुकला भवनों के विन्यास, आकल्पन, और रचना की, तथा परिवर्तनशील समय, तकनीक और रुचि के अनुसार मानव की आवश्यकताओं को संतुष्ट करने योग्य सभी प्रकार के स्थानों के तर्कसंगत एवं बुद्धिसंगत निर्माण की कला, विज्ञान तथा तकनीक का संमिश्रण वास्तुकला की परिभाषा में आता है।

इसका और भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है। वास्तुकला ललितकला की वह शाखा रही है, और है, जिसका उद्देश्य औद्योगिकी का सहयोग लेते हुए उपयोगिता की दृष्टि से उत्तम भवननिर्माण करना है, जिनके पर्यावरण सुसंस्कृत एवं कलात्मक रुचि के लिये अत्यंत प्रिय, सौंदर्य-भावना के पोषक तथा आनंदकर एवं आनंदवर्धक हों। प्रकृति, बुद्धि एवं रुचि द्वारा निर्धारित और नियमित कतिपय सिद्धांतों और अनुपातों के अनुसार रचना करना इस कला का संबद्ध अंग है। नक्शों और पिंडों का ऐसा विन्यास करना और संरचना को अत्यंत उपयुक्त ढंग से समृद्ध करना, जिससे अधिकतम सुविधाओं के साथ रोचकता, सौंदर्य, महानता, एकता, और शक्ति की सृष्टि हो सके, यही वास्तुकौशल है। प्रारंभिक अवस्थाओं में, अथवा स्वल्पसिद्धि के साथ, वास्तुकला का स्थान मानव के सीमित प्रयोजनों के लिए आवश्यक पेशों, या व्यवसायों में-प्रायः मनुष्य के लिये किसी प्रकार का रक्षास्थान प्रदान करने के लिये होता है। किसी जाति के इतिहास में वास्तुकृतियाँ महत्वपूर्ण तब होती हैं, जब उनमें किसी अंश तक सभ्यता, समृद्धि और विलासिता आ जाती है, और उनमें जाति के गर्व, प्रतिष्ठा, महत्वाकांक्षा, और आध्यात्मिकता की प्रकृति पूर्णतया अभिव्यक्त होती है।

प्राचीन काल में वास्तुकला सभी कलाओं की जननी कही जाती थी। किंतु वृत्ति के परिवर्तन के साथ और संबद्ध व्यवसायों के भाग लेने पर यह समावेशक संरक्षण की मुहर अब नहीं रही। वास्तुकला पुरातन काल की सामाजिक स्थिति प्रकाश में लानेवाला मुद्रणालय

भी कही गई है। यह वहीं तक ठीक है जहाँ तक सामाजिक एवं अन्य उपलब्धियों का प्रभाव है। यह भी कहा गया है कि वास्तुकला भवनों के अलंकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जहाँ तक ऐतिहासिक वास्तुकला का संबंध है, यह अंशतः सत्य है। फिर वास्तुकला सभ्यता का साँचा भी कही गई है। जहाँ तक पुरातत्वीय प्रभाव है, यह ठीक है किंतु वास्तुकला के इतिहास पर एक संक्षिप्त दृष्टिपात से यह स्पष्ट हो जायगा कि मानव के प्राचीनतम प्रयास शिकारियों के आदिकालीन गुफा-आवासों, चरवाहों के चर्म-तंबुओं और किसानों के झोंपड़ों के रूप में देख पड़ते हैं। नौका-आवास और वृक्षों पर बनी झोपड़ियाँ पुराकालीन विशिष्टताएँ हैं। धार्मिक स्मारक बनाने के आदिकालीन प्रयास पत्थर और लकड़ी की बाड़ के रूप में थे। इन आदिकालीन प्रयासों में और उनके सुधरे हुए रूपों में सभी देशों में कुछ न कुछ बातें ऐसी महत्वपूर्ण और विशिष्ट प्रकार की हैं कि बहुत दिन बाद की महानतम कला कृतियों में भी वे प्रत्यक्ष हैं।

युगों के द्रुत विकासक्रम में वास्तुकला विकसी, ढली, और मानव की परिवर्तनशील आवश्यकताओं के — उसकी सुरक्षा, कार्य, धर्म, आनंद, और अन्य युगप्रवर्तक चिह्नों, अनुरूप बनी। मिस्र के सादे स्वरूप, चीन के मानक अभिकल्प-स्वरूप, भारत के विदेशी तथा समृद्ध स्वरूप, मैक्सिको के मय और ऐज़टेक की अनगढ़ महिमा, यूनान के अत्यंत विकसित देवायतन, रोमन साम्राज्य की बहुविध आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाले जटिल प्रकार के भवन, पुराकालीन आडंबरहीन गिरजे, महान् गाथिक गिरजा भवन और चित्रोपम दुर्ग, तुर्की इमारतों के उत्कृष्ट विन्यास एवं अनुपात, और यूरोपीय पुनरुत्थान के भव्य वास्तुकीय स्मारक ऐतिहासिक वास्तु के सतत विकास का लेखा प्रस्तुत करते हैं। ये सब इमारतें मानव विकास के महान युगों की ओर इंगित करती हैं, जिनमें वास्तुकला जातीय जीवन से अत्यधिक संबंधित होने के कारण उन जातियों की प्रतिभा और महत्वाकांक्षा का, जिनकी उनके स्मारकों पर सुस्पष्ट छाप है, दिग्दर्शन कराती है।

प्रत्येक ऐतिहासिक वास्तु की उपलब्धियाँ मोटे तौर से दो मूलभूत सिद्धांतों से निश्चित की जा सकती हैं, एक जो संकल्पना में अंतर्निहित है, और दूसरा जो सर्वोच्च विशिष्टता का द्योतक है। मिस्री वास्तु में यह युगोत्तरजीवी विशाल और भारी स्मारकों द्वारा व्यक्त रहस्यमयता है, असीरियाई, बेबीलोनी और ईरानी कला में, यह शस्त्रशक्ति और विलासी जीवन था, यूनानी कला में यह निश्चयात्मक आयोजना और संशोधित दृष्टिभ्रम था जिसके फलस्वरूप सादगी और परिष्कृत पूर्णता आई। रोमनों में यह सभ्यता, आनंद एवं शक्ति का प्रेम था जिसके फलस्वरूप विलक्षण वैज्ञानिक निर्माण हुआ। पुराकालीन ईसाइयों में यह ईसामसीह की सच्ची सादगी और गौरव व्यक्त करनेवाले गिरजाघरों के निर्माण के प्रति भारी उत्साह के रूप में था; गाथिक निर्माताओं में यह संरचना यांत्रिकी के ज्ञान से युक्त उत्कट भक्ति थी; इतालवी पुनरुद्धार में यह उस युग की विद्वत्ता थी। बौद्ध और हिंदू वास्तुकला का उत्कृष्ट गुण उसका आध्यात्मिक तत्व है, जो उसके विकास में आद्योपांत प्रत्यक्ष है। मुसलमानी वास्तुकला में अकल्पनीय धन संपदा, ठाट, और विशाल भूखंड पर उसका प्रभुत्व झलकता है; जब कि भारत का भीमकाय अफगानी वास्तु उस शासन की आक्रामक प्रवृत्ति प्रकट करता है; किंतु मुगल स्मारक उत्कृष्ट अनुपात मुगलों के और कृति संबंधी प्रेम की दर्शनि में श्रेष्ठ हैं तथा भारत की गर्मी में उनका जीवन भलीभाँति व्यक्त करते हैं। इस प्रकार भूतकालीन कृतियों में हम देखते हैं कि चट्टानों, ईंटों और पत्थरों में मूर्त वे विचार ही हैं जो उपयुक्त और विश्वसनीय ढंग से किसी न किसी रूप में गौरव के शिखर पर पहुँची हुई सभ्यताओं की तत्कालीन धर्म संबंधी या अन्य जागृति व्यक्त करते हैं।

इन तमाम बातों में वास्तुकला सामयिक चेतना पर्यावरण तथा स्थानीय पृष्ठभूमि के सामंजस्य में विकसित हुई। आज भी हम प्रतिभावान् व्यक्तियों के लिये सर्वाधिक उपयुक्त स्वरूप टटोलते रहते हैं। आज कुछ ऐसे वास्तुक हैं जो भूत का अनुसरण करने में ही संतुष्ट हैं, कुछ अन्य हैं जो विदेशी ढंग का अनुकरण करने का प्रयास करते हैं। बहुत थोड़े से ऐसे हैं जो अपने समय, गति और राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अनुरूप वास्तु का विकास करते का प्रयास कर रहे हैं। इस छोटे से वर्ग का प्रयास नया संघात प्रस्तुत करने का है, जो मनुष्य को नए विचार सोचने और धारण करने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार ये हमारे युग के भवन निर्माण करने का प्रयास करते हैं और बाद में ये ही भवन शरीर और मस्तिष्क के स्वस्थ विकास को प्रोत्साहित करके जाति का निर्माण करेंगे।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि वास्तुकला कभी कभी ज्ञात उपयोगिता संबंधी आवश्यकताओं और उसकी निर्माण पद्धतियों से आगे भी बढ़ जाती है। वास्तुकला में ही कल्पना की विशुद्ध सृष्टि, जब सारे दृष्टिकोण के व्यापक अवबोध के साथ व्यक्त होती है, तब पूर्णता के शिखर पर पहुँचने में समर्थ होती है, जैसे यूनान में जूस के सिर से एथीना की, या भारत में स्वयंभू की उपमा।

इसमें संदेह नहीं कि वास्तुकला का आधार इमारतें हैं, किंतु यह इमारतें खड़ी करने के अतिरिक्त कुछ और भी है, जैसे कविता गद्य रचना के अतिरिक्त कुछ और भी है। मीठे स्वर में गाए जाने पर कविता प्रभावशाली होती ही है, किंतु जब उसके साथ उपयुक्त संगीत और लययुक्त नृत्य चेष्टाएँ भी होती हैं, तब वह केवल मनुष्य के हृदय को और विभिन्न इंद्रियों को ही आकर्षित नहीं करती अपितु इनके गौरवपूर्ण मेल से निर्मित सारे वातावरण से ही उसे अवगत कराती है। इसी प्रकार वास्तुकल्पनाएँ, दार्शनिक गतिविधियों से, काव्यमय अभिव्यक्तियों से, और संमिश्रित लयात्मक, संगीतात्मक तथा वर्णात्मक अर्थों से परिपूर्ण होती हैं, और ऐसी उत्कृष्ट वास्तुकृतियाँ मानव के अंतर्मानस को छूती हुई सभी प्रकार से उसकी प्रशंसा का पात्र होती हैं, और फिर विश्वव्यापी ख्याति अर्जित करती हैं। सर्वसंमत महान् वास्तुकृतियों की यह प्रशस्ति चिरस्थायी होती है, और भावी पीढ़ियों को प्रेरणा देती है।

यह सत्य है कि वास्तुकला के प्रयोगों में बहुत अस्थिरता रही है, जिससे अगणित शैलियाँ प्रकट हो गई हैं। किंतु उन शैलियों से किसी वास्तुक को क्या प्रयोजन? या उनका उसके युग से क्या संबंध? सच तो यह है कि वास्तुकला न कोई पंथ है न शैली, वरन् यह तो विकास का अटूट क्रम है। इसलिये वास्तुक को शैलियों से विशेष प्रयोजन नहीं, जैसे बदलते हुए फैशन से किसी महिला की पोशाक का कोई संबंध नहीं। इस विषय में फ्रैंकलायड राइट ने कहा

वास्तुकला और उसका इतिहास (देखें पृष्ठ ४४७-४५६)

महापरिनिर्वाण स्तूप, कुशीनगर, देवरिया

भुवनेश्वर की पहाड़ियों को तराश कर बनाए जैन मंदिर

वास्तुकला और उसका इतिहास (देखें पृष्ठ ४४७-४५६)

जगन्नाथ मंदिर, पुरी

बोध गया मंदिर

हाजो मंदिर
(असम)
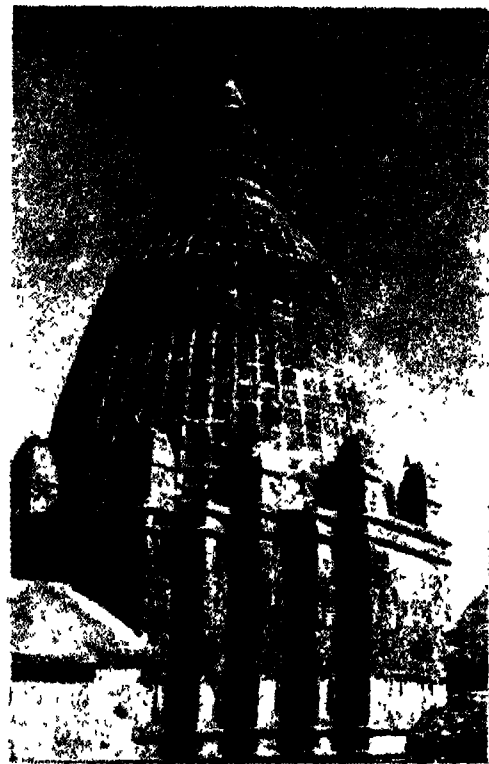
शिवडोल, जयसागर
(प्राचीन अहोम मंदिर)

है कि वास्तुकला की परिधि इधर उधर हटती रहती है, उसका केंद्र नहीं बदलता।

आधुनिक वास्तुकला का और व्यापक अर्थों में, वास्तुकला का विकास विन्यास की संरचनात्मक आवश्यकताओं और उपलब्ध सामग्री की सौंदर्यसंभावनाओं द्वारा प्रस्तुत प्रतिबंधों की उपस्थिति में सुंदरता के लिये खोज और संघर्ष के फलस्वरूप हुआ है। जब इनके फलस्वरूप किसी रचना की सृष्टि होती है, तब ऐसा लगता है कि आज की वास्तुकला भारी रचनाओं और आवृत्तियों के रूप में व्यक्त मूर्तिकला ही है। यदि इस संदर्भ में देखें, तो वास्तुकला व्यक्ति के अपने सर्जक मन की संपूर्ण एवं सुविकसित रचना होनी चाहिए, जो स्वयंभू के उच्च स्तर तक पहुँचती है। [गो० म० मां०]

वास्तुकला का इतिहास वास्तुकला किसी स्थान को मानव के लिये वासयोग्य बनाने की कला है। अत: कालांतर में यह चाहे जितनी जटिल हो गई हो, इसका आरंभ मौसम की उग्रता, वन्य पशुओं के भय और शत्रुओं के आक्रमण से बचने के प्रारंभिक उपायों में ही हुआ होगा। मानव सभ्यता के इतिहास का भी कुछ ऐसा ही आरंभ है। इसीलिये विद्वानों ने इसे मानव सभ्यता का 'योजक मसाला' कहा है।

आदिकालीन वास्तु — आदिकाल में शिकारियों और मछुओं ने पहाड़ी गुफाओं में शरण ली होगी। ये गुफाएँ ही शायद मानव निवास के प्राचीनतम रूप रहे होंगे। किसान वृक्षों के झुरमुटों में रहते और सरकंडे, घास आदि के झोंपड़े बनाते रहे होंगे। अपने पशुओं के साथ घूमनेवाले चरवाहे चमड़े के खोलों में रहते रहे होंगे, और उन्हें बाँसों या लट्ठों से ऊँचा करके डेरे बनाते रहे होंगे। इन्हीं गुफाओं और डेरों में बाद के वास्तुविकास के बीज मिलते हैं। मिस्र के पुराने मकानों के नमूने साक्षी हैं कि अनगढ़ द्वारों, चट्टानी दीवारों और छतों वाली प्राकृतिक गुफाओं से ही पत्थर की दीवारें उठाने और उन पर पटियों की छत रखने का विचार उत्पन्न हुआ। झुरमुटों के अनुरूप झोंपड़े बने, जिनकी दीवारें परस्पर सटाकर गाड़ी हुई शाखाओं से और छत घास से बनाई गई। इस प्रकार के एकमंजिले और दुमंजिले झोंपड़े अब भी आदिवासी बनाते हैं। चमड़े के डेरे भी अरब के बद्दू और अन्य घुमंतू जातियाँ काम में लाती हैं।

प्रागैतिहासिक अवशेष, जिनका वास्तुकीय की अपेक्षा पुरातात्विक महत्व ही अधिक है, प्राय: एकाश्मक (जैसे पश्चिमी फ्रांस के करनाक में), डोलमेन या क्रामलेक (जैसे कुस्तुंतुनिया, उत्तरी फ्रांस, इंग्लैंड, सैवाय, या भारत में), स्तूप (जो शायद मिस्र के पिरामिड या वेल्स, स्काटलैंड और आयरलैंड के छत्राकुटीर जैसे ही बने) तथा स्विट्ज़रलैंड, इटली, या आयरलैंड में मिले सरोवरनिवासों के रूप में हैं। बाद में धीरे धीरे इनका विकास होता गया।

प्राच्य और पाश्चात्य वास्तु — विकसित वास्तु को दो स्थूल वर्गों में बाँटा जा सकता है: एक तो प्राच्य, जैसे भारतीय, चीनी, और जापानी वास्तु, जो प्राय: स्वतंत्र शैलियाँ हैं और जिनका वास्तुविकास में विशेष प्रभाव नहीं पड़ा; और दूसरा पाश्चात्य वास्तु, जिसका आरंभ मिस्र और सीरिया में हुआ और चरम विकास यूरोप में। प्राचीन अमरीकी और इस्लामी वास्तु भी स्वतंत्र शैलियाँ हैं, यद्यपि इस्लामी वास्तु का अमिट प्रभाव स्पेन तक पड़ा। मिस्र और पश्चिमी एशिया का प्रभाव यूनान पर और फलत: सारी पाश्चात्य शैलियों पर पड़ा, इसलिये ये पाश्चात्य वास्तु के अंतर्गत ही आ सकते हैं।

प्राच्य कला में अनेक ऐसी बातें हैं जिनके अभ्यस्त यूरोपीय लोग नहीं हैं, इसलिये वे उन्हें अप्रिय और विरूप लगती हैं। किंतु प्रयोग ही धीरे धीरे प्रकृति बन जाता है। इसलिये पूर्वी और पश्चिमी वास्तु में अनिवार्यत: कुछ भेद है, जो विशुद्ध प्राच्य वास्तु में विशिष्ट धार्मिक कृत्यों और सामाजिक प्रथाओं के प्रभाव के रूप में उद्व्यक्त होता है। पूर्व में अलंकरण योजनाएँ ही प्रमुख रही हैं, जबकि यूरोप में निर्माण संबंधी समस्याओं का दृढ़तापूर्वक सामना करते हुए उनके क्रमिक समाधान द्वारा वास्तु विकसित हुआ।

वास्तुकला के ऐतिहासिक विकास के प्रत्येक प्रमुख चरण के मूल में कोई न कोई विचारधारा स्पष्ट झलकती है। यूनानी वास्तु में परिष्कृत पूर्णता थी, रोमन इमारतें अपने वैज्ञानिक निर्माण के लिये प्रसिद्ध हैं, फ्रांसीसी गॉथिक वास्तु उग्र क्रियाशीलता का द्योतक है, इतालवी पुनरुद्धार में उस युग का पांडित्य झलकता है और भारतीय वास्तु का प्रमुख गुण है उसका आध्यात्मिक विषय। इसमें संदेह नहीं, कि जनता की तत्कालीन धार्मिक चेतना मूर्त रूप में व्यक्त करना ही भारतीय वास्तु का मूल उद्देश्य रहा है, अर्थात् जनभावना ही ईंट पत्थर में मूर्त हुई है।

भारतीय वास्तु — भारतीय वास्तु की विशेषता यहाँ की दीवारों के उत्कृष्ट और प्रचुर अलंकरण में है। भित्तिचित्रों और मूर्तियों की योजना, जिसमें अलंकरण के अतिरिक्त अपने विषय के गंभीर भाव भी व्यक्त होते हैं, भवन को बाहर से कभी कभी पूर्णतया लपेट लेती है। इनमें वास्तु का जीवन से संबंध क्या, वास्तव में आध्यात्मिक जीवन ही अंकित है। न्यूनाधिक उभार में उत्कीर्ण अपने अलौकिक कृत्यों में लगे हुए देश भर के देवी देवता, तथा युगों पुरानी पौराणिक गाथाएँ, मूर्तिकला को प्रतीक बनाकर दर्शकों के संमुख अत्यंत रोचक कथाओं और मनोहर चित्रों की एक पुस्तक सी खोल देती हैं।

किंतु इस व्यापक विशेषता के साथ यह भी एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि भारत की प्राचीनतम कला, जैसी दो तीन हजार वर्ष ई० पू० विकसित सिंधु घाटी सभ्यता की खोज से प्रकाश में आई है, सौंदर्य की दृष्टि से ऐसी ही शून्य थी, जैसी आज कल की कोई औद्योगिक बस्ती। फिर भी, उस युग में, जब संसार की कोई भी सभ्यता जागरण की अँगड़ाई भी न ले पाई थी, भारत की यह कला इतनी विकसित थी, इन बस्तियों के निर्माताओं का नगर नियोजन संबंधी ज्ञान इतना परिपक्व था, उनके द्वारा प्रयुक्त सामग्री ऐसी उत्कृष्ट कोटि की थी और रचना इतनी सुदृढ़ थी कि उस सभ्यता का आरंभ बहुत पहले, लगभग चार पाँच हजार वर्ष, ईसा पूर्व, मानने को बाध्य होना पड़ता है। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों की खुदाइयों से प्राप्त अवशेष तत्कालीन भौतिक समृद्धि के सूचक हैं और उनमें किसी मंदिर, देवालय आदि के अभाव से यह अनुमान होता है कि वहाँ धार्मिक

विचारों का कुछ विशेष स्थान न था, अथवा यदि था तो वह निराकार शक्ति में आस्था के रूप में ही था। फिर भी, विलक्षण प्रतिभा और उत्कृष्ट वास्तुकौशल से आद्योपांत परिप्लावित भारतीय जनजीवन के इतिहास का ऐसा आडंबरहीन प्रारंभ आश्चर्यजनक होने के साथ-साथ और अधिक गवेषणा की अपेक्षा रखता है, जिससे आर्य सभ्यता से, जो इससे भी प्राचीन मानी जाती है, इसका संबंध जोड़नेवाली कड़ी का पता लग सके।

चित्र १. कुछ संरचना सिद्धांत, जो आज से ३,००० वर्ष पूर्व भी विदित थे :
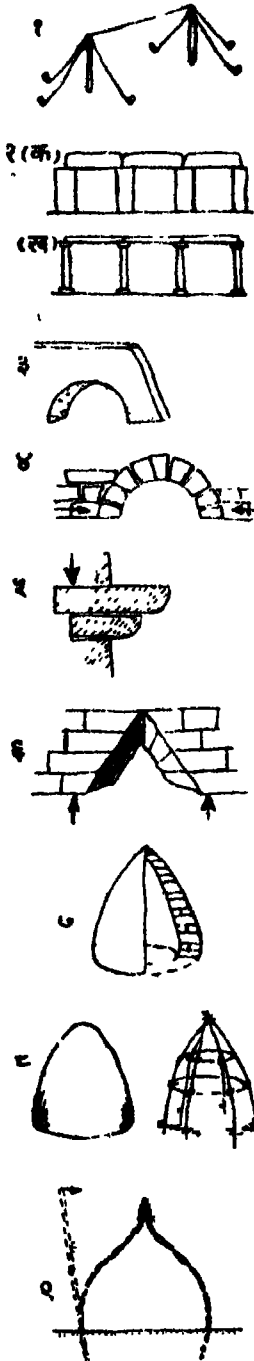
१. झूला-खंभे, रस्सियाँ और खूँटे (तंबुओं में), जिनका विकास अभी अभी १,६०० ई० में ही हुआ, जब तार के रस्से और इस्पात की जंजीरें उपलब्ध हुईं।

२. खंभे और सरदल (क) पत्थर के तथा (ख) लकड़ी के। इनमें भी विशेष अंतर हाल में ही पड़ा, जब इस्पात और प्रबलित कंक्रीट का प्रयोग हुआ।

३. गोल डाट — किसी दीवार में बनाया हुआ छेद, या चट्टान अथवा कठोर मिट्टी में काटा हुआ रास्ता। यह गुफाओं में पाई जाती है।

४. गढ़ी डाट—फन्नी के आकार के पत्थरों से बनाई हुई होती है। इसकी मजबूती क्षैतिज ठेल रोकने की क्षमता पर निर्भर रहती है।

५. टोड़ा या कॉर्निस — पत्थर या लकड़ी का यह निकला हुआ भाग सीमित ही होता था। अब यह इस्पात, प्रबलित कंक्रीट और कैंचियाँ लगाकर बहुत बढ़ाया जा सकता है।

६. टोड़े निकालकर शिखर बनाने से केवल ऊर्ध्वाधर दाब पड़ती है, क्षैतिज ठेल बिल्कुल नहीं पड़ता। हिंदू मंदिरों के शिखर ऐसे ही होते थे।

७. टोड़े निकालते हुए गोल छल्लों से गुंबद बनाने से भी केवल ऊर्ध्वाधर दाब पड़ती है। पश्चिमी एशिया में यह पद्धति प्रचलित थी और यह मुस्लिम शैली की डाट के सिद्धांत का आधार बनी।

८. इसी प्रकार लकड़ियों के ढाँचे पर, या उसके बिना ही मिट्टी या कंक्रीट के छल्लों द्वारा भी, गुंबद बनाए जा सकते हैं; अथवा साँचे को चमड़े या सरपत से ढककर ऊपर से मिट्टी चढ़ाई जा सकती है। ये विधियाँ देशीय संरचना में प्रायः प्रयुक्त होती थीं।

९. जहाँ बेंत मिलता था, वहाँ इस प्रकार का ढाँचा विकसित हुआ। इस आकृति का अनुसरण भारत में और अन्यत्र भी पत्थर में किया गया और टोड़ेवाले गुंबद बने।

सीमित आवश्यकताओं में विश्वास रखनेवाले, अपने कृषिकर्म और आश्रमजीवन से संतुष्ट आर्य प्रायः ग्रामवासी थे, और शायद इसीलिये, अपने परिपक्व विचारों के अनुरूप ही, समसामयिक सिंधु घाटी सभ्यता के विलासी भौतिक जीवन की चकाचौंध से अप्रभावित रहे। कुछ भी हो, उनके अस्थायी निवासों से ही बाद के भारतीय वास्तु का जन्म हुआ प्रतीत होता है। इसका आधार धरती में और विकास वृक्षों में हुआ, जैसा वैदिक वाङ्मय में महावन, तोरण, गोपुर आदि के उल्लेखों से विदित होता है। अतः यदि उस अस्थायी रचनाकाल की कोई स्मारक कृति आज देखने को नहीं मिलती, तो कोई आश्चर्य नहीं।

धीरे धीरे नगरों की भी रचना हुई और स्थायी निवास भी बने। बिहार में मगध की राजधानी राजगृह शायद ८वीं शती ईसा पूर्व में उन्नति के शिखर पर थी। इसके अवशेषों में एक विशाल प्रस्तर-प्राचीर भी है। यह भी पता लगता है कि भवन आदिकालीन झोपड़ियों के नमूने पर प्रायः गोल ही बना करते थे। दीवारों में कच्ची ईंटें भी लगने लगी थीं और चौकोर दरवाजे खिड़कियाँ बनने लगी थीं। बौद्ध लेखक धम्मपाल के अनुसार, पाँचवीं शती ईसा पूर्व में महागोविंद नामक स्थपति ने उत्तर भारत की अनेक राजधानियों के विन्यास तैयार किए थे। चौकोर नगरियाँ बीचोबीच दो मुख्य सड़कें बनाकर चार चार भागों में बाँटी गई थीं। एक भाग में राजमहल होते थे, जिनका विस्तृत वर्णन भी मिलता है। सड़कों के चारों सिरों पर नगरद्वार थे। मौर्यकाल (४थी शती ई० पू०) के अनेक नगर कपिलवस्तु, कुशीनगर, उरुबिल्व आदि एक ही नमूने के थे, यह इनके नगरद्वारों से प्रकट होता है। जगह जगह पर बाहर निकले हुए छज्जों, स्तंभों से अलंकृत गवाक्षों, जँगलों और कटहरों से बौद्धकालीन पवित्र नगरियों की भावुकता का आभास मिलता है।

राज्य का आश्रय पाकर अनेक स्तूपों, चैत्यों, बिहारों, स्तंभों, तोरणों, और गुफामंदिरों में वास्तुकला का चरम विकास हुआ। तत्कालीन वास्तुकौशल के उत्कृष्ट उदाहरण पत्थर और ईंट के साथ साथ लकड़ी पर भी मिलते हैं, जिनके विषय में सर जॉन मार्शल ने 'भारत का पुरातात्विक सर्वेक्षण, १९१२-१३' में लिखा है कि 'वे तत्कालीन कृतियों की अद्वितीय सूक्ष्मता और पूर्णता का दिग्दर्शन कराते हैं। उनके कारीगर आज भी यदि संसार में आ सकते, तो अपनी कला के क्षेत्र में कुछ विशेष सीखने योग्य शायद न पाते।' 'साँची, भरहुत, कुशीनगर, बेसनगर (विदिशा), तिगावाँ (जबलपुर) उदयगिरि, प्रयाग, कार्ली (बंबई), अजंता, इलोरा, विदिशा, अमरावती, नासिक, जुनार (पूना), कन्हेरी, भुज, कोंडेन, गांधार (वर्तमान कंधार-अफगानिस्तान), तक्षशिला और पश्चिमोत्तर सीमांत में चौथी शती ई० पू० से चौथी शती ई० तक की वास्तुकृतियाँ कला की दृष्टि से अनूठी हैं। दक्षिण भारत में गुंतुपल्ले (कृष्णा जिला) और शंकरन् पहाड़ी (विजगापट्टम् जिला) में बौद्धकृत वास्तु के दर्शन होते
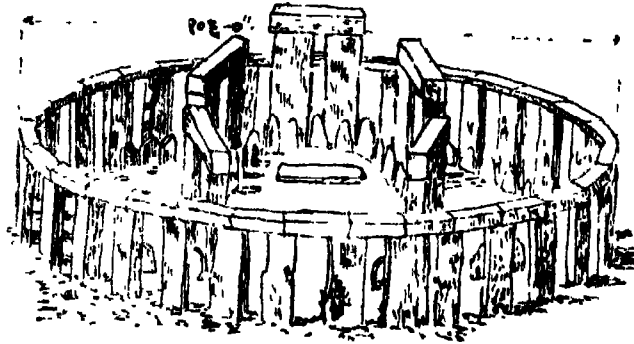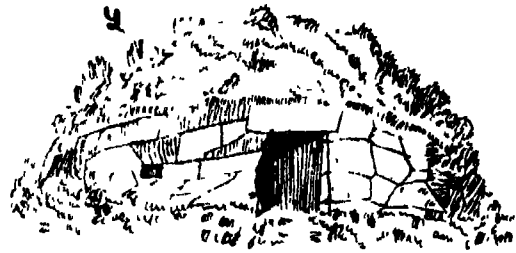
चित्र २. प्रागैतिहासिक वास्तु

१. झोंपड़ा; २. एकाश्म (लॉक मैरिएकर); ३. लघुकुटीर (जूरा); ४. छत्ता कुटीर (लीविस); ५. छत्ता कुटीर [illegible]

हैं। साँची, नालंदा और सारनाथ में अपेक्षाकृत बाद की वास्तुकृतियाँ हैं।

पाँचवीं शती से ईंट का प्रयोग होने लगा। उसी समय से ब्राह्मण प्रभाव भी प्रकट हुआ। तत्कालीन ब्राह्मण मंदिरों में भीटागाँव (कानपुर जिला), बुधरामऊ (फतेहपुर जिला), सीरपुर और खरोद (रायपुर जिला), तथा तेर (शोलापुर के निकट) के मंदिरों की शृंखला उल्लेखनीय है। भीटागाँव का मंदिर, जो शायद सबसे प्राचीन है, ३६ फुट वर्ग के ऊँचे चबूतरे पर बुर्ज की भाँति ७० फुट ऊँचा खड़ा है। बुधरामऊ का मंदिर भी ऐसा ही है। अन्य हिंदू मंदिरों की भाँति इनमें मंडप आदि नहीं हैं, केवल गर्भगृह हैं। भीतर दीवारें यद्यपि सादी हैं, तथापि उनमें पट्टे, किंगरियाँ, दिल्हे, आले आदि, रचना की कुछ विशिष्टताएँ इमारतों की प्राचीनता की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इनके विभिन्न भागों का अनुपात सुंदर है, और वास्तु प्रभाव कौशलपूर्ण। आलों में बौद्धचैत्यों की डाटों का प्रभाव अवश्य पड़ा दिखाई पड़ता है। इनकी शैलियों का अनुकरण शताब्दियों बाद बननेवाले मंदिरो में भी हुआ है।

हिंदू वास्तुकौशल का विस्तार महलों, समाधियों, दुर्गों, और घाटों में भी हुआ, किंतु देश भर में बिखरे मंदिरों में यह विशेष मुखर हुआ है। गुप्तकाल (३५०-६५० ई०) में मंदिरवास्तु के स्वरूप में स्थिरता आई। ७ वीं शती के अंत में शिखर महत्वपूर्ण और अनिवार्य अंग समझा जाने लगा। मंदिरवास्तु में उत्तर की ओर आर्य शैली, और दक्षिण की ओर द्रविड़ शैली स्पष्ट दीखती है। ग्वालियर के 'तेली का मंदिर' (११ वीं शती) और भुवनेश्वर के 'बैताल देवल मंदिर' (९ वीं शती) उत्तरी शैली का प्रतिनिधित्व
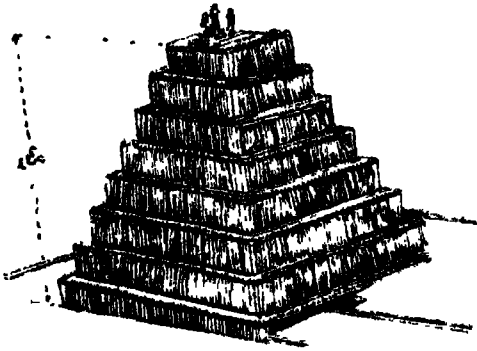
चित्र ३. कैल्डिया के मीनार, जिगूरत (पवित्र पर्वत) ये बैबिलॉन की प्राचीन कृतियों में हैं, जिनपर चढ़कर ज्योतिषी पुरोहित खगोलीय प्रेक्षण करते थे।

करते हैं, और सोमंगलम्, मणिमंगलम् आदि के चोल मंदिर (११ वीं शती) दक्षिणी शैली का। किंतु ये शैलियाँ किसी भौगोलिक सीमा में बँधी नहीं हैं। चालुक्यों की राजधानी पट्टदकल के दस मंदिरों में से चार (पप्पानाथ—६८० ई०, जंबुलिंग, करसिद्धेश्वर, काशीविश्वनाथ) उत्तरी शैली के, और छह (संगमेश्वर—७५ ई०, विरूपाक्ष—७४० ई०, मल्लिकार्जुन—७४० ई०, गलगनाथ—७४० ई०, सुनमेश्वर और जैन मंदिर) दक्षिणी शैली के हैं। १० वीं–११ वीं शती में पल्लव, चोल, पांड्य, चालुक्य और राष्ट्रकूट सभी राजवंशों ने दक्षिणी शैली का पोषण किया। दोनों ही शैलियों पर बौद्ध वास्तु का प्रभाव है, विशेषकर शिखरों में।

भारत की ऐतिहासिक इमारतों की माया और रहस्य के पीछे अनेक किंवदंतियाँ हैं। मध्य भारत के कुछ सर्वश्रेष्ठ मंदिर एक काल्पनिक राजकुमार जनकाचार्य द्वारा बनाए कहे जाते हैं, जिसे ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त स्वरूप बीस वर्ष इस काम में लगाने पड़े थे। एक अन्य किंवदंती के अनुसार ये असाधारण इमारतें एक ही रात में पांडवों ने खड़ी की थीं। उत्तरी गुजरात का विशाल मंदिर (११२५ ई०) गुजरात नरेश सिद्धराज द्वारा, और खानदेश के मंदिर गवाली राजवंश द्वारा निर्मित कहे जाते हैं। दक्षिण के अनेक मंदिर राजा रामचंद्र के मंत्री हेमदपंत के धार्मिक उत्साह से बने कहे जाते हैं, और १३ वीं शती के कुछ मंदिरों की शैली ही हेमदपंती कहलाने लगी है। इसे अज्ञात निर्माताओं की शालीनता कहें, या ऐतिहासिक तमिस्र, किंतु इसमें संदेह नहीं कि मंदिरवास्तु, जिसके अनूठे उदाहरण भुवनेश्वर के लिंगराज (१००० ई०), मुक्तेश्वर (९७५ ई०), ब्रह्मेश्वर (१०७५ ई०), रामेश्वर (१०७५ ई०), परमेश्वर, उत्तरेश्वर, ईश्वरेश्वर, भरतेश्वर, लक्ष्मणेश्वर आदि मंदिर, कोणार्क का सूर्यमंदिर, ममल्लिपुरम् के सप्तरथ, कांचीवरम् का कैलाशनाथ मंदिर, श्री निवासनालुर (त्रिचनापल्ली जिला) का कोरंगनाथ मंदिर, त्रिचनापल्ली का जंबुकेश्वर मंदिर, दारासुरम् (तंजोर-जिला) का ऐरावतेश्वर मंदिर, तंजौर के सुब्रह्मण्यम् एवं बृहदेश्वर मंदिर, विजयनगर का विट्ठलस्वामी मंदिर (१६ वीं शती), तिरुवल्लूर एवं मदुरा के विशाल मंदिर, त्रावनकोर का शचींद्रम् मंदिर (१६ वीं शती), रामेश्वर के विशाल मंदिर (१७ वीं शती) बेलूर (मैसूर) का चन्नकेशव मंदिर (१२ वीं शती), सोमनाथपुर (मैसूर) का केशव मंदिर (१२६८ ई०), पुरी का जगन्नाथ मंदिर (११०० ई०), खजुराहो के आदिनाथ, विश्वनाथ, पार्श्वनाथ और कंदरिया महादेव मंदिर, किराडू (मेवाड़) के शिव मंदिर (११वीं शती), आबू के तेजपाल (१३ वीं शती) तथा विमल मंदिर (११ वीं शती), ग्वालियर का सासबहू मंदिर एवं उदयेश्वर मंदिर (दोनों ११ वीं शती) सेजाकपुर (काठियावाड़) का नवलखा मंदिर (११ वीं शती), पट्टन का सोमनाथ मंदिर (१२ वीं शती), मोधेरा (बड़ोदा) का सूर्य मंदिर (११ वीं शती), अंबरनाथ (थाना-जिला) का महादेव मंदिर (११ वीं शती), जोगदा (नासिक-जिला) का मानकेश्वर मंदिर, मथुरा वृंदावन का गोविंददेव मंदिर (१५९० ई०), शत्रुंजय पहाड़ी (काठियावाड़) के जैन मंदिर, रणपुर (सादरी जोधपुर) का आदिनाथ मंदिर (१४५० ई०) आदि आदि देश भर में बिखरे पड़े हैं, जो भव्यता, विशालता, उत्कृष्टता और सार्थकता सभी दृष्टियों से अनुपम हैं। देश में साथ साथ विकसित होते हुए बौद्धवास्तु, जैन वास्तु, हिंदू (ब्राह्मण) वास्तु, तथा द्रविड़ वास्तु की ये झाँकियाँ विशाल भारत की परंपरागत धार्मिक सहिष्णुता का प्रमाण हैं।

मुस्लिम वास्तु — वास्तुकला पर मुसलमानों के आक्रमण का जितना प्रभाव भारत में पड़ा उतना अन्यत्र कहीं नहीं, क्योंकि जिस

(देखें पृष्ठ ४४७–४५६)

टोलाटोल घर
(प्राचीन अहोम प्रासाद)

रामघर
(प्राचीन अहोम प्रासाद)

गड़ गाँव
(प्राचीन अहोम प्रासाद)

कामाक्या देवी का मंदिर

वास्तुकला और उसका इतिहास (देखें पृष्ठ ४४७–४५६)

प्राचीन भीमकाली मंदिर

लक्ष्मीनारायण मंदिर, चंबा

झाँसी का किला
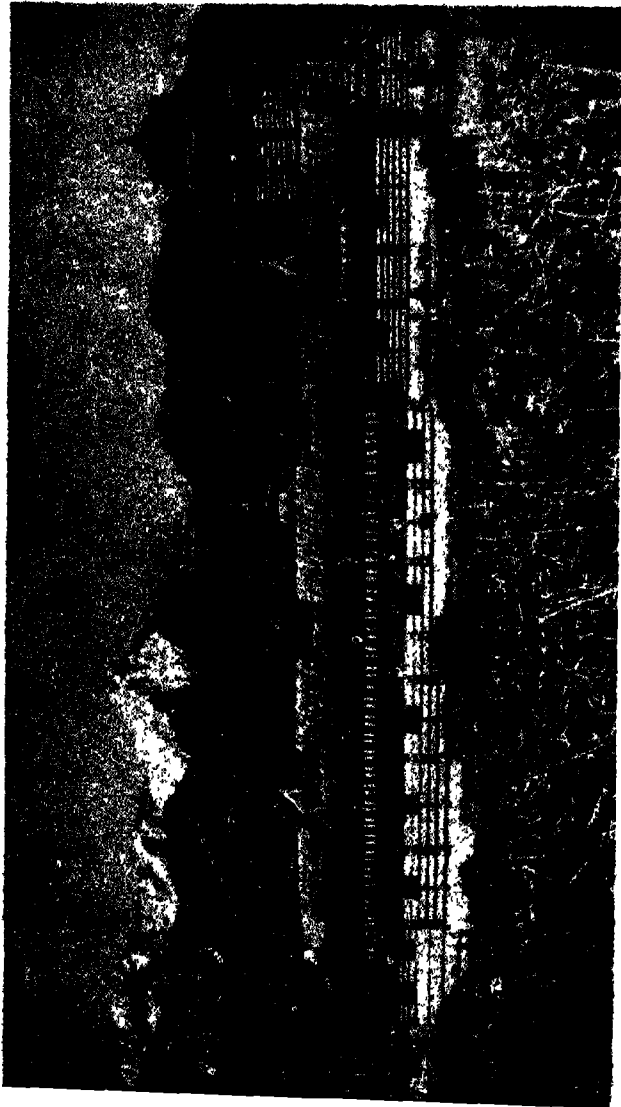
आगरे का किला

जिस सभ्यता से मुस्लिम सभ्यता की टक्कर हुई, किसी से उसका इतना विरोध नहीं था जितना भारतीय सभ्यता से। फिर प्रतिष्ठित भारतीय सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियों की तुलना में मुस्लिम सभ्यता बिलकुल नई तो थी ही, उसके मौलिक सिद्धांत भी भिन्न थे।
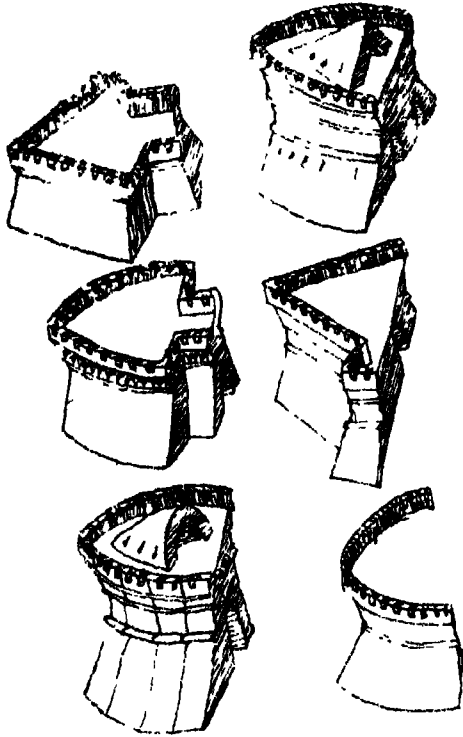
चित्र ४. किलों की विभिन्न प्राचीरें

बारूद के आविष्कार से समर पद्धतियाँ ही बदल गईं। किलों के नक्शे बदल गए। फली के आकार के बहुभुज और गोल बुर्ज दीवारों में जगह जगह बनने लगे, ताकि आक्रांता सेनाएँ चाहे जिस ओर से आएँ उनपर भीतर से मार की जा सके।

दोनों का संघर्ष यथार्थवाद का आदर्शवाद से, वास्तविकता का स्वप्नदर्शिता से, और व्यक्त का अव्यक्त से संघर्ष था, जिसका प्रमाण मस्जिद और मंदिर के भेद में स्पष्ट है। मस्जिदें खुली हुई होती हैं, उनका केंद्र सुदूर मक्का की दिशा में होता है; जबकि मंदिर रहस्य का घर होता है, जिसका केंद्र अनेक दीवारों एवं गलियारों से घिरा हुआ बीच का देवस्थान या गर्भगृह होता है। मजिस्द की दीवारें प्राय: सादी या पवित्र आयतों से उत्कीर्ण होती हैं, उनमें मानव आकृतियों का चित्रण निषिद्ध होता है; जबकि मंदिरों की दीवारों में मूर्तिकला और मानवाकृति चित्रण उच्चतम शिखर पर पहुँचा, पर लिखाई का नाम न था। पत्थरों के सहज रंगों में ही इस चित्रण द्वारा मंदिरों की सजीवता आई; जबकि मस्जिदों में रंगबिरंगे पत्थरों, संगमर्मर और चित्र विचित्र पलस्तर के द्वारा दीवारें मुखर की गईं।

गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत पर एक ही प्रकार की भारी भरकम संरचनाएँ खड़ी करने में सिद्धहस्त, भारतीय कारीगरों की युगों युगों से एक ही लीक पर पड़ी, निष्प्रवाह प्रतिभा, विजेताओं द्वारा अन्य देशों से लाए हुए नए सिद्धांत, नई पद्धतियाँ और नई दिशा पाकर स्फूर्त हो उठी। फलस्वरूप धार्मिक इमारतों ,जैसे मस्जिदों, मकबरों, रौजों और दरगाहों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार की धर्मनिरपेक्ष इमारतें भी, जैसे महल, मंडप, नगरद्वार, कूप, उद्यान, और बड़े बड़े किले, यहाँ तक कि सारा शहर घेरनेवाले परकोटे तक तैयार हुए। देश में उत्तर से दक्षिण तक जैसे जैसे मुस्लिम प्रभुत्व बढ़ता गया, वास्तुकला का युग भी बदलता गया।

मुस्लिम वास्तु के तीन क्रमिक चरण स्पष्ट हैं। पहला चरण, जो बहुत थोड़े समय रहा, विजयदर्प और धर्मांधता से प्रेरित 'निर्मूलन' का था, जिसके बारे में हसन निजामी लिखता है कि प्रत्येक किला जीतने के बाद उसके स्तंभ और नींव तक महाकाय हाथियों के पैरों तले रौंदवाकर धूल में मिला देने का रिवाज था। अनेक दुर्ग, नगर और मंदिर इसी प्रकार अस्तित्वहीन किए गए। तदनंतर दूसरा चरण सोद्देश्य और आंशिक विध्वंस का आया, जिसमें इमारतें इसलिये तोड़ी गईं कि विजेताओं की मस्जिदों और मकबरों के लिये तैयार माल उपलब्ध हो सके। बड़ी बड़ी धरनें और स्तंभ अपने स्थान से हटाकर नई जगह ले जाने के लिये भी हाथियों का ही

चित्र ५. ग्रैनाइट का स्फिंक्स, पैरिस

प्रयोग हुआ। प्राय: इसी काल में मंदिरों को विशेष क्षति पहुँची, जो विजित प्रांतों की नई नई राजधानियों के निर्माण के लिये तैयार माल की खान बन गए, और उत्तर भारत से हिंदू वास्तु की प्राय: सफ़ाई ही हो गई। अंतिम चरण तब प्रारंभ हुआ, जब आक्रांता अनेक भागों में भली भाँति जम गए थे और उन्होंने प्रत्यवस्थापन के बजाय योजनाबद्ध निर्माण द्वारा सुविन्यस्त और उत्कृष्ट वास्तुकृतियाँ प्रस्तुत कीं।

शैलियों की दृष्टि से भी मुस्लिम वास्तु के तीन वर्ग हो सकते हैं। पहला दिल्ली, अथवा शहंशाही, है, जिसे प्राय: 'पठान वास्तु' (११९३–१५५४) कहते हैं (यद्यपि इसके सभी पोषक 'पठान' नहीं थे), इस वर्ग में दिल्ली की कुतुबमीनार (१२००), सुल्तान गढ़ी (१२३१), अल्तमश का मकबरा (१२३६), अलाई दरवाजा

(१३०५), निजामुद्दीन (१३२०), गयासुद्दीन तुगलक (१३२५) और फीरोजशाह तुगलक (१३८८) के मकबरे, कोटला फीरोजशाह (१३५४-१४९०), मुबारकशाह का मकबरा (१४३४), मोठ की मस्जिद (१५०५), शेरशाह की मस्जिद (१५४०-४५) सहसराम का शेरशाह का मकबरा (१५४०-४५), और अजमेर का अढ़ाई दिन का झोंपड़ा (१२०५) आदि उल्लेखनीय हैं। दूसरे वर्ग में प्रांतीय शैलियाँ हैं। इनमें पंजाब शैली

चित्र ६. पुनर्जागरण शैली
यह शैली फर्निचर में भी अपनाई गई। आंग्ल-पुनर्जागरण काल के नमूने अंग्रेजों के साथ भारत में भी बहुत प्रचलित हुए।

(११५०-१३२५ ई०) : जैसे मुल्तान के रुक्ने आलम (१३२०) और शाहयूसुफ गर्दिजी (११५०), तब्रिजी (१२७६), बहाउलहक (१२६२) के मकबरे; बंगाल शैली (१२०३-१५७३) : जैसे पंडुआ की अदीना मस्जिद (१३६४), गौर के फतेहखाँ का मकबरा (१६५७), कदम रसूल (१५३०), तांतीमारा मस्जिद (१४७५); गुजरात शैली (१३००-१५७२) : जैसे खंबे (१३२५), अहमदाबाद (१४२३), भड़ोच और चमाने (१५२३) की जामा मस्जिदें, नगीना मस्जिद मकबरा (१५२५); जौनपुर शैली (१३७६-१४७९) : जैसे अटाला मस्जिद (१४०८), लाल दरवाजा मस्जिद (१४५०), जामा मस्जिद (१४७०); मालवा शैली (१४०५-१५६९) : जैसे माडू के जहाजमहल (१४६०), होशंग का मकबरा (१४४०), जामा मस्जिद (१४४०), हिंडोला महल (१४२५), धार की लाट मस्जिद (१४०५), चंदेरी का बदल महल फाटक (१४६०), कुशक महल (१४४५), शहजादी का रौजा (१४५०); दक्षिणी शैली (१३४७-१६१७) : जैसे गुलबर्गा की जामा मस्जिद (१३६७) और हफ्त गुंबज (१३७८), बीदर का मदरसा (१४८१), हैदराबाद की चारमीनार (१५९१) आदि; बीजापुर-खानदेश शैली (१४२५-१६६०), जैसे बीजापुर के गोलगुंबज (१६६०), रौजा इब्राहीम (१६१५) और जामा मस्जिद (१५७०), थालनेर खानदेश के फारूकी वंश के मकबरे-(१५ वीं शती); और कश्मीर शैली (१५-१७ वीं शती) : जैसे श्रीनगर की जामा मस्जिद (१४००), शाह हमदन का मकबरा (१७ वीं शती) आदि, संमिलित हैं। तीसरे वर्ग में मुगल शैली आती है, जिसके उत्कृष्टतम नमूने दिल्ली, आगरा, फतेहपुर सीकरी, लखनऊ, लाहौर आदि में किलों, मकबरों, राजमहलों, उद्यान मंडपों आदि के रूप में मौजूद हैं। इसी काल में कला पत्थर से बढ़कर संगमर्मर तक पहुँची और दिल्ली के दीवाने खास, मोती मस्जिद, जामा मस्जिद और आगरा के ताजमहल जैसी विश्वविश्रुत कृतियाँ तैयार हुईं।

बृहत्तर भारत का वास्तु — भारतीय कला के उत्कृष्ट नमूने भारत के बाहर लंका, नेपाल, बरमा, स्याम, जावा, बाली, हिंदचीन, और कंबोडिया में भी मिलते हैं। नेपाल के शंभुनाथ, बोधनाथ, मामनाथ मंदिर, लंका में अनुराधापुर का स्तूप और लंकातिलक मंदिर, बरमा के बौद्ध मठ और पगोडा, कंबोडिया में अंकोर के मंदिर, स्याम में बैंकाक के मंदिर, जावा में प्रांबनाम का विहार, कलासन मंदिर और बोरोबंदर स्तूप आदि हिंदू और बौद्ध वास्तु के व्यापक प्रसार के प्रमाण हैं। जावा में भारतीय संस्कृति के प्रवेश के कुछ प्रमाण ४ थी शती ईसवी के मिलते हैं। वहाँ के अनेक स्मारकों से पता लगता है कि मध्य जावा में ६२५ से ९२८ ई० तक वास्तुकला का स्वर्णकाल और पूर्वी जावा में ९२८ से १४७८ ई० तक रजतकाल था।

बीसवीं शती का वास्तु — सन् १९११ ई० में ब्रिटिश राज्य उन्नति के शिखर पर था। उसी समय दिल्ली दरबार में घोषणा की गई और साम्राज्य की राजधानी के अनुरूप एक नई दिल्ली का निर्माण आरंभ हुआ। पश्चिमी स्थपतियों ने दिल्ली में, और सारे भारत के जिला सदर स्थानों तक में, सुंदर इमारतें बनवाईं, जिनमें अनेक कार्यालय भवन, गिरजे, और ईसाई कब्रिस्तान कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। सरकारी प्रयास से नई दिल्ली में राजभवन (अब राष्ट्रपति भवन), सचिवालय भवन, संसद् भवन जैसी भव्य इमारतें बनीं, जिनमें पाश्चात्य कला के साथ हिंदू, बौद्ध और मुस्लिम कला का सुखद सम्मिश्रण दिखाई देता है।

मंदिर वास्तु भी, जो केवल व्यक्तिगत प्रयास से अपना अस्तित्व बनाए रहा, कुछ कुछ इसी दिशा में झुका। मुस्लिम वास्तु के अनुकरण पर अशोककालीन शिलालेखों की प्रथा पुनः प्रतिष्ठित हुई और मंदिरों में, भीतर बाहर, मूर्तियों और चित्रों के साथ लेखों को भी स्थान मिलने लगा। दिल्ली का लक्ष्मीनारायण मंदिर और हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, का शिवमंदिर बीसवीं शती के मंदिर-वास्तु की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। मंदिरों के अतिरिक्त राजाओं के महल और विद्यालय आदि भी कला को प्रश्रय देते रहे। काशी हिंदू विश्वविद्यालय की सभी इमारतें और वाराणसी का भारतमाता मंदिर, काशी विश्वनाथ की मंदिरोंवाली नगरी में दर्शकों के लिये विशेष आकर्षण के केंद्र हैं। कुशीनगर (देवरिया जिला) में बने निर्वाण विहार, बुद्ध मंदिर और सरकारी विश्रामगृह में बौद्ध कला को पुनर्जीवन मिला है। दिल्ली में लक्ष्मीनारायण मंदिर के साथ भी एक बुद्ध मंदिर है। इस प्रकार किसी शैली विशेष के प्रति अनाग्रह और उत्कृष्टता के लिये समन्वय २० वीं शती की विशेषता समझी जा सकती है।

चीनी वास्तु — चीनी वास्तु में बौद्ध और मुस्लिम प्रभाव स्पष्ट है। भारत के तोरणों की भाँति पत्थर या लकड़ी के द्वार चीनी वास्तु की विशेषता है। एक दूसरी के ऊपर अनेक छतें बनाकर ऊँची

वास्तुकला और उसका इतिहास (देखें पृष्ठ ४४७–४५६)
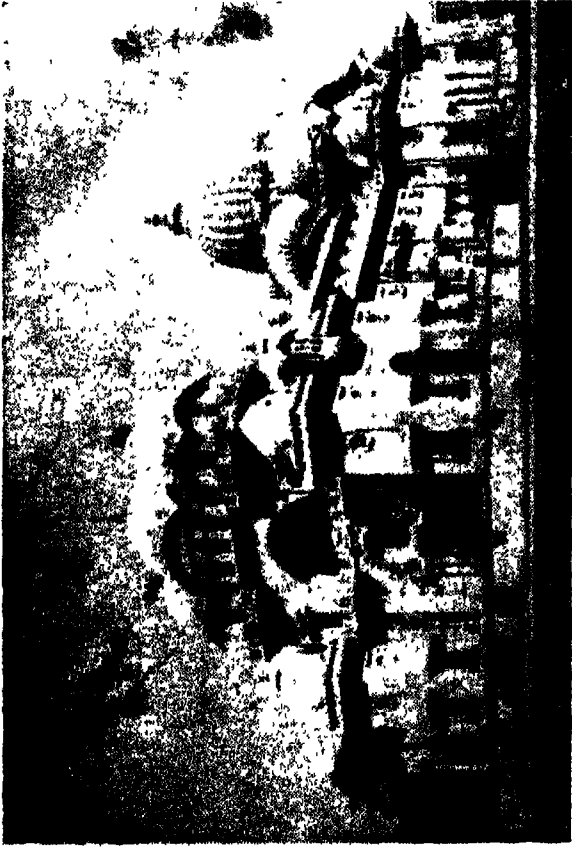
श्रीरामकृष्ण मंदिर, बेलूर
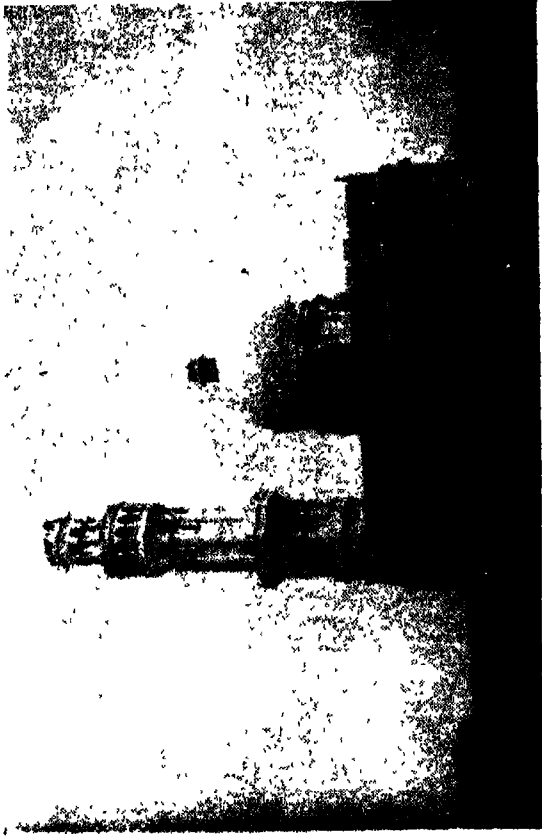
इलाहाबाद विश्वविद्यालय भवन
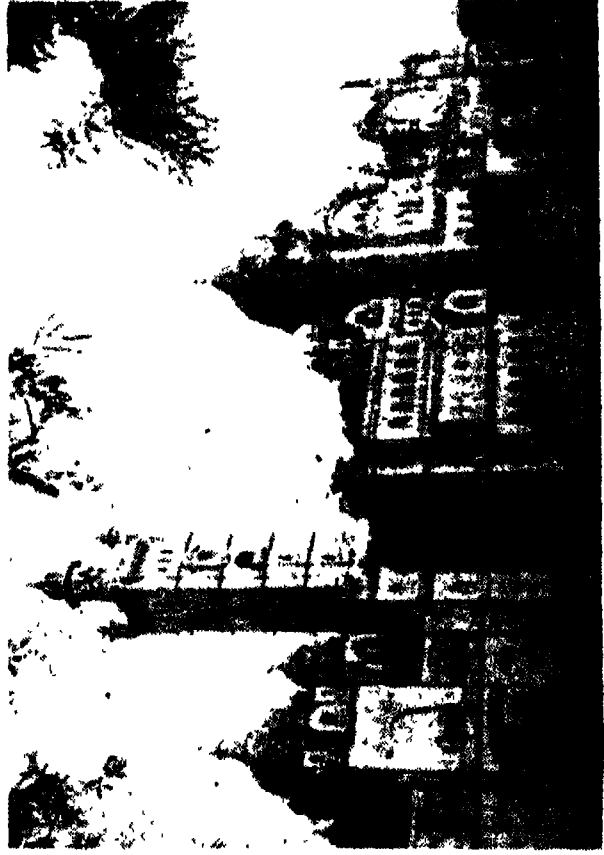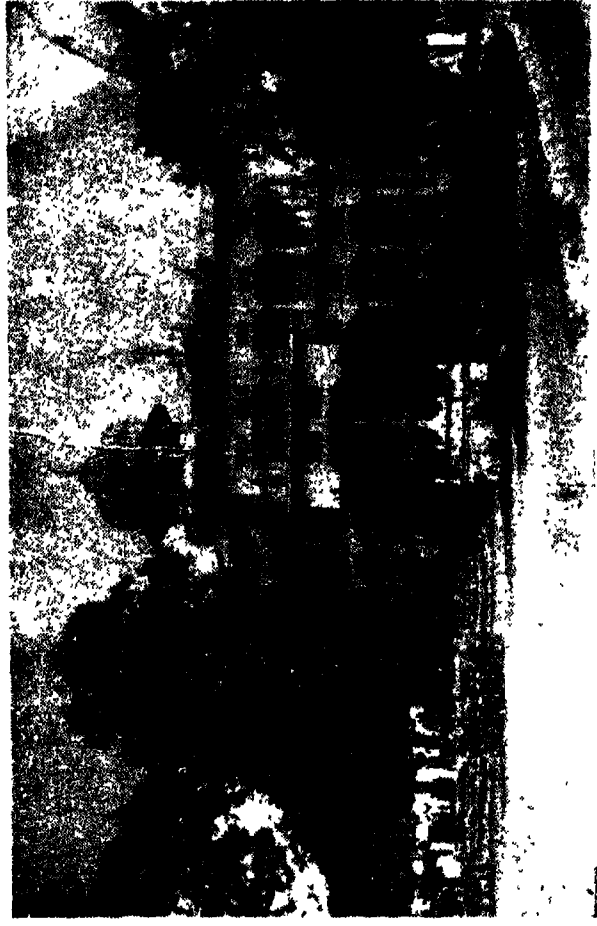
लक्ष्मीविलास प्रासाद, बड़ौदा

आनंदभवन, इलाहाबाद

वास्तुकला और उसका इतिहास (देखें पृष्ठ ४६७–४५६)

सहस्र स्तंभ मंदिर, वारंगल

सागरतट मंदिर, महाबलिपुरम् (मद्रास)

मीनाक्षी मंदिर तथा जलाशय, मदुराई
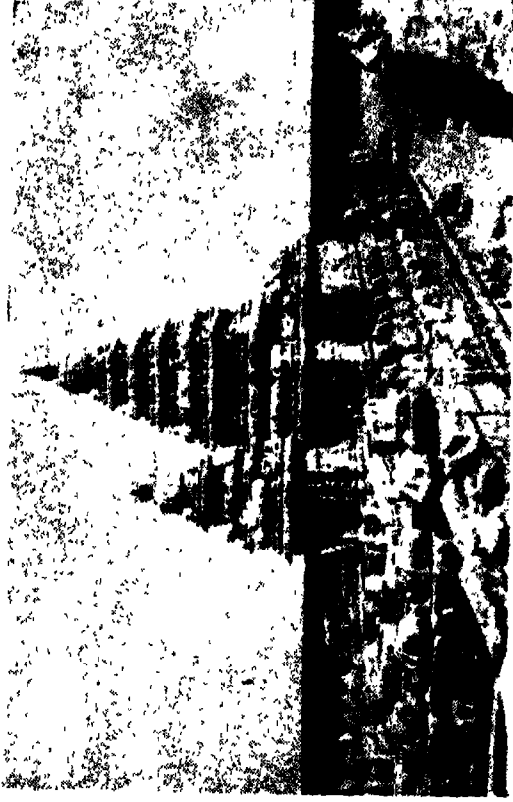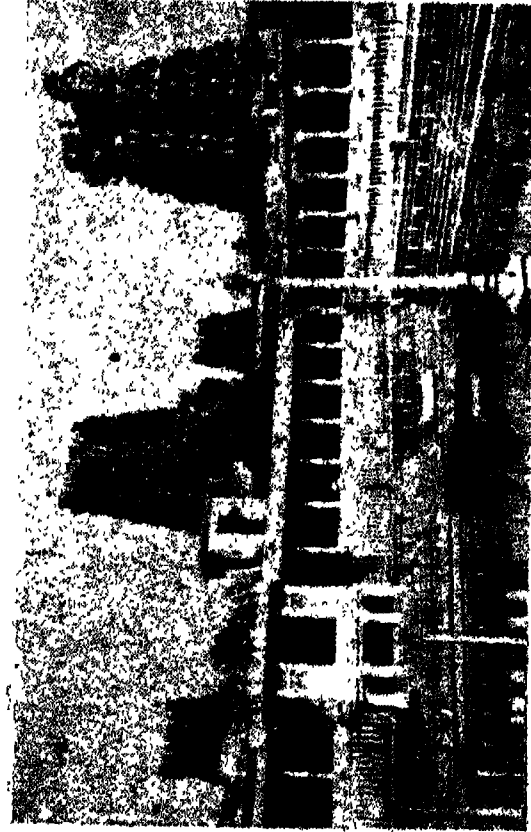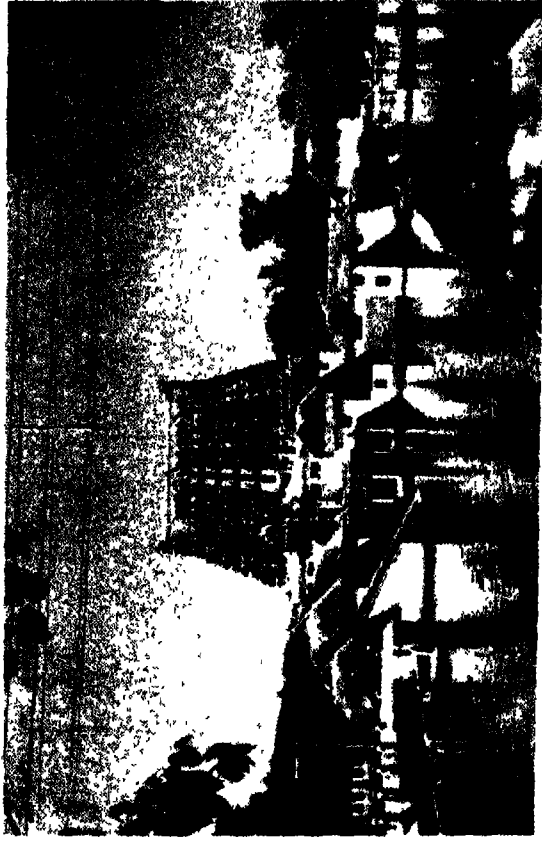
अनंतशयनम् मंदिर, त्रिवेंद्रम्

इमारतों में भी चौड़ाई का आभास पैदा किया जाता है। यद्यपि पत्थर भी वहाँ मिलता है, फिर भी इमारतों में लकड़ी और ईंट का प्रयोग ही प्रायः हुआ है, क्योंकि मिस्रवालों की भाँति स्थायित्व उनका लक्ष्य न था। पीकिंग में महामकर मंदिर (१४२०), और ग्रीष्म प्रासाद का मिह्रामरन बुद्ध मंदिर तथा १७ डाटों वाला संगमर्मर का पुल, कैंटन में हो–नन मंदिर (६१८), नानकिंग में पगोडा (१४१२) कला की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। १४०० मील लंबी प्राचीर तो विश्वविख्यात ही है।

जापानी वास्तु — यद्यपि जापानी वास्तु का मूल चीन में है, फिर भी नक्काशी और अलंकरण की बारीकी इसकी अपनी विशेषता है। अनेक बौद्ध मंदिर और पगोडा देश भर में फैले हैं। क्यूटो में मिकाडो का महल, और किंकाकूजी तथा जिंकाकूजी के उद्यानमंडप, और नगोया में शुकिन रो सराय उल्लेखनीय हैं।

पाश्चात्य वास्तु — भारत की सिंधु घाटी सभ्यता के बाद, प्राचीनता में मिस्र, यूनान, और रोम का नाम लिया जाता है। पाश्चात्य वास्तुकला में ये ही तीन देश अग्रणी रहे। सादे और आतंक मिस्री वास्तु के बाद यूनान की अति विकसित मंदिर-निर्माण-कला में, और फिर उसके बाद रोमन साम्राज्य की विविध सार्वजनिक निर्माण के लिये आवश्यक जटिल पद्धतियों में, वास्तु के क्रमिक विकास का इतिहास मिलता है। मिस्र में घर अस्थायी निवास समझे जाते थे और कब्रें स्थायी। इसी विचारधारा का पोषण सम्राटों के लिये निर्मित अति विशाल, भारी भरकम पिरामिडों और रहस्यपूर्ण मंदिरों में मिलता है। इसके विपरीत यूनानी मंदिर जनता के लिये बने और प्रस्तरकला में सुंदरता आई। साहित्य, संगीत और कला की उन्नति के साथ साथ रंगमंच, क्रीडांगण, और मल्लशालाएँ भी विकसित हुईं। संगमर्मर के प्रयोग से कृतियों में सफाई और बारीकी आई। सौंदर्यप्रिय यूनानियों ने भारतीय वास्तुकों की भाँति ही, किंतु बहुत पहले ही, स्वतंत्र रूप से, स्तंभों की डोरिक, आयोनिक, और कोरिंथियन नामक विशिष्ट शैलियाँ विकसित की थीं। किंतु जब १४६ ई० पू० में यूनान रोमन साम्राज्य का अंग हो गया, तब उसका स्वतंत्र प्रभुत्व भी समाप्त हो गया। हाँ, उसका प्रभाव रोमन कला में अंत तक अवश्य बना रहा।

रोमन वास्तु में साम्राज्य की शान शौकत झलकती है। भव्य मंदिरों के अतिरिक्त सड़कों, विजयद्वारों, पुलों आदि अनेक जनोपयोगी निर्माण कार्यों में रोमन शैली का समावेश हुआ। इस प्रकार रोमन वास्तु सारे यूरोप में फैला और यूरोपीय वास्तु का आधार बना। रोमन साम्राज्य के पतन के साथ ही इस महान् सभ्यता और उत्कृष्ट वास्तुकला का अध्याय भी समाप्त हो गया। किंतु जिहा से जो ईसाई धर्म साम्राज्य भर में फैल चुका था, उसका प्रभुत्व बढ़ता रहा। कुछ काल पश्चात् ८ वीं शती ई० में बड़े बड़े गिरजाघर बने, जिनमें 'रोमनेस्क' नाम से उत्तरकालीन रोमन वास्तु का पुनरुत्थान हुआ। गिरजों का जनजीवन में महत्वपूर्ण स्थान रहा, और इन्हीं के अंतर्गत शिक्षा संस्थाएँ, पुस्तकालय, संग्रहालय, और चित्रशालाएँ स्थापित हुईं। गिरजों की यह कला गॉथिक शैली कहलाई, जो मध्ययुगीन सभ्यता का दर्पण कही जा सकती है। महत्वपूर्ण निर्माण-सिद्धांतों के अनुसार उस समय तक की यूरोपीय वास्तुकला की मुख्य तीन शैलियाँ, १. स्तंभ और धरनोंवाली यूनानी शैली, २. स्तंभ और अर्धवृत्त डाटवाली रोमन या मिश्रित शैली, और ३. नोकदार डाटोंवाली गॉथिक या चापीय शैली, इतिहास-प्रसिद्ध हैं।

वास्तुशैलियों के विकास में फिर कुछ विराम आया। इसी बीच पुनरुद्धार शैली का पथ प्रशस्त करनेवाली परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं। बारूद के आविष्कार से समर पद्धतियाँ और फलतः किलों के विन्यास बदल गए। नई दुनिया की खोज हो चुकी थी। सन् १४५३ ई० में कुस्तुंतुनिया के पतन के बाद यूरोप में यूनानियों के आप्रवास का भी प्रभाव पड़ा। फलतः इटली के ही समृद्ध और व्यापारिक नगर फ्लोरेंस में एक प्रतिद्वंद्वी शैली का जन्म हुआ। नए गिरजाघरों, और राजमहलों में गॉथिक युग की नुकीली डाटें, प्रतिच्छेदी मेहराबें, और ऊर्ध्वाधर लक्षण नहीं, बल्कि चिरप्रतिष्ठित रोमन शैली के अर्धवृत्ताकार गुंबद ही परिष्कृत रूपों में अपनाए गए। पुनरुद्धार का यह आंदोलन इटली से फ्रांस, जर्मनी, स्पेन, नीदरलैंड, और इंग्लैंड तक फैला। हाँ, कालक्षेप के साथ इंग्लैंड में यह धीरे धीरे ही फैला, जिससे वहाँ दोनों शैलियों का मिश्रण दिखाई देता है।

आधुनिक यूरोपीय वास्तु — उन्नीसवीं शती में परंपरागत वास्तु-शैलियों में, मुख्यतया वास्तुकों की व्यक्तिगत रुचि के कारण, अनेक परिवर्तन हुए और एक 'शैली संघर्ष' ही उपस्थित हो गया। किंतु वास्तुकला आज भी सामयिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है। यह संग्रहालयों, पाठशालाओं, पुस्तकालयों, पठन केंद्रों, चिकित्सालयों, तरणतालों, स्नानागारों, विद्यालयों, चित्रशालाओं एवं कलाभवनों तथा वैज्ञानिक एवं जन-कल्याण-संस्थानों के निर्माण से स्पष्ट है। बीसवीं शती में पुनरुद्धार शैली सार्वजनिक भवनों और मार्गों आदि के लिये, तथा गॉथिक शैली गिरजाघरों और शिक्षालयों के लिये, विशेष रूप से प्रयुक्त होती है। निवासभवन सादी और उपयोगितालक्षी शैली में ही पसंद किए जाते हैं।

अमरीकी वास्तु — अमरीकी वास्तु के विकास में तीन चरण स्पष्ट हैं। पहला है उपनिवेशीय काल (१७७५-८३), प्रारंभिक उपनिवेशों की स्थापना से क्रांति तक। इसमें यूरोपीय वास्तु से मिलता जुलता ही निर्माण हुआ है। दूसरा है आधुनिक काल (जिसे उपनिवेशोत्तर, राष्ट्रीय, या गणतंत्रीय काल भी कहते हैं) क्रांति से शिकागो प्रदर्शनी (१८९३) तक। इसमें राजधानियों के उपयुक्त महत्वाकांक्षासूचक और स्मारकीय भवन बने। १९ वीं शती की यूरोप की 'यूनानी चेतना' भी वहाँ पहुँची। तीसरा अर्वाचीन काल (१८९३ से अब तक) है, जिसमें यूरोपीय 'शैलीसंघर्ष' की भाँति ही यहाँ भी कोई एक दो शैलियाँ युग का प्रतिनिधित्व करती हुई नहीं कही जा सकती। सामाजिक स्थिति और श्रमसेवी उपकरणों से प्रभावित निवासों में उपयोगितालक्षी शैली स्पष्ट है, जब कि गिरजाघरों में वही गॉथिक शैली समादृत है। हाँ कुछ न कुछ मौलिकता का समावेश सभी जगह अवश्य देखने में आता है। यह भी उल्लेखनीय है कि केवल दो तीन शताब्दियों में ही जितना द्रुत परिवर्तन यहाँ हुआ है, उतना संसार में अन्यत्र कहीं नहीं। आजकल गगनचुंबी बहुमंजिली इमारतें अमरीका की विशेषता हैं।

सं० ग्रं०— पर्सी ब्राउन : १. इंडियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट ऐंड हिंदू पीरियड); २. इंडियन आर्किटेक्चर (इस्लामिक पीरियड); ब्रूस अलसॉप : ए जेनेरल हिस्ट्री ऑव आर्किटेक्चर; ४. सर बैनिस्टर फ्लेचर : ए हिस्ट्री ऑव आर्किटेक्चर; सिगफ्रीड गाइडॉयन : स्पेस, टाइम ऐंड आर्किटेक्चर : [वि० प्र० गु०]

वाहिकातंत्र हृदय, धमनियों तथा शिराओं के समूह का नाम है। धमनियों और शिराओं के बीच केशिकाओं का विस्तृत समूह भी इसी तंत्र का भाग है। इस तंत्र का काम शरीर के प्रत्येक भाग में रुधिर को पहुँचाना है, जिससे उसे पोषण और ऑक्सीजन प्राप्त हो सकें। इस तंत्र का केंद्र हृदय है, जो रुधिर को निरंतर पंप करता रहता है और धमनियाँ वे वाहिकाएँ हैं जिनमें होकर रुधिर अंगों में पहुँचता है तथा केशिकाओं द्वारा वितरित होता है। केशिकाओं के रुधिर से पोषण और ऑक्सीजन ऊतकों में चले जाते हैं और इस पोषण और ऑक्सीजन से विहीन रुधिर को वे शिरा में लौटाकर हृदय में लाती हैं, जो उसको फुप्फुस में ऑक्सीजन लेने के लिये भेज देता है। आंत्र से अवशोषित होकर पोषक अवयव भी इस रुधिर में मिल जाते हैं और फिर से इस रुधिर को अंगों में ऑक्सीजन तथा पोषण पहुँचाने के लिये धमनियों द्वारा भेज दिया जाता है।

हृदय (Heart) — यह पेशी-ऊतक से निर्मित चार कोष्ठोंवाला खोखला अंग, वक्ष के भीतर, ऊपर, दूसरी पर्शुका और नीचे की ओर छठी पर्शुका के बीच में बाईं ओर स्थित है। इसके दोनों ओर दाहिने और बाएँ फुप्फुस हैं। इसका आकार कुछ त्रिकोण के समान है, जिसका चौड़ा आधार ऊपर और विस्तृत निम्न धारा (lower border) नीचे की ओर स्थित है। इसपर एक दोहरा कलानिर्मित आवरण चढ़ा हुआ है, जिसको हृदयावरण (Pergicardium) कहते हैं। इसकी दोनों परतों के बीच में थोड़ा स्निग्ध द्रव भरा रहता है।

हृदय भीतर से चार कोष्ठों में विभक्त है। दो कोष्ठ दाहिनी ओर और दो बाईं ओर हैं। दाहिनी और बाईं ओर के कोष्ठ के बीच में एक विभाजक पट (septum) है, जो दोनों ओर के रुधिर को मिलने नहीं देता। प्रत्येक ओर एक कोष्ठ ऊपर है, जो अलिंद (Auricle) कहलाता है और नीचे का कोष्ठ निलय (Ventricle) कहा जाता है। दाहिने निलय में ऊर्ध्व और अधो महाशिराओं (superior and inferior vena cava) के दो छिद्र है, जिनके द्वारा रुधिर लौटकर हृदय में आता है। एक बड़ा छिद्र अलिंद और निलय के बीच में है, जिसपर कपाटिका (valve) लगी हुई है। हृदय के संकुचन के समय अलिंद के संकुचित होने पर कपाटिकाएँ निलय की ओर खुल जाती है, जिससे रुधिर निलय में चला जाता है। दाहिने निलय में फुप्फुसी धमनी (pulmonary-artery) का भी छिद्र है। निलय के संकुचित होने पर रुधिर फुप्फुसी धमनी में होता हुआ फुप्फुसों में चला जाता है। इसी प्रकार बाईं ओर भी ऊपर अलिंद है और नीचे निलय। बाएँ निलय में चार फुप्फुसी शिराओं के छिद्र हैं, जिनके द्वारा फुप्फुसों में शुद्ध हुआ (ऑक्सीजनयुक्त) रुधिर लौटकर आता है और अलिंद के संकुचन करने पर वह निलय और अलिंद के बीच के छिद्र द्वारा निलय में चला जाता है। बाईं ओर के इस छिद्र पर भी कपाटिका लगी हुई है। बाएँ निलय में महाधमनी (aorta) का छिद्र है, जिससे रुधिर निकलकर महाधमनी में चला जाता है और उसकी अनेक शाखाओं द्वारा सारे शरीर में संचार करके शिराओं द्वारा लौटकर फिर हृदय के दाहिने अलिंद में लौट आता है।

हृदय की कपाटिकाएँ — ये बड़े महत्व की संरचनाएँ हैं, जो रुधिर को केवल एक मार्ग से अग्रसर होने देती हैं, लौटने नहीं देतीं। दाहिनी ओर की कपाटिका तीन कौड़ी के समान भागों की बनी है और त्रिवलन कपाटिक (Tricuspid) कहलाती है। बाईं ओर द्विवलन (bicuspid) कपाटिका है। निलय की ओर के पृष्ठ पर इनमें बारीक रज्जु के समान तंतु लगे हुए हैं, जिनके दूसरे सिरे निलय की दीवार से निकले हुए अंकुरों पर लगते हैं। ये कंडरीयरज्जु (cordae-tendinae) कहलाते हैं और अंकुरों को पैपिलीय पेशी (Musculi-papillares) कहा जाता है। अलिंद के संकोच से निलय में रुधिर भर जाने पर, जब वह संकुचित होता है, तो रुधिर कपर्दों के पीछे पहुँचकर उनको छिद्रों की ओर उठा देता है, जिससे उनके सिरे आपस में मिलकर छिद्र के मार्ग को रोक देते हैं और रुधिर अलिंद में नहीं लौट पाता। पैपिलीय पेशी भी संकुचित हो जाती है, जिससे कंडरीयरज्जु तन जाती है और कपाटिकाओं के कपर्द अलिंद में उलटने नहीं पाते। इस प्रकार के प्रबंध से रुधिर केवल एक ही दिशा में, अलिंद से निलय में, जा सकता है। फुप्फुसी और महाधमनी के छिद्रों पर भी अर्धचंद्राकार कपाटिकाएँ लगी हुई हैं।

रुधिर परिसंचरण (Blood Circulation) — उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि रुधिर महाशिराओं से दाहिने अलिंद में आता है। वहाँ से हृत्संकुंचन के समय निलय में जाता है। निलय के संकुचित होने पर फुप्फुसी धमनी में होता हुआ फुप्फुस में चला जाता है। वहाँ ऑक्सीजन लेकर, रुधिर चार फुप्फुसी शिराओं द्वारा बाएँ अलिंद में जाता है और उसके संकुंचन करने पर रुधिर बाएँ निलय में चला जाता है। बाएँ निलय में संकुचित होने पर रुधिर महाधमनी में अग्रसर हो जाता है। इस धमनी की शाखाएँ, जिनका नीचे उल्लेख किया गया है, शरीर में फैली हुई हैं। रुधिर इनके द्वारा अंगों में संचार करके केशिकाओं (capillaries) में होता हुआ, शिराओं द्वारा फिर हृदय के दाहिने भाग में लौट आता है और फिर वही चक्र आरंभ होता है। यही रुधिर परिसंचरण कहलाता है।

हृदय में स्वयं संकुचन करने की शक्ति है। वह प्रति मिनट ७२ बार संकुचन करता है, अर्थात् एक बार संकुचन में ०·८ सेकंड लगता है। इस काल में ०·१ सेकंड तक अलिंद का संकुंचन होता है, शेष ०·७ सेकंड वह शिथिल अवस्था में रहता है। निलय में ०·३ सेकंड तक संकुंचन होता है, शेष काल में वह शिथिल रहता है। इस प्रकार सारा हृदय ०·४ सेकंड तक शिथिलावस्था में रहता है। हृदय का संकोच प्रकुंचन (Systole) और शिथिलावस्था अनुशिथिलन (Diastole) कहलाता है।

धमनियाँ (Arteries) — हृदय से शुद्ध रुधिर को ले जानेवाली लचीली नलियाँ या वाहिकाएँ हैं, जिनके द्वारा रुधिर अंगों में पहुँचता है। हृदय से निकलनेवाली मुख्य महाधमनी है, जो वक्ष में से होती हुई उदर के अंत पर पहुँचकर, दो अंतिम शाखाओं

(देखें पृष्ठ ४४७–४५६)

तिरुमलाई महल, मदुराइ
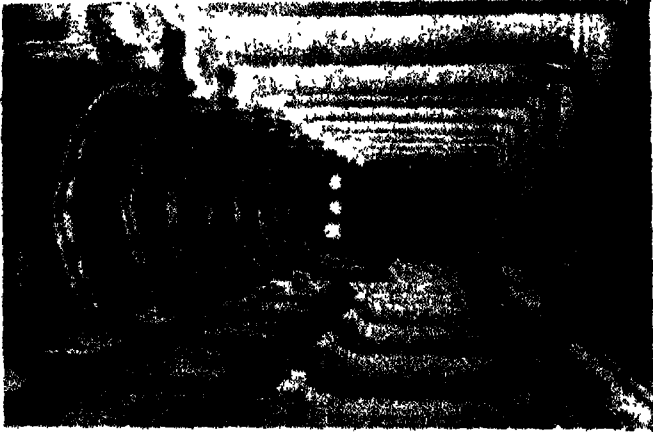
कानपुर रेलवे स्टेशन
(मुगल वास्तुकला का आधुनिक नमूना)

रवींद्र भवन, नई दिल्ली

नेपियर म्यूज़ियम, केरल

में विभक्त हो जाती है। महाधमनी से शाखाएँ निकलकर अंगों में चली जाती हैं। ज्यों ज्यों शाखाएँ निकलती जाती हैं, उनका आकार छोटा होता जाता है। ये छोटे आकारवाली धमनिकाएँ (Arterioles) कहलाती हैं। धमनियों की निकटवर्ती शाखाएँ एक दूसरे से मिल जाती हैं, जिससे यदि एक का मार्ग कट जाता है या रोग के कारण रुक जाता है, तो दूसरी धमनी से उसके विस्तार क्षेत्र में रुधिर पहुँचता रहता है। इसको शाखामिलन (anastomosis) कहते हैं।

हृदय से निकलनेवाली दो मुख्य धमनी हैं, फुप्फुसी (pulmonary) और महाधमनी। फुप्फुसी धमनी दाहिने निलय से निकलने के पश्चात् दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है और प्रत्येक फुप्फुस में एक एक शाखा चली जाती है। इस धमनी का प्रयोजन ऑक्सीजन लेने के लिये रुधिर को फुप्फुस में पहुँचाना है।

महाधमनी — हृदय के बाएँ निलय से निकलकर पहले कुछ दाहिनी ओर, तब पीछे की ओर, तत्पश्चात् मुड़ती हुई बाईं ओर को चली जाती है, जहाँ चौथी वक्ष कशेरुका के बाएँ पार्श्व पर पहुँचकर वहाँ से सीधी नीचे को उतरती हुई वक्ष के अंत तक चली जाती है। इस प्रकार प्रारंभ में इसका जो मोड़ बनता है, वह महाधमनी चाप (Aortic arch) कहलाता है। वक्ष के अंत पर मध्यच्छदा पेशी में से एक छिद्र द्वारा निकलकर, सारे उदर को पार करती हुई चौथे कटि कशेरुक पर पहुँचकर, दो सामान्य श्रेणि फलक धमनियों में विभक्त होकर समाप्त हो जाती है।

शाखाएँ — वक्ष में हृद्धमनियाँ (coronary arteries) महाधमनी की प्रथम शाखाएँ हैं, जो हृदय से महाधमनी के निकलने के स्थान ही पर दोनों ओर से निकलकर हृदय पर एक घेरा सा बना देती हैं। इनकी शाखाएँ सीधी नीचे को जाकर हृत्पेशी में पोषण पहुँचाती हैं।

महाधमनी चाप के अनुप्रस्थ भाग में, दाहिनी ओर से क्रमशः अनामी (innominats), बाईं मूलग्रीवा धमनी (common carotid) और बाईं अधोजत्रुक (left subclavian) शाखाएँ निकलती हैं। अनामी सबसे बड़ी शाखा है और दाहिनी ओर ऊपर ग्रीवामूल में पहुँचकर, दाहिनी मूल ग्रीवा और शिर में रुधिर पहुँचाती है तथा अधोजत्रुक ऊर्ध्व शाखा का रुधिर संभरण करती है।

मूलग्रीवा सीधी ग्रीवा में ऊपर जाकर अवटु उपास्थि (thyroid cartilage) की ऊर्ध्व धारा पर बाह्य और अंतःग्रीवा शाखाओं में विभक्त हो जाती है।

अंतःग्रीवा नेत्रगोलक को एक शाखा देने के पश्चात् शंखास्थि की ग्रीवा नलिका में होकर, कपाल के भीतर पहुँचकर, पुरोप्रमस्तिष्क और मध्य प्रमस्तिष्क (anterior and middle cerebral) शाखाओं में विभक्त हो जाती है, जो प्रमस्तिष्क के अग्र और मध्य भाग को रुधिर देती हैं। दोनों ओर की अंतःग्रीवाएँ प्रमस्तिष्क के तल पर पहुँचकर आगे की ओर स्वयं एक संयोजनी शाखा द्वारा आपस में और पीछे की ओर भी दूसरी शाखा द्वारा आधार धमनी से संमेलन करती हैं। इस प्रकार वहाँ एक चक्र बन जाता है, जो विलिस का वलय कहा जाता है।

बहिर्ग्रीवा ग्रीवा के पार्श्व में होती हुई ऊपर कपोलिक ग्रंथि में पहुँचकर, अंतःहनुका (internal maxillary) और उत्तल शंखास्थि (superficial temporal) शाखाओं में समाप्त हो जाती है, जो मुख की पेशियों तथा वहाँ के अन्य अवयवों एवं कपाल के पृष्ठ पर फैल जाती है। उसकी अन्य शाखाएँ ये हैं: १. ऊर्ध्वअवटुकी (Superthyroid) — अवटुका और स्वरयंत्र को; २. जिह्विकी (Lingual) — जिह्वा और जिह्वाधर ग्रंथि को; (३) मौखिकी (Facial) — आनन को तथा अधोहन्वी ग्रंथि, टॉन्सिल आदि को; (४) पश्चादिका (occipital) — उरःकर्णमूलिका पेशी और कपाल के पश्च भाग को; (५) पश्चकर्णिका —कर्ण के पश्चिम पृष्ठ और पास के कपाल पृष्ठ को तथा (६) अंतःहन्विकी (Internal maxillary) — चर्वण पेशियों, दाँत, नाक, ग्रसनी (pharynx), कर्णपटह और मस्तिष्क के कठिन आवरण को। सातवीं और आठवीं अंतिम शाखाएँ हैं, जिनका उल्लेख किया जा चुका है।

अधोजत्रुक — यह कक्ष में पहुँचकर कक्षीय (axillary) और बाहु में बाहुक (brachial) धमनी बन जाती है। कुहनी के सामने पहुँचकर इसकी अंतः और बहिःप्रकोष्ठिक दो शाखाएँ हो जाती हैं। इससे निम्न शाखाएँ निकलती हैं: अधोजत्रुक से— (१) कशेरुकी (vertebral), (२) अवटुकामूल धमनी, (३) अंतः स्तनिका (internal mammary) तथा (४) ऊर्ध्व पर्शुकांतरिका (superior intercostal)। कक्षीय भाग से — (१) वक्षीय (thoracic) शाखाएँ — बाहु की पेशियों को; (२) अंसतुंडवक्षीय (ocromiothoracic); (३) अग्रपरिवेष्ठनी; (४) पश्चपरिवेष्ठनी तथा (५) अधोअंसफलकी; बाह्य भाग से, ऊर्ध्व और अधोनितल (superior and inferior profunda) और (६) पेशियों को तथा अस्थिपोषक शाखाओं को।

अंतःप्रकोष्ठिका (Ulna) — यह कुहनी कूर्पर (elbow) के सामने से प्रारंभ होकर अग्रबाहु के भीतरी किनारे पर सीधी नीचे हथेली तक चली जाती है और वहाँ अँगूठे की ओर को मुड़कर, बहिःप्रकोष्ठिका की शाखा के साथ मिलकर उत्तल करतल चाप (superficial palmar arch) बना देती है, जिसमें कनिष्ठा, मध्यमा और अनामिका अंगुलियों के दोनों ओर, तर्जनी के केवल भीतरी किनारे पर, शाखाएँ चली जाती हैं। अग्रबाहु में वह सब पेशियों को तथा अस्थियों को पोषक शाखाएँ देती हैं। कुहनी के पास उससे दो आवर्तक शाखाएं निकलती हैं।

बहिःप्रकोष्ठिका (Radial) — अग्रबाहु के बाहरी किनारे पर सीधी नीचे मणिबंध पर पहुँचकर, पीछे की ओर को घूमकर, पहली और दूसरी करतल शाखाओं के बीच से पीछे की ओर से करतल में आकर, अंतःप्रकोष्ठिका की एक शाखा से मिलकर, नितल करतल चाप (deep palmar arch) बना देती है, जिससे अँगूठे के दोनों ओर और तर्जनी के बहिःपृष्ठ को शाखाएँ जाती

हैं। मणिबंध पर इससे दो आवर्तक शाखाएँ निकलती हैं तथा पेशियों और अस्थियों को शाखाएँ जाती हैं।

वक्ष में महाधमनी से निम्नलिखित शाखाएँ निकलती हैं : ग्रसिका (oesophageal), श्वासनलिका तथा हृदयावरणी (pericardial) शाखाएँ, जो इन अंगों में चली जाती हैं।

उदर में महाधमनी से निकलनेवाली शाखाओं में से कुछ के जोड़े हैं। स्तबक (glomerular), वृक्क (Renal) तथा शुक्रमहा शाखाओं के जोड़े हैं, जो महाधमनी के पार्श्वों से निकलते हैं। उसके सामने से उदरगुहाधमनी (coeliac) और ऊर्ध्व और अधो आंत्रयोजनी (superior and inferior mesenteric) शाखाएँ हैं। उदरगुहा धमनी से यकृत, आमाशय और प्लीहा को शाखाएँ जाती हैं। आंत्रयोजनी धमनियाँ समस्त आंत्र को तथा उदर में स्थित अन्य अंगों को रुधिर पहुँचाती हैं।

वक्ष और उदर की भित्तियों में रुधिर ले जानेवाली शाखाएँ हैं : पर्शुकांतर (intercostal), कटि (lumbar) मध्यच्छदा, (phrenic) और मध्य सैक्रल (middle sacral) हैं।

सामान्य श्रोणि फलक धमनियाँ — महाधमनी की दो अंतिम शाखाएँ हैं, जो थोड़ा ही आगे चल कर अंतः और बहिः श्रोणिफलक शाखाओं (internal and external iliac) में विभक्त हो जाती हैं। अंतःशाखा श्रोणि के भीतर जाकर, वहाँ की पेशियों तथा अंगों को शाखाएँ भेजती है। प्रजनन अंगों तथा नितंब की पेशियों में भी इसी से रुधिर जाता है। बहिःश्रोणिफलक धमनी वंक्षणी स्नायु के नीचे से निकलकर ऊरु में आ जाती है और ऊरुधमनी (Femoral Artery) कहलाती है, जो ऊरु के सामने की ओर सीधी नीचे उसके पीछे की ओर चली जाती है और जानुपृष्ठ पर पहुंचकर, जानुपृष्ठ (popliteal) धमनी कही जाती है। कुछ नीचे उतर कर यह अग्रप्रजंघिका और पश्चजंघिका (anterior tibial) धमनी और पश्चप्रजंघिका (posterior tibial) धमनी नाम की दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है। ऊरु में उतरने के पश्चात् ही उससे नितल (profunda) शाखा निकलती है, जिसकी परिवेष्ठक (circumflex) और वेधक (perforating) शाखाएँ ऊरु की पेशियों में तथा अस्थि को रुधिर पहुँचाती हैं।

अग्रप्रजंघिका — धमनी प्रजंघिका और अनुजंघिका दोनों के बीच में नीचे को पाँव तक चली जाती है और उसके पृष्ठ पर पहुँचकर पादतल शलाकाओं के बीच अंगुलियों को शाखाएँ भेजती है। पश्चजंघिका जंघा के पीछे की ओर नीचे पाँव में पहुँच कर अंतः और बहिःपादतल शाखाओं (external and internal plantar arteries) में अंत हो जाती हैं। बहिःपादतल शाखाओं से अंगुलियों के दोनों ओर पादांगुलि शाखाएँ अंगुलियों के अंत तक चली जाती हैं। ये दोनों धमनियाँ पाँव की पेशियों और अस्थि तथा संधियों को रुधिर पहुँचाकर उनका पोषण करती हैं।

शिराएँ (Veins) — धमनियाँ शुद्ध रक्त को हृदय से ले जाती हैं और अंगों में सूक्ष्म केशिकाओं में अंत हो जाती हैं, जिनके द्वारा अंग पोषण और ऑक्सीजन रुधिर से ग्रहण कर लेते हैं। इन केशिकाओं से शिराएँ प्रारंभ होती हैं, जिनके द्वारा पोषण और ऑक्सीजन से रहित रुधिर हृदय को लौटकर आता है। यही अशुद्ध रुधिर कहा जाता है, यद्यपि उसमें कोई अशुद्धि नहीं होती। अतएव शिराएँ वे वाहिकाएँ हैं जो अशुद्ध रुधिर को हृदय में लौटाकर लाती हैं। इसका अपवाद पहले बताया जा चुका है। फुप्फुसी धमनी अशुद्ध रुधिर को हृदय में से आकर फुप्फुसों में पहुँचाती है और फुप्फुसी शिराएँ शुद्ध रुधिर को फुप्फुस से हृदय में ले जाती हैं।

शिराओं का प्रारंभ केशिकाओं ही से होता है। धमनी की केशिकाओं में रुधिर संचरित होकर, पोषण और ऑक्सीजन को दे चुकने के पश्चात्, केशिकाओं के उस भाग में आ जाता है जिससे शिराएँ बनती हैं। इन केशिकाओं के मिलने से प्रथम सूक्ष्मशिराएँ (veinules) बनती हैं। ये सूक्ष्म शिराएँ मिलकर बड़े प्रकार की शिरा बनाती हैं। उनसे और बड़ी शिरा बनती है। इसी प्रकार मुख्य शिराएँ बन जाती हैं, जो अंत में महाशिराएँ बना देती हैं।

शरीर में तीन मुख्य शिरातंत्र हैं : सामान्य शिरातंत्र, फुप्फुसी शिरातंत्र और यकृती या यकृतीयनिवाहिका (hepatic or portal system) शिरातंत्र।

सामान्य शिरातंत्र — शरीर में उत्तल (superficial) और गंभीर (deep) शिराएँ होती हैं। उत्तल शिराएँ चर्म के नीचे प्रायः गंभीर प्रावरणी (deep forascia) में स्थित होती है और लसीका वाहिकाएँ तथा अधिकतर धमनियाँ भी उनके साथ होती हैं। अवतल शिराएँ सदा धमनियों के साथ रहती हैं और इस कारण वे गहरी स्थित होती हैं, छोटे या मध्यम आकार के साथ प्रायः उनके दोनों ओर एक एक शिरा होती है, किंतु बड़ी धमनियों के साथ केवल एक शिरा होती है। दोनों शिराएँ जहाँ तहाँ छोटी छोटी शाखाओं द्वारा आपस में जुड़ जाती हैं।

सारे शरीर में शिराओं के वही नाम हैं जो धमनियों के, जिनके साथ वे रहती हैं। कहीं कहीं नाम भिन्न हैं, जैसे गलशिरा (Jugular vein) और ग्रीवा धमनी (Carotid artery)। किंतु प्रायः वे समान ही हैं और उनकी शाखाएँ तथा वितरण भी धमनियों ही के समान है। इस कारण उनके नाम और मार्ग तथा शाखाओं का अलग वर्णन करना आवश्यक नहीं है। केवल मुख्य मुख्य शिराओं का उल्लेख किया गया है।

कपाल — इसकी उत्तल शिराएँ शिरचर्म के नीचे धमनियों के साथ साथ स्थित हैं और उस क्षेत्र से रक्त को एकत्र करके बहिः गलशिरा (external jugular vein) और सामान्य धामनी शिराओं के द्वारा लौटाती हैं। बहिः गलशिरा गले के पार्श्व पर त्वचा के नीचे दिखाई देती है और नीचे जत्रुक के नीचे पहुँचकर अधोजत्रुक शिरा में मिल जाती है।

कपाल के भीतर दृढ़ तानिका की दो परतों के बीच में कोटरें (blood sinuses) बने हुए हैं। प्रमस्तिष्क दात्र (falx cerebri) की ऊर्ध्व धारा पर ऊर्ध्व-अनुदैर्ध्य-कोटर (superior longitudinal sinus) और अधोधारा पर अधो-अनुदैर्ध्य-कोटर (inferior longitudinal sinus) स्थित हैं। मस्तिष्क के भीतर से रुधिर इन शिरानालों में सूक्ष्म शिराओं द्वारा आता है। वे दोनों कोटर पीछे की ओर आकर मिल जाते हैं और वहीं से पार्श्व कोटर (lateral

sinus) द्वारा कपाल के एक छिद्र से निकलकर अंत:गलशिरा (internarl jugular vein) का प्रारंभ करते हैं। अन्य कई कोटरों का भी रुधिर पार्श्व कोटर में आता है और उससे अंत:गल-शिरा में आ जाता है। इस प्रकार अंत:गलशिरा बनकर, प्रथम अंत:ग्रीवा (internal carotid) धमनी के पीछे और फिर उसके और मूलग्रीवाधमनी (common carotid) के पार्श्व में उतरती हुई नीचे अधोजत्रुक शिरा (subclavian vein) में मिलकर, अनामी (innominate) शिरा बना देती है। सामान्य आननी शिरा इसी में मिल जाती है। मुख, जिह्वा, टॉन्सिल, ग्रसनी आदि से आनेवाली शिराएँ भी इसी में खुलती हैं।

ऊर्ध्वांग शाखा (upper extremity) की शिराएँ — हाथ के पृष्ठ पर की शिरा जालिकाएँ (plexuses) त्वचा द्वारा दिखाई देती हैं। इनसे तथा गहरी शिराओं का रुधिर करतल चापों में होता हुआ, बहि:प्रकोष्ठिका (radial), मध्यम और पुर: और पश्च अंत:-प्रकोष्ठिक शिराओं द्वारा कुहनी के सामने पहुँचकर, मध्यम शिरा में पहुँचता है। गहरे भागों (पेशी आदि) से आनकुर शिराएँ भी इसी में मिल जाती हैं और तब वह मध्यम आधार (median basilic) शिरा और (median cephalic) मध्यम शीर्ष शिरा में विभक्त हो जाती है। एक या दो इंच आगे चलकर अंत:प्रकोष्ठिक शिराएँ आधार शिरा में और बहि:प्रकोष्ठिक शीर्ष शिराओं में जुट जाती हैं। आधार और शीर्ष शिराएँ बाहु के भीतरी और बाहरी पार्श्वों पर होती हुई ऊपर को चली जाती हैं और बाहरी धमनी की सहचारी शिराएँ (venae comites) शिराओं के मिलने के पश्चात् कक्षीय (axillary) शिरा में खुल जाती हैं जो स्वयं आगे चलकर अधोजत्रुक (subclavian vein) बन जाती है और अंत:गलशिरा से जुड़ने के पश्चात् अनामी शिरा बनाती है।

निम्नशाखा (inferior extremity) की शिराएँ — पाँव के पृष्ठ पर की शिरा जालिकाओं में भीतर की ओर अंत:सक्थि और बाहर की ओर बहि:सक्थि (inìernal and external saphenous) शिराएँ आरंभ होती हैं, जो अंत: और बहि: गुल्फ के नीचे से निकलकर जंघा के भीतर की ओर तथा बीच में होती-हुई ऊपर को चली जाती हैं। अंत:सक्थि शिरा जानु पर से निकलकर ऊरु प्रांत में सीधी ऊपर पहुँचकर, वंक्षणी स्नायु के नीचे गंभीर आवरणी के सक्थि छिद्र द्वारा भीतर प्रवेश करके, सामान्य ऊरु शिरा (common femoral vein) से मिल जाती है। बहि:-सक्थि शिरा पाँव से जंघा के पीछे लगभग मध्य में होती हुई ऊपर जानुपश्च खात (popliteal fossa) मे पहुँचकर, जानुपश्च शिरा (popliteal vein) में मिल जाती है। धमनी की सहचरी शिराओं और उत्तल तथा गंभीर ऊरु शिराओं के मिलने से सामान्य ऊरु शिरा बनती है, जो वंक्षणी स्नायु के नीचे से निकल कर उदर में पहुँचकर, बहि:श्रोणि फलक शिरा (ext. iliac) हो जाती है।

उदर की शिराएँ — बहि:श्रोणि फलक शिरा श्रोणि में ऊपर जाकर अंत:श्रोणिफलक शिरा से मिलकर, सामान्य श्रोणिफलक शिरा (common iliac vein) बन जाती है। दोनों ओर की ये शिराएँ पाँचवें कटिकशेरुक पर पहुँचकर जुड़ जाती हैं और उनसे निम्न महाशिरा (inferior vena cava) बन जाती है, जो सीधी ऊपर को जाकर मध्यच्छदा पेशी के छिद्र द्वारा निकलकर वक्ष में प्रवेश करती है। यकृत के पश्चपृष्ठ पर यह एक परिखा में स्थित होती है। इसमें शुक्रवहा या डिंबग्रंथि से तथा वृक्क एवं कटि शिराएँ आती हैं।

आमाशय, समस्त आंत्र, प्लीहा और अग्न्याशय से रुधिर को लानेवाली शिराएँ मिलकर प्रतिहारणी शिरा (portal vein) बनाती हैं। यह बड़े आकार की लगभग तीन इंच लंबी शिरा अधोमहा-शिरा के सामने स्थित है। इसकी दोनों शाखाओं की, यकृत में पहुँच-कर, अनेक शाखाएँ हो जाती है, जो अंत में केशिकाओं में विभक्त हो जाती हैं। शिरा की यही विशेषता है। दूसरी विशेषता उनमें कपाटिकाओं का न होना है।

वक्ष की शिराएँ — अधोमहाशिरा मध्यच्छदा के छिद्र द्वारा वक्ष में आकर, सीधी ऊपर को जाकर, दाहिने अलिंद के नीचे के भाग में पीछे की ओर खुलती है। दोनों ओर की अधोजत्रुक और अंत:गल शिराओं के मिलने से अनामी शिराएँ बनती हैं। बाईं ओर की अनामी दाहिनी से लंबी है और उरोहस्तक (mannhrium sterni) के पीछे से निकलकर पहली पर्शुका के ठीक नीचे दाहिनी अनामी से मिलकर, ऊर्ध्व महाशिरा (superior vena cava) बनाती है, जो नीचे आकर दाहिने अलिंद में प्रविष्ट हो जाती है। इसमें अधो-अवटु (inf. thyroid) अंत:स्तनिका (intmammary) और कशेरुकी (vertebral) शाखाएँ खुलती हैं।

अयुग्म (azygos) शिरा उदर से प्रारंभ होकर वक्ष में आकर, चौथे कशेरुक पर ऊर्ध्वमहाशिरा में खुल जाती हैं। दो ऊर्ध्व और अधो अर्धअयुग्म शिराएँ (sup. & inf hemiazygos) भी होती हैं, जिनमें ऊपर और नीचे की अंतर्पर्शुका शिराएँ खुलती हैं।

फुफ्फुसी शिराएँ — दाहिने फुफ्फुस से तीन और बाएँ फुफ्फुस से दो शिराएँ शुद्ध रुधिर को बाएँ अलिंद में लाती हैं। दाहिने फुफ्फुस से आनेवाली शिराएँ प्राय: आपस में जुड़कर दो रह जाती हैं। तो भी कभी कभी तीन मिलती हैं जिससे अलिंद में एक ओर तीन और दूसरी ओर दो शिराओं के प्रवेशछिद्र होते हैं।

धमनी और शिरा की सूक्ष्म रचना — धमनी की चौड़ाई की ओर से एक सूक्ष्म काट (transverse section) बनाकर और उसको रँगकर सूक्ष्मदर्शी (microscope) द्वारा देखने से, उसमें कई स्तर दिखाई देते हैं। सब से बाहर तांतव स्तर (fibrous coat) है। उसके भीतर पीत स्थितिस्थापक तंतु का (yellow elastic) स्तर है। उसके भीतर तीसरा अनैच्छिक पेशियों का स्तर है। बड़ी धमनियों में पीत स्थितिस्थापक तंतु का स्तर कम हो जाता है और पेशीस्तर बढ़ जाता है। लघिकाओं का पेशीस्तर में अंत होता है। इस स्तर के भीतर एक स्थितिस्थापक कला निर्मित स्तर (elastic fenestrated membrane) होता है और सबके भीतर अंतर्कला कोशिकाओं का एक चिकना स्तर रहता है, जिसपर रुधिर प्रवाह किया करता है।

शिराओं की भित्ति की भी ऐसी ही रचना होती है, किंतु उनकी

मोटाई धमनियों की अपेक्षा कहीं कम होती है। मांसपेशी ऊतक विशेषतया कम होता है और जहाँ तहाँ अंतर्कला स्तर की वृद्धि से कपाटिकाएँ (valves) बन जाती हैं। कपाटिकाओं में प्रायः दो कपर्द (cusp) होते हैं, यद्यपि कहीं कहीं तीन और एक भी पाए जाते हैं, ये कपर्द थैले के समान होते हैं, जो शिरा के मार्ग में इस प्रकार स्थित होते हैं कि यदि रुधिर लौटने लगता है तो इन थैलों में भर जाता है, जिससे वे फूलकर मार्ग को बंद कर देते हैं।

केशिकाएँ (Capillaries) — वाहिकातंत्र का एक महत्वपूर्ण अवयव केशिकाएँ कहलाता है। धमनियों और शिराओं के बीच में केशिकाओं का समूह स्थित होता है। हृदय से धमनियों में रुधिर आता है। वे धमनियाँ केशिकाओं में विभक्त हो जाती हैं। केशिकाओं के दूसरी ओर से शिराएँ प्रारंभ होती हैं। इस प्रकार केशिकासमूह एक झील के समान होता है, जिसमें एक ओर से नदी प्रवेश करती है और दूसरी ओर से दूसरी नदी निकलती है।

केशिकाएँ अत्यंत सूक्ष्म वाहिकाएँ होती हैं, जिनकी भित्तियाँ अंत में केवल एक कोशिका मोटी रह जाती हैं। जब रुधिर धमनी से आकर इन केशिकाओं में प्रवाह करता है, उस समय रुधिर में उपस्थित पोषक अवयव और ऑक्सीजन का उससे अंग के ऊतकों में वितरण हो जाता है तथा अंग में होनेवाली रासायनिक क्रियाओं के फलस्वरूप जो निकृष्ट या अंतिम पदार्थ बनते हैं, वे रुधिर में चले आते हैं। यहीं से शिरा का प्रारंभ हो जाता है। पहले यह रुधिर केशिकाओं में प्रवाहित होता है। केशिकाएँ आपस में जुड़कर सूक्ष्म शिरा बना देती हैं। इनके मिल जाने से कुछ बड़ी शिराएँ बनती हैं। ये जुड़कर फिर और बड़ी शिराएँ बनाती हैं। इस प्रकार शिराओं का आकार बढ़ता जाता है। यहाँ तक कि महाशिरा बन जाती है।

हृदय के प्रकुंचन से बाएँ निलय से निकलकर जब रुधिर महाधमनी में आता है, तब उससे धमनी की भित्तियों पर दबाव पड़ता है। वे दबती हैं और थोड़ी बाहर को फैल जाती हैं। जब रुधिर वहाँ से निकल जाता है, तब भित्तियाँ फिर पूर्ववत् हो जाती हैं। यह दबाव ही रक्तचाप (blood pressure) कहलाता है। यह महाधमनी में सबसे अधिक है। ज्यों ज्यों उससे शाखाएँ निकलती जाती हैं, उनमें दाब कम होती जाती है। केशिकाओं में यह बहुत कम होती है। शिराओं में उससे भी कम होती है। जितनी बड़ी शिरा होती है दाब उतनी ही कम होती है, क्योंकि उनका आकार बड़ा होता है और उनमें रक्त कम होता है। स्वस्थ युवा व्यक्ति में प्रकुंचन दाब (systolic pressure) १२०-१६० और अनुशिथिलन दाब (diastolic pressure) ८० से ६० मिमी० पारा होता है।

[मु० स्व० व०]

विंध्य पर्वतश्रेणियाँ मालवा पठार के उत्तरी भाग में हैं, जो दक्षिण में नर्मदा घाटी के समीप २,५०० फुट ऊँची दीवार की भाँति तथा उत्तर की ओर केवल १,४०० फुट की ऊँचाई में खड़ी हैं। यह प्रदेश बहुत ऊबड़खाबड़, शुष्क एवं वीरान है, जिसमें जगह जगह शिखर और उनके बीच पाले मिलते हैं। मुख्य शिखर लगभग २,००० फुट ऊँचा है, जो मुख्यतः स्तरित बलुआ पत्थरों का, जिनमें कहीं कहीं चूना पत्थर और शेल मिलते हैं, बना है। बनास और चंबल के मध्य, पूर्व में बुंदेलखंड की ओर तथा उत्तर-पश्चिम में चंबल के बाईं ओर मिलनेवाले बृहत् शिखर पर धौलपुर तथा करौली स्थित हैं। अनुमानतः अरावली की ओर से दबाव के कारण विंध्य चट्टानों में मोड़ तथा दरारें पड़ गई। मध्यजीवी महाकल्प के अंत में लावरस प्रवाह द्वारा निर्मित मैदान, दबाव के फलस्वरूप, लगभग ५,००० फुट ऊँचा भूभाग बन गया था। यहाँ नदियाँ शिखरों को पार करती हुई आरोपित जलप्रवाह प्रस्तुत करती हैं और अपने ऊपरी भाग में अपरदन के अनुरूप जलप्रवाहवाली हैं। काली, सिंध, पार्वती और चंबल के संगम पर कोटा में ८००-६०० फुट ऊँचा कछारी पंक बन जाता है, किंतु चंबल अपने अग्रभाग में संकीर्ण गहरी घाटी बनाती है।

श्रेणियों पर मिट्टी की मोटाई कुछ ही इंच है। शुष्क शिखरों पर मिट्टी बिल्कुल नहीं मिलती। कहीं कहीं साधारण घास के मैदान एवं कँटीदार झाड़ियाँ मिलती हैं। पहाड़ियों पर सागौन के वन मिलते हैं। निचाई पर लोग पत्थरों के मकान बनाकर रहते हैं। ग्वालियर, इंदौर तथा भोपाल विंध्य क्षेत्र के प्रमुख नगर हैं। श्रेणियों के मध्य ही काठी में होकर बंबई–आगरा रेलमार्ग गुजरता है। [रा० स० ख०]

विंध्याचल विंध्याचल नगर मिर्जापुर से ४ मील पश्चिम गंगा नदी के दाहिने तट पर बसा हुआ है। इसी के अंचल में भगवती श्री विंध्यवासिनी दुर्गा जी का सर्वपूजित प्रसिद्ध मंदिर है। तीर्थयात्रियों तथा भ्रमणार्थियों के लिये यह महत्वपूर्ण स्थान प्राचीन काल से ही आकर्षण तथा श्रद्धा का केंद्र रहा है। कहा जाता है, मनु तथा उनकी स्त्री शतरूपा ने मंदाकिनी के तट पर कठोर तप किया था। देवी ने प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया और चतुर्भुजी विंध्यवासिनी के रूप में विंध्याचल में अवतरित हुईं। आठवीं शती में वाक्पति ने अपने गौड़वहो काव्य में विंध्यवासिनी की मूर्ति का विशद वर्णन किया है। तब से अगणित साधुओं तथा तांत्रिकों का आवागमन यहाँ होता रहा है। सिद्धपीठ तथा शक्तिपीठ होने के कारण स्थान स्थान पर चट्टियों तथा गुफाओं को देखने से उन कर्मठ योगियों तथा तांत्रिकों के त्याग और तपस्या के चिह्न अवशेष रूप में अब भी प्राप्त होते हैं।

अप्रैल तथा अक्टूबर मास ऋतु-परिवर्तन-काल माना जाता है। इन्हीं दो मासों में नाना प्रकार के संक्रामक रोगों का आक्रमण होता है और मृत्युसंख्या बढ़ जाती है। शास्त्रानुसार इन महीनों में महाशक्ति दुर्गा की पूजा आराधना रोग तथा अन्य उपद्रवों से मुक्ति पाने के लिये की जाती है। इससे सुख समृद्धि की वृद्धि तथा मानव कल्याण होता है। इसी से प्रत्येक वसंत तथा शरद् में नवरात्र पूजा अथवा दुर्गापूजा का प्रचलन और माहात्म्य है। विंध्याचल के तीन मील के दायरे में तीन प्रमुख महाशक्तियों, महालक्ष्मी (विंध्यवासिनी), महासरस्वती (अष्टभुजा) तथा महाकाली के परम पुनीत सुरम्य स्थान हैं। इन तीनों स्थानों पर तीन स्थायी निर्झरिणियाँ हैं, जिनके नाम क्रमशः सीताकुंड, भैरवकुंड तथा कालीकुंड हैं। इनका जल बड़ा स्वास्थ्यवर्धक माना जाता है। अष्टभुजा देवी का मंदिर नगर से तीन मील पश्चिम लगभग ३०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है जिसपर जाने के लिये १६० पत्थर की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। देवी की प्रतिमा एक लंबी

और अँधेरी गुफा में है। गुफा के अंदर घृत दीप जलता रहता है, जिसके प्रकाश में यात्री देवी जी का दर्शन करते हैं। यह स्थान बड़ा दिव्य और रमणीक है।

प्रसिद्ध श्री रामेश्वर जी के मंदिर से लेकर 'राम-गया' तथा प्रेतशिला तक अनेक शिलालेख और जैन तथा बुद्ध की खंडित प्रस्तर-मूर्तियाँ उस काल की कला का दर्शन कराती हैं। रामेश्वर जी के मंदिर के ठीक नीचे एक बौद्धकालीन उद्यान था जिसमें विभिन्न प्रकार की औषधियों के पौधे तथा जड़ी बूटियाँ लगाई गई थीं जिसका भग्नावशेष अब भी वर्तमान है। दक्ष प्रजापति का यज्ञस्थल भी यह भूमि रह चुकी है। कहते हैं, यहीं पर सती ने अग्नि में प्रवेश कर शरीर त्याग किया था। यहाँ से चार मील दक्षिण पूर्व की ओर सत्तसागर नाम का स्थान पड़ता है। पुराणों में वर्णित है कि इसी के कूल पर बैठकर ब्रह्मा जी ने तपस्या की थी। इस स्थान का दृश्य वर्षाकाल में अत्यंत मनोहर हो जाता है।

विंध्याचल उपनगर की पश्चिमी सीमा पर हनुमान् जी का एक मंदिर तथा उसकी विपरीत दिशा में भैरव जी का मंदिर है। ये दोनों मूर्तियाँ बड़ी विशाल हैं। भैरव जी के मंदिर के उत्तर गंगा जी के तट पर नवीं शताब्दी के दानवराय के प्रसिद्ध दुर्ग का भग्नावशेष विद्यमान है।

छठी देवी — विंध्याचल त्रिकोण यात्रांतर्गत आनंदमयी आश्रम के निकट ही षष्ठी देवी का प्राचीन मंदिर था। षष्ठी देवी नव दुर्गा में से छठी देवी हैं इसलिये इन्हें षष्ठी देवी कहा जाता है। किंतु दुर्गा-सप्तशती के अनुसार इनका वास्तविक नाम कात्यायनी देवी है। इनके पूजन से शुभ और शांति की वृद्धि तथा रोग का नाश होता है।

सन् १९५४ ईसवी में यहाँ तत्कालीन जिलाधीश श्री नरसिंह-प्रसाद चटर्जी की संरक्षता में खुदाई हुई जिसमें प्राप्त कुछ खंडित तथा सर्वांगसुंदर मूर्तियाँ, स्तंभ, नकाशी की हुई चौकियाँ आदि मिलीं। जिससे ज्ञात होता है कि ये पूर्व मध्यकालीन युग (७००–१२००) के बाद की वास्तुकला की आर्यशैली से संबंध रखती हैं।

मोतिया तालाब — अष्टभुजा से दो फर्लांग पश्चिम विंध्य शिखर पर एक विशाल तालाब है जिसे मोतिया तालाब कहते हैं। उसके किनारे शंकर जी का विशाल मंदिर है, जहाँ कोई न कोई साधक अथवा योगी प्राय: रहा ही करता है। [मं० प्र० पां०]

विंसेंट, बोवे का मध्यकालीन विश्वकोशकार। जन्मतिथि और स्थान के बारे में निश्चित रूप से कहना कठिन है। अगर उसका देहांत सन् १२६४ में हुआ माना जाय तो उसकी कृतियों को देखते हुए निश्चय ही उसके जन्म का वर्ष ११९० होना चाहिए। जीवनचरित् के बारे में भी कोई विशेष बातें मालूम नहीं। किसी समय वह पेरिस के नजदीकी स्थान पर एक धर्मसंस्था में शिक्षक था। उसकी महत्वपूर्ण कृति है स्पेकुलम मेजस। इसके तीन भाग हैं जिनमें उसने अपने समय तक ज्ञात सभी ज्ञान विज्ञान संबंधी बातों का समावेश किया है। पहला खंड विश्व के बारे में है जिसके ३२ भागों और ३७१८ अध्यायों में उसने यूरोप के प्राकृतिक इतिहास से संबंधित समस्त उपलब्ध ज्ञान का आकलन किया है। अध्येताओं की दृष्टि से इस पुस्तक का बहुत बड़ा महत्व है। धर्मविधि, दार्शनिक समस्याएँ, राजनीति और सैन्यसंचालन से लेकर गणित तक इसमें शामिल है। गणित के अंतर्गत भी विंसेंट ने वजन, माप, ज्यामिति, खगोल, सामुद्रिक और यहाँ तक कि संगीत का भी विवेचन किया है। ध्यान देने की बात है कि इस पुस्तक में वह अरबी अंकों से परिचित मालूम होता है गोकि इसका उल्लेख इस रूप में उसने कहीं नहीं किया है। इसके अंतिम भाग में अध्यात्म-वाद, पुराण, बाइबिल आदि से लेकर सेंट विक्टर बंधु तक का जिक्र किया है। इस विशाल ग्रंथ का दूसरा खंड है सिद्धांत संबंधी। पर यह काफी अंशों में पहले खंड के उपसंहारात्मक अंशों की ही व्याख्या पेश करता है। इतिहास विषयक उसका अंतिम खंड ३७९३ अध्याय में लिखा गया है जिसमें सृष्टिरचना से लेकर सेंट लुई के धर्मयुद्ध तक का विस्तृत इतिहास समाविष्ट है। पूरी तरह मौलिक अथवा सैद्धांतिक दृष्टि से पूर्ण भले ही न हो यह कृति, लेकिन संकलन की अगाध क्षमता और सामग्री के वर्गीकरण में हुए परिश्रम की कल्पना करते हुए विंसेंट की इस देन को सराहनीय कहा जायगा। ६ शता-ब्दियों के बाद अनेक विद्वानों ने मिलकर जिस काम को हाथ में लिया, उसे उसने अकेले निभाया यह साधारण बात नहीं है।

[मु० रा०]

विकर्ण धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों में से, एक जो महारथी होने के अति-रिक्त परम न्यायी एवं विवेकपूर्ण था। यह कुरुक्षेत्र के युद्ध में भीम द्वारा मारा गया था। [रा० द्वि०]

विकलांग शल्यचिकित्सा शल्यकर्म की वह शाखा है जो उन क्षतिग्रस्त या रुग्ण हड्डियों, जोड़ों, पेशियों, तंत्रिकाओं और ऊतकों से संबंधित है, जिनमें विरूपता या क्रिया में शिथिलता उत्पन्न होना संभव हो। इसका अनुप्रयोग बच्चों तक ही सीमित नहीं है। जिन प्रधान व्याधिप्रकारों का उपचार विकलांग शल्यकर्म द्वारा होता है, वे हैं : (१) जोड़ों की व्याधियाँ : ये व्याधियाँ जीवाणुविक संक्रमण (bacterial infection), या क्षति, जैसे अस्थिभंग, खतरनाक मोच, या बारंबार होनेवाली क्षति के कारण होती हैं : (२) हड्डियों की व्याधि संक्रमण या क्षति के कारण हो सकती है। हड्डी का विकास अंत:स्रावी (endocrine) स्राव की अव्यवस्था से प्रभावित हो सकता है, रिकेटरोधी (antirachitic) विटामिनों की कमी और अर्बुद (tumour) से भी प्रभावित हो सकता है : (३) रोग या त्वचा, पेशी जोड़ों के निकट कंडरा (tendon) आदि मृदु ऊतकों का आकुंचन (contraction) विरूपता उत्पन्न कर सकता है। क्षति के कारण हुए आकुंचन को घाव के विसंक्रमण (sterili-sation) द्वारा रोका जा सकता है और यदि आवश्यक हो तो परवर्ती समुचित त्वचा, या ऊतककलमन (tissue grafting), भी किया जा सकता है। क्रमिक तनाव द्वारा कुछ प्रकार के आकुंचनों को ठीक किया जा सकता है। संक्रांत या क्षतिग्रस्त स्नेहपुटी (bursae) और जोड़ों के ऊपर स्थित स्नेहक कोश अक्सर पैर की सूजन, वामस्थिय की सूजन जैसी विरूपता उत्पन्न करने के कारण होते हैं। (४) तंत्रिकातंत्र के रोग के अंतर्गत इस तंत्र में प्रसूतिकालीन क्षति ((obstetric injury), तंत्रिकापथों का अपकर्षण प्रमस्तिष्कीय क्षत (cerebral lesions) और बालपक्षा-घात (infantile paralysis) आते हैं। बालपक्षाघात अत्यंत

संक्रामक महामारी है, जिसमें रुग्ण तंत्रिकाओं द्वारा निर्मित पेशियाँ पक्षाघातग्रस्त होकर अपुष्ट (atrophied) रह जाती हैं। (५) अधिकांश विरूपताएँ स्थैतिक हैं और गलत अंगविन्यास से उपजती हैं। सपाट पाँव (flat foot), गोल कंधे (round shoulders) और खोखली पीठ (hollow back) आदि सर्वसामान्य स्थैतिक विरूपताएँ हैं। (६) जन्मजात रोग असामान्य भ्रूणविकास के कारण होते हैं और इनके कारण भली भाँति स्पष्ट नहीं हैं। जन्मजात गदापाद (club foot) सपाट पाँव, नितंब का विस्थापन (dislocation of hip), मेरुदंड के रोग अन्य सामान्य रोग हैं जिनका उपचार विकलांग शल्यकर्म के अंतर्गत होता है। विकलांग शल्यकर्म का दूसरा बहुत ही मुख्य योगदान अपंगों के उपचार में है। यह अधिकतर तीव्र पोलियो (Poliomyelitis), या बालपक्षाघात, के कारण, या प्रमस्तिष्कीय फालिज के साथ जन्मे हुए बच्चों को, होता है। ऐसी स्थितियों में हाथ के उपयोग या संचलन (locomotion) के लिये आवश्यक पेशियों में से कुछ का विकास ही नहीं हुआ रहता, या वे पक्षाघातग्रस्त, होती हैं। इन पक्षाघातग्रस्त पेशियों के स्थान पर काम करने के लिये शल्यकर्म द्वारा पेशियों का स्थानांतरण और साथ ही भौतिक चिकित्सा (physiotherapy) तथा शिक्षा का सहयोग अपंगता के प्रभाव को काफी हद तक दूर करने में सहायक होता है।

हड्डियों और जोड़ों के तपेदिक के रोग के उपचार में समुचित प्रतिजैविकी (antibiotics) के प्रयोग और रुग्ण ऊतक के अपच्छेदन (excision) के तकनीक से क्रांति हो गई है। अब अंग सामान्य अवस्था में कुछ ही महीनों में लौट आते हैं, जबकि पहले इसमें वर्षों लग जाते थे।

अब मेरुदंडनाल (spinal canal) रहस्य नहीं रह गया। अब बिना व्यग्रता के शल्यकर्मक मेरुदंड पर दबाव डालनेवाले तपेदिकी मवाद के मसले को हटा सकता है जो अन्यथा निचले सिरे का पक्षाघात उत्पन्न कर सकता है; या मेरुदंड का अर्बुद हटा सकता है, जो दबाव के लक्षण या पैरों की फालिज (paraplegia) उत्पन्न कर सकता है। अस्थिभंग के अनेक रोगी विरूपता (कुसंयोजन) लेकर अच्छे होते हैं और अनेक अच्छे होते ही नहीं (असंयोजन)। विभिन्न शल्यकर्मी प्रक्रियाओं द्वारा भग्न खंडों को सीध में लाया जा सकता है और सुई, तार या धात्विक स्टेपलों (staples) द्वारा उन्हें समुचित स्थिति में रखकर स्वस्थ किया जा सकता है।

हड्डियों और जोड़ों का संक्रमण प्रतिजैविकी से प्रभावित होता है। यह संतोष की बात है, परंतु जब संक्रमण चिरकालिक हो जाता है, तब प्रतिजैविकी ऊतकों तक नहीं पहुँचते। फलत: ऐसे अनुत्क्रमणीय (irreversible) परिवर्तन होते हैं जिनसे जोड़ों की गतिविधि सीमित हो जाती है और विरूपता उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में ऐसे जोड़ को जो गतिविधि में दर्द उत्पन्न करता है, किसी पूर्वनिर्धारित अनुकूलतम कोण पर स्थिर किया जा सकता है (arthrodesis) या यदि जोड़ का संचलन अभीष्ट हो तो संधिघटना (arthroplasty) की जा सकती है।

चिकित्सा की अन्य शाखाओं में निरोधक का पहलू महत्व का है। अब विकलांग शल्यकर्मक भी विरूपता और कंकाली (skeletal) विकृतक्रिया की रोकथाम के प्रति सचेत और सचेष्ट हैं। रोग के निरोधन के लिये सही अंगविन्यास के महत्व पर जोर देने का प्रयास अनवरत रूप से चल रहा है। यह भी पाया गया है कि वृद्धि में कुछ परिवर्तन विभिन्न अधिवर्धीय (epiphysical) केंद्रों पर क्षति के कारण होते हैं और इन केंद्रों को सक्रिय अव्यवस्था के समय में ही सुरक्षित किया जा सकता है। इन प्रयत्नों और इन वृद्धिकेंद्रों को सुरक्षित करने की विधि के कारण निरोधक विकलांगविज्ञान बड़ा महत्वशाली हो गया है। [र० मा० सि०]

विकृतिविज्ञान (Pathology) जिन कारणों से शरीर के विभिन्न अंगों की साम्यावस्था, या स्वास्थ्यावस्था, नष्ट होकर उनमें विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, उनको हेतुकीकारक (Etiological factors) और उनके शास्त्र को हेतुविज्ञान (Etiology) कहते हैं। ये कारण अनेक हैं। इन्हें निम्नलिखित भागों में विभक्त किया गया है :

१. वंशानुगत जन्मजात या शरीर रचना संबंधी (Hereditary Congenital or Constitutional), २. आवश्यक द्रव्यों का अभाव (Deficiency), ३. संक्रामक (infectious) उपसर्ग, ४. अभिघात (Trauma), ५. भौतिक (physical) तथा ६. रासायनिक (chemical)।

ये हेतुकीकारक जिस प्रकार से विकृतियों को उत्पन्न करते हैं, उसको रोगजनन (Pathogenesis) कहते हैं। रोगकारक हेतुओं से शरीर के विभिन्न अंगों में जो अस्वस्थ अवस्थाएँ या स्थित्यंतर उत्पन्न होते हैं, उनको विकृतियाँ (Morbidity) कहते हैं तथा इन विकृतियों से युक्त धातु अंग या आशय के विवरण को विकृत शरीर (Morbid Anatomy) तथा इन विकृतियों के शास्त्र को विकृति विज्ञान कहते हैं।

विकृतिविज्ञान का इतिहास एवं विकास — १६वीं-१७वीं शताब्दी में पाश्चात्य देशों में विकृति विज्ञान के लिये शवपरीक्षण का प्रारंभ किया गया। मोरगानि (Morgagni) ने सन् १७६१ में उसके पूर्व किए गए सैकड़ों शवपरीक्षणों की छानबीन कर, उनमें से सात सौ शवपरीक्षणों के वृत्तांत को बृहद् संग्रह ग्रंथ के तीन भागों में प्रकाशित किया। रोगियों के विभिन्न अंगों में पाए गए चिह्नों और लक्षणों का संबंध उनके शवों के भीतर पाई गई रचनात्मक विकृतियों के साथ कहाँ तक बैठता है इसकी चर्चा इस ग्रंथ में की गई है। इसके पश्चात् ही विकृतिविज्ञान (Pathology) को स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त हुआ। रूडोल्फ फिर्खो (Rudolf Virchow) ने १९वीं शताब्दी में शरीरगत विकृतियों के परीक्षण में सूक्ष्मदर्शी यंत्र का उपयोग प्रारंभ किया और कोशिकीय विकृतिविज्ञान (Cellular Pathology) पर अपना ग्रंथ १८५६ ई० में प्रकाशित किया। इस ग्रंथ ने रोगों के स्वरूप की तथा उनके अभ्यास के लिये कौन कौन से साधन प्रयुक्त होने चाहिए और प्रयुक्त हो सकते हैं, इनके संबंध की कल्पना में क्रांति पैदा की तथा विकृति विज्ञान को, जो पहले रोगनिदान के अंतर्गत एक छोटा सा विषय था, नियाय का एक उत्तम अधिष्ठान बना दिया।

शरीर के अंगों में होनेवाली विकृतियाँ अव्यक्त होते हुए भी प्रतिक्रिया (Reaction), सूजन (Inflammation) जीर्णोद्धार (Repair), वृद्धि में बाधा (Disturbance in growth), अपकर्षण (Degeneration), अर्बुद (Tumour) इत्यादि कुछ इनी गिनी सामान्य प्रकार की होती हैं।

जब शरीरगत संपूर्ण विकृतियों का तथा उनके हेतुओं का वर्णन उपर्युक्त सर्वसाधारण प्रकारों के अनुसार किया जाता है, तो उसको सामान्य विकृतिविज्ञान (General Pathology) कहते हैं, और जब शरीर के प्रत्येक अंग, आशय या संस्थान का वर्णन उसमें होनेवाली उपर्युक्त प्रकार की विकृतियों के साथ स्वतंत्र रूप से किया जाता है, तब उसको विशेष विकृतिविज्ञान (Special Pathology) कहते हैं। शरीर के भीतर इन विकृतियों का स्वरूप जब आसानी से इंद्रिय ग्राह्य होता है, तब उसको स्थूल (grross) विकृति कहते हैं तथा सूक्ष्म स्वरूप की विकृति होने पर इन विकृतियों को देखने के लिये जब सूक्ष्मदर्शी यंत्र की आवश्यकता होती है तब उसको सूक्ष्म (microscopic) विकृति कहते हैं।

विकृतिविज्ञान का मुख्य उद्देश्य विविध रोगकारकों से विभिन्न अंगों में जो विविध विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, उनका कार्यकारण भाव प्रदर्शित करना है। उन विकृतियों के स्थूल और सूक्ष्म स्वरूपों का विवरण देना और उनके आधार पर विविध व्याधियों से उत्पन्न होनेवाले लक्षणों का स्पष्टीकरण देना ही विकृतिविज्ञान का मुख्य उद्देश्य है। यह उद्देश्य विविध व्याधियों से मृत व्यक्तियों के संपूर्ण इतिहास के साथ, मरणोत्तर परीक्षण से उनके शरीर के विभिन्न आत्याशयादि अंगों के भीतर पाए जानेवाली विकृतियों, का मेल किए बिना सिद्ध नहीं हो सकता।

विकृति और रोग में भेद — विकृतियों में शरीर के विभिन्न अंगों की वैषम्यावस्था पर तथा उनके रचनात्मक और स्वरूपात्मक (morphological and structural) परिवर्तनों पर जोर दिया जाता है और रोगों में उनके कार्यात्मक (functional) परिवर्तनों पर जोर दिया जाता है। सारांश में विकृतियों का उल्लेख विभिन्न अंगों से संबंधित होता है और रोग का उल्लेख अधिकतर लक्षणों से संबंधित होता है। शरीर में विकृतियों के स्वरूप में रोग बहुत पहले से रहता है। केवल वह बहुत सूक्ष्म होने से इंद्रियग्राह्य कम होकर बुद्धिग्राह्य अधिक होता है। प्रयोगशाला के अंदर विभिन्न परीक्षाओं से रोगी के रोग का अध्ययन क्लिनिकल पैथॉलोजी (Clinical Pathology) द्वारा किया जाता है। सामान्य विकृतिविज्ञान को निम्नलिखित अध्यायों में बाँटा गया है।

सूजन (Inflammation) — आधुनिक विचारक यह मानते हैं कि सूजन सजीव शरीरस्थ कोशिकाओं के द्वारा किसी भी क्षोभ (irritation) के विरोध में की गई प्रतिक्रिया मात्र है। क्षोभ के चार कारण माने गए हैं :

(१) आघात (Injury), (२) जीवाण्विक कारणों द्वारा (Bacterial Agency), (३) रासायनिक पदार्थों द्वारा (Chemical Agency), (४) तंत्रिकीय कारणों से (Nervous Agency) कुछ क्षतियों के साथ सकते हैं। सूजन के प्रमुख चिह्न निम्नलिखित हैं : (१) स्थानिक ताप, (२) लालिमा (३) सूजन (४) शूल तथा इसके साथ ही साथ ऊतकों (tissues) में कुछ आघात होने से तथा कुछ शूल के कारणों से अंग की क्रियाशक्ति का भी ह्रास होता है।

ऊतकक्षय (Tissue Necrosis) — शरीर का निर्माण करनेवाले विभिन्न ऊतकों के (Tissues) के ह्रास, विनाश तथा क्षति को सामान्य ऊतकक्षय कहते हैं।

कारण — ऊतकक्षय के निम्न कारण प्रमुख हैं :

(१) **ऊतकों के पोषण में बाधा** — जब ऊतकों को पुष्ट करने के लिये आवश्यक सामग्री वहाँ तक नहीं पहुँच पाती, तब ऊतकक्षय हो सकता है।

(२) **रासायनिक विषों एवं भौतिक कारकों की क्रिया** — इसके अंतर्गत भौतिक और रासायनिक कारणों से ऊतक की मृत्यु होती है, जैसे बाह्य आघात, अत्यधिक ऊष्मा या शीत, दाहक विष (जैसे फ़ॉस्फ़ोरस, संखिया, सीसा तथा रेडियम)।

(३) **जीवाण्विक जीवविष** (Bacterial Toxins) — कभी कभी डिप्थीरिया, जहरबाद, व्रण मुखार्ति (ulceratiuve stomatites) इत्यादि रोगों के जीवविष से भी ऊतकों का क्षय होता है।

सारांश में ऊतकक्षय का मुख्य कारण धमनी, शिराओं तथा केशिकाओं में अवरोध का होना है। इसके कारण उक्त स्थान पर पौष्टिक पदार्थ नहीं पहुँचता है। ऊतकक्षय के प्रकार निम्नलिखित हैं :

(१) नाभीय क्षय (Focal Necrosis), (२) स्कंदी क्षय (Coagulative Necrosis), (३) द्रावणक्षय (Colliquative Necrosis), (४) किलातीय क्षय (Caseous Necrosis) (५) स्नैहिकक्षय (Fat Necrosis), तथा (६) व्रणोत्पत्ति (Ulceration)।

अपकर्षण (Degeneration) — यह भी ऊतकविशेष पर होनेवाली क्रिया है। जब किसी ऊतक का अपकर्षण कहा जाता है, तो इसका अभिप्राय ऊतक में एक विशेष प्रकार का परिवर्तन समझना चाहिए, जैसे वसा अपकर्षण कहने से किसी ऊतकविशेष में वसा की उपस्थिति है, ऐसा बोध होता है, वसा के अभाव का नहीं। यह अपकर्षण जिस अवयव में होता है, उसी के अनुसार नामकरण भी होता है, जैसे हृदय अपकर्षण, मांसपेशीय अपकर्षण, यकृती अपकर्षण इत्यादि। दूसरे शब्द में ऊतकों में पौष्टिक आहार की कमी से कोशिका की रासायनिक क्रिया में जब परिवर्तन आ जाता है, तो उसे अपकर्षण कहते हैं। इसमें कोशिका की पूर्णतया मृत्यु हो जाती है तथा उसके प्रोटोप्लाज्म(protoplasm) से एक नए प्रकार के रासायनिक पदार्थ की उत्पत्ति होती हैं। यह पदार्थ कोशिका की रचना से पिछली पूर्णतया भिन्न होता है और इससे कोशिका का कार्य बिल्कुल भिन्न हो जाता है। जब कोशिका के अंदर लसिका में से एक विशिष्ट पदार्थ निकलकर इकट्ठा हो जाता है, तो उसे अंतःस्पंदन (Infiltration) कहते हैं। यह अंतःस्पंदन मुख्यतः वसीय, कुवेदार वर्ण की (pigmentatry) तथा ऐमिलॉइड (amyloid) प्रकार का होता, है जब कि अपकर्ष (degeneration) वसीय म्यूकाइड (mucoid) तथा कोलॉइड (colloid) होता है।

कोथ (Gangrene) — रक्त के अभाव से जब ऊतक में एक प्रकार की सड़न (putrifaction) होने लगती है, तो उसे कोथ (Gangrene) कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है (१) शुष्क कोथ (Dry Gangrene) तथा (२) आर्द्र (Moist Gangrene)।

शुष्क कोथ (Dry Gangrene) — जब किसी एक भाग की धमनी द्वारा किसी अंग में रक्त पहुँचना बंद हो जाता है, तो शुष्क कोथ की उत्पत्ति होती है।

आर्द्र कोथ (Moist Gangrene) — इसमें शिराओं द्वारा अंग विशेष से रक्त का हृदय की ओर लौटा जाना पूर्णतया रुक जाता है। रक्त की उस स्थान पर आमद होती है, परंतु निकास नहीं होता।

उपर्युक्त दो प्रकार के कोथ के अतिरिक्त और प्रकार के भी कोथ होते हैं, जैसे, अंतःशाल्यिक कोथ (Embolic Gangrene), संक्रामी कोथ (Infective Gangrene), वातिकोथ (Gas Gangrene), मधुमेह जनित कोथ (Diabtic Gangrene), वार्धक्य कोथ (Senile Gangrene) तथा रेनों का रोग (Renauds Disease)

पुनर्निर्माण (Repair) — जीर्ण या विनष्ट हुए ऊतक या कोशिकाओं की क्रिया यथासंभव पुनः प्राप्त की जाए, इस अभिप्राय से जो उनका पुनर्जनन होता है, वह पुनर्निर्माण, या जीर्णोद्धार (Repair) कहा जाता है।

अर्बुद (Tumour) — यह शरीर की ऐसी विशिष्ट अवस्था है, जिसमें शारीरिक ऊतक (tissues) की नववृद्धि होती है। सामान्यतः अर्बुद दो प्रकार के होते हैं :

(१) मृदु (Simple or Benign) तथा (२) घातक दुष्ट, चंड (Malignant)

(१) मृदु अर्बुद — ये अघातक इसीलिये कहे जाते हैं कि इनके द्वारा जीवन को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती।

(२) घातक — जिन अर्बुदों में विघटन अत्यधिक होता है, उनमें ऊतक की सी आकृति नहीं बनती। उनकी रचना ऊतक से भिन्न होती है तथा उनकी वृद्धि बहुत ही द्रुत वेग से होती है। वे शरीर में शीघ्रतापूर्वक प्रसारित होकर अंदर ही अंदर स्वस्थ अवयवों को आक्रांत करते हैं। इस आंतरिक प्रसारण की क्रिया को मेटास्टेसिस (Met. staisis) कहते हैं। इस कारण ये बहुत मारक भी होते हैं और इसी से इन्हें घातक, दुष्ट, या चंड अर्बुद कहा जाता है।

प्रतिरक्षा (Immunity) — मनुष्य शरीर में जब कोई रोगोत्पादक जीवाणुओं का आक्रमण होता है, तो शरीर के अंदर प्रकृति उनका घोरतम प्रतिरोध करती है और इसी युद्ध में शरीर के श्वेत कोष उन बाहरी जीवाणुओं का बल नष्ट करके शरीर को रोग से बचा लेते हैं। शरीर के अंदर से उत्पन्न इसी रोगनाशक शक्ति को प्रतिरक्षा (Immunity) कहते हैं। प्रतिरक्षा दो प्रकार की होती है :

(१) स्वाभाविक प्रतिरक्षा (Natural Immunity)

(२) अर्जित प्रतिरक्षा (Acquired Immunity)

स्वाभाविक प्रतिरक्षा — किसी रोग के प्रतिरोध में शरीर के अंदर जो स्वाभाविक शक्ति उत्पन्न होती है उसे स्वाभाविक प्रतिरक्षा (Natural Immunity) कहते हैं।

अर्जित प्रतिरक्षा (Acquired Immunity) — किसी व्यक्ति में किसी विशेष रोग के प्रतिरोध की शक्ति यदि नहीं है और पीछे से स्वयं या किसी अन्य उपायों द्वारा उसमें उस रोग के प्रतिरोध की शक्ति पैदा कर दी जाय, तो उसे अर्जित प्रतिरक्षा कह सकते हैं। उदाहरणार्थ, हैजा, चेचक, मोतीझरा, टिटेनस इत्यादि पैदा करनेवाले कुछ रोगाणु ऐसे होते हैं जो एक बार शरीर में प्रवेश करने पर रोग पैदा कर सकते हैं, परंतु थोड़ी मात्रा में प्रविष्ट करने पर रोग के प्रति प्रतिरक्षा शक्ति उत्पन्न करते हैं। इसका कारण यह है कि एक विष अधिक मात्रा में होने से शरीर में व्याधि उत्पन्न करता है, किंतु वही विष अत्यल्प मात्रा में रहने से प्रतिरक्षा पैदा करता है। [प्रि० कु० चौ०]

विक्टोरिया, महारानी महारानी विक्टोरिया जार्ज तृतीय के चतुर्थ पुत्र ड्यूक ऑव केंट की एकमात्र पुत्री थीं। आपका जन्म २४ मई, सन् १८१९ ई० को केनसिंगटन के राजमहल में हुआ। पिता की छत्रच्छाया से वंचित राजकुमारी विक्टोरिया अपने योग्य मामा लियोपोल्ड की देखरेख में पलीं और सुशिक्षित हुईं। पाँच वर्ष की उम्र से ही आपकी शिक्षा प्रारंभ हुई तथा एक बड़ी ही योग्य महिला लेहज़ेन द्वारा पूरी हुई। बचपन से ही वह अपने चाचाओं से दूर रहीं तथा उनका जीवन बहुत कुछ एकाकी ही रहा।

विलियम चतुर्थ की जून, १८३७ ई० में मृत्यु हो जाने के बाद आपने शासन की बागडोर सँभाली। आपके सुदीर्घ शासनकाल में अनेक प्रधान मंत्रियों ने राजकीय कार्यभार सँभाला। उनमें प्रथम था लार्ड मेलबोर्न। महारानी लार्ड मेलबोर्न के व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित रहीं। इस महान् राजनीतिज्ञ ने महारानी के चारों ओर अपने दल की स्त्रियों को रख छोड़ा था जिसका फल यह हुआ कि जब मेलबोर्न के उपरांत राबर्ट पील के प्रधान मंत्री बनने का अवसर आया तो उसने उन सभी स्त्रियों को हटा देने का आग्रह किया और जब महारानी इसपर राजी न हुईं तो उसने प्रधान मंत्रित्व का पद भी नहीं सँभाला। अगले चार महीनों में चार्टिस्ट आंदोलन हुए जो बड़े व्यापक और जोरदार थे। सन् १८४० ई० में सैक्सकोबर्गगोथा के ड्यूक के पुत्र राजकुमार एलबर्ट के साथ महारानी का परिणय हुआ। प्रारंभ में महारानी उसे राजनीति से दूर रखती थीं परंतु लार्ड मेलबोर्न के त्यागपत्र के बाद एलबर्ट ने ही महारानी तथा पील के बीच समझौता कराया। सन् १८४० से १८५७ तक विक्टोरिया को पाँच पुत्रियाँ तथा चार पुत्र हो चुके थे। शीघ्र ही वह ३७ बच्चों की दादी और नानी बन गईं।

महारानी प्रोटेस्टेंट धर्म को ही मानती थीं। पील मंत्रिमंडल की हार होते ही ह्विग दल के हाथ में शासनसूत्र आ गया। लार्ड पामर्स्टन तथा रसेल इस दल के नेता थे। पहले जॉन रसेल और बाद में पामर्स्टन प्रधान मंत्री बने। पामर्स्टन कभी कभी महारानी से पूछे बिना ही नीति निर्धारित कर देता था। कभी तो वह चाहती करा लेतीं और कभी जब देखतीं कि कोई चीज उनकी सीमा से परे है, तो वह चुपचाप इन नेताओं की नीति पर अपनी मुहर लगा

देती। सन् १८६२ ई० में एलबर्ट का देहांत हो गया। पति की मृत्यु ने उसके जीवन को सदा के लिये एकाकी बना दिया और उसने लंदन में प्राय: रहना ही छोड़ दिया।

महारानी को यद्यपि मंत्रियों पर अधिक निष्ठा नहीं थी, फिर भी वह सदैव वैधानिक रूप से ही कार्य करती थीं। उसे प्रशा से सहानुभूति थी पर वही प्रशा जब पेरिस को विध्वंस करने चला तो उसने अपना सारा जोर डालकर उसे बर्बाद होने से बचा लिया। आपके शासनकाल में दूसरा सुधार बिल पास हुआ, जिसने निर्वाचन प्रणाली में बड़े बड़े परिवर्तन कर दिए। उसके शासनकाल में आयरलैंडवालों ने उपद्रव किए। उसे आयरलैंडवालों की स्वशासन की माँग अप्रिय थी परंतु जब उसके प्रधान मंत्री ग्लैडस्टन ने आयरी चर्च उन्मूलन नियम पास कराया तो उसने उसे स्वीकार ही किया, एतदर्थ ग्लैडस्टन कभी भी महारानी का कृपापात्र न बन सका। 'इसके विपरीत डिसरैली ने अपने प्रधान-मंत्रित्व-काल में उसे अधिक प्रसन्न कर लिया। वह डिसरैली की उग्र साम्राज्यवादी वैदेशिक नीति से बड़ी प्रसन्न थी। उसे उसकी स्वेज नहर में इंग्लैंड के लिये हिस्सा खरीदने तथा महारानी को भारत की साम्राज्ञी घोषित करने की नीति बहुत ही प्रिय लगी। सन् १८८७ तथा १८९७ में महारानी की दो जुबिलियाँ मनाई गईं। इनसे उसे बहुत बड़ा गौरव मिला। उसका साम्राज्य सुव्यवस्थित और सुविस्तृत था। भारत का वह सदैव बहुत ध्यान रखती थीं।

अनवरत परिश्रम, सच्चाई तथा कर्तव्यपरायणता से महारानी ने अपने पद और देश के गौरव को अत्यधिक बढ़ा दिया था। २२ जनवरी, १९०१ ई०, को उनका देहांत हुआ। [जि० ना० वा०]

विक्रमाजीत राय रायन, राजा सुंदरदास नामक ब्राह्मण। मुगल सम्राट् जहाँगीर के दरबार में राजकुमार शाहजहाँ का सेवक नियुक्त हुआ। कार्यदक्ष होने के कारण लेखक से मीरे-सामान बनाया गया। विक्रमाजीत और रायरायन नाम इसे उपाधिस्वरूप प्राप्त हुए थे। १६१७ में गुजरात प्रांत का अध्यक्ष नियुक्त हुआ। अपनी अध्यक्षता में उसने प्रदेश की सीमाएँ दूर दूर तक विस्तृत कीं। राजा बसू के पुत्र सूरजमल के विद्रोह को शाहजहाँ के साथ सफलतापूर्वक दमन करके मऊ और महरी के दुर्ग जीत लिए। काँगड़ा दुर्ग पर चौदह मास तक घेरा डाल रखने के उपरांत सन् १६२१ ई० में अधिकार किया। लगभग इसी समय मलिक अंबर ने विद्रोह करके अहमदनगर और बरनार के आसपास अधिकार कर लिया और बुरहानपुर को घेर लिया। राजा ने अन्य सरदारों के साथ पहुँचकर वीरता से मलिक अंबर का दमन किया। शाहजहाँ के विद्रोह के समय राजा मर गया। यह पाँच हजारी मंसब तक पहुँच चुका था।

विचित्रवीर्य सत्यवती से उत्पन्न महाराज शांतनु के कनिष्ठ पुत्र। इनके ज्येष्ठ भाई चित्रांगद थे जिन्हें बचपन में ही एक गंधर्व ने मार डाला था। फलत: विचित्रवीर्य ही गद्दी पर बैठे। इन्होंने स्वयंवर में काशिराज की अंबिका एवं अंबालिका नामक कन्याओं को जीतकर उनसे विवाह किया। इनके नि:संतान मरने पर इनकी माता तथा भीष्म ने कृष्णद्वैपायन व्यास से इनकी दोनों विधवाओं का पुत्रोत्पत्ति के लिये नियोग करा दिया। फलस्वरूप धृतराष्ट्र एवं पांडु का जन्म हुआ। [रा० द्वि०]

विजयनगरम भारत के आंध्र प्रदेश राज्य के विशाखपटणम् जिले का एक नगर है जो विमलीपटम बंदरगाह से १७ मील, मद्रास से ५२२ मील उत्तर-पूर्व रेलमार्ग की हावड़ा-पुरी-वाल्टेयर शाखा पर एक जंकशन है। यहाँ सैनिक छावनी है एवं विजयनगरम के जमींदार का निवास स्थान भी है। नगर की जनसंख्या ७६, ८०८(१९६१) है। [सु० चं० श०]

विजयनगर राज्य दक्षिण भारत के नरेश इस्लाम के प्रवाह के संमुख झुक न सके। मुसलमान उस भूभाग में अधिक काल तक अपनी विजयपताका फहराने में असमर्थ रहे। इस्लाम के प्रभुत्व को मिटाकर विजयनगर के सम्राटों ने पुन: हिंदू धर्म को जाग्रत किया। यही कारण है कि दक्षिणापथ के इतिहास में विजयनगर राज्य को विशेष स्थान दिया गया है।

दक्षिण भारत की कृष्णा नदी की सहायक तुंगभद्रा को इस बात का गर्व है कि विजयनगर उसकी गोद में पला। उसी के किनारे प्रधान नगरी हंपी स्थित रही। विजयनगर के पूर्वगामी होयसल नरेशों का प्रधान स्थान यहीं था। दक्षिण का पठार दुर्गम है इसलिये उत्तर के महान् सम्राट् भी दक्षिण में विजय करने का संकल्प अधिकतर पूरा न कर सके।

द्वारसमुद्र के शासक वीर वल्लाल तृतीय ने दिल्ली सुल्तान द्वारा नियुक्त कंपिलि के शासक मलिक मुहम्मद के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। ऐसी परिस्थिति में दिल्ली के सुल्तान ने मलिक मुहम्मद की सहायता के लिये दो (हिंदू) कर्मचारियों को नियुक्त किया जिनके नाम हरिहर तथा बुक्क थे। इन्हीं दोनों भाइयों ने स्वतंत्र विजयनगर राज्य की स्थापना की। सन् १३३६ ई० में हरिहर ने वैदिक रीति से राज्याभिषेक संपन्न किया और तुंगभद्रा नदी के किनारे विजयनगर नामक नगर का निर्माण किया।

विजयनगर राज्य में चार विभिन्न वंशों ने शासन किया। प्रत्येक वंश में प्रतापी एवं शक्तिशाली नरेशों की कमी न थी। युद्धप्रिय होने के अतिरिक्त, सभी हिंदू संस्कृति के रक्षक थे। स्वयं कवि तथा विद्वानों के आश्रयदाता थे। हरिहर तथा बुक्क संगम नामक व्यक्ति के पुत्र थे अतएव उन्होंने संगम सम्राट् के नाम से शासन किया। विजयनगर राज्य के संस्थापक हरिहर प्रथम ने थोड़े समय के पश्चात् अपने वरिष्ठ तथा योग्य बंधु को राज्य का उत्तराधिकारी घोषित किया। संगम वंश के तीसरे प्रतापी नरेश हरिहर द्वितीय ने विजयनगर राज्य को दक्षिण का एक विस्तृत, शक्तिशाली तथा सुदृढ़ साम्राज्य बना दिया। हरिहर द्वितीय के समय में सायण तथा माधव ने वेद तथा धर्मशास्त्र पर निबंधरचना की। उनके वंशजों में द्वितीय देवराय का नाम उल्लेखनीय है जिसने अपने राज्याभिषेक के पश्चात् संगम राज्य को उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। मुसलमानी रियासतों से युद्ध करते हुए, देवराय प्रजापालन में संलग्न रहा। राज्य

की सुरक्षा के निमित्त तुर्की घुड़सवार नियुक्त कर सेना की वृद्धि की। उसके समय में अनेक नवीन मंदिर तथा भवन बने।

दूसरा राजवंश सालुव नाम से प्रसिद्ध था। इस वंश के संस्थापक सालुव नरसिंह ने १४८५ से १४९० ई० तक शासन किया। उसने शक्ति क्षीण हो जाने पर अपने मंत्री नरस नायक को विजयनगर का संरक्षक बनाया। वही तुलुव वंश का प्रथम शासक माना गया है। उसने १४९० से १५०३ ई० तक शासन किया और दक्षिण में कावेरी के सुदूर भाग पर भी विजयदुंदुभी बजाई। तुलुव वंशज कृष्णदेव राय का नाम गर्व से लिया जाता है। उसने १५०९ से १५३६ ई० तक शासन किया। वह महान् प्रतापी, शक्तिशाली, शांतिस्थापक, सर्वप्रिय, सहिष्णु और व्यवहारकुशल शासक था। उसने नायक लोगों को दबाया, उड़ीसा पर आक्रमण किया और दक्षिण के भूभाग पर अपना अधिकार स्थापित किया। सोलहवीं सदी में यूरोप से पुर्तगाली भी पश्चिमी किनारे पर आकर डेरा डाल चुके थे। उन्होंने कृष्णदेव राय से व्यापारिक संधि की जिससे विजयनगर राज्य की श्रीवृद्धि हुई। तुलुव वंश का अंतिम राजा सदाशिव परंपरा को कायम न रख सका। सिंहासन पर रहते हुए भी उसका सारा कार्य रामराय द्वारा संपादित होता था। सदाशिव के बाद रामराय ही विजयनगर राज्य का स्वामी हुआ और इसे चौथे वंश अरवीडु का प्रथम सम्राट् मानते हैं। रामराय का जीवन कठिनाइयों से भरा पड़ा था। शताब्दियों से दक्षिण भारत के हिंदू नरेश इस्लाम का विरोध करते रहे, अतएव बहमनी सुल्तानों से शत्रुता बढ़ती ही गई। मुसलमानी सेना के पास अच्छी तोपें तथा हथियार थे, इसलिये विजयनगर राज्य के सैनिक इस्लामी बढ़ाव के सामने झुक गए। विजयनगर शासकों द्वारा नियुक्त मुसलमान सेनापतियों ने राजा को धेरवा दिया अतएव सन् १५६५ ई० में तलिकोट के युद्ध में रामराय मारा गया। मुसलमानी सेना ने विजयनगर को नष्ट कर दिया जिससे दक्षिण भारत में भारतीय संस्कृति की क्षति हो गई। अरवीडु के निर्बल शासकों में भी वेंकटपतिदेव का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। उसने नायकों को दबाने का प्रयास किया था। बहमनी तथा मुगल सम्राट् में पारस्परिक युद्ध होने के कारण वह मुसलमानी आक्रमण से मुक्त हो गया था। इसके शासनकाल की मुख्य घटनाओं में पुर्तगालियों से हुई व्यापारिक संधि थी। शासक की सहिष्णुता के कारण विदेशियों का स्वागत किया गया और ईसाई पादरी कुछ सीमा तक धर्म का प्रचार भी करने लगे। वेंकट के उत्तराधिकारी निर्बल थे। शासक के रूप में वे विफल रहे और नायकों का प्रमुख बढ़ जाने से विजयनगर राज्य का अस्तित्व मिट गया।

हिंदू संस्कृति के इतिहास में विजयनगर राज्य का महत्वपूर्ण स्थान रहा। विजयनगर की सेना में मुसलमान सैनिक तथा सेनापति कार्य करते रहे, परंतु इससे विजयनगर के मूल उद्देश्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। विजयनगर राज्य में सायण द्वारा वैदिक साहित्य की टीका तथा विशाल मंदिरों का निर्माण दो ऐसे ऐतिहासिक स्मारक हैं जो आज भी उसका नाम अमर बनाए हैं।

विजयनगर के शासक स्वयं शासनप्रबंध का संचालन करते थे। केंद्रीय मंत्रिमंडल की समस्त मंत्रणा को राजा स्वीकार नहीं करता था और सुप्रबंध के लिये योग्य राजकुमार से सहयोग लेता था। प्राचीन भारतीय प्रणाली पर शासन की नीति निर्भर थी। सुदूर दक्षिण में सामंत वर्तमान थे जो वार्षिक कर दिया करते थे और राजकुमार की निगरानी में सारा कार्य करते थे। प्रजा के संरक्षण के लिये पुलिस विभाग सतर्कता से कार्य करता रहा जिसका सुंदर वर्णन विदेशी लेखकों ने किया है।

विजयनगर के शासकगण राज्य के सात अंगों में कोष को ही प्रधान समझते थे। उन्होंने भूमि की पैमाइश कराई और बंजर तथा सिंचाईवाली भूमि पर पृथक् पृथक् कर बैठाए। चुंगी, राजकीय भेंट, आर्थिक दंड तथा आयात पर निर्धारित कर उनके अन्य आय के साधन थे। विजयनगर एक युद्ध राज्य था अतएव आय का दो भाग सेना में व्यय किया जाता, तीसरा अंश संचित कोष के रूप में सुरक्षित रहता और चौथा भाग दान एवं महल संबंधी कार्यों में व्यय किया जाता था।

भारतीय साहित्य के इतिहास में विजयनगर राज्य का उल्लेख अमर है। तुंगभद्रा की घाटी में ब्राह्मण, जैन तथा शैव धर्म प्रचारकों ने कन्नड भाषा को अपनाया जिसमें रामायण, महाभारत तथा भागवत की रचना की गई। इसी युग में कुमार व्यास का आविर्भाव हुआ। इसके अतिरिक्त तेलुगू भाषा के कवियों को बुक्क ने भूमि दान में दी। कृष्णदेव राय का दरबार कुशल कविगण द्वारा सुशोभित किया गया था। संस्कृत साहित्य की तो वर्णनातीत श्रीवृद्धि हुई। विद्यारण्य बहुमुखी प्रतिभा के पंडित थे। विजयनगर राज्य के प्रसिद्ध मंत्री माधव ने मीमांसा एवं धर्मशास्त्र संबंधी क्रमशः जैमिनीय न्यायमाला तथा पराशरमाधव नामक ग्रंथों की रचना की थी। उसी के भ्राता सायण ने वैदिक मार्गप्रवर्तक हरिहर द्वितीय के शासन काल में हिंदू संस्कृति के आदि ग्रंथ वेद पर भाष्य लिखा जिसकी सहायता से आज हम वेदों का अर्थ समझते हैं। विजयनगर के राजाओं के समय में संस्कृत साहित्य में अमूल्य पुस्तकें लिखी गईं।

बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण मतों का प्रसार दक्षिण भारत में हो चुका था। विजयनगर के राजाओं ने शैव मत को अपनाया, यद्यपि उनकी सहिष्णुता के कारण वैष्णव आदि अन्य धर्म भी पल्लवित होते रहे। विजयनगर की कला धार्मिक प्रवृत्तियों के कारण जटिल हो गई। मंदिरों के विशाल गोपुरम् तथा सुंदर, खचित स्तंभयुक्त मंडप इस युग की विशेषता हैं। विजयनगर शैली की वास्तुकला के नमूने उसके मंदिरों में आज भी शासकों की कीर्ति का गान कर रहे हैं।

सं० ग्रं० —– एपिग्राफिया इंडिका; एपिग्राफिया करनाटिका; कृष्णस्वामी : सोर्सेज ऑव विजयनगर हिस्ट्री; नीलकंठ शास्त्री : फरदर सोर्सेज ऑव विजयनगर हिस्ट्री; सेवेल : ए फॉरगॉटन इंपायर; कैंब्रिज हिस्ट्री भा० ३; सालेटोर : सोशल-पोलिटिकल लाइफ इन विजयनगर इंपायर; विजयनगर स्मारक ग्रंथ (मराठी)।

[बा० उ०]

विजे लेब्रूं (Vigee Lebrun) **मारी-आन एलिज़ाबेथ** (१७५५-१८४२) विजे लेब्रूं एक कुशल महिला चित्रकार थी। उसे बचपन से

ही चित्रकला में अभिरुचि हो गई थी और इसकी प्रारंभिक शिक्षा उसने अपने पिता से पाई। १७७६ में मारी आंतो मेले ने उसे वार्साई में चित्र बनाने के लिये आमंत्रित किया था। स्त्रियों तथा बालकों के व्यक्तिचित्र बनाने में वह बड़ी पटु थी। १७८३ में वह अकादमी की सदस्या निर्वाचित हुई। उसका एक प्रसिद्ध कलागृह भी था। उसे सम्राज्ञी ने अपने दरबार का कलाकार भी घोषित किया। १७८६ की क्रांति के समय उसने फ्रांस छोड़ दिया और इटली, वियना, प्राग, ड्रेस्डेन तथा रूस इत्यादि देशों की यात्रा की। १८०२ में वह फ्रांस वापस आई पर नेपोलियन का काल उसे न भाया और वह इंग्लैंड चली गई। व्यक्तिचित्रकार (पोर्ट्रेट पेंटर) के रूप में उसे बड़ी प्रसिद्धि मिली और वह जहाँ भी गई उसका खूब आदर हुआ। वह काफी खूबसूरत भी थी। उसके चित्र लंदन के संग्रहालय में सुशोभित हैं।

[रा० चं० शु०]

विज्ञान किसी विशिष्ट विषय के तत्वों या सिद्धांतों आदि का विशेष रूप से प्राप्त किया हुआ ज्ञान, जो ठीक क्रम से एकत्र या संग्रहीत हो, विज्ञान कहा जाता है। विज्ञान अंग्रेजी सायंस शब्द का पर्यायवाची शब्द है। सायंस लैटिन शब्द सियो (Scio) से निकला है जिसका अर्थ जानना है। अतः सायंस शब्द का अर्थ ज्ञान होता है। यह सायंस शब्द उस विशिष्ट ज्ञान के लिये प्रयुक्त होता है, जो ठीक क्रम से संग्रहीत और किसी नियम या क्रम के अनुसार प्रतिबद्ध हो। यह विशेष ज्ञान प्रयोग और प्रेक्षण द्वारा प्राप्त होता है। ये प्रयोग और प्रेक्षण इंद्रियों द्वारा होते हैं। आँखों से देखकर, कानों से सुनकर, नाक से सूँघकर तथा हाथ या शरीर से स्पर्श कर हम विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करते हैं। विज्ञान का जो कुछ ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इंद्रियों द्वारा ही होता है। वस्तुतः हमारी इंद्रियाँ ही ज्ञान के द्वार हैं। इस संसार के समस्त पदार्थों का वास्तविक ज्ञान केवल इंद्रियों के द्वारा ही प्राप्त होता है। इंद्रियों के सिवा ज्ञान प्राप्त करने के अन्य मार्ग नहीं हैं। हमारी इन इंद्रियों की सहायता के लिये अनेक प्रकार के सूक्ष्म से सूक्ष्म यंत्र बने हैं जिनके द्वारा हमारी इंद्रियाँ बहुत अधिक (हजारों गुनी अधिक) शक्तिशाली हो गई हैं। जहाँ पहले हम अपने चर्मचक्षुओं से थोड़ी दूर पर स्थित पदार्थों को तथा एक नियमित परिमाण के छोटे छोटे कणों को ही देख सकते थे, वहाँ अब दूरदर्शी की सहायता से हम हजारों और लाखों मील की दूरी पर स्थित नक्षत्रों एवं ग्रहों को सरलता से देख लेते हैं। जितना छोटा कण साधारणतया हम आँखों से देख सकते हैं, सूक्ष्मदर्शी की सहायता से उससे सहस्र गुना छोटा कण, बड़ी सरलता से, देखकर हम अनेक रोगों के रोगजनक सूक्ष्म जीवाणुओं के अस्तित्व को जान जाते हैं। पर इन सभी सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवाणुओं को देखने के लिये आँखों की आवश्यकता अवश्य ही पड़ती है। अतः यह बहुत आवश्यक है कि, हम अपनी इंद्रियों को इस प्रकार काम में लाना सीखें जिससे वे हमें धोखा न दे सकें। हमें अनेक वस्तुएँ जैसी दिखाई पड़ती हैं, वैसी वे हर अवस्था में वस्तुतः नहीं हैं। सूर्य पूर्व में उदय होता है और पश्चिम में डूबता है, केवल इस प्रेक्षण से यह सिद्ध नहीं होता कि सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर घूमता है। सूर्य के भ्रमण करने या न करने के संबंध में किसी सिद्धांत पर पहुँचने के लिये हमें अनेक प्रेक्षण करने पड़ेंगे। इसमें हमें केवल अपनी इंद्रियों को ही प्रयुक्त नहीं करना पड़ेगा, वरन् इंद्रियों को प्रयुक्त कर उनसे जो बातें मालूम होंगी, उनसे अनुमान निकालने में हमें अपनी बुद्धि का भी उपयोग करना पड़ेगा। विज्ञान में वस्तुतः सारी बातें प्रयोग और प्रेक्षण पर ही निर्भर करती हैं। अतः विज्ञान के अध्ययन में सबसे अधिक महत्व की बात प्रेक्षण शक्ति की वृद्धि करना है। विज्ञान के प्रत्येक विद्यार्थी के लिये सबसे पहले प्रेक्षण करने की क्षमता को जागृत कर उसे प्रबुद्ध करने की आवश्यकता होती है। वस्तुतः वही व्यक्ति अच्छा वैज्ञानिक हो सकता है, जिसमें प्रेक्षण की अद्भुत क्षमता विद्यमान हो। इस प्रेक्षण क्षमता के साथ साथ यदि उसमें प्रयोग करने की शक्ति और अनुमान निकालने का पर्याप्त चातुर्य एवं बुद्धि भी हो, तो वह उच्च कोटि का वैज्ञानिक हो सकता है।

प्रयोगों के करने और उनसे अनुमान निकालने के ढंग को वैज्ञानिक रीति या विधि कहते हैं। वैज्ञानिक विधि से जो खोजें की जाती हैं, उसे वैज्ञानिक अनुसंधान कहते हैं। वैज्ञानिक अनुसंधान से जो बातें प्रतिपादित होती हैं उनसे ही विज्ञान का ज्ञान प्राप्त होता है। वैज्ञानिक विधि का प्रमुख लक्षण प्रयोग है। प्रयोग करो, यही विज्ञान का सिद्धांत है। जो बातें प्रयोग से सिद्ध नहीं होतीं, वैज्ञानिक उन पर विश्वास करने से स्पष्ट अस्वीकार करता है। वैज्ञानिकों के लिये पसंद, नापसंद कोई चीज नहीं है। उनका एकमात्र उद्देश्य सत्य की खोज है, जिसे वे प्रयोग, प्रेक्षण और अनुमान के द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। विज्ञान वास्तव में मस्तिष्क की उपज है। वैज्ञानिक बुद्धि द्वारा सब बातों का परीक्षण करता है।

अनेक प्रयोगों का संपादन कर वैज्ञानिक कुछ तथ्यों को एकत्र करता है, इन तथ्यों को संबद्ध करके वह उनकी व्याख्या करने की चेष्टा करता है। वह यह जानने की चेष्टा करता है कि, ये घटनाएँ ऐसे क्यों होती हैं? इन घटनाओं की व्याख्या करने की चेष्टा में, परिकल्पना (Hypothesis) का प्रतिपादन करना पड़ता है। वस्तुतः कुछ संबद्ध घटनाओं की व्याख्या करने की चेष्टा ही परिकल्पना है। कोई कितनी ही प्रशंसनीय परिकल्पना क्यों न हो, उसमें अवश्य ही कुछ न कुछ कल्पना रहती है। यह कल्पना कहाँ तक ठीक है और यह परिकल्पना कहाँ तक सत्य है, इसके लिये अनेक नए नए प्रयोगों को कार्यान्वित करने की आवश्यकता होती है। किसी परिकल्पना के प्रतिपादन से दो कार्य सिद्ध होते हैं। एक तो इससे प्रेक्षित घटनाओं को समष्टि रूप में देखने की योग्यता आती है और दूसरे इससे अनेक निगमन (deductions) निकलते हैं, जिनके परीक्षण में अनेक प्रयोगों का संपादन करना होता है। परिकल्पना के प्रतिपादन के बाद नई घटनाओं के प्रेक्षण की चेष्टाएँ होती हैं, जिनका परिकल्पना से प्रतिपादन हो सके। यदि इन घटनाओं से परिकल्पना का प्रतिपादन होता है, तो परिकल्पना की सत्यता बढ़ जाती है और तब परिकल्पना सिद्धांत (theory) बन जाती है। फिर हम तर्क करते हैं कि यदि यह सिद्धांत सत्य है, तो अमुक-अमुक घटनाएँ घटित होंगी, तब इन घटनाओं की खोज होती है, और इनमें से बहुत कुछ मिल भी जाती हैं। जब वैज्ञानिकों के निकट पूर्ण रूप से सिद्धांत की सत्यता प्रमाणित हो जाती है और उससे ज्ञात सभी घटनाओं की व्याख्या हो जाती है, तब वह सिद्धांत प्रकृति का

नियम (law of nature) हो जाता है। इस प्रकार के अनेक नियम वैज्ञानिकों ने प्रतिपादित किए हैं। गुरुत्वाकर्षण का नियम, ऊर्जा संरक्षण का नियम, रसायन में स्थिर अनुपात का नियम, जीवविज्ञान में योग्यतम जीवों के जीवित रहने का नियम, इसी प्रकार के प्रकृति के नियम हैं। ऐसे नियमों की स्वीकृति वैज्ञानिकों के महत्वपूर्ण कार्य का एक प्रमुख अंग है। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रयोग और प्रेक्षणों से तथ्यों को प्राप्त करता है। तथ्यों से सिद्धांतों को प्रतिपादित करता है। सिद्धांतों से नियम की स्थापना करता है और नियम से फिर प्रयोग की ओर जाता है। वस्तुतः यही वैज्ञानिक विधि है जिससे सृष्टि की घटनाओं और वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने की वैज्ञानिक सतत चेष्टा करता है।

किसी शिक्षा और संस्कृति के आयोजन में विज्ञान का अध्ययन एक अत्यावश्यक अंग है। किसी विद्यार्थी का अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं समझा जा सकता, जब तक वह उस जगत् के नियमों का कुछ ज्ञान न प्राप्त करे, जिस जगत् में वह निवास करता है, जब तक वह उन घटनाओं के कारण का ज्ञान न प्राप्त करे, जिन्हें वह अपने चारों ओर देखता है और जब तक वह प्रति दिन आकाश में दिखाई देनेवाले ग्रहों और नक्षत्रों के विषय में ज्ञान न प्राप्त करे। पृथ्वी की तहें कैसे बनी हैं, उनमें समय समय पर कैसा परिवर्तन होता है। किन कारणों से पर्वत, नदियाँ और घाटियाँ बनती हैं, वायुमंडल कैसे बना है, बादल कैसे बनते हैं, इंद्रधनुष का क्या कारण है, वर्षा क्यों होती है, पौधे कैसे उगते और वृद्धि प्राप्त करते हैं, पौधों में शर्करा, स्टार्च और अन्यान्य पदार्थ कैसे बनते हैं, बिजली कैसे उत्पन्न होती है, वायुयान कैसे और क्यों उड़ता है, कुछ ही सेकंड में हजारों मीलों से समाचार कैसे पहुँच जाता है। ये सभी बातें ऐसी हैं जिन्हें प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का जानना अत्यावश्यक है। हमारे प्रति दिन के जीवन में विज्ञान का प्रवेश इतना गहरा है कि बिना विज्ञान का ज्ञान प्राप्त किए हम सभ्य मनुष्य कहलाने का दावा तक नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक शिक्षा से मस्तिष्क तीक्ष्ण होता है, इंद्रियों की दक्षता बढ़ती है, संयम का भाव आता है, यथार्थ और शुद्ध प्रेक्षण का अभ्यास पड़ता है, निरंतर चेष्टा की आदत पड़ती है और घटनाओं से सिद्धांत के प्रतिपादन की क्षमता आती है।

विज्ञान बहुत विस्तृत विषय है। प्रयोगों के द्वारा मनुष्य अब तक जितना ज्ञान प्राप्त कर सका है, वह सब विज्ञान में सन्निहित है। चूँकि इन सब ज्ञानों के प्राप्त करने की विधि एक ही है, अतः ये सब ज्ञान विज्ञान ही हैं। विज्ञान के अंतर्गत ज्ञान का बहुत विस्तृत भंडार भरा पड़ा है। सुविधा की दृष्टि से लोगों ने इस विज्ञान को विभिन्न भागों में विभक्त किया है। विज्ञान का विभाजन भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से हो सकता है, पर विज्ञान के इस विभाजन में किसी स्पष्ट सीमा का बंधन नहीं है। वास्तव में ये विभिन्न विज्ञान परस्पर इतने संबद्ध हैं कि अनेक विषयों को एक से अधिक विभागों में बड़ी सरलता से रखा जा सकता है। विज्ञान के विस्तृत होने के कारण किसी भी एक व्यक्ति के लिये विज्ञान की सब शाखाओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना प्रायः असंभव है। इसी कारण इन दिनों जो वैज्ञानिक होते हैं, वे किसी एक या दूसरी शाखा के ही विशेषज्ञ होते हैं, पर प्रत्येक वैज्ञानिक को विभिन्न शाखाओं का इतना ज्ञान रखना आवश्यक होता है, जिससे से वे विज्ञान की मोटी मोटी बातें बिना किसी कठिनाई के समझ सकें। यह बात थोड़े परिश्रम से भी हो सकती है। वैज्ञानिकों के लिये ही नहीं वरन् जैसा ऊपर कहा गया है प्रत्येक व्यक्ति के लिये विज्ञान की ऐसी मोटी मोटी बातों का जानना, जिनसे वह अपने निकट की वस्तुओं और घटनाओं को समझ सके, बहुत आवश्यक है। यही कारण है कि भारत के स्कूलों के पाठ्यक्रमों में सामान्य विज्ञान का अध्ययन आज अनिवार्य कर दिया गया है।

ऊपर कहा गया है कि विज्ञान का विभाजन विभिन्न दृष्टिकोणों से होता है। विषय के विवेचन की दृष्टि से विज्ञान के दो प्रधान अंतर्विभाग हैं : १. मौलिक या तात्विक विज्ञान (Fundamental or Abstract Science), जिसके अंतर्गत गणित, भौतिकी, रसायन, जीवविज्ञान, समाजविज्ञान और मनोविज्ञान है, २. अनुप्रयुक्त विज्ञान (Applied or Concrete Science) जिसमें, खगोलकी (Astronomy), भौमिकी (Geology), खनिजिकी (Mineralogy), प्राणिविज्ञान (Zoology), वनस्पतिविज्ञान (Botany), भूगोल और मौसमविज्ञान (Meteorology) हैं। अनुपयुक्त विज्ञान के ज्ञान के लिये मौलिक विज्ञानों का ज्ञान अत्यावश्यक है।

विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में गणित का स्थान सर्वोपरि है। गणित के भी शुद्ध गणित (Pure Mathematics) और अनुप्रयुक्त गणित (Applied Mathematics) दो अंतर्विभाग हैं। इनमें फिर अंकगणित (Arithmetic), बीजगणित (Algebra), ज्यामिति (Geometry), अवकलगणित (Differential Calculus), समाकल गणित (Integral Calculus) इत्यादि अनेक शाखाएँ हैं। गणित के पश्चात् भौतिकी का स्थान आता है। भौतिकी मे हम द्रव्यों (matter), प्रधानतः उनकी गति के संबंध मे अर्थात् द्रव्यों पर बल के संप्रयोग से क्या परिवर्तन होता है इसका अध्ययन करते हैं। भौतिकी की अनेक महत्वपूर्ण शाखाएँ हैं, यांत्रिकी (Mechanics), द्रवस्थैतिक विज्ञान (Hydrostatics), द्रव इंजीनियरी (Hydraulics), गैसयांत्रिकी (Pneumatics), ध्वानिकी (Accoustics), ऊष्मा, विद्युत् और प्रकाश।

भौतिकी के नियमों पर ही रसायन विज्ञान स्थित है। रसायन में हम द्रव्यों की प्रकृति, उनके संगठन, और ऊष्मा, प्रकाश एवं विद्युत् तथा अन्यान्य प्राकृतिक शक्तियों द्वारा द्रव्यों में क्या क्या परिवर्तन होते हैं, इसका अध्ययन करते हैं। भौतिकी और रसायन विज्ञान में बड़ा घनिष्ठ संबंध है, इसी से भौतिकी के कुछ अंश रसायन के अध्ययन में अनिवार्य हो जाते हैं। रसायन विज्ञान की इस शाखा को भौतिक रसायन (Physical Chemistry) कहते हैं। इस भौतिक रसायन में भौतिकी के उन अंशों का अध्ययन होता है, जिनकी रसायन के अध्ययन में आवश्यकता है। रसायन की दूसरी शाखा को कार्बनिक रसायन (Organic Chemistry) कहते हैं। इसको पहले ऐंद्रिक रसायन कहते थे। एक समय इस शाखा में उन्हीं पदार्थों का अध्ययन समाविष्ट था, जो एक विशेष जीव शक्ति के द्वारा जंतुओं और पौधों में उत्पन्न होते थे। लोगों की धारणा थी कि, ये ऐंद्रिक पदार्थ रसायनशालाओं में निर्मित नहीं किए जा सकते थे, पर बाद में मालूम हुआ कि यह धारणा बिलकुल निर्मूल है और अन्य पदार्थों के सदृश ऐंद्रिक पदार्थ भी सरलता से

रसायनशालाओं में तैयार किए जा सकते हैं। चूँकि रसायन की इस शाखा में जितने यौगिक ज्ञात हैं, वे सभी कार्बन से बने हैं, अतः इस शाखा को अब 'कार्बनिक रसायन' कहते हैं। रसायन की तीसरी और अंतिम शाखा का नाम अकार्बनिक रसायन (Inorganic Chemistry) है। इसे कोई कोई खनिज रसायन भी कहते हैं, पर यह नाम ठीक नहीं है। इस शाखा में कार्बन तत्व के अतिरिक्त अन्य सब तत्वों और उनके यौगिकों का अध्ययन होता है।

जब गणित, भौतिकी और रसायन के नियम जीवविज्ञान में प्रयुक्त होते हैं, तब इनको जीव संबंधी नियम (Vital Laws) कहते हैं। जीवविज्ञान के साधारणतया दो विभाग हैं, एक में वनस्पतियों और प्राणियों का शरीर क्रिया विज्ञान (Physiology) समाविष्ट है और दूसरे में वनस्पति विज्ञान प्राणिविज्ञान और मानवविज्ञान (Anthropology) समाविष्ट है। मस्तिष्क के संसार से अलग होते हुए हम मनोविज्ञान में आते हैं। जहाँ बुद्धि, संकल्प, वासना, विचार आदि का विवेचन होता है। समाजशास्त्र में हम सामाजिक समष्टि की वृद्धि, विकास, संगठन और कार्य का पूर्ण रूप से अध्ययन करते हैं।

अनुप्रयुक्त विज्ञान के अनेक विभाग हैं और उनका ज्ञानभंडार बहुत विस्तृत है। मानव ज्ञान का कोई ऐसा विभाग नहीं है, जिसमें वैज्ञानिक नियमों और परिणामों का प्रयोग न हुआ हो तथा जिसमें वैज्ञानिक सिद्धांतों एवं प्रतिफलों के व्यवहार से मानव जीवन के लक्ष्यों और उद्देश्यों में वृद्धि न हुई हो।

गणित और भौतिकी के नियमों को जब हम नक्षत्रों और ग्रहों के अध्ययन में प्रयुक्त करते हैं तथा उनसे इन नक्षत्रों और ग्रहों की गति इत्यादि के संबंध में ज्ञान प्राप्त करते हैं, तब वह खगोलकी (Astronomy) कहा जाता है। इस शाखा की आजकल बड़ी वृद्धि हुई है। हम अब यह भी जान गए हैं कि सूर्य और चंद्रमा में एवं नक्षत्रों तथा ग्रहों में कौन कौन रासायनिक तत्व विद्यमान हैं। यह इन नक्षत्रों और ग्रहों से निकले हुए प्रकाश के अध्ययन से ज्ञात होता है। इस विशिष्ट शाखा को खगोल भौतिकी (Astrophysics) कहते हैं।

भौतिकी और रसायन के ज्ञान को, जब हम पृथ्वी की प्रकृति और उसकी बनावट का ज्ञान प्राप्त करने में प्रयुक्त करते हैं, तब वह भौमिकी (Geology) हो जाता है। इस विज्ञान के द्वारा हम सरलता से पृथ्वी स्तर में स्थित खनिजों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। पृथ्वीतल कैसे बना है, और किन किन कारणों से यह आधुनिक अवस्था में पहुँचा है, पहाड़ों और नदियों की सृष्टि कैसे हुई है, वे किन किन कारणों से उत्पन्न हुए हैं, पृथ्वी की आयु कितनी हो सकती है, पहाड़ कब बने, इस भूमंडल पर किस किस समय कैसे कैसे जीवजंतु, पशुपक्षी विद्यमान थे, इन सबका बहुत कुछ ज्ञान हमें इस विज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है। भौतिकी और रसायन के ज्ञान को जब हम खानों से निकली वस्तुओं के अध्ययन में प्रयुक्त करते हैं, तब वह खनिजिकी (Mineralogy) हो जाता है। पेट्रोलियम का पता लगाना और कूपों से उसे निकालना आज भूभौतिकी (Geophysics) में आता है। वायुमंडल क्या है, हवा क्यों बहती है, हवा से वायुमंडल में क्या क्या परिवर्तन होते हैं, कहाँ कितनी और क्यों वर्षा होती है, तूफान क्यों आता है, इन सबका देश की कृषि पर क्या प्रभाव पड़ता है, इन सब विषयों का विस्तार से अध्ययन आजकल मौसम विज्ञान में होता है।

भिन्न भिन्न प्राणियों का वर्गीकरण, उनकी प्रकृति, उनके शरीर की बनावट और उनकी आदतें, उनके बच्चे उत्पन्न करने की रीतियाँ इत्यादि बातें प्राणिविज्ञान (Zoology) में पढ़ी जाती हैं। जब हम भिन्न भिन्न प्रकार की वनस्पतियों के उपजने के स्थान उनका वर्गीकरण, उनकी बनावट, उनकी प्रकृति, उनके फैलने की रीतियाँ, फूलने फलने के कारण इत्यादि का अध्ययन करते हैं, तब वह वनस्पति विज्ञान कहलाता है।

इस समय मनुष्य को जीवन के पग पग पर विज्ञान के साधनों का व्यवहार करना पड़ता है। इसी से आधुनिक युग को वैज्ञानिक युग कहते हैं। जो वस्त्र हम धारण करते हैं वे प्राय: सभी कृत्रिम रंजकों से रंगे होते हैं। आजकल जो वस्त्र बनते हैं, उनमें कृत्रिम रीति से तैयार सूतों का बहुत कुछ व्यवहार होता है। जो वस्त्र बनते हैं उनमें से अत्यधिक मशीनों की सहायता से बनते हैं जिन्हें वैज्ञानिकों ने आविष्कृत किया है। जो जूते हम पहनते हैं, उनके चमड़े क्रोम टैंनिंग द्वारा तैयार होते हैं। जिस तैल को हम सिर में लगाते हैं, वह वैज्ञानिक रीति से शोधित होता है और उसमें जो सुगंधित द्रव्य व्यवहृत होता है, वह कृत्रिम रीति से वैज्ञानिकों के द्वारा तैयार होता है। सुगंधित द्रव्यों के निर्माण में रसायनज्ञों ने बड़ी प्रगति की है। एक से एक प्राकृतिक सूक्ष्म सुगंधों का निर्माण कृत्रिम रीति से कर लिया गया है।

हमारी भोजन सामग्रियों के प्रस्तुत करने में विज्ञान का हाथ है। कृषि की उन्नति में विज्ञान ने बड़ी सहायता की है। आज हम बहुत अधिक उपज देनेवाले गेहूँ, धान, मक्का, बाजरा आदि के उगाने में समर्थ हुए हैं। ऐसी ईख हम उगा सके हैं, जो शीघ्र परिपक्व हो जाती, है, जिसमें चीनी की मात्रा अधिक रहती है और जिसमें रोग कम लगते हैं। नाना प्रकार के फलों, अंगूर, सेब, संतरा, नाशपाती, केले इत्यादि के उपजाने और उनके संरक्षण में हम इतने समर्थ हो गए हैं कि दूर दूर देशों में उपजे फलों को हम ताजा प्राप्त कर सकते है।

औषधियों के निर्माण में भी हमने बड़ी प्रगति की है। अनेक व्याधियों के दूर करने के लिये कई ओषधियों को हमने प्रयोगशालाओं में तैयार किया है। वाहनों के संबंध में हमने आशातीत प्रगति की है। पहले जहाँ केवल वाष्पसंचालित जहाज, रेलगाड़ियाँ, मोटर बसें, मोटर कारें और वायुयान थे, जिनसे हम महीनों लगनेवाली यात्रा को कुछ दिनों या घंटों में संपन्न कर सकते थे, वहाँ अब रॉकेट की सहायता से लाखों मील की यात्रा कर चंद्रमा पर पहुँचने का प्रयास करते हैं। रेडियो की सहायता से हम घर बैठे हजारों मील की दूरी पर स्थित किसी महान व्यक्ति का व्याख्यान अथवा गायक या गायिका का सुमधुर गान सुन सकते हैं। सिनेमा के द्वारा एक से एक अद्भुत दृश्य और संसार के प्रसिद्ध से प्रसिद्ध अभिनेता या अभिनेत्री का नृत्य देखते हुए उनके सुमधुर गान और अभिनय का आनंद उठा सकते हैं। विशेष विशेष अवसरों के लिये विज्ञान ने हमें जो साधन दिए हैं, उनका संक्षिप्त वर्णन भी इस निबंध के कलेवर को बहुत अधिक बढ़ा देगा।

[फू० स० व०]

विटामिन (Vitamin) एक बहुत आवश्यक खाद्यांश है। मनुष्य के खाद्य में निम्न पदार्थों का रहना जरूरी है: (१) प्रोटीन, (२) कार्बोहाइड्रेट, (३) वसा, (४) खनिज पदार्थ, (५) विटामिन, तथा (६) जल। ये सब पदार्थ मनुष्य को दिन-प्रतिदिन के आहार से मिलते हैं। विटामिन की प्रतिदिन की आवश्यक मात्रा संतुलित भोजन से प्राप्त होती है (देखें आहार)।

इस शताब्दी में विटामिन के संबंध में अच्छी जानकारी हुई है। किन किन खाद्य पदार्थों में कौन कौन विटामिन हैं, इस जानकारी के अतिरिक्त विटामिनों के संश्लेषण प्रक्रिया द्वारा उत्पादन आदि से भी पर्याप्त जानकारी हो गई है। अब तो इनकी रासायनिक रूपरेखा भी अच्छी तरह जान ली गई है। इनका, अन्य रासायनिक पदार्थों के सदृश मनुष्य की चिकित्सा में, व्यवहार भी किया जाने लगा है। पूर्ण विटामिन की कमी की अवस्था में इनका व्यवहार जादू सा काम करता है और मनुष्य शीघ्र ही लाभ अनुभव करने लगता है। अल्प

यों तो अनेक विटामिनों की जानकारी हुई है, किंतु बारह विटामिन, जो बहुतायत से उपयोग में लाए जा रहे हैं और जिनके विषय में अच्छी जानकारी प्राप्त हुई है, उन्हीं का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

विटामिनों के नाम अंग्रेजी अक्षरों पर रखे गए हैं, जैसे, विटामिन ए०, बी०, सी०, (A. B. C. etc.) इत्यादि। आधुनिक विज्ञानशास्त्रों में इनके रासायनिक नाम विशेष रूप से व्यवहृत किए जाते हैं। इनकी विशेष वार्ता करने के पूर्व इन १२ विटामिनों के नाम और इनकी हीनता की अवस्था में जो लक्षण, या रोग उत्पन्न होते हैं उन्हें निम्न सारणी में दिया गया है :

जल विलेय विटामिन

विटामिन बी — यह कई विटामिनों का समूह है। इसके सात अवयवों के नाम नीचे की सारणी में दिए गए हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और अवयव हैं जिनकी जानकारी गत कई वर्षों में हुई है, जैसे

प्रमुख विटामिन

विटामिन	रासायनिक नाम	हीनता के लक्षण
	जलविलेय विटामिन	
विटामिन बी१ (B_1)	थायामिन (Thiamin)	बेरी बेरी (Beri Beri) तथा स्नायुदौर्बल्य।
विटामिन बी२ (B_2)	रिबोफ्लेविन (Riboflavin)	आँख की केशिकाओं में लाली, होंठों पर फेफरी, मुँह आना, जीभ में विशेष लाली तथा चर्मरोग।
विटामिन बी६ (B_6)	पिरिडॉक्सिन (Pyridoxin)	वमन
विटामिन बीपी०-पी० ($B_{p\text{-}p}$)	निकोटिनिक अम्ल (Nicotinic acid)	पैलाग्रा (Pellagra)
फोलिक अम्ल	फोलिक अम्ल (Folic acid)	बृहत् लोहिताणु-क्षीणता (Macrocytic anaemia)
विटामिन बी१२ (B_{12})	सायनोकोबलेमाइन (Cyanocobalamin)	दुष्ट रक्तक्षीणता (Pernicious anaemia)
विटामिन सी (C)	ऐस्कॉर्बिक अम्ल (Ascorbic acid)	स्कर्वी (Scurvy)
	वसा विलेय विटामिन	
विटामिन ए (A)	कैरोटीन (Carotine)	रतौंधी, शुष्कअक्षिपाक (Xerophthalmia) तथा कर्टेला (Phrenodermia)
विटामिन डी (D)	कैल्सिफ़ेरोल (Calciferol)	सुखंडी (rickets) तथा अस्थि दौर्बल्य।
विटामिन इ (E)	टोकोफ़ेरोल (Tocopherols)	साभ्यिक गर्भपात (Habitual abortion)
विटामिन के (K)	मेनाडियोन (Menadion)	रक्त जमाव में त्रुटि।
विटामि पी (P)	हेपैरिन (Heparin)	रक्तस्राव की अवधि में वृद्धि।

कमी की अवस्था में विटामिनहीनता के कोई कोई लक्षण दिखाई पड़ते हैं और इन अवस्थाओं में संश्लेषित विटामिनों का व्यवहार खूब लाभप्रद होता है। मनुष्य के प्रतिदिन की आवश्यकता की जानकारी अच्छी तरह हो गई है। बहुत अल्प मात्रा में इनकी आवश्यकता होती है।

पैंटोथीनिक अम्ल (Pantothenic acid), बायोटिन (Biotin), इनोसिटोल (Inositol), कोलिन (Choline), पाराऐमिनो बेंजोइक अम्ल (p-c aminobenzoix acid)। सारणी में दिए गए विटामिनों के अवयवों का विस्तार से वर्णन निम्नलिखित है :

विटामिन बी१ (Vitamin B_1) — इसका रासायनिक नाम

विशिष्ट वैज्ञानिक
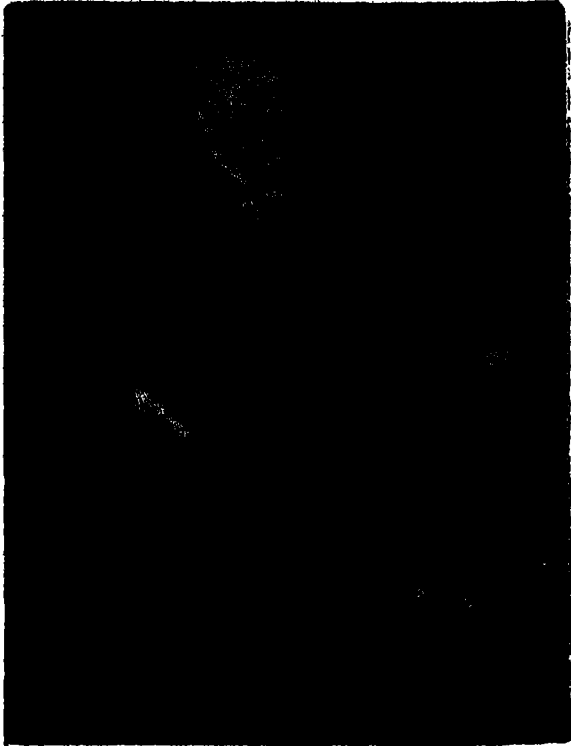
लॉर्ड रदरफर्ड ऑफ नेलसन (सन् १८७१-१९३७)
सन् १९३८ की इंडियन सायंस कांग्रेस के अध्यक्ष।

सर राजेंद्र नाथ मुकर्जी (सन् १८५४-१९३६)
सन् १९२१ की इंडियन सायंस कांग्रेस के अध्यक्ष।
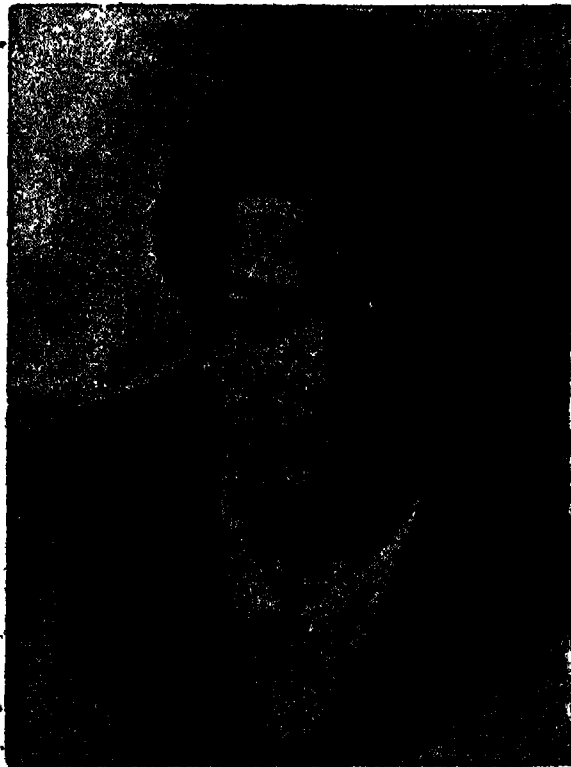
श्रीनिवास रामानुजन् (सन् १८८७-१९२०)
रॉयल सोसायटी के सर्वप्रथम भारतीय सदस्य।

डाक्टर अयोध्या नाथ खोसला
रुड़की विश्वविद्यालय के सर्वप्रथम भारतीय उपकुलपति।

थायामिन हाइड्रोक्लोराइड (Thiamin hydrochloride) है। इसकी रासायनिक रूपरेखा की जानकारी ठीक ठीक प्राप्त है और थायामिन क्लोराइड का उत्पादन औषध के कारखानों में होता है। इसका व्यवहार खाद्यांश और औषध की तरह किया जा रहा है। यह मनुष्य के लिये प्रत्येक दिन ५ मिग्रा (mg.) आवश्यक है और कई बीमारियों में इसकी दैनिक मात्रा कई गुना बढ़ जाती है। इसकी पूर्ण हीनता से मनुष्य में बेरी-बेरी (Beri-Beri) की बीमारी होती है। इसके प्रधान लक्षण शोफ (oedema), बहुतंत्रिका शोथ (polyneuritis), हृदय विकृति और उदर-रोग हैं। न्यून-हीनता की अवस्था में इन्हीं में से कोई कोई लक्षण दिखाई पड़ते हैं।

इसका व्यवहार बेरी-बेरी के अतिरिक्त अन्य रोगों में किया भी जा रहा है। तंत्रिकाशोथ में यह विशेष मात्रा में प्रयोग किया जाता है। अधिक मदिरा पीने से उत्पन्न तंत्रिकाशोथ की अवस्था में इसका उपयोग लाभकर सिद्ध हुआ है। इसी प्रकार इसका उपयोग मधुमेह से उत्पन्न तंत्रिकाशोथ में भी किया जाता है।

कई उदर रोगों में, जिनमें वमन और दस्त के लक्षण भी वर्तमान रहते हैं, थायामिन का व्यवहार लाभकर सिद्ध होता है। भूख की कमी में भी इसका व्यवहार लाभप्रद होता है।

कई हृदय रोगों में विटामिन बी$_1$ की कमी पाई जाती है। इन अवस्थाओं में थायामिन का व्यवहार वांछनीय है। साथ साथ कई शोफ़ की बीमारियों में भी इसको व्यवहृत किया जाता है।

शरीर में इसका कार्य कार्बोहाइड्रेट-उपापचय (metabolism) में होता है। इसकी प्रक्रिया शरीर में सह-ऐंजाइम (co-enzyme) की होती है। प्राकृतिक अवस्था में विटामिन बी$_1$ बिना छिले अनाजों, दालों, अंडों, फलों तथा बहुत सी तरकारियों, यकृतों तथा मांस और दूध में पाया जाता है। दूध में प्रोटीन, वसा, खनिज पदार्थ, तथा अन्य विटामिन तो बहुत अधिक मात्रा में होते हैं, किंतु विटामिन बी$_1$ अधिक नहीं होता। इसकी अच्छी मात्रा ईस्ट (yeast) में पाई जाती है।

विटामिन बी$_2$ — (Vitamin B$_2$) इसका रासायनिक नाम रिबोफ्लेविन (Riboflavin) और लेक्टोफ्लेविन (Lactoflavin) है। इसके क्रिस्टल पीले और गंधयुक्त होते हैं।

इसकी पूर्णहीनता से मनुष्य के शरीर में विकृत-लक्षण-समूह दिखाई पड़ते हैं। वे लक्षण हैं: अरूपी जिह्वा शोथ (typical glossitis), इसका रंग अधिकिलालिरक्त (magenta colour) होता है, होंठों पर सफेद झुर्रियाँ तथा मुख द्वार पर सफेद फ़ुर्री (जैसा घोड़े को लगाम पहनने पर होता है—लगामी) और विशेष प्रकार का चर्म रोग। ये लक्षण रिबोफ्लेविन के सेवन से शीघ्र ही गायब हो जाते हैं।

मनुष्य की दैनिक आवश्यकता २ मिलिग्राम की होती है। इसकी हीनता की दशा में, इसकी मात्रा २ से १० मिलिग्राम की होती है। कृत्रिम विटामिन खाया जाता है, या इसकी सूई दी जाती है।

प्राकृतिक अवस्था में यह दूध में कुछ मात्रा में मिलता है और लगभग इतनी ही मात्रा में मांस और अंडे में, तथा विशेष मात्रा में यकृत में होता है। गाढ़े दूध तथा सुखाए हुए गाढ़े पनीर (cheese) में इसकी मात्रा अच्छी होती है। ईस्ट में इसकी मात्रा बहुत अच्छी होती है। गल्ले और दलहन में इसकी मात्रा कम होती है। हरी सब्जियों में इसकी मात्रा गल्ले तथा दलहन से भी कम होती है। चाय की सूखी पत्तियों में इसकी मात्रा बहुत होती है और यह चाय बनाते समय घुलकर पानी में आ जाता है।

विटामिन बी$_6$ — विटामिन बी$_6$ का रासायनिक नाम पिरिडॉक्सिन हाइड्रोक्लोराइड (Pyridoxinhydrochloride) है। यह क्रिस्टलीय होता है और पानी में शीघ्र घुल जाता है।

इसकी हीनता का ज्ञान अभी परिपक्व नहीं है। किंतु प्रायोगिक जानवरों को जब यह विटामिन खाने को नहीं दिया जाता है, तब उन्हें विशेष प्रकार का पांडु और चर्मरोग हो जाता है। किसी किसी जानवर को स्नायुदौर्बल्य और ऐंठन (convulsion) होने लगती किसी किसी का शारीरिक भार घट जाता है और खाने पीने में अरुचि हो जाती है।

मनुष्य में गर्भकालीन वमन में इसका उपयोग हितकर पाया गया है। रश्मिक (radiation) चिकित्सा के समय वमन में भी यह लाभकर होता है। ऐसी अवस्था में कृत्रिम विटामिन २५ से १०० मिलिग्राम की मात्रा में दिया जाता है।

प्राकृतिक अवस्था में यह जानवरों के यकृत, अंडे, मांस और मछली में पाया जाता है। यह वनस्पतियों, अन्न, दलहन और ईस्ट में अच्छी मात्रा में रहता है।

विटामिन बी$_{पी-पी}$ (Vitamin B$_{p-p}$) — पी-पी का अर्थ है पैलाग्रा-निरोधक (Pellagar a-preventing)। इसका रासायनिक नाम है निकोटिनिक अम्ल। संश्लेषण से बनाए हुए द्रव्य का क्रिस्टल सफेद सुई के जैसा लंबा लंबा होता है। यह जल विलेय है।

इसकी पूर्ण हीनता मनुष्य में पैलाग्रा रोग उत्पन्न करती है और इसके चिह्न हैं विशेष प्रकार का चर्मरोग, प्रतिसार और मनोविकृति। अल्पहीनता की अवस्था में मनुष्य में चिड़चिड़ापन, मस्तिष्क पीड़ा, अल्प निद्रा, अजीर्ण, जी मिचलाना तथा वमन के लक्षण पाए जाते हैं। इसकी विशेष-हीनता में चर्म रोग शरीर के उन अंगों पर दिखाई देता है, जो कपड़े से ढँके नहीं जाते हैं, जैसे हाथ, पैर का पृष्ठभाग तथा गर्दन। इन अंगों पर काली फ़ुर्री सी पड़ जाती है। मुँह आना और जीभ पर निनामा तथा पेट में दाह और दस्त होने के लक्षण प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

मनोविकृति में स्मरणशक्ति का ह्रास, उदासीनता, विभ्रम (delusion), मनोभ्रंश (dementia) आदि के लक्षण दिखाई पड़ते हैं।

मनुष्य में इसकी दैनिक आवश्यकता ४ मिलिग्राम की होती है। भिन्न प्रकार की हीनता की अवस्था में इसकी मात्रा १२ से १८ मिलिग्राम है। प्रतिदिन ५०० मिलिग्राम तक यह खाया जा सकता है।

प्राकृतिक अवस्था में यह अन्न, फल, सब्जी, दूध, अंडा, मांस, मछली और भिन्न भिन्न पेय में पाया जाता है। ढेंकी के छँटे अरवा चावल में इसकी अच्छी मात्रा होती है, मिल के पॉलिश किए चावल में कम है। चावल की छाँटन (polishings) में इसकी मात्रा विशेष रहती

है। प्राय: इतनी ही मात्रा में यह ईस्ट में भी पाया जाता है। फल और सब्जियों में बहुत मात्रा में पाया जाता है। दूध, अंडा, मछली और मांस में इसकी मात्रा बहुत कम होती है।

फोलिक अम्ल (Folic Acid) — यह कई प्रकार के पत्तों में पाया जाता है। इसलिये इसका नाम फोलिक (Folic=leaf) अम्ल पड़ा। इसका रासायनिक नाम टेरोयलग्लूटैमिक अम्ल (Pteroyl-glutamic acid) है। यह प्रथमत: पालक के साग से निकाला गया था, विशुद्धीकरण के बाद इसकी शक्ति बहुत तेज साबित हुई। अब यह संश्लेषण प्रक्रिया द्वारा तैयार किया जाता है।

मनुष्य की दैनिक आवश्यकता १ मिग्रा की है, किन्तु हीनता की अवस्था में यह ५ से १० मिग्रा तक व्यवहृत होता है।

इसकी हीनता से दुष्ट रक्तक्षीणता (Pernicions anaemia) और संग्रहणी (Sprue) होती है।

यह स्वाभाविक अवस्था में कई पत्तों में, ईस्ट और यकृत में पाया जाता है।

विटामिन बी $_{१२}$ (Vitamin B $_{12}$) — प्रथमत: यह यकृत से विश्लेषण प्रक्रिया द्वारा निकाला गया था। आजकल एक प्रकार का फफूँद स्ट्रेप्टोमाइसीजग्राइसेस (Streptomyces griseus) से संश्लेषण किया जाता है। अल्प मात्रा में यह मनुष्य के आंत्रों में भी जीवाणु द्वारा संश्लेषण होता है। यह मछली, मांस, दूध, छेना और पनीर में भी पाया जाता है।

इसका रासायनिक नाम सायानोकोबलेमिन (Cyanocobalamin) है। इसका क्रिस्टल कुछ बैंगनी रंग का होता है।

मनुष्य की दैनिक आवश्यकता बहुत ही कम है। रक्तक्षीणता में यह ५०० से १००० म्यूमिग्रा (µ mg, =1/1000 मिग्रा) में प्रतिदिन व्यवहार किया जाता है और इसकी सुई लगाई जाती है। यह कई प्रकार की रक्तक्षीणता और संग्रहणी में लाभप्रद होता है।

विटामिन सी (Vitmin C) — इसका रासायनिक नाम एस्कार्बिक अम्ल है। इसका क्रिस्टल सफेद होता है। यह जल में शीघ्र घुल जाता है।

इसकी अत्यधिक हीनता की अवस्था में मनुष्य में एक व्याधि उत्पन्न हो जाती है जिसे स्कर्वी (scurvy) कहते हैं। इसमें मसूड़े सूज जाते हैं।

शरीर में नीले चकत्ते पड़ जाते हैं और बड़ी दुर्बलता आन पड़ती है। मसूड़े और चमड़े पर थोड़ी चोट से रक्त-कोशिकाओं से रक्त निकल जाता है। यही कारण है कि इस व्याधि में मसूड़े से खून निकलता है और चमड़े पर नीले चकत्ते पड़ जाते हैं। आधुनिक अनुसंधान से यह निर्णय हुआ है कि इसका कार्य शरीर के तंतुओं की कोशिकाओं (cells) के बीच बंधन-पदार्थ (cementing substance) एकत्र करना है और जब इस विटामिन की हीनता होती है, तब शरीर की कोशिकाओं, दाँत तथा हड्डी के भीतरी बंधनों में भी विकृति आ जाती है।

इस विटामिन की अल्प हीनता की अवस्था में पूर्ण स्कर्वी के लक्षण प्रत्यक्ष नहीं होते बल्कि कोई कोई चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे मसूड़े में रक्तस्राव या शरीर पर नीले धब्बे दिखाई देना, इत्यादि।

इसकी दैनिक आवश्यकता एक प्रौढ़ मनुष्य के लिए ७५ मिग्रा की है, और गर्भावस्था में इसकी १०० से १५० मिग्रा मात्रा आवश्यक होती है। १२ वर्ष की अवस्था तक दैनिक मात्रा ३० से ७५ मिग्रा. तक होती है।

प्राकृतिक अवस्था में यह अधिक मात्रा में नीबू, नारंगी, अमरूद, आँवला, टमाटर, पातगोभी, लेट्टूस, प्याज और पालक के साग में पाया जाता है। सभी हरे साग, ताजा फल और सब्जियों में यह कुछ न कुछ मात्रा में पाया जाता है।

इस विटामिन की जानकारी १७ वीं शताब्दी से है। जब परिवहन और यातायात की गति द्रुतगामी नहीं थी और लंबी सामुद्रिक यात्रा हाथ से चलाए जाने वाले डाँड़ की नाव तथा पाल और पतवार से चलाई जानेवाली नाव द्वारा होती थी, उस समय नाविक, बहुत काल तक हरी सब्जी खाना आ फल न मिलने से स्कर्वी की व्याधि से पीड़ित हो जाते थे और फिर जब ताजी सब्जियाँ और फल मिलते थे तब उनकी यह व्याधि दूर हो जाती थी।

वसा विलेय विटामिन

विटामिन ए — यह शरीर में कैरोटीन से बनता है। कैरोटीन हरे और पीले रंग के पौधों में बहुतायत से पाया जाता है। गाजर, जिसे अंग्रेजी में कैरोट (carrot) कहते हैं, से कैरोटीन संबंधित है। कैरोटीन गाजर में बहुत होता है। कृत्रिम विटामिन ए कैरोटीन से बनाई जाती है। कैरोटीन और विटामिन ए की रासायनिक रूपरेखा बहुत पहले निश्चित की गई थी। कैरोटीन के एक अणु से विटामिन ए के दो अणु तैयार होते हैं। विटामिन ए शरीर के रक्त में प्रवाहित रहता है। शरीर कैरोटीन से विटामिन ए बनाता है। संश्लेषित विटामिन ए अमरीका में बहुत सस्ते मूल्य में उपलब्ध है।

इसकी हीनता से मनुष्यों की आँखों में तरह तरह की व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जैसे (१) रतौंधी (Night blindness), (२) शुष्कअक्षिपाक (Xerophthalmia), आँखों के श्वेत भागों पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं और उसपर सफेद दाग पड़ जाता है, (३) आँख के संमुख बिचले भाग पर माड़ा (सफेदी) पड़ जाता है और तथा आँखों से दिखाई नहीं देता है श्वेत ढेंढर निकल आता है, (४) कंटैला (Phrenodermia), शरीर की त्वचा पर छोटे छोटे कड़े दाने निकल आते हैं, (५) मसूड़े सूज जाते हैं, तथा (६) कभी कभी मूत्रप्रणाली में पथरी की बनावट में इसकी कमी सहायक पाई गई है।

इसकी मात्रा प्राकृतिक खाद्य पदार्थों में, पशुजन्य वसा, बिना मक्खन निकाला दूध, दही, मक्खन, शुद्ध घी, अंडा, जानवरों के यकृत तथा कॉड (Cod), हैलिबट (Halibut) और शार्क (shark) मछलियों के यकृत के तेल में सबसे अधिक होती है। इनका व्यवहार इस विटामिन की हीनता की अवस्था में किया जाता है। शाक तरकारियों में विटामिन ए अधिक मात्रा में नहीं मिलता है, और यह कैरोटीन (Carrotine) के रूप में रहता है जो शरीर में विटामिन

ए में परिवर्तित हो जाता है। पातगोभी (करमकल्ला), धनिया, पालक, लेट्यूस, इत्यादि की पत्तियों में और पके हुए फल, आम, पपीता, टमाटर, नारंगी इत्यादि में यह कैरोटीन बहुतायत से होता है। गाजर में यह बहुत रहता है।

भोजनों में विटामिन ए तथा कैरोटीन की मात्रा इतनी कम है कि साधारण बाटों द्वारा इसे न मापकर अंतरराष्ट्रीय इकाई में मापा जाता है। आधुनिक वैज्ञानिकों का विचार है कि प्रौढ़ मनुष्य के प्रति दिन के भोजन में इस विटामिन की ५,००० अंतरराष्ट्रीय इकाई अवश्य होनी चाहिए।

विटामिन डी (Vitamin D) — यह वसा विलेय विटामिन है।* रासायनिक रूप-रेखा के हिसाब से इस प्रकार के स्टेराइड यौगिक (steroid compounds) अनेक हैं। विटामिन-डी$_3$ (Vitamin D$_3$) स्वभाविक विटामिन हैं जो मनुष्य की त्वचा में सूर्य किरण, या पराबैंगनी किरणों (vltra ıolet rays) के प्रभाव से बनता रहता है। इसी से मिलता जुलता रासायनिक यौगिक जिसकी रूपरेखा प्रायः एक सी है, उसे कैल्सिफेरोल (Calciferol) या विटामिन डी$_2$ कहते हैं। यद्यपि डा$_3$ (D$_3$) और डी$_2$ (D$_2$) के रूप में सामान्य अंतर है, तथापि उनका पदार्थ-गुण एक है। कृत्रिम विटामिन डी$_2$ का व्यवहार चिकित्सा में विशेष रूप से होता है।

इसकी हीनता से शिशु में सुखंडी या रिकेट्स (rickets) होता है और गर्भवती स्त्री में अस्थिमृदुता (osteomalacia) होती है। रिकेट्स की बीमारी में बच्चों के शरीर पर चमड़े में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, शरीर सूखकर दुबला पतला हो जाता है। सिर शरीर की अपेक्षा बड़ा रहता है। पेट फुटबाल के समान निकला रहता है। यह इस उपमा से समानता रखता है 'हाथ पाँव सिरकी पेट नदकोला'। साथ साथ दस्त आने लगते हैं। बच्चा बड़ा ही चिड़चिड़ा हो जाता है और छोटी छोटी सी बातों पर रोता है। गर्दन और मस्तक पर पसीना अक्सर ही रहता है। हाथ पैर की हड्डियाँ टेढ़ी हो जाती हैं। प्रसूता स्त्री और दूध पिलानेवाली माताओं में नितंब और जंघे की हड्डियाँ दुर्बल और अंत में टेढ़ी हो जाती हैं।

प्राकृतिक अवस्था में यह विटामिन भिन्न भिन्न मछलियों, जैसे कॉड, हैलिबट शार्क इत्यादि, के यकृत में पाया जाता है। गाय के दूध में इसकी मात्रा उसके खाद्य पर निर्भर करती है। यदि ये खाद्य पदार्थ सूर्य की किरणों से प्रभावित होते हैं तो इसमें विटामिन की मात्रा कुछ विशेष होती है। गरम देश में रहनेवालों में यह विटामिन उनके चमड़े पर सूर्य की किरणों के पड़ने से बनता रहता है और मनुष्य यह विटामिन अपने आप बनाता रहता है।

विटामिन ई (Vitamin E) — इसका रासायनिक नाम टोकोफ़ेरोल (Tocopherol) है। कई प्रकार के टोकोफ़ेरोलों का जो भिन्न भिन्न सब्जियों से निकाले जाते हैं, व्यवहार किया जाता है। यह गेहूँ के अंकुर के तेल (wheat germ oil) से भी उपलब्ध होता है। विटामिन ई की हीनता का ज्ञान अभी परिपक्व नहीं है तथापि यह जनन विटामिन कहलाता है। सामयिक गर्भपात (Habitual abortions) की अवस्था में यह व्यवहृत किया होता है। पुरुषों के शुक्राणु (Spermatozoa) के दोष में भी यह व्यवहार किया जाता है।

विटामिन के (Vitamin K) — चूँकि के (K) पहला अक्षर कोऐगुलेशन (Koagulation) का है इसलिये यह विटामिन 'के' (K) कहलाता है। कोऐगुलेशन का अर्थ है रक्तजमाव (रक्त का थक्का हो जाना)। यह रुधिर को पतला होने से रोकता है, या यों भी कहा जा सकता है कि यह रुधिर को गाढ़ा करता है। इसका रासायनिक नाम है नैफ्थाक्विनोन (Napthaquinone)।

इसकी कमी से रक्त पतला हो जाता है और इसका स्राव भिन्न भिन्न अंगों से होने लगता है। ऐसे रक्तस्राव में इसका व्यवहार किया जाता है।

प्रकृति में यह जानवरों के यकृत तथा वनस्पतियों, जैसे हरी सब्जी, सब्जी के तेल और अन्न से प्राप्त होता है।

विटामिन पी (Vitamin P) — इस रासायनिक पदार्थ का नाम है हेपैरिन यह मीठी बड़ी मिर्च (Kaprika) तथा नारंगी के छिलके में पाया जाता है। अनेक वैज्ञानिकों का मत है कि यह रक्त केशिकाओं (Blood capillaries) को दृढ़ रखता है और इसकी कमी से इन केशिकाओं से रुधिरस्राव होने लगता है। यद्यपि यह कई रक्तस्राव की व्याधियों में विटामिन सी और के के साथ व्यवहृत किया जाता है किंतु इसका वैज्ञानिक निराकरण अभी परिपक्व नहीं हो सका है।

उपर्युक्त कथन से यह निश्चित है कि विटामिन खाद्यांश हैं और शरीर को उनकी प्राप्ति प्रति दिन के भोजन से होती है। ये सब विटामिन प्रति दिन के भोजन में तभी संभव है, जब भोजन संतुलित हो, और खाद्य पदार्थों की उपलब्धि भिन्न भिन्न प्रकार की खाद्यसामग्रियों से हो। इस दशा में सभी विटामिन यथोचित मात्रा में शरीर को मिलते रहेंगे। [ब० ना० प्र०]

विट्ठलनाथ वल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र गुसाईं विट्ठलनाथ का जन्म काशी के निकट चरणाट ग्राम में पौष कृष्ण नवमी को संवत् १५७२ (सन् १५१५ ई०) में हुआ। इनका शैशव काशी तथा प्रयाग के निकट अरैल नामक स्थान में व्यतीत हुआ। काशी में रहकर इन्होंने अपने शास्त्रगुरु श्री माधव सरस्वती से वेदांत आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। अपने ज्येष्ठ भ्राता गोपीनाथ जी के अकाल कवलित हो जाने पर संवत् १५९५ में संप्रदाय की गद्दी के स्वामी बनकर उसे नया रूप देने में लीन हो गए। धर्मप्रचार के लिये इन्होंने दो बार गुजरात की यात्रा की और अनेक धर्मप्रेमियों को वैष्णव धर्म में दीक्षित किया।

वल्लभ संप्रदाय को सुसंगठित एवं व्यवस्थित रूप देने में विट्ठलनाथ का विशेष योगदान है। श्रीनाथ जी के मंदिर में सेवा पूजा की नूतन विधि, वार्षिक उत्सव, व्रतोपवास आदि की व्यवस्था कर उन्हें अत्यंत आकर्षक बनाने का श्रेय इन्हीं को है। संगीत, साहित्य,

कला आदि के संमिश्रण द्वारा इन्होंने भक्तों के लिये अद्भुत आकर्षण की सामग्री श्रीनाथ जी के मंदिर में जुटा दी थी। अपने पिता के चार शिष्य कुंभनदास, सूरदास, परमानंददास तथा कृष्णदास के साथ अपने चार शिष्य चतुर्भुजदास, गोविंद स्वामी, छीतस्वामी और नंददास को मिलाकर इन्होंने अष्टछाप की स्थापना की। इन्हीं आठ सखाओं के पद श्रीनाथ जी के मंदिर में सेवा पूजा के समय गाए जाते थे। भक्तमाल में नाभादास ने लिखा है—

"राजभोग नित विविध रहत परिचर्या तत्पर।
सज्या भूषन बसन रुचिर रचना अपने कर।
वल्लभसुत बल भजन के कलिजुग में द्वापर कियो।
बिट्ठलनाथ ब्रजराज ज्यों लाल लड़ाय कै सुख लियो।"

विट्ठलनाथ का अपने समय में अत्यधिक प्रभाव था। अकबर बादशाह ने इनके अनुरोध से गोकुल में वानर, मयूर, गौ आदि के वध पर प्रतिबंध लगाया था और गोकुल की भूमि अपने फरमान से माफी में प्रदान की थी। विट्ठलनाथ जी के सात पुत्र थे जिन्हें गुसाईं जी ने सात स्थानों में भेजकर संप्रदाय की सात गद्दियाँ स्थापित कर दीं। अपनी संपत्ति का भी उन्होंने अपने जीवनकाल में ही विभाजन कर दिया था। सात पुत्रों को पृथक् स्थानों पर भेजने से संप्रदाय का व्यापक रूप से प्रचार संभव हुआ। इनके चौथे पुत्र गुसाईं गोकुलनाथ ने चौरासी वैष्णवन की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता का प्रणयन किया। कुछ विद्वान् मानते हैं कि ये वार्ताएँ आरंभ में मौखिक रूप में कही गई थीं, बाद में इन्हें लिखित रूप मिला।

विट्ठलनाथ जी के लिखे ग्रंथों में अणुभाष्य, यमुनाष्टक, सुबोधिनी की टीका, विद्वन्मंडल, भक्तिनिर्णय और शृंगाररसमंडन प्रसिद्ध हैं। शृंगाररसमंडन ग्रंथ द्वारा माधुर्य भक्ति की स्थापना में बहुत योग मिला। संवत् १६४२ वि० (सन् १५८५ ई०) में गिरिराज की एक गुफा में पैठकर इन्होंने इहलोक लीला समाप्त की। [वि० स्ना०]

विदुर दासी के गर्भ से उत्पन्न व्यास के पुत्र। महाभारत के समय ये कौरवों तथा पांडवों को उचित नीति का उपदेश देते थे यद्यपि युद्ध में इन्होंने पांडवों की सहायता की थी। जब कौरवों ने पांडवों के लाक्षागृह में आग लगा देने का उपक्रम किया था तो विदुर ने ही उन्हें समय पर सूचना देकर उनके जीवन की रक्षा की थी। इनकी "विदुर नीति" प्रसिद्ध है। [रा० द्वि०]

विदुला राजा सौवीर की पत्नी तथा संजय की माता जिनके उपदेशपूर्ण संवाद परम प्रसिद्ध हैं। इनके विधवा हो जाने पर सिंधुराज ने इनके राज्य पर आक्रमण कर दिया जिससे संजय बहुत घबराए परंतु महारानी विदुला ने अपने उपदेशों से संजय को प्रोत्साहित किया जिससे राजकुमार ने शत्रु को वीरतापूर्वक पराजित कर अपने राज्य की रक्षा की। [रा० द्वि०]

विदेह कैवल्य विदेह कैवल्य को विदेहमुक्ति या जीवन्मुक्ति भी कहा है। जीवन्मुक्त का अर्थ है जिसने इसी जीवन में मुक्ति प्राप्त की हो। वेदांत दर्शन के अनुसार यथार्थतः आत्मा और ब्रह्म में कोई अंतर नहीं है। ब्रह्म के साक्षात्कार से आत्मा परब्रह्म में सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित होकर देह आदि के विकार से शून्य, विशुद्ध रूप को प्राप्त करती है। उस समय मुक्त पुरुष परमात्मा से अभिन्न रूप में अपना अनुभव करते हैं और उन्हें सभी के परमात्म स्वरूप में दर्शन होते हैं। विदेहमुक्त पुरुषों के बंधनमुक्त होने के कारण ब्रह्म से भिन्न बुद्धि उनमें स्फुरित नहीं होती, जिससे ब्रह्मरूप में ही उन्हें सबके दर्शन होते हैं। विदेह मुक्तावस्था में जीवात्मा केवल चैतन्य मात्र स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर केवल चैतन्य रूप में आविर्भूत होती है इसलिये उसे प्रज्ञानघन कहा है। चिन्मात्र होने पर भी विदेह मुक्तावस्था को सत्यसंकल्प आदि ऐश्वर्य से विशिष्ट माना गया है। इसीलिये कहा है कि मुक्त पुरुष यदि पितृलोक दर्शन की इच्छा करें तो उनके संकल्पमात्र से उनके समीप पितृगण का आगमन हो सकता है। मुक्त पुरुषों के शरीर और इंद्रिय आदि नहीं होते, अतएव प्रिय और अप्रिय उन्हें स्पर्श नहीं करते। परम ज्योति स्वरूप को प्राप्त तथा संसार से मुक्त ऐसे पुरुषों का संसार में पुनरागमन नहीं होता। वे स्वाभाविक, अचिंत्य, अनंत गुणों के सागर और सर्वविभूति से संपन्न ब्रह्म के स्वरूप में अपने आपका अनुभव करते रहते हैं। अंतिम उपाधि नष्ट होने पर जब ब्रह्मज्ञ पुरुषों की देह का अंत हो जाता है तो ब्रह्मरंध्र को भेदकर वे इस देह से सूक्ष्म शरीर द्वारा निर्गत होते हैं और अर्चिरादि मार्ग का अवलंबन कर ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं। वहाँ उनके सूक्ष्म देह के अंतर्गत इंद्रिय आदि ब्रह्म रूप में समता को प्राप्त होते हैं, और अपने चित् रूप में अवस्थित होकर, ब्रह्म का अंग होने के कारण, वे सर्वत्र अभेददर्शी और ब्रह्मदर्शी हो जाते हैं। ध्यानमात्र से ही उनमें सब विषयों का ज्ञान उत्पन्न होता है और उनकी इच्छा अप्रतिहत होती है। वे चाहें तो देह धारण भी कर सकते हैं, किंतु ब्रह्म से अभिन्न हो जाने के कारण जगत् की सृष्टि के प्रपंच आदि के प्रति उनकी इच्छा नहीं रहती। [ज० चं० जै०]

विपुला (१) महाभारत में उल्लिखित एक नदी। (२) विपुला नामक पर्वत की अधिष्ठात्री देवी जिसका वर्णन देवीभागवत में है। (३) प्रसिद्ध सती जिसका अधिक प्रसिद्ध नाम बेहुला है। [रा० द्वि०]

विद्या और अविद्या अविद्या शब्द का प्रयोग माया के अर्थ में होता है। भ्रम एवं अज्ञान भी इसके पर्याय हैं। यह चेतनता की स्थिति तो हो सकती है, लेकिन इसमें जिस वस्तु का ज्ञान होता है, वह मिथ्या होती है। सांसारिक जीव अहंकार अविद्याग्रस्त होने के कारण जगत् को सत्य मान लेता है और अपने वास्तविक रूप, ब्रह्म या आत्मा का अनुभव नहीं कर पाता। एक सत्य को अनेक रूपों में देखना एवं मैं, तू, तेरा, मेरा, यह, वह, इत्यादि का भ्रम उसे अविद्या के कारण होता है। आचार्य शंकर के अनुसार प्रथम देखी हुई वस्तु की स्मृतिछाया को दूसरी वस्तु पर आरोपित करना भ्रम या अध्यास है। रस्सी में साँप का भ्रम इसी अविद्या के कारण होता है। इसी प्रकार माया या अविद्या आत्मा में अनात्म वस्तु का आरोप करती है। आचार्य शंकर के अनुसार इस तरह के अध्यास को अविद्या कहते हैं। संसार का सारा व्यापार व्यवहार एवं संबंध अविद्याग्रस्त संसार में ही संभव है। अतः संसार व्यवहार रूप से ही सत्य है, परमार्थतः वह मिथ्या है, माया है। माया की

कल्पना ऋग्वेद में मिलती है। यह इंद्र की शक्ति मानी गई है, जिससे वह विविध रूपों में प्रकट होता है। उपनिषदों में इन्हें ब्रह्म की शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। किंतु इसे ईश्वर की शक्ति के रूप में अद्वैत वेदांत में भी स्वीकार किया गया है। माया अचित् तत्व है, इसलिये ब्रह्म से उसका संबंध नहीं हो सकता। अविद्या भी माया की समानधर्मिणी है। यदि माया सर्वदेशीय भ्रम का कारण है तो अविद्या व्यक्तिगत भ्रम का कारण है। दूसरे शब्दों में समष्टि रूप में अविद्या माया है और माया व्यष्टि रूप में अविद्या है। शुक्ति में रजत का आभास या रस्सी में साँप का भ्रम उत्पन्न होने पर हम अधिष्ठान के मूल रूप को नहीं देख पाते। अविद्या दो प्रकार से अधिष्ठान के मूल रूप को देखने में बाधा डालती है। प्रथम वह अधिष्ठान का 'आवरण' करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह अधिष्ठान के वास्तविक रूप को ढँक देती है। द्वितीय, विक्षेप कर देती है, अर्थात् उसपर दूसरी वस्तु का आरोप कर देती है। अविद्या के कारण ही हम एक अद्वैत ब्रह्म के स्थान पर नामरूप से परिपूर्ण जगत् का दर्शन करते हैं। इसीलिये अविद्या को 'भावरूप' कहा गया है, क्योंकि वह अपनी विक्षेप शक्ति के कारण ब्रह्म के स्थान पर नानात्व को आभासित करती है। अनिर्वचनीय ख्याति के अनुसार अविद्या न तो सत् है और न असत्। वह सदसद्विलक्षण है। अविद्या को अनादि तत्व माना गया है। अविद्या ही बंधन का कारण है, क्योंकि इसी के प्रभाव से अहंकार की उत्पत्ति होती है। वास्तविकता एवं भ्रम को ठीक ठीक जानना, वेदांत में ज्ञान कहा गया है। फलतः ब्रह्म और अविद्या का ज्ञान ही विद्या कहा जाता है। अद्वैत वेदांत में ज्ञान ही मोक्ष का साधन माना गया है, अतएव विद्या इस साधन का एक अनिवार्य अंग है। विद्या का मूल अर्थ है, सत्य का ज्ञान, परमार्थ तत्व का ज्ञान या आत्मज्ञान। अद्वैत वेदांत में परमार्थ तत्व या सत्य मात्र ब्रह्म को स्वीकार किया गया है। ब्रह्म एवं आत्मा में कोई अंतर नहीं है। वह आत्मा ही ब्रह्म है। अस्तु, विद्या को विशिष्ट रूप से आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या भी कह सकते हैं। विद्या के दो रूप कहे गए हैं। 'अपरा विद्या', जो निम्न कोटि की विद्या मानी गई है, सगुण ज्ञान से संबंध रखती है। इससे मोक्ष नहीं प्राप्त किया जा सकता। मोक्ष प्राप्त करने का एकमात्र साधन 'परा विद्या' है। इसी को आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। अविद्याग्रस्त जीवन से मुक्ति पाने के लिये एवं अपने रूप का साक्षात्कार करने के लिये परा विद्या ही साधन बन सकती है। लोभ, काम, क्रोध आदि वृत्तियों का दमन करके वेदांत की शिक्षाओं का मनन करना ही इस विद्या के अंग हैं। यदि अपरा विद्या प्रथम सोपान है, तो परा विद्या द्वितीय सोपान है। साधन चतुष्टय से प्रारंभ करके, मुमुक्षु श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन, इन त्रिविध मानसिक क्रियाओं का क्रमिक नियमन करता है। वह 'तत्वमसि' वाक्य का श्रवण करने के बाद, मनन की प्रक्रिया से गुजरते हुए, ध्यान या समाधि अवस्था में प्रवेश कर जाता है, जहाँ उसे 'मैं ही ब्रह्म हूँ' का बोध हो उठता है। यही ज्ञान परा विद्या कहलाता है।

सं० ग्रं० — मध्वाचार्य : सर्वदर्शनसंग्रह; एस० राधाकृष्णन् : प्रिंसिपल उपनिषद्स; आर० डी० रानाडे : कंस्ट्रक्टिव सर्वे ऑव इंडियन फिलॉसफी; आर० डी० रानाडे : क्रिएटिव पीरियड; एस० एन० दासगुप्त : हिस्ट्री ऑव इंडियन फिलॉसफी (भाग १); चित्सुख : तत्व प्रदीपिका; मंडन : ब्रह्मसिद्धि; मलकानी, दास और मूर्ति : अज्ञान; एस० सी० चटर्जी : न्याय थियॅरी ऑव् नॉलेज; डी० एम० दत्त : सिक्स वेज ऑव् नोइंग। [शि० श० रा०]

विद्याधर 'एकावली' नामक ग्रंथ के रचयिता। यह साहित्यशास्त्र का महत्वपूर्ण एवं विवेचनात्मक ग्रंथ है। एकावली की कारिकाएँ, उनपर वृत्ति और प्रयुक्त उदाहरण ग्रंथकार द्वारा निर्मित हैं। एकावली में आठ उन्मेष हैं। प्रथम उन्मेष में काव्यहेतु, काव्यलक्षण और भामह आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का विवेचन है। द्वितीय में शब्द, अर्थ और अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना, तृतीय में ध्वनि एवं उसके भेद, चतुर्थ में गुणीभूत व्यंग्य, पंचम में तीन गुण और रीति, षष्ठ उन्मेष में दोष, सप्तम में शब्दालंकार और अष्टम उन्मेष में अर्थालंकारों का निरूपण किया गया है। विद्याधर ने रुय्यक द्वारा नवाविष्कृत परिणाम, विकल्प और विचित्र नाम के अलंकारों को भी स्वीकार किया है। विद्याधर ने एकावली में प्रयुक्त स्वनिर्मित उदाहरणों में उड़ीसा के नरेश नरसिंह का वर्णन एवं प्रशस्तिगान किया है। इसका राज्यकाल ई० १२८०-१३३४ माना जाता है। विद्याधर ने रुय्यक और नैषधकार का भी उल्लेख किया है जो १२वीं सदी के हैं। सिंहभूपाल (ई० १३३०) ने अपने ग्रंथ 'रसार्णव' में एकावली का उल्लेख किया है। अतः विद्याधर का समय संभवतः १२७५-१३२५ ई० के लगभग स्वीकार्य होता है।

विद्याधर की एकावली पर तरला नाम की टीका प्रकाशित है। इसके टीकाकार कोलाचल मल्लिनाथ सूरि हैं, जिन्होंने, कालिदास, माघ, भारवि, श्रीहर्ष आदि के महाकाव्यों पर टीका की है। मल्लिनाथ का समय ईसा की १४वीं सदी का अंतिम चरण मान्य है। इन्होंने अपनी अन्य टीकाओं में भी एकावली के उद्धरण दिए हैं।

[वि० ना० त्रि०]

विद्यापति को लोग महाकवि विद्यापति तथा मैथिल कोकिल विद्यापति भी कहते हैं। इनका जन्म बिसपी नामक ग्राम में हुआ था। यह ग्राम कमतौल रेलवे स्टेशन से थोड़ी दूर पर दरभंगा जिला में है। इनका जन्म विक्रम संवत् के पंद्रहवें शतक में हुआ था, यद्यपि इनके आविर्भाव अथवा निधन का वर्ष ज्ञात नहीं है। हाँ, मिथिला के राजा शिवसिंह के ये दरबारी कवि थे — यह निश्चित है। अंग्रेजी के किसी कवि के विषय में ऐसी प्रसिद्धि है कि उन्हें दो दूरस्थ नगरों के निवासी अपने में एक समझते थे। पर प्रायः विद्यापति ही एक ऐसे कवि है जिन्हें हिंदी, मैथिली एवं बँगला इन तीन भाषाओं के बोलनेवाले समान रूप से अपना मानते हैं। साथ साथ इनका वैशिष्ट्य यह है कि इनकी प्रौढ़ रचनाएँ संस्कृत, अपभ्रंश तथा मैथिली इन तीन भाषाओं में मिलती हैं। इनके कार्यों से पता चलता है कि ये व्यवस्थापक, मंत्री, कवि, धर्मशास्त्री, निबंधलेखक तथा इतिहासवेत्ता समान रूप से थे।

इनकी रचनाओं में ये प्रसिद्ध हैं —

संस्कृत — पुरुषपरीक्षा, दुर्गाभक्तितरंगिणी, शैवसर्वस्वसार, भूपरिक्रमा, विभागसार, इत्यादि।

अपभ्रंश अथवा अवहट्ट — कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका।

मैथिली — अनेकों गीत तथा मणिमंजरी नाटक जिसमें संस्कृत, प्राकृत तथा मैथिली इन तीनों भाषाओं का प्रायः प्रयोग हुआ था। इनके अतिरिक्त महाकवि ने स्वयं श्रीमद्‌भागवत की एक प्रतिलिपि की थी।

साहित्यिक दृष्टि से पुरुषपरीक्षा का बड़ा महत्व है। यह ग्रंथ नीतिशिक्षा के लिये लिखा गया था। पंचतंत्र तथा हितोपदेश के समान इसमें अनेक कथाएँ हैं पर अंतर इतना ही है कि पुरुषपरीक्षा के पात्र समाज के विभिन्न स्तरों से लिए गए मनुष्य हैं, पशु नहीं।

कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका, ये दो ग्रंथ इतिहास की दृष्टि से भी प्रसिद्ध हैं। इनसे हमें समसामयिक परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त होती है।

महाकवि विद्यापति के संप्रदाय के संबंध में विभिन्न मत प्रचलित हैं। कुछ व्यक्ति इन्हें वैष्णव मानते हैं तो कुछ इन्हें शैव कहते हैं। इस विषय को लेकर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। पर असल बात तो यह है कि इनमें सांप्रदायिक कट्टरता नहीं थी। इन्होंने विष्णु, शक्ति, शंकर, गंगा, गणेश आदि की आराधना में रचनाएँ की हैं। यदि इनके पदों में राधा कृष्ण का उल्लेख है तो इनकी अनेक नचारियों से इनकी शिवभक्ति की सूचना हमें मिलती है। इन्होंने भागवत के साथ साथ शैवसर्वस्वसार लिखा। इन्होंने बाणेश्वर शिवलिंग की पूजा की थी तथा भवानीपुर नामक ग्राम में उग्रनाथ नामक शिवलिंग का स्थापन किया था और बाजितपुर नामक स्थान पर, गंगातट पर जहाँ इनका दाहसंस्कार किया गया था, वहाँ शिवलिंग की प्रतिष्ठा की गई थी। यदि ये कट्टर वैष्णव होते तो कभी भी शिव के साथ इनका संपर्क नहीं रहता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ये एक कर्मनिष्ठ स्मार्त ब्राह्मण थे।

विद्यापति की गणना आधुनिक भारतीय भाषाओं के श्रेष्ठ कवियों में की जाती है। कई दृष्टियों से इनकी रचनाएँ उत्कृष्ट समझी जाती हैं। इसके कई कारण हैं। सर्वप्रथम इनकी रचनाएँ व्यंजनाप्रधान हैं, जहाँ तुलसीदास, सूरदास आदि महाकवियों की रचनाओं में व्यंजना का उतना प्राधान्य नहीं है। यदि राधाकृष्ण-परक गीतों की रचना कर विद्यापति ने पूर्व भारत के वैष्णव समाज की भावी पीढ़ियों के हेतु रचना का साँचा उपस्थित किया तो शिव तथा विष्णु की समान रूप से आराधना कर इन्होंने महाकवि तुलसीदास की रामायण की कथाशैली का एक प्रकार से पूर्वरूप प्रस्तुत किया था। अंतर इतना ही है कि विद्यापति पहले कवि थे, तब उपदेशक, जहाँ तुलसीदास पहले उपदेशक हैं तब हैं वे कवि।

यद्यपि राधाकृष्ण विषयक गीतों में प्रायः वैसे भाव मिलते हैं जैसे गीतगोविंद में, तथापि अपने भावों को सरल रूप में जिस प्रकार विद्यापति ने रखा, अपनी उक्तियों का समर्थन दृष्टांतों द्वारा जिस प्रकार किया वह जयदेव की रचनाओं में नहीं देखा जाता।

इनकी सबसे अधिक प्रसिद्धि मैथिली में लिखित गीतों द्वारा हुई है जिन्हें लोग पद्य भी कहा करते हैं। इन गीतों की संख्या क्या है, इसका निर्णय आज तक हो नहीं सका है। इनके जो संग्रह आज तक प्रकाशित हुए हैं उनमें एक भी सर्वथा प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। अभी तक पाठों के निर्णय के हेतु बहुत ही कम सामग्री उपलब्ध हो सकी है। पर खेद का विषय यह है कि जहाँ प्राचीन वैष्णव भजन संग्रहों में अनेक अन्य कवियों की रचनाएँ विद्यापति-रचित कही जा रही हैं वहाँ बिहार-राष्ट्र-भाषा द्वारा प्रकाशित संस्करण में संदिग्ध पाठों का भी सन्निवेश किया जा रहा है। विद्यापति की रचनाओं के विभिन्न प्रकार के अर्थ लगाए जा रहे हैं।

विद्यापति की रचनाओं से पूर्वोत्तर भारत के अनेक कवियों की रचनाएँ अनुप्रेरित हैं। इनसे ब्रजबुली साहित्य की सृष्टि असम, बंगाल तथा उत्कल में हुई। वर्तमान समय में भी रवींद्रनाथ ठाकुर ने इस कृत्रिम मैथिली भाषा में कुछ रचनाएँ प्रकाशित की थीं जिन्हें उन्होंने "भानुसिंहेर पदावली" नाम दिया था। [सु॰]

विद्यार्थी, गणेशशंकर का जन्म आश्विन शुक्ल १४, रविवार सं॰ १९४७ (१८९० ई॰) को अपने ननिहाल, इलाहाबाद के अतरसुइया मुहल्ले में श्रीवास्तव (दूसरे) कायस्थ परिवार में हुआ। इनके पिता मुंशी जयनारायण हथगाँव, जिला फतेहपुर (उत्तर प्रदेश) के निवासी थे। माता का नाम गोमती देवी था। पिता ग्वालियर रियासत में मुंगावली के ऐंग्लो वर्नाक्यूलर स्कूल के हेडमास्टर थे। वहीं विद्यार्थी जी का बाल्यकाल बीता तथा शिक्षादीक्षा हुई। विद्यारंभ उर्दू से हुआ और १९०५ ई॰ में भेलसा से अँगरेजी मिडिल परीक्षा पास की। १९०७ ई॰ में प्राइवेट परीक्षार्थी के रूप में कानपुर से एंट्रेंस परीक्षा पास करके आगे की पढ़ाई के लिये इलाहाबाद के कायस्थ पाठशाला कालेज में भर्ती हुए। उसी समय से पत्रकारिता की ओर झुकाव हुआ और इलाहाबाद के हिंदी साप्ताहिक 'कर्मयोगी' के संपादन में सहयोग देने लगे। लगभग एक वर्ष कालेज में पढ़ने के बाद १९०८ ई॰ में कानपुर के करेंसी आफिस में ३० रु॰ मासिक की नौकरी की। परंतु अंग्रेज अफसर से झगड़ा हो जाने के कारण उसे छोड़कर पृथ्वीनाथ हाई स्कूल, कानपुर में १९१० ई॰ तक अध्यापकी की। इसी अवधि में 'सरस्वती', 'कर्मयोगी', 'स्वराज्य' (उर्दू) तथा 'हितवार्ता' (कलकत्ता) में समय समय पर लेख लिखने लगे।

१९११ में विद्यार्थी जी सरस्वती में पं॰ महावीरप्रसाद द्विवेदी के सहायक के रूप में नियुक्त हुए। कुछ समय बाद 'सरस्वती' छोड़कर 'अभ्युदय' में सहायक संपादक हुए। यहाँ सितंबर, १९१३ तक रहे। दो ही महीने बाद ९ नवंबर, १९१३ को कानपुर से स्वयं अपना हिंदी साप्ताहिक 'प्रताप' के नाम से निकाला। इसी समय से विद्यार्थी जी का राजनीतिक, सामाजिक और प्रौढ़ साहित्यिक जीवन प्रारंभ हुआ। पहले इन्होंने लोकमान्य तिलक को अपना राजनीतिक गुरु माना, किंतु राजनीति में गांधी जी के अवतरण के बाद आप उनके अनन्य भक्त हो गए। श्रीमती एनी बेसेंट के होमरूल आंदोलन में विद्यार्थी जी ने बहुत लगन से काम किया और कानपुर के मजदूर वर्ग के एकछत्र नेता हो गए। कांग्रेस के विभिन्न आंदोलनों में भाग लेने तथा अधिकारियों के अत्याचारों के विरुद्ध निर्भीक होकर 'प्रताप' में लेख लिखने के संबंध में वे ५ बार जेल गए और 'प्रताप' से कई बार जमानत माँगी गई। कुछ ही वर्षों में वे उत्तर प्रदेश (तब संयुक्तप्रांत) के चोटी के कांग्रेस नेता हो गए। १९२५ ई॰ में कांग्रेस के कानपुर अधिवेशन की स्वागतसमिति के प्रधान मंत्री हुए तथा १९३० ई॰ में प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष हुए। इसी नाते सन्

१९३० ई० के सत्याग्रह आंदोलन के अपने प्रदेश के सर्वप्रथम 'डिक्टेटर' नियुक्त हुए।

साप्ताहिक 'प्रताप' के प्रकाशन के ७ वर्ष बाद १९२० ई० में विद्यार्थी जी ने उसे दैनिक कर दिया और 'प्रभा' नाम की एक साहित्यिक तथा राजनीतिक मासिक पत्रिका भी अपने प्रेस से निकाली। 'प्रताप' किसानों और मजदूरों का हिमायती पत्र रहा। उसमें देशी राज्यों की प्रजा के कष्टों पर विशेष ध्यान दिया जाता था। गंदे और अविश्वसनीय विज्ञापन न छपने की ओर वे विशेष सतर्क रहते थे। 'चिट्ठी पत्री' स्तंभ 'प्रताप की निजी विशेषता थी। विद्यार्थी जी स्वयं तो बड़े पत्रकार थे ही, उन्होंने कितने ही नवयुवकों को पत्रकार, लेखक और कवि बनने की प्रेरणा तथा ट्रेनिंग दी। वे 'प्रताप' में सुरुचि और भाषा की सरलता पर विशेष ध्यान देते थे। फलतः सरल, मुहावरेदार और लचीलापन लिए हुए चुस्त हिंदी की एक नई शैली का इन्होंने प्रवर्तन किया। कई उपनामों से भी ये प्रताप तथा अन्य पत्रों में लेख लिखा करते थे।

अपने जेल जीवन में इन्होंने विक्टर ह्यूगो के दो उपन्यासों, 'ला मिजरेबिल्स' तथा 'नाइंटी थ्री' का अनुवाद किया। हिंदी साहित्य-संमेलन के १९ वें (गोरखपुर) अधिवेशन के ये सभापति चुने गए। विद्यार्थी जी बड़े सुधारवादी किंतु साथ ही धर्मपरायण और ईश्वरभक्त थे। व्याख्याता भी बहुत प्रभावपूर्ण और उच्च कोटि के थे। स्वभाव के अत्यंत सरल, किंतु क्रोधी और हठी भी थे। कानपुर के सांप्रदायिक दंगे में २५ मार्च, १९३१ ई० को धर्मोन्मादी मुसलमान गुंडों के हाथों इनकी हत्या हुई। [ब० प्र० मि०]

विद्युत् (Electricity) ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व यूनान निवासी थेलीज इस बात से परिचित थे कि कुछ वस्तुएँ रगड़ने के पश्चात हलकी वस्तुओं को आकर्षित करती हैं। इसका उल्लेख थीओफ्रैस्टस (Theophrastus) ने ३२१ ई० पू० में तथा प्लिनि (Pliny) ने सन् ७० में किया था। इस आकर्षण शक्ति का अध्ययन १६ वीं शताब्दी में विलियम गिलबर्ट (१५४०-१६०३ ई०) द्वारा हुआ तथा उन्होंने इसे 'इलेक्ट्रिक' कहा। आधुनिक शब्द 'इलेक्ट्रॉन' का उपयोग यूनानी भाषा में अंबर के लिये किया जाता है। 'इलेक्ट्रिसिटी' शब्द का उपयोग सन् १६५० में वाल्टर शार्ल्टन (Walter Charlton) ने किया। इसी समय राबर्ट बायल (१६२७-१६९१ ई०) ने पता लगाया कि विद्युन्मय वस्तुएँ हलकी वस्तुओं को शून्य में भी आकर्षित करती हैं, अर्थात् विद्युत् के प्रभाव के लिये हवा का माध्यम होना आवश्यक नहीं है। सन् १७२९ में स्टीफ़न ग्रे (Stephen Gray, सन् १६६६-१७३६) ने अपने प्रयोगों के आधार पर कहा कि यह आकर्षण शक्ति किसी वस्तु के एक भाग से दूसरे भाग को संचारित की जा सकती है। ऐसी वस्तुओं को देसाग्युलियर्स (Desaguliers, १६८३-१७४४) ने चालक (Conductor) कहा। सभी प्रकार की धातुएँ इस श्रेणी में आती हैं। वे वस्तुएँ जिनमें इस शक्ति को संचारित नहीं किया जा सकता, विद्युत्रोधी (Insulator) कहलाती हैं। इस श्रेणी में अंबर, मोम, सूखी हवा, सूखा काँच, रबर, लाख इत्यादि हैं। वस्तुओं की रगड़ के कारण विद्युत् दो प्रकार की होती है, धनात्मक एवं ऋणात्मक। पहले इनके क्रमशः काचाभ (vitreous) तथा रेजिनी (resinous) नाम प्रचलित थे। सन् १७३७ में डूफे ((Du Fay, १६९८-१७३९) ने बताया कि सजातीय आवेश एक दूसरे को प्रतिकर्षित करते हैं तथा विजातीय आकर्षित करते हैं। १७४५ में क्लाइस्ट (Kleist) ने क्यूमिन (Kummin) में, मसेनब्रूक (Musschen broek) ने लाइडेन (Leyden) में, तथा विलियम वाटसन (William Watson) ने लंदन में कहा कि विद्युत् का संचय भी किया जा सकता है, इनके प्रयोगों तथा विचारों ने प्रसिद्ध संधायक लीडेन जार (Leydenjar) को जन्म दिया। लगभग इसी समय विद्युत् को पर्याप्त मात्रा में प्राप्त करने के प्रयत्न भी जारी थे तथा विभिन्न प्रकार के विद्युद्यंत्रों का आविष्कार हुआ। विलियम वाटसन का विचार था कि विद्युत् एक प्रकार का प्रत्यास्थ तरल (Elastic fluid) होती है। विद्युत् प्रत्येक वस्तु में विद्यमान होती है। आवेशविहीन वस्तुओं में यह साधारण मात्रा में होती है अतः इसका निरीक्षण नहीं किया जा सकता। वाटसन के तरल सिद्धांत के अनुसार विद्युत् एक वस्तु से दूसरी वस्तु में चली जाती है। अमरीकन वैज्ञानिक तथा राजनीतिज्ञ बेंजामिन फ्रैंकलिन (Benjamin Franklin, सन् १७०६-१७९०) ने इस सिद्धांत का समर्थन कर, विस्तार किया। फ्रैंकलिन ने कहा कि विद्युत् न तो उत्पन्न की जा सकती है, न नष्ट ही। फ्रैंकलिन ने लीडेन जार का अध्ययन कर उसकी क्रिया को समझाने की चेष्टा की। पर फ्रैंकलिन का सबसे प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण वह प्रयोग था, जिसमे उन्होंने मेघों से मेघगर्जन के समय विद्युत् प्राप्त की तथा यह दिखाया कि मेघों द्वारा प्राप्त विद्युत् तथा साधारण विद्युत् के गुण समान हैं, उन्होंने यह भी कहा कि विद्युत् के कण एक दूसरे पर बल डालते हैं। फ्रैंकलिन के पश्चात् एपीनुस (Aepinus, सन् १७२४-१८०२) ने इन विचारों को लिया तथा इसका आभास दिया कि दो वस्तुओं का बल उनके बीच की दूरी बढ़ाने पर घट जाता है। इस सिद्धांत का विस्तार जोजेफ प्रीस्टलि (Joseph Priestley, सन् १७३३-१८०४) तथा हेनरी कैवेंडिश (Henry Cavendish, सन् १७३१-१८१०) ने किया। फिर कूलॉम (Coulomb, सन् १७३६-१८०६) ने खोज की कि दो आवेशों के बीच का बल, उनके बीच की दूरी के वर्ग के व्युत्क्रमानुपाती तथा आवेशों के गुणनफल के समानुपाती होता है। विद्युत् का यह मूल नियम अब भी 'कूलॉम का बलनियम' कहा जाता है। सन् १८३७ में फैराडे (Faraday, सन् १७९१-१८६७) ने किन्हीं दो आवेशित वस्तुओं के बीच के विद्युत् बल पर माध्यम के प्रभाव का अध्ययन किया तथा पता लगाया कि यदि माध्यम हवा के स्थान पर कोई और विद्युत्रोधी हो तो विद्युत् बल घट जाता है, विद्युत्रोधी के इस गुण को उन्होंने विशिष्ट पारवैद्युतता (Specific Inductive capacity) अथवा पराविद्युत (Dielectric) कहा उन्होंने अपने बर्फ के बरतनवाले प्रसिद्ध प्रयोग (ice-pile experiment) द्वारा दर्शाया कि यदि किसी आवेशित चालक को एक बरतन में लाया जाए, तो बरतन के अंदर की ओर विजातीय आवेश प्रेरित होता है तथा बाहर की ओर सजातीय आवेश। फैराडे ने पराविद्युत् का गहन अध्ययन किया तथा उनके विभिन्न प्रभावों को समझाने के लिये विद्युत् बल रेखाओं का विचार उपस्थित किया तथा आवेशित वस्तुओं के बीच

के खाली स्थान को 'क्षेत्र' कहा। फैराडे के क्षेत्र सिद्धांत को गणित की सहायता से गाउस (Gauss) ने आगे बढ़ाया।

अट्ठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में आवेशों के चलन (धारा विद्युत् प्रवाह) के संबंध में कई प्रयोग तथा सिद्धांत प्रकाश में आने लगे थे। सन् १७८० में इटली के ल्युगी गैलवानी (Luigi Galvani, सन् १७३७-१७९८) ने मेढक के ऊपर विद्युत् प्रवाह के कई प्रयोग किए। सन् १८०० में वोल्टा (Volta, सन् १७४५-१८२७) ने तनुअम्ल अथवा लवण विलयन से भीगी हुई दो असमान धातुओं में विद्युत् प्रभाव पाए तथा उनसे विद्युद्धारा प्राप्त की। इस विद्युत् प्रवाह को कई गुना करने के लिये उन्होंने ऐसी कई असमान धातुओं के जोड़ों को लेकर एक पुंज बनाया जिसे वोल्टीय पुंज (Volta's pile) कहते हैं। वोल्टा द्वारा इन प्रयोगों के अनुसार विद्युद्धारा प्राप्त करने के लिये 'वोल्टीय सेल' की रचना हुई। उसी वर्ष इंग्लैंड में निकल्सन (Nicholson) तथा कार्लाइल (Carlisle) ने इस बात का पता लगाया कि यदि पानी में विद्युद्धारा प्रवाहित की जाए तो पानी के हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन में अपघटन हो जाता है। ऐसे अपघटन को वैद्युत् अपघटन (Electrolysis) कहते हैं। क्रुकशैंक (Cruick shank, १७४५-१८००) ने पता लगाया कि विलयन के धातुलवण भी इसी प्रकार अपघटित किए जा सकते हैं। इसके पश्चात् फैराडे ने इस क्रिया का नियमित अध्ययन किया तथा फैराडे के नियमों की स्थापना की। इन नियमों अथवा इनसे संबंधित प्रयोगों के आधार पर विद्युद्धारा उत्पादन करनेवाले विभिन्न प्रकार के सेल तथा संचायकों की रचना की गई है।

सन् १८२० में हैंस क्रिश्चियन अरस्टेड (Hans Christian Oersted, सन् १७७१-१८५१) ने खोज किया कि एक तार में प्रवाहित विद्युद्धारा के साथ उससे संबंधित एक चुंबकीय क्षेत्र भी होता है। इस महत्वपूर्ण खोज को बिओ (Biot, सन् १७७४-१८६२) तथा सावार (Savart, सन् १७९१-१८४१) ने और ऐंपियर (Ampere, सन् १७७५ १८३६) ने गणित एवं प्रयोगों की सहायता से आगे बढ़ाया। ऐंपियर ने यह दिखाया कि दो समांतर तारों में विद्युत् धारा की दिशा समान होने पर आकर्षण तथा विपरीत होने पर प्रतिकर्षण होता है। आरस्टेड के सिद्धांतों को फैराडे ने विकसित किया तथा विद्युत-चुंबकीय प्रेरण के नियमों की स्थापना की। प्रेरण का अध्ययन बाद में नाइमन (Neumann) तथा वेबर (Weber) ने भी किया परंतु प्रेरण संबंधी विचारों का महत्वपूर्ण उपयोग क्लार्क मैक्सवेल (Clerk Maxwell, सन् १८३१-१८७९) ने सन् १८५१ में किया तथा 'मैक्सवेल समीकरणों की स्थापना कर विद्युच्चुंबकीय सिद्धांतों को गणित की सहायता से एक सुलझा हुआ रूप दिया। आधुनिक भौतिकी में इन समीकरणों का विशेष स्थान है।

सन् १८२२ में सेबेक (Seebeck, सन् १७७०-१८३१) ने देखा कि यदि एक परिपथ में दो असमान धातुओं को जोड़ दिया जाए और एक जोड़ को गरम किया जाए तो परिपथ में विद्युत् प्रवाहित होती है। ऐसी विद्युत् को 'ऊष्मा विद्युत्' कहते हैं।

सन् १८२६ में जार्ज साइमन ओम (George Simon Ohm, सन् १७८७-१८५४) ने प्रसिद्ध ओम के नियम की स्थापना की। सन् १८४१ में जूल (Joule) ने विद्युत् के ऊष्मा प्रभाव का अध्ययन किया तथा बतलाया कि किसी सेल की रासायनिक ऊर्जा, जो परिपथ में धारा प्रवाहित करती है, उस परिपथ में उत्पादित ऊष्मा ऊर्जा के बराबर होती है। हेल्म होल्ट्ज (Helm holtz, सन् १८२१-१८९४), विलियम टॉमसन, केल्विन, लार्ड, (William Thomson, Kelvin Lord), सन् १८४७-१८५३) आदि ने विद्युत् ऊर्जा संबंधी अन्य सिद्धांतों का विकास किया। सन् १८४८ में किर्खहाफ़ (Kirchoff, सन् १८२४-१८८७) ने विद्युद्धारा संबंधी नियमों को प्रस्तुत किया। सन् १८५१ में लार्ड केल्विन ने ऊष्मा विद्युत् का ऊष्मागतिकी के सिद्धांतों द्वारा विश्लेषण किया। सन् १८५५ में मैक्सवेल द्वारा विद्युत् तथा प्रकाशतरंग संबंधी विचारों की नींव पड़ी। सन् १८८४ में जॉन हेनरी पॉइंटिंग (John HenryPoynting) ने विद्युत् चुंबकीय क्षेत्र में ऊर्जा प्रवाह का अध्ययन किया। सन् १८८६ में हाइनरिख हेर्ट्स (Heinrich Hertz, १८५७-१८९४) की सहायता से मैक्सवेल के सिद्धांतों को प्रायोगिक समर्थन मिला। इसके पश्चात् विद्युच्चुंबकीय तरंगों के विषय में कई वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित हुआ। मारकोनी ने सन् १८९६ में इनका प्रयोग संदेश भेजने में किया। इसी समय के लगभग भारत के जगदीशचंद्र वसु, (१८५८-१९३७) ने उच्च आवृत्तिवाली विद्युच्चुंबकीय तरंगों का जनन किया तथा इनके गुणों को प्रकाश के सिद्धांतों से समझाने की चेष्टा की। इसके पश्चात् इस विषय की पर्याप्त प्रगति हुई जिसके फलस्वरूप रेडियो, टेलिविजन तथा 'इलेक्ट्रॉनिकी' का क्षेत्र विकसित हुआ।

हेर्ट्स के अन्य प्रयोगों ने 'प्रकाशविद्युत्' की भी खोज की जिसको आइंस्टीन (Einstein) ने क्वांटम सिद्धांतों द्वारा सन् १९०५ में समझाया। सन् १८९५ में तथा उसी समय के लगभग भौतिकी के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी आंदोलन आया। सन् १८९५ में रंटगेन (Roentgen) ने 'एक्सरे' का, १८९६ में बेकरेल ने (Becquerel) ने रेडियोएक्टिवता (Radio activity) का तथा १८९७ में सर जे० जे० टॉमसन (Sir J. J. Thomson) ने 'इलेक्ट्रान' का आविष्कार किया। टामसन् ने गैसों में से विद्युद्विसर्जन के विषय का भी अध्ययन किया। इस विषय में इनसे पहले, आरंभ में (सन् १८५० एवं उसके बाद) गाइसलर (Geissler), प्लकर (Plucker), हिटॉर्फ (Hittorf), गोल्डस्टीन (Goldstein) आदि ने कार्य किया था।

बाद के वैज्ञानिकों में से प्रमुख हैं जे० एस० टाउनसेंड (J. S. Townsend) तथा उनके साथी। सन् १९०२ में रिचर्डसन् (Richardson) ने 'तापायनिक' विषय की नींव डाली। 'तापायन धारा' के सिद्धांत पर रेडियो वाल्व तथा इलेक्ट्रानिकी के अन्य यंत्रों की रचना हुई है। बीसवीं शताब्दी में एक के पश्चात् एक महत्वपूर्ण खोजों का तांता बँध गया जिनके परिणाम स्वरूप हैं, आज के हाइड्रोजन बम, संलयन ऊर्जा (Fusion energy), 'स्पुतनिक' तथा अन्य उपग्रह इत्यादि। इनके बनाने में किसी न किसी रूप में विद्युत् के सिद्धांतों का उपयोग हुआ है।

विद्युत् के विषय का मुख्य विभाजन 'स्थिरवैद्युत्' एवं 'धारा विद्युत्' में किया जा सकता है। 'स्थिर वैद्युत' में सबसे प्रथम है कूलॉम का मूल नियम जो दो विंदु आवेशों, q व q', के बीच आकर्षण एवं प्रतिकर्षण के बल F, तथा उनके बीच की दूरी r के संबंध को व्यक्त करता है :

$$F = K\frac{qq'}{r^2}\cdots\cdots\cdots(1)$$

K एक नियतांक है जो माध्यम तथा इकाइयों के चुनाव पर निर्भर करता है। यदि बल डाइन में हो तथा दूरी सेमी में तो आवेश की इकाई सी० जी० एस० पद्धति में स्थिर वैद्युत मात्रक अथवा स्टैट कूलॉम कहलाती है। शून्य माध्यम के लिये, इस पद्धति में K = 1 होता है। आजकल प्रायः सभी विद्युत की पुस्तकों में एम० के० एस० मात्रक (मीटर-किलोग्राम-सेकंड, M. K. S. Units) का प्रयोग होता है। इस पद्धति में K का मान इकाई न होकर, $1/4\pi\epsilon_0$ के बराबर होता है, जहाँ

$$\epsilon_0 = \frac{1}{4\pi\times 9}\times 10^{-9}\ \frac{\text{कूलॉम}^2}{\text{न्यूटन-मीटर}^2}$$

तथा आवेश कूलॉम में मापा जाता है। इसलिये

$$F = \frac{1}{4\pi\epsilon_0}\ \frac{qq'}{r^2}\ \text{न्यूटन}\cdots\cdots(2)$$

अथवा

$$F = \frac{qq'}{r^2}\qquad \text{डाइन}$$

एक इकाई धन आवेश को अनंत दूरी से एक बिंदु तक लाने में जितने कार्य की आवश्यकता होती है उसे 'विभव' कहते हैं तथा एक इकाई धन आवेश को एक (निम्न विभव) बिंदु से दूसरे (उच्च विभव) बिंदु तक ले जाने में जितने कार्य की आवश्यकता होती है, वह विभवांतर कहलाता है। यदि कार्य W जूल है तो,

$$V_{AB} = \frac{W}{q}\left(\frac{\text{जूल}}{\text{कूलॉम}}\right),\ \text{वोल्ट}\ \cdots(3)$$

सी० जी० एस० पद्धति में V की इकाई 'स्टैट वोल्ट' होती है। एक स्टैट वोल्ट ३०० वोल्ट के बराबर होता है।

'विद्युत क्षेत्र' किसी एक बिंदु पर स्थित इकाई धन आवेश के विद्युत् बल के मान तथा उसकी दिशा को इंगित करता है, इसको 'विद्युत् तीव्रता' भी कहते हैं।

$$\text{विद्युत् क्षेत्र, } E = \frac{F}{q}\ \ \frac{\text{न्यूटन}}{\text{कूलॉम}}\left[\frac{\text{डाइन}}{\text{स्टैट कूलॉम}},\ \text{सी० जी० एस०}\right]$$

अर्थात् q कूलॉम के आवेश पर बल F का सदिश समीकरण है

$$F = qE\cdots\cdots\cdots(4)$$

क्षेत्र E का विभवांतर V से संबंध, परिभाषा से इस प्रकार भी लिख सकते हैं,

$$V_A - V_B = \int_B^A dv = -\int_B^A E.dx\cdots\cdots(5)$$

जहाँ $-(V_A > V_B)$ तथा $\int_B^A E.dx$, इकाई आवेश को B से A तक ले जाने का कार्य है। (E की दिशा विस्थापन dx के विपरीत है) 'आवेश के लिये गाउस का नियम' निम्नलिखित है :

गाउस के प्रमेय को हम गणित की भाषा में इस प्रकार लिखते हैं,

$$\epsilon_0\int_S E_n\ dA = \Sigma q_i\cdots\cdots(6)$$

जहाँ, E_n क्षेत्र का अभिलंब भाग है तथा s एक बंद तल है। यह समीकरण निर्वात के लिये है। यदि हम कल्पना करें कि एक
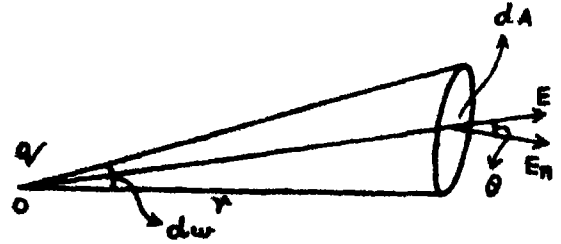
चित्र १

बिंदु आवेश, तल s द्वारा घिरा हुआ है, तथा एक कोन (cone) तल का क्षेत्रफल d A काट रहा है जिससे इस क्षेत्रफल द्वारा O पर एक घनाकृति कोण dω बन रहा है तो घनाकृति कोण की परिभाषा से $r^2\ d\omega = d\ A\cos\theta$, (देखिए चित्र १) तथा यदि क्षेत्र का अभिलंब भाग $E\cos\theta$ हो तो गॉउस के नियम को हम इस प्रकार लिख सकते हैं :

$$\epsilon_0\int_S \cos\theta\ dA = \epsilon_0\int_S \frac{1}{4\pi\epsilon_0}\ \frac{q}{r^2}.r^2\,d\omega$$

$$= \frac{q}{4\pi}\int_S d\omega = q,\ \left(\text{चूँकि}\int_S d\omega = 4\pi\right)$$

कई आवेशों के कारण जो क्षेत्र होंगे वे आपस में जुड़ जाएँगे, इसलिये

$$\int_S E_n\ d\ A = \frac{\Sigma q_i}{\epsilon_0}\left[\int_S E_n\ d\ A = 4\pi\Sigma q_i\right]\text{सी० जी० एस०}$$

विद्युत् तीव्रता की परिभाषा इकाई वर्ग क्षेत्र की विद्युत् बल रेखाओं द्वारा भी की जाती है तथा गाउस के नियम को इस प्रकार कहते हैं : 'किसी बंद तल पर अभिवाह (flux) तल के आवेश के $1/\epsilon_0$ गुना होता है। यदि तल में कोई आवेश न हो तो यह रेखा प्रवाहशून्य होती है, गाउस के नियम का उपयोग आवेशवितरण का विश्लेषण करने में होता है। आवेश वितरण कई प्रकार से हो सकता है, गोलाकार, बेलनाकार अथवा समतल। इनके लिये विद्युत तीव्रता ज्ञात करने के लिये गॉउस के नियम का उपयोग होता है। उदाहरणार्थ, विचार कीजिए कि दो संकेंद्री गोले हैं जिनमें से अंदरवाले गोले (त्रिज्या r_1) पर +q आवेश का वितरण है तथा बाहरी गोले (त्रिज्या r_2) के तल पर −q का वितरण है तो गाउस के नियम द्वारा, जब $r < r_1$ अथवा $r > r_2$,

$$E = 0\ \text{चूँकि}\ \epsilon_0\int_S E_n\,d\,A = 0$$

और जब $r_1 < r < r_2$,

$$E = \frac{1}{4\pi\varepsilon_0} \frac{q}{r^2} \dots\dots\dots (७)$$

अर्थात् आवेशवितरण का प्रभाव इस प्रकार है जैसे आवेश अंदर-वाले गोले के केंद्र पर स्थित है, यदि हम संकेंद्री बेलनों को लें जिनकी लंबाई l है तथा त्रिज्या क्रमशः r_1 और r_2 है, अंदर वाले बेलन पर एक सा आवेश वितरण $+q$ है तथा बाहर वाले पर $-q$ है, तो

$$E = \frac{1}{2\pi\varepsilon_0} \frac{q/l}{r} \dots\dots\dots (८)$$

और यदि हम एक सी आवेशित दो समांतर प्लेट लें तो

$$E = \sigma/\varepsilon_0 \dots\dots\dots (९)$$

जहाँ σ इकाई वर्ग का आवेश है तथा $\sigma = dq/dA$ किसी भी विशेष अवस्था में विद्युत् क्षेत्र का मान ज्ञात हो जाने पर हम आवेशित वस्तुओं के मध्य विभवांतर की गणना कर सकते हैं। उदाहरण के लिये दो गोलों के बीच विभवांतर

$$V_{1-2} = -\frac{q}{4\pi\epsilon_0}\int_{r_2}^{r_1} \frac{dr}{r^2} = \frac{q}{4\pi\epsilon_0}\left[\frac{1}{r_1} - \frac{1}{r_2}\right]$$

तथा यदि $r_2 = \infty$,

$$\text{विभव } V = \frac{q}{4\pi\varepsilon_0} \frac{1}{r} \dots\dots\dots (१०)$$

अर्थात् किसी आवेश q से r दूरी पर स्थिर वैद्युत् विभव समीकरण (१०) के द्वारा ज्ञात होता है। यह धन आवेशों के लिये धनात्मक एवं ऋण आवेशों के लिये ऋणात्मक होता है। स्थिर वैद्युत् उर्जा अथवा आवेशों को जमा करने के लिये संधारित्र का उपयोग होता है। एक संधारित्र की धारिता C की परिभाषा इस समीकरण के द्वारा दी जाती है :

$$C = \frac{q}{V} \quad \frac{\text{कूलॉम}}{\text{वोल्ट}} \text{ (फैरड) } \left[\frac{\text{स्टेट कूलॉम}}{\text{स्टेट वोल्ट}} \text{ (स्टेट फैरड)}\right]$$

सी० जी० एस०

$$1 \text{ फैरड} = 9 \times 10^{11} \text{ स्टेट फैरड} \dots\dots\dots (११)$$

तथा संधारित्र की कुल उर्जा को हम इस प्रकार लिखते हैं,

$$\upsilon = \tfrac{1}{2} C V^2 \text{ जूल} \dots\dots\dots (१२)$$

संधारित्र कई प्रकार के होते हैं, परंतु सबसे सरल तथा काम में आनेवाला है समांतर पत्तियोंवाला संधारित्र। यदि एक पत्ती के एक ओर का वर्ग क्षेत्र A हो, पत्तियों के बीच की दूरी d हो तथा माध्यम हवा अथवा निर्वात हो तो धारिता,

$$C = \frac{\varepsilon_0 A}{d} \text{ फैरड } \left[C = \frac{A}{4\pi d}\right] \text{सी० जी० एस०} \dots (१३)$$

यदि किसी आयतन में केवल बिंदु आवेश न होकर, आयतन में आवेश का सतत वितरण हो तो हम आवेश घनत्व की परिभाषा इकाई आयतन के आवेश से कर सकते हैं तथा गॉउस के नियम इस प्रकार लिखते हैं,

$$\int_S E_n \, ds = \frac{1}{\varepsilon_0} \int_v \rho \, dv \dots\dots\dots (१४)$$

दाहिने हाथ का व्यंजक आयतन v के ऊपर समाकलन है। सदिश के प्रमेय से बाएँ हाथ का व्यंजक,

$$\int_S E_n \, ds = \int_v \operatorname{div} \mathbf{E} \, dv$$

इसलिये $\int_v \operatorname{div} E \, dv = \frac{1}{\varepsilon_0} \int_v \rho \, dv \dots\dots (१४ अ)$

यह समीकरण तभी संतुष्ट हो सकता है जब

$$\operatorname{div} \mathbf{E} = \rho/\varepsilon_0 \qquad (१५)$$

विभवांतर की परिभाषा से $E = -\operatorname{grad} V = -\nabla V$ [V विभव है]

$$\text{और } \nabla^2 = -\rho/\varepsilon_0 \qquad (१६)$$

यह प्वासॉन (Poission) समीकरण कहलाता है। यदि $\rho = 0$ (अर्थात् जब कोई आयतन आवेश न हो)

$$\nabla^2 V = 0$$

यह लाप्लास (Laplace) समीकरण है जो भौतिकीयगणित का एक बहुत ही लाभदायक समीकरण है। समीकरण (१६) का ग्रीन के फलन (Green's function) की सहायता से समाकलन करने पर

$$V = -\frac{1}{4\pi}\int_v \frac{\nabla^2 v}{r} dv + \frac{1}{4\pi}\int_s \left[\frac{\nabla v}{r} - V \nabla \left(\frac{1}{r}\right)\right] ds \qquad (१७)$$

जहाँ V, आयतन v के अंदर किसी बिंदु पर, जो तल s के द्वारा घिरा हुआ है, विभव है। यदि तल s को अनंत पर लें, तो

$$V = \frac{1}{4\pi\epsilon_0}\int \frac{\rho d\upsilon}{r} \qquad \left[V = \int \frac{\rho \, dv}{r}\right] \text{ सें० ग्रा० से०} \quad \dots (१८)$$

विद्युत् क्षेत्र तथा आव्यूर्ण का प्रभाव — हम जानते हैं कि किसी पदार्थ के परमाणु में धन आवेश के नाभिक के चारों ओर तीव्र गति से घूमते हुए ऋण आवेश के इलेक्ट्रॉन होते हैं। यदि एक विद्युत्-रोधी को हम विद्युत क्षेत्र में रखें, तो एक प्रकार के आवेश एक ओर को खिंचेंगे तथा दूसरे प्रकार के दूसरी ओर। आवेश एक दूसरे से बलों द्वारा बँधे होते हैं, इस कारण कुछ विस्थापन होगा। विस्थापन के कारण परमाणु ध्रुवित हो जाएँगे तथा उन्हें क्षेत्र से आघूर्ण प्राप्त होगा। यदि हम त्रिज्या R वाले एक गोलाकार परमाणु को लें, तो विद्युत् क्षेत्र E लगाने पर नाभिक [आवेश Z_e] d दूरी पर हट जाएगा तथा द्विध्रुव (dipole) आघूर्ण होगा,

$$p = Z_e d,$$

जिसके आवेशों को अलग करने में जितने बल $[F_1 = Z_e E]$ की आवश्यकता होगी तथा विस्थापित आवेशों के मध्य आकर्षण के बल $\left[F_2 = \frac{1}{4\pi\epsilon_0} \frac{Z_e Q}{d^2}, \text{ जहाँ } Q = \frac{Z_e \, 4\pi/3 \, d^3}{4\pi/3 \, R_3}\right]$ की सहायता से इस प्रकार लिखा जा सकता है।

$$\rho = 4\pi\epsilon_0 R^3 E = \alpha E \qquad (१९)$$

α, ध्रुवणता (Polarizability) कहलाता है। यदि किसी आयतन v में n परमाणु हों और प्रत्येक को यह आघूर्ण प्राप्त हो, तो इकाई आयतन का प्रेरित द्विध्रुव आघूर्ण

$$\rho = \left(\frac{n}{v}\right) \alpha \, E \qquad (२०)$$

इस आघूर्ण को विद्युत्रोधी माध्यम का ध्रुवण, P, कहते हैं। यह एक सदिश है जिसकी दिशा क्षेत्र E की दिशा में होती है। किसी भी विद्युत्रोधी (अथवा परावैद्युत्) तल पर, जो P के अभिलंब हो, प्रेरित तल आवेश का घनत्व, σ, संख्यात्मक रूप में P के बराबर होता है। यदि P की दिशा तल की ओर हो, तो यह धनात्मक तथा यदि P की दिशा तल की ओर न हो, तो यह ऋणात्मक होता है। विस्थापन (displacement), D, की परिभाषा इस प्रकार दी जाती है :

$$D = \varepsilon_0 E + P \qquad (२१)$$

D तथा P दोनों क्षेत्र के समानुपाती होते हैं।

(क) $P = X_e \varepsilon_0 E = k E$ (ख) $D = k_e \varepsilon_0 E = \varepsilon E$

इसलिये $\epsilon E = \varepsilon_0 E + k E$

और $K_e = \epsilon/\epsilon_0 = 1 + k/\varepsilon_0 = 1 + X_e \qquad (२२)$

K_e, माध्यम का परावैद्युत् गुणांक (Dielectric coefficient) तथा X_e, वैद्युत् प्रवृत्ति (Susceptibility) कहलाते हैं। ε माध्यम की विद्युत्शीलता (Permittivity) तथा ε_0 निर्वात की विद्युत्शीलता कहलाती है।

यदि कोई विद्युत्रोधी समस्त जगह में भरा हुआ है, तो कूलॉम के नियम को इस तरह हम लिखते हैं :

$$F = \frac{1}{4\pi\varepsilon}\frac{q\,q'}{r^2} \text{ तथा } E = \frac{1}{4\pi\varepsilon}\frac{q}{r^2} \qquad (२३)$$

$$\text{तथा विस्थापन } D = \varepsilon E = \frac{1}{4\pi}\frac{q}{r^2} \qquad (२४)$$

गाउस के नियम को भी दुबारा, इस प्रकार लिखा जा सकता है।

$$\int_S D_n\, d\,A = \Sigma\, q_i \qquad (२५)$$

हम पहले लिख चुके हैं कि एक संधारित्र की कुल स्थिरवैद्युत उर्जा $\upsilon = \frac{1}{2} C V^2$, परंतु यदि संधारित्र की पत्तियों की दूरी d हो, तो V = E d तथा चूंकि माध्यम में धारिता $C = K_e \epsilon_0 \frac{A}{d} = \frac{\varepsilon A}{d}$ है अत. किसी विद्युतरोधी माध्यम में इकाई आयतन की स्थिरवैद्युत् उर्जा

$$\upsilon = \tfrac{1}{2} \epsilon\, E.\, E$$

अथवा

$$\upsilon = \tfrac{1}{2} DE = \tfrac{1}{2} [\, \epsilon_0 E^2 + P\, E\,] \qquad (२६)$$

(निर्वात में उर्जा घनत्व $\upsilon = \frac{1}{2} \varepsilon_0 E^2 [\frac{E^2}{8\pi}$ सी॰ जी॰ एस॰])

वैद्युत आवेशों को उत्पन्न करने के लिये विभिन्न प्रकार के यंत्र प्रयोग में लाए जाते हैं। [देखें विद्युत् यंत्र, साइक्लोट्रोन]

विद्युद्धारा — विद्युद्धारा की उत्पत्ति किसी चालक अथवा चालकीय माध्यम में आवेशो की गति के कारण होती है। ये चालक धातु में स्वतंत्र (free) इलेक्ट्रॉन वैद्युत बल के प्रभाव से विद्युद्धारा प्रवाहित करते हैं। विद्युत्रोधी में इलेक्ट्रॉन अपने स्थान से केवल तनिक सा खिसक भर सकते हैं परंतु धारा नही प्रवाहित कर सकते।

$$i = \frac{dQ}{dt}\ \frac{\text{कूलॉम}}{\text{सेकंड}} (\text{ऐंपियर}) \qquad (२७)$$

सी॰ जी॰ एस॰ पद्धति में धारा की स्थिरवैद्युत इकाई स्टेट ऐंपियर कहलाती है। 1 ऐंपियर = 3×10^9 स्टेट ऐंपियर। किन्ही भी दो बिंदुओ के बीच में यदि विभवांतर हो, तो आवेश उच्च विभव बिंदु से निम्न विभव बिंदु की ओर बहने का प्रयत्न करते हैं तथा जब तक दोनों बिंदुओं का विभव बराबर न हो जाए, स्थानीय रूप में आवेश बहते रहते हैं, अर्थात् विद्युद्धारा प्रवाति होती है। किसी परिपथ में धारा प्रवाहित करने की युक्ति को विद्युद्वाहक बल का स्रोत (source) कहते हैं। साधारणतया जब कोई धाराप्रवाह नहीहोता है. तो विद्युद्वाहक बल, विभवांतर के बराबर होता है।

ओम का नियम, प्रतिरोध तथा जूल का नियम — यदि एक चालक, जिसके सिरों पर विभवांतर V हो, मे से धारा i बह रही हो, तो एक नियत भौतिक स्थिति पर V, i के समानुपाती होता है।

$$V \propto i \text{ अथवा } V = i\,R \qquad (२८)$$

यह ओम का नियम है। नियतांक R, प्रतिरोध कहलाता है। यदि किसी तार की लंबाई l हो तथा अनुप्रस्थ काट-क्षेत्रफल A

$$\text{हो तो} \qquad R = \rho\, \frac{l}{A}, \qquad (२९)$$

नियतांक ρ चालक की प्रतिरोधकता तथा $\sigma = \frac{1}{\rho}$, चालक की चालकता कहलाते हैं। प्रतिरोधकता ताप तथा पदार्थ की प्रकृति पर निर्भर होती है। यदि किसी चालक की प्रतिरोधकता ३०° सें॰ पर ρ_{30} हो तो, किसी अन्य ताप पर उसकी प्रतिरोधकता को इस प्रकार लिखा जाता है :

$$\rho_t = \rho_{30} [\, 1 + \alpha\, (\, t - 30\,)\,],$$

α प्रतिरोधकता का तापगुणांक कहलाता है। यदि तापीय प्रसार के कारण विस्तार (dimension) में कोई परिवर्तन न

$$\text{हो तो} \qquad R_t = R_{30} [\, 1 + \alpha\, (\, t - 30\,)\,] \qquad (३०)$$

अधिकतर धातुओं तथा मिश्र धातुओं की प्रतिरोधकता कमरे के ताप पर लगभग $१०^{-६}$ से $१०^{-८}$ ओम मीटर होती है परंतु विद्युत्रोधियों, उदाहरणार्थ अंबर, अभ्रक, कागज, काँच, इत्यादि की $१०^{१८}$ ओम-मीटर के लगभग होती है। चालक धातुओं तथा विद्युत्रोधियों के मध्य हम अर्धचालकों (semi conductors) को रख सकते हैं। इनकी प्रतिरोधकता का ताप गुणांक ऋणात्मक होता है तथा इनमें बहुत थोड़े से चालक इलेक्ट्रॉन होने के कारण इतनी अधिक प्रतिरोधकता होती है। कुछ धातु तथा मिश्रधातु अत्यधिक ताप कम करने पर लगभग प्रतिरोधहीन हो जाती हैं, अर्थात् अतिचालकता (super conductivity) का प्रदर्शन करती हैं (देखें चालकता)। प्रतिरोध की इकाई ओम है। प्रतिरोधों मे यदि श्रेणीसंबंधन किया जाए तो

$$R = R_1 + R_2 + R_3 + \dots \text{ (कुल प्रतिरोध)}$$

और यदि पार्श्व संबंधन में तो (३१)

$$\frac{1}{R} = \frac{1}{R_1} + \frac{1}{R_2} + \frac{1}{R_3} + \dots \text{(कुल प्रतिरोध)}^{-1}$$

प्रतिरोध को मापने की सबसे सरल तथा प्रचलित विधि है व्हीटस्टोन

सेतु का सिद्धांत जिसका प्रयोग बहुत सी विद्युत् उपकरणिकाओं में होता है। सेतु के विभिन्न परिपथों में धारा तथा प्रतिरोध का विश्लेषण किर्खहॉफ के नियमों (Kirchhoffs rules) द्वारा किया जाता है . (१) किसी भी विद्युत् परिपथ में विभिन्न धाराओं का जोड़ एक संधि पर शून्य होता है, ($\sum i = 0$) तथा (२) किसी बंद परिपथ में प्रत्येक भाग की धारा तथा प्रतिरोध का गुणन परिपथ के कुल विद्युद्वाहक बल के बराबर होता है। ($e = \sum iR$)। व्हीटस्टोन
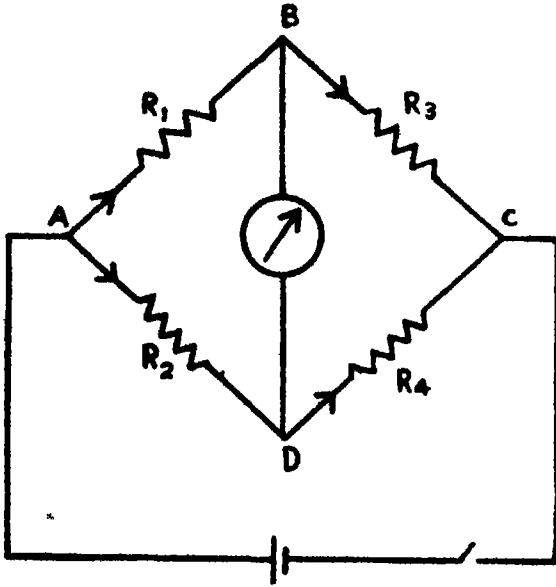
चित्र २. व्हीटस्टोनसेतु

सेतु (चित्र २) के B तथा D बिंदुओं पर समान विभव होने की दशा में, गैल्वैनोमीटर में से कोई धारा नहीं बहेगी तथा ऐसी अवस्था में

$$\frac{R_1}{R_2} = \frac{R_3}{R_4}, \qquad \ldots \qquad (३२)$$

किसी अज्ञात प्रतिरोध की हम इस समीकरण द्वारा, शेष तीन प्रतिरोध ज्ञात होने पर, गणना कर सकते हैं।

गैल्वैनोमीटर वह यंत्र है जिसके गतिशील भाग धारा प्रवाहित होने पर विक्षेप का प्रदर्शन करते हैं। धारा अंशांकीत (calibrated) गैल्वैनोमीटर द्वारा मापी जाती है। आवेश की मात्रा का अनुमान विक्षेपी गैल्वैनोमीटर द्वारा किया जाता है। विभवांतर को विभवमापी (potentiometer) द्वारा मापा जाता है।

किसी प्रतिरोधवाले तार में से कुछ समय के लिये धारा प्रवाहित करने पर विद्युतीय कार्य होता है तथा विद्युत् शक्ति ऊष्मा शक्ति में परिवर्तित हो जाती है। एक तार, जिसके सिरों पर विभवांतर V है, में से i ऐंपियर धारा प्रवाहित हो रही है, तो प्रति सेकंड i V जूल ऊर्जा अथवा i V वाट शक्ति परिवर्तित हो रही है।

$$W = i\,V \text{ वाट}$$

जहाँ 1 वाट = 10^7 अर्ग प्रति सेकंड = 1 जूल प्रति सेकंड तथा ओम के नियम से

$$W = i^2 R \text{ वाट} \qquad \ldots \qquad (३३)$$

यह जूल का नियम कहलाता है।

जब एक विद्युद्धारा किसी विलयन में से प्रवाहित होती है, तो वह विलेय के अणुओं को विघटित कर देती है और दो भाग विपरीत दिशा में इलेक्ट्रोडों की ओर चलने लगते हैं। यह क्रिया विद्युत् अपघटन कहलाती है। विद्युत् अवघट्य के धनावेशित अयन ऋणात्मक इलेक्ट्रोड तथा ऋणावेशित अयन धनात्मक इलेक्ट्रोड की ओर जाते हैं। फैराडे के विद्युत अपघटन नियम ये हैं —

(१) विद्युत अपघटन क्रिया में मुक्त अयनों की मात्रा समय t तथा धारा i के समानुपाती होती है :

$$m \propto q \propto i\,t$$

(२) एक ही परिमाण की विद्युत् द्वारा मुक्त, विभिन्न वस्तुओं के अयनों की मात्रा अपने रासायनिक तुल्यांकों (W) के समानुपाती होती है :

$$m \propto W$$

दोनों नियमों को मिलाकर हम लिख सकते हैं,

$$m = Z\,i\,t$$

जहाँ Z = K W, K समीकरण का नियतांक है। Z को विद्युत रासायनिक तुल्यांक कहते हैं। विद्युद्विश्लेषण का उपयोग विद्युल्लेपन (Electroplating), विद्युत मुद्रण, शुद्ध धातुओं का उत्पादन, वैद्युद्विश्लेषिक संधारित्र आदि में होता है। [देखें विद्युल्लेपन, विद्युत्रसायन]

विद्युद्धारा के चुंबकीय प्रभाव — ऑरस्टेड (Oersted) ने इस बात की खोज की थी कि विद्युद्धारा के साथ साथ एक चुंबकीय क्षेत्र भी होता है। विद्युद्धारा आवेशों के पुंज की गति के कारण प्रवाहित होती है। ये गतिशील आवेश चुंबकीय क्षेत्र की स्थापना करते हैं। आवेश, आकाश में घूमते हुए स्वतंत्र, किसी तार में बहते हुए, परमाणु में अपने नाभिक के चारों ओर कक्ष मे घूमते हुए हो सकते हैं। एक आवेश पर दो प्रकार के बल होते हैं : विद्युत् बल तथा चुंबक बल। आकाश (space) के प्रत्येक बिंदु पर हम दो सदिशों की परिभाषा कर सकते हैं, E विद्युत् तीव्रता, तथा B, चुंबक प्रेरण, ताकि v वेग से चलते हुए q कूलॉम के आवेश पर बल

$$F = q\,(E + v \times B), \qquad (३४)$$

जहाँ आवेश q , एक इलेक्ट्रॉन के आवेश $e = 1{\cdot}6 \times 10^{-19}$ कूलॉम का पूर्ण गुणनफल है तथा E वोल्ट प्रति मीटर, v मीटर प्रति सेकंड, तथा B वेबर प्रति वर्ग मीटर; 1 वेबर प्रति व० मी० = १०,००० गाउस आवेश q से r दूरी पर चुंबक प्रेरण का समीकरण है :

$$B = \frac{\mu_0}{4\pi} \frac{qv}{r^2} \sin\theta$$

अथवा सदिश पद्धति में,

$$B = \frac{\mu_0}{4\pi} q \frac{[\,v \times r\,]}{r^3}, \qquad (३५)$$

जहाँ $\mu_0 = 4\pi \times 10^{-7}$ हेनरी / मीटर अथवा वेबर/ऐंपियर

मीटर। इस समीकरण को बियो (Biot) और सावार (Savart) का नियम कहते हैं, इस नियम से हम एक लंबे चालक के बाहर R दूरी पर स्थित किसी बिंदु के लिये लिख सकते हैं :

$$B = \frac{\mu_0 i}{2\pi R} \quad ...(३६)$$

यदि हम एक चालक तार के लंबाई अवयव ds में से i धारा प्रवाहित करें, तो q v = i d s

अथवा $dF = [i\, ds \times B]$ तथा तार के अवयव द्वारा स्थापित चुंबक प्रेरण :

$$dB = \frac{\mu_0}{4\pi} \frac{i\, [ds \times r]}{r^3} \quad (३७)$$

यदि हम एक दूसरे चालक के लंबाई अवयव ds' में से i' धारा प्रवाहित करें तथा दोनों धाराएँ एक ही दिशा में तथा समांतर हों, तो

$$dF = \frac{\mu_0}{4\pi} \frac{(i\, ds)\,(i'\, ds')}{r^2} \quad (३८)$$

इस समीकरण से हमें ऐंपियर की परिभाषा मिलती है। इकाई लंबाई तथा इकाई दूरी के लिये यदि बल 10^{-7} न्यूटन हो तो $\mu_0 = 4\pi \times 10^{-7}$. तथा धारा की इकाई ऐंपियर कहलाती है। इस स्थान पर हम एक नई इकाई पद्धति भी प्रस्तुत करते हैं — विद्युच्चुंबकीय सी॰ जी॰ एस॰ पद्धति जिसमें $\mu_0/4\pi = 1$, r सेंमी॰ में तथा बल डाइन में मापा जाता है, अर्थात्

$$dF = \frac{(i\, ds)\,(i'\, ds')}{r^2},$$

इकाई धारा वह है जो एक सेंमी॰ लंबे तार में से बहते हुए, एक सेंमी॰ दूरी पर स्थित, समान धारा पर 1 डाइन का बल लगाए। इसे लाप्लास (Laplace) का नियम भी कहते हैं।

ऐंपियर का परिपथ नियम — एक अनंत, सीधे चालक के इर्दगिर्द किसी भी वृत्ताकार पथ में (त्रिज्या r) संपूर्ण चुंबक प्रेरण का समीकरण है :

$$\oint B_t\, dr = \oint \frac{\mu_0 i}{2\pi r} dr = \mu_0 i, \quad (३९)$$

(B_t, B का स्पर्ज्या भाग है)।

निर्वात में चुंबक तीव्रता, H, की परिभाषा है, $B = \mu_0 H$ इसलिये

$$\oint H_t\, ds = i \quad (४०)$$

अर्थात् किसी भी बंद परिपथ में चुंबक क्षेत्र के स्पर्शज्या भाग, H_t का समाकलन परिपथ के संबंधी (Linked) धारा के बराबर होता है। यह ऐंपियर का परिपथ नियम (Ampere's circuit law) है। इसके विपरीत, एक विद्युत् क्षेत्र के स्पर्शज्या भाग E_t का समाकलन एक बंद पथ में शून्य के बराबर होता है,

$$\oint E_t\, ds = 0 \quad (४१)$$

विद्युच्चुंबकीय सी॰ जी॰ एस॰ पद्धति तथा स्थिरवैद्युत् सी॰ जी॰ एस॰ पद्धति में संबंध —

1 वि॰ चु॰ इकाई धारा = $2 \cdot 998 \times 10^{10}$ स्थि॰ वै॰ इकाई धारा। विद्युच्चुंबकीय पद्धति में भिन्न राशियाँ एब-के कही जाती हैं; उदाहरणार्थ, एब-कूलॉम, एब-वोल्ट, एब-ऐंपियर, एब-ओम आदि।

'विद्युच्चुंबकीय प्रेरण का नियम — यदि हम किसी प्रकार चुंबक-बल-रेखाओं की संख्या में परिवर्तन करें तो एक प्रेरित वि॰ वा॰ (विद्युद्वाहक) बल की स्थापना होती है। यह परिवर्तन तार के एक कुंडल तथा एक चुबक के बीच आपेक्षिक गति के कारण, अथवा दो समीपस्थ परिपथों (एक में बैटरी और दूसरे में गैल्वैनोमीटर) में बैटरी वाले परिपथ को बंद करने एवं तोड़ने, धारा को बढ़ाने एवं घटाने अथवा उसे समीप के परिपथ से दूर ले जाने या पास लाने के कारण किया जा सकता है। प्रेरित वि॰ वा॰ बल परिपथ से संबंधित अभिवाह (flux) के परिवर्तन की दर के समानुपाती होता है तथा इसकी दिशा सदा उस परिवर्तन के विपरीत होती है जो उसकी स्थापना कर रहा है। यदि किसी कुंडल में n चक्कर हैं और N संबंधित अभिवाह है तो

$$\text{वि॰ वा॰ बल } e = -n \frac{dN}{dt} \quad (४२)$$

यह फैराडे का प्रेरण नियम कहलाता है।

इकाई आवेश को एक परिपथ के चारों ओर ले जाने में जितना कार्य संपन्न होता है, उससे भी परिपथ के वि॰ वा॰ बल की परिभाषा होती है, अर्थात् $e = \oint E_t\, ds$, जो स्थिर वैद्युत् में शून्य होता है (समीकरण ४१)। इसके अतिरिक्त किसी तल पर चुंबक प्रेरण B के अभिलंब भाग का समाकलन, संबंधित अभिवाह (flux) के बराबर होता है, $N = \int B_n\, dA$, अब हम फ़ैराडे के नियम को इस प्रकार लिखते हैं,

$$\oint E_t\, ds = -\frac{d}{dt} \int B_n \cdot dA \quad ... (४३)$$

जहाँ n = 1, तथा E_t, क्षेत्र E का स्पर्शरेखीय घटक (tangential component) है। समीकरण ४३, फैराडे के नियम का समाकलन रूप है। इसका अवकलन रूप है :

$$\text{कर्ल (Curl) } E = -\frac{\partial B}{\partial t} \quad ...(४४)$$

किसी एक परिपथ में से प्रवाहित होनेवाली धारा में कोई परिवर्तन उससे संबंधित अभिवाह में भी प्रेरण के नियमानुसार परिवर्तन उत्पन्न करेगा तथा हम यह मान सकते हैं कि किसी कुंडल से संबंधित अभिवाह कुंडल में प्रवाहित हो रही धारा के समानुपाती है। इससे वि॰ वा॰ बल

$$e = -L \frac{di}{dt} \quad (४५)$$

L समीकरण का नियतांक है तथा कुंडल का स्वप्रेरकत्व (self inductance) कहलाता है। इसकी इकाई हेनरी होती है :

$$1 \text{ हेनरी} = 1 \frac{\text{वोल्ट—सेकंड}}{\text{ऐंपियर}} = १०^9 \text{ वि॰ चु॰ इकाई}$$

यदि हमारे पास एक के स्थान पर दो कुंडल हैं, तो पहले में परिवर्तित होती हुई धारा दूसरे में एक वि॰ वा॰ बल की स्थापना करेगी।

$$e_2 = -M \frac{di_1}{dt} \quad (४६)$$

तथा यदि पहले में धारा अचर रखी जाए तथा दूसरे कुंडल की धारा में परिवर्तन किया जाए, तो पहले कुंडल में वि० वा० बल की स्थापना होगी।

$$e_1 = -M \frac{d i_2}{d t}, \qquad (४७)$$

M अन्योन्य-प्रेरकत्व (Mutual Inductance) कहलाता है। इसकी इकाई भी हेनरी है।

विद्युत् क्षेत्र की भाँति चुंबक क्षेत्र में भी ऊर्जा संग्रह होती है।
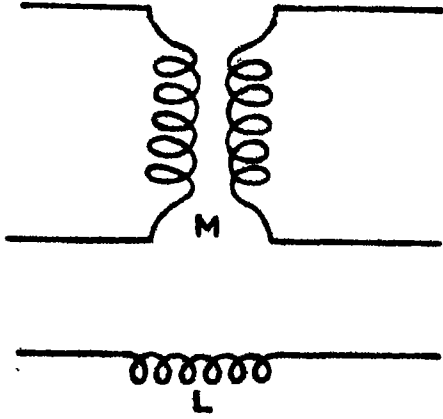
चित्र ३.

इकाई आयतन की ऊर्जा $\frac{1}{2}$ H B अथवा $\frac{1}{2}\mu_o H^2$ होती है तथा किसी परिपथ की कुल ऊर्जा को हम इस प्रकार लिख सकते हैं :

$$U_m \int \tfrac{1}{2} H B\, dv = \tfrac{1}{2} L i^2 \qquad (४८)$$

(देखें चुंबकत्व तथा प्रेरण) प्रेरण के सिद्धांतों का उपयोग विद्युत् मोटर, विद्युत् जनित्र, परिणामित्र, चोक कुंडल (Choke coil) आदि में होता है।

मैक्सवेल (Maxwell) के विद्युच्चुंबकीय समीकरण —

समीकरण (४०) का सदिश की भाषा में अवकलन रूप है,

$$\text{कर्ल } H = J \qquad (४९)$$

जहाँ J, सदिश एक सतत चालक के प्रति १ वर्ग मीटर में बहते हुए ऐंपियरों की संख्या है, मैक्सवेल ने इस समीकरण में, 'विस्थापन धारा' $\frac{\delta D}{\delta t}$ को भी संमिलित किया, अर्थात्

$$\text{कर्ल } H\, J + \frac{\delta D}{\delta t} \qquad (५०)$$

विद्युत् तथा चुंबक क्षेत्रों के संबंधों को दर्शाते हुए यह समीकरण प्रस्तुत किया :

फ़ैराडे का नियम (देखें समीकरण ४४) :

$$(१)\ \text{कर्ल } E = -\frac{\delta B}{\delta t}$$

ऐंपियर का नियम (देखें समीकरण ४०, ४९ तथा ५०) :

$$(२)\ \text{कर्ल } H = J + \frac{\delta B}{\delta t}$$

गाउस के नियम :

$$(३)\ \text{div } D = \rho \qquad (\text{देखें समी० १४ अ})$$

$$(४)\ \text{div } B = 0$$

इनके साथ के दूसरे समीकरण हैं, (१) $D = \epsilon E$, (२) $B = \mu H$ तथा (३) $J = \sigma E$ (जहाँ σ चालकता है)। (१) और (२) को हम पहले भी लिख चुके हैं। कुछ पुस्तकों में आप इन्हें गाउस पद्धति में पाइएगा। गाउस पद्धति में B तथा H के लिये वि० चु० इकाई का प्रयोग होता है तथा आवेश, धारा इत्यादि के लिये स्थि० वै० इकाई का। इसमें स्थिर वैद्युत समीकरण उसी प्रकार रहते हैं परंतु विद्युच्चुंबकीय समीकरण बदल जाते हैं। स्थिर वैद्युत के ϵ_o तथा चुंबकत्व के μ_o का संबंध इस प्रकार से है,

$$C = 3 \times 10^8 \frac{\text{मीटर}}{\text{सेकंड}} = \frac{1}{\sqrt{\epsilon_o \mu_o}} = \text{प्रकाश का वेग} \qquad ...(५१)$$

गाउस पद्धति में $\epsilon_o = 1$, $\mu_o = 1$

गाउस पद्धति में हम मैक्सवेल के समीकरण इस प्रकार लिखते हैं (वि० चु० इकाई तथा स्थिर वै० इकाई के परस्पर संबंध की सहायता से :

$$(१)\ \text{कर्ल } E = -\frac{1}{C}\frac{\delta B}{\delta t}$$

$$(२)\ \text{कर्ल } H = \frac{1}{C}\frac{\delta D}{\delta t} + \frac{4\pi}{C} J$$

$$(३)\ \text{div } D = 4\pi\rho$$

$$(४)\ \text{div } B = 0$$

मैक्सवेल के समीकरणों का आज के भौतिक विज्ञान में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है तथा संपूर्ण विद्युच्चुंबकीय सिद्धांतों की व्याख्या उनकी सहायता से होती है (देखें विद्युत् तरंगें तथा विद्युत् चुंबकीय तरंगें)।

विद्युद्धारा की वृद्धि — प्रतिरोध R तथा प्रेरकत्व L वाले एक परिपथ में, कुंजी K (देखें चित्र ४) दबाने पर धारा एक शून्य
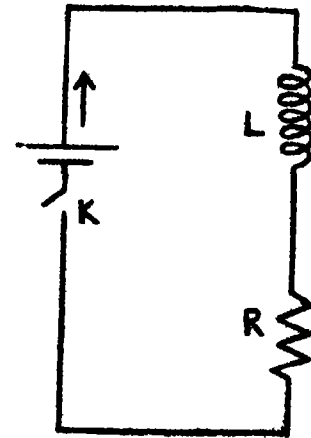
चित्र ४.

मान से महत्तम मान i_o, की ओर बढ़ने लगती है परंतु प्रेरकत्व L के कारण एक प्रेरित वि० वा० बल इस वृद्धि का विरोध करता है। इसका समीकरण गणित की भाषा में, हम इस प्रकार लिखते हैं :

$$E = iR + L\,di/dt \qquad (५२)$$

इस समीकरण का हल,

$$i = i_o(1 - e^{-(R/L)t} \text{ होगा,} \qquad \dots (५३)$$

जहाँ $i_o = E/R$ तथा $L/R = \mathcal{T}$ (मान लीजिए)। $\mathcal{T}$ को समयांक (Time constant) भी कहते हैं। परिपथ तोड़ने पर $E = 0$, और

$$i = i_o e^{-(R/L)t} \qquad \dots (५४)$$

कालांक वह समय है, जिसमें धारा वृद्धि महत्तम मान की दो तिहाई तक हो जाती है। बिलकुल इसी तरह हम उस परिपथ की भी व्याख्या कर सकते हैं जिसमें प्रतिरोध R तथा धारिता C हो, अथवा R, L प्रतिरोध तथा C धारिता हो। R और C वाले परिपथ में कालांक $\mathcal{T} = RC$ होता है। R, L, C परिपथ की वह दशा प्रमुख है, जब $E = 0$ और संधारित्र का विसर्जन हो रहा है। ऐसी अवस्था में संधारित्र का विसर्जन दोलकीय (Oscillatory) होता है। इस परिपथ के लिये समीकरण है :

$$L\frac{d^2q}{dt^2} + R\frac{dq}{dt} + \frac{q}{c} = 0 \left[i = \frac{dq}{dt} \text{ और } E = 0 \right]$$
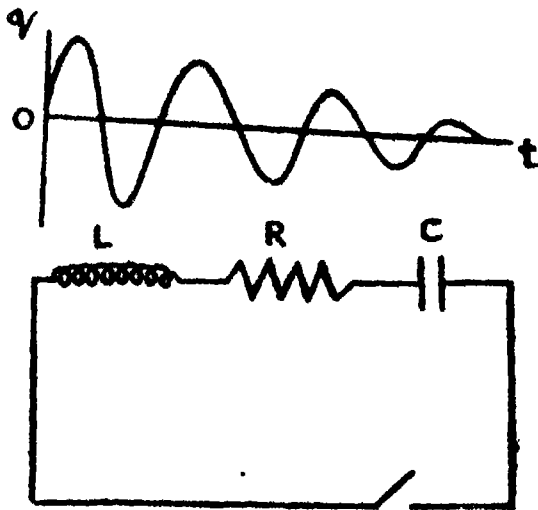
चित्र ५.

यदि हम मान लें कि $R/2L = b$ और $1/LC = K^2$, तो

$$\frac{d^2q}{dt^2} + 2b\frac{dq}{dt} + K^2 q = 0 \quad \dots\dots\dots (५५)$$

इस समीकरण की दो मुख्य अवस्थाएँ हैं :

(१) जब $b > K$, आवेश धीरे धीरे कम होकर शून्य हो जायगा।

(२) जब $b < K$, आवेश का विसर्जन दोलकीय होगा। समीकरण (५५) का हल करने पर

$$q = \frac{q_o K e^{-bt}}{\sqrt{K^2 - b^2}} \cos[(\sqrt{K^2 - b^2})t - \theta] \cdots (५६)$$

जहाँ $\tan\theta = b/(\sqrt{K^2 - b^2})$ तथा

$$i = \frac{dq}{dt} = \frac{q_o K^2 e^{-bt}}{\sqrt{K^2 - b^2}} \sin[(\sqrt{K^2 - b^2})t] \; (५७)$$

आवेश तथा धारा दोनों के समीकरणों में cosine अथवा sine हैं, संधारित्र का विसर्जन दोलकीय होगा तथा दोलनकाल

$$T = \frac{2\pi}{\sqrt{K^2 - b^2}} = \frac{2\pi}{\sqrt{\frac{1}{LC} - \frac{R^2}{4L^2}}} \quad \dots\dots (५८)$$

तथा यदि परिपथ प्रतिरोध विहीन है तो

$$T = 2\pi\sqrt{LC} \qquad \dots\dots (५९)$$

और आवृत्ति

$$f = \frac{1}{T} = \frac{1}{2\pi\sqrt{LC}} \qquad \dots\dots (६०)$$

प्रत्यावर्ती धारा (Alternating Current) —

यदि वि० वा० बल आवर्ती परिणामी हो तो एक प्रत्यावर्ती धारा की स्थापना होती है। प्रत्यावर्ती धारा को हम इस प्रकार लिख सकते हैं,

$$i = i_o \sin\omega t = i_o \sin 2\pi f t \quad \dots\dots (६१)$$

तथा L, R परिपथ का समीकरण (५२),

$$E = i_o R \sin\omega t + i_o \omega L \cos\omega t \quad \dots\dots (६२)$$

हो जाता है। यदि हम $\omega L = Z\sin\theta$ और $R = Z\cos\theta$ रखें ताकि $Z = \sqrt{R^2 + \omega^2 L^2}$ हो तो,

$$E = i_o Z[\sin\theta\cos\omega t + \cos\theta\sin\omega t]$$
$$= E_o \sin(\omega t + \theta) \qquad (६३)$$

Z परिपथ की प्रतिबाधा (impedance) है। एक प्रतिरोध में ऊष्मा के रूप में व्यय हुई उर्जा,

$W = i^2 R$ दिष्ट धारा

तथा $W = i^2 Z\cos\theta$ प्रत्यावर्ती धारा,

जहाँ $\cos\theta$ शक्ति गुणक (Power factor) कहलाता है। एक पूर्ण आवृत्ति (cycle) के लिये प्रत्यावर्ती वि० वा० बल का मध्यमान शून्य होगा, चूँकि यह दोनों परिणामी हो रहे हैं, परंतु i^2 अथवा E^2 का मध्यमान शून्य नहीं होगा। इससे प्रत्यावर्ती धारा एवं वि० वा० बल को इस प्रकार लिखते हैं,

$$E_{rms} = \frac{E_o}{\sqrt{2}} \text{ तथा } i_{rms} = \frac{i_o}{\sqrt{2}} \quad \dots\dots (६४)$$

$$\text{तथा} \quad W = \frac{i_o}{\sqrt{2}} \cdot \frac{E_o}{\sqrt{2}} \cos\theta \quad \dots\dots (६५)$$

E_{rms} तथा i_{rms}, वर्ग-मध्य-मूल (root meen square) मान हैं।

धारा का दूसरा भाग $i_o \sin\theta$, कार्य करने की औसत दर में कोई सहयोग नहीं देता। इस भाग को बेकार या वाटहीन धारा (Wattless current) कहते हैं। यदि $\omega L > R$, तो $\cos\theta \rightarrow 0$, धारा पूर्णतया वाटहीन कहा जाती है, अर्थात् केवल प्रेरकत्ववाले परिपथ में कोइ ऊर्जा व्यय नहीं होती। प्रत्यावर्ती वि० वा० बल के लिये LRC परिपथ में समीकरण इस प्रकार का होगा,

$$L\frac{d^2q}{dt^2} + R\frac{dq}{dt} + \frac{q}{c} = E_o\cos\omega t \qquad (६६)$$

यदि हम $E = E_o\cos\omega t$ लिखें तो इस समीकरण का हल करने पर

$$i = \frac{E_o}{\sqrt{R^2 + \left(\omega L - \frac{1}{\omega c}\right)^2}} \cos(\omega t - \theta) \quad (६७)$$

तथा

$$\tan\theta = \frac{\omega L - \frac{1}{\omega c}}{R}$$

यदि $\omega L = \frac{1}{\omega c}$ तो $f = \frac{1}{२\pi\sqrt{Lc}}$

तथा Z का मान R के बराबर होता है। यह अनुनाद की अवस्था कहलाती है। इसमें धारा का मान अधिकतम होता है। साधारणतया $\omega L = x_L$ तथा $\frac{1}{\omega c} = x_c$ लिखे जाते हैं, जहाँ x_L, परिपथ का प्रेरण प्रतिघात (Inductive reactance) तथा x_c धारिता प्रतिघात (Capacitive reactance) कहलाते हैं। परिपथ में यदि केवल x_L हो, तो यह आवृत्ति ω के समानुपाती होने के कारण बढ़ता है, इसी प्रकार x_c घटता है। जब हमें केवल निश्चित आवृत्तिवाली धारा अथवा केवल दिष्ट धारा चाहिए तो इस गुण का उपयोग छनना (filter) बनाने में किया जाता है। प्रत्यावर्ती धारा संबंधी इन फलों का प्रयोग इलेक्ट्रॉनिकी (electronics) के परिपथों, रेडियो, रेडियो संग्राही, तार यंत्र, बेतारी तार, परिणामित्र आदि में होता है। (देखें संबंधित शीर्षक)। रेडियो में हमें किसी दूर स्थान से आते हुए संकेत विद्युच्चुंबकीय तरंगों द्वारा प्राप्त होते हैं।

किसी चालक में से बहती धारा के मान में यदि कोई परिवर्तन हो, तो उससे संबंधित चुंबक क्षेत्र में भी परिवर्तन होगा। यदि हम प्रत्यावर्ती धारा लें तो, परिणामी चुंबक क्षेत्र, के कारण एक परिणामी विद्युत् क्षेत्र भी होगा तथा हमें विद्युत् तरंग और चुंबकीय तरंग प्राप्त होंगी जिनका वेग प्रकाश के वेग के बराबर होगा। 'विद्युत् तरंग' तथा 'चुंबकीय तरंग' परस्पर अभिलंब दिशा में प्रचारित होंगी। तरंगों के इस प्रकार प्रचारण को विद्युच्चुंबकीय तरंगें कहते हैं। विद्युच्चुंबकीय तरंगों द्वारा ऊर्जा दिक् (Space) में एक स्थान से दूसरे स्थान को संचारित होती है। हेर्ट्‌स (Hertz) ने एक दोलक की सहायता से कुछ दूरी तक विद्युच्चुंबकीय तरंगें भेजीं। उसके पश्चात् मारकोनी, जगदीशचंद्र बोस तथा अन्य वैज्ञानिकों ने इस संबंध में प्रयोग किए और विषय का विस्तार किया। इन तरंगों के गुणों के अध्ययन से मैक्सवेल के समीकरणों की पुष्टि हुई। किसी स्थान में उर्जा बहाव को व्यक्त करने की सबसे सरल विधि है, प्वाँइंटिंग (Poynting) के सदिश द्वारा। प्वाँइंटिंग सदिश की दिशा ऊर्जा बहाव की दिशा का संकेत करती है तथा उसका मान यह बतलाता है कि सदिश के अभिलंब इकाई क्षेत्र में से प्रति सेकंड कितनी ऊर्जा जा रही है। इस सदिश को हम इस प्रकार लिखते हैं :

$$S = E \times H \left(\frac{\text{वोल्ट}}{\text{मीटर}} \times \frac{\text{ऐंपियर}}{\text{मीटर}}\right) \frac{\text{वाट}}{\text{मीटर}^2} \quad (६८)$$

$$(\text{गाउस पद्धति में } S = \frac{C}{4\pi} E \times H)$$

मैक्सवेल के समीकरणों की सहायता से हम विद्युत् तथा चुंबक क्षेत्रों के लिये यह तरंग समीकरण प्राप्त कर सकते हैं :

$$\frac{\partial^2 E}{\partial x^2} = \epsilon\mu \frac{\partial^2 E}{\partial t^2}$$

तथा उसके अभिलंब

$$\frac{\partial^2 H}{\partial z^2} = \epsilon\mu \frac{\partial^2 H}{\partial t^2}$$

और उनके प्रचारण का वेग

$v = \frac{1}{\sqrt{\epsilon\mu}}$ प्रकाश के वेग के बराबर होगा।

निर्वात् में, $v = c = \frac{1}{\sqrt{\epsilon_o \mu_o}} = 3 \times 10^8$ मीटर प्रति सेकंड

विभिन्न आवृत्तिवाली तरंगों के लिये हमें भिन्न भिन्न वाल्वों की आवश्यकता पड़ती है, उदाहरणार्थ रेडियो तरंगों के लिये साधारण रेडियो वाल्व तथा बहुत अधिक आवृत्तिवाली सूक्ष्म तरंगों (microwaves) के लिये क्लाइसट्रॉन (Klystron) तथा मैगनेट्रॉन (Magnetron) आदि। आज सूक्ष्म तरंगों का क्षेत्र बहुत अधिक बढ़ गया है तथा विभिन्न शोध कार्यों, रेडार, स्पेक्ट्रमदर्शी आदि में उनका उपयोग हो रहा है। (देखें 'विद्युत् तरंगें', 'विद्युच्चुंबकीय तरंगें', 'रेडार' 'सूक्ष्म तरंग स्पेक्ट्रमदर्शी', 'रेडियो', 'रेडियो संग्राही')।

गतिशील इलेक्ट्रॉन — किसी द्रव्य के परमाणु में से इलेक्ट्रॉन निकाल देने पर परमाणु का आयनन हो जाता है। इलेक्ट्रॉन की संहति (mass) लगभग $9{\cdot}1 \times 10^{-31}$ किलोग्राम तथा ऋण आवेश (e) $1{\cdot}67 \times 10^{-19}$ कूलॉम के बराबर होता है। परमाणु समस्याओं के लिये एक नई उर्जा इकाई का उपयोग किया जाता है — इलेक्ट्रॉन वोल्ट (eV)। एक इलेक्ट्रॉन का विभव इकाई वोल्ट बढ़ाने के लिये जितने कार्य की आवश्यकता होती है उसे इलेक्ट्रॉन वोल्ट कहते हैं।

$$1\ eV = 1{\cdot}6 \times 10^{-19} \text{ जूल} = 1{\cdot}6 \times 10^{-12} \text{ अर्ग}$$

यदि कोई इलेक्ट्रॉन v सेमी० प्रति से० (cm/sec) के वेग से चल रहा है, तो उसकी गतिज उर्जा,

$$U = m_o c^2 \left[\frac{1}{\sqrt{1 - (v/c)^2}} - 1\right] \text{ अर्ग}$$

$$= \frac{1}{2} m_o c^2 \left[1 + \frac{3}{4}\left(\frac{v}{c}\right)^2 + \frac{5}{8}\left(\frac{v}{c}\right)^4 + \cdots\right] \text{ अर्ग}$$

जहाँ m_o = इलेक्ट्रॉन की स्थिर संहति (rest mass)

$$= 9{\cdot}1 \times 10^{-28} \text{ ग्राम}$$

तथा c, प्रकाश का वेग जो लगभग 3×10^{10} सेमी० प्रति से० है। कोई भी गैस विद्युत्‌रोधी होती है। दो इलेक्ट्रोडों के बीच एक विद्युत क्षेत्र की स्थापना होने पर भी कोई धारा प्रवाह नहीं होती, परंतु साधारणतया कास्मिक किरण, रेडियोऐक्टिव वस्तुओं आदि की गैस की परमाणु पर क्रिया के कारण कुछ ऐसे आवेश उत्पन्न होते हैं, जो विद्युत् क्षेत्र के प्रभाव से गतिमान हो सकते हैं। एक निम्नमान का विद्युत् बल लगाने पर वायुमंडलीय दबाव पर आयनों की संख्या कम होने के कारण गैसों में से बहुत ही कम धारा का चलन होता है, परंतु यदि हम बल कई गुना बढ़ा दें, तो एक ऐसी अवस्था आ जाती है जब गैस पूर्णतया चालक हो जाती है। तड़ित् चमक (lightning

flash) इसी प्रकार उत्पन्न की जाती हैं। अब यदि हम गैस का दबाव घटाते जाएं तो गैस विद्युत् विसर्जन के लिये विद्युत् बल का मान भी घटता जाता है तथा लगभग एक मिमी० हो जाने पर मान फिर बढ़ जाता है। दबाव और कम करने पर, (लगभग 10^{-2} मिमी०) कैथोड के तल के अभिलंब तीव्र गति से एक आवेशपुंज निकलता है जो विद्युत् तथा चुंबक क्षेत्रों में विक्षेप प्रदर्शन करता है। इस आवेशपुंज में इलेक्ट्रॉन होते हैं (देखें विद्युत् चालन)। तीव्र गति से चलते हुए इन इलेक्ट्रॉनों के पथ में किसी प्रकार की रुकावट डालने पर ऐक्स-किरण की उत्पत्ति होती है। जिस समय सन् १८९५ में रंटगेन (Roentgen) ने ऐक्स-किरण का आविष्कार किया। इसकी उत्पत्ति कांच की नली की दीवार पर आवेशपुंज के पड़ने से हुई थी, तथा विभिन्न वैज्ञानिकों ने सोचा कि इन किरणों का कारण कांच की प्रतिदीप्ति (fluorescence of glass) है, परंतु बाद में एक धातु लक्ष्य (metal target) को पथ में रखने से भी ऐक्स-किरण निकलीं। ऐक्स-किरण की प्रकृति तथा गुणों का उपयोग, अध्ययन, शोध, चिकित्सा तथा अन्य क्षेत्रों में, आधुनिक विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग है। (देखें ऐक्स किरण)।

ताप विद्युत् — यदि दो भिन्न भिन्न धातुओं के तारों के सिरों को जोड़ा जाय तथा एक जोड़ को गरम किया जाय तो परिपथ में विद्युत् धारा प्रवाहित हो जाती है। इस धारा को ताप-विद्युत् धारा कहते हैं तथा धातुओं के जोड़े को 'तापीय युग्म' कहते हैं। (देखें ताप विद्युत्)।

इलेक्ट्रॉन उत्सर्जन तथा तापायनिक धारा (Thermionic current) — साधारण ताप पर एक धातु के स्वतंत्र इलेक्ट्रॉन (free electrons) धातु तल से छूट नहीं सकते परंतु धातु का ताप बढ़ाने पर इन इलेक्ट्रॉनों की गतिज ऊर्जा बढ़ जाती है तथा कुछ इलेक्ट्रॉन जिनकी ऊर्जा अधिक होती है, धातुतल की विभव सीमा पार करके तल से बाहर आ जाते हैं। इस प्रकार निकले हुए इलेक्ट्रॉन एक धारा की स्थापना करते हैं जिसे 'ऊष्मा धारा' कहते हैं तथा इस क्रिया में जितने कार्य की आवश्यकता होती है उसे तापयन कार्य फलन (Thermionic work function) कहते हैं। धारा का ϕ मान रिचर्डसन के प्रसिद्ध समीकरण द्वारा दिया जाता है, जो इस प्रकार है,

$$i = A T^2 e^{-\phi/KT} \quad \frac{\text{ऐंपियर}}{(\text{सेंमी०})^2}$$

जहाँ k, बोल्टजमान नियतांक (Boltzmann constant), T ताप- (°A) तथा A एक दूसरा नियतांक है। रेडियो वाल्व की क्रिया मुख्यतया इस 'तापायनिक धारा' पर निर्भर होती है।

प्रकाश विद्युत् — यदि धातुतलों (metallic surfaces) को उचित आवृत्ति वाले प्रकाश द्वारा प्रकाशित किया जाय तो इलेक्ट्रॉन उत्सर्जन होता है। इस प्रकार उत्पादित विद्युत् धारा को प्रकाश विद्युत् धारा कहते हैं।

पीजो विद्युत (Piezo electricity) — सन् १८८० में जे० तथा पी० क्यूरी ने पता लगाया कि क्रिस्टल उदाहरण के लिये स्फटिक टूरमैलीन (Tourmaline), अथवा रोशेल लवण (Rochelle salt) इत्यादि में यह गुण होता है कि उनपर यांत्रिक प्रतिबल द्वारा एक विद्युद्वाहक बल लगाया जाय, तो वे यांत्रिक विकृतियों का प्रदर्शन करते हैं। यांत्रिक एवं विद्युत् बलों का यह परस्पर परिवर्तन 'पीजो विद्युत्' कहलाता है। क्रिस्टल को प्रयोग करने से पहले एक विशेष प्रकार से काटा जाता है।

तथा उसके दो समांतर फलकों(faces) पर समतल चालक इलेक्ट्रोड लगाए जाते हैं। ऐसी दशा में वह एक संधारित्र की भांति होता है। यदि क्रिस्टल को एक आयताकार प्लेट के रूप में काटा जाय तो [चित्र ६] उसका X भुजाक्ष 'ध्रुव भुजाक्ष', Y यांत्रिक भुजाक्ष' तथा Z प्रकाशीय अथवा उदासीन भुजाक्ष कहलाता है। Z–
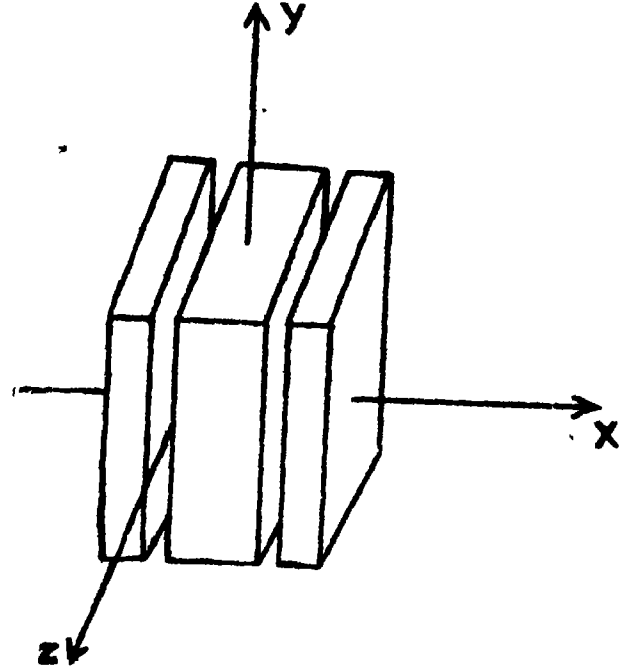
चित्र ६.

भुजाक्ष की दिशा में कोई पीजो विद्युत् प्रभाव नहीं होता। X भुजाक्ष तथा Y भुजाक्ष की दिशा में क्रमशः दाब और तनाव X भुजाक्ष के अभिलंब तलों को आवेशित करेंगे (सीधा पीजो प्रभाव)। इसके विपरीत यदि ध्रुव भुजाक्ष की दिशा में हम विद्युत् बल लगाएँ तो क्रिस्टल की X तथा Y भुजाक्ष की दिशा में प्रसरण तथा संकुचन होगा (विलोमतः पीजो प्रभाव)। पीजो विद्युत का प्रयोग क्रिस्टल माइक्रोफ़ोन प्रति उच्च आवृत्तिवाली ध्वनि तरंगों को उत्पन्न करनेमें तथा विद्युत ऊर्जा को यांत्रिक उर्जा में अथवा यांत्रिक ऊर्जा को विद्युत् ऊर्जा में परिवर्तन करने वाली अन्य कई उपकरणों में होता है।

विद्युत शक्ति का उत्पादन एवं प्रेषण —

१. विद्युत् मोटर

२. प्रकाश प्रजनन, कृत्रिम प्रकाश आदि।

३. ऐक्स किरण नली (Tube); ऐक्स किरण विज्ञान

४. घरेलू उपयोग, उदाहरणार्थ इस्तरी, पंखा, मशीन (सिलाई), खाना पकाने की भट्टी, रेफ्रिजरेटर (Refrigerator), लिफ्ट, रेडियो, वातानुकूलन टेलीविजन (Television) इत्यादि।

५. विद्युत्लेपन, वैद्युत् मुद्रण

६. विभिन्न प्रकार की स्वचालित मशीनें (देखिए सं० शीर्षक)

७. विद्युत प्रदाय (गाँव तथा नगर में) [देखें विद्युतन (ग्रामीण), विद्युत प्रदाय प्राविधिक तथा वाणिज्य दृष्टिकोण से]।

८. रेल तथा ट्राम गाड़ियाँ।

९. उद्योग में विद्युत् शक्ति का उपयोग, राष्ट्र की प्रगति में विद्युत् शक्ति का स्थान [देखें विद्युत शक्ति, राष्ट्रीय और प्रांतीय योजनाएँ]।

१०. गणना यंत्र, सारणीयन यंत्र तथा विद्युत् मस्तिष्क।

११. चिकित्सा विज्ञान में विद्युत्, ऐक्स-किरण अवरक्त चिकित्सा, हृदय की दशा का अध्ययन, चिकित्सा विज्ञान में काम आनेवाली विभिन्न उपकणिकाएँ।

आज के प्राविधिक युग में विद्युत् शक्ति का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है तथा प्रायः सभी क्षेत्रों में इसका किसी न किसी रूप में उपयोग हो रहा है। ऊपर १ से ११ तक इन उपयोगों का आभास मात्र दिया गया है। विस्तृत विवरण के लिये संबंधित शीर्षकों के संदर्भ ग्रंथ देखिए।

(नोट—∈ ∈ एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं)।

सं० ग्रं० — एन० एच० फ्रैंक : इंट्रोडक्शन टु इलेक्ट्रिसिटी ऐंड ऑपटिक्स (१९५०); एस० जी० स्टारलिंग : 'इलेक्ट्रिसिटी ऐंड मैगनेटिज्म' (१९५३); आर० डब्ल्यू० हचींसन : 'ऐडवांस्ड टेक्स्ट बुक ऑव इलेक्ट्रिसिटी ऐंड मैगनेटिज्म (१९५२); खरे ऐंड श्रीवास्तव : 'ए टैक्स्ट बुक ऑव इलेक्ट्रिसिटी ऐंड मैगनेटिज्म (१९५६); वासुदेव : फंडामेंटल्ज ऑव मैगनेटिज्म ऐंड इलेक्ट्रिसिटी (१९५९), जी० पी० हार्नवेल : प्रिंसिपल्स ऑव इलेक्ट्रिसिटी ऐंड इलेक्ट्रोमैगनेटिज्म (१९४९); डब्ल्यू० आर० स्माईद : स्टेटिक ऐंड डाइनेमिक इलेक्ट्रिसिटी (१९५०);
[म० प्र० म०]

विद्युत् उपकरण (Electrical Instruments) विद्युत् का उपयोग बहुत काल से होता आ रहा है और निरंतर अन्वेषण कार्य के फलस्वरूप आज के युग में अनेक प्रकार के विद्युत् उपकरणों का प्रयोग होने लगा है।

किसी चालक में विद्युत् धारा बहने के लिये यह आवश्यक है कि चालक के दोनों सिरों के बीच कुछ विभवांतर हो जिसे वोल्ट (volt) में मापा जाता है। विद्युत् धारा के मापने की इकाई ऐंपियर (Ampere) है। जब यह धारा किसी चालक में प्रवाहित होती है, तो दो प्रकार के प्रभाव दिखाई पड़ते हैं : (क) चालक के चारों ओर चुंबकीय क्षेत्र पैदा हो जाता है और उसकी बलरेखाएँ चालक को वृत्ताकार रूप में घेरे रहती हैं। इस चुंबकीय क्षेत्र की तीव्रता धारामान के समानुपाती होती है, (ख) धाराप्रवाह के कारण चालक के अणुओं में उद्वेग उत्पन्न होता है और फलस्वरूप चालक गरम हो जाता है। ऊष्मा की मात्रा धारामान के वर्ग की समानुपाती होती है। यदि चालक कोई द्रव यौगिक या विद्युत् अपघट्य पदार्थ (electrolyte) होता है, तो धारा उसके अणुओं को उनके अवयवों में विघटित कर देती है। इस कारण कभी द्रव से गैस उत्पन्न होती है और कभी धातु अलग होकर एकत्र हो जाती है। गैस या धातु की मात्रा धारामान और धाराप्रवाह के समय के समानुपाती होती है। धारा के ये सभी प्रभाव धारामान मापने की विधियों में कई रूप से प्रयोग किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि किसी चालक के पास चुंबकीय क्षेत्र में परिवर्तन हो या दो प्रकार के चालकों के संगम (तापयुग्म) को गरम किया जाय या कुछ रासायनिक क्रिया हो, तब विद्युद्वाहक बल उत्पन्न होता है। अनेक यंत्र इन सिद्धांतों पर निर्भर हैं। यदि किन्हीं दो चालक पिंडों के बीच विभवांतर हो तो उनके बीच आकर्षण होता है। विभवांतर की माप इस आकर्षण की नाप के द्वारा भी हो सकती है। यदि विद्युन्मय कण या इलेक्ट्रॉन, निर्वात में प्रक्षेपित हो तो विद्युतीय या चुंबकीय क्षेत्र के प्रभाव से उनके पथ को मोड़ा जा सकता है। विद्युत् उपकरणों के एक विशेष वर्ग में प्रतिरोध मापने की युक्तियाँ हैं। किसी चालक के सिरों के विभवांतर को उसके प्रतिरोध से, जो ओम (ohm) में मापी जाता है भाग दिया जाय तो चालक से प्रवाहित धारा का मान ऐंपियर (ampere) में ज्ञात हो जाता है। इसे ओम (Ohm) का नियम कहते हैं। किसी भी परिपथ (circuit) में किसी समय जितनी विद्युत् शक्ति व्यय हो रही है उसका मान वाट (watt) में मापा जाता है और वह इस समय के विभवांतर (वोल्ट) और धारा (ऐंपियर) के गुणनफल के बराबर होती है। विद्युत् शक्ति वाटमापी (wattmeter) द्वारा मापी जाती है। साधारणतया ऊर्जा किलोवाट घंटा (kilowatt hour) या बोर्ड ऑव ट्रेड (Board of Trade) इकाई में मापी जाती है। शक्ति को किलोवाटों में (१ किलोवाट = १००० वाट) और समय को घंटों में मापने पर शक्ति मान उनके गुणनफल के बराबर होता है। यह ऊर्जामापी (Energymeter) से मापा जाता है। यदि विद्युत् संभरण का विभवांतर नियत हो, तो धारा और समय के गुणनफल को मापना ही पर्याप्त होगा और जिसे विद्युत् मात्रामापी दर्शित कर सकेगा। यदि किसी परिपथ में धारा बदलती रहती हो और यह विशेष रूप से उच्च आवृत्ति (high frequency) की हो, तो प्रेरकत्व (inductance) तथा विद्युद्धारिता (capacity) दो अन्य गुणों हैं जिन्हें जानना आवश्यक हो जाता है। प्रेरकत्व का मान चालक को घेरे हुए चुंबकीय अभिवाह (magnetic flux) के बराबर होता है। विद्युच्चुंबकीय (electromagnetic) नियम के अनुसार जब कभी यह धारा घटती, या बढ़ती है, तब चालक में एक विद्युत्वाहक बल (electromotive force) उत्पन्न होता है, जो इस परिवर्तन को रोकना चाहता है। प्रेरकत्व की इकाई हेनरी (henry) है जो भौतिकी के विशेषज्ञ जोजेफ हेनरी के नाम पर है। यदि किसी चालक में धारा का मान एक ऐंपियर प्रति सेकंड बढ़े और उसमें इससे एक वोल्ट का विभवांतर उत्पन्न हो जाय तो इस चालक का प्रेरण एक हेनरी होता है। विद्युत्धारिता (capacity) का प्रभाव ठीक इसके विपरीत है, क्योंकि इसमें प्रत्यावर्ती धारा (alternating current) सुविधा से प्रवाहित नहीं हो पाती है और

दिष्ट धारा (direct current) प्रवाहित नहीं हो सकती। धारिता की व्यवस्था एक लचीली कमानी से की जा सकती है, जो स्थिर बल के कारण थोड़ा बढ़कर रुक जाती है, परंतु परिवर्तनशील बल के प्रभाव में दोलित होती रहती है।

विद्युत् यंत्रों का संक्षिप्त वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

क्रम संख्या	विशिष्ट गुण, जिसको मापना है	व्यावहारिक इकाई	मापक यंत्र
१	धारा	ऐंपियर	धारामापी, वोल्टामीटर मापी, अमीटर
२	विभवांतर, विद्युत्वाहक बल	वोल्ट	विभवमापी, विद्युन्मापी, वोल्ट-मापी
३	प्रतिरोध	ओम	ह्वीटस्टोन सेतु, ओममापी
४	शक्ति	वाट	शक्तिमापी, वाटमापी
५	मात्रा	कूलॉम	वॉल्टामीटर विद्युत्मात्रामापी
६	ऊर्जा	किलोवाटघंटा	ऊर्जामापी
७	प्रेरकत्व	हेनरी	प्राक्षेपिक धारामापी, मैक्सवेल सेतु, हेसेतु तथा अन्य प्रेरकत्वसेतु
८	धारिता	फैरड	प्राक्षेपिक धारामापी, शेरिंग सेतु, वियन सेतु तथा अन्य धारिता सेतु

विद्युद्धारा के प्रधानतः तीन प्रभाव (१) चुंबकीय, (२) ऊष्मीय तथा (३) रासायनिक होते हैं। इन तीनों में से किसी भी प्रभाव को विद्युद्धारा की उपस्थिति और उसका मान ज्ञात करने के लिये काम में ला सकते हैं, परंतु यथार्थता और सरलता के कारण प्रायः सर्वत्र चुंबकीय प्रभाव ही काम में लाया जाता है। धारामापी दो प्रकार के होते हैं: (१) स्थिरकुंडल चलचुंबक प्रकार के — इनमें जिस कुंडली में धारा प्रवाहित होती है, वह स्थिर रहती है और उसके चुंबकीय प्रभाव से एक स्वतंत्र चुंबक में विक्षेप होता है, (२) स्थिर चुंबक चल कुंडल प्रकार के — इनमें चुंबक स्थिर रहता है, परंतु उसके प्रभाव से विद्युद्धारा ले जानेवाली कुंडली घूम जाती है।

स्पर्शज्या धारामापी (Tangent Galvanometer) — यह सबसे सरल और उपयोगी चलचुंबक धारामापी (moving magnet galvanometer) है। इसमें किसी अचुंबकीय पदार्थ के ऊर्ध्वाधर ढाँचे पर विद्युतरोधी ताँबे के तार की एक वृत्ताकार कुंडली लगी रहती है। कुंडली में प्रायः ५५२ चक्कर होते हैं, जिसमें २, ५०, और ५०० चक्करों के बाद संयोजक पेंच लगे रहते हैं। इनकी सहायता से आवश्यकतानुसार कम या अधिक चक्करों से काम ले सकते हैं। वृत्ताकार कुंडली को ऊर्ध्वाधर अक्ष के चारों ओर घुमाया जा सकता है। कुंडली के केंद्र पर एक चुंबकीय सुई ऊर्ध्वाधर कीलक (pivot) पर सधी रहती है और सुई के लंबरूप एक ऐल्यूमिनियम का लंबा संकेतक लगा रहता है, जो सूई के साथ साथ क्षैतिज वृत्ताकार स्केल पर घूमता है और चुंबकीय सूई का विक्षेप बतलाता है। यह स्केल चार चतुर्थांशों में विभाजित रहता है और प्रत्येक चतुर्थांश में ०° से ९०° तक के चिह्न होते हैं। जब चुंबकीय सूई चुंबकीय याम्योत्तर (meridian) में होती है, तो संकेतक शून्य अंश पर रहता है।

धारा नापने के पूर्व धारामापी के आधार को क्षैतिज कर लेते हैं और कुंडली के समतल को घुमाकर चुंबकीय याम्योत्तर में ले आते हैं। इस दशा में चुंबकीय सुई के बक्स को कुंडली के केंद्र पर क्षैतिज स्थिति में रखते हैं और यह भी देख लेते हैं कि संकेतक के दोनों सिरे ०° — ०° पर स्थित हैं। अब धारामापी के दो संयोजक पेंचों को उस परिपथ में संबद्ध कर देते हैं जिसमें धारा का प्रवाह होता है। ऊर्ध्वाधर कुंडली में धारा के प्रवाहित होते ही, एक चुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है, जो पार्थिव क्षैतिज चुंबकीय क्षेत्र से समकोण बनाता है। उन दोनों चुंबकीय क्षेत्रों के कारण चुंबकीय सूई पर दो विपरीत दिशा में घुमानेवाले बलयुग्म कार्य करते हैं। सूई विक्षेपित होकर ऐसी दशा में रुक जाती है जहाँ दोनों बलयुग्मों का घूर्ण बराबर होता है। यदि सूई का विक्षेप थ° हो, तो धारा का मान निम्न सूत्र से ज्ञात होता है:

$$\text{धारा} = \text{क स्पर्ज्या थ}, \quad (C = K \tan Q)$$

अर्थात् धारामापी में बहनेवाली धारा विक्षेप कोण के स्पर्शज्या के समानुपाती होती है। नियतांक क (K) धारामापी का परिवर्तन गुणक कहलाता है। परिवर्तन गुणक ऐंपियर में नापा जाता है। यह उस विद्युत्धारा के बराबर होता है, जो धारामापी की सूई में ४५° का विक्षेप उत्पन्न कर सकती है। इस प्रकार का सरल स्पर्शज्या धारामापी यथेष्ट रूप से सूक्ष्मग्राही और यथार्थ नहीं होता। विशेष रूप से धारा के कारण चुंबकीय क्षेत्र की तीव्रता चुंबकीय सुई के दोनों ध्रुवों पर एक सी नहीं होती। इस कारण धारामान में त्रुटि हो जाती है, क्योंकि सूत्र इसी पर निर्भर है कि दोनों ध्रुवों पर चुंबकीय क्षेत्र एक सा हो। इसलिये इसी सिद्धांत पर आधारित एक दूसरा धारामापी बना, जिसे हेल्महोल्ट्स गैलवैनोमीटर (Helmholtz galvanometer) कहते हैं। इस धारामापी में यह त्रुटि नहीं होती और यह सरल स्पर्शज्या धारामापी से अधिक सूक्ष्मग्राही होता है। इसमें अचुंबकीय पदार्थ के दो ऊर्ध्वाधर ढाँचों पर वृत्ताकार कुंडलियाँ होती हैं। उनके केंद्रों के बीच की दूरी उनके अर्धव्यास के बराबर होती है। चुंबकीय सूई का बक्स दोनों कुंडलियों के क्षैतिज अक्ष पर ठीक बीच में रखा जाता है। दोनों कुंडलियों के तार इस प्रकार जोड़ दिए जाते हैं कि जब उनमें धारा प्रवाहित हो तब दोनों से उत्पन्न चुंबकीय क्षेत्र एक ही दिशा में हों। ऐसा

होने से चुंबकीय सूई के पास धारा से उत्पन्न चुंबकीय क्षेत्र अधिक तीव्र हो जाता है और यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि इस क्षेत्र की तीव्रता सूई के दोनों सिरों पर एक सी रहती हैं। इस परिवर्तन के फलस्वरूप यह धारामापी अधिक सूक्ष्मग्राही और यथार्थ हो जाता है। धारा नापने के पहले सूई के बक्स के समतल को क्षैतिज करना और ऊर्ध्वाधर कुंडलियों को चुंबकीय याम्योत्तर में करना आवश्यक है। इस समंजन के बाद जब धारामापी की कुंडलियों में धारा प्रवाहित की जाती हैं और चुंबकीय सूई में कोण थ° (Q°) का विक्षेप होता है, तब धारा का मान निम्न सूत्र से ज्ञात होता है :

$$धा = ग \text{ स्पर्शज्या } थ \quad (C = G \tan Q)$$

ग को हेल्महोल्ट्स धारामापी का परिवर्तन गुणक कहते हैं। यह धारामापी भी यथेष्ट रूप से सूक्ष्मग्राही नहीं होता। अधिक सूक्ष्मग्राही धारामापी बनाने के लिये एक नया सिद्धांत प्रयोग में लाया जाता है। वह यह है कि यदि पार्थिव चुंबकीय क्षेत्र का प्रभाव चुंबकीय सूई पर कम कर दिया जाय, तो किसी भी धारा के कारण चुंबकीय सूई में पहले से अधिक विक्षेप होगा, अर्थात् यंत्र अधिक सूक्ष्मग्राही हो जाएगा। इसको अस्थैतिक युग्म (astatic pair) का सिद्धांत कहते हैं।

यदि दो लगभग बराबर चुंबकीय घूर्ण वाले चुंबकों को एक छड़ छड़ से ऐसा जोड़ा जाय कि वे एक दूसरे के समांतर हों और उनके विपरीत ध्रुव पास पास हों, तो उन्हें अस्थैतिक युग्म कहते हैं। इस युग्म में दोनों चुंबकों के विपरीत ध्रुव पास पास होते हैं, इस कारण पार्थिव चुंबकीय क्षेत्र का प्रभाव इस युग्म पर बहुत कम पड़ता है। तार की कुंडली या कुंडलियाँ एक चुंबक या दोनों चुंबक के चारों ओर इस प्रकार लपेटी जाती हैं कि उनमें धारा बहने पर चुंबकों पर एक ही दिशा में बलयुग्म लगे। इस दशा में यदि कुंडलियों में न्यून धारा भी प्रवाहित हो, तो भी चुंबकीय युग्म में अधिक विक्षेप होता है। इस प्रकार के धारामापी अति सूक्ष्मग्राही होते हैं। यदि इस चुंबकीय युग्म को एक ऐंठनरहित लटकन द्वारा लटका दिया जाय और इस लटकन में एक छोटा सा दर्पण लगा दिया जाय, तो प्रकाश किरण द्वारा अति सूक्ष्म विक्षेप नापा जा सकता है। प्रकाश की किरणें लैंप से चलकर धारामापी के दर्पण से परावर्तित होकर एक लेंस द्वारा स्केल पर फोकस में आती हैं। जब धारा प्रवाह के कारण चुंबकीय युग्म में विक्षेप होता है और दर्पण कोण थ° द्वारा घूमता है, तो परावर्तित प्रकाश किरणें कोण २थ° में घूमती हैं और स्केल पर प्रकाशबिंदु में स्थानांतरण हो जाता है। इस विधि से सूई का अति सूक्ष्म विक्षेप नापा जा सकता है और इसके फलस्वरूप इस धारामापी से अति सूक्ष्म धारा नापी जा सकती है। अस्थैतिक चुंबकीय युग्म का प्रयोग कई प्रकार से विभिन्न मार्गों के धारामापियों में किया गया है। केलविन धारामापी (Kelvin's galvanometer), पाशेन (Paschen) धारामापी और ब्रोका (Broca) धारामापी इनके कुछ उदाहरण हैं। इन धारामापियों से १०-१२ ऐंपियर तक की धारा नापी जा सकती है। चलचुंबक धारामापी, विशेष कर अस्थैतिक धारामापी, अत्यंत सूक्ष्मग्राही होते हैं, परंतु इनका प्रयोग असुविधाजनक होता है। ये अस्थायी भी होते हैं। यही कारण है कि वे बहुत कम प्रयुक्त होते हैं। अधिकतर चल-कुंडल धारामापी (moving coil galvanometer)का ही उपयोग होता है, क्योंकि ये यथेष्ट सूक्ष्मग्राही होने के अतिरिक्त, स्थायी, सरल तथा सुविधाजनक होते हैं।

चलकुंडल धारामापी (Moving Coil Galvanometers) — सन् १८२० ई० में ऐंपियर ने आविष्कार किया कि यदि किसी चालक (तार) को, जिसमें विद्युत्धारा प्रवाहित हो, चुंबकीय क्षेत्र में रखा जाय, तो उसपर एक बल कार्य करता है। इस बल का मान चुंबकीय क्षेत्र की तीव्रता, धारामान और चालक की लंबाई के गुणनफल के बराबर होता है। इस बल की दिशा फ्लेमिंग (Fleming) के बाएँ हाथ वाले नियम से ज्ञात की जाती है। अपने बाएँ हाथ का अँगूठा, उसके पास की उँगली (तर्जनी) और बीच की उँगली मध्यमा को इस प्रकार फैलाएँ कि वे तीनों एक दूसरे के लंबरूप रहें। यदि तर्जनी चुंबकीय क्षेत्र की दिशा में और मध्यमा विद्युत्धारा की दिशा में संकेत करें, तो चालक की गति अँगूठे की दिशा में होगी।

चुंबकीय क्षेत्र में रखी हुई किसी कुंडली में जब विद्युत्धारा प्रवाहित होती है, तो कुंडली पर एक बलयुग्म कार्य करने लगता है, जिससे वह घूमने लगती है। इस सिद्धांत को काम में लाकर जो धारामापी बनाए गए, हैं उन्हें चलकुंडल धारामापी कहते हैं। इसमें एक आयताकार कुंडली होती है, जिसमें पतले और विद्युत्रोधित (insulated) ताँबे के तार के बहुत चक्कर होते हैं। यह कुंडली फास्फार ब्रांज की बहुत पतली पत्ती द्वारा एक पेंच से लटकी रहती है, कुंडली का एक सिरा इसी पत्ती से जुड़ा रहता है और पत्ती का संबंध धारामापी के एक संयोजक पेंच से होता है। इस पत्ती में एक वृत्ताकार समतल या नतोदर दर्पण भी लगा रहता है, जो पत्ती के साथ साथ घूमता है। कुंडली का दूसरा सिरा धातु की एक सर्पिल कमानी से जुड़ा रहता है, जिसका संबंध दूसरे संयोजक पेंच से होता है। यह कुंडली एक शक्तिशाली स्थायी नाल चुंबक के ध्रुवों के बीच में लटकी रहती है। चुंबक के ध्रुव नतोदर बेलनाकार आकृति में कटे रहते हैं। एक नर्म लोहे का छोटा सा बेलन दोनों ध्रुवखंडों के बीच में कुंडली के भीतर एक पेच द्वारा धारामापी की पीठ में कसा रहता है। ये सब वस्तुएँ एक अचुंबकीय बक्स में बंद रखी जाती हैं। बक्स के सामने के भाग में काँच लगा रहता है, जिससे दर्पण का विक्षेप लैंप तथा पैमाना विधि से नापा जा सके। जब कुंडली में विद्युत धारा प्रवाहित होती है, तब कुंडली के दो भुजाओं पर बलयुग्म कार्य करता है और कुंडली को उसकी स्थिरावस्था से घुमा देता है, जिससे फॉस्फॉर ब्रांज की पत्ती और नीचे की सर्पिल कमानी में ऐंठन आ जाती है और एक ऐंठन बल युग्म कुंडली पर विपरीत दिशा में कार्य करने लगता है, जिससे कुंडली शीघ्र ही संतुलन में आ जाती है। यदि कुंडली का विक्षेप कोण थ° हो, तो धारामान निम्न सूत्र से निकलता है :

$$धा = क थ$$

अर्थात् धारामान विक्षेप कोण का समानुपाती होता है। ये धारामापी अत्यंत स्थायी और यथेष्ट सुग्राहक होते हैं। इनसे $१०^{-१०}$ ऐंपियर तक की धारा नापी जा सकती है। चलकुंडल धारामापी मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं : (१) मृत-स्पंद (Dead-beat) (२) प्रक्षेप धारामापी (Ballistic galvanometer) ।

मृत-स्पंद धारामापी (Dead-beat Galvanometer) — इसमें कुंडली एक धातु के ढाँचे पर लपेट दी जाती है, जिससे धारा प्रवाहित होने पर कुंडली विक्षेपित हो शीघ्र स्थिर हो जाती है। जैसे ही कुंडली घूमती है, उसमें और उसके धातु के ढांचे में भंवर धाराएँ उत्पन्न होती हैं और कुंडली को रोक देती हैं। कुंडली दोलन नहीं करती, इसी से इस यंत्र को मृत-स्पंद कहते हैं। धारा के हटते ही कुंडली अपनी पूर्व स्थिति में पहुँच जाती है। अतएव धारा का मान कुंडली की पूर्वस्थिति तथा धारा प्रवाहित होने पर की स्थिति के ज्ञान से बड़ी सरलता से ज्ञात किया जा सकता है।

प्रक्षेप धारामापी (Ballistic Galvanometer) — इस धारामापी में कुंडली एक अचालक ढाँचे पर बँधी रहती है और इस कारण उसमें भंवर धारा नहीं उत्पन्न होती। अतः कुंडली के विक्षेप में बहुत कम प्रतिरोध पड़ता है। कुंडली धातु के ढाँचे पर आविष्ट न होने से धारा प्रवाहित किए जाने पर, अपनी विक्षेपस्थिति के दोनों ओर दोलन करती है। यह अति सूक्ष्मग्राही होता है और क्षणिक आवेश को भी बड़ी सुगमतापूर्वक इससे हम ज्ञात कर सकते हैं।

नर्म लोह धारामापी (Soft Iron Galvanometer) — ये दो प्रकार के होते हैं : आकर्षणवाले तथा प्रतिकर्षणवाले।

(क) **आकर्षण प्ररूप** (Soft iron, Attraction type) : विद्युत्रोधी तारों की एक स्थिर कुंडली से यदि विद्युत्धारा प्रवाहित हो, तो कुंडली के बीच में और आसपास में भी चुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है। इस कुंडली के पास यदि कच्चे लोहे का एक टुकड़ा लटका दिया जाय, तो वह कुंडली की ओर आकर्षित हो जाता है। इस लोहे के टुकड़े में अगर एक संकेतक लगा हो, तो संकेतक भी विक्षेपित हो जाएगा। यदि कोई ऐसी व्यवस्था हो कि लोहे के टुकड़े पर जो आकर्षण बल है उसके विपरीत बल लगाकर उसे संतुलन में लाया जा सके, तो धारा का मान संकेतक के विक्षेप से पता चल सकेगा। बहुधा एक सर्पिल कमानी द्वारा इस आकर्षणबल का विरोध किया जाता है। आकर्षण बल धारा-मान के वर्ग के समानुपाती होता है। इसलिये संकेतक का विक्षेप भी धारा मान के वर्ग के समानुपाती होगा। इसी कारण यह प्रत्यावर्ती धारा का मान भी ज्ञात कर सकता है।

(ख) **प्रतिकर्षण प्ररूप** (Soft iron, Repulsion type) — विद्युतरोधी तारों के कई चक्करों की स्थिर कुंडली के बीच, दो नरम लोहे के पतले छड़ कुंडली के अक्ष के समांतर लगे हैं। एक छड़ तो स्थिर रहता है, दूसरा एक संकेतक से जुड़ा है जो स्वयं एक कील पर लगा है। संकेतक का दूसरा सिरा एक डायल (Dial) पर घूमता है। जब कुंडली में धारा प्रवाहित होती है, तब दोनों छड़ एक ही प्रकार के प्रेरित चुंबक हो जाते हैं। चुंबकीय नियमों के अनुसार उनमें प्रतिकर्षण होता है और संकेतक से जुड़ा लोहा घूम जाता है, जिससे संकेतक में विक्षेप होता है। इसमें भी विक्षेपकोण धारामान के वर्ग का समानुपाती होता है। ये यंत्र अत्यंत सरल और सस्ते होते हैं। जब मापने में बहुत यथार्थता की आवश्यकता नहीं होती और अनेक पुष्ट यंत्रों की आवश्यकता होती है, तब इसी सिद्धांत पर बने अमीटर (ammeter) और वोल्टमापी (voltmeter) प्रयोग में लाए जाते हैं। बिजली घरों में स्विचबोर्ड पर नर्म लोहे के यंत्रों का ही प्रयोग अधिकतर होता है। प्रेरित चुंबक में आकर्षण या प्रतिकर्षण धाराप्रवाह की दिशा पर निर्भर नहीं होता। बल धारामान के वर्ग का समानुपाती होता है। इस कारण धारा प्रवाह की दिशा कुछ भी हो, बल की दिशा एक ही होती है। इन्हीं कारणों से ये यंत्र दिष्ट धारा अथवा प्रत्यावर्ती धारा दोनों को नापने के प्रयोग मे लाए जाते हैं। कुंडली के प्रेरकत्व के कारण ये उच्च आवृत्ति की प्रत्यावर्ती धारा के मापनकार्य में नहीं प्रयुक्त किए जा सकते।

तप्त तार धारामापी (Hot Wire Galvanometer)—इस प्रकार के धारामापी विद्युत्धारा के ऊष्मीय प्रभाव पर निर्भर होते हैं। जब धारा किसी चालक से प्रवाहित होती है, तब वह चालक तप्त हो जाता है। उत्पन्न ऊष्मा का मान (धारा)^2 × (प्रतिरोध) के समानुपाती होता है। यदि धारा ऐंपियर में और प्रतिरोध ओम में हो, तो ऊष्मा = ०·२४ (धा)^2 × (प्रतिरोध) कलोरी प्रति सेकंड। ऊष्मा का मान धारामान के वर्ग के समानुपाती होता है, अर्थात् धारा की दिशा पर निर्भर नहीं है। इसलिये ऐसे धारामापी दिष्ट अथवा प्रत्यावर्ती धारा दोनो ही के नापने के प्रयोग में लाए जा सकते हैं। इस प्रभाव का प्रयोग मापनविधि में दो प्रकार से किया गया है : (१) जनित ऊष्मा के कारण तार में प्रसार होता है, जिसके कारण संकेतक में विक्षेप होता है, (२) जनित ऊष्मा से एक तापयुग्म का संगम गरम किया जाता है, जिसके कारण तापयुग्म में विद्युत् वाहक बल उत्पन्न होता है और किसी दूसरे दिष्ट धारामापी में धारा प्रवाहित करता है। पहले प्रकार का यंत्र सबसे पहले १८८३ में मेजर कारड्यू (Major-Cardew) ने बनाया था। हार्टमान-ब्रॉन (Hartman Braun) ने इसमें सुधार किया। तार में धारा बहती है और तप्त होने के कारण उसमें प्रसार होता है। इस समय तार के बीच मे जुडी हुई कमानी तार को खींचती है और घिरनी प्रसार के अनुसार घूम जाती है। साथ ही साथ घिरनी में लगा संकेतक भी विक्षेपित होता है और धारा का मान डायल पर दर्शित करता है। धारा की अनुपस्थिति में तार ठंढा हो कर सिकुड़ता है और संकेतक फिर अपनी पूर्व दशा में आ जाता है। ऐसे धारामापी सरल और सस्ते होने के कारण बहुत प्रयोग में लाए गए हैं। इनमें कुंडली नहीं होती, इस कारण उनमें प्रेरकत्व नहीं होता और उच्च आवृत्ति की प्रत्यावर्ती धारा भी नापी जाती है, परंतु ये पर्याप्त रूप से यथार्थ नहीं होते और अधिक मात्रा की धारा को सहन करने में असमर्थ होते हैं। इनसे अधिक सुविधाजनक और यथार्थ तापयुग्म वाले धारामापी होते हैं। आजकल उच्च आवृत्ति की प्रत्यावर्ती धारा का मापन अधिकतर उन्हीं यंत्रों से होता है। धारा तार से प्रवाहित होकर उसे तप्त करती है। इस तार से जुड़े हुए तांबा कान्सटेंटन तापयुग्म का संगम भी गरम होता है। इस कारण तापयुग्म में ताप के अनुपात में विद्युद्वाहक बल उत्पन्न होता है। यह एक दिष्ट धारामापी में धारा प्रवाहित करता है। इसके डायल (dial) में अंशांकन (calibration) रहने पर वह पहली प्रत्यावर्ती धारा का मान प्रदर्शित करता है।

विद्युत् डाइनेमोमीटर (देखें डाइनेमोमीटर)।

आइन्थोवन का डोर-धारामापी (Einthoven String

Galvanometer) — यह यंत्र विशेष रूप से उच्च-आवृत्तिवाली बहुत क्षीण और क्षणिक प्रत्यावर्ती धारा को नापने के प्रयोग में लाया जाता है। इसमें साधारणत: चाँदी चढ़ा हुआ स्फटिक का तार, एक शक्तिशाली विद्युच्चुंबक के बीच तना रहता है। दोनों ध्रुव खंडों में गोल छिद्र बने रहते हैं, जिनसे एक समांतर प्रकाश किरणावलि एक ओर से दूसरी ओर निकलती है। एक ध्रुव खंड की ओर प्रकाश स्रोत और लेंस होता है और दूसरे ध्रुव खंड की ओर या तो दूरदर्शी होता है या फिल्म कैमरा। प्रकाश किरणावलि द्वारा दूरदर्शी की नेत्रिका (eyepiece) या कैमरा के फिल्म पर तने हुए तार की छाया पड़ती है। जब इस तार से कोई भी क्षीण और क्षणिक धारा प्रवाहित होती है, तब फ्लेमिंग (Fleming) के नियम के अनुसार तार पर एक बल कार्य करता है, जिसकी दिशा धारा तथा चुंबकीय क्षेत्र दोनों ही के लंबवत् होती है। इस बल के कारण तार अपनी जगह से हटती है और छाया भी हटती है। जब क्षणिक या प्रत्यावर्ती धारा का अभिलेख लेना होता है, तो कैमरा का फिल्म एक मोटर द्वारा चला दिया जाता है और धारा तार में प्रवाहित की जाती है। फोटो के फिल्म (Photo film) पर धारा का अभिलेख बन जाता है। जब क्षीण दिष्ट धारा नापनी होती है, तब कैमरा की जगह पर सूक्ष्ममापी नेत्रिका लगा देते हैं। दिष्ट धारा जब तार से प्रवाहित होती है, तब तार की छाया एक ओर हट जाती है। सूक्ष्ममापी नेत्रिका से छाया के विस्थापन को नाप लेते हैं, जिससे धारा का मान निकल आता है। यह अत्यंत सुग्राही और उपयोगी धारामापी है।

डडेल दोलनलेखी (Duddell Oscillograph) — यह अधिकतर प्रत्यावर्ती विभव, या धारा का तरंग रूप, ज्ञात करने के प्रयोग मे लाया जाता है। वस्तुत: यह एक मृतस्पंद (dead beat) धारामापी है, जिसकी प्राकृतिक दोलन आवृत्ति बहुत अधिक होती है और जिसके चलनशील भागों (moving system) का जड़त्व (inertia) बहुत कम होता है। चित्र १. में ऐसा एक यंत्र दिखाया गया है।
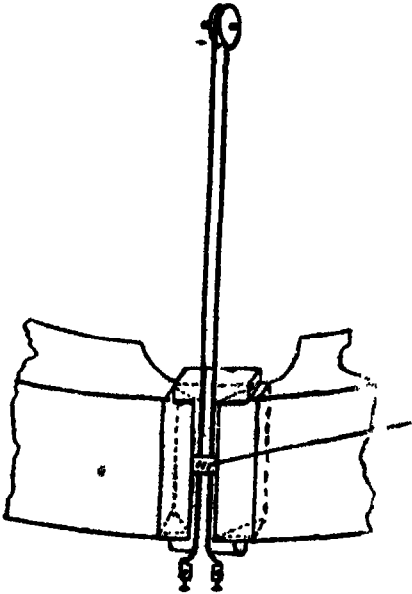
चित्र १.

अमीटर (Ammeter) — दिष्ट धारा नापनेवाला अमीटर अधिकतर कोई चलकुंडल धारामापी होता है, जिसके समांतर एक पार्श्ववाही तार जुड़ा रहता है। पार्श्ववाही एक अल्प प्रतिरोधक होता है, इस कारण इस यंत्र का प्रतिरोध बहुत कम होता है और जब यह किसी परिपथ में श्रेणीक्रम में जोड़ा जाता है, तब धारामान को किंचित् भी नहीं बदलता। परिपथ की अधिकांश धारा पार्श्ववाही में होकर बहती है और कुछ थोड़ा भाग धारामापी की कुंडली में से। कुंडली ऐल्युमिनियम के ढाँचे पर बँधी रहती है और ढाँचा कीलक पर इस प्रकार आरोपित रहता है कि कुंडली सुगमता से शक्तिशाली चुंबक के ध्रुवखंडों के बीच घूम सके।

वोल्टमापी (Voltmeter) — दिष्ट विभव नापनेवाला वोल्टमापी साधारणत: एक चलकुंडल धारामापी होता है, जिससे एक उच्च प्रतिरोधक श्रेणीबद्ध रहता है। वोल्टमापी किसी परिपथ के दो बिंदुओं के समांतर संबद्ध किया जाता है, इस कारण इसका प्रतिरोध उच्चतम होना आवश्यक है, अन्यथा इसमें अधिक धारा प्रवाहित होगी और बिंदुओं के बीच का विभव बदल जायगा।

कैथोड किरण-दोलनलेखी — (Chathode Ray Oscillograph) — जब लगभग ३,००० दोलन प्रति सेकंड से अधिक आवृत्तिवाली प्रत्यावर्ती धारा या विभव को नापने की आवश्यकता होती है, तो अन्य धारामापी और उनसे बने हुए दोलनलेखी का प्रयोग
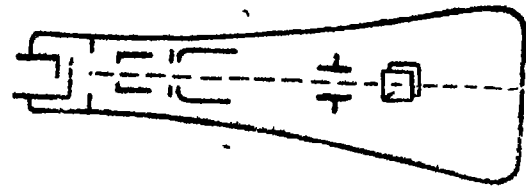
चित्र २.

नहीं हो सकता। इस दशा में हमको इलेक्ट्रॉनिक (electronic) यंत्रों का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। इस वर्ग के यंत्रों में सबसे अधिक उपयोगी और सरल कैथोड किरण दोलनलेखी (cathode ray oscillograph) है (देखें चित्र २.)।

वोल्टामीटर (Voltameter) — यदि विद्युत्धारा किसी विद्युद्विलेष्य द्रव से प्रवाहित हो, तो उस द्रव में आयनीकरण होता है। इसके फलस्वरूप धन आयन कैथोड पर और ऋण आयन ऐनोड पर अवसादित हो जाते हैं (बैठ जाते हैं)। फैराडे (Faraday) के नियमों के अनुसार आयनीकरण की मात्रा धारामान की समानुपाती होती है।

यहाँ धारा का मान आयनों की मात्रा और धाराप्रवाह के समय पर निर्भर है, जो मौलिक राशियाँ हैं। इसी के आधार पर अंतरराष्ट्रीय समिति ने अंतरराष्ट्रीय एकक की व्याख्या इस प्रकार की है: यदि कोई स्थिर धारा एक प्रामाणिक रजत विश्लेषक धारामापी से एक सेकंड तक प्रवाहित हो और कैथोड पर ०·००१११८ ग्राम चाँदी

प्रवाहित करे तो उस धारा का मान एक अंतरराष्ट्रीय ऐंपियर होगा।

दिष्ट धारा विभवमापी (Directcurrent Potentiometer) यह यंत्र विभवांतर नापने के प्रयोग में तो लाया ही जाता है किंतु साथ ही साथ इससे धारामान एवं प्रतिरोध भी ज्ञात किया जा सकता है। T यदि एक स्थिर धारा एक लंबे और समान तार से प्रवाहित हो और उस तार की एक एक लंबाई का प्रतिरोध प हो, तो तार की एक लंबाई का विभवांतर व = ध × प (ओम के नियम से) तार के एक समान रहने के कारण उस तार की लंबाई ल का विभवांतर = ध × प × ल। अब यदि हम किसी सेल (Cell) को, जिसका विद्युत् वाहक बल व है, किसी गैलवैनोमीटर से श्रेणीबद्ध करके विभवमापी के बिंदु क और ख के बीच जोड़ें तो उस धारामापी में कुछ धरा बहेगी और विक्षेप होगा। यह धारा विभवमापी के बिंदुओं के विभवातर और सेल के विभवांतर के अंतर की समानुपाती होगी, क्योंकि दोनों विभव एक दूसरे की विपरीत दिशा में धारा भेजने का काम कर रहे हैं। यदि बिंदु ख को तार पर खिसकाया जाय, तो बिंदुओं क और ख के बीच का विभवांतर बद लेगा। इस प्रकार तार की एक ऐसी लंबाई होगी जब बिंदुओं क और ख के बीच विभवांतर ठीक सेल के विद्युत वाहक बल के बराबर होगा और उस समय धारामापी में कोई विक्षेप नहीं होगा। यदि उस तार की लंबाई $ल_1$ हो, तो $व_1 = ध \times प \times ल_1$। इसी प्रकार यदि किसी प्रमाणिक सेल से, जिसका विद्युतवाहक बल $व_2$ है, प्रयोग किया जाय और गैलवैनोमापी में शून्य विक्षेप के लिये आवश्यक तार की लंबाई $ल_2$ हो तो $व_2 = ध \times प \times ल_2$ अस्तु, यदि धारा दोनों प्रयोगों में स्थिर रहे तो

$$\frac{व_1}{व_2} = \frac{ल_1}{ल_2}$$

और अज्ञात विद्युत् वाहक बल का विभवांतर

$$व_1 = \frac{ल_1}{ल_2} \times व_2$$

न्यूनतम विभवांतर जो किसी विभवमापी से नप सकता है उस यंत्र की सुग्राहिता कहलाता है और जो उच्चतम विभवांतर नपता है उसे परास (Range) कहते हैं। यदि किसी विभवमापी के १०० सेमी० तार का प्रतिरोध १० ओम हो और उसमें ०.०१ ऐंपियर की धारा प्रवाहित हो तो तार के दोनों सिरों के बीच की वोल्टता ०.१ वोल्ट होगी। उस दशा में तार को नापने योग्य न्यूनतम लंबाई (मान लें एक मिमी०) के सिरों के बीच का विभवांतर ०.०००१ वोल्ट होगा, जिसे विभवमापी की सुग्राहिता कहेंगे। सन् १८८५ में फ्लेमिंग ने एक अत्यंत यथार्थ और सुग्राही विभवमापी का सिद्धांत बताया। उसी सिद्धांत पर कांपटन ने एक विभवमापी बनाया जो कांपटन विभवमापी के नाम से प्रसिद्ध है। यह अत्यंत यथार्थ और सुग्राही होता है।

प्रत्यावर्ती धाराविभव मापी—(Alternting Current Potentiometer) दिष्ट धारा विभवमापी की भांति ही प्रत्यावर्ती धारा विभवमापी भी विभवांतर नापता है। दोनों प्रकार के यंत्रों में, अज्ञात विभवांतर को विभवमापी के मुख्य परिपथ के आंशिक विभवांतर से पूर्णतया संतुलित कर लिया जाता है, किंतु प्रत्यावर्ती धारा का विभवमापी में संतुलन से लाया हुआ विभव केवल परिमाण में ही बराबर नहीं होना चाहिए वरन् प्रावस्था (phase) में विपरीत दिशा में भी होना चाहिए और इसके लिये दो स्वतंत्र समंजन आवश्यक हैं। प्रत्यावर्ती धारा विभवमापी दो वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं जिन्हें हम ध्रुवीय (Polar) और निर्देशांकी (Coordinate) कहते हैं।

पोस्ट आफिस बक्स (Post Office Box) — प्रतिरोध मापन के कई ढंग प्रयोग में लाए जाते हैं। किंतु अधिकांश ढंग व्हीटस्टोन (Wheatstone) सेतु के सिद्धांत पर ही आधारित हैं। इसमें चार प्रतिरोधक लगे रहते हैं जिनमें से तीन ज्ञात रहते हैं और चौथे को निकालना रहता है। दो प्रतिरोधक एक श्रेणी मे और शेष दोनों को एक दूसरी श्रेणी में जोड़कर दोनों श्रेणियों को समांतर क्रम मे जोड़ दिया जाता है। इसमें एक धारामापी और बैटरी रहते हैं। एक विसर्पी(खिसकनेवाली) कुंजी द्वारा धारामापी का एक ऐसा स्पर्श बिंदु ज्ञात करते हैं जिससे कुंजी का स्पर्श हो जाने पर गैलवैनोमीटर में कोई विक्षेप नहीं होता, अर्थात् उसमे कोई धारा प्रवाहित नहीं होती। ऐसी दशा में उस बिंदु को शून्यविक्षेप स्थिति (null point) कहते हैं और व्हीटस्टोन सेतु संतुलित कहलाता है। यदि तीन प्रतिरोधकों के मान ज्ञात हों तो चौथे के मान का ज्ञात कर सकते है।

पोस्ट आफिस बक्स, व्हीटस्टोन (Wheatstone) सेतु का एक रूप है। यह पहले डाकखाने में तारों का प्रतिरोध ज्ञात करने में प्रयुक्त होता था, इसी कारण उसका नाम पोस्ट आफिस (डाकघर) बक्स पड़ गया। प्रत्येक निष्पत्ति भुजाओं में १०,१०० और १००० ओम के प्रतिरोधक श्रेणीक्रम में जुड़े रहते हैं। तीसरी भुजा में १ ओम से लेकर ४००० ओम तक के प्रतिरोधक श्रेणीक्रम में लगे रहते हैं। प्रतिरोधक बाहर से जोड़ा जाता है और बैटरी भी बाहर से ही जोड़ी जाती है। गैलवैनोमीटर और बैटरी परिपथों में एक एक कुंजी (plug key) लगी रहती हैं। अज्ञात प्रतिरोधक का मान निकालने के पहले गैलवैनोमीटर तथा बैटरी को जोड़ देते हैं। इसके उपरांत ऊपर की संगत भुजाओं मे १०,१० ओम की प्रतिरोध लगाकर, तीसरी भुजा में से कुछ प्रतिरोध लगाते हैं। फिर बैटरी की कुंजी को दबाकर गैलवैनोमीटर वाली कुंजी को दबाते हैं और गैलवैनोमीटर में विक्षेप देखते हैं। इस प्रयोग को तीसरी भुजा के प्रतिरोध को बढ़ाते हुए बार-बार करते हैं। जिस समय तीसरी भुजा में १ ओम का अंतर करने से गैलवैनोमीटर का विक्षेप एक दिशा से दूसरी दिशा में बदल जाय तो समझ लेना चाहिए कि अज्ञात प्रतिरोधक का मान उन्हीं दोनों मानों के बीच में है। फिर ऊपरवाली संगत भुजाओं में क्रमशः १०० ओम १० ओमवाले अवरोध रखकर प्रयोग करते हैं। जिस दशा में दाब कुंजियों के दबाने पर गैलवैनोमीटर में कोई विक्षेप न हों उस समय सेतु संतुलित होता है और चौथे प्रतिरोध का मान सूत्र से निकाल लेते हैं। व्हीटस्टोन (Wheat stone) सेतु के सिद्धांत पर बने हुए अन्य प्रतिरोधमापी यंत्रों में से कुछ निम्नलिखित हैं :

(१) मीटर सेतु (Meter bridge),
(२) कैरीफास्टर सेतु; (Careyfoster bridge)
(३) कैलेंडर–ग्रिफिथ्स सेतु, (Calender Griffiths bridge)

ओममापी (Ohmmeter) — शीघ्र प्रतिरोध मापन की आवश्यकता पड़ने पर साधारण ओममापी का प्रयोग होता है। इसका सिद्धांत ओम नियम पर आधारित है :

$$प्र० = \frac{वि}{धा}$$

जहाँ प्र० परिपथ का प्रतिरोध ओमों में, धा इसमें प्रवाहित होने वाली धारा ऐंपियर में और वि विभवांतर वोल्ट में है। इस उपकरण की रचना के लिये धारामापी के साथ एक बैटरी और परिवर्तनशील
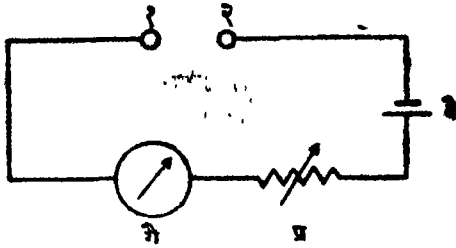
चित्र ३

प्रतिरोधक श्रेणीक्रम में जुड़े रहते हैं। चित्र ३. में यदि बिंदु १ और २ को जोड़ दें तो धारामापी में धारा बहने के कारण कुछ विक्षेप होगा। प्रतिरोध को ऐसा समंजित करते हैं कि इस समय पूर्ण विक्षेप हो जाय। अत: जब संयोजक पेचों के बीच शून्य ओम का प्रतिरोध होती है, तब धारामापी में पूर्ण विक्षेप होता है। यदि पेचोंं, १ और २, के बीच अज्ञातप्रतिरोध वाला प्रतिरोधक जोड़ा जाय तो विक्षेप कम हो जाएगा और जितनी ही अधिक बाधा होगी उतना ही कम विक्षेप होगा। अत: धारामापी का विक्षेप प्रतिरोध के प्रतिलोमानुपाती होता है, इस कारण धारामापी के विक्षेप का अंशांकन प्रतिरोध में किया जा सकता है। इस प्रकार से अंशांकित धारामापी ओममापी कहलाता है।

वाटमापी (Wattmeter) — किसी परिपथ में किसी समय जितनी विद्युत् शक्ति व्यय हो रही हो उसे मापनेवाले उपकरण को वाटमापी कहते हैं। विद्युत शक्ति का मान परिपथ के विभवांतर तथा धारामान के गुणनफल के बराबर होता है (१ वाट = १ वोल्ट × १ ऐंपियर)। इन उपकरणों का सिद्धांत विद्युत्-चुंबकीय, स्थिर वैद्युतीय या उष्मीयतापीय होता है। परंतु अधिकतर वाटमापी विद्युत् चुंबकीय सिद्धांत पर ही बनते हैं।

विद्युत संभरण ऊर्जामापी (Electric Supply Energy meter) किसी परिपथ में एक निश्चित समय में कुल कितनी ऊर्जा व्यय हुई है, इसे नापने के लिये ऊर्जामापी का प्रयोग होता है। यह उपकरण अनेक संख्या में प्रयोग होता है। यह मुख्यतया दो प्रकार का होता है : (क) मात्रामापी (Quantitymeter) या ऐंपियर घंटामापी (Ampere hourmeter) और (ख) ऊर्जामापी (Energy meter)

स्थिरविद्युतदर्शी और विद्युतमापी (Electroscopoe और Electrometer) — इन उपकरणों का प्रयोग विद्युत् आवेश और विद्युत्विभव के संसूचन और मापन में होता है। विद्युत्दर्शी सबसे प्राचीन विद्युत्-उपकरण है। सन् १७८७ के पहले कई प्रकार के विद्युत्दर्शी बने जो मुख्यत: आवेशित पिथ गुटका (सरकंडे के गूदे की गोली के प्रतिकर्षण का उपयोग करते थे। सन् १७८७ में ही ऐब्राहिम बेनेट (Abrahim Benett) ने स्वर्णपत्र विद्युद्दर्शी (Goldleaf electroscope) बनाया जिसका प्रयोग आज तक होता है। एक अत्यंत पतला स्वर्णपत्र पीतल की चपटी छड़ी से लटका रहता है। इस पीतल के छड़ के ऊपरी भाग में एक गोल चकती लगी रहती है। यह स्वर्णपत्र वाला छड़ एक धातु के बक्स में ऐंबर (amber) द्वारा विद्युत्रोधी करके लगा रहता है। यह बक्स पृथ्वी से संबद्ध रहता है और इसमें एक खिड़की बनी रहती है जिसके द्वारा स्वर्णपत्र का निरीक्षण हो सकता है। यदि चकती को किसी आवेशित वस्तु से छू दिया जाय तो छड़ और स्वर्णपत्र दोनों ही आवेशित हो जाते हैं। पारस्परिक प्रतिकर्षण के कारण स्वर्णपत्र छड़ से दूर हट जाता है। स्वर्णपत्र का विक्षेप आवेश की मात्रा का समानुपाती होता है। स्वर्णपत्र का विक्षेप एक पैमाने पर नापा जा सकता है। विक्षेप के विशुद्ध ज्ञान के लिये सूक्ष्मदर्शी का प्रयोग करते हैं। कुछ विद्युद्दर्शी में पीतल की छड़ के नीचे वाले छोर पर दो स्वर्णपत्र लगे रहते हैं। आवेश तथा विभव निम्नलिखित सूत्र से संबंधित हैं : धारिता = आवेश/विभव। स्वर्णपत्र के विक्षेप से आवेश की मात्रा का मापन हो सकता है और विद्युद्दर्शी की धारिता निश्चित होती है। अत: विभव का भी मापन हो सकता है।

साधारण स्वर्णपत्र विद्युद्दर्शी की धारिता बहुत कम होती है; इस कारण यह विभव के प्रतिक्रम सुग्राही होती है। उसकी सुग्राहिकता बढ़ाने के लिये केवल एक पत्र और साथ में एक संधारित्र का भी प्रयोग करते हैं। ऐसे विद्युतदर्शी को संधारित्र विद्युद्दर्शी (Condensing electroscope) कहते हैं।

रेडियो एक्टिवता के आविष्कार के बाद यह पता चला कि कुछ वस्तुओं से ऐसी किरणें निकलती हैं जो किसी आवेशित पिंडों को निरावेशित करती हैं। यदि किसी रेडियोएक्टिव तत्व के पास एक आवेशित विद्युद्दर्शी रखा जाय तो वह निरावेशित होने लगेगा और स्वर्णपत्रिका विक्षेप घटने लगेगा। विक्षेप घटने की दर रेडियोएक्टिव किरणों की शक्ति की समानुपाती होगी। इस कारण विद्युत्दर्शी का प्रयोग बहुत होने लगा और अब कई सुधरे प्रकार के विद्युत्दर्शी बनने लगे हैं। उनमें से सी० टी० आर० विल्सन (C. T. R. Wilson) का तिरछा स्वर्णपत्र विद्युत्दर्शी विशेष उल्लेखनीय है।

इसमें एक पट्टिका पर जो सूक्ष्ममापी पेच से आगे पीछे चलाई जा सकती है, २०० वोल्ट का विभव लगाया जाता है। एक अत्यंत पतला स्वर्णपत्र, एक पीतल के छड़ के छोर पर लगा रहता है। दोनों ही एक धातु के बक्स में ऐंबर (amber) द्वारा पृथक्कृत करके लगाये रहते हैं। यह धातु का बक्स टेढ़ा रखा जाता है और इसमें काँच की एक खिड़की बनी रहती है जिसके द्वारा स्वर्णपत्र का निरीक्षण किया जाता है। पहले स्वर्णपत्रवाले छड़ को धातु के बक्स से जोड़ दिया जाता है और बक्स को इतना टेढ़ा किया जाता है कि स्वर्णपत्र काच की खिड़की के सामने आकर सूक्ष्मदर्शी में दिखाई पड़ने

लगे। इसके बाद स्वर्णपत्र वाली छड़ को उस आवेशित पिंड से संबद्ध कर दिया जाता है जिसका आवेश, विभव या निरावेश, पिंड से होने की दर ज्ञात करता रहता है। यह उपकरण अत्यंत सुग्राही होता है और इसकी सुग्राहिता बक्स के टेढ़ेपन, बक्स के आयतन, पट्टिका के विभव और उसकी स्वर्णपत्र से दूरी पर निर्भर रहती है। इससे आवेश में $१०^{-१६}$ कूलॉम प्रति सेकंड परिवर्तन नापा जा सकता है।

आकर्षित पट्टिका विद्युन्मापी (Attracted disc electro meter) या निरपेक्ष विद्युन्मापी (Absolute Electrometer) इस उपकरण से दो आवेशित चालकों के बीच आकर्षण बल के मापन द्वारा आवेश, विभव इत्यादि का मापन होता है। इसमें एक संरक्षक वलय (Guard ring) संधारित्र होता है जिसमें संरक्षक वलय तथा धातु की दो पट्टिकाएँ होती हैं। पहली पट्टिका एक कमानी द्वारा सूक्ष्ममापी पेंच से जुड़ी होती है और ऊपर नीचे चलाई जा सकती है। संरक्षक वलय अपने स्थान पर निश्चित रहता है और दूसरी पट्टिका एक अन्य सूक्ष्ममापी पेंच से ऊपर नीचे चलाई जा सकती है। पहली पट्टिका का पृष्ठ सर्वदा एक सूक्ष्मदर्शी से देखा जा सकता है। सब पट्टिकाओं को पृथ्वी से संबद्ध करदेने के पश्चात् एक न्यून भार जिसका द्रव्यमान मान लें म है पहली पट्टिका पर रखा जाता है जिसके कारण वह नीचे खिसक जाती है, अब पेंच से इसे ऊपर लाकर संरक्षक वलय के समतल में छोड़ देते हैं। भार को हटाते ही कमानी की लचक के कारण पहली पट्टिका ऊपर चली जाती है। यह स्पष्ट है कि पहली पट्टिका संरक्षक वलय को पहली पट्टिका के समतल में लाने के लिये उतना ही बल नीचे को ओर से लगाना पड़ेगा जितना भार था, अब पहली पट्टिका और संरक्षक वलय को एक बैटरी या डायनेमो से निश्चित विभव देकर उस बिंदु से संबद्ध किया जाता है जिसका विभव ज्ञात करना हो। दोनों पट्टिकाओं में विभवांतर होने के कारण उनमें आकर्षण होता है, जिसका मान दोनों पट्टिकाओं की दूरियाँ बदलकर मात्रा × गुरुत्वीय त्वरण के बराबर किया जाता है तथा सूक्ष्ममापी के पाठ्यांक को पढ़ लिया जाता है।

विभवांतर का मूल्य स्थिर वैद्युत मात्रक में नपता है। विभवांतर का मूल्य लंबाई और द्रव्यमान में निकलता है और ये मौलिक राशियाँ हैं। इसी कारण इस उपकरण को निरपेक्ष विद्युन्मापी (Absolute electrometer) कहते हैं।

वृत्तपाद विद्युन्मापी (Quadrant Electroometer) — केल्विन (Kelvin) ने आकर्षित पट्टिका विद्युन्मापी से भी अधिक सुग्राही एक विद्युन्मापी बनाया जिसे वृत्त पाद-विद्युन्मापी कहते हैं। कुछ दिनों बाद डालेजेलेक (Dolezelk) ने इसमें सुधार किया जिससे इसकी सुग्राहिता और यथार्थता बहुत बढ़ गई। इसमें एक चपटे बेलनाकार धातु के बक्स के चार बराबर वृत्त पाद (वृत चतुर्थांश) लगे रहते हैं। ये पाद खोखले होते हैं और एक आधार पर एंबर (amber) या स्फटिक (quartz) द्वारा विद्युत्‌रोधी बनाकर जड़े रहते हैं। संमुख पाद आपस में तार से संबद्ध रहते हैं। एक अत्यंत हल्की और पंखी की आकृति की ऐल्युमिनियम या धातु आवेष्ठित कागज की पत्ती पादों के बीच लटकी रहती है। इस पत्ती को सुई कहते हैं। यह पत्ती एक स्फटिक के सूत्र द्वारा इस प्रकार लटकाई जाती है कि पादों के बीच समांतर रूप से लटकती रहे। इस सूत्र में एक गोलीय दर्पण लगा रहता है। जब पत्ती घूमती है तब इस सूत्र में ऐंठन आ जाती है और विक्षेप कोण को इस दर्पण और दीप तथा पैमाना की सहायता से नापा जा सकता है। पूरा उपकरण धातु के एक बक्स में बंद रहता है, इससे वह बाह्य विद्युत् क्षेत्र के प्रभाव से बचा रहता है। इस बक्स में एक खिड़की होती है जिसके द्वारा दर्पण का विक्षेप देखा जा सकता है।

यदि दो वृत्त पादों के बीच कुछ विभवांतर हो और सूई पर एक निश्चित विभव हो तो विद्युत् क्षेत्र के प्रभाव से सूई पर एक बलयुग्म कार्य करता है और सूई को घुमाता है। लटकानेवाले सूत्र में ऐंठन के कारण सूई एक निश्चित विक्षेप के बाद रुक जाती है। विक्षेप पादों के विभवांतर या विभवांतर के वर्ग के समानुपाती होता है। यह विद्युन्मापी दो प्रकार से प्रयोग में लाया जाता है।

(क) सूई और पादजोड़ी में भिन्न विभव हों और सूई का विक्षेप पादों के विभव से बहुत अधिक हो—इस दशा को विषम विभवी (heterostatic) कहते हैं।

(ख) दूसरे प्रकार में सूई दूसरी पादजोड़ी से संबद्ध रहती है, इसका विभव वही होता है जो दूसरी पादजोड़ी का। इस दशा को समविभवी (idiostatic) कहते हैं।

इस दशा में विक्षेप विभवांतर के वर्ग के समानुपाती होता है अतः इससे प्रत्यावर्ती विभवांतर भी नापा जा सकता है। इसी विद्युन्मापी से आवेश, विभव, धारिता और परावैद्युतांक नियतांक (Dielecrtic Constant) इत्यादि नापे जा सकते हैं।

इलेक्ट्रानिकी विद्युन्मापी और निर्वात नलिका वोल्टमापी — (Electronic Electrometer Vacuum Tube Voltmeter)— जब दो बिंदुओं के बीच का विभवांतर साधारण वोल्टमापी से

चित्र ५.
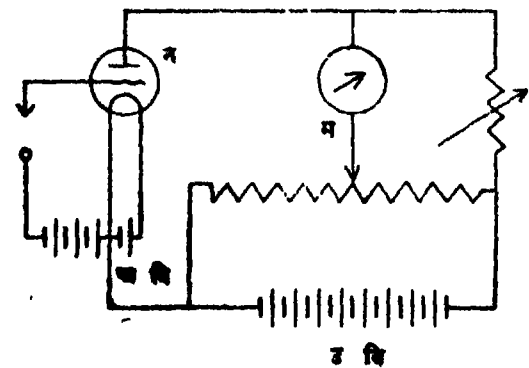
नापा जाता है तो उनमें विद्युत्‌धारा बहती है और बिंदुओं के बीच आंतरिक प्रतिरोध के कारण वोल्टता कम हो जाती है। अतः साधारण वोल्टमापी विभव सर्वदा कम नापेगा। विशेष रूप से तब जब बिंदुओं के बीच उच्च प्रतिरोध हो। यह दोष विद्युन्मापी में नहीं है, परंतु इसका प्रयोग बहुत कठिन है। इससे शीघ्र मापन नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यह उपकरण उच्च आवृत्तिवाले

प्रत्यावर्ती विभव को नहीं नाप सकता। इलेक्ट्रानिकी विद्युन्मापी और निर्वात नलिका वोल्टमापी इन सभी दोषों से रहित और अत्यंत सुग्राही होते हैं। इलेक्ट्रॉन नली वोल्टमापी या विद्युन्मापी कई प्रकार के होते हैं, परंतु उनका मूल सिद्धांत ट्रायोड नली को संसूचक (Detector) रूप में प्रयोग करने पर निर्भर है। चित्र ४. में एक साधारण इलेक्ट्रॉन नली वोल्टमापी का रेखाचित्र दिखाया गया है। ट्रायोड नली 'ख' का तंतु फिलामेंट अल्प विभव द्वारा गरम किया जाता है। अल्प विभव के ऋणात्मक सिरे से पर्याप्त ऋणात्मक ग्रिड बायस (Grid bias) संबद्ध रहता है। ग्रिडबायस उतना होना चाहिए कि ट्रायोड नली संसूचक का कार्य करे। उच्च विभव और उससे संबद्ध हुए प्रतिरोधकों को ऐसा समंजित किया जाता है कि विष्ट धारामापी में शून्य विक्षेप हो। इसके बाद अज्ञात विभव को ग्रिड और तंतु वाले सिरों (input terminal) से संबद्ध करने पर मापी में कुछ विक्षेप होता है। उस विक्षेप के मूल्य से विभव का मूल्य ज्ञात हो जाता है। यथार्थ में मापी के विक्षेप का अंशांकन ज्ञात विभव द्वारा पहले ही कर लिया जाता है। इस उपकरण की निम्न विशेषताएँ हैं : (१) इसका अंशांकन अल्प आवृत्तिवाले प्रत्यावर्ती विभव से हो जाता है और वह अत्यंत उच्च आवृत्ति वाले विभव के लिये भी शुद्ध होता है (२) यह अपना कार्य विभव संभरणों से बिना कुछ धारा प्रवाहित किए करता है। (३) यह विष्ट विभव से अति उच्च आवृत्ति वाले विभव का मापन कर सकता है और इसका प्रयोग बड़ा सरल है। अधिकतर यह अंशांकित होता है और अंशांकनकार्य बारंबार नहीं करना पड़ता। इलेक्ट्रानिकी उपकरणों का पूर्ण विवरण अन्य स्थान पर मिलेगा।

प्रेरकत्वमापी (Inductance) **और धारिता** (Capacity) **मापी** — किसी संधारित्र की धारिता और कुंडली के प्रेरकत्व मापन साधारणतया तुलनात्मक विधियों से होते हैं। तुलना के लिये प्रामाणिक संधारित्र अथवा प्रामाणिक अन्योन्य प्रेरण या स्वप्रेरण कुंडली की आवश्यकता पड़ती है।

धारिता मापन — धारिता कई प्रकार के सेतुओं की सहायता से नापी जाती है। इनमें से वीन का सेतु (Wien's bridge) और शेरिंग का सेतु (Schering's bridge) उल्लेखनीय है।

वीन सेतु (Wien's bridge) — इस सेतु का प्रयोग धारिता नापने में होता है। ह्वीट्स्टोन सेतु (Wheatstone's bridge) के सिद्धांत के अनुसार जब परिचायक में कोई धारा नहीं बहती तब सेतु संतुलित होता है। सूत्रों से संधारित्र की अज्ञात धारिता और क्षरण (leakage) मालूम हो जाते हैं।

शेरिंग सेतु (Schering bridge)— यह सेतु भी धारिता मापन के लिये प्रयोग में लाया जाता है। अपनी सुग्राहिता के कारण इसका उपयोग आजकल बहुत होने लगा है। इस सेतु में भी जब परिचायक में कोई धारा नहीं बहती तो संतुलित होता है।

दो प्रतिरोधियों के समंजन से हम संधारित्र की अज्ञात धारिता बड़ी सरलता से निकाल सकते हैं।

प्रेरकत्वमापन — धारिता की भाँति ही किसी कुंडली का प्रेरकत्व हम कई प्रकार के सेतुओं की सहायता से ज्ञात कर सकते हैं। इनमें प्रमुख उल्लेखनीय मैक्सवेल-सेतु और हे-सेतु हैं।

मैक्सवेल सेतु — इस सेतु की सहायता से हम प्रेरकत्व बड़ी सरलता से नाप सकते हैं।

संधारित्र और प्रतिरोध के उचित समंजन से प्रेरकत्व का मान बड़ी ही सुगमता से ज्ञात हो जाता है।

हे – सेतु (Hay's bridge) – इस सेतु की विशेषता यह है कि कुंडली के प्रेरकत्व का मूल्य उसके क्रोड की भिन्न भिन्न चुंबकीय दशाओं में निकाला जा सकता है। क्रोड की चुंबकीय दशा बदलने के लिये कुंडली में दिष्ट धारा प्रवाहित की जाती है जिसका मूल्य दिष्ट धारामापी से ज्ञात होता है। जब संसूचक हेडफोन में धारा शून्य हो जाती है तब सेतु संतुलित होता है। प्राय: इन सेतुओं के सिद्धांत पर बने बनाए उपकरण मिलते हैं। जिनमें केवल अज्ञात तत्व जोड़ना पड़ता है और आवश्यक घुंडियों को घुमाकर संसूचक की सहायता से सेतु संतुलित कर लिया जाता है। तब अज्ञात तत्वों का मूल्य डायल पर पढ़ लिया जाता है। इस प्रकार के उपकरण में कई सेतु एक ही साथ बने होते हैं जिस कारण एक ही उपकरण से प्रतिरोध, धारिता, और प्रेरकत्व नापे जा सकते हैं।

सं० ग्रं०—डेविड ओवन : ए० सी० मेजरमेंट्स (मेथुएन ऐंड कंपनी); हेग; ए० सी० ब्रिज मेथड्स (मेथुएन ऐंड कंपनी); लेंस : इलेक्ट्रिकल मेजरमेंट्स; ग्लेजब्रुक (संपादक) : डिक्शनरी ऑव अप्लायड फिजिक्स; फ्लेमिंग : हैंडबुक फॉर दि इलेक्ट्रिकल लैबोरेटरी; रेसे . इलेक्ट्रिकल मेजरमेंट्स; ड्राइस्डेल और जॉली : इंडिकेटिंग इंस्ट्रूमेंट्स; बोल्टन : इलेक्ट्रिकल मेजरिंग इंस्ट्रूमेंट्स; राइडर: कैथोड रे ट्यूब ऐट वर्क; वेवर और सिग्वी : इलेक्ट्रिसिटी ऐंड मैग्नेटिज्म; खरे और श्रीवास्तव : इलेक्ट्रिसिटी ऐंड मैग्नेटिज्म।

[कृ० जी०]